नमस्ते जी

ऋषि दयानंद द्वारा प्रचारित वैदिक विचारधारा ने सैकड़ो हृदय को क्रन्तिकारी विचारो से भर दिया | जो वेद उस काल में विचारो से भी भुला दिए गए थे | ऋषि दयानंद ने उन हृदयों को वेदों के विचारो से ओतप्रोत कर दिया और देश में वेद गंगा बहने लगी | ऋषि के अपने अल्प कार्य काल में समाज की आध्यात्मिक, सामाजिक, और व्यक्तिगत विचार धारा को बदल के रख दिया | ऋषि के बाद भी कही वर्षो तक यह परिपाटी चली पर यह वैचारिक परिवर्तन पुनः उसी विकृति की और लौट रहा है | और इसी विकृति को रोकने के लिए वैदिक विद्वान प्रो॰ राजेंद्र जी जिज्ञासु के सानिध्य में "पंडित लेखराम वैदिक मिशन" संस्था का जन्म हुआ है | इस संस्था का मुख्य उद्देश्य वेदों को समाज रूपी शरीर के रक्त धमनियों में रक्त के समान स्थापित करना है | यह कार्य ऋषि के जीवन का मुख्य उद्देश्य था और यही इस संस्था का भी मुख्य उद्देश्य है | संस्था के अन्य उद्देश्यों में सम्लित है साहित्य का सृजन करना | जो दुर्लभ आर्य साहित्य नष्ट होने की और अग्रसर है उस साहित्य को नष्ट होने से बचाना और उस साहित्य को क्रम बद्ध तरीके से हमारे भाई और बहनों के समक्ष प्रस्तुत करना जिससे उनकी स्वाध्याय में रूचि बढ़े और वे तुलनात्मक अध्यन कर सकें जिससे उनकी स्वधर्म में रूचि बढ़े और अन्य मत मतान्तरो की जानकारी उन्हें प्राप्त हो और वे विधर्मियो द्वारा लगाये जा रहे विभिन्न आक्षेपों का उत्तर दे सकें विधर्मियो से स्वयं भी बचें और अन्यो की भी सहयता करें | संस्था का उद्देश्य है समाज के समक्ष हमारे गौरव शाली इतिहास को प्रस्तुत करना जिससे हमारा रक्त जो ठंडा हो गया है वह पुनः गर्म हो सके और हम हमारे इतिहास पुरुषो का मान सम्मान करें और उनके बताये गये नीतिगत मार्ग पर चलें | संस्था का अन्य उद्देश्य गौ पालन और गौ सेवा को बढ़ावा देना जिससे पशुओ के प्रति प्रेम, दया का भाव बढ़े और इन पशुओं की हत्या बंद हो, समाज में हो रहे परमात्मा के नाम पर पाखण्ड, अन्धविश्वास, अत्याचार को जड़ से नष्ट करना और परमात्मा के शुद्ध वैदिक स्वरुप को समाज के समक्ष रखना, हमारे युवा शक्ति को अनेक भोग, विबिन्न व्यसनों, छल, कपट इत्यादि से बचाना |

इन कार्यो को हम अकेले पूरा करने का सामर्थ्य नहीं रखते पर, यह सारे कार्य है तो बड़े विशाल और व्यापक पर अगर संस्था को आप का साथ मिला तो बड़ी सरलता से पूर्ण किये जा सकते है | हमारा समाजिक ढाचा ऐसा है की हम प्रत्येक कार्य की लिए एक दुसरे पर निर्भर है | आशा करते है की इस कार्य में आप हमारी तन, मन से साहयता करेंगे | संस्था द्वारा चलाई जा रही वेबसाइट www.aryamantavya.in और www.vedickranti.in पर आप संस्था द्वारा स्थापित संकल्पों सम्बन्धी लेख पड़ सकते है और भिन्न-भिन्न वैदिक साहित्य को निशुल्क डाउनलोड कर सकते है | कृपया स्वयं भी जायें और अन्यो को भी सूचित करे यही आप की हवी होंगी इस यज्ञ में जो आप अवश्य करेंगे यही परमात्मा से प्रार्थना करते है |

जिन सज्जनों के पास दुर्लभ आर्य साहित्य है एवं वे उसे संरक्षित करने में संस्था की सहायता करना चाहते हैं वो कृपया निम्न पते पर सूचित करें

ptlekhram@gmail.com

धन्यवाद् !

पंडित लेखराम वैदिक मिशन

आर्य मंतव्य टीम

AryaMantavya
Make The Whole World Noble

ओ३म्

अथर्ववेदभाष्यम्

(प्रथमो भागः)

भाष्यकार :
पं० हरिशरण सिद्धान्तालङ्कार

सम्पादक :
स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती

प्रकाशक :
श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धमार्थ न्यास
ब्यानिया पाड़ा, हिण्डौन सिटी,
राजस्थान-३२२२३०

यह वेद श्री हरिश्चन्दजी साहित्यानी, दाहोद द्वारा प्रदत्त स्थिरनिधि के ब्याज द्वारा घाटा उठाकर दिया जा रहा है। हम आपके स्वास्थ्य, दीर्घायुष्य की कामना करते हैं।
—प्रभाकरदेव आर्य

प्रकाशक : **श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास**
ब्यानिया पाड़ा, हिण्डौन सिटी, (राज०)-३२२ २३०
दूरभाष : ०७४६९-२३४६२४, ०९३५१२६-७०४४८
चलभाष : ०-९४१४०-३४०७२

संस्करण : २०६३ विक्रमी संवत्, २००७ ई०

मूल्य : २५०.०० रुपये

प्राप्ति-स्थान :
१. **टङ्कारा साहित्य सदन**
आर्यसमाज, हिण्डौन सिटी, (राज०) दूरभाष : ०७४६९-२३४९००
२. **श्री हरिकिशन ओम्प्रकाश**
३९९, गली मन्दिरवाली, नया बाँस, दिल्ली-११०००६,
दूरभाष : २३९५८८६४
३. **श्रेष्ठ साहित्य सदन, सैंती, चित्तौड़गढ़ (राज०)**
शाखा-पहुँना, जिला-चित्तौड़गढ (राज०) दूरभाष : ०१४७१-२२२०६४
४. **डॉ० अशोकजी आर्य**
११६, मित्रविहार, मण्डी डबवाली, (हरियाणा)
५. **श्री गणेशदास-गरिमा गोयल,** २७०४, प्रेम-मणि निवास,
नया बाजार, दिल्ली-११००६, दूरभाष : ०११-५५३७९०७०
६. **श्री दयारामजी पोद्दार,** झारखण्ड राज्य आर्य प्रतिनिधि सभा,
आर्यसमाज मन्दिर, स्वामी श्रद्धानन्द पथ,
राँची (झारखण्ड)-८३४ ००१
७. **श्री राजेन्द्रकुमार,** १८, विक्रमादित्यपुरी, स्टेट बैंक कालोनी,
बरेली (उ०प्र०) दूरभाष : ०५८१-२५४३९४४

शब्द-संयोजक : **स्वस्ति कम्प्यूटर्स,** कैलाशनगर, दिल्ली
दूरभाष : ०९२५५९-३५२८९, ०१७४५-२७४५६८ (निवास)

मुद्रक : **राधा प्रेस,** कैलाशनगर, दिल्ली-११० ०३१

भूमिका

वेद सृष्टि के आदि में परमात्मा द्वारा दिया गया दिव्य, अनूठा, अनुपम ज्ञान है। वेद सार्वभौमिक और सार्वकालिक हैं। यह ज्ञान सारे संसारवासियों और मनुष्यमात्र के लिए है।

वेद चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। चारों वेद चार ऋषियों के हृदय में एक-साथ प्रकट हुए। ऋषियों ने वेद की रचना नहीं की। यह ज्ञान तो परमात्मा ने अपनी करुणा और कृपा से उनके हृदय में उँडेल दिया था। ऋषि मन्त्रों के निर्माता नहीं थे, वे केवल मन्त्रों के अर्थों के साक्षात्कर्त्ता थे।

ऋग्वेद ज्ञानकाण्ड है। यजुर्वेद कर्मकाण्ड है। सामवेद उपासनाकाण्ड है और अथर्ववेद विज्ञानकाण्ड है। भाष्यकार के शब्दों में ऋग्वेद मस्तिक का वेद है, यजुर्वेद हाथों का वेद है। सामवेद हृदय का वेद है और अथर्ववेद उदर=पेट का वेद है। उदर-विकारों से ही नाना प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं। इस वेद में नाना प्रकार की ओषधियों का वर्णन करके शरीर को नीरोग, स्वस्थ और शान्त रखने के उपायों का वर्णन है।

राष्ट्र में उपद्रव और अशान्ति होने पर राष्ट्र की सुरक्षा के लिए नाना प्रकार के भयंकरतम अस्त्र और शस्त्रों का वर्णन भी इस वेद में है। इसप्रकार यह युद्ध और शान्ति का वेद है। यही इस वेद का प्रमुख विषय है।

अर्थवेद में बीस काण्ड, ७३१ सूक्त और ५९७७ मन्त्र हैं। सबसे छोटा सूक्त एक मन्त्र का है। एक-एक, दो-दो और तीन-तीन मन्त्रों के अनेक सूक्त हैं। सबसे बड़ा सूक्त ८९ मन्त्रों का है।

इस वेद को ब्रह्मवेद भी कहते हैं। इस वेद के अनेक सूक्तों में ब्रह्म=परमेश्वर का हृदयहारी वर्णन है, जिसे पढ़ते-पढ़ते पाठक भावविभोर हो उठता है। वह अध्यात्म के सरोवर में डुबकियाँ लगाने लगता है। ऐसे कुछ सूक्त हैं—२। १; ४। २; ४। १६ आदि।

गृहस्थ के सौहार्द का जो मनोहारी वर्णन ३। ३० में किया है, उसकी छटा देखते ही बनती है। इसी प्रकार का एक सूक्त ७। ६२ भी है। इन सूक्तों में वर्णित शिक्षाओं पर आचरण किया जाए तो घर निश्चय ही स्वर्ग बन जाए। चौदहवाँ काण्ड तो सारा ही दाम्पत्य सूक्त है, जिसमें पति-पत्नी के कर्त्तव्यों तथा विवाह के नियमों और गृहस्थ की मान-मर्यादाओं का उत्तम विवेचन है।

बारहवें काण्ड का प्रथम सूक्त संसार का प्रथम राष्ट्रगीत है। इसमें एक आदर्श राष्ट्र और उसकी रक्षा के उपायों का सर्वाङ्गीण चित्रण हुआ है। वेद ने सारे संसार को एक सार्वभौम राज्य माना है और भूमिमाता के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर करने की प्रेरणा दी है।

पाश्चात्यों के अनुसार अथर्ववेद जादू-टोने का वेद है। इसमें शत्रुओं के मारण, मोहन और उच्चाटन का वर्णन है। इसमें कृत्या द्वारा शत्रु-हनन के प्रयोग हैं। ये सारी धारणाएँ भ्रान्त हैं। इस भाष्य को पढ़ने से इस भ्रान्त धारणा का उन्मूलन हो जाएगा।

'ऋग्वेद पहले बना। तत्पश्चात् यजुर्वेद और सामवेद का संकलन हुआ और सबसे बाद में अथर्ववेद बना', यह विचारधारा भी आधारशून्य है। जब ऋग्वेद और यजुर्वेद में चारों वेदों के नाम दिये हुए है, तब अथर्ववेद को अथवा किसी भी वेद को बाद का बना कैसे माना जा

सकता है?

पहले वेद एक था महर्षि व्यास ने इसके चार भाग किये, यह मान्यता भी थोथी है। वेद में चारों वेदों का उल्लेख है—

तस्माद्यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

—ऋ० १०। ९०। ९

इस मन्त्र में **ऋचः**=ऋग्वेद, **सामानि**=सामवेद, **छन्दांसि**=अथर्ववेद और **यजुः**=यजुर्वेद चारों वेदों के नाम दिये हुए हैं।

चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेदः।

—गोपथ० १। २। १६

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः॥

—मुण्डक० १। १। ५

इसप्रकार के अनेक प्रमाण दिये जा सकते हैं।

अथर्ववेद पर पं० क्षेमकरणदासजी त्रिवेदी, पं० जयदेवजी शर्मा विद्यालङ्कार, पं० दामोदरजी सातवलेकर, पं० विश्वनाथजी विद्यामार्तण्ड के भाष्य उपलब्ध हैं। हमारे विचार में पण्डित हरिशरणजी का भाष्य इन सबसे अनूठा है। इसे सरल तो बनाया ही गया है, परन्तु भाष्यकार ने न तो कहीं खेंचातानी की है और न ही मनमाने अर्थ किये हैं। जहाँ कोई विशेष अर्थ किया है, वहाँ प्रमाण में प्राचीन ग्रन्थों—यथा ब्राह्मणग्रन्थों, निरुक्त, उणादिकोश, निघण्टु, व्याकरण आदि के उद्धरण दिये हैं। अर्थ पढ़ते-पढ़ते भाव हृदयपटल पर अङ्कित हो जाता है। हमें आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास है कि पाठक इसे अपनाएँगे, रुचिपूर्वक इसका अध्ययन करेंगे और अपने जीवनों को सफल बनाएँगे।

वेद प्रकाशन का गुरुतर कार्य हाथ में ले लिया है। साधन सीमित हैं। व्यय बहुत अधिक है, फिर भी पूर्ण शक्ति के साथ लगा हुआ हूँ। प्रभुकृपा से शीघ्र पूरा करने का प्रयत्न करूँगा।

विदुषामनुचरः
—जगदीश्वरानन्द सरस्वती

वेद सदन
एच-१। २ मॉडल टाउन
दिल्ली- ११०००९

ओ३म्

अथर्ववेदभाष्यम्

दो शब्द

ऋग्वेद 'विज्ञानवेद' होता हुआ मस्तिष्क का वेद है तो यजुर्वेद 'कर्मवेद' होता हुआ हाथों का वेद कहा जाता है। 'उपासनावेद' रूप सामवेद का सम्बन्ध हृदय से है और अथर्ववेद का सम्बन्ध इससे निचले भाग उदर से ही होना चाहिए। वस्तुतः उदर-विकार से ही सब रोग व युद्ध हुआ करते हैं और इस अथर्व में हम आयुर्वेद (Science of Medicine) तथा युद्धवेद (Science of War) को विस्तार से देखते हैं। इन विकारों से ऊपर उठाकर यह वेद हमें ब्रह्म-प्राप्ति के योग्य बनाता है, अतः यह 'ब्रह्मवेद' कहाता है। इन विकारों से बचने का सङ्केत यह प्रथम मन्त्र में ही 'वाचस्पति' शब्द से कर रहा है। यदि हम वाक् व जिह्वा के पति बन जाएँ तो न तो लड़ाइयाँ ही हों और न ही रोग। सब लड़ाइयाँ बोलने के असंयम के कारण होती हैं और सब रोग खाने में असंयम के कारण। यदि ये दो संयम परिपक्व हो जाएँ तो कोई गड़बड़ ही न हो-'Eating little and speaking little can never do harm.' इसके विपरीत 'अतिभुक्तिरतीवोक्तिः सद्यः प्राणापहारिणी'। इस अथर्व का आरम्भ आचार्य द्वारा शिष्य को उपदेश करने से होता है। यह आचार्य 'अथर्वा' है (न थर्व) डाँवाडोल वृत्तिवाला नहीं। यह स्थितप्रज्ञ 'अथर्वा' ही इन मन्त्रों का ऋषि है। यह आचार्य विद्यार्थी को पूर्ण स्वस्थ जीवन बिताने के लिए शिक्षित करता है—

अथ प्रथमं काण्डम्

अथ प्रथमोऽनुवाकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वाचस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

संसार के घटकभूत इक्कीस तत्त्व

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वोऽ अद्य दधातु मे॥ १॥

१. 'महत्तत्त्व, अहङ्कार व पञ्च तन्मात्राएँ'—ये सात तत्त्व हैं, जो संसार के सब रूपों का निर्माण करनेवाले हैं। 'सत्त्व, रजस् व तमस्' के भेद से ये तीन-तीन प्रकार के हैं। इसप्रकार ये **त्रिषप्ताः**=जो तीन गुणा सात=इक्कीस तत्त्व हैं, **विश्वा रूपाणि बिभ्रतः**=सब रूपों का धारण करते हुए **परियन्ति**=चारों ओर गति करते हैं और सर्वतः व्याप्तिवाले होते हैं। २. **वाचस्पतिः**=सम्पूर्ण वाङ्मय का स्वामी आचार्य **तेषाम्**=उन इक्कीस तत्त्वों के **तन्वः**=शरीर-सम्बन्धी **बला**=शक्तियों को **अद्य**=आज **मे**=मुझमें **दधातु**=धारण करे। जो तत्त्व ब्रह्माण्ड का निर्माण करते हैं, वे ही तत्त्व हमारे इन पिण्डों (शरीरों) का भी निर्माण करनेवाले हैं। उन सब तत्त्वों की शक्ति शरीर में सुरक्षित रहेगी तभी हम पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त करेंगे। ३. एवं, यह स्पष्ट है कि आचार्य से दिये जानेवाले ज्ञान का मूल-विषय संसार के ये इक्कीस तत्त्व ही होने चाहिएँ। इनका हमारे जीवन

कि हम **शरस्य**=शर के **पितरम्**=जन्म देनेवाले **शतवृष्ण्यम्**=शतशः शक्तियोंवाले अथवा सौ वर्ष तक शक्ति को स्थिर रखनेवाले **पर्जन्यम्**=मेघ को **विद्म**=जानते हैं। वृष्टिजल से इस शर की उत्पत्ति हुई है और वृष्टिजल ने मेघ की शक्तियों को इस शर में स्थापित किया है। २. **तेन**=उस शर से **ते**=तेरे **तन्वे**=शरीर के लिए **शम्**=शान्ति **करम्**=करता हूँ। इस उद्देश्य से **ते**=तेरे **पृथिव्याम्**=पृथिवीरूप शरीर में **निषेचनम्**=इस शर के रस का निषेचन होता है और इसके परिणामस्वरूप शरीर का सब दोष **बाल् इति**=क्योंकि यह शर शरीर को प्राणित करनेवाला है, (बल प्राणने), अतः **बहिः अस्तु**=बाहर हो जाए। शर में प्राणित करने की शक्ति है, इस कारण इसके रस का शरीर में निषेचन होने पर शरीर निर्दोष हो जाता है।

भावार्थ—शर मेघ-जल से उत्पन्न होने के कारण शतशः शक्ति-सम्पन्न है, अतः यह शरीर को निर्दोष बनाता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पर्जन्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

मित्र (अहन्)

वि॒द्मा श॒रस्य॑ पि॒तरं॑ मि॒त्रं श॒तवृ॑ष्ण्यम्।
तेना॑ ते त॒न्वे॒३ शं क॑रं पृथि॒व्यां ते॑ नि॒षेच॑नं ब॒हिष्टे॑ अस्तु बालिति॑॥ २॥

१. हम **शरस्य**=शर के **पितरम्**=जन्म देनेवाले **शतवृष्ण्यम्**=शतशः शक्तियोंवाले **मित्रम्**=अहन् (दिन) को (अहोरात्रौ वै मित्रावरुणौ—तां० २५।१०।१०) **विद्म**=जानते हैं। दिन में सूर्य का प्रकाश इस शर में अपनी शतशः शक्तियों को स्थापित करता है। २. **तेन**=उस शर से **तन्वे**=तेरे शरीर के लिए **शं करम्**=शान्ति करता हूँ। **ते पृथिव्याम्**=तेरे पृथिवीरूप शरीर में **निषेचनम्**=इस शर से रस का निषेचन हो और **बाल् इति**=क्योंकि यह शर प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाला है, अतः **ते**=तेरे शरीर से सब दोष **बहिः अस्तु**=बाहर निकल जाए।

भावार्थ—दिन में शर सूर्य-किरणों से अपने में प्राण-शक्ति लेता है और इसप्रकार हमें शतवर्षपर्यन्त शक्तिशाली बनाता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पर्जन्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

वरुण (रात्रि)

वि॒द्मा श॒रस्य॑ पि॒तरं॒ वरु॑णं श॒तवृ॑ष्ण्यम्।
तेना॑ ते त॒न्वे॒३ शं क॑रं पृथि॒व्यां ते॑ नि॒षेच॑नं ब॒हिष्टे॑ अस्तु बालिति॑॥ ३॥

१. हम **शरस्य**=शर के **पितरम्**=पितृभूत **वरुणम्**=रात्रि को **विद्म**=जानते हैं। यह वरुण भी **शतवृष्ण्यम्**=शतशः शक्तियों को देनेवाला है। इस रात्रिरूपी वरुण में चन्द्रमा ओषधीश होने के कारण सब ओषधियों में रस का सञ्चार करता है। इस शर को भी वह रसान्वित करता है। २. **तेन**=इस शर के द्वारा **ते तन्वे**=तेरे शरीर के लिए **शं करम्**=शान्ति करता हूँ। **ते पृथिव्याम्**=तेरे इस पृथिवीरूप शरीर में **निषेचनम्**=इस रस का सम्यक् सेचन हो और **बाल् इति**=क्योंकि यह शर प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाला है, अतः **ते बहिः अस्तुः**=तेरे शरीर से सब दोष बाहर हो जाएँ। शर का प्रयोग शरीर को निर्दोष बनाता है।

भावार्थ—चन्द्रमा से रस प्राप्त करके शतशः शक्तियों से युक्त यह शर हमारे शरीर को निर्दोष व स्वस्थ बनाता है।

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**पर्जन्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्द:—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

चन्द्र

विद्मा शरस्य पितरं चन्द्रं शतवृष्ण्यम्।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति॥ ४॥

१. हम **शरस्य**=शर के **पितरम्**=पितृस्थानभूत **शतवृष्ण्यम्**=शतशः शक्तियों को जन्म देनेवाले **चन्द्रम्**=चन्द्र को **विद्म**=जानते हैं। यह चन्द्रमा शरादि ओषधियों में रस का सञ्चार करता है और ओषधियों को पुष्ट कर उन्हें आह्लादजनक बनाता है। २. **तेन**=इस शर से **ते तन्वे**=तेरे शरीर के लिए **शं करम्**=मैं शान्ति करता हूँ। **ते पृथिव्याम्**=तेरे पृथिवीरूप शरीर में **निषेचनम्**=इस शर के रस का निषेचन होता है और इस निषेचन के द्वारा **बाल् इति**=क्योंकि यह प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाला है, अतः **ते बहिः अस्तु**=तेरे शरीर का सारा दोष शरीर से बाहर हो जाए। इसप्रकार तीसरे मन्त्र की भावना ही यहाँ स्पष्टरूप से प्रतिपादित हो गई है।

भावार्थ—शर प्राणशक्ति के सञ्चार के द्वारा हमारे शरीरों को निर्दोष बनाता है।

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**पर्जन्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्द:—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

सूर्य

विद्मा शरस्य पितरं सूर्यं शतवृष्ण्यम्।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति॥ ५॥

१. हम **शरस्य**=शर के **पितरम्**=पितृभूत **शतवृष्ण्यम्**=शतशः शक्तियों के उत्पादन में उत्तम **सूर्यम्**=इस सूर्य को **विद्म**=जानते हैं। २. इस सूर्य के द्वारा उस शर में सब प्राण स्थापित किये जाते हैं, **तेन**=उस प्राणशक्ति-सम्पन्न शर से **ते तन्वे**=तेरे शरीर के लिए मैं **शं करम्**=शान्ति करता हूँ। **ते पृथिव्याम्**=तेरे पृथिवीरूप शरीर में **निषेचनम्**=इस शर के रस का सेचन होता है और **बाल् इति**=क्योंकि यह प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाला है, अतः **ते बहिः अस्तु**=तेरे शरीर से सब दोष बाहर हो जाए।

भावार्थ—सूर्य से शक्ति-सम्पन्न होकर शर हमारे शरीरों को निर्दोष बनाता है।

सूचना—इस सूक्त के पाँच मन्त्रों में से प्रथम मन्त्र में पर्जन्य को शर का पिता कहा गया है, चतुर्थ में चन्द्र को तथा पाँचवें में सूर्य को। द्वितीय और तृतीय मन्त्र में मित्र और वरुण इस शर के पिता हैं। ये मित्र और वरुण वस्तुतः '**प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ**' इस शतपथवचन (१।८।३।१२) के अनुसार प्राण और उदान हैं। 'प्राण' अम्लजन है और 'उदान' उद्रजन है। ये दोनों मिलकर ही प्रथम मन्त्र के पर्जन्य का निर्माण करते हैं। एवं, ये दोनों मन्त्र प्रथम मन्त्र के व्याख्याभूत हो जाते हैं। **अर्धमासौ वै मित्रावरुणौ, य एव आपूर्यते स वरुणः, यो उपक्षीयते स मित्रः**(शतपथ २।४।४।१८) के अनुसार मित्र और वरुण कृष्ण व शुक्लपक्ष हैं और इनका सम्बन्ध चतुर्थ मन्त्र के चन्द्र से है। '**अहोरात्रौ वै मित्रावरुणौ**' (तां० २५।१०।१०) के अनुसार मित्र और वरुण दिन और रात हैं जिनका निर्माण सूर्य के अधीन है। यह सूर्य ही पञ्चम मन्त्र में शर का पितर कहा गया है। इस सारे विवेचन से यह स्पष्ट है कि मित्र और वरुण का सम्बन्ध 'पर्जन्य, चन्द्र और सूर्य' तीनों से है। यहाँ मित्र-वरुण के एक ओर पर्जन्य है तो दूसरी ओर चन्द्र और सूर्य। इस क्रम द्वारा भी उपर्युक्त सम्बन्ध सङ्केतित हो रहा है। इस सूक्त के पाँच मन्त्रों में पर्जन्य आदि पाँच को शर का पिता कहा गया है। वे सब शर में शतशः शक्तियों का आधान करते हैं और इसप्रकार हमारे शरीरों को निर्दोष बनाता है। इस सूक्त के

अगले चार मन्त्रों में मूत्र-दोष निवारण का उल्लेख है। इस दोष के दूरीकरण पर ही स्वास्थ्य का बहुत कुछ निर्भर होता है—

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पर्जन्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'मूत्र-निरोध'-निवारण

यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद्वस्तावधि संश्रुतम्।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्॥ ६॥

१. **यत्**=जो **मूत्रम्**=मूत्र-जल **आन्त्रेषु**=आँतों में, **गवीन्योः**=मूत्र-नाड़ियों में, **यत्**=जो **वस्तौ**=मूत्राशय में **अधिसंश्रुतम्**=(श्रवति=to go, move) गतिवाला हुआ है—वहाँ एकत्र हो गया है, **ते मूत्रम्**=तेरा वह मूत्र-जल **एव**=शर के प्रयोग से इसप्रकार **बहिः मुच्यताम्**=बाहर छूट जाए, **इति**=जिससे कि **सर्वकम्**=सम्पूर्ण शरीर **बाल्**=प्राणशक्ति-सम्पन्न बने। २. शरीर में मूत्र के रुक जाने से शरीर में विष फैल जाता है और तब यूरेमिया आदि रोग मृत्यु का कारण बनते हैं। मूत्र द्वारा ये विष शरीर से बाहर हो जाते हैं। इन विषों के निकल जाने पर शरीर के सब अङ्ग ठीक से प्राणशक्ति-सम्पन्न हो जाते हैं।

भावार्थ—शर का प्रयोग हमें मूत्र-निरोध आदि रोगों से मुक्त करे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पर्जन्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मेहन-प्रभेद

प्र ते भिनद्मि मेहनं वर्त्रं वेशन्त्याइव।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्॥ ७॥

१. मूत्र-निरोध से पीड़ित व्यक्ति को आथर्वणी चिकित्सा में निपुण वैद्य कहता है कि मैं **ते मेहनम्**=तेरे मूत्रद्वार को इसप्रकार **प्रभिनद्मि**=खोल देता हूँ **इव**=जैसेकि **वेशन्त्याः वर्त्रम्**=एक महान् सरोवर के बन्ध को खोल देते हैं। २. **एव**=इसप्रकार करने से **ते मूत्रम्**=शरीर में रुका हुआ यह मूत्र-द्रव **बहिः मुच्यताम्**=बाहर निकल जाता है। इसके साथ ही निरुद्ध विष भी निकल जाते हैं और **इति**=इस व्यवस्था से **सर्वकम्**=शरीर के सब अङ्ग **बाल्**=(बल सञ्चरणे) ठीक से कार्य करने लगते हैं।

भावार्थ—मूत्र-द्वार का विकार दूर होकर मूत्र-द्रव बाहर हो और शरीर निर्विष बने।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पर्जन्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मूत्राशय का उद्बन्धन

विषितं ते वस्तिबिलं समुद्रस्योदधेरिव।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्॥ ८॥

१. गतमन्त्र का वैद्य ही कहता है कि **ते**=तेरा **वस्तिबिलम्**=मूत्राशय का द्वार मैंने ऐसे **विषितम्**=खोल दिया है, **इव**=जैसेकि **उदधेः**=जल के धारण करनेवाले **समुद्रस्य**=समुद्र का द्वार खोल दिया जाता है। २. **एव**=इस व्यवस्था से **ते**=तेरा यह **मूत्रम्**=नाना विषों से युक्त मूत्र-द्रव **बहिः मुच्यताम्**=बाहर निकल जाए और **इति**=इसप्रकार **सर्वकम्**=शरीर के सब अङ्ग **बाल्**=पुनः अपने में जीवन-शक्ति का सञ्चय (Hoard again) करनेवाले हों।

भावार्थ—मूत्राशय का उद्बन्धन होकर सविष मूत्र-द्रव शरीर से पृथक् हो और शरीर में पुनः शक्ति-सञ्चय हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पर्जन्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मूत्रावसर्जन

यथेषुका परापतदवसृष्टाऽधि धन्वनः।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्॥ ९॥

१. **यथा**=जिस प्रकार **अधिधन्वनः**=धनुष् पर से **अवसृष्टा**=छोड़ा हुआ **इषुका**=बाण **परापतत्**=सुदूर जा गिरता है, **एव**=इसीप्रकार बन्धनों के हट जाने पर (अवसृष्ट) **ते मूत्रम्**=तेरा यह विषैला मूत्र-द्रव **बहिः मुच्यताम्**=बाहर छूट जाए और **इति**=इसप्रकार **सर्वकम्**=तेरे सारे अङ्ग **बाल्**=सबल हो जाएँ। २. मूत्र-द्रव के ठीक प्रकार से बाहर निकल जाने पर ही स्वास्थ्य का बहुत कुछ निर्भर करता है, अतः वैद्य इसकी व्यवस्था करके रुग्ण पुरुष को नीरोग बनाने के लिए यत्नशील होता है।

भावार्थ—मूत्र-प्रवाह के ठीक होने से शरीर नीरोग रहता है।

विशेष—इन मन्त्रों में कहा है कि—मूत्र-निरोध का निवारण किया जाए (६)। आवश्यक होने पर मेहन-प्रभेद किया जाए (७)। मूत्राशय के द्वार को खोला जाए (८)। मूत्रावसर्जन होकर शरीर नीरोग हो (९)। इस स्वास्थ्य के लिए जल का प्रयोग भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है—

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः कृतिर्वा** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

मधुमिश्रित पय

अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम्। पृञ्चतीर्मधुना पयः॥ १॥

१. प्रभु ने वेद के द्वारा जीव को यज्ञों का उपदेश दिया है। इन यज्ञों व अध्वरों को अपनानेवाले व्यक्ति प्रभु के सच्चे पुत्र हैं। ये प्रभु आज्ञा को पालते हुए प्रभु का समादर करते हैं—'**तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्**'। इन यज्ञों के द्वारा वृष्टि की व्यवस्था करके प्रभु नदियों का प्रवाह चलाते हैं एवं, ये नदियाँ प्रभु की पुत्रियों के समान हैं। यज्ञशील पुरुष प्रभु के पुत्र हैं और नदियाँ यज्ञशील पुरुषों की बहिनों के रूप में यहाँ चित्रित हुई हैं। २. **अध्वरीयताम्**=यज्ञशील पुरुषों की **जामयः**=बहिनों के तुल्य **अम्बयः**=('अवि शब्दे' से अम्बि, जैसे 'नद शब्दे' से नदी) नदियाँ **अध्वभिः यन्ति**=मार्गों से चलती हैं। नदी का मार्गों से चलने का महत्त्व यह है कि न तो वे सूख ही जाती हैं और न ही उनमें पूर (Flood) आते हैं। इसप्रकार ये नदियाँ इन यज्ञशील पुरुषों का उसी प्रकार हित करती है जैसे बहिन भाई का। ३. ये नदियाँ यज्ञों से उत्पन्न होने के कारण **पयः**=अपने जल को **मधुना**=मधु से—सब ओषधियों के सार से **पृञ्चन्तीः**=सम्पृक्त करती हैं। इन नदियों का जल औषध-गुणों से युक्त होता है। यज्ञों में आहुत हुआ घृत व हव्य-पदार्थ सूक्ष्मतम कणों में विभक्त होकर वृष्टिजल के बिन्दुओं का केन्द्र बनता है। प्रत्येक बूँद के केन्द्र में, अग्निहोत्र में हुत, घृतकण विद्यमान होता है। इसप्रकार यह जल शक्ति व नीरोगता देनेवाला बनता है।

भावार्थ—यज्ञों के अनुष्ठान से नदियों का जल शक्तिप्रद व नीरोगता का जनक होता है।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः कृतिर्वा** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सूर्य-किरणों के सम्पर्कवाला जल

अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह। ता नो हिन्वन्त्वध्वरम्॥ २॥

१. गतमन्त्र की नदियों के जल का सङ्केत करते हुए कहते हैं कि **अमूः**=वे **याः**=जो जल

उप सूर्ये=सूर्य के समीप हैं, **वा**=अथवा **सूर्यः याभिः सह**=सूर्य जिनके साथ है, **ताः**=वे जल **नः**=हमारे **अध्वरम्**=यज्ञ को—यज्ञ के भाव को **हिन्वन्तु**=बढ़ाते (Promote further) हैं। २. सूर्य के सम्पर्क में स्थित जलों के इस गुण का कितना महत्त्व है कि वे प्रयुक्त होने पर हमारी यज्ञिय भावना की वृद्धि करते हैं। वे जल जो सदा अन्धकारवाले प्रदेश में होते हैं उनमें शरीर व मन को निर्दोष बनाने के गुणों में भी कमी आ जाती है। नदियों के जल का सदा यही महत्त्व है कि वे सदा सूर्य-किरणों के सम्पर्क में हैं, इससे उस जल के रोग-कृमियों का नाश हो जाता है और उनमें प्राणदायी तत्त्व की स्थापना हो जाती है।

भावार्थ—जल वही ठीक है जो सूर्य के सम्पर्क में है।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः कृतिर्वा** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

उत्तम दूध, उत्तम अन्न

अपो देवीरुप ह्वये यत्र गावः पिबन्ति नः। सिन्धुभ्यः कर्त्वं हविः॥ ३॥

१. मैं **देवीः अपः**=दिव्य गुणोंवाले जल को **उपह्वये**=पुकारता हूँ—इन दिव्य गुणोंवाले जलों की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करता हूँ। **नः**=हमारी **गावः**=गौएँ **यत्र**=यहाँ **पिबन्ति**=शुद्ध जल का पान करती हैं। शुद्ध जलों को पीकर ही तो वे दिव्य गुणयुक्त दूध देनेवाली होंगी। पेय-जल के गुण ही तो उनके दूध में आएँगे। २. इसके अतिरिक्त **सिन्धुभ्यः**=नदियों के द्वारा **हविः कर्त्वम्**=हव्य पदार्थों को उत्पन्न करने के लिए इन जलों की आराधना करता हूँ। दिव्य गुणवाले जलों से अन्न भी उत्तम उत्पन्न होता है। वृष्टिजल से उत्पन्न अन्न इसीलिए सर्वोत्तम होता है।

भावार्थ—दिव्य गुणयुक्त जलों के पान से गौओं का दूध भी उत्तम होता है और इस जल से उत्पन्न अन्न भी सात्त्विक होता है।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः कृतिर्वा** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**पुरस्ताद् बृहती** ॥

अमृतं भेषजम्

अप्स्व१न्तरमृतमप्सु भेषजम्।
अपामुत प्रशस्तिभिरश्वा भवथ वाजिनो गावो भवथ वाजिनीः॥ ४॥

१. **अप्सु अन्तः**=जलों में **अमृतम्**=अमृतत्व है—नीरोगता है। **अप्सु**=इन जलों में ही **भेषजम्**=औषध है। इनके प्रयोग से हम रोगों को रोकनेवाले बनते हैं और उत्पन्न रोगों को नष्ट कर सकते हैं। २. **उत**=और **अपाम्**=जलों के **प्रशस्तिभिः**=प्रशस्त गुणों से **अश्वाः**=अश्व **वाजिनः**=शक्तिशाली **भवथ**=बनते हैं तथा **गावः**=गौएँ **वाजिनीः**=शक्तिशालिनी **भवथ**=होती हैं। यहाँ 'अश्व' पुरुष का प्रतीक है 'गावः' स्त्रियों का प्रतीक हैं। पुरुष और स्त्री इन जलों के ठीक प्रयोग से ही शक्ति-सम्पन्न बनते हैं। वस्तुतः जल ही शरीर में शक्ति के रूप में निवास करते हैं। पुरुष में ये वीर्य और स्त्री में रज के रूप में रहते हैं। शक्ति ही मनुष्य को नीरोग बनाती है और अगली सन्तति को जन्म देकर यह हमें शरीर के दृष्टिकोण से भी अमर बनाती है—'**प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम्**'।

भावार्थ—जल अमृत हैं, ये भेषज=औषध हैं और शक्ति देनेवाले हैं।

विशेष—इस सूक्त के आरम्भ में कहा है कि यज्ञों के प्रचलन से वृष्टि होकर बहनेवाली नदियों का जल मधुमय होता है (१)। सदा सूर्य-किरणों के सम्पर्क में रहनेवाले जल उत्तम होते हैं (२)। इनसे उत्तम दूध व उत्तम अन्न प्राप्त होता है (३)। इनमें अमृत व भेषज निहित है (४)। यह जल सचमुच कल्याण करनेवाला है—

५. [पञ्चमं सूक्तम्]

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः कृतिर्वा** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

मयोभुवः आपः

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे॥ १ ॥

१. **आपः**=जल **हि**=निश्चय से **मयोभुवः**=कल्याण-जनक **स्थ**=हैं (ष्ठा=स्थ)। इनके ठीक प्रयोग से शरीर, मन व मस्तिष्क सभी ठीक होते हैं और हमारा जीवन कल्याणमय होता है। २. **ताः**=ये जल **नः**=हमें **ऊर्जे**=बल और प्राणशक्ति के लिए **दधातन**=धारण करें। साथ ही **महे**=महत्त्व के लिए, उचित भार के लिए, हमें धारण करें। इनके प्रयोग से हम शरीर को यथोचित्त भार (Standard Weight) में स्थापित कर सकते हैं। **रणाय**=रमणीयता के लिए अथवा (रण शब्दे) शब्द-शक्ति के लिए ये हमें स्थापित करें। इनके ठीक प्रयोग से हमारी वाणी की शक्ति बढ़ती है। **चक्षसे**=ये जल हमें दृष्टिशक्ति के लिए धारण करें। इनके ठीक प्रयोग से ही हमारी दृष्टि की शक्ति स्थिर रहेगी।

भावार्थ—जल नीरोगता देते हैं, बल बढ़ाते हैं, उचित भार प्राप्त कराते हैं, वाक्शक्ति को ठीक रखते हैं और दृष्टि को तीव्र करते हैं।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः कृतिर्वा** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

शिवतम-रस

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः॥ २ ॥

१. हे जलो! **यः**=जो **वः**=आपका **शिवतमः**=अत्यन्त कल्याण करनेवाला **रसः**=रस है, **नः**=हमें **इह**=इस जीवन में **तस्य**=उसका **भाजयत**=भागी बनाओ। जलों का गुण रस है। यह रस ही उनके सब गुणों का अधिष्ठान है। इस रस को प्राप्त करके मैं उनके सब गुणों को अपनानेवाला बनता हूँ। २. हे जलो! आप मुझे इस गुण को इसप्रकार प्राप्त कराओ **इव**=जैसेकि **उशतीः मातरः**=हित की कामनावाली माताएँ अपनी सन्तानों को स्वास्थ्यवर्धक दुग्धरस प्राप्त कराती हैं। वस्तुतः ये दिव्य जल हमारे लिए उतने ही हितकर हैं, जितना कि बच्चों के लिए मातृदुग्ध हितकर है।

भावार्थ—जलों का शिवतम-रस हमें प्राप्त हो।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः कृतिर्वा** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

जनन-शक्ति

तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नः॥ ३ ॥

१. हे **आपः**=जलो! हम **वः**=आपके **तस्मै**=उस रस के लिए **अरम्**=पर्याप्तरूप से **गमाम**=प्राप्त हों **यस्य क्षयाय**=जिसके निवास के कारण **जिन्वथ**=आप हमें प्रीणित करते हो। जलों में एक रस है, उसके द्वारा हमारे शरीर की सब शक्तियों का वर्धन होता है। २. **च**=और हे जलो! आप **नः**=हमें **जनयथ**=जनन-शक्ति से युक्त करो। जलों के ठीक प्रयोग से बन्ध्यत्व व नपुंसकत्व का निराकरण होकर हम उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाले हों।

भावार्थ—जलों के रस से शरीर की शक्तियों का वर्धन होता है और जनन-शक्ति ठीक होती है।

ऋषिः—सिन्धुद्वीपः कृतिर्वा ॥ देवता—आपः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

वार्यों का ईशान

ईशा॑ना॒ वार्या॑णां॒ क्षय॑न्तीश्चर्ष॒णीना॑म्। अ॒पो या॑चामि भेष॒जम्॥ ४॥

१. मैं **अपः**=जलों से **भेषजं याचामि**=औषध माँगता हूँ—इन जलों में सब औषधगुण तो हैं ही। इन जलों से मैं उस औषध को माँगता हूँ जोकि **वार्याणाम्**=सब वरणीय गुणों व तत्त्वों के **ईशानाः**=ईशान हैं। इनमें कौन-सी वरणीय वस्तु नहीं है? वस्तुतः इसी कारण से ये **चर्षणीनाम्**=मनुष्य के **क्षयन्तीः**=उत्तम निवास का कारण हैं (क्षि निवासे)। शरीर के लिए सब वरणीय वस्तुओं को प्राप्त कराके ये जल हमारे निवास को उत्तम बनाते हैं।

भावार्थ—सब वरणीय तत्त्वों के ईशानभूत ये जल हमारे लिए औषध हैं। ये हमारे सब रोगों का निवारण करके हमारे निवास को उत्तम बनाते हैं।

विशेष—इस सूक्त के आरम्भ में जलों को कल्याणकारक कहा है (१)। इनमें प्रभु ने अत्यन्त कल्याणकारक रस की स्थापना की है (२)। ये उस रस के द्वारा हमें जनन-शक्ति से युक्त करते हैं (३) और सब वरणीय वस्तुओं के ईशान होते हुए ये जल सब रोगों के औषध बनकर हमारे निवास को उत्तम बनाते हैं (४)। ये शान्ति देनेवाले तथा रोगों पर आक्रमण करके हमारी रक्षा करनेवाले हैं—

६. [षष्ठं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वा कृतिर्वा ॥ देवता—आपः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

रोगशमन—भययावन

शं नो॑ दे॒वीर॒भिष्ट॑य॒ आपो॑ भवन्तु पी॒तये॑। शं योर॒भि स्र॑वन्तु नः॥ १॥

१. **नः**=हमारे लिए **देवीः**=रोगों को जीतने की कामनावाले (दिव् विजिगीषा) **आपः**=जल **शम्**=शान्ति देनेवाले हों। ये जल **अभिष्टये**=रोगों पर आक्रमण करने के लिए हों और इसप्रकार **पीतये**=रक्षण के लिए **भवन्तु**=हों। जल रोगों को जीतने की कामना करते हैं, उनपर आक्रमण करते हैं और उन्हें समाप्त करके हमारा रक्षण करते हैं। यहाँ विजय-प्राप्ति के क्रम का अति सुन्दरता से उपक्षेप हुआ है—'कामना, आक्रमण, विजय'। विजय-प्राप्ति के लिए प्रत्येक क्षेत्र में सर्वप्रथम कामना की आवश्यकता होती है, उसके बाद पुरुषार्थ और तब विजय सम्भव होती है। २. **शंयोः**=शान्ति देनेवाले, रोगों का शमन और भयों का यावन करनेवाले ये जल **नः**=हमारे **अभि**=दोनों ओर **स्रवन्तु**=प्रवाहित हों। अन्दर पीने के रूप में तथा बाहर स्नान के रूप में इनका प्रयोग होता है। इस प्रयोग में सामान्य नियम है कि 'अन्दर गरम, बाहर ठण्डा'। ठण्डे पानी से स्नान पौष्टिक है और 'गरम पानी पीना' कफ-रोगों को न होने देने का साधन है।

भावार्थ—जल रोगों पर आक्रमण करके हमारा रक्षण करते हैं। ये रोगों का शमन व भयों का यावन (दूर) करनेवाले हैं।

ऋषिः—अथर्वा कृतिर्वा ॥ देवता—आपः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

जल+अग्नि

अ॒प्सु मे॒ सोमो॑ अब्रवीद॒न्तर्विश्वा॑नि भेष॒जा। अ॒ग्निं च॑ वि॒श्वश॑म्भुवम्॥ २॥

१. **सोमः**=उस सोम परमात्मा ने **मे**=मेरे लिए **अब्रवीत्**=यह उपदेश किया है कि **अप्सु अन्तः**=जलों में **विश्वानि भेषजा**=सब औषध हैं। जल सब रोगों का प्रतीकार करनेवाले हैं। जल का 'भेषजम्' एक जल-चिकित्सक विविध प्रयोगों से शरीर को नीरोग करता है। जल का 'भेषजम्'

यह नाम ही पड़ गया है। यह सचमुच औषध है। जल के विषय में निम्न नियमों का पालन शरीर को स्वस्थ रखता है—(क) उषःकाल में अधिक-से-अधिक जल पीने का प्रयत्न करना, (ख) भोजन के आरम्भ व अन्त में जल न लेकर बीच-बीच में थोड़ा-थोड़ा करके लेना, (ग) पीने के लिए गरम पानी का प्रयोग करना, गर्मियों में भी बर्फ का प्रयोग न करना, (घ) स्नान के लिए ठण्डे पानी का ही प्रयोग करना, स्नान स्पञ्जिङ्ग रूप में करना। २. उसी सोम प्रभु ने **च**=यह भी बताया कि **अग्निं विश्वशंभुवम्**=अग्नि सब शान्तियों को उत्पन्न करनेवाला है। गरम पानी में अग्नि व जल का मेल हो जाता है और ये दोनों मिलकर रोगों को शान्त करनेवाले होते हैं। शरीर में गरमी होती है, अतः वहाँ ठण्डा पानी भेजना ठीक नहीं। बाहर से शरीर ठण्डा है, वहाँ ठण्डे पानी का प्रयोग ही ठीक है।

भावार्थ—जल में सब औषध हैं। अग्नि व जल दोनों मिलकर शान्ति देनेवाले हैं।

ऋषिः—**अथर्वा कृतिर्वा**॥ देवता—**आपः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

आरोग्य कवच

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे३ मम। ज्योक्च सूर्यं दृशे॥ ३॥

१. **आपः**=हे जलो! आप **भेषजम्**=रोग-निवारक गुण को **पृणीत**=अपने में सुरक्षित करो। (पृणाति to protect, to maintain)। इस रोग-निवारक गुण के द्वारा आप **मम तन्वे**=मेरे शरीर के लिए **वरूथम्**=(Cover) आच्छादन होओ। आपसे सुरक्षित हुआ मैं किसी रोग का शिकार न होऊँ। २. **च**=और रोगों का शिकार न होता हुआ मैं **ज्योक्**=दीर्घकाल तक **सूर्यं दृशे**=सूर्य को देखने के लिए होऊँ। सूर्य-दर्शन करता हुआ दीर्घ-जीवन प्राप्त करूँ। जल 'वारि' है, ये रोगों का निवारण करते ही हैं। रोग-निवारण के द्वारा ये जीवन को सुखी बनाते हैं, अतः इनका नाम 'कम्' है।

भावार्थ—रोग-निवारण के गुणवाले ये जल मेरे लिए आच्छादन का काम करें। मैं दीर्घ-जीवनवाला बनूँ।

ऋषिः—**अथर्वा कृतिर्वा**॥ देवता—**आपः**॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः**॥

विविध जल

शं न आपो धन्वन्या३ः शमु सन्त्वनूप्याः। शं नः खनित्रिमा
आपः शमु याः कुम्भ आभृताः शिवा नः सन्तु वार्षिकीः॥ ४॥

१. **नः**=हमारे लिए **धन्वन्याः**=मरुस्थल के शाद्वल प्रदेशों में होनेवाले **आपः**=जल **शम्**=शान्तिकर हों, **उ**=और **अनूप्याः**=कच्छ प्रदेशों, खादर में होनेवाले जल भी **शं सन्तु**=शान्ति देनेवाले हों। **खनित्रिमाः**=भूमि को खोदकर कुओं से प्राप्त होनेवाले **आपः**=जल **नः**=हमें **शम्**=शान्ति दें। **उ**=और **याः**=जो **कुम्भे**=घड़े में **आभृताः**=भरकर रक्खे गये हैं, वे जल भी हमारे लिए शान्ति दें और अन्त में **वार्षिकीः**=वृष्टि से प्राप्त होनेवाले जल **नः शिवाः**=हमारे लिए कल्याणकर हों। एवं, ये विविध प्रकार के जल हमें अनुकूलता के साथ नीरोग करते हुए शान्ति दें व हमारा कल्याण करें। २. भिन्न-भिन्न जल प्राप्त होते हैं, यहाँ इन सब जलों से नीरोगता के लिए प्रार्थना की गई है।

भावार्थ—विविधरूप में प्राप्त होनेवाले जल हमारा कल्याण करें।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में कहा है कि जल रोगों का शमन व भयों का यावन करनेवाले हैं (१)। इनमें सब औषध निहित हैं (२)। ये हमारे आरोग्य के लिए कवच हैं (३)। विविध

प्रकार के जल हमारा कल्याण करें (४)। जलों के प्रयोग से शरीर को निर्दोष बनाकर अब उत्तम प्रचार व दण्ड-व्यवस्था से समाज-शरीर को निर्दोष बनाने का प्रकरण उपस्थित करते हैं। बहाव के धर्मवाले जलों का अन्दर-बाहर दो प्रकार से प्रयोग करके अपना रक्षण करनेवाला 'सिन्धुद्वीप' ४ व ५ सूक्तों का ऋषि था। 'सिन्धूनां द्विधा प्रयोगेण आत्मानं पाति' इति सिन्धुद्वीपः। अठारहवें सूक्त के दो भाग हैं। एक भाग वह है जिसमें अशुभ लक्षणों का प्रतिपादन है और दूसरा भाग वह है जिसमें उन लक्षणों को दूर करने के उपायों का प्रतिपादन है। ये दोनों भाग मिश्र-से अवश्य हैं, परन्तु वे अत्यन्त स्पष्ट हैं। क्या शरीर के और क्या मन के सभी विकार 'निर्माणात्मक कार्यों में लगे रहने से, द्वेष न करने से, स्नेह से, काम-क्रोध-लोभ को काबू करने से, अनुकूल मति से, अनुकूल आत्म-प्रेरणा से व प्रभु-स्मरण से' दूर होते हैं। विकारों का दूर होना ही सौभाग्य प्राप्ति है। समाज के दोषों का नाश करनेवाला 'चातन' 'चातयति नाशयति' इति चातनः ७ व ८ सूक्तों का ऋषि है—

७. [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

परिवर्तन

स्तुवानमग्न आ वह यातुधानं किमीदिनम्।
त्वं हि देव वन्दितो हन्ता दस्योर्बभूविथ ॥ १ ॥

१. एक ब्राह्मण उन व्यक्तियों में प्रचार-कार्य आरम्भ करता है जो सदाचार का जीवन न बिताकर कदाचार में पड़ जाते हैं। उसके उपदेश से प्रभावित होकर वे अपने जीवन में परिवर्तन लाते हैं और इस प्रचारक का स्तवन करनेवाले होते हैं कि इसने जीवन में उत्तम परिवर्तन ला दिया। इन परिवर्तित जीवनवाले व्यक्तियों को यह ब्राह्मण फिर से समाज का अङ्ग बनाता है। मन्त्र में कहते हैं कि हे **अग्ने**=ज्ञानप्रकाश के द्वारा उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले ब्राह्मण! तू **स्तुवानम्**=इन स्तुति करनेवालों को **आवह**=समाज में ले-आ। आज तक ये **यातुधानम्**=पीड़ा का आधान करनेवाले बने हुए थे तथा **किमीदिनम्**=इनका प्रतिक्षण यही बोल होता था कि 'किम् अदानि' क्या खाऊँ। ये औरों को पीड़ित करते थे और उनके द्रव्यों को अन्याय से छीनकर भोगों के बढ़ाने में लगे हुए थे। २. हे **देव**=ज्ञान-प्रकाश देनेवाले ज्ञानिन्! **त्वं हि**=आप ही निश्चय से **वन्दितः**=इन परिवर्तित जीवनवाले यातुधानों से वन्दित होते हुए **दस्योः**=(दस् उपक्षये) इन क्षय करनेवालों के **हन्ता**=नाशक **बभूविथ**=होते हो। इनकी दस्युवृत्ति को समाप्त करके आप इन्हें दस्यु नहीं रहने देते। औरों को पीड़ा न देने के कारण अब ये 'यातुधान' नहीं रहे। प्रतिक्षण 'क्या खाऊँ' इस बात का जाप न करने से ये अब 'किमीदिन्' नहीं रहे। क्षय की वृत्ति से ऊपर उठ जाने से इनका दस्युत्व समाप्त हो गया है।

भावार्थ—राष्ट्र में ब्राह्मण जोकि अग्नि और देव है, वे 'यातुधानों, किमीदिनों व दस्युओं' के जीवन को ज्ञान-प्रचार के द्वारा परिवर्तित करके उन्हें फिर से समाज का अङ्ग बना देते हैं।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रचारक का युक्ताहारवाला जीवन

आज्यस्य परमेष्ठिञ्जातवेदस्तनूवशिन्। अग्ने तौलस्य प्राशान यातुधानान्वि लापय ॥ २ ॥

१. सुधारक ब्राह्मण से कहते हैं कि **परमेष्ठिन्**=उच्च स्थान में स्थित होनेवाले, प्रकृति व जीव से ऊपर उठकर हृदयस्थ 'प्रभु' में स्थित होनेवाले! **जातवेदः**=प्रभु में स्थित होकर ज्ञान

का प्रकाश प्राप्त करनेवाले! **तनूवशिन्**=अपने शरीर को वश में करनेवाले! **अग्ने**=ज्ञानप्रकाश के द्वारा उन्नति के कारणभूत ब्राह्मण! **आज्यस्य**=घी का **तौलस्य प्राशान**=तोलकर प्रयोग करनेवाला बन। तेरा भोजन मपा-तुला हो। यह परिमित व युक्त आहार ही तेरे स्वास्थ्य को ठीक रक्खेगा और वस्तुतः तेरी इस संयतवृत्ति का ही उन यातुधान और किमीदिन लोगों पर प्रभाव पड़ेगा। तू संयत जीवन के क्रियात्मक उपदेश के द्वारा **यातुधानान्**=इन पीड़ित करनेवाले दुष्टों को **विलापय**=नष्ट कर दे, रुला दे। ये अपने रद्दी जीवन पर पश्चात्ताप में विलाप करें। इनकी वृत्ति में परिवर्तन हो ये 'यातुधान' न रह जाएँ।

भावार्थ—प्रचारक ब्राह्मण युक्ताहारवाले होकर अपने संयत जीवन से यातुधानों के जीवन में भी परिवर्तन कर दें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सुधार-कार्य में जनता का सहयोग

वि लपन्तु यातुधाना अत्रिणो ये किमीदिनः।
अथेदमग्ने नो हविरिन्द्रश्च प्रति हर्यतम्॥ ३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार ज्ञानी पुरुषों का प्रचार इसप्रकार से हो कि उससे प्रभावित होकर **ये**=जो **यातुधानाः**=प्रजा में पीड़ा का आधान करनेवाले, **किमीदिनः**=प्रतिक्षण 'क्या खाऊँ' इस राग को आलापनेवाले, **अत्रिणः**=अपने मज़े के लिए औरों को खा-जानेवाले (अद् भक्षणे) लोग हैं; वे पश्चात्ताप से युक्त होकर **विलपन्तु**=विलाप करनेवाले हो जाएँ। उन्हें अपने हीन कर्मों का दुःख हो और वे अपने जीवन-सुधार का निश्चय करें। २. इस सुधार-कार्य में जनता का सहयोग इस रूप में हो सकता है कि वे इस कार्य के लिए कुछ आहुति दें, अतः वे कहते हैं कि **अथ**=अब हे **अग्ने**=ज्ञान-प्रसारक ब्राह्मण! आप **च**=और **इन्द्रः**=शासन करनेवाला राजा **इदम्**=इस **नः**=हमारी **हविः**=आहुति को—कर के रूप में दिये गये धनांश को तथा दान के रूप में दिये गये धन को **प्रतिहर्यतम्**=प्रेमपूर्वक स्वीकार करो। जनता का इस रूप में सहयोग होगा तो यह सुधार-कार्य बड़ी उत्तमता से चलेगा और राष्ट्र का उत्थान हो सकेगा।

भावार्थ—जनता के आर्थिक सहयोग से राजा ज्ञान-प्रसारक ब्राह्मणों द्वारा सुधार-कार्य को उन्नति दे।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यातुधानों का आत्मसमर्पण

अग्निः पूर्व आ रभतां प्रेन्द्रो नुदतु बाहुमान्। ब्रवीतु सर्वो यातुमानयमस्मीत्येत्य॥ ४॥

१. **अग्निः**=ज्ञान-प्रसार द्वारा उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाला ब्राह्मण **पूर्वः आरभताम्**=प्रथम अपने कार्य को आरम्भ करे। ब्राह्मण का यह कार्य बहुत उत्तमता से तभी चल सकता है जबकि राज्य-शक्ति उसकी पीठ पर हो, अतः मन्त्र में कहा गया कि **बाहुमान्**=शक्तिशाली **इन्द्रः**=राजा **प्रनुदतु**=उन प्रचारकों को आगे बढ़ने के लिए प्रेरित करनेवाला हो। इन सुधारकों को राजा की ओर से सब प्रकार की सुविधा प्राप्त हो। २. इन सुधारकों का कार्यक्रम इतना प्रभावोत्पादक व मधुर हो कि **सर्वः यातुमान्**=प्रजा में पीड़ा का आधान करनेवाले सब दुर्जन लोग प्रभावित होकर उस अग्नि के प्रति अपना समर्पण (surrender) करनेवाले हों और **एत्य**=आकर **ब्रवीतु**=स्वयं कहें कि **अयम्**=यह **अस्मि इति**=मैं हूँ। मैं आपकी शरण में हूँ। आप से दिये जानेवाले दण्ड को मैं सहर्ष स्वीकार करूँगा और आगे से इस असत् कार्य में मैं कभी प्रवृत्त न होऊँगा।

भावार्थ—राज्यशक्ति की सहायता प्राप्त करके सुधारक अपना कार्य इस सुन्दरता से करें कि सब दुर्जन अपनी दुर्जनता को छोड़ने का निश्चय कर, आत्मसमर्पण कर दें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ब्राह्मण की शक्ति

पश्याम ते वीर्यं जातवेदः प्र णो ब्रूहि यातुधानान्नृचक्षः।
त्वया सर्वे परितप्ताः पुरस्तात्त आ यन्तु प्रब्रुवाणा उपेदम्॥ ५॥

१. राजा सुधारक से कहता है—हे **जातवेदः**=(जातः वेदः यस्मात्) मन्त्रों में उल्लिखित यातुधानों में ज्ञान का प्रचार करनेवाले ज्ञानिन्! **ते वीर्यं पश्याम**=हम तेरे पराक्रम को देखें। हे **नृचक्षः**=मनुष्यों के लिए मार्ग-दर्शन का कार्य करनेवाले ब्राह्मण! तू **यातुधानान्**=इन प्रजा-पीड़कों के प्रति **नः**=हमारे सन्देश को **प्रब्रूहि**=अच्छी प्रकार कह दे। राजा का सन्देश यही तो है कि 'तुम यातुधानत्व को छोड़कर सज्जनों का जीवन बितानेवाले बनो, इसी में तुम्हारा और सारे राष्ट्र का कल्याण है'। ब्राह्मण की शक्ति इसी में तो है कि वह इन यातुधानों को यह सन्देश प्रभावशाली रूप से सुना सके। २. हे ब्राह्मण! **त्वया**=तुझसे—तेरे उपदेश से प्रभावित होकर **ते सर्वे**=ये सारे यातुधान **परितप्ताः**=सन्ताप व पश्चात्ताप अनुभव करते हुए **पुरस्तात् आयन्तु**=अपने छिपने के स्थानों को छोड़कर सामने आ जाएँ। **इदम्**=अपने पश्चात्ताप को **प्रब्रुवाणाः**=कहते हुए वे **उप**=हमारे समीप प्राप्त हों। ब्राह्मणों के उपदेश का इन यातुधानों पर यह प्रभाव हो कि वे राजा के प्रति अपना समर्पण कर दें और अपने पश्चात्ताप की भावना को स्पष्टरूप से कह दें।

भावार्थ—ब्राह्मण का प्रभाव तभी व्यक्त होता है जब उसके उपदेश से प्रभावित होकर यातुधान अपने छिपने के स्थानों को छोड़कर राजा के प्रति अपना अर्पण कर दें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

राजा का सहायक ब्राह्मण

आ रभस्व जातवेदोऽस्माकार्थाय जज्ञिषे।
दूतो नो अग्ने भूत्वा यातुधानान्वि लापय॥ ६॥

१. हे **जातवेदः**=ज्ञान का प्रादुर्भाव करनेवाले ब्राह्मण! **आरभस्व**=तू अपने कार्य को आरम्भ कर। **अस्माकार्थाय**=राष्ट्र को उत्तम व सुखी बनानेरूप हमारे कार्य के लिए **जज्ञिषे**=तू उत्पन्न हुआ है। राजा का कर्त्तव्य 'प्रजापालन' ही तो है। इस प्रजापालनरूप कार्य के दो मुख्य अंश ये हैं—(क) बाह्य शत्रु के साथ युद्ध तथा (ख) अन्तः दुर्जनों को दण्डादि से सुधारना। इनमें इस पिछले कार्य में ब्राह्मण राजा के लिए बड़ा सहायक होता है। २. इस ब्राह्मण से राजा कहता है कि हे **अग्ने**=ज्ञान-प्रसार के द्वारा उन्नति-पथ पर ले-जानेवाले ब्राह्मण! तू **नः**=हमारा **दूतः**=सन्देशवाहक **भूत्वा**=होकर **यातुधानान्**=पीड़ा देनेवाले इन दुर्जनों को **विलापय**=पश्चात्ताप से विलाप करनेवाला बना दे। ये अपने कुकर्मों के लिए रो उठें और फिर से न करने के लिए दृढ़ निश्चयी हों।

भावार्थ—राष्ट्र से दुर्जनों को दूर करने के कार्य में ब्राह्मण राजा का दाहिना हाथ बनें। वे उन्हें ज्ञान देकर सुधरने की भावना से भर दें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सुधार व समाप्ति

त्वमग्ने यातुधानानुपबद्धाँ इहा वह। अथैषामिन्द्रो वज्रेणापि शीर्षाणि वृश्चतु॥ ७॥

१. हे **अग्ने**=ज्ञान-प्रसारक ब्राह्मण! **त्वम्**=तू **उपबद्धान्**=जो आगे से पाप न करने के निश्चय में अपने को बाँध चुके हैं, उन **यातुधानान्**=प्रजापीड़कों को **इह**=यहाँ—समाज में **आवह**=सर्वथा प्राप्त करानेवाला हो। ब्राह्मण इन्हें ज्ञान दे। उस ज्ञान से प्रभावित होकर यदि ये आत्मसमर्पण कर दें और पुनः पाप न करने का निश्चय करें तो इस दृढ़ निश्चय के बन्धन में बद्ध इन भूतपूर्व यातुधानों को पुनः समाज का अङ्ग बना दिया जाए। २. परन्तु यदि कोई यातुधान किसी भी प्रकार से सुधरता न दिखे तो **अथ**=अब, विवशता में **इन्द्रः**=असुरों का संहार करनेवाला राजा **एषां शीर्षाणि**=इनके सिरों को **वज्रेण**=वज्र से **अपि वृश्चतु**=निश्चय से काट दे। स्वस्थ न होनेवाले अङ्ग को अन्ततः काटना ही पड़ता है, इसीप्रकार यदि कोई व्यक्ति किसी भी प्रकार से सुधरता प्रतीत न हो तो राजा उसे दण्ड देकर समाप्त कर देता है, जिससे वह प्रजा को पीड़ित न कर सके।

भावार्थ—ब्राह्मण सुधरे हुए जीवनवाले यातुधानों को फिर से समाज का अङ्ग बना देता है, परन्तु जो सुधरें ही नहीं, राजा उन्हें दण्ड द्वारा समाप्त कर प्रजा का रक्षण करता है।

विशेष—इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में दस्युओं के दस्युत्व के नाश का उल्लेख है (१)। यह कार्य युक्ताहारवाला ज्ञानी ब्राह्मण ही कर पाता है (२)। जनता धन देकर इस सुधार-कार्य में सहयोग देती है (३)। ब्राह्मण की शक्ति इसी में होती है कि यातुधान अपनी गुहाओं से बाहर आ जाएँ और अपने को राज्य-शक्ति के प्रति सौंप दें (५)। इसप्रकार ब्राह्मण प्रजा-रक्षण-कार्य में राजा का सहायक होता है (६)। यदि कोई सुधरता ही नहीं तो राजा उसे समाप्त कर देता है (७)। प्रजा को इस सुधार-कार्य के लिए दिल खोलकर सहायता करनी चाहिए।

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**बृहस्पतिरग्नीषोमौ च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

नदी जैसे झाग को

इ॒दं ह॒विर्या॑तु॒धाना॑न्न॒दी फेन॑मि॒वा व॑हत्।
य इ॒दं स्त्री पुमा॒नक॑रि॒ह स स्तु॑वतां॒ जनः॑ ॥ १ ॥

१. प्रजा कहती हैं कि **इदं हविः**=हमारे द्वारा दान व कर-रूप में दिया हुआ यह धन **यातुधानान्**=पीड़ा का आधान करनेवाले लोगों को **आवहत्**=उसी प्रकार बहा ले-जाए **इव**=जैसेकि **नदी फेनम्**=नदी झाग को बहा ले-जाती है, अर्थात् इस धन का प्रयोग मार्ग-भ्रष्ट लोगों में ज्ञान-प्रसार के लिए किया जाए, जिससे वे परिष्कृत जीवनवाले बन जाएँ और समाज में यातुधानों का अभाव ही हो जाए। २. यह ज्ञान-प्रसार का कार्य इसप्रकार हो कि **यः पुमान्**=जो भी पुरुष अथवा **स्त्री**=स्त्री **इह**=यहाँ **इदं अकः**=इस समाज को पीड़ित करने का कार्य करता था **सः जनः**=वह मनुष्य इस कार्य से पराङ्मुख होकर अब इस प्रचारक की **स्तुवताम्**=स्तुति करनेवाला हो जाए। वह अनुभव करे कि इस ज्ञानदाता अग्नि ने मार्ग-दर्शन करके हमारा वस्तुतः कल्याण किया है।

भावार्थ—प्रजा की आर्थिक सहायता से ज्ञान-प्रसार के द्वारा समाज से यातुधानों का विलोप हो जाए।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**बृहस्पतिरग्नीषोमौ च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

स्वागत

अ॒यं स्तु॑वा॒न आग॑मदि॒मं स्म॒ प्रति॑ हर्यत। बृह॑स्पते॒ वशे॑ ल॒ब्ध्वाग्नी॑षोमा॒ वि वि॑ध्यतम् ॥ २ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार परिवर्तित जीवनवाला **अयम्**=यह भूतपूर्व यातुधान **स्तुवानः**=अपने ज्ञानदाता की प्रशंसा करता हुआ **आगमत्**=आया है। यह अब पुनः समाज का अङ्ग बनना चाहता है, अतः आप **इमम्**=इससे **स्म**=अवश्य **प्रतिहर्यत**=प्रीति करनेवाले होओ—इसे अपने में मिला लेने की कामनेवाले होओ। यदि इसे अब भी घृणा से देखते रहे तो इसके पुनः ग़लत मार्ग पर चले जाने का भय हो सकता है। २. हे **बृहस्पते**=ज्ञान के पति ब्राह्मण! अब ऐसी व्यवस्था करो कि **अग्निषोमा**=अग्नि और सोम इसे **वशे लब्ध्वा**=अपने वश में करके **विविध्यतम्**=विशेषरूप से विद्ध करें। इसमें अग्नि व सोम बनने का भाव प्रबल हो, वह भाव इसके हृदय में जड़ जमाए। यह निश्चय कर ले कि मुझे आगे बढ़नेवाला अग्नि बनना है और उन्नत होकर सोम—'विनीत' बने रहना है। निरभिमानता मेरी उन्नति का भूषण बनेगी।

भावार्थ—भूतपूर्व यातुधान अपने जीवन को परिष्कृत करके समाज में आता है तो सामाजिकों को चाहिए कि प्रेम से उसका स्वागत करें। यह प्रेम उसे 'अग्नि और सोम' बनने की भावना में दृढ़ करनेवाला होगा।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रेम से सुधार

यातुधानस्य सोमप जहि प्रजां नयस्व च।
नि स्तुवानस्य पातय परमक्ष्युतावरम्॥ ३॥

१. हे **सोमप**=सोम का—वीर्यशक्ति का अपने अन्दर ही पान करनेवाले, अतएव उत्साह-सम्पन्न ज्ञान-प्रसारक विद्वन्! तू **यातुधानस्य**=इन प्रजापीड़कों की **प्रजाम्**=सन्तति को **जहि**=(हन् गतौ) प्राप्त करनेवाला हो **च**=और उन्हें ज्ञान देकर **नयस्व**=उत्तम मार्ग से ले-चल। २. तुम्हारे प्रेमभरे कार्यों को देखकर यातुधान को भी लज्जा अनुभव हो कि 'कहाँ मैं और कहाँ ये लोग'। 'औरों को कष्ट पहुँचाना ही मेरा पेशा बना हुआ है' और उन्होंने किस प्रकार लोक-सेवा का कार्य अपनाया है।' इसप्रकार **स्तुवानस्य**=ज्ञान-प्रसारकों की स्तुति करते हुए इस पश्चात्तापयुक्त पुरुष की **परम्**=उत्कृष्ट, अर्थात् दक्षिण **उत**=और **अवरम्**=निचली, अर्थात् वाम **अक्षि**=आँख को **निपातय**=तू झुकानेवाला हो। ज्ञान-प्रसारक क्रूरचित्त यातुधान को अपने व्यवहार से लज्जित करके ही सुधार सकता है।

भावार्थ—यातुधानों की सन्तति से मेल करके उन्नति-पथ पर ले-चलने का यत्न होना चाहिए। इस प्रेमभरे कार्य को देखकर यातुधान भी लज्जित होंगे और अवश्य सन्मार्ग का ग्रहण करेंगे।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**बार्हतगर्भात्रिष्टुप्** ॥

यातुधानत्व की परम्परा का विनाश

यत्रैषामग्ने जनिमानि वेत्थ गुहा सतामत्रिणां जातवेदः।
तांस्त्वं ब्रह्मणा वावृधानो जह्येषां शततर्हमग्ने॥ ४॥

१. हे **जातवेदः अग्ने**=ज्ञान का प्रसार करनेवाले और ज्ञान द्वारा ही उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले ब्राह्मण! **एषां गुहा सताम्**=गुफाओं में छिपकर रहनेवाले इन **अत्रिणाम्**=औरों को खा-जानेवाले—हानि पहुँचानेवाले यातुधानों के **जनिमानि**=उत्पन्न सन्तानों को **यत्र**=जहाँ भी **वेत्थ**=जानते हो, जहाँ भी इनके वंशजों का पता लगे, वहीं पहुँचकर **त्वम्**=तू **तान्**=उन सबको **ब्रह्मणा**=ज्ञान के प्रसार से **वावृधानः**=खूब ही वृद्धि-पथ पर ले-चलता हुआ **अग्ने**=हे ब्राह्मण!

तू **एषां शततर्हं जहि**=इनका शतशः प्रकारों से विनाश कर दे। इनके जीवन की कमियों को दूर करके इनके जीवन को सुन्दर बना दे।

भावार्थ—यातुधानों की प्रजाओं के सुधार से यातुधानत्व की परम्परा चल नहीं पाती। उसका मूल में ही विनाश हो जाता है।

विशेष—सूक्त के प्रारम्भ में ही कहा गया है कि प्रजा के धन का समाज-सुधार के लिए ऐसा उपयोग हो कि यातुधान इसप्रकार नष्ट हो जाएँ जैसेकि नदी फेन को नष्ट कर देती है (१)। सुधरने के सङ्कल्पवाले आगत यातुधानों का हमें स्वागत करना चाहिए (२)। सुधार प्रेम से ही सम्भव है (३)। इनकी सन्तानों को प्रेम से सुधारकर यातुधानत्व की परम्परा को मूल में ही विनष्ट कर देना चाहिए। इस प्रकार वैयक्तिक व सामाजिक सुधार होने पर प्रार्थना करते हैं—

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वस्वादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

वसु व ज्योति की प्राप्ति

अस्मिन्वसु वसवो धारयन्त्विन्द्रः पूषा वरुणो मित्रो अग्निः।
इममादित्या उत विश्वे च देवा उत्तरस्मिञ्ज्योतिषि धारयन्तु॥ १॥

१. **अस्मिन्**=इस डाँवाडोल न होनेवाले व्यक्ति में **वसवः**=(प्राणो वै वसवः—जै० ४।२।३) प्राण **वसु धारयन्तु**=प्राणशक्ति को धारण करें। यह स्वस्थ शरीरवाला व प्राणशक्ति-सम्पन्न होकर ही तो यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त हो सकेगा। २. **इमम्**=इस प्राणशक्ति-सम्पन्न पुरुष को **इन्द्रः**=इन्द्र, **पूषा**=पोषण की देवता, **वरुणः**=द्वेष-निवारण के द्वारा श्रेष्ठता का सम्पादन करनेवाली देवता, **मित्रः**=स्नेह की देवता, **अग्निः**=अग्रगति की देवता, **आदित्याः**=सब स्थानों से उत्तमता का आदान करने की देवता **उत**=और **विश्वेदेवाः च**=सब दिव्य भावनाएँ भी **उत्तरस्मिन् ज्योतिषि**=सर्वोत्कृष्ट ज्योति में, अर्थात् परमात्मा में **धारयन्तु**=धारण करें। ये जितेन्द्रियता (इन्द्र), शक्ति का पोषण (पूषा), निर्द्वेषता (वरुण), स्नेह (मित्र), अग्रगति (अग्नि), गुणों का आदान (आदित्य) व दिव्य भावनाएँ प्रभु-प्राप्ति के साधन हैं।

भावार्थ—प्राणशक्ति-सम्पन्न शरीर में जितेन्द्रियता आदि को धारण करके हम प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वस्वादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

उत्तम 'नाकलोक' का अधिरोहण

अस्य देवाः प्रदिशि ज्योतिरस्तु सूर्यो अग्निरुत वा हिरण्यम्।
सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि रोहयेमम्॥ २॥

१. **अस्य**=गतमन्त्र के अनुसार अपने-आपको वसु व उत्कृष्ट ज्योति में धारण करनेवाले पुरुष के **प्रदिशि**=आदेश में, कथन में, **ज्योतिः अस्तु**=ज्योति हो। यह जो कुछ बोले वह औरों को ज्ञान देनेवाला हो। इसके कथन में **सूर्यः**=सूर्य हो, **अग्निः**=अग्नि हो **उत वा**=और या **हिरण्यम्**=हितरमणीय ज्योति हो। इसके कथन मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान का सूर्य उदय करनेवाले हों। उदर में जाठराग्नि को ठीक रखनेवाले हों और हृदयान्तरिक्ष में हितमरणीय ज्योति को स्थापित करनेवाले हों। २. इस सब उपदेश का यह परिणाम हो कि **सपत्नाः**=काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रु **अस्मत् अधरे भवन्तु**=हमारे नीचे हों, अर्थात् हम उन्हें पाँवों तले कुचलने में समर्थ हों। ३. इसप्रकार लोकहित के कार्यों में लगे हुए **इमम्**=इस ज्ञान-प्रसारक पुरुष को **उत्तमं**

नाकम्=उत्कृष्ट स्वर्गलोक में **अधिरोहय**=अधिरूढ़ कीजिए। यह स्वर्ग को प्राप्त करनेवाला हो, इसका जीवन सुखी हो।

भावार्थ—प्राणशक्ति व प्रभु की ज्योति को प्राप्त करके हम लोकहित के लिए ज्ञान का प्रसार करें। उस ज्ञान से लोगों के मस्तिष्क, शरीर व हृदय को हम सुन्दर बनाने का प्रयत्न करें। लोग काम, क्रोध, लोभ को जीतने की भावना से भरे हों। इस लोकहित के द्वारा हम स्वर्ग के अधिकारी बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

श्रेष्ठ पद-प्राप्ति

येनेन्द्राय समभरः पयांस्युत्तमेन ब्रह्मणा जातवेदः।
तेन त्वमग्न इह वर्धयेमं सजातानां श्रैष्ठ्य आ धेह्येनम्॥ ३॥

१. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **येन**=जिस **उत्तमेन**=सर्वोत्कृष्ट **ब्रह्मणा**=ज्ञान से **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **पयांसि**=आप्यायनों को—शक्तियों के वर्धन को **समभरः**=आप भरते हो—जिस ज्ञान के द्वारा आप अन्नमयकोश में तेज को, प्राणमयकोश में वीर्य को, मनोमयकोश में ओज व बल को, विज्ञानमयकोश में मन्यु को तथा आनन्दमयकोश में सहस् को भरते हैं, **तेन**=उसी ज्ञान से हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **इह**=यहाँ—समाज में **इमम्**=इस वसु व उत्कृष्ट ज्योति को धारण करनेवाले पुरुष को **वर्धय**=बढ़ाइए—सब प्रकार से उन्नत कीजिए। २. इसप्रकार ज्ञान से उन्नत करके आप **एनम्**=इसे **सजातानाम्**=सजात पुरुषों में—समवयस्क पुरुषों में **श्रैष्ठ्ये**=श्रेष्ठ स्थान में **आधेहि**=स्थापित कीजिए। यह ज्ञान के द्वारा औरों से आगे बढ़ जाए। हे अग्ने! आपका अग्नित्व इसे आगे बढ़ाने में ही तो प्रमाणित हो सकता है। ज्ञान के द्वारा यह सब प्रकार का वर्धन करके श्रेष्ठ बने और औरों का कल्याण करनेवाला हो।

भावार्थ—ज्ञान से ही सारा आप्यायन होता है, उसे प्राप्त करके हम समवयस्कों में आगे बढ़नेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यज्ञ व वर्चस्

ऐषां यज्ञमुत वर्चो ददेऽहं रायस्पोषमुत चित्तान्यग्ने।
सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि रोहयेमम्॥ ४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सजातों में श्रेष्ठ बननेवाला व्यक्ति कहता है हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आपके द्वारा ज्ञान से श्रेष्ठता को प्राप्त कराया गया **अहम्**=मैं **एषाम्**=इन सजातों के **यज्ञम्**=यज्ञ को **उत वर्चः**=और शक्ति को **आ ददे**=देता हूँ—इनके जीवन को यज्ञात्मक बनाकर इन्हें विलास से ऊपर उठाता हूँ, परिणामतः इनकी शक्ति का वर्धन करता हूँ। यज्ञमय जीवन से ही शक्ति का वर्धन होता है। २. मैं इन्हें **रायस्पोषम्**=धन का पोषण प्राप्त कराता हूँ—धनार्जन योग्य बनाता हूँ **उत**=और साथ ही **चित्तानि**=इन्हें चित्तों को भी प्राप्त कराता हूँ। इनकी स्मृतियों को भी ठीक रखता हूँ ताकि ये अपने स्वरूप व जीवनोद्देश्य को (कोऽहं, कुत आयातः) न भूलते हुए धन का सदा सद्व्यय ही करें। ३. हे प्रभो! आप ऐसी कृपा कीजिए कि **सपत्नाः**=काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रु **अस्मत्**=हमारे **अधरे भवन्तु**=पाँवों-तले ही रहें, हम इन्हें पराजित करनेवाले हों। इसप्रकार हमें शत्रु-दलन के योग्य बनाकर आप **इमम्**=इस आपके भक्त को **उत्तमं नाकम्**=उत्तम स्वर्गलोक में **अधिरोहय**=अधिरूढ़ कीजिए। कामादि सपत्न ही नरक के द्वार हैं, इन्हें जीतकर

स्वर्ग क्यों न मिलेगा?

भावार्थ—हमारा जीवन यज्ञमय हो जिससे हमारी शक्तियाँ जीर्ण न हों। हम धन के पोषण के साथ आत्म-स्मृतिवाले हों जिससे उन धनों के कारण विलासमय जीवनवाले न हो जाएँ।

विशेष—सूक्त का आरम्भ 'वसु व ज्योति' की प्राप्ति की प्रार्थना से होता है (१)। हम काम, क्रोध व लोभ को जीतकर उत्तम स्वर्गलोक का अधिरोहण करनेवाले हों (२)। हमें श्रेष्ठपद की प्राप्ति हो (३)। यज्ञमय जीवन से हम वर्चस्वी बने रहें। धनों के साथ आत्म-स्मरणवाले हों ताकि धन हमारे निधन का कारण न बन जाए (४)। असत्य भाषणादि पापों से हम ऊपर उठ सकें—

१०. [दशमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**असुरः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

राजा वरुण

अयं देवानामसुरो वि राजति वशा हि सत्या वरुणस्य राज्ञः।
ततस्परि ब्रह्मणा शाशदान उग्रस्य मन्योरुदिमं नयामि॥ १॥

१. **अयम्**=यह **देवानाम् असुरः**=(असून् राति) देवों में प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाला प्रभु **विराजति**=विशेषरूप से चमकता है अथवा वह सम्पूर्ण संसार का शासन करता है। सब देवों को दीप्ति देनेवाला वह प्रभु ही है—'**तेन देवा देवतामग्र आयन्**'—उस प्रभु से ही सब देव देवत्व को प्राप्त हुए। '**तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**'—उस प्रभु की दीप्ति से ही ये सूर्यादि देव दीप्त हो रहे हैं। २. **राज्ञः**=उस देदीप्यमान **वरुणस्य**=संसार से सब पापों का निवारण करनेवाले—अनृतवादी को पाशों से जकड़नेवाले (**ये ते पाशाः सप्त सप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तम्**) उस प्रभु की **वशाः**=इच्छाएँ **हि**=निश्चय से **सत्याः**=सत्य हैं। प्रभु जो चाहते हैं, वही होता है। प्रभु की शासन-व्यवस्था में कोई किसी प्रकार का विघात नहीं कर सकता। ३. **ततः**=उस प्रभु से प्राप्त **ब्रह्मणा**=ज्ञान के द्वारा **परिशाशदानः**=चारों ओर वर्त्तमान कामादि शत्रुओं को छिन्न-भिन्न करता हुआ मैं **उग्रस्य**=उस तेजस्वी प्रभु के **मन्योः**=क्रोध से **इमम्**=इस अपने को **उत् नयामि**=ऊपर उठाता हूँ, अपने को प्रभु के क्रोध का पात्र नहीं बनने देता। प्रभु के क्रोध का भाजन तो वही व्यक्ति होता है जो कामादि शत्रुओं का इस शरीर में प्रवेश होने देता है। ज्ञान के द्वारा इन शत्रुओं का संहार करने पर हम प्रभु के प्रिय होते हैं।

भावार्थ—प्रभु संसार के शासक हैं। ज्ञान प्राप्त करके और वासनाओं का नाश करने पर हम प्रभु के कोप से दूर रहते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अ-द्रोह

नमस्ते राजन्वरुणास्तु मन्यवे विश्वं ह्यु॑ग्र निचिकेषि द्रुग्धम्।
सहस्रमन्यान्प्र सुवामि साकं शतं जीवाति शरदस्तवायम्॥ २॥

१. हे **राजन् वरुण**=संसार का शासन करनेवाले—पापियों को पाशों से जकड़नेवाले प्रभो! **ते मन्यवे नमः अस्तु**=आपके मन्यु के लिए हम नमस्कार करते हैं। आपका क्रोध हमें दण्डित करनेवाला न हो। हे **उग्र**=तेजस्विन् प्रभो! हम इस बात को अच्छी प्रकार समझते हैं कि आप **विश्वं द्रुग्धम्**=सम्पूर्ण द्रोह को **हि**=निश्चय से **निचिकेषि**=जानते हैं। हमारे मनों में उठनेवाली द्रोह की भावनाएँ आपसे छिपी नहीं हैं, अतः मैं द्रोह की सब भावनाओं से ऊपर उठता हूँ।

२. इनसे ऊपर उठता हुआ मैं **सहस्रम्**=हज़ारों **अन्यान्**=अन्य पुरुषों को भी **साकम्**=अपने साथ **प्रसुवामि**=अद्रोह की भावना से चलने के लिए प्रेरित करता हूँ। स्वयं अद्रोहवाला होकर औरों को भी अद्रोह के लिए कहता हूँ। इसप्रकार **तव अयम्**=आपका यह पुरुष **शतं जीवाति**=सौ वर्ष तक जीनेवाला बनता है। अद्रोह की वृत्ति का दीर्घजीवन से सम्बन्ध है। मन में उत्पन्न होनेवाली द्रोह की भावनाएँ वस्तुतः हमारे ही जीवन का द्रोह करती हैं और हम अल्प जीवनवाले हो जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु का प्रिय व्यक्ति कभी द्वेष नहीं करता।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्**॥

असत्य से दूर

यदुवक्थानृतं जिह्वया वृजिनं बहु। राज्ञस्त्वा सत्यधर्मणो मुञ्चामि वरुणादहम्॥ ३॥

१. **यत्**=जो **जिह्वया**=जिह्वा से **बहु**=बहुत अधिक **अनृतम्**=असत्य को तथा **वृजिनम्**=पाप को—पाप-वचन को **उवक्थ**=तूने अब तक बोला है **त्वा**=तुझे **सत्यधर्मणः**=सत्य का धारण करनेवाले **राज्ञः वरुणात्**=उस शासक, अनृतवादी के पाशों को छिन्न करनेवाले प्रभु के स्मरण के द्वारा **अहम्**=मैं **मुञ्चामि**=उस पाप से छुड़ाता हूँ। २. जब हम उस प्रभु का शासक के रूप में स्मरण करते हैं तब हमारी असत्य भाषणादि की वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं। प्रभु का विस्मरण ही हमें पाप की ओर ले-जाता है।

भावार्थ—हम प्रभु का वरुणरूप में स्मरण करते हैं और असत्य से दूर होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

भवसागर से पार

मुञ्चामि त्वा वैश्वानरादर्णवान्महतस्परि।
सजातानुग्रेहा वद ब्रह्म चाप चिकीहि नः॥ ४॥

१. गतमन्त्रों के अनुसार जब हम द्रोह और असत्य से ऊपर उठने का निश्चय करते हैं तब प्रभु कहते हैं कि मैं **त्वा**=अद्रोही व सत्यनिष्ठ तुझे इस **महतः**=महान् **वैश्वानरात्**=सब मनुष्यों के विचरण के स्थानभूत **अर्णवात्**=भवसागर से **परिमुञ्चामि**=मुक्त करता हूँ। भवसागर से तैरने के लिए '**ऋतस्य नावः सुकृतमपीपरन्**' सत्य की नाव अत्यन्त उपयोगी है। सत्य और अद्रोह (अहिंसा) को अपनाकर हम मोक्ष का साधन कर पाते हैं। २. प्रभु कहते हैं कि **उग्र**=सत्य व अद्रोह के पालन से तेजस्वी बना हुआ तू **इह**=इस जीवन में **सजातान्**=अपने समान जन्मवाले इन मनुष्यों को **आवद**=इस ज्ञान का उपदेश कर—इस ज्ञान का कथन कर। इसके द्वारा उन्हें भी सत्य व अद्रोह के महत्त्व को समझा **च**=और तू स्वयं **नः**=हमारे **ब्रह्म**=इस वेदज्ञान को **अपचिकीहि**=अच्छी प्रकार जाननेवाला बन ('अप' उपसर्ग यहाँ 'निर्देश' अर्थ में आया है) और जानकर औरों के प्रति उसका निर्देशक बन।

भावार्थ—संसार-सागर को तैरने के लिए आवश्यक है कि हम ज्ञान प्राप्त करके उसका समुचित प्रसार करें।

विशेष—सूक्त के प्रारम्भ में कहा है कि वासनाओं के नाश के द्वारा मैं अपने को प्रभु का कोपभाजन नहीं होने देता (१), मैं द्रोह से ऊपर उठता हूँ (२), असत्य से दूर होता हूँ और (३) इसप्रकार ज्ञान-प्रसार करता हुआ भवसागर से पार होता हूँ (४)। इसप्रकार की उत्तम वृत्ति होने पर हमारी सन्तान भी उत्तम बनती हैं—

११. [एकादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पूषादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

पुरुष 'अर्यमा' हो, स्त्री 'ऋतप्रजाता'

वषट् ते पूषन्नस्मिन्त्सूतावर्यमा होता कृणोतु वेधाः।
सिस्रतां नार्यृतप्रजाता वि पर्वाणि जिहतां सूतवा उ॥ १॥

१. हे **पूषन्**=सबका पोषण करनेवाले प्रभो! **ते वषट्**=आपके लिए हम अपना अर्पण करते हैं। **अस्मिन् सूतौ**=इस सन्तानोत्पत्ति के कार्य में **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) काम-क्रोध आदि का विजेता, **होता**=दानपूर्वक अदन करने-(खाने)-वाला, यज्ञशेष का सेवन करनेवाला, **वेधाः**=बुद्धिपूर्वक कार्यों का करनेवाला व्यक्ति **कृणोतु**=साहाय्य करे। अर्यमा, होता व वेधा पुरुष की सन्तानें उत्तम तो होती ही हैं। इस पुरुष की सन्तानें उत्पन्न भी सुखपूर्वक होती हैं। २. **ऋतप्रजाता**=पूर्णतया ऋत के अनुसार सन्तानों को जन्म देनेवाली (ऋतेन प्रजाता) **नारी**=यह उन्नति-पथ पर चलनेवाली स्त्री **सिस्रताम्**=ठीक से गति करे। यह **सूतवा उ**=उत्पत्ति के लिए निश्चय से **पर्वाणि**=अङ्ग-सन्धियों को **विजिहताम्**=शिथिल करे। इसके अङ्गों में तनाव न हो, यह उन्हें ढीला छोड़नेवाली हो, जिससे सन्तान-उत्पत्ति सुविधा से हो सके। ३. गृहस्थ के पच्चीस वर्षों में अधिक-से-अधिक दस सन्तानों का विधान है। एवं, एक सन्तान के बाद दूसरी सन्तान में ढाई वर्ष का अन्तर आवश्यक है। कम-से-कम इतने अन्तर से सन्तानों को जन्म देनेवाली नारी ही 'ऋतप्रजाता' है। पुरुष कामादि को वश में करनेवाला, यज्ञशेष का सेवन करनेवाला तथा बुद्धिमत्ता से कार्यों को करनेवाला हो और नारी 'ऋतप्रजाता' हो तो सन्तान अवश्य सुख से होंगे। इस कार्य के लिए स्त्री के लिए भी आवश्यक है कि वह दैनिक कार्यक्रम को ठीक से करे और अङ्ग-पर्वों में तनाव उत्पन्न न होने दे। ४. पति-पत्नी के लिए प्रभु के प्रति अपना अर्पण करना तो आवश्यक है ही।

भावार्थ—सुख-प्रसव के लिए आवश्यक है कि (क) पति-पत्नी प्रभु के प्रति अपना समर्पण करनेवाले हों, (ख) पुरुष काम से अनभिभूत, यज्ञशेष का सेवी और बुद्धिमान् हो, (ग) नारी कम-से-कम ढाई वर्ष के अन्तर से सन्तान को जन्म देनेवाली हो। दैनिक कार्यक्रम में ठीक रहे। अङ्ग-पर्वों में तनाव उत्पन्न न होने दे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पूषादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

देवों का सम्पर्क व सुख-प्रसव

चतस्रो दिवः प्रदिशश्चतस्रो भूम्या उत। देवा गर्भं समैरयन्तां व्यूर्णुवन्तु सूतवे॥ २॥

१. **दिवः**=द्युलोक की **चतस्रः प्रदिशः**=चारों प्रकृष्ट दिशाएँ, **भूम्याः चतस्रः**=भूमि की चारों दिशाएँ **उत**=और **देवाः**=इन दिशाओं में स्थित सब देव **गर्भम्**=गर्भ को **सम् एरयन्**=सम्यक्तया उस-उस शक्ति को प्राप्त करानेवाले होते हैं। 'द्युलोक की चारों दिशाएँ तथा भूमि की चारों दिशाएँ' इस वाक्यांश (मुहावरे) का भाव यही है कि 'सारा ब्रह्माण्ड'। वस्तुतः यह शरीर-पिण्ड ब्रह्माण्ड का छोटा रूप होता है—'**यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे**'। इस पिण्ड में ब्रह्माण्ड के सूर्यादि देव अपनी-अपनी शक्ति प्राप्त कराते हैं। सूर्य ही 'चक्षु' का रूप धारण करके आँख में रहने लगता है, वायु 'प्राण' बनकर नासिका में, अग्नि 'वाक्' बनकर मुख में। इसीप्रकार भिन्न-भिन्न सब देव शरीर में वास करके शरीर को सशक्त बनाते हैं। गर्भिणी नारी इन देवों के सम्पर्क में रहती हुई गर्भस्थ सन्तान को इन सब देवों की शक्ति से युक्त करती हैं। २. अब ये सब देव

ताम्=उस गर्भस्थ सन्तान को **सूतवे**=सुख-प्रसव के लिए **वि ऊर्णुवन्तु**=गर्भ के आवरण से रहित करें, गर्भ के आच्छादन से बाहर लानेवाले हों। यहाँ यह स्पष्ट है कि जो स्त्री सूर्य-किरणों व वायु आदि के सम्पर्क में रहेगी, खुली दिशाओं में विहारशील होगी, वह सन्तान को सुख से जन्म देनेवाली होगी।

भावार्थ—सूर्यादि देवों का सम्पर्क सुख-प्रसूति में अत्यन्त सहायक है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पूषादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**चतुष्पदोष्णिग्गर्भा ककुम्मत्यनुष्टुप्**॥

सूषणा-बिष्कला

सूषा व्यूर्णोतु वि योनिं हापयामसि। श्रथया सूषणे त्वमव त्वं बिष्कले सृज॥ ३॥

१. **सूषा**=(सूषति, begets) सन्तान को जन्म देनेवाली यह माता **वि ऊर्णोतु**=आवरण को दूर हटानेवाली हो। **योनिम्**=योनि-प्रदेश को **विहापयामसि**=खुला करते हैं। योनिप्रदेश की संकीर्णता के कारण सुख-प्रसव में होनेवाली बाधा को दूर करते हैं। २. हे **सूषणे**=उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाली जननि! **त्वम्**=तू **श्रथय**=प्रसन्न मनोवृत्तिवाली हो (to be glad)। सुख-प्रसव के लिए मानस प्रसाद की अत्यन्त आवश्यकता है। मन के विकास के साथ अन्य अङ्गों का भी विकास होता है और मन के मुरझाने के साथ अन्य अङ्गों का भी सङ्कोच। यह सङ्कोच सुख-प्रसव में बाधा बनता है। ३. हे **बिष्कले**=(बिष्कल to kill) विघ्नों को नष्ट करनेवाली अथवा (बिष्क् to see, perceive) सब स्थिति को ठीक रूप में देखनेवाली वीर स्त्रि! **त्वम्**=तू **अवसृज**=सब अङ्गों को शिथिल कर दे। उनमें किसी प्रकार का तनाव न रहने दे और इसप्रकार सुख से सन्तान को जन्म देनेवाली हो।

भावार्थ—सुख-प्रसव के लिए आवश्यक है कि (क) योनि-प्रदेश संकीर्ण न हो, (ख) माता प्रसन्न मनवाली हो और (ग) अङ्गों में किसी प्रकार का तनाव न हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पूषादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः**॥

पृश्नि-शेवलम् (छोटा-सा, सोये-सोये गति करनेवाला)

नेव मांसे न पीवसि नेव मज्जस्वाहतम्।
अवैतु पृश्नि शेवलं शुने जराय्वत्तवेऽव जरायु पद्यताम्॥ ४॥

१. **न इव मांसे**=न तो मांस में, **न पीवसि**=न ही चरबी में, **न इव मज्जसु**=और न ही मज्जा (marrow of the bones) में यह सन्तान किसी प्रकार से **आहतम्**=आहत हो। यह **पृश्निः**=छोटे-से परिमाण का (Dwarfish) कोमल (Delicate), **शेवलम्**=(शी+वल्) सोये-सोये गति करनेवाला गर्भस्थ सन्तान **अव एतु**=बाहर आ जाए। २. उसके शरीर का **जरायु**=आवृत करनेवाला जेर **शुने अत्तवे**=कुत्ते के खाने के लिए हो। अथवा यह **जरायु**=जेर **अवपद्यताम्**=पूर्णरूप से बाहर तो आ ही जाए। अन्दर रह गया इसका अंश माता के ज्वर आदि का कारण हो जाता है। ३. यहाँ गर्भस्थ बालक को **पृश्नि**=छोटा-सा कहा गया है। वह सोये-सोये ही शरीर के अन्दर के व्यापार कर रहा होता है, अतः 'शे-वल' है। यह गर्भस्थ बालक का सुन्दरतम चित्रण है। यह मांस, चर्बी व मज्जा आदि सब धातुओं में किसी भी प्रकार से हिंसित न हो। इसकी सब धातुएँ ठीक हों। आवरणभूत जरायु इसका ठीक रक्षण करे और सन्तान के बाहर आ जाने पर इस जरायु को कुत्ते आदि के लिए फेंक दिया जाए। जरायु का अंश अन्दर न रह जाए।

भावार्थ—गर्भस्थ बालक की सब धातुएँ ठीक हों। वह जरायु से सुरक्षित हुआ बाहर आ जाए और पूर्ण स्वस्थ हो। जरायु के ठीक बाहर आ जाने से माता भी पूर्ण स्वस्थ हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पूषादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

अङ्ग-विकास

वि ते भिनद्मि मेहनं वि योनिं वि गवीनिके।
वि मातरं च पुत्रं च वि कुमारं जरायुणाव जरायु पद्यताम्॥ ५॥

१. हे मातः! **ते**=तेरे **मेहनम्**=गर्भ-मार्ग को **विभिनद्मि**=विशेषरूप से खुला करता हूँ। इसीप्रकार **योनिम्**=योनि को भी **वि**=खुला करता हूँ और **गवीनिके**=दोनों नाड़ियों को भी **वि**=खुला करता हूँ। इन सबके संकीर्ण न होने से सन्तान का सुख-प्रसव होता है। २. बाहर आने पर **मातरं च पुत्रं च**=माता व पुत्र को **वि**=अलग-अलग करते हैं। उन्हें जोड़नेवाली नाड़ी को काटकर उनके पृथक् जीवन का आरम्भ करते हैं। आज तक माता ही खाती थी, उसकी रस आदि धातुएँ बनकर बच्चे को उस नाड़ी से प्राप्त हो जाती थीं। अब बच्चा स्वयं खाएगा और स्वतन्त्ररूपेण शरीर-धातुओं को उत्पन्न करेगा। ३. **कुमारं जरायुणा वि**=इस उत्पन्न कुमार को जरायु से पृथक् करते हैं। अब यह आवरण उसके लिए अनावश्यक हो गया है, अतः यह **जरायु**=जेर **अवपद्यताम्**=नीचे गिर जाए—बच्चे के शरीर से पृथक् हो जाए।

भावार्थ—सब मार्गों के ठीक विकास से ही सुख-प्रसव सम्भव होता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पूषादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

दशमास्य

यथा वातो यथा मनो यथा पतन्ति पक्षिणः।
एवा त्वं दशमास्य साकं जरायुणा पताव जरायु पद्यताम्॥ ६॥

१. **यथा**=जैसे **वातः**=वायुः [पतति] सहज स्वभाव से चलती है, **यथा मनः**=जैसे मन तीव्र गतिवाला होता है, **यथा**=जैसे **पक्षिणः**=पक्षी **पतन्ति**=दोनों पङ्खों से गति करते हैं, **एव**=उसी प्रकार हे **दशमास्य**=दस मास की अवस्थावाले गर्भ से बाहर आनेवाले बालक! **त्वम्**=तू **जरायुणा साकम्**=जेर के साथ **पत**=गतिवाला हो, गर्भ से बाहर आ और **जरायु**=यह जेर **अवपद्यताम्**=तुझसे पृथक् हो जाए। २. वायु की सहज गति की भाँति गर्भ सहज गति से बाहर आनेवाला हो। मन की शीघ्र गति की भाँति बाहर आने की क्रिया में तनिक भी विलम्ब न हो। पक्षियों के दोनों पङ्खों की गति की भाँति इस उत्पन्न बालक के अवर व पर—दोनों गात्र ठीक हों। इसकी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ ठीक प्रकार से कार्य करनेवाली हों।

भावार्थ—सन्तान के प्रसव का ठीक समय वही है जब वह दशमास्य होता है। यह दशमास्य दशम दशक तक—शतवर्षपर्यन्त जीनेवाला होता है।

विशेष—सूक्त के आरम्भिक मन्त्र में कहा है कि पुरुष 'अर्यमा, होता व वेधा' हो, स्त्री ऋत-प्रजाता हो तो सन्तान सुख से प्रसूत होती है (१)। सुख-प्रसव के लिए देवों के सम्पर्क में रहना आवश्यक है (२)। माता को प्रसन्न मनवाला होना चाहिए (३), तभी बालक की सब धातुएँ भी ठीक बनेंगी (४)। माता के गर्भाङ्गों का ठीक विकास सुख-प्रसूति के लिए आवश्यक है (५)। ऐसा होने पर यह दस मास का बालक सुखपूर्वक गति करता हुआ बाहर आ जाता है (६)। जिस प्रकार जरायु के आवरण से निकलकर बालक प्रकट होता है, उसी प्रकार मेघों के आवरण से निकलकर सूर्य चमक उठता है। सूर्य भी मानो जरायुज है—

१२. [द्वादशं सूक्तम्]

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—यक्षमनाशनम् ॥ छन्दः—जगती ॥

वात व वृष्टि का कारणभूत 'सूर्य'

जरायुजः प्रथम उस्त्रियो वृषा वातभ्रजा स्तनयन्नेति वृष्ट्या।
स नो मृडाति तन्व ऋजुगो रुजन्य एकमोजस्त्रेधा विचक्रमे॥ १॥

१. **जरायुजः प्रथमः**=(जरायु Womb) पृथिवी के गर्भ से सबसे प्रथम उत्पन्न होनेवाला। सूर्य ही तो प्रथम उत्पन्न होता है, उसी का कुछ अंश टूटकर पृथिवी रूप हो गया है। यह सूर्य **उस्त्रियः**=(उस्त्रिया अस्य अस्ति) चमक और प्रकाशमय किरणोंवाला, **वृषा**=वृष्टि का कारणभूत **वातभ्रजाः**=वायु व अभ्रों (मेघों) को जन्म देनेवाला है। सूर्य की उष्णता से भूमिपृष्ठ गरम होता है। इस गर्मी से वहाँ की वायु गरम होकर फैलती है और हल्की होकर ऊपर उठती है। उसका स्थान लेने के लिए समुद्र की ओर से वायु स्थल की ओर आने लगती है। इसप्रकार वायु में गति होती है। इस गति का कारण सूर्य ही है। जलों के वाष्पीकरण के द्वारा मेघों का निर्माण भी सूर्य से ही होता है। २. यह सूर्य **स्तनयन्**=विद्युत् के रूप में गर्जना करता हुआ **वृष्ट्या**=वृष्टि के साथ **एति**=आता है। द्युलोक में प्रभु का जो ओज सूर्यरूप में प्रकट हो रहा है, वही अन्तरिक्ष में विद्युत् के रूप में और पृथिवी पर अग्नि के रूप में प्रकट होता है। एवं विद्युत् के रूप में सूर्यवाला ओज ही गर्जना कर रहा होता है। ३. **सः**=यह सूर्य **नः तन्वे**=हमारे शरीर के लिए **मृडाति**=सुख उत्पन्न करता है। **ऋजुगः**=यह सरल मार्ग से चलता है और **रुजन्**=हमारे शरीर के दोषों को नष्ट करता हुआ अपने मार्ग पर जाता है। सूर्य की किरणें शरीर के दोषों को नष्ट करती ही हैं। यह सूर्य वह है **यः**=जोकि **एकम् ओजः**=एक ही ओज को **त्रेधा**=तीन प्रकार से **वि चक्रमे**=विक्रान्त करता है—(क) इसके ओज से सर्वत्र प्राणशक्ति का सञ्चार होता है, (ख) अन्धकार दूर होता है, सर्वत्र प्रकाश फैलता है तथा (ग) वसन्त आदि ऋतुभेद व सम्पूर्ण काल-व्यवहार का यह कारण बनता है। 'प्राणशक्ति का सञ्चार, प्रकाश का विस्तार व काल का निर्माण'—ये तीन कार्य इस सूर्य के ओज से हो रहे हैं।

भावार्थ—सूर्य वात व वृष्टि का कारण है। वह रोगों को दूर करता है।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—यक्षमनाशनम् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

सूर्य-नमस्कार

अङ्गेअङ्गे शोचिषा शिश्रियाणं नमस्यन्तस्त्वा हविषा विधेम।
अङ्कान्त्समङ्कान्हविषा विधेम यो अग्रभीत्पर्वास्या ग्रभीता॥ २॥

१. हे सूर्य! **अङ्गेअङ्गे**=एक-एक अङ्ग में **शोचिषा**=दीप्ति से **शिश्रियाणम्**=आश्रय करते हुए **त्वा**=तुझे **नमस्यन्तः**=नमस्कार करते हुए हम **हविषा**=दानपूर्वक अदन (भक्षण) से अथवा अग्निहोत्र से **विधेम**=(विध्=to pierce, to cut) रोगों को कोटनेवाले बनें तथा (ग) हवि का सेवन करें—प्रातः-सायं घर पर अग्निहोत्र करें तथा यज्ञशेष का ही सेवन करें। ये तीन बातें हमें अवश्य ही रोगों से मुक्त करेंगी। २. हम **हविषा**=हवि के द्वारा, अग्निहोत्र के द्वारा तथा यज्ञशेष के सेवन द्वारा **अङ्कान्**=लक्षणों को **समङ्कान्**=उत्तम लक्षण **विधेम**=बनाएँ। 'अङ्क' शब्द का अर्थ शरीर (Body) भी है। हम हवि के द्वारा शरीरों को उत्तम बनाएँ और **यः**=जो **ग्रभीता**=पकड़ लेनेवाला रोग **अस्य**=इसके **पर्व**=जोड़ों को **अग्रभीत्**=जकड़ बैठा है, उस रोग को भी हवि के द्वारा काटनेवाले हों। ऋग्वेद [१०।१६१।१] में **'ग्राहिर्जग्रह यदि वैतदेनम्'** इन शब्दों से इस भाव

को कहा गया है।

भावार्थ—सूर्य-नमस्कार व्यायाम करते हुए सूर्य-दीप्ति को अपने शरीर पर लेते हुए तथा अग्निहोत्र के द्वारा और भोजन में यज्ञशेष के सेवन से रोग कट जाते हैं, शरीर सुलक्षणोंवाला बनता है और वात-पीड़ाएँ दूर हो जाती हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सिरदर्द, खाँसी व सन्धिपीड़ा से छुटकारा

मुञ्च शीर्षक्त्या उत कास एनं परुष्परुराविवेशा यो अस्य।
यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो वनस्पतीन्त्सचतां पर्वतांश्च॥ ३॥

१. हे सूर्य! **एनम्**=गतमन्त्र के अनुसार सूर्य-नमस्कार करनेवाले व हवि का सेवन करनेवाले पुरुष को **शीर्षक्त्याः**=सिरदर्द से **मुञ्च**=मुक्त कर, **उत**=और **यः कासः**=जो खाँसी व **अस्य परुष्परुः**=इसके प्रत्येक जोड़ में पीड़ा के रूप में रोग **आविवेश**=प्रविष्ट हो गया है, उस रोग से इसे मुक्त कर। २. **यः**=जो **अभ्रजाः**=बादलों से होनेवाला—इन बादलों व वृष्टि से उत्पन्न सीलवाली वायु से होनेवाला कफ़ का रोग है, **वातजः**=वायु से होनेवाला रोग है, **यः च**=और जो **शुष्मः**=पैत्तिक विकार के कारण अङ्गों के शोषण का कारणभूत रोग है—उस सबको हे सूर्य! तू दूर करनेवाला है। ३. इन रोगों के होने पर यह रोगी **वनस्पतीन् सचताम्**=विविध वनस्पतियों का सेवन करनेवाला हो **च**=और आवश्यक होने पर **पर्वतान्**=पर्वतों का सेवन करे। पर्वतों का जलवायु पैत्तिक विकारों में विशेषरूप से लाभकारी होता है।

भावार्थ—सूर्य-किरणों का सेवन 'सिरदर्द, खाँसी व सन्धिपीड़ाओं' से मुक्त करता है और वनस्पतियों व पर्वत-वायु का सेवन मनुष्य को कफ़, वात व पित्त के विकारों से बचाता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

चारों अङ्गों में शान्ति

शं मे परस्मै गात्राय शमस्त्ववराय मे।
शं मे चतुर्भ्यो अङ्गेभ्यः शमस्तु तन्वे३ मम॥ ४॥

१. **मे**=मेरे **परस्मै गात्राय**=शरीर के ऊपर के अङ्गों के लिए **शम्**=शान्ति **अस्तु**=हो। **मे**=मेरे **अवराय**=शरीर के निचले अङ्गों के लिए भी **शम् अस्तु**=शान्ति हो। सूर्य-किरणों का सेवन मेरे एक-एक अङ्ग को नीरोग व शान्त बनाए। सूर्य-किरणों का सेवन शरीर के उपद्रवों को दूर करनेवाला हो। २. **मे**=मेरे **चतुर्भ्यः**=चारों **अङ्गेभ्यः**=अङ्गों के लिए **शम् अस्तु**=शान्ति हो। 'सिर, छाती, उदर व टाँगें'—स्थूलतया ये शरीर के चार अङ्ग हैं। समाज-शरीर में ये ही 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र' कहलाते हैं। मेरे ये चारों ही अङ्ग शान्त व निरुपद्रव हों। इनके ठीक होने पर ही **मम तन्वे शम्**=मेरा सम्पूर्ण शरीर नीरोग, स्वस्थ और शान्त हो।

भावार्थ—सूर्य-किरणों का सेवन शरीर के सब अङ्गों को शान्त और निरुपद्रव बनाता है।

विशेष—सूक्त के प्रथम मन्त्र में सूर्य को रोगों को नष्ट करनेवाला कहा है (१)। यह रोगों को काट देता है (२)। सिरदर्द, खाँसी व सन्धिपीड़ा से मुक्त करता है (३)। शरीर के चारों अङ्गों को शान्त रखता है। इन सूर्य-किरणों का व हवि का ही सेवन करनेवाला यह व्यक्ति भृगु है, 'भ्रस्ज पाके' अपनी शक्तियों का ठीक से परिपाक करता है और अपने सब अङ्गों को नीरोग बनाकर 'अङ्गिरस' बनता है—एक-एक अङ्ग में रसवाला—लोच व लचकवाला। यह 'भृगु-अङ्गिराः' ही १२ से १४ तक के सूक्तों का ऋषि है। १३वें सूक्त में यह ईश्वर के प्रति

नमन करता हुआ प्रार्थना करता है कि—

१३. [त्रयोदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**विद्युत्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विद्युत्, स्तनयित्नु व अश्मा

नम॑स्ते अस्तु वि॒द्युते॒ नम॑स्ते स्तनयि॒त्नवे॑। नम॑स्ते अ॒स्त्वश्म॑ने॒ येना॑ दू॒डाशे॒ अस्य॑सि॥ १॥

१. हे प्रभो! **विद्युते ते नमः अस्तु**=वृष्टिकाल में विद्युत् के रूप में चमकते हुए आपके लिए नमस्कार हो। **स्तनयित्नवे**=मेघों में गर्जना के रूप में शब्द करते हुए **ते नमः**=आपके लिए हम नतमस्तक हों। **अश्मने ते**=बीच-बीच में ओलों के रूप में बरसनेवाले आपके लिए **नमः अस्तु**=हमारा नमस्कार हो। २. हम आपको नमस्कार करते हैं **येन**=क्योंकि **दूडाशे**=(दाश्नोति to kill) बुरी तरह से हमारा नाश करनेवाली काम-क्रोधादि वृत्तियों को आप हमसे **अस्यति**=परे फेंकते हो (दूडाश के द्विवचन का यहाँ प्रयोग है)। काम-क्रोधादि वृत्तियाँ हमारा नाश करती हैं। **'तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ'**। प्रभु का स्मरण इन वृत्तियों को नष्ट करता है और इसप्रकार हमारा कल्याण करता है।

भावार्थ—विद्युत्, स्तनयित्नु व अश्मा में प्रभु की ही शक्ति कार्य कर रही है। यह प्रभुशक्ति ही हमारे काम-क्रोध का भी नाश करके हमारा रक्षण करती है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**विद्युत्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

तप व उन्नति

नम॑स्ते प्रवतो नपा॒द्यत॒स्तपः॑ स॒मूह॑सि। मृ॒डया॑ नस्त॒नूभ्यो॒ मय॑स्तो॒केभ्य॑स्कृधि॥ २॥

१. **प्रवतः नपात्**=उच्चता से न गिरने देनेवाले हे प्रभो! **ते नमः**=हम आपके लिए नमस्कार करते हैं। आप उच्चता से न गिरने देनेवाले इसलिए हैं, **यतः**=क्योंकि **तपः समूहसि**=आप तप का सञ्चय करते हैं। तप ही सम्पूर्ण उत्थान का मूल है। तप का विपरीत पत=पतन है। प्रभु तपःरूप हैं, अतः पूर्ण उन्नत हैं। प्रभुकृपा से हम भी तपस्वी बनते हैं और उन्नत हो पाते हैं। उन्नति तप के अनुपात में ही होती है। २. हे प्रभो! आप इस तप के द्वारा **नः**=हमारे **तनूभ्यः**=शरीरों के लिए **मृडय**=सुख देनेवाले होवें। इस तपस्या के परिणामस्वरूप हमारे शरीरों में किसी प्रकार का रोग न हो। हमें नीरोग बनाकर आप **तोकेभ्यः**=हमारे सन्तानों के लिए भी **मयः**=कल्याण **कृधि**=कीजिए। हमारे स्वस्थ शरीरों से हमारे सन्तानों के शरीर भी स्वस्थ हों।

भावार्थ—उच्चता तपोमूलक है। तप से ही हमारे शरीर भी स्वस्थ होते हैं, परिणामतः सन्तानों का भी कल्याण होता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**विद्युत्**॥ छन्दः—**चतष्पाद्विराड्जगती**॥

प्रेरणा व तपस्या

प्रव॑तो नपा॒न्नम॑ ए॒वास्तु॒ तुभ्यं॒ नम॑स्ते हे॒तये॒ तपु॑षे च कृण्मः।
वि॒द्म ते॒ धाम॑ पर॒मं गुहा॒ यत्स॑मु॒द्रे अ॒न्तर्निहि॑ता॒सि॒ नाभिः॑॥ ३॥

१. **प्रवतो नपात्**=उच्च स्थान से न गिरने देनेवाले प्रभो! **तुभ्यम्**=आपके लिए **नमः एव अस्तु**=हमारा नमस्कार हो। **ते**=आपकी **हेतये**=प्रेरणा के लिए **च**=तथा **तपुषे**=तपस्या के लिए **नमः कृण्मः**=हम नमस्कार करते हैं। हम आपकी प्रेरणा (हि=प्रेरणे) को सुनते हैं और जीवन में तपस्या को नष्ट नहीं होने देते तो हम उन्नत-ही-उन्नत होते हैं, किसी प्रकार से हमारी अवनति नहीं होती। इसलिए यह प्रेरणा और तपस्या—दोनों ही वस्तुतः आदरणीय हैं। २. इस प्रेरणा के

सुनने व तपस्या को अपनाने से ही हम **ते**=आपके **परमं धाम**=उत्कृष्ट तेज को **विद्म**=जान पाते हैं। **यत्**=जो उत्कृष्ट तेज मलिन अन्तःकरणों में द्रष्टव्य नहीं होता। ३. आप **नाभिः**=(णह बन्धने) इस ब्रह्माण्ड के सब लोक-लोकान्तरों को अपने में बाँधनेवाले हैं '**मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव**'। आप सूत्रों-के-सूत्र हैं। ये सब लोक आपमें ही ओत-प्रोत हैं। ऐसे आप **समुद्रे**=(स-मुद्) प्रसाद से युक्त अन्तःकरण के **अन्तः**=अन्दर **निहिता असि**=स्थापित हैं। आपका दर्शन निर्मल व प्रसन्न हृदय में ही होता है। प्रसन्न मनवाले लोग ही आपके निवास-स्थान हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की प्रेरणा को सुनें व तपस्वी बनें। यही प्रभु-दर्शन का मार्ग है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**विद्युत्** ॥ छन्दः—**चतष्पाद्विराड्जगती** ॥

दिव्य इषु

यां त्वा देवा असृजन्त विश्व इषुं कृण्वाना असनाय धृष्णुम्।
सा नो मृड विदथे गृणाना तस्यै ते नमो अस्तु देवि ॥ ४ ॥

१. हे **देवि**=प्रभु की दिव्यशक्ते! **तस्यै ते नमः अस्तु**=उस तेरे लिए नमस्कार हो, **याम्**=जिस तुझे **विश्वेदेवाः**=सब देव **धृष्णुम्**=धर्षक शत्रु को—काम-क्रोध आदि पराभूत करनेवाले शत्रुओं को **असनाय**=परे फेंकने के लिए **इषुं कृण्वाणाः**=बाण के रूप में करते हुए **असृजन्त**=उत्पन्न करते हैं। मनुष्य के लिए काम-क्रोध आदि को जीतना सम्भव नहीं। उस समय देववृत्ति के लोग परमेश्वर की दैवी शक्ति को अपना इषु (बाण) बनाते हैं। इस इषु से काम का पराजय होता है। प्रभु-स्मरण काम का विध्वंस करता है। २. **सा**=वह ईश्वरीय शक्ति **विदथे गृणाना**=ज्ञानयज्ञों में स्तुति की जाती हुई **नः मृड**=हमारे लिए सुख करनेवाली हो। 'विदथ' शब्द युद्ध के लिए भी प्रयुक्त होता है। यह शक्ति काम आदि के साथ युद्ध के प्रसंग में हमारा कल्याण करनेवाली हो।

भावार्थ—प्रभु की दिव्य शक्ति कामादि के साथ युद्ध में हमारा इषु बनती है और काम का विध्वंस करती है।

विशेष—प्रभु की शक्ति ही सर्वत्र कार्य करती है (१)। तप उस शक्ति को प्राप्त करने का साधन है (२)। तप और प्रभु-प्रेरणा को सुनना ही प्रभु-दर्शन के मार्ग हैं (३)। प्रभु की दिव्य शक्ति इषु बनकर हमारे लिए काम का विध्वंस करती है (४)। इन तपस्वी कुलों में ही कुलवधुओं का जन्म होता है—

१४. [चतुर्दशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यमः** ॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

कुलवधू के मुख्य गुण 'भगं, वर्चः'

भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्त्रजम्। महाबुध्नइव पर्वतो ज्योक्पितृष्वास्ताम् ॥ १ ॥

१. वैदिक पद्धति में एक युवक अपनी जीवन-यात्रा की निर्विघ्न पूर्ति के लिए अपना एक साथी चुनता है। वह वरणीय कन्या में दो गुणों को महत्त्व देता है। वे गुण हैं—'**भगं, वर्चः**'। वह कहता है कि मैं **अस्याः**=इस कन्या के **भगम्**=अन्तः व बाह्य सौन्दर्य (Exellence, Beauty) को तथा **वर्चः**=तेजिस्वता को **आदिषि**=आदर से देखता हूँ (Pay a tribute to) और **वृक्षात् अधि स्त्रजम् इव**=वृक्ष से जैसे माला को ग्रहण करते हैं, पुष्पों को लेकर माला बनाते हैं, इसीप्रकार इस कन्या के पितृकुलरूप वृक्ष से गुणरूपी माला से अलंकृत इस कन्या का ग्रहण करता हूँ।

२. **महाबुध्नः पर्वतः इव**=जैसे विशाल मूलवाला पर्वत स्थिरता से एक स्थान में रहता है, उसी प्रकार यह कन्या **ज्योक्**=दीर्घकाल तक **पितृषु**=माता-पिता के समीप **आस्ताम्**=निवास करे। यहाँ 'माता-पिता के साथ देर तक रहना' उसके बड़ी अवस्था में विवाह का सङ्केत करता है, तथा 'घर में पर्वत के समान स्थिरता से रहना' उसके व्यर्थ इधर-उधर न घूमने व सच्चरित्रता को व्यक्त करता है।

भावार्थ—विवह के योग्य कन्या 'भग व वर्च' वाली है, बड़ी अवस्थावाली व युवति है, घर में स्थिरता से रहनेवाली अचपल है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वर के मुख्य गुण 'नियमिततता, संयम'

एषा ते राजन्कन्या वधूर्नि धूयतां यम।
सा मातुर्बध्यतां गृहेऽथो भ्रातुरथो पितुः ॥ २ ॥

१. युवक के प्रस्ताव करने पर कन्या के माता-पिता सब विचार करते हैं और विचार के पश्चात् प्रस्ताव की स्वीकृति देते हुए कहते हैं कि हे **राजन्**=भौतिक क्रियाओं (खान-पान, सोना-जागना) आदि में अत्यन्त नियमित जीवनवाले, समय पर इन सब कार्यों को करनेवाले **यम**=संयमी जीवनवाले युवक! **एषा कन्या**=यह अपने गुणों व तेज से चमकनेवाली **वधूः**=सब कार्यभार का वहन करनेवाली हमारी सन्तान **ते**=तेरे लिए **निधूयताम्**=हमारे घर से तेरे घर में भेज दी जाए (Remove)। युवक की द्रष्टव्य विशेषताएँ 'राजन् व यम' शब्दों से स्पष्ट हैं। वह युवक भोजन आदि की क्रियाओं में बड़ा नियमित हो और संयमी जीवनवाला हो। युवति भी तेज से चमके; रुधिर-अभाव से पिङ्गला-सी न हो तथा गृहकार्य वहन करनेवाली हो। २. **सा**=वह कन्या विवाहित होने के पश्चात् **मातुः गृहे बध्यताम्**=माता के घर में सम्बन्धवाली हो, अर्थात् जब वह पतिगृह से कहीं अन्यत्र ज़ाए तो नाना के घर में जाए **अथो**=और **भ्रातुः**=अपने भाई के घर में जाए, **अथो**=और **पितुः**=अपने पिताजी के घर में जाए। अन्य सम्बन्धियों के घरों में आने-जाने से कई बार व्यर्थ के कलह उठ खड़े होते हैं। इधर-उधर कम जाने से सम्बन्ध मधुर बने रहते हैं। एवं, कन्या की शोभा इसी में है कि वह नाना, दादा (पिता) व भाई के घर में ही अधिकतर जानेवाली हो।

भावार्थ—युवक नियमित जीवनवाला व संयमी हो। युवति तेजोदीप्त व गृहकार्य वहन करने में सक्षम हो।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यमः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदाविराडनुष्टुप्** ॥

विवाह का उद्देश्य

एषा ते कुलपा राजन्तामु ते परि दद्मसि। ज्योक्पितृष्वासाता आ शीर्ष्णः समोप्यात् ॥ ३ ॥

१. हे **राजन्**=नियमित जीवनवाले युवक! **एषा**=यह वधू **ते**=तेरे **कुलपा**=कुल का रक्षण करनेवाली हो, तुझसे सन्तान को जन्म देकर तेरे कुल का विच्छेद न होने देनेवाली हो। **ताम्**=उसे हम **उ**=निश्चय से **ते**=तेरे लिए **परि दद्मसि**=देते हैं। २. यह कन्या वह है जोकि **आ शीर्ष्णः समोप्यात्**=(सम् आ वप्) सिर में, मस्तिष्क में ज्ञान के सम्यक् वपन के समय तक **ज्योक्**=देर तक **पितृषु आसाता**=माता-पिता व आचार्य के समीप रही है। 'पितृषु' यह बहुवचन शब्द आचार्य-सान्निध्य का भी सङ्केत कर रहा है। ज्ञान देने से आचार्य भी पिता ही है।

भावार्थ—विवाह का प्रमुख उद्देश्य वंश का उच्छेद न होने देना ही है, अतः गृहस्थ एक

अत्यन्त पवित्र आश्रम है। मस्तिष्क को ज्ञान से अलंकृत करने के पश्चात् ही एक युवति इसमें प्रवेश करती है।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—यमः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

पत्नी 'अन्तः कोश'-सी

असितस्य ते ब्रह्मणा कश्यपस्य गयस्य च।
अन्तःकोशमिव जामयोऽपि नह्यामि ते भगम्॥ ४॥

१. **असितस्य ते**=विषयों से अबद्ध जो तू **ब्रह्मणा**=ज्ञान के द्वारा **कश्यपस्य**=(पश्यकस्य) वस्तुओं को ठीक रूप में देखनेवाला जो तू, वस्तुतः विषयों की आपात रमणीयता से तू इसीलिए तो मोहित नहीं हुआ कि तूने उन्हें ठीक रूप में देखा है, **गयस्य च**=प्राणशक्ति से सम्पन्न जो तू है, उस तेरे लिए **जामयः**=पत्नी **अन्तः कोशम् इव**=आध्यात्मिक सम्पत्ति के समान हैं। विषयों से अबद्ध, ज्ञान के कारण तात्त्विक दृष्टिवाला, प्राणसाधक पुरुष पत्नी को अपनी आध्यात्मिक सम्पत्ति के रूप में देखता है। वह पत्नी में एक मित्र को पाता है, जो उसे पतन से बचाकर उत्थान की ओर ले-जानेवाली होती है। वैषयिक, अतात्त्विक दृष्टिवाले, प्राणशक्ति के महत्त्व को न समझनेवाले पुरुष के लिए यह स्त्री ही नरक का द्वार हो जाती है। २. कन्या का पिता कहता है कि हम अपनी कन्या को तुम्हारे लिए क्या देते हैं **ते भगम्**=तुम्हारा ऐश्वर्य **अपि नह्यामि**=तुम्हारे साथ जोड़ते हैं।

भावार्थ—पति 'असित, कश्यप व गय' होता है तो पत्नी उसके लिए 'अन्तःकोश' के समान होती है।

विशेष—कुलवधू 'भग व वर्च' वाली हो (१)। वर नियमित जीवनवाला व संयमी हो (२)। वह विवाह का मूलोद्देश्य वंश-अविच्छेद ही समझे (३)। अवैषयिक, तात्त्विक-दृष्टिवाले, प्राणसाधक पुरुष के लिए पत्नी 'अन्तःकोश'-सी है (४)। इसप्रकार के घरों में ही प्रेम और मेल बना रहता है। यह प्रेम सामाजिक सङ्गठन के रूप में व्यक्त होता है—

१५. [पञ्चदशं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—सिन्ध्वादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—भुरिग्बृहती ॥

सङ्गठन यज्ञ में आहुति

सं सं स्रवन्तु सिन्धवः सं वाताः सं पतत्रिणः।
इमं यज्ञं प्रदिवो मे जुषन्तां संस्राव्ये ण हविषा जुहोमि॥ १॥

१. **सिन्धवः**=नदियाँ **सम्**=मिलकर **संस्रवन्तु**=उत्तमता से बहती रहें। छोटे-छोटे स्रोत अलग-अलग ही बहते रहें तो वे शीघ्र ही सूख जाएँगे और उनमें किसी प्रकार की शक्ति भी नहीं दीखती। ये स्रोत मिलकर एक प्रबल वेगवाली नदी के रूप में बहते हैं और मार्ग में आये वृक्ष आदि को उखाड़कर आगे बढ़ते जाते हैं। २. इसीप्रकार **वाताः**=वायुएँ भी **सम्**=मिलकर ही प्रबल वेगवाली हो जाती हैं। वायुवेग भी अलग-अलग होकर बहना चाहें तो वे शायद पत्तों को भी न हिला सकें। ३. **पतत्रिणः**=पक्षी भी **सम्**=मिलकर ही शक्ति-सम्पन्न बनते हैं। एक टिड्डी का कोई अर्थ ही नहीं, परन्तु टिड्डीदल अत्यन्त भयङ्कर रूप धारण कर लेता है। ४. प्रभु कहते हैं कि—**मे**=मेरे **इमम्**=इस **यज्ञम्**=सङ्गठन के भाव को (यज्=सङ्गतिकरण) **प्रदिवः**=प्रकृष्ट ज्ञानी पुरुष **जुषन्ताम्**=प्रीतिपूर्वक सेवित करें। ज्ञानी सङ्गठन के महत्त्व को समझते हैं और वे मिलकर ही चलते हैं। अज्ञानी व मूर्खता में सब अपने ही स्वार्थ को देखते हैं, परिणामतः वहाँ

सङ्गठन नहीं हो पाता। ५. एक ज्ञानी पुरुष निश्चय करता है कि **संस्राव्येन**=मिलकर चलने के लिए—सङ्गठन के लिए हितकर **हविषा**=दान की वृत्ति से **जुहोमि**=मैं अपनी आय के अंश को आहुति के रूप में देता हूँ। यह अंश कर व दान के रूप में दिया जाकर सङ्गठन को दृढ़ बनानेवाला होता है।

भावार्थ—नदियाँ, वायुएँ व पक्षिगण सङ्गठन के महत्त्व को व्यक्त कर रहे हैं। हम सङ्गठन-यज्ञ में अवश्य आहुति देनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सिन्ध्वादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पथ्यापङ्क्तिः** ॥

पशुभाव का नाश

इहैव हवमा यात म इह संस्रावणा उतेमं वर्धयता गिरः।
इहैतु सर्वो यः पशुरस्मिन्तिष्ठतु या रयिः॥ २॥

१. सङ्गठन का प्रधान कहता है कि **इह**=यहाँ **मे हवम्**=मेरी पुकार होने पर **आयात एव**=आओ ही, **उत**=और यहाँ सभास्थल में आकर हे **संस्रावणाः गिरः**=सङ्गठन करनेवाले प्रचारको! **इमम् वर्धयत**=इस सङ्गठन को बढ़ाओ, अर्थात् सङ्गठन के महत्त्व को लोगों के हृदयों पर अङ्कित करके उनमें सङ्गठन की भावना भर दो। २. तुम्हारी इन वाणियों के परिणामस्वरूप **यः पशुः**=जो पाशविक भावना है, स्वार्थ के कारण अलग-अलग रहने की भावना है, वह **सर्वः**=सभी **इह एतु**=यहाँ सभास्थल पर आये और वह यहीं रह जाए, वह यहीं यज्ञाग्नि में भस्म हो जाए और **अस्मिन्**=इन उपस्थित लोगों में **यः रयिः**=जो धन है, धन्य बनानेवाली उत्तम भावना है, वही **तिष्ठतु**=रहे।

भावार्थ—लोग सङ्गठन-यज्ञ के लिए होनेवाली सभाओं में एकत्र हों। वहाँ प्रमुख वक्ताओं के भाषणों से प्रभावित होकर पशुभाव को दूर करें और एकता के भाव से अपने को धन्य बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सिन्ध्वादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सङ्गठन व धन

ये नदीनां संस्रवन्त्युत्सासः सदमक्षिताः।
तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि॥ ३॥

१. **ये**=जो **नदीनाम्**=नदियों के **उत्सासः**=प्रवाह **अक्षिताः**=सङ्गठन के कारण अक्षीण हुए-हुए **सदम् संस्रवन्ति**=सदा बहते हैं, प्रभु कहते हैं कि **मे**=मेरे **तेभिः सर्वैः संस्रावैः**=उन सब सम्मिलित प्रवाहों से **धनं सं स्रावयामसि**=धन को प्राप्त कराते हैं। २. सदा बहनेवाली नदियाँ (क) नावों के लिए उपयुक्त मार्ग बनकर व्यापारिक सुविधा उपस्थित करती हैं, इस व्यापार के द्वारा धनवृद्धि होती है, (ख) इनके जलों को बाँध आदि से रोककर विद्युत् उत्पन्न करने की व्यवस्था होती है। वह विविध यन्त्रों के चालन द्वारा धनवृद्धि का कारण होती है, (ग) सदा प्रवाहित होनेवाली नदियाँ नहरों के द्वारा सिंचाई के लिए भी सहायक होती हैं। ३. ये नदियों के प्रवाह अलग-अलग बहते रहें तो न नावें चलतीं, न विद्युत् उत्पन्न होती और न इससे नहरें निकल पातीं।

भावार्थ—सम्मिलित रूप में बहनेवाली नदियों के प्रवाह नावों के मार्ग बनकर विद्युदुत्पादन में सहायक होकर तथा नहरों द्वारा सिंचाई का साधन बनकर धनवृद्धि का कारण होती हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सिन्ध्वादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

घी, दूध की नदियाँ

ये स॒र्पिषः॑ सं॒स्रव॑न्ति क्षी॒रस्य॑ चोद॒कस्य॑ च।
तेभि॑र्मे॒ सर्वैः॑ संस्रा॒वैर्धनं॒ सं स्रा॑वयामसि॥ ४॥

१. **ये**=जो **सर्पिषः संस्रवन्ति**=घृत के प्रवाह मिलकर चलते हैं। एक-एक बूँद ने क्या बहना? इसीप्रकार **क्षीरस्य च**=जो दूध के प्रवाह बहते हैं और **उदकस्य च**=पानी के प्रवाह भी बहते हैं, इनमें भी एक-एक बूँद को तो नष्ट ही हो जाना था। इसप्रकार **मे**=मेरे **तेभिः सर्वैः संस्रावैः**=उन सब मिलकर बहनेवाले प्रवाहों से **धनम्**=धन को **संस्रावयामसि**=संस्रुत करते हैं। २. एक घर को 'घृत, दुग्ध व जल' के प्रवाह ही धन्य बनाते हैं। घर वही उत्तम है, जहाँ इन वस्तुओं की कमी न हो। इनकी कमी न होने पर मनुष्य सबल, स्वस्थ व सुन्दर शरीरवाला बनकर धनार्जन के योग्य बनता है। २. यहाँ प्रसङ्गवश यह सङ्केत भी ध्यान देने योग्य है कि जहाँ सङ्गठन व मेल होता है वहाँ घृत व दूध आदि की नदियाँ बहती हैं, वहाँ निर्धनता के कारण इन वस्तुओं का अभाव नहीं होता।

भावार्थ—मेल में ही स्वर्ग है, घी-दूध की नदियों का प्रवाह मेल में ही है।

विशेष—इस सूक्त में नदियों, वायुओं व पक्षिगणों के उदाहरण से मेल के महत्त्व को स्पष्ट किया गया है (१)। सङ्गठन-यज्ञों में हम पशुभाव को नष्ट करने का प्रयत्न करें (२)। सङ्गठन में ही धन है (३), वहीं घी, दूध की नदियों का प्रवाह है (४)। ऐसे सङ्गठनवाले समाज में चोर नहीं होते। यह समाज चोरों का नाश करनेवाला होता है, अतः 'चातन' (चातयति नाशयति) कहलाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

१६. [षोडशं सूक्तम्]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तुरीय अग्नि का उपदेश

ये॑ऽमावा॒स्यां३॒ रात्रि॑मु॒दस्थु॑र्व्रा॒जम॒त्त्रिणः॑।
अ॒ग्निस्तु॒रीयो॑ यातु॒हा सो अ॒स्मभ्य॒मधि॑ ब्रवत्॥ १॥

१. समाज में अच्छी-से-अच्छी व्यवस्था होने पर भी कुछ-न-कुछ न्यूनता रह ही जाती है और ऊँचे-से-ऊँचे समाज में भी कुछ दस्यु-प्रवृत्ति के लोग हो ही जाते हैं। ज्ञानी संन्यासी उपदेश देकर इन्हें उत्तम बनाने का प्रयत्न करें कि **ये**=जो **अमावास्याम् रात्रिम्**=अमावस की रात्रि में **व्राजम्**=समूह में **उदस्थुः**=उठ खड़े होते हैं, **अत्त्रिणः**=(अद् भक्षणे) ये औरों के खा-जानेवाले होते हैं। चोर-डाकू प्रायः अन्धकार में ही अपना कार्य करते हैं, अतः यहाँ अमावस की रात्रि का उल्लेख है। प्रायः ये अकेले न होकर समूह में अपना कार्य करते हैं, अतः यहाँ 'व्राजः' शब्द का प्रयोग है। अत्यन्त स्वार्थ से चलते हुए ये औरों का नाश करने में तनिक भी नहीं हिचकते, इससे इन्हें 'अत्त्रिणः' कहा गया है। २. सबसे पहले इन्हें ज्ञान देकर, समझा-बुझाकर ठीक मार्ग पर लाने का प्रयत्न करना चाहिए। यह कार्य संन्यासी के द्वारा सुसम्पन्न हो सकता है, अतः कहते हैं कि **अग्निः**=ज्ञानदाता ब्राह्मण **तुरीयः**=जो चतुर्थ आश्रम में प्रवेश कर चुका है, **यातु-हा**=जो उपदेश द्वारा दैत्यों के दैत्यपन को नष्ट करनेवाला है, **सः**=वह, **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए, अर्थात् हमारी ओर से—सारे समाज का प्रतिनिधि होकर अथवा हम सबके हित के लिए **अधिब्रवत्**=अधिकारपूर्वक उपदेश करता है। उस ज्ञानी तथा संन्यासी के

उपदेश से प्रभावित होकर वह 'यातु' (Demon) यातु नहीं रहता। अपनी बुराई को छोड़कर वह भी समाज का उपयोगी अङ्ग बन जाता है।

भावार्थ—ज्ञानी संन्यासी उपदेश के द्वारा चोरों की मनोवृत्ति को बदलने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**वरुणः, अग्निः, इन्द्रश्च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सीसे की गोली

सीसायाध्याह वरुणः सीसायाग्निरुपावति। सीसं म इन्द्रः प्रायच्छत्तदङ्ग यातुचातनम्॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'तुरीय अग्नि' ज्ञानोपदेश के द्वारा चोरों को परिवर्तित करने का प्रयत्न करता है। उसी समय इन्द्र, अर्थात् राजा भी दण्ड-भयादि के द्वारा इन्हें ठीक मार्ग पर लाने के लिए प्रयत्नशील होता है और वरुण=न्यायाधीश राष्ट्र में दुष्टों को उचित दण्ड देता हुआ चोरों को समाप्त करता है, परन्तु जब ये प्रयत्न विफल हो जाते हैं तब **वरुणः**=बुराइयों का निवारण करनेवाला न्यायाधीश **सीसाय**=सीसे की गोली के लिए **अध्याह**=कहता है, अर्थात् यही विधान करता है कि इन्हें गोली से उड़ा दो। **अग्निः**=उपदेष्टा ब्राह्मण भी **सीसाय**=सीसे की गोली के लिए ही **उपावति**=(अव=कान्ति, इच्छा) इच्छा करता है। २. ऐसी स्थिति में औरों से रक्षा के लिए **इन्द्रः**=राजा **मे**=मेरे लिए **सीसम्**=इन सीसे की गोलियों को **प्रायच्छत्**=देता है और कहता है कि हे **अङ्ग**=प्रिय प्रजाजन! **तत्**=यह गोली ही **यातुचातनम्**=दैत्यों को, चोर आदि को नष्ट करनेवाली है, अर्थात् आवश्यक होने पर राजा की ओर से बन्दूक आदि का लाइसेंस मिल जाता है और उसके द्वारा इन यातुओं का नाश करना अभीष्ट होता है।

भावार्थ—न्यायाधीश, ब्राह्मण व राजा सभी न सुधरनेवाले चोरों को गोली मार देने का आदेश देते हैं।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**सीसम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विष्कन्ध व अत्रि का मर्षण

इदं विष्कन्धं सहत इदं बाधते अत्रिणः। अनेन विश्वा ससहे या जातानि पिशाच्याः॥ ३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार राजा की ओर से लाइसेंस के द्वारा प्राप्त हुई **इदम्**=यह गोली **विष्कन्धम्**=(विष्कम्भम्) मार्ग में रोककर लूटनेवाले (Highway robbers) परिपन्थियों को **सहते**=पराभूत करती है। **इदम्**=यह **अत्रिणः**=औरों को खा-जानेवाले दैत्यों को **बाधते**=पीड़ित करती है और **अनेन**=इस गोली से उन **विश्वा**=सबका **ससहे**=पराभव करता हूँ **यः**=जोकि **पिशाच्याः जातानि**=पिशाची के सन्तान हैं, अर्थात् अत्यन्त पिशाचवृत्ति के हैं। औरों का मांस खानेवाले पिशाच हैं—जिनकी यह वृत्ति है, उन्हें समाप्त करना ही ठीक है। २. चोर आदिकों के खतरे से युक्त स्थान में रहनेवालों को राजा बन्दूक आदि रखने की स्वीकृति दे देता है और वे उसका प्रयोग विष्कन्धों, अत्रियों व पिशाचों के नाश में ही करते हैं।

भावार्थ—सीसे की गोली से मार्गप्रतिरोधक (डाकू), चोर व पिशाचों का संहार करना अभीष्ट है।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**सीसम्** ॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

बन्दूक का दुरुपयोग

यदि नो गां हंसि यद्यश्वं यदि पूरुषम्।
तं त्वा सीसेन विध्यामो यथा नोऽसो अवीरहा॥ ४॥

१. गतमन्त्र में यह स्पष्ट है कि जिस भी व्यक्ति को आवश्यकता समझकर बन्दूक का

लाइसेंस मिला है, उसे उस बन्दूक से चोर आदि के उपद्रव को दूर करने का प्रयत्न करना है, परन्तु यदि अपने पद व धन आदि से गर्व में चूर होकर वह उस बन्दूक का दुरुपयोग करता है, तो वही उस बन्दूक से दण्डनीय हो जाता है, अतः मन्त्र में कहा है—**यदि**=यदि तू **नः**=हमारी **गां हंसि**=गौ को मार देता है, यदि **अश्वम्**=यदि घोड़े को मार देता है, **यदि पूरुषम्**=यदि किसी निर्दोष पुरुष को ही मार देता है तो **तं त्वा**=उस तुझे ही **सीसेन विध्यामः**=सीसे की गोली से मारते हैं **यथा**=जिससे तू **नः**=हमारे **अवीरहा असः**=वीरों को मारनेवाला न हो। २. यदि किसी ग्वाले की गौ इसके उद्यान को कुछ खराब कर देती है, या किसी कोचवान या कुम्हार का घोड़ा इसकी फुलवाड़ी को कुछ नष्ट कर देता है और वह क्रोध में आकर इन्हें मारता है तो वह दण्डनीय हो जाता है। यह भी हो सकता है कि क्रोध में आकर वह उस ग्वाले व ताँगेवाले को ही मार दे। ऐसी स्थिति में उस बन्दूक से इसे ही दण्डित करना आवश्यक हो जाता है।

भावार्थ—लाइसेंस (रक्षण स्वीकृति) प्राप्त बन्दूक से निर्दोष गौ, घोड़े व मनुष्यों को नहीं मारना चाहिए।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में कहा है कि ज्ञानी संन्यासी चोर इत्यादि को सदुपदेश से अच्छा बनाने का प्रयत्न करे (१)। विवशता में चोर आदि को गोली से उड़ा दे (२)। यह गोली डाकू, चोर व पिशाचों के नाश के लिए उद्दिष्ट है (३) परन्तु यदि कोई इससे गौ, घोड़े या मनुष्य को मारे तो वह स्वयं इस गोली से दण्डनीय हो (४)। गोली के अनिष्ट प्रयोग से हो जानेवाले रक्तस्राव को कैसे बन्द किया जाए, इसका वर्णन अगले मन्त्र में हैं—

॥ इति प्रथमः प्रपाठकः

अथ द्वितीयः प्रपाठकः

१७. [सप्तदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**योषिता धमन्यश्च** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

लोहितवासस् हिराएँ

अमूर्या यन्ति योषितो हिरा लोहितवाससः। अभ्रातरइव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः ॥ १ ॥

१. शरीर में नाड़ीचक्र रुधिर के अभिसरण के द्वारा आवश्यक सब धातुओं को यथास्थान पहुँचाता है। इनमें धमनियाँ हृदय से शरीर में रुधिर को ले-जाती हैं और इस यात्रा में कुछ मलिन हो गये रुधिर को शिराएँ (हिराएँ) पुनः हृदय में पहुँचाती हैं। इसप्रकार धमनियों और शिराओं का कार्यक्रम चलता है। घाव लगने पर नाड़ी के फटने से रुधिर के बाहर निकलने को रोकने के लिए उस स्थान को बाँधना आवश्यक हो जाता है। उस समय ये नाड़ियाँ अपने कार्यक्रम में कुछ रुक जाती हैं, अतः मन्त्र में कहा है कि—**अमूः**=वे **याः**=जो **योषितः**=रुधिर का मिश्रण व अमिश्रण करनेवाली **हिराः**=शिराएँ **लोहितवाससः**=रुधिर के निवासवाली **यन्ति**=गति करती हैं, वे अब घाव लगने पर बन्ध के कारण **हतवर्चसः**=नष्टतेज-सी हुई-हुई **तिष्ठन्तु**=ठहर जाएँ। **इव**=इसप्रकार ठहर जाएँ जैसे कि **अभ्रातरः**=बिना भाईवाली **जामयः**=बहिनें निस्तेज-सी होकर ठहर जाती हैं। २. विवाहित होने पर कन्या कभी-कभी अपने पितृगृह में आती रहती है, पिता चले भी जाते हैं तो भाइयों के कारण उसका आना-जाना बना ही रहता है, परन्तु भाई भी न रहे तो बहिन का आना रुक जाता है। वह अपने-आपको कुछ निस्तेज-सा अनुभव करती है। इसीप्रकार बद्ध-नाड़ी निस्तेज-सी हो जाती है। ३. सम्भवतः बिना भाई की बहिनें लोहितवासस्—लाल रङ्ग के कपड़े पहनें, ऐसा यहाँ सङ्केत है। अभिप्रायः इतना ही है कि

निस्तेज बनकर पड़ जाने की अपेक्षा वे तेजस्विता के कार्यों को करने का निश्चय करें।

भावार्थ—घाव लगने पर रुधिरस्राव को रोकने के लिए नाड़ियों को बाँधने पर वे हतवर्चस्-सी होकर रुक जाती हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**योषितो धमन्यश्च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

नाड़ीचक्र-विकास

तिष्ठावरे तिष्ठ पर उत त्वं तिष्ठ मध्यमे।
कनिष्ठिका च तिष्ठति तिष्ठादिद्धमनिर्मही॥ २॥

१. कई बार बड़े-बड़े ऑप्रेशनों (शल्यक्रिया के कार्यों) में रुधिर की गति को रोकना नितान्त अभीष्ट हो जाता है। उस समय **अवरे**=हे निचली नाड़ी! तू **तिष्ठ**=ठहर जा, **परे**=उपरली नाड़ी! तू भी **तिष्ठ**=ठहर जा **उत**=और **मध्यमे**=हे मध्यम नाड़ी! **त्वं तिष्ठ**=तू भी ठहर। २. स्थान के दृष्टिकोण से तीन प्रकार की ही नाड़ियाँ सम्भव हैं—'निचली, उपरली व बीच की'। अब आकार-प्रकार के दृष्टिकोण से उल्लेख करते हुए कहा है—**च**=और **कनिष्ठिका**=छोटी नाड़ी **तिष्ठति**=ठहरती है, **इत्**=निश्चय से **मही धमनिः**=बड़ी नाड़ी भी **तिष्ठात्**=रुक जाए। इसप्रकार कुछ देर के लिए रुधिर-प्रवाह को रोकर शल्यक्रिया का कार्य ठीक प्रकार से सम्पन्न हो जाने पर पुनः रुधिराभिसरण का कार्य सब नाड़ियों में ठीक से होने लगेगा। ३. यहाँ शल्यक्रिया के अत्यन्त कुशलतापूर्ण प्रयोग का संकेत स्पष्ट है।

भावार्थ—सब नाड़ियों में चलनेवाले रुधिराभिसरण को रोकर शल्यक्रिया के कार्य को सुसम्पन्न कर लिया जाए।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**योषितो धमन्यश्च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

धमनियों और हिराओं के बीच की नाड़ियाँ

शतस्य धमनीनां सहस्रस्य हिराणाम्। अस्थुरिन्मध्यमा इमाः साकमन्ता अरंसत॥ ३॥

१. नाड़ीचक्र में एक ओर धमनियाँ हैं, दूसरी ओर हिराएँ हैं। धमनियाँ रुधिर को शरीर में भेज रही हैं और हिराएँ उसे पुनः हृदय में लौटा रही हैं। इनके बीच की नाड़ियों को रोकर कई बार इनके अन्तिम प्रदेशों (दोनों सिरों) को ठीक करना होता है। उसी का वर्णन करते हैं—**धमनीनां शतस्य**=सौ धमनियों के तथा **हिराणां सहस्रस्य**=हज़ारों हिराओं के **मध्यमाः इमाः**=बीच में होनेवाली नाड़ियाँ **इतः**=निश्चय से **अस्थुः**=रुक गई हैं। अब **अन्ताः**=इनके अन्तभाग **साकम्**=साथ-साथ ही **अरंसत**=रुक गये हैं (रम्=to Pause) २. नाड़ीचक्र में धमनियों व हिराओं के बीच में होनेवाली योजक नाड़ियों का ठीक होना नितान्त आवश्यक है। इनके अन्तिम भाग भी ठीक होने आवश्यक हैं।

भावार्थ—धमनियों और हिराओं के बीच की नाड़ियों के कार्य का ठीक होना नितान्त आवश्यक है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**योषितो धमन्यश्च** ॥ छन्दः—**त्रिपदार्षीगायत्री** ॥

खाँड व अन्न का मात्रा में प्रयोग

परि वः सिकतावती धनूर्बृहत्य क्रमीत्। तिष्ठतेलयता सु कम्॥ ४॥

१. हे नाड़ियो! **सिकतावती**=रेतवाले **बृहती धनूः**=इस विशाल (धनू=Store of grain) अन्नभण्डार ने **वः**=तुमपर **परि अक्रमीत्**=आक्रमण किया है। वस्तुतः अन्न के शरीर में ठीक से न पहुँचने पर नाड़ियों में विकार आता है। रोग के कारण पक्षाघात आदि रोगों की आशंका हो

जाती है। अन्न का अधिक प्रयोग भी अवाञ्छनीय प्रभावों को पैदा करता है। २. 'सिकता' शब्द मिश्री के लिए भी प्रयोग में आता है, सम्भवतः खाँड का अधिक प्रयोग भी नाड़ीचक्र के स्वास्थ्य के लिए ठीक नहीं। ३. नाड़ीचक्र का थोड़ी देर के लिए ठहरना, प्रयोग के ठीक से हो जाने पर फिर कार्य करने लगना—यह शारीरिक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है, अतः कहा गया है **तिष्ठत**=थोड़ी देर के लिए रुको। सब मलों के हटा दिये जाने पर पुनः **कम्**=सुख से **सु**=अच्छी प्रकार **इलयत**=प्रेरित—गतिवाली होओ। यह सब प्राणायाम की साधना से ही सम्भव है। प्राणायाम की साधना करनेवाला योगी सारे नाड़ीचक्र पर प्रभुत्व पा लेता है और नाड़ीचक्र के स्वास्थ्य से शरीर, मन व बुद्धि का उत्कर्ष करनेवाला हो जाता है।

भावार्थ—नाड़ीचक्र के स्वास्थ्य के लिए खाँड व अन्न के प्रयोग पर अत्यन्त ध्यान रखना आवश्यक है।

सूचना—इन सारे प्रयोगों को ठीक रूप में करनेवाला **ब्रह्मा**=ज्ञानी पुरुष इस सूक्त का ऋषि है। इस प्रयोगकर्त्ता के लिए अधिक-से-अधिक योग्य होना आवश्यक है। यह ठीक प्रयोग करके अशुभ लक्षणों को दूर करता है, शुभ लक्षणों को प्राप्त कराके सौभाग्य को प्राप्त करानेवाला है, अतः यह अगले सूक्त का ऋषि 'द्रविणोदाः' बनता है।

१८. [अष्टादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**द्रविणोदाः** ॥ देवता—**सावित्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्विराड्बृहती** ॥

मस्तिष्क और मन का स्वास्थ्य

निर्ल॒क्ष्म्यं॑ ल॒ला॒म्यं१॒ निररा॑तिं सुवामसि।
अथ॒ या भ॒द्रा तानि॑ नः प्र॒जाया॒ अरा॑तिं नयामसि॥ १॥

१. **ललाम्यम्**=मस्तक पर होनेवाले **लक्ष्म्यम्**=अशुभ चिह्न को—कलङ्क को **निः सुवामसि**=निःशेषतया दूर करते हैं। मस्तक पर होनेवाला बाह्य विकार जो अत्यन्त अशुभ प्रतीत होता है, वह और मस्तिष्क-सम्बन्धी आन्तर विकार भी नाड़ीचक्र के स्वास्थ्य के द्वारा दूर हो जाता है। इस नाड़ीचक्र के स्वास्थ्य से **अरातिम्**=मन में उत्पन्न होनेवाली अदान की वृत्ति को **निः सुवामसि**=हम दूर करते हैं। २. **अथ**=और **या भद्रा**=जो भी भद्र बातें हैं, **तानि**=उन्हें **नः प्रजायाः**=अपनी प्रजा के साथ जोड़ते हैं और **अरातिम्**=अदान-भावना को **नयामसि**=उनसे दूर भगाते हैं।

भावार्थ—मस्तिष्क-सम्बन्धी अशुभ लक्षण तथा मन में होनेवाली कृपणता हमसे दूर हो।

ऋषिः—**द्रविणोदाः** ॥ देवता—**सावित्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥

हाथ-पैरों की निर्दोषता

निरर॑णिं सवि॒ता सा॑विषक्प॒दोर्निर्हस्त॑यो॒र्वरु॑णो मि॒त्रो अ॒र्य॒मा।
निर॒स्मभ्य॒मनु॑मती॒ ररा॑णा॒ प्रेमां दे॒वा अ॑साविषुः सौभ॑गाय॥ २॥

१. **सविता**=सम्पूर्ण संसार को जन्म देनेवाला प्रभु **पदोः**=पाँवों में से **अरणिम्**=पीड़ा को **निः साविषक्**=पूर्णरूपेण दूर करे, **हस्तयोः**=हाथों में से भी इस पीड़ा को **वरुणः**=वरुण, **मित्रः**=मित्र और **अर्यमा**=अर्यमा **निः**=दूर करे। पाँवों व हाथों में कमी आ जाने से सारी क्रियाएँ रुक जाती हैं। इन कमियों का दूरीकरण सविता, वरुण, मित्र व अर्यमा की कृपा से होता है। 'सविता' निर्माणात्मक कार्यों में लगे रहने का संकेत करता है, 'वरुण' द्वेष-निवारण की देवता है, 'मित्रः' सबके साथ स्नेह की भावना को व्यक्त करता है, 'अर्यमा' (अरीन् यच्छति) काम-

क्रोधादि शत्रुओं के नियमन को कह रहा है। एवं, हाथ-पाँवों के सब दोषों को दूर करने के लिए आवश्यक है कि (क) हम निर्माणात्मक कार्यों में लगे रहें। तोड़-फोड़ के विध्वंसक कार्यों को करनेवाले ही अपने हाथ-पैर विकृत कर बैठते हैं। (ख) इसी प्रसङ्ग में यह नितान्त आवश्यक है कि हम द्वेष न करें—सबके साथ स्नेह से चलें। (ग) इसके लिए अर्यमा बनने की आवश्यकता है। काम-क्रोध-लोभ का नियमन करने पर ही हम द्वेष से ऊपर उठकर प्रेम से वर्त्तनेवाले होते हैं। २. **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **रराणा**=सब उत्कृष्ट भावों को देती हुई **अनुमतिः**=अनुकूल मति **निः**=हमारे हाथों व पैरों से विकारों को दूर करे। प्रतिकूल मति विकृत-भावों को पैदा करके अङ्गों की विकृति का कारण बनती है, अतः **इमाम्**=इस अनुकूल मति को सब **देवाः**=देव **प्र असाविषुः**=हमारे अन्दर उत्पन्न करें, जिससे **सौभगाय**=सौभग—सौन्दर्य हममें निवास करें।

भावार्थ—अशुभ लक्षणों को दूर करने के लिए और हाथ-पैरों के शुभ लक्षणों के लिए आवश्यकता है कि (क) हम निर्माण के कार्यों में लगे रहें, (ख) द्वेष न करें, (ग) स्नेहवाले हों, (घ) काम-क्रोध-लोभ को काबू करें, (ङ) अनुकूल मतिवाले हों, निराशा के विचारोंवाले न हों।

ऋषिः—**द्रविणोदाः** ॥ देवता—**सावित्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**विराडास्तारपंक्तिस्त्रिष्टुप्** ॥

उत्तम आत्मप्रेरणा व देव-स्मरण

यत्त आत्मनि तन्वां घोरमस्ति यद्वा केशेषु प्रतिचक्षणे वा।
सर्वं तद्वाचाप हन्मो वयं देवस्त्वा सविता सूदयतु॥ ३॥

१. **यत्**=जो **ते**=तेरे **आत्मनि**=आत्मा में—मन में, **तन्वाम्**=या शरीर में **घोरम्**=भयानक चिह्न **अस्ति**=है, **वा**=अथवा **यत्**=जो **केशेषु**=बालों में **वा**=या **प्रतिचक्षणे**=प्रत्येक आँख में विकार है, **तत् सर्वम्**=उस सब विकार को **वाचा**=वाणी के द्वारा **वयम्**=हम **अपहन्मः**=दूर करते हैं। मन में, शरीर में, बालों में, आँखों में कहीं भी कोई विकार हो, उसे वाणी से दूर करते हैं, अर्थात् आत्मप्रेरणा के रूप में वाणी के द्वारा शुभ शब्दों का उच्चारण करते हुए हम अशुभ लक्षणों को दूर करते हैं। मुझमें यह विकार नहीं रहेगा, इसका स्थान सौभग लेगा—इसप्रकार के दृढ़ विचारों को जन्म देनेवाले शब्द इन विकारों को सचमुच नष्ट करनेवाले होते हैं। २. इसप्रकार वाणी के द्वारा आत्मिक शक्ति को जाग्रत् करने में लगे हुए **त्वा**=तुझे **देवः सविता**=यह दिव्य गुणों का पुञ्ज—दिव्यता का उत्पादक प्रभु **सूदयतु**=(Urge on, animate) उन्नति-पथ पर आगे बढ़ने के लिए अशुभ लक्षणों को दूर करके शुभ लक्षणों की अभिवृद्धि के लिए प्रेरित करे। प्रभु की दिव्यता का स्मरण हममें दिव्यता की अभिवृद्धि का कारण होता है।

भावार्थ—उत्तम आत्मप्रेरणा व देव प्रभु का स्मरण हमारे मन, शरीर, बालों व आँखों के अशुभ लक्षणों को दूर करते हैं।

ऋषिः—**द्रविणोदाः** ॥ देवता—**सावित्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विकार-विनाश

रिश्यपदीं वृषदतीं गोषेधां विधमामुत।
विलीढ्यं ललाम्यं ता अस्मन्नाशयामसि॥ ४॥

१. **रिश्यपदीम्**=हरिण के समान टाँगोंवाली—हरिण की टाँगे पतली व भद्दी प्रतीत होती हैं, अतः यह टाँगों का एक अशुभ लक्षण है। **वृषदतीम्**=बैल के समान दाँतोंवाली—बैल के

समान बड़े-बड़े दाँत चेहरे के सब सौन्दर्य को समाप्त कर देते हैं, छोटे-छोटे दाँत ही सुन्दर प्रतीत होते हैं। **गोषेधाम्**=(सेधतिर्गत्यर्थः) गौ के समान चालवाली को—गौ या बैल इधर-उधर कुछ हिलते हुए आगे बढ़ते हैं। यह झूमती हुई चाल भी अनिष्ट है **उत**=और **विधमाम्**=(धमा=शब्द) विकृत शब्दवाली—भिन्न-कांस्य स्वरवाली **ताः**=उन सबको—उन सब विकृतियों को **अस्मत्**=हमसे **नाशयामसि**=नष्ट करते हैं। इसके साथ **ललाम्यम्**=मस्तिष्क में होनेवाले **विलीढ्यम्**=गञ्जेपन को (बालों को चाटे जाने को) भी हम अपने से दूर करते हैं। 'रिश्यपदी व वृषदती' दोनों शब्द टाँगों व दाँतों की समानुपातता के अभाव को प्रतिपादित करते हैं। 'गोषेधा व विधमा' शब्द चाल व शब्द की क्रियाओं के विकार को सूचित करते हैं। मस्तक का गंजापन कुछ भद्देपन की गन्ध देता है। इन सब विकारों को दूर करना अभीष्ट है। सौन्दर्य का निर्भर विकारों के न होने में ही है।

भावार्थ—हम आकार की आनुपातिकता के न होने से—क्रियाओं की विकृति से तथा अभीष्ट स्थान पर बालों के न होने से होनेवाले असौभाग्य को दूर करें। प्रभुकृपा से सौभाग्यरूप द्रविण को प्राप्त करें।

विशेष—अठारहवें सूक्त के दो भाग हैं। एक भाग वह है जिसमें अशुभ लक्षणों का प्रतिपादन है और दूसरा भाग वह है जिसमें उन लक्षणों को दूर करने के उपायों का प्रतिपादन है। ये दोनों भाग मिश्र-से अवश्य हैं, परन्तु अत्यन्त स्पष्ट हैं। क्या शरीर के विकार और क्या मन के विकार सभी निर्माणात्मक कार्यों में लगे रहने से, द्वेष न करने से, स्नेह से, काम-क्रोध-लोभ को काबू करने से, अनुकूल मति से, अनुकूल आत्मप्रेरणा से दूर होते हैं। विकारों का दूर होना ही सौभाग्य-प्राप्ति है।

इस सौभाग्य-प्राप्ति के लिए अपने-आपको शत्रुओं के आक्रमण से बचाना आवश्यक है, अतः अग्रिम सूक्त में इसी बात का उल्लेख है। सब बुराइयों को दूर करके यह 'ब्रह्मा' बनता हैं, ब्रह्मा ही इस सूक्त का ऋषि है—

१९. [एकोनविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विव्याधी-अभिव्याधी

मा नो विदन्विव्याधिनो मो अभिव्याधिनो विदन्।
आराच्छरव्या अस्मद्विषूचीरिन्द्र पातय॥ १ ॥

१. इस मन्त्र का देवता 'इन्द्र' है। उपासक इसी को अपना कवच बनाता है—'**ब्रह्म वर्म ममान्तरम्**'—ब्रह्मरूप कवचवाला ब्रह्मा प्रार्थना करता है कि—**नः**=हमें **विव्याधिनः**=विशेषरूप से विद्ध करनेवाले लोभ आदि शत्रु **मा विदन्**=प्राप्त न हों, हमपर इनका आक्रमण न हो **उ**=और **अभिव्याधिनः**=चारों ओर से आक्रमण करनेवाले काम आदि शत्रु भी **मा विदन्**=मत प्राप्त हों। २. हे **इन्द्र**=सब असुरों का संहार करनेवाले प्रभो! **विषूचीः**=(वि+सु+अञ्च) विविध दिशाओं से तीव्रता के साथ आनेवाली **शरव्याः**=शर-समूह की वृष्टियों को **अस्मत्**=हमसे **आरात्**=दूर ही **पातय**=गिरा दीजिए। ३. लोभ का आक्रमण भी बड़ा तीव्र होता है। यह लोभ समाप्त ही नहीं होता। अपने आक्रमण से यह बुद्धि को लुप्त कर देता है। काम का आक्रमण तो चतुर्दिक् आक्रमण के समान है। यह कामदेव 'पञ्चशर' है। यह पाँचों बाणों से इकट्ठा ही आक्रमण करता है। एवं, लोभ 'विव्याधी' था तो काम 'अभिव्याधी' है। प्रभुकृपा से इनके बाण हमसे दूर ही गिरें।

भावार्थ—प्रभु हमसे 'विव्याधी' लोभ को तथा 'अभिव्याधी' काम के बाणों को दूर ही गिराएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**मनुष्येषवः** ॥ छन्दः—**पुरस्ताद्बृहती** ॥

'दैव व मानुष' इषु

विष्व॑ञ्चो अ॒स्मच्छर॑वः पतन्तु ये अ॒स्ता ये चा॒स्या॑ः।
दैवी॑र्मनुष्येषवो॒ ममा॒मित्रा॒न्वि विध्यत॥ २॥

१. गतमन्त्र के विव्याधी और अभिव्याधी के **ये अस्ताः**=जो फेंके जा चुके हैं, **ये च**=और जो **आस्याः**=फेंके जाने हैं, वे **विष्वञ्चः शरवः**=विविध दिशाओं से आनेवाले अस्त्र **अस्मत्**=हमसे दूर ही **पतन्तु**=गिरें। हम इनके बाणों के शिकार न हों। जो बाण इन्होंने फेंके हैं उनके आक्रमण से हम बचें और जो बाण इनसे फेंके जाएँगे उनसे भी हम बच पाएँ। वर्तमान में भी लोभ और काम के शिकार न हों, भविष्य में भी इनका शिकार होने की आशंका से बचे रहें। २. हे **देवीः**=देव-सम्बन्धी अस्त्रो! तथा **मनुष्येषवः**=मनुष्य-सम्बन्धी अस्त्रो! तुम सब **मम**=मेरे **अमित्रान्**=शत्रुओं को ही **विविध्यत**=बींधो, मैं तुम्हारा शिकार न होऊँ। देव-सम्बन्धी अस्त्र 'निखरते' हुए यौवन का सौन्दर्य, चाल की मस्ती व कटाक्षवीक्षण (Side look glance) आदि हैं। हम इन सबके कुप्रभाव से बचें। हमारे शत्रु ही इनके शिकार बनें।

भावार्थ—हम वर्त्तमान में भी लोभ व काम के शिकार न हों, भविष्य में भी इनका शिकार होने से बचें। प्रकृति की वसन्त-ऋतु आदि में होनेवाली शोभा तथा किसी भी युवक व युवति की हाव-भावभरी गतियाँ हमें काम का शिकार न बना सकें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

कुसङ्ग के कुप्रभाव से दूर

यो नः॒ स्वो यो अर॑णः सजा॒त उ॒त निष्ट्यो॒ यो अ॒स्माँ अ॑भि॒दास॑ति।
रु॒द्रः श॑र॒व्य॑यै॒तान्ममा॒मित्रा॒न्वि विध्यतु॥ ३॥

१. **यः**=जो **नः**=हमें **स्वः**=अपना अथवा **यः**=जो **अरणः**=पराया **सजातः**=अपनी बिरादरी व कुटुम्ब का **उत**=और **निष्ट्यः**=बिरादरी से बाहर का **यः**=जो कोई **अस्मान्**=हमें **अभिदासति**=इन वासनाओं में फँसाकर नष्ट करने का प्रयत्न करता है—ये सब मेरे अमित्र (शत्रु) तो हैं ही। इन्हें मैं अपना हितचिन्तक न समझ बैठूँ और इनकी बातों में आकर जीवन को नष्ट न कर डालूँ। २. **रुद्रः**=शत्रुओं को रुलानेवाला वह प्रभु **एतान् मम अमित्रान्**=मेरे इन शत्रुओं को ही **शरव्या**=काम-लोभादि के बाणसमूह से **विविध्यतु**=विद्ध करे। मैं तो प्रभुकृपा से इनके प्रभाव से दूर रहूँ और इस शरसमूह से विद्ध न होऊँ। वस्तुतः प्रभु मेरे उन शत्रुओं को ही इनके घातक प्रभाव से पीड़ित कर रुलानेवाले हों और इसप्रकार कटु अनुभव प्राप्त कराके उन्हें इन वासनाओं से बचने के लिए प्रेरित करें।

भावार्थ—अपने-पराये, बिरादरी के व बाहर के—सभी के कुप्रभावों से हम बचें और लोभ व काम के शिकार न हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्रह्मरूप आन्तर-कवच

यः स॒पत्नो॒ यो ऽस॑पत्नो॒ यश्च॑ द्वि॒षञ्छपा॑ति नः।
दे॒वास्तं सर्वे॑ धूर्वन्तु॒ ब्रह्म॒ वर्म॒ ममान्त॑रम्॥ ४॥

से सीधा सम्बन्ध है। वही ज्ञान उपयुक्ततम है जो हमारा रक्षण करनेवाला हो। '**सह नाववतु**' इस उपनिषत् श्लोक में यही बात कही गई है। ४. आचार्य का वाचस्पति होना आवश्यक है। यदि आचार्य सम्पूर्ण वाङ्मय का पति नहीं होगा तो वह विद्यार्थी के अन्दर श्रद्धा का भाव उत्पन्न न कर सकेगा। ज्ञान-प्रदानरूप अपने कर्त्तव्य का पालन भी बिना वाङ्मय का अधिपति हुए सम्भव नहीं।

भावार्थ—संसार के सब रूपों के घटकभूत इक्कीस तत्त्वों का ज्ञान आचार्य-कृपा से हमें प्राप्त हो। इस ज्ञान के अनुष्ठान से हम अपने स्वास्थ्य का रक्षण करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वाचस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शिक्षण की रमण-पद्धति

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह।
वसोष्पते नि रमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम्॥ २॥

१. विद्यार्थी आचार्य से प्रार्थना करता है कि हे **वाचस्पते**=वाणी के स्वामिन्! आप **देवेन मनसा सह**='देवो दानात्' विद्यार्थी को ज्ञान देने की मनोवृत्ति के साथ **पुनः**=फिर-फिर, नव (a new) रूप में **एहि**=मुझे प्राप्त होओ। यह प्रार्थना यहाँ विद्यार्थी की ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा को सूचित करती है। (पुनरेहि) यहाँ आचार्य की भी इस इच्छा की ध्वनि है कि मैं विद्यार्थी को अधिक-से-अधिक ज्ञान दे सकूँ, उसे अपना सम्पूर्ण ज्ञान-धन प्राप्त करा सकूँ (देवेन मनसा)। २. हे **वसोष्पते**=(वसु—A ray of light) ज्ञान की किरणों के स्वामिन्! **निरमय**=आप यहाँ शिक्षणालय में हमें रमण कराइए। हम शिक्षा-प्राप्ति में आनन्द का अनुभव करें। आचार्य की शिक्षण-पद्धति से ज्ञान इसलिए दिया जाए कि **श्रुतम्**=आचार्य-मुख से सुना हुआ ज्ञान **मयि**=मुझमें और **मयि एव**=मुझमें ही हो। मैं इस ज्ञान को भूल न जाऊँ। विद्यार्थी में ज्ञान-प्राप्ति की कामना होनी ही चाहिए—इसके बिना तो ज्ञान-प्राप्ति सम्भव ही नहीं। आचार्य विद्यार्थी की उस कामना को ज्ञान-प्रदान की विधि से विकसित करनेवाला हो। ज्ञान विद्यार्थी को बोझ-सा प्रतीत न होने लगे। बलात्—दण्डमय ढङ्ग से पढ़ा-पढ़ाया हुआ पाठ समझ में नहीं बैठता, उसका स्मरण भी नहीं रहता।

भावार्थ—आचार्य ज्ञान देने की भावना से विद्यार्थी को प्राप्त हो और वह रमण-पद्धति से पढ़ाता हुआ पठित ज्ञान को विद्यार्थी में स्थिर करे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वाचस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

समाज-धनुष की दो कोटियाँ—'आचार्य और शिष्य'

इहैवाभि वि तनूभे आर्त्नीइव ज्यया।
वाचस्पतिर्नि यच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम्॥ ३॥

१. **इव**=जैसे **उभे आर्त्नी**=धनुष की दोनों कोटियों को **ज्यया**=डोरी से तान देते हैं—कसकर बाँध देते हैं, उसी प्रकार **इह एव**=यहाँ—राष्ट्र व समाज में ही आचार्य व शिष्यरूपी राष्ट्र-धनुष की दोनों कोटियों को **अभिवितनु**=अपरा व परा-विद्यारूपी ज्या से तान दो। जिस प्रकार धनुष की दो कोटियों में कोई भी कोटि कम महत्त्व की नहीं होती, इसीप्रकार राष्ट्र में आचार्य व शिष्य दोनों का समानरूप से महत्त्व है। आचार्य के बिना विद्यार्थी नहीं, विद्यार्थी के बिना आचार्य नहीं। घर में पति-पत्नी का जैसे समान महत्त्व है, उसी प्रकार शिक्षणालय में आचार्य व शिष्य का। आचार्य को बनाना है, विद्यार्थी को बनना है। २. **वाचस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी आचार्य

नियच्छतु=विद्यार्थी को नियम में रक्खे। बिना नियन्त्रण के विद्यार्थी का निर्माण नहीं हो सकता। अनियन्त्रित छात्र बड़ा होकर राष्ट्र के लिए हितकर नहीं होगा। अनियन्त्रण में पढ़ेगा भी क्या? ३. इसलिए विद्यार्थी की भी यही कामना हो कि आचार्य मेरा नियन्त्रण करे, जिससे **श्रुतम्**=आचार्य-मुख से सुना हुआ ज्ञान **मयि**=मुझमें और **मयि एव**=मुझमें ही **अस्तु**=स्थिर रहे।

भावार्थ—आचार्य और विद्यार्थी राष्ट्र-धनुष की दो कोटियाँ हैं। इनकी ज्या 'विद्या' है। आचार्य विद्यार्थियों को नियन्त्रण में चलाता है, जिससे उनका ज्ञान उनमें स्थिर रहे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वाचस्पतिः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदा विराडुरोबृहती** ॥

नैत्यिके नास्त्यनध्यायः

उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान्वाचस्पतिर्ह्वयताम्।
सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि॥ ४॥

१. विद्यार्थी कहते हैं कि **वाचस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी आचार्य **उपहूतः**=हमारे द्वारा पुकारा गया है। आचार्य अपने स्थान पर बैठा है, विद्यार्थी वहाँ पहुँचकर आचार्य को सम्बोधित करके अन्दर आने की स्वीकृति माँगता है और चाहता है कि **वाचस्पतिः**=यह ज्ञान का स्वामी आचार्य **अस्मान्**=हमें **उपह्वयताम्**=अपने समीप बुलाए। इस पद्धति में विद्यार्थी की विनीतता बनी रहती है। 'विद्यार्थी का कक्ष नियत हो और आचार्य उसके समीप जाए' इस पद्धति में विद्यार्थी के अभिमान का पोषण होता है। विद्यार्थी आचार्य के समीप आता है तो इसमें विद्यार्थी की ज्ञान-प्राप्ति की कामना भी झलकती है। आचार्य आता है तो कई बार विद्यार्थी ऐसी कामना करता है कि 'न ही आएँ' तो ठीक रहे। विद्यार्थी ज्ञान को बोझ समझे तो यह इच्छा स्वाभाविक ही है। २. परन्तु मन्त्रोक्त विधि में तो जिज्ञासु आचार्य के समीप पहुँचता है और चाहता है कि **श्रुतेन**=इस ज्ञान-श्रवण की प्रक्रिया से हम **सङ्गमेमहि**=सङ्गत हों और **श्रुतेन**=इस ज्ञान-श्रवण की प्रक्रिया से **मा विराधिषि**=कभी पृथक् न हों, अर्थात् आचार्य के द्वारा हमारा यह अध्ययनाध्यापन नियमित रूप से चलता रहे, इसमें कभी विच्छेद न हो। भौतिक भोजन में तो उपवास हो सकता है, परन्तु इस ब्रह्मयज्ञ में अनध्याय की क्या आवश्यकता?

भावार्थ—हम आचार्य के समीप नम्रता से उपस्थित हों और सदा अध्ययन में प्रवृत्त रहें।

विशेष—इस सूक्त में एक शिक्षणालय का सुन्दर चित्रण है। आचार्य ज्ञान का स्वामी है (वाचस्पति), वह ज्ञान-किरणों का पति है (वसोष्पति)। वह ज्ञान को रोचक पद्धति से विद्यार्थियों के हृदयङ्गम करने का प्रयत्न करता है (निरमय, मय्येवास्तु)। वसोष्पति शब्द में आचार्य के उत्कृष्ट ज्ञानी होने का सङ्केत है तो वाचस्पति शब्द यह स्पष्ट कर रहा है कि आचार्य उस ज्ञान को सुन्दरता से देने की क्षमता भी रखते हैं। आचार्य आगम व संक्रान्ति दोनों दृष्टिकोणों से पारंगत हैं। विद्यार्थी ज्ञान की इच्छावाला है। वह आचार्य के समीप ज्ञान-प्राप्ति के लिए जाता है (उपहूतो वाचस्पतिः) और चाहता है कि वह स्थिर ज्ञानवाला हो (मय्येवास्तु)। आचार्य उसके जीवन को नियन्त्रित करें जिससे उसकी ज्ञान-रुचि ठीक बनी रहे (नियच्छतु)। शिक्षणालय में आचार्य और शिष्य दोनों का ही महत्त्व है। दोनों में से एक के न होने से शिक्षणालय समाप्त हो जाता है। यह आचार्य विद्यार्थी को संसार के घटकभूत इक्कीस तत्त्वों का ज्ञान देने का प्रयत्न करते हैं। यही ज्ञान अत्यन्त उपयोगी है। इस ज्ञान को प्राप्त करके व्यक्ति डाँवाडोल वृत्तिवाला न रहकर स्थिर मनोवृत्ति से चलता है, अतः 'अथर्वा' (न थर्वति=चरति) कहलाता है। शरीर में उन इक्कीस तत्त्वों की स्थिति को देखने के कारण भी 'अथ अर्वाङ्' (Now within), इसका नाम अथर्वा होता है (१-४)। अब यह अथर्वा शरीर और मानस रोगों को जीतकर विजयी

बनता है। 'अथर्वा' ही इन मन्त्रों का भी ऋषि है—

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पर्जन्यः** ॥ छन्द—**अनुष्टुप्** ॥

ओषधियों के लिए शर-(बाण)-भूत 'शर'

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं भूरिधायसम्।
विद्मो ष्वस्य मातरं पृथिवीं भूरिवर्पसम्॥ १ ॥

१. गत सूक्त का आचार्य विद्यार्थी को 'शर' नामक ओषधि का महत्त्व समझाता है। '**सरस्तु मुञ्जो बाणाख्यो गुन्द्रस्तेजनकः शरः**'—यह कोश-वाक्य स्पष्ट कह रहा है कि यह 'शर' सर है (सृ गतौ), जीवन को गतिमय बनानेवाला अथवा रुधिर की गति को उत्तम करनेवाला। यह 'मुञ्ज' है (मृञ्ज शुद्धि) शरीर की धातुओं का शोधन करनेवाला है। इसका नाम 'बाण' है। यह वाणी की शक्ति का उत्पादक है। 'गुन्द्र' होने से (गुद् to goad) नाड़ी-संस्थान का उत्तेजक है। तेजस्वी बनाने से 'तेजनक' नामवाला है और सब दोषों का हिंसन करने से 'शर' (शॄ हिंसायाम्) है। इसलिए ब्रह्मचारी का आसन भी इसी तृण का बनाया जाता है, उसकी मेखला भी इसी से बनती है। २. हम इस **शरस्य**=शर के **पितरम्**=उत्पादक को **विद्म**=जानते हैं। वह **पर्जन्यम्**=परातृप्ति का जनक बादल ही तो है जो **भूरिधायसम्**=बहुतों का धारण व पालन करनेवाला है। बादल से बरसाये गये पानी से इस शर की उत्पत्ति होती है। हम **अस्य**=इस शर की **मातरम्**=माता के समान जन्म देनेवाली इस **पृथिवीम्**=पृथिवी को भी **सुविद्म**=अच्छी प्रकार जानते हैं, जोकि **भूरिवर्पसम्**=अत्यन्त सुन्दर आकारवाली अथवा तेजस्वितावाली है। ३. जैसे माता-पिता के गुण पुत्र में आते हैं, उसी प्रकार बादल व पृथिवी के गुण इस शर में आये हैं। एवं, यह 'शर' भूरिधायस् व भूरिवर्पस् है। यह हमारा धारण करता है तथा हमें तेजस्विता व सुन्दर आकृति प्राप्त कराता है।

भावार्थ—'शर' (मूँज) के उचित प्रयोग से हम स्वस्थ व तेजस्वी बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पर्जन्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दृढ़ शरीर व निर्दोष मन

ज्या॑के परि॑ णो नमाश्मा॑नं त॒न्वं॑ कृधि। वी॒डुर्वरी॑योऽराती॒रप॒ द्वेषां॒स्या कृ॑धि॥ २ ॥

१. हे **ज्याके**=शर को जन्म देनेवाली, शर की मातृभूत पृथिवि! तू **नः**=हमारे लिए **परिनम**=उचित परिणाम को पैदा करनेवाली हो, **तन्वम्**=हमारे शरीर को **अश्मानम्**=पत्थर-जैसा दृढ़ **कृधि**=कर दे। यह मातृरूप पृथिवी शर आदि को जन्म देकर हमारे शरीरों की दृढ़ता का कारण बनती है। **वीडुः**=हमारा शरीर तेरी ओषधियों के सेवन से दृढ़ बने, **वरीयः**=विशाल हो, शरीर की शक्तियाँ विस्तृत हों। हमारा शरीर उरुतर=अत्यधिक बढ़ी हुई शक्तियोंवाला हो। २. हे पृथिवि! तू हमारे शरीरों को ही पत्थर-जैसा दृढ़, सबल व विशाल शक्तियोंवाला न बना, अपितु हमारे मनों से भी **अरातीः**=न देने की भावना को तथा **द्वेषांसि**=द्वेषों को **अप आ कृधि**=दूर कर दे। उत्तम पृथिवी से उत्पन्न वानस्पतिक पदार्थों का सेवन हमें सुदृढ़ शरीरवाला तथा उदार व द्वेषशून्य मनवाला बनाए।

भावार्थ—पृथिवी माता है। इससे उत्पन्न ओषधियाँ शरीर में उसी प्रकार लगती हैं, जैसे बच्चे को माता का दूध। इनसे हमारा शरीर भी उत्तम बनता है और मन भी, शरीर सुदृढ़ बनता है तथा मन निर्द्वेष होता है।

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**पर्जन्य:** ॥ छन्द:—**त्रिपदाविराण्नामगायत्री** ॥

गोदुग्ध व वानस्पतिक पदार्थ

वृक्षं यद्गावः परिषस्वजाना अनुस्फुरं शरमर्चन्त्यृभुम्। शरुमस्मद्यावय दिद्युमिन्द्र॥ ३॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में शरीर को 'वृक्ष' कहा है, क्योंकि मानव-जीवन का लक्ष्य यही है कि अन्ततः इस शरीर का वृश्चन=छेदन हो। हमें फिर-फिर शरीर न लेना पड़े। **यत्**=जब **गाव:**=गौओं से दिया गया दूध **वृक्षम्**=इस शरीर-वृक्ष को **परिषस्वजाना:**=आलिङ्गन करनेवाला होता है तथा **अनुस्फुरम्**=(अनुर्लक्षणे) स्फूर्ति का लक्ष्य करके लोग **ऋभुम्**=(उरु भाति) तेजस्विता से दीप्त **शरम् अर्चन्ति**=शर का आदर करते हैं तब हे **इन्द्र**=शत्रुओं के विद्रावक प्रभो! **अस्मत्**=हमसे **दिद्युम्**=एक चमकते हुए घातक अस्त्र के समान **शरुम्**=क्रोध व वासना (Anger, passion) को **यावय**=दूर कीजिए। २. दूध व शर आदि ओषधियों का प्रयोग शरीर में स्फूर्ति व दीप्ति लाता है तथा मन से क्रोध व वासना को दूर करता है। यह क्रोध हमारे लिए ही एक घातक अस्त्र बनता है और हमारा ही विनाश करता है, अत: हमें प्रयत्न यही करना है कि हमारा भोजन दूध व वनस्पति ही रहे। हम घासपक्षवाले ही बनें रहें, मांसपक्षवाले न बन जाएँ। यह मांस तो (माम् स:) मुझे ही खा जाएगा।

भावार्थ—हम गोदुग्ध व शरादि वानस्पतिक पदार्थों से ही शरीर का पोषण करें।

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**पर्जन्य:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

रोग व आस्त्राव को दूर करनेवाला 'मुञ्ज'

यथा द्यां च पृथिवीं चान्तस्तिष्ठति तेजनम्। एवा रोगं चास्त्रावं चान्तस्तिष्ठतु मुञ्ज इत्॥ ४॥

१. **यथा**=जैसे यह **तेजनम्**=शर (Reed) **द्यां च पृथिवीं च अन्त:**=द्युलोक और पृथिवीलोक में **तिष्ठति**=स्थित है **एव**=उसी प्रकार यह **मुञ्ज:**=मुञ्ज नामक शर **रोगं च आस्त्रावं च**=रोग और पीब आदि बहनेवाले घावों के **अन्त:**=बीच में **तिष्ठतु**=ठहरे। २. तेजन शर या मुञ्ज बादल के पानी से पृथिवी पर उत्पन्न होता है। इसप्रकार यह मुञ्ज (मूँज, सरकण्डा) दोनों लोकों के बीच में स्थित है। पृथिवी से इसे विष-नाशक शक्ति प्राप्त होती है। यह 'मेदिनी' इसमें Medicinal properties को उपस्थित करती है और सूर्य-किरणों के द्वारा इसमें विविध औषध-गुण स्थापित होते हैं। एवं यह शर रोगों व घावों को ठीक करनेवाला हो जाता है।

भावार्थ—मुञ्ज का विधिवत् प्रयोग रोगों व घावों को दूर करता है।

विशेष—(१) सूक्त के आरम्भ में आधि-व्याधियों की शान्ति करनेवाले 'शर' के जन्म का वर्णन है। (२) यह हमें दृढ़ शरीर और निर्दोष मनवाला बनाता है। (३) हमें चाहिए कि हम गोदुग्ध व वनस्पतियों से ही शरीर का पालन करें। (४) यह निश्चय रक्खें कि इस शर (मुञ्ज) का प्रयोग हमें रोगों व घावों से बचाएगा। इस शर में 'पर्जन्य, मित्र, वरुण, चन्द्र व सूर्य' की शक्तियाँ निहित हैं।

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**पर्जन्यादयो मन्त्रोक्ता:** ॥ छन्द:—**पथ्यापङ्क्ति:** ॥

पर्जन्य

विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्ण्यम्।
तेना ते तन्वे३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति॥ १॥

१. गत सूक्त में शर का वर्णन है, उसी को अधिक व्यक्त करते हुए कहते हैं

१. **यः**=जो **सपत्नः**=शत्रु अथवा **यः**=जो **असपत्नः**=शत्रु नहीं भी लगता, **यः च**=और जो **द्विषन्**=हमारे साथ प्रीति न करता हुआ **नः**=हमें **शपाति**=आक्रुष्ट करता है (Curses), **तम्**=उसे **सर्वे देवाः**=सब देव **धूर्वन्तु**=हिंसित करें। उसे देवताओं की अनुकूलता प्राप्त न हो। सूर्य आदि देवों की प्रतिकूलता से वह अस्वस्थ होकर शान्ति-लाभ न कर पाये। वस्तुतः जो दूसरों को शाप देता है, वह शाप उसके लिए ही शाप प्रमाणित होता है। उसके अन्दर विषैले द्रव्य पैदा होकर उसे ही अस्वस्थ व अशान्त कर देते हैं। हम उसके लिए अमङ्गल की भावना को अपने हृदयों में न आने दें। उसका शाप उसे स्वयं दण्डित करनेवाला होगा। २. हम तो यह निश्चय करें कि **ब्रह्म**=यह ज्ञान अथवा प्रभु **मम**=मेरे **आन्तरं वर्म**=आन्तर कवच होंगे और मैं उन शत्रुओं और विद्वेषियों के अपशब्दरूप बाणों से विद्ध न होऊँगा। मैं क्षुब्ध न होकर सदा शान्त रहूँगा।

भावार्थ—हम ब्रह्म को अपना कवच बनाकर **'आक्रुष्टः कुशलं वदेत्'** निन्दा करने पर भी निन्दक के कल्याण की कामना करे—इस सिद्धान्त को अपनाने का प्रयत्न करें।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में लोभ व काम से विद्ध न होने की प्रार्थना है (१) और इस वेधन से बचने के लिए समाप्ति पर ब्रह्म को आन्तर-कवच बनाने का विधान है (४)। ब्रह्म को कवच बनानेवाला 'अथर्वा' अडिग बनता है। यह शान्त होता है (सोम) और प्रार्थना करता है कि—

२०. [विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सोमः, मरुतश्च**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अदारसृत् (एकता का मार्ग)

अदा॑रसृद्भवतु देव सोमा॒स्मिन्य॒ज्ञे म॑रुतो मृ॒डता॑ नः।
मा नो॑ विददभि॒भा मो अश॑स्ति॒र्मा नो॑ विदद्वृ॒जि॒ना द्वेष्या॒ या॥ १॥

१. 'देव और सोम' ये दोनों सम्बोधन एकता के लिए साधनों का संकेत कर रहे हैं। हम देव बनें—प्रकाशमय जीवनवाले बनें तथा सौम्य स्वभाव को अपनाएँ—अभिमान से दूर हों। ज्ञान व निरभिमानता हमें एकता के मार्ग पर चलानेवाले होंगे। हे **देव**=दिव्य गुणों के पुञ्ज! **सोम**=शान्त प्रभो! आप ऐसी कृपा कीजिए कि आपकी उपासना से **अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवन-यज्ञ में **अदारसृत् भवतु**=हमारा मार्ग (सृत्) फूट (दार) का न हो। हम **'सं गच्छध्वं संवदध्वम्'** का ही पाठ पढ़कर चलें। हमारा जीवन फूट से ऊपर उठकर सचमुच यज्ञ (संगतिकरण) का हो। २. हे **मरुतः**=प्राणो! **नः मृडत**=हमें सुखी करो। प्राणसाधना के द्वारा हमारे मन निर्मल हों, हम राग-द्वेष से ऊपर उठकर परस्पर मेल की भावनावाले हों। ३. इसप्रकार पारस्परिक मेल से **नः**=हमें **अभिभा**=पराभव **मा विदत्**=मत प्राप्त हो—शत्रु हमें पराभूत न कर सकें। एकता की शक्ति हमें अजेय बना दे **उ**=और **अशस्तिः**=अपकीर्ति व कोई भी अशुभ वस्तु **मा**=मत प्राप्त हो तथा विशेषकर **या**=जो **द्वेष्या**=परस्पर अप्रीति की कारणभूत **वृजिना**=कुटिलता है, वह **नः**=हमें **मा विदत्**=मत प्राप्त हो। हम 'अभिभा, अशस्ति, व वृजिन' से ऊपर उठ सकें। एकता के अभाव में ही पराभव, अपकीर्ति व कुटिलताएँ पनपा करती हैं।

भावार्थ—हमारा जीवन यज्ञमय हो, हम कभी फूट के मार्ग पर न चलें। हम पराभव, अपकीर्ति व कुटिलता से बचें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मित्रावरुणौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मित्र और वरुण द्वारा रक्षण

यो अ॒द्य सेन्यो॑ व॒धो॑ [illegible] मि॒त्रावरुणा॒वस्मद्या॑वयतं॒ परि॑॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार हमारा मार्ग **अदारसृत**=एकता व मेल का होगा तो कोई भी शत्रु हमपर क्यों आक्रमण कर सकेगा? इस बात को स्पष्ट करते हुए मन्त्र में कहा है—**अघायूनाम्**=दूसरों का अघ=कष्ट व अहित चाहनेवालों का **यः**=जो भी **अद्य**=आज **सेन्यः वधः**=सेना के आक्रमण के द्वारा होनेवाला वध **उदीरते**=उठ खड़ा होता है, अर्थात् यदि कोई शत्रु सेना के द्वारा आक्रमण करता है तो **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण—परस्पर स्नेह व निर्द्वेषता की भावनाओ! **युवम्**=तुम दोनों **तम्**=उस सेन्य को **अस्मत्**=हमसे **परियावयतम्**=सर्वथा पृथक् कर दो। वह शत्रु सेना के द्वारा हमारा वध न कर पाये। २. इस वध को रोकनेवाले मुख्य देव मित्र और वरुण ही हैं। पारस्परिक स्नेह व निर्द्वेषता से ही हम शत्रु का मुक़ाबला कर सकते हैं। इसी बात को प्रथम मन्त्र में इस रूप में कहा था कि 'फूट का मार्ग न होने पर हमारा पराभव न हो'।

भावार्थ—देशवासियों में परस्पर मेल व द्वेष का अभाव होने पर शत्रु उन्हें आक्रान्त नहीं कर सकता।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

निर्द्वेषता व महान् सुख (शान्ति)

इतश्च यदमुतश्च यद्वधं वरुण यावय।
वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम्॥ ३॥

१. हे **वरुण**=द्वेष-निवारण की देवते! तू **यत् इतः च**=जो इधर से होनेवाला **च**=और **यत्**=जो **अमुतः**=उधर से होनेवाला **वधम्**=वध है, उसे **यावय**=हमसे पृथक् कर दे। जब हममें द्वेष होता है तब यह द्वेष हमारे अन्दर विषयों को जन्म देकर हमारा वध करनेवाला होता है। यह वध यहाँ 'इतः' (इधर से) इस शब्द द्वारा सूचित हुआ है। इस द्वेष के होने पर हम शत्रुओं से आक्रान्त होने योग्य होते हैं और यह वध यहाँ 'अमुतः' (उधर से) शब्द से संकेतित हो रहा है। इन दोनों ही वधों को वरुण हमसे दूर करते हैं। द्वेष-निवारण की देवता हमें इस उभयविध वध से बचाती है। २. इस वध से बचाकर हे वरुण! **महत् शर्म**=महान् कल्याण व सुख को **वियच्छ**=विशेषरूप से प्राप्त कराइए। द्वेष के न होने पर हम आन्तरिक व बाह्य वध से बचकर सुखी जीवनवाले होते हैं। हे वरुण! निर्द्वेषता की देवते! **वधम्**=वध को **वरीयः यावय**=हमसे बहुत दूर कर दीजिए। वस्तुतः द्वेष के अभाव में वध हमारे समीप आ ही नहीं सकता।

भावार्थ—हम द्वेष से दूर हों। द्वेष से ऊपर उठकर आन्तर व बाह्य वध से आक्रान्त न हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आत्मशासन व महत्ता

शास इत्था महाँ अस्यमित्रसाहो अस्तृतः।
न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदा चन॥ ४॥

१. प्रभु अथर्वा से कहते हैं—**शासः**=तू अपना शासन करनेवाल बन। **इत्था**=इस प्रका ही तू **महान् असि**=बड़ा होता है। अपना विजय करनेवाला ही सर्वमहान् विजेता है। **अमित्र-साहः**=अपना विजय करके तू शत्रुओं का पराभव करता है और **अस्तृतः**=अहिंसित होता है। जिस समय हम अपना शासन करके राग-द्वेष आदि को जीत पाते हैं, उसी समय हम महान् होते हैं, बाह्य शत्रुओं को भी जीतनेवाले होते हैं और किसी प्रकार से हिंसित नहीं होते। २. **यस्य**=जिसका **सखा**=मित्र **न हन्यते**=नहीं मारा जाता वह **कदाचन**=कभी भी **न जीयते**=पराजित

नहीं होता। यदि हममें स्नेह का भाव बना रहता है तो हम कभी भी पराभूत नहीं होते। इस मन्त्र-भाग का यह अर्थ भी द्रष्टव्य है कि जो प्रभुरूप मित्र को नहीं भूलता वह अपराभूत बना रहता है।

भावार्थ—आत्मविजय हमें महान् बनाती है और मित्रभाव हमें अपराजित बनाता है।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में प्रार्थना है कि हमारा प्रत्येक कार्य मेल को बढ़ानेवाला हो (१)। समाप्ति पर कहा है कि हम आत्मविजयी बनकर अपराजित बनें (४)। अगले सूक्त में भी यही अथर्वा आराधना करता है कि—

२१. [एकविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रजा-रक्षण

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी। वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयङ्करः॥ १॥

१. राष्ट्र की व्यवस्था के ठीक होने पर ही प्रायः सब प्रकार की उन्नति होती है, अतः उत्तम राष्ट्र-व्यवस्थापक 'इन्द्रः'=शत्रुओं के विद्रावक राजा का चित्रण करते हुए कहते हैं कि यह **इन्द्रः**=राष्ट्र के ऐश्वर्य को बढ़ानेवाला, शत्रु-विजेता राजा **स्वस्तिदा**=उत्तम स्थिति को देनेवाला हो, **विशांपतिः**=प्रजाओं का रक्षक हो **वृत्रहा**=राष्ट्र-उन्नति में बाधक व्यक्तियों का हनन करनेवाला हो, **विमृधः वशी**=वध करनेवालों को वशीभूत करनेवाला, **वृषा**=शक्तिशाली, **सोमपा**=सौम्य व्यक्तियों की रक्षा करनेवाला **अभयंकरः**=प्रजाओं के लिए निर्भयता करनेवाला इन्द्र **नः पुरः एतु**=हमारे आगे चलनेवाला हो—हमारा नेतृत्व करे। २. राजा का मौलिक कर्त्तव्य यही है कि वह प्रजाओं का रक्षण करे (विशांपतिः), उनकी स्थिति को अच्छा बनाये (स्वस्तिदा)। इस स्थिति को अच्छा बनाने के लिए आवश्यक है कि वह प्रजाओं में निर्भयता का सञ्चार करे (अभयंकरः)। इस निर्भयता के लिए वह वृत्रवृत्तिवालों का नाश करे (वृत्रहा), हिंसकों को पूर्णरूप से वश में करे (विमृधः वशी) और सौम्य व्यक्तियों का रक्षण करे (सोमपा)।

भावार्थ—राजा का मूल कर्त्तव्य प्रजा-रक्षण है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अन्तः व बाह्य शत्रुओं का दूरीकरण

वि न इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः।
अधमं गमया तमो यो अस्माँ अभिदासति॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले राजन्! **नः मृधः**=हमारे हिंसकों को **विजहि**=आप विशेषरूप से नष्ट कीजिए। हिंसक वृत्तिवाले पुरुषों का प्रजा से दूर करना आवश्यक ही है। २. **पृतन्यतः**=सेना के द्वारा आक्रमण करनेवालों को **नीचा यच्छ**=पाँवों तले करनेवाले होओ। देश पर सेना के साथ आक्रमण करनेवाले शत्रुओं का प्रबल मुक़ाबला करके उन्हें नीचा दिखाना आवश्यक है। २. **यः**=जो **अस्मान्**=हमें **अभिदासति**=दास बनाता है, उसे **अधमं तमः गमय**=घने अन्धकार में प्राप्त कराइए। दास बनाने की वृत्तिवाले लोगों को क़ैद में रखना आवश्यक है।

भावार्थ—हिंसकों को राजा वध दण्ड दे, सैनिक आक्रमण करनेवालों को पूर्ण पराजय प्राप्त कराए और स्वतन्त्रता का अपहरण करनेवालों को अन्धकारमय कारागार में रक्खे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वृत्रों का विनाश

वि रक्षो वि मृधो जहि वि वृत्रस्य हनू रुज।
वि मन्युमिन्द्र वृत्रहन्नमित्रस्याभिदासतः ॥ ३ ॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुनाशक! राष्ट्र के ऐश्वर्य को बढ़ानेवाले राजन्! **रक्षः**=अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाले, औरों का नाश करके अपने भोगों को बढ़ानेवाले पुरुषों को **विजहि**=विशेषरूप से नष्ट कीजिए। **मृधः**=प्राणघातक पुरुषों को तो अलग कीजिए ही। **वृत्रस्य**=औरों की उन्नति में सदा रोड़ा अटकानेवाले के **हनूः विरुज**=जबड़ों को तोड़ दीजिए, अर्थात् उनकी शक्ति को कम कीजिए। २. हे **वृत्रहन्**=वृत्रों का विनाश करनेवाले राजन्! **अभिदासतः अमित्रस्य**=हमें अपना दास बनानेवाले शत्रु के **मन्युम्**=उत्साह को **वि**=विनष्ट कीजिए। उसपर आक्रमण करके ऐसा दिखाइए कि उसका हमपर आक्रमण करने का उत्साह ही नष्ट हो जाए।

भावार्थ—राजा राक्षसी वृत्तिवाले, हिंसक, उन्नतिविघातक पुरुषों को दूर करे, बाह्य आक्रान्ताओं को भी समाप्त करे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'द्वेष, आयुष्यनाश व वध' से दूर

अपेन्द्र द्विषतो मनोऽप जिज्यासतो वधम्।
वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम् ॥ ४ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **द्विषतः मनः अप**=द्वेष करनेवाले के मन को हमसे दूर कीजिए, अर्थात् हम अपने मन में किसी के प्रति द्वेष न करें, **जिज्यासतः**=(ज्या वयोहानौ) आयुष्य का नाश करनेवाले के **वधम्**=वध को **अप**=हमसे दूर कीजिए। हम किसी के आयुष्यनाश की वृत्तिवाले न हों। २. हे प्रभो! आप हमारे लिए **महत् शर्म**=महनीय सुख को **यच्छ**=प्राप्त कराइए और **वधम्**=वध को **वरीयः यावय**=हमसे बहुत दूर कीजिए। हमारे मन में किसी के वध इत्यादि का विचार ही उत्पन्न न हो। ३. जहाँ राजा का कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्र की अन्तः-बाह्य शत्रुओं से रक्षा करे, वहाँ प्रत्येक प्रजावर्ग का भी यह कर्त्तव्य है कि वह अपने जीवन में से द्वेष आदि भावना को दूर करके सारा व्यवहार करे।

भावार्थ—हम अपने मनों से द्वेष व दूसरों के आयुष्य-नाश की भावना व वध को दूर करें और इसप्रकार उत्तम नागरिक बनें।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में कहा है कि उत्तम व्यवस्था से राजा राष्ट्र में अभय का सञ्चार करे (१)। लोगों के हृदय भी द्वेष व वध आदि की भावनाओं से रहित हों (४)। यह द्वेष से शून्य होना हमें हृदय की जलन व पीलापन आदि रोगों से बचाएगा। इन रोगों के दूरीकरण के लिए सूर्यकिरणों का भी अत्यधिक महत्त्व है।

२२. [द्वाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**सूर्यः, हरिमा, हृद्रोगश्च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'हृदयरोग व हरिमा' का हरण

अनु सूर्यमुदयतां हृद्द्योतो हरिमा च ते।
गो रोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परि दध्मसि ॥ १ ॥

१. रोगों की चिकित्सा करके वृद्धि करनेवाला 'ब्रह्मा' प्रस्तुत सूक्त का ऋषि है (वृहि वृद्धौ)। इस सूक्त का साक्षात् करके यह सूर्य-किरणों के महत्त्व को व्यक्त करते हुए कहता है— **अनुसूर्यम्**=सूर्योदय के साथ **ते**=तेरी **हृद्द्योतः**=हृदय की जलन **च**=तथा **हरिमा**=रक्त की कमी से हो जानेवाला पीलापन **उद् आयताम्**=बाहर चला जाए। सूर्य की किरणों को छाती पर लेने से तेरा हृदय-रोग और पीलिया दोनों ही समाप्त होंगे। २. इसी उद्देश्य से **रोहितस्य**=लाल वर्ण की **गोः**=सूर्य-किरणों के **तेन वर्णेन**=उस लोहित वर्ण से **त्वा**=तुझे **परिदध्मसि**=चारों ओर से धारित करते हैं। 'तेरे चारों ओर सूर्य की लाल किरणें हों' ऐसी व्यवस्था करते हैं। इनका शरीर पर ऐसा प्रभाव होगा कि तेरा हृदयरोग भी दूर होगा और रक्त की कमी भी दूर होकर हरिमा का नाश हो जाएगा।

भावार्थ—प्रातः सूर्य की अरुण वर्ण की किरणों को शरीर पर लेने से हृद्रोग व हरिमा दूर हो जाते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**सूर्यः, हरिमा, हृद्रोगश्च**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रोहित-वर्ण परिधारण

परि त्वा रोहितैर्वर्णैर्दीर्घायुत्वाय दध्मसि।
यथाऽयमरपा असदथो अहरितो भुवत्॥ २॥

१. **त्वा**=तुझे **रोहितैः वर्णैः**=सूर्य-किरणों के रोहित वर्णों से **परिदध्मसि**=चारों ओर से धारण करते हैं, जिससे **दीर्घायुत्वाय**=दीर्घायु की प्राप्ति हो। प्रातः सूर्याभिमुख होकर ध्यान में बैठने से सूर्य रोगकृमियों का नाश करता है, रुधिर में रक्तता बढ़ाता है और इसप्रकार हमारे दीर्घायुष्य का कारण बनता है। २. एक वैद्य एक रोगी को इसीप्रकार सूर्य की रोहित वर्ण की किरणों से घेरने का प्रयत्न करता है, **यथा**=जिससे कि **अयम्**=यह व्यक्ति **अरपाः**=निर्दोष शरीरवाला **असत्**=हो **अथो**=और निश्चय से **अ-हरितः**=पीलेपन के रोग से रहित **भुवत्**=हो। सूर्य की लाल रंग की किरणें रोगी के शरीर को निर्दोष बनाती हैं और उसके रुधिर की कमी को दूर करके उसे पीलिया के रोग से मुक्त करती हैं।

भावार्थ—सूर्य की रोहित वर्ण की किरणें हमें नीरोग बनाकर दीर्घायुष्य प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**सूर्यः, हरिमा, हृद्रोगश्च**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रोहिणी गौएँ

या रोहिणीर्देवत्याः गावो या उत रोहिणीः।
रूपंरूपं वयोवयस्ताभिष्ट्वा परि दध्मसि॥ ३॥

१. **याः**=जो **रोहिणीः**=रोहित वर्ण की **देवत्याः**=दिव्य दुग्ध देनेवाली **गावः**=गौएँ हैं, **उत**=और **याः**=जो **रोहिणीः**=रोहित वर्ण की सूर्य-किरणें हैं, **ताभिः**=उनसे **त्वा**=तुझे **रूपं-रूपम्**=रूप-रूप के अनुसार **वयोवयः**=और आयुष्य के अनुसार **परिदध्मसि**=धारण करते हैं। २. यहाँ मन्त्र में प्रातःकालीन सूर्य की अरुण किरणों के साथ रोहित वर्ण की गौओं का उल्लेख भी स्पष्ट है। जहाँ रोहित वर्ण की किरणें अत्यन्त उपयोगी हैं, वहाँ हृद्रोग व हरिमा को दूर करने में लाल रंग की गौओं के दूध का उपयोग भी अत्यधिक महत्त्व रखता है। यही गौ '**कपिला**' कहलाती है और ऋषि-आश्रमों के साथ साहित्य में सर्वत्र इसका सम्बन्ध दीखता है। इसके दूध में भी वे ही गुण आ जाते हैं जो सूर्य की अरुण किरणों में होते हैं। ३. '**रूपंरूपम्**' ये शब्द 'त्वचा का रंग गोरा है या कालिमा को लिए हुए' इस बात का संकेत कर रहे हैं और स्पष्ट है कि

त्वचा के रंग-भेद से किरणों का कम या अधिक देर तक सेवन अभीष्ट होता है। गौर वर्ण अधिक देर तक किरणों को सहन नहीं कर सकता। इसीप्रकार '**वयोवयः**' शब्द आयुष्य-भेद से अधिक व कम देर तक सूर्य-किरणों के सेवन का संकेत करते हैं। छोटा बच्चा कम देर तक सहन करेगा तो एक युवक अधिक देर तक।

भावार्थ—सूर्य की रोहित किरणों व रोहिणी गौओं के दूध का आयुष्य व शक्ति के अनुसार सेवन द्वारा हम नीरोग हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**सूर्यः, हरिमा, हृद्रोगश्च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

हरिमा का उचित स्थान (तोते व पौधे)

शुकेषु ते हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि। अथो हारिद्रवेषु ते हरिमाणं नि दध्मसि ॥ ४ ॥

१. गतमन्त्रों के अनुसार सूर्य-किरणों व कपिल वर्ण की गौओं के दूध के प्रयोग से रुधिर की कमी के कारण होनेवाली पीतिमा (हरिमा) को दूर करके मनुष्य को नीरोग बनाने का विधान है। यहाँ वेद काव्यमय भाषा में कहता है—**ते हरिमाणम्**=तेरी इस हरिमा को **शुकेषु**=तोतों में **दध्मसि**=धारण करते हैं और **रोपणाकासु**=ओषधिविशेषों में धारण करते हैं। तोतों में और इन ओषधियों में यह हरिमा रोगरूप से प्रतीत नहीं होती, अतः इस हरिमा का स्थान इनमें ही है। अपने स्थान पर यह शोभा का कारण बनती है। मानव-शरीर में यह रोग की सूचना देती है। २. **अथ उ**=और अब **ते हरिमाणम्**=तुझमें रहनेवाली इस हरिमा को तुझसे दूर करके **हारिद्रवेषु**=कदम्ब के वृक्षों में **निदध्मसि**=निश्चय से स्थापित करते हैं। यह हरिमा इन वृक्षों की शोभा-वृद्धि का कारण बनती है।

भावार्थ—हरिमा तोतों में, रोपणा नामक ओषधिविशेषों में तथा कदम्ब-वृक्षों में शोभा का कारण होती है, अतः इसे वहीं स्थापित करते हैं। मानव-शरीर इसका स्थान नहीं है, वहाँ तो यह रोग की सूचना देती है।

विशेष—यह सूक्त सूर्योदय के समय की अरुण किरणों व कपिला गौओं के दूध के प्रयोग से हृद्रोग व हरिमा के दूर करने का प्रतिपादन कर रहा है। इसीप्रकार अगला सूक्त श्वेतकुष्ठ के दूरीकरण के लिए ओषध-विशेष का प्रतिपादन करता है—

२३. [त्रयोविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतयः (रामा-कृष्णा-असिक्नी च)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

रामा-कृष्णा-असिक्नी

नक्तञ्जातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च।
इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत् ॥ १ ॥

१. हे **ओषधे**=शरीर के दोषों का दहन करनेवाली ओषधे! तू **नक्तं जाता असि**=रात्रि में उत्पन्न हुई है। ओषधियों का ईश चन्द्रमा है। वह रात्रि में ओषधियों में रस का सञ्चार करता है। इसी दृष्टि से यहाँ यह प्रतिपादन हुआ है 'हे ओषधे! तू रात्रि में विकसित हुई है'। २. **रामे कृष्णे असिक्नि च**=रामा, कृष्णा व असिक्नी—इन नामों से तेरा सम्बोधन होता है। तू शरीर को फिर से सौन्दर्य प्रदान करनेवाली होने से 'रामा' है, शरीर के दोषों को बाहर खेंच लाने से तू 'कृष्णा' है और श्वेत धब्बे को दूर कर देने से तू 'असिक्नी' है। ३. हे **रजनि**=शरीर को पुनः ठीक रंग प्रदान करनेवाली ओषधे! तू **यत्**=जो **किलासम्**=श्वेतकुष्ठ का धब्बा है **च**=और **पलितम्**=त्वचा में आ जानेवाली सफेदी है, **इदम्**=इसे **रजय**=फिर से रंग दे।

भावार्थ—रामा, कृष्णा व असिक्नी नामक औषध के प्रयोग से श्वेत कुष्ठ दूर हो जाता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतयः (रामा-कृष्णा-असिक्नी च)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

किलास व पलित का नाश

कि॒लासं॑ च पलि॒तं च॒ निरि॒तो ना॑शया॒ पृष॑त्।
आ त्वा॒ स्वो वि॑शतां॒ वर्णः॒ परा॑ शु॒क्लानि॑ पातय॥ २॥

१. **किलासम्**=श्वेतकुष्ठ के धब्बों को **च**=और **पलितम्**=त्वचा की व्यापक सफ़ेदी को **च**=तथा **पृषत्**=अन्य धब्बों को **इतः**=यहाँ से **निः नाशय**=बाहर कर दे (णश अदर्शने)। त्वचा में इन किलास, पलित व पृषतों का दर्शन न हो। २. हे रोगाक्रान्त पुरुष! इस औषध के प्रयोग से **त्वा**=तेरी त्वचा में **स्वः वर्णः**=अपना असली वर्ण **आविशताम्**=सर्वत्र प्राप्त हो जाए। तू **शुक्लानि**=जहाँ-तहाँ हो जानेवाले इन सफ़ेद धब्बों को **परा पातय**=दूर भगा दे।

भावार्थ—औषध-प्रयोग से त्वचा को पुनः अपना असली रूप प्राप्त हो जाता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतयः (रामा-कृष्णा-असिक्नी च)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

असिक्नी का असिक्नीपन

असि॑तं ते प्र॒लय॑नमा॒स्थान॒मसि॑तं॒ तव॑। असि॑क्न्यस्योषधे॒ निरि॒तो ना॑शया॒ पृष॑त्॥ ३॥

१. हे **ओषधे**=दोष-दहन करनेवाली ओषधे! **ते**=तेरा **प्रलयनम्**=लय व विनाश भी **असितम्**=काला है, अर्थात् तुझे जला देने पर तेरी भस्म भी सामान्यता अधिक काले वर्ण की होती है। **तव आस्थानम् असितम्**=तेरा स्थिति-स्थान भी काला है। सामान्यतः काली मिट्टी में ही यह पनपती है। २. हे ओषधे! तू सचमुच **असिक्नी असि**=काली है। **इतः**=यहाँ से, इस रोगी पुरुष की त्वचा से **पृषत्**=इन धब्बों को **निः नाशय**=सुदूर नष्ट कर दे।

भावार्थ—असिक्नी का असिकनीत्व इसी में है कि वह त्वचा के सफ़ेद धब्बे को दूर कर दे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतयः (रामा-कृष्णा-असिक्नी च)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ज्ञानरूप महौषध

अ॒स्थि॒जस्य॑ कि॒लास॑स्य तनू॒जस्य॑ च॒ यत्त्व॒चि।
दूष्या॑ कृ॒तस्य॒ ब्रह्म॑णा॒ लक्ष्म॑ श्वे॒तम॑नीनशम्॥ ४॥

१. यदि कुष्ठ का प्रभाव अस्थि तक पहुँच गया है तो यह 'अस्थिज किलास' कहलाएगा। यदि अभी उसका प्रभाव गहराई तक नहीं गया तो वह 'तनूज' कहलाता है। ये दोनों आहार-व्यवहार के दोषों के कारण ही उत्पन्न होते हैं, अतः कहते हैं कि—**अस्थिजस्य किलासस्य**=हड्डी तक पहुँचे हुए कुष्ठ का **च**=और **तनूजस्य**=शरीर में उपरले पृष्ठ पर उत्पन्न हुए-हुए कुष्ठ का **यत्**=जो **त्वचि**=त्वचा में **श्वेतं लक्ष्म**=श्वेत धब्बा है उसे तथा **दूष्या कृतस्य**=दूषित आहार-विहार के द्वारा उत्पादित किलास को **ब्रह्मणा**=ज्ञान के द्वारा **अनीनशम्**=मैं नष्ट करता हूँ। २. ज्ञान के अभाव में ही आहार-व्यवहार के दोष उत्पन्न होते हैं और उन दोषों से यह कुष्ठ-विकार उत्पन्न होता है। ज्ञान के द्वारा आहार-व्यवहार की शुद्धि होने पर इन विकारों की आंशका जाती रहती है।

भावार्थ—ज्ञान के द्वारा आहार-व्यवहार को शुद्ध करके हम कुष्ठ आदि विकारों को उत्पन्न न होने दें।

विशेष—इस सूक्त का ही विषय अगले सूक्त में भी प्रतिपादित हो रहा है। इस सूक्त में 'ब्रह्मा' आसुरी वनस्पति के प्रयोग से कुष्ठ को दूर करते हैं—

२४. [चतुर्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आसुरी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आसुरी (ओषधिविशेष)

सुपर्णो जातः प्रथमस्तस्य त्वं पित्तमासिथ।
तदासुरी युधा जिता रूपं चक्रे वनस्पतीन्॥ १॥

१. **सुपर्णः**=सूर्य **प्रथमः जातः**=सबसे प्रथम प्रादुर्भूत हुआ। यह सूर्य अपनी किरणों से प्राणों का सञ्चार करता हुआ सबका पालन करता है, अतः 'सुपर्ण' है। इस सुपर्ण के पित्त को आसुरी ग्रहण करती है। सूर्य की उष्णता का तत्त्व जो रोग का दहन कर देता है, उसे ही यहाँ 'पित्त' कहा गया है। कुष्ठ 'कफ-वात' का विकार है, यह पित्त उसे दूर करनेवाला होता है। हे आसुरी ओषधे! **त्वम्**=तू **तस्य**=उस 'सुपर्ण' की—सूर्य की **पित्तम्**=पित्त **आसिथ**=है, उसकी पित्त को लिये हुए है। २. **तत्**=सूर्य की पित्त को लिये हुए होने के कारण **आसुरी**=प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाली यह ओषधि **युधा**=रोगों के साथ युद्ध के द्वारा **जिता** (**जितम् अस्या अस्ति इति**)=विजयवाली होती है। युद्ध के द्वारा रोगों पर विजय प्राप्त करके यह **वनस्पतीन्**=(An ascetic=तपस्वी) तपस्वियों को **रूपं चक्रे**=फिर से प्रशस्त रूपवाला बना देती है। ३. वनस्पति शब्द यहाँ शरीर के पति, अर्थात् जितेन्द्रिय का वाचक है। आसुरी ओषधि के प्रयोग के साथ तपस्वी जीवन भी नितान्त आवश्यक है। भोजनाच्छादन का कठोर नियम किये बिना यह ओषधि कुष्ठ का निवारण करके सुरूप प्रदान करने में समर्थ नहीं। वनस्पतियों—तपस्वियों को यह ओषधि रूपवाला कर सकती है।

भावार्थ—आसुरी ओषधि में सूर्य का पित्तांश है। इससे वह तपस्वी को कुष्ठ का निवारण करके सुरूप प्रदान करती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आसुरी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृत्पथ्यापङ्क्तिः** ॥

त्वचा की सरूपता

आसुरी चक्रे प्रथमेदं किलासभेषजमिदं किलासनाशनम्।
अनीनशत् किलासं सरूपामकरत्त्वचम्॥ २॥

१. **प्रथमा**=अत्यन्त फैलनेवाली **आसुरी**=इस आसुरी ओषधि ने **इदम्**=इस **किलास-भेषजम्**=श्वेतकुष्ठ के धब्बों की औषध को **चक्रे**=बनाया है। **इदम्**=यह औषध **किलास-नाशनम्**=श्वेतकुष्ठ का नाश करनेवाला है। २. नाश करनेवाला क्या, इसने तो **किलासम्**=किलास को **अनीनशत्**=नष्ट कर ही दिया और **त्वचं सरूपाम् अकरत्**=सारी त्वचा को समान रूपवाला कर दिया है। ३. यहाँ मन्त्र का उत्तरार्ध साहित्य की अतिशयोक्ति अलंकारपूर्ण शैली में कहा गया है। इससे ओषधि के महत्त्व पर प्रकाश पड़ता है। यह ओषधि किलास को शीघ्र दूर करनेवाली है, यही भाव अभिप्रेत है।

भावार्थ—आसुरी ओषधि से बनाया गया भेषज किलास को शीघ्र दूर करनेवाला है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आसुरी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आसुरी के माता व पिता

सरूपा नाम ते माता सरूपो नाम ते पिता।
सरूपकृत्त्वमोषधे सा सरूपमिदं कृधि॥ ३॥

१. सब ओषधियों की माता यह पृथिवी है, हे आसुरी! **ते माता**=तेरी मातृस्थानापन्न यह पृथिवी **सरूपा नाम**=सरूपा नामवाली है। मिट्टी का लेप भी त्वग्दोष को दूर करके स्वरूपता लाने में सहायक होता है। २. इसीप्रकार सब ओषधियों का पिता द्युलोक है। यह वृष्टि व सूर्य-किरणों द्वारा इन ओषधियों को जन्म देनेवाला व पालन करनेवाला है। वह **ते पिता**=तेरा द्युलोकरूपी यह पिता भी **सरूपः नाम**=सरूप नामवाला है। यह भी त्वचा को सरूपता देनेवाला है। सूर्य-किरणों को त्वचा पर लेना तथा वृष्टिजलों में स्नान—ये दोनों ही बातें त्वग्दोष को दूर करनेवाली हैं। ३. हे **ओषधे**=त्वचा के दोष का दहन करनेवाली आसुरि! **त्वम्**=तू भी इस पृथिवी व द्युलोकरूप माता-पिता से उत्पन्न होकर **सरूपकृत्**=सारी त्वचा को समान रूपवाला करनेवाली है। **सा**=वह तू **इदं सरूपं कृधि**=हमारे इस शरीर को सरूप बना दे।

भावार्थ—(क) मिट्टी का लेप, (ख) सूर्य-किरणों का सम्पर्क, (ग) वृष्टिजल में स्नान तथा (घ) आसुरी ओषधि का प्रयोग—ये चार बातें अवश्य कुष्ठ रोग को दूर कर सरूपता प्राप्त कराती हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आसुरी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

श्यामा

श्यामा सरूपङ्करणी पृथिव्या अध्युद्भृता। इदमू षु प्र साधय पुना रूपाणि कल्पय॥ ४॥

१. त्वचा में रंग देनेवाले तत्त्व के निकल जाने से ही कुष्ठ रोग उत्पन्न होता है। इस रंगदायी तत्त्व (colouring matter) को फिर से शरीर में प्राप्त करा देनेवाली यह **श्यामा**=श्यामता देनेवाली ओषधि **सरूपं करणी**=समानरूपता करनेवाली है। २. यह ओषधि **पृथिव्याः**=पृथिवी से **उद्भृता**=बाहर धारण की गई है। 'पृथिवी से बाहर निकालना' यह भाव स्पष्ट कर रहा है कि यह कन्द आदि के रूप की कोई ओषधि है। ३. हे श्यामा! तू **इदम्**=इस हमारे शरीर को **उ**=निश्चय से **सुप्रसाधय**=अच्छी प्रकार अलंकृत कर दे, रोग को दूर करके इसे ठीक सिद्ध कर दे। **पुनः**=फिर **रूपाणि कल्पय**=तू त्वचा में रूप बना दे। जो रङ्ग देनेवाला तत्त्व कम हो गया था, उसकी पुनः स्थापना कर दे।

भावार्थ—'श्यामा' ओषधि रंग देनेवाले तत्त्व को उपस्थित करके त्वचा को फिर से सरूप करनेवाली है।

विशेष—अगले सूक्त का विषय भी 'तक्मा'=ज्वर है। इसे अपने से दूर रखनेवाला व्यक्ति 'अङ्गिरा'=सब अङ्गों में रसवाला है। यह ज्वर को परिपक्व करके दूर करनेवाला होने से 'भृगु' है (भ्रस्ज पाके)। यह 'भृगु अङ्गिरा' ही अगले सूक्त का ऋषि है। यह प्रार्थना करता है—

२५. [पञ्चविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यक्ष्मनाशनोऽग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ज्वर का मूलकारण (वासना द्वारा शक्तिनाश)

यदग्निरापो अदहत्प्रविश्य यत्राकृण्वन्धर्मधृतो नमांसि।
तत्र त आहुः परमं जनित्रं स नः संविद्वान्परि वृङ्ग्धि तक्मन्॥ १॥

१. **यत्र**=जहाँ—हृदयदेश में **धर्मधृतः**=धर्म को धारण करनेवाले लोग **नमांसि**=प्रभु के प्रति नमन की भावनाओं को **अकृण्वन्**=करते हैं, वहाँ हृदय में **यत्**=जब **प्रविश्य**=प्रवेश करके **अग्निः**=कामवासना की अग्नि **आपः अदहत्**=वीर्यरूप जलों को जला देती है, **तत्र**=वहाँ **ते**=तेरे (रोग के) **परमं जनित्रम्**=सबसे उत्कृष्ट उत्पत्ति-स्थान को **आहुः**=कहते हैं। चाहिए तो यह

कि हृदय में हम सदा प्रभु का स्मरण करें, परन्तु यदि ग़लती से प्रभु-स्मरण को छोड़, हम वासनाओं के शिकार होने लगते हैं तो वीर्य का अपव्यय होता है। इस वीर्य को ही रोगों को कम्पित करना होता है। उसका अपव्यय होने पर रोगों को पनपने का अवसर मिल जाता है। २. हे **तक्मन्**=तंग करनेवाले ज्वर! **सः**=वह तू **नः**=हमें **संविद्वान्**=सम्यक्तया जानता हुआ कि हम हृदय में प्रभु-स्मरण करनेवाले हैं, हम कामाग्नि को वहाँ प्रवेश का अवसर नहीं देते, **परिवृङ्ग्धि**=सब प्रकार से छोड़नेवाला हो। किसी अन्य व्यक्ति को तू अपना शिकार बना जोकि वासनात्मक जीवनवाला बन गया हो।

भावार्थ—ज्वर का मूलकारण हृदय में वासना के आने से शक्ति का क्षय है, अतः ज्वर से बचने के लिए हम हृदय में सदा प्रभुस्मरण की भावना को स्थिर रक्खें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यक्ष्मनाशनोऽग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गर्भात्रिष्टुप्** ॥

ज्वर के परिणाम

यद्यर्चिर्यदि वाऽसि शोचिः शकल्येषि यदि वा ते जनित्रम्।
हूडुर्नामासि हरितस्य देव स नः संविद्वान्परि वृङ्ग्धि तक्मन्॥ २॥

१. हे **तक्मन्**=ज्वर! **यदि**=यदि (क) **अर्चिः असि**=तू ज्वालारूप है, अर्थात् यदि तेरे कारण शरीर में ताप की लपटें-सी उठती प्रतीत होती हैं, (ख) **यदि वा**=अथवा **शोचिः असि**=तेरे कारण हृदय में कुछ हतोत्साहता-(depression)-सा प्रतीत होता है, (ग) **यदि वा**=अथवा **ते जनित्रम्**=तेरा प्रादुर्भाव ऐसा है कि **शकली एषि**=तू अङ्गों को तोड़ता हुआ आता है, (घ) अथवा **हूडुः नाम असि**=कँपकँपी लानेवाला होने से तू हूडु नामवाला है (ङ) अथवा **हरितस्य देव**=तू खून को सुखाकर पीलापन (jaundice) देनेवाला है, जैसा भी तू है **सः**=वह तू **नः**=हमें **संविद्वान्**=सम्यक्तया प्रभु-भक्ति की भावनावाला जानता हुआ **परिवृङ्ग्धि**=सब प्रकार से छोड़नेवाला हो। २. ज्वर के ये विविध परिणाम तभी भोगने पड़ते हैं जब हम प्रभु-भक्ति को छोड़कर अपने जीवन में वासना को स्थान देते हैं।

भावार्थ—'ताप, हतोत्साह, अङ्गों का टूटना, कँपकँपी, रुधिर की कमी'—ये सब ज्वर के परिणाम हैं, इनसे बचने के लिए आवश्यक है कि हम हृदय में वासनाओं को स्थान न दें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यक्ष्मनाशनोऽग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गर्भात्रिष्टुप्** ॥

ज्वर के अन्य तीन कारण

यदि शोको यदि वाभिशोको यदि वा राज्ञो वरुणस्यासि पुत्रः।
हूडुर्नामासि हरितस्य देव स नः संविद्वान्परि वृङ्ग्धि तक्मन्॥ ३॥

१. हे **तक्मन्**=ज्वर! **यदि**=यदि तू **शोकः असि**=बाह्य सम्पत्ति व सन्तान के नाश से होनेवाले शोक का परिणाम है, **यदि वा**=अथवा **अभिशोकः असि**=किन्हीं आन्तरिक व बाह्य दोनों कारणों से उत्पन्न होनेवाले शोक का परिणाम है, **यदि वा**=अथवा तू **वरुणस्य राज्ञः पुत्रः असि**=वरुण राजा का पुत्र है तो तू **हूडुः नाम असि**=कँपकँपी को लानेवाला होने से हूडु नामवाला है। तू **हरितस्य देव**=पीलिया को देनेवाला है। **सः**=वह तू **नः**=हमें **संविद्वान्**=सम्यक्तया जानता हुआ कि हम प्रभु-भक्त होने से वासना से दूर हैं, **परिवृङ्ग्धि**=सब प्रकार से छोड़नेवाला हो। २. शोक के कारण तो ज्वर उत्पन्न हो ही जाता है। यहाँ ज्वर को वरुण राजा का पुत्र इसलिए कहा है कि वरुण जलाधिपति है। यह जल इधर-उधर गढ़ों में ठहरता है, तो मच्छरों की उत्पत्ति का कारण बनता है। ये मच्छर ज्वर को फैलानेवाले होते हैं, अतः ज्वर से बचने के लिए जहाँ

शोक से बचना है, वहाँ मच्छरों की उत्पत्ति को रोकने की भी व्यवस्था करनी चाहिए। इस व्यवस्थापक को ही आजकल की भाषा में सैनिटेशन का प्रबन्ध कहते हैं।

भावार्थ—ज्वर शोक से उत्पन्न होता है, अतः संसार-स्वरूप का चिन्तन करते हुए शोक नहीं करना है तथा ऐसी व्यवस्था भी वाञ्छनीय है कि पानी आदि के ठहरे रहने से मच्छर उत्पन्न न हो पाएँ।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यक्ष्मनाशनोऽग्निः** ॥ छन्दः—**पुरोऽनुष्टुप्** ॥

विविध ज्वर

नमः शीताय तक्मने नमो रूराय शोचिषे कृणोमि।
यो अन्येद्युरुभयद्युरभ्येति तृतीयकाय नमो अस्तु तक्मने॥ ४॥

१. **शीताय तक्मने नमः**=हम शीतज्वर के लिए नमस्कार करते हैं, इससे दूर से ही बचने का प्रयत्न करते हैं। २. **रूराय शोचिषे**=गर्जना करनेवाले सन्तापकारी बुखार के लिए **नमः कृणोमि**=मैं नमस्कार करता हूँ। वह ज्वर, जिसमें गर्मी की अधिकता से मनुष्य बड़बड़ाने लगता है, 'रूरशोचिः' कहा गया है। मैं इससे बचने क लिए प्रार्थना करता हूँ। ३. **यः**=जो **अन्येद्युः**=एक दिन छोड़कर आता है, **उभयद्युः अभ्येति**=दो-दो दिन करके आता है। दो दिन आया, फिर एक दिन न आकर दो दिन आता है—यह ज्वर 'उभयद्यु' कहलाता है। **तृतीयकाय**=जो दो-दो दिन छोड़कर तीसरे दिन आता है, उस **तक्मने**=ज्वर के लिए **नमः अस्तु**=नमस्कार हो, अर्थात् मैं अन्येद्यु, उभयद्यु व तृतीयक ज्वरों से बचा रहूँ। ४. इन सब ज्वरों के लिए नमस्कार हो, अर्थात् इनसे मैं बचा रहूँ। 'नमः अस्तु' इन शब्दों में यह भाव भी अन्तर्निहित प्रतीत होता है कि मैं प्रभु के प्रति नतमस्तक होता हुआ इन ज्वरों का शिकार न होऊँ। प्रभु-भजन की वृत्ति भी मनुष्य के व्यवहार में उन वाञ्छनीय परिवर्तनों को उत्पन्न करती है जो ज्वरादि से दूर रहने में सहायक होते हैं।

भावार्थ—प्रभु-भक्त जीवन की दिशा को ठीक रखने के कारण ज्वरादि से बचा रहता है।

विशेष—इस सूक्त में ज्वररूप आध्यात्मिक कष्ट से बचने का संकेत है। अब ब्रह्मा बनकर आधिदैविक कष्टों से बचने का उल्लेख होता है—

२६. [षड्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**इन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

बिजली गिरना व ओले पड़ना

आरे३ऽसावस्मदस्तु हेतिर्देवासो असत्। आरे अश्मा यमस्यथ॥ १॥

१. उल्का आदि का गिरना अथवा बिजली का गिरना ही 'देवों के वज्र का गिरना' कहलाता है। **असौ**=वह **हेतिः**=वज्रपात **अस्मत्**=हमसे **आरे अस्तु**=दूर हो। बिजली आदि के गिरने के आधिदैविक प्रकोप से हम बचे रहें। २. हे **देवासः**=देवो! **यम्**=जिसे **अस्यथ**=आप फेंकते हो वह **अश्मा**=पत्थर **आरे असत्**=हमसे दूर रहें। ओलों के रूप में ये पत्थर पड़ते हैं और सम्पूर्ण पकी खेती की हानि हो जाती है। यह भी एक प्रबल आधिदैविक आपत्ति है। ३. देवों से प्रार्थना करते हैं कि ये आपत्तियाँ हमसे दूर ही रहें। वस्तुतः इन्हें दूर रखने का उपाय यही है कि हम भी 'देव' बनें। देव बनकर ही आधिदैविक कष्टों को दूर रक्खा जा सकता है। देव बनने का स्थूलभाव 'देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा' इन शब्दों में सुव्यक्त है कि हम (क) देनेवाले बनें, (ख) ज्ञान की ज्योति से अपने को दीप्त करें, (ग) औरों के लिए ज्ञान-ज्योति देनेवाले हो।

भावार्थ—देव बनकर हम बिजली गिरने व ओले आदि पड़ने के आधिदैविक कष्टों से बच सकते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**इन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदासाम्नीत्रिष्टुप् (एकावसाना)** ॥

दिव्य भावों के साथ मित्रता

सखासावस्मभ्यमस्तु रातिः सखेन्द्रो भगः सविता चित्रराधाः ॥ २ ॥

१. **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **असौ**=वह **रातिः**=दान देने की भावना **सखा अस्तु**=मित्र हो। अदानशीलता ही सबसे बड़ा शत्रु है, यही देव-विपरीत भाव है। देव देते हैं, असुर हड़प कर जाते हैं। दान यज्ञ की चरम सीमा है। यह लोभ के मूल पर कुठाराघात करता है और इसप्रकार व्यसन-वृक्ष को उखाड़ फेंकता है। २. **इन्द्रः सखा**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु हमारा सखा हो। इन्द्र शब्द जितेन्द्रियता की सूचना देता है। जितेन्द्रियता ही परमैश्वर्यता का कारण बनती है। जितेन्द्रियता ही वस्तुतः उस वृत्त का केन्द्र है, जिसकी परिधि सब सद्गुणों से बनी हुई है। ३. **भगः**=भजनीय धन हमारा मित्र हो। वही धन भजनीय है जो औरों के साथ बाँटकर खाया जाता है। केवल अपने लिए विनियुक्त होनेवाला धन निधन का कारण बनता है। यही भाव 'यज्ञशेष को अमृत' नाम देकर व्यक्त किया गया है। ४. **सविता**=यह निर्माण की देवता है। जगदुत्पादक प्रभु 'सविता' हैं। मैं भी निर्माण की वृत्तिवाला बनकर आधिदैविक कष्टों से ऊपर उठूँ। जिस राष्ट्र में निर्माणरुचि जनता का बाहुल्य होता है, वह आधिदैविक कष्टों से बचा रहता है। ५. **चित्रराधाः**=ज्ञानरूप अद्भुत सम्पत्तिवाला प्रभु हमारा मित्र हो। ज्ञान को ही वास्तविक सम्पत्ति समझने पर हमारी वृत्ति उत्कृष्ट होगी और हम आधिदैविक कष्टों के शिकार न होंगे।

भावार्थ—'दानवृत्ति, जितेन्द्रियता, मिलकर सेवनीय धन, निर्माणरुचिता, ज्ञान को ही सम्पत्ति समझना'—ये बातें राष्ट्र को आधिदैविक कष्टों से बचाती हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**इन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

मरुतों की कल्याणकारिता

यूयं नः प्रवतो नपान्मरुतः सूर्यत्वचसः। शर्म यच्छाथ सप्रथाः ॥ ३ ॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **यूयम्**=आप **नः**=हमें **प्रवतः नपात्**=उच्च स्थान से न गिरने देनेवाले हो। प्राणसाधना हमें उच्च स्थिति में रखती है। इससे हममें दैवीभावों की वृद्धि होती है। केवल दैवीभावों का वर्धन ही नहीं, ये मरुत् **सूर्यत्वचसः**=सूर्य के समान ज्योतिर्मय त्वचा देनेवाले हैं। इनकी साधना से मनुष्य का स्वास्थ्य ऐसा उत्तम बनता है कि उसकी त्वचा सूर्य की भाँति चमकनेवाली बनती है। २. '**सूर्यत्वचसः**' शब्द का अर्थ यह भी हो सकता है कि ये मरुत् सूर्य को **त्वच्**=(touch) छूनेवाली हैं, अर्थात् प्राणसाधना हमें सूर्यमण्डल का भेदन करके ब्रह्मलोक में ले-जानेवाली होती है। ३. हे मरुतो! आप **सप्रथाः**=विस्तृत **शर्म**=सुख **यच्छाथ**=दो। ये प्राण हमारे शरीरों को नीरोग, मनों को निर्मल तथा मस्तिष्क को दीप्त बनाकर विस्तृत सुखों को देनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें ऊपर-और-ऊपर ले-चलती है। यह हमें सूर्यमण्डल का भेदन करनेवाला बनाती है और विस्तृत सुख प्रदान करती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**इन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पादनिचृद्गायत्री (एकावसाना)** ॥

अपना व सन्तानों का स्वास्थ्य

सुषूदत मृडत मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥ ४ ॥

१. हे प्राणो! **सुषूदत**=(षद् क्षरणे) आप हमारे सब मलों का क्षरण—दूर करनेवाले होओ, शरीर के मलों को दूर करके हमें स्वस्थ बनाओ। मनों की मैल को दूर करके उन्हें निर्मल बनाओ तथा मस्तिष्क की कुण्ठता को दूर करके हमें तीव्र बुद्धि बनाओ। ऐसा बनाकर **मृडत**=हमें सुखी करो। वास्तविक सुख 'शरीर, मन व मस्तिष्क' तीनों के नैर्मल्य में ही है। २. **नः तनूभ्यः**=हमारे शरीरों के लिए तो **मृडय**=सुख प्रदान करो ही **तोकेभ्यः**=हमारी सन्तानों के लिए भी **मयः कृधि**=कल्याण व नीरोगता कीजिए। हमारे शरीर स्वस्थ होंगे तो हमारे सन्तानों के शरीरों पर उनका प्रभाव पड़ेगा ही।

भावार्थ—प्राणसाधना से नैर्मल्य को सिद्ध करके हम अपने व सन्तानों के स्वास्थ्य को प्राप्त करनेवाले हों।

विशेष—संक्षेप में सूक्त का भाव यही है कि प्राणसाधना से नैर्मल्य को सिद्ध करके, देव बनकर, हम आधिदैविक आपत्तियों से बचें। यह प्राणसाधना हमें चित्तवृत्ति-निरोध के द्वारा 'अथर्वा' बनाती है। 'अथ अर्वाङ्' हम अन्तर्मुखी वृत्तिवाले बनते हैं, साथ ही हममें वीरता का संचार होता है—

२७. [सप्तविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**इन्द्राणी**॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः**॥

आवरण का हटाना

अमूः पारे पृदाक्व॑स्त्रिषप्ता निर्ज॑रायवः।
तासां॑ जरायु॑भिर्व॒यम॒क्ष्या॒३॑वपि॑ व्ययाम॒स्यघायोः॑ परिप॒न्थिनः॑॥ १॥

१. प्रस्तुत सूक्त की देवता 'इन्द्राणी' है। यह इन्द्र की शक्ति है। 'इन्द्र' इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। जितेन्द्रिय पुरुष ही तो शक्ति का पति बनता है। इसकी **अमूः**=ये **त्रिषप्ताः**='तीन+सात' दस इन्द्रियाँ **पृदाक्वः पारे**=सर्पिणी से दूर होती हैं। सर्पिणी यहाँ कुटिलता की प्रतीक है। इसकी इन्द्रियाँ कुटिल वृत्तिवाली नहीं होतीं। **निर्जरायवः**:=ये वासना के आवरण से रहित होती हैं। वासना के आवरण से आवृत इन्द्रियाँ सदा कुटिल मार्ग पर जानेवाली होती हैं। २. **तासाम्**=इन इन्द्रियों की **जरायुभिः**=आवरणभूत वासनाओं से **वयम्**=हम **अघायोः**=पाप की कामनावाले **परिपन्थिनः**=औरों के मार्ग में बाधक चोर आदि की **अक्ष्यौ**=आँखों को **अपिव्ययामसि**=ढकते हैं। वस्तुतः इन वासनारूप आवरणों के कारण ही तो वे 'अघायु व परिपन्थी' बने हैं। इन आवरणों के हट जाने पर मनुष्य धर्मप्रवण व परहित की कामनावाला होता है।

भावार्थ—हम इन्द्रियों की कुटिलवृत्ति को दूर करें, शक्ति के लिए वासनारूप आवरण को हटाएँ। यह आवरण ही हमें अघायु व परिपन्थी बनाता है।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**इन्द्राणी**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रणवरूप धनुष का धारण

विषू॒च्ये॑तु कृ॒न्तती॒ पिना॑कमिव॒ बिभ्र॑ती। विष्व॑क्पुन॒र्भुवा॒ मनोऽस॑मृद्धा अघा॒यवः॑॥ २॥

१. यह इन्द्राणी=इन्द्र की शक्तिरूप पत्नी **पिनाकम् इव बिभ्रती**=प्रणवरूप धनुष को ही मानो धारण करती हुई, 'ओम्' के जप से प्रभु का स्मरण करती हुई, **कृन्तती**=इस धनुष द्वारा वासनाओं को काटती हुई **विषूची**=विविध दिशाओं में जानेवाली होकर **एतु**=गति करे, संसार में विचरे, परन्तु प्रभु-स्मरण के साथ विचरने के द्वारा यह संसार में उलझे नहीं। २. 'ओम्' का जप न करने पर मनुष्य संसर में आसक्त होता ही है। इस आसक्तिवाली स्त्री विधवा होकर

फिर विवाह की ओर झुकती है। इस **पुनर्भुवाः**=दुबारा विवाहित होनेवाली विधवा का **मनः**=मन **विश्वक्**=संसार के विविध विषयों की ओर ही जानेवाला होता है। इस वैषयिक वृत्तिवाले **अघायवः**=पाप की ओर झुकाववाले पुरुष **असमृद्धाः**=कभी भी वास्तविक ऐश्वर्य को पानेवाले नहीं होते।

भावार्थ—हम प्रणवरूप धनुष को लेकर वासनाओं को काट डालें। वैषयिक वृत्ति तो हमें भटकाएगी और वास्तविक समृद्धि से दूर रक्खेगी।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)** ॥ देवता—**इन्द्राणी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वासनाओं का विनाश

न बहवः समशकन्नार्भका अभि दाधृषुः।
वेणोरुद्गाइवाभितोऽसमृद्धा अघायवः॥ ३॥

१. **बहवः**=संसार के असंख्य विषय **न समशकन्**=हमें पराजित करने में समर्थ न हों। **अर्भकाः**=अंकुररूप में होनेवाली वासनाएँ भी **न अभिदाधृषुः**=हमारा धर्षण न करें। वासनाओं को हम मूल में नष्ट करनेवाले बनें (Nip in the bud), इन्हें अंकुरित ही न होने दें। अंकुरित हो भी जाएँ तो उन्हें पुष्पित व फलित न होने दें। २. **वेणोः**=बाँस के **उद्गाः इव**=पुरोडाशों के समान **अघायवः**=दूसरों का अशुभ चाहनेवाले **अभितः**=दोनों ओर से, **असमृद्धाः**=कभी समृद्ध नहीं होते। बाँस की आहुति नहीं दी जाती। यह आहुति असमृद्ध मानी जाती है। इसमें वायु की पवित्रता न होकर अपवित्रता अधिक होती है और चटचटा शब्द होकर फटने का भय भी बना रहता है। इसीप्रकार अघायु पुरुष भी परिवार के लिए असमृद्धि का कारण माना जाता है।

भावार्थ—अघायु का जीवन असमृद्ध होता है। यह स्मरण रखते हुए हम इन अशुभ वृत्तियों का शिकार न हों, इन्हें अंकुरित ही न होने दें, मूल में ही इनका विनाश करें।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)** ॥ देवता—**इन्द्राणी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

क्रियाशीलता व दान

प्रेतं पादौ प्र स्फुरतं वहतं पृणतो गृहान्।
इन्द्राण्ये᳚तु प्रथमाजीतामुषिता पुरः॥ ४॥

१. वासनाओं के विनाश के लिए पाँवों को सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि **पादौ**=हे पाँवो! **प्रेतम्**=आगे बढ़ो। **प्रस्फुरतम्**=तुम स्फूर्तिवाले बनो। **पृणतः**=दान देनेवाले **गृहान्**=घरों को **वहतम्**=धारण करनेवाले होओ। वासना-विनाश के लिए ये ही मुख्य बातें हैं—(क) क्रियाशीलता, (ख) दान की वृत्ति। सदा क्रियाशील पुरुष को अशुभ विचार पीड़ित नहीं करते और दानशीलता व्यसनवृक्ष के लिए परशु का काम करती है। इसी से कहा है कि हमारा घर दानशील पुरुषों का घर बना रहे। २. इसप्रकार क्रियाशीलता व दान की वृत्ति से वासनाओं से ऊपर उठी हुई **इन्द्राणी**=यह इन्द्र की शक्तिरूप पत्नी **प्रथमा**=अपनी शक्तियों का विस्तार करती हुई, **अजीता**=किसी प्रकार पराजित न हुई-हुई **अमुषिता**=अशुभ भावरूप चोरों से न लुटी हुई **पुरः एतु**=आगे-और-आगे बढ़े।

भावार्थ—क्रियाशीलता व दान अशुभ भावों को दूर करते हैं, तब हम विकसित शक्तिवाले व विजयी बनकर आगे बढ़ते हैं।

विशेष—सूक्त का विषय यह है कि हम कुटिलताओं व वासनाओं से ऊपर उठें। इनसे

ऊपर उठनेवाला 'अथर्वा' (डाँवाडोल न होनेवाला) इस सूक्त का ऋषि है। यह उन्नत होकर समाज की बुराइयों को भी दूर करने के लिए यत्नशील होता है। बुराइयों को दूर करनेवाला यह 'चातनः' कहलाता है (चातयति नाशयति)। बुराइयों के दूर होने से सारे समाज का **'स्वस्त्ययनम्'**=कल्याण होता है—

२८. [अष्टाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**पूर्वार्धस्य अग्निः, उत्तरार्धस्य यातुधान्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

द्वयावी, यातुधान व किमीदी

उप प्रागाद्देवो अग्नी रक्षोहामीवचातनः। दहन्नप द्वयाविनो यातुधानान्किमीदिनः ॥ १ ॥

१. **देवः**=ज्ञान के प्रकाशवाला, **अग्निः**=उन्नति का साधक, **रक्षोहा**=राक्षसीभावों को नष्ट करनेवाला, **अमीवचातनः**=रोगों को दूर करनेवाला यह ज्ञानी **उपप्रागात्**=समाज में हमें समीपता से प्राप्त होता है और अपने ज्ञान-उपदेशों से **द्वयाविनः**='मन में कुछ और वाणी में कुछ' इसप्रकार दो विरोधी भावों के धारण करनेवाले छली-कपटी पुरुषों को **यातुधानान्**=औरों के लिए पीड़ा का आधान करनेवाले पुरुषों को तथा **किमीदिनः**=(किम् अद्मि) 'जिनकी भोगों की कामना शान्त नहीं होती' उन्हें **अपदहन्**=सुदूर दग्ध करनेवाला होता है। २. प्रचारक की विशेषताएँ निम्न हैं—(क) वह ज्ञानी हो (देवः), (ख) स्वयं उन्नत हो (अग्निः), (ग) अपने राक्षसीभावों को विनष्ट कर चुका हो (**रक्षोहा**)। (घ) नीरोग हो (**अमीवचातनः**)। इस प्रचारक को तीन बातों का विशेषरूप से प्रचार करना है—(क) द्वयावी मत बनो। जो तुम्हारे मन में हो, वही तुम्हारी वाणी में हो। 'मन में कुछ हो, ऊपर से कुछ और कहो'—यह बात न हो। (ख) यातुधान मत बनो। औरों को पीड़ित मत करो, तुम्हें स्वयं भी तो पीड़ा इष्ट नहीं है। (ग) हर समय खाते ही न रहो, भोगासक्त न हो जाओ, 'किमीदी' मत बनो।

भावार्थ—अग्नि (ज्ञानी प्रचारक) को चाहिए कि वह ऐसे ढंग से प्रचार करे कि समाज से 'द्वयावी, यातुधान व किमीदी' पुरुष दूर हो जाएँ।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**पूर्वार्धस्य अग्निः, उत्तरार्धस्य यातुधान्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देव व कृष्णवर्तनि

प्रति दह यातुधानान्प्रति देव किमीदिनः। प्रतीचीः कृष्णवर्तने सं दह यातुधान्यः ॥ २ ॥

१. हे **देव**=दीप्तिमय ज्ञानवाले अग्ने! आप अपने अहिंसा व माधुर्य से परिपूर्ण उपदेशों से **यातुधानान्**=पीड़ा का आधान करनेवालों को **प्रतिदह**=भस्मीभूत कर दीजिए। **किमीदिनः**='क्या खाँऊ और क्या खाँऊ' सदा इसप्रकार की वृत्तिवालों को भी **प्रति (दह)**=भस्म कर दीजिए। आपके उपदेशों से उनका यातुधानपना और किमीदिपना समाप्त हो जाए। 'यातुधान' यातुहान पीड़ा को दूर करनेवाले बन जाएँ। 'किमीदी' किन्द बन जाएँ 'क्या दूँ और क्या दूँ' यही सोचनेवाले हों। २. हे **कृष्णवर्तने**=आकर्षक मार्ग व बर्त्तावाले! आप **प्रतीचीः**=(प्रति अञ्च्) धर्म से विमुख होकर जानेवाली **यातुधान्यः**=पीड़ा का आधान करनेवाली बहिनों को भी **सन्दह**=अपने उपदेशों व बर्त्तावों से भस्म कर दीजिए। वे पीड़ा देने के मार्ग को छोड़कर फिर से धर्म-मार्ग का अनुवर्त्तन करनेवाली हों। ३. प्रचारक को स्वयं तो देव होना ही चाहिए, स्वयं देव न होते हुए वह औरों को देव नहीं बना सकता। यह कृष्णवर्तनि हो। इसके वर्त्तने का मार्ग आकर्षक हो। यह दूसरों को अपनी ओर आकृष्ट करनेवाला हो। इसके प्रचार की विधि प्रभावक हो।

भावार्थ—प्रचारक को 'देव, कृष्णवर्तनि' बनकर यातुधानों को 'यातुहान' बनाना है और किमीदियों को 'किन्द'।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**यातुधान्यः** ॥ छन्दः—**विराट्पथ्याबृहती** ॥

तीन त्याज्य बातें

या शशाप शपनेन याघं मूरमादधे। या रसस्य हरणाय जातमारेभे तोकमत्तु सा ॥ ३ ॥

१. (क) **या**=जो **शपनेन**=अपशब्दों, आक्रोशों (curses) से **शशाप**=शाप देती है, गालियाँ देती है, (ख) **या**=जो **मूरम्, अघम्**=(मूरम्=destroying, killing) हिंसात्मक पापों को **आदधे**=धारण करती है, (ग) **या**=जो **रसस्य हरणाय**=औरों के आनन्द को नष्ट करने के लिए **जातम्**=साधन बने हुए कर्म को **आरेभे**=आरम्भ करती है, **सा**=वह **तोकम् अत्तु**=अपनी सन्तान को ही खा जाती है २. इस स्त्री के बच्चों पर इन सब कर्मों का इतना घातक प्रभाव होता है कि बच्चों का जीवन ही नष्ट हो जाता है। उसके बच्चे भी गाली देने लगेंगे, हिंसात्मक कर्मों में रुचिवाले हो जाएँगे और सदा औरों को दुःखी करने में ही आनन्द लेने लगेंगे। इसप्रकार के ये बच्चे बड़े होकर समाज के लिए बड़े भार प्रमाणित होंगे।

भावार्थ—माता अपने सन्तानों के कल्याण के लिए तीन बातों से बचे—(क) गाली देने से, (ख) हिंसात्मक कर्मों से, (ग) औरों के आनन्द को नष्ट करने से।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**यातुधान्यः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

परस्पर लड़ने-झगड़ने से बचना

पुत्रमत्तु यातुधानीः स्वसारमुत नप्त्यम्।
अधा मिथो विकेश्यो३ वि घ्नतां यातुधान्यो३ वि तृह्यन्तामराय्यः ॥ ४ ॥

१. **अध**=अब **यातुधान्यः**=औरों के लिए पीड़ा का आधान करनेवाली स्त्रियाँ **मिथः**=परस्पर भी **विकेश्यः**=बिखरे हुए केशोंवाली **विघ्नताम्**=परस्पर मारने-पीटनेवाली होती हैं और **अराय्यः**=न देने की वृत्तिवाली ये यातुधानियाँ **वितृह्यन्ताम्**=विविध प्रकारों से परस्पर हिंसा करनेवाली होती हैं। २. इसप्रकार परस्पर लड़ती हुई तथा हिंसात्मक कर्मों में लगी हुई **यातुधानीः**=ये यातुधानियाँ **पुत्रम्**=पुत्र को **अत्तु**=खा जाती हैं, अर्थात् उनके जीवन को नष्ट कर देती हैं, **उत**=और **स्वसारम्**=अपनी बहिन को व **नप्त्यम्**=नाती को भी खा जाती हैं, अर्थात् उनके जीवन को भी नष्ट कर देती है।

भावार्थ—सन्तान को उत्तम बनाने के लिए आवश्यक है कि गृहपत्नियाँ परस्पर लड़ें नहीं और हिंसात्मक कर्मों में भी प्रवृत्त न हों।

विशेष—सूक्त का संक्षिप्त विषय यह है कि प्रचारक ऐसी उत्तमता से प्रचार करे कि समाज से 'द्वयावी, किमीदी व यातुधान' दूर हो जाएँ। माताएँ भी यातुधानत्व को छोड़कर उत्तम कर्मों में लगी रहकर सन्तानों को उत्तम बनाएँ (१-४)। सन्तानों को उत्तम बनाने के लिए आवश्यक है कि इन्हें 'अभीवर्तमणि' के रक्षण की शिक्षा दी जाए। इसके रक्षण से जीवन को उत्तम बनाते हुए वे 'वसिष्ठ' अत्यन्त उत्तम निवासवाले बनेंगे। यह वसिष्ठ ही अगले सूक्त का ऋषि है।

२९. [एकोनत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः, अभीवर्तमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'अभीवर्त' मणि

अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे। तेनास्मान्ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्धय ॥ १ ॥

१. मणि शब्द शरीर में उत्पन्न सोमकणों के लिए प्रयुक्त होता है। वीर्य का एक-एक बिन्दु मणि के समान है। जिस समय इसे नष्ट न होने देकर शरीर में ही सब ओर व्याप्त किया जाता है तो यह 'अभीवर्त' (अभितः वर्तने) कहलाती है। **अभीवर्तेन मणिना**=शरीर में सर्वत्र व्याप्त होनेवाले इस सोम-रक्षणरूप मणि से **येन**=जिससे **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता—जितेन्द्रिय पुरुष **अभिवावृधे**=ऐहिक वा आमुष्मिक दोनों प्रकार की उन्नति करता है—'अभ्युदय और निःश्रेयस' दोनों को सिद्ध करता है अथवा 'शरीर व मस्तिष्क' इन दोनों का विकास कर पाता है, **तेन**=उस अभीवर्तमणि से हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् आचार्य! **अस्मान्**=हमें **राष्ट्राय**=राष्ट्र-उन्नति के लिए **अभिवर्धय**=शरीर व मस्तिष्क दोनों के दृष्टिकोण से बढ़ाइए। २. वस्तुतः वही युवक राष्ट्रोन्नति में सहायक होता है जो स्वस्थ शरीर व दीप्त मस्तिष्कवाला हो। शरीर के स्वास्थ्य व मस्तिष्क की दीप्ति के लिए इस सोमकणरूप मणि को अभीवर्तमणि बनाना आवश्यक है। शरीर में इसे सब ओर व्याप्त करने से ही यह अभीवर्तमणि बन जाती है। इसका लाभ **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष को ही होता है।

भावार्थ—सोमकणों को शरीर में सुरक्षित करके हम इसे 'अभीवर्तमणि' का रूप दें। यह हमें स्वस्थ शरीर व दीप्त मस्तिष्क बनाएगी। हम राष्ट्रोन्नति में सहायक होंगे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः, अभीवर्तमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आन्तर व बाह्य शत्रुओं का पराभव

अभिवृत्यं सपत्नानभि या नो अरातयः।
अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो नो दुरस्यति॥ २॥

१. शरीर में सुरक्षित होने पर यह सोम रोग-कृमियों को नष्ट करता है। ये रोग-कृमि इस शरीर के पति बनने की कामना करते हैं, अतः ये हमारे 'सपत्न' कहलाते हैं। इन **सपत्नान्**=हमारे शत्रुभूत रोग-कृमियों को **अभिवृत्य**=आक्रमण के द्वारा पराभूत करके और **याः**=जो **नः**=हमारे प्रति **दुरस्यति**=अशुभ आचरण करता है, उसे भी **अभि (वृत्य)**=दूर करके **पृतन्यन्तम्**=जो परस्पर सेना से आक्रमण करता है, उसका भी **अभितिष्ठ**=मुक़ाबला कर—बाह्य शत्रुओं को रोकने के लिए भी हमें शक्तिशाली बना। **यः**=जो **नः**=हमारे प्रति **दुरस्यति**=अशुभ आचरण करता है, उसे भी **अभि (वृत्य)**=तू दूर करनेवाला हो। २. यह सोम शरीर में होनेवाले रोगों तथा मन में होनेवाली कृपणता आदि वृत्तियों का अभिवर्तन (पराभव करके दूर) करता है, इससे भी इसका नाम 'अभीवर्तमणि' हो गया है। यह 'अभीवर्तमणि' शरीर के रोगों व मन के दोषों को दूर करती है। इसके साथ यह हमें वह तेजस्विता भी प्राप्त कराती है, जिससे कि हम आक्रमण करनेवालों व अशुभ व्यवहार करनेवालों का पराजय कर पाते हैं।

भावार्थ—यह 'अभीवर्तमणि' हमारे आन्तर व बाह्य शत्रुओं का पराभव करती है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः, अभीवर्तमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सूर्य-चन्द्र तथा पृथिवी आदि भूतों की देन

अभि त्वा देवः सविताभि सोमो अवीवृधत्।
अभि त्वा विश्वा भूतान्यभीवर्तो यथाससि॥ ३॥

१. शरीर में इस सोम=वीर्य को सूर्य-चन्द्र तथा पृथिवी, जल, तेज, वायु आदि अन्य सब भूत बढ़ानेवाले होते हैं। सूर्य ओषधियों में प्राणदायी तत्त्वों को रखता है, चन्द्रमा उनमें रस का सञ्चार करता है तथा पृथिवी आदि भूत उन ओषधियों में अन्य आवश्यक तत्त्वों की स्थापना

करते हैं। अब ये ओषधियाँ हमारे आहार के रूप में अन्दर जाकर रस आदि के क्रम से सोम को जन्म देती हैं। यह सोम 'अभीवर्त' बनता है—सब शत्रुओं का अभिवर्तन=पराभव करनेवाला हो जाता है। २. हे अभीवर्तमणे! **त्वा**=तुझे **सविता देवः**=शक्ति को जन्म देनेवाला यह प्रकाशमय सूर्य **अभि अवीवृधत्**=आन्तर व बाह्य शक्ति के दृष्टिकोण से बढ़ाता है। इसप्रकार सूर्य से बढ़ाया जाकर तू आन्तर शक्ति से रोगों को जीतता है तो बाह्य तेज से शत्रुओं को आक्रान्त करता है। ३. **सोमः**=चन्द्रमा भी तुझे **अभि (अवीवृधत्)**=आन्तर व बाह्य शक्तियों के दृष्टिकोण से बढ़ाए। इन सूर्य और चन्द्रमा के अतिरिक्त **विश्वा भूतानि**=पृथिवी आदि सब भूत भी **त्वा**=तुझे **अभि (अवीवृधन्)**=बढ़ाएँ। **यथा**=जिससे इनसे प्रवृद्ध शक्तिवाला होकर तू **अभीवर्तः असमि**=अभीवर्त होता—शत्रुओं का पराभव करनेवाला होता है। सूर्य तुझमें प्राणों की उष्णता का सञ्चार करता है, चन्द्रमा रसात्मक शीतलता का। '**आपः ज्योतिः**'—इन दोनों तत्त्वों से युक्त होकर तू शत्रुओं का नाश करता है और हमारे जीवन को आनन्दमय बनाता है।

भावार्थ—सूर्य-चन्द्र तथा पृथिवी आदि से शक्ति-सम्पन्न बना हुआ यह सोम हमारे शत्रुओं का पराभव करके 'अभीवर्त' नामवाला होता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः, अभीवर्तमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सपत्नक्षयण मणि

अभीवर्तो अभिभवः सपत्नक्षयणो मणिः। राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे॥ ४॥

१. यह **मणिः**=सोमकणरूप मणि **अभीवर्तः**=शरीर में रोगों व मन की आवञ्छनीय वृत्तियों का अभिवर्त करनेवाली होती है—उनपर आक्रमण करके उन्हें दूर भगा देती है। **अभिभवः**=यह बाह्य शत्रुओं और अशुभ व्यवहार करनेवालों को भी अभिभूत करती है। **सपत्नक्षयणः**=शरीर के पति बनने की कामनावाले हमारे सपत्नभूत रोगकृमिरूप शत्रुओं को यह नष्ट करती है। २. यह मणि **मह्यम्**=मेरे लिए तथा **राष्ट्राय**=राष्ट्र के लिए—राष्ट्र की उन्नति के लिए **बाध्यताम्**=शरीर में ही बद्ध की जाए। शरीर में ही सुरक्षितरूप से स्थापित हो। रोगों के दूर होने पर ही मेरे जीवन की उन्नति सम्भव होती है। (**मशकेभ्यः धूमः**=मच्छरों के निवारण के लिए धुँआ है)। इसका स्थापन इसलिए भी आवश्यक है कि इससे शक्तिसम्पन्न बनकर ही युवक **पराभुवे**=शत्रुओं का पराभव करने में समर्थ होंगे और शत्रुओं के पराभूत होने पर ही राष्ट्रोन्नति सम्भव होती है।

भावार्थ—यह अभीवर्तमणि रोगकृमिरूप सपत्नों को समाप्त करके वैयक्तिक उन्नति का साधन बनती है और युवकों को राष्ट्र के शत्रुओं के पराभव के लिए शक्तिसम्पन्न बनाकर राष्ट्रोन्नति का कारण होती है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः, अभीवर्तमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अशत्रु-असपत्न

उदसौ सूर्यो अगादुदिदं मामकं वचः। यथाहं शत्रुहोऽसान्यसपत्नः सपत्नहा॥ ५॥

१. **असौ**=वह **सूर्यः**=सूर्य **उद् अगात्**=उदय हुआ है। सूर्योदय के साथ ही **इदम्**=यह **मामकं वचः**=मेरा वचन भी **उद्**=उदित होता है—मैं भी प्रभु के आराधन में तत्पर होता हूँ **यथा**=जिससे कि **अहम्**=मैं **शत्रुहः**=काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रुओं का हनन करनेवाला **असानि**=होऊँ। प्रभु का आराधन ही मुझे काम आदि शत्रुओं के पराभव में समर्थ बनाएगा—मैं स्वयं तो काम आदि को क्या जीत पाँऊगा? इन्हें पराजित तो प्रभु को ही करना है। २. कामादि के पराभव के साथ मैं **असपत्नः**=सपत्नों से रहित होऊँ—**सपत्नहा**=इन सपत्नों का नाश करनेवाला होऊँ। रोगकृमि ... सूर्य अपनी रश्मियों से इन रोगकृमिरूप सपत्नों को

नष्ट करता है। सूर्य-किरणों में प्रभु ने क्या ही अद्भुत शक्ति रक्खी है!

भावार्थ—सूर्योदय के साथ में प्रभु का आराधन करनेवाला होऊँ। यह मुझे असपत्न व अशत्रु बनाए।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः, अभीवर्तमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वृषा-विषासहि

सपत्नक्षयणो वृषाभिराष्ट्रो विषासहिः।
यथाहमेषां वीराणां विराजानि जनस्य च॥ ६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार मैं सूर्योदय के साथ ही प्रभुस्तवन प्रारम्भ करता हूँ **यथा**=जिससे कि **अहम्**=मैं **सपत्नक्षयणः**=रोगकृमिरूप सपत्नों को नष्ट करनेवाला होऊँ, **वृषा**=शक्तिशाली बनूँ। **अभिराष्ट्रः**=(राष्ट्रम्=any national or public calamity) राष्ट्रीय विपत्ति को भी अभिभूत करनेवाला होऊँ। अपने सपत्नों को नष्ट करके राष्ट्र के शत्रुओं को भी **विषसहिः**=पराभव करनेवाला बनूँ। २. **एषां वीराणां विराजानि**=मैं इन वीर पुरुषों में विशेषरूप से दीप्त होऊँ **च**=और **जनस्य (विराजानि)**=लोकों का रञ्जन करनेवाला बनूँ। ३. वस्तुतः प्रत्येक व्यक्ति को 'अभिराष्ट्र व विषासहि' होना है, विशेषतः राजा को। राजा ने अपने कन्धे पर राष्ट्र के भार को धारण किया है। उस कर्त्तव्य को निभाने के लिए तो उसे अभीवर्तमणि के रक्षण द्वारा 'सपत्नक्षयण और वृषा' तो बनना ही है, साथ ही अभिराष्ट्र व विषासहि बनकर वह वीरों में चमकनेवाला व लोकों का रञ्जनवाला बने।

भावार्थ—प्रभु का आराधन व 'अभीवर्तमणि' का रक्षण करता हुआ मैं सपत्नक्षयण, वृषा, अभिराष्ट्र व विषासहि बनूँ।

विशेष—इस सूक्त में शरीर में सुरक्षित सोम को 'अभीवर्तमणि' कहा है। यह इन्द्र का सर्वतः वर्धन करती है (१)। सपत्नों का अभिवर्तन (पराभव) करने के कारण यह 'अभीवर्त' है (२)। सूर्य-चन्द्र व पृथिवी आदि अन्य भूतों के द्वारा इसका उत्पादन होता है (३)। यह हमें शक्तिशाली बनाकर निजी व राष्ट्रीय उन्नति के योग्य बनाती है (४)। प्रभु-स्मरण से मैं इस मणि को शरीर में रक्षित कर पाता हूँ (५)। रक्षित होकर यह मुझे दीप्त जीवनवाला बनाती है (६)। इसके रक्षण से ही हमें दीर्घ-जीवन प्राप्त होता है, अतः अगले सूक्त का ऋषि 'आयुष्कामः' आयु की कामनावाला 'अथर्वा' न डाँवाडोल वृत्तिवाला है। इसकी आराधना है कि सब देव इसका रक्षण करें।

३०. [त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (आयुष्कामः)** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

दीर्घ जीवन के लिए

विश्वेदेवा वसवो रक्षतेममुतादित्या जागृत यूयमस्मिन्।
मेमं सनाभिरुत वान्यनाभिर्मेमं प्रापत्पौरुषेयो वधो यः॥ १॥

१. **विश्वेदेवाः**=सब प्राकृतिक शक्तियो! **वसवः**=निवास के कारणभूत तत्त्वो! **इमम्**=इस व्यक्ति को **रक्षत**=तुम रक्षण करो। सब प्राकृतिक शक्तियों की अनुकूलता में ही मनुष्य के स्वास्थ्य का रक्षण होता है। जल-वायु आदि की प्रतिकूलता ही स्वास्थ्य को विकृत करती है। २. इन प्राकृत शक्तियों के अतिरिक्त माता-पिता, आचार्य आदि की सावधानता भी बालक के उत्तम निर्माण में बड़ा महत्त्व रखती है, अतः मन्त्र में कहा है कि **उत**=और **आदित्याः**=हे गुणों का

आदान करनेवाले पुरुषो! **यूयम्**=आप सब **अस्मिन्**=इसके विषय में **जागृत**=जागते रहो—सावधान रहो। आपकी जागरूकता ही इसके जीवन को विकृत होने से बचाएगी। ३. राष्ट्रीय व्यवस्था भी इसप्रकार उत्तम हो कि **इमम्**=इस पुरुष को **स-नाभिः**=समान बन्धवाला कोई रिश्तेदार **उत वा**=अथवा **अन्यनाभिः**=अबन्धु **मा**=नष्ट करनेवाला न हो। **इमम्**=इसे **यः पौरुषेयः वधः**=जो किसी पुरुष से प्राप्त होनेवाला वध है, वह **मा प्रापत्**=मत प्राप्त हो। कोई चोर-डाकू भी इसका हनन करनेवाला न हो।

भावार्थ—दीर्घ जीवन के लिए आवश्यक है कि (क) जल-वायु आदि देव अनुकूल हों, (ख) माता-पिता, आचार्य आदि जागरूक रहकर बालक का निर्माण करें, (ग) पारिवारिक व सामाजिक सम्बन्ध ठीक हों, (घ) राष्ट्रीय व्यवस्था उत्तम हो।

ऋषिः—**अथर्वा (आयुष्कामः)**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

तीन पीढ़ियों का उत्तरदायित्व

ये वो॑ देवाः पि॒तरो॒ ये च॑ पु॒त्राः सचे॑तसो मे शृणुते॒दमु॒क्तम्।
सर्वे॑भ्यो वः॒ परि॑ ददाम्ये॒तं स्व॒स्त्ये॑नं ज॒रसे॑ वहाथ॥ २॥

१. घर में व्यक्तियों को देववृत्ति का तो होना ही चाहिए। प्रभु जब घर में इन देववृत्ति के सन्तानों को भी सन्तान प्राप्त कराते हैं तब कहते हैं—हे **देवाः**=देववृत्ति के पुरुषो! **ये वः पितरः**=जो आपके पितृस्थानीय बड़े व्यक्ति हैं, **ये च पुत्राः**=और जो तुम्हारे पुत्र हैं वे सब-के-सब **सचेतसः**=पूरी चेतनावाले होते हुए **मे**=मेरे **इदम् उक्तम्**=इस कथन को **शृणुत**=सुनो कि **वः सर्वेभ्यः**=तुम सबके लिए मैं **एतम्**=इस वर्तमान सन्तान को **परिददामि**=प्राप्त कराता हूँ। आप इसका इस सुन्दरता से पालन करो कि **एनम्**=इसे **स्वस्ति**=कल्याणपूर्वक **जरसे**=जरावस्था तक—पूर्णायुष्य के लिए **वहाथ**=ले-चलनेवाले होओ। आप इसप्रकार से इसका पालन करो कि यह पूर्ण जीवन को प्राप्त करे। २. यहाँ मन्त्र में सन्तान के पिता को 'देवपुत्र' शब्द से स्मरण किया है। देवपुत्र होने से वे सन्तानों को उत्तम बनाएँगे ही। सन्तान के पितामह यहाँ 'देव' कहे गये हैं। प्रपितामह 'देवपितर' कहे गये हैं। इसप्रकार प्रपितामह, पितामह व पिता—सभी के संस्कार देवत्व को लिये हुए हैं—ये सन्तानों को उत्तम बनाएँगे ही। चतुर्थ पीढ़ी के समय इन तीनों का ही जीवित होना सम्भव है। ये ही अपनी क्रियाओं से सन्तान को प्रभावित करनेवाले हो सकते हैं, अतः इनका उत्तरदायित्व स्पष्ट है। ये सन्तान-निर्माण के लिए जागरूक रहेंगे तो सन्तान दीर्घजीवी व उत्तम क्यों न बनेंगे?

भावार्थ—सन्तान प्रपितामह, पितामह व पिता से विशेषरूप से प्रभावित होती है, अतः वे सन्तान को उत्तम बनाने का पूर्ण ध्यान करें।

ऋषिः—**अथर्वा (आयुष्कामः)**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**शाक्वरगर्भाविराड्जगती**॥

अन्न, दूध व जल

ये दे॑वा दि॒वि ष्ठ ये पृ॑थि॒व्यां ये अ॒न्तरि॑क्ष॒ ओष॑धीषु प॒शुष्व॒प्स्व१॒॑न्तः।
ते कृ॑णुत ज॒रस॒मायु॑र॒स्मै श॒तम॒न्यान्परि॑ वृणक्तु मृ॒त्यून्॥ ३॥

१. **ये देवाः**=जो देव **दिवि स्थ**=द्युलोक में हो, **ये पृथिव्याम्**=जो पृथिवी पर हो **ये अन्तरिक्षे**=जो अन्तरिक्ष में हो और **ओषधीषु, पशुषु अप्सु अन्तः**=जो ओषधियों में, पशुओं में और जलों में हो **ते**=वे सब देव **अस्मै**=इसके लिए **जरसम् आयुः**=पूर्ण जरावस्था तक प्राप्त होनेवाले जीवन को **कृणुत**=करो। **शतम्**=सैकड़ों **अन्यान् मृत्यून्**=अन्य मृत्युओं को, रोगों

से, दुर्घटनाओं (accidents) से होनेवाली मृत्युओं को **परिवृणक्तु**=अपने से दूर ही रक्खे। २. प्राकृतिक शक्तियाँ तेतीस भागों में बाँटी गई हैं—ग्यारह द्युलोक में, ग्यारह अन्तरिक्ष में और ग्यारह पृथिवी पर। इन सबकी अनुकूलता होने पर क्रमशः मस्तिष्क, हृदय व शरीर का स्वास्थ्य निर्भर होता है। इनके अतिरिक्त ओषधियों में भी दिव्य गुण विद्यमान होते हैं। सूर्य-चन्द्र आदि से इनमें प्राणदायी तत्त्वों का स्थापन होता है। 'पयः पशूनाम्' इस अथर्व के संकेत के अनुसार पशुओं के दूध का प्रयोग अभीष्ट है। यह भी ओषधियों के सब दिव्य गुणों को लिये हुए होता है। जलों में तो सर्वरोगनाशक दिव्य तत्त्व प्रभु ने स्थापित किये ही हैं। अन्न, दूध व जल—इन सबका प्रयोग दीर्घ-जीवन का साधन बनता है। इनके ठीक प्रयोग से न रोग आते हैं और न असमय की मृत्यु होती है।

भावार्थ—सब प्राकृतिक शक्तियों की अनुकूलता तथा 'अन्न, दूध व जल' का ठीक प्रयोग हमें रोगों से बचाए और पूर्ण जीवन प्राप्त कराए।

ऋषिः—**अथर्वा (आयुष्कामः)**॥ देवता—**विश्वेदेवाः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

दीर्घ-जीवन के लिए चार महत्त्वपूर्ण बातें

येषां प्रयाजा उत वानुयाजा हुतभागा अहुतादश्च देवाः।
येषां वः पञ्च प्रदिशो विभक्तास्तान्वो अस्मै सत्रसदः कृणोमि॥ ४॥

१. '**महाभूतानि प्रयाजाः, भूतान्यनुयाजाः**'=प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् के अनुसार शरीर में महाभूत प्रयाज हैं तथा जीवन में जिनके साथ हम सम्पर्क में आते हैं वे भूत=प्राणी अनुयाज हैं। **येषाम्**=जिनके शरीर में **प्रयाजाः**=ये महाभूत **विभक्ताः**=ठीक रूप में विभक्त हैं **उत वा**=तथा **अनुयाजाः**=जीवन में सम्पर्क में आनेवाले माता-पिता, आचार्य आदि व्यक्ति भी **विभक्ताः**=विशेषरूप से सेवित होते हैं (भज सेवायाम्), **वः**=तुममें से **तान्**=उन्हें **अस्मै**=इस जीवन-यात्रा के लिए **सत्रसदः**=जीवन-यज्ञ में स्थित होनेवाला **कृणोमि**=करता हूँ। शरीर में पृथिवी आदि तत्त्वों के ठीक अनुपात में होने पर किसी प्रकार के रोग नहीं होते। तत्पश्चात् यदि माता-पिता, आचार्य आदि का उत्तमता से सेवन होता है तो जीवन का विकास ठीक रूप में होता है। २. शरीर में इन्द्रियाँ, 'हुतभाग' देव कहलाती हैं। ये शरीर में आहुत किये गये भोजन का सेवन करती हैं। उससे ही इनका पोषण होता है। प्राण 'अहुताद' कहलाते हैं। ये बिना थके निरन्तर कार्य करते चलते हैं। **येषाम्**=जिनकी **हुतभागाः देवाः**=हुत का सेवन करनेवाली इन्द्रियाँ ठीक कार्य करती हैं **च**=और **अहुतादः**=हुत का सेवन किये बिना ही निरन्तर कार्य करनेवाले प्राण ठीक कार्य करते हैं, उन्हें जीवन-यज्ञ में स्थिर होनेवाला कहता हूँ। ३. **वः**=तुममें से **येषाम्**=जिनके **पञ्च प्रदिशः**=पाँचों प्रकृष्ट प्रेरणाओं को देनेवाले अन्तःकरण पञ्चक **विभक्ताः**=ठीक रूप में विभक्त होते हैं, अर्थात् अपना-अपना कार्य ठीक रूप में करते हैं, उन्हें इस जीवन-यज्ञ में ठीक स्थिति प्राप्त होती हैं। ये ही व्यक्ति दीर्घ जीवनवाले बनते हैं।

भावार्थ—दीर्घ जीवन के लिए आवश्यक है कि (क) महाभूत शरीर में ठीक अनुपात में हों, (ख) माता-पिता, आचार्य आदि का सम्पर्क ठीक रहे, (ग) इन्द्रियाँ व प्राण ठीक कार्य करें, (घ) अन्तःकरण पञ्चक की प्रेरणा ठीक चले।

सूचना—दीर्घजीवन के लिए प्रयाजों व अनुयाजों का ठीक अनुपात में होना आवश्यक है। अन्तःकरण पञ्चक का कार्य ठीक चलना चाहिए तथा प्राण व इन्द्रियों का कार्य भी ठीक होना चाहिए। अन्तःकरण पञ्चक का कार्य है—'मन' का उत्तम इच्छाएँ, 'बुद्धि' का विवेक, 'चित्त' का अविस्मरण, 'अहंकार' का आत्मा का उचित अभिमान, 'हृदय' का शब्द।

विशेष—इस सूक्त में दीर्घ जीवन के लिए उपायों का वर्णन करते हुए कहा है कि (क) जल-वायु आदि देवों की अनुकूलता सर्वप्रथम साधन है, (ख) माता-पिता, आचार्य का बालक को उत्तम बनाना दूसरा साधन है, (ग) पारिवारिक व सामाजिक सम्बन्धों का ठीक होना आवश्यक है और (घ) राष्ट्रीय व्यवस्था की उत्तमता भी अपेक्षित है (१)। (ङ) अन्न, जल व दूध का ही प्रयोग दीर्घ जीवन का साधन बनता है (३)। इसप्रकार दीर्घ-जीवन प्राप्त करनेवाला यह अब 'ब्रह्मा' बनता है और चारों दिशाओं का रक्षण करता है। यह चतुर्दिक् रक्षण ही अगले सूक्त का विषय है—

३१. [एकत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आशापालाः (वास्तोष्पतयः)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

चार अध्यक्ष

आशा॑नामाशापा॒लेभ्य॑श्च॒तुर्भ्यो॑ अ॒मृते॑भ्यः।
इ॒दं भू॒तस्या॒ध्य॑क्षेभ्यो वि॒धेम॑ ह॒विषा॑ व॒यम्॥ १॥

१.जैसे इस पृथिवीलोक में स्थित होते हुए हम चार दिशाओं का व्यवहार करते हैं, इसीप्रकार शरीर में भी ये चार दिशाएँ विद्यमान हैं। शरीर में 'मुख' पूर्व दिशा है तो 'पायु' (मलशोधक इन्द्रिय) पश्चिम दिशा है। पूर्व दिशा का अधिपति 'इन्द्र' है और पश्चिम का 'वरुण'। यदि हम इस मुख, अर्थात् जिह्वा को वश में कर लेते हैं तो अन्य इन्द्रियों का वशीकरण इतना कठिन नहीं रहता और हम इन्द्र बन पाते हैं। इसीप्रकार पायु का कार्य बिल्कुल ठीक होने से हम 'वरुण'=सब रोगों का निवारण करनेवाले होते हैं। शरीर में विदृति द्वार या ब्रह्मरन्ध्र उत्तर है और उपस्थ दक्षिण है। उपस्थ का संयम ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्म की ओर चले चलने का साधन यही है। इस दिशा का अधिपति 'यम' कहलाता है। वस्तुतः जिसने उपस्थ का नियमन कर लिया वह 'यम' (controller) तो बन ही गया। यह व्यक्ति ही उत्तर दिशा की ओर चलता हुआ अन्त में विदृति द्वार का विदारण करके प्राणों को छोड़ता हुआ प्रभु को पाता है। यह प्रभु के समान ही 'ईशान' बनता है और उत्तर दिशा का अधिपति होता है। पूर्व व पश्चिम द्वार शरीर के पूर्ण स्वास्थ्य के साथ सम्बद्ध हैं तो ये दक्षिण व उत्तर द्वार आत्मिक उन्नति को अपना विषय बनाते हैं। **वयम्**=हम **आशानाम्**=इन चारों दिशाओं के **आशापालेभ्यः**=दिग्रक्षकों के लिए **हविषा**=त्यागपूर्वक अदन (खाने) के द्वारा **इदं विधेम**=यह पूजा करते हैं जोकि **चतुर्भ्यः**=चारों **अमृतेभ्यः**=अमृत हैं। उन अमृत आशापालों के लिए हम यह पूजन करते हैं जोकि **भूतस्य अध्यक्षेभ्यः**=प्राणियों के अध्यक्ष हैं अथवा, 'पृथिवी, जल, तेज व वायु' नामक चारों भूतों के अध्यक्ष हैं। शरीर में इन चारों भूतों का ठीक से रहना व कार्य करना इन 'मुख, पायु, उपस्थ व विदृति' द्वारों के कार्यों के ठीक होने पर ही निर्भर करता है। ३. इनमें 'मुख' का कार्य ठीक होने पर 'पायु' का कार्य ठीक चलता ही है। खान-पान गड़बड़ होने पर ही पायु का कार्य ठीक से नहीं होता। कब्ज़ आदि रोग भोजन के बिगाड़ से ही होते हैं। इसीप्रकार 'उपस्थ' के संयम से 'विदृति द्वार' का कार्य ठीक रूप से चल सकता है। इसप्रकार यह स्पष्ट है कि 'मुख व उपस्थ' ही अत्यधिक ध्यान की अपेक्षा रखते हैं। इनके संयम के लिए किया गया प्रयत्न हमें अमृत बनाता है। पूर्णायुष्य की प्राप्ति का यही मार्ग है। इनके संयम से हमारे जीवन में पृथिवी आदि भूतों का कार्य बिल्कुल ठीक चलता है।

भावार्थ—हमें 'मुख, पायु, उपस्थ व विदृति'—इन चारों शरीरस्थ द्वारों का रक्षण करना है। इसी रक्षण पर अमृतत्व का निर्भर है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आशापालाः (वास्तोष्पतयः)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

निर्ऋति व अंहस् के पाशों से मुक्ति

य आशानामाशापालाश्चत्वार स्थन देवाः।
ते नो निर्ऋत्याः पाशेभ्यो मुञ्चतांहसोअंहसः॥ २॥

१. **ये**=जो आप **आशापालाः**=दिशाओं के रक्षक **आशानाम्**=दिशाओं के **चत्वारः**=चार **देवाः स्थन**=देव हो, **ते**=वे आप **नः**=हमें **निर्ऋत्याः**=मृत्यु व नाश (Death or destruction) के **पाशेभ्यः**=पाशों से **मुञ्चत**=मुक्त करो तथा **अहंसः अहंसः**=प्रत्येक पाप से मुक्त करो। २. यहाँ मुख व पायु के अधिष्ठातृदेव इन्द्र और वरुण हमें मृत्यु से बचाते हैं। इनके अमर होने पर हमें शारीरिक अमरता प्राप्त होती है। हमारा जीवन नीरोग बना रहता है। ३. उपस्थ व विदृति के अधिष्ठातृदेव 'यम और ईशान' हमारे जीवन को निष्पाप बनाते हैं। नीरोगता व निष्पापता का परस्पर सम्बन्ध उसी प्रकार है जैसेकि शरीर व मन का। शरीरस्थ रोग मानस विकृति का कारण होते हैं और मानस विकार शरीर के रोगों को जन्म देते हैं।

भावार्थ—हम मुख व पायु के कार्य को व्यवस्थित करके नीरोग बनें, उपस्थ व विदृति के कार्य को ठीक करके निष्पाप बनें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आशापालाः (वास्तोष्पतयः)**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥

अस्रामः-अश्लोणः

अस्रामस्त्वा हविषा यजाम्यश्लोणस्त्वा घृतेन जुहोमि।
य आशानामाशापालस्तुरीयो देवः स नः सुभूतमेह वक्षत्॥ ३॥

१. **अस्रामः**=अश्रान्त होता हुआ **त्वा**=तुझे **हविषा**=दानपूर्वक अदन के द्वारा—यज्ञशेष के सेवन के द्वारा **यजामि**=उपासित करता हूँ। प्रभु का सच्चा पूजन यही है कि हमारा जीवन एक अविच्छिन्न यज्ञ बन जाए। '**यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः**'=देव यज्ञ के द्वारा ही उस उपास्य प्रभु का पूजन करते हैं। गतमन्त्रों में वर्णित मुख द्वार का संयम यज्ञशेष के सेवन की वृत्ति से ही होता है। २. **अश्लोणः**=(श्लोण्=to heap together, collect, gather) धनों का परिग्रह न करता हुआ मैं **घृतेन**=मानस नैर्मल्य व मस्तिष्क की ज्ञानदीप्ति से **त्वा**=तेरे प्रति=**जुहोमि**=अपना अर्पण करता हूँ। धनों का संग्रह ही हमें प्रभु से दूर ले-जाता है। धन की चमक ही हमारी दृष्टि पर पर्दा डाल देती है और हम प्रभु-दर्शन से वञ्चित ही रह जाते हैं। ३. निरन्तर यज्ञमय जीवन बिताने पर तथा धनों के लोभ के त्याग से प्रभु के प्रति अपना अर्पण करने पर **यः**=जो **आशानाम्**=इन दिशाओं में **तुरीयः आशापालः**=उत्तर दिशा का आशापाल 'ईशन' प्रभु है, **सः देवः**=वह प्रकाशमान् देव **नः**=हमारे लिए **इह**=इस जीवन में **सुभूतम्**=उत्तम स्थिति को **आवक्षत्**=सब प्रकार से प्राप्त कराए। विदृति द्वार ही शरीर में उत्तर द्वार है। यह हमें ब्रह्म की ओर ले-जाता है। हम ब्रह्म की ओर चलते हैं और ब्रह्म हमें 'सु-भूत' उत्तम ऐश्वर्य प्राप्त कराते हैं। ४. प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि (क) हम यज्ञमय जीवन बिताएँ, (ख) धनों के प्रति आसक्ति न रखते हुए उस तुरीय देव प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें। ५. स्थूलतया मुख का सम्बन्ध स्थूलशरीर से है। ठीक खाएँगे तो यह शरीर ठीक बना रहेगा। पायु का कार्य ठीक होने पर ही सूक्ष्मशरीर के कार्य ठीक से चलते हैं, अन्यथा सब इन्द्रियाँ थकी-सी प्रतीत होती हैं, मस्तिष्क पीड़ित-सा हो जाता है। उपस्थ का संयम हमें कारणशरीर व आनन्दमयकोश में पहुँचाता है। जब हम प्राणसाधना से विदृति द्वार को खोलने के लिए प्रवृत्त होते हैं, तब

समाधिजन्य तुरीय शरीर में पहुँचते हैं। यह तुरीय शरीर ब्रह्म ही है। यहाँ पहुँचने पर हम 'शान्त, शिव, अद्वैत स्थिति का अनुभव करते हैं।' यह स्थिति ही 'सु-भूत' है।

भावार्थ—हम ब्रह्म का यज्ञ करते हैं—उसके प्रति अपना अर्पण करते हैं तो प्रभु हमें सर्वोच्च स्थिति को प्राप्त करानेवाले होते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आशापालाः (वास्तोष्पतयः)** ॥ छन्दः—**परानुष्टुप्त्रिष्टुप्** ॥

सुभूतं-सुविदत्रम्

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः।
विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम्॥ ४॥

१. गतमन्त्र में कहा था कि यज्ञशील व प्रभु के प्रति समर्पण करनेवाले को प्रभु उत्तम स्थिति प्राप्त कराते हैं। उसी का चित्रण करते हुए कहते हैं कि **मात्रे**=माता के लिए **उत**=और **नः पित्रे**=हमारे पिता के लिए **स्वस्ति**=कल्याण हो। घर में मङ्गल के लिए पहली बात यही है कि माता-पिता की स्थिति ठीक हो। वे नीरोग, आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त व स्वाध्यायशील हों। ऐसा होने पर ही सन्तानों की उत्तमता सम्भव है। **गोभ्यः**=गौओं के लिए, **जगते**=गतिशील अन्य प्राणियों के लिए तथा **पुरुषेभ्यः**=घर से सम्बद्ध अन्य व्यक्तियों के लिए **स्वस्ति**=कल्याण हो। घर के साथ गौ का विशेष सम्बन्ध है। वस्तुतः यह गौ ही हमारे स्वास्थ्य को तथा यज्ञादि को सिद्ध करनेवाली होती है। यजुर्वेद का प्रारम्भ ही इन गौओं के 'अनमीव व अयक्ष्म' होने की प्रार्थना से होता है। घर के साथ सम्बद्ध अन्य व्यक्तियों का स्वास्थ्य भी घर की उत्तम स्थिति के लिए नितान्त आवश्यक है। २. इसप्रकार घर के उत्तम वातावरण में **नः**=हमारे लिए **विश्वं सुभूतम्**=सब उत्तम ऐश्वर्य तथा **सुविदत्रम्**=उत्तम ज्ञान **अस्तु**=हो। हम उत्तम ऐश्वर्य और ज्ञान को प्राप्त करते हुए **ज्योक् एव**=चिरकाल तक ही **सूर्यम्**=सूर्य को **दृशेम**=देखें, अर्थात् अतिदीर्घ जीवन प्राप्त करनेवाले हों। 'ऐश्वर्य, ज्ञान व दीर्घजीवन' की प्राप्ति ही उच्चतम स्थिति है। इसी के लिए गतमन्त्र में प्रभु से प्रार्थना की गई थी।

भावार्थ—घर में सब स्वस्थ हों। हमें वहाँ 'ऐश्वर्य, ज्ञान व दीर्घजीवन' प्राप्त हो।

विशेष—यह सूक्त बड़ी सुन्दरता से मुख आदि द्वारों का वर्णन करता है। चार द्वार हैं—चारों द्वारों को ठीक रखनेवाला 'ब्रह्मा' इस सूक्त का ऋषि है। यह चतुर्मुख है—चारों उत्तम द्वारोंवाला है। इन द्वारों के ठीक होने पर सब 'सुभूत व सुविदत्र' की प्राप्ति होती है। यह ब्रह्मा ही अगले सूक्त में द्यावापृथिवी की रचना में ब्रह्म की महिमा को देखता है—

३२. [द्वात्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सबका प्राण

इदं जनासो विदथ महद् ब्रह्म वदिष्यति।
न तत्पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः॥ १॥

१. **जनासः**=हे लोगो! **इदं विदथ**=इस बात को समझ लो कि **न तत् पृथिव्याम्**=न तो वह तत्त्व पृथिवी में ही है और **नो दिवि**=न ही द्युलोक में है **येन**=जिससे **वीरुधः**=ये सब फैलनेवाली व विविधरूप से उगनेवाली लताएँ, वनस्पतियाँ **प्राणन्ति**=प्राणित होती हैं। **महद् ब्रह्म**=यह महनीय वेदज्ञान **वदिष्यति**=इसी बात का प्रतिपादन करेगा। २. देखने में तो यही लगता है कि पृथिवी इन सब वनस्पतियों को जन्म देती है और द्युलोक से होनेवाली वृष्टि उन

वनस्पतियों के उगने का कारण बनती है। पृथिवी इन वनस्पतियों की माता है तो द्युलोक पिता है—'**द्यौष्पिता पृथिवी माता**' ऐसा वेद कहता भी है, परन्तु जब यह विचार चलता है कि पृथिवी व द्युलोक में इस शक्ति को कौन रखता है तब विचारशील पुरुष इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि इनमें शक्ति-स्थापन करनेवाला कोई और है—वही 'ब्रह्म' है। वही प्राणों का प्राण है। ब्रह्म ही द्युलोक को उग्र और पृथिवी को दृढ़ बनाता है। प्रभु से शक्ति प्राप्त करके ही ये द्यावापृथिवी इन वीरुधों को प्राणित करनेवाले होते हैं, अतः वस्तुतः प्राणित करनेवाला तो प्रभु ही है। ये सब वनस्पतियाँ प्राणित होकर प्रभु की ही महिमा को प्रकट कर रही हैं।

भावार्थ—द्यावापृथिवी से प्राणित होनेवाली ये सब वनस्पतियाँ मूल में प्रभु से ही प्राणित हो रही हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी** ॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

सर्वाधार

अन्तरिक्ष आसां स्थाम श्रान्तसदामिव। आस्थानमस्य भूतस्य विदुष्टद्वेधसो न वा॥ २ ॥

१. गतमन्त्र में वर्णित **आसाम्**=इन वीरुधों (लताओं) का **स्थाम**=आधार **अन्तरिक्षे**=उस सबके अन्तर निवास करनेवाले [**यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः**—उप०] प्रभु में है, **इव**=उसी प्रकार जैसे **श्रान्तसदाम्**=थककर बैठनेवाले यात्रियों की वृक्षछाया आधार बनती है। २. **अस्य भूतस्य**=इस सृष्टि में वर्त्तमान प्रत्येक प्राणी के **तत्**=उस **आस्थानम्**=आधारभूत प्रभु को **वेधसः**=ज्ञानी भी **विदुः न वा**=जानते हैं या नहीं जानते। वस्तुतः उस प्रभु का जानना सुगम नहीं होता। वे प्रभु अचिन्त्य व अप्रमेय हैं, चक्षुरादि इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं हैं। मन से उसका मापना सुगम नहीं। इसी कारण सामान्यतया मनुष्य इन द्यावापृथिवी आदि पदार्थों को ही इन वीरुधों का आधार मान लेता है—इन्हीं से उन्हें प्राणित होता हुआ समझता है। वस्तुतः इन द्यावापृथिवी को भी प्राणित करनेवाला प्रभु ही है।

भावार्थ—सबका आधार, सबके अन्दर स्थित वे प्रभु ही हैं। इस प्रभु का ज्ञान ज्ञानियों के लिए भी सुगम नहीं होता।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सदा नवीन

यद्रोदसी रेजमाने भूमिश्च निरतक्षतम्। आर्द्रं तदद्य सर्वदा समुद्रस्येव स्रोत्याः॥ ३ ॥

१. **रेजमाने**=चमकते (to shine) हुए **रोदसी**=ये द्यावापृथिवी **च भूमिः**=अथवा यह भूमि **यत्**=जिस भी **आर्द्रम्**=रस का **निरतक्षतम्**=निर्माण करते हैं **तत्**=वह रस **अद्य**=आज की भाँति **सर्वदा**=सदा ही **समुद्रस्य**=समुद्र के **स्रोत्याः इव**=स्रोतों के समान है। जैसे समुद्र के स्रोत शुष्क नहीं होते, इसीप्रकार इन द्यावापृथिवी से उत्पन्न किया गया रस शुष्क नहीं हो जाता। २. प्रभु की यह भी अद्भुत ही रचना है कि द्यावापृथिवी में रस-निर्माण की शक्ति बनी ही रहती है। एक चाक्रिक क्रम से गति करती हुई यह शक्ति सदा समानरूप से बनी रहती है। पृथिवी में एक चक्र में (by rotation) विविध अन्न बोये जाते हैं और पृथिवी की उपजाऊ शक्ति में कमी नहीं आती। सनातनकाल से बरसता हुआ यह मेघ बरसता ही रहेगा। 'बरसते-बरसते थक जाएगा' ऐसी बात नहीं है।

भावार्थ—प्रभु से द्यावापृथिवी में स्थापित की गई शक्ति सदा नवीन-सी बनी रहती है।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—द्यावापृथिवी ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

परस्पर सम्बद्धता

विश्वमन्यामभीवार तदन्यस्यामधि श्रितम्।
दिवे च विश्ववेदसे पृथिव्यै चाकरं नमः ॥ ४ ॥

१. **विश्वम्**=(सर्वं विशति यस्मिन्) यह व्यापक आकाश **अन्याम्**=दूसरी—अपने से विलक्षण इस पृथिवी को **अभीवार**=चारों ओर से घेरे हुए है। वस्तुतः आकाश के एक देश में ही पृथिवी स्थित है, परन्तु **तत्**=वह आकाश **अन्यस्याम्**=अपने से भिन्न इस पृथिवी में **अधिश्रितम्**=आश्रित है। पृथिवीस्थ जल ही वाष्पीभूत होकर आकाश में पहुँचता है और आकाश को वर्षण के योग्य बनाता है। २. इसप्रकार परस्पर सम्बद्ध **दिवे च पृथिव्यै**=द्युलोक और पृथिवीलोक के लिए जो **विश्ववेदसे**=सब आवश्यक ओषधियों, वनस्पतियों व अन्य धनों को प्राप्त करानेवाले हैं **नमः अकरम्**=मैं आदर की भावना धारण करता हूँ। इनमें मुझे प्रभु की महिमा दीखती है और मैं नतमस्तक हो जाता हूँ।

भावार्थ—प्रभु ने द्यावापृथिवी को परस्पर सम्बद्ध बनाकर इन्हें सब ओषधियों का जन्मदाता बना दिया है। प्रभु की यह महिमा हमें उसके प्रति नतमस्तक करनेवाली है।

विशेष—इस सूक्त में द्युलोक की महिमा का वर्णन करके उस महिमा के आधारभूत प्रभु की महिमा का वर्णन हुआ है। ये द्युलोक व पृथिवीलोक जिस वृष्टि की व्यवस्था करते हैं उस वृष्टि से प्राप्त जल का महत्त्वपूर्ण वर्णन अगले सूक्त में है। इन जलों से सब प्रकार की शान्ति का विस्तार करनेवाला 'शन्ताति' ही इस सूक्त का ऋषि है। यह प्रार्थना करता है—

३३. [त्रयस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—आपः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

शुचि-पावक जल

हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका यासु जातः सविता यास्वग्निः।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ १ ॥

१. **ताः आपः**=वे जल **नः**=हमारे लिए **शम्**=शान्ति देनेवाले व **स्योनाः**=सुखकर **भवन्तु**=हों, **याः**=जो **अग्निं गर्भं दधिरे**=अग्नि को गर्भ में धारण करते हैं, अतः **सुवर्णाः**=बड़े उत्तम वर्णवाले हैं। उत्तम वर्णवाले ही क्या, **हिरण्यवर्णाः**=स्वर्ण के समान चमकते हुए वर्णवाले हैं, **शुचयः**=पवित्र हैं, **पावकाः**=हमें पवित्र करनेवाले हैं, **यासु**=जिनमें **सविता**=सूर्य **जातः**=प्रादुर्भूत हुआ है, अर्थात् ये सूर्य-किरणों के सम्पर्क में आते हैं, **यासु अग्निः**=जिनसे अग्नि प्रादुर्भूत हुआ है, अर्थात् जो अग्नि पर रखकर उबाला गया है। २. वही जल हितकर हैं जो (क) सूर्य-किरणों के सम्पर्क में आते हैं (ख) जिनको अग्नि पर गरम कर लिया गया है (ग) जिनमें किसी प्रकार का मल नहीं पड़ गया, अतएव चमकते हैं।

भावार्थ—सूर्य-किरणों के सम्पर्कवाले, अग्नि पर उबाले गये जल हमारे लिए नीरोगता देकर सुखकर हों।

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—आपः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'वरुण' के जल

यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अवपश्यञ्जनानाम्।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ २ ॥

१. जलों का अधिष्ठातृदेव 'वरुण' कहलाता है। यह अशुभ का निवारण करनेवाला है। यह शरीर से रोगों को दूर करता है तो मन से अनृत को हटाता है। ये **वरुणः**=वरुण **जनानां मध्ये याति**=मनुष्यों के मध्य में विचरते हैं—विद्यमान हैं, **सत्यानृते अवपश्यन्**=उनके सत्य व अनृतों को देख रहे हैं। इसप्रकार ये हमें अनृत से पृथक् करते हैं और सत्य से संयुक्त करते हैं। ये वरुण **यासां राजा**=जिन जलों के अधिष्ठातृदेव हैं और **याः**=जो जल **अग्निं गर्भं दधिरे**=अग्नि को अपने मध्य में धारण करते हैं, **सुवर्णाः**=उत्तम वर्णवाले हैं **ताः आपः**=वे जल **नः**=हमारे लिए **शम्**=शान्ति देनेवाले व **स्योनाः**=सुखकर **भवन्तु**=हों। २. जलों के अधिष्ठातृदेव को वरुण कहा गया है। वरुण 'निवारक' हैं—दोषों का निवारण करके हमें श्रेष्ठ बनानेवाले हैं। जल भी हमारे रोगों का निवारण करके हमें स्वास्थ्य प्रदान करते हैं और क्रोधादि को दूर करके शान्तिलाभ कराते हैं। सामान्यतः उस पानी का पीने में प्रयोग अधिक हितकर है जिसे उबाल लिया गया है, जिसे अग्निगर्भ बना लिया गया है।

भावार्थ—जलों का राजा 'वरुण' है—दोषों का निवारक, अतः ये जल दोषों के निवारक क्यों न हों?

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

देव-भक्ष्य जल (मेघ-जल)

यासां देवा दिवि कृण्वन्ति भक्षं या अन्तरिक्षे बहुधा भवन्ति।
या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु॥ ३॥

१. **दिवि**=द्युलोकस्थ सूर्य में स्थित **देवः**=प्रकाशमय किरणें **यासाम्**=जिन जलों का **भक्षं कृण्वन्ति**=भक्षण करती हैं, अर्थात् जो जल सूर्य-किरणों से वाष्पीभूत होकर द्युलोक की ओर जाते हैं, वे उन किरणों का मानो भोजन ही बन जाते हैं। **याः**=जो जल **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्षलोक में मेघरूप में **बहुधा**=बहुत प्रकार से **भवन्ति**=होते हैं। सूर्य-किरणों का भोजन बनने के पश्चात् ये जल अन्तरिक्ष में बादलों के रूप में परिणत हो जाते हैं। वे बादल विविध आकारों को धारण करते रहते हैं। **याः**=जो अन्तरिक्षस्थ मेघ-जल **अग्निं गर्भं दधिरे**=विद्युद्रूप अग्नि को गर्भ में धारण करते हैं, वे **सुवर्णाः**=उत्तम वर्णवाले हैं **ताः आपः**=वे जल **नः**=हमारे लिए **शम्**=शान्ति देनेवाले व **स्योनाः**=सुखकर **भवन्तु**=हों। २. मेघ-जल स्वभावतः अत्यन्त शुद्ध होता है। यह अपने गर्भ में विद्युत् के प्रभाव को लिये हुए होता है। इसप्रकार यह नीरोगता के लिए अत्यन्त श्रेष्ठ है।

भावार्थ—विद्युद्रूप अग्नि को गर्भ में धारण करनेवाले मेघ-जल नीरोगता देनेवाले हैं।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शिव जल

शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया तन्वोप स्पृशत त्वचं मे।
घृतश्चुतः शुचयो याः पावकास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु॥ ४॥

१. हे **आपः**=जलो! आप **मा**=मुझे **शिवेन चक्षुषा**=कल्याणकर मङ्गलमयी आँख से **पश्यत**=देखो, अर्थात् जल के प्रयोग से मेरी आँखें शिव बनें—मेरी आँखों में किसी प्रकार का विकार न हो। २. हे जलो! आप **शिवया तन्वा**=कल्याणकर शरीर से **मे त्वचम्**=मेरी त्वचा को **उपस्पृशत**=स्पृष्ट करो। जलों का त्वचा पर अभ्यञ्जन (sponging) के प्रकार के किया गया प्रयोग त्वचा को स्निग्ध व नीरोग बनाए। ३. **घृतश्चुतः**=हमारे अन्दर दीप्ति व नैर्मल्य का क्षरण करनेवाले **शुचयः**=पवित्रता को लानेवाले **याः**=जो **पावकाः**=मानस भावनाओं को भी पवित्र

करनेवाले हैं **ताः**=वे **आपः**=जल **नः**=हमारे लिए **शम्**=शान्ति देनेवाले व **स्योनाः**=सुखकर **भवन्तु**=हों।

भावार्थ—जलों का सुप्रयोग आँखों व त्वचा को सौन्दर्य प्राप्त कराता है। ये जल मलों को दूर करके शरीर को स्वास्थ्य की दीप्ति प्रदान करते हैं, शरीर व मन को पवित्र करते हैं।

विशेष—यह सूक्त जलों के सुप्रयोग से सुख व शान्ति की प्राप्ति का वर्णन कर रहा है। यह नीरोग व शान्त जीवनवाला व्यक्ति 'अथर्वा' स्थिर वृत्ति का बनता है और मधुवल्ली (इक्षु) से प्रेरणा प्राप्त करके अपने जीवन को मधुर बनाने का प्रयत्न करता है।

३४. [चतुस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधुवनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इयं वीरुन्मधुजाता मधुना त्वा खनामसि।
मधोरधि प्रजातासि सा नो मधुमतस्कृधि॥ १॥

१. **इयं वीरुत्**=यह इक्षुदण्ड—गन्ने का पौधा **मधुजाता**=(मधुजातं यस्याम्) माधुर्य के विकासवाला हुआ है। हे इक्षुदण्ड! **त्वा**=तुझे **मधुना**=मधुरता के हेतु से—माधुर्य को प्राप्त करने के लिए **खनामसि**=खोदते हैं। २. **मधोः**=माधुर्य के हेतु से तू **अधिप्रजाता असि**=आधिक्येन उत्पन्न हुआ है। **सा**=वह तू **नः**=हमें **मधुमतः कृधि**=माधुर्यवाला कर। तेरे सेवन से हम भी माधुर्यवाले बनें। हमारा सारा व्यवहार माधुर्य को लिये हुए हो।

भावार्थ—इक्षुदण्ड मधुर-ही-मधुर है। इसका सेवन हमें भी मधुर बनाए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधुवनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मधुर शब्द, मधुर-व्यवहार

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि॥ २॥

१. **मे**=मेरी **जिह्वायाः अग्रे**=जिह्वा के अग्रभाग में **मधु**=माधुर्य हो, **जिह्वामूले**=जिह्वा के मूल में भी **मधूलकम्**=माधुर्य की ही प्राप्ति हो (मधु+उर+क, उर् गतौ)। मैं जिह्वा से कभी कटु शब्द बोल ही न पाऊँ। **इत् अह**=निश्चय से **मम क्रतौ**=मेरे कर्ममात्र में **असः**=यह माधुर्य हो। हे माधुर्य! तू **मम चित्तम् उपायसि**=मेरे चित्त को समीपता से प्राप्त हो, अर्थात् मेरे कर्म तो मधुर हों ही, मैं चित्त में भी कटुता न आने दूँ।

भावार्थ—मेरी बोलचाल तथा मेरे कर्म माधुर्य को लिये हुए हों। मेरे चित्त में भी कभी कटु-विचार न आये।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधुवनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आना-जाना भी मधुर हो

मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद्भूयासं मधुसन्दृशः॥ ३॥

१. **मे**=मेरा **निक्रमणम्**=(नि=in) अन्दर आना अथवा समीप प्राप्त होना **मधुमत्**=माधुर्य को लिये हुए हो। **मे**=मेरा **परायणम्**=बाहर व दूर (पर=far) जाना भी **मधुमत्**=माधुर्यवाला हो। **वाचा**=वाणी से **मधुमत्**=माधुर्यवाले शब्द ही **वदामि**=बोलूँ। मैं **मधुसन्दृशः भूयासम्**=मधु-जैसा ही हो जाऊँ। २. यहाँ 'निक्रमणं परायणम्' शब्द आने-जाने को कहते हुए व्यवहारमात्र

के प्रतीक हैं। हमारा सारा व्यवहार मधुर हो। विशेषकर बोलने में तो मिठास हो ही। ठीक तो यही है हम मीठे-मीठे हो जाएँ, कटुव्यवहार हमसे सम्भव ही न हो।

भावार्थ—हमारा सब व्यवहार मधुर हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मधुवनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शहद से भी अधिक मीठे

मधोरस्मि मधुतरो मदुघान्मधुमत्तरः। मामित्किल त्वं वनाः शाखां मधुमतीमिव॥ ४॥

१. मैं **मधोः**=वसन्तऋतु से भी अथवा शहद से भी **मधुतरः अस्मि**=अधिक मिठासवाला होऊँ। मेरे व्यवहार के माधुर्य के सामने शहद का मिठास भी फीका पड़ जाए। **मधुघात् (मधु-दुघात्)**=माधुर्य का दोहन करनेवाले इस इक्षुदण्ड से भी **मधुमत्तरः**=मैं अधिक मिठासवाला होऊँ। हे माधुर्य! **त्वम्**=तू **माम्**=मुझे **इत् किल**=निश्चय से **वनाः**=सेवन कर—प्राप्त हो। उसी प्रकार प्राप्त हो **इव**=जैसेकि **मधुमतीं शाखाम्**=इस माधुर्यवाली इक्षुदण्डरूप शाखा को तू प्राप्त होता है।

भावार्थ—हम शहद से भी अधिक मीठे बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मधुवनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

माधुर्य का प्रेरक इक्षुदण्ड

परि त्वा परितत्नुनेक्षुणागामविद्विषे। यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः॥ ५॥

१. पति पत्नी से कहता है कि **त्वा**=तुझे **परितत्नुना**=चारों ओर फैलनेवाले **इक्षुणा**=इस इक्षुदण्ड के साथ **अविद्विषे**=सब प्रकार की अप्रीति को दूर करने के लिए **परि आगाम्**=सब ओर से प्राप्त हुआ हूँ, **यथा**=जिससे तू भी **मां कामिनी**=मुझे चाहनेवाली, मुझसे प्रीति करनेवाली **असः**=हो, **यथा**=जिससे **मत्**=मुझसे **अपगाः**=दूर जानेवाली तू **न असः**=न हो। २. इक्षुदण्ड को लेकर आने का भाव इतना ही है कि इक्षुदण्ड से माधुर्य की प्रेरणा लेकर आना। जब पति पत्नी के साथ सदा मधुर व्यवहार करने का व्रत लेकर उपस्थित होता है तभी वह पत्नी से भी यह आशा करता है कि वह उसी के प्रति प्रेमवाली होगी और कभी उससे दूर होने का ध्यान न करेगी। ३. यह पंक्ति राजा व राष्ट्रसभा के लिए भी विनियुक्त हो सकती है। इसीप्रकार आचार्य व छात्र के लिए भी।

भावार्थ—पति का मधुर व्यवहार पत्नी को उसके प्रति प्रेमवाला बनाए।

विशेष—सूक्त की भावना एक पंक्ति में यही है कि हम मधुर-ही-मधुर बनें। ऐसा बनने के लिए आवश्यक है कि हम अपने में शक्ति धारण करें। शक्ति का ह्रास ही हमें खिझने की वृत्तिवाला बनाता है, अतः अथर्वा की कामना है—

३५. [पञ्चत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (आयुष्कामः)**॥ देवता—**मधुवनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

हिरण्य-बन्धन

यदाबध्नन्दाक्षायणा हिरण्यं शतानीकाय सुमनस्यमानाः।
तत्ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय॥ १॥

१. **दाक्षायणाः**=(दक्ष=to grow) सब प्रकार की उन्नति की कामनावाले **सुमनस्यमानाः**=सौमनस्य (मन की प्रसन्नता) को चाहनेवाले लोग **शतानीकाय**=सौ-के-सौ वर्ष तक बल की स्थिरता के लिए **यत्** जिस **हिरण्यम्**=हितरमणीय वीर्यशक्ति को **आबध्नन्**=अपने अन्दर बाँधते

हैं, **तत्**=उस हिरण्य को **ते**=तेरे लिए **दीर्घायुत्वाय**=तेरा जीवन दीर्घ हो, **शतशारदाय**=तू पूरे सौ वर्ष तक चल सके, इसलिए धारण करता हूँ कि **वर्चसे**=तुझमें वर्चस् हो, वह प्राणशक्ति हो जो शरीर में रोगकृमियों से संघर्ष में विजय प्राप्त करती है और **बलाय**=तेरा मन बलवान् बने।

भावार्थ—वीर्यरक्षा से (क) सब प्रकार की उन्नति सम्भव होती है (**दाक्षायणाः**), (ख) मन प्रसन्न रहता है (**सुमनस्यमानाः**), दीर्घजीवन की प्राप्ति होती है, (घ) शरीर वर्चस्वी होता है और (ङ) मन सबल बनता है।

ऋषिः—**अथर्वा (आयुष्कामः)**॥ देवता—**हिरण्यम्**॥ छन्दः—**जगती**॥

दाक्षायण-हिरण्य

नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते देवानामोजः प्रथमजं ह्ये३तत्।
यो बिभर्ति दाक्षायणं हिरण्यं स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः॥ २॥

१. **एनम्**=गतमन्त्र में वर्णित हिरण्य को **रक्षांसि**=अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाले रोगकृमि (parasites) **न सहन्ते**=सहन नहीं कर पाते, अर्थात् इस हिरण्य से इनका हरण हो जाता है। इसीप्रकार **पिशाचाः**=हमारे मांस को ही खा जानेवाले कैंसर आदि रोगों के कृमि भी इस हिरण्य को नहीं सह सकते। इसके द्वारा उनका भी विनाश होता है। **यः**=जो भी व्यक्ति **दाक्षायणं हिरण्यम्**=सब प्रकार की उन्नतियों के कारणभूत-रोगकृमि-विनाशक इस वीर्य को **बिभर्ति**=धारण करता है, **सः**=वह **जीवेषु**=प्राणियों में **दीर्घम् आयुः**=दीर्घ जीवन को **कृणुते**=सिद्ध करता है। रोगकृमियों के नाश से नीरोग शरीर, पूर्णायुष्य तक क्यों न चलेगा?

भावार्थ—वीर्यरक्षण से रोग नहीं आते और आयुष्य का भङ्ग (रुजो भङ्गे) न होने से मनुष्य दीर्घजीवी होता है।

ऋषिः—**अथर्वा (आयुष्कामः)**॥ देवता—**हिरण्यम्**॥ छन्दः—**जगती**॥

जलों व वनस्पतियों का सेवन

अपां तेजो ज्योतिरोजो बलं च वनस्पतीनामुत वीर्या३णि।
इन्द्र इवेन्द्रियाण्यधि धारयामो अस्मिन्तद्दक्षमाणो बिभरद्धिरण्यम्॥ ३॥

१. गतमन्त्र में वर्णित हिरण्य क्या है? इसका उत्तर देते हुए करते हैं—यह **अपाम्**=जलों का **तेजः**=तेज है, यह **ज्योतिः**=जलों की ज्योति है, **ओजः बलं च**=यह जलों का ओज व बल है। जलों से उत्पन्न हुआ यह तेज अन्नमयकोश को तेजस्वी बनाता है, विज्ञानमयकोश को ज्योतिर्मय और मनोमय कोश को ओजस्वी व बलवान् बनाता है। २. **उत**=और यह हिरण्य **वनस्पतीनां वीर्याणि**=वनस्पतियों के वीर्य हैं। यह हिरण्य क्या है? वानस्पतिक पदार्थों के सेवन से शरीर में उत्पन्न हुई यह प्राणमयकोश को वीर्यवान् बनाती है। ३. इस हिरण्य के शरीर में रक्षण के लिए हम **इन्द्रः इव**=एक जितेन्द्रिय पुरुष की भाँति **इन्द्रियाणि**=इन्द्रियों को **अधिधारयामः**=आधिक्येन धारण करते हैं—इन्द्रियों को अपने वश में करते हैं। इन्द्रियों को वश में करने से ही इसका रक्षण हो सकता है। ४. इसप्रकार इन्द्रियों को वश में करनेवाला **दक्षमाणः**=सब प्रकार की उन्नति चाहनेवाला पुरुष **अस्मिन्**=इस शरीर में **तत्**=उस **हिरण्यम्**=हितरमणीय वीर्य को **बिभरत्**=धारण करता है।

भावार्थ—शरीर में धारण किया गया जलों व वनस्पतियों से उत्पन्न 'हिरण्य' अन्नमयकोश को तेजस्वी बनाता है, प्राणमयकोश को वीर्यसम्पन्न, मनोमयकोश को ओजस्वी व बलवान् तथा विज्ञानमयकोश को ज्योतिर्मय।

ऋषिः—**अथर्वा (आयुष्कामः)**॥ देवता—**हिरण्यम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुब्गर्भाचतुष्पदात्रिष्टुप्**॥

गृहस्थ में संयम

समा॑नां मा॒साममृ॒तुभि॑ष्ट्वा व॒यं सं॑वत्स॒रस्य॒ पय॑सा पिपर्मि।
इ॒न्द्रा॒ग्नी विश्वे॑ दे॒वास्ते ऽनु॑ मन्यन्ता॒मह॑णीयमानाः ॥ ४॥

१. **वयम्**=कर्मतन्तु का सन्तान करनेवाला (वेञ् तन्तुसन्ताने) मैं, हे (जलों के तेज) वीर्य! **त्वा**=तुझे **समानां पयसा**=शुक्ल व कृष्णपक्ष के आप्यायन से **पिपर्मि**=अपने में पूरित करता हूँ। मास समरूप से शुक्ल व कृष्ण इन दो पक्षों में बँटा होता है, अतः इन पक्षों को यहाँ 'समा' शब्द से स्मरण किया गया है। गृहस्थ में होते हुए भी कम-से-कम पक्षभर अपने में शक्ति को पूर्ण करने का प्रयत्न करना चाहिए। इससे ऊपर उठकर **मासाम्**=(पयसा पिपर्मि)=मासों के आप्यायन से इस शक्ति को अपने में पूरित करता हूँ और उन्नत होकर **ऋतुभिः**=दो-दो मास से बनी हुई ऋतुओं से मैं इसे अपने में धारण करता हूँ और इससे उत्तम सङ्कल्प यह है कि **संवत्सरस्य (पयसा पिपर्मि)**=वर्षभर के आप्यायन से मैं तुझे अपने में पूरित करता हूँ। २. इसप्रकार अपने में शक्ति का संयम करने पर **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि—शक्ति तथा प्रकाश के देवता तथा **ते विश्वेदेवाः**=वे अन्य सब दिव्य गुण भी **अहृणीयमानाः**=हमारे प्रति किसी भी प्रकार के रोषवाले न होते हुए **अनुमन्यन्ताम्**=अनुकूल मतिवाले हों, अर्थात् इस शक्ति के रक्षण से हमें सब दिव्य गुणों की प्राप्ति हो।

भावार्थ—शक्ति के रक्षण के लिए मनुष्य गृहस्थ में भी पर्याप्त संयम से चले और अपने में दिव्य गुणों का वर्धन करे।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त 'हिरण्य बन्धन', अर्थात् हितरमणीय वीर्यशक्ति को शरीर में ही बद्ध करने के महत्त्व को प्रतिपादित कर रहा है। इसका बन्धन करनेवाला 'अथर्वा' है—वासनाओं से डाँवाडोल न होनेवाला।

यहाँ प्रथम काण्ड समाप्त होता है। इस काण्ड का आरम्भ आचार्य द्वारा विद्यार्थी में शरीर की शक्तियों को धारण कराने से होता है। उन शक्तियों को धारण करने के लिए समाप्ति पर यह '**हिरण्य-बन्धन**'=वीर्यरक्षण साधनरूप से उपदिष्ट हुआ है। एवं, जीवन का पहला नियम यही है कि 'हम पूर्ण स्वस्थ बनें। स्वास्थ्य के लिए वीर्य का रक्षण करें'। इस नियम का पालन करनेवाला अब प्रभु-भक्ति की कामनावाला बनता है। 'वेनृ' धातु का अर्थ to know, to perceive तथा to worship है। उस प्रभु की महिमा को देखना, उसके द्वारा प्रभु को जानना व उसकी पूजा—उपासना करना। यह 'वेन' ही द्वितीय काण्ड के प्रथम सूक्त का ऋषि है।

॥ इति प्रथमं काण्डम् ॥

द्वितीयं काण्डम्

अथ तृतीयः प्रपाठकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**ब्रह्म, आत्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वेन का प्रभु-दर्शन

वेनस्तत्पश्यत्परमं गुहा यद्यत्र विश्वं भवत्येकरूपम्।
इदं पृश्निरदुहज्जायमानाः स्वर्विदो अभ्य॑नूषत व्राः ॥ १ ॥

१. **वेनः**=प्रभु की महिमा को देखनेवाला और उसकी उपासना करनेवाला ही **तत्**=उस परमात्मा को **पश्यत्**=देखता है, जो **परमम्**=सर्वोत्कृष्ट है और **यत्**=जो **गुहा**=हृदयरूप गुहा में आसीन है, **यत्र**=जिस परमात्मा में **विश्वम्**=यह सारा संसार **एकरूपं भवति**=एकरूप हो जाता है। जैसे भिन्न-भिन्न आकृतिवाली शहद से भरी शीशियाँ, शहद का ज्ञान होने पर इसी रूप में कही जाती हैं कि सब शहद है, इसीप्रकार परमात्मदर्शन होने पर सब समरूप से परमात्मामय ही हो जाता है—'**विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः**'॥ प्रभु-दर्शन होने पर भेदभाव समाप्त हो जाता है और सर्वत्र प्रभु-ही-प्रभु दीखते हैं। २. **जायमानः**=उस प्रभुरूप अध्यक्ष से इस चराचर को जन्म देती हुई **पृश्निः**=यह 'लोहित-शुक्ल-कृष्णा' (diversified, विभिन्नरूपा) प्रकृति **इदम्**=इस जगत् को **अदुहत्**=अपने में से दूहती है—'**मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्**'। इस जगत् का प्रत्येक पदार्थ उस रचयिता प्रभु की रचनाचातुरी को व्यक्त कर रहा है। ये **स्वर्विदः**=आकाश में विद्यमान अथवा प्रकाश को प्राप्त करनेवाले (विद् लाभे) **व्राः**=(वृ आच्छादने) आकाश को आच्छादित करनेवाले तारे **अभ्यनूषत**=उस प्रभु का स्तवन कर रहे हैं। द्रष्टा को इनमें प्रभु की महिमा दीखती है। यह नक्षत्रविद्यावित् इन नक्षत्रों में वर्तमान क्रम को देखकर आश्चर्यचकित रह जाता है। यह सचमुच 'वेन' बनता है (वेन्=to see)—प्रभु की महिमा का द्रष्टा।

भावार्थ—'वेन' विश्व के कण-कण में प्रभु की महिमा का दर्शन करता है।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**ब्रह्म, आत्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

विद्वान् गन्धर्व का प्रभु-दर्शन

प्र तद्वोचेदमृतस्य विद्वान्गन्धर्वो धाम परमं गुहा यत्।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुष्पितासत् ॥ २ ॥

१. **विद्वान्**=ज्ञानी, **गन्धर्वः**=इन्द्रियों को धारण करनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष ही **तत्**=उस **ऋतस्य धाम**=अमृतत्व के आधार **परमम्**=सर्वोत्कृष्ट प्रभु को **यत्**=जोकि **गुहा**=हृदयरूप गुहा में स्थित हैं, **प्रवोचेत्**=प्रतिपादित करता है। जितेन्द्रिय ज्ञानी पुरुष ही इसका ज्ञान देता है। २. **अस्य**=इस प्रभु के **त्रीणि पदानि**=तीन पग **गुहा निहिता**=गुहा में निहित हैं, अर्थात् अत्यन्त रहस्यमय हैं। किस प्रकार वे प्रभु इस सृष्टि की रचना करते हैं, कैसे इस अनन्त-से बोझवाले संसार का धारण करते हैं और किस प्रकार प्रलय करते हैं। **यः**=जो भी **तानि**=इन बातों को **वेद**=जानता है, **सः**=वह **पितुः पिता असत्**=पिता का भी पिता होता है, अर्थात् महान् ज्ञानी

होता है। सृष्टि की रचना, धारण व प्रलय को पूरा-पूरा जान सकना तो सम्भव नहीं—'**को अद्धा वेद क इह प्रवोचत् कुत आ जाता कुत इयं विसृष्टिः**', परन्तु एक गम्भीर विचारक इसका थोड़ा-बहुत आभास पानेवाला बनता है और उस प्रभु का सच्चा उपासक बनकर अपने ज्ञान को और बढ़ाता है तथा उसी ज्ञान का प्रचार करता है। यह ज्ञान देनेवाला प्रजाओं का सच्चा पिता बनता है।

भावार्थ—हम सृष्टि रचना, धारण व प्रलय का विचार करते हुए प्रभु के उपासक बनें, उसका ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञान को फैलानेवाले हों।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**ब्रह्म, आत्मा** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

सब देवों का नामधारक मुख्य देव

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा ॥ ३ ॥

१. **सः**=वे प्रभु ही **नः**=हमारे **पिता**=रक्षक हैं, **जनिता**=हमारी शक्तियों का प्रादुर्भाव करनेवाले हैं **उत**=और **सः**=वे प्रभु ही **बन्धुः**=हमारे कर्मों के अनुसार उस-उस योनि में बाँधनेवाले हैं। वे प्रभु **विश्वा**=सब **भुवनानि**=लोकों व **धामानि**=स्थानों को **वेद**=जानते हैं। उन सबको जानते हुए वे प्रभु हमारे कर्मों के अनुसार उन-उन लोकों व उन-उन स्थानों में हमें जन्म देते हैं। २. **यः**=जो प्रभु **एकः एव**=अकेले ही **देवानाम्**=सब देवों के **नामधः**=नामों को धारण करनेवाले हैं, अर्थात् सूर्य के प्रकाशक होने से वस्तुतः वे ही सूर्य हैं, अतः वे प्रभु ही '**तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः**' अग्नि, आदित्य, वायु, चन्द्रमा, शुक्र, ब्रह्म, आपः, प्रजापति हैं। ३. **तम्**=उस **संप्रश्नम्**=(प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्) जानने के लिए ईप्सित प्रभु को **सर्वा भुवना**=सब भुवन **यन्ति**=जाते हैं। सब व्यक्ति उस प्रभु की ओर चल रहे हैं, कई ठीक मार्ग से, कई अज्ञानवश कुछ भ्रान्त मार्ग से, परन्तु अन्ततः सबको पहुँचना वहीं है।

भावार्थ—प्रभु ही सर्वश्रेष्ठ बन्धु हैं। वे हमारे कर्मानुसार हमें उचित लोक व स्थान में जन्म देते हैं। सूर्यादि सब देवों को भी वे ही शक्ति प्रदान करते हैं। सभी अपनी समझ के अनुसार उस प्रभु की ओर चल रहे हैं।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**ब्रह्म, आत्मा** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'धास्यु व अग्नि' प्रभु

परि द्यावापृथिवी सद्य आयमुपातिष्ठे प्रथमजामृतस्य।
वाचमिव वक्तरि भुवनेष्ठा धास्युरेष नन्वे३षो अग्निः ॥ ४ ॥

१. मैं **सद्यः**=शीघ्र **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक में **परि आयम्**=चारों ओर भ्रमण कर आया हूँ। इन द्युलोक एवं पृथिवीलोक के पदार्थों का मैंने निरीक्षण किया है। मैंने इनके अन्दर प्रभु की महिमा को देखने का प्रयत्न किया है। इसके अतिरिक्त **ऋतस्य**=उस पूर्ण सत्य प्रभु की **प्रथमजाम्**=सृष्टि के आरम्भ में आविर्भूत हुई-हुई वाणी को **उपातिष्ठे**=मैंने उपासित किया है। सृष्टि के आरम्भ में दिये गये वेदज्ञान का मैंने अध्ययन किया है। २. संसार के देखने से तथा वेदवाणी के अध्ययन से मैं इसी परिणाम पर पहुँचा हूँ कि **वक्तरि वाचम् इव**=वक्ता में वाणी की भाँति **भुवनेष्ठाः**=ये प्रभु सम्पूर्ण भुवनों में स्थित हैं। जैसे वक्ता में सूक्ष्मरूप से वाणी का निवास है, उसी प्रकार सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रभु का निवास है। **एषः**

धास्युः=ये प्रभु ही इस ब्रह्माण्ड को धारण करनेवाले हैं। **नु**=निश्चय से **एषः**=ये प्रभु ही **अग्निः**=अग्रणी हैं, सारे ब्रह्माण्ड को अग्रगति देनेवाले हैं।

भावार्थ—संसार का निरीक्षण व वेदज्ञान का परीक्षण हमें एक ही परिणाम पर पहुँचाता है कि वे सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रभु ही इसके धारक व अग्रणी हैं।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**ब्रह्म, आत्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वह विस्तृत सूत्र

परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम्।
यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त ॥ ५ ॥

१. यह सारा ब्रह्माण्ड एक सूत्र में पुरोया हुआ है। इस **ऋतस्य**=ऋत के—पूर्ण सत्य के **विततम्**=विस्तृत **तन्तुम्**=सूत्ररूप **कम्**=आनन्दमय प्रभु को **दृशे**=देखने के लिए मैं **विश्वा भुवनानि परि आयम्**=सब लोकों में चारों ओर घूमा हूँ। इन लोकों के निरीक्षण से मुझे सर्वत्र ओत-प्रोत उस सूत्र की ही महिमा का दर्शन हुआ है। २. यह सूत्र वह है **यत्र**=जिसमें **देवाः**=देववृत्ति के ज्ञानी पुरुष **अमृतम् आनशानाः**=अमृतत्व का उपभोग करते हुए **समाने योनौ**=(सम्यक् आनयति) सबको प्राणित करनेवाले मूलस्थान प्रभु में **अध्यैरयन्त**=गति करते हैं। अमृतत्व प्राप्त सब व्यक्तियों का वह ब्रह्म ही लोक है—सब मुक्त पुरुष समानरूप से उसी में विचरण करते हैं। वह प्रभु इन सब मुक्त पुरुषों का 'समान योनि' है।

भावार्थ—प्रभु ही सब लोक-लोकान्तरों को अपने में पिरोये हुए हैं। सब मुक्त आत्मा भी उस प्रभु में निवास करते हैं। (संसारासक्त पुरुष प्रभु से दूर होते हुए कष्टभाक् होते हैं)।

विशेष—इस सम्पूर्ण सूक्त में वेन प्रभु का उपासन करता हुआ सारी सृष्टि को प्रभु की महिमा का प्रतिपादन करते हुए देखता है (१) उस प्रभु की महिमा का प्रतिपादन जितेन्द्रिय ज्ञानी पुरुष ही कर पाता है (२) वे प्रभु ही सब देवों के नाम को धारण करनेवाले हैं (३) वे संसार के धारक व अग्रणी हैं (४) वे ही सब लोकों में ओत-प्रोत सूत्र हैं (५)।

यह वेन उस प्रभु का ज्ञान प्राप्त करने के कारण अब 'मातृनामा' कहलाता है—'माता-प्रमाता इति नाम यस्य'। यह वेदवाणी के धारक प्रभु की शक्तियों को—गन्धर्वपत्नियों को—सर्वत्र प्रजाओं में विचरण करता हुआ देखता है, इसीलिए ये शक्तियाँ 'अप्सरस'=प्रजाओं में विचरण करनेवाली कहलायी हैं, अतः अगले सूक्त का ऋषि 'मातृनामा' है, विषय व देवता 'गन्धर्वाप्सरसः' हैं—प्रभु की प्रजाओं में विचरण करनेवाली शक्तियाँ। यह मातृनामा स्तवन करता है कि—

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**गन्धर्वाप्सरसः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥

ज्ञान व स्तवन द्वारा प्रभु-प्राप्ति

दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः।
तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्य देव नमस्ते अस्तु दिवि ते सधस्थम् ॥ १ ॥

१. वे प्रभु **दिव्यः**=(दिवि भवः) सदा अपने प्रकाशमय रूप में निवास करनेवाले हैं, **गन्धर्वः**=वेदवाणी को धारण करनेवाले हैं, इस वेदवाणी को ही वे सृष्टि के प्रारम्भ में अग्नि आदि ऋषियों के हृदयों में स्थापित करते हैं। **भुवनस्य यः पतिः**=सारे ब्रह्माण्ड के जो रक्षक हैं, वे **एकः एव**=अद्वितीय प्रभु ही **नमस्यः**=नमस्कार के योग्य हैं। **विक्षु ईड्यः**=सब प्रजाओं में स्तुति

करने योग्य हैं। जहाँ भी, जो कुछ विभूति, श्री व ऊर्ज् दृष्टिगोचर होता है, वह उस प्रभु का ही है। वे प्रभु ही उपासनीय हैं। २. हे प्रभो! **तं त्वा**=उस आपको मैं **ब्रह्मणा**=ज्ञान व स्तवन के द्वारा (ब्रह्म=ज्ञान, स्तोत्र) **यौमि**=प्राप्त करता हूँ—अपने को आपके साथ जोड़ता हूँ। हे **दिव्य देव**=प्रकाशमय ज्ञानपुञ्ज प्रभो! **ते नमः**=मैं आपके प्रति नतमस्तक होता हूँ। **ते दिवि**=आपके प्रकाशमय लोक में **सधस्थम् अस्तु**=मेरा आपके साथ ठहरना हो। मैं मुक्त होकर आपके साथ विचरनेवाला बनूँ।

भावार्थ—प्रकाशमय प्रभु का ही उपासन करना योग्य है। ज्ञान व स्तवन के द्वारा हम प्रभु को प्राप्त करें और उसके साथ स्थित होनेवाले बनें।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**गन्धर्वाप्सरसः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

आधिदैविक आपत्तियों का निराकरण

दि॒वि स्पृ॒ष्टो य॑ज॒तः सूर्य॑त्वगवया॒ता हर॑सो॒ दैव्य॑स्य।
मृ॒डाद्ग॑न्ध॒र्वो भुव॑नस्य॒ यस्पति॒रेक॑ ए॒व न॑म॒स्य॑ः सु॒शेवा॑ः ॥ २ ॥

१. वे प्रभु **दिवि स्पृष्टः**=ज्ञान होने पर प्राप्त होनेवाले हैं। हम प्रभु के सम्पर्क में ज्ञान के द्वारा ही आ सकते हैं। **यजतः**=वे प्रभु पूज्य, संगतिकरणयोग्य व समर्पणीय हैं। हमें उस प्रभु की पूजा करनी चाहिए, उनके साथ अपना सम्पर्क स्थापित करने के लिए यत्नशील होना चाहिए और अन्ततः उस प्रभु के प्रति अपने को दे डालना चाहिए। **सूर्यत्वक्**=(त्वच्= to cover) वे सूर्यादि ज्योतिर्मय पिण्डों को भी आच्छादित करनेवाले हैं, इसलिए वे 'हिरण्यगर्भ' भी कहलाते हैं—**'हिरण्यं ज्योतिर्गर्भे यस्य'**। इस प्रभु का उपासन करने पर ये **दैव्यस्य**=सूर्य आदि देवों के **हरसः**=प्रकोप के **अवयाता**=दूर करनेवाले हैं। दैवी आपत्तियाँ तभी आती हैं जबकि हम इन देवों के विषय में ग़लत आचरण करते हैं। प्रभु का उपासक इन दोषों से बचा रहता है, अतः दैवी प्रकोपों का शिकार भी नहीं होता। ३. **गन्धर्वः**=वे वेदवाणी के धारक प्रभु **मृडात्**=हमारे जीवन को सुखी करते हैं। ये प्रभु वे हैं **यः**=जोकि **एकः एव**=अद्वितीय ही **भुवनस्य पतिः**=सारे संसार के रक्षक हैं, **नमस्यः**=हम सबके नमस्कार करने योग्य और **सुशेवाः**=उत्तम कल्याण प्राप्त करानेवाले हैं। जब मानवजाति उस एकमात्र प्रभु का ही उपासन करनेवाली होगी तब सब भेदभावों के समाप्त हो जाने से कल्याण-ही-कल्याण होगा। उस एक उपास्य के अभाव में परस्पर भेद व द्वेष चलता है और **'मिथो विघ्नाना उपयन्तु मृत्युम्'**—परस्पर लड़ते हुए हम मृत्यु के मार्ग पर अग्रसर होते हैं।

भावार्थ—प्रकाशमय प्रभु के साथ स्थित होने पर आधिदैविक प्रकोप नहीं होते। उस एक प्रभु की उपासना में ही मानव का कल्याण है।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**गन्धर्वाप्सरसः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सब शक्तियों का आधार 'आनन्दमय प्रभु'

अ॒न॒व॒द्याभि॑ः सम॑ु जग्म आ॒भिर॑प्स॒रास्वपि॑ गन्ध॒र्व आ॑सीत्।
स॒मु॒द्र आ॑सां॒ सद॑नं म आहु॒र्यत॑ः स॒द्य आ च॒ परा॑ च॒ यन्ति॑ ॥ ३ ॥

१. प्रभु 'गन्धर्व' हैं—प्रभु की शक्तियाँ 'गन्धर्वपत्नी' कहलाती हैं। ये शक्तियाँ ही सब प्रजाओं में (अप्) विचरण (सर) करने के कारण 'अप्सरा' कही गई हैं। मैं **आभिः**=इन **अनवद्याभिः**=अत्यन्त प्रशस्त—अनिन्दनीय प्रभु-शक्तियों से **उ**=निश्चयपूर्वक **संजग्मे**=संगत होता हूँ। २. **अप्सरासु**=इन प्रजाओं में विचरण करनेवाली शक्तियों में **अपि**=भी **गन्धर्वः आसीत्**=वे

वेदवाणी के धारक प्रभु ही तो हैं। **बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजः तेजस्विनामहम्। बलं बलवतामहम्**—इस गीतावाक्य में यही तो कहा है कि बुद्धिमानों की बुद्धि मैं ही हूँ। तेजस्वियों का तेज तथा बलवानों का बल मैं ही हूँ। ३. **मे**=मेरे सम्बन्ध में ज्ञानी लोग **आहुः**=यही कहते हैं कि **आसाम्**=इन सब शक्तियों का **सदनम्**=घर **समुद्रे**=उस आनन्दमय प्रभु में ही है (स+मुद्) **च**=और आनन्दमय प्रभु ही वे आधार हैं **यतः**=जहाँ से ये सब शक्तियाँ **सद्यः**=शीघ्र **आयन्ति**=आती हैं—उस-उस स्थान पर प्राप्त होती हैं **च**=और **परायन्ति**=उस-उस स्थान से लौटकर फिर उसी में पहुँच जाती हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सब शक्तियों के आधार हैं। उन्हीं से ये शक्तियाँ हमें प्राप्त होती हैं और अन्त में प्रभु में ही ये लौट जाती हैं।

ऋषिः—**मातृनामा**॥ देवता—**गन्धर्वाप्सरसः**॥ छन्दः—**त्रिपाद्विराण्नामगायत्री**॥

नम्रता व शक्तिधारण

अभ्रिये दिद्युन्नक्षत्रिये या विश्वावसुं गन्धर्वं सचध्वे।
ताभ्यो वो देवीर्नम इत्कृणोमि॥ ४॥

१. **अभ्रिये**=अभ्रों व बादलों में प्रकट होनेवाली **दिद्युत्**=विद्युद्रूप द्युति में अथवा **नक्षत्रिये**=नक्षत्रों में प्रकट होनेवाले प्रकाश में **याः**=जो शक्तियाँ हैं, जो **विश्वावसुम्**=सम्पूर्ण वसुओंवाले **गन्धर्वम्**=ज्ञानी प्रभु में **सचध्वे**=समवेत होती हैं। हे **देवीः**=दिव्य गुणोंवाली शक्तियो! **ताभ्यः वः**=उन आपकी प्राप्ति के लिए मैं **इत्**=निश्चय से **नमः कृणोमि**=नमस्कार करता हूँ। २. बादलों की विद्युत् के प्रकाश में तथा नक्षत्रों के प्रकाश में सर्वत्र प्रभु की ही महिमा है। उसी की शक्ति से ये विद्युत् व नक्षत्र चमकते हैं। इस प्रकाश को प्राप्त करने के लिए मैं नम्रता धारण करता हूँ। नम्रता से ये शक्तियाँ मुझे भी प्राप्त होंगी। प्रभु के तेज को धारण करने के लिए हमें विनीत बनना ही चाहिए।

भावार्थ—हम जितना विनम्र बनते हैं, उतना ही प्रभु की प्रकाशमय शक्तियों को धारण करते हैं।

ऋषिः—**मातृनामा**॥ देवता—**गन्धर्वाप्सरसः**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

अप्सराएँ

याः क्लन्दास्तमिषीचयोऽक्षकामा मनोमुहः।
ताभ्यो गन्धर्वपत्नीभ्योऽप्सराभ्योऽकरं नमः॥ ५॥

१. प्रभु गन्धर्व हैं, वेदवाणी के धारक हैं। प्रभु की शक्तियाँ 'गन्धर्वपत्नियाँ' हैं। इन्हीं का सब प्रजाओं में प्रसार है। प्रजाओं (अप्) में प्रसृत (सर) होने से ये 'अप्सरा' कहलाती हैं। **ताभ्यः**=उन **गन्धर्वपत्नीभ्यः**=प्रभु की पत्नीरूप **अप्सराभ्यः**=प्रजाओं में विचरनेवाली शक्तियों की प्राप्ति के लिए **नमः अकरम्**=मैं नमस्कार करता हूँ। विनीत बनकर ही तो मैं इन शक्तियों को प्राप्त करने का पात्र बनूँगा। २. ये शक्तियाँ वे हैं **याः**=जोकि **क्लन्दाः**=शत्रुओं को रुलानेवाली हैं (क्लदि रोदने), **तमिषीचयः**=(तम्=to wish, to desire, षिच् क्षरणे) इच्छाओं का सेचन व पूरण करनेवाली हैं, **अक्षकामाः**=इन्द्रियों को कान्ति प्राप्त करानेवाली व **मनोमुहः**=मनों को मुग्ध करनेवाली हैं। इन शक्तियों के होने पर वह व्यक्ति सबके लिए आकर्षक होता है। उसकी सब इन्द्रियाँ तेजस्विता से युक्त होती हैं। इनके द्वारा वह इष्ट वस्तुओं को प्राप्त कर पाता है और इनके द्वारा ही वह अपने शत्रुओं को परास्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु के प्रति नमन से हमें वे दिव्य शक्तियाँ प्राप्त होती हैं जो शत्रुओं को रुलानेवाली, इच्छाओं को पूर्ण करनेवाली, इन्द्रियों को कान्ति देनेवाली व मनों को मुग्ध करनेवाली होती हैं।

विशेष—सूक्त का आरम्भ इन शब्दों से हुआ है कि प्रभु की प्राप्ति ज्ञान से होती है (१)। वे प्रभु उपासित होने पर आधिदैविक आपत्तियों को दूर करनेवाले हैं (२)। प्रभु ही सब शक्तियों के आधार हैं (३)। नम्रता के द्वारा हम इन शक्तियों को प्राप्त करते हैं (४)। इन शक्तियों को प्राप्त करके शत्रुओं को पराजित करनेवाले व इन्द्रियों को दीप्त करनेवाले होते हैं (५)। इन्द्रियों को दीप्त करके अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाले हम 'अङ्गिराः' बनते हैं। यह अङ्गिरा ओषधियों के उचित प्रयोग से सब रोगों को अपने से दूर रखता है। पर्वतों से नीचे बहनेवाला जल भी उत्तम औषध है—

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**(आस्त्राव)-भेषजम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पर्वतीय जल

अदो यदवधावत्यवत्कमधि पर्वतात्। तत्ते कृणोमि भेषजं सुभेषजं यथाससि॥ १॥

१. **अदः**=वह **यत्**=जो **अवत्कम्**=रक्षा करनेवाला जल **अधिपर्वतात्**=पर्वत पर से **अवधावति**=नीचे की ओर दौड़ता है, **तत्**=उसे **ते**=तेरे लिए **भेषजम्**=औषध **कृणोमि**=करता हूँ, **यथा**=जिससे **सुभेषजम्**=उत्तम औषधवाला **अससि**=तू हो। २. पर्वतों से बहनेवाला जल भिन्न-भिन्न प्रकार के खनिजद्रव्यों के सम्पर्क में आता हुआ सचमुच कई रोगों का औषध बन जाता है। इन जलों में वे खनिजद्रव्य सूक्ष्मरूप से समवेत होकर जलों के दोष-निवारक गुणों को बढ़ा देते हैं। जल भेषज हैं, तो उन द्रव्यों के सम्पर्क से वे सुभेषज हो जाते हैं।

भावार्थ—पर्वतों से बहकर नीचे आनेवाला जल भेषज है, भेषज ही नहीं सुभेषज है।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**(आस्त्राव)-भेषजम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अनास्त्रावम्, अरोगणम्

आदङ्ग कुविदङ्ग शतं या भेषजानि ते। तेषामसि त्वमुत्तममनास्त्रावमरोगणम्॥ २॥

१. **आत्**=और यह बात है कि हे **अङ्ग**=अङ्गो! **कुवित् अङ्ग**=बहुविध अङ्गो! (कुवित्=बहु—नि०) **या**=जो **ते**=आपकी **शतं भेषजानि**=सैकड़ों औषध हैं **तेषाम्**=उनमें **त्वम्**=तू, अर्थात् गतमन्त्र में वर्णित पर्वतीय जल **उत्तमम् असि**=उत्तम है, **अनास्त्रावम्**=रक्तस्राव को रोकनेवाला तथा **अरोगणम्**=रोग को दूर करनेवाला है। २. पर्वतीय जल रक्तस्राव को रोकता है और अङ्गों को नीरोग बनाता है।

भावार्थ—पर्वतीय जल रक्तस्राव को रोककर अङ्गों पर लगनेवाले घावों को दूर करता है।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**(आस्त्राव)-भेषजम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'अरुस्त्राण' औषध

नीचैः खनन्त्यसुरा अरुस्त्राणमिदं महत्। तदास्त्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत्॥ ३॥

१. **असुराः**=(अस्यन्ति) रोगों को दूर फेंकनेवाले वैद्य लोग **इदम्**=इस **महत्**=अत्यधिक **अरुस्त्राणम्**=(स्रै पाके) फोड़े को पकाकर मल को पृथक् करनेवाली औषध को **नीचैः**=नीचे पर्वतों की तराई के प्रदेशों में **खनन्ति**=खोदते हैं। पर्वतों से बहकर आते हुए जल से उत्पन्न हुई-हुई यह भूमिगत औषध फोड़े को पकाकर उसके मल को दूर करने की शक्ति रखती है।

२. इसप्रकार यह औषध **आस्त्रावस्य**=मल को क्षरित करने की **भेषजम्**=उत्तम औषध है। **तत् उ**=वह निश्चय से **रोगम्**=रोग को **अनीनशत्**=नष्ट कर देती है।

भावार्थ—पर्वत के निचले प्रदेशों में उत्पन्न होनेवाली यह औषध फोड़ों के मलों को क्षरित करके रोगों को शान्त करती है।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**(आस्त्राव)-भेषजम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

समुद्र की जलनीली (Moss)

उपजीका उद्भरन्ति समुद्रादधि भेषजम्। तदास्त्रावस्य भेषजं तदु रोगमशीशमत् ॥ ४ ॥

१. 'उपजीक' शब्द जलाधिष्ठातृदेवता (Water deity) के लिए प्रयुक्त होता है। जलों में कार्य करके आजीविका चलानेवाले व्यक्ति भी उपजीक हैं। ये **उपजीकाः**=जल में कार्य करके जीनेवाले लोग **समुद्राद् अधि**=समुद्र में से **भेषजम्**=औषध को **उद्भरन्ति**=ऊपर लाते हैं। समुद्र में होनेवाली यह 'जलनीली' (काई) ही वह औषध है। २. **तत्**=वह जलनीली **आस्त्रावस्य**=आस्त्राव की **भेषजम्**=उत्तम औषध है **उ**=और **तत्**=वह **रोगम्**=रोग को **अशीशमत्**=शान्त कर देती है।

भावार्थ—समुद्र में उत्पन्न होनेवाली काई कृमिनाशक होने से आस्त्राव की उत्तम औषध है।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**(आस्त्राव)-भेषजम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'पृथिवी से उद्धृत यह ओषधि'

अरुस्त्राणमिदं महत्पृथिव्या अध्युद्भृतम्। तदास्त्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥ ५ ॥

१. **इदम्**=यह **महत्**=महनीय—महत्त्वपूर्ण **अरुस्त्राणम्**=फोड़े को पकाकर मल को पृथक् करनेवाली औषध है। **पृथिव्याः**=पृथिवी से यह खोदकर निकाली गई है। **तत्**=वह औषध **आस्त्रावस्य**=मल को क्षरित करने की **भेषजम्**=औषध है, **उ तत्**=और यह **रोगम् अनीनशत्**=रोग को नष्ट करती है। २. पृथिवी को खोदकर निकाली गई यह 'अरुस्त्राण' औषध आस्त्राव के द्वारा रोग को शान्त कर देती है। यही इसका महत्त्व है। 'पृथिवी से खोदकर निकाली गई' ये शब्द इस भाव को सुव्यक्त करते हैं कि यह जितना अधिक भूगर्भ में स्थित होती है, उतनी ही अधिक गुणकारी होती है।

भावार्थ—पर्वतमूल की पृथिवी से खोदकर निकाली गई 'अरुस्त्राण' औषध फोड़े को पकाकर मल के आस्त्राव के द्वारा रोग को शान्त करनेवाली है।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**(आस्त्राव)-भेषजम्** ॥ छन्दः—**त्रिपदास्वराडुपरिष्टान्महाबृहती** ॥

जल व ओषधियाँ कल्याणकर हों

शं नो भवन्त्वप ओषधयः शिवाः।
इन्द्रस्य वज्रो अप हन्तु रक्षस आराद्विसृष्टा इषवः पतन्तु रक्षसाम् ॥ ६ ॥

१. **नः**=हमारे लिए **अपः**=जल **शं भवन्तु**=शान्ति देनेवाले हों। **ओषधयः शिवाः**=ओषधियाँ कल्याणकर हों। शरीर में जब किसी प्रकार का रोग उत्पन्न हो जाए तो जल व ओषधियों का समुचित प्रयोग हमारे लिए शान्ति व कल्याणकारक हो। २. परन्तु इससे भी अच्छा तो यह है कि **इन्द्रस्य**=इन्द्र का **वज्रः**=वज्र **रक्षसः**=राक्षसों को **अपहन्तु**=हमसे सुदूर विनष्ट करे। 'इन्द्र' शब्द जितेन्द्रिय पुरुष का वाचक है और 'वज्र' का भाव क्रियाशीलता से है। जितेन्द्रिय पुरुष की क्रियाशीलता राक्षसों को—रोगकृमियों को पनपने ही नहीं देती। रोगकृमि राक्षस हैं—अपने रमण के लिए हमारा क्षय करनेवाले हैं। इन **रक्षसाम्**=रोगकृमियों के **विसृष्टाः इषवः**=छोड़े हुए

बाण **आरात् पतन्तु**=हमसे दूर ही गिरें। इन रोगकृमियों के कारण उत्पन्न होनेवाले विविध विकार ही इनसे छोड़े गये इषु हैं। ये इषु हमसे दूर ही रहें। इन रोगकृमियों के कारण हममें विकार उत्पन्न न हों। इसके लिए आवश्यक है कि जलों व ओषधियों का प्रयोग ठीक हो।

भावार्थ—जलों व ओषधियों का प्रयोग हमारे लिए शान्ति व कल्याण देनेवाला हो। हम क्रियाशील बने रहें, जिससे विकार उत्पन्न ही न हों।

विशेष—इस सूक्त में मुख्यरूप से पर्वत से बहनेवाले जल के उत्तम औषध होने का उल्लेख है (१)। इस जल से उत्पन्न औषध फोड़े को पकाकर उसके मल के आस्राव से रोग को शान्त करनेवाली है। जलों व औषधों का ठीक प्रयोग कल्याणकर है, परन्तु क्रियाशीलता सर्वाधिक कल्याण करनेवाली है (६)।

अगले सूक्त का ऋषि 'अथर्वा'—डाँवाडोल न होनेवाला है। यह जङ्गिड़मणि के धारण से दीर्घायुत्व को प्राप्त करता है। जमति=जो हमें खा जानेवाला रोग है, उसे 'गिरति' यह निगल लेता है, इससे इसे 'जङ्गिड़' कहा है। शरीर में सर्वोत्तम धातु होने से इसे मणि का नाम दिया गया है, अतः यह 'जङ्गिड़मणि' वीर्य ही है। इसे 'अथर्वा' धारण करता है।

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**जङ्गिडमणिः** ॥ छन्दः—**विराट्प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

दीर्घायुत्व व रमणीयता

दी॒र्घा॒यु॒त्वाय॑ बृह॒ते रणा॒यारि॑ष्यन्तो॒ दक्ष॑माणाः स॒देव।
म॒णिं वि॑ष्कन्ध॒दूष॑णं जङ्गि॒डं बि॑भृमो व॒यम्॥ १॥

१. **वयम्**=हम **विष्कन्धदूषणम्**=शोषण को दूषित करनेवाली (स्कन्द् शोषणे) **जङ्गिडं मणिम्**=शरीरस्थ वीर्यशक्ति को **बिभृमः**=धारण करते हैं। **सदैव**=सदा ही **दक्षमाणाः**=वृद्धि करने की कामना करते हुए हम इस शक्ति को धारण करते हैं (हेतौ शानच्) **अरिष्यन्तः**=हिंसित न होते हुए हम इस शक्ति को धारण करते हैं। इस शक्ति के धारण से हमारी रोगादि से किसी प्रकार की हिंसा नहीं होगी और हम सभी दृष्टिकोणों से वृद्धि प्राप्त करेंगे। २. हम इस शक्ति का धारण **दीर्घायुत्वाय**=दीर्घजीवन के लिए करते हैं। **'मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्'**—इसके नाश से मृत्यु और इसके धारण से जीवन है। **बृहते रणाय**=बड़ी रमणीयता के लिए अथवा शब्दशक्ति के लिए हम इसका धारण करते हैं। इस वीर्यशक्ति के रक्षण से शरीर के स्वास्थ्य के कारण रमणीयता प्राप्त होती है और वाणी में शक्ति बनी रहती है। इसके रक्षण के अभाव में वाणी की शक्ति में भी न्यूनता आ जाती है।

भावार्थ—हम वीर्य को शरीर में ही बाँधते हैं जिससे (क) दीर्घायुष्य प्राप्त हो, (ख) शरीर में स्वास्थ्य की रमणीयता बनी रहे और शब्दशक्ति में निर्बलता न आये, (ग) हम रोगों से हिंसित न हों, (घ) हमारी शक्तियों का वर्धन हो, (ङ) शोषण से हम पीड़ित न हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**जङ्गिडमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शारीर व मानस रोगों से बचाव

ज॒ङ्गि॒डो ज॒म्भाद्वि॑श॒राद्विष्क॑न्धाद॒भिशोच॑नात्।
म॒णिः स॒हस्र॑वीर्यः॒ परि॑ णः पातु वि॒श्वतः॑॥ २॥

१. **जङ्गिडः**=शरीर-भक्षक रोगों को निगल जानेवाली यह वीर्यशक्ति **जम्भात्**=आलस्य के कारण आनेवाली जम्हाइयों (yawning) से, **विशरात्**=अङ्गों के टूटनेरूप (splitting) रोग से,

विष्कन्धात्=(स्कन्ध to collect) अङ्गों के गठन के टूटने से—अङ्गों की अदृढ़ता से तथा **अभिशोचनात्**=मानस शोक (depression) से **पातु**=हमें बचाये। वीर्यरक्षण से हमें आलस्य नहीं घेरता, अङ्ग-भङ्ग-सा अनुभव नहीं होता, अङ्ग सुगठित बने रहते हैं और मन में उदासी नहीं आती। २. यह **सहस्रवीर्यः मणिः**=अनन्त शक्तिवाली वीर्यरूप मणि **नः**=हमें **विश्वतः**=सब ओर से **परिपातु**=रक्षित करे।

भावार्थ—वीर्यरक्षण से हम शारीर व मानस—दोनों प्रकार के रोगों से ऊपर उठते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**जङ्गिडमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'विश्वभेषज' मणि

अ॒यं विष्क॑न्धं सहते ऽयं बा॑धते अ॒त्रिणः॑। अ॒यं नो॑ वि॒श्वभे॑षजो ज॒ङ्गि॒डः पा॒त्वंह॑सः॥ ३॥

१. **अयम्**=यह वीर्यरूप मणि **विष्कन्धम्**=अङ्गों के गठन के टूटने को **सहते**=अभिभूत करती है, अङ्गों को सुगठित बनाती है। **अयम्**=यह **अत्रिणः**=शरीर-भक्षक कृमियों को **बाधते**=पीड़ित करके दूर करती है। वीर्यरक्षण से शरीर में रोगकृमि प्रबल नहीं हो पाते। २. **अयं जङ्गिडः**=शरीर-भक्षक रोगकृमियों को नष्ट करनेवाली यह जङ्गिडमणि (वीर्यशक्ति) **विश्वभेषजः**=सब रोगों की औषध है। यह हमें **अंहसः पातु**=पापों से बचाये। वीर्यरक्षण से शरीर के ही दोष दूर नहीं होते, यह मानस दुर्भावनाओं को भी दूर करके हमें पापों से बचाता है। यह वीर्यरक्षण शरीर व मन दोनों को ही नीरोग बनाता है।

भावार्थ—यह वीर्य 'विश्वभेषज' मणि है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**जङ्गिडमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

देवों से दत्त 'मणि'

दे॒वैर्द॒त्तेन॑ म॒णिना॑ जङ्गि॒डेन॑ मयो॒भुवा॑। विष्क॑न्धं॒ सर्वा॒ रक्षां॑सि व्याया॒मे स॑हामहे॥ ४॥

१. दिव्य गुणों के पनपने से यह वीर्य शरीर में सुरक्षित रहता है, अतः कहते हैं कि इस मणि को मानो हमें देवों ने ही प्राप्त कराया है। आसुरभाव जागे और इस मणि का विनाश हुआ। **देवैः दत्तेन**=देवों से दी गई, अर्थात् दिव्य भावनाओं द्वारा शरीर में रक्षित हुई-हुई **मयोभुवा**=नीरोगतारूप कल्याण को उत्पन्न करनेवाली **जङ्गिडेन मणिना**=शरीर-भक्षक रोगों को निगल जानेवाली इस वीर्यरूप मणि से, **व्यायामे**=उचित व्यायाम (Exercise, शरीरश्रम) करके हम **विष्कन्धम्**=अङ्गों के गठन के शैथिल्यरूप रोग को तथा **सर्वा रक्षांसि**=अपने रमण के लिए हमारा क्षय करनेवाले सब रोगकृमियों को **सहामहे**=पराभूत करते हैं। २. वीर्यरक्षण के लिए व्यायाम एक प्रमुख साधन है। शारीरिक श्रम न करनेवाले के लिए इसका रक्षण सम्भव नहीं होता, अतः 'व्यायाम' के महत्त्व को भी हमें पूर्णतया समझना चाहिए। इस वीर्यरक्षण के लिए दूसरा साधन दिव्य गुणों का विकास है। अशुभ विचार वीर्यरक्षा के लिए बड़े घातक होते हैं। इसी दृष्टिकोण से इस मणि को 'देवों से दी गई' ऐसा कहा गया है। 'व्यायाम व शुभ विचार' वीर्यरक्षा के महान् साधन हैं।

भावार्थ—व्यायाम व शुभ विचारों से वीर्यरक्षण करते हुए हम सब रोगों से ऊपर उठें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**जङ्गिडमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शण और जङ्गिड

श॒णश्च॑ मा जङ्गि॒डश्च॒ विष्क॑न्धाद॒भि र॑क्षताम्।
अर॑ण्याद॒न्य आभृ॑तः कृ॒ष्या अ॒न्यो र॒सेभ्यः॑॥ ५॥

१. जङ्गिडमणि का भाव हम विस्तार से देख चुके हैं। यहाँ उसके साथ 'शण' का भी समावेश हो गया है। मन्त्र में प्रार्थना है कि **शणः च जङ्गिडः च**=शण और जङ्गिड ये दोनों मिलकर **मा**=मुझे **विष्कन्धात्**=अङ्गों से सुगठित होने के अभावरूप रोग से **अभिरक्षताम्**=रक्षित करें। इनके द्वारा मेरे अङ्ग सुगठित बने रहें। २. **अन्यः**=इनमें से एक 'शण' **अरण्यात् आभृतः**=अरण्य से अपने अन्दर धारण किया जाता है और **अन्यः**=दूसरा 'जङ्गिड' मणि **कृष्याः**=खेती से उत्पन्न अन्नादि के **रसेभ्यः**=रसों से शरीर में पुष्ट होता है। शरीर में पुष्ट होनेवाला जङ्गिडमणि है और 'शण' मन में धारण किया जाता है। यह शण=त्यागभाव है (शण=to give) जिसका पोषण 'अरण्य' से होता है। अरण्य का भाव यहाँ एकान्त प्रदेश है। एकान्त में बैठकर संसार के स्वरूप का चिन्तन करने पर मनुष्य में अवश्य ही यह त्यागवृत्ति उत्पन्न होती है। यह त्यागवृत्ति मन को उसी प्रकार स्वस्थ बनाती है जैसेकि वीर्यशक्ति शरीर को। एवं, शण व जङ्गिड एक-दूसरे के सहायक होते हैं। शरीररक्षण के लिए मानस स्वास्थ्य भी अत्यन्त आवश्यक है।

भावार्थ—त्यागवृत्ति व वीर्यरक्षण हमें सब विघटनों से बचाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**जङ्गिडमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कृत्या व अराति-दूषण

कृत्यादूषिरयं मणिरथो अरातिदूषिः।
अथो सहस्वान् जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत्॥ ६॥

१. 'कृञ् हिंसायाम्' धातु से 'कृत्या' शब्द बनता है (कृणोति= Kill)। **अयं मणिः**=यह वीर्यरूप जङ्गिड मणि **कृत्यादूषिः**=हिंसा को दूषित=दूर करनेवाली है। इसके शरीर में धारण से शरीर रोगों से हिंसित नहीं होता। २. **अथ उ**=और निश्चय से यह मणि **अरातिदूषिः**=शत्रुभूत रोगों को दूर करनेवाली है। 'अराति' का ठीक अर्थ 'न देना' है। गतमन्त्र में वर्णित 'शण' मणि अराति को दूषित करनेवाली—अत्यागवृत्ति को नष्ट करनेवाली है। ३. **अथ उ**=और निश्चय से **जङ्गिडः**=वीर्यरूप मणि **सहस्वान्**=सब रोगों को पराभूत करनेवाली है। रोगों को दूर करके यह **नः**=हमारी **आयूंषि**=आयुओं को **प्रतारिषत्**=खूब दीर्घ करे।

भावार्थ—वीर्यरक्षण से हम रोगकृमियों द्वारा होनेवाली हिंसा से बचते हैं और अत्याग की वृत्ति से ऊपर उठते हैं। यह वीर्यमणि हमारे जीवन को दीर्घ करती है।

विशेष—यह सूक्त वीर्यरक्षण के महत्त्व को बड़ी सुन्दरता से व्यक्त करता है। अगले सूक्त में इस वीर्यरक्षक 'इन्द्र' का चित्रण है। यह तपस्वी बनकर वीर्यरक्षा करता है, अतः भृगु है और चित्तवृत्ति को डाँवाडोल नहीं होने देता, इसलिए 'आथर्वण' है। इसे प्रभु उपदेश देते हैं—

५. [पञ्चमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुराथर्वणः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**निचृदुपरिष्टाद्बृहती** ॥

सोमरक्षण के उपाय व लाभ

इन्द्र जुषस्व प्र वहा याहि शूर हरिभ्याम्।
पिबा सुतस्य मतेरिह मधोश्चकानश्चारुर्मदाय॥ १॥

१. **इन्द्र**=हे जितेन्द्रिय पुरुष! (क) **जुषस्व**=तू प्रीतिपूर्वक प्रभु का उपासन कर और (ख) **प्रवह**=अपने कर्त्तव्यभार का वहन कर (ग) **शूरः**=कामादि शत्रुओं का हिंसन करनेवाला तू **हरिभ्याम्**=ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों के साथ **याहि**=मार्ग पर आगे बढ़। २. इन उपायों से तू **इह**=इस शरीर में **सुतस्य**=उत्पन्न किये गये सोम का, जो सुरक्षित होने पर **मतेः**=

बुद्धि का वर्धन करनेवाला है और **मधोः**=स्वभाव को मधुर बनानेवाला है, **पिब**=पान कर—इसे शरीर में ही सुरक्षित कर। सोमपान के द्वारा तू **चकानः**=ज्ञान से दीप्त बनता है और **चारुः**=सशक्तता से यज्ञादि कर्मों में चरणशील बनता है तथा तेरा जीवन मद व हर्ष के लिए होता है। **चकानः**=(कम् to wish) इसकी रक्षा की तू कामनावाला बन, **चारुः**=इसको अपने अन्दर ही चरण (भक्षण) करनेवाला हो, **मदाय**=शरीर में सुरक्षित हुआ यह सोम तेरे हर्ष के लिए होगा।

भावार्थ—सोमरक्षण के तीन साधन हैं—(क) प्रभु की उपासना, (ख) कर्त्तव्यभार-वहन, (ग) कर्मों में लगे रहना। सुरक्षित हुए सोम के तीन लाभ हैं—(क) बुद्धि-वर्धन, (ख) स्वभाव-माधुर्य, (ग) उल्लास।

ऋषिः—**भृगुराथर्वणः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराडुपरिष्टाद्बृहती** ॥

प्रकाश, उल्लास, शुभ शब्द

इन्द्र॑ ज॒ठरं॑ न॒व्यो न पृ॒णस्व॒ मधो॑र्दि॒वो न।
अ॒स्य सु॒तस्य॒ स्व१॒॑र्णोप॑ त्वा॒ मदा॑: सु॒वाचो॑ अगुः ॥ २ ॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **नव्यो न**=(नवनं नवः तत्र साधु) स्तुति में उत्तम पुरुष के समान तू **जठरम्**=अपने जठर को—अन्दर के भाग को (Interior of any thing) **मधोः**=इस भोजन के सारभूत सोम से **पृणस्व**=तृप्त कर। २. **दिवः न**=प्रकाश के समान—जैसे कोई व्यक्ति ज्ञानज्योति से अपने को पूरित करता है, उसी प्रकार तू **अस्य सुतस्य**=इस उत्पन्न हुए सोम का पान करनेवाला बन। शरीर में खपाया हुआ यह सोम तेरे जीवन को जहाँ मधुर (मधोः) बनाएगा, वहाँ यह उसे (दिवः) प्रकाशमय बनानेवाला भी होगा। ३. इस सोम का रक्षण होने पर **त्वा**=तुझे **स्वः न**=स्वर्गलोक की भाँति **मदाः**=उल्लास तथा **सुवाचः**=उत्तम वाणियाँ **उपअगुः**=समीपता से प्राप्त होंगी। स्वर्गलोक में सभी का जीवन उल्लासमय होता है। वहाँ अशुभ शब्दों का प्रयोग नहीं होता। सोम का रक्षण करनेवाला भी उल्लासमय व शुभवक्ता होता है। देवता भी तो सोमपान करने से ही ऐसे बने हैं।

भावार्थ—प्रभुस्तवन करते हुए हम सोमपान करेंगे तो हमारा जीवन प्रकाशमय, उल्लासयुक्त और शुभ शब्दों का प्रकाशक होगा।

ऋषिः—**भृगुराथर्वणः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्पथ्याबृहती** ॥

'वृत्र व वल' का विनाश

इन्द्र॑स्तुरा॒षाण्मि॒त्रो वृ॒त्रं यो ज॒घान॑ य॒तीर्न।
बि॒भेद॑ व॒लं भृ॒गुर्न स॑सहे॒ शत्रू॒न्मदे॒ सोम॑स्य ॥ ३ ॥

१. **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **सोमस्य मदे**=सोम के मद में—सोमरक्षण से उत्पन्न उल्लास में **शत्रून् ससहे**=कामादि शत्रुओं का पराभव करता है, **तुराषाट्**=त्वरा से शत्रुओं का पराभव करनेवाला होता है। शत्रुओं के पराभव के द्वारा **मित्रः**=अपने को रोगों से बचाता है। २. इन्द्र वह है जो **यतीः न**=यतियों के समान **वृत्रं जघान**=वासना का संहार करता है और **भृगुः न**=तपस्या की अग्नि में अपने को परिपक्व करनेवाले के समान **वलं बिभेद**=वलासुर को विदीर्ण करता है। 'वल' वह आसुरी वृत्ति है जो शान्ति पर पर्दा-सा (Veil) डाल देती है। यह ईर्ष्या-द्वेष की वृत्ति है। इन्द्र **वृत्र**=कामवासना व **वल**=ईर्ष्या-द्वेष दोनों से ही ऊपर उठता है।

भावार्थ—इन्द्र सोम का शरीर में ही रक्षण करता है और काम व ईर्ष्या आदि आसुर

भावनाओं को पराभूत करता है।

ऋषिः—भृगुराथर्वणः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—जगतीपुरोविराट्त्रिष्टुप्॥

आत्मशासन व संग्राम-विजय

आ त्वा विशन्तु सुतास इन्द्र पृणस्व कुक्षी विड्ढि शक्र धियेह्या नः।
श्रुधी हवं गिरो मे जुषस्वेन्द्र स्वयुग्भिर्मत्स्वेह महे रणाय॥ ४॥

१. हे **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **सुतासः**=ये उत्पन्न हुए सोमकण **त्वा आविशन्तु**=तुझमें प्रवेश करें। **कुक्षी पृणस्व**=तू अपनी दोनों कोखों को इनसे प्रीणित करनेवाला हो। **विड्ढि**=(विध शासने) तू अपने पर शासन करनेवाला बन। प्रभु कहते हैं कि **शक्र**=सोमपान के द्वारा शक्तिशाली बने हुए इन्द्र! तू सोमपान के द्वारा तीव्र बनी हुई **धिया**=बुद्धि से **नः आयाहि**=हमारे समीप प्राप्त हो। **हवं श्रुधी**=हृदयस्थ मेरी वाणी को सुन। **मे गिरः**=मेरी वेदज्ञानरूपी वाणियों को **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन कर और **इह**=इसी जीवन में **महे रणाय**=महान् संग्राम के लिए—काम-क्रोधादि शत्रुओं को पराजित करने के लिए **स्वयुग्भिः**=आत्मतत्त्व से मेलवाली इन इन्द्रियों से **मत्स्व**=आनन्द का अनुभव कर। इन्द्रियों को बाह्य विषयों से हटाकर अन्तर्मुख करने पर ही इन संग्रामों में विजय सम्भव होती है।

भावार्थ—हम सोम का रक्षण करें। हृदयस्थ प्रभु की वाणी को सुनें। इन्द्रियों को निरुद्ध करने का प्रयत्न करें। कामादि के साथ होनेवाले महान् संग्राम में पराजित न हों।

ऋषिः—भृगुराथर्वणः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

इन्द्र के उत्कृष्ट कार्य

इन्द्रस्य नु प्र वोचं वीर्या∫णि यानि चकार प्रथमानि वज्री।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत्पर्वतानाम्॥ ५॥

१. **नु**=अब **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **वीर्याणि**=शक्तिशाली कर्मों को **प्रावोचम्**=प्रकर्षेण कहता हूँ, **यानि**=जिन **प्रथमानि**=विस्तारवाले कर्मों को **वज्री**=क्रियाशील पुरुष **चकार**=करता है। इन्द्रियों को वश में रखनेवाला ही इन्द्र है। यह सोम=वीर्य का रक्षण करता है—यही इसका सोमपान है। इससे इसके सब अङ्ग सबल बनते हैं। इसका हृदय विशाल होता है। इसप्रकार इस इन्द्र के कार्य शक्तिशाली व विशालता को लिये हुए होते हैं। २. इसका सर्वमहान् कार्य तो यह है कि **अहिम् अहन्**=(आहन्ति इति) चारों ओर से आक्रमण करनेवाली वासना को नष्ट करता है और **अनु**=इस वासना को नष्ट करने के ही अनुपात में **अपः**=शरीरस्थ रेतःकणों को **ततर्द**=(set free) वासना-जनित उष्णता से मुक्त करता है—सदा शान्त सोमवाला बनता है। इसप्रकार यह इन्द्र **पर्वतानाम्**=पाँच पर्वोंवाली (अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः) अविद्याओं के **वक्षणाः**=प्रवाहों (rivers) को **प्र-अभिनत्**=नष्ट कर डालता है। जितेन्द्रियता से वासना नष्ट होती है, शरीरस्थ रेतःकण वासनामुक्त होते हैं और अविद्या के प्रवाह नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष शक्तिशाली व विशालतायुक्त कार्यों को करता है। वह वासना को नष्ट करके सोम का रक्षण करता है और उससे दीप्त ज्ञानाग्निवाला बनकर अविद्या के प्रवाहों को समाप्त कर देता है।

ऋषिः—**भृगुराथर्वणः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

समुद्र-गमन

अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष।
वाश्राइव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः॥ ६॥

१. गतमन्त्र में वर्णित इन्द्र **पर्वते शिश्रियाणम्**=अविद्या-पर्वत में निवास करनेवाली **अहिम्**=समन्तात् विनाश करनेवाली वासना को **अहन्**=नष्ट करता है। **त्वष्टा**=ज्ञानदीप्त प्रभु **अस्मै**=इस इन्द्र के लिए **स्वर्यम्**=उत्तम प्रकाशवाली **वज्रम्**=क्रियाशीलता को **ततक्ष**=बनाता है, अर्थात् यह इन्द्र गतिशील होता है और इसकी गतिशीलता प्रकाशमय होती है—इसके सब कर्म ज्ञानपूर्वक होते हैं। इन कर्मों में सतत लगे रहने से ही यह वासना का विनष्ट कर पाता है। २. इस वासना के विनष्ट होने पर **धेनवः**=ज्ञान-दुग्ध देनेवाली वेदवाणीरूप गौएँ **वाश्राः इव**=शब्द करती हुई—कर्त्तव्य का ज्ञान देती हुई **स्यन्दमानाः**=इसकी ओर गतिवाली होती हैं। इन वेदवाणियों से कर्त्तव्य का ज्ञान प्राप्त करके **आपः**=ये क्रियाशील प्रजाएँ **अञ्जः**=साक्षात् **समुद्रम्**=(स-मुद्) आनन्दमय प्रभु की ओर **अवजग्मुः**=गतिशील होती हैं, अर्थात् ये प्रजाएँ प्रभु को प्राप्त होती हैं।

भावार्थ—इन्द्र अविद्यामूलक वासना को नष्ट करता है। प्रभु इसे प्रकाशमय क्रियाशीलता प्राप्त कराते हैं। इसे वेदवाणी प्राप्त होती है। उसके अनुसार कर्म करता हुआ यह इन्द्र आनन्दमय प्रभु को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**भृगुराथर्वणः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सायक 'वज्र'

वृषायमाणो अवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्वपिबत्सुतस्य।
आ सायकं मघवादत्त वज्रमहन्नेनं प्रथमजामहीनाम्॥ ७॥

१. **वृषायमाणः**=शक्तिशाली की भाँति आचरण करता हुआ इन्द्र **सोमं अवृणीत**=सोम का वरण करता है। शरीर में सोम के रक्षण से ही वह शक्तिशाली बनता है। शक्तिशाली बनने के लिए यह **सुतस्य**=शरीर में उत्पन्न हुए सोम का **त्रिकद्रुकेषु**=(कदि आह्वाने) तीनों आह्वान कालों में—तीनों प्रार्थना-समयों में अथवा जीवन-यज्ञ के तीन सवनों में **अपिबत्**=पान करता है। प्रथम चौबीस वर्षों के प्रातःसवन में, अगले चवालीस वर्षों के माध्यन्दिन सवन में, अन्तिम अड़तालीस वर्षों के सायन्तनसवन में यह इस सोम-पान का ध्यान रखता है। वीर्य का रक्षण ही इसका सोमपान है। सामान्य भाषा में यह बाल्य, यौवन और वार्धक्य—इन तीन कालों में वीर्यरक्षण का ध्यान करता है। २. **मघवा**=सोम-रक्षण से शक्तिशाली बना हुआ ज्ञानैश्वर्यशाली यह इन्द्र **सायकम्**=कामादि शत्रुओं का अन्त करनेवाले **वज्रम्**=क्रियाशीलतारूप वज्र को **आ अदत्त**=हाथ में ग्रहण करता है और **एनम्**=इस **अहीनाम्**=नाशक वासनाओं के **प्रथमजाम्**=प्रथम स्थान में होनेवाली इस कामवासना को **अहन्**=नष्ट कर डालता है। कामवासना ही सर्वमुख्य शत्रु है। क्रियाशीलता से इसका विनाश होता है। क्रिया में लगा हुआ पुरुष इसका शिकार नहीं होता। यही इन्द्र के द्वारा वृत्र का विनाश है।

भावार्थ—सोमरक्षण से ही शक्ति प्राप्त होती है। हमें जीवन-यज्ञ के तीनों सवनों में इस सोम का पान (रक्षण) करना है। इसके लिए आवश्यक है कि सदा क्रिया में लगे रहकर हम वासना को नष्ट कर डालें।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त में सोम के रक्षण के उपायों तथा लाभों का प्रतिपादन हुआ है। इस

सोम का रक्षण करनेवाला ही राष्ट्र का अधिपति बनकर राष्ट्र का सब प्रकार से रक्षण करता है। यह गतिशील होने से 'शौनक' कहलाता है।

६. [षष्ठं सूक्तम्]

ऋषिः—**शौनकः (सम्पत्कामः)**॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ज्ञानप्रसार

समास्त्वाग्न ऋतवो वर्धयन्तु संवत्सरा ऋषयो यानि सत्या।
सं दिव्येन दीदिहि रोचनेन विश्वा आ भाहि प्रदिशश्चतस्रः॥ १॥

हे **अग्ने**=राष्ट्र की उन्नति के कारणभूत राजन्! **त्वा**=तुझे **समाः**=सुख-दुःख में समवृत्ति से रहनेवाले **ऋतवः**=बड़ी नियमित गतिवाले (ऋ गतौ), ऋतुओं के अनुसार नियमित चाल से चलनेवाले, **संवत्सराः**=उत्तम निवासवाले **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा लोग **वर्धयन्तु**=बढ़ानेवाले हों। इन ऋषियों से दिये गये **यानि**=जो **सत्या**=सत्यज्ञान हैं, वे तेरा वर्धन करें। २. तू स्वयं तो इन ऋषियों से सत्यज्ञान प्राप्त करके **दिव्येन रोचनेन**=दिव्यप्रकाश से **दीदिहि**=प्रकाशित हो—चमकनेवाला बन और राष्ट्र में भी सर्वत्र शिक्षणालयों की व्यवस्था के द्वारा ज्ञान का प्रसार करते हुए **विश्वाः**=सब **चतस्रःप्रदिशः**=चारों प्रकृष्ट दिशाओं को **आभाहि**=पूर्णरूप से दीप्त करनेवाला हो। राजा का प्रथम कर्त्तव्य यही है कि राष्ट्र में ज्ञान का प्रसार करे, इसके राष्ट्र में कोई अविद्वान् न हो।

भावार्थ—राजा के पुरोहित 'समवृत्ति के, नियमित गतिवाले व उत्तम जीवनवाले' हों। इनसे राजा को दिव्य दीप्ति प्राप्त हो। राजा राष्ट्र में सर्वत्र ज्ञान-प्रसार की व्यवस्था करे।

ऋषिः—**शौनकः (सम्पत्कामः)**॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

राष्ट्र-सौभाग्य-वर्धन

सं चेध्यस्वाग्ने प्र च वर्धयेममुच्च तिष्ठ महते सौभगाय।
मा ते रिषन्नुपसत्तारो अग्ने ब्रह्माणस्ते यशसः सन्तु मान्ये॥ २॥

१. हे **अग्ने**=राजन्! तू स्वयं **च**=भी **सम् इध्यस्व**=समिद्ध हो, दीप्त हो, ज्ञान की दीप्ति से चमकनेवाला बन, **च**=और **इमम्**=अपने इस प्रजाजन को भी **प्रवर्धय**=प्रकर्षेण बढ़ानेवाला हो। **च**=और तू **महते सौभगाय**=महान् सौभाग्य के लिए **उत्तिष्ठ**=उन्नत स्थिति में स्थित हो। राजा का निजू जीवन जितना ऊँचा होता है, उतना ही वह राष्ट्र के सौभाग्य का वर्धन करनेवाला होता है। राजा को देखकर ही प्रजाजन का जीवन बनता है—'यथा राजा तथा प्रजा'। हे राजन्! **ते उपसत्तारः**=तेरे समीप उठने-बैठनेवाले लोग **मा रिषन्**=हिंसित न हों। सबका रक्षण तेरा धर्म है। इसके साथ यह भी आवश्यक है कि हे **अग्ने**=राष्ट्र के अग्रणी राजन्! **यशसः ब्रह्माणः**=यशस्वी ज्ञानी पुरुष ही **ते**=तेरे (उपसत्तारः सन्तु)समीप उठने-बैठनेवाले हों। इन्हीं का सङ्ग व परामर्श तुझे प्राप्त हो, **मा अन्ये**=इनसे भिन्न केवल स्वार्थी, खुशामदी व्यक्तियों से तू न घिरा रहे।

भावार्थ—राष्ट्रोन्नति राजा का धर्म है। राजा का निजू जीवन उत्तम हो उसे यशस्वी ज्ञानी पुरुषों का ही सत्सङ्ग व परामर्श प्राप्त हो, खुशामदी और स्वार्थी पुरुष इसे न घेरे रहें।

ऋषिः—**शौनकः (सम्पत्कामः)**॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सदा जागरित=जागृवि

त्वामग्ने वृणते ब्राह्मणा इमे शिवो अग्ने संवरणे भवा नः।
सपत्नहाग्ने अभिमातिजिद्भव स्वे गये जागृह्यप्रयुच्छन्॥ ३॥

१. **हे अग्ने**=अग्रणी राजन्! **इमे ब्राह्मणाः**=ये ज्ञानी पुरुष **त्वां वृणते**=तेरा वरण करते हैं और वे चाहते हैं कि हे **अग्ने**=राजन्! **नः संवरणे**=हमसे संवृत्त (घिरा) हुआ तू **शिवः भव**=कल्याण स्वभाववाला तथा राष्ट्र का कल्याण करनेवाला हो। ज्ञानी ब्राह्मणों की शुभ मति में चलता हुआ राजा उत्तम जीवनवाला व राष्ट्र का कल्याण करनेवाला होगा ही। २. हे **अग्ने**=राजन्! तू **सपत्नहा**=शत्रुओं का हनन करनेवाला—शरीर का पति=स्वामी बनने की कामनावाला हो, रोग सपत्न हैं, उन्हें नष्ट करनेवाला हो, **अभिमातिजित्**=मन में उत्पन्न हो जानेवाले अभिमान को भी तू जीतनेवाला **भव**=हो। ३. **स्वे गये**=अपने राष्ट्ररूप गृह में **अप्रयुच्छन्**=किसी प्रकार का प्रमाद न करता हुआ तू **जागृहि**=सदा जागनेवाला हो। राजा शरीर में नीरोग तथा मन में निरभिमान बनकर राष्ट्ररूप घर के रक्षण में सदा अप्रमत्त रूप से जागरित हो।

भावार्थ—ज्ञानी ब्राह्मणों से संवृत्त राजा नीरोग व निरभिमान बनकर राष्ट्र का उत्तम रक्षण करता है।

ऋषिः—**शौनकः (सम्पत्कामः)**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**चतुष्पदाऽऽर्षीपङ्क्तिः**॥

राष्ट्र-रक्षण

क्षत्रेणाग्ने स्वेन सं रभस्व मित्रेणाग्ने मित्रधा यतस्व।
सजातानां मध्यमेष्ठा राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह॥ ४॥

१. हे **अग्ने**=सेना का संचालन करनेवाले राजन्! **स्वेन क्षत्रेण**=अपने राष्ट्र रक्षक क्षत्रीय वर्ग के साथ **सं रभस्व**=तू राष्ट्र-रक्षण के लिए सम्यक् उद्योगवाला हो। **मित्रधाः**=अपने मित्रों का धारण करनेवाला तू हे **अग्ने**=राजन्! **मित्रेण यतस्व**=अपने मित्रों के साथ मिलकर राष्ट्र-रक्षण के लिए यत्नशील हो। कई बार प्रबल शत्रु से राष्ट्र-रक्षण के प्रसंग में मित्रों की सहायता लेनी आवश्यक ही होती है। २. **सजातानाम्**=साथ ही विकास करनेवाले, समान आयुष्यवाले **राज्ञाम्**=राजाओं में तू **मध्यमेष्ठाः**=मध्य में स्थित होनेवाला हो, अर्थात् यदि कभी ऐसे दो राजाओं में कुछ संघर्ष पैदा हो जाए तो तू उनका झगड़ा निबटानेवाला बन। हे **अग्ने**=राजन्! तू **विहव्यः**=विशेषरूप से पुकारने योग्य होता हुआ **इह**=इस राष्ट्र में **दीदिहि**=चमकनेवाला हो। राजा की प्रतिष्ठा में राष्ट्र प्रतिष्ठित होता है। राजा की उन्नति से राष्ट्र की उन्नति आंकी जाती है।

भावार्थ—सेना के उत्तम संचालन से राजा राष्ट्र की रक्षा करे। समान राजाओं में यह मध्यस्थता करने की योग्यतावाला हो। इसके कारण राष्ट्र की कीर्ति बढ़े।

ऋषिः—**शौनकः (सम्पत्कामः)**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराट्प्रस्तारपङ्क्तिः**॥

सबलता व सम्पन्नता

अति निहो अति स्त्रिधोऽत्यचित्तीरति द्विषः।
विश्वा ह्य᳡ग्ने दुरिता तर त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः॥ ५॥

१. हे **अग्ने**=राजन्! तू राष्ट्र में **निहः**=(निहन्ति इति) औरों का वध करनेवालों को **अति (तर)**=लाँघनेवाला हो। उन्हें उचित दण्ड आदि देकर राष्ट्र में इन वध के अपराधों को समाप्त करनेवाला हो। **स्त्रिधः**=(कुत्सित कर्मणि) अन्य कुत्सित कर्म करनेवालों को तू **अति (तर)**=समाप्त कर। **अचित्तीः**=अज्ञानियों को **अति (तर)**=ज्ञान-प्रसार के द्वारा समाप्त करनेवाला हो। **द्विषः**=सब द्वेष करनेवालों को **अति (तर)**=तू दूर कर। ठीक बात तो यह है कि **हि**=निश्चय से **विश्वा दुरिता तर**=सब बुराइयों को तू राष्ट्र से दूर करनेवाला हो। २. इसप्रकार राष्ट्र के अपराधों व अशुभ वृत्तियों को दूर करके **त्वम्**=तू **अथ**=अब **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **सहवीरम्**=वीरता के

साथ **रयिम्**=धन **दाः**=दे। राजा का यह भी कर्त्तव्य है कि वह राष्ट्र में ऐसी व्यवस्था करे कि उसके राष्ट्र में सब वीर तथा सम्पन्न हो। निर्बलता व निर्धनता को दूर करना भी राजा का आवश्यक कर्त्तव्य है।

भावार्थ—राजा राष्ट्र से बुराइयों का उन्मूलन करके सबको सबल व सम्पन्न बनाए।

विशेष—सूक्त में कहा है—राजा राष्ट्र में सर्वत्र ज्ञान का प्रसार करे (१)। वह राष्ट्र के सौभाग्य का वर्धन करनेवाला हो (२)। राष्ट्ररक्षण में सदा जागरित रहे (३)। राष्ट्र को शत्रुओं से आक्रान्त न होने दे (४)। राष्ट्र में सभी को सबल व सम्पन्न बनाए (५)।

अगले सूक्त में द्वेष के कारणभूत आक्रोश को दूर करने का सन्देश है। सब आक्रोशों से ऊपर उठनेवाला यह मन पूर्ण प्रभुत्ववाला 'अथर्वा' (डाँवाडोल न होनेवाला) बनता है और प्रार्थना करता है कि—

७. [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (दूर्वा)**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

'शपथयोपनी' वीरुत्

अघद्विष्टा देवजाता वीरुच्छपथयोपनी।
आपो मलमिव प्राणैक्षीत्सर्वान्मच्छपथाँ अधि॥ १॥

१. सामान्यतः वानस्पतिक भोजन सौम्यता को उत्पन्न करनेवाला व मांस-भोजन क्रूरवृत्ति को उत्पन्न करनेवाला है। वानस्पतिक भोजन में भी सात्त्विक, राजस् व तामस् भेद से भिन्नता है ही। इनमें वनस्पतियों के फल-मूल का संकेत करने के लिए यहाँ 'वीरुत्' शब्द का प्रयोग किया गया है। यह एक लता विशेष है जो काटने पर और अधिक फैलती है (A plant which grows after being cut)। यह **अघद्विष्टा**=पाप से अप्रीति करनेवाली है। इसके प्रयोग से अन्तःकरण शुद्ध वृत्तिवाला बनता है। उसमें पाप की रुचि नहीं होती, **देवजाता**=(देवानां जातं यस्याः) दिव्य गुणों का यह विकास करनेवाली है। **वीरुत्**=यह लता **शपथयोपनी**=आक्रोशों को दूर करनेवाली है। २. यह **मत्**=मुझसे **सर्वान् शपथान्**=सब आक्रोशों को **अधि**=अधिक्येन **प्र अनैक्षीत्**=ऐसे धो डालती है **इव**=जैसेकि **आपः**=जल **मलम्**=मलों को धो डालता है।

भावार्थ—लताओं के फूल-फल का प्रयोग करने से हममें आक्रोश की वृत्ति उत्पन्न नहीं होती।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (दूर्वा)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

तीन शाप

यश्च सापत्नः शपथो जाम्याः शपथश्च यः।
ब्रह्मा यन्मन्युतः शपात्सर्वं तन्नो अधस्पदम्॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार मैं तो शपथ आदि की भाषा का प्रयोग करूँ ही नहीं **च**=और **यः सापत्नः शपथः**=जो शत्रुओं से दिया गया शाप है **यः च**=और जो **जाम्याः**=किसी भी कुलीन स्त्री व बहिन आदि से दिया गया **शपथः**=शाप है या कभी **यत्**=जो **ब्रह्मा**=कोई ज्ञानी पुरुष **मन्युतः**=हमारी ग़लती पर क्षणिक क्रोधावेश से **शपात्**=शाप देता है, **तत् सर्वम्**=वह सब **नः अधस्पदम्**=हमारे पाँवों के तले हो, वह हमारे पाँव से कुचला जाए। इसका हमपर कोई प्रभाव न हो। हम इसके कारण उत्तेजित न हो उठे। २.शत्रुओं को दिये गये शाप को हम स्वाभाविक ही समझें। जब वह हमारा शत्रु है, तो अशुभ कहेगा ही। स्त्री किसी कारण से क्रुद्ध हो कुछ कह बैठती है तो वह भी सहना ही चाहिए। ब्रह्मा ने जो कुछ कठोर कह दिया तो आत्मनिरीक्षण

करते हुए अपनी कमी को देखने और उसे दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए। क्रोध में आकर उत्तर देना तो ठीक है ही नहीं, ऐसी वृत्ति बनाने के लिए वीरुत् का प्रयोग साधन बनता है।

भावार्थ—हम अपशब्दों का उत्तर अपशब्दों में न दें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (दूर्वा)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'सहस्रकाण्ड' वीरुत्

दिवो मूलमवततं पृथिव्या अध्युत्ततम्। तेन सहस्रकाण्डेन परि णः पाहि विश्वतः॥ ३॥

१. प्रस्तुत 'वीरुत्' का **मूलम्**=मूल **दिवः अवततम्**=आकाश से नीचे की ओर आता है और **पृथिव्याः अधि उत्ततम्**=पृथिवी से ऊपर फैलता है। इसप्रकार यह वीरुत् शतशः तनों-(काण्डों)-वाली हो जाती है। ऊपर की शाखाएँ ही नीचे आकर भूमि में मूल का रूप धारण कर लेती हैं और उन मूलों पर से फिर शाखाएँ फूट निकलती हैं। इसप्रकार यह वीरुत् फैलती चली जाती है। दूर्वा का स्वरूप ऐसा ही है। यह दूर्वा पवित्र भी कहलाती है। यह यज्ञिय तो है ही। यज्ञवेदि को इससे आस्तीर्ण करते हैं। २. तेन **सहस्रकाण्डेन**=उस सहस्रों काण्डोंवाली वीरुत् से **नः**=हमें **विश्वतः**=सब ओर से **परिपाहि**=रक्षित कीजिए। इसके प्रयोग से हम शान्तवृत्ति के बन सकते हैं।

भावार्थ—सहस्रकाण्ड वीरुत् का प्रयोग हमें क्रोध की वृत्ति से ऊपर उठाए।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (दूर्वा)**॥ छन्दः—**विराडुपरिष्टाद्बृहती**॥

अराति व अभिमाति से ऊपर

परि मां परि मे प्रजां परि णः पाहि यद्धनम्।
अरातिर्नो मा तारीन्मा नस्तारिषुरभिमातयः॥ ४॥

१. यज्ञीय वीरुत् का प्रयोग करनेवाले **माम्**=मुझे **परि (पाहि)**=रक्षित कीजिए। **मे प्रजाम्**=मेरी प्रजा को **परि (पाहि)**=रक्षित कीजिए **नः यत् धनम्**=हमारा जो ज्ञान और शान्तिरूप धन है, उसे **परि पाहि**=सर्वथा रक्षित कीजिए। २. ज्ञान व शान्ति के अपनानेवाले **नः**=हम लोगों को **अरातिः**=शत्रु **मा तारीत्**=पराभूत न करे तथा **अभिमातयः**=अभिमान की वृतियाँ **नः**=हमें **मा तारिषुः**=अभिभूत करनेवाली न हों। हम अराति व अभिमाति से ऊपर उठकर चलें। **अरातिः**=न देने की वृत्ति—कृपणता और अभिमान हमें वशीभूत न कर लें।

भावार्थ—हम सात्त्विक आहार से शुद्ध-सत्त्व बनकर अ-दान व अभिमान से ऊपर उठें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (दूर्वा)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सुहार्त् न कि दुर्हार्त्

शप्तारमेतु शपथो यः सुहार्त्तेन नः सह। चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणीमसि॥ ५॥

१. अभिमान के कारण मुनष्य प्रायः क्रोध में आ जाता है। कृपणता भी मनुष्य के हृदय को मलिन करती है। अभिमान व कृपणता से ऊपर उठकर हम शुभ हृदयवाले बनें। क्रोध में आकर शाप-वचन बोलनेवालों को शाप में उत्तर न दें। **शपथः**=उस क्रुद्ध पुरुष से बोला गया दुर्वचन **शप्तारम्**=आक्रोशक के पास ही **एतु**=लौट जाए। यः **सुहार्त्**=जो शुभ हृदयवाला है **तेन नः सह**=उससे हमारा साथ हों। वस्तुतः शाप का उत्तर शाप में न देते हुए हम उस शाप देनेवाले के हृदय को भी बदलने में समर्थ हों। वह भी सारी कटुता को छोड़कर, शुभ हृदयवाला बनकर हमारे समीप प्राप्त हो। २. **चक्षुर्मन्त्रस्य**=आँख से कुटिल मन्त्रणा करनेवाले **दुर्हार्दः**=दुष्ट हृदयवाले पुरुष के **पृष्टीः अपि**=पसलियों को भी हम **शृणीमसि**=शीर्ण कर दें। शान्ति की विचारधारा

में 'पसलियों को भी तोड़ दें'। इन शब्दों का प्रयोग विचित्र-सा लगता है, 'परन्तु शान्ति का भाव निर्बलता नहीं है' इसके स्पष्टीकरण के लिए यह आवश्यक ही है। विवशता में बल-प्रयोग आवश्यक हो जाता है, कटु शब्दों का प्रयोग आवश्यक नहीं है। मधुरता और निर्बलता पर्यायवाची नहीं है।

भावार्थ—हम क्रोध में अपशब्दों का उत्तर अपशब्दों में न दें। हम दुर्हाद् पुरुष का पराभव करनेवाले हों।

विशेष—इस सूक्त में हृदय को उत्तम बनाकर गाली का उत्तर गाली में न देने का विधान है। शान्त रहने का प्रयत्न ही ठीक है। शान्ति में ही वास्तविक शक्ति है।

अब यह 'अथर्वा' अपना ठीक से परिपाक करता हुआ भृगु बनता है (भ्रस्ज पाके)। अपना ठीक परिपाक करता हुआ 'आङ्गिरस' होता है। इसका एक-एक अंग रसमय होता है। यह शरीर को एकदम नीरोग बनाने में समर्थ होता है। इसकी आराधना निम्न प्रकार से है—

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—क्षेत्रिय-(यक्ष्मकुष्ठादि)-नाशनम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

सूर्य व चन्द्र

उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके। वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम्॥ १ ॥

१. **भगवती**=प्रकाश व ज्योत्स्नारूप ऐश्वर्यवाले, **विचृतौ**=रोगों का हिंसन करनेवाले **नाम**=प्रसिद्ध **तारके**=सूर्य और चन्द्र जो रोगों को तारनेवाले हैं, वे **उद् आगाताम्**=उदित हुए हैं। ये सूर्य और चन्द्र **क्षेत्रियस्य**=सामान्यत: परक्षेत्र में चिकित्स्य=(पुत्र-पौत्रादि के शरीर में चिकित्स्य) रोग के **अधमम्**=अधरकाय में आश्रित और **उत्तमम्**=ऊर्ध्वकाय में आश्रित **पाशम्**=पाश को **विमुञ्चताम्**=छुड़वा दें। सूर्य-चन्द्र की किरणों में सचमुच इसप्रकार की शक्ति है कि वे क्षेत्रिय रोगों को दूर कर दें। इनकी किरणों को जितना भी शरीर पर लिया जा सके लेना चाहिए। शरीर पर पड़नेवाली सूर्य-किरणें स्वर्ण के इञ्जेक्शन्स कर रही होती हैं। चन्द्र-किरणों में अमृत भरा है एवं इनसे रोगों का दूर करना सम्भव ही है। सूर्य-चन्द्र किरणों के सम्पर्क में रहने का भाव यथासम्भव घर के बाहर खुले में रहने से है। जितना खुले मे रहेंगे, जितना बाह्य जीवन (out door life) होगा, उतना ही इस क्षेत्रिय रोगों से बचे रहेंगे। घर में बैठे रहनेवालों को ही ये रोग पीड़ित करते हैं।

भावार्थ—सूर्य व चन्द्र की किरणों को शरीर पर लेने से क्षेत्रिय रोगों के पाश से मुक्ति मिल सकती है।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—क्षेत्रिय-(यक्ष्मकुष्ठादि)-नाशनम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

रात्रि की समाप्ति पर

अपेयं रात्र्युच्छत्वपोच्छन्त्वभिकृत्वरीः। वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु॥ २ ॥

१. **इयम्**=यह उषाकालवाली **रात्री**=रात्रि **अप उच्छतु**=अन्धकार को दूर करदे। जिस प्रकार जाती हुई रात्रि अन्धकार को नष्ट करती है, उसी प्रकार अन्धकार की भाँति आवरक इस क्षेत्रिय व्याधि को भी यह दूर करे। वस्तुत: क्षेत्रिय रोगों की चिकित्सा का काल यही होता है, जबकि रात्रि जा रही होती है और उषा आ रही होती है। २. **अभिकृत्वरीः**=कर्तनशील-अपस्मार आदि रोगों के कारणभूत कृमि भी **अप उच्छन्तु**=दूर चले जाएँ और **क्षेत्रियनाशनी**=क्षेत्रिय रोगों को दूर करनेवाली **वीरुत्**=वीरुत् नामक लता **क्षेत्रियम्**=इस क्षेत्रिय रोग को **अप उच्छतु**=दूर

करनेवाली हो।

भावार्थ—रात्रि की समाप्ति और उषा का आरम्भ क्षेत्रिय रोगों की चिकित्सा का समय है। इस समय क्षेत्रियनाशनी वीरुत् का प्रयोग क्षेत्रिय रोगों के कृमियों को नष्ट करनेवाला है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**क्षेत्रिय-(यक्ष्मकुष्ठादि)-नाशनम्** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

यवतुष+तिलपिञ्जी

बभ्रोरर्जुनकाण्डस्य यवस्य ते पलाल्या तिलस्य तिलपिञ्ज्या।
वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु॥ ३॥

१. **बभ्रोः**=कपिल वर्णवाले, **अर्जुनकाण्डस्य**=श्वेतकाण्ड—डण्ठल—(तने)-वाले **यवस्य**=जौ के **पलाल्या**=तुष के साथ तथा **तिलस्य तिलपिञ्ज्या**=तिल की मञ्जरी के साथ यह **वीरुत्**=ओषधिभूत लता **क्षेत्रियनाशनी**=क्षेत्रिय रोगों को दूर करनेवाली है। यह **क्षेत्रियम्**=क्षेत्रिय रोग को **अप उच्छतु**=दूर करे। २. क्षेत्रिय नाशनी वीरुत् के सहायक तत्त्व दो हैं, (क) **भूरे**=श्वेत डण्ठलवाले जौ का तुष, (ख) तिल की मञ्जरी। सायण के अनुसार '**बभ्रोः अर्जुनकाण्डस्य**' का सम्बन्ध यव के साथ नहीं है। भूरे वर्ण के अर्जुनवृक्ष के तने का अंश, यव का तुष तथा तिलपिञ्जी—ये तीन वस्तुएँ क्षेत्रिय रोग-नाशिनी वीरुत् की सहायक बनती हैं।

भावार्थ—अर्जुनवृक्ष के काण्ड (तने) का अंश, यव का तुष तथा तिलपिञ्जी आदि के प्रयोग से क्षेत्रिय रोग दूर हो सकता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**क्षेत्रिय-(यक्ष्मकुष्ठादि)-नाशनम्** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥

'लाङ्गल, ईषा व युग'

नमस्ते लाङ्गलेभ्यो नम ईषायुगेभ्यः। वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु॥ ४॥

१. गतमन्त्र में वर्णित ओषधियों को उत्पन्न करने में उपकरण बननेवाले **लाङ्गलेभ्यः**=हलों (Plough) के लिए **नमः**=नमस्कार करते हैं। ये हल **ते**=तेरे रोगशमन में परम्परागत कारण बनते हैं। **ईषा**=लाङ्गलदण्ड (Pole) व **युगेभ्यः**=जुए (yoke) के लिए भी **नमः**=हम आदर का भाव धारण करते हैं। इन उपकरणों के द्वारा भूमि से उत्पन्न हुई **वीरुत्**=बेल **क्षेत्रियनाशनी**=क्षेत्रिय रोगों को नष्ट करनेवाली है। यह क्षेत्रिय रोग को **अप उच्छतु**=दूर करनेवाली हो।

भावार्थ—ओषधियों के उत्पादन में उपकरणभूत 'लाङ्गल, ईषा व युग' आदि का उचित आदर करना चाहिए। उन्हें ठीक रखते हुए उचित रूप में उपयुक्त करना ही उनका आदर है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**क्षेत्रिय-(यक्ष्मकुष्ठादि)-नाशनम्** ॥ छन्दः—**निचृत्पथ्यापङ्क्तिः** ॥

सनिस्त्रसाक्ष, सन्देश्य, क्षेत्रपति

नमः सनिस्रसाक्षेभ्यो नमः सन्देश्ये (भ्यः।
नमः क्षेत्रस्य पतये वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु॥ ५॥

१. **सनिस्रसाक्षेभ्यः**=(स्रंस्=to go, अक्ष=Axle-pole या कार) खूब गतिशील अक्षदण्ड या गतिशील गाड़ियों के लिए, जिनमें कृषि से उत्पन्न सामान को इधर-उधर ले-जाते हैं, **नमः** नमस्कार हो। **सन्देश्येभ्यः**=इन अन्नों के सन्देशवाहकों के लिए—इन औषध-द्रव्यों के गुणों का प्रचार करनेवालों के लिए **नमः**=नमस्कार हो। **क्षेत्रस्य पतये**=क्षेत्र के पति के लिए, जो इन ओषधियों को उत्पन्न करता है, **नमः**=नमस्कार हो। २. इसप्रकार उत्पन्न की गई, यथास्थान पहुँचाई गई और जिनके गुणों का ज्ञान दिया गया है, वह **क्षेत्रियनाशनी**=क्षेत्रिय रोग को नष्ट करनेवाली **वीरुत्**=लता **क्षेत्रियम्**=क्षेत्रियरोग को **अप उच्छतु**=नष्ट करनेवाली हो।

भावार्थ—क्षेत्रपति को उचित आदर देना है, उसकी गाड़ियों को ठीक रखना है। औषध-द्रव्यों के गुणों का सन्देश देनेवालों के लिए भी उचित आदर हो।

विशेष—सूक्त के आरम्भ में क्षेत्रिय रोगों को दूर करने के लिए सूर्य-चन्द्र के सम्पर्क में रहने का विधान है (१)। तीसरे मन्त्र में अर्जुनवृक्ष, यवतुष् तथा तिलपिञ्जी को क्षेत्रिय रोग का नाशक बताया है। अगले सूक्त में ग्राही=गठिया को दूर करने के लिए दशवृक्ष का उल्लेख है।

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**विराट्प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

सन्धिवात-चिकित्सा

दशवृक्ष मुञ्चेमं रक्षसो ग्राह्या अधि यैनं जग्राह पर्वसु।
अथो एनं वनस्पते जीवानां लोकमुन्नय॥ १॥

१. हे **दशवृक्ष**=दशवृक्षों के मेल से बनाये जानेवाले 'दशमूल' नामक औषध! **इमम्**=इस पुरुष को **रक्षसः**=इस अत्यन्त राक्षसी—सब रमणों—आनन्दों का क्षय करनेवाली—**ग्राह्याः**=अङ्गों को जकड़ लेनेवाली ग्राही (गठिया) नामक बीमारी से **अधिमुञ्च**=मुक्त करो, **या**=जो बीमारी **एनम्**=इसे **पर्वसु जग्राह**=पर्वों में—जोड़ों में—पकड़े हुए है। २. **अथ उ**=और अब इसे रोगमुक्त करके हे **वनस्पते**=शरीर का रक्षण करनेवाली औषध! **तू एनम्**=इसे **जीवानां लोकम्**=जीवित पुरुषों के लोक में **उन्नय**=उत्कर्षण प्राप्त करा। रोगग्रस्त होकर यह इधर-उधर जाने में असमर्थ हो गया था। इसे रोगमुक्त करके समाज में फिर से ठीक विचरण करनेवाला बना दो।

भावार्थ—दशवृक्षों के मूल से उत्पन्न 'दशमूल' औषध संधिवात को दूर करके हमें समाज में आने-जाने के योग्य बना दे।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रोगमुक्ति के परिणाम

आगादुदगादयं जीवानां व्रातमप्यगात्।
अभूदु पुत्राणां पिता नृणां च भगवत्तमः॥ २॥

१. **अयम्**=औषध-प्रयोग से रोगमुक्त हुआ-हुआ यह पुरुष **आगात्**=समन्तात् गतिवाला हुआ है। **उद् आगात्**=यह उत्कृष्ट गतिवाला हुआ है। **जीवानां व्रातं अपि**=जीवों के समूह में भी **आगात्**=आया है—सभा-समाज में आने-जाने लग गया है। २. इनता ही नहीं **उ**=और—विवाहित होकर यह **पुत्राणां पिता अभूत्**=पुत्रों का पिता हुआ है **च**=और **नृणां भगवत्तमः**=मनुष्यों में उत्तम ऐश्वर्यवाला हुआ है। रोगपीड़ित अवस्था में इसका आना-जाना रुका हुआ था, लेटा ही रहता था। विवाहित होने का प्रश्न ही नहीं था, धनार्जन के कामों को कर सकना सम्भव न था। अब ठीक होकर यह सब-कुछ करने लगा है।

भावार्थ—'ग्राही' रोग ने इसे समाज में आने-जाने से रोक रक्खा था। यह विवाहित होने योग्य भी न लगता था, कुछ कमाना इसके लिए सम्भव ही न था। अब औषध-प्रयोग से रोग से ऊपर उठकर यह समाज में आने-जाने लगा है, पिता बना है और धनार्जन कर पाया है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मस्तिष्क व शरीर का स्वास्थ्य।

अधीतीरध्यगादयमधि जीवपुरा अगन्। शतं ह्यस्य भिषजः सहस्रमुत वीरुधः॥ ३॥

१. **हि**=निश्चय से **अस्य**=इस ग्राहीरोग के **शतं भिषजः**=सैकड़ों वैद्य हैं **उत**=और **सहस्रम्**=हज़ारों **वीरुधः**=(विरुन्धन्ति विनाशयन्ति रोगान्) रोगनाशक औषध हैं, अर्थात् यह ग्राहीरोग ऐसा भयंकर व डरने योग्य नहीं। **अयम्**=यह व्यक्ति स्वस्थ होकर **अधीतिः**=अध्ययन करने योग्य सब वस्तुओं का **अध्यगात्**=स्मरण करने लगा है और **जीवपुराः**=जीवितों के नगरों में **अधि अगन्**=आने-जाने लगा है, अर्थात् इसके सब व्यवहार साधारणतया ठीक से होने लगे हैं। २. रोग की अवस्था में व्याकुलता के कारण यह कुछ भी नहीं कर पा रहा था। अब इसका मस्तिष्क व शरीर दोनों ठीक से कार्य करने लगे हैं। मस्तिक के ठीक हो जाने के कारण यह ठीक से पढ़ने-लिखने लगा है और शरीर के स्वस्थ हो जाने से यह नगरों में आने-जाने लगा है।

भावार्थ—ग्राहीरोग के औषधों व चिकित्सकों की कमी नहीं। यह रोगी ठीक होकर मस्तिष्क व शरीर से ठीक रूप में कार्यों को करने लगा हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

देव, ब्रह्मा, वीरुध

दे॒वास्ते॑ ची॒तिम॑विदन्ब्र॒ह्माण॑ उ॒त वी॒रुधः॑।
ची॒तिं ते॒ विश्वे॑ दे॒वा अवि॑द॒न्भूम्या॒मधि॑॥ ४॥

१. **देवाः**=सूर्य-चन्द्रादि देव **ते**=तेरे **चीतिम्**=संवरण को (चीव्+ति=संवरण) **अविदन्**=जानते हैं, अर्थात् इन देवों के सम्पर्क में रहने से यह ग्राहीरोग नष्ट हो जाता है। 'चीति' शब्द 'चिति' के स्थान में प्रयुक्त मानकर यह अर्थ भी किया जा सकता है कि ये देव तेरी अन्त्येष्टि की चिता (funeral pyre) को जानते हैं। इसीप्रकार **ब्रह्माणः**=ज्ञानी वैद्य **उत**=और **वीरुधः**=रोगनाशक लताएँ तेरी चिति को जानते हैं, अर्थात् तेरा नाश करने में समर्थ हैं। २. **भूम्याम् अधि**=इस पृथिवी पर **विश्वेदेवाः**=सब ज्ञानी पुरुष **ते चीतिम्**=तेरे विनाश को **अविदन्**=जानते हैं, तेरे नाश के उपाय को जानते हुए वे तुझे नष्ट करते हैं।

भावार्थ—सूर्यादि देव, ज्ञानी वैद्य व कई लताएँ इस ग्राहीरोग को नष्ट करती हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'सर्वमहान् वैद्य' प्रभु

यश्च॒कार॒ स निष्क॑र॒त्स ए॒व सु॒भिष॑क्तमः।
स ए॒व तुभ्यं॑ भेष॒जानि॑ कृणवद्भि॒षजा॒ शुचिः॑॥ ५॥

१. **यः चकार**=जो प्रभु इस संसार को बनाते हैं और इसमें जीवों को कर्मानुसार दण्ड देते हुए ग्राही आदि रोगों को भी उत्पन्न करते हैं, **सः निष्करत्**=वे प्रभु ही रोग को दूर भी करते हैं। प्रभुकृपा से ही रोगों का विनाश हुआ करता है। **सः एव**=वे प्रभु ही **सु-भिषक्तमः**=सर्वमहान् वैद्य हैं। **'भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि'** (ऋ० २.३३.४) २. **सः एव**=वे प्रभु ही **तुभ्यम्**=तेरे लिए **भिषजा**=वैद्यों के द्वारा **भेषजानि कृण्वत्**=औषधों को करता है। वैद्य निमित्त बनता है, चिकित्सक तो प्रभु ही हैं। वे प्रभु ही रोगमुक्त करनेवाले हैं। रोगरहित करनेवाले प्रभु **शुचिः**=हमें निर्मल शरीर व मन के देनेवाले हैं। वे हमारे शरीरों व मनों का शोधन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सर्वमहान् वैद्य हैं। वैद्य को माध्यम बनाकर प्रभु ही हमें रोगमुक्ति व शुचिता प्रदान करते हैं।

विशेष—इस सूक्त में ग्राहीरोग की चिकित्सा का उल्लेख हुआ है। इस प्रसंग

में 'दशवृक्ष' का उल्लेख प्रथम मन्त्र में है (१)। अन्तिम मन्त्र में प्रभु-स्मरण करते हुए उत्तम वैद्य के परामर्श से रोगनाशक वीरुधों के प्रयोग का विधान है (५)। अगले सूक्त में भी शरीर व मानस व्याधियों को दूर करने का प्रसङ्ग है—

१०. [दशमं सूक्तम्]

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—निर्ऋतिद्यावापृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

ज्ञान के द्वारा निर्दोषता

क्षेत्रियात्त्वा निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम्॥ १॥

१. **क्षेत्रियात्**=क्षय+कुष्ठ आदि दोष से दूषित, माता-पिता के शरीर से पुत्रादि के शरीर में संक्रान्त हुए क्षय+कुष्ठ आदि रोग से, **निर्ऋत्या**=रोगनिमित्तभूत पाप से, **जामिशंसात्**=बन्धु-बान्धवों के आक्रोशजनित कष्ट से, **द्रुहः**=द्रोहवृत्ति से और **वरुणस्य पाशात्**=अनृतवादी को जकड़ लेनेवाले वरुण के पाशों से [ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः], **त्वा**=तुझे **मुञ्चामि**=मुक्त करता हूँ। २. **त्वा**=तुझे **ब्रह्मणा**=ज्ञान के द्वारा **अनागसं कृणोमि**=निष्पाप करता हूँ। ज्ञान के द्वारा हमारे दोष व पाप नष्ट होते हैं। उनके नाश से शरीर के रोग भी दूर हो जाते हैं। ज्ञान के अभाव में ही चराचर-विषयक ग़लतियाँ होती हैं और शरीर में दोष उत्पन्न हो जाते हैं। ज्ञान होने पर **उभे**=ये दोनों **द्यावापृथिवी**=द्युलोक और पृथिवीलोक **ते**=तेरे लिए **शिवे**=कल्याणकर **स्ताम्**=हों। द्युलोक से पृथिवीलोक तक सब पदार्थों की अनुकूलता होने पर किसी प्रकार के कष्ट नहीं होते। इनकी अनुकूलता के लिए ज्ञान आवश्यक है—**'स्वस्ति द्यावा-पृथिवी सुचेतुना'**—उत्तम ज्ञान से द्यावापृथिवी कल्याणकर होते हैं।

भावार्थ—ज्ञान से सब पदार्थों का ठीक प्रयोग होने पर सब दोष व रोग नष्ट हो जाते हैं।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—निर्ऋतिद्यावापृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—सप्तपदाष्टिः ॥

गरमपानी व वानस्पतिक भोजन

शं ते अग्निः सहाद्भिरस्तु शं सोमः सहौषधीभिः।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम्॥ २॥

१. हे रुग्ण पुरुष! **ते**=तेरे लिए **अद्भिः सह**=जलों के साथ **अग्निः शम्**=अग्नि सुखकर **अस्तु**=हो। यदि पीने के लिए गरम पानी का प्रयोग किया जाए तो अग्नि और जल का साथ-साथ प्रयोग प्रायः सब रोगों को नष्ट कर देता है। समान्य नियम यही रहना चाहिए कि पीने के लिए गरम पानी व स्नान करने के लिए ठण्डा। स्नान में प्रयुक्त हुआ ठण्डा जल एक उत्तम टानिक का काम करता है। स्पंजिंग-विधि से तौलिये से रगड़कर किया गया स्नान रुधिराभिसरण के लिए अत्युत्तम है। इससे सारा स्नायु-संस्थान जीवित हो उठता है। २. **ओषधिभिः सह**=वानस्पतिक भोजन के साथ **सोमः**=उत्पन्न हुआ-हुआ सोम तेरे लिए **शम्**=शान्तिकर हो। ओषधियाँ प्रायः शीतवीर्य होने से सोम के शरीर में सुरक्षित होने में सहायक हो जाती हैं। मांसादि भोजन और अधिक अग्निपाक भोजन उष्णवीर्य होने से सोमरक्षण में सहायक नहीं होते। ३. **एव**=इसप्रकार (क) जलों के साथ गरम पानी के प्रयोग से तथा (ख) ओषधियो में उत्पन्न सोम से **अहम्**=मैं **त्वाम्**=तुझे क्षेत्रिय रोगादि से जनित कष्टों से मुक्त करता हूँ। (शेष प्रथम मन्त्र के समान)।

भावार्थ—पीने के लिए गरम जल का प्रयोग तथा खाने के लिए वानस्पतिक भोजनों के द्वारा हम रोगों व अशुभ मानस वृत्तियों को दूर कर सकते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**निर्ऋतिद्यावापृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाधृतिः** ॥

वायु व चारों दिशाएँ

शं ते वातो॑ अ॒न्तरि॑क्षे वयो॑ धा॒च्छं ते॑ भवन्तु प्र॒दिश॒श्चत॑स्रः।
ए॒वाहं त्वां क्षे॑त्रि॒यान्निर्ऋ॑त्या जामिशं॒साद् द्रु॒हो मु॑ञ्चामि॒ वरु॑णस्य॒ पाशा॑त्।
अ॒ना॒ग॒सं ब्रह्म॑णा त्वा कृणोमि शि॒वे ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी उ॒भे स्ता॑म्॥ ३॥

१. **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्ष में गति करनेवाला यह **वातः**=वायु **ते**=तेरे लिए **शम्**=शान्तिकर हो और **वयः**=दीर्घायुष्य को **धात्**=करे। शुद्धवायु दीर्घायु का कारण बनती ही है। सदा शुद्ध वायु में श्वास लेने से रोग होने की सम्भावना ही नहीं रहती। 'अन्तरिक्षे' शब्द का प्रयोग यह संकेत कर रहा है कि शुद्ध वायु मन की प्रसन्नता का भी मूल बनती है। जैसे अन्तरिक्ष में वायु निरन्तर चल रही है, इसीप्रकार हृदयान्तरिक्ष में भी धर्म का संकल्प कभी सुप्त नहीं होना चाहिए। २. **ते**=तेरे लिए **चतस्त्रः**=चारों **प्रदिशः**=प्रकृष्ट दिशाएँ **शम् भवन्तु**=शान्ति देनेवाली हों। ये 'प्राची, प्रतीची, अवाची, उदीची, नामवाली दिशाएँ तुझे क्रमशः 'आगे बढ़ने (प्र अञ्च् गति), इन्द्रियों को विषयों से लौटाने, (प्रति अञ्च) नम्रता अव अञ्च तथा ऊर्ध्व गति=उन्नतिपथ पर चलने उद् अञ्च का उपदेश करती हुई तेरी वास्तविक शान्ति का कारण बनें। ३. **एव**=इसप्रकार (क) अन्तरिक्ष में चलनेवाली वायु से हृदयान्तरिक्ष में कर्म की प्रेरणा लेने के द्वारा तथा (ख) दिशाओं से प्रगति, प्रत्याहार, प्रश्रय (विनय) व उन्नति का पाठ पढ़ने के द्वारा **अहम्**=मैं **त्वाम्**=तुझे क्षेत्रियादि रोगों से जनित कष्टों से मुक्त करता हूँ। [शेष पूर्ववत्]।

भावार्थ—हृदय में कर्मसंकल्प तथा प्रगति, प्रत्याहार, प्रश्रय व प्रकर्ष (उन्नति) का भाव हमें रोगों व द्रोहादि अशुभ वृत्तियों से बचाता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**निर्ऋतिद्यावापृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाधृतिः** ॥

वायुप्रवाह व सूर्यप्रकाश

इ॒मा या दे॒वीः प्र॒दिश॒श्चत॑स्रो॒ वात॑पत्नीर॒भि सूर्यो॑ वि॒चष्टे॑।
ए॒वाहं त्वां क्षे॑त्रि॒यान्निर्ऋ॑त्या जामिशं॒साद् द्रु॒हो मु॑ञ्चामि॒ वरु॑णस्य॒ पाशा॑त्।
अ॒ना॒ग॒सं ब्रह्म॑णा त्वा कृणोमि शि॒वे ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी उ॒भे स्ता॑म्॥ ४॥

१. **याः**=जो **इमाः**=ये **देवीः**=प्रकाशमय व सब व्यवहारों की साधक **चतस्त्रः**=चार **प्रदिशः**=प्रकृष्ट दिशाएँ हैं, वे दिशाएँ जोकि **वातपत्नीः**=वायुरूप पतिवाली हैं, अर्थात् वायु जिनकी रक्षा करती है और **सूर्यः**=सूर्य **अभिविचष्टे**=जिन्हें समन्तात् प्रकाशित करता है। २. **एव**=इसप्रकार **अहम्**=मैं **त्वाम्**=तुझे वायु के प्रवाहवाली व सूर्य के प्रकाशवाली दिशाओं के द्वारा क्षेत्रिय आदि रोगों से जनित कष्टों से मुक्त करता हूँ। तेरा घर इसप्रकार का होगा कि वहाँ वायु का प्रवाह ठीक से आता हो तथा सूर्य की किरणें खूब प्रकाश प्राप्त कराती हों। ऐसे घर में रोगों का प्रकोप नहीं होता। [शेष पूर्ववत्]।

भावार्थ—वायु की गतिवाली व सूर्य के प्रकाशवाली दिशाएँ स्वास्थ्य के लिए सहायक होती हैं।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—निर्ऋतिद्यावापृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—सप्तपदाधृतिः ॥

यक्ष्म व निर्ऋति का निराकरण

तासु॑ त्वा॒न्तर्ज॒रस्या द॑धामि॒ प्र यक्ष्म॑ एतु॒ निर्ऋ॑तिः परा॒चैः।
ए॒वाहं त्वां क्षे॑त्रि॒यान्निर्ऋ॑त्या जामिशं॒साद् द्रु॒हो मु॑ञ्चामि॒ वरु॑णस्य॒ पाशा॑त्।
अ॒ना॒ग॒सं॒ ब्रह्म॑णा त्वा कृणोमि शि॒वे ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी उ॒भे स्ता॑म्॥ ५॥

१. **तासु**=ऊपर के मन्त्र में वर्णित वायुप्रवाह व सूर्य प्रकाशवाली दिशाओं के **अन्तः**=अन्दर हे रुग्ण-पुरुष! **त्वाम्**=तुझे **जरसि आदधामि**=जरा में स्थापित करता हूँ, अर्थात् सदा इन दिशाओं में जीवन यापन का अवसर देते हुए मैं तुझे जरापर्यन्त नीरोग रखते हुए सौ वर्ष के आयुष्यवाला करता हूँ। २. ऐसे स्थान में रहने से **यक्ष्मः**=तेरा राजयक्ष्मादि क्षेत्रिय रोग **प्रैतु**=तुझे छोड़कर चला जाए। **निर्ऋतिः**=तेरे रोग की निदानभूत पापदेवता **पराचैः**=पराङ्मुखी होकर दूर चली जाए। ३. **एव**=इसप्रकार खुले स्थान में निवास के द्वारा **अहम्**=मैं **त्वाम्**=तुझे क्षेत्रिय आदि रोगों से **मुञ्चामि**=मुक्त करता हूँ। [शेष पूर्ववत्]।

भावार्थ—खुले स्थान में निवास हमें रोगों से बचाए और दीर्घ जीवन प्राप्त कराए।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—निर्ऋतिद्यावापृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—सप्तपदात्यष्टिः ॥

दुरित, अवद्य, द्रोहादि से मुक्ति

अमु॑क्था॒ यक्ष्मा॑द्दुरि॒ताद॑व॒द्याद् द्रु॒हः पाशा॑द् ग्रा॒ह्याश्चोद॑मुक्थाः।
ए॒वाहं त्वां क्षे॑त्रि॒यान्निर्ऋ॑त्या जामिशं॒साद् द्रु॒हो मु॑ञ्चामि॒ वरु॑णस्य॒ पाशा॑त्।
अ॒ना॒ग॒सं॒ ब्रह्म॑णा त्वा कृणोमि शि॒वे ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी उ॒भे स्ता॑म्॥ ६॥

१. हे रुग्ण! तू **यक्ष्मात्**=क्षेत्रिय व्याधि से **अमुक्थाः**=मुक्त हो गया है। उपरले मन्त्रों में दिये गये निर्देशों को क्रियारूप में लाने से तू इन रोगों से छूट गया है। **दुरितात्**=निर्ऋति से—बहुत भारी पाप से मुक्त हुआ है, **अवद्यात्**=जामि आदि के अभिशंसनरूप निदान से तू छूट गया है। **द्रुहः**=द्रोहवृत्ति तुझसे दूर हो गई है। **पाशात्**=पापियों के निग्राहक वरुण के पाश से तू छूट गया है **च**=तथा **ग्राह्याः**=अंगों को जकड़ लेनेवाले सन्धिवात से भी तू **उद् अमुक्थाः**=मुक्त होकर बाहर आ गया है। **एव**=इसप्रकार **अहम्**=मैं **त्वाम्**=तुझे क्षेत्रियादि रोगों से जनित कष्टों से मुक्त करता हूँ। [शेष पूर्ववत्]।

भावार्थ—मन्त्र-वर्णित साधनों का प्रयोग करते हुए हम 'यक्ष्म, दुरित, अवद्य, द्रोह, वरुण-पाश तथा ग्राही' से मुक्त हो जाएँ।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—निर्ऋतिद्यावापृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—सप्तपदाधृतिः ॥

कृपणता का त्याग व सुख

अहा॒ अरा॑ति॒मवि॑दः स्यो॒नमप्य॑भूर्भ॒द्रे सु॑कृ॒तस्य॑ लो॒के।
ए॒वाहं त्वां क्षे॑त्रि॒यान्निर्ऋ॑त्या जामिशं॒साद् द्रु॒हो मु॑ञ्चामि॒ वरु॑णस्य॒ पाशा॑त्।
अ॒ना॒ग॒सं॒ ब्रह्म॑णा त्वा कृणोमि शि॒वे ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी उ॒भे स्ता॑म्॥ ७॥

१. **अरातिम्**=न देने की वृत्ति को (रा दाने) **अहाः**=तूने छोड़ दिया है। तू दान की वृत्तिवाला बना है। कृपणता से ऊपर उठकर तू उदार हुआ है, परिणामतः तूने **स्योनम्**=सुख को **अविदः**=पाया है और **भद्रे**=कल्याण व सुखवाले **सुकृतस्य**=पुण्य के **लोके**=लोक में **अपि अभूः**=तेरा निवास हुआ है। २. व्याकरण के अनुसार यहाँ 'अपि' शब्द 'पद के अर्थ' में आया

है, अतः यहाँ जीवन-निवासादि पदार्थ ही अभिप्रेत हैं। इस भूलोक में तेरा चिरकाल निवास, अर्थात् दीर्घ जीवन हुआ है। ३. **एव**=इसप्रकार 'अ+रातिः'=अदान की भावना को छोड़ने के कारण **अहम्**=मैं **त्वाम्**=तुझे क्षेत्रिय आदि रोगों व तज्जनित कष्टों से मुक्त करता हूँ। [शेष पूर्ववत्]।

भावार्थ—हम अदानवृत्ति से ऊपर उठकर रोगों व पापों से मुक्त हों।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**निर्ऋतिद्यावापृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाधृतिः** ॥

सूर्य व ऋत

सूर्यमृतं तमसो ग्राह्या अधि देवा मुञ्चन्तो असृजन्निरेणसः।
एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्।
अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम्॥ ८॥

१. **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **तमसः**=अज्ञान अन्धकार से तथा **ग्राह्याः**=सन्धिवात आदि जकड़ लेनेवाले रोगों से और **एनसः**=पापों से **अधिमुञ्चन्तः**=अपने को मुक्त करते हुए **सूर्यम्**=मस्तिष्क में ज्ञान-सूर्य को तथा **ऋतम्**=व्यवहार में ऋत को—प्रत्येक क्रिया को नियमितरूप से करने को **निः असृजन्**=निश्चय से उत्पन्न करते हैं। मस्तिष्क में ज्ञान के सूर्य, हृदय में निष्पापता तथा क्रियाओं (हाथों) में ऋत के होने पर मनुष्य परिपूर्ण जीवनवाला बनता है। २. **एव**=इसप्रकार तमस्, ग्राही व एनस् से मुक्ति के द्वारा **अहम्**=मैं **त्वाम्**=तुझे क्षेत्रियादि रोगों व तज्जनित कष्टों से मुक्त करता हूँ। [शेष पूर्ववत्]।

भावार्थ—मस्तिष्क में तमस् न हो, शरीर में ग्राही न हो तथा मन में एनस् न हो तो जीवन सूर्य व ऋतवाला बनता है।

विशेष—इस सारे सूक्त में क्षेत्रिय रोगों से, निर्ऋति से, जामिशंस से, द्रोह से तथा वरुण के पाश से मुक्ति के साधनों का उल्लेख हुआ है। अगले सूक्त का ऋषि शुक्र है—शुचितावाला व वीर्यसम्पन्न (शुच् दीप्तौ, शुक्रं वीर्यम्)। वह सब कृत्याओं=दुष्क्रियाओं (यजुः० ३४.११, द०) का दूषण करता हुआ आगे कहता है। यह कृत्यादूषण ही सूक्त की देवता है—

११. [एकादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः [कृत्यादूषणम्]** ॥ छन्दः—**चतुष्पदाविराड्गायत्री** ॥

मनन, ज्ञान, दोषदहन

दूष्या दूषिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम॥ १॥

१. अपने में शक्ति का रक्षण अथवा पवित्रता का आधान करनेवाले हे शुक्र! तू **दूष्याः**=दोष का **दूषिः**=दूषित करनेवाला **असि**=है, अर्थात् दोषों को दोषों के रूप में देखता हुआ उनकी ओर आकृष्ट होनेवाला नहीं हैं। २. ऐसा तू इस लिए बन पाया हैं चूँकि तू **हेत्याः**=ज्ञान-ज्वालाओं की (Light, Splendour, Flame) **हेतिः**=ज्वाला **असि**=है, अत्यन्त ज्ञानदीप्त होने के कारण ही तू दोषों को दूषित कर पाता है। अज्ञानी को तो ये अपनी ओर आकृष्ट कर ही लेते हैं। ३. ज्ञान-ज्वालाओं को तू अपने में इसलिए दीप्त कर पाया कि तू **मेन्याः**=विचारशीलता का भी **मेनिः**=विचारशील **असि**=बना है। सदा मनन करने के कारण तूने ज्ञान की ज्योति को जगाया और उस ज्ञान-ज्योति में दोषों को दग्ध कर दिया। ४. तेरा यही कर्त्तव्य है कि तू **श्रेयांसम् आप्नुहि**=अपने से अधिक श्रेष्ठ को प्राप्त कर और **समम् अतिक्राम**=बराबरवाले को लाँघ जा। हमें चाहिए

कि श्रेष्ठों के सम्पर्क में आकर हम श्रेष्ठ बनने का प्रयत्न करें और उन्नति के मार्ग में आगे बढ़ जाने की हममें प्रबल भावना हो। परस्पर स्पर्धा से चलते हुए हम आगे-ही-आगे चलें।

भावार्थ—हम मननशील बनकर ज्ञान-ज्वाला को दीप्त करें और उसमें दोषों को दग्ध कर दें।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः [कृत्यादूषणम्]** ॥ छन्दः—**त्रिपदापरोष्णिक्** ॥

गतिशीलता व दोषों पर आक्रमण

स्रक्त्यो॑ऽसि प्रतिसरो॑ऽसि प्रत्यभिचर॑णोऽसि। आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ २ ॥

१. **स्रक्त्यः**=(स्रक् गतौ, स्रक्तौ गतौ उत्तमः) तू गति में उत्तम **असि**=है। तू कभी भी अकर्मण्य नहीं होता। सदा गतिशील होता हुआ तू अपवित्रता को अपने से दूर रखता है। २. **प्रतिसरः असि**=तू प्रतिदिन गतिशील होता है, प्रत्येक उत्तम बात को लक्ष्य करके उसे अपनाने के लिए आगे बढ़ता है। ३. **प्रति अभिचरणः असि**=मार्गों में आनेवाले विघ्नों व दोषों को तू आक्रान्त करनेवाला है। उन दोषों को आक्रान्त करके ही तू उत्तम गुणों में आगे बढ़ता है। तेरी सारी गति इसी उद्देश्य से ही होती है। ४. इसके लिए तू **श्रेयांसं आप्नुहि**=अपने से श्रेष्ठों को प्राप्त कर और **समम्**=बराबरवालों को **अतिक्राम**=लाँघ जा।

भावार्थ—हम गतिशील हों, सारी गति शुभ गुणों की प्राप्ति के लिए हो। शुभ गुणों की प्राप्ति के लिए हम दोषों पर आक्रमण कर उन्हें पराभूत करनेवाले हों।

अगले मन्त्र में दोषों के अग्रणी काम पर आक्रमण का उल्लेख है—

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः [कृत्यादूषणम्]** ॥ छन्दः—**त्रिपदापरोष्णिक्** ॥

काम-विध्वंस

प्रति तमभि चर् यो॒३॒॑स्मान्द्वेष्टि यं व॒यं द्वि॒ष्मः। आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ३ ॥

१. **यः**=जो **अस्मान् द्वेष्टि**=हमसे अप्रीति करता है और **यं वयं द्विष्मः**=जिसे हम नहीं चाहते **तम् प्रति**=उसकी ओर **अभिचर**=आक्रमण करनेवाला हो। प्रभु जीव से कहते हैं कि काम अर्थात् वृत्र ज्ञान का नाश करके मनुष्य को मुझसे दूर करता है। इसप्रकार यह कामदेव 'महादेव' का शत्रु है। महादेव की नेत्र-ज्योति से इसके भस्म होने का उल्लेख है। कामदेव महादेव को नहीं चाहता और महादेव को कामदेव अभिप्रेत नहीं। प्रभु का सखा बननेवाले जीव का यह कर्त्तव्य है कि वह काम पर आक्रमण कर उसे पराभूत करे। इसके लिए चाहिए यह कि यह **श्रेयांसं आप्नुहि**=अपने से श्रेष्ठों को प्राप्त करे और **समम् अतिक्राम**=बराबरवालों को लाँघ जाए।

भावार्थ—प्रभु के अप्रिय 'काम' पर आक्रमण करके हम उसे पराभूत करें और आगे बढ़ें।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः [कृत्यादूषणम्]** ॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यानिचृदुष्णिक्** ॥

ज्ञान+शक्ति=शरीर-रक्षण

सूरिरसि वर्चोधा असि तनूपानोऽसि। आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ४ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार काम का विध्वंस करके तू **सूरिः असि**=ज्ञानी बना है। काम ने ही ज्ञान पर पर्दा डाला हुआ था। पर्दा हटा और तेरे ज्ञान का प्रकाश चमक उठा। २. **वर्चोधा असि**=तू अपने में वर्चस् का धारण करनेवाला बना है। कामवासना ही शक्ति को व्ययित [खर्च] करनेवाली थी, उसका विध्वंस होते ही शक्ति का सञ्चय सम्भव हो गया। ३. इसप्रकार मस्तिष्क में ज्ञान व शरीर में शक्ति स्थापित करके **तनूपानः असि**=तू शरीर का ठीक रक्षण करनेवाला बना है। ४. ऐसा बनने के लिए तू **आप्नुहि श्रेयांसम्**=श्रेष्ठों को प्राप्त कर और **समम् अतिक्राम**=बराबरवालों को लाँघ जा।

भावार्थ—हम ज्ञानी बनें, वर्चस् को धारण करें और इसप्रकार शरीर का रक्षण करें।

ऋषि:—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः [कृत्यादूषणम्]** ॥ छन्दः—**त्रिपदापरोष्णिक्** ॥

शक्ति व दीप्ति, ज्ञान की वाणियाँ व ज्ञान-ज्योति

शुक्रो ऽसि भ्राजो ऽसि स्व रसि ज्योतिरसि।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम॥ ५॥

१. **शुक्रः असि**=तू पवित्र व शक्तिशाली बना है। 'काम' ही अपवित्रता व अशक्ति का हेतु था। काम गया, अपवित्रता व अशक्ति भी गई। आज तू **भ्राजः असि**=मानस व शरीर स्वास्थ्य के कारण चमक उठा है। २. **स्वः असि**=(स्वृ शब्दे) तू ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करनेवाला है। काम ने ही तो तुझे इनसे विमुख किया हुआ था। इसका विध्वंस तुझे ज्ञान प्रवण बनानेवाला है। ज्ञान-वाणियों का उच्चारण करते हुए तू **ज्योतिः असि**=ज्ञान का प्रकाश ही हो गया है। ज्ञान की वाणियों के उच्चारण से ज्ञान-ज्योति को बढ़ना ही था। ३. ऐसा तू **आप्नुहि श्रेयांसम्**=अपने से श्रेष्ठों को प्राप्त कर और **समम् अतिक्राम**=बराबरवालों को लाँघ जा।

भावार्थ—काम-विध्वंस से मनुष्य शक्तिशाली बनकर चमक उठता है और ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करते हुए ज्ञान-ज्योतिवाला हो जाता है।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त जीवात्मा को अत्यन्त सुन्दर प्रेरणा दे रहा है। इसके चतुर्थ मन्त्र में इसे 'वर्चोधाः असि' इन शब्दों में यह कहा गया है कि तू शक्ति का धारण करनेवाला है। पाँचवें मन्त्र में तो 'शुक्रः असि' इन शब्दों में यह कह दिया है कि तू शक्ति ही है। अब अगले सूक्त में यह 'भरद्वाज' अपने में वाज=शक्ति को भरनेवाला बन जाता है और वेद के शब्दों में कह उठता है—

१२. [द्वादशं सूक्तम्]

ऋषि:—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं च** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**।

दीप्त पुरुष का दीप्त संसार

द्यावापृथिवी उर्व१न्तरिक्षं क्षेत्रस्य पत्न्युरुगायोऽद्भुतः।
उतान्तरिक्षमुरु वातगोपं त इह तप्यन्तां मयि तप्यमाने॥ १॥

१. **द्यावापृथिवी**=द्युलोक और पृथिवीलोक, **उरु अन्तरिक्षम्**=विशाल अन्तरिक्ष **क्षेत्रस्य पत्नी**=(क्षियन्ति निवसन्ति अस्मिन्निति क्षेत्रमुक्तं लोकत्रयम्, तस्य पत्नी अधिपतिः देवता अग्निवायुसूर्यात्मिका—सा०) पृथिवी की देवता अग्नि, अन्तरिक्ष की देवता वायु तथा द्युलोक की देवता सूर्य, **उरुगायः**=(उरुभिः गीयमानः) वह बहुत-से स्तवन किया जाता हुआ **अद्भुतः**=सर्वलोकों को व्याप्त करनेवाला अद्भुत प्रभु **उत**=और **वायुगोपाम्**=वायु से रक्षण किया जाता हुआ—वायु से धारण किया जाता हुआ **उरु अन्तरिक्षम्**=यह महा आकाश **ते**=वे सब **इह**=यहाँ **मयि तप्यमाने**=(तप दीप्तौ) मेरे दीप्त होने पर **तप्यन्ताम्**=दीप्त हों। २. वस्तुतः यह सारा संसार हमारा अपना ही प्रतिबिम्ब मात्र है। हम दीप्त हैं तो संसार हमें दीप्त ही दिखता है। मन्त्र का ऋषि 'भरद्वाज' अपने में शक्ति भरने से दीप्ति का अनुभव करता है,वही दीप्ति उसे संसार में प्रतिक्षिप्त हुई प्रतीत होती है, उसे सारा संसार ही चमकता दिखता है। निराशावादी का संसार निराशा से भरा व मुर्झाया हुआ होता है। इस आशावादी भरद्वाज का संसार खिला हुआ व दीप्त है।

भावार्थ—मेरा जीवन दीप्त हो और मैं सारे संसार को दीप्तरूप में ही देखूँ।

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ।

उत्साह-वर्धन

इदं देवाः शृणुत ये यज्ञिया स्थ भरद्वाजो मह्यमुक्थानि शंसति।
पाशे स बद्धो दुरिते नि युज्यतां यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति॥ २॥

१. हे **देवाः**=देववृत्ति के व्यक्तियो! **ये**=जो आप **यज्ञियाः स्थ**=पूज्य व संगतिकरण योग्य हो **इदं शृणुत**=हमारी इस प्रार्थना को सुनो कि **भरद्वाजः**=अपने में शक्ति, हविर्लक्षण अन्न (वाज=शक्ति, हवि) को भरनेवाला श्रेष्ठ पुरुष **मह्यम्**=मेरे लिए **उक्थानि**=प्रशंसनीय वचनों को **शंसति**=कहता है। वह मुझे सदा उत्साहवर्धक बातों को कहता हुआ मेरे जीवन को अधिकाधिक दीप्त बनाता है। २. परन्तु **यः**=जो **अस्माकम्**=हमारे **इदं मनः**=इस मन को **हिनस्ति**=नष्ट करता है, अर्थात् जो हमें इस दीप्ति के मार्ग पर चलने में निरुत्साहित करता है, **सः**=वह **पाशे बद्धः**=स्वयं पाशों में जकड़ा हुआ **दुरिते**=मरणरूप दुर्गति में **नियुज्यताम्**=नियुक्त किया जाए। औरों को धर्म-मार्ग से विचलित करता हुआ यह पुरुष स्वयं विषय-पाश में बद्ध हुआ मृत्यु को प्राप्त हो।

भावार्थ—उत्तम पुरुष औरों को भी धर्म-मार्ग पर चलने के लिए उत्साहित करते हैं। 'इनसे विपरीत व्यक्ति दुरित को प्राप्त हों' जिससे वे औरों को पथभ्रष्ट करनेवाले न हों।

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ।

अघशंस-व्रश्चन

इदमिन्द्र शृणुहि सोमप यत्त्वा हृदा शोचता जोहवीमि।
वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षं यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति॥ ३॥

१. हे **सोमप**=मेरे सोम (वीर्य) का रक्षण करनेवाले **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **यत्**=जब **शोचता**=(शुच् to shine, to be pure or clean) दैवी सम्पत्ति से चमकते हुए पवित्र **हृदा**=हृदय से **त्वा**=आपको **जोहवीमि**=पुकारता हूँ तो आप **इदम्**=मेरी इस प्रार्थना को **शृणुहि**=सुनिए। आपकी कृपा से मेरी यह कामना पूर्ण हो कि मैं **तम्**=उस पुरुष को उसी प्रकार **वृश्चामि**=छिन्न कर दूँ **इव**=जैसे कि **कुलिशेन**=वज्र से **वृक्षम्**=वृक्ष को काट डालते हैं, **यः**=जो व्यक्ति **अस्माकम्**=हमारे **इदं मनः**=सोमरक्षण के द्वारा जीवन को दीप्त बनाने की भावना को **हिनस्ति**=नष्ट करता है। २. अघशंस व्यक्ति सोमरक्षण के महत्त्व की भावना को नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। वे 'मैथुन आदि को '**प्रवृत्तिरेषा भूतानाम्**' कहकर इसे स्वाभाविक कहते हैं। बलात् निरोध से स्नायु-संस्थान के विकृत हो जाने का भय है, अतः सोमरक्षण सदा ठीक ही हो ऐसी बात नहीं है'। इसप्रकार जो अघशंस पुरुष हमारी शुभ वृत्ति को नष्ट करना चाहते हैं, उन्हें हम समाप्त कर दें, उनसे अपना सम्बन्ध-विच्छिन्न कर लें।

भावार्थ—हम अघशंस पुरुषों को समाप्त कर दें, अर्थात् उनसे सम्बन्ध न रक्खें, अन्यथा हमारी शुभ वृत्तियों को वे समाप्त कर देंगे।

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**आदित्यवस्वङ्गिरसः पितरः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

दिव्य तेज

अशीतिभिस्तिसृभिः सामगेभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः।
इष्टापूर्तमवतु नः पितृणामामुं ददे हरसा दैव्येन॥ ४॥

१. **नः**=हमें **पितृणाम्**=माता-पिता आदि के उनसे किये जानेवाले **इष्टापूर्तम्**=इष्ट और पूर्त-यज्ञ व वापी, कूप, तडागादि निर्माण के कर्म **अवतु**=प्रीणित करनेवाले हों। हम भी अपने

पूर्वजों की भाँति इन इष्ट-पूर्त आदि कार्यों को करनेवाले हों। **अमुम्**=इस इष्ट व पूर्त को मैं **आ ददे**=सर्वथा ग्रहण करता हूँ, जिससे मैं **दैव्येन हरसा**=दिव्य तेज को प्राप्त करनेवाला बन सकूँ। दिव्य तेज के हेतु से मैं इष्टापूर्त को अपनाता हूँ। २. इसलिए मैं भी इष्टापूर्त को अपनाता हूँ कि **तिसृभिः अशीतिभिः**=(अश् व्याप्तौ)=तीनों व्याप्तियों के हेतु से, अर्थात् शरीर, मन व बुद्धि के तेज का मैं अपने में व्यापन कर सकूँ, **सामगेभिः**=साम का गान करने के हेतु से अर्थात् मैं साममन्त्रों से प्रभु का गायन करनेवाला बन सकूँ, **आदित्येभिः**=आदित्यों के हेतु से—मैं गुणों का आदान करनेवाला बनूँ। **वसुभिः**=वसुओं के हेतु से—उत्तम निवासवाला बनूँ और **अङ्गिरोभिः**=अङ्गिरसों के हेतु से, अर्थात् मैं अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाला बन पाँऊ। इष्ट व पूर्त आदि कर्मों में लगने का यह परिणाम है कि (क) शरीर, मन व बुद्धि का तेज प्राप्त होता है (ख) प्रभु-उपासना की वृत्ति उत्पन्न होती है, (ग) गुणों के ग्रहण का भाव उत्पन्न होता है, (घ) शरीर में उत्तमता से निवास होता है, (ङ) अङ्ग-प्रत्यङ्ग रसमय बना रहता है और (च) दिव्य तेज प्राप्त होता है।

भावार्थ—इष्ट[1] व पूर्त[2] हमारे शरीर, मन व बुद्धि को तेजस्वी बनाकर हमें दिव्य तेजवाला बनाते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**सोम्यासः पितरः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

दीप्ति व शक्ति

द्यावापृथिवी अनु मा दीधीथां विश्वेदेवासो अनु मा रभध्वम्।
अङ्गिरसः पितरः सोम्यासः पापमार्छत्वपकामस्य कर्ता ॥ ५ ॥

१. **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **मा अनुदीधीथाम्**=मेरे अनुकूल होकर दीप्त हों। मेरे शरीर में मस्तिष्करूप द्युलोक ज्ञान के सूर्य से चमके और पृथिवीरूप शरीर तेजस्विता से दीप्त बने। २. **विश्वेदेवासः**=सब देव **मा अनुरभध्वम्**=मेरे अनुकूल होकर कार्य करनेवाले हों। दिशाएँ मेरे श्रोत्रों को उपश्रुति (श्रवण शक्ति) दें, सूर्य आँखों में दृष्टिशक्ति दे, वायु प्राणशक्ति का वर्धन करे और अग्नि वाणी की शक्ति को दीप्त करे। इसीप्रकार अन्यान्य देवता भिन्न-भिन्न अङ्गों को सशक्त बनानेवाले हों। ३. **अङ्गिरसः**=अङ्गिरस **पितरः**=पितर व **सोम्यासः**=सौम्य—ये सब भी मेरे अनुकूल होकर कार्य करनेवाले हों। अङ्गिरस् मेरे अङ्गों को रसमय बनाएँ, पितर मेरा रक्षण करें व सौम्य मुझे विनीत बनाएँ। ४. इसप्रकार मेरे जीवन में सदा शुभ इच्छाएँ बनी रहें। **अपकामस्य कर्ता**=अशुभ इच्छाएँ करनेवाला व्यक्ति सदा **पापम् आर्छतु**=पाप को प्राप्त करे। अशुभ इच्छाओं का परिणाम 'अशुभ कर्म' तो होगा ही।

भावार्थ—मेरी इच्छाएँ सदा शुभ बनी रहें, जिससे शुभ को करता हुआ मैं चमकूँ और शक्तिशाली बनूँ।

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ब्रह्मद्विट् पुरुषों का निरोध

अतीव यो मरुतो मन्यते नो ब्रह्म वा यो निन्दिषत्क्रियमाणम्।
तपूंषि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विषं द्यौरभिसन्तपाति ॥ ६ ॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **यः**=जो काम-क्रोधादि **नः**=हमारा शत्रु अतीव **मन्यते**=अपने को बहुत

---

१. अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम्। आतिथ्यं वैश्वदेवञ्च इष्टमित्यभिधीयते ॥
२. वापीकूपतडागादिदेवतायतनानि च। अन्नप्रदानमारामाः पूर्तमित्यभिधीयते ॥

ही प्रबल मानता है और हमपर आक्रमण करता है **वा**=तथा **यः**=जो **ब्रह्म**=मन्त्रों द्वारा **क्रियमाणम्**=की जाती हुई स्तुतियों को **निन्दिषत्**=निन्दित करता है, **तस्मै**=उसके लिए **तपूंषि**=तप व तापक अस्त्र **वृजिनानि**=बाधक हों। तप के द्वारा काम आदि शत्रुओं को हम दूर कर पाएँ और राजा तापक अस्त्रों द्वारा स्तुति आदि कार्यों की निन्दा व विघात करनेवालों को राष्ट्र में से दूर करे। २. **ब्रह्मद्विषम्**=ज्ञान व प्रभुस्तवन में प्रीति न रखनेवाले को **द्यौः**=ज्ञान का प्रकाश **अभिसन्तपति**=पीड़ित करता है। जैसे उल्लू के लिए सूर्य का प्रकाश सुख देनेवाला नहीं होता, इसीप्रकार ब्रह्मद्विट् के लिए ज्ञान का प्रकाश सुखद नहीं होता। ये ब्रह्मद्विट् लोग ब्रह्म-प्राप्ति में तत्पर अन्य लोगों को भी निरुत्साहित करने का प्रयत्न करते हैं। राजा को चाहिए कि इन लोगों को दण्डित करे। उचित दण्ड के द्वारा इन्हें ज्ञान व स्तुति की निन्दा के कार्य से रोके। इसीप्रकार तप हमारे जीवन पर आक्रमण करनेवाले काम आदि शत्रुओं को रोकनेवाला हो।

भावार्थ—तप काम-क्रोधादि को रोके और राजा के तापक अस्त्र ब्रह्मद्विट् लोगों को नियंत्रित करनेवाले हों।

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**यमसादनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अग्निदूत-अरंकृत

सप्त प्राणानष्टौ मन्यस्तांस्ते वृश्चामि ब्रह्मणा।
अया यमस्य सादनमग्निदूतो अरङ्कृतः ॥ ७ ॥

१. तेरे **सप्त प्राणान्**=सप्त शीर्षण्य प्राणों को 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्—कानों, नासिका-छिद्रों, आँखों व मुख को' **ब्रह्मणा**=ज्ञान के द्वारा **वृश्चामि**=सब विषयों से पृथक् करता हूँ (Cut asunder)। ज्ञान प्राप्त करके तू आँख आदि को विषयासक्त नहीं होने देता। इसप्रकार तेरे इन सप्त प्राणों को विषयों से पृथक् करके मैं **तान्**=उन **ते**=तेरे **अष्टौ**=आठों **मन्यः**=(मान्या= knowledge) ज्ञान-केन्द्रों को—शरीरस्थ आठों चक्रों को (अष्टाचक्रा नवद्वारा) **वृश्चामि**=छीलकर तीक्ष्ण बनाता हूँ—उनके मलों को दूर करके उन्हें दीप्त करता हूँ। २. इसप्रकार इन्द्रियों के विषयों से पृथक् होने तथा ज्ञानकेन्द्रों के दीप्त होने पर तू **यमस्य**=उस नियामक प्रभु के **सादनम्**=गृह को **अया**=प्राप्त होता है—तू ब्रह्मस्थ बनता है। वह तू जो **अग्निदूतः**=उस अग्निरूप दूतवाला है, अर्थात् प्रभु से सन्देश प्राप्त करनेवाला है और **अरंकृतः**=ज्ञान व दिव्य गुणों से अलंकृत हुआ है। ३. 'मन को मार लेना' इस वाक्यांश का अर्थ मन को काबू कर लेना है। इसीप्रकार इन्द्रियों व ज्ञानकेन्द्रों के वृश्चन (cutting) का भाव इन्हें पूर्णरूप से वश में कर लेना ही है। जो इन्हें ज्ञान के द्वारा स्वाधीन कर लेता है वह अपने जीवन को सद्गुणों से अलंकृत करनेवाला होता है। यह प्रभु को प्राप्त करता है।

भावार्थ—इन्द्रियों के संयम और ज्ञानकेन्द्रों के दीप्त होने से मनुष्य अपने जीवन को दिव्य गुणों से अलंकृत करके अन्त में प्रभु को पा लेता है।

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ज्ञानपूर्वक क्रियाएँ

आ दधामि ते पदं समिद्धे जातवेदसि। अग्निः शरीरं वेवेष्ट्वसुं वागपि गच्छतु ॥ ८ ॥

१. **ते पदम्**=तेरे पाँव को—तेरी गति को **समिद्धे**=दीप्त **जातवेदसि**=ज्ञानाग्नि में (सब विषयों के जाननेवाले ज्ञान में) **आदधामि**=स्थापित करता हूँ, अर्थात् तेरे सब कार्य ज्ञानपूर्वक हों। ज्ञानपूर्वक होनेवाले कर्म पवित्र होते हैं। २. **अग्निः**=यह ज्ञानाग्नि **शरीरम्**=तेरे शरीर को **वेवेष्टु**=व्याप्त

करले, अर्थात् तेरी सारी ज्ञानेन्द्रियाँ खुद ही ज्ञान-प्राप्ति में लगी हों और **वाक्**=तेरी वाणी **असुम् अपि गच्छतु**=प्राणशक्ति की ओर जानेवाली हो, तेरी वाणी में शक्ति हो। वस्तुतः जो पुरुष ज्ञानी बनता है, उसकी वाणी में बल होता है। वह शब्दों का प्रयोग इसप्रकार करता है कि वे प्रभावजनक होते हैं।

भावार्थ—हमारी सब क्रियाएँ ज्ञानपूर्वक हों। ज्ञान से हमारा शरीर व्याप्त हो और हमारी वाणी में बल हो।

विशेष—सूक्त की मूल भावना यही है कि हमारा जीवन दीप्त होगा तो हमें संसार भी दीप्त व चमकता हुआ प्रतीत होगा, अतः हमारा सारा प्रयत्न जीवन को दीप्त बनाने में लगे। अगले सूक्त में जीवन को दीप्त बनाने के लिए कुछ नियमों का प्रतिपादन किया गया है। उनका पालन करनेवाला 'अथर्वा'=न डाँवाडोल वृत्तिवाला पुरुष सूक्त का ऋषि है। यह दीर्घ व सुन्दर जीवन के लिए प्रार्थना करता हुआ कहता है कि—

१३. [त्रयोदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गोघृत द्वारा अग्निहोत्र

आयुर्दा अग्ने जरसं वृणानो घृतप्रतीको घृतपृष्ठो अग्ने।
घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रानभि रक्षतादिमम्॥ १ ॥

१. हे **अग्ने**=अग्निकुण्ड में स्थापित होनेवाले अग्ने! तू **आयुर्दाः**=हमें दीर्घायुष्य देनेवाला है। हमारे लिए **जरसम्**=पूर्ण जरा-अवस्था का **वृणानः**=वरण करनेवाला है। अग्निहोत्र करते हुए हम युवावस्था में ही समाप्त जीवनवाले नहीं हो जाते, अपितु हम जरावस्थापर्यन्त आयुष्य को प्राप्त करते हैं। २. हे अग्ने! तू **घृतप्रतीकः**=घृत के मुखवाला है और **घृतपृष्ठः**=घृत की पृष्ठवाला है। अग्निहोत्र में आरम्भिक आहुतियाँ घृत की दी जाती हैं, अन्तिम आहुतियाँ भी घृत की ही होती हैं, बीच में अन्य हविर्द्रव्यों की आहुतियाँ होती हैं। ३. हे अग्ने! तू **मधु**=अत्यन्त मधुर **चारु**=सुन्दर **गव्यं घृतम्**=गौ के घृत को **पीत्वा**=पीकर **इमम्**=इस अग्निहोत्र करनेवाले को इसप्रकार **अभिरक्षतात्**=शरीर व मानस व्याधियों व आधियों से सुरक्षित कर **इव**=जैसे **पिता पुत्रान्**=पिता पुत्रों का रक्षण करता है। गोघृत प्रबल कृमिनाशक है। इसके अग्निहोत्र से घर में रोग-कृमियों का रहना सम्भव नहीं रहता एवं यह गोघृत मनुष्य को नीरोग बनाता है।

भावार्थ—अग्निहोत्र में गोघृत का प्रयोग करें तो यह हमें सब रोगों से सुरक्षित करता है। रोगकृमियों का नाश करके यह हमें नीरोग बनाता है। अग्निहोत्र में आरम्भ में भी घृत की आहुतियाँ होती हैं और समाप्ति पर भी। बीच में अन्य हव्य पदार्थ डाले जाते हैं।

टिप्पणी—**'घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यम्'**—शब्द इस बात को भी स्पष्ट कर रहे हैं कि दीर्घायुष्य के लिए गोघृत का प्रयोग अत्यावश्यक है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वस्त्र

परि धत्त धत्त नो वर्चसेमं जरामृत्युं कृणुत दीर्घमायुः।
बृहस्पतिः प्रायच्छद्वास एतत्सोमाय राज्ञे परिधातवा उ॥ २ ॥

१. पूर्वमन्त्र में दीर्घायुष्य के लिए गोघृत के प्रयोग का विधान हुआ है। प्रस्तुत मन्त्र में उत्तम वस्त्र धारण का वर्णन है। वस्त्र भी दीर्घायुष्य के दृष्टिकोण से ही धारण करने चाहिएँ। **इमम्**=इस

बालक को **परिधत्त (परिधापयत)**=वस्त्र धारण कराओ। **नः**=हमारे इस सन्तान को **वर्चसा धत्त**=वर्चस् के दृष्टिकोण से वस्त्र धारण कराओ। वस्त्र इसप्रकार के होने चाहिएँ जो वर्चस् (शक्ति) के रक्षण में सहायक हों। इसप्रकार इस बालक के लिए **जरामृत्युम्**=भरपूर जरावस्था में होनेवाली मृत्यु से बचाओ तथा **दीर्घम् आयुः**=दीर्घ जीवन को **कृणुत**=करो। वस्त्र इसप्रकार के हों कि शक्ति के रक्षण के कारण दीर्घायुष्य देनेवाले हों। २. **बृहस्पतिः**=ज्ञानी आचार्य **सोमाय**=सौम्य स्वभाववाले **राज्ञे**=बड़े नियमित (Regulated) जीवनवाले विद्यार्थी के लिए **परिधातवे**=धारण करने के लिए **एतत् वासः**=इस वस्त्र को **उ**=निश्चय से **प्रायच्छत्**=देते हैं। आचार्य विद्यार्थी को 'किस प्रकार के वस्त्र पहने और किस प्रकार के नहीं' इस बात का अच्छी प्रकार से ज्ञान दे देते हैं। वस्त्रों को 'सोम राजा' के लिए देते हैं, इन शब्दों में यहाँ यह संकेत स्पष्ट है कि वस्त्रों से अभिमान न हो और साथ ही कार्यों को नियमितरूप से कर सकने में वे रुकावट न बनें। इसी को 'सौम्य व सरल वेश' कहते हैं। आचार्य विद्यार्थी का ऐसा ही वेश नियत करें और वह अपने अगले जीवन में इसी को अपनाने का प्रयत्न करे।

भावार्थ—वस्त्रों का मुख्योद्देश्य नीरोगता द्वारा शक्ति को स्थिर रखते हुए दीर्घायुष्य प्राप्त कराना है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गोपालन व क्रियाशील जीवन

परीदं वासो अधिथाः स्वस्तयेऽभूर्गृष्टीनामभिशस्तिपा उ।
शतं च जीव शरदः पुरूची रायश्च पोषमुपसंव्ययस्व॥ ३॥

१. आचार्य विद्यार्थी से कहते हैं कि **इदम् वासः**=इस वस्त्र को **स्वस्तये**=कल्याण के लिए **परि+अधिथाः**=धारण करनेवाला बन **उ**=और तू **गृष्टीनाम्**=एक बार ब्यायी गौओं का **अभिशस्तिपा**=हिंसा से रक्षण करनेवाला **अभूः**=हो। आचार्य जहाँ विद्यार्थी को ज्ञान देता है, वहाँ सौम्य तथा स्वास्थ्यजनक वेश को धारण करने का तथा गोपालन का भी निर्देश करता है। २. **च**=और इसप्रकार तू **शतं शरदः**=सौ वर्षपर्यन्त **जीव**=जीनेवाला हो **च**=तथा **रायः पोषम्**=धन के पोषण को **उपसंव्ययस्व**=धारण कर। ये सौ शरद् ऋतुएँ तेरे लिए **पुरूचीः**=(पुरु अञ्च) व्यापक गतिवाली हों। तू खूब क्रियाशील बना रहे, खाट पर लेटकर जीवन के दिन न काटे। इस क्रियाशीलता के द्वारा ही तू धन का अर्जन करनेवाला हो।

भावार्थ—हमारे वस्त्र कल्याणकर हों। हम गौओं का पालन करें। क्रियाशील दीर्घजीवन में दरिद्रता से दूर रहें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पाषाणवत् दृढ़ शरीर

एह्यश्मानमा तिष्ठाश्मा भवतु ते तनूः। कृण्वन्तु विश्वेदेवा आयुष्टे शरदः शतम्॥ ४॥

१. आचार्य ब्रह्मचारी से कहते हैं—**एहि**=आओ, **अश्मानम् आतिष्ठ**=इस पाषाण पर स्थित होओ। **ते तनूः**=तेरा शरीर **अश्मा भवतु**=पाषाण-जैसा ही दृढ़ बन जाए। इस पाषाण से प्रेरणा लेकर अपने शरीर को इसीप्रकार दृढ़ बनाने का तेरा संकल्प हो। २. **विश्वेदेवाः**=सब देव **ते आयुः**=तेरे जीवन को **शतं शरदः**=सौ शरद् ऋतुओं तक चलनेवाला **कृण्वन्तु**=करें। सूर्य आदि देवों के सम्पर्क में रहता हुआ तू सदा स्वस्थ हो तथा दिव्य गुण तेरे मन को सब आयुष्य-विघातक भावों से रहित करनेवाले हों।

भावार्थ—दीर्घ जीवन के लिए आवश्यक है कि हम (क) शरीर को दृढ़ बनाने की भावनावाले हों। (ख) सूर्यादि देवों के सम्पर्क में जीवन बिताएँ, (ग) दिव्य गुणों को मन में स्थान दें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥

कई भाई

यस्य ते वासः प्रथमवास्यं१ हरामस्तं त्वा विश्वेऽवन्तु देवाः।
तं त्वा भ्रातरः सुवृधा वर्धमानमनु जायन्तां बहवः सुजातम्॥ ५॥

१. **यस्य ते**=जिस तेरे **प्रथमवास्यम्**=धारण करने योग्यों में प्रथम, अर्थात् उत्तम **वासः**=वस्त्र को **हरामः**=प्राप्त करते हैं, **तं त्वा**=उस तुझको **विश्वेदेवाः**=सब देव **अवन्तु**=रक्षित करें। वस्त्र उत्तम हों, दीर्घायु के लिए किसी भी प्रकार से विघातक न हों। सूर्य-किरणों के प्रभाव को व वायु-प्रवेश को एकदम रोक देनेवाले न हों। २. **सुजातम्**=इसप्रकार उत्तम विकासवाले **वर्धमानम्**=दिन प्रतिदिन बढ़ते हुए **तं त्वा अनु**=उस तेरे पश्चात् **सुवृधा**=उत्तम वृद्धिवाले **बहवः**=बहुत **भ्रातरः**=भाई **जायन्ताम्**=उत्पन्न हों। जब प्रथम बालक का ठीक विकास हो जाए तभी दूसरे बालक का उत्पन्न होना ठीक है। 'सुजातम् अनु' शब्दों से यह भाव बहुत अच्छी प्रकार संकेतित हो रहा है।

भावार्थ—वस्त्र इसप्रकार के हों कि सूर्यादि देवों के साथ निरन्तर सम्पर्क बना रहे। ऐसे ही वस्त्र स्वास्थ्य वर्धक होते हैं।

विशेष—सूक्त के प्रथम मन्त्र में गोघृत से अग्निहोत्र का विधान है, इसप्रकार गोघृत को दीर्घायुष्य के लिए आवश्यक बताया है। द्वितीय मन्त्र में 'सौम्य वेश' का संकेत है। तृतीय मन्त्र में गोपालन व क्रियाशीलता द्वारा धनार्जन को दीर्घ जीवन का साधक बताया गया है। चतुर्थ मन्त्र में शरीर को पाषाणतुल्य दृढ बनाने का उपदेश है। पाँचवें मन्त्र में सब देवों की अनुकूलता की प्रार्थना करके दो सन्तानों के बीच में कम-से-कम तीन-चार वर्ष का अन्तर होना आवश्यक बताया गया है। अब अगले सूक्त में घर को, आनेवाली आपत्तियों से, बचाने के उपायों का निर्देश है। इन विपत्तियों को नष्ट करनेवाला 'चातन' ही सूक्त का ऋषि है 'चातयति नाशयति'। यह संकल्प करता है कि—

१४. [चतुर्दशं सूक्तम्]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निभूतपतीन्द्रा मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पत्नी पर घर का निर्भर

निःसालां धृष्णुं धिषणमेकवाद्यां जिघत्स्व१म्।
सर्वाश्चण्डस्य नप्त्यो१ नाशयामः सदान्वाः॥ १॥

१. घर का बनना बहुत कुछ पत्नी पर निर्भर करता है। 'गृहिणी गृहमुच्यते' वस्तुतः गृहिणी ही घर है, अतः गृहिणी में जो-जो दोष सम्भव हैं उन सबका संकेत करते हुए कहते हैं कि निम्न दोषों से युक्त पत्नी तो पत्नी नहीं है, वह तो पिशाची है, उसे हम घर से **नाशयामः**=(णश अदर्शने) दूर करते हैं। (क) **निःसालाम्**=(निःसालयति निर्गमयति अपसारयति-सा०) जो लड़-झगड़कर बन्धुओं को घर से दूर करती है। पति के भाई आदि के साथ विरोध करके उनकी फूट का कारण बनती है अथवा 'सालात् निर्गता' सालवृक्ष से भी उन्नत शरीरवाली, अर्थात् बहुत बड़े आकारवाली है। (ख) **धृष्णुम्**=धर्षणशील है, भय उत्पन्न करनेवाली है, (ग)

धिषणम्=(धृष्णोति धृषेर्धिष च संज्ञायाम्) बड़ों का निरादर करनेवाली है। 'बड़ों का निरादर करना' घर के अमङ्गल का हेतु होता है, (घ) **एकवाद्याम्**=(एकप्रकारं परषरूपं वाद्यं वचनं यस्याः) कठोर बोलनेवाली व एक ही बात की रट लगानेवाली—जिद्दी स्वभाव की है,(ङ) **जिघत्स्वम्**=सर्वदा भक्षणशीला है, (च) और जो **सर्वाः**=सब **चण्डस्य नप्त्यः**=क्रोध की सन्तान है, अर्थात् क्रोध से भरी हुई है,(छ) **सदान्वाः**=(सदा नोनूयामानाः, आक्रोशकारिणीः) सदा बोलती ही रहती है। २. वस्तुतः पत्नी का आदर्श यही है कि (क) वह घर में सबके साथ मधुर व्यवहार करनेवाली हो तथा बहुत लम्बे कद की न हो (ख)अपने व्यवहार और शब्दों से भय पैदा न करे, प्रेम का वातावरण रक्खे, (ग) बड़ों का निरादर न करे (घ) कठोर न बोले, न जिद्दी हो, (ङ) सबको खिलाकर खाये, उसमें चटोरापन न हो, (च) क्रोधी स्वभाव की न होकर प्रसन्न स्वभाववाली हो, (छ) बहुत न बोलती हो, सदा नपे-तुले शब्दों का ही प्रयोग करती हो, ऐसी ही पत्नी घर का सुन्दर निर्माण कर पाती है। इसके विपरीत तो घर के विनाश का ही कारण बनती है। वह गृहिणी नहीं, पिशाचनी होती है। वह पति के भी अल्पायुष्य का कारण बनती है।

भावार्थ—पत्नी उत्तम है तो घर बनता है। पत्नी के दोष से घर का विनाश होता है।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निभूतपतीन्द्रा मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

गोष्ठ, अक्ष, उपानस व गृहों से अलग

निर्वो गोष्ठादजामसि निरक्षान्निरुपानसात्।
निर्वो मगुन्द्या दुहितरो गृहेभ्यश्चातयामहे॥ २॥

१. गतमन्त्र में स्त्री-दोषों का चित्रण हुआ है। उन दोषों से युक्त स्त्रियों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि **वः**=तुम्हें **गोष्ठात्**=गोष्ठ से **निःअजामसि**=बाहर करते हैं। गोष्ठ शब्द का अर्थ पारिवारिक सम्बन्ध (Family connection) है। ऐसी स्त्रियों के साथ पारिवारिक सम्बन्ध नहीं रखने चाहिएँ। २. **अक्षात्**=अक्ष से तुम्हें **निः**=पृथक् करते हैं। अक्ष शब्द का अर्थ 'ज्ञान' (knowledge) है। ३. **उपानसात्**=उपानस से **निः**=इन्हें पृथक् करते हैं। 'उपानस्' का अर्थ है—गाड़ी में होनेवाला स्थान (The Space in a carriage)। इस स्थान से इन्हें पृथक् करते हैं, अर्थात् इनके साथ गाड़ी में यात्रा नहीं करते हैं। ४. 'मन्' धातु से 'उ' प्रत्यय करके 'म' शब्द बनता है। इसप्रकार 'म' का अर्थ ज्ञान है। यहाँ ज्ञान से उत्पन्न होनेवाले आनन्द को 'म' कहा गया है। उस सब 'मम्' आनन्द (Happiness) को जो 'मुन्द्रयति' झुठला देती है, समाप्त कर देती है वह 'मगुंद्री' है। इसपर बल देन के लिए मगुन्द्री की दुहिता(आनन्द को नष्ट करने-वाली की बच्ची) इन शब्दों का प्रयोग हुआ है। ये **मगुन्द्याः दुहितरः**=ज्ञानजनित आनन्द को बुरी तरह नष्ट करनेवाली स्त्रियो! **वः**=तुम्हें **गृहेभ्यः**=घरों से **निःचातयामहे**=बाहर विनष्ट करते हैं।

भावार्थ—गतमन्त्र में वर्णित दोषोंवाली स्त्रियों के साथ पारिवारिक सम्बन्ध स्थापित न किये जाएँ, उन्हें ज्ञान-चर्चाओं से पृथक् रक्खा जाए। उनके साथ गाड़ी में यात्रा न की जाए और इन ज्ञानविरोधिनी स्त्रियों को घरों से पृथक् ही रक्खा जाए।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निभूतपतीन्द्रा मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अरायी, सेदि, यातुधानी

असौ यो अधराद् गृहस्तत्र सन्त्वराय्यः।
तत्र सेदिर्न्युच्यतु सर्वाश्च यातुधान्यः॥ ३॥

१. **असौ**=वह **यः**=जो **अधरात् गृहः**=नीचे पाताल में घर है **तत्र**=वहाँ **अराय्यः**=न देने की वृत्तिवाली गृहिणियाँ **सन्तु**=हों। 'न देना' यह यज्ञ न करने का उपलक्षण है। यज्ञ में 'दान' है। 'न देना' यज्ञ से दूर होना है। यज्ञ से स्वर्गलोक मिलता है तो अयज्ञ से पाताललोक (असुर्य-लोक)। २. **तत्र**=वहाँ असुर्यलोक में ही **सेदिः**=(सादयति नाशयति इति सेदिः) नाश की वृत्तिवाली, औरों के कार्यों को ध्वस्त करनेवाली स्त्री का **न्युच्यतु**=निश्चय से समवाय हो—सम्बन्ध हो। यह सेदि भी उसी असुर्यलोक में निवास करे। ३. **च**=और **सर्वाः**=सब **यातुधान्यः**=पीड़ा का आधान करनेवाली स्त्रियाँ भी वहीं असुर्यलोक में निवास करें।

भावार्थ—अदान की वृत्ति, ध्वंस व नाश की वृत्ति तथा पीड़ा देने की वृत्ति—ये सब हमें असुर्यलोक में ले-जानेवाली होती हैं।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निभूतपतीन्द्रा मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्विराड्बृहती** ॥

वाग्दोष का दूरीकरण

भूतपतिर्निरजत्विन्द्रश्चेतः सदान्वाः।
गृहस्य बुध्न आसीनास्ता इन्द्रो वज्रेणाधि तिष्ठतु॥ ४॥

१. **भूतपतिः**=सब प्राणियों का रक्षक **च**=वह **इन्द्रः**=(इरां दृणाति) भूमि का, भौतिक भोगों का विदारक देव इन्द्र **सदान्वाः**=(सदा नोनूयमाना आक्रोशकारिणीः) सदा चिल्लाने व अपशब्द बोलनेवाली इन स्त्रियों को **इतः**=यहाँ—मेरे घर से **निरजतु**=बाहर क्षिप्त करे। मेरे घर से इनका सम्बन्ध न हो। २. **गृहस्य**=घर के **बुध्ने**=मूल में **आसीनाः**=बैठी हुई **ताः**=उनको **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **वज्रेण**=क्रियाशीलता रूप वज्र से **अधितिष्ठतु**=अधिष्ठित करे। घर का आधार गृहिणियाँ ही होती हैं, इसी से उन्हें 'घर के आधार में बैठी हुई' कहा गया है। इनमें दोष दो कारणों से उत्पन्न होते हैं—(क) एक तो पुरुष की अजितेन्द्रियता से और (ख) दूसरे अकर्मण्यता से। 'इन्द्र' शब्द प्रथम कारण का निराकरण करता है और 'वज्रेण' दूसरे कारण का। पुरुष जितेन्द्रिय हो तथा स्त्रियों को अकर्मण्य न होने दे तो स्त्रियाँ व्यर्थ की बातों से ऊपर उठ जाती हैं।

भावार्थ—पुरुष जितेन्द्रिय बनकर स्त्रियों को कार्य में रत रखने से उनके वाग्दोषों को दूर कर पाता है।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निभूतपतीन्द्रा मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आक्रोशकारिणी का विनाश

यदि स्थ क्षैत्रियाणां यदि वा पुरुषेषिताः।
यदि स्थ दस्युभ्यो जाता नश्यतेतः सदान्वाः॥ ५॥

१. हे **सदान्वाः**=(सदा नोनूयमानाः) सदा अपशब्द बोलनेवाली स्त्रियो! **इतः**=यहाँ से—हमारे घर से **नश्यत**=तुम अदृष्ट हो जाओ। **यदि**=चाहे तुम **क्षेत्रियाणाम् स्थ**=क्षेत्रिय रोगों की निदानभूत हो, **यदि वा**=अथवा **पुरुष इषिताः**=किसी अन्य पुरुष से व्यर्थ की चुग़लियों से उत्तेजित (excited, animated) कर दी गई हो। अथवा **यदि**=यदि तुम **दस्युभ्यः जाताः**=नाशक वृत्तियों से ऐसी बन गई हो। २. स्त्रियों में आक्रोश वृत्ति पैदा होने के तीन कारण हैं—(क) कोई क्षेत्रिय रोग, (ख) किसी पुरुष से भड़काया जाना, (ग) कोई बड़ी हानि हो जाना (दस्यु)। किसी भी कारण से यह दोष उत्पन्न हो जाए तो उस स्त्री का दूर होना ही ठीक है।

भावार्थ—आक्रोशकारिणी स्त्री का घर से दूर होना ही ठीक है।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निभूतपतीन्द्रा मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

संग्राम-विजय

परि धामान्यासामाशुर्गाष्ठामिवासरम्। अजैषं सर्वानाजीन्वो नश्यतेतः सदान्वाः ॥ ६ ॥

१. **इव**=जैसे **आशुः**=शीघ्रगामी अश्व **गाष्ठाम्**=(परिधावनेन ग्लानः सन् यत्र तिष्ठति सा **गाष्ठाः**=आज्यन्तः काष्ठाः) लक्ष्य स्थान पर पहुँचता है, इसीप्रकार मैं **आसाम्**=इन आक्रोशकारिणी स्त्रियों के **धामानि**=तेजों को **परि असरम्**=आक्रान्त करता हूँ। हे आक्रोश करनेवाली स्त्रियो! **वः**=तुम्हारे **सर्वान् आजीन्**=सब संग्रामों को **अजैषम्**=मैं जीतता हूँ—तुम्हें पराजित करता हूँ, अतः हे **सदान्वाः**=सदा आक्रोशकारिणी स्त्रियो! **इतः**=यहाँ से **नश्यत**=नष्ट हो जाओ। पुरुषों को चाहिए कि स्त्रियों की इस आक्रोशवृत्ति को नष्ट करने के लिए तेजस्विता से उन्हें प्रभावित करने का प्रयत्न करें। २. स्त्री का सबसे बड़ा दोष 'सदा बोलते रहना व कठोर बोलना है, अतः इनके इन दोषों को दूर करना आवश्यक है।

भावार्थ—पति पत्नी के आक्रोश को अपनी तेजस्विता से दूर करे। इसप्रकार गृहदोषों को दूर करनेवाला 'चातन' बने।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त गृहिणी के दोषा से घर के दूषण का चित्रण करके गृहिणी के दोषों को दूर करने पर बल देता है। दोषों को दूर करके अपनी उन्नति करनेवाला 'ब्रह्मा' (वृहि वृद्धौ) अगले सूक्तों का ऋषि है। यह सर्वप्रथम अभय की प्रार्थना करता है। दोषयुक्त जीवन में ही भय है, निर्दोष जीवन निर्भय है, अतः दोषों का नाश करनेवाला 'चातन' अब वृद्धि को प्राप्त करके 'ब्रह्मा' हो जाता है और प्रार्थना करता है—

१५. [पञ्चदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**त्रिपाद्गायत्री** ॥

द्युलोक और पृथिवीलोक

यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ १ ॥

१. **यथा**=जैसे **द्यौः च पृथिवी च**=द्युलोक और पृथिवीलोक **न बिभीतः**=भयभीत नहीं होते और अतएव **न रिष्यतः**=हिंसित नहीं होते। **एव**=इसीप्रकार **मे प्राण**=हे मेरे प्राण! तू भी **मा**=मत **बिभेः**=डर। २. द्युलोक वृष्टि के द्वारा पृथिवी का पोषण करता है और पृथिवी पदार्थों को द्युलोक में भेजती है। ये दोनों लोक इसीप्रकार परस्पर सम्बद्ध हैं, जैसे शरीर में 'मस्तिष्क और शरीर'। स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क का निवास होता है और मस्तिष्क का स्वास्थ्य शरीर को स्वस्थ बनाये रखता है। जैसे एक घर में बच्चों के माता-पिता का परस्पर सम्बन्ध है, उसी प्रकार द्युलोक 'पिता' है और पृथिवी माता। मस्तिष्क व शरीर के समन्वय से जीवन उत्तम बनता है। माता-पिता के समन्वय में सन्तान सुन्दर होती है। इसीप्रकार द्युलोक व पृथिवी लोक के सम्मिलित होकर कार्य करने पर दुर्भिक्ष आदि का भय नहीं रहता। मिले हुए द्युलोक व पृथिवीलोक हिंसित नहीं होते। ३. जिस प्रकार मिले हुए द्युलोक व पृथिवीलोक भयरहित व अंहिसित हैं, इसीप्रकार मेरा प्राण भी निर्भय व अहिंसित हो। भय में ही हिंसा है। भय शरीर को विध्वस्त करता हुआ मस्तिष्क को भी समाप्त कर देता है।

भावार्थ—मेरा प्राण 'द्युलोक व पृथिवीलोक' की भाँति निर्भय हो।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—प्राणः ॥ छन्दः—त्रिपाद्गायत्री ॥

दिन और रात

यथाहश्च रात्री च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ २ ॥

१. **यथा**=जैसे **अहः च रात्री च**=दिन और रात **न बिभीतः**=नहीं डरते हैं और परिणामतः **न रिष्यतः**=न ही हिंसित होते हैं, **एव**=इसीप्रकार **मे प्राण**=हे मेरे प्राण! **मा बिभेः**=तू भयभीत मत हो। २. दिन और रात्रि परस्पर सम्बद्ध हैं। दिन का सूर्य अस्त होता हुआ रात्रि के समय अपने प्रकाश को अग्नि में रख देता है और दिन का प्रारम्भ होने पर अग्नि अपने प्रकाश को पुनः सूर्य को लौटा देती है। इसप्रकार परस्पर सम्बद्ध ये दिन-रात निर्भय व अहिंसित हैं। दिन में जितना अधिक श्रम किया जाए, रात्रि उतनी ही अधिक रमयित्री हो जाती है। दिन 'अहन्' हो। इसका एक क्षण भी **हत**=विनष्ट न किया जाए तो रात्रि सुषुप्ति का आनन्द देती है। रात्रि में नींद ठीक आ जाए तो दिन में मनुष्य जागृति के साथ कार्य करता है एवं परस्पर सम्बद्ध ये दिन और रात निर्भय व अहिंसित हैं। हमारा प्राण भी इसीप्रकार निर्भय व अहिंसित हो। ३. हम दिन व रात्रि के सम्बन्ध का ध्यान रखते हुए अपने प्राण को दिन व रात्रि की सन्धिवेला में वशीभूत करने का प्रयत्न करें। ऐसा करने से यह प्राण निर्भय और अहिंसित होगा।

भावार्थ—हम दिन व रात्रि के गुणों को धारण करते हुए निर्भय व अहिंसित जीवनवाले बनें।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—प्राणः ॥ छन्दः—त्रिपाद्गायत्री ॥

सूर्य और चन्द्र

यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ३ ॥

१. **यथा**=जैसे **सूर्यः च चन्द्रः च**=सूर्य और चाँद अपने मार्ग पर चलते हुए **न बिभीतः**=न भयभीत होते हैं और **न रिष्यतः**=न हिंसित होते हैं, **एव**=इसीप्रकार **मे प्राण**=हे मेरे प्राण! **मा बिभेः**=तू भयभीत मत हो। २. सूर्य और चन्द्र परस्पर सम्बद्ध होकर चलते हैं, उसी प्रकार जैसेकि दिन और रात मिलकर चलते हैं। नासिका का बायाँ स्वर 'चन्द्र स्वर' कहलाता है और दायाँ स्वर 'सूर्य स्वर' कहलाता है। जिस प्रकार इनका परस्पर सम्बन्ध है, उसी प्रकार सूर्य व चन्द्र का सम्बन्ध है। सूर्य की किरण ही तो चन्द्र को प्रकाशित करती है। सूर्य ओषधियों का परिपाक करता है और चन्द्र उनमें रस का सञ्चार करता है। सूर्य सब वनस्पतियों में अग्नितत्त्व की स्थापना करता है और चन्द्रमा सोमतत्त्व की। इसप्रकार सूर्य और चन्द्र मिलकर पूर्णता पैदा करते हैं। ३. मेरे प्राण भी सूर्य व चन्द्रतत्त्वों को अपने में बढ़ाते हुए निर्भय व अहिंसित हों। केवल सूर्य जगत् को झुलसा देता, केवल चन्द्र जमा देता। दोनों का समन्वय संसार की ठीक गति का कारण है। मेरा जीवन भी इन दोनों तत्त्वों के मेलवाला हो।

भावार्थ—जीवन में सूर्यतत्त्व व चन्द्रतत्त्व के समन्वय से हम निर्भय व अहिंसित हों।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—प्राणः ॥ छन्दः—त्रिपाद्गायत्री ॥

ब्रह्म और क्षत्र

यथा ब्रह्म च क्षत्रं च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ४ ॥

१. **यथा**=जैसे **ब्रह्म च क्षत्रं च**=ज्ञान और बल परस्पर मिले हुए **न बिभीतः**=न भयभीत होते हैं और **न**=न ही **रिष्यतः**=हिंसित होते हैं, **एव**=इसीप्रकार **मे प्राण**=हे मेरे प्राण! तू **मा बिभेः**=भयभीत मत हो। २. एक राष्ट्र में ब्राह्मणों व क्षत्रियों का समन्वय आवश्यक है। केवल

ब्राह्मणोंवाला राज्य सुरक्षित नहीं होता और केवल क्षत्रियोंवाला राज्य कभी उन्नत नहीं हो पाता—आपस के झगड़ों से ही वह समाप्त हो जाता है। शरीर में जैसे ज्ञान व बल दोनों की आवश्यकता है, उसी प्रकार राष्ट्र में ब्राह्मणों व क्षत्रियों की उपयोगिता है। ३. हम अपने जीवनों में ब्राह्मणत्व व क्षत्रियत्व दोनों का समन्वय करके निर्भय बनें और अहिंसित हों।

भावार्थ—निर्भयता व अहिंस्यता के लिए ब्राह्मणत्व व क्षत्रित्व का मेल आवश्यक है। क्षत्र व बल द्वारा हम कर्म करते हैं तो ब्रह्म व ज्ञान उन कर्मों को पवित्र कर देता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**त्रिपाद्गायत्री** ॥

सत्य और अनृत (कृषि)

यथा सत्यं चानृतं च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः॥ ५॥

१. **यथा**=जैसे **सत्यं च अनृतं च**=सत्य और अनृत अर्थात् कृषि **न बिभीतः**=न तो डरते हैं और **न रिष्यतः**=न हिंसित होते हैं। **एव**=इसीप्रकार **मे प्राण**=हे मेरे प्राण! **मा बिभेः**=तू भयभीत मत हो। २. पूर्व मन्त्रों में 'द्युलोक व पृथिवीलोक' परस्पर विरोधी न होकर एक-दूसरे के पूरक हैं। इसीप्रकार 'दिन और रात', 'सूर्य और चन्द्र' तथा 'ब्रह्म और क्षत्र' परस्पर अविरुद्ध हैं। यहाँ भी सत्य और अनृत अविरोधी ही लेने चाहिएँ, अतः 'अनृत' शब्द यहाँ असत्य-झूठ का वाचक न होकर 'कृषि' का वाचक है—(अनृतं कृषिः-कोश)। ये सत्य और कृषि न भयभीत होते हैं और न हिंसित होते हैं। कृषि में श्रम है—प्रकृति के साथ सम्पर्क है। इसमें यथासम्भव सत्यपूर्वक ही आजीविका चलती है। मन में सत्य है तो हाथों में अनृत=कृषि है। सत्य का पालन करनेवाला कृषि द्वारा ही जीविका प्राप्त करने का ध्यान करता है। इसमें वह दूसरों की हानि न करके जीवन-यात्रा चलाता है। ३. हम अपने जीवन में सत्य और कृषि को अपनाकर निर्भय व अहिंसित बनें।

भावार्थ—निर्भय जीवन के लिए मन में सत्य हो और हाथों में श्रम।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**त्रिपाद्गायत्री** ॥

भूत और भव्य

यथा भूतं च भव्यं च न बिभीतो न रिष्यतः। एवा मे प्राण मा बिभेः॥ ६॥

१. **यथा**=जैसे **भूतं च भव्यं च**=भूत और भविष्यत् **न बिभीतः**=न डरते हैं और **न रिष्यतः**=न हिंसित होते हैं, **एव**=इसीप्रकार **मे प्राण**=हे मेरे प्राण! तू भी **मा बिभेः**=भयभीत न हो। २. 'भूत' समाप्त हो चुका है, 'भविष्यत्' अभी है ही नहीं, अतः इन दोनों में भय का निवास न होकर, इसका सदा वर्त्तमान में ही निवास होता है। वस्तुतः जो व्यक्ति भूत का विचार करके उससे शिक्षा ग्रहण करता हुआ भविष्यत् का कार्य-क्रम निर्धारित करता है, उसे वर्त्तमान में कभी भयभीत नहीं होना पड़ता। 'भूत' से सीखना, 'भविष्य' के लिए दृढ़ संकल्प करना ही निर्भयता व अहिंस्यता का रहस्य है। ३. इसप्रकार हम अपने वर्त्तमान को भूत और भविष्य से जोड़कर चलेंगे तो भय से बचे रहेंगे।

भावार्थ—हम भूत से भविष्यत् का निर्माण करनेवाले बनें। भूत से शिक्षा लेकर वर्त्तमान में सन्मार्ग का आक्रमण करते हुए भविष्य को उज्ज्वल बनाएँ।

विशेष—सारा सूक्त बड़ी सुन्दरता से निर्भयता व अहिंस्यता के साधनों का उपदेश करके उत्तम जीवन का मार्ग दिखला रहा है। अगले सूक्त में भी इस उत्तम जीवन का चित्रण है—

१६. [षोडषं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**प्राणापानौ** ॥ छन्दः—**एकपदासुरीऽऽत्रिष्टुप्** ॥

दीर्घजीवन

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं स्वाहा ॥ १ ॥

१. **प्राणापानौ**=हे प्राण और अपान! (प्राक् ऊर्ध्वमुखः अनिति चेष्टत इति प्राणः, अप आवङ्मुखः अनिति इति अपानः) आप दोनों **मा**=मुझे **मृत्योः**=मृत्यु से **पातम्**=बचाओ। 'अपान' दोषों को दूर करता है और प्राण शक्ति का सञ्चार करता है। इसप्रकार प्राणापान की क्रिया से हम मृत्यु का शिकार नहीं होते। २. **स्वाहा**='स्वा वाग् आह' (तै० १.१.२.३)। मेरी वाणी सदा यही प्रार्थना करनेवाली हो। मैं सदा अपने को इसीप्रकार आत्मप्रेरणा दूँ कि प्राणापान कि शक्ति के वर्धन से मैं मृत्यु को अपने से दूर रक्खूँगा।

भावार्थ—प्राणापान की शक्ति के वर्धन से हम दीर्घजीवी बनें। ये प्राण और अपान हमें मृत्यु व रोगों से बचाते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी** ॥ छन्दः—**एकपदाऽऽसुर्युष्णिक्** ॥

श्रवणशक्ति

द्यावापृथिवी उपश्रुत्या मा पातं स्वाहा ॥ २ ॥

१. **द्यावापृथिवी**=(द्यावापृथिवीशब्देन तदन्तरालवर्तिन्यो दिशो विवक्षिताः—सा०) हे द्युलोक व पृथिवीलोक के अन्तराल में वर्त्तमान दिशाओ! आप **उपश्रुत्या**=श्रवण-शक्ति-प्रदान से **मा पातम्**=मेरे जीवन का रक्षण करो। इस श्रवण से ही तो मैं अपने ज्ञान का वर्धन करता हुआ सुन्दर व दीर्घजीवन को सिद्ध कर पाऊँगा। २. **स्वाहा**=मेरी वाणी सदा यही उच्चारण करती है कि दिशाएँ मेरी श्रोत्रशक्ति का वर्धन करनेवाली हों। 'दिशः श्रोत्रे भूत्वा कर्णौ प्राविशन्'—ये दिशाएँ श्रोत्र बनकर मेरे कानों में निवास करें।

भावार्थ—श्रोत्रशक्ति का वर्धन करता हुआ मैं सुन्दर व दीर्घजीवनवाला बनूँ। मैं दिशाओं के निर्देश को भी सनूँ। प्राची के निर्देश को सुनकर आगे बढ़ूँ, दक्षिणा से सरलता का पाठ पढ़ूँ। प्रतीची मुझे प्रत्याहार का पाठ पढ़ाए और उदीची के अनुसार मैं ऊँचा उठूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**एकपदाऽऽसुरीत्रिष्टुप्** ॥

दर्शनशक्ति

सूर्य चक्षुषा मा पाहि स्वाहा ॥ ३ ॥

१. **सूर्य**=हे सूर्य! **चक्षुषा**=दर्शनशक्ति के द्वारा **मा पाहि**=तू मेरा रक्षण कर। '**सूर्यश्चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्**'—सूर्य चक्षु बनकर मेरी आँखों में निवास करनेवाला हो। इस दर्शनशक्ति से प्रकृति में प्रभु-महिमा को देखता हुआ मैं आत्मज्ञान को प्राप्त करनेवाला बनूँ। २. **स्वाहा**=मेरी वाणी इस बात को बारम्बार कहनेवाली हो। इसका जप करता हुआ मैं आत्मप्रेरणा प्राप्त करूँ और दर्शनशक्ति को बढ़ाकर अशुभ मार्ग से बचकर शुभ मार्ग पर चलूँ। यही रक्षा का मार्ग है।

भावार्थ—मैं सूर्य की भाँति व्यापक दृष्टिवाला बनूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽसुरीगायत्री** ॥

सब दिव्य गुण

अग्ने वैश्वानर विश्वैर्मा देवैः पाहि स्वाहा ॥ ४ ॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी **वैश्वानर**=(विश्वान् नरान् नयति) सबके सञ्चालक प्रभो! **मा**=मुझे **विश्वैः देवैः**=सब दिव्य गुणों को प्राप्त कराके **पाहि**=रक्षित कीजिए। वस्तुतः प्रभु-स्मरण से सब दिव्य गुणों की प्राप्ति होती है। २. **स्वाहा**=मेरी वाणी सदा यही प्रार्थना करे। इसी जप को करता हुआ इसी बात को मैं अपने जीवन में घटानेवाला बनूँ। महादेव का स्मरण करता हुआ सब देवों को प्राप्त करने का अधिकारी बनूँ।

भावार्थ—प्रभु अग्नि है, वैश्वानर हैं। वे मुझे आगे ले-चलते हुए सब दिव्य गुणों से युक्त करेंगे।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**विश्वम्भरः** ॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽसुरीगायत्री** ॥

पोषणशक्ति

विश्वम्भर विश्वेन मा भरसा पाहि स्वाहा ॥ ५ ॥

१. हे **विश्वम्भर**=सारे विश्व का भरण-पोषण करनेवाले प्रभो! **मा**=मुझे **विश्वेन भरसा**=सम्पूर्ण पोषणशक्ति के द्वारा **पाहि**=रक्षित कीजिए। **स्वाहा**=यह मेरी उत्तम वाणी हो। इन उत्तम शब्दों में याचना करता हुआ मैं अङ्ग-प्रत्यङ्ग की पोषण शक्तिवाला होऊँ। २. प्रभु को 'विश्वम्भर' नाम से स्मरण करता हुआ मैं शरीर, मन व बुद्धि सभी का ठीक से भरण-पोषण करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—प्रभु विश्वम्भर हैं। मैं भी विश्वम्भर बनूँ। अपनी सब शक्तियों का पोषण करता हुआ सभी का भरण करनेवाला बनूँ।

विशेष—सूक्त में उत्तम जीवन का चित्रण इस रूप में हुआ है कि जिसमें रोग नहीं, दर्शनशक्ति व श्रवणशक्ति ठीक है, मन दिव्य गुणों से युक्त है और सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग शक्तिसम्पन्न हैं, वही उत्तम जीवन है। ऐसे जीवन के लिए ही अगले सूक्त में प्रार्थना है—

१७. [सप्तदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ओजः प्रभृतीनि** ॥ छन्दः—**एकपदाऽऽसुरीत्रिष्टुप्** ॥

ओजस्

ओजोऽस्योजो मे दाः स्वाहा ॥ १ ॥

१. गतसूक्त के अन्तिम मन्त्र में प्रभु को 'विश्वम्भर' कहा था—सब शक्तियों का भरण करनेवाला। उस विश्वम्भर से प्रार्थना करते हैं कि—**ओजः असि**=आप ओज हो, **मे**=मेरे लिए भी **ओजः दाः**=इस ओज को दीजिए। **स्वाहा**=(सु+आह) मेरी वाणी सदा यही शुभ प्रार्थना करनेवाली हो। २. 'ओजस्' वह शक्ति है जो सब प्रकार की वृद्धि का कारण बनती है (ओज् to increase)। इस ओज को प्राप्त करके मैं वृद्धि के मार्ग पर आगे बढ़ूँ।

भावार्थ—प्रभु ओज के पुञ्ज हैं। मैं भी प्रभु को इस रूप में स्मरण करता हुआ ओजस्वी बनूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ओजः प्रभृतीनि** ॥ छन्दः—**एकपदाऽऽसुरीत्रिष्टुप्** ॥

सहस्

सहोऽसि सहो मे दाः स्वाहा ॥ २ ॥

१. हे प्रभो! आप **सहः असि**=सहस् शक्ति के पुञ्ज हो। **मे**=मेरे लिए **सहः**=सहनशक्ति **दाः**=दीजिए। **स्वाहा**=मेरे मुख से सदा इन शुभ शब्दों का ही उच्चारण हो। २. ओजस् के होने पर मनुष्य सहस्वाला बनता है, इसीलिए ओज के बाद सहस् की प्रार्थना है। ओज की कमी

होने पर मनुष्य में सहनशक्ति भी नहीं रहती। इस सहनशक्ति के होने पर ही वास्तविक आनन्द का अनुभव होता है।

भावार्थ—प्रभु 'सहस्' हैं। मैं भी 'सहस्'-वाला बनकर प्रभु का सच्चा भक्त बनूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ओजः प्रभृतीनि** ॥ छन्दः—**एकपदाऽऽसुरीत्रिष्टुप्** ॥

बल

बलमसि बलं मे दाः स्वाहा ॥ ३ ॥

१. प्रभो! **बलम् असि**=आप बलस्वरूप हैं। **मे**=मेरे लिए **बलं दाः**=बल प्रदान कीजिए। **स्वाहा**=मेरी वाणी सदा यही शुभ प्रार्थना करनेवाली हो। २. सहनशक्ति मन को बलवान् बनाती है। सहन के अभाव में मनुष्य की शक्ति दग्ध हो जाती है। मनुष्य इस मानस बल के अनुपात में ही रोगादि शत्रुओं पर विजय पानेवाला होता है, अतः हम प्रभु को 'बल' के रूप में स्मरण करें और उससे बल की याचना करें।

भावार्थ—प्रभु 'बल' हैं। मैं भी बलवाला बनूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ओजः प्रभृतीनि** ॥ छन्दः—**एकपदाऽऽसुरीत्रिष्टुप्** ॥

आयुः

आयुरस्यायुर्मे दाः स्वाहा ॥ ४ ॥

१. हे प्रभो! आप **आयुः असि**=जीवन-ही-जीवन हो। **मे**=मेरे लिए **आयुः दाः**=जीवन दीजिए। २. जब तक 'मानस बल' बना रहता है, तब तक जीवन भी बना रहता है, अतः बल के बाद आयुष्य की प्रार्थना है। इस बल के न रहने पर आयुष्य भी समाप्त हो जाता है, इसलिए हम बल को प्राप्त करके आयुष्य की प्रार्थना करें। **स्वाहा**=हमारी वाणी इस शुभ प्रार्थना को ही करनेवाली हो।

भावार्थ—प्रकृति की ओर झुकाव आयु को क्षीण करता है। मैं प्रभुभक्त बनकर दीर्घजीवन प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ओजः प्रभृतीनि** ॥ छन्दः—**एकपदाऽऽसुरीत्रिष्टुप्** ॥

श्रोत्र

श्रोत्रमसि श्रोत्रं मे दाः स्वाहा ॥ ५ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार मुझे दीर्घजीवन तो प्राप्त हो ही, परन्तु उस दीर्घजीवन में मेरी इन्द्रियाँ क्षीणशक्ति न हो जाएँ, अतः भक्त कहता है—हे प्रभो! आप **श्रोत्रम् असि**=सम्पूर्ण श्रवणशक्ति के स्रोत हैं, **मे**=मेरे लिए **श्रोत्रं दाः**=श्रोत्रशक्ति दीजिए। **स्वाहा**=मैं सदा इस उत्तम प्रार्थना को करनेवाला बनूँ। २. दीर्घजीवन में यदि मेरी श्रवणशक्ति मेरा साथ न दे तो ज्ञानवृद्धि न कर सकता हुआ मैं उस दीर्घजीवन का क्या करूँगा, केवल खाने-पीने का जीवन तो प्रशस्त जीवन नहीं है।

भावार्थ—अपने दीर्घ जीवन में श्रोत्रशक्ति-सम्पन्न बनकर मैं बहुश्रुत बनूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ओजः प्रभृतीनि** ॥ छन्दः—**एकपदाऽऽसुरीत्रिष्टुप्** ॥

चक्षुः

चक्षुरसि चक्षुर्मे दाः स्वाहा ॥ ६ ॥

१. गतमन्त्र में वर्णित श्रोत्र के साथ चक्षु भी ज्ञान-प्राप्ति के प्रमुख साधनों में है, अतः उपासक प्रार्थना करता है कि प्रभो! आप **चक्षुः असि**=सम्पूर्ण दृष्टिशक्ति के स्रोत हैं। **मे**=मेरे

लिए **चक्षुः दाः**=दृष्टिशक्ति प्रदान कीजिए। **स्वाहा**=मैं सदा इस शुभ प्रार्थना को करनेवाला बनूँ। २. चक्षु से प्रकृति की शोभा को देखते हुए हम प्रभु की महिमा को देखनेवाले बनते हैं, अतः वही जीवन वाञ्छनीय है जिसमें दृष्टिशक्ति ठीक बनी रहे।

भावार्थ—उत्तम दृष्टिशक्ति को पाकर मैं प्रकृति में सर्वत्र प्रभु की विभूतियों का दर्शन करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ओजः प्रभृतीनि** ॥ छन्दः—**आसुर्युष्णिक्**।

परि-पाण

परिपाणमसि परिपाणं मे दाः स्वाहा ॥ ७ ॥

१. हे प्रभो! आप **परिपाणमसि**=सब ओर से रक्षा करनेवाले हैं। **मे**=मेरे लिए **परिपाणम्**=सर्वतो रक्षण को **दाः**=दीजिए। **स्वाहा**=यह शुभ प्रार्थना मेरी वाणी से सदा उच्चरित हो। २. मेरा शरीर रोगों से आक्रान्त न हो, मेरा मन रोगों से अभिभूत न हो और मेरी बुद्धि मन्दता का शिकार न हो जाए। स्वस्थ शरीर, निर्मल मन व तीव्र बुद्धिवाला बनकर मैं पूर्ण जीवन को बिताऊँ।

भावार्थ—प्रभु सब ओर से मेरे रक्षक हैं, अतः मैं रोगों व मन्दताओं से अक्रान्त हो ही कैसे सकता हूँ?

विशेष—सूक्त का भाव यह है कि हम 'ओजस्, सहस्, बल, दीर्घजीवन, श्रोत्रशक्ति व दृष्टिशक्ति' को प्राप्त करके सब ओर से अपना रक्षण करते हुए सुन्दर जीवन बिताएँ। इस सुन्दर जीवन में विघ्नरूप से आ जानेवाले शत्रुओं के विनाश की प्रार्थना से अगला सूक्त आरम्भ होता है। शत्रुनाश करनेवाला 'चातन' ही इसका ऋषि है। उसकी प्रार्थना है कि—

॥ इति तृतीयः प्रपाठकः

अथ चतुर्थः प्रपाठकः

१८. [अष्टादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदासाम्नीबृहती** ॥

भ्रातृव्य-नाश

भ्रातृव्यक्षयणमसि भ्रातृव्यचातनं मे दाः स्वाहा ॥ १ ॥

१. **भ्राताः**=भाई होते हुए जो शत्रु की भाँति आचरण करने लगता है वह 'भ्रातृव्य' है। ये आत्मीय होते हुए शत्रु बन जाते हैं। इन आत्मीय शत्रुओं से भी अशान्ति बनी रहती है। हे प्रभो! आप **भ्रातृव्यक्षयणम् असि**=मेरे आत्मीय शत्रुओं को समाप्त करनेवाले हैं। **मे**=मुझे **भ्रातृव्यचातनम्**=इन आत्मीय शत्रुओं के नाश का सामर्थ्य **दाः**=दीजिए। आपकी कृपा से मैं इन्हें समाप्त कर सकूँ। इनकी भ्रातृव्यता को समाप्त करके इन्हें भ्राता बना पाऊँ। २. **स्वाहा**=(स्वा वाक् आह) मेरी वाणी सदा ऐसी प्रार्थना करनेवाली हो कि मेरे 'भ्रातृव्य' भ्रातृव्य न रहकर भ्राता बन जाएँ, तभी वस्तुतः मैं शान्त वातावरण में जीवन को सुन्दर बना सकूँगा।

भावार्थ—प्रभु मुझे भ्रातृव्यों से होनेवाली अशान्ति से बचाने का अनुग्रह करें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदासाम्नीबृहती** ॥

सपत्न-समापन

सपत्नक्षयणमसि सपत्नचातनं मे दाः स्वाहा ॥ २ ॥

१. अनात्मीय शत्रु सपत्न कहलाते हैं। ये वस्तुतः वे हैं जो उस वस्तु के पति बनना चाहते

हैं जिसका पति मैं हूँ। उदाहरणार्थ अपने शरीर का पति मैं हूँ। जो रोगकृमि इसपर आक्रमण करके अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहते हैं, वे मेरे सपत्न हो जाते हैं। हमारे देश पर आक्रमण करके अधिपति बनने की कामनावाले हमारे सपत्न हैं। हे प्रभो! आप **सपत्नक्षयणम् असि**=सपत्नों का नाश करनेवाले हैं। **मे**=मेरे लिए भी आप **सपत्नक्षयणम्**=इन सपत्नों के नाशन को **दाः**=दीजिए। इन्हें दूर करके ही मैं जीवन में उन्नति कर सकूँगा। इनके उपद्रवों के होते हुए उन्नति सम्भव कहाँ? **स्वाहा**=मेरी वाणी इस सपत्नक्षयण की प्रार्थना करनेवाली हो। मुझे सपत्नों को दूर करने का सदा ध्यान रहे। शरीर से रोगकृमिरूप सपत्नों को दूर करके ही मैं स्वस्थ बन पाऊँगा। मन से वासनारूप सपत्नों को दूर करके ही मैं निर्मल जीवनवाला हो सकूँगा। इसीप्रकार बाह्य शत्रुओं को दूर करके ही मैं किसी भी प्रकार की उन्नति करने में समर्थ होऊँगा।

भावार्थ—प्रभु मुझे सपत्न-नाशन की शक्ति दें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदासाम्नीबृहती** ॥

अराय-चातन

अरायक्षयणमस्यरायचातनं मे दाः स्वाहा॥ ३॥

१. 'रा दाने' धातु से राय शब्द बना है। यह दान का वाचक है। न देने की वृत्ति को 'अराय' कहते हैं। हे प्रभो! आप **अरायक्षयणम् असि**=न देने की वृत्ति का ध्वंस करते हैं। प्रभु तो देने-ही-देनेवाले हैं, वहाँ 'न देने का भाव' है ही नहीं। हे प्रभो! आप **मे**=मुझे भी **अरायचातनम्**=न देने की वृत्ति के नाशन की शक्ति **दाः**=दीजिए। २. मैं सदा देनेवाला ही बनूँ। इस दान ही से तो मैं पापों का नाश (दाप्=लवने=काटना) कर पाऊँगा और यह दान ही मुझे शुद्ध बनाएगा (दैप् शोधने)। **स्वाहा**=यह कितनी शुभ प्रार्थना है कि मेरी अदानवृत्ति को नष्ट कीजिए।

भावार्थ—मैं सदा देने की वृत्तिवाला बनूँ।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदासाम्नीबृहती** ॥

मांसभक्षण निवृत्ति

पिशाचक्षयणमसि पिशाचचातनं मे दाः स्वाहा॥ ४।

१. हे प्रभो! आप **पिशाचक्षयणम् असि**=(पिशितमश्नन्ति इति) मांसभक्षण करनेवालों का विनाश करते हैं। **मे**=मेरे लिए आप **पिशाचचातनम्**=इस मांसभक्षण की वृत्ति के विनाश को **दाः**=प्राप्त कराइए। २. मैं कभी भी पर-मांस से स्व-मांस को बढ़ाने की भावनावाला न होऊँ। **स्वाहा**=(सु आह) कितने सुन्दर ये वचन हैं। मेरी भावना सदा ऐसी बनी रहे।

भावार्थ—मैं मांस-भक्षण से बचूँ।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदासाम्नीबृहती** ॥

'हित-मित-मधुर' भाषण

सदान्वाक्षयणमसि सदान्वाचातनं मे दाः स्वाहा॥ ५॥

१. **'सदा नोनूयमानाः सदान्वा'**—हर समय चीखते-चिल्लाते रहने व अपशब्द बोलने की वृत्ति 'सदान्वा' है। यह वृत्ति 'वचो गुप्ति' से ठीक विपरीत है। यह सब उन्नति का ध्वंस कर देती है। हे प्रभो! आप **सदान्वाक्षयणम् असि**=आक्रोशकारिणी वृत्ति का ध्वंस करनेवाले हैं, **मे**=मेरे लिए **सदान्वाचातनम्**=इस आक्रोशकारिणी वृत्ति को नष्ट करने की शक्ति **दाः**=दीजिए। २. मैं सदा संयत वाक् बनूँ। कभी कोई व्यर्थ का शब्द व अपशब्द मेरे मुख से न निकले। **स्वाहा**=कितनी सुन्दर है यह प्रार्थना! हे प्रभो! आपकी कृपा से मेरी वाणी सुगुप्त हो और यह

'हित-मित-मधुर' भाषण करनेवाली हो।

भावार्थ—मैं अपशब्द न बोलूँ। मेरी वाणी सूनृता हो।

विशेष—सूक्त का भाव यही है कि मैं उन्नति के विरोधी तत्त्वों को नष्ट करके आगे बढ़नेवाला बनूँ। ये ही भाव अगले सूक्त में कुछ विस्तार से हैं। उनका ऋषि 'अथर्वा' है—न डाँवाडोल होनेवाला (अ-थर्व) अथवा आत्मनिरीक्षण करनेवाला (अथ अर्वाङ्)। यह प्रार्थना करता है—

१९. [एकोनविंशम् सूक्तम्]

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्विषमात्रिपाद्गायत्री** ॥

अग्नि का तप

अग्ने यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥

१. हे **अग्ने**=(अगि गतौ) सब दोषों को गति के द्वारा भस्म करनेवाले प्रभो! **यत् ते तपः**=जो आपका तप है, **तेन**=उसके द्वारा **तं प्रति तप**=उसे तपानेवाले होओ, **यः**=जो **अस्मान् द्वेष्टि**=हमारे प्रति द्वेष करता है और परिणामतः **यं वयं द्विष्मः**=जिससे हम भी प्रीति नहीं कर पाते। २. यहाँ मन्त्र के उत्तरार्ध में 'यः' एक वचन है और 'अस्मान्' बहुवचन है। इससे स्पष्ट है कि कोई एक व्यक्ति सारी समाज का विरोध करता है, सारी समाज की उन्नति में विघातक बनता है। यदि वह साम (शान्ति से समझाना) आदि उपायों से अपनी समाज-विरोधी गतिविधियों से नहीं रुकता, तो अन्ततः समाज भी उसे अवाञ्छनीय समझने लगती है और अग्नि से—राष्ट्र-सञ्चालक से प्रार्थना करती है कि अब इसे आप ही दण्ड-सन्तप्त कीजिए। ३. समाज प्रभु से भी यही आराधना करती है कि आपमें ही सम्पूर्ण तप है—उस तप से सन्तप्त करके इसके जीवन को भी द्वेष के मल से रहित कीजिए। इसे भी कुछ ऐसी प्रेरणा प्राप्त हो कि यह अपना दोष देखे और उसके लिए उसमें पश्चात्ताप की भावना उत्पन्न हो। यह पश्चात्ताप उसे द्वेष से ऊपर उठानेवाला हो।

भावार्थ—अग्नि का तप समाज-विद्वेषी को तप्त करके उसे द्वेष के मल से रहित करे।

सूचना—'अग्नि' शरीर में वाणी है। इस वाणी का तप द्वेष की भावनाओं को दूर करनेवाला हो। प्रचारक वाणी से इसप्रकार के उपदेश करे कि उस द्वेषी का मन पश्चात्ताप की भावना से सन्तप्त हो उठे और वह द्वेष से ऊपर उठने का निश्चय कर ले।

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्विषमात्रिपाद्गायत्री** ॥

हरण

अग्ने यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ २ ॥

१. हे **अग्ने**=सब दोषों को गति के द्वारा भस्म करनेवाले प्रभो! **यत् ते हरः**=आपकी जो दोषहरण शक्ति है, **तेन**=उससे **तं प्रति हर**=उस व्यक्ति के दोष का हरण करो **यः**=जो **अस्मान् द्वेष्टि**=हम सबके साथ द्वेष करता है और इसीलिए **यं वयं द्विष्मः**=जिससे हम भी प्रीति नहीं कर पाते। २. प्रथम मन्त्र में 'तप' का उल्लेख था, प्रस्तुत मन्त्र में 'हरस्' का उल्लेख है। तप के द्वारा ही दोषों का हरण हुआ करता है। सोने को तपाकर ही उसके दोषों को दग्ध किया जाता है। इन्द्रियों के दोष भी प्राणायाम के तप से ही अपहृत होते हैं—'**प्राणायामैर्दहेद्दोषान्**'। एक पापी के हृदय में पश्चात्ताप की भावना ही उसके पाप का हरण करती है। ३. एक सन्त इस अग्नि, अर्थात् वाणी के द्वारा ही एक व्यक्ति को प्रभावित करके उसमें पश्चात्ताप की भावना

उत्पन्न करता है और उसके दोषों का हरण करता है। तप के पश्चात् ही हरण होता है।

भावार्थ—'अग्नि' पापी के हृदय में पश्चात्ताप की भावना उत्पन्न करके उसके दोषों का हरण करे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्विषमात्रिपाद्गायत्री** ॥

अर्चि-ज्ञानज्वाला

अग्ने यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥

१. हे **अग्ने**=ज्ञान की ज्योति से दीप्त प्रभो! **यत्**=जो **ते**=आपकी **अर्चिः**=ज्ञान की ज्वाला है, **तेन**=उससे **तं प्रति अर्च**=उसके अन्दर उस ज्वाला को जगाइए, जिसमें उसका सब द्वेष दग्ध हो जाए। यह ज्वाला उसमें जगाइए **यः**=जो **अस्मान् द्वेष्टि**=हमसे द्वेष करता है और परिणामतः **यम्**=जिससे **वयम्**=हम **द्विष्मः**=प्रेम नहीं कर पाते (द्विष अप्रीतौ)। २. गतमन्त्र में वर्णित हरण के लिए आवश्यक है कि उस द्वेष करनेवाले के हृदय में ज्ञान की ज्वाला दीप्त की जाए। द्वेष इसी ज्वाला में भस्मीभूत होगा। अज्ञान में ही द्वेष पनपता है। ज्ञान वह अग्नि है, जिसमें सब अशुभ वासनाएँ दग्ध हो जाती हैं।

भावार्थ—ज्ञान की ज्वाला में द्वेष की भावनाएँ दग्ध हो जाएँ। अग्नि हमारे हृदय में ज्ञानाग्नि को दीप्त करे और वहाँ यह ज्ञानज्वाला सब वासनामल को भस्म कर दे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृद्विषमात्रिपाद्गायत्री** ॥

शोचिः (ज्वाला की दीप्ति)

अग्ने यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥

१. हे **अग्ने**=ज्ञानदीप्त प्रभो! **यत्**=जो **ते**=आपकी **शोचिः**=ज्ञान-ज्वाला की दीप्ति है, **तेन**=उससे **तं प्रति शोच**=उसके जीवन में दीप्ति कीजिए **यः**=जो **अस्मान्**=हम सबके प्रति **द्वेष्टि**=द्वेष करता है और परिणामतः **वयम्**=हम भी **यम्**=जिससे **द्विष्मः**=प्रीति नहीं कर पाते। २. इन द्वेष स्वभाववाले व्यक्तियों के हृदय में ज्ञान-ज्वाला से दीप्ति उत्पन्न करके इनके द्वेषभाव को समाप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। अज्ञान द्वेष का कारण बनता है। ज्ञान की दीप्ति होते ही द्वेष की व्यर्थता स्पष्ट हो जाती है। मूर्ख ही द्वेष कर सकता है, ज्ञानी नहीं।

भावार्थ—ज्ञान की दीप्ति के द्वारा हम हृदयों को शुद्ध करके द्वेष-भावना का विनाश करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिग्विषमात्रिपाद्गायत्री** ॥

तेजस्

अग्ने यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

१. हे **अग्ने**=अग्नि के समान तेजस्वी प्रभो! **यत्**=जो **ते**=आपका **तेजः**=तेज है, **तेन**=उसके द्वारा **तम्**=उसे **अतेजसम्**=तेजहीन **कृणु**=कीजिए, **यः**=जो **अस्मान् द्वेष्टि**=हम सबके साथ द्वेष करता है **च**=और **यम्**=जिसे **वयम्**=हम भी **द्विष्मः**=अप्रीति योग्य समझते हैं। २. राष्ट्र में राजा अग्नि है। यह राजा समाज-विद्वेषियों को उचित दण्ड आदि के द्वारा निस्तेज कर दे, जिससे वे समाज को हानि न पहुँचा सकें। समाज में ज्ञानी ब्राह्मण भी अग्नि हैं। ये अपनी वाणी द्वारा ज्ञान को इस रूप में प्रसारित करें कि समाज-द्वेषी उससे प्रभावित होकर अपनी द्वेष आदि वृत्तियों के लिए ग्लानि का अनुभव करें।

भावार्थ—राजा व प्रचारक के दण्ड व वक्तृत्व के तेज के सामने द्वेष करनेवाले पुरुष निस्तेज होकर द्वेष को छोड़नेवाले हों।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त का भाव यही है कि अग्नि अपने 'तपस्, हरस्, अर्चिस्, शोचिस् व तेजस्' के द्वारा द्वेष करनेवाले पुरुषों को इस द्वेष की वृत्ति से पृथक् कर दे। अगले सूक्तों में अग्नि का स्थान 'वायु, सूर्य, चन्द्र व आपः' लेते हैं। अवशिष्ट मन्त्रभाग में किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। 'वायु' (वा गतिगन्धनयोः) गति के द्वारा सब प्रकार की बुराइयों का हिंसन करनेवाला है। 'सूर्य' (सृ गतौ, षू प्रेरणे) निरन्तर गतिवाला होता हुआ सबको कर्मों के लिए प्रेरित करता है और मानो यही कहता है कि गति ही तुम्हें चमकाएगी। 'चन्द्र' (चदि आह्लादे) आह्लादमय मनोवृत्ति का संकेत करता है। 'आपः' (आप् व्याप्तौ) व्यापकता का बोध करा रहा है। ये वायु आदि से सूचित भाव द्वेषभावना को नष्ट करनेवाले हैं। यदि एक मनुष्य 'वायु, सूर्य, चन्द्र व आपः' बनने का प्रयत्न करता है तो वह द्वेषादि के दुर्भावों में पड़ ही नहीं सकता। मुख्यरूप से ये सब शब्द प्रभु के वाचक हैं। वे प्रभु ही 'अग्नि' हैं (तदेवाग्निः), वे ही 'वायु' हैं (तद् वायुः)। वे ही 'सूर्य' हैं (तदादित्यः)। वे ही 'चन्द्रमा' हैं (तदु चन्द्रमाः)। प्रभु को ही 'आपः' कहते हैं (ता आपः)। ये प्रभु अपनी 'तपस्, हरस्, अर्चिस्, शोचिस् व तेजस्' के द्वारा द्वेषियों के द्वेष दूर करें। सूक्त इसप्रकार हैं—

२०. [विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वायुः** ॥ छन्दः—१-४ **निचृद्विषमात्रिपाद्गायत्री,**
५ भुरिग्विषमात्रिपाद्गायत्री ॥

वायु का 'तप, हरस्, अर्चिः, शोचिः व तेज'

वायो यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥
वायो यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ २ ॥
वायो यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥
वायो यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥
वायो यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

भावार्थ—वायु अपने तप आदि के द्वारा द्वेषियों के द्वेष को दूर करे। राष्ट्र में राजा भी वायु है। राजा क्रियाशीलता के द्वारा राष्ट्र में से बुराई को दूर करे। समाज में ज्ञानी प्रचारक भी 'वायु' की भाँति गतिशील होता हुआ ज्ञानप्रसार द्वारा बुराई को दूर करे।

२१. [एकविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—१-४ **निचृद्विषमात्रिपाद्गायत्री,**
५ भुरिग्विषमात्रिपाद्गायत्री ॥

सूर्य का 'तप, हरस्, अर्चिः, शोचिः व तेज'

सूर्य यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥
सूर्य यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ २ ॥
सूर्य यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥
सूर्य यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥
सूर्य यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

भावार्थ—सूर्य अपने तप आदि के द्वारा द्वेषियों के द्वेष को दूर करे। राष्ट्र में राजा भी सूर्य है। राजा सूर्य की भाँति निरन्तर गतिवाला होता हुआ सब लोगों को क्रिया-प्रवृत्त करता है, जिससे

न वे खाली हों और न ही व्यर्थ के द्वेष आदि में पड़ें। समाज में ज्ञानी प्रचारक को भी सूर्य की भाँति निरन्तर भ्रमण करते हुए ज्ञान के प्रकाश से अज्ञान-अन्धकार को दूर करना है, जिससे लोग द्वेष आदि आसुर भावनाओं को त्याज्य ही समझें।

२२. [द्वाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**चन्द्रः** ॥ छन्दः—**१-४ निचृद्विषमात्रिपाद्गायत्री, ५ भुरिग्विषमात्रिपाद्गायत्री** ॥

चन्द्र का तप, हरस्, अर्चिः, शोचिः व तेज

चन्द्र यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥
चन्द्र यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ २ ॥
चन्द्र यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥
चन्द्र यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥
चन्द्र यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

भावार्थ—सदा आह्लादमय प्रभु (चन्द्र) अपने तप आदि के द्वारा द्वेष-भावना को दूर करे। राष्ट्र में राजा भी चन्द्र है। इसे अपने आह्लादमय स्वभाव से प्रजा के स्वभाव में भी परिवर्तन करना है। समाज में एक ज्ञानी प्रचारक को भी ज्ञान-प्रसार के साथ अपनी प्रसादमयी मनोवृत्ति से सभी को द्वेष से रहित होने की प्रेरणा देनी है।

२३. [त्रयोविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**१-४ समविषमात्रिपाद्गायत्री, ५ स्वराड्विषमात्रिपाद्गायत्री** ॥

आपः का 'तप, हरस्, अर्चिः, शोचिः व तेज'

आपो यद्वस्तपस्तेन तं प्रति तपत यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥
आपो यद्वो हरस्तेन तं प्रति हरत यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ २ ॥
आपो यद्वोऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्चत यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥
आपो यद्वः शोचिस्तेन तं प्रति शोचत यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥
आपो यद्वस्तेजस्तेन तमतेजसं कृणुत यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

भावार्थ—सर्वव्यापक प्रभु अपने तप आदि के द्वारा द्वेषियों के द्वेष को दूर करे। राजा भी राष्ट्र में गुप्तचरों व अध्यक्षों के द्वारा व्यापक-सा होकर जहाँ भी द्वेष को देखे उसे दूर करने के लिए यत्नशील हो। ज्ञान-प्रचारक भी अपने हृदय को विशाल व उदार बनाता हुआ ज्ञान-प्रसार व अपने क्रियात्मक उदाहरण से लोगों को द्वेष की भावना से ऊपर उठने की प्रेरणा दे।

उन्नीस से तेईस तक पाँच सूक्तों का उपदेश

१. इन सूक्तों का भाव ऊपर दिया ही है। मूल भावना द्वेष से ऊपर उठने की है। इस द्वेष से ऊपर उठने के लिए 'अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र व आपः' बनना चाहिए। अग्नि की भाँति गतिशील (अगि गतौ), वायु की भाँति गति के द्वारा बुराइयों को दूर करनेवाला (वा गतिगन्धनयोः), सूर्य की भाँति सरणशील व कर्मप्रेरणा देनेवाला, चन्द्रमा की भाँति आह्लादमय तथा आपः की भाँति व्यापकतावाला बनने से द्वेष का प्रसङ्ग रहता ही नहीं। २. इसीप्रकार द्वेष को दूर करने के लिए 'तपस्, हरस्, अर्चिस्, शोचिस् व तेजस्' का साधन आवश्यक है। तप सब मलों का

हरण करता है। ज्ञानज्वाला जीवन को शुचि व दीप्त बनाती है। तेजस्विता के सामने द्वेषादि भाव स्वयं अभिभूत व निस्तेज हो जाते हैं, तेजस्विता के साथ द्वेष का निवास नहीं। ३. अग्नि शरीर में 'वाणी' है, वायु 'प्राण', सूर्य 'चक्षु', चन्द्र 'मन' और आपः 'रेतस्' है। 'वाणी का संयम, प्राणसाधना (प्राणायाम), तत्त्वदर्शन, मनो-निग्रह, ऊर्ध्व-रेतस्कता' द्वेष आदि सब अशुभ भावनाओं को समाप्त कर देते हैं। एवं ये पाँच साधन मनुष्य के जीवन को अत्यन्त उन्नत व सुन्दर बनानेवाले हैं। अगले सूक्त में सब अशुभ वासनाओं के विनाश का ही निर्देश है। इस सूक्त का ऋषि ब्रह्मा है—वृद्धिवाला। देवता 'आयुः' है—उत्तम जीवन। ब्रह्मा चाहता है कि—

२४. [चतुर्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**पुरउष्णिक्पङ्क्तिः** ॥

घातपात की उत्सुकता का दूर होना

शेर॑भक॒ शेर॑भ॒ पुन॑र्वो यन्तु या॒तवः॒ पुन॒र्हे॑तिः किमीदिनः।
यस्य॒ स्थ तम॑त्त॒ यो वः॒ प्राहै॒त्तम॑त्त॒ स्वा मां॒सान्य॑त्त ॥ १ ॥

१. **शेरभक**=हे वध करनेवाले ('शसु वधे' धातु से 'ड' प्रत्यय करके 'शः' वध, तत्र रभते उत्सुकी भवति इति शेरभः शेरभ एव शेरभकः), **शेरभ**=शेरभवत् सबके वधक, हे **किमीदिनः**=(किम् इदानीम् इति चरते—नि०) लुटेरो! **वः**=तुम्हारे **यातवः**=भेजे हुए राक्षसी वृत्तिवाले लोग **पुनः**=फिर लौटकर **वः यन्तु**=तुम्हें ही प्राप्त हों, **हेतिः**=तुम्हारे अस्त्र-शस्त्र **पुनः**=फिर तुम्हें ही प्राप्त हों। २. **यातवः**=हे राक्षसी वृत्ति के लोगो! **यस्य स्थ**=तुम जिसके हो **तम् अत्त**=उसे ही खानेवाले होओ। **यः**=जो **वः**=तुम्हें **प्राहैत्**=भेजता है तुम **तम् अत्त**=उसे ही खाओ तथा **स्वा मांसानि अत्त**=अपने मांस को ही खानेवाले बनो।

भावार्थ—हममें से दूसरों के घातपात की वृत्ति नष्ट हो जाए। यह अशुभ भाव हमारे ही सन्ताप का कारण बने और हम प्रायश्चित्त करके इससे दूर होने का संकल्प करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**पुरउष्णिक्पङ्क्तिः** ॥

घातपात की वृत्ति का अन्त

शेवृ॑धक॒ शेवृ॑ध॒ पुन॑र्वो य॒न्तु या॒तवः॒ पुन॒र्हे॑तिः किमीदिनः।
यस्य॒ स्थ तम॑त्त॒ यो वः॒ प्राहै॒त्तम॑त्त॒ स्वा मां॒सान्य॑त्त ॥ २ ॥

१. **शेवृधक**=(शस्+ड=श, तत्र वर्धते) हे घातपात की वृत्ति में बढ़नेवाले! **शेवृध**=घातपात से ही अपने को बढ़ाने की कामनावाले! **किमीदिनः**=हे लुटेरो! **वः**=तुम्हारे **यातवः**=अनुयायी लोग **पुनः**=फिर से तुमपर ही पड़ें। २. हे **यातवः**=राक्षसी वृत्ति के लोगो! **यस्य स्थ**=जिसके तुम हो **तम अत्त**=उसी को खाओ। **यः वः प्राहैत्**=जिसने तुम्हें भेजा है **तम् अत्त**=उसे खाओ, **स्वा मांसानि अत्त**=अपने ही मांस को खाओ। ३. इसप्रकार के समाज-विरोधी तत्त्व राज्य-प्रबन्ध की उत्तमता से, स्वयं ही एक-दूसरे के विरोध में होकर नष्ट हो जाएँ। इन्हें उत्तम प्रेरणाएँ, राजदण्ड का भय व राज्य-व्यवस्था की उत्तमता से उत्पन्न हुई-हुई विवशता परिवर्तित जीवनवाला कर दे।

भावार्थ—राज्य-व्यवस्था की उत्तमता से घातपात की वृत्ति से बढ़नेवाले लोग समाप्त हो जाएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**पुरोदेवत्यापङ्क्तिः** ॥

चोरी की वृत्ति का अन्त

म्रोकानु॑म्रोक॒ पुन॑र्वो यन्तु या॒तवः॒ पुन॒र्हे॑तिः किमीदिनः।
यस्य॒ स्थ तम॑त्त॒ यो वः॒ प्राहै॒त्तम॑त्त॒ स्वा मां॒सान्य॑त्त ॥ ३ ॥

१. **म्रोक**=हे चोर (म्रोचति चोरयति इति म्रोकः, तमनुसरतीति अनुम्रोकः)! **अनुम्रोक**=हे चोर के अनुयायिन्! **किमीदिनः**=हे लुटेरे लोगो! **वः**=तुम्हारे **यातवः**=पीड़ाकर राक्षसी वृत्ति के लोग **पुनः यन्तु**=लौटकर तुम्हें ही प्राप्त हों। **हेतिः पुनः**=तुम्हारे अस्त्र-शस्त्र तुमपर ही पड़ें। २. **यस्य स्थ**=तुम जिसके हो **तम् अत्त**=उसी को खाओ। **यः**=जो **वः**=तुम्हें **प्राहैत्**=भेजता है **तम् अत्त**=उसे खाओ, **स्वा मांसानि अत्त**=अपने ही मांस को खानेवाले बनो।

भावार्थ—चोरी की वृत्ति का अन्त हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**पुरोदेवत्यापङ्क्तिः** ॥

कुटिलता का अन्त

सर्पानुसर्प पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त॥ ४॥

१. हे **सर्प**=कुटिल चालवाले! **अनुसर्प**=हे कुटिल-पुरुष के अनुयायिन्! (सर्पति कुटिलतां गच्छति, तमनुसर्पति)। **किमीदिनः**=हे लुटरो! **वः**=तुम्हारे **यातवः**=पीड़ा देनेवाले राक्षसी वृत्ति के लोग **पुनः यन्तु**=फिर से तुम्हें प्राप्त हों, **हेतिः पुनः**=तुम्हारे अस्त्र-शस्त्र तुमपर ही पड़ें। २. **यस्य स्थ**=जिसके तुम हो **तम् अत्त**=उसे ही खाओ, **यः**=जो **वः** तुम्हें **प्राहैत्**=भेजता है **तम् अत्त**=उसे नष्ट करो और **स्वा मांसानि अत्त**=अपने ही मांसों को खाओ।

भावार्थ—राष्ट्र में कुटिलवृत्ति के पुरुष न रहें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदाबृहती** ॥

क्रोध आदि से ऊपर

जूर्णि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त॥ ५॥

१. हे **जूर्णि**=क्रोधवृत्ति (जीर्णं भवति प्राणिशरीरम् अनयेति जूर्णिः, Anger)! **किमीदिनीः**=डाका मारने की वृत्तियो! **वः**=तुम्हारे **यातवः**=पीड़ित करनेवाले राक्षसी वृत्ति के लोग **पुनः यन्तु**=फिर से तुम्हें प्राप्त हों। **हेतिः पुनः**=तुम्हारे अस्त्र तुमपर ही प्रहार करनेवाले हों। २. **यस्य स्थ**=तुम जिसके हो **तम् अत्त**=उसी को खाओ, **यः वः प्राहैत्**=जो तुम्हें भेजता है, **तम्**=उसे खानेवाले होओ। **स्वा मांसानि अत्त**=अपने ही मांसों को खानेवाले बनो।

भावार्थ—शक्ति को जीर्ण करनेवाली क्रोध आदि वृत्तियों से हम ऊपर उठें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**भुरिक्चतुष्पदाबृहती** ॥

क्रूर शब्दों का त्याग

उपब्दे पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त॥ ६॥

१. **उपब्दे**=(क्रूर शब्दकारिणी—सा०) क्रूर शब्द करने की वृत्ते! **किमीदिनीः**=डाका आदि मारने की वृत्तियो! **वः**=तुम्हारे **यातवः**=पीड़ित करनेवाली राक्षसी वृत्ति के लोग **पुनः यन्तु**=फिर से तुम्हें ही प्राप्त हों। **हेतिः पुनः**=तुम्हारे अस्त्र लौटकर तुमपर ही प्रहार करनेवाले हों। २. **यस्य स्थ**=तुम जिसके हो **तम् अत्त**=उसी को खाओ, **यः वः प्राहैत्**=जो तुम्हें भेजता है, **तम् अत्त**=उसे खाओ। **स्वा मांसानि अत्त**=अपने ही मांसों को खानेवाले बनो।

भावार्थ—व्यर्थ के क्रूर शब्दों के उच्चारण करने की वृत्ति विनष्ट हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**भुरिक्चतुष्पदाबृहती** ॥

शुद्ध उपायों से अर्जन

अर्जुनि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त॥ ७॥

१. 'अर्जुनि' शब्द एक प्रकार की सर्पिणी के लिए आता है। वस्तुतः अर्ज धातु कमाने के अर्थ में आती है। कुटिलता से, छल-छिद्र से कमाने की वृत्ति ही 'अर्जुनी' है। हे **अर्जुनि**=छल-कपट से कमाने की वृत्ते! **किमीदिनीः**=लूट-खसोट की वृत्तियो! **वः**=तुम्हारे **यातवः**=पीड़ित करनेवाले राक्षसी लोग **पुनः यन्तु**=फिर से तुम्हें ही प्राप्त हों, **हेतिः पुनः**=तुम्हारे अस्त्र लौटकर फिर तुमपर ही प्रहार करनेवाले हों। २. **यस्य**=जिसकी **स्थ**=तुम हो **तम् अत्त**=उसे ही खा जाओ, **यः वः प्राहैत्**=जो तुम्हें भेजता है, **तम् अत्त**=उसे ही खा जाओ। **स्वा मांसानि अत्त**=अपने ही मांस को खा जाओ।

भावार्थ—छल-छिद्र से कमाने की वृत्ति हमसे दूर हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**भुरिक्चतुष्पदाबृहती** ॥

धूर्त्तता से दूर

भरूजि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत्तमत्त स्वा मांसान्यत्त॥ ८॥

१. 'भरूजी' शब्द गीदड़ (jackal) के लिए आता है। शृगाल धूर्तता के लिए प्रसिद्ध है। हे **भरूजि**=धूर्तता की वृत्ते! **किमीदिनीः**=हे लूट-खसोट की वृत्तियो! **वः**=तुम्हारे **यातवः**=अनुयायी **पुनः यन्तु**=लौटकर तुम्हारे ही पास आएँ। **हेतिः पुनः**=तुम्हारे अस्त्र लौटकर तुमपर ही प्रहार करनेवाले हों। २. **यस्य स्थ**=तुम जिसके हो **तम् अत्त**=उसी को खाओ। **यः वः प्राहैत्**=जो तुम्हें भेजता है **तम् अत्त**=उसे खानेवाले बनो, **स्वा मांसानि अत्त**=तुम अपने ही मांसों को खानेवाले होओ।

भावार्थ—हम शृगाल जैसी वृत्तिवाले न हों, धूर्तता से दूर होकर सरलता को अपनाएँ।

विशेष—प्रस्तुत सूक्त में समाज के उत्कृर्ष के लिए आठ बातों का प्रतिपादन हुआ है—१. घातपात की उत्सुकता से हम शून्य हों (शेरभक), २. औरों के नाश को अपनी वृद्धि का आधार न बनाएँ (शेवृधक)। ३. चोरी का त्याग करें (म्रोक), ४. सर्प की भाँति कुटिल न हों (सर्प), ५. क्रोध से ऊपर उठें (जूर्णि), ६. क्रूर शब्दों व बहुत बोलने का त्याग करें(उपब्दि),७. छल-छिद्र से अर्जन करनेवाले न हों (अर्जुनी), ८. शृगाल की भाँति धूर्त न हों—धूर्तता से सदा दूर हों (भरूजी)। इन आठ अशुभ वृत्तियों से रहित समाज कितना सुन्दर समाज होगा! इस सूक्त में 'स्वा मांसानि अत्त' आदि शब्दों से यह स्पष्ट कर दिया है कि ये वृत्तियाँ अपने आश्रयभूत व्यक्ति को ही समाप्त करनेवाली हैं, अतः इनका त्यागना ही व्यक्ति के कल्याण के लिए है। इनके त्याग से ही व्यक्ति दीर्घायुष्य को प्राप्त करता है। इसी दृष्टिकोण से इस सूक्त का देवता 'आयुः' रक्खा गया है। इन अशुभ वृत्तियों के नाश के लिए ही पृश्निपर्णी नामक वनस्पति के प्रयोग का अगले सूक्त में संकेत है। उसके प्रयोग से इन वृत्तियों को नष्ट करनेवाला 'चातनः' इस सूक्त का ऋषि है। वह प्रार्थना करता है—

२५. [पञ्चविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**पृश्निपर्णी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कण्वजम्भनी पृश्निपर्णी

शं नो॑ दे॒वी पृ॑श्निप॒र्ण्यशं॒ निर्ऋ॑त्या अकः।
उ॒ग्रा हि क॑ण्व॒जम्भ॑नी॒ ताम॑भक्षि॒ सह॑स्वतीम्॥ १॥

१. **देवी**=रोगों को जीतने की कामना करनेवाली यह **पृश्निपर्णी**=चित्रपर्णी नामक ओषधि **नः शम्**=हमारे लिए शान्ति करनेवाली हो। **निर्ऋत्या**=रोग की निदानभूत दुर्गति के लिए यह **अशं अकः**=दु:ख (अशान्ति) करे, अर्थात् निर्ऋति को हमसे दूर करके यह हमें नीरोग करे। २. यह पृश्निपर्णी **हि**=निश्चय से **उग्रा**=बड़ी तीव्र व तेजस्विनी है, **कण्वजम्भनी**=पापों व रोगों को नष्ट करनेवाली है, **ताम्**=उस **सहस्वतीम्**=प्रशस्त बलवाली व शत्रुभूत रोगबीजों का मर्षण करनेवाली पृश्निपर्णी का **अभक्षि**=मैं सेवन करता हूँ।

भावार्थ—पृश्निपर्णी ओषधि का प्रयोग रोगबीजों व पापों को नष्ट करके हमें शरीर व मन से स्वस्थ बनाता है।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**पृश्निपर्णी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कुष्ठादि रोगों का शिरश्छेद

सह॑माने॒यं प्र॑थ॒मा पृ॑श्निप॒र्ण्य॑जायत।
तया॒हं दु॒र्णाम्नां॒ शिरो॑ वृ॒श्चामि॑ श॒कुने॑रिव॥ २॥

१. **इयम्**=यह **पृश्निपर्णी**=चित्रपर्णी वनस्पति **सहमाना**=रोगों का अभिभव करनेवाली है, अतएव **प्रथमा**=ओषधियों में इसका मुख्य स्थान **अजायत**=हो गया है। २. **तया**=इस पृश्निपर्णी के द्वारा **अहम् दुर्णाम्नाम्**=मैं विसर्पक-श्वित्र आदि अशुभ नामवाले कुष्ठ रोगविशेषों का **शिरः**=सिर इसप्रकार **वृश्चामि**=काट डालता हूँ **इव**=जैसे कि खड्ग आदि के प्रहार से अनायास ही किसी **शकुनेः**=पक्षी का सिर काट डाला जाता है।

भावार्थ—पृश्निपर्णी से कोढ़ आदि अशुभ नामवाले रोग दूर हो जाते हैं।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**पृश्निपर्णी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

रक्तदोष निवारण

अ॒राय॑मसृ॒क्पावा॑नं॒ यश्च॑ स्फा॒तिं जिही॑र्षति।
ग॒र्भा॒दं कण्वं॑ नाशय॒ पृश्नि॑पर्णि॒ सह॑स्व च॥ ३॥

१. हे **पृश्निपर्णि**=चित्रपर्णि ओषधे! तू उस **कण्वम्**=रोगबीज व पाप को **नाशय**=लुप्त कर दे (णश अदर्शने) **सहस्व च**=तथा कुचल डाल **यः**=जो **स्फातिम्**=वृद्धि को **जिहीर्षति**=हर लेना चाहता है—शरीर की वृद्धि को रोक देता है। **अरायम्**=शरीर की शोभा को नष्ट करनेवाला जो कुष्ठ आदि रोग है, उसे नष्ट कर तथा **असृक्पावानम्**=रुधिर को पी लेनेवाले कामला आदि रोगों को भी नष्ट कर। २. इनके साथ **गर्भादम्**=गर्भ को खा जानेवाले रोगबीज को तू नष्ट करनेवाला हो। ३. आयुर्वेद के अनुसार यह पृश्निपर्णि 'दाह,ज्वर, श्वास, रक्त-अतिसार, तृषा व वमन' को दूर करती है। यहाँ **अरायं असृक्पावानं नाशय**=शब्दों से रक्तदोष को दूर करने का उल्लेख है। रक्तदोष को दूर करके यह वृद्धि का कारण बनती है। माता के रक्तदोष के दूर होने पर गर्भस्थ बालक के शरीर का भी ठीक से पोषण होता है।

भावार्थ—पृश्निपर्णी रक्तदोष को दूर करती है।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**पृश्निपर्णी** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

अव्याकुल जीवन

गिरिमेनाँ आ वेशय कण्वाञ्जीवितयोपनान्।
तांस्त्वं देवि पृश्निपर्ण्यग्निरिवानुदहन्निहि ॥ ४ ॥

१. **एनान्**=इन **जीवितयोपनान्**=(युप विमोहने) जीवन के विमोहक—व्याकुल करनेवाले **कण्वान्**=रोगबीजों को **गिरिम्**=पर्वतों में **आवेशय**=गाड़ दो। हे पृश्निपर्णे! तू इन रोगों को इसप्रकार दूर कर दे कि ये लौटकर फिर हमारे पास न आ सकें। तू इन्हें पर्वतशिलाओं के नीचे गाड़ दे। २. हे **देवि पृश्निपर्णि**=रोगों को जीतनेवाली पृश्निपर्णे! **त्वम्**=तू **तान्**=उन कण्वों को **अग्निः इव**=अग्नि की भाँति **अनुदहन्**=क्रमशः जलाती हुई **इहि**=हमें प्राप्त हो।

भावार्थ—पृश्निपर्णी का सेवन रोगबीजों को भस्म करके हमारे जीवनों को व्याकुलता-रहित कर दे।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**पृश्निपर्णी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अन्धकार में रोग

पराच एनान्प्र णुद कण्वाञ्जीवितयोपनान्।
तमांसि यत्र गच्छन्ति तत्क्रव्यादो अजीगमम् ॥ ५ ॥

१. हे पृश्निपर्णे! तू **जीवितयोपनान्**=जीवन की व्याकुलता के कारणभूत **एनान्**=इन **कण्वान्**=रोगबीजों को **पराचः प्रणुद**=पराङ्मुख करके दूर कर दे। ये कण्व हमसे दूर होकर हमें नीरोग जीवन बिताने दें। २. **यत्र**=जहाँ **तमांसि गच्छन्ति**=अँधेरा जाता है, जिस स्थान पर अन्धकार-ही-अन्धकार होता है—सूर्यप्रकाश नहीं पहुँचता, **तत्**=उस असूर्य-स्थान में इन **क्रव्यादः**=मांस आदि शरीर-धातुओं के खा जानेवाले कुष्ठ आदि रोगों को **अजीगमम्**=प्राप्त कराता हूँ। ये रोग उसी स्थान में होते हैं जहाँ सूर्य-किरणों का प्रवेश नहीं होता।

भावार्थ—सूर्य प्रकाश में रहते हुए हम पृश्निपर्णी के प्रयोग से कुष्ठादि रोगों को दूर करें।

विशेष—यह सूक्त पृश्निपर्णी ओषधि का वर्णन करता है। यह ओषधि रोगबीजों को नष्ट करके हमारे जीवनों को व्याकुलतारहित, शान्त व शोभावाला बनाती है। जीवन को सुन्दर बनाने के लिए ही गोदुग्ध सेवन का अधिक महत्त्व है। इसका ही वर्णन अलगे सूक्त में है। गोरस के प्रयोग से अपने में सोम आदि धातुओं का सवन करनेवाला 'सविता' ही अगले सूक्त का ऋषि है। यह सविता चाहता है कि—

२६. [षड्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**सविता** ॥ देवता—**पशवः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गौओं का घर से बाहर जाना

एह यन्तु पशवो ये परेयुर्वायुर्येषां सहचारं जुजोष।
त्वष्टा येषां रूपधेयानि वेदास्मिन्तान् गोष्ठे सविता नि यच्छतु ॥ १ ॥

१. **इह**=यहाँ—हमारे घरों में **पशवः**=पशु **आयन्तु**=लौटकर आनेवाले हों, **ये**=जो **परेयुः**=चरने के लिए दूर निकल गये हैं, **येषाम्**=जिन पशुओं के **सहचारम्**=सहचरण को **वायुः जुजोष**=वायु ने सेवन किया, अर्थात् जो पशु खुले वायु में चरनेवाले बने वे दिनभर वायुसेवन के पश्चात्

अब घरों में लौटें। २. **त्वष्टा**=(इन्द्रो वै त्वष्टा—ऐ० ६.१०) दीप्तिमान् सूर्य **येषाम्**=जिनके **रूपधेयानि वेद**=रूपों में धारण को जानता है, अर्थात् जिनमें उत्तम रूप स्थापित है। ये गौ आदि पशु जितना सूर्य-किरणों के सम्पर्क में समय बिता पाएँगे, उतना ही सुरूप होते हुए उत्तम दूधवाले भी होंगे। **तान्**=उन पशुओं को **सविता**=दूध का अभिषव व दोहन करनेवाला व्यक्ति **अस्मिन् गोष्ठे**=इस गोष्ठ स्थान में **नियच्छतु**=बाँधकर रक्खे।

भावार्थ—प्रातः दुग्धदोहने के बाद गौएँ चरने के लिए चारागाहों में जाएँ। इस समय वायु व सूर्य के सम्पर्क में रहती हुई वे स्वस्थ होंगी व पौष्टिक दूध देनेवाली होंगी।

ऋषिः—**सविता** ॥ देवता—**पशवः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गवादि पशुओं का घर वापस आना

इमं गोष्ठं पशवः सं स्रवन्तु बृहस्पतिरा नयतु प्रजानन्।
सिनीवाली नयत्वाग्रमेषामाजग्मुषो अनुमते नि यच्छ॥ २॥

१. **इमं गोष्ठम्**=इस गोष्ठ में **पशवः**=गौ आदि पशु **संस्रवन्तु**=सम्यक् प्राप्त हों। **बृहस्पतिः**=(बृहत्=strong, powerful) इनका शक्तिशाली रक्षक गोप **प्रजानन्**=इन पशुओं का पूरा ध्यान रखता हुआ इन्हें **आनयतु**=पुनः घरों पर वापस लानेवाला हो। २. **सिनीवाली**=प्रशस्त अन्न का वरण करनेवाली (सिनम्, अन्नम्, वालं वृणोते:), अर्थात् इन गवादि पशुओं के लिए उत्तम यवसादि की व्यवस्था करनेवाली (सूयवसाद् भगवती हि भूयाः) **एषाम्**=इन पशुओं को **अग्रं आनयतु**=आगे लानेवाली हो, अर्थात् जब ये गोप के द्वारा चारागाह से वापस लाये जाएँ तब गृहपत्नी इनका स्वागत करने के लिए तैयार हो। इसप्रकार इन गौ आदि पशुओं एवं गृहपत्नी में एक सुन्दर प्रेममय सम्बन्ध की स्थापना हो जाती है। ऐसे पशु अत्यन्त गुणकारी दूध देते हैं। ३. हे **अनुमते**=अनुकूल मतिवाली गृहपत्नि! **आजग्मुषः**=घर में आये हुए इन पशुओं को **नियच्छ**=तू उचित बन्धन में करनेवाली हो, इन्हें ठीक स्थान पर बाँध। गृहपत्नी पशुओं के प्रति जितने अनुकूल विचारवाली होती है, उतना ही पशुओं का दूध अधिक गुणकारी होता है।

भावार्थ—ग्वाला समझदारी से पशुओं का ठीक रक्षण करे। लौटे हुए पशुओं का गृहपत्नी स्वागत करती हुई उन्हें ठीक स्थान पर बाँधे और उनके लिए उचित चारे की व्यवस्था करे।

ऋषिः—**सविता** ॥ देवता—**पशवः** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्विराड्बृहती** ॥

संस्राव्य हवि की आहुति

सं सं स्रवन्तु पशवः समश्वाः समु पूरुषाः।
सं धान्य[स्य] या स्फातिः संस्राव्ये[ण] हविषा जुहोमि॥ ३॥

१. **पशवः**=गौ आदि पशु **सं सं स्रवन्तु**=मिलकर सम्यक् गतिवाले हों। चारागाहों में एकत्र होने पर परस्पर लड़ न पड़ें। **अश्वाः**=घोड़े **सं (स्रवन्तु)** मिलकर गतिवाले हों। इन पशुओं के **पूरुषाः**=रक्षक पुरुष **उ**=भी **सम्**=मिलकर गतिवाले हों। गोपों में परस्पर लड़ाई न हो जाए, इनकी लड़ाई में पशुओं की दुर्गति भी सम्भावित है ही। २. **धान्यस्य या स्फातिः**=धान्य की जो वृद्धि है, वह **सं (स्रवन्तु)** हमारे घरों में सम्यक् प्रवाहित हो। मैं **संस्राव्येण हविषा**=इन सबके संस्तव के लिए हितकर हवि के द्वारा **जुहोमि**=आहुति देता हूँ। राष्ट्र के सब घरों में अग्निहोत्र की ठीक व्यवस्था होने पर जहाँ शरीर व मानस नीरोगता प्राप्त होती है वहाँ गौओं, घोड़ों व धान्यों की कमी नहीं रहती।

भावार्थ—घरों में अग्निहोत्र होने पर गौओं, घोड़ों, व धान्यों का प्रवाह ठीक रहता है।

ऋषिः—**सविता** ॥ देवता—**पशवः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

घर पर गौ का ध्रुव निवास

सं सिञ्चामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम्।
संसिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ ॥ ४ ॥

१. मैं **गवां क्षीरम्**=गौओं के दूध को **संसिचामि**=सम्यक् सिक्त करता हूँ—रजकर गोदुग्ध का सेवन करता हूँ। **आज्येन**=घृत के द्वारा **बलम्**=शरीर में बल को तथा **रसम्**=वाणी में रस को **सम्**=सम्यक् सिक्त करता हूँ। गोदुग्ध के यथेष्ट पान से शरीर व मन स्वस्थ रहते हैं। गोघृत शरीर को बलवान् और वाणी को रसीला बनानेवाला है। २. **अस्माकं वीराः**=हमारे सन्तान भी **संसिक्ताः**=गोदुग्ध व घृत से सम्यक् सिक्त होते हैं, इसलिए **मयि गोपतौ**=मुझ गोरक्षक में **गावः**=गौएँ **ध्रुवाः**=ध्रुवता से रहती हैं। ऐसा कभी नहीं होता कि मैं गौ न रक्खूँ। मेरा घर सदा गौवाला घर बना रहता है। घर में गौ होने पर सब गोदुग्ध का यथेष्ट प्रयोग कर पाते हैं।

भावार्थ—घर पर गौ को नियम से रखना ही चाहिए, ताकि सब यथेष्ट दूध पी सकें।

ऋषिः—**सविता** ॥ देवता—**पशवः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गौ, धान्य, पुत्रादि से समृद्ध घर

आ हरामि गवां क्षीरमाहार्षं धान्यं रसम्।
आहृता अस्माकं वीरा आ पत्नीरिदमस्तकम् ॥ ५ ॥

१. मैं **गवां क्षीरम्**=गौओं के दूध का **आहरामि**=आहार करता हूँ तथा सदा **धान्यं रसम्**=अन्न-रस का **आहर्षम्**=आहार करनेवाला रहता हूँ। २. इस सात्त्विक भोजन का ही यह परिणाम है कि **अस्माकं वीराः आहृताः**=घर में हमें वीर सन्तानें प्राप्त हुई हैं तथा **पत्नीः**=गृहपत्नियाँ भी **इदं अस्तकम्**=इस घर में **वीराः**=वीर ही **आ (हृताः)**=आयी हैं। पत्नियाँ भी सात्त्विकता को लिये हुए होने से वीर हैं, उनकी सन्तान भी वीर हैं।

भावार्थ—गोदुग्ध व धान्य-रस के भोजन का यह परिणाम है कि घर खूब समृद्ध बना रहता है।

विशेष—यह सूक्त गोदुग्ध के महत्त्व को व्यक्त करता है। अगला सूक्त विजय-प्राप्ति का सन्देश दे रहा है। हमें प्रकृष्ट पथ्यरूप भोजन करनेवाला 'प्राश' बनना है। 'पाटा, नामक ओषधि इस प्राश के लिए सहायक होती है। यह ओषधि इसपर आक्रमण करनेवाले रोगकृमियों को नष्ट कर देती है—उन्हें अरस व शुष्क कर देती है। इसप्रकार पथ्य भोजन व पाटा नामक ओषधि-प्रयोग से यह नीरोग जीवनवाला व्यक्ति 'कम्=सुखम्, पिञ्जम्=शक्तिं (power) च लाति आदत्ते' सुख और शक्ति का आदान करनेवाला 'कपिञ्जल' होता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

२७. [सप्तविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**कपिञ्जलः** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'प्राश' से रोगों का नाश

नेच्छत्रुः प्राशं जयाति सहमानाभिभूरसि। प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे ॥ १ ॥

१. **शत्रुः**=रोगकृमि के रूप में हमारा शातन करनेवाला यह शत्रु **प्राशम्**=प्रकृष्ट भोजनवाले पथ्यसेवी पुरुष को **न इत् जयाति**=निश्चय ही जीत नहीं पाता। २. हे पाटा नामक ओषधे! तू भी **सहमाना**=शत्रुओं का मर्षण करनेवाली और **अभिभूः असि**=रोगों को दबा लेनेवाली है। हे ओषधे=(दोषं धयति पिबति इत्यर्थः स्तोष) दोष को पी जानेवाली ओषधे! तू **प्राशं प्रति**

प्राशः=पथ्य-सेवी के, शत्रु बनकर उसे खा जानेवाले, रोगों को **जहि**=नष्ट कर दे। इन सब रोग व रोगकृमियों को **अरसान् कृणु**=तू शुष्क कर दे। इनकी शक्ति को तू समाप्त कर दे।

भावार्थ—हम 'प्राश'—उत्कृष्ट पथ्य भोजनवाले बनें। ओषधि का उचित प्रयोग करें। इसप्रकार हमारे रोगरूप शत्रु शुष्क होकर समाप्त हो जाएँगें।

ऋषिः—**कपिञ्जलः** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सुपर्ण तथा सूकर द्वारा अन्वेषण

सुपर्णस्त्वान्वविन्दत्सूकरस्त्वाखनन्नसा। प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे॥ २॥

१. हे **ओषधे**=पाटा नामक ओषधे! **त्वा**=तुझे **सुपर्णः**=गरुड़ **अनु+अविन्दत्**=क्रमशः खोज निकालता है। विष आदि के अपहरण के लिए गरुड़ को इसकी आवश्यकता रही है। वह वासनारूप (Instinctively) से इस ओषधि को खोज लेता है। २. **सूकरः**=सूअर **त्वा**=तुझे **नसा**=थुथनी से (नासिका सहित दंष्ट्रा से) **अखनत्**=खोद लेता है। भूमि के अन्दर उत्पन्न होनेवाली इस ओषधि को यह बाहर निकाल लेता है। ३. हे ओषधे! तू **प्राशम्**=पथ्यसेवी के **प्रतिप्राशः**=विरोधी बनकर उसे खा जानेवाले रोगों को **जहि**=नष्ट कर दे। इन रोगकृमियों को **अरसान् कृणु**=शुष्क कर दे।

भावार्थ—पाटा ओषधि को सुपर्ण और सूअर प्रभु-प्रदत्त वासना से ढूँढ लेते हैं और इसके सेवन से विषैले प्रभावों को दूर करते हैं।

ऋषिः—**कपिञ्जलः** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

इन्द्र द्वारा पाटा का धारण

इन्द्रो ह चक्रे त्वा बाहावसुरेभ्य स्तरीतवे। प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे॥ ३॥

१. यह पाटा ओषधि 'भग्न-सन्धानकरी' है, अतः **इन्द्रः**=सेनापति ने **ह**=निश्चय से ही पाटा ओषधे! **त्वा**=तुझे **असुरेभ्यः**=असुरों से **तरीतवे**=पार पाने के लिए **बाहौ चक्रे**=अपनी भुजाओं पर धारण किया। संग्राम में विदारणों का भय बना ही रहता है। यह पाटा ओषधि इन विदारणों का सर्वोतम उपचार है, अतः सेनापति इसे सदा अपने समीप रखता है, मानो इसे बाहु पर ही धारण किये रहता है। २. हे **ओषधे**=ओषधे! तू **प्राशम्**=पथ्यसेवी के **प्रतिप्राशः**=विरोधी होकर खा जानेवाले रोगों को **जहि**=नष्ट कर। इन रोगकृमियों को **अरसान् कृणु**=शुष्क कर दे।

भावार्थ—पाटा ओषधि भग्नसन्धानकरी है, अतः संग्राम में घावों के उपचार में अत्यन्त उपयुक्त है, इसी से सेनापति इसे सदा समीप रखता है।

ऋषिः—**कपिञ्जलः** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

असुरों की पराजय

पाटामिन्द्रो व्याश्नादसुरेभ्य स्तरीतवे। प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे॥ ४॥

१. **इन्द्रः**=इन्द्र ने **असुरेभ्यः तरीतवे**=असुरों से—प्राणशक्ति नाशक रोगकृमियों से पार पाने के लिए **पाटाम्**=पाटा नामक ओषधि का **व्याश्नात्**=भक्षण किया। यह पाटा 'वातपित्तज्वरघ्नी' तथा 'कफकण्ठरूजापहा' होने से रोगों की नाशक है। वात-पित व कफ तीनों के विकारों से होनेवाले कष्टों में यह उपयोगी है, अतः इन्द्र ने इसका भक्षण किया। २. इन्द्र से भक्षण की गई है **ओषधे**=ओषधे! तू **प्राशम्**=उत्कृष्ट भोजनवाले के **प्रतिप्राशम्**=विरोधी बनकर खा जानेवाले इन रोगों को **जहि**=नष्ट कर दे। तू इन रोगकृमियों को **अरसान्**=नीरस व शुष्क **कृणु**=कर दे।

भावार्थ-पाटा ओषधि वात-पित व कफ-जनित सभी विकारों की शान्ति के लिए उपयोगी है।

ऋषिः—**कपिञ्जलः** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शत्रुओं का अभिभव

तयाहं शत्रून्त्साक्ष इन्द्रः सालावृकाँइव। प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे॥ ५॥

१. **तया**=गतमन्त्र में वर्णित पाटा नामक ओषधि से **अहम्**=मैं **शत्रून्**=रोगरूप शत्रुओं का **साक्षे**=पराभव करता हूँ, उसी प्रकार **इव**=जैसे **इन्द्रः**=राजा **सालावृकान्**=कुत्तों व गीदड़ों की वृत्तिवाले पुरुषों का पराभव करता है (शालावृक=a dog, a jackal)। इन्द्र जैसे कुत्तों का अभिभव करता है, उसी प्रकार मैं पाटा ओषधि से रोगों को अभिभूत करता हूँ। २. हे **ओषधे**=ओषधे! तू **प्राशम्**=इस प्रकृष्ट पथ्यभोजी के **प्रतिप्राशः**=विरोधी बनकर खा जानेवाले रोगों का **जहि**=विनाश कर और **अरसान् कृणु**=उन्हें शुष्क व मृत कर दे।

भावार्थ—पाटा नामक ओषधि से मैं रोगकृमियों को अभिभूत कर दूँ।

ऋषिः—**कपिञ्जलः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सद् वैद्य

रुद्र जलाषभेषज नीलशिखण्ड कर्मकृत्। प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान्कृण्वोषधे॥ ६॥

१. **रुद्र**=(रुत् दुःखं दुःखहेतुर्वा तद् द्रावयति नः प्रभुः। रुद्र इत्युच्यते तस्मात् शिवः परमकारणम्।) हे रोगरूप दुःखों का द्रावण करनेवाले! **जलाषभेषज**=(जनैः लष्यते, जलाषं सुखम्) सुखकर ओषधियोंवाले! **नीलशिखण्ड**=(नील=नीड् शिखि गतौ) रोगियों के गृह की ओर जानेवाले (अपने रोगियों—patients के घरों का चक्कर—round लगानेवाले) **कर्मकृत्**=खूब क्रियाशील, कम बोलनेवाले वैद्य! आप इस पाटा ओषधि के प्रयोग से **प्राशम्**=इस पथ्यभोजी के **प्रतिप्राशः**=शत्रु बनकर इसे खा जानेवाले रोगों को **जहि**=नष्ट कर दीजिए। हे **ओषधे**=दोष-दहन करनेवाली भेषज! तू **अरसान् कृणु**=रोगकृमियों को शुष्क व मृत कर दे।

भावार्थ—वैद्य रोगों को दूर करनेवाला, सुखकर औषधवाला, रोगिगृहों पर जानेवाला व क्रियाशील (पुरुषार्थी) हो। वह उचित औषध-प्रयोग से रोगों को नष्ट करे।

सूचना—यहाँ 'नीलशिखण्ड' का अर्थ 'काली चोटीवाले'—ऐसा करते हैं और समझते हैं कि वैद्य अतिवृद्ध न हो गया हो। अर्थ व्याकरण के अनुसार ठीक है, परन्तु वृद्ध वैद्य अनुभव की अधिकता के कारण अधिक कुशल होता है। यह वृद्धता उसकी कमी न होकर उसका गुण बन जाती है। हाँ, वैद्य मरियल-सा न होना चाहिए, उसका रोगी पर वाञ्छनीय प्रभाव नहीं हो पाता।

ऋषिः—**कपिञ्जलः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

रोगों का नाश

तस्य प्राशं त्वं जहि यो न इन्द्राभिदासति।
अधि नो ब्रूहि शक्तिभिः प्राशि मामुत्तरं कृधि॥ ७॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **यः**=जो रोग **नः अभिदासति**=हमें सब प्रकार से उपक्षीण करता है, **तस्य**=उस रोग की **प्राशम्**=मुझे खा जाने की शक्ति को **त्वम् जहि**=तू नष्ट कर दे। २. **शक्तिभिः**=शक्तियों के द्वारा **नः अधिब्रूहि**=हमारे पक्ष में निर्णय दीजिए (speak in favour of), अर्थात् हम रोगों को जीत लें। **प्राशि**=भोजन के प्रकृष्ट होने पर **माम्**=मुझे **उत्तरं कृधि**=उत्कृष्ट कीजिए, मैं रोग को पादाक्रान्त करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—प्रभु रोग की घातक शक्ति को नष्ट करें और मुझे रोग को जीतने की शक्ति दें।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त में रोग को पराजित करने की प्रार्थना है। रोगों को नष्ट करके हम दीर्घजीवन प्राप्त कर सकते हैं। इस दीर्घजीवन का ही उल्लेख अगले सूक्त में है। इसे प्राप्त करनेवाला 'शम्भूः' इसका ऋषि है। यह अपने में शान्ति उत्पन्न करता है। इसकी प्रार्थना का स्वरूप यह है—

२८. [अष्टाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शम्भूः** ॥ देवता—**जरिमा, आयुः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

सूर्यसम्पर्क व दीर्घजीवन

तुभ्यमेव जरिमन्वर्धतामयं मेममन्ये मृत्यवो हिंसिषुः शतं ये।
मातेव पुत्रं प्रमना उपस्थे मित्र एनं मित्रियात्पात्वंहसः॥ १॥

१. **जरिमन्**=(जरैव जरिमा) हे जरे! **अयम्**=यह कुमार **तुभ्यम् एव**=तेरे लिए ही—तेरे आने तक, चिरकाल तक **वर्धताम्**=वृद्धि को प्राप्त होता चले। **इमम्**=इसे **अन्ये**=तुझसे भिन्न **ये**=जो **शतम्**=सैकड़ों **मृत्यवः**=रोगरूप मृत्यु हैं, वे **मा हिंसिषुः**=मत हिंसित करें। यह यौवन में ही रोगाभिभूत होकर जीवन को समाप्त करनेवाला न हो। २. **इव**=जिस प्रकार **प्रमना**=प्रमुदित मनवाली **माता**=माता **पुत्रम्**=पुत्र को **उपस्थे**=अपनी गोद में रक्षित करती है, उसी प्रकार **एनम्**=इस बालक को **मित्रः**=मृत्यु से बचानेवाला यह सूर्य **मित्रियात्**=सूर्य की अत्युष्णता से होनेवाले **अंहसः**=कष्ट से **पातु**=बचाए। यह बालक सूर्य की गोद में पले—अधिक-से-अधिक सूर्य के सम्पर्क में रहे, परन्तु सूर्य की अत्युष्णता से होनेवाले कष्टों से बचा रहे। सूर्य की किरणें इसके शरीर पर पड़कर रोगकृमियों को नष्ट करनेवाली हों।

भावार्थ—सूर्य के सम्पर्क में रहकर, रोगों से बचते हुए, हम पूर्णायुष्य को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—**शम्भूः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सर्वदेव विकास

मित्र एनं वरुणो वा रिशादा जरामृत्युं कृणुतां संविदानौ।
तदग्निर्होता वयुनानि विद्वान्विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति॥ २॥

१. **'मैत्रं व अहः वारुणी रात्रिः'** (मै० ब्रा० १.७.१०.१) के अनुसार दिन का अधिष्ठाता मित्र वा सूर्य है और रात्रि का अधिष्ठाता वरुण व चन्द्र है। **एनम्**=इस बालक को **मित्रः**=(प्रमीतेः त्रायते) मृत्यु से बचानेवाला सूर्य **वा**=तथा **रिशादाः**=(अद् असुन) हिंसकों को खा जानेवाला **वरुणः**=रोगों का निवारण करनेवाला चन्द्रमा—ये दोनों **संविदानौ**=ऐकमत्य को प्राप्त हुए-हुए, अर्थात् मिलकर कार्य करते हुए **जरामृत्युम्**=बुढ़ापे से ही होनेवाली मृत्युवाला **कृणुताम्**=करें। यह युवास्था में ही समाप्त न हो जाए। सूर्य इसके अन्दर प्राणशक्ति का सञ्चार करे **'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः'** तथा चन्द्रमा ओषधीश होता हुआ इसके दोषों का निवारण करे। २. **तत्**=इसप्रकार सूर्य व चन्द्र के सम्पर्क में जीवन बिताने पर वह **होता**=सब आवश्यक पदार्थों का दाता **वयुनानि विद्वान्**=सब प्रज्ञानों को जानता हुआ, **अग्निः**=सब देवों का अग्रणी प्रभु इस व्यक्ति के जीवन में **देवानाम्**=सूर्यादि देवों के **विश्वाजनिमा**=सब विकासों को **विवक्ति**=विशिष्टरूप से कहनेवाला होता है। प्रभुकृपा से इनकी आँखों में सूर्य की शक्ति का प्रादुर्भाव होता है तो वाणी में अग्नि, नासिका में वायु और मन में चन्द्रमा की शक्ति का। इसप्रकार इसका जीवन सब देवशक्तियों के विकासवाला बनकर बड़ा उत्तम बनता है।

भावार्थ—सूर्य, चन्द्रमा व अन्य सब देव हमारे जीवन को दीर्घ बनानेवाले हों।

ऋषिः—**शम्भूः** ॥ देवता—**जरिमा, आयुः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्राणापान की अनुकूलता तथा मित्र-अमित्रों से अभय

त्वमीशिषे पशूनां पार्थिवानां ये जाता उत वा ये जनित्राः।
मेमं प्राणो हासीन्मो अपानो मेमं मित्रा वधिषुर्मो अमित्राः॥ ३॥

१. हे प्रभो! **त्वम्**=आप ही **पार्थिवानाम्**=इस पृथिवी पर उत्पन्न **पशूनाम्**=सब प्राणियों के **ईशिषे**=ईश हैं। **ये**=जो प्राणी **जाता**=उत्पन्न हो गये हैं **उत वा**=अथवा **ये**=जो **जनित्राः**=उत्पन्न होंगे, सभी के आप ईश हैं। २. **इमम्**=इस नवजात सन्तान को **प्राणः**=प्राण **मा हासीत्**=मत छोड़ जाए **मा उ अपानः**=और अपान भी न छोड़ जाए। प्राणापान के ठीक कार्य करने से यह दीर्घजीवन प्राप्त करे। **इमम्**=इसे **मित्राः**=मित्र **मा वधिषुः**=मत मार डालें **उ**=और **मा अमित्राः**=न ही अमित्र इसका वध करनेवाले हों। मित्रों की अधिकता भी दीर्घजीवन के लिए उतनी ठीक नहीं रहती, क्योंकि उसकी अधिकता हमारे बहुत-से समय का अपहरण कर लेती है और कई बार हम स्वस्थ रहने के लिए कितने ही आवश्यक कार्यों को भी नहीं कर पाते। शत्रुओं की अधिकता तो अशान्ति का कारण बनकर जीवन पर घातक प्रभाव पैदा करती ही है। अन्य स्थान पर यह प्रार्थना है ही कि मित्रों से भी अभय हो और अमित्रों से भी। वस्तुतः दीर्घजीवन के लिए आवश्यक ही है कि हमें मित्रों की अप्रसन्नता का भी भय न बना रहे और शत्रुओं के आक्रमण के भय से भी हम रहित हों।

भावार्थ—प्राणापान की अनुकूलता तथा मित्रों व अमित्रों से अभय हमें दीर्घजीवी बनाए।

ऋषिः—**शम्भूः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यादयः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

द्युलोक व पृथिवीलोक का ऐकमत्य

द्यौष्ट्वा पिता पृथिवी माता जरामृत्युं कृणुतां संविदाने।
यथा जीवा अदितेरुपस्थे प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमाः॥ ४॥

१. **त्वा**=तुझे **पिता द्यौः**=पितृस्थानापन्न द्युलोक तथा **माता पृथिवी**=मातृस्थानापन्न पृथिवी **संविदाने**=परस्पर ऐकमत्यवाली होकर **जरामृत्युं कृणुताम्**=पूर्ण जरावस्था में ही मृत्युवाला, अर्थात् दीर्घजीवी करें। द्युलोक तथा पृथिवीलोक की अनुकूलता तेरे दीर्घायुष्य का कारण हो। शरीर में मस्तिष्क ही द्युलोक है तथा शरीर ही पृथिवी है। मस्तिष्क द्युलोक की भाँति ज्ञान से देदीप्यमान हो तथा शरीर पृथिवी की भाँति दृढ़ हो। ऐसा होने पर दीर्घजीवन होना सम्भव है। २. तुझे द्युलोक व पृथिवीलोक की अनुकूलता प्राप्त हो **यथा**=जिससे कि तू **अदितेः उपस्थे**=इस पृथिवी की गोद में (अदिति=अखण्डन, स्वास्थ्य का न टूटना) स्वास्थ्य की गोद में **प्राणापानाभ्यां गुपितः**=प्राणापान से रक्षित हुआ-हुआ **शतं हिमाः**=पूरे सौ वर्ष **जीवाः**=जीनेवाला हो।

भावार्थ—हम द्युलोक व पृथिवीलोक की अनुकूलता से सौ वर्ष तक जीनेवाले बनें। प्राणापान से रक्षित होकर हम दीर्घजीवी हों।

ऋषिः—**शम्भूः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यादयः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

अग्नि, मित्र, वरुण

इममग्न आयुषे वर्चसे नय प्रियं रेतो वरुण मित्र राजन्।
मातेवास्मा अदिते शर्म यच्छ विश्वेदेवा जरदष्टिर्यथासत्॥ ५॥

१. हे **अग्ने**=उन्नति के साधक प्रभो! **वरुण**=सब द्वेष आदि का निवारण करनेवाले!

मित्र=प्रमीति (मृत्यु व पाप) से बचानेवाले अथवा सबके प्रति स्नेह करनेवाले **राजन्**=हम सबके जीवन को शासित करनेवाले प्रभो! **इमम्**=इस हमारी सन्तान को **आयुषे**=दीर्घजीवन के लिए, **वर्चसे**=रोगों से संघर्ष करने में समर्थ शक्ति के लिए **प्रियं रेतः**=तृप्ति व कान्ति को देनेवाले (प्री तर्पणे कान्तौ च) रेतस् को—वीर्य को **नय**=प्राप्त कराइए। इस रेतस् को प्राप्त करके यह रोगों को पराजित करता हुआ दीर्घजीवन प्राप्त करे। २. हे **अदिते**=पृथिवी अथवा स्वास्थ्य की अधिष्ठातृदेवते! तू **माता इव**=माता के समान **अस्मै**=इसके लिए **शर्म यच्छ**=कल्याण प्राप्त करा और **विश्वेदेवाः**=हे सब देवो! आप भी ऐसी कृपा करो **यथा**=जिससे यह **जरदष्टिः**=वृद्धावस्था तक कार्यों में व्याप्तिवाला (जीर्यतोऽपि अष्टिः सर्वव्यापारविषया व्याप्तिर्यस्य—सा०) **असत्**=हो। इसका जीवन अन्त तक बड़ा क्रियाशील बना रहे।

भावार्थ—हम अग्नि, मित्र, वरुण व राजा की कृपा से दीर्घजीवी बनें।

सूचना—प्रस्तुत मन्त्र में प्रभु को अग्नि आदि नामों से स्मरण करना यह सूचित करता है कि दीर्घजीवन के लिए आवश्यक है कि (क) हम क्रियाशील हों (अग्नि, अगि गतौ), (ख) द्वेष से ऊपर उठें (वरुण—वारयति), (ग) सबके लिए स्नेहवाले हों (मित्र, मिद्, स्नेहने), (घ) राजन्=(राजृ दीप्तौ) ज्ञान-दीप्त व व्यवस्थित जीवनवाले हों।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त दीर्घ जीवन के साधनों का उल्लेख कर रहा है। अगले सूक्त का विषय भी यही है, ऋषि 'अथर्वा' है—स्थिर चित्तवृत्तिवाला (न थर्वति)। चित्तवृत्ति की स्थिरता दीर्घजीवन के लिए आवश्यक ही है—

२९. [एकोनत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः, सूर्यः, बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आयुष्य व वर्चस्

पार्थिवस्य रसे देवा भगस्य तन्वो३ बले।
आयुष्य१मस्मा अग्निः सूर्यो वर्च आ धाद् बृहस्पतिः॥ १॥

१. **देवाः**=सूर्य, वायु, अग्नि आदि सब देव **पार्थिवस्य**=इस पृथिवी से उत्पन्न ओषधियों के **रसे**=रस का सेवनवाले होने पर **भगस्य**=इस श्री-सम्पन्न (भग=श्री) **तन्वः**=शरीर के **बले**=बल के होने पर **अस्मै**=इसके लिए **अग्निः**=अग्नि **आयुष्यम्**=दीर्घजीवन को **आधात्**=स्थापित करे। **सूर्यः**=सूर्य इसमें **वर्चः**=रोगों को पराजित करनेवाली वर्चस् शक्ति को स्थापित करे और इसप्रकार यह **बृहस्पतिः**=बृहस्पति बने। २. शरीर को श्रीसम्पन्न तथा शक्तियुक्त करने के लिए सबसे प्रथम बात तो यह है कि हम पार्थिव ओषधियों के रसों का ही प्रयोग करें, मांसाहार से दूर रहें। देवों का बल पार्थिव रस में है तो मांसाहार में आसुर बल है। ३. दीर्घजीवन की प्रार्थना अग्नि से की है। घर में नियमितरूप से अग्निहोत्र करने पर **'अग्निहोत्रेण प्रणुदा सपत्नान्'** रोगकृमिरूप सपत्नों का नाश होकर दीर्घजीवन मिलता है। यह अग्निहोत्र सौमनस्य का कारण होकर हमारे दीर्घजीवन को सिद्ध करता है। ४. सूर्य अपनी किरणों में प्राणशक्ति को लेकर उदय होता है—**'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः'**—यह सूर्य क्या उदय होता है, यह तो प्रजाओं का प्राण ही उदय होता है। इसप्रकार अग्नि और सूर्य के अनुग्रह को प्राप्त करनेवाला यह व्यक्ति उन्नत होकर ऊर्ध्वादिक् का अधिपति 'बृहस्पति' बनता है। यही मानव की चरमोन्नति है।

भावार्थ—हम पार्थिव ओषधियों के रस का ही प्रयोग करें, अग्निहोत्र करें, सूर्य-किरणों के सम्पर्क में अधिक-से-अधिक समय बिताएँ। इसप्रकार उन्नत होकर बृहस्पति बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**जातवेदाः, त्वष्टा, सविता** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

आयुः, प्रजा, धन

आयुरस्मै धेहि जातवेदः प्रजां त्वष्टरधिनिधेह्यस्मै।
रायस्पोषं सवितरा सुवास्मै शतं जीवाति शरदस्तवायम्॥ २॥

१. हे **जातवेदः**=ज्ञान को उत्पन्न करनेवाले प्रभो! **अस्मै**=इस पुरुष के लिए **आयुः धेहि**=आयुष्य को धारण कीजिए। यह पुरुष ज्ञान के द्वारा सब वस्तुओं का ठीक प्रयोग करते हुए दीर्घजीवनवाला बने। २. हे **त्वष्टा**=निर्माण करनेवाले प्रभो! **अस्मै**=इस पुरुष के लिए **प्रजाम्**=प्रकृष्ट विकास को **अधिनिधेहि**=खूब ही धारण कीजिए। यह संसार में सब वस्तुओं के ठीक प्रयोग से अपने अङ्ग-प्रत्यङ्ग का ठीक निर्माण करनेवाला बने। ३. हे **सवितः**=सर्वैश्वर्यसम्पन्न प्रभो! (सू प्रसवैश्वर्ययोः) **अस्मै**=इसके लिए **रायस्पोषम्**=धनों के पोषण को **आसुव**=उत्पन्न कीजिए। यह जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक धनों को उत्पन्न करनेवाला हो। ४. आर्थिक दृष्टिकोण से किसी प्रकार से चिन्ता में न होता हुआ हे प्रभो! **अयम्**=यह **तव**=आपका ही बना हुआ **शतं शरदः जीवाति**=शतवर्षपर्यन्त जीनेवाला हो। आर्थिक चिन्ता न हो और अर्थ में मनुष्य डूब ही न जाए तभी वह अपने जीवन को सार्थक बना पाता है। अर्थ में न डूबने के लिए आवश्यक है कि हम प्रभु के ही बने रहें। प्रभुभक्ति से हम श्री से सेवित होते हैं इसके अभाव में तो श्री के सेवक बन जाते हैं, तब दीर्घजीवन होना सम्भव ही नहीं रहता।

भावार्थ—ज्ञान से वस्तुओं का यथायोग करते हुए, सब शक्तियों का ठीक विकास करते हुए और आवश्यक धनों का उत्पादन करते हुए हम दीर्घजीवी बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उत्तम जीवन

आशीर्ण ऊर्जमुत सौप्रजास्त्वं दक्षं धत्तं द्रविणं सचेतसौ।
जयं क्षेत्राणि सहसायमिन्द्र कृण्वानो अन्यानधरान्त्सपत्नान्॥ ३॥

१. प्रभु गृहस्थों से कहते हैं कि **सचेतसौ**=ज्ञान और स्मृतिवाले होते हुए तुम दोनों **नः आशीः**=हमारी इच्छा को—प्रभु-प्राप्ति की कामना को, **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को **उत**=और **सौप्रजास्त्वम्**=उत्तम सन्तानों को, **दक्षम्**=उन्नति व कुशलता को तथा **द्रविणम्**=धन को **धत्तम्**=धारण करो। २. **अयम्**=यह गृहपति **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय बना रहकर **सहसा**=शत्रुओं का मर्षण कर देनेवाली शक्ति से **जयम्**=विजय को तथा **क्षेत्राणि**=विकास के योग्य शरीरों को (इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमत्यभिधीयते) **कृण्वानः**=करता हुआ। **अन्यान्**=अन्य **सपत्नान्**=काम-क्रोधादि शत्रुओं को **अधरान् कृण्वानः**=पादाक्रान्त करता है। यह शरीर में किसी प्रकार के रोगों को नहीं आने देता।

भावार्थ—उत्तम जीवन का साधन यही है कि हम सचेत बने रहें, प्रभु का स्मरण रक्खें। 'शक्ति सुप्रजा, दक्षता व द्रविण' को सिद्ध करने के लिए यत्नशील हों। विजयी बनें। शरीरों को ठीक रक्खें। काम-क्रोध आदि शत्रुओं को प्रबल न होने दें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ, विश्वेदेवाः, मरुतः, आपः** ॥ छन्दः—**पराबृहती-निचृत्प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

सन्तान

इन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टो मरुद्भिरुग्रः प्रहितो न आगन्।
एष वां द्यावापृथिवी उपस्थे मा क्षुधन्मा तृषत्॥

१. यह सन्तान **इन्द्रेण दत्तः**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु से दिया गया है। प्रभु की कृपा से सब सन्तान प्राप्त हुआ करते हैं। २. **वरुणेन शिष्टः**=(आचार्यो मृत्यु ओषधयः पयः) वरुण के द्वारा यह अनुशासन को प्राप्त कराया गया है। आचार्य ने इसे उत्तम अनुशासन में रखकर ज्ञान प्राप्त कराया है। ३. **मरुद्भिः उग्रः**=प्राणों से यह तेजस्वी बना है। इसप्रकार **प्रहितः**=(हि वृद्धौ, promote) वृद्धि को प्राप्त करता हुआ **वाम् उपस्थे**=आपकी गोद में **मा क्षुधत्**=मत भूखा रहे **मा तृषत्**=और न ही प्यासा रहे। यह ठीक खान-पान प्राप्त करता हुआ दीर्घजीवी हो।

भावार्थ—(क) 'सन्तानों को हम प्रभु से दिया गया समझें', ऐसा होने पर हम उनके पालन को 'प्रभु का कार्य करना समझेंगे', (ख) उत्तम आचार्यों से उनका शिक्षण हो, (ग) प्राणसाधना की प्रवृत्ति इनमें पैदा की जाए, (घ) इनका खान-पान ठीक हो, ऐसा होने पर ये अवश्य दीर्घजीवी बनेंगे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ, विश्वेदेवाः, मरुतः, आपः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ऊर्ज्+पयस्

ऊर्जमस्मा ऊर्जस्वती धत्तं पयो अस्मै पयस्वती धत्तम्।
ऊर्जमस्मै द्यावापृथिवी अधातां विश्वेदेवा मरुत ऊर्जमापः॥ ५॥

१. सन्तान की उत्तमता के लिए माता-पिता को पौष्टिक अन्न व दूध का ग्रहण करना चाहिए। उन्हें पौष्टिक अन्न व दूध की कमी न हो। **ऊर्जस्वती**=हे पौष्टिक अन्नवाले माता-पिताओ! आप **अस्मै**=इस उत्तम सन्तान की प्राप्ति के लिए **ऊर्जम्**=पौष्टिक अन्न को **धत्तम्**=धारण करो। **पयस्वती**=उत्तम दूधवाले होते हुए **अस्मै**=इस सन्तान की प्राप्ति के लिए **पयः धत्तम्**=दूध का धारण करो। माता-पिता 'ऊर्ज् व पयस्' को धारण करनेवाले हों। उत्तम ओषधियों का रस ही 'ऊर्ज्' है। गवादि पशुओं का दूध 'पयस्' है। इनका प्रयोग करनेवाले माता-पिता उत्तम सन्तान प्राप्त करते हैं। २. अब इस सन्तान के होने पर **द्यावापृथिवी**=द्युलोकरूप पिता व पृथिवीलोकरूप माता **अस्मै**=इस सन्तान के लिए **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को **अधाताम्**=धारण कराते हैं, तथा **विश्वेदेवाः**=सूर्यादि सब देव अथवा माता-पिता व आचार्य आदि देव, **मरुतः**=प्राण तथा **आपः**=जल **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति देते हैं। ३. पूर्वार्ध में 'पयस्' के सान्निध्य से ऊर्ज् शब्द का अर्थ पौष्टिक अन्न लिया है। माता-पिता 'ऊर्ज् व पयस्' का प्रयोग करनेवाले हो, ऐसा होने पर ही सन्तानों का उत्तम होना सम्भव है। उत्तरार्ध में 'ऊर्ज्' का भाव बल व प्राणशक्ति लिया गया है। सब देवों की अनुकूलता होने पर बल व प्राणशक्ति प्राप्त होती है।

भावार्थ—माता-पिता 'ओषधि-रसों व दुग्ध' का सेवन करनेवाले हों। सन्तान देवों की अनुकूलता में जीवन बिताए।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

जल व तक्र का प्रयोग

शिवाभिष्टे हृदयं तर्पयाम्यनमीवो मोदिषीष्ठाः सुवर्चाः।
सवासिनौ पिबतां मन्थमेतमश्विनो रूपं परिधाय मायाम्॥ ६॥

१. गतमन्त्र की समाप्ति पर 'आपः' शब्द आया है। उन्हीं का संकेत करते हुए कहते हैं कि **शिवाभिः**=इन कल्याण करनेवाले जलों से **ते**=तेरे **हृदयम्**=हृदय को **तर्पयामि**=तृप्त करता हूँ। ये तेरे लिए हृद्य—हृदय को शान्ति देनेवाले हों। इनके ठीक प्रयोग से **अनमीवः**=नीरोग होता हुआ तू **सुवर्चाः**=उत्तम वर्चस् व तेजवाला बनकर **मोदिषीष्ठाः**=आनन्द का अनुभव कर। जल

का समुचित प्रयोग वस्तुतः तृप्ति देनेवाला है, नीरोगता का साधन है, शक्तिशाली बनाता है और इसप्रकार आनन्दित करता है। २. घर में पति-पत्नी के लिए कहते हैं कि तुम दोनों **सवासिनौ**=घर में मिलकर, प्रेम से रहनेवाले होकर **अश्विनोः रूपम्**=द्यावापृथिवी के रूप को **परिधाय**=धारण करके(इमे ह वै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षमश्विनौ— श० ४.१.५.१६, पति द्युलोक के समान है तो पत्नी पृथिवीलोक के) **मायाम् परिधाय**=प्रज्ञा को प्राप्त करे **एतम्**=इस **मन्थम्**=मन्थन से उत्पन्न तक्र (छाछ) को पीओ। इस तक्र के प्रयोग से प्रायः सब रोग दग्ध हो जाते हैं (न तक्रदग्धाः प्रभवन्ति रोगाः)। शरीर में आँतों के अन्तिम प्रदेश में कुछ ऐसे कृमि हो जाते हैं जो इस तक्र से ही समाप्त होते हैं।

भावार्थ—जल व तक्र के प्रयोग से पति-पत्नी स्वस्थ बनते हैं। द्यावापृथिवी के समान मस्तिष्क में प्रकाशमय व शरीर में दृढ़ होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मन्थ का महत्त्व

इन्द्र॑ एतां स॑सृजे वि॒द्धो अग्र॒ ऊ॒र्जां स्व॒धाम॒जरां॒ सा त॑ ए॒षा।
तया॒ त्वं जी॑व श॒रदः॑ सु॒वर्चा॒ मा त॒ आ सु॑स्रो॒द्भि॒षज॑स्ते अक्रन्॥ ७॥

१. **विद्धः इन्द्रः** (विधेम=परिचरेम—नि० ३.५) उपासित हुए-हुए इन्द्र ने **एताम्**=इस मन्थरूप पेय द्रव्य को **ससृजे**=उत्पन्न किया है। **अग्रे ऊर्जाम्**=यह सर्वाधिक बल व प्राणशक्ति को देनेवाला है, **अजराम्**=यह जीर्ण न होने देनेवाला है, **सा एषा**=वह यह पेय द्रव्य **ते**=तेरे लिए है। **तया**=उससे **त्वम्**=तू **शरदः**=वर्षों (सौ वर्षों तक) **जीव**=जीनेवाला हो। **सुवर्चाः**=तू उत्तम वर्चस्वाला बन। २. **ते**=तरे शरीर से **मा आसुस्रोत्**=शक्ति का प्रच्याव (विनाश) न हो। **भिषजः**=वैद्यों ने **ते**=तेरे लिए **अक्रन्**=इस मन्थ (तक्र) को औषध के रूप में किया है। यह तेरे लिए औषध बन गया है।

भावार्थ—प्रभु के उपासक प्रभु से दी गई इस छाछ को पीते हैं। यह उनके बल को स्थिर रखती है, शरीर का धरण करती है और उन्हें जीर्ण नहीं होने देती।

विशेष—यह सूक्त दीर्घायुष्य के साधनों का उल्लेख करता है(क) प्रथम उपाय है पार्थिव ओषधियों के रसों का ही प्रयोग हो, (ख) समाप्ति पर मन्थ के प्रयोग का उल्लेख है, (ग) 'पार्थिव ओषिधियों का प्रयोग करें, छाछ पीएँ ' इससे दीर्घ जीवन होगा। इस दीर्घ जीवन के लिए पति-पत्नी का परस्पर प्रेम अत्यावश्यक है। इसी बात का उल्लेख अगले सूक्त में करते हैं। ऐसे पति-पत्नी ही उत्तम सन्तान को प्राप्त करते हैं। इस उत्तम सन्तानवाला 'प्रजापति' ही इस सूक्त का ऋषि है।

३०. [त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**मनः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

पति-पत्नी का परस्पर प्रेम

य॒थे॒दं भूम्या॒ अधि॒ तृणं॒ वातो॑ मथा॒यति॑।
ए॒वा म॑थ्नामि ते॒ मनो॒ यथा॒ मां का॒मिन्यसो॒ यथा॒ मन्नाप॑गा॒ अस॑:॥ १॥

१. **यथा**=जैसे **भूम्या अधि**=इस भूमि पर **इदं तृणम्**=इस तृण को **वातः**=वायु **मथायति**=आन्दोलित कर देता है, **एव**=इसप्रकार हे युवति! **ते मनः**=तेरे मन को **मथ्नामि**=मैं आलोडित करता हूँ, **यथा**=जिससे **मां कामिनी असः**=तू मुझे चाहनेवाली हो, **यथा**=जिससे **मत्**=मुझसे

अपगाः=दूर जानेवाली **न असः**=न हो। इन शब्दों में एक युवक एक युवति के मन को अपनी ओर आकृष्ट करता है। यदि युवति में युवक के लिए आकर्षण न होगा अथवा युवति के लिए युवक में आकर्षण न होगा तो उनका परस्पर सम्बन्ध देर तक न रह पाएगा। यह सम्बन्ध की कटुता उनके जीवन के लिए दुष्परिणाम पैदा करेगी। परस्पर का प्रेम आवश्यक है।

भावार्थ—युवक व युवति परस्पर प्रेम से एक-दूसरे के साथी बनते हैं, तो परस्पर के व्रतों को ठीक निभाते हुए एक-दूसरे की शान्ति और दीर्घजीवन का कारण बनते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सब-कुछ सम्मिलित

सं चेन्नयाथो अश्विना कामिना सं च वक्षथः।
सं वां भगासो अग्मत सं चित्तानि समु व्रता ॥ २ ॥

१. हे **आश्विना**=कर्मों में व्याप्त होनेवाले पति-पत्नी! तुम इस बात का ध्यान करो कि **इत्**=निश्चय से **सन्नयाथा**=तुम एक-दूसरे की आवश्यकताओं को सम्यक् प्राप्त करानेवाले होते हो **च**=और **कामिना**=एक दूसरे को चाहनेवाले तुम **संवक्षथः**=कार्यों को सम्यक् धारण करते हो। २. **च**=तथा **वां भगासः**=आपके ऐश्वर्य **सम् अगमत्**=संगत ही होते हैं, **चित्तानि सं**=(अगमत्) आपके चित्त मिले हुए होते हैं **उ**=और **व्रता**=आपके व्रत **सम्**=मिले हुए होते हैं। इन सबका मिलकर होना आपको एक बनाये रखता है। एकता के परिणामस्वरूप आपके चित्तों में शान्ति बनी रहती है। यह शान्ति दीर्घजीवन का कारण बनती है।

भावार्थ—पति-पत्नी का सब-कुछ सम्मिलित होना चाहिए। यह मेल ही उन्हें दीर्घजीवी बनाता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**भूरिगनुष्टुप्** ॥

सुपर्ण व अनमीव

यत्सुपर्णा विवक्षवो अनमीवा विवक्षवः। तत्र मे गच्छताद्धवं शल्यइव कुल्मलं यथा ॥ ३ ॥

१. **यत्**=जिस गृहस्थ को **सुपर्णाः**=उत्तमता से पालन व पूरण करनेवाले ही **विवक्षवः**=वहन करने की इच्छावाले होते हैं, जिसे **अनमीवाः**=नीरोग पुरुष ही **विवक्षवः**=वहन करने की कामना करते हैं, **तत्र**=उस गृहस्थ के विषय में **मे हवम्**=मेरी प्रार्थना **गच्छतात्**=जाए, अर्थात् मैं सुपर्ण और अनमीव बनकर ही गृहस्थ में जाने की कामना करूँ। गृहस्थ में जाने का अधिकार वस्तुतः सुपर्ण और अनमीव को ही हो। २. मैं गृहस्थ में इसप्रकार जाऊँ, **इव**=जैसे **शल्यः**=बाण की कील **यथा**=ठीक प्रकार से **कुल्मलम्**=बाणदण्ड पर जाती है। बाणदण्ड में गड़कर यह कील दण्ड से अग्रभाग को जोड़ती है। मेरा सुपर्णत्व व अनमीवत्व भी गृहस्थ-सम्बन्ध की दृढ़ता का कारण बने। ३. पति उत्तमता से पालन करनेवाला न हो तथा सदा अस्वस्थ रहता हो तो ये बातें सम्बन्ध की शिथिलता का कारण बनती हैं।

भावार्थ—मैं 'सुपर्ण व अनमीव' बनकर गृहस्थ को उत्तमता से चलानेवाला बनूँ।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

जो अन्दर वही बाहर (निश्छलता)

यदन्तरं तद्बाह्यं यद्बाह्यं तदन्तरम्। कन्या ∫ नां विश्वरूपाणां मनो गृभायौषधे ॥ ४ ॥

१. पति पत्नी के हृदय पर तभी काबू पा सकता है जब पत्नी को यह विश्वास हो जाए कि पति उससे किसी प्रकार का छिपाव नहीं रखता है। मन्त्र में कहते हैं कि **ओषधे**=अपने दोषों

का दहन करनेवाले पुरुष! तू जीवन का यह सूत्र बना कि **यत् अन्तरम्**=जो अन्दर है **तत् बाह्यम्**=वही बाहर हो, **यत् बाह्यम्**=जो बाहर हो **तत् अन्तरम्**=वही अन्दर हो। तेरा अन्दर व बाहर एक हो—किसी प्रकार का छल-छिद्र व छिपाव न हो। २. ऐसा करने पर **विश्वरूपाणाम्**=भिन्न-भिन्न रूपोंवाली, अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रकार के स्वभाव व रुचियोंवाली सभी **कन्यानाम्**=कन्याओं के **मनः गृभाय**=मन को तू ग्रहण करनेवाला हो। पत्नी का कैसा भी स्वभाव हो, परन्तु उसे यह विश्वास हो कि पति उससे किसी प्रकार का छिपाव नहीं रखते तो वह उनके प्रति अनन्य भाव से प्रेमवाली रहती है। पति के लिए इससे अधिक शान्ति देनेवाली और कोई बात नहीं हो सकती।

भावार्थ—पति पत्नी से किसी प्रकार का छिपाव न रखकर उसके हृदय को जीत लेता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**दम्पती** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पतिकामा-जनिकामः

एयमगन्पतिकामा जनिकामोऽहमागमम्।
अश्वः कनिक्रदद्यथा भगेनाहं सहागमम्॥ ५॥

१. **इयम्**=यह **पतिकामा**=पति को प्राप्त करने की कामनावाली **आ अगन्**=प्राप्त हुई है। इन शब्दों से स्पष्ट है कि युवति अपने पूर्ण यौवन में आकर पति को प्राप्त करने की कामनावाली हुई है। इसीप्रकार **अहम्**=मैं **जनिकामः**=पत्नी की कामनावाला **आगमम्**=आया हूँ। युवक भी पूर्ण तारूण्य को प्राप्त करके पत्नी की कामनावाला हुआ है। 'युवक व युवति परस्पर एक-दूसरे को चाहते हैं', यह भाव भी इन शब्दों से व्यक्त हो रहा है। २. युवक कहता है कि **यथा**=जैसे **कनिक्रदत्**=खूब हिनहिनाता हुआ **अश्वः**=घोड़ा होता है, उसी प्रकार शक्ति के कारण शक्तिशाली वाणी को प्रकट करता हुआ मैं **भगेन सह**=ऐश्वर्य के साथ **आगमम्**=आ गया हूँ। इन शब्दों से पति बनने की कामनावाले युवक के लिए दो बातों की आवश्यकता स्पष्ट हो रही है।(क) एक तो वह शक्तिशाली हो और(ख) दूसरे, वह धन कमाने की योग्यतावाला हो। 'धन व शक्ति दोनों ' ही बातें गृहस्थ को सुन्दरता से निभाने के लिए आवश्यक हैं।

भावार्थ—युवावस्था में परस्पर एक-दूसरे के चाहनेवालों का ही विवाह हो। पति जहाँ तारुण्य की शक्तिवाला हो, वहाँ धन कमाने की योग्यता भी रखता हो।

विशेष—प्रस्तुत सूक्त में पति-पत्नी के पारस्परिक प्रेम के विषय का उल्लेख है। दीर्घजीवन के लिए इसका होना आवश्यक ही है। इस दीर्घजीवन के लिए और नीरोगता की सिद्धि के लिए कण्वों (A peculiar class of evil spirits-रोगकृमि) का संहार भी आवश्यक है। इन कण्वों का संहार करनेवाले 'काण्व' अगले सूक्त का ऋषि है।

३१. [एकत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**मही** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मही दृषत्

इन्द्रस्य या मही दृषत्क्रिमेर्विश्वस्य तर्हणी।
तया पिनष्मि सं क्रिमीन्दृषदा खल्वाँइव॥ १॥

१. **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष की **या**=जो **मही**=महनीय **दृषत्**=शिला है, अर्थात् (**मही**=पृथिवी) पत्थर के समान दृढ़ यह शरीररूप पृथिवी है, यह **विश्वस्य क्रिमेः**=शरीर में प्रविष्ट हो जानेवाले कृमियों का **तर्हणी**=नाश करनेवाली है। जब व्यक्ति जितेन्द्रिय बनता है तब उसका शरीर

पत्थर के समान दृढ़ हो जाता है। इस शरीर में जो भी रोगकृमि प्रवेश करते हैं, वे इस जितेन्द्रिय की वीर्यशक्ति से कम्पित होकर नष्ट हो जाते हैं। २. **तया**=उस महनीय दृषत् से मैं **क्रिमीन्**=इन रोगकृमियों को ऐसे **संपिनष्मि**=पीस डालता हूँ, **इव**=जैसे **दृषदा**=पत्थर से **खल्वान्**=(चणकान्—सा०) चनों को पीस डालते हैं।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष का शरीर एक महनीय दृषत् के समान होता है, जिससे रोगकृमि इसप्रकार पिस जाते हैं, जैसे पत्थर से चने।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**क्रिमिजम्भनम्** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्विराड्बृहती** ॥

वचा के प्रयोग से कृमिनाश

दृष्टमदृष्टमतृहमथो कुरूरुमतृहम्।
अल्गण्डून्त्सर्वाञ्छलुनान्क्रिमीन्वचसा जम्भयामसि॥ २॥

१. **दृष्टम्**=आँखों से दीखनेवाले **अदृष्टम्**=आँखों से न दीखनेवाले कृमियों को **अतृहम्**=मैं नष्ट करता हूँ, **अथ उ**=और निश्चय से **कुरूरुम्**=(कौ रवते गच्छति) पृथिवी पर रेंगनेवाले या (कुत्सितं रौति) कुत्सित शब्द करनेवाले कृमियों को **अतृहम्**=नष्ट करता हूँ। २. **अल्गण्डून्**=(गडि वदनैकदेशे, अलं वारणे) गण्डस्थल की क्रिया को रोकनेवाले कृमियों को तथा **शलुनान्**=(शल्-to tremble) अत्यन्त कम्पित करनेवाले **सर्वान् क्रिमीन्**=सब कृमियों को **वचसा जम्भयामसि**=(a kind of aromatic root) तीव्र गन्धवाली वचा ओषधि के मूल से नष्ट करता हूँ। इस ओषधि के तीव्र गन्ध से सब कृमि नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—वचा ओषधि के प्रयोग से हम सब प्रकार के रोगकृमियों को नष्ट करें।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**क्रिमिजम्भनम्** ॥ छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्** ॥

कृमियों का समूलोच्छेद

अल्गण्डून्हन्मि महता वधेन दूना अदूना अरसा अभूवन्।
शिष्टानशिष्टान्नि तिरामि वाचा यथा क्रिमीणां नकिरुच्छिषातै॥ ३॥

१. **अल्गण्डून्**=मुख-अवयवों की क्रिया को रोकनेवाले अथवा (शोणितमांसदूषकान्—सा०) रुधिर व मांस में विकार उत्पन्न करनेवाले कृमियों को **महता वधेन**=प्रबल बध (आक्रमण) के द्वारा **हन्मि**=नष्ट करता हूँ। इन कृमियों के नाश के लिए अभियान ही करता हूँ। २. **दूनाः**=ओषधियों के प्रभाव से सन्तप्त हुए-हुए (दु=उपतापे=दुनोति) **अदूनाः**=गतिशून्य (दु=गतौ)—ये सब कृमि **अरसाः**=जीवनशून्य **अभूवन्**=हो गये हैं। ३. **शिष्टान्**=बचे हुए **अशिष्टान्**=अभी तक जो शासित नहीं हो सके (शास्) उन कृमियों को **वचा**=वचा ओषधि के प्रयोग से **नितिरामि**=हिंसित करता हूँ, यथा जिससे **क्रिमीणाम्**=इन कृमियों में से **नकिः उच्छिषातैः**=कोई बचता नहीं है। इनका समूलोच्छेद हो जाता है।

भावार्थ—वचा ओषधि के प्रयोग से हम सब कृमियों का समूलोच्छेद करते हैं।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**क्रिमिजम्भनम्** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्विराड्बृहती** ॥

विविध रोगकृमि

अन्वान्त्र्यं शीर्षण्य१ मथो पार्ष्टेयं क्रिमीन्।
अवस्कवं व्यध्वरं क्रिमीन्वचसा जम्भयामसि॥ ४॥

१. **अन्वान्त्रयम्**=क्रमशः आँतों में फैलते जानेवाले कृमियों को **शीर्षण्यम्**=सिर में विकार

के कारणभूत कृमियों को **अथ उ**=और निश्चय से **पार्ष्टेयम्**=(पृष्टिषु पार्श्वावयवेषु भवम्) पसलियों में होनेवाले **क्रिमीन्**=रोगकृमियों को **वचसा**=वचा ओषधि के प्रयोग से **जम्भयामसि**=हम नष्ट करते हैं। २. **अवस्कवम्**=(अव+स्कुञ् आप्रवणे) नीचे की ओर के स्वभाववाले—अन्दर और अन्दर प्रवेश करते चलने के स्वभाववाले तथा **व्यध्वरम्**=(वि+अध्व) विविध मार्गोंवाले, अनेक द्वार बनाकर गति करते हुए **क्रिमीन्**=सब कृमियों को हम **वचसा जम्भयामसि**=वचा ओषधि के द्वारा नष्ट करते हैं।

भावार्थ—'अन्वान्त्र्य, शीर्षण्य, पार्ष्टेय, अवस्कव, व्यध्वर' आदि सब कृमियों को हम वचा ओषधि के द्वारा नष्ट करते हैं।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**क्रिमिजम्भनम्** ॥ छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्** ॥

कृमि-जन्मोच्छेद

ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोषधीषु पशुष्वप्स्व१न्तः।
ये अस्माकं तन्व᳘माविविशुः सर्वं तद्धन्मि जनिम क्रिमीणाम् ॥ ५ ॥

१. **ये**=जो **क्रिमयः**=कृमि **पर्वतेषु**=पर्वतों में हैं, **वनेषु**=वनों में हैं, **ओषधिषु**=ओषधियों में हैं, **पशुषु**=पशुओं में हैं अथवा **अप्सु अन्तः**=जलों में हैं **तत्**=उन **सर्वम्**=सब **क्रिमीणाम्**=कृमियों के **जनिम**=जन्म को **हन्मि**=मैं नष्ट करता हूँ। उल्लिखित पर्वत आदि के सम्पर्क में आने पर **ये**=जो कृमि **अस्माकम्**=हमारे **तन्वम्**=शरीर में **आविविशुः**=प्रवेश कर गये हैं, उन सब कृमियों के फैलाव (जनिम=विकास) को भी मैं नष्ट करता हूँ।

भावार्थ—पर्वत, वन, ओषधि, पशु व जलों में होनेवाले रोगकृमि हमारे शरीरों में भी प्रवेश कर जाते हैं, हम उन्हें विनष्ट करें।

विशेष—प्रस्तुत सूक्त में रोगकृमियों के लिए दो बातों का संकेत हैं (क) जितेन्द्रिय बनकर शरीर को पत्थर के समान दृढ़ बनाना (इन्द्रस्य मही दृषत्) तथा (ख) वचा ओषधि का प्रयोग (वचसा)। अगले सूक्त का भी यही विषय है। यहाँ आदित्य-किरणों से कृमिनाश का संकेत है।

३२. [द्वात्रिंशं]

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिपाद्भुरिग्गायत्री** ॥

उदय व अस्त होता हुआ सूर्य

उद्यन्नादित्यः क्रिमीन्हन्तु निम्रोचन्हन्तु रश्मिभिः। ये अन्तः क्रिमयो गवि ॥ १ ॥

१. **उद्यन्**=उदय होता हुआ **आदित्यः**=सूर्य **क्रिमीन् हन्तु**=रोगकृमियों को नष्ट करे। उदय होते हुए सूर्य की किरणों में इसप्रकार की शक्ति होती है कि हमारे शरीरों में स्थित रोगकृमि नष्ट हो जाते हैं। २. इसीप्रकार **निम्रोचन्**=अस्त होता हुआ सूर्य भी **रश्मिभिः**=अपनी किरणों से उन रोगकृमियों को **हन्तु**=नष्ट करे **ये**=जो **क्रिमयः**=कृमि **गवि अन्तः**=गौ के शरीर में स्थित हैं। सूर्य-किरणों में विचरण करनेवाली गौएँ निर्दोष दुग्धवाली होती हैं।

भावार्थ—उदय व अस्त होता हुआ सूर्य अपनी किरणों से रोगकृमियों को नष्ट करता है।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विश्वरूप चतुरक्ष कृमि

विश्वरूपं चतुरक्षं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम्। शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥ २ ॥

१. **विश्वरूपम्**=नाना आकारोंवाले, **चतुरक्षम्**=चार (नेत्रोंवाले), **सारङ्गम्**=शबल (sable)

वर्णवाले अथवा **अर्जुनम्**=शुभ्र वर्णवाले—इसप्रकार अनेक आकारोंवाले **क्रिमिम्**=कृमियों को नष्ट करता हूँ। २. **अस्य**=इन कृमियों की **पृष्टिः अपि**=पार्श्वावयवों को भी **शृणामि**=हिंसित करता हूँ और **अस्य**=इनका **यत् शिरः**=जो सिर व प्रधान अङ्ग है, उसे भी **वृश्चामि**=छिन्न करता हूँ। इसप्रकार इसे नष्ट करके इसे रोगोत्पादन के सामर्थ्य से शून्य करता हूँ।

भावार्थ—हम सूर्यकिरणों से विश्वरूप, चतुरक्ष कृमियों का विनाश करते हैं।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अत्रि, कण्व, जमदग्नि, अगस्त्य

अत्रिवद्वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत्।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन्॥ ३॥

१. हे **क्रिमयः**=रोगकृमियो! मैं **अत्रिवत्**=अत्रि की भाँति **वः हन्मि**=तुम्हें नष्ट करता हूँ, **कण्ववत्**=कण्व की भाँति तथा **जमदग्निवत्**=जमदग्नि की भाँति तुम्हें नष्ट करता हूँ। २. **अहम्**=मैं **अगस्त्यस्य**=अगस्त्य के **ब्रह्मणा**=ज्ञान से **क्रिमीन्**=कृमियों को **सम्पिनष्मि**=सम्यक्तया पीस डालता हूँ। ३. अत्रि वह व्यक्ति है जो 'अ+त्रि'='काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों से अलग रहता है। ऐसे व्यक्ति के शरीर में रोगकृमियों का प्राबल्य नहीं हो पाता। 'कण्व' वह व्यक्ति है जोकि मेधावी होता हुआ आसुर शक्तियों (Evil spirits) को नष्ट करने का प्रयत्न करता है। इसपर भी रोगकृमियों का आक्रमण नहीं होता। 'जमदग्नि' वह है जिसकी जाठराग्नि **जमत्**=खानेवाली है, अर्थात् जिसकी जाठराग्नि मन्द नहीं है। यह भी इन रोगकृमियों का शिकार नहीं होता। ४. 'अत्रि-कण्व व जमदग्नि' के अतिरिक्त अगस्त्य भी अपने ज्ञान से इन कृमियों का संहार करनेवाला होता है। 'अगस्त्य' वह है जोकि **अगम्**=कुटिलता को **स्त्यायति**=(संहन्ति) नष्ट करता है। मन की अकुटिलता का शरीर के स्वास्थ्य पर भी वाञ्छनीय प्रभाव पड़ता है। यह अगस्त्य ज्ञानपूर्वक पवित्र व्यवहार करता हुआ शरीर में भी नीरोग बना रहता है।

भावार्थ—हम 'अत्रि, कण्व, जमदग्नि व अगस्त्य' बनकर रोगकृमियों को नष्ट करनेवाले हों।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सराष्ट्र 'कृमि' विनाश

हतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः। हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा॥ ४॥

१. **क्रिमीणां राजा हतः**=गतमन्त्र में वर्णित कृमियों का राजा अगस्त्य के द्वारा विचारपूर्वक किये गये औषधप्रयोग से (मन्त्रौषधि प्रयोग से) मारा गया है, **उत**=और **एषाम्**=इन कृमियों का **स्थपतिः**=स्थान का रक्षक अथवा सचिव **हतः**=मारा गया है। २. **हतमाता**=जिसकी माता का विनाश कर दिया गया है, **हतभ्राताः**=जिसके भाई को मार दिया गया है। **उत स्वसा**=जिसकी बहिन को भी नष्ट कर दिया गया है, ऐसा यह **क्रिमिः**=कृमि **हतः**=हिंसित हुआ है। संक्षेप में अपने सारे परिवार व राष्ट्रसहित यह कृमि समाप्त हो गया है।

भावार्थ—ज्ञानपूर्वक ओषधिप्रयोग से रोगकृमियों का मूलोच्छेद कर दिया जाता है।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

बीजोच्छेद

हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः।
अथो ये क्षुल्लकाइव सर्वे ते क्रिमयो हताः॥ ५॥

१. **अस्य**=इस कृमि-कुल के **वेशसः**=निवेशनस्थानभूत मुख्य गृह ही **हतासः**=नष्ट कर दिये

गये हैं। जैसे जलाकर घर को नष्ट कर दिया जाता है, उसी प्रकार कृमियों के बनाये गये घर को नष्ट कर दिया गया है। **परिवेशसः**=इस कृमिकुलगृह के चारों ओर स्थित गृह भी **हतासः**=नष्ट कर दिये गय हैं। जो त्वचा व्रणित होती है उसे तो ओषध से जलाते ही हैं, उसके आस-पास के कुछ भाग को भी जला देते हैं। २. **अथ उ**=और अब **ये**=जो **क्षुल्लकाः इव**=बीज अवस्था में सूक्ष्मरूप, दुर्लक्ष से **क्रिमयः**=कृमि हैं, **ते सर्वे**=वे सबके सब **हताः**=नष्ट कर दिये गये हैं।

भावार्थ—नीरोगता के लिए आवश्यक है कि कृमियों का बीजोच्छेद ही कर दिया जाए।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**चतुष्पान्निचृदुष्णिक्** ॥

कृमियों के शृङ्ग व कुषुम्भ का विनाश

प्र ते शृणामि शृङ्गे याभ्यां वितुदायसि। भिनद्मि ते कुषुम्भं यस्ते विषधानः ॥ ६ ॥

१ हे रोगकृमे! मैं **ते**=तेरे **शृंगे**=शृंगों को—सींग की भाँति कष्ट देनेवाले अङ्गों को **प्रशृणामि**=पूर्णरूप से समाप्त करता हूँ, **याभ्याम्**=जिनसे **वितुदायसि**=तू पीड़ित करता है। २. **ते कुषुम्भम्**=(कुशुम्भ=कुसुम्भ=water pot) तेरे इस जल-पात्र को भी में **भिनद्मि**=विदीर्ण करता हूँ, **यः**=जो **ते**=तेरे **विषधानः**=विषधारण का काम देता है।

भावार्थ—हम कृमियों के पीड़ादायक अङ्गों का विनाश करते हैं।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त कृमियों के समूलोच्छेन का निर्देश करता है। इन कृमियों के विनाश से रोगों का उन्मूलन करके सब प्रकार की उन्नति (चतुर्मुखी उन्नति) करनेवाला ब्रह्मा अगले सूक्त का ऋषि है। यह पूर्णरूप से यक्ष्म (रोग) का निबर्हण (विनाश) करता है। यह यक्ष्मनिबर्हण ही अगले सूक्त का विषय है—

३३. [त्रयस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**यक्ष्मविवर्हणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यक्ष्मनिबर्हण

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते ॥ १ ॥

१. यक्ष्म (रोग) से आक्रान्त पुरुष से ब्रह्मा (ज्ञानी वैद्य) कहता है कि **ते**=तेरे **अक्षीभ्याम्**=आँखों से **यक्ष्मम्**=रोग को **विवृहामि**=(उद्धरामि) पृथक् करता हूँ। इसीप्रकार **नासिकाभ्याम्**=घ्राणेन्द्रिय के अधिष्ठानभूत नासादि छिद्रों से **कर्णाभ्याम्**=श्रोत्रों से **छुबुकात् अधि**=ओष्ठ के अधर प्रदेश (ठोडी) से तेरे रोगों को पृथक् करता हूँ। २. **शीर्षण्यं यक्ष्मम्**=सिर में होनेवाले रोगों को दूर करता हूँ। **मस्तिष्कात्**=शिरःप्रदेश के अन्तर्भाग में स्थित मांसविशेष मस्तिष्क है—उससे और **जिह्वायाः**=रसना से तेरे रोग को उखाड़ फेंकता हूँ।

भावार्थ—आँख, नासिका, कान, ठोडी, सिर, मस्तिष्क व जिह्वा से रोग को दूर किया जाए।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**यक्ष्मविवर्हणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ग्रीवादि से रोगोद्बर्हण

ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात्।
यक्ष्मं दोषण्यमंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते ॥ २ ॥

१. हे व्याधिगृहीत! **ते**=तेरी **ग्रीवाभ्यः**=ग्रीवा की अवयवभूत चौदह सूक्ष्म अस्थियों से

यक्ष्मम्=रोग को **विवृहामि**=पृथक् करता हूँ, **उष्णिहाभ्यः**=धमनियों से—रक्तादि से उत्स्नात नाड़ियों (गुद्दी की नाड़ियों) से, **कीकसाभ्यः**=जत्रु व क्षेत्रगत् अस्थियों से (हँसली की हड्डियों से), **अनूक्यात्**=रीढ की हड्डी से तेरे रोग को दूर करता हूँ (अनुक्रमेण उच्यन्ति समवयन्ति अस्थीनि अस्मिन्)। २. **दोषण्यम्**=भुजाओं में होनेवाले **यक्ष्मम्**=रोग को दूर करता हूँ। मैं **ते**=तेरे **यक्ष्मम्**=रोग को **अंसाभ्याम्**=कन्धों से, **बाहुभ्याम्**=बाहुओं से **विवृहामि**=पृथक् करता हूँ।

भावार्थ—ग्रीवा, उष्णिहा, कीकसा, अनूक्य, भुजा, कन्धे व हाथों से रोग को दूर किया जाए।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**यक्ष्मविवर्हणम्** ॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

हृदयात्ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात्पार्श्वाभ्याम्।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीह्नो यक्नस्ते वि वृहामसि ॥ ३ ॥

१. हे रुग्ण! **ते**=तेरे **हृदयात्**=हृदयपुण्डरीक से, **परिक्लोम्नः**=हृदय के समीपस्थ फेफड़े से, **हलीक्ष्णात्**=पित्ताशय से, **पार्श्वाभ्याम्**=दोनों कोखों से—पार्श्वावयवों से **यक्ष्मम्**=रोग को **विवृहामसि**=पृथक् करते हैं। २. **ते**=तेरे **मतस्नाभ्याम्**=गुर्दों से, **प्लीह्नः**=तिल्ली से और **यक्नः**=जिगर से रोग को दूर करते हैं।

भावार्थ—हृदयादि प्रदेशों से रोग का उन्मूलन किया जाए।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**यक्ष्मविवर्हणम्** ॥ छन्दः—**चतुष्पदाभुरिगुष्णिक्** ॥

आन्त्र आदि से रोग को दूर करना

आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि।
यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या वि वृहामि ते ॥ ४ ॥

१. **ते**=तेरी **आन्त्रेभ्यः**=आँतों से, **गुदाभ्यः**=गुदा से—मल-मूत्र-प्रवहण मार्गों से **वनिष्ठोः**=स्थविरान्त्र से (मलस्थान से), **उदरात् अधि**=सर्वाधारभूत जठर से **यक्ष्मम्**=रोग को **विवृहामि**=पृथक् करता हूँ। २. **कुक्षिभ्याम्**=दक्षिण व उत्तर उदर-भागों से (दाएँ-बाएँ पासे से) **प्लाशेः**=बहुछिद्र मलपात्र से (अन्दर की थैली से) और **नाभ्याः**=नाभि से **ते**=तेरे **यक्ष्मम्**=रोगों को **विवृहामि**=निकाल फेंकता हूँ।

भावार्थ—आन्त्र आदि प्रदेशों से रोग-बीजों को दूर किया जाए।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**यक्ष्मविवर्हणम्** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्विराड्बृहती** ॥

ऊरु आदि की नीरोगता

ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम्।
यक्ष्मं भसद्यं श्रोणिभ्यां भासदं भंससो वि वृहामि ते ॥ ५ ॥

१. हे रोगार्त! **ते**=तेरी **ऊरुभ्याम्**=जाँघों से, **अष्ठीवद्भ्याम्**=घुटनों से **पार्ष्णिभ्याम्**=पाँवों के ऊपर-भाग, अर्थात् एड़ियों से और **प्रपदाभ्याम्**=पाँवों के अग्रभाग से **यक्ष्मम्**=रोग को **विवृहामि**=पृथक् करता हूँ। २. **भसद्यम्**=कटिप्रदेश में होनेवाले **यक्ष्मम्**=रोग को दूर करता हूँ। **श्रोणिभ्याम्**=कटि के अधर-भागों से रोग को दूर करता हूँ। इसीप्रकार **ते**=तेरे **भासदम्**=गुह्यप्रदेश में होनेवाले रोग को **भंससः**=भासमान गुह्यस्थान से पृथक् करता हूँ (भस दीप्तौ)।

भावार्थ—जाँघों आदि प्रदेशों में होनेवाले रोगों को नष्ट किया जाए।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**यक्ष्मविवर्हणम्** ॥ छन्दः—**उष्णिग्गर्भानिचृदनुष्टुप्** ॥

धातुगत-रोगविनाश

अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नावभ्यो धमनिभ्यः।
यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि वृहामि ते॥ ६॥

१. **ते**=तेरी **अस्थिभ्यः**=हड्डियों से, **मज्जभ्यः**=मज्जासे **यक्ष्मम्**=रोग को **विवृहामि**=दूर करता हूँ। यहाँ अस्थि और मज्जा शब्द सब धातुओं के प्रतीक हैं(अस्थिमज्जाशब्दौ सर्वधातूपलक्षकौ—सा०)। शरीरगत सब धातुओं से रोग को दूर करता हूँ। **स्नावभ्यः**=सूक्ष्म शिराओं से तथा **धमनिभ्यः**=स्थूल शिराओं से तेरे रोग को दूर करता हूँ। २. **ते**=तेरे **पाणिभ्याम्**=हाथों से, **अङ्गुलिभ्यः**=अंगुलियों से तथा **नखेभ्यः**=नखों से **यक्ष्मम्**=रोग को **विवृहामि**=दूर करता हूँ।

भावार्थ—अस्थ्यादिगत रोगों को दूर किया जाए।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**यक्ष्मविवर्हणम्** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

अङ्ग-प्रत्यङ्गों में होनेवाले रोगों का नाश

अङ्गेअङ्गे लोम्निलोम्नि यस्ते पर्वणिपर्वणि।
यक्ष्मं त्वचस्यं ते वयं कश्यपस्य वीबर्हेण विष्वञ्चं वि वृहामसि॥ ७॥

१. पूर्व मन्त्र में शरीर के विशिष्ट अङ्गों से रोगों को दूर करने का संकेत हुआ है। अप्रसिद्ध अवयवों से भी उसके दूर करने का प्रतिपादन इस मन्त्र में किया गया है। हे रुग्ण! **ते**=तेरे **अङ्गे अङ्गे**=अनुक्त सब अवयवों में, **लोम्नि लोम्नि**=सब रोम-कूपों में, **पर्वणि पर्वणि**=सब सन्धियों में होनेवाले **यक्ष्मम्**=रोग को **विवृहामि**=मैं पृथक् करता हूँ। २. **वयम्**=हम **ते**=तेरे **त्वचस्यम्**=त्वचा में होनेवाले **विष्वञ्चम्**=चक्षु आदि सब अवयवों में व्याप्त होनेवाले रोग को **कश्यपस्य**=(पश्यकस्य) ज्ञानी पुरुष के **वीबर्हेण**=(बृह to destroy, to kill) रोगघातक प्रयोग से नष्ट करते हैं। ज्ञानी वैद्य रोग के मूलकारण को समझकर रोग को नष्ट करने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—अङ्ग-प्रत्यङ्ग में होनेवाले, रोम-कूपों व जोड़ों में होनेवाले, त्वचा के विविध प्रदेशों में होनेवाले रोगों को नष्ट किया जाए।

विशेष—अङ्ग-प्रत्यङ्ग से रोगोन्मूलन करके पूर्ण स्वस्थ होने का वर्णन इस सूक्त में हुआ है। अब स्वस्थ बनकर यह स्थिर व शान्त बनता है—'अथर्वा'। यह प्राणसाधना से मन को स्थिर करके पशुपति(प्रभु) का ध्यान करता है—

३४. [चतुस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पशुपतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पशुपति-निष्क्रय

य ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम्।
निष्क्रीतः स यज्ञियं भागमेतु रायस्पोषा यजमानं सचन्ताम्॥ १॥

१. **यः**=जो **पशुपतिः**=सब प्राणियों का स्वामी(पशूनां पतिः) अथवा सर्वद्रष्टा व सर्वरक्षक प्रभु (पशुश्चासौ पतिश्च) **पशूनां ईशे**=सब पशुओं का ईश है, **चतुष्पदाम्**=जो भी चार पैरवाले पशु हैं उनके तो वे पशुपति ईश है ही, **उत**=और **यः**=जो पशुपति **द्विपदाम्**=दो पाँवोंवाले मनुष्यों के भी ईश हैं, **सः**=वह पशुपति **निष्क्रीतः**=विषय-त्यागरूप मूल्य से पुनः प्राप्त किये हुए **यज्ञियं भागम्**=यज्ञ-सम्बन्धी भाग को प्राप्त हो, अर्थात् हम वैषयिक वृत्तियों से ऊपर उठकर यज्ञों

का सेवन करनेवाले हों और इन यज्ञों द्वारा उस प्रभु की उपासना करें। २. इसप्रकार उपासना करनेवाले **यजमानम्**=यज्ञशील पुरुष को **रायस्पोषाः सचन्ताम्**=धनों की पुष्टि समवेत हो।

भावार्थ—प्रभु ही सबके ईश हैं। मनुष्य विषयों से पृथक् होकर प्रभु को प्राप्त करता है और यज्ञों से उसका उपासन करता है। ऐसा करने पर यज्ञशील पुरुषों को धनों की कमी नहीं रहती।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वीर्यरक्षण व सात्त्विक अन्न-सेवन

प्रमुञ्चन्तो भुवनस्य रेतो गातुं धत्त यजमानाय देवाः।
उपाकृतं शशमानं यदस्थात्प्रियं देवानामप्येतु पाथः॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जो वैषयिक वृत्ति से ऊपर उठेंगे वे देव बनेंगे। इन देवों से कहते हैं कि—हे **देवाः**=देववृत्ति के पुरुषो! **भुवनस्य**=(भुवन Becoming prosperous) समृद्ध होने का साधनभूत जो **रेतः**=वीर्य है, उस वीर्यशक्ति को **प्रमुञ्चन्तः**=धारण करते हुए (put on, wear) अथवा वासनाओं से मुक्त करते हुए (liberate) तुम **यजमानाय**=सृष्टियज्ञ के रचयिता प्रभु की प्राप्ति के लिए **गातुम्**=मार्ग को **धत्त**=धारण करो। वस्तुतः वीर्यरक्षण ही प्रभु-प्राप्ति का साधन बनता है। इस लोक में भी यह वीर्यरक्षण ही समृद्धि का साधन बनता है। २. **यत् उपाकृतम्** **अस्थात्**=जो सम्यक्तया संस्कृत किया गया है, **शशमानम्**=(अर्चतिकर्मा—नि० ३.१४) जो अर्चित व पूजित है, **देवानां प्रियम्**=चक्षु आदि सब इन्द्रियों का तर्पण करनेवाला है (प्री तर्पणे) वह **पाथः**=अन्न **अपि एतु**=हमारी ओर आनेवाला हो, हमें प्राप्त हो।

भावार्थ—हम वीर्यरक्षण के द्वारा प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर चलें। सुसंस्कृत, पूजित, इन्द्रिय-शक्ति को बढ़ानेवाले अन्नों को खाएँ। ऐसे अन्न का सेवन वीर्यरक्षण में सहायक होता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निर्विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वीर्य-रक्षण व प्रभु-दर्शन

ये बध्यमानमनु दीध्याना अन्वैक्षन्त मनसा चक्षुषा च।
अग्निष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवो विश्वकर्मा प्रजया संरराणः॥ ३॥

१. गतमन्त्र में वीर्य को अपने शरीर में सुरक्षित करने का उपदेश है। यही शरीर में वीर्य का बन्धन है। **ये**=जो लोग **बध्यमानम् अनु**=शरीर में बाँधे जाते हुए व सुरक्षित किये जाते हुए वीर्य के अनुसार **दीध्यानाः**=(दीधी to shine) चमकते हुए, तेजस्वी होते हुए, **मनसा**=मन से तथा **चक्षुषा**=चक्षु से **अन्वैक्षत**=अपने में आत्मा का दर्शन करते हैं। वीर्यरक्षण से बुद्धि तीव्र बनती है और इस तीव्र बुद्धि से प्रभु का दर्शन होता है। वीर्य-रक्षण करनेवाला पुरुष तेजस्वी बनता है, इसकी सब इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि उत्कृष्ट बनते हैं। यह मन से उस आत्मा का मनन करता है तो आँख से सर्वत्र उसकी महिमा को देखता है। २. **तान्**=इन मनन व दर्शन करनेवाले पुरुषों को **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **अग्रे**=सर्वप्रथम **प्रमुमोक्तु**=मोक्ष प्राप्त कराता है, वे प्रभु जोकि **देवः**=प्रकाशमय हैं, **विश्वकर्मा**=सृष्टि-रचनरूप कर्मवाले हैं और **प्रजया संरराणः**=सब प्रजाओं के साथ रमण करनेवाले हैं। वस्तुतः 'प्रजा' शब्द उनके लिए प्रयुक्त होता है, जो अपनी शक्तियों का प्रकृष्ट प्रादुर्भाव करनेवाले हैं। इनमें ही प्रभु का वास होता है।

भावार्थ—वीर्य-रक्षण से मनुष्य दीप्त बनता है, प्रभु का दर्शन करता है और मोक्ष प्राप्त करता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वायुः, प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

स्वार्थ से ऊपर, मिलकर

ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपा विरूपाः सन्तो बहुधैकरूपाः।
वायुष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवः प्रजापतिः प्रजया संरराणः ॥ ४ ॥

१. **वायुः**=गति के द्वारा सब अशुभों का हिंसन करनेवाला (वा गतिगन्धनयोः) **देवः**=प्रकाशमय प्रभु **तान्**=उन्हें **अग्रे प्रमुमोक्तु**=सर्वप्रथम मुक्त करता है, **ये**=जो **ग्राम्याः**=केवल स्वार्थमय जीवन न बिताकर सम्पूर्ण ग्राम के हित के लिए प्रवृत्त होते हैं (ग्रामाय हिताः) **पशवः**=(पश्यन्ति) देखकर चलते हैं तथा **विश्वरूपाः**=उस सर्वत्र प्रविष्ट प्रभु का निरूपण करनेवाले हैं, जो **बहुधा विरूपाः सन्तः**=बहुत प्रकार से, भिन्न-भिन्न रूपोंवाले होते हुए भी **एकरूपाः**=उद्देश्य की दृष्टि से एक रूप होते हैं—समान उद्देश्य से विविध कार्यों में प्रवृत्त होते हैं—प्रभु इन्हें मुक्त करते हैं। २. ये प्रभु ही वस्तुतः **प्रजापतिः**=सब प्रजाओं के रक्षक हैं, **प्रजया संरराणः**=सब प्रजाओं के साथ रमण करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम स्वार्थ से ऊपर उठकर मिलकर चलें—यही मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**आशीः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्राणसाधना

प्रजानन्तः प्रति गृह्णन्तु पूर्वे प्राणमङ्गेभ्यः पर्याचरन्तम्।
दिवं गच्छ प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वर्गं याहि पथिभिर्देवयानैः ॥ ५ ॥

१. **प्रजानन्तः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले, **पूर्वे**=अपना पालन और पूरण करनेवाले लोग **पर्याचरन्तम्**=शरीर में सर्वत्र गति-करते हुए **प्राणम्**=प्राण को **अङ्गेभ्यः प्रतिगृह्णन्तु**=सब अङ्गों से निरुद्ध करें—इसे सब अङ्गों में विचरण करने से रोककर अपने में ही स्थापित करें। २. इसप्रकार प्राणनिरोध के द्वारा ही हे जीव! तू **दिवं गच्छ**=प्रकाश को प्राप्त हो। प्राण-निरोध से वीर्यरक्षा होकर बुद्धि तीव्र बनती है। **शरीरैः प्रतितिष्ठाः**=इस प्राणनिरोध के द्वारा तू शरीरों से प्रतिष्ठित हो। तेरे 'स्थूल, सूक्ष्म और कारण'—सब शरीर ठीक हों। प्राण-निरोध के द्वारा **देवयानैः पथिभिः**=देवयान मार्गों से **स्वर्गं याहि**=स्वर्ग को प्राप्त कर। प्राण-निरोध से सब वासनाओं का विनाश होता है और उत्तम प्रवृत्ति होकर मनुष्य स्वर्ग को प्राप्त करता है—सदा देवयानमार्ग से चलता है—देवतुल्य प्रवृत्तिवाला होता है। ३. हमारे तीन कर्त्तव्य हैं—(क) ज्ञान प्राप्त करें, (ख) अपना पालन व पूरण करें, (ग) प्राणसाधना द्वारा प्राण को वश में करें। सदा ज्ञान-प्राप्ति में लगे रहने से हम प्रकाश को प्राप्त करेंगे (दिवं गच्छ)—हमारा दृष्टिकोण सुलझा हुआ होगा और हम सन्तान, धन, यश में फँसेंगे नहीं। यदि हम अपने पालन व पूरण का ध्यान करेंगे, तो 'प्रतितिष्ठा शरीरैः' हमारे शरीर बड़े ठीक रहेंगे। प्राण-साधना से चित्तवृत्ति का निरोध होने से हम देवायान-मार्ग से चलेंगे और स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मस्तिष्क बनेंगे। ऐसा बनने में ही स्वर्ग का आनन्द है। मस्तिष्क स्वस्थ न हो तो हम पागलखाने में होते हैं, शरीर स्वस्थ न हो तो चिकित्सालय में। दोनों के स्वस्थ होने पर ही हम घर पर स्वर्ग-सुख का आनन्द अनुभव करते हैं।

भावार्थ—प्राणनिरोध से शरीर स्वस्थ होता है, ज्ञान प्रकाश प्राप्त होता है और मनुष्य देवतुल्य प्रवृत्तिवाला बनता है।

विशेष—इस सूक्त में जीवन को अत्यन्त उत्कृष्ट बनाने का उल्लेख है। यह अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाला 'अङ्गिरा' बनता है और 'विश्वकर्मा' प्रभु का उपासन करता है—

३५. [पञ्चत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—विश्वकर्मा ॥ छन्दः—बृहतीगर्भात्रिष्टुप् ॥

अनिष्ट व दुरिष्ट से दूर

ये भक्षयन्तो न वसून्यानृधुर्यानग्नयो अन्वतप्यन्त धिष्ण्याः।
या तेषामवया दुरिष्टिः स्विष्टिं नस्तांकृणवद्विश्वकर्मा॥ १॥

१. **ये**=जो **भक्षयन्तः**=नाना प्रकार के भोग्य पदार्थों को खाते हुए **वसूनि न आनृधुः**=यज्ञों को समृद्ध नहीं करते (यज्ञो वै वसुः—य० १.२), 'भोग-विलास में ही सब धन का व्यय कर देते हैं और यज्ञों के करने का ध्यान नहीं करते', वे 'अयष्टा' कहलाते हैं। इनके अतिरिक्त वे लोग जो यज्ञ तो करते हैं, परन्तु इन यज्ञों को सर्वाङ्गसम्पूर्ण न करके उनमें अधूरेपन को पैदा कर देते हैं, ऐसे जिन लोगों के लिए **धिष्ण्याः**=वेदि में स्थित **अग्नयः**=अग्नियाँ मानो **अन्वतप्यन्त**=अनुतापयुक्त होती हैं, अर्थात् जो लोग यज्ञों को ठीक रूप से न करके किसी अङ्ग से विकल ही रहने देते हैं—ये दुर्यष्टा कहलाते हैं। २. **तेषाम्**=उस अयष्टा और दुर्यष्टा पुरुषों की **या**=जो **अवयाः**=(अवयजनम् यागाननुष्ठानं दुरिष्टः) यज्ञ न करने की प्रवृत्ति है, अथवा **दुरिष्टिः**=यज्ञ को अधूरा करने की वृत्ति है, **विश्वकर्मा**=सब कर्मों को करनेवाले अथवा सम्पूर्ण नकि अधूरे कर्मों को करनेवाले प्रभु **नः**=हमारे लिए **ताम्**=उसे **स्विष्टम्**=शोभन इष्टि ही **कृणवत्**=करे। प्रभु हमसे अनिष्टि व दुरिष्टि को दूर करके हमें स्विष्टि प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—हम यज्ञ न करनेवाले न हों और यज्ञों को अधूरा भी न करें। हम सर्वाङ्ग-सम्पूर्ण यज्ञों को करनेवाले बनें।

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—विश्वकर्मा ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

पाप से पृथक्

यज्ञपतिमृषय एनसाहुर्निर्भक्तं प्रजा अनुतप्यमानम्।
मथव्यान्त्स्तोकानप यान्रराध सं नष्टेभिः सृजतु विश्वकर्मा॥ २॥

१. **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा ज्ञानी लोग **प्रजाः अनुतप्यमानम्**=प्रजाओं के दुःख से दुःखी होते हुए **एनसा निर्भक्तम्**=पाप से पृथक् हुए-हुए **यज्ञपतिम्**=यज्ञ के रक्षक, यज्ञशील पुरुष को **आहुः**=कहते हैं। जो भोगमय जीवन न बिताकर औरों के दुःख से दुःखी होता है तथा यज्ञमय जीवन बिताता है, उसके पाप नष्ट हो जाते हैं। २. **मथव्यान्**=(मथ् to kill) रोगबीजों के नाश में उत्तम **यान्**=जिन **स्तोकान्**=रेतःकणों को—वीर्य-बिन्दुओं को भोगप्रधान पुरुष **अपरराध**=नष्ट कर बैठता है, **विश्वकर्मा**=कर्मों को सम्पूर्ण रूप में करनेवाले वे प्रभु **नः**=हमें **तेभिः**=उन वीर्य-बिन्दुओं से **संसृजतु**=संसृष्ट करें। वस्तुतः यज्ञशील पुरुष ही इन वीर्य-बिन्दुओं का रक्षण कर पाता है, भोगप्रधान जीवनवाला मनुष्य इनका नाश कर बैठता है, इसलिए यज्ञपति का जीवन ही निष्पाप होता है।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनें, दूसरों के दुःख से दुःखी हों। रोगसंहारक रेतःकणों का रक्षण करनेवाले बनें। यदि भोगमय जीवन होगा तो वीर्य-कणों का नाश करके हम दुःख-भागी होंगे।

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—विश्वकर्मा ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

यज्ञों में निरहंकारता

अदान्यान्त्सोमपान्मन्यमानो यज्ञस्य विद्वान्त्समये न धीरः।
यदेनश्चकृवान्बद्ध एष तं विश्वकर्मन्प्र मुञ्चा स्वस्तये॥ ३॥

१. **यज्ञस्य विद्वान्**=यज्ञ का ज्ञाता **समये**=(सम् आयन्ति संगच्छन्ते यत्र) एकत्र होने के स्थान में—सभास्थल में **न धीरः**=धीरता से काम न लेनेवाला—अहंकारवश कुछ-का-कुछ बोल—देनेवाला **सोमपान्**=सोम का शरीर में रक्षण करनेवाले संयमी पुरुषों को भी **अदात्यान्**=दान के अयोग्य **मन्यमानः**=मानता हुआ **यत्**=जो **एनः**=पाप **चकृवान्**=कर बैठता है, **एषः**=यह **बद्धः**=अहंकार के बन्धन में बँधा हुआ है। यज्ञ के विषय में ज्ञान रखता हुआ भी यह अभी अहंकार से ऊपर नहीं उठ पाया, तभी अपनी तुलना में औरों को हीन समझता है, इनका निरादर भी कर बैठता है। २. हे **विश्वकर्मन्**=कर्मों को सम्पूर्णता से करनेवाले प्रभो! आप **तम्**=उसे इस अंहकार से **प्रमुञ्च**=मुक्त कीजिए, जिससे **स्वस्तये**=उसका कल्याण हो। यह अहंकार उसके पतन का कारण न बन जाए।

भावार्थ—वस्तुतः ज्ञानी व यज्ञशील वही है जो अहंकार रहित हो गया है। अहंकारयुक्त तो अभी बद्ध ही है।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

विनीतता, नमस्कार

घोरा ऋषयो नमो अस्त्वेभ्यश्चक्षुर्यदेषां मनसश्च सत्यम्।
बृहस्पतये महिष द्युमन्नमो विश्वकर्मन्नमस्ते पाह्य१स्मान्॥ ४॥

१. **ऋषयः**=ये तत्त्वद्रष्टा लोग **घोराः**=(Venerable, awful, sublime) बड़े उत्कृष्ट हैं, **एभ्यः**=इनके लिए **नमः अस्तु**=हमारा नमस्कार हो। इनके लिए हम इसलिए नतमस्तक होते हैं **यत्**=चूँकि **एषां चक्षुः**=इनकी दृष्टि महत्त्वपूर्ण है—ये प्रत्येक वस्तु के तत्त्व को देखते हैं **च**=और **मनसः सत्यम्**=इनके मन में सत्य है। २. **बृहस्पतये**=ज्ञान के पति के लिए हम **नमः**=नमस्कार करते हैं। हे **महिष**=पूज्य, **द्युमत्**=ज्योतिर्मय **विश्वकर्मन्**=सब कर्मों को करनेवाले प्रभो! **ते नमः**=आपके लिए हमारा नमस्कार हो। **अस्मान् पाहि**=हम अहंकारशून्य व विनीत पुरुषों की आप रक्षा कीजिए।

भावार्थ—हम ऋषियों, ज्ञानियों का आदर करें, प्रभु के प्रति प्रणत हों। यह अहंकारशून्यता—नम्रता ही कल्याण का मार्ग है।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

मुख्य होता 'प्रभु'

यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि।
इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः॥ ५॥

१. वे प्रभु **यज्ञस्य चक्षुः**=यज्ञ के दिखलानेवाले हैं, यज्ञों का ज्ञान देनेवाले हैं, **प्रभृतिः**=वे ही इन यज्ञों का भरण करनेवाले हैं, प्रभुकृपा के बिना कोई भी यज्ञ पूर्ण नहीं होता। **मुखं च**=वे प्रभु ही इस यज्ञ के मुख हैं—प्रवर्तक हैं, प्रत्येक यज्ञ प्रभु की उपासना से ही आरम्भ हुआ करता है। २. इसलिए **वाचा**=प्रभु के गुणों का उच्चारण करती हुई वाणी से, **श्रोत्रेण**=प्रभु-गुण श्रवण करते हुए कानों से, **मनसा**=प्रभु की महिमा का मनन करते हुए मन से **जुहोमि**=मैं प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता हूँ। ३. **विश्वकर्मणा**=कर्मों को सम्पूर्णरूप से करनेवाले प्रभु से **विततम्**=विस्तृत किये गये **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **सुमनस्यमानाः**=उत्तम मनवालों की भाँति आचरण करते हुए **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **यन्तु**=प्राप्त हों। यज्ञों को करें, परन्तु इन यज्ञों को प्रभु से सम्पन्न होता हुआ जानें। इसप्रकार अहंकारशून्य होते हुए उत्तम मनवाले बने रहें। अहंकार आया तो

यह देवों का यज्ञ न होकर असुरों का यज्ञ हो जाता है। '**यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्**'।

भावार्थ—हम यज्ञों में प्रवृत्त हों, परन्तु उन यज्ञों को प्रभु से होता हुआ जानें।

विशेष—प्रस्तुत सूक्त में यज्ञमय जीवन का प्रतिपादन है। इसी यज्ञ में सहायता के लिए पति पत्नी का व पत्नी पति का वरण करती है। 'पत्युर्नो यज्ञसंयोगे' इस सूत्र से यज्ञसंयोग में पत्नी शब्द बनता है। पति-पत्नी को मिलकर यज्ञ को सिद्ध करना है, अतः अगला सूक्त 'पतिवेदन' ऋषि का है। पति 'अग्नि' है तो पत्नी 'सोम'। पति-पत्नी के विषय में मन्त्र कहता है—

३६. [षट्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**पतिवेदनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

सुमतिं सम्भलः (गमेत्)

आ नो॑ अग्ने सुम॒तिं सं॑भ॒लो ग॑मेदि॒मां कु॑मा॒रीं स॒ह नो॒ भगे॑न।
जुष्टा॑ व॒रेषु॒ सम॑नेषु व॒ल्गुरो॒षं पत्या॒ सौभ॑गमस्त्व॒स्यै॥ १॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **नः**=हमारी **सुमतिम्**=कल्याणी मतिवाली, समझदार इस कन्या को **सम्भलः**=(भल परिभाषणे) बोलने में अत्यन्त मधुर वर **आगमेत्**=प्राप्त हो। कन्या सुमति है—छल-छिद्रवाली नहीं, उसे साधुस्वभाव पति ही प्राप्त हो। २. **नः**=हमारी **इमां कुमारीम्**=इस कुमारी को **भगेन सह**=ऐश्वर्य के साथ यह वर प्राप्त हो। पति के लिए आवश्यक है कि वह कमानेवाला हो, क्योंकि गृहस्थ बिना धन के चल ही नहीं सकता। ३. हमारी यह कन्या **समनेषु**=(सहृदयेषु—सा०) सहृदय—प्रेम-दयादि भावों से पूर्ण हृदयवले **वरेषु**=वरपक्ष के व्यक्तियों में **जुष्टा**=प्रीतिपूर्वक सेवा करनेवाली हो—उन्हें प्रिय हो। **वल्गुः**=इसका जीवन वहाँ सुन्दर हो। **पत्या**=पति के साथ **ओषम्**=सब प्रकार सहनिवासवाला—सहनिवासका साधनभूत **सौभगम्**=सौभाग्य **अस्यै अस्तु**=इसके लिए हो।

भावार्थ—पति बोलने में मधुर (सम्भलः), कमानेवाला (भगेन सह), पत्नी के साथ कार्यों को करनेवाला (ओषं सौभगम्) हो। पत्नी समझदार (सुमतिः), सर्वप्रिय (जुष्टा) व सुन्दर जीवनवाली (वल्गुः) हो।

ऋषिः—**पतिवेदनः** ॥ देवता—**सोम, अर्यमा, धाता** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सौम्य, सुलझी हुई, संयत जीवनवाली (कन्या)

सोम॑जुष्टं ब्र॒ह्मजु॑ष्टमर्य॒म्णा सम्भृ॑तं॒ भग॑म्।
धा॒तुर्दे॒वस्य॑ स॒त्येन॑ कृणोमि पति॒वेद॑नम्॥ २॥

१. प्रस्तुत मन्त्र में कन्या का पिता कहता है—**भगम्**=मैं कन्यारूप अपने इस ऐश्वर्य को उस **धातुः देवस्य**=सबके धारक—सब व्यवहारों के साधक प्रभु के **सत्ये**=सत्यनियम के अनुसार **पतिवेदनम्**=पति का धन **कृणोमि**=करता हूँ, अर्थात् अपनी कन्या का हाथ योग्य पति के हाथ में देता हूँ। पिता का यह भी एक नितान्त महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य है कि कन्या को योग्य पति को सौंपने का प्रयत्न करे। इसी कर्त्तव्य के पालन से एक अच्छे घर की नींव पड़ती है। २. प्रभु के नियम के अनुसार कन्या को एक नये घर के निर्माण के लिए अन्य स्थान पर भेजना ही होता है। उत्तम सन्तान के निर्माण के लिए विभिन्न रुधिरों का मिश्रण आवश्यक होता है। ३. यह कन्यारूप धन कैसा है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा है—**सोमजुष्टम्**=यह सोम से

सेवित हुई है, अर्थात् स्वभाव के दृष्टिकोण से यह कन्या अत्यन्त सौम्य बनी है, **ब्रह्मजुष्टम्**=ज्ञान से सेवित हुई है, अर्थात् इसने खूब ज्ञान प्राप्त किया है, **अर्यम्णा सम्भृतम्**=अर्यमा से इसका सम्भरण किया गया है—'**अरीन् यच्छति इति अर्यमा**'—इसने काम-क्रोध आदि शत्रुओं का नियमन किया है। संक्षेप में यह कन्या स्वभाव में सौम्य है, मस्तिष्क में ज्ञानोज्ज्वला बनी है और अत्यन्त संयमी जीवनवाली है।

भावार्थ—माता-पिता कन्या में 'सौम्यता, ज्ञान व संयम' उत्पन्न करें। ऐसी कन्या ही अच्छे घर का निर्माण कर सकती है।

ऋषिः—**पतिवेदनः** ॥ देवता—**अग्नीषोमौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पुत्रजन्म व सौभाग्य

इयमग्ने नारी पतिं विदेष्ट सोमो हि राजा सुभगां कृणोति।
सुवाना पुत्रान्महिषी भवाति गत्वा पतिं सुभगा वि राजतु॥ ३॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **इयम्**=गतमन्त्र में वर्णित गुणोंवाली **नारी**=कन्या **पतिं विदेष्ट**=पति को प्राप्त करे। **हि**=निश्चय से **सोमः**=सौम्य स्वभाववाला **राजा**=व्यवस्थित जीवनवाला (राज्=Regulated) दीप्त जीवनवाला (राज् दीप्तौ) यह पति इस नारी को **सुभगां कृणोति**=सौभाग्यवाला करता है। पति इसके जीवन को सदा सौभाग्य-सम्पन्न बनाने का प्रयत्न करता है। २. यह नारी **पुत्रान् सुवाना**=पुत्रों को जन्म देती हुई **महिषी**=आदरणीय **भवाति**=होती है। सामान्यत सन्तानोत्पादन में असमर्थ पत्नी उचित आदर नहीं पाती है। कन्या के माता-पिता चाहते हैं कि यह कन्या **पतिं गत्वा**=अपने पति को प्राप्त करके **सुभगा**=सौभाग्यवाली होती हुई **विराजतु**=विशेषरूप से शोभावाली हो। कन्या अपने पतिगृह में ही शोभा पाती है। उसे इस अपने बनाये हुए घर को ही अपना घर समझना चाहिए। आज तक वह जिस घर में थी, वह घर तो उसकी माता का घर था, उसे उसकी माता ने ही बनाया था।

भावार्थ—कन्या पतिगृह को प्राप्त करे। उसे ही वह अपना घर समझे। पति भी सौम्य स्वभाववाला व व्यवस्थित जीवनवाला हो।

ऋषिः—**पतिवेदनः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पति के साथ अविरोध

यथाखरो मघवंश्चारुरेष प्रियो मृगाणां सुषदा बभूव।
एवा भगस्य जुष्टेयमस्तु नारी संप्रिया पत्याविराधयन्ती॥ ४॥

१. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **यथा**=जैसे **एषः**=यह **आखरः**=बिल या माँद (cave) **चारुः**=सुन्दर है, **मृगाणां प्रियः**=इसमें निवास करनेवाले पशुओं की प्रीतिजनक है, **सुषदाः बभूव**=उनके लिए सुख से बैठने योग्य हुई है, **एव**=इसीप्रकार यह घर चाहे छोटा है, परन्तु सुन्दर है (चारुः), प्रीति देनेवाला है (प्रियः) तथा उठने-बैठने की पूरी सुविधावाला है (सुषदाः)। २. इस घर में रहती हुई **इयं नारी**=यह स्त्री **भगस्य जुष्टा**=ऐश्वर्य से प्रीतिपूर्वक सेवन की गई **अस्तु**=हो—इसे यहाँ ऐश्वर्य की कमी न रहे। **संप्रिया**=यह सबको अच्छी प्रकार प्रीणित करनेवाली हो—सबके लिए प्रिय बने। **पत्या**=पति के साथ **अविराधयन्ती**=विरोध करनेवाली न हो। गृहस्थ की सफलता का मूलमन्त्र तो पति के साथ अविरोध ही है।

भावार्थ—घर प्रिय, सुन्दर व सुखद हो। घर में धन-धान्य की कमी न हो। पति-पत्नी का पूर्ण सामञ्जस्य व मेल हो।

ऋषिः—**पतिवेदनः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ऐश्वर्यपूर्ण नाव

भगस्य नावमा रोह पूर्णामनुपदस्वतीम्।
तयोपप्रतारय यो वरः प्रतिकाम्यः॥ ५॥

१. हे कन्ये! तू उस **नावम् आरोह**=गृहस्थ की नौका पर आरुढ़ हो जो **भगस्य पूर्णाम्**=ऐश्वर्य से पूर्ण है तथा **अनुपदस्वतीम्**=क्षीण होनेवाली नहीं, अर्थात् गृहस्थ में आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धन-धान्य की कमी न होनी चाहिए तथा गृहस्थ में भोगासक्त होकर शक्तियों को क्षीण न कर बैठें। २. **तया**=ऐसी गृहस्थ की नाव के द्वारा **उपप्रतारय**=उसके समीप अपने को प्राप्त करा **यः**=जोकि **प्रतिकाम्यः**=प्रत्येक दृष्टि से कमनीय—सुन्दर **वरः**=वर है। जो वर शारीरिक दृष्टिकोण से स्वस्थ है, मन के दृष्टिकोण से उदार है तथा मस्तिष्क के दृष्टिकोण से सुलझा हुआ है। पत्नी के उत्तम व्यवहार से घर फूलता-फलता है। घर जहाँ ऐश्वर्य-सम्पन्न बनता है, वहाँ इस घर के लोगों की शक्तियाँ भी अक्षीण बनी रहती हैं। पत्नी घर को सुन्दर बनाकर पति की अधिकाधिक प्रिय बनती है।

भावार्थ—पत्नी अपने प्रयत्न से घर की व्यवस्था को ऐसा बनाए कि घर का ऐश्वर्य बढ़े और सब गृहवासियों की शक्ति अक्षुण्ण बनी रहे। ऐसा करने पर पत्नी पति के अधिकाधिक समीप आ जाती है—पति की प्रियतमा बन जाती है।

ऋषिः—**पतिवेदनः** ॥ देवता—**धनपतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वर का सम्मान

आ क्रन्दय धनपते वरमामनसं कृणु।
सर्वं प्रदक्षिणं कृणु यो वरः प्रतिकाम्यः॥ ६॥

१. हे **धनपते**=कन्यारूप धन का रक्षण करनेवाले कन्या के पितः! आप **वरम्**=वर को—अपनी कन्या के लिए साथी के रूप में वरण के योग्य युवक को **आक्रन्दय**=आदरपूर्वक आमन्त्रित कीजिए। उसे उचित व्यवहार से **आमनसम्**=सब प्रकार से अनुकूल मनवाला **कृणु**=कीजिए। २. **यः**=जो **प्रतिकाम्यः**=प्रत्येक दृष्टिकोण से—योग्यता, स्वभाव, धन व आयु आदि के विचार से चाहने योग्य **वरः**=वरणीय युवक है, उसके लिए **सर्वम्**=सब **प्रदक्षिणम् कृणु**=(Respectful, Reverential) आदरयुक्त कर्म करने का ध्यान रखिए। इस वर को उचित आदर देते हुए पिता वस्तुतः अपनी कन्या का मान बढ़ा रहा होता है। परिवार के शिष्टाचार से प्रभावित होकर ही वर कन्या के विषय में अपना उचित विचार बना पाता है।

भावार्थ—कन्यापक्षवाले वर को बुलाते हैं, उसे अपने व्यवहार से प्रभावित करके और उचितरूप में आदृत करके अनुकूल मनवाला करते हैं।

ऋषिः—**पतिवेदनः** ॥ देवता—**हिरण्यम्, भगः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दहेज

इदं हिरण्यं गुल्गुल्वयमौक्षो अथो भगः।
एते पतिभ्यस्त्वामदुः प्रतिकामाय वेत्तवे॥ ७॥

१. **इदम्**=यह **हिरण्यम्**=स्वर्ण है—स्वर्ण के कुछ आभूषण आदि हैं। **गुल्गुलु**=गुड़ में पकाये गये कुछ भोज्य द्रव्य हैं। विवाह के बाद लौटने पर मार्ग के लिए ये भोज्य द्रव्य उपयुक्त होंगे। **अयम् औक्षः**=यह बैल या गाय के निमित्त धन है, **अथ उ**=और यह निश्चय से **भगः**=कन्या

के निमित्त रक्खा हुआ कुछ धन है। २. इन वस्तुओं को **एते**=ये कन्या पक्षवाले लोग **पतिभ्यः**=पति के पक्षवालों के लिए **अदुः**=देते हैं। इसलिए देते हैं कि वे **त्वाम्**=तुझे **प्रतिकामाय**=प्रत्येक दृष्टिकोण से चाहने योग्य पति को **वेत्तवे**=(विद् लाभे) प्राप्त करा सकें।

भावार्थ—वरपक्षवालों को सत्कार के लिए कुछ भेंट देनी आवश्यक ही है। यह सत्कार कन्या को उनके लिए प्रिय बनाता है।

ऋषिः—**पतिवेदनः** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**निचृत्पुरउष्णिक्** ॥

आशीर्वाद

आ ते नयतु सविता नयतु पतिर्यः प्रतिकाम्य: । त्वमस्यै धेह्योषधे ॥ ८ ॥

१. जब कन्या घर से विदा होती है तब पुरोहित उसे आशीर्वाद देते हुए कहता है कि यह **सविता**=ऐश्वर्य को उत्पन्न करनेवाला **यः**=जो **प्रतिकाम्यः**=प्रत्येक दृष्टि से कमनीय व सुन्दर जीवनवाला **ते पतिः**=तेरा यह पति **नयतु**=तुझे यहाँ से ले-जानेवाला हो और **नयतु**=ले-जानेवाला ही हो। यह कभी तेरे प्रति असन्तुष्ट होकर तुझे वापस पितृगृह में भेजने की कामनावाला न हो। २. हे **ओषधे**=दोषदहन की शक्ति को धारण करनेवाले युवक! **त्वम्**=तू भी **अस्यै**=इस कन्या के लिए **धेहि**=धारण करनेवाला बन। कन्या को तो अपना व्यवहार इतना मधुर व सुन्दर बनाना ही चाहिए कि वरपक्षवालों को उससे किसी प्रकार की शिकायत न हो। पति को भी चाहिए कि वह पत्नी की सब अवश्यकताओं को उचित रूप से पूर्ण करनेवाला हो।

भावार्थ—पति पत्नी को जब ले-जाए तो ले-ही जाए, असन्तुष्ट होकर उसे पितृगृह में वापस भेजनेवाला न बने, उसका धारण करनेवाला हो।

विशेष—इस सम्पूर्ण सूक्त में पति-पत्नी के धर्मों का अत्यन्त सुन्दरता से चित्रण हुआ है। इस काण्ड का प्रारम्भ प्रभु अराधना से हुआ था। प्रभु का आराधन करनेवाले पति-पत्नी ही घर को सुन्दर बना पाते हैं, अतः काण्ड की समाप्ति पर इस स्वर्गतुल्य गृह के निर्माण का उपदेश हुआ है। इन घरों के रक्षण का उत्तरदायित्व राजा पर है। यह 'अथर्वा' न डाँवाडोल वृत्तिवाला-स्थिरवृत्तिवाला राजा शत्रुओं के आक्रमण से प्रजाओं का रक्षण करता है। इस भाव के प्रतिपादन के साथ तृतीय काण्ड आरम्भ होता है।

॥ **इति द्वितीयं काण्डम्** ॥

अथ तृतीयं काण्डम्

अथ पञ्चमः प्रपाठकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शत्रु-सम्मोहन

अ॒ग्निर्नः॒ शत्रू॒न्प्रत्ये॑तु वि॒द्वान्प्र॑ति॒दह॑न्न॒भिश॑स्ति॒मरा॑तिम्।
स सेनां॑ मोहयतु॒ परे॑षां॒ निर्ह॑स्तांश्च कृणवज्जा॒तवे॑दाः॥ १॥

१. **अग्निः**=सम्पूर्ण सेना का नेतृत्व करनेवाला (अग्रणी) **विद्वान्**=ज्ञानी-समझदार-युद्ध-विद्याओं में कुशल राजा **नः**=हमारे **शत्रून् प्रति एतु**=शत्रुओं के प्रति आक्रमण करनेवाला हो। राजा के लिए आवश्यक है कि वह अग्नि हो—सैन्य सञ्चालन में निपुण हो तथा समझदार हो। 'कहाँ आगे बढ़ना है, कहाँ पीछे हटना है'—इस सबको समझता हो। २. **अभिशस्तिम् अरातिम्**=विनाशक शत्रु को **प्रतिदहन्**=भस्म करता हुआ यह आगे बढ़े। **सः**=वह राजा **परेषां सेनाम्**=शत्रुओं की सेना को **मोहयतु**=मोहावस्था में प्राप्त करा दे, शत्रु-सैन्य की बुद्धि चकरा जाए, वे इसकी चाल को पूरा-पूरा समझ न सकें **च**=और यह **जातवेदाः**=शत्रु-सैन्य की प्रत्येक गतिविधि को समझनेवाला इसप्रकार अस्त्रों का प्रयोग करे कि उन्हे **निर्हस्तान् कृणवत्**=आयुधग्रहण में असमर्थ हाथोंवाला कर दे।

भावार्थ—राजा राष्ट्र के शत्रुओं पर आक्रमण करे, आग्नेयास्त्रों से उन्हें भस्म कर दे। मोहनास्त्र से शत्रु-सैन्य को मूढ़ बना दे, उनके हाथ शस्त्रग्रहण में समर्थ न रहें।

सूचना—यहाँ इसप्रकार के अस्त्र के प्रयोग का संकेत स्पष्ट है कि जिससे शत्रु-सैन्य चेतना खो बैठता है और उसके हाथों में से अस्त्र-शस्त्र गिर पड़ते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराड्गर्भाभुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

वीर-प्रेरणा

यू॒यमु॒ग्रा म॑रुत ई॒दृशे॑ स्थ॒ाभि प्रेत॑ मृ॒णत॒ सह॑ध्वम्।
अमी॑मृण॒न्वस॑वो नाथि॒ता इ॒मे अ॒ग्निर्ह्ये॑षां दू॒तः प्र॒त्येतु॑ वि॒द्वान्॥ २॥

१. राजा सैनिकों से कहता है कि हे **मरुतः**=(म्रियन्ते न निवर्तन्ते) युद्ध में पीठ न दिखानेवाले वीरो! **ईदृशे**=ऐसी अव्यवस्था में जबकि शत्रु का भयंकर संकट उपस्थित है **यूयम्**=तुम सब **उग्राः**=तेजस्वी **स्थ**=बनो। **अभिप्रेत**=शत्रु की ओर प्रकर्षेण बढ़ो, **मृणत**=शत्रु-सैन्य को मसल डालो, **सहध्वम्**=उसे पराजित करनेवाले होओ। २. **नाथिताः**=राजा से इसप्रकार कहे हुए (नाथ्=to beg, to ask for) **इमे**=ये **वसवः**=प्रजाओं के निवास को उत्तम बनानेवाले वीर **अमीमृणन्**=सब ओर शत्रुओं को मसल डालते हैं। शत्रुओं को विनष्ट करके ही तो ये प्रजाओं के जीवन को सुखी बना पाएँगे। **एषाम्**=इन सैनिकों का **अग्निः**=नेतृत्व करनेवाला राजा **हि**=निश्चय से **विद्वान्**=शत्रुओं की गतिविधियों से पूर्ण परिचित होता हुआ **दूतः**=शत्रुओं को सन्तप्त करनेवाला होकर **प्रति एतु**=शत्रु-सैन्य की ओर जानेवाला हो।

भावार्थ—राजा सैनिकों को उत्साहित करे। वीर-प्रेरणा को प्राप्त सैनिक शत्रुओं को पराजित

करनेवाले हों, राजा स्वयं सेनाओं का नेतृत्व करे और प्रबल आक्रमण द्वारा शत्रुओं को समाप्त कर दे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

राजा व सेनापति

अमित्रसेनां मघवन्नस्माञ्छत्रूयतीमभि।
युवं तानिन्द्र वृत्रहन्नग्निश्च दहतं प्रति॥ ३॥

१. यद्यपि राष्ट्र की सेनाओं का मुख्य सेनापति राजा ही होता है और यह यहाँ 'अग्नि' नाम से कहा गया है, तो भी सेनाओं का सीधा (immediate) अध्यक्ष 'सेनापति' ही होता है। वह यहाँ 'इन्द्र' नाम से कहा गया है। इन्द्र, अर्थात् स्वामी होता हुआ शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला। यह 'वृत्रहा' है—राष्ट्र को छेदनेवाले शत्रुओं का विनाशक है। यह 'मघवा' है—Liberal, munificent,—उदार, धन देनेवाला। सैनिकों के प्रति उदार रहता हुआ ही यह सैनिकों का प्रिय होता है। कृपण सेनापति कभी सैनिकों का प्रिय नहीं बन पाता। वह सैनिकों को पूर्ण उत्साह से युद्ध भी नहीं करा पाता। इस इन्द्र से कहते हैं कि **अस्मान् शत्रूयतीम्**=हमारे प्रति शत्रु की भाँति आचरण करती हुई **अमित्रसेनाम्**=शत्रुओं की सेना को हे **मघवन्**=उदार सेनापते! **अभि**=तू आक्रान्त करनेवाला हो। २. हे **वृत्रहन्**=राष्ट्र के आवरक शत्रु का हनन करनेवाले **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक सेनापते! तू **च**=और **अग्निः**=यह राष्ट्र का राजा **युवम्**=तुम दोनों **तान्**=उन शत्रु-सेनाओं को **प्रतिदहतम्**=एक-एक करके भस्म कर दो। शत्रु-सैन्य को समाप्त करके ही तुम राष्ट्र-रक्षण करनेवाले होओगे।

भावार्थ—राजा व सेनापति सैनिकों के प्रति उदार वृत्तिवाले होते हुए शत्रु-सैन्य पर आक्रमण करें और उसे भस्म कर दें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रबल आक्रमण से शत्रुओं की व्याकुलता

प्रसूत इन्द्र प्रवता हरिभ्यां प्र ते वज्रः प्रमृणन्नेतु शत्रून्।
जहि प्रतीचो अनूचः पराचो विष्वक्सत्यं कृणुहि चित्तमेषाम्॥ ४॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले सेनापति! **हरिभ्याम्**=रथ का हरण करनेवाले—रथ को तीव्र गति से ले-चलनेवाले अश्वों से **प्रसूत**=प्रेरित हुआ-हुआ तेरा रथ **प्रवता**=(प्रवत्=Easy passage) सरल मार्ग से—बाधाशून्य मार्ग से **एतु**=गतिवाला हो और **ते**=तेरा **वज्रः**=वज्र **शत्रून्**=शत्रुओं को **प्रमृणन्**=काटता हुआ **प्रएतु**=प्रकर्षेण गतिमय हो। २. तू **प्रतीचः**=अभिमुख प्राप्त होनेवाले, **अनूचः**=पीछे की ओर से आनेवाले **पराचः**=भागकर दूर जानेवाले शत्रु-सैन्यों को **जहि**=नष्ट कर। **एषाम्**=इन शुत्रओं के **सत्यम्**=शत्रुहनन लक्षणमात्र कार्य में उद्यत व व्यवस्थित **चित्तम्**=चित्त को **विष्वक्**=सर्वतः अञ्चनशील, अर्थात् अव्यवस्थित, कार्याकार्य विभाग-ज्ञान-शून्य **कृणुहि**=कर दे, अर्थात् उन्हें घबराहट में डाल दे।

भावार्थ—सेनापति का वज्र शत्रुओं में इसप्रकार मार-काट करनेवाला हो कि वे घबरा जाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्पुरउष्णिक्** ॥

मोहन-अग्नेय तथा वायव्यास्त्र

इन्द्र सेनां मोहयामित्राणाम्। अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान्विषूचो वि नाशय॥ ५॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक सेनापते! तू **अमित्राणाम्**=शत्रुओं की **सेनाम्**=सेना को **मोहय**=मूढ़

बना दे। मोहनास्त्र के प्रयोग से वे चेतनाशून्य हो जाएँ अथवा प्रबल मारकाट से वे घबरा जाएँ। २. **अग्ने:**=अग्नि की तथा **वातस्य**=वायु की **ध्राज्या**=प्रबल गति से, अर्थात् आग्नेयास्त्र के प्रबल आक्रमण से **तान्**=उन शत्रुओं को **विषूचः**=विविध दिशाओं में गतिवाला करके—खदेड़कर **विनाशय**=नष्ट कर दे।

भावार्थ—सेनापति मोहनास्त्र, आग्नेयास्त्र व वायव्यास्त्र के प्रयोग से शत्रुओं को विद्रुत कर दे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इन्द्र, मरुत् व अग्नि

इन्द्रः सेनां मोहयतु मरुतो घ्नन्त्वोजसा। चक्षूंष्यग्निरा दत्तां पुनरेतु पराजिता ॥ ६ ॥

१. **इन्द्रः**=सेनापति **सेनाम्**=शत्रु-सेना को **मोहयतु**=मोह में डाल दे—उनके चित्त अव्यवस्थित हो जाएँ, प्रबल आक्रमण से घबराकर उन्हें कर्त्तव्याकर्तव्य की समझ ही न रहे। **मरुतः**=सैनिक **ओजसा**=पूर्ण आजस्विता के साथ, शूरता के साथ **घ्नन्तु**=आक्रमण करके शत्रुओं को मारनेवाले हों। २. **अग्निः**=आग्नेयास्त्रों का प्रयोग **चक्षूंषि आदत्ताम्**=शत्रुओं की आँखों को छीन ले, अर्थात् शत्रुओं की आँखें चुँधिया जाएँ। इसप्रकार वह शत्रुसेना **पराजिता**=पराजित हुई-हुई **पुनः एतु**=फिर वापस भाग जानेवाली हो।

भावार्थ—इन्द्र, मरुत् व अग्नि—सेनापति, सैनिक व आग्नेयास्त्रों का प्रयोग—ये सब शत्रुओं को परजित करके भगा दें।

विशेष—सूक्त का विषय 'शत्रुसेना के विनाश के द्वारा राष्ट्र का रक्षण' है। अगले सूक्त का विषय भी यही है। ऋषि, देवता भी वही है। प्रथम मन्त्र भी एक-आध शब्द के परिवर्तन के साथ वही है।

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

निर्हस्तीकरण

अग्निर्नो दूतः प्रत्येतु विद्वान्प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम्।
स चित्तानि मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः ॥ १ ॥

१. **नः**=हमारे राष्ट्र का यह **अग्निः**=अग्रणी—राष्ट्र का प्रमुख नेता—राष्ट्रपति **दूतः**=शत्रुओं को सन्तप्त करनेवाला है। यह **विद्वान्**=शत्रुओं की गतिविधि से पूर्ण परिचित होता हुआ **प्रतिएतु**=शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाला हो। यह **अभिशस्तिम्**=नाश करनेवाले **अरातिम्**=शत्रु को **प्रति दहन्**=एक-एक करके दग्ध करनेवाला हो। २. **सः**=वह **परेषाम्**=शत्रुओं के **चित्तानि**=चित्तों को **मोहयतु**=मोह में डाल दे। उन्हें कर्त्तव्याकर्त्तव्य की सूझ ही न रहे **च**=और यह **जातवेदाः**=शत्रुओं की प्रत्येक गतिविधि-को जाननेवाला **निर्हस्तान् कृणवत्**=शत्रुओं को आयुधग्रहण में असमर्थ हाथोंवाला कर दे।

भावार्थ—राष्ट्रपति शत्रुओं पर ऐसा प्रबल आक्रमण करे कि उन शत्रुओं में आयुधग्रहण का सामर्थ्य ही न रहे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गृह से भी निर्वासन

अयमग्निरमूमुहद्यानि चित्तानि वो हृदि। वि वो धमत्वोकसः प्र वो धमतु सर्वतः ॥ २ ॥

१. **अयं अग्निः**=यह राष्ट्रपति, गतमन्त्र के अनुसार, प्रबल आक्रमण के द्वारा **वः हृदि**=तुम्हारे (शत्रुओं के) हृदयों में **यानि चित्तानि**=जो चित्त हैं, नष्ट करने की भावनाएँ हैं, उन्हें **अमूमुहत्**=मोह-अवस्था में ले-जाए। वे चित्त चेतनाशून्य हो जाएँ। हमें नष्ट करने के तुम्हारे स्वप्न समाप्त हो जाएँ। २. यह अग्नि तुम्हारा पीछा करता हुआ **वः**=तुम्हें **ओकसः**=तुम्हारे घरों में से भी **विधमतु**=सन्तप्त करके निकाल दे। **वः**=तुम्हें **सर्वतः**=सब ओर **प्रधमतु**=खूब ही सन्तप्त कर दे। तुममें भाग-दौड़ मच जाए और तुम कहीं भी रुक न पाओ।

भावार्थ—शत्रुओं को उनके घर से भी खदेड़ दिया जाए।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शत्रु-विद्रावण

इन्द्र चित्तानि मोहयन्नर्वाङाकूत्या चर। अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान्विषूचो वि नाशय॥ ३॥

१. हे **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले सेनापते! **चित्तानि मोहयन्**=शत्रुओं के चितों को मूढ़ बनाता हुआ तू **आकूत्या**=शत्रुओं के विध्वंस के संकल्प के साथ **अर्वाङ् चर**=हमारे समीप प्राप्त हो, अर्थात् शत्रु-नाश का दृढ़-संकल्प लिये हुए तू हमें प्राप्त हो। ऐसा होने पर ही सबका उत्साह बना रहना सम्भव है। २. **अग्नेः**=आग्नेयास्त्रों तथा **वातस्य**=वायव्यास्त्रों के **ध्राज्या**=वेग से **तान्**=उन शत्रुओं को **विषूचः**=जो विविध दिशाओं में भागनेवाले हैं **विनाशय**=नष्ट कर। शत्रुओं पर इन अस्त्रों की ऐसी बौछार हो कि वे तितर-बितर होकर नष्ट हो जाएँ।

भावार्थ—सेनापति दृढ़ निश्चय के साथ शत्रुओं पर आक्रमण करे और उन्हें चारों ओर भगा दे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शत्रु-संकल्प-विनाश

व्याकूतय एषामिताथो चित्तानि मुह्यत। अथो यदद्यैषां हृदि तदेषां परि निर्जहि॥ ४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार ये शत्रु ऐसे घबरा जाएँ कि हे **व्याकूतयः**=विरुद्ध संकल्पो! तुम **एषाम्**=इन शत्रुओं के मनों को **इत**=प्राप्त होओ। शत्रुपक्ष का कोई व्यक्ति कुछ कहे और कोई कुछ। उनमें मतैक्य न हो। **अथ उ**=और अब **चित्तानि**=हे शत्रुओं के चित्तो! **मुह्यत**=तुम भी किंकर्त्तव्यमूढ़ हो जाओ। इनके चित्त इसप्रकार व्याकुल हो जाएँ कि ये कुछ समझ ही न सकें—ये किसी निश्चय पर न पहुँच सकें। २. हे इन्द्र! तू इनपर इसप्रकार प्रबल आक्रमण कर कि **अथ उ**=अब निश्चय से **यत्**=जो **अद्य**=आज **एषां हृदि**=इनके हृदय में हो **एषाम्**=इनके **तत्**=उस संकल्प को **परिनिर्जहि**=सर्वथा नष्ट कर दे। ये ऐसे घबरा जाएँ कि अपने सारे संकल्पों को भूलकर ये अपने जीवन को बचाने के लिए भाग खड़े हों।

भावार्थ—सेनापति शत्रुओं पर ऐसा प्रबल आक्रमण करे कि उनके युद्ध-विषयक सब संकल्प विलीन हो जाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**द्यौः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

मूढ़ता-जड़ता, शोक, अँधेरा

अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैर्ग्राह्यामित्रांस्तमसा विध्य शत्रून्॥ ५॥

१. हे **अप्वे**=(व्याधिर्वा भयं वा—नि० ६.१२) भय! **अमीषाम्**=हमारे इन शत्रुओं के **चित्तानि**=चित्तों को **प्रतिमोहयन्ती**=अत्यन्त मूढ़ बनाता हुआ तू **अङ्गानि गृहाण**=इनके अङ्गों

को जकड़ ले। इनके अङ्ग भय से ऐसे जड़ हो जाएँ कि ये अपने-अपने कार्यों को करने में भी असमर्थ हो जाएँ। **परा इह**=हमसे तू दूर ही रह। हम निर्भय होकर शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले हों। २. **अभि प्र इह**=तू शत्रुओं की ओर प्रकर्षेण प्राप्त हो। **शोकैः**=शोक की भावनाओं से **हृत्सु**=हृदयों में **निर्दह**=इन शत्रुओं को दग्ध करनेवाला हो। **ग्राह्या**=सब व्यापारों को निगृहीत करनेवाले **तमसा**=अन्धकार से इन **अमित्रान्**=हमारे प्रति स्नेह-शून्य **शत्रून्**=शत्रुओं को **विध्य**=तू बींधनेवाला हो। ये अन्धकार से ग्रस्त होकर कोई कार्य कर ही न सकें।

भावार्थ—शत्रुओं को ऐसा भय प्राप्त हो जो उनके चित्तों को मूढ़ बना दे, अङ्गों को जड़ीभूत कर दे, हृदयों को शोकयुक्त कर दे और उन्हें अँधेरा-ही-अँधेरा लगे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अँधेरा-ही-अँधेरा

असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना।
तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात्॥ ६॥

१. **मरुतः**=हे सैनिको! **असौ या**=वह जो **परेषां सेना**=शत्रुओं की सेना **स्पर्धमाना**=हमारे साथ संघर्षण की कामना करती हुई **ओजसा**=ओजस्विता के साथ **अस्मान् अभि एति**=हमारी ओर आती है **ताम्**=उसे **अपव्रतेन तमसा**=जिसमें कर्मों का सम्भव ही न हो ऐसे अन्धकार से **विध्यत**=बींध डालो। ऐसे बींध डालो **यथा**=जिससे **एषाम्**=इनमें से **अन्यः अन्यम्**=एक दूसरे को **न जानात्**=न जान पाये। इतना घना अन्धकार हो जाए कि शत्रु एक-दूसरे को भी न देख सकें। २. इसप्रकार ये मरुत् प्रबल आक्रमण करें कि शत्रुओं को अन्धकार-ही-अन्धकार प्रतीत हो—उन्हें कुछ दिखे ही नहीं। व्याकुलता के कारण उन्हें अँधेरा-ही-अँधेरा प्रतीत हो।

भावार्थ—हमारे सैनिकों का आक्रमण इतना प्रबल हो कि शत्रु-सैन्य को अँधेरा-ही-अँधेरा लगे। वे कुछ भी न देख सकें।

सूचना—यहाँ ऐसे अस्त्र के प्रयोग का भी संकेत है जो चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार कर देता है।

विशेष—सम्पूर्ण सूक्त राष्ट्र-रक्षा का वर्णन कर रहा है। अगले सूक्त में राष्ट्ररक्षक राजा के लिए कहते हैं कि—

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

आदर्श जीवन

अचिक्रदत्स्वपा इह भुवदग्ने व्य [चस्व रोदसी उरूची।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आमुं नय नमसा रातहव्यम्॥ १॥

१. 'कैसे व्यक्ति को राजा बनना चाहिए' उसका संकेत करते हुए कहते हैं कि **अचिक्रदत्**=यह खूब ही प्रभु का आह्वान करता है और **इह**=यहाँ **स्वपाः**=(स्व-पा) अपना रक्षण करनेवाला **भुवत्**=होता है—अपने को वासनाओं से आक्रान्त नहीं होने देता, अथवा 'सु+अपा' उत्तम कर्मोंवाला होता है। प्रभु का स्मरण इसे मार्ग-भ्रष्ट नहीं होने देता। २. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **उरूची**=(उर्वञ्चने) विशाल गतिवाले **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **व्यचस्व**=व्यापक बनानेवाला हो। 'द्यावा' मस्तिष्क है और 'पृथिवी' शरीर है। तू मस्तिष्क और शरीर को व्यापक शक्तिवाला बना। तेरा शरीर पृथिवी के समान दृढ़ हो तो तेरा मस्तिष्क द्युलोक के समान ज्ञान-विज्ञान के

सूर्य व नक्षत्रों से उज्ज्वल हो। ३. **विश्ववेदसः**=सम्पूर्ण धनोंवाले **मरुतः**=प्राण **त्वा**=तुझे **युञ्जन्तु**=प्राप्त हों अथवा तुझे योगयुक्त करें। प्राणसाधना से शरीर में सोम (वीर्य) की ऊर्ध्वगति होकर शरीर के सब कोश बड़े सुन्दर बनते हैं। अन्नमयकोश तेजस्वी हो जाता है, तो प्राणमय वीर्यवान् और मनोमय ओजस्वी और बलवान् बनता है। इस प्राणसाधना से विज्ञानमयकोश ज्ञानपूर्ण होता है तो आनन्दमयकोश 'सहस्' वाला बनता है एवं, ये मरुत् 'विश्ववेदस' हैं। ४. तू **नमसा**=नमन के द्वारा **अमुम्**=उस **रातहव्यम्**=सब हव्य (पवित्र) पदार्थों को देनेवाले प्रभु को **आनय**=अपने में प्राप्त करनेवाला हो। नमन के द्वारा तू हृदय में प्रभु का दर्शन करनेवाला बन। ५. राजा का ऐसा जीवन प्रजा को भी उत्तम बना सकेगा।

भावार्थ—प्रभु-स्मरणपूर्वक हम उत्तम कर्मोंवाले हों। शरीर व मस्तिष्क दोनों का विकास करें। प्राणसाधना के द्वारा सब कोशों को सबल बनाएँ और नमन के द्वारा प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सौत्रामणी याग

दूरे चित्सन्तमरुषास इन्द्रमा च्यावयन्तु सख्याय विप्रम्।
यद्गायत्रीं बृहतीमर्कमस्मै सौत्रामण्या दधृषन्त देवाः ॥ २ ॥

१. **दूरे चित् सन्तम्**=अज्ञानियों से अत्यन्त दूर होते हुए **विप्रम्**=विशेषरूप से सारे ब्रह्माण्ड का पूरण करनेवाले (वि+प्रा पूरणे) **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अरुषासः**=ज्ञान-ज्योति से आरोचमान अथवा (अ-रुष) क्रोध से शून्य व्यक्ति **सख्याय**=मित्रता के लिए **आच्यावयन्तु**=समन्तात् अपने समीप प्राप्त कराएँ। प्रभु को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि हम (क) ज्ञानदीप्त बनें और (ख) क्रोध आदि से अपने को दूर रक्खें। अज्ञानी व क्रोधी व्यक्ति को प्रभु का दर्शन नहीं होता। २. **देवाः**=सूर्य, वायु, अग्नि अथवा माता-पिता, आचार्य आदि सब देव **अस्मै**=इस पुरुष के लिए **यत्**=जब **सौत्रामण्या**=(सु+त्रामणी) उत्तम, रक्षणात्मक कार्यों के द्वारा **गायत्रीम्**=गायत्री को (गयाः प्राणाः, तान् तत्रे) प्राणशक्ति के रक्षण को **बृहती**=(बृहि वृद्धौ) हृदय की विशालता को तथा **अर्कम्**=सूर्यसम ज्ञान-दीप्ति का **दधृषन्त**=धारण करते हैं, तभी यह ज्ञान-दीप्त बनता है। यह उनका सौत्रामणी यज्ञ है। इस यज्ञ में वे बालक का बड़ी उत्तमता से रक्षण करते हैं। इस रक्षण का ही परिणाम होता है कि वे सन्तान में 'गायत्री, बृहती व अर्क' की स्थापना कर पाते हैं।

भावार्थ—माता-पिता व आचार्य जब सन्तानों को प्राणशक्ति-सम्पन्न, विशाल हृदय व ज्ञान-दीप्त बनाते हैं तब ये ज्ञान-दीप्त पुरुष प्रभु को अपना मित्र बना पाते हैं, प्रभु को अपने हृदय में प्रतिष्ठित कर पाते हैं।

सूचना—गतमन्त्र का 'आदर्श जीवन' इन माता-पिता व आचार्य द्वारा किये जानेवाले सौत्रामणी याग से ही होता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदाभुरिक्पङ्क्तिः** ॥

वरुण+सोम+इन्द्र=श्येन

अद्भ्यस्त्वा राजा वरुणो ह्वयतु सोमस्त्वा ह्वयतु पर्वतेभ्यः।
इन्द्रस्त्वा ह्वयतु विड्भ्य आभ्यः श्येनो भूत्वा विश आ पतेमाः ॥ ३ ॥

१. **राजा**=जीवन को व्यवस्थित करनेवाला (regulated) **वरुणः**=पाप से निवारित करनेवाला **त्वा**=तुझे **अद्भ्यः**=शरीरस्थ रेतःकणों के रक्षण के लिए **ह्वयतु**=पुकारे, अर्थात् जीवन को

व्यवस्थित बनाकर, काम-क्रोध से अपने को बचाता हुआ तू रेत:कणों का रक्षण करनेवाला बन। २. **सोमः**=सोम **त्वा**=तुझे **पर्वतेभ्यः**=पर्वतों के लिए **ह्वयतु**=पुकारे। 'पर्व पूरणे' से पर्वत शब्द बना है। यह यहाँ न्यूनताओं को दूर करके पूर्णता की प्राप्ति का सूचक है। ३. **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठता **त्वा**=तुझे **आभ्यः विड्भ्यः**=इन प्रजाओं के लिए **ह्वयतु**=बुलाये। जितेन्द्रिय पुरुष के ही सन्तान उत्तम होते हैं। सन्तानों की उत्तमता के लिए जितेन्द्रियता आवश्यक है। राष्ट्र में भी राजा जितेन्द्रिय होकर ही प्रजाओं का नियमन कर पाता है—**जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः।** ४. **श्येनः**=शीघ्रगतिवाला **भूत्वा**=होकर **इमाः विशः**=इन प्रजाओं को **आपत**=सर्वथा प्राप्त हो—इनमें सब ओर गतिवाला हो। राजा को अकर्मण्य न होकर खूब क्रियाशील होना चाहिए। इस क्रियाशीलता के लिए ही वह 'व्यवस्थित जीवनवाला, सौम्य व जितेन्द्रिय' बना था। ये सब गुण उसे खूब क्रियाशील बनाते हैं। एक पिता भी क्रियाशील होने पर सन्तान को सुप्रभावित कर पाता है।

भावार्थ—हम 'व्यवस्थित जीवनवाले, सौम्य व जितेन्द्रिय' बनकर 'क्रियाशील' हों। ऐसा होने पर ही हम उत्तम प्रजाओं का निर्माण कर सकेंगे।

सूचना—प्रस्तुत मन्त्र में यह भी संकेत है कि प्रथम आश्रम का सूत्र 'राजा व वरुण बनकर रेत:कणों का रक्षण' है। द्वितीय आश्रम का 'सोम बनकर न्यूनताओं को न आने देना' है। तृतीयाश्रम का 'जितेन्द्रियता' तथा चतुर्थाश्रम का परिव्राजक बनकर 'प्रजाहित' में प्रवृत्त होना है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

स्वक्षेत्र-स्थापन

श्येनो हव्यं नयत्वा परस्मादन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तम्।
अश्विना पन्थां कृणुतां सुगं त इमं सजाता अभिसंविशध्वम्॥ ४॥

१. **श्येनः**=गतिशील राजा **अन्यक्षेत्रे**=दूसरे के क्षेत्र में **अपरुद्धम्**=ग़लत कामों में, उसके न करने योग्य कार्यों में फँसे हुए **चरन्तम्**=विषयों का चरण करते हुए पुरुष को **परस्मात्**=उस अन्य क्षेत्र से **हव्यम्**=(ह्वातव्यम्=अदने) हव्य की ओर **आनयतु**=सर्वथा अपने-अपने कार्य में स्थापित करे। कोई दूसरे के क्षेत्र में पग न रक्खे। अपना-अपना कार्य ही सब ठीक ढंग से करें। 'क्षेत्र' शब्द पत्नी के लिए भी प्रयुक्त होता है। तब अर्थ होगा कि यदि कोई व्यक्ति ग़लती से पर-पत्नीयों में रुद्ध होकर गति करता है तो राजा उसे उस दुष्कर्म से हटाकर ठीक मार्ग पर लाने का प्रयत्न करें। २. हे राजन् ! **अश्विना**=प्राणापान ते **पन्थाम्**=तेरे मार्ग को **सुगं कृणुताम्**=सुखपूर्वक जाने योग्य करें, अर्थात् प्राणापान की साधना से राजा इसप्रकार सशक्त हो कि वह अपने इन दुष्कर कार्यों को भी सुगमता से कर सके। राजा राष्ट्र में भी ऐसी व्यवस्था करे कि लोगों की प्राणापान की साधना की वृत्ति बने, जिससे वे ग़लत कार्यों को करें ही नहीं। ३. हे **सजाताः**=इस राजा के साथ अथवा समान जन्मवाले राजघराने के पुरुषो! **इमं, अभि संविशध्वम्**=तुम भी इस राजा के समीप होते हुए राजा की सेवा करनेवाले बनो, अर्थात् इसके राजकार्यों में तुम भी सहायक होओ। राजघराने के अन्य व्यक्तियों को भी उचित प्रशिक्षण दिया जाए और वे भी राजा के साथ राजकार्यों में सहायक हों, अन्यथा 'मृगया' आदि दुर्व्यसनों में पड़कर वे राष्ट्र पर 'भार' ही हो जाएँगे।

भावार्थ—राजा का मूल कर्त्तव्य है कि वह सबको स्वक्षेत्र में स्थापित करे, स्वयं प्राणसाधना करता हुआ औरों को भी प्राणसाधना में प्रवृत्त करे। सजात राजघराने के पुरुषों को भी राजकार्यों में शिक्षित करके उन्हें व्यापृत रहनेवाला बनाए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

त्रिविध शान्ति

ह्वय॑न्तु त्वा प्रति॒ज॒नाः प्रति॑ मि॒त्रा अ॑वृषत।
इ॒न्द्रा॒ग्नी विश्वे॑ दे॒वास्ते॑ वि॒शि क्षेम॑मदीधरन्॥ ५॥

१. **प्रतिजनाः**=प्रत्येक व्यक्ति—छोटे-बड़े सभी व्यक्ति **त्वा**=तुझे **ह्वयन्तु**=पुकारें। सभी के लिए तू अभिगम्य (Approachable) हो। प्रजाओं के साथ तेरा सम्पर्क बना रहे। प्रजाओं की स्थिति से तू अच्छी प्रकार परिचित हो। **प्रतिमित्राः**=तेरे सब साथी **अवृषत**=तुझे शक्तिशाली बनानेवाले हों, अर्थात् आवश्कता के समय वे तुझे सहायता देनेवाले हों। राजा राष्ट्र में प्रजाओं का प्रिय हो। राष्ट्र के बाहर मित्रमण्डल उसका सहायक हो। २. **इन्द्राग्नी**=इन्द्र व अग्नि तथा **विश्वे देवाः**=सब देव **ते विशि**=तेरी प्रजा में **क्षेमम्**=कल्याण को **अदीधरन्**=धारण करें। राष्ट्र में किसी प्रकार की आधिदैविक आपत्तियाँ न आएँ। यज्ञादि उत्तम कार्यों के प्रणयन से सब देवों की अनुकूलता बनी रहे। ३. '**ह्वयन्तु त्वा प्रतिजनाः**' इन शब्दों में राष्ट्र में अन्तःकोप न होने का संकेत है। प्रजाप्रिय राजा के राज्य में अन्तर्विप्लव नहीं हुआ करते। राष्ट्र हड़ताल आदि के उपद्रवों से बचा रहता है। '**प्रतिमित्रा अवृषत**' ये शब्द बाहर के आक्रमणों से बचाव का संकेत करते हैं और मन्त्र का उत्तरार्ध दैवी प्रकोपों के न होने का उल्लेख कर रहा है। इसप्रकार राष्ट्र अन्तःशान्ति तथा बहिःशान्ति को प्राप्त करके दैवी आपत्तियों के अभाव में निरन्तर आगे बढ़ता जाता है।

भावार्थ—राजा प्रजा के लिए अभिगम्य हो, मित्रशक्ति से युक्त हो। राष्ट्र दैवी प्रकोपों से बचानेवाला हो। यज्ञादि की व्यवस्था तथा स्वाध्याय के प्रचार के द्वारा ही यह सम्भव है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

राजाज्ञा के पालन की आवश्कता

यस्ते॒ हवं॑ वि॒वद॑त्सजा॒तो यश्च॒ निष्ट्यः॑।
अपा॑ञ्चमिन्द्र॒ तं कृ॒त्वाथे॒ममि॒हाव॑ गमय॥ ६॥

१. हे **इन्द्र**=राष्ट्र के शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले राजन्! **यः**=जो **सजातः**=तेरे समान उत्कृष्ट कुल में जन्म लेनेवाला 'ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य' **यः च**=और जो **निष्ट्यः**=निचले घराने में जन्म लेनेवाला 'शूद्र' ते **हवम्**=तेरे आदेश को **विवदत्**=पालन न करता हुआ विवाद का विषय बनाये **तम्**=उस सजात या निष्ट्य पुरुष को **अपाञ्चम्**=(अप अञ्च) राष्ट्र से बहिर्गमनवाला **कृत्वा**=करके, अर्थात् राष्ट्र से निर्वासित करके **अथ**=अब **इमम्**=इस आदेश को **इह**=राष्ट्र में **अवगमय**=सबके लिए अवगत करानेवाला हो, अर्थात् घोषणा के द्वारा उस आदेश से सबको परिचित करा दे। २. राजा को समय-समय पर राष्ट्रहित के लिए आदेश प्रसृत करने हैं। यदि कोई व्यक्ति उन आदेशों का विरोध करके अराजकता फैलाने का प्रयत्न करता है तो उसे प्रजा से पृथक् करना आवश्यक है और यह भी आवश्यक है कि राजा का आदेश सबके कानों तक पहुँचाने की व्यवस्था की जाए।

भावार्थ—राजाज्ञा का पालन सबके लिए आवश्यक है, अन्यथा अराजकता में सबके लिए भयावह स्थिति हो जाती है।

विशेष—सूक्त का विषय यह है कि राजा अपने जीवन को उच्च बनाये, सबको स्वधर्म में स्थापित करे, राष्ट्र को अन्तः-बाह्य कोपों व प्राकृतिक प्रकोपों से रहित करे, आदेशों का

उल्लघंन करनेवालों को दण्डित करे। अगले सूक्त में भी इसी बात को विस्तार से कहते हैं—

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

उपसद्य, नमस्य

आ त्वा गन्राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ् विशां पतिरेकराट् त्वं वि राज।
सर्वास्त्वा राजन्प्रदिशो ह्वयन्तूपसद्यो नमस्यो भवेह॥ १॥

१. राज्याभिषेक के समय पुरोहित कहता है (आजकल की भाषा में स्पीकर या न्यायाधीश शपथ दिलाता हुआ कहता है)—हे राजन्! **त्वा**=तुझे **राष्ट्रम्**=यह राष्ट्र **आ अगन्**=प्राप्त हुआ है। तू इस राष्ट्र में **वर्चसा सह उद् इहि**=शक्ति के साथ उत्कृष्ट गतिवाला हो। तू शक्तिशाली बनकर शासन करनेवाला बन। तेरी सारी गति अत्यन्त उत्कृष्ट हो। **प्राङ्**=(प्र अञ्च्) अग्रगतिवाला होता हुआ **विशांपतिः**=प्रजाओं का रक्षक तू **एक-राट्**=अद्वितीय शासक अथवा मुख्य शासक (एक=मुख्य, केवल) होता हुआ **त्वम्**=तू **विराज**=विशिष्ट दीप्तिवाला हो। प्रजाओं के जीवन को व्यवस्थित (regulated) करनेवाला हो। २. हे **राजन्**=राष्ट्र के व्यवस्थापक! **सर्वाःप्रदिशः**=सब विस्तृत दिशाएँ—इन दिशाओं में रहनेवाले लोग **त्वा**=तुझे **ह्वयन्तु**=पुकारें, अर्थात् शासनकार्य के लिए तुझे चुनें। तू **इह**=यहाँ शासक पद पर आसीन होकर **उपसद्यः**=सबके लिए अभिगम्य (Approachable) तथा **नमस्यः**=आदरणीय **भव**=हो। तेरे शासनकार्य की उत्तमता के लिए आवश्यक है कि तू प्रजाओं की ठीक स्थिति से परिचित हो। इसके लिए यह आवश्यक है कि तू प्रजाओं के लिए अभिगम्य हो। तेरे शासन में न्याय-व्यवस्था इतनी ठीक हो कि तू सभी के आदर का पात्र बने।

भावार्थ—राजा प्रजाओं के लिए 'उपसद्य व नमस्य' हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वसु-विभजन

त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः।
वर्ष्मन्राष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि॥ २॥

१. हे राजन्! **त्वाम्**=तुझे **विशः**=प्रजाएँ **राज्याय**=राज्य के लिए **वृणताम्**=वरें। **त्वाम्**=तुझे **इमाः**=ये **पञ्च**=विस्तृत (पचि विस्तारे) **देवीः**=दिव्य गुणयुक्त **प्रदिशः**=प्रकृष्ट दिशाएँ—इन दिशाओं में निवास करनेवाले व्यक्ति राज्य के लिए चुनें। इनसे चुने गये आप इस देश के शासन को सँभालनेवाले हों। यहाँ 'पञ्च' का भाव चार दिशाएँ और एक मध्य भाग मिलकर 'पाँचों प्रदेश' यह भी लिया जा सकता है। भाव इतना ही है कि राजा का चुनाव सब मिलकर करें। २. इसप्रकार चुनाव हो जाने पर तू **राष्ट्रस्य**=राष्ट्र के **वर्ष्मन् ककुदि**=(वर्ष्मन्=Handsome or lovely) सुन्दर शिखर पर—ऊँचे सिंहासन पर—सर्वोच्च पद पर **श्रयस्व**=आश्रय कर। **ततः**=उस उच्चावस्था से **उग्रः**=तेजस्वी होता हुआ तू **नः**=हमारे लिए **वसूनि विभज**=धनों का उचित विभाग कर। राजा का यह भी एक मौलिक कर्त्तव्य है कि वह धन को कुछ पुरुषों में केन्द्रित न होने दे। धन का उचित विभाग राष्ट्र-शरीर के रक्षण के लिए उतना ही आवश्यक है, जितना कि इस शरीर के रक्षण के लिए रुधिर का किसी एक स्थान में केन्द्रित न होने देना।

भावार्थ—सब मिलकर राजा का चुनाव करें। चुने जाने पर राजा इस बात का ध्यान रक्खे कि सम्पत्ति कुछ पुरुषों में ही केन्द्रित न हो जाए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

कर=Tax

अच्छ त्वा यन्तु हविनः सजाता अग्निर्दूतो अजिरः सं चरातै।
जायाः पुत्राः सुमनसो भवन्तु बहुं बलिं प्रति पश्यासा उग्रः ॥ ३ ॥

१. हे राजन्! **सजाताः**=तेरे साथ समान राष्ट्र में पैदा हुए-हुए तथा तेरे समान ही विकासवाले ये व्यक्ति **हविनः**=तुझे पुकारनेवाले (Those who call upon you), तुझे मिलने की इच्छावाले **त्वा अच्छ यन्तु**=तेरे अभिमुख आएँ। इनसे तुझे समय-समय पर उचित परामर्श व प्रजा की स्थिति का ठीक परिचय प्राप्त होता रहे। २. तेरा **अग्निः**=दीप्त ज्ञानाग्निवाला, अग्नि के समान प्रकाशमय **अजिरः**=खूब गतिवाला **दूतः**=दूत **सञ्चरातै**=सम्यक् विचरण के लिए हो। विविध राष्ट्रों में तेरे दूत उत्तम गतिवाले हों। ये दूत अग्नि के समान प्रकाशमय तथा खूब क्रियाशील हों, आलसी न हों। ३. तेरे राष्ट्र में **जायाः**=सन्तानों को जन्म देनेवाली सब माताएँ तथा **पुत्राः**=उनके सन्तान **सुमनसः**=उत्तम मनवाले **भवन्तु**=हों। स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मस्तिष्कवाले होते हुए ये उत्तम मनवाले हों। ४. **उग्रः**=तेजस्वी होता हुआ तू **बहुं बलिम्**=विपुल कर को **प्रतिपश्यासै**=अपने सम्मुख देखनेवाला हो, अर्थात् तुझे राष्ट्र-रक्षण की व्यवस्था के लिए धन की कमी न रहे। प्रजाएँ तुझे प्रसन्नतापूर्वक कर देनेवाली हों। उचित कर न देनेवाले लोग तेरे द्वारा दण्डित हों। 'उग्रः' शब्द का यह भाव सुव्यक्त है।

भावार्थ—राजा के समकक्ष व्यक्ति समय-समय पर उसे मिल सकें। राजदूत ज्ञानी व क्रियाशील हों। राष्ट्र में सब माताएँ व सन्तान उत्तम मनोंवाली हों। राजा को राष्ट्र-रक्षण के लिए पर्याप्त कर प्राप्त हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

वसुदेय मनवाला राजा

अश्विना त्वाग्रे मित्रावरुणोभा विश्वे देवा मरुतस्त्वा ह्वयन्तु।
अधा मनो वसुदेयाय कृणुष्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि ॥ ४ ॥

१. हे राजन्! **त्वा**=तुझे **अश्विना**=प्राणापान—प्राण व अपानशक्ति **उभा**=दोनों **मित्रावरुणा**=स्नेह व निर्द्वेषता के भाव **अग्रे**=सर्वप्रथम **ह्वयन्तु**=पुकारें—राज्य-प्रवेश कराएँ, अर्थात् तेरे इन गुणों को देखकर तुझे राज्यासन पर बिठाएँ। इसीप्रकार **मरुतः**=(मितराविणः) परिमित शब्दोंवाले **विश्वे देवाः**=देववृत्ति के सब पुरुष **त्वा**=तुझे इस राजगद्दी पर पुकारें—वे सब तुझे राज्य करने के लिए आमन्त्रित करें। २. **अध**=अब—सिंहासनासीन होने पर तू **मनः**=अपने मन को **वसुदेयाय**=सब वसुओं को—निवास के लिए आवश्यक साधनों को देने के लिए **कृणुष्व**=कर, अर्थात् तू सब प्रजावर्ग के लिए आवश्यक जीवन-साधनों को प्राप्त करानेवाला हो। **ततः**=इस सिंहासन से—इस सिंहासन पर बैठकर तू **उग्रः**=तेजस्वी और शत्रुभयंकर होता हुआ **नः**=हमारे लिए **वसूनि विभज**=धनों का उचित संविभाग कर—प्रजा में धन का समुचित विभाग करनेवाला राजा ही राष्ट्र-शरीर को स्वस्थ रख पाता है।

भावार्थ—प्राणापान-शक्तिसम्पन्न, स्नेह व निर्द्वेषता से युक्त व्यक्ति को ही देव लोग गद्दी पर बिठाएँ। यह सिंहासनारूढ़ होकर सब प्रजाओं के लिए वसुओं को—आवश्यक जीवन-साधनों को प्राप्त कराने की कामनावाला हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

शिवे द्यावापृथिवी

आ प्र द्र॑व पर॒मस्याः॑ परा॒वतः॑ शि॒वे ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी उ॒भे स्ता॑म्।
तद॒यं राजा॒ वरु॑ण॒स्तथा॑ह॒ स त्वा॒यम॑ह्व॒त्स उपे॒दमेहि॑॥ ५॥

१. हे राजन्! तू **परमस्याः परावतः**=अत्यन्त सुदूर प्रदेश से भी आ **प्रद्रव**=राष्ट्र की ओर शीघ्रता से आनेवाला हो। कार्यवश राजा को सुदूर प्रदेशों में भी जाना हो तो वह वहाँ विलम्ब न करके शीघ्र अपने राष्ट्र में उपस्थित होने का ध्यान करे। **ते**=तेरे लिए **द्यावापृथिवी उभे**=ये द्युलोक और पृथिवीलोक दोनों ही **शिवे**=कल्याणकर **स्ताम्**=हों। राष्ट्र में द्युलोक से वृष्टि ठीक रूप में होकर पृथिवी में पर्याप्त अन्न पैदा करनेवाली हो। वस्तुतः राष्ट्र की उत्तम व्यवस्था पर ही अतिवृष्टि व अनावृष्टि आदि कष्टों का दूर होना सम्भव होता है। २. **अयम्**=यह राजा-सारे ब्रह्माण्ड का शासक **वरुणः**=सब कष्टों का निवारण करनेवाला प्रभु **तत्**=उस बात को **तथा**=उस प्रकार **आह**=कहता है। प्रभु ने वेद में स्पष्ट कह दिया है कि राजा के अपराध से ही आधिदैविक कष्ट आया करते हैं—'न वर्षं मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभि वर्षति'। **सः अयम्**=वे ये प्रभु ही **त्वा**=तुझे **अह्वत्**=इस सिंहासन पर पुकारते हैं। राजा को प्रभु का प्रतिनिधि=कार्यकर बनकर उत्तमता से शासन करना चाहिए। **सः**=वह तू **इदम्**=इस राष्ट्रपति के आसन को **उप ऐहि**=समीपता से प्राप्त हो।

भावार्थ—राजा कार्यवश कहीं भी जाए, वहाँ से शीघ्र ही राष्ट्र में लौटने का ध्यान करे। उत्तम राष्ट्र व्यवस्था पर ही 'ठीक से वृष्टि होना व पृथिवी का अन्न उत्पन्न करना' निर्भर करता है। राजा अपने को प्रभु का कारिन्दा समझे और इसी भावना को लेकर सिंहासन पर बैठे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

देवयजन-प्रजाकल्पन

इन्द्रे॑न्द्र मनु॒ष्या॒३ः परे॑हि॒ सं ह्यज्ञा॑स्था॒ वरु॑णैः संवि॒दा॒नः।
स त्वा॒यम॑ह्व॒त्स्वे स॒धस्थे॒ स दे॒वान्य॑क्ष॒त्स उ॑ कल्पया॒द्विशः॑॥ ६॥

१. **इन्द्र**=हे जितेन्द्रिय राजन्! हे **इन्द्र**=हे राष्ट्र के सञ्चालक! **मनुष्याः**=मनु की अपत्यभूत इन मानव-प्रजाओं को तू **परेहि**=सुदूर देश में भी प्राप्त हो। इस राष्ट्र में **वरुणैः**=श्रेष्ठ पुरुषों से संज्ञानवाला होता हुआ तू **हि**=निश्चय से **सं अज्ञास्थाः**=सम्यक् ज्ञानवाला हो। राजा प्रजा की स्थिति को ठीक से जाने और अपने कर्त्तव्यों को भी ठीक से जाननेवाला हो। २. **सः अयम्**=वे ये वरुण—सब कष्टों का निवारक प्रभु **त्वा**=तुझे स्वे **सधस्थे**=अपने सह स्थान में **अह्वत्**=पुकारता है, अर्थात् राजा सिंहासन पर बैठते हुए अपने हृदय में स्थित उस प्रभु के साथ भी बैठने का प्रयत्न करता है। प्रभु-स्मरणपूर्वक शासन करनेवाला राजा प्रजा के कष्टों को अवश्य दूर करेगा। **सः**=वह **देवान् यक्षत्**=देवों का—विद्वानों का पूजन व आदर करता है **उ**=और **सः**=वह राजा **विशः**=प्रजाओं को **कल्पयात्**=शक्तिशाली बनाता है। राजा अपने राष्ट्र में विद्वानों का आदर करता है और उनकी सम्मतियों से लाभ उठाता हुआ उत्तम राष्ट्र-व्यवस्था के द्वारा प्रजाओं को निर्बल नहीं होने देता। प्रजा के सामर्थ्य का वर्धन ही राजा का उद्देश्य होता है।

भावार्थ—राजा प्रजा के साथ अपना सम्पर्क बनाए रक्खे। प्रभु-स्मरणपूर्वक प्रजाओं का शासन करता हुआ यह राजा राष्ट्र में विद्वानों का आदर करे सब प्रजाओं को सबल बनाए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

दशमीं वश

पथ्या रेवतीर्बहुधा विरूपाः सर्वाः सङ्गत्य वरीयस्ते अक्रन्।
तास्त्वा सर्वाः संविदाना ह्वयन्तु दशमीमुग्रः सुमना वशेह॥ ७॥

१. **पत्थाः**=मार्ग पर चलनेवाली—नियमों को न तोड़नेवाली **रेवतीः**=धन-सम्पन्न, **बहुधा विरूपाः**=कई प्रकार से विभिन्न रूपोंवाली **सर्वाः**=सब प्रजाओं ने **संगत्य**=मिलाकर **ते**=तेरे लिए इस **वरीयः**=उत्कृष्ट—श्रेष्ठ पद को **अक्रन्**=किया है। राष्ट्र की सब प्रजाएँ मिलकर राजा का वरण करती हैं। उन्हें चुनने का अधिकार नहीं होता जो (क) नियमभङ्ग के कारण दण्डित हों अथवा (ख) बिल्कुल न कमाते हों, कुछ भी कर न देते हों। २. **ताः**=ये **सर्वाः**=सब प्रजाएँ **संविदानः**= संज्ञान-(ऐकमत्य)-वाली होती हुई **त्वा**=तुझे इस सिंहासन को सुशोभित करने के लिए **ह्वयन्तु**= पुकारें। **उग्रः**=तेजस्वी—शुत्रभयंकर व **सुमनाः**=सब प्रजाओं के लिए शुभ मनवाला तू **इह**=इस सिंहासन पर **दशमीम् वश**=अपने दसवें दशक की—सौ वर्ष के आयुष्य की कामना कर। राजा स्वयं दीर्घजीवी बने और प्रजाओं को दीर्घजीवी बनाने के लिए यत्नशील हो।

भावार्थ—सब प्रजाएँ मिलकर राजा का वरण करें। राजा तेजस्वी व उत्तम मनवाला होता हुआ प्रजा को दीर्घजीवी बनाने के लिए यत्नशील हो।

विशेष—अगले सूक्त का ऋषि अथर्वा है, जो (न थर्वति) डाँवाडोल नहीं होता। विषयों में न भटकने से ही यह शरीर में सोम का रक्षण कर पाता है। इस सूक्त में सोम-रक्षण के महत्त्व का ही प्रतिपादन है। यह सोम पालन व पूरण करनेवाली मणि ही है, अतः इसे 'पर्णमणि' कहा गया है। 'पर्ण' वनस्पति का प्रतीक है। यह सोम वानस्पतिक पदार्थों के भक्षण से जनित मणि है—

५. [पञ्चमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः, पर्णमणिः** ॥ छन्दः—**पुरोऽनुष्टुप्त्रिष्टुप्** ॥

पर्णमणि

आयमगन्पर्णमणिर्बली बलेन प्रमृणन्त्सपत्नान्।
ओजो देवानां पय ओषधीनां वर्चसा मा जिन्वत्वप्रयावन्॥ १॥

१. **अयम्**=यह **पर्णमणिः**=पालक व पूरक तथा वानस्पतिक पदार्थों से उत्पन्न मणि (सोम) **मा**=मुझे **आ अगन्**=प्राप्त हुई है, **बली**=यह प्रशस्त बलोंवाली है। **बलेन**=बल से **सपत्नान्**=रोगरूप शत्रुओं को **प्रमृणन्**=मसल देनेवाली है। २. यह **देवानां ओजः**=देवों का ओज है। इस सोम-रक्षण से ही देव ओजस्वी बनते हैं। यह **ओषधीनाम्**=ओषधियों का—वानस्पतिक पदार्थों का **पयः**=वीर्य (Semen virile) है। यह **अप्रयावन्**=(मां विहाय अनपगन्ता सन्) मुझे छोड़कर न जाता हुआ—मुझमें ही सुरक्षित होता हुआ **मा**=मुझे **वर्चसा**=तेज से **जिन्वतु**=प्रीणित करे। यह मुझे तेजस्वी बनाए।

भावार्थ—शरीर में वानस्पतिक पदार्थों के सेवन से उत्पन्न सोम शरीर में ही सुरक्षित होता हुआ हमारे रोगरूप शत्रुओं का संहार करता है और हमें वर्चस्वी बनाता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः, पर्णमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

क्षत्रं+रयिम् (धारयतात्)

मयि क्षत्रं पर्णमणे मयि धारयताद्रयिम्। अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः॥ २॥

१. हे **पर्णमणे**=पालक व पूरक सोम! **मयि**=मुझमें **क्षत्रम्**=क्षतों के त्राण करनेवाले बल का **धारयतात्**=धारण कर। **मयि**=मुझमें **रयिम्**=ऐश्वर्य को (धारयतात्) धारण कर। सोम ही बल व धन का धारण करनेवाला है। २. हे सोम! तेरे द्वारा सबल बना हुआ **अहम्**=मैं **राष्ट्रस्य**=इस राष्ट्र के **अभीवर्गे**=आवर्जन व अपने अनुकूल करने में (स्वाधीनीकरणे) **निजः**=अपने-आप **उत्तमः**=उत्कृष्ट **भूयासम्**=होऊँ। इस शरीररूप राष्ट्र को अपने अधीन करके उत्तम जीवनवाला बनूँ।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम मुझमें बल व ऐश्वर्य का स्थापन करे। सोम-रक्षण द्वारा शरीर-राष्ट्र को स्वाधीन करता हुआ मैं उत्कृष्ट जीवनवाला बनूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः, पर्णमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'गृह्य, प्रिय' मणि

यं निदधुर्वनस्पतौ गुह्यं देवाः प्रियं मणिम्। तमस्मभ्यं सहायुषा देवा ददतु भर्तवे ॥ ३ ॥

१. **यम्**=जिस **प्रियम्**=प्रीति की जनक **मणिम्**=वीर्यशक्ति को **देवाः**=सूर्य, वायु-जल आदि देव **वनस्पतौ**=वनस्पतियों में **गुह्यम्**=अत्यन्त संवृतरूप में **निदधुः**=स्थापित करते हैं, ये सब **देवाः**=देव **तम्**=उस मणि को **आयुषा सह**=दीर्घजीवन के साथ **भर्तवे**=भरण के लिए **अस्मभ्यम्**=हमें **ददतु**=दें। २. वानस्पतिक पदार्थों के द्वारा उत्पन्न यह वीर्यशक्ति हमें दीर्घजीवन प्राप्त कराती है तथा यही हमारा ठीक से भरण करती है। इसके अभाव में ही अङ्ग-प्रत्यङ्गों की शक्ति शिथिल हो जाती है।

भावार्थ—सूर्य-चन्द्र आदि देवों के द्वारा अत्यन्त संवृतरूप में वनस्पतियों में वीर्यशक्ति की स्थापना होती है। ये वानस्पतिक पदार्थ हमारा भोजन बनकर हममें शक्ति स्थापित करते हैं। इससे दीर्घजीवन व उचित शक्तिभरण प्राप्त होता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः, पर्णमणिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सोम का पर्ण

सोमस्य पर्णः सह उग्रमागन्निन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टः।
तं प्रियासं बहु रोचमानो दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ ४ ॥

१. **सोमस्य**=वीर्यशक्ति का **पर्णः**=पालन व पूरण का कर्म **उग्रं सहः**=अत्यन्त प्रबल शत्रुनाशक सामर्थ्य को **आगन्**=प्राप्त कराता है। यह सोम का पर्ण **इन्द्रेण दत्तः**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता के द्वारा दिया जाता है, अर्थात् जितेन्द्रियता ही हमें इस सोम के पालन व पूरणरूप कर्म को प्राप्त कराती है। **वरुणेन शिष्टः**=द्वेष का निवारण करनेवाले देव से यह अनुशिष्ट होता है, अनुज्ञात होता है, अर्थात् निर्द्वेषता होने पर ही यह सोम शरीर में सुरक्षित रहता है। २. **तम्**=उस सोम के **उग्रं सहः**=प्रबल सामर्थ्य को मैं **प्रियासम्**=प्रेम करनेवाला बनूँ। यह सामर्थ्य मुझे प्रिय हो। इसके धारण से मैं **बहु रोचमानः**=अत्यन्त दीप्त बनूँ। **दीर्घायुत्वाय शतशारदाय**=मैं दीर्घजीवन के लिए—पूर्ण सौ वर्ष के जीवन को प्राप्त करने के लिए इस सोम को धारण करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—सोम का पालनात्मक कर्म मुझे प्रबल सामर्थ्य प्राप्त कराता है। इसके धारण से मैं दीप्त व दीर्घजीवन प्राप्त करता हूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः, पर्णमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मह्यै अरिष्टतातये

आ मारुक्षत्पर्णमणिर्मह्या अरिष्टतातये। यथाहमुत्तरोऽसान्यर्यम्ण उत संविदः ॥ ५ ॥

१. यह **पर्णमणिः**=पालन व पूरण करनेवाली सोम नामक (वीर्यरूप) मणि **मा आरुक्षत्**=मुझमें आरोहण करे। यह सोम मेरे शरीर में ऊर्ध्व गतिवाला हो। **मह्यै अरिष्टतातये**=शरीर में ऊर्ध्व गतिवाला होकर यह सोम अहिंसन के महान् विस्तार के लिए हो। अङ्ग-प्रत्यङ्ग का पालन व पूरण करती हुई यह मणि हमें हिंसित न होने दे। २. यह मणि इसप्रकार अहिंसन का विस्तार करे कि **यथा**=जिससे **अहम्**=मैं **अर्यम्णः**=(अरीन् यच्छति) शत्रुओं को वशीभूत करनेवाले अर्यमा से **उत**=और **संविदः**=सम्यक् ज्ञानवाले पुरुष से **उत्तरः**=अधिक उत्कृष्ट **असानि**=बनूँ। सुरक्षित सोम मुझे रोगों से बचाता व वासनारूप शत्रुओं का विजेता व उत्कृष्ट ज्ञानी बनाता है।

भावार्थ—सोम मेरे शरीर में सुरक्षित हो। यह मुझे अहिंसित बनानेवाला हो। इसके रक्षण से मैं शत्रुओं को वश में करनेवाला व ज्ञानी बनूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः, पर्णमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'रथकार धीवान्' तथा 'कर्मार मनीषी'

ये धीवा॑नो रथका॒राः क॒र्मा॑रा॒ ये म॑नी॒षिणः॑।
उ॒प॒स्तीन्प॑र्ण॒ मह्यं॒ त्वं सर्वा॑न्कृण्व॒भितो॒ जना॑न्॥ ६॥

१. हे **पर्ण**=पालन व पूरण करनेवाले मणे! **त्वम्**=तू **मह्यम्**=मेरे लिए **सर्वान् जनान्**=सब मनुष्यों को **अभितः**=सब ओर **उपस्तीन्**=उपासक (सेवक) के रूप में **कृणु**=कर। सोम-रक्षण करता हुआ मैं इन सब लोगों का प्रिय बनूँ, २. **ये**=जो **धीवानः**=प्रशस्त बुद्धिवाले व **रथकाराः**=शरीररूप रथ को सुन्दर बनानेवाले हैं, **ये**=जो **कर्माराः**=खूब क्रियाशील **मनीषिणः**=मन का शासन करनेवाले ज्ञानी हैं। ये सबके सब मेरे उपासक हों—मैं इनका प्रिय बनूँ। सोम-रक्षण मुझे उत्तम बुद्धिवाला व सुन्दर शरीर-रथवाला बनाये। इसके रक्षण से मैं क्रियाशील व मनीषी बनूँ, अन्य बुद्धिमानों व मनीषियों में आगे बढ़ जाऊँ।

भावार्थ—सोमरक्षण मुझे उत्तम शरीरवाले, व बुद्धिमान् पुरुषों में श्रेष्ठ बनाए। इसके द्वारा मैं क्रियाशील ज्ञानी बन जाऊँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः, पर्णमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

राजा, राजकृत, सूत व ग्रामणी (क्षत्रियवर्ग का प्रिय बनूँ)

ये राजा॑नो राज॒कृतः॑ सू॒ता ग्रा॑म॒ण्य॑ ऽश्च॒ ये।
उ॒प॒स्तीन्प॑र्ण॒ मह्यं॒ त्वं सर्वा॑न्कृण्व॒भितो॒ जना॑न्॥ ७॥

१. हे **पर्ण**=पालन व पूरण करनेवाली मणे! **त्वम्**=तू **मह्यम्**=मेरे लिए **सर्वान्**=सब **जनान्**=लोगों को **अभितः**=सब ओर से **उपस्तीन्**=उपासक **कृणु**=कर। सोमरक्षण करता हुआ मैं इन सबका प्रिय बनूँ। २. **ये**=जो **राजानः**=राजा हैं व **राजकृतः**=राजाओं को बनानेवाले हैं **च**=और **ये**=जो **सूताः**=प्रेरणा देनेवाले हैं **ग्रामण्यः**=ग्राम-प्रमुख हैं, सोमरक्षण करता हुआ मैं इन सबका प्रिय बनूँ।

भावार्थ—सोमरक्षण के द्वारा मैं सब क्षत्रियवर्ग का भी प्रिय बनूँ। सोमरक्षण मुझे भी उत्तम राजा, राजकृत, सूत व ग्रामीण बनाये।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः, पर्णमणिः** ॥ छन्दः—**विराडुरोबृहती** ॥

तनूपान पर्ण

प॒र्णो॑ ऽसि तनू॒पानः॑ सयो॑निर्वी॒रो वी॒रेण॒ मया॑।
सं॒व॒त्स॒रस्य॒ तेज॑सा॒ तेन॑ बध्नामि त्वा मणे॥ ८॥

१. हे सोम! **पर्णः असि**=तू हमारा पालन व पूरण करनेवाला है, **तनूपानः**=शरीर का रक्षण करनेवाला है। **वीरः**=(वि ईर्) रोगरूप शत्रुओं को कम्पित करके दूर करनेवाला है। **वीरेण मया**=मुझ वीर के साथ **सयोनिः**=समान गृहवाला है। इस शरीर में मैं भी रहता हूँ, तू भी। २. हे **मणे**=सोमशक्ते! **तेन**=उस **सवंत्सरस्य**=उत्तम निवास के साधनभूत **तेजसा**=तेज के हेतु से **त्वा बाध्नामि**=तुझे अपने अन्दर बाँधता हूँ। तेरे रक्षण से शरीर में वह तेज प्राप्त होता है जो उत्तम निवास का साधन बनता है।

भावार्थ—सोम शरीर का रक्षण करता है। यह शरीर में बद्ध होकर दीर्घ जीवन का कारण बनता है।

विशेष—अगले सूक्त का ऋषि 'जगद्बीजं पुरुषः' कहलाता है। सूक्त का विषय भी 'वानस्पत्यः अश्वत्थः' है। वानस्पतिक पदार्थों के सेवन से अत्यन्त सात्त्विक बुद्धिवाले पुरुषों के हृदयों में निवास करनेवाला 'अश्वत्थ' है—

६. [षष्ठं सूक्तम्]

ऋषिः—**जगद्बीजं पुरुषः** ॥ देवता—**अश्वत्थः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पुमान् पुंसः, अश्वत्थः खदिरात्

पुमान्पुंसः परिजातोऽश्वत्थः खदिरादधि।
स हन्तु शत्रून्मामकान्यानहं द्वेष्मि ये च माम्॥ १॥

१. प्रभु **पुमान्**=पुमान् हैं, पुनाति=सबको पवित्र करनेवाले हैं। **पुंसः**=अपने जीवन को पवित्र करनेवाले पुरुष से **परिजातः**=प्रादुर्भूत होते हैं। अपने हृदय को पवित्र करनेवाला पुरुष ही प्रभु के प्रकाश को देखता है। २. प्रभु 'अश्वत्थ' हैं—कर्मों में व्याप्त रहनेवाले पुरुष के हृदय में स्थित होते हैं। ये प्रभु **खदिरात्**=स्थिर वृत्तिवाले—वासनाओं का संहार करनेवाले पुरुष से **अधि (जातः)**=अपने अन्दर प्रादुर्भूत किये जाते हैं (खद स्थैर्ये हिंसायां च)। ३. **सः**=वे प्रभु ही **मामकान् शत्रून्**=मेरे शत्रुओं को **हन्तु**=नष्ट करें। उन शत्रुओं को **यान्**=जिन्हें **अहम्**=मैं **द्वेष्मि**=अप्रीतिकर समझता हूँ **च**=और **ये**=जो **माम्**=मुझे द्वेष से देखते हैं। काम-क्रोध, लोभ आदि शत्रु मुझ प्रिय नहीं और मैं उनका प्रिय नहीं हूँ। प्रभु मेरे इन शत्रुओं को मुझसे पृथक् करें।

भावार्थ—पवित्र बनकर मैं पवित्र प्रभु के प्रकाश को देखूँ। स्थिर वृत्तिवाला बनकर मैं कर्मशीलों में व्याप्त उस प्रभु को पहचानूँ। प्रभु मेरे काम आदि शत्रुओं को विनष्ट करें।

ऋषिः—**जगद्बीजं पुरुषः** ॥ देवता—**अश्वत्थः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'इन्द्र, मित्र, वरुण' से स्नेहवाला

तानश्वत्थ निः शृणीहि शत्रून्वैबाधदोधतः।
इन्द्रेण वृत्रघ्ना मेदी मित्रेण वरुणेन च॥ २॥

१. हे **अश्वत्थ**=कर्मशील पुरुषों में व्याप्त होनेवाले प्रभो! आप **वैबाधदोधतः**=विशिष्ट बाधा उत्पन्न करनेवाले तथा कम्पित करनेवाले **तान्**=उन **शत्रून्**=शत्रुओं को **निःशृणीहि**=पूर्णरूप से हिंसित कर दीजिए। ये शत्रु हमें हिंसित करनेवाले न हों। २. इन शत्रुओं से हिंसित न होकर मैं **वृत्रघ्नः**=वासनाओं को विनष्ट करनेवाले **इन्द्रेण**=परमैश्वर्यशाली प्रभु से, **मित्रेण**=रोगों व मृत्यु से (पाप से) बचानेवाले प्रभु से **च**=और **वरुणेन**=द्वेषनिवारक प्रभु से **मेदी**=स्नेहवाला होऊँ। प्रभु से स्नेहवाला बनने का अभिप्राय यही है कि मैं भी 'इन्द्र, मित्र और वरुण' बनूँ।

भावार्थ—प्रभु मेरे पीड़ाजनक शत्रुओं को विनष्ट करें। मैं 'इन्द्र, मित्र, वरुण' नामक प्रभु

से स्नेहवाला होता हुआ जितेन्द्रिय, सबके प्रति स्नेहवाला व निर्द्वेष बनूँ।

ऋषिः—**जगद्बीजं पुरुषः** ॥ देवता—**अश्वत्थः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ज्ञान-सूर्योदय

यथाश्वत्थ निरभनोऽन्तर्महत्यर्णवे।
एवा तान्त्सर्वान्निर्भङ्ग्धि यानहं द्वेष्मि ये च माम्॥ ३ ॥

१. हे **अश्वत्थ**=कर्मशील पुरुषो में स्थित होनेवाले प्रभो! **यथा**=जिस प्रकार **महति अर्णवे अन्तः**=इस महान् अन्तरिक्ष-समुद्र में आप **निरभनः**=(भञ्जो आमर्दने) सूर्य के आवरणभूत मेघों का विदारण करते हैं, **एव**=उसी प्रकार **तान् सर्वान्**=उन सबको भी **निर्भङ्ग्धि**=विनष्ट कर दीजिए, **यान्**=जिन्हें कि **अहम्**=मैं **द्वेष्मि**=अप्रीतिकर समझता हूँ **च**=और **ये**=जो **माम्**=मुझे द्वेष से देखते हैं। २. जैसे प्रभु इस महान् अन्तरिक्ष में मेघों का विदारण करते हैं, इसीप्रकार मेरे हृदयान्तरिक्ष में वे वासनारूप मेघों का विदारण करें।

भावार्थ—प्रभु वासनाओं का विदारण करके मेरे जीवन में ज्ञानसूर्य को उदित करें।

ऋषिः—**जगद्बीजं पुरुषः** ॥ देवता—**अश्वत्थः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सपत्न-पराभव

यः सहमानश्चरसि सासहानइव ऋषभः। तेनाश्वत्थ त्वया वयं सपत्नान्त्सहिषीमहि॥ ४ ॥

१. हे परमात्मन्! **यः**=जो आप **सहमानः**=शत्रुओं का पराभव करते हुए **चरसि**=गति करते हैं, वे आप **सासहानः**=विरोधियों का खूब ही पराभव करते हुए **ऋषभः इव**=ऋषभ के समान हैं। जैसे एक शक्तिशाली ऋषभ मार्ग में आये हुए विघ्नों को परे हटाता हुआ आगे बढ़ता है। उसी प्रकार प्रभु उपासक के विरोधियों को विनष्ट करते हुए उसे आगे बढ़ाते हैं। २. हे **अश्वत्थ**=कर्मशील पुरुषों में स्थित होनेवाले प्रभो! **तेन त्वया**=उस आपके द्वारा—आपको साथी बनाकर **वयम्**=हम **सपत्नान्**=रोग व वासनारूप शत्रुओं को **सहिषीमहि**=पराभूत करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु को साथी बनाकर हम काम-क्रोध आदि शत्रुओं का पराभव करनेवाले हों।

ऋषिः—**जगद्बीजं पुरुषः** ॥ देवता—**अश्वत्थः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शत्रुओं का निर्ऋति पाशों में बन्धन

सिनात्वेनान्निर्ऋतिर्मृत्योः पाशैरमोक्यैः। अश्वत्थ शत्रून्मामकान्यानहं द्वेष्मि ये च माम्॥ ५ ॥

१. हे **अश्वत्थ**=कर्मशीलों में स्थित होनेवाले प्रभो! **एनान्**=इन **मामकान् शत्रून्**=मेरे शत्रुओं को **यान्**=जिन्हें **अहम्**=मैं **द्वेष्मि**=अप्रिय समझता हूँ, **च**=और **ये**=जो **माम्**=मुझे अप्रिय मानते हैं, **निर्ऋतिः**=अलक्ष्मी व पाप-देवता **मृत्योः**=मृत्यु के **अमोक्यैः पाशैः**=न छुड़ाये जा सकने योग्य बन्धनों से **सिनातु**=बाँध ले। २. मेरे शत्रु पाप-देवता द्वारा मृत्यु के पाशों में बद्ध होकर मेरा शासन करने में असमर्थ हो जाएँ।

भावार्थ—मेरे शत्रु पाप-देवता द्वारा मृत्यु के पाशों में बाँधे जाएँ। मैं उनका शिकार न बनूँ।

ऋषिः—**जगद्बीजं पुरुषः** ॥ देवता—**अश्वत्थः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रभु-प्राप्ति व विनीतता

यथाश्वत्थ वानस्पत्यानारोहन्कृणुषेऽधरान्।
एवा मे शत्रोर्मूर्धानं विष्वग्भिन्द्धि सहस्व च॥ ६ ॥

१. हे **अश्वत्थ**=कर्मशील पुरुषों में स्थित होनेवाले प्रभो! **यथा**=जैसे आप **वानस्पत्यान्**=

वनस्पति के सेवन से सात्त्विक बुद्धिवाले पुरुषों को **अरोहन्**=प्राप्त होते हुए (to reach) उन्हें **अधरान्**=विनीत **कृणुषे**=करते हैं—बनाते हैं, **एवं**=इसीप्रकार **मे**=मेरे भी **शत्रोः**=अभिमान आदि शत्रुओं के **मूर्धानम्**=मस्तक को **विष्वग् भिन्धि**=सब ओर से विदीर्ण कीजिए **च**=और **सहस्व**=उन शत्रुओं को पराभूत कीजिए। २. जिसे भी प्रभु प्राप्त होते हैं, वह अभिमानशून्य और विनीत बनता है। मैं भी प्रभु के अनुग्रह से निरभिमान बनूँ।

भावार्थ—प्रभु मुझे प्राप्त हों। प्रभु-प्राप्ति के अनुपात में मैं विनीत बनता चलूँ।

ऋषिः—**जगद्बीजं पुरुषः** ॥ देवता—**अश्वत्थः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शत्रुओं का सदा के लिए संहार

ते ∫ऽधराञ्चः प्र प्लवन्तां छिन्ना नौरिव बन्धनात्।
न वैबाधप्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्तनम्॥ ७॥

१. **बन्धनात्**=बन्धन-रज्जु से **छिन्ना नौः इव**=छिन्न हुई-हुई नौका के समान **ते**=वे मेरे शत्रु **अधराञ्चः**=नीचे की ओर गति करनेवाले होते हुए **प्र प्लवन्ताम्**=बहते जाएँ। मेरे शत्रु समुद्र में डूब मरें। प्रभु उपासन से मेरा शत्रुओं के द्वारा किया बन्धन छिन्न होता जाए—ये शत्रु मुझसे दूर होते जाएँ। २. **वैबाधप्रमुत्तानाम्**=विशेषरूप से पीड़ित करनेवाले इन्द्र से परे धकेले हुए इन राक्षसी-भावों का **पुनः**=फिर **निवर्तनम्**=मेरे समीप लौटकर आना **न अस्ति**=नहीं होता।

भावार्थ—मैं प्रभु का उपासक बनूँ। वे मेरे शत्रुओं को छिन्न कर देंगे।

ऋषिः—**जगद्बीजं पुरुषः** ॥ देवता—**अश्वत्थः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मनसा चित्तेन ब्रह्मणा वृक्षस्य शाखया

प्रैणान्नुदे मनसा प्र चित्तेनोत ब्रह्मणा। प्रैणान्वृक्षस्य शाखयाश्वत्थस्य नुदामहे॥ ८॥

१. **एनान्**=इन शत्रुओं को मैं **मनसा**=मनन के द्वारा—मन से **प्रणुदे**=परे धकेल देता हूँ। जितना-जितना मन में दृढ़ निश्चय करेंगे, उतना-उतना ही इन शत्रुओं का संहार कर सकेंगे (Determination-determinus-संकल्प, सम्यक् सामर्थ्य)। **चित्तेन**=संज्ञान के द्वारा—'मैं कौन हूँ' इस बात को न भूलने के द्वारा **प्र**=मैं कामादि शत्रुओं को परे धकेलता हूँ। 'मैं आत्मा हूँ', परमात्मा का सखा हूँ। यह स्मरण मुझे वासनाओं में फँसने से बचाता है। **उत**=और **ब्रह्मणा**=किसी महान् लक्ष्य के द्वारा (ब्रह्म=great) व वेदज्ञान के द्वारा—वेदाध्ययन में प्रवृत्ति के द्वारा इन शत्रुओं को दूर करता हूँ। ऊँचा लक्ष्य होने पर मनुष्य इनका शिकार नहीं होता। २. हम **एनान्**=इन शत्रुओं को **अश्वत्थस्य**=कर्मशील मनुष्यों में स्थित होनेवाले **वृक्षस्य**=(वृश्चति) बन्धनों का छेदन करनेवाले प्रभु के **शाखया**=(खे शेते) हृदयाकाश में निवास के द्वारा—प्रभु को हृदयासन पर बिठाकर **प्रनुदामहे**=खूब दूर धकेलते हैं। प्रभु के हृदय में स्थित होने पर वहाँ काम आदि का होना सम्भव नहीं है।

भावार्थ—दृढ़ निश्चय, संज्ञान, महान् लक्ष्य व हृदय में प्रभु-स्थिति के द्वारा हम शत्रुओं को परे धकेल दें।

विशेष—अगले सूक्त में 'क्षेत्रिय रोगों की चिकित्सा' का उल्लेख है। समुचित औषध-प्रयोग द्वारा रोगों को भून डालनेवाला 'भृगु' सूक्त का ऋषि है। रोग-विनाश द्वारा अङ्गों में रस का सञ्चार करता हुआ यह 'अङ्गिराः' है।

७. [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—हरिणः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

मृगशृङ्ग से क्षेत्रिय रोग-निराकरण

हरिणस्य रघुष्यदोऽधि शीर्षणि भेषजम्।
स क्षेत्रियं विषाणया विषूचीनमनीनशत्॥ १॥

१. **रघुष्यदः**=तीव्र गतिवाले **हरिणस्य**=हरिण के **शीर्षणि अधि**=सिर पर **भेषजम्**=रोग-निवारक शृङ्गरूप औषध है। २. **सः**=वह हरिण **विषाणया**=अपने शृङ्ग से **क्षेत्रियम्**=पर क्षेत्र में चिकित्स्य माता-पिता से आये हुए क्षय, कुष्ठ, अपस्मार आदि रोगों को **विषूचीनम्**=सब ओर से **अनीनशत्**=नष्ट कर दे। 'वैद्यक शब्दसिन्धु' में लिखा है—'**मृगशृङ्गं भस्म हृद्रोगे वृक्कशूलादौ प्रशस्तम्**', अर्थात् मृगशृङ्ग की भस्म हृद्रोग व वृक्कशूल आदि में उपयोगी है।

भावार्थ—तीव्र गतिवाले मृग के सींग की ओषधि से क्षेत्रिय रोगों को दूर किया जाए।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—हरिणः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

हृद्रोग का अन्त

अनु त्वा हरिणो वृषा पद्भिश्चतुर्भिरक्रमीत्॥
विषाणे वि ष्य गुष्पितं यदस्य क्षेत्रियं हृदि॥ २॥

१. हे **विषाणे**=मृगशृङ्ग! **त्वा अनु**=तेरे पीछे **वृषा हरिणः**=शक्तिशाली युवा हरिण **चतुर्भिः पद्भिः**=अपने चारों पाँवों से **अक्रमीत्**=इस क्षेत्रिय रोग पर आक्रमण करता है। मानो यह हरिण चारों पाँवों से उसे रौंद डालता है। २. हे शृङ्ग! तू **अस्य**=इस रोगी के **हृदि**=हृदय में **यत्**=जो **गुष्पितम्**=गुप्तरूप से ग्रथित-सा हुआ-हुआ **क्षेत्रियम्**=क्षेत्रिय रोग है, उसे **विष्य**=समाप्त कर दे।

भावार्थ—मृगशृङ्ग हृद्रोग को दूर करता है, मानो हरिण उसे चारों पैरों से रौंद-सा डालता है।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—हरिणः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

चतुष्पक्ष छदि के समान

अदो यदवरोचते चतुष्पक्षमिव च्छदिः।
तेना ते सर्वं क्षेत्रियमङ्गेभ्यो नाशयामसि॥ ३॥

१. **अदः**=वह **यत्**=जो **चतुष्पक्षम् छदिः इव**=चारपक्षोंवाली छत के समान यह सींग **अवरोचते**=चमकता है, **तेन**=तेरे **सर्वं क्षेत्रियम्**=सब क्षेत्रिय रोगों को **अङ्गेभ्यः**=सब अङ्गों से **आनाशयामसि**=सर्वथा नष्ट करते हैं। २. बारहसिंगा के सिर पर सींग चतुष्पक्ष छदि के समान प्रतीत होते हैं। इन सींगों के औषध-प्रयोग द्वारा सब क्षेत्रियरोग नष्ट किये जा सकते हैं।

भावार्थ—बारहसिंगे का सींग सब अङ्गों से क्षेत्रियरोगों को दूर करने के लिए उपयुक्त होता है।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—विचृतौ तारके ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

विचृतौ नाम तारके

अमू ये दिवि सुभगे विचृतौ नाम तारके।
वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम्॥ ४॥

१. **अमू**=वे **ये**=जो **दिवि**=द्युलोक में **सुभगे**=उत्तम श्री को प्राप्त करानेवाले **विचृतौ नाम**=रोगों का छेदन करनेवाले (to kill), दीप्त करनेवाले (to light) दीप्त होनेवाले 'विचृतौ'

नामवाले **तारके**=सूर्य-चन्द्ररूप तारे हैं, वे **क्षेत्रियस्य**=क्षेत्रिय रोग के **अधमम्**=निचले शरीर-भाग में होनेवाले व **उत्तमम्**=ऊर्ध्व-भाग में होनेवाले **पाशम्**=पाश को **विमुञ्चताम्**=छुड़ाएँ। २. सूर्य और चन्द्र की किरणों को शरीर पर ठीक रूप से लेने से क्षेत्रिय रोग नष्ट हो जाते हैं, अतः जहाँ तक सम्भव हो खुले में रहना ही ठीक है।

भावार्थ—सूर्य व चन्द्र के सम्पर्क में जीवन बिताने से क्षेत्रिय रोगों का दूर होना सम्भव है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आपः

आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः।
आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात्॥ ५॥

१. **आपः**=जल **इत् वा उ**=निश्चय से **भेषजीः**=औषध हैं। **आपः**=ये जल **अमीवचतनीः**=रोगों के नाशक हैं। **आपः**=जल **विश्वस्य भेषजीः**=सब रोगों के औषध हैं। **ताः**=वे जल **त्वा**=तुझे **क्षेत्रियात्**=क्षेत्रिय रोगों से **मुञ्चन्तु**=छुड़ाएँ।

भावार्थ—जल सर्वौषधमय हैं। इनके ठीक प्रयोग से सब रोग दूर हो जाते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

विक्रियमाण आसुति से क्षेत्रिय रोग

यदासुतेः क्रियमाणायाः क्षेत्रियं त्वा व्यानशे।
वेदाहं तस्य भेषजं क्षेत्रियं नाशयामि त्वत्॥ ६॥

१. वैद्य रोगी से कहता है कि **क्रियमाणायाः**=(विक्रियमाणायाः) कुछ विकृत-से हो जानेवाले **आसुतेः**=अन्न-रस से **यत्**=जो **क्षेत्रियम्**=क्षेत्रिय रोग **त्वा व्यानशे**=तुझे व्याप्त हो गया है, **अहम्**=मैं **तस्य**=उसके **भेषजम्**=औषध को **वेद**=जानता हूँ और अभी उस **क्षेत्रियम्**=क्षेत्रिय रोग को **त्वत् नाशयामि**=तेरे शरीर से पृथक् कर देता हूँ—इस रोग को अभी दूर किये देता हूँ। २. अन्न-रसों के विकार से ही क्षेत्रिय रोग उत्पन्न होते हैं। उनके उत्पन्न हो जाने पर वैद्य रोगी को आश्वासन देते हुए कहता है कि तू घबरा नहीं, मैं तेरे रोग को अभी दूर किये देता हूँ।

भावार्थ—विकृत अन्न-रस क्षेत्रिय रोगों को उत्पन्न कर देता है। समझदार वैद्य रोगी को आश्वासन देता हुआ समुचित औषध-प्रयोग से उसे स्वस्थ कर लेता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रातः स्नानादि से रोग-नाश

अपवासे नक्षत्राणामपवास उषसामुत। अपास्मत्सर्वं दुर्भूतमप क्षेत्रियमुच्छतु॥ ७॥

१. **नक्षत्राणाम् अपवासे**=नक्षत्रों के अपगमनकाल में, अर्थात् उषा के आरम्भ में **उत**=अथवा **उषसाम्**=प्रतिदिन उषाओं के **अपवासे**=अपगमन के समय, अर्थात् प्रातःकाल, उस समय किये जानेवाले स्नानादि के द्वारा **सर्वम्**=सारा **दुर्भूतम्**=रोग का निदानभूत दुष्कृत **अस्मत्**=हमसे **अप उच्छतु**=दूर हो जाए और प्रतिदिन इसप्रकार करने से **क्षेत्रियम्**=कुष्ठ, अपस्मार आदि क्षेत्रिय रोग भी **अप**=हमसे दूर हो जाए।

भावार्थ—हम तारों के अस्त होते ही बहुत सवेरे-सवेरे स्नान आदि क्रियाओं को सम्पन्न करने के द्वारा 'दुर्भूत' को दूर करते हुए 'क्षेत्रिय' रोगों को भी दूर करने में समर्थ हों।

विशेष—अगले सूक्त का ऋषि अथर्वा है—न डाँवाडोल होनेवाला (न थर्वति) अथवा

'अथ अर्वाङ्' अपने अन्दर देखनेवाला और परिणामतः औरों के दोषों को न देखकर अपने दोषों को दूर करनेवाला। यह प्रार्थना करता है कि—

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मित्रादयो विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मित्र, वरुण, वायु, अग्नि की अनुकूलता

आ यांतु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेशयन्पृथिवीमुस्त्रियाभिः।
अथास्मभ्यं वरुणो वायुरग्निर्बृहद्राष्ट्रं संवेश्यं दधातु॥ १॥

१. **मित्रः**=रोगों से रक्षा करनेवाला यह सूर्य **आयातु**=हमें प्राप्त हो। **ऋतुभिः**=वसन्त आदि ऋतुओं के क्रमशः आने से **कल्पमानः**=हमारी आयु को दीर्घ करने में समर्थ होता हुआ तथा **उस्त्रियाभिः**=अपनी किरणों से **पृथिवीम्**=इस विस्तीर्ण भूमि को **संवेशयन्**=व्याप्त करता हुआ यह सूर्य आये। २. **अथ**=अब **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **वरुणः**=जलों का अधिष्ठातृदेव वरुण, **वायुः**=अन्तरिक्षस्थ देवों का मुखिया वायु और **अग्निः**=पृथिवीस्थ देवों का अग्रणी यह अग्नि **संवेश्यम्**=सम्यक् अवस्थान के योग्य **बृहत्**=विशाल **राष्ट्रम्**=राष्ट्र को **दधातु**=धारण करे। सब देवों की अनुकूलता से यह राष्ट्र आधिदैविक आपत्तियों से शून्य हो।

भावार्थ—हमारे राष्ट्र में सूर्य की किरणें पृथिवी को व्याप्त करती हुई सब ऋतुओं को ठीक से लानेवाली हों। यहाँ वरुण, वायु व अग्निदेवों की अनुकूलता हो और हमारा राष्ट्र आधिदैविक आपत्तियों से शून्य हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मित्रादयो विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'धाता, राति, सविता, इन्द्र, त्वष्टा' तथा 'शूरपुत्रा अदिति'

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तामिन्द्रस्त्वष्टा प्रति हर्यन्तु मे वचः।
हुवे देवीमदितिं शूरपुत्रां सजातानां मध्यमेष्ठा यथासानि॥ २॥

१. **धाता**=धारण करनेवाला, **रातिः**=दानशील, **सविता**=निर्माण करनेवाला **मे इदं वचः**=मेरे इस वचन को **जुषन्ताम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करें। **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला, **त्वष्टा**=क्रियाशील, सदा कार्यों में लगे रहनेवाला—ये सब देव मेरे वचन को **प्रतिहर्यन्तु**=चाहें। मेरे वचन उन्हें प्रिय हों। २. **देवीम्**=दिव्य गुणोंवाली **शूरपुत्राम्**=शूरों को जन्म देनेवाली **अदितिम्**=अदीना देवमाता को **हुवे**=पुकारता हूँ। ये सब ऐसा प्रयत्न करें कि **यथा**=जिससे मैं **सजातानाम्**=समानजातिवाले लोगों में **मध्यमेष्ठाः**=मध्यस्थ **असानि**=होऊँ। ये सजात मुझे अपना मध्यस्थ जानें। इनमें श्रेष्ठ बनकर मैं इनके विवादों में मध्यस्थ बन पाऊँ। ३. यदि किसी राष्ट्र में लोग 'धाता, राति, सविता, इन्द्र व त्वष्टा' हों और राष्ट्र की माताएँ 'शूरपुत्रा व आदिति' हों तो राष्ट्र की इस उत्तम स्थिति के कारण राष्ट्रपति का सजात लोगों में आदर स्वाभाविक है। राजा चाहता है कि सब प्रजावर्ग धाता आदि के रूप में होता हुआ राष्ट्रपति के इस वचन का आदर करे कि 'मैं सजातों में श्रेष्ठ बन पाऊँ।'

भावार्थ—राजा चाहता है कि उसकी प्रजा के लोग 'धारणात्मक कर्मों में प्रवृत्त, दानशील, निर्माण में लगे हुए, काम-क्रोध आदि के शिकार न होते हुए सदा क्रियाशील हों। राष्ट्र की माताएँ देववृत्तिवाली व शूर सन्तानों को जन्म देनेवाली हों, जिससे राष्ट्र की ऐसी उत्तम स्थिति हो कि इस राष्ट्र का राष्ट्रपति सजात लोगों में श्रेष्ठ गिना जाए।'

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मित्रादयो विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'उत्तरत्व' प्राप्ति के साधन

हुवे सोमं सवितारं नमोभिर्विश्वानादित्याँ अहमुत्तरत्वे।
अयमग्निर्दीदायद्दीर्घमेव सजातैरिद्धोऽप्रतिब्रुवद्भिः ॥ ३ ॥

१. राजा कहता है कि **अहम्**=मैं **उत्तरत्वे**=श्रेष्ठता के निमित्त **सवितारम्**=संसार के उत्पादक व सबके प्रेरक **सोमम्**=शान्त प्रभु को **नमोभिः**=नमस्कारों के द्वारा **हुवे**=पुकारता हूँ तथा **विश्वान्**=सब **आदित्यान्**=आदित्यों को—अच्छाइयों का आदान करनेवालों को पुकारता हूँ। 'सोम, सविता व आदित्यों का आराधन करता हुआ मैं भी शान्त, निर्माण के कार्यों में लगा हुआ व अच्छाइयों का आदान करनेवाला बनूँ। यही तो श्रेष्ठता की प्राप्ति का मार्ग है। २. **अयम् अग्निः**=यह अग्नि **दीर्घम् एव**=दीर्घकाल तक ही **दीदायत्**=दीप्त हो। राष्ट्र में प्रत्येक घर में अग्निहोत्र हो, कोई भी व्यक्ति अनाहिताग्नि न हो। मैं भी **अप्रतिब्रुवद्भिः**=कभी विरोध में न बोलते हुए **सजातैः**=सजात लोगों से **इद्धः**=दीप्त किया जाऊँ, सब सजात लोगों को अपने साथ पाकर चमकू उठूँ।

भावार्थ—राजा चाहता है कि प्रभु को 'सोम, सविता व आदित्य' के रूप में स्मरण करता हुआ मैं 'शान्त, निर्माता व अच्छाइयों का ग्रहण करनेवाला' बनूँ। राष्ट्र में प्रत्येक घर में अग्निहोत्र की अग्नि चमके। उसी प्रकार अप्रतिकूलतावाले सजात लोगों में मैं भी चमकूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मित्रादयो विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**विराड्बृहतीगर्भाचतुष्पदात्रिष्टुप्** ॥

उत्तम घर

इहेदसाथ न परो गमाथेर्यो गोपाः पुष्टपतिर्व आजत्।
अस्मै कामायोप कामिनीर्विश्वे वो देवा उपसंयन्तु ॥ ४ ॥

१. राजा राष्ट्र में सब गृहपत्नियों को प्रेरणा देता है कि तुम **इह इत् असाथ**=यहाँ घर पर ही रहो, **न परः गमाथ**=घर से दूर न जाओ। यहाँ घरों में **इर्यः**=उत्तम अन्नोंवाला (इरा=अन्नम्), **गोपाः**=गौओं का पालन करनेवाला, **पुष्टपतिः**=पोषण का स्वामी **वः**=तुम्हें **आजत्**=प्रेरित करता है, अर्थात् तुम्हारे पति 'इर्य, गोपा व पुष्टपति' हों। तुम ऐसे घर में ही बनी रहो, घर को छोड़कर जाने का कभी स्वप्न भी न लो। २. तुम **अस्मै कामाय**=इस तुम्हारी कामनावाले (कामयमानाय) पति के **उप**=समीप ही **कामिनीः**=पति की कामनावाली होओ। यहाँ घर में सदाचरण से जीवन यापन करती हुई **वः**=तुम्हें **विश्वेदेवाः**=सब दिव्य गुण **उपसंयन्तु**=प्राप्त हों और देववृत्ति के पुरुष ही तुम्हें अतिथिरूपेण प्राप्त हों।

भावार्थ—राजा चाहता है कि राष्ट्र में पत्नियाँ घरों को छोड़कर जाने का स्वप्न भी न लें। प्रियपति के प्रति प्रेमवाली हों। पति घर में अन्न की कमी न होने दें, गौओं को अवश्य रक्खें, घर में सभी के पोषण का ध्यान करें। घरों में देवृत्ति के पुरुष ही अतिथिरूपेण प्राप्त हों। सब घरों की उत्तमता पर ही राष्ट्र की उत्तमता निर्भर होती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अविमनस्कता

सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि। अमी ये विव्रता स्थन तान्वः सं नमयामसि ॥ ५ ॥

१. **वः**=तुम्हारे **मनांसि**=मनों को **सम् नमामसि**=एक विषय की ओर झुकाववाला व अविसंवादि करते हैं। **व्रता**=तुम्हारे व्रतों को भी **सम्**=अविरोधी करते हैं। इसीप्रकार **आकूतीः**=तुम्हारे

संकल्पों को भी **सम्**=सन्नत करते हैं। २. **अमी**=वे **ये**=जो आप किन्हीं कारणों से **विव्रतास्थन**=विरुद्ध कर्मा हो गये, **तान् वः**=उन आपको **संनमयामसि**=राष्ट्र की उन्नतिरूप एक कार्य में लगे हुए व विरोधशून्य करते हैं।

भावार्थ—राष्ट्र के सब लोग अविरुद्धभाववाले होकर समान संकल्पवाले होते हुए राष्ट्रोन्नति में लगे रहें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मनः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

राजा व प्रजा की अनुकूलता

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ॥ ६ ॥

१. राजा प्रजाओं से कहता है कि **अहम्**=मैं **मनसा**=अपने मन के द्वारा **मनांसि**=तुम्हारे मनों को **गृभ्णामि**=ग्रहण करता हूँ—अपने वश में करता हूँ। तुम सब **मम**=मेरे **चित्तम् अनु**=चित्त के अनुकूल **चित्तेभिः**=चित्तों से **एत**=गतिवाले होओ। २. **मम वशेषु**=मुझसे चाहे गये अर्थों में **वः**=तुम्हारे **हृदयानि**=हृदयों को **कृणोमि**=करता हूँ। **मम**=मेरे **यातम् अनु वर्त्मानः**=गमन के अनुकूल मार्गवाले **एत**=तुम गति करो—मेरे मार्ग के पीछे चलनेवाले होओ।

भावार्थ—राजा को प्रजा की पूर्ण अनुकूलता प्राप्त हो तभी राष्ट्र विजयी व उन्नत होता है।

विशेष—इस उत्तम राष्ट्र में ही 'वामदेव'=सुन्दर दिव्य गुणोंवाले पुरुष का जन्म होता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ, विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विघ्नाभाव

कर्शफस्य विशफस्य द्यौष्पिता पृथिवी माता। यथाभिचक्र देवास्तथाप कृणुता पुनः ॥ १ ॥

१. **कर्शफस्य**=(कृशशफस्य श्वापदस्य व्याघ्रादेः) पतले शफों-(Hoof)-वाले व्याघ्रादि पशुओं का तथा **विशफस्य**=(विस्पष्टशफस्य क्रूरगोमहिष्यादेः) स्पष्ट शफोंवाले क्रूर जंगली भैंसे आदि का भी **द्यौः**=द्युलोक **पिता**=पिता है तथा **पृथिवी**=पृथिवी **माता**=माता है। द्युलोक व पृथिवीलोक ही सब प्राणियों को जन्म देते हैं। पृथिवी व द्युलोक के अन्तर्गत सब देवों (प्राकृतिक शक्तियों) ने ही इन्हें भी जन्म दिया है। २. हे **देवाः**=देवो! **यथा**=जैसे आपने **अभिचक्र**=इन कर्शफ, विशफ आदि को हमारे सामने प्राप्त कराया है। (अस्मदभिमुखान् कृतवन्तः) **तथा**=उसी प्रकार इन्हें **पुनः**=फिर से हमसे **अपकृणुत**=दूर करो।

भावार्थ—द्युलोक व पृथिवीलोक हमारे भी माता-पिता हैं। इन्होंने ही व्याघ्र आदि व क्रूर भैंसे आदि को जन्म दिया है। वे इन क्रूर पशुओं को हमसे दूर रक्खें।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ, विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'ईर्ष्या व अविचारशीलता' से दूर

अश्रेष्माणो अधारयन्तथा तन्मनुना कृतम्।
कृणोमि वध्रि विष्कन्धं मुष्काबर्हो गवामिव ॥ २ ॥

१. **अश्रेष्माणः**=(श्रिष् श्रेषति to burn) ईर्ष्या की अग्नि में न जलनेवाले पुरुष ही **अधारयन्**=इस जगत् का धारण करते हैं। ईर्ष्या की अग्नि में जलनेवाला पुरुष अपनी सारी शक्ति

को अपने उत्थान में लगाने की बजाए दूसरों के विनाश में लगता है **तथा**=उसी प्रकार **तत्**=इस जगत् का धारण **मनुना कृतम्**=विचारशील पुरुष के द्वारा किया गया है। ईर्ष्याशून्य व विचारशील व्यक्ति ही जगत् का धारण करते हैं। २. ईर्ष्याशून्य व विचारशील बनकर उन्नतिपथ पर चलता हुआ मैं **किष्कन्धम्**=मार्ग में आनेवाले विघ्नों को इसप्रकार **बध्रि कृणोमि**=बध्रिया (निर्बल) कर देता हूँ, **इव**=जैसेकि **गवाम्**=बैलों के **मुष्काबर्हः**=अण्डकोशों को तोड़नेवाला उन पुं-गवों को निर्बल कर देता है—निर्वीर्य कर देता है।

भावार्थ—ईर्ष्या और अविचारशीलता ही हमें आगे नहीं बढ़ने देतीं। इनसे दूर होकर मैं उन्नति-पथ में आनेवाले विघ्नों को निर्वीर्य कर देता हूँ।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ, विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'श्रवस्यु-शुष्म-काबव' का वध्रीकरण

पिशङ्गे सूत्रे खृगलं तदा बध्नन्ति वेधसः।
श्रवस्युं शुष्मं काबवं वध्रिं कृण्वन्तु बन्धुरः ॥ ३ ॥

१. प्रभु इस ब्राह्मण्ड के एक-एक रूप में (पिश=form में) प्रविष्ट हो रहे हैं **'रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव'**। प्रत्येक पदार्थ उस प्रभुरूप महान् सूत्र में ओत-प्रोत है **'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव'**। उस **पिशङ्गे सूत्रे**=प्रत्येक पदार्थ में सूत्ररूप में गये हुए उस महान् सूत्र (सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात्०) में **खृगलम्**=(तनुत्राणम्) कवच हैं—प्रभु एक महान् कवच हैं (ब्रह्म वर्म ममान्तरम्)। **वेधसः**=ज्ञानी पुरुष **तत्**=उस महान् कवच को **आबध्नन्ति**=बाँधते हैं। इस कवच से सुरक्षित होने के कारण ही ये काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं के शरों से विद्ध नहीं होते। २. इस कवच को **बन्धुरः**=बाँधनेवाले व्यक्ति **श्रवस्युम्**=यश को अपने साथ जोड़ने की कामना को—लोकैषणा को, **शुष्मम्**=धन की कामना को, जोकि दूसरों के धन के प्रति ईर्ष्या के कारण हमारा शोषण-सा कर देती है, उस वित्तैषणा को, **काबवम्**=(कवति to colour) जीवन को अनुरञ्जित करनेवाली—अनुरागयुक्त करनेवाली पुत्रैषणा को **वध्रिम्**=बन्धनयुक्त (नियन्त्रित) व निर्बल **कृण्वन्तु**=कर दें। वस्तुतः प्रभु को कवचरूप में धारण करनेवाले इन ऐषणाओं से नियन्त्रित नहीं होते। प्रभु-प्राप्ति की तुलना में इन एषणाओं का आकर्षण समाप्त ही हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु हमारी लोकैषणा, वित्तैषणा और पुत्रैषणा को दूर करें।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ, विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**चतुष्पान्निचृद्बृहती** ॥

असुरमाया व कामदूषण

येना श्रवस्यवश्चरथ देवाइवासुरमायया।
शुनां कपिरिव दूषणो बन्धुरा काबवस्य च ॥ ४ ॥

१. हे **श्रवस्यवः**=ज्ञान की कामनावाले उपासको! **येन**=चूँकि तुम **असुरमायया**=प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाले प्रभु की प्रज्ञा (माया=प्रज्ञा—नि० ३.९) से **चरथ**=व्यवहार करते हो—संसार में गति करते हो, अतः **देवाः इव**=देवतुल्य बन जाते हो। २. **च**=और यह **असुरमाया**=प्रभु-प्रज्ञा तुम्हारे जीवनों में **शुनाम्**=कुत्तों को **दूषणः**=दूषित करनेवाले **कपिः इव**=वानर की भाँति **काबवस्य**=जीवन को अनुरागयुक्त करनेवाली (कवति to colour) कामवासना को **बन्धुरा**=बाँधनेवाली—नियन्त्रित करनेवाली है। असुरमाया कामवासना को उसी प्रकार दूषित कर देती है, जैसेकि वानर श्वा को।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रज्ञान को प्राप्त करके अनुराग (काम) की वासना से ऊपर उठें।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ, विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शपथेभिः उत्

दुष्ट्यै हि त्वा भन्त्स्यामि दूषयिष्यामि काबवम्।
उदाशवो रथाइव शपथेभिः सरिष्यथ॥ ५॥

१. हे प्रभो! **दुष्ट्यै**=वासनाओं को दूषित करने के लिए **हि**=निश्चय से **त्वा**=आपको **भन्त्स्यामि**=अपने में बाँधूँगा—आपको हृदय में स्थिर करने का प्रयत्न करूँगा। इसप्रकार **काबवम्**=संसार के प्रति अनुराग की वृत्ति को **दूषयिष्यामि**=दूषित करूँगा—इसे अपने से दूर करनेवाला बनूँगा। २. प्रभु कहते हैं कि ऐसा करने पर **आशवः**=शीघ्रगामी अश्वोंवाले **रथाः इव**=रथों की भाँति तुम **शपथेभिः**=आक्रोशों से **उत् सरिष्यथ**=बाहर गतिवाले होओगे—तुम्हारा जीवन आक्रोशों से ऊपर उठ जाएगा। '**आक्रुष्टः कुशलं वदेत्**' का पाठ पढ़कर तुम सदा आक्रोश से दूर रहोगे।

भावार्थ—उस प्रभुरूप कवच को पहनकर हम संसार के अनुराग से ऊपर उठें, अनासक्तभाव से कर्त्तव्यकर्मों को करते हुए हम लोग आक्रोशों से ऊपर उठें।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ, विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

एकशतं विष्कन्धानि

एकशतं विष्कन्धानि विष्ठिता पृथिवीमनु।
तेषां त्वामग्र उज्जहरुर्मणिं विष्कन्धदूषणम्॥ ६॥

१. **एकशतम्**=एक और सौ, अर्थात् एक सौ एक **विष्कन्धानि**=विश्वभूत रोग **पृथिवीं अनु विष्ठिता**=इस शरीररूप पृथिवी में रह रहे हैं। ये रोग ही वे विघ्न हैं जो हमें उन्नति के मार्ग में आगे बढ़ने से रोकते हैं। २. **तेषां अग्रे**=उनके सामने, अर्थात् उनपर आक्रमण करने के लिए **देवाः**=देववृत्ति के ज्ञानी पुरुष **विष्कन्धदूषणम्**=रोगरूप इन सब विघ्नों को दूषित करनेवाली **त्वां मणिम्**=तुझ मणि को—वीर्यरूप मणि को **उत् जहरुः**=शरीर में ऊर्ध्व गतिवाला करते हैं। शरीर में व्याप्त हुई-हुई यह मणि सब रोगों को विशेषरूप से कम्पित करनेवाली होती है।

भावार्थ—शरीर में वीर्य की ऊर्ध्वगति होने पर रोगरूप विघ्न कम्पित होकर दूर हो जाते हैं और उन्नति-पथ पर आगे बढ़ना सम्भव होता है।

विशेष—वीर्य की ऊर्ध्वगति करनेवाला यह पुरुष 'अथर्वा' बनता है। यह दिन को बड़ी सुन्दरता से बिताता है। यही विषय अगले सूक्त में कहा गया है—

१०. [दशमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अष्टका** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उषारूप धेनु

प्रथमा ह व्यु्वास सा धेनुरभवद्यमे। सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्॥ १॥

१. दिन आठ अष्टकों में बटा है—आठ प्रहर का दिन होता है। उनमें उषा से प्रथम अष्टक प्रारम्भ होता है—यह एकाष्टका है—मुख्य (प्रथम) अष्टकवाली। यह **प्रथमा**=दिन के प्रारम्भ में आनेवाली उषा **ह**=निश्चय से **वि उवास**=अन्धकार को दूर (विवासित) करती है। **सा**=वह उषा **यमे**=संयत जीवनवाले पुरुष के विषय में **धेनुः अभवत्**=ज्ञानदुग्ध देनेवाली होती है। २.

सा=वह उषा **नः**=हमारे लिए **पयस्वती**=आप्यायन व वर्धन का कारण बनती हुई **दुहाम्**=हममें ज्ञानदुग्ध का प्रपूरण करे। **उत्तराम् उत्तराम् समाम्**=अगले और अगले वर्षों में यह हमारे ज्ञान को बढ़ानेवाली हो।

भावार्थ—आठ प्रहर का यह दिन उषा से आरम्भ होता है। यही प्रथम व मुख्य प्रहर होता है, जो उषा से आरम्भ होता है। यह हमारे लिए धेनु के समान हो और हममें ज्ञानदुग्ध का उत्तरोत्तर अधिकाधिक पूरण करनेवाला हो। हमारा कर्त्तव्य स्वाध्याय हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अष्टका** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

रात्रि (संवत्सरपत्नी)

यां देवाः प्रतिनन्दन्ति रात्रिं धेनुमुपायतीम्।
संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली॥ २॥

१. **देवाः**=देववृत्ति के लोग **उपायतीम्**=समीप आती हुई **यां रात्रिं धेनुम्**=जिस रात्रिरूप धेनु का **प्रतिनन्दन्ति**=स्वागत करते हैं, **सा**=वह रात्रि **नः**=हमारे लिए **सुमङ्गली**=उत्तम मङ्गल करनेवाली हो। रात्रि धेनु है। धेनु दुग्ध देती है, दुग्ध द्वारा हमारा वर्धन करती है। इसीप्रकार रात्रि भी हमारा आप्यायन करती है—हमें पुनः स्फूर्तिमय बना देती है, इसी से यह धेनु कहाती है। रात्रि में ओषधियों में रस का सञ्चार होता है। यह रात्रि रमयित्री है, परन्तु राक्षसी वृत्तिवालों के लिए यह अमङ्गलों व पापों का आधार बन जाती है। २. **या**=जो रात्रि **संवत्सरस्य**=संवत्सर की **पत्नी**=पत्नी है—**'संवसन्ति अस्मिन् इति संवत्सरः'** उत्तम निवासवाले वर्ष की यह रात्रि पत्नी है। रात्रि संवत्सर को संवत्सर बनाती है। रात्रि प्रतिदिन हममें शक्ति का सञ्चार करती हुई हमारे जीवन के वर्षों को उत्तम बनाती है। यह रात्रि हमारे लिए सुमङ्गली हो।

भावार्थ—रात्रि धेनु है। यह हमारी शक्तियों का फिर से आप्यायन करती है। यह संवत्सर की पत्नी है—हमारे निवास को प्रतिदिन उत्तम बनाती हुई हमारे जीवन के वर्षों को सचमुच 'संवत्सर' बनाती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अष्टका** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आयु व धन देनेवाली रात्रि

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वा रात्र्युपास्महे।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज॥ ३॥

१. हे **रात्रि**=रात्रि! **यां त्वा**=जिस तुझे हम **संवत्सरस्य प्रतिमाम्**=संवत्सर की प्रतिमा (बनानेवाली) के रूप में **उपास्महे**=उपासित करते हैं। यह रात्रि रमयित्री होती हुई, हमारी शक्तियों को नवीन-सा करती हुई हमारे वर्षों को सचमुच संवत्सर बनाती है। २. हे रात्रि! **सा**=वह तू **नः**=हमारी **आयुष्मतीं प्रजाम्**=दीर्घजीवनवाली सन्तानों को **रायस्पोषेण**=धन के पोषण के साथ **संसृज**=संसृष्ट कर। प्रत्येक रात्रि में अपनी शक्तियों को नवीन करती हुई हमारी प्रजाएँ सचमुच दीर्घायुष्य व उत्तम धन को प्राप्त करनेवाली बनें।

भावार्थ—रात्रि संवत्सर की प्रतिमा है। प्रतिदिन शक्तियों को नवीन-सा करती हुई यह हमारे जीवन के वर्षों को संवत्सर बनाती है। इस रात्रि का शयन में ठीक से प्रयोग करती हुई हमारी सन्तानें दीर्घजीवी व धन के पोषणवाली हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अष्टका** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'महान् महिमावाला' उषाकाल

इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा।
महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्वधूर्जिगाय नवगज्जनित्री॥ ४॥

१. **इयं एव सा**=यही वह उषा है **या**=जोकि **प्रथमा**=दिन में सर्वप्रथम अष्टकवाली **वि औच्छत्**=विशेषरूप से अन्धकार को दूर करती है। **आसु इतरासु**=दिन के अन्य भागों में **प्रविष्टा**=प्रविष्ट हुई-हुई **चरति**=विचरण करती है। उषा ही मानो बड़ी होती हुई दिन के प्रातः, संगव, मध्याह्न, अपराह्न व सायाह्न आदि पाँच भागों में तथा इनके अन्तरालवर्ती चार कालों (आत, रुग्ण, सन्तप, खनि) में गति करती है। **अस्यां अन्तः**=इस उषाकाल में **महान्तः महिमानः**=महान् महिमाएँ हैं, अर्थात् यह समय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इस समय वायुमण्डल में भी ओज़ोन गैस की अधिकता होने से स्वास्थ्य पर सुन्दर प्रभाव पड़ता है। शान्ति का समय होने से मन के लिए यह उत्तम होता है। सामान्यतया चित्त की एकाग्रता के लिए यह समय उपयुक्ततम होता है, एवं स्वाध्याय के लिए यह समय अमूल्य है। यह **वधूः**=सूर्य की पत्नीरूप उषा **जिगाय**=विजयी होती है—सर्वोत्कृष्ट प्रतीत होती है। **नवगत्**=दिन के नौ-के-नौ भागों में गतिवाली होती है व स्तुत्य गतिवाली होती है, **जनित्री**=यह हमारी शक्तियों की जनयित्री—विकास करनेवाली है।

भावार्थ—उषा अन्धकार को दूर करती हुई आती है और दिन के अगले भाग में गति करती हुई विजयी होती है। समय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है—यह हमारे जीवन को महिमान्वित करता है। इस समय सोये रह जाना बड़ी भारी मूर्खता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अष्टका** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सुप्रजसः, सुवीराः, रयीणां पतयः

वानस्पत्या ग्रावाणो घोषमक्रत हविष्कृण्वन्तः परिवत्सरीणम्।
एकाष्टके सुप्रजसः सुवीरा वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ ५॥

१. **वानस्पत्याः**=शरीर-रक्षण के लिए वनस्पति पदार्थों का ही प्रयोग करनेवाले **ग्रावाणः**=स्तोता लोग **घोषम् अक्रत**=स्तुतिशब्दों का उच्चारण करते हैं। ये **परिवत्सरीणम्**=वर्षभर व्यवहृत होनेवाली **हविः**=हवि को **कृण्वन्तः**=सम्पादित करते हैं—वर्षभर प्रतिदिन यज्ञ करते हैं। २. हे **एकाष्टके**=मुख्य अष्टक—दिन के प्रथम अष्टक में आनेवाली उषे! स्तुति व यज्ञों को करते हुए **वयम्**=हम **सुप्रजसः**=उत्तम प्रजावाले, **सुवीराः**=उत्तम वीर तथा **रयीणां पतयः**=धनों के स्वामी **स्याम**=हों।

भावार्थ—वर्षभर प्रतिदिन स्तुति व यज्ञ करते हुए हम उत्तम प्रजावाले, वीर व धनों के स्वामी हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अष्टका** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

स्वाध्याय+यज्ञ

इडायास्पदं घृतवत्सरीसृपं जातवेदः प्रति हव्या गृभाय।
ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपास्तेषां सप्तानां मयि रन्तिरस्तु॥ ६॥

१. **इडायाः**=इस वेदवाणी का **पदम्**=शब्द **घृतवत्**=मेरे लिए ज्ञान की दीप्तिवाला हो तथा **सरीसृपम्**=मुझे खूब ही क्रियाशील बनाए। हे **जातवेदः**=अग्रे! तू **हव्या**=हव्यों को **प्रतिगृभाय**=

प्रतिदिन ग्रहण करनेवाला हो, अर्थात् मैं प्रतिदिन अग्निहोत्र करनेवाला बनूँ। स्वाध्याय के द्वारा मैं अपने ज्ञान को बढ़ाऊँ, उस ज्ञान के अनुसार गतिवाला होऊँ तथा यज्ञशील बनूँ। २. **ये**=जो भी **विश्वरूपा:**=नानारूपोंवाले **ग्राम्या: पशव:**=ग्रामवासी प्राणी हैं, **तेषाम्**=उन **सप्तानाम्**=सर्पणशील प्राणियों की **मयि**=मुझमें **रन्ति**=प्रीति **अस्तु**=हो।

भावार्थ—हम स्वाध्याय व यज्ञ को अपनाएँ। हम सब प्राणियों के प्रिय हों।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**अष्टका**॥ छन्द:—**षट्पदाविराड्गर्भातिजगती**॥

पुष्टे च पोषे च

आ मा॑ पुष्टे च॒ पोषे॑ च॒ रात्रि॒ देवानां॑ सुम॒तौ स्या॑म।
पूर्णा द॑र्वे॒ परा॑ पत॒ सुपू॑र्णा॒ पुन॒रा प॑त।
सर्वा॑न्य॒ज्ञान्त्सं॑भु॒ञ्ज॒तीष॒मूर्जं॑ न॒ आ भ॑र॥ ७॥

१. हे **रात्रि**=रात्रि! तू **मा**=मुझे **पुष्टे**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग की दृढ़ता में **च**=और **पोषे च**=धनादि आवश्यक साधनों के पोषण में **आ (स्थापित)**=स्थापित कर। हम सदा **देवानाम्**=देववृत्ति के पुरुषों की **सुमतौ**=कल्याणी मति में **स्याम**=हों, सदा देवों की भाँति शुभ विचारोंवाले बनें। २. यज्ञ के समय हे **दर्वे**=घृत के चम्मच! **पूर्णा**=पूरा भरा हुआ तू **परापत**=दूर अग्नि की ओर जा—अग्नि के द्वारा सारे वायुमण्डल में तू सूक्ष्म कणों के रूप में पहुँचनेवाला हो। वहाँ इन देवों से **सुपूर्णा**=उत्तम अन्न आदि से पूर्ण हुआ-हुआ तू **पुन: आपत**=फिर हमें प्राप्त हो। हे देवि! **सर्वान् यज्ञान्**=सब यज्ञों का **संभुञ्जती**=सम्यक् पालन करती हुई तू **न:**=हमारे लिए **इषम् ऊर्जम्**=अन्न व रस को **आभर**=समन्तात् प्राप्त करानेवाली हो।

भावार्थ—हम रात्रि में पूर्ण निद्रा लेकर स्वस्थ बनें। धनों को प्राप्त करके सदा यज्ञशील होते हुए उत्तम अन्न-रस के भागी बनें।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**अष्टका**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

वर्ष का प्रारम्भ

आयम॑गन्त्संवत्स॒र: पति॑रेकाष्टके॒ तव॑।
सा न॒ आयु॑ष्मतीं प्र॒जां रा॒यस्पोषे॑ण॒ सं सृ॑ज॥ ८॥

१. प्रत्येक वर्ष के आरम्भ में सोकर उठने पर हमें यह धारणा करनी चाहिए कि **अयम्**=यह **संवत्सर:**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाला वर्ष **आ अगन्**=आया है—आज नववर्ष का आरम्भ होता है। हे **एकाष्टके**=दिन के प्रथम व मुख्य अष्टकवाली उषे! यह **तव पति:**=तेरा पति है—तू इसकी पत्नी है। तू ही वस्तुत: इसे संवत्सर—उत्तम निवासवाला बनाती है। २. **सा**=वह तू **न:**=हमारी **आयुष्मतीं प्रजाम्**=दीर्घजीवी सन्तानों को **रायस्पोषेण संसृज**=धन के पोषण से युक्त कर। प्रतिदिन प्रात:काल प्रबुद्ध होती हुई हमारी सन्तानें दीर्घजीवी व धन-धान्य-सम्पन्न बनें।

भावार्थ—वर्ष के प्रारम्भिक दिन हम उषा-जागरण का व्रत लें तथा निश्चय करें कि अपने जीवन को उत्तम बनाकर हम सन्तानों को दीर्घजीवी व सम्पन्न बनाने के लिए यत्नशील होंगे।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**अष्टका**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

यज्ञों से ऋतुओं का अविपर्यय

ऋ॒तून्य॑ज ऋ॒तुप॑तीनार्त॒वानु॒त हा॑य॒नान्। समा॑: संवत्स॒रान्मासा॒न्भूतस्य॒ पत॑ये यजे॥ ९॥

१. **ऋतून् यजे**=मैं ऋतुओं के उद्देश्य से यज्ञ करता हूँ। **ऋतुपतीन्**=ऋतुओं के पति अग्नि, वायु, सूर्य आदि देवों के उद्देश्य से यज्ञ करता हूँ। **आर्तवान्**=इन ऋतुओं में उत्पन्न होनेवाले पदार्थों के उद्देश्य से यज्ञ करता हूँ। २. **उत**=और **हायनान्**=संवत्सर-सम्बन्धी दिन-रात का लक्ष्य करके (जहति जिहते वा भावान्) **समाः**=सम प्रविभक्त चौबीस संख्यावाले अर्धमासों का लक्ष्य करके **संवत्सरान्**=वर्षों का लक्ष्य करके तथा **मासान्**=चैत्र आदि बारह मासों का लक्ष्य करके मैं यज्ञ करता हूँ। यज्ञ से सब ऋतुएँ व कालविभाग ठीक से अपना-अपना कार्य करते हैं। यज्ञ कालविकृतिजन्य आधिदैविक आपत्तियों को दूर करता है। ३. मैं **भूतस्य पतये**=सब प्राणियों के स्वामी उस प्रभु का **यजे**=यज्ञ द्वारा पूजन करता हूँ। यह यज्ञ मुझे परमात्मा के समीप प्राप्त करानेवाला होता है **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'**।

भावार्थ—सब गृहों में यज्ञ होने पर ऋतुओं व काल के विपर्यय से होनेवाले कष्ट दूर होते हैं। इन यज्ञों से ही प्रभु का उपासन होता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अष्टका** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यज्ञों द्वारा प्रभु-पूजन

ऋतुभ्यष्ट्वार्तवेभ्यो माद्भ्यः संवत्सरेभ्यः। धात्रे विधात्रे समृधे भूतस्य पतये यजे ॥ १० ॥

१. हे उषे! **ऋतुभ्यः**=ऋतुओं के लिए **त्वा यजे**=मैं तेरा यजन करता हूँ। प्रत्येक उषा में यज्ञ करता हुआ मैं ऋतुओं को अनुकूल बनाता हूँ। **आर्तवेभ्यः**=ऋतुओं में होनेवाले पदार्थों के लिए **माद्भ्यः**=मासों के लिए, **संवत्सरेभ्यः**=वर्षों के लिए मैं यज्ञ करता हूँ। इन सबकी अनुकूलता के लिए मैं यज्ञ करता हूँ। २. **धात्रे**=धारण करनेवाले प्रभु के लिए **विधात्रे**=सम्पूर्ण संसार के निर्माता प्रभु के लिए तथा **समृधे**=समृद्धि प्राप्त करानेवाले **भूतस्य पतये**=सब प्राणियों के रक्षक प्रभु के लिए मैं यज्ञ करता हूँ।

भावार्थ—यज्ञों के द्वारा ऋतुओं की अनुकूलता होती है और प्रभु का उपासन होता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अष्टका** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'सम्पन्न गोमान्' गृह

इडया जुह्वतो वयं देवान्घृतवता यजे। गृहानलुभ्यतो वयं सं विशेमोप गोमतः ॥ ११ ॥

१. **घृतवता इडया**=घृतवती वेदवाणी के द्वारा **जुह्वतः**=आहुति देते हुए **वयम्**=हम **देवान् यजे**=अग्नि, वायु आदि सब देवों का लक्ष्य करके यज्ञ करते हैं। मन्त्रोच्चारणपूर्वक घृत की आहुति देते हुए हम सब देवों—प्राकृतिक शक्तियों की अनुकूलता का सम्पादन करते हैं। २. इन यज्ञों के द्वारा **वयम्**=हम **गृहान् उप संविशेम**=घरों में शान्तिपूर्वक निवास करनेवाले हों जोकि **अलुभ्यतः**=लोभ से रहित—चाहने योग्य सभी वस्तुओं से युक्त हैं तथा **गोमतः**=प्रशस्त गौओं से युक्त हैं।

भावार्थ—वेदवाणी का उच्चारण करते हुए हम अग्नि में घृत की आहुतियाँ दें। इससे जहाँ अग्नि-वायु आदि देवों की अनुकूलता होगी, वहाँ हमारे घर सब इष्ट वस्तुओं व गौओं से परिपूर्ण होंगे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अष्टका** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उषाकाल में प्रभु-दर्शन

एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमानमिन्द्रम्।
तेन देवा व्य [illegible] दस्यूनामभवच्छचीपतिः ॥ १२ ॥

१. **एकाष्टका**=यह प्रथम व मुख्य अष्टक-(दिन के प्रथमभाग)-वाली उषा **तपसा तप्यमाना**=तप से दीप्त होती हुई उस **गर्भम्**=सब पदार्थों में गर्भरूप से रहनेवाले व सब पदार्थों को अपने गर्भ में धारण करनेवाले, **महिमानम्**=अतिशयेन पूज्य **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **जजान**=प्रकट करती है। उषाकाल में प्रबुद्ध होकर हम तपस्यामय जीवन बनाते हैं। स्वाध्याय ही सर्वमहान् तप है। इस तप से जीवन दीप्त बन जाता है। उस समय तपःपूत पवित्र हृदय में प्रभु का प्रकाश होता है। २. **देवाः**=देववृत्ति के ये पुरुष **तेन**=उस प्रभु के द्वारा **शत्रून् व्यसहन्त**=काम-क्रोध-लोभरूप शत्रुओं को पराभूत करते हैं। वह **शचीपतिः**=सब कर्मों और प्रज्ञानों का स्वामी प्रभु **दस्यूनाम्**=हमारी सब दास्यव वृत्तियों का **हन्ता**=विनाशक **अभवत्**=होता है।

भावार्थ—हम उषाकाल में प्रबुद्ध होकर स्वाध्यायरूप तप से दीप्त जीवनवाले बनें। प्रभु के प्रकाश को देखें। प्रभु के द्वारा सब आसुरभावों का विनाश करनेवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अष्टका** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'इन्द्र-पुत्रा—प्रजापति-पुत्री' उषा

इन्द्रपुत्रे सोमपुत्रे दुहितासि प्रजापतेः।
कामानस्माकं पूरय प्रति गृह्णाहि नो हविः॥ १३॥

१. गतमन्त्र में कहा है कि उषा स्वाध्यायरूप तप से दीप्त होकर प्रभु के प्रकाश को प्राप्त कराती है। इसप्रकार प्रभु को प्रकट करने के कारण यह 'इन्द्र-पुत्रा' कहलायी है—इन्द्ररूप पुत्रवाली तथा प्रभु इस उषा को उत्पन्न करते हैं, अतः यह उस प्रभु की दुहिता (पुत्री) है। हे **इन्द्रपुत्रे**=परमैश्वर्यशाली प्रभुरूप पुत्रवाली, अर्थात् प्रभु का हमारे हृदयों में प्रकाश करनेवाली उषे! हे **सोमपुत्रे**=शरीर में सोम को पवित्र व रक्षित (पुनाति+त्रायते) करनेवाली उषे! तू **प्रजापतेः**=सब प्रजाओं के स्वामी प्रभु की **दुहिता असि**=पुत्री है। २. तू **अस्माकं कामान् पूरय**=हमारी कामनाओं को पूर्ण करनेवाली हो। तू **नः हविः**=हमारे द्वारा दी जानेवाली इस हवि को **प्रतिगृह्णाहि**=प्रति दिन ग्रहण कर, अर्थात् हम सदा उषाकाल में प्रबुद्ध होकर यज्ञशील बनें। यज्ञों के द्वारा ही तो प्रभु का पूजन होता है।

भावार्थ—उषा प्रभु का प्रकाश दिखाती है, हमारी कामनाओं को पूर्ण करती है। हम सदा उषा में प्रबुद्ध होकर यज्ञों को करें।

विशेष—प्रतिदिन यज्ञ करने से दीर्घजीवन प्राप्त होता है। यह विषय अगले सूक्त में प्रतिपादित हुआ है। यह यज्ञशील पुरुष महत्त्व को प्राप्त करके 'ब्रह्मा' बनता है। तपस्या इसे 'भृगु' बनाती है। अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाला यह 'अङ्गिरा' होता है। यह कहता है—

११. [एकादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा, भृग्वङ्गिराश्च** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी, आयुः, यक्ष्मनाशनम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'अज्ञातयक्ष्म-राजयक्ष्म व ग्राहि' का विनाश

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्।
ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम्॥ १॥

१. प्रभु कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **हविषा**=हवि के द्वारा—यज्ञों में घृत व हव्य पदार्थों के प्रक्षेप के द्वारा **कं जीवनाय**=सुखपूर्ण जीवन के लिए **अज्ञात् यक्ष्मात्**=अज्ञात रोगों से **उत**=तथा **राजयक्ष्मात्**=राजरोग (क्षयरोग) से **मुञ्चामि**=छुड़ाता हूँ। २. **यदि**=यदि **एतत्**=(इदानीम्) अब **एनम्**=इस पुरुष को **ग्राही**=पकड़ लेनेवाला—जकड़ लेनेवाला वातरोग **जग्राह**=पकड़ लेता है

तो **एनम्**=इस रोगी को **इन्द्राग्नी**=सूर्य और अग्नि—सूर्य-किरणों के समय अग्नि में किया जानेवाला अग्निहोत्र **तस्याः**=उस रोग से **प्रमुमुक्तम्**=मुक्त करे।

भावार्थ—अग्निहोत्र द्वारा अज्ञात रोग, क्षयरोग व ग्राही (वातरोग) दूर हो जाते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा, भृग्वङ्गिराश्च**॥ देवता—**इन्द्राग्नी, आयुः, यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'क्षितायु व परेत' की रोगनिवृत्ति

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव।
तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्शमेनं शतशारदाय॥ २॥

१. **यदि**=यदि **क्षितायुः**=यह रोगी क्षीण जीवनवाला हो गया हो, **यदि वा**=अथवा **परा इतः**=यह रोगों में दूर चला गया हो, **यदि**=यदि **मृत्योः अन्तिकम्**=मृत्यु के समीप **एव**=ही **नीतः**=ले-जाया गया है, अर्थात् एकदम मरणासन्न हो तो भी **तम्**=उस रोगी को **निर्ऋतेः उपस्थात्**=दुर्गति (मृत्यु) की गोद से **आहरामि**=मैं वापस ले-आता हूँ। हवि के द्वारा इसे रोगों से मुक्त कर देता हूँ। २. मैं **एनम्**=इसे **शतशारदाय**=सौ वर्ष के दीर्घजीवन के लिए **अस्पार्शम्**=(अस्पार्षम्) बल व प्राणयुक्त करता हूँ अथवा इसे छूता हूँ (स्पृश्) और छूकर रोग-निवृत्त करता हूँ।

भावार्थ—क्षीण जीवनवाले, बढ़े हुए रोगवाले, मरणासन्न पुरुष को भी मैं बल व प्राणयुक्त करके दीर्घजीवनवाला करता हूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा, भृग्वङ्गिराश्च**॥ देवता—**इन्द्राग्नी, आयुः, यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'सहस्राक्ष-शतवीर्य-शतायु' हवि

सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहार्षमेनम्।
इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम्॥ ३॥

१. **सहस्राक्षेण**=(सहस्रं अक्षीणि दर्शनशक्तियाँ यस्य) हज़ारों दर्शनशक्तियोंवाली, **शतवीर्येण**=श्रोत्रादि इन्द्रियों से सम्बद्ध अपरिमित वीर्योंवाली, **शतायुषा**=शतवर्षों का जीवन देनेवाली **हविषा**=हवि के द्वारा—अग्नि में हविर्द्रव्यों के प्रक्षेप के द्वारा **एनम्**=इस रोगी को **आहार्षम्**=रोग से बाहर निकलता हूँ। अग्नि में हव्य पदार्थों को डालता हुआ मैं इसप्रकार यज्ञों को करता हूँ **यथा**=जिससे **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **एनम्**=इस रोगी को **शरदः**=वर्षों तक—सौ वर्ष के दीर्घजीवन तक **विश्वस्य दुरितस्य**=सब दुरितों के **पारम् अतिनयति**=पार ले-जाते हैं। सब दुरितों से पार करके इसे पूर्ण स्वस्थ बनाते हैं।

भावार्थ—यह हवि (अग्निहोत्र में आहुत पदार्थ) दर्शनशक्ति को बढ़ाते हैं, कान आदि इन्द्रियों की शक्ति को ठीक रखते हैं और सौ वर्ष के दीर्घजीवन को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा, भृग्वङ्गिराश्च**॥ देवता—**इन्द्राग्नी, आयुः, यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**शक्वरीगर्भाजगती**॥

दीर्घजीवन के साधक, 'अग्नि, इन्द्र, सविता व बृहस्पति'

शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्तान्छतमु वसन्तान्।
शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषाहार्षमेनम्॥ ४॥

१. अग्निहोत्र द्वारा रोगविमुक्त हे पुरुष! **शतं शरदः**=सौ वर्षपर्यन्त **वर्धमानः**=सब शक्तियों की दृष्टि से वृद्धि को प्राप्त होता हुआ तू **जीव**=जीवन धारण कर। **शतं हेमन्तान्**=सौ हेमन्त ऋतुओं तक तू जी। **उ**=और **शतं वसन्तान्**=सौ वसन्त ऋतुओं तक जीनेवाला बन। सर्दी, गर्मी, वर्षा सभी ऋतुओं में नीरोग रहता हुआ तू सौ वर्ष तक जीनेवाला बन। २. **इन्द्रः**=जितेन्द्रियता

की देवता, **अग्निः**=प्रगति की भावना, **सविता**=निर्माण की प्रवृत्ति तथा **बृहस्पतिः**=ज्ञान की अधिष्ठातृदेवता—ये सब **ते**=तेरे लिए **शतम्**=शतवर्ष के जीवन को करनेवाले हों। मैं **शतायुषा**=शतवर्ष के आयुष्य को प्राप्त करानेवाले **हविषा**=हवि के द्वारा **एनम्**=इस रोगी को **आहार्षम्**=रोगों से बाहर ले-आता हूँ।

भावार्थ—अग्निहोत्र हमारे दीर्घजीवन का साधन बने। 'जितेन्द्रियता, प्रगतिशीलता, निर्माणवृत्ति, ज्ञानरुचिता' हमें दीर्घजीवन प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा, भृग्वङ्गिराश्च**॥ देवता—**इन्द्राग्नी, आयुः, यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्राणापानौ

प्र विंशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम्।
व्य१न्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितरान्छतम्॥ ५॥

१. **प्राणापानौ**=प्राण व अपानशक्ति—शरीर में शक्ति के आधायक प्राण तथा दोषों को दूर करनेवाली अपानशक्ति **प्रविशतम्**=शरीर में इसप्रकार प्रविष्ट होकर स्थित हों **इव**=जैसेकि **अनड्वाहौ**=शकट का वहन करनेवाले दो बैल **व्रजम्**=अपने निवास स्थान गोष्ठ में प्रवेश करते हैं। २. **अन्ये मृत्यवः**=मृत्यु के कारणभूत ये विलक्षण रोग **वियन्तु**=विशेषरूप से दूर चले जाएँ। **यान् इतरान्**=स्वाभाविक मृत्यु से भिन्न जिन रोगों को **शतं आहुः**=सौ संख्यावाला कहते हैं, ये सौ-के-सौ रोग प्राणापान की शक्ति से दूर भगा दिये जाएँ।

भावार्थ—प्राण व अपानशक्ति शरीर में स्थिर होकर सर्वरोगों को दूर करनेवाली हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा, भृग्वङ्गिराश्च**॥ देवता—**इन्द्राग्नी, आयुः, यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पूर्ण सौ वर्ष तक

इहैव स्तं प्राणापानौ माप गातमितो युवम्। शरीरमस्याङ्गानि जरसे वहतं पुनः॥ ६॥

१. हे **प्राणापानौ**=प्राण व अपानशक्ते! आप दोनों **इह एव स्तम्**=यहाँ शरीर में ही होओ। **इतः**=यहाँ से **युवम्**=तुम दोनों **मा अपगातम्**=दूर मत जाओ। २. यहाँ रहते हुए **पुनः**=फिर आप दोनों **अस्य**=इसके **शरीरम्**=शरीर को तथा **अङ्गानि**=शरीर के सब अङ्गों को **जरसे**=पूर्ण जरावस्थापर्यन्त **वहतम्**=धारण करनेवाले होओ।

भावार्थ—प्राणापान शरीर को, अङ्ग-प्रत्यङ्ग को सौ वर्ष तक शक्तिशाली बनाये रक्खें।

ऋषिः—**ब्रह्मा, भृग्वङ्गिराश्च**॥ देवता—**इन्द्राग्नी, आयुः, यक्ष्मनाशनम्**॥
छन्दः—**उष्णिग्बृहतीगर्भापथ्यापङ्क्तिः**॥

भद्रशक्तियों से युक्त जरावस्था

जरायै त्वा परि ददामि जरायै नि धुवामि त्वा।
जरा त्वा भद्रा नेष्ट व्य१न्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितरान्छतम्॥ ७॥

१. **त्वा**=तुझे **जरायै**=पूर्ण वृद्धावस्था के दीर्घजीवन के लिए **परिददामि**=देता हूँ। **त्वा**=तुझे **जरायै**=इस पूर्ण वृद्धावस्था के दीर्घजीवन के लिए **निधुवामि**=प्रेरित करता हूँ। यह **जरा**=वृद्धावस्था **त्वा**=तुझे **भद्रा नेष्ट**=सब भद्र वस्तुओं को प्राप्त कराये। २. ये **अन्ये**=विलक्षण **मृत्यवः**=रोग **वियन्तु**=सर्वथा दूर चले जाएँ। **यान् इतरान्**=स्वाभाविक मृत्यु से भिन्न जिन रोगों को **शतं आहुः**=संख्या में सौ कहते हैं।

भावार्थ—हम पूर्ण वृद्धावस्थापर्यन्त भद्र शक्तियों से युक्त हुए-हुए सौ वर्ष के दीर्घजीवन को प्राप्त करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा, भृग्वङ्गिराश्च**॥ देवता—**इन्द्राग्नी, आयुः, यक्ष्मनाशनम्**॥
छन्दः—**षट्पदाबृहतीगर्भाजगती**॥

सत्यव्यवहार से मृत्युबन्धनमुक्ति

अभि त्वा जरिमाहित गामुक्षणमिव रज्ज्वा।
यस्त्वा मृत्युरभ्यधत्त जायमानं सुपाशया।
तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद् बृहस्पतिः॥ ८॥

१. हे जीव! **इव**=जैसे **उक्षणं गाम्**=शक्ति का सेचन करनेवाले वृषभ को **रज्ज्वा**=रस्सी से बाँधते हैं, इसीप्रकार **त्वा**=तुझे **जरिमा**=यह जरा **अभि, अहित**=बाँधती है। **जायमानम्**=उत्पन्न होते हुए ही **त्वा**=तुझे **यः मृत्युः**=जो मृत्यु **सुपाशया**=दृढ़ पाश से **अभ्यधत्त**=बाँधती है, **सत्यस्य हस्ताभ्याम्**=सत्य के हाथों के द्वारा **ते**=तेरी **तम्**=उस मृत्यु को **बृहस्पतिः**=ज्ञान की देवता **उदमुञ्चत्**=छुड़ा देता है। २. मनुष्य उत्पन्न होते ही मृत्यु के बन्धन में बद्ध हो जाता है। सत्य का व्यवहार इसे मृत्यु के बन्धन से छुड़ाता है।

भावार्थ—सत्य का व्यवहार दीर्घजीवन का कारण है।

विशेष—अग्निहोत्र आदि साधनों से दीर्घजीवन प्राप्त करनेवाला यह 'ब्रह्मा' बनता है। यह उत्तम घर का निर्माण करता है। इस घर का वर्णन ही अगले सूक्त में है—

१२. [द्वादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**शाला, वास्तोष्पतिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'ध्रुवा-घृतमुक्षमाणा' शाला

इहैव ध्रुवां नि मिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठाति घृतमुक्षमाणा।
तां त्वा शाले सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उप सं चरेम॥ १॥

१. **इह एव**=यहाँ—निश्चित किये हुए स्थान पर ही **शालाम्**=गृह को **ध्रुवाम् निमिनोमि**=स्तम्भ गाड़ने आदि के द्वारा स्थिर करता हूँ। वह स्थिर किया हुआ गृह=घर **घृतं उक्षमाणा**=घृत आदि आवश्यक पदार्थों से सिक्त=भरपूर होता हुआ **क्षेमे तिष्ठाति**=अग्न्यादि की बाधा के राहित्य से कल्याणपूर्वक स्थित हो। २. हे **शाले**=गृह! **तं त्वा**=उस तुझमें **सर्ववीराः**=हम सब वीर **अरिष्टवीराः**=अहिंसित व रोग आदि को कम्पित करके दूर करनेवाले **सुवीराः**=उत्तम पराक्रमी बनकर **उप संचरेम**=गति करें।

भावार्थ—गृह को स्थिर, आवश्यक सामग्री से सम्पन्न व अग्नि आदि की बाधा के राहित्यवाला बनाया जाए। इसमें हम सब वीर, नीरोग व पराक्रमी होकर विचरें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**शाला, वास्तोष्पतिः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥

'ऊर्जस्वती, पयस्वती, घृतवती' शाला

इहैव ध्रुवा प्रति तिष्ठ शालेऽश्वावती गोमती सूनृतावती।
ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय॥ २॥

१. हे **शाले**=गृह! तू **इह एव**=इस स्थान पर ही **ध्रुवा प्रतितिष्ठ**=स्थिर होकर स्थित हो। तू **अश्वावती**=प्रशस्त अश्वोंवाली, **गोमती**=प्रशस्त गौओंवाली व **सूनृतावती**=बालकों की प्रिय, सत्यवाणी से युक्त होकर हमारे **महते सौभाग्य**=महान् सौभाग्य के लिए **उत् श्रयस्व**=उद्गत हो—उत्कृष्ट रूपवाली हो। २. **ऊर्जस्वती**=[illegible] अन्नवाली, **घृतवती**=घृत से युक्त तथा **पयस्वती**=

बहुक्षीरा होती हुई हमारे सौभाग्य के लिए हो।

भावार्थ—घर गौओं, घोड़ों व प्रिय सत्यवाणियों से युक्त हों। ये पौष्टिक अन्न, घृत व दुग्ध से सम्पन्न होते हुए हमारे महान् सौभाग्य के लिए हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**शाला, वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥

'वत्सः', 'धेनवः सायमास्पन्दमानः'

धरुण्य᳖सि शाले बृहच्छन्दाः पूतिधान्या।
आ त्वा वत्सो गमेदा कुमार आ धेनवः सायमास्पन्दमानाः ॥ ३ ॥

१. हे **शाले**=गृह! तू **धरुणी**=सब भोग्य पदार्थों का धारण करनेवाली **असि**=है अथवा धरुणों से—धारक स्तम्भों से युक्त है, **बृहच्छन्दाः**=प्रभूत आच्छादनों-(वस्त्रों)-वाला व वेद के छन्दों से खूब ही युक्त है, **पूतिधान्या**=पवित्र धान्यों से युक्त है, अथवा पूतिगन्धवाले जीर्ण धान्यों से युक्त है। २. एवंभूत **त्वा**=तुझमें **वत्सः**=प्रिय बछड़ा तथा **कुमारः**=बालक **आगमेत्**=आये तथा **धेनवः**=दूध देनेवाली गौएँ **सायम्**=सायंकाल **आस्पन्दमानाः**=कूदती-फाँदती **आ (गमेत्)**=आएँ। गौएँ चरने के लिए बाहर खुली हवा में दिन बिताकर सायं लौटें। 'वत्सः कुमारः' शब्दों का प्रयोग यही कह रहा है कि इस शाला में गौएँ वत्स समेत हों और स्त्रियाँ कुमार समेत हों।

भावार्थ—घर में भोग्यपदार्थों और वस्त्रों की कमी न हो, यह धन-धान्य युक्त हो। इसमें गौएँ बछड़ों से युक्त हों और स्त्रियाँ स्वस्थ कुमारोंवाली हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**शाला, वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सविता, वायुः, इन्द्रः, बृहस्पतिः

इमां शालां सविता वायुरिन्द्रो बृहस्पतिर्नि मिनोतु प्रजानन्।
उक्षन्तूद्ना मरुतो घृतेन भगो नो राजा नि कृषिं तनोतु ॥ ४ ॥

१. **इमां शालाम्**=इस घर को **सविता**=निर्माण की वृत्तिवाला, **वायुः**=क्रियाशील, **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय, **बृहस्पतिः**=ज्ञानी पुरुष **प्रजानन्**=सम्यक् जानता हुआ **निमिनोतु**=स्तम्भ आदि गाड़ने के द्वारा स्थिर बनाएँ। इस शाला में सूर्य-किरणों, सविता व वायु का प्रवेश ठीक से हो तथा इसमें रहनेवाले जितेन्द्रिय (इन्द्र) व ज्ञानी (बृहस्पति) हों। २. **मरुतः**=वृष्टि लानेवाली वायुएँ इन घरों को **उद्ना**=उदक से और परिणामतः **घृतेन**=घृत से **उक्षन्तु**=सिक्त करें। वृष्टि होकर घास आदि के प्राचुर्य से पशुओं का चारा ठीक मिलता है और फिर दूध-घी की कमी नहीं रहती। ३. इस राष्ट्र में **भगः**=ऐश्वर्य की वृद्धि करनेवाला **राजा**=प्रशासक **नः**=हमारे लिए **कृषिम्**=कृषि को **निमिनोतु**=निश्चय से विस्तृत करे, कृषि द्वारा प्रभूत अन्न उपजाने की व्यवस्था करे।

भावार्थ—घर में सूर्य की किरणें व वायु का प्रवेश ठीक हों। इसमें जितेन्द्रिय व ज्ञानी पुरुषों का वास हो। वायुएँ वृष्टि को लानेवाली हों। राजा भी कृषि के विस्तार का ध्यान करे।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**शाला, वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'शरणा स्योना' शाला

मानस्य पत्नि शरणा स्योना देवी देवेभिर्निर्मितास्यग्रे।
तृणं वसाना सुमना असस्त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः ॥ ५ ॥

१. **मानस्य पत्नि**=सम्मान की रक्षिका शाले! अथवा मीयमान (मापे-तोले जानेवाले) धान्य

की पालयत्रि! तू **शरणा**=हमें शरण देनेवाली है, **देवी**=द्योतमान—प्रकाशमान है। तू **अग्रे**=सर्वप्रथम **देवेभिः**=देवों के द्वारा **निमिता असि**=मानपूर्वक बनाई गई है। २. **तृणं वसाना**=तृण को अपने ऊपर आच्छादित करती हुई **त्वम्**=तू **सुमनाः असः**=उत्तम मनवाली हो—तुझमें रहनेवाले सभी व्यक्ति प्रसन्नचित्त हों। **अथ**=अब **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **सहवीरम्**=वीर पुत्रों के साथ **रयिं दाः**=धन प्रदान कर।

भावार्थ—घर बड़े माप से बनाया जाए। यह हमें शरण देनेवाला और सुखदायी हो। तृणों से छता हुआ यह गृह हमें शीतोष्ण से बचानेवाला हो। इसमें रहनेवाले सब उत्तम मनवाले, उत्तम सन्तानोंवाले और सम्पन्न हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**शाला, वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**शक्वरीगर्भाजगती** ॥

शतं जीव शरदः सर्ववीराः

ऋतेन स्थूणामधि रोह वंशोग्रो विराजन्नप वृङ्क्ष्व शत्रून्।
मा ते रिषन्नुपसत्तारो गृहाणां शाले शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः ॥ ६ ॥

१. हे **वंश**=बाँस! तू **ऋतेन**=अपने ऋत से (Right)—सीधेपन से **स्थूणाम्**=स्तम्भ पर **अधिरोह**=आरोहण करनेवाला हो। खम्भों पर सीधे बाँस रक्खे जाएँ। **उग्रः**=खूब तेजस्वी—दृढ़ **विराजन्**=विशिष्ट रूप से दीप्त होता हुआ तू **शत्रून्**=हमारे शत्रुरूप शीतोष्ण आदि द्वन्द्वों को **अपवृङ्क्ष्व**=काटनेवाला हो—सरदी-गरमी आदि से तू बचानेवाला हो। २. हे **शाले**=भवन! **ते गृहाणाम्**=तेरे कमरों में **उपसत्तारः**=निवास करनेवाले **मा रिषन्**=हिंसित न हों। हम **सर्ववीराः**=घर में रहनेवाले सब वीर बनकर **शतं शरदः**=सौ वर्ष तक **जीवेम**=जीएँ।

भावार्थ—घर हमें सरदी-गरमी आदि से रक्षित करनेवाला हो। इसमें रहनेवाले सभी जन वीर व दीर्घजीवी हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**शाला, वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**आर्ष्यनुष्टुप्** ॥

दधि+मधु

एमां कुमारस्तरुण आ वत्सो जगता सह।
एमां परिस्रुतः कुम्भ आ दध्नः कलशैरगुः ॥ ७ ॥

१. **इमाम्**=इस शाला में **तरुणः**=वासनाओं को तैर जानेवाला **कुमारः**=कुमार आ (गच्छतु) प्राप्त हो। **वत्सः**=बछड़ा **जगता सह**=गमनशील गौ आदि में साथ **आ (गच्छतु)**=प्राप्त हो। २. **इमाम्**=इस शाला को **परिस्रुतः**=प्रस्रवणशील शहद आदि का भरा हुआ **कुम्भः**=घड़ा **आ**=प्राप्त हो। ये घड़े **दध्नः कलशैः**=दही के कलशों=घड़ों के साथ **अगुः**=प्राप्त हों।

भावार्थ—घर में तरुण कुमारों व बछड़ों का आगमन हो। यहाँ दधि-घटों के साथ शहद के कुम्भ प्राप्त हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**शाला, वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

'जल, घृत, दुग्ध'-पूर्ण शाला

पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धारामृतेन संभृताम्।
इमां पातृनमृतेना समङ्ग्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम् ॥ ८ ॥

१. हे **नारि**=गृहपत्नि! **एतम्**=इस **पूर्णं कुम्भम्**=जल से परिपूर्ण घड़े को **प्रभर**=घर में प्राप्त करा तथा **अमृतेन**=सब रोगों के वारक गोदुग्ध से **संभृताम्**=संभृत **घृतस्य धाराम्**=घृत की धारा

को प्राप्त करा। ताज़ा दूध को जमाकर दधि से प्राप्त घृत की धाराएँ प्रतिदिन घर में बहती हों—घृत पर्याप्त मात्रा में हो। २. **इमाम्**=इस घृत की धारा को **पातॄन्**=पीनेवालों को **अमृतेन**=नीरोगता से **समङ्ग्धि**=सन्दीप्त व अलंकृत कर। **इष्टापूर्तम्**=यज्ञ व दान आदि के कार्य **एनाम्**=इस शाला को **अभिरक्षाति**=रक्षित करते हैं।

भावार्थ—घर में जल, ताज़ा दूध व घृत की कमी न हो। इनका सेवन करनेवाले नीरोग बनें रहें। यज्ञ व दान इस शाला का रक्षण करनेवाले हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**शाला, वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अयक्ष्म-जल, अमृत अग्नि

इमा आपः प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः।
गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना॥ ९॥

१. **इमाः**=इन **अयक्ष्माः**=यक्ष्मा से रहित, यक्ष्मा-कृमियों से अनाक्रान्त **यक्ष्मनाशनीः**=यक्ष्मा को, रोग को विनष्ट करनेवाले **आपः**=जलों को **प्रभरामि**=घर में प्राप्त कराती हूँ। २. **अमृतेन**=कभी न मरनेवाले, सदा प्रज्वलित रहनेवाले **अग्निना सह**=यज्ञाग्नि के साथ **गृहान्**=घरों को **उपप्रसीदामि**=समीपता से प्राप्त होती हूँ। घर में यज्ञाग्नि कभी बुझनी नहीं चाहिए—सदा यज्ञ होने ही चाहिएँ।

भावार्थ—घरों में रोगकृमियों से अनाक्रान्त जलों की कमी न हो, यज्ञाग्नि कभी बुझे नहीं।

विशेष—अगले सूक्त में इन जलों का ही वर्णन है। इन जलों को अग्निपक्व करके इनका प्रयोक्ता 'भृगु' (भ्रस्ज पाके) इस सूक्त का ऋषि है—

१३. [त्रयोदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**सिन्धुः, आपः, वरुणः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥

नदनात् 'नद्यः'

यददः संप्रयतीरहावनदता हते।
तस्मादा नद्यो३ नाम स्थ ता वो नामानि सिन्धवः॥ १॥

१. **अदः**=(अमुष्मिन्) उस **अहौ**=आहन्तव्य मेघ के **हते**=ताड़ित होने पर हे जलो! तुम **यत्**=चूँकि **संप्रयतीः**=मिलकर इधर-उधर हुए **अनदत**=शब्द करते हो, **तस्मात्**=इस कारण से तुम **आ**=अभिमुख्येन—अव्यवधानेन ही **नद्यः नाम स्थ**='नद्यः' इस नामवाले हो। २. हे **सिन्धवः**=स्यन्दनशील जलो! **वः**=तुम्हारे **ता**=वे **नामानि**='आपः, उदकम्' आदि नाम भी अन्वर्थ ही हैं।

भावार्थ—मेघ के विद्युत् से आहत होकर बरसने पर ये जल शब्द करते हुए आगे बढ़ते हैं, अतः 'नद्यः' कहलाते हैं (नद शब्दे)।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**सिन्धुः, आपः, वरुणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'आप्यन्ते इति' 'आपः'

यत्प्रेषिता वरुणेनाच्छीभं समवल्गत।
तदाप्नोदिन्द्रो वो यतीस्तस्मादापो अनु ष्ठन॥ २॥

१ **यत्**=जब **वरुणेन**=जलों के अधिष्ठातृदेव वरुण प्रभु से **प्रेषिता**=भेजे हुए तुम **आत्**=उस समय **शीभम्**=शीघ्र **सम् अवल्गत**=सम्यक् गतिवाले होते हो, **तत्**=तब **यतीः**=जाते हुए **वः**=तुम्हें

इन्द्रः आप्नोत्=इन्द्रियों का स्वामी जीव प्राप्त करता है, **तस्मात्**=उस कारण से **आपः**=' आपः ' इस नामवाले **अनुस्थन**=होते हो। इन्हें इन्द्र—जितेन्द्रिय पुरुष ही प्राप्त करता है। आधिभौतिक जगत् में प्रभु से प्राप्त कराये गये जलों को इन्द्र=राजा नहरों आदि के रूप में प्राप्त करता है।

भावार्थ—प्रभु से प्रेरित जलों को इन्द्र प्राप्त करता है। प्राप्त किये जाने के कारण इनका नाम 'आपः' हो गया है (आप्नोति, प्राप्नोति)।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**सिन्धुः, आपः, वरुणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'वरण व वारण' के कारण 'वार'

अपकामं स्यन्दमाना अवीवरत वो हि कम्।
इन्द्रो वः शक्तिभिर्देवीस्तस्माद्वार्नाम वो हितम्॥ ३ ॥

१. **अपकामम्**=बिना ही कामना के **स्यन्दमानाः**=बहते हुए **वः**=तुम्हें **इन्द्रः**=राजा ने **वः**=तुम्हारी **शक्तिभिः**=शक्तियों के हेतु से **हि कम्**=निश्चयपूर्वक तुम्हारा **अवीवरत**=वरण किया है—तुम्हें रोका है। बाँध आदि के द्वारा अपने अधीन करने की कामना की है। २. हे **देवीः**=दिव्य शक्तियोंवाले जलो! अनेक व्यवहारों के साधक जलो! **वः**=तुम्हारा **वाः**='वार' यह **नाम**=नाम **हितम्**=रक्खा है।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में मनमाने बहते हुए जलों को बाँध लगाकर रोकता है और उनकी शक्तियों का विविध व्यवहारों में विनियोग करता है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**सिन्धुः, आपः, वरुणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उदानिषुः इति 'उदकम्'

एको वो देवोऽप्यतिष्ठत्स्यन्दमाना यथावशम्।
उदानिषुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते॥ ४ ॥

१. **एकः**=वह अद्वितीय **देवः**=दिव्य गुणों का पुञ्ज प्रभु **यथावशम्**=इच्छानुसार **स्यन्दमानाः**= बहते हुए **वः**=तुम्हें **अप्यतिष्ठत्**=अधिष्ठित करता है। जलों का अधिष्ठाता प्रभु ही तो है। **महीः इति**='हम कितने महान् हैं' कि प्रभु हमारा अधिष्ठाता है, इसप्रकार **उदानिषुः**=जलों ने उच्छ्वास लिया, **तस्मात्**=इस कारण से **उदकम् उच्यते**=इनका नाम उदक हो गया (उत् अन्+क, नकार लोप)। प्रभु से अधिष्ठित ये महनीय जल सबको प्राणित करते हैं, अतः 'उदक' कहलाते हैं।

भावार्थ—उस अद्वितीय प्रभु से अधिष्ठित ये जल सबके लिए जीवन देनेवाले होते हैं, अतः 'उदक' शब्द वाच्य होते हैं (उत् आनयन्ति प्राणयन्ति)।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**सिन्धुः, आपः, वरुणः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥

प्राणेन वर्चसा सह

आपो भद्रा घृतमिदाप आसन्नग्नीषोमौ बिभ्रत्याप इत्ताः।
तीव्रो रसो मधुपृचामरंगम आ मा प्राणेन सह वर्चसा गमेत्॥ ५ ॥

१. **आपः**=ये जल **भद्राः**=भन्दनीय (स्तुत्य) व कल्याणकर हैं। अग्निकुण्ड में आहुतिरूपेण डाले हुए **घृतम् इत्**=घृत ही **आपः असन्**=जलरूप हो जाते हैं (अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगा-दित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिः॥ —मनु० ३.७६)। **ताः आपः**=ये जल **इत्**=निश्चय से **अग्नीषोमौ बिभ्रति**=अग्नि व सोमतत्त्वों को धारण करते हैं। सूर्य-किरणों के सम्पर्क से ये अग्नितत्त्व को धारण करते हैं और चन्द्र-किरणों के सम्पर्क से सोमतत्त्व को धारण करनेवाले

होते हैं। २. **मधुपृचाम्**=मधुर रस से संपृक्त जलों का **रसः**=रस **तीव्रः**=रोगकृमियों के लिए अतितीक्ष्ण है। यह **अरंगमः**=पर्याप्त गमनवाला—कभी क्षीण न होनेवाला है। यह रस **प्राणेन**=प्राणशक्ति के साथ अथवा चक्षु आदि इन्द्रियों के साथ (प्राणा वाव इन्द्रियाणि) तथा **वर्चसा सह**=वर्चस् (vitality) के साथ **मा आगमेत्**=मुझे प्राप्त हो।

भावार्थ—जल कल्याणकर हैं। अग्निकुण्ड में आहुत घृत ही जल बन जाते हैं। इनमें अग्नि व सोमतत्त्वों का समावेश होता है। इनका तीव्र रस रोगकृमियों को नष्ट करता हुआ मुझे प्राण व वर्चस् प्राप्त कराए।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**सिन्धुः, आपः, वरुणः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥

पश्यामि शृणोमि

आदित्पश्याम्युत वा शृणोम्या मा घोषो गच्छति वाङ्मासाम्।
मन्ये भेजानो अमृतस्य तर्हि हिरण्यवर्णा अतृपं यदा वः ॥ ६ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब जलों का तीव्र रस प्राण व वर्चस् के साथ मुझे प्राप्त होता है, तब **आत् इत्**=इसके पश्चात् शीघ्र ही **पश्यामि**=मैं आँखों से ठीक देखने लगता हूँ, **उत वा**=और निश्चय से **शृणोमि**=कानों से सुनने लगता हूँ। उस समय **आसाम्**=इन जलों के रसगमन से **मा**=मुझे **घोषः**=उच्चार्यमाण शब्द **आगच्छति**=प्राप्त होता है और **वाक्**=वागिन्द्रिय इत्यादि कर्मेन्द्रियाँ भी **मा**=मुझे प्राप्त होती हैं। जलों के ठीक प्रयोग से सब ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ ठीक हो जाती हैं। २. हे **हिरण्यवर्णाः**=हितरमणीय वर्णों से युक्त जलो! **यदा**=जब **वः**, **अतृपम्**=तुम्हारे रस के सेवन से तृप्त होता हूँ **तर्हि**=तब **अमृतस्य भेजानः**='अमृत का ही सेवन कर रहा हूँ' इसप्रकार **मन्ये**=मानता हूँ (तर्कयामि)।

भावार्थ—जलों के रस के सेवन से मैं देखता हूँ, सुनता हूँ, बोलता हूँ और ऐसा अनुभव करता हूँ कि मैं अमृत का ही सेवन कर रहा हूँ—नीरोगता का अनुभव करता हूँ।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**सिन्धुः, आपः, वरुणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ऋतावरी+शक्वरी

इदं व आपो हृदयमयं वत्स ऋतावरीः। इहेत्थमेत शक्वरीर्यत्रेदं वेशयामि वः ॥ ७ ॥

१. हे **आपः**=जलो! **इदं हृदयम्**=यह मेरा हृदय **वः**=आपका है। मैं हृदय में आपके महत्त्व को समझता हूँ। हे **ऋतावरीः**=सत्य व यज्ञ आदि ऋतोंवाले जलो! **अयम्**=यह मैं **वत्सः**=आपका प्रिय हूँ। जलों के महत्त्व को समझनेवाला यह पुरुष जल-प्रिय बन जाता है। २. हे **शक्वरीः**=शक्ति देनेवाले जलो! **इह**=यहाँ—हमारे शरीर में **इत्थम्**=इसप्रकार ही **एत**=प्राप्त होओ, अर्थात् शरीर में प्रविष्ट होकर तुम शक्ति देनेवाले होओ। **यत्र**=जहाँ शरीर में **इदम्**=(इदानीम्) अब मैं **वः**=आपको **वेशयामि**=प्रवेश कराता हूँ, वहाँ आप शरीर में शक्ति देनेवाले होओ और मन में ऋत का स्थापन करो।

भावार्थ—ठीक प्रकार से विनियुक्त हुए-हुए जल हमारे शरीरों को शक्तिशाली बनाएँ और हृदयों को ऋत (सत्य व यज्ञ) से युक्त करें।

विशेष—अगले सूक्त का विषय 'गोष्ठ' है। गोष्ठवाला व्यक्ति ही 'ब्रह्मा' बनता है। ब्रह्मा बनने के लिए गोपालन आवश्यक है। गौओं का मानव जीवन के निर्माण में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनके दूध का प्रयोग करनेवाला व्यक्ति, 'नीरोग, निर्मल व दीप्त' बनता है। उन्नत होता हुआ यह 'ब्रह्मा' (great) बन जाता है। यही इस सूक्त का ऋषि है।

१४. [चतुर्दशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गोष्ठः, अर्यमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अहर्जात

सं वो गोष्ठेन सुषदा सं र॒य्या सं सुभूत्या।
अहर्जातस्य यन्नाम तेना वः सं सृजामसि॥ १ ॥

१. हे गौओ! हम **वः**=तुम्हें **सुषदा**=(सुखेन सीदन्ति अत्र) सुखपूर्वक निवासवाली **गोष्ठेन**=गोशाला से **संसृजामसि**=संसृष्ट करते हैं, **रय्या**=(रयि=water) उत्तम जलों से **सम्**=संसृष्ट करते हैं, **सुभूत्या**=उत्पन्न होनेवाले उत्तम पदार्थों से **सम्**=संसृष्ट करते हैं। (सूयवसात्.... पिब शुद्धमुदकम् । अथर्व० ७.७३.११) गौओं का निवास स्थान भी उत्तम (स्वच्छ) बनाते हैं, उत्तम घास (यवस्) खिलाते हैं, शुद्ध पानी पिलाते हैं। २. **अहर्जातस्य**=(अहनि अहनि जातं यस्मात्) प्रतिदिन जिसके द्वारा विकास होता है, उसका **यत् नाम**=जो नाम है **तेन**=उस नाम से **वः संसृजामसि**=तुम्हें संसृष्ट करते हैं, अर्थात् इन गौ के दूध से प्रतिदिन सब शक्तियों का विकास होता है, अतः यह गौ भी 'अहर्जात' है।

भावार्थ—गौओं का निवासस्थान भी साफ़-सुथरा हो, पानी भी शुद्ध हो, यवस् भी उत्तम हो। ऐसा होने पर ये गौएँ हमारे लिए 'अहर्जात' हो जाती हैं। इनके दुग्ध से प्रतिदिन सब शक्तियों का विकास होता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गोष्ठः, अर्यमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'अर्यमा, पूषा, बृहस्पति, इन्द्र'

सं वः सृजत्वर्यमा सं पूषा सं बृहस्पतिः। समिन्द्रो यो धनंजयो मयि पुष्यत यद्वसु॥ २ ॥

१. हे गौओ! **अर्यमा**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं का नियमन करनेवाला **वः**=तुम्हें **संसृजतु**=अपने साथ संसृष्ट करे। गोदुग्ध के प्रयोग से सात्त्विक वृत्तिवाला बनकर यह काम, क्रोध आदि को वश में करनेवाला बनता है। **पूषा**=अपना पोषण करनेवाला **सम्**=इन गौओं को अपने साथ संसृष्ट करे। गोदुग्ध शरीर का उत्तम पोषण करनेवाला है। **बृहस्पतिः**=ज्ञानियों का भी ज्ञानी **सम्**=तुम्हें अपने साथ जोड़े। गोदुग्ध से सात्त्विक बुद्धि होती है। इसप्रकार यह गोदुग्ध हमें शरीर के दृष्टिकोण से 'पूषा', मन के दृष्टिकोण से 'अर्यमा' व मस्तिष्क के दृष्टिकोण से बृहस्पति बनता है। २. **यः**=जो **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **धनञ्जयः**=धनों का विजय करनेवाला है वह **सम्**=इन गौओं को अपने साथ संसृष्ट करे, अर्थात् गोदुग्ध हमें 'धनञ्जय इन्द्र' बनने में सहायक होता है। हे गौओ! तुम **यत् वसु**=जो भी वसु है, निवास के लिए आवश्यक धन है, उसे **मयि पुष्यत**=मुझमें पोषित करो। गोदुग्ध मुझे सब वसुओं को प्राप्त करानेवाला हो।

भावार्थ—गोदुग्ध का प्रयोग हमें 'अर्यमा, पूषा, बृहस्पति व इन्द्र' बनाता है। यह हमारे जीवन में वसुओं का पोषण करता है। गौ को अर्थवेद ७.७३.८ में 'वसुपत्नी वसूनाम्' कहा गया है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गोष्ठः, अर्यमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'अबिभ्युषीः अनमीवाः' गौएँ

संजग्माना अबिभ्युषीरस्मिन्गोष्ठे करीषिणीः। बिभ्रतीः सोम्यं मध्वनमीवा उपेतन॥ ३ ॥

१. **अस्मिन् गोष्ठे संजगमानाः**=इस गोशाला में मिलकर रहती हुई अथवा वत्सों से संगत होती हुई **अबिभ्युषीः**=व्याघ्र आदि के भय से रहित **करीषिणीः**=गोबर का उत्तम

खाद उत्पन्न करनेवाली गौएँ **उपेतन**=हमारे पास आएँ। जिन गौओं को हिंस्रपशुओं का भय होता है, उनके दूध में कुछ विष उत्पन्न हो जाते हैं। २. हे गौओ ! तुम **अनमीवाः**=सब प्रकार के रोगों से रहित, अतएव **सोम्यं मधु बिभ्रतीः**=शान्त मधुररस—दूध को धारण करती हुई प्राप्त होओ।

भावार्थ—गौओं को किसी प्रकार का भय प्राप्त न हो। वे सब प्रकार के रोगों से रहित हों। ऐसी गौएँ शान्ति देनेवाला तथा मधुर रसवाला दूध प्राप्त कराती हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गोष्ठः, अर्यमादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

समृद्ध होती हुई गौएँ हमारा पोषण करें

इहैव गाव एतनेहो शकेव पुष्यत। इहैवोत प्र जायध्वं मयि संज्ञानमस्तु वः॥ ४॥

१. हे **गावः**=गौओ! **इह एव**=यहाँ ही **एतन**=आओ—हमारे गोष्ठ में तुम्हारी स्थिति हो। **इह उ**=और यहाँ ही **शका इव पुष्यत**=समर्था गृहपत्नी के समान पोषण करनेवाली होओ **उत**=और इह **एव**=यहाँ और यहाँ ही **प्रजायध्वम्**=बच्चों (बछड़े-बछड़ियों) से बढ़ो। **मयि**=मेरे विषय में **वः**=तुम्हारा **संज्ञानम्**=प्रेम **अस्तु**=हो।

भावार्थ—हमारे गोष्ठ में वृद्धि को प्राप्त होती हुई गौएँ हमारा पोषण करनेवाली हों। उन गौओं के साथ हमारा प्रेम हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गोष्ठः, अर्यमादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शिवः गोष्ठः

शिवो वो गोष्ठो भवतु शारिशाकेव पुष्यत।
इहैवोत प्र जायध्वं मया वः सं सृजामसि॥ ५॥

१. हे गौओ! **गोष्ठः**=यह गोशाला **वः**=तुम्हारे लिए **शिवः भवतु**=कल्याणकर हो। इसमें स्थित हुई-हुई तुम **शारिशाका इव**=शालिधान्य की शक्ति की भाँति **पुष्यत**=हमारा पोषण करनेवाली होओ। जैसे यह धान्य हमारे रोगों को शीर्ण करता हुआ हमारी शक्ति का वर्धन करता है, उसी प्रकार ये गौएँ अपने दूध से हमारा पोषण करें। २. **उत**=और हे गौओ! **इह एव**=यहाँ ही **प्रजायध्यम्**=सन्तानों से वृद्धि को प्राप्त होओ। हम **मया**=अपने साथ **वः**=तुम्हें **संसृजामसि**=संसृष्ट करते हैं।

भावार्थ—गौओं के लिए गोष्ठ सुखद हो। इस गोष्ठ में स्थित गौएँ शालिधान्य की शक्ति की भाँति हमें शक्ति प्राप्त करानेवाली हों। इन बढ़ती हुई गौओं का हमारे साथ सम्बन्ध हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गोष्ठः, अर्यमादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्**॥

गोपति के साथ गौओं का मेल

मया गावो गोपतिना सचध्वमयं वो गोष्ठ इह पोषयिष्णुः।
रायस्पोषेण बहुला भवन्तीर्जीवा जीवन्तीरुप वः सदेम॥ ६॥

१. हे **गावः**=गौओ! **गोपतिना**=गौओं के रक्षक **मया**=मेरे साथ **सचध्वम्**=तुम्हारा मेल हो **इह**=इस घर में **अयं गोष्ठः**=यह गोष्ठ **वः, पोषयिष्णुः**=तुम्हारा पोषक हो। २. **रायस्पोषेण**=धन के पोषण से **बहुलाः**=बहुत संख्यावाली **भवन्तीः**=होती हुई **जीवन्तीः**=जीवन शक्ति से युक्त **वः**=तुम्हें **जीवाः**=जीवनशक्ति से युक्त हम **उपसदेम**=समीपता से प्राप्त हों। जितना हमारा धन का पोषण हो उतना ही हम गौओं के बढ़ानेवाले हों। गौएँ ही हमें जीवनशक्ति प्राप्त कराएँगी।

भावार्थ—हमारे गोष्ठ में गौओं का पोषण हो और गौएँ हमारा पोषण करनेवाली हों।

विशेष—अगले सूक्त का विषय वाणिज्य है। इसका ऋषि 'अथर्वा' है, जो प्रलोभनवश डाँवाडोल नहीं हो जाता (न थर्वति)। यह धर्म के मार्ग से ही धन कमाता है। वह कामना करता है—

१५. [पञ्चदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

'महान् वणिक्' इन्द्र

इन्द्रमहं वणिजं चोदयामि स न ऐतु पुरएता नो अस्तु।
नुदन्नरातिं परिपन्थिनं मृगं स ईशानो धनदा अस्तु मह्यम्॥ १॥

१. **अहम्**=मैं **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली **वणिजम्**=महान् वाणिज्यकर्ता प्रभु को (देहि मे ददामि ते०—यजु:०) **चोदयामि**=इस बात के लिए प्रेरित करता हूँ कि **सः**=वह **नः**=हमें **ऐतु**=प्राप्त हो और प्राप्त होकर हमारा **पुरः एता**=आगे चलनेवाला—पथ-प्रदर्शक हो। हम अपने सब व्यवहार प्रभु-स्मरणपूर्वक करें। २. **अरातिम्**=वाणिज्य-विघातक शत्रुओं को **परिपन्थिनम्**=मार्गनिरोधक चोरों को और **मृगम्**=व्याघ्र आदि को भी **नुदन्**=हमारे मार्ग से दूर करते हुए ये **ईशानः**=नियन्ता ईश्वर **मह्यम्**=मेरे लिए **धनदाः, अस्तु**=वाणिज्यलाभरूप धनों के प्रदाता हों। ३. प्रभु सबसे बड़े वणिक् हैं। जैसा हम कर्म करते हैं, वैसा ही वे फल देते हैं—न कम, न अधिक। इस प्रभु का स्मरण हमें वाणिज्य में सफल करनेवाला हो। यदि हम प्रभु-स्मरण करेंगे तो कुटिलता व छल-छिद्र से दूर रहेंगे।

भावार्थ—हम प्रभु-स्मरणपूर्वक व्यापार करें, प्रभु ही हमारे पथ-प्रदर्शक हों। हमारे मार्ग में 'अराति, परिपन्थी व मृग' विघातक न हों।

ऋषिः—**अथर्वा (पण्यकामः)** ॥ देवता—**पन्थानः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मार्गों में खान-पान की व्यवस्था का ठीक होना

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि॥ २॥

१. **ये**=जो **देवयानाः**=(दीव्यन्ति व्यवहरन्ति इति देवा वणिजः, ते यत्र यान्ति) व्यापारियों के आने-जाने के **बहवः पन्थानः**=बहुत-से मार्ग **द्यावापृथिवी अन्तरा**=द्युलोक व पृथिवीलोक के मध्य में **संचरन्ति**=(वर्तन्ते) हैं, **ते**=वे सब मार्ग **मा**=मुझे **घृतेन**=दूध-घृत आदि—जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक पदार्थों से **जुषन्ताम्**=सेवन करनेवाले हों। इन मार्गों में खान-पान की सब व्यवस्था बड़ी ठीक हो। २. **यथा**=जिससे मैं **क्रीत्वा**=क्रय-विक्रय करके **धनम्**=लाभसहित मूलधन को **आहराणि**=अपने घर में लानेवाला बनूँ।

भावार्थ—व्यापार के लिए जिन मार्गों में आना-जाना होता है, वहाँ खान-पान आदि की सुव्यवस्था हो, जिससे स्वस्थ रहकर हम ठीक से व्यापार कर सकें।

ऋषिः—**अथर्वा (पण्यकामः)** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'अग्निहोत्र व प्रभु-वन्दन' से व्यवहार में कुशलता

इध्मेनाग्न इच्छमानो घृतेन जुहोमि हव्यं तरसे बलाय।
यावदीशे ब्रह्मणा वन्दमान इमां धियं शतसेयाय देवीम्॥ ३॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **इच्छमानः**=वाणिज्यलाभ की कामना करता हुआ मैं **इध्मेन**=इन्धनसाधन

समित् समूह से (समिधाओं से) **घृतेन**=घृत के साथ **हव्यम्**=हवि को **जुहोमि**=आहुत करता हूँ, जिससे मुझमें **तरसे**=वेग—शीघ्र-गमनशक्ति हो तथा **बलाय**=शरीर का समार्थ्य बना रहे। २. **यावत्**=जितना-जितना मैं **ईशे**=ईश व धन-सम्पन्न बनता हूँ, उतना ही **ब्रह्मणा**=स्तोत्ररूप मन्त्रों से **वन्दमानः**=आपका वन्दन करता हुआ **इमाम्**=इस **देवीम्**=द्योतमान व्यवहार-कुशल **धियम्**=बुद्धि को **शतसेयाय**=असंख्यात धन लाभ के लिए करता हूँ। प्रभु-स्मरणपूर्वक मुझे वह व्यवहार-कुशल बुद्धि प्राप्त होती है, जोकि मेरे लिए खूब लाभ का साधन बनती है।

भावार्थ—अग्निहोत्र से मैं शरीर में वेग व बल का सम्पादन करता हूँ। प्रभु-वन्दन से बुद्धि को व्यवहार-कुशल बनता हूँ, इसप्रकार खूब ही धन-लाभवाला होता हूँ।

ऋषिः—**अथर्वा (पण्यकामः)**॥ देवता—**प्रपणः विक्रयश्च**॥ छन्दः—**षट्पदाबृहतीगर्भा-विराडत्यष्टिः**॥

प्रपणः विक्रयः च

इमाम॑ग्ने श॒रणिं॑ मीमृषो नो॒ यमध्वा॑नमगा॑म दू॒रम्।
शु॒नं नो॑ अस्तु प्र॒प॒णो वि॒क्र॒यश्च॑ प्रति॒प॒णः फ॒लिनं॑ मा कृणोतु।
इ॒दं ह॒व्यं सं॑विदा॒नौ जु॑षेथां शु॒नं नो॑ अस्तु च॒रि॒तमुत्थि॑तं च॥ ४॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **नः**=हमारी **इमम्**=इस **शरणिम्**=प्रवास के कारण होनेवाली व्रतलोपरूपी हिंसा को **मीमृषः**=क्षमा (सहन) करो, चूँकि **यम् दूरं अध्वानम् अगाम**=जिन दूर मार्ग पर हम आये हुए हैं, मार्ग में सब सुविधा न होने से हम अग्निहोत्र के व्रत का पालन नहीं कर सके हैं, उसे आप क्षमा करेंगे। २. आपकी कृपा से **नः**=हमारा **प्रपणः**=क्रय **च**=और **विक्रयः**=विक्रय **शुनं अस्तु**=सुखप्रद हो। **प्रतिपणः**=वस्तुओं का लौट-फेर **मा**=मुझे **फलिनं कृणोतु**=फलवाला करे। हे इन्द्र और अग्ने! **संविदानौ**=आप ऐकमत्य को प्राप्त हुए-हुए **इदं हव्यं जुषेथाम्**=इस हव्य का सेवन करें। **नः**=हमारे **चरितम्**=सब व्यापार-व्यवहार **उत्थितं च**=और उससे होनेवाला लाभ **शुनं अस्तु**=सुखदायक हो।

भावार्थ—मार्ग में घर से दूर होने पर कई बार अग्निहोत्र आदि व्रतों का लोप हो जाता है, उसे प्रभु क्षमा करेंगे। प्रभु के अनुग्रह से हमारा क्रय-विक्रय सुखद हो। वस्तुओं का विनिमय लाभप्रद हो। व्यापार व व्यवहारजनित सब लाभ सुखकारी हों। इन्द्र और अग्नि की हमें अनुकूलता प्राप्त हो। प्रभु-वन्दन व अग्निहोत्र से हमारा व्यापार सफल हो।

ऋषिः—**अथर्वा (पण्यकामः)**॥ देवता—**देवाः, अग्निः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥

भूयः, न तु कनीयः

येन॒ धने॑न प्र॒प॒णं चरा॑मि॒ धने॑न देवा॒ धन॑मि॒च्छमा॑नः।
तन्मे॒ भूयो॑ भवतु॒ मा कनी॒योऽग्ने॑ सात॒घ्नो दे॒वान्ह॒विषा॒ नि षे॑ध॥ ५॥

१. हे **देवाः**=सब व्यवहारों के साधक देवो! **धनेन**=मूलधन से **धनम्**=वृद्धियुक्त धन को **इच्छमानः**=चाहता हुआ मैं **येन धनेन्**=जिस धन से **प्रपणं चरामि**=क्रय करता हूँ **तत्**=वह **मे**=मेरा धन **भूयः भवतु**=बहुतर हो जाए, बढ़ ही जाए, **कनीयः**=अल्पतर **मा**=मत हो जाए। २. **अग्ने**=व्यापार में प्रगति प्राप्त करानेवाले प्रभो! **सातघ्नः**=लाभ के प्रतिबन्धक **देवान्**=(दीव्यन्ति) सट्टे आदि का व्यापार करनेवालों को **हविषा निषेध**=हवि के द्वारा हमसे दूर कर दें। त्यागपूर्वक अदन (खाने) की वृत्ति को (हवि को) प्राप्त करके हम इन द्यूत-व्यापारों से दूर रहें।

भावार्थ—हम व्यापार में द्यूत आदि व्यवहारों से दूर रहते हुए अपने धनों का सदा वर्धन

करनेवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा (पण्यकामः)**॥ देवता—**देवाः, इन्द्रः, प्राजपतिः, सविता, सोमः, अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

इन्द्रः, प्रजापतिः, सविता, सोमः, अग्निः

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।
तस्मिन्म इन्द्रो रुचिमा दधातु प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः॥ ६॥

१. **येन**=जिस **धनेन**=मूलधन से **प्रपणम् चरामि**=क्रय करता हूँ, हे **देवाः**=व्यवहारसाधक देवो! इस **धनेन**=धन से **धनम् इच्छमानः**=वृद्धियुक्त धन को चाहता हुआ मैं ऐसा करता हूँ। २. **तस्मिन्**=उस व्यवहार में **इन्द्रः**=जितेन्द्रियता की देवता **मे**=मेरी **रुचिम्**=रुचि को **आदधातु**=धारण करे, जितेन्द्रिय बनकर मैं उस व्यापार को रुचि से करूँ। **प्रजापतिः**=प्रजा का रक्षक देव, अर्थात् प्रजा के—सन्तान के पालन की भावना मुझे उसमें रुचिवाला करे। इसीप्रकार **सविता**=निर्माण की भावना, **सोमः**=सौम्यता का भाव और **अग्निः**=प्रगति की भावना मुझे उसमें रुचिवाला करे। 'सोमः' शब्द सौम्यता का प्रतिपादन करता हुआ यह स्पष्ट कर रहा है कि एक व्यापारी को अवश्य सौम्य स्वभाव का बनना है, उग्र स्वभाव नहीं।

भावार्थ—मैं जितेन्द्रिय, सन्तान के रक्षण की भावनावाला, निर्माता, सौम्य व प्रगतिवाला बनकर अपने व्यापार को रुचि से करूँ।

ऋषिः—**अथर्वा (पण्यकामः)**॥ देवता—**वैश्वानरः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

नमसा उपस्तुमः

उप त्वा नमसा वयं होतर्वैश्वानर स्तुमः। स नः प्रजास्वात्मसु गोषु प्राणेषु जागृहि॥ ७॥

१. हे **होतः**=सब पदार्थों के देनेवाले **वैश्वानर**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले प्रभो! **वयम्**=हम **त्वा**=आपको प्राप्त होकर **नमसा**=नमन के साथ **उपस्तुमः**=स्तुत करते हैं। प्रातः-सायं नम्रतापूर्वक आपकी स्तुति करते हैं। २. **सः**=वे आप **नः**=हमारी **प्रजासु**=प्रजाओं के विषय में **आत्मसु**=हमारे विषय में तथा **गोषु, प्राणेषु**=हमारी इन्द्रियों और प्राणों के विषय में **जागृहि**=सदा जाग्रत् रहिए। इनका रक्षण आपको ही तो करना है।

भावार्थ—हम प्रातः-सायं नम्रता से प्रभु का स्तवन करें, प्रभु ही हमारी सन्तानों व हमारा रक्षण करनेवाले हैं।

ऋषिः—**अथर्वा (पण्यकामः)**॥ देवता—**जातवेदः**॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्**॥

प्रभु के प्रतिवेश बनें

विश्वाहा ते सदमिद्भरेमाश्वायेव तिष्ठते जातवेदः।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम॥ ८॥

१. **जातवेदः**=सर्वज्ञ (विद ज्ञाने) व सर्वव्यापक (विद सत्तायाम्) प्रभो! **अश्वाय इव**=(अश्नुते कर्मसु) सदा कर्मों में व्याप्त के समान **तिष्ठते**=स्थित **ते**=आपके लिए हम **विश्वाहा**=बस दिन, **सदम् इत्**=सदा ही **भरेम**=हवि देनेवाले हों। हवि के द्वारा ही तो आपका पूजन होता है। २. हवि के द्वारा आपका पूजन करते हुए हम **रायस्पोषेण**=धन के पोषण से व **इषा**=सात्त्विक अन्न से **सम्मदन्तः**=सम्यक् आनन्द का अनुभव करते हुए हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **ते प्रतिवेशाः**=उपासना द्वारा आपके प्रत्यासन्न (निकटतम) बनें और **मा रिषाम**=हिंसित न हों।

भावार्थ—उस 'जातवेदस्, अश्व, अग्नि' प्रभु का हवि के द्वारा पूजन करते हुए हम धन

के पोषण व उत्तम अन्न से आनन्दित हों। प्रभु के प्रत्यासन्न होते हुए हम कभी पतित न हों।

विशेष—प्रभु का प्रतिवेश बननेवाला यह उपासक 'अथर्वा' होता है, न डाँवाडोल तथा आत्मनिरीक्षक (न थर्वति, अथ अर्वाङ्)। यह कल्याण के लिए प्रभु से 'प्रातरग्निम्' इन मन्त्रों से प्रार्थना करता है—

अथ षष्ठः प्रपाठकः

१६. [षोडशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्नीन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**आर्षीजगती** ॥

कैसा जीवन?

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हवामहे॥ १॥

१. जीवन के प्रभात में हम **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु को **हवामहे**=पुकारते हैं, अपने अन्दर प्रगति की भावना को भरते हैं। **प्रातः**=प्रातःकाल में **इन्द्रम्**=जितेन्द्रियता की भावना को अपने में भरते हैं। सारी प्रगति जितेन्द्रियता पर ही निर्भर है। २. **प्रातः**=प्रातःकाल हम **मित्रावरुणा**=स्नेह व निर्द्वेषता की देवता को पुकारते हैं और **प्रातः**=इस प्रातःकाल में **अश्विना**=प्राणापान को पुकारते हैं। प्राण-साधना ही हमें द्वेष से दूर करके स्नेहवाला बनाती है। ३. **प्रातः**=प्रातःकाल हम **भगम्**=ऐश्वर्य की देवता को पुकारते हैं जो **पूषणम्**=हमारा पोषण करनेवाली है तथा **ब्रह्मणस्पतिम्**=ज्ञान का रक्षण करनेवाली है। ४. **प्रातः**=प्रातःकाल में हम **सोमम्**=सौम्यता व विनीतता के देवता को **हवामहे**=पुकारते हैं **उत**=और **रुद्रम् (हवामहे)**=रुद्र की अराधना करते हैं, शत्रुओं के लिए रुद्र बनते हैं।,

भावार्थ—हम प्रातःकाल जितेन्द्रियता, द्वेषशून्यता, स्नेहशीलता, सौम्य व रुद्र भावनाओं को अपने जीवन में धारण करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भगः** ॥ छन्दः=—**त्रिष्टुप्** ॥

कौन-सा धन?

प्रातर्जितं भगमुग्रं हवामहे वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह॥ २॥

१. हम **प्रातः**=प्रतिदिन प्रातःकाल **जितम्**=पुरुषार्थ से कमाये **भगम्**=धन को **हवामहे**=पुकारते हैं, जोकि **उग्रम्**=हमें तेजस्वी बनता है। **वयम्**=हम उस धन को चाहते हैं जोकि **पुत्रम्**=(पुनाति त्रायते) हमें पवित्र करता और हमारा रक्षण करता है और **यः**=जो **अदितेः**=(अ+दिति) स्वास्थ्य का **विधर्ता**=विशेषरूप से धारण करनेवाला है। २. हम उस धन को चाहते हैं **यम्**=जिसे **आध्रः चित्**=पोषण योग्य भी **भक्षि इति आह**='मैं इसे खाता हूँ' ऐसा कहता है। इसके अतिरिक्त **मन्यमानः**=मनुष्यों के आदरणीय **तुरः**=बुराइयों के संहार में प्रवृत्त सुधारक पुरुष **चित्**=भी इस धन में भागी होता है और **राजाचित्**=कर-रूप में राजा भी इसमें भाग ग्रहण करता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भगः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

धन व प्रशस्त जीवन

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम॥ ३॥

१. हे **भग**=सेवनीय धन! **प्रणेतः**=तू हमें प्रकर्षेण आगे ले-चलनेवाला है। **भग**=हे ऐश्वर्य की देवते! तू ही **सत्याराधः**=सत्य कार्यों को सिद्ध करनेवाला है। **भग**=ऐश्वर्य! तू **नः**=हमारे लिए **ददत्**=सब आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त करता हुआ **इमां धियम्**=इस बुद्धि को **उत् अव**=उत्कृष्टरूप से रक्षित कर। २. हे **भग**=ऐश्वर्य! तू **नः**=हमें **गोभिः**=गौओं व **अश्वैः**=घोड़ों से **प्रजनय**=प्रकृष्ट विकासवाला बना। हे **भग**=ऐश्वर्य! हम तेरे सद्व्यय से **नृभिः**=मनुष्यों से **नृवन्तः**=प्रशस्त मनुष्योंवाले **प्रस्याम**=हों—हमारे सब पारिवारिक जन प्रशस्त जीवनवाले हों।

भावार्थ—ऐश्वर्य की प्राप्ति से हम सर्वविध फूलें-फलें व समुन्नत हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भगः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पङ्क्तिः** ॥

'प्रातः, मध्याह्न व सायं' का भग

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम्।
उतोदितौ मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ ४ ॥

१. हम **उत**=निश्चय से **इदानीम्**=इस जीवन के प्रातःकाल में—प्रथम सवन (२४ वर्ष की अवस्था तक) में **भगवन्तः**=' ऐश्वर्य व धर्म'-रूप भगवाले **स्याम**=हों, **उत**=और **अह्नां मध्ये**=जीवन के मध्यभाग—द्वितीय सवन (गृहस्थ) में यशयुक्त और श्री सम्पन्न बनें, **उत**=तथा **प्रपित्वे**=जीवन के ढलने पर तृतीय सवन (वानप्रस्थ और संन्यास) में हम 'ज्ञान-वैराग्य' रूप धनवाले हों। इसप्रकार जीवन को छह भगों से पूर्ण बनाकर **वयम्**=हम हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशाली प्रभो! **उत**=निश्चय से **सूर्यस्य उदितौ**=सूर्य के उदय होते ही **देवानाम्**=माता-पिता आदि देवों की **सुमतौ**=कल्याणकारी मति में **स्याम**=सदा निवास करें।

भावार्थ—हम जीवन के षड्विध ऐश्वर्य को प्राप्त करें और सदा देवों की सुमति में रहें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भगः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभुरूप धन

भग एव भगवाँ अस्तु देवास्तेना वयं भगवन्तः स्याम।
तं त्वा भग सर्व इज्जोहवीमि स नो भग पुरएता भवेह ॥ ५ ॥

१. **देवाः**=हे देवा! आपकी कृपा से हम यह समझ लें कि **भगः एव**=एश्वर्य के पुञ्ज प्रभु ही भगवान् **अस्तु**=ऐश्वर्य हैं—प्रभु को ही अपना सच्चा ऐश्वर्य समझें। **तेन**=उस प्रभु से ही **वयम्**=हम **भगवन्तः**=ऐश्वर्यवाले **स्याम**=हों। २. हे **भग**=प्रभुरूप ऐश्वर्य! **तं त्वा**=उस आपको **इत्**=ही **सर्वः जोहवीमि**=सब मनुष्य और मैं भी पुकारता हूँ। हे **भग**=ऐश्वर्य के पुञ्ज प्रभो! **सः**=वे आप **इह**=इस जीवन में **नः**=हमारे लिए **पुरः एता**=पथ-प्रदर्शक **भव**=होओ।

भावार्थ—हम प्रभु को ही वास्तविक धन समझें, कष्टों में उसे ही पुकारें, वही हमारा पथ-प्रदर्शक हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भगः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यज्ञ व ध्यान

समध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय।
अर्वाचीनं वसुविदं भगं मे रथमिवाश्वा वाजिन आ वहन्तु ॥ ६ ॥

१. **उषसः**=उषाकाल **अध्वराय**=यज्ञ के लिए **संनमन्त**=संगत हो, उसी प्रकार **इव**=जैसेकि **दधिक्रावा**=(दधत् क्रामति) धारण करते हुए गति करनेवाले प्रभु **शुचये पदाय**=हृदयरूप पवित्र स्थान के लिए संगत होते हैं, अर्थात् उषाकाल में ध्यान द्वारा हृदयों को पवित्र बनाते हुए प्रभु

दर्शन करें और यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त हों। २. **वाजिनः**=शक्तिशाली घोड़े **इव**=जिस प्रकार **रथम्**=रथ को लक्ष्य पर पहुँचाते हैं, उसी प्रकार **नः**=हमारे लिए **अश्वाः**=ये इन्द्रिय-अश्व उस **भगम्**=ऐश्वर्य के पुञ्ज **वसुविदम्**=सब धनों को प्राप्त करानेवाले, **अर्वाचीनम्**=(अर्वाग् अञ्चति) हमारे हृदयों में गति करनेवाले प्रभु को **मे**=मुझे—हमें **आवहन्तु**=प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—हम उषाकाल में उठकर यज्ञ करें, प्रभु-उपासना से प्रभु-दर्शन करें। हमारी इन्द्रियाँ हमें प्रभु की ओर ले-चलें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भगः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'अश्वावतीः, गोमतीः वीरवतीः' उषासः

अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः।
घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ ७॥

१. हे प्रभो! **नः**=हमारे लिए **अश्वावतीः**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाली, **गोमतीः**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाली तथा **वीरवतीः**=प्रशस्त यज्ञाग्नियोंवाली (वीर=the sacrificial fire) **उषासः**=उषाएँ **सदम्**=सदा **उच्छन्तु**=रात्रि के अन्धकार को दूर करनेवाली हों। ये उषाएँ **भद्राः**=हमारे लिए कल्याणकर हों। २. **घृतम्**=ज्ञानदीप्ति को हमारे अन्दर **दुहानाः**=पूर्ण करती हुई तथा **विश्वतः**=सब प्रकार से वृद्धि को प्राप्त हुई-हुई ये उषाएँ हमारे लिए सचमुच कल्याण का कारण बनें। **यूयम्**=सब देवो! आप **स्वस्तिभिः**=कल्याण-मार्गों के द्वारा **सदा**=सदा **नः**=हमें **पात**=सुरक्षित करो।

भावार्थ—उषाकाल में प्रबुद्ध होकर हम उत्तम कर्मेन्द्रियों और ज्ञानेन्द्रियोंवाले बनें, यज्ञशील हों हमारा ज्ञान बढ़े और हम सब प्रकार से वृद्धि को प्राप्त हों।

विशेष—अब यह उपासक सबका मित्र बनता है,'विश्वामित्र' नामवाला होता है। यह कृषि आदि उपकारी कार्यों में ही प्रवृत्त होता है—

१७. [सप्तदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सीता** ॥ छन्दः—**आर्षीगायत्री** ॥

हल, जुआ, बैल

सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वि तन्वते पृथक्। धीरा देवेषु सुम्नयौ॥ १॥

१. **कवयः**=मेधावी लोग **सीरा**=हलों को **युञ्जन्ति**=कर्षण के लिए जोड़ते हैं। **धीराः**=धीमान्-बुद्धिमान् ये लोग **युगा**=जुओं को **पृथक् वितन्वते**=बैलों के कन्धों पर फैलाते हैं। २. ये बुद्धिमान् कवि **देवेषु**=देवों के विषय में **सुम्नयौ**=(सुम्नं सुखकर हविर्लक्षणमन्नं यातः प्रापयतः) सुखकर अन्नों को प्राप्त करानेवाले बैलों को (युञ्जन्ति) जोतते हैं।

भावार्थ—बुद्धिमान् पुरुष हलों को जोतते हैं, जुओं को बैलों के कन्धों पर डालते हैं, बैलों को जोतकर यज्ञार्थ अन्नों को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सीता** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सफल कृषि

युनक्त सीरा वि युगा तनोत कृते योनौ वपतेह बीजम्।
विराजः श्नुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमा यवन्॥ २॥

१. हे कृषीवलो (किसानो)! **सीरा युनक्त**=हलों को युगों के साथ जोड़ो और **युगा वितनोत**=जुओं को बैलों के कन्धों पर फैलाओ तथा **योनौ**=उत्पत्ति-योग्य **इह**=इस **कृते**=कृष्टक्षेत्र

में **बीजम्**=जौ-चावल आदि के बीजों को **वपत**=बोओ। २. **विराजः**=(अन्नं वै विराट्-तै० ३.८.१०.४) अन्न के **श्नुष्टिः**=(शु अश) आशु प्रापक गुच्छे **सभराः**=फलभार सहित **नः**=हमारे **असत्**=होवें। **नेदीयः इत्**=(अन्तिकतमम्) अत्यल्प काल में **पक्वम्**=पके हुए फलों से युक्त जौ-चावल आदि को **सृण्यः**=लवणसाधन हँसुवे या दराँत आदि **आयवन्**=प्राप्त हों।

भावार्थ—हल जोतकर भूमि को ठीक करके हम बीज बोएँ। यह शीघ्र ही अंकुरित होकर पक्व गुच्छे का रूप धारण करे और दराँती से काटा जाए।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सीता** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

उत्तम भूमि+उत्तम वाहन

लाङ्गलं पवीरवत्सुशीमं सोमसत्सरु।
उदिद्वपतु गामविं प्रस्थावद्रथवाहनं पीबरीं च प्रफर्व्य [म्]॥ ३॥

१. **लाङ्गलम्**=हल **पवीरवत्**=(लाङ्गले प्रोतं लोहमयं शल्यम्) अच्छे फालवाला **सुशीमम्**=उत्तम सुख देनेवाला **सोमसत्सरु**=(स उम, वे+मन्) रस्सी आदि और उत्तम मूठ से युक्त है। २. यह हल **इत्**=निश्चय से **गाम्**=इस पृथिवी को **अविम्**=रक्षा करनेवाली **च**=तथा **पीबरीम्**=अन्न आदि के द्वारा वृद्धिवाली **उद्वपतु**=बनाये तथा **इत्**=निश्चय से **रथवाहनम्**=रथों को वहन करनेवाले अश्व व बैल आदि को **प्रस्थावत्**=गमनसमर्थ तथा **प्रफर्व्यम्**=प्रकर्षेण गतिशील (उद्वपतु) सम्पादित करे। खेती ठीक होने पर ये सब वस्तुएँ भी अच्छी हो सकेंगी।

भावार्थ—हल उत्तम फाल, रस्सी व मूठ से युक्त हुआ-हुआ पृथिवी से उत्तम अन्न को प्राप्त करानेवाला हो और हमें समृद्ध करके उत्तम रथों को वहन करनेवाले अश्व आदि को प्राप्त कराए।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सीता** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पयस्वती सीता

इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषाभि रक्षतु। सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्॥ ४॥

१. **इन्द्रः**=(इरां दृणाति-निरु० १०.८) हल के द्वारा पृथिवी का विदारण करनेवाला यह कृषक **सीताम्**=लाङ्गलपद्धिति को **निगृह्णातु**=(नीचीनं गृह्णातु) अधिक-से-अधिक नीचे तक ग्रहण करे। **तम्**=उस लाङ्गलपद्धति को **पूषा**=अन्न आदि के द्वारा सबका पोषण करनेवाला यह किसान **अभिरक्षतु**=रक्षित करे। २. **सा**=वह लाङ्गलपद्धति **पयस्वती**=जलवाली होती हुई **नः**=हमारे लिए **उत्तराम् उत्तराम् समाम्**=अगले-अगले वर्षों में **दुहाम्**=जौ-चावल आदि अन्नों का दोहन करनेवाली हो।

भावार्थ—हल कुछ गहराई तक भूमि को खोदनेवाला हो। हल-जनित सीताएँ ठीक से सुरक्षित हों। ये पानी से सींची जाकर अन्नों को उत्पन्न करनेवाली हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सीता** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सुपिप्पला ओषधिः

शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अनु यन्तु वाहान्।
शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तमस्मै॥ ५॥

१. **सुफाला**=शोभन लाङ्गलमुख (फाल) **भूमिम्**=भूमि को **शुनम्**=सुखकररूप में **वितुदन्तु**=कृष्ट करें—जोतें। **कीनाशाः**=किसान **शुनम्**=सुखपूर्वक **वाहान् अनुयन्तु**=बैलों के पीछे चलें।

२. **शुनासीरा**=(शुनो वायुः, सीर आदित्य—नि० ९.४०) वायु और सूर्य **हविषा**=अग्निहोत्र में आहुत हव्य पदार्थों से **तोशमाना**=(तोश to kill) सब कृमियों का नाश करते हुए **अस्मै**=इस कृषक के लिए **ओषधीः**=जौ-चावल आदि अन्नों को **सुपिप्पलाः कर्तम्**=शोभन फलोंवाला करें।

भावार्थ—कृषि के लिए उत्तम फालोंवाले हल हों, उत्तम बैल हों, किसान समझदार हों, अग्निहोत्र द्वारा सूर्य व वायु कृमिनाशक हों। इसप्रकार सब ओषधियाँ उत्तम फलों से युक्त हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सीता** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सुखकर कृषिकर्म

शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम्। शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय ॥ ६ ॥

१. **वाहाः**=बलीवर्द (बैल) **शुनम्**=सुख से (कृषन्तु)=हलों को खैंचें **नरः**=कृषि करनेवाले मनुष्य **शुनम्**=सुख से कृषि करें। **लाङ्गलम्**=हल **शुनम्**=उत्तम प्रकार से **कृषतु**=भूमि को कृष्ट करे—जोते। **वरत्राः**=रस्सियाँ **शुनम्**=सुखपूर्वक **बध्यन्ताम्**=बाँधी जाएँ। **अष्ट्राम्**=प्रतोद (चाबुक, साँटे) को **शुनम्**=सुख के लिए **उदिङ्गय**=प्रेरित कर—क्रूरता से इसका प्रयोग मत कर।

भावार्थ—सारा कृषि-कार्य सुखपूर्वक हो।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सीता** ॥ छन्दः—**विराट्पुरउष्णिक्** ॥

शुनासीरा (वायु और सूर्य)

शुनासीरेह स्म मे जुषेथाम्। यद्दिवि चक्रथुः पयस्तेनेमामुप सिञ्चतम् ॥ ७ ॥

१. **शुनासीरा**=वायु और सूर्य **इह स्म**=यहाँ ही **मे**=मेरे द्वारा दी जानेवाली हवि को **जुषेथाम्**=प्रेमपूर्वक सेवन करें, अर्थात् मेरा यह यज्ञ वायु व सूर्यदेव के लिए प्रीतिकर हो। '**यज्ञाद् भवति पर्जन्यः**'=इन यज्ञों के द्वारा बादलों की उत्पत्ति हो। २.वायु व सूर्य इन बादलों के द्वारा **यत्**=जो **दिवि**=द्युलोक में **पयः चक्रथुः**=जल को उत्पन्न करते हैं **तेन**=उस वृष्टिजल से **इमाम्**=इस भूमि को **उपसिञ्चतम्**=सींचें।

भावार्थ—यज्ञों के द्वारा उत्पन्न बादलों से वायु व सूर्य जल का वर्षण करके पृथिवी को सींचनेवाले हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सीता** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥

सु मनाः सु फला

सीते वन्दामहे त्वार्वाची सुभगे भव। यथा नः सुमना असो यथा नः सुफला भुवः ॥ ८ ॥

१. हे **सीते**=लाङ्गलपद्धति—जुती हुई भूमे! हम **त्वा वन्दामहे**=तेरा स्तवन करते हैं। हे **सुभगे**=उत्तम ऐश्वर्य को प्राप्त करानेवाली सीते! तू **अर्वाची भव**=हमारे अभिमुख हो। २. इस प्रकार तू हमारे अभिमुख हो **यथा**=जिससे **नः**=हमारे लिए **सुमनाः**=उत्तम मन को प्राप्त करानेवाली **असः**=हो और **यथा**=जिससे **नः**=हमारे लिए **सुफला**=उत्तम फलों को देनेवाली **भुवः**=हो।

भावार्थ—लाङ्गपद्धति हमारे लिए उत्तम ऐश्वर्य को प्राप्त कराती हुई हमें उत्तम (प्रसन्न) मनवाला करे और उत्तम फलों को प्रदान करे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**सीता** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'घृतेन+मधुना' समक्ता

घृतेन सीता मधुना समक्ता विश्वैर्देवैरनुमता मरुद्भिः।
सा नः सीते पयसाभ्याववृत्स्वोर्जस्वती घृतवत्पिन्वमाना ॥ ९ ॥

१. **सीता**=यह लाङ्गलपद्धति **घृतेन**=जल से तथा **मधुना**=शहद से **समक्ता**=सम्यक् सिक्त हुई है। यह **विश्वैः देवैः**=सूर्यादि सब देवों से तथा **मरुद्भिः**=वृष्टिवाहक वायुओं से **अनुमता**=अङ्गीकृत हुई है—वे सब इसके अनुकूल हैं। २. हे **सीते**=लाङ्गलपद्धते! **सा**=वह तू **पयसा**=उदक (जल) से सींची हुई **नः अभि आववृत्स्व**=हमारे अभिमुख—अनुकूल हो। तू **ऊर्जस्वती**=बल से युक्त हो तथा **घृतवत्**=घृतयुक्त अन्न को **पिन्वमाना**=हमारे लिए सिक्त करनेवाली हो।

भावार्थ—घृत व मधु से सिक्त हुई-हुई भूमि सूर्य-वायु आदि की अनुकूलता होने पर हमें बल व प्राणशक्ति प्राप्त कराए और घृतवत् अन्न देनेवाली हो।

विशेष—गत सूक्त के अनुसार वानस्पतिक पदार्थों का सेवन करनेवाला यह व्यक्ति भोगवृतिवाला न बनकर योगवृतिवाला बनता है—'अ-थर्वा' कहलाता है (न थर्वति चरति)—डाँवाडोल नहीं होता। यह अथर्वा जितेन्द्रिय है। इसकी पत्नी इन्द्राणी है। यदि अथर्वा भोगवृत्ति को अपनाये तो यह भोगवृत्ति इन्द्राणी की सपत्नी (सौत) हो जाती है। इन्द्राणी इस सपत्नी के दुःख को सहने को उद्यत नहीं। वह उसके विनाश के लिए आत्मविद्या-(योगविद्या)-रूप ओषधि को आचार्य से प्राप्त करने के लिए यत्नशील होती है। आत्मविद्या इन्द्राणी की सपत्नी का विनाश करती है।

१८. [अष्टादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः (बाणपर्णी)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आत्मविद्यारूप ओषधि

इमां खनाम्योषधिं वीरुधां बलवत्तमाम्।
यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम्॥ १ ॥

१. **इमाम्**=इस **ओषधिम्**=दोषों का दहन करनेवाली आत्मविद्या को **खनामि**=अत्यन्त श्रम के द्वारा आचार्य से प्राप्त करता हूँ। यह ओषधि **वीरुधाम्**=वीरुधा है—विशेषरूप से मेरा रोहण (विकास) करनेवाली है, **बलवत्तमाम्**=मुझे अतिशयित बल प्राप्त करानेवाली है, अथवा यह अन्य ओषधियों से बलवत्तमा है—सर्वाधिक बलवाली है। २. यह आत्मविद्या वह है **यया**=जिससे **सपत्नीम्**=इन्द्राणी की सपत्नीरूप भोगवृत्ति को **बाधते**=दूर रोका जाता है, **यया**=जिसके द्वारा **पतिं संविन्दते**=सर्वरक्षक पतिरूप प्रभु को प्राप्त किया जाता है। आत्मविद्या द्वारा भोगवृत्ति के विनष्ट होने पर हम परमात्मा को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम आचार्य से आत्मविद्या को प्राप्त करके भोगवृत्ति को अपने से दूर करें तभी हम योगवृत्ति को अपनाकर प्रभुरूप पति को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः (बाणपर्णी)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उत्तानपर्णा-सहस्वती

उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति। सपत्नीं मे परा णुद पतिं मे केवलं कृधि॥ २ ॥

१. आत्मविद्या 'उत्तानपर्णा' है—ऊर्ध्वमुख पर्णोंवाली है—हमें सदा उन्नति की ओर ले-चलनेवाली तथा हमारा पालन व पूरण करनेवाली है। 'सुभगा'—उत्तम ज्ञान व अनासक्ति को उत्पन्न करनेवाली है (भगः=ज्ञान, वैराग्य)। यह 'देवजूता' है—विद्वानों द्वारा हममें प्रेरित होती है। यह आत्मविद्या 'सहस्वती'—काम-क्रोध आदि शत्रुओं को कुचल देनेवाले बल को उत्पन्न करती है। हे **उत्तानपर्णे, सुभगे, देवजूते, सहस्वति**=आत्मविद्ये! तू **मे**=मेरे अन्दर रहनेवाली

इस **सपत्नीं**=इन्द्राणी की सपत्नीभूत भोगवृत्ति को **परानुद**=दूर कर दे। २. एवं, आत्मविद्या के द्वारा भोगवृत्ति से ऊपर उठा हुआ पुरुष यही प्रार्थना करता है कि उस **के-वलम्**=आनन्द में विचरनेवाले **पतिम्**=सर्वरक्षक प्रभु को मे **कृधि**=मेरा कर। मैं प्रभु-प्राप्ति की ही कामनावाला बनूँ।

भावार्थ—आत्मविद्या हमें उन्नत करती है, हममें शत्रुओं का मर्षक बल पैदा करती है और हमें प्रभु में रमणवाला बनाती है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (बाणपर्णी)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

नहि ते नाम जग्राह

नहि ते नाम जग्राह नो अस्मिन्रमसे पतौ। परामेव परावतं सपत्नीं गमयामसि॥ ३॥

१. आत्मविद्या को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति **ते नाम नहि जग्राह**=तेरा नाम नहीं लेता—यह भोगवृत्ति को अपने पास फटकने भी नहीं देता। हे भोगवृत्ते! तू **अस्मिन्**=इस **पतौ**=इन्द्रियों के स्वामी जितेन्द्रिय पुरुष में **नो रमसे**=रमण नहीं करती। अब तू इस इन्द्र की प्रिय नहीं है। २. **सपत्नीम्**=इस इन्द्राणी की सपत्नी भोगवृत्ति को, जोकि **पराम्**=परायी है—शत्रुभूत है—उसे **परावतम् एव**=दूर ही **गमयामसि**=भेजते हैं। इस भोगवृत्ति को मैं अपने पास नहीं फटकने देता।

भावार्थ—आत्मविद्या को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति भोगवृत्ति में रमण नहीं करता, उसे अपने समीप भी नहीं फटकने देता।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (बाणपर्णी)**॥ छन्दः—**अनुष्टुब्गर्भाचतुष्पादुष्णिक्**॥

उत्तराभ्यः उत्तरा=इन्द्राणी, अधराभ्यः अधरा=भोगवृत्ति

उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्यः। अधः सपत्नी या ममाधरा साधराभ्यः॥ ४॥

१. हे **उत्तरे**=उत्कृष्ट आत्मविद्ये! तुझे प्राप्त करके **अहम्, उत्तरा**=मैं भी उत्कृष्ट जीवनवाली बनती हूँ। मैं **इत्**=निश्चय से **उत्तराभ्यः उत्तरा**=उत्कृष्टकतरों से भी उत्कृष्टतर होती हूँ। वस्तुतः आत्मविद्या के प्राप्त होने पर जीवन में किसी प्रकार की अवनति स्थान नहीं पाती। जीवन अधिकाधिक उत्कृष्ट बनता जाता है। २. इन्द्राणी कहती है कि **अधः**=इस आत्मविद्या के परिणामस्वरूप **या मम**=जो यह मेरी **सपत्नी**=भोगवृत्तिरूपी सपत्नी है, **सा**=वह **अधराभ्यः अधरा**=निकृष्ट स्थितिवालों से भी निकृष्टतर स्थितिवाली हो जाती है। वह तो पाँव तले रौंद डाली जाती है। भोगवृत्ति को कुचलकर मैं योगवृत्ति में शरण लेती हूँ।

भावार्थ—आत्मविद्या प्राप्त करके 'इन्द्राणी' की उत्कृष्टतम स्थिति होती है और 'भोगवृत्ति' की निकृष्टतम, भोगवृत्ति तो कुचल दी जाती है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (बाणपर्णी)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उभे सहस्वती भूत्वा

अहमस्मि सहमानाथो त्वमसि सासहिः।
उभे सहस्वती भूत्वा सपत्नीं मे सहावहै॥ ५॥

१. 'इन्द्राणी' आत्मविद्या को सम्बोधित करती हुई कहती है कि **अहम्**=मैं **सहमाना अस्मि**=शत्रुओं का पराभव करनेवाली हूँ। **अथ उ**=और अब **त्वम्**=तू भी **सासहिः**=शत्रुओं का खूब ही पराभव करनेवाली **असि**=है। २. **उभे**=हम दोनों **सहस्वती**=शत्रुओं का मर्षण करने-(कुचल डालने)-वाले बल से युक्त **भूत्वा**=होकर **मे**=मेरी **सपत्नीम्**=सौतरूप इस भोगवृत्ति को **सहावहै**=मसल डालते हैं। इसे समाप्त करके ही वास्तविक आनन्द का अनुभव होता है।

भावार्थ—इन्द्राणी और आत्मविद्या दोनों मिलकर भोगवृत्ति का पराभव कर डालें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः (बाणपर्णी)** ॥ छन्दः—**उष्णिग्गर्भापथ्यापङ्क्तिः** ॥

वत्सं गौ इव

अभि तेऽधां सहमानामुप तेऽधां सहीयसीम्।
मामनु प्र ते मनो वत्सं गौरिव धावतु पथा वारिव धावतु॥ ६ ॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि मैं **ते**=तेरे लिए इस **सहमानाम्**=शत्रुओं का पराभव करनेवाली ब्रह्मविद्या (आत्मविद्या) को **अभि अधाम्**=धारण करता हूँ। इस **सहीयसीम्**=शत्रुओं का खूब ही पराभव करनेवाली ब्रह्मविद्या को **ते अप अधाम्**=तेरे समीप स्थापित करता हूँ। २. इस आत्मविद्या द्वारा शत्रुओं का पराभव होने पर **माम् अनु**=मेरे पीछे—मेरा लक्ष्य करके **ते मनः**=तेरा मन इसप्रकार **प्रधावतु**=दौड़े, **इव**=जैसेकि **वत्सं गौः**=बछड़े का लक्ष्य करके गौ जाती है, अथवा **इव**=जैसे **पथा**=निम्नमार्ग से **वाः**=जल **धावतु**=दौड़ता है। जल स्वभावतः निम्न मार्ग से जाता है, उसी प्रकार हमारा मन स्वभावतः प्रभु की ओर जानेवाला हो।

भावार्थ—आत्मविद्या प्राप्त करके हम शत्रुओं को कुचल डालें और हमारा मन प्रभु की ओर गतिवाला हो, उसी प्रकार प्रभु की ओर गतिवाला हो, जैसे गौ बछड़े की ओर गतिवाली होती है।

विशेष—आत्मविद्या द्वारा शत्रुओं को पराभूत करके यह व्यक्ति 'वशिष्ठ' बनता है, वशियों में श्रेष्ठ(वशिष्ठ) अथवा सर्वोतम निवासवाला (वसु निवासे)। यह प्रार्थना करता है कि—

१९. [एकोनविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पथ्याबृहती** ॥

पुरोहित की राष्ट्र के लिए प्रार्थना

संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं१ बलम्।
संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्येषामस्मि पुरोहितः॥ १ ॥

१. **मे**=मेरा **इदं ब्रह्म**=यह ज्ञान **संशितम्**=सम्यक् तीक्ष्णता को प्राप्त हो—तेजस्वी हो। **वीर्यम्**=मेरा वीर्य व **बलम्**=प्राणमय व मनोमयकोश की शक्ति **संशितम्**=तीक्ष्ण हो—बड़ी तेजस्वी हो। २. **येषाम्**=जिनका मैं **जिष्णुः**=जयशील पुरोहित हूँ, उनकी **क्षत्रम्**=क्षतों से रक्षण की शक्ति क्षात्रबल **संशितम्**=तीक्ष्ण हो और **अजरम्, अस्तु**=कभी जीर्ण होनेवाला न हो।

भावार्थ—राष्ट्रीय पुरोहित की प्रार्थना होती है कि मेरा ज्ञान व बल खूब तेजस्वी हो। जिनका मैं पुरोहित हूँ उनका क्षात्रबल भी तेजस्वी और न जीर्ण होनेवाला हो।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

त्यागवृत्ति द्वारा शत्रुभुज-छेदन

समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं१ बलम्।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम्॥ २ ॥

१. **अहम्**=मैं **एषाम्**=इनके **राष्ट्रम्**=राष्ट्र को **संस्यामी**=सम्यक् तीक्ष्ण करता हूँ। **ओजः**=इनके ओज को—मानस बल को **सम् (स्यामि)**=तीक्ष्ण करता हूँ और **वीर्यम्**=इनके प्राणमयकोश को वीर्यवान् बनता हूँ, **बलम्**=इनकी शत्रुनाशक शक्ति को भी तीक्ष्ण करता हूँ। २. **अनेन हविषा**=इस हवि के द्वारा—देकर बचे हुए को खाने की वृत्ति के द्वारा—त्याग के द्वारा **अहम्**=मैं **शत्रूणां बाहून्**=शत्रुओं की बाहुओं को **वृश्चामि**=काट डालता हूँ। वस्तुतः जब राष्ट्र में त्याग की वृत्ति

आ जाती है तब राष्ट्रीय शक्ति इनती बढ़ जाती है कि राष्ट्र के शत्रु छिन्न-भुज हो जाते हैं, हमारे राष्ट्र पर आक्रमण करने का उसका साहस जाता रहता है।

भावार्थ—पुरोहित को राष्ट्र को तेजस्वी बनाना है, राष्ट्र की शक्ति का वर्धन करना है, प्रजा में राष्ट्र के लिए त्याग की भावना पैदा करके शत्रुओं को छिन्न-भुज-सा कर डालना है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती** ॥

ज्ञान-प्रसार द्वारा राष्ट्र-शक्ति-वर्धन

नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान्।
क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम्॥ ३॥

१. **ये**=जो भी शत्रु **नः**=हमारे **सूरिम्**=ज्ञानी **मघवानम्**=ऐश्वर्यशाली राजा पर **पृतन्यान्**=सेना से आक्रमण करें वे **नीचैः पद्यन्ताम्**=नीचे गिरें, **अधरे भवन्तु**=और हीन अवस्था में हों—पाँवे तले रौंदे जाएँ। २. **अहम्**=मैं **ब्रह्मणा**=ज्ञान के द्वारा **अमित्रान्**=शत्रुओं को **क्षिणामि**=क्षीण करता हूँ और **स्वान्**=अपनों को **उन्नयामि**=उन्नत करता हूँ।

भावार्थ—राष्ट्र में ज्ञान के प्रसार के द्वारा सारे राष्ट्र की शक्ति का वर्धन हो।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

परशु, अग्नि व वज्र से भी तीव्र

तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत।
इन्द्रस्य वज्रात्तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः॥ ४॥

१. पुरोहित राष्ट्र-सैनिकों में आत्मबल का उद्बोधन करते हुए कहता है कि **येषाम्**=जिनका **पुरोहितः अस्मि**=मैं पुरोहित हूँ, वे **परशोः तीक्ष्णीयांसः**=कुल्हाड़े से भी अधिक तीक्ष्ण हैं। कुल्हाड़ा शत्रुओं का इतना छेदन नहीं कर सकता, जितना कि ये आत्मबल-सम्पन्न वीर कर पाते हैं, **उत**=और ये वीर तो **अग्नेः तीक्ष्णतराः**=अग्नि से भी अधिक तीक्ष्ण हैं। अग्नि ने क्या विध्वंस करना, जो विध्वंस ये वीर कर सकते हैं। २. ये सैनिक तो **इन्द्रस्य वज्रात्**=इन्द्र के वज्र से भी—प्रभु के द्वारा मेघों से गिरायी जानेवाली विद्युत् से भी **तीक्ष्णीयांसः**=अधिक तीक्ष्ण हैं।

भावार्थ—कुल्हाड़ों, अग्नि व विद्युत् से भी शत्रुओं का वैसा छेदन क्या करना, जैसाकि राष्ट्र के आत्मबल-सम्पन्न वीर कर पाते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

राष्ट्र के वीरों में उत्साह का सञ्चार

एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि।
एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वे३षां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः॥ ५॥

१. **एषाम्**=इनके **आयुधा**=आयुधों को **अहम्**=मैं **संस्यामि**=तीक्ष्ण बनाता हूँ। **एषाम्**=इनके **राष्ट्रम्**=राष्ट्र को **सुवीरम्**=उत्तम वीरोंवाला बनाता हुआ **वर्धयामि**=बढ़ाता हूँ। वस्तुतः पुरोहित को ही राष्ट्र में वीरता का सञ्चार करना होता है। २. **ऐषाम्**=इनका **क्षत्रम्**=राष्ट्र को क्षतों से बचानेवाला बल **अजरम् अस्तु**=कभी जीर्ण होनेवाला न हो। इनका यह बल **जिष्णु**=सदा विजयशील हो। **विश्वेदेवाः**=राष्ट्र के सब विद्वान् **एषां चित्तम् अवन्तु**=इनके चित्त का रक्षण करें—इनके चित्तों में उत्साह की कमी न आने दें।

भावार्थ—पुरोहित का कर्त्तव्य है कि राष्ट्ररक्षक वीर क्षत्रियों में विद्वानों के द्वारा सदा उत्साह

का सञ्चार कराता रहे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, इन्द्रः** ॥ छन्दः—**षट्पदात्रिष्टुप्ककुम्मतीगर्भाऽतिजगती** ॥

वीरों का विजयघोष

उद्धर्षन्तां मघवन्वाजिनान्युद्वीराणां जयतामेतु घोषः।
पृथग्घोषा उलुलयः केतुमन्त उदीरताम्।
देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया॥ ६॥

१. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशाली प्रभो! **वीराणाम्**=इन वीरों के **वाजिनान्**=बल **उद्धर्षन्ताम्**=विकसित हों—हर्ष को प्राप्त हों—फूल उठें, **जयताम्**=विजय को प्राप्त करते हुए इन वीरों का **घोषः**=जयघोष **उदेतु**=उदित हो। २. **पृथक्**=अलग-अलग सेना की प्रत्येक टुकड़ी के **उलुलयः**=(उल दाहे, उलां उलयः) सन्तापकों के भी सन्तापक **केतुमन्तः**=विजय पताकाओंवाले **घोषाः**=विजयघोष **उदीरताम्**=आकाश में उदित हों। हमारे वीरों के विजय घोषों को सुनकर शत्रुसैन्य मनों में सन्तप्त हो उठे। **देवाः**=विजय की कामनावाले (दिव् विजिगीषायाम्) **इन्द्रजेष्ठाः**=शत्रुओं का विद्रावक राजा जिनका प्रधान है, ऐसे **मरुतः**=सेनानी **सेनया**=सेना के साथ **यन्तु**=शत्रुसैन्य पर आक्रमण के लिए गतिवाले हों।

भावार्थ—हमारे सैनिकों के बल का विकास हो। वीरों के विजय-घोष आकाश में सर्वत्र उदित हों। विजयपताकाओं को फहराते हुए वीर शत्रुओं को सन्तप्त करें। राजा व सेनापतियों के साथ सेनाएँ आगे बढ़ें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराडास्तारपङ्क्तिः** ॥

विजय

प्रेता जयता नर उग्रा वः सन्तु बाहवः।
तीक्ष्णेषवोऽबलधन्वनो हतोग्रायुधा अबलानुग्रबाहवः॥ ७॥

१. हे **नरः**=आगे बढ़नेवाले वीरो! **प्र-इत**=खूब आगे बढो, **जयत**=विजयी बनो। **वः**=तुम्हारी **बाहवः**=भुजाएँ **उग्राः सन्तु**=बड़ी तेजस्वी हों। २. **तीक्ष्ण-इषवः**=तीक्ष्ण बाणोंवाले, **उग्रायुधाः**=तेजस्वी शस्त्रोंवाले व **उग्रबाहवः**=तेजस्वी भुजाओंवाले तुम इन **अबलधन्वनः**=निर्बल धनुषोंवाले **अबलान्**=निर्बल शत्रुओं को **हत**=विनष्ट कर डालो।

भावार्थ—हमारे वीर आगे बढ़ें। इनकी भुजाएँ शत्रुओं के लिए भयंकर हों। तेजस्वी अस्त्रोंवाले होते हुए हमारे वीर इन निर्बल-से शत्रुओं को परास्त कर डालें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

शत्रु के चुने हुए वीरों का विनाश

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते।
जयामित्रान्प्र पद्यस्व जह्ये[षां वरंवरं मामीषां मोचि कश्चन॥ ८॥

१. हे **ब्रह्मसंशिते**=ज्ञान के द्वारा तीव्र किये गये **शरव्ये**=हिंसा-कुशल इषो (बाण)! तू **अवसृष्टा**=धनुष से छोड़ा हुआ **परापत**=दूर जाकर शत्रुओं पर पड़, शस्त्र को विचारपूर्वक शत्रुओं पर फेंका जाए। २. शरव्ये! तू **जय**=विजय करनेवाली हो। तू **अमित्रान् प्रपद्यस्व**=शत्रुओं पर विशेषरूप से गिर। **एषाम्**=इनके **वरं वरम्**=श्रेष्ठ-श्रेष्ठ सैनिकों को—चुने हुए वीरों को **जहि**=समाप्त कर दे। **अमीषाम्**=इनमें **कश्चन**=कोई भी **मा मोचि**=छूट न जाए।

भावार्थ—हम समझदारी से अस्त्रवर्षा करके शत्रु के चुने हुए वीरों का विध्वंस कर दें। इनमें से कोई बच न पाये। मुख्य सैनिकों के विनाश से सामान्य सैनिकों का विनाश अनावश्यक हो जाता है।

विशेष—विजयी राष्ट्र में तेजस्विता व अभ्युदय की वृद्धि होती है। लोग उत्तम वसुओंवाले, उत्तम निवासवाले 'वसिष्ठ' बनते हैं। यही सूक्त का ऋषि है—

२०. [विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अयं ते योनिः

अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो जातो अरोचथाः।
तं जानन्नग्न आ रोहाधा नो वर्धया रयिम्॥ १॥

१. उपासक प्रभु की आराधना करता हुआ कहता है कि **अयम्**=यह मैं **ते**=आपका **ऋत्वियः**=प्रत्येक ऋतु में होनेवाला **योनिः**=गृह व उत्पत्ति-स्थान हूँ। मैं सदा आपके स्मरण का प्रयत्न करता हूँ। **यतः**=जिससे **जातः**=प्रादुर्भूत हुए-हुए आप **अरोचथाः**=दीप्त हो उठते हो। मैं हृदय में आपके प्रकाश को देखता हूँ। २. **तम्**=उस मुझे **जानन्**=जानते हुए—मेरा ध्यान (देख-भाल) करते हुए **अग्ने**=हे प्रभो! आप **आरोह**=मेरे हृदय में प्रादुर्भूत होओ (रुह प्रादुर्भावे) **अध**=और **नः**=हमारे **रयिम्**=ऐश्वर्य को **वर्धय**=बढ़ाइए।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें, उसके प्रकाश को हृदय में देखें, वे हमारे ऐश्वर्य को बढ़ाएँगे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सुमनाः, धनदाः

अग्ने अच्छा वदेह नः प्रत्यङ् नः सुमना भव।
प्र णो यच्छ विशां पते धनदा असि नस्त्वम्॥ २॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **इह**=यहाँ—इस हृदयदेश में **नः**=हमारे लिए **अच्छा वद**=आभिमुख्येन प्रिय उपदेश दीजिए। **प्रत्यङ्**=अभिमुख प्राप्त होते हुए आप **नः**=हमारे लिए **सुमनाः**=उत्तम मनवाले **भव**=होओ। हमें उत्तम मन प्राप्त कराओ। २. हे **विशांपते**=वैश्वानररूपेण सब प्रजाओं के रक्षक प्रभो! **नः प्रयच्छ**=आप हमारे लिए दीजिए, **त्वम्**=आप ही तो **नः**=हमारे लिए **धनदाः असि**=सब धनों के दाता हैं—आप ही को हमारे लिए आवश्यक धन देने हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें प्रेरणा दें, हमें उत्तम मन प्राप्त कराएँ और हमारे लिए आवश्यक धन प्रदान करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अर्यमा, भगः, बृहस्पतिः, देवीः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सूनृता देवी

प्र णो यच्छत्वर्यमा प्र भगः प्र बृहस्पतिः।
प्र देवीः प्रोत सूनृता रयिं देवी दधातु मे॥ ३॥

१. **नः**=हमारे लिए **अर्यमा**='अरीन् यच्छति' शत्रुओं के नियमन की देवता **प्रयच्छतु**=शत्रुनियमन की शक्ति दे। **भगः**=ज्ञान व ऐश्वर्य का पुञ्ज प्रभु **प्र (यच्छतु)**=हमें ज्ञान व ऐश्वर्य का देनेवाला हो, **बृहस्पतिः**=महान् लोकों का अधिष्ठातृदेव प्रभु हमारे लिए **प्र**=इन महान् लोकों के अधिष्ठातृत्व को प्राप्त कराए। हम शरीररूप पृथिवीलोक तथा मस्तिष्करूप द्युलोक के स्वामी हों। **देवीः**=सब

देव पत्नियाँ **प्र**=हमें दिव्य भावों को देनेवाली हों। २. **उत**=और **सूनृता देवी**=शोभन (सु), दुःख हारिणी (ऊन्) सत्यवाणी प्रकाशमयी (देवी) होती हुई **मे**=मेरे लिए **रयिम् प्र दधातु**=उत्तम ऐश्वर्य का धारण करे। मैं उत्तम, दुःखहारिणी, ऋतवाणी बोलता हुआ ऐश्वर्य-सम्पन्न बनूँ।

भावार्थ—हम शत्रुओं का नियमन करनेवाले बनें, भजनीय धनों को प्राप्त करें, शरीर व मस्तिष्क के स्वामी हों, दिव्य भावों को धारण करते हुए प्रिय, सत्य वाणी को ही सदा बोलनेवाले हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सोमः, अग्निः, आदित्यः, विष्णुः, ब्रह्मा, बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सोम से बृहस्पति तक

सोमं राजानमवसेऽग्निं गीर्भिर्हवामहे। आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम्॥ ४॥

१. इस जीवन-यात्रा में हम **अवसे**=अपनी रक्षा के लिए **सोमम्**=सोम को तथा **राजानम्**=अपने पर शासन करने की वृत्ति को—अपने जीवन को व्यवस्थित (regulated) करने की वृत्ति को **हवामहे**=पुकारते हैं। सोम को पुकारने का भाव है 'शरीर में शक्ति को रक्षित करना'। सब उन्नतियों का मूल यही है कि हम शरीर में सोम का रक्षण करें। इसके लिए जीवन को बड़ा व्यवस्थित करें। ब्रह्मचर्याश्रम का मूलसूत्र यही है। अब गृहस्थ में **गीर्भिः**=स्तुति-वाणियों के द्वारा **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु को पुकारते हैं 'निरन्तर आगे बढ़ना' इसी को जीवन का नियम बनाते हैं। इसी उद्देश्य से **आदित्यम्**=अन्धकार को छिन्न करनेवाले प्रकाशमय प्रभु को पुकारते हैं, स्वाध्याय के द्वारा जीवन को प्रकाशमय बनाये रखते हैं। ३. गृहस्थ से ऊपर उठकर वानप्रस्थ में **विष्णुं सूर्यम्**=उस सर्वव्यापक, निरन्तर सरण करनेवाले प्रभु को पुकारते हुए हम हृदय को विशाल तथा जीवन को क्रियामय बनाने के लिए यत्नशील होते हैं (विष्णु व्याप्तौ, सृ गतौ)। ४. **च**=और अब संन्यस्त होकर हम **ब्रह्माणम्**=ब्रह्मा व **बृहस्पतिम्**=बृहस्पति को पुकारते हैं। ब्रह्मा वह है जिसमें सारा ब्रह्माण्ड प्रविष्ट है। मैं भी 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को जीवन का सूत्र बनाता हूँ और बृहस्पति की भाँति ज्ञान का प्रकाश करनेवाला होता हूँ।

भावार्थ—हम सोमरक्षण करनेवाले व व्यवस्थित जीवनवाले बनें। हमारे जीवन का सूत्र आगे बढ़ना व स्वाध्याय द्वारा अन्धकार को छिन्न करना हो। हम विशाल हृदय व क्रियाशील हों और अन्त में सम्पूर्ण पृथिवी को अपने परिवार में प्रविष्ट कर सर्वत्र ज्ञान का प्रसार करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्रह्म+यज्ञ

त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्धय। त्वं नो देव दातवे रयिं दानाय चोदय॥ ५॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमारे लिए **अग्निभिः**=माता-पिता व आचार्यरूप अग्नियों के द्वारा (पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः। गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी॥) **ब्रह्म यज्ञं च**=ज्ञान और यज्ञ का **वर्धय**=वर्धन कीजिए। माता से उत्तम चरित्र को, पिता से उत्तम आचार (व्यवहार) को तथा आचार्य से उत्तम ज्ञान को प्राप्त करके हम ज्ञानेन्द्रियों से सदा ज्ञान का वर्धन करनेवाले बनें तथा कर्मेन्द्रियों से यज्ञात्मक उत्तम कर्मों को करनेवाले हों। २. हे **देव**=सब ऐश्वर्यों को देनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमारे **दातवे**=दानशील पुरुष के लिए **दानाय**=दान के लिए **रयिं चोदय**=धन को प्रेरित कीजिए। हम दानशीला बनें और दान के लिए आपसे धनों को प्राप्त करें।

भावार्थ—उत्तम माता, पिता व आचार्य के सम्पर्क में आकर हम ज्ञान व यज्ञ का वर्धन

करें। खूब दानशील हों, दान के लिए प्रभु धन देंगे ही।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रवायू** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

जितेन्द्रियता+क्रियाशीलता

इन्द्रवायू उभाविह सुहवेह हवामहे।
यथा नः सर्व इज्जनः संगत्यां सुमना असद्दानकामश्च नो भुवत्॥ ६॥

१. **इह**=इस जीवन में **सुहवा**=शोभन है पुकार (आराधना) जिनकी उन **उभौ**=दोनों **इन्द्रवायू**=जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता को हम **हवामहे**=पुकारते हैं। हम क्रियाशील व जितेन्द्रिय बनते हैं। २. हम इसलिए इन्द्र और वायु का आराधन करते हैं कि **यथा**=जिससे **इह**=इस संसार में **नः**=हमारे **संगत्याम्**=संगमन में, मिलने के अवसर पर **सर्वः इत् जनः**=सभी मनुष्य **सुमनाः असत्**=उत्तम मनवाले हों—परस्पर मिलने पर सबको प्रीति का अनुभव हो **च**=और **नः**=हमारे ये लोग **दानकामः**=दान की कामनावाले, सदा धनों को देने की इच्छावाले **भुवत्**=हों।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय व क्रियाशील बनें। परस्पर मिलने पर प्रीति का अनुभव करें और दान की वृत्तिवाले हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अर्यमा, बृहस्पतिः, इन्द्रः, वातः, विष्णुः, सरस्वती, सविता, वाजी** ॥
छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'अर्यमा से सविता' तक

अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय।
वातं विष्णुं सरस्वतीं सवितारं च वाजिनम्॥ ७॥

१. हे प्रभो! **अर्यमणम्**=(अरीन् यच्छति) शत्रुओं के नियमन की देवता को, **बृहस्पतिम्**=ज्ञान की अधिष्ठातृदेवता को, **इन्द्रम्**=जितेन्द्रियता की देवता को **दानाय चोदय**=दान के लिए प्रेरित कीजिए। हम भी अर्यमा, बृहस्पति व इन्द्र बन जाएँ। हम काम-क्रोध का नियमन करनेवाले हों, ज्ञान का सम्पादन करें व जितेन्द्रिय बनें। २. **वातम्**=(वा गतौ) क्रियाशीलता की देवता को, **विष्णुम्**=(विष् व्याप्तौ) व्यापकता की देवता को, **सरस्वतीम्**=ज्ञान की देवता को **च**=और **वाजिनम्**=सब शक्तियों के अधिष्ठान **सवितारम्**=शक्तियों के जनक सूर्य को दान के लिए प्रेरित कीजिए। ये सब देव हमें भी क्रियाशील, उदार, ज्ञानी व शक्तिशाली बनाएँ।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से हम शत्रुओं को वश में करनेवाले, ज्ञानप्रधान जीवनवाले व जितेन्द्रिय बनें। हम क्रियाशील, उदार, ज्ञानी व शक्ति का संग्रह करनेवाले हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वानि भुवनानि** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥

वाजस्य प्रसवे संबभूविम

वाजस्य नु प्रसवे सं बभूविमेमा च विश्वा भुवनान्यन्तः।
उतादित्सन्तं दापयतु प्रजानन्रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छ॥ ८॥

१. **नु**=अब **वाजस्य**=उस शक्ति के पुञ्ज प्रभु के **प्रसवे**=(षू प्रेरणे) प्रेरण में **संबभूविम**=सम्यक् हों—सदा प्रभु की प्रेरणा के अनुसार कार्यों में प्रवृत्त हों **च**=और **इमा विश्वा भुवनानि**=सूर्य आदि इन सब लोकों को **अन्तः**=अपने अन्दर देखने का प्रयत्न करें। 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' जो कुछ पिण्ड में है, वही ब्रह्माण्ड में। ब्रह्माण्ड के सूर्य आदि देव चक्षु आदि के रूप में शरीर में रहते हैं। प्रभु की प्रेरणा में चलता हुआ पुरुष शरीर को देवस्थली के रूप में देखता है। यह शरीर उसकी दृष्टि में 'देवमन्दिर' हो जाता है। २. वे प्रभु **अदित्सन्तम् उत**=न देने की इच्छावाले

को भी **प्रजानन्**=खूब समझते हुए—उचित प्रेरणा के द्वारा **दापयतु**=दान की वृत्तिवाला बनाएँ **च**=और हे प्रभो! आप **नः**=हमारे लिए **सर्ववीरम् रयिम्**=वीर सन्तानोंवाली सब सम्पत्ति को **नियच्छ**=नियमितरूप से दीजिए।

भावार्थ—हम शक्तिपुञ्ज प्रभु की प्रेरणा में वर्तें। सूर्य आदि सब देवों को अपने अन्दर देखें, इस शरीर को देवमन्दिर जानें। प्रभु हमें दानशील बनाएँ और वीर सन्तानों से युक्त धन प्रदान करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**पञ्च प्रदिशः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मनसा+हृदयेन च

दुह्रां मे पञ्च प्रदिशो दुह्रामुर्वीर्यथाबलम्। प्रापेयं सर्वा आकूतीर्मनसा हृदयेन च॥ ९॥

१. **पञ्च प्रदिशः**=विस्तृत (पचि विस्तारे) अथवा 'प्राची, प्रतीची, अवाची, उदीची व मध्य' नामक पाँच महादिशाएँ **मे**=मेरे लिए **दुह्राम्**=अभिमत फल दें—सब स्थानों से मेरी इष्ट कामनाएँ पूर्ण हों तथा **उर्वीः**=(षण्मोर्वीरंहसस्पान्तु द्यौश्च पृथिवी चाहश्च रात्रिश्चापश्चौषधयश्च—अश्व० १.२) द्युलोक-पृथिवीलोक, दिन-रात, जल और ओषधियाँ—ये छह उर्वियाँ **यथाबलम्**=बल की वृद्धि के अनुसार **दुह्राम्**=अपेक्षित वसुओं को देनेवाली हों। मैं **मनसा**=मन के दृढ़ शिव-संकल्प के द्वारा **च**=तथा **हृदयेन**=हृदयस्थ श्रद्धा के द्वारा **सर्वाः**=सब **आकूतीः**=कामनाओं को **प्रापेयम्**=प्राप्त करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—हम दृढ़ संकल्प व श्रद्धा से सब कामनाओं को पूर्ण कर सकें। पाँचों दिशाएँ तथा द्युलोक आदि छह उर्वियाँ हमें अभिमत फलों को प्राप्त करानेवाली हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**वायुः, त्वष्टा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गोसनिं वाचमुदेयम्

गोसनिं वाचमुदेयं वर्चसा माभ्युदिहि।
आ रुन्धां सर्वतो वायुस्त्वष्टा पोषं दधातु मे॥ १०॥

१. **गोसनिम्**=ज्ञान की वाणियों का ही सम्भजन करनेवाली **वाचम्, उदेयम्**=वाणी को मैं बोलूँ—हमारी वाणियाँ ज्ञानवर्धक शब्दों का ही उच्चारण करें। हे प्रभो! **वर्चसा**=तेजस्विता के साथ **मा अभि**=मेरी ओर **उदिहि**=आइए—आप मुझे तेजस्वी बनाइए। 'गोसनि वाक्' का उच्चारण करता हुआ मैं ज्ञानी बनूँ और वर्चस्वी होऊँ। २. मुझे **सर्वतः**=सब ओर से **वायुः**=प्राणशक्ति और क्रियाशीलता **आरुन्धाम्**=रुद्ध करे। मैं सदा प्राणशक्ति-सम्पन्न व क्रियाशील बना रहूँ। **त्वष्टा**=वह रूपों का निर्माता प्रभु **मे पोषं दधातु**=मुझमें पोषण को धारण करे।

भावार्थ—मैं ज्ञान, वर्चस्, क्रियाशीलता व पोषण को धारण करूँ।

विशेष—इसप्रकार जीवन को सब वसुओं से सम्पन्न करनेवाला 'वसिष्ठ' ही अगले सूक्त का भी ऋषि है—

२१. [एकविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पुरोऽनुष्टुप्त्रिष्टुप्** ॥

विविध अग्नियों की अनुकूलता

ये अग्नयो अप्स्व१न्तर्ये वृत्रे ये पुरुषे ये अश्मसु।
य आविवेशौषधीर्यो वनस्पतींस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत्॥ १॥

१. **ये**=जो **अग्नयः**=अग्नियाँ **अप्सु-अन्तः**=जलों 'वाडवाग्नि' के रूप में हैं, **ये**=जो **वृत्रे**=मेघ में 'विद्युद्रूप' से, **ये**=जो **पुरुषे**=पुरुष में अशित-पीत परिणाम हेतुत्वेन 'वैश्वानर' रूप से हैं और **ये**=जो **अश्मसु**=सूर्यकान्त आदि शिलाओं में है, इसीप्रकार **यः**=जो अग्नि **ओषधीः**=जौ-चावल आदि ओषधियों में **आविवेश**=प्रविष्ट हुआ है, **यः**=जो **वनस्पतीन्**=वृक्षों में प्रविष्ट है, **तेभ्यः**=उन सब जगदनुग्राहक अग्नियों के लिए **एतत्**=यह **हुतम् अस्तु**=हवन हो।

भावार्थ—संसार में विविध पदार्थों में विविध रूप से अग्नि का निवास है। अग्निहोत्र करने से इन सब अग्नियों की अनुकूलता प्राप्त होती है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

सोम, गौ, पशु-पक्षी तथा मनुष्यों में अग्नि की ठीक स्थिति

यः सोमे अन्तर्यो गोष्वन्तर्य आविष्टो वयःसु यो मृगेषु।
य आविवेश द्विपदो यश्चतुष्पदस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत्॥ २॥

१. **यः**=जो अग्नि **सोमे अन्तः**=लतारूप सोम में अमृतमय रस के परिपाक के लिए प्रविष्ट हुआ-हुआ है, **यः**=जो अग्नि **गोषु अन्तः**=गौ आदि ग्राम्य पशुओं में **आविष्टः**=प्रविष्ट हुआ-हुआ परिपक्व दूध का निर्माण करता है, **यः**=जो अग्नि **वयःसु**=पक्षियों में अनुप्रविष्ट है, **यः**=जो **मृगेषु**=हरिण आदि में अनुप्रविष्ट है, २. तथा **यः**=जो अग्नि **द्विपदः**=दो पाँववाले मनुष्य आदि में तथा **यः**=जो **चतुष्पदः**=चार पाँववाले अन्य प्राणियों में जाठर (वैश्वानर) रूप में **आविवेश**=प्रविष्ट हो रहा है, **तेभ्यः अग्निभ्यः**=उन सब अग्नियों के लिए **एतत्**=यह **हुतम्, अस्तु**=हवन हो।

भावार्थ—यज्ञों के होने पर यदि ओषधियों में रस का सञ्चार ठीक होता है तो गौवों में दूध का परिपाक ठीक प्रकार से होता है, अन्य पशु-पक्षियों व मनुष्यों में जाठररूप में निवास करनेवाली वैश्वानर अग्नि भी ठीक बनी रहती है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

वैश्वानर उत विश्वदाव्यः

य इन्द्रेण सरथं याति देवो वैश्वानर उत विश्वदाव्यः।
यं जोहवीमि पृतनासु सासहिं तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत्॥ ३॥

१. **यः**=जो **देवः**=प्रकाशमान प्रभु **इन्द्रेण**=जितेन्द्रिय पुरुष के साथ **सरथं याति**=समान शरीररूप रथ में प्राप्त होता है। जितेन्द्रिय पुरुष के शरीररूप रथ में प्रभु का वास होता है। वह 'अग्नि' नामक प्रभु **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाला है **उत**=और **विश्वदाव्यः**=हमारे अन्दर घुस आनेवाले (विश्) काम-क्रोध आदि को सन्तप्त करनेवाला है। २. **यम्**=जिस **पृतनासु सासहिम्**=संग्रामों में पराभूत करनेवाले प्रभु को **जोहवीमि**=मैं पुकारता हूँ, **तेभ्यः**=उन **अग्निभ्यः**=अग्रणी प्रभु के लिए **एतत् हुतम् अस्तु**=यह अपना अर्पण हो (हु दाने)। मैं प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें, जितेन्द्रिय बनें ताकि प्रभु का हमारे शरीर-रथ पर वास हो। प्रभु हमें संग्राम में विजयी बनाएँगे और हमारे शत्रुओं को दग्ध कर देंगे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

धीरः, शक्रः

यो देवो विश्वाद्यमु काममाहुर्यं दातारं प्रतिगृह्णन्तमाहुः।
यो धीरः शक्रः परिभूरदाभ्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत्॥ ४॥

१. यः देवः=जो दान आदि गुणों से युक्त अग्नि (प्रभु) **विश्वात्**=प्रलयकाल में सबको खा-सा जाता है—सबको अपने अन्दर समा लेता है, **उ**=और **यम्**=जिसे **कामम्, आहुः**='काम' इस नाम से कहते हैं। प्रभु ही धर्माविरुद्ध कामरूप से सब प्राणियों में स्थित हैं। '**धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि भूतेषू भरतर्षभ**', **यम्**=जिसे **दातारम्**=देनेवाला व **प्रतिगृह्णन्तम्**=लेनेवाला **आहुः**=कहते हैं—काम ही दाता है, काम ही प्रतिग्रहीता है। २. **यः**=जो प्रभुरूप अग्नि **धीरः**=हम सबकी बुद्धियों को प्रेरित करनेवाली है, जो **शक्रः**=सर्वशक्तिमान् हैं, **तेभ्यः अग्निभ्यः**=उन अग्रणी प्रभु के लिए **एतत्**=यह **हुतम्, अस्तु**=आत्मसमर्पण हो।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे अन्दर सब उत्तम कामनाओं को जन्म देते हैं। वे ही हमें बुद्धि व बल देते हैं (धीरः, शक्रः)। उनके लिए हम अपना अर्पण करनेवाले बनें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

वर्चोधसे, यशसे, सूनृतावते

यं त्वा होतारं मनसाभि संविदुस्त्रयोदश भौवनाः पञ्च मानवाः।
वर्चोधसे यशसे सूनृतावते तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत्॥ ५॥

१. '**भवन्ति यस्मिन् भूतानि इति भुवनः संवत्सरः**'—इस व्युत्पत्ति से भुवन का भाव है 'संवत्सर'। इस संवत्सर में होनेवाले चैत्र आदि बारह तथा 'संसर्पाहस्पत्य' नामक तेरहवाँ अधिमास—ये मिलकर तेरह भौवन हैं। **त्रयोदश भौवनाः**=तेरह-के-तेरह मास **पञ्च मानवाः**=ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा निषाद—ये पाँचों मनुष्य **यम्**=जिस **होतरम्**=सब-कुछ देनेवाले **त्वा**=आपको **मनसा**=मनन के द्वारा **अभिसंविदुः**=आभिमुख्येन सम्यक् जानते हैं, २. **तेषाम्**=उन **वर्चोधसे**=शक्ति का आधान करनेवाले, **यशसे**=यशस्वी, **सूनृतावते**=प्रिय, सत्य वाणीवाले **अग्निभ्यः**=अग्नि नामक प्रभु के लिए **एतत्**=यह **हुतम् अस्तु**=समर्पण हो। लोक में जहाँ 'वर्चस्, यश, सूनृतावाणी' है वह सब इस प्रभु की विभूति ही है। प्रभु के प्रति अपना अर्पण करते हुए हम भी इन वर्चस्, यश व सूनृतावाणी को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—मननशील पुरुष उस प्रभु को सदा 'होता' के रूप में जानते हैं। प्रभु ही वर्चस्, यश व सूनृतावाणी को प्राप्त कराते हैं। हम इस अग्नि नामक प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद् विराड्बृहती** ॥

'उक्षान्न, वशान्न, सोमपृष्ठ' वेधस् के सम्पर्क में

उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे।
वैश्वानरज्येष्ठेभ्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत्॥ ६॥

१. **उक्षान्नाय**=(उक्षा=one of the chief medicament) पौष्टिक ओषधियों को ही अपना अन्न बनानेवाला, **वशान्नाय**=(वशा=पृथिवी—श० १.८.३.१५.) पृथिवी को ही अपना अन्न बनानेवाला, अर्थात् वानस्पतिक पदार्थों का ही सेवन करनेवाला, **सोमपृष्ठाय**=सोमशक्ति को ही अपना आधार बनानेवाला—ऐसे **वेधसे**=ज्ञानी पुरुष के लिए हम अपना अर्पण करते हैं। इसके सम्पर्क में आकर हम भी 'वेधस्' बन पाते हैं। २. **वैश्वानरज्येष्ठेभ्यः**=सब मनुष्यों के हितकारी प्रभु को ही जो ज्येष्ठ मानते हैं, **तेभ्यः**=उन **अग्निभ्यः**=अग्रणी पुरुषों के लिए **एतत्**=यह **हुतम्, अस्तु**=अर्पण हो। प्रभु-परायण विद्वानों के प्रति अपना अर्पण करते हुए हम भी उन-जैसे ही बनते हैं।

भावार्थ—हम उन विद्वानों के सम्पर्क में रहें जो १. पौष्टिक ओषधियों का ही प्रयोग करते हैं, २. पृथिवी से उत्पन्न वानस्पतिक पदार्थों का ही सेवन करते हैं, ३. सोमशक्ति को जीवन

का आधार मानते हैं और ४. प्रभु को सर्वश्रेष्ठ जानते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गर्भात्रिष्टुप्**॥

यज्ञों द्वारा अग्नि का आराधन

दिवं पृथिवीमन्वन्तरिक्षं ये विद्युतमनुसंचरन्ति।
ये दिक्ष्वन्तर्ये वाते अन्तस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत्॥ ७॥

१. **ये**=जो अग्नियाँ **दिवम्**=द्युलोक में, **पृथिवीम्**=पृथिवीलोक में **अनुसञ्चरन्ति**=अनुप्रविष्ट होकर विचरण करती हैं, **ये**=जो **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष लोकों में तथा **विद्युतम्**=मेघस्थ विद्युत् में **अनु**=(सञ्चरन्ति) अनुप्रविष्ट होकर गति करती हैं। २. **ये**=जो अग्नियाँ **दिक्षु अन्तः**=दिशाओं में स्थित हैं और **ये**=जो **वाते अन्तः**=वायु के अन्दर हैं, **तेभ्यः अग्निभ्यः**=उन अग्नियों के लिए **एतत्**=यह **हुतम्, अस्तु**=हवन हो। हवन के द्वारा हम सब लोकों में स्थित अग्नियों की अनुकूलता प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—यज्ञों के द्वारा सर्वत्र स्थित अग्नियों की अनुकूलता प्राप्त होती है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सवित्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

प्रभु के उपासन+विद्वत्संग से कामाग्निशमन

हिरण्यपाणिं सवितारमिन्द्रं बृहस्पतिं वरुणं मित्रमग्निम्।
विश्वान्देवानाङ्गिरसो हवामह इमं क्रव्यादं शमयन्त्वग्निम्॥ ८॥

१. **सवितारम्**=उस प्रेरक **अग्निम्**=प्रभु को **हवामहे**=पुकारते हैं, जोकि **हिरण्यपाणिम्**=हितरमणीय पाणि-(हाथ)-वाले हैं—जिनका वरदहस्त हमारा हित-ही-हित करता है, हम उस प्रभु को पुकारते हैं जो **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली हैं, **बृहस्पतिम्**=ज्ञान के स्वामी हैं, **वरुणम्**=पाप के निवारक व **मित्रम्**=सबसे स्नेह करनेवाले हैं। इस प्रभु का आराधन ही हमारे जीवन में कामाग्नि को शान्त करेगा। २. हम **विश्वान्**=सब **अङ्गिरसः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रस का सञ्चार करनेवाले **देवान्**=ज्ञानी पुरुषों को पुकारते हैं, इनके सम्पर्क में हम ज्ञान की वृद्धि करनेवाले बनते हैं। ये विद्वान् **इमम्**=इस **क्रव्यादम्**=हमारे मांस को खा जानेवाले **अग्निम्**=कामाग्नि को **शमयन्तु**=शान्त करें।

भावार्थ—प्रभु का उपासन व विद्वानों का संग हमें कामाग्नि को शान्त करने में समर्थ करे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सवित्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्**॥

'क्रव्यात्, पुरुषरेषण, विश्वदाव्य' अग्नि

शान्तो अग्निः क्रव्याच्छान्तः पुरुषरेषणः।
अथो यो विश्वदाव्यस्तं क्रव्यादमशीशमम्॥ ९॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु के उपासन व विद्वत्संग से **अग्निः**=यह कामाग्नि **शान्तः**=शान्त हो गई है। यह **क्रव्यात्**=मांस को ही खा जानेवाली **पुरुषरेषणः**=पुरुषों को हिंसित करनेवाली कामरूप अग्नि **शान्तः**=शान्त हो गई है। २. **अथ उ**=अब निश्चय से **यः**=जो **विश्वदाव्यः**=सबका दाहक कामाग्नि है, **तम्**=उस **क्रव्यादम्**=मांस को खा जानेवाले 'महाशन, महापाप्मा' कामाग्नि को **अशीशमम्**=मैं शान्त करता हूँ।

भावार्थ—कामाग्नि मांस खा जानेवाला, हिंसित करनेवाला व सन्तापक है। इसे शान्त करना ही मंगलप्रद है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**सवित्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कामाग्नि की शान्ति के साधन

ये पर्वताः सोमपृष्ठा आप उत्तानशीवरीः।
वातः पर्जन्य आदग्निस्ते क्रव्यादमशीशमन्॥ १०॥

१. **ये**=जो **सोमपृष्ठाः**=सोम आदि ओषधियों को अपने पृष्ठ पर धारण करनेवाले **पर्वताः**=पर्वत हैं, **ते**=वे **क्रव्यादम्**=इस मांसभक्षक कामाग्नि को **अशीशमन्**=शान्त करते हैं। पर्वतों का शान्त जलवायु तथा पर्वतों की शीतवीर्य सोम आदि लताएँ वीर्य-रक्षण के लिए अनुकूलता उत्पन्न करती हैं। इसप्रकार **उत्तानशीवरीः आपः**=जल उत्तानशयन स्वभाव हैं, अर्थात् सामान्यतः ये शरीर में शक्ति की ऊर्ध्वगति का कारण होते हैं। कटिप्रदेश का जल से स्नान इस कार्य में बड़ा सहायक है। २. **वातः**=वायु, **पर्जन्यः**=बादल **आत्**=और अब **अग्नि**=अग्निहोत्र—ये सब इस कामाग्नि को शान्त करते हैं। वायुसेवन तथा प्राणायाम द्वारा वायु का आराधन तो वीर्य की ऊर्ध्वगति का कारण होता ही है। वृष्टिजल में स्नान व वृष्टिजल का पान भी वीर्यरक्षण की अनुकूलता को उत्पन्न करता है। अग्निहोत्र आदि करते हुए अग्नि का शरीर के साथ सम्पर्क भी त्वचा की कोमलता को दूर करके वीर्यरक्षण का साधक हो जाता है। वायु, बादल, अग्नि—इन सबके सम्पर्क में कामाग्नि की शान्ति में सहायता मिलती है।

भावार्थ—'पर्वतों की शीतवीर्य ओषधियों का प्रयोग, जल से कटि-स्नान, वायु-सेवन, वृष्टिजल में स्नान व उसका पान तथा अग्नि के ताप से त्वचा की कोमलता का निराकरण'—ये सब साधन कामाग्नि को शान्त करते हैं।

विशेष—कामाग्नि की शान्ति से वर्चस् को प्राप्त करनेवाला 'वसिष्ठ' ही अगले सूक्त का भी ऋषि है—

२२. [द्वाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, बृहस्पतिः, वर्चः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥

हस्तिवर्चसम्

हस्तिवर्चसं प्रथतां बृहद्यशो अदित्या यत्तन्व1ः संबभूव।
तत्सर्वे समदुर्मह्यमेतद्विश्वे देवा अदितिः सजोषाः॥ १॥

१. मुझमें **हस्तिवर्चसम्**=हाथी का बल **बृहद्यशः**=महान् यश को **प्रथताम्**=विस्तृत करे, अर्थात् मैं हाथी के समान बल प्राप्त करूँ, परन्तु मेरा वह बल मुझे यशस्वी बनानेवाला हो। मुझे वह बल प्राप्त हो **यत्**=जोकि **अदित्याः**=प्रकृति के, अदीना देवमाता (सूर्यादि का निर्माण करनेवाली प्रकृति) के **तन्वः**=शरीर से **संबभूव**=उत्पन्न हुआ है। जीवन जितना प्राकृतिक—प्रकृति के अनुकूल-स्वाभाविक होगा, उतना ही शरीर का बल बढ़ेगा। २. **तत् एतत्**=प्रसिद्ध इस बल को **विश्वेदेवाः**=सूर्य आदि सब देव और **सजोषः**=उनके साथ समान प्रीतिवाली **अदितिः**=उनकी माता प्रकृति—ये **सर्वे**=सब **सम्**=मिलकर **मह्यम्**=मेरे लिए **अदुः**=देते हैं।

भावार्थ—जितना-जितना हमारा जीवन स्वाभाविक होगा, उतना-उतना ही हम शक्तिशाली बनेंगे। अदिति (प्रकृति) व सूर्य आदि सब देव हमें बल प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, बृहस्पतिः, वर्चः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मित्र, वरुण, इन्द्र व रुद्र

मित्रश्च वरुणश्चेन्द्रो रुद्रश्च चेततु। देवासो विश्वधायसस्ते माञ्जन्तु वर्चसा॥ २॥

१. **मित्रः**=स्नेह की भावना **च**=और **वरुणः**=निर्द्वेषता का भाव **च**=तथा **इन्द्रः**=जितेन्द्रियता की दिव्य भावना **च**=और **रुद्रः**=(रुत्+द्र) रोगों को दूर भगाने का संकल्प—ये सब **चेततु**=हमें अनुग्राह्यरूप में जानें—इनके अनुग्रह से हमारा शरीर सबल बना रहे। २. **देवासः**=सूर्य-चन्द्र आदि सब देव **विश्वधायसः**=सबका धारण करनेवाले हैं, **ते**=वे **मा**=मुझे **वर्चसा**=तेज से **अञ्जन्तु**=(अक्त) आश्लिष्ट करें। इन देवों के सम्पर्क में जीवन को बिताता हुआ मैं तेजस्वी बनूँ।

भावार्थ—'स्नेह, निर्द्वेषता, जितेन्द्रियता व नीरोगता' की भावनाएँ मुझे सबल बनाएँ। सूर्यादि देवों के सम्पर्क में मेरा जीवन तेजस्वी बने।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, बृहस्पतिः, वर्चः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदापरानुष्टुप्विराडतिजगती** ॥

हाथी, राजा व सूर्य के समान तेजस्वी

येन हस्ती वर्चसा संबभूव येन राजा मनुष्ये[ष्व]प्स्व१न्तः। येन देवा देवतामग्र आयन्तेन माम्द्य वर्चसाग्ने वर्चस्विनं कृणु॥ ३॥

१. **हस्ती**=हाथी **येन वर्चसा**=जिस तेज के साथ **संबभूव**=संगत होता है, **येन**=जिस तेज से **मनुष्येषु अप्सु**=(आपो नारा इति प्रोक्ताः) मानव प्रजाओं के **अन्तः**=अन्दर **राजा**=शासक (संबभूव) संगत होता है और **येन**=जिस तेज से **अग्रे**=प्रारम्भ में **देवाः**=सूर्यादि देव **देवताम् आयन्**=देवत्व को प्राप्त होते हैं, हे **अग्ने**=परमात्मन्! **माम्**=मुझे **अद्य**=आज **तेन वर्चसा**=उस वर्चस से **वर्चस्विनं कृणु**=वर्चस्वी बनाओ। २. हम हाथी के समान बल को प्राप्त हों, मानव प्रजाओं में राजा के समान तेजस्वी हों, सूर्य आदि देवों के समान हमारा तेज हो। सूर्य आदि के सम्पर्क में जीवन बिताते हुए हम तेजस्वी बनें।

भावार्थ—हमारा तेज हाथी के समान, राजा के समान व सूर्यादि देवों के समान हो।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, बृहस्पतिः, वर्चः** ॥ छन्दः—**षट्पदाजगती** ॥

प्राणसाधना से वर्चस्विता की प्राप्ति

यत्ते वर्चो जातवेदो बृहद्भवत्याहुतेः। यावत्सूर्यस्य वर्च आसुरस्य च हस्तिनः। तावन्मे अश्विना वर्च आ धत्तां पुष्करस्रजा॥ ४॥

१. हे **जातवेदः**=सब पदार्थों में विद्यमान अग्ने! **यत्**=जो **ते, वर्चः**=तेरा तेज **आहुतेः**=आहुति के द्वारा **बृहत् भवति**=बहुत होता है—घृत की आहुति से अग्नि चमक उठती है। **यावत्**=जितना **वर्चः**=तेज **इस असुरस्य**=प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाले **सूर्यस्य**=सूर्य का है, **च**=और जितना तेज **हस्तिनः**=हाथी का है, **तावत्**=उतना **वर्चः**=तेज **मे**=मुझमें **अश्विना**=प्राणापान **आधत्ताम्**=स्थापित करें। २. ये प्राणापान **पुष्करस्रजा**=शरीर में रेतःकणरूप जलों का निर्माण करनेवाले हैं। इन रेतःकणरूप जलों के निर्माण द्वारा ही ये हमारे शरीर में शक्ति का आधान करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से रेतःकणों के रक्षण के द्वारा हम इसप्रकार तेजस्वी बनते हैं जैसेकि 'आहुत अग्नि' तेजस्वी होता है। जैसे सूर्य दीप्त है, उसी प्रकार हम दीप्त वर्चस् बनें, हाथी के समान बलवान् हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, बृहस्पतिः, वर्चः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यशस्वी बल

यावच्चतस्रः प्रदिशश्चक्षुर्यावत्समश्नुते। तावत्समैत्विन्द्रियं मयि तद्धस्तिवर्चसम्॥ ५॥

१. **यावत्**=जितनी **चतस्रः प्रदशिः**=चारों प्रकृष्ट दिशाएँ फैली हैं, **यावत्**=जहाँ तक **चक्षुः**=आँख **समश्नुते**=व्याप्त होती है, **तावत्**=उतनी दूर तक व्याप्त होनेवाला **इन्द्रियम्**=बल **सम् एतु**=मेरे साथ सर्वथा सङ्गत हो। २. **मयि**=मुझमें **तत्**=वह **हस्तिवर्चसम्**=हाथी के समान बल प्राप्त हो।

भावार्थ—मैं अपने बल के द्वारा रक्षणात्मक कार्यों को करता हुआ चारों दिशाओं में यशस्वी बनूँ। मैं हाथी के समान बल प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, बृहस्पतिः, वर्चः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अतिष्ठावान्

हस्ती मृगाणां सुषदामतिष्ठावान्बभूव हि।
तस्य भगेन वर्चसाऽभि षिञ्चामि मामहम्॥ ६॥

१. **सुषदाम्**=(सुखेन सीदन्ति) अरण्य में स्वेच्छा से आसीन होनेवाले **मृगाणाम्**=हरिण आदि पशुओं में **हस्ती**=हाथी **हि**=निश्चय से **अतिष्ठावान् बभूव**=सबको लाँघकर स्थितिवाला—सबसे आगे बढ़ा हुआ है। हाथी का बल सबसे अधिक है। २. **तस्य**=उस हाथी के **भगेन**=भजनीय-सेवनीय **वर्चसा**=बल से **अहम्**=मैं **माम्**=अपने को **अभिषिञ्चामि**=अभिषिक्त करता हूँ। मैं भी बल के दृष्टिकोण से अपनों में आगे बढ़ने के लिए प्रयत्नशील होता हूँ।

भावार्थ—जैसे हाथी पशुओं में सर्वाधिक बली है, इसीप्रकार मैं अपने सजातियों में सर्वाधिक बली बनने के लिए यत्नशील होता हूँ।

विशेष—सुरक्षित शक्ति के द्वारा उत्तम सन्तानों का निर्माण करनेवाला यह साधक 'ब्रह्मा' (creater) बनता है। यह जिन सन्तानों को जन्म देता है, वे चन्द्रतुल्य सुन्दर मुखवाले होते हैं। अगले सूक्त का ऋषि यह ब्रह्मा है और देवता 'चन्द्रमाः' है—

२३. [त्रयोविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**चन्द्रमाः, योनिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वेहत्वापादक पाप-रोग का विनाश

येन वेहद् बभूविथ नाशयामसि तत्त्वत्। इदं तदन्यत्र त्वदप दूरे नि दध्मसि॥ १॥

१. जिस बन्ध्यत्व के आपादक पाप से व तज्जन्य रोग से हे नारि! तू **वेहत्**=(विशेषेण हन्ति गर्भम्) गर्भघातिनी वन्ध्या **बभूविथ**=हो जाती है, उस पाप आदि को **त्वत्**=तुझसे **नाशयामसि**=नष्ट करते हैं। २. **इदम्**=इस **तत्**=उस वेहत्व के आपादक पाप-रोग आदि को **त्वत्**=तुझसे अत्यन्त **दूरे**=अन्य स्थान पर—दूर देश में **अपनिदध्मसि**=अपक्षिप्त करते हैं—कहीं सुदूर देश में फेंकते हैं।

भावार्थ—जिस भी पाप-रोग से बन्ध्यत्व की उत्पत्ति होती है, उसे उचित उपाय द्वारा दूर करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**चन्द्रमाः, योनिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

दशमास्यः वीरः

आ ते योनिं गर्भ एतु पुमान्बाण इवेषुधिम्।
आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः॥ २॥

१. हे नारि! **ते**=तेरे **योनिम्**=जनन-स्थान में **पुमान्**=पुंस्त्व से युक्त **गर्भः एतु**=गर्भ प्राप्त हो। इसप्रकार प्राप्त हो **इव**=जैसेकि **बाणः**=बाण **इषुधिम्**=तरकस को प्राप्त होता है। १. वह **ते**=तेरा गर्भ **पुत्रः**=पुत्ररूप में परिणत हुआ-हुआ **दशमास्यः**=दस महीने तक गर्भ में भृत हुआ-हुआ सर्वावयव सम्पूर्ण **वीरः**=बल से युक्त **अत्र**=इस प्रसूतिकाल में **आजायताम्**=अभिमुख उत्पन्न हो।

भावार्थ—गर्भ में दसमास तक ठीक रूप में पुष्ट हुआ-हुआ वीर पुत्र हमारे घर में जन्म ले।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**चन्द्रमाः, योनिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पुमान् पुत्र की उत्पत्ति

पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननु जायताम्।
भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयांश्च यान्॥ ३॥

१. हे स्त्रि! **पुमांसम्**=पुंस्त्वोपेत **पुत्रम्**=पुत्र को **जनय**=जन्म दे, **अनु**=उस पुमान् के बाद भी **पुमान् जायताम्**=पुमान् पुत्र ही उत्पन्न हो। २. हे नारि! तू **जातानां पुत्राणाम्**=इन उत्पन्न हुए-हुए पुत्रों की **माता भवासि**=माता होती है, **यान् च**=और जिनको **जनयाः**=भविष्य में जन्म देगी, उनकी भी तू माता होती है। उनका तू उत्तम निर्माण करनेवाली बनती है। प्रयत्न करके तू उन्हें शरीर में स्वस्थ, मन में निर्मल व बुद्धि में तीव्र बनाकर राष्ट्र का उत्तम अंग बनाती है, तभी तो तू माता इस यथार्थ नामवाली होती है।

भावार्थ—हमारे घरों में वीर सन्तानें जन्म लें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**चन्द्रमाः, योनिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ऋषभक ओषधि के बीज

यानि भद्राणि बीजान्यृषभा जनयन्ति च।
तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रसूर्धेनुका भव॥ ४॥

१. **यानि**=जो **भद्राणि**=भजनीय, अमोघवीर्य **बीजानि**=बीज हैं **च**=और जिन्हें **ऋषभाः**=ऋषभक नामक ओषधियाँ **जनयन्ति**=पैदा करती हैं, **तैः**=उन बीजों से **त्वम्**=तू **पुत्रम्**=नर सन्तान को **विन्दस्व**=प्राप्त कर। २. **सा**=वह तू **प्रसूः**=उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाली व **धेनुका**=उस सन्तान को दूध पिलानेवाली **भव**=हो। तू स-पुत्र वृद्धि को प्राप्त हो, मृत-अपत्या न हो।

भावार्थ—ऋषभक नामक ओषधि के बीजों का प्रयोग हमें अमोघ-वीर्य बनाता है। इन बीजों का प्रयोग करनेवाली माता जीवित सन्तानोंवाली होती हुई उन्हें दूध पिलानेवाली होती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**चन्द्रमाः, योनिः**॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्भुरिग्बृहती**॥

प्राजापत्य

कृणोमि ते प्राजापत्यमा योनिं गर्भ एतु ते।
विन्दस्व त्वं पुत्रं नारि यस्तुभ्यं शमसच्छमु तस्मै त्वं भव॥ ५॥

१. हे नारि! **ते**=तेरे साथ **प्राजापत्यम्**=ब्रह्म से निर्मित प्रजा की उत्पत्ति करनेवाले कर्म को **कृणोमि**=करता हूँ। **ते**=तेरे **योनिम्**=गर्भाशय-स्थान को **गर्भः**=गर्भ **आ एतु**=प्राप्त हो। २. हे **नारि**=स्त्रि! **त्वम्**=तू **पुत्रम्**=पुत्र को **विन्दस्व**=प्राप्त हो, **यः**=जो पुत्र **तुभ्यम्**=तेरे लिए, **शम्, असत्**=शान्ति देनेवाला हो **उ**=और **तस्मै**=उस पुत्र के लिए **त्वम्**=तू भी **शम्, भव**=शान्ति देनेवाली हो।

भावार्थ—प्राजापत्य कर्म से हमें सन्तान प्राप्त हो। माता सन्तान के लिए व सन्तान माता के लिए शान्ति देनेवाली हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**चन्द्रमाः, योनिः** ॥ छन्दः—**स्कन्धोग्रीवाबृहती** ॥

दैवी ओषधियाँ

यासां द्यौष्पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव।
तास्त्वा पुत्रविद्याय दैवीः प्रावन्त्वोषधयः ॥ ६ ॥

१. **यासाम्**=जिन **वीरुधाम्**=विरोहणस्वभावा ओषधियों का **द्यौः**=द्युलोक **पिता**=वृष्टिजलरूप में रेतस् का सेचन करनेवाला उत्पादक पिता **बभूव**=है और उस रेतस को धारण करनेवाली **पृथिवी**=पृथिवी **माता**=जनयित्री है और जिन वीरुधों का **समुद्रः**=स्यन्दनशील जलराशिरूप समुद्र ही **मूलम्**=मूलकारण है। समुद्र ही से तो वाष्पीभूत होकर जल मेघरूप में परिणत होकर बरसता है। २. **ताः**=वे **देवी**=सब रोगों को जीतने की कामना करनेवाली **ओषधयः**=दोषों का दहन करनेवाली ओषधियाँ **त्वा**=तुझे **पुत्रविद्याय**=पुत्र की प्राप्ति के लिए **प्रावन्तु**=प्रकर्षेण रक्षित करें।

भावार्थ—उत्तम वानस्पतिक पदार्थों का प्रयोग हमें नीरोग बनाए व नीरोग सन्तानों को प्राप्त करानेवाला हो।

विशेष—अगले सूक्त का ऋषि 'भृगु' है—तपस्वी (भ्रस्ज् पाके) यह वानस्पतिक पदार्थों का प्रयोग करता है। यह प्रभु के सन्देश को इस रूप में प्रकट करता है—

२४. [चतुर्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पयस्वतीः ओषधयः

पयस्वतीरोषधयः पयस्वन्मामकं वचः।
अथो पयस्वतीनामा भरेऽहं सहस्रशः ॥ १ ॥

१. **ओषधयः**=व्रीहि-यव (चावल-जौ) आदि ओषधियाँ **पयस्वतीः**=सारवाली हैं। इनके प्रयोग से **मामकं वचः**=मेरा वचन भी **पयस्वत्**=सारवाला हो। २. **अथ उ**=अब निश्चय से **अहम्**=मैं **पयस्वतीनाम्**=इन सारभूत ओषधियों का **सहस्रशः**=हज़ारों प्रकार से **आभरे**=भरण करता हूँ।

भावार्थ—व्रीहि-यव आदि ओषधियाँ सारवाली हैं। इनके विविध प्रकार के प्रयोग से मेरा वचन भी सदा सारवाला होता है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**निचृत्पथ्यापङ्क्तिः** ॥

पयस्वान् संभृत्वा, अयः

वेदाहं पयस्वन्तं चकार धान्यं बहु।
संभृत्वा नाम यो देवस्तं वयं हवामहे योयो अयज्वनो गृहे ॥ २ ॥

१. **अहम्**=मैं **पयस्वन्तम्**=उस सारवाले देव को **वेद**=जानता हूँ। वह देव ही **धान्यम्**=व्रीहि-यव आदि को **बहु चकार**=खूब उत्पन्न करते हैं। इस धान्य के द्वारा ही वे प्रभु सब प्राणियों का आप्यायन (वृद्धि) करते हैं। २. **संभृत्वा नाम**=संभरणशील नामक **यः देवः**=जो देव है **तं वयं हवामहे**=उसे हम पुकारते हैं। ये प्रभु सर्वत्र स्थित सार का संभरण करनेवाले हैं और **यः**=जो प्रभु **अयज्वनः**=अयज्ञशील पुरुष के **गृहे**=घर में **अयः**=अग्नि (fire) के समान हैं, उसमें स्थित

सब द्रव्यों को भस्म करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु 'पयस्वान्' हैं—सारभूत पदार्थोंवाले हैं। प्रभु ही व्रीहि-यव आदि धान्यों को जन्म देते हैं। ये संभरणशील प्रभु अयज्ञशील पुरुष के गृह में अग्नि के समान दाहक हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

स्फाति

इमा याः पञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः।
वृष्टे शापं नदीरिवेह स्फातिं समावहान्॥ ३॥

१. **इमाः**=ये **याः**=जो **पञ्च**=पाँच **प्रदिशः**=प्रकृष्ट दिशाएँ हैं और इनमें जो ये **मानवीः**=मनुष्य-सम्बन्धी **पञ्च**=पाँच (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषाद) **कृष्टयः**=प्रजाएँ हैं, वे **इह**=यहाँ—इस जीवन में **स्फातिम्**=धन-धान्य की समृद्धि को **समावहान्**=प्राप्त कराएँ। २. इसप्रकार धन-धान्य की समृद्धि को प्राप्त कराएँ **इव**=जैसे **वृष्टे**=मेघजल का वर्षण होने पर **नदीः**=(नद्यः इव) नदियाँ **शापम्**=अन्नाभावरूप सब शाप को **समावहान्**=दूर बहा ले जाती हैं। नदियाँ सब ऊषर भूमियों को सींचकर धन-धान्य की वृद्धि का कारण बनती हैं और इसप्रकार अन्नाभाव के शाप को दूर करती हैं।

भावार्थ—वृष्टि होकर अन्नाभाव का अभिशाप दूर हो। सब प्रजाएँ सब दिशाओं में धन-धान्य की समृद्धि प्राप्त करें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शतधार-सहस्रधार उत्स

उदुत्सं शतधारं सहस्रधारमक्षितम्। एवास्माकेदं धान्यं सहस्रधारमक्षितम्॥ ४॥

१. यहाँ गतमन्त्र से 'वृष्टे' शब्द की अनुवृत्ति है। (वृष्टे) वृष्टि होने पर **उत्सम्**=जलोत्पत्ति-सधान (निर्झर) **शतधारम्**=सैकड़ों उदक-धाराओं से युक्त होता हुआ तथा **सहस्रधारम्**=हज़ारों धाराओं का रूप धारण करता हुआ **अक्षितम्**=(न क्षितं यस्मात्) विनाश को दूर करनेवाला होकर **उद् (भवति)**=उद्भूत होता है। २. **एव**=इसीप्रकार **अस्माकम्**=हमारा **इदम् धान्यम्**=यह धान्य **सहस्रधारम्**=अपरिमित धाराओं से युक्त—बहुत प्रकार के उपायों से बढ़ा हुआ **अक्षितम्**=क्षयरहित हो। यह धान्य धारण करनेवाला हो, विनाश से बचानेवाला हो।

भावार्थ—वृष्टि से सैकड़ों धाराओंवाले स्रोत फूट पड़ें और हमें सहस्रों का धारण करनेवाले धान्य प्राप्त हों।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

धन-धान्य की समृद्धि व कर्त्तव्य-कर्मों की स्फाति

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर। कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह॥ ५॥

१. हे **शतहस्त**=सैकड़ों हाथों से युक्त प्रभो! आप सैकड़ों हाथों से **समाहर**=हमारे लिए धन-धान्य प्राप्त कराईए। हे **सहस्रहस्त**=हज़ारों हाथोंवाले प्रभो! **संकिर**=हममें धनों को प्रेरित कीजिए (विक्षिप)। २. **च**=और इसप्रकार **इह**=इस जीवन में **कृतस्य कार्यस्य**=कर्त्तव्यभूत कार्यों की **स्फातिम्**=समृद्धि को **समावह**=दीजिए। हम धन-धान्य प्राप्त करके अपने कर्त्तव्य-कर्मों को ठीक रूप से करनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु हमें प्रभूत धन-धान्य प्राप्त कराएँ। पोषण की चिन्ता से रहित होकर हम अपने कर्त्तव्य-कर्मों को ठीक रूप से करनेवाले बनें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तीन+चार+एक

तिस्रो मात्रा गन्धर्वाणां चतस्रो गृहपत्न्याः।
तासां या स्फातिमत्तमा तया त्वाभि मृशामसि॥ ६॥

१. अर्जित धन-धान्य में से **तिस्रः मात्रा**=तीन अंश **गन्धर्वाणाम्**=ज्ञान को धारण करनेवाले के हों, अर्थात् धन के तीन अंश ज्ञान-प्राप्ति में व्ययित (खर्च) हों। बच्चों के शिक्षण, पुस्तकों के संग्रह व पाठशाला के लिए दान आदि कार्यों में धन के तीन अंशों का विनियोग किया जाए २. **चतस्रः**=धन की चार मात्राएँ **गृहपत्न्याः**=गृहपत्नी की हों। इन्हें वह घर के आवश्यक अन्न-वस्त्र आदि के जुटाने में प्रयुक्त करेगी। ३. **तासाम्**=उन मात्राओं में **या**=जो **स्फातिमत्तमा**=अतिशयेन वृद्धि से युक्त है—राष्ट्र-वृद्धि का कारण बनती है **तया**=उस कला से **त्वा अभिमृशामसि**=तुझे छूते हैं। धन की इस आठवीं कला को राजा के लिए देते हैं, जिसके द्वारा वह राष्ट्रवृद्धि के कार्यों को करनेवाला होता है।

भावार्थ—धन को हम आठ भागों में बाँटें, तीन अंशों का शिक्षा व ज्ञानवृद्धि में व्यय करें, चार अंशों को घर की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तथा एक अंश को राजा के लिए कर-रूप में दें, जिससे राष्ट्र की वृद्धि ठीक रूप से हो सके।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उपोह+समूह

उपोहश्च समूहश्च क्षत्तारौ ते प्रजापते।
ताविहा वहतां स्फातिं बहुं भूमानमक्षितम्॥ ७॥

१. **उपोहः**=(उप समीपं अहति प्रापयति) अप्राप्त धान्य आदि को प्राप्त करना, अर्थात् योग **च**=और **समूहः**=(प्राप्तं समूहति अभिवर्धयति) प्राप्त धन-धान्य का अभिवर्धन व रक्षण, अर्थात् क्षेम **च**=निश्चय से **ते**=तेरे **क्षत्तारौ**=क्षतों से त्राण करनेवाले हैं। ये योग-क्षेम हे **प्रजापते**=परिवार का पालन करनेवाले सद्गृहस्थ! तेरे रक्षक हैं। **तौ**=वे योग और क्षेम **इह**=यहाँ—इस घर में **बहुं स्फातिम्**=खूब ही वृद्धि को **आवहताम्**=प्राप्त कराएँ, जो वृद्धि **भूमानम्**=घर की सत्ता का कारण बनती है। (भू सत्तायाम्) तथा **अक्षितम्**=घर को विनाश से बचाती है।

भावार्थ—एक गृहस्थ योग-क्षेम का ध्यान करे। ये ही घर की स्थिति या विनाश का करण बनते हैं। अगले सूक्त का ऋषि भी 'भृगु' ही है—

२५. [पञ्चविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**कामेषुः, मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उत्तुदः (कामः)

उत्तुदस्त्वोत्तुदतु मा धृथाः शयने स्वे।
इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि॥ १॥

१. पति पत्नी से कहता है कि **उत्तुदः**=(उत्कृष्टं तुदति) बहुत पीड़ित करनेवाला यह 'काम' **त्वा उत्तुदतु**=तुझे पीड़ित करे। तू कामार्त्ता होकर **स्वे शयने**=अपने बिछौने पर **मा धृथाः**=मत पड़ी रहे, तेरा झुकाव मेरी ओर हो। तू मुझसे मेल की कामनावाली हो। २. **या**=जो **कामस्य**=कामदेव का **भीमा इषुः**=भयकारी बाण है, **तया**=उस बाण से **त्वा**=तुझे **हृदि**=हृदय

में **विध्यामि**=बींधता हूँ।

भावार्थ—पत्नी में पति के प्रति संग की कामना हो। यह काम पत्नी को पति के प्रति झुकाववाला करे।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**कामेषुः, मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

काम का बाण

आधीपर्णां कामशल्यामिषुं सङ्कल्पकुल्मलाम्।
तां सुसंनतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वा हृदि॥ २॥

१. **आधीपर्णाम्**=मानस पीड़ाएँ ही जिसके पत्ते हैं, **कामशल्याम्**=अभिलाषा (रिरंसा) ही जिसका शल्य है (बाणाग्रे प्रोतं आयसं अंगम्), **संकल्पकुल्मलाम्**=भोगविषयक संकल्प ही जिसका कुल्मल है—दारु और शल्य को जोड़नेवाला द्रव्य है—ऐसा यह काम का बाण है। २. **ताम्, इषुम्**=उस काम के बाण को **सुसन्नताम्**=लक्ष्य की ओर ठीक झुका हुआ **कृत्वा**=करके **कामः**=यह कामदेव **त्वा**=तुझे **हृदि विध्यतु**=हृदय में विध्य करे।

भावार्थ—काम का बाण अति तीक्ष्ण है। उससे विद्ध होकर पत्नी पति की ओर झुकाववाली हो।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**कामेषुः, मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्लीहा का शोषक कामेषु

या प्लीहानं शोषयति कामस्येषुः सुसंनता।
प्राचीनपक्षा व्यो३षा तया विध्यामि त्वा हृदि॥ ३॥

१. **या**=जो **प्लीहानम्**=हृदय के परिसर भाग में होनेवाले प्लीहा नामक प्राणाश्रय मांसखण्ड को **शोषयति**=सुखा डालता है, वह **कामस्य**=काम का **इषुः**=बाण **सुसन्नता**=सम्यक् लक्ष्य की ओर झुका है। २. यह बाण **प्राचीनपक्षा**=प्राञ्चन—आगे बढ़नेवाला व ऋजु=सरल पक्षोंवाला है, **व्योषा**=विशेषरूप से जलानेवाला है, **तया**=उस बाण से **त्वा**=तुझे **हृदि**=हृदय में **विध्यामि**=बींधता हूँ।

भावार्थ—काम से पीड़ित व्यक्ति प्राणान्त की पीड़ा को अनुभव करता है। काम के बाण से विद्ध पत्नी पति के प्रति प्रेमवाली होती है और पति को पाकर अपने में प्राणशक्ति का अनुभव करती है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**कामेषुः, मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मृदुः, निमन्युः, केवली

शुचा विद्धा व्यो३षया शुष्कास्याभि सर्प मा।
मृदुर्निमन्युः केवली प्रियवादिन्यनुव्रता॥ ४॥

१. **व्योषया**=विशेष दाह करनेवाले, **शुचा**=शोकवर्धक बाण से **विद्धा**=बिंधी हुई तू **शुष्कास्या**=शोक के कारण शुष्क मुखवाली **मा अभिसर्प**=मुझे प्राप्त हो। अब तू **मृदुः**=मृदुस्वभावा, **निमन्युः**=क्रोधरहित (न्यक्कृतप्रणय-कलहा) **केवली**=असाधारणा—केवल मेरी कामनावाली, **प्रियवादिनी**=प्रिय शब्दों को बोलनेवाली व **अनुव्रता**=अनुकूल कर्मों को करनेवाली हो।

भावार्थ—काम का बाण पति के प्रति पत्नी के प्रेम को बढ़ानेवाला हो। यह उसे अधिक मृदु व पतिव्रता बनाये।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—कामेषुः, मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

प्रेमकशा से पत्नी का आकर्षण

आजामि त्वाजन्या परि मातुरथो पितुः।
यथा मम क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ ५ ॥

१. हे पत्नि! **त्वा**=तुझे **मातुः परि अथ उ पितुः** (परि)=माता व पिता के पास से **आजन्या**=प्रेम की कशा (चाबुक) के द्वारा **आ अजामि**=अपने अभिमुख प्रेरित करता हूँ। पति पत्नी के प्रति इसप्रकार प्रेमवाला हो कि पत्नी को अपने माता-पिता के वियोग का कष्ट अनुभव न हो। २. मैं तुझे प्रेमकशा से इसप्रकार आहत करता हूँ कि **यथा**=जिससे तू **मम**=मेरे **क्रतौ असः**=संकल्पों व कर्मों में ही निवास करनेवाली हो और **मम चित्तम्**=मेरे चित्त को **उपायसि**=समीपता से प्राप्त हो। तेरा चित्त मेरे चित्त के अनुकूल हो।

भावार्थ—पत्नी पति के प्रेम-व्यवहार से आकृष्ट होकर सदा पति-परायणा हो।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—कामेषुः, मित्रावरुणौ ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

पितृगृह-विस्मृति

व्य१स्यै मित्रावरुणौ हृदश्चित्तान्यस्यतम्।
अथैनामक्रतुं कृत्वा ममैव कृणुतं वशे ॥ ६ ॥

१. हे **मित्रावरुणौ**=स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! **अस्यै**=इस स्त्री के लिए **हृदः**=हृदय से—अन्तःकरण से **चित्तानि**=चेतनाओं को—पितृगृह की स्मृतियों को **वि-अस्यतम्**=दूर क्षिप्त कर दो। इसे यहाँ पतिगृह में इसप्रकार स्नेह व निर्द्वेषता का वातावरण प्राप्त हो कि यह पितृगृह के सुखों को याद न कर पाये। २. **अथ**=अब **एनाम्**=इसे **अ-क्रतुं कृत्वा**=पितृगृह में जाने के सब प्रकार के संकल्पों से रहित करके **मम एव**=मेरे ही **वशे कृणुतम्**=वश में करो। मेरे स्नेह व निर्द्वेषता के भाव इसे पूर्णतया मेरे वश में कर दें।

भावार्थ—पत्नी को पतिगृह में प्रेम व निर्द्वेषता के भाव इसप्रकार प्राप्त हों कि वह पितृगृह को याद ही न करे।

विशेष—गत सूक्त के अनुसार काम का स्वरूप यह है कि यह 'उत्तुद' है। काम का बाण आधीपर्णा है। यह काम वह है जो कि प्लीहानं शोषयति। इसका 'इषु व्योषा' है। इस स्वरूप को स्मरण करता हुआ व्यक्ति उचित प्रेम रखता हुआ कामासक्त नहीं होता। सदा आत्मनिरीक्षण करनेवाला यह अथर्वा बनता है—अथ अर्वाङ् (now within)। यह प्रार्थना करता है कि—

२६. [षड्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—साग्नयो हेतयः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्पञ्चपदाविपरीतपादलक्षाः ॥

प्राच्यां हेतयो नाम देवाः

ये३स्यां स्थ प्राच्यां दिशि हेतयो नाम देवास्तेषां वो अग्निरिषवः।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ १ ॥

१. प्राची का भाव 'प्र अञ्च' अर्थात् निरन्तर आगे बढ़ना है। इस प्राची (पूर्व) दिशा में उदित हुआ-हुआ सूर्य निरन्तर आगे बढ़ता हुआ सर्वोच्च स्थित (zenith) सूर्य हमें भी आगे बढ़ने की प्रेरणा देता है। इस प्रेरणा को प्राप्त करनेवाले साधक **हेतयः**=आसुरभावों के हन्ता बनते हैं। **ये**=जो **अस्याम्**=इस **प्राच्यां दिशि स्थ**=प्राची दिशा में स्थित होकर निरन्तर आगे बढ़ रहे हो,

वे आप **हेतयः**='आसुरभावों के विनाशक' इस नामवाले **देवाः**=देव **स्थ**=होते हो। **तेषां वः**=उन आपका **अग्निः**=यह अग्नि **इषवः**=प्रेरक है। अग्नि अग्रणी है। हमें भी अग्नि बनने के लिए प्रेरित कर रहा है। अग्नि सब मलों को भस्म करनेवाला है। ये देव भी सब आसुरभावों का हनन करनेवाले 'हेतयः' कहलाते हैं। २. हे हेतयः! **ते**=वे आप **नः मृडत**=हमें सुखी करो। **ते**=वे आप **नः**=हमारे लिए **अधिब्रूत**=आधिक्येन उपदेश दो। **तेभ्यः वः**=उन आपके लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। **तेभ्यः वः**=उन आपके लिए **स्वाहा**=हम अपना अर्पण करते हैं। आपके सम्पर्क में हम भी 'हेतय' बन पाएँगे।

भावार्थ—हम प्राची दिशा से आगे बढ़ने का पाठ पढ़ें। इस पाठ को पढ़कर हम आसुर-भावों के हन्ता बनें। अग्नि से हम निरन्तर आगे बढ़ने का पाठ पढ़ें। इस पाठ को पढ़कर हम आसुरभावों के हन्ता बनें। अग्नि हमें निरन्तर आगे बढ़ने की प्रेरणा देगी। इन देवों से हम भी उपदेश ग्रहण करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सकामा अविष्यवः** ॥ छन्दः—**जगती, पञ्चपदाविपरीतपादलक्षाः** ॥

दक्षिणस्यां अविष्यवो नाम देवाः

ये ३ऽस्यां स्थ दक्षिणायां दिश्य ॑विष्यवो नाम देवास्तेषां वः काम इषवः।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा॥ २॥

१. **ये**=जो **अस्याम्**=उस **दक्षिणायां दिशि**=दक्षिण दिशा में स्थित हो—कुशलता की दिशा में स्थित हो—कुशलता के मार्ग से चल रहे हो, वे आप **अविष्यवः नाम**='अविष्यु' नामवाले—अपना रक्षण करनेवाले **देवाःस्थ**=देव हो, **तेषां वः**=उन आपका **कामः**=संकल्प—प्रबल इच्छा ही **इषवः**=प्रेरक है। कामना के बिना कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता, बिना कामना के कुशलता से कर्मों के करने का प्रश्न ही नहीं उठता। कामना होने पर मनुष्य एकाग्रता से कार्य करता है, अतः वह कर्म कुशलता से होता है। जैसे एक कुशल सपेरा साँप को कुशलता से पकड़ता है, साँप उसे काट नहीं पाता। इसीप्रकार इस योगी के द्वारा कार्य ऐसी कुशलता से किये जाते हैं कि ये उसे बाँध नहीं पाते। २. **ते**=वे अविष्यु नामक देवो! आप **नः**=हमें **मृडत**=सुखी करो। **ते**=वे आप **नः**=हमारे लिए **अधिब्रूत**=आधिक्येन उपदेश दीजिए। **तेभ्यः वः**=उन आपके लिए **नमः**=नमस्कार हो। **तेभ्यः वः**=उन आपके लिए **स्वाहा**=हम आत्मसमर्पण करते हैं। आपके प्रति अपना समर्पण करके हम भी 'अविष्यु' बनें।

भावार्थ—गतमन्त्र के अनुसार निरन्तर आगे बढ़नेवाले लोग जिस भी कार्य को करते हैं, उसमें कुशलता प्राप्त करते हैं। कुशलता से कार्य करते हुए ये अपना रक्षण कर पाते हैं। उन कर्मों से ये बद्ध नहीं होते। हम भी उनसे दाक्षिण्य का पाठ पढ़ें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अब्युक्ता वैराजः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्पञ्चपदाविपरीतपादलक्षाः** ॥

प्रतीच्यां दिशि वैराजा नाम देवाः

ये ३ऽस्यां स्थ प्रतीच्यां दिशि वैराजा नाम देवास्तेषां वः आप इषवः।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा॥ ३॥

१. 'प्रतीची' दिशा 'प्रति+अञ्च' वापस आने—इन्द्रियों को विषयों से प्रत्याहृत करने की दिशा है। **ये**=जो **अस्यां प्रतीच्याम्**=इस पश्चिमा—प्रतीची—प्रत्याहार की दिशा में **वैराजाः नाम**=वैराज नामवाले **देवाः**=देव **स्थ**=हैं—विशिष्टरूप से दीप्त होनेवाले व अपने जीवन को बड़ा व्यवस्थित (regulated) करनेवाले देव हैं, **तेषां वः**=उन आपका **आपः**=शरीरस्थ रेतःकणरूप

जल **इषवः**=प्रेरक हैं। इन कणों का रक्षण तभी होता है जब हम इन्द्रियों को विषयों से वापस ला पाते हैं और इनके रक्षण से ही हम '**वैराज**'=दीप्त जीवनवाले बनते हैं। मानो ये 'आपः' यही कह रहे हैं कि हमारा रक्षण ही तुम्हें 'वैराज' बनाएगा। २. **ते**=वे **वैराजः**=वशिष्टरूप से दीप्त जीवनवाले देवो! आप **नः मृडत**=हमपर अनुग्रह करो। **ते**=वे आप **नः**=हमारे लिए भी **अधिब्रूत**=इस प्रत्याहार का खूब ही उपदेश दो। **तेभ्यः वः**=उन आपके लिए **नमः**=नमस्कार हो। **तेभ्यः वः**=उन आपके लिए **स्वाहा**=हमारा अर्पण हो। आपके प्रति अपना अर्पण करके हम भी 'वैराज' बनें।

भावार्थ—संसार में हम प्रतीची दिशा से प्रत्याहार का पाठ पढ़ें और अपने जीवनों को दीप्त बनाने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सवाताः प्रविध्यन्तः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्, पञ्चपदाविपरीतपादलक्षाः** ॥

उदीच्यां दिशि प्रविध्यन्तो नाम देवाः

ये ३स्यां स्थोदीच्यां दिशि प्रविध्यन्तो नाम देवास्तेषां वो वात इषवः।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा॥ ४॥

१. प्रत्याहार का पाठ पढ़कर अब मनुष्य ऊपर उठता है—उन्नत होता है। यही उदीची दिक् (उद्+अञ्च=ऊपर उठना) है। **ये**=जो **अस्याम्**=इस **उदीच्यां दिशि**=उदीची दिशा में—उत्तर दिशा में **प्रविध्यन्तः**=सब शत्रुओं का वेधन करके ऊपर उठनेवाले 'प्रविध्यन्' नामक **देवाः स्थ**=देव हैं, **तेषां वः**=उन आपका यह **वातः**=वायु **इषवः**=प्रेरक है। वायु गति के द्वारा सब मलों का संहार करता है। शरीर में प्राण के रूप में यह सब दोषों को दग्ध करता है—'**प्राणायामैर्दहेद् दोषान्**'। यह वायु हमें भी उत्कृष्ट गति द्वारा सब बुराइयों के संहार का उपदेश करता है। २. **ते**=वे प्रविध्यन् नामक देवो! **नः मृडत**=हमें सुखी करो। **ते**=वे आप **नः**=हमारे लिए **अधिब्रूत**=आधिक्येन उपदेश दो। **तेभ्यः वः**=उन आपके लिए **नमः**=नमस्कार हो। **तेभ्यः वः**=उन आपके लिए **स्वाहा**=हमारा समर्पण हो। आपके सम्पर्क में हम भी 'प्रविध्यन्' नामक देव बनें।

भावार्थ—उदीची दिक् हमें ऊपर उठने की प्रेरणा दे। सब बाधाओं को विद्ध करके हम उन्नत होते चलें। वायु से गति के द्वारा सब दोषों को दग्ध करने की प्रेरणा लें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सौषधिका निलिम्पाः** ॥ छन्दः—**जगती, पञ्चपदाविपरीतपादलक्षाः** ॥

ध्रुवायां दिशि निलिम्पा नाम देवा

ये ३स्यां स्थ ध्रुवायां दिशि निलिम्पा नाम देवास्तेषां व ओषधीरिषवः।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा॥ ५॥

१. उन्नति के लिए नींव की दृढ़ता व स्थिरता आवश्यक है, अतः ध्रुवा दिशा आती है। यह स्थिरता का पाठ पढ़ाती है। **ये**=जो **अस्याम्**=इस **ध्रुवायां दिशि**=ध्रुवा दिक् में **निलिम्पाः नाम**=उस उन्नति के कार्य में नितरां लिप्त हो जानेवाले—उन्नति में ही लिप्त व आश्रित (लगे हुए) निलिम्प नामक **देवाः स्थ**=देव हैं। ये शत्रुओं को विद्ध करके ब्रह्मरूप लक्ष्य के वेधन का प्रयत्न करते हैं—'**प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते। अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्**'॥ **तेषां वः**=उन आपकी **ओषधीः इषवः**=व्रीहि-यवादि ओषधियाँ प्रेरक हैं। इन सब ओषधियों की जड़ें भूमि में जितनी दृढ़ हो जाती हैं, उतनी ही ये फूलती-फलती हैं। इसप्रकार हम जितना आधार को दृढ़ बनाएँगे उतना ही उन्नत हो पाएँगे। २. **ते**=वे निलिम्प

नामक देवो! **नः मृडत**=हमपर अनुग्रह करो। **ते**=वे आप **नः**=हमारे लिए **अधिब्रूत**=आधिक्येन उपदेश दो। **तेभ्यः वः**=उन आपके लिए **नमः**=नमस्कार हो। **तेभ्यः वः**=उन आपके लिए **स्वाहा**=हमारा समर्पण हो।

भावार्थ—निलिम्प नामक देववृत्ति के पुरुषों के सम्पर्क में हम भी निलिम्प बनें, उन्नति के कार्यों में स्थिरता से लगे रहें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**बृहस्पतियुक्ता अवस्वन्तः**॥ छन्दः—**जगतीपञ्चपदाविपरीतपादलक्षाः**।

ऊर्ध्वायां दिशि अवस्वन्तो नाम देवाः

ये ३स्यां स्थोर्ध्वायां दिश्यवस्वन्तो नाम देवास्तेषां वो बृहस्पतिरिषवः।
ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा॥ ६॥

१. **ये**=जो **अस्याम्**=इस **ऊर्ध्वायाम्**=उन्नति की चरमसीमारूप ऊर्ध्वा **दिशि**=दिक् में **अवस्वन्तः नाम**='अपना पूर्णतया रक्षण करनेवाले' अवस्वान् नामक **देवाः स्थ**=देव हैं। जो अपना पूर्ण रक्षण करते हैं, वे ही ऊर्ध्वा दिक् के अधिपति बनते हैं—उन्नति की पराकाष्ठा तक पहुँच पाते हैं। **तेषां वः**=उन आपका **बृहस्पतिः इषवः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु ही प्रेरक है। हृदयस्थ प्रभु से प्रेरणा प्राप्त करते हुए ये प्रभु के समान ही बनने का प्रयत्न करते हैं। वस्तुतः ज्ञान ही हमारा रक्षण करता है। ज्ञानाग्नि में सब बुराइयाँ भस्म हो जाती हैं। **ते नः मृडत**=वे अवस्वान् नामक देव हमपर अनुग्रह करें। **ते नः अधिब्रूत**=वे हमारे लिए आधिक्येन उपदेश देनेवाले हों **तेभ्यः वः नमः**=उन आपके लिए नमस्कार हो। **तेभ्यः वः स्वाहा**=उन आपके लिए हमारा समर्पण हो।

भावार्थ—हम ज्ञान के द्वारा अपना पूर्णतया रक्षण करते हुए ऊर्ध्वा दिक् के अधिपति बनें। अगले सूक्त का ऋषि भी 'अथर्वा' ही है।

२७. [सप्तविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**प्राची, अग्निः, असितः, आदित्याः**॥
छन्दः—**अष्टिः पञ्चपदाविपरीतपादलक्षाः**॥

प्राची दिक्

प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ १॥

१. **प्राची दिक्**=(प्र अञ्च) आगे बढ़ने की दिशा है। इसमें उदित होकर सूर्य आगे-और-आगे बढ़ता है। इसीप्रकार इस दिशा का संकेत प्राप्त करके जो आगे बढ़ता चलता है, वह एक दिन इस प्रगति का **अधिपतिः**=स्वामी होता है। इसका नाम **अग्निः**=अग्नि हो जाता है। इसने आगे बढ़ते हुए अपने आपको अग्रस्थान पर प्राप्त कराया है। इस प्रगति का **रक्षिता**=रक्षक **असितः**=अ+सित है-अबद्ध है। जो विषयों से बद्ध नहीं हुआ वही प्रगति के मार्ग का पथिक होता है। इस प्रगति के लिए निरन्तर आगे बढ़ते हुए **आदित्याः**=सूर्य **इषवः**=प्रेरक हैं। सूर्य से प्रेरणा प्राप्त करके हम सूर्य के समान निरन्तर आगे बढ़ते हैं। २. **तेभ्यः नमः**=उन्नति-पथ पर चलनेवालों के लिए नमस्कार हो। **रक्षितृभ्यः नमः**=उन्नति के रक्षकों के लिए नमस्कार हो। **इषुभ्यः**=उन्नति की प्रेरणा देनेवालों के लिए **नमः**=नमस्कार हो। **एभ्यः**=इन सबके लिए हमारा नमस्कार **अस्तु**=हो। **यः**=जो **अस्मान् द्वेष्टि**=हम सबके साथ द्वेष करता है और

यम्=जिससे **वयम्**=हम सब **द्विष्मः**=प्रीति नहीं करते **तम्**=उस समाज-द्वेषी को **वः**=आपके **जम्भे**=न्याय के जबड़े में **दध्मः**=स्थापित करते हैं। स्वयं दण्ड देने की अपेक्षा यही उचित है कि उसे अधिकारियों को सौंप दिया जाए। स्वयं दण्ड देने से तो अव्यवस्था ही बढ़ेगी।

भावार्थ—हम 'प्राची दिक्' का ध्यान करते हुए आगे बढ़ें। इस दिशा के अधिपति 'अग्नि' बनें। विषयों से अबद्ध होकर आगे बढ़ते चले जाएँ। सूर्य से आगे बढ़ने की प्रेरणा प्राप्त करें। इन सब अग्नि आदि के लिए आदर का भाव रखें। जो द्वेष करे, उसे उन्हें सौंप दें, जिससे वे उसे उचित दण्ड आदि की व्यवस्था से द्वेषरहित करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**दक्षिणा, इन्द्रः, तिरश्चिराजिः, पितरः** ॥ छन्दः—**अत्यष्टिः (पञ्चपदाः)**।

दक्षिणा दिक्

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ २ ॥

१. **दक्षिणा दिक्**=दाक्षिण्य की दिशा है। जो भी व्यक्ति 'प्राची' का पाठ पढ़कर निरन्तर आगे बढ़ता चलेगा, वह उस-उस कार्य में अवश्य निपुण बनेगा ही। इस नैपुण्य के कारण इसका ऐश्वर्य वृद्धि को प्राप्त होगा, अतः इस दिशा का **अधिपतिः**=स्वामी **इन्द्रः**=परमैश्वर्याशाली है। २. इस नैपुण्य की **रक्षिता**=रक्षक **तिरश्चिराजी**=पशु-पक्षियों की पंक्ति हैं। प्रभु ने इनमें वासनात्मकरूप (instinct) से दाक्षिण्य रक्खा है। मधुमक्षिका किस अद्भुत कुशलता से फूलों से रस लेती है और शहद का निर्माण करती है। चील किस कुशलता से आकाश में पंख हिलाये बिना ही उड़ती जाती है। सिंह का नदी को सीधा तैरना कितना विस्मयकारक है। ३. इस नैपुण्य के लिए **इषवः**=प्रेरणा देनेवाले **पितरः**=माता-पिता हैं। ये अपने सन्तानों को निरन्तर निपुण बनने की प्रेरणा देते रहते हैं। (शेष पूर्ववत्)।

भावार्थ—हम दक्षिण दिशा से नैपुण्य प्राप्त करने का संकेत ग्रहण करें। नैपुण्य हमें ऐश्वर्यशाली बनाएगा। प्रभु ने इस नैपुण्य को पशु-पक्षियों में रक्खा है। माता-पिता सदा इस नैपुण्य के लिए सन्तानों को प्रेरणा देते रहते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**प्रतीची, वरुणः, पृदाकुः, अन्नम्** ॥ छन्दः—**अत्यष्टिः (पञ्चपदाः)** ॥

प्रतीची दिक्

प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ३ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार ऐश्वर्य प्राप्त करके कहीं हम इन्द्रिय-विषयों में आसक्त न हो जाएँ, अतः **प्रतीची दिक्**=प्रतीची दिक् आती है और हमें 'प्रति अञ्च' वापस लौटने का उपदेश देती है। यही योग में 'प्रत्याहर' कहलाता है। इन्द्रियों को विषयों से वापस लाना ही 'प्रतीची' का पाठ है। इस प्रत्याहार का **अधिपतिः**=स्वामी **वरुणः**=वरुण है—इन्द्रियों को विषयों से निवारित करनेवाला। इस प्रत्याहार से इसका जीवन श्रेष्ठ बनता है 'वरुणो नाम वरः श्रेष्ठः'। २. इस प्रत्याहार की **रक्षिता**=रक्षा करनेवाली यह **पृदाकुः**=पालन व पूरण के लिए (पृ) सब-कुछ देनेवाली (दा) यह पृथिवी (कु) है। यह अपने से दूर गई हुई वस्तुओं को फिर से अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। इसी प्रकार हमें भी भटकी हुई इन्द्रियों को लौटाना है। ३. नहीं

लौटाएँगे तो इन्द्रियाँ भोगों में फँस जाएँगी और हम रोगाक्रान्त व दुर्बल जाठराग्निवाले होकर सामान्य अन्न भी न खा सकेंगे, अतः यह **अन्नम्**=अन्न ही **इषवः**=इस प्रत्याहार की प्रेरणा दे रहा है, मानो यह कह रहा है कि इन्द्रियों को विषयासक्ति से रोको, अन्यथा कुछ वर्षों बाद तुम मुझे भी आस्वादित नहीं कर पाओगे। (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—हम ऐश्वर्य को प्राप्त करके प्रत्याहार का पाठ पढ़ें। यही श्रेष्ठ बनने का मार्ग है। जैसे पृथिवी दूरङ्गत वस्तुओं को अपनी ओर खेंचती है, उसी प्रकार हम इन्द्रियों को विषयव्यावृत करें तभी हम अन्त तक जाठराग्नि के ठीक रहने से अन्न को आस्वादित कर पाएँगे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**उदीची, सोमः, स्वजः, अशनिः,**॥ छन्दः—**अत्यष्टिः (पञ्चपदाः)**॥

उदीची दिक्

उदीची दिक्सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ ४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रत्याहार का पाठ पढ़ने पर हम उन्नत होंगे। यही '**उदीची दिक्**' का सन्देश है-'उद् अञ्च'=ऊपर चलें—उन्नति करते चलें। इस उन्नति की दिशा का **अधिपतिः**=स्वामी **सोमः**=सोम है—सौम्य स्वभाव का, विनीत। वस्तुतः वास्तविक उन्नति की पहचान है ही 'विनीतता'। भतृहरि के शब्दों में '**नम्रत्वेनोन्नमन्तः**'—नम्रता से ही ये अधिक उन्नत होते हैं। २. इस उन्नति का **रक्षिता**=रक्षक **स्वजः**=खूब क्रियाशीलता है—'अज गतौ'। क्रियाशीलता के द्वारा सब बुराइयों को परे फेंकता हुआ यह उन्नत और उन्नत होता चलता है। **अशनिः**=अग्नि इस दिशा की **इषवः**=प्रेरक है। अग्नि की लपट सदा ऊपर जाती है। सदा ऊपर जाती हुई यह अग्नि की लपट हमें भी ऊपर उठने की प्रेरणा देती है। (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—इन्द्रियों का विषयों से प्रत्याहरण हमें ऊपर ले-चलता है। उन्नत पुरुष विनीत बनता है। क्रियाशीलता द्वारा मलों को दूर फेंकता हुआ यह उन्नति का रक्षक होता है। आग की ऊर्ध्वमुखी ज्वाला से यह ऊपर-और-ऊपर उठने की प्रेरणा लेता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ध्रुवा, विष्णुः, कल्माषग्रीवः, वीरुधः**॥ छन्दः—**भुरिगष्टिः (पञ्चपदाः)**॥

ध्रुवा दिक्

ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ ५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार हमें ऊपर-और-ऊपर उठना है। ऊपर उठने के लिए आधार का ध्रुव (स्थिर) होना आवश्यक है, अतः **ध्रुवा दिक्**=स्थिरतरता की दिशा ध्रुवता का संकेत करती है। अपने आधार को हम बड़ा दृढ़ बनाएँ। नींव जीतनी विशाल होगी उतना ही ठीक, अतः इस दिशा का **अधिपतिः**=स्वामी **विष्णुः**=(विष् व्याप्तौ) व्यापक उन्नतिवाला है। यह 'शरीर, मन व मस्तिष्क' तीनों को खूब विकसित करने का प्रयत्न करता है। २. इस ध्रुवा दिक् का **अधिपतिः**=स्वामी **कल्माषग्रीवः**=चित्रित कण्ठवाला है। विविध विद्याओं से सुभूषित कण्ठवाला व्यक्ति ही उन्नति की ध्रुव नींव की स्थापना करता है। **वीरुधः**=प्रतानिनी लताएँ—फैली हुई बेलें **इषवः**=प्रेरणा दे रही हैं, मानो ये कह रही हैं कि तुम भी हमारी भाँति अपने को फैलाओ। जितना अपने को फैलाओगे, उतनी ही तुम्हारी नींव दृढ़ बनेगी और तुम उतने अधिक उन्नत हो सकोगे। (शेष

पूर्ववत्)

भावार्थ—हम अपनी उन्नति के आधार को दृढ़ बनाएँ। शरीर, मन, मस्तिष्क—तीनों को उन्नत करें। विविध विद्याओं से सुभूषित कण्ठवाले हों तथा फैली हुई बेलों से व्यापकता की प्रेरणा लें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ऊर्ध्वा, बृहस्पतिः, श्वित्रः, वर्षम्**॥ छन्दः—**अष्टिः (पञ्चपदाः)**॥

ऊर्ध्वा दिक्

ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः।
तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु।
योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ ६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार यदि हम अपनी उन्नति के आधार को ध्रुव बनाएँगे तो उन्नति करते-करते 'ऊर्ध्वा दिक्' में अवस्थित होंगे। यह जीव की उन्नति की चरम सीमा है। इसका **अधिपतिः**=स्वामी **बृहस्पतिः**=ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञानवाला 'ब्रह्मणस्पति' है। २. इस चरम उन्नति का **रक्षिता**=रक्षक **श्वित्रः**=श्वेत, शुद्ध, उज्ज्वल जीवनवाला है। धर्ममेघ समाधि की स्थिति में योगी को अनुभव होनेवाली **वर्षम्**=आनन्द की वर्षा **इषवः**=प्रेरक है, मानो यह कह रही है कि इस ऊर्ध्वा दिक् में पहुँचो और उद्भुत आनन्द का अनुभव करो। (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—उन्नति के आधार को व्यापक और ध्रुव बनाकर हम ऊर्ध्वा दिक् में पहुँचे। यहाँ पहुँचने पर हम बृहस्पति कहलाएँगे। जीवन को शुद्ध बनाकर इस ऊर्ध्वतम स्थिति का रक्षण करें और परिणामतः एक आनन्द की वृष्टि का अनुभव करें।

विशेष—इस ऊर्ध्वा दिक् में पहुँचनेवाला ब्रह्मा कहलाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

२८. [अष्टाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**यमिनी**॥ छन्दः—**अतिशक्वरीगर्भाचतुष्पदातिजगति**॥

वेदवाणी का महत्त्व

एकैकयैषा सृष्ट्या सं बभूव यत्र गा असृजन्त भूतकृतो विश्वरूपाः।
यत्र विजायते यमिन्यपर्तुः सा पशून्क्षिणाति रिफती रुशती॥ १॥

१. **एषा**=यह ब्रह्मा से जानी जानेवाली वेदवाणी **एकैकया**=प्रत्येक **सृष्ट्या**=सृष्टि के साथ **संबभूव**=सम्यक् प्रादुर्भूत होती है। सृष्टि के प्रारम्भ में इसका ज्ञान 'अग्नि, वायु, आदित्य व अङ्गिरा' के द्वारा ब्रह्मा में स्थापित किया जाता है। **यत्र**=जिस वेदवाणी में **भूतकृतः**=(भूत=Well-being, welfare) शुभ, मङ्गल व स्वास्थ्य देनेवाली **गाः**=वाणियाँ **असृजन्त**=विसृष्ट होती हैं। ये वाणियाँ **विश्वरूपाः**=सब पदार्थों का निरूपण करनेवाली हैं, सब पदार्थों का ज्ञान देकर ही वस्तुतः ये हमारा मङ्गल करती हैं। २. **यत्र**=इन वेदवाणियों का स्वाध्याय करनेवाला व्यक्ति संयत बुद्धि को प्राप्त करता है, उस बुद्धि को जोकि मन का शासन करनेवाली होती है, नकि मन से शासित होती है। ३. वेदवाणियों के—ज्ञान की वाणियों के अध्ययन के अभाव में जब वह बुद्धि **अपर्तुः (जायते)**=ऋतु-क्रम—नियमित गति से रहित, उच्छृंखल-सी हो जाती है तब **सा**=वह **पशून्**=पशुओं को **क्षिणाति**=हिंसित करती है, मांसाहार व शिकार की ओर झुकती है। मन से शासित होकर यह ठीक सोच ही नहीं पाती। यह **रिफती**=कड़वे शब्दों का उच्चारण (to utter a rough grunting sound) करती है और **रुशती**=औरों को तंग करती है (to tease)। ज्ञान की ओर झुकाव न होने पर मनुष्य शिकार (मांसाहार) में प्रवृत्त होता है, कड़वी वाणी

बोलता है तथा औरों को तंग करने में स्वाद लेता है।

भावार्थ—प्रभु सृष्टि के प्रारम्भ में वेद ज्ञान देते हैं। यह वेदवाणी सब पदार्थों का निरूपण करती हुई हमारा शुभ करती है। इसके अध्ययन से बुद्धि संयत बनती है, अन्यथा मनुष्य शिकार में, कड़वे शब्द बोलने में व औरों को तंग करने में लगा रहता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**यमिनी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

क्रव्यात् व्यद्वरी Vs (बनाम) स्योना शिवा (बुद्धि)

एषा पशून्त्सं क्षिणाति क्रव्याद्भूत्वा व्यद्वरी।
उतैनां ब्रह्मणे दद्यात्तथा स्योना शिवा स्यात्॥ २॥

१. **एषा**=यह गतमन्त्र में वर्णित अपर्तु (नियमित गति से रहित) बुद्धि **पशून्**=पशुओं को **संक्षिणाति**=नष्ट करती है। यह **व्यद्वरी**=(वि+अद्)शास्त्र-विरुद्ध भोजनों को खानेवाली **भूत्वा**=होकर **क्रव्यात्**=मांसाहारवाली हो जाती है। २. यदि मनुष्य **उत**=निश्चय से **एनाम्**=इस बुद्धि को अपर्तु न होने देकर, **ब्रह्मणे दद्यात्**=ज्ञान के लिए दे दे—ज्ञान-प्राप्ति में ही लगादे तो **तथा**=वैसा करने पर **स्योना**=सुखदा व **शिवा**=कल्याण-ही-कल्याण करनेवाली **स्यात्**=हो।

भावार्थ—बुद्धि को ज्ञान-प्राप्ति में लगाएँ तो यह सुख व कल्याण करनेवाली होती है, अन्यथा अनियमित गतिवाली होकर शास्त्र-विरुद्ध भोजनों को खाने लगती है, मांसाहार करती हुई पशुओं का संहार करती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**यमिनी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शिक्षा (बुद्धि)

शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा।
शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि॥ ३॥

१. हे यमिनि बुद्धे! तू **पुरुषेभ्यः**=सब पुरुषों के लिए **शिवा भव**=कल्याणकारी हो। किसी के लिए कड़वी बात न बोल, किसी को तंग न कर (न रिफती, न रुशती)। **गोभ्यः, अश्वेभ्यः**=गौ व घोड़े आदि पशुओं के लिए भी **शिवा**=कल्याण करनेवाली हो (न क्रव्यात्—मांसाहार करनेवाली नहीं) २. **अस्मै सर्वस्मै**=इस सारे **क्षेत्राय**=क्षेत्र के लिए—शरीरमात्र के लिए (इदं शरीरम् कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते), **शिवा**=तू कल्याणकर हो। **इह**=यहाँ, इस जीवन में **नः**=हमारे लिए **शिवा एधि**=कल्याणकर हो।

भावार्थ—हमारी बुद्धि यमिनी हो नकि अपर्तु। यह सब पुरुषों के साथ मधुर व्यवहार करे और पशुओं को हिंसित करनेवाली न हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**यमिनी** ॥ छन्दः—**यवमध्याविराट्ककुप्** ॥

पुष्टि+रस

इह पुष्टिरिह रस इह सहस्रसातमा भव। पशून्यमिनि पोषय॥ ४॥

१. यमिनी बुद्धि के कारण **इह**=यहाँ—हमारे घरों में **पुष्टिः**=उचित पोषण हो। **इह**=यहाँ **रसः**=रस हो—आपस के मधुर व्यवहार के कारण आनन्द-ही-आनन्द हो। २. हे **यमिनि**=संयत बुद्धि! तू **इह**=यहाँ **सहस्रसातमा**=सहस्रों धनों को अतिशयेन प्राप्त करनेवाली **भव**=हो। २. तू **पशून्**=पशुओं को **पोषय**=पुष्ट कर, इनका संहार करनेवाली न हो।

भावार्थ—यमिनी (संयत) बुद्धि हमारा पोषण करती है, हमारे व्यवहार को रसमय बनाती है तथा हमें मांसाहार से दूर रखती है।

ऋषि:—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**यमिनी** ॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्** ॥

स्वर्ग

यत्रा॑ सु॒हार्दः॑ सु॒कृतो॒ मद॑न्ति वि॒हाय॒ रोगं॑ त॒न्वः॑ स्वायाः॑ ।
तं लो॒कं य॒मिन्य॑भि॒संब॑भूव॒ सा नो॒ मा हिं॑सी॒त्पुरु॑षान्प॒शूंश्च॑ ॥ ५ ॥

१. **यमिनी**=संयमवाली—मन को शासित करनेवाली (मनीषा) बुद्धि **तं लोकं अभि संबभूव**=उस लोक को लक्ष्य करके सत्तावाली होती है, अर्थात् उस लोक को जन्म देती है, **यत्र**=जहाँ **सुहार्दः**=उत्तम हृदयवाले **सुकृतः**=उत्तम कर्म करनेवाले लोग **स्वायाः तन्वः**=अपने शरीर के **रोगं विहाय**=रोग को छोड़कर **मदन्ति**=आनन्द का अनुभव करते हैं, अर्थात् जब तक बुद्धि का शासन रहता है तब तक (क) लोगों के हृदय उत्तम रहते हैं, (ख) उनके कर्म उत्तम होते हैं, (ग) शरीर नीरोग होते हैं। २. **सा**=वह यमिनी बुद्धि **नः**=हमारे **पुरुषान्**=पुरुषों को **च**=और **पशून्**=पशुओं को **मा हिंसीत्**=मत हिंसित करे। यह यमिनी बुद्धि पुरुषों के साथ ककर्श भाषा में व्यवहार नहीं करती और न ही उन्हें पीड़ित करती है। मांसाहार से दूर होने के कारण यह पशुओं का संहार भी नहीं करती। इसप्रकार यह 'यमिनी' स्वर्गलोक का निर्माण करती है।

भावार्थ—जब बुद्धि **यमिनी-मनीषा**=मन का शासन करनेवाली होती है तब १. लोगों के हृदय उत्तम होते हैं, २. उनके कर्म उत्तम होते हैं, ३. शरीर नीरोग होते हैं, ४. पुरुषों के प्रति इनका व्यवहार मधुर होता है, ५. मांसाहार के प्रति अरुचि के कारण यह पशुओं का संहार नहीं करती। इसप्रकार यमिनी बुद्धि घर को स्वर्ग बना देती है।

ऋषि:—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**यमिनी** ॥ छन्द:—**विराड्गर्भाप्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

उत्तम हृदय, उत्तम कर्म, अग्निहोत्र

यत्रा॑ सु॒हार्दां॑ सु॒कृता॑मग्निहोत्र॒हुतां॒ यत्र॑ लो॒कः ।
तं लो॒कं य॒मिन्य॑भि॒संब॑भूव॒ सा नो॒ मा हिं॑सी॒त्पुरु॑षान्प॒शूंश्च॑ ॥ ६ ॥

१. **यमिनी**=संयमवाली बुद्धि **तं लोकं अभि**=उस लोक का लक्ष्य करके **संबभूव**=सत्तावाली होती है, अर्थात् उस लोक को जन्म देती है, **यत्र**=जहाँ **सुहार्दाम्**=उत्तम हृदयवालों का तथा **सुकृताम्**=उत्तम कर्म करनेवालों का **लोकः**=लोक होता है। उस लोक को जन्म देती है **यत्र**=जहाँ **अग्निहोत्रहुताम्**=अग्निहोत्र करनेवालों का **लोकः**=लोक होता है। २. **सा**=वह यमिनी बुद्धि **नः**=हमारे **पुरुषान्**=पुरुषों को **मा हिंसीत्**=मत हिंसित करे **च**=और **पशून्**=पशुओं को भी मत हिंसित करे, अर्थात् मांसाहार के प्रति रुचिवाली न हो।

भावार्थ—यमिनी बुद्धि लोगों के हृदयों व कर्मों को उत्तम बनाती है तथा उन्हें अग्निहोत्र की प्रवृत्तिवाला करती है। यह बुद्धि पुरुषों व पशुओं को हिंसित नहीं करती।

विशेष—अगले सूक्त का ऋषि उद्दालक है—राष्ट्र में से सब बुराइयों का दलन करनेवाला। सूक्त का देवता 'शितिपाद् अवि' है—शुद्ध (शिति) गतिवाला रक्षक। राजा उद्दालक है। शुद्ध गतिवाला यह रक्षक है—

२९. [एकोनत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषि:—**उद्दालकः** ॥ देवता—**शितिपाद् अविः** ॥ छन्द:—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

राजा को प्रजाकृत पुण्य के सोलहवें भाग की प्राप्ति

यद्राजा॑नो वि॒भज॑न्त इष्टापू॒र्तस्य॑ षोड॒शं य॒मस्या॒मी स॑भा॒सदः॑ ।
अवि॒स्तस्मा॒त्प्र मु॑ञ्चति द॒त्तः शि॑तिपा॒त्स्व॒धा ॥ १ ॥

१. **यत्**=जो **राजानः**=प्रजा के जीवन को व्यवस्थित बनानेवाले—प्रजा पर शासन करनेवाले, **यमस्य**=उस नियन्ता सभापति (राष्ट्रपति) के **अमी**=वे **सभासदः**=सभासद् लोग **इष्टापूर्तस्य**=प्रजा से किये जानेवाले यज्ञों व दान-पुण्य के कर्मों (वापी, कूप, तडागादि के बनवानेरूप कर्मों) के **षोडशम्**=सोलहवें भाग को **विभजन्ते**=विभक्त कर लेते हैं, अर्थात् शासकवर्ग से सुरक्षित प्रजा जिन उत्तम कर्मों को करती है, उनका सोलहवाँ भाग इन शासकों को प्राप्त होता है। प्रजारक्षण के कार्य में व्यग्र हुए-हुए ये लोग यज्ञादि के लिए समय नहीं निकाल पाते, परन्तु प्रजा जिन यज्ञादि कर्मों को करती है, उनका सोलहवाँ भाग इन्हें प्राप्त हो जाता है। जैसे प्रजा कमाती है और उसका सोलहवाँ भाग कर के रूप में देती है, इसीप्रकार इन राजाओं को प्रजा के पुण्य का भी सोलहवाँ भाग प्राप्त होता है। **तस्मात्**=उस सोलहवें भाग को प्राप्त करने के कारण **अविः**=यह रक्षण करनेवाला राजा **प्रमुञ्चति**=प्रजा को चोरों व डाकुओं आदि के भय से मुक्त करता है। इन भयों से मुक्त प्रजा ही कमा सकेगी तथा यज्ञ आदि कर पाएगी। २. **दत्तः**=(दत्तं यस्मै सः) जिस राजा के लिए इन पुण्यों का सोलहवाँ भाग दिया गया है, वह राजा **शितिपात्**=सदा शुद्ध गतिवाला होता है। वह शिकार खेलना आदि व्यसनों में नहीं फँसता। इसे प्रजा-रक्षण के कार्य से अवकाश ही नहीं मिलता। यह **स्वधा**=अपनी प्रजा का धारण करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रजा का रक्षक राजा प्रजा से किये गये पुण्य कार्यों के भी सोलहवें भाग को प्राप्त करता है। वह स्वयं शुद्ध आचरणवाला होता हुआ प्रजारक्षण में लगा रहता है।

ऋषिः—**उद्दालकः** ॥ देवता—**शितिपाद् अविः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आभवन्, प्रभवन्, भवन्

सर्वा॒न्कामा॑न्पूरयत्या॒भव॑न्प्र॒भव॒न्भव॑न्।
आ॒कू॒ति॒प्रो॑ऽवि॒र्द॒त्तः शि॑ति॒पान्नोप॑ दस्यति ॥ २ ॥

१. **दत्तः**=जिस राजा के लिए प्रजा से कर व पुण्य का सोलहवाँ भाग दिया गया है, वह राजा **अविः**=प्रजा का रक्षक होता है। **सर्वान् कामान् पूरयति**=वह प्रजा की सब कामनाओं को पूर्ण करता है। यह **आभवन्**=प्रजा में चारों ओर होता है, अर्थात् प्रजा में व्याप्त रहता है, सदा प्रजा में घूमता है, **प्रभवन्**=शक्तिशाली होता है, **भवन्**=वर्धिष्णु होता है। २. यह **आकूति-प्रः**=प्रजाओं के संकल्पों का पूर्ण करनेवाला होता है। यह **शितिपात्**=शुद्ध आचरणवाला—व्यसनों में न फँसनेवाला राजा **न उपदस्यति**=अपने प्रजारूप शरीर को नष्ट नहीं होने देता।

भावार्थ—प्रजा से कर प्राप्त करनेवाला यह राजा प्रजा में व्याप्तिवाला बनता है, शक्तिशाली होता है, प्रजा का वर्धन करता है तथा प्रजा की कामनाओं को पूर्ण करता है और प्रजा को नष्ट नहीं होने देता।

ऋषिः—**उद्दालकः** ॥ देवता—**शितिपाद् अविः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

राष्ट्र-स्वर्ग

यो ददा॑ति शिति॒पाद॒मविं॑ लो॒केन॒ संमि॑तम्।
स नाक॑म॒भ्यारो॑हति॒ यत्र॑ शु॒ल्को न क्रि॒यते॑ अब॒लेन॒ बली॑यसे ॥ ३ ॥

१. **यः**=जो प्रजावर्ग **शितिपादम्**=शुद्ध आचरणवाले **अविम्**=रक्षक राजा को **लोकेन संमितम्**=लोक से मानपूर्वक बनाये गये—राष्ट्रसभा से निर्धारित 'कर' **ददाति**=देता है, **सः**=वह प्रजावर्ग **नाकम्**=स्वर्ग को **अभ्यारोहति**=आरूढ़ होता है। यदि प्रजा राष्ट्रसभा से निर्धारित कर

को सभा के लिए देती रहती है तो राष्ट्र की व्यवस्था बड़ी सुन्दर बनी रहती है। राष्ट्र स्वर्ग-सा बन जाता है। २. यह राष्ट्र इसप्रकार का स्वर्ग होता है **यत्र**=जहाँ कि **अबलेन**=निर्बल से **बलीयसे**=बलवान् के लिए **शुल्कः**=कोई दण्डरूप धन **न क्रियते**=नहीं किया जाता है, अर्थात् इस राष्ट्र में सबल निर्बल पर अत्याचार नहीं करता है। राष्ट्र में चोर और डाकू औरों के धन को नहीं छीनते रहते। कर प्राप्त करनेवाले राजा का मौलिक कर्त्तव्य यह है कि वह प्रजा का रक्षण करे, बलवानों द्वारा निर्बलों पर अत्याचार न होने दे। इसप्रकार जब प्रजा राष्ट्र में निर्भय विचरेगी तब यह राष्ट्र स्वर्ग-सा बन जाएगा।

भावार्थ-प्रजा राष्ट्रसभा को निर्धारित कर देनेवाली हो। राजा प्रजा का रक्षण करे। राजा इस बात का ध्यान करे कि राष्ट्र में मात्स्यन्याय न फैल जाए, सबल निर्बल को न खाने लगे। राष्ट्र में सब सर्वत्र निर्भय विचर सकें, राष्ट्र स्वर्ग-सा बन जाए।

ऋषिः—**उद्दालकः** ॥ देवता—**शितिपाद् अविः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पितृणां लोके

पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम्।
प्रदातोप जीवति पितृणां लोकेऽक्षितम्॥ ४॥

१. **पञ्चापूपम्**=(पञ्च, अ, पूप=पूपी विशरणे) राष्ट्र के 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद'-इन पाँचों का विशीर्ण न होने देनेवाले, अथवा 'पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण व मध्य'—देश के इन पाँचों भागों में रहनेवाली प्रजा को विशीर्ण न होने देनेवाले **शितिपादम्**=शुद्ध गतिवाले, विषयों में अनासक्त **अविम्**=रक्षक राजा को **लोकेन संमितम्**=लोगों के प्रतिनिधियों से राष्ट्रसभा में निर्धारित-मानपूर्वक निश्चित किये गये कर का **प्रदाता**=देनेवाला प्रजावर्ग **पितृणाम्**=रक्षक राजपुरुषों के **लोके**=लोक में, अर्थात् राजपुरुषों से सुरक्षित राष्ट्र में **अक्षितम्**=अक्षीणता के साथ **उपजीवति**=जीवन धारण करता है। २. राजा का मौलिक कर्त्तव्य एक ही है कि वह चारों दिशाओं और मध्यभाग में स्थित सब प्रजाओं का ठीक से रक्षण करे—उन्हें विशीर्ण न होने दे। राजपुरुष पितरों के समान हों। ये प्रजावर्ग को सन्तान-तुल्य समझें। प्रजा का कर्त्तव्य है कि वह ठीक प्रकार से कर देनेवाली हो।

भावार्थ— राजा प्रजा का रक्षण करे। राजपुरुष पितरों के समान हों। वे अपने सन्तानरूप प्रजाओं को क्षीण न होने दें।

ऋषिः—**उद्दालकः** ॥ देवता—**शितिपाद् अविः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सूर्यामासयोः लोके

पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम्।
प्रदातोप जीवति सूर्यामासयोरक्षितम्॥ ५॥

१. **पञ्चापूपम्**=पाँचों दिशाओं (पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण व मध्य) में स्थित प्रजावर्ग को विशीर्ण न होने देनेवाले **शितिपादम्**=शुद्ध आचरणवाले **अविम्**=रक्षक राजा को **लोकेन संमितम्**=लोकों के प्रतिनिधियों से राष्ट्रसभा में निर्धारित कर का **प्रदाता**=देनेवाला प्रजावर्ग **सूर्यामासयोः**=सूर्य-चन्द्रमा के लोक में (मस्यते क्षयवृद्धिभ्यां परिमीयते इति मासः चन्द्रमाः), **अक्षितम्**=अक्षीणता के साथ **उपजीवति**=निवास करता है, अर्थात् दिन-रात फूलता-फलता है। २. प्रजा जब राजा को ठीक से कर देती रहती है तब राजा दिन-रात प्रजा का रक्षण करता है। प्रजा दिन में निर्भयता से व्यापार आदि कर्मों को करती है और रात्रि में निर्भयता

से विश्राम करती है। राजा 'जागृवि' है—सदा जागरूक होकर प्रजा का रक्षण करता है।

भावार्थ—राजा के लिए निश्चित कर देनेवाली प्रजा दिन-रात राजा से सुरक्षित हुई-हुई दिन में अपने-अपने कार्यों को करती हुई रात्रि में निर्भयता से विश्राम करती है।

ऋषिः—**उद्दालकः** ॥ देवता—**शितिपाद् अविः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इरा इव, समुद्र इव, सवासिनौ देवौ इव

इरेव नोप दस्यति समुद्रइव पयो महत्।
देवौ सवासिनाविव शितिपान्नोप दस्यति॥ ६॥

१. **इरा इव**=इस भूमि के समान **शितिपात्**=शुद्ध आचरणवाला राजा **न उपदस्यति**=प्रजा का कभी क्षय नहीं करता। भूमि माता के समान सदा अन्नों को देनेवाली है। इसीप्रकार राजा प्रजा को कभी अन्नाभाव से मृत नहीं होने देता। २.यह सदाचारी राजा **समुद्रः इव**=समुद्र के समान **महत् पयः**=महान् जल-राशि है। समुद्र का जल क्षीण नहीं होता। इस राजा का कोश भी सदा परिपूर्ण रहता है। ३. **सवासिनौ**=सदा साथ रहनेवाले **देवौ इव**=प्राणापानरूप अश्विनीदेवों के समान यह राजा है। यह प्रजा में प्राणशक्ति का सञ्चार करता है, प्रजा से मलिनताओं को दूर करता है। इसप्रकार यह शितिपात् राजा **न उपदस्यति**=प्रजा का क्षय नहीं करता।

भावार्थ—राजा प्रजा के लिए अन्नाभाव नहीं होने देता। यह अपने कोष को क्षीण नहीं होने देता। यह प्रजा में प्राणशक्ति का सञ्चार करता हुआ सब मलिनताओं को दूर करता है।

ऋषिः—**उद्दालकः** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**षट्पदा-उपरिष्टाद्दैवीबृहतीककुम्मतीगर्भा-विराड्जगती** ॥

कामः दाता, कामः प्रतिग्रहीता

क इदं कस्मा अदात्कामः कामायादात्।
कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामः समुद्रमा विवेश।
कामेन त्वा प्रति गृह्णामि कामैतत्ते॥ ७॥

१. राजा के लिए प्रजा कर देती है, राजा प्रजा से कर लेता है। वस्तुतः **कः**=कौन **इदम्**=कररूप इस धन को **कस्मै**=किसके लिए **अदात्**=देता है **कामः कामाय अदात्**=काम ही काम के लिए देता है। प्रजा में यह कामना होती है कि उसे अन्तः व बाह्य उपद्रवों के भय से कोई रक्षित करनेवाला हो तथा राजा के अन्दर भी 'मैं इतनी विशाल प्रजा का राजा हूँ' ऐसा कहलाए जानेरूप यश की कामना होती है। यह कामना ही प्रजा व राजा के सम्बन्ध को स्थिर रखती है। **कामः दाता**=काम ही देनेवाला है, **कामः प्रतिग्रहीता**=काम ही लेनेवाला है। २. **कामः समुद्रम् आविवेश**=यह काम समुद्र की भाँति निरवधिक (अनन्त) रूप को प्राप्त होता है '**समुद्र इव हि कामः, नैव हि कामस्यान्तोऽस्ति**'=(तै० २.२.५.६)। राजा कहता है कि हे कररूप द्रव्य! मैं **त्वा**=तुझे **कामेन**=प्रजारक्षा की कामना से ही **प्रतिगृह्णामि**=लेता हूँ। हे **काम**=प्रजारक्षण की इच्छे! **एतत्**=यह सब धन **ते**=तेरा ही है। राजा इस सारे धन का विनियोग प्रजोन्नति के कार्यों में ही करता है।

भावार्थ—प्रजा कर देती है, राजा कर लेता है। यह लेना-देना कामना से ही होता है। प्रजा राजा के द्वारा रक्षण की कामना करती है, राजा प्रजारक्षण से प्राप्य यश की कामनावाला होता है।

ऋषिः—उद्दालकः ॥ देवता—भूमिः ॥ छन्दः—उपरिष्टाद्बृहतिः ॥

मा प्राणेन, मा आत्मना, मा प्रजया (विराधिषि)

भूमिष्ट्वा प्रति गृह्णात्वन्तरिक्षमिदं महत्।
माहं प्राणेन मात्मना मा प्रजया प्रतिगृह्य वि राधिषि॥ ८॥

१. हे कररूप द्रव्य! **भूमिः त्वा प्रतिगृह्णातु**=यह भूमि तेरा ग्रहण करे। राजा राष्ट्र की रक्षा व राष्ट्र में कृषि आदि कार्यों की उन्नति के लिए कर ग्रहण करे। कर से प्राप्त धन का इन्हीं कार्यों में विनियोग करे। २. **इदम्**=यह **महत् अन्तरिक्षम्**=महान् अन्तरिक्ष तेरा ग्रहण करे। कर से प्राप्त धन का विनियोग विस्तृत अन्तरिक्ष को उत्तम बनाने में किया जाए। 'राष्ट्र का सारा वातावरण उत्तम बने', ऐसा राजा का प्रयत्न होना चाहिए। राष्ट्र के शिक्षणालय युवकों के आचार को उत्तम बनाने का ध्यान करें। राष्ट्र में होनेवाले यज्ञ सब प्राकृतिक देवों की अनुकूलता को सिद्ध करें। ३. राजा कहता है कि **अहम्**=मैं **प्रतिगृह्य**=कामरूप में धन लेकर **प्राणेन मा विराधिषि**=प्राणों से वर्जित न हो जाऊँ, भोगों में फँसकर प्राणशक्ति को ही नष्ट न कर लूँ। **मा आत्मना**=मैं भोग-प्रवण होकर आत्मतत्त्व को न भूल जाऊँ, **मा प्रजया**=मैं प्रजा से दूर न हो जाऊँ, सदा प्रजाहित में लगा रहूँ।

भावार्थ—कररूप धनों का विनियोग राष्ट्रभूमि को उन्नत करने व राष्ट्र के वातावरण को अच्छा बनाने में करना चाहिए। राजा धनों का विनियोग भोग-विलास में करके अपनी प्राणशक्ति को क्षीण न कर ले। वह आत्मतत्त्व से दूर न हो जाए। भोग-प्रवण राजा तो प्रजा से दूर और दूर होता जाता है। इसे प्रजाहित की कामना नहीं रहती।

विशेष—अन्नाभाव की कमी से रहित तथा उत्तम वातावरणवाले राष्ट्र में गृहों के अन्दर पति-पत्नी भी **अथर्वा**=न डाँवाडोल वृत्तिवाले होते हैं। इन घरों में सबके हृदय मिले होते हैं, अतः अगले सूक्त का ऋषि 'अथर्वा' है तथा देवता 'सांमनस्यम्' है।

३०. [त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—सांमनस्यम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

सहृदयं, सांमनस्यं, अविद्वेषम्

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या॥ १॥

१. मैं **वः**=तुम्हारे लिए **सहृदयम्**=सहृदयता, अर्थात् प्रेमपूर्ण हृदय, **सांमनस्यम्**=शुभ विचारों से परिपूर्ण मन और **अविद्वेषम्**=निर्वैरता **कृणोमि**=करता हूँ। २. तुममें से प्रत्येक **अन्यः अन्यम्**=एक-दूसरे को **अभिहर्यत**=प्रीति करनेवाला हो, **इव**=जैसे **अघ्न्या**=गौ **जातं वत्सम्**=उत्पन्न हुए-हुए बछड़े के प्रति प्रेम करती है।

भावार्थ—घर में सहृदयता, सांमनस्य व अविद्वेष का राज्य हो। सब एक-दूसरे के प्रति प्रेम करनेवाले हों।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—सांमनस्यम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

अनुव्रत पुत्र+मधुर पत्नी

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवान्॥ २॥

१. **पुत्रः**=पुत्र **पितुः**=पिता के **अनुव्रतः**=अनुकूल कर्म करनेवाला हो, **मात्रा संमनाः भवतु**=माता के साथ सांमनस्यवाला हो, माता के प्रति शुभ विचारों से परिपूर्ण मनवाला हो। २. **जाया**=पत्नी **पत्ये**=पति के लिए **मधुमतीम्**=माधुर्य से भरी हुई **वाचं वदतु**=वाणी को बोले। **शान्तिवान्**=शान्तिशील पति भी पत्नी के साथ मीठी वाणी बोले।

भावार्थ—पुत्र माता-पिता का आज्ञाकारी हो तथा पत्नी पति के प्रति मधुर व्यवहारवाली हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सांमनस्यम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

परस्पर प्रेम व भद्र व्यवहार

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥ ३॥

१. **भ्राता भ्रातरं मा द्विक्षत्**=भाई-भाई से द्वेष न करे **उत**=और **स्वसा**=बहिन **स्वसारम् मा**=बहिन से द्वेष न करे। २. **सम्यञ्चः**=समान गतिवाले **सव्रताः भूत्वा**=समान कर्मोंवाले होकर **भद्रया**=बड़ी कल्याणमयी रीति से **वाचं वदत**=वाणी को बोलो, परस्पर भद्रता से वार्तालाप करो।

भावार्थ—भाई-बहिनों में परस्पर प्रेम हो। सब परस्पर अविरुद्ध गतिवाले हों और वाणी को भद्रता से बोलें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सांमनस्यम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

निर्द्वेषता-साधक ज्ञान

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः।
तत्कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः॥ ४॥

१. **येन**=जिससे **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **न वियन्ति**=परस्पर विरुद्ध गतिवाले नहीं होते **च**=और **मिथः**=परस्पर **नो विद्विषते**=द्वेष नहीं करते **तत्**=उस **ब्रह्म**=ज्ञान को **वः गृहे**=तुम्हारे घरों में **कृण्मः**=करते हैं। २. यह ज्ञान **पुरुषेभ्यः**=पुरुषों के लिए **संज्ञानम्**=परस्पर ऐक्यमत्य का उत्पादक होता है। ज्ञान प्राप्त करके पुरुष परस्पर सांमनस्यवाले होते हैं।

भावार्थ—घर में सबकी वृत्ति ज्ञानप्रधान होगी तो परस्पर एकता बनी रहेगी। ज्ञान के साथ द्वेषवृत्ति नहीं रहती।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सांमनस्यम्** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥

घर का नियम (बड़ों का आदर)

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि॥ ५॥

१. **ज्यायस्वन्तः**=बड़ों को मान देनेवाले **चित्तिनः**=उत्तम चित्तवाले **संराधयन्तः**=मिलकर कार्य को सिद्ध करनेवाले, **सधुराः**=समान कार्यभार का वहन करनेवाले, **चरन्तः**=क्रियाशील होते हुए **मा वियोष्ट**=विरोधवाले मत होओ—एक-दूसरे से अलग मत होओ। २. **अन्यः अन्यस्मै**=एक-दूसरे के लिए **वल्गु वदन्तः एत**=मधुर भाषण करते हुए गति करो। **वः**=तुम्हें **सध्रीचीनान्**=मिलकर पुरुषार्थ करनेवाले व **संमनसः**=एक विचार से युक्त मनवाले **कृणोमि**=करता हूँ।

भावार्थ—घर में बड़ों का आदर हो, सब मिलकर-अविरुद्धभाव से कार्य करें। परस्पर प्रिय बोलें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सांमनस्यम्** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

सब-कुछ सम्मिलित

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥ ६ ॥

१. **प्रपा समानी**=तुम्हारा जल पीने का स्थान एक हो। **वः अन्नभागः सह**=तुम्हारा अन्न का भाग भी साथ-साथ हो, **समाने योक्त्रे**=एक ही जोते में **वः सह युनज्मि**=मैं तुम्हें साथ-साथ जोड़ता हूँ। २. **सम्यञ्चः**=मिल-जुलकर **अग्निं सपर्यत**=उस प्रभु का पूजन करो, **नाभिं अभितः अरा इव**=जैसे नाभि में चारों ओर चक्र के अरे जड़े होते हैं। नाभि के चारों ओर अरों के समान हम मिलकर घर में प्रभु-पूजन व अग्निहोत्र करें।

भावार्थ—घर में खान-पान सब सांझा हो। सब मिलकर घर को अच्छा बनाने में लगे हों, मिलकर प्रभु-पूजन व अग्निहोत्र करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सांमनस्यम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रातः-सायं परस्पर प्रेम से मिलना

सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्।
देवाइवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥ ७ ॥

१. मैं **वः**=तुम सबको **सध्रीचीनान्**=एक कार्य के करने में साथ-साथ उद्युक्त **संमनसः**=समान मनवाला **कृणोमि**=करता हूँ, **सर्वान्**=तुम सबको **संवननेन**=सम्यक् विभागपूर्वक **एकश्नुष्टीन्**=एक प्रकार के ही अन्नों का भोजनवाला करता हूँ। २. **अमृतं रक्षमाणा देवाः इव**=नीरोगता का रक्षण करनेवाले देवों के समान **वः**=तुम्हारा **सायं-प्रातः**=सायं-प्रातः **सौमनसः अस्तु**=सौमनस्य-शोभन मनस्कता हो, तुम परस्पर प्रेमयुक्त मनवाले होकर परस्पर बात करनेवाले होओ।

भावार्थ—घर में सब मिलकर कार्य करें, समान भोजनवाले हों, नीरोग रहते हुए प्रातः-सायं परस्पर प्रेम से मिलें।

विशेष—इसप्रकार उत्तम वातावरणवाले घरों के अन्दर ज्ञानप्रधान वृत्ति के कारण 'ब्रह्मा' का प्रादुर्भाव होता है। उन्नति करते-करते मनुष्य ब्रह्मा बनता है, ज्ञानाग्नि में सब पापों को भस्म करनेवाला 'पाप्महा' होता है। अगले सूक्त में इस 'पाप्महा' का ही वर्णन है।

३१. [एकत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

जीर्णता व अदानशीलता=पाप व रोग

वि देवा जरसावृतन्वि त्वमग्ने अरात्या। व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ १ ॥

१. **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **जरसा**=जीर्णता से **वि अवृतन्**=व्यावृत्त होते हैं—दूर रहते हैं। **अग्ने**=हे अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **अरात्या**=अदान से सदा दूर हैं। आप सदा देनेवाले होते हैं। २. **अहम्**=मैं **सर्वेण**=सब **पाप्मना**=पापों से **वि**=दूर रहूँ, परिणामतः **यक्ष्मेण वि**=रोगों से भी दूर होता हूँ और **आयुषा सम्**=उत्कृष्ट दीर्घजीवन से संयुक्त होता हूँ।

भावार्थ—हम देव बनकर जीर्णता से दूर रहें। प्रभु की उपासना करते हुए अदानवृत्ति से दूर रहें। पापों व रोगों से रहित होकर उत्कृष्ट दीर्घजीवन को प्राप्त करें। वस्तुतः जीर्णता व अदानशीलता ही पापों व रोगों का कारण बनकर जीवन के ह्रास का कारण बनते हैं।

ऋषि:—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पवित्रता व शक्ति

व्यार्त्या पर्वमानो वि शुक्रः पापकृत्यया।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥ २॥

१. **पवमानः**=अपने जीवन को पवित्र बनानेवाला पुरुष **आर्त्या वि**=पीड़ाओं से पृथक् रहता है। जीवन की अपवित्रता ही विविध पीड़ाओं का कारण बनती है। २. **शक्रः**=शक्तिशाली पुरुष **पापकृत्यया वि**=पाप कर्मों से दूर रहता है। निर्बलता पाप का कारण बनती है। मैं भी सब पापों व रोगों से दूर होकर उत्कृष्ट दीर्घजीवनवाला बनता हूँ।

भावार्थ—हम जीवन को सदा पवित्र रखने का प्रयत्न करें, यही पीड़ाओं से बचने का मार्ग है। शक्तिशाली बनकर हम पाप कर्मों से दूर रहें।

ऋषि:—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पाप की अप्रवृत्ति

वि ग्राम्याः पशव आरण्यैर्व्या ∫ पस्तृष्णयासरन्।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥ ३॥

१. **ग्राम्याः पशवः**=गौ, भेड़, बकरी आदि ग्राम्य पशु **आरण्यैः**=सिंह-व्याघ्र आदि वन्य पशुओं से **वि**=दूर रहते हैं। ये स्वभावतः इकट्ठे नहीं रहते। **आपः**=जल **तृष्णया वि असरन्**=प्यास से दूर रहते हैं, जलरहित प्राणियों को ही प्यास सताती है। इसीप्रकार मैं पाप और रोग से दूर रहूँ तथा दीर्घजीवन से संगत होऊँ। २. पाप की ओर मेरा झुकाव ही न हो, तब मैं पापों व रोगों से पृथक् होकर दीर्घजीवन से संगत होऊँ।

भावार्थ—मैं स्वभावतः ही पापवृत्ति से दूर हो जाऊँ, पाप की ओर मेरा झुकाव न रहे, तब पापों व रोगों से पृथक् होकर मैं दीर्घजीवन से संयुक्त होऊँगा।

ऋषि:—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

पापों से इतना दूर जितना कि द्युलोक पृथ्वीलोक से

वी३मे द्यावापृथिवी इतो वि पन्थानो दिशंदिशम्।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥ ४॥

१. परिदृश्यमान **इमे**=ये **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **वि इतः**=स्वभावतः अलग-अलग ही हैं। इसीप्रकार मैं भी पाप से उतना ही दूर होऊँ जितना कि द्युलोक पृथ्वीलोक से। २. **दिशं दिशम्**=एक ग्राम से प्रत्येक दिशा में जाते हुए **पन्थानः**=मार्ग **वि**=स्वभावतः ही विगत व पृथगवस्थान होते हैं, इसीप्रकार मैं भी पापों से भिन्न मार्गवाला होता हूँ। मैं पापों से पृथक् होता हूँ, रोगों से पृथक् होता हूँ और दीर्घजीवन से संगत होता हूँ।

भावार्थ—पापों से मैं इतनी दूर होऊँ जितना कि द्युलोक पृथिवीलोक से। पापों व रोगों का तथा मेरा मार्ग भिन्न-भिन्न दिशाओं में हो। इसप्रकार मेरा जीवन दीर्घ व उत्कृष्ट हो।

ऋषि:—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**विराट्प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

पापों से ऐसे दूर जैसे दहेज पितृगृह से दूर

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्तीतीदं विश्वं भुवनं वि याति।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥ ५॥

१. **त्वष्टा**=(त्विषेः दीप्तिकर्मणः) एक समझदार पिता **दुहित्रे**=अपनी दुहिता के लिए **वहतुम्**=दहेज को (उह्यते जामातृगृहं प्रति) **युनक्ति**=देने के लिए अलग करता है, **इति**=इसप्रकार **इदं विश्वं भुवनम्**=यह सारा संसार **वियाति**=अलग-अलग चलता है, संसार में लोग एक-दूसरे से पृथक् हो जाते हैं। कन्या पितृगृह से दूर हो जाती है। २. इसीप्रकार मैं भी पापों से पृथक् होता हूँ, रोगों से पृथक् होता हूँ और उत्कृष्ट दीर्घजीवन से संगत होता हूँ।

भावार्थ—जिस प्रकार दहेज पितृगृह से पृथक् होकर दूर जामातृगृह में जाता है, इसीप्रकार पाप व रोग मुझसे पृथक् होते हैं। पापों और रोगों से पृथक् होकर मैं दीर्घजीवन से संगत होता हूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

जाठराग्नि तथा मन की ठीक स्थिति

अ॒ग्निः प्रा॒णान्त्सं द॑धाति च॒न्द्रः प्रा॒णेन॒ संहि॑तः।
व्य१॒हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा॥ ६॥

१. **अग्निः**=भोजन के पाचन का हेतुभूत जाठराग्नि **प्राणान्**=चक्षु आदि इन्द्रियों को **संदधाति**=संश्लिष्ट, स्वस्थ व कार्यसमर्थ करता है। **चन्द्रः**=(चन्द्रमा मनो भूत्वा०) मन **प्राणेन संहितः**=प्राण के संयम से संहित (एकाग्र) होता है। इसीप्रकार मैं पाप व रोग से पृथक् होकर उत्कृष्ट आयुष्य से संहित होऊँ। २. वस्तुतः जाठराग्नि का ठीक रहना और मन का न भटकना ही पापों व रोगों से पार्थक्य का साधन बनता है तथा उत्कृष्ट जीवन को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—मैं जाठराग्नि को ठीक रखता हुआ सब इन्द्रियों को ठीक रक्खूँ तथा प्राण-साधना द्वारा मन को एकाग्र करनेवाला बनूँ। इसप्रकार मैं निष्पाप, नीरोग व दीर्घजीवनवाला बनूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विश्वतो वीर्य सूर्य के सम्पर्क में

प्रा॒णेन॑ वि॒श्वतो॑वीर्यं दे॒वाः सूर्यं॒ समै॑रयन्।
व्य१॒हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा॥ ७॥

१. **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **विश्वतो वीर्यम्**=सब सामर्थ्यों से युक्त—सारे प्राणदायी तत्त्वों से युक्त **सूर्यम्**=सूर्य को **प्राणेन समैरयन्**=अपने प्राण के साथ सम्प्रेरित करते हैं। इसीप्रकार मैं पापों व रोगों से दूर होकर अपने को उत्कृष्ट दीर्घजीवन से सङ्गत करता हूँ। २. वस्तुतः सूर्य के सम्पर्क में जीवन बिताना पापों व रोगों से पार्थक्य का तथा उत्कृष्ट दीर्घजीवन से सम्पर्क का साधन बनता है।

भावार्थ—मैं सूर्य के सम्पर्क में रहता हुआ अपने में प्राणशक्ति का सञ्चार करूँ और निष्पाप, नीरोग व दीर्घजीवन प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आयुष्मान् आयुष्कृत्

आ॒यु॒ष्मता॑मायु॒ष्कृतां॑ प्रा॒णेन॑ जीव॒ मा मृ॑थाः।
व्य१॒हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा॥ ८॥

१. हे माणवक (बालक)! तू **आयुष्मताम्**=प्रशस्त जीवनवाले **आयुष्कृताम्**=दीर्घजीवन को उत्पन्न करनेवाले लोगों के **प्राणेन**=प्राण से **जीव**=जीवन को धारण कर, **मा, मृथाः**=तू मृत मत हो। २. मैं भी इन आयुष्मान, आयुष्कृत पुरुषों के समान प्राणशक्ति को उत्पन्न करता हुआ

सब पापों व रोगों से पृथक् होऊँ और उत्कृष्ट दीर्घजीवन को प्राप्त करूँ।

भावार्थ—हम आयुष्मान्, निष्पाप, नीरोग और दीर्घजीवनवाले बनें, दीर्घजीवन के साधनों का अनुष्ठान करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

न मरियल जीवन

प्राणेन प्राणतां प्राणेहैव भव मा मृथाः।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥ ९॥

१. **प्राणताम्**=जीवित रहनेवालों के **प्राणेन**=प्राण से **प्राण**=हे प्राणवान् पुरुष! तू जीवित है। **इह एव भव**=यहाँ सूर्य के सन्दर्शन में ही हो। **मा मृथाः**=तू प्राणों का त्याग मत कर। २. मैं भी सब पापों व रोगों से पृथक् होकर उत्कृष्ट दीर्घजीवन को प्राप्त करूँ।

भावार्थ—प्राणशक्ति का वर्धन करते हुए हम उत्कृष्ट जीवनवाले बनें, मरियल-से न हों। मैं निष्पाप, नीरोग, दीर्घजीवन को प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ओषधीनां रसेन

उदायुषा समायुषोदोषधीनां रसेन।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥ १०॥

१. **आयुषा**=आयुष्य के द्वारा **उत्**=मैं मृत्यु से ऊपर उठूँ। **आयुषा सम्**=उत्कृष्ट दीर्घजीवन से सङ्गत होऊँ। **ओषधीनां रसेन**=जौ-चावल आदि ओषधियों के रस के द्वारा **उत्**=मैं रोगों से दूर रहूँ। ओषधियों के रस का प्रयोग करते हुए मैं मृत्यु से बचा रहूँ, रोगों का शिकार न होऊँ। २. मैं सब पापों से पृथक् होकर उत्कृष्ट दीर्घजीवन से सङ्गत होऊँ।

भावार्थ—ओषधियों का रस मुझे नीरोग बनाए और दीर्घजीवन प्राप्त कराए।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्न्यादयः पाप्महनो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वृष्टि-जल व अमरता

आ पर्जन्यस्य वृष्ट्योदस्थामामृता वयम्।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥ ११॥

१. **वयम्**=हम **पर्जन्यस्य वृष्ट्या**=परातृप्ति के जनक मेघ की वृष्टि से—मेघ के वृष्टिजल से **आ**=सब प्रकार से **उत् अस्थाम्**=रोगों से बाहर—दूर स्थित हों और **अमृताः**=नीरोग जीवनवाले बनें। २. मैं सब पापों व रोगों से पृथक् होऊँ और उत्कृष्ट जीवन से संगत होऊँ।

भावार्थ—वृष्टि का जल प्रयोग हमें नीरोगता व अमरता प्रदान करे।

विशेष—यहाँ तृतीय काण्ड समाप्त होता है और चतुर्थ काँड 'वेनः' मेधावी ऋषि के सूक्त से आरम्भ होता है। पूर्ण नीरोग व निष्काम जीवनवाला यह 'वेन' प्रभु का उपासन करता है।

॥ इति तृतीयं काण्डम्॥

अथ चतुर्थं काण्डम्

अथ सप्तमः प्रपाठकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ब्रह्म का हृदय में प्रादुर्भाव

ब्रह्म॑ जज्ञा॒नं प्र॑थ॒मं पु॒रस्ता॒द्वि सी॑म॒तः सु॒रुचो॑ वे॒न आ॑वः।
स बु॒ध्न्या॑ उप॒मा अ॑स्य वि॒ष्ठाः स॒तश्च॒ योनि॒मस॑तश्च॒ वि वः॑॥ १॥

१. **वेनः**=(वेन् to go, to know, to worship) गतिशील ज्ञानी उपासक **पुरस्तात्**=सृष्टि के आरम्भ में **जज्ञानम्**=प्रादुर्भूत होनेवाले **प्रथमम्**=अति विस्तृत—'प्रकृति, जीव व परमात्मा' तीनों का ही ज्ञान देनेवाले वेदज्ञान को **सीमतः**=मर्यादा में चलने के द्वारा और **सुरुचः**=परिष्कृत रुचि के द्वारा—सात्त्विक प्रवृत्ति के द्वारा **वि आवः**=अपने हृदय में प्रकट करता है। वेदज्ञान सृष्टि के आरम्भ में प्रभु के द्वारा दिया जाता है। यह ज्ञान अति विस्तृत है—'प्रकृति, जीव व परमात्मा'—तीनों का ही प्रकाश करता है। इसका प्रकाश उसी के जीवन में होता है जो मर्यादित जीवनवाला होता है तथा उत्तम, परिष्कृत रुचिवाला होता है। २. **सः**=वह वेन **अस्य**=इस प्रभु के इन **बुध्न्याः**=अन्तरिक्ष में होनेवाले **उपमाः**=उपमा देने योग्य 'अद्भुत' **विष्ठाः**=अलग-अलग, मर्यादा में स्थित सूर्यादि लोकों को **विवः**=विशद रूप से देखता है **उ**=और **सतः असतः च**=दृश्य कार्यजगत् तथा अदृश्य कारणजगत् के **योनिम्**=आधारभूत उस प्रभु को (**विवः**)=अपने हृदय में प्रकट करता है। सूर्यादि लोकों में उस प्रभु की ही महिमा दृष्टिगोचर होती है और वह 'वेन' इस कार्यकारणात्मक जगत् के योनिभूत उस प्रभु के प्रकाश को देखने लगता है।

भावार्थ—सृष्टि के आरम्भ में वेदज्ञान का प्रकाश होता है। इसकी प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि जीवन मर्यादा-सम्पन्न हो तथा उत्तम रुचिवाला हो। क्रियाशील ज्ञानी उपासक सब लोक-लोकान्तरों में प्रभु की महिमा को देखता है। प्रभु को ही कार्यकारणात्मक जगत् की योनि जानता है।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**पुरोऽनुष्टुप् त्रिष्टुप्** ॥

वेदवाणी व यज्ञ

इ॒यं पित्र्या॑ रा॒ष्ट्र्ये॒त्वग्रे॑ प्रथ॒माय॑ ज॒नुषे॑ भुवने॒ष्ठाः।
तस्मा॑ ए॒तं सु॒रुचं॑ ह्वा॒रम॑ह्यं घ॒र्मं श्री॑णन्तु प्रथ॒माय॑ धा॒स्यवे॑॥ २॥

१. **इयम्**=यह **पित्र्या**=परमपिता प्रभु से होनवाली **राष्ट्री**=हमारे जीवनों को दीप्त करनेवाली (राज दीप्तौ) **भुवनेष्ठाः**=सब लोकों में स्थित होनेवाली वेदवाणी **प्रथमाय जनुषे**=सर्वोत्कृष्ट जीवन के लिए अथवा (प्रथ विस्तारे) विस्तृत शक्तियोंवाले जीवन के लिए **अग्रे एतु**=हमें सर्वप्रथम प्राप्त हो। वेदवाणी सृष्टि के आरम्भ में प्रभु द्वारा दी जाती है। यह सब लोकों में समानरूप से प्रादुर्भूत होती है। यह हमारे जीवन को प्रकाशमय बनाती है। हमारे जीवन में इसका प्रमुख स्थान है। हम सबसे पहले इसी का स्वाध्याय करें। २. **तस्मै प्रथमाय धास्यवे**=उस सर्वमुख्य धारण करनेवाले के लिए **एतम्**=इस **घर्मम्**=यज्ञ को **श्रीणन्तु**=परिपक्व करें—संस्कृत

करें। यज्ञ के द्वारा ही उस यज्ञरूप प्रभु का यजन (उपासन) होता है। यह यज्ञ **सुरुचम्**=हमारे जीवन को सम्यक् दीप्त करनेवाला है, **ह्वारम्**=क्रोध का निवारक (दया०) अथवा धूएँ के रूप में कुटिल गतिवाला है तथा **अह्यम्**=प्रतिदिन होनेवाला है (अहनि भवम्)। यज्ञ प्रतिदिन करना होता है—इसमें अनध्याय का प्रश्न ही नहीं। यह अत्यन्त बुढ़ापे या मृत्यु पर ही छूटेगा। यह हमारे जीवन को दीप्त करता है तथा क्रोधादि आसुरभावों का निवारक है।

भावार्थ—हम जीवन को उत्कृष्ट बनाने के लिए वेदवाणी का स्वाध्याय करें। वेद-प्रतिपादित यज्ञों को करते हुए प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ज्ञान का मार्ग

प्र यो ज॒ज्ञे वि॒द्वान॑स्य॒ बन्धु॒र्विश्वा॑ दे॒वानां॒ जनि॑मा विवक्ति।
ब्रह्म॒ ब्रह्म॑ण॒ उज्ज॑भार॒ मध्या॑न्नी॒चैरु॒च्चैः स्व॒धा अ॒भि प्र त॑स्थौ ॥ ३ ॥

१. **यः**=जो **विद्वान् प्रजज्ञे**=ज्ञानी बनता है, वह **अस्य बन्धुः**=इस प्रभु का मित्र होता है- अपने हृदय में प्रभु को बाँधनेवाला होता है। वह **देवानाम्**=देवों के—दिव्य गुणों के **विश्वा जनिमा**=सब जन्मों को **विवक्ति**=अपने जीवन में कहता है, अर्थात् अपने जीवन को दिव्य गुण-सम्पन्न बनाता है। २. **ब्रह्मणः**=ब्रह्म से **ब्रह्म**=वेद को **उज्जभार**=उद्धृत करता है, अर्थात् हृदय में प्रभु का ध्यान करता हुआ यह विद्वान् ज्ञान को प्राप्त करता है और **मध्यात्**=मध्य से **नीचैः उच्चैः**=नीचे व ऊपर से—अन्तरिक्षलोक से तथा पृथिवी व द्युलोक से—हृदय, शरीर व मस्तिष्क से **स्वधाः**=आत्मधारण-शक्तियोंवाला यह विद्वान् **अभिप्रतस्थौ**=प्रभु की ओर प्रस्थित होता है— 'हृदय, शरीर व मस्तिष्क' तीनों को उन्नत करता हुआ यह प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर आगे बढ़ता है।

भावार्थ—ज्ञानी १. प्रभु को हृदय में बाँधता है, २. दिव्य गुणयुक्त बनता है, ३. प्रभु से वेदज्ञान प्राप्त करने का यत्न करता है, ४. हृदय, शरीर व मस्तिष्क को उन्नत करता हुआ प्रभु की ओर बढ़ता है।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

रोदसी स्कम्भन

स हि दि॒वः स पृ॑थि॒व्या ऋ॑त॒स्था म॒ही क्षेमं॒ रोद॑सी अस्कभायत्।
म॒हान्म॒ही अस्क॑भाय॒द्वि जा॒तो द्यां सद्म॒ पार्थि॑वं च॒ रजः॑ ॥ ४ ॥

१. **सः**=वह प्रभु **हि**=ही **दिवः**=द्युलोक को **सः**=वही **पृथिव्याः**=इस पृथिवीलोक को **ऋतस्थः**=ऋत में स्थापित करनेवाला है—दोनों लोकों को नियम में स्थित करता है। **मही रोदसी**=इन महान् द्यावापृथिवी को **क्षेमं अस्कभायत्**=कल्याणकारीरूप में थामता है। २. वह **महान्**=पूजनीय प्रभु **मही**=इन महान् लोकों को **अस्कभायत्**=थामता है। वह प्रभु **द्यां सद्म**=द्युलोक के रूप गृह में **च**=तथा **पार्थिवं रजः**=इस पृथिवीलोक में **विजातः**=विशेषरूप से प्रादुर्भूत हुआ है—इन लोकों में सर्वत्र प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर होती है।

भावार्थ—प्रभु ही द्युलोक व पृथिवीलोक को नियम में स्थापित करते हैं। वे ही सबके कल्याण के लिए इनका धारण करते हैं। वे महान् प्रभु इन्हें थामते हैं, इनमें प्रभु की महिमा का प्रादुर्भाव होता है।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**पुरोऽनुष्टुप्त्रिष्टुप्** ॥

सर्वव्यापक प्रभु के उपासन के साथ दिन का आरम्भ

स बुध्न्या दाष्ट्र जनुषोऽभ्यग्रं बृहस्पतिर्देवता तस्य सम्राट्।
अहर्यच्छुक्रं ज्योतिषो जनिष्टाथ द्युमन्तो वि वसन्तु विप्राः ॥ ५ ॥

१. **सः**=वे महान् प्रभु **जनुषः**=इस उत्पन्न होनेवाले संसार के **बुध्न्यात्**=मूल से लेकर **अग्रं, अभि**=ऊपरी भाग तक **आष्ट्र**=व्याप्त हो रहे हैं और **देवता**=दान आदि गुणों से युक्त **बृहस्पतिः**=सम्पूर्ण ज्ञान के अधिपति प्रभु **तस्य**=उस उत्पन्न लोक के **सम्राट्**=शासक हैं, २. **यत्**=जब **शुक्रम्**=यह दीप्यमान **अहः**=दिन **ज्योतिषः**=द्योतमान सूर्य से **जनिष्ट**=प्रकट होता है, **अथ**=तब **द्युमन्तः**=ज्ञान की दीप्तिवाले **विप्राः**=मेघावी पुरुष **विवसन्तु**=अपने-अपने कर्मों में विविधरूप से प्रवृत्त होते हैं, अथवा हवि के द्वारा देवों का परिचरण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु एक सिरे से दूसरे सिरे तक सर्वत्र व्याप्त हैं। वे ही इस ब्रह्माण्ड के शासक हैं। ज्ञानी लोग सूर्योदय होते ही उस प्रभु का उपासन करते हैं और अपने कार्यों में प्रवृत्त हो जाते हैं।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उत्थाय पश्चिमे यामे

नूनं तदस्य काव्यो हिनोति महो देवस्य पूर्व्यस्य धाम।
एष जज्ञे बहुभिः साकमित्था पूर्वे अर्धे विषिते ससन्नु ॥ ६ ॥

१. **नूनम्**=निश्चय से **अस्य**=इस **पूर्व्यस्य**=सृष्टि से पूर्व होनेवाले (हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे) **महो देवस्य**=महान् देव के **तत् धाम्**=उस तेज को **काव्यः**=ज्ञानी पुरुष **हिनोति**=अपने अन्दर प्रेरित करता है। ज्ञानी सूर्योदय होते ही प्रभु के सम्पर्क में आता है और प्रभु के तेज को अपने में ग्रहण करता है। २. **इत्था**=इसप्रकार **एषः**=यह ज्ञानी **नु**=अब **ससन्**=सोता हुआ रात्रि के **पूर्वे अर्धे**=पहले आधे भाग के **विषिते**=(षोऽन्तकर्मणि, सित=finished, ended) समाप्त होने पर **बहुभिः साकम्**=अपने परिवार के बहुत व्यक्तियों के साथ **जज्ञे**=उदित हो उठता है। रात्रि के पिछले प्रहर में उठकर यह सपरिवार उपासना आदि कर्मों में प्रवृत्त होता है। वस्तुतः प्रभु के तेज को प्राप्त करने का यही मार्ग है।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष प्रभु के तेज को अपने में प्रेरित करता है। इसी उद्देश्य से यह (उत्थाय पश्चिमे यामे) रात्रि के पूर्वार्द्ध में निद्रा लेकर उत्तरार्द्ध में प्रभु की उपासना के लिए उठ खड़ा होता है।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

नम्रता द्वारा प्रभु का ज्ञान

योऽथर्वाणं पितरं देवबन्धुं बृहस्पतिं नमसाव च गच्छात्।
त्वं विश्वेषां जनिता यथासः कविर्देवो न दभायत्स्वधावान् ॥ ७ ॥

१. **यः**=जो **अथर्वाणम्**=(थर्वतिचरतिकर्मा) निश्चल, कूटस्थ **पितरम्**=सबके पालक **देवबन्धुम्**=देववृत्ति के व्यक्तियों के बन्धु **च**=और **बृहस्पतिम्**=ब्रह्मणस्पति—ज्ञान के स्वामी—प्रभु को **नमसा अवगच्छात्**=नमन के द्वारा जानता है। वह जानता है **यथा**=कि हे प्रभो! **त्वम्**=आप **विश्वेषां जनिता असः**=सबके प्रादुर्भूत करनेवाले हैं। उपासक नम्रता के द्वारा प्रभु को सबके उत्पादक के रूप में जान पाता है। २. यह जानता है कि **कविः**=वे प्रभु क्रान्तदर्शी

हैं—सर्वज्ञ हैं, **देवः**=प्रकाशमय हैं—सबके प्रकाशित करनेवाले हैं, वे सब-कुछ देनेवाले हैं (देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा)। **न दभायत्**=वे प्रभु उपासक को कभी हिंसित नहीं होने देते, वासनाओं के आक्रमण से उपासक को प्रभु ही बचाते हैं, **स्व-धावान्**=प्रभु आत्मधारण-शक्तिवाले हैं अथवा (स्वधा-अन्न) धारण करने के लिए सब अन्नों को प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—नम्रता द्वारा हम प्रभु के स्वरूप को जानने का प्रयत्न करें। इन्हें सर्वोत्पादक, सर्वज्ञ, सर्वप्रद, रक्षक व अन्नदाता के रूप में देखें। अगले सूक्त का ऋषि भी 'वेन' ही है—

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**आत्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

आत्मदाः, बलदाः

य आत्मदा बलदा यस्य विश्वं उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
योऽस्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ १ ॥

१. **यः**=जो **आत्मदाः**=जीवों का हित सिद्ध करने के लिए अपने को दे डाले हुए हैं—उस प्रभु का प्रत्येक कार्य जीवों की उन्नति के लिए है, **बलदाः**=जो प्रभु सब शक्तियों को देनेवाले हैं, **विश्वे**=सभी **यस्य उपासते**=जिसकी उपासना करते हैं, कष्ट आने पर सभी उस प्रभु का स्मरण करते हैं, परन्तु **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **यस्य**=जिसकी **प्रशिषम्**=आज्ञा को उपासित करते हैं। देव सदा प्रभु की आज्ञा की उपासना करते हैं—प्रभु के निर्देशों के अनुसार चलते हैं। २. **यः**=जो प्रभु **अस्य**=इस **द्विपदः**=दो पैरवाले पक्षियों और **यः**=जो **चतुष्पदः**=चौपाये पशुओं के **ईशे**=ऐश्वर्य को स्थापित करनेवाले हैं, पशु-पक्षियों में वासनारूप से ऐश्वर्यों की स्थापना करनेवाले हैं। मधुमक्षिका को मधु-निर्माण की क्या ही अद्भुतशक्ति उसने प्राप्त कराई है? चील को उड़ने की, सिंह को तैरने की, इसीप्रकार सब कौशलों को मानव के लिए आदर्श के रूप में प्रभु ने उस-उस पशु-पक्षी में रक्खा है। उस **कस्मै**=आनन्दमय **देवाय**=देव के लिए, प्रकाशमय प्रभु के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन के द्वारा **विधेम**=हम पूजा करते हैं। प्रभु देव हैं, दानवाले हैं, सब-कुछ दे डालते हैं। हम भी देव बनें, देव बनकर ही प्रभु का सच्चा उपासन होता है।

भावार्थ—सब शक्तियों को देनेवाले उस प्रभु की हम उपासना करें। प्रभु के निर्देशों के अनुसार चलें, सदा बचे हुए को खानेवाले बनें। यज्ञरूप प्रभु का उपासन इसीप्रकार हो सकता है।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**आत्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अनन्य शासक प्रभु

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैको राजा जगतो बभूव।
यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ २ ॥

१. **यः**=जो **प्राणतः**=श्वासोच्छ्वास लेनेवाले और **निमिषतः**=आँख मूँदे हुए, अर्थात् सुप्त-से—जड़ **जगतः**=जगत् का—चराचर व स्थावर-जंगम जगत् का **महित्वा**=अपनी महिमा के कारण **एकः राजा बभूव**=अकेले ही शासक हैं। प्रभु किसी अन्य की सहायता बिना ही सम्पूर्ण संसार का शासन कर रहे हैं। प्रभु की महिमा महान् है। २. **यस्य**=जिस प्रभु का—प्रभु से किया गया **छाया**=छेदन-भेदन (छो छेदने) **अमृतम्**=हमारे लिए अमृतत्व को देनेवाला है, प्रभु से दिया गया दण्ड हमारी उन्नति का ही कारण होता है। **यस्य**=जिस प्रभु से प्राप्त कराई गई **मृत्युः**=मृत्यु

भी हमारी अमरता के लिए ही है, उस **कस्मै**=आनन्दमय **देवाय**=सर्वप्रद व प्रकाशमय प्रभु के लिए हम **हविषा**=दानपूर्वक अदन से **विधेम**=पूजा करते हैं। प्रभु यज्ञरूप हैं। हम भी यज्ञशेष का सेवन करते हुए प्रभु का सच्चा पूजन कर पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के अनन्य शासक हैं। प्रभु से दिया गया दण्ड व प्रभु-प्राप्त मृत्यु हमारे भले के लिए ही है। यज्ञशेष का सेवन करते हुए हम प्रभु का उपासन करें।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**आत्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यस्य असौ पन्थाः रजसो विमानः

यं क्रन्दसी अवतश्चस्कभाने भियसाने रोदसी अह्वयेथाम्।
यस्यासौ पन्था रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ३॥

१. **यम्**=जिस प्रभु को **रोदसी**=ये द्यावापृथिवी **अव-तः**=रक्षण के हेतु से **अह्वयेथाम्**=पुकारते हैं। ये द्यावापृथिवी **क्रन्दसी**=(क्रन्दन्ति क्रोशन्ति अनयोराश्रिता जनाः) प्रभु को पुकारनेवाले हैं, इनमें स्थित लोग **भियसाने**=भयभीत होते हुए सदा रक्षणार्थ प्रभु को पुकारते हैं। ये द्यावापृथिवी प्रभु की व्यवस्था में **चस्कभाने**=एक-दूसरे का धारण किये हुए हैं। यह पृथिवी यज्ञों द्वारा द्युलोक का धारण करती हैं, द्युलोक वृष्टि द्वारा पृथिवी का धारण करता है। २. **यस्य**=जिस प्रभु का **असौ**=वह **पन्थाः**=मार्ग—प्रभु-प्राप्ति का मार्ग **रजसः विमानः**=रजोगुण का विशेषरूप से माप-तोलकर निर्माण करनेवाला है, अर्थात् प्रभु-प्राप्ति के मार्ग में—देवयान में—सत्त्वगुण के साथ रजोगुण का परिमित अंश होता है, जो सत्त्वगुण को क्रियाशील बनाये रखता है। यह देववृत्ति का मनुष्य इसीलिए सात्त्विक होते हुए भी क्रियाशील होता है। हम उस आनन्दमय देव के लिए हवि के द्वारा पूजन करें।

भावार्थ—सारा संसार रक्षण के लिए प्रभु को पुकारता है। प्रभु-प्राप्ति का सात्त्विक मार्ग रजोगुण के उचित पुट के कारण क्रियाशील होता है। हम यज्ञरूप प्रभु का हवि के द्वारा पूजन करें।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**आत्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

त्रिलोकी व सूर्य में प्रभु की महिमा का दर्शन

यस्य द्यौरुर्वी पृथिवी च मही यस्याद उर्व१न्तरिक्षम्।
यस्यासौ सूरो विततो महित्वा कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ४॥

१. **यस्य**=जिसकी **महित्वा**=महिमा से **द्यौः**=यह द्युलोक **उर्वी**=विस्तीर्ण हुआ है **च**=और जिसकी महिमा से **पृथिवी**=यह पृथिवी **मही**=महत्त्वपूर्ण हुई है, **यस्य**=जिसकी महिमा से ही **अदः**=वह **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्षलोक **उरु**=विस्तीर्ण हुआ है, उस आनन्दमय देव का हम दानपूर्वक अदन से पूजन करें। २. उस देव का पूजन करें **यस्य**=जिसकी महिमा से **असौ**=वह **सूरः**=सूर्य **विततः**=अपने प्रकाश से सर्वत्र फैला-सा हुआ है।

भावार्थ—यह द्युलोक, पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक व द्युलोकस्थ सूर्य—ये सब उस प्रभु की महिमा का प्रकाश कर रहे हैं, प्रभु की महिमा से ही ये विस्तीर्ण हो रहे हैं। हम हवि के द्वारा इस प्रभु का पूजन करें।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**आत्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'पर्वतों, समुद्रों, पृथिवी व दिशाओं' में प्रभु की महिमा का दर्शन

यस्य विश्वे हिमवन्तो महित्वा समुद्रे यस्य रसामिदाहुः।
इमाश्च प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ५॥

१. उस आनन्दमय देव का हम हवि के द्वारा पूजन करें **यस्य महित्वा**=जिसकी महिमा से **विश्वे**=सब **हिमवन्तः**=हिमाच्छादित पर्वत खड़े हैं, **यस्य**=जिसकी महिमा से **इत्**=ही **समुद्रे**=समुद्र में भी **रसाम्**=रसों की उत्पत्ति-स्थान पृथिवी को **आहुः**=कहते हैं। चारों ओर समुद्र है, बीच में यह पृथिवी है। समुद्रों से आवृत यह पृथिवी भी प्रभु की महिमा का प्रकाश कर रही है। २. **च**=और **इमाः**=ये **प्रदिशः**=फैली हुई दिशाएँ **यस्य**=जिस प्रभु की **बाहू**=बाहु स्थानापन्न हैं, उस आनन्दमय देव का हम हवि के द्वारा पूजन करें।

भावार्थ—हिमाच्छादित पर्वतों में, समुद्र के मध्य में स्थित इस पृथिवी में, इन विस्तृत दिशाओं में—सर्वत्र प्रभु की महिमा का प्रकाश हो रहा है। हम इस प्रभु का हवि के द्वारा पूजन करें।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**आत्मा** ॥ छन्दः—**पुरोऽनुष्टुप्त्रिष्टुप्** ॥

अपो वै द्यौः

आपो अग्रे विश्वमावन्गर्भं दधाना अमृता ऋतज्ञाः।
यासु देवीष्वधि देव आसीत्कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ६॥

१. **आपो वै द्यौ** (शत० ६.४.१.९) **आपो वै दिव्यं नभः** (शत० ६.८.५.३) इन वाक्यों के अनुसार द्युलोक (आकाश) ही 'आपः' है। यह आकाश भी प्रभु से प्रादुर्भूत होता है—तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। इस आकाश में ही सारा संसार गर्भरूप से रहता है। **आपः**=यह आकाश व दिव्य नभ (Nebula) ही **अग्रे**=आरम्भ में **विश्वम्**=सम्पूर्ण विश्व को **आवन्**=अपने में (अरक्षत्) रखता था, **गर्भं दधानाः**=इन्होंने ही इसे गर्भरूप से धारण किया हुआ था। **अमृताः**=यह द्युलोक अविनाशी है। स्वामी दयानन्द के शब्दों में 'उत्पन्न-सा' होता है, वस्तुतः यह तो सदा से है। **ऋतज्ञाः**=ये द्युलोक ही वृष्टि-जल को (ऋत-rain-water) जाननेवाले हैं, यहीं से वृष्टि होती है। २. **यासु**=जिस **देवीषु**=प्रकाशमय द्युलोक में **अधि देवा आसीत्**=अधिष्ठातृरूपेण प्रभु थे। प्रभु से अधिष्ठित ही यह आकाश सम्पूर्ण विश्व को जन्म देता है। उस **कस्मै**=आनन्दमय **देवाय**=सर्वप्रद प्रभु के लिए **हविषा**=दानपूर्वक अदन के द्वारा **विधेम**=पूजा करें।

भावार्थ—सम्पूर्ण संसार इस आकाश के गर्भ में है। प्रभु से अधिष्ठित आकाश विश्व को जन्म देता है। इस प्रभु के लिए हम हवि द्वारा पूजन करनेवाले हों।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**आत्मा** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाज्ज्योतिस्त्रिष्टुप्** ॥

'हिरण्यगर्भ' प्रभु

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीमुत द्यां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥ ७॥

१. **हिरण्यगर्भः**=ज्योतिर्मय पदार्थों को गर्भ में धारण करनेवाला वह प्रभु **अग्रे समवर्त्तत**=पहले से ही है—वह सृष्टि से पूर्व है। वह कभी उत्पन्न नहीं होता। **जातः**=सदा से प्रादुर्भूत हुआ-हुआ वह प्रभु **भूतस्य**=प्राणिमात्र का **एकः**=अकेला ही **पतिः आसीत्**=रक्षक है। वे प्रभु सृष्टि के निर्माण व धारणरूप कार्यों में किसी के साहाय्य की अपेक्षा नहीं करते। २. **सः**=वे प्रभु ही **पृथिवीम्**=इस पृथिवी को **उत**=और **द्याम्**=द्युलोक को **दाधार**=धारण कर रहे हैं। उस **कस्मै**=आनन्दमय **देवाय**=सर्वप्रद, प्रकाशमय प्रभु के लिए **हविषा**=हवि के द्वारा **विधेम**=हम पूजन करें।

भावार्थ—सारे ब्रह्माण्ड को गर्भरूप में धारण करनेवाले प्रभु कभी बने नहीं। सदा से विद्यमान प्रभु ही प्राणिमात्र के रक्षक हैं। वे ही पृथिवीलोक व द्युलोक का धारण करते हैं। हम हवि के द्वारा उस प्रभु का अर्चन करें।

ऋषिः—**वेनः** ॥ देवता—**आत्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

हिरण्यय उत्सः

आपो॑ वृत्सं जुनय॑न्ती॒र्गर्भ॑मग्रे॒ समैर॑यन्।
तस्यो॒त जाय॑मानु॒स्योल्ब॑ आसीद्धिर॒ण्ययः॒ कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ ८ ॥

१. **आपः**=इस द्युलोक ने **वत्सं जनयन्तीः**=सबके निवासस्थानभूत इस संसार को जन्म देने के हेतु से (वसन्ति अस्मिन् इति वत्सः) **अग्रे**=सृष्टि के आरम्भ में **गर्भम्**=गर्भरूप से अवस्थित इस संसार को **समैरयन्**=प्रेरित किया—गतिमय किया। २. **उत**=और **जायमानस्य**=उत्पन्न होते हुए **तस्य**=उस द्युलोक के गर्भरूप संसार का **उल्बः**=गर्भ-वेष्टन **हिरण्ययः आसीत्**=ज्योतिर्मय प्रभु ही थे—प्रभु ने ही इन सबको वेष्टित किया हुआ था। **कस्मै**=उस आनन्दमय **देवाय**=प्रकाशमय प्रभु के लिए **हविषा विधेम**=दानपूर्वक अदन द्वारा पूजन करें।

भावार्थ—द्युलोक से जन्म लेनेवाला यह सारा संसार प्रभु से वेष्टित था। हम उस ज्योतिर्मय प्रभु का हवि के द्वारा अर्चन करें।

विशेष—अगले सूक्त का ऋषि 'अथर्वा' है—प्रभु-पूजन से अपनी वृत्ति को स्थिर बनानेवाला। वह प्रयत्न करके कामादि शत्रुओं को अपने से दूर करता है।

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**व्याघ्रः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

व्याघ्र-तस्कर-वृक

उदि॒तस्त्रयो॑ अक्रमन्व्या॒घ्रः पुरु॑षो॒ वृकः॑।
हिरु॒ग्घि यन्ति॒ सिन्ध॑वो॒ हिरु॑ग्दे॒वो वन॒स्पति॒र्हिरु॑ङ् नमन्तु॒ शत्र॑वः ॥ १ ॥

१. **इतः**=इस स्थान से **त्रयः**=तीन **उद् अक्रमन्**=उठकर दूर चले जाएँ। एक तो **व्याघ्रः**=विशिष्ट आघ्राणमात्र से प्राणियों को नष्ट करनेवाला व्याघ्र, दूसरा **पुरुषः**=(परमेणोत तस्करः) चोर पुरुष और तीसरा **वृकः**=प्राणियों का घातक अरण्यश्वा (भेड़िया)। २. **सिन्धवः**=स्यन्दनशील नदियाँ **हिरुक् हि**=नीचे (Below) की ओर ही **यन्ति**=चली जाती हैं। यह **देवः**=रोगों को जीतनेवाला **वनस्पतिः**=वृक्ष **हिरुक्**=नीचे भूमि में, जड़के रूप मे चला जाता है। **शत्रवः**=ये शातनशील व्याघ्र आदि भी **हिरुक् नमन्तु**=नीचे झुक जाएँ। नदियाँ नीचे की ओर जा रही हैं, वृक्षों की जड़ें नीचे और नीचे चली जा रही हैं, ये हमारे शत्रु भी नीचे झुक जाएँ।

भावार्थ—व्याघ्र, तस्कर व वृक हमसे दूर ही रहें। ये हमारे सामने झुक जाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**व्याघ्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सर्प और अघायु

परे॑णैतु प॒था वृकः॑ पर॒मेणो॒त तस्क॑रः। परे॑ण द॒त्वती॒ रज्जुः॒ परे॑णाघा॒युर॑र्षतु ॥ २ ॥

१. **वृकः**=यह प्राणिहिंसक अरण्यश्वा **परेण**=हमारे सञ्चार-मार्ग से भिन्न **पथ**=मार्ग से **एतु**=जाए, **उत**=और **तस्करः**=चोर पुरुष भी **परमेण**=उससे भी दूरतर मार्ग से जानेवाला हो। २. **दत्वती**=यह दाँतोंवाली **रज्जुः**=रस्सी के आकार का सर्प **परेण**=अन्य मार्ग से जाए।

अघायुः=अघ=पाप, अर्थात् दूसरों का हिंसन चाहनेवाला यह पापी भी **परेण**=अन्य मार्ग से ही **अर्षतु**=जाए।

भावार्थ—वृक, चोर, साँप व अशुभेच्छु हिंसक हमसे सदा दूर रहें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**व्याघ्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

व्याघ्र के 'आँख, मुख व दाँतों का नाश'

अक्ष्यौ॑ च ते॒ मुखं॑ च ते॒ व्याघ्र॑ जम्भयामसि। आत्सर्वा॑न्विंश॒तिं न॒खान्॥ ३ ॥

१. हे **व्याघ्र**=अपने विशिष्ट आघ्राणमात्र से नष्ट करनेवाले व्याघ्र! **ते अक्ष्यौ च**=तेरी आँखों को और **ते मुखं च**=तेरे मुख को भी **जम्भयामसि**=हम विनष्ट करते हैं। २. **आत्**=और **सर्वान्**=सब **विंशतिं नखान्**=बीसों नाखुनों को भी नष्ट करते हैं।

भावार्थ—व्याघ्र आदि के उन अङ्गों को नष्ट कर दिया जाए, जिनसे वे विनाश का कारण बनते हैं। इसीप्रकार राष्ट्र में हिंसकों के हिंसा-साधनों को समाप्त करके उन्हें हिंसन के अयोग्य बना दिया जाए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**व्याघ्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'व्याघ्र, स्तेन, अहि, यातुधान व वृक' का विनाश

व्या॒घ्रं द॒त्वतां॑ व॒यं प्र॑थ॒मं ज॑म्भयामसि। आदु॑ ष्टे॒नमथो॒ अहिं॑ यातु॒धान॒मथो॒ वृक॑म्॥ ४ ॥

१. **वयम्**=हम **दत्वताम्**=दाँतोंवालों में **प्रथमम्**=मुख्य—अपनी दंष्ट्राओं से फाड़ देनेवालों में प्रधानभूत **व्याघ्रम्**=व्याघ्र को **जम्भयामसि**=नष्ट करते हैं। व्याघ्रों व व्याघ्र-वृत्तिवाले पुरुषों को राष्ट्र से दूर करना आवश्यक है। २.**आत उ**=और अब इसके बाद **स्तेनम्**=चोर को नष्ट करते हैं। **अथ उ**=और अब निश्चय से **अहिम्**=सर्प को नष्ट करते हैं। **यातुधानम्**=पीड़ा का आधान करनेवाले राक्षसों को दूर करते हैं, **अथ उ**=और निश्चय से **वृकम्**=भेड़िये को व भेड़िये की वृत्तिवाले पुरुष को विनष्ट करते हैं।

भावार्थ—राष्ट्र से व्याघ्र, स्तेन, अहि, यातुधान व वृकों का दूर करना आवश्यक है। निरुपद्रव राष्ट्र में ही प्रजा उन्नति कर सकती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**व्याघ्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

चोर का निरादर, मार्गध्वंसक को वध-दण्ड

यो अ॒द्य स्ते॒न आय॑ति॒ स संपि॑ष्टो॒ अपा॑यति।
प॒थाम॑पध्वं॒सेनै॒त्विन्द्रो॒ वज्रे॑ण हन्तु॒ तम्॥ ५ ॥

१. **अद्य**=आज **यः**=जो भी **स्तेनः**=चोर **आयति**=आता है, **सः**=वह **संपिष्टः**=सम्यक् पिसा हुआ—चूर्णीभूत-सा किया हुआ **अपायति**=दूर जाता है। चोर को सारा जनसमाज सामूहिकरूप से दण्डित करनेवाला हो, उन्हें कोई आश्रय देनेवाला न हो। २. जो कोई भी **पथाम्**=मार्गों के—नियमों के, **अपध्वंसेन**=बुरी तरह ध्वंस से—नियमों के भंग से **एतु**=गति करे, **इन्द्रः**=राजा **तम्**=उसे **वज्रेण**=वज्र के द्वारा—विनाशक शस्त्र के द्वारा **हन्तु**=नष्ट करे। नियमों को बुरी तरह तोड़नेवाले को राजा वध-दण्ड दे।

भावार्थ—चोर को जनसमाज उचित दण्ड देता हुआ चोरी आदि से निरुत्साहित करे। सदा उलटे मार्ग से चलनेवाले को राजा वध-दण्ड दे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**व्याघ्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

हिंस्त्र पशुओं के भय से रहित मार्ग

मूर्णा मृगस्य दन्ता अपिशीर्णा उ पृष्टयः।
निम्रुक्ते गोधा भवतु नीचायच्छशयुर्मृगः॥ ६॥

१. **मृगस्य**=हिंस्त्र पशु के **दन्ताः**=दाँत **मूर्णाः**=मूढ—खादन में असमर्थ हो जाएँ **उ**=और **पृष्टयः अपि**=इसकी पसलियाँ भी **शीर्णाः**=विनष्ट हो जाएँ, यह किसी के भी हिंसन में समर्थ न रहे। २. हे पान्थ! **गोधा**=गोह आदि प्राणी **ते**=तेरी **निम्रुक्**=दृष्टि का अविषय **भवतु**=हो। रास्ते में तुझे गोह आदि विघ्नकारक न मिलें। यह **शशयुः**=झाड़ियों में छिपकर सोनेवाला **मृगः**=हिंस्त्र पशु **नीचा अयत्**=निचले मार्ग से ही चला जाए—यह मार्ग में रुकावट का कारण न बने।

भावार्थ—हिंस्त्र पशुओं के दाँत व पसलियाँ शीर्ण कर दी जाएँ। मार्ग में गोह व हिंस्त्र पशुओं का भय न बना रहे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**व्याघ्रः** ॥ छन्दः—**ककुम्मतीगर्भोपरिष्टाद्बृहती** ॥

संयम न कि वियम

यत्संयमो न वि यमो वि यमो यन्न संयमः॥
इन्द्रजाः सोमजा आथर्वणमसि व्याघ्रजम्भनम्॥ ७॥

१. **यत्**=चूँकि **संयमः**=जो संयम है—आत्मशासन है वह **वियमः न**=उच्छृंखलता नहीं और **यत्**=क्योंकि **वियमः**=उच्छृंखलता—नियमविरुद्ध गति **संयमः न**=संयम नहीं है। इन संयम और वियम में आकाश-पाताल का अन्तर है। २. जो संयम है, वह **इन्द्रजाः**=(इन्द्रस्य जनयिता) इन्द्र को जन्म देनेवाला है। यह संयम मनुष्य को इन्द्र, अर्थात् देवराट् बनाता है—सब दिव्य गुणों से सम्पन्न करता है। यह संयम **सोमजाः**=(सोमस्य जनयिता) शरीर में सोमशक्ति को उत्पन्न करनेवाला है—सोम (Semen) की स्थिरता का कारण बनता है। हे संयम! तू **व्याघ्रजम्भनम्**=व्याघ्र आदि हिंस्त्र पशुओं के समान हिंसक वृत्तियों को समाप्त करनेवाला है। संयम मनुष्य को पाशविक वृत्तियों से ऊपर उठाकर दिव्य वृत्तियोंवाला बनाता है। वियम मनुष्य में पाशववृत्तियों को प्रबल करता है।

भावार्थ—संयम हमें इन्द्र—देवराट् बनाता है। यह व्याघ्रतुल्य हिंस्त्रवृत्तियों का विनाश करता है। यह हममें सोम का रक्षण करता है। इसके विपरीत वियम हमें पशु ही बना डालता है।

विशेष—संयम 'सोमजाः' है, सोम को जन्म देनेवाला है। इस सोम से शक्तिशाली बनकर यह अथर्वा सदा प्रसन्नचित्त व गतिशील होता है। यह सोमजनक ओषधियों का ही प्रयोग करता है। अगले सूक्त में इसी बात का वर्णन है।

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः (उच्छुष्मौषधिः)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गन्धर्व द्वारा ओषधि खनन

यां त्वा गन्धर्वो अखनद्वरुणाय मृतभ्रजे। तां त्वा वयं खनामस्योषधिं शेपहर्षणीम्॥ १॥

१. **याम् त्वा**=जिस तुझ ओषधि को **गन्धर्वः**=ज्ञान की वाणियों को धारण करनेवाले ज्ञानी पुरुष ने **वरुणाय**=पाप का निवारण करनेवाले उत्तम पुरुष के लिए **अखनत्**=खोदा है, जो किन्हीं अज्ञात कारणों से **मृत-भ्रजे**=(भ्राजृ दीप्तौ) नष्ट दीप्तिवाला हो गया है, रोगवश उसकी शक्ति में

कमी आ गई है। सामान्यतः उसकी वृत्ति अच्छी है। इसके स्वास्थ्य व शक्तिवर्धन के लिए गन्धर्व एक ओषधि खोदकर लाता है। २. **ताम्**=उस **त्वा ओषधिम्**=तुझ ओषधि को **वयम्**=हम **खनामसि**=खोदते हैं, जो तू **शेपहर्षिणीम्**=(शेप=पेशस्) रूप को—आकृति को हर्षित करनेवाली है। यह ओषधि शक्ति-सम्पन्न बनाकर मृत-दीप्तिवाले चेहरे को फिर से दीप्त-सा कर देती है। इस ओषधि का सेवन करके यह वरुण फिर चमक उठता है।

भावार्थ—उत्तम वृत्तिवाले, परन्तु किसी रोगवश नष्ट दीप्तिवाले पुरुष के लिए ज्ञानी वैद्य 'ऋषभक' आदि ओषधियों को खोदकर लाता है। इस ओषधि के सेवन से फिर सबल होकर यह वरुण चमक उठता है। ओषधि का प्रयोग ज्ञानी पुरुष को ही करना है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः (उच्छुष्मौषधिः)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उषा-जागरण व प्रभु-स्तवन

उदुषा उदु सूर्य उदिदं मामकं वचः। उदेजतु प्रजापतिर्वृषा शुष्मेण वाजिना ॥ २ ॥

१. **उषाः उत्**=(एजत्) उषा का उदय हुआ है, **उ**=और **सूर्यः उत्**=सूर्य ऊपर उठा है। इस सूर्योदय काल में **इदम्**=यह **मामकम्**=मेरे द्वारा किया जानेवाला **वचः**=स्तुति-वचन भी **उत्**=उच्चरित हुआ है। २.यह—गतमन्त्र के अनुसार गन्धर्व से खोदी गई ओषधि का सेवन करनेवाला पुरुष **वाजिना**=शक्तिदेनेवाले **शुष्मेण**=शत्रु-शोषक बल से **उद् एजतु**=ऊपर गतिवाला हो, उन्नत हो। यह **प्रजापतिः**=उत्तम प्रजाओं का स्वामी बने—उत्तम सन्तानों को प्राप्त करे और **वृषा**=शक्तिशाली हो।

भावार्थ—उषा में प्रबुद्ध होकर सूर्योदय के साथ ही हम प्रभु-स्तवन करनेवाले बनें। उत्तम ओषधियों के प्रयोग से उत्तम सन्तानोंवाले व शक्तिशाली हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः (उच्छुष्मौषधिः)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तपे हुए सोने के समान

यथा स्म ते विरोहतोऽभितप्तमिवानति। ततस्ते शुष्मवत्तरमियं कृणोत्वोषधिः ॥ ३ ॥

१. **यथा**=जिस प्रकार **विरोहतः**=स्वास्थ्य में विशिष्ट रूप से उन्नत होते हुए **ते**=तेरा चेहरा **अभितप्तम् इव**=तपे हुए स्वर्ण के समान **अनति स्म**=प्राणित होता है, **ततः**=उस प्रकार **इयम्**=यह **ओषधिः**=ओषधि **ते**=तेरे शरीर को **शुष्मवत्तरम्**=अतिशयित बलवाला **कृणोतु**=कर दे।

भावार्थ—ओषधि-प्रयोग से पूर्ण स्वस्थ हुआ-हुआ यह पुरुष सबल होकर इसप्रकार चमक उठे कि इसका चेहरा तपे हुए सोने के समान दीप्त हो उठे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः (उच्छुष्मौषधिः)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सुषमा-सारा (ओषधि)

उच्छुष्मौषधीनां सार ऋषभाणाम्। सं पुंसामिन्द्र वृष्ण्यमस्मिन्धेहि तनूवशिन् ॥ ४ ॥

१. **ओषधीनाम्**=ओषधियों में यह ओषधि **शुष्मा**=रोगरूप शत्रुओं के शोषक बलवाली है **ऋषभाणाम्**=शक्तिसेचन-समर्थ ओषधियों में यह **सारः**=सारभूत व उत्कृष्ट है। यह ओषधि इस वरुण को (वरुणाय मृतभ्रजे-मन्त्र १) **उत्**=फिर से उठा दे—उन्नत बलवाला करे। २. हे **तनूवशिन्**=शरीर को वश में करनेवाले **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **अस्मिन्**=अपने इस शरीर में **पुंसाम्**=शक्तिशाली पुरुषों में होनेवाले **वृष्ण्यम्**=वीर्य को **संधेहि**=सम्यक् धारण कर।

भावार्थ—शक्तिवर्धक ओषधि के प्रयोग से यह मृत-सी दीप्तिवाला रुग्ण पुरुष उठ खड़ा हो। शरीर को वश में रखता हुआ यह उत्कृष्ट शक्ति को धारण करे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः (उच्छुष्मौषधिः)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'आर्शम्' वृष्ण्यम्

अपां रसः प्रथमजोऽथो वनस्पतीनाम्। उत सोमस्य भ्रातास्युतार्शमसि वृष्ण्यम् ॥ ५ ॥

१. ओषधियों से उत्पन्न होनेवाली शक्ति के विषय में कहते हैं कि तू **अपाम्**=जलों का
प्रथमजः=प्रथम स्थान में होनेवाला **रसः**=रस है, **अथ उ**=और निश्चय से **वनस्पतीनाम्**=वनस्पतियों
का सार है। वनस्पतियाँ जल से ही परिपोषित होती हैं। उन वनस्पतियों में यह जल ही रोग-
निवारक तत्त्वों की स्थापना करता है 'अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा'। २. **उत**=और
यह जलों और वनस्पतियों का रस **सोमस्य**=सोमशक्ति का—वीर्य का **भ्राता असि**=भरण
करनेवाला है **उत**=तथा तू वह **वृष्ण्यम्**=वीर्य है जो **आर्शम्**=(ऋश्=to kill) रोग-कृमियों को
नष्ट करनेवाला है और पुरुषों को (ऋश=to go) गतिशील बनानेवाला है।

भावार्थ—जलों व ओषधियों के सेवन से शरीर में उस सोम (वीर्य) की उत्पत्ति होती
है जो हमें नीरोग बनाकर खूब गतिशील बनाता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः, सविता, सरस्वती, ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

धनुः इव तानया पसः

अद्याग्ने अद्य सवितरद्य देवि सरस्वति।
अद्यास्य ब्रह्मणस्पते धनुरिवा तानया पसः ॥ ६ ॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **अद्य**=आज—गतमन्त्र के अनुसार ओषधियों व जलों के रस
का सेवन होने पर **अस्य**=इस पुरुष के **पसः**=(राष्ट्रम्) शरीररूप राष्ट्र को **धनुः इव**=धनुष के
समान **तानय**=फैलाइए। इसके शरीर-राष्ट्र की शक्तियाँ इसप्रकार फैलें, जैसेकि तीर चलाने के
समय धनुष को फैलाते हैं। २. हे **सवितः**=प्रेरणा देनेवाले प्रभो! **अद्य**=आज आप उत्तम प्रेरणा
प्राप्त कराते हुए इस पुरुष के शरीर-राष्ट्र का वर्धन कीजिए। हे **देवि**=दिव्य गुणों को जन्म
देनेवाली **सरस्वति**=विद्या की अधिष्ठातृदेवते! तू **अद्य**=आज इसके ज्ञान का वर्धन करती हुई
इसके शरीररूपी राष्ट्र का वर्धन कर। हे **ब्रह्मणस्पते**=(ब्रह्म=तपः) तपों के रक्षक प्रभो!
अद्य=आज आप **अस्य**=इस पुरुष को तपस्वी बनाते हुए इसके शरीर-राष्ट्र का वर्धन कीजिए।

भावार्थ—आगे बढ़ने की भावना, प्रभु की प्रेरणा, विद्या का आराधन व तपस्या हमारे
शरीर-राष्ट्र का वर्धन करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः (उच्छुष्मौषधिः)** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

अग्लान मन से

आहं तनोमि ते पसो अधि ज्यामिव धन्वनि।
क्रमस्वर्श इव रोहितमनवग्लायता सदा ॥ ७ ॥

१. प्रभु कहते हैं कि **अहम्**=मैं **ते पसः**=तेरे शरीररूप राष्ट्र को इसप्रकार **आतनोमि**=विस्तृत
करता हूँ, **इव**=जैसेकि **ज्याम्**=डोरी को **धन्वनि अधि**=धनुष पर फैलाते हैं। तेरा यह शरीर-राष्ट्र
जलों व ओषधियों के रसों के सेवन से विस्तृत शक्तिवाला बन जाए। २. हे विस्तृत शक्तिवाले
पुरुष! **इव**=जैसे **ऋशः**=हिंस्र पशु (ऋश् to kill) **रोहितम्**=मृग पर आक्रमण करता है, इसीप्रकार
तू **सदा**=सदा **अनवग्लायता**=ग्लान न होते हुए मन से **आक्रमस्व**=जीवन-मार्ग पर आक्रमण
करनेवाला बन। सब विघ्नों को जीतता हुआ तू आगे बढ़।

भावार्थ—शरीर की शक्तियों का वर्धन करते हुए हम अग्लान मन से विघ्नों पर आक्रमण

करते हुए आगे बढ़ें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः (उच्छुष्मौषधिः)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'अश्व व ऋषभ' के समान शक्तिवाला बनना

अश्वस्याश्वतरस्याजस्य पेत्वस्य च।
अथ ऋषभस्य ये वाजास्तानस्मिन्धेहि तनूवशिन्॥ ८॥

१. हे **तनूवशिन्**=शरीर को वश में करनेवाले पुरुष! तू **अस्मिन्**=इस शरीर में **तान्**=उन **वाजान्**=शक्तियों को **धेहि**=धारण कर **ये वाजाः**, **अश्वस्य**=जो शक्तियाँ घोड़ों की हैं, घोड़े के समान तू इस शरीर को सबल बना। यह चलते हुए कभी थके नहीं। **अश्वतरस्य**=खच्चर की जो शक्तियां हैं, उन्हें तू धारण कर। तू खच्चर के समान कार्यभार को वहन करनेवाला बन। **अजस्य**=बकरे की जो शक्तियाँ हैं, तू उन्हें धारण कर। तू अज के समान गतिशील हो तथा सब रोगों को दूर फेंकनेवाला हो। **च**=और **पेत्वस्य**=मेढे की जो शक्तियाँ हैं, उन्हें तू धारण कर। मेढा जिस प्रकार अपने विरोधियों से टक्कर लेता है, उसी प्रकार तू अपने शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाला हो। २. **अथ**=और अब **ऋषभस्य**=एक बैल की जो शक्तियाँ हैं, उन्हें तू धारण कर। बैल की भाँति तू कार्य-शकट की धुरा का वहन करनेवाला हो।

भावार्थ—हम संयमी जीवन बिताते हुए अश्व के समान वेगवाले हों, खच्चर के समान कार्यभार का वहन करें, बकरे के समान दिनभर गतिशील हों, मेढे के समान शत्रुओं से टक्कर ले सकें तथा बैल के समान कार्य-शकट की धुरा को धारण करनेवाले हों।

विशेष—इसप्रकार शक्तियों का वर्धन करता हुआ यह 'ब्रह्मा' बनता है। यह वस्तुतः राष्ट्र-यज्ञ का भी ब्रह्मा बनकर राष्ट्र का प्रबन्ध इतनी उत्तमता से करता है कि राष्ट्र में चोरी इत्यादि का कोई भय नहीं रहता, सारी प्रजा चैन की नींद सो सकती है। इस राजा का उद्देश्य यही होता है कि सारे लोग आराम से सो सकें। उनकी नींद को निर्विघ्न बनाने के लिए वह स्वयं जागरित रहता है।

५. [पञ्चमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वृषभः, स्वापनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सूर्यास्त के साथ सोने की तैयारी

सहस्रशृङ्गो वृषभो यः समुद्रादुदाचरत्।
तेना सहस्ये[']ना वयं नि जनान्त्स्वापयामसि॥ १॥

१. **सहस्रशृंगः**=हज़ारों रश्मियोंवाला **वृषभः**=वृष्टिजल का वर्षक **यः**=जो सूर्य **समुद्रात्**=उदयाचल के परिसरवर्ति (समीपस्थ) अन्तरिक्ष प्रदेश से **उदाचरत्**=उदित होता है, **तेन**=उस **सहस्येन**=शत्रुओं को अभिभूत करनेवाले बल को प्राप्त कराने में उत्तम सूर्य के साथ **वयम्**=हम **जनान्**=लोगों को **निस्वापयामसि**=सुलाते हैं, अर्थात् सूर्यास्त होता है—सूर्य सोता-सा है और हम लोगों को भी सुला देता है। २. राजा राष्ट्र में ऐसा प्रयत्न करे कि प्रजा सूर्योदय के साथ जाग उठे और सूर्यास्त के साथ कार्य-विरत हो सोने की तैयारी करे। इस स्वाभाविक जीवन के परिणामस्वरूप लोग न केवल शरीर में अपितु मन में भी स्वस्थ बने रहेंगे।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में ऐसी व्यवस्था करे कि सभी प्रजा सूर्यास्त होने पर सोने की तैयारी करे। शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य के लिए यह आवश्यक है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—वृषभः, स्वापनम्॥ छन्दः—भुरिगनुष्टुप्॥

नींद के अनुकूल वातावरण

न भूमिं वातो अति वाति नाति पश्यति कश्चन।
स्त्रियश्च सर्वाः स्वापय शुनश्चेन्द्रसखा चरन्॥ २॥

१. राष्ट्र में नगरों का निर्माण इसप्रकार हो कि **वातः**=वायु **भूमिं न अतिवाति**=भूमि पर बहुत तीव्र गति से—आँधी आदि के रूप में बहनेवाला न हो। नगरों के चारों ओर एक-दो किलोमीटर चौड़े बगीचे हों। ये वायु के वेग को रोकने में सहायक होंगे। २. घरों का निर्माण भी इसप्रकार हो कि **कश्चन**=कोई भी **न अतिपश्यति**=ऊपर से एक-दूसरे घरवालों को देख न सके। सब घरवाले कुछ गुप्तता अनुभव कर सकें। ३. हे वायो! **इन्द्रसखा**=इन जितेन्द्रिय पुरुषों का मित्रभूत **चरन्**=बहता हुआ तू **सर्वाः स्त्रियः**=सब स्त्रियों को **स्वापय**=सुला दे, **च**=और **शुनः च**=कुत्तों को भी सुला दें। कुत्तों का भौंकना भी नींद में विघ्न का कारण न बन जाए।

भावार्थ—नगरों व घरों का निर्माण इसप्रकार हो कि तेज हवा के झोंके न लगें तथा लोगों को अपने घरों में कुछ एकान्त-सा प्रतीत हो, कुत्तों का भौंकना भी नींद के विघ्न का कारण न बने।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—वृषभः, स्वापनम्॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

स्त्रियों की निर्भीक निद्रा

प्रोष्ठेशयास्तल्पेशया नारीर्या वह्यशीवरीः।
स्त्रियो याः पुण्यगन्धयस्ताः सर्वाः स्वापयामसि॥ ३॥

१. अवस्था-भेद के अनुसार कोई नारी कहीं सोई है और कोई कहीं। **प्रोष्ठेशयाः**=(प्रोष्ठ) जो दस-बारह वर्ष की कुमारियाँ छोटे-छोटे फलकों पर सोई हैं। **तल्पेशयाः**=जो युवतियाँ खाटों पर सो रही हैं, **याः नारीः**=जो स्त्रियाँ अभी बहुत छोटी अवस्था में होने से **वह्यशीवरीः**= आन्दोलिका—हिंडोले में ही सो रही हैं तथा **याः**=जो **पुण्यगन्धयः**=पुण्यगन्धवाली **स्त्रियः**=विवाहित स्त्रियाँ हैं, **ताः सर्वाः**=उन सबको **स्वापयामसि**=हम सुलाते हैं।

भावार्थ—घरों में स्त्रियों का कमरा इसप्रकार सुरक्षित हो कि वे निश्चिन्त होकर सो सकें। यह निश्चिन्तता की निद्रा उन्हें स्वस्थ बनाएगी और वे घर को बड़ा उत्तम बना सकेंगी।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—वृषभः, स्वापनम्॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

निश्चेष्टतामयी गाढ़ निद्रा

एजदेजदजग्रभं चक्षुः प्राणमजग्रभम्। अङ्गान्यजग्रभं सर्वा रात्रीणामतिशर्वरे॥ ४॥

१. **एजत् एजत् अजग्रभम्**=प्रत्येक हिलते हुए अङ्ग को मैंने नींद के द्वारा निग्रह में किया है **चक्षुः**=आँख को व **प्राणम्**=घ्राणेन्द्रिय को (प्राणसञ्चारस्थानाश्रितं गन्धग्राहकमिन्द्रियम्-सा०), **अजग्रभम्**=निद्रा से निश्चल किया है। २. इन **रात्रिणां अतिशर्वरे**=रात्रियों के घने अन्धकार के काल में **सर्वा**=सब **अङ्गानि**=अंगों को **अजग्रभम्**=मैंने निगृहीत किया है।

भावार्थ—गाढ़ निद्रा में सब अङ्ग बिल्कुल निश्चेष्ट हो गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कोई मनुष्य घोड़े बेचकर सो गया है। यह गाढ़ निद्रा स्वास्थ्य के लिए अत्युत्तम होती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**वृषभः, स्वापनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

घर के द्वारों व इन्द्रिय-द्वारों को बन्द करना

य आस्ते यश्चरति यश्च तिष्ठन्विपश्यति।
तेषां सं दध्मो अक्षीणि यथेदं हर्म्यं तथा॥ ५॥

१. **यः आस्ते**=जो बैठा है, **यः चरति**=जो चल रहा है **च**=और **यः तिष्ठन्**=जो खड़ा हुआ **विपश्यति**=विविध दिशाओं में देख रहा है, **तेषाम्**=इन सबकी **अक्षिणि सन्दध्मः**=आँखों को बन्द करते हैं। २. **यथा**=जैसे **इदम्**=यह **हर्म्यम्**=घर बन्द द्वारवाला किया जाता है, **तथा**=उसी प्रकार घर में रहनेवाले भी बन्द इन्द्रिय-द्वारोंवाले किये जाते हैं। घर के सब द्वारों का ठीक से बन्द होना निश्चिन्तता व सुरक्षा की भावना में सहायक है तथा इन्द्रिय-द्वारों का बन्द होना निद्रा की गाढ़ता की ओर ले-जाता है।

भावार्थ—हम घर के द्वारों को बन्द करके निश्चिन्त-से होकर, इन्द्रिय-द्वारों को बन्द करके गाढ़ निद्रा में जानेवाले बनें। घर में कुछ व्यक्ति हिल-डुल रहे हों तो भी दूसरों को ठीक नींद नहीं आ सकती।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**वृषभः, स्वापनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

छोटे बालक की गाढ़ निद्रा

स्वप्तु माता स्वप्तु पिता स्वप्तु श्वा स्वप्तु विश्पतिः।
स्वपन्त्वस्यै ज्ञातयः स्वप्त्वयमभितो जनः॥ ६॥

१. **माता**=इस नव उत्पन्न बालक की माता **स्वप्तु**=अब रात्रि के समय सोये। **पिता स्वप्तु**=पिता भी सोये, **श्वा स्वप्तु**=घर का कुत्ता भी सो जाए—यह भौंकता न रहे, क्योंकि बालक की नींद पर उसका हानिकर प्रभाव होगा। **विश्पतिः**=घर का मुखिया—प्रजापति भी **स्वप्तु**=सो जाए। २. **अस्यै ज्ञातयः**=इसके अन्य बन्धु-बान्धव भी **स्वपन्तु**=सो जाएँ। **अयम्**=यह **अभितः जनः**=चारों ओर के लोग भी **स्वप्तु**=सो जाएँ। पड़ौस में भी शोर न होता रहे अथवा घर के नौकर-चाकर भी शोर न करते रहें। वे भी सोने की करें।

भावार्थ—छोटे बालक के विकास के लिए उसकी नींद बड़ी आवश्यक है। माता-पिता व अन्य बन्धु-बान्धव रात्रि में सब सो जाएँ, ताकि शान्त, नीरव वातावरण में बच्चा भी सोया रहे।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**वृषभः, स्वापनम्**॥ छन्दः—**पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुप्**॥

राजा जागे, सब सोएँ

स्वप्न स्वप्नाभिकरणेन सर्वं नि ष्वापया जनम्।
ओत्सूर्यमन्यान्त्स्वापयाव्युषं जागृतादहमिन्द्रइवारिष्टो अक्षितः॥ ७॥

१. राजा स्वप्न को सम्बोधित करते हुए कहता है कि **स्वप्न**=निद्रा की देवते! **स्वप्नाभिकरणेन**=नींद के सब साधनों से **सर्वं जनम्**=सब लोगों को **निष्वापय**=सुला दे। राजा राष्ट्र में इसप्रकार की व्यवस्थाएँ करता है कि लोग सूर्यास्त के साथ सोने की तैयारी करें। नित्य कर्मों से निवृत्त होकर सो जाएँ। २. **आ उत्सूर्यम्**=सूर्योदय तक **अन्यान् स्वापय**=हे निद्रे! औरों को तो सुला, बस **अहम्**=मैं **इन्द्रः इव**=एक जितेन्द्रिय पुरुष की भाँति **आव्यूषम्**=उषाकाल तक **जागृतात्**=जागता रहूँ। राजा ही सो गया तो राष्ट्र-रक्षा कैसे होगी? राष्ट्र-यज्ञ को चलानेवाला ब्रह्मा यह राजा ही तो है, इसके मन्त्री, कार्यकर्त्ता व सेवक ही ऋत्विज हैं। ये सो गये तो यज्ञ समाप्त हो जाएगा। राजा सोया तो राष्ट्र में सदा चोरी आदि के भय से लोग निश्चिन्त निद्रा प्राप्त

न कर सकेंगे। राजा जागता है तो प्रजा निश्चिन्त हो निन्द्रा ले-पाती है। मैं **अक्षितः**=(न क्षितं यस्मात्) राष्ट्र को क्षीण न होने दूँ, **अरिष्टः**=(न रिष्टं यस्मात्) राष्ट्र को हिंसित न होने दूँ। जागता हुआ राजा ही 'अक्षित व अरिष्ट' होता है।

भावार्थ—राजा सदा जागरूक बनकर प्रजा को क्षीण व हिंसित होने से बचाए।

विशेष—राष्ट्र-रक्षा के महान् भार को उठाकर चलनेवाला 'गरुत्मान्' (गुरुं भारं उद्यम्य उड्डीय गतः) अगले सूक्त का ऋषि है। यह सब प्रकार के विषों के निवारण की व्यवस्था करता है।

६. [षष्ठं सूक्तम्]

ऋषिः—**गरुत्मान्** ॥ देवता—**ब्राह्मणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'दशशीर्ष, दशास्यं' ब्राह्मण

ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः। स सोमं प्रथमः पपौ स चकारारसं विषम्॥ १॥

१. **ब्राह्मणः**=वेदज्ञान प्राप्त करनेवाला **प्रथमः जज्ञे**=(प्रथ विस्तारे) शक्तियों का विस्तार करनेवाला होता है। **दशशीर्षः**=धर्म के दसों लक्षणों (धृति-क्षमा-दम-अस्तेय-शौच-इन्द्रियनिग्रह-धी-विद्या-सत्य-अक्रोध) के दृष्टिकोण से यह शिखर पर होता है—यही इसके दस शिर होते हैं। यह **दशास्यः**=दस मुखोंवाला—दसों इन्द्रियों से ज्ञान व शक्ति का भोजन करनेवाला होता है। २. **सः**=वह **प्रथमः**=प्रथम स्थान में स्थित (विस्तृत उन्नत शक्तियोंवाला) ब्राह्मण **सोमं पपौ**=सोम का पान करता है—वीर्यशक्ति का अपने अन्दर रक्षण करता है और परिणामतः **सः**=वह **विषम्**=विष को **अरसं चकार**=प्रभावशून्य कर देता है—विष को यह निर्वीर्य कर देता है। इसपर विष का प्रभाव नहीं होता। सोमरक्षण से जहाँ शरीर पर विषों का प्रभाव नहीं होता, वहाँ 'ब्राह्मण, दशशीर्ष व दशास्य' बनने से लोगों की विषभरी बातों का इसके मन पर कुप्रभाव नहीं पड़ता।

भावार्थ—हम ज्ञानप्रधान जीवनवाले बनकर लोगों के विषभरे शब्दों से मानस-सन्तुलन को न खोनेवाले बनें। शरीर में सोम का रक्षण करते हुए शरीर में विष का प्रभाव न होने दें।

ऋषिः—**गरुत्मान्** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी, सप्त सिन्धवः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विषैली भावना को दूर करना

यावती द्यावापृथिवी वरिम्णा यावत्सप्त सिन्धवो वितष्ठिरे।
वाचं विषस्य दूषणीं तामितो निरवादिषम्॥ २॥

१. **यावती**=जितने ये **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **वरिम्णा**=विस्तार से फैले हैं, **यावत्**=जहाँ तक ये **सप्त सिन्धवः**=सात समुद्र **वितष्ठिरे**=विशेषरूप से स्थित हुए हैं, **इतः**=इस सारे प्रदेश से **ताम्**=उस **विषस्य दूषणीम्**=विष को दूषित करनेवाली, अर्थात् विषप्रभाव को नष्ट करनेवाली **वाचम्**=मधुर ज्ञान की वाणी को **निरवादिषम्**=मैंने निश्चय से व्यक्तरूप से कहा। २. हम मधुर ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करते हुए लोकहृदय से विषभरे भावों को दूर करने का प्रयत्न करें।

भावार्थ—हम उस ज्ञानमयी मधुरवाणी का उच्चारण करें जो लोगों के हृदयों से विषैले भावों को दूर करनेवाली हो।

ऋषिः—**गरुत्मान्** ॥ देवता—**सुपर्णः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'गरुत्मान् सुपर्ण'

सुपर्णस्त्वा गरुत्मान्विष प्रथममावयत्। नामीमदो नारूरुप उतास्मा अभवः पितुः॥ ३॥

१. हे **विष**=विष **गरुत्मान्**=कर्म व ज्ञानरूप उत्तम पंखोंवाले **सुपर्णः**=सम्यक् पालक व पूरणात्मक कर्मों में प्रवृत्त पुरुष ने **प्रथमम्**=सर्वप्रथम **त्वा आवयत्**=तेरा भक्षण किया है, **न अमीमदः**=न तो तूने उसे मदयुक्त—ज्ञानविकल किया और न ही मूढ़ बनाया (रूप विमोहने)। २. ज्ञानविकल व मूढ़ बनना तो दूर रहा **उत**=प्रत्युत तू **अस्मै**=इस गरुत्मान् सुपर्ण के लिए **पितुः अभवः**=रक्षक अन्नवाला बन गया। गरुड़ पक्षी साँप को खा जाता है, परन्तु उसपर साँप के विष का घातक प्रभाव नहीं होता।

भावार्थ—हम ज्ञान व कर्मरूप उत्तम पक्षोंवाले बनें। पालन व पूरणात्मक कर्मों में लगे हुए हम लोगों की विषैली बातों से ज्ञानविकल व मूढ़ न बनेंगे, अपितु उनके निन्दात्मक प्रलापों में अपनी कमियों का निरीक्षण करते हुए अपने को निर्दोष बनाने के लिए यत्नशील होंगे।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**विषम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विषदिग्ध बाण

यस्त आस्यत्पञ्चाङ्गुरिर्वक्राच्चिदधि धन्वनः।
अपस्कम्भस्य शल्यान्निरवोचमहं विषम्॥ ४॥

१. **यः**=जो **पञ्चांगुरिः**=पाँच अंगुलियोंवाला हाथ **वक्रात्**=वक्रीभूत (टेढ़े हुए-हुए) **अधिधन्वनः चित्**=अधिज्य (डोरीयुक्त) धनुष से **अपस्कम्भस्य**=(अपस्कभ्यते धनुषि धार्यते इति बाणः) बाण के **शल्यात्**=लोहमय अग्रभाग से हे विष! **ते**=तुझे **आस्यत्**=पुरुष-शरीर में फेंकता है, **अहम्**=मैं **विषम्**=उस विष को **निरवोचम्**=उचित चिकित्सा द्वारा निर्गत हुआ-हुआ कहता हूँ, अर्थात् शरीर से उस विषप्रभाव को दूर कर देता हूँ।

भावार्थ—युद्ध में विषैले बाणों का प्रयोग होने पर शरीर में होनेवाले विषप्रभाव को सद्वैध शीघ्र ही दूर कर देता है।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**विषम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विष को मन्त्रयुक्त औषध से दूर करना

शल्याद्विषं निरवोचं प्राञ्जनादुत पर्णधेः।
अपाष्ठाच्छृङ्गात्कुल्मलान्निरवोचमहं विषम्॥ ५॥

१. **शल्यात्**=बाण के अयोमय अग्रभाग से होनेवाले **विषम्**=विष को **निरवोचम्**=मैंने मन्त्रयुक्त (विचारपूर्वक प्रयुक्त) औषध से निकाल दिया है, इसी प्रकार **प्राञ्जनात्**=किसी वस्तु के प्रलेप से होनेवाले विष को मैंने दूर किया है। २. **अपाष्ठात्**=बाण की नोक से—किसी नुकीले कील आदि से होनेवाले विष को मैंने दूर किया है। इसीप्रकार **शृंगात्**=किसी पशु के सींग से होनेवाले विष को तथा **कुल्मलात्**=कुत्सित प्राणिमल से उद्भूत विष को मैं मन्त्रयुक्त औषध से दूर करता हूँ।

भावार्थ—विविध कारणों से उत्पन्न होनेवाले विष को एक सद्वैद्य मन्त्रयुक्त औषध से दूर करे।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**विषम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शल्य, इषु व धनुष की अरसता

अरसस्त इषो शल्योऽथो ते अरसं विषम्।
उतारसस्य वृक्षस्य धनुष्टे अरसारसम्॥ ६॥

१. हे **इषो**=बाण! **ते**=तेरा **शल्यः**=विषदग्ध अयोमय अग्रभाग **अरसः**=निर्विष हो जाए **अथो**=और तब हे बाण! **ते**=तेरा **विषम्**=विष **अरसम्**=निर्वीर्य—प्रभावशून्य हो जाए। २. **उत**=और **अरसस्य**=नि:सार **वृक्षस्य**=वृक्ष का बना हुआ **ते**=तेरा **धनुः**=धनुष **अरसारसम्**=अतिशयेन नीरस व निर्वीर्य हो जाए।

भावार्थ—धनुषबाण व बाण का अग्रभाग सभी विष-प्रभावों से रहित हो जाएँ।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**विषम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विषदाताओं को दण्डित करना

ये अपीषन्ये अदिहन्य आस्यन्ये अवासृजन्।
सर्वे ते वध्रयः कृता वध्रिर्विषगिरिः कृतः॥ ७॥

१. **ये**=जो लोग **अपीषन्**=विषोपादान औषध को पीसकर देते हैं, **ये**=जो लोग **अदिहन्**=इस विष का लेप करते हैं, **ये आस्यन्**=जो विष को दूर से शरीर पर फेंकते हैं—ऐसिड आदि डाल देते हैं, **ये अवासृजन्**=जो समीपस्थ होते हुए अन्न-पान आदि में विष मिला देते हैं, **ते सर्वे**=वे सब **बध्रयःकृताः**=उचित दण्ड-व्यवस्था के द्वारा निर्वीर्य किये जाते हैं। राजा इन्हें दण्डित करता हुआ इन पापों से रोकता है २. **विषगिरिः**=कन्दमूल आदि के विष का उत्पत्तिहेतुभूत पर्वत भी **वध्रिः कृतः**=निर्वीर्य किया गया है। ऐसे पर्वतों पर भी राजा सामान्य लोगों के आने-जाने पर प्रतिबन्ध लगाता है, तब उस पर्वत के कन्दमूल आदि का दुरुपयोग नहीं हो पाता।

भावार्थ—राजा विविध प्रकार से विष देनेवालों को दण्डित करे। विषोत्पत्ति स्थानों पर सामान्य लोगों के आने-जाने को निषिद्ध कर दे।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**विषम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विष-खनन पर प्रतिबन्ध

वध्रयस्ते खनितारो वध्रिस्त्वमस्योषधे।
वध्रिः स पर्वतो गिरिर्यतो जातमिदं विषम्॥ ८॥

१. राष्ट्र में उचित नियमों के द्वारा हे **ओषधे**! विषोपादानभूत ओषधे! **ते खनितारः**=तेरे खोदनेवाले **वध्रयः**=निर्वीय हो जाएँ—इन कर्मों को करने में इनकी कमर टूट जाए। हे ओषधे! **त्वम्**=तू भी **वध्रिः असि**=निर्वीर्य हो गई है। २. वास्तव में **सः पर्वतः**=पर्वोंवाला—शिलाओं की तहोंवाला **गिरिः**=पर्वत भी **वध्रिः**=निर्वीर्य हो गया है, **यतः**=जिस पर्वत से **इदं विषम्**=यह विष **जातम्**=उत्पन्न होता है।

भावार्थ—विषौषधों को खोदनेवालों पर प्रतिबन्ध हो। विषोत्पदक पर्वतों पर भी लोगों के आने-जाने पर प्रतिबन्ध हो।

विशेष—अगले सूक्त का विषय भी यही है। 'गरुत्मान्' ही ऋषि है।

७. [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वरणावत्याम् अधि

वारिदं वारयातै वरणावत्यामधि। तत्रामृतस्यासिक्तं तेना ते वारये विषम्॥ १॥

१. **इदम्**=यह **वाः**=जल **वारयातै**=विष का निवारण करता है, जो **वरणावत्याम् अधि**=उस नदी में है, जो वरणवृक्षोंवाली है। जिस नदी के किनारे वरण-वृक्ष हों, उस नदी का जल

विषनिवारक गुणों से युक्त होता है। २. **तत्र**=वहाँ—उस वरण-वृक्षवाली नदी में **अमृतस्य आसक्तिम्**=अमृत का आसेचन होता है। वरण वृक्ष के पत्तों व फूलों आदि में जो रस है, वह नदी के जल को विष-निवारक औषध-सा बना देता है। **तेन**=उससे **ते विषम्**=तेरे विष को **वारये**=दूर करता हूँ।

भावार्थ—घर व ग्रामों में जलों के किनारे वरण-वृक्षों का रोपण करना चाहिए, इससे उन जलों में विष-निवारणशक्ति उत्पन्न हो जाएगी। ये जल हमें नीरोग बनाएँगे।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

करम्भ

अरसं प्राच्यं विषमरसं यदुदीच्यम्। अथेदमधराच्यं करम्भेण वि कल्पते॥ २॥

१. **प्राच्यं विषम्**=शरीर के पूर्वभाग में होनेवाला विष **अरसम्**=निर्वीर्य होता है। **यत् उदीच्यम्**=जो उत्तरभाग में होनेवाला विष है, वह भी **अरसम्**=प्रभावशून्य होता है। २. **अथ**=और अब **इदम्**=यह **अधराच्यम्**=निचले भाग में होनेवाला विष **करम्भेण**=दधिमिश्रित सत्तुओं से (जौ के बने सत्तुओं से) **विकल्पते**=विगत सामर्थ्य होता है।

भावार्थ—दधिमिश्रित सत्तुओं के प्रयोग से सब विष-प्रभाव शून्य हो जाते हैं।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'तिर्यं, पीबस्पाक उदारथि' करम्भ

करम्भं कृत्वा तिर्यं पीबस्पाकमुदारथिम्।
क्षुधा किल त्वा दुष्टनो जक्षिवान्त्स न रूरुपः॥ ३॥

१. **तिर्यम्**=विष के प्रभाव को तिरोहित करनेवाले, **पीबस्पाकम्**=चरबी का ठीक से पाचन कर देनेवाले **उदारथिम्**=विषप्रभाव को दूर करके इन्द्रियों की शक्तियों को प्रकाशयुक्त करनेवाले **करम्भं कृत्वा**=दधिमिश्रित सत्तुओं को बनाकर **क्षुधा**=भूख के अनुसार **किल जक्षिवान्**=निश्चय से इस पुरुष ने खाया है। २. हे **दुष्टनो**=शरीर को दूषित करनेवाले विष! **त्वा**=तुझे लक्ष्य करके ही इस करम्भ का प्रयोग किया गया है। **सः**=वह तू इस करम्भ-प्रयोग को **न रूरुपः**=मूढ़ (मूर्च्छित) नहीं बनता।

भावार्थ— दधिमिश्रित सत्तु विषप्रभाव को दूर करते हैं, शरीर में चरबी का ठीक से पाचन करते हैं, इन्द्रियों की शक्ति का वर्धन करके उन्हें प्रकाशमय करते हैं। इनका प्रयोग होने पर ये शरीर को विषमूढ़ नहीं होने देते। ये शरीर से विषैले प्रभाव को हटाते हैं।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्**।

वचा

वि ते मदं मदावति शरमिव पातयामसि।
प्र त्वा चरुमिव येषन्तं वचसा स्थापयामसि॥ ४॥

१. हे **मदावति**=विषप्रभाव से मूर्च्छा लानेवाली—विषोपादानभूत औषध! **ते**=तेरे **मदम्**=मूर्च्छाकर प्रभाव को **शरम् इव**=धनुष से विमुक्त बाण की भाँति **विपातयामसि**=शरीर से विलोपित करते हैं। २. **येषन्तम्**=बुद्बुदाते हुए **चरुम् इव**=चरु के समान (An oblation of rice and barly) तुझे **वचसा**=वच ओषधि के प्रयोग द्वारा **प्रस्थापयामसि**=दूर भेजते हैं। (वचः=A kind of aromatic root) विष शरीर में एक विचित्र सी गरमी पैदा करता है। यहाँ इस गरमी को बुद्बुदाते हुए चरु की गरमी से उपमित किया गया है। वच ओषधि इस प्रभाव को दूर करती है।

भावार्थ—वच नामक ओषधि विष-प्रभाव को दूर कर शरीर को नीरोग और स्वस्थ बनाती है।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

स्थाम्नि तिष्ठ

परि ग्रामंमिवाचितं वचंसा स्थापयामसि। तिष्ठा वृक्षइव स्थाम्न्यभ्रिखाते न रूरुपः॥ ५॥

१. **ग्रामम् इव**=ग्राम के समान—जनसमूह के समान **आचितम्**=उपचित हुए-हुए इस विष को **वचसा**=वच ओषधि के प्रयोग से **परिस्थापयामसि**=अन्यत्र स्थापित करते हैं, अर्थात् दूर करते हैं। २. हे **अभ्रिखाते**=कुदाल से खोदी गई ओषधे! तू **वृक्षः इव**=वृक्ष की भाँति **स्थाम्नि**=स्थिरता में **तिष्ठ**=स्थित हो, अपने स्थान पर वृक्ष की भाँति निश्चल होकर ठहर। तू शरीर में व्याप्त मत हो। **न रूरुपः**=तू शरीर को मूढ़ मत बना। वच के प्रयोग से गतमन्त्र की 'मदावती' का प्रभाव सीमित (localised) हो जाता है।

भावार्थ—विष के बढ़ते प्रभाव को हम वच के प्रयोग से सीमित कर देते हैं।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पर्वतों पर मिलनेवाली 'विषौषध'

पवस्तैस्त्वा पर्यक्रीणन्दूर्शेभिरजिनैरुत। प्रक्रीरसि त्वमोषधेऽभ्रिखाते न रूरुपः॥ ६॥

१. हे ओषधे! **पवस्तैः**=पवन के लिए—शोधन के लिए एकत्र फेंके गये—इकट्ठे किये गये (पवमानाय अस्तैः) सम्मार्जनीतृणों से **त्वा**=तुझे **पर्यक्रीणन्**=इन लोगों ने खरीदा है, **उत**=और **दूर्शेभिः**=दुष्ट ऋश्य-सम्बन्धी **अजिनैः**=चर्मों से तुझे खरीदा है। सम्मार्जनी-तृण व अजिन देकर तेरा क्रय किया गया है। २. इसप्रकार हे **ओषधे**=विषमूलिके! **त्वम्**=तू **प्रक्रीः असि**=प्रकर्षेण खरीदी गई है। हे **अभ्रिखाते**=कुदाल से खोदी गई ओषधे! तू **न रूरुपः**=इस पुरुष को मूढ़ नहीं बनाती।

भावार्थ—सम्मार्जनी-तृणों व ऋश्य-सम्बन्धी चर्मों से विनिमय के द्वारा इस विषनाशक ओषधि को खरीदा गया है। यह मनुष्य को विषप्रभाव-जनित मूर्च्छा से मुक्त करती है।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विष-चिकित्सा

अनाप्ता ये वः प्रथमा यानि कर्माणि चक्रिरे।
वीरान्नो अत्र मा दभन्तद्व एतत्पुरो दधे॥ ७॥

१. **ये अनाप्ताः**=जो अननुकूल—अविश्वसनीय, धोखेबाज लोग **वः**=तुम्हारे साथ सम्बद्ध **यानि**=जिन **प्रथमा**=मुख्य **कर्माणि**=कर्मों को **चक्रिरे**=करते हैं, उन अनाप्त पुरुषों के वे कर्म **अत्र**=यहाँ **नः वीरान्**=हमारे वीरों को **मा दभन्**=मत हिंसित करें। २. धोखेबाज लोग यदि धोखे से किन्हीं विष-प्रयोगों को करते हैं **तत्**=तो मैं **एतत्**=इस भैषज्य कर्म—विष-चिकित्सा कर्म को **वः**=तुम्हारे **पुरः**=सामने **दधे**=स्थापित करता हूँ। वरणवृक्ष के रसयुक्त जलों, दधिमिश्रित सत्तुओं व वच के प्रयोग से तुम विष-प्रभाव को दूर करो।

भावार्थ—धोखे से किसी ने विष दे दिया तो शीघ्र ही उचित भैषज्यरूप कर्म से उस विष-प्रभाव को दूर किया जाए।

विशेष—इन अनाप्त पुरुषों को प्रजा के अहितकारी कर्मों से दूर करनेवाले राजा का उल्लेख अगले सूक्त में है। वह स्थिरवृत्ति का होने से 'अ-थर्वा' कहलाता है। अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रस का सञ्चार करनेवाला यह 'आङ्गिरसः' है अथवा सतत क्रियाशील होने से यह अङ्गिराः है, यही

अगले सूक्त का ऋषि है।

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**राज्याभिषेकः, आपः (मन्त्रोक्ता राजादयः)** ॥
छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

आचार्य द्वारा राज्याभिषेक

भूतो भूतेषु पय आ दधाति स भूतानामधिपतिर्बभूव।
तस्य मृत्युश्चरति राजसूयं स राजा राज्यमनु मन्यतामिदम्॥ १॥

१. **भूतः**=ऐश्वर्य को प्राप्त यह राजा (भूतिः अस्य अस्तीति) **भूतेषु**=सब प्राणियों में **पयः**=आप्यायन (वर्धन) को **आदधाति**=धारण करता है। उनके लिए आप्यायन के साधनभूत दूध आदि पदार्थों को प्राप्त कराता है। इसप्रकार **सः**=वह **भूतानाम्**=सब प्राणियों का—प्रजावर्ग का **अधिपतिः**=स्वामी व रक्षक **बभूव**=होता है। २. **तस्य**=उसके **राजसूयम्**=राज्याभिषेक कर्म को **मृत्युः चरति**=आचार्य सम्पादित करता है (आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः)। इसके पिछले जीवन को समाप्त करके इसे नया ही जीवन देता है। **सः राजा**=वह राजा **इदं राज्यम्**=इस राज्य को **अनुमन्यताम्**=स्वीकार करे। यह राज्यकार्य को करनेकी स्वीकृति दे—इस बोझ को उठाने के लिए अनुकूल मतिवाला हो।

भावार्थ—आचार्य एक योग्य व्यक्ति को राज्यभार वहन करने के लिए तैयार करे। उसका राज्याभिषेक करके उसे राज्यकार्य को सम्यक् सम्पादित करने की प्रेरणा दे। यह राजा सब प्रजावर्ग का रक्षण करता हुआ उनके जीवन-धारण के लिए आवश्यक दूध आदि पदार्थों को उन्हें प्राप्त कराए।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**राज्याभिषेकः, आपः (मन्त्रोक्ता राजादयः)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सपत्नहा, मित्रवर्धनः

अभि प्रेहि माप वेन उग्रश्चेत्ता सपत्नहा।
आ तिष्ठ मित्रवर्धन तुभ्यं देवा अधि ब्रुवन्॥ २॥

१. आचार्य राजा को राज्यसिंहासन पर बिठाता हुआ कहता है—हे राजन्! **अभिप्रेहि**=इस सिंहासन की ओर बढ़ (चल)। **मा अपवेनः**=अनिच्छा व्यक्त मत कर (वेनतिः कान्तिकर्मा)। **उग्रः**=उद्‌गूर्ण बलवाला तू शत्रुओं के लिए दुरासद (अजय्य) हो। **चेत्ता**=कार्य-अकार्य के विभाग के ज्ञानवाला तू **सपत्नहा**=शत्रुओं को नष्ट करनेवला हो। २. हे **मित्रवर्धनः**=मित्रभूत राष्ट्रों का वर्धन करनेवाले राजन्! तू **आतिष्ठ**=सिंहासन पर स्थित हो और **देवाः**=देववृत्ति के ज्ञानी पुरुष **तुभ्यम्**=तेरे लिए **अधिब्रुवन्**=आधिक्येन उपदेश देनेवाले हों। उनके योग्य परामर्शों से तू सदा राज्यकार्यों को ठीक से करनेवाला हो।

भावार्थ—राजा तेजस्वी, कार्याकार्य विभाग को समझनेवाला व शत्रुओं का संहार करनेवाला हो। मित्रों का वर्धन करनेवाला यह राजा उत्कृष्ट ज्ञानी पुरुषों से उचित परामर्शों को प्राप्त करता रहे।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**राज्याभिषेकः, आपः (मन्त्रोक्ता राजादयः)** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

श्रियं वसानः

आतिष्ठन्तं परि विश्वे अभूषं छ्रियं वसानश्चरति स्वरोचिः।
महत्तद् वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ॥ ३॥

१. **आतिष्ठन्तम्**=सिंहासन पर आरूढ़ होते हुए इस राजा को **विश्वे**=सब **परि-अभूषन्**=चारों ओर से सेवित करनेवाले हों (परित: भवन्तु, वर्त्तन्ताम्, सेवन्ताम्)। **श्रियं वसान:**=राज्यलक्ष्मी को धारण करता हुआ यह राजा **स्वरोचि:**=स्वायत्त दीप्तिवाला—तेजस्विता से चमकता हुआ **चरति**=राज्य का परिपालन करता है। २. इस **वृष्ण:**=प्रजा पर सुखों का सेचन करनेवाले **असुरस्य**=शत्रुओं का प्रक्षेपण करनेवाले इस राजा का **नाम**=यश **महत्**=महान् है। इसके नाम-श्रवण से ही शत्रु भयभीत होकर भाग उठते हैं। यह **विश्वरूप:**=शत्रु, मित्र, कलत्र आदि में नानाविध रूपवाला होता हुआ—सबके साथ तदनुरूप व्यवहार करता हुआ **अमृतानि**=अमृतत्व के प्रापक—राष्ट्र के अविनाश के साधनभूत—दण्ड युद्ध आदि कर्मों को **आतस्थौ**=(आतिष्ठतु, आचरतु) स्थिरता से करता है।

भावार्थ—सिंहासनारूढ़ राजा का सब प्रजावर्ग सेवन करता है। यह राजा दीप्तिवाला होता हुआ विचरता है। इसके नाम से ही शत्रु भयभीत हो जाते है। यह उपर्युक्त कामों को करता हुआ प्रजा को अमर बनाने का प्रयत्न करता है।

ऋषि:—**अथर्वाङ्गिरा:** ॥ देवता—**राज्याभिषेक:, आप: (मन्त्रोक्ता राजादय:)** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

प्रजाओं का प्रिय राजा

व्याघ्रो अधि वैयाघ्रे वि क्रमस्व दिशो महीः।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्त्वापो दिव्याः पयस्वतीः॥ ४॥

१. **वैयाघ्रे**=व्याघ्र-चर्म पर, व्याघ्र-चर्म से बने हुए सिंहासन पर **अधि**=अधिष्ठित हुआ-हुआ तू **व्याघ्र: (इव)**=व्याघ्र की भाँति दुष्प्रधर्ष होता हुआ **मही: दिश:**=प्राची आदि महान् दिशाओं में **विक्रमस्व**=विक्रम कर। विजय प्राप्त करनेवाला होकर अपने को इन दिशाओं में फैला। २. तेरी शासन की प्रणाली ऐंसी उत्तम हो कि **सर्वा: विश:**=सब प्रजाएँ **त्वा**=तुझे **वाञ्छन्तु**=चाहें तथा **दिव्या:**=अन्तरिक्ष से होनेवाले **पयस्वती:**=सारवाले, वर्धन के साधनभूत **आप:**=जल भी तुझे चाहें, अर्थात् तेरे राष्ट्र में अनावृष्टि न हो।

भावार्थ—राजा सिंहासन पर बैठकर चारों ओर विजय प्राप्त करे। यह प्रजाओं का प्रिय हो। इसके राष्ट्र में अनावृष्टि न हो।

ऋषि:—**अथर्वाङ्गिरा:** ॥ देवता—**राज्याभिषेक:, आप: (मन्त्रोक्ता राजादय:)** ॥
छन्द:—**विराट्प्रस्तारपङ्क्ति:** ॥

'दिव्यान्तरिक्ष व पार्थिव' जल

या आपो दिव्याः पयसा मदन्त्यन्तरिक्ष उत वा पृथिव्याम्।
तासां त्वा सर्वासामपामभि षिञ्चामि वर्चसा॥ ५॥

१. **दिव्या:**=द्युलोक में होनेवाले **या: आप:**=जो जल **पयसा**=अपने सारभूत रस से **मदन्ति**=प्राणियों को आनन्दित करते हैं और जो जल **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्षलोक में हैं, **उत वा**=अथवा **पृथिव्याम्**=पृथिवी में हैं **तासाम्**=उन **सर्वासाम्**=लोक-त्रय में अवस्थित सब **अपाम्**=जलों के **वर्चसा**=बलकर सार से **त्वा अभिषिञ्चामि**=तुझे अभिषिक्त करता हूँ। २. राज्याभिषेक के समय सब जलों को इकट्ठा करके उनसे राजा का अभिषेक करते हैं। इसप्रकार 'राजा का शासन कहाँ तक' है—यह सबको ज्ञात हो जाता है। राजा को भी राष्ट्र में सब जलों को प्राप्त करने का प्रयत्न करना है। राजा के 'ब्रह्मज्य' बनने पर ही अनावृष्टि आदि होती है। राजा राष्ट्र में शिक्षा आदि की सुव्यवस्था करता है तो इसप्रकार की आधिदैविक आपत्तियाँ नहीं

आर्ती।

भावार्थ—राज्याभिषेक के समय राजा को दिव्य, अन्तरिक्ष व पार्थिव—सब जलों से अभिषिक्त करते हुए प्रेरित करते हैं कि उसे इन सब जलों को प्राप्त करने का प्रयत्न करना है।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**राज्याभिषेकः, आपः (मन्त्रोक्ता राजादयः)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'प्रभु-प्रेरणा प्राप्त करनेवाला' राजा

अ॒भि त्वा॑ वर्च॑सासिच॒न्नापो॑ दि॒व्याः पय॑स्वतीः।
यथासो॑ मित्र॒वर्ध॑न॒स्तथा॑ त्वा सवि॒ता क॑रत्॥ ६॥

१. हे राजन्! **दिव्याः**=आकाश से होनेवाले **पयस्वतीः**=रसमय, व आप्यायन के हेतुभूत **आपः**=जलों ने **त्वा**=तुझे **वर्चसा**=रोग-निवारक शक्ति से **अभि असिचन्**=सर्वतः सिक्त किया है। २. अभिषिक्त होने पर **सविता**=वह प्रेरक प्रभु **त्वा**=तुझे **तथा करत्**=इसप्रकार बनाये—ऐसी क्षमता प्राप्त कराए कि **यथा**=जिससे तू **मित्रवर्धनः असः**=मित्रों का वर्धन करनेवाला हो।

भावार्थ—दिव्य जलों के तेज से अभिषिक्त होकर राजा शक्तिशाली बनता है। प्रभु की प्रेरणा के अनुसार कार्य करता हुआ यह मित्रों का वर्धन करनेवाला होता है।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**राज्याभिषेकः, आपः (मन्त्रोक्ता राजादयः)** ॥
छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

'व्याघ्र, सिंह, द्विपी'

ए॒ना व्या॒घ्रं प॑रिषस्वजा॒नाः सिं॒हं हि॑न्वन्ति मह॒ते सौभ॑गाय।
स॒मु॒द्रं न सु॒भुव॑स्तस्थि॒वांसं॑ मर्मृज्यन्ते॑ द्वी॒पिन॑म॒प्स्व॒१॒॑न्तः ॥ ७॥

१. **एनाः**=गतमन्त्र में वर्णित '**दिव्याः पयस्वती आपः**'=दिव्य पयस्वान् जल **व्याघ्रम्**=व्याघ्रवत् पराक्रमयुक्त **सिंहम्**=सहनशील व सिंह-तुल्य पराक्रमवाले राजा को **परिषस्वजानाः**=परितः आलिङ्गन करते हुए **हिन्वन्ति**=वीर्यप्रदान से प्रीणित करते हैं। ये जल **महते सौभगाय**=महान् सौभाग्य के लिए होते हैं, **समुद्रं न**=जिस प्रकार नदीरूप जल समुद्र को प्रीणित करते हैं, इसीप्रकार अभिषेक के साधनभूत जल राजा को प्रीणित करते हैं। २. **अप्सु अन्तः तस्थिवांसम्**=प्रजाओं में स्थित होनेवाले इस **द्वीपिनम्**=शार्दूल की भाँति अप्रधृष्ट राजा को **सुभुवः**=उत्तम स्थिति में होनेवाले सब प्रजाजन **मर्मृज्यन्ते**=अभिषेक द्वारा शुद्ध करनेवाले होते हैं। अभिषेक करते हुए वे राजा को यही प्रेरणा देते हैं कि जैसे जल बाह्य मलों का विध्वंस कर रहे हैं, इसीप्रकार तेरे अन्तःमलों का भी विध्वंस हो जाए।

भावार्थ—राजा को अभिषेक द्वारा यही प्रेरणा लेनी है कि वह अन्दर से भी उसी प्रकार पवित्र बने, जैसे ये जल उसे बाहर से पवित्र कर रहे हैं। राजा व्याघ्र, सिंह व द्वीपी के समान शत्रुओं को शीर्ण करनेवाला हो।

विशेष—राजा से रक्षित राष्ट्र में प्रजा अभ्युदय व निःश्रेयस को सिद्ध करने के लिए यत्नशील होती है, प्रभु का पूजन करती हुई तपोमय जीवन बिताती है। अगले सूक्त का ऋषि यह तपस्वी 'भृगु' ही है (भ्रस्ज पाके)। यह परमेश्वर को सम्पूर्ण संसार को गति देनेवाले के रूप में देखता है। यह 'आञ्जन' गति देनेवाला प्रभु ही इस सूक्त का देवता है।

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—त्रैककुदाञ्जनम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

जीवनाय परिधिः

एहि जीवं त्रायमाणं पर्वतस्यास्यक्ष्यम्। विश्वेभिर्देवैर्दत्तं परिधिर्जीवनाय कम् ॥ १ ॥

१. हे प्रभो! आप **त्रायमाणं जीवम्**=वासनाओं व रोगों के आक्रमण से अपनी रक्षा करनेवाले जीव को **एहि**=प्राप्त होओ। आप **पर्वतस्य**=अपना पूरण करनेवाले—अपनी न्यूनताओं को दूर करनेवाले पुरुष की **अक्ष्यम् असि**=उत्तम चक्षु हैं। हृदयस्थरूपेण आप ही उसे मार्ग-दर्शन कराते हैं। २. आप **विश्वेभिः देवैः दत्तम्**=सब दिव्य गुणों के द्वारा दिये गये **जीवनाय**=जीवन के लिए **परिधिः**=प्राकार हैं—मृत्यु को हम तक न पहुँचने देने के लिए आप परिधि होते हैं, इसप्रकार **कम्**=हमारे सुख का साधन बनते हैं। मृत्यु से बचाने के लिए प्रभु हमारे प्राकार बनते हैं, परन्तु प्रभु हमें प्राप्त तो तभी होते हैं जब हम दिव्य गुणों को धारण करने के लिए यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—प्रभु अपने रक्षण में प्रवृत्त पुरुष को प्राप्त होते हैं। अपना पूरण करनेवालों के ये मार्गदर्शक हैं। दिव्य गुणों को धारण करने से प्राप्त होते हैं। हमारे जीवन के लिए—मृत्यु को हम तक न आने देने के लिए ये प्राकार होते हैं।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—त्रैककुदाञ्जनम् ॥ छन्दः—ककुम्मत्यनुष्टुप् ॥

'परिपाण' प्रभु

परिपाणं पुरुषाणां परिपाणं गवामसि। अश्वानामर्वतां परिपाणाय तस्थिषे ॥ २ ॥

१. हे प्रभो! आप **पुरुषाणाम्**=पुरुषों के **परिपाणम्**=रक्षा करनेवाले हैं। **गवाम्**=अर्थों की गमक ज्ञानेन्द्रियों के **परिपाणम् असि**=रक्षक हैं। २. तथा **अर्वताम्**=शत्रुओं के संहारक **अश्वानाम्**=सतत कर्मों में व्याप्त (अश् व्याप्तौ) कर्मेन्द्रियों के **परिपाणाय**=रक्षण के लिए **तस्थिषे**=हमारे हृदयों में स्थित होते हैं।

भावार्थ—हृदयस्थ प्रभु हमारा सर्वतः रक्षण करते हैं। प्रभु हमारी ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को सुरक्षित करते हैं। वस्तुतः इनके रक्षण द्वारा ही वे हमारा रक्षण करते हैं।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—त्रैककुदाञ्जनम् ॥ छन्दः—पथ्यापङ्क्तिः ॥

यातुजम्भनम्

उतासि परिपाणं यातुजम्भनमाञ्जन।
उतामृतस्य त्वं वेत्थाथो असि जीवभोजनमथो हरितभेषजम् ॥ ३ ॥

१. हे **आञ्जन**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को गति देनेवाले प्रभो! आप **परिपाणम् असि**=सर्वतः रक्षा करनेवाले हैं, **उत**=और **यातुजम्भनम्**=यातनाओं (पीड़ाओं) के नष्ट करनेवाले हैं। २. **उत**=और **त्वम्**=आप ही **अमृतस्य**=अमृत का **वेत्थ**=ज्ञान रखते हैं। आपसे ही उपासक को अमृत (नीरोगता-प्राप्ति के साधनों) का ज्ञान होता है। इसप्रकार **अथो**=(अपि च) आप ही **जीवभोजनम्**=सब प्राणियों का पालन करनेवाले हैं। **अथो**=और आप ही **हरितभेषजम्**=पाण्डु आदि रोगों से जनित श्यामलत्व के निवर्तक हैं। प्रभु का स्मरण हमें नीरोग बनाकर दीप्ति प्राप्त कराता है।

भावार्थ—प्रभु रक्षिता हैं, पीड़ाओं के निवर्तक हैं, अमृत का ज्ञान देनेवाले हैं। वे हमारा पालन करते हैं और रोगों को दूर करते हैं।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—त्रैककुदाञ्जनम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप्।

प्रभु की भावना व नीरोगता

यस्याञ्जन प्रसर्पस्यङ्गमङ्गं परुष्परुः। ततो यक्ष्मं वि बाधस उग्रो मध्यमशीरिव॥ ४॥

१. हे **आञ्जन**=सारे ब्रह्माण्ड को गति देनेवाले प्रभो! **यस्य**=जिसके **अंगम् अंगम्**=एक-एक अंग में तथा **परुः परुः**=प्रत्येक पर्व में आप **प्रसर्पसि**=गतिवाले होते हो, अर्थात् जिसकी रग-रग में आप समा जाते हो **ततः**=उस पुरुष के शरीर से **यक्ष्मम्**=रोग को **विबाध से**=विशेषरूप से पीड़ित करते हो—उससे रोग को दूर कर देते हो। २. आप उस पुरुष के रोगों को पीड़ित करके इसप्रकार दूर कर देते हो **इव**=जैसेकि **उग्रः**=तेजस्वी, उद्‌गूर्ण बलवाला **मध्यमशीः**=राजमण्डल के मध्य में होनेवाला राजा पर्यन्तवर्ती शत्रुओं का निग्रह करता है। हृदयस्थप्रभु भी हमारे शरीर के सभी रोगों को विनष्ट करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—जब हम प्रभु की भावना से ओत-प्रोत हो जाते हैं तब प्रभु हमारे सब रोगों को विनष्ट कर देते हैं।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—त्रैककुदाञ्जनम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप्।

दुष्टता से दूर

नैनं प्राप्नोति शपथो न कृत्या नाभिशोचनम्।
नैनं विष्कन्धमश्नुते यस्त्वा बिभर्त्याञ्जन॥ ५॥

१. हे **आञ्जन**=ब्रह्माण्ड को गति देनेवाले प्रभो! **यः**=जो भी उपासक **त्वा बिभर्ति**=आपको धारण करता है—हृदय में आपका ध्यान करता है, **एनम्**=इसे **शपथः न प्राप्नोति**=परकृत शपथ प्राप्त नहीं होती, अर्थात् यह दूसरों से दी गई गालियों से मानस-सन्तुलन नहीं खो बैठता, **न कृत्या**=न ही इसे परकृत हिंसक कर्म (छेदन-भेदन) प्राप्त होता है, **न अभिशोचनम्**=और न ही इसे शोक प्राप्त होता है। २. **एनम्**=इस पुरुष को **विष्कन्धम्**=गति का प्रतिबन्धक कोई विघ्न भी **न अश्नुते**=नहीं व्यापता। यह उपासक अपनी जीवन-यात्रा में निर्विघ्नरूप से आगे-और-आगे बढ़ता जाता है। आनेवाले विघ्नों को यह प्रभु-शक्ति से पार कर जाता है।

भावार्थ—प्रभु का हृदय में धारण हमें क्रोध, हिंसन, शोक व विघ्नों का शिकार नहीं होने देता।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—त्रैककुदाञ्जनम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप्।

दुष्टता से दूर

असन्मन्त्राद्दुष्वप्न्याद्दुष्कृताच्छमलादुत।
दुर्हार्दश्चक्षुषो घोरात्तस्मान्नः पाह्याञ्जन॥ ६॥

१. हे **आञ्जन**=ब्रह्माण्ड को गति देनेवाले प्रभो! आप **असत् मन्त्रात्**=असत्य मन्त्रणा से—कुविचारों से **नः पाहि**=हमें बचाइए। हम कभी कुविचारों में न पड़ जाएँ। **दुष्वप्न्यात्**=अशुभ स्वप्नों के कारणभूत असन्मन्त्रों से हम सदा दूर रहें, अशुभ विचारों के कारण हमें बुरे स्वप्न ही न आते रहें। **उत**=और **शम् अलात्**=शान्ति का निवारण करनेवाले—सतत अशान्ति के कारणभूत **दुष्कृतात्**=दुष्कर्मों से हमें बचाइए। ३. **दुर्हार्दः**=दौर्मनस्य से तथा **घोरात् चक्षुसा**=क्रोधभरी आँख से **तस्मात्**=अनुक्रम से उन सबसे आप हमें बचाइए। हम कभी दौर्मनस्य से युक्त न हों। हमारी आँख कभी क्रोध को न उगल रही हो।

भावार्थ—प्रभु की उपासना हमें बुरे स्वप्नों के कारणभूत दुर्विचारों से बचाती है। यह उपासना ही हमें शान्ति के ध्वंसक दुष्कर्मों से दूर रखती है तथा इसी उपासना से हम दुष्ट हृदयता

व क्रोध-वर्षिणी आँखों से बचे रहते हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**त्रैककुदाञ्जनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**।

अश्व, गौ, आत्मा

इदं विद्वानाञ्जन सत्यं वक्ष्यामि नानृतम्। सनेयमश्वं गामहमात्मानं तव पूरुष॥ ७॥

१. हे **आञ्जन**=सम्पूर्ण संसार को व्यक्त करने व गति देनेवाले प्रभो! **विद्वान्**=आपकी महिमा को समझता हुआ मैं **इदं सत्यम्**=इस सत्य को ही **वक्ष्यामि**=बोलूँगा, **अनृतं न**=मैं कभी झूठ नहीं बोलूँगा। २. सदा सत्य बोलता हुआ मैं आपके अनुग्रह से **अश्वम्**=कर्मों में व्याप्ति-वाली कर्मेन्द्रियों को **सनेयम्**=प्राप्त करूँ। **अहम्**=मैं **गाम्**=अर्थों की गमक ज्ञानेन्द्रियों को प्राप्त करूँ तथा **तव**=आपका ही होता हुआ मैं हे **पूरुष**=ब्रह्माण्डरूप पुरी में शयन करनेवाले प्रभो! **आत्मानम्**=अपने को—आत्मस्वरूप को प्राप्त करूँ।

भावार्थ—प्रभु की महिमा को जानते हुए हम सदा सत्य ही बोलें और उत्तम ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को प्राप्त करके आत्मस्वरूप को पहचानें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**त्रैककुदाञ्जनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**।

पर्वतानाम् वर्षिष्ठः

त्रयो दासा आञ्जनस्य तक्मा बलास आदहिः।
वर्षिष्ठः पर्वतानां त्रिककुन्नाम ते पिता॥ ८॥

१. **आञ्जनस्य**=ब्रह्माण्ड को गति देनेवाले प्रभु के ये **त्रयः**=तीनों **दासाः**=(दस्यन्ते) दास हैं—क्षीण करने योग्य हैं, अर्थात् प्रभु-भक्त की ये तीन पीड़ित करनेवाले नहीं होते—(क) **तक्मा**=कष्टमय जीवन का कारण बननेवाला ज्वर (तकि कृच्छ्रजीवने), (ख) **बलासः**=(शरीरं बलम् अस्यति क्षिपतीति) शरीर के बल को नष्ट करनेवाला सन्निपात आदि रोग **आत्**=और (ग) **अहिः**=सर्पजन्य विष का विकार। प्रभु उपासना करने पर इन तीनों का भय नहीं रहता। २. **पर्वतानाम्**=अपना पूरण करनेवालों में **वर्षिष्ठः**=सर्वश्रेष्ठ **त्रिककुत्**=ज्ञान, बल व ऐश्वर्य तीनों ही दृष्टिकोणों से शिखर पर स्थित—सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् व सर्वैश्वर्यसम्पन्न—इस **नाम**=नामवाले वे प्रभु हे उपासक! **ते पिता**=तेरे रक्षक हैं। प्रभु से रक्षित इस उपासक को भय कहाँ?

भावार्थ—प्रभु का उपासक ज्वर, सन्निपात रोग व सर्पदंश का शिकार नहीं होता। सब न्यूनताओं से रहित ज्ञान, बल व ऐश्वर्य के शिखर पर स्थित वे प्रभु इस उपासक के रक्षक हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**त्रैककुदाञ्जनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सब पीड़ाओं का अन्त

यदाञ्जनं त्रैककुदं जातं हिमवतस्परि।
यातूंश्च सर्वाञ्जम्भयत्सर्वाश्च यातुधान्यः॥ ९॥

१. **त्रैककुदम्**=ज्ञान, बल व ऐश्वर्यरूप तीन शिखरोंवाला—इन तीनों के दृष्टिकोण से शिखर पर स्थित **आञ्जनम्**=ब्रह्माण्ड को गति देनेवाला वह प्रभु **यत्**=जब **हिमवतः परि**=हिमवान् के उपरि भाग में **जातम्**=प्रादुर्भूत होते हैं **च**=तो **सर्वान् यातून्**=सब पीड़ाओं को **जम्भयत्**=नष्ट करता हुआ होता है **च**=और **सर्वाः**=सब **यातुधान्यः**=पीड़ाओं को आहित करनेवाली बीमारियों को वे प्रभु नष्ट करते हैं। २. शरीर में मेरुदण्ड (रीढ़ की हड्डी) ही मेरुपर्वत कहलाता है। इसके शिखर पर हिम के समान एक श्वेत पदार्थ है, अतः इसे हिमवान् कहा जाता है। प्राणसाधना करता हुआ पुरुष इस हिमवान् मेरुपर्वत के शिखर आठ चक्रों में से ऊपर-और-ऊपर इन प्राणों

का संयम करता है। मूलाधारचक्र से आरम्भ करके सहस्रारचक्र तक पहुँचता है। इस समय **'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा'** ऋतम्भरा (सत्य का भरण करनेवाली) प्रज्ञा का विकास होता है और यह साधक प्रभु के प्रकाश को देखता है। प्रभु का प्रकाश होने पर सब पीड़ाएँ समाप्त हो जाती हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा मेरुदण्ड के शिखर पर सहस्रारचक्र में प्राणनिरोध होने पर ऋतम्भरा प्रज्ञा का विकास होता है। इस समय प्रभु-दर्शन होकर सब पीड़ाओं का अन्त हो जाता है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**त्रैककुदाञ्जनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

त्रैककुदं+यामुनम्

यदि वासि त्रैककुदं यदि यामुनमुच्यसे।
उभे ते भद्रे नाम्नी ताभ्यां नः पाह्याञ्जन॥ १०॥

१. हे प्रभो! आप **यदि वा**=या तो **त्रैककुदम् असि**='ज्ञान, शक्ति व धन' तीनों के दृष्टिकोण से शिखर पर पहुँचे हुए हैं, अतः 'त्रैककुदम्' नामवाले हैं, **यदि**=अथवा **यामुनम्**=(यमुनायाः अपत्यम्) संयमवृत्ति से प्रादुर्भूत होनेवाले हैं। संयमी पुरुष के हृदय में आपका प्रादुर्भाव होता है, अतः 'यामुनम्' इस नाम से **उच्यसे**=कहे जाते हैं। २. **ते**=आपके ये **उभे**=दोनों **नाम्नी**=नाम (त्रैककुद और यामुन) **भद्रे**=कल्याणकर हैं। हे **आञ्जन**=हमारे जीवनों में सब गुणों का प्रकाश करनेवाले प्रभो! **ताभ्याम्**=उन दोनों नामों के द्वारा **नः पाहि**=आप हमारा रक्षण कीजिए। हम भी त्रैककुद बनने का प्रयत्न करें—ज्ञान, शक्ति व ऐश्वर्य के शिखर पर पहुँचने का प्रयत्न करें तथा यामुन बनें—यथाशक्तिसंयमी जीवनवाले हों।

भावार्थ—प्रभु को 'त्रैककुद व यामुन' नामों से स्मरण करते हुए हम जहाँ ज्ञान, शक्ति व ऐश्वर्य की प्राप्ति में आगे बढ़ें, वहाँ संयमी जीवनवाले हों।

विशेष—यह संयमी जीवनवाला पुरुष 'अथर्वा' (न डाँवाडोल) बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है। यह प्रभु को 'शंख' नाम से स्मरण करता है-'शम् ख' इन्द्रियों को शान्ति देनेवाला। यह कहता है कि—

१०. [दशमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**शङ्खमणिः, कृशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अंहसः पातु

वाताज्जातो अन्तरिक्षाद्विद्युतो ज्योतिषस्परि।
स नो हिरण्यजाः शङ्खः कृशनः पात्वंहसः॥ १॥

१. वह 'शंख' इन्द्रियों को शान्ति देनेवाला प्रभु **वातात् जातः**=वायु से प्रादुर्भूत होते हैं—निरन्तर गतिवाली इस वायु में प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर होती है। **अन्तरिक्षात्**=इस अन्तरिक्ष से वे प्रभु प्रकट होते हैं। लोक-लोकान्तरों से खचित यह अन्तरिक्ष प्रभु की महिमा को प्रकट करता है। **विद्युतः**=विद्युत् से प्रभु की महिमा का प्रकाश होता है और **ज्योतिषः परि**=इस देदीप्यमान सूर्यरूप ज्योति से प्रभु की महिमा का प्रकाश हो रहा है। २. **सः**=वे सर्वत्र प्रादुर्भाव महिमावाले प्रभु **नः**=हमारे लिए **हिरण्यजाः**=(हिरण्यं वै ज्योतिः) ज्योति को प्रादुर्भूत करनेवाले हैं, **शंखः**=ज्ञान के द्वारा इन्द्रियों के लिए शान्ति देनेवाले हैं, **कृशनः**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं के तनूकर्ता 'क्षीण करनेवाले' हैं। ये प्रभु हमें **अंहसः पातु**=पाप से बचाएँ।

भावार्थ—वायु, अन्तरिक्ष, विद्युत् व सूर्य-ज्योतियों में प्रभु की महिमा का प्रकाश हो

रहा है। ये प्रभु हमारे लिए ज्ञान का प्रादुर्भाव करते हैं, इन्द्रियों को शान्त करते हैं, काम-क्रोध आदि शत्रुओं को क्षीण करते हैं और हमें पापों से बचाते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**शङ्खमणिः, कृशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

रक्षो हनन व अत्रि-पराभव

यो अग्रतो रोचनानां समुद्रादधि जज्ञिषे। शङ्खेन हत्वा रक्षांस्यत्रिणो वि षहामहे ॥ २ ॥

१. **यः**=जो प्रभु **रोचनानाम् अग्रतः**=देदीप्यमान पदार्थों में सर्वाग्रणी हैं, वे प्रभु **समुद्रात् अधि जज्ञिषे**=(समुद्र) प्रसन्नता युक्त मन से प्रादुर्भूत होते हैं। मनःप्रसाद होने पर हृदय में प्रभु का प्रकाश होता है। प्रभु के प्रकाश से ही सब पिण्ड चमक रहे हैं—'**तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**' २. हृदय में प्रादुर्भूत हुए-हुए इस **शंखेन**=इन्द्रियों को शान्ति देनेवाले प्रभु से **रक्षांसि**=सब राक्षसी भावों को **हत्वा**=विनष्ट करके **अत्रिणः**=हमें खा जानेवाले रोगकृमियों को भी **विषहामहे**=विशेषेण अभिभूत करते हैं। रक्षोहनन द्वारा मानस स्वास्थ्य सिद्ध होता है और अत्रि-विध्वंस द्वारा शरीर नीरोग बनता है।

भावार्थ—प्रसन्न हृदय में उस ज्योतिर्मय प्रकाश को देखते हुए हम राक्षसी वृत्तियों का विध्वंस करके स्वस्थ मन बनें और रोगकृमियों का पराभव करते हुए हमारे शरीर स्वस्थ हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**शङ्खमणिः, कृशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रभु 'विश्वभेषज' हैं

शङ्खेनामीवाममतिं शङ्खेनोत सदान्वाः।
शङ्खो नो विश्वभेषजः कृशनः पात्वंहसः ॥ ३ ॥

१. **शङ्खेन**=इन्द्रियों की शान्ति देनेवाले प्रभु के द्वारा हम **अमीवाम्**=सब रोगों को अभिभूत करते हैं। अजितेन्द्रियता में ही खान-पान का संयम न रहने से रोग पनपते हैं। इस शङ्ख के द्वारा ही **अमतिम्**=सब अनर्थों के मूल अज्ञान को दूर करते हैं **उत**=और **शङ्खेन**=इन्द्रियों की शान्ति देनेवाले प्रभु की उपासना से ही **सदान्वाः**=(सदा नोनूयमानाः) सदा पीड़ित करनेवाली (रुलानेवाली) अलक्ष्मियों को दूर करते हैं। २. यह **शङ्खः**=इन्द्रियों को शान्ति देनेवाले प्रभु **नः**=हमारे लिए **विश्वभेषजः**=सब रोगों के औषध हैं, **कृशनः**=सब क्लेशों को क्षीण करनेवाले हैं। ये प्रभु हमें **अंहसः पातु**=पाप से रक्षित करें।

भावार्थ—प्रभु की उपासना हमें रोगों से बचाती है, हमारे अज्ञान को दूर करती है, अलक्ष्मी का विनाश करती है। प्रभु की उपासना सब रोगों का औषध है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**शङ्खमणिः, कृशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आयुष्प्रतरणो मणिः

दिवि जातः समुद्रजः सिन्धुतस्पर्याभृतः।
स नो हिरण्यजाः शङ्ख आयुष्प्रतरणो मणिः ॥ ४ ॥

१. **दिवि जातः**=ये प्रभु द्युलोक में प्रादुर्भूत होते हैं—द्युलोक में प्रभु की महिमा का प्रकाश होता है, **समुद्रजः**=वे प्रभु इन समुद्रों में प्रादुर्भूत होते हैं—इनमें प्रभु की महिमा का प्रकाश होता है, वे प्रभु **सिन्धुतः परि आभृतः**=नदियों से चारों ओर धारण किये जाते हैं। पूर्व से पश्चिम में, उत्तर से दक्षिण में—इसीप्रकार भिन्न-भिन्न दिशाओं में बहती हुई नदियाँ उस प्रभु की महिमा का गायन करती हैं। २. **सः**=वे प्रभु **नः**=हमारे लिए **हिरण्यजाः**=हितरमणीय ज्ञान-ज्योति को प्रादुर्भूत करनेवाले हैं, **शङ्खः**=शान्त वेदि के द्वारा इन्द्रियों की शान्ति देनेवाले हैं, शान्त इन्द्रियों

के द्वारा **आयुष्प्रतरणः**=आयुष्य का वर्धन करनेवाले हैं, **मणिः**=(मण=to sound) ये प्रभु ही हृदयस्थरूपेण कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान देनेवाले हैं, सदा हृदय-गुहा में धर्म की प्रेरणा देनेवाली वाणी का उच्चारण करनेवाले हैं।

भावार्थ—द्युलोक, समुद्र, नदियों में सर्वत्र प्रभु की महिमा का प्रकाश है। ये प्रभु ज्ञान देकर हमें शान्त इन्द्रियोंवाला बनाते हैं और इसप्रकार दीर्घजीवन देकर हृदयस्थरूपेण सदा धर्म की प्रेरणा देते रहते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**शङ्खमणिः, कृशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वृत्रात् जातः दिवाकरः

समुद्राज्जातो मणिर्वृत्राज्जातो दिवाकरः। सो अस्मान्त्सर्वतः पातु हेत्या देवासुरेभ्यः ॥ ५ ॥

१. **समुद्रात्**=अन्तरिक्ष से (समुद्रम्=अन्तरिक्षम्—निरु०) **जातः**=प्रादुर्भूत हुआ-हुआ (अन्तरिक्ष में सर्वत्र प्रभु की महिमा का प्रकाश होता ही है) अथवा (स+मुद्) प्रसादमय हृदयान्तरिक्ष में प्रकट हुआ-हुआ **मणिः**=धर्म की प्रेरणा देनेवाले प्रभु इसप्रकार देदीप्यमान होते हैं, जैसेकि **वृत्रात्**=आवरक मेघ से **जातः**=प्रादुर्भूत हुआ-हुआ **दिवाकरः**=सूर्य। मेघ के आवरण के हटने पर जैसे सूर्य चमक उठता है, उसी प्रकार वासना के आवरण के हटने पर हृदय में प्रभु का प्रकाश चमक उठता है। २. **सः**=वह प्रभु **अस्मान्**=हमें **सर्वतः पातु**=सब ओर से रक्षित करें। **हेत्या**=हनन की प्रवृत्तियों से वे प्रभु हमें बचाएँ। हम हिंसक वृत्तिवाले न बन जाएँ। **देवासुरेभ्यः**=(देवान् अस्यन्ति) दिव्यभावों को दूर फेंकनेवाले आसुरीभावों से भी वे प्रभु हमें बचाएँ। प्रभु से दूर होने पर जीवन में घात-पात की प्रवृत्तियाँ प्रबल हो उठती हैं।

भावार्थ—प्रभु सूर्य के समान चमकते हैं। जब हृदय से वासना के मेघ का विलय हो जाता है तब प्रभु हमें पापों, हिंसाओं व आसुरी प्रवृत्तियों से बचाते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**शङ्खमणिः, कृशनः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

हिरण्यानाम् एकः

हिरण्यानामेकोऽसि सोमात्त्वमधि जज्ञिषे।
रथे त्वमसि दर्शत इषुधौ रोचनस्त्वं प्र ण आयूंषि तारिषत्॥ ६ ॥

१. हे प्रभो! आप **हिरण्यनाम्**=ज्योतिर्मय पदार्थों में **एकः असि**=अद्वितीय हैं। वस्तुतः सब ज्योतिर्मय पदार्थों को ज्योति आप ही प्राप्त कराते हैं। **सोमात्**=शरीर में सुरक्षित सोम से **त्वम्**=आप **अधिजज्ञिषे**=प्रादुर्भूत होते हैं—शरीर में सुरक्षित सोम ही आपके दर्शन का कारण बनता है। **रथे**=इस शरीर-रथ में **त्वम्**=आप **दर्शतः असि**=दर्शनीय हैं। प्रभु का दर्शन बाहर न होकर यहाँ अन्दर ही होता है। वह प्रभु **नः**=हमारे **आयूंषि**=आयुष्य को **प्रतारिषत्**=बढ़ाए—हमें दीर्घजीवी बनाए।

भावार्थ—उस सर्वतो दीप्तिमान प्रभु का प्रकाश वही देखता है जो शरीर में सोम का रक्षण करता है। वे प्रभु इस शरीर में ही दर्शनीय हैं। प्रेरणा को सुननेवालों में प्रदीप्त होते हैं, उसके अनुग्रह से हम दीर्घजीवी बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**शङ्खमणिः, कृशनः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदापरानुष्टुप्छक्वरी** ॥

आत्मन्वत्

देवानामस्थि कृशनं बभूव तदात्मन्वच्चरत्यप्स्व१न्तः। तत्ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय कार्शनस्त्वाभि रक्षतु॥ ७ ॥

१. **कृशनम्**=सब क्लेशों को क्षीण करनेवाला वह प्रभु **देवानाम्**=सब देवों के **अस्थि**=(अस्यति) मलों को दूर करनेवाला **बभूव**=है। वस्तुतः उसी ने इन्हें निर्मल बनाकर देवत्व प्राप्त कराया है। **तत्**=वह कृशन **आत्मन्वत्**=सब आत्माओंवाला है—सब आत्माओं का निवास उस प्रभु में ही है। वह **अप्सु अन्तः**=सब प्रजाओं के अन्दर **चरति**=विचरण करता है। वह सर्वभूतात्मा है। २. **तत्**=उस प्रभु को **ते बध्नामि**=मैं तेरे हृदय में बाँधता हूँ—तुझे सदा प्रभु का स्मरण रहे। यही मार्ग है **आयुषे**=दीर्घायुष्य की प्राप्ति के लिए, **वर्चसे**=रोगनिवारक शक्ति की प्राप्ति के लिए, **बलाय**=मानस बल प्राप्ति के लिए तथा **शतशारदाय दीर्घायुत्वाय**=सौ वर्ष के दीर्घजीवन के लिए। **कार्शनः**=वासनाओं को अतिशयेन क्षीण करनेवाला वह प्रभु **त्वा अभिरक्षतु**=तेरा रक्षण करे। प्रभु से रक्षित होकर ही हम पवित्र व दीर्घजीवन प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे जीवनों को निर्मल बनाकर हमें देवत्व प्राप्त कराते हैं। प्रभु हम सबकी आत्मा हैं। वे हम सबके अन्दर विचरण करते हैं। प्रभु ही हमें पवित्र व सबल दीर्घजीवन देते हैं।

विशेष—प्रभु के अनुग्रह से तपस्वी जीवनवाला 'भृगु' अगले सूक्त का ऋषि है। सबल शरीरवाला, अङ्ग-अङ्ग में रसवाला यह 'अङ्गिराः' है। यह प्रभु को संसार-शकट को वहन करनेवाले अनड्वान् के रूप में देखता है।

११. [एकादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**अनड्वान् इन्द्ररूपः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

सर्वाधार, सर्वव्यापक

अनड्वान्दाधार पृथिवीमुत द्यामनड्वान्दाधारोर्वन्तरिक्षम्।
अनड्वान्दाधार प्रदिशः षडुर्वीरनड्वान्विश्वं भुवनमा विवेश॥ १ ॥

१. **अनड्वान्**=संसार-शकट का वहन करनेवाले प्रभु **पृथिवीम्**=पृथिवीलोक को **उत**=और **द्याम्**=द्युलोक को **दाधार**=धारण कर रहे हैं। ये **अनड्वान्**=संसार-शकट के वाहक प्रभु ही **उरु अन्तरिक्षम्**=इस विशाल अन्तरिक्ष को **दाधार**=धारण करते हैं। २. **अनड्वान्**=ये प्रभु **प्रदिशः**=प्राची आदि प्रकृष्ट दिशाओं को **दाधार**=धारण करते हैं। **षट् उर्वीः**=प्रभु ही 'द्यौश्च पृथिवी च, अहश्च रात्रिश्च, आपश्चौषधयश्च' (आ० श्रौ० १.२.१) द्युलोक, पृथिवीलोक, दिन, रात, जल व ओषधियाँ—इन छह उर्वियों का धारण करते हैं। ये **अनड्वान्**=प्रभु ही **विश्वं भुवनम्**=सम्पूर्ण भुवन में **आविवेश**=व्यापक हो रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु सारे संसार का धारण कर रहे हैं और सारे भुवनों में व्यापक हो रहे हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**अनड्वान् इन्द्ररूपः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

सर्वद्रष्टा, विधाता

अनड्वानिन्द्रः स पशुभ्यो वि चष्टे त्रयां छक्रो वि मिमीते अध्वनः।
भूतं भविष्यद्भुवना दुहानः सर्वा देवानां चरति व्रतानि॥ २ ॥

१. **अनड्वान्**=यह संसार-शकट का वहन करनेवाला प्रभु **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली है। **सः**=वह **पशुभ्यः विचष्टे**=सब प्राणियों का ध्यान करता है (looks after)। वह **शक्रः**=सर्वशक्तिमान् प्रभु **त्रयान् अध्वनः**=तीन मार्गों को **विमिमीते**=निर्मित करता है। 'देवयान, पितृयान व जायस्व-म्रियस्व' नामक तीन ही मार्ग हैं, जिनसे यह संसार चलता है। निष्काम कर्मवाले देवयान मार्ग से जाते हैं, सकाम कर्मवाले पितृयान से तथा शास्त्रविरुद्ध कर्म करनेवाले व्यक्ति 'जायस्व-

म्रियस्व मार्गवाले होते हैं। २. यह अनड्वान् प्रभु' **भूतम्**=भूतकाल में **भविष्यत्**=भविष्यकाल में तथा **भुवना**=वर्त्तमान में होनेवाले सब पदार्थों का **दुहानः**=प्रपूरण करता हुआ **देवानाम्**=देवों के **सर्वा व्रतानि**=सब व्रतों को **चरति**=पूरा करता है। सूर्यादि सब देवों के व्रतों का पालन वे प्रभु ही कर रहे हैं। उसी के शासन में ब्रह्माण्ड के सब पदार्थ गति कर रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु सभी प्राणियों का ध्यान करते हैं। प्रभु ने कर्मानुसार जीवों के तीन भाग किये हैं—(क) देवयान से जानेवाले, (ख) पितृयान से जानेवाले, (ग) 'जायस्व-म्रियस्व' की गतिवाले। सब लोकों का पूरण प्रभु ही करते हैं। सूर्यादि सब देव प्रभु के शासन में चल रहे हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**अनड्वान् इन्द्ररूपः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु-ज्ञान, अनासक्ति व मोक्ष

इन्द्रो जातो मनुष्ये॒ष्व॑न्तर्घ॒र्मस्त॒प्तश्च॑रति शोशु॑चानः।
सु॒प्र॒जाः सन्त्स उ॒दा॒रे न स॑र्ष॒द्यो ना॒श्नी॒याद॑न॒डुहो॑ वि॒जा॒नन्॥ ३ ॥

१. **इन्द्रः**=यह परमैश्वर्यशाली प्रभु **मनुष्येषु अन्तः जातः**=विचारशील मनुष्यों के हृदयों में प्रादुर्भूत होता है। **तप्तः घर्मः शोशुचानः**=(तप दीप्तौ) दीप्त सूर्य के समान चमकता हुआ यह प्रभु **चरति**=सब प्रजाओं में विचरण करता है। हृदय पर वासना के आवरण के कारण ही हम प्रभु को नहीं देख पाते। २. **यः**=जो **अनडुहः विजानन्**=संसार-शकट के सञ्चालक प्रभु को जानता हुआ **न अश्नीयात्**=प्रकृति के भोगों को भोगने में नहीं फँस जाता, **सः**=वह **सुप्रजाः सन्**=इस जीवन में उत्तम प्रजाओं—(सन्तानों व विकासों)-वाला होता हुआ **उदारे**=(उत् आरे) शरीर से आत्मा के बाहर होने पर **न सर्षत्**=फिर भटकता नहीं, अर्थात् जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होकर ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे हृदय-गगन में देदीप्यमान सूर्य की भाँति चमक रहे हैं। प्रभु को जानता हुआ जो भी मनुष्य प्रकृति के भोगों में नहीं फँसता वह इस जन्म में उत्तम शक्तियों के विकास व सन्तानोंवाला होता हुआ शरीर छूटने पर सुदीर्घकाल तक दुबारा शरीर नहीं लेता—मुक्त हो जाता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**अनड्वान् इन्द्ररूपः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

पुरस्तात् (आगे और आगे)

अ॒न॒ड्वान्दु॑हे सु॒कृ॒तस्य॑ लो॒क ऐनं॑ प्याययति॒ पव॑मानः पु॒रस्ता॑त्।
प॒र्जन्यो॒ धारा॑ म॒रुत॒ ऊधो॑ अस्य य॒ज्ञः पयो॒ दक्षि॑णा॒ दोहो॑ अस्य॥ ४॥

१. **अनड्वान्**=संसार-शकट का वहन करनेवाला वह प्रभु **एनम्**=इस उपासक को **सुकृतस्य लोके**=पुण्य के लोक में **दुहे**=प्रपूरित करता है। वह **पवमानः**=पवित्र करनेवाला प्रभु इसे **पुरस्तात् आप्याययति**=आगे और आगे बढ़ाता है। २. **पर्जन्यः**=परातृप्ति को पैदा करनेवाला मेघ ही **अस्य**=इस प्रभु की **धाराः**=धारण शक्तियाँ हैं। पर्जन्य से अन्न का सम्भव होकर सब प्रजाओं का धारण होता है। इस प्रभु के **मरुतः**=४९ भागों में विभक्त होकर कार्य करनेवाले प्राणप्रद वायु **ऊधः**=वहन सामर्थ्य के रूप में हैं। इन मरुतों के द्वारा प्रभु सम्पूर्ण संसार की प्रजाओं का वहन करते हैं। **अस्य यज्ञः**=इस प्रभु का पूजन व संगतिकरण **पयः**=दूध है—दूध के समान हमारा आप्यायन करनेवाला है और **दक्षिणा**=दान **दोहाः**=हमारा प्रपूरण करनेवाला है। प्रभु-प्रदत्त सब वस्तुएँ व शक्तियाँ हमारा पूरण करती हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें पुण्यलोक में प्राप्त कराते हैं, अर्थात् प्रकृति का उपासन अवनति का कारण है तो प्रभु का उपासन उन्नति का। हमें पवित्र करते हुए प्रभु आगे और आगे ले-चलते हैं। प्रभु पर्जन्य द्वारा प्रजाओं का धारण करते हैं, वायु द्वारा जीवनशक्ति का वहन करते हैं। प्रभु की पूजा हमारा आप्यायन करती है। प्रभु-प्रदत्त सब वस्तुएँ हमारा कल्याण करती हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**अनड्वान् इन्द्ररूपः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ईशिता न कि ईशितव्य

यस्य नेशे यज्ञपतिर्न यज्ञो नास्य दातेशे न प्रतिग्रहीता।
यो विश्वजिद्विश्वभृद्विश्वकर्मा घर्मं नो ब्रूत यतमश्चतुष्पात्॥ ५॥

१. प्रभु वे हैं **यस्य**=जिनका **यज्ञपतिः**=यज्ञों का करनेवाला व्यक्ति **न ईशे**=ईश नहीं बन पाता। यज्ञपति तो क्या **यज्ञः न**=साक्षात् यज्ञ भी प्रभु का ईश नहीं होता। **न अस्य**=न तो इसका **दाता ईशे**=दान देनेवाला ईश होता है, **न प्रतिग्रहीता**=न प्रतिग्रह करनेवाला (लेनेवाला) इसका ईश बनता है, अर्थात् सब यज्ञों व दानादि कर्मों के प्रभु ही ईश हैं, कोई भी प्रभु का ईश नहीं है। २. **यः**=जो **विश्वजित्**=सब धनों का विजय करनेवाले हैं, **विश्वभृत्**=सबका भरण करनेवाले हैं, **विश्वकर्मा**=सम्पूर्ण जगत् जिनका कर्म (रचना) है, वह **चतुष्पात्**=चारों दिशाओं में (सर्वत्र) गतिवाले **यतमः**=यज्जातीय—जिस स्वरूपवाले प्रभु हैं, उस **घर्मम्**=आदित्य के समान देदीप्यमान प्रभु को **नः ब्रूत**=हमें बताओ। विद्वान् योगी लोग उस प्रभु का हमारे लिए उपदेश करें।

भावार्थ—बड़े-से-बड़ा, पवित्र, धर्मात्मा पुरुष भी जिससे ईशितव्य होता है, उस 'विश्वजित्, विश्वभृत्, विश्वकर्मा, व्यापक' प्रभु का ज्ञानी लोग हमारे लिए उपदेश करें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**अनड्वान् इन्द्ररूपः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

घर्मस्य व्रतेन+तपसा

येन देवाः स्व१रारुरुहुर्हित्वा शरीरममृतस्य नाभिम्।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं घर्मस्य व्रतेन तपसा यशस्यवः॥ ६॥

१. **येन**=जिस **घर्मस्य व्रतेन**=देदीप्यमान सूर्य के व्रत से (स्वस्तिपन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव)—सूर्य के समान नियमित जीवन से तथा **तपसा**=तप के द्वारा **यशस्यवः**=यश की कामनावाले—यशस्वी जीवनवाले **देवाः**=देवपुरुष **स्वः आरुरुहः**=स्वर्ग का आरोहण करते हैं—प्रकाशमयलोक को प्राप्त करते हैं, २. हम भी **तेन**=उस व्रत व तप के द्वारा **शरीरं हित्वा**=इस शरीर को छोड़कर **अमृतस्य नाभिम्**=अमृत के केन्द्र उस प्रभु को **गेष्म**=जाएँ, **सुकृतस्य लोकम्**=पुण्य के लोक को प्राप्त करें।

भावार्थ—सूर्य के समान नियमित जीवन व तप के द्वारा यशस्वी जीवनवाले बनते हुए हम शरीर-त्याग के पश्चात् अमृत के केन्द्र प्रभु को प्राप्त करें—पुण्यलोक-भागी हों।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**अनड्वान् इन्द्ररूपः** ॥ छन्दः—**षट्पदाऽनुष्टुब्गर्भोपरिष्टाज्जगती-निचृच्छक्वरी** ॥

जीवन्मुक्त

इन्द्रो रूपेणाग्निर्वहेन प्रजापतिः परमेष्ठी विराट्।
विश्वानरे अक्रमत वैश्वानरे अक्रमतानडुह्यक्रमत। सो॒ऽदृंहयत सो॒ऽधारयत॥ ७॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति **रूपेण इन्द्रः**=रूप से इन्द्र के समान होता है—ब्रह्म की उपासना करता हुआ ब्रह्म-सा (ब्रह्म इव) हो जाता है। अग्नि में पड़कर

जैसे लोह-शलाका अग्नि-सी हो जाती है, इसीप्रकार यह ब्रह्म में स्थित होकर ब्रह्म-सा बन जाता है। यह **वहेन**=सब लोगों का वहन करने के द्वारा **अग्निः**=(अग्रणी) आगे ले-चलनेवाला होता है। ज्ञान व प्रेरणा देता हुआ सबकी उन्नति का साधक होता है, **प्रजापतिः**=सब प्रजाओं का रक्षक होता है। यही मानव जीवन की चरम उन्नति है, अतः यह **परमेष्ठी**=परम स्थान में स्थित है और **विराट्**=विशेष रूप से चमकता है। २. यह **विश्वानरे अक्रमत**=सब मनुष्यों में विचरता है—छोटे-से-छोटे से लेकर बड़े-से-बड़े तक सब पुरुषों के सम्पर्क में आता है। जो जिस स्थिति में है उसके प्रति वह उसी के अनुसार गतिवाला होकर उसे उन्हीं शब्दों में उपदेश करता है, जिन्हें कि वह समझ सके। इसी से उस व्यक्ति को 'तथा-गत' कहने लगते हैं। ३. सब मनुष्यों में विचरण करता हुआ यह **वैश्वानरे अक्रमत**=विश्व-नर-हितकारी कर्मों में प्रवृत्त होता है। इस वृत्ति को बनाये रखने के लिए **अनडुहि अक्रमत**=यह संसार-शकट के वाहक प्रभु में विचरता है। प्रभु में स्थित होने से यह काम-क्रोध के आक्रमण से बचा रहता है। **सः**=वे प्रभु ही इसे **अदृंहयत**=दृढ़ बनाते हैं, फिसलने नहीं देते। **सः अधारयत**=वस्तुतः प्रभु ही इसका धारण करते हैं और इसके द्वारा औरों का धारण करते हैं, इसे सदा लोकसंग्रहात्मक कर्मों में प्रवृत्त रखते हैं।

भावार्थ—प्रभु का उपासक प्रभु-जैसा ही हो जाता है। सब लोगों का धारण करता हुआ यह उन्हें आगे ले-चलता है। यह सबका नेतृत्व करता है, सबके भले के कार्यों को करता है, परमात्मा में विचरता है। प्रभु इसे दृढ़ बनाते हैं व इसके द्वारा सभी का धारण कराते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**अनड्वान् इन्द्ररूपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रभु के एक देश में

मध्यमेतदनडुहो यत्रैष वह आहितः। एतावदस्य प्राचीनं यावान्प्रत्यङ् समाहितः ॥ ८ ॥

१. इस संसार-शकट का वहन करनेवाले वे प्रभु 'अनड्वान्' हैं। उस अनड्वान् पर ही इस सारे ब्रह्माण्ड का बोझ रखा है, परन्तु यह सब उसके एक देश में ही है। पुरुषसूक्त में कहा है—'**पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि**'। यहाँ कहते हैं कि **एतत्**=यह **अनडुहः**=इस अनड्वान् प्रभु का **मध्यम्**=मध्य भाग है, **यत्र**=जहाँ कि **एषः**=यह **वहः**=सारे संसार का बोझ **आहितः**=स्थापित है। प्रभु ने अपने एक देश में सारे ब्रह्माण्ड को धारण किया हुआ है। २. **एतावत्**=इतना ही **अस्य**=इस अनड्वान् का **प्राचीनम्**=प्राग्भाग है **यावान्**=जितना कि **प्रत्यङ्**=प्रत्यग्भाग **समाहितः**=सम्यक् निवर्तित हुआ है—बना है। इधर उस अनड्वान् का पूर्वभाग है, उधर प्राग्भाग है, मध्य में यह सारा ब्रह्माण्ड रक्खा हुआ है।

भावार्थ—प्रभु अनन्त व्याप्तिवाले हैं। यह सारा ब्रह्माण्ड प्रभु के एक देश में है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**अनड्वान् इन्द्ररूपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सप्त दोह

यो वेदानडुहो दोहान्त्सप्तानुपदस्वतः।
प्रजां च लोकं चाप्नोति तथा सप्तऋषयो विदुः ॥ ९ ॥

१. प्रभु ने गायत्री आदि सात छन्दों में यह वेदज्ञान दिया है, अतः ये सात ज्ञान के दोह कहलाते हैं। वेद धेनु है, उसके ये सात ज्ञान-दुग्धप्रपूरण हैं। **यः**=जो **अनडुहः**=संसार-शकट के सञ्चालक प्रभु के **सप्त**=सात **अनुपदस्वतः**=कभी क्षीण न होनेवाले **दोहान्**=ज्ञानप्रपूर्तियों को **वेद**=जानता है, वह **प्रजां च**=उत्तम सन्तान को व **लोकं च**=उत्तम लोक को **आप्नोति**=प्राप्त

करता है। वेद के साथ ज्ञान-प्रवाहों के अनुसार जीवन-यात्रा में चलता हुआ व्यक्ति उत्तम गति
को प्राप्त करता है। २. सृष्टि के प्रारम्भ में होनेवाले **सप्तऋषयः**=विश्वामित्र, जमदग्नि, भरद्वाज,
गौतम, अत्रि, वसिष्ठ व कश्यप **तथा**=ठीक उस रूप में इन सात ज्ञानदोहों को **विदुः**=जानते हैं।
'अग्नि, वायु, आदित्य व अङ्गिरा' से इन ज्ञानों को प्राप्त करके ये अगलों को वेद-ज्ञान दिया
करते हैं। प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में ये सात दोह प्रादुर्भूत होते हैं। सृष्टि की समाप्ति पर ये
परमात्मज्ञान में रहते हैं। इनका प्रादुर्भाव व तिरोभाव होता रहता है, परन्तु ये कभी नष्ट नहीं
होते।

भावार्थ—प्रभु सात छन्दों में सात ज्ञान-प्रवाहों को प्राप्त कराते हैं। इन्हें प्राप्त करनेवाला
व्यक्ति उत्तम सन्तान व उत्तम लोक को प्राप्त करता है। सृष्टि के आरम्भ में इन्हें ऋषि अग्नि आदि
से प्राप्त करते हैं। वे इस ज्ञान को आगे और आगे प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**अनड्वान् इन्द्ररूपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अनड्वान् कीनाशः च

पद्भिः सेदिमवक्रामन्निरां जङ्घाभिरुत्खिदन्।
श्रमेणानड्वान्कीलालं कीनाशश्चाभि गच्छतः ॥ १० ॥

१. एक किसान बैलों द्वारा हल चलाता हुआ भूमि जोतता है, उस समय **पद्भिः**=अपने
चारों पाँवों से **सेदिम्**=अवसान-(विनाश)-कारी अलक्ष्मी को **अवक्रामन्**=पाँवों तले रोंदता हुआ
इराम्=भूमि को **जङ्घाभिः**=जाँघों से कर्षण द्वारा **उत्खिदत्**=उद्भिन्न करता हुआ यह **अनड्वान्**=बैल
कीनाशः च=और किसान **श्रमेण**=श्रम के द्वारा **कीलालम्**=अन्न को **अभिगच्छतः**=प्राप्त होते
हैं। प्रभु श्रम करने पर ही अन्न प्राप्त कराते हैं। जैसे बैल के द्वारा श्रम होने पर ही किसान अन्न
पाता है, इसीप्रकार 'प्रभु बिना श्रम के हमें खिलाते रहेंगे' ऐसी बात नहीं है।

भावार्थ—श्रम करनेवाले के योगक्षेम को प्रभु अवश्य चलाते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**अनड्वान् इन्द्ररूपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

बारह रात्रियाँ

द्वादश वा एता रात्रीर्व्रत्या आहुः प्रजापतेः।
तत्रोप ब्रह्म यो वेद तद्वा अनडुहो व्रतम् ॥ ११ ॥

१. वैदिक साहित्य में 'रात्रि' अन्धकार का प्रतीक है, 'दिन' प्रकाश का। दिन का
करनेवाला सूर्य 'ज्ञानसूर्य' का प्रतीक है। बृहस्पति को 'द्वादशार्चि' अथवा 'द्वादशांशु' कहते हैं,
अर्थात् जिसकी 'दसों इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' ये बारह-के-बारह प्रकाशमय हो गये हैं। जब तक
मनुष्य के ये बारह-के-बारह प्रकाशमय न हो जाएँ जब तक व्रतमय जीवन बिताते हुए इन्हें
उज्ज्वल करने का प्रयत्न करना है। मन्त्र में कहते हैं कि **एताः**=इन **द्वादश**=बारह **रात्रीः**=रात्रियों
को **वा**=निश्चय से **प्रजापतेः व्रत्याः**=प्रजापति के व्रतवाला **आहुः**=कहते हैं। प्रजापति ही ब्रह्मा
हैं। 'इनके व्रतवाला' का भाव यह है कि ब्रह्मा की भाँति चारों वेदों का विद्वान् बनना—मन,
बुद्धि व इन्द्रियों को एकमात्र ज्ञान-प्राप्ति के व्रत में लगाना। २. **तत्र**=वहाँ-उन बारह रात्रियों में
यः=जो **ब्रह्म**=ज्ञान को **उपवेद**=आचार्य के समीप रहकर प्राप्त करता है **तत्**=वह **वा**=निश्चय
से **अनडुहः व्रतम्**=उस संसार-सञ्चालक प्रभु का (प्रभु-सम्बद्ध) व्रत हो जाता है।

भावार्थ—हमें 'प्रभु के व्रत' का पालन करते हुए 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि को प्रकाशमय
बनाना चाहिए।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**अनड्वान् इन्द्ररूपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रातः, सायं व मध्यन्दिन में दोहन

दुहे सायं दुहे प्रातर्दुहे मध्यन्दिनं परि।
दोहा ये अस्य संयन्ति तान्विद्मानुपदस्वतः॥ १२॥

१. प्रभु ने जो वेदधेनु दी है मैं उसका **सायं दुहे**=सायं दोहन करता हूँ, **प्रातः दुहे**=प्रातः उसका दोहन करता हूँ, **मध्यन्दिनं परिदुहे**=मध्याह्न में उसका दोहन करता हूँ। प्रातः, सायं व मध्याह्न में—जब भी समय मिले इस वेदधेनु का दोहन आवश्यक है। २. **अस्य**=इस संसार-सञ्चालक प्रभु के **ये**=जो **दोहाः**=ज्ञानदुग्ध के प्रपूरण **संयन्ति**=हमें सम्यक् प्राप्त होते हैं, **तान्**=उन **अनुपदस्वतः**=न क्षय होने देनेवाले दोहों को हम **विद्म**=जानते हैं। ये ज्ञानदुग्ध के दोह हमें विनाश से बचाते हैं।

भावार्थ—हम प्रातः, सायं व मध्याह्न में समय मिलने पर सदा वेदधेनु का दोहन करें। इसके द्वारा प्राप्त ज्ञानदुग्ध हमें विनष्ट न होने देगा।

विशेष—अगले सूक्त में इस वेदज्ञान से खूब दीप्त होनेवाले 'ऋभु' (उरु भाति) का उल्लेख है। यह इस ज्ञान द्वारा ज्ञात रोहणी ओषधि के प्रयोग से छिन्न अस्थि आदि को ठीक करके शरीर-रथ को जीवन-यात्रा के लिए उपयुक्त बनाता है—

१२. [द्वादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ऋभुः** ॥ देवता—**रोहणी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिपदागायत्री** ॥

रोहणी

रोहण्यसि रोहण्यस्थ्नश्छिन्नस्य रोहणी। रोहयेदमरुन्धति॥ १॥

१. **रोहणी असि**=हे ओषधे! तू रोहणी है—घाव को भर देनेवाली है। **छिन्नस्य अस्थ्नः**=टूटी हुई हड्डी को भी **रोहणी**=पूर्ण कर देनेवाली है। २. हे **अरुन्धति**=दूसरों से अभिभूत न होनेवाली अथवा आरोधनशील—घाव भरने की प्रगति को ठीक से चालू रखनेवाली रोहणि! तू **इदं रोहय**=इस भग्न व स्रुत-रक्त अङ्ग को प्ररूढ़ कर दे—फिर से ठीक-ठीक कर दे, इसे अव्रण बना दे।

भावार्थ—हम रोहणी ओषधि के प्रयोग से भग्न अस्थि को भी फिर से ठीक करके शरीर-अस्थि को ठीक करनेवाले हों।

ऋषिः—**ऋभुः** ॥ देवता—**रोहणी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

रिष्टं, द्युत्तं, पेष्ट्रम्

यत्ते रिष्टं यत्ते द्युत्तमस्ति पेष्ट्रं त आत्मनि।
धाता तद्भद्रया पुनः सं दधत्परुषा परुः॥ २॥

१. हे शस्त्र आदि से अभिहत पुरुष! **यत्**=जो **ते**=तेरा अङ्ग **रिष्टम्**=हिंसित है, **यत्**=जो **ते**=तेरा अङ्ग **द्युत्तम्**=(द्योतितम्) शस्त्र-प्रहार से प्रज्वलित-सा **अस्ति**=है और **पेष्ट्रम्**=मुद्गर आदि के प्रहार से **ते**=तेरे **आत्मनि**=शरीर में जो छित-सा गया है, **धाता**=जगत् का विधाता देव **तत्**=उन सब अङ्गों को **भद्रया**=इस कल्याणकारक ओषधि से **पुनः सन्दधत्**=फिर जोड़ दे। २. इस ओषधि के प्रयोग से **परुषा परुः**=जोड़-से-जोड़ को संयुक्त कर दे। अस्थिभ्रंश आदि को इस ओषधि के प्रयोग से ठीक किया जा सकता है।

भावार्थ—रोहणी ओषधि के प्रयोग से घावों, प्रज्वलित वेदनाओं तथा पिस जाने आदि विकारों को दूर करके जोड़ों को ठीक से संयुक्त किया जा सकता है।

ऋषिः—**ऋभुः** ॥ देवता—**रोहणी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विस्त्रस्त मांस का फिर से ठीक हो जाना

सं ते॑ मज्जा म॒ज्ज्ञा भ॑वतु॒ समु॑ ते॒ परु॑षा॒ परुः॑।
सं ते॑ मां॒सस्य॒ विस्र॑स्तं॒ सम॒स्थ्यपि॑ रोहतु॥ ३॥

१. हे प्रहृत (घायल) व्यक्ति! **ते मज्जा**=तेरे शरीर में स्थित यह मज्जा नामक धातु **मज्ज्ञा संभवतु**=मज्जा के साथ संयुक्त हो जाए **उ**=और **परुषा**=तेरे पर्व (जोड़) के साथ **परुः**=पर्व **सम्**=जुड़ जाए। २. **ते**=तेरे **मांसस्य**=मांस का जो **विस्त्रस्तम्**=भ्रंश है, वह भी पुनः **रोहतु**=उत्पन्न हो जाए। भ्रष्ट हुआ-हुआ मांस फिर से ठीक हो जाए। **अस्थि अपि**=हड्डी भी **सम्**=सम्यक् प्ररूढ़ व संहित हो जाए।

भावार्थ—रोहणी के प्रयोग से सब व्रण व घाव ठीक हो जाएँ जोकि अस्त्र आदि के आघात से मज्जा, परु, मांस, अस्थि में उत्पन्न हो गया है।

ऋषिः—**ऋभुः** ॥ देवता—**रोहणी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मज्जा व चर्म आदि का सन्धान

म॒ज्जा म॒ज्ज्ञा सं धी॑यतां॒ चर्म॑णा॒ चर्म॑ रोहतु।
असृ॑क्ते॒ अस्थि॑ रोहतु मां॒सं मां॒सेन॑ रोहतु॥ ४॥

१. तेरी **मज्जा**=मज्जा नामक षष्ठ धातु (रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, वीर्य) **मज्ज्ञा**=मज्जा (Marrow) नामक धातु से **सन्धीयताम्**=संहित हो जाए—मज्जा मज्जा के साथ जुड़ जाए। **चर्मणा**=चमड़े के साथ **चर्म**=चमड़ा **रोहतु**=प्ररूढ़ हो जाए, अर्थात् जुड़ जाए। २. रुधिर **असृक्**=रुधिर से मेलवाला हो जाए। इसीप्रकार **ते अस्थि**=तेरी हड्डी **रोहतु**=हड्डी से जुड़ जाए और **मांसं मांसेन रोहतु**=मांस बढ़कर मांस से मिल जाए।

भावार्थ—रोहणी के प्रयोग से मज्जा मज्जा के साथ, चर्म चर्म के साथ, रुधिर रुधिर के साथ, हड्डी हड्डी के साथ तथा मांस मांस के साथ संयुक्त हो जाए।

ऋषिः—**ऋभुः** ॥ देवता—**रोहणी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

छिन्न अंगों का सन्धान

लोम॒ लोम्ना॒ सं क॑ल्पया त्व॒चा सं क॑ल्पया॒ त्वच॑म्।
असृ॑क्ते॒ अस्थि॑ रोहतु॒ छिन्नं॒ सं धे॑ह्योषधे॥ ५॥

१. हे **ओषधे**=ओषधे! तू शरीरस्थ **लोम**=बाल को जोकि प्रहार से विश्लिष्ट (पृथक्) हो गया है **लोम्ना**=अन्य बालों से **संकल्पय**=संक्लृप्त, अर्थात् पुनः स्थानगत कर दे। उसी प्रकार **त्वचम्**=त्वचा को **त्वचा**=पृथक् हुई त्वचा से **संकल्पय**=संक्लृप्त व मिला हुआ कर दे। २. **ते**=तेरा **असृक्**=रुधिर जोकि अस्थियों के समीप से पृथक् हो गया है वह फिर से **अस्थि रोहतु**=तेरी अस्थियों को प्राप्त हो जाए। इसीप्रकार और भी **छिन्नम्**=जो-जो अङ्ग छिन्न हुआ है, उन सबको **सन्धेहि**=संश्लिष्ट व कार्यक्षम कर दे।

भावार्थ—रोहणी के प्रयोग से आघात से उत्पन्न हुए-हुए लोमों व त्वचा के विकार दूर हो जाएँ तथा सब छिन्न अङ्ग फिर से ठीक होकर कार्यक्षम हो जाएँ।

ऋषिः—ऋभुः ॥ देवता—रोहणी वनस्पतिः ॥ छन्दः—त्रिपदायवमध्याभुरिग्गायत्री ॥

'सुचक्र, सुपवि, सुनाभि' रथ

स उत्तिष्ठ प्रेहि प्र द्रव रथः सुचक्रः सुपविः सुनाभिः। प्रति तिष्ठोर्ध्वः॥ ६॥

१. हे घायल पुरुष! **सः**=वह तू ओषधि-प्रयोग से संहितगात्र हुआ-हुआ **उत्तिष्ठ**=उठ खड़ा हो, **प्रेहि**=प्रकर्षेण इधर-उधर जानेवाला हो **प्रद्रव**=वेग से जानेवाला हो। २. तेरा यह **रथः**=शरीर-रथ अब **सुचक्रः**=उत्तम हाथ-पाँव आदि अङ्गोंवाला हो गया है, **सुपविः**=उत्तम नेमि व चक्रधारावाला यह शरीर-रथ है, **सुनाभिः**=उत्तम नाभिवाला है। इसप्रकार अब तू सुदृढ़ अङ्गोंवाला हुआ-हुआ **ऊर्ध्वः**=उत्थित हुआ-हुआ **प्रतितिष्ठ**=अपने कार्यों के लिए प्रतिष्ठित हो।

भावार्थ—रोहणी के प्रयोग से स्वस्थ व सुदृढ़ अङ्गोंवाला हुआ-हुआ यह पुरुष अपने कार्यों में व्यापृत हो जाए।

ऋषिः—ऋभुः ॥ देवता—रोहणी वनस्पतिः ॥ छन्दः—बृहती ॥

सब रथाङ्गों का ठीक होना

यदि कर्तं पतित्वा संशश्रे यदि वाश्मा प्रहृतो जघान।
ऋभू रथस्येवाङ्गानि सं दधत्परुषा परुः॥ ७॥

१. **यदि कर्तम्**=यदि किसी छेदक आयुध ने **पतित्वा**=गिरकर **संशश्रे**=हिंसित किया है, **यदि वा**=अथवा किसी के द्वारा **अश्मा**=पाषाण (पत्थर) **प्रहृतः**=फेंका हुआ **जघान**=पुरुष को हिंसित करता है तो इस रोहणी औषध का सामर्थ्य **परुः**=पर्व को **परुषा**=दूसरे पर्व से **सन्दधत्**=संहित कर दे—फिर से घाव को ठीक करके सब पर्वों को ठीक से संश्लिष्ट कर दे। २. यह ओषधि सब अङ्गों को इसप्रकार संश्लिष्ट कर दे **इव**=जैसेकि **ऋभुः**=ज्ञानी शिल्पी **रथस्य अंगानि**=रथ के अंगों को संश्लिष्ट कर देता है। संश्लिष्ट (जुड़ा) हुआ रथ ठीक गतिवाला होता है, इसीप्रकार यह आहत पुरुष भी अब संश्लिष्ट-अङ्ग होकर कार्यों में शीघ्रता से गतिवाला हो।

भावार्थ—यदि किसी आयुध या पत्थर से घाव हो गया है तो यह रोहणी ओषधि उसे ठीक कर दे। इसके प्रयोग से ठीक हुआ-हुआ शरीर-रथ अपने कार्यों में व्याप्त हो।

विशेष—नीरोग हुआ-हुआ यह पुरुष सब अङ्गों में शान्तिवाला हुआ-हुआ 'शन्ताति' कहलाता है। यह नीरोगता के लिए ही प्रार्थना करता हुआ कहता है—

१३. [त्रयोदशं सूक्तम्]

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—विश्वेदेवाः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

'स्वस्थ व निष्पाप' जीवन

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः। उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः॥ १॥

१. हे **देवाः**=आधि-व्याधियों पर विजय पाने की कामनावाले **देवाः**=विद्वान् पुरुषो! आप **अवहितम् उत**=रोगादि से नीचे पड़े हुए भी इस पुरुष को पुनः **उन्नयथ**=फिर से उन्नत कर देते हो। आप इसे फिर से उठा देते हो। २. **उत**=और हे **देवाः**=ज्ञान की ज्योतिवाले **देवाः**=ज्ञानी पुरुषो! आप **आगः चक्रुषम्**=पाप कर चुके हुए भी इस पुरुष की पापवृत्ति को दूर करके **पुनः**=फिर से **जीवयथ**=नवजीवन प्रदान करते हो।

भावार्थ—देवपुरुष हमारे रोगों व पापों को दूर करके हमें नया, स्वस्थ और निष्पाप जीवन प्रदान करें।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्राण+अपान

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः। दक्षं ते अन्य आवातु व्य१न्यो वातु यद्रपः॥ २॥

१. **इमौ**=ये **द्वौ वातौ**=प्राण और अपानरूप दो वायुएँ **वातः**=शरीर में सञ्चरण करती हैं। इनमें से एक प्राण तो **आसिन्धोः**=स्यन्दनशील स्वेद के अयनोंपर्यन्त गतिवाला होता है तथा दूसरा अपान **आपरावतः**=शरीर से बाहर बारह अंगुल परिमित स्थान तक संचारवाला होता है। २. इनमें **अन्यः**=एक प्राण **ते**=तेरे लिए **दक्षम् आवातु**=बल प्राप्त कराए और **अन्यः**=दूसरा अपान तेरा **यत् रपः**=जो पाप व दोष है, उसे **विवातु**=तुझसे दूर करे।

भावार्थ—शरीर में ठीक गति करता हुआ 'प्राण' बल का सञ्चार करे और 'अपान' शरीरस्थ दोषों को दूर करे।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दोष-निवारण

आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद्रपः। त्वं हि विश्वभेषज देवानां दूत ईयसे॥ ३॥

१. हे **वात**=प्राणवायो! तू **भेषजम्**=सर्वव्याधिनिवर्तक औषध को **आवाहि**=प्राप्त करा। हे **वात**=अपान वायो! **यत् रपः**=जो पाप व दोष व्याधि का निदान (कारण) है, उसे **विवाहि**=दूर कर। २. हे वायो! **त्वं हि**=तू ही **विश्वभेषज**=सब व्याधियों का निवर्तक है। तू **देवानाम्**=सब इन्द्रियों का **दूतः**=दूत की भाँति समीपवर्ती होता हुआ उनके पोषण के लिए **ईयसे**=सारे शरीर को व्याप्त करके गतिवाला होता है, अतः हे विश्वभेषज वात! तू इन इन्द्रियों को निर्दोष बना।

भावार्थ—हम प्राणापान की साधना करते हुए सब इन्द्रियों को निर्दोष, नीरोग व सबल बनाएँ।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देव+मरुद्गण—विश्वा भूतानि

त्रायन्तामिमं देवास्त्रायन्तां मरुतां गणाः।
त्रायन्तां विश्वा भूतानि यथायमरपा असत्॥ ४॥

१. **देवाः**=वाणी आदि इन्द्रियों के अधिष्ठातृभूत अग्नि आदि देव उस-उस इन्द्रिय की कार्यक्षमता देते हुए **इमम् त्रायन्ताम्**=इस पुरुष को रक्षित करें तथा **मरुतां गणाः**=देह में अवस्थित प्राण-अपान-व्यान आदि के गण इसे **त्रायन्ताम्**=रक्षित करें २. **विश्वा भूतानि**=शरीर का निर्माण करनेवाले पृथिवी आदि पाँचों भूत **त्रायन्ताम्**=इसका रक्षण करें, **यथा**=जिससे **अयम्**=यह पुरुष **अरपाः**=निष्पाप व निर्दोष शरीरवाला **असत्**=हो जाए।

भावार्थ—शरीर में अग्नि आदि देव तथा प्राण, अपान, व्यान आदि के गण ठीक से कार्य करते हुए हमारा रक्षण करें। पृथिवी आदि पाँचों भूत ठीक स्थिति में होते हुए हमारे शरीर को निर्दोष बनाएँ।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'शन्तातिः अरिष्टताति' भेषज

आ त्वागमं शन्तातिभिरथो अरिष्टतातिभिः।
दक्षं त उग्रमाभारिषं परा यक्ष्मं सुवामि ते॥ ५॥

१. वैद्य रोगी से कहता है कि मैं **त्वा**=तेरे समीप **शन्तातिभिः**=शान्ति का विस्तार करनेवाली (शं-कर) **अथो**=और **अरिष्टतातिभिः**=हिंसा न करनेवाली ओषधियों के साथ **आ अगमम्**=प्राप्त हुआ हूँ। २. मैं **ते**=तेरे लिए इनके ठीक विनियोग से **उग्रम्**=उद्गूर्ण—प्रबल **दक्षम्**=समृद्धिकर बल को **आभारिषम्**=लाया हूँ। बस, मैं शीघ्र ही **यक्ष्मम्**=रोग को **ते**=तुझसे **परा सुवामि**=दूर करता हूँ।

भावार्थ—वैद्य रोगी को रोगों को शान्त करनेवाली तथा हानिरहित औषधों का सेवन कराके सबल व नीरोग बनाता है।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शिवाभिमर्शन हस्त

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः। अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः ॥ ६ ॥

१. वैद्य रोगी से कहता है कि **अयं मे हस्तः**=यह मेरा बायाँ हाथ **भगवान्**=बड़ा भाग्यवाला है, **अयम्**=यह **मे**=मेरा दायाँ हाथ **भगवत्तरः**=अतिशयित भाग्ययुक्त है। २. **अयम्**=यह **मे**=मेरा बायाँ हाथ **विश्वभेषजः**=सब ओषधियों को लिये हुए है तथा **अयम्**=यह दायाँ तो **शिवाभिमर्शनः**=सुखकर स्पर्शवाला है—छूते ही कल्याण करनेवाला है।

भावार्थ—वैद्य रोगी को आश्वस्त व विश्वस्त करता हुआ कहता है कि मेरे हाथ बड़े भाग्यवाले हैं। ये तुझे ओषधि देते ही व छूते ही ठीक किये देते हैं।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अनामयित्नु हाथ

हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि ॥ ७ ॥

१. वैद्य जब रोगी की चिकित्सा करता है तब हाथों का प्रयोग तो करता ही है, परन्तु जिह्वा वाक् की पुरोगवी होती है, जिह्वा शब्दों के उच्चारण के लिए पहले व्यापृत होती है। हाथ से यदि वह उसे औषध देता है, तो वाणी से उसे उत्साह प्राप्त कराता है। **दशशाखाभ्यां हस्ताभ्याम्**=दश शाखाओंवाले हाथों के साथ **जिह्वा**=वागिन्द्रिय की अधिष्ठातृभूत रसना **वाचः**=शब्द को **पुरोगवी**=आगे ले-चलनेवाली होती है। शब्द के उच्चारण के लिए यह रसना व्यापृत होती है। २. वैद्य कहता है कि **अनामयित्नुभ्याम्**=आरोग्य के हेतुभूत **ताभ्यां हस्ताभ्याम्**=उन हाथों से **त्वा**=तुझे **अभिमृशामसि**=अभितः संस्पृष्ट करते हैं। यह हाथों का स्पर्श तुझे नीरोग बना देगा।

भावार्थ—वैद्य हाथों से रोगी की चिकित्सा करता हुआ वाणी से उसे उत्साहित करनेवाला हो, उसे यही कहे कि मेरे हाथ तुझे अभी स्वस्थ किये देते हैं। ये हाथ अनामयित्नु हैं।

विशेष—नीरोग बनकर यह व्यक्ति तपस्वी बनता है-'भृगु' (भ्रस्ज पाके)। भृगु बनकर ऊपर उठता हुआ यह ब्रह्म को प्राप्त करता है-

१४. [चतुर्दशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, आज्यम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

जनितृ-दर्शन

अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकात्सो अपश्यज्जनितारमग्रे।
तेन देवा देवतामग्र आयन्तेन रोहान्रुरुहुर्मेध्यासः ॥ १ ॥

१. **अग्नेः**=उस अग्रणी प्रभु के **शोकात्**=दीपन से (शुच to illuminate), प्रकाश से **हि**=ही **अजः अजनिष्टः**=जीवात्मा गति के द्वारा सब बुराइयों को परे फेंकनेवाला बनता है (अज् गतिक्षेपणयोः)। **सः**=यह बुराइयों को परे फेंकनेवाला जीव **जानितारम्**=उस उत्पादक प्रभु को **अग्रे**=सामने **अपश्यत्**=देखता है। २. यह परमात्मा को इस रूप में देखता है कि **तेन**=उस प्रभु से ही **देवाः**=सब देव **अग्रे**=सर्वप्रथम **देवताम्**=देवत्व को **आयन्**=प्राप्त होते हैं। सूर्यादि देवों को प्रभु ही दीप्ति प्राप्त कराते हैं। इसीप्रकार **मेध्यासः**=पवित्र जीवनवाले पुरुष **तेन**=उस प्रभु के द्वारा ही **रोहान् रुरुहुः**=उन्नति-शिखरों पर आरोहण करते है। बुद्धिमान् पुरुष प्रभु से ही बुद्धि प्राप्त करते हैं, बलवानों को वे प्रभु ही बल देते हैं।

भावार्थ—प्रभु के दीपन से जीव सब बुराइयों को दूर कर पाता है। अब यह प्रभु-दर्शन करता है और देखता है कि प्रभु से ही सूर्यादि सब देव देवत्व को प्राप्त होते हैं तथा सब पवित्र जीव प्रभु से ही उन्नति-शिखरों पर आरोहण कर पाते हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, आज्यम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यज्ञ व स्वर्ग

क्रमध्वमग्निना नाकमुख्यान्हस्तेषु बिभ्रतः।
दिवस्पृष्ठं स्व र्गत्वा मिश्रा देवेभिराध्वम्॥ २॥

१. **उख्यान्**=उखा (स्थाली, हाँडी) में पकाये जानेवाले अन्नों को **हस्तेषु बिभ्रतः**=हाथों में धारण करते हुए—अन्नदान करते हुए अथवा यज्ञों में इनका विनियोग करते हुए तुम **अग्निना**=उस अग्रणी प्रभु की सहायता से **नाकं क्रमध्वम्**=स्वर्ग की ओर गतिवाले होओ—यज्ञों के द्वारा स्वर्ग प्राप्त करो। २. **दिवः पृष्ठम्**=द्युलोक के पृष्ठ पर **स्वः गत्वा**=स्वर्गलोक को प्राप्त करके **देवेभिः मिश्राः**=देवो के सम्पर्क में आये हुए तुम **आध्वम्**=आसीन होओ।

भावार्थ—अन्नदान व अग्निहोत्र स्वर्ग-प्राप्ति के साधन हैं। ज्ञानियों के सम्पर्क में आसीन होना ही स्वर्ग है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, आज्यम्** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

स्वर्ज्योति की प्राप्ति

पृष्ठात्पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्।
दिवो नाकस्य पृष्ठात्स्व१र्ज्योतिरगामहम्॥ ३॥

१. **पृथिव्याः पृष्ठात्**=पृथिवी के पृष्ठ से **अहम्**=मैं **अन्तरिक्षम् आरुहम्**=अन्तरिक्षलोक में आरोहण करूँ। जब मनुष्य भोगों से ऊपर उठकर रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त होता है, तब वह अगला जन्म मर्त्यलोक में न लेकर अन्तरिक्षलोक—चन्द्रलोक में ही लेता है। चन्द्रलोकवासी व्यक्ति 'पितृ' संज्ञावाले होते हैं। २. **अन्तरिक्षात्**=अन्तरिक्ष से भी ऊपर उठकर मैं **दिवम् आरुहम्**=द्युलोक का आरोहण करूँ। ज्ञान-प्रधान जीवन बिताने पर देवयान से चलते हुए हम द्युलोक—सूर्यलोक में जन्म लेते हैं। यहाँ हमारा नाम देव हो जाता है। ३. यही स्वर्गलोक है। यहाँ दुःख नहीं, अतः इसे 'नाकम्' (न अकम् अस्मिन्) कहते हैं। इस **नाकस्य पृष्ठात्**=स्वर्ग के पृष्ठरूप **दिवः**=द्युलोक से भी ऊपर उठकर **अहम्**=मैं **स्वः ज्योतिः**=स्वयं देदीप्यमान ज्योति ब्रह्म को **अगाम**=प्राप्त होऊँ।

भावार्थ—'पृथिवी से अन्तरिक्ष में, अन्तरिक्ष से द्युलोक में, स्वर्गपृष्ठ द्युलोक से ब्रह्मलोक में'—यह है हमारा यात्रा-क्रम। इसे पूर्ण करते हुए हम ब्रह्म को प्राप्त हों।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, आज्यम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विश्वतोधार यज्ञ

स्व१र्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी।
यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे॥ ४॥

१. **स्वः यन्तः**=स्वयं देदीप्यमान ज्योति प्रभु की ओर जाते हुए **ये सुविद्वांसः**=जो उत्तम ज्ञानी पुरुष हैं, वे **न अपेक्षन्ते**=ऐहिक सुखों की—प्रजा, पशु, अन्न आदि भौतिक काम्य वस्तुओं की अपेक्षा नहीं करते। इन वस्तुओं की कामना से वे ऊपर उठ जाते हैं। वे तो पूर्वमन्त्र में वर्णित क्रम से **द्याम्**=अन्तरिक्ष का व **रोदसी**=द्यावापृथिवी का **आरोहन्ति**=आरोहण करते हैं। २. इस आरोहण के लिए ही ये **विश्वतोधारम्**=सबका धारण करनेवाले **यज्ञं वितेनिरे**=यज्ञ का विस्तार करते हैं। यह विश्वतोधार यज्ञ ही प्रभु-प्राप्ति का उपाय बनता है।

भावार्थ—हम ज्ञानी बनकर लौकिक वस्तुओं की कामना से ऊपर उठें और सबका धारण करनेवाले यज्ञों को करते हुए प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, आज्यम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'भृगुभिः सजोषाः' यजमानाः

अग्ने प्रेहि प्रथमो देवतानां चक्षुर्देवानामुत मानुषाणाम्।
इयक्षमाणा भृगुभिः सजोषाः स्व१र्यन्तु यजमानाः स्वस्ति॥ ५॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **प्रेहि**=आप हमें प्राप्त होओ—हम आपको प्राप्त कर सकें। आप ही **देवतानां प्रथमः**=सब देवों में प्रथम (मुख्य) हैं। आपसे ही तो सब देव देवत्व को प्राप्त करते हैं। आप **देवानां चक्षुः**=सूर्यादि सब ज्योतिर्मय पिण्डों के प्रकाशक हैं, **उत**=और **मानुषाणाम्**=विचारशील पुरुषों के लिए भी बुद्धिप्रदान द्वारा प्रकाश प्राप्त करानेवाले हैं—**'बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि'**। २. **इयक्षमाणाः**=यज्ञों की कामनावाले, **भृगुभिः सजोषाः**=ज्ञानपरिपक्व लोगों के साथ समानरूप से प्रीतिवाले **यजमानाः**=यज्ञशील पुरुष **स्वस्ति**=कल्याणपूर्वक **स्वः यन्तु**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योतिस्वरूप प्रभु को प्राप्त करें।

भावार्थ—प्रभु ही सब देवों के अग्रणी और सूर्यादि के प्रकाशक हैं, वे ही बुद्धिमानों की बुद्धि हैं। यज्ञ की कामनावाले, ज्ञानियों के सम्पर्क में रहनेवाले यज्ञशील पुरुष कल्याणपूर्वक प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, आज्यम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पयसा घृतेन

अजमनज्मि पयसा घृतेन दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तम्।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं स्व१रारोहन्तो अभि नाकमुत्तमम्॥ ६॥

१. **पयसा**=शक्तियों के आप्यायन के द्वारा तथा **घृतेन**=ज्ञानदीप्ति के द्वारा **अजम्**=गति के द्वारा सब बुराइयों को परे फेंकनेवाले प्रभु को **अनज्मि**=मैं प्राप्त होता हूँ। उस प्रभु को जो **दिव्यम्**=सदा ज्ञान के प्रकाश में निवासवाले हैं, **सुपर्णम्**=उत्तमता से हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं, **पयसम्**=आप्यान—वर्धन के कारण हैं, **बृहन्तम्**=स्वयं सदा बढ़े हुए हैं। २. **तेन**=उस प्रभु के द्वारा-प्रभु की उपासना द्वारा **सुकृतस्य लोकम्**=पुण्य के लोक को **गेष्म**=जाएँ। **स्वः आरोहन्तः**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति की ओर आरोहण करते हुए हम **उत्तमं नाकम्**=दुःख-संस्पर्शशून्य उत्तम लोक को **अभि**=लक्ष्य करके चलनेवाले हों। इसी नाकलोक से ऊपर उठकर हम प्रभु

को प्राप्त करेंगे।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति का मार्ग यही है कि हम इन्द्रियों की शक्ति का वर्धन करें और ज्ञान-प्राप्ति में लगे रहें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, आज्यम्** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

पञ्चौदन

पञ्चौदनं पञ्चभिरङ्गुलिभिर्दर्व्योद्धर पञ्चधैतमोदनम्।
प्राच्यां दिशि शिरो अजस्य धेहि दक्षिणायां दिशि दक्षिणं धेहि पार्श्वम्॥ ७॥

१. जैसे ओदन [भात] अंगुलियों व दर्वी (कड़छी) से निकाला जाता है, उसी प्रकार ज्ञान का ओदन (भोजन) भी अंगुलियों से (अगि गतौ), अर्थात् गतिशीलता से तथा दर्वी से अर्थात् (दृ विदारणे) वासनाओं के विदारण से उद्धृत हुआ करता है। पाँच ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त होनेवाला यह ओदन 'पञ्चौदन' कहलाता है। प्रभु जीव से कहते हैं कि तू **पञ्चभिः अंगुलिभिः**=पाँचों ज्ञानेन्द्रियों की सम्यग् गतियों के द्वारा तथा **दर्व्या**=वासना-विदारण के द्वारा **पञ्चधा**=पाँच भागों में बँटे हुए—'शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध' भेद से पाँच प्रकार के **एतं ओदनम्**=इस ज्ञान को जोकि 'आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी' रूप पाँचों भूतों का ज्ञान होने से **पञ्चौदनम्**=पञ्चौदन कहलता है, उस ज्ञान को **उद्धर**=कुएँ से पानी प्राप्त करने की भाँति आचार्यों से प्राप्त कर। २. ज्ञान को प्राप्त करता हुआ तू **अजस्य**=(अज गतिक्षेपणयोः) गति के द्वारा सब बुराइयों को परे फेंकनेवाले उस आत्मा के **शिरः**=शरीरस्थ सिर (मस्तिष्क) को **प्राच्यां दिशि धेहि**=प्राची दिशा में स्थापित कर। यह ज्ञान-प्राप्ति के कार्य में निरन्तर प्रगतिशील (प्र अञ्च) हो। मस्तिष्क का प्राची में स्थापन यही है कि यह ज्ञान-प्राप्ति में निरन्तर आगे और आगे बढ़ता चले। २. इस अज के **दक्षिणं पार्श्वम्**=दाहिने पासे को **दक्षिणायां दिशि**=दक्षिण दिशा में **धेहि**=स्थापित कर। इस अज के शरीर का यह दक्षिण हस्त कार्यों को दाक्षिण्य से करनेवाला हो। ज्ञानी पुरुष को कर्मों को कुशलता से करना ही शोभा देता है।

भावार्थ—पाँचों ज्ञानेन्द्रियों की ठीक गतियों व वासना-विनाश के द्वारा हम आचार्यों से पञ्चभूतात्मक संसार का ज्ञान प्राप्त करें। मस्तिष्क को ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग में निरन्तर गतिवाला बनाएँ तथा हमारा दक्षिण हस्त दाक्षिण्य से कर्म करनेवाला हो।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, आज्यम्** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाऽतिशक्वरी** ॥

'अज' का जीवन

प्रतीच्यां दिशि भसदमस्य धेह्युत्तरस्यां दिश्युत्तरं धेहि पार्श्वम्।
ऊर्ध्वायां दिश्य१जस्यानूकं धेहि दिशि ध्रुवायां धेहि पाजस्य१मन्तरिक्षे मध्यतो मध्यमस्य॥ ८॥

१. **अस्य**=इस अज के **भसदम्**=कटिप्रदेश (उपस्थ) को **प्रतीच्यां दिशि**=प्रतीची दिशा में **धेहि**=स्थापित कर, अर्थात् इसे भोगवृत्ति से (प्रति अञ्च्) प्रत्याहृत कर। **उत्तरं पार्श्वम्**=उत्तर पार्श्व को **उत्तरस्यां दिशि**=उत्तर दिशा में **धेहि**=स्थापित कर। शरीर में 'वामपार्श्व' को ही उत्तर पार्श्व कहा जाता है। यह 'वामपार्श्व' वाम, अर्थात् सुन्दर व उत्कृष्ट कार्यों को ही करनेवाला हो। २. **अजस्य**=गतिशीलता द्वारा वासनाओं को परे फेंकनेवाले इस अज की **अनूकम्**=पृष्ठवंश की अस्थि को (Spine, Backbone) **ऊर्ध्वायां दिशि धेहि**=ऊर्ध्व दिशा में स्थापित कर, अर्थात् इसे कभी झुकने न दे। पृष्ठवंश के सीधे रहने पर ही दीर्घजीवन निर्भर है। तू **पाजस्यम्**=बल

के लिए हितकर उदर को **ध्रुवायां दिशि**=ध्रुव दिशा में **धेहि**=स्थापित कर, अर्थात् उदर-सम्बद्ध भोजन की मर्यादा का कभी भी उल्लंघन मत कर और अन्त में **अस्य**=इस अज के **मध्यम्**=मध्यभाग को **अन्तरिक्षे मध्यतः**=अन्तरिक्ष में मध्य के दृष्टिकोण से स्थापित कर। हृदयान्तरिक्ष में कभी भी निर्मर्याद भावनाएँ न उठें। हृदय सदा स्वर्णीय मध्य को अपनाने की वृत्तिवाला हो।

भावार्थ—'अज' वह है जोकि उपस्थ का संयम करता है, वामहस्त से वाम (सुन्दर) कार्यों को ही करता है, पृष्ठवंश को सीधा रखता है, भोजन की मर्यादा को कभी तोड़ता नहीं और हृदय में स्वर्णीय मध्म में चलने की वृत्तिवाला होता है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः आज्यम्** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'शृत अज'

शृतमजं शृतया प्रोर्णुहि त्वचा सर्वैरङ्गैः संभृतं विश्वरूपम्।
स उत्तिष्ठेतो अभि नाकमुत्तमं पद्भिश्चतुर्भिः प्रति तिष्ठ दिक्षु॥ ९॥

१. गतमन्त्रों में वर्णित साधना के अनुसार **शृतम्**=जिसका ठीक परिपाक हुआ है, उस **अजम्**=गतिशीलता के द्वारा बुराइयों को परे फेंकनेवाले व्यक्ति को **शृतया**=त्वचा से **प्रोर्णूहि**=आच्छादित कर, अर्थात् तपस्या के द्वारा हम त्वचा को कठोर बनाएँ। इसप्रकार शरीर बीमारियों का शिकार नहीं होगा। इस 'अज' में **सर्वैः अङ्गैः**=पूर्ण स्वस्थ (सर्व=Whole) अङ्गों से **विश्वरूपं संभृतम्**=सम्पूर्ण शरीर का सौंदर्य संभृत हुआ है। २.हे अज ! **सः**=वह तू **इतः**=यहाँ से—इस पार्थिवलोक में निवास से **नाकम् अभि**=मोक्ष की ओर **उत्तिष्ठ**=उठ खड़ा हो। तू **दिक्षु**=सब दिशाओं में, अर्थात् सर्वत्र **चतुर्भिः पद्भिः**='धमार्थ-काममोक्ष' रूप चारों पगों के द्वारा **प्रतितिष्ठ**=जीवन-यात्रा में प्रस्थित हो। अथवा 'स्वाध्याय, यज्ञ, तप व दान' रूप चारों धर्मों का पालन करता हुआ तू मोक्ष की ओर बढ़।

भावार्थ—हम तपस्या की अग्नि में अपना ठीक परिपाक करें। हमारी त्वचा तपः परिपक्व हो, शरीर स्वस्थ अङ्गों के सौन्दर्य से परिपूर्ण हो तथा 'स्वाध्याय, यज्ञ, तप व दान' रूप चार धर्मों के पालन के द्वारा हम मोक्ष की ओर बढ़ें।

विशेष—इसप्रकार जीवन का ठीक परिपाक करनेवाला अज 'अथर्वा' बनता है—स्थिर वृत्ति का। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

१५. [पञ्चदशं सूक्तं]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**दिशः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥

गर्जते हुए बादलों का वर्षण

समुत्पतन्तु प्रदिशो नभस्वतीः समभ्राणि वातजूतानि यन्तु।
महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु॥ १॥

१. **प्रदिशः**=ये विस्तृत प्राची आदि दिशाएँ **नभस्वतीः**=(नभस्वता वायुना युक्ताः-सा०) वायु से युक्त हुई-हुई **समुत्पतन्तु**=मेघयुक्त होकर उद्गत हों। **अभ्राणि**=उदकपूर्ण मेघ **वातजूतानि**=वायु से प्रेरित हुए-हुए **संयन्तु**=संगत हों। २. **महऋषभस्य**=महान् ऋषभ के आकारवाले **नदतः**=गर्जन करते हुए **नभस्वतः**=वायु-प्रेरित मेघ से **आपः**=जल **वाश्राः**=शब्दायमान होते हुए **पृथिवीम्**=इस भूमि को **तर्पयन्तु**=तृप्त, अर्थात् ओषधि-प्ररोहण-समर्थ करें।

भावार्थ—दिशाएँ बादलों से घिर जाएँ। वायु-प्रेरित बादल आकाश को आवृत कर लें इन गर्जते हुए मेघों के जल भूमि को तृप्त करके इसे ओषधि-प्ररोहण-समर्थ करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वीरुधः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥

ओषधियों की उत्पत्ति

समीक्षयन्तु तविषाः सुदानवोऽपां रसा ओषधीभिः सचन्ताम्।
वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग्जायन्तामोषधयो विश्वरूपाः ॥ २ ॥

१. **तविषाः**=महान् **सुदानवः**=उत्तम दानवाले मरुत् (मेघ-प्रेरक वायुएँ) **समीक्षयन्तु**=वृष्टि का दर्शन कराएँ। **अपां रसाः**=वृष्टि-जलों के रस **ओषधिभिः**=पृथिवी में बोये गये चावल-जौ आदि के बीजों के साथ **सचन्ताम्**=संगत हों। २. **वर्षस्य सर्गाः**=वृष्टि की धाराएँ **भूमिम्**=पृथिवी को **महयन्तु**=महिमायुक्त (समृद्ध) करें और वृष्टिधाराओं से अलंकृत भूप्रदेश से **विश्वरूपाः**=नानाविध **ओषधयः**=व्रीहि-यव आदि ओषधियाँ **पृथक्**=अलग-अलग, विविध स्थानों में **जायन्ताम्**=उत्पन्न हों।

भावार्थ—प्रभूत वृष्टि होकर पृथिवी में उप्त (बोये हुए) बीज जलों से सङ्गत हों। वृष्टि-जलों से पृथिवी के तृप्त होने पर ओषधियाँ खूब उत्पन्न हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वीरुधः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वीरुत् विकास

समीक्षयस्व गायतो नभांस्यपां वेगासः पृथगुद्विजन्ताम्।
वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग्जायन्तां वीरुधो विश्वरूपाः ॥ ३ ॥

१. हे प्रभो! **गायतः**=स्तुति करनेवाले हम लोगों को **नभांसि**=अभ्रों को—वृष्टिजलयुक्त मेघों को **समीक्षयस्व**=दिखलाइए। **अपां वेगासः**=जलों के वेग **पृथक्**=विविध स्थलों पर **उद्विजन्ताम्**=उच्चलित हो उठें। २. **वर्षस्य सर्गाः**=वृष्टि की धाराएँ **भूमिम्**=भूमि को **महयन्तु**=पूजित—समृद्ध करें। **विश्वरूपाः**=नानाविध रूपोंवाली **वीरुधः**=फैलनेवाली बेलें **पृथक्**=अलग-अलग स्थानों में **जायन्ताम्**=उत्पन्न हों।

भावार्थ—हम स्तुति करनेवालों को प्रभु ठीक वृष्टि प्राप्त कराके विविध लताओं को प्राप्त करानेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मारुतपर्जन्यौ** ॥ छन्दः—**विराड्पुरस्ताद्बृहती** ॥

मेघगर्जना में प्रभु-महिमा का गायन

गणास्त्वोप गायन्तु मारुताः पर्जन्यघोषिणः पृथक्।
सर्गा वर्षस्य वर्षतो वर्षन्तु पृथिवीमनु ॥ ४ ॥

१. हे प्रभो! **पर्जन्यघोषिणः**=बादलों की गर्जनवाले **मरुताः गणाः**=वृष्टि लानेवाले वायुओं के गण **त्वा उपगायन्तु**=आपका ही गायन करें। हम इन मरुतों के शब्दों में—इन बादलों की गर्जना में आपकी ही महिमा के गायन का अनुभव करें। २. **वर्षतः**=पृथिवी को सींचते हुए **वर्षस्य**=वृष्टि करनेवाले मेघ की **सर्गाः**=जल धाराएँ **पृथक्**=विविध स्थानों में **पृथिवीम्**=पृथिवी को **अनुवर्षन्तु**=अनुकूलता से सींचनेवाली हों।

भावार्थ—हम मेघ-गर्जना में, वायु की ध्वनियों में प्रभु की महिमा का गायन सुनें। वृष्टिजल की धाराएँ पृथिवी को अनुकूलता से सींचनेवाली हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥

समुद्रजल का वाष्पीभवन व मेघ-निर्माण

उदीरयत मरुतः समुद्रतस्त्वेषो अर्को नभ उत्पातयाथ।
महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु॥ ५॥

१. हे **मरुतः**=वायुओ! **समुद्रतः**=समुद्र से वृष्टिजल को **उदीरयत**=ऊपर प्रेरित करो। **त्वेषः अर्कः**=यह दीप्तिवाला सूर्य है। हे मरुतो! इस सूर्य से सहायता प्राप्त करके **नभः**=जलयुक्त मेघोंको **उत्पातयाथ**=ऊपर आकाश में प्राप्त कराओ। २. **महऋषभस्य**=महान् ऋषभ के समान **नदतः**=गर्जना करते हुए **नभस्वतः**=वायुप्रेरित मेघ के **वाश्राः**=शब्दायमान **आपः**=जल **पृथिवीम् तर्पयन्तु**=पृथिवी को तृप्त करें—उसे ओषधियों के प्ररोहण में समर्थ करें।

भावार्थ—सूर्य का प्रचण्ड ताप तथा वायुएँ मिलकर आकाश में मेघों को प्राप्त कराएँ। 'पृथिवी का समुद्र' 'आकाश का समुद्र' बन जाए। तब वृष्टि होकर पृथिवी नाना ओषधियों को जन्म देनेवाली हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मूसलधार वृष्टि

अभि क्रन्द स्तनयार्दयोदधिं भूमिं पर्जन्य पयसा समङ्ग्धि।
त्वया सृष्टं बहुलमैतु वर्षमाशारैषी कृशगुरेत्वस्तम्॥ ६॥

१. हे **पर्जन्य**=मेघ! तू **अभिक्रन्द**=चारों ओर से गर्जना करनेवाला हो। **स्तनय**=विद्युत् की कड़क को उत्पन्न कर, **उदधिं अर्दय**=(अर्द याचने) समुद्र से जल की याचना कर। तू समुद्र से जल प्राप्त करनेवाला हो और **भूमिम्**=इस पृथिवी को **पयसः**=जल से **समंग्धि**=समक्त—संसिक्त कर। २. **त्वया सृष्टम्**=तुझसे उत्पन्न की हुई **बहुलं वर्षम्**=खूब वर्षा **आ एतु**=यहाँ भूमि पर समन्तात् प्राप्त हो। **कृशगुः**=वृष्टि के अभाव में घास के न होने से कृश गौओंवाला यह किसान **आशार एषी**=धारा-सम्पात को चाहनेवाला, खूब वृष्टि होने पर प्रसन्न मन से **अस्तम् एतु**=घर को आये। मूसलधार वर्षा में बाहर खड़ा होना सम्भव ही न हो।

भावार्थ—मूसलधार वृष्टि होकर भूमि तृणसंकुल हो जाए। गौ आदि पशु पर्याप्त चारे को प्राप्त करके कृश न रहें, आप्यायित शरीरोंवाले हो जाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मेघों से उत्पन्न जल-प्रवाह

सं वोऽवन्तु सुदानव उत्सा अजगरा उत।
मरुद्भिः प्रच्युता मेघा वर्षन्तु पृथिवीमनु॥ ७॥

१. हे **सुदानवः**=शोभन दान करनेवाले मनुष्यो! ये **उत्साः**=जलों के प्रवाह **उत अजगराः**=जोकि अजगरों के समान स्थूल आकारवाले प्रतीत हो रहे हैं (उत वितर्के), वे **वः**=तुम्हें **समवन्तु**=सम्यक् रक्षित करें। २. **मरुद्भिः**=वायुओं से **प्रच्युताः**=प्रेरित हुए-हुए **मेघाः**=बादल **पृथिवीं अनु वर्षन्तु**=पृथिवी पर अनुकूलता से वर्षा करें।

भावार्थ—हम अग्निहोत्र में सम्यक् आहुति देनेवाले हों—सुदानु बनें, तब मेघों से वृष्टि होकर स्थूल जल-प्रवाह हमारा कल्याण करनेवाले होंगे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सर्वत्र वृष्टि की अनुकूलता

आशामाशां वि द्योततां वाता वान्तु दिशोदिशः।
मरुद्भिः प्रच्युता मेघाः सं यन्तु पृथिवीमनु॥ ८॥

१. **आशाम् आशम्**=प्रत्येक दिशा में **विद्योतताम्**=विद्युत् की दीप्तियाँ चमकें। **दिशोदिशः**=प्रत्येक दिशा को प्राप्त करके **वाताः वान्तु**=मेघों को लानेवाले वायु बहें। २. **मरुद्भिः**=वायुओं से **प्रच्युताः मेघाः**=प्रेरित मेघ वृष्टि द्वारा **पृथिवीम् अनुसंयन्तु**=पृथिवी को अनुकूलता से प्राप्त रहें।

भावार्थ—गतमन्त्र के अनुसार प्रजा के अग्निहोत्र आदि करने पर सर्वत्र वृष्टि की अनुकूलता हो। बादलों में विद्युत् की दीप्ति चमके और वृष्टि को लानेवाले वायु सर्वत्र बहें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

वृष्टि का वातावरण

आपो विद्युदभ्रं वर्षं सं वोऽवन्तु सुदानव उत्सा अजगरा उत।
मरुद्भिः प्रच्युता मेघाः प्रावन्तु पृथिवीमनु॥ ९॥

१. हे **सुदानवः**=उत्तम दानशील पुरुषो! **आपः**=मेघस्थ जल, **विद्युत्**=बिजली, **अभ्रम्**=उदकपूर्ण मेघ **वर्षम्**=वृष्टि **उत अजगराः**=अजगरों के समान प्रतीत होनेवाले **उत्साः**=जल-प्रवाह—ये सब **वः**=तुम्हें **सम् अवन्तु**=सम्यक् रक्षित करें। २. **मरुद्भिः**=वायुओं से **प्रच्युताः मेघाः**=प्रेरित मेघ वृष्टि द्वारा **पृथिवीम् अनुसंयन्तु**=पृथिवी की अनुकूलता से रक्षा करें।

भावार्थ—अग्निहोत्र में उत्तम आहुतियाँ देनेवाले पुरुषों के लिए वायु-प्रेरित मेघ आदि सम्यक् वृष्टि करनेवाले और उनका रक्षण करनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

'अमृत व प्राणस्वरूप' वृष्टिजल

अपामग्निस्तनूभिः संविदानो य ओषधीनामधिपा बभूव।
स नो वर्षं वनुतां जातवेदाः प्राणं प्रजाभ्यो अमृतं दिवस्परि॥ १०॥

१. **अपां तनूभिः संविदानः**=मेघस्थ जलों के शरीरों से ऐक्य को प्राप्त हुआ-हुआ—एक हुआ-हुआ **यः अग्निः**=जो विद्युद्रूप अग्नि है, वह **ओषधीनाम्**=ओषधियों का **अधिपाः बभूव**=अधिपति होता है। २. **सः**=वह **जातवेदाः**=प्रत्येक उत्पन्न मेघ में विद्यमान विद्युद्रूप अग्नि **दिवः परि**=आकाश से **अमृतं वर्षम्**=अमृततुल्य वृष्टिजल जो **प्रजाभ्यः प्राणम्**=प्रजाओं के लिए प्राणरूप है, उसे **नः**=हमारे लिए **वनुताम्**=प्राप्त कराए।

भावार्थ—विद्युत् मेघ-जलों में संचरित होता हुआ उन मेघ-जलों को अमृत बना देता है। ये मेघजल प्रजाओं के लिए प्राण ही होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**प्रजापतिः, स्तनयित्नुः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रजापति का जल-प्रेरण

प्रजापतिः सलिलादा समुद्रादाप ईरयन्नुदधिमर्दयाति।
प्र प्यायतां वृष्णो अश्वस्य रेतोऽर्वाङेतेन स्तनयित्नुनेहि॥ ११॥

१. **प्रजापतिः**=प्रजाओं का पालक वृष्टिप्रद सूर्य **सलिलात्**=जलमय **समुद्रात्**=समुद्र से

आपः=जलों को **आ ईरयन्**=समन्तात् प्रेरित करता हुआ **उदधिम्**=समुद्र को **अर्दयाति**=हलचलवाला करता है। २. **वृष्णः**=वृष्टि करनेवाले **अश्वस्य**=आकाश में व्याप्त होनेवाले (अश् व्याप्तौ) मेघ का **रेतः**=वृष्टि का उपादानभूत वीर्य **प्र प्यायताम्**=बढ़े—मेघ की शक्ति बढ़े और खूब वर्षा हो। हे वृष्टे! तू **एतेन**=इस **स्तनयित्नुना**=गर्जन करनेवाले मेघ के साथ **अर्वङ् एहि**=यहाँ—हमारे अभिमुख प्राप्त हो।

भावार्थ—सूर्य समुद्र से जलों को आकाश में प्रेरित करे। मेघ की शक्ति बढ़े और गर्जना के साथ वृष्टि होकर यहाँ पृथिवी पर वृष्टिजल प्राप्त हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाऽनुष्टुब्गर्भाभुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

गर्गर ध्वनियुक्त वृष्टिजल प्रवाह

अपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः श्वसन्तु गर्गरा अपां वरुणाव नीचीरपः सृज।
वदन्तु पृश्निबाहवो मण्डूका इरिणानु॥ १२॥

१. **असुरः**=(असु क्षेपणे) मेघों को अन्तरिक्ष में क्षेपण करनेवाला अथवा (असून् राति) वृष्टि-जल के द्वारा प्राणों को देनेवाला **नः पिता**=हमारा रक्षक सूर्य **अपः निषिञ्चन्**=जलों को इस पृथिवी पर सींचनेवाला हो और तब **अपाम्**=जलों के **गर्गराः**=गर्गर ध्वनियुक्त प्रवाह **श्वसन्तु**=उच्छ्वसित हों। हे **वरुण**=वृष्टि द्वारा हमारे क्लेशों का निवारण करनेवाले प्रभो! आप **अव नीचीः अपः**=(अवनिम् अञ्चन्ति) भूमि पर प्राप्त होनेवाले इन जलों को **सृज**=उत्पन्न कीजिए। २. अब वृष्टि के खूब होने पर **पृश्निबाहवः**=चित्रित व छोटी-छोटी (पृश्निरल्पतनौ) भुजाओंवाले **मण्डूकाः**=मेंढक **इरिण अनु**=निस्तृण भू-प्रदेशों को प्राप्त करके, वृष्टिजल से लब्ध प्राण हुए-हुए **वदन्तु**=शब्दों को करें।

भावार्थ—सूर्य अन्तरिक्ष में बादलों को उमड़ाकर वृष्टिजल प्रवाहों को उत्पन्न करे। वृष्टि से प्राणों को प्राप्त करके मेंढक शुष्कप्रदेशों में बैठे हुए शब्द करें, अर्थात् पर्याप्त वृष्टि होकर सब प्राणियों को जीवनशक्ति उपलब्ध हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मण्डूकाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

व्रतचारी ब्राह्मणों के समान

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः। वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः॥ १३॥

१. **मण्डूकाः**=मेंढक **पर्जन्यजिन्विताम्**=मेघ (बादल) से प्रेरित **वाचम्**=वाणी को **प्र अवादिषुः**=इसप्रकार खूब ही उच्चरित करते हैं, जैसेकि **संवत्सरम्**=वर्षभर **शशयानाः**=एक स्थान पर निवास करनेवाले **व्रतचारिणः**=मौनव्रत का पालन करेनवाले **ब्राह्मणाः**=ब्राह्मण व्रत समाप्ति पर वाणी को उच्चरित करते हैं।

भावार्थ—वर्षा होने पर मेंढकों की आवाज़ ऐसी प्रतीत होती है, जैसे वार्षिक मौनव्रत की समाप्ति पर ज्ञानी ब्राह्मणों की वाणी ही उच्चरित हुई हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मण्डूकाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्लवस्व विगृह्य चतुरः पदः

उपप्रवद मण्डूकि वर्षमा वद तादुरि। मध्ये ह्रदस्य प्लवस्व विगृह्य चतुरः पदः॥ १४॥

१. हे **मण्डूकि**=मेंढकी! तू हर्ष को **उप**=(उपेत्य) प्राप्त होकर **प्रवद**=प्रकृष्ट घोष करनेवाली हो। **तादुरि**=छोटी मेंढकी! तू **वर्षम् आवद**=वृष्टि को पुकार—वृष्टि को आने के लिए पुकार जैसेकि कोई बालिका माता को पुकारती है, तू ऐसा शब्द कर कि वृष्टि हो जाए। २. वृष्टिजलों

से ह्रदों (सरोवरों) के पूर्ण हो जाने पर तू उस **ह्रदस्य मध्ये**=तालाब के बीच में **चतुरः पदः**=अपने चारों पाँवों को **विगृह्य**=तैरने के लिए अनुकूलता पूर्वक फैलाकर **प्लवस्व**=तैर। तैरती हुई तू उस तालाब में आनन्दपूर्वक विहार कर।

भावार्थ—वृष्टि होने पर मेंढक हर्षपूर्वक ध्वनि करते हुए वृष्टि को ही मानो पुकारते हैं। वे वृष्टि-जलपूर्ण तालाबों में आनन्दपूर्वक तैरते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मण्डूकाः पितरश्च**॥ छन्दः—**शंकुमत्यनुष्टुप्**॥

मेंढकों की ध्वनि व वृष्टि की सूचना

खण्वखा३इ खैमखा३इ मध्ये तदुरि। वर्षं वनुध्वं पितरो मरुतां मन इच्छत॥ १५॥

१. हे **खण्वखे**=बिल में रहनेवाली **खैमखे**=शान्त रहनेवाली **तदुरि**=छोटी मेंढकी! तू **मध्ये**=तालाब के बीच में होती हुई अपने घोष से **वर्षम् वनुध्वम्**=वृष्टि देनेवाली हो। २. हे **पितरः**=राष्ट्र-रक्षण कार्य में तत्पर पुरुषो! आप **मरुताम्**=वृष्टि लानेवाले वायुओं के **मनः**=ज्ञान को **इच्छत**=चाहो। वायुओं के सम्यक् ज्ञान से वृष्टि के ठीक उपस्थापित करने से ये पितर राष्ट्र का सम्यक् रक्षण करनेवाले होंगे।

भावार्थ—राष्ट्ररक्षक पुरुष वृष्टि लानेवाले वायुओं का ज्ञान प्राप्त करके राष्ट्र में सम्यक् वृष्टि करनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वातः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यज्ञाद् भवति पर्जन्यः

महान्तं कोशमुदचाभि षिञ्च सविद्युतं भवतु वातु वातः।
तन्वतां यज्ञं बहुधा विसृष्टा आनन्दिनीरोषधयो भवन्तु॥ १६॥

१. हे प्रभो! आप सूर्यकिरणों द्वारा **महान्तं कोशम्**=जल के महान् कोशभूत मेघ को **उदच**=समुद्र से उदकपूर्ण करके ऊपर अन्तरिक्ष में प्राप्त कराइए। **अभिषिञ्च**=उस मेघ से वृष्टिजल के द्वारा सम्पूर्ण भूमि को सिक्त कीजिए। अन्तरिक्ष **सविद्युतम् भवतु**=विद्युत्सहित हो जाए। **वातः**=वृष्ट्यनुकूल वायु **वातु**=बहे। २. **यज्ञं तन्वताम्**=इस पृथिवी पर यज्ञ विस्तृत हो। घर-घर में लोग यज्ञ करनेवाले हों। यज्ञों से वृष्टि होने पर अब **बहुधा**=बहुत प्रकार से **विसृष्टाः**=विविध रूपों में उत्पन्न हुई-हुई **ओषधयः**=ओषधियाँ—व्रीह-यव आदि ग्राम्य तथा तरु, गुल्म आदि अरण्य ओषधियाँ **आनन्दिनीः भवन्तु**=प्राणिमात्र को आनन्दित करनेवाली हों।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से सारा वातावरण वृष्टि के लिए अनुकूल हो। सब घरों में यज्ञों का विस्तार हो। उत्पन्न हुई-हुई विविध ओषधियाँ प्राणियों के लिए आनन्द देनेवाली हों।

विशेष—यज्ञों को उत्तमता से सम्पादित करनेवला 'ब्रह्मा' अगले सूक्त का ऋषि है। यह सत्य व अनृत के समीक्षक वरुण का स्मरण करता है और जीवन में सत्य (यज्ञ) को अपनाने का निश्चय करता है—

१६. [षोडशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**वरुणः, सत्यानृतान्वीक्षणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वह महान् अधिष्ठाता

बृहन्नेषामधिष्ठाता अन्तिकादिव पश्यति।
य स्तायन्मन्यते चरन्त्सर्वं देवा इदं विदुः॥ १॥

१. **बृहन्**=वह महान् वरुण **एषाम्**=इन सब लोकों व प्राणियों का **अधिष्ठाता**=नियन्ता होता हुआ इन सब प्राणियों से किये जाते हुए कर्मों को **अन्तिकात् इव**=बहुत समीपता से ही **पश्यति**=देख रहा है। प्रभु से किसी का कार्य छिपा हुआ नहीं है। २. **यः**=वे प्रभु **तायत्**=सातत्येन वर्त्तमान स्थित वस्तु को तथा **चरन्**=चरणशील नश्वर वस्तु को **मन्यते**=जानते हैं—स्थावर-जंगमरूप यह सम्पूर्ण जगत् प्रभु के ज्ञान का विषय हो रहा है। जो **इदं सर्वम्**=इस सारी बात को कि 'प्रभु सब-कुछ देख रहे हैं, प्रभु के ज्ञान से कुछ भी परे नहीं' **विदुः**=जानते हैं, वे **देवाः**=देव बनते हैं। प्रभु की सर्वज्ञता व सर्वद्रष्टृत्व को समझते हुए ये पापवृत्ति से दूर रहते हैं और परिणामतः देववृत्ति के बनते हैं—इनके जीवन में असुरभाव नहीं पनप पाते।

भावार्थ—वे महान् अधिष्ठाता प्रभु सबको समीपता से देख रहे हैं। स्थावर-जंगम सम्पूर्ण जगत् प्रभु के ज्ञान का विषय बन रहा है। इस बात को समझनेवाले लोग देववृत्ति के बनते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वरुणः, सत्यानृतान्वीक्षणम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सर्वज्ञ वरुण

यस्तिष्ठ॑ति चर॑ति यश्च॒ वञ्च॑ति॒ यो नि॒लायं॒ चर॑ति॒ यः प्र॒तङ्क॑म्।
द्वौ संनि॒षद्य॒ यन्म॒न्त्रये॑ते॒ राजा॒ तद्वे॑द॒ वरु॑णस्तृ॒तीयः॑ ॥ २ ॥

१. **यः तिष्ठति**=जो खड़ा है अथवा **चरति**=चल रहा है **च**=और **यः वञ्चतिः**=जो कुटिलगति में व्यापृत है—किसी को ठग रहा है, **यः**=जो **निलायं चरति**=छिपकर कोई कार्य कर रहा है अथवा **यः प्रतंकम् (चरति)**=औरों के जीवन को कष्टमय बनाता हुआ गति करता है (तकि कृच्छ्रजीवने) **तत्**=उस सबको **राजा वरुणः**=वह शासक, पाप-निवारक प्रभु **वेद**=जानते हैं। प्रभु से कुछ भी छिपा नहीं है। **द्वौ**=दो पुरुष (व्यक्ति) **संनिषद्य**=एकान्त में सम्यक् आसीन होकर **यत्**=जो **मन्त्रयेते**=मन्त्रणा करते हैं, वह राजा वरुण **तृतीयः**=उन दो के साथ तीसरे के रूप में होकर उस सब मन्त्रणा को जान रहा होता है। उनकी वह गुप्त-मन्त्रणा प्रभु से गुप्त नहीं होती।

भावार्थ—प्रभु हमारे सब कर्मों को देख रहे हैं। हमारी कोई भी मन्त्रणा उससे छुपी नहीं होती।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वरुणः, सत्यानृतान्वीक्षणम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सर्वव्यापक प्रभु

उ॒तेयं भूमि॒र्वरु॑णस्य॒ राज्ञ॑ उ॒तासौ द्यौर्बृ॑ह॒ती दू॒रेअ॑न्ता।
उ॒तो स॑मु॒द्रौ वरु॑णस्य कु॒क्षी उ॒तास्मि॑न्न॒ल्प उ॑द॒के निली॑नः ॥ ३ ॥

१. **इयम्**=सबका अधिष्ठान बनी हुई यह **भूमिः**=पृथिवी **उत**=भी (अपि—सा०) **राज्ञः**=उस शासक **वरुणस्य**=पाप-निवारक प्रभु के वश में हैं। **उत**=(अपि च) और वह दूर स्थित **बृहती**=विशाल **दूरे अन्ता**=दूर-से-दूर व समीप-से-समीप वर्त्तमान **द्यौः**=द्युलोक (आकाश) भी उस वरुण के वश में है। २. **उत उ**=और निश्चय से **समुद्रौ**=ये पूर्व और पश्चिम के समुद्र **वरुणस्य**=उस प्रभु के **कुक्षी**=दक्षिण व उत्तर पार्श्व ही हैं। ये विराट् प्रभु की कुक्षियों के समान हैं, **उत**=और **अस्मिन्**=इस **अल्पे उदके**=तटाक, ह्रद (तालाब) आदिगत अल्प जलों में भी वे प्रभु **निलीनः**=अन्तर्हित होकर रह रहे हैं।

भावार्थ—यह पृथिवी व द्युलोक दोनों ही प्रभु के वश में हैं। पूर्व व पश्चिम समुद्र प्रभु

की कुक्षियों के तुल्य हैं। छोटे-छोटे तालाबों के जलों में भी प्रभु अन्तर्हितरूपेण रह रहे हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वरुणः, सत्यानृतान्वीक्षणम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु के सहस्राक्ष स्पश

उत यो द्यामतिसर्पात्परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः।
दिव स्पशः प्र चरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम्॥ ४॥

१. **उत**=और **यः**=जो **द्यां परस्तात् अति सर्पात्**=सम्पूर्ण द्युलोक को भी लाँघकर परे चला जाए **सः**=वह भी **राज्ञः वरुणस्य**=उस शासक पाप-निवारक प्रभु के पाश से **न मुच्यातै**=छूट नहीं पाता। २. **अस्य दिवः**=इस दिव्य (प्रकाशमय) देव (प्रभु) के **स्पशः**=गुप्तचर **इदं प्रचरन्ति**=इस ब्रह्माण्ड में सर्वत्र गति करते हैं। **सहस्राक्षाः**=हज़ारों की संख्यावाले दर्शनोपायों से युक्त ये गुप्तचर **भूमिम् अति पश्यन्ति**=भूलोक के सम्पूर्ण वृत्तान्त को अतिशयेन साक्षात् कर रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु की आँखों से कोई बचकर भाग नहीं सकता। प्रभु के सहस्राक्ष गुप्तचर सभी कुछ देख रहे हैं। प्रभु मानो राजा हैं और सूर्य-चन्द्र आदि प्रभु के चर हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वरुणः, सत्यानृतान्वीक्षणम्** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु के लिए परोक्ष नहीं

सर्वं तद्राजा वरुणो वि चष्टे यदन्तरा रोदसी यत्परस्तात्।
संख्याता अस्य निमिषो जनानामक्षानिव श्वघ्नी नि मिनोति तानि॥ ५॥

१. **राजा वरुणः**=वह शासक व पाप-निवारक प्रभु **तत् सर्वं विचष्टे**=उस सबको देखता है **यत्**=जो **रोदसी अन्तरा**=द्यावापृथिवी के बीच में है और **यत् परस्तात्**=जो इन लोकों के परे है। २. **जनानाम्**=लोगों की **निमिषः**=पलकों की झपकों को भी **अस्य संख्याताः**=इसने गिना हुआ है। यह **तानि**=उन पलकों की झपकों को भी इसप्रकार **निमिनोति**=नाप लेता है **इव**=जैसेकि **श्वघ्नी**=जुवारी **अक्षान्**=पाशों को नापता है।

भावार्थ—प्रभु सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अन्दर-बाहर देख रहे हैं। मनुष्यों की पलकों की झपकों को भी वे ठीक प्रकार माप रहे हैं, अर्थात् छोटी-से-छोटी क्रिया को भी प्रभु जान रहे हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वरुणः, सत्यानृतान्वीक्षणम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सप्त सप्त त्रेधा स्थित पाश

ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः।
छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु॥ ६॥

१. हे **वरुण**=पाप-निवारक प्रभो! **ये**=जो **ते**=आपके **पाशाः**=पापियों के बन्धनकारक जाल **सप्तसप्त**='शरीर, मन, बुद्धि, चित्त, ज्ञानेन्द्रिय व प्राणों' में समवेत **त्रेधा**=उत्तम, मध्यम व अधम भेद से तीन प्रकारों में बँटे हुए, शरीर की सात धातुओं में व्याप्त होनेवाले 'वात, पित्त व कफ़' के त्रिविध विकारों से उत्पन्न हुए-हुए ये रोगरूप पाश **तिष्ठन्ति**=स्थित हैं। ये सब पाश **विषिताः**=विशेषरूप से बद्ध हैं। इनका सरलता से टूट जाना सम्भव नहीं। **रुशान्तः**=ये पाश अतिशयेन पीड़ित करनेवाले हैं। २. ये **सर्वे**=सब पाश **अनृतं वदन्तम्**=असत्य बोलनेवाले को **छिनन्तु**=छिन्न करनेवाले हों। **यः सत्यवाद्यति**=जो सत्य बोलनेवाला है **तम्**=उसे **अतिसृजन्तु**=ये अतिसृष्ट करें—छोड़ दें—सत्यवादी के लिए ये बन्धनकारक न हों।

भावार्थ—वरुण के पाश अनृतवादी को छिन्न करते हैं, सत्यवादी के लिए ये बन्धनकारक

नहीं होते।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वरुणः, सत्यानृतान्वीक्षणम्** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

अनृतवादी का बन्धन

शतेन पाशैरभि धेहि वरुणैनं मा ते मोच्यनृतवाङ् नृचक्षः।
आस्तां जाल्म उदरं श्रंसयित्वा कोशइवाबन्धः परिकृत्यमानः॥ ७॥

१. हे **वरुण**=पाप-निवारक प्रभो! **एनम्**=उस अनृतवादी को **शतेन पाशैः**=सैकड़ों पाशों से **अभिधेहि**=बाँधिए। हे **नृचक्षः**=मनुष्यों के कर्मों के द्रष्टा प्रभो! **अनृतवाक्**=यह असत्य बोलनेवाला मनुष्य **ते**=आपसे **मा मोचि**=न छोड़ा जाए। २. यह **जाल्मः**=असमीक्ष्यकारी दुष्टपुरुष **उदरं स्त्रंसयित्वा**=जलोदररोग से अपने उदर को स्रस्त करके **अबन्धः कोशः इव**=चारों ओर से बन्ध से रहित कोश की भाँति (फूल की कली की भाँति) **परिकृत्यमानः**=चारों ओर से छिन्न होता हुआ **आस्ताम्**=बन्धन में पड़ा रहे।

भावार्थ—अनृतवाक् पुरुष बन्धन में डाला जाए। यह जलोदर आदि रोगों से पीड़ित होकर बन्धन से मुक्त न हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वरुणः, सत्यानृतान्वीक्षणम्** ॥ छन्दः—**त्रिपान्महाबृहती** ॥

विविध वरुण पाश

यः समाम्यो३ वरुणो यो व्याम्यो३ यः संदेश्यो३ वरुणो यो विदेश्यः।
यो दैवो वरुणो यश्च मानुषः॥ ८॥

१. **यः**=जो **समाम्यः**=(समानम् आमयति व्याधितो भवति पुरुषोऽनेन) समानरूप से रोगी कर देनेवाला—सब अंगों में व्याप्त होनेवाला, **वरुणः**=(लुप्ततद्धितोऽयं निर्देशः—वारुणः) वारुण पाश है, इसीप्रकार **यः**=जो **व्याम्यः**=पुरुष को विविधरूपों में पीड़ित करनेवाला—भिन्न-भिन्न अङ्गों में होनेवाला वारुण पाश है, **यः**=जो **सन्देश्यः**=समान देश में होनेवाला वारुण पाश है और **यः**=जो **विदेश्यः**=विविध देशों में होनेवाला वारुण पाश है—संदेश्य का भाव समानरूप से सब देश में फैल जानेवाला तथा विदेश्य का भाव देश-विदेश में फैलनेवाला रोग भी है। २. इसीप्रकार **यः**=जो **दैवः**=सूर्य-चन्द्र आदि देवों (प्राकृतिक पदार्थों) से होनेवाला **वरुणः**=वारुण पाश है **च**=और **यः**=जो **मानुषः**=मनुष्य द्वारा हो जानेवाला वारुण पाश है—आधिदैविक कष्ट 'दैवपाश' हैं तो आधिभौतिक कष्ट ही 'मानुष' पाश है।

भावार्थ—वरुण के पाश 'समाम्य-व्याम्य, सन्देश्य-विदेश्य तथा दैव-मानुष'-इन तीन द्वन्द्वों में विभक्त किये जा सकते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वरुणः, सत्यानृतान्वीक्षणम्** ॥ छन्दः—**विराण्नामत्रिपाद्गायत्री** ॥

शत्रुता व वारुण पाशबन्धन

तैस्त्वा सर्वैरभि ष्यामि पाशैरसावामुष्यायणामुष्याः पुत्र।
तानु ते सर्वाननुसन्दिशामि॥ ९॥

१. गतमन्त्र में वर्णित सब पाश शत्रुओं को ही बाँधनेवाले हों। न हम शत्रुता करें और न इनसे बद्ध हों। **असौ**=वह **अमुष्यायण**=अमुक गोत्र में उत्पन्न! **अमुष्याः पुत्र**=अमुक माता की सन्तान! **त्वा**=तुझे **तैः**=गतमन्त्र में वर्णित **सर्वैः**=सब वारुण **पाशैः**=पाशों से **अभिष्यामि**=बाँधता हूँ। २. **उ**=निश्चय से **तान् सर्वान्**=उन सब पाशों को **ते अनु**=तेरा लक्ष्य करके **सन्दिशामि**=सन्दिष्ट करता हूँ। शत्रुता करनेवाला तू इन वारुण पाशों से बद्ध हो, अर्थात् तुझ शत्रुता करनेवाले

को प्रभु ही उचित दण्ड देंगे।

भावार्थ—हम किसी से शत्रुता न करें। 'शत्रुता करनेवाला प्रभु के पाशों के बद्ध होगा' इस तथ्य में विश्वास रक्खें।

टिप्पणी—प्रस्तुत मन्त्र में 'अमुष्यायण' सम्बोधन यह संकेत करता है कि पिता से आनुवंशिक रोग प्राप्त हो सकता है और 'अमुष्याः पुत्र' से माता से प्राप्त होनेवाले रोग का निर्देश हो रहा है।

विशेष—प्रभु को 'सर्वव्यापक, सर्वद्रष्टा' जाननेवाला व्यक्ति पवित्र जीवनवाला बनता है। यह वारुण-पाशों का भय मानता हुआ पाप से बचता है। पवित्र जीवनवाला यह व्यक्ति 'शुक्रः' (शुच्) बनता है। यही अगले तीन सूक्तों का ऋषि है। 'अपामार्ग' ओषधि के प्रयोग से यह सब दोषों को अपमार्जन करता हुआ प्रार्थना करता है-

१७. [सप्तदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

भेषजों की ईशान

ईशानां त्वा भेषजानामुज्जेष आ रभामहे। चक्रे सहस्रवीर्यं सर्वस्मा ओषधे त्वा ॥ १ ॥

१. **भेषजानाम्**=ओषधियों की **ईशानाम्**=ईशान-(ईश्वर)-भूत हे अपमार्ग! **त्वाम्**=तुझे **उज्जेषे**=रोगों को पराजित करने के लिए **आरभामहे**=संस्पृष्ट करते हैं। तेरे उचित प्रयोग से हम सब रोगों को दूर करते हैं। २. हे **ओषधे**=दोषों को दग्ध करनेवाली! **त्वा**=तुझे **सर्वस्मै**=सब दोषों की निवृत्ति के लिए प्रभु ने **सहस्रवीर्यम् चक्रे**=अपरिमित सामर्थ्ययुक्त बनाया है—तुझमें सब दोषों को दग्ध करने की शक्ति रक्खी है।

भावार्थ—अपामार्ग ओषधि अपरिमित सामर्थ्ययुक्त है। यह सब रोगों को दूर करने में समर्थ है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'शपथयावनी' ओषधि

सत्यजितं शपथयावनीं सहमानां पुनःसराम्।
सर्वाः समह्वयोषधीरितो नः पारयादिति ॥ २ ॥

१. **सत्यजितम्**=सचमुच रोगों को जीतनेवाली **शपथयावनीम्**=पीड़ाजनित आक्रोशों को दूर करनेवाली, **सहमानाम्**=रोगों को अभिभूत करनेवाली **पुनः सराम्**=अनेक व्याधियों की निवृत्ति के लिए फिर-फिर मलों का निःसारण करनेवाली इस अपामार्ग ओषधि को **सम् अह्वि**=मैं पुकारता हूँ। २. इसीप्रकार मैं अन्य भी **सर्वाः ओषधीः**=सब ओषधियों को पुकारता हूँ **इति**=जिससे यह ओषधि **इतः**=इस रोग से **नः**=हमें **पारयात्**=पार करे।

भावार्थ—मैं रोग-निवारक ओषधियों का आह्वान करता हूँ और इनके ठीक प्रयोग से नीरोग बनता हूँ।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रोगवृद्धि की समाप्ति

या शशाप शपनेन याघं मूरमादधे।
या रसस्य हरणाय जातमारेभे तोकमत्तु सा ॥ ३ ॥

१. **या**=जो रोग **शपनेन**=आक्रोशों के द्वारा **शशाप**=आक्रोशयुक्त करता है, अर्थात् जिस बीमारी में रोगी ऊटपटांग बोलने लगता है, **या**=जो बीमारी **मूरम्**=(मुर्छा मोहे) मूर्च्छा उत्पन्न करनेवाले **अघम्**=कष्ट को **आदधे**=धारण करती है अथवा **या**=जो रोग **रसस्य हरणाय**=शरीरगत रुधिर आदि रसों के हरण के लिए **जातम् आरेभे**=उत्पन्न सन्तान का आलिङ्गन करता है—बच्चे को चिपट जाता है **सा**=वह अपामार्ग नामक ओषधि **तोकम् अत्तु**=इस रोग की वृद्धि को खा जाए—ओषध-प्रयोग से यह रोग जाता रहे।

भावार्थ—कई रोगों में रोगी ऊटपटाँग बोलने लगता है, उसे चित्तभ्रम-सा (delirium) हो जाता है, कइयों में मूर्च्छा की स्थिति हो जाती है, कइयों में खून सूखने लगता है। अपामार्ग ओषधि इन सब रोगों को रोकती है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कृत्याकृत् हनन

यां ते चक्रुरामे पात्रे यां चक्रुर्नीललोहिते।
आमे मांसे कृत्यां यां चक्रुस्तया कृत्याकृतो जहि॥ ४॥

१. यह शरीर 'चमस् या पात्र' कहा गया है। कई रोग बाल्यकाल में, जबकि यह शरीर परिपक्व नहीं हुआ होता, होने लगते हैं, उन्हीं के लिए कहते हैं कि **याम्**=जिस **कृत्याम्**=छेदन (हिंसन) क्रिया को **ते**=तेरे **आमे पात्रे**=कच्चे (अपरिपक्व) शरीर-पात्र में **चक्रुः**=ये रोगकृमि उत्पन्न करते हैं और **याम्**=जिस कृत्या को **आमे मांसे**=कच्चे मांस में **चक्रुः**=उत्पन्न करते हैं, **तया**=उस अपामार्ग ओषधि से इन सब **कृत्याकृतः**=हिंसन को उत्पन्न करनेवाले रोगकृमियों को **जहि**=नष्ट कर दे।

भावार्थ—रोगकृमि बालक के अपरिपक्व शरीर में रोगों को उत्पन्न कर देते हैं। ये रुधिर में या मांस में प्रविष्ट होकर विकार का कारण बनते हैं। अपमार्ग इन रोगकृमियों को नष्ट करता है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'शुभ-लक्ष्मी-सम्पन्न' जीवन

दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमराय्यः।
दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि॥ ५॥

१. **दौष्वप्न्यम्**=बुरे स्वप्नों का आते रहना, **दौर्जीवित्यम्**=कष्टमय जीवन का होना **अभ्वं रक्षः**=(अभ्वं=महत्) महान् भय के कारणभूत रोगकृमि, **अराय्यः**=असमृद्धि की कारणभूत अलक्ष्मियाँ, **दुर्णाम्नीः**=दुष्ट नामवाले बवासीर आदि रोग तथा **सर्वा दुर्वाचः**=सब अशुभ वाणियाँ—**ताः**=उन सबको **अस्मत्**=अपने से **नाशयामसि**=हम नष्ट करते हैं।

भावार्थ—अपामार्ग के प्रयोग से हम पूर्ण स्वस्थ बनते हैं। बुरे स्वप्न नहीं आते, जीवन रोगशून्य होकर कष्टमय नहीं रहता, भयजनक रोगकृमियों का विनाश होता है, शरीर अलक्ष्मीक नहीं रहता, बवासीर आदि अशुभ रोग दूर हो जाते हैं, रोग से आक्रान्त होकर हम ऊटपाँग नहीं बोलते।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अनपत्यता निवारण

क्षुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम्।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे॥ ६॥

१. **क्षुधामारम्**=भूख की पीड़ा से मनुष्य को मार डालनेवाले (भस्मक रोग) अथवा जिसमें भूख मारी जाती है, उस रोग को **तृष्णामारम्**=जो प्यास के अतिशय से मनुष्य को मार डालता है, अथवा जिसमें प्यास ही नष्ट हो जाती है, **अगोताम्**=इन्द्रियों के शैथिल्य को उत्पन्न करनेवाले रोग को तथा **अनपत्यताम्**=सन्तानहीनता (नपुंसकता) के रोग को हे **अपामार्ग**=अपामार्ग! **त्वया**=तेरे द्वारा **वयम्**=हम **तत् सर्वम्**=उस सबको **अपमृज्महे**=विनष्ट कर डालते हैं।

भावार्थ—हम 'भूख-प्यास' के अभावजनक रोग को, इन्द्रिय-शैथिल्य व नपुंसकता को अपामार्ग के प्रयोग से विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'अक्षपराजय' दूरीकरण

तृष्णामारं क्षुधामारमथो अक्षपराजयम्।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे॥ ७॥

१. **तृष्णामारम्**=प्यास को मार देनेवाले अथवा प्यास से मार देनेवाले रोग को, **क्षुधामारम्**=भूख को मार देनेवाले अथवा भूख से मार देनेवाले रोग को **अथ उ**=और निश्चय से **अक्षपराजयम्**=इन्द्रियों के पराजय-(शैथिल्य)-रूप रोग को हे अपामार्ग! **त्वया**=तेरे प्रयोग से **वयम्**=हम **तत् सर्वम्**=उस सबको **अपमृज्महे**=दूर करते हैं।

भावार्थ—अपामार्ग के प्रयोग से भूख व प्यास ठीक लगने लगती है और इन्द्रियों का शैथिल्य नष्ट होता है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अगदता

अपामार्ग ओषधीनां सर्वासामेक इद्वशी।
तेन ते मृज्म आस्थितमथ त्वमगदश्चर॥ ८॥

१. हे **अपामार्ग**=अपामार्ग! तू **सर्वासाम्**=सब **ओषधीनाम्**=ओषधियों का **एकः इत्**=अकेला ही **वशी**=वश में करनेवाला है। तू ओषधियों का सम्राट् है। २. हे रुग्ण पुरुष! **तेन**=उस अपामार्ग के प्रयोग से **ते**=तेरे **आस्थितम्**=शरीर में समन्तात् स्थित रोग को **मृज्मः**=साफ़ कर डालते हैं। **अथ**=अब **त्वम्**=तू **अगदः**=नीरोग होकर **चर**=विचारनेवाला हो।

भावार्थ—अपामार्ग सब ओषधियों के गुणों से सम्पन्न है। इसके प्रयोग से शरीर में कहीं भी स्थित रोग को हम दूर करते हैं। यह रुग्ण पुरुष नीरोग होकर विचरण करे।

अपामार्ग का ही विषय अगले सूक्त में भी है।

१८. [अष्टादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सत्यपालन व अहिंसा

समं ज्योतिः सूर्येणाह्ना रात्री समावती।
कृणोमि सत्यमूतयेऽरसाः सन्तु कृत्वरीः॥ १॥

१. **सूर्येण**=सूर्य के साथ **ज्योतिः**=उसका प्रभामण्डल **समम्**=समान ही होता है। यह प्रभामण्डल सूर्य से कभी पृथक् नहीं होता और **रात्री**=रात **अह्ना**=दिन के साथ **समावती**=समान आयामवाली होती है। वस्तुतः रात्रि दिन के साथ जुड़ी हुई है। जहाँ दिन है, रात्रि उसके साथ

है ही, जैसे ज्योति सूर्य से कभी अलग नहीं होती, जैसे रात्रि दिन के साथ जुड़ी हुई है, इसीप्रकार मैं अपने साथ **सत्यं कृणोमि**=सत्य को जोड़ता हूँ। यह सत्य **ऊतये**=मेरे रक्षण के लिए होता है। मेरे जीवन के साथ सत्य का इसप्रकार सम्बन्ध होने पर **कृत्वरी:**=कर्तनशील कृत्याएँ—सब हिंसाएँ **अरसा:सन्तु**=रसशून्य, शुष्क व व्यर्थ हो जाएँ। सत्यशील होने पर मुझे किसी प्रकार से भी हिंसित नहीं होना पड़ता।

भावार्थ—मैं जीवन में सत्य का इसप्रकार सम्बन्ध स्थापित करता हूँ, जैसा ज्योति का सूर्य के साथ सम्बन्ध है और रात्रि का दिन के। यह सत्य का सम्बन्ध मुझे हिंसित नहीं होने देता।

ऋषि:—**शुक्र:** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पति:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

हिंसा द्वारा हिंसक का हिंसन

यो दे॑वा: कृ॒त्यां कृ॒त्वा हरा॒दवि॑दुषो गृ॒हम्।
व॒त्सो धा॒रुरि॑व मा॒तरं॒ तं प्र॒त्यगुप॑ पद्यताम्॥ २॥

१. हे **देवा:**=देवो! **य:**=जो **कृत्यां कृत्वा**=हिंसा का प्रयोग करके **अ-विदुष:**=छल-कपट की सम्भावना को न समझते हुए (विद् जानना) अजान पुरुष के **गृहं हरात्**=घर का अपहरण करता है—उसे हानि पहुँचता है। यह हिंसा-कर्म **तम् प्रत्यक्**=उसकी ओर लौटकर उसे उसी प्रकार **उपपद्यताम्**=प्राप्त हो **इव**=जैसेकि **धारु:**=(धेट पाने) स्तनपान करनेवाला **वत्स:**=बछड़ा **मातरम्**=माता के प्रति ही जाता है। २. जो छल-कपटपूर्वक दूसरों का हिंसन करने का प्रयत्न करता है, वह अन्तत: उस हिंसा का स्वयं ही शिकार हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु की सब प्राकृतिक शक्तियाँ ऐसी स्थिति उत्पन्न कर देती हैं कि हिंसा करनेवाला उस हिंसा-प्रयोग का स्वंय ही शिकार हो जाता है।

ऋषि:—**शुक्र:** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पति:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

गूढ़ शत्रु

अ॒मा कृ॒त्वा पा॒प्मानं॒ यस्तेना॒न्यं जिघां॑सति॥
अश्मा॑न॒स्तस्यां॑ द॒ग्धाया॑ं बहु॒ला: फट्करिक्रति॥ ३॥

१. **य:**=जो छिपा शत्रु (गूढ़ शत्रु) **अमा**=अनुकूल की भाँति साथ रहता हुआ **पाप्मानं कृत्वा**=हिंसा का षड्यन्त्ररूप पाप करके **तेन**=उस पाप से **अन्यं जिघांसति**=दूसरे को मारने की इच्छा करता है तो **तस्यां दग्धायाम्**=उस हिंसा-प्रयोग के प्रज्वलित होने पर **बहुला: अश्मान:**=बहुत-से (कितने ही) पत्थर **फट् करिक्रति**=उस शत्रु का ही पुन:-पुन: हिंसन करते हैं। जिस बारूद का प्रयोग यह मूढ़ दूसरे के हिंसन के लिए करता है, उससे यह स्वयं ही नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—मित्र के रूप में वर्तनेवाला गूढ़ शत्रु जिस हिंसा का प्रयोग दूसरे के लिए करता है, उस हिंसा के प्रयोग से वह स्वंय हिंसित हो जाता है।

ऋषि:—**शुक्र:** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पति:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

प्रियां प्रियावते (हर)

स॒हस्र॑धामन्विशि॑खा॒न्विग्री॑वां छा॒यया॒ त्वम्।
प्रति॑ स्म च॒क्रुषे॑ कृ॒त्यां प्रि॒यां प्रि॒याव॑ते हर॥ ४॥

१. हे **सहस्रधामन्**=अनन्त तेजोंवाले प्रभो! **त्वम्**=आप हमारे इन कृत्या (हिंसा) करनेवाले शत्रुओं को **विशिखान्**=विच्छिन्न केशोंवाले व **विग्रीवान्**=छिन्न ग्रीवावाले व शिरोंवाला करके **शामय**=

भूमि पर सुला दीजिए। २. इस **कृत्याम्**=हिंसा की क्रिया को **चक्रुषे**=इस कृत्या को करनेवाले के **प्रति हरस्म**=हर प्रकार वापस प्राप्त कराइए जैसेकि **प्रियाम्**=प्रिय पत्नी को **प्रियावते**=उस प्रियावाले के लिए—पति के लिए प्राप्त कराया जाता है। खोई हुई पत्नी को जैसे पति के पास पहुँचाते हैं, इसीप्रकार इस हिंसा की क्रिया को प्रभु इसे करनेवाले को ही प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—औरों का हिंसन करनेवाले लोग प्रभु की व्यवस्था से स्वयं हिंसित हों।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कृत्यामात्र का दूषण

अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम्। यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु ॥ ५ ॥

१. **अहम्**=मैं **अनया**=इस **ओषध्या**=अपामार्ग नामक ओषधि के द्वारा **सर्वाः कृत्याः**=सब प्रकार के रोगकृमियों से जनित शरीर के हिंसनों को **अदूदुषम्**=दूर करता हूँ। इन सब हिंसन-कार्यों को दूषित करता हूँ। २. **याम्**=जिस हिंसन-क्रिया को **क्षेत्रे**=शरीररूप क्षेत्र में **चक्रुः**=करते हैं, **याम्**=जिसे **गोषु**=गौओं में **याम्**=जिसे **वाते**=वायु-सम वेगवाले अश्वों में करते हैं **वा**=और जिसे **पुरुषेषु**=हमारे किन्हीं भी व्यक्तियों में जिस हिंसन-कार्य को करते हैं, उस सब हिंसन-कार्य को दूषित करके मैं दूर करता हूँ। ३. यहाँ 'गोषु' का भाव ज्ञानेन्द्रियों में करे तो 'वाते' का भाव (वा गतौ) कर्मेन्द्रियों में होगा। इनमें उत्पन्न किये गये हिंसन-कार्यों को भी मैं दूर करता हूँ।

भावार्थ—अपामार्ग ओषधि के प्रयोग से शरीर में—ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों में या अन्य व्यक्तियों में रोगकृमियों द्वारा जनित हिंसनों को हम दूर करते हैं।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भाऽनुष्टुप्** ॥

अपने पाँव पर ही कुठाराघात

यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम्।
चकार भद्रमस्मभ्यमात्मने तपनं तु सः ॥ ६ ॥

१. **यः**=जो शत्रु **चकार**=हिंसन-कार्य करता है, और इस हिंसन-कार्य द्वारा **पादम्**=एक पाँव को अथवा **अंगुरिम्**=एक अंगुलि को **शश्रे**=हिंसित करता है, वह शत्रु **कर्तुं न शशाक**=हिंसन-कार्य को करने में समर्थ नहीं होता। २. वस्तुतः **सः**=वह शत्रु इन हिंसन-प्रयोगों से **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **भद्रं चकार**=कल्याण ही करता है, **आत्मने तु**=अपने लिए तो **तपनम्**=दहन को करनेवाला होता है। ये हिंसन के प्रयोग हमें धैर्य धारण का अवसर देते हैं और इनका प्रयोक्ता अपने ही हृदय में विषैली वासनाओं को जन्म देनेवाला होता है।

भावार्थ—जो दूसरों का हिंसन करने का प्रत्यन करता है, वह वस्तुतः अपना ही अमङ्गल करता है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

क्षेत्रिय रोग-निराकरण

अपामार्गोऽप मार्ष्टु क्षेत्रियं शपथश्च यः।
अपाह यातुधानीरप सर्वा अराय्यः ॥ ७ ॥

१. **अपामार्गः**=(अपमृज्यते रोगादिनिराकरणेन पुरुषः शोध्यते अनने) यह अपामार्ग ओषधि **क्षेत्रियम्**=माता-पिता के शरीर से आगत संक्रामक क्षय, कुष्ठ, अपस्मार आदि रोगों को **अपमार्ष्टु**=दूर करे **च**=और **यः**=जो **शपथः**=रोगपीड़ा-जनित आक्रोश है, उसे भी दूर करे। २. यह अपामार्ग **अह**=निश्चय से **यातुधानीः**=पीड़ा को आहित करनेवाली व्याधियों को **अप**=दूर करे तथा यह

सर्वाः=सब **अराय्यः**=अलक्ष्मियों को—निस्तेजताओं को **अप**=दूर करे।

भावार्थ—अपामार्ग ओषधि द्वारा सब आक्रोशजनक व कष्टप्रद क्षेत्रिय रोग भी दूर हो जाते हैं। निस्तेजस्कता दूर होकर शरीर लक्ष्मी-(कान्ति)-सम्पन्न हो जाता है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अलक्ष्मी-वारण

अपमृज्य यातुधानानप सर्वा अराय्यः। अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥ ८ ॥

१. हे **अपामार्ग**=अपामार्ग! **वयम्**=हम **त्वया**=तेरे यथायोग के द्वारा **यातुधानान्**=पीड़ाओं को आहित करनेवाले कष्टों (रोगों) को **अपमृज्य**=दूर करके तथा **सर्वाः**=सब **अराय्यः**=अलक्ष्मियों को **अप**=शोधकर **तत् सर्वम्**=उस सब अवाञ्छनीय रोगमात्र को **अपमृज्महे**=दूर कर देते हैं।

भावार्थ—अपामार्ग का यथायोग शरीर को रोगरहित व तेजस्वी बनाता है। इसके द्वारा हम रोगों को दूर करते हैं।

अगले सूक्त में भी अपामार्ग का ही विषय है—

१९. [एकोनविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अबन्धुकृत् जामिकृत्

उतो अस्यबन्धुकृदुतो असि नु जामिकृत्।
उतो कृत्याकृतः प्रजां नडमिवा च्छिन्धि वार्षिकम् ॥

१. हे अपामार्ग! तू **उत उ**=निश्चय से ही **अबन्धु-कृत्**=(शत्रूणां कर्तकः) शत्रुभूत रोगों का छेदन करनेवाला **असि**=है और **नु**=अब **उत उ**=निश्चय ही **जामिकृत् असि**=(जामयः सहजाः) जन्म के साथ होनेवाले रोगों का भी छेदन करनेवाला है। सहज व असहज (कृत्रिम्) सभी रोगों का यह अपामार्ग विनाशक है। २. **उत उ**=निश्चय से **कृत्याकृतः**=हिंसन को पैदा करनेवाले कृमियों की **प्रजाम्**=सन्तानों को इसप्रकार से **छिन्धि**=नष्ट कर डाल **इव**=जैसे **वार्षिकं नडम्**=वर्षाऋतु में उत्पन्न हो जानेवाले तृणविशेषों को छिन्न किया जाता है।

भावार्थ—अपामार्ग ओषधि सहज व कृत्रिम सभी दोषों को दूर करती है और रोगकृमियों के वंश को ही समाप्त कर देती है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

नार्षद-कण्व-उपदिष्ट

ब्राह्मणेन पर्युक्तासि कण्वेन नार्षदेन।
सेनेवैषि त्विषीमती न तत्र भयमस्ति यत्र प्राप्नोष्योषधे ॥ २ ॥

१. हे अपामार्ग! **नार्षदेन**=मनुष्यों में आसीन होनेवाले—सब मनुष्यों के भले के लिए उनमें स्थित होनेवाले **कण्वेन**=मेधावी **ब्राह्मणेन**=ज्ञानी पुरुष से **पर्युक्ता असि**=तू उपदिष्ट हुई है। तेरा ज्ञान नर-हितकारी ज्ञानी पुरुष द्वारा दिया गया है। २. हे **ओषधे**=दोषों का दहन करनेवाली अपामार्ग ओषधे! तू **त्विषीमती**=दीप्तिवाली **सेना इव एषि**=सेना के समान आती है। जैसे सेना शत्रुओं का सफ़ाया कर देती है, उसी प्रकार तू रोगरूपी शत्रुओं का सफाया करती है। **यत्र**=जहाँ **प्राप्नोषि**=तू प्राप्त होती है **तत्र**=वहाँ **भयं न अस्ति**=रोगों का भय नहीं रहता।

भावार्थ—मनुष्यों का भला चाहनेवाले मेधावी, ज्ञानी पुरुष से उपदिष्ट होकर प्रयुक्त हुई

यह अपामार्ग ओषधि रोग-भय का निवारण कर देती है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पाप-त्राण, रक्षो-हनन

अग्रमेष्योषधीनां ज्योतिषेवाभिदीपयन्।
उत त्रातासि पाकस्याथो हन्तासि रक्षसः॥ ३॥

१. हे अपामार्ग! तू **ज्योतिषा**=अपने तेज से **अभिदीपयन् इव**=रोगकृमिजनित हिंसा-दोषों को दग्ध-सा करता हुआ **ओषधीनाम् अग्रम् एषि**=सब ओषधियों में प्रथम है। २. तू **पाकस्य**=पक्तव्यप्रज्ञ दुर्बल बालक का **त्राता असि**=रक्षक है, **अथ उ**=और निश्चय ही **रक्षसः**=अपने रमण के लिए हमारा क्षय करनेवाले रोगकृमियों का **हन्ता असि**=नष्ट करनेवाला है।

भावार्थ—रोगकृमियों को नष्ट करता हुआ अपामार्ग ओषधियों का सम्राट् है। यह दुर्बल का रक्षण करता है और रोगकृमियों का विनाश करता है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अपामार्ग की यथार्थता

यददो देवा असुरांस्त्वयाग्रे निरकुर्वत। ततस्त्वमध्योषधेऽपामार्गो अजायथाः॥ ४॥

१. हे ओषधे! **यत्**=चूँकि **अदः**=उस **दूरस्थ अग्रे**=प्राचीनकाल में **त्वया**=तेरे द्वारा **देवाः**=देववृत्ति के पुरुषों ने **असुरान्**=(आसून् प्राणन् रिणोति, to kill) प्राणशक्ति को नष्ट करनेवाले रोगकृमियों को **निरकुर्वत**=दूर किया, **ततः**=इस दूर (अप) सफ़ाया करने के कारण (मृज्) **त्वम्**=तू **अधि**=सब ओषधियों के ऊपर **अजायथाः**=हो गया और **अपामार्गः**=तेरा नाम अपामार्ग हुआ (अपमृज्यन्ते असुराः यया)।

भावार्थ—देववृत्ति के ज्ञानी पुरुष अपामार्ग ओषधि से रोगकृमियों का अपमार्जन करते हैं, अतः यह ओषधि सर्वश्रेष्ठ व अपामार्ग नामवाली हो गई है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अपामार्ग=विभिन्दती

विभिन्दती शतशाखा विभिन्दन्नाम ते पिता।
प्रत्यग्वि भिन्धि त्वं तं यो अस्माँ अभिदासति॥ ५॥

१. हे अपामार्ग ओषधे! **शतशाखा**=अपरिमित शाखाओंवाली होती हुई तू **विभिन्दती**=विभेदनशीला है—रोगों का भेदन करनेवाली है, **ते**=तेरा **पिता**=उत्पादक भी तेरे द्वारा रोगों का भेदन करने के कारण **विभिन्दन्**=विभेदक **नाम**=नामवाला है। २. अतः **त्वम्**=तू **तम्**=उस हमारे शत्रुभूत रोग को **प्रत्यग्**=उसकी ओर जाकर (प्रति अञ्च) उसपर आक्रमण करके **भिन्धि**=विदीर्ण कर, **यः**=जो रोग **अस्मान्**=हमें **अभिदासति**=उपक्षीण करता है। हमारा क्षय करनेवाले इन रोगों को तुझे ही नष्ट करना है।

भावार्थ—रोगों का भेदन करनेवाला अपामार्ग 'विभिन्दती' है। यह हमारा भेदन करनेवाले रोग का भेदन करता है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रत्यक् कर्तारम्

असद्भूम्याः समभवत्तद्यामेति महद्व्यचः। तद्वै ततो विधूपायत्प्रत्यक्कर्तारमृच्छतु॥ ६॥

१. हे ओषधे! **तत्**=वह **महत् व्यचः**=तेरा सर्वत्र व्याप्त महान् तेज **याम्**=जिस (भूमिम्) शरीररूप पृथिवी को **एति**=प्राप्त होता है तो **भूम्याः**=उस शरीररूप पृथिवी का रोगजनित हिंसन **असत् समभवत्**=बाधक करनेवाला नहीं होता—वह रोगकृमियों का हिंसनरूप कर्म उस भूमि (शरीर) को पीड़ित नहीं कर पाता। २. **ततः**=वहाँ से—उस हमारे शरीर से **तत्**=वह हिंसनरूप कर्म **वै**=निश्चय से **विधूपायत्**=विशेषरूप से सन्तापकारी होता हुआ **कर्तारम्**=उन पीड़ाकर कृमियों को ही **प्रत्यक् ऋच्छतु**=लौटकर प्राप्त हो। अपामार्ग के प्रयोग से रोगकृमि हमारे शरीर का हिंसन न करके अपना ही हिंसन करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—अपामार्ग का व्याप्त तेज रोगकृमियों का हिंसन करता है और हमारे शरीर को हिंसन से बचाता है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'शपथ व वध'-निराकरण

प्रत्यङ् हि संबभूविथ प्रतीचीनफलस्त्वम्।
सर्वान्मच्छपथाँ अधि वरीयो यावया वधम्॥ ७॥

१. हे अपामार्ग! **त्वम्**=तू **हि**=निश्चय से **प्रत्यङ्**=हमारी ओर गतिवाला होता हुआ—हमारे अन्दर प्राप्त होता हुआ **प्रतीचीनफलः**=हमारे विरोधियों का—रोगजनक कृमियों का विशरण (त्रिफला विशरणे) करनेवाला **संबभूविथ**=होता है। तू हमारे शरीरों में प्रविष्ट होकर सब रोगकृमियों को समाप्त कर देता है। २. तू **मत्**=मुझसे **सर्वान्**=सब **शपथान्**=रोगपीड़ा-जनक आक्रोशों का तथा **वधम्**=रोगजनित हिंसन को **वरीयः**=(उरुतरम्) खूब ही—बहुत ही **अधियावय**—आधिक्येन पृथक् कर। तेरे प्रयोग से न तो हमें रोगजनित पीड़ाएँ प्राप्त हों और न ही यह रोग हमें नष्ट करनेवाला हो।

भावार्थ—शरीर में पहुँचकर अपामार्ग रोगकृमियों का विनाश कर देता है और हमें रोगजनित पीड़ाओं व बाधाओं से बचाता है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शतेन-सहस्रेण

शतेन मा परि पाहि सहस्रेणाभि रक्ष मा।
इन्द्रस्ते वीरुधां पत उग्र ओज्मानमा दधत्॥ ८॥

१. हे अपामार्ग! तू **शतेन**=सौ वर्षों से पूर्ण जीवन के हेतु से **मा परिपाहि**=मुझे इन रोगकृमियों की कृत्याओं से बचा। **स-हस्रेण**=आनन्दमय जीवन के हेतू से तू **मा अभिरक्ष**=मेरा रक्षण कर। २. हे **वीरुधां पते**=लताओं के स्वामिरूप (मुखिया) अपामार्ग! **उग्रः**=तेजस्वी **इन्द्रः**=प्रभु ने—सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले परमात्मा ने **ते**=तुझमें **ओज्मानम्**=तेजस्विता को **आदधात्**=स्थापित किया है। तेरा तेज रोगकृमियों व रोगों का संहार करनेवाला होता है।

भावार्थ—अपामार्ग में प्रभु ने उस तेज को स्थापित किया है जो रोग-विनाश द्वारा हमें शतवर्ष का आनन्दमय जीवन प्राप्त कराता है।

विशेष—अपामार्ग से व्यक्ति स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मनवाला बनकर 'वेदमाता' के दर्शन करता है। यह वेदमाता इसकी अन्तर्दृष्टि को पवित्र करती है—उसे 'सब लोकों, सब पदार्थों व सब मनुष्यों' को समझने की योग्यता प्राप्त कराती है। इस वेदमाता को अपनानेवाला यह व्यक्ति 'मातृनामा' कहलाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

२०. [विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्** ॥

सर्वदर्शन

आ पश्यति प्रति पश्यति परा पश्यति पश्यति।
दिवमन्तरिक्षमाद्भूमिं सर्वं तद्देवि पश्यति ॥ १ ॥

१. 'स्तुता मया वरदा वेदमाता' इन शब्दों में वेद को माता कहा गया है। यह वेदमाता हम पुत्रों के जीवनों को प्रकाशमय करती है, इसी से इसे 'देवी' कहा गया है। हे **देवी**=हमारे जीवनों को प्रकाशमय बनानेवाली वेदमातः! आपकी कृपा से आपका पुत्र **आ पश्यति**=चारों ओर सब पदार्थों को देखनेवाला बनता है, **प्रतिपश्यति**=यह प्रत्येक पदार्थ को देख पाता है, **परापश्यति**=इस जगत् से परे अलौकिक वस्तुओं (आत्मतत्त्व) को भी देखनेवाला यह बनता है, इसप्रकार यह **पश्यति**=ठीक से देखता है। २. हे देवि! **दिवम्**=द्युलोक को, **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्षलोक को **आत् भूमिम्**=और इस भूमि को **तत् सर्वम्**=उस सम्पूर्ण जगत् को **पश्यति**=यह आपका पुत्र आपकी कृपा से देखता है। इस वेदमाता से सब लोक-लोकान्तरों का ज्ञान प्राप्त होता है।

भावार्थ—यह वेदमाता देवी है। यह हमारे लिए सब लोक-लोकान्तरों व पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कराती है।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तिस्रो दिवः, तिस्रः पृथिवीः

तिस्रो दिवस्तिस्रः पृथिवीः षट् चेमाः प्रदिशः पृथक्।
त्वयाहं सर्वा भूतानि पश्यानि देव्योषधे ॥ २ ॥

१. यह वेदमाता दोषों का दहन करने के कारण 'ओषधि' है (उष् दाहे)। हे **ओषधे**=दोषों का दहन करनेवाली **देवि**=हमारे जीवनों को प्रकाशमय बनानेवाली वेदमातः! **त्वया**=तेरे द्वारा **अहम्**=मैं **सर्वा**=सब **भूतानि**=भूतों को—ब्रह्माण्ड के निर्माण में कारणभूत 'पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश' को **पश्यानि**=देखता हूँ—इनका ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त करता हूँ। २. **तिस्रः दिवः**=द्युलोक के 'उत्तम, मध्यम, अधम' तीनों क्षेत्रों को तथा तिस्रः **पृथिवीः**=पृथिवी के भी 'उत्तम, मध्यम, अधम' तीनों भागों को **च**=और **इमाः**=इन **षट्**='पूर्व-पश्चिम-उत्तर-दक्षिण-ध्रुवा-ऊर्ध्वा' नामक छह **प्रदिशः**=प्रकृष्ट दिशाओं को **पृथक्**=अलग-अलग करके विविक्तरूप में मैं इस वेदमाता के द्वारा देखनेवाला बनाता हूँ।

भावार्थ—वेदमाता के द्वारा द्युलोक व पृथिवीलोक के तीनों विभागों का तथा व्यापक छह दिशाओं का ठीक-ठीक ज्ञान प्राप्त होता है।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दिव्य सुपर्ण की कनीनिका

दिव्यस्य सुपर्णस्य तस्य हासि कनीनिका।
सा भूमिमा रुरोहिथ वह्यं श्रान्ता वधूरिव ॥ ३ ॥

१. यह वेदमाता **तस्य**=उस **दिव्यस्य**=देववृत्ति को अपनानेवाले **सुपर्णस्य**=उत्तम पालन व पूर्णात्मक कर्मों में लगे हुए मनुष्य की **ह**=निश्चय से **कनीनिका**=आँख की पुतली **असि**=है, अर्थात् यह सुपर्ण इससे ही सब पदार्थों को देखता है। २. **सा**=वह वेदमाता **भूमिम्**

आरुरोहिथ=हमारी इस शरीर-भूमि का इसप्रकार ओरोहण करती है, **इव**=जैसेकि **श्रान्ता वधूः**=थकी हुई वधू **वह्यम्**=एक सवारी पर आरूढ़ होती है। जब हमारे जीवन में वेदमाता का निवास होता है, उस समय हमारा यह शरीर-रथ ज्ञानदीप्ति से उज्ज्वल हो उठता है। यह वेदमाता इसकी कनीनिका (कन् दीप्तौ)—दीप्त करनेवाली बनती है।

भावार्थ—हम देववृत्ति का बनने का प्रयत्न करें, पालन व पूरणात्मक कर्मों में प्रवृत्त हों तब वेदमाता हमारे जीवन की कनीनिका होगी—इसे दीप्त करनेवाली बनेगी। हमारे शरीर-रथ में इसका आरोहण होगा और यह शरीर-रथ चमक उठेगा।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शूद्र व आर्य का विवेचन

तां मे सहस्राक्षो देवो दक्षिणे हस्त आ दधत्।
तयाहं सर्वं पश्यामि यश्च शूद्र उतार्यः ॥ ४ ॥

१. '**सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्**'—इन शब्दों में प्रभु को सहस्राक्ष कहा गया है। इस **सहस्राक्षः देवः**=हजारों आँखोंवाले प्रकाशमय प्रभु ने **ताम्**=उस वेदवाणिरूप माता को **मे**=मेरे **दक्षिणे हस्ते**=दाहिने हाथ में **आदधत्**=स्थापित किया है, इस वेदमाता को मुझे प्राप्त कराया है। २. **तया**=उसके द्वारा **अहम्**=मैं **सर्वं पश्यामि**=समाज के सब व्यक्तियों को ठीकरूप में देख पाता हूँ—**यः च शूद्रः**=जो शूद्र है **उत**=और **आर्यः**=श्रेष्ठ है। इस वेदमाता ने 'शूद्र व आर्य' का ठीक-ठीक लक्षण कर दिया है। उस लक्षण के अनुसार मैं शूद्रों व आर्यों को पृथक्-पृथक् करके जान पाता हूँ।

भावार्थ—प्रभु सहस्राक्ष हैं। वे वेदवाणी द्वारा हमें भी सब शूद्रों व आर्यों को पृथक्-पृथक् देखने की शक्ति प्रदान करते हैं।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रतिपश्याः 'किमीदिनः'

आविष्कृणुष्व रूपाणि मात्मानमप गूहथाः।
अथो सहस्रचक्षो त्वं प्रति पश्याः किमीदिनः ॥ ५ ॥

१. हे वेदमातः! तू **रूपाणि**=संसार के सब रूपवान् पदार्थों को **आविष्कृणुष्व**=हमारे लिए प्रकट कर—हमें इन पदार्थों का ठीक-ठीक ज्ञान दे। तू **आत्मानम्**=अपने-आपको **मा अप गूहथाः**=हमसे मत छिपा। हम तेरा दर्शन करें और तेरे द्वारा संसार के सब रूपों को—रूपवान् पदार्थों को समझें। २. हे **सहस्राक्षो**=अनन्त दर्शन-शक्तिवाले प्रभो! **अथ उ**=अब निश्चय से इस वेदमाता के द्वारा **त्वम्**=आप **किमीदिनः**=(किम् इदानीं किम् इदानीम् इति गूढं सञ्चरतः राक्षसान्) 'अब क्या भोगूँ, अब क्या भोगूँ' इसप्रकार स्वार्थ-भोग के लिए औरों को पीड़ित करनेवाले राक्षसों को **प्रतिपश्याः**=(प्रतिदर्शय) एक-एक करके हमें दिखलाइए। इन्हें सम्यक् देखकर हम अपने को इनसे बचा सकें। इनसे हम सदा सावधान रह सकें।

भावार्थ—हम वेदवाणी द्वारा सब रूपवान् पदार्थों व प्राणियों को समझें। हम भोगप्रधान जीवनवाले राक्षसीवृत्ति के पुरुषों को समझकर उनसे अपना रक्षण कर सकें।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'यातुधान व पिशाच' का लक्षण

दर्शय मा यातुधानान्दर्शय यातुधान्यः। पिशाचान्त्सर्वान्दर्शयेति त्वा रभ ओषधे ॥ ६ ॥

१. हे **ओषधे**=दोषों को दहन करनेवाली वेदमातः। मैं **त्वा आरभे**=तेरा आश्रय करता हूँ, तुझे अपनाता हूँ। तू **सर्वान् पिशाचान्**=सब पिशाचों को—औरों का मांस खानेवालों को (पिशितम् अश्नन्ति) **दर्शय इति**=मुझे दिखला, इसलिए मैं तेरा आश्रय लेता हूँ। २. **मा**=मुझे **यातुधानान्**=पीड़ा को आहित करनेवालों को **दर्शय**=दिखा तथा **यातुधान्यः**=इन यातुधानों की पत्नियों को **दर्शय**=दिखा।

भावार्थ—वेद द्वारा हम 'यातुधान, यातुधानी व पिशाचों' के लक्षणों को समझते हुए इनसे बचें।

सूचना—शरीरस्थ कुछ रोगकृमि भी इसप्रकार के हैं, जो शरीर में पीड़ा के कारण बनते हैं। अन्य रोगकृमि मांस को खा जाते हैं और हमें अमांस (दुर्बल, emaciated) कर देते हैं। वेद द्वारा इन्हें समझकर हम अपने को इनका शिकार होने से बचाएँ।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'कश्यप व शुनि' की आँख

क॒श्यप॑स्य॒ चक्षु॑रसि॒ शु॒न्याश्च॑ चतु॒र॒क्ष्याः।
वी॒ध्रे सूर्य॑मिव॒ सर्प॑न्तं॒ मा पि॑शा॒चं ति॒रस्क॑रः॥ ७॥

१. हे वेदवाणि! तू **कश्यपस्य**=ज्ञानी पुरुष की **चक्षुः असि**=आँख है। एक ज्ञानी पुरुष तेरे द्वारा ही अपने कर्त्तव्य-कर्मों को देख पाता है **च**=और **चतुः अक्ष्याः**=चार आँखोंवाली, अर्थात् 'धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष'—रूप चारों पुरुषार्थों को देखनेवाली **शुन्याः**=(शुन गतौ) विषयों के प्रकाशन में गतिवाली बुद्धि (सरमा=देवशुनी) की तू आँख है। यह बुद्धि तेरे द्वारा ही सब धर्मादि को देख पाती है। २. हे वेदवाणि! तू **वीध्रे**=(विविधम् इन्धन्ते दीप्यन्ते अस्मिन् ग्रहनक्षत्रादीनि इति) अन्तरिक्ष में **सर्पन्तं सूर्यम् इव**=गति करते हुए इस सूर्य की भाँति हमारे हृदयान्तरिक्षों में गति करते हुए **पिशाचम्**=मांस को खा जानेवाले राक्षसीभावों को **मा तिरस्करः**=मत छिपानेवाली हो, अर्थात् तेरे द्वारा इन राक्षसी भावों को हम दूर करनेवाले हों।

भावार्थ—वेदमाता ज्ञानी पुरुष की बुद्धि की आँख के समान है। इसके द्वारा हम हृदयान्तरिक्ष में छिपकर गति करनेवाले राक्षसीभावों को दूर कर पाते हैं।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'यातुधान किमीदि' का उद्ग्रहण (उखाड़ देना)

उद॑ग्रभं परि॒पाणा॑द्यातु॒धानं॒ किमी॒दिन॑म्। तेना॒हं सर्वं॑ पश्याम्यु॒त शू॒द्रमु॒तार्य॑म्॥ ८॥

१. **परिपाणात्**=रक्षण के हेतु से मैंने **किमीदिनम्**='अब क्या भोगूँ, अब क्या भोगूँ' इसप्रकार स्वार्थभोग के लिए औरों को पीड़ित करनेवाले **यातुधानम्**=राक्षसीभाव को **उद् अग्रभम्**=हृदयक्षेत्र से उद्ग्रहीत कर लिया है—इन स्वार्थभावों को नष्ट करके ही तो मैं शुद्ध दृष्टिवाला बन पाता हूँ। २. **तेन**=इन राक्षसीभावों के दूरीकरण से शुद्ध दृष्टि होने से **अहम्**=मैं **सर्वं पश्यामि**=सबको ठीकरूप में देखता हूँ **उत शूद्रम् उत आर्यम्**=चाहे वह शूद्र है या आर्य। मैं शूद्र व आर्यों को पृथक्-पृथक् देख पाता हूँ और शूद्रभावों का परित्याग करके आर्यभावों को ग्रहण करनेवाल बनता हूँ।

भावार्थ—भोगप्रधान परपीड़क भावों को दूर करके हम अपना रक्षण करते हैं। इस रक्षण से शुद्ध दृष्टि बनकर हम शूद्र व आर्यभावों को देखते हुए शूद्रभावों का परित्याग करते हैं और आर्यभावों का ग्रहण करते हैं।

ऋषिः—मातृनामा ॥ देवता—ओषधिः ॥ छन्दः—भुरिगनुष्टुप् ॥

'अन्तरिक्ष, द्युलोक व भूमि' पर आधिपत्यवाला पिशाच

यो अन्तरिक्षेण पतति दिवं यश्चातिसर्पति।
भूमिं यो मन्यते नाथं तं पिशाचं प्र दर्शय॥ ९॥

१. **यः**=जो राक्षसीभाव **अन्तरिक्षेण पतति**=हृदयान्तरिक्ष से गतिवाला होता है—जो हृदय में उत्पन्न होता है, **यः च**=और जो **दिवम् अतिसर्पति**=मस्तिष्करूप द्युलोक में अतिशयेन गति करता है, **यः**=जो **भूमिम्**=इस शरीररूपी पृथिवीलोक का **नाथम्**=अपने को स्वामी **मन्यते**=मानता है—जो शरीर पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेता है, **तम्**=हमारा मांस ही खा जानेवाले राक्षसीभाव को हे वेदमातः! तू **प्रदर्शय**=दिखला। २. हृदय में उत्पन्न हुआ-हुआ राक्षसीभाव मस्तिष्क में अतिशयेन गतिवाला होता है, मस्तिष्क में वही भाव चक्कर काटने लगता है। इस शरीर पर उसका आतिपत्य-सा स्थापित हो जाता है। हम वेद के द्वारा इन भावों के स्वरूप को समझें और इनसे बचें।

भावार्थ—अशुभवासना हृदय में उत्पन्न होकर मस्तिक में घर कर लेती है और शरीर पर आधिपत्य स्थापित कर लेती है। इसके स्वरूप को समझकर हम इससे बचने के लिए यत्नशील हों।

विशेष—पैशाचिकभावों को दूर करने के लिए आवश्यक है कि हम आहार को सात्त्विक करें। सर्वाधिक सात्त्विक आहार 'गोदुग्ध' है, अतः अगले सूक्त में 'गावः' ही देवता (वर्ण्यविषय) है और गोदुग्ध-सेवन से पवित्र बुद्धिवाला ज्ञानी 'ब्रह्मा' ऋषि है—

अथाष्टमः प्रपाठकः

२१. [एकविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—गावः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

'प्रजावती: पुरुरूपा:' गावः

आ गावो अग्मन्नुत भद्रमक्रन्त्सीदन्तु गोष्ठे रणयन्त्वस्मे।
प्रजावतीः पुरुरूपा इह स्युरिन्द्राय पूर्वीरुषसो दुहानाः॥ १॥

१. **गावः**=गौएँ **आ अग्मन्**=हमारा लक्ष्य करके आएँ **उत**=और **भद्रम् अक्रन्**=हमारा कल्याण करें। **गोष्ठे**=गोशाला में—गौओं के ठहरने के स्थान में **सीदन्तु**=बैठें और ये गौएँ **अस्मे रणयन्तु**=हमें क्षीर आदि के प्रदान से आनन्दित करें। २. **प्रजावतीः**=उत्तम बछड़ी-बछड़ोंवाली **पुरुरूपाः**=श्वेत, कृष्ण, अरुण आदि अनेक वर्णोंवाली **इह स्युः**=गाएँ हमारे घरों में समृद्ध हों। ये गौएँ **पूर्वीः उषसः**=बहुत उषाकालों तक **इन्द्राय**=उस प्रभु के लिए 'सन्नाय्य व आशिर' आदि हवियों के लिए **दुहानाः**=दुग्ध का दोहन (प्रपूरण) करनेवाली हों। हम गोदुग्ध से घृत प्राप्त करके यज्ञों में आहुति देकर प्रभु के प्रिय बनें।

भावार्थ—हमारे-घरों में गौओं का निवास हो। वे दुग्ध देती हुई हमें आनन्दित करनेवाली हों। गोदुग्ध से यज्ञों को सिद्ध करते हुए हम प्रभु को आराधित करनेवाले हों।

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—गावः ॥ छन्दः—जगती ॥

यज्वा+गृणन्देवयु का स्वर्णतुल्य गृह

इन्द्रो यज्वने गृणते च शिक्षत उपेद्ददाति न स्वं मुषायति।
भूयोभूयो रयिमिदस्य वर्धयन्नभिन्ने खिल्ये नि दधाति देवयुम्॥ २॥

१. **यज्वने**=यज्ञशील पुरुष के लिए **च**=और **गृणते**=स्तवन करनेवाले मनुष्य के लिए **इन्द्रः**=वे प्रभु **शिक्षते**=गौएँ देते हैं। प्रभु **इत्**=निश्चय से **उपददाति**=इस यजनशील स्तोता के लिए इन गौओं को समीपता से प्राप्त कराते हैं, **स्वं न मुषायति**=प्रभु इस यजनशील के धन का अपहरण नहीं करते। २. प्रभु **भूयः**=अधिक और अधिक ही **अस्य**=इस यज्वा व स्तोता के **रयिम्**=धन को **इत्**=निश्चय से **वर्धयन्**=बढ़ाते हुए इस **देवयुम्**=दिव्यगुणों को अपनाने की कामनावाले पुरुष को **अभिन्ने**=दुःखों से **असंभिन्ने खिल्ये**=वासनाओं से अहत (अनाक्रान्त) स्वर्गलोक में **निदधाति**=स्थापित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु यज्ञशील पुरुष को खूब ही धन प्राप्त कराते हैं। इन धनों के द्वारा यज्ञ करनेवाले इस देवयु पुरुष को प्रभु दुःखों से रहित व वासनाओं से अनाक्रान्त स्वर्गलोक में स्थापित करते हैं—इसका घर स्वर्ग बन जाता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गावः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

देवयज्ञ व दक्षिणा की साधनभूत गौएँ

न ता नंशन्ति न दभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दधर्षति।
देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित्ताभिः सचते गोपतिः सह॥ ३॥

१. **ताः**=प्रभु से दी गई वे गौएँ **न नशन्ति**=नष्ट नहीं होती हैं, **तस्करः**=चोर **न दभाति**=इन्हें हिंसित नहीं करता। **आसाम्**=इन गौओं का **आमित्रः**=(अमित्रजनितः) शत्रुओं से किया हुआ **व्यथिः**=व्यथाजनक आयुध **न आदधर्षति**=धर्षण नहीं करता—शत्रुओं के अस्त्र इन्हें पीड़ित नहीं करते। २. **च**=और **याभिः**=जिन गौओं के द्वारा **देवान् यजते**=क्षीर आदि हवियों को प्राप्त करके दवेयज्ञ करता है **च**=और **ददाति**=जिन गौओं को दक्षिणा के रूप में देता है, **ताभिः सह**=उन गौओं के साथ यह **गोपतिः**=गौओं की रक्षा करनेवाला यज्ञशील पुरुष **ज्योग् इत्**=निश्चय से चिरकाल तक **सचते**=समवेत होता है—इन गौओं से कभी पृथक् नहीं होता।

भावार्थ—यज्ञशील पुरुष का गौओं के साथ सदा सम्बन्ध रहता है। इनके द्वारा ही वह देवयज्ञ कर पाता है और दक्षिणा देता है। ये गौएँ चोरों और शत्रुओं के अस्त्रों से हिंसित नहीं होतीं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गावः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

गोरक्षण का सुप्रबन्ध (गोमांस-भक्षण-निषेध)

न ता अर्वा रेणुककाटोऽश्नुते न संस्कृतत्रमुप यन्ति ता अभि।
उरुगायमभयं तस्य ता अनु गावो मर्तस्य वि चरन्ति यज्वनः॥ ४॥

१. **ताः**=उन गौओं को **अर्वा**=हिंसक **रेणुककाटः**=पादाघात से पार्थिव धूलिका उद्भेदक (कटिभेदनकर्मा) व्याघ्र आदि हिंसक पशु **न अश्नुते**=नहीं प्राप्त होता। **ताः**=वे गौएँ **संस्कृतत्रम्** **अभि**=(संस्कृतत्रश्च पाचकः) भोजन के लिए इनका मांस पकानेवाले का लक्ष्य करके **न उपयन्ति**=नहीं प्राप्त होती हैं। न तो कोई हिंस्र पशु और न ही कोई मांसाहारी इनका विनाश करता है। २. **ताः गावः**=वे गौएँ तो **तस्य यज्वनः**=उस यज्ञशील पुरुष के **उरुगायम्**=विस्तीर्ण गमनवाले—विशाल **अभयम्**=भयरहित देश को **अनु**=लक्ष्य करके **विचरन्ति**=विचरण करती हैं।

भावार्थ—व्याघ्र आदि हिंसक पशुओं से गौओं के रक्षण की व्यवस्था हो। कोई मांसाहारी इनके मांस को न पका सके। इनके विचरण के लिए विशाल भयरहित गोचरभूमियाँ हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गावः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गौएँ ही ऐश्वर्य हैं

गावो भगो गाव इन्द्रो म इच्छाद्गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः।
इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामि हृदा मनसा चिदिन्द्रम्॥ ५॥

१. **गावः**=गौएँ ही **भगः**=पुरुष का धन व सौभाग्य हैं, अतः **इन्द्रः**=प्रभु **मे**=मेरे लिए **गावः इच्छात्**=गौओं की कामना करें—मुझे गौएँ प्राप्त कराएँ। **गावः**=ये गोदुग्ध ही **प्रथमस्य**=मुख्य हवियों में श्रेष्ठ **सोमस्य**=सोम का **भक्षः**=भोजन बनता है। अभिषुत (निचोड़े हुए) सोम को गव्य दूध व दही में मिलकार ही आहुत करते हैं। २. हे **जनासः**=लोगो! **इमाः याः गावः**=ये जो गौएँ हैं **सः (एव)**=वे ही इन्द्र हैं। गौएँ व प्रभु का उपजीव्योपजीवक भाव से तारतम्य-सा है। गोदुग्ध के सेवन इन गोदुग्धों ने ही सात्त्विक बुद्धि को जन्म देकर हमें प्रभु-दर्शन कराना है। गोदुग्ध के सेवन से **हृदा**=हृदय से **मनसाचित्**=और निश्चयपूर्वक मन से **इन्द्रम्**=उस इन्द्र को **इच्छामि**=चाहता हूँ। गोदुग्धसेवन सात्त्विकवृत्ति को जन्म देकर हमें प्रभु-प्रवण करता है।

भावार्थ—गौएँ ऐश्वर्य हैं। इनके दुग्ध से मिश्रित सोम की यज्ञों में आहुति होती हैं। इन गोदुग्धों के सेवन से मैं प्रभु-प्रवण वृत्तिवाला—प्रभु की ओर झुकाववाला बनता हूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गावः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

बृहद् वयः (गोदुग्ध—एक पूर्ण भोजन)

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित्कृणुथा सुप्रतीकम्।
भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद्वो वय उच्यते सभासु॥ ६॥

१. हे **गावः**=गौओ! **यूयम्**=तुम **कृशं चित्**=दुर्बल शरीरवाले को भी **मेदयथ**=दूध-दही आदि से आप्यायित करके मोटा बना देती हो। **अश्रीरं चित्**=अश्रीक—अशोभन अङ्गोंवाले पुरुष को भी **सुप्रीकम्**=शोभन अवयवोंवाला **कृणुथ**=करती हो। २. हे **भद्रवाचः**=कल्याणी वाणीवाली गौओ! **गृहं भद्रं कृणुथ**=हमारे घर को कल्याणयुक्त करो। **सभासु**=सभाओं में **वः**=आपका **वयः**=दुग्ध-दधि लक्षण अन्न **बृहत् उच्यते**=खूब ही प्रशंसित होता है। वस्तुतः यह गोदुग्ध व दधिरूप भोजन एक पूर्ण भोजन है।

भावार्थ—गौएँ दूध-दही आदि द्वारा कृश को सबल व अशोभन को शोभन अंगोंवाला बनाती हैं। इनकी वाणी घर को मंगलमय बनाती है। इनका दूध व दही पूर्ण व प्रशस्त भोजन है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गावः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शुद्ध चारा व शुद्ध जल

प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः।
मा व स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु॥ ७॥

१. हे गौओ! **प्रजावतीः**=उत्तम बछड़ी-बछड़ोंवाली **सूयवसे**=शोभन तृणयुक्त देश में **रुशन्तीः**=चमकती हुई, अर्थात् प्रसन्नता से तृणों को खाती हुई तथा **सुप्रपाणे**=शोभन अवतरण मार्ग से युक्त तालाब आदि में **शुद्धाः**=निर्मल **अपः**=जलों को **पिबन्तीः**=पीती हुई इन **वः**=तुम गौओं को **स्तेनः**=चोर **मा ईशत**=चुराने में समर्थ न हो। २. **अघशंसः**=वधलक्षण पाप की कामनावाला पुरुष भी इन गौओं का ईश न हो। **रुद्रस्य**=ज्वराभिमानी देव का **हेतीः**=आयुध भी **वः**=तुम गौओं को **परिवृणक्तु**=दूर से ही छोड़नेवाला हो, अर्थात् ये गौएँ किसी रोग से भी आक्रान्त न हो जाएँ।

भावार्थ—गौओं को शुद्ध चारा व शुद्ध जल प्राप्त हो। इन्हें न कोई चुरा सके, न मार सके और न ये रोगाक्रान्त हों।

विशेष—गोदुग्धों का प्रयोग करता हुआ यह 'वसिष्ठ'=अत्यन्त उत्तम निवासवाला व 'अथर्वा' स्थिर वृत्तिवाला (न डाँवाडोल) बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

२२. [द्वाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसिष्ठः, अथर्वा वा**॥ देवता—**इन्द्रः, क्षत्रियो राजा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

एकवृष राजा

इममिन्द्र वर्धय क्षत्रियं म इमं विशामेकवृषं कृणु त्वम्।
निरमित्रानक्ष्णुह्यस्य सर्वांस्तान्रन्धयास्मा अहमुत्तरेषु॥ १॥

१. राजपुरोहित प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **इन्द्र**=प्रभो! **मे**=मेरे **इमम्**=इस **क्षत्रियम्**=प्रजाओं का क्षतों से त्राण करनेवाले राजा को **वर्धय**=बढ़ाइए। यह कोश—दण्ड आदि से खूब समृद्ध बने। **त्वम्**=आप **इमम्**=इसे **विशाम्**=सब प्रजाओं में **एकवृषम्**=अद्वितीय शक्तिशाली व प्रजाओं पर सुखों का वर्षक **कृणु**=कीजिए। २. **अस्य**=इस राजा के **सर्वान्**=सब **अमित्रान्**=शत्रुओं को **निः अक्ष्णुहि**=निर्गतव्याप्तिवाला—संकुचित प्रभाववाला **कृणुहि**=कीजिए। **तान्**=उन शत्रुओं को **अहम् उत्तरेषु**='मैं उत्कृष्ट होऊँ, मैं उत्कृष्ट होऊँ' इसप्रकार के भावोंवाले संग्रामों में **अस्मै**=इस राजा के लिए **रन्धय**=वशीभूत कीजिए।

भावार्थ—अद्वितीय शक्तिशाली राजा संग्रामों में सब शत्रुओं को पराजित करके प्रजा पर सुखों का सेचन करनेवाला बने।

ऋषिः—**वसिष्ठः, अथर्वा वा**॥ देवता—**इन्द्रः, क्षत्रियो राजा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

क्षत्रियों में मूर्धन्य

एमं भज ग्रामे अश्वेषु गोषु निष्टं भज यो अमित्रो अस्य।
वर्ष्म क्षत्राणामयमस्तु राजेन्द्र शत्रुं रन्धय सर्वमस्मै॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमान् प्रभो! **इमम्**=इस राजा को **ग्रामे**=जनसमूह में **अश्वेषु गोषु**=घोड़ों में और गौओं में **आभज**=समन्तात् भागी कर। **यः**=जो **अस्य**=इस राजा का **अमित्रः**=शत्रु है **तं निर्भज**=उसे 'ग्राम, अश्व व गौओं' से पृथक् कर। २. **अयं राजा**=यह राजा **क्षत्राणाम्**=क्षत से त्राण करनेवाले कार्यों में **वर्ष्म अस्तु**=शरीर के मुख्य अंग सिर के समान हो। हे **राजेन्द्र**=परमात्मन्! आप **अस्मै**=इसके लिए **सर्वं शत्रुम्**=सब शत्रुओं को **रन्धय**=वशीभूत कीजिए।

भावार्थ—हमारा राजा ग्रामों, घोड़ों व गौओं का अधिपति हो। यह क्षत्रियों में मूर्धन्य हो। सब शत्रुओं को वश में करनेवाला हो।

ऋषिः—**वसिष्ठः, अथर्वा वा**॥ देवता—**इन्द्रः, क्षत्रियो राजा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

धनानां धनपतिः+विशां विश्पतिः

अयमस्तु धनपतिर्धनानामयं विशां विश्पतिरस्तु राजा।
अस्मिन्निन्द्र महि वर्चांसि धेह्यवर्चसं कृणुहि शत्रुमस्य॥ ३॥

१. **अयम्**=यह **राजा**=शासक **धनानां धनपतिः**=धनों का खूब ही स्वामी **अस्तु**=हो। इसका कोश खूब बढ़ा हुआ हो। **अयम्**=यह **विशाम्**=प्रजाओं का **विश्पतिः अस्तु**=उत्तम प्रजापालक हो। २. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमान् प्रभो। **अस्मिन्**=इस राजा में **महि**=महत्त्वपूर्ण **वर्चांसि**=शक्तियों को

धेहि=धारण कीजिए। **अस्य**=इस राजा के **शत्रुम्**=शत्रु को **अवर्चसम् कृणुहि**=नष्ट शक्तिवाला कीजिए।

भावार्थ—राजा का कोश खूब बढ़ा हुआ हो। यह प्रजापालन को मुख्य कार्य जाने। यह शक्तिशाली हो, शत्रुओं को निस्तेज करके यह प्रजा का रक्षण करे।

ऋषिः—**वसिष्ठः, अथर्वा वा**॥ देवता—**इन्द्रः, क्षत्रियो राजा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सर्वप्रिय राजा

अस्मै द्यावापृथिवी भूरि वामं दुहाथां घर्मदुघेइव धेनू।
अयं राजा प्रिय इन्द्रस्य भूयात्प्रियो गवामोषधीनां पशूनाम्॥ ४॥

१. **अस्मै**=इस राजा के लिए **द्यावापृथिवी**=द्युलोक से लेकर पृथिवीलोक तक सारा संसार **भूरि**=खूब ही **वामम्**=सुन्दर, वननीय धन का **दुहाथाम्**=प्रपूरण करे। द्युलोक वृष्टिरूप धन दे तो पृथिवी विविध अन्नों व ओषधियों को प्राप्त करानेवाली हो। ये द्यावापृथिवी इसके लिए इसप्रकार हों **इव**=जैसेकि **घर्मदुघे धेनू**=धारोष्ण दूध (घर्म) देनेवाली गौएँ होती हैं। २. इन धनों से यज्ञों को करता हुआ—लोकरक्षणरूप महान् यज्ञ करता हुआ **अयं राजा**=यह राजा **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली प्रभु का **प्रियः**=प्रिय **भूयात्**=हो। यज्ञों से वृष्टि करानेवाला यह राजा **गवाम्**=गौ आदि पशुओं का **ओषधीनाम्**=ओषधियों का तथा **पशूनाम्**=सब प्राणियों का **प्रियः**=प्रिय हो।

भावार्थ—राजा धन प्राप्त करके यज्ञशील हो। यही राजा प्रभु का प्रिय होता है। इसके राज्य में वृष्टि आदि के ठीक होने से गौएँ, ओषधियाँ व अन्य प्राणी ठीक स्थिति में होते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः, अथर्वा वा**॥ देवता—**इन्द्रः, क्षत्रियो राजा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रभु-स्मरण व अपराजय

युनज्मि त उत्तरावन्तमिन्द्रं येन जयन्ति न पराजयन्ते।
यस्त्वा करदेकवृषं जनानामुत राज्ञामुत्तमं मानवानाम्॥ ५॥

१. हे राजन्! **ते**=तेरे साथ **उत्तरावन्तम्**=अतिशयित उत्कर्षवाले **इन्द्रम्**=उस प्रभु को **युनज्मि**=जोड़ता हूँ **येन**=जिस इन्द्र से प्रेरित तेरे सैनिक **जयन्ति**=शत्रुसेना को जीतते हैं, **न पराजयन्ते**=और कभी पराजय को प्राप्त नहीं होते। वस्तुतः प्रभु-स्मरण के साथ चलनेवाला राजा युद्ध में शत्रुओं से कभी पराजित नहीं होता। २. हे राजन्! **त्वा**=तुझे **यः इन्द्रः**=जो प्रभु हैं वे **जनानाम्**=लोगों में **एकवृषम्**=अद्वितीय शक्तिशाली **करत्**=बनाते हैं, **राज्ञाम्**=सब राजाओं में भी अनुपम शक्तिशाली करते हैं, **मानवानाम्**=सब मनुष्यों में वे प्रभु तुझे **उत्तमम्**=सर्वोत्कृष्ट स्थिति में स्थापित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण के साथ संग्राम में चलनेवाला राजा कभी पराजित नहीं होता। यह अनुपम शक्तिशाली व उत्तम बनता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः, अथर्वा वा**॥ देवता—**इन्द्रः, क्षत्रियो राजा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

त्वम् उत्तरः अधरे सपत्नाः

उत्तरस्त्वमधरे ते सपत्ना ये के च राजन्प्रतिशत्रवस्ते।
एकवृष इन्द्रसखा जिगीवां छत्रूयतामा भरा भोजनानि॥ ६॥

१. हे **राजन्**=अपनी प्रजाओं का रञ्जन करनेवाले शासक! **त्वम् उत्तरः**=तू सर्वोत्कृष्ट हो। **ते**=तेरे **सपत्नाः**=शत्रु **अधरे**=निकृष्ट हों—हीनतर स्थिति में हों। **ये के च**=और जो कोई भी **ते**

प्रतिशत्रवः=तेरे प्रति शत्रुत्व का आचरण करनेवाले हों, वे सब अधर-स्थिति में हों। २. **एकवृषः**=अद्वितीय शक्तिशाली **इन्द्रसखा**=प्रभु की मित्रतावाला **जिगीवान्**=शत्रुओं को जीतता हुआ तू **शत्रूयताम्**=शत्रु की भाँति आचरण करनेवाले विरोधियों के **भोजनानि**=भोगसाधन धनों का **आभार**=हरण करनेवाला हो। शत्रुओं को जीतकर उनके धनों को तू अपहृत कर ले।

भावार्थ—प्रभु के साथ मित्रतावाला यह राजा सदा शत्रुओं को पराजित करनेवाला होता है। उनके भोगसाधन धनों का यह अपहरण कर लेता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः, अथर्वा वा**॥ देवता—**इन्द्रः, क्षत्रियो राजा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सिंहप्रतीकः—व्याघ्रप्रतीकः

सिंहप्रतीको विशो अद्धि सर्वा व्याघ्रप्रतीकोऽव बाधस्व शत्रून्।
एकवृष इन्द्रसखा जिगीवां छत्रूयतामा खिदा भोजनानि॥ ७॥

१. **सिंहप्रतीकः**=सिंहतुल्य पराक्रमवाला, सिंह-शरीर होता हुआ तू आज्ञामात्र से **सर्वाः विशः**=सब प्रजाओं को **अद्धि**=खानेवाला बन, अर्थात् तू उनसे कररूप उचित धन प्राप्त करनेवाला बन। कोई भी व्यक्ति कुछ भी कर न देनेवाला न हो। श्रमिक भी तीस दिन में एक दिन अवैतनिक राजकार्य करे। २. **व्याघ्रप्रतीकः**=व्याघ्र-शरीर होता हुआ—व्याघ्र की भाँति आक्रमण करके **शत्रून्**=शत्रुओं को **अवबाधस्व**=राष्ट्र की सीमाओं से दूर ही रख। ३. **एकवृषः**=अद्वितीय शक्तिशाली होता हुआ **इन्द्रसखा**=प्रभुरूप मित्रवाला **जिगीवान्**=शत्रुओं को जीतता हुआ **शत्रूयताम्**=शत्रुवत् आचरण करते पुरुषों के भोजननानि=भोग-साधन धनों को **आखिद**=छिन्न करनेवाला—अपहृत करनेवाला हो।

भावार्थ—राजा सिंह के समान प्रभावशाली शरीरवाला होता हुआ राष्ट्र में उचित करों को लेनेवाला बने, व्याघ्र के समान आक्रमण करके शत्रुओं को राष्ट्र की सीमा से दूर ही रक्खे।

विशेष—इस सुरक्षित, सुव्यवस्थित राष्ट्र में साधनामय जीवन बिताता हुआ व्यक्ति आत्मान्वेषण करनेवाला (मृग) सब दोषों को दूर करने के लिए गतिशील (अरः, ऋ गतौ) बनता है। यह 'मृगार' ही अगले सूक्त का ऋषि है—

२३. [त्रयोविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**मृगारः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'प्रथम-प्रचेता-पाञ्चजन्य' प्रभु

अग्नेर्मन्वे प्रथमस्य प्रचेतसः पाञ्चजन्यस्य बहुधा यमिन्धते।
विशोविशः प्रविशिवांसमीमहे स नो मुञ्चत्वंहसः॥ १॥

१. मैं **अग्नेः**=उस अग्रणी प्रभु का **मन्वे**=मनन व चिन्तन करता हूँ जोकि **प्रथमस्य**=सर्वमुख्य व सर्वव्यापक हैं (प्रथ विस्तारे), **प्रचेतसः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले—सर्वज्ञ हैं और **पाञ्जन्यस्य**=पञ्चजनों का हित करनेवाले हैं। 'पञ्च यज्ञशील जन' पञ्चजन हैं। ये प्रभु को सदा प्रिय होते हैं। उस प्रभु का मैं मनन करता हूँ **यम्**=जिसे **बहुधा**=अनेक प्रकार से—नानाविध यत्नों से **इन्धते**=साधक लोग अपने हृदयदेश में दीप्त करते हैं। २. **विशः विशः प्रविशिवांसम्**=सब प्रजाओं में प्रविष्ट हुए-हुए उस प्रभु को **ईमहे**=हम प्रार्थित करते हैं। **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **अंहसः**=सब अनर्थों के कारण पाप से **मुञ्चतु**=मुक्त करें—वे प्रभु हमें पापों से छुड़ाएँ।

भावार्थ—हम उस प्रभु का स्मरण करें जोकि 'अग्नि, प्रथम, प्रचेता व पाञ्चजन्य' हैं। हम सबके अन्दर वे प्रभु रह रहे हैं। उन्हीं से हम आराधना करते हैं कि वे हमें पापों से मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

हव्य-यज्ञ-सुमति

यथा हव्यं वहसि जातवेदो यथा यज्ञं कल्पयसि प्रजानन्।
एवा देवेभ्यः सुमतिं न आ वह स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ २ ॥

१. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ:, सर्वव्यापक प्रभो! (जातं जातं वेत्ति, जाते जाते विद्यते वा) **यथा**=जैसे **हव्यं वहसि**=आप हमारे लिए हव्य—यज्ञिय-पवित्र पदार्थों को प्राप्त कराते हो और **प्रजानन्**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले होते हुए आप **यथा**=जैसे **यज्ञं कल्पयसि**=हमारे जीवनों में यज्ञ को सिद्ध करते हैं **एव**=इसीप्रकार **देवेभ्यः**=माता-पिता व आचार्यरूप देवों से **नः**=हमारे लिए **सुमतिम्**=कल्याणी मति को **आवह**=प्राप्त कराइए। २. इसप्रकार हव्य पदार्थों को प्राप्त कराते हुए—हमारे यज्ञों को सिद्ध करते हुए तथा सुमति को प्राप्त कराते हुए **सः**=वे आप **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चतु**=पाप से मुक्त करें।

भावार्थ—प्रभु हमें पवित्र यज्ञिय पदार्थों को प्राप्त कराएँ। प्रभु हमारे यज्ञों को सिद्ध करें। प्रभु हमें उत्तम माता-पिता व आचार्यों से सुमति प्राप्त कराएँ। इसप्रकार प्रभु हमें पापों से मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पुरस्ताज्ज्योतिष्मतीत्रिष्टुप्** ॥

रक्षोहणं, यज्ञवृधं, घृताहुतम्

यामन्यामन्नुपयुक्तं वहिष्ठं कर्मन्कर्मन्नाभगम्।
अग्निमीडे रक्षोहणं यज्ञवृधं घृताहुतं स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ३ ॥

१. **यामन् यामन्**=जीवन के प्रत्येक मार्ग में—ज्ञान-भक्ति व कर्मप्रधान सभी मार्गों में **उपयुक्तम्**=उपयुक्त, अर्थात् ज्ञानियों को ज्ञान प्राप्त करानेवाले, भक्तों की वृत्ति को उत्तम बनानेवाले व यज्ञादि कर्मों को सिद्ध करनेवाले उस **वहिष्ठम्**=वोढृतम—लक्ष्य-स्थान तक पहुँचानेवाले, **कर्मन् कर्मन्**=प्रत्येक कर्म में **आभगम्**=उपासनीय, अर्थात् कर्मों के द्वारा ही जिसकी उपासना होती है, उस **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु को **ईडे**=मैं उपासित करता हूँ। २. उस प्रभु की उपासना करता हूँ जोकि **रक्षोहणम्**=राक्षसी वृत्तियों का संहार करनेवाले हैं, **यज्ञवृधम्**=हमारे यज्ञों का वर्धन करनेवाले हैं और **घृताहुतम्**=(घृ दीप्तौ) ज्ञान-दीप्तियों द्वारा हृदयदेश में आहुत (दीप्त) होते हैं। सब यज्ञ प्रभु द्वारा ही पूर्ण किये जाते हैं तथा ज्ञानाग्नि को दीप्त करने पर ही प्रभु का हृदय में दर्शन होता है। **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चतु**=मुक्त करें।

भावार्थ—प्रभुकृपा से ही हमें सर्वत्र सफलता मिलती है, प्रभु ही हमें लक्ष्यस्थान पर पहुँचाते हैं, ये प्रभु ही हमारे कर्मों को पूर्ण करते हैं, राक्षसी वृत्तियों को नष्ट करके प्रभु ही हममें यज्ञों का वर्धन करते हैं। ज्ञान-दीप्ति से हृदय में द्योतित ये प्रभु हमें पापों से मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'वैश्वानर विभु, हव्यवाट्' प्रभु

सुजातं जातवेदसमग्निं वैश्वानरं विभुम्। हव्यवाहं हवामहे स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ४ ॥

१. **सुजातम्**=उत्तम प्रादुर्भाववाले—सर्वत्र अपनी महिमा से व्यक्त होनेवाले **जातवेदसम्**=सर्वव्यापक, सर्वज्ञ **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु को **हवामहे**=हम पुकारते हैं। २. हम उस प्रभु को पुकारते हैं जोकि **वैश्वानरम्**=सब नरों का—उन्नति-पथ पर चलनेवाले व्यक्तियों का हित करनेवाले हैं, **विभुम्**=सर्वव्यापक हैं और **हव्यवाहम्**=सब हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं। **सः**=वे प्रभु

नः=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चतु**=मुक्त करें।

भावार्थ—वह 'सुजात, जातवेदा, वैश्वानर, विभु, हव्यवाट्' अग्नि हमें पापों से मुक्त करे।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

बलद्योतन+माया-हनन+पणि-पराजय

येन ऋषयो बलमद्योतयन्युजा येनासुराणामयुवन्त मायाः।
येनाग्निना पणीनिन्द्रो जिगाय स नो मुञ्चत्वंहसः॥ ५॥

१. **येन युजा**=जिस मित्र के द्वारा—जिससे युक्त होकर **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा लोग **बलम् अद्योतयन्**=अपने बल को द्योतित करते हैं और **येन**=जिसके द्वारा **असुराणाम्**=असुर वृत्तियों की **मायाः**=व्यामोहन शक्तियों को **अयुवन्त**=देव लोग अपने से पृथक् करते हैं और **येन अग्निना**=जिस अग्रणी प्रभु के द्वारा **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **पणीन् जिगाय**=वणिक् वृत्तियों को—कृपणता के भावों को जीतता है, **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चतु**=मुक्त करें।

भावार्थ—प्रभु मित्रता में बल की वृद्धि होती है, असुरभाव हमें मोहित नहीं कर पाते, हम कार्पण्य से दूर रहते हैं। इसप्रकार प्रभु-मित्रता हमें पापों से बचाती है।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

नीरोगता, माधुर्य, प्रकाश

येन देवा अमृतमन्वविन्दन्येनौषधीर्मधुमतीरकृण्वन्।
येन देवाः स्व१राभरन्त्स नो मुञ्चत्वंहसः॥ ६॥

१. **येन**=जिस प्रभु के द्वारा **देवाः**=देववृत्ति के लोग **अमृतम्**=पूर्ण नीरोगता को **अन्वविन्दन्**=क्रमशः प्राप्त करते हैं, **येन**=जिसके द्वारा **ओषधीः**=सब ओषधियों, वनस्पतियों को **मधुमती अकृण्वन्**=अत्यन्त माधुर्यवाला कर लेते हैं। प्रभु की उपासना होने पर मनुष्यों की वृत्तियाँ उत्तम बनती हैं तब आधिदैविक कष्ट नहीं होते। वृष्टि आदि के ठीक होने से सब ओषधियाँ मधुर रसयुक्त होती हैं। **येन**=जिसके द्वारा **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **स्वः**=अपने हृदय में प्रकाश को **आभरन्**=भरते हैं, **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चतु**=मुक्त करें।

भावार्थ—प्रभु की मित्रता में देव नीरोगता प्राप्त करते हैं, ओषधियों को माधुर्ययुक्त कर पाते हैं और अपने हृदयों में प्रकाश पाते हैं। ये प्रभु हमें भी पापों से मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

स्तौमि+जोहवीमि

यस्येदं प्रदिशि यद्विरोचते यज्जातं जनितव्यं च केवलम्।
स्तौम्यग्निं नाथितो जोहवीमि स नो मुञ्चत्वंहसः॥ ७॥

१. **इदम्**=यह सम्पूर्ण जगत् **यस्य प्रदिशि**=जिस अग्नि के प्रशासन में है, **यत् विरोचते**=जो ये ग्रह-नक्षत्रादि अन्तरिक्ष में चमकते हैं **च**=और **यत्**=जो **जातम्**=इस पृथिवी पर उत्पन्न हुआ है और **जनितव्यम्**=भविष्य में उत्पन्न होनेवाला है, वह **केवलम्**=अनन्य साधारणरूप से जिसके प्रशासन में है, मैं उस **अग्निं स्तौमि**=अग्नि की स्तुति करता हूँ। २. **नाथितः**=(नाथ उपतापे, Harsh, trouble) वासनाओं से उपतप्त हुआ-हुआ मैं उस प्रभु को ही **जोहवीमि**=पुकारता हूँ। **सः**=वे प्रभु ही **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चतु**=पाप से मुक्त करें—मेरी शक्ति तो इन काम-क्रोध आदि को जीत सकने की नहीं है।

भावार्थ—प्रभु सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के शासक हैं। मैं प्रभु का ही स्तवन करता हूँ। शत्रुओं से

सन्तप्त किया गया मैं प्रभु को ही पुकारता हूँ। वे प्रभु मुझे पापों से मुक्त करें।

अगले सूक्त का ऋषि भी 'मृगार' ही है—

२४. [चतुर्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**शक्वरीगर्भापुरःशक्वरी** ॥

दाश्वान् सुकृत्

इन्द्रस्य मन्महे शश्वदिदस्य मन्महे वृत्रघ्न स्तोमा उप मेम आगुः।
यो दाशुषः सुकृतो हवमेति स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ १ ॥

१. **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्ययुक्त उस प्रभु का **मन्महे**=हम मनन करते हैं—प्रभु की महिमा का स्मरण करते हैं, **शश्वत्**=पुनः-पुनः **अस्य**=इस प्रभु का **इत्**=ही **मन्महे**=ध्यान करते हैं। **वृत्रघ्नः**=ज्ञान की आवरणभूत वासना का विनाश करनेवाले उस इन्द्र के **इमे**=ये **स्तोमाः**=स्तोत्र **मा**=मुझे **उप आगुः**=समीपता से प्राप्त होते हैं। २. **यः**=जो प्रभु **दाशुषः**=यज्ञों में हवि देनेवाले—दानशील **सुकृतः**=पुण्यकर्मा पुरुष की **हवम्**=पुकार को सुनकर **एति**=प्राप्त होते हैं, **सः नो अंहसः मुञ्चतु**=वे प्रभु हमें पाप से मुक्त करें।

भावार्थ—हम सदा वासना के विनाशक प्रभु का स्तवन करते हैं। दानशील पुण्यात्मा की पुकार को प्रभु अवश्य सुनते हैं। वे प्रभु हमें पाप से मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

येन जितः सिन्धवः, येन गावः

य उग्रीणामुग्रबाहुर्ययुर्यो दानवानां बलमारुरोज।
येन जिताः सिन्धवो येन गावः स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ २ ॥

१. **यः**=जो **उग्रबाहुः**=उद्गूर्णहस्त—तेजस्वी भुजाओंवाला प्रभु **उग्रीणाम्**=उद्गूर्ण—प्रबल शत्रुसेनाओं का **ययुः**=आक्रान्ता है—शत्रुसेनाओं पर आक्रमण करके उन्हें पराजित करनेवाला है। **यः**=जो प्रभु **दानवानाम्**=राक्षसी वृत्तिवालों के **बलम् आरुरोज**=सैन्य का भंग करता है—या सामर्थ्य को नष्ट करता है। २. **येन**=जिस प्रभु के द्वारा हमारे लिए **सिन्धवः**=नदियों को **जिता**=विजय किया जाता है और **येन**=जिस प्रभु से **गावः**=भूमि का विजय किया जाता है। अध्यात्म में **सिन्धवः**=स्यन्दशील रेतःकण हैं तथा **गावः**=ज्ञान की वाणियाँ हैं। प्रभु ही हमारे लिए इन रेतःकणों के रक्षण के द्वारा बुद्धि को तीव्र करके ज्ञान की वाणियों को प्राप्त कराते हैं। **सः नः अंहसः मुञ्चतु**=वे प्रभु हमें पापों से मुक्त करें।

भावार्थ—प्रभु हमारे प्रबल शत्रुसैन्य पर आक्रमण करते हैं, दानवों के बल का भंग करते हैं। ये प्रभु ही हमारे लिए नदियों और भूमियों का विजय करते हैं। वे प्रभु हमें पापों से मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

चर्षणिप्रः, वृषभः, स्वर्वित्

यश्चर्षणिप्रो वृषभः स्वर्विद्यस्मै ग्रावाणः प्रवदन्ति नृम्णम्।
यस्याध्वरः सप्तहोता मदिष्ठः स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ३ ॥

१. **यः**=जो प्रभु **चर्षणिप्रः**=मनुष्यों को अभिमत फलदान से प्रपूरित करनेवाले हैं, **वृषभः**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले हैं, **स्वर्वित्**=प्रकाश (सुख) को प्राप्त करानेवाले हैं,

ग्रावाणः=(विद्वांसः—शत० ३.९.३.१४) ज्ञानी स्तोता **यस्मै**=जिसकी प्राप्ति के लिए **नृम्णम्**=बल (Strength) को साधन रूप से **प्रवदन्ति**=कहते हैं। २. **यस्य**=जिस प्रभु का **सप्तहोता**:='कर्णाविमौ' नासिके चक्षणी मुखम् [नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः] इन सात होताओं से चलाया जानेवाला **अध्वरः**=यह जीवन-यज्ञ **मदिष्ठः**=अतिशयेन आनन्दित करनेवाला है। जीवन को यज्ञ का रूप देते ही वह आनन्दमय बन जाता है। प्रभु ने वस्तुतः यह दिया तो इसीलिए है। **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चतु**=पाप से मुक्त करें।

भावार्थ—वे प्रभु हमारे अभिलषितों को पूर्ण करनेवाले, सुखों के वर्षक व प्रकाश को प्राप्त करानेवाले हैं। सबलता ही प्रभु-प्राप्ति का साधन है। हम जीवन को यज्ञमय बनाकर प्रभु के प्रिय बनते हैं। वे प्रभु हमें पापों से मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वशासः, ऋषभासः, उक्षणः

यस्य॑ व॒शास॑ ऋष॒भास॑ उ॒क्षणो॒ यस्मै॑ मी॒यन्ते॒ स्वर॑वः स्व॒र्विदे॑।
यस्मै॑ शु॒क्रः पव॑ते॒ ब्रह्म॑शुम्भित॒: स नो॑ मुञ्च॒त्वंह॑सः ॥ ४ ॥

१. **यस्य**=जिस प्रभु के व्यक्ति वे हैं जोकि **वशासः**=(वश् to shine) ज्ञान-दीप्ति से चमकते हैं, **ऋषभासः**=(ऋष् to kill) ज्ञानाग्नि द्वारा शत्रुओं का संहार करते हैं और **उक्षणः**=अपने में शक्ति का सेचन करते हैं। **यस्मै**=जिस **स्वर्विदे**=सुख व प्रकाश प्राप्त करानेवाले प्रभु की प्राप्ति के लिए **स्वरवः**=यज्ञ (a sacrifice) **मीयन्ते**=किये जाते हैं। २. **यस्मै**=जिस प्रभु की प्राप्ति के लिए **ब्रह्मशुम्भितः**=ज्ञान के द्वारा अलंकृत किया हुआ—स्वाध्याय की वृत्ति के द्वारा वासना-मल से शून्य किया हुआ **शुक्रः**=वीर्य **पवते**=शरीर में ही गतिवाला होता है, **सः**=वह प्रभु **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चतु**=पाप से पृथक् करें।

भावार्थ—प्रभु को वे प्राप्त होते हैं जो अपने को ज्ञान दीप्त करें, ज्ञानाग्नि में वासनाओं को दग्ध करें, अपने अन्दर शक्ति का सेचन करें व यज्ञशील हों। स्वाध्याय द्वारा वीर्यशक्ति को शरीर में ही सुरक्षित करते हुए हम प्रभु के प्रिय बनें। प्रभु हमें पापों से मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अर्कः, ओजः

यस्य॒ जुष्टिं॑ सो॒मिन॑: का॒मय॑न्ते॒ यं हव॑न्त॒ इषु॑मन्तं॒ गवि॑ष्टौ।
यस्मि॑न्न॒र्कः शि॑श्रि॒ये यस्मि॒न्नोज॒: स नो॑ मुञ्च॒त्वंह॑सः ॥ ५ ॥

१. **सोमिनः**=सोम का (वीर्यशक्ति का) अपने अन्दर रक्षण करनेवाले संयमी पुरुष **यस्य**=जिस प्रभु की **जुष्टिम्**=प्रीतिपूर्वक उपासना को **कामयन्ते**=चाहते हैं, **यम्**=जिस **इषुमन्तम्**=(इष प्रेरणे) उत्कृष्ट प्रेरणा देनेवाले प्रभु को **गविष्टौ**=ज्ञान यज्ञों में **हवन्ते**=पुकारते हैं। प्रभु-प्रेरणा ही वस्तुतः अन्तर्ज्ञान का स्रोत बनती है। २. **यस्मिन्**=जिस प्रभु में **अर्कः**=ज्ञान का सूर्य **शिश्रिये**=आश्रय करता है, **यस्मिन् ओजः**=जिसमें बल आश्रय करता है—प्रभु ही सम्पूर्ण ज्ञान और बल के कोश हैं। **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चतु**=पाप से मुक्त करें।

भावार्थ—सोमरक्षण करनेवाला संयमी पुरुष प्रभु का प्रीतिपूर्वक सेवन करता है, ज्ञान-यज्ञों में इस प्रभु को ही पुकारता है। वे ही ज्ञान व बल के कोश हैं। वे प्रभु हमें ज्ञान और बल देकर पापों से मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'सर्वकर्त्ता सर्वशक्तिमान्' प्रभु

यः प्रथमः कर्मकृत्याय जज्ञे यस्य वीर्यं प्रथमस्यानुबुद्धम्।
येनोद्यतो वज्रोऽभ्यायताहिं स नो मुञ्चत्वंहसः॥ ६॥

१. **यः**=जो **प्रथमः**=सर्वप्रमुख व सर्वव्यापक (प्रथ विस्तारे) प्रभु **कर्मकृत्याय**=सृष्टि रचनादि कर्मों को करने के लिए **जज्ञे**=प्रादुर्भूत हुए हैं। सृष्टि के बनने से पहले विद्यमान होते हुए जो सृष्टि का निर्माण करते हैं। **यस्य प्रथमस्य**=जिस सर्वव्यापक, सर्वाग्रणी प्रभु का **वीर्यम्**=पराक्रम **अनुबुद्धम्**=प्रत्येक पदार्थ के बोध में जाना गया है। सूर्यादि पिण्डों के अन्दर प्रभु की शक्ति ही तो कार्य कर रही है। २. **येन**=जिस प्रभु से **उद्यतः**=उठाया हुआ **वज्रः**=वज्र **अहिम्**=वासनारूप शत्रु के **अभि आयत**=प्रति गतिवाला होता है। प्रभु ही उपासक के शत्रुभूत काम का हनन करते हैं, **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चतु**=पाप से मुक्त करें।

भावार्थ—प्रभु सृष्टि से पहले होते हुए सृष्टिरूप कर्म करते हैं। सूर्यादि पिण्डों में प्रभु का पराक्रम ही दृष्टिगोचर हो रहा है। प्रभु ही उपासक की शत्रुभूत वासना को नष्ट करते हैं। ये प्रभु हमें पाप से मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'संग्राम-नेता, गृहप्रणेता' प्रभु

यः संग्रामान्नयति सं युधे वशी यः पुष्टानि संसृजति द्वयानि।
स्तौमीन्द्रं नाथितो जोहवीमि स नो मुञ्चत्वंहसः॥ ७॥

१. **यः**=जो प्रभु **वशी**=सबको वश में करनेवाले हैं और **युधे**=संहार के लिए **संग्रामान् सं नयति**=संग्रामों को सम्यक् प्राप्त कराते हैं। **यः**=जो प्रभु **पुष्टानि**=शक्ति से खूब समृद्ध **द्वयानि**=स्त्री-पुंपात्मक मिथुनों को **संसृजति**=परस्पर संसृष्ट करते हैं, उन **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् परमैश्वर्यशाली प्रभु को **स्तौमि**=मैं स्तुत करता हूँ। २. **नाथितः**=वासनाओं से उपतप्त हुआ-हुआ उस प्रभु को ही **जेहवीमि**=पुकारता हूँ। **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चतु**=पाप से मुक्त करें।

भावार्थ—प्रभु ही संग्रामों में हमसे युद्ध कराते हैं। प्रभु ही हमें उत्तम सन्तानों को जन्म देने योग्य बनाते हैं। हम प्रभु का स्मरण करते हैं, प्रभु को ही पुकारते हैं। वे हमें पापमुक्त करें।

अगला सूक्त भी 'मृगार' ऋषि का ही है—

२५. [पञ्चविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**वायुसवितारौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'वायु व सूर्य' का यथोचित सेवन

वायोः सवितुर्विदथानि मन्महे यावात्मन्वद्विशथो यौ च रक्षथः।
यौ विश्वस्य परिभू बभूवथुस्तौ नो मुञ्चतमंहसः॥ १॥

१. **वायोः**=(वा गतिगन्धनयोः) गति के द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाले वायुतत्त्व के तथा **सवितुः**=सबको कार्यों में प्रेरित करनेवाले सविता—सूर्यदेव के **विदथानि**=वेदितव्य श्रुतिविहित कर्मों का **मनामहे**=हम मनन करते हैं। श्रुति में वायु व सूर्य के विषय में जो ज्ञान दिया गया है तथा उनके सेवन का जो प्रकार बताया गया है, उसे हम सम्यक् समझने का प्रयत्न करते हैं। **यौ**=जो वायु और सूर्य **आत्मन्वत्**=आत्मावाले स्थावर-जंगम जगत् में **विशथः**=प्रवेश

करते हैं। वायु प्राणरूप से नासिका में प्रवेश करती है तो सूर्य चक्षु बनकर आँखों में प्रवेश करता है **च**=और इसप्रकार शरीर में प्रवेश करके **यौ**=जो वायु और सूर्य **रक्षथः**=सबका रक्षण करते हैं। २. **यौः**=जो दोनों वायु और सूर्य **विश्वस्य**=सम्पूर्ण जगत् के **परिभू**=परिग्रहीता **बभूवथुः**=होते हैं **तौ**=वे दोनों **नः**=हमें **अंहसः**=पापों व कष्टों से **मुञ्चतम्**=मुक्त करें। वायु व सूर्य का सेवन शरीर को नीरोग बनाकर हमें स्वस्थ मनवाला बनाता है। इसप्रकार ये हमें पापों से मुक्त करते हैं।

भावार्थ—वायु व सूर्य का ठीक ज्ञान प्राप्त करके उनके यथोचित सेवन से हम स्वस्थ शरीर व स्वस्थ्य मनवाले बनते हैं और इसप्रकार ये वायु और सूर्य हमें पापवृत्ति से बचाते हैं।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**वायुसवितारौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

रजः युपितम् अन्तरिक्षे

ययोः संख्याता वरिमा पार्थिवानि याभ्यां रजो युपितमन्तरिक्षे।
ययोः प्रायं नान्वानशे कश्चन तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ २ ॥

१. **ययोः**=जिन वायु और सूर्य के **पार्थिवानि**=पृथिवी पर होनेवाले **वरिमा**=महत्त्वपूर्ण कार्य **संख्याता**=लोगों से सम्यक् आख्यात होते हैं—कहे जाते हैं। पृथिवी से उत्पन्न होनेवाले सब वनस्पति वायु व सूर्य की महिमा से ही विकसित होते हैं। **याभ्याम्**=जिन वायु व सूर्य के द्वारा **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्ष में **रजः**=वृष्टि का कारणभूत उदक **युपितम्**=मूर्च्छित हुआ-हुआ धारण किया जाता है २. **ययोः**=जिन वायु और सूर्य के **प्रायम्**=प्रकृष्ट गमन को **कश्चन**=कोई अन्य देव **न अन्वानशे**=अनुगमन करेन के लिए समर्थ नहीं होता **तौ**=वे वायु व सूर्यदेव **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चतम्**=पाप व कष्टों से मुक्त कर दें।

भावार्थ—वायु व सूर्य के महत्त्वपूर्ण कार्य इस पृथिवी पर दृष्टिगोचर होते हैं। इन्हीं के द्वारा अन्तरिक्ष में जल मेघरूप से धारण किया जाता है। इनकी प्रकृष्ट गति अन्य सब देवों को लाँघ जाती है। ये देव हमें पापों से मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**वायुसवितारौ** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरी** ॥

सूर्य के व्रत में

तव व्रते नि विशन्ते जनासस्त्वय्युदिते प्रेरते चित्रभानो।
युवं वायो सविता च भुवनानि रक्षथस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ३ ॥

१. हे सवितः! **जनासः**=लोग **तव व्रते**=तेरे साथ सम्बद्ध तेरे परिचरणात्मक कर्म में **निविशन्ते**=नियम से प्रवृत्त होते हैं, अतः हे **चित्रभानो**=अद्भुत दीप्तिवाले सूर्य! **त्वयि उदिते**=तेरे उदित होने पर लोग **प्रेरते**=प्रकृष्ट गतिवाले होते हैं। सूर्योदय हुआ और सब प्राणी अपने-अपने कर्म में प्रवृत्त होते हैं। २. हे **वायो**=वायुदेव! **च**=और **सविता**=सूर्य **युवम्**=तुम दोनों **भुवनानि रक्षथः**=सब भुवनों का—भूतजात का, प्राणिमात्र का रक्षण करते हो। **तौ**=वे वायु व सूर्य दोनों **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चतम्**=पाप से छुड़ाएँ।

भावार्थ—सब प्राणी सूर्य के व्रत में स्थित होते हैं, सूर्योदय होने पर अपने-अपने कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। वायु और सूर्य हमारा रक्षण करते हैं। ये हमें पाप से बचाएँ।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**वायुसवितारौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सं ऊर्जया, सं बलेन

अपेतो वायो सविता च दुष्कृतमप रक्षांसि शिमिदां च सेधतम्।
सं ह्यू३र्जया सृजथः सं बलेन तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ४ ॥

१. हे **वायो**=वायुदेव! तू **च**=और **सविता**=सूर्यदेव **दुष्कृतम्**=हमारे पाप को **अप इतः**=अपगत करते हो। हे वायो और सूर्य! आप दोनों **रक्षांसि**=रोगकृमियों को व राक्षसीभावों को **च**=और **शिमिदाम्**=(कर्म—नि० २.१, दा लवने) कर्म का खण्डन करनेवाली आलस्यवृत्ति को **अपसेधतम्**=दूर करते हो। २. हे वायु और सूर्य! आप हमें **ऊर्जया**=अन्न-रस से जनित पुष्टि के साथ **संसृजथः**=संसृष्ट करते हो और **हि**=निश्चय से आप हमें **बलेन संसृजथः**=बल से युक्त करते हो। **तौ**=वे आप दोनों **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चतम्**=मुक्त करो।

भावार्थ—वायु और सूर्य दुष्कृतों को, राक्षसीभावों को तथा आलस्य वृत्तियों को दूर करते हैं। ये हमें पुष्टि और बल प्राप्त कराके पाप से बचाते हैं।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**वायुसवितारौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

रयिं महः

रयिं मे पोषं सवितोत वायुस्तनू दक्षमा सुवतां सुशेवम्।
अयक्ष्मतातिं मह इह धत्तं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ५ ॥

१. **सविता उत वायुः**=सूर्य और वायुदेव **मे**=मेरे लिए **रयिम्**=स्वास्थ्यरूप धन को तथा **पोषम्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग की पुष्टि को **सुवताम्**=उत्पन्न करें तथा **तनू**=मेरे शरीर में **सुशेवम्**=उत्तम सुख देनेवाले **दक्षम्**=बल को **आ सुवताम्**=समन्तात् प्रेरित करें। २. तथा हे वायु व सवितादेवो! **अयक्ष्मतातिम्**=नीरोगता को **महः**=तेज को **इह**=यहाँ—यज्ञशील पुरुष के शरीर में **धत्तम्**=धारण करो और **तौ**=वे वायु और सूर्य दोनों देव **नः**=हमें **अंहसः**=पाप और कष्ट से **मञ्चतम्**=मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**वायुसवितारौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सुमति व सोम-संरक्षण

प्र सुमतिं सवितर्वाय ऊतये महस्वन्तं मत्सरं मादयाथः।
अर्वाग्वामस्य प्रवतो नि यच्छतं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ६ ॥

१. हे **सवितः वायो**=सूर्य और वायो! आप दोनों **ऊतये**=रक्षा के लिए **सुमतिम्**=कल्याणी मति (बुद्धि) को **प्र (यच्छतम्)**=दीजिए। हमारे शरीरों में **महस्वन्तम्**=दीप्तिवाले **मत्सरम्**=हर्ष के जनक सोम (वीर्यशक्ति) को **मादयाथः**=पिलाकर आनन्द प्राप्त कराओ। २. इस **वामस्य**=वननीय, सुन्दर व सेवनीय **प्रवतः**=प्रकर्ष को प्राप्त करनेवाली सोम-सम्पत् को **अर्वाग्**=अस्मदभिमुख—हमारे शरीरों के अन्दर ही **नियच्छतम्**=नियमन करो और इसप्रकार **तौ**=वे वायु और सूर्य **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चतम्**=छुड़ा दें।

भावार्थ—वायु और सूर्य के सम्पर्क में रहना हमारी बुद्धि को उत्तम करे तथा सोम (वीर्य) को हमारे शरीरों में ही सुरक्षित करके हमें तेजस्वी व आनन्दयुक्त बनाए। इसप्रकार हमारा जीवन निष्पाप हो।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**वायुसवितारौ** ॥ छन्दः—**पथ्याबृहती** ॥

देवयोः धामन्

उप श्रेष्ठा न आशिषो देवयोर्धामन्नस्थिरन्।
स्तौमि देवं सवितारं च वायुं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ७ ॥

१. **नः**=हमारी **श्रेष्ठः आशिषः**=उत्तम आकांक्षाएँ **देवयोः**=वायु व सूर्यदेव के **धामन्**=तेज में **उपास्थिरन्**=हमें उपस्थित करें—स्थिर करें। हम सदा सूर्य और वायु के सम्पर्क में जीवन बिताते हुए तेजस्वी बनें और हमारी इच्छाएँ शुभ बनी रहें, अर्थात् हमें इन दोनों देवों के सम्पर्क

में शरीर व मन दोनों का स्वास्थ्य प्राप्त हो। २. मैं **देवम्**=दिव्य गुणों से युक्त **सवितारम्**=सूर्य को **च**=और **वायुम्**=वायु को **स्तौमि**=स्तुत करता हूँ। इनके गुणों का ध्यान करते हुए इनके सम्पर्क में रहने का प्रयत्न करता हूँ। **तौ**=वे दोनों **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चतम्**=मुक्त करें।

भावार्थ—हमारी सूर्य व वायु के सम्पर्क में निवास की शुभ इच्छा सदा बनी रहे। इसी से हम तेजस्वी व निष्पाप जीवनवाले बन पाएँगे।

अगले सूक्त में भी 'मृगार' ही ऋषि हैं—

२६. [षड्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी** ॥ छन्दः—**पुरोऽष्टिर्जगती** ॥

'सुभोजसौ, सचेतसौ' द्यावापृथिवी

मन्वे वां द्यावापृथिवी सुभोजसौ सचेतसौ ये अप्रथेथाममिता योजनानि।
प्रतिष्ठे ह्यभवतं वसूनां ते नो मुञ्चतमंहसः॥ १॥

१. हे **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक! आप दोनों **सुभोजसौ**=उत्तमरूप से हमारा पालन करनेवाले हो। द्युलोक हमारे पिता हैं तो पृथिवी माता। ये हम पुत्रों को सब उत्तम भोग प्राप्त कराते हैं तथा **सचेतसौ**=ये चेतना से युक्त हैं, अर्थात् हमें चेतना प्राप्त करानेवाले हैं। मैं **वाम् मन्वे**=आप दोनों के माहात्म्य का मनन करता हूँ। **ये**=जो आप दोनों **अमिता योजनानि**=अनन्त योजनों तक **अप्रथेताम्**=विस्तृत करते हो। २. **हि**=निश्चय से ये द्यावापृथिवी **वसूनाम्**=निवास के लिए आवश्यक सब तत्त्वों के **प्रतिष्ठे अभवतम्**=आधार हों। **ते**=वे आप दोनों **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चतम्**=मुक्त करो।

भावार्थ—द्युलोक व पृथिवीलोक हमारे माता-पिता के समान हैं। ये हमारा पालन करते हैं और हमारी चेतना को ठीक रखते हैं। इनमें सब वसुओं की स्थिति है। ये हमें पाप से बचाएँ।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'प्रवृद्धे-सुभगे' द्यावापृथिवी

प्रतिष्ठे ह्यभवतं वसूनां प्रवृद्धे देवी सुभगे उरूची।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः॥ २॥

हे **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक! आप **हि**=निश्चय से **वसूनाम्**=निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों के **प्रतिष्ठे अभवतम्**=आधार हो। आप दोनों **प्रवृद्धे**=बड़े विशाल, **सुभगे**=उत्तम ऐश्वर्यों से युक्त **देवी**=प्रकाश आदि दिव्य गुणों से युक्त **उरूची**=बड़े विस्तारवाले **भवतम्**=हो। आप दोनों **मे**=मेरे लिए **स्योने भवतम्**=सुख देनेवाले होओ और **ते**=आप दोनों **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चतम्**=पाप से मुक्त करो।

भावार्थ—ये द्यावापृथिवी सब वसुओं के आधार हैं। ये प्रकाश व सौभाग्य प्राप्त करानेवाले हैं। ये विशाल द्यावापृथिवी हमें पाप से बचाएँ।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'असन्तापे सुतपसौ' द्यावापृथिवी

असन्तापे सुतपसौ हुवेऽहमुर्वी गम्भीरे कविभिर्नमस्ये।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः॥ ३॥

१. **असन्तापे**=सब प्राणियों के सन्ताप को हरनेवाले, सन्ताप से रहित **सुतपसौ**=खूब दीप्त,

तेजस्वी **उर्वी**=विस्तीर्ण **गम्भीरे**=गाम्भीर्य से युक्त, अर्थात् 'ये ऐसे हैं' इसप्रकार जिनका पूर्णरूप से ज्ञान होना सम्भव नहीं **कविभिः**=क्रान्तदर्शी ज्ञानियों से **नमस्ये**=नमस्कार के योग्य इन द्यावापृथिवी को **अहम्**=मैं **हुवे**=रक्षा के लिए प्रार्थित करता हूँ। २. ये **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **मे**=मेरे लिए **स्योने**=सुख देनेवाले **भवतम्**=हों और **ते**=वे दोनों **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चतम्**=मुक्त करें।

भावार्थ—ये द्यावापृथिवी सन्ताप से रहित, दीप्त, विशाल व रहस्यमय हैं, ये हमारे लिए सुखद हों और हमें पापों से मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अमृतं हवींषि

ये अमृतं बिभृथो ये हवींषि ये स्रोत्या बिभृथो ये मनुष्या॒न्।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ४ ॥

१. **ये**=जो द्यावापृथिवी **अमृतम्**=अमरण हेतुभूत वृष्टिजल (अमृत) का **बिभृथः**=धारण करते हैं और **ये हवींषि**=जो द्यावापृथिवी त्यागपूर्वक अदन के योग्य सात्त्विक अन्नों को धारण करते हैं **ये**=जो द्यावापृथिवी **स्रोत्याः**=स्रोतस्विनी नदियों को **बिभृथः**=धारण करते हैं और **ये मनुष्यान्**=जो मनुष्यों को धारण करते हैं। २. वे **द्यावापृथिवी**=द्यावापृथिवी **मे**=मेरे लिए **स्योने भवतम्**=सुखद हों, **ते**=वे दोनों **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चतम्**=मुक्त करें।

भावार्थ—द्युलोक अमृत वृष्टिजल को धारण करता है तो पृथिवी पवित्र अन्नों व स्रोतस्विनी नदियों को धारण करती हुई मनुष्यों का धारण करती है। ये दोनों सुख देते हुए हमें पाप से बचाएँ।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उस्त्रियाः+वनस्पतीन् (गोदुग्ध, फल व वानस्पतिक भोजन)

ये उस्त्रिया बिभृथो ये वनस्पतीन्ययोर्वां विश्वा भुवनान्यन्तः।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ५ ॥

१. हे **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोको! **ये**=जो आप **उस्त्रियाः**=गौओं को **बिभृथः**=धारण करते हो, **ये वनस्पतीन्**=जो आप वनस्पतियों को धारण करते हो, **ययोःवाम्**=जिन आप दोनों के **अन्तः**=अन्दर **विश्वा भुवनानि**=सब प्राणियों की स्थिति है, २. वे द्यावापृथिवी **मे**=मेरे लिए **स्योने भवतम्**=सुखद हों और **ते**=वे **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चतम्**=पाप से मुक्त करें।

भावार्थ—माता-पिता के स्थानापन्न ये द्यावापृथिवी हमारे खान-पान के लिए गोदुग्ध तथा विविध वनस्पतियों को प्राप्त कराते हैं। इसप्रकार ये सब प्राणियों का धारण करते हैं। ये हमारे लिए सुख देनेवाले हों और हमें पाप से बचाएँ।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अन्न व जल

ये कीलालेन तर्पयथो ये घृतेन याभ्यामृते न किं चन शक्नुवन्ति।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ६ ॥

१. हे **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलाको! **ये**=जो आप **कीलालेन**=(कीलालम् अन्नम्—नि० २.७) अन्न के द्वारा **तर्पयथः**=प्राणियों को तृप्त करते हो, **ये**=जो आप **घृतेन**=मलों के क्षरण

करनेवाले व स्वास्थ्य की दीप्ति को प्राप्त करानेवाले 'जल' से प्राणियों को तृप्त करते हो, **याभ्याम् ऋते**=जिन अन्न व जल को प्राप्त करानेवाले द्यावापृथिवी के बिना **किं चन न शक्नुवन्ति**=कुछ भी कार्य नहीं कर पाते, २. वे द्यावापृथिवी **मे**=मेरे लिए **स्योने**=सुखद **भवतम्**=हों, **ते**=वे **नः**=हमें **अहंसः**=पाप से **मुञ्चतम्**=मुक्त करें।

भावार्थ—ये द्यावापृथिवी हमारे पोषण के लिए 'अन्न व जल' प्राप्त कराके हमें सब कार्यों को करने के लिए सशक्त बनाते हैं। ये द्यावापृथिवी हमें सुख दें और पाप-मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी** ॥ छन्दः—**शाक्वरगर्भामध्येज्योतिस्त्रिष्टुप्** ॥

पौरुषेयात् न दैवात्

यन्मेदमभिशोचति येनयेन वा कृतं पौरुषेयान्न दैवात्।
स्तौमि द्यावापृथिवी नाथितो जोहवीमि ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ७ ॥

१. **यत्**=जो **इदम्**=यह पाप तथा पाप का फल दुःख **मा**=मुझे **अभिशोचति**=सर्वतः शोकसन्तप्त करता है, **येनयेन वा**=अथवा जिस-जिस पाप से **कृतम्**=उत्पन्न हुआ-हुआ दुःख मुझे सन्तप्त करता है, यह सब दुःख **पौरुषेयात्**=पुरुष से की गई गलती का ही परिणाम है, **न दैवात्**=द्यावापृथिवी आदि देवों से वह कष्ट प्राप्त नहीं होता। द्यावापृथिवी तो हमारे लिए सब उत्तम वस्तुओं को ही प्राप्त कराते हैं। मनुष्य उनका अनुचित प्रयोग करता है और कष्टभोगी होता है। द्यावापृथिवी ने 'गौ' दूध के लिए प्राप्त कराई है न कि उसका मांस खाने के लिए। मनुष्य गोदुग्ध का प्रयोग न करके गोमांस का सेवन करने लगता है और परिणामतः नाना रोगों का शिकार होता है। २. मैं **द्यावापृथिवी स्तौमि**=इन द्यावापृथिवी का स्तवन करता हूँ और **नाथितः**=कष्टों से सन्तप्त होने पर **जोहवीमि**=इन्हें ही पुकारता हूँ। **ते**=वे **द्यावापृथिवी नः**=हमें **अंहसः मुञ्चतम्**=पाप से मुक्त करें।

भावार्थ—कष्ट हमें अपने पापों के कारण होते हैं। द्यावापृथिवी आदि हमें कष्ट नहीं पहुँचाते। इनके द्वारा प्रदत्त वस्तुओं का ठीक प्रयोग करते हुए हम सुखी हों।

अगला सूक्त भी 'मृगार' ऋषि का ही है—

२७. [सप्तविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्राणसाधना से बल का रक्षण व लक्ष्य-प्राप्ति

मरुतां मन्वे अधि मे ब्रुवन्तु प्रेमं वाजं वाजसाते अवन्तु।
आशूनिव सुयमानह्व ऊतये ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥

१. **मरुताम् मन्वे**=शरीर में उनचास भागों में विभक्त होकर विविध कार्यों को करते हुए इन मरुतों (प्राणों) का मैं मनन करता हूँ—इनके महत्त्व को समझने के लिए यत्नशील होता हूँ। वे मरुत् **मे**=मेरे लिए **अधिब्रुवन्तु**='हमारा यह अनुगृह्य है'—इसप्रकार कहें, अर्थात् मैं सदा इन प्राणों का अनुकम्पनीय बना रहूँ। ये मरुत् **वाजसाते**=इस जीवन-संग्राम में मेरे **इमम्**=इस **वाजम्**=बल को **प्र अवन्तु**=प्रकर्षेण रक्षित करें। २. **सुयमान्**=सम्यक् नियन्त्रित **आशून् इव**=मार्ग का शीघ्रता से व्यापन करनेवाले घोड़ों की भाँति मैं इन प्राणों को अपने **ऊतये**=रक्षण के लिए **अह्वे**=पुकारता हूँ। **ते**=वे मरुत् **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चन्तु**=मुक्त करें।

भावार्थ—हम प्राणों के महत्त्व को समझें। ये प्राण ही हमारे बल का रक्षण करते हैं। सुनियन्त्रित अश्वों के समान लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाकर ये हमारा कल्याण करते है। ये हमें पाप-

मुक्त करें। प्राणसाधना दोषदहन करती ही है।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'अक्षित उत्स के विस्तारक' मरुत्

उत्समक्षितं व्यचन्ति ये सदा य आसिञ्चन्ति रसमोषधीषु।
पुरो दधे मरुतः पृश्निमातॄंस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ २ ॥

१. आधिदैविक जगत् में 'मरुत्' वायुओं का नाम है। **ये**=जो मरुत् **सदा**=सदा **उत्सम्**=वृष्टिधारायुक्त मेघ को **अक्षितम्**=क्षयरहित, अर्थात् सदा प्रवृद्ध **व्यचन्ति**=अन्तरिक्ष में विस्तृत करते हैं और इनके द्वारा **ओषधीषु**=ओषधियों-वनस्पतियों में **ये**=जो **रसम्**=वृष्टिजलरूप रस को **आसिञ्चन्ति**=समन्तात् सिक्त करते हैं। २. उन **पृश्निमातॄन्**=अन्तरिक्ष में होनेवाली माध्यमिका वाक् (मेघगर्जना) के बनानेवाले **मरुतः**=इन मरुतों को मैं **पुरः दधे**=सबसे प्रथम स्थापित करता हूँ। इनका मेरे जीवन में सर्वप्रथम स्थान है। इन मरुतों के अभाव में वृष्टि न होने पर सब प्राणियों का जीवन समाप्त ही हो जाए। **ते**=वे मरुत् **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चन्तु**=छुड़ाएँ। अन्न के खूब होने पर किसी के भूखे न रहने से पापवृत्ति कम हो ही जाती है।

भावार्थ—मरुत् अन्तरिक्ष में मेघों का विस्तार करते हैं। उनके द्वारा ये ओषधियों में रस का सेचन करते हैं। इसप्रकार इन मरुतों का हमारे जीवन में प्रमुख स्थान है। ये हमें खूब अन्न प्राप्त कराके पाप-मुक्त जीवनवाला बनाएँ।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'शग्माः स्योनाः' मरुतः

पयो धेनूनां रसमोषधीनां जवमर्वतां कवयो य इन्वथ।
शग्मा भवन्तु मरुतो नः स्योनास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ३ ॥

१. मरुत् प्राण हैं। इनकी साधना से बुद्धि की तीव्रता व ज्ञान-दीप्ति प्राप्त होती है, इसलिए इन्हें यहाँ 'कवयः' कहा गया है। हे **कवयः मरुतः**=क्रान्तदर्शित्व के साधनभूत प्राणो ! **ये**=जो आप **धेनूनां पयः**=गौओं के दूध को तथा **ओषधीनां रसः**=ओषधियों के रस को और परिणामतः **अर्वताम्**=इन्द्रिय-अश्वों के **जवम्**=वेग को, स्फूर्ति से कार्य करने की शक्ति को **इन्वथ**=अपने सब अंगों में व्याप्त करते हो। २. वे मरुत् **नः**=हमारे लिए **शग्माः**=शक्ति देनेवाले तथा **स्योना**=सुख प्राप्त करानेवाले **भवन्तु**=हों। इसप्रकार **ते**=वे **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चन्तु**=मुक्त करें।

भावार्थ—हम प्राणसाधना करते हुए गोदुग्ध व ओषधियों का ही सेवन करें। इससे हमारे इन्द्रियाश्व स्फूर्तियुक्त होंगे। ये प्राण हमें शक्ति व सुख प्राप्त कराएँ। इसप्रकार ये हमें पापमुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'वृष्टिकारक' मरुत्

अपः समुद्राद्दिवमुद्वहन्ति दिवस्पृथिवीमभि ये सृजन्ति।
ये अद्भिरीशाना मरुतश्चरन्ति ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ४ ॥

१. **ये मरुतः**=जो वृष्टि-जलों को लानेवाले वायु **समुद्रात्**=समुद्र से **अपः**=जलों को **दिवम्** **उद्वहन्ति**=मेघों द्वारा अन्तरिक्ष के प्रति प्राप्त कराते हैं और फिर **ये**=जो मरुत् **दिवः**=अन्तरिक्ष से **पृथिवीम् अभि**=पृथिवी का लक्ष्य करके उन जलों को **सृजन्ति**=विसृष्ट करते हैं। २. **अद्भिः**=इन जलों के द्वारा **ईशानाः**=हमारे जीवनों के ईश होते हुए **चरन्ति**=गति करते हैं, **ते**=वे

मरुत् **नः**=हमें **अहंसः**=पाप से **मुञ्चन्तु**=मुक्त करें।

भावार्थ—मरुत् ही समुद्र से जलों को अन्तरिक्ष में ले-जाते हैं। ये ही वहाँ से उस जल को पुनः पृथिवी पर विसृष्ट करते हैं। इसप्रकार जलों के साथ विचरते हुए ये मरुत् हमारे जीवन के ईशान होते हैं। ये हमें प्रभूत अन्न आदि प्राप्त कराके कष्टों व पापों से मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'अन्न में मेदस्तत्त्व के जनक' मरुत्

ये की॒लाले॑न त॒र्पय॑न्ति॒ ये घृ॒तेन॒ ये वा॒ वयो॒ मेद॑सा संसृ॒जन्ति॑।
ये अ॒द्भिरीशा॑ना म॒रुतो॑ व॒र्षय॑न्ति॒ ते नो॑ मुञ्च॒न्त्वंह॑सः ॥ ५ ॥

१. **ये**=जो मरुत् **कीलालेन**=अन्न से **तर्पयन्ति**=हमें प्रीणित करते हैं, **ये**=जो **घृतने**=मलों का क्षरण करनेवाले व स्वास्थ्य की दीप्ति देनेवाले जल से हमें प्रीणित करते हैं, **ये वा**=अथवा जो मरुत् **वयः**=अन्न को **मेदसा**=मेदस्तत्त्व (Fat) से **संसृजन्ति**=संसृष्ट करते हैं, २. **ये मरुतः**=जो मरुत् **अद्भिः**=जलों के द्वारा **ईशानाः**=हमारे जीवनों के ईशान होते हुए **वर्षयन्ति**=जलों की वृष्टि करते हैं, **ते**=वे मरुत् **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चन्तु**=पाप से मुक्त करें।

भावार्थ—मरुत् ही हमें अन्न व जल प्राप्त कराते हैं। ये ही अन्न में मेदस्तत्त्व को पैदा करते हैं। ये वृष्टि करनेवाले मरुत् हमें प्रभूत अन्न आदि प्राप्त कराके पापों से मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मारुतेन दैव्येन

यदी॒दिदं म॑रुतो॒ मारु॑तेन॒ यदि॑ देवा॒ दैव्ये॑ने॒दृगार॑।
यू॒यमी॑शिध्वे वसवस्त॒स्य निष्कृ॑ते॒स्ते नो॑ मुञ्च॒न्त्वंह॑सः ॥ ६ ॥

१. प्राणसाधना करते हुए यदि हठपूर्वक प्राणायाम करने से शरीर में कोई दोष हो जाए तो यह 'मारुत' अपराध कहलाता है। उससे उत्पन्न कष्टों को भी मरुतों ने ही दूर करना है। **इदम्**=यह अनुभूयमान मेरा दुःख हे **मरुतः**=मरुतो ! **मारुतेन**=प्राणों के विषय में किये गये अपराध से **इत्**=ही **ईदृक्**=ऐसा कष्ट **यदि**=यदि **आर**=प्राप्त हुआ है अथवा हे **देवाः**=वायुरूप देवो! **यदि**=यदि यह कष्ट **दैव्येन**=वायु आदि देवों के विषय में किय गये अग्निहोत्र आदि यज्ञों के न करनेरूप पाप से हमें प्राप्त हुआ है तो **यूयम्**=हे मरुतो! आप **तस्य**=उस कष्ट के **निष्कृतेः**=बाहर निकालने व परिहार के लिए **ईशिध्वे**=समर्थ हो। हे मरुतो! आप इन कष्टों का निराकरण करके **वसवः**=हमें उत्तमता से बसानेवाले हो। २. **ते**=वे मरुत् (प्राण) **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चन्तु**=मुक्त करें। **'प्राणायामैर्दहेद् दोषान्'**—प्राणसाधना से दोष दूर होते ही हैं।

भावार्थ—यदि हठपूर्वक प्राणसाधना से कोई कष्ट प्राप्त हुआ है अथवा अग्निहोत्रादि न करने से वृष्टिवाहक मरुतों का कार्य ठीक न होने से कष्ट हुआ है, तो मरुत् ही उन कष्टों को दूर कर हमें पाप-मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उग्रं शर्धः

ति॒ग्ममनी॑कं वि॒दि॒तं सह॑स्व॒न्मारु॑तं॒ शर्धः॒ पृत॑नासू॒ग्रम्।
स्तौमि॑ म॒रुतो॑ नाथि॒तो जो॑हवीमि॒ ते नो॑ मुञ्च॒न्त्वंह॑सः ॥ ७ ॥

१. **मारुतम्**=प्राणों का **अनीकम्**=बल **तिग्मम्**=बड़ा तीव्र है। यह **सहस्वत् विदितम्**=शत्रुओं का मर्षण करनेवाला माना गया है। प्राणसाधना से शरीर में रोगकृमिरूप सब शत्रुओं का नाश होता है तो मानसक्षेत्र में वासनारूप शत्रुओं का मर्षण होता है। यह **शर्धः**=प्राणों का बल **पृतनासु उग्रम्**=संग्रामों में बड़ा उद्गूर्ण—शत्रुओं का नाशक है। २. मैं इन **मरुतः**=प्राणों की **स्तौमि**=स्तुति करता हूँ, **नाथितः**=कष्टों से सन्तप्त हुआ-हुआ **जोहवीमि**=इन प्राणों को ही पुकारता हूँ। **ते**=वे प्राण **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चन्तु**=मुक्त करें।

भावार्थ—प्राणों का बल बड़ा प्रचण्ड है। यह रोगकृमियों व वासनाओं को नष्ट करके हमें व्याधि व आधि के कष्टों से बचाता है। हम इन प्राणों का स्तवन करते हैं। ये हमें पाप से मुक्त करें।

अगले सूक्त का ऋषि भी 'मृगार' है—

२८. [अष्टाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**भवाशर्वौ** ॥ छन्दः—**अतिजागतगर्भाभुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

भव+शर्व

भवाशर्वौ मन्वे वां तस्य वित्तं ययोर्वामिदं प्रदिशि यद्विरोचते।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥

१. 'भवति अस्मात्' इस व्युत्पत्ति से भव का अर्थ है—'सर्वजगत् का उत्पादक प्रभु'। 'शृणाति हिनस्ति सर्वम्' इस व्युत्पत्ति से शर्व का अर्थ है 'प्रलयकर्ता रुद्र'। **भवाशर्वौ मन्वे**=मैं उस उत्पादक और प्रलयकर्त्ता प्रभु का मनन करता हूँ। हे भव और शर्व! **वाम्**=आप **तस्य वित्तम्**=उस मुझसे किये जाते हुए मनन को जानिए। मैं आपका दृग्गोचर बना रहूँ। आपकी कृपादृष्टि मुझे सदा प्राप्त हो। **ययोः वाम्**=जिन आपके **प्रदिशि**=प्रदेशन—प्रशासन में **यत् इदम्**=जो यह सम्पूर्ण जगत् है, वह **विरोचते**=प्रकाशित होता है। **यौ**=जो आप **अस्य द्विपदः ईशाथे**=इस पादद्वयोपेत (दो पाँववाले) प्राणिजगत् के ईश हैं, **यौ**=जो आप **चतुष्पदः**=पादचुष्टयोपेत गवादि के ईश हैं, **तौ**=वे आप **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चतम्**=मुक्त करें।

भावार्थ—हम उत्पादक व प्रलयकर्त्ता प्रभु का स्मरण करें। सब जगत् प्रभु के शासन में ही दीप्त हो रहा है। प्रभु ही द्विपाद् व चतुष्पाद् के ईश हैं। वे प्रभु हमें पाप-मुक्त करें। प्रभु-स्मरण निष्पाप बनाता ही है।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**भवाशर्वौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

इषुभृताम् असिष्ठौ

ययोरभ्यध्व उत यद्दूरे चिद्यौ विदिताविषुभृतामसिष्ठौ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ २ ॥

१. **अभ्यध्वे**=(अभि अध्वनः=अभ्यध्वः समीपदेशे) जो समीप देश में है **उत**=और **यत्**=जो **दूरे चित्**=बहुत ही दूर है, वह सब **ययोः**=जिन भव और शर्व के प्रशासन में है। **यौ**=जो भव और शर्व हैं वे **इषुभृताम्**=अस्त्रधारण करनेवालों में **असिष्ठौ विदितौ**=सर्वोत्तम क्षेप्ता माने गये हैं। इन भव और शर्व के समान शत्रुओं पर वज्रप्रहार कौन कर सकता है? 'भूकम्प व ज्वालामुखी का फटना' आदि इन भव और शर्व के अस्त्र हैं—ये क्षणों में ही विनाश कर देते हैं। २. **यौ**=जो भव और शर्व **अस्य द्विपदः**=इन दो पाँववालों के **ईशाथे**=ईश हैं, **यौ**=जो **चतुष्पदः**=चार पावोंवालों के ईश हैं **तौ**=वे **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चतम्**=मुक्त करें।

भावार्थ—भव और शर्व दूर-से-दूर और समीप-से-समीप सर्वत्र शासकरूप से विद्यमान हैं। ये क्षण में ही वज्रप्रहार द्वारा विनाश कर सकते हैं। वे हमें पापमुक्त करें। इनका चिन्तन हमें पाप-प्रवणता से बचाए।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**भवाशर्वौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'सहस्राक्षा वृत्रहणा' भवाशर्वौ

सहस्राक्षौ वृत्रहणा हुवेऽहं दूरेगव्यूती स्तुवन्नेम्युग्रौ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ३ ॥

१. ये भव और शर्व **सहस्राक्षौ**=अनन्त आँखोंवाले हैं, **वृत्रहणा**=वासनारूप वृत्र के विनष्ट करनेवाले हैं, **अहम्**=मैं इन्हें **हुवे**=पकारता हूँ। **दूरेगव्यूती**=(दूरेगव्यूतिः गोसचारभूमिः ययोः) इन्द्रियरूप गौओं के संचारदेश से ये दूर हैं। इन्द्रियों की पहुँच इन तक नहीं है। ये अतीन्द्रिय हैं। मैं इन **उग्रौ**=उद्‌गूर्ण बलवाले भव और शर्व को **स्तुवन्**=स्तुत करता हुआ **एमि**=जीवन-यात्रा में चलता हूँ। २. **यौ**=जो भव और शर्व **अस्य**=इस **द्विपदः**=द्विपाद् जगत् के **ईशाथे**=ईश हैं और **यौ**=जो **चतुष्पदः**=चतुष्पाद् जगत् के ईश हैं, **तौ**=वे **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चतम्**=पाप से मुक्त करें।

भावार्थ—भव और शर्व अनन्त आँखोंवाले हैं, हमारी वासनाओं को विनष्ट करनेवाले हैं, इन्द्रियातीत व उग्र हैं। मैं इनका स्तवन करता हूँ। ये मुझे पाप से मुक्त करते हैं।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**भवाशर्वौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मानवजन्म व अभिदीप्ति की प्राप्ति

यावारेभाथे बहु साकमग्रे प्र चेदस्राष्ट्रमभिभां जनेषु।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ४ ॥

१. हे भव और शर्व! **यौ**=जो आप **अग्रे**=सृष्टि के प्रारम्भ में **बहु साकम्**=(बहुनां साकं सहभावो यस्मिन्) बहुत-से प्राणियों के सहभाव (जनसंघ) को **आरेभाथे**=आरम्भ—उत्पन्न करते हो **च**=और **जनेषु**=उन उत्पन्न प्राणियों में **अभिभाम्**=अभिदीप्ति को **इत्**=निश्चय से आप ही **प्र अस्राष्ट्रम्**=प्रकर्षेण उत्पन्न करते हो। २. **यौ**=जो आप **अस्य द्विपदः**=इस द्विपाद् जगत् के **ईशाथे**=ईश हो, **यौ**=जो **चतुष्पदः**=चतुष्पाद् जगत् के ईश हो **तौ**=वे दोनों **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चतम्**=मुक्त करें।

भावार्थ—प्रभु ही सृष्टि के आरम्भ में जनसमूह को जन्म देते हैं और उनमें अभिदीप्ति स्थापित करते हैं। वे प्रभु हमें पापों से मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**भवाशर्वौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु का अप्रतिकार्य वध

ययोर्वधान्नापपद्यते कश्चनान्तर्देवेषूत मानुषेषु।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ५ ॥

१. **ययोः**=जिन भव और शर्व के **वधात्**=हनन-साधन आयुध से **न देवेषु अन्तः कश्चन**=न तो सूर्य-चन्द्र, तारे आदि देवों में कोई **उत**=और न ही **मानुषेषु**=मनुष्यों में कोई **अपपद्यते**=भागकर जा सकता है, अर्थात् जब प्रभु प्रलय करते हैं तब कोई बच नहीं सकता। प्रभु सूर्य को समाप्त करेंगे तो सूर्य बच नहीं सकता। इसीप्रकार कोई मनुष्य भी प्रतिरोध करनेवाला नहीं होता। २. **यौ**=जो भव और शर्व **अस्य द्विपदः**=इस द्विपाद् जगत् के **ईशाथे**=ईश हैं, **यौ चतुष्पदः**=जो चतुष्पाद् जगत् के ईश हैं, **तौ**=वे **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चतम्**=मुक्त करें। प्रभु के रुद्ररूप

का स्मरण हमें पाप-भीत करता ही है।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**भवाशर्वौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यातुधान-हिंसन

यः कृत्याकृन्मूलकृद्यातुधानो नि तस्मिन्धत्तं वज्रमुग्रौ।
यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ६ ॥

१. **यः**=जो **कृत्याकृत्**=(कृती छेदने) छेदन-भेदन करनेवाला है और जो **यातुधनः**=पीड़ा पहुँचानेवाला राक्षस **मूलकृत्**=वंशाभिवृद्धि के मूल-सन्तानों को ही नष्ट करनेवाला है, **तस्मिन्**=उस यातुधान पर हे **उग्रौ**=तेजस्वी भव और शर्व! आप **वज्रं निधत्ताम्**=वर्जक आयुध को फेंकिए। इस वज्र द्वारा उसका वध करके उसे समाप्त कीजिए। २. **यौ**=जो आप **अस्य द्विपदः**=इस द्विपाद् प्राणिजगत् के **ईशाथे**=ईश हैं और **यौ**=जो **चतुष्पदः**=चतुष्पाद् प्राणिजगत् के ईश हैं, **तौ**=वे **नः**=हमें **अहंसः**=पाप से **मुञ्चतम्**=मुक्त करें।

भावार्थ—भव और शर्व हिंसक शत्रुओं को नष्ट करें। हमें भी पाप से मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**भवाशर्वौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'किमीदी' का संहार

अधि नो ब्रूतं पृतनासूग्रौ सं वज्रेण सृजतं यः किमीदी।
स्तौमि भवाशर्वौ नाथितो जोहवीमि तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ७ ॥

१. हे **उग्रौ**=उद्गूर्ण बलवाले, तेजस्वी भव और शर्व! आप **पृतनासु**=संग्रामों में **नः**=हमें **अधिब्रूतम्**=आधिक्येन उपदेश कीजिए। काम आदि शत्रुओं से संग्राम होने पर 'हमें क्या करना चाहिए' इसका ज्ञान दीजिए। **यः**=जो **किमीदी**=(किम् इदानीम् उत्पन्नम्, किम् इदानीम् उत्पन्नम् इति रन्ध्रान्वेषी) पर-छिद्रान्वेषी स्वार्थी पुरुष है, उसे **वज्रेण**=वज्र से **संसृजतम्**=संसृष्ट करो—वज्र से समाप्त कर दीजिए। २. मैं **भवाशर्वौ**=उस उत्पादक और पालनकर्त्ता प्रभु का **स्तौमि**=स्तवन करता हूँ। **नाथितः**=वासनाओं से सन्तप्त किया गया मैं उसे **जोहवीमि**=पुकारता हूँ। **तौ**=वे प्रभु **नः**=हमें **अहंसः मुञ्चतम्**=पाप से मुक्त करें।

भावार्थ—प्रभु संग्रामों में शत्रु-विजय के लिए हमें उपदेश करें, पर-छिद्रान्वेषी पुरुष को नष्ट करें। ये प्रभु हमें पाप-मुक्त करें।

अगले सूक्त में भी ऋषि 'मृगार' ही है—

○ २९. [एकोनत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'ऋतवृधौ सचेतसौ' मित्रावरुणौ

मन्वे वां मित्रावरुणावृतावृधौ सचेतसौ द्रुह्वणो यौ नुदेथे।
प्र सत्यावानमवथो भरेषु तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥

१. 'मित्र' शब्द स्नेह का सूचक है, 'वरुण' द्वेष-निवारण व निर्द्वेषता का प्रतीक है। हे **मित्रावरुणौ**=स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! मैं **वां मन्वे**=आपका मनन करता हूँ। आप **ऋतावृधौ**=मेरे जीवन में ऋत (ठीक, यज्ञ) का वर्धन करनेवाले हो तथा **सचेतसौ**=हमारे जीवनों को चेतना (ज्ञान) से युक्त करते हो। आप वे हैं **यौ**=जो **द्रुह्वणः नुदेथे**=द्रोह करनेवालों को हमसे दूर करते हो। २. और **सत्यावानम्** सत्ययुक्त पुरुष को **भरेषु**=संग्रामों में **प्र अवथः**=प्रकर्षेण रक्षित करते

हो। **तौ**=वे आप—मित्र और वरुण **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चतम्**=मुक्त करो।

भावार्थ—हम स्नेह व निर्द्वेषता का पाठ पढ़ें। इससे हममें ऋत व चेतना का वर्धन होगा और द्रोह की भावना समाप्त होकर हमारा जीवन सत्ययुक्त होगा।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'नचृक्षसौ' मित्रावरुणौ

सचेतसौ द्रुह्वणो यौ नुदेथे प्र सत्यावानमवथो भरेषु।
यौ गच्छथो नृचक्षसौ बभ्रुणा सुतं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ २ ॥

१. **सचेतसौ**=हमारे जीवनों को चेतना से युक्त करनेवाले हे मित्र और वरुण! **यौ**=जो आप **द्रुह्वणः**=द्रोह करनेवालों को **नुदेथे**=हमसे दूर करते हो, वे आप **सत्यावानम्**=सत्ययुक्त पुरुष को **भरेषु**=संग्रामों में **प्र+अवथः**=प्रकर्षेण रक्षित करते हो। २. **यौ**=जो आप दोनों **बभ्रुणा**=धारणात्मक कर्मों को करनेवाले पुरुष से किये गये **सुतम्**=यज्ञ को **गच्छथः**=जाते हो **तौ**=वे **नृचक्षसौ**=(नृणां द्रष्टारौ) मनुष्यों के देखनेवाले—उनके हित का ध्यान करनेवाले आप **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चतम्**=मुक्त करो।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता का उपासक बभ्रु=धारणकर्त्ता बनता है। यह धारणात्मक कर्मों को ही करता है। इसका जीवन द्रोहरहित व सत्य से युक्त होता है। यह सभी का ध्यान करता है। ये स्नेह व निर्द्वेषता के भाव हमें पाप-मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अङ्गिरा से वसिष्ठ तक

यावङ्गिरसमवथो यावगस्तिं मित्रावरुणा जमदग्निमत्रिम्।
यौ कश्यपमवथो यौ वसिष्ठं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ३ ॥

१. **मित्रावरुण**=स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! **यौ**=जो आप **अङ्गिरसम् अवथः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाले को रक्षित करते हैं, **यौ**=जो **अग-स्तिम्**=पाप का संघात करनेवाले को रक्षित करते हैं (स्त्यै संघाते), जो आप **जमदग्निम्**=जीमनेवाली है जाठराग्नि जिसकी, अर्थात् अतिभोजन आदि दोषों के कारण जिसकी जाठराग्नि मन्द नहीं हो जाती तथा **अत्रिम्**='काम-क्रोध-लोभ'—इन तीनों से रहित को आप रक्षित करते हो। २. **यौ**=जो आप **कश्यपम्**=(कश्यप=पश्यकः) तत्त्वद्रष्टा ज्ञानी का **अवथः**=रक्षण करते हो, **यौ**=जो आप **वसिष्ठम्**=अपने निवास को उत्तम बनानेवाले को रक्षित करते हो **तौ**=वे आप **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चतम्**=पाप से मुक्त करो।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के भाव हमें 'अङ्गिराः, अगस्ति, जमदग्नि, अत्रि, कश्यप व वसिष्ठ बनाते हैं। ये हमें पाप से मुक्त करते हैं।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

श्यावाश्व से सप्तवध्रि तक

यौ श्यावाश्वमवथो वध्र्यश्वं मित्रावरुणा पुरुमीढमत्रिम्।
यौ विमदमवथः सप्तवध्रिं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ४ ॥

१. **मित्रावरुणा**=स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! **यौ**=जो आप **श्यावाश्वम् अवथः**=(श्यै गतौ) गतिशील इन्द्रियाश्वोंवाले—क्रियाशील पुरुष का रक्षण करते हैं और **वध्र्यश्वम्**=व्रतों की रज्जु से इन्द्रियाश्वों को बाँधनेवाले—जितेन्द्रिय पुरुष का रक्षण करते हो (वध्री=रस्सी), **पुरुमीढम्**=शक्ति

का अपने में खूब ही सेचन करनेवाले का (मिह सेचने) रक्षण करते हो, और **अत्रिम्**='काम-क्रोध-लोभ' से अतीत का रक्षण करते हो, **यौ**=जो आप **विमदम्**=मदशून्य—गर्वरहित—गौरवान्वित पुरुष का **अवथः**=रक्षण करते हो, **सप्तवध्रिम्**=सात रज्जुओंवाले—अपने-आपको सात मर्यादाओं के बन्धनों में बाँधनेवाले को रक्षित करते हो (सप्त मर्यादः कवयस्ततक्षुः०), **तौ**=वे आप मित्र और वरुण **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चतम्**=मुक्त करो।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के भाव हमें श्यावाश्व, पुरुमीढ, अत्रि, विमद व सप्तवध्रि' बनाते हैं। वे हमें पाप-मुक्त करते हैं।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

भरद्वाज से कण्व तक

यौ भरद्वाजमवथो यौ गविष्ठिरं विश्वामित्रं वरुण मित्र कुत्सम्।
यौ कक्षीवन्तमवथः प्रोत कण्वं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ५ ॥

१. **वरुण मित्र**=निर्द्वेषता व स्नेह के भावो! **यौ**=जो आप **भरद्वाजम् अवथः**=अपने में शक्ति का भरण करनेवाले को रक्षित करते हो, **यौ**=जो आप **गविष्ठिरम्**=वेदात्मिका वाणी में स्थिर पुरुष का रक्षण करते हो—ज्ञानी पुरुष का रक्षण करते हो, **विश्वामित्रम्**=सबके प्रति स्नेह करनेवाले का रक्षण करते हो और **कुत्सम्**=वासनाओं का संहार करनेवाले का रक्षण करते हो। २. **यौ**=जो आप **कक्षीवन्तम्**=प्रशस्त कटिबन्धन—रज्जुवाले—कमर कसे हुए दृढ़ निश्चयी पुरुष का **अवथः**=रक्षण करते हो **उत**=और **कण्वम्**=कण-कण करके ज्ञान का सञ्चय करनेवाले मेधावी पुरुष का **प्र**=प्रकर्षेण रक्षण करते हो, **तौ**=वे आप **नः**=हमें **अंहसः**=पाप से **मुञ्चतम्**=मुक्त करें।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के भाव हमें 'भरद्वाज, गविष्ठिर, विश्वामित्र, कुत्स, कक्षीवान् व कण्व' बनाते हैं। वे हमें पाप से मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'मेधातिथि से मुद्गल' तक

यौ मेधातिथिमवथो यौ त्रिशोकं मित्रावरुणावुशनां काव्यं यौ।
यौ गोतममवथः प्रोत मुद्गलं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ६ ॥

१. हे **मित्रावरुणौ**=स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! **यौ**=जो आप **मेधातिथिम्**=(मेधां अतति) निरन्तर बुद्धि की ओर चलनेवाले को **अवथः**=रक्षित करते हो, अर्थात् स्नेह व निर्द्वेषता को अपनानेवाला बुद्धिमान् बनता है। **यौ**=जो आप **त्रिकशोकम्**='शरीर, मन व बुद्धि' तीनों को दीप्त करनेवाले को रक्षित करते हो, **यौ**=जो आप **उशनाम्**=(वष्टि) प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामनावाले पुरुष को रक्षित करते हो, और **काव्यम्**=(कौति) प्रभु-नामों का उच्चारण करनेवाले ज्ञानी भक्त का रक्षण करते हो। २. **यौ**=जो आप **गोतमम्**=अतिशयेन प्रशस्त इन्द्रियोंवाले का **अवथः**=रक्षण करते हो **उत**=और **मुद्गलम्**=(मुदं गलति Drops) सांसारिक मौजों को अपने जीवन से पृथक् कर देता है, उस मुद्गल को आप **प्र**=प्रकर्षेण रक्षित करते हो, **तौ**=वे आप **नः**=हमें **अंहसः** **मुञ्चतम्**=पाप से मुक्त करें।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता के भाव हमें 'मेधातिथि, त्रिशोक, उशना, काव्य, गोतम व मुद्गल' बनाते हैं। ये हमें पापों से मुक्त करें।

ऋषिः—**मृगारः** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**शक्वरीगर्भाऽतिजगती** ॥

मित्रावरुण का 'सत्यवर्त्मा ऋजुरश्मि' रथ

यय़ो रथः सत्यवर्त्मर्जुरश्मिमिर्थुया चरन्तमभियाति दूषयन्।
स्तौमि मित्रावरुणौ नाथितो जोहवीमि तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ७ ॥

१. **ययोः**=जिन मित्र और वरुण का—स्नेह व निर्द्वेषता के दिव्य भावों का **रथः**=रथ **सत्यवर्त्मा**=सत्य के मार्गवाला है और **ऋजुरश्मिः**=अकुटिल प्रग्रहों-(लगामों)-वाला है। यह रथ **मिथुया चरन्तम्**=असत्य व्यवहारवाले को **दूषयन्**=दूषित करने के हेतु से **अभियाति**=उसकी ओर आता है—उसपर आक्रमण करता है, अर्थात् स्नेह व निर्द्वेषता का व्रती सत्य व ऋजुता (सरलता) को अपनाता है। यह मिथ्याव्यवहार को आक्रान्त करके दूषित करता है। मैं इन **मित्रावरुणौ**=स्नेह व निर्द्वेषता के भावों को **स्तौमि**=स्तुत करता हूँ—इनके महत्त्व का गायन करता हूँ। **नाथितः**=वासनाओं से सन्तप्त किये जाने पर **जोहवीमि**=मैं इन्हें पुकारता हूँ। **तौ**=वे **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चतम्**=पाप से मुक्त करें।

भावार्थ—स्नेह व निर्द्वेषता का व्रती सत्य व सरलता को अपनाता हुआ मिथ्या व्यवहार को अपने से दूर करता है। स्नेह व निर्द्वेषता का स्तवन करता हुआ यह पापों से मुक्त रहता है।

विशेष—पापमुक्त होकर अपने अन्दर आत्मतत्त्व को देखनेवाला यह व्यक्ति 'अथर्वा' (अथ अर्वाङ्) बनता है। अगले सूक्त का यही ऋषि है। यह प्रभु से इसप्रकार उपदिष्ट होता है—

३०. [त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सर्वरूपा सर्वात्मिका सर्वदेवमयी वाक्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

देवों के साथ महादेव

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥ १ ॥

१. प्रभु कहते हैं कि **अहम्**=मैं **रुद्रेभिः वसुभिः चरामि**=रुद्रों व वसुओं के साथ गति करता हूँ। **अहम्**=मैं ही **आदित्यैः**=आदित्यों के साथ **उत**=और **विश्वदेवैः**=सब देवों के साथ गति करता हूँ। जब कोई उपासक मुझे प्राप्त करता है तो इन सब देवों को भी प्राप्त करता है अथवा जो इन देवों को प्राप्त करने का यत्न करता है, वही मुझे प्राप्त करता है। देवों को—दिव्य भावों को प्राप्त करनेवाला ही तो महादेव की प्राप्ति का अधिकारी होता है। २. **अहम्**=मैं **मित्रावरुण उभा**=स्नेह व निर्द्वेषता की भावनाओं को—दोनों वृत्तियों को **बिभर्मि**=धारण करता हूँ। प्रभु का उपासक किसी के प्रति द्वेषवाला नहीं होता, वह सबके प्रति स्नेहवाला होता है। **अहम्**=मैं **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि का धारण करता हूँ। प्रभु का उपासक **इन्द्र**=जितेन्द्रिय होता है तथा **अग्नि**=प्रगतिशील होता है। यह शक्ति (इन्द्र) व प्रकाश (अग्नि) का पुञ्ज बनता है। **अहम्**=मैं **अश्विना उभा**=प्राण और अपान दोनों का धारण करता हूँ। प्रभु का उपासक प्राणापान की साधना द्वारा आधिव्याधि-शून्य जीवनवाला बनता है।

भावार्थ—हम रुद्र बनें (रुत् द्र)—रोगों को अपने से दूर भगाएँ, वसु बनें—उत्तम निवास-वाले हों, आदित्य बनें—गुणों का आदान करें, सब दिव्यताओं को अपनाने के लिए यत्नशील हों—ऐसा करने पर प्रभु का हमारे साथ निवास होगा। प्रभु की उपासना ही हमें इन दिव्य गुणों को प्राप्त कराएगी।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सर्वरूपा सर्वात्मिका सर्वदेवमयी वाक्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'सबके शासक, सबके आधार' प्रभु

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तः ॥ २ ॥

१. **अहम् राष्ट्री**=मैं ही इस विश्वराष्ट्र की शासिका—ईश्वरी हूँ, **वसूनां संगमनी**=सब वसुओं को—निवास के लिए धनों को प्राप्त करानेवाली हूँ, **चिकितुषी**=ज्ञानवाली हूँ, अतएव **यज्ञियानां प्रथमा**=उपास्यों में प्रथम हूँ। २. **ताम्**=उस **मा**=मुझे **देवाः**=देववृत्ति के लोग **पुरुत्रा**=पालन व पूरण के दृष्टिकोण से खूब ही **व्यदधुः**=धारण करते हैं। उस मुझे धारण करते हैं जोकि **भूरिस्थात्राम्**=पालक व पोषकरूप में सर्वत्र स्थित हूँ तथा **भूरि आवेशयन्तः**=पालक व पोषक तत्त्वों को सब जीवों में प्रवेश करानेवाली हूँ। प्रभु सूर्यादि देवों को भी देवत्व प्राप्त कराते हैं तथा सब जीवों का पोषण भी वही करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सबके शासक और सबके आधार हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सर्वरूपा सर्वात्मिका सर्वदेवमयी वाक्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उग्र ऋषि, ब्रह्मा व सुमेधा

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवानामुत मानुषाणाम्।
यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥ ३ ॥

१. **अहम् स्वयम् एव**=मैं स्वयं ही **इदं वदामि**=इस ज्ञान को उच्चारित करता हूँ, जो ज्ञान **देवानां जुष्टम्**=देवताओं से प्रीतिपूर्वक सेवित होता है **उत**=और **मानुषाणाम्**=विचारशील पुरुषों से सेवित हुआ करता है। प्रभु अग्नि आदि देवों के हृदयों में इस ज्ञान का प्रकाश कर देते हैं। अग्नि आदि से यह ज्ञान विचारशील पुरुषों को प्राप्त होता है। २. **यं कामये**=जिन्हें मैं चाहता हूँ, जो मेरे प्रिय बनते हैं **तं तम् उग्रं कृणोमि**=उन-उनको मैं तेजस्वी बनाता हूँ, **तं ब्रह्माणम्**=उसे ज्ञानी बनाता हूँ, **तम् ऋषिम्**=उसे तत्त्वद्रष्टा व गतिशील बनाता हूँ, **तं सुमेधाम्**=उसे उत्तम मेधावाला बनाता हूँ।

भावार्थ—प्रभु सृष्टि के आरम्भ में अग्नि आदि देवों को वेद-ज्ञान प्रदान करते हैं। उनसे यह ज्ञान मनुष्यों को प्राप्त होता है। हम प्रभु-प्रिय बनते हैं तो वे प्रभु हमें 'उग्र, ब्रह्मा, ऋषि व सुमेधा' बनाते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सर्वरूपा सर्वात्मिका सर्वदेवमयी वाक्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सर्वपालक प्रभु

मया सोऽन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणति य ईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धेयं ते वदामि ॥ ४ ॥

१. **सः**=वह **मया**=मुझसे ही **अन्नम् अत्ति**=अन्न खाता है, **यः**=जो **विपश्यति**=देखता है। वे प्राणी जो देखते हैं—कुछ समझते नहीं, वे अत्यन्त स्थिर-सी अवस्था में पड़े हुए क्षुद्र जन्तु मुझसे ही भोजन खाते—प्राप्त करते हैं। इसीप्रकार **यः**=जो **प्राणति**=श्वासोच्छ्वास लेते हुए जीवन बिता रहे हैं, वे भी मुझसे ही अन्न प्राप्त करते हैं। केवल देखनेवालों से ये कुछ उत्कृष्ट हैं। इनसे भी उत्कृष्ट वे हैं, **ये**=जो **ईम्**=निश्चय से **उक्तम् शृणोति**=कहे हुए को सुनता है। इसप्रकार श्रवण से ज्ञान की वृद्धि करनेवाले मनुष्य भी मुझसे ही अन्न खाते हैं। २. **ते अमन्तवः**=वे मनन व विचार से शून्य लोग—अतएव मुझे न माननेवाले—भोगप्रधान वृत्तिवाले लोग भी **माम्**

उपक्षियन्ति=मेरे आधार से ही निवास करते हैं। मेरे आधार से जीते हुए भी वे माया से मोहित हुए-हुए मुझे नहीं देखते, परन्तु प्रभु का प्रिय पुत्र तो वही है जो मायामूढ़ न बनकर प्रभु की प्रेरणा को सुनता है। 'अमन्तवः' शब्द का अर्थ मन्तुरहित (आगोऽपराधो मन्तुश्च), अर्थात् अपराधरहित निर्दोष भी है, **ते**=वे निर्दोष जीवनवाले व्यक्ति **माम् उपक्षियन्ति**=मेरे समीप निवास करते हैं। जितने-जितने हम निर्दोष होते जाते हैं, उतने-उतने ही प्रभु के प्रिय बनते जाते हैं। हे **श्रुत**=अन्त:स्थित प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाले जीव! **श्रुधि**=सुन। **श्रद्धेयम्**=श्रद्धा से लभ्य आत्मज्ञान को मैं **ते वदामि**=तेरे लिए कहता हूँ। प्रभु की वाणी को सुननेवाला श्रद्धावान् पुरुष ही ज्ञान प्राप्त करता है।

भावार्थ—केवल देखनेवाले, श्वासोच्छ्वास लेनेवाले तथा सुनकर ज्ञान प्राप्त करनेवाले—सभी प्रभु से ही अन्न प्राप्त करते हैं। मननरहित भोगप्रधान पुरुषों को भी प्रभु ही भोजन देते हैं और श्रद्धायुक्त होकर उपासक प्रभु से ही आत्मज्ञान प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सर्वरूपा सर्वात्मिका सर्वदेवमयी वाक्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'संग्राम-विजेता' प्रभु

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥ ५ ॥

१. राष्ट्र में प्रजाओं के कष्टों का निवारण करनेवाला राजा रुद्र है (रुत् कष्टं द्रावयति)। यह अपने धनुष् से प्रजा-पीड़कों का संहार करता है। इसके लिए धनुष आदि साधनों को प्राप्त करानेवाले प्रभु ही हैं। **अहम्**=मैं ही **रुद्राय**=प्रजा-कष्ट-निवारक इस राजा के लिए **धनुः**=धनुष् को **आतनोमि**=ज्या इत्यादि से युक्त करता हूँ, जिससे यह राजा **ब्रह्मद्विषे**=ज्ञान के साथ प्रीति न रखनेवाले **शरवे**=हिंसक पुरुष के **हन्तवा उ**=हनन के लिए निश्चय से समर्थ हो सके। इसप्रकार राजा राष्ट्र की उन्नति में विघ्नभूत लोगों को उचित दण्ड देने का सामर्थ्य उस प्रभु से ही प्राप्त करता है। २. लोगों का जो अपने अन्त:शत्रु काम-क्रोध आदि से युद्ध चलता है, उस युद्ध में भी प्रभु ही विजय प्राप्त कराते हैं। **अहम्**=मैं ही **जनाय**=लोगों के लिए **समदं कृणोमि**=संग्राम करता हूँ। वस्तुतः काम आदि शत्रुओं का संहार प्रभु ही करते हैं। **अहम्**=मैं ही **द्यावापृथिवी आविवेश**=सम्पूर्ण द्युलोक व पृथिवीलोक में व्याप्त हो रहा हूँ। सर्वत्र मेरी ही शक्ति काम कर रही है।

भावार्थ—राजा को राष्ट्र-पालन की शक्ति प्रभु से ही प्राप्त होती है। मनुष्यों को काम-क्रोध आदि को जीतने की शक्ति भी प्रभु ही देते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सर्वरूपा सर्वात्मिका सर्वदेवमयी वाक्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'हविष्मान्, यजमान, सुन्वन्'

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
अहं दधामि द्रविणा हविष्मते सुप्राव्या३ यजमानाय सुन्वते ॥ ६ ॥

१. **अहम्**=मैं **सोमम्**=उस सोम (वीर्यशक्ति) को उपासकों के शरीर में **बिभर्मि**=धारण करता हूँ जोकि **आहनसम्**=शरीर के सब रोगों का हनन करनेवाला है। **अहं त्वष्टारम्**=मैं निर्माण की देवता को **उत**=और **पूषणं भगम्**=पोषण के लिए आवश्यक ऐश्वर्य को धारण करता हूँ, **अहं**=मैं **हविष्मते**=हविष्मान् के लिए—सदा दानपूर्वक अदन (भोग) करनेवाले के लिए **द्रविणा दधामि**=धनों का धारण करता हूँ, इस हविष्मान् को धनों की कमी नहीं रहती। **सुन्वते**=अपने

अन्दर सोमशक्ति का सम्पादन करनेवाले **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए मैं **सुप्राव्या**=उत्तमता से प्रकृष्ट रक्षण करनेवाले धनों का धारण करता हूँ। 'सुन्वन्' का भाव 'निर्माणात्मक कर्मों को करना' भी है। इस निर्माण के कार्य में लगे हुए व्यक्ति के लिए भी प्रभु धनों की कभी कमी नहीं होने देते।

भावार्थ—प्रभु वीर्यशक्ति प्राप्त कराके उपासक को नीरोग बनाते हैं, उसे निर्माणात्मक कार्यों में प्रवृत्त करके पोषण के लिए पर्याप्त धन प्राप्त कराते है। प्रभु 'हविष्मान्, यजमान व सुन्वन्' पुरुष को उत्तम धन प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सर्वरूपा सर्वात्मिका सर्वदेवमयी वाक्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'सूर्य व जलों के निर्माता' प्रभु

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्व१न्तः समुद्रे।
ततो वि तिष्ठे भुवनानि विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि॥ ७॥

१. **अहम्**=मैं **अस्य**=इन जगत् के **मूर्धन्**=मस्तकरूप आकाश में—द्युलोक में **पितरम्**=इस पालक सूर्य को **सुवे**=उत्पन्न करता हूँ—'**प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः**'—यह सूर्य ही सब प्रजाओं का प्राण है। २. **मम**=मेरा **योनिः**=गृह **अप्सु अन्तः**=जलो के अन्दर **समुद्रे**=समुद्र में है। जल व समुद्रों में भी मेरा ही वास है। मेरे ही कारण उनमें रस है—'रसोऽहमप्सु कौन्तेय'। ३. **ततः**=इसप्रकार सूर्य व जलों का निर्माण करके **विश्वा भुवनानि**=सब भुवनों में **वितिष्ठे**=मैं स्थित होता हूँ। **उत**=और **वर्ष्मणा**=मैं अपने शरीर-प्रमाण से **अमूं द्याम्**=उस सुदूरस्थ द्युलोक को **उपस्पृशामि**=छूता हूँ। वस्तुतः यह द्युलोक मेरे विराट् शरीर का मूर्धा ही तो है।

भावार्थ—प्रभु सूर्य को द्युलोक में स्थापित करते हैं। प्रभु ही जलों में रसरूप से स्थित हैं। वे सब लोकों में व्याप्त हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सर्वरूपा सर्वात्मिका सर्वदेवमयी वाक्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

एतावनस्य महिमा, अतो ज्यायाँश्च पूरुषः

अहमेव वातइव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिम्ना सं बभूव॥ ८॥

१. **अहम् एव**=मैं ही **विश्वा भुवनानि आरभमाणा**=सब भुवनों को बनाता हुआ **वातःइव प्रवामि**=वायु की भाँति गतिवाला होता हूँ। जिस प्रकार वायु निरन्तर चल रही है, इसीप्रकार प्रभु की क्रिया भी स्वाभाविक है। वे अपनी इस क्रिया से ब्रह्माण्ड का निर्माण करते हैं। इस निर्माण-कार्य में उन्हें किसी दूसरे की सहायता अपेक्षित नहीं होती। २. वे प्रभु **दिवा परः**=इस द्युलोक से परे भी हैं और **एना पृथिव्या परः**=इस पृथिवी से भी परे हैं। ये द्युलोक और पृथिवीलोक प्रभु को अपने में नहीं समा पाते। **महिम्ना**=अपनी महिमा से वह प्रभु-शक्ति **एतावती**=इतनी **संबभूव**=है, अर्थात् प्रभु की महिमा इस ब्रह्माण्ड के अन्दर ही दीखती है, ब्रह्माण्ड से परे तो प्रभु का अचिन्त्य, निर्विकार, निराकार रूप ही है।

भावार्थ—प्रभु अपनी स्वाभाविकी क्रिया से इस ब्रह्माण्ड का निर्माण करते हैं। यह ब्रह्माण्ड प्रभु की महिमा है, प्रभु इससे सीमित नहीं हो जाते, वे इससे परे भी हैं।

विशेष—यह ब्रह्म का विचार करनेवाला 'ब्रह्मा' बनता है। वासनाओं पर आक्रमण करने से यह 'स्कन्द' कहलाता है। यह 'ब्रह्मास्कन्दः' अगले सूक्त का ऋषि है—

इत्यष्टमः प्रपाठकः

अथ नवमः प्रपाठकः

३१. [एकत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मास्कन्दः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अग्निरूप नरों का उपप्रयाण

त्वया मन्यो सरथमारुजन्तो हर्षमाणा हृषितासो मरुत्वन्।
तिग्मेषव आयुधा संशिशाना उप प्र यन्तु नरो अग्निरूपाः॥ १॥

१. हे **मन्यो**=ज्ञान! **त्वया**=तेरे साथ **सरथम्**=समान रथ पर आरूढ़ हुए-हुए **आरुजन्तः**=समन्तात् शत्रुओं को नष्ट करते हुए **हर्षमाणाः**=आनन्द का अनुभव करते हुए **हृषितासः**=शत्रु-संहार के लिए अस्त्रों से सुसज्जित (armed) **नरः**=मनुष्य **उपप्रयन्तु**=अभ्युदय व निःश्रेयस-सम्बन्धी क्रियाओं के प्रति प्राप्त हों। २. हे **मरुत्वन्**=प्राणोंवाले—प्राणसाधना से बुद्धि की तीव्रता को प्राप्त होनेवाले **मन्यो**=ज्ञान! **तिग्मेषवः**=तीव्र (इषु) प्रेरणाओंवाले—प्रभु-प्रेरणाओं को ठीक से सुननेवाले, आयुधा **संशिशानाः**=इन्द्रिय, मन व बुद्धिरूप अस्त्रों को तीव्र करते हुए **अग्निरूपाः**=अग्नि के समान तेजस्वी अथवा उस अग्निनामक प्रभु के ही छोटेरूप बने हुए ये लोग (उप प्रयन्तु) प्रभु के समीप प्राप्त हों।

ऋषिः—**ब्रह्मास्कन्दः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

'सेनापति' ज्ञान

अग्निरिव मन्यो त्विषितः सहस्व सेनानीर्नः सहुरे हूत एधि।
हत्वाय शत्रून्वि भजस्व वेद ओजो मिमानो वि मृधो नुदस्व॥ २॥

१. हे **मन्यो**=ज्ञान! **अग्निः इव**=अग्नि के समान **त्विषितः**=दीप्तिवाला होता हुआ तू **सहस्व**=हमारे शत्रुओं का पराभव कर। हे **सहुरे**=शत्रुओं का पराभव करनेवाले ज्ञान! **हूतः**=पुकारा गया तू **नः**=हमारा **सेनानीः**=सेनापति **एधि**=हो। ज्ञान ही वस्तुतः उन सब साधनों में मुख्य है जो वासनाओं का नाश करनेवाले हैं। २. **शत्रून्**=काम-क्रोध आदि सब शत्रुओं को **हत्वाय**=नष्ट करके **वेदः**=जीवन-धन को **विभजस्व**=विशेषरूप से हमें प्राप्त करा। काम-क्रोध आदि से भरा जीवन जीवन ही प्रतीत नहीं होता। ज्ञान इन काम-क्रोध आदि को नष्ट करता है और हमारे लिए उत्कृष्ट जीवन-धन को प्राप्त कराता है। ३. **ओजः मिमानः**=हमारे जीवनों में ओजस्विता का निर्माण करते हुए **मृधः**=हिंसक शत्रुओं को **विनुदस्व**=विशेषरूप से दूर धकेल दे। ज्ञान हमें ओजस्वी बनाता है और काम आदि शत्रुओं के संहार के लिए समर्थ करता है।

भावार्थ— ज्ञान हमारा सेनापति बनता है और इन्द्रियों, मन व बुद्धि आदि साधनों द्वारा शुत्रओं को नष्ट कर डालता है।

ऋषिः—**ब्रह्मास्कन्दः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ज्ञान द्वारा अभिमान का विनाश

सहस्व मन्यो अभिमातिमस्मै रुजन्मृणन्प्रमृणन्प्रेहि शत्रून्।
उग्रं ते पाजो नन्वा रुरुध्रे वशी वशं नयासा एकज त्वम्॥ ३॥

१. हे **मन्यो**=ज्ञान! तू **अस्मै**=हमारे लिए **अभिमातिम्**=अभिमानरूप शत्रु को **सहस्व**=कुचल डाल। **शत्रून्**=इन काम-क्रोध आदि शत्रुओं को **रुजन्**=भग्न करते हुए **मृणन्**=कुचलते हुए और **प्रमृणन्**=एकदम मसलते हुए **प्रेहि**=प्रकर्षेण आगे बढ़नेवाला हो। २. **ते पाजः**=तेरी शक्ति

उग्रम्=अत्यन्त तेजोमय है। यह **नु**=अब न **आरूरुज्रे**=रोकी नहीं जा सकती अथवा यह निश्चय से शत्रुओं का निरोध करती है। **त्वम्**=तू **एकज**=अकेला ही **वशी**=सब शत्रुओं को वश में करनेवाला है और **वशं नयासा**=सब शत्रुओं को वशीभूत करता है।

भावार्थ—ज्ञानोपर्जन द्वारा हम अभिमानरूप शत्रु को दूर करें। यह ज्ञान हमारे काम-क्रोधादि सब शत्रुओं को भस्म कर दे।

ऋषिः—**ब्रह्मास्कन्दः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

ज्ञान+उपासना=विजय

एको बहूनामसि मन्य ईडिता विशंविशं युद्धाय सं शिशाधि।
अकृत्तरुक्त्वया युजा वयं द्युमन्तं घोषं विजयाय कृण्मसि॥ ४॥

१. हे **मन्यो**=ज्ञान। **ईडिता**=प्रभु का पूजक होता हुआ तू **एकः**=अकेला ही **बहूनाम्**=काम-क्रोध आदि बहुत-से शत्रुओं का **असि**=पराभव करने में समर्थ है तू **विशंविशम्**=प्रत्येक प्रजा को **युद्धाय**=इन कामादि शत्रुओं से युद्ध करने के लिए **संशिशाधि**=सम्यक् तीक्ष्ण करता है। जब तक मनुष्य ज्ञानोपासना में नहीं चलता तब तक वह काम-क्रोध आदि को शत्रुओं में समझता ही नहीं, उन्हें पराजित करने का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता। ज्ञान व उपासना के आते ही वह इन काम-क्रोध आदि को शत्रुरूप में देखने लगता है और अब वह इनके साथ युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाता है। २. यह ज्ञान **अकृत्तरुक्**=अविच्छिन्न क्रान्तिवाला है। यह ज्ञानी पुरुष प्रभु से यही प्रार्थना करता है कि हे ज्ञानपुञ्ज प्रभो (मन्यो)! **त्वया युजा**=तुझ साथी के साथ **वयम्**=हम **विजयाय**=विजय के लिए **द्युमन्तं घोषम्**=ज्योतिर्मय स्तोत्रोच्चारणों को **कृणमहे**=करते हैं। जब हमारा स्तवन ज्ञानपूर्वक होता है तब यह स्तवन हमें इन शत्रुओं को पराजित करने में समर्थ करता है।। इस विजय के लिए हम ज्ञानपूर्वक स्तवन में प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ=ज्ञान ही हमें काम-क्रोध आदि शत्रुओं के उच्छेद के लिए समर्थ करता है।

ऋषिः—**ब्रह्मास्कन्दः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'ज्ञान की चरमसीमा' प्रभु

विजेषकृदिन्द्रइवानवब्रवो३ऽस्माकं मन्यो अधिपा भवेह।
प्रियं ते नाम सहुरे गृणीमसि विद्मा तमुत्सं यत आबभूथ॥ ५॥

१. हे **मन्यो**=ज्ञान! तू **विजेषकृत्**=विजय प्राप्त करनेवाला है **इन्द्रः इव**=एक जितेन्द्रिय पुरुष की भाँति तुझे **अनवब्रवः**=हुँकार द्वारा पराजित करके भगाया नहीं जा सकता। काम-क्रोधादि की हुँकार तुझे उसी प्रकार भयभीत नहीं कर पाती जैसेकि एक जितेन्द्रिय पुरुष को आसुरवृत्तियाँ पराजित नहीं कर पातीं। हे ज्ञान! तू **इह**=इस जीवन-यज्ञ में **अस्माकम्**=हमारा **अधिपाः भव**=रक्षक हो। २. हे **सहुरे**=शत्रुओं का मर्षण करनेवाले ज्ञान! हम **ते**=तेरे **प्रियम्**=प्रिय **नाम गृणीमसि**=नाम का उच्चारण करते हैं, अर्थात् ज्ञान की महिमा को हृदय में अंकित करने के लिए आपका स्तवन करते हैं और ज्ञान के महत्त्व को समझते हुए **तम् उत्सम्**=उस स्रोत को भी **विद्म**=जानते हैं **यतः आबभूथ**=जहाँ से कि यह ज्ञान उत्पन्न होता है। इस ज्ञान के स्रोत प्रभु का ज्ञान ही ज्ञान की चरमसीमा है। यहाँ पहुँचने पर सब पापों का ध्वंस हो जाता है।

भावार्थ—ज्ञान काम आदि का पराभाव व ध्वंस करता है। यही हमारा रक्षक है। ज्ञान के स्रोत प्रभु का दर्शन ही ज्ञान की चरमसीमा है, एवं ज्ञान-प्राप्ति ही उपासना है।

ऋषिः—ब्रह्मास्कन्दः ॥ देवता—मन्युः ॥ छन्दः—जगती ॥

'ऐश्वर्य के साथ उत्पन्न होनेवाला' ज्ञान

आभूत्या सहजा वज्र सायक सहो बिभर्षि सहभूत उत्तरम्।
क्रत्वा नो मन्यो सह मेद्ये॑धि महाधनस्य पुरुहूत संसृजि॥ ६॥

१. **आभूत्या**=सब कोशों में व्याप्त होनेवाली भूति (ऐश्वर्य) के **सहजाः**=साथ उत्पन्न होनेवाले ज्ञान के प्रकट होने पर अन्नमयकोश तेज से पूर्ण होता है, प्राणमय वीर्य से पूर्ण होता है, मनोमय ओज व बल से भर जाता है, विज्ञानमय तो इस मन्यु से युक्त होता ही है, आनन्दमय सहस् से परिपूर्ण बनता है, **वज्रः**=(वज गतौ) गति को उत्पन्न करनेवाले ज्ञान से जीवन गतिमय होता है। **सायक**=(षोऽन्तकर्मणि) सब बुराइयों का अन्त करनेवाले ज्ञान से सब मलिनताएँ नष्ट हो जाती हैं। **सहभूते**=भूति (ऐश्वर्य) के साथ निवास करनेवाले ज्ञान! तू **उत्तरं सह बिभर्षि**=उत्कृष्ट बल को धारण करता है। हे **मन्यो**=ज्ञान! तू **क्रत्वा सह**=यज्ञ आदि उत्तम कर्मों के साथ **नः मेदी एधि**=हमारे साथ स्नेह करनेवाला हो। हम ज्ञान प्राप्त करके यज्ञादि उत्तम कर्मों को करनेवाले बनें। हे **पुरुहूत**=पालक व पूरक है पुकार जिसकी ऐसे ज्ञान! तू **महाधनस्य**=उत्कृष्ट ऐश्वर्य के **संसृजि**=निर्माण में हमसे (मेदी एधि) स्नेह करनेवाला हो। तुझे मित्र के रूप में पाकर हम उत्कृष्ट ऐश्वर्य का उत्पादन करनेवाले हों।

भावार्थ—ज्ञान ही सब ऐश्वर्यों का मूल है। यह उत्कृष्ट बल देता है, यह हमें क्रियाशील बनाकर हमारा सच्चा मित्र होता है।

ऋषिः—ब्रह्मास्कन्दः ॥ देवता—मन्युः ॥ छन्दः—जगती ॥

श्रद्धा व ज्ञान का समन्वय

संसृष्टं धनमुभयं समाकृतमस्मभ्यं धत्तां वरुणश्च मन्युः।
भियो दधाना हृदयेषु शत्रवः पराजितासो अप नि लयन्ताम्॥ ७॥

१. **मन्युः**=ज्ञान **च**=तथा **वरुणः**=ज्ञान के द्वारा सब बुराइयों का निवारण करनेवाले प्रभु **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **अभयम्**=ज्ञान व श्रद्धारूप उभयविध **धनम्**=धन को जोकि **समाकृतम्**=सम्यक् उत्पन्न किया हुआ तथा **संसृष्टम्**=परस्पर मिला हुआ है, उसे **धत्ताम्**=दें। हमारे जीवनों में ज्ञान व श्रद्धा का समन्वय हो। वस्तुतः 'ठीक ज्ञान' श्रद्धा को उत्पन्न करता है, 'श्रद्धा' ज्ञान को। २. इसप्रकार हमारे मस्तिष्क व हृदय के परस्पर संगत हो जाने पर **शत्रवः**=काम आदि सब शत्रु **हृदयेषु भियं दधानाः**=अपने हृदयों में भय को धारण करते हुए **पराजितासः**=पराजित हुए-हुए **अपनिलयन्ताम्**=कहीं सुदूर निलीन हो जाएँ, हम इनसे आक्रान्त न हों।

भावार्थ—ज्ञान के द्वारा प्रभु-दर्शन होने पर हमारे जीवनों में ज्ञान व श्रद्धा के धन का वह समन्वय होता है कि काम आदि सब शत्रु सुदूर विनष्ट हो जाते हैं।

अगले सूक्त का ऋषि भी 'ब्रह्मास्कन्दः' ही है—

३२. [द्वात्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—ब्रह्मास्कन्दः ॥ देवता—मन्युः ॥ छन्दः—जगती ॥

'वज्रसायक' मन्यु की प्राप्ति व शत्रु-मर्षण

यस्ते मन्योऽविधद्वज्र सायक सह ओजः पुष्यति विश्वमानुषक्।
साह्याम दासमार्यं त्वया युजा वयं सहस्कृतेन सहसा सहस्वता॥ १॥

१. हे **मन्यो**=ज्ञान (मनु अवबोधे)! **वज्र**=हमें गतिशील बनाने वाले—'**क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः**', **सायक**=हमारे काम-क्रोध आदि शत्रुओं का अन्त करनेवाले (षोऽन्तकर्मणि)! **यः**=जो **ते**=तेरी **अविधत्**=उपासना करता है, वह व्यक्ति **विश्वम्**=सम्पूर्ण **सहःओजः**=साथ ही उत्पन्न होनेवाले नैसर्गिक ओज को **आनुषक्**=निरन्तर **पुष्यति**=अपने में धारण करता है। यह अपने में ओजस्विता को धारण करता है। २. हे ज्ञान! **त्वया युजा**=तुझ मित्र के साथ **वयम्**=हम **दासम्**=उपक्षय करनेवाले **आर्यम्**=(ऋ गतौ) हमपर आक्रमण करनेवाले शत्रु को **साह्याम**=पराभूत करें। उस तेरे साथ जो तू **सहस्कृतेन**=सहस् (शत्रुमर्षक बल) के उद्देश्य से उत्पन्न किया गया है। **सहसा**=सहस् से—ज्ञान तो है ही सहस्—यह शत्रुओं का पराभव करनेवाला है, **सहस्वता**=सहस्वाला है, यह अवश्य ही कामदि शत्रुओं का मर्षण करेगा।

भावार्थ—हम ज्ञानी बनें। ज्ञान के द्वारा काम आदि शत्रुओं का पराभव करें।

ऋषिः—**ब्रह्मास्कन्दः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

इन्द्र-देव-वरुण-जातवेदाः

मन्युरिन्द्रो मन्युरेवास देवो मन्युर्होता वरुणो जातवेदाः।
मन्युर्विश ईडते मानुषीर्याः पाहि नो मन्यो तपसा सजोषाः ॥ २ ॥

१. यह **मन्युः**=ज्ञान ही **इन्द्रः**=इन्द्र है। ज्ञान ही हमें इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनाता है। इस ज्ञान से ही हम आसुरवृत्तियों का संहार करनेवाले वृत्रहन्ता 'इन्द्र' बनते हैं। **मन्युः एव**=यह ज्ञान ही **देवः आस**=देव है। यही हमें दिव्य वृत्तियोंवाला बनाता है। ज्ञानी पुरुष ही संसार की सब क्रियाओं को एक खिलाड़ी की मनोवृत्ति से करता हुआ सच्चा देव बनता है (दिव् क्रीडायाम्)। **मन्युः**=ज्ञान ही **होता**=दानपूर्वक अदन करनेवाला—यज्ञ करके यज्ञशेष का सेवन करनेवाला होता है। ज्ञानी कभी अकेला नहीं खाता—सबके साथ बाँटकर ही खाता है। यह मन्यु ही **वरुणः**=हमसे द्वेष का निवारण करनेवाला होता है और **जातवेदाः**=(वेदस्=wealth) आवश्यक धनों को उत्पन्न करनेवाला है। ज्ञान से मनुष्य में आवश्यक धन को उत्पन्न करने की योग्यता आ जाती है। २. **याः मानुषीः विशः**=जो विचारशील प्रजाएँ हैं वे **मन्युः** (मन्युम्) **ईडते**=ज्ञान को उपासित करती हैं। ये ज्ञान की साधना में प्रवृत्त होती हैं। हे **मन्यो**=ज्ञान! **तपसा सजोषाः**=तप के साथ हमारे लिए समान प्रीतिवाला होता हुआ **नः पाहि**=तू हमारा रक्षण कर। तपस्या के साथ ही ज्ञान का निवास है।

भावार्थ—ज्ञान से हम जितेन्द्रिय, दिव्य गुणोंवाले, दाता, निर्द्वेष तथा धनार्जन की क्षमतावाले होते हैं। यह ज्ञान ही हमारा रक्षण करता है। ज्ञान-साधना के लिए तप आवश्यक है।

ऋषिः—**ब्रह्मास्कन्दः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शत्रुनाश व वसु-प्राप्ति

अभी हि मन्यो तवसस्तवीयान्तपसा युजा वि जहि शत्रून्।
अमित्रहा वृत्रहा दस्युहा च विश्वा वसून्या भरा त्वं नः ॥ ३ ॥

१. हे **मन्यो**=ज्ञान! तू **अभि इहि**=हमारी ओर आनेवाला हो—हमें प्राप्त हो। तू **तवसः तवीयान्**=बलवान् से भी बलवान् है। ज्ञान सर्वाधिक शक्तिवाला है। हे ज्ञान! **तपसा युजा**=तपरूप साथी के साथ तू **शत्रून् विजहि**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं को नष्ट कर दे। तप से ज्ञान उत्पन्न होता है और यह ज्ञान काम आदि शत्रुओं का विध्वंस करनेवाला होता है। २. हे मन्यो! **अमित्रहा**=तू हमारे शत्रुओं का नाश करनेवाला है, **वृत्रहा**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को

नष्ट करता है **च**=और **दस्युहा**=तू दास्यववृत्ति को समाप्त करनेवाला है। यह ज्ञान हमारी ध्वंसक वृत्तियों को दूर करता है। हे ज्ञान! तू **नः**=हमारे लिए **विश्वा वसूनि**=निवास के लिए आवश्यक सब तत्त्वों को **आभर**=प्राप्त करानेवाला हो।

भावार्थ—ज्ञान एक प्रबल शक्ति है। यह हमारे सब शत्रुओं को समाप्त करती है। यह ज्ञान हमें वसुओं को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**ब्रह्मास्कन्दः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ज्ञान एक प्रबलशक्ति के रूप में

त्वं हि मन्यो अभिभूत्योजाः स्वयंभूर्भामो अभिमातिषाहः।
विश्वचर्षणिः सहुरिः सहीयानस्मास्वोजः पृतनासु धेहि॥ ४॥

१. हे **मन्यो**=ज्ञान! **त्वम् हि**=तू ही **अभिभूत्योजाः**=शत्रुओं को पराभूत करनेवाले ओजवाला है। तेरे द्वारा काम आदि शत्रुओं का पराभव होता है। यह ज्ञान **स्वयंभूः**=स्वयं होनेवाला है—(अग्नि आदि ऋषियों के) हृदय में प्रभु के द्वारा स्थापित किया जाता है। ईर्ष्या-द्वेष आदि के आवरण के कारण हमारा यह ज्ञान आवृत-सा हुआ रहता है। यह ज्ञान **भामः**=तेज है—हमें तेजस्वी बनाता है, **अभिमातिषाहः**=अभिमान का यह पराभव करनेवाला है—ज्ञानी पुरुष सदा विनीत होता है। २. यह ज्ञान **विश्वचर्षणिः**=सर्वद्रष्टा है, अर्थात् यह केवल अपने ही हित को न देखकर सभी के हित का ध्यान करता है। **सहुरिः**=सहनशील होता है। **सहीयान्**=खूब ही सहन शक्तिवाला होता है। यह ज्ञानी दूसरों से किये गये अपमान से उत्तेजित नहीं हो जाता। हे ज्ञान! तू **पृतनासु**=काम-क्रोध आदि के साथ चलनेवाले आध्यात्मिक संग्रामों में **अस्मासु**=हममें **ओजः धेहि**=ओजस्विता का आधान कर। तेरे द्वारा ओजस्वी बनकर हम इन आध्यात्म-संग्रामों में कभी पराजित न हों।

भावार्थ—ज्ञान वह शक्ति है जिसके द्वारा हम काम-क्रोध आदि शत्रुओं का पराभव कर पाते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मास्कन्दः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ज्ञान के प्रति अरुचि=दौर्भाग्य

अभागः सन्नप परेतो अस्मि तव क्रत्वा तविषस्य प्रचेतः।
तं त्वा मन्यो अक्रतुर्जिहीडाहं स्वा तनूर्बलदावा न एहि॥ ५॥

१. हे **प्रचेतः**=प्रकृष्ट ज्ञान! **अभागः सन्**=कुछ अल्प भाग्यवाला होता हुआ मैं **तविषस्य**=महान् शक्तिशाली **तव**=तेरे **क्रत्वा**=कर्म से, अर्थात् ज्ञान-साधक कर्मों से **अपपरेतः अस्मि**=दूर होता हुआ मार्ग से भटक गया हूँ। यह मेरे सौभाग्य की कमी है कि मैं ज्ञान-प्राप्ति के कर्मों में नहीं लगा रह सका। हे **मन्यो**=ज्ञान! **तं त्वा**=उस तुझसे **अक्रतुः**=अकर्मण्य होता हुआ मैं **जिहीड**=घृणा करता हूँ। आलस्य के कारण तेरे प्रति मेरी रुचि नहीं होती। २. परन्तु अब मैं समझता हूँ कि आलस्य व अकर्मण्यता से दूर होकर सतत प्रयत्न से ज्ञान प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है, अतः हे ज्ञान! **स्वा तनूः** (मम शरीरभूतः त्वम्—सा०) मेरा शरीर बना हुआ तू **बलदावा**=बल को देनेवाला **नः आ इहि**=हमें प्राप्त हो। ज्ञान मेरा शरीर ही बन जाए। मैं सदा ज्ञान में निवास करनेवाला बनूँ। इसी से मुझे इस संघर्षमय संसार में आनेवाले विघ्नों को सहन करने की शक्ति प्राप्त होगी।

भावार्थ—सबसे बड़ा दौर्भाग्य यह है कि हम ज्ञान-प्राप्ति के साधक कर्मों से दूर हो जाते

हैं। ज्ञान में ही निवास करने पर वह शक्ति प्राप्त होती है जो संसार में आगे बढ़ने में समर्थ बनाती है।

ऋषिः—**ब्रह्मास्कन्दः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ज्ञान के प्रति रुचि=सौभाग्य

अयं ते अस्म्युप न एह्यर्वाङ् प्रतीचीनः सहुरे विश्वदावन्।
मन्यो वज्रिन्नभि न आ ववृत्स्व हनाव दस्यूंरुत बोध्यापेः॥ ६॥

१. ज्ञान-रुचि बनकर यह कहता है कि हे ज्ञान! **अयं ते अस्मि**=यह मैं तेरा हूँ, अर्थात् अब मैं ज्ञान का भक्त बन गया हूँ। **उप नः अर्वाङ् आ इह**=तू हमें समीपता से अभिमुख होता हुआ प्राप्त हो। **प्रतीचीनः**=मेरे शत्रुओं के प्रति गति करता हुआ तू मुझे प्राप्त हो। **सहुरे**=हे शत्रुओं का पराभव करनेवाले ज्ञान! **विश्वदावन्**=तू हमारे लिए सब ऐश्वर्यों को देनेवाला है। **हे वज्रिन्**=क्रियाशील—हमें क्रियाशील बनानेवाले **मन्यो**=ज्ञान! तू **नः अभिः**=हमारी ओर **आववृत्स्व**=आनेवाला हो। तू हमें सदा प्राप्त हो। **दस्यून् हनाव**=हम तेरे साथ मिलकर दस्युओं का हनन करनेवाले हों। तेरे द्वारा हम दास्यववृत्तियों को नष्ट कर सकें, **उत**=और हे ज्ञान! तू **आपेः**=अपने मित्र का—मेरा **बोधि**=ध्यान करनेवाला हो। तुझे ही शत्रुओं के संहार के द्वारा हमारा रक्षण करना है।

भावार्थ—जिस दिन हम ज्ञान के आराधक बनते हैं, वह दिन हमारे सौभाग्यवाला होता है। इस ज्ञान के साथ मिलकर हम दास्यववृत्तियों का संहार करनेवाले बनें।

ऋषिः—**ब्रह्मास्कन्दः** ॥ देवता—**मन्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ज्ञान+ध्यान=सोमरक्षण

अभि प्रेहि दक्षिणतो भवा नोऽधा वृत्राणि जङ्घनाव भूरि।
जुहोमि ते धरुणं मध्वो अग्रमुभावुपांशु प्रथमा पिबाव॥ ७॥

१. हे ज्ञान! तू **अभि प्रेहि**=मुझे अभिमुख्येन प्राप्त हो। **नः**=हमारे **दक्षिणतः भव**=दक्षिण की ओर हो, अर्थात् मैं तेरा आदर करनेवाला बनूँ। जिसे हम आदर देते हैं, उसे दाहिनी ओर ही बिठाते हैं। **अध**=अब हम तेरे साथ मिलकर **वृत्राणि**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को **भूरि**=खूब ही **जंघनाव**=नष्ट करें। २. **ते**=तेरे उद्देश्य से, तेरी प्रगति के लिए **धरुणम्**=शरीर का धारण करनेवाले **मध्वः अग्रम्**=मधुर वस्तुओं में सर्वश्रेष्ठ इस सोम को **जुहोमि**=अपने अन्दर आहुत करता हूँ। सोमरक्षण से बुद्धि की तीव्रता होकर ज्ञान में वृद्धि होती है। हे ज्ञान! तू और मैं **उभा**=दोनों मिलकर **उपांशु**=चुपचाप—मौनपूर्वक—ध्यानावस्था को अपनाकर **प्रथमा पिबाव**=सबसे प्रथम इस सोम का पान करते हैं। ज्ञान-प्राप्ति व ध्यान सोमरक्षण के साधन बनते हैं।

भावार्थ—हम ज्ञान को साथी बनाकर वृत्र आदि शत्रुओं का हनन करें। इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए सोम का पान करें। ये ज्ञान और ध्यान हमें सोम-रक्षण में समर्थ बनाएँ।

विशेष—ज्ञान और ध्यान द्वारा वासना-विनाश करता हुआ तथा सब शक्तियों का विकास करता हुआ यह व्यक्ति 'ब्रह्मा' बनता है। पाप का नाश करनेवाला यह 'ब्रह्मा' प्रार्थना करता है—

३३. [त्रयस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

पवित्र धन

अप नः शोशुचदघमग्ने शुशुग्ध्या रयिम्। अप नः शोशुचदघम्॥ १॥

१. **नः**=हमसे होनेवाला **अघम्**=पाप **अप**=दूर होकर **शोशुचत्**=ठहरने का स्थान न रहने से शोक-सन्तप्त होकर नष्ट हो जाए। हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **रयिम्**=हमारे धनों को **शुशुग्धि**=सब प्रकार से शुद्ध कर दीजिए। हमारा धन सुपथ से कमाया जाकर प्रकाशमय ही हो। २. 'वस्तुतः शुद्ध मार्ग से ही धन कमाना है', इस वृत्ति के आते ही पाप समाप्त हो जाते हैं। अन्याय से धन कमाने की वृत्ति के मूल में 'लोभ' है। यह लोभ ही सब पापों का मूल है, अतः हे प्रभो! आप हमारे इस लोभ को दूर करके धन को पवित्र कीजिए, जिससे हमारा यह सब **अघम्**=पाप **अप**=हमसे दूर होकर **शोशुचत्**=शोक-सन्तप्त होकर नष्ट हो जाए।

भावार्थ—हम पवित्र कर्मों से ही धन कमाएँ। ऐसा होने पर न लोभ होगा और न पाप। पवित्र धन हमारे सब पापों को नष्ट कर देगा।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सुक्षेत्र+सुगातु+वसु

सुक्षेत्रिया सुगातुया वसूया च यजामहे। अप नः शोशुचदघम्॥ २॥

१. **सुक्षेत्रिया**=इस उत्तम शरीररूप क्षेत्र को शोभन बनाने की इच्छा से **यजामहे**=हे प्रभो! हम आपका पूजन करते हैं। प्रभु-पूजन से हम प्रकृति के भोगों में नहीं फँसते और शरीर में रोग नहीं आते। एवं, यह शरीररूप क्षेत्र नीरोगता के द्वारा सुक्षेत्र बना रहता है। २. **सुगातुया**=उत्तम मार्ग की कामना से हम हे प्रभो! आपका संगतिकरण करते हैं। आपके साथ चलते हुए हम भटकते नहीं। आप हमारा मार्ग-दर्शन करते हैं और इसप्रकार हम जीवन में शुभ मार्ग से ही चलते हैं **च**=और **वसूया**=वसुओं को प्राप्त करने की कामना से (यजामहे)—हम आपके प्रति अपना दान करते हैं। प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाला प्रभु से सब वसुओं को प्राप्त करता है। ३. हे प्रभो! हमारी ये कामनाएँ बनी रहें कि (क) हमें प्रभु-पूजन द्वारा भोग-प्रवणता से ऊपर उठकर शरीर के नीरोग बनाना है, (ख) प्रभु के सम्पर्क में रहकर सदा उत्तम मर्ग पर चलना है और (ग) प्रभु के प्रति अपना अर्पण करके—दानवृत्ति को अपनाकर वसुओं को प्राप्त करना है। ऐसा होने पर **अघम्**=पाप **नः**=हमसे **अप**=दूर होकर **शोशुचत्**=शोक-सन्तप्त होकर नष्ट हो जाए।

भावार्थ—शरीर को उत्तम बनाने की कामना, उत्तम मार्ग पर चलने की कामना व वसु-प्राप्ति की कामना से 'प्रभु-पूजन, प्रभु-संगतिकरण व प्रभु के प्रति अर्पण' में प्रवृत्त होने पर हम पापों से दूर हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

लोकहितप्रवृत्ति व सज्जन-संग

प्र यद्भन्दिष्ठ एषां प्रास्माकासश्च सूरयः। अप नः शोशुचदघम्॥ ३॥

१. **यत्**=क्योंकि मैं **एषाम्**=इन मनुष्यों का **प्रभन्दिष्ठः**=(भदि कल्याणे सुखे च) अधिक-से-अधिक कल्याण व सुख करनेवाला हूँ **च**=और **अस्माकासः**=हमारे साथ मेलवाले लोग **प्रसूरयः**=प्रकृष्ट ज्ञानी हैं, अर्थात् हम ज्ञानियों के सम्पर्क में ही उठते-बैठते हैं, अतः **नः**=हमारा **अघम्**=पाप **अप**=हमसे पृथक् होकर **शोशुचत्**=शोक-सन्तप्त होकर नष्ट हो जाए। २. पाप को दूर करने के लिए आवश्यक है कि (क) हम लोकहित के कर्मों में लगे रहें, आराम की वृत्ति आई तो पाप भी आये, (ख) हम सदा ज्ञानियों के सम्पर्क में रहें, उन्हीं के साथ हमारा उठना-बैठना हो। सत्सङ्ग पाप से बचाता है, कुसंग पाप में फँसाता है।

भावार्थ—पाप से बचने के लिए हम लोकहित के कामों में लगे रहें और सदा सत्संग में रहें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

ज्ञान व पाप-शोषण

प्र यत्ते अग्ने सूरयो जायेमहि प्र ते वयम्। अप नः शोशुचदघम्॥ ४॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यत्**=यदि **सूरयः**=ज्ञानी बनकर **वयम्**=हम **ते**=आपके और **ते**=आपके ही **प्रप्र जायेमहि**=प्रकर्षेण, पूर्णरूपेण हो जाएँ तो **नः**=हमारा **अघम्**=पाप **अप**=हमसे दूर होकर **शोशुचत्**=शोक-सन्तप्त होकर नष्ट हो जाए। २. जितना-जितना हम प्रकृति की ओर झुकते हैं, उतनी-उतनी ही पापों में फँसने की आशंका बढ़ती जाती है। प्रभु-प्रवणता हमें प्रकाशमय जीवनवाला 'सूरी' बनाती है। ये 'सूरी' प्रभु के ही हो जाते हैं और ऐसा होने पर पापों की सम्भावना ही नहीं रहती।

भावार्थ—हम प्रभु के ज्ञानीभक्त बनें और इसप्रकार पापों का समूल शोषण करनेवाले बनें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

शक्ति व प्रकाश

प्र यदग्नेः सहस्वतो विश्वतो यन्ति भानवः। अप नः शोशुचदघम्॥ ५॥

१. **यत्**=जब **सहस्वतः**=सहस्वाले—सहोरूप (शक्तिपुञ्ज) **अग्नेः**=अग्रणी प्रभु की **भानवः**=ज्ञानदीप्तियाँ **विश्वतः**=हमारे जीवन में सब ओर **प्रयन्ति**=प्रकर्षेण गति करती हैं, तब **नः**=हमारे **अघम्**=पाप **अप**=हमसे दूर होकर **शोशुचत्**=शोक-सन्तप्त होकर नष्ट हो जाते हैं। २. ज्ञान के प्रकाश में पापान्धकार विलीन हो जाता है। सहस्वान् प्रभु के सहस् से सहस्वाले बनकर हम पापरूप शत्रुओं को कुचल डालते हैं (**सहस्**=शत्रु-मर्षक बल)।

भावार्थ—प्रभु के सम्पर्क में हम प्रकाश व बल को प्राप्त करके पापों को कुचल डालते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

विश्वतोमुख प्रभु का उपासन

त्वं हि विश्वतोमुख विश्वतः परिभूरसि। अप नः शोशुचदघम्॥ ६॥

१. हे **विश्वतोमुख**=सब ओर मुखोंवाले परमात्मन्! **त्वम्**=आप **हि**=निश्चय से **विश्वतः**=सब ओर से **परिभूः**=हमारे रक्षक **असि**=हैं (**परिभू**=परिग्रहीता)। चारों ओर से आक्रमण करनेवाले इन शत्रुओं को विश्वतोमुख आप ही नष्ट कर सकते हो। २. हे प्रभो! आपके रक्षण में **अघम्**=यह पाप **नः**=हमसे **अप**=दूर होकर **शोशुचत्**=शोक-सन्तप्त होकर नष्ट हो जाए। किसी भी ओर से पाप का आक्रमण हो, ये विश्वतोमुख प्रभु उसका नाश करते ही हैं। अन्दर-ही-अन्दर पैदा हो जानेवाले (मनसिज) कामादि शत्रु भी हृदयस्थ प्रभु के तेज से दग्ध हो जाते हैं।

भावार्थ—विश्वतोमुख प्रभु का उपासन हमें सब ओर से रक्षित करता है, हमपर पापों का आक्रमण नहीं होने देता।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

द्वेष के पार

द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारय। अप नः शोशुचदघम्॥ ७॥

१. हे **विश्वतोमुख**=सब ओर मुखोंवाले—सर्वद्रष्टा प्रभो! **नः**=हमें **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं से उसी प्रकार **अतिपारय**=पार कीजिए **इव**=जैसेकि **नावा**=नौका से किसी नदी को पार किया

जाता है। २. हम द्वेष की वृत्तियों से ऊपर उठकर प्रेम के क्षेत्र में विचरें, जिससे **नः**=हमारा **अघम्**=पाप हमसे दूर होकर **शोशुचत्**=शोक-सन्तप्त होकर नष्ट हो जाए।

भावार्थ—द्वेष की वृत्तियों से ऊपर उठकर ही हम पाप को विनष्ट कर पाते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

प्रभुरूपी नाव

स नः सिन्धुमिव नावाति पर्षा स्वस्तये। अप नः शोशुचदघम्॥ ८॥

१. हे प्रभो! **सः**=वे आप **नः**=हमें **स्वस्तये**=उत्तम स्थिति व कल्याण के लिए उसी प्रकार **अतिपर्षा**=सब पापों से पार करके पालित व पूरित कीजिए, **इव**=जैसे **नावा**=नाव के द्वारा **सिन्धुम्**=नदी को पार करते हैं। आपका नाम ही इस भव-सागर से तैरने के लिए नाव बन जाए, और **नः**=हमारा **अघम्**=पाप **अप**=हमसे दूर होकर **शोशुचत्**=शोक-सन्तप्त होकर नष्ट हो जाए।

भावार्थ—जैसे समुद्र को पार करने के लिए नाव साधन होती है, उसी प्रकार प्रभु का नाम हमारे लिए संसार-सागर को तैरने के लिए नाव हो जाए। पाप से पार होकर हम सुखमय स्थिति में हों।

विशेष—प्रभु-नाम का स्मरण करनेवाला यह व्यक्ति अपने अन्दर 'ब्रह्मौदन' (ज्ञान-भोजन) का परिपाक करता है। यह अथर्वा होता है—अथ अर्वाङ्=आत्म-निरीक्षण करता है, अपने अन्दर देखता है और (अ-थर्व) डाँवाडोल नहीं होता।

३४. [चतुस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ब्रह्मौदन का स्वरूप

ब्रह्मास्य शीर्षं बृहदस्य पृष्ठं वामदेव्यमुदरमोदनस्य।
छन्दांसि पक्षौ मुखमस्य सत्यं विष्टारी जातस्तपसोऽधि यज्ञः॥ १॥

१. **अस्य**=इस **ओदनस्य**=ब्रह्मौदन का **ब्रह्म**=ज्ञान ही **शीर्षम्**=सिर है। **बृहत्**=(बृहि वृद्धौ) हृदय की विशालता ही **अस्य पृष्ठम्**=इसकी पीठ है और **वामदेव्यम्**=सुन्दर दिव्य गुणोंवाला होता ही **उदरम्**=उदर है। ब्रह्मौदन को यदि एक पुरुष के रूप में चित्रित करें तो ये 'ब्रह्म, बृहत् और वामदेव्य' इसके भिन्न-भिन्न अङ्ग हैं। २. इसीप्रकार **छन्दांसि**=पापों को अपवारित करनेवाले वेदमन्त्र इस ओदन के **पक्षौ**=पासे—पार्श्व हैं तथा **सत्यम्**=सत्य **अस्य**=इसका **मुखम्**=मुख है। इसप्रकार **तपसः अधि**=ज्ञानग्रहणरूप तप से विष्टारी **यज्ञः जातः**=हमारी सब शक्तियों का विस्तार करनेवाला यज्ञ उत्पन्न हुआ है, अर्थात् ज्ञान हमारे जीवनों में यज्ञ को जन्म देता है, उस यज्ञ को जो हमारी सब शक्तियों के विस्तार का साधन बनता है।

भावार्थ—हम ज्ञानभोजन करनेवाले बनें। इस ज्ञानग्रहणरूप तप से ही उस यज्ञ की भावना का हममें उदय होता है जो हमारी सब शक्तियों का विस्तार करती है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पूताः, शुचयः

अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः शुचिमपि यन्ति लोकम्।
नैषां शिश्नं प्र दहति जातवेदाः स्वर्गे लोके बहु स्त्रैणमेषाम्॥ २॥

१. **अनस्थाः**=जो हाड-मांस से बने हुए शरीर से ऊपर उठ जाते हैं—स्थूलशरीर के भोगों से ऊपर उठे हुए हैं, **पूताः**=जो पवित्र वृत्तिवाले हैं, **पवनेन शुद्धाः**=प्राणायाम के द्वारा शुद्ध जीवनवाले बने हैं, **शुचयः**=ज्ञान से दीप्त मस्तिष्कवाले हैं—ये व्यक्ति **शुचिम् लोकम्**=पवित्र लोक को **अपियन्ति**=प्राप्त होते हैं। २. **एषाम्**=इनके **शिश्नम्**=उपस्थेन्द्रिय को **जातवेदाः**=कामाग्नि न **प्रदहति**=जलाती नहीं। ये कामाग्नि से सन्तप्त नहीं होते। इनका घर स्वर्ग-सा बन जाता है और **एषाम्**=इनके इस **स्वर्गे लोके**=स्वर्गलोक में **बहु स्त्रैणम्**=बहिनों, भौजाइयों, पत्नी व माता आदि कितनी ही स्त्रियों का सुखपूर्वक निवास होता है।

भावार्थ—ज्ञान-भोजन करनेवाले लोग भौतिक सुखों से ऊपर उठकर प्राणसाधना करते हुए पवित्र व दीप्त जीवन बिताते हैं। ये लोग कामाग्नि से सन्तप्त नहीं होते। इनका घर स्वर्ग लोक-सा बन जाता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

विष्टारी ओदन का परिपाक

वि॒ष्टा॒रिण॑मोद॒नं ये पच॑न्ति॒ नैना॒नव॑र्तिः सचते क॒दा च॒न।
आस्ते॑ य॒म उप॑ याति दे॒वान्त्सं ग॑न्ध॒र्वैर्म॑दते सो॒म्येभिः॑ ॥ ३ ॥

१. **ये**=जो **विष्टारिणम्**=शक्तियों का विस्तार करनेवाले **ओदनम्**=ज्ञान-भोजन को **पचन्ति**=पकाते हैं, अर्थात् जो ज्ञान-प्रधान जीवनवाले बनकर, भोगासक्ति से ऊपर उठ कर अपनी शक्तियों का विस्तार करते हैं, **एनान्**=ब्रह्मौदन का सेवन करनेवाले इन व्यक्तियों को **अवर्तिः**=(वर्ति=जीविका) जीविका के लिए आवश्यक धन का अभाव **कदाचन**=कभी भी **न सचते**=नहीं प्राप्त होता। ज्ञानी दारिद्र्य पीड़ित नहीं होता। २. यह ज्ञानी **यमे**=उस सर्वनियन्ता प्रभु में **आस्ते**=आसीन होता है, **देवान् उपयाति**=दिव्य गुणों को प्राप्त होता है। ब्रह्म-उपासना दिव्य गुण-प्राप्ति का साधन बनती है। यह **सोम्येभिः**=सोम का रक्षण करनेवाले—विनीत **गन्धर्वैः**=ज्ञान-वाणियों के धारक पुरुषों के साथ **संमदते**=उत्कृष्ट हर्षयुक्त होता है।

भावार्थ—ज्ञानप्रधान जीवनवाला व्यक्ति १. दरिद्र नहीं होता, २. प्रभु का उपासक होता है, ३. दैवीसम्पत्ति को प्राप्त होता है, ४. विनीत ज्ञानियों के सम्पर्क में हर्ष का अनुभव करता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

रथी-पक्षी

वि॒ष्टा॒रिण॑मोद॒नं ये पच॑न्ति॒ नैना॒न्य॒मः परि॑ मुष्णाति॒ रेतः॑।
र॒थी ह॑ भू॒त्वा र॑थ॒यान॑ ईयते प॒क्षी ह॑ भू॒त्वाति॑ दि॒वः समे॑ति ॥ ४ ॥

१. **ये**=जो **विष्टारिणाम्**=शक्तियों का विस्तार करनेवाले **ओदनम्**=ज्ञान-भोजन को **पचन्ति**=पकाते हैं, अर्थात् ज्ञानप्रधान जीवनवाले बनकर, भोगासक्ति से ऊपर उठे हुए, अपनी शक्तियों का विस्तार करते हैं—ब्रह्मौदन का सेवन करनेवाले होते हैं, **यमः**=सर्वनियन्ता प्रभु **एनान्**=इन व्यक्तियों की **रेतः न परिमुष्णाति**=शक्तियों का अपहरण नहीं करता। यह ज्ञानी वासनाओं से आक्रान्त न होने के कारण शक्तिशाली बना रहता है। २. यह **ह**=निश्चय से **रथी भूत्वा**=उत्तम शरीर-रथवाला होकर **रथयाने**=रथ के मार्ग पर **ईयते**=गतिवाला होता है। यह कभी मार्ग-भ्रष्ट नहीं होता और **ह**=निश्चय से **पक्षी**-उत्तम बातों का परिग्रहवाला होकर **दिवः अति**=द्युलोक से भी ऊपर उठकर सूर्यद्वार से **समेति**=प्रभु से साथ सङ्गत होता है।

भावार्थ—ब्रह्मौदन का सेवन करनेवाला ज्ञानप्रधान व्यक्ति १. शक्तिशाली बना रहता है, २.

उत्तम शरीर-रथवाला होता हुआ कभी मार्ग-भ्रष्ट नहीं होता, ३. उत्तम बातों का परिग्रह करता हुआ द्युलोक से भी ऊपर उठकर ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनम्**॥ छन्दः—**सप्तपदाकृतिः**॥

'वितत वहिष्ठ' ज्ञानयज्ञ

एष यज्ञानां विततो वहिष्ठो विष्टारिणं पक्त्वा दिवमा विवेश।
आण्डीकं कुमुदं सं तनोति बिसं शालूकं शफको मुलाली।
एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमाना
उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः॥ ५॥

१. **एषः**=यह ज्ञानयज्ञ **यज्ञानाम्**=यज्ञों में **विततः**=सर्वाधिक विशालतावाला है—ज्ञानयज्ञ का कहीं अन्त नहीं है—'**अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रम्**'। यह **वहिष्ठः**=वोढृतम है—हमें अधिक-से-अधिक प्रभु के समीप प्राप्त करानेवाला है। **विष्टारिणम्**=शक्तियों का विस्तार करनेवाले इस ज्ञान-भोजन को **पक्त्वा**=पकाकर मनुष्य **दिवम् आविवेश**=स्वर्ग में प्रवेश करता है। २. यह अपने घर में **आण्डीकम्**=अण्डाकृति कन्द से उत्पन्न होनेवाले **कुमुदम्**=कमलों को घर के चारों ओर होनेवाले जलकुण्डों में (ह्रदेषु) **सन्तनोति**=विस्तृत करता है। ये कुमुद (को मोदते) घर के वातावरण को शोभायुक्त करते हैं। इन ह्रदों में **विसम्**=मृणाल (अब्जमूल) कमल-फूल होते हैं। ये रोगों के विनाश का करण बनते हैं (मृण हिंसायाम्) और शरीर में रुधिराभिसरण के लिए सहायक होते हैं (विस प्रेरणे)। **शालूकम्**=यहाँ उत्पलकन्द दिखते हैं, **शफकः**=शफ की आकृति के कन्दविशेष होते हैं और **मुलाली**=मृणालियाँ होती हैं—इसप्रकार **समन्ताः**=पर्यन्तवर्तिनी—चारों दिशाओ में होनेवाली **पुष्करिण्यः**=कमल की सरसियाँ (छोटे-छोटे तलाब) **त्वा उपतिष्ठन्तु**=तेरे समीप उपस्थित हों। ३. **एताः**=ये **सर्वाः**=सब **धाराः**=धारण करनेवाली मृणालियाँ **त्वा**=तुझे **उपयन्तु**=समीपता से प्राप्त हों। ये **स्वर्गे लोके**=स्वर्गतुल्य इस गृहप्रदेश में **मधुमत् पिन्वमानाः**=माधुर्ययुक्त रस का सचेन करनेवाली हों। इन विविध प्रकार के कमलों से युक्त पुष्करिणियाँ गृह को लक्ष्मीयुक्त (शोभा-सम्पन्न) बनाती हैं। लक्ष्मी का नाम ही 'पद्मालया' है। इनका केसर 'किञ्जल्क' है (किञ्चित् जलति, जल अपवारणे) कुछ रोगादि का अपवारण करनेवाला है। इस पवित्र वातावरण में ज्ञानयज्ञ अधिक सुन्दरता से चल पाता है।

भावार्थ—ज्ञानयज्ञ हमें लक्ष्य-प्राप्ति में सर्वाधिक सहायक है। यह शक्तिप्रसारक यज्ञ हमें स्वर्ग में ले-जाता है। इस यज्ञ के लिए वातावरण को उपयुक्त बनाने के लिए हम घरों में छोटी-छोटी पुष्करिणियों का आयोजन करें। उनमें खिले कमल गृह को लक्ष्मी-सम्पन्न बनाएँगे। इनका केसर नीरोगता का कारण बनता हुआ आनन्द का सञ्चार करेगा।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनम्**॥ छन्दः—**पञ्चपदाऽतिशक्वरी**॥

क्षीर, उदक, दधि

घृतह्रदा मधुकूलाः सुरोदकाः क्षीरेण पूर्णा उदकेन दध्ना।
एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमाना
उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः॥ ६॥

१. **घृतह्रदाः**=घृत के तालाब **मधुकूलाः**=जिसके किनारे शहद के बने हुए हैं तथा ऐसे तालाब जोकि **सुरोदकाः**=(सुरा) उत्तम जलवाले हैं, वे तालाब जोकि **क्षीरेण**=दूध से **पूर्णाः**=भरे हुए हैं, **उदकेन**=जल से पूर्ण हैं और **दध्ना**=दही से भरे हुए हैं। **एताः**=ये

सर्वाः=सब **धाराः**=धारण करनेवाले तालाब **त्वा उपयन्तु**=तुझे समीपता से प्राप्त हों, अर्थात् घर में 'घृत, मधु, पवित्रजल, दूध, दही' की कमी न हो। २. ये सब धारण करनेवाले तालाब **स्वर्गे लोके**=स्वर्गतुल्य इस गृहप्रदेश में **मधुमत् पिन्वमानाः**=माधुर्ययुक्त रस का सेचन करनेवाले हों और **समन्ताः**=चारों दिशाओं में होनेवाली **पुष्करिणीः**=कमलों की सरसियाँ **त्वा**=तेरे गृह में **उपतिष्ठन्तु**=उपस्थित हों।

भावार्थ—हमारे घरों में 'घृत मधु, पवित्रजल, दूध व दही' की कमी न हो। घर में चारों ओर कमलों के छोटो-छोटे तालाब हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनम्** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाभुरिक्शक्वरी** ॥

चार घड़े

चतुरः कुम्भांश्चतुर्धा ददामि क्षीरेण पूर्णाँ उदकेन दध्ना।
एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमाना
उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः ॥ ७ ॥

१. **क्षीरेण**=दूध से **उदकेन**=जल से, **दध्ना**=तथा दधि से **पूर्णान्**=भरे हुए **चतुरः कुम्भान्**=चार घड़ों को **चतुर्धा**=पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण में चार प्रकार से **ददामि**=(दधामि) धारण करता हूँ **एताः**=ये **सर्वाः**=सब **धाराः**=धारण करनेवाली दूध, जल व दही की घटियाँ (घड़े) **त्वा उपयन्तु**=तुझे समीपता से प्राप्त हों। २. **स्वर्गे लोके**=स्वर्गतुल्य गृहप्रदेश में **मधुमत् पिन्वमानाः**=माधुर्ययुक्त रस का सेचन करती हुई **समन्ताः**=पर्यन्तवर्तिनी **पुष्करिणीः**=कमल सरसियाँ **त्वा उपतिष्ठन्तु**=तेरे लिए उपस्थित हों।

भावार्थ—घर में दूध, उदक व दधि से पूर्ण घड़े मङ्गल के प्रतीक हैं। ये घर में माधुर्य का सचेन करनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनम्** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'विश्वरूपा कामदुघा' धेनुः

इममोदनं नि दधे ब्राह्मणेषु विष्टारिणं लोकजितं स्वर्गम्।
स मे मा क्षेष्ट स्वधया पिन्वमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघा मे अस्तु ॥ ८ ॥

१. प्रभु कहते हैं कि **इमम् ओदनम्**=इस ब्रह्मौदन (ज्ञान-भोजन) को **ब्राह्मणेषु निदधे**=ज्ञानप्रधान जीवनवाले व्यक्तियों में उपस्थित करता हूँ। यह ओदन **विष्टारिणम्**=शक्तियों का विस्तार करनेवाला है, **लोकजितम्**=पुण्यलोक (ब्रह्मलोक) का विजय करनेवाला है, यह **स्वर्गम्**=सुख प्राप्त करानेवाला है। २. **सः**=वह **मे**=मेरा ज्ञान-भोजन **मा क्षेष्ट**=क्षय को प्राप्त न हो। **स्वधया पिन्वमानः**=यह मुझे आत्मधारणशक्ति से सींचनेवाला हो। **विश्वरूपा**=सब सत्यविद्याओं का निरूपण करनेवाली यह **धेनुः**=वेदवाणीरूप कामधेनु **मे**=मेरे लिए **कामदुघा**='आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविण व ब्रह्मवर्चस्' रूप सब काम्य वस्तुओं का दोहन करनेवाली **अस्तु**=हो।

भावार्थ—ज्ञानप्रधान जीवनवाला बनकर मैं ज्ञान-भोजन का पात्र बनूँ। इससे मेरी शक्तियों का विस्तार होगा, उत्तम लोक की प्राप्ति होगी, प्रकाश व सुख मिलेगा। यह ज्ञान मुझे आत्मधारणशक्ति से युक्त करे और सब काम्य वस्तुओं को प्राप्त करानेवाला हो।

विशेष—इस ज्ञान के द्वारा सब प्रजाओं का रक्षण करनेवाला 'प्रजापति' अगले सूक्त का ऋषि है। ज्ञान के द्वारा मृत्यु को तैर जाने का इस सूक्त में उल्लेख है—

३५. [पञ्चत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**अतिमृत्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

लोकधारण आदेन

यमो॑द॒नं प्र॑थम॒जा ऋ॒तस्य॑ प्र॒जाप॑ति॒स्तप॑सा ब्र॒ह्मणेऽप॑चत्।
यो लो॒काना॒ं विधृ॑ति॒र्नाभि॒रेषा॒त्तेनौ॑द॒नेनाति॑ तराणि मृ॒त्युम्॥ १ ॥

१. **ऋतस्य प्रथमजाः**=ऋत के—सब सत्यविद्याओं के प्रथम उत्पत्तिस्थान **प्रजापतिः**=सब प्रजाओं के रक्षक प्रभु ने **तपसा**=अपने ज्ञानरूप तप के द्वारा (तस्य ज्ञानमयं तपः) **यम् ओदनम्**=जिस ज्ञान-भोजन (ब्रह्मौदन) को **ब्रह्मणे**=ज्ञान के लिए—लोगों को ज्ञान देने के लिए **अपचत्**=पकाया, प्रभु ने ही सृष्टि के प्रारम्भ में लोकहित के लिए इस ज्ञानभोजन को परिपक्व किया, २. **यः**=जो ज्ञान का भोजन **लोकानाम्**=सब लोकों का **विधृतिः**=धारण करनेवाला है और **न अभिरेषात्**=जो हमारा हिंसन नहीं करता—हमें हिंसित होने से बचाता है, **तेन ओदनेन**=उस ज्ञान-भोजन से **मृत्युम् अतितराणि**=मृत्यु को तैर जाऊँ। प्रकृति का ज्ञान मुझे प्राकृतिक पदार्थों के यथायोग द्वारा रोगों से बचाता है तथा आत्मज्ञान जन्म-मरण के चक्र से बचानेवाला बनता है।

भावार्थ—प्रभु ने ही सृष्टि के आरम्भ में इस ज्ञान-भोजन का परिपाक किया। यह ज्ञान ही सब लोकों का धारक है। यह मुझे मृत्यु से तराता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**अतिमृत्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

तप और श्रम के द्वारा

येनात॑रन्भूत॒कृतोऽति॑ मृ॒त्युं यम॒न्ववि॑न्द॒न्तप॑सा॒ श्रमे॑ण।
यं प॒पाच॑ ब्र॒ह्मणे॒ ब्रह्म॒ पूर्वं॒ तेनौ॑द॒नेनाति॑ तराणि मृ॒त्युम्॥ २ ॥

१. **येन**=जिस ज्ञान के द्वारा **भूतकृतः**=(भूत=right, proper, fit) ठीक कार्यों को करनेवाले ज्ञानी पुरुष **मृत्युम्**=मृत्यु को **अति अतरन्**=लाँघ गये, **यम्**=जिस ज्ञान को **तपसा**=तप के द्वारा तथा **श्रमेण**=श्रम से **अन्वविन्दन्**=क्रमशः प्राप्त करते हैं, अर्थात् तप और श्रम के द्वारा प्राप्त होनेवाले इस ज्ञान को प्राप्त करके उचित कार्यों को करनेवाले लोग मृत्यु को तैर जाते हैं। २. **यम्**=जिस ज्ञान को **पूर्वम्**=सर्वप्रथम **ब्रह्म**=परमात्मा ने **ब्रह्मणे**=ज्ञानवृद्धि के लिए **पपाच**=परिपक्व किया, **तेन ओदनेन**=उस ज्ञानभोजन से मैं भी **मृत्युम् अतितराणि**=मृत्यु को तैर जाऊँ।

भावार्थ—तप और श्रम के द्वारा ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य उचित क्रियाओं को करता हुआ मृत्यु को तैर जाता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**अतिमृत्युः** ॥ छन्दः—**भुरिग्जगती** ॥

नीरोगता, स्नेह, उच्च विचार

यो दा॒धार॑ पृथि॒वीं वि॒श्वभो॑जसं॒ यो अ॒न्तरि॑क्षमापृ॒णाद्रसे॑न।
यो अस्त॑भ्नाद्दि॒वमू॒र्ध्वो म॑हि॒म्ना तेनौ॑द॒नेनाति॑ तराणि मृ॒त्युम्॥ ३ ॥

१. **यः**=जो ज्ञान-भोजन (ओदन) **विश्वभोजसम्**=सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों का पालन करनेवाली **पृथिवीम्**=शरीररूपी पृथिवी को **दाधार**=धारण करता है, **यः**=जो ज्ञान **अन्तरिक्षम्**=हृदयान्तरिक्ष को **रसेन आपृणात्**=प्रेमरस से प्रपूरित करता है। ज्ञान के द्वारा खान-पान के ठीक होने से शरीर सुदृढ़ बना रहता है। इसीप्रकार ज्ञान हमें उदार बनाकर हृदय में सबके प्रति स्नेहवाला होता

है। २. **यः**=जो ज्ञान **महिम्ना**=अपनी महिमा से **दिवम् ऊर्ध्वा अस्तभ्नात्**=मस्तिष्क को ऊपर थामता है, अर्थात् ज्ञान से मस्तिष्क बड़ी उन्नत स्थिति में बना रहता है। यह मस्तिष्क बड़े ऊँचे विचारों का स्रोत बनता है। **तेन ओदनेन**=उस ज्ञान-भोजन से **मृत्युम् अतितराणि**=मृत्यु को तैर जाऊँ। यह ज्ञान मुझे रोगों व जन्म-मरण के चक्र से बचानेवाला हो।

भावार्थ—ज्ञान द्वारा शरीर नीरोग बनता है, हृदय स्नेहरस से परिपूर्ण होता है, मस्तिष्क उच्च विचारोंवाला बना रहता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**अतिमृत्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

नैत्यिके नास्त्यनध्यायः

यस्मा॒न्मासा॒ निर्मि॑तास्त्रिं॒शद॑राः संवत्स॒रो यस्मा॒न्निर्मि॑तो॒ द्वाद॑शारः।
अ॒हो॒रा॒त्रा यं प॑रि॒यन्तो॒ नापु॒स्तेनौ॑द॒नेनाति॑ तराणि मृ॒त्युम्॥ ४॥

१. **यस्मात्**=जिस ओदन के हेतु से **त्रिंशत् अराः**=तीस दिनरूप अरोंवाले **मासाः**=महिने **निर्मिताः**=बनाये गये हैं और **यस्मात्**=जिसके हेतु से **द्वादशारः**=बारह मासरूप अरोंवाला **संवत्सरः**=संवत्सर (वर्ष) **निर्मितः**=बनाया गया है, अर्थात् प्रभु ने ये वर्ष व महीने वस्तुतः बनाये ही इसलिए हैं कि हम इनमें सदा स्वाध्याय करनेवाले बनें। वर्ष में बारह महिनों व महिने के तीस दिनों में स्वाध्याय करना ही है—'**नैत्यिके नास्त्यनध्यायः**'—इस नैत्यिक कर्त्तव्यरूप स्वाध्याय में कभी अनध्याय नहीं करना। २. **परियन्तः**=दिन-रात्रि के क्रम से पर्यावर्त्तमान होते हुए **अहोरात्राः**=दिन-रात **यं न आपुः**=जिस ओदन को समाप्त नहीं कर लेते, अर्थात् दिन-प्रतिदिन जिसे प्राप्त करने के लिए यत्नशील होते हुए भी हम जिसका अन्त नहीं पा सकते, **तेन ओदनेन**=उस ब्रह्मौदन से मैं **मृत्युम् अतितराणि**=मृत्यु को तैर जाऊँ। ज्ञान मुझे जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठानेवाला हो।

भावार्थ—प्रभु ने दिन-रात्रि, महिने व वर्ष हमारे स्वाध्याय के लिए ही बनाये हैं। हमारा मुख्य कर्त्तव्य इस ब्रह्मौदन को प्राप्त करना है। यही हमें मृत्यु से तराता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**अतिमृत्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्राण+प्रकाश

यः प्रा॑ण॒दः प्रा॑ण॒दवा॑न्ब॒भूव॒ यस्मै॑ लो॒का घृ॒तव॑न्तः॒ क्षर॑न्ति।
ज्योति॑ष्मतीः प्र॒दिशो॒ यस्य॒ सर्वा॒स्तेनौ॑द॒नेनाति॑ तराणि मृ॒त्युम्॥ ५॥

१. **यः प्राणदः**=जो ज्ञानरूप ओदन प्राणशक्ति देनेवाला है, **प्राणदवान् बभूव**=जो प्राणशक्ति के तत्त्वों को देनेवाला है—प्राणदोंवाला है। ज्ञान 'वासना' को दग्ध करके सोम (वीर्य) का रक्षण करता है। इस सोम में ही सब प्राणदायी तत्त्वों का निवास है। **यस्मै**=जिस ज्ञान के लिए **घृतवन्तः**=दीप्तिवाले **लोकाः**=लोक **क्षरन्ति**=स्रुत होते हैं, अर्थात् जिसके द्वारा दीप्तिमय लोकों में जन्म प्राप्त होता है। २. **यस्य**=जिस ज्ञानरूप ओदन की **सर्वाः प्रदिशः**=सब दिशाएँ **ज्योतिष्मतीः**=प्रकाशमय होती है, अर्थात् जिस ज्ञान के होने पर जीवन के सब मार्ग प्रकाशमय हो जाते हैं—हमें सदा कर्त्तव्यमार्ग दिखता है, **तेन ओदनेन**=उस ज्ञानरूप भोजन से **मृत्युम्**=मृत्यु को **अतितराणि**=तैर जाऊँ।

भावार्थ—ज्ञान वासनाओं को दग्ध करके प्राणशक्ति का रक्षण करता है। ज्ञान से दीप्तिमय लोकों की प्राप्ति होती है। ज्ञान से जीवन में कर्त्तव्यमार्ग दीखता है। इस ज्ञान से कर्त्तव्यों का पालन करते हुए हम मृत्यु से ऊपर उठें।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**अतिमृत्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

गायत्री का अधिपति

यस्मात्पक्वादमृतं संबभूव यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव।
यस्मिन्वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम्॥ ६ ॥

१. **यस्मात् पक्वात्**=जिस परिपक्व हुए-हुए भोजन से **अमृतं सम्बभूव**=अमृत की उत्पत्ति
होती है। ज्ञान का परिपाक होने पर निष्पापता होती है। यह निष्पापता 'नीरोगता व अमृतत्व'
का साधन बनती है। **यः**=जो ज्ञान **गायत्र्याः**=गायत्री का **अधिपतिः बभूव**=अधिपति है (प्राणो
गायत्रम्-तां० ७.१.९) यह ज्ञान प्राणशक्ति का स्वामी है। वासना-दहन द्वारा यह प्राणशक्ति का
रक्षण करता है। अथवा (गायत्री गायतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० १.८) यह ज्ञान स्तुति का अधिपति
है—ज्ञानी स्तोता ही सर्वोत्कृष्ट स्तोता है। २. **यस्मिन्**=जिस ज्ञान में **विश्वरूपाः**=सब सत्यविद्याओं
का निरूपण करनेवाले **वेदाःनिहिताः**=वेद निहित हैं, अर्थात् जो ज्ञान इन वेदों से निर्दिष्ट हुआ
है, **तेन ओदनेन**=उस ज्ञानरूप भोजन से **मृत्युम् अतितराणि**=मैं मृत्यु को पार कर जाऊँ।

भावार्थ—ज्ञान अमृतत्व का साधन है। यह प्राणशक्ति का अधिपति है। वेदों द्वारा प्रभु ने
यह ज्ञान दिया है। इस ज्ञान से हम मृत्यु को तैर जाएँ।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**अतिमृत्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

विश्वजित् ब्रह्मौदन का पाक

अव बाधे द्विषन्तं देवपीयुं सपत्ना ये मेऽप ते भवन्तु।
ब्रह्मौदनं विश्वजितं पचामि शृण्वन्तु मे श्रद्दधानस्य देवाः॥ ७॥

१. मैं ज्ञान के द्वारा **द्विषन्तम्**=द्वेष करनेवाले शत्रु को **अवबाधे**=अपने से दूर रखता हूँ—
द्वेष की भावना को अपने समीप नहीं आने देता, **देवपीयुम्**=देवों की हिंसक—दिव्य गुणों को
नष्ट करनेवाली वृत्ति को दूर रखता हूँ। **ये**=जो **मे**=मेरे **सपत्नाः**=रोगरूप शत्रु हैं, **ते अपभवन्तु**=वे
सब दूर हों। २. मैं **विश्वजितम्**=सम्पूर्ण संसार का विजय करनेवाले—काम आदि सब शत्रुओं
को पराजित करनेवाले **ब्रह्मौदनम्**=ज्ञान के भोजन को **पचामि**=पकाता हूँ—अपने में ज्ञानवृद्धि
के लिए यत्नशील होता हूँ। **श्रत्-दधानस्य**=श्रद्धा से युक्त **मे**=मेरी प्रार्थना को **देवाः**=ज्ञानी पुरुष
शृण्वन्तु=सुनें, सब देव मुझे ज्ञानभोजन देने का अनुग्रह करें। इनकी कृपा से ही मुझे ज्ञान प्राप्त
होगा।

भावार्थ—ज्ञान से द्वेष व अन्य काम-क्रोधादि शत्रु नष्ट हो जाते हैं। यह ज्ञानभोजन सबका
विजय करता है। श्रद्धायुक्त होकर मैं देवों से ज्ञान प्राप्त करता हूँ।

विशेष—ज्ञान के द्वारा शत्रुओं को नष्ट करनेवाला यह 'चातन' बनता है (one who
destroys)। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

३६. [षट्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**सत्यौजा अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'सत्यौजा-वैश्वानर-वृषा' अग्नि

तान्त्सत्यौजाः प्र दहत्वग्निर्वैश्वानरो वृषा।
यो नो दुरस्याद्दिप्साच्चाथो यो नो अरातियात्॥ १ ॥

१. **सत्यौजाः**=सत्य के बलवाला या सत्य बलवाला **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का हित

करनेवाला **वृषा**=सबपर सुखों का सेचन करनेवाला **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **तान् प्रदहतुः**=उन्हें भस्म कर दे **यः**=जो **नः**=हमें **दुरस्यात्**=बुरी अवस्था में फेंकनेवाला हो—हममें अविद्यमान दोषों का भी यूँही उद्भावन करता रहे, **च**=और **दिप्सात्**=हिंसित करने की इच्छा करे (धिप्सेत्) **अथ उ**=और निश्चय से **यः**=जो शत्रु **नः**=हमारे प्रति **अरातियात्**=अराति-(शत्रु)-वत् आचरण करे—जो हमारे प्रति सदा शत्रुता की भावनावाला है। २. अध्यात्म में 'काम' रूप शत्रु हमें बड़ी दुरवस्था में फेंकनेवाला होता है, 'क्रोध' हमें हिंसित करता है (दिप्सात्) तथा 'लोभ' हमारे प्रति अराति की भाँति आचरणवाला होता है (अ-राति=न देने की वृत्ति) वस्तुतः न देने की वृत्ति (अ+राति) ही तो लोभ है। काम को जीतकर हम सत्य बलवाले होंगे, क्रोध को जीतकर ही 'वैश्वानर' बनेंगे। लोभ को जीतकर दान करते हुए सबपर सुखों का वर्षण करनेवाले होंगे (वृषा)। इसप्रकार उन्नति-पथ पर बढ़नेवाले हम 'अग्नि' ही बन जाएँगे।

भावार्थ—हम काम-क्रोध व लोभ को जीतकर 'सत्यौजा-वैश्वानर-वृषा' अग्नि बनें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**सत्यौजा अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वैश्वानर अग्नि की दंष्ट्राओं में

यो नो दिप्सददिप्सतो दिप्सतो यश्च दिप्सति।
वैश्वानरस्य दंष्ट्रयोरग्नेरपि दधामि तम्॥ २॥

१. **यः**=जो **अदिप्सतः**=हिंसित करना न चाहते हुए **नः**=हमें **दिप्सात्**=हिंसित करने की इच्छा करे **च**=और **यः**=जो **दिप्सतः**=अपराध करने पर हिंसित करने की कामनावाले राजपुरुषों को **दिप्सति**=हिंसित करना चाहता हैं, अर्थात् जो राजपुरुषों (Police) पर ही आक्रमण कर देता है, **तम्**=उसे **वैश्वानरस्य**=सारे मानवसमाज का हित करनेवाले **अग्नेः**=राष्ट्र के अग्रणी राजा के **दंष्ट्रयोः**=दाढों में **अपिदधामि**=धारण करते हैं—उसे राजा के सुपुर्द करते हैं। वह राजा की न्यायदंष्ट्राओं से ही दण्डित होगा। २. न्याय को अपने हाथ में न लेकर अपराधी को राजा के न्यायालय को ही सौंपते हैं।

भावार्थ—जो हिंसा न करनेवाले हमारी हिंसा करे अथवा जो न्याय को अपने हाथ में ले अथवा रक्षा-पुरुषों पर ही आक्रमण करे, उसे राजा के न्याय के जबड़ों में स्थापित करना ही उत्तम है।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**सत्यौजा अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आगरे प्रतिक्रोशे अमावास्ये

य आगरे मृगयन्ते प्रतिक्रोशे ऽमावास्ये।
क्रव्यादो अन्यान्दिप्सतः सर्वांस्तान्त्सहसा सहे॥ ३॥

१. **ये**=जो हमें **आगरे**=(आ गीर्यते समन्ताद् युज्यते अत्र) भोजनालय (Hotel) में **मृगयन्ते**=मारने के लिए ढूँढते फिरते हैं, प्रतिक्रोशे—प्रतिकूल शत्रुओं से किये हुए आक्रोश के अवसर पर—कलह के अवसर पर **अमावास्ये**=अमावास्या की रात्रि में—अन्धकार में—मारने के लिए खोजते फिरते हैं, इन **क्रव्यादः**=मांसभोजी **अन्यान् दिप्सतः**=औरों को मारने की इच्छा करनेवाले **तान् सर्वान्**=उन सबको **सहसा**=शत्रुमर्षक बल के द्वारा **सहे**=पराभूत करता हूँ।

भावार्थ—भोजनालयों में, कलहों के अवसर पर, अन्धकारमयी रात्रि में जो औरों को मारने की इच्छा करते हैं, 'वैश्वानर अग्नि' उन सबको बल से पराभूत करें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**सत्यौजा अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पिशाचों का विनाश

सहे पिशाचान्त्सहसैषां द्रविणं ददे। सर्वान्दुरस्यतो हन्मि सं म आकूतिर्ऋध्यताम्॥ ४॥

१. 'वैश्वानर अग्नि', अर्थात् सभी प्रजा का हितकारी राजा कामना करता है कि **पिशाचान् सहसा सहे**=औरों का मांस खानेवाले राक्षसों को मैं बल से अभिभूत करता हूँ। **एषां द्रविणम्**=लूट आदि के द्वारा उपार्जित इनके धन को **आददे**=छीन लेता हूँ। २. **दुरस्यतः**=औरों की दुष्ट अवस्था चाहनेवाले **सर्वान्**=सबको **हन्मि**=नष्ट करता हूँ। **मे**=मेरा यह **आकूतिः**=संकल्प **संऋध्यताम्**=सम्यक् सफल हो।

भावार्थ—राजा राष्ट्र से पिशाचों को दूर करे, इनके द्रव्यों को छीन ले, औरों की दुरवस्था के कारणभूत इन दुष्टों को नष्ट करे। राजा की यही कामना हो कि राष्ट्र को पिशाचों से रहित करना है।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**सत्यौजा अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देवों व पशुओं का भी रक्षण

ये देवास्तेन हासन्ते सूर्येण मिमते जवम्। नदीषु पर्वतेषु ये सं तैः पशुभिर्विदे॥ ५॥

१. राजा कहता है कि ये **देवाः**=राष्ट्र में देववृत्ति के जो पुरुष **तेन**=गतमन्त्र में वर्णित पिशाचों से **हासन्ते**=(जिहास्यते—सा०) धन आदि से पृथक् किये जाते हैं, **सूर्येण जवं मिमते**=जो देववृत्ति के पुरुष सूर्य के साथ वेग को मापते हैं, अर्थात् सूर्योदय से सूर्यास्त तक कर्त्तव्यकर्मों में लगे रहते हैं, **तैः**=उनके साथ **संविदे**=संज्ञानवाला होता हूँ, उनसे सब बात जानकर दुष्टों को दण्ड देने के लिए यत्नशील होता हूँ। २. **नदीषु पर्वतेषु**=नदियों पर या पर्वतों पर **ये**=जो पशु विचरते हैं **तैः पशुभिः**=उन पशुओं के साथ भी, उनके निरोधक राक्षसों को नष्ट करके, संज्ञानवाला होता हूँ, उन्हें सम्यक् प्राप्त करता हूँ।

भावार्थ—राजा को केवल देवों का ही रक्षण नहीं करना, अपितु नदी-तटों व पर्वतों पर संचरण करनेवाले पशुओं का भी रक्षण करना है।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**सत्यौजा अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पिशाचों को न्यञ्चन का न मिलना

तपनो अस्मि पिशाचानां व्याघ्रो गोमतामिव।
श्वानः सिंहमिव दृष्ट्वा ते न विन्दन्ते न्यञ्चनम्॥ ६॥

१. राजा कहता है कि मैं **पिशाचानाम्**=पर-मांसभोजियों का **तपनः अस्मि**=सन्तप्त करनेवाला हूँ, **इव**=जैसे **गोमताम्**=गवादि पशुओं के स्वामियों का **व्याघ्रः**=व्याघ्र सन्तापक होता है। २. **इव**=जैसे **श्वानः**=कुत्ते **सिंहं दृष्ट्वा**=शेर को देखकर घबरा जाते हैं, इसीप्रकार **ते**=वे पिशाच मुझे देखकर **न्यञ्चनम्**=(नि+अञ्चनम्) इधर-उधर भागकर छिपने का स्थान **न विन्दते**=नहीं पा सकते।

भावार्थ—राजा पिशाचों का सन्तापक होता है। राजा से भयभीत हुए-हुए ये पिशाच छिपने के स्थानों को भी नहीं पा सकते।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**सत्यौजा अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पिशाच-पलायन

न पिशाचैः सं शक्नोमि न स्तेनैर्न वनर्गुभिः।
पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति यमहं ग्राममाविशे॥ ७॥

१. राजा कहता है कि मैं **पिशाचैः**=औरों का मांस खानेवाले राक्षसों के साथ **न संशक्नोमि**=किसी प्रकार से मेल नहीं कर सकता—इन्हें कठोर दण्ड देता हूँ, **स्तेनैः न**=चोरों के साथ भी मेल नहीं कर सकता और **न**=न ही **वनर्गुभिः**=वनगामी डाकुओं के साथ मेल कर सकता हूँ। २. मैं **यम्**=जिस भी **ग्रामम् आविशे**=ग्राम में प्रवेश करता हूँ, **तस्मात्**=उस ग्राम से **पिशाचाः नश्यन्ति**=पिशाच नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—राजशासन का सौन्दर्य यही है कि राष्ट्र से 'स्तेनों व वनगुओं' का नामोनिशान भी मिट जाए। राष्ट्र इनके उपद्रवों से रहित हो।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**सत्यौजा अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पाप का उग्र-दण्ड

यं ग्राममाविशत इदमुग्रं सहो मम।
पिशाचास्तस्मान्नश्यंन्ति न पापमुप जानते॥ ८॥

१. राजा कहता है कि **मम**=तेरा **इदम्**=यह **उग्रम्**=तीक्ष्ण—पिशाच-सन्तापनकारी **सह**=बल **यम् ग्रामम्**=जिस भी ग्राम में **आविशते**=प्रविष्ट होकर कार्य करता हूँ, **तस्मात्**=उस ग्राम से **पिशाचाः**=पर-मांसभोजी पिशाच **नश्यन्ति**=भाग जाते हैं। २. राजभय से पिशाच अपनी वृत्ति में परिवर्त्तन करते हैं और **पापम् न उपजानते**=पाप को नहीं जानते—पाप करना उन्हें भूल ही जाता है। अब ये चोरी आदि का नाम नहीं लेते। पाप का दण्ड उग्र होने पर पाप समाप्त हो जाता है।

भावार्थ—राजा पापी को ऐसा उग्र दण्ड दे कि आगे से लोग पाप करना भूल ही जाएँ।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**सत्यौजा अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

जन-मार्ग से पिशाचों को दूर करना

ये मा क्रोधयन्ति लपिता हस्तिनं मशकाइव।
तानहं मन्ये दुर्हितान्जने अल्पशयूनिव॥ ९॥

१. राजा कहता है कि **ये**=जो पिशाच **लपिताः**=व्यर्थ बकवास करनेवाले होते हुए—झूठ के द्वारा अपने अपराध को छिपाने का प्रयत्न करते हुए **मा क्रोधयन्ति**=मुझे क्रुद्ध कर देते हैं, उसी प्रकार **इव**=जैसेकि **मशकाः**=शब्द करते हुए मच्छर **हस्तिनम्**=हाथी को, **तान्**=उन्हें **अहम्**=मैं **दुर्हितान् मन्ये**=लोक में दुःख बढ़ानेवाला—अस्थान में स्थित (दुर् हित) **मन्ये**=मानता हूँ। २. **जने**=जनसंघ में—जनसमूह के सञ्चरण स्थल में अवस्थित **अल्पशयून् इव**=अल्पकाय शयनस्वभाव (संचार-अक्षम) कीटों की भाँति मैं उन्हें मार्ग से हटाने योग्य ही समझता हूँ। ये पिशाच लोक-व्यवहार में विघ्नरूप ही होते हैं। इन्हें दूर करना नितान्त आवश्यक होता है।

भावार्थ—झूठे, चोर, ऊटपटाँग बातें बनानेवाले व्यक्ति राजा के क्रोध के पात्र होते हैं। राजा इन्हें प्रजा के मार्ग से हटा देना आवश्यक समझता है।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**सत्यौजा अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दुष्ट–बन्धन

अभि तं निर्ऋतिर्धत्तामश्वमिवाश्वाभिधान्या।
मल्वो यो मह्यं क्रुध्यति स उ पाशान्न मुच्यते॥ १०॥

१. **तम्**=राष्ट्र के शत्रु उस पिशाच को **निर्ऋतिः**=दुर्गति **अभिधत्ताम्**=इसप्रकार बाँध ले—अपने पाशों में जकड़ ले, **इव**=जैसेकि **अश्वाभिधान्या**=रज्जु से **अश्वम्**=घोड़े को बाँधते हैं। २. **यः**=जो **मल्वः**=मलिन-आचरण पुरुष अपने पाप को झूठ से छिपाने का प्रयत्न करता हुआ **मह्यं क्रुध्यति**=मुझे क्रुद्ध करता है **सः**=वह **उ**=निश्चय से **पाशात् न मुच्यते**=दण्ड-पाश से मुक्त नहीं होता। मैं उसे अवश्य दण्डित करता हूँ।

भावार्थ—कोई भी दुष्ट राजा के दण्डपाश से मुक्त न हो।

विशेष—आधिभौतिक उपद्रवों से शून्य इस राष्ट्र में स्थिरवृत्ति से कार्य करनेवाला 'वादरायणि' (वद स्थैर्ये) अजशृंगी आदि ओषधियों के प्रयोग से आध्यात्मिक कष्टों को भी दूर करने के लिए यत्नशील होता है।

३७. [सप्तत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**वादरायणिः** ॥ देवता—ओषधिः (**अजशृङ्गी**) ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अथर्वा, कश्यप, कण्व, अगस्त्य

त्वया पूर्वमथर्वाणो जघ्नू रक्षांस्योषधे। त्वया जघान कश्यपस्त्वया कण्वो अगस्त्यः॥ १॥

१. हे **ओषधे**=दोषों का दहन करनेवाली ओषधे! **त्वया**=तेरे द्वारा **पूर्वम्**=सबसे प्रथम **अथर्वाणः**=(न थर्व्) स्थिरवृत्ति के लोग **रक्षांसि**=रोगकृमियों को **जघ्नुः**=नष्ट करते हैं। २. **त्वया**=तेरे द्वारा **कश्यपः**=ज्ञानी पुरुष **जघान**=रोगकृमियों का नाश करता है और **अगस्त्यः**=पाप का संघात (विनाश) करनेवाला व्यक्ति तेरे द्वारा इन कृमियों को विनष्ट करता है।

भावार्थ—ओषधि द्वारा 'अथर्वा, कश्यप, कण्व व अगस्त्य' रोगकृमियों का विनाश करते हैं। ओषधि का प्रयोग इन लोगों द्वारा ही ठीक से होता हे जो स्थिरवृत्ति के हैं, ज्ञानी हैं, कण-कण करके शक्ति का सञ्चय करते हैं व पाप का विनाश करते हैं।

ऋषिः—**वादरायणिः** ॥ देवता—ओषधिः (**अजशृङ्गी**) ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अप्सरस् गन्धर्वों का चातन

त्वया वयमप्सरसो गन्धर्वांश्चातयामहे। अजशृङ्ग्यज रक्षः सर्वान् गन्धेन नाशय॥ २॥

१. हे **अजशृंगि**='विषाणी' नामवाली ओषधे! **त्वया**=तेरे द्वारा **वयम्**=हम **अप्सरसः**=जल में गति करनेवाले—फैलनेवाले **गन्धर्वान्**=गुञ्जनरूप गायन करनेवाले कृमियों को **चातयामहे**=विनष्ट करते हैं। २. हे अजशृंगि! तू इन रोगकृमियों को **अज**=परे फेंक—दूर कर, **सर्वान् रक्षः**=सब रोगकृमियों को **गन्धेन**=अपनी गन्ध से **नाशय**=नष्ट कर दे—दूर भागा दे।

भावार्थ—अजशृंगी ओषधि के गन्ध से जल-प्रदेश-विहारी मच्छर आदि रोगकृमि नष्ट हो जाते हैं।

ऋषिः—**वादरायणिः** ॥ देवता—**अप्सरसः** ॥ छन्दः—**षट्पदात्रिष्टुप्** ॥

ओषधि पञ्चक

नदीं यन्त्वप्सरसोऽपां तारमवश्वसम्। गुल्गुलूः पीला नलद्यौ३क्षगन्धिः प्रमन्दनी।
तत्परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन॥ ३॥

१. **अप्सरसः**=जलप्राय स्थानों में विहरण करनेवाले कृमि **अपां तारम्**=(तारऽत्युच्चैः) जलों से ऊपर तक भरी हुई **नदीम्**=नदी को ही **यन्तु**=जाएँ। ये वहाँ **अवश्वसम्**=प्राणशून्य होकर नष्ट हो जाएँ (अव, श्वस प्राणने)। २. हे **अप्सरसः**=जलप्रायः स्थानों में विचरनेवाले रोगकृमियो! **गुल्गुलूः, पीला, नलदी, ओक्षगन्धि, प्रमन्दनी**=इन नामोंवाली ये ओषधियाँ **प्रतिबुद्धाः अभूतन**=प्रतिबुद्ध हुई हैं—हमारे ज्ञान का विषय बनी हैं, **तत् परेत**=अब तुम यहाँ से बाहर हो जाओ। इन ओषधियों के प्रयोग से हम तुम्हारा नाश करते हैं। ३. गुल्गुलु के नाम 'भूतहर, यातुघ्न व रक्षोहा' भी हैं। पीला के नाम 'गुडफल व स्रंसी' हैं। नलदी 'भूतघ्नी, दाहघ्नी, पित्तघ्नी' है। ओक्षगन्धी का दूसरा नाम 'ऋषभक' भी है। यह वाजीकरण औषध है। प्रमन्दनी (घातकी) 'क्रिमि व विसर्प'-जित् है (विसर्प=एग्ज़िमा)।

भावार्थ—'गुल्गुलु, पीला, नलदी, ओक्षगन्धि, व प्रमन्दनी' नामक ओषधियाँ जलप्राय स्थानों में हो जानेवाले कृमियों का नाश कर देती हैं।

ऋषिः—**बादरायणिः** ॥ देवता—**ओषधिः (अजशृङ्गी)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अश्वत्थ, न्यग्रोध, शिखण्डी (महावृक्ष) का रोपण

यत्राश्वत्था न्यग्रोधा महावृक्षाः शिखण्डिनः। तत्परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ ४ ॥

१. हे **अप्सरसः**=जलप्राय स्थानों में विहरण करनेवाले कृमियो! **यत्र**=जहाँ **अश्वत्थाः**=पीपल **न्यग्रोधाः**=वट व **शिखण्डिनः**=शिखण्डी (a kind of Jasmine) आदि **महावृक्षाः**=महत्त्वपूर्ण वृक्ष **प्रतिबुद्धाः अभूतन**=प्रतिबुद्ध हो गये हैं, ज्ञान का विषय बन गये हैं, अतः **तत् परेत**=तुम यहाँ से दूर भाग जाओ। २. अश्वत्थ व न्यग्रोध दोनों योनि-दोषों का निराकरण करनेवाले हैं। इसीप्रकार शिखण्डी (चमेली) गन्ध द्वारा कृमियों की नाशक है।

भावार्थ—अश्वत्थ, वट व शिखण्डी आदि महावृक्षों का रोपण रोगकृमि-विनाशक है।

ऋषिः—**बादरायणिः** ॥ देवता—**अप्सरसः** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

अर्जुनाः, आघाटाः, कर्कर्यः

यत्र॑ वः प्रे॒ङ्खा हरि॑ता अर्जु॑ना उ॒त यत्रा॑घा॒टाः क॑र्क॒र्यः॑ सं॒वद॑न्ति।
तत्परे॑ताप्सरसः॒ प्रति॑बुद्धा अभूतन ॥ ५ ॥

१. हे **अप्सरसः**=जलप्राय स्थानों में विहरण करनेवाले कृमियो! **यत्र**=जहाँ **वः**=तुम्हें **प्रेङ्खाः**=दूर करने के लिए (प्रईंख) **हरिताः**=हरिद्वर्ण **अर्जुनाः**=अर्जुनवृक्ष **उत**=और **यत्र**=जहाँ **आघाटाः**=(आहन्) समन्तात् तुम्हारा हनन करती हुई अपामार्ग ओषधि तथा **कर्कर्यः**=(gourd) घिया की बेलें **संवदन्ति**=परस्पर संवाद-सा करती हैं, अतः तुम **तत् परेत**=वहाँ से दूर भाग जाओ। यहाँ तो ये 'अर्जुनवृक्ष, अपामार्ग व घिया की बेलें' **प्रतिबुद्धा अभूतन**=जागरित हो गई हैं, अतः अब यहाँ तुम्हारा काम नहीं।

भावार्थ—रोगकृमियों को दूर करने के लिए 'अर्जुनवृक्ष, अपामार्ग तथा घिया की बेलों' का रोपण करना चाहिए।

ऋषिः—**बादरायणिः** ॥ देवता—**ओषधिः (अजशृङ्गी)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अजशृंगी=अराटकी

ए॒यम॑गन्नोष॑धीनां वी॒रुधां॑ वी॒र्या॑वती।
अ॒ज॒शृ॒ङ्ग्य॑रा॒टकी॑ ती॒क्ष्णशृ॑ङ्गी॒ व्यृ॑षतु ॥ ६ ॥

१. **ओषधीनाम्**=दोषों का दहन करनेवाली **वीरुधाम्**=विरोहण स्वभाववाली लताओं में **इयम्**=यह **वीर्यावती**=अतिशयित सामर्थ्यवाली अजशृंगी नामवाली ओषधि **आ आगन्**=प्राप्त हुई है। २. **अराटकी**=(अरान् आटयति) शरीर में कुत्सित गति करनेवाले कृमियों का नाश करनेवाली **तीक्ष्णशृंगी**=उग्र गन्धवाली व शृंगाकृति फलोंवाली यह **अजशृंगी व्यृषतु**=रोगकृमियों को (हिनस्तु) विशेषरूप से नष्ट करनेवाली हो।

भावार्थ—अजशृंगी ओषधि बड़ी शक्तिशाली है। यह रोगकृमियों को नष्ट करनेवाली है।

ऋषिः—**वादरायणिः** ॥ देवता—**गन्धर्वाप्सरसः** ॥ छन्दः—**परोष्णिक्** ॥

कृमि-प्रजनन-निरोध

आनृत्यतः शिखण्डिनो गन्धर्वस्याप्सरापतेः।
भिनद्मि मुष्कावपि यामि शेपः ॥ ७ ॥

१. **आनृत्यतः**=चारों ओर नृत्य-सा करते हुए **शिखण्डिनः**=चूड़ा-(चोटी)-वाले **गन्धर्वस्य**=गायन-सा करनेवाले **अप्सरापतेः**=जलसञ्चारी कृमियों के मुखिया के **मुष्कौ**=अण्डकोशों को **भिनद्मि**=तोड़ देता हूँ और **शेपः अपियामि**=उसके प्रजननांग का नाश करता हूँ।

भावार्थ—कृमियों के प्रजनन को समाप्त करके हम इन्हें बीमारी फैलाने से रोकते हैं।

ऋषिः—**वादरायणिः** ॥ देवता—**गन्धर्वाप्सरसः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

भीमा इन्द्रस्य हेतयः

भीमा इन्द्रस्य हेतयः शतमृष्टीरयस्मयीः।
ताभिर्हविरदान्गन्धर्वानवकादान्व्यृषतु ॥ ८ ॥

१. **इन्द्रस्य**=सूर्य की **हेतयः**=कृमियों का विनाश करनेवाली किरणें **भीमाः**=बड़ी भयंकर हैं। ये **शतम्**=सैकड़ों **ऋष्टीः**=दुधारी तलवारों के समान हैं। **अयस्मयीः**=ये तलवारें लोहे की बनी हुई हैं, बड़ी दृढ़ हैं। २. **ताभिः**=उन किरणरूप दुधारी तलवारों से यह सूर्य **हविरदान्**=अन्न को खा जानेवाले और **अवकादान्**=जल-उपरिस्थ शैवाल (काई) को भी खा जानेवाले **गन्धर्वान्**=गायक कृमियों को **व्यृषतु**=हिंसित कर दे।

भावार्थ—सूर्यकिरणें कृमियों को नष्ट करने के लिए दुधारी तलवारों के समान हैं।

ऋषिः—**वादरायणिः** ॥ देवता—**गन्धर्वाप्सरसः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

चमकती हुई किरणरूप तलवारें

भीमा इन्द्रस्य हेतयः शतमृष्टीर्हिरण्ययीः।
ताभिर्हविरदान्गन्धर्वानवकादान्व्यृषतु ॥ ९ ॥

१. कृमियों का नाश करनेवाली **इन्द्रस्य**=सूर्य की किरणें **हेतयः**=अस्त्रों के समान हैं। ये **शतम् ऋष्टीः**=सैकड़ों दुधारी तलवारों के समान हैं जोकि **हिरण्ययीः**=स्वर्ण के समान चमक रही हैं। २. **ताभिः**=उन चमकती हुई किरणरूप तलवारों से **हविरदान्**=अन्न को खा-जानेवाले **अवकादान्**=जलोपरिस्थ शैवाल को भी खा जानेवाले **गन्धर्वान्**=इन गायक कृमियों को **व्यृषतु**=यह सूर्य हिंसित करनेवाला हो।

भावार्थ—चमकती हुई सूर्यकिरणें वे तलवारें हैं जो अन्न तथा शैवाल को खा जानेवाले इन कृमियों को नष्ट कर देती हैं।

ऋषिः—**वादरायणिः** ॥ देवता—**ओषधिः (अजशृङ्गी)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'अवकाद, अभिशोच' पिशाच

अव॒का॒दान॑भिशो॒चान॒प्सु ज्यो॑तय माम॒कान्।
पि॒शा॒चान्त्सर्वा॑नोषधे॒ प्र मृ॑णीहि॒ सह॑स्व च॥ १०॥

१. हे **ओषधे**=अजशृङ्ग! तू **अवकादान्**=जल पर के शैवाल को भी खा जानेवाले **अभिशोचान्**=दाह व सन्ताप पैदा करनेवाले **अप्सु**=शरीरस्थ जलांशों में रहनेवाले **मामकान्**=मेरे **पिशाचान्**=मांस को खा जानेवाले कृमियों को **ज्योतय**=जला दे। २. **सर्वान्**=मांस खा जानेवाले इन सब कृमियों को **प्रमृणीहि**=तू हिंसित कर **च**=और **सहस्व**=इन रक्तशोषक कृमियों का मर्षण कर दे—इन्हें कुचल डाल।

भावार्थ—जो कृमि रक्त का शोषण करते हैं और मांस को भी खा जाते हैं, उन्हें अजशृङ्गी नष्ट कर डाले।

ऋषिः—**वादरायणिः** ॥ देवता—**गन्धर्वाप्सरसः** ॥ छन्दः—**षट्पदाजगती** ॥

ब्राह्मी ओषधि

श्वेवैकः॑ क॒पिरि॒वैकः॑ कु॒मा॒रः स॑र्वकेश॒कः। प्रि॒यो दृ॒शइ॑व भू॒त्वा ग॑न्ध॒र्वः
स॑चते स्त्रि॒यस्तमि॒तो ना॑शयामसि॒ ब्रह्म॑णा वी॒र्या॑वता॥ ११॥

१. यह **गन्धर्वः**=गायन करनेवाला **एकः**=एक कृमि **श्वा इव**=कुत्ते के समान है—इसका स्वर भौंकता-सा प्रतीत होता है। **एकः**=एक कृमि **कपिः इव**=बन्दर के समान अत्यन्त चञ्चल है। यह **कुमारः**=बुरी भाँति मारनेवाला है। **सर्वकेशकः**=सब ओर बालोंवाला कृमि **दृशः प्रियः इव भूत्वा**=आँखों के लिए प्रिय-सा होता हुआ—दिखने में अच्छा लगता हुआ **स्त्रियः सचते**=स्त्री शरीरों में प्रवेश करता है। २. **तम्**=उस कृमि को **इतः**=यहाँ से—शरीर से **वीर्यावता**=बड़ी शक्तिवाली **ब्रह्मणा**=ब्राह्मी ओषधि से **नाशयामसि**=दूर भगाते हैं।

भावार्थ—स्त्री-शरीरों में प्रविष्ट होकर योनि-दोषों को उत्पन्न करनेवाले कृमियों को ब्राह्मी के प्रयोग से दूर करते हैं।

ऋषिः—**वादरायणिः** ॥ देवता—**गन्धर्वाप्सरसः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥

गन्धर्व+अप्सराः

जा॒या इद्वो॑ अप्स॒रसो॒ ग॑न्ध॒र्वाः॒ पत॑यो यू॒यम्। अप॑ धावतामर्त्या॒ मर्त्या॒न्मा स॑चध्वम्॥ १२॥

१. हे **गन्धर्वाः**=गायन-सा करनेवाले कृमियो! **अप्सरसः**=जलप्राय स्थानों में विचरनेवाली ये अप्सराएँ—कृमिविशेष **इत्**=ही **वः जायाः**=तुम्हारी पत्नियाँ हैं, **यूयम्**=तुम इनके **पतयः**=पति हो। २. हे **अमर्त्याः**=जिनका मारना बड़ा कठिन है, ऐसे कृमियो! **अपधावत**=तुम यहाँ से दूर भाग जाओ, हम **मर्त्यान्**=मनुष्यों को **मा**=मत **सचध्वम्**=प्राप्त होओ, हमपर तुम्हारा आक्रमण न हो।

भावार्थ—नर कृमि 'गन्धर्व' हैं तो मादा 'अप्सरस्'। इनका मारना आसान नहीं। प्रभु के अनुग्रह से ये कृमि हमसे दूर रहें। हम स्वच्छता आदि की ऐसी व्यवस्था रक्खें कि इन कृमियों का यहाँ उद्भव ही न हो।

अगले सूक्त का ऋषि भी 'वादरायणि' ही है—

३८. [अष्टात्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**वादरायणिः** ॥ देवता—**अप्सराः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अप्सरा का आवाहन

उद्भिन्दतीं संजयन्तीमप्सरां साधुदेविनीम्।
ग्लहे कृतानि कृण्वानामप्सरां तामिह हुवे॥ १ ॥

१. मैं **इह**=इस घर में **ताम्**=उस **अप्सराम्**=(अप्=कर्म, सृ गतौ) क्रियाशील, आलस्यरहित गृहिणी को **हुवे**=पुकारता हूँ—प्रभु से ऐसी गृहिणी के लिए प्रार्थना करता हूँ जो **उद्भिन्दतीम्**=वासनारूप शत्रुओं को उखाड़ देनेवाली है—जिसका जीवन वासनामय नहीं है, **सञ्जयन्तीम्**=जो वासनारूप शत्रुओं पर सदा विजय पाती है, **साधुदेविनीम्**=जो उत्तम व्यवहारवाली है—घर के सब कार्यों को कुशलता से करती है। २. मैं उस गृहिणी को चाहता हूँ जो **ग्लहे**=स्पर्धा के समय **कृतानि कृण्वानाम्**=उत्तम कृत्यों को करनेवाली है और **अप्सराम्**=खूब ही क्रियाशील है। जुए में जैसे स्पर्धा से अधिक और अधिक शर्त लगाते हैं, उसी प्रकार यह गृहिणी 'घर को उत्तम बनाने में' औरों को जीतने की कामनावाली होती है।

भावार्थ—पत्नी के मुख्य गुण हैं—(क) वासनाओं का विदारण—इनपर विजय पाना, (ख) क्रियाशील होना, (ग) उत्तम व्यवहारवाली होना—क्रियाओं को कुशलता से करना, (घ) घर को उत्तम बनाने की स्पर्धावाला होना।

ऋषिः—**वादरायणिः** ॥ देवता—**अप्सराः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विचिन्वती आकिरन्ती

विचिन्वतीमाकिरन्तीमप्सरां साधुदेविनीम्।
ग्लहे कृतानि गृह्णानामप्सरां तामिह हुवे॥ २ ॥

१. **इह**=इस घर में **ताम्**=क्रियाओं में विचरणे करनेवाली गृहिणी को **हुवे**=पुकारता हूँ जोकि **विचिन्वन्तीम्**=धन का सञ्चय करनेवाली है और **आकिरन्तीम्**=सञ्चित धन को यज्ञात्मक विविध कर्मों के लिए विकीर्ण करनेवाली है, **साधुदेविनीम्**=उत्तम व्यवहारवाली है—कार्यों को कुशलता से करनेवाली है। २. **ग्लहे**=घर को उत्तम बनाने की स्पर्धा में यह गृहिणी **कृतानि गृह्णानाम्**=उत्तम कर्मों का स्वीकार करनेवाली है और **अप्सराम्**=सदा क्रियाओं में विचरनेवाली—आलस्यशून्य है।

भावार्थ—उत्तम पत्नी की विशेषता यह है कि वह १. धनों का सञ्चय करती है, पति के कमाये गये धन को जोड़ती है, २. उसका यज्ञात्मक कर्मों में विनियोग करती है, ३. क्रियाशील है—सदा उत्तम व्यवहारवाली है और ४. घर को उत्तम बनाने की स्पर्धा में उत्तम कर्मों का स्वीकार करती है।

ऋषिः—**वादरायणिः** ॥ देवता—**अप्सराः** ॥ छन्दः—**षट्पदाजगती** ॥

शुभ कर्मों में नृत्य करनेवाली

यायैः परिनृत्यत्यादाना कृतं ग्लहात्।
सा नः कृतानि सीषती प्रहामाप्नोतु मायया।
सा नः पयस्वत्यैतु मा नो जैषुरिदं धनम्॥ ३ ॥

१. हमारे घर में उस गृहिणी का प्रवेश हो **या**=जो **अयैः**=शुभावह विधियों से—पुण्यमार्गों

से **परिनृत्यति**=कार्यों में नृत्य करती है—कार्यों को स्फूर्ति से करती है। वह पत्नी **ग्लहात्**=घर को उत्तम बनाने की स्पर्धा से **कृतम् आददाना**=उत्तम कर्मों का आदान करती है। २. **सा**=यह गृहिणी **नः**=हमारे **कृतानि**=कर्त्तव्यकर्मों को **सीषती**=नियमबद्ध करती हुई (ओहाङ् गतौ) अथवा प्रकृष्ट त्याग—सब अशुभों के दूरीकरण को (ओहाक् त्यागे) **आप्नोतु**=प्राप्त करे। ३. **सा**=वह पत्नी **पयस्वती**=दूध आदि उत्तम पदार्थोंवाली **नः**=हमें **आ एतु**=सर्वथा प्राप्त हो। गृहिणी इस बात का ध्यान करे कि दूसरे लोग **नः इदं धनम्**=हमारे इस उत्तम गृहरूप धन को **मा जैषुः**=जीतनेवाले न हों। हमारा घर उत्तमता में पिछड़ न जाए।

भावार्थ—१. पत्नी शुभ-कर्मों को सदा स्फूर्ति से करनेवाली हो, २. गृह को उत्तम बनाने की स्पर्धा से शुभकर्मों का स्वीकार करे, ३. समझदारी से घर को आगे और आगे ले-चले, ४. घर में दूध आदि पदार्थों की कभी न होने दे, ५. गृह-धन को अपव्ययित न होने दे।

ऋषिः—**वादरायणिः** ॥ देवता—**अप्सराः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शुचं क्रोधं च बिभ्रती

या अक्षेषु प्रमोदन्ते शुचं क्रोधं च बिभ्रती।
आनन्दिनीं प्रमोदिनीमप्सरां तामिह हुवे॥ ४॥

१. **ताम्**=उस **अप्सराम्**=गृहकार्यों में प्रवृत्त होनेवाली सुन्दर पत्नी को **इह**=यहाँ—गृहों में **हुवे**=पुकारते हैं **याः**=जो **अक्षेषु प्रमोदन्ते**=इन्द्रियों में सदा प्रमोदवाली हैं—सदा प्रसन्न मुख हैं, **शुचम्**=शोक को **च**=और **क्रोधम्**=क्रोध को **बिभ्रती**=धारण करती हुई—अपने वश में करनेवाली होती है—क्रोध इसे धारण नहीं कर लेता। २. **आनन्दिनीम्**=जो घर में सभी को अपने यथायोग्य व्यवहार से आनन्दित करनेवाली है तथा **प्रमोदिनीम्**=सदा प्रहृष्टा है।

भावार्थ—पत्नी वही उत्तम है जोकि (क) प्रसन्नमुख है, (ख) शोक व क्रोध को वशीभूत करती है, (ग) अपने यथोचित व्यवहार से सबको प्रसन्न करनेवाली है, (घ) प्रसनचित्त और क्रियाशील है।

ऋषिः—**वादरायणिः** ॥ देवता—**वाजिनीवान् ऋषभः** ॥ छन्दः—**भुरिगत्यष्टिः** ॥

उत्तम पति-पत्नी

सूर्यस्य रश्मीननु याः संचरन्ति मरीचीर्वा या अनुसंचरन्ति।
यासामृषभो दूरतो वाजिनीवान्त्सद्यः सर्वाँल्लोकान्पर्येति रक्षन्।
स न ऐतु होममिमं जुषाणो३ न्तरिक्षेण सह वाजिनीवान्॥ ५॥

१. गृहिणियाँ वे ही उत्तम हैं **याः**=जो **सूर्यस्य रश्मीननु सञ्चरन्ति**=सूर्य की रश्मियों के अनुसार सञ्चरण करती हैं, अर्थात् सूर्योदय से सूर्यास्त तक कार्यों में लगी रहती हैं, **वा**=तथा **याः**=जो **मरीचीः**=सूर्यप्रकाश में **अनुसञ्चरन्ति**=अनुकूलता से सञ्चरण करती हैं—अँधेरे कमरों में नहीं बैठी रहतीं। २. **यासाम्**=जिनका **ऋषभः**=सेचन-समर्थ—सन्तान को जन्म देने की सामर्थ्यवाला श्रेष्ठ पति **दूरतः वाजिनीवान्**=(वाजिनी=उषा) दूर से उषावाला है, अर्थात् उषाकाल से भी पहले ही (Early in the morning) प्रबुद्ध होनेवाला है। यह ऋषभ **सद्यः**=शीघ्र ही **सर्वान् लोकान्**=सब लोगों का **रक्षन्**=रक्षण करता हुआ **परिएति**=चारों ओर गति करता है—अपने सब कर्त्तव्यकर्मों का सम्यक् पालन करता है। ३. पत्नी कामना करती है कि **सः**=वह गृहपति **नः**=हम गृहिणियों को **आ एतु**=सर्वथा प्राप्त हो, जो **इमं होमं जुषाणः**=इस यज्ञ को प्रतिदिन प्रीतिपूर्वक करनेवाला हो (पत्युर्नो यज्ञसंयोगे), जोकि **अन्तरिक्षेण सह**=अन्तरिक्ष के साथ, अर्थात् सदा

मध्यमार्ग में चलता हुआ **वाजिनीवान्**=प्रशस्त उषावाला है। पति का कर्त्तव्य है कि अति में न जाता हुआ—कार्यों को मर्यादा में करता हुआ—उषाकाल में प्रबुद्ध हो।

भावार्थ—वही घर स्वर्ग बनता है जहाँ पत्नी (क) सूर्योदय से सूर्यास्त तक क्रियाशील हो, (ख) अँधेरे कमरे में न बैठी रहकर सूर्यप्रकाश में अपने कार्य को करती हुई स्वस्थ हो। इस स्वर्गतुल्य गृह में पति शक्तिशाली होता है, रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त होता है, यज्ञशील बनता है, मध्यमार्ग में चलता हुआ उषा में प्रबुद्ध होनेवाला यह गृहपति मर्यादित जीवनवाला होता है।

ऋषिः—**वादरायणिः** ॥ देवता—**वाजिनीवान् ऋषभः** ॥ छन्दः—**भुरिगत्यष्टिः** ॥

आदर्श पति

अ॒न्तरि॑क्षेण स॒ह वा॑जिनीवन्क॒र्कीं व॒त्सामि॒ह र॑क्ष वाजिन्।
इ॒मे ते॑ स्तो॒का ब॑हु॒ला एह्य॒र्वाङि॒यं ते॑ क॒र्कीह ते॒ मनो॑ऽस्तु॥ ६ ॥

१. पत्नी पति से कहती है कि हे **वाजिनीवन्**=प्रशस्त उषावाले **वाजिन्**=बलवाले—उषा में प्रबुद्ध होनेवाले सबल पते! **अन्तरिक्षेण सह**=सदा मध्यमार्ग में चलने के साथ, अर्थात् मर्यादित जीवनवाला होते हुए **इह**=इस गृहस्थजीवन में अपनी **कर्कीम्**=शुद्ध जीवनवाली (श्वेत घोड़ी) की भाँति शुद्ध, पवित्र व क्रियाशील **वत्साम्**=प्रिय व प्रातः प्रबुद्ध होने पर प्रभु-स्तोत्रों का उच्चारण करनेवाली (वदति) इस पत्नी का **रक्ष**=तू रक्षण करनेवाला है। २. **इमे**=ये **ते**=तेरे **स्तोकाः**=(स्तुच् घञ् स्तोचते to be light, to shine) दीप्त-(शानदार)-कर्म **बहुलाः**=बहुत समृद्धियों को प्राप्त करानेवाले हों। तू यहाँ **अर्वाङ् एहि**=घर की ओर ही आनेवाला हो—क्लब आदि में जानेवाला न बन जाए। **इयम्**=यह **ते**=तेरी **कर्की**=शुद्ध, क्रियाशील पत्नी है। **इह**=यहाँ घर में ही ते **मनः अस्तु**=तेरा मन हो। तेरे लिए घर का वातावरण मनःप्रसाद देनेवाला हो।

भावार्थ—पत्नी चाहती है कि उसका पति (क) मर्यादित जीवनवाला हो, (ख) उषा में प्रबुद्ध होनेवाला हो (ग) वस्तुतः गृहरक्षक हो, (घ) शुद्ध कर्मों से गृह को समृद्ध करनेवाला हो—घर में अशुद्ध कमाई न आये, (ङ) घर का वातावरण उसके लिए मनःप्रसाद-जनक हो—क्लब-लाइफ़वाला न हो।

ऋषिः—**वादरायणिः** ॥ देवता—**वाजिनीवान् ऋषभः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदानुष्टुब्गर्भा-पुरउपरिष्टाज्ज्योतिष्मतिजगती** ॥

उत्तम घर

अ॒न्तरि॑क्षेण स॒ह वा॑जिनीवन्क॒र्कीं व॒त्सामि॒ह र॑क्ष वाजिन्।
अ॒यं घा॒सो अ॒यं व्र॒ज इ॒ह व॒त्सां नि ब॑ध्नीमः। य॒था॒ना॒म व॒ ईश्महे॒ स्वाहा॑॥ ७ ॥

१. हे **वाजिनीवन्**=प्रशस्त उषाकालवाले! उषाकाल में प्रबुद्ध होनेवाले **वाजिन्**=शक्तिशाली गृहपते! **अन्तरिक्षेण सह**=अन्तरिक्ष के साथ, अर्थात् सदा मध्यमार्ग में चलने के साथ **इह**=इस जीवन में **कर्कीम्**=क्रियाशील **वत्साम्**=प्रभु-स्तोत्रों का उच्चारण करनेवाली प्रिय पत्नी की **रक्ष**=तू रक्षा करनेवाला हो। २. पति उत्तर देता हुआ कहता है कि **अयं घासः**=यह वानस्पतिक भोजन यहाँ घर में है। **अयं व्रजः**=यह क्रियाशील जीवन है (व्रज गतौ)। **इह**=यहाँ **वत्साम्**=तुझ प्रभु-भक्तिवाली प्रिय पत्नी को हम **निबध्नीमः**=बाँधते हैं। वस्तुतः पति का मुख्य कर्त्तव्य यही हो कि वह घर में पोषण के लिए आवश्यक पदार्थों की कमी न होने दे और आलसी जीवनवाला न हो। ये दो बातें ही पत्नी को घर में बाँधनेवाली होती हैं। पति विवाह-संस्कार के समय कहता

है कि—'ध्रुवैधि पोष्ये मयि'। ३. ये पति-पत्नी अपनी सन्तानों के साथ मिलकर प्रातः-सायं प्रभु का उपासन करते हैं और कहते हैं कि हे प्रभो! **वः यथानाम**=आपके नाम के अनुसार, अर्थात् जितना-जितना आपका नाम लेते हैं, उतना-उतना ही हम **ईश्महे**=ऐश्वर्यवाले होते हैं, अतः **स्वाहा**=हम आपके प्रति ही अपना (स्व) अर्पण करते हैं (हा)—आपकी शरण में आते हैं।

भावार्थ—पति प्रातः प्रबुद्ध होनेवाला हो, शक्तिशाली हो, घर में खान-पान की कमी न होने दे—क्रियाशील हो। घर में पति-पत्नी अपनी सन्तानों के साथ प्रभु का उपासन करनेवाले बनें।

विशेष—अपने जीवन को सुन्दर बनानेवाले पति-पत्नी 'अंगिरस्' बनते हैं। अगले सूक्त का ऋषि 'अंगिरा:' ही है—

३९. [एकोनचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**पृथिव्यग्नी** ॥ छन्दः—**त्रिपदामहाबृहती** ॥

पृथिवी में अग्नि

पृथिव्यामग्नये समनमन्त्स आर्ध्नोत्।
यथा पृथिव्यामग्नये समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु॥ १॥

१. **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी में **अग्नये**=अग्नितत्त्व के लिए **समनमन्**=सब प्राणी संनत होते हैं। **सः**=वह अग्नितत्त्व ही **आर्ध्नोत्**=(ऋध्=to cause, to succeed) इन प्राणियों को विजयी (सफल) बनाता है। **यथा**=जैसे **पृथिव्याम्**=इस पृथिवीरूपी शरीर में **अग्नये**=अग्नि के लिए **समनमन्**=संनत (to make ready) होते हैं—अपने को तैयार करते हैं, **एव**=इसीप्रकार **मह्यम्**=मेरे लिए **संनमः**=अभिलषित फलों की प्राप्तियाँ (संनतयः) **संनमन्तु**=संनत हों—प्राप्त हों।

भावार्थ—शरीररूप पृथिवी में अग्नितत्त्व ही प्रधान देवता है। इसके ठीक होने पर शरीर में सब अभिलषित (दिव्य) पदार्थ उपस्थित होते हैं। अग्नि प्रधान देव है—इसके होने पर अन्य पार्थिव देव क्यों न उपस्थित होंगे?

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**पृथिव्यग्नी** ॥ छन्दः—**संस्तारपङ्क्तिः** ॥

पृथिवीरूप धेनु का अग्निरूप वत्स

पृथिवी धेनुस्तस्या अग्निर्वत्सः। सा मेऽग्निना वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम्।
आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा॥ २॥

१. **पृथिवी**=यह शरीररूप पृथिवी **धेनुः**=धेनु है तो **तस्याः**=उस धेनु का **अग्निः वत्सः**=अग्नि बछड़ा है। **सा**=वह धेनु इस **अग्निना वत्सने**=अग्निरूप वत्स के साथ **मे**=मेरे लिए **इषम्**=अन्न, **ऊर्जम्**=बलकर रस और **कामम्**=काम्यमान अन्य तत्त्वों को **दुहाम्**=प्रपूरित करे। २. **प्रथमं आयुः**=शतसंवत्सर-पर्यन्त विस्तीर्ण आयु **प्रजाम्**=पुत्र आदिरूप उत्तम प्रजा व शक्ति-विकास **पोषम्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग का पोषण और **रयिम्**=धन दे। **स्वाहा**=मैं इस अग्नितत्त्व के लिए अपने को अर्पित करता हूँ। शरीररूप पृथिवी में अग्निदेव के स्थापन के लिए यत्नशील होता हूँ।

भावार्थ—शरीररूप पृथिवी में अग्नितत्त्व के ठीक होने पर सब इष्ट पदार्थ प्राप्त होते हैं, दीर्घ जीवन, सब अंगों का पोषण व धन—सब सुलभ होते हैं।

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—वाय्वन्तरिक्षे ॥ छन्दः—त्रिपदामहाबृहती ॥

अन्तरिक्ष में वायु

अन्तरिक्षे वायवे समनमन्त्स आर्ध्नोत्।
यथान्तरिक्षे वायवे समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु॥ ३॥

१. **अन्तरिक्षे**=इस हृदयरूप अन्तरिक्ष में **वायवे**=वायुतत्त्व के लिए—निरन्तर क्रियाशीलता के संकल्प के लिए **समनमन्**=सब प्राणी संनत होते हैं। **सः आर्ध्नोत्**=यह वायुतत्त्व ही—क्रियाशीलता का संकल्प ही (हृत्सु क्रतुम्) उन्हें सफल बनाता है। २. **यथा**=जैसे **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष में **वायवे**=क्रियाशीलता के संकल्प के लिए **समनमन्**=संनत होते हैं, **एव**=इसीप्रकार **मह्यम्**=मेरे लिए **संनमः**=अभिलषित फलों की प्राप्तियाँ **संनमन्तु**=संनत हों।

भावार्थ—हृदयान्तरिक्ष में वायु ही मुख्य देव है। इसके होने पर अन्य सब देवों की उपस्थिति होती ही है। क्रियाशीलता सब अभिलषितों को सिद्ध करती है।

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—वाय्वन्तरिक्षे ॥ छन्दः—संस्तारपङ्क्तिः ॥

अन्तरिक्ष धेनु का वायुरूप वत्स

अन्तरिक्षं धेनुस्तस्या वायुर्वत्सः। सा मे वायुना वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम्।
आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा॥ ४॥

१. **अन्तरिक्षम् धेनुः**=हृदयान्तरिक्ष ही एक गौ है, **वायुः**=क्रियाशीलता ही **तस्याः**=उसका **वत्सः**=बछड़ा है। **सा**=वह अन्तरिक्षरूप **धेनु वायुना वत्सेन**=क्रियाशीलतारूपी बछड़े के साथ **मे**=मेरे लिए **इषम्**=अन्न को **ऊर्जम्**=अन्न-रस को, **कामम्**=अन्य अभिलषित पदार्थों को **दुहाम्**=प्रपूरित करे। २. **प्रथमं आयुः**=शतसंवत्सर के दीर्घजीवन को, **प्रजाम्**=उत्तम सन्तान व शक्तिविकास को **पोषम्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग के पोषण को **रयिम्**=धन को हमें यह प्राप्त कराए। **स्वाहा**=मैं इस वायुतत्त्व के लिए—क्रियाशीलता के लिए अपने को अर्पित करता हूँ। हृदयान्तरिक्ष में क्रियाशीलता के संकल्पवाला होता हूँ।

भावार्थ—हृदयान्तरिक्ष में क्रियाशीलता का संकल्प होने पर सब इष्ट-पदार्थ प्राप्त होते हैं। दीर्घजीवन, अङ्ग-प्रत्यङ्ग की पुष्टि व आवश्यक धन की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—दिवादित्यौ ॥ छन्दः—त्रिपदामहाबृहती ॥

द्युलोक में आदित्य

दिव्या[दि]त्याय समनमन्त्स आर्ध्नोत्।
यथा दिव्या[दि]त्याय समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु॥ ५॥

१. **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **आदित्याय**=ज्ञानसूर्य के लिए **समनमन्**=सब संनत होते हैं। **सः**=वह ज्ञानरूप सूर्य **आर्ध्नोत्**=सफलता का कारण बनता है। २. **यथा**=जैसे **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **समनमन्**=संनत होते हैं—आदर के भाववाले होते हैं, **एव**=इसप्रकार **मह्यम्**=मेरे लिए **संनमः**=अभिलषित फलों की प्राप्तियाँ **संनमन्तु**=संनत हों।

भावार्थ—मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञानसूर्य ही प्रमुख देव है। इसके होने पर द्युलोक के अन्य सब देव उपस्थित होंगे ही। ज्ञान सब अभिलषितों को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—दिवादित्यौ ॥ छन्दः—संस्तारपङ्क्तिः ॥

द्युलोकरूप धेनु का आदित्यरूप वत्स

द्यौर्धेनुस्तस्या आदित्यो वत्सः। सा म आदित्येन वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम्।
आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा॥ ६॥

१. **द्यौः धेनुः**=मस्तिष्करूप द्युलोक धेनु है। **आदित्यः**=ज्ञानरूप सूर्य **तस्याः वत्सः**=उसका बछड़ा है। **सा**=वह धेनु **वत्सेन आदित्येन**=ज्ञानरूप बछड़े के साथ **मे**=मेरे लिए **इषम्**=अन्न को, **ऊर्जम्**=रस को, **कामम्**=सब अभिलषित पदार्थों को **दुहाम्**=प्रपूरित करे। २. **प्रथमं आयुः**=शतसंवत्सर का विस्तीर्ण जीवन **प्रजाम्**=उत्तम सन्तति व शक्ति-विकास **पोषम्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग का पोषण और **रयिम्**=धन हमें दे। **स्वाहा**=मैं इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए अपना अर्पण करता हूँ।

भावार्थ—मस्तिष्क में ज्ञान होने पर सब इष्ट पदार्थ प्राप्त होते हैं। दीर्घजीवन, अङ्ग-प्रत्यङ्ग का पोषण व आवश्यक धन इस ज्ञान से प्राप्त होता है।

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—दिक्चन्द्रमसः ॥ छन्दः—त्रिपदामहाबृहती ॥

दिशाओं में चन्द्रमा

दिक्षु चन्द्राय समनमन्त्स आर्ध्नोत्।
यथा दिक्षु चन्द्राय समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु॥ ७॥

१. **दिक्षु**=पूर्व-पश्चिम आदि शरीर के दिग्भागों में **चन्द्राय**=आह्लाद-(विकास)-रूप चन्द्रमा के लिए **समनमन्**=सब प्राणी संनत होते हैं। शरीर के सब प्रदेश आह्लादित व विकसित हों तो सबको अच्छा लगता है। **सः**=वह आह्लाद व विकास **आर्ध्नोत्**=सफलता प्राप्त कराता है। २. **यथा**=जैसे **दिक्षु**=शरीर के सब प्रदेशों में **चन्द्राय**=आह्लाद व विकास के लिए **समनमन्**=संनत होते हैं, **एव**=इसी प्रकार **मह्यम्**=मेरे लिए **संनमः**=अभिलषित फलों की प्राप्तियाँ **संनमन्तु**=संनत हों। सब शरीरावयवों के विकास में ही अभिलषित प्राप्ति होती है।

भावार्थ—शरीर के सब देश—अङ्ग आह्लादमय हों। ऐसा होने पर ही सब अभिलषित सिद्ध होते हैं।

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—दिक्चन्द्रमसः ॥ छन्दः—संस्तारपङ्क्तिः ॥

दिशारूप धेनुओं का वत्स 'चन्द्र'

दिशो धेनवस्तासां चन्द्रो वत्सः। ता मे चन्द्रेण वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम्।
आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा॥ ८॥

१. **दिशः धेनवः**=शरीर के सब दिग्भाग धेनुएँ हैं, तो **चन्द्रः**=आह्लाद व विकास ही **तासाम्**=उनका **वत्सः**=बछड़ा है। **ताः**=वे दिशाएँ **वत्सेन चन्द्रेण**=इस वत्सभूत चन्द्र (विकास) के साथ **मे**=मेरे लिए **इषम्**=अन्न को, **ऊर्जम्**=बलकर रस को तथा **कामम्**=अभिलषित तत्त्वों को **दुहाम्**=प्रपूरित करें। २. ये मुझे **प्रथमम्**=शतसंवत्सरपर्यन्त विस्तीर्ण आयुष्य **प्रजाम्**=शक्तियों का प्रादुर्भाव, **पोषम्**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग का पोषण व **रयिम्**=उत्कृष्ट धन प्राप्त कराएँ। **स्वाहा**=मैं इन चन्द्र-शक्तियों के विकास व आह्लाद के लिए अपना अर्पण करता हूँ—पूर्ण प्रयत्न से इन्हें प्राप्त करने में लगता हूँ।

भावार्थ—शरीर के सब दिग्भागों के विकसित होने पर सब अभिलषित तत्त्वों की प्राप्ति

होती है। इसी से दीर्घ जीवन, शक्तियों का विकास व पोषण प्राप्त होता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**जातवेदसोऽग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रभु-स्मरण

अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रो अभिशस्तिपा उ।
नमस्कारेण नमसा ते जुहोमि मा देवानां मिथुया कर्म भागम्॥ ९॥

१. **अग्नौ**=प्रगतिशील जीव में **प्रविष्टः**=प्रविष्ट हुआ-हुआ **अग्निः**=अग्रणी प्रभु (तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशन्) **चरति**=सब क्रियाओं को करता है। एक ज्ञानी पुरुष सब कार्यों को अन्तःस्थित प्रभु की शक्ति से होता हुआ जानता है। यह प्रभु **ऋषीणां पुत्रः**=इन तत्त्वद्रष्टा पुरुषों को पवित्र करनेवाला (पुनाति) व त्राण करनेवाला (त्रायते) है। तत्त्वद्रष्टा पुरुष अन्तःस्थित प्रभु को देखते हैं। यह प्रभु-दर्शन उन्हें पवित्र हृदयवाला व नीरोग शरीरवाला बनाता है। **उ**=निश्चय से ये प्रभु **अभिशस्तिपाः**=हिंसन से बचानेवाले हैं। प्रभु को देखनेवाला ऋषि पापों व रोगों से आक्रान्त नहीं होता। २. हे प्रभो! मैं **ते**=तेरे प्रति **नमस्कारेण**=नमस्कार के साथ **नमसा**=हविर्लक्षण अन्न के द्वारा **जुहोमि**=अग्निहोत्र करता हूँ। हम **देवानां भागम्**=वायु आदि देवों के भजनीय इस हविर्लक्षण अन्न को कभी **मिथुया मा कर्म**=मिथ्या न करें—अग्निहोत्र की सारी प्रक्रिया को पवित्रता से करें।

भावार्थ—ऋषि सब कार्यों को अन्तःस्थित प्रभु की शक्ति से होते हुए देखता है। यह भावना इन्हें विनाश से बचाती है। प्रभु के प्रति नमन करते हुए हम सदा पवित्रता के साथ अग्निहोत्र करनेवाले बनें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**जातवेदसोऽग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पवित्र यज्ञ

हृदा पूतं मनसा जातवेदो विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
सप्तास्यानि तव जातवेदस्तेभ्यो जुहोमि स जुषस्व हव्यम्॥ १०॥

१. हे **जातवेदः**=अग्ने! मैं **हृदा**=हृदय से—श्रद्धा से तथा **मनसा**=मन से—ज्ञानपूर्वक **पूतम्**=पवित्र हवि को **जुहोमि**=आहुत करता हूँ। हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! आप **विश्वानि**=सब **वयुनानि**=प्रज्ञानों को **विद्वान्**=जानते हैं। आपके स्मरण से मैं सदा पवित्र कर्मों को ही करनेवाला बनूँ। हे जातवेदः! **तव**=तेरे **सप्त आस्यानि**='काली, कराली, मनोजवा, सुलोहिता, सुधूम्रवर्णा, स्फुलिंगिनी, विश्वरुची' इन नामोंवाली सात जिह्वाएँ (मुख) हैं। मैं **तेभ्यः**=उनके लिए इस हविर्लक्षण अन्न को आहुत करता हूँ। **सः**=वह तू **हव्यम्**=इस होतव्य पदार्थ का **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन कर।

भावार्थ—प्रभु हमारे सब विचारों को जानते हैं। हम प्रभु-स्मरण करते हुए सदा यज्ञादि पवित्र कर्मों को करनेवाले बनें।

विशेष—प्रभु-स्मरणपूर्वक पवित्र कर्मों को करता हुआ यह व्यक्ति वासना-विनाश द्वारा शरीर में शक्ति की ऊर्ध्वगतिवाला होता है। यह सब शत्रुओं को नष्ट करनेवाला शक्तिशाली 'शुक्र' बनता है। यह शुक्र ही अगले सूक्त का ऋषि है—

४०. [चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**जातवेदः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्राची दिक् से

ये पुरस्ताज्जुह्वति जातवेदः प्राच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान्।
अग्निमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि॥ १ ॥

१. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **ये**=जो **पुरस्तात्**=सामने से—पूर्व दिशा से **जुह्वति**=(हु अदने) हमें खाने के लिए आते हैं, **प्राच्याः दिशः**=इस पूर्व दिशा से **अस्मान् अभिदासन्ति**=हमारा क्षय करना चाहते हैं **ते**=वे सब **अग्निम् ऋत्वा**=हमारे अन्दर स्थित अग्नितत्त्व को प्राप्त करके **पराञ्चः**=पराङ्मुख हुए-हुए **व्यथन्ताम्**=पीड़ित हों। मेरे अन्दर स्थित अग्नितत्त्व इन्हें दूर भगानेवाला हो। २. मैं **एनान्**=इन सब शत्रुओं को **प्रतिसरेण**=प्रतिसर के द्वारा—शरीर में उत्पन्न वीर्यशक्ति को अङ्ग-प्रत्यङ्ग में गतिवाला करके **प्रत्यग् हन्मि**=पराङ्मुख करके (प्रतीचीनम् निवर्त्य) नष्ट कर डालता हूँ।

भावार्थ—मेरे अन्दर का अग्नितत्त्व पूर्व से आक्रमण करनेवाले सब शत्रुओं को विनष्ट करनेवाला हो।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**जातवेदा यमः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

दक्षिण दिक् से

ये दक्षिणतो जुह्वति जातवेदो दक्षिणाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान्।
यममृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि॥ २ ॥

१. **ये**=जो **दक्षिणतः**=दक्षिणपार्श्व से **जुह्वति**=नष्ट करना चाहते हैं, **ते**=वे सब **यमम् ऋत्वा**=हमारे अन्दर स्थित नियन्त्रण की भावना को प्राप्त करके **पराञ्चः**=पराङ्मुख हुए-हुए **व्यथन्ताम्**=पीड़ित हों। मेरे अन्दर स्थित नियन्त्रण की भावना इन शत्रुओं को दूर भगानेवाली हो। २. मैं **एनान्**=इन शत्रुओं को **प्रतिसरेण**=प्रतिसर के द्वारा—शरीर में उत्पन्न वीर्यशक्ति को अङ्ग-प्रत्यङ्ग में गतिशील करके **प्रत्यग् हन्मि**=पराङ्मुख करके नष्ट कर डालता हूँ।

भावार्थ—मेरे अन्दर स्थित नियन्त्रण की भावना दक्षिणपार्श्व से आक्रमण करनेवाले सब शत्रुओं को विनष्ट करनेवाली हो।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**जातवेदो वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रतीची दिक् से

ये पश्चाज्जुह्वति जातवेदः प्रतीच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान्।
वरुणमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि॥ ३ ॥

१. **ये**=जो **पश्चात्**=पीछे से **जुह्वति**=हमें खाने को आते हैं, हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **प्रतीच्याः दिशः**=पश्चिम दिशा से **अस्मान् अभिदासन्ति**=हमारा उपक्षय करते हैं, **ते**=वे **वरुणम् ऋत्वा**=(वारयति) मेरे अन्दर स्थित द्वेष-निवारण—निर्द्वेषता की भावना को प्राप्त करके **पराञ्चः**=पराङ्मुख होकर **व्यथन्ताम्**=पीड़ित हों। २. मैं **एनान्**=इन शत्रुओं को **प्रतिसरेण**=शरीर में उत्पन्न सोम को अङ्ग-प्रत्यङ्ग में गतिवाला करके **प्रत्यग् हन्मि**=पराङ्मुख करके नष्ट कर डालता हूँ।

भावार्थ—मेरे अन्दर स्थित भाव पीछे से आक्रमण करनेवाले सब शत्रुओं को

समाप्त कर देता है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**जातवेदो भूमिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

उदीची दिक् से

य उत्तरतो जुह्वति जातवेद उदीच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान्।
सोममृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि॥ ४॥

१. **ये**=जो **उत्तरतः**=उत्तरभाग से **जुह्वति**=हमें खाने को आते हैं, हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **उदीच्याः दिशः**=उत्तर दिशा से **अस्मान् अभिदासन्ति**=हमारा उपक्षय करते हैं, **ते**=वे **सोमम् ऋत्वा**=हमारे अन्दर स्थित सोमतत्त्व को—सौम्यता—शान्ति को प्राप्त करके **पराञ्चः**=पराङ्मुख होकर **व्यथन्ताम्**=पीड़ित हों। २. मैं **एनान्**=इन शत्रुओं को **प्रतिसरेण**=शरीर में उत्पन्न सोम को अङ्ग-प्रत्यङ्ग में गतिवाला करके **प्रत्यग् हन्मि**=पराङ्मुख करके नष्ट कर डालता हूँ।

भावार्थ—मेरे अन्दर स्थित सौम्यता का भाव उत्तर से आक्रमण करनेवाले सब शत्रुओं को समाप्त कर देता है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**जातवेदो भूमिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ध्रुवा दिक् से

ये३धस्ताज्जुह्वति जातवेदो ध्रुवाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान्।
भूमिमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि॥ ५॥

१. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **ये**=जो शत्रु **अधस्तात्**=नीचे की ओर से **जुह्वति**=हमें खाने को आते हैं, **ध्रुवायाः दिशः**=इस ध्रुवा दिक् से **अस्मान् अभिदासन्ति**=हमारा उपक्षय करते हैं, **ते**=वे शत्रु **भूमिम्**=(भवन्ति भूतानि अस्याम्) 'सब प्राणियों के कल्याण की कामना की वृत्ति' को **ऋत्वा**=प्राप्त करके **पराञ्चः**=पराङ्मुख होकर **व्यथन्ताम्**=पीड़ित हों। २. **एनान्**=इन शत्रुओं को **प्रतिसरेण**=शरीर में उत्पन्न सोम की अङ्ग-प्रत्यङ्ग में गति के द्वारा प्रत्यग् **हन्मि**=पराङ्मुख करके नष्ट कर डालता हूँ।

भावार्थ—हमारे हृदयों में सब प्राणियों के कल्याण की कामना हो। यह काम ध्रुवा दिक् से आक्रमण करनेवाले शत्रुओं का विनाश करेगी।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**जातवेदो वायुः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

व्यध्वा दिक् से

ये३ऽन्तारिक्षाज्जुह्वति जातवेदो व्यध्वाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान्।
वायुमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि॥ ६॥

१. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **ये**=जो शत्रु **अन्तरिक्षात् जुह्वति**=अन्तरिक्ष से—मध्यलोक से हमें खाने को दौड़ते हैं **व्यध्वायाः**=विविध मार्गोंवाली (अध्वोंवाली) **दिशः**=दिशा से **अस्मान् अभिदासन्ति**=हमारा उपक्षय करते हैं, **ते**=वे शत्रु **वायुम्**=गतिशीलता के भाव को—हृदयस्थ कर्मसंकल्प को **ऋत्वा**=प्राप्त करके **पराञ्चः**=पराङ्मुख होकर **व्यथन्ताम्**=पीड़ित हों। २. **एनान्**=इन शत्रुओं को **प्रतिसरेण**=शरीर में उत्पन्न सोम के अङ्ग-प्रत्यंग में सरण के द्वारा **प्रत्यग् हन्मि**=पराङ्मुख करके नष्ट करता हूँ।

भावार्थ—हृदयों में कर्मशीलता का संकल्प व्यध्वा दिक् से आक्रमण करनेवाले सब शत्रुओं का विनाश करे।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**जातवेदः सूर्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ऊर्ध्वा दिक् से

य उपरिष्टाज्जुह्वति जातवेद ऊर्ध्वाया दिशो ऽभिदासन्त्यस्मान्।
सूर्यमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि॥ ७॥

१. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **ये**=जो शत्रु **उपरिष्टात् जुह्वति**=ऊपर से हमें खाने को दौड़ते हैं, **ऊर्ध्वायाः दिशः**=ऊर्ध्वा दिक् से **अस्मान् अभिदासन्ति**=हमें उपक्षीण करते हैं, **सूर्यम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक में स्थित ज्ञानसूर्य को **ऋत्वा**=प्राप्त करके **ते**=वे शत्रु **पराञ्चः**=पराङ्मुख होकर **व्यथन्ताम्**=पीड़ित हों। २. **एनान्**=इन शत्रुओं को **प्रतिसरेण**=शरीरस्थ सोम के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में सरण के द्वारा **प्रत्यग् हन्मि**=पराङ्मुख करके नष्ट करता हूँ।

भावार्थ—मस्तिष्क में स्थित ज्ञानसूर्य के प्रकाश में ऊर्ध्वा दिक् से आक्रमण करनेवाले शत्रुओं का विलय हो जाता है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**जातवेदो ब्रह्म** ॥ छन्दः—**परोऽतिशक्वरीपाद्युग्जगती** ॥

सब दिशाओं से

ये दिशामन्तर्देशेभ्यो जुह्वति जातवेदः सर्वाभ्यो दिग्भ्यो ऽभिदासन्त्यस्मान्।
ब्रह्मर्त्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान्प्रतिसरेण हन्मि॥ ८॥

१. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **ये**=जो शत्रु **दिशाम् अन्तर्देशेभ्यः**=दिशाओं के अन्तर्देशों से **जुह्वति**=हमें खाने को आते हैं, **सर्वाभ्यः दिग्भ्यः**=सब दिशाओं से **अस्मान् अभिदासन्ति**=हमारा उपक्षय करते हैं, **ब्रह्म**=उस सर्वव्यापक प्रभु की व्यापकता के स्मरण के भाव को **ऋत्वा**=प्राप्त होकर **ते**=वे शत्रु **पराञ्चः**=पराङ्मुख होकर **व्यथन्ताम्**=पीड़ित हों। २. **एनान्**=इन शत्रुओं को **प्रतिसरेण**=शरीरस्थ सोम के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में सरण के द्वारा **प्रत्यग्**=पराङ्मुख करके **हन्मि**=नष्ट करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु की व्यापकता का स्मरण सब दिशाओं से आक्रमण करनेवाले शत्रुओं को विनष्ट करे।

सूचना—इस सूक्त में काव्यमयी भाषा में आक्रामक शत्रुओं के विनाश का बड़ा सुन्दर संकेत है। विविध दिशाओं से काम-क्रोध आदि शत्रु हमपर आक्रमण करते हैं। इनसे अपने को बचाने के लिए इन दिशाओं में 'अग्नि, यम, वरुण, सोम, भूमि, वायु, सूर्य व ब्रह्म' रूप पहरेदारों को नियुक्त करना है। आगे बढ़ने की भावना ही 'अग्नि' है, नियन्त्रण—संयम का भाव 'यम' है। निर्द्वेषता 'वरुण' है। सौम्यता का भाव 'सोम' है। 'सब प्रणियों के कल्याण की कामना' ही भूमि है, क्रियाशीलता वायु है। ज्ञान का सूर्य 'सूर्य' है तो सर्वव्यापक प्रभु का स्मरण ही 'ब्रह्म' है। ये आठ वृत्तियाँ पहरेदार हैं, ये हमें शत्रुओं के आक्रमण से बचाती हैं।

॥ इति चतुर्थं काण्डम् ॥

अथ पञ्चमं काण्डम्

१. [प्रथमं सूक्तम्]

गतसूक्त की भावना को जीवन में अनूदित करनेवाला यह साधक सब ओर से शत्रुओं से अपना रक्षण करता है। शत्रुओं के आक्रमण से सुरक्षित यह साधक '**बृहद्दिवः**'=बड़ा ज्ञानी—प्रकाशमय जीवनवाला बनता है। यह '**अथर्वा**'=स्थिरवृत्ति का (अ+थर्व) अथवा अन्तःनिरीक्षण की वृत्तिवाला (अथ अर्वाङ्) बनता है। इसी 'बृहद्दिव अथर्वा' का यह सूक्त है—

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**पराबृहतीत्रिष्टुप्** ॥

ऋधङ्मन्त्रः, भ्राजमानः

ऋधङ्मन्त्रो योनिं य आबभूवामृतासुवर्धमानः सुजन्मा।
अदब्धासुर्भ्राजमानोऽहेव त्रितो धर्ता दाधार त्रीणि॥ १॥

१. वे प्रभु **ऋधङ्मन्त्रः**=प्रवृद्ध ज्ञानवाले—सर्वज्ञ हैं, **योनिम्**=संसार के मूलकारण प्रकृति को **यः आबभूव**=जिसने व्याप्त किया हुआ है, **अमृतासुः**=ये प्रभु अमर प्राणोंवाले व **वर्धमानः**=सदा से बढ़े हुए हैं, **सुजन्मा**=ये प्रभु उत्तम शक्तियों के विकासवाले हैं—प्रभु अपने उपासकों को शक्तियों के विकासवाला बनाते हैं। २. **अदब्धासुः**=अहिंसित प्राणवाले (नि० ३.९) ये प्रभु **अहा इव भ्राजमानः**=दिनों को प्रकट करनेवाले सूर्य के समान देदीप्यमान हैं। ये **त्रितः**=(तीर्णतमो मेधया बभूव—निरु० ९.६, त्रितः त्रिस्थान इन्द्रः, नि० ८.२५) निरतिशय बुद्धिवाले व तीनों लोकों में व्याप्त प्रभु **धर्ता**=धारण करनेवाले हैं और **त्रीणि दाधार**=तीनों लोकों का धारण कर रहे हैं।

भावार्थ—प्रवृद्ध ज्ञानवाले प्रभु का उपासन करता हुआ उपासक भी प्रभु की भाँति ज्ञान, प्राणशक्ति व अन्य शक्तियों के विकासवाला बनने का यत्न करता है। यह 'शरीर, मन व बुद्धि' इन तीनों का धारण करनेवाला होता है।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अनुदित वाणी का प्रकाश

आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि।
धास्युर्योनिं प्रथम आ विवेशा यो वाचमनुदितां चिकेत॥ २॥

१. **यः**=जो प्रभु **प्रथमः**=अत्यन्त विस्तारवाले—सर्वव्यापक हैं, **धर्माणि आससाद**=सब धारणात्मक कर्मों को प्राप्त होते हैं, **ततः**=उन धारणात्मक कर्मों के द्वारा ही **पुरूणि वपूंषि**=नाना प्रकार के शरीरों को **कृणुषे**=करते हैं। २. ये **धास्युः**=सबका धारण करनेवाले **प्रथमः**=सर्वव्यापक प्रभु **योनिम् आविवेश**=संसार की योनिभूत प्रकृति में प्रविष्ट हो रहे हैं। इसमें प्रविष्ट होकर ही ये इस अनन्त रूपोंवाले ब्रह्माण्ड का निर्माण व धारण करते हैं। ये प्रभु वे हैं **यः**=जो संसार का निर्माण करके, सृष्टि के आरम्भ में अपने अमृत पुत्रों को जन्म देकर उनके हृदयों में स्थित हुए-हुए **अनुदिताम्**=मुख से उच्चारण न की गई **वाचम्**=इस वेदवाणी का **चिकेत**=ज्ञान कराते हैं। 'अग्नि, वायु, आदित्य व अङ्गिरा' नामक (पूर्वे चत्वारः) सर्वाधिक तीव्र बुद्धिवाले ऋषियों के हृदयों में प्रभु इस वेदज्ञान को बिना शब्दोच्चारण के ही प्राप्त करानेवाले होते हैं।

भावार्थ—सर्वव्यापक प्रभु धारणात्मक कर्मों को करते हैं, विविध रूपोंवाले इस ब्रह्माण्ड

का निर्माण व धारण करनेवाले वे प्रभु सृष्टि के प्रारम्भ में 'अग्नि' आदि ऋषियों के हृदयों में वेदज्ञान का प्रकाश करते हैं।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अमृतत्व व नैर्मल्य

यस्ते शोकाय तन्वं रिरेच क्षरद्धिरण्यं शुचयोऽनु स्वाः।
अत्रा दधेते अमृतानि नामास्मे वस्त्राणि विश एरयन्ताम्॥ ३॥

१. हे प्रभो! **यः**=जो **ते**=आपकी **शोकाय**=दीप्ति को प्राप्त करने के लिए **तन्वं रिरेच**=अपने शरीर को शुद्ध कर डालता है—इसमें से सब मलों का रेचन कर डालता है, वह **हिरण्यं क्षरत्**=अपने अन्दर ज्योति व वीर्य को (हिरण्यं वै ज्योतिः, हिरण्यं वै वीर्यम्) संचरित करता है। इसके जीवन में **स्वाः शुचयः**=आत्मदीप्तियाँ **अनु**=अनुकूलता से गतिवाली होती हैं। २. **अत्र**=यहाँ—इस योगी (साधक) के जीवन में प्राण और अपान **अमृतानि**=नीरोगता का **दधेते नाम**=निश्चय से धारण करते हैं। **विशः**=शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में प्रवेश करनेवाले ये प्राण **अस्मे**=हमारे लिए **वस्त्राणि**=इन 'अन्नमय, प्राणमय' आदि कोशरूप वस्त्रों को **एरयन्ताम्**=गति के द्वारा सर्वथा कम्पित करके दूरीकृत मलोंवाला करें—हमारे कोशरूप सब वस्त्र निर्मल हों।

भावार्थ—हम हृदय में प्रभु की दीप्ति के लिए शरीरों को निर्मल करें—अपने अन्दर दीप्ति को सञ्चरित करें। आत्मदीप्ति को देखने के लिए यत्नशील हों। प्राणापान हमें निर्मल व नीरोग बनाएँ।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रतरं, पूर्व्यं, अजुर्यम्

प्र यदेते प्रतरं पूर्व्यं गुः सदःसद आतिष्ठन्तो अजुर्यम्।
कविः शुषस्य मातरा रिहाणे जाम्यै धुर्यं पतिमेरयेथाम्॥ ४॥

१. **यत्**=जब **एते**=ये साधक लोग **प्रतरम्**=संसार-सागर से तरानेवाले **पूर्व्यम्**=पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम उस प्रभु को **प्रगुः**=प्रकर्षेण जानेवाले होते हैं तब ये **सदःसदः**=प्रत्येक शरीररूप घर में उस **अजुर्यम्**=कभी जीर्ण न होनेवाले परमेश्वर में **आतिष्ठन्तः**=स्थिर होनेवाले होते हैं। ये प्रत्येक प्राणी में उस प्रभु को देखते हैं। वे प्रभु को इस रूप में देखते हैं कि ये प्रभु **कविः**=सर्वज्ञ हैं। २. इसप्रकार सब प्राणियों में प्रभु को देखनेवाले पति-पत्नी **शुषस्य मातरा**=शत्रु-शोषक बल का निर्माण करनेवाले व **रिहाणे**=परस्पर प्रीतिवाले (रिह आस्वादने) होते हैं। ये **जाम्यै**=संसार को जन्म देनेवाली इस प्रकृति के **धुर्यं पतिम्**=सम्पूर्ण संसार के धारण में समर्थ उस पति प्रभु को **एरयेथाम्**=अपने हृदयों में प्रेरित करते हैं।

भावार्थ—उस तारक, पालक प्रभु का उपासन करनेवाले लोग प्रत्येक प्राणी में उस अविनाशी प्रभु को देखते हैं। उसे सर्वज्ञ जानते हुए पति-पत्नी अपने में शत्रु-शोषक बल का निर्माण करते हैं और परस्पर प्रीतिवाले होते हैं। ये इस प्रकृति के धुर्य पति उस प्रभु को ही अपने हृदयों में प्रेरित करते हैं—उसी का ध्यान करते हैं।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'सूर्य व पृथिवी' में प्रभु की महिमा का दर्शन

तदू षु ते महत्पृथुज्मन्नमः कविः काव्येना कृणोमि।
यत्सम्यञ्चावभियन्तावभि क्षामत्रा मही रोधचक्रे वावृधेते॥ ५॥

१. हे **पृथुज्मन्**=विस्तृत गतिवाले प्रभो! मैं **कविः**=ज्ञानी बनकर **काव्येन**=वेदरूप काव्य के द्वारा **ते**=आपके लिए **उ**=निश्चय से **तत्**=उस **सुमहत्**=बहुत अधिक **नमः कृणोमि**=नमस्कार करता हूँ, **यत्**=जो **अत्र**=इस संसार में **अभिक्षाम्**=(क्षि निवासगत्योः) हमारे उत्तम निवास के लिए **मही**=महत्त्वपूर्ण **रोधचक्रे**=परस्पर विरुद्ध चक्रोंवाले ये सूर्य और पृथिवी ('सूर्य' पृथिवी का आकर्षण करता है, 'पृथिवी' सूर्य का) **सम्यञ्चौ**=सम्यक् गतिवाले **अभियन्तौ**=चारों ओर गति करते हुए **वावृधेते**=निरन्तर हमारा वर्धन करते हैं। २. सूर्य और पृथिवी के ठीक कार्य से ही अन्तरिक्ष से वृष्टि होकर हमारा पालन-पोषण होता है। एवं, ये हमारे वर्धन का कारण बनते हैं। इनके कार्यों को देखकर प्रभु की महिमा का स्मरण होता है। हम प्रभु के प्रति नतमस्तक होते हैं। इन सबके अन्दर गति देनेवाले वे प्रभु ही तो हैं।

भावार्थ—एक ज्ञानी पुरुष सूर्य व पृथिवी की गतियों को—उनके द्वारा होते हुए सब प्राणियों के वर्धन को देखकर प्रभु के प्रति नतमस्तक होता है।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सप्त मर्यादाः

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामिदेकामभ्यं᳖हुरो गात्।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीडे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ ॥ ६ ॥

१. **कवयः**=क्रान्तदर्शी विद्वानों ने **सप्त**=सात **मर्यादाः**=मर्यादाएँ—पाप से बचने की व्यवस्थाएँ **ततक्षुः**=बनाई हैं, **तासाम्**=उनमें से जो **एकाम् इत्**=एक को भी **अभिगात्**=उल्लंघन करता है, वह **अंहुरः**=पापी होता है। २. **आयोः ह स्कम्भः**=(आयु=wind) वायु, अर्थात् प्राणों (वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्) को वश में करनेवाला—प्राणायाम का अभ्यासी पुरुष **उपमस्य**=अन्तिकतम—हृदय में ही स्थित उस प्रभु के **नीडे**=आश्रय में **पथां विसर्गे**=विविध मार्गों के (विसर्गः= abandonment) हो जाने पर **धरुणेषु**=धारणात्मक कर्मों में ही **तस्थौ**=स्थित होता है—अन्य बातों को छोड़कर धारणात्मक कर्मों में ही प्रवृत्त होता है। यास्क के शब्दों में सात छोड़ने योग्य बातें ये हैं—**स्तेयम्**=चोरी, **तल्पारोहण**=गुरु-शय्या पर आरोहण—बड़ों का निरादर, **ब्रह्महत्या**=ज्ञान का त्याग, **भ्रूणहत्या**=गर्भघात, सुरापान, दुष्कृत कर्म का फिर-फिर करना, पाप करके झूठ बोलना, अर्थात् उसे छिपाने का प्रयत्न करना'। इन सबको छोड़कर धारणात्मक कर्मों में ही स्थित होना चाहिए।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुषों ने सात मर्यादाएँ बना दी हैं। उन्हें तोड़ना पाप है। प्राणसाधना द्वारा मन को वशीभूत करनेवाला व्यक्ति प्रभु का स्मरण करता है और पापवृत्तियों को छोड़कर धारणात्मक कर्मों में ही प्रवृत्त रहता है।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अमृतासु-असुरात्मा

उतामृतासुर्व्रत एमि कृण्वन्नसुरात्मा तन्व᳖स्तत्सुमद्गुः।
उत वा शक्रो रत्नं दधात्यूर्जया वा यत्सचते हविर्दाः ॥ ७ ॥

१. **उत**=और **अमृतासुः**=अविनाशी प्रभु को अपना प्राण समझनेवाला **व्रतः**=व्रतमय जीवनवाला मैं **कृण्वत्**=कर्म करता हुआ ही **एमि**=जीवन-यात्रा में चलता हूँ। **असुरात्मा**=(असु+र) प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाले प्रभु को अपना आत्मा समझनेवाला यह साधक **तत्**=तब **तन्वः**=इस शरीर को **सुमद्गुः**=(सुमत्=प्रशस्त) प्रशस्त इन्द्रियोंवाला बनाता है। प्रभु-स्मरण से

इन्द्रियाँ विषय-वासनाओं से मलिन नहीं होती। २. **उत वा**=और निश्चय से **शुक्रः**=वह सर्वशक्तिमान् प्रभु **यत्**=अब—इस साधक के जीवन में **रत्नम्**=रमणीय तत्त्वों को दधाति धारण करते हैं तो **हविर्दा**=यह हवि देनेवाला—यज्ञशील व्यक्ति **वा**=निश्चय से **ऊर्जया सचते**=बल और प्राणशक्ति से युक्त होता है।

भावार्थ—हम प्रभु को ही अपना प्राण समझें, प्रभु को ही अपनी आत्मा जानें। इससे हम प्रशस्त इन्द्रियोंवाले बनेंगे। प्रभु हममें रमणीय रत्नों को धारण करेंगे। हम यज्ञशील बनकर बल व प्राणशक्ति से सम्पन्न होंगे।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पुत्र की पिता से बल की याचना

उत पुत्रः पितरं क्षत्रमीडे ज्येष्ठं मर्यादमह्वयन्त्स्वस्तये।
दर्शन्नु ता वरुण यास्ते विष्ठा आवर्व्रततः कृणवो वपूंषि॥ ८॥

१. **उत**=और **पुत्रः**=प्रभु का योग्य पुत्र बनता हुआ मैं **पितरम्**=अपने पिता प्रभु से **क्षत्रम् ईडे**=बल की याचना करता हूँ। ज्ञानी लोग उस **ज्येष्ठम्**=सर्वश्रेष्ठ **मर्यादम्**=सब मर्यादाओं का स्थापन करनेवाले प्रभु को **स्वस्तये**=कल्याण के लिए **अह्वयन्**=पुकारते हैं। २. हे **वरुण**=वरणीय प्रभो! **याः**=जो **ते**=आपकी **विष्ठाः**=व्यवस्थाएँ हैं, **नु**=निश्चय से **ताः**=उन्हें ये ज्ञानी पुरुष **दर्शन्**=देखते हैं। 'ब्रह्माण्ड में प्रत्येक पिण्ड को वे प्रभु किस प्रकार मर्यादा में चला रहे हैं'—इस बात को देखकर आश्चर्य ही होता है। इसीप्रकार हे प्रभो! आप ही **आवर्व्रततः**=(आवृत् यङ्लुगन्तशतृ) कर्मफल के अनुसार विभिन्न योनियों में विचरनेवाले जीव के **वपूंषि**=शरीरों को **कृणवः**=करते हैं। जीवों को कर्मानुसार विविध शरीर आप ही प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु से बल की याचना करें। ब्रह्माण्ड में उस प्रभु की व्यवस्था को देखें और प्रभु को ही कर्मानुसार विविध शरीरों को प्राप्त करानेवाला जानें।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**षट्पदाऽत्यष्टिः** ॥

अविम् वरुणम्

अर्धमर्धेन पयसा पृणक्ष्यर्धेन शुष्म वर्धसे अमुर।
अविं वृधाम शग्मियं सखायं वरुणं पुत्रमदित्या इषिरम्।
कविशस्तान्यस्मै वपूंष्यवोचाम रोदसी सत्यवाचा॥ ९॥

१. हे **अमुर**=अमूढ़—सर्वज्ञ अथवा अमर प्रभो! आप **अर्धम्**=(Habitation) प्राणियों के निवासभूत इस लोक को **अर्धेन**=वृद्धि (Increase) के द्वारा तथा **पयसा**=आप्यायन के साधनभूत भोजनों के द्वारा **पृणक्षि**=पूर्ण करते हो। **अर्धेन**=इस वृद्धि के द्वारा **शुष्म वर्धसे**=हम सबके बल को बढ़ाते हो। प्रभु दूध आदि उत्तम भोजनों को प्राप्त कराके हमारे बलों का वर्धन करते हैं। २. हम स्तुतियों के द्वारा उस **अविम्**=रक्षक प्रभु का **वृधाम**=अपने में वर्धन करनेवाले बनें। वे प्रभु **शग्मियम्**=सर्वशक्तिमान् व आनन्दमय हैं, **वरुणम्**=हमारे सब कष्टों व पापों का निवारण करनेवाले हैं, **सखायम्**=हमारे सच्चे सखा हैं, **पुत्रम्**=(पुनाति त्रायते) हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले तथा हमारा त्राण—रक्षण करनेवाले हैं, **अदित्याः इषिरम्**=इस प्रकृति के प्रेरक—गति देनेवाले (Prime Mover) हैं। प्रभु से प्रेरित प्रकृति ही इस विकृति के रूप में—संसार के रूप में आती है। ३. **सत्यवाचा**=सत्य वेदवाणी द्वारा **कविशस्तानि**=ज्ञानियों से उपदिष्ट **रोदसी**=द्यावापृथिवी में होनेवाले **वपूंषि**=(wonder, wonderful phenomena) आश्चर्यों को **अस्मै**=इस

प्रभु के स्तवन के लिए **अवोचाम**=कहें। इस ब्रह्माण्ड में होनेवाले आश्चर्यों में प्रभु की महिमा को देखें। प्रभु की महिमा को देखते हुए प्रभु का गुणगान करें, प्रभु-जैसा ही बनने का प्रयत्न करें।

भावार्थ—प्रभु संसार को वृद्धि के साधनभूत तत्त्वों से परिपूर्ण करते हैं। हमारे बलों को बढ़ाते हैं। वे ही रक्षक, सुख के दाता और पाप-निवारक सखा हैं। वे ही प्रकृति में गति पैदा करके इस अद्भुत ब्रह्माण्ड की रचना करते हैं। हम उन प्रभु का ही गुणगान करें।

अगला सूक्त भी 'बृहद्दिव अथर्वा' का ही है—

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उग्रः त्वेषनृम्नः

तदिदा॑स॒ भुव॑नेषु॒ ज्येष्ठं॒ यतो॑ ज॒ज्ञ उ॒ग्रस्त्वे॒षनृ॑म्णः।
स॒द्यो ज॑ज्ञा॒नो नि रि॑णाति॒ शत्रू॒ननु॒ यदे॑नं॒ मद॑न्ति॒ विश्व॒ ऊमाः॑॥ १॥

१. **तत् इत्**=वे प्रभु ही **भुवनेषु**=सब लोक-लोकान्तरों व प्राणियों में **ज्येष्ठम्**=सबसे उत्तम **आस**=हैं, **यतः**=जिस ब्रह्म से **उग्रः**=तेजस्वी व **त्वेषनृम्णः**=दीप्त बलवाला **जज्ञे**=प्रादुर्भूत होता है, प्रभु की उपासना से उपासक 'उग्र व त्वेषनृम्ण' होता है। उपासना से उपासक के हृदय में ज्ञानसूर्य का उदय होता है। यह ज्ञानसूर्य उसे 'उग्र व त्वेषनृम्ण' बना देता है। २. **सद्यः**=शीघ्र ही **जातः**=प्रादुर्भूत हुआ-हुआ यह ज्ञानसूर्य **शत्रून् निरिणाति**=वासनारूप शत्रुओं को नष्ट कर देता है। यह समय वह होता है **यत्**=जबकि **विश्वे**=सब **ऊमाः**=शत्रुओं से अपना रक्षण करनेवाले तथा रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त लोग **एनम् अनुमदन्ति**=इस परमात्मा की उपासना के अनुपात में आनन्द का अनुभव करते हैं।

भावार्थ—ज्येष्ठ ब्रह्म की उपासना से उपासक के हृदय में ज्ञान का प्रकाश होकर सब वासना-अन्धकार का विलय हो जाता है। इस ज्ञानसूर्य के उदय होते ही सब शत्रु नष्ट हो जाते हैं और रक्षणात्मक कर्मों में प्रवृत्त उपासक प्रभु की उपासना के अनुपात में आनन्दित होते हैं।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शक्तिपुञ्ज प्रभु

वा॒वृधा॒नः शव॑सा॒ भूर्यो॑जाः॒ शत्रु॑र्दा॒साय॑ भि॒यसं॑ दधाति।
अव्य॑नच्च॒ व्य॒नच्च॒ सस्नि॒ सं ते॑ नवन्त॒ प्रभृ॑ता॒ मदे॑षु॥ २॥

१. वे प्रभु **शवसा वावृधानः**=बल से खूब बढ़े हुए हैं, **भूरिओजः**=बहुत अधिक ओजवाले हैं, **शत्रुः**=हमारी वासनाओं का शातन करनेवाले हैं, **दासाय**=(दसु उपक्षये) हमारी शक्तियों को क्षीण करनेवाले काम-क्रोध के लिए **भियसं दधाति**=भय को धारण करते हैं। जहाँ महादेव हैं, वहाँ कामदेव आने से डरता है। २. वे प्रभु **अव्यनत् च**=प्राण न लेनेवाले स्थावर पदार्थों को **च**=तथा **व्यनत्**=विशेषरूप से प्राणधारण करनेवाले जंगम प्राणियों को **सस्नि**=शुद्ध करनेवाले हैं। सब प्रकार के मलों को दूर करके वे प्रभु सर्वत्र पवित्रता का सञ्चार करनेवाले हैं। हे प्रभो! **ते**=आपके **मदेषु**=आनन्दों में **प्रभृता**=धारण किये हुए सब प्राणी **संनवन्त**=सम्यक् स्तवन करते हैं (नु स्तुतौ) अथवा उत्तम गतिवाले होते हैं। (नवति गतिकर्मा)।

भावार्थ—प्रभु अनन्त शक्तिवाले हैं, हमारे शत्रुओं को भयभीत करके उन्हें हमसे दूर करते हैं। सबका शोधन करते हैं। प्रभु का आनन्द अनुभव होने पर उपासक प्रभु का निरन्तर

स्तवन करते हैं।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अपने संकल्पों को प्रभु में सम्पृक्त करना

त्वे क्रतुमपि पृञ्चन्ति भूरि द्विर्यदेते त्रिर्भवन्त्यूमाः।
स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सृजा समदः सु मधु मधुनाभि योधीः॥ ३॥

१. हे प्रभो! ये उपासक **त्वे**=आपमें ही **क्रतुम्**=अपने संकल्प व प्रज्ञान को **भूरि**=खूब ही **अपि पृञ्चन्ति**=संपृक्त करते हैं। **एते**=ये आपके साथ अपने को सम्पृक्त करके **ऊमाः**=अपना रक्षण करनेवाले लोग **यत्**=जब **द्विः भवन्ति**=दो बार—प्रातः और सायं आपके ध्यान में होते हैं अथवा **त्रिः (भवन्ति)**=तीन बार-प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन व सायन्तन सवन में आपकी उपासना में स्थित होते हैं तब **स्वादोः स्वादीयः**=स्वादु से भी स्वादु, अर्थात् मधुरतम आप इस उपासक के जीवन को **स्वादुना सृज**=माधुर्य से संसृष्ट करते हैं। २. इस उपासक के **अदः मधु**=उस मधुर जीवन को **अभियोधीः**=वासनाओं के साथ युद्ध के द्वारा **सुमधुना**=और अधिक माधुर्य से **सम्**=संगत करते हैं।

भावार्थ—हम अपने संकल्पों व प्रज्ञानों को प्रभु-उपासना में सम्पृक्त करें। प्रतिदिन दो या तीन-बार प्रभु-चरणों में बैठने का नियम बनाएँ। प्रभु वासना-विनाश के द्वारा हमारे जीवनों को मधुर बनाएँगे।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

लक्ष्मी के साथ विष्णु

यदि चिन्नु त्वा धना जयन्तं रणेरणे अनुमदन्ति विप्राः।
ओजीयः शुष्मिन्त्स्थिरमा तनुष्व मा त्वा दभन्दुरेवासः कशोकाः॥ ४॥

१. **यदि**=यदि **नु**=अब **चित्**=निश्चय से **विप्राः**=ज्ञानी पुरुष **रणेरणे**=प्रत्येक संग्राम में **धना जयन्तं त्वा**=धनों का विजय करनेवाले आपको **अनुमदन्ति**=अनुकूलता से स्तुत करते हैं तो हे **शुष्मिन्**=शत्रु-शोषक बलवाले प्रभो! आप **ओजीयः**=ओजस्वितावाले **स्थिरम्**=स्थिर धन को **आतनुष्व**=हमारे लिए विस्तृत करो। हमें धन प्राप्त हो। हमारा धन हमारी ओजस्विता को बढ़ानेवाला हो और चित्तवृत्ति को स्थिर करनेवाला हो। २. इसके कारण हमारे जीवनों में **दुरेवासः**=दुर्गमनवाले—अशुभ आचरणवाले **कशोकाः**=(क-शोकाः) पर-सुख में शोक करनेवाले ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध आदि के भाव **त्वा मा दभन्**=आपको हिंसित न कर दें, अर्थात् धनों में आसक्त होकर हम आपको न भूल जाएँ।

भावार्थ—हम धनों के विजेता प्रभु का स्मरण करें। प्रभु-स्मरण के साथ प्राप्त धन हमारे अन्दर स्थिर ओज को प्राप्त करानेवाले हों। धनों में आसक्त होकर हम ईर्ष्या-द्वेष आदि में फँसकर प्रभु को न भूल जाएँ।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**वरुणः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

उपासना व शत्रुविजय

त्वया वयं शाशद्महे रणेषु प्रपश्यन्तो युधेन्यानि भूरि।
चोदयामि त आयुधा वचोभिः सं ते शिशामि ब्रह्मणा वयांसि॥ ५॥

१. हे प्रभो! **रणेषु**=संग्रामों में **वयम्**=हम **त्वया**=आपके साथ **प्रपश्यन्तः**=अच्छी प्रकार से देखते हुए—ज्ञान प्राप्त करते हुए **युधेन्यानि**=युद्ध करने योग्य काम-क्रोधादि असुरों को **भूरि**=खूब

ही **शाशद्महे**=नष्ट करें। हम अपने अन्दर छिपकर रहनेवाले काम-क्रोध आदि शत्रुओं को अवश्य विनष्ट करनेवाले हों। मैं **ते**=आप द्वारा दिये हुए **आयुधा**=इन्द्रिय, मन व बुद्धिरूप अस्त्रों को **वचोभिः**=वेद में दिये गये आपके निर्देशों के अनुसार **चोदयामि**=प्रेरित करता हूँ। **ते ब्रह्मणा**=आपके इस वेदज्ञान व स्तवन से मैं **वयांसि**=अपने जीवन को **संशिशामि**=तीव्र करता हूँ। मेरा जीवन तीव्र बुद्धिवाला बनता है और मैं इन वासनारूप शत्रुओं का विनाश करनेवाला बनता हूँ।

भावार्थ—प्रभु से मिलकर हम युद्ध में वासनारूप शत्रुओं को पराजित करें। अपने इन्द्रिय, मन व बुद्धिरूप अस्त्रों को तीव्र करें।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गृह में मातृ-प्रतिष्ठा

नि तद्दधिषेऽवरे परे च यस्मिन्नाविथावसा दुरोणे।
आ स्थापयत मातरं जिगत्नुमत इन्वत कर्वराणि भूरि ॥ ६ ॥

१. हे प्रभो! **यस्मिन् दुरोणे**=जिस यज्ञशील पुरुष के गृह में **अवसा**=(food, wealth) उत्तम भोजनों व धनों के द्वारा **आविथ**=आप रक्षण करते हो **तत्**=उस गृह को **अवरे परे च**=इस निचली श्रेणी के पार्थिव धन में तथा उत्कृष्ट दिव्य धन में **निदधिषे**=निश्चय से स्थापित करते हो। आप संसार-यात्रा के लिए पार्थिव धनों को प्राप्त कराते ही तो अध्यात्म उत्कर्ष के लिए दिव्य धनों को देते हो। २. हे उपासको! तुम अपने गृह में **जिगत्नुम्**=जीवन को गतिमय व विजयशील बनानेवाली **मातरम्**=वेदमाता को **आस्थापयत**=प्रतिष्ठित करो। श्रद्धायुक्त मन से इसका स्वाध्याय करो। **अतः**=इससे—इस वेदवाणी की प्रेरणा से **भूरि**=खूब ही धारण व पोषणात्मक **कर्वराणि**=कर्मों को **इन्वत**=व्याप्त करो, सदा ही उत्कृष्ट कर्मों में लगे रहो।

भावार्थ—प्रभु हमें पर व अपर दोनों धनों को प्राप्त कराते हैं। संसार-यात्रा के लिए धन तथा अध्यात्म जीवन के लिए ज्ञान। हम घरों में वेदमाता को प्रतिष्ठित करें और उससे प्रेरणा लेकर सदा उत्कृष्ट कर्मों को करनेवाले बनें।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रतिमानं पृथिव्याः

स्तुष्व वर्ष्मन्पुरुवर्त्मानं समृभ्वाणमिनतममाप्तमाप्त्यानाम्।
आ दर्शति शवसा भूर्योजाः प्र सक्षति प्रतिमानं पृथिव्याः ॥ ७ ॥

१. हे जीव! तू **वर्ष्मन्**=(शरीरं वर्ष्मविग्रहः) इस मानव-शरीर में उस प्रभु का **स्तुष्व**=स्तवन कर जो प्रभु **पुरुवर्त्मानम्**=पालक व पूरक मार्गवाले हैं। प्रभु-प्राप्ति का मार्ग हमें नीरोगता व निर्मलता की ओर ले चलता है। वे प्रभु **समृभ्वाणम्**=ज्ञान से सम्यग् दीप्त हैं, **इनतमम्**=सर्वमहान् स्वामी हैं, **आप्त्यानाम् आप्तम्**=विश्वसनीयों में विश्वसनीय हैं। प्रभु-भक्त को किसी प्रकार का संशय नहीं रहता। प्रभु उपासकों का रक्षण करते ही हैं। वे **भूर्योजाः**=अनन्त बलवाले प्रभु **शवसा**=बल के द्वारा **आदर्शति**=समन्तात् दृष्टिगोचर होते हैं—सर्वत्र प्रभु की शक्ति कार्य करती हुई प्रतीत होती है। वे प्रभु **पृथिव्याः**=पृथिवी के **प्रतिमानम्**=प्रतिमान को—समानता को **प्रसक्षति**=धारण करते हैं, अर्थात् इस पृथिवी की भाँति सबके आधार होते हुए सबका पालन व पोषण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु का मार्ग पालन व पूरण करनेवाला है। प्रभु ज्ञानदीप्त हैं, सर्वेश्वर हैं, विश्वसनीयतम आधार हैं। सर्वत्र प्रभु की शक्ति कार्य करती हुई दृष्टिगोचर होती है। प्रभु पृथिवी की भाँति सर्वाधार हैं।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रकाश, बल व तेजस्वी इन्द्रियसमूह

इमा ब्रह्म बृहद्दिवः कृणवदिन्द्राय शूषमग्रियः स्वर्षाः।
महो गोत्रस्य क्षयति स्वराजा तुरश्चिद्विश्वमर्णवत्तपस्वान्॥ ८ ॥

१. **बृहद् दिवः**=प्रभु से ज्ञान प्राप्त करके उत्कृष्ट ज्ञान-धनवाला यह उपासक **इन्द्राय**=प्रभु की प्राप्ति के लिए **इमा ब्रह्म कृणवत्**=इन स्तोत्रों को करता है। इस स्तवन से **अग्रियः**=जीवन-मार्ग में आगे बढ़नेवाला यह 'बृहद् दिव' **स्वर्षाः**=प्रकाश को प्राप्त करनेवाला होता है, **शूषम् क्षयति**=शत्रु-शोषक बल को प्राप्त करता है और **महः गोत्रस्य**=तेजस्वी इन्द्रियसमूह का ईश्वर होता है (क्षि=to govern, rule, to be master of)। २. यह **स्वराजा**=आत्मज्ञान से दीप्त होनेवाला **तुरः**=शत्रुओं का संहार करनेवाला उपासक **तपस्वान्**=तपस्वी होता हुआ **चित्**=निश्चय से **विश्वम्**=सम्पूर्ण **अर्णवत्**=(ऋण=जल) ज्ञान-जल से पूर्ण ज्ञान-समुद्र वेद को (क्षयति) प्राप्त होता है (रायः समुद्रांश्चतुरः)।

भावार्थ—ज्ञान प्राप्त करके हम प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाले बनें। यह स्तवन हमें प्रकाश, बल व तेजस्वी 'इन्द्रियसमूह' को प्राप्त कराएगा।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**भुरिक्परातिजागतात्रिष्टुप्** ॥

स्वसारौ मातरिभ्वरी अरिप्रे

एवा महान्बृहद्दिवो अथर्वावोचत्स्वां तन्व१मिन्द्रमेव।
स्वसारौ मातरिभ्वरी अरिप्रे हिन्वन्ति चैने शवसा वर्धयन्ति च॥ ९ ॥

१. **एव**=इसप्रकार **महान्**=पूजा की वृत्तिवाला, **बृहद् दिवः**=उत्कृष्ट ज्ञानवाला **अथर्वा**=न डाँवाडोल वृत्तिवाला पुरुष **स्वां तन्वम्**=अपने शरीर को **इन्द्रम् एव अवोचत्**=परमेश्वर ही कहता है—अन्तःस्थित प्रभु के कारण अपने को प्रभु ही समझता है। शीशी में शहद हो तो शीशी की ओर संकेत करके यही तो कहा जाता है कि 'यह शहद है'। इसीप्रकार अन्तःस्थित प्रभु को देखता हुआ यह अपने शरीर की ओर निर्देश करता हुआ यही कहता है कि 'यह प्रभु ही है'। २. इस अथर्वा की 'ब्रह्म व क्षत्र' दोनों शक्तियों इसे **स्वसारौ**=आत्मतत्त्व की ओर ले-जानेवाली होती हैं, **मातरिभ्वरी**=(मातरि-भुवन्) ये इसे वेदमाता की गोद में स्थापित करती हैं और **अरिप्रे**=निर्दोष जीवनवाला बनाती हैं। इसी हेतु ये 'बृहद्दिव अथर्वा' लोग **एने हिन्वन्ति**=इन दोनों को अपने में प्रेरित करते हैं **च**=तथा **शवसा**=गति के द्वारा (शवतिर्गतिकर्मा) इन्हें **वर्धयन्ति**=बढ़ाते हैं।

भावार्थ—एक ज्ञानी पुरुष अन्तःस्थित प्रभु को देखता हुआ अपने को प्रभु से भिन्न अनुभव नहीं करता। यह ज्ञान व बल के द्वारा आत्मतत्त्व की ओर चलता है, वेदमाता की गोद में आसीन होता है और इसप्रकार निर्दोष जीवनवाला बनता है। ज्ञानी पुरुष इन 'ब्रह्म व क्षत्र' को बढ़ाने का प्रयत्न करते हैं। अगला सूक्त भी 'बृहद्दिव अथर्वा' का ही है—

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

चतुर्दिग् विजय

ममाग्ने वर्चो विहवेष्वस्तु वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रस्त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेम॥ १ ॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **विहवेषु**=जीवन-संग्रामों में **मम वर्चः अस्तु**=मुझमें वर्चस् हो। इस वर्चस् के द्वारा मैं शत्रुओं को जीतनेवाला बनूँ। **वयम्**=हम **त्वा इन्धानाः**=आपको अपने हृदयों से दीप्त करते हुए **तन्वं पुषेम**=अपने शरीर का उचित पोषण करें। २. मेरी शक्ति इतनी बढ़े कि **चतस्त्रःप्रदिशः**=चारों प्रकृष्ट दिशाएँ **मह्यम्**=मेरे लिए **नमन्ताम्**=नत हो जाएँ। मैं चारों दिशाओं का विजय करनेवाला बनूँ। हे प्रभो! **त्वया अध्यक्षेण**=आप अध्यक्ष हों और हम आपकी अध्यक्षता से शक्ति-सम्पन्न होकर **पृतनाः**=सब संग्रामों को **जयेम**=जीतनेवाले हों। प्राची दिक् का अधिपति 'इन्द्र' बनकर मैं काम को पराजित करूँ। दक्षिणा दिक् का अधिपति 'यम' बनकर मैं क्रोध को जीतूँ। प्रतीची दिक् का अधिपति 'वरुण' बनकर मैं लोभ का निवारण करूँ और उदीची दिक् का अधिपति 'सोम' बनकर सब दुर्गुणों से ऊपर उठ जाऊँ।

भावार्थ—हम प्रभु-उपासना करते हुए प्रभु की अध्यक्षता में सब संग्रामों का विजय करें।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

अरि-प्रतिनोदन

अग्ने मन्युं प्रतिनुदन्परेषां त्वं नो गोपाः परि पाहि विश्वतः।
अपाञ्चो यन्तु निवता दुरस्यवोऽमैषां चित्तं प्रबुधां वि नेशत्॥ २॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **परेषाम्**=शत्रुओं के **मन्युम्**=क्रोध को **प्रतिनुदन्**=परे धकेलते हुए **त्वम्**=आप **नः गोपाः**=हमारे रक्षक होते हुए **विश्वतः परिपाहि**=हमें सर्वतः सुरक्षित कीजिए। हम गौएँ हों, आप हमारे गोप हों। हम क्रोधरूप शेर का शिकार न हो जाएँ। २. ये **दुरस्यवः**=हमें बुरी स्थिति में फेंकनेवाले **अपाञ्चः**=धर्म-मार्ग से हटकर चलनेवाले लोग **निवता यन्तु**=निम्नमार्ग से जानेवाले हों, अर्थात् सदा पराजित ही हों। **एषाम्**=इन शत्रुओं के **प्रबुधाम्**=चेतानेवालों का **चित्तम्**=चित्त **अमा विनेशत्**=इन्हें घर की ओर ले जानेवाला हो। हमारे शत्रुओं में जो समझदार हैं वे भी इसप्रकार घबरा जाएँ कि वे हमारे सब शत्रुओं को घर लौट जाने का ही परामर्श दें। उनका मस्तिष्क भी हमपर आक्रमण करने के लिए कोई मार्ग न निकाल सके।

भावार्थ—प्रभु हमारे रक्षक हों, हमारे शत्रुओं को परे धकेलनेवाले हों। प्रभु के अनुग्रह से हमारा अशुभ चाहनेवाले सब शत्रु पराजित हों। इन्हें घर लौट जाने के अतिरिक्त और कोई मार्ग ही न सूझे।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उरुलोक अन्तरिक्ष

मम देवा विहवे सन्तु सर्व इन्द्रवन्तो मरुतो विष्णुरग्निः।
ममान्तरिक्षमुरुलोकमस्तु मह्यं वातः पवतां कामायास्मै॥ ३॥

१. **मम विहवे**=मेरी पुकार होने पर **सर्वे देवाः सन्तु**=सब देव मेरे हों। आराधना करता हुआ मैं सब देवों को अपने में प्रतिष्ठित कर पाऊँ। कौन देव? **इन्द्रवन्तः**=इन्द्रवाले—इन्द्र जिनका अध्यक्ष है, जिनमें इन्द्र की ही शक्ति काम कर रही है, ये सब देव मुझे प्राप्त हो, **मरुतः**=प्राण मुझे प्राप्त हों, **विष्णुः**=(विश् व्याप्तौ) व्यापकता, उदारता, विशालता की देवता मुझे प्राप्त हों, **अग्निः**=मुझमें आगे बढ़ने की भावना हो (अग्रणीत्व हो)। मैं प्राणशक्ति-सम्पन्न, उदार व अग्रगतिवाला बनूँ। २. **मम**=मेरा **अन्तरिक्षम्**=हृदयान्तरिक्ष **उरुलोकम् अस्तु**=विस्तृत प्रकाशवाला व बहुत स्थानवाला हो। मेरा हृदय अन्धकार से रहित हो और उसमें सभी के लिए स्थान हो। **अस्मै कामाय**=इस हृदयान्तरिक्ष को उत्कृष्ट बनाने की कामना के लिए **वातः मह्यं**

पवताम्=वायु मेरे लिए अनुकूल होकर बहे—सारा वातावरण ऐसा हो कि मैं अपने हृदय को विशाल बना सकूँ।

भावार्थ—मेरा जीवन प्रभु-स्मरण के साथ प्राणशक्तिसम्पन्न, विशाल हृदयवाला व प्रगतिशील हो। मैं अनुदार व अन्धकारमय जीवनवाला न हो जाऊँ। बस, यही मेरी आराधना हो। प्रभु सारे वातावरण को मेरी इस कामना के अनुकूल बनाएँ।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शुभ संकल्प

मह्यं यजन्तां मम यानीष्टाकूतिः सत्या मनसो मे अस्तु।
एनो मा नि गां कतमच्चनाहं विश्वेदेवा अभि रक्षन्तु मेह ॥ ४ ॥

१. **मम**=मेरे **यानि**=जो **इष्टा**=अभिलषित पदार्थ व यज्ञादि उत्तम कर्म हैं, वे **मह्यम् यजन्ताम्**=मेरे लिए संगत हों—मुझे इष्ट पदार्थों व उत्तम कर्मों की प्राप्ति हो। **मे**=मेरे **मनसः**=मन का **आकूतिः**=संकल्प **सत्या अस्तु**=सत्य हो। मैं कभी असत्य संकल्पोंवाला न बनूँ। २. **अहम्**=मैं **कतमत् चन**=किसी भी **एनः**=पाप को **मा निगाम**=प्राप्त न होऊँ। **विश्वेदेवाः**=सब दिव्यगुण **इह**=यहाँ, इस जीवन में **मा अभिरक्षन्तु**=मेरा रक्षण करें।

भावार्थ—हमें सब इष्ट वस्तुएँ प्राप्त हों। हमारे संकल्प उत्तम हों। हम पाप से दूर रहें और दिव्य गुण हमारे रक्षक हों।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**द्रविणोदादयः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'देव-द्रविण' प्राप्ति

मयि देवा द्रविणमा यजन्तां मय्याशीरस्तु मयि देवहूतिः।
दैवा होतारः सनिषन्न एतदरिष्टाः स्याम तन्वा सुवीराः ॥ ५ ॥

१. **देवाः**=सब देव **मयि**=मुझमें **द्रविणम्**=ज्ञान आदिरूप धनों को **आयजन्ताम्**=संगत करें। **मयि**=मुझमें **आशीः अस्तु**=इन द्रविणों को प्राप्त करने की कामना हो। **मयि देवहूतिः**=मुझमें देवों का पुकारना हो—मैं देवों का आराधन करनेवाला बनूँ। **दैवाः होतारः**=उस महान् प्रभु के सात होता (दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँख व मुख) **नः**=हमारे लिए **एतत्**=इस अभिलषित द्रविण को **सनिषन्**=प्राप्त कराएँ। हम **तन्वा**=शरीर से **अरिष्टाः**=रोगादि से हिंसित न होते हुए **सुवीराः**=उत्तम वीर **स्याम**=हों।

भावार्थ—हम देवों से प्राप्य धनों को प्राप्त करें, देवों का आराधन करें, रोगादि से हिंसित न होते हुए वीर बनें।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'अभिभा, अशस्ति, वृजिना' से दूर

दैवीः षडुर्वीरुरु नः कृणोत विश्वेदेवास इह मादयध्वम्।
मा नो विददभिभा मो अशस्तिर्मा नो विदद् वृजिना द्वेष्या या ॥ ६ ॥

१. **दैवीः**=उस महान् देव प्रभु की बनाई हुई अतएव दिव्य गुणोंवाली **षट् उर्वीः**=छह दिशाओ! (प्राची, दक्षिण, प्रतीची, उदीची, ध्रुवा व ऊर्ध्वा) **नः**=हमारे लिए **उरु कृणोत**=विशाल निवास-स्थान प्राप्त कराओ। हम सदा खुले स्थानों में रहनेवाले बनें। **विश्वेदेवासः**=सूर्यादि सब देवो तथा दिव्य वृत्तियो! **आप इह**=इस जीवन में हमें **मादयध्वम्**=आनन्दित करो। हम सूर्यादि

के सम्पर्क में हों तथा सदा उत्तम वृत्तियों को अपनाते हुए प्रसन्न जीवनवाले हों। २. **नः**=हमें **अभिभाः**=सम्मुख चमकती हुई आपत्ति **मा विदत्**=न प्राप्त हो। यह हमारे उत्साह को नष्ट न कर दे, हम साहसपूर्वक इसका मुक़ाबला करें। **मा उ अशस्ति**=हमें मत ही अपकीर्ति प्राप्त हो। हम कायर बनकर अपयश के पात्र न बनें। **नः**=हमें **या**=जो **द्वेष्या**=न प्रीति करने योग्य **वृजिना**=वर्जनीय (कुटिल) पाप-बुद्धि है, वह **मा विदत्**=मत प्राप्त हो। हम कभी कुटिल बुद्धि के शिकार न हो जाएँ।

भावार्थ—हम खुले स्थानों में रहें, शुभ वृत्तियोंवाले बनें। आपत्ति में न घबराएँ, साहसपूर्वक उसका प्रतीकार करते हुए यशस्वी हों। कुटिल पाप-बुद्धि से कभी प्रीति न करें।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'तिस्रः देवीः' (इडा, सरस्वती, भारती)

तिस्रो देवीर्महि नः शर्म यच्छत प्रजायै नस्तन्वे३ यच्च पुष्टम्।
मा हास्महि प्रजया मा तनूभिर्मा रधाम द्विषते सोम राजन्॥ ७॥

१. **तिस्रः**=तीनों **देवीः**=दिव्य वृत्तियाँ (**इडा**=उपासना की वृत्ति, **सरस्वती**=ज्ञान की उपासना, **भारती**=शरीर के समुचित भरण-पोषण की वृत्ति) **नः**=हमें **महि शर्म यच्छत**=महनीय सुख प्राप्त कराएँ। हमारे मनों में 'इडा', मस्तिष्क में सरस्वती व शरीर में भारती का प्रतिष्ठापन हो। इसप्रकार हमारा जीवन आनन्दमय हो **च**=और **नः**=हमारी **प्रजायै**=सन्तानों के लिए तथा **तन्वः**=शरीरों के लिए **यत्**=जो **पुष्टम्**=उचित पोषण है, उसे प्राप्त कराएँ। २. हम **प्रजया**=सन्तानों से **मा हास्महि**=मत छूट जाएँ, अर्थात् सन्तान हमारे जीवनकाल में ही असमय में न चले जाएँ। हम **तनूभिः मा**=शरीरों से भी असमय में पृथक् न हो जाएँ—पूरे शतायु हों। हे **सोम**=सर्वोत्पादक **राजन्**=सर्वशासक प्रभो! हम **द्विषते**=शत्रु के **मा रधाम**=वशीभूत न हो जाएँ—शत्रु हमें हिंसित न कर पाएँ (रध हिंसासंराध्योः)।

भावार्थ—हम 'उपासना, ज्ञान व शक्ति' को प्राप्त होकर सुखी हों। हमारे शरीर व हमारी सन्तानें पुष्ट हों, उनसे हम असमय में वियुक्त न हो जाएँ और शत्रु हमें वशीभूत न कर सकें।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'पुरुक्षु' शर्म

उरुव्यचा नो महिषः शर्म यच्छत्वस्मिन्हवे पुरुहूतः पुरुक्षु।
स नः प्रजायै हर्यश्व मृडेन्द्र मा नो रीरिषो मा परा दाः॥ ८॥

१. **उरुव्यचाः**=वह महान् विस्तारवाला—सर्वव्यापक **महिषः**=पूजनीय **पुरुहूतः**=बहुत पुकारा जानेवाला अथवा पालक व पूरक है पुकार जिसकी, ऐसा वह प्रभु **नः**=हमारे लिए **अस्मिन् हवे**=इस पुकार व आराधना के होने पर **पुरुक्षु**=अत्यन्त पालक व पूरक अन्नों से युक्त **शर्म**=गृह **यच्छतु**=दे। उस सर्वव्यापक पूजनीय प्रभु के अनुग्रह से हमारे घर पालक व पूरक अन्नों से युक्त हों। इनमें अन्न की कभी कमी न हो। २. हे **हर्यश्व**=तेजस्वी व लक्ष्यस्थान पर प्राप्त करानेवाले प्रभो! **सः**=वे आप **नः**=हमारे **प्रजायै**=सन्तान के लिए **मृड**=सुख प्राप्त कराइए। हे **इन्द्र**=सर्वेश्वर प्रभो! **नः**=हमें **मा रीरिषः**=मत हिंसित कीजिए, **मा परा दाः**=मत छोड़ दीजिए। हम सदैव आपके अनुग्रह के पात्र हों और आपके अनुग्रह से वासनारूप शत्रुओं से कभी हिंसित न हों।

भावार्थ—वे सर्वव्यापक पूजनीय प्रभु हमें पालक व पूरक अन्नों से भरपूर घर दें। हमारे सन्तान भी प्रभु के अनुग्रहवाले हों। हम प्रभु से कभी छोड़ न दिये जाएँ और इसप्रकार हम कभी

वासनाओं के शिकार न बनें।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**विश्वदेवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यजमान का रक्षण

धाता विधाता भुवनस्य यस्पतिर्देवः सविताभिमातिषाहः।
आदित्या रुद्रा अश्विनोभा देवाः पान्तु यजमानं निर्ऋथात्॥ ९॥

१. **धाता**=वह धारण करनेवाला **विधाता**=सृष्टि का रचयिता **सविता देवः**=सबका प्रेरक प्रकाशमय प्रभु **अभिमातिषाहः**=हमारे सब अभिमानी शत्रुओं का पराभव करनेवाले हैं। प्रभु वे हैं, **यः**=जो **भुवनस्य पतिः**=सारे ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं। सारे ब्रह्माण्ड का धारण व रक्षण करनेवाले वे प्रभु हमारे शत्रुओं का विनाश करके हमारा भी धारण करते हैं। २. **आदित्याः**=आयुष्य का आदान करनेवाले ये बारह मास **रुद्राः**=शरीरस्थ प्राण (रोगों को दूर भगानेवाले ये प्राण) **उभा अश्विना**=दोनों द्युलोक व पृथिवीलोक (इमे ह वै द्यावापृथिवी प्रत्यक्षमश्विनौ—शत० ४.२.५.१६) तथा **देवाः**=अन्य सब प्राकृतिक शक्तियाँ **यजमानम्**=इस यज्ञशील पुरुष को **निर्ऋथात्**=दुर्गति व विनाश से **पान्तु**=बचाएँ।

भावार्थ—उत्तम प्रेरणा प्राप्त करते हुए प्रभु हम यज्ञशील पुरुषों को यज्ञों के कर्तृत्व के अहंकार से ऊपर उठाएँ। प्रभु का बनाया हुआ यह सारा संसार हमें विनाश से बचाए।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**विश्वदेवाः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥

आदित्यः, रुद्रः, उपरिस्पृश्

ये नः सपत्ना अप ते भवन्त्विन्द्राग्निभ्यामव बाधामह एनान्।
आदित्या रुद्रा उपरिस्पृशो न उग्रं चेत्तारमधिराजमक्रत॥ १०॥

१. **ये**=जो **नः**=हमारे **सपत्नाः**=काम-क्रोध, लोभ आदि (स्वत्व पर समान अधिकार जमानेवाले) शत्रु हैं **ते**=वे **अप भवन्तु**=हमसे दूर रहें। **इन्द्राग्निभ्याम्**=(**इन्द्र**=बल, **अग्नि**=प्रकाश) बल व प्रकाश के हेतु से **एनान्**=इन शत्रुओं को **अप बाधामहे**=अपने से दूर ही करते हैं। 'काम' को दूर करके ही हम शरीर से सबल हो पाएँगे। क्रोध व लोभ का विनाश ही हमारे ज्ञान के प्रकाश को दीप्त करेगा। **नः**=हममें जो भी **आदित्याः**=सूर्य के समान ज्ञान के प्रकाशवाले, **रुद्राः**=रोगों को दूर भगानेवाले व **उपरिस्पृशः**=संसार के विषयों के स्पर्श से ऊपर उठनेवाले होते हैं—मात्रा-स्पर्शों में आसक्त नहीं होते वे **उग्रम्**=उस तेजस्वी, **चेत्तारम्**=सर्वज्ञ व उपासकों को चेतानेवाले प्रभु को **अधिराजम् अक्रत**=अधिराज बनाते हैं, प्रभु को ही अपना स्वामी जानते हैं। इसप्रकार ये पवित्र और निर्भीक जीवनवाले बनते हैं। वस्तुतः प्रभु को अधिराज बनाकर ही वे 'आदित्य, रुद्र व उपरिस्पृश्' बन पाते हैं।

भावार्थ—काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं को दूर भगाकर हम बल व प्रकाश का सम्पादन करें। ज्ञानसूर्य को उदित करके तथा रोगों को दूर भगाकर हम विषयों के स्पर्श से ऊपर उठें और प्रभु को ही अपना अधिराज जानें।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गोजित्, धनजित्, अश्वजित्

अर्वाञ्चमिन्द्रममुतो हवामहे यो गोजिद्धनजिदश्वजिद्यः।
इमं नो यज्ञं विहवे शृणोत्वस्माकमभूर्हर्यश्व मेदी॥ ११॥

१. सामान्यतः हम प्रभु से दूर और दूर ही रहते हैं। प्रभु से दूर रहना ही हमारी विषयासक्ति

व विनाश का कारण हो जाता है, अतः **अमुतः**=दूर प्रदेश से **इन्द्रम्**=उस शत्रु-संहारक प्रभु को **अर्वाञ्चम्**=अपने अन्दर **हवामहे**=पुकारते हैं **यः**=जो प्रभु **गोवित्**=हमारे लिए ज्ञानेन्द्रियों का विजय करनेवाले हैं। इनके विजय के द्वारा वे प्रभु हमारे लिए **धनजित्**=आवश्यक सब धनों तथा ज्ञान का विजय करते हैं, **यः**=जो प्रभु **अश्वजित्**=हमारे लिए कर्मों में व्याप्त होनेवाली—निरन्तर यज्ञों में व्याप्त रहनेवाली कर्मेन्द्रियों का विजय करते हैं। २. वे प्रभु **विहवे**=संग्रामों में **नः**=हमारे **इमं यज्ञम्**=इस पूजन को **शृणोतु**=सुनें। प्रभु को ही तो इन संग्रामों में हमें विजयी बनाना है। हे **हर्यश्व**=दुःखों का हरण करनेवाले, इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! आप **अस्माकम्**=हमारे **मेदी अभूः**=स्नेह करनेवाले हैं। आप ही वस्तुतः हमारा हित करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम प्रभु को पुकारते हैं। प्रभु हमें उत्तम ज्ञानेन्द्रियाँ—ज्ञानधन व कर्मेन्द्रियाँ प्राप्त कराते हैं। ये प्रभु ही हमें संग्रामों में विजयी बनाते हैं। प्रभु ही हमारे स्नेही हैं।

विशेष—उत्तम ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान-परिपक्व होकर यह 'भृगु' बनता है। उत्तम कर्मेन्द्रियोंवाला बनकर यह 'अङ्गिरा' होता है। यह 'भृग्वङ्गिराः' ही अगले सूक्त का ऋषि है। यह कुष्ठ ओषधि के प्रयोग से ज्वर आदि रोगों को नष्ट कर डालता है।

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**कुष्ठस्तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'तक्मनाशन' कुष्ठ

यो गिरिष्वजायथा वीरुधां बलवत्तमः। कुष्ठेहि तक्मनाशन तक्मानं नाशयन्नितः॥ १॥

१. हे **कुष्ठ**=कुष्ठ नामक ओषधे! **यः**=जो तू **गिरिषु**=पर्वतों पर **अजायथाः**=उत्पन्न होती है, वह तू **वीरुधां बलवत्तमः**=लताओं में सर्वाधिक बलवाली है। हे कुष्ठ! तू **इहि**=हमें प्राप्त हो। हे **तक्मनाशन**=ज्वर को नष्ट करनेवाला! तू **इतः**=यहाँ से—हमारे शरीरों से **तक्मानं नाशयन्**=ज्वर को नष्ट कर डाल।

भावार्थ—पर्वतों पर होनेवाली कुष्ठ ओषधि ज्वर-नाशक है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**कुष्ठस्तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

हिमाच्छादित पर्वतों पर होनेवाला 'कुष्ठ'

सुपर्णसुवने गिरौ जातं हिमवतस्परि। धनैरभि श्रुत्वा यन्ति विदुर्हि तक्मनाशनम्॥ २॥

१. **सुपर्णसुवने**=पालनात्मक उत्तम ओषधियों को जन्म देनेवाले **गिरौ**=पर्वत पर **हिमवतः परिजातम्**=हिमाच्छादित प्रदेशों में उत्पन्न हुए-हुए 'कुष्ठ' को **श्रुत्वा**=सुनकर **धनैः अभियन्ति**=धनों से उसकी ओर जाते हैं—धन लेकर उस ओषधि के क्रय के लिए जाते हैं। २. इस कुष्ठ को वे **हि**=निश्चय से **तक्मनाशनम् विदुः**=ज्वरनाशक जानते हैं।

भावार्थ—कुष्ठ नामक औषध उन हिमाच्छादित पर्वतों पर होती है जो पालनात्मक उत्तम ओषधियों को जन्म देनेवाले हैं। मनुष्य धन लेकर इनके क्रय के लिए उन स्थानों पर पहुँचते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**कुष्ठस्तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'सूर्य-किरणों द्वारा अमृत की स्थापनावाला' कुष्ठ

अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि। तत्रामृतस्य चक्षणं देवाः कुष्ठमवन्वत॥ ३॥

१. **अश्वत्थः**=सर्वव्यापक प्रभु में स्थित होनेवाले (तस्य भासा सर्वमिदं विभाति) यह सूर्य **देवसदनः**=देवों का निवास-स्थान है (मर्त्यलोक में मनुष्य, चन्द्रलोक में पितर और सूर्यलोक में देव)। यह **इतः**=इस पृथिवी से **तृतीयस्याम्**=तीसरे **दिवि**=प्रकाशमय द्युलोक में है (पृथिवी,

अन्तरिक्ष, द्युलोक)। २. **तत्र**=उस सूर्य में **अमृतस्य**=अमृत का—सब प्राणदायी तत्त्वों का **चक्षणम्**=दर्शन होता है। यही अमृत उन हिमाच्छादित पर्वतों पर उत्पन्न कुष्ठ में सूर्य-किरणों द्वारा स्थापित होता है, अतः **देवाः**=सब रोगों को जीतने की कामनावाले पुरुष **कुष्ठम्**=कुष्ठ को **अवन्वत**=प्राप्त करते हैं (वन संभक्तौ)।

भावार्थ—हिमाच्छादित पर्वतों पर उत्पन्न होनेवाले कुष्ठ में सूर्य-किरणों द्वारा अमृत की (अमृतमय तत्त्वों की) स्थापना होती है, इसलिए देव कुष्ठ को प्राप्त करने के लिए यत्नशील होते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**कुष्ठस्तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

हिरण्यबन्धना नौ

हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि। तत्रामृतस्य पुष्पं देवाः कुष्ठमवन्वत॥ ४॥

१. **दिवि**=द्युलोक में यह सूर्य **हिरण्ययी नौः अचरत्**=ज्योतिर्मयी नाव के रूप में गमन कर रहा है। द्युलोक समुद्र है तो सूर्य उसमें एक चमकीली नाव है। यह नाव **हिरण्यबन्धना**=हितरमणीय वीर्य में बन्धनवाली है—सारी प्राणशक्ति इस सूर्य में ही है। २. **तत्र**=वहाँ—उस सूर्य में **अमृतस्य**=अमृत का—सब प्राणदायी तत्त्वों का **पुष्पम्**=पोषण है। यही तत्त्व सूर्य-किरणों द्वारा 'कुष्ठ' ओषधि में स्थापित होता है। इसी से **देवाः**=ज्वर को जीतने की कामनावाले ज्ञानी पुरुष **कुष्ठम् अवन्वत**=कुष्ठ का संभजन करते हैं।

भावार्थ—सूर्य द्युलोकरूप समुद्र की एक चमकीली नाव है। यह सम्पूर्ण शक्ति का स्रोत है। कुष्ठ ओषधि में सूर्य-किरणों क द्वारा ही इस हिरण्य का स्थापन होता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**कुष्ठस्तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

हिरण्यय अरित्र

हिरण्ययाः पन्थान आसन्नरित्राणि हिरण्यया।
नावो हिरण्ययीरासन्याभिः कुष्ठं निरावहन्॥ ५॥

१. गतमन्त्र में सूर्य को द्युलोकरूप समुद्र की 'हिरण्ययी नाव' कहा गया है। इस नाव में **पन्थानः**=सब मार्ग **हिरण्ययाः आसन्**=ज्योतिर्मय हैं। यह द्युलोक का समुद्र सूर्य-किरणों से चमक रहा है। इस नाव के **अरित्राणि**=किरणरूप चप्पू भी **हिरण्यया**=ज्योतिर्मय हैं। **नावः**=ये सूर्यरूपी नौकाएँ तो **हिरण्ययीः आसन्**=ज्योतिर्मय हैं ही। ब्रह्माण्ड में सब लोकों का—सब सौर-जगतों का अलग-अलग सूर्य है, आठ सूर्यों का वर्णन मिलता है, अतः 'नावः' बहुवचन का प्रयोग हुआ है (आरोगो भ्राजः पाटः पतंगः स्वर्णदो ज्यातिषीमान् विभासः। कश्यपोऽष्टमः, स महामेरुं न जहाति'—तै० आ० १.७.१-२)। २. ये सूर्यरूप नाव वे हैं **याभिः**=जिनसे **कुष्ठम्**=कुष्ठ को **निरावहन्**=निश्चय से प्राप्त करते हैं। सूर्य की दीप्तिमयी किरणों से ही तो इस कुष्ठ का पोषण होता है।

भावार्थ—ज्योतिर्मय द्युलोक में गति करते हुए ज्योतिर्मय सूर्य की ज्योतिर्मयी किरणों से परिपुष्ट हुई-हुई 'कुष्ठ' ओषधि को प्राप्त करके हम ज्वर आदि को दूर करनेवाले हों।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**कुष्ठस्तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

अगदता

इमं मे कुष्ठ पूरुषं तमा वह तं निष्कुरु। तमु मे अगदं कृधि॥ ६॥

१. हे **कुष्ठ**=कुष्ठ नामक ओषधे! **इमं मे पूरुषम्** (आवह)=इस मेरे रोगी पुरुष को मेरे लिए

फिर से प्राप्त करा। **तं निष्कुरु**=उसे रोग से बाहर कर दे—उसके रोग को दूर कर दे। २. **मे तम्**=मेरे उस पुरुष को **उ**=निश्चय से **अगदं कृधि**=नीरोग कर दे।

भावार्थ—कुष्ठ ओषधि हमारे रुग्ण बन्धु को रोग से बाहर निकालकर—नीरोग बनाकर फिर से हमें प्राप्त कराए।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**कुष्ठस्तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सोमस्य हितः सखा

देवेभ्यो अधि जातो ऽसि सोमस्यासि सखा हितः।
स प्राणाय व्यानाय चक्षुषे मे अस्मै मृड॥ ७॥

१. हे कुष्ठ! तू **देवेभ्यः**=सूर्य, वायु, पृथिवी आदि देवों के द्वारा **अधि जातः असि**=प्रकट हुआ है। **सोमस्य**=शरीरस्थ सोमशक्ति का तू **हितः सखा असि**=हितकर मित्र के रूप में स्थापित हुआ है। सोम-रक्षण में यह कुष्ठ सहायक है। २. **सः**=वह तू **मे अस्मै**=मेरे इस **प्राणाय**=प्राणशक्ति के लिए, **व्यानाय**=व्यानशक्ति के लिए तथा **चक्षुषे**=दृष्टिशक्ति के लिए **मृड**=सुखकर हो।

भावार्थ—कुष्ठ औषध शरीरस्थ विकारों को दूर करता हुआ प्राणादि वायुओं की क्रिया को ठीक करता है और इसप्रकार आँख आदि सब इन्द्रियों की शक्ति को बढ़ाता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**कुष्ठस्तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कुष्ठस्य उत्तमानि नामानि

उदङ् जातो हिमवतः स प्राच्यां नीयसे जनम्।
तत्र कुष्ठस्य नामान्युत्तमानि वि भेजिरे॥ ८॥

१. यह कुष्ठ **उदङ्**=उत्तर में **हिमवतः**=हिमाच्छादित पर्वतों से **जातः**=उत्पन्न होता है। **सः**=वह यह कुष्ठ **प्राच्याम्**=पूर्व दिशा में **जनं नीयसे**=लोगों के समीप प्राप्त कराया जाता है। हिमाच्छादित पर्वतों पर उत्पन्न हुआ-हुआ यह कुष्ठ सुदूर पूर्व दिशा में स्थित प्रदेशों में लोगों द्वारा उपयुक्त होता है। २. **तत्र**=वहाँ, उन प्रदेशों में **कुष्ठस्य उत्तमानि नामानि**=कुष्ठ के उत्तम नामों का **विभेजिरे**=वे लोग सेवन करते हैं। 'व्याधिः कुष्ठं पारिभाव्यं व्याप्यपाकलमुत्पलम्'—इन नामों का स्मरण करते हुए वे कहते हैं कि यह औषध (विगतः आधिर्येन) रोगों को भगानेवाली है, (कुष्णाति रोगम्) रोग को उखाड़ फेंकनेवाली है (परिभावे साधुः) रोग-पराजय में उत्तम है (व्यापे साधुः) सोमशक्ति को शरीर में व्याप्त करने में उत्तम है 'सोमस्यासि सखा हितः'। (पाकं लाति) शक्तियों का परिपाक प्राप्त कराती है, (उत्पलति) शरीर में सोम की ऊर्ध्व गति का कारण बनती है।

भावार्थ—उत्तर में हिमाच्छादित पर्वतों पर उत्पन्न हुआ-हुआ यह कुष्ठ पूर्व आदि दिशाओं में प्राप्त कराया जाता है। वहाँ सब इसके गुणसूचक उत्तम नामों का स्मरण करते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**कुष्ठस्तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यक्ष्म व तक्मा का निवारण

उत्तमो नाम कुष्ठास्युत्तमो नाम ते पिता।
यक्ष्मं च सर्वं नाशय तक्मानं चारसं कृधि॥ ९॥

१. हे **कुष्ठ**=कुष्ठ औषध! तू **उत्तमः नाम असि**=निश्चय से उत्तम है—रोगों को उखाड़ फेंकने में सर्वोत्तम है। **ते पिता उत्तमः नाम**=तेरा उत्पादक यह हिमाच्छादित पर्वत भी निश्चय

से उत्तम है—यह भी रोगों को दूर करनेवाला है। इसलिए यक्ष्मा के रोगी को पर्वत पर ले-जाने के लिए कहा जाता है। २. हे कुष्ठ ! तू **सर्वं यक्ष्मं च नाशय**=सब रोगों को तो नष्ट कर ही **च**=और **तक्मानम्**=ज्वर को **अरसं कृधि**=निःसार कर दे—तू ज्वर को दूर करनेवाला हो।

भावार्थ—कुष्ठ औषध व इसका जनक हिमाच्छादित पर्वत—दोनों ही रोगों को उखाड़ फेंकने में सर्वोत्तम हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**कुष्ठस्तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**उष्णिग्गर्भानिचृदनुष्टुप्** ॥

सिर, आँखों व शरीर को नीरोग करनेवाला 'कुष्ठ'

शीर्षामयमुपहत्यामक्ष्योस्तन्वो३ रपः। कुष्ठस्तत्सर्वं निष्करद्दैवं समह वृष्ण्यम्॥ १०॥

१. **शीर्षामयम्**=शिर-सम्बन्धि रोग को, **अक्ष्योः उपहत्याम्**=दृष्टिशक्ति की क्षीणता को, **तन्वः रपः**=शरीर के दोषों को **तत् सर्वम्**=उस सबको **कुष्ठः**=यह कुष्ठ औषध **निष्करत्**=बाहर कर देता है। २. हे **समह**=तेजःसम्पन्न कुष्ठ! तेरा **वृष्ण्यम्**=बल **दैवम्**=दिव्य है, अलौकिक है, असाधरण है।

भावार्थ—कुष्ठ औषध में असाधरण शक्ति है। यह सिर, आँखों और अन्य अङ्गों को निर्दोष बनाता है। अगले सूक्त का ऋषि 'अथर्वा' है और 'लाक्षा' देवता है—

५. [पञ्चमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**लाक्षा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सिलाची देवस्वसा

रात्री माता नभः पितार्यमा ते पितामहः।
सिलाची नाम वा असि सा देवानामसि स्वसा॥ १॥

१. हे लाक्षे! **रात्री माता**=रात्रि तेरी माता है। रात्रि में बढ़ने के कारण लाक्षा को रात्रिरूप मातावाली कहा गया है। ओस-बिन्दु इसके वर्धक होते हैं। **नभः पिता**=पर्जन्य तेरा पिता है। आकाश से बरसा हुआ बादलों का पानी इस लाक्षा की वृद्धि का कारण बनता है। **अर्यमा**=सूर्य **ते**=तेरा **पितामहः**=पितामह स्थानापन्न है। सूर्य से उद्वाष्पित जल ही मेघ बनते हैं। मेघ लाक्षा को पैदा करते हैं। इसप्रकार सूर्य 'लाक्षा के पिता मेघों' का पिता होने से लाक्षा का पितामह हो जाता है। २. हे लाक्षे! तू **सिलाची नाम वा असि**=निश्चय से सिलाची नामवाली है (शिल श्लेषे, अञ्चु पूजायाम्) श्लेष में पूजित है—फटावों को भर देने में उत्तम है। **सा**=वह तू **देवानाम्**=सब इन्द्रियों की **स्वसा असि**=स्वसा है—उन्हें उत्तम स्थिति में रखनेवाली है।

भावार्थ—लाक्षा की उत्पत्ति रात्रि की ओस व वृष्टि-जल से होती है। यह घावों को भर देने में उत्तम है तथा इन्द्रिय-दोषों को दूर करती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**लाक्षा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

भर्त्री-न्यञ्चनी

यस्त्वा पिबति जीवति त्रायसे पुरुषं त्वम्।
भर्त्री हि शश्वतामसि जनानां च न्यञ्चनी॥ २॥

१. **यः**=जो **त्वा**=तुझे **पिबति**=पीता है, वह **जीवति**=मृत्यु का शिकार नहीं होता। **त्वम्**=तू **पूरुषं त्रायसे**=पुरुष को रक्षित करती है। २. **शश्वताम्**=गतिशील व्यक्तियों का तू **हि**=निश्चय से **भर्त्री असि**=भरण करनेवाली है **च**=और **जनानाम्**=लोगों की **न्यञ्चनी**=रोगों को नीचे ले-

जानेवाली—रोगों को समाप्त करनेवाली है। पिये जाने पर विरेचक होती हुई यह रोगों का विरेचन ही कर देती है।

भावार्थ—लाक्षारस पिये जाने पर मनुष्य को मरने नहीं देता। यह गतिशील पुरुषों का भरण करता है और उनके रोगों का विरेचन कर देता है। ('लाक्षारस का पान करनेवाला लेटे नहीं चलता रहे')—यह संकेत स्पष्ट है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**लाक्षा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

जयन्ती स्परणी

वृक्षंवृक्षमा रोहसि वृषण्यन्तीव कन्यला।
जयन्ती प्रत्यातिष्ठन्ती स्परणी नाम वा असि॥ ३॥

१. हे लाक्षे! तू **वृषण्यन्तीव कन्यला इव**=पति की अभिलाषा करनेवाली कन्या की भाँति **वृक्षं वृक्षं आरोहसि**=प्रत्येक वृक्ष पर आरोहण करती है। २. **जयन्ती**=तू रोगों को जीतनेवाली है। **प्रति आतिष्ठन्ती**=प्रत्येक रोग का मुक़ाबला करनेवाली है। **वा**=निश्चय से **स्परणी नाम असि**=स्परणी नामवाली है (to deliver from) रोगों से मुक्त करनेवाली है, (to protect) रोगों के आक्रमण से रक्षित करनेवाली है, (to gratify) प्रीति का कारण बननेवाली है, (स्पृ प्रीतिपालनयोः) नीरोगता देकर प्रीति उत्पन्न करनेवाली है।

भावार्थ—'लाक्षा' वृक्षों पर आरोहण करती है, रोगमुक्त करके प्रीति प्रदान करती है, जयन्ती है, स्परणी है। रोगों का मुक़ाबला करनेवाली प्रत्यातिष्ठन्ती है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**लाक्षा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'अरु की निष्कृति' लाक्षा

यद्दुण्डेन यदिष्वा यद्वारुर्हरसा कृतम्।
तस्य त्वमसि निष्कृतिः सेमं निष्कृधि पूरुषम्॥ ४॥

१. **यत्**=तो **अरुः**=व्रण (घाव) **दण्डेन कृतम्**=दण्डे की चोट से किया गया है, **यत् इष्वा**=जो बाण के प्रहार से किया गया है, **यत् वा**=अथवा जो घाव **हरसा (कृतम्)**=छेदक शस्त्र से किया गया है, **तस्य**=उस घाव का हे लाक्षे! **त्वम्**=तू **निष्कृतिः असि**=दूर करने में सर्वथा अचूक औषध है। २. **सा**=वह तू **इमम्**=इस **पुरुषम्**=पुरुष को **निष्कृधि**=घाव से रहित कर दे—इसके घाव को भर दे।

भावार्थ—लाक्षा का प्रयोग व्रणों (घावों) को ठीक करने की अचूक औषध है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**लाक्षा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

द्रुमामय=लाक्षा

भद्रात्प्लक्षान्निस्तिष्ठस्यश्वत्थात्खदिराद्धवात्।
भद्रान्न्यग्रोधात्पर्णात्सा न एह्यरुन्धति॥ ५॥

१. हे लाक्षे! तू **भद्रात्**=उत्तम **प्लक्षात्**=प्लक्ष (पिलखन) के पेड़ से, **अश्वत्थात्**=पीपल से, **खदिरात्**=खैर से, **धवात्**=बबूल के पेड़ से, **भद्रात्**=उत्तम बड़ के पेड़ से **पर्णात्**=ढाक से **निःतिष्ठसि**=निर्यासरूप से निकलकर उसपर जम जाती है। २. हे **उरुन्धति**=घावों को भर देनेवाली लाक्षे! **सा**=वह तू **नः एहि**=हमें प्राप्त हो।

भावार्थ—लाक्षा विविध वृक्षों से निर्यासरूप में निकलकर उन्हीं पर चिपकी होती है। यह

घाव भरने की अचूक औषध है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**लाक्षा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वपुष्टमा निष्कृति

हिरण्यवर्णे सुभगे सूर्यवर्णे वपुष्टमे।
रुतं गच्छासि निष्कृते निष्कृतिर्नाम वा असि॥ ६॥

१. **हिरण्यवर्णे**=सुवर्ण के समान पीतवर्णवाली, **सुभगे**=उत्तम सौभाग्य की कारणभूत **सूर्यवर्णे**=सूर्य के समान चमकती हुई, **वपुष्टमे**=(वपू रूपम्–नि० ३.७) अतिशयित उत्तम रूपवाली **निष्कृते**=रोग को सर्वथा दूर करनेवाली लाक्षे! तू **रुतं गच्छासि**=रोग वा व्रण पर पहुँचती है—उस रोग वा व्रण को समाप्त करनेवाली होती है। २. तू **वा**=निश्चय से **निष्कृतिः**=निष्कृति **नाम असि**=नामवाली है—सचमुच रोग को बाहर करनेवाली है।

भावार्थ—लाक्षा चमकती हुई है। यह रोग वा व्रण को दूर करके सौभाग्य का कारण बनती है। वस्तुतः यह 'निष्कृति' है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**लाक्षा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सुभगा, शुष्मा

हिरण्यवर्णे सुभगे शुष्मे लोमशवक्षणे।
अपामसि स्वसा लाक्षे वातो हात्मा बभूव ते॥ ७॥

१. **हिरण्यवर्णे**=सुवर्ण के समान वर्णवाली, **सुभगे**=उत्तम सौभाग्य की कारणभूत, **शुष्मे**=बलवाली—रोगरूप शत्रु के शोषक बल से सम्पन्न **लोमश-वक्षणे**=छेदनस्वभाववालों पर रोषवाली (लू छेदने, वक्ष रोषे) **लाक्षे**=लाक्षा नामक औषध! तू **अपाम् स्वसा असि**=प्रजाओं की स्वसा है, उन्हें उत्तम स्थिति में लानेवाली है (सु+अस्), रोग को दूर करके तू उन्हें सौभाग्यशाली बनाती है। २. **ह**=निश्चय से **वातः**=वायु **ते आत्मा बभूव**=तेरा आत्मा है—वायु से ही तू पुष्ट होती है।

भावार्थ—लाक्षा 'हिरण्यवर्णा, सुभगा, शुष्मा, लोमशवक्षणा' है। यह हमारे घावों को भरकर तथा रोगों को दूर करके उत्तम स्थिति में प्राप्त कराती है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**लाक्षा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'अजबभ्रू' लाक्षा

सिलाची नाम कानीनोऽजबभ्रु पिता तव।
अश्वो यमस्य यः श्यावस्तस्य हास्नास्युक्षिता॥ ८॥

१. हे लाक्षे! तू **सिलाची नाम**=(शिल श्लेषे, अञ्चु पूजायाम्) घावों को मिला देने में पूजित है, इसी से सिलाची नामवाली है। हे **अजबभ्रु**=(अज क्षेपणे, भृ धारणे) मलों के क्षेपण के द्वारा हमारा धारण करनेवाली लाक्षे! **कानीनः**=अतिशयेन दीप्तिवाला यह सूर्य **तव पिता**=तेरा पिता है, सूर्य की दीप्ति से ही वृक्षों से यह स्राव उत्पन्न होता है जो लाक्षा के रूप में वहाँ जम जाता है। २. **यमस्य**=उस सर्वनियन्ता प्रभु का **यः**=जो **श्यावः**=गतिशल (श्यै गतौ) यह **अश्वः**=घोड़े के समान सूर्य है अथवा सूर्य-किरण है **तस्य**=उसकी **अस्ना**=दीप्ति से (अस् दीप्तौ) **ह**=ही **उक्षिता असि**=तू सिक्त होती है, अर्थात् सूर्य-किरणों की चमक से वृक्षों की त्वचा का सम्पर्क होने पर यह स्राव-सा निकलता है। यह कहलाता ही 'द्रुमामय' है। यही लाक्षा है।

भावार्थ—लाक्षा व्रणों के फटाव को मिलानेवाली है। यह मल-विक्षेप द्वारा हमारा धारण

करती है। यह सूर्य-किरणों की दीप्ति के सम्पर्क से वृक्ष-त्वचा से स्रुत होती है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**लाक्षा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'सरा पतत्रिणी' लाक्षा

अश्वस्यास्त्रः संपतिता सा वृक्षाँ अभि सिष्यदे।
सरा पतत्रिणी भूत्वा सा न एह्यरुन्धति॥ ९॥

१. **अश्वस्य**=सूर्य-किरण की **अस्त्रः**=दीप्ति से तू सम्पतित होती है, **सा वृक्षान् अभि सिष्यदे**=वह तू वृक्षों की ओर स्रुत होती है। यह लाक्षारस वृक्षों से ही स्रुत होता है। २. सदा बहनेवाली **पतत्रिणी भूत्वा**=गतिशील होकर अथवा वृक्ष-शाखा पर चिपटे छिलकोंवाली होकर **सा**=वह हे **अरुधन्ति**=व्रणों को भरनेवाली लाक्षे! तू **नः एहि**=हमें प्राप्त हो।

भावार्थ—सूर्य-किरणों की दीप्ति वृक्षत्वक् पर पड़ती है तो उससे एक रस-सा स्रुत होता है। वही लाक्षा के रूप में वहाँ वृक्षत्वक् पर चिपट जाती है। यह व्रणों को भर देनेवाली अचूक औषध है।

विशेष—लाक्षारस की उत्पत्ति में भी प्रभु-महिमा को देखनेवाला 'अथर्वा'—एकाग्रवृत्ति का पुरुष (न थर्वति) ब्रह्म का स्तवन करता हुआ कहता है—

६. [षष्ठं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्म, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सीमतः सुरुचः

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो वेन आवः।
स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च वि वः॥ १॥

१. **वेनः**=वेन् (to go, to know, to worship) गतिशील ज्ञानी उपासक **पुरस्तात्**=सृष्टि के प्रारम्भ में **जज्ञानम्**=प्रादुर्भूत होनेवाले **प्रथमम्**=अतिविस्तृत 'प्रकृति, जीव व परमात्मा'—तीनों का ही ज्ञान देनेवाले वेदज्ञान को **सीमतः**=मर्यादा में चलने के द्वारा और **सुरुचः**=परिष्कृत रुचि के द्वारा—सात्त्विक प्रवृत्ति के द्वारा **वि आवः**=अपने हृदय में प्रकट करता है। २. **सः**=वह वेन **अस्य**=इस प्रभु के इन **बुध्न्याः**=अन्तरिक्ष में होनेवाले **उपमा**=उपमा देने योग्य अर्थात् अद्भुत (जैसे 'ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः') **विष्ठाः**=अलग-अलग, अपनी-अपनी मर्यादा में स्थित सूर्यादि लोकों को **वि आवः**=विशदरूप में देखता है **च**=और **सतः असतः च**=दृश्य कार्यजगत् तथा अदृश्य कारणजगत् के **योनिम्**=आधारभूत उस प्रभु को **वि वः**=अपने हृदय में प्रकट करता है। सूर्यादि लोकों में उसे प्रभु की महिमा दीखती है।

भावार्थ—सृष्टि के प्रारम्भ में वेदज्ञान का प्रकाश होता है। इसकी प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि जीवन मर्यादा-सम्पन्न हो तथा उत्तम रुचिवाला हो। सब लोक-लाकान्तरों में यह क्रियाशील ज्ञानी उपासक प्रभु की महिमा को देखता है। प्रभु को ही कार्य-कारणात्मकजगत् की योनि जानता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कर्माणि**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पथ-प्रदर्शक वेदज्ञान

अनाप्ता ये वः प्रथमा यानि कर्माणि चक्रिरे।
वीरान्नो अत्र मा दभन्तद्व एतत्पुरो दधे॥ २॥

१. **ये**=जो **वः**=तुम्हारे **प्रथमाः**=पहले **अनाप्ताः**=अज्ञानी पुरुष **यानि कर्माणि**=जिन कर्मों को **चक्रिरे**=करते हैं, वे अज्ञानवश किये गये भ्रान्त कर्म **अत्र**=यहाँ **नः वीरान्**=हमारी वीर सन्तानों को **मा दभन्**=मत हिंसित करें। **तत्**=उस कारण से **एतत्**=इस वेदज्ञान को **वः पुरः दधे**=तुम्हारे आगे स्थापित करता हूँ। २. हमसे पहले के बड़े आदमी भी अज्ञानवश कुछ भ्रान्त कर्म कर बैठते हैं। उन्हें देखकर उन्हीं कर्मों में प्रवृत्त हो जाने से हानिकर परम्पराएँ चल पड़ती हैं। वे हमारे लिए हितकर नहीं होतीं। हमें चाहिए कि हम वेदज्ञान के अनुसार कार्यों को करते हुए अन्ध-परम्पराओं में बह जाने से बचें।

भावार्थ—वेदज्ञान हमारे लिए पथ-प्रदर्शक हो। हम देखादेखी भ्रान्त परम्पराओं में बहकर उलटे कर्म न कर बैठें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**रुद्रगणाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

मधुजिह्वाः, असश्चतः

सहस्रधार एव ते समस्वरन्दिवो नाके मधुजिह्वा असश्चतः।
तस्य स्पशो न नि मिषन्ति भूर्णयः पदेपदे पाशिनः सन्ति सेतवे॥ ३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जो वेदज्ञान के अनुसार कर्म करनेवाले होते हैं **ते**=वे **सहस्रधारे**=हज़ारों प्रकार से धारण करनेवाले **दिवः नाके**=उस प्रकाशमय प्रभु के आनन्दमय लोक में स्थित हुए-हुए **समस्वरन्**=मिलकर प्रभु-स्तवन करते हैं, **मधुजिह्वाः**=माधुर्ययुक्त जिह्वावाले होते हैं, **असश्चतः**=स्थिर स्वभाववाले होते हैं (सश्चतिर्गतिकर्मा), विषयों से चिपक नहीं जाते (सश्च् cling to)। २. ये ज्ञानी लोग इस बात को नहीं भूलते कि **तस्य**=उस प्रभु के **स्पशः**=हमारे कर्मों को देखनेवाले सृष्टि नियमरूप दूत **न निमिषन्ति**=एक क्षण भी पलक नहीं मारते। **भूर्णयः**=ये नियम ही हमारा भरण-पोषण करनेवाले हैं **पदेपदे**=पग-पग पर **पाशिनः**=पाशों को हाथों में लिये हुए **सेतवे सन्ति**=दुष्टों के बन्धन के लिए होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु में स्थित हों, मिलकर प्रभु का स्तवन करें, मधुजिह्व बनें, विषयों में न फँसें। नियमों के तोड़ने पर प्रभु के दूत हमारे बन्धन के लिए होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**रुद्रगणाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुबुष्णिक्त्रिष्टुब्गर्भापञ्चपदाजगती** ॥

त्रयोदशः मासः, इन्द्रस्य गृहः

पर्यू षू प्र धन्वा वाजसातये परि वृत्राणि सक्षणिः।
द्विषस्तदध्यर्णवेनेयसे सनिस्रसो नामासि त्रयोदशो मास इन्द्रस्य गृहः॥ ४॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि **वाजसातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिए **परि उ सु-प्रधन्व**=चारों ओर अपने कर्त्तव्यकर्मों में खूब गतिवाला हो। इस क्रियाशीलता के द्वारा **वृत्राणि**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को **परिसक्षणि**=चारों ओर से पराभूत करनेवाला हो। २. **तत्**=तब **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं को **अर्णवेन**=ज्ञानसमुद्र से **अधि ईसये**=आक्रान्त करता है—ज्ञान प्राप्त करके द्वेष आदि से ऊपर उठता है। **सनिस्रसः नाम असि**=शत्रुओं को अतिशयेन नीचे गिरानेवाला तू निश्चय से 'सनिस्नस' है। **त्रयोदशः**=दस इन्द्रियाँ, ग्यारवाँ मन, बारहवीं बुद्धि और तेरहवाँ आत्मा (इन्द्रियाणि पराण्याहुः, इन्द्रियेभ्यः परं मनः। मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान् परः॥) **मासः**=(मसि परिमाणे) सब वस्तुओं में परिमाण को करनेवाला—मर्यादा में चलानेवाला यह आत्मा **इन्द्रस्य गृहः**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का घर होता है, अर्थात् उस आत्मा में प्रभु का निवास होता है, जोकि तेरहवाँ बनता है—इन्द्रियों, मन और बुद्धि से ऊपर

उठता है, इन्हें वशीभूत करता है और सब बातों को माप-तोल कर करता है।

भावार्थ—हम गतिशील बनें, वासनाओं को जीतें। द्वेषादि की भावनाओं को ज्ञानसमुद्र में डुबो दें। सब वासनाओं को कुचलकर इन्द्रियों, मन व बुद्धि को वशीभूत करें तभी प्रभु को प्राप्त कर पाएँगे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमारुद्रौ** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराण्नामगायत्री** ॥

सोमारुद्रौ

न्वे॑तेना॑रात्सीरसौ॒ स्वाहा॑। ति॒ग्मायु॑धौ ति॒ग्महे॑ती सु॒शेवौ॒ सोमा॑रुद्रावि॒ह सु मृ॑डतं नः ॥ ५ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब जीवात्मा इन्द्रियों, मन व बुद्धि का अधिष्ठाता बनकर तेरहवाँ होता है और सब कार्यों में माप-तोलकर वर्तनेवाला होता है तब प्रभु का निवास-स्थान बनता है। **नु**=अब हे जीव! **असौ**=वह तू **एतेन**=इस प्रभु के द्वारा **अरात्सीः**=सिद्धि को प्राप्त करता है, **स्वाहा**=अतः तू प्रभु के प्रति ही समर्पण कर। २. प्रभु के प्रति समर्पण करने पर हममें सोम और रुद्र का वास होगा। सोमशक्ति के रक्षण से हम सौम्य बनेंगे और शत्रुओं के लिए भयंकर उन्हें रुलानेवाले रुद्र होंगे। **सोमारुद्रौ**=ये सोम और रुद्र **तिग्मायुधौ**=तीक्ष्ण आयुधोंवाले हैं—युद्ध में इन आयुधों के द्वारा शत्रुओं को परास्त करनेवाले हैं। **तिग्महेती**=तीक्ष्ण वज्रवाले हैं। क्रियाशीलता-(गति=हन् गतौ)-रूप वज्र के द्वारा काम-क्रोध आदि शत्रुओं का हनन करनेवाले हैं, **सुशेवौ**=आन्तरिक व बाह्य शत्रुओं के विनाश के द्वारा ये उत्तम कल्याण करनेवाले हैं। ये सोम और रुद्र **इह**=इस जीवन में **नः**=हमें **सुमृडतम्**=उत्तमता से सुखी करें।

भावार्थ—जीवात्मा जब प्रभु का गृह बनता है तब अन्तःस्थित प्रभु के द्वारा सिद्धि को प्राप्त करता है। प्रभु ही इसे सोम व रुद्र तत्त्वों को (आपः+अग्नि व ज्योति) प्राप्त कराते हैं। ये तत्त्व हमारे जीवनों को सुखी बनाते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमारुद्रौ** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराण्नामगायत्री** ॥

आपः, ज्योतिः, रसः, अमृतम्

अवै॒तेना॑रात्सीरसौ॒ स्वाहा॑। ति॒ग्मायु॑धौ ति॒ग्महे॑ती सु॒शेवौ॒ सोमा॑रुद्रावि॒ह सु मृ॑डतं नः ॥ ६ ॥
अपै॒तेना॑रात्सीरसौ॒ स्वाहा॑। ति॒ग्मायु॑धौ ति॒ग्महे॑ती सु॒शेवौ॒ सोमा॑रुद्रावि॒ह सु मृ॑डतं नः ॥ ७ ॥

१. प्रभु का घर बननेवाले, प्रभु को अपने हृदय-मन्दिर में प्रतिष्ठित करनेवाले जीव! **असौ**=वह तू **एतेन**=इस प्रभु के द्वारा **अव अरात्सीः**=शत्रुओं को (injure, kill, destroy, exterminate) कुचल देनेवाला होता है, अतः **स्वाहा**=तू उस प्रभु के प्रति समपर्ण कर। शेष पूर्ववत्।

२. **एतेन**=इस प्रभु के द्वारा **असौ**=वह तू **अप अरात्सीः**=इन शत्रुओं को सुदूर नष्ट करनेवाला होता है, अतः **स्वाहा**=इस प्रभु के प्रति तू अपना अर्पण कर। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—प्रभु की आराधना से हमारे जीवनों में सोम और रुद्रतत्त्व का—आपः+ज्योति का इसप्रकार समन्वय होता है कि जीवन में सब शत्रुओं की समाप्ति होकर रस का प्रादुर्भाव होता है और अमृत की प्राप्ति होती है (आपो ज्योती रसोऽमृतम्०)।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमारुद्रौ** ॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽर्च्यनुष्टुप्** ॥

अवद्य से दूर, यज्ञ के समीप

मु॒मु॒क्तम॒स्मान्दु॑रि॒ताद॑व॒द्याज्जु॒षेथां॑ य॒ज्ञम॒मृत॑म॒स्मासु॑ धत्तम् ॥ ८ ॥

१. गतमन्त्रों में वर्णित सोम और रुद्रतत्त्वों से प्रार्थना करते हैं कि **अस्मान्**=हमें

अवद्यात्=निन्दनीय **दुरितात्**=दुराचार से **मुमुक्तम्**=मुक्त करो, **यज्ञं जुषेथाम्**=यज्ञ को प्रीतिपूर्वक सेवित कराओ और इसप्रकार **अस्मासु**=हममें **अमृतं धत्तम्**=अमृतत्व का स्थापन करो—हमें नीरोग और मोक्ष का पात्र बनाओ।

भावार्थ—हम सोम और रुद्रतत्त्वों के सुन्दर समन्वय से निन्दनीय दुराचारों से पृथक् रहकर यज्ञों में प्रवृत्त हों। इसप्रकार नीरोगता व मोक्ष को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**हेतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'चक्षु, मन ब्रह्म व तप' का वज्र

चक्षुषो हेते मनसो हेते ब्रह्मणो हेते तपसश्च हेते।
मेन्या मेनिरस्यमेनयस्ते सन्तु येऽ३स्माँ अभ्यघायन्ति ॥ ९ ॥

१. हे **चक्षुषः हेते**=चक्षु के वज्र! **मनसः हेते**=मन के वज्र! **ब्रह्मणः हेते**=ज्ञान के वज्र! **च**=और **तपसः हेते**=तप के वज्र! तू **मेन्याः मेनिः असि**=वज्रों का भी वज्र है। 'आँख से सबको भद्र दृष्टि से देखना, मन से सबके कल्याण की कामना करना, ज्ञान से सबमें आत्मभाव का होना, तप से दिव्य वृत्तिवाला बनना'—ये चार बातें वे वज्र हैं जोकि सब शत्रुओं का विनाश करनेवाले हैं। २. **ये**=जो **अस्मान् अभि**=हमारे प्रति **अघायन्ति**=अघ (पाप) की कामनावाले होते हैं, **ते**=वे **अमेनयः सन्तु**=वज्ररहित हो जाएँ। हमारी भद्रदृष्टि, पवित्र मानसभाव, ज्ञान के कारण आत्मदृष्टि तथा तपोजन्य निःस्वार्थ वृत्ति अघायुओं को भी पवित्र बना दे। इन वज्रों के सामने उनके आयस वज्र निकम्मे पड़ जाएँ।

भावार्थ—हम भद्रदृष्टि, शुभविचार, आत्मैक्य दृष्टि तथा तपोजन्य दिव्य वृत्ति द्वारा शत्रुओं को भी मित्र बनाने में समर्थ हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

'मेन्या अमेनीन् कृणु'

योऽ३स्मांश्चक्षुषा मनसा चित्त्याकूत्या च यो अघायुरभिदासात्।
त्वं तानग्ने मेन्यामेनीन्कृणु स्वाहा ॥ १० ॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यः यः**=जो-जो भी **अघायुः**=पाप की कामनावाला **चक्षुषा**=अशुभ दृष्टि से **मनसा**=अशुभभावों से **चित्त्या**=ज्ञान के दुरुपयोग से **च**=तथा **आकूत्या**=अशिवसंकल्प से **अस्मान् अभिदासात्**=हमें विनष्ट करना चाहता है, **त्वम्**=आप **तान्**=उन सबको **मेन्या**=वज्र द्वारा **अमेनीन्**=वज्ररहित **कृणु**=कीजिए, **स्वाहा**=हम आपके प्रति अपना अर्पण करते हैं। २. चाहिए तो यह कि हम सभी को भद्रदृष्टि से देखें, मन में सभी के प्रति भद्र भावनावाले हों, ज्ञान से सबमें आत्मभाववाले हों तथा शिवसंकल्प ही करें, परन्तु यदि कोई इन पवित्र साधनों का दुरुपयोग करता हुआ हमें विनष्ट करना चाहता है तो प्रभु उस **अघायु**=पापी के इन वज्रों को अवज्र करने की कृपा करें।

भावार्थ—हम अघायु न बनें और हमारे 'चक्षु, मन, चित्त व संकल्प' अघायुओं के लिए वज्र-तुल्य बनें। ये अघायुओं को वज्ररहित करनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सर्वात्मको रुद्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

इन्द्रस्य गृहः (गृह्णाति, गृह्+क)

इन्द्रस्य गृहो ऽसि। तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुः
सर्वपूरुषः सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेऽस्ति तेन ॥ ११ ॥

१. हे प्रभो! आप **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **गृहः असि**=ग्रहण करनेवाले—स्वीकार करनेवाले हैं, **तं त्वा प्रपद्ये**=मैं उन आपकी शरण में आता हूँ, **तं त्वा प्रविशामि**=उन आपमें मैं प्रवेश करता हूँ। २. **सर्वगुः**=सब ज्ञानेन्द्रियोंवाला, **सर्वपूरुषः**=सब पौरुषोंवाला (पुरुषस्य भावः पौरुषम्), **सर्वात्मा**=सब मनोबलवाला (आत्मा=मन), **सर्वतनूः**=पूर्ण स्वस्थ शरीरवाला मैं **यत् मे अस्ति**=जो कुछ मेरा है, **तेन सह**=उसके साथ आपकी शरण में आता हूँ—आपमें ही प्रविष्ट होता हूँ।

भावार्थ—हे प्रभो! आप जितेन्द्रिय पुरुष को स्वीकार करते हो। मैं अपनी ज्ञानेन्द्रिय, पौरुष, मन व शरीर को उत्तम बनाता हुआ इन सबके साथ आपमें प्रवेश करता हूँ, आपकी शरण में आता हूँ। जो कुछ मेरा है, वस्तुतः वह सब आपका ही है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सर्वात्मको रुद्रः** ॥ छन्दः—**१२-१३ पङ्क्तिः, १४ स्वराट्पङ्क्तिः** ॥

शर्म, वर्म, वरूथ

इन्द्रस्य शर्मासि। तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुः
सर्वपूरुषः सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेऽस्ति तेन॥ १२॥
इन्द्रस्य वर्मासि। तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुः
सर्वपूरुषः सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेऽस्ति तेन॥ १३॥
इन्द्रस्य वरूथमसि। तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुः
सर्वपूरुषः सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेऽस्ति तेन॥ १४॥

१२. हे प्रभो! आप **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष की **शर्म असि**=(blessing, protection, house) रक्षास्थली हो। जितेन्द्रिय पुरुष आपमें निवास करता हुआ अपने को शत्रुओं से सुरक्षित कर पाता है। शेष पूर्ववत्।

१३. हे प्रभो! आप **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष का **वर्म असि**=कवच हो। आप इस जितेन्द्रिय पुरुष को कामदेव के बाणों के आक्रमण से इसप्रकार बचाते हो जैसेकि कवच हमें शत्रु के बाणों से बचाता है। शेष पूर्ववत्।

१४. हे प्रभो! आप **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष की **वरूथम् असि**=ढाल हो। एक जितेन्द्रिय पुरुष अपने पर होनेवाले काम-क्रोधरूप वज्र-प्रहारों से अपने को बचाने के लिए आपको अपनी ढाल बनाता है। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे रक्षक हैं, प्रभु ही कवच हैं, प्रभु ही हमारी ढाल हैं—प्रभु का स्मरण ही हमें शत्रुओं के आक्रमण से आक्रान्त होने से बचाएगा।

अगले सूक्त में भी ऋषि 'अथर्वा' ही है।

७ [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अरातयः** ॥ छन्दः—**विराड्गर्भाप्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

'वीर्त्सा, असमृद्धि, अराति' से दूर

आ नो भर मा परि ष्ठा अराते मा नो रक्षीर्दक्षिणां नीयमानाम्।
नमो वीर्त्साया असमृद्धये नमो अस्त्वरातये॥ १॥

१. हे प्रभो! **नः**=हमारा **आभर**=समन्तात् भरण कीजिए, **मा परिष्ठाः**=आप हमसे दूर न होओ। आपकी समीपता में ही हम दान आदि उत्तम वृत्तिवाले बनें रहेंगे और धनलोलुप न बनेंगे।

हे **अराते**=अदान की वृत्ते! **नियमानाम्**=प्राप्त कराई जाती हुई **नः**=हमारी **दक्षिणाम्**=दान में देय धन को **मा रक्षीः**=मत रख ले, अर्थात् दान देते-देते हम उस देय धन को रोक ही न लें। २. इस **वीर्त्सायै**=विशिष्टरूप से ऋद्धि की प्राप्ति की इच्छा के लिए **नमः**=हम दूर से नमस्कार करते हैं। इसप्रकार **असमृद्धये**=असमृद्धि के लिए भी **नमः**=नमस्कार करते हैं। दान देते हुए हम कभी असमृद्ध तो होंगे ही नहीं, अतः **अरातये**=इस अदानवृत्ति के लिए **नमः अस्तु**=दूर से नमस्कार हो।

भावार्थ—हे प्रभो ! हमसे वीर्त्सा दूर हो जाए। हम वीर्त्सा के कारण दान ही न दें, ऐसा न हो। परिणामतः असमृद्धि हमसे दूर ही रहे। दानवृत्ति तो हमारे धनों को बढ़ाती ही है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अरातयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दानवृत्ति का पोषण

यमराते पुरोधत्से पुरुषं परिरापिणम्। नमस्ते तस्मै कृण्मो मा वनिं व्यथयीर्मम ॥ २ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार मनुष्य जब 'वीर्त्सा' वाला हो जाता है तब वह अपने समय के किसी कृपण धनी पुरुष को अपना आदर्श बनाता है—उसे अपने सामने आदर्श के रूप में रखता है कि मैं भी इतना ही धनी हो जाऊँ। मन्त्र में कहते हैं कि **अराते**=हे अदानवृत्ते! **यम्**=जिस **परिरापिणम्**=बहुत ही बोलनेवाले, बड़ी आत्मश्लाघा करनेवाले पुरुष को—धनाभिमानी पुरुष को **पुरः धत्से**=तू अपने सामने रखती है, हम तो **ते**=तेरे **तस्मै**=उस पुरुष के लिए **नमः कृण्मः**=नमस्कार करते हैं—उसे अपने से दूर रखते हैं। हम उसे अपना आदर्श नहीं बनाते। २. हे अदानवृत्ते! तू **मम**=मेरी **वनिम्**=इस सम्भजन वृत्ति को—धन को बाँटकर खाने की वृत्ति को **मा व्यथयीः**=मत पीड़ित कर। मैं धन के लोभ में अदानवृत्तिवाला न बनूँ। मैं अदानी धनी को अपना आदर्श न बना लूँ।

भावार्थ—अपने धनित्व का बखान करनेवाले कृपण व्यक्ति को हम अपना आदर्श न बना लें। हमारी दानवृत्ति कभी खण्डित न हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अरातयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वनिः देवकृता

प्र णो वनिर्देवकृता दिवा नक्तं च कल्पताम्।
अरातिमनुप्रेमो वयं नमो अस्त्वरातये ॥ ३ ॥

१. **नः**=हमारी **देवकृता**=प्रभु से उत्पन्न की गई—प्रभु ने जिसका वेद में आदेश दिया है वह **वनिः**=दानवृत्ति (सम्भजनशीलता) **दिवा नक्तं च**=दिन और रात **प्रकल्पताम्**=अधिक-और-अधिक शक्तिशाली बने। २. **वयम्**=हम **अरातिम् अनु**=अदानवृत्ति का लक्ष्य करके **प्रेमः (प्र इमः)**=प्रकर्षेण आक्रमण करते हैं। इस **अरातये**=अदानवृत्ति के लिए **नमः अस्तु**=नमस्कार हो—इसे दूर से ही छोड़ते हैं।

भावार्थ—प्रभु से उपदिष्ट दानवृत्ति हममें फूले-फले। अदानवृत्ति को हम कुचल दें। इसे दूर से ही नमस्कार कर दें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सरस्वती** ॥ छन्दः—**पथ्याबृहती** ॥

सरस्वती अनुमति

सरस्वतीमनुमतिं भगं यन्तो हवामहे।
वाचं जुष्टां मधुमतीमवादिषं देवानां देवहूतिषु ॥ ४ ॥

१. **भगं यन्तः**=ऐश्वर्य को प्राप्त होते हुए हम **सरस्वतीम्**=विद्या की अधिष्ठातृदेवता सरस्वती को तथा **अनुमतिम्**=शास्त्रानुकूल कर्म की मति को **हवामहे**=पुकारते हैं। हम ऐश्वर्यशाली होकर ज्ञान की रुचिवाले तथा शास्त्रानुकूल यज्ञादि कर्मों के करने की वृत्तिवाले बने रहें, अन्यथा यह धन हमें विलास की ओर ले-जाएगा। २. मैं सदा **देवहूतिषु**=देवों के आह्वानवाली सभाओं में **देवानां जुष्टाम्**=देवों की प्रिय **मधुमतीम्**=माधुर्यवाली **वाचम्**=वाणी को **अवादिषम्**=बोलूँ। मैं सदा सत्सङ्गों में उपस्थित होऊँ और मधुर वाणी ही बोलूँ।

भावार्थ—ऐश्वर्यशाली होकर हम विद्यारुचि व शास्त्रानुकूल कर्मों की प्रवृत्तिवाले बनें, सत्संगों में सम्मिलित हों और मधुर शब्द ही बोलें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सरस्वती** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ज्ञान+श्रद्धा

यं याचाम्यहं वाचा सरस्वत्या मनोयुजा।
श्रद्धा तमद्य विन्दतु दत्ता सोमेन बभ्रुणा॥ ५॥

१. **अहम्**=मैं **मनोयुजा**=जिसमें मन को लगाया गया है, उस **सरस्वत्या**=ज्ञान की अधिष्ठातृदेवता की उपासक **वाचा**=वाणी से **यं याचामि**=जिस वस्तु को माँगता हूँ, **सोमेन**=उस शान्त **बभ्रुणा**=सर्वाधार—सबके धारक प्रभु से **दत्ता**=दी गई **श्रद्धा**=श्रद्धा **तम्**=उस वस्तु को **अद्य**=आज **विन्दतु**=प्राप्त कराए। २. एकाग्र मन से सरस्वती की आराधना करता हुआ जो व्यक्ति ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करता है, वह जिस वस्तु को चाहता है, उसे श्रद्धा के द्वारा प्राप्त करने में समर्थ होता है। ज्ञान से हम विवेकपूर्वक ठीक ही वस्तु की याचना करते हैं और श्रद्धा के द्वारा प्रयत्न करते हुए उस वस्तु को प्राप्त कर पाते हैं।

भावार्थ—हम एकाग्र मन से स्वाध्याय करते हुए ज्ञान का वर्धन करें। ज्ञान होने पर विवेकपूर्वक वस्तुओं की कामना करें और श्रद्धापूर्वक प्रयत्न करते हुए उन्हें प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अरातयः** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

वनिम्-वाचम्

मा वनिं मा वाचं नो वीर्त्सीरुभाविन्द्राग्नी आ भरतां नो वसूनि।
सर्वे नो अद्य दित्सन्तोऽरातिं प्रति हर्यत॥ ६॥

१. उपासक प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हे प्रभो! **नः**=हमारी **वनिम्**=सम्भजनवृत्ति को—बाटँकर खाने की वृत्ति को **मा**=मत **वि ईर्त्सीः**=विगत वृद्धिवाला कीजिए—हमारी सम्भजनवृत्ति घटे नहीं बढ़ती ही जाए। हमारी **वाचम्**=इस ज्ञान की वाणी को भी **मा**=मत विगत वृद्धिवाला कीजिए। हमारे ज्ञान की वाणियाँ भी उत्तरोत्तर बढ़ती जाएँ। **उभौ**=ये दोनों **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश की देवता इन्द्र और अग्नि **नः**=हमारे लिए **वसूनि आभरताम्**=वसुओं का—धनों का भरण करनेवाले हों। २. **नः सर्वे**=हमारे कुल के सब लोग **दिप्सन्तः**=सदा धनों के देने की कामनावाले हों। हे हमारे कुल के सब लोगो! तुम **अरातिं प्रतिहर्यत**=अदानवृत्ति पर आक्रमण करनेवाले होओ (हर्य गतौ), आदनवृत्ति को समाप्त करके देने की वृत्तिवाले बनो।

भावार्थ—हम सम्भजन की वृत्तिवाले व स्वाध्यायशील बनें। बल व प्रकाश हमें वसुओं को प्राप्त करानेवाले हों। हमारे कुल में सभी दान की वृत्तिवाले हों, अदानवृत्ति पर आक्रमण करके हम उसे विनष्ट कर डालें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अरातयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

निमीवन्तीम् नितुदन्तीम्

परोऽपेह्यसमृद्धे वि ते हेतिं नयामसि। वेद त्वाहं निमीवन्तीं नितुदन्तीमराते॥ ७॥

१. हे **असमृद्धे**=ऐश्वर्य के अभाव! **परः अप इह**=हमसे परे सुदूर प्रदेश में चला जा। हम **ते**=तेरे लिए **हेतिम्**=वज्र को **विनयामसि**=विशेषरूप से प्राप्त कराते हैं, अर्थात् वज्रप्रहार द्वारा तेरा विनाश करते हैं। असमृद्धि को नष्ट करनेवाला वज्र क्रियाशीलता ही है। २. हे **अराते**=अदानशीलते! दान न देने की वृत्ते! **अहम्**=मैं **त्वा**=तुझे **निमीवन्तीम्**=(निमी=Shut the eyes, मी to destroy) आँखों को बन्द कर देनेवाली, अर्थात् ज्ञान पर पर्दा डाल देनेवाली तथा विनाशकारिणी और **नितुदन्तीम्**=परिणाम में निश्चय से पीड़ित करनेवाली **वेद**=जानता हूँ। अदानशीलता 'अज्ञान, ह्रास व पीड़ा' का कारण बनती है।

भावार्थ—हम श्रम द्वारा असमृद्धि को दूर करें तथा दानशीलता द्वारा ह्रास व कष्टों से बचें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अरातयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अदानशीलता व घोर निर्धनता

उत नग्ना बोभुवती स्वप्नया सचसे जनम्।
अराते चित्तं वीर्त्सन्त्याकूतिं पुरुषस्य च॥ ८॥

१. हे **अराते**=अदानशीलते! **उत**=निश्चय से **नग्ना बोभुवती**=नग्न होती हुई तू **जनम्**=मनुष्य को **स्वप्नया सचसे**=स्वप्नावस्था से समवेत कर देती है। अदानशील मनुष्य अत्यन्त निर्धन अवस्था में पहुँचकर अपनी पहली स्थिति के स्वप्न ही लिया करता है—उसे स्वयं ही वह अवस्था स्वप्नतुल्य लगने लगती है। २. हे अदानशीलते! तू **पुरुषस्य**=इस कृपण पुरुष के **चित्तम्**=चित्त को **च**=और **आकूतिम्**=संकल्पों को **वीर्त्सन्ती**=विगत ऋद्धिवाला कर देती है। कृपणता मनुष्य के चित्त व संकल्पों को समाप्त कर देती है। यह मनुष्य को भीषण निर्धनता में ले-जाकर सुला-सा देती है। यह सोया हुआ पुरुष अपनी पूर्वावस्था के स्वप्न ही लिया करता है।

भावार्थ—अदानशीलता मनुष्य को घोर निर्धनता में ले-जाती है। उसका चित्त व संकल्प सब नष्ट हो जाता है। यह दीन अवस्था में सोया हुआ-सा पूर्वावस्था के स्वप्न ही लिया करता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अरातयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

हिरण्यकेशी निर्ऋति (तामस कृपणता)

या महती महोन्माना विश्वा आशा व्यानशे।
तस्यै हिरण्यकेश्यै निर्ऋत्या अकरं नमः॥ ९॥

१. कृपण व्यक्ति वह है जो धन होते हुए भी उस धन का दान व भोग में व्यय नहीं करता। दान में तो धन व्यय करता ही नहीं, अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी धन-व्यय करता हुआ संकोच करता है, अतएव दुर्गति को प्राप्त होता है। धन की कमी न होने से वहाँ सोने का प्रकाश है (हिरण्य-केश=रश्मि), परन्तु कृपणता ने वहाँ आफ़त मचाई हुई है। यही 'हिरण्यकेशी निर्ऋति' है। **तस्यै**=उस **हिरण्केश्यै निर्ऋत्यै**=सुवर्ण के प्रकाशवाली निऋर्ति=दुर्गति के लिए मैं **नमः अकरम्**=दूर से ही नमस्कार करता हूँ। २. **या**=जो **महती**=बड़ी प्रबल है (Mighty), **महोन्माना**=महान् परित्राणवाली है। यह कृपणता बढ़ती जाती है।

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**अरातय:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

राजस कार्पण्य

हिरण्यवर्णा सुभगा हिरण्यकशिपुर्मही।
तस्यै हिरण्यद्रापयेऽरात्या अकरं नमः॥ १०॥

१. वह कृपण व्यक्ति जो दान देने में संकोच करता है, परन्तु अपने भोगों पर खुला खर्च करता है, राजसी वृत्तिवाला कृपण है। इसका घर भोग-विलास की वस्तुओं से चमकता है, परन्तु यह दान नहीं दे पाता, **तस्यै**=उस **हिरण्यद्रापये**=सुवर्ण को कवच की भाँति धारण करनेवाली (द्रापि=कवच-द०) **अरात्यै**=अदानवृत्ति के लिए **नमः अकरम्**=मैं नमस्कार करता हूँ—इसे अपने से दूर ही रखता हूँ। २. यह अराति **हिरण्यवर्णा**=स्वर्ण के वर्णवाली है—स्वर्ण का ही सदा वर्णन करती है, **सुभगा**=देखने में बड़ी भाग्यवती—चमकती हुई है, **हिरण्य-कशिपुः**=स्वर्ण के आच्छादनोंवाली है, **मही**=महिमावाली है—देखने में कितनी बड़ी है।

भावार्थ—कृपण राजस पुरुष अपने घर के लिए भौतिक साधनों को खूब ही जुटाता है। इसका घर चमकता प्रतीत होता है, सौभाग्यशाली लगता है। यह बड़ा कहाता है। हम इस राजसी कृपणता से ऊपर उठें, धनों का व्यय भोगों में न करके दान में करें।

अगले सूक्त में भी ऋषि 'अथर्वा' ही है।

अथैकादशः प्रपाठकः

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषि:=**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

वैकंकत इध्म

वैकङ्कतेनेध्मेन देवेभ्य आज्यं वह। अग्ने ताँ इह मादय सर्व आ यन्तु मे हवम्॥ १॥

१. जैसे 'कंकतिका' बालों में से मैल को दूर कर देती है (comb off=remove), उसी प्रकार वह ज्ञानदीप्ति जो जीवन में से काम-क्रोध आदि को दूर कर देती है, यहाँ 'वैकङ्कत इध्म' कही गई है (इन्धी दीप्तौ)। इस **वैकङ्कतेन इध्मेन**=विशेषरूप से मलों का वारण करनेवाली ज्ञानदीप्ति के हेतु से हे **अग्ने**=प्रभो! **देवेभ्यः आज्यं वह**=विद्वानों से हमारे लिए ज्ञानरूपी घृत प्राप्त कराइए। २. **तान्**=उन देवों को **इह**=यहाँ—हमारे जीवनों में **मादय**—अनान्दित कीजिए। हम इन ज्ञानियों का सत्कार करें, वे हमसे प्रसन्न रहें और **सर्वे**=वे सब **मे हवम्**=मेरी पुकार को सुनकर **आयन्तु**=मुझे प्राप्त हों। मेरा घर सदा ज्ञानियों का अतिथिगृह बना रहे।

भावार्थ—ज्ञान वह कंकतिका (कंघी) है जो काम-क्रोध आदि मलों का वारण करती है। मुझे ज्ञानियों से यह ज्ञान प्राप्त होता रहे। हम ज्ञानियों का सम्पर्क करें और उनके प्रिय बनें।

ऋषि:=**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्द:—**षट्पदाजगती** ॥

ऐन्द्राः अतिसराः

इन्द्रा याहि मे हवमिदं करिष्यामि तच्छृणु।
इम ऐन्द्रा अतिसरा आकूतिं सं नमन्तु मे।
तेभिः शकेम वीर्यं१ जातवेदस्तनूवशिन्॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **मे हवम् आयाहि**=मेरी प्रार्थना को सुनकर आप मुझे प्राप्त हों। हे प्रभो! मैं अपना **इदं करिष्यामि**=जो कर्तव्यकर्म करूँगा, **तत् शृणु**=उसे आप सुनिए।

वस्तुतः आपकी शक्ति से शक्तिमान् होकर ही तो मै इस कार्य को कर पाऊँगा। २. **इमे**=ये **ऐन्द्राः**=प्रभु-प्राप्ति के निमित्त किये गये **अतिसराः**=अतिशयित—विशिष्ट प्रयत्न **मे आकूतिं संनमन्तु**=मेरे संकल्प के प्रति सन्नत हों। मुझे प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामना हो और मैं उस कामना को कार्यान्वित करने के लिए यत्न करूँ। ३. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ! **तनूवशिन्**=हमारे शरीरों के वास्तविक शासक प्रभो! **तेभिः**=उन अतिसरों के द्वारा हम **वीर्यं शकेम**=शक्ति प्राप्त करने में समर्थ हों।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के निमित्त हम प्रभु-स्मरणपूर्वक अपने कर्त्तव्यकर्मों को करते चलें। इन कर्मों को करने का ही हमारा संकल्प हो। ये कर्म हमें शक्तिशाली बनाएँ।

ऋषिः=**अथर्वा** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पथ्यापङ्क्तिः** ॥

अदेव के सुधार के लिए

यदसावमुतो देवा अदेवः संश्चिकीर्षति।
मा तस्याग्निर्हव्यं वाक्षीद्धवं देवा अस्य मोप गुर्ममैव हवमेतन॥ ३॥

१. यदि कोई हमारा विरोध करता है तो प्रभु ठीक मार्ग पर चलनेवाले हम लोगों का रक्षण करें और उस अदेववृत्ति के व्यक्ति को उचित दण्ड दें। हे **देवाः**=देवो! **यत्**=जो **असौ**=वह **अदेवः सन्**=अदेव (न देने की) वृत्तिवाला होता हुआ व्यक्ति **अमुतः**=उस सुदूर प्रदेश से—हमारे विरोधी पक्ष से **चिकीर्षति**=हमारा हानिकर कर्म करना चाहता है तो **अग्निः**=वे प्रभु **तस्य**=उसके **हव्यं मा वाक्षीत्**=हव्यपदार्थ का वहन न करें—प्रभु उसे आवश्यक पदार्थों से वञ्चित करें। वह इसप्रकार दरिद्रता में व्यथित हो कि उसमें पर-पीड़न की शक्ति ही न रहे। २. **देवाः**=विद्वान् लोग **अस्य हवं मा उपगुः**=उसकी पुकार को सुनकर उसे प्राप्त न हों—विद्वानों से उसका बहिष्कार किया जाए। ये विद्वान् **मम एव हवं एतन**=मेरी ही पुकार पर प्राप्त हों। इसप्रकार यह अदेव सामाजिक बहिष्कार की पीड़ा को अनुभव करे।

भावार्थ—हे देवो! यदि कोई अदेव वृत्ति का व्यक्ति देववृत्ति के व्यक्तियों को पीड़ित करना चाहता है तो प्रभु उसे हव्य पदार्थ प्राप्त न कराके उसे दण्डित करें तथा विद्वान् लोग उसके आमन्त्रण को अस्वीकार करके उसे सामाजिक बहिष्कार की पीड़ा को अनुभव कराएँ।

ऋषिः=**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्पथ्यापङ्क्तिः** ॥

इन्द्रस्य वचसा हत

अति धावतातिसरा इन्द्रस्य वचसा हत।
अविं वृकइव मथ्नीत स वो जीवन्मा मोचि प्राणमस्यापि नह्यत॥ ४॥

१. हे **अतिसराः**=अतिशयेन गतिशील पुरुषो! **अतिधावत**=तुम गति द्वारा अपने जीवन को अति शुद्ध बनाओ। **इन्द्रस्य वचसा हत**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के वचन से—उसके आदेश के अनुसार सम्पूर्ण समाज के शत्रु को मार डालो। यदि उसके सुधरने की आशा नहीं है तो उसे प्राणों से वञ्चित करना ठीक ही है। २. **इव**=जैसे **वृकः अविम्**=एक भेड़िया भेड़ का मथन कर डालता है, इसप्रकार तुम इस समाज-शत्रु को **मथ्नीत**=कुचल डालो। **सः**=वह **वः**=तुमसे **जीवन् मा मोचि**=जीता हुआ न छूट जाए। **अस्य**=इसके **प्राणम्**=प्राण को **अपिनह्यत**=बाँध डालो। इसकी प्राणशक्ति इसप्रकार नियन्त्रित कर दी जाए कि यह समाज की कुछ भी हानि न कर सके।

भावार्थ—हम गति द्वारा अपने जीवन को शुद्ध बनाएँ। प्रभु के आदेश के अनुसार समाज-

शत्रु को उचित दण्ड देना आवश्यक हो तो वह दिया जाए अथवा उसकी गतिविधियों को पूर्णरूप से नियन्त्रित कर दिया जाए।

ऋषिः=**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अपभूति के कारणभूत विद्वान् को दण्ड

यम॒मी पु॒रोद॑धि॒रे ब्र॒ह्माण॒मप॑भूतये।
इन्द्र॒ स ते॑ अध॒स्प॒दं तं प्रत्य॑स्यामि मृ॒त्यवे॑॥ ५॥

१. **अमी**=ये समाज के शत्रु **यम्**=जिस **ब्रह्माणम्**=ज्ञानी को भी **अपभूतये**=राष्ट्र की अपभूति (अनैश्वर्य) के लिए **पुरः दधिरे**=आगे स्थापित करते हैं, हे **इन्द्र**=राजन्! **सः ते अधस्पदम्**=वह भी तुझसे पादाक्रान्त किया जाए, अर्थात् यदि किसी ज्ञानी की चेष्टाएँ भी समाज-विरोधी हैं—राष्ट्र के अनैश्वर्य के लिए हैं, तो उसे भी दण्डित किया ही जाए। २. **तम्**=उस ज्ञानी को भी **मृत्यवे प्रत्यस्यामि**=मृत्यु के लिए फेंकता हूँ, कई बार इन्हें समाप्त कर देना ही राष्ट्रहित में होता है।

भावार्थ—यदि कोई अदेव पुरुष किसी विद्वान् को आगे करके राष्ट्र के अहित में प्रवृत्त होता है तो उस विद्वान् को भी दण्डित करना ही चाहिए।

ऋषिः=**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः** ॥

यदि प्रेयुः

यदि॑ प्रे॒यु॒र्दे॑वपु॒रा ब्रह्म॒ वर्मा॑णि चक्रि॒रे।
त॒नू॒पानं॑ परि॒पाणं॑ कृण्वा॒ना यदु॑पोचि॒रे सर्वं॒ तद॑र॒सं कृ॑धि॥ ६॥

१. **यदि**=यदि **देवपुराः**=देवनगरियों में निवास करनेवाले व्यक्ति **प्रेयुः**=(प्र ईयुः) शत्रु पर आक्रमण करने के लिए चलते हैं तो वे **ब्रह्म वर्माणि**=ज्ञान व प्रभु को अपना कवच **चक्रिरे**=करते हैं—ब्रह्म-कवच से ये अपना रक्षण करनेवाले होते हैं। २. ज्ञानपूर्वक तथा प्रभु-स्मरणपूर्वक **तनूपानम्**=अपने शरीरों का रक्षण तथा **परिपाणम्**=समन्तात् नगर व राष्ट्र का रक्षण **कृण्वानाः**=करते हुए ये **तत् सर्वम् अरसं कृधि**=उस सबको निःसार कर देते हैं, **यत्**=जो **उप उचिरे**=हमारे विषय में शत्रुओं ने हीन बातें कही हैं। ('कृधि'-एकवचनं छान्दसम्)। शत्रुओं की डींगों को, अभिमानभरी बातों को—उन्हें परास्त करके व्यर्थ कर देते हैं।

भावार्थ—देव लोग पहले तो आक्रमण करते ही नहीं। यदि उन्हें आक्रमण करना ही पड़ जाए तो ये प्रभु को अपना कवच बनाते हैं तथा ज्ञानपूर्वक शरीरों व राष्ट्र के रक्षण की व्यवस्था करते हुए शत्रुओं को परास्त करके उनकी अभिमानभरी बातों को निःसार कर देते हैं।

ऋषिः=**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**द्व्युष्णिग्गर्भापथ्यापङ्क्तिः** ॥

प्रतीचः पुनराकृधि

यान॒सावति॑स॒रांश्च॒कार॑ कृ॒णव॑च्च॒ यान्।
त्वं तानि॑न्द्र वृत्रहन्प्र॒तीचः॒ पुन॒रा कृ॑धि य॒थामुं तृ॑ण॒हां जन॑म्॥ ७॥

१. **असौ**=वह हमारा शत्रु **यान् अतिसरान् चकार**=जिन विशिष्ट उद्योगों (धावों) को करता रहा है **च**=और **यान् कृणवत्**=जिन धावों को अब करे, हे **वृत्रहन् इन्द्र**=राष्ट्र को घेरनेवाले शत्रुओं के विनाशक शत्रुविद्रावक राजन्! **त्वम्**=आप **तान्**=उन सबको **पुनः**=फिर **प्रतीचः कृधि**=उलटे मुख भाग जानेवाला कीजिए। २. ऐसी व्यवस्था कीजिए कि **यथा**=जिससे **अमुं जनम्**=उस शत्रुभूत मनुष्य को हम **तृणहाम्**=विनष्ट कर सकें।

भावार्थ—समझदार राजा प्रभुकृपा से शत्रुओं से किये गये व किये जानेवाले सब धावों को व्यर्थ करे, शत्रुओं को उलटे पाँव भगा दे। राजा ऐसी व्यवस्था करे कि हम शत्रुभूत मनुष्य को समाप्त कर सकें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

काम आदि शत्रुओं का पराजय

यथेन्द्र उद्वाचनं लब्ध्वा चक्रे अधस्पदम्।
कृण्वे३ हमधरांस्तथामूञ्छश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ ८॥

१. **यथा**=जैसे **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला राजा **उद्वाचनम्**=ऊँचा-ऊँचा बोलनेवाले—डींग मारनेवाले शत्रुओं को **लब्ध्वा**=पाकर **अधस्पदं चक्रे**=उन्हें अपने पाँव तले करनेवाला होता है, अर्थात् कर्मवीर बनकर इन वाग्वीरों को परास्त कर देता है, २. **तथा**=उसी प्रकार **अहम्**=मैं **अमून्**=उन 'काम-क्रोध-लोभ' आदि शत्रुओं को **शाश्वतीभ्यः समाभ्यः**=चिरकाल तक के लिए—सदा के लिए **अधरान् कृण्वे**=पाँवतले रौंद डालता हूँ—पूर्णरूप से अधीन कर लेता हूँ।

भावार्थ—जैसे एक जितेन्द्रिय राजा डींग मारनेवाले शत्रुओं को परास्त करता है, वैसे ही मैं काम-क्रोधादि इन प्रबल शत्रुओं को अपने अधीन करता हूँ।

ऋषिः=**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**षट्पदाद्व्यनुष्टुब्गर्भाजगती** ॥

प्रभु की सहायता से काम आदि शत्रुओं का विनाश

अत्रैनानिन्द्र वृत्रहन्नुग्रो मर्मणि विध्य। अत्रैवैनानभि तिष्ठेन्द्र मेद्य१हं तव।
अनु त्वेन्द्रा रभामहे स्याम सुमतौ तव॥ ९॥

१. प्रभु कहते हैं कि **अत्र**=यहाँ—इसी जीवन में **एनान्**=इन शत्रुओं को हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **वृत्रहन्**=इन वासनाओं को विनष्ट करनेवाले पुरुष! तू **मर्मणि विध्य**=मर्मस्थलों में विद्ध करनेवाला हो। **अत्र एव**=यहाँ, इस जीवनकाल में ही **एनान् अभितिष्ठ**=इन्हें पादाक्रान्त कर। हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **अहम्**=मैं (प्रभु) तव **मेदी**=तुझ जितेन्द्रिय पुरुष का स्नेही बनता हूँ। प्रभु जितेन्द्रिय के ही मित्र होते हैं। २. एक जितेन्द्रिय पुरुष उत्तर देता है कि हे **इन्द्र**=हमारे शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! हम **त्वा अनु आरभामहे**=आपके पीछे-पीछे ही—आपकी सहायता से ही इस शत्रु-विनाश के कार्य को प्रारम्भ करते हैं। हम सदा **तव**=आपकी **सुमतौ स्याम**=कल्याणी मति में हों।

भावार्थ—प्रभु का आदेश है कि हम इस जीवन में काम-क्रोध आदि शत्रुओं का पराभव करने के लिए यत्नशील हों, अतः हम प्रभु की सहायता से इन्हें परास्त करनेवाले बनें।

विशेष—सब शत्रुओं का पराभव करके यह 'ब्रह्म' का सच्चा पुत्र 'ब्रह्मा' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—१, ५ **दैवीबृहती**; २, ६ **दैवीत्रिष्टुप्**; ३, ४ **दैवीजगती** ॥

त्रिलोकी का विजेता 'ब्रह्मा'

दिवे स्वाहा॥ १॥ पृथिव्यै स्वाहा॥ २॥ अन्तरिक्षाय स्वाहा॥ ३॥
अन्तरिक्षाय स्वाहा॥ ४॥ दिवे स्वाहा॥ ५॥ पृथिव्यै स्वाहा॥ ६॥

१. ब्रह्मा प्रभु से प्रार्थना करता है कि मैं **दिवे**=अपने मस्तिष्करूप द्युलोक के लिए—मस्तिष्करूप द्युलोक के पूर्ण स्वास्थ के लिए **स्वाहा**=आपके प्रति अपना समर्पण करता हूँ। **पृथिव्यै**=इस पृथिवीरूप शरीर के लिए **स्वाहा**=आपके प्रति अपना अर्पण करता हूँ। **अन्तरिक्षाय**=हृदयरूप अन्तरिक्ष की पवित्रता के लिए आपके प्रति **स्वाहा**=अपना अर्पण करता हूँ। २. **अन्तरिक्षाय**=हृदयान्तरिक्ष की पवित्रता के लिए **स्वाहा**=आपके प्रति अपना अर्पण करता हूँ। **दिवे स्वाहा**=मस्तिष्करूप द्युलोक की उज्ज्वलता के लिए आपके प्रति अपना अर्पण करता हूँ और **पृथिव्यै स्वाहा**=शरीररूपी पृथिवी की दृढ़ता के लिए आपके प्रति अपना अर्पण करता हूँ।

भावार्थ—ब्रह्मा वही है जिसने त्रिलोकी का विजय करके अपने को ब्रह्मलोक की प्राप्ति के योग्य बनाया है। तीनों लोकों की उन्नति समानरूप से अपेक्षित है। यही भाव क्रम-विपर्यय से सूचित किया गया है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**विराडुष्णिग्बृहतीगर्भापञ्चपदाजगती** ॥

अस्तृत

सूर्यो मे चक्षुर्वातः प्राणो३ऽन्तरिक्षमात्मा पृथिवी शरीरम्।
अस्तृतो नामाहमयमस्मि स आत्मानं नि दधे द्यावापृथिवीभ्यां गोपीथाय॥ ७॥

१. यह ब्रह्मा विराट् शरीर से अपने शरीर को उपमित करता हुआ कहता है कि **सूर्यः मे चक्षुः**=सूर्य ही मेरी आँख है—सूर्य ही तो चक्षु का रूप धारण करके मेरी आँखों में रह रहा है। **वातः प्राणः**=वायु ही प्राणरूप से मुझमें निवास करता है। **आत्मा**=मेरा मन **अन्तरिक्षम्**=विराट् शरीर का अन्तरिक्ष है—'अन्तरा क्षि' सदा मध्यमार्ग में चलने की वृत्तिवाला है। मेरा **शरीरम्**=शरीर **पृथिवी**=पृथिवी के समान दृढ़ है। २. **अयम् अहम्**=यह मैं **अस्तृतः नाम अस्मि**=अहिंसित नामवाला हूँ। (स्तृ=to kill) विनाश से मैं परे हूँ। **सः**=वह मैं **आत्मानम्**=अपने को **द्यावापृथिवीभ्याम् निदधे**=द्युलोक व पृथिवीलोक के प्रति अर्पित करता हूँ—'द्यौष्पिता पृथिवी माता'—द्युलोक ही मेरा पिता है, पृथिवीलोक माता। ये दोनों मेरा रक्षण करते हैं। माता-पिता पुत्र का रक्षण करते ही हैं। इसप्रकार मैं **गोपीथाय**=इन्द्रियरूप सब गौओं के रक्षण के लिए समर्थ होता हूँ।

भावार्थ—सूर्यादि सब देवों का मेरे शरीर में निवास है। मैं अमर हूँ। द्युलोक व पृथिवी-लोक मेरे पिता-माता हैं। ये मेरा रक्षण करते हैं और मैं इन्द्रियों के रक्षण में समर्थ होता हूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**पुरस्कृतित्रिष्टुब्बृहतीगर्भाचतुष्पदाऽतिजगती** ॥

उत्

उदायुरुद्बलमुत्कृतमुत्कृत्यामुन्मनीषामुदिन्द्रियम्।
आयुष्कृदायुष्पत्नी स्वधावन्तौ गोपा मे स्तं गोपायतं मा।
आत्मसदौ मे स्तं मा मा हिंसिष्टम्॥ ८॥

१. **आयुः उत्**=मेरे आयुष्य को उत्कृष्ट करो। **बलम् उत्**=मेरे बल को उन्नत करो। **कृतम् उत्**=मेरे पुरुषार्थ को बढ़ाओ। **कृत्याम् उत्**=मेरे कर्त्तव्यकर्मों को उन्नत करो। **मनीषाम् उत्**=मेरी बुद्धि को उन्नत करो और **इन्द्रियम् उत**=मेरी इन्द्रियों की शक्ति को उत्कृष्ट करो। २. यह द्युलोकरूप पिता **आयुष्कृत्**=दीर्घजीवन करनेवाला हो। **आयुष्पत्नी**=यह पृथिवीरूप माता आयुष्य का रक्षण करनेवाली हो। **स्वधावन्तौ**=उत्तम अन्नों को प्राप्त करानेवाले ये द्यावापृथिवी **मे**=मेरे **गोपा**=रक्षक **स्तम्**=हों, **मा गोपायतम्**=मेरा रक्षण करें। ये **आत्मसदौ मे स्तम्**=मेरे शरीर में

पूर्णरूप से विराजमान हों। ये **मा मा हिंसिष्टम्**=मुझे हिंसित न करें। शरीर में द्यावापृथिवी की ठीक स्थिति पूर्ण स्वास्थ्य का हेतु बनती है।

भावार्थ—शरीर में द्यावापृथिवी की समुचित स्थिति 'आयु, बल, बुद्धि व इन्द्रियशक्ति' की वर्धक होती है।

अगले सूक्त में भी ऋषि यह 'ब्रह्मा' ही है।

१०. [दशमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—१-६ **यवमध्यात्रिपदागायत्रीः**, ७ **यवमध्याककुप्** ॥

अघायु से किया गया अघ उसे ही प्राप्त हो

अश्मवर्म मेऽसि यो मा प्राच्या दिशोऽघायुरभिदासात्। एतत्स ऋच्छात्॥ १॥
अश्मवर्म मेऽसि यो मा दक्षिणाया दिशोऽघायुरभिदासात्। एतत्स ऋच्छात्॥ २॥
अश्मवर्म मेऽसि यो मा प्रतीच्या दिशोऽघायुरभिदासात्। एतत्स ऋच्छात्॥ ३॥
अश्मवर्म मेऽसि यो मोदीच्या दिशोऽघायुरभिदासात्। एतत्स ऋच्छात्॥ ४॥
अश्मवर्म मेऽसि यो मा ध्रुवाया दिशोऽघायुरभिदासात्। एतत्स ऋच्छात्॥ ५॥
अश्मवर्म मेऽसि यो मोर्ध्वाया दिशोऽघायुरभिदासात्। एतत्स ऋच्छात्॥ ६॥
अश्मवर्म मेऽसि यो मा दिशामन्तर्देशेभ्योऽघायुरभिदासात्। एतत्स ऋच्छात्॥ ७॥

१. साधक कहता है कि हे ब्रह्म (प्रभो)! आप **मे**=मेरे **अश्मवर्म असि**=पत्थर के (सुदृढ़) कवच हैं—**ब्रह्मवर्म ममान्तरम्**। आपसे **रक्षित मा**=मुझे **यः**=जो **अघायुः**=अघ=(अशुभ, पाप) की कामनावाला **प्राच्याः दिशः**=पूर्व दिशा की ओर से, **दक्षिणायाः दिशः**=दक्षिण दिशा की ओर से, **प्रतीच्याः दिशः**=पश्चिम दिशा की ओर से **उदीच्याः दिशः**=उत्तर दिशा की ओर से, **ध्रुवायाः दिशः**=ध्रुवा दिशा की ओर से, **ऊर्ध्वायाः दिशः**=ऊर्ध्वा दिक् की ओर से तथा **दिशाम् अन्तर्देशेभ्यः**=दिशाओं के अन्तर्देशों से **अभिदासात्**=आक्रमण करके उपक्षीण करना चाहता है, **एतत्**=इस अघ को—इस उपक्षय को **सः ऋच्छात्**=वह स्वयं प्राप्त हो। २. हमारे ब्रह्म-कवच से टकराकर यह अघ उस अघायु को ही पुनः प्राप्त हो। यह अघायु हमें हानि न पहुँचा सके। उसके क्रोध को हम अक्रोध से जीतनेवाले बनें, उसके आक्राशों को कुशल शब्दों से पराजित करनेवाले हों।

भावार्थ—हम ब्रह्म को अपना कवच बनाकर चलें। उस समय जो कोई भी अघायु पुरुष हमारे प्रति पाप करेगा, वह पाप लौटकर उसे ही व्यथित करेगा।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**पुरोधृत्यनुष्टुब्गर्भापराष्टिश्चतुष्पदाऽतिजगती** ॥

'मनोयुजा सरस्वत्या' वाचम् (उपह्वयामहे)

बृहता मन उप ह्वये मातरिश्वना प्राणापानौ।
सूर्याच्चक्षुरन्तरिक्षाच्छ्रोत्रं पृथिव्याः शरीरम्।
सरस्वत्या वाचमुप ह्वयामहे मनोयुजा॥ ८॥

१. मैं **बृहता**=महत्तत्त्व से **मनः उपह्वये**=मन को पुकारता हूँ। महत्तत्त्व से प्राप्त होनेवाला मेरा यह मन भी महान् हो। **मातरिश्वना**=वायु से मैं **प्राणापानौ**=प्राणापान को माँगता हूँ। मेरे प्राणापान वायु की भाँति निरन्तर गतिशील हों। २. **सूर्यात् चक्षुः**=सूर्य से मैं चक्षु माँगता हूँ। सूर्याभिमुख होकर मेरी दृष्टिशक्ति ठीक बनी रहे। **अन्तरिक्षात् श्रोत्रम्**=अन्तरिक्ष

से मुझे श्रोत्रशक्ति प्राप्त हो। **पृथिव्याः शरीरम्**=पृथिवि से मुझे शरीर मिले। अन्तरिक्ष—'अन्तरिक्ष' मध्यमार्ग में चलने से श्रोत्रशक्ति ठीक बनी रहे। पृथिवी के सम्पर्क में मेरा शरीर सुदृढ़ रहे। ३. **मनोयुजा**=मन के सम्पर्कवाली **सरस्वत्या**=सरस्वती से हम **वाचम् उपह्वयामहे**=ज्ञान की वाणियों का आराधन करते हैं—मनोयोग से विद्या पढ़ेगें तो ज्ञान बढ़ेगा ही।

भावार्थ—हमारे शरीर के सब अङ्ग विराट् शरीर के अङ्गों से मेलवाले होकर उत्तम बने रहें। हम मनोयोग द्वारा सरस्वती का आराधन करते हुए ज्ञान को बढ़ाएँ।

विशेष—प्रत्येक अङ्ग में सुस्थिर ब्रह्मा 'अथर्वा' बनता है। आत्म-निरीक्षण करता हुआ यह एक-एक अङ्ग को उत्तम बनाता है। (अथ अर्वाङ्) यह आत्मनिरीक्षक 'अथर्वा' अगले सूक्त का ऋषि है।

११. [एकादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

त्वेषनृम्णः

कथं महे असुरायाब्रवीरिह कथं पित्रे हरये त्वेषनृम्णः।
पृश्निं वरुण दक्षिणां ददावान्पुनर्मघ त्वं मनसाचिकित्सीः ॥ १ ॥

१. **कथम्**=कैसे **महे**=पूजा की वृत्तिवाले **असुराय**=प्राणायाम द्वारा अपने में प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाले उपासक के लिए **इह**=यहाँ **अब्रवीः**=आप उपदेश करते हैं। **कथम्**=कैसे आप **पित्रे**=सबका पालन करनेवाले **हरये**=दुःखो का हरण करनेवाले पुरुष के लिए वेदज्ञान को उपदिष्ट करते हैं। आप सचमुच **त्वेषनृम्णः**=दीप्त तेजवाले हैं। २. हे **वरुण**=सब कष्टों का निवारण करनेवाले प्रभो! आप **पृश्निम्**=इस सम्पूर्ण प्राकृतिक धन व वेदज्ञान को **दक्षिणां ददावान्**=जीव के लिए दक्षिणारूप से देते हैं। हे **पुनर्मघ**=पुनः-पुनः ऐश्वर्य प्राप्त करानेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **मनसा अचिकित्सीः**=मन से—हृदयस्थरूप से हमें ज्ञान देते हैं (कित=to know, चिकिति)।

भावार्थ—हम पूजा की वृत्तिवाले, प्राणायाम द्वारा प्राण-साधना करनेवाले, रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त व दुःखों का हरण करनेवाले बनें। वे दीप्ततेज प्रभु हृदयस्थ होकर हमें ज्ञान देंगे। वे प्रभु उपासक को दक्षिणारूप में वेदज्ञान देते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

जातवेदाः

न कामेन पुनर्मघो भवामि सं चक्षे कं पृश्निमेतामुपाजे।
केन नु त्वमथर्वन्काव्येन केन जातेनासि जातवेदाः ॥ २ ॥

१. हे प्रभो! मैं यह **संचक्षे**=सम्यक् देखता हूँ कि **न कामेन**=न केवल कामना से मैं **पुनः मघः**=पुनः ऐश्वर्यवाला **भवामि**=होता हूँ। इसी से मैं **कम्**=सब सुखों को देनेवाले **एतां पृश्निम्**=इस वेदज्ञान को **उप अजे**=समीपता से प्राप्त होता हूँ। आपकी उपासना करता हुआ इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए यत्नशील होता हूँ। २. हे **अथर्वन्**=(अथ अर्वाङ्) हम सबके अन्दर विचरनेवाले प्रभो! (अ-थर्व) डाँवाडोल न होनेवाले एकरस प्रभो! **त्वम्**=आप **नु**=निश्चय से **केन केन**=किस-किस अथवा किस सुख को देनेवाले **जातेन काव्येन**=प्रादुर्भूत हुए-हुए वेदरूप काव्य से **जातवेदाः असि**='जातवेदाः' नामवाले होते हैं। वस्तुतः आपका यह वेदरूपी काव्य हमारे जीवनों के सुख के लिए सर्वमहान् साधन है।

भावार्थ—केवल चाहने से मनुष्य ऐश्वर्यशाली नहीं बनता। मनुष्य को चाहिए कि प्रभु का

उपासन करके वेदज्ञान प्राप्त करे। उसके अनुसार चलता हुआ जीवन में देखे कि प्रभु ने किस अद्भुत सुखदायी वेद-काव्य का प्रादुर्भाव किया है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

न दासः, न आर्यः (न अर्यः)

सत्यमहं गभीरः काव्येन सत्यं जातेनास्मि जातवेदाः।
न मे दासो नार्यो महित्वा व्रतं मीमाय यदहं धरिष्ये॥ ३॥

१. वेद का ज्ञान होने पर उपासक अनुभव करता है कि **अहम्**=मैं **सत्यम्**=सचमुच **काव्येन**=इस वेदरूप काव्य से **गभीरः**=कुछ गम्भीर वृत्ति का बना हूँ। **सत्यम्**=सचमुच **जातेन**=प्रादुर्भूत हुए-हुए इस वेदकाव्य से मैं **जातवेदाः**=प्रादुर्भूत ज्ञानवाला **अस्मि**=हुआ हूँ। २. अब गम्भीर बनकर व ज्ञान प्राप्त करके **यत् व्रतं अहं धरिष्ये**=जिस व्रत को मैं धारण करूँगा वह **महित्वा**=उस प्रभुपूजन के दृष्टिकोण से ही होगा। मैं वेदानुकूल कार्य करता हुआ प्रभु का उपासन करूँगा। **मे**=मेरे उस व्रत को **न दासः**=न कोई उपक्षय की वृत्तिवाला पुरुष और न **अर्यः**=न कोई धनी वैश्य **मीमाय**=हिंसित करनेवाला होगा, अर्थात् भयों व प्रलोभनों से मैं कर्त्तव्यमार्ग से विचलित न होऊँगा।

भावार्थ—वेदज्ञान मनुष्य को गम्भीर व समझदार बनाता है। इस ज्ञान से गम्भीर व समझदार बनकर जिस व्रत को यह धारण करता है, उस व्रत से इसे किसी प्रकार के भय व प्रलोभन विचलित नहीं कर पाते।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

कवितरः, धीरतरः

न त्वदन्यः कवितरो न मेधया धीरतरो वरुण स्वधावन्।
त्वं ता विश्वा भुवनानि वेत्थ स चिन्नु त्वज्जनो मायी बिभाय॥ ४॥

१. गतमन्त्र का उपासक प्रभु की उपासना करता हुआ कहता है कि हे प्रभो! **त्वत् अन्यः कवितरः न**=आपसे भिन्न कोई अधिक ज्ञानी नहीं है। हे **स्वधावन्**=आत्मधारण-शक्तिवाले **वरुण**=सब बुराइयों का निवारण करनेवाले प्रभो! **न मेधया धीरतरः**=न ही कोई और बुद्धि के दृष्टिकोण से आपसे अधिक धीर है। आप ही सर्वाधिक बुद्धि-सम्पन्न हैं। आप ही उपासकों को बुद्धि प्राप्त कराते हैं। २. **त्वम्**=आप तो **विश्वा भुवनानि**=सब लोकों को **वेत्थ**=जानते हैं—आप सर्वज्ञ हैं। **सः**=वह **मायी जनः**=मायावी—छल-छिद्र-पटु पुरुष **नु चित्**=निश्चय से **त्वत्**=आपसे **बिभाय**=भयभीत होता है।

भावार्थ—प्रभु कवितर है, धीरतर है। उस सर्वज्ञ प्रभु से मायावी अपनी माया को छिपा नहीं पाता और अन्ततः भयभीत होता है।

सूचना—माया का अर्थ प्रज्ञा भी है। प्रज्ञावान् पुरुष प्रभु को सर्वज्ञरूप में देखता है, अतः हृदय में उसको भय मानता है। यह भय ही उसे पाप से बचाता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'पर प्रकृति व अवर ब्रह्माण्ड' का ज्ञाता प्रभु

त्वं ह्यङ्ग वरुण स्वधावन्विश्वा वेत्थ जनिमा सुप्रणीते।
किं रजस एना परो अन्यदस्त्येना किं परेणावरममुर॥ ५॥

१. हे **अङ्ग**=गतिशील—सब गतियों के स्रोत! **वरुण**=सब बुराइयों का निवारण करनेवाले, **स्वधावन्**=आत्मधारण-शक्तिवाले, **सुप्रणीते**=उत्तम प्रणयन करनेवाले प्रभो! **त्वम् हि**=आप ही **विश्वा जनिमा**=सब उत्पन्न लोकों को **वेत्थ**=जानते हैं। २. आप यह भी जानते हैं कि **एना रजसः परः अन्यत् किम् अस्ति**=इस लोकसमूह (रजांसि लोका उच्यन्ते) के परे और क्या है? हे **अमुर**=(अम गतौ) गतिशील प्रभो! अथवा अविनाशी प्रभो! (अ-मुर) आप ही ठीक-ठीक यह भी जानते हो कि **एना परेण अवरम् किम्**=इस पर-(सूक्ष्म) प्रकृति से अवर—स्थूल—पीछे उत्पन्न हुआ-हुआ यह ब्रह्माण्ड क्या है?

भावार्थ—हे प्रभो! आप ही सर्वज्ञ हैं। इस ब्रह्माण्ड से पर-(सूक्ष्म) प्रकृति से अवर (स्थूल) इस ब्रह्माण्ड को आप ही ठीक-ठीक जानते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**पञ्चदाऽतिशक्वरी** ॥

प्रकृति से परे प्रभु

एकं रजस एना परो अन्यदस्त्येना पर एकेन दुर्णशं चिदर्वाक्।
तत्ते विद्वान्वरुण प्र ब्रवीम्यधोवचसः पणयो भवन्तु नीचैर्दासा
उप सर्पन्तु भूमिम्॥ ६॥

१. **एना रजसः परः एकम् अन्यत् अस्ति**=इस लोकसमूह से परे (सूक्ष्म) एक अन्य (विलक्षण) सूक्ष्म प्रकृतितत्त्व है। **एना एकेन परः**=इस एक प्रकृतितत्त्व से भी परे (सूक्ष्म) **दुर्णशम्**=कठिनता से अदृष्ट होने योग्य, अर्थात् जिसकी महिमा इस ब्रह्माण्ड के एक-एक कण में सर्वत्र दीखती है, वह **चित्**=सर्वज्ञ, चेतनस्वरूप प्रभु है, जोकि **अर्वाक्**=हमारे अन्दर ही स्थित है। २. हे **वरुण**=सब पापों के निवारक प्रभो! **ते**=आपके विषय में **तत् विद्वान्**=इस बात को जानता हुआ मैं **प्रब्रवीमि**=यह प्रार्थना करता हूँ कि **पणयः**=हमारे समाज में पणि लोग—केवल व्यवहारी लोग—रुपया कमाने में ही लगे हुए लोग **अधोवचसः भवन्तु**=निम्न वचनवाले हों—इनकी बातें प्रमुखता को धारण किये न हों, अर्थात् हमारा राष्ट्र बनियों के हाथों में न हो तथा **दासः**=उपक्षय करनेवाले लोग तो **नीचैः भूमिम् उपसर्पन्तु**=भूमि के नीचे बनी जेलों में गतिवाले हों। अथवा उन्हें इसप्रकार दण्ड दिया जाए कि उन्हें इधर-उधर जाते हुए लज्जा अनुभव हो।

भावार्थ—प्रकृति से भी पर उस सूक्ष्म प्रभु को हम अपने अन्दर देखने के लिए यत्नशील हों, उस प्रभु को जिसकी महिमा कण-कण में दिखाई देती है। उस प्रभु को देखते हुए हम वणिक्वृत्ति से ऊपर उठें, केवल धन कामने में न लगे रहें और विनाश की वृत्तिवाले तो कभी भी न हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

केवल धन नहीं, निर्धनता भी नहीं

त्वं ह्य१ङ्ग वरुण ब्रवीषि पुनर्मघेष्ववद्यानि भूरि।
मो षु पणीँरभ्ये३तावतो भून्मा त्वा वोचन्नराधसं जनासः॥ ७॥

१. हे **अङ्ग**=गतिशील **वरुण**=सब पापों का निवारण करनेवाले प्रभो! **त्वं हि ब्रवीषि**=आप ही हमें वेद में यह बतलाते हैं कि **पुनः मघेषु**=फिर-फिर धन ही कमाने में लगे हुए लोगों में **भूरि**=बहुत **अवद्यानि**=पाप आ जाते हैं। वे टेढ़े-मेढ़े, कुटिल साधनों से धन कमाने में प्रवृत्त हो जाते हैं। आप **एतावतः पणीन् अभि**=इतने बनियों के प्रति **मा उ सुभूत्**=मत ही हों, अर्थात् न्याय-अन्याय सब मार्गों से धन कमाना ही जिनका उद्देश्य हो गया है, उन बनियों को प्राप्त

न हों। **जनासः**=लोग **त्वा**=आपको **अराधसम्**=ऐश्वर्यहीन **मा वोचत्**=न कहें, अर्थात् आपका स्तोता कार्यसाधक धन भी न प्राप्त करे—ऐसी स्थिति न हो। हम आपका स्तवन करते हुए पुरुषार्थ करके न्याय-मार्ग से कार्यसाधक धन को प्राप्त करें ही।

भावार्थ—धन-ही-धन जब जीवन का उद्देश्य हो जाता है तब हम पाप की ओर झुक जाते हैं। इन पणियों को प्रभु प्राप्त नहीं होते, परन्तु स्तोता न्याय्य मार्ग से पुरुषार्थ करता हुआ कार्यसाधक धन प्राप्त करता ही है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु-महिमा का दर्शन व ऐश्वर्य-प्राप्ति

मा मा वोचन्नराधसं जनासः पुनस्ते पृश्निं जरितर्ददामि।
स्तोत्रं मे विश्वमा याहि शचीभिरन्तर्विश्वासु मानुषीषु दिक्षु॥ ८॥

१. प्रभु स्तोता को विश्वास दिलाते हुए कहते हैं कि **जनासः**=लोग **मा**=मुझे **अराधसम्**=ऐश्वर्यरहित **मा वाचत्**=न कहें। हे **जरितः**=स्तोता! मैं **पुनः**=पुनः **ते**=तेरे लिए **पृश्निम् ददामि**=इस प्राकृतिक धन तथा वेदज्ञान को देता हूँ। २. तू **विश्वासु मानुषीषु दिक्षु अन्तः**=मानवों की निवास-स्थानभूत सब दिशाओं में **शचीभिः**=प्रज्ञानों के द्वारा **मे**=मेरे **विश्वं स्तोत्रम्**=सर्वत्र प्रविष्ट स्तोत्र को **आयाहि**=प्राप्त हो। समझदार मनुष्य को सर्वत्र प्रभु की महिमा दीखती है। वह जहाँ भी जाता है, उस प्रभु की महिमा को देखता है। प्रभु-स्मरण के कारण अन्याय्य मार्गों से धन नहीं कमाने लगता।

भावार्थ—प्रभु स्तोता के लिए सब ज्ञानों व ऐश्वर्यों को प्राप्त कराते हैं। एक स्तोता सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सप्तपदः सखा

आ ते स्तोत्राण्युद्यतानि यन्त्वन्तर्विश्वासु मानुषीषु दिक्षु।
देहि नु मे यन्मे अदत्तो असि युज्यो मे सप्तपदः सखासि॥ ९॥

१. हे प्रभो! **विश्वासु मानुषीषु दिक्षु अन्तः**=मानवों की निवासभूत सब दिशाओं में **आ**=समन्तात् **ते स्तोत्राणि**=आपके स्तोत्र **उद्यतानि यन्तु**=उद्यत हुए-हुए गतिवाले हों। सब मनुष्य आपका स्तवन करनेवाले बनें। २. **यत् मे अदत्तः**=जो आवश्यक पदार्थ मुझे नहीं दिया गया **नु मे देहि**=निश्चय से वह मुझे दीजिए। **मे युज्यः असि**=आप सदा मेरे साथ रहनेवाले हैं, **सप्तपदः सखा असि**=आप तो मेरे वे सखा हैं, जिनके साथ मैं सात पग रखता हूँ। 'भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्—'स्वास्थ, ज्ञान, जितेन्द्रियता, हृदय की विशालता, शक्तियों का विकास, तप और सत्य'—ये वे सात पग हैं, जो मुझे आपका मित्र बनाते हैं। आपकी सहायता से ही मैं इन पगों को चल पाता हूँ।

भावार्थ—सर्वत्र प्रभु का स्तवन दृष्टिगोचर होता है। सब विचारशील लोग प्रभु का ही स्मरण करते हैं। ये प्रभु हमारे लिए सब आवश्यक पदार्थों को देते हैं। वे हमारे 'युज्य सप्तपद' सखा हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

युज्यः सखा

समा नौ बन्धुर्वरुण समा जा वेदाहं तद्यन्नावेषा समा जा।
ददामि तद्यत्ते अदत्तो अस्मि युज्यस्ते सप्तपदः सखास्मि॥ १०॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **वरुण**=अपने से सब दोषों को दूर करनेवाले पुरुष! **समा नौ बन्धुः**=हमारी बन्धुता समान है, **समा जा**=हमारा प्रादुर्भाव भी समान है—हमारा दर्शन इकट्ठा ही होता है। **अहं तत् वेद**=मैं इस बात को जानता हूँ **यत्**=कि **नौ**=हम दोनों का **एषा जा**=यह प्रादुर्भाव **समा**=समान है, अर्थात् आत्मदर्शन के साथ ही परमात्मदर्शन होता है। २. **ते**=तुझे **तत् ददामि**=वह देता हूँ **यत्**=जो **अदत्तः**=आवश्यक पदार्थ तुझे दिया नहीं गया। मैं **ते**=तेरा सदा **युज्यः अस्मि**=साथ रहनेवाला मित्र हूँ। **ते**=तेरा **सप्तपदः सखा अस्मि**=सात पगों से जानने योग्य मित्र हूँ। योग-मार्ग में सात मंजिले चल चुकने पर आठवीं मञ्जिल समाधि में जानने योग्य हूँ।

भावार्थ—प्रभु हमारे बन्धु हैं। आत्मा और परमात्मा का ज्ञान साथ-साथ ही होता है। प्रभु हमें सब आवश्यक पदार्थ देते हैं। वे हमारे 'युज्य सप्तपद' सखा हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**षट्पदाऽत्यष्टिः** ॥

वयोधाः सुमेधाः

देवो देवाय गृणते वयोधा विप्रो विप्राय स्तुवते सुमेधाः।
अजीजनो हि वरुण स्वधावन्नथर्वाणं पितरं देवबन्धुम्।
तस्मा उ राधः कृणुहि सुप्रशस्तं सखा नो असि परमं च बन्धुः॥ ११ ॥

१. **देवः**=वे प्रकाशमय, दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु **देवाय**=देववृत्तिवाले **गृणते**=स्तोता के लिए **वयोधाः**=उत्कृष्ट जीवन धारण करानेवाले हैं। **विप्रः**=विशेषरूप से हमारा पूरण करनेवाले वे प्रभु **स्तुवते विप्राय**=स्तुति करते हुए विप्र के लिए **सुमेधाः**=उत्तम मेधा देनेवाले हैं। प्रभु हमें उत्कृष्ट जीवन व उत्तम बुद्धि प्रदान करते हैं। २. हे **स्वधावन्**=आत्मधारण शक्तिवाले **वरुण**=सब पापों का विनाश करनेवाले प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **अथर्वाणम्**=डाँवाडोल न होनेवाले—स्थिर वृत्तिवाले **पितरम्**=सबका पालन करनेवाले **देवबन्धुम्**=देवों के बन्धु को **अजीजनः**=प्रादुर्भूत करते हैं। जो आपका स्तोता बनता है, उसे आप 'अथर्वा, पिता व देवबन्धु' बनाते हो। ३. **तस्मै**=उस 'अथर्वा, पिता व देवबन्धु' के लिए **उ**=निश्चय से **सुप्रशस्तम्**=अति प्रशस्त **राधः**=कार्यसाधक धन **कृणुहि**=दीजिए। हे प्रभो! आप ही **नः**=हमारे सखा **असि**=मित्र हैं **च**=और **परमं बन्धुः**=परम बन्धु हैं।

भावार्थ—हम देव बनें। प्रभु हमें उत्कृष्ट जीवन प्रदान करेंगे। प्रभु हमें सुमेधा बनाएँगे। प्रभु-स्तवन से हम 'अथर्वा, पिता व देवबन्धु' बनेंगे—विषयों में भटकेंगे नहीं, रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त होंगे और देवों के बन्धु होंगे। प्रभु ही हमें उत्तम मार्गों से अर्जित आवश्यक धन प्राप्त कराते हैं। प्रभु ही वस्तुतः हमारे सखा और परम बन्धु हैं।

विशेष—यह अथर्वा-विषयों में न भटकने से, एक-एक अङ्ग में रस के सञ्चारवाला होता है, अतः 'अङ्गिराः' कहलाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

१२. [द्वादशं सूक्तम्]

ऋषिः=**अङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु का दूत

समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे देवो देवान्यजसि जातवेदः।
आ च वह मित्रमहश्चिकित्वान्त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः॥ १ ॥

१. **अद्य**=आज **मनुषः**=विचारपूर्वक कर्म करनेवाला व्यक्ति मनुष्य के **दुरोणे**=इस शरीररूप

गृह में **समिद्धः**=ज्ञान की अत्यन्त दीप्तिवाला बना है। जहाँ इसने शरीर को सब बुराइयों से अपनीत किया है (दुर् ओणृ) वहाँ यह ज्ञान से दीप्त बना है। **जातवेदः**=उत्पन्न प्रज्ञानवाला अर्थात् ज्ञानी बना हुआ, **देवः**=दिव्य वृत्तिवाला होता हुआ **देवान् यजसि**=देवों का यजन करता है—मान्य व्यक्तियों को आदर देता है, विद्वानों का संग करता है, उनके लिए सदा दानशील होता है। २. **मित्रमहः**=हे स्नेहयुक्त तेजस्वितावाले! तू **चिकित्वान्**=चेतनावाला होकर **आवह**=इस ज्ञान को औरों को प्राप्त करानेवाला बन। **त्वं दूतः**=तू प्रभु का सन्देशवाहक है, **कविः असि**=तू क्रान्तदर्शी है—ठीक ही ज्ञान देनेवाला है। **प्रचेताः**=तू प्रकृष्ट संज्ञानवाला है—लोगों को एक-दूसरे के समीप लानेवाला है। तू लोगों को वह ज्ञान देता है जो उन्हें परस्पर मिलानेवाला होता है। इसप्रकार लोकहित करता हुआ तू अपनी सच्ची ब्रह्मनिष्ठता को प्रकट करता है।

भावार्थ—ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति 'शरीर-गृह' को पवित्र बनाकर ज्ञान-संचय करता है, देवों के सङ्ग में रहता है, स्नेहशील व तेजस्वी बनकर लोगों को ज्ञान प्राप्त कराता है। यह बड़ा समझदार होकर प्रभु का दूत बनता है।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

तनूनपात्

तनूनपात्पथ ऋतस्य यानान्मध्वा समञ्जन्त्स्वदया सुजिह्व।
मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन्देवत्रा च कृणुह्यध्वरं नः ॥ २ ॥

१. हे ब्रह्मनिष्ठ! तू **तनूनपात्**=अपने शरीर को गिरने नहीं देता—शरीर के स्वास्थ्य को कभी नष्ट नहीं करता। **ऋतस्य पथः यानान्**=ऋत के मार्ग पर गमनों को **मध्वा**=माधुर्य से **समञ्जन्**=अलंकृत करनेवाला होता है। तू सदा ऋत के मार्ग पर चलता है और तेरे आने-जाने के सब कर्म माधुर्य से युक्त होते हैं। तू अपनी गतियों से किसी को पीड़ित नहीं करता। हे **सुजिह्व**=उत्तम जिह्वावाले! **स्वदया**=तू सभी के जीवन को स्वादयुक्त बनानेवाला होता है। २. तू **मन्मानि**=अपने ज्ञानों को **धीभिः**=बुद्धियों के द्वारा अथवा बुद्धिपूर्वक कर्मों के द्वारा **ऋन्धन्**=बढ़ानेवाला होता है, **उत**=और **यज्ञम्**=यज्ञ को भी बढ़ानेवाला होता है **च**=और **नः**=हमसे **उपदिष्ट अध्वरम्**=यज्ञ को **देवत्रा**=देवों के विषय में **कृणुहि**=कर। ब्रह्मयज्ञ आदि पाँचों यज्ञों को करनेवाला बन।

भावार्थ—हम शरीर के स्वास्थ्य को स्थिर रक्खें, ऋत के मार्ग का मधुरता से आक्रमण करें, मधुर शब्दों से सबके मनों को आनन्दित करें, बुद्धिपूर्वक कर्म करते हुए ज्ञान को बढाएँ। यज्ञ को सिद्ध करें, देवों के विषय में यज्ञों को करनेवाले हों—उनकी हिंसा से दूर रहें।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ईड्यः, वन्द्यः

आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्चा याह्यग्ने वसुभिः सजोषाः।
त्वं देवानामसि यह्व होता स एनान्यक्षीषितो यजीयान् ॥ ३ ॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **आयाहि**=आइए, जो आप **आजुह्वानः**=समन्तात् सब आवश्यक पदार्थों को दे रहे हैं, **ईड्यः**=स्तुति के योग्य हैं, **वन्द्यः**=अभिवन्दनीय हैं, **वसुभिः सजोषाः**=आपने निवास को उत्तम बनानेवालों के साथ समानरूप से प्रीतिवाले हैं। २. हे प्रभो! **त्वम्**=आप देवानां **यह्वः**=देवों में महान् **असि**=हैं, सब देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले हैं, **होता**=आप ही सब-कुछ देनेवाले हैं। **सः**=वे आप **इषितः**=हमारे द्वारा सत्कृत हुए-हुए **एनान्**=इन्हें—हम सबको **यक्षि**=अपने साथ संगत कीजिए। **यजीयान्**=आप अतिशयेन यष्टा हैं—अत्यन्त पूज्य हैं और

हमारे लिए सब आवश्यक पदार्थों को देनेवाले हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! आप स्तुति के योग्य, वन्दनीय हैं, आप ही सर्वमहान् देव हैं, सब आवश्यक पदार्थों को देनेवाले हैं। आप हमें प्राप्त होओ।

ऋषिः=**अङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्राचीनं बर्हिः

प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तोरस्या वृज्यते अग्रे अह्नाम्।
व्यु प्रथते वितरं वरीयो देवेभ्यो अदितये स्योनम्॥ ४॥

१. **अस्याः पृथिव्याः**=इस शरीर के **वस्तोः**=उत्तम निवास के लिए **प्राचीनं बर्हिः**=(प्र अञ्च) अग्रगति की भावनावाला वासनाशून्य हृदय **अह्नाम् अग्रे**=दिनों के अग्रभाग में ही, अर्थात् प्रातः ही **प्रदिशा**=वेदोपदिष्ट मार्ग से **वृज्यते**=दोष-वर्जित किया जाता है। २. दोषशून्य किये जाने पर यह हृदय **वितरम्**=खूब **वरीयः**=विशाल **उ**=और निश्चय से **विप्रथते**=विशेषरूप से विस्तीर्ण बनता है। यह विस्तीर्ण हृदय **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों के लिए **स्योनम्**=सुखकर होता है, अर्थात् इस विस्तीर्ण हृदय में दिव्य गुणों का विकास सरलता से होता है और यह हृदय **अदितये**=अखण्डन के लिए—स्वास्थ्य के लिए होता है। पवित्र हृदय का स्वास्थ्य पर उत्तम प्रभाव पड़ता ही है।

भावार्थ—प्रभु का प्रिय बनने के लिए हम हृदय को विशाल बनाएँ और शरीर को भी पूर्ण स्वस्थ रखने का प्रयत्न करें। 'वसु' बनकर ही हम प्रभु के प्रिय बन पाएँगें।

ऋषिः=**अङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

दिव्य इन्द्रिय द्वार

व्यचस्वतीरुर्विया वि श्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः।
देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः॥ ५॥

१. वसुओं की—उत्तम निवासवालों की इन्द्रियाँ **व्यचस्वतीः**=उत्तम गमनों व क्रियाओंवाली होकर **उर्विया**=विशाल हों और **विश्रयन्ताम्**=विशिष्ट कर्मों का सेवन करनेवाली हों। **न**=जिस प्रकार **जनयः**=पत्नियाँ **पतिभ्यः**=पतियों के लिए **शुम्भमानाः**=अपने को शोभित करनेवाली होती हैं, इसीप्रकार ये इन्द्रियाँ आत्मा के लिए अपने को शोभित करनेवीली हों। २. **देवीः द्वारः**=सब व्यवहारों को सिद्ध करनेवाली ये इन्द्रियाँ **बृहतीः**=वृद्धि का करण बनें, **विश्वमिन्वाः**=सम्पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करानेवाली हों। हे इन्द्रियो! तुम **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों की व्याप्ति के लिए **सुप्रायणाः**=उत्तम, प्रकृष्ट गमनवाली **भवत**=होओ।

भावार्थ—हमारे इन्द्रिय-द्वार प्रकृष्ट गमनवाले—विशाल हों। ये उत्तम शक्तियों, उत्तम ज्ञान व कर्मों से अपने को सुभूषित करें। इनके द्वारा हममें दिव्य गुणों का विकास होता चले।

ऋषिः=**अङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

स्मयमान दिन

आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्ता सदतां नि योनौ।
दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे अधि श्रियं शुक्रपिशं दधाने॥ ६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार इन्द्रियों के उत्तम होने पर हमारे **उषासानक्ता**=दिन व रात **आ सुष्वयन्ती**=सब प्रकार से स्मयमान होते हुए (स्मयतेः निरुपसर्गात् मकारस्य वकारः)—खिलते हुए, अर्थात् शरीर, मन व बुद्धि के दृष्टिकोण से विकास को प्राप्त होते हुए, **यजते**=यज्ञशील होते

हुए **उपाके**=(उप अक् गतौ) प्रभु के समीप उपस्थित होनेवाले **योनौ निसदताम्**=ब्रह्माण्ड के उत्पत्ति-स्थान प्रभु में नम्रता से स्थित हों। हम दिन के प्रारम्भ और रात्रि के प्रारम्भ में प्रभु की उपासना करनेवाले बनें। यह उपासना ही हमारे सर्वतोमुखी विकास का कारण बनेगी। २. ये दिन-रात हमें **दिव्ये**=प्रकाश में स्थापित करनेवाले हों। ध्यान के बाद हम स्वाध्याय अवश्य करें। **योषणे**=स्वाध्याय के द्वारा ये दिन-रात हमें बुराइयों के अमिश्रण तथा अच्छाइयों से मिश्रित करनेवाले हों। इसप्रकार ये **बृहती**=हमारा वर्धन करनेवाले हों और **सुरुक्मे**=उत्तम सुवर्ण व कान्ति को प्राप्त करानेवाले हों। ये दिन-रात हममें **शुक्रपिशम्**=(पिश to shape) वीर्य के द्वारा जिसका निर्माण होता है, उस **श्रियम्**=शोभा को **अधिदधाने**=आधिक्येन धारण करनेवाले हों। वीर्य-रक्षा से ज्ञान-अग्नि की दीप्ति के द्वारा हमारा जीवन शक्ति-सम्पन्न बनता है।

भावार्थ—हमारे दिन-रात स्मयमान हों। ये दिन-रात यज्ञों में व्यापृत तथा प्रभु की उपासना में लगे हुए हमारी बुराइयों को दूर करते हुए तथा अच्छाइयों को प्राप्त कराते हुए हमें श्रीसम्पन्न करें।

ऋषिः=**अङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

दैव्या होतारा (प्राणापान)

दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिमाना यज्ञं मनुषो यजध्यै।
प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता॥ ७॥

१. हमारे प्राणापान **दैव्या होतारा**=उस देव को प्राप्त करानेवाले होते हैं। **प्रथमा**=ये इस शरीर में रहनेवाले देवों में प्रथम हैं। **सुवाचा**=उत्तम वाणीवाले हैं। प्राणापान की क्षीणता से वाणी भी क्षीण होने लगती है। **मनुषः**=इस मननशील मनुष्य के **यजध्यै**=प्रभु से मेल करने के लिए **यज्ञं मिमाना**=ये प्राणापान यज्ञों का निर्माण करते हैं। २. साधक के ये प्राणापान **विदथेषु**=ज्ञानयज्ञों में **प्रचोदयन्ता**=प्रकृष्ट प्रेरणा प्राप्त कराते हैं, **कारू**=ये प्राणापान प्रत्येक कार्य को कलापूर्ण ढंग से करानेवाले होते हैं। प्राणसाधक के कार्यों में अनाड़ीपन नहीं टपकता। ये प्राणापान **प्रदिशा**=वेदोपदिष्ट मार्ग से **प्राचीनं ज्योतिः**=(प्रअञ्च्) उन्नति की साधनभूत ज्योति को अथवा सनातन ज्ञान को **दिशन्ता**=उपदिष्ट करते हैं।

भावार्थ—प्राणापान की साधना हमें प्रभु से मिलाती है, ज्ञान को बढ़ाती है, हमारे कार्यों में सौन्दर्य लाती है और सनातन ज्योति का आभास कराती है।

ऋषिः=**अङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

भारती, इडा, सरस्वती

आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विडा मनुष्वदिह चेतयन्ती।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं स्योनं सरस्वतीः स्वपसः सदन्ताम्॥ ८॥

१. **नः यज्ञम्**=हमारे जीवन-यज्ञ में **भारती**=(भरतस्य सूर्यस्य इयम्) सूर्य के समान देदीप्यमान ज्ञानज्योति **तूयम्**=शीघ्र **आ एतु**=सर्वथा प्राप्त हो। **मनुष्यवत्**=एक ज्ञानी पुरुष की भाँति **इह**=इस जीवन-यज्ञ में **चेतयन्ती**=चेतना को प्राप्त कराती हुई **इडा**=यह श्रद्धा नामक देवता भी हमारे जीवन यज्ञ में शीघ्रता से प्राप्त हो। इस श्रद्धा से हमारा जीवन सत्य बातों का ही धारण करनेवाला बने। २. **भारती** व **इडा** के साथ **सरस्वतीः**=यह वाग्देवता भी आये, इसप्रकार **तिस्रः देवीः**=तीनों देवियाँ **स्वपसः**=उत्तम कर्मशील पुरुष के **इदं स्योनम्**=इस सुखमय **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय में **आसदन्ताम्**=आसीन हों। हम इन तीनों देवियों को अपनाने का यत्न करें।

भावार्थ—हमारे जीवनों में 'भारती, इडा व सरस्वती' तीनों देवियों का समुचित स्थान हो।

ऋषिः=**अङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

त्वष्टा का सम्पर्क व सौन्दर्य-प्राप्ति

य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद्भुवनानि विश्वा।
तमद्य होतरिषितो यजीयान्देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान्॥ ९॥

१. **यः**=जो त्वष्टा **इमे**=इस **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को और सब भूतों को **जनित्री**=जन्म देनेवाला है, इन्हें **रूपैः अपिंशत्**=रूपों से अलंकृत करता है तथा **विश्वा भुवनानि**=सब भुवनों को रूपों से सजाता है, अर्थात् जिस त्वष्टा के कारण उस-उस पिण्ड व लोक में अमुक-अमुक सौन्दर्य है, **तम्**=उस **देवम् त्वष्टारम्**=दिव्य गुणोंवाले—सब देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले त्वष्टादेव को, हे **होतः**=त्यागपूर्वक अदन करनेवाले! **इषितः**=प्रभु से प्रेरणा को प्राप्त हुआ-हुआ **यज्ञीयान्**=अतिशयेन यज्ञशील **विद्वान्**=ज्ञानी तू **इह**=इस मानव-जीवन में **यक्षि**=संगत कर—प्रभु से अपना सम्बन्ध बना। २. वे प्रभु जैसे सूर्य आदि देवों को रूपों से अलंकृत करते हैं, तुझे भी रूपों से अलंकृत करेंगे। तू 'इषित' बन—प्रभु-प्रेरणा को सुननेवाला बन। तू यजीयान् हो—अतिशयेन यज्ञशील हो। तू विद्वान् व ज्ञानी बन। इसप्रकार का बनने का यत्न करने पर ही तू प्रभु-सम्पर्क को प्राप्त करेगा। उस समय तेरा जीवन भी द्युलोक व पृथिवीलोक की भाँति रूपों से अलंकृत होगा।

भावार्थ—त्वष्टा ब्रह्माण्ड का निर्माता होकर उसे सौन्दर्य प्रदान करता है। हम उसके सम्पर्क में आएँगे तो वह हमें भी सौन्दर्य प्रदान करेगा।

ऋषिः=**अङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

वनस्पतिः, शमिता, देवः, अग्निः,

उपावसृज त्मन्या समञ्जन्देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि।
वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन॥ १०॥

१. हे जमदग्ने! तू **त्मन्या**=स्वयं **देवानां पाथे**=देवताओं के मार्ग में, अर्थात् देवयान पर चलते हुए **समञ्जन्**=अपने जीवन को सद्गुणों से अलंकृत करने के हेतु से **ऋतुथा**=ऋतु के अनुसार **हवींषि**=हव्य पदार्थों को **उपावसृज**=उपासना के साथ—प्रभु स्मरणपूर्वक अपने में डाल, अर्थात् प्रभु-स्मरणपूर्वक हव्य पदार्थों का भोजन कर। तू देवयानमार्ग से चलनेवाला बन और सात्त्विक भोजन का सेवन कर, तभी तुझमें दिव्य गुणों का विकास होगा। २. **वनस्पतिः**=तू ज्ञान की किरणों का पति बन, **शमिता**=शान्त स्वभाववाला हो। **देवः**=दिव्य गुणों का अपने में विस्तार कर, **अग्निः**=निरन्तर आगे बढ़नेवाला हो। इसप्रकार 'वनस्पति, शमिता, देव व अग्नि' **हव्यम्**=हव्य पदार्थों को, पवित्र भोजनों को **मधुना घृतने**=शहद व घृत के साथ **स्वदन्तु**=खानेवाले हों। वस्तुतः ये 'हव्य, मधु व घृत' रूप मधुर पदार्थ ही हमें 'वनस्पति, सविता, देव व अग्नि' बनाते हैं।

भावार्थ—हम देवयानमार्ग से चलते हुए जीवन को सद्गुणों से अलंकृत करने के लिए सात्त्विक भोजन का ही सेवन करें—'हव्य, मधु व घृत' का ही प्रयोग करें।

ऋषिः=**अङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यज्ञशील गृहस्थ

सद्यो जातो व्य ∫ मिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत्पुरोगाः।
अस्य होतुः प्रशिष्यृतस्य वाचि स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः॥ ११॥

१. **जातः**=आचार्य-गर्भ से उत्पन्न हुआ-हुआ—आचार्यकुल से लौटा हुआ **सद्यः**=शीघ्र ही **यज्ञं व्यमिमीत**=यज्ञों को करनेवाला बनता है। एक सद्गृहस्थ को पाँचों महायज्ञ करने ही चाहिएँ, तभी यह **अग्निः**=आगे बढ़नेवाला होता है, **देवानां पुरोगाः अभवत्**=आगे बढ़ते-बढ़ते यह देवों का भी अग्रगामी बनता है—देवों में भी इसका स्थान प्रथम होता है। २. **अस्य होतुः**=इस सृष्टियज्ञ के होता परमात्मा के **प्रशिषि**=प्रकृष्ट निर्देश में **ऋतस्य**=सत्य वेदवाणी के, अर्थात् प्रभु के वेद में प्रतिपादित मार्ग के अनुसार **स्वाहाकृतम्**=अग्नि में 'स्वाहा' शब्दोच्चारणपूर्वक डाली हुई **हविः**=हवि को—हव्य पदार्थ को **देवाः**=माता, पिता आचार्य व अतिथि आदि देव **अदन्तु**=खाएँ, अर्थात् मनुष्य वेदोपदिष्ट मार्ग से अग्निहोत्र करके माता, पिता, आचार्य व अतिथि आदि को श्रद्धापूर्वक खिलाये। इन्हें खिलाकर यज्ञशेष का खाना ही हमारी अमरता का साधन है।

भावार्थ—आचार्यकुल से समावृत्त होकर हम गृहस्थ बनें और यज्ञशील हों। वेद के आदेश के अनुसार अग्निहोत्र करें। माता-पिता आदि को खिलाकर उनके पश्चात् भोजन करें, अतिथियों से पूर्व न खाने लग जाएँ। यज्ञशेष का सेवन करनेवाले ही देव व अमर बनते हैं।

विशेष—अगले सूक्त में विष-निवारण का प्रकरण है। जीवन के लिए विष की बाधा एक प्रबल विघ्न है। इसका दूर करना आवश्यक ही है, सर्पों को समाप्त करनेवाला 'गरुत्मान्=गरुड़' अगले सूक्त का ऋषि है। गरुत्मान् सर्पों को समाप्त करता है। विष-चिकित्सक को भी 'गरुत्मान्' कह दिया गया है—

१३. [त्रयोदशं सूक्तम्]

ऋषिः=**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषनाशनम्**॥ छन्दः—**जगती**॥

विष-निवारण

दुदिर्हि मह्यं वरुणो दिवः कुविर्वचोभिरुग्रैर्नि रिणामि ते विषम्।
खातमखातमुत सक्तमग्रभमिरेव धन्वन्नि जजास ते विषम्॥ १॥

१. **दिवः कविः**=ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करनेवाले, **वरुणः**=सब कष्टों के निवारक प्रभु ने **हि**=निश्चय से **मह्यम्**=मुझे **ददिः**=यह ज्ञान दिया है, **उग्रैः वचोभिः**=इन तेजस्वी वचनों से **ते विषम्**=तेरे विष को **निरिणामि**=दूर किये देता हूँ। सर्पविष से मूर्च्छा आने लगती है। उग्र वचनों से जहाँ सर्पदष्ट व्यक्ति को उत्साहित करना होता है, वहाँ उसे मूर्च्छित न होने देने के लिए भी ये वचन उपयोगी होते हैं। २. **खातम्**=घाव अधिक खुदा हुआ हो, **अखताम्**=न खुदा हुआ हो **उत**=अथवा **सक्तम्**=विष केवल ऊपर ही चिपका हुआ हो, उस सब विष को **अग्रभम्**=मैं लिये लेता हूँ—बाहर कर देता हूँ। **धन्वन् इरा इव**=रेतीले स्थानों में जैसे जलधारा नष्ट हो जाती है, उसी प्रकार **ते विषं निजजास**=तेरा विष भी निःशेष—नष्ट होता है।

भावार्थ—प्रभु ने वेद में विष-निवारण के उपायों का प्रतिपादन किया है। एक विष-चिकित्सक तेजस्वी वचनों से सर्पदष्ट पुरुष को मूर्च्छित न होने देता हुआ उसके विष को दूर करने का प्रयत्न करता है।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषनाशनम्**॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः**॥

विष की रुधिरशोषकता

यत्ते अपोदकं विषं तत्त एतास्वग्रभम्।
गृह्णामि ते मध्यममुत्तमं रसमुतावमं भियसा नेशदादु ते॥ २॥

१. हे सर्प! **यत्** ते **अपोदकम्**=(जल से रहित) रुधिर को सुखा देनेवाला

विषम्=विष है, **ते**=तेरे **तत्**=उस विष को **एतासु अग्रभम्**=इन नाड़ियों में पकड़ लेता हूँ। इसे इसप्रकार बाँध-सा देता हूँ कि यह सारे शरीर में फैल न जाए। २. मैं **ते**=तेरे **उत्तमं मध्यमम् उत अवमं रसम्**=प्रबल, मध्यम व निचली कोटि के, अर्थात् सामान्य विष को भी **गृह्णामि**=वश में करने का प्रयत्न करता हूँ। **आत् उ**=अब निश्चय से **ते**=तेरे **भियसा**=भय से भी **नेशत्**=मनुष्य नष्ट हो जाता है, अतः मैं तेरे नाममात्र अंश को भी दूर करने का प्रयत्न करता हूँ।

भावार्थ—सर्पविष रुधिर का शोषण कर देता है। इसे नाड़ियों में जहाँ-का तहाँ रोकने का प्रयत्न किया जाए। यह सारे शरीर में फैल न जाए। अब इसे शरीर से बाहर निकालने का यत्न किया जाए। इसके थोड़े-से अंश के भी शरीर में रह जाने से विनाश का भय होता है।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषनाशनम्**॥ छन्दः—**जगती**॥

विष-चिकित्सा में उच्च शब्द का स्थान

वृषा मे रवो नभसा न तन्यतुरुग्रेण ते वचसा बाध आदु ते।
अहं तमस्य नृभिरग्रभं रसं तमसइव ज्योतिरुदेतु सूर्यः॥ ३॥

१. **मे रवः**=मेरा शब्द **नभसा तन्यतुः न**=मेघ से उत्पन्न होनेवाली गर्जना के समान **वृषा**=शक्तिशाली है। मैं इस **उग्रेण वचसा**=शक्तिशाली शब्द से **ते**=तेरे इस विष को **बाधे**=बाधित करता हूँ, **आत् उ**=और अब निश्चय से **ते**=तेरा भी बाधन करता हूँ। २. **अहम्**=मैं **नृभिः**=मनुष्यों के साथ **अस्य**=इस सर्प के **तं रसम्**=उस विषरस को **अग्रभम्**=वश में कर लेता हूँ। **तमसः ज्योतिः इव**=अन्धकार के विनाश से जैसे ज्योति का उदय होता है, उसी प्रकार इस सर्पदष्ट पुरुष के जीवन में भी विषान्धकार के विनाश के साथ **सूर्यः उदेतु**=जीवन के सूर्य का उदय हो।

भावार्थ—सर्पविष चिकित्सा में ऊँचे शब्द का भी महत्त्व है। यह सर्पदष्ट को मूर्च्छा में चले जाने से बचाता है। चिकित्सक अन्य मनुष्यों के साथ सर्पविष के भय को दूर करने का प्रयत्न करता है तथा सर्पदष्ट मनुष्य के जीवन से मूर्च्छान्धकार को दूर करके जीवन के सूर्य को उदित करता है।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सर्पविष से सर्प को ही समाप्त करना

चक्षुषा ते चक्षुर्हन्मि विषेण हन्मि ते विषम्।
अहे म्रियस्व मा जीवीः प्रत्यगभ्ये॑तु त्वा विषम्॥ ४॥

१. हे सर्प! **चक्षुषा**=मैं अपनी दृष्टिशक्ति से **ते चक्षुः हन्मि**=तेरी आँख की शक्ति को नष्ट करता हूँ तथा **विषेण**=विष से **ते विषं हन्मि**=तेरे विष को समाप्त करता हूँ। २. हे **अहे**=हननशील सर्प! तू **म्रियस्व**=मृत्यु को प्राप्त हो, **मा जीवीः**=जी मत, **विषम्**=विष **त्वा**=तुझे **प्रत्यग् अभ्येतु**=लौटकर पुनः प्राप्त हो।

भावार्थ—साँप की आँखों में आँख गड़ाकर उसे देखा जाए तो वह डसता नहीं। सर्प के डसने पर सर्पदष्ट पुरुष उसे डसे तो वह विष लौटकर साँप को ही मारनेवाला होता है।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषनाशनम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

स्वच्छता द्वारा सर्पादि को दूर रखना

कैरात पृश्न उपतृण्य बभ्रु आ मे शृणुतासिता अलीकाः।
मा मे सख्युः स्तामानमपि ष्ठाताश्रावयन्तो नि विषे रमध्वम्॥ ५॥

१. हे **कैरात**=जंगल में रहनेवाले सर्प! **पृश्ने**=चितकबरे साँप! **उपतृण्य**=घास में रहनेवाले साँप! **बभ्रो**=भूरे रंग के साँप! **असिताः**=काले फनियर साँपों! **अलीकाः**=मलिन स्थानों पर रहनेवाले सर्पो! **मे आशृणुत**=मेरी इस बात को सुनो। २. **मे सख्युः**=मेरे मित्र के **स्तामनम् अपि मा स्थात**=आहते में भी मत ठहरो। **आश्रावयन्तः**=चारों ओर-दूर-दूर अपनी ध्वनि को सुनाते हुए **विषे निरमध्वम्**=अपने विष में ही रमण करनेवाले बनो।

भावार्थ—हम घर को तथा चारों ओर के प्रदेशों को इसप्रकार स्वच्छ रक्खें कि वहाँ सर्प आदि का भय न हो। ये सर्प हमारे घरों से दूर ही रहें।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषनाशनम्**॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः**॥

समुचित प्रयोग द्वारा विष-बाधा को दूर करना

असितस्य तैमातस्य बभ्रोरपोदकस्य च।
सात्रासाहस्याहं मन्योरव ज्यामिव धन्वनो वि मुञ्चामि रथाँइव॥ ६॥

१. **असितस्य**=काले फनियार साँप के **तैमातस्य**=गीले स्थान पर रहनेवाले (तिम आर्द्रीभावे) साँप के **बभ्रोः**=भूरे रंगवाले **च**=और **अपोदकस्य**=जल से दूर रहनेवाले साँप के विष को **अहम्**=मै इसप्रकार **विमुञ्चामि**=छुड़ाता हूँ **इव**=जैसेकि **सात्रासाहस्य**=सबको पराजित करनेवाले **मन्योः**=क्रोधी राजा के **रथान्**=रथों को समझदार मन्त्री घोड़ों से मुक्त करता है तथा **इव**=जैसे वह इस क्रोधी राजा के **धन्वनः**=धनुष से **ज्याम्**=डोरी को **अव**=दूर करता है। २. यहाँ प्रसङ्गवश यह संकेत स्पष्ट है कि कभी-कभी एक शक्तिशाली क्रोधी राजा जोश में आक्रमण की तैयारी करता है, समझदार मन्त्री को उसे शान्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। इसीप्रकार वैद्य सर्प-विष की बाधा को समुचित प्रयोगों से दूर करने का प्रयत्न करे।

भावार्थ—एक वैद्य तैमात, बभ्रु व अपोदक सर्पों की विष-बाधा को समुचित प्रयोगों द्वारा दूर करने के लिए यत्नशील हो।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आलिगी व विलिगी की बन्धनशक्ति

आलिगी च विलिगी च पिता च माता च।
विद्म वः सर्वतो बन्ध्वरसाः किं करिष्यथ॥ ७॥

१. **आलिगी**=चारों ओर घूमनेवाली **च**=और **विलिगी च**=टेढ़ी चालवाली सर्पिणी **पिता च माता च**=चाहे वह नर है, चाहे मादा हम **वः**=तुम्हारे **बन्धुः**=बन्धन को **सर्वतः**=सब प्रकार से **विद्म**=जानते हैं। किस प्रकार तुम लिपट जाती हो, वह हम समझते हैं। २. अतः **अरसाः**=हमारे लिए निःसार होती हुई तुम **किं करिष्यथ**=क्या करोगी? तू हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकती।

भावार्थ—हम सर्पों की बन्धन-शक्ति को समझें और अपने लिए उन्हें निःसार करनेवाले हों। उनके बन्धन को हम सरलता से पृथक् कर सकें।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उरुगूला की दुहिता

उरुगूलाया दुहिता जाता दास्यसिक्न्या। प्रतङ्कं दद्रुषीणां सर्वासामरसं विषम्॥ ८॥

१. **उरुगूलायाः**=बहुत ही हिंसा करनेवाली (गूरी हिंसागत्योः), **असिक्न्या**=कृष्णसर्पिणी की **दुहिता**=पुत्री यह सर्पिणी **दासी जाता**=बहुत ही उपक्षय करनेवाली हो गई। २. इन **सर्वासाम्**=सब **दद्रुषीणाम्**=दाद पैदा करनेवाली सर्पिणियों के **प्रतङ्कम् विषम्**=कष्टप्रद विष

अरसम्=नीरस हो जाए।

भावार्थ—कृष्ण सर्पिणी की सन्तान हमें डसकर हमारी सारी त्वचा को दादों से भरा हुआ कर देनेवाली है। यह हमारे उपक्षय का कारण न बने।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषनाशनम्**॥ छन्दः—**भुरिग्जगती**॥

कर्णा श्वावित्

कर्णा श्वावित्तदब्रवीद्गिरेरवचरन्तिका।
याः काश्चेमाः खनित्रिमास्तासामरसतमं विषम्॥ ९॥

१. **कर्णा श्वावित्**=बड़े-बड़े कानोंवाली साही **गिरेः अवचरन्तिका**=पर्वत से नीचे उतरती हुई **तत् अब्रवीत्**=मानो यह कहती है कि **याः काः च इमाः खनित्रिमाः**=जो कोई ये भूमि खोदकर, बिल बनाकर रहनेवाले कृमि-कीट हैं **तासाम्**=उनका **विषम्**=विष **अरसतमम्**=अतिशयेन निःसार है।

भावार्थ—सम्भवतः बिल बनाकर रहनेवाले इन कृमियों का विष उसी बिल से निकली मिट्टी के प्रयोग से दूर हो जाते हैं।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषनाशनम्**॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री**॥

ताबुव=तस्तुव

ताबुवं न ताबुवं न घेत्त्वमसि ताबुवम्। ताबुवेनारसं विषम्॥ १०॥
तस्तुवं न तस्तुवं न घेत्त्वमसि तस्तुवम्। तस्तुवेनारसं विषम्॥ ११॥

१. ताबुव शब्द (तु+इण्, वा +क) तु तथा वा धातु से बना है। तु के अर्थ वृद्धि, गति व हिंसा है। 'वा' के गति तथा गन्धन (हिंसन)। इसप्रकार ताबुव का अर्थ है वृद्धि तथा हिंसा को प्राप्त करानेवाली। ताबुव एक ओषधि है। सर्प भी ताबुव है। वृद्धि को प्राप्त कराने से ओषधि 'ताबुव' है, हिंसा को प्राप्त कराने से सर्प 'ताबुव' है। **ताबुवम्**=यह ताबुव ओषधि **न ताबुवम्**=हिंसा को प्राप्त करानेवाली नहीं। हे सर्प! इस ओषधि के प्रयोग से **त्वम् घ इत्**=तू भी निश्चय से **न ताबुवम् असि**=हिंसा को प्राप्त करानेवाला नहीं रहता। **ताबुवेन**=इस ताबुव ओषधि से **विषम् अरसम्**=विष निःसार हो जाता है। २. तस्तुव शब्द भी 'तस उपक्षये' तथा 'वा गतिगन्धनयोः' से बनता है। तस्तुव ओषधि उपक्षय का नाश करती है। सर्प भी तस्तुव है—यह उपक्षय को प्राप्त कराता है। **तस्तुवम्**=उपक्षय का विनाश करनेवाली यह तस्तुव ओषधि **न तस्तुवम्**=विनाश को प्राप्त करानेवाली नहीं। ३. हे सर्प! इस **तस्तुवे**=तस्तुव ओषधि का प्रयोग होने पर **घ इत्**=निश्चय से **त्वम्**=तू **तस्तुवं न असि**=उपक्षय को प्राप्त करानेवाला नहीं है। **तस्तुवेन**=इस तस्तुव ओषधि के प्रयोग से **विषम् अरसम्**=सर्प विष निःसार हो जाता है।

भावार्थ—ताबुव व तस्तुव ओषधि के प्रयोग से सर्प-विष निःसार हो जाता है।

विशेष—अपने को सर्प-विष आदि के भय से सुरक्षित करके अपने जीवन को शक्तिशाली बनानेवाला शुक्र अगले सूक्त का ऋषि है—

१४. [चतुर्दशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शुक्रः**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वनस्पति

सुपर्णस्त्वान्वविन्दत्सूकरस्त्वाखनन्नसा। दिप्सौषधे त्वं दिप्सन्तमव कृत्याकृतं जहि॥ १॥

१. हे **ओषधे**=शरीरस्थ दोष का दहन करनेवाली ओषधे! **सुपर्णः**=गरुड़ **त्वा**=तुझे **अनु अविन्दत्**=खोजकर पानेवाला होता है। **सूकरः**=सूअर **त्वा**=तुझे **नसा अखनत्**=अपनी नासिका से खोदनेवाला होता है। २. हे **ओषधे**=ओषधे! **त्वम्**=तू **दिप्सन्तम्**=हमें नष्ट करने की इच्छावाले को **दिप्स**=नष्ट करनेवाली हो। **कृत्याकृतं अवजहि**=हमारा छेदन करनेवाली व्याधि को सुदूर विनष्ट कर।

भावार्थ—भूमि से खोदकर प्राप्त की जानेवाली यह ओषधि हमारे रोग का विनाश करती है। यह शक्तियों का छेदन करनेवाली व्याधि को दूर करती है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यातुधान व कृत्याकृत् का अवहनन

अव॑ जहि यातु॒धाना॒नव॑ कृत्या॒कृतं॑ जहि।
अथो॒ यो अ॒स्मान्दिप्स॑ति॒ तमु॒ त्वं ज॑ह्योषधे॥ २॥

१. हे **ओषधे**=दोषों का दहन करनेवाली ओषधे! **यातुधानान् अवजहि**=पीड़ा का आधान करनेवाले रोगों को तू सुदूर विनष्ट कर। **कृत्याकृतम् अवजहि**=हमारी शक्तियों का छेदन करनेवाले रोग को दूर भगा दे। २. **अथ उ**=अब निश्चय से **यः**=जो भी रोग **अस्मान् दिप्सति**=हमें विनष्ट करना चाहता है, हे ओषधे! **तम्**=उसे **उ**=निश्चय से **त्वम् जहि**=तू विनष्ट कर दे।

भावार्थ—यह ओषधि पीड़ा के जनक, शक्तियों के छेदक, विनाशक रोग को नष्ट करती है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

वन्य पशु के समान ध्वंसक का वशीकरण

रिश्य॑स्येव परीशा॒सं प॑रि॒कृत्य॒ परि॒ त्वचः॑।
कृत्यां कृ॑त्या॒कृते॑ देवा नि॒ष्कमि॑व॒ प्रति॑ मुञ्चत॥ ३॥

१. हे **देवाः**=विद्वानो! **त्वचः परि**=त्वचा को चारों ओर से **परिकृत्य**=छिन्न करके **रिश्यस्य**=एक वन्य पशु के (मृगविशेष के) **परीशासं इव**=पूर्ण वशीकरण के समान **कृत्याम्**=एक दुष्ट पुरुष से किये गये छेदन-प्रयोग को **कृत्याकृते**=इस छेदन करनेवाले के लिए ही **निष्कम् इव**=स्वर्णहार के समान **प्रतिमुञ्चत**=धारण कराओ। २. एक दुष्ट पुरुष हमारा विनाश करने के लिए कुछ प्रयोग करता है। उसके प्रति हमारा व्यवहार ऐसा हो कि वह विनाश-क्रिया उस विनाशक के ही गले का स्वर्णहार बने। हम उस कृत्या से प्रभावित न हों। बुद्धिपूर्वक व्यवहार करते हुए इन छेदन-भेदन के प्रयोगों से हम अपने को सुरक्षित रक्खें।

भावार्थ—जैसे एक मृग को वश मे किया जाता है, उसी प्रकार ध्वंसक पुरुष को वश में करके हम उससे की जानेवाली कृत्या को उसी के लिए लौटानेवाले बनें।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कृत्याकृत् को उचित दण्ड

पुनः॑ कृत्यां कृ॑त्या॒कृते॑ हस्त॒गृह्य॒ परा॑ णय।
स॒म॒क्षम॑स्मा॒ आ धे॑हि॒ यथा॑ कृत्या॒कृतं॒ हन॑त्॥ ४॥

१. **कृत्याम्**=कृत्या को छेदन-भेदन के प्रयोग को **हस्तगृह्य**=हाथ में ग्रहण करके, अर्थात्

कृत्या का प्रयोग करनेवाले को प्रयोग के समय ही पकड़कर (having caught him red-handed) **कृत्याकृते**=इस कृत्या को करनेवाले के लिए **पुनः परा नय**=फिर वापस करा। २. इस कृत्या को **अस्मै समक्षम् आधेहि**=इसके सामने स्थापित करनेवाला हो, **यथा**=जिससे यह कृत्या **कृत्याकृतं हनत्**=उस कृत्या करनेवाले को ही विनष्ट करे। ऐसा किया जाए कि कृत्या के दुष्परिणामों को देखकर वह कृत्याकारी आगे से उस पाप को न करने का निश्चय करे।

भावार्थ—छेदन-भेदन करनेवाने को अपराध करते समय ही पकड़कर इसप्रकार व्यवहृत किया जाए कि वे इन प्रयोगों के दुष्परिणामों को देखकर इन्हें फिर से न करने का निश्चय करे।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

सुखो रथः

कृत्याः सन्तु कृत्याकृते शपथः शपथीयते।
सुखो रथइव वर्ततां कृत्या कृत्याकृतं पुनः ॥ ५ ॥

१. **कृत्याः**=मारक साधन **कृत्याकृते सन्तु**=हिंसक के लिए ही हों—ये कृत्याएँ उन हिंसकों पर ही लौट जाएँ। **शपथः शपथीयते**=गलियाँ गाली देनेवाले के पास लौट जाएँ। २. हम न इन कृत्याओं से प्रभावित हों और न ही इन शपथों से अपने मानस-सन्तुलन को खोएँ। **सुखः रथः इव**=(सु+ख) उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला यह शरीर-रथ की भाँति **वर्तताम्**=हो। यह मार्ग पर निरन्तर आगे बढ़े। **कृत्या**=हिंसन की क्रिया **पुनः**=फिर **कृत्याकृतम्**=इस छेदन क्रिया के करनेवाले को प्राप्त हो।

भावार्थ—हम दुर्जनों की कृत्याओं व शपथों से प्रभावित न होते हुए उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले शरीर-रथ से निरन्तर आगे बढ़ें।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अश्वम् इव अश्वाभिधान्या

यदि स्त्री यदि वा पुमान्कृत्यां चकार पाप्मने।
तामु तस्मै नयामस्यश्वमिवाश्वाभिधान्या ॥ ६ ॥

१. **यदि**=यदि **स्त्री**=कोई स्त्री **यदि वा**=अथवा **पुमान्**=पुरुष **पाप्मने**=पाप के लिए—अशुभ के लिए **कृत्यां चकार**=हिंसक प्रयोग करता है तो **ताम्**=उस हिंसक प्रयोग को **उ**=निश्चय से **तस्मै नयामसि**=उस कृत्याकृत् के लिए ही प्राप्त कराते है, उसी प्रकार **इव**=जैसेकि **अश्वाभिधान्या**=घोड़े को बाँधनेवाली रज्जु से **अश्वम्**=अश्व को पुनः उसके स्थान पर पहुँचाया जाता है। २. हम कृत्याकृत् से किसी प्रकार का बदला लेने की भावना से कोई कार्य न करें। कृत्या को कृत्याकृत् के सामने इसलिए उपस्थित करें, जिससे कि वह उसकी अकरणीयता को समझ ले।

भावार्थ—कृत्या करनेवाला चाहे स्त्री हो या पुरुष, इस कृत्या को पुनः उसी के पास पहुँचाया जाए।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इन्द्रेण सयुजा वयम्

यदि वासि देवकृता यदि वा पुरुषैः कृता।
तां त्वा पुनर्णयामसीन्द्रेण सयुजा वयम् ॥ ७ ॥

१. **यदि वा देवकृता असि**=यदि कोई विपत्ति देवकृत है, अर्थात् अतिवृष्टि व अनावृष्टि

आदि के कारण कृषि आदि न होने का कष्ट आया है, **यदि वा**=अथवा यदि कोई कष्ट **पुरुषैः कृता**=पुरुषों से किया गया है, **तां त्वा**=उस तुझ आधिदैविक व आधिभौतिक कष्ट को **इन्द्रेण सयुजा वयम्**=प्रभु के साथ मिलकर अथवा राजा के साथ मिलकर हम **पुनः नयामसि**=फिर दूर ले-जाते हैं। २. प्रभु की उपासना करते हुए हम अपने को आधिदैविक व आधिभौतिक कष्टों से बचाने में समर्थ हों। इसीप्रकार राजा की सहायता से—राजा को पूर्ण सहयोग देते हुए हम इन कष्टों को दूर करने के लिए यत्नशील हों।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण के साथ राष्ट्र में राजा को पूर्ण सहयोग देते हुए हम आधिदैविक व आधिभौतिक कष्टों को दूर करने के लिए यत्नशील हों ।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराडनुष्टुप्** ॥

प्रतिहरणेन

अग्ने पृतनाषाट् पृतनाः सहस्व।
पुनः कृत्यां कृत्याकृते प्रतिहरणेन हरामसि ॥ ८ ॥

१. हे **अग्ने**=राष्ट्र को उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले राजन्! आप **पृतनाषाट्**=शत्रु-सैन्यों का पराभव करनेवाले हैं, **पृतनाः सहस्व**=इन शत्रु-सैन्यों का पराभव कीजिए। २. **कृत्याम्**=छेदन-भेदन की क्रिया को **कृत्याकृते**=इस छेदन क्रिया करनेवाले के लिए **पुनः**=फिर **प्रतिहरणेन**=वापस लौटाने के द्वारा **हरामसि**=विनष्ट करते हैं। कृत्या जब इस कृत्याकृत् को प्राप्त होती है तब उसे इसकी हानि का प्रत्यक्ष अनुभव होता है और वह इसे न करने का निश्चय करता है। इसप्रकार कृत्या का विनाश हो जाता है।

भावार्थ—राजा सैन्यों के द्वारा आक्रान्ता शत्रु-सैन्यों का पराभव करता हुआ उन्हें पुनः छेदन-भेदन करने की क्रिया से रोकता है ।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

रक्षणात्मक न कि आक्रमणात्मक

कृतव्यधनि विध्य तं यश्चकार तमिज्जहि।
न त्वामचक्रुषे वयं वधाय सं शिशीमहि ॥ ९ ॥

१. **कृतव्यधनि**=(कृतानि व्यधनानि यया) जिसने शत्रु-विनाश के लिए आयुध तैयार किये हुए हैं, ऐसी सेने! **यः चकार**=जो राष्ट्र पर आक्रमण करता है, **तम्**=उसे तू **विध्य**=अपने अस्त्रों से विद्ध कर। **इत्**=उसे ही **जहि**=विनष्ट कर। २. **अचक्रुषे**=आक्रमण न करनेवाले के लिए **वयम्**=हम **त्वाम्**=तुझे **वधाय**=वध के लिए **न संशिशीमहि**=नहीं उत्तेजित करते—तीक्ष्ण नहीं बनाते।

भावार्थ—हम सेनाओं द्वारा आक्रान्ता के आक्रमणो को रोकने के लिए ही यत्नशील हों, अनाक्रमकों पर स्वयं आक्रमण न करने लगें।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृद्बृहती** ॥

अभिष्ठितः स्वजः इव

पुत्रइव पितरं गच्छ स्वजइवाभिष्ठितो दश।
बन्धमिवावक्रामी गच्छ कृत्ये कृत्याकृतं पुनः ॥ १० ॥

१. हे **कृत्ये**=छेदन-भेदन की क्रिये! तू **कृत्याकृतं पुनः गच्छ**=कृत्या करनेवाले को पुनः

इसप्रकार प्राप्त हो **इव**=जैसेकि **पुत्रः पितरम्**=पुत्र पिता की ओर जाता है। हे कृत्ये! तू कृत्याकृत् की ओर **गच्छ**=जा। तू इस कृत्याकृत् को इसप्रकार **दश**=डसनेवाली हो, **इव**=जैसेकि **अभिष्ठितः**=पाँव से आक्रान्त **स्वजः**=लिपट जानेवाला सर्प डसता है (ष्वञ्ज)। २. हे कृत्ये! तू इसप्रकार कृत्याकृत् के पास पुनः **गच्छ**=जा, **इव**=जैसे **बन्धम् अवक्रामी**=बन्धन को (उल्लंघ्य प्रतिगामी) तोड़कर जानेवाला इष्ट स्थान पर जाता है।

भावार्थ—पुत्र पिता को प्राप्त होता ही है, पादाक्रान्त सर्प काटता ही है, बन्धन को तुड़ाकर प्राणी इष्ट स्थान की ओर जाता ही है, इसीप्रकार कृत्या कृत्याकृत् को प्राप्त होती ही है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिपदासाम्नीत्रिष्टुप्** ॥

एणी इव, वारणी इव, मृगी इव

उदेणीव वारण्य∫भिस्कन्दं मृगीव। कृत्या कर्तारमृच्छतु॥ ११॥

१. **कृत्या**=छेदन-भेदन की क्रिया **कर्तारम् उदऋच्छतु**=इस कृत्याकृत् को इसप्रकार प्राप्त हो **इव**=जैसेकि **एणी**=एक मृगी आक्रान्ता पर झपटती है, **वारणी**=हथिनी जैसे **अभिस्कन्दम्**=आक्रान्ता पर आक्रमण करती है, अथवा **इव**=जैसे **मृगी**=एक वन्य व्याघ्री (हिंस्र जन्तु) शिकारी पर झपट्टा मारती है।

भावार्थ—कृत्या कृत्याकृत् पर ही आक्रमण करे। उसे ही यह विनष्ट करनेवाली हो।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

इष्वा ऋजीयः (पततु)

इष्वा ऋजीयः पततु द्यावापृथिवी तं प्रति।
सा तं मृगमिव गृह्णातु कृत्या कृत्याकृतं पुनः॥ १२॥

१. हे **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक! आपके अन्दर रहनेवाले **तं प्रति**=उस व्यक्ति के प्रति **कृत्या**=यह छेदन-भेदन की क्रिया **इष्वाः**=बाण से भी **ऋजीयः**=अधिक सरल रेखा में, अर्थात् अतिशीघ्र **पततु**=जानेवाली हो, जो इस कृत्या को करनेवाला है। २. **सा**=वह **कृत्या** **तम्**=उस **कृत्याकृतम्**=कृत्याकृत् को **पुनः**=फिर इसप्रकार **गृह्णातु**=पकड़ ले **इव**=जैसेकि कोई शिकारी **मृगम्**=हिरन को पकड़ लेता है।

भावार्थ—कृत्या कृत्या करनेवाले का ही विनाश करती है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्** ॥

अग्निः इव, उदकम् इव

अग्निरिवैतु प्रतिकूलमनुकूलमिवोदकम्।
सुखो रथइव वर्ततां कृत्या कृत्याकृतं पुनः॥ १३॥

१. यह **कृत्या**=छेदन-भेदन की क्रिया **प्रतिकूलम्**=हमारे विरोधी को **अग्निः इव एतु**=अग्नि के समान प्राप्त हो—यह उसे जलानेवाली हो, परन्तु यही **कृत्या अनुकूलम्**=हमारे अनुकूल को **उदकम् इव**=पानी की भाँति प्राप्त हो—उसे यह विनष्ट न कर सके। २. **सुखः**=उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला यह शरीर **रथः इव**=जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए रथ के समान हो। **कृत्या**=विनाश की क्रिया **कृत्याकृतम्**=विनाशक को ही **पुनः**=फिर **वर्तताम्**=प्राप्त हो। यह उसी का विनाश करनेवाली बने।

भावार्थ—कृत्या प्रतिकूल व्यक्ति को अग्नि की भाँति प्राप्त हो, अनुकूल व्यक्तियों के लिए

यह जल के समान हो जाए। इन कृत्याओं से बचे रहकर हम अपने शरीर-रथ को उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाला बनाएँ।

विशेष—सब प्रकार की हिंसा की भावनाओं को दूर करनेवाला पुरुष विश्वामित्र है। यही अगले दो सूक्तों का ऋषि है।

१५. [पञ्चदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मधुला ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ग्यारह

एका च मे दश च मेऽपवक्तार ओषधे।
ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः॥ १॥

१. इस सूक्त का देवता वनस्पति (वन=A ray of light) प्रकाश की किरणों की रक्षक वेदवाणी है। इसमें प्रभु हमारे लिए प्रकाश की किरणों को प्राप्त कराते है! यह दोषों का दहन करने के कारण ओषधि है। हे **ओषधे**=दोषदाहक शक्ति को धारण करनेवाली वेदवाणि! तू **ऋतजाते**=उस पूर्ण ऋतस्वरूप प्रभु से उत्पन्न हुई है, **ऋतावरि**=सत्यज्ञानवाली है, **मे मधुला**=मेरे लिए मधु को लानेवाली तू **मधु करः**=माधुर्य को करनेवाली है। २. हे वेदवाणि! **एका च मे दश च मे**=मेरी एक आत्मिक शक्ति तथा मेरी दसों इन्द्रियाँ **अपवक्तारः**=मुझसे सब बुराइयों को दूर करनेवाली हों। (Speaking away, warning off, preventing, averting)।

भावार्थ—वेदवाणी मेरे जीवन मे माधुर्य को उत्पन्न करे । मेरी आत्मशक्ति व दसों इन्द्रियाँ बुराई को मुझसे पृथक् करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मधुला ओषधिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

बाईस

द्वे च मे विंशतिश्च मेऽपवक्तार ओषधे।
ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः॥ २॥

१. **द्वे च मे विंशतिः च मे**=भौतिक जीवन में 'ऋत' (Regularity) तथा आध्यात्म-जीवन में सत्य और दसों प्राण व दसों इन्द्रियाँ मुझसे **अपवक्तारः**=सब दोषों को दूर करें, मेरे जीवन में दोषों को न आने दे। २. हे **ओषधे**=दोषदाहक शक्ति को धारण करनेवाली! **ऋतजातः**=पूर्ण सत्य प्रभु से उत्पन्न! **ऋतावरि**=सत्यज्ञानवाली वेदवाणि! तू **मधुला**=माधुर्य को लानेवाली है, **मे मधु करः**=मेरे जीवन को मधुर बना।

भावार्थ—वेदवाणी से मेरा जीवन मधुर बने। ऋत और सत्य तथा दसों इन्द्रियाँ व दसों प्राण मुझसे बुराई को दूर रक्खें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मधुला ओषधिः** ॥ छन्दः—**३ अनुष्टुप्; ४ पुरस्ताद्बृहती; ५, ७-९ भुरिगनुष्टुप्; ६,१० अनुष्टुप्** ॥

तेतीस से एकसौ दस तक

तिस्रश्च मे त्रिंशच्च मेऽपवक्तार ओषधे।
ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः॥ ३॥

मे=मेरे **तिस्रः च**=तीन तथा **मे त्रिंशत् च**=मेरे तीस अर्थात् शरीरस्थ मेरे तेतीस देव **अपवक्तारः**=सब दोषों को रोकनेवाले हों—सब दोषों को मुझसे दूर करनेवाले हों। शेष पूर्ववत्।

चतस्रश्च मे चत्वारिंशच्च मेऽपवक्तार ओषधे।
ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः॥ ४॥
मेरे जीवन के चवालीस वर्ष मुझसे दोषों को पृथक् रखनेवाले हों। शेष पूर्ववत्।
पञ्च च मे पञ्चाशच्च मेऽपवक्तार ओषधे।
ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः॥ ५॥
मेरे जीनव के पचपन वर्ष मुझसे दोषों को पृथक् रखनेवाले हों। शेष पूर्ववत्।
षट् च मे षष्टिश्च मेऽपवक्तार ओषधे।
ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः॥ ६॥
मेरे जीवन के छियासठ वर्ष मुझसे दोषों को पृथक् रखनेवाले हों। शेष पूर्ववत्।
सप्त च मे सप्ततिश्च मेऽपवक्तार ओषधे।
ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः॥ ७॥
मेरे जीवन के सतत्तर वर्ष मुझसे दोषों को पृथक् रखनेवाले हों। शेष पूर्ववत्।
अष्ट च मेऽशीतिश्च मेऽपवक्तार ओषधे।
ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः॥ ८॥
मेरे जीवन के अट्ठासी वर्ष मुझसे दोषों को पृथक् रखनेवाले हों। शेष पूर्ववत्।
नव च मे नवतिश्च मेऽपवक्तार ओषधे।
ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः॥ ९॥
मेरे जीवन के निन्यानवे वर्ष मुझसे दोषों को पृथक् रखनेवाले हों। शेष पूर्ववत्।
दश च मे शतं च मेऽपवक्तार ओषधे।
ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः॥ १०॥
मेरे जीवन के एक सौ दस वर्ष मुझसे दोषों को पृथक् रखनेवाले हों। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—जीवन में सदा ही दोषों के आजाने की सम्भावना बनी रहती है। मैं सदा वेदवाणी को अपनाते हुए दोषों को दूर रखने के लिए यत्नशील रहूँ।

ऋषिः—**विश्वामित्रः**॥ देवता—**मधुला ओषधिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अपक्षय से दूर

शतं च मे सहस्रं चापवक्तार ओषधे।
ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः॥ ११॥

१. **मे शतम् च**=मेरे जीवन के सौ वर्ष **च**=तथा **सहस्रम्**=हज़ारों वर्ष भी **अपवक्तारः**=बुराइयों व अपयश को मुझसे दूर रखनेवाले हों। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—यहाँ सहस्र के साथ 'मे' जोड़ना बहुत महत्त्वपूर्ण है। हज़ारों वर्ष तक जीना सामान्यतया सम्भव नहीं, परन्तु हज़ारों वर्ष तक भी मैं अपयश से बचा रहूँ। मेरी अपकीर्ति न हो।

विशेष—जीवन को मधुर बनाता हुआ यह सबके प्रति मधुर वाणी बोलता हुआ सबका मित्र बनता है, अतः विश्वामित्र कहलाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

१६. [षोडशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**एकवृषः** ॥ छन्दः—१,४-५ **द्विपदासाम्न्युष्णिक्**; २-३ **द्विपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्**॥

एक से पाँच तक

यद्यैकवृषोऽ सि सृजारसो ऽ सि॥ १॥
यदि द्विवृषोऽ सि सृजारसो ऽ सि॥ २॥
यदि त्रिवृषोऽ सि सृजारसो ऽ सि॥ ३॥
यदि चतुर्वृषोऽ सि सृजारसो ऽ सि॥ ४॥
यदि पञ्चवृषोऽ सि सृजारसो ऽ सि॥ ५॥

१. **यदि**=यदि तू **एकवृषः**=एक इन्द्रिय को शक्तिशाली बनानेवाला **असि**=है, तो **सृज**=अभी और शक्ति उत्पन्न कर। केवल एक इन्द्रिय को शक्तिशाली बना लेने पर **अरसः असि**=तू नीरस जीवनवाला ही है। एक इन्द्रिय के सशक्त हो जाने पर जीवन रसमय नहीं बन जाता। २. इसीप्रकार **यदि द्विवृषः असि**=यदि तू दो इन्द्रियों को सशक्त बनानेवाला है, तो भी नीरस जीवनवाला ही है, अतः और अधिक शक्ति उत्पन्न कर। ३. **यदि त्रिवृषः असि**=यदि तू तीन इन्द्रियों को भी शक्तिशाली बना पाया है, तो भी और अधिक शक्ति उत्पन्न कर, क्योंकि अभी तेरा जीवन ठीक से सरस नहीं हो पाया है। ४. **यदि चतुर्वृषः असि**=जिह्वा, घ्राणेन्द्रिय, आँख व श्रोत्र—इन चारों को भी तूने शक्तिशाली बनाया है, तो भी और अधिक शक्ति उत्पन्न कर, क्योंकि अभी तू अ-रस ही है। ५. अब **यदि पञ्चवृषः असि**=यदि तू पाँच ज्ञानेन्द्रियों को भी शक्तिशाली बनानेवाला है, तो भी अभी और शक्ति उत्पन्न कर, क्योंकि अभी तू अ-रस ही है।

भावार्थ—पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के सशक्त होने पर भी कर्मेन्द्रियों की शक्ति के अभाव में जीवन सरस नहीं बन पाता।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**एकवृषः** ॥ छन्दः—६ **द्विपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्**; ७-१० **द्विपदासाम्न्युष्णिक्**॥

छह से दस तक

यदि षड्वृषोऽ सि सृजारसो ऽ सि॥ ६॥
यदि सप्तवृषोऽ सि सृजारसो ऽ सि॥ ७॥
यद्यष्टवृषोऽ सि सृजारसो ऽ सि॥ ८॥
यदि नववृषोऽ सि सृजारसो ऽ सि॥ ९॥
यदि दशवृषोऽ सि सृजारसो ऽ सि॥ १०॥

१. **यदि षड्वृषः असि**=यदि तूने पाँचों ज्ञानन्द्रियों के साथ एक छठी कर्मेन्दिय को भी सशक्त बनाया है, तो **सृज**=अभी और अधिक शक्ति उत्पन्न कर। इन छह के सशक्त हो जाने पर भी तू **अरसः असि**=अरस ही है, तेरा जीवन रसमय नहीं बन पाया है। २. यदि **सप्तवृषः असि**=यदि तू एक और कर्मेन्दिय को सशक्त बनाकर सात को सशक्त बना पाया है, तो भी तू और अधिक शक्ति उत्पन्न कर, क्योंकि अभी जीवन अरस ही है। ३. **यदि अष्टवृषः असि**=यदि तूने आठ इन्द्रियों को सशक्त बनाया है तो अभी और शक्ति उत्पन्न कर, क्योंकि

अभी तू सरस नहीं बना। ४. यदि **नववृषः असि**=यदि नौ इन्द्रियों को भी शक्तिशाली बनाया है तो भी तू अरस ही है, अभी और शक्ति उत्पन्न कर। ५. **यदि दशवृषः असि**=दसों इन्द्रियों को भी तूने शक्तिशाली बनाया है, तो भी और अधिक शक्ति उत्पन्न कर, क्योंकि अभी तू जीवन को सरस नहीं बना पाया है।

भावार्थ—पाँचों ज्ञानेन्द्रियों व पाँचों कर्मेन्द्रियों के सशक्त हो जाने पर भी जीवन में सरसता नहीं आती। अभी मन को भी सशक्त बनाना है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**एकवृष ओषधिः** ॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽसुरीगायत्री** ॥

अपोदकः

यद्यैकादशोऽसि सोऽपोदको ऽसि॥ ११ ॥

१. **यदि एकदशः असि**=यदि तू ग्यारहवें मनवाला है, अर्थात् मन को तूने वश में किया है तो तू **अपोदकः असि**=(अपनद्धम् उदकं येन) अपोदक है—रेतःकणरूप जलों का शरीर में ही बाँधनेवाला है और वस्तुतः इन रेतःकणरूप जलों (आपः रेतो भूत्वा०) को शरीर में बाँधने पर ही जीवन रसमय बनता है। मन को वशीभूत कर लेने पर सब इन्द्रियाँ तो वशीभूत हो ही जाती हैं, ये इन्द्रियाँ विषयों की ओर न जाकर शक्तिशाली बनती हैं।

भावार्थ—मन को वशीभूत करने पर सब इन्द्रियाँ भी सशक्त बनती हैं। वैषयिक वृत्ति न होने पर शरीर में शक्ति की ऊर्ध्व गति होती है और जीवन आनन्दमय बनता है।

विशेष—यह अपोदक ही जीवन को नीरोग व निर्मल बनाकर 'मयोभू' बनता है—कल्याण को उत्पन्न करनेवाला। यही अगले तीन सूक्तों का ऋषि है।

१७. [सप्तदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मजाया** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अकूपारः सलिलः मातरिश्वा

तेऽवदन्प्रथमा ब्रह्मकिल्बिषेऽकूपारः सलिलो मातरिश्वा।
वीडुहरास्तप उग्रं मयोभूरापो देवीः प्रथमजा ऋतस्य॥ १ ॥

१. जिस समय विषयों में क्रीड़ा करता हुआ पुरुष ब्रह्म को भूल जाता है, तब यह भूल जाना ब्रह्मविषयक किल्बिष या 'ब्रह्मकिल्बिष' कहलाता है। इस **ब्रह्मकिल्बिषे**=ब्रह्मविषयक पाप के होने पर **ते**=वे **प्रथमाः**=देवताओं में प्रथम स्थान रखनेवाले **अकूपारः**=(अकुत्सितपारः, दूरपारः, महागतिः) आदित्य **सलिलः**=जल तथा **मातरिश्वा**=वायु **अवदन्**=उस ब्रह्म का उपदेश करते हैं। इन्हें देखकर उस विषय-प्रवण मनुष्य को भी प्रभु का स्मरण हो आता है। सूर्य, जल और वायु उसे प्रभु की महिमा को कहते प्रतीत होते हैं। २. प्रभु के तीव्र तप से ऋत और सत्य भी उत्पन्न हुए। **ऋतस्य प्रथमजाः**=इस ऋत के मुख्य प्रादुर्भावरूप **उग्रं तपः**=अत्यन्त तेजस्वी, दीप्त, सूर्य **मयोभूः**=कल्याण देनेवाली वायु तथा **देवीः आपः**=दिव्य गुणवाले जल—ये सब **वीडुहराः**=बड़े तीव्र तेजवाले होते हैं। इनमें उस-उस तेज को स्थापित करनेवाले वे प्रभु ही तो हैं। इन सबमें उस प्रभु की ही तो महिमा दीखती है।

भावार्थ—सूर्य, जल व वायु प्रभु से उत्पादित ऋत के प्रथम प्रादुर्भाव हैं। इन सबमें प्रभु की महिमा दिखती है।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मजाया** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

हस्तगृह्या निनाय

सोमो राजा प्रथमो ब्रह्मजायां पुनः प्रायच्छदहृणीयमानः।
अन्वर्तिता वरुणो मित्र आसीदग्निर्होता हस्तगृह्या निनाय॥ २॥

१. जीव यद्यपि प्रभु को भूल जाता है तो भी प्रभु उसपर **अहृणीयमानः**=क्रोध नहीं करते (हृणीयते—to be Angry)। प्रभु **राजा**=शासक हैं, परन्तु **सोमः**=अत्यन्त सौम्य हैं, शान्त हैं। **प्रथमः**=वे अधिक-से-अधिक विस्तारवाले (सर्वव्यापक) हैं। प्रभु इस व्यक्ति के लिए **ब्रह्मजायां पुनः प्रायच्छत्**=वेदवाणीरूप पत्नी को फिर से प्राप्त कराते हैं। २. वे प्रभु **वरुणः**=सब बुराइयों का निवारण करनेवाले, **मित्रः**=मृत्यु व पाप से बचानेवाले हैं। वे प्रभु रक्षा के लिए **अन्वर्तिता आसीत्**=हमारे पीछे-पीछे आनेवाले हैं। माता छोटे बच्चे के साथ-साथ चलती है, ताकि गिरने लगे तो वह उसे बचा ले। इसीप्रकार ये वरुण व मित्र प्रभु हमारे साथ-साथ चल रहे हैं। वे **होता**=सब साधनों के देनेवाले **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **हस्तगृह्या**=हाथ से पकड़कर **निनाय**=मार्ग पर ले-चलते हैं। माता जिस प्रकार बालक की अंगुली पकड़कर चलाती है, उसी प्रकार प्रभु इसे आश्रय देकर आगे ले-चलते हैं।

भावार्थ—प्रभु शासक होते हुए भी क्रोध नहीं करते। वे प्रेरणा व आश्रय देकर हमें आगे ले-चलते हैं।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मजाया** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

स्वाध्याय से कष्ट-निवारण

हस्तेनैव ग्राह्य ऽआधिरस्या ब्रह्मजायेति चेदवोचत्।
न दूताय प्रहेया तस्थ एषा तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य॥ ३॥

१. जिस समय एक आराधक इस वेदवाणी को यह **ब्रह्मजाया**=ब्रह्म का प्रकाश (प्रादुर्भाव) करनेवाली है, **इति चेत् अवोचत्**=इसप्रकार कहता है तब **अस्याः हस्तेन एव**=इस ब्रह्मजाया के हाथ से ही—आश्रय से ही **आधिः**=सब दुःख **ग्राह्य**=वश में करने योग्य होते हैं। ब्रह्मजाया का हाथ पकड़ते ही सब कष्ट दूर हो जाते हैं। २. **एषा**=यह वेदवाणी **दूताया प्रहेया**=दूत के लिए भेजने योग्य होती हुई **न तस्थे**=स्थित नहीं होती, अर्थात् इसे स्वयं न पढ़कर किसी और से इसका पाठ कराते रहने से पुण्य प्राप्त नहीं होता। **क्षत्रियस्य राष्ट्रं तथा गुपितम्**=एक क्षत्रिय राष्ट्र भी तो इसीप्रकार रक्षित होता है। दूसरों को शासन सौंपकर, स्वयं भोग-विलास में पड़े रहनेवाला राजा कभी राष्ट्र को सुरक्षित नहीं कर पाता।

भावार्थ—स्वाध्याय मनुष्य को स्वयं करना है। यह स्वाध्याय उसके सब कष्टों को दूर करेगा।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मजाया** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

तारका-विकेशी

यामाहुस्तारकैषा विकेशीति दुच्छुनां ग्राममवपद्यमानाम्।
सा ब्रह्मजाया वि दुनोति राष्ट्रं यत्र प्रापादि शश उल्कुषीमान्॥ ४॥

याम्=जिस वेदवाणी को **आहुः**=कहते है कि **एषा तारका**=(तारका ज्योतिषि इति इत्वाभाव) यह तारनेवाली है, **विकेशी इति**=यह निश्चत से विशिष्ट प्रकाश की किरणोंवाली है, **दुच्छुनाम्**=दुःखों व दुर्गति के **ग्रामम्**=समूह को **अवपद्यमानाम्**=हमसे दूर करनेवाली है। **सा ब्रह्मजाया**=वह प्रभु

से प्रादुर्भूत हुई वेदवाणी **राष्ट्रम्**=राष्ट्र को **विदुनोति**=सन्ताप-शून्य करती है। २. यह उस राष्ट्र को सन्ताप-शून्य करती है **यत्र**=जहाँ कि **उल्कुषीमान्**=(उल्कुषी=fire) मशाल को हाथ में लिये हुए **शशः**=प्लुतगतिवाला—खूब क्रियाशील पुरुष **प्रापादि**=प्रकृष्ट गतिवाला होता है। यह ज्ञान के प्रकाश को सर्वत्र फैलाता हुआ लोगों को उत्साहित करता है और इसप्रकार राष्ट्र को जागरित करनेवाला होता है।

भावार्थ—वेदवाणी हमें तारनेवाली है, विशिष्ट प्रकार की रश्मियों को प्राप्त करानेवाली है। दु:खों को दूर करनेवाली है। यह देववाणी उस राष्ट्र को सन्ताप-शून्य करती है, जहाँ उत्साही पुरुष इसके सन्देश को राष्ट्र में सर्वत्र सुनाते हैं।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मजाया** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ब्रह्मचर्य व गृहस्थ

ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम्।
तेन जायामन्वविन्दद् बृहस्पतिः सोमेन नीतां जुह्वं न देवाः॥ ५॥

१. **ब्रह्मचारी**=ज्ञान में विचरण करनेवाला यह ब्रह्मचारी **विषः**=(विष् व्याप्तौ) व्यापक विज्ञानों को **वेविषत्**=व्याप्त करता हुआ **चरति**=गति करता है। इस ज्ञान की प्राप्ति के लिए **सः**=वह **देवानाम्**=देवों का **एकं अङ्गं भवति**=एक अङ्ग हो जाता है। देवों का अङ्ग बन जाना, अर्थात् उनके प्रति अपने को गौण कर देता है। यह माता, पिता व आचार्य आदि देवों के कहने के अनुसार चलता है। उनकी आज्ञा में चलता हुआ उत्कृष्ट ज्ञानी बनता हैं। २. **तेन**=उस—देवों का अङ्ग बनने से यह **जायाम्**=ब्रह्मजाया को—वेदवाणी को **अन्वविन्दत्**=प्राप्त करता है। वेदवाणी को प्राप्त करने के कारण ही यह **बृहस्पतिः**=(बृहत्याः पतिः) बृहती वेदवाणी का पति बनता है। यह उस ब्रह्मजाया को प्राप्त करता है, जो **सोमेन नीताम्**=(स उमा) ब्रह्मविद्या से युक्त सौम्य स्वभाववाले आचार्य से प्राप्त कराई गई है। उसी प्रकार प्राप्त कराई गई है **न**=जैसेकि **देवाः**=देव **जुह्वम्**=यज्ञ चमस् को प्राप्त कराते हैं। देव जैसे यज्ञों की प्रेरणा देते हुए हाथों में चम्मच का ग्रहण कराते हैं उसी प्रकार सोम ब्रह्मजाया को प्राप्त कराके ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान-प्रवण करते हैं। ३. प्रस्तुत मन्त्र में प्रसंगवश ब्रह्मचर्य व गृहस्थाश्रम का सुन्दर संकेत हुआ है। ब्रह्मचारी माता आदि देवों की अधीनता में चलता हुआ ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञान प्राप्त करके, बृहस्पति बनकर यह गृहस्थ बनता है। यहाँ यह वेद के स्वाध्याय के साथ यज्ञशील बनता है।

भावार्थ—हम ब्रह्मचर्याश्रम में खूब ज्ञान प्राप्त करें और गृहस्थ में यज्ञशील हों।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मजाया** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वेदवाणी के निरादर का परिणाम

देवा वा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्तऋषयस्तपसा ये निषेदुः।
भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता दुर्धां दधाति परमे व्यो॑मन्॥ ६॥

१. **एतस्याम्**=गतमन्त्र में वर्णित इस ब्रह्मजाया के विषय में **पूर्वे देवाः**=पालन व पूरण करनेवाले देववृत्ति के व्यक्ति **वा**=निश्चय से **अवदन्त**=ज्ञान देनेवाले होते हैं। शरीर में स्थित **सप्तऋषयः**=कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्—दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुखरूप सात ऋषि **ये**=जोकि **तपसा निषेदुः**=तपस्या के साथ निषण्ण होते हैं, अर्थात् जो विषय-प्रवण नहीं होते, वे इस वेदवाणी के विषय में बात करते हैं। माता-पिता व ज्ञानी आचार्य देव हैं, हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ सप्तऋषि हैं। ये मिलकर ब्रह्मजाया—वेदवाणी के विषय में चर्चा करते हैं, अर्थात्

ब्रह्मचर्य में तो यह ज्ञानचर्चा होती ही है, गृहस्थ में भी यह वेदवाणी की चर्चा समाप्त नहीं हो जाती। २. **ब्राह्मणस्य**=उस ज्ञानी प्रभु की **अपनीता**=दूर की हुई यह **जाया**=पत्नीरूप वेदवाणी **भीमा**=भयंकर होती है। जिस घर में से इसका अपनयन (दूरीकरण) हो जाता है, तो वहाँ **परमे व्योमन्**=उस घर के व्यक्तियों के हृदय-आकाश में यह (परमव्योम=हृदय) **दुर्धां दधाति**=बुराइयों को स्थापित करती है। स्वाध्याय के अभाव में हृदय में अशुभ विचार ही उत्पन्न होते हैं।

भावार्थ—माता-पिता व आचार्य आदि देव तथा हमारे शरीरस्थ आँख, कान, मुख आदि सप्तर्षि वेदवाणी का ही चर्वण करें। यह देववाणी ब्रह्मजाया है, जिस घर में इसका निरादर होता है, वहाँ लोगों के हृदयाकाश अशुभ व मलिन विचारों के धूम से आकुल हो जाते हैं।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मजाया** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तीन दुष्परिणाम

ये गर्भा अवपद्यन्ते जगद्यच्चापलुप्यते।
वीरा ये तृह्यन्ते मिथो ब्रह्मजाया हिनस्ति तान्॥ ७॥

१. **ये गर्भाः अवपद्यन्ते**=जो गर्भ गिराये जाते हैं, **यत् च**=और जो **जगत् अपलुप्यते**=संसार लूटा जाता है अथवा **ये वीराः**=जो वीर **मिथः**=आपस में **तृह्यन्ते**=हिंसित किये जाते हैं, युद्धों में एक-दूसरे से काटे जाते हैं, **तान्**=उन्हें **ब्रह्मजाया**=वेदवाणी ही निरादृत होने पर **हिनस्ति**=नष्ट करती है। २. जब वेदवाणी का स्वाध्याय नहीं रहता तब लोगों के जीवन संयमी नहीं रहते। भोगविलास में पड़े ये गृहस्थी अधिक सन्तानों के पालन के भय से भीत हुए-हुए गर्भ गिरने को ही श्रेयस्कर समझते हैं, चोरियाँ और डाके बढ़ जाते है तथा वीर लोग भी युद्धों में परस्पर लड़कर मारे जाते हैं।

भावार्थ—वेदवाणी के स्वाध्याय के अभाव में लोगों की प्रवृत्ति गर्भों को गिराने, लूटमार करने व परस्पर लड़ने की हो जाती है। यही तो अधःपतन है।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मजाया** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वेदवाणी का रक्षक 'ब्रह्मा'

उत यत्पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः।
ब्रह्मा चेद्धस्तमग्रहीत्स एव पतिरेकधा॥ ८॥

१. **उत**=चाहे **स्त्रियाः**=(स्त्यै शब्दे) इस शब्दात्मक वेदवाणीरूप ब्रह्मजाया के **यत्**=जो **पूर्वे**=पहले **दश**=दस भी **अब्राह्मणाः**=अज्ञानी **पतयः**=रक्षक हों, **चेत्**=यदि **ब्रह्मा**=ज्ञानी **हस्तम् अग्रहीत्**=इस वेदवाणी के हाथ को ग्रहण करता है तो **सः एव**=वही **एकधा**=मुख्यरूप से **पतिः**=इसका रक्षक है। २. वेदवाणी के दस भी रक्षक यदि वे ज्ञानी नहीं है, तो इसका रक्षण इसप्रकार से नहीं कर सकते, जैसेकि एक ज्ञानी इसकी रक्षा करता है। वे अज्ञानी प्रथम तो इसका अध्ययन न करके इसपर पत्र-पुष्प ही चढ़ाते रहेंगे। पढेंगे भी तो ऊटपटाँग अर्थ कर बैठेंगे, अतः वेदवाणी का रक्षक तो वस्तुतः ज्ञानी ही है। अल्पश्रुत (अब्राह्मण)से तो यह वेदवाणी डरती ही है। '**बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति।**'

भावार्थ—वेदवाणी का रक्षण यही है कि हम ज्ञानी बनकर समझदारी से इसका अध्ययन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मजाया** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्राह्मण का सर्वमहान् कर्त्तव्य

ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो३ न वैश्यः।
तत्सूर्यः प्रब्रुवन्नेति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः ॥ ९ ॥

१. वेदवाणी का **पतिः**=रक्षक **ब्राह्मणः एव**=ब्राह्मण ही है—वही व्यक्ति जिसका मुख्य कार्य वेदाध्ययन ही है, **न राजन्यः**=न तो प्रजा के रञ्जन में प्रवृत्त क्षत्रिय, **न वैश्यः**=न धन-धान्य की प्राप्ति के लिए देश-देशान्तर में प्रवेश करनेवाला वैश्य। क्षत्रिय या वैश्य के पास कार्यान्तर व्यापृति के कारण उतना अवकाश नहीं कि वेद का ही रक्षण करते रहें। ब्राह्मण को और कोई कार्य नहीं, अतः वह इस रक्षण-कार्य को ही करे। ब्रह्म—वेद को अपनाकर ही तो वह ब्राह्मण बनेगा। २. **सूर्यः**=सूर्यसम ज्योति ब्रह्म (प्रभु) **तत्**=ऊपर कही गई बात को **पञ्चभ्यः मानवेभ्यः**=पाँच भागों में बटे हुए (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अतिशूद्र—'निषाद') मनुष्यों के लिए **प्रब्रुवन् एति**=कहते हुए गति करते हैं—सर्वत्र व्याप्त हैं। ३. यहाँ सूर्य का अर्थ सूर्य ही लें तो अर्थ इसप्रकार होगा कि सूर्य पाँचों मनुष्यों के लिए उस बात को कहता हुआ गति करता है, अर्थात् यह बात अत्यन्त स्पष्ट है 'As clear as day light.'

भावार्थ—क्षत्रिय राजकार्य में व्यापृत होने से, वैश्य व्यापार में लगे होने से वेदवाणी का रक्षण उस प्रकार नहीं कर सकता जैसाकि एक ब्राह्मण। ब्राह्मण को तो इस ब्रह्म (वेद) को ही जीवन में सुरक्षित करने के लिए यत्नशील होना चाहिए।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मजाया** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देव, मनुष्य, राजा

पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या [अददुः]।
राजानः सत्यं गृह्णाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः ॥ १० ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार **देवाः**=देववृत्ति के वे ब्राह्मण, जो ब्रह्मजाया के रक्षक थे, वे **पुनः**=फिर गृहस्थ की समाप्ति पर **वै**=निश्चय से **अददुः**=औरों के लिए इसका ज्ञान देनेवाले होते हैं। **उत मनुष्याः**=और ये विचारशील लोग **पुनः अददुः**=फिर इस वेदवाणी को देते हैं। वानप्रस्थ बनकर औरों के लिए इसे प्राप्त कराते हैं। २. **राजानः**=अपने जीवन को बड़ा व्यवस्थित (Well- regulated) करते हुए **सत्यं गृह्णानाः**=सत्य का स्वीकार करते हुए **पुनः**=फिर गृहस्थ की समाप्ति पर **ब्रह्मजायां ददुः**=इस ब्रह्मजाया को—प्रभु से प्रादुर्भूत की गई वेदवाणी को लोगों के लिए देते हैं।

भावार्थ—देव, मनुष्य व राजा बनकर—देववृत्ति के बनकर, विचारशील व व्यवस्थित जीवनवाले बनकर हम वानप्रस्थ बनें और इस वेदज्ञान को औरों के लिए देनेवाले हों।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मजाया** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आदर्श संन्यासी

पुनर्दाय ब्रह्मजायां कृत्वा देवैर्निकिल्बिषम्।
ऊर्जं पृथिव्या भक्त्वोरुगायमुपासते ॥ ११ ॥

१. वानप्रस्थ में **ब्रह्मजायाम्**=प्रभु से प्रादुर्भूत की गई वेदवाणी को **पुनः दाय**=फिर से औरों के लिए देकर तथा **देवैः**=दिव्य गुणों के धारण से **निकिल्बिषं कृत्वा**=अपने जीवन को पाप-रहित करके **पृथिव्याः**=इस पृथिवीरूपी शरीर के **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति का **भक्त्वा**=सेवन

करके **उरुगायम्**=खूब ही गायन के योग्य प्रभु का **उपासते**=उपासन करते हैं। २. आदर्श संन्यासी का कर्त्तव्य है कि वह (क) अपने जीवन को दिव्य, पापशून्य बनाये, (ख) शरीर को स्वस्थ व सबल रक्खे (ग) शक्ति की स्थिरता के लिए प्रभु का उपासन करे।

भावार्थ—हम देव बनें, पापों से दूर रहें, शरीर को स्वस्थ व सबल बनाएँ, प्रभु का उपासन करें। यही सच्चा संन्यास है।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मजाया** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वेदत्याग व पाप-प्रसार

नास्य जाया शतवाही कल्याणी तल्पमा शये।
यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या॥ १२॥
न विकर्णः पृथुशिरास्तस्मिन्वेश्मनि जायते।
यस्मिन्राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या॥ १३॥

१. **यस्मिन् राष्ट्रे**=जिस राष्ट्र में **अचित्या**=नासमझी के कारण **ब्रह्मजाया**=प्रभु से प्रादुर्भूत की गई (ब्रह्मणः जायते) यह वेदवाणी **निरुध्यते**=रोकी जाती है, अर्थात् जहाँ वेदज्ञान का प्रचार नहीं होता, वहाँ **अस्य**=इस ब्रह्मजाया का निरोध करनेवाले पुरुष की **जाया**=पत्नी जो **शतवाही**=घर के सैकड़ों कार्यों को करनेवाली व **कल्याणी**=मङ्गल-साधिका होनी चाहिए थी, वह **न तल्पम् आश्ये**=अपने बिछौने पर नहीं सोती, अर्थात् वह सती न रहकर स्वैरिणी बन जाती है, तब शतवाहीत्व और कल्याणीत्व का तो प्रसङ्ग ही नहीं रहता। २. इसीप्रकार जिस घर में वेदाध्ययन की परिपाटी नहीं रहती **तस्मिन् वेश्मनि**=उस घर में **विकर्णः**=विशिष्ट श्रोत्रशक्तिवाला—शास्त्रों का खूब ही श्रवण करनेवाला **पृथुशिराः**=विशाल मस्तिष्कवाला सन्तान **न जायते**=उत्पन्न नहीं होता। माता-पिता जब अध्ययन ही नहीं करेंगे तब सन्तान ज्ञान की रुचिवाले कैसे होंगे?

भावार्थ—जिन घरों में वेदाध्ययन की परिपाटी नहीं रहती, वहाँ स्त्रियों का आचरण ठीक नहीं रहता और सन्तान पठन की रुचिवाले नहीं होते, निर्बल-मस्तिष्क सन्तान उत्पन्न होते हैं।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मजाया** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वेदत्याग व मूर्ख अनादृत राजा

नास्य क्षत्ता निष्कग्रीवः सूनानामेत्यग्रतः।
यस्मिन्राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या॥ १४॥
नास्य श्वेतः कृष्णकर्णो धुरि युक्तो महीयते।
यस्मिन्राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या॥ १५॥

१. **यस्मिन् राष्ट्रे**=जिस राष्ट्र में **अचित्या**=नासमझी से **ब्रह्मजाया**=प्रभु से प्रादुर्भूत की गई यह वेदवाणी **निरुध्यते**=निरुद्ध की जाती है, अर्थात् जहाँ ज्ञान के प्रसार पर बल नहीं दिया जाता, वहाँ **अस्य**=इस राष्ट्र-रथ का **क्षत्ता**=सारथि **निष्कग्रीवः**=सुवर्णवत् दीप्त ज्ञान के कण्ठहारवाला **सूनानाम्**=ज्ञान-रश्मियों के (सूना=A ray of light) **अग्रतः न ऐति**=आगे नहीं चलता, अर्थात् ज्ञान का प्रसार न होने पर राष्ट्र का सारथि भी ज्ञानी नहीं रहता और मूर्ख राजा राष्ट्र-रथ को लक्ष्य से दूर ले-जाता है। २. इसीप्रकार जिस राष्ट्र में नासमझी से वेदवाणी के प्रसार का निरोध होता है, **अस्य**=इस राष्ट्र का **श्वेतः**=श्वेत, अर्थात् शुद्ध आचरणवाला **कृष्णकर्णः**=आकृष्ट किये हैं कर्ण जिसने, अर्थात् जिसकी आज्ञा को सब प्रजा सुनती है, **धुरियुक्तः**=राष्ट्र-शकट के

जुए में जुता हुआ राजा **न महीयते**=उत्तम महिमा को प्राप्त नहीं होता, अर्थात् इस राष्ट्र में राजा भी मलिन कर्मोंवाला तथा प्रजा से उपेक्षित व अनादृत होता है।

भावार्थ—ज्ञान के प्रचार के अभाव में राष्ट्र में राजा भी ज्ञानी नहीं रहता और अन्ततः मलिन कर्मोंवाला व प्रजा से उपेक्षित व अनादृत हो जाता है।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मजाया** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मद्यशाला नकि पुष्करिणी

नास्य क्षेत्रे पुष्करिणी नाण्डीकं जायते बिसम्।
यस्मिन्राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या॥ १६॥
नास्मै पृश्निं वि दुहन्ति येऽस्या दोहमुपासते।
यस्मिन्राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या॥ १७॥

१. **यस्मिन् राष्ट्रे**=जिस राष्ट्र में **अचित्या**=नासमझी के कारण **ब्रह्मजाया निरुध्यते**=प्रभु से प्रादुर्भूत की गई यह वेदवाणी रोकी जाती है, **अस्य क्षेत्रे**=इस राष्ट्र के खेतों में **पुष्करिणी**=कमलोंवाले तलाब **न जायते**=नहीं होते तथा **आण्डीकं बिसम्**=बीजों से युक्त भिस व कमलकन्द नहीं होते, अर्थात् इस राष्ट्र में कमल आदि का उत्पादन न होकर तम्बाकू आदि की खेती होने लगती है। २. इसीप्रकार जिस राष्ट्र में वेदज्ञान के प्रसार की व्यवस्था नहीं होती, उस राष्ट्र के राजा के लिए **पृश्निं न विदुहन्ति**=इस वेदवाणी का—ज्ञान-रश्मियों के सम्पर्कवाले ग्रन्थों का दोहन वे लोग नहीं करते **ये**=जोकि **अस्या**=इसके **दोहम्**=दुग्ध का **उपासते**=उपासन करते हैं, अर्थात् ज्ञानी पुरुष इस राजा को ज्ञान देने के लिए यत्नशील नहीं होते। राजा ज्ञान की रुचिवाला न होने से ज्ञान का पात्र ही नहीं रहता।

भावार्थ—जिस राष्ट्र में ज्ञान का प्रसार नहीं होगा, वहाँ लोग पुष्करिणियों के निर्माण के स्थान में मद्यशालाओं का निर्माण करेंगे, कमलों का स्थान तम्बाकू ले-लेगा। राजा ज्ञानियों से घिरा हुआ होने के स्थान में खुशमदियों में घिरा हुआ होगा।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मजाया** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कुत्ता न कि धेनु

नास्य धेनुः कल्याणी नानड्वान्त्सहते धुरम्।
विजानिर्यत्र ब्राह्मणो रात्रिं वसति पापया॥ १८॥

१. **यत्र**=जिस राष्ट्र में **ब्राह्मणः**=ब्राह्मण भी **विजानिः**=(विगता जाया—ब्रह्मजाया यस्य) वेदवाणिरूपी ब्रह्मजाया से रहित होकर **रात्रिं पापया वसति**=रात्रि में कुकर्म से निवास करता है, अर्थात् असंयत जीवनवाला होकर पाप में चलता जाता है। **अस्य**=इस राष्ट्र की **धेनुः**=गाय **कल्याणी न**=लोककल्याण करनेवाली नहीं होती और **न**=नहीं **अनड्वान्**=बैल **धुरं सहते**=गाड़ी में जुए को धारण करनेवाला होता है, अर्थात् इस राष्ट्र में गोपालन ठीक से न होने के कारण गौ और बैल की नस्ल क्षीण हो जाती है। घरों में गौओं का स्थान कुत्तों को मिल जाता है। लोग भी कुत्तों की भाँति ही लड़ने की प्रवृतिवाले बन जाते हैं।

भावार्थ—जिस राष्ट्र में ब्राह्मण ज्ञानरुचि न रहकर असंयत आचरणवाले हो जाते हैं, वहाँ लोगों में गोपालन की रुचि न रहकर कुत्तों के पालन की प्रवृत्ति पनप उठती है।

१८. [अष्टादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्राह्मण की अनाद्या गौ

नैतां ते देवा अददुस्तुभ्यं नृपते अत्तवे।
मा ब्राह्मणस्य राजन्य गां जिघत्सो अनाद्याम्॥ १॥

१. प्रभुकृपा से राष्ट्र में ज्ञानी ब्राह्मणों की उत्पति होती है। इनके द्वारा राष्ट्र में ज्ञान का प्रसार होता है। यदि कोई राजा शक्ति के गर्व में इनकी वाणी पर प्रतिबन्ध लगा देता है, तो वह राजा राष्ट्र का अकल्याण ही करता है। **ते देवाः**=वे सब देव—सब प्राकृतिक शक्तियाँ, हे **नृपते**=राजन्! **एताम्**=इस ब्राह्मणवाणी को **तुभ्यम्**=तेरे लिए **अददुः**=देते हैं, **न अत्तवे**=खा जाने के लिए नहीं। राष्ट्र में उत्पन्न हुए-हुए इन ब्राह्मणों की वाणी पर तुम प्रतिबन्ध लगा दो, यह ठीक नहीं। २. हे **राजन्य**=प्रकृति का रञ्जन करनेवाले राजन्! **ब्राह्मणस्य**=ब्राह्मण की **गाम्**=वाणी को तू **मा जिघत्सः**=खा जाने की कामना मत कर, यह **अनाद्याम्**=खा जाने योग्य नहीं है। तुझे इन ज्ञान की वाणी को सुनना चाहिए और उसके अनुसार ही राष्ट्र के पालन की व्यवस्था करनी चाहिए।

भावार्थ—प्रभु व सब देव राष्ट्र में ज्ञानी ब्राह्मणों को जन्म देने का अनुग्रह करते हैं। एक अत्याचारी राजा इन ब्राह्मणों की वाणी पर प्रतिबन्ध लगाने की सोचता है। उसे इस वाणी को अनाद्या समझना चाहिए और उसपर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहिए।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अक्षद्रुग्ध राजन्य

अक्षद्रुग्धो राजन्यः पाप आत्मपराजितः।
स ब्राह्मणस्य गामद्यादद्य जीवानि मा श्वः॥ २॥

१. **अक्षद्रुग्धः**=अपनी इन्द्रियों से ही जिघांसित—विषयासक्ति के कारण पाप की ओर ले-जाया गया **राजन्यः**=क्षत्रिय राजा **पापः**=पापमय जीवनवाला होता है। **आत्मपराजित**=वह अपने से ही पराजित हुआ-हुआ होता है, उसकी इन्द्रियाँ तथा मन ही उसे हरा देते हैं, वह इनका दास बन जाता है। २. नासमझी के कारण यह राष्ट्र के ज्ञानी ब्राह्मणों की वाणी पर प्रतिबन्ध लगाने की सोचता है, जिससे वे उसके उच्छृङ्खल जीवन पर कोई टीका-टिप्पणी न कर दें, परन्तु **सः**=वह पापी राजा **ब्राह्मणस्य गाम्**=इस ज्ञानी ब्राह्मण की वाणी को यदि **अद्यात्**=खाये तो वह निश्चय से यह समझ ले कि **अद्य जीवानि**=आज बेशक जी ले **न श्वः**=कल न जी पाएगा, अर्थात् इसका शीघ्र ही विनाश हो जाएगा।

भावार्थ—जो विलासी राजा ज्ञानी ब्राह्मणों की वाणी पर प्रतिबन्ध लगाता है, इस वाणी का ध्वंस करके वह देर तक जीवित नहीं रहता।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अघविषा पृदाकूः इव

आविष्टिताघविषा पृदाकूरिव चर्मणा। सा ब्राह्मणस्य राजन्य तृष्टैषा गौरनाद्या॥ ३॥

१. हे **राजन्य**=क्षत्रिय! **सा ब्राह्मणस्य गौः**=वह ब्राह्मण की वाणी **अनाद्या**=खाने योग्य नहीं है, इसपर प्रतिबन्ध लगाना ठीक नहीं है। **एषा**=यह ब्राह्मण की वाणी **चर्मणा आविष्टिता**=चमड़े से ढकी हुई **तृष्टा**=प्यास से व्याकुल **पृदाकूः इव**=सर्पिणी के समान **अघविषा**=भयंकर (कष्टप्रद)

विष से भरी होती है, इसे खानेवाला तो मरेगा ही।

भावार्थ—ब्राह्मण की वाणी पर प्रतिबन्ध लगाना विषैली सर्पिणी का विष खने के समान है।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

'क्षत्र व वर्चस्' का विनाश

निर्वै क्षत्रं नयति हन्ति वर्चोऽग्निरिवारब्धो वि दुनोति सर्वम्।
यो ब्राह्मणं मन्यते अन्नमेव स विषस्य पिबति तैमातस्य ॥ ४ ॥

१. **यः**=जो घमण्डी राजा **ब्राह्मणम्**=ब्रह्मज्ञानी को **अन्नं मन्यते**=(अद्यते) खा जाने योग्य मानता है और उसके ज्ञान-प्रसार-कार्य पर प्रतिबन्ध लगा देता है, **सः**=वह राजा इस कार्य को करता हुआ मानो **तैमातस्य विषस्य पिबति**=फनियर नाग के विष को ही पीता है। २. यह ब्रह्मप्रतिबन्धक राजा **वै**=निश्चय से **क्षत्रम्**=बल को **निः नयति**=बाहर फेंक देता है, अर्थात् इसका बल नष्ट हो जाता है। यह **वर्चः हन्ति**=अपनी प्राणशक्ति को नष्ट कर लेता है, परिणामतः रुग्ण शरीरवाला हो जाता है और **आरब्धः**=चारों (आ+रभ्) ओर से लगी हुई **अग्निः इव**=अग्नि के समान **सर्वं विदुनोति**=अपना सब-कुछ जला बैठता है, राष्ट्र को ही विनष्ट कर लेता है।

भावार्थ—ज्ञानप्रसार पर प्रतिबन्ध लगाना भयंकर विष को पीने के समान है। इससे राष्ट्र की शत्रुप्रतिरोधक शक्ति नष्ट हो जाती है, राष्ट्र के व्यक्तियों की प्राणशक्ति क्षीण हो जाती है, सारा राष्ट्र भस्म-सा हो जाता है।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'धनकामः देवपीयुः' राजा

य एनं हन्ति मृदुं मन्यमानो देवपीयुर्धनकामो न चित्तात्।
सं तस्येन्द्रो हृदयेऽग्निमिन्ध उभे एनं द्विष्टो नभसी चरन्तम् ॥ ५ ॥

१. **यः**=जो राजा **धनकामः**=केवल धन की कामनावाला हो जाता है और **देवपीयुः**=देवों को भी हिंसित करनेवाला होता है, वह **एनम्**=इस ब्राह्मण को **मृदुं मन्यमानः**=कोमल (निर्बल) मानता हुआ **हन्ति**=इसे विनष्ट करता है। यदि यह राजा **न चित्तात्**=नहीं समझता और अपने अत्याचार में लगा रहता है तो **इन्द्रः**=वे सर्वशक्तिमान् प्रभु **तस्य हृदये**=उसके हृदय में **अग्निं समिन्धे**=अग्नि को समिद्ध करते हैं—यह शोकाग्नि से सन्तप्त होता रहता है। २. **उभे नभसी**=दोनों द्यावापृथिवी **चरन्तं एनम्**=(अत्याचरन्तम्) अत्याचार करते हुए इस राजा को **द्विष्टः**=प्रीति नहीं करते, अर्थात् इसके राष्ट्र में आधिदैविक आपत्तियाँ उपस्थित होती हैं—सूर्य अधिक तपने लगता है, पृथिवी प्रभूत अन्न उत्पन्न नहीं करती। ज्ञान के अभाव में लोगों की वृत्तियों के वैषयिक हो जाने से इन विपत्तियों का आना स्वाभाविक ही है। ऐसे राष्ट्रों में अतिवृष्टि आदि हुआ ही करती हैं।

भावार्थ—यदि राजा ब्राह्मण को मृदु मानकर उसपर अत्याचार करता है और उसके ज्ञान-प्रसार के कार्य पर प्रतिबन्ध लगता है तो अन्त में उसे शोकाग्नि में जलना पड़ता है। उसके राष्ट्र में आधिदैविक आपत्तियाँ उपस्थित होती हैं।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अग्नि, सोम, इन्द्र (पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक)

न ब्राह्मणो हिंसितव्यो३ऽग्निः प्रियतनोरिव।
सोमो ह्यस्य दायाद इन्द्रो अस्याभिशस्तिपाः ॥ ६ ॥

१. राजा को राष्ट्र में **ब्राह्मणः न हिंसितव्यः**=ज्ञानी का हिंसन नहीं करना चाहिए। यह ज्ञानी तो **प्रियतनोः अग्निः इव**=प्रिय शरीर की अग्नि के समान है, अर्थात् शरीर में अग्नि न रहे तो जैसे वह मृत हो जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी के न रहने पर तो राष्ट्र-शरीर मृत ही हो जाएगा। २. **सोमः**=शान्त प्रभु **ही**=निश्चय से **अस्य दायादः**=इसका बन्धु है और **इन्द्रः**=सर्वशक्तिमान् प्रभु **अस्य अभिशस्तिपाः**=इसका हिंसा व निन्दा से रक्षक है। यह ब्राह्मण तो सोम व इन्द्र ही होता है—शान्त व शक्तिमान्। अथवा 'सोम' चन्द्रमा तथा 'इन्द्र' सूर्य के समान व्यवस्थित जीवनवाला होने से यह राष्ट्र में शन्ति और शक्ति का विस्तार करनेवाला होता है।

भावार्थ—राजा को ज्ञानी ब्राह्मण पर ज्ञान-प्रसार के कार्यों में प्रतिबन्धरूप अत्याचार नहीं करना चाहिए। यह ज्ञानी तो राष्ट्र शरीर में अग्नि के समान जीवन का संरक्षक होता है। यह राष्ट्र में सोम और इन्द्र (चन्द्र-सूर्य) के समान शान्ति व शक्ति का विस्तारक होता है।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ज्ञान-प्रसार-केन्द्रों की समाप्ति से दुर्व्यवस्थाओं का बोलबाला

शतापाष्ठां नि गिरति तां न शक्नोति निःखिदन्।
अन्नं यो ब्रह्मणां मल्वः स्वाद्व१द्मीति मन्यते॥ ७॥

१. **यः मल्वः**=जो मलिन इच्छाओंवाला राजा **ब्रह्मणां अन्नम्**=ज्ञानी ब्राह्मणों के अन्न को **स्वादु अद्मि इति मन्यते**=यह कितना स्वादिष्ट है 'इसे मैं खा जाऊँ' ऐसा सोचता है, अर्थात् जो ज्ञानी ब्राह्मणों के ज्ञान-प्रसार के साधनभूत स्थानों को छीनना चाहता है, वह **शत+अपाष्ठाम्**=सैकड़ों अपाष्ठाओंवाली—बहुत दुर्भाग्यों से युक्त विपत्ति को ही **निगिरति**=खाता है—प्राप्त होता है और **तां निःखिदन्**=उस अपाष्ठा को नष्ट करने का यत्न करता हुआ भी **न शक्नोति**=उसे दूर करने में समर्थ नहीं होता।

भावार्थ—जो राजा ज्ञानी ब्राह्मणों के ज्ञान-प्रसार-केन्द्रों को ही खा जाना चाहता है, अर्थात् समाप्त कर देता है, वह राष्ट्र में बहुत दुर्गतियों व अव्यवस्थाओं का कारण बनता है और अन्य कितने भी यत्नों से वह इन दुर्गतियों को दूर नहीं कर पाता।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ब्रह्मा द्वारा देवपीयुओं का वेधन

जिह्वा ज्या भवति कुल्मलं वाङ् नाडीका दन्तास्तपसाभिदिग्धाः।
तेभिर्ब्रह्मा विध्यति देवपीयून्हृद्बलैर्धनुर्भिर्देवजूतैः॥ ८॥

१. ब्राह्मण की **जिह्वा**=जीभ **ज्या भवति**=धनुष की डोरी होती है, **वाक्**=वाणी **कुल्मलम्**=धनुष् का दण्ड हो जाती है और **तपसा अभिदिग्धाः**=तप व तेज से लिप्त **दन्ताः**=दाँत **नाडीकाः**='नालीक' नामक बाण हो जाते हैं (न अलीक=न झूठे, अर्थात् शत्रु को अवश्य नष्ट करनेवाले)। २. **तेभिः**=उनके द्वारा **ब्रह्मा**=यह ज्ञानी **देवपीयून्**=देवहिंसक राजाओं को **विध्यति**=बींधता है—नष्ट करता है, उन **धनुर्भिः**=धनुषों से बींधता है, जोकि **हृद्बलैः**=हृदय की शक्ति से युक्त हैं तथा **दैवजूतैः**=दिव्य शक्तियों से प्रेरित हैं।

भावार्थ—तपस्वी, ज्ञानी ब्राह्मण की वाणी शत्रुवेधक शर के समान होती है। हृदय की शक्ति से सम्पन्न, दिव्यभाव से प्रेरित यह शर देवहिंसक राजा को विद्ध करता है।

ऋषि:—**मयोभू:** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्** ॥

ब्राह्मण-वाणी+बाण

तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हेतिमन्तो यामस्यन्ति शरव्यां३ न सा मृषा।
अनुहाय तपसा मन्युना चोत दूरादव भिन्दन्त्येनम्॥ ९॥

१. **ब्राह्मणा:**=ज्ञान का प्रसार करनेवाले ब्राह्मण **तीक्ष्णेषव:**=बड़े तीक्ष्ण बाणोंवाले होते हैं, वे **हेतिमन्त:**=घातक अस्त्रोंवाले—वज्रवाले होते हैं। ये लोग **यां शरव्याम्**=जिस बाणसमूह को—ज्ञान की वाणीरूप बाण को **अस्यन्ति**=छोड़ते हैं, **सा न मृषा**=वे झूठे नहीं होते। यह वाणीरूप बाण अवश्य शत्रु का विनाश करता है। २. ये ब्राह्मण **तपसा**=तप के द्वारा **मन्युना च**=और ज्ञानदीप्ति (मन अवबोधे) के द्वारा **अनुहाय**=पीछा करके **दूरात् उत**=दूर से ही **एनम्**=इस अत्याचारी राजा को **अवभिन्दन्ति**=विदीर्ण कर देते हैं।

भावार्थ—ब्राह्मणों का वणीरूप बाण शत्रुओं को शीर्ण कर डालता है। तप व ज्ञान से सम्पन्न ये ब्राह्मण प्रजाओं के शत्रुभूत राजा को दूर से ही विनष्ट कर देते हैं।

ऋषि:—**मयोभू:** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

वैतहव्यों का पराभव

ये सहस्रमराजन्नासन्दशशता उत।
ते ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा वैतहव्याः पराभवन्॥ १०॥

१. **ये**=जो **वैतहव्या:**=दान-योग्य हव्यपदार्थों को स्वयं खा जानेवाले—प्रजा से प्राप्त 'कर' को प्रजाहित में विनियुक्त न करके अपनी मौज में व्यय करनेवाले राजा **सहस्रम्**=(सहस्=बल) बल-सम्पन्न सेना का **अराजन्**=शासन करते थे, **उत**=और स्वयं भी **दशशता: आसन्**=हज़ारों की संख्या में थे, अर्थात् बड़े परिवार या बन्धुवाले थे, **ते**=वे **ब्राह्मणस्य**=ब्राह्मण की **गां जग्ध्वा**=ज्ञान की वाणी को खाकर **पराभवन्**=पराभूत हो गये। २. ये वैतहव्य राजा कितने भी प्रबल हों यदि ये अपने बल के अभिमान में ज्ञानी ब्राह्मणों की वाणी पर प्रतिबन्ध लगाना चाहेंगे तो इनका पराभव ही होगा।

भावार्थ—बल के अभिमान में विलासी राजा ब्राह्मणों की वाणी पर प्रतिबन्ध लगाते हैं और परिणामत: विनष्ट हो जाते हैं।

ऋषि:—**मयोभू:** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

केसरप्राबन्धा वाणी

गौरिव तान्हन्यमाना वैतहव्याँ अवातिरत्।
ये केसरप्राबन्धायाश्चरमाजामपेचिरन्॥ ११॥

१. **गौ: एव**=यह ब्राह्मण की ज्ञानरूप गौ ही **हन्यमाना**=मारी जाती हुई **तान् वैतहव्यान्**=उन कर-प्राप्त धनों को खा जानेवाले—अपने विलास में व्यय कर डालनेवाले राजाओं को **अवातिरत्**=मार डालती है। २. उन वैतहव्यों को यह वाणी नष्ट कर देती है, **ये**=जो **केसरप्रा-बन्धाया:**=(के+सर+प्र+अबन्धा) सुख-प्रसार के लिए बन्धनरहित, अर्थात् निश्चितरूप से सुख प्राप्त करानेवाली ज्ञानी ब्रह्मण की वाणी की **चरमाजाम्**=(चरमा अजा=गतिक्षेपणयो:) अन्तिम चेतावनी को भी **अपेचिरन्**=पचा डालते हैं—हज़म कर जाते हैं, अर्थात् उसे भी नहीं सुनते।

भावार्थ—जो प्रजा से दिये गये कर को विलास में व्यय करनेवाले राजा हैं और ज्ञानियों से दी गई चेतावनी की परवाह नहीं करते, वे अन्तत: विनष्ट हो जाते हैं।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्राह्मणी प्रजा के हिंसन का परिणाम

एकशतं ता जनता या भूमिर्व्य॑धूनुत।
प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन्॥ १२॥

१. **ताः जनताः**=वे लोग **एकशतम्**=एक सौ एक थे—सैकड़ों थे **याः भूमिः व्यधूनुत**=जिन्हें भूमि ने कम्पित कर दिया। **ब्राह्मणीम्**=ज्ञानी पुरुष के पीछे चलनेवाली **प्रजा हिंसित्वा**=प्रजा को नष्ट करके ये प्रजापीड़क राजा **असंभव्यं पराभवम्**=बिना सम्भावना के ही परास्त हो गये। २. जब राजा प्रजा पर अत्याचार करने लगता है तब प्रजा किसी ज्ञानी की शरण में जाती है और वस्तुतः उस ज्ञानी की ही हो जाती है। इस प्रजा पर राजा खूब अत्याचार करता है, परन्तु अन्त में न जाने कैसे, उस प्रभु की व्यवस्था से वह नष्ट हो जाता है। कल्पना भी नहीं होती कि यह विनष्ट हो जाएगा, परन्तु वह ऐसे नष्ट हो जाता है, जैसे भूकम्प से एक महल नष्ट हो जाता है। कितने ही ऐसे अत्याचारियों को पृथिवी ने अन्ततः कम्पित कर दिया।

भावार्थ—ब्राह्मणी प्रजा पर अत्याचार करके राजा कल्पनातीत ढंग से विनष्ट हो जाता है।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गरगीर्णः अस्थिभूयान्

देवपीयुश्चरति मर्त्येषु गरगीर्णो भवत्यस्थिभूयान्।
यो ब्राह्मणं देवबन्धुं हिनस्ति न स पितृयाणमप्येति लोकम्॥ १३॥

१. **देवपीयुः**=देवों—ज्ञानियों का हिंसन करनेवाला राजा **मर्त्येषु**=मनुष्यों में **गरगीर्णः चरति**=मानो विष पिये हुए घूमता है, अर्थात् उसकी अवस्था वही हो जाती है, जो उस पुरुष की, जिसने कि ग़लती से विष पी लिया हो। यह **अस्थिभूयान् भवति**=हड्डी-हड्डीवाला हो जाता है—अस्थि-पंजर-सा रह जाता है। २. **यः**=जो **देवबन्धुम्**=प्रभु के मित्र **ब्राह्मणम्**=ज्ञानी पुरुष का **हिनस्ति**=हिंसन करता है, **सः**=वह राजा देवयानलोक को प्राप्त करने की बात तो दूर रही **पितृयाणं लोकं अपि न एति**=पितृयाणलोक को भी प्राप्त नहीं करता। यदि यह प्रजा का रक्षण करता तभी तो पितृयाणलोक को प्राप्त करता। ब्राह्मणी प्रजा का हिंसन करने से इसके लिए इस लोक की प्राप्ति सम्भव कहाँ? यह तो विनष्ट ही होता है।

भावार्थ—जो राजा देवों का हिंसन करता है, वह विष पिये हुए के समान अस्थि-पंजर-सा रह जाता है, इसे उत्तम लोक की प्राप्ति नहीं होती।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'अग्नि, सोम, इन्द्र'

अग्निर्वै नः पदवायः सोमो दायाद उच्यते।
हन्ताभिशस्तेन्द्रस्तथा तद्वेधसो विदुः॥ १४॥

१. **वेधसः**=ज्ञानी पुरुष **तथा**=उस प्रकार से **तत्**=उस बात को **विदुः**=जानते हैं कि **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **वै**=निश्चय से **नः**=हमारा **पदवायः**=पथ-प्रदर्शक है (पदं आप्तव्यस्थानं वाययति गमयति) हमें लक्ष्य-स्थान की ओर ले-जानेवाला है। २. **सोमः**=सोमरूप प्रभु हमारा **दायादः**=बन्धु **उच्यते**=कहा जाता है। यह **इन्द्रः**=शत्रु-विद्रावक प्रभु ही **अभिशस्ता**=अत्याचारियों पर शस्त्र-प्रहार करनेवाला व **हन्ता**=उन्हें विनष्ट करनेवाला है।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष अग्निरूप प्रभु को अपना पथ-प्रदर्शक जानते हैं, वे सोम प्रभु को अपना बन्धु समझते हैं और उन्हें यह विश्वास होता है कि 'इन्द्र' प्रभु अत्याचारियों का विनाश करते ही हैं।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

नृपते-गोपते

इषुरिव दिग्धा नृपते पृदाकूरिव गोपते।
सा ब्राह्मणस्येषुर्घोरा तया विध्यति पीयतः ॥ १५ ॥

१. हे **नृपते**=मनुष्यों के पालक राजन्! **दिग्धा इषुः इव**=उपर्युक्त ब्राह्मण-वाणी विषबुझे तीर का काम करती है, अत्याचारी को विषबुझे तीर के समान समाप्त कर देती है। हे **गोपते**=ज्ञान की वाणियों के रक्षक राजन्! **पृदाकूः इव**=ब्राह्मण-वाणी सर्पिणी की भाँति है। यह अत्याचारी को डसकर समाप्त कर देती है। २. **सा**=वह **ब्राह्मणस्य घोरा इषुः**=ब्राह्मण की वाणी ही घोर इषु (बाण) है, **तया पीयतः विध्यति**=उसके द्वारा यह देवहिंसकों का विनाश कर देती है।

भावार्थ—राजा को 'नृपति व गोपति' बनना चाहिए। वह प्रजा का रक्षण करे, ब्राह्मणों के द्वारा प्रसृत ज्ञानवाणी का भी रक्षण करे, अन्यथा यह वाणी उसे इसप्रकार समाप्त कर देती है, जैसकि विषबुझा तीर या विषैली सर्पिणी।

१९. [एकोनविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सृञ्जयों का वैतहव्य होने पर पतन

अतिमात्रमवर्धन्त नोदिव दिवमस्पृशन्।
भृगुं हिंसित्वा सृञ्जया वैतहव्याः पराभवन् ॥ १ ॥

१. **सृञ्जयाः**=आक्रान्ता (सृ) शत्रुओं को जीतनेवाले ये सृञ्जय **अतिमात्रम् अवर्धन्त**=खूब ही वृद्धि को प्राप्त हुए **न उत् इव**=केवल इतना ही नहीं कि वे वृद्धि को प्राप्त हुए, अपितु **दिवं अस्पृशन्**=उन्नत होते हुए उन्होंने तो द्युलोक को जा छुआ। '**अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति। ततः सपत्नान् जयति**'। ये सृञ्जय जब **वैतहव्याः**=कर-प्राप्त धन को खानेवाले बने तब **भृगुम्**=ज्ञान-परिपक्व ब्राह्मण को **हिंसित्वा**=नष्ट करके, उसे ज्ञान-प्रसार आदि कार्यों से रोककर **पराभवन्**=पराभूत हो गये।

भावार्थ—जब राजा सृञ्जय—आक्रान्ता शत्रुओं पर विजय पानेवाले होते हैं तब ये खूब ही बढ़ते है, उन्नति के शिखर पर पँहुचते है, परन्तु भोग-विलास में फँसते ही यह ज्ञानियों पर प्रतिबन्ध लगाना आरम्भ करते हैं। उन्हे हिंसित करके से स्वयं पराभूत हो जाते हैं—**समूलस्तु विनश्यति।**

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**विराट्पुरस्ताद्बृहती** ॥

'बृहत्सामा आङ्गिरस ब्राह्मण' के निरादर का परिणाम

ये बृहत्सामानमाङ्गिरसमार्पयन्ब्राह्मणं जनाः।
पेत्वस्तेषामुभयादमविस्तोकान्यावयत् ॥ २ ॥

१. **ये जनाः**=जो लोग **बृहत् सामानम्**=महान् प्रभु के उपासक **आङ्गिरसम्**=अंगारों के समान ज्ञानदीप्त **ब्राह्मणम्**=ब्रह्मज्ञानी पुरुष को **आर्पयन्**=(ऋ हिंसायाम्) हिंसित करते हैं, **तेषां**

तोकानि=उनके सन्तानों को **पेत्वः**=सबका पालक **अविः**=रक्षक प्रभु **उभयादम् आवयत्**=अपने दोनों जबड़ों के बीच में चबा डालता है (वी खादने)। २. द्युलोक व पृथिवीलोक ही प्रभु के जबड़े हैं। ज्ञानी का हिंसन करनेवाले राजा लोग द्युलोक व पृथिवीलोक के कष्टों में पिस जाते हैं।

भावार्थ—राजा को प्रभु-भक्त व ज्ञान-दीप्त ब्राह्मणों का आदर करना चाहिए। उन्हें हिंसित करनेवाला राजा आधिदैविक आपत्तियों का शिकार हो जाता है।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्राह्मणों के निरादर से युद्धों में विनाश

ये ब्राह्मणं प्रत्यष्ठीवन्ये वास्मिञ्छुल्कमीषिरे।
अस्नस्ते मध्ये कुल्यायाः केशान्खादन्त आसते॥ ३॥

१. **ये**=जो राजा लोग राज्यशक्ति के गर्व में **ब्राह्मणं प्रत्यष्ठीवन्**=ब्राह्मण के प्रति थूकते हैं, अर्थात् उसका निरादर करते हैं, **ये वा**=अथवा जो **अस्मिन्**=इसपर **शुल्कम्**=कर को **ईषिरे**=(ईष glean, collect) उगाहते हैं, **ते**=वे **अस्नः**=रुधिर की **कुल्यायाः मध्ये**=नदी के बीच में 'कुल्याऽल्पा कृत्रिमा सरित्'—अपने-अपने राष्ट्र की रक्षा के लिए बनाई हुई कृत्रिम छोटी-छोटी नदियों के बीच में **केशान् खादन्तः**=एक-दूसरे के बालों को खाते हुए—एक-दूसरे को नोचते हुए **आसते**=स्थित होते हैं।

भावार्थ—ज्ञानियों का निरादर करनेवाले राजा परस्पर युद्धों में फँस जाते हैं और एक-दूसरे का नाश करने में लगे रहते हैं।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'वृषा वीरः' न जायते

ब्रह्मगवी पच्यमाना यावत्साभि विजङ्गहे।
तेजो राष्ट्रस्य निर्हन्ति न वीरो जायते वृषा॥ ४॥

१. **यावत्**=जब तक **सा ब्रह्मगवी**=वह ब्राह्मण की गौ **पच्यमाना**=कष्टों की अग्नि में तपाई जाती हुई **अभिविजङ्गहे**=तड़पती रहती है, अर्थात् जब तक ब्राह्मण की वाणी का आदर नहीं होता तब तक यह निरादृत ब्रह्मगवी **राष्ट्रस्य तेजः निर्हन्ति**=राष्ट्र के तेज को नष्ट कर देती है। इस राष्ट्र में **वीरः वृषा न जायते**=वीर धार्मिक पुरुषों का प्रादुर्भाव (विकास) नहीं होता।

भावार्थ—ब्राह्मण की वाणी पर प्रतिबन्ध लगे रहने पर ज्ञान के प्रसार के अभाव में अधर्म फैलता है, राष्ट्र में तेजस्विता नहीं रहती और धार्मिक वीर पुरुषों का प्रादुर्भाव नहीं होता।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

एक महान् पाप

क्रूरमस्या आशसनं तृष्टं पिशितमस्यते।
क्षीरं यदस्याः पीयते तद्वै पितृषु किल्बिषम्॥ ५॥

१. **अस्याः**=इस ब्रह्मगवी का—ब्राह्मण की ज्ञान-प्रसार की साधनभूत वाणी का **आशसनम्**=हिंसन **क्रूरम्**=एक अत्यन्त क्रूर कर्म है, अर्थात् यह एक बड़ा अत्याचार है, जो **पिशितम् अस्यते**=चमड़े की भाँति इसकी उधेड़बुन की जाती है, वह **तृष्टम्**=तृष्णा—प्रबल प्यास की भाँति दुःख देनेवाली है। २. **यत्**=जो **अस्याः**=इस ब्रह्मगवी का **क्षीरम्**=उपदेशामृतरूप दुग्ध

पीयते=नष्ट किया जाता है, **तत्**=वह **वै**=निश्चय से **पितृषु किल्बिषम्**=इन राष्ट्ररक्षक पुरुषों में बड़ा भारी पाप होता है।

भावार्थ—ब्राह्मण की वाणी का हिंसन एक क्रूर कर्म है। इसकी उधेड़बुन करते रहना प्रबल प्यास के समान पीड़ित करनेवाला है। इस वाणी के उपदेशामृत का हिंसन तो इन शासकों को बड़ा भारी दोष है—पाप है ।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्राह्मण-निरादर व राष्ट्रीय दरिद्रता

उ॒ग्रो राजा॒ मन्य॑मानो ब्राह्म॒णं यो जिघ॑त्सति।
परा॒ तत्सि॑च्यते रा॒ष्ट्रं ब्राह्म॒णो यत्र॑ जी॒यते॑॥ ६॥

१. **यः राजा**=जो राजा **मन्यमानः**=अपने बल का अभिमान करता हुआ **उग्रः**=क्रूर-स्वभाव का बनता है और **ब्राह्मणम्**=ज्ञान का प्रसार करनेवाले ज्ञानी पुरुष को **जिघत्सति**=खा जाना चाहता है और परिणामतः **यत्र**=जिस राष्ट्र में **ब्राह्मणः जीयते**=यह ब्राह्मण तंग किया जाता है (to be oppressed), अत्याचारित होता है **तत् राष्ट्रम्**=वह राष्ट्र **परासिच्यते**=शत्रु द्वारा निर्धन कर दिया जाता है—रिक्त कोशवाला हो जाता है।

भावार्थ—जिस राष्ट्र में राजा शक्ति के अभिमान में ब्राह्मणों पर क्रूरवृतिवाला होता है, वह राष्ट्र शीघ्र दरिद्र हो जाता है।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**विराडुपरिष्टाद्बृहती** ॥

अद्भुत गौ

अ॒ष्टाप॑दी चतुर॒क्षी चतुः॑श्रोत्रा॒ चतु॑र्हनुः।
द्व्या॑स्या॒ द्विजि॑ह्वा भू॒त्वा सा रा॒ष्ट्रमव॑ धूनुते ब्रह्म॒ज्यस्य॑॥ ७॥

१. यह ब्रह्मगवी कोई सामान्य गौ नहीं है। यह एक असाधारण गौ है, **अष्टापदी**=आठ इसके पाँव है, **चतुः अक्षी**=चार आँखोंवाली है, **चतुः श्रोत्राः**=चार कानोंवाली है, **चतुर्हनुः**=चार हनुओंवाली है, **द्व्यास्या**=दो मुखोंवाली है और **द्विजिह्वा**=दो जिह्वाओंवाली है, ऐसी **भूत्वा**=बनकर **सा**=वह **ब्रह्मज्यस्य**=ब्राह्मणों को पीड़ित करनेवाले राजा के **राष्ट्रम्**=राष्ट्र को **अवधूनुते**=कम्पित कर देती है। २. ब्रह्मगवी **अष्टापदी** है—आठों योगाङ्गों का प्रतिपादन करनेवाली है और उनके द्वारा आठों सिद्धियों को प्राप्त करानेवाली है। अथवा यह राष्ट्र के आठों सचिवों के कार्यों को ठीक से प्रतिपादन करनेवाली है। **चतुरक्षी**=चार वेदरूपी चार आँखोंवाली है। चार वेद ही इसकी चार आँखें हैं। **चतुः श्रोत्रा**=यह चारों आश्रमों व चारों वर्णों से सुनने योग्य है। **चतुर्हनुः**='साम, दान, दण्ड, भेद' रूप चारों उपायों में गतिवाली है (हन् गतौ) **द्व्यास्या**=यह दो मुखोंवाली है। एक मुख से राजकार्यों का प्रतिपादन करती है, तो दूसरे मुख से प्रजा के कार्यों को। एक से आचार्य के कर्त्तव्यों का प्रतिपादन करती है तो दूसरे से शिष्य के कर्त्तव्यों का। एक से पति के कर्त्तव्यों का प्रतिपादन करती है तो दूसरे से पत्नी के। यह ब्रह्मगवी एक पक्ष का ही प्रतिपादन नहीं करती। यह **द्विजिह्वा**=दो जिह्वाओंवाली है। एक से यह अभ्युदय का स्वाद लेती है, तो दूसरे से निःश्रेयस का—इहलोक और परलोक का। यह दोनों के स्वाद को मिलाकर लेती है। ब्रह्मगवी ब्रह्मज्य राजा के राष्ट्र को विनष्ट कर देती है।

भावार्थ—राजा को ब्रह्मगवी के महत्त्व को समझना चाहिए। गोहत्या भी पाप है, परन्तु ब्रह्मगवी की हत्या तो महापाप है। यह हत्या ब्रह्मज्य राजा के राष्ट्र को नष्ट कर डालती है।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दुच्छुना

तद्वै राष्ट्रमा स्रवति नावं भिन्नामिवोदकम्।
ब्रह्माणं यत्र हिंसन्ति तद्राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना॥ ८॥

१. **यत्र**=जिस राष्ट्र में **ब्रह्माणं हिंसन्ति**=ज्ञानी ब्राह्मण को हिंसित करते हैं, **तत् राष्ट्रम्**=उस राष्ट्र को **दुच्छुना**=दुष्ट विपत्ति (आधि-व्याधि) **हन्ति**=नष्ट कर डालती है। २. **वै**=निश्चय से **तत् राष्ट्रम्**=वह राष्ट्र **आस्रवति**=शत्रुओं के प्रवेश के द्वारा आस्रुत हो जाता है—खाली होकर नष्ट हो जाता है, **इव**=जैसेकि **भिन्नां नावम्**=फूटी नाव को **उदकम्**=पानी अन्दर प्रविष्ट होकर नष्ट कर देता है।

भावार्थ—ज्ञानी ब्राह्मण का हिंसन होने पर राष्ट्र पर दुष्ट विपत्तियाँ आपड़ती हैं। इस राष्ट्र में शत्रुओं का प्रवेश होकर दारिद्र्य घर कर लेता है।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वृक्ष-छाया का अभाव

तं वृक्षा अप सेधन्ति च्छायां नो मोपगा इति।
यो ब्राह्मणस्य सद्धनमभि नारद मन्यते॥ ९॥

१. हे **नारद**=(नरसमूहं द्यति) अभिमानवश नर-समूह को खण्डित व पीड़ित करनेवाले राजन्! **यः**=जो भी **ब्राह्मणस्य**=ज्ञानी ब्रह्मवेत्ता के **सत् धनम्**=उत्कृष्ट (सत्य) ज्ञानरूपी धन को **अभिमन्यते**=(अभिमन्=Injure, threaten) हानि पहुचाना चाहता है, अथवा उसे भयभीत करना चाहता है, अर्थात् जो राजा ज्ञान-प्रसार के कार्य पर प्रतिबन्ध लगाना चाहता है, **तम्**=उसे **वृक्षाः अपसेधन्ति**=वृक्ष अपने से दूर करते हैं और मानो कहते हैं कि **नः छायां मा उपगाः इति**=हमारी छाया में मत आओ, अर्थात् इस अत्याचारी राजा को वृक्ष-छाया का सुख भी प्राप्त नहीं होता।

भावार्थ—ब्राह्मण के ज्ञान-धन पर प्रतिबन्ध लगानेवाले अत्याचारी राजा के राज्य में वृष्टि न होने से छायावाले वृक्षों का भी अभाव हो जाता है।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देवकृत विष

विषमेतद्देवकृतं राजा वरुणोऽब्रवीत्।
न ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा राष्ट्रे जागार कश्चन॥ १०॥

१. **एतत्**=यह वेदज्ञान **विषम्**=(विशेषेण स्यति, छोऽन्तकर्मणि) विशेषरूप से बुराइयों का अन्त करनेवाला है। यह प्रभु से **देवकृतम्**=देवों के लिए दिया गया है। इसे **राजा**=संसार के शासक **वरुणः**=पापों के निवारक प्रभु ने **अब्रवीत्**=कहा है। सृष्टि के प्रारम्भ में इसका उच्चारण प्रभु द्वारा होता है। यह वेदज्ञान ही ब्राह्मण की वाणी का विषय बनता है। २. **ब्राह्मणस्य**=इस ज्ञानी ब्रह्मवेत्ता की **गाम्**=वाणी को **जग्ध्वा**=खाकर, हड़पकर, अर्थात् समाप्त करके, उसपर प्रतिबन्ध लगाकर **राष्ट्रे**=राष्ट्र में **कश्चन न जागार**=कोई जागरित व जीवित नहीं रहता। धर्मज्ञान का लोप हो जाने से सब लोग आलस्य आदि दोषों के शिकार हो जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु ने वेदज्ञान इसलिए दिया है, क्योंकि यह बुराइयों को समाप्त करनेवाला है। ब्रह्मणों द्वारा राष्ट्र में इसका प्रचार होता है। ब्राह्मण की वाणी पर प्रतिबन्ध लगाने से राष्ट्र में धर्म का लोप हो जाता है।

ऋषि:—**मयोभू:** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

ब्राह्मणी प्रजा पर अत्याचार का परिणाम

नवैव ता नवतयो या भूमिर्व्य ँधूनुत।
प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन्॥ ११॥

१. **ता:**=वे **नव नवतय:**=निन्यानवे लोग **या: भूमि: व्यधूनुत**=जिन्हें इस पृथिवी ने कम्पित कर दिया **ब्राह्मणीम्**=ज्ञानी ब्राह्मण से उपदिष्ट मार्ग पर चलनेवाली **प्रजाम्**=प्रजा को **हिंसित्वा**=हिंसित करके **असंभव्यम् एव पराभवन्**=अत्याचारी राजा इसप्रकार नष्ट हो गये जिसकी कोई कल्पना भी नहीं थी। २. राजा कई बार शक्ति के घमण्ड में धार्मिक प्रजा पर अत्याचार करने लगता है, परन्तु अन्तत: इसका असम्भव-से प्रतीत होनेवाले ढंग से विनाश हो जाता है।

भावार्थ—सैकड़ों राजा धार्मिक प्रजाओं पर अत्याचार करके अन्तत: विनष्ट हो जाते हैं।

ऋषि:—**मयोभू:** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

पदयोपनी कूदी

यां मृतायानुबध्नन्ति कूद्यं ँपदयोपनीम्। तद्वै ब्रह्मज्य ते देवा उपस्तरणमब्रुवन्॥ १२॥

१. **याम्**=जिस **कूद्यम्**=(कूङ् आर्तस्वरे, कुवं ददाति) आर्तस्वर को देनेवाली—दु:खितों के शब्द को पैदा करनेवाली **पदयोपनीम्**=(युप विमोहने) पाँवों को विमोहित (मूढ़) करनेवाली बेड़ी को **मृताय**=मरण-दण्ड के लिए (मृतं मरणम्, भावे क्त:) **अनुबध्नन्ति**=बाँधते हैं, हे **ब्रह्मज्य**=राष्ट्र में ज्ञान को नष्ट करनेवाले राजन्! **देवा:**=सब विद्वान् **वै**=निश्चय से **तत्**=उस बेड़ी को **ते उपस्तरणम्**=तेरे लिए सेज (शय्या) के रूप में **अब्रुवन्**=कहते हैं।

भावार्थ—'ब्रह्मज्य' राजा को कष्ट-स्वर-जनक, पाँवो को मूढबना देनेवाली बेड़ी में जकड़कर मृत्युदण्ड देना चाहिए। अत्याचारी राजा को दिया गया यह दण्ड अन्यों के लिए प्रत्यादर्श का काम करेगा।

ऋषि:—**मयोभू:** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

'कृपमाणा जीता' प्रजा के अश्रु

अश्रूणि कृपमाणस्य यानि जीतस्य वावृतु:।
तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमधारयन्॥ १३॥

१. **कृपमाणस्य**=(कृप दौर्बल्ये) दुर्बलीक्रियमाण—भूखा रखकर पीड़ित किये जाते हुए **जीतस्य**=पराभूत व्यक्ति के **यानि अश्रूणि**=जो आँसू **वावृतु:**=प्रवृत्त होते हैं, हे **ब्रह्मज्य**=राष्ट्र में ज्ञान को क्षीण करनेवाले राजन्! **देवा:**=देवों ने **तम् अपां भागम्**=उस जल के भाग को (अश्रुजलों को) **वै**=निश्चय से **ते अधारयन्**=तेरे लिए धारण किया है, तेरे लिए सुरक्षित रक्खा है।

भावार्थ—राष्ट्र में ज्ञानक्षय के द्वारा प्रजापीड़क राजा को उन पीड़ित, पराभूत प्रजाओं के अश्रुजलों को स्वयं पीना पड़ता है। वह सब अत्याचार अन्तत: राजा को स्वयं सहन करना पड़ता है।

ऋषि:—**मयोभू:** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

अत्याचारी राजा को मृत्यु-दण्ड

येन मृतं स्नपयन्ति श्मश्रूणि येनोन्दते। तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमधारयन्॥ १४॥

१. **येन**=जिस जल से **मृतं स्नपयन्ति**=मृतपुरुष को स्नान कराते हैं, **येन**=जिस जल से **श्मश्रूणि**=मुखस्थ बालों को **उन्दते**=गीला करते हैं, हे **ब्रह्मज्य**=ज्ञानक्षय के द्वारा प्रजापीड़क

राजन्! **देवाः**=देवों ने **तम्**=उस **अपां भागम्**=जलों के भाग को **ते अधारयन्**=तेरे लिए धारित किया है।

भावार्थ—ब्रह्मज्य राजा को मृत्युदण्ड देकर मलिन जल से उसके स्नान कराये जाने का दृश्य लोग देखें, ताकि वह सबके लिए प्रत्यादर्श बने ।

ऋषिः—**मयोभूः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अनावृष्टि का कष्ट

न वर्षं मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभि वर्षति।
नास्मै समितिः कल्पते न मित्रं नयते वशम्॥ १५॥

१. **ब्रह्मज्यम्**=ज्ञानक्षय करनेवाले राजा के राष्ट्र में **मैत्रावरुणम् वर्षम्**=मित्र व वरुण-सम्बन्धी वृष्टि **न अभिवर्षति**=नहीं बरसती (मित्र-वरुण=अम्लजन व उद्रजन=वे वायुएँ जिनसे जल बनता है)। इस राष्ट्र में अनावृष्टि का दुःखदायी कष्ट होता है। २. **अस्मै**=इस ब्रह्मज्य राजा के लिए **समितिः**=राष्ट्रसभा **न कल्पते**=सामर्थ्य को बढ़ानेवाली नहीं होती और यह राजा **मित्रम्**=मित्र-राष्ट्र से भी **वशं न नयते**=इच्छानुकूल कार्य नहीं कर पाता।

भावार्थ—ब्रह्मज्य राजा के राष्ट्र में अनावृष्टि आदि आधिदैविक कष्ट आते हैं, राष्ट्र ब्रह्मसभा इसके सामर्थ्य को बढानेवाली नहीं होती, मित्रराष्ट्र भी इसके अनुकूल नहीं रहते।

विशेष—ब्रह्मज्य राजा के राष्ट्र की दुर्दशा का चित्रण करके संकेत दिया है कि हमें ज्ञान का आदर करते हुए ज्ञानवृद्धि द्वारा ब्रह्मा बनने का प्रयत्न करना है। यह ब्रह्मा ही अगले दो सूक्तों का ऋषि है। ब्रह्मज्य न होकर राजा ब्रह्मा होगा तो इसके राष्ट्र में सदा विजय-दुन्दुभि का नाद उठेगा—

२०. [विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

उच्चैर्घोषः दुन्दुभिः

उच्चैर्घोषो दुन्दुभिः सत्वनायन्वानस्पत्यः संभृत उस्रियाभिः।
वाचं क्षुणुवानो दमयन्त्सपत्नान्त्सिंहइव जेष्यन्नभि तंस्तनीहि॥ १॥

१. **सत्वनायन्**=सैनिकों में बल प्राप्त कराता हुआ **उच्चैः घोषः**=ऊँचे शब्दवाला **दुन्दुभिः**=युद्धवाद्य **वानस्पत्यः**=वनस्पति (काष्ठ) का बना हुआ है, यह **उस्रियामिः संभृतः**=चमड़े से मढ़ा हुआ है। २. **वाचं क्षुणुवानः**=शब्द करता हुआ **सपत्नान् दमयन्**=शत्रुओं को दबाता हुआ समीप भविष्य में **सिंहः इव जेष्यन्**=सिंह की भाँति शत्रुओं को विजित करता हुआ **अभितंस्तनीहि**=गर्जना कर।

भावार्थ—शत्रुओं का आक्रमण होने पर राष्ट्र में युद्धवाद्य बज उठे। यह अपने ऊँचे शब्द से सैनिकों में बल व उत्साह का सञ्चार करे तथा शत्रुओं के दिलों को दहला दे।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ऐन्द्रः, शुष्मः अभिमातिषाहः

सिंहइवास्तानीद् द्रुवयो विबद्धोऽभिक्रन्दन्नृषभो वासितामिव।
वृषा त्वं वध्रयस्ते सपत्ना ऐन्द्रस्ते शुष्मो अभिमातिषाहः॥ २॥

१. यह **द्रुवयः**=काष्ठ का बना हुआ **विबद्धः**=विशेषरूप से चमड़ों से बद्ध हुआ-हुआ

युद्धवाद्य **सिंहः इव अस्तानीत्**=सिंह की भाँति गर्जना करता है। यह युद्धवाद्य इसप्रकार गर्जता है **इव**=जैसेकि **वासिताम् अभि**=गौ का लक्ष्य करके **ऋषभः क्रन्दन्**=बैल गर्जता है। २. **त्वम्**=तू **वृषा**=शक्तिशाली है। **ते सपत्नाः वध्रयः**=तेरे शत्रु निर्बल हुए हैं। तेरे शत्रु बधिया बैल के समान निर्वीर्य हों। **ते**=तेरा **ऐन्द्रः**=राष्ट्र के ऐश्वर्य को बढ़ानेवाला **शुष्मः**=बल **अभिमातिषाहः**=अभिमानयुक्त शत्रुओं का पराभव करनेवाला हो।

भावार्थ—राष्ट्र के युद्धवाद्य की ध्वनि सिंह की गर्जना के समान शत्रुओं के हृदय को भयभीत करनेवाली हो, सैनिकों में बल का सञ्चार करती हुई, शत्रुओं का पराजय करके यह राष्ट्र के ऐश्वर्य को बढ़ानेवाली हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सन्धनाजित्

वृषेव यूथे सहसा विदानो गव्यन्नभि रुव सन्धनाजित्।
शुचा विध्य हृदयं परेषां हित्वा ग्रामान्प्रच्युता यन्तु शत्रवः॥ ३॥

१. **यूथे**=गौओं के झुण्ड में **वृषा इव**=शक्तिशाली साँड के समान **सहसा विदानः**=बल से जाना गया—बल के कारण प्रसिद्ध—अपने सैनिकों में बल का सञ्चार करनेवाला यह युद्धवाद्य **गव्यन् इव**=(गो=भूमि) राष्ट्र-भूमि की कामना करनेवाला-सा है—राष्ट्रभूमि की यह रक्षा करनेवाला है, **सन्धनाजित्**=शत्रु-धनों का विजय करनेवाला है। २. हे युद्धवाद्य! तू **अभिरुव**=चारों ओर शब्द करनेवाला हो, **परेषाम्**=शत्रुओं के **हृदयम्**=हृदय को **शुचा विध्य**=शोक के द्वारा विद्ध करनेवाला हो। **शत्रवः**=शत्रु **ग्रामान् हित्वा**=अपने ग्रामों को छोड़कर **प्रच्युताः यन्तु**=पराजित हुए-हुए—स्थान-भ्रष्ट हुए-हुए भाग जाएँ।

भावार्थ—युद्धवाद्य का शब्द शत्रु-पराजय द्वारा राष्ट्र-भूमि की रक्षा करनेवाला हो। यह धनों का विजय करे और शत्रु स्थान-भ्रष्ट हुए-हुए भाग खड़े हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ऊर्ध्वमायुः

संजयन्पृतना ऊर्ध्वमायुर्गृह्या गृह्णानो बहुधा वि चक्ष्व।
दैवीं वाचं दुन्दुभ आ गुरस्व वेधाः शत्रूणामुप भरस्व वेदः॥ ४॥

१. हे दुन्दुभे! तू **पृतनाः संजयन्**=शत्रुओं को पराजित करता हुआ **ऊर्ध्वमायुः**=ऊँचे शब्दवाला **गृह्या गृह्णानः**=ग्रहण के योग्य सब पदार्थों का ग्रहण करनेवाला **बहुधा विचक्ष्व**=बहुत प्रकार से राष्ट्र को देखनेवाला हो—राष्ट्र का रक्षण करनेवाला हो। २. हे **दुन्दुभे**=युद्धवाद्य! तू **दैवीम्**=(दिव् विजिगीषा) शत्रु-विजय की कामनावाली **वाचम्**=वाणी को **आ गुरस्व**=चारों ओर घोषित कर। **वेधाः**=राष्ट्र का निर्माण करनेवाला बनकर **शत्रूणां वेदः**=शत्रुओं के धन का **उपभरस्व**=हरण करनेवाला हो।

भावार्थ—यह युद्धवाद्य शत्रुसैन्यों का पराजय करे और शत्रुओं के धनों का अपहरण करके राष्ट्रकोश को भरनेवाला हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

शत्रु-स्त्रियों का भाग खड़ा होना

दुन्दुभेर्वाचं प्रयतां वदन्तीमाशृण्वती नाथिता घोषबुद्धा।
नारी पुत्रं धावतु हस्तगृह्यामित्री भीता समरे वधानाम्॥ ५॥

१. **दुन्दुभेः**=युद्धवाद्य की **प्रयतां वदन्तीम्**=(प्र-यता) एकदम नियमितरूप से उच्चरित होती हुई **वाचम्**=वाणी को **आशृण्वती**=समन्तात् श्रवण करती हुई **नाथिता**=उपतप्त हुई-हुई (नाथ उपतापे) **घोषबुद्धा**=युद्धवाद्य के घोष से प्रबुद्ध हुई-हुई **अमित्री नारी**=शत्रु स्त्री **समरे वधानां भीता**=युद्ध में वधों से भयभीत हुई-हुई **पुत्रम्**=अपनी सन्तान को **हस्तगृह्य**=हाथ से पकड़कर **धावतु**=भाग खड़ी हो।

भावार्थ—युद्धवाद्य का शब्द शत्रुओं में भय का सञ्चार कर दे। शत्रु-स्त्रियाँ अपने पुत्रों को लेकर भाग खड़ी हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अमित्रसेनाम् अभिभञ्जमानः

पूर्वो दुन्दुभे प्र वदासि वाचं भूम्याः पृष्ठे वद रोचमानः।
अमित्रसेनामभिजञ्जभानो द्युमद्वद दुन्दुभे सूनृतावत् ॥ ६ ॥

१. हे **दुन्दुभे**=युद्धवाद्य! तू **पूर्वः**=सबसे प्रथम स्थान में होता हुआ **वाचं प्रवदासि**=युद्ध के लिए आह्वान की वाणी बोलता है। **भूम्याः पृष्ठे**=इस भू-पृष्ठ पर **रोचमानः**=दीप्त होता हुआ तू **वद**=बोल, शब्द कर। २. **अमित्रसेनाम्**=शत्रु सेना को **अभिजञ्जभानः**=रण से भगाता हुआ तू **द्युमत् वद**=दीप्त होकर बोल। हे **दुन्दुभे**=युद्धवाद्य! तू **सूनृतावत्**=राष्ट्र में शुभ (सु), दुःखों का परिहाण करनेवाली (ऊन्), सत्य (ऋत) वाणीवाला हो। तेरे शब्द से राष्ट्र के सैनिकों व प्रजाओं में उत्साह का सञ्चार हो।

भावार्थ—युद्धवाद्य का शब्द भू-पृष्ठ पर दीप्तिवाला हो। यह अमित्र-सेना को रण से भगानेवाला हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उत्पिपानः श्लोककृत्

अन्तरेमे नभसी घोषो अस्तु पृथक्ते ध्वनयो यन्तु शीभम्।
अभि क्रन्द स्तनयोत्पिपानः श्लोककृन्मित्रतूर्याय स्वर्धी॥ ७॥

१. हे युद्धवाद्य! **इमे नभसी अन्तरा**=इन द्युलोक व पृथिवीलोक के बीच में **घोषः अस्तु**=तेरा घोष गूँज उठे (नभश्च पृथिवी चैव तुमुलो व्यनुनादयन्)। **ते ध्वनयः पृथक् शीभं यन्तु**=तेरी ध्वनियाँ चारों दिशाओं में शीघ्र फैलें। २. **उत्पिपानः**=खूब ऊँचा उठता हुआ—बढ़ता हुआ तू **श्लोककृत्**=हमारे सैनिकों का यश बढ़ानेवाला हो, **मित्रतूर्याय**=मित्र-सैन्यों की त्वरा से युक्त गति के लिए होता हुआ (तुरी गतौ) **स्वर्धी**=उत्तम ऋद्धिवाला तू **अभिक्रन्द**=चारों ओर आह्वान कर, **स्तनय**=खूब गर्जना करनेवाला हो।

भावार्थ—युद्धवाद्य का शब्द आकाश व पृथिवी को अनुनादित कर दे। बढ़ता हुआ यह शब्द राष्ट्र-सैन्यों की यशोवृद्धि का कारण बने।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

इन्द्रमेदी

धीभिः कृतः प्र वदाति वाचमुद्धर्षय सत्वनामायुधानि।
इन्द्रमेदी सत्वनो नि ह्वयस्व मित्रैरमित्राँ अव जङ्घनीहि॥ ८॥

१. **धीभिः कृतः**=बुद्धिपूर्वक बनाया हुआ—बुद्धिमान् शिल्पियों द्वारा निर्मित यह युद्धवाद्य

वाचं प्रवदाति=ऊँचा शब्द करता है। हे युद्धवाद्य! तू **सत्वनाम्**=वीरों के **आयुधानि**=आयुधों को **उद्धर्षय**=ऊँचा उठा। तेरे शब्द से उत्साहित होकर वे अपने-अपने शस्त्रों को उठाएँ। २. **इन्द्रमेदी**=वीरों के साथ स्नेह करनेवाला तू **सत्वनः निह्वयस्व**=वीर सैनिकों को युद्ध के लिए पुकार। **मित्रैः अमित्रान् अवजंघनीहि**=मित्रों के द्वारा अमित्रों को तू सुदूर भगानेवाला व उन्हें नष्ट करनेवाला हो।

भावार्थ—कुशल शिल्पियों से बनाया हुआ यह युद्धवाद्य ऊँचा शब्द करता है। इसके शब्द को सुनकर वीर सैनिक अस्त्रों को उठाते हैं और शत्रुओं को दूर भगाने व नष्ट करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

संक्रन्दनः प्रवदः

संक्रन्दनः प्रवदो धृष्णुषेणः प्रवेदकृद्बहुधा ग्रामघोषी।
श्रेयो वन्वानो वयुनानि विद्वान्कीर्तिं बहुभ्यो वि हर द्विराजे॥ ९॥

१. यह युद्धवाद्य **संक्रन्दनः**=युद्ध के लिए आह्वान करनेवाला है, **प्रवदः**=प्रकर्षेण हमारे कर्त्तव्यों की घोषणा करनेवाला है, **धृष्णुषेणः**=सेना को शत्रुओं का धर्षण करनेवाली बनाता है, **प्रवेदकृत्**=राष्ट्र के व्यक्तियों में चेतना भरनेवाला है, **बहुधा ग्रामघोषी**=सैन्यसमूह में अनेक प्रकार से घोषणा करनेवाला है। २. यह युद्धवाद्य चेतना उत्पन्न करने के कारण **श्रेयः वन्वानः**=कल्याण प्राप्त करानेवाला व **वयुनानि विद्वान्**=हमारे कर्मों का—कर्त्तव्यों का ज्ञान देनेवाला है। हे युद्धवाद्य! **द्विराजे**=दो राजाओं में चलनेवाले युद्ध में तू **बहुभ्यः कीर्तिं विहर**=बहुत को यशस्वी बनानेवाला हो—राष्ट्र-रक्षा के लिए प्राणार्पण करने की प्रेरणा करता हुआ तू उन्हें कीर्ति प्राप्त करा।

भावार्थ—युद्धवाद्य हमारे सैन्य को शत्रुओं का धर्षण करनेवाला बनाता है। यह हममें भी कर्त्तव्यकर्मों की चेतना जगाता हुआ हमारे लिए कल्याणकर होता है, कितने ही वीरों को यह कीर्ति प्राप्त करानेवाला होता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सहीयान्-संग्रामजित्

श्रेयःकेतो वसुजित्सहीयान्त्संग्रामजित्संशितो ब्रह्मणासि।
अंशूनिव ग्रावाधिषवणे अद्रिर्गव्यन्दुन्दुभेऽधि नृत्य वेदः॥ १०॥

१. ये युद्धवाद्य! तू **श्रेयः केतः**=कल्याण में निवास करनेवाला (कित निवासे), **वसुजित्**=धनों का विजय करनेवाला, **सहीयान्**=शत्रुओं का मर्षण करनेवाल **संग्रामजित्**=संग्राम को जीतनेवाला **ब्रह्मणा संशितः असि**=सत्य द्वारा तीव्र किया गया है (ब्रह्म=truth)। युद्ध में जिसका पक्ष सत्य का होता है, वह मन में उत्साहवाला होने से इस युद्धवाद्य को भी उत्साहपूर्वक बजा पाता है। **इव**=जैसे **अधिषवणे**=ज्ञानोत्पादन की क्रिया में **अद्रिः ग्रावा**=आदरणीय (आद्रियते), विषयों से विदीर्ण न किया जानेवाला (न दीर्यते), ज्ञानोपदेष्टा (गृणाति) **अंशून्**=ज्ञान की रश्मियों पर नृत्य करनेवाला होता है, उसी प्रकार हे **दुन्दुभे**=युद्धवाद्य! तू **गव्यन्**=राष्ट्रभूमि की रक्षा की कामनावाला होता हुआ **वेदः अधिनृत्य**=धनों पर नृत्य करनेवाला हो, शत्रु को पराजित करके राष्ट्र के धन को बढ़ानेवाला हो।

भावार्थ—युद्धवाद्य सत्य के पक्ष में उत्साह से बज उठता है और शत्रु-मर्षण करता हुआ राष्ट्रकोश का अभिवर्धक होता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शत्रूषाट् नीषाट्

शत्रूषाण्नीषाडभिमातिषाहो गवेषणः सहमान उद्भित्।
वाग्वीव मन्त्रं प्र भरस्व वाचं सांग्रामजित्यायेषमुद्वदेह ॥ ११ ॥

१. हे युद्धवाद्य! तू **शत्रूषाट्**=शत्रुओं को कुचल देनेवाला **नीषाट्**=निश्चय से कुचल देनेवाला, **अभिमातिषाहः**=अभिमानी शत्रुओं का पराभव करनेवाला है। **गवेषणः**=राष्ट्रभूमि की रक्षा की कामनावाला (गो+इष्), अतएव **सहमानः**=शत्रुओं का पराभविता व **उद्भित्**=उखाड़ फेंकनेवाला है। **वाग्वी मन्त्रं इव**=जैसे वाणी के द्वारा स्तुति करनेवाला मन्त्र को उच्चारित करता है, इसीप्रकार हे युद्धवाद्य! तू भी **वाचं प्रभरस्व**=वाणी का—शब्द का प्रकर्षेण भरण कर—खूब उच्च शब्द कर और **इह**=यहाँ—रणभूमि में **सांग्रामजित्याय**=संग्राम में विजय के लिए **इषम् उत् वद**=प्रकर्षेण प्रेरणा प्राप्त करा, तेरा शब्द योद्धाओं को उत्कृष्ट प्रेरणा दे और वे युद्धों में विजयी बनें।

भावार्थ—युद्धवाद्य शत्रुओं को कुचल डालता है और योद्धाओं को उत्कृष्ट प्रेरणा देकर युद्ध में विजयी बनाता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अच्युतच्युत्

अच्युतच्युत्समदो गमिष्ठो मृधो जेता पुरएतायोध्यः।
इन्द्रेण गुप्तो विदथा निचिक्यद्धृद्द्योतनो द्विषतां याहि शीभम् ॥ १२ ॥

१. हे युद्धवाद्य! तू **अच्युतच्युत्**=दृढ़ शत्रुओं के भी पैर उखाड़ देनेवाला है, **समदः गमिष्ठाः**=हर्षयुक्त हुआ तू शत्रुओं के प्रति जानेवाला—उनपर आक्रमण करनेवाला है, **मृधः जेता**=संग्रामों का विजय करनेवाला **पुरः एता**=आगे बढ़नेवाला व **अयोध्यः**=युद्ध न करने योग्य है—तुझे जीतना किसी के लिए भी सम्भव नहीं। २. **इन्द्रेण**=शत्रुओं के विद्रावक सेनानी से तू **गुप्तः**=सुरक्षित हुआ है, **विदथा निचिक्यत्**=ज्ञातव्य कर्मों को जानता हुआ, अर्थात् योद्धाओं को उनके कर्त्तव्यकर्मों में प्रेरित करता हुआ तू **द्विषताम्**=शत्रुओं के **हृद्द्योतनः**=(द्योतते ज्वलतिकर्मा—१.१६) हृदयों को सन्तप्त करनेवाला है, **शीभं याहि**=तू शीघ्रता से शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाला हो। तू बज उठ और योद्धा शत्रु पर आक्रमण करनेवाले हों।

भावार्थ—यह युद्धवाद्य दृढ़ शत्रुओं को भी परास्त करनेवाला है—शत्रुओं के हृदय को सन्तप्त करनेवाला है। यह योद्धाओं को शत्रुसैन्य पर आक्रमण के लिए प्रेरित करता है।

२१. [एकविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

विहृदय वैमनस्यम्

विहृदयं वैमनस्यं वदामित्रेषु दुन्दुभे।
विद्वेषं कश्मशं भयममित्रेषु नि दध्मस्यवैनान्दुन्दुभे जहि ॥ १ ॥

१. हे **दुन्दुभे**=युद्धवाद्य! तू **अमित्रेषु**=शत्रुओं में **विहृदयं वैमनस्यं वद**=हृदय की व्याकुलता व मन की उदासीनता को कह दे—अपनी ऊँची ध्वनि से उन्हें व्याकुल व उदासीन कर दे। २. तेरे द्वारा हम **अमित्रेषु**=शत्रुओं में **विद्वेषं कश्मशं भयम्**=द्वेष, कश्मकश—मनमुटाव व भय

को **निदध्मसि**=स्थापित करते हैं। हे **दुन्दुभे**=युद्धवाद्य! तू **एनान्**=इन शत्रुओं को **अवजहि**=सुदूर नष्ट करनेवाला हो।

भावार्थ—हमारा युद्धवाद्य शत्रुओं में द्वेष, वैमनस्य व भय उत्पन्न करके उन्हें नष्ट करनेवाला हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आज्ये हुते

उद्वेपमाना मनसा चक्षुषा हृदयेन च।
धावन्तु बिभ्यतोऽमित्राः प्रत्रासेनाज्ये हुते॥ २॥

१. **आज्ये हुते**=युद्ध में परस्पर की द्वेषाग्नि में एक बार शस्त्र उठ जाने पर (तेजो वा आज्यम्, वज्रो वा आज्यम्—तै० ३.९.४.६; ३.६.४.१५) युद्ध की अग्नि में अस्त्रों की आहुति पड़ जाने पर **अमित्राः**=हमारे शत्रु **मनसा चक्षुषा हृदयेन च**=मन, नेत्र व हृदय से **उद्वेपमानाः**=काँपते हुए **प्रत्रासेन**=प्रकृष्ट भय से **बिभ्यतः**=भयभीत होते हुए **धावन्तु**=भाग खड़े हों।

भावार्थ—युद्धवाद्य के बज उठने पर—शस्त्रों के प्रहार के आरम्भ में ही हमारे शत्रु कम्पित व भयभीत होकर भाग खड़े हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आज्येन अभिघारितः

वानस्पत्यः संभृत उस्त्रियाभिर्विश्वगोत्र्यः। प्रत्रासममित्रेभ्यो वदाज्येनाभिघारितः॥ ३॥

१. **वानस्पत्यः**=वनस्पति (काष्ठ) से बना हुआ **उस्त्रियाभिः**=चर्म-रज्जुओं से **संभृतः**=सम्यक् मढ़ा हुआ यह युद्धवाद्य **विश्वगोत्र्यः**=सब भूमि का उत्तम रक्षक है। २. **आज्येन**=तेजस्विता व शस्त्रों (वज्रों) के द्वारा **अभिघारितः**=दीप्त किया हुआ तू **अमित्रेभ्यः**=शत्रुओं के लिए **प्रत्रासं वद**=भय को कहनेवाला हो, तेरा उग्र घोष शत्रु-हृदयों को भयभीत कर दे।

भावार्थ—युद्धवाद्य राष्ट्रभूमि का रक्षक है, तेजस्विता व शस्त्रों से युक्त हुआ-हुआ यह शत्रुओं को भयभीत करनेवाला है। युद्धवाद्य के साथ योद्धाओं की तेजस्विता व शस्त्र-प्रहार शत्रुओं को परास्त करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

शत्रुओं की किंकर्त्तव्यविमूढ़ता

यथा मृगाः संविजन्त आरण्याः पुरुषादधि।
एवा त्वं दुन्दुभेऽमित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय॥ ४॥

१. **यथा**=जैसे **आरण्याः मृगाः**=जंगल के मृग **पुरुषात्**=पुरुष से—शिकारी से **अधि-संविजन्ते**=भयभीत होकर भाग खड़े होते हैं, हे **दुन्दुभे**=युद्धवाद्य! **एव**=इसीप्रकार तू **अमित्रान् अभिक्रन्द**=शत्रुओं पर गर्जना करनेवाला हो, **प्रत्रासय**=उन्हें भयभीत कर दे, **अथ उ चित्तानि मोहय**=और उनके चित्तों को मोहित कर डाल, उन्हें मूढ़ बना डाल—उन्हें कर्त्तव्याकर्त्तव्य सूझे ही नहीं, वे किंकर्त्तव्यविमूढ़ बन जाएँ।

भावार्थ—युद्धवाद्य का शब्द सुनकर हमारे शत्रु ऐसे भाग खड़े हों जैसे शिकारी से वन-मृग भाग खड़े होते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—५ **पथ्यापङ्क्तिः**, ६ **जगती** ॥

वृकात् अजावयः, श्येनात् पतत्रिणः

यथा वृकादजावयो धावन्ति बहु बिभ्यतीः।
एवा त्वं दुन्दुभेऽ मित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय॥ ५॥
यथा श्येनात्पतत्रिणः संविजन्ते अहर्दिवि सिंहस्य स्तनथोर्यथा।
एवा त्वं दुन्दुभेऽ मित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय॥ ६॥

१. **यथा**=जैसे **अजा-अवयः**=भेड़-बकरियाँ **वृकात्**=भेड़िये से **बहु बिभ्यतीः**=बहुत डरती हुई **धावन्ति**=भाग खड़ी होती है, **एव**=इसीप्रकार हे **दुन्दुभे**=युद्धवाद्य! **त्वम्**=तू **अमित्रान् अभिक्रन्द**=शत्रुओं पर गर्जना कर **प्रत्रासय**=उन्हें भयभीत कर दे, **अथ उ चित्तानि मोहय**=और उनके चित्तों को मूढ़ बना डाल। २. **यथा**=जैसे **श्येनात्**=बाज़पक्षी से **पतत्रिणः**=पक्षी **संविजन्ते**= भयभीत होकर उड़ जाते हैं और **यथा**=जैसे **अहर्दिवि**=दिन प्रतिदिन **सिंहस्य स्तनयोः**=सिंह की गर्जना से पशु भय-सञ्चलित हो जाते हैं, **एव**=उसी प्रकार हे **दुन्दुभे**=युद्धवाद्य! **त्वम्**=तू **अमित्रान् अभिक्रन्द**=शत्रुओं पर गरज उठ, **प्रत्रासय**=उन्हें भयभीत कर दे **अथ उ**=और निश्चय से **चित्तानि मोहय**=उनके चित्तों को मूढ बना डाल।

भावार्थ—युद्धवाद्य के बजने पर शत्रु इसप्रकार भय-सञ्चलित हो जाएँ जैसे भेड़िये से भेड़-बकरियाँ, बाज़ से पक्षी व शेर की गर्जना से पशु भाग खड़े होते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दुन्दुभिः (दुन्दुशब्देन भाययति)

परामित्रान्दुन्दुभिना हरिणस्याजिनेन च।
सर्वे देवा अतित्रसन्ये संग्रामस्येशते॥ ७॥

१. **ये**=जो **संग्रामस्य ईशते**=संग्राम के स्वामी होते हैं, वे **सर्वे देवाः**=सब शत्रु-विजिगीषावाले पुरुष **हरिणस्य अजिनेन**=हरिण के चमड़े से मढ़ी हुई **दुन्दुभिना**=दुन्दुभि से **च**=ही **अमित्रान्**=शत्रुओं को **परा अतित्रसन्**=भयभीत कर सुदूर भगा देते हैं।

भावार्थ—युद्धवाद्य को कुशलता से बजानेवाले व्यक्ति इस दुन्दुभि से ही शत्रुओं को भयभीत कर डालते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

छायया सह इन्द्रः

यैरिन्द्रः प्रक्रीडते पद्घोषैश्छायया सह। तैरमित्रास्त्रसन्तु नोऽमी ये यन्त्यनीकशः॥ ८॥

१. शत्रुओं का छेदन करनेवाली सेना यहाँ 'छाया' कही गई है। **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला सेनापति **छायया सह**=शत्रुओं का छेदन करनेवाली सेना के साथ **यैः पद्घोषैः**=जिन चरणाघात-जनित शब्दों के साथ [Marching में होनेवाले शब्दों के साथ] **प्रक्रीडते**=युद्ध-क्रीड़ा करता है, **तैः**=उन पद्घोषों से **अमी**=वे **ये**=जो **अनीकशः**=एक-एक टुकड़ी करके **यन्ति**=गति करते हैं, वे **नः अमित्राः**=हमारे शत्रु **त्रसन्तु**=भयभीत हों।

भावार्थ —सेनापति के साथ सेना के पादाघात-जनित घोषों से ही शत्रु-सैन्य भयभीत होकर भाग जाए।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वानस्पत्यो दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ज्याघोषाः, दुन्दुभयः

ज्याघोषा दुन्दुभयोऽभि क्रोशन्तु या दिशः।
सेनाः पराजिता यतीरमित्राणामनीकशः॥ ९॥

१. हमारी **ज्याघोषाः**=धनुष की डोरियों की आवाज़ें और **दुन्दुभयः**=भेरियाँ **याः दिशः**=जिस भी दिशा में **अभिक्रोशन्तु**=शत्रुओं का आह्वान करें—उन्हें ललकारें, उन्हीं दिशाओं में **अमित्राणाम्**=शत्रुओं की **अनीकशः**=टुकड़ियों-की-टुकडियाँ **सेनाः**=सेनाएँ **यतीः**=जाती हुई **पराजिताः**=पराजित हो जाएँ।

भावार्थ—हमारे ज्याघोष व दुन्दुभि के शब्द शत्रुओं को भग्न व पराजित करनेवाले हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आदित्य-मरीचयः

आदित्य चक्षुरा दत्स्व मरीचयोऽनु धावत।
पत्सङ्गिनीरा सजन्तु विगते बाहुवीर्ये॥ १०॥

१. हे **आदित्य**=सूर्य! **चक्षुः आदत्स्व**=तू शत्रु की आँखों को छीन ले, उन्हें चुँधिया दे। **मरीचयः अनुधावत**=हे किरणो! तुम शत्रुओं का पीछा करो। 'आदित्य' सेनापति है—शत्रुओं के बल का आदान करनेवाला। 'मरीचयः' सैनिक हैं (म्रियते शत्रुतमः अस्मिन्) जिसके होने पर शत्रुओं का अन्धकार समाप्त हो जाता है। २. **विगते बाहुवीर्ये**=जब शत्रुओं का बाहुबल टूट जाए तब **पत्संगिनीः आसजन्तु**=पैरों में पड़नेवाली रस्सियाँ शत्रुओं के पैरों में लग जाएँ।

भावार्थ—सेना के साथ सेनापति शत्रु का पीछा करे, शत्रु को थकाकर उन्हें बेड़ियाँ पहनाकर कारागृह में डाल दे।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यादयः** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भात्रिष्टुप्** ॥

राजा=सोमः, वरुणः, इन्द्रः=महादेवः मृत्युः

यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शत्रून्।
सोमो राजा वरुणो राजा महादेव उत मृत्युरिन्द्रः॥ ११॥

१. हे **मरुतः**=सैनिको! **यूयम्**=तुम **उग्राः**=तेजस्वी हो, **पृश्निमातरः**=भूमि (पृश्नि) को अपनी माता समझनेवाले हो। **इन्द्रेण युजा**=शत्रुविद्रावक सेनापति के साथ मिलकर **शत्रून् प्रमृणीत**=शत्रुओं को कुचल दो। २. तुम्हारे राष्ट्र का **राजा**=शासक **सोमः**=बड़े सौम्य स्वभाव का व सोम (शक्ति) का पुञ्ज है। वह **राजा**=शासक **वरुणः**=प्रजा के कष्टों का निवारण करनेवाला है **उत**=और **इन्द्रः**=यह शत्रुविद्रावक सेनापति **महादेवः**=महान् विजिगीषु है (दिव् विजिगीषायाम्), शत्रुओं को जीतने की कामनावाला है। यह तो शत्रुओं के लिए साक्षात् **मृत्युः**=मौत ही है।

भावार्थ—राष्ट्र के सैनिक मातृभूमि की रक्षा के लिए विजिगीषु व शत्रुओं के लिए मृत्युभूत सेनापति के साथ मिलकर शत्रुओं को कुचलनेवाले हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यादयः** ॥ छन्दः—**त्रिपदायवमध्यागायत्री** ॥

देवसेना सूर्य केतवः

एता देवसेनाः सूर्यकेतवः सचेतसः। अमित्रान्नो जयन्तु स्वाहा॥ १२॥

१. **एताः**=ये **नः**=हमारी **देवसेनाः**=शत्रुओं को जीतने की कामनावाली सेनाएँ **सूर्यकेतवः**=सूर्य के झण्डेवाली हों। सूर्य से ये निरन्तर प्रेरणा प्राप्त करें कि "जैसे सूर्य अन्धकार को नष्ट करता है, हमें शत्रुओं के अन्धकार को नष्ट करना है", ये **सचेतसः**=सदा चेतना से युक्त हों—इनके होश सदा स्थिर रहें—ये घबरा न जाएँ। २. ये सेनाएँ **अमित्रान् जयन्तु**=शत्रुओं को जीतनेवाली हों। **स्वाहा**=हम भी अपना त्याग करनेवाले बनें (स्व+हा), राष्ट्र-रक्षा के लिए कुछ-न-कुछ बलिदान करनेवाले बनें।

भावार्थ—हमारी सेनाएँ विजिगीषावाली हों। इनके झण्डे पर सूर्य का चिह्न हो। उससे ये शत्रुरूप अन्धकार को समाप्त करने की प्रेरणा लें। ये शत्रुओं को जीतें। हम भी स्वार्थ-त्याग की वृत्ति से राष्ट्र-रक्षा में सहयोगी बनें।

विशेष—सुरक्षित राष्ट्र में उन्नति-पथ पर चलता हुआ व्यक्ति अपने को ज्ञानाग्नि में परिपक्व करके 'भृगु' बनता है। शरीर को स्वस्थ बनानेवाला यह अङ्गिरा होता है। अगला सूक्त इसी 'भृगु अङ्गिरा' का है।

२२. [द्वाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

नीरोगता, पवित्र बल, निर्द्वेषता

अग्निस्तक्मानमप बाधतामितः सोमो ग्रावा वरुणः पूतदक्षाः।
वेदिर्बर्हिः समिधः शोशुचाना अप द्वेषांस्यमुया भवन्तु॥ १॥

१. **अग्निः**=शरीर की उचित ऊष्मा **इतः**=यहाँ से—शरीर से **तक्मानम्**=जीवन को कष्टमय बनानेवाले रोग को **अपबाधताम्**=दूर रोकनेवाली हो। **सोमः**=शरीरस्थ वीर्य धातु **ग्रावा**=(अश्मा भवतु नस्तूनः) पत्थर के समान दृढ़ शरीर, **वरुणः**=द्वेष का निवारण—निर्द्वेषता—ये सब **पूतदक्षाः**=शरीर के बल को पवित्र करनेवाले हों। २. **वेदिः**=यज्ञ की वेदि, **बर्हिः**=वेदि को आस्तीर्ण करनेवाली कुशा घास, **समिधः**=समिधाएँ—ये सब **शोशुचानाः**=हमारे घरों में दीप्त होती हुई हों। यज्ञों के द्वारा ही रोगरूप शत्रुओं का प्रणोदन होगा। **अमुया**=इस सारी प्रक्रिया से **द्वेषांसि अपभवन्तु**=द्वेष हमारे घरों से दूर हो जाएँ। वस्तुतः स्वस्थ शरीर व यज्ञादि कर्म निर्द्वेषता को उत्पन्न करते हैं।

भावार्थ—शरीर की उचित ऊष्मा हमें नीरोग बनाए। वीर्य-दृढ़ शरीर व निर्द्वेषता हमारे बलों को पवित्र करें। वेदि, कुशा व समिधाएँ आदि सब यज्ञ-सामग्री हमारे घरों में दीप्त हों, जिससे हमारे जीवन एकदम द्वेषशून्य बनें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'न्यङ् अधराङ् परा' ऐहि

अयं यो विश्वान्हरितान्कृणोष्युच्छोचयन्नग्निरिवाभिदुन्वन्।
अधा हि तक्मन्नरसो हि भूया अधा न्य1ङ्ङधराङ् वा परेहि॥ २॥

१. हे **तक्मन्**=ज्वर! **यः अयम्**=जो यह तू **विश्वान्**=सबको **हरितान् कृणोषि**=निस्तेजता के कारण पीला-पीला-सा कर देता है, **उच्छोचयन्**=जो सन्तप्त करता हुआ **अग्निः इव अभिदुन्वन्**=अग्नि के समान उपतप्त करता हुआ होता है। २. हे ज्वर! वह तू **अध**=अब **हि**=निश्चय से **अरसाः हि भूयाः**=निःसार—निस्तेज ही हो जाए। **अध**=अब **न्यङ्**=तेरी गति नीचे की ओर हो **वा अधराङ्**=निश्चय से उतर जा, **परा इहि**=तू हमसे सुदूर चला जा।

भावार्थ—ज्वर हमें निस्तेज करता है। यह सन्तप्त करके कष्ट देता है। इसे हम उचित औषधोपचार के द्वारा नष्ट करें।

ऋषि:—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विश्वधा वीर्य

यः परुषः पारुषेयो ऽवध्वंसइवारुणः।
तक्मानं विश्वधावीर्याधराञ्चं परा सुव॥ ३॥

१. हे **विश्वधावीर्य**=सब ओर वीर्य को धारण करनेवाली ओषधे! तू **तक्मानम्**=ज्वर को **अधराञ्चं परासुव**=नीचे करके दूर भगा दे, विरेचन के द्वारा नीचे की ओर ले-जाकर नष्ट कर दे। २. उस ज्वर को दूर कर दे **यः**=जो **पारुषेयः**=शरीर के पर्व-पर्व में बसा हुआ है, **परुषः**= भयंकर है, **अरुणः इव**=अग्नि की भाँति **अवध्वंसः**=देह को (जलाकर) नष्ट करनेवाला है।

भावार्थ—विश्वधावीर्य ओषधि हमारे पर्व-पर्व में बसे भयंकर रोग को विरेचित करके नष्ट कर देती है।

ऋषि:—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शकम्भरस्य मुष्टिहा

अधराञ्चं प्र हिणोमि नमः कृत्वा तक्मने।
शकम्भरस्य मुष्टिहा पुनरेतु महावृषान्॥ ४॥

१. इस **तक्मने**=ज्वर के लिए **नमः कृत्वा**=नमस्कार करके **अधराञ्चं प्रहिणोमि**=इसे नीचे की ओर गतिवाला करके दूर भेज देता हूँ। २. **शकम्भरस्य**=अपने में शक्ति का भरण करनेवाले का भी—शक्तिशाली का भी **मुष्टिहा**=(मुष स्तेये) शक्तिशोषण के द्वारा विनाश करनेवाला यह ज्वर **पुनः**=फिर **महावृषान् एतु**=बहुत अधिक वृष्टिवाले देशों में जाए।

भावार्थ—ज्वर को दूर से ही नमस्कार करना ठीक है। इसे विरेचक ओषधि द्वारा निम्नगतिवाला करना चाहिए। यह शक्तिशाली को भी निस्तेज करके नष्ट कर देता है। अतिवृष्टिवाले देशों में यह फिर-फिर उत्पन्न हो जाता है।

ऋषि:—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**विराट्पथ्याबृहती** ॥

ज्वर कहाँ ?

ओको अस्य मूजवन्त ओको अस्य महावृषाः।
यावज्जातस्तक्मंस्तावानसि बल्हिकेषु न्योचरः॥ ५॥

१. **अस्य**=इस ज्वर का **ओकः**=घर **मूजवन्तः**=मूँज-घासवाले प्रदेश हैं—इन्हीं स्थानों में मच्छर आदि की सम्भावनाएँ अधिक होती है। ये मच्छर ही ज्वर को फैलाते हैं। **अस्य**=इसका **ओकः**=घर **महावृषाः**=अधिक वृष्टिवाले प्रदेश हैं। इनमें ज्वर की सम्भावना अधिक होती है। वृष्टि में अग्निमान्द्य होकर ज्वर की आंशका हो ही जाती है। २. हे **तक्मन्**=ज्वर! **यावत् जातः**=जब से तू हुआ है, **तावान्**=उतना तू **बल्हिकेषु**=(बल्ह परिभाषणहिंसाच्छादनेषु) बहुत बोलनेवालों में, हिंसा की वृत्तिवालों में, हर समय अपने को घरों में ढके रहनेवालों में—खुले में न रहनेवालों में **न्योचरः असि**=(नि+उच् +अर) निश्चय से समवेत होनेवाला है। बोलने में शक्तिक्षीण होती है, हिंसक की मानस स्थिति ठीक नहीं होती, हर समय घर में पड़े रहनेवाले को शुद्ध वायु के सेवन का अवसर नहीं होता, अतः ये सब बातें ज्वरोत्पत्ति का कारण बनती हैं।

भावार्थ—बहुत घासवाले व अतिवृष्टिवाले प्रदेश ज्वर का अधिष्ठान बनते हैं। परिभाषण, हिंसा व आच्छादन के दोषवाले लोग ज्वर से ग्रस्त होते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

असंयम व ज्वर

तक्म॒न्व्या॑ल॒ वि ग॑द॒ व्य॑ङ्ग॒ भूरि॑ याव॒य।
दा॒सीं नि॒ष्टक्व॑रीमिच्छ॒ तां वज्रे॑ण॒ सम॑र्पय॥ ६ ॥

१. हे **तक्मन्**=जीवन को कष्टमय बनानेवाले, **व्याल**=सर्प के समान विषैले, **व्यंग**=(वि अङ्ग) अङ्गों को विकृत कर देनेवाले, **वि-गद**=विशिष्ट ज्वर! तू **भूरि यावय**=हमें तो बहुत दूर छोड़ा जा—हमसे दूर चला जा। २. तू **निष्टक्वरीम्**=(निः तक हसने) निकृष्ट परिहास करनेवाली **दासीम्**=शक्तियों का क्षय करनेवाली दासी की **इच्छ**=कामना कर—उसी को प्राप्त हो, **तां वज्रेण समर्पय**=उसी को अपने वज्र से पीड़ित कर (ऋ हिंसायाम्)। तेरा वज्र इस ठठोल, असंयमी स्त्री को ही आहत करे।

भावार्थ—ज्वर शरीर में विषों को उत्पन्न कर देता है, अङ्गों को विकृत कर देता है, जीवन को कष्टमय बना देता है। असंयमी और शक्ति का क्षय कर लेनेवाले व्यक्तियों को यह प्राप्त होता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मूजवतः, बल्हिकान्, प्रफर्व्यम्

तक्म॒न्मूज॑वतो गच्छ॒ बल्हि॑कान्वा प॒रस्त॒राम्।
शू॒द्रामि॑च्छ प्रफ॒र्व्यं१ तां त॑क्म॒न्वी॑व धूनुहि॥ ७ ॥

१. हे **तक्मन्**=ज्वर! तू **मूजवतः गच्छ**=मूँज-घासवाले प्रदेशों में जा, **वा**=अथवा **परस्तराम्**=हमसे दूर तू **बल्हिकान्**=बहुत बोलनेवाले, हिंसा की वृत्तिवाले, सदा घर में घुसे रहनेवाले को प्राप्त हो। २. तू उस **शूद्राम्**=अनपढ़, असंस्कृत स्त्री की इच्छा कर जोकि **प्रफर्व्यम्**=(फर्व गतौ) हर समय इधर-उधर भटकनेवाली हो (निष्टक्वरीं दासीम्—मन्त्र ६)। हे **तक्मन्**=ज्वर! तू **ताम्**=उस स्त्री को ही **वि इव**=खुब ही **धूनुहि**=कम्पित कर।

भावार्थ—ज्वर के प्रदेश में अतिशयेन घासवाले प्रदेश हैं। यह बहुत बोलनेवाले, हिंसक, घर में घुसे रहनेवाले लोगों को प्राप्त होता है। यह असंयमी व असंस्कृत स्त्रियों को कम्पित करता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

महावृषान् मूजवतः

म॒हा॒वृ॒षान्मूज॑वतो॒ बन्ध्व॑द्धि प॒रेत्य॑।
प्रैता॑नि त॒क्मने॑ ब्रूमो अन्यक्षे॒त्राणि॒ वा इ॒मा॥ ८ ॥

१. हे ज्वर! तू **महावृषान्**=अति वृष्टिवाले प्रदेशों को तथा **मूजवतः**=घासवाले प्रदेशों को **परेत्य**=सुदूर प्राप्त होकर **बन्धु अद्धि**=उन्हें बाँधनेवाला होकर खानेवाला बन। तेरा बन्धन इन प्रदेशों को ही प्राप्त हो—इन्हें ही तू खा। २. **एतानि**=इन अतिवृष्टिवाले व घासवाले प्रदेशों को ही **तक्मने ब्रूमः**=ज्वर के लिए प्रकर्षेण कहते हैं। **इमा**=ये हमारे शरीर तो **वा**=निश्चत से **अन्यक्षेत्राणि**=अन्य ही क्षेत्र हैं—ये वे क्षेत्र नहीं जहाँ ज्वर आया करता है।

भावार्थ—ज्वर अतिवृष्टिवाले, घास-फूँस से भरे प्रदेशों में ही लोगों को जकड़कर पीड़ित करनेवाला हो। हमारे शरीर ज्वर के अधिष्ठान नहीं हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रार्थः तक्मा

अन्यक्षेत्रे न रमसे वशी सन्मृडयासि नः।
अभूदु प्रार्थस्तक्मा स गमिष्यति बल्हिकान्॥ ९॥

१. हे तक्मन्! तू **अन्यक्षेत्रे**=इस असाधारण मानव शरीर में (Extra-ordinary) **न रमसे**=क्रीड़ा नहीं करता। **वशी सन्**=वश में हुआ-हुआ—काबू किया हुआ तू **नः मृडयासि**=हमें सुखी करता है। २. **तक्मा**=यह ज्वर **उ**=निश्चय से **प्रार्थः अभूत्**=प्रकृष्ट याचनावाला हुआ, अर्थात् जब इस ज्वर को मानव-शरीर में स्थान न मिला तो यह मानो दीनता से पूछता है कि मैं कहाँ जाऊँ? तो इसे यही उत्तर मिलता है कि तू बल्हिकों के प्रति जा, अतः **सः**=वह ज्वर **बल्हिकान् गमिष्याति**=बहुत बोलनेवाले, हिंसक वृत्तिवाले (मांसाहारी), घरों में घुसे रहनेवाले लोगों को प्राप्त होगा।

भावार्थ—ज्वर अद्भुत मानव-शरीर में क्रीडा न करता हुआ, हमें सुखी करता है, यह बल्हिकों को ही प्राप्त होता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शीतः ज्वरः

यत्त्वं शीतोऽथो रूरः सह कासावेपयः।
भीमास्ते तक्मन्हेतयस्ताभिः स्म परि वृङ्ग्धि नः॥ १०॥

१. हे **तक्मन्**=ज्वर! **यत् त्वम्**=जो तू **शीतः**=सर्दी लगकर आनेवाला है, **अथो**=अथवा **रूरः**=(अग्निर्वै रूरः—ता० ५.७.१०) सन्ताप करता हुआ आता है अथवा **कासा सह अवेपयः**=खाँसी के साथ हमें कम्पित कर देता है। २. हे ज्वर! **ते हेतयः**=तेरे अस्त्र **भीमाः**=भंयकर हैं। **ताभिः**=उन सब अस्त्रों से **नः**=हमें **परि वृङ्ग्धिः स्म**=छोड़ देनेवाला हो। तेरे अस्त्र हमपर प्रहार करनेवाले न हों।

भावार्थ—ज्वर हमें अपने सर्दी, गर्मी, खाँसी आदि भयंकर अस्त्रों से आहत करनेवाला न हो।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**तक्मनाशनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

बलासं, कासं, उद्युगम्

मा स्मैतान्त्सखीन्कुरुथा बलासं कासमुद्युगम्।
मा स्मातोऽर्वाङैः पुनस्तत्त्वा तक्मन्नुप ब्रुवे॥ ११॥

१. हे **तक्मन्**=ज्वर! तू **बलासम्**=कफ़ को, **कासम्**=खाँसी को **उद्युगम्**=क्षय को (युगि वर्जने) **एतान्**=इन सबको **सखीन् मा स्म कुरुथाः**=मित्र मत बना। ज्वर के साथ कफ़ (बलगम), खाँसी व क्षय का उपद्रव न खड़ा हो जाए। २. **अतः अर्वाङ् मा स्म ऐः**=इसलिए तू हमारे समीप मत आ। ज्वर के साथ कितने ही उपद्रव आ खड़े होते है, अतः यह हमारे समीप नहीं आये तभी ठीक है। **पुनः**=फिर मैं **त्वा**=तुझे **तत् उपब्रुवे**=वह बात कहता हूँ कि तू हमारे समीप मत आ।

भावार्थ—ज्वर के साथ कफ़, खाँसी, क्षय आदि कितने ही उपद्रव उठ खड़े होते है, अत: ज्वर हमारे समीप न ही आये।

ऋषि:—**भृग्वङ्गिरा:** ॥ देवता—**तक्मनाशन:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

अरणं जनम्

तक्म॒न्भ्रात्रा॑ ब॒लासे॑न॒ स्वस्रा॒ कासि॑कया स॒ह।
पा॒प्मा भ्रातृ॑व्येण स॒ह गच्छा॒मुमर॑णं॒ जन॑म्॥ १२॥

१. हे **तक्मन्**=ज्वर! तू **भ्रात्रा बलासेन**=अपने भाई कफ़ के साथ, **स्वस्रा कासिकया सह**=बहिन के तुल्य खाँसी के साथ, **पाप्मा भ्रातृव्येण सह**=(पाप्मना) क्षय नामक पापरोग भतीजे के साथ **अमुम्**=उस **अरणम्**=अवद्य (रण शब्दे), निन्दनीय **जनम्**=मनुष्य के पास **गच्छ**=जा

भावार्थ —कफ़, खाँसी व क्षय के साथ यह ज्वर पापी को ही प्राप्त हो।

ऋषि:—**भृग्वङ्गिरा:** ॥ देवता—**तक्मनाशन:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

शारदं, ग्रैष्मं, वार्षिकम्

तृ॒तीय॒कं वि॑तृ॒तीयं॑ सद॒न्दिमु॒त शा॑र॒दम्।
त॒क्मानं॑ शी॒तं रू॒रं ग्रैष्मं॑ नाशय॒ वार्षि॑कम्॥ १३॥

१. **तृतीयकम्**=तीसरे दिन आनेवाले, **वि-तृतीयम्**=तीन दिन छोड़कर आनेवाले (चौथैया) **सदन्दिम्**=(सदं, दो अवखण्डने) सदा पीड़ित करनेवाले **उत**=और **शारदम्**=शरद् ऋतु में आनेवाले **तक्मानम्**=ज्वर को **नाशय**=नष्ट कर। २. **शीतम्**=सर्दी से लगकर आनेवाले, **रूरम्**=गर्मी लगकर आनेवाले, **ग्रैष्मम्**=ग्रीष्म ऋतु में हो जानेवाले तथा **वार्षिकम्**=वर्षाऋतु में होनेवाले ज्वर को (नाशय) नष्ट कर।

भावार्थ—एक सद्वैद्य सब प्रकार के रोगों को उचित औषधोपचार से दूर कर दे।

ऋषि:—**भृग्वङ्गिरा:** ॥ देवता—**तक्मनाशन:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

गन्धारिभ्य:, अङ्गेभ्य:, मगधेभ्य:

ग॒न्धारि॑भ्यो॒ मूज॑वद्भ्यो॒ऽङ्गेभ्यो॑ म॒गधे॑भ्य:।
प्रै॒ष्यन् जन॑मिव शेव॒धिं त॒क्मानं॒ परि॑ दद्मसि॥ १४॥

१. **इव**=जैसे **जनम्**=किसी मनुष्य को **शेवधिं प्रैष्यन्**=कोश (धन) भेजा जाता है, उसी प्रकार हम **तक्मानम्**=इस ज्वर को **गन्धारिभ्य:**=(गन्ध् हिंसने) हिंसन की वृत्तिवाले पुरुषों के लिए **परि दद्मसि**=दे डालते हैं। इस ज्वर का धन इन हिंसकों के लिए ही ठीक है। २. इसप्रकार हम इस ज्वर-धन को **मूजवद्भ्य:**=घास की अधिकतावाले स्थानों के लिए भेज देते हैं—इन स्थानों में रहनेवालों को ही यह धन प्राप्त हो। **अङ्गेभ्य:**='जिन्हें बहुत अधिक गति करनी पड़ती है (अगि गतौ) और परिणामत: श्रम की अति के कारण क्षीण हो जाते हैं' उनके लिए हम इस ज्वर-धन को भेजते हैं, अन्तत: **मगधेभ्य:**=(मगं दोषं दधाति) दोषों को धारण करनेवाले मलिन-चरित्र पुरुषों के लिए हम इसे धारण करते हैं।

भावार्थ—ज्वर हिंसकों को, घास-प्रचुर स्थान में रहनेवालों को, अतिश्रम से थक जानेवालों को तथा दूषित जीवनवालों को प्राप्त होता है।

विशेष—ज्वर से बचने के लिए रोग-कृमियों का विनाश आवश्यक है। रोग-कृमियों

के विनाश से ज्वर का विनाश स्वतः ही हो जाएगा, अतः अगले सूक्त का विषय कृमियों का विनाश है। इन कृमिरूप राक्षसों का विनाशक 'इन्द्र' है। बुद्धिमत्ता से काम करने के कारण यह 'कण्व' है—मेधावी। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

२३. [त्रयोविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

क्रिमि-विनाश

ओते मे द्यावापृथिवी ओता देवी सरस्वती।
ओतौ म इन्द्रश्चाग्निश्च क्रिमिं जम्भयतामिति॥ १ ॥

१. **मे**=मेरे जीवन में **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्करूप द्युलोक तथा शरीररूप पृथिवीलोक **ओते**=ओत-प्रोत हो गये हैं—बुने-से गये हैं। मस्तिष्क दीप्त है तो शरीर दृढ़ (येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा)। इसीप्रकार **देवी**=जीवन को प्रकाशमय बनानेवाली **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता मेरे जीवन में **ओता**=व्याप्त हो गई है। २. इसीप्रकार **मे**=मेरे **इन्द्रः च अग्निः च**=बल व प्रकाश के देवता **ओतौ**=परस्पर बुने हुए-से हो गये हैं, **इति**=यह सब इसलिए कि ये **क्रिमिं जम्भयताम्**=रोग-कृमियों को नष्ट कर दें।

भावार्थ—जीवन में हम यदि मतिष्क और शरीर दोनों का ध्यान रक्खेंगे, सरस्वती की अराधना से जीवन को प्रकाशमय बनाएँगे और बल व प्रकाश दोनों का सम्पादन करेंगे तो रोग-कृमियों से आक्रान्त नहीं होंगे।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

धनपति इन्द्र

अस्येन्द्र कुमारस्य क्रिमीन्धनपते जहि।
हता विश्वा अरातय उग्रेण वचसा मम॥ २ ॥

१. 'इन्द्र' सूर्य का भी नाम है और यह सूर्य सब प्राणदायी धनों का स्वामी है—'प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः'। हे **धनपते**=सब प्राणधनों के स्वामीन्! **इन्द्र**=सूर्य! **अस्य कुमारस्य**=इस कुमार के **क्रिमीन्**=शरीरस्थ रोग-कृमियों को **जहि**=विनष्ट कर—'उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्ति निम्रोचन हन्तु रश्मिभिः'। २. **मम**=मेरे **उग्रेण वचसा**=तेजस्वी वचनों से **विश्वाः अरातयः**=सब शत्रु **हताः**=विनष्ट हो जाते हैं अथवा मुझसे प्रयुक्त की जानेवाली इस उग्र—रोग-कृमियों के लिए भयंकर—वचा औषधि से सब रोग-कृमियों का विनाश हो जाता है।

भावार्थ—सूर्य-किरणों का सेवन कृमि-विनाश के लिए सर्वोत्तम उपचार है। वचा ओषधि का प्रयोग भी कृमि-विनाश के लिए उपयोगी है।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अक्ष्यौ, नासे, दतां मध्ये

यो अक्ष्यौ परिसर्पति यो नासे परिसर्पति।
दतां यो मध्यं गच्छति तं क्रिमिं जम्भयामसि॥ ३ ॥

१. **यः**=जो कृमि **अक्ष्यौ**=आँखों की ओर **परिसर्पति**=गतिवाला होता है—आँखों में विचरण करता है, **यः**=जो कृमि **नासे परिसर्पति**=नासा-छिद्रों में गति करता है और **यः**=जो **दतां मध्यं गच्छति**=दाँतों के बीच में गति करता है, **तं क्रिमिं जम्भयामसि**=उस कृमि का विनाश करते हैं।

भावार्थ—हम आँखों, नासिका-छिद्रों व दाँतों को रुग्ण करनेवाले कृमियों का विनाश करते हैं।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विविध कृमि

सरूपौ द्वौ विरूपौ द्वौ कृष्णौ द्वौ रोहितौ द्वौ।
बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्च गृध्रः कोकश्च ते हताः ॥ ४ ॥

१. **सरूपौ द्वौ**=दो कृमि एकदम समान रूपवाले हैं—भिन्न-भिन्न रोगों का कारण बनते हैं, परन्तु उनका रूप एकदम मिलता-सा है। **विरूपौ द्वौ**=दो कृमि भिन्न-भिन्न रूपोंवाले हैं—एक ही रोग का कारण बनते हैं, परन्तु हैं रूप में अलग-अलग। **द्वौ कृष्णौ**=दो कृष्णवर्ण कृमि हैं, **द्वौ रोहितौ**=दो लाल रंग के हैं—ये विविध रोगों को उत्पन्न करते हैं, २. **बभ्रुः च बभ्रुकर्णः च**=एक भूरे रंग का है और एक भूरे कानवाला है, **गृध्रः च**=एक मांस खा जाने का लोभी-सा है तो **कोकः च**=एक दूसरा खून को पी जानेवाला है (कुक आदाने) **ते हताः**=(सूर्य-किरणों के सेवन व वचा के प्रयोग से) वे सब मारे गये हैं।

भावार्थ—संसार में विविध प्रकार के कृमि हैं, नीरोगता के लिए उन सबका विनाश आवश्यक है।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शितिकक्षाः, शितिबाहवः

ये क्रिमयः शितिकक्षा ये कृष्णाः शितिबाहवः।
ये के च विश्वरूपास्तान्क्रिमीन् जम्भयामसि ॥ ५ ॥

१. **ये**=जो **क्रिमयः**=कृमि **शितिकक्षाः**=श्वेत कोखवाले हैं, **ये**=जो **कृष्णाः शितिबाहवः**=काले व श्वेत भुजाओंवाले हैं **च**=और **ये के**=जो कोई **विश्वरूपाः**=विविध रूपोंवाले हैं, **तान्**=उन **क्रिमीन्**=क्रिमियों को **जम्भयामसि**=हम विनष्ट करते हैं।

भावार्थ—'शितिकक्ष, शितिबाहु व विश्वरूप' सब कृमियों को विनष्ट किया जाए।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सूर्य-किरणों में

उत्पुरस्तात्सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा।
दृष्टांश्च घ्नन्नदृष्टांश्च सर्वांश्च प्रमृणन् क्रिमीन् ॥ ६ ॥

१. यह **सूर्यः**=सूर्य **पुरस्तात्**=पूर्व दिशा से **उत् एति**=उदित होता है, यह **विश्वदृष्टः**=सबसे देखा गया है, अथवा यह सबको देखनेवाला है—'विश्वं दृष्टं येन'। यह **अदृष्टहा**=अदृष्ट कृमियों का भी नाश करता है। २. **दृष्टान् च अदृष्टान् च**=यह दृष्ट व अदृष्ट **सर्वान् च**=सभी **क्रिमीन्**=कृमियों को **घ्नन्**=नष्ट करता है, **प्रमृणन्**=अपनी किरणों से उन्हें कुचल देता है।

भावार्थ—सूर्योदय होता है और यह उदित होता हुआ सूर्य विश्वदृष्ट होता हुआ दृष्ट व अदृष्ट सब कृमियों को नष्ट कर देता है।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कष्कषासः शिपवित्नुकाः

येवाषासः कष्कषास एजत्काः शिपवित्नुकाः।
दृष्टश्च हन्यतां क्रिमिरुतादृष्टश्च हन्यताम् ॥ ७ ॥

१. **येवाषासः**=(इण् गतौ, अज गतौ) गतिवाले व खूब ही गतिवाले कई कृमि हैं, **कष्कषासः**=(कष्=हिंसायाम्) अतिशयेन पीड़ा देनेवाले ये दूसरे कृमि हैं। **एजत्काः**=(एजृ दीप्तौ कम्पने च) कई कृमि दीप्यमान व कम्पनशील हैं, **शिपवित्नुकाः**=(शिपि=Skin, वितन्=to cover, to stretch) सारी त्वचा में फैल जानेवाले कई कृमि हैं। २. ये सब **दृष्टः च**=जो देखे गये हैं वे **क्रिमिः**=कृमि **हन्यताम्**=मारे जाएँ **उत**=और **अदृष्टः च**=न दिखा हुआ कृमि भी मारा जाए।

भावार्थ—'तीव्र गतिवाले, बड़ी पीड़ा प्राप्त करनेवाले, चमकते हुए कम्पायमान, सारी त्वचा पर फैल जानेवाले'—ये सब दृष्ट व अदृष्ट कृमि मारे जाएँ।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'येवाष व नदनिमा' को मसल देना

हतो येवाषः क्रिमीणां हतो नदनिमोत।
सर्वान्नि मष्मषाकरं दृषदा खल्वाँइव॥ ८॥

१. **क्रिमीणाम्**=कृमियों में यह **येवाषः**=बड़ी तीव्र गतिवाला कृमि **हतः**=मारा गया है, **उत**=और **नदनिमा**=यह शब्द करनेवाला, चिर-चिर-सी ध्वनि करनेवाला कृमि **हतः**=मारा गया है। २. मैं **सर्वान्**=सब कृमियों को **मष्मषा**=मसल-मसलकर **नि अकरम्**=नष्ट कर देता हूँ, **इव**=जैसे **खल्वान्**=चणों को **दृषदा**=एक पत्थर से दल देते हैं।

भावार्थ—कृमियों को उचित औषधोपचार से ऐसे मसलकर रख दिया जाए जैसेकि पत्थर से चनों को मसल दिया जाता है।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कृमि-शिरः कर्तन

त्रिशीर्षाणं त्रिककुदं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम्।
शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः॥ ९॥

१. मैं **त्रिशीर्षाणम्**=तीन सिरोंवाले, **त्रिककुदम्**=तीन ककुदों-(कुदानों)-वाले, **सारंगम्**=चित्र-विचित्र वर्णवाले, **अर्जुनम्**=श्वेत कृमि को **शृणामि**=नष्ट करता हूँ। २. **अस्य**=इस रोग-कृमि की **पृष्टिः अपि**=पसलियों को भी नष्ट करता हूँ, **च**=और **यत् शिरः**=इनका जो शिर है, उसे भी **वृश्चामि**=काट डालता हूँ।

भावार्थ—कई तीन सिरोंवाले व तीनों कुदानोंवाले कृमि हैं। इनका सिर काटडालने से इनका नाश कर देता हूँ।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'अत्रि, कण्व, जमदग्नि व अगस्त्य' की भाँति

अत्रिवद्वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत्।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन्॥ १०॥

१. हे **क्रिमयः**=कृमयो! **वः**=तुम्हें मैं इसप्रकार **हन्मि**=नष्ट करता हूँ **अत्रिवत्**=जैसेकि एक अत्रि—काम, क्रोध व लोभ से ऊपर उठा हुआ पुरुष नष्ट करता है (अ-त्रि), **कण्ववत्**=एक मेधावी की भाँति तुम्हें नष्ट करता हूँ और **जमदग्निवत्**=दीप्त जाठर अग्निवाले (जमत् अग्नि) पुरुष की भाँति तुम्हारा विनाश करता हूँ। काम-क्रोध व लोभ में फँसने से, नासमझी से, आहार-

विहार की गलतियों से व जाठर अग्नि के मन्द हो जाने से विविध रोग-कृमियों की उत्पत्ति हो जाती है। २. **अगस्त्यस्य**=(अगं स्त्यायति, संघाते) पाप का संहनन करनेवाले पुरुष के **ब्रह्मणा**=ज्ञान से **अहम्**=मैं क्रिमीन् **संपिनष्मि**=कृमियों को पीस डालता हूँ—विनष्ट कर डालता हूँ।

भावार्थ—हम 'अत्रि, कण्व, जमदग्नि व अगस्त्य' बनें और इन रोगकृमियों के शिकार न हों।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'कृमि-परिवार' विनाश

हतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः।
हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा॥ ११॥

१. **कृमीणां राजा हतः**=कृमियों का राजा मारा गया है, **उत**=और **एषां स्थपतिः हतः**=इनका स्थानपति (स्थान के बनानेवाला) कृमि भी मारा गया है। २. **हतमाता**=जिसकी माता मारी गई है, **हतभ्राता**=जिसका भाई मारा गया है, **हतस्वसा**=जिसकी बहिन मारी गई है, वह **क्रिमिः हतः**=कृमि भी मार दिया गया है।

भावार्थ—कृमियों के परिवार-के-परिवार का ही विनाश अभीष्ट है।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वेशसः परिवेशसः

हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः।
अथो ये क्षुल्लकाइव सर्वे ते क्रिमयो हताः॥ १२॥

१. **अस्य वेशसः हतासः**=इस कृमि के घरवाले मारे गये हैं, **परिवेशसः हतासः**=इसके पड़ौसी भी मारे गये हैं। २. **अथो**=और अब **ये**=जो **क्षुल्लकाः इव**=छोटे-मोटे पीस देने योग्य-से कृमि थे **ते**=वे **सर्वे कृमयः हताः**=सब कृमि मारे गये हैं।

भावार्थ—कृमियों का समूलोन्मूलन ही अभीष्ट है।

ऋषिः—**काण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रादयः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥

सर्वेषां सर्वासाम्

सर्वेषां च क्रिमीणां सर्वासां च क्रिमीणाम्।
भिनद्म्यश्मना शिरो दहाम्यग्निना मुखम्॥ १३॥

१. **सर्वेषां च क्रिमीणाम्**=सब नर कृमियों का **च**=और **सर्वासां कृमीणाम्**=सब मादा कृमियों के **शिरः**=शिर को **अश्मना भिनद्मि**=पत्थर से विदीर्ण कर देता हूँ। २. **अग्निना**=अग्नि के द्वारा (तेज़ाब के प्रयोग से) इनके **मुखम् दहामि**=मुख को दग्ध कर देता हूँ।

भावार्थ—नीरोगता के लिए नर-मादा सब कृमियों का विनाश आवश्यक है।

विशेष—रोगकृमियों के विनाश से, शरीर से नीरोग, उन्नति-पथ पर चलता हुआ यह व्यक्ति 'अथर्वा' बनता है—उन्नति के शिखर पर पहुँचता है। यह 'ब्रह्म=ज्ञान व कर्म=यज्ञादि उत्तम कर्मों' को ही अपनी आत्मा समझता है, उन्हीं में तत्पर रहता है, कभी मार्गभ्रष्ट नहीं होता और प्रार्थना करता है—

२४. [चतुर्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरी** ॥

'प्रसवानाम् अधिपतिः' सविता

सविता प्रसवानामधिपतिः स मावतु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ १॥

१. **सविता**=सबको प्रेरणा देनेवाला प्रभु **प्रसवानाम् अधिपतिः**=सब प्रेरणाओं का स्वामी है—वही सबको प्रेरणा देता है—चेताता है। **सः मा अवतु**=वह मेरा रक्षण करे। **अस्मिन्**=इस **ब्रह्मणि**=ज्ञान-प्राप्ति के कर्म में, **अस्मिन् कर्मणि**=इस यज्ञादि कर्म में, **अस्यां पुरोधायाम्**=इस पौरोहित्य में—पुरोहित-कर्म के सम्पादन में, **अस्यां प्रतिष्ठायाम्**=इस प्रतिष्ठा में—शान्तस्थिति में (tranquility, repose), **अस्यां चित्त्याम्**=इस आत्मस्वरूप की स्मृति में, **अस्यां आकूत्याम्**=इस संकल्प में **अस्याम् आशिषि**=इस आशीः—शुभेच्छा में, **अस्यां देव-हूत्याम्**=इस देवों की प्रार्थना में (हूति आह्वान) **स्वाहा**=(स्वा आ हा) मैं अपना अर्पण करता हूँ। इसप्रकार जीवन-यापन करता हुआ मैं प्रभु रक्षणीय होऊँ।

भावार्थ—वह प्रेरक प्रभु सब प्रेरणाओं का स्वामी है। मैं उसकी प्रेरणाओं को सुनूँ और उन्हें कार्यान्वित करूँ। प्रभु से रक्षित हुआ-हुआ मैं 'ज्ञान-प्राप्ति, यज्ञादिकर्म, पौरोहित्य, शान्तस्थिति, आत्मस्वरूप की स्मृति, उत्तम संकल्प, उत्तमेच्छा व देवों की प्रार्थना' में अपना अर्पण करता हूँ, इन कर्मों में प्रवृत्त हुआ-हुआ जीवन-यज्ञ में आगे बढ़ता हूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरी** ॥

'वनस्पतीनाम् अधिपतिः' अग्नि

अग्निर्वनस्पतीनामधिपतिः स मावतु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ २॥

१. **अग्निः**=पृथिवी का मुख्य देवता अग्नि **वनस्पतीनाम्**=सब वनस्पतियों का **अधिपतिः**=स्वामी है। भूमि में इस अग्नि की उष्णता न होने पर किसी भी वनस्पति का प्रारोहण सम्भव नहीं है। **सः**=वह अग्नि **मा अवतु**=मेरा रक्षण करे। शरीर के स्वास्थ्य के लिए उचित मात्रा में अग्नितत्त्व का होना आवश्यक है। इसके अभाव में शरीर शान्त ही हो जाता है। २. इसके रक्षित होने पर मैं ज्ञान-प्राप्ति आदि कर्मों में अपना अर्पण करूँ। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—वनस्पतियों का अधिपति अग्नि मेरा रक्षण करे। मैं इन वनस्पतियों का ही सेवन करनेवाला बनूँ। इस अग्नि से रक्षित होकर मैं ज्ञानादि कर्मों में अपना अर्पण करूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरी** ॥

'दातॄणाम् अधिपत्नी' द्यावापृथिवी

द्यावापृथिवी दातॄणामधिपत्नी ते मावताम्।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ ३॥

१. **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **दातॄणाम् अधिपत्नी**=दाताओं के अधिपति हैं।

सबसे मुख्य दाता ये द्यावापृथिवी ही हैं। द्युलोक पिता है तो पृथिवीलोक माता। ये हम सब पुत्रों के लिए आवश्यक पदार्थों को प्राप्त कराते हैं। ये ही हमें खान-पान आदि के लिए सब वस्तुओं को सुलभ कराते हैं। २. **ते**=वे द्यावापृथिवी **मा**=मेरा **अवताम्**=रक्षण करें। ये तो हमारे पिता-माता हैं, रक्षण क्यों न करेंगे? इनसे रक्षित होकर मैं ज्ञान-प्राप्ति आदि उत्तम कर्मों में लगा रहूँ। शेष पूर्ववत्।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरी** ॥

'अपाम् अधिपतिः' वरुणः

वरुणो॒ऽपामधि॑पतिः॒ स मा॑वतु।
अ॒स्मिन्ब्रह्म॑ण्य॒स्मिन्कर्म॑ण्य॒स्यां पु॒रोधाया॑म॒स्यां प्र॑ति॒ष्ठाया॑म॒स्यां
चि॒त्त्या॑म॒स्यामाकू॑त्याम॒स्यामा॒शिष्य॒स्यां दे॒वहू॑त्यां॒ स्वाहा॑ ॥ ४ ॥

१. **वरुणः**=सब कष्टों का निवारण करनेवाला प्रभु **अपाम्**=जलों का **अधिपतिः**=स्वामी है। उसने इन जलों का निर्माण करके हमारे कष्टों व रोगों के निवारण की व्यवस्था की है। ये जल 'वारि' हैं—रोगों का निवारण करनेवाले, 'भेषजम्'=औषध हैं, 'अमृतम्' नीरोगता देनेवाले हैं। इनमें उस वरुण ने सब रोगों के औषधों को स्थापित किया है। २. **सः मा अवतु**=वे वरुण मेरा रक्षण करें। जलों का समुचित प्रयोग करता हुआ मैं नीरोग बनकर ज्ञानादि कर्मों में प्रवृत्त रहूँ। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—वरुण प्रभु ने रोग-निवारण के लिए इन जलों को हमें प्राप्त कराया है। इनका ठीक प्रयोग हमें स्वस्थ बनाये। स्वस्थ रहकर हम ज्ञानादि प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरी** ॥

'वृष्ट्यधिपती' मित्रावरुणौ

मि॒त्रावरु॑णौ वृ॒ष्ट्याधि॑पती॒ तौ मा॑वताम्।
अ॒स्मिन्ब्रह्म॑ण्य॒स्मिन्कर्म॑ण्य॒स्यां पु॒रोधाया॑म॒स्यां प्र॑ति॒ष्ठाया॑म॒स्यां
चि॒त्त्या॑म॒स्यामाकू॑त्याम॒स्यामा॒शिष्य॒स्यां दे॒वहू॑त्यां॒ स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

१. **मित्रावरुणौ**=मित्र और वरुण (उद्रजन और अम्लजन नामक वायुएँ) **वृष्ट्या**=(वृष्ट्याः) वृष्टि के **अधिपती**=स्वामी हैं। ये वृष्टिजल के रूप में हमें 'अमृत' प्राप्त कराते हैं। यह वृष्टि अन्नोत्पादन में मुख्य साधन बनकर हमारा रक्षण करती है। २. **तौ**=मित्र और वरुण इस वृष्टि-जल को समय पर प्राप्त कराने के द्वारा **मा अवताम्**=मेरा रक्षण करें, 'अतिवृष्टि व अनावृष्टि' रूप आधिदैविक आपत्तियों से हमें बचाएँ। इनसे सुरक्षित हुए-हुए हम ज्ञानादि कार्यों में प्रवृत्त हों। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—मित्र और वरुण द्वारा प्राप्त कराई गई वृष्टि अन्नों को उत्पन्न करती हुई दुर्भिक्ष के कष्ट से हमें बचाये। इसप्रकार से रक्षित हुए-हुए हम उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरी** ॥

'पर्वतानाम् अधिपतयः' मरुतः

म॒रुतः॒ पर्व॑ताना॒मधि॑पतय॒स्ते मा॑वन्तु।
अ॒स्मिन्ब्रह्म॑ण्य॒स्मिन्कर्म॑ण्य॒स्यां पु॒रोधाया॑म॒स्यां प्र॑ति॒ष्ठाया॑म॒स्यां
चि॒त्त्या॑म॒स्यामाकू॑त्याम॒स्यामा॒शिष्य॒स्यां दे॒वहू॑त्यां॒ स्वाहा॑ ॥ ६ ॥

१. **मरुतः**=शरीरस्थ प्राण **पर्वतानाम्**=(पर्व पूरणे) सब न्यूनताओं को दूर करके सब पूरणों के **अधिपतयः**=स्वामी हैं। इन प्राणों की साधना (प्राणायाम) के द्वारा मैं अपनी सब न्यूनताओं को दूर करूँ। २. **ते**=वे प्राण **मा अवन्तु**=मेरा रक्षण करें। प्राणसाधना से 'शरीर में स्वस्थ, मन में निर्मल व बुद्धि में दीप्त' बनकर मैं ज्ञान-प्राप्ति आदि उत्तम कर्मों में लगा रहूँ। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—प्राणसाधना सब न्यूनताओं को दूर करती हुई व हमारा पूरण करती हुई हमें रक्षित करे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरी** ॥

'वीरुधामधिपतिः' सोमः

सोमो वीरुधामधिपतिः स मावतु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ७ ॥

१. गतमन्त्र में वर्णित प्राणसाधना से शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ **सोमः**=वीर्य **वीरुधाम्**=सब विरोहणों—उन्नतियों का **अधिपतिः**=स्वामी है। सोम-रक्षण से ही 'शरीर के रोग, मन के राग-द्वेष व बुद्धि की कुण्ठता' दूर होती हैं। २. शरीर में सुरक्षित **सः**=वह सोम **मा अवतु**=मेरा रक्षण करे। हम सोम का रक्षण करते हैं, सोम हमारा रक्षण करता है। सोम से सुरक्षित मैं ज्ञान आदि की प्राप्ति में प्रवृत्त होऊँ। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा मैं सोम का शरीर में रक्षण करूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वायुः** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरी** ॥

'अन्तरिक्षस्याधिपतिः' वायुः

वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः स मावतु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ८ ॥

१. **वायुः**=वायु **अन्तरिक्षस्य**=अन्तरिक्ष का **अधिपतिः**=स्वामी है। अन्तरिक्ष का मुख्य देवता वायु ही है। मैं खुले में रहता हुआ सदा इसका सेवन करूँ। **सः**=वह वायु **मा अवतु**=मेरा रक्षण करे। वायु के घट में अमृत का कोश है। हम शुद्ध वायु का सेवन करेंगे तो इस अमृत को क्यों न प्राप्त करेंगे? २. शरीर में वह वायु हृदय-अन्तरिक्ष में रहता है। हृदयान्तरिक्ष में वायु के रहने का भाव यह है कि हम सदा वायु की भाँति क्रियाशील बनें। यह क्रियाशीलता ही सब बुराइयों का गन्धन(हिंसन) करेगी। उत्तम वृत्तिवाले बनकर हम ज्ञानादि कर्मों में ही प्रवृत्त रहेंगे। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—हम शुद्ध वायु का सेवन करें और वायु से क्रियाशीलता का पाठ पढ़ें। यह क्रियाशीलता हमें सब बुराइयों से बचाएगी।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरी** ॥

'चक्षुषाम् अधिपतिः' सूर्यः

सूर्यश्चक्षुषामधिपतिः स मावतु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ ९ ॥

१. **सूर्यः**=सूर्य **चक्षुषाम् अधिपतिः**=नेत्रों का अधिपति है। वस्तुतः सूर्य ही चक्षु का रूप धारण करके आँखों में निवास करता है—'सूर्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्'—ऐत० उप०। प्रातः-सायं सूर्याभिमुख होकर ध्यान का विधान इसीलिए है कि हम ध्यान करेंगे और सूर्य हमारी आँखों की शक्ति का वर्धन करेगा। २. **सः**=वह सूर्य **मा अवतु**=मेरा रक्षण करे। सूर्य-किरणों का सेवन सब रोगकृमियों का संहारक है—'**उद्यन्नादित्य क्रिमीन् हन्ति निम्रोचन् हन्तु रश्मिभिः**'। सूर्य-किरणों द्वारा हमारे शरीर में सब प्राणदायी तत्त्वों की स्थापना होती है। '**प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः**' इसप्रकार सूर्य-सम्पर्क में स्वस्थ बनकर मैं ज्ञानादि कर्मों में अपना अर्पण करूँ। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—सूर्य-किरणों का सेवन हमें स्वस्थ व चक्षुशक्ति-सम्पन्न बनाए। ऐसे बनकर हम ज्ञान-प्राप्ति आदि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**चन्द्रमाः**॥ छन्दः—**अतिशक्वरी**॥

'नक्षत्राणाम् अधिपतिः' चन्द्रमा

चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः स मावतु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ १०॥

१. **चन्द्रमाः**=चन्द्र **नक्षत्राणाम् अधिपतिः**=(नक्ष गतौ) आकाशस्थ गतिशील तारकाओं का स्वामी है। यह चन्द्र मन बनकर हमारे हृदयों में प्रवेश करता है। 'चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्' (ऐत०) और हमें उपदेश करता है कि 'तुम सदा गतिशील होते हुए प्रसन्न मनवाले बनो (चदि आह्लादे)। संसार में वृद्धि-क्षय तो आते ही रहते हैं, उदासीन नहीं होना। २. **सः**=वह चन्द्रमा **मा**=गतिशीलता का उपदेश करता हुआ मुझे **अवतु**=रक्षित करे। गतिशीलता व प्रसन्न-मनस्कता को अपनाकर मैं यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहूँ। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—मैं चन्द्र से गतिशीलता व प्रसन्न-मनस्कता का पाठ पढ़कर उत्तम कार्यों में लगा रहूँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अतिशक्वरी**॥

'दिवः अधिपतिः' इन्द्रः

इन्द्रो दिवोऽधिपतिः स मावतु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ ११॥

१. **इन्द्रः**=विद्युत् **दिवः**=(दिवु व्यवहारे) सब व्यवहारों की **अधिपतिः**=स्वामिनी है। विद्युत् से सब व्यवहार सिद्ध होते हैं। सम्पूर्ण यन्त्रसमूह का इसके द्वारा परिचालन होता है। हम भी विद्युत् की भाँति शीघ्रता से—अनालस्य से कार्यों को करनेवाले बनें। २. **सः**=वह विद्युत् शीघ्रता से कार्य करने का उपदेश करती हुई **मा अवतु**=मेरा रक्षण करे। इससे रक्षित हुआ-हुआ मैं ज्ञान आदि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहूँ। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—विद्युत् से हम शीघ्र कार्यकारित्व का पाठ पढ़ें। हममें आलस्य व दीर्घसूत्रता न हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मरुतां पिता** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरी** ॥

'पशूनाम् अधिपतिः' मरुतां पिता

मरुतां पिता पशूनामधिपतिः स मावतु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ १२॥

१. **मरुताम्**=(हिरण्यनाम—नि० १.२) हिरण्यादि धनों का **पिता**=रक्षक, लक्ष्मीपति प्रभु **पशूनाम्**=सब जीवों का **अधिपतिः**=स्वामी है। प्रभु हिरण्यादि धनों को देकर हमारा रक्षण करते हैं। २. **सः**=वह हिरण्य का स्वामी प्रभु **मा**=हिरण्य को प्राप्त कराता हुआ मुझे **अवतु**=रक्षित करे। निर्धनता के कष्ट से ऊपर उठता हुआ मैं ज्ञान-प्राप्ति आदि कर्मों में प्रवृत्त रहूँ। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—प्रभु ही सब हिरण्यों के रक्षक हैं। इन हिरण्यों को देकर वे हमारा पालन करते हैं। हम धनों को प्रभु से दिया हुआ जानें और उनका सद् व्यय करते हुए उत्तम कार्यों में प्रवृत्त रहें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मृत्युः** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरी** ॥

'प्रजानाम् अधिपतिः' मृत्युः

मृत्युः प्रजानामधिपतिः स मावतु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ १३॥

१. **मृत्युः**=मृत्यु **प्रजानाम् अधिपतिः**=सब प्रजाओं का स्वामी है। कोई भी व्यक्ति इस मृत्यु से बच नहीं सकता। २. मैं सदा इस मृत्यु का स्मरण करूँ। यह मृत्यु-स्मरण मुझे विषयासक्ति से बचाता है व मार्ग-भ्रष्ट नहीं होने देता। इसप्रकार **सः**=वह मृत्यु **मा**=मुझे **अवतु**=रक्षित करे—मार्ग-भ्रष्ट होने से बचाए। मैं सदा उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहूँ। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—मृत्यु-स्मरण से मार्ग-भ्रष्ट न होता हुआ मैं सदा सत्पथ का आक्रमण करूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरी** ॥

'पितॄणाम् अधिपतिः' यमः

यमः पितॄणामधिपतिः स मावतु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ १४॥

१. **यमः**=नियन्त्रण में चलानेवाला आचार्य **पितॄणाम् अधिपतिः**=पितरों का स्वामी है। सर्वोत्तम पिता आचार्य है जो हमें धर्म-मार्ग के व्यतिक्रम से बचाता है। **सः**=वह नियन्ता आचार्य **मा अवतु**=मेरा रक्षण करे। आचार्य के गर्भ में सुरक्षित हुआ-हुआ मैं विषयों के आक्रमण से बचा रहूँ और ज्ञानादि कर्मों में प्रवृत्त रहूँ। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—आचार्य के नियन्त्रण में मेरे जीवन का उपक्रम हो। आचार्य द्वारा परिपक्व बुद्धि बनाया जाकर मैं संसार में पदार्पण करूँ और सदा उत्तम कार्यों में ही प्रवृत्त रहूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पितरः** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरी** ॥

'पिता, पितामह व प्रपितामह' का श्राद्ध

पितरः परे ते मावन्तु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ १५॥

१. इस संसार-यात्रा में **ते**=वे **परे पितरः**=उत्कृष्ट जीवनवाले—मुझसे पहले संसार में आनेवाले 'पिता, पितामह व प्रपितामह' **मा अवन्तु**=सदा उत्तम प्रेरणाओं द्वारा मेरा रक्षण करें। २. इन पितरों से उत्तम प्रेरणाओं को प्राप्त करके हम सदा उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहें। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—हमें सदा अपने बड़ों—'पिता, पितामह व प्रपितामह' से उत्तम प्रेरणा प्राप्त होती रहे। यह प्रेरणा हमें सत्पथ पर ले-जानेवाली हो। इनकी प्रेरणाओं को सुनना ही इनका सच्चा श्राद्ध है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ताताः** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरी** ॥

ते अवरे तताः

तता अवरे ते मावन्तु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ १६॥

१. **ते**=वे **अवरे**=हमसे पिछले काल में आनेवाले **तताः**=सन्तान (तन्यते, अथवा तनोति कुलम्) भी **मा अवन्तु**=मेरी रक्षा करें। 'मेरे पथभ्रंश का सन्तानों पर दुष्प्रभाव पड़ेगा तब वे मेरा क्या आदर करेंगी?' यह विचार ही हमें पथभ्रष्ट होने से रक्षित करता है। २. एवं, इन सूनुओं (Sons) से भी उत्तम प्रेरणा प्राप्त करके (षू प्रेरणे) हम उत्तम मार्ग पर ही आगे बढ़ें। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—पुत्र भी हमें जीवन की उत्तमता के लिए प्रेरणा देनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ततामहाः** ॥ छन्दः—**विराट्शक्वरी** ॥

ततामहाः

ततस्ततामहास्ते मावन्तु।
अस्मिन्ब्रह्मण्यस्मिन्कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां
चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा॥ १७॥

१. **ततः**=तब—उसके पश्चात् **ते**=वे **ततामहाः**=मेरे पौत्र भी **मा अवन्तु**=मेरा रक्षण करें। 'मेरे सच्चरित्र से उन्हें अपने कुल के गौरव का अनुभव होगा' यह सोचकर मैं कभी पथ-भ्रष्ट नहीं होऊँगा। २. पौत्रों व प्रपौत्रों में यश का विचार मुझे उज्ज्वल चरित्रवाला बनाएगा। इसप्रकार मैं उत्तम कर्मों में ही अपना अर्पण करूँगा। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—पौत्रों व प्रपौत्रों में कुल के गौरव को अनुभव कराने की भावना मुझे सत्कर्म में प्रवृत्त करती है।

विशेष—इसप्रकार उत्तम कर्म से डाँवाडोल न होता हुआ यह अथर्वा (न थर्वति) 'ब्रह्मा' बनता है—सर्वोन्नत। अगले सूक्त का द्रष्टा यह ब्रह्मा ही है।

२५. [पञ्चविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**योनिः, गर्भः, पृथिव्यादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पर्वतात् दिवः, अङ्गात् अङ्गात्

पर्वताद्दिवो योनेरङ्गादङ्गात्समाभृतम्।
शेपो गर्भस्य रेतोधाः सरौ पर्णमिवा दधत्॥ १ ॥

१. **पर्वतात्**=मेरु-पर्वत—मेरुदण्ड—रीढ़ की हड्डी से **दिवः**=मस्तिष्करूप द्युलोक से **योनेः**=शरीर के **अङ्गात् अङ्गात्**=एक-एक अङ्ग से **समाभृतम्**=सम्यक् आभृत किये हुए **शेपः**=वीर्य-सामर्थ्य को, शरीर को शेप (आकार) देनेवाले वीर्य को **गर्भस्य रेतोधाः**=गर्भ के मूलभूत बीज का स्थापन करनेवाला पुरुष **आदधत्**=गर्भाशय में इसप्रकार आहित करता है, **इव**=जैसेकि **सरौ पर्णम्**=तीर में पङ्ख को स्थापित करते हैं। पङ्ख के आधान से तीर की गति तीव्र हो जाती है। इसीप्रकार वीर्य के आधान से गर्भाश्य में शरीर-निर्माण की गति आरम्भ हो जाती है।

भावार्थ—पुरुष के अङ्ग-प्रत्यङ्ग से समाभृत वीर्य सन्तान के शरीर का निर्माण करता है। इसी से सन्तान माता-पिता के अनुरूप आकृति व स्वभाववाली बनती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**योनिः, गर्भः, पृथिव्यादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गर्भधारिका पत्नी का रक्षक पति

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे।
एवा दधामि ते गर्भं तस्मै त्वामवसे हुवे॥ २ ॥

१. पत्नी पति से कहती है—**यथा**=जैसे **इयम्**=यह **मही पृथिवी**=महनीय भूमि **भूतानाम्**=सब प्राणियों के **गर्भम्**=गर्भ को **आदधे**=धारण करती है, **एव**=इसीप्रकार मैं **ते**=तेरे **गर्भम्**=गर्भ को **दधामि**=धारण कर रही हूँ। २. **तस्मै अवसे**=उस गर्भ के रक्षण के लिए **त्वाम् हुवे**=तुझे पुकारती हूँ। गर्भरक्षण व पोषण के लिए जो भी आवश्यक साधन हैं, उन्हें जुटाने के लिए मैं आपसे कहती हूँ।

भावार्थ—पत्नी जब गर्भधारण करती है तब पति को उसके रक्षण के सब साधनों को जुटाना ही चाहिए।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**योनिः, गर्भः, पृथिव्यादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सिनीवाली सरस्वती

गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति। गर्भं ते अश्विनोभा धत्तां पुष्करस्रजा॥ ३ ॥

१. पति उत्तर देता है—हे **सिनीवालि**=प्रशस्त अन्नोंवाली (सिनम्=अन्नम्—नि० ११.३१)! तू **गर्भं धेहि**=गर्भ धारण कर। यदि तेरा भोजन प्रशस्त होगा तभी गर्भस्थ बालक का धारण हो सकेगा। तेरे द्वारा खाया गया अन्न ही गर्भस्थ बालक के शरीर व मन के स्वास्थ्य का साधन बनेगा। २. हे **सरस्वति**=ज्ञान की आराधिके! तू **गर्भं धेहि**=गर्भ को धारण कर। तेरी ज्ञान की आराधना गर्भस्थ बालक को भी ज्ञान-रुचिवाला बनाएगी। ३. **उभा**=दोनों **पुष्करस्रजा**=पोषण का निर्माण करनेवाले अथवा हृदय-कमल का निर्माण करनेवाले **अश्विना**=प्राणापान **ते गर्भं धत्ताम्**=तेरे गर्भ का धारण करें, अर्थात् तेरे द्वारा किया गया प्राणायाम गर्भस्थ बालक का ठीक से पोषण करेगा और उसके हृदय को विषय-जलों से कमलवत् अलिप्त बनाएगा।

भावार्थ—बालक के गर्भस्थ होने पर माता द्वारा प्रशस्त अन्न का सेवन बालक को स्वस्थ

शरीर व स्वस्थ मनवाला बनाएगा। माता से की गई ज्ञान की अराधना उसे ज्ञान-रुचिवाला बनाएगी और माता द्वारा किया गया प्राणायाम उसे प्रशस्त हृदय-कमलवाला बनाएगा तथा उसका उचित पोषण करेगा।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**योनिः, गर्भः, पृथिव्यादयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मित्रावरुणौ, इन्द्राग्नी

गर्भं ते मित्रावरुणौ गर्भं देवो बृहस्पतिः।
गर्भं त इन्द्रश्चाग्निश्च गर्भं धाता दधातु ते॥ ४॥

१. **ते गर्भम्**=तेरे गर्भ को **मित्रावरुणौ**=मित्र और वरुण धारण करें, अर्थात् तू इस समय स्नेह व निर्द्वेषता की वृत्तिवाली बन। तब बालक भी इन्हीं वृत्तियोंवाला होगा। **देवः**=प्रकाशमय जीवनवाला **बृहस्पतिः**=ब्रह्मणस्पति **गर्भम्**=तेरे गर्भ को धारण करे। तू देववृत्ति की तथा ज्ञान-रुचितावाली बन तब बालक भी देववृत्ति व ज्ञान-रुचिता को लिये हुए होगा। २. **इन्द्रः च अग्निः च**=बल व प्रकाश के देव **ते**=तेरे **गर्भम्**=गर्भ को धारण करें। तू बल व प्रकाश का सम्पादन करने की इच्छा व यत्न कर, तब सन्तान भी ऐसी ही होगी। **धाता**=वह सबका धारक प्रभु **ते गर्भं दधातु**=तेरे गर्भ को धारण करे। पति कहता है कि मुझे क्या रक्षण करना, प्रभु ही रक्षा करेंगे। तू भी धारणात्मक वृत्तिवाली बनना। गर्भस्थ बालक भी इसी वृत्ति को लेकर जन्म लेगा।

भावार्थ—गर्भधारण करनेवाली माता 'स्नेह, निर्द्वेषता, दिव्यता, ज्ञान, बल, प्रकाश व धारणात्मक वृत्ति' को धारण करे तब बालक भी इन्हीं वृत्तियों को लेकर उत्पन्न होगा।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**योनिः, गर्भः, पृथिव्यादयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विष्णु, त्वष्टा, प्रजापति, धाता

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु।
आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते॥ ५॥

१. **विष्णुः**=वह सर्वव्यापक परमात्मा **योनिम्**=इस गर्भ के आश्रयभूत शरीर को **कल्पयतु**=शक्तिशाली बनाए। गर्भिणी माता अपनी मनोवृत्तियों को संकुचित न होने दे। विशाल-हृदयता गर्भ को भी शक्तिशाली बनाएगी। **त्वष्टा**=वह सर्वनिर्माता प्रभु **रूपाणि**=रूपों को **पिंशतु**=अलंकृत करे, एक-एक अवयव को जोड़कर इस शरीर को सुन्दर बनाए। गर्भिणी निर्माण के कार्यों में प्रवृत्त रहेगी तो गर्भस्थ बालक का रूप बड़ा सुन्दर होगा। २. **प्रजातिः आसिञ्चतु**=प्रजाओं का रक्षक प्रभु इस गर्भ को शक्ति से सिक्त करे। गर्भिणी माता में रक्षण की प्रवृत्ति गर्भस्थ बालक को शक्ति देगी और अन्ततः **धाता**=वह धारक प्रभु **ते गर्भं दधातु**=तेरे गर्भ का धारण करे। गर्भिणी की धारणात्मक प्रवृत्ति गर्भ का भी धारण करेगी।

भावार्थ—गर्भस्थ बालक का ठीक निर्माण 'विष्णु, त्वष्टा, प्रजापति व धाता' नामवाले प्रभु ही करते हैं। गर्भिणी को भी 'विशालहृदयता, निर्माण, रक्षण व धारण' की वृत्तियों को अपनाना है, तभी सुन्दर सन्तान का निर्माण होगा।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**योनिः, गर्भः, पृथिव्यादयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वरणीय पति, दिव्य गुणोंवाली समझदार पत्नी, चतुर वैद्य

यद्वेद राजा वरुणो यद्वा देवी सरस्वती। यदिन्द्रो वृत्रहा वेद तद्गर्भकरणं पिब॥ ६॥

१. **यत्**=जिसे **राजा**=नियमित (regulated) जीवनवाला **वरुणः**=वरणीय पति **वेद**=जानता है **वा**=और **यत्**=जिसे **देवी**=उत्तम व्यवहारवाली **सरस्वती**=ज्ञानी पत्नी (वेद) जानती है।

यत्=जिसे **वृत्रहा**=रोगकृमियों का नाशक **इन्द्रः**=रोगरूप शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला वैद्य **वेद**=जानता है, **तत्**=उस **गर्भकरणम्**=गर्भ की स्थापक औषध को **पिब**=तू पी।

भावार्थ—पति का मुख्य गुण 'व्यवस्थित, पाप-निवृत्त (वरुण) जीवन' है। पत्नी को उत्तम व्यवहारोंवाली व समझदार बनना है। वैद्य औषधविज्ञान में चतुर होकर गर्भ के नाशक कृमियों को विनष्ट करता हुआ 'गर्भकरण' औषध पिलाये।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**योनिः, गर्भः, पृथिव्यादयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

गर्भस्थिति में अग्नितत्त्व का महत्त्व

गर्भो॑ अस्योष॑धीनां गर्भो॒ वन॒स्पती॑नाम्।
गर्भो॒ विश्व॑स्य भू॒तस्य॒ सो अ॑ग्ने॒ गर्भ॑मेह धाः॥ ७॥

१. हे **अग्ने**=तेजस्विन् प्रभो ! आप **ओषधीनां गर्भः असि**=फलपाकान्त सब ओषधियों के गर्भ हैं। सब ओषधियों में अग्नितत्त्व के रूप में प्रभु का निवास है। **वनस्पतीनाम्**=वनस्पतियों के आप **गर्भः**=गर्भ हैं। वनस्पतियों में भी अग्निरूप से प्रभु विद्यमान हैं। **विश्वस्य भूतस्य**=सब भूतों के **गर्भः**=आप गर्भ हैं—सब प्राणियों में अग्नितत्त्व की स्थिति है। यही उनके जीवन का कारण है। २. हे अग्ने! तू **सः**=वह **इह**=इस 'देवी सरस्वती' में **गर्भं आधाः**=गर्भ का धारण कर। माता में उचित अग्नितत्त्व होने पर ही गर्भ की स्थिति होती है, निर्बला स्त्री में गर्भ की स्थिति नहीं हो पाती।

भावार्थ—ओषधियों, वनस्पतियों व सब भूतों में अग्नितत्त्व की स्थिति है। माता में भी यह अग्नितत्त्व ही गर्भ का धारण करता है, निर्बला स्त्री के शरीर में गर्भ स्थिर नहीं हो पाता।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**योनिः, गर्भः, पृथिव्यादयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

केवल प्रजा के लिए

अधि॑ स्कन्द वी॒रय॑स्व॒ गर्भ॒मा धे॑हि॒ योन्या॑म्।
वृषा॑सि वृष्ण्याव॒न्प्रजा॑यै॒ त्वा न॑यामसि॥ ८॥

१. हे **वृष्ण्यावन्**=शक्तिशाली पुरुष! तू **अधिस्कन्द**=अपने क्षेत्र (पत्नी) की ओर गतिवाला हो। **वीरयस्व**=वीरतापूर्ण कर्म करनेवाला हो। **योन्याम्**=योनी में **गर्भम् आधेहि**=गर्भ की स्थापना कर। २. **वृषा असि**=तू सेचन में समर्थ है। हे शक्तिशाली! **त्वा**=तुझे **प्रजायै**=सन्तानोत्पादन के लिए ही **नयामसि**=पत्नी के समीप प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—पति के द्वारा पत्नी के शरीर में वीर्यसेचन केवल सन्तानोत्पत्ति के उद्देश्य से ही हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**योनिः, गर्भः, पृथिव्यादयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

बार्हत् सामे

वि जि॑हीष्व बार्हत्सामे॒ गर्भ॑स्ते॒ योनि॒मा श॑याम्।
अदु॑ष्टे दे॒वाः पु॒त्रं सो॑मपा उ॑भया॒विन॑म्॥ ९॥

१. स्त्री का ज्ञानवृत्तिवाला होना आवश्यक है, अतः उसे 'बार्हत्सामे' इस रूप में सम्बोधित करते हैं। हे **बार्हत्सामे**=खूब ही ज्ञानवृत्तिवाली स्त्रि! तू **विजिहीष्व**=विशेषरूप से प्रयत्न कर। **गर्भः**=गर्भ **ते**=तेरी **योनिम् आशयाम्**=योनि में शयन कर रहा है। बालक के गर्भस्थ होने पर माता को ज्ञानवृत्तिवाला व क्रियाशील जीवनवाला बनना चाहिए, तभी गर्भस्थ बालक मन में शान्त, शरीर में पूर्ण स्वस्थ व क्रियाशील बन पाएगा। २. **सोमपाः**=सोम (वीर्य) का रक्षण

करनेवाले **देवाः**=सब दिव्यभाव **ते**=तुझे **उभयाविनम्**=शरीर में शक्ति व मस्तिष्क में ज्ञानवाले 'उभयावी' **पुत्रम्**=सन्तान को **अदुः**=देते हैं। बालक के गर्भस्थ होने पर संयमी जीवन सन्तान को 'उभयावी' बनाता है।

भावार्थ—गर्भ-धारण करनेवाली माता शान्तवृत्ति की हो। वह संयत जीवनवाली होकर सोम का रक्षण करे। इससे सन्तान 'शक्ति व ज्ञान' दोनों से परिपूर्ण होगी।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**योनिः, गर्भः, पृथिव्यादयः** ॥ छन्दः—**१०-१२ अनुष्टुप्, १३ विराट्पुरस्ताद्बृहती** ॥

पुमांसं पुत्रम्

धातः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः। पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे॥ १०॥
त्वष्टः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः। पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे॥ ११॥
सवितः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः। पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे॥ १२॥
प्रजापते श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः। पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे॥ १३॥

१. हे **धातः**=सबका धारण करनेवाले! **त्वष्टः**=सबके निर्मातः—विश्वकर्मन् प्रभो! हे **सवितः**=सबको जन्म देनेवाले! **प्रजापते**=प्रजाओं के रक्षक प्रभो! **श्रेष्ठेन रूपेण**=सर्वोत्तम रूप के साथ **अस्याः नार्याः**=इस नारी की **गवीन्योः**=गर्भधारक दोनों पार्श्वस्थ नाड़ियों में **पुमांसम्**=अपने जीवन को पवित्र बनानेवाले वीर (नकि नामर्द) **पुत्रम्**=सन्तान को **दशमे मासि सूतवे**=दसवें महीने में उत्पन्न होने के लिए **आधेहि**=सम्यक् स्थापित कीजिए। २. प्रभु ही सबका धारण करते हैं। वे ही सबके निर्माता हैं, वे जन्म देनेवाले (व प्रेरित करनेवाले) प्रभु प्रजाओं के रक्षक हैं।

भावार्थ—बालक के गर्भस्थ होने पर उस 'धाता, त्वष्टा, सविता, प्रजापति' प्रभु का स्मरण करनेवाली नारी ठीक समय पर पवित्र, वीर सन्तान को जन्म देती है।

विशेष—अगले सूक्त का ऋषि भी 'ब्रह्मा' ही है। यह उत्तम सन्तान यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त होती है।

२६. [षड्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽर्च्युष्णिक् [एकावसाना]**॥

यजूंषि समिधः (यज्ञ+ज्ञान)

यजूंषि यज्ञे समिधः स्वाहाग्निः प्रविद्वानिह वो युनक्तु॥ १॥

१. **यज्ञे**=इस जीवन-यज्ञ में **यजूंषि**='देवपूजा-संगतिकरण-दान' रूप यज्ञ तथा **समिधः**=ज्ञानदीप्तियाँ **स्वाहा**=सम्यक् आहुत हों, अर्थात् जीवन को हम यज्ञ समझें और यहाँ यज्ञों तथा ज्ञान-दीप्तियों को प्राप्त करने का प्रयत्न करें। २. वह **अग्निः**=अग्रणी **प्रविद्वान्**=प्रकृष्ट ज्ञानी प्रभु हमें **इह**=इसी 'यज्ञ तथा ज्ञान-दीप्ति' में **युनक्तु**=लगाये। प्रभुकृपा से हमारे हाथों से यज्ञों का प्रवर्तन हो और मस्तिष्क को हम ज्ञान-दीप्त बनाएँ।

भावार्थ—हमारा जीवन यज्ञमय हो और स्वाध्याय के द्वारा हम ज्ञानदीप्त बनें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**द्विपदाप्राजापत्याबृहती [एकावसाना]**॥

ध्यान+प्रभुपूजन

युनक्तु देवः सविता प्रजानन्नस्मिन्यज्ञे महिषः स्वाहा॥ २॥

१. वह **सविता देवः**=सबका प्रेरक, दिव्य गुणों का पुञ्ज प्रभु **प्रजानन्**=हमारी स्थिति को ठीक-ठीक जानता हुआ **युनक्तु**=हमें योगयुक्त करे—समाहित करे। २. **अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवन-यज्ञ में **महिषः**=वह पूजनीय प्रभु ही **स्वाहा**=अर्पणीय है। हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करके जीवन-यज्ञ को सुन्दर बनाएँ।

भावार्थ—हमारा जीवन ध्यान तथा प्रभुपूजनवाला हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराड्गायत्री [एकावसाना]**॥

उक्थामदानि [स्तोत्रों का आनन्द]

इन्द्रं उक्थामदान्यस्मिन्यज्ञे प्रविद्वान्युनक्तु सुयुजः स्वाहा॥ ३॥

१. **अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवन-यज्ञ में वह **इन्द्रः**=कामदि शत्रुओं का विद्रावक **प्रविद्वान्**=प्रकृष्ट ज्ञानी **सुयुजः**=उत्तम कर्मों में लगानेवाला प्रभु **उक्थामदानि**=स्तोत्रों के आनन्दों को **युनक्तु**=हमारे साथ जोड़े। **स्वाहा**=हम उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु के स्तोत्रों में आनन्द लेते हुए प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले बनें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**निविदः** ॥ छन्दः—**द्विपदाप्राजापत्याबृहती [एकावसाना]**॥

प्रैषाः निविदः

प्रैषा यज्ञे निविदः स्वाहा शिष्टाः पत्नीभिर्वहतेह युक्ताः॥ ४॥

१. **यज्ञे**=जीवन-यज्ञ में **प्रैषाः**=प्रभु-प्रेरणाएँ तथा **निविदः**=निश्चयात्मक ज्ञान (Instructions) **स्वाहा**=(सु+आह) सम्यक् उच्चरित होती हैं। हम प्रभु-प्रेरणाओं के अनुसार जीवन बनाने का यत्न करते हैं और प्रभु से दिये गये ज्ञानों को प्राप्त करते हैं। २. **शिष्टाः**=प्रभु के अनुशासन में चलते हुए तुम **इह**=जीवन-यज्ञ में **युक्ताः**=ध्यानावस्थित हुए-हुए अथवा अप्रमत्त हुए-हुए **पत्नीभिः**=पत्नियों के साथ **वहत**=कर्त्तव्यकर्मों का वहन करो।

भावार्थ—प्रभु की प्रेरणाओं व ज्ञानों को ध्यान से सुनते हुए प्रभु के अनुशासन में हम पत्नियों के साथ कर्त्तव्यकर्मों का वहन करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽर्च्युष्णिक् [एकावसाना]**॥

ज्ञान, प्राणायाम [छन्दांसि, मरुतः]

छन्दांसि यज्ञे मरुतः स्वाहा मातेव पुत्रं पिपृतेह युक्ताः॥ ५॥

१. **यज्ञे**=इस जीवन-यज्ञ में **छन्दांसि**=वेदमन्त्र—ज्ञान की वाणियाँ तथा **मरुतः**=प्राण **स्वाहा**=सुहुत हों। मैं ज्ञान व प्राणसाधना के प्रति अपने को अर्पण करनेवाला बनूँ। **इह**=इस जीवन-यज्ञ में **युक्ताः**=अप्रमत्त हुए-हुए तुम **पिपृत**=अपना इसीप्रकार पूरण करो **इव**=जैसेकि **माता पुत्रम्**=माता पुत्र का पालन व पूरण करती है।

भावार्थ—इस जीवन-यज्ञ में हम अपने को ज्ञान-प्राप्ति व प्राणसाधना में लगाएँ, अप्रमत्त होकर अपना पालन व पूरण करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अदितिः** ॥ छन्दः—**द्विपदाप्राजापत्याबृहती [एकावसाना]**॥

अदिति

एयमगन्बर्हिषा प्रोक्षणीभिर्यज्ञं तन्वानादितिः स्वाहा॥ ६॥

१. **इयम् अदितिः**=यह (अ+दिति) स्वास्थ्य की देवता **आ अगन्**=हमें प्राप्त हुई है। **बर्हिषा**=वासनाओं को जिसमें से उखाड़ दिया गया है, उस हृदय के साथ तथा **प्रोक्षणीभिः**=(उक्ष

सेचने) शरीर में शक्तियों के सेचन के साथ **यज्ञं तन्वाना**=यज्ञों का यह विस्तार कर रही है, **स्वाहा**=मैं इस अदिति के प्रति अपना अर्पण करूँ।

भावार्थ—हम स्वस्थ बनकर पवित्र हृदय व शक्ति के रक्षण के साथ यज्ञों का विस्तार करें, इन्हीं के प्रति अपना अर्पण करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**विष्णुः** ॥ छन्दः—**द्विपदाप्राजापत्याबृहती [एकावसाना]** ॥

तपांसि

विष्णुर्युनक्तु बहुधा तपांस्यस्मिन्यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ ७ ॥

१. **सुयुजः**=हमें उत्तम कर्मों में लगानेवाला **विष्णुः**=वह सर्वव्यापक प्रभु **अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवन-यज्ञ में **बहुधा**=बहुत प्रकार से **तपांसि युनक्तु**=तपों को हमारे साथ जोड़े। **स्वाहा**=हम उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारा जीवन तपोमय हो। 'ऋतं तपः, सत्यं तपः, शान्तं तपः, शमस्तपः, दमस्तपः' के अनुसार हम 'ऋत, सत्य, शान्त, शम, दम' आदि तपों में लगे रहें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**त्वष्टा** ॥ छन्दः—**द्विपदाप्राजापत्याबृहती [एकावसाना]** ॥

विचारपूर्वक कर्म

त्वष्टा युनक्तु बहुधा नु रूपा अस्मिन्यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ ८ ॥

१. **सुयुजः**=हमें उत्तम कर्मों में लगानेवाला **त्वष्टा**=वह निर्माता व ज्ञानदीप्त प्रभु (त्विषेर्वा) **नु**=अब **अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवन-यज्ञ में **बहुधा**=अनेक प्रकार से **रूपाः**=पदार्थों के निरूपणों को अथवा उत्तम रूपों को **युनक्तु**=युक्त करे। **स्वाहा**=उस त्वष्टा के प्रति हम अपना अर्पण करें।

भावार्थ—हम सब बातों का ठीक से निरूपण करके कर्त्तव्यकर्मों में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**भगः** ॥ छन्दः—**त्रिपदापिपीलिकामध्यापुरउष्णिक् [एकावसाना]** ॥

ऐश्वर्य व उत्तम इच्छाएँ

भगो युनक्त्वाशिषो न्व१स्मा अस्मिन्यज्ञे
प्रविद्वान्युनक्तु सुयुजः स्वाहा ॥ ९ ॥

१. **प्रविद्वान्**=प्रकृष्ट ज्ञानी, **सुयुजः**=हमें उत्तम कर्मों में लगानेवाला **भगः**=ऐश्वर्यशाली प्रभु **नु**=अब **अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवन-यज्ञ में **अस्मै**=इस संसार के हित के लिए **आशिषः**=उत्तम इच्छाओं को **युनक्तु**=हमारे साथ जोड़े। **स्वाहा**=हम उस 'भग' के प्रति अपना अर्पण करते हैं। वह हमें **युनक्तु**=सदा उत्तम कर्मों में लगाए।

भावार्थ—हम ऐश्वर्य को प्राप्त करके उत्तम इच्छाओं से युक्त हों—संसार का हित करनेवाले हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**द्विपदाप्राजापत्याबृहती [एकावसाना]** ॥

पयांसि

सोमो युनक्तु बहुधा पयांस्यस्मिन्यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ १० ॥

१. **सुयुजः**=उत्तम कर्मों में व्यापृत करनेवाला **सोमः**=शान्त प्रभु **अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवन-यज्ञ में **बहुधा**=बहुत प्रकार से **पयांसि**=(अन्नानि—नि० २.७) आप्यायन के साधनभूत अन्नों को **युनक्तु**=हमारे साथ जोड़े। **स्वाहा**=उस प्रभु के प्रति मैं अपना अर्पण करता हूँ।

भावार्थ—उत्तम अन्नों का प्रयोग करते हुए हम इस जीवन-यज्ञ में अपना आप्यायन करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**द्विपदाप्राजापत्याबृहती [एकावसाना]** ॥

वीर्याणि

इन्द्रो युनक्तु बहुधा वीर्याण्यस्मिन्यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ ११ ॥

१. **सुयुजः**=उत्तम कर्मों में प्रेरित करनेवाला **इन्द्रः**=शत्रुविद्रावक प्रभु **अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवन-यज्ञ में **बहुधा**=बहुत प्रकार से **वीर्याणि**=वीर्यों को **युनक्तु**=हमारे साथ जोड़े। **स्वाहा**=हम उस इन्द्र के प्रति अपना समर्पण करते हैं।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनते हुए वीर्य को अपने में सुरक्षित रक्खें।

सूचना—गतमन्त्र में 'सोमः, पयांसि' शब्दों का प्रयोग संकेत करता है कि हम सौम्य भोजन ही करें। इस मन्त्र का 'इन्द्रः' जितेन्द्रियता का द्योतक है। एवं, वीर्य-रक्षा के लिए 'सौम्य जीवन व जितेन्द्रियता' प्रमुख साधन हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**परातिशक्वरीचतुष्पदाजगती** ॥

ब्रह्मणा, वषट्कारेण

अश्विना ब्रह्मणा यातमर्वाञ्चौ वषट्कारेण यज्ञं वर्धयन्तौ।
बृहस्पते ब्रह्मणा याह्यर्वाङ् यज्ञो अयं स्व१रिदं यजमानाय स्वाहा ॥ १२ ॥

१. **अश्विना**=प्राणापानो! आप **ब्रह्मणा**=ज्ञान से तथा **वषट्कारेण**=दान से, त्याग से **यज्ञं वर्धयन्तौ**=यज्ञ को, श्रेष्ठतम कर्म को बढ़ाते हुए **अर्वाञ्चौ यातम्**=हमें आभिमुख्येन प्राप्त होओ। प्राणसाधना करते हुए हम ज्ञान व त्याग के साथ अपने जीवन में यज्ञों का वर्धन करें। २. हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामी प्रभो! आप **ब्रह्मणा**=ज्ञान के साथ **अर्वाङ् याहि**=हमें हृदयदेश में प्राप्त होओ। इस **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष को **अयम्**=यह **यज्ञः**=यज्ञ प्राप्त हो तथा **इदं स्वः**=यह सुख व प्रकाश प्राप्त हो। **स्वाहा**=हम यज्ञ के प्रति अपना अर्पण करें।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा हम ज्ञान व दान के साथ अपने अन्दर यज्ञों का वर्धन करें। ज्ञान के द्वारा हृदय में प्रभु का दर्शन करें। हमारा जीवन यज्ञमय व सुखी हो।

अगले सूक्त का ऋषि भी 'ब्रह्मा' ही है।

२७. [सप्तविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भात्रिष्टुप्** ॥

ब्रह्मा का लक्षण

ऊर्ध्वा अस्य समिधो भवन्त्यूर्ध्वा शुक्रा शोचींष्यग्नेः।
द्युमत्तमा सुप्रतीकः ससूनुस्तनूनपादसुरो भूरिपाणिः ॥ १ ॥

१. **अस्य अग्नेः**=(अग्निः अग्रणीः) इस आगे-और-आगे बढ़नेवाले की **समिधः**=दीप्तियाँ **ऊर्ध्वाः**=उत्कृष्ट **भवन्ति**=होती हैं। इसकी सब इन्द्रियाँ शक्तियों से दीप्त होती हैं। इस अग्नि की **शुक्रा**=अत्यन्त शुद्ध **शोचींषि**=मानस पवित्रताएँ **ऊर्ध्वा भवन्ति**=उत्कृष्ट होती हैं। इसका शरीर नीरोग व शक्ति-सम्पन्न होता है तो मन भी पूर्ण निर्मल। इसकी ज्ञान-दीप्तियाँ भी **द्युमत्तमा**=अतिशयेन दीप्तिवाली होती हैं। २. इसप्रकार यह अग्नि **सुप्रतीकः**=तेजस्वी, शोभन मुखवाला **स-सूनुः**=उत्तम सन्तानों से युक्त **तनूनपात्**=शरीर के स्वास्थ्य को न गिरने देनेवाला, **असुरः**=अपने में प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाला, **भूरिपाणिः**=पालक व पोषक हाथोंवाला होता है।

भावार्थ—ब्रह्मा वह है जिसकी तेजस्विता, मानस पवित्रता व ज्ञानदीप्ति उत्कृष्ट है, जो उत्तम मुखवाला, उत्तम सन्तानवाला, स्वस्थ, प्राणशक्ति-सम्पन्न व रक्षक हाथोंवाला है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदासाम्नीभुरिगनुष्टुप्** ॥

मध्वा घृतेन

देवो देवेषु देवः पथो अनक्ति मध्वा घृतेन ॥ २ ॥

१. गतमन्त्र का ब्रह्मा **देवः**=देववृत्ति का बनता है, **देवेषु देवः**=देवों में देव, अर्थात् अतिशयेन उत्कृष्ट देव बनता है। यह **पथः**=अपने जीवन-मार्गों को **मध्वा**=माधुर्य से—वाणी की मिठास से तथा **घृतेन**=ज्ञानदीप्ति व नैर्मल्य (मल-क्षरण) से **अनक्ति**=अलंकृत करता है।

भावार्थ—ब्रह्मा वह है जो देव बनता है, मधुर होता है तथा ज्ञानदीप्त व निर्मल बनता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽर्चीबृहती** ॥

सुकृत, देवः सविता

मध्वा यज्ञं नक्षति प्रैणानो नराशंसो अग्निः सुकृद्देवः सविता विश्ववारः ॥ ३ ॥

१. **मध्वा**=माधुर्य के साथ **यज्ञं प्रैणानः**=यज्ञ को अपने में प्रेरित करता हुआ **नक्षति**=गति करता है, **नराशंसः**=नरों का शंसनीय बनता है, **अग्निः**=अग्रणी होता है। २. **सुकृत्**=उत्तम कर्मों को करनेवाला **देवः**=दिव्य गुणों का पुञ्ज, **सविता**=उत्पादक, निर्माण के कार्य करनेवाला, **विश्ववारः**=सब वरणीय धनोंवाला होता है।

भावार्थ—ब्रह्मा के जीवन में माधुर्य के साथ यज्ञ, लोकप्रियता, आगे बढ़ना, पुण्य, दिव्यता, उत्पादकता तथा सब वरणीय धनों की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदासाम्नीभुरिग्बृहती** ॥

शवसा, घृता, नमसा

अच्छायमेति शवसा घृता चिदीडानो वह्निर्नमसा ॥ ४ ॥

१. **अयम्**=यह ब्रह्मा **शवसा**=बल से तथा **घृता**=ज्ञान-दीप्ति से **चित्**=निश्चयपूर्वक **ईडानः**=स्तुति करता हुआ तथा **नमसा वह्निः**=नमन के साथ सब कर्त्तव्यकर्मों का वहन करता हुआ **अच्छ एति**=प्रभु की ओर गति करता है।

भावार्थ—ब्रह्मा वह है, जिसके शरीर में बल है (शवस्), मस्तिष्क में ज्ञानदीप्ति है (घृत) तथा मन में निरभिमानता है (नमस्)। इनसे ही यह प्रभु का पूजन करता है और उसे प्राप्त करता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदासाम्नीत्रिष्टुप्** ॥

मधुरवाणी, प्रभु-महिमा-स्मरण

अग्निः स्रुचो अध्वरेषु प्रयक्षु स यक्षदस्य महिमानमग्नेः ॥ ५ ॥

१. **अग्निः**=यह अग्रणी ब्रह्मा **अध्वरेषु**=हिंसारहित यज्ञात्मक कर्मों में **स्रुचः प्रयक्षु**=स्रुचों का—उत्तम वाणियों का प्रयोग करनेवाला है (वाग्वै स्रुचः)। २. **सः**=वह अग्नि—अग्रणी व्यक्ति **अस्य अग्नेः**=इस सर्वमहान् अग्नि प्रभु की **महिमानं यक्षत्**=महिमा को पूजित करनेवाला हो।

भावार्थ—ब्रह्मा वह है जो यज्ञात्मक कर्मों को करता हुआ मधुरवाणी का प्रयोग करता है और प्रभु की महिमा का स्मरण करता हुआ निरभिमान बना रहता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदाविराड्गायत्री** ॥

वसुधा-तरः, वसवः च

तरी मन्द्रासु प्रयक्षु वसवश्चातिष्ठन्वसुधातरश्च ॥ ६ ॥

१. **तरी**=संसार-सागर को तैरनेवाला वह होता है जोकि **मन्द्रासु**=आनन्द की साधनभूत क्रियाओं में—किन्हीं भी आनन्द के अवसरों पर **प्रयक्षु**=उस प्रभु के पूजन की कामनावाला होता है—प्रभु का यजन करता है। २. यह **वसुधा-तरः च**=वसुओं को धारण करनेवाली पृथिवी को तैर जानेवाले—पार्थिव भोगों से ऊपर उठ जानेवाले और **वसवः च**=अपने निवास को उत्तम बनानेवाले लोग **अतिष्ठन्**=प्रभु में स्थित होते हैं।

भावार्थ—संसार-सागर को तैर जानेवाला व्यक्ति वह है जोकि आनन्द के अवसरों पर प्रभु का पूजन करता है। पार्थिव भोगों से ऊपर उठनेवाले व अपने निवास को उत्तम बनानेवाले ये लोग ही प्रभु में स्थित होते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**द्विपदासाम्नीबृहती** ॥

दिव्यता व व्रतरक्षण

द्वारो देवीरन्वस्य विश्वे व्रतं रक्षन्ति विश्वहा ॥ ७ ॥

१. **अस्य**=गतमन्त्र के 'तरी' के **द्वारः**=इन्द्रिय-द्वार **देवीः**=दिव्य गुणयुक्त व प्रकाशमय होते हैं। २. इसके **विश्वे**=सब इन्द्रिय-द्वार **विश्वहा**=सदा **व्रतम् अनुरक्षन्ति**=व्रतों का अनुकूलता के साथ रक्षण करते हैं। जिस इन्द्रिय का जो व्रत है, उसका वह पालन करती ही है। ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान-प्राप्ति में लगती हैं और कर्मेन्द्रियाँ यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त रहती हैं।

भावार्थ—भवसागर को तैरनेवाले के इन्द्रिय-द्वार प्रकाशमय होते हैं और अपने-अपने व्रत का पालन करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**संस्तारपङ्क्तिः** ॥

यज्ञ-तत्परता

उरुव्यचसाग्नेर्धाम्ना पत्यमाने।
आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्तेमं यज्ञमवतामध्वरं नः ॥ ८ ॥

१. **अग्नेः**=उस महान् अग्नि प्रभु के **उरुव्यचसा धाम्ना**=अतिशयेन विस्तारवाले तेज से **पत्यमाने**=(पत ऐश्वर्य) ऐश्वर्यवाले होते हुए **आसु सु अयन्ती**=समन्तात् सुन्दरता से गति करते हुए **यजते**=परस्पर सङ्गत **उपाके**=एक-दूसरे के समीप प्राप्त होते हुए **उषासानक्ता**=दिन-रात **नः**=हमारे **इमम्**=इस **अध्वरम्**=हिंसारहित **यज्ञम् अवतम्**=यज्ञ का रक्षण करें, अर्थात् हम सदा यज्ञों को करनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु के तेज से तेजस्वी होते हुए हम दिन-रात यज्ञों में व्यापृत रहें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**षट्पदाऽनुष्टुब्गर्भापरातिजगती** ॥

प्रभु-नामोच्चारण

दैवा होतार ऊर्ध्वमध्वरं नोऽग्नेर्जिह्वयाभि गृणत गृणता नः स्विष्टये।
तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्तामिडा सरस्वती मही भारती गृणाना ॥ ९ ॥

१. **दैवाः**=उस देव (प्रभु) से शरीर में स्थापित किये गये **होतारः**=जीवन-यज्ञ को चलानेवाले हे प्राणो! **नः**=हमारे **अध्वरम् ऊर्ध्वम्**=जीवन-यज्ञ को उत्कृष्ट बनाओ। उस **अग्नेः**=अग्रणी

प्रभु की—प्रभु से दी गई **जिह्वया**=जिह्वा से **अभिगृणत**=प्रातः-सायं प्रभु के नामों का उच्चरण करो। **नः स्विष्टये**=हमारी स्विष्टि के लिए—उत्तम अभीष्टों की प्राप्ति के लिए **गृणत**=प्रभु का स्तवन करो। यह प्रभु-स्तवन हमें उत्तम प्रेरणा प्राप्त कराता हुआ अधिक-और-अधिक उन्नत करता है। २. **इडा**=प्रशस्त अन्न (इडा इति अन्ननाम निघण्टौ), **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता तथा **भारती**=हमारा समुचित भरण करनेवाली **मही**=पूजा की वृत्ति (मह पूजायाम्)—ये **तिस्रः**=तीनों **देवीः**=दिव्यताएँ **इदं बर्हिः**=इस वासनाशून्य हृदय में **आसदन्ताम्**=आसीन हों। ये सब दिव्य वस्तुएँ व गुण एक-एक करके **गृणाना**=प्रभु का ही नामोच्चरण करनेवाली हों। प्रशस्त अन्न हमें सात्त्विक वृत्तिवाला बनाकर प्रभु नामोच्चारण कराये, ज्ञान हमें प्रभु नामोच्चरण में प्रवृत्त करे, स्तुति में हम प्रभु-नामोच्चारण करें।

भावार्थ—प्रभु से शरीर में स्थापित किये गये प्राण हमें यज्ञों में प्रवृत्त करें और जिह्व से हम प्रभु के नामों का उच्चारण करें। 'प्रशस्त अन्न का सेवन, विद्या का आराधन व प्रभुस्तवन'—ये सब हमें प्रभु नामोच्चारण में प्रवृत्त करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पुरउष्णिक्** ॥

हम धन में हों, पर उससे बँध न जाएँ

तन्न॑स्तुरीप॒मद्भु॑तं पुरु॒क्षु। देव॑ त्वष्टा रा॒यस्पोषं॒ वि ष्य॒ नाभि॑म॒स्य॥ १० ॥

१. **त्वष्टः देव**=सर्वनिर्मातः, दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! आप **नः**=हमारे लिए **तत्**=उस **तुरीपम्**=(तुरी=great strength) महती शक्ति के रक्षक, **अद्भुतम्**=आश्चर्यकारक गुणों को उत्पन्न करनेवाले, **पुरुक्षु**=पालन व पूराण करनेवाले तथा उत्तम निवासवाले (पुरुक्षु, पृ पालनपूरणयोः, क्षि निवासगत्योः), **रायस्पोषम्**=धन के पोषण को **विष्य**=छोड़िए—बरसाइए, अर्थात् खूब प्राप्त कराइए। २. धन तो हमें प्राप्त कराइए, परन्तु हे प्रभो! **नाभिः**=इस धन के बन्धन को (णह बन्धने) **अस्य**=(असु क्षेपणे) परे फेंक दीजिए। यह धन हमें बाँधनेवाला न हो।

भावार्थ—हे प्रभो! हमें वह धन प्राप्त कराइए जो शक्ति का रक्षक व अद्भुत उन्नति का साधक हो, जो पालक-पूरक व निवास को उत्तम बनानेवाला हो। साथ ही यह भी अनुग्रह कीजिए कि हम धन में फँस न जाएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पुरउष्णिक्** ॥

देवों के लिए दान व यज्ञ

वन॑स्पते॒ऽव॑ सृजा॒ ररा॑णः। त्मना॑ दे॒वेभ्यो॑ अ॒ग्निर्ह॒व्यं श॑मि॒ता स्व॑दयतु॥ ११ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु धन प्राप्त कराते हैं। धन प्राप्त कराके स्तोता को प्रेरणा देते हैं कि हे **वनस्पते**=सम्भजनीय धन के रक्षक (Trustee)! (धन तो प्रभु का है, तू तो उसका रक्षक है), स्तोतः! तू **देवेभ्यः त्मना रराणः**=देवों के लिए स्वयं इस धन को देता हुआ **अवसृज**=इस धन के बन्धन को छोड़। दान ही तुझे इस धन के बन्धन से मुक्त करेगा। २. साथ ही **शमिता अग्निः**=सब रोगों को शान्त करनेवाला यह यज्ञ का अग्नि **हव्यं स्वदयतु**=हव्य पदार्थों का स्वाद ले, अर्थात् तू धन का विनियोग यज्ञों में कर। ये यज्ञ तुझे नीरोग भी बनाएँगे और धन का बन्धन भी छूटेगा।

भावार्थ—यदि हम धनार्जन करके इस धन को देवों के लिए स्वयं देते रहेंगे और इस धन द्वारा यज्ञों को करते रहेंगे तो धन के बन्धन में न फँसेंगे।

ऋषि:—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पुरउष्णिक्** ॥

यज्ञशेष का सेवन

अग्ने॒ स्वाहा॑ कृणुहि जातवेदः।
इन्द्रा॑य य॒ज्ञं विश्वे॑ दे॒वा ह॒विरि॒दं जु॑षन्ताम्॥ १२॥

१. **अग्ने**=हे प्रगतिशील जीव! **जातवेदः**=(वेदस्=wealth) उत्तम धनवाले जीव! तू **स्वाहा कृणुहि**=इस धन को अग्नि में आहुत करनेवाला बन। इस धन द्वारा अग्निहोत्र करनेवाला बन। यह तेरी नीरोगता का साधक होगा। **इन्द्राय**=शत्रु-विद्रावक राजा के लिए (कृणुहि) इस धन को प्रदान कर। कर-प्राप्त धन से ही तो वह इन्द्र राष्ट्र-रक्षण करेगा। २. **विश्वेदेवाः**=सब देव **यज्ञम्**=तेरे इस दान को **जुषन्ताम्**=प्राप्त हों, सेवन करें। इस धन से ही वे प्रजाहित के कार्यों को करनेवाले बनेंगे। सब लोगों को यही चाहिए कि **इदं हविः**=इस दानपूर्वक अदन का **जुषन्ताम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करें। दान दें, बचे हुए को ही खाएँ।

भावार्थ—एक प्रगतिशील धन-प्राप्त व्यक्ति धन का विनियोग अग्निहोत्र में करे। राजा के लिए धन दे, विद्वानों के लिए धन दे तथा सदा बचे हुए को ही खाए। यह यज्ञशेष ही अमृत है, इसी का सेवन ठीक है।

विशेष—गतमन्त्र के अनुसार धनाकर्षण से डाँवाडोल न होनेवाला 'अथर्वा' अगले सूक्त का ऋषि है।

२८. [अष्टाविंशं सूक्तम्]

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'हरित, रजत, अयस्'

नव॑ प्रा॒णान्न॒वभि॒: सं मि॑मीते दी॒र्घायु॒त्वाय॑ श॒तशा॑रदाय।
हरि॑ते॒ त्रीणि॑ रज॒ते त्रीण्यय॑सि॒ त्रीणि॒ तप॑सा॒ विष्ठि॑तानि॥ १॥

१. **नव प्राणन्**=नौ प्राणों को **नवभिः**=नौ इन्द्रियों के साथ **संमिमीते**=सम्यक् मापवाला करता है—सम्यक् मिलाकर रखता है, जिससे **शतशारदाय दीर्घायुत्वाय**=सौ वर्ष का दीर्घजीवन प्राप्त हो। सब इन्द्रियाँ प्राणशक्ति-सम्पन्न बनी रहें तभी दीर्घजीवन की प्राप्ति सम्भव है। २. इन नौ इन्द्रियों में **त्रीणि**=तीन—'कान, नाक व आँख' नामक इन्द्रियाँ **तपसा**=तप के द्वारा **हरिते**=अज्ञान का अपहरण करनेवाले सात्त्विक भाव में **विष्ठितानि**=स्थित हैं। इन तीनों इन्द्रियों के द्वारा अज्ञान का अपहरण होकर मनुष्य की प्रवृत्ति शान्ति, भक्ति व करुणा की ओर बहती है। ३. **त्रीणि**='मुख, त्वचा व हाथ'—ये तीन इन्द्रियाँ तप के द्वारा **रजते**=रञ्जन का साधन बनती हुई राजसभाओं में स्थित होती हैं। राजसभाव होने पर 'शृंगार, वीर व अद्भुत' रसों की उत्पत्ति होती है। शेष **त्रीणि**='पायु, उपस्थ तथा पाद्' नामक तीन इन्द्रियाँ तप के द्वारा **अयसि**=शरीर को लोहे के समान दृढ़ बनाने में लगी हुई तामसभाव में स्थित होती हैं। इन्हीं के कार्यों में कुछ विकृति आने पर 'रौद्र, बीभत्स व भयानक' रसों की उत्पत्ति हुआ करती है, इनके ठीक कार्य करने पर शरीर लोहे की भाँति दृढ़ बना रहता है।

भावार्थ—हम प्राणसाधना द्वारा सब इन्द्रियों को प्राणशक्ति-सम्पन्न करें। सौ वर्ष के दीर्घजीवन को प्राप्त करें। 'कान, नाक आँख' के ठीक व्यापार से अज्ञान को दूर करें। 'मुख, त्वचा व हाथ' के ठीक व्यापार से अपना ठीक रञ्जन करते हुए रजत (चाँदी=धन) को प्राप्त करें। 'पायु, उपस्थ व पाद्' से शरीर को लोहवत् दृढ़ बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

देवलोक—काल का आनुकूल्य

अ॒ग्निः सूर्य॑श्च॒न्द्रमा॒ भूमि॒रापो॒ द्यौर॒न्तरि॑क्षं प्र॒दिशो॒ दिश॑श्च।
आ॒र्त॒वा ऋ॒तुभि॑: संविदा॒ना अ॒नेन॑ मा त्रि॒वृता॑ पारयन्तु॥ २॥

१. **अग्निः, सूर्यः, चन्द्रमाः**=अग्नि, सूर्य और चन्द्र, **भूमिः आपः द्यौः**=पृथिवी, जल और द्युलोक **अन्तरिक्षम् प्रदिशः दिशः च आर्तवाः ऋतुभिः संविदानाः**=अन्तरिक्ष, दिशाएँ, उपदिशाएँ तथा ऋतुओं के साथ मेल खाते हुए सब कालविभाग **मा**=मुझे **अनेन त्रिवृता पारयन्तु**=इस त्रिवृत् के द्वारा पार करें। २. गतमन्त्र में 'हरित, रजत और अयस्' में विष्ठित जिस त्रिवृत् का वर्णन हुआ है, उसके द्वारा मैं भवसागर से पार हो जाऊँ। अग्नि आदि सब देव, पृथिवी आदि सब लोक तथा सब कालविभाग इस कार्य में मेरे लिए अनुकूलतावाले हों।

भावार्थ—सब देवों, सब लोकों व सब कालों की अनुकूलता से मैं नव प्राण-सम्पन्न नव इन्द्रियों के द्वारा इस भव-सागर को पार करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'अन्नस्य, पुरुषस्य पशूनां' भूमा

त्र॒यः पोषा॑स्त्रि॒वृति॑ श्रयन्ताम॒नक्तु॑ पू॒षा पय॑सा घृ॒तेन॑।
अन्न॑स्य भू॒मा पुरु॑षस्य भू॒मा भू॒मा प॒शूनां॒ त इ॒ह श्र॑यन्ताम्॥ ३॥

१. **त्रिवृति**=तीन-तीन इन्द्रियों के 'हरित, रजत व अयस्' में विष्ठित होने पर **त्रयः पोषाः**=तीन पोषण—'ज्ञान, धन व शक्ति' के पोषण **श्रयन्ताम्**=मेरा आश्रय करें। **पूषा**=सर्वपोषक प्रभु **पयसा**=आप्यायन के साधनभूत **घृतेन**=नैर्मल्य व ज्ञानदीप्ति से (घृ क्षरणदीप्त्योः) **अनक्तु**=मुझे अलंकृत करें। २. **अन्नस्य भूमा**=अन्न का बाहुल्य, **पुरुषस्य भूमा**=पुरुषों का बाहुल्य तथा **पशूनां भूमा**=गवादि पशुओं का बाहुल्य **ते**=ये तीनों ही बाहुल्य **इह**=यहाँ-मेरे जीवन में **श्रयन्ताम्**=आश्रय करें।

भावार्थ—मेरे त्रिवृत् में 'ज्ञान, धन व शक्ति' का पोषण हो। हमें नैर्मल्य व ज्ञानदीप्ति प्राप्त हो। अन्न, पुरुष व पशुओं का हमारे यहाँ प्राचुर्य हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

आदित्य, अग्नि, इन्द्र

इ॒मामा॑दित्या॒ वसु॑ना॒ समु॑क्षते॒मम॑ग्ने वर्धय वावृधा॒नः।
इ॒ममि॑न्द्र॒ सं सृ॑ज वी॒र्ये॑१॒॑णा॒स्मिन्त्रि॒वृच्छ्र॑यतां पोषयि॒ष्णु॥ ४॥

१. हे **आदित्याः**=आदित्य विद्वानो! प्रकृति, जीव, परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करनेवाले विद्वानो! **इमम्**=इसे **वसुना**=निवास के लिए साधनभूत ज्ञान-धन से **समुक्षत**=सिक्त कर दो—इसे जीवन को उत्तम बनानेवाले ज्ञान से परिपूर्ण का दो। हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **वावृधानः**=स्तुतियों के द्वारा बढ़ाये जाते हुए आप **इमम्**=इस स्तोता को **वर्धय**=बढ़ाइए। प्रभु-स्तवन से प्रभु की भावना हममें बढ़े और हम वृद्धि को प्राप्त हों। २. हे **इन्द्र**=शत्रु-विद्रावक प्रभो! **इमम्**=इस उपासक को **वीर्येण संसृज**=वीर्य से संसृष्ट करो। **अस्मिन्**=इस उपासक में **पोषयिष्णु**=पोषण को प्राप्त कराता हुआ **त्रिवृत्**=प्रथम मन्त्र में विर्णत 'हरित, रजत व अयस्' में विष्ठित इन्द्रिय-त्रिक **श्रयताम्**=आश्रय करें।

भावार्थ—आदित्यों की कृपा से हमें ज्ञान-धन प्राप्त हो। अग्निरूप प्रभु हमारा वर्धन करें।

शत्रु-विद्रावक प्रभु हमें वीर्य-संसृष्ट करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

हरित, अयस्, अर्जुन

भूमिष्ट्वा पातु हरितेन विश्वभृदग्निः पिपर्त्वयसा सजोषाः।
वीरुद्भिष्टे अर्जुनं संविदानं दक्षं दधातु सुमनस्यमानम्॥ ५॥

१. **भूमिः**=निवास का साधनभूत (भवन्ति यस्मिन्) यह शरीर **त्वा**=तुझे **हरितेन**=अज्ञान के अपहरण के द्वारा **पातु**=सब प्रकार से रक्षित करे। इस मानव-शरीर को हम ज्ञान-प्राप्ति का मुख्य साधन समझें। २. **विश्वभृत्**=सबका भरण करनेवाला **अग्निः**=अग्नितत्त्व **सजोषाः**=तेरे साथ प्रीतिपूर्वक कर्त्तव्यकर्मों का सेवन करता हुआ **अयसा**=लोहवत् दृढ़ शरीर से **पिपर्तु**=तेरा पालन करे। अग्नितत्त्व के ठीक होने से हमारे शरीर दृढ़ हों और हम सब कर्त्तव्यकर्मों को करनेवाले बनें। ३. **वीरुद्भिः**=लता-वनस्पतियों से—वानस्पतिक पदार्थों का सेवन करता हुआ **संविदानम्**=मेलवाला होता हुआ **ते**=तेरा यह **अर्जुनम्**=(रजतम्) चँदीला राजतत्त्व **सुमनस्य-मानम्**=उत्तम सौमनस्य से युक्त **दक्षम्**=बल को **दधातु**=धारण करे।

भावार्थ—इस मानव-शरीर में ज्ञान-प्राप्ति को हम अपना मुख्य कर्त्तव्य समझें। अग्नितत्त्व से सब कर्मों में प्रेरित होते हुए हम सुदृढ़ शरीर हों तथा उचित राजतत्त्व हमें प्रसन्नतायुक्त बलवाला बनाए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाऽतिशक्वरी** ॥

त्रिवृत् हिरण्य

त्रेधा जातं जन्मनेदं हिरण्यमग्नेरेकं प्रियतमं बभूव सोमस्यैकं हिंसितस्य परापतत्। अपामेकं वेधसां रेत आहुस्तत्ते हिरण्यं त्रिवृदस्त्वायुषे॥ ६॥

१. **इदं हिरण्यम्**=यह हिरण्य **जन्मना**=जन्म से **त्रेधा जातम्**=तीन प्रकार का हो गया है। **एकम्**=इनमें से एक **अग्नेः प्रियतमं बभूव**=अग्नि का बड़ा प्यारा है। अग्नि में पड़कर यह हिरण्य (सुवर्ण) खूब ही चमक उठता है। २. **एकम्**=एक **हिंसितस्य सोमस्य**=पीड़ित की हुई (निचोड़ी हुई) सोमलता में से **परापतत्**=निकल आता है। सोमलता का रस भी रोगों का औषध होने से हिरण्य है—हितरमणीय है। ३. **एकम्**=एक को **वेधसा**=सृष्टि का निर्माण करनेवाले **अपाम्**=जीवनों का—सन्तानों को जन्म देनेवाले जीवों का **रेतः**=वीर्य **आहुः**=कहते हैं। **तत्**=वह **त्रिवृत्**=तीनों रूपों में होनेवाला **हिरण्यम्**=हिरण्य **ते**=तेरे **आयुषे**=दीर्घजीवन के लिए **अस्तु**=हो।

भावार्थ—सुवर्ण धातु 'स्वर्ण भस्म' के रूप में राजयक्ष्मा की निवृत्ति के लिए उपयुक्त होता है। सोमला का रस महान् औषध है और वीर्य तो जीवन का आधार है ही। यह त्रिविध हिरण्य हमें दीर्घायु प्रदान करे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः** ॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

जमदग्नि व कश्यप का आयुष्य

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
त्रेधामृतस्य चक्षणं त्रीण्यायूंषि तेऽकरम्॥ ७॥

१. **जमदग्नेः त्र्यायुषम्**=प्रज्वलित जाठराग्निवाले नीरोग जमदग्नि की त्रिगुणा (३०० वर्ष की) आयु होती है। **कश्य-पस्य**=(कश्य=ज्ञान, वीर्य) ज्ञान व वीर्य का रक्षण करनेवाले की भी **त्र्यायुषम्**=त्रिगुण आयु होती है। २. **त्रेधा**=तीन प्रकार से **अमृतस्य**=नीरोगता के साधन शरीरस्थ

वीर्य का (मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्), **चक्षणम्**=दर्शन होता है। यह शरीर को नीरोग, मन को निर्मल व बुद्धि को दीप्त बनाता है। इसके द्वारा मैं (प्रभु) **ते**=तुझ जीव के लिए **त्रीणि आयूंषि**=सौ वर्ष के तीन जीवनों को—तीन सौ वर्ष के जीवन को **अकरम्**=करता हूँ।

भावार्थ—दीर्घजीवन के लिए आवश्यक है कि जाठराग्नि को मन्द न होने दिया जाए तथा वीर्य का रक्षण किया जाए। इस वीर्य-रक्षण का शरीर में त्रिविध परिणाम है—नीरोगता, निर्मलता और दीप्ति।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शक्राः

त्रयः सुपर्णास्त्रिवृता यदायन्नेकाक्षरमभिसंभूय शक्राः।
प्रत्यौहन्मृत्युममृतेन साकमन्तर्दधाना दुरितानि विश्वा॥ ८॥

१. **त्रयः सुपर्णाः**=मन्त्र छह में वर्णित उत्तमता से पालन करनेवाले तीनों हिरण्य 'स्वर्णभस्म, सोमरस व वीर्य' **त्रिवृता**='हरित, रजत व अयस्' में विहित त्रिकों के साथ **यदा आयन्**=जब प्राप्त होते हैं तब ये उपासक **एकाक्षरम् अभिसंभूय**=उस अद्वितीय, अविनाशी प्रभु की ओर गतिवाले होकर—प्रभु-प्रवण होकर **शक्राः**=वस्तुतः शक्तिशाली बनते हैं। २. ये **अमृतेन साकम्**=अमृतत्व के साधनभूत वीर्य से रक्षण के साथ **मृत्युम्**=मृत्यु को **प्रत्यौहन्**=(अहिर् अर्दन) अपने से दूर पीड़ित करते हैं तथा **विश्वा दुरितानि**=सब दुरितों को—दुर्गमनों को **अन्तर्दधानाः**=अन्तर्हित करते हैं।

भावार्थ—'स्वर्ण, सोमरस व वीर्य' की प्राप्ति करके प्रभु-प्रवण होते हुए हम शक्तिशाली बनें, मृत्यु को अपने से दूर करें, वीर्यरक्षण से सब पापों को अपने से तिरोहित कर दें—दूर भगा दें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः** ॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

देव-पुराः (देवों के अग्रगमन)

दिवस्त्वा पातु हरितं मध्यात्त्वा पात्वर्जुनम्।
भूम्या अयस्मयं पातु प्रागाद्देवपुरा अयम्॥ ९॥

१. **हरितम्**=अज्ञान को हरनेवाला 'कान, नाक, मुख' का त्रिक **त्वा**=तुझे **दिवः**=ज्ञान के हेतु से **पातु**=रक्षित करे। **अर्जुनम्**=यह चँदीला रजत—आनन्द का साधन 'मुख, त्वचा, हाथ' का त्रिक **त्वा**=तुझे **मध्यात्**=हृदय व उदर से **पातु**=रक्षित करे। तेरा यह त्रिक रञ्जन को मर्यादा में रखता हुआ तेरे हृदय व उदर को विकृत न होने दे। **अयस्मयम्**='पायु, उपस्थ व पाद' का त्रिक शरीर को दृढ़ बनाता हुआ **भूम्या**=इस शरीर के हेतु से **पातु**=तेरा रक्षण करे। इस त्रिक का समुचित कार्य शरीर को दृढ़ बनाना होता है। **अयम्**=द्युलोक, मध्य व भूमि (मस्तिष्क, हृदय व उदर तथा शरीर) से रक्षित होनेवाला यह पुरुष **देवपुराः प्रागात्**=देवों की अग्रगतिवाला होता है, देवलोकों को प्राप्त करता है (पुर अग्रगमने, टाप्)। देव जैसे आगे गतिवाले होते हैं—उन्नति-पथ पर आगे बढ़ते हैं, उसी प्रकार यह उन देवपुरों को—देवों की अग्रगतियों को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—'हरित' द्युलोक से, 'अर्जुन' मध्य से तथा 'अयस्' भूमि से हमारा रक्षण करे। यह रक्षित पुरुष देवों की अग्रगतियोंवाला हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः** ॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

वर्चस्वी, द्विषताम् उत्तरः

इमास्तिस्त्रो देवपुरास्तास्त्वा रक्षन्तु सर्वतः।
तास्त्वं बिभ्रद्वर्चस्व्युत्तरो द्विषतां भव॥ १०॥

१. **इमाः**=ये **तिस्त्रः**=तीन **देवपुराः**=देवों की अग्रगतियाँ हैं। देव 'आँख, नाक, कान' के यथोचित व्यापार से ज्ञानवृद्धि करते हैं, 'मुख, त्वचा व हाथ' के यथोचित व्यवहार से उचित आनन्द का अर्जन करते हुए 'हृदय व उदर' को ठीक रखते हैं, 'पायु, उपस्थ व पाद' की संयत गति से शरीर को सुदृढ़ बनाते हैं। **ताः**=उन तीन देवों की अग्रगतियाँ **त्वा**=तुझे **सर्वतः रक्षन्तु**=सब ओर से रक्षित करनेवाली हों। इनके द्वारा तू अपना पूर्ण रक्षण कर। २. **त्वम्**=तू **ताः**=उन्हें **बिभ्रत्**=धारण करता हुआ **वर्चस्वी**=प्रशस्त वर्चस्-(Vitality)-वाला व **द्विषताम् उत्तरः**=शत्रुओं का विजेता **भव**=हो।

भावार्थ—देवों के अग्रगमनों को अपनाकर हम वर्चस्वी व शत्रु-विजेता बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

इन्द्रिय-संयम

पुरं देवानाममृतं हिरण्यं य आबेधे प्रथमो देवो अग्रे।
तस्मै नमो दश प्राचीः कृणोम्यनु मन्यतां त्रिवृदाबधे मे॥ ११॥

१. **देवानाम्**=देववृत्तिवाले व्यक्तियों का **पुरम्**=यह अग्र-गमन **हिरण्यम्**=हितरमणीय है—ज्योतिर्मय है। यह **अमृतम्**=हमें नीरोग बनानेवाला है। **यः**=जो भी इस अग्र-गमन को **आबेधे**=अपने में बाँधता है, वह **प्रथमः**=प्रथम होता है—ब्रह्मा बनता है (ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव), **देवः**=देव होता है, **अग्रे**=आगे-और-आगे बढ़ता है। २. **तस्मै**=उस 'उग्र गतिवाले प्रथम देव' के लिए **नमः**=नमस्कार हो। मैं भी **दश**=दसों इन्द्रियों को **प्राची**=(प्र अञ्च) अग्रगतिवाला **कृणोमि**=करता हूँ। **त्रिवृत्**='हरित, अर्जुन (रजत) व अयस्' में विष्ठित इन्द्रिय-त्रिक के **आबधे**=समन्तात् बन्धन में, वशीकरण में **मे अनुमन्यताम्**=मुझे अनुमति देनेवाला हो—मैं इन सब इन्द्रियों को वश में कर सकूँ।

भावार्थ—इन्द्रियों को वश में करके हम देवों की भाँति अग्रगतिवाले हों। उन देवों का हम आदर करें और स्वयं भी इन्द्रियों को संयत करनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः** ॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

अर्यमा, पूषा, बृहस्पति

आ त्वा चृतत्वर्यमा पूषा बृहस्पतिः। अहर्जातस्य यन्नाम तेन त्वाति चृतामसि॥ १२॥

१. **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) शत्रुओं का नियमन करनेवाला साधक **त्वा**=तुझे—'मुख, त्वचा व हाथ' के त्रिक को **आचृततु**=सब ओर से बाँधे (चती हिंसासंग्रन्थनयोः) अथवा सब ओर से मार ले—वश में कर ले। **पूषा**=पोषण करनेवाला यह साधक 'पायु, उपस्थ व पाद' के त्रिक को वशीभूत करे। **बृहस्पतिः**=ज्ञान का रक्षक व स्वामी बननेवाला यह साधक 'आँख, नाक व कान' के त्रिक को ज्ञान-प्राप्ति में संग्रथित करे। २. **अहः**=सम्पूर्ण दिन **जातस्य**=सदा से प्रादुर्भूत उस स्वयम्भू प्रभु का **यत् नाम**=जो नाम-स्मरण है—नाम का जप है, **तेन**=उसके द्वारा **त्वा**=तुझ इन्द्रिय-त्रिक को **अतिचृतामसि**=अतिशयेन बन्धन में—संयमन में—करते हैं। प्रभु-नामस्मरण इन्द्रिय-संयम में हमारा सहायक होता है।

भावार्थ—इन्द्रिय-संयम के लिए प्रभु नाम-स्मरण को अपनाते हुए हम 'अर्यमा, पूषा व बृहस्पति' बनते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः** ॥ छन्दः—**पुरउष्णिक्** ॥

आयुषे वर्चसे

ऋ॒तुभि॑ष्ट्वार्त॒वैरायु॑षे॒ वर्च॑से त्वा।
सं॒व॒त्स॒रस्य॒ तेज॑सा॒ तेन॒ संह॑नु कृण्मसि॥ १३॥

१. **ऋतुभिः आर्तवैः**=ऋतुओं व ऋतुओं में होनेवाली वनस्पतियों द्वारा **त्वा**=तुझ—'अर्यमा, पूषा, बृहस्पति' (मन्त्र १२) को **आयुषे**=आयु के लिए तथा **वर्चसे**=वर्चस् (भास्वर शक्ति) के लिए **कृण्मसि**=करते हैं। २. **संवत्सरस्य**=सम्पूर्ण वर्ष के **तेन तेजसा**=उस तेज से—सम्पूर्ण वर्ष नीरोगता व तेजस्विता से **त्वा**=तुझे **संहनु**=संगत (हन् गतौ) करते हैं।

भावार्थ—समयानुसार उस-उस ऋतु में उत्पन्न होनेवाली वनस्पतियों के प्रयोग से हम दीर्घायु व वर्चस्वी हों, सम्पूर्ण वर्ष तेजस्वी व नीरोग बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**त्रिवृत्, अग्न्यादयः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

घृतादुल्लुप्तं मधुना समक्तम्

घृ॒तादुल्लु॑प्तं॒ मधु॑ना॒ सम॑क्तं भूमिदृं॒हमच्यु॑तं पारयि॒ष्णु।
भि॒न्दन्त्स॒पत्ना॒नध॑रांश्च कृ॒ण्वदा मा॑ रोह मह॒ते सौभ॑गाय॥ १४॥

१. गतमन्त्र में वर्णित 'तेजस्' को सम्बोधित करते हुए साधक कहता है कि यह तेजस् **घृतात्**=दीप्ति—ज्ञानदीप्ति के हेतु से **उत् लुप्तम्**=ऊर्ध्वगतिवाला किया जाकर अदृष्ट किया जाता है। वीर्य की ऊर्ध्व गति करनेवाला 'ऊर्ध्वरेतस्' पुरुष अपनी ज्ञानाग्नि को दीप्त करनेवाला होता है। यह वीर्य **मधुना**=माधुर्य के हेतु से **समक्तम्**=शरीर में संगत किया गया है। सुरक्षित हुआ-हुआ वीर्य जीवन को मधुर बनाता है। **भूमिदृंहम्**=यह शरीररूप भूमि को दृढ़ बनाता है, **अच्युतम्**=हमें शरीर से च्युत नहीं होने देता, अर्थात् दीर्घजीवन का कारण बनता है। **पारयिष्णु**=हमें सब रोगों से पार ले-जानेवाला है। २. **सपत्नान्**=रोगरूप शत्रुओं को **भिन्दन्**=विदीर्ण करता हुआ **च**=तथा **अधरान् कृण्वत्**=उन्हें पाँव तले रौंदता हुआ हे वीर्य! तू **महते सौभगाय**=मेरे महान् सौभाग्य के लिए **मा आरोह**=मेरे शरीर में आरोहण कर—ऊर्ध्वगतिवाला हो। शरीर में सुरक्षित हुआ यह वीर्य हमारे सब प्रकार के उत्थान का कारण बनता है।

भावार्थ—'ज्ञानदीप्ति तथा माधुर्य' के हेतु से वीर्य को शरीर में सुरक्षित व ऊर्ध्वगतिवाला किया जाता है। यह शरीर को दृढ़ बनाता है, हमें सब रोगों से पार ले-जाता है, रोगरूप शत्रुओं को कुचलता हुआ यह हमारे महान् सौभाग्य के लिए हो।

विशेष—वीर्यरक्षा द्वारा रोगरूप शत्रुओं का विनाश करनेवाला व्यक्ति 'चातन' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

२९. [एकोनत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

भिषक् (भेषजस्यासि कर्ता)

पु॒रस्ता॑द्यु॒क्तो व॑ह जातवे॒दोऽग्ने॑ वि॒द्धि क्रि॒यमा॑णं॒ यथे॒दम्।
त्वं भि॒षग्भे॑ष॒जस्या॑सि क॒र्ता त्वया॒ गामश्वं॒ पुरु॑षं सनेम॥ १॥

१. हे **जातवेदः अग्ने**=सर्वज्ञ अग्रणी प्रभो! **पुरस्तात्**=हमारे जीवन-शकट के आगे **युक्तः**=युक्त हुए-हुए आप **वह**=हमारे जीवन की गाड़ी को ले-चलिए (भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया)। **यथा**=जैसे **इदम्**=यह **क्रियमाणम्**=किया जाना है, उसे **विद्धि**=आप ही जानिए। हमारे जीवन-शकट को लक्ष्य पर कैसे पहुँचाना है—यह तो आपको ही पता है। २. **त्वम् भिषक्**=आप ही वैद्य हैं **भेषजस्य कर्ता असि**=औषध करनेवाले हैं। जीवन-यात्रा में अयुक्त आहार-विहार से उत्पन्न हो जानेवाले रोगों को आपको दूर करना है। हे प्रभो! **त्वया**=आपसे हम **गाम्**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियों को, **अश्वम्**=उत्तम कर्मेन्द्रियों को तथा **पुरुषम्**=उत्तम वीर सन्तानों को **सनेम**=प्राप्त करें (यथेह पुरुषोऽसत्)।

भावार्थ—हमारे जीवन-रथ के सारथि प्रभु हैं। वे ही जानते हैं कि यह यात्रा कैसे पूर्ण होनी है। सब रोगों के चिकित्सक वे ही हैं। वे ही उत्तम ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों व वीर सन्तानों को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

दिदेव, जघास

तथा तदग्ने कृणु जातवेदो विश्वेभिर्देवैः सह संविदानः।
यो नो दिदेव यतमो जघास यथा सो अस्य परिधिष्पताति॥ २॥

१. हे **जातवेदः अग्ने**=सर्वज्ञ, अग्रणी प्रभो! **विश्वेभिः देवैः सह संविदानः**='माता-पिता, आचार्य व अतिथि' आदि सब देवों के साथ ऐकमत्यवाले हुए-हुए आप **तत् तथा कृणु**=उस बात को वैसा कीजिए कि **यथा**=जिससे **यः**=जो रोग **नः**=हमें **दिदेव**=पराजित करना चाहता है (दिव् विजिगीषायाम्), **यतमः**=जो रोग **जघास**=हमें खा ही जाता है, **अस्य**=इस रोग की **सः परिधिः**=वह परिधि—घेरा **पताति**=गिर जाता है, नष्ट हो जाता है।

भावार्थ—'रोग हमें घेरे न रहें', यही व्यवस्था प्रभु को 'माता-पिता व आचार्य द्वारा करानी है।'

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराड्गायत्री** ॥

रोग-परिधि-पतन

यथा सो अस्य परिधिष्पताति तथा तदग्ने कृणु जातवेदः।
विश्वेभिर्देवैः सह संविदानः॥ ३॥

१. हे **जातवेदः अग्ने**=सर्वज्ञ अग्रणी प्रभो! **विश्वेभिः देवैः सह संविदानः**=माता-पिता, आचार्य व अतिथि आदि सब देवों के साथ ऐकमत्य (मेलवाले) होकर **तत् तथा कृणु**=उसे वैसा कीजिए, **यथा**=जिससे कि **अस्य**=इस रोग का **सः परिधिः**=वह घेरा **पताति**=गिर जाता है, गिर जाए।

भावार्थ—प्रभु सब देवों के साथ ऐसी व्यवस्था करें कि हमें घेरनेवाले रोगों का घेरा टूट जाए।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पिशाच-हिंसन

अक्ष्यौ३ नि विध्य हृदयं नि विध्य जिह्वां नि तृन्द्धि प्र दतो मृणीहि।
पिशाचो अस्य यतमो जघासाग्ने यविष्ठ प्रति तं शृणीहि॥ ४॥

१. **अस्य यतमः पिशाचः जघास**=जो भी पिशाच (रक्तभक्षक कृमि व शत्रु) इसका भक्षण

करता है, **अक्ष्यौ निविध्य**=इसकी आँखों को बींध डाल, **हृदयं निविध्य**=हृदय को बींध डाल, **जिह्वां नितृन्द्धि**=जिह्वा को काट डाल, **दतः प्रमृणीहि**=दाँतों को मसल डाल। २. हे **यविष्ठ**=बुराइयों का अमिश्रण करनेवाले! **अग्ने**=परमात्मन्! **तं प्रतिशृणीहि**=उस पिशाच को हिंसित कर दे।

भावार्थ—हे प्रभो! जो भी पिशाच हमारा भक्षण करता है, उसकी 'आँखों, हृदय, जिह्वा व दाँतों' को विद्ध करके उसे समाप्त कर दीजिए।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पुरोऽतिजगतीविराड्जगती** ॥

हृतं, विहृतं, पराभृतम्

यदस्य हृतं विहृतं यत्पराभृतमात्मनो जग्धं यतमत्पिशाचैः।
तदग्ने विद्वान्पुनरा भर त्वं शरीरे मांसमसुमेरयामः॥ ५॥

१. **अग्ने**=हमें नीरोग बनाकर उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले ज्ञानी वैद्य! **अस्य आत्मनः**=इस देह का **पिशाचैः**=मांसभक्षी रोगजन्तुओं ने **यत्**=जो **हृतम्**=मांस और बल आदि हर लिया है, **यत् विहृतम्**=जो छीन लिया है, **पराभृतम्**=जो लूट लिया है और **यतमत् जग्धम्**=जो खा लिया है, **तत्**=उस सबको **विद्वान्**=सम्यक् जानता हुआ **त्वम्**=तू **पुनः आभर**=औषध प्रयोग के द्वारा पुनः प्राप्त करा दे। हम **शरीरे मांसं असुम्**=शरीर में मांस और प्राणशक्ति को **ऐरयामः**=सब अङ्गों में प्रेरित करते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी वैद्य द्वारा उचित औषध-प्रयोग से रोग-कृमियों से जनित कमी दूर की जाती है, शरीर फिर से मांस व रुधिर-सम्पन्न बनाया जाता है।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

आमे सुपक्वे शबले विपक्वे

आमे सुपक्वे शबले विपक्वे यो मा पिशाचो अशने ददम्भ।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदो३ऽयमस्तु॥ ६॥

१. **यः**=जो **पिशाचः**=मांसभोजी रोग-जन्तु **आमे**=कच्चे, **सुपक्वे**=पक्के **शबले**=अधपके, **विपक्वे**=खूब पके **अशने**=भोजन में प्रविष्ट होकर **मा ददम्भ**=मुझे हिंसित करता है, **तत्**=वह पिशाच **आत्मना प्रजया**=स्वयं और अपनी सन्ततिसहित नष्ट हो जाए। २. **पिशाचाः**=सब रोगजन्तु **वियातयन्ताम्**=नाना प्रकार से पीड़ा को प्राप्त हों और शरीर को छोड़ जाएँ। **अयं अगदः अस्तु**=यह पुरुष नीरोग हो जाए।

भावार्थ—जो रोगकृमि कच्चे-पक्के भोजनों में प्रविष्ट होकर हमारा हिंसन करते हैं, वे अपनी सन्तानोंसहित नष्ट हो जाएँ। इस रुग्ण पुरुष को वे पीड़ित न करें। यह नीरोग हो जाए।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

क्षीरे, मन्थे अपां पाने, शयने

क्षीरे मा मन्थे यतमो ददम्भाकृष्टपच्ये अशने धान्ये३ यः।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदो३ऽयमस्तु॥ ७॥
अपां मा पाने यतमो ददम्भ क्रव्याद्यातूनां शयने शयानम्।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदो३ऽयमस्तु॥ ८॥
दिवा मा नक्तं यतमो ददम्भ क्रव्याद्यातूनां शयने शयानम्।
तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदो३ऽयमस्तु॥ ९॥

१. **यतमः**=जो भी कोई रोगजन्तु **क्षीरे**=दूध में, **मन्थे**=मठे में, **अकृष्टपच्ये धान्ये**=बिना खेती किये उत्पन्न हुए अन्न में, तथा **यः**=जो **अशने**=भोजन में प्रविष्ट होकर **मा ददम्भ**=मुझे हिंसित करता है। २. **यातूनाम्**=यातना देनेवालों में **यतमः क्रव्यात्**=जो मांसभक्षक कृमि **अपां पाने**=जलों का पान करने में अथवा **शयने शयानं मा**=बिस्तर पर सोते हुए मुझे **ददम्भ**=हिंसित करता है, ३. **यातूनां यतमः**=पीड़ा देनेवालों में जो भी **क्रव्यात्**=मांसाहारी कृमि **दिवा नक्तम्**=दिन-रात के समय में **शयने शयानम्**=बिस्तर पर सोये हुए **मा ददम्भ**=मुझे हिंसित करता है, **तत्**=वह पिशाच **आत्मना प्रजया**=स्वयं और अपनी सन्ततिसहित विनष्ट हो जाए। **पिशाचाः**=सब रोगजन्तु **वियातयन्ताम्**=नाना प्रकार से पीड़ा को प्राप्त होकर शरीर को छोड़ जाएँ। **अयं अगदः अस्तु**=यह पुरुष नीरोग हो जाए।

भावार्थ—भोजन में, जलों में या दिन व रात में सोने के समय जो भी रोगकृमि हमारी हिंसा का कारण बनता है, वह कृमि नष्ट हो जाए और हमारे शरीर नीरोग बनें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

क्रव्यादं, रुधिरं, मनोहनम्

क्रव्यादमग्ने रुधिरं पिशाचं मनोहनं जहि जातवेदः।
तमिन्द्रो वाजी वज्रेण हन्तु च्छिनत्तु सोमः शिरो अस्य धृष्णुः ॥ १० ॥

१. हे **जातवेदः अग्ने**=ज्ञानी अग्रणी वैद्य! **क्रव्यादम्**=मांस को खा जानेवाले, **रुधिरम्**=रक्त-संचारण में रुकावट पैदा करनेवाले, **मनोहनम्**=मन को बिगाड़ देनेवाले **पिशाचम्**=रोगकृमि को **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **वाजी**=शक्तिशाली होता हुआ **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूपी वज्र से **हन्तु**=नष्ट कर दे। 'जितेन्द्रियता, शक्ति व क्रियाशीलता' रोगकृमियों के विनाश के साधन हैं। शरीर में सुरक्षित **सोमः**=वीर्य **अस्य**=इस रोगकृमि के **शिरः च्छिनत्तु**=सिर को काट डाले। यह सोम **धृष्णुः**=रोगरूप शत्रुओं को धर्षण करनेवाला हो।

भावार्थ—वैद्य औषध-प्रयोग से उन कृमियों का विनाश करे जो मांस खा जानेवाले, रुधिराभिसरण में रुकावट पैदा करनेवाले व मन पर उदासी लानेवाले हैं। हम जितेन्द्रिय व क्रियाशील बनकर सोम-रक्षण करते हुए इन रोगों का विनाश कर दें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

दैव्या हेति

सनादग्ने मृणसि यातुधानान्न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः।
सहमूराननु दह क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥ ११ ॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी—हमें नीरोग बनाकर आगे ले-चलनेवाले वैद्य! तू **यातुधानान्**=पीड़ा देनेवाले कृमियों को **सनात् मृणसि**=सदा नष्ट करता है। ये **रक्षांसि**=रोगकृमिरूप राक्षस **त्वा**=तुझे **पृतनासु न जिग्युः**=संग्रामों में पराभूत नहीं कर पाते। तू उचित औषध द्वारा इनका विनाश कर देता है। २. इन **क्रव्यादः**=मांस खा जानेवाले कृमियों को **सहमूरान्**=मूलसहित **अनुदह**=जला दे। **ते**=तेरी **दैव्यायाः**=रोगों को जीतने की कामना में उत्तम **हेत्याः**=औषधरूप वज्र से **मा मुक्षत**=यह रोग छूट न जाए।

भावार्थ—वैद्य रोगकृमियों को विनष्ट करे। रोगकृमियों के साथ संग्राम में वैद्य पराजित न हो। यह उन मांसभक्षक कृमियों को जड़ से उखाड़ दे। उसकी औषधरूप दैव्या हेति से कोई रोगकृमि छूट न जाए।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

अंशुः इव आप्यायताम्

समाहर जातवेदो यद्धृतं यत्पराभृतम्। गात्राण्यस्य वर्धन्तामंशुरिवा प्यायतामयम्॥ १२॥

१. हे **जातवेदः**=ज्ञानी वैद्य **अस्य यत् हृतम्**=इस रोगी का जो भाग हर लिया गया है, **यत् पराभृतम्**=जो धातु व बल नष्ट कर दिया गया है, उसे **समाहर**=पुनः भली प्रकार प्राप्त करा। २. **अस्य**=इसके **गात्राणि**=अङ्ग **वर्धन्ताम्**=बढ़ें। **अयम्**=यह **अंशुः इव**=चन्द्र के समान **आप्यायताम्**=दिनों-दिन बढ़ता चले।

भावार्थ—ज्ञानी वैद्य औषध-प्रयोग द्वारा रोगी की क्षीणता को दूर कर दे। इस रोगी के अङ्ग फिर से बढ़ जाएँ। चन्द्रमा के समान इसका शरीर आप्यायित होता चले।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विरप्शी, मेध्य, अयक्ष्म

सोमस्येव जातवेदो अंशुरा प्यायतामयम्।
अग्ने विरप्शिनं मेध्यमयक्ष्मं कृणु जीवतु॥ १३॥

१. हे **जातवेदः**=ज्ञानी वैद्य! **अयम्**=यह पुरुष **सोमस्य अंशुः इव**=चन्द्रमा की किरण के समान **आप्यायताम्**=आप्यायित होता चले। जैसे चन्द्रमा की एक-एक किरण बढ़ती जाती है, इसीप्रकार यह बढ़ता चले। २. हे **अग्ने**=अग्रणी वैद्य! तू इस पुरुष को **विरप्शिनम्**=निर्दोष अथवा शुद्ध शब्दों का उच्चारण करनेवाला **मेध्यम्**=पवित्र **अयक्ष्मम्**=नीरोग **कृणु**=कर दे, **जीवतु**=यह पूर्ण जीवन को जीनेवाला हो।

भावार्थ—उचित औषध-प्रयोग से चन्द्रमा की भाँति वृद्धि को प्राप्त होता हुआ यह पुरुष 'निर्दोष, पवित्र व नीरोग' बने।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदापराबृहतीककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

ज्ञानदीप्ति व पिशाचजम्भन

एतास्ते अग्ने समिधः पिशाचजम्भनीः।
तास्त्वं जुषस्व प्रति चैना गृहाण जातवेदः॥ १४॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी विद्वन्! **एताः**=ये **ते**=तेरी **समिधः**=ज्ञानदीप्तियाँ **पिशाचजम्भनीः**=पिशाचों का विनाश करनेवाली हैं, ज्ञानदीप्तियाँ राक्षसी वृत्तियों का विनाश करती हैं। २. हे **जातवेदः**=उत्पन्न ज्ञानवाले पुरुष **ताः**=उन ज्ञानदीप्तियों को **त्वम्**=तू **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन कर **च**=और **एनाः**=इन ज्ञानदीप्तियों को तू **प्रतिगृहाण**=प्रतिदिन ग्रहण करनेवाला हो।

भावार्थ—हम अपने ज्ञान को दीप्त करके पैशाचिकी वृत्तियों को विनष्ट करें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**जातवेदाः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तार्ष्टाघीः समिधः

तार्ष्टाघीरग्ने समिधः प्रति गृह्णाह्यर्चिषा। जहातु क्रव्याद्रूपं यो अस्य मांसं जिहीर्षति॥ १५॥

१. **तार्ष्टाघीः**=(तार्ष्ट अघि गत्याक्षेपणयोः) तृष्णा को विनष्ट करनेवाली **समिधः**=ज्ञानदीप्तियों को **अर्चिषा**=(अर्च पूजायाम्) प्रभु-पूजन के द्वारा **प्रतिगृह्णाहि**=ग्रहण करनेवाला बन। २. इसप्रकार प्रभुपूजन व ज्ञान-दीप्तियों में प्रवृत्त, लोभनिवृत्त पुरुष को **यः**=जो भी रोगकृमि सताता है और **अस्य**=इसके **मांसम्**=मांस को **जिहीर्षति**=हरना चाहता है, वह **क्रव्यात्**=मांसभक्षक

कृमि **रूपं जहातु**=अपने रूप को छोड़ दे, अर्थात् वह कृमि नष्ट हो जाए।

भावार्थ—ज्ञानदीप्ति तृष्णा को नष्ट करती है। यह ज्ञानदीप्ति प्रभुपूजन से प्राप्त होती है। इस ज्ञानदीप्त पुरुष को रोग नहीं सताते।

विशेष—सब रोगों को अपने से पृथक् करनेवाला—रोगों से अपना पीछा छुड़ानेवाला यह ऋषि 'उन्मोचन' है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

३०. [त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

असुं बध्नामि ते दृढम्

आवर्तस्त आवतः परावर्तस्त आवतः।
इहैव भव मा नु गा मा पूर्वाननु गाः पितृनसुं बध्नामि ते दृढम्॥ १॥

१. **ते आवतः आवतः**=हे पुरुष! तेरे समीप-से-समीप, **ते परावतः आवतः**=तुझसे दूर-से-दूर देश से भी **ते असुं दृढं बध्नामि**=तेरे प्राण को बलपूर्वक बाँधता हूँ। **इह एव भव**=तू यहाँ ही हो, **पूर्वान् मा नु गाः**=अपने मृत पुरुषों के पीछे मत ही जा। **पितृन् मा अनु गाः**=तुझे जन्म देनेवाले अपने पितरों के पीछे मत चला जा।

भावार्थ—मैं तुझमें प्राणशक्ति का धारण करता हूँ। तू अपने पूर्वजों के पीछे शीघ्र जानेवाला मत हो। तू पूर्ण जीवन को प्राप्त कर।

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उन्मोचन-प्रमोचने

यत्त्वाभिचेरुः पुरुषः स्वो यदरणो जनः।
उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते॥ २॥
यद् दुद्रोहिथ शेपिषे स्त्रियै पुंसे अचित्त्या।
उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते॥ ३॥
यदेनसो मातृकृताच्छेषे पितृकृताच्च यत्।
उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते॥ ४॥

१. **यत्**=यदि **स्वः पुरुषः**=अपना कोई सम्बन्धी पुरुष, **यत्**=यदि कोई **अरणः जनः**=(रण शब्दे) असम्भाष्य—हीन पुरुष **त्वा अभि चेरुः**=तुझपर अभिचार वा बुरा आक्रमण करता है तो मैं (आचार्य) **वाचा**=वाणी के द्वारा **उन्मोचनप्रमोचने**=जाल से छूटना व जाल से बचे ही रहना—**उभे**=दोनों का **ते वदामि**=तुझे उपदेश करता हूँ। तू समझदार बनकर उन दुष्टों के जाल से छूट आ, उनके जाल में मत फँस। २. हे शिष्य! **यत्**=जो **अचित्त्या**=नासमझी से अथवा असावधानी से तूने **स्त्रियै**=किसी स्त्रि के लिए **पुंसे**=या पुरुष के लिए **दुद्रोहिथ**=द्रोह किया है अथवा **शेपिषे**=बुरा वचन कहा है, तो मैं वाणी द्वारा तेरे लिए उन्मोचन व प्रमोचन को कहता हूँ। ३. **यत्**=यदि तू **मातृकृतात् एनसः**=माता से किये गये पाप से **च**=और **यत्**=यदि **पितृकृतात् एनसः**=पिता से किये गये पाप से **शेषे**=अज्ञान-निद्रा में सो रहा है तो मैं वाणी द्वारा तेरे लिए उन्मोचन और प्रमोचन दोनों को ही करता हूँ।

भावार्थ—आचार्यों से ज्ञान प्राप्त करके हम अपने और पराये मनुष्यों के षड्यन्त्रों का शिकार न बनें। किसी भी स्त्री व पुरुष के लिए अपशब्द न कहें। अज्ञान-निद्रा में ही न सोये रह जाएँ।

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

जरदष्टिं कृणोमि त्वा

यत्ते माता यत्ते पिता जामिर्भ्राता च सर्जतः।
प्रत्यक्सेवस्व भेषजं जरदष्टिं कृणोमि त्वा॥ ५॥

१. **यत्**=जिस औषध को **ते माता**=तेरी माता, **यत् ते पिता**=जिस औषध को तेरे पिता, **जामिः**=बहिन, **च भ्राता**=और भाई **सर्जतः**=उत्पन्न करते हैं, **भेषजम्**=उस औषध का तू **प्रत्यक्**=अपने अन्दर **सेवस्व**=सेवन कर। इस औषध में किसी प्रकार का संशय नहीं रहता। इसप्रकार इस औषध के सेवन से **त्वा**=तुझे **जरदष्टिम्**=जरा अवस्था को व्याप्त करनेवाला **कृणोमि**=करता हूँ, तुझे दीर्घजीवी बनाता हूँ।

भावार्थ—औषध का सेवन विश्वस्त पुरुष के हाथों से ही करना चाहिए। इसप्रकार मैं (वैद्य) तुझे नीरोग बनाकर दीर्घजीवी बनाता हूँ।

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रोगों व चिन्ताओं से ऊपर

इहैधि पुरुष सर्वेण मनसा सह। दूतौ यमस्य मानु गा अधि जीवपुरा इहि॥ ६॥

१. हे **पुरुष**=इस शरीर-पुरी में निवास करनेवाले जीव! **सर्वेण मनसा सह**=पूर्ण मन के साथ तू **इह एधि**=यहाँ—जीवन-यात्रा में चलनेवाला हो। तू सदा उत्साह-सम्पन्न होकर जीवन में आगे बढ़। **यमस्य दूतौ मा अनुगाः**=यम के दूतों के पीछे जानेवाला न हो। 'शरीर के रोग तथा मानस चिन्ताएँ' ही यम के दूत हैं। तू इन रोगों व चिन्ताओं से ऊपर उठ। २. **जीवपुराः अधि इहि**=(अधि+इ स्मरणे) जीवित पुरुषों की अग्रगतियों का तू स्मरण कर। सदा आगे बढ़नेवाला बन।

भावार्थ—जीवन-यात्रा में हम सदा उत्साह बनाये रक्खें। जो कार्य करें पूरे दिल से करें। रोग व चिन्ताएँ तो यम के दूत हैं। इन्हें परे छोड़कर हम अग्रगतियों का स्मरण करें और आगे बढ़ें।

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आरोहणम् आक्रमणम्

अनुहूतः पुनरेहि विद्वानुदयनं पथः। आरोहणमाक्रमणं जीवतोजीवतोऽयनम्॥ ७॥

१. **अनुहूतः**=माता-पिता व आचार्यों से अनुहूत हुआ-हुआ—'तुझे इधर आना है', इसप्रकार निर्देश किया हुआ तू **पुनः एहि**=फिर गतिवाला हो। **उदयनं विद्वान्**=उत्कृष्ट गति को जानता हुआ तू **पथः**=(एहि) मार्ग से गतिवाला हो—सदा उत्तम मार्ग से चलनेवाला हो। तू इस बात का ध्यान रख कि **आरोहण**=ऊपर चढ़ना व **आक्रमणम्**=विघ्नों को आक्रान्त करके आगे बढ़ना ही **जीवतः जीवतः**=प्रत्येक प्राणधारी का **अयनम्**=मार्ग है। तुझे भी आरोहण व आक्रमण को अपनाना है।

भावार्थ—हम अपने बड़ों से निर्दिष्ट मार्ग पर आगे बढ़ें। 'ऊपर उठना और आगे बढ़ना' ही जीवन का मार्ग है—इस बात को समझें।

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मत डर, तू जाता नहीं

मा बिभेर्न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा।
निरवोचमहं यक्ष्ममङ्गेभ्यो अङ्गज्वरं तव॥ ८॥

१. वैद्य रोगी से कहता है कि **मा बिभेः**=डर मत, **न मरिष्यसि**=तू मरेगा नहीं। मैं **त्वा**=तुझे **जरदष्टिं कृणोमि**=पूर्ण जरावस्था तक जीवन को व्याप्त करनेवाला बनाता हूँ। २. **अहम्**=मैं **तव**=तेरे **अङ्गेभ्यः**=अङ्गों से **अङ्गज्वरम्**=अङ्गज्वर को तथा **यक्ष्मम्**=यक्ष्मारोग को **निरवोचम्**=बाहर निकाल देता हूँ।

भावार्थ—वैद्य रोगी को उत्साहित करता हुआ कहता है कि मैं तुझे अभी नीरोग किये देता हूँ। तू मरेगा नहीं। डर मत, तू पूर्ण आयुष्य को प्राप्त करेगा।

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

अङ्गभेदः, अङ्गज्वरः

अङ्गभेदो अङ्गज्वरो यश्च ते हृदयामयः।
यक्ष्मः श्येनइव प्रापप्तद्वाचा साढः परस्तराम्॥ ९॥

१. **अङ्गभेदः**=अवयवों का टूटना—अवयवों की पीड़ा, **अङ्गज्वरः**=अङ्गों का ज्वर **यः च ते हृदयामयः**=और जो तेरे हृदय का रोग है, वह **यक्ष्मः**=रोग **वाचा साढः**=मेरी वाणी से पराजित हुआ-हुआ **परस्तराम्**=बहुत दूर **प्रापप्तत्**=भाग जाए। इसप्रकार वेग से भाग जाए **इव**=जैसेकि **श्येनः**=बाज़पक्षी वेग से उड़ जाता है।

भावार्थ—वैद्य रोगी से कहता है कि तेरा सब विकार अभी इसप्रकार दूर चला जाता है, जैसेकि बाज़पक्षी शीघ्रता से उड़ जाता है।

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

बोधप्रतीबोधौ

ऋषी बोधप्रतीबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः।
तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम्॥ १०॥

१. **बोधप्रतीबोधौ**=बोध और प्रतिबोध—बुद्धि व मन—विवेक व चैतन्य—ये दो **ऋषी**=ऋषि हैं—तेरे जीवन को ध्यान से देखनेवाले हैं। इनमें एक **अस्वप्नः**=न सोनेवाला है **च**=और **यः**=जो दूसरा है वह **जागृविः**=सदा जागता है। विवेक हमें कर्त्तव्य के विषयों में सावधान रखता है और चैतन्य सदा जागरित रखता है। २. **तौ**=वे दोनों ते **प्राणस्य**=तेरे प्राण के **गोप्तारौ**=रक्षक हैं, ये **दिवा नक्तं च**=दिन और रात **जागृताम्**=जागते रहें।

भावार्थ—हमारा विवेक व चैतन्य लुप्त न हो। इनका जागरित रहना ही जीवन का रक्षक बनना है।

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अग्निः उपसद्यः

अयमग्निरुपसद्य इह सूर्य उदेतु ते। उदेहि मृत्योर्गम्भीरात्कृष्णाच्चित्तमसस्परि॥ ११॥

१. **अयम् अग्निः**=यह अग्रणी प्रभु **उपसद्यः**=उपासना के योग्य है। **इह**=यहाँ—उपासना में ही **सूर्यः ते उदेतु**=सूर्य तेरे लिए उदित हो, अर्थात् सूर्योदय से पूर्व ही उठकर तू उपासना में प्रवृत्त होनेवाला बन। २. तू **गम्भीरात् मृत्योः उत् ऐहि**=भयावह मृत्यु से ऊपर उठ तथा **कृष्णात् तमसः चित् परि**=(उदेहि) काले अन्धकार से भी तू ऊपर उठनेवाला बन—अविद्यान्धकार को छोड़कर ऊपर उठ।

भावार्थ—हम सूर्योदय से पूर्व ही उपासना में प्रवृत्त हों। भयावह मृत्यु से तथा अविद्या-अन्धकार से हम ऊपर उठें।

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदाविराड्जगती**॥

उत्पारण

नमो॑ य॒माय॒ नमो॑ अस्तु मृ॒त्यवे॒ नमः॑ पि॒तृभ्य॑ उ॒त ये नय॑न्ति।
उ॒त्पार॑णस्य॒ यो वेद॒ तम॒ग्निं पु॒रो द॑धे॒ऽस्मा अ॑रि॒ष्टता॑तये॥ १२॥

१. **यमाय**=उस सर्वनियन्ता प्रभु के लिए **नमः**=नमस्कार हो। **मृत्यवे**=पुराने शरीर को छुड़ाकर नया शरीर देनेवाले प्रभु के लिए **नमः अस्तु**=नमस्कार हो। **उत पितृभ्यः**=और उन पितरों के लिए **नमः**=नमस्कार हो **ये**=जो **नयन्ति**=हमें उन्नति-पथ पर ले-चलते हैं। २. **अस्मै अरिष्टतातये**=इस कल्याण-वृद्धि के लिए **तम् अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **पुरः दधे**=सदा अपने सामने रखता हूँ, **यः**=जो प्रभु **उत्पारणस्य वेद**=भव-सागर से पार लगाना जानते हैं।

भावार्थ—प्रभु 'यम' हैं, 'मृत्यु' हैं, 'अग्नि' हैं। ये प्रभु हमें भव-सागर से पार ले-जाते हैं और हमारा कल्याण करते हैं, अतः हम उन्हें नमस्कार करते हैं। हम उन पितरों को भी नमस्कार करते हैं, जो हमें उन्नति-पथ पर ले-चलते हैं।

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्राण, मन, चक्षु, बल-बुद्धि

ऐतु॑ प्रा॒ण ऐतु॒ मन॒ ऐतु॒ चक्षु॒रथो॒ बल॑म्।
शरी॑रमस्य॒ सं वि॒दां तत्प॒द्भ्यां प्रति॑ तिष्ठतु॥ १३॥

१. इस शरीर में **प्राणः आ एतु**=प्रथम प्राण आये, फिर **मनः आ एतु**=मन का आगमन हो, **चक्षुः आ एतु**=तब आँख आदि इन्द्रियाँ प्राप्त हों, **अथो बलम्**=तत्पश्चात् शरीर में बल का सञ्चार हो। २. तब **अस्य**=इसका **शरीरम्**=शरीर **विदाम्**=बुद्धि को **सम्** (एतु)=सम्यक् प्राप्त हो। **तत्**=तब **पद्भ्याम् प्रतितिष्ठतु**=पाँवों से प्रतिष्ठित हो—पाँवों पर खड़ा होकर कार्य करनेवाला हो।

भावार्थ—शरीर में क्रमशः 'प्राण, मन, चक्षु, बल व बुद्धि' का प्रवेश होता है और तब वह पाँवों पर प्रतिष्ठित होकर कार्यों को करने लगता है।

ऋषिः—**उन्मोचनः (आयुष्यकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, आयुः** ॥ छन्दः—**विराट्प्रस्तारपङ्क्तिः**॥

मा नु भूमिगृहः भुवत्

प्रा॒णेना॑ग्ने॒ चक्षु॑षा॒ सं सृ॑जे॒मं समी॑रय॒ त॒न्वा॒ ३ सं बले॑न।
वेत्था॒मृत॑स्य॒ मा नु गा॒न्मा नु भूमि॑गृहो भुवत्॥ १४॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **इमम्**=इस व्यक्ति को **प्राणेन चक्षुषा संसृज**=प्राण व दर्शनशक्ति से संसृष्ट कीजिए। इसे **तन्वा**=शरीर की शक्तियों के विस्तार से तथा **बलेन**=बल से **सं सं ईरय**=सम्यक् प्रेरित कीजिए। शरीरशक्ति-विस्तार तथा बल से युक्त हुआ-हुआ यह अपने कार्यों को सम्यक् करनेवाला हो। २. हे प्रभो! आप **अमृतस्य वेत्थ**=अमृत को जानते हैं—नीरोगता प्राप्त कराते हैं। **मा नु गात्**=यह व्यक्ति शरीर को छोड़कर चला न जाए **मा नु भूमिगृहः भुवत्**=मत ही भूमिरूप गृहवाला हो जाए—मिट्टी में न मिल जाए।

भावार्थ—प्राणशक्ति, दर्शनशक्ति, शक्तियुक्त शरीर व बल से युक्त यह व्यक्ति नीरोग हो, यह मिट्टी में न मिल जाए।

ऋषिः—उन्मोचनः (आयुष्यकामः)॥ देवता—मन्त्रोक्ताः, आयुः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

सूर्य-किरणों का सम्पर्क

मा ते प्राण उप दसन्मो अपानोऽपि धायि ते।
सूर्यस्त्वाधिपतिर्मृत्योरुदायच्छतु रश्मिभिः॥ १५॥

१. **ते प्राणः**=तेरा प्राण **मा उपदसत्**=क्षीण न हो। **मा उ**=और न ही **ते अपानः**=तेरा अपान **अपिधायि**=अपिहित हो जाए—कार्य करने में असमर्थ हो जाए। २. यह **अधिपतिः**=सब देवों का मुखिया **सूर्यः**=सूर्य **रश्मिभिः**=अपनी किरणों के द्वारा **त्वा**=तुझे **मृत्योः**=मृत्यु से **उदायच्छतु**=ऊपर उठाये।

भावार्थ—हमारी प्राण व अपनाशक्ति ठीक बनी रहे। इनका कार्य समुचित रूप से होता रहे। सूर्य-किरणों का सम्पर्क हमें मृत्यु से ऊपर उठाये।

ऋषिः—उन्मोचनः (आयुष्यकामः)॥ देवता—मन्त्रोक्ताः, आयुः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

यक्ष्मं शतं रोपीश्च तक्मनः

इयमन्तर्वदति जिह्वा बद्धा पनिष्पदा।
त्वया यक्ष्मं निरवोचं शतं रोपीश्च तक्मनः॥ १६॥

१. **इयम्**=यह **जिह्वा**=जीभ **अन्तः बद्धा**=मुख में बद्ध हुई-हुई **पनिः पदा**=स्तुति करने में चतुर व व्यवहार में गतिवाली होकर **वदति**=व्यक्त वाणी का उच्चारण करती है। इस वाणी द्वारा ही स्तुति होती है और सब व्यापार चलते हैं। २. हे वाणि! **त्वया**=तेरे द्वार—तेरे बल से **यक्ष्मम्**=रोग को **च**=और **तक्मनः**=कष्टदायी ज्वर की **शतं रोपीः**=सैकड़ों पीड़ाओं को भी **निरवोचम्**=दूर कर देता हूँ—बाहर निकाल फेंकता हूँ।

भावार्थ—वाणी ही स्तवन आदि सब व्यवहारों को सिद्ध करती है। इसके द्वारा हम रोगों व रोगजनित पीड़ाओं को दूर करते हैं।

ऋषिः—उन्मोचनः (आयुष्यकामः)॥ देवता—मन्त्रोक्ताः, आयुः ॥ छन्दः—षट्पदाजगती॥

अपराजित प्रियतम लोक

अयं लोकः प्रियतमो देवानामपराजितः।
यस्मै त्वमिह मृत्यवे दिष्टः पुरुष जज्ञिषे।
स च त्वानु ह्वयामसि मा पुरा जरसो मृथाः॥ १७॥

१. **अयं लोकः**=यह शरीर **प्रियतमः**=अत्यन्त प्रिय है। यह **देवानाम्**=प्रकाशक इन्द्रियों का **अपराजितः**=अपराजित लोक है। २. हे **पुरुष**=पुरुष! **यस्मै**=जिस कारण से **त्वम्**=तू **इह**=यहाँ—इस संसार में **मृत्यवे दिष्टः**=मृत्यु के भाग्य में पड़ा हुआ ही **जज्ञिषे**=उत्पन्न होता है **सः च**=वह जो तू है, उस **त्वा**=तुझे **अनु ह्वयामसि**=फिर से चेताते हैं—पुकारते हैं कि **जरसः पुरः**=जरावस्था से पूर्व **मा मृथाः**=प्राणों को मत छोड़।

भावार्थ—यह शरीर इन्द्रियों का प्रियतम अपराजित लोक है। इसमें जीव मृत्यु के लिए दिष्ट हुआ-हुआ ही जन्म लेता है। उसे हम चेताते हैं कि 'पूर्ण वृद्धावस्था से पहले मरे नहीं'।

विशेष—प्राणापान की शक्ति से सम्पन्न यह पुरुष 'शुक्रः' कहलाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

३१. [एकत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**कृत्याप्रतिहरणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आमे पात्रे, मिश्रधान्ये, आमे मांसे

यां ते चक्रुरामे पात्रे यां चक्रुर्मिश्रधान्ये।
आमे मांसे कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम्॥ १॥

१. **यां कृत्याम्**=जिस हिंसा के कार्य को **ते**=वे हमारे शत्रु **आमे पात्रे**=कच्चे पात्र में (विलेप लगाकार अपने शत्रुओं के घर दूध आदि बेच आने के द्वारा) **चक्रुः**=करते हैं। **याम्**=जिस हिंसा-कार्य को **मिश्रधान्ये**=मिले-जुले अन्नों में विषैली बूटी के दाने मिलाकर **चक्रुः**=करते हैं। २. **आमे मांसे**=कच्चे फल के गूदे में (विषधारा छोड़ देने के द्वारा) **यां कृत्याम्**=जिस हिंसन-कार्य को **चक्रुः**=करते हैं, **ताम्**=उस कृत्या को **पुनः**=फिर **प्रतिहरामि**=उन्हीं के प्रति प्राप्त कराता हूँ।

भावार्थ—घातक प्रयोग करनेवालों को उन्हीं घातक प्रयोगों द्वारा समाप्त कर दिया जाए। वे घातक प्रयोग ही उनके लिए दण्ड हों।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**कृत्याप्रतिहरणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

न मारने योग्य प्राणी

यां ते चक्रुः कृकवाकावजे वा यां कुरीरिणि।
अव्यां ते कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम्॥ २॥
यां ते चक्रुरेकशफे पशूनामुभयादति।
गर्दभे कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम्॥ ३॥

१. **याम्**=जिस **कृत्याम्**=घातक प्रयोग को **ते**=वे **कृकवाकौ**=मोर आदि सुन्दर पक्षियों पर **अजे**=बकरे व बकरियों के समूह पर **वा कुरीरिणि**=वा अन्य सींगवाले पशुओं पर **चक्रुः**=करते हैं, **यां कृत्याम्**=जिस घातक प्रयोग को **ते**=वे **अव्याम्**=हमारी भेड़ों पर **चक्रुः**=करते हैं, **ताम्**=उस घातक प्रयोग को **पुनः प्रतिहरामि**=फिर उन्हें ही वापस प्राप्त कराता हूँ, उस घातक प्रयोग से उन्हें ही दण्डित करता हूँ। २. **याम्**=जिस हिंसा-कार्य को **ते**=वे **एकशफे**=एक खुरवाले पशु पर **वा पशूनाम् उभयादति**=अथवा दोनों जबड़ों में दाँतवाले पशुओं पर **चक्रुः**=करते हैं। **यां कृत्याम्**=जिस हिंसा-कार्य को **गर्दभे**=गधे पर **चक्रुः**=करते हैं, **ताम्**=उस हिंसा को मैं पुनः **प्रतिहरामि**=फिर वापस उन्हें ही प्राप्त कराता हूँ।

भावार्थ—राष्ट्र में 'मोर, अज, कुरीरी (सींगवाले) पशु, भेड़, घोड़े, गाय व गर्दभ आदि का मारना दण्ड योग्य कार्य समझा जाए।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**कृत्याप्रतिहरणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अमूला, नराची, क्षेत्र

यां ते चक्रुरमूलायां वलगं वा नराच्याम्।
क्षेत्रे ते कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम्॥ ४॥

१. **याम्**=जिस कृत्या को **ते**=वे **अमूलायाम्**=अग्नि-शिखा नामक ओषधि में **चक्रुः**=करते हैं **वा**=या **वलगम्**=(वल संवरणे) संवृतरूप में—छिपे रूप में **नराच्याम्**=नराची नामक ओषधि में करते हैं, **यां कृत्याम्**=जिस हिंसन-कार्य को **ते**=वे **क्षेत्रे चक्रुः**=खेत के विषय में करते हैं, अर्थात् खेत को नष्ट करने के लिए यत्नशील होते हैं, **ताम्**=उस हिंसन-कार्य को पुनः

प्रतिहरामि=फिर वापस उन्हें ही प्राप्त कराता हूँ।

भावार्थ—राष्ट्र में ओषधि-विशेषों व अन्नोत्पत्ति स्थानभूत क्षेत्रों की रक्षा की व्यवस्था नितान्त आवश्यक है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**कृत्याप्रतिहरणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गार्हपत्ये, पूर्वाग्नौ, शालायाम्

यां ते चक्रुर्गार्हपत्ये पूर्वाग्नावुत दुश्चितः।
शालायां कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम्॥ ५॥

१. **ते**=वे **दुश्चितः**=दुष्ट चित्तवाले लोग **याम्**=जिस हिंसन-कार्य को **गार्हपत्ये**=गार्हपत्य अग्नि में—रसोई की अग्नि में **उत**=और **पूर्वाग्नौ**=हमारे शरीरों का पालन और पूरण करनेवाली—पूर्व दिशा में स्थापित—आह्वनीय अग्नि में **चक्रुः**=करते हैं। २. **यां कृत्याम्**=जिस हिंसन-कार्य को **शालायाम्**=गृह के विषय में (आग लगा देने आदि के द्वारा) **चक्रुः**=करते हैं, **ताम्**=उस कृत्या को **पुनः**=फिर **प्रतिहरामि**=उन दुश्चित्तों को ही प्राप्त कराता हूँ।

भावार्थ—राजा ऐसी व्यवस्था करे कि घरों का तथा उनमें गार्हपत्य व आह्वनीय अग्नियों का रक्षण हो।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**कृत्याप्रतिहरणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सभा, अधिदेवन्, अक्ष, सेना, इष्वायुध, दुन्दुभि

यां ते चक्रुः सभायां यां चक्रुरधिदेवने।
अक्षेषु कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम्॥ ६॥
यां ते चक्रुः सेनायां यां चक्रुरिष्वायुधे।
दुन्दुभौ कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम्॥ ७॥

१. **याम्**=जिस हिंसा के कार्य को **ते**=वे शत्रु **सभायां चक्रुः**=सभा में करते हैं, संसद् के विषय में जिस घातपात की क्रिया को करते हैं (संसद् भवन को ही बारूद आदि से उड़ाने की सोचते हैं), **याम्**=जिस कृत्या को **अधिदेवने**=तेरी क्रीड़ा के स्थल उपवन आदि में **चक्रुः**=करते हैं, **यां कृत्याम्**=जिस छेदन-भेदन के कार्य को **अक्षेषु**=व्यवहारों में करते हैं, **ताम्**=उस सब हिंसन-क्रिया को **पुनः**=फिर **प्रतिहरामि**=वापस उन्हीं को प्राप्त कराता हूँ। २. **याम्**=जिस हिंसन-क्रिया को **ते**=वे शत्रु **सेनायां चक्रुः**=सेना के विषय में करते हैं—सेना में असन्तोष आदि फैलाने का प्रयत्न करते हैं, **याम्**=जिस कृत्या को **इषु आयुधे**=बाण आदि अस्त्रों के विषय में **चक्रुः**=करते हैं, **याम्**=जिस कृत्या को **दुन्दुभौ**=युद्धवाद्यों के विषय में **चक्रुः**=करते हैं, **ताम्**=उस सब कृत्या को **पुनः**=फिर **प्रतिहरामि**=वापस उन शत्रुओं को ही प्राप्त कराता हूँ।

भावार्थ—'सभा को, क्रीड़ास्थल को तथा सब व्यवहारों को' शत्रुओं के हिंसा-प्रयोगों से बचाया जाए। इसीप्रकार सेना को, शस्त्रास्त्रों को, युद्धवाद्यों को शत्रुकृत कृत्याओं से सुरक्षित करना चाहिए।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**कृत्याप्रतिहरणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कूपे, श्मशाने, सद्मनि

यां ते कृत्यां कूपेऽवदधुः श्मशाने वा निचख्नुः।
सद्मनि कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम्॥ ८॥

१. **याम्**=जिस **कृत्याम्**=हिंसन-कार्य को **कूपे**=कूप में (विष डालने आदि के द्वारा) **अवदधुः**=स्थापित करते हैं **वा**=या निज विस्फोटक पदार्थों को **श्मशाने**=श्मशान में भय आदि उत्पन्न करने के लिए **निचख्नुः**=गाड़ आते हैं। २. **यां कृत्याम्**=जिस हिंसन-कार्य को **सद्मनि**=घर में आग लगाने व बालकों की हत्या आदि द्वारा **चक्रुः**=करते हैं, **ताम्**=उस कृत्या को **पुनः**=फिर **प्रतिहरामि**=उन शत्रुओं को ही वापस प्राप्त कराता हूँ।

भावार्थ—कुओं, श्मशानों व घरों के रक्षण का सुप्रबन्ध आवश्यक है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**कृत्याप्रतिहरणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

म्रोकं, निर्दाहं, क्रव्यादम्

यां ते चक्रुः पुरुषास्थे अग्नौ संकसुके च याम्।
म्रोकं निर्दाहं क्रव्यादं पुनः प्रति हरामि ताम्॥ ९॥

१. **याम्**=जिस हिंसन-क्रिया को **पुरुषास्थे**=पुरुष की हड्डी में **ते**=वे शत्रु **चक्रुः**=करते हैं, **च**=और **याम्**=जिस कृत्या को **संकसुके**=(सं कस् गतौ) सम्यक् गतिवाली जाज्वल्यमान अग्नि में करते हैं, **ताम्**=उस कृत्या को **म्रोकम्**=चोर के प्रति, **निर्दाहम्**=आग लगानेवाले के प्रति तथा **क्रव्यादम्**=मांसभक्षक के प्रति **पुनः**=फिर **प्रतिहरामि**=वापस प्राप्त कराता हूँ।

भावार्थ—पुरुष-अस्थियों को तोड़नेवाले व आग लगानेवाले दण्डित हों। चोरों व मांसभक्षियों को भी दण्डित किया जाए।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**कृत्याप्रतिहरणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अधीरः धीरेभ्यः

अपथेना जभारैणां तां पथेतः प्र हिण्मसि।
अधीरो मर्याधीरेभ्यः सं जभाराचित्त्या॥ १०॥

१. **अपथेन**=बुरे मार्ग से **एनाम्**=इस हिंसक को एक **अधीरः**=नासमझ पुरुष **आजभार**=यहाँ—राष्ट्र में ले-आया **ताम्**=उस हिंसा को **पथा**=मार्ग पर चलने के द्वारा **इतः**=यहाँ से—राष्ट्र से **प्र हिण्मसि**=दूर भगाते हैं। अनीति के कारण उपस्थित हिंसा को नीति के द्वारा दूर करते हैं। २. **अधीरः**=मूर्ख मनुष्य **अचित्त्या**=नासमझी से **मर्याधीरेभ्यः**=मर्यादा धारण करनेवाले पुरुषों के लिए **सं जभार**=उस हिंसा को ला-पटकता है।

भावार्थ—अधीर पुरुषों से नासमझी के कारण राष्ट्र में अनीति से हिंसा की स्थिति प्राप्त कराई जाती है, उसे नीति के द्वारा दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**कृत्याप्रतिहरणम्** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भाऽनुष्टुप्** ॥

हिंसा का सहन

यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम्।
चकार भद्रमस्मभ्यमभगो भगवद्भ्यः॥ ११॥

१. **यः**=जो **चकार**=हिंसा करता है वह **कर्तुं न शशाक**=हिंसा कर नहीं सका, अपने ही **पादम् अंगुरिम्**=पाँव व अंगुली को **शश्रे**=उसने शीर्ण कर लिया। २. वह **अभगः**=अभागा **भगवद्भ्यः अस्मभ्यम्**=सौभाग्यशाली हम लोगों के लिए तो **भद्रं चकार**=कल्याण करनेवाला ही हुआ। वस्तुतः उसने हमें हिंसा में न घबराने व प्रसन्न रह सकने के अभ्यास का अवसर ही दिया।

भावार्थ—न 'पापे प्रति पापः स्यात्' के अनुसार हम हिंसक की हिंसा करनेवाले न हों।

हिंसकों को राजदण्ड ही हिंसा से रोकनेवाला हो।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**कृत्याप्रतिहरणम्** ॥ छन्दः—**पथ्याबृहती** ॥

कृत्याकृतं, बलगिनं, मूलिनं, शपथेय्यम्

कृत्याकृतं वलगिनं मूलिनं शपथेय्य॑म्।
इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेनाग्निर्विध्यत्वस्तया॥ १२॥

१. **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावक राजा **कृत्याकृतम्**=हिंसा करनेवाले **वलगिनम्**=नीच पुरुष को, छुपकर कुटिल कर्म करनेवाले को, **मूलिनम्**=जड़ उखाड़नेवाले को **शपथेय्यम्**=व्यर्थ निन्दक पुरुष को **महता वधेन**=महान् कठोर दण्ड से **हन्तु**=नष्ट कर दे। २. **अग्निः**=राष्ट्र को उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाला राजा **अस्तया**=फेंके जानेवाले अस्त्रों से (बाण या गोली से) **तम्**=उसे **विध्यतु**=विद्ध कर दे।

भावार्थ—राजा प्रजापीड़कों को उचित दण्ड दे और इसप्रकार उपद्रवों को शान्त करे।

॥ **इति पञ्चमं काण्डम्** ॥

अथ षष्ठं काण्डम्

१. [प्रथमं सूक्तम्]

प्रथम सात सूक्तों का ऋषि अथर्वा है—स्थिर वृत्तिवाला (न थर्वति)। यह प्रार्थना करता है—

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**त्रिपदापिपीलिकामध्यागायत्री** ॥

स्तुहि देवं सवितारम्

दोषो गाय बृहद्गाय द्युमद्धेह्याथर्वण। स्तुहि देवं सवितारम्॥ १॥

१. हे **आथर्वण**=स्थिरवृत्ति के साधक! **दोषो गाय**=रात्रि के समय उस प्रभु का गुणगान कर, **बृहद् गाय**=खूब ही गायन कर। **द्युमद् धेहि**=उस ज्योतिर्मय प्रभु को धारण कर। २. उस **देवम्**=प्रकाशमय, दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभु का, **सवितारम्**=उत्पादक व प्रेरक प्रभु का **स्तुहि**=स्तवन कर।

भावार्थ—हम सविता देव का स्तवन करते हुए 'सविता व देव' बनने का प्रयत्न करें, उत्पादक व निर्माण-कार्यों में प्रवृत्त व प्रकाशमय दिव्य गुणयुक्त जीवनवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यापुरउष्णिक्** ॥

सत्यस्य सूनुः

तमु ष्टुहि यो अन्तः सिन्धौ सूनुः सत्यस्य युवानम्। अद्रोघवाचं सुशेवम्॥ २॥

१. **तम् उ स्तुहि**=तू उस प्रभु का ही स्तवन कर **यः**=जो **अन्तः सिन्धौ**=गम्भीर हृदयदेश में या इस भवसागर में **सूनुः सत्यस्य**=सत्य की प्रेरणा देनेवाले हैं (षू प्रेरणे), **युवानम्**=बुराइयों को हमसे पृथक् करनेवाले व अच्छाइयों को हमारे साथ मिलानेवाले हैं। २. उस प्रभु का स्तवन कर जो **अद्रोघवाचम्**=द्रोहशून्य वाणीवाले हैं, **सुशेवम्**=उत्तम कल्याण करनेवाले हैं।

भावार्थ—हे मनुष्य! तू हृदयदेश में सत्य की प्रेरणा देते हुए, बुराइयों से पृथक् करके कल्याण करनेवाले प्रभु का स्तवन कर।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**पिपीलिकामध्यापुरउष्णिक्** ॥

उभे सुष्टुती सुगातवे

स घा नो देवः सविता साविषदमृतानि भूरि। उभे सुष्टुती सुगातवे॥ ३॥

१. **सः**=वह **देवः**=प्रकाशमय **सविता**=प्रेरक प्रभु **घ**=निश्चय से **नः**=हमारे लिए **भूरि**=खूब ही **अमृतानि साविषत्**=अमृतत्वों को प्राप्त कराता है—हमें नीरोग जीवनवाला बनाता है। २. **उभे**=दोनों **सुष्टुती**=उत्तम स्तुतियों के—प्रातः व सायंकालीन स्तुतियों के **सुगातवे**=उत्तम गायन के लिए प्रभु हमें नीरोगता प्रदान करते हैं। '**उभे सुष्टुती सुगातवे**' का यह अर्थ भी सुन्दर है कि दोनों उत्तम स्तुत्य मार्गों से चलने के लिए। हम 'अभ्युदय व निःश्रेयस', 'इहलोक व परलोक', 'शरीर व आत्मा', 'शक्ति व ज्ञान' दोनों का ध्यान करते हुए जीवन में आगे बढ़ें।

भावार्थ—प्रभु हमें खूब ही नीरोग बनाते हैं, जिससे हम प्रातःसायं सम्यक् प्रभुस्तवन कर पाएँ। वस्तुतः प्रभुस्तवन ही नीरोगता का साधन हो जाता है।

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**परोष्णिक्** ॥

सोमं सुनोता च धावत

इन्द्राय सोमंमृत्विजः सुनोता च धावत।
स्तोतुर्यो वचः शृणवद्धवं च मे॥ १॥

१. हे **ऋत्विजः**=(ऋतौ ऋतौ यजति) समय-समय पर—सदा प्रभु-पूजन करनेवाले उपासको! **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए **सोमम्**=सोमशक्ति (वीर्य) को **सुनोत**=अपने में उत्पन्न करो **च**=और **धावत**=अपने जीवन को गतिमय व शुद्ध बनाओ। २. उस प्रभु की प्राप्ति के लिए सोम का सवन करो **यः**=जो **स्तोतुः**=स्तुतिकर्त्ता के **वचः**=स्तुतिवचनों को **शृणवत्**=सुनता है, **च**=और **मे**=मुझ स्तोता की **हवम्**=पुकार व प्रार्थना को सुनता है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए शरीर में सोम का सम्पादन और गतिमयता द्वारा जीवन को शुद्ध बनाना आवश्यक है। प्रभु स्तोता के स्तुति-वचनों व पुकार को सुनते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**परोष्णिक्** ॥

रक्षस्विनीः मृधः विजहि

आ यं विशन्तीन्दवो वयो न वृक्षमन्धसः।
विरप्शिन्वि मृधो जहि रक्षस्विनीः॥ २॥

१. **वयः वृक्षं न**=जैसे पक्षी वृक्ष में (स्थित अपने घोंसलों में) प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार **यम्**=जिस व्यक्ति में **अन्धसः**=(अन्धः=अन्नं, आध्यायनीयं भवति—नि० ४/२) अन्न के—अन्न-भक्षण से उत्पन्न **इन्दवः**=सोमकण **आविशन्ति**=प्रविष्ट होते हैं, अर्थात् जो सोमकणों को शरीर में ही सुरक्षित करने का यत्न करते हैं, हे **विरप्शिन्**=महान् प्रभो! आप **रक्षस्विनीः मृधः**=उसके राक्षसी वृत्तिरूप शत्रुओं को **विजहि**=नष्ट कर दीजिए।

भावार्थ—हम सात्त्विक अन्न के सेवन से उत्पन्न सोमकणों को शरीर में सुरक्षित करें, प्रभु हमारे राक्षसी भावों को नष्ट करेंगे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**परोष्णिक्** ॥

युवा, जेता, ईशान, पुरुष्टुत

सुनोता सोमपाव्ने सोममिन्द्राय वज्रिणे। युवा जेतेशानः स पुरुष्टुतः॥ ३॥

१. **सोमपाव्ने**=सोम का रक्षण करनेवाले **वज्रिणे**=वज्रहस्त—क्रियाशील (वज गतौ) **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए **सोमं सुनोत**=सोम का अपने में सम्पादन करो। यह सोमरक्षण ही तुम्हें प्रभु-दर्शन के योग्य बनाएगा। २. वे प्रभु **युवा**=बुराइयों से अमिश्रण करनेवाले तथा अच्छाइयों से मिलानेवाले हैं, **जेता**=हमारे शत्रुओं का पराभव करनेवाले हैं, **ईशानः**=वे स्वामी हैं, **सः पुरुष्टुतः**=वे खूब ही स्तुति किये जाते हैं। उनका स्तवन हमारा पालन व पूरण करनेवाला है (पॄ पालनपूरणयोः)।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए हम सोम का रक्षण करें। वे प्रभु 'युवा, जेता, ईशान व पुरुष्टुत' हैं।

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**इन्द्रापूषादयः** ॥ छन्दः—**पथ्याबृहती**॥

इन्द्रापूषणा, विष्णुः उत द्यौः

पातं न इन्द्रापूषणादितिः पान्तु मरुतः।
अपां नपात्सिन्धवः सप्त पातन पातु नो विष्णुरुत द्यौः॥ १॥

१. **नः**=हमें **इन्द्रापूषणा पातम्**=इन्द्र और पूषा रक्षित करें। 'इन्द्र' जितेन्द्रियता का प्रतीक है और 'पूषा' का भाव है—अङ्ग-प्रत्यङ्ग का पोषण। हम जितेन्द्रिय बनकर सर्वाङ्ग सम्पुष्ट हों। **अदितिः मरुतः पान्तु**=अदिति और मरुत् हमारा रक्षण करें। 'अदिति' (अ-दिति) स्वास्थ्य की देवता है और 'मरुत्' प्राण हैं। हम प्राणसाधना करते हुए पूर्ण स्वस्थ होने का प्रयत्न करें। २. **अपां न पात्**=रेतःकणरूप जलों का न गिरने देनेवाला देव तथा **सप्त सिन्धवः**='कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' इन सात ऋषियों से प्रवाहित होनेवाले सात ज्ञान-जलों के प्रवाह **पातन**=हमारा रक्षण करें। वीर्य-रक्षण द्वारा ज्ञानग्नि को दीप्त करके हम उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त करें। **नः**=हमें **विष्णुः**=व्यापकता का देव **उत**=और **द्यौः**=प्रकाश **पातु**=रक्षित करें। हमारा हृदय विशाल हो और मस्तिष्करूप द्युलोक ज्ञानसूर्य से दीप्त बने।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनकर सब अङ्गों की पुष्टि प्राप्त करें। हमारा हृदय विशाल हो और मस्तिष्क दीप्त।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**इन्द्रापूषादयः** ॥ छन्दः—**जगती**॥

द्यावापृथिवी अग्निः

पातां नो द्यावापृथिवी अभिष्टये पातु ग्रावा पातु सोमो नो अंहसः।
पातु नो देवी सुभगा सरस्वती पात्वग्निः शिवा ये अस्य पायवः॥ २॥

१. **द्यावापृथिवी**=द्युलोक तथा पृथिवीलोक **नः**=हमें **अभिष्टये**=इष्ट-प्राप्ति के लिए **पाताम्**=रक्षित करें। अध्यात्म में ज्ञानसूर्य से दीप्त मस्तिष्क 'द्यौ' है तथा पाषाण-तुल्य दृढ़ शरीर 'पृथिवी' है। ये दोनों हमारे लिए इष्ट-साधक हों। **ग्रावा पातु**=उपदेष्टा आचार्य हमारा रक्षण करे। आचार्य से दिये गये निर्देश हमारा कल्याण करें। **सोमः**=शरीर में सुरक्षित सोम **नः**=हमें **अंहसः पातु**=(Trouble, anxiety, care) कष्ट व चिन्ता से रक्षित करें। २. **सुभगा**=उत्तम ज्ञानैश्वर्यवाली देवी **सरस्वती**=प्रकाशमयी, सब व्यवहारों को सिद्ध करनेवाली—विद्या की अधिष्ठात्री देवता **नः पातु**=हमें रक्षित करे। हम सरस्वती की आराधना करते हुए पाप आदि में प्रवृत्त न हों। अन्ततः वह **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **पातु**=हमें रक्षित करे। ये **अस्य पायवः**=जो प्रभु के रक्षण हैं, वे **शिवा**=हमारा कल्याण करनेवाले हैं।

भावार्थ—हमारा मस्तिष्क ज्ञान-दीप्त और शरीर दृढ़ हो। उत्तम आचार्यों के निर्देश हमें प्राप्त हों। हम शरीर में सोम का रक्षण करें, सरस्वती की अराधना करें और प्रभु की उपासना में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**इन्द्रापूषादयः** ॥ छन्दः—**जगती**॥

शुभस्पती अश्विना

पातां नो देवाश्विना शुभस्पती उषासानक्तोत न उरुष्यताम्।
अपां नपादभिह्रुती गयस्य चिद्देव त्वष्टर्वर्धय सर्वतातये॥ ३॥

१. **देवा**=काम-क्रोध आदि पर विजय पाने की कामनावाले (दिव् विजिगीषायाम्)

शुभस्पती=(water, आपः रेतो भूत्वा०) शरीर में रेत:कणों का रक्षण करनेवाले **अश्विना**=प्राणापान **नः पाताम्**=हमारा रक्षण करें। **उत**=और **उषासानक्ता**=दिन-रात **नः**=हमारा **उरुष्यताम्**=रक्षण करें। हम प्रात:-सायं प्राणसाधना करते हुए शरीर में शक्तियों का रक्षण करें और इसप्रकार अपना रक्षण करनेवाले बनें। २. हे **अपां नपात्**=(अप्=कर्म) कर्मों को नष्ट न होने देनेवाले **त्वष्टः देव**=निर्माता प्रकाशमय प्रभो! **गयस्य**=घर की **अभिहुतीचित्**=दुरवस्था से—कुटिल स्थिति से दूर करके हमें **सर्वतातये वर्धय**=सब प्रकार के विस्तार के लिए बढ़ाइए। हम शक्तियों व धन-धान्य का वर्धन करते हुए घर को उत्तम स्थिति में ले-आएँ।

भावार्थ—प्रात:-सायं प्राणापान की साधना द्वारा हम शरीर में रेत:कणों का रक्षण करें। घर को दुरवस्था से दूर करके फूला-फला, समृद्ध बनाने के लिए यत्नशील हों।

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)** ॥ देवता—**त्वष्ट्रादयः** ॥ छन्दः—**पथ्याबृहती** ॥

दैव्यं वचः दुष्टरं सहः

त्वष्टा मे दैव्यं वचः पर्जन्यो ब्रह्मणस्पतिः।
पुत्रैर्भ्रातृभिरदितिर्नु पातु नो दुष्टरं त्रायमाणं सहः॥ १॥

१. **त्वष्टा**=(त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः) वह ज्ञानदीप्त, **पर्जन्यः**=परातृप्ति का जनयिता **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **मे**=मेरे लिए **दैव्यं वचः**=ज्योति देनेवाले ज्ञान-वचनों का **पातु**=रक्षण करें। प्रभुकृपा से मुझे ज्ञान प्राप्त हो। २. **अदितिः**=(अ-दिति) स्वास्थ्य की देवता **नु**=अब **पुत्रैः भ्रातृभिः**=हमारे सन्तानों व भाइयों के साथ **नः**=हमारे लिए **दुष्टरम्**=शत्रुओं से न तैरने योग्य **त्रायमाणम्**=रक्षा करनेवाले **सहः**=बल को (पातु) रक्षित करें।

भावार्थ—ज्ञानदीप्त प्रभु हमें ज्ञान की वाणियों को प्राप्त कराएँ और यह अदिति हमें शत्रुओं से असह्य तेज प्राप्त कराए।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)** ॥ देवता—**त्वष्ट्रादयः** ॥ छन्दः—**संस्तारपङ्क्तिः** ॥

अंशः मरुतः

अंशो भगो वरुणो मित्रो अर्यमादितिः पान्तु मरुतः।
अप तस्य द्वेषो गमेदभिहुतो यावयच्छत्रुमन्तितम्॥ २॥

१. **अंशः**=विभाग की देवता (विभक्तारं हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः), **भगः**=ऐश्वर्य, **वरुणः**=निर्द्वेषता, **मित्रः**=सबके प्रति स्नेह, **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) संयम, **अदितिः**=स्वास्थ्य की देवता, **मरुतः**=प्राण—ये सब **पान्तु**=मेरा रक्षण करें। मैं बाँटकर खानेवाला बनूँ, ऐश्वर्य का अर्जन करूँ, निर्द्वेषता, स्नेह, संयम व स्वास्थ्य को प्राप्त करूँ। प्राणसाधना को महत्त्व दूँ। २. **तस्य**=उस **अभिहुतः**=कुटिल पुरुष का **द्वेषः**=द्वेष **अपगमेत्**=हमसे दूर हो। इस **अन्तितम्**=(अति बन्धने) बुरी भाँति जकड़ लेनेवाले **शत्रुम्**=शत्रु को **यावय**=हम दूर भगा दें।

भावार्थ—हम बाँटकर खाने की वृत्तिवाले बनें, प्राणसाधना में चलें, कुटिल पुरुष के द्वेष से बचें और बन्धनकारी शत्रु को दूर भगा दें।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)** ॥ देवता—**त्वष्ट्रादयः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराड्गायत्री** ॥

द्यौष्पिता

धिये समश्विना प्रावतं न उरुष्या ण उरुज्मन्नप्रयुच्छन्। द्यौ३ष्पितर्यावय दुच्छुना या॥ ३॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **धिये**=बुद्धि के लिए **नः**=हमें **संप्रावतम्**=सम्यक् रक्षित कीजिए। हे **उरुज्मन्**=विशाल गतिवाले प्रभो! आप **अप्रयुच्छन्**=किसी प्रकार का प्रमाद न करते हुए **नः उरुष्य**=हमारा रक्षण कीजिए। हे **द्यौष्पितः**=प्रकाशमय स्वरूप में निवास करनेवाले (द्यौः) रक्षक (पितः) प्रभो! **या**=जो भी **दुच्छुना**=दुर्गति है, उसे **यावय**=हमसे पृथक् कीजिए।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा हम बुद्धि प्राप्त करें, गतिशील बनकर अपना रक्षण करनेवाले हों और ज्ञानी बनकर दुर्गति से दूर हों।

५. [पञ्चमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अग्निहोत्र

उदेनमुत्तरं नयाग्ने घृतेनाहुत। समेनं वर्चसा सृज प्रजया च बहुं कृधि॥ १॥

१. हे **अग्ने**=अग्निहोत्र की अग्ने! **घृतने आहुत**=घृत से आहुत हुआ-हुआ तू **उत्**=ऊपर उठ—खूब प्रज्वलित हो। **एनम्**=इस यज्ञशील पुरुष को **उत्तरं नय**=उत्कृष्ट स्थिति में प्राप्त करा—नीरोग बना। **एनम्**=इसे **वर्चसा**=वर्चस् (Vitality) से **संसृज**=संसृष्ट कर **च**=और **प्रजया बहुं कृधि**=प्रजा से बहुत कर—फूले-फले परिवारवाला बना।

भावार्थ—मनुष्य अग्निहोत्र से 'नीरोगता, वर्चस व उत्तम सन्तानों को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

जीवातवे जरसे (नय)

इन्द्रेमं प्रतरं कृधि सजातानामसद्वशी। रायस्पोषेण सं सृज जीवातवे जरसे नय॥ २॥

१. हे **इन्द्रः**=शत्रु-विद्रावक प्रभो! **इमम्**=इस यज्ञशील पुरुष को **प्रतरं कृधि**=अधिक उत्कृष्ट बनाइए—इसे भवसागर से तर जानेवाला बनाइए। यह **सजातानाम्**=समान जन्मवालों का **वशी असत्**=वश में करनेवाला हो अथवा 'सजात' काम-क्रोध आदि भाव हैं—'**इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ**'। यह इनका वशीभूत करनेवाला होता है। हे इन्द्र! आप इस पुरुष को **रायस्पोषेण**=धन के पोषण से **संसृज**=संसृष्ट कीजिए तथा **जीवातवे**=दीर्घजीवन के लिए और **जरसे**=पूर्ण वृद्धावस्था के लिए अथवा स्तुति के लिए **नय**=ले-चलिए।

भावार्थ—इन्द्र के अनुग्रह से हम उत्कृष्ट जीवनवाले, सजातों को वश में करनेवाले और धन से युक्त जीवनवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यज्ञ और समृद्धि

यस्यं कृण्मो हविर्गृहे तमंग्ने वर्धया त्वम्।
तस्मैं सोमो अधिं ब्रवदुयं च ब्रह्मणस्पतिः॥ ३॥

१. **यस्य गृहे**=जिसके घर में **हविः कृण्मः**=यज्ञ करते हैं, हे **अग्ने**=परमात्मन्! **तम्**=उसे **त्वम्**=आप **वर्धय**=बढ़ाइए। यज्ञ से सब ऐश्वर्यों का वर्धन होता ही है। २. **तस्मै**=उस यज्ञशील पुरुष के लिए **सोमः**=यह शान्तस्वभाव का आचार्य **अधिब्रवत्**=आधिक्येन ज्ञान देनेवाला हो, **च**=और **अयम्**=यह **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु उसे ज्ञान दे।

भावार्थ—यज्ञ समृद्धि का साधन है। इस यज्ञशील को शान्तस्वभाव के आचार्य ज्ञान देते हैं, प्रभु भी इसके ज्ञान के वर्धक होते हैं।

६. [षष्ठं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यजमानाय सुन्वते

यो३ऽस्मान्ब्रह्मणस्पतेऽदेवो अभिमन्यते। सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते॥ १॥

१. हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **यः**=जो **अदेवः**=अदेववृत्ति का पुरुष—अयज्ञशील पुरुष **अस्मान् अभिमन्यते**=हमें नीचे करने की इच्छा करता है, **तं सर्वम्**=उन सब शत्रुओं को **यजमानाय**=यज्ञशील **सुन्वते**=सोम का सम्पादन करनेवाले **मे**=मेरे लिए **रन्धयासि**=वशीभूत कीजिए।

भावार्थ—हे ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! हम यज्ञशील व सोम का रक्षण करनेवाले हों। हम अदेवृत्ति के व्यक्तियों के वशीभूत न हो जाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दुःसंश के शासन से बाहर

यो नः सोम सुशंसिनो दुःशंस आदिदेशति। वज्रेणास्य मुखे जहि स संपिष्टो अपायति॥ २॥

१. हे **सोम**=शान्त प्रभो! **यः दुःशंसः**=जो दुष्ट शासनवाला पुरुष **सुशंसिनः**=उत्तम **शंसन**=(स्तवन) करनेवाले **नः**=हमें **आदिदेशति**=अपने आदेश में चलाता है—हमपर शासन करना चाहता है, **अस्य मुखे**=इसके मुख पर **वज्रेण जहि**=वज्र से प्रहार कीजिए। **सः**=वह **संपिष्टः**=वज्रप्रहार से चूर्णित हुआ-हुआ **अपायति**=यहाँ से दूर हो जाए।

भावार्थ—हे प्रभो! हमपर दुःशंस पुरुष का शासन न हो जाए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

बाहर

यो नः सोमाभिदासति सनाभिर्यश्च निष्ट्यः। अप तस्य बलं तिर महीव द्यौर्वधत्मना॥ ३॥

१. हे **सोम**=शान्त प्रभो! **यः**=जो **सनाभिः**=सजातीय **च**=और **यः निष्ट्यः**=नीचे बैठने योग्य नीच मनुष्य **नः**=हमें **अभिदासति**=उपक्षीण करना चाहता है, **तस्य**=उसके **बलम्**=बल को **वध त्मना अपतिर**=अपने वध-साधन वज्र से नष्ट कर। २. उसी प्रकार इसके बल को नष्ट कर **इव**=जैसे **महीः द्यौः**=महान् प्रकाशमान सूर्य अन्धकार को दूर करता है।

भावार्थ—अपना वा पराया जो भी हमें उपक्षीण करना चाहता है, प्रभु वज्र द्वारा उसके बल को ऐसे समाप्त कर दें, जैसेकि महान् सूर्य अन्धकार को समाप्त कर देता है।

७. [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**निचृद्गायत्री** ॥

अदितिः, अद्रुहः, मित्राः

येन सोमादितिः पथा मित्रा वा यन्त्यद्रुहः। तेना नोऽवसा गहि॥ १॥

१. हे **सोम**=शान्त प्रभो! **येन पथा**=जिस मार्ग से **अदितिः**=अदीना देवमाता **वा**=अथवा **अद्रुहः**=द्रोह न करनेवाले **मित्राः**=आदित्य देव **यन्ति**=गति करते हैं, **तेन**=उसी मार्ग से **नः**=हमें **अवसा**=रक्षण के साथ **आगहि**=प्राप्त होओ। २. **अदितिः**—अदीना देवमाता=स्वास्थ्य की देवता है। स्वस्थ होने पर ही दिव्य गुणों का विकास होता है। '**मित्राः**'—आदित्यों का नाम है—ये जीवन देते हैं, किसी का जीवन छीनते नहीं। हमारे जीवन का मार्ग भी यही होना चाहिए।

भावार्थ—हम स्वस्थ व स्नेही बनकर प्रभु-रक्षा के पात्र बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

साहन्त्य सोम

येन सोम साहन्त्यासुरान्रन्धयासि नः। तेना नो अधि वोचत॥ २॥

१. हे **साहन्त्य सोम**=विजयी शक्ति से युक्त सोम—शत्रुओं का पराभव करनेवाले शान्त प्रभो! **येन**=जिस शक्ति से आप **नः असुरान् रन्धयासि**=हमारे आसुरभावों को नष्ट करते हैं, **तेन**=उस शक्ति के साथ **नः**=हमारे लिए **अधिवोचत**=आधिक्येन ज्ञान का उपदेश कीजिए।

भावार्थ—प्रभु हमें शक्ति और ज्ञान दें, जिससे हम शत्रुओं का पराभव कर सकें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

असुर ओज-निवारण

येन देवा असुराणामोजांस्यवृणीध्वम्। तेना नः शर्म यच्छत॥ ३॥

१. हे **देवाः**=शत्रु-विजय की कामनावाले साधको! **येन**=जिस मार्ग से तुमने **असुराणां ओजांसि**=असुरों के बलों को—आसुरभावों की प्रचण्ड शक्ति को **अवृणीध्वम्**=रोका है—निवारण किया है **तेन**=उसी मार्ग से **नः**=हमारे लिए **शर्म यच्छत**=कल्याण व सुख प्राप्त कराइए।

भावार्थ—हम देवों के मार्ग पर चलते हुए आसुरभावों की शक्ति को रोकें और सुख प्राप्त करें।

विशेष—अगले दो सूक्तों का ऋषि जमदग्नि है। '**चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिः, यदनेन जगत् पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः**' (श० ८.१.३.३) चक्षु ही जमदग्नि है। चक्षु से संसार को ठीक रूप में देखकर उसका मनन करता है। ऐसा ही व्यक्ति सद्गृहस्थ बनता है। वह पत्नी से कहता है—

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः—**जमदग्निः** ॥ देवता—**कामात्मा** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

पति-पत्नी का प्रेम

यथा वृक्षं लिबुजा समन्तं परिषस्वजे।
एवा परि ष्वजस्व मां यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः॥ १॥

१. **यथा**=जिस प्रकार **लिबुजा**=बेल **वृक्षम्**=आश्रयभूतवृक्ष को **समन्तं परिषस्वजे**=चारों ओर से लिपट जाती है, **एव**=इसीप्रकार तू **मां परिष्वजस्व**=मेरा आलिङ्गन कर। २. तेरी सारी वृत्ति इसप्रकार की हो **यथा**=जिससे तू **माम्**=मुझे **कामिनी असः**=चाहनेवाली हो, **यथा**=जिससे तू **मत्**=मुझसे **अप-गाः**=दूर जानेवाली **न असः**=न हो।

भावार्थ—पत्नी लता के समान हो तो पुरुष उसके आश्रयभूतवृक्ष के समान। पत्नी पति को ही चाहे, उससे दूर होने का विचार भी न करे।

ऋषिः—**जमदग्निः** ॥ देवता—**कामात्मा** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

पक्षी भूमि पर, पत्नी पति पर

यथा सुपर्णः प्रपतन्पक्षौ निहन्ति भूम्याम्।
एवा नि हन्मि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः॥ २॥

१. **यथा**=जैसे **सुपर्णः**=पक्षी **प्रपतन्**=उड़ता हुआ **भूम्यां पक्षौ निहन्ति**=भूमि पर पङ्खों को

जमा देता है, **एव**=उसी प्रकार **ते मनः**=तेरे मन को **निहन्मि**=मैं जमा देता हूँ। २. मैं तेरे मन को अपने में ऐसे निश्चल करता हूँ, **यथा**=जिससे **मां कामिनी असः**=तू मुझे चाहनेवाली हो, **यथा**=जिससे **मत्**=मुझसे **अप-गाः**=दूर जानेवाली **न असः**=न हो।

भावार्थ—उड़ता हुआ पक्षी अन्ततः अपने पाँवों को भूमि पर जमा देता है, इसीप्रकार सब व्यवहारों को करती हुई पत्नी पति को ही अपना आधार बनाए।

ऋषिः—**जमदग्निः** ॥ देवता—**कामात्मा** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

पति प्रेम से पत्नी को व्याप्त कर ले

यथेमे द्यावापृथिवी सद्यः पर्येति सूर्यः।
एवा पर्येमि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः॥ ३॥

१. **यथा**=जैसे **सूर्यः**=सूर्य **इमे द्यावापृथिवी**=इन द्युलोक व पृथिवीलोक को **सद्यः**=शीघ्र ही **पर्येति**=अपने प्रकाश से व्याप लेता है, **एव**=इसीप्रकार **ते मनः**=तेरे मन को मैं **पर्येमि**=प्रेम आदि से व्याप्त कर लेता हूँ। २. मैं ऐसा प्रयत्न करता हूँ **यथा**=जिससे **मां कामिनी असः**=तू मुझे ही चाहनेवाली हो, **यथा**=जिससे **मत्**=मुझसे **न अप-गाः असः**=दूर जानेवाली न हो।

भावार्थ—पति प्रेम से पत्नी के मन को व्याप्त करने का प्रयत्न करे। पत्नी अपने मन में पति से दूर होने का विचार भी न आने दे।

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—**जमदग्निः** ॥ देवता—**कामात्मा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रेम व सौन्दर्य

वाञ्छ मे तन्वं१ पादौ वाञ्छाक्ष्यौ३ वाञ्छ सक्थ्यौ।
अक्ष्यौ वृषण्यन्त्याः केशा मां ते कामेन शुष्यन्तु॥ १॥

१. **मे**=मेरे **तन्वम्**=शरीर को तू **वाञ्छ**=चाह—तुझे मेरा शरीर प्रिय लगे। **पादौ अक्ष्यौ वाञ्छ**=मेरे पाँव व नेत्र तुझे अच्छे लगें। **सक्थ्यौ वाञ्छ**=मेरी जंघाओं की तू इच्छा कर—वे तुझे प्रिय हों। पत्नी का पति के प्रति प्रेम होने से उसे पति के सब अङ्ग सुन्दर प्रतीत होते हैं। प्रेम सौन्दर्य पैदा कर देता है। २. पति कहता कि **माम्**=मुझे भी **वृषण्यन्त्याः**=मेरी कामना करनेवाली तेरी **अक्ष्यौ**=आँखें तथा **केशाः**=बाल **ते कामेन**=तेरे प्रति कामना से **शुष्यन्तु**=सुखाया करें, अर्थात् मैं भी तेरे बिना प्रीति का अनुभव न करूँ।

भावार्थ—पति-प्रेम के कारण पत्नी को पति के सब अङ्ग प्रिय लगें और पति भी पत्नी के वियोग में प्रीति का अनुभव न करे।

ऋषिः—**जमदग्निः** ॥ देवता—**कामात्मा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दोषणिश्रिषं हृदयश्रिषम्

मम त्वा दोषणिश्रिषं कृणोमि हृदयश्रिषम्।
यथा मम क्रतावसो मम चित्तमुपायसि॥ २॥

१. हे पत्नि! मैं **त्वा**=तुझे **मम दोषणिश्रिषम्**=मेरी भुजा पर आलिङ्गन करनेवाली **कृणोमि**=करता हूँ और **हृदयश्रिषम्**=हृदय में आश्रय करनेवाली करता हूँ। मेरी भुजाएँ तेरा आश्रय हों, मेरे हृदय में तू बसी हो। २. मैं इसप्रकार प्रेम से तुझे आकृष्ट करता हूँ **यथा**=जिससे तू **मम क्रतौ असः**=मेरे कर्मों व संकल्पों में होती है। तू मेरे लिए ही कर्मों को कर मैं भी

तेरे संकल्पों का विषय बनूँ। मम **चित्तम् उपायसि**=तू मेरे चित्त के अनुकूल चलनेवाली हो।

भावार्थ—पति अपने प्रेम से पत्नी को जीतने का प्रयत्न करे।

ऋषिः—**जमदग्निः** ॥ देवता—**कामात्मा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

नाभिः आरेहणं हृदि संवननम्

यासां नाभिरारेहणं हृदि संवननं कृतम्।
गावो घृतस्य मातरोऽमूं सं वानयन्तु मे॥ ३॥

१. **यासाम्**=जिनका **नाभिः**=(णह बन्धने) बन्धन भी **आरेहणम्**=आनन्द देनेवाला है, जिसके **हृदि**=हृदय में **संवननम्**=प्रेम की सेवा—संभजन **कृतम्**=उत्पन्न की गई है, **अमूम्**=उसे ये **घृतस्य मातरः**=ज्ञानदीप्ति का निर्माण करनेवाली **गावः**=वेदवाणियाँ **मे संवानयन्तु**=मेरे लिए संभक्त करनेवाली हों अथवा घृत का निर्माण करनेवाली ये गौएँ इसे मेरे प्रति प्रीतिवाला बनाएँ। 'ज्ञान की वाणियों में व गौओं की सेवा में लगे रहना' पत्नी को पति के प्रति प्रेमवाला बनाता है।

भावार्थ—पत्नी का सम्बन्ध आनन्द का जनक है। इनके हृदय में सेवा का भाव होता है। यदि ये ज्ञान की वाणियों व गौओं की सेवा में लगी रहें तो पति-प्रेम में न्यूनता नहीं आती।

विशेष—पति-पत्नी का पारस्परिक प्रेम घर में शान्ति का विस्तार करता है, अतः अगले सूक्त का ऋषि 'शन्ताति' है।

१०. [दशमं सूक्तम्]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्निः** छन्दः—**साम्नीत्रिष्टुप्** ॥

पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक

पृथिव्यै श्रोत्राय वनस्पतिभ्योऽग्नयेऽधिपतये स्वाहा॥ १॥
प्राणायान्तरिक्षाय वयोभ्यो वायवेऽधिपतये स्वाहा॥ २॥
दिवे चक्षुषे नक्षत्रेभ्यः सूर्यायाधिपतये स्वाहा॥ ३॥

१. मैं **पृथिव्यै**=इस पृथिवी के लिए **स्वाहा**=अपना अर्पण करता हूँ। भूमि को माता मानता हुआ उसकी गोद में बैठता हूँ। यहाँ **श्रोत्राय**=वाणी द्वारा उच्चरित ज्ञान के श्रवण के लिए अपने को अर्पित करता हूँ। ज्ञान की बातों को सुनना ही मेरा मुख्य कार्य होता है। यहाँ **वनस्पतिभ्यः**=वनस्पतियों के लिए मैं अपना अर्पण करता हूँ—वानस्पतिक पदार्थों को ही खाता हूँ और उनके द्वारा शरीर में उत्पन्न **अग्नये**=अग्नितत्त्व के लिए अपना अर्पण करता हूँ। यह अग्नितत्त्व ही तो **अधिपतये**=इस पृथिवी का अधिपति है। शरीर का मुख्य रक्षक यह अग्नितत्त्व ही है।

२. **अन्तरिक्षाय**=मैं हृदयान्तरिक्ष के लिए **स्वाहा**=अपना अर्पण करता हूँ। इस हृदयान्तरिक्ष में मुख्यरूप से अपना कार्य करनेवाले **प्राणाय**=प्राण के लिए अपना अर्पण करता हूँ—प्राणसाधना में प्रवृत्त होता हूँ। **वयोभ्यः**=इन प्राणों को पक्षी-तुल्य जानता हुआ इन पक्षियों के लिए अपना अर्पण करता हूँ। मैं यह भूलता नहीं कि 'पक्षियों की भाँति ये प्राण न जाने कब उड़ जाएँ'। इस हृदयान्तरिक्ष के **वायवे अधिपतये**=अधिपति वायु के लिए मैं अपना अर्पण करता हूँ। जहाँ तक सम्भव होता है शुद्ध वायु में ही सञ्चार करता हूँ।

३. **दिवे**=द्युलोक के लिए **स्वाहा**=मैं अपना अर्पण करता हूँ। मस्तिष्क ही द्युलोक है। इस

मस्तिष्करूप द्युलोक में चक्षु ही सूर्य है, उस **चक्षुषे**=चक्षु के लिए मैं अपना अर्पण करता हूँ। चक्षु से देखकर ही मार्ग में चलता हूँ—'**दृष्टिपूतं न्यसेत्पादम्।**' **नक्षत्रेभ्यः**=नक्षत्रों के लिए मैं अपना अर्पण करता हूँ, **सूर्याय अधिपतये**=अधिपति सूर्य के लिए मैं अपना अर्पण करता हूँ। मैं अपने द्युलोकरूप मस्तिष्क में विज्ञान के नक्षत्रों व ज्ञान के सूर्य को उदित करने का प्रयत्न करता हूँ।

भावार्थ—हम अपने इस पृथिवीरूप शरीर में निवास को उत्तम बनाएँ, ज्ञान का श्रवण करें, वानस्पतिक पदार्थों का सेवन करें, शरीर में उचित अग्नितत्त्व को उत्पन्न करें। हृदयान्तरिक्ष में प्राणों की आराधना करें—इन्हें 'पक्षियों की भाँति उड़ जानेवाला' जानें, शुद्ध वायु में प्राण-साधना करें। मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान-विज्ञान के सूर्य व नक्षत्रों को उदित करने के लिए यत्नशील हों।

विशेष—अपने जीवन को उत्तम बनाता हुआ उत्तम सन्तान का निर्माता 'प्रजापति' अगले सूक्त का ऋषि है।

११. [एकादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**रेतः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शमी+अश्वत्थ

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसुवनं कृतम्। तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्स्त्रीष्वा भरामसि॥ १ ॥

१. **शमीम्**=शान्त, उद्वेगरहित, धीर स्त्री पर **अश्वत्थः**=अश्व के समान शीघ्रगामी तथा दृढ़ाङ्गरूप से स्थिर (स्थ) पुरुष **आरूढः**=आरूढ होता है, अर्थात् शमी स्त्री में यह अश्वत्थ पुरुष गर्भाधान करता है, **तत्र**=वहाँ **पुंसुवनम्**=वीर सन्तान का उत्पादन **कृतम्**=किया जाता है, **तत्**=उस पुत्रजनक वीर्य को **स्त्रीषु**=स्त्रियों में **आभरामसि**=स्थापित करते हैं।

भावार्थ—स्त्री 'शमी' हो—शान्त स्वभाव की, पुरुष 'अश्वत्थ' हो—क्रियाशील व दृढ़ाङ्ग। ऐसा होने पर वीर सन्तान उत्पन्न होती है।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**रेतः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

रेतः सेचन

पुंसि वै रेतो भवति तत्स्त्रियामनु षिच्यते। तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत्प्रजापतिरब्रवीत्॥ २ ॥

१. **पुंसि वै**=पुमान् में निश्चय से **रेतः भवति**=रेतस् (वीर्य) होता है, **तत्**=वह वीर्य **स्त्रियाम्**=स्त्री में **अनुसिच्यते**=सींचा जाता है। २. **तत् वै**=वह वीर्य-सचेन ही निश्चय से **पुत्रस्य वेदनम्**=पुत्र-प्राप्ति का साधन है। **तत् प्रजापतिः अब्रवीत्**=यह बात प्रजापति ने कही है।

भावार्थ—पुमान् का स्त्री में वीर्य-सेचन होने पर वीर सन्तान की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रजापतिः, अनुमतिः, सिनीवाली

प्रजापतिरनुमतिः सिनीवाल्य[चीक्लृपत्। स्त्रैषूयमन्यत्र दधत्पुमांसमु दधदिह॥ ३ ॥

१. **प्रजापतिः**=प्रजा का रक्षण करनेवाली, **अनुमतिः**=पति के अनुकूल मति-(विचार)-वाली, **सिनीवाली**=प्रशस्त अन्नों का सेवन करनेवाली स्त्री **अचीक्लृपत्**=समर्थ होती है—उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाली होती है। २. यह **स्त्रैषूयम्**=स्त्री-सन्तान को जन्म देने को **अन्यत्र**=और स्थानों पर रखती हुई **उ**=निश्चय से **इह**=यहाँ **पुमांसं दधत्**=वीर नर-सन्तान को ही जन्म देती है। इस 'प्रजापति, अनुमति, सिनीवाली' की गोद से वीर सन्तान जन्म लेते हैं।

भावार्थ—स्त्री में प्रजा-रक्षण की प्रबल भावना हो, वह पति के साथ अनुकूल बुद्धिवाली हो तथा प्रशस्त अन्नों का सेवन करती हो तो वह प्राय: नर-सन्तान को जन्म देती है।

विशेष—अगले सूक्त में सर्प-विष-निवारण का प्रकरण है। गरुड़ सर्प का विनाश करता है। इस सर्प-विनाशक व्यक्ति का नाम श्री 'गरुत्मान्' (गरुड़) रक्खा गया है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

१२. [द्वादशं सूक्तम्]

ऋषि:—**गरुत्मान्**॥ देवता—**विषनिवारणम्**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

अहीनां जनिं पर्यागमन्

परि द्यामिव सूर्योऽ हीनां जनिमागमम्।
रात्री जगदिवान्यद्धंसात्तेना ते वारये विषम्॥ १॥

१. **इव**=जैसे **सूर्य:**=सूर्य **द्याम्**=द्युलोक को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार मैं **अहीनाम्**=सर्पों के **जनिम्**=जन्मवृत्त को **परिआगमम्**=सम्यक् जानता हूँ। २. **इव**=जैसे **रात्री**=प्रलयकाल की रात्रि **जगत्**=सम्पूर्ण जगत् को व्याप्त कर लेती है, परन्तु **हंसात् अन्यत्**=उस परब्रह्म से भिन्न जगत् को ही व्याप्त करती है, इसीप्रकार यह विष भी सारे शरीर को व्याप्त कर ले तो कर ले, परन्तु आत्मतत्त्व पर उसका प्रभाव नहीं होता, अर्थात् चेतना को यह समाप्त नहीं कर सकता। **तेन**=उस चेतना को स्थिर रखने के द्वारा ही मैं **ते विषं वारये**=तेरे विष को दूर करता हूँ, अर्थात् इस सर्पदष्ट पुरुष को मैं निद्राभिभूत न होने देकर इस विषप्रभाव को समाप्त करने के लिए यत्नशील होता हूँ।

भावार्थ—वैद्य को सर्पों के प्रादुर्भाव का सम्यक् ज्ञान होना चाहिए। वह सर्पदष्ट की चेतना को स्थिर रखता हुआ सर्पविष को दूर करने के लिए यत्नशील हो।

ऋषि:—**गरुत्मान्**॥ देवता—**विषनिवारणम्**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

ब्रह्मभि: ऋषिभि: देवै:

यद् ब्रह्मभिर्यदृषिभिर्यद्देवैर्विदितं पुरा। यद्भूतं भव्यमासन्वत्तेना ते वारये विषम्॥ २॥

१. **यत्**=जो **ब्रह्मभि:**=वेदज्ञों ने, (वृहि वृद्धौ) शरीर की वृद्धि करनेवालों ने, **यत् ऋषिभि:**=जो तत्त्वद्रष्टा पुरुषों ने, (ऋष=to kill) विष के प्रभाव को नष्ट करनेवालों ने और **यत्**=जो ज्ञान **देवै:**=रोगों को जीतने की कामनावाले (विजिगीषा) पुरुषों ने **पुरा विदितम्**=पहले जाना है, **तेन**=उस ज्ञान के द्वारा हे **आसन्वत्**=मुख से काटनेवाले सर्प! **यत्**=जो **ते**=तेरा **भूतम्**=शरीर में व्याप्त हो चुका है और जो **भव्यम्**=शरीर में व्याप्त होनेवाला है, उस सब **विषम्**=विष को **वारये**=दूर करता हूँ।

भावार्थ—विष-प्रभाव को दूर करके शरीर का वर्धन करनेवाले 'वृहि वृद्धौ'। विष प्रभाव को नष्ट करनेवाले व सर्प को ही नष्ट कर देनेवाले 'ऋषि' हैं (ऋष=to kill)। विष-प्रभाव आदि विकारों को जीतने की कामनावाले 'देव' हैं (दिव् विजिगीषायाम्)। इन सबसे प्राप्त ज्ञान के द्वारा मैं (वैद्य) तेरे विष को दूर करता हूँ।

ऋषि:—**गरुत्मान्**॥ देवता—**विषनिवारणम्**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

परुष्णी, शीपाला

मध्वा पृञ्चे नद्य१: पर्वता गिरयो मधु। मधु परुष्णी शीपाला शमास्ने अस्तु शं हृदे॥ ३॥

१. वैद्य सर्प-दष्ट पुरुष से कहता है कि मैं तुझे **मध्वा पृञ्चे**=मधु से—ओषधियों के सार

से संपृक्त करता हूँ। **नद्यः पर्वताः गिरयः**=नदियाँ, पर्वत व मेघ (गिरयः=मेघ—नि० १.१०) ये सब **मधु**=मधु हैं। इनमें सर्पविषों को दूर करने की ओषधियाँ हैं। २. **परुष्णी**=यह पालन और पूरण करनेवाली **शीपाला**=नींद से बचानेवाली ओषधि **मधु**=तेरे लिए मधु हो। तेरे **आस्ने**=मुख के लिए **शम् अस्तु**=शान्ति हो, **शम् हृदे**=हृदय के लिए शान्ति हो।

भावार्थ—सर्पविष-निवारण के लिए नदियों के किनारे, पर्वतों व मेघवृष्टिवाले स्थलों पर ओषधियाँ उपलभ्य हैं। इन ओषधियों का सार सर्पविषों को दूर करता है। विशेषतः 'परुष्णी' नामक ओषधि निद्रा में न जाने देती हुई सर्पदष्ट को विष-प्रभाव से मुक्त करती है।

विशेष—जैसे सर्पविष से मृत्यु की आशंका है, इसीप्रकार अन्य भी जितनी मृत्युएँ हैं, उनसे बचने की कामनावाला (स्वस्त्ययनकामः) 'अथर्वा' आत्म-निरीक्षण करता हुआ (अथ अर्वाङ्) दोषों को दूर करके मृत्यु को दूर करता हुआ व्यक्ति अगले सूक्त का ऋषि है।

१३. [त्रयोदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**मृत्युः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

देववध, राजवध, विश्यवध

नमो देववधेभ्यो नमो राजवधेभ्यः।
अथो ये विश्यानां वधास्तेभ्यो मृत्यो नमोऽस्तु ते॥ १॥

१. **देववधेभ्यः**=देवों (ब्राह्मणों) के शस्त्रों को **नमः**=नमस्कार हो, **राजवधेभ्यः**=क्षत्रियों के शस्त्रों को **नमः**=नमस्कार हो **अथ+उ**=और **ये**=जो **विश्यानाम्**=प्रजाओं के **वधाः**=शस्त्र हैं **तेभ्यः नमः**=उनके लिए भी नमस्कार हो। हे **मृत्यो**=मृत्यो! ते **नमः अस्तु**=हम तेरे लिए भी नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—हम 'ब्राह्मणों, क्षत्रियों व वैश्यों के वधों' से अपने को बचा पाएँ। हम अकाल मृत्यु के शिकार न हो जाएँ। जिन कारणों से हम 'देवों, राजाओं अथवा प्रजाओं' के वध्य हो जाते हैं, उन सब कारणों को दूर करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**मृत्युः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अधिवाक, परावाक, सुमति, दुर्मति

नमस्ते अधिवाकाय परावाकाय ते नमः।
सुमत्यै मृत्यो ते नमो दुर्मत्यै त इदं नमः॥ २॥

१. हे **मृत्यो**=मृत्यो! **ते**=तेरे कारणभूत **अधिवाकाय**=अनुकूल वचन के लिए हम **नमः**=नमन करते हैं। अनुकूल वचनों का अतिरेक होने से अविवेक उत्पन्न होकर मृत्यु होती है, अतः इनसे बचना ही ठीक है, **ते**=तेरे कारणभूत **परावाकाय**=प्रतिकूल वचनों के लिए **नमः**=नमस्कार हो। प्रतिकूल वचनों से निराशा होकर मृत्यु होती है। २. हे मृत्यो! **ते**=तेरी कारणभूत **सुमत्यै**=सुमति के लिए भी **नमः**=नमस्कार हो। केवल सुमति हमें शरीर के प्रति उदासीन करके मृत्यु की ओर ले-जाती है और **ते**=तेरी कारणभूत **दुर्मत्यै**=दुर्मति के लिए **इदं नमः**=यह नमस्कार हो। दुर्मति तो सदा मृत्यु का कारण बनती ही है।

भावार्थ—हर समय अनुकूल वचनों को ही सुननेवाला अविवेकवश मृत्यु का शिकार हो जाता है। प्रतिक्षण प्रतिकूल वचनों का श्रवण हमें निराश करके मार डालता है। सुमति में हम बौद्धिक कार्यों की ओर ही झुककर शरीर का ध्यान नहीं करते और दुर्मति तो सतत विनाश का कारण है ही।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)** ॥ देवता—**मृत्युः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यातुधानों का भेषज

नम॑स्ते यातु॒धाने॑भ्यो॒ नम॑स्ते भेष॒जेभ्यः॑।
नम॑स्ते मृत्यो॒ मूले॑भ्यो ब्राह्म॒णेभ्य॑ इ॒दं नमः॑॥ ३॥

१. हे **मृत्यो**=मृत्यो! **ते**=तेरे **यातुधानेभ्यः**=पीड़ा देनेवाले रोगों के लिए **नमः**=नमस्कार हो—ये हमें दूर से ही छोड़ जाएँ। इसी उद्देश्य से **ते**=तेरे दूर करने के लिए साधनभूत **भेषजेभ्यः**=औषधों के लिए हम **नमः**=नमस्कार करते हैं—इन औषधों का उचित प्रयोग करते हुए हम तुझसे अपनी रक्षा करते हैं। २. हे मृत्यो! **ते मूलेभ्यः**=तेरे मूलकारणों के लिए हम **नमः**=नमस्कार करते हैं—इन्हें दूर से ही छोड़ते हैं और इन मूलकारणों के ज्ञान के लिए ही **ब्राह्मणेभ्यः इदं नमः**=ब्राह्मणों के लिए हम यह नमस्कार करते हैं। उनका आदर करते हुए तेरे कारणों को जानकर उन्हें दूर करने के लिए यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—मृत्यु के कारणभूत रोगों का औषध करके हम मृत्यु को दूर करें। ज्ञानियों से मृत्यु के मूलकारणों का ज्ञान प्राप्त करके उन्हें दूर करते हुए हम दीर्घजीवी बनें।

विशेष—रोगों को दूर करके अपना धारण करनेवाला बभ्रु=तेजस्वी वर्णवाला पिङ्गल पुरुष 'बभ्रुपिङ्गल' अगले सूक्त का ऋषि है।

१४. [चतुर्दशं सूक्तम्]

ऋषिः—**बभ्रुपिङ्गलः** ॥ देवता—**बलासः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

हृदयामयम्, बलासम्

अ॒स्थि॒स्रं॒सं प॑रुस्रं॒समास्थि॑तं हृदया॒मय॑म्।
ब॒ला॒सं सर्वं॑ नाशयाङ्गे॒ष्ठा यश्च॒ पर्व॑सु॥ १॥

१. **अस्थिस्रंसम्**=हड्डियों को गला देनेवाले **परुस्रंसम्**=जोड़ों को ढीला कर देनेवाले **आस्थितम्**=स्थिर हो जाने—जम जानेवाले **हृदयामयम्**=हृदय-रोग को **नाशय**=नष्ट कर दो। २. **सर्वं बलासम्**=सब बल को गिरा देनेवाले क्षय रोग को, **अङ्गेष्ठाः**=जो अङ्गों में बैठ गया **याः च**=जो **पर्वसु**=जोड़ों में बैठ गया है—उस सबको नष्ट कर दीजिए।

भावार्थ—वैद्य औषध-प्रयोग द्वारा हृदय तथा क्षय-रोग को नष्ट करे।

ऋषिः—**बभ्रुपिङ्गलः** ॥ देवता—**बलासः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मुष्करं यथा, उर्वावा मूलम् इव

निर्ब॒लासं॑ ब॒ला॒सिनः॑ क्षि॒णोमि॑ मुष्क॒रं यथा॑।
छि॒नद्म्य॑स्य॒ बन्ध॑नं॒ मूल॑मुर्वा॒र्वा॑इव॥ २॥

१. **बलासिनः**=क्षयरोगी से **बलासम्**=क्षयरोग को इसप्रकार **निःक्षिणोमि**=दूर करता हूँ **यथा**=जैसेकि **मुष्करम्**=चोरी करनेवाले को दूर किया जाता है। २. **अस्य**=इसके **बन्धनं छिनद्मि**=बन्धन को ऐसे काट डालता हूँ **इव**=जैसेकि **उर्वार्वाः मूलम्**=ककड़ी की जड़ को काट देते हैं।

भावार्थ—क्षय-रोग चोर के समान हमारी शक्ति को चुरा लेता है। इसका तो नाश करना ही ठीक है। ककड़ी की जड़ की भाँति इसे काट डालना आवश्यक है।

ऋषि:—**बभ्रुपिङ्गल:** ॥ देवता—**बलास:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

आशुङ्गः शिशुको यथा, हायनः इटः इव

निर्बलासेतः प्र पताशुङ्गः शिशुको यथा।
अथो इटइव हायनोऽप द्राह्यवीरहा॥ ३॥

१. हे **बलास:**=क्षयरोग! तू **इत: नि: प्रपत**=यहाँ से ऐसे हट जा **यथा**=जैसे कोई **आशुङ्ग:**=शीघ्र गतिवाला **शिशुक:**=हिरनौटा (हिरन-शिशु) भाग खड़ा होता है। २. **अथो**=और **हायन: इट: इव**=वार्षिक घास की भाँति—जैसे प्रतिवर्ष उग आनेवाली घास चली जाती है, उसी प्रकार तू **अपद्राहि**=दूर भाग जा। **अवीरहा**=तू हमारे वीरों को नष्ट करनेवाला न हो।

भावार्थ—क्षयरोग इसप्रकार दूर भाग जाए, जैसे एक शीघ्रगामी हिरनौटा भाग जाता है। वार्षिक घास की भाँति यह हमसे दूर हो जाए। यह हमारे वीरों को मारनेवाला न हो।

विशेष—रोगों का उत्कर्षण विदारण करनेवाला यह 'उद्दालक' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

१५. [पञ्चदशं सूक्तम्]

ऋषि:—**उद्दालक:** ॥ देवता—**वनस्पति:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

अभिदास का उपस्ति बन जाना

उत्तमो अस्योषधीनां तव वृक्षा उपस्तयः।
उपस्तिरस्तु सोऽस्माकं यो अस्माँ अभिदासति॥ १॥

१. हे प्रभो! आप **ओषधीनाम्**=दोषदाहक ओषधियों में **उत्तम: असि**=सर्वोत्तम हैं। **वृक्षा:**=दोष-छेदन की कामनावाले (वृश्चनात्) सब जीव **तव उपस्तय:**=तेरे उपासक हैं। २. **य:**=जो **अस्मान् अभिदासति**=हमारा उपक्षय करता है, **स:**=वह **अस्माकम् उपस्ति: अस्तु**=हमारा अनुगामी बन जाए। आपकी कृपा से मेरे जीवन में 'काम' प्रेम बन जाए, 'क्रोध' करुणा के रूप में हो जाए और 'लोभ' का स्थान त्याग ले-ले।

भावार्थ—प्रभु सब भवरोगों की सर्वोत्तम ओषधि हैं। दोष-छेदन की कामनावाले पुरुष प्रभु का ही उपासन करते हैं। इस उपासना से काम, क्रोध व लोभ का स्थान, प्रेम, करुणा व त्याग को मिल जाता है।

ऋषि:—**उद्दालक:** ॥ देवता—**वनस्पति:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

सबन्धुश्च, असबन्धुश्च

सबन्धुश्चासबन्धुश्च यो अस्माँ अभिदासति।
तेषां सा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः॥ २॥

१. **सबन्धु: च**=समान बन्धुत्ववाला **च असबन्धु:**=अथवा बन्धुत्वरहित **य:**=जो कोई भी **अस्मान्**=हमें **अभिदासति**=उपक्षीण करना चाहता है, **वृक्षाणाम्**=दोष-छेदक उपासकों में **सा इव**=जैसे ब्रह्मौषधि सर्वोत्तम है, उसी प्रकार **तेषाम्**=उनमें **अहम्**=मैं **उत्तम: भूयासम्**=उत्तम होऊँ। किसी भी बन्धु व अबन्धु का मैं शिकार न हो जाऊँ।

भावार्थ—ब्रह्मौषधि का सेवन करता हुआ मैं किसी भी शत्रु का शिकार न बनूँ और उत्तम बना रहूँ।

ऋषिः—**उद्दालकः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सोमः, तलाशः

यथा सोम ओषधीनामुत्तमो हविषां कृतः। तलाशा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः ॥ ३ ॥

१. **यथा**=जैसे **ओषधीनाम्**=ओषधियों में **सोमः उत्तमः**=सोम उत्तम है और जैसे यह सोम **हविषाम्**=हव्य पदार्थों में **उत्तमः कृतः**=किया गया है, **इव**=जैसे **वृक्षाणां तलाशा**=वृक्षों में तलाश (पलाश=ढाक) वृक्ष उत्तम है (तलं अश्नुते), इसीप्रकार **अहम्**=मैं उत्तम: **भूयासम्**=अपने कुल में उत्तम बनूँ।

भावार्थ—मैं अपने कुल में ऐसे उत्तम बनूँ जैसेकि ओषधियों में सोम और वृक्षों में पलाश।

विशेष—ओषधिरस का पान करनेवाला (ब्रह्मौषधि का उपासक) अपने जीवन को सुखी बनानेवाला 'शौनक' कहलाता है (शुनं सुखम्)। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

१६. [षोडशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शौनकः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदानिचृद्गायत्री** ॥

करम्भ

आबयो अनाबयो रसस्त उग्र आबयो। आ ते करम्भमद्मसि ॥ १ ॥

१. **आबयो**=(वी गतौ) हे समन्तात् गतिवाले—सर्वत्र गये हुए, **अनाबयो**=गतिशून्य, सर्वव्यापक होने के कारण सदा, सर्वत्र स्थिर (तदेजति तन्नैजति), **आबयो**=हे समन्तात् कान्तिवाले (वी कान्तौ) प्रभो! **ते रसः उग्रः**=आप का आनन्द अत्यन्त तेजस्वी व प्रबल है। यही वस्तुतः सब रोगों का विनाशक है। २. **ते**=आपके **क-रम्भम्**=आनन्द के (रम्भ-लम्भ-ज्ञान) ज्ञानरस का हम **आ अद्मसि**=अदन—ग्रहण करते हैं। आपकी उपासना करते हुए आपके आनन्दरस का उपभोग करते हैं।

भावार्थ—प्रभु सर्वत्र गतिवाले होते हुए भी स्थाणु व अचल हैं—उसकी कान्ति का प्रसार सर्वत्र है। उसकी उपासना करते हुए हम उसके आनन्दरस का पान करते हैं।

ऋषिः—**शौनकः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विहल्ह, मदावती (पिता, माता)

विहल्हो नाम ते पिता मदावती नाम ते माता।
स हिन त्वमसि यस्त्वमात्मानमावयः ॥ २ ॥

१. हे प्रभो! **ते पिता**=आपका रक्षणात्मक रूप (पा रक्षणे)—आपका पितृत्व **विहल्हः नाम**=निश्चय से सर्वत्र गतिवाला—सर्वव्यापक है। **ते माता**=आपकी प्रकृतिरूप निर्माणशक्ति **मदावती**=मदावती है—आनन्द देनेवाली है। २. हे **हिन**=प्रेरक प्रभो! (हिनोति) **त्वम्**=आप **सः असि**=वे हैं **यः**=जो **त्वम्**=आप **आत्मानम्**=अपने को **आवयः**=सर्वत्र ओत-प्रोत किये हुए हैं—'**स ओतः प्रोतश्च विभुः प्रजासु**'।

भावार्थ—प्रभु का रक्षक गुण सर्वत्र व्याप्त है। प्रभु की यह प्रकृति मद=आनन्द देनेवाली है। वे प्रेरक प्रभु इस ब्रह्माण्ड में सर्वत्र ओत-प्रोत हैं।

ऋषिः—**शौनकः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भाककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्च

तौविलिकेऽ वलयावायमैलब ऐलयीत्। बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्चापेहि निराल ॥ ३ ॥

१. हे **तौविलिके**=(तु वृद्धौ+इल गतौ) सदा वृद्ध प्रभु से गति करनेवाली प्रकृते। तू **अव ईलय**=अपने को हमसे दूर प्रेरित कर—हमें बाँधनेवाली न हो। **अयम्**=यह **ऐलबः**=समस्त प्रकृति का सञ्चालक प्रभु (इला, वा गतौ) अब **ऐलयीत्**=तुझे हमसे दूर करे। प्रभु के अनुग्रह से हम तुझमें फँसे नहीं। २. प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **निराल**=(अल वारणे) कर्त्तव्य के निवारण से निर्गत—निश्चय से कर्त्तव्य का पालन करनेवाले जीव! **बभ्रुः च**=सब शक्तियों का भरण करनेवाला, **बभ्रुकर्णः च**=और धारक शक्तियों को सर्वत्र विकीर्ण करनेवाला तू—सबका धारण करनेवाला तू **अप इहि**=प्रकृति-बन्धन से दूर हो। कर्त्तव्य का पालन करता हुआ, शक्तियों को धारण करनेवाला तथा सबको धारण करनेवाला बनता हुआ तू प्रकृति-बन्धन से ऊपर उठेगा।

भावार्थ—हम प्रकृति बन्धन से ऊपर उठें। इसी उद्देश्य से (क) कर्त्तव्य कर्मों में लगे रहें, (ख) शक्तियों का धारण करें, (ग) धारक शक्तियों को सर्वत्र फैलाएँ—सबका धारण करनेवाले बनें।

ऋषिः—**शौनकः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाप्रतिष्ठागायत्री** ॥

अलसाला, सिलाञ्जाला, नीलागलसाला

अलसालासि पूर्वा सिलाञ्जालास्युत्तरा। नीलागलसाला ॥ ४ ॥

१. हे प्रकृते! तू **पूर्वा**=सर्वप्रथम **अ-लसाला असि**=न चमकती हुई—अव्यक्त-सी है। प्रलयकाल में प्रकृति चमक नहीं रही होती। यह उसकी अव्यक्त अवस्था होती है। **उत्तरा**=इसके पश्चात् सृष्टिकाल में तू **सिलाञ्जाला असि**=(सिला अञ्ज आला) कण-कण में व्यापक जगत् को प्रकट करने में समर्थ होती है—अव्यक्त से तू व्यक्त हो जाती है। २. अब अन्त में **नीलागलसाला**=(नील-आगल, साला षल गतौ) सब शरीर-गृहरूप नीड़ों को निगल जाने में गतिवाली होती है। सब शरीर इस अव्यक्त प्रकृति से उत्पन्न होते हैं और अन्त में इस अव्यक्त प्रकृति में ही लीन हो जाते हैं '**अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत। अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।**'

भावार्थ—हम प्रकृति के स्वरूप को समझें। उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय के स्वरूप को समझते हुए इस प्रकृति में फँसे नहीं और अपने जीवन को सुन्दर बनाएँ।

विशेष—अगले सूक्त का ऋषि '**अथर्वा**' है—अर्थ अर्वाङ्=आत्म-निरीक्षण करनेवाला। यह व्यक्ति अपने जीवन को उत्तम बनाता हुआ उत्तम सन्तान का निर्माण करता है। यह अपनी पत्नी से कहता है—

१७. [सप्तदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**गर्भदृंहणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अनुसूतं सवितवे

यथेयं पृथिवी मही भूतानां गर्भमादधे।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे ॥ १ ॥
यथेयं पृथिवी मही दाधारेमान्वनस्पतीन्।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे ॥ २ ॥
यथेयं पृथिवी मही दाधार पर्वतान्गिरीन्।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे ॥ ३ ॥

यथेयं पृथिवी मही दाधार विष्ठितं जगत्।
एवा ते ध्रियतां गर्भो अनु सूतुं सवितवे॥ ४॥

१. **यथा**=जैसे **इयम्**=यह **मही पृथिवी**=विशाल पृथिवी **भूतानाम्**=सब प्राणियों के **गर्भम्**=मूलभूत बीज को **आदधे**=धारण करती है **एव**=इसीप्रकार हे प्रियतमे! **ते**=तेरा **गर्भः**=गर्भ **ध्रियताम्**=धारण किया जाए। यह गर्भ **अनु सूतुं सवितवे**=पुत्र को अनुकूल समय पर जन्म देने के लिए हो। २. **यथा इयं मही पृथिवी**=जिस प्रकार यह विशाल **पृथिवी इमान् वनस्पतीन् दाधार**=इन वनस्पतियों को धारण करती है, **एव**=इसीप्रकार ते **गर्भं ध्रियताम्**=तेरा यह गर्भ धारण किया जाए और **अनु सूतुं सवितवे**=पुत्र को अनुकूल समय पर जन्म देनेवाला हो। ३. **यथा इयं मही पृथिवी**=जैसे यह विशाल पृथिवी **पर्वतान् गिरीन्**=इन बड़े पर्वतों और छोटी पहाड़ियों को **दाधार**=धारण करती है। इसीप्रकार तेरा गर्भ धारण किया जाए और वह अनुकूल समय पर सन्तान को जन्म देनेवाला हो। ४. **यथा इयं मही पृथिवी**=जैसे यह विशाल पृथिवी **विष्ठितं जगत् दाधार**=नाना प्रकार से विभक्त—व्यवस्थित चराचर जगत् को धारण करती है उसी प्रकार तेरा यह गर्भ धारण किया जाए और वह अनुकूल समय पर सन्तान को जन्म देनेवाला हो।

भावार्थ—माता पृथिवी के समान है। पृथिवी की भाँति ही सब भूतों के गर्भ को धारण करती है और अनुकूल समय पर सन्तान को जन्म देती है।

विशेष—अथर्वा ही अगले सूक्त का ऋषि है। इसमें यह 'ईर्ष्या' को एक महान् दोष के रूप में देखता है। माता में ईर्ष्या की वृत्ति गर्भस्थ बालक की मृत्यु का भी कारण बन जाती है, अतः ईर्ष्या के त्याग का उपदेश करते हैं—

१८. [अष्टादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ईर्ष्याविनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ईर्ष्या=हृदय्य अग्नि

ईर्ष्याया ध्राजिं प्रथमां प्रथमस्या उतापराम्।
अग्निं हृदय्यं शोकं तं ते निर्वापयामसि॥ १॥

१. **ते**=तेरी **ईर्ष्यायाः**=ईर्ष्या की—डाह की **प्रथमां ध्राजिम्**=पहली गति को—वेग को **निर्वापयामसि**=बुझा देते हैं, **उत**=और **प्रथमस्याः**=उस ईर्ष्या की प्रथम ध्राजि के पश्चात् होनेवाली **अपराम्**=ईर्ष्या की दूसरी जलन को बुझाते हैं। २. इस ईर्ष्या को जोकि **अग्निम्**=आग के समान है, **हृदय्यं शोकम्**=हृदय में होनेवाला शोक (विषाद) है, **तम्**=उसे (निर्वायपयामसि) बुझा देते हैं।

भावार्थ—ईर्ष्या अग्नि के समान है। यह हृदय के आनन्द को समाप्त करके उसे सन्तप्त करनेवाली है। इसके वेग को शान्त करना ही ठीक है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ईर्ष्याविनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ईर्ष्यालु-मृतमनाः

यथा भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तरा। यथोत मम्रुषो मन एवेर्ष्योर्मृतं मनः॥ २॥

१. **यथा**=जैसे **भूमिः**=यह भूमि **मृतमनाः**=मृत मनवाली है—अचेतन है, **मृतात्**=मरे हुए से भी अधिक मृत मनवाली है, **उत**=और **यथा**=जैसे **मम्रुषः**=मरणासन्न पुरुष का **मनः**=मन होता है, **एव**=इसीप्रकार **ईर्ष्योः**=ईर्ष्यालु का **मनः मृतम्**=मन मृत होता है।

भावार्थ—ईर्ष्या मनुष्य के मन को मार डालती है, उसे अचेतन-सा कर देती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ईर्ष्याविनाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मनस्कं पतयिष्णुकम्

अदो यत्ते हृदि श्रितं मनस्कं पतयिष्णुकम्।
ततस्त ईर्ष्यां मुञ्चामि निरूष्माणं दृतेरिव॥ ३॥

१. **अदः**=वह **यत्**=जो **मनस्कम्**=छोटा मन (अल्पे ह्रस्वे कन्)—तंग दिल **ते हृदि श्रितम्**=तेरे हृदय में रक्खा है, वह **पतयिष्णुकम्**=तुझे गिरानेवाला है। २. **ततः**=वहाँ से—उस मन से **ते**=तेरी **ईर्ष्याम्**=इस ईर्ष्या को **मुञ्चामि**=छुड़ाता हूँ। उसी प्रकार **इव**=जैसे **दृतेः**=चर्म की बनी धौंकनी से **ऊष्माणं निः**=गर्म वायु को फूँककर बाहर कर देते हैं।

भावार्थ—जब मनुष्य तंग दिल होता है तब ईर्ष्या का शिकार हो जाता है। यह उसके पतन का कारण बनती है, अतः ईर्ष्या को समाप्त करना ही ठीक है।

विशेष—ईर्ष्या-विनाश से अपने मन में शान्ति का विस्तार करनेवाला यह 'शन्ताति' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

१९. [एकोनविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पवित्रता का सम्पादन

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया।
पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा॥ १॥

१. जीवन-यात्रा के प्रारम्भ में **देवजनाः**='**मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्य देवो भव**' इन वाक्यों के अनुसार उत्तम माता-पिता व आचार्य **मा पुनन्तु**=मुझे पवित्र करनेवाले हों। माता मेरे चरित्र को उत्तम बनाये। पिता मुझे शिष्टाचार-सम्पन्न करे तथा आचार्य मुझे ज्ञान से परिपूर्ण करे। अब जीवन-यात्रा की दूसरी मंज़िल में—दूसरे प्रयाण (गृहस्थ) में समय-समय पर आनेवाले **मनवः**=विचारशील अतिथि (अतिथिदेवो भव) **धिया**=उत्तम बुद्धि व कर्मों से **पुनन्तु**=पवित्र करें। इनकी प्रेरणा मुझे सत्पथ पर चलानेवाली हो। २. फिर वानप्रस्थ बनने पर **विश्वा भूतानि**=सब प्राणी **पुनन्तु**=मुझे पवित्र करें। वानप्रस्थ की तपोमयी साधना में मैं सब प्राणियों से किसी-न-किसी उत्तम गुण को सीखने का प्रयत्न करूँ। अन्त में संन्यासावस्था में **पवमानः**=सबको पवित्र करनेवाला वह प्रभु **मा पुनातु**=मुझे पवित्र करे—प्रभु स्मरण मेरी सब मलिनताओं के विनाश का कारण बने। 'माता, पिता, आचार्य, अतिथि व प्रभु' इनका मैं पूजन करूँ। ये मुझे पवित्र बनाएँ। यह 'पञ्चायतनपूजा' मेरे पाँचों भूतों को, पाँचों कर्मेन्द्रियों को, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को, पाँचों प्राणों को व मन, बुद्धि, चित, अहंकार व हृदय को पवित्र करे।

भावार्थ—'माता, पिता, आचार्य, अतिथि व प्रभु' का सान्निध्य मेरे जीवन को पवित्र बनानेवाला हो।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

क्रत्वे, दक्षाय, जीवसे, अरिष्टतातये

पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे। अथो अरिष्टतातये॥ २॥

१. **पवमानः**=पवित्र करनेवाले प्रभु **मा पुनातु**=मुझे पवित्र करें, जिससे मेरा जीवन **क्रत्वे**=उत्तम ज्ञान व कर्मसंकल्पों के लिए हो। मेरा यह जीवन **दक्षाय**=बल के लिए हो। **जीवसे**=मैं पूर्ण

जीवन को जीनेवाला होऊँ **अथ उ**=और निश्चय से **अरिष्टतातये**=मैं कल्याण के विस्तार के लिए होऊँ।

भावार्थ—प्रभु-सम्पर्क मुझे 'क्रतुमान्, दक्ष, पूर्ण, जीवनवाला व कल्याणमय कार्यों को करनेवाला' बनाए।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

पवित्रेण सवेन च

उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च। अस्मान्पुनीहि चक्षसे॥ ३॥

१. हे **सवितः देव**=सबके प्रेरक, दिव्य गुणों के पुञ्ज प्रभो! आप **अस्मान्**=हमें **पवित्रेण**=ज्ञान के द्वारा (नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते) **च**=और **सवेन**=यज्ञ के द्वारा **पुनीहि**=पवित्र कीजिए। ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों की पवित्रता का सम्पादन करता है तो यज्ञ कर्मेन्द्रियों को पवित्र रखता है। २. **उभाभ्याम्**=आप इन दोनों से ही हमें पवित्र कीजिए, जिससे **चक्षसे**=हम आपको देखने के लिए हों। अपवित्रता का आवरण प्रभु-दर्शन में प्रतिबन्धक है। मल का आवरण हटते ही हृदय में प्रभु का दर्शन होता है।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञानों व कर्मों द्वारा पवित्र करें, जिससे हम उसका दर्शन कर सकें।

विशेष—जीवन को पवित्र बनानेवाला प्रभु हमें ज्ञान व कर्मों द्वारा पवित्र करता है। पवित्रता हमें प्रभु-दर्शन का पात्र बनाती है। अपने को ज्ञानाग्नि में परिपक्व करनेवाला यह 'भृगु+अङ्गिराः' सदा गतिशील होता है। यही अलगे सूक्त का ऋषि है।

२०. [विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्** ॥ छन्दः—**अतिजगती** ॥

अव्रतता तथा ज्वर

अग्नेरिवास्य दहत एति शुष्मिण उतेव मत्तो विलपन्नपायति।
अन्यमस्मदिच्छतु कं चिदव्रतस्तपुर्वधाय नमो अस्तु तक्मने॥ १॥

१. **शुष्मिणः अग्नेः इव**=प्रबल (सुखा देनेवाले) अग्नि के समान **दहतः**=सन्तप्त करते हुए **अस्य**=इस ज्वर का वेग **एति**=आता है। उस समय यह ज्वरक्रान्त पुरुष **मत्तः इव**=विचारहीन, उन्मत्त-सा **उत**=और **विलपन्**=बड़बड़ाता हुआ (delirium में) **अप अयति**=दूर भागता है। २. यह **अव्रतः**=व्रतशून्य पुरुष को—अनियमित जीवनवाले पुरुष को होनेवाला ज्वर **अस्मत् अन्यम्**=हमसे भिन्न **किञ्चित्**=किसी अन्य पुरुष की **इच्छतु**=इच्छा करे, **तपुर्वधाय**=सन्तापक शस्त्र को धारण करनेवाले इस **तक्मने**=जीवन को कष्टमय बनानेवाले ज्वर के लिए **नमः अस्तु**=नमस्कार हो—हमसे यह दूर ही रहे।

भावार्थ—शरीर को सन्तप्त करनेवाला, मन को उन्मत्त और वाणी में बड़बड़ाहट उत्पन्न करनेवाला ज्वर अनियमित जीवनवाले पुरुषों को ही होता है, अतः हम व्रतमय जीवनवाले बनकर अपने को इस ज्वर से बचाएँ।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्** ॥ छन्दः—**ककुम्मतीप्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

'नमः रुद्राय नमः अस्तु तक्मने'

नमो रुद्राय नमो अस्तु तक्मने नमो राज्ञे वरुणाय त्विषीमते।
नमो दिवे नमः पृथिव्यै नम ओषधीभ्यः॥ २॥

१. **रुद्राय**=रोगों का द्रावण करनेवाले वैद्य को **नमः**=नमस्कार हो और इस **तक्मने नमः अस्तु**=जीवन को कष्टमय बनानेवाले ज्वर के लिए भी नमस्कार हो—यह हमें दूर से ही छोड़ जाए। हम उस **त्विषीमते**=दीप्तिवाले **वरुणाय**=सब कष्टों का निवारण करनेवाले **राज्ञे**=शासक प्रभु के लिए **नमः**=नमस्कार करते हैं। यह प्रभु-स्मरण हमें व्रतमय जीवनवाला बनाकर नीरोग करता है। **दिवे नमः पृथिव्यै नमः**=हम पितृरूप द्युलोक के लिए तथा मातृरूपा इस पृथिवी के लिए नमस्कार करते हैं। इनका उचित सम्पर्क अपने साथ बनाते हैं और इनके द्वारा प्रदत्त **ओषधीभ्यः**=ओषधियों के लिए **नमः**=नमस्कार करते हैं। इनके उचित सेवन से रोगों को दूर करते हैं।

भावार्थ—रोग को दूर करने के लिए 'प्रभु-स्मरण, योग्य वैद्य की प्राप्ति तथा द्युलोक व पृथिवीलोक से प्रदत्त ओषधियों का प्रयोग' आवश्यक है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्** ॥ छन्दः—**सतःपङ्क्तिः** ॥

अभिशोचयिष्णुः

अयं यो अभिशोचयिष्णुर्विश्वा रूपाणि हरिता कृणोषि।
तस्मै तेऽरुणाय बभ्रवे नमः कृणोमि वन्याय तक्मने॥ ३॥

१. **अयं यः**=यह जो **अभिशोचयिष्णुः**=शोक को बढ़ानेवाला रोग है, वह तू **विश्वा रूपाणि**=सब रूपों को **हरिता कृणोषि**=पीला-सा—निस्तेज-सा कर देता है। इस पीलिया के रोगी को सब वस्तुएँ पीली-पीली-सी दिखने लगती हैं। २. **तस्मै**=उस **ते**=तेरे लिए जो तू **अरुणाय बभ्रवे**=लाल व भूरे रङ्ग का है—जो तू रोगी को ज्वर-वेग में लाल-सा व भूरा-सा कर देता है, उस तुझ **वन्याय तक्मने**=वन में (मच्छरों की अधिकता से) उत्पन्न हो जानेवाले ज्वर के लिए **नमः कृणोमि**=हम दूर से ही नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—ज्वर हमें शोक-सन्तप्त करता है, दृष्टि को विकृत कर हमारे लिए सब रूपों को पीला-सा कर देता है। वन्यभूमि में उत्पन्न होनेवाले इस ज्वर से हम बचने का उपाय करते हैं।

विशेष—उचित औषध-प्रयोग से ज्वर को शान्त करके शान्ति का विस्तार करनेवाला 'शन्ताति' अगले चार सूक्तों का ऋषि है।

२१. [एकविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**चन्द्रमाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

भूमि उत्तमा

इमा यास्तिस्रः पृथिवीस्तासां ह भूमिरुत्तमा।
तासामधि त्वचो अहं भेषजं समु जग्रभम्॥ १॥

१. **इमाः**-ये **याः**=जो **तिस्रः**=तीन **पृथिवीः**=(पथ विस्तारे) विस्तृत लोक हैं, **तासाम्**=उनमें **ह**=निश्चय से **भूमिः उत्तमा**=(भवन्ति भूतानि यस्याम्) जिसपर प्राणियों का निवास है, ऐसी यह भूमि उत्तम है। द्युलोकस्थ सूर्य अपनी किरणों के द्वारा जलों को वाष्पीभूत करके अन्तरिक्ष में मेघों का निर्माण करता है। इनसे वृष्टि होकर भूमि पर विविध ओषधियों की उत्पत्ति होती है। २. **तासाम्**=उन लोगों के **अधित्वचः**=आवरणभाग—उनकी पीठ पर उत्पन्न होनेवाले **भेषजम्**=औषध को **उ**=निश्चय से **अहम्**=मैं **सम् अजग्रभम्**=ग्रहण करता हूँ।

भावार्थ—इस पृथिवी की पीठ पर अन्तरिक्ष की वृष्टि व सूर्य-किरणों द्वारा उत्पन्न होनेवाली ओषधियों को मैं ग्रहण करता हूँ। इनके द्वारा रोगों को दूर करके मैं शान्ति प्राप्त करता हूँ।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**चन्द्रमाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

भेषजानां श्रेष्ठम्, वीरुधानां वसिष्ठम्

श्रेष्ठमसि भेषजानां वसिष्ठं वीरुधानाम्।
सोमो भगइव यामेषु देवेषु वरुणो यथा॥ २॥

१. हे ओषधे! तू **भेषजानां श्रेष्ठं असि**=औषधों में श्रेष्ठ है, **वीरुधानाम्**=बेलों व लताओं में **वसिष्ठम्**=सर्वोत्तम निवास का साधन है। २. **इव**=जैसे **यामेषु**=जीवन के सब कालों में **सोमः**=सोम (वीर्य) **भगः**=सर्वोत्तम ऐश्वर्य है और **यथा**=जैसे **देवेषु**=सब देवों में **वरुणः**=कष्टों का निवारक प्रभु श्रेष्ठ है, वैसे ही यह औषध भी श्रेष्ठ है।

भावार्थ—औषध की क्षमता में विश्वास रखते हुए हम औषध-प्रयोग करेंगे तो वह अवश्य रोग को दूर करेगी।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**चन्द्रमाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अनाधृषः सिषासवः

रेवतीरनाधृषः सिषासवः सिषासथ।
उत स्थ केशदृंहणीरथो ह केशवर्धनीः॥ ३॥

१. हे ओषधियो! तुम **रेवती**=आरोग्यरूप ऐश्वर्यशाली हो, **अनाधृषः**=रोगरूप शत्रुओं से धर्षित न होनेवाली हो, **सिषासवः**=हमारे लिए आरोग्य का सम्भजन करने की कामनावाली हो, **सिषासथ**=अतः हमारे लिए आरोग्य देने की इच्छा करो। २. इसप्रकार हमें स्वस्थ करके **उत**=निश्चय से **केशदृंहणीः स्थ**=केशों को दृढ़ करनेवाली हो **अथो**=और **ह**=निश्चय से **केशवर्धनीः**=केशों को बढ़ानेवाली हो। निर्बलता में केश झड़ने लगते हैं। ये औषध हमें नीरोग बनाकर दृढ़ केशोंवाला बनाते हैं।

भावार्थ—औषधों में अरोग्यरूप ऐश्वर्य का निवास है। इन्हें रोग पराजित नहीं कर पाते। यह रोगों को जीतने की कामनावाली है। ये हमें नीरोग बनाकर दृढ़ केशोंवाला व बढ़े हुए केशोंवाला बनाती है (गुडाकेश)।

२२. [द्वाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**आदित्यरश्मिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

हरयः सुपर्णाः

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवीं व्यू ∫ दुः॥ १॥

१. **हरयः**=जल का हरण करनेवाली **सुपर्णाः**=उत्तमता से हमारा पालन व पूरण करनेवाली वायुएँ **अपः वसानः**=जल को धारण करती हुई **कृष्णम्**=सबका आकर्षण करनेवाले **नियानम्**=निश्चित गतिवाले **दिवम्**=सूर्य की ओर **उत्पतन्ति**=ऊपर उठती हैं। सूर्य-किरणों द्वारा वाष्पीभूत जल को लेकर वायुएँ ऊपर आकाश में उठती हैं। २. **ते**=वे वायुएँ **ऋतस्य**=जल के (rain water) **सदनात्**=सदन—अन्तरिक्ष से **आववृत्रन्**=पुनः वापस आती हैं, **आत् इत्**=और तब शीघ्र ही **घृतेन**=जल से **पृथिवीम् व्यूदुः**=पृथिवी को गीला कर देती हैं।

भावार्थ—सूर्य-किरणों से वाष्पीभूत जल को लेकर वायुएँ सूर्य की ओर ऊपर उठती हैं। वे ही वायुएँ अन्तरिक्ष से लौटती हुई जल बरसाती हैं और सारी पृथिवी को गीला कर डालती हैं।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदाभुरिग्जगती** ॥

ऊर्जं च सुमतिं च

पय॑स्वतीः कृणुथा॒प ओष॑धीः शि॒वा यदेज॑था मरुतो रुक्मवक्षसः।
ऊर्जं॑ च॒ तत्र॑ सुम॒तिं च॑ पिन्वत॒ यत्रा॑ नरो मरुतः सि॒ञ्चथा॒ मधु॑॥ २॥

१. हे **रुक्मवक्षसः मरुतः**=चमकती विद्युत् को वक्षस्थल पर धारण करनेवाले वायुओ! **यत्**=जब **एजथ**=तुम गति करते हो तब **अपः**=जलों को **पयस्वतीः**=वर्धनवाला **कृणुथ**=करते हो और **ओषधीः**=ओषधियों को **शिवः**=कल्याणकर करते हो। २. हे **नरः**=वृष्टि के प्रणेता **मरुतः**=वायुओ! आप **यत्र**=जहाँ **मधु सिञ्चथ**=मधु-तुल्य जलों का सेचन करते हो तत्र वहाँ **ऊर्जं च**=बल और प्राणशक्ति को **च**=तथा **सुमतिम्**=शोभन बुद्धि को ही **पिन्वत**=बरसाते हो। (पिवि सेचने)। आपके मधुर जलों से उत्पन्न ओषधियाँ बल व सुमति का वर्धन करनेवाली होती हैं।

भावार्थ—वृष्टिजल से उत्पन्न ओषधियाँ हमारा आप्यायन करती हैं और कल्याणकर होती हैं। वृष्टिजलोत्पन्न अन्न से बल व बुद्धि का वर्धन होता है।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उदप्रुतः मरुतः

उ॒द॒प्रुतो॑ म॒रुत॒स्ताँ इ॑यर्त वृ॒ष्टिर्या विश्वा॑ नि॒वत॑स्पृ॒णाति॑।
एजा॑ति॒ ग्लहा॑ क॒न्ये॑व तु॒न्नैरुं॒ तुन्दा॒ना पत्ये॑व जा॒या॥ ३॥

१. **उदप्रुतः मरुतः**=जल के भेजनेवाले वायुओ! **तान् इयर्त**=उन वृष्टिजलों को तुम भेजो **यः वृष्टिः विश्वा निवतस्पृणाति**=जो वृष्टि सब निम्न स्थलों को भर डालती है। **ग्लहा**=(माध्यमिका वाक्) विद्युत् **एरुं एजाति**=गतिशील मेघ को इसप्रकार कम्पित करती है **इव**=जैसे **पत्या तुन्ना कन्या**=पति से व्यथित कन्या माता-पिता को अथवा **इव**=जैसे **तुन्दाना जाया**=भय से व्यथित पत्नी पति को।

भावार्थ—मरुत् उस वृष्टि को प्राप्त कराएँ जिससे कि सब निम्नस्थल भर जाएँ। विद्युत् गर्जना से मेघ कम्पित-से हो उठें।

२३. [त्रयोविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वरेण्य क्रतु द्वारा अपों का आह्वान

स॒स्रुषी॒स्तद॒पसो॒ दिवा॒ नक्तं॑ च स॒स्रुषीः॑। वरे॑ण्यक्रतुर॒हम॒पो दे॒वीरुप॑ ह्वये॥ १॥

१. **वरेण्यक्रतुः अहम्**=प्रशंसित श्रेष्ठ कर्म व प्रज्ञानवाला मैं **तत् सस्रुषीः**=उन प्रवाहयुक्त जलधाराओं को **च**=और **दिवा नक्तम्**=दिन-रात **सस्रुषीः अपसः**=धाराओं में बहनेवाले जलों को **उपह्वये**=पुकारता हूँ। जल बह रहे हैं और बह ही रहे हैं। मैं भी निरन्तर कार्यक्रम में बहनेवाला—शान्तभाव से कर्त्तव्यकर्मों को करनेवाला बनूँ। २. मैं **देवीः अपः**=इन दिव्य गुणयुक्त जलों को पुकारता हूँ। इनके प्रयोग से मैं रोगों को जीतनेवाला बनूँ। नीरोग बनकर जलों की भाँति शान्तभाव से कर्त्तव्यधारा में बहनेवाला बनूँ।

भावार्थ—हम जलों का स्मरण करें। जलों की भाँति शान्तभाव से कर्त्तव्यधारा में बहें। यही 'वरेण्यक्रतु' बनने का मार्ग है।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**त्रिपदागायत्री** ॥

कर्मण्या आपः

ओता आपः कर्मण्या मुञ्चन्त्वितः प्रणीतये। सद्यः कृण्वन्त्वेतवे ॥ २ ॥

१. शरीरस्थ रेतः कण 'आपः' हैं। ये **आपः**=रेतःकण **कर्मण्याः**=हमें सब कर्मों में कुशल बनाते हैं जबकि ये **ओताः**=मेरे शरीर में व्याप्त हों। ये मुझे **प्रणीतये**=प्रकृष्ट मार्ग पर चलने के लिए **इतः मुञ्चन्तु**=इधर से मुक्त करें। मेरे शरीर में किसी प्रकार का रोग न हो। नीरोगता में ही आगे बढ़ना सम्भव है। २. ये रेतःकण **सद्यः**=शीघ्र ही **एतवे कृण्वन्तु**=मुझे गति के लिए करें। इनके रक्षण के द्वारा मैं शक्तिशाली बनूँ और क्रियाशील होऊँ।

भावार्थ—शरीर में रेतःकणों के रूप में व्याप्त ये जल मुझे नीरोग बनाकर उन्नति-पथ पर ले-चलें और मुझे क्रियामय जीवनवाला बनाएँ।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**परोष्णिक्** ॥

क्रियाशीलता व कल्याण

देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः।
शं नो भवन्त्वप ओषधीः शिवाः ॥ ३ ॥

१. **सवितुः देवस्य**=उस प्रेरक प्रकाशमय प्रभु की **सवे**=प्रेरणा में **मानुषाः**=विचारशील पुरुष **कर्म कृण्वन्तु**=अपने कर्त्तव्यकर्मों को करनेवाले हों। २. इस क्रियाशीलता के होने पर **नः**=हमारे लिए **अपः**=जल व **ओषधीः**=ओषधियाँ **शम्**=शान्ति देनेवाली व **शिवाः**=कल्याण करनेवाली **भवन्तु**=हों।

भावार्थ—प्रभु की अनुज्ञा में कर्म करने पर जल हमें शान्ति देनेवाले होते हैं और ओषधियाँ कल्याणकारिणी होती हैं।

२४. [चतुर्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

समुद्रजल हृद्द्योतभेषज

हिमवतः प्र स्रवन्ति सिन्धौ समह सङ्गमः।
आपो ह मह्यं तद्देवीर्ददन्हृद्द्योतभेषजम् ॥ १ ॥

१. **आपः**=जल **हिमवतः प्रस्रवन्ति**=हिमाच्छादित पर्वतों से बहते हैं और **अह**=निश्चय से **सिन्धौ**=समुद्र में **सङ्गमः**=इनका एकत्र मेल होता है। ये विविध पर्वतों से बहनेवाले जल जब समुद्र में एकत्र होते हैं तब उनमें कितनी ही औषधों के गुण आ जाते हैं। २. अतः **तत्**=ये **देवीः आपः**=दिव्य गुणयुक्त जल **ह**=निश्चय से **मह्यम्**=मेरे लिए **हृद्द्योतभेषजम् ददन्**=हृदय के जलन की औषध दें। इन जलों के प्रयोग से हृदय की जलन शान्त हो।

भावार्थ=हिमाच्छादित पर्वतों से बहकर समुद्र में एकत्र होनेवाले जल हृदय की जलन को शान्त करने के सर्वोत्तम औषध हैं।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

जल से जलन का निराकरण

यन्मे अक्ष्योरादिद्योत पार्ष्ण्योः प्रपदोश्च यत्।
आपस्तत्सर्वं निष्करन्भिषजां सुभिषक्तमाः ॥ २ ॥

१. **यत्**=जो रोग **मे**=मेरी **अक्ष्योः**=आँखों में **पार्ष्णयोः**=एड़ियों में **च**=और **यत्**=जो **प्रपदोः**=पाँव के अग्रभाग में **आदिद्योत**=जलन-सी पैदा करता है, **तत् सर्वम्**=उस सब रोग को **आपः**=जल **निष्करन्**=दूर करते हैं। २. ये जल वस्तुतः **भिषजां सुभिषक्तमाः**=वैद्यों में सर्वोत्तम वैद्य हैं।

भावार्थ—किन्हीं रोगों में आँखें, एड़ियों व पाँवों के अग्रभाग में जलन उत्पन्न होती है। जलों के प्रयोग से यह जलन दूर की जाती है। जल इसके सर्वोत्तम औषध हैं।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सिन्धुपत्नीः, सिन्धुराज्ञीः

सिन्धुपत्नीः सिन्धुराज्ञीः सर्वा या नद्य१ स्थन।
दत्त नस्तस्य भेषजं तेना वो भुनजामहै॥ ३॥

१. **सिन्धुपत्नीः**=समुद्र की पत्नीरूप **सिन्धुराज्ञीः**=विशाल जल प्रवाहों से दीप्त **याः**=जो **सर्वाः नद्यः**=सब नदियाँ **स्थन**=हैं, वे **नः**=हमारे लिए **तस्य**=उस रोग के—जलन उत्पन्न करनेवाले रोग के **भेषजं दत्त**=औषध को प्राप्त कराएँ। २. **तेन**=उस औषध के हेतु से ही हम **वः भुनजामहै**=आपका सेवन (उपयोग) करते हैं। नदी-जल में स्नान कितने ही रोगों का निवारण करनेवाला होता है। बड़ी-बड़ी नदियों में कितने ही जल-प्रवाहों का सङ्गम होता है। पर्वतों से बहते हुए ये प्रवाह अपने जलों में विविध औषधों के गुणों से युक्त होते हैं। बड़ी नदियों में जलों में सब गुण उपलब्ध हैं। ये नदियाँ समुद्र की मानो पत्नियाँ हैं, अपने प्रवाह से शोभायमान हैं।

भावार्थ—बड़ी-बड़ी नदियों का जल विविध औषध-गुणों को लिये हुए होता है। उसका सेवन हमें नीरोग बनाता है।

विशेष—नदी-जलों के प्रयोग से अपने शरीर को नीरोग बनाकर जीवन को सुखी बनानेवाला 'शुनःशेप' (शुनं सुखम्) अगले सूक्त का ऋषि है।

२५. [पञ्चविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शुनःशेपः** ॥ देवता—**मन्याविनाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'मन्या, ग्रैव्य व स्कन्ध्य' नाड़ियों के विकार का निराकरण

पञ्च च याः पञ्चाशच्च संयन्ति मन्या अभि।
इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव॥ १॥
सप्त च याः सप्ततिश्च संयन्ति ग्रैव्या अभि।
इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव॥ २॥
नव च या नवतिश्च संयन्ति स्कन्ध्या अभि।
इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव॥ ३॥

१. **याः**=जो **पञ्च च पञ्चाशत् च**=पाँच और पचास पीड़ाएँ **मन्याः अभि**=गले के पृष्ठ भाग की नाड़ियों में **संयन्ति**=व्याप्त होती हैं, **ताः सर्वाः**=वे सब **इतः**=यहाँ से इसप्रकार **नश्यन्तु**=नष्ट हो जाएँ, **इव**=जैसे विद्वानों के सामने **अपचितां वाकाः**=मूर्खों के वचन। २. **याः**=जो **सप्त च सप्ततिः च**=सात और सत्तर पीड़ाएँ **ग्रैव्याः अभि**=गले की नाड़ियों में **संयन्ति**=व्याप्त हो जाती हैं, वे सब यहाँ से उसी प्रकार नष्ट हो जाएँ **इव**=जैसेकि ज्ञानियों के सामने **अपचिताम् वाकाः**=मूर्खों के वचन नष्ट हो जाते हैं। **याः**=जो **नव च नवतिश्च**=नौ और

नव्वे पीड़ाएँ **स्कन्ध्याः अभि**=कन्धों की नाड़ियों में **संयन्ति**=व्याप्त हो जाती हैं, वे सब यहाँ से इसप्रकार नष्ट हो जाएँ जैसेकि ज्ञानियों के सामने मूर्खों के वचन नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—'मन्या, ग्रैव्य व स्कन्ध्य' नाड़ियाँ में विकार के कारण गण्डमाला का रोग प्रकट होता है। नाना प्रकार की फुंसियों या गिलटियों से बना यह रोग जल के ठीक प्रयोग से दूर किया जाए, तभी जीवन सुखी होगा।

विशेष—शरीर के रोगों की भाँति मानस रोगों को दूर करनेवाला यह व्यक्ति 'ब्रह्मा' बनता है—बड़ा—एकदम निष्पाप। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

२६. [षड्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**पाप्मा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पाप का अभिभव

अव॑ मा पाप्मन्त्सृज व॒शी सन्मृ॑डयासि नः।
आ मा॑ भ॒द्रस्य॑ लो॒के पा॑प्मन्धे॒ह्यवि॑ह्रुतम्॥ १॥

१. हे **पाप्मन्**=पाप के भाव! **मा**=मुझे **अवसृज**=दूर से ही छोड़ दे। **वशी सन्**=पूर्णरूप से वश में आया हुआ तू **नः मृडयासि**=हमें सुखी कर। पाप के भाव को पूर्णरूप से वशीभूत करने पर ही सुख होना सम्भव है। २. हे **पाप्मन्**=पाप के भाव! **मा**=मुझे **अविह्रुतम्**=सरल, निष्कपटरूप में **भद्रस्य लोके**=सुख व कल्याण के लोक में **आधेहि**=स्थापित कर।

भावार्थ—पापभाव को पूर्णरूप से वश में करके निष्कपट जीवन बिताते हुए हम सुखी जीवनवाले हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**पाप्मा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पाप के छोड़ने का दृढ़ निश्चय

यो नः॑ पाप्म॒न्न जहा॑सि॒ तमु॑ त्वा जहिमो व॒यम्।
प॒थाम॑नु व्या॒वर्त॑ने॒ऽन्यं पा॒प्मानु॑ पद्यताम्॥ २॥

१. हे **पाप्मन्**=पापभाव! **यः**=जो तू **नः**=हमें **न जहासि**=नहीं छोड़ता है, **तं त्वा**=उस तुझे **वयम्**=हम ही **उ**=निश्चय से **जहिमः**=छोड़ देते हैं। पाप को छोड़ने का दृढ़ निश्चय ही सर्वोत्तम व्रत है। २. **पथाम् अनु व्यावर्तने**=(पथ गतौ) गतिशील इन्द्रियों को अनुकूल कर्मों में लौटा लेने पर—उचित कर्मों में लगाने के द्वारा—इन्द्रियों को निरुद्ध कर लेने पर **पाप्मा**=यह पापभाव **अन्यं अनुपद्यताम्**=इन्द्रिय-निरोध न करनेवाले दूसरे ही किसी व्यक्ति को प्राप्त हो।

भावार्थ—पाप हमें नहीं छोड़ जाएगा, इसे तो हमें ही छोड़ना होगा। इन्द्रियों को अनुकूल कार्यों में व्यापृत रखना ही पाप से बचने का उपाय है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**पाप्मा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सहस्राक्षः अमर्त्य

अ॒न्यत्रा॒स्मन्न्यु॑च्यतु सहस्रा॒क्षो अम॑र्त्यः।
यं द्वेषा॑म॒ तमृ॑च्छतु॒ यमु॑ द्वि॒ष्मस्तमिज्ज॑हि॥ ३॥

१. यह **सहस्राक्षः**=(सहस्रं=सहस्वत्—निरु० ३.२.४) इन्द्रियों पर प्रबल होनेवाले **अमर्त्यः**=नष्ट न होनेवाला—जिसका विनाश बड़ा कठिन है—वह पाप **अस्मत्**=हमसे **अन्यत्र**=अन्य स्थान में ही **न्युच्यतु**=निवासवाला हो। २. यह पाप तो **तम् ऋच्छतु**=उसे प्राप्त हो **यम्**=जिससे **द्वेषाम**=हम

प्रीति नहीं करते। उ=निश्चय से **यं द्विष्मः**=जिससे हम प्रीति नहीं करते, हे पाप्मन्! **तम् इत्**=उसे ही तू **जहि**=नष्ट करनेवाला हो—'**हिंस्रः स्वपापेन विहिंसितः खलु साधुः समत्वेन भयाद् विमुच्यते।**'

भावार्थ—यह प्रबल पाप हमसे दूर ही निवास करे। जो सबका अप्रिय है, वही इस पाप से नष्ट किया जाए।

विशेष—अपने से पाप को दूर करनेवाला, अपने को ज्ञानाग्नि में परिपक्व करनेवाला यह 'भृगु' अगले तीन सूक्तों का ऋषि है। यह सर्वनियन्ता प्रभु को 'यम' के रूप में स्मरण करता है।

२७. [सप्तविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**यमः; निर्ऋतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

कपोतः, निर्ऋत्याः दूतः

देवाः कपोत इषितो यदिच्छन्दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम।
तस्मा अर्चाम कृणवाम निष्कृतिं शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे॥ १॥

१. हे **देवाः**=ज्ञानियो! वह **क-पोतः**=आनन्द का पोत (जलयान=जहाज़) **इषितः**=(इषितं अस्य अस्तीति) प्रेरणा देनेवाला, **निर्ऋत्याः दूतः**=दुर्गति को उपतप्त करके दूर करनेवाला प्रभु **यत्**=जब **इच्छन्**=हमारा हित चाहता हुआ **इदम् आजगाम**=इस हमारे हृदयदेश में प्राप्त होता है तब **तस्मै**=उस प्रभु के लिए हम **अर्चाम**=पूजन करते हैं और इसप्रकार **निष्कृतिं कृणवाम**=सब पापों का बहिष्कार करते हैं। २. प्रभुपूजन के द्वारा हम पापों को अपने से दूर करते हैं और इसप्रकार यही चाहते हैं कि **नः**=हमारे **द्विपदे**=दो पाँववाले मनुष्यों के लिए **शम् अस्तु**=शान्ति हो और **चतुष्पदे शम्**=चार पाँवोंवाले पशुओं के लिए भी शान्ति हो।

भावार्थ—प्रभु आनन्द के समुद्र हैं, हमें कर्तव्यकर्म की प्रेरणा देनेवाले हैं, कष्टों को दूर करनेवाले हैं। हम हृदय में उनका अर्चन करें और इसप्रकार अपने कष्टों को दूर करते हुए शान्ति प्राप्त करें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**यमः; निर्ऋतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

शिवः शकुनः

शिवः कपोत इषितो नो अस्त्वनागा देवाः शकुनो गृहं नः।
अग्निर्हि विप्रो जुषतां हविर्नः परि हेतिः पक्षिणी नो वृणक्तु॥ २॥

१. हे **देवाः**=ज्ञानियो! यह **इषितः**=प्रेरणा प्राप्त करानेवाला **क-पोतः**=आनन्द का पोत प्रभु **नः**=हमारे लिए **शिवः**=कल्याण करानेवाला **अनागाः**=हमें निष्पाप बनानेवाला **अस्तु**=हो। **नः**=हमारे **गृहम्**=घर को **शकुनः**=यह शक्ति-सम्पन्न करे। प्रभु का उपासन करते हुए हमारे घर के सब व्यक्ति शक्ति-सम्पन्न हों। २. वह **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **हि**=निश्चय से **विप्रः**=हमारा विशेषरूप से पूरण करनेवाला है, वह **नः**=हमारी **हविः जुषताम्**=हवि का प्रीतिपूर्वक सेवन करे। हम यज्ञशील हों और प्रभु हमारे यज्ञों को स्वीकार करें। यज्ञशील होने पर **पक्षिणी**=(पक्ष परिग्रहे) परिग्रह-सम्बन्धी **हेतिः**=लोभरूप वज्र **नः**=हमें **परिवृणक्तु**=छोड़नेवाला हो। हमपर लोभरूप वज्र का प्रहार न हो।

भावार्थ—हम प्रभु-स्मरण करें, प्रभु हमारा कल्याण करते हैं। हमें शक्तिशाली व निष्पाप बनाते हैं। यह प्रभु-स्मरण ही हमें यज्ञशील बनाकर लोभ-वज्र के प्रहार से बचाता है।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—यमः; निर्ऋतिः ॥ छन्दः—जगती ॥

प्रभु स्मरण व यज्ञशीलता

हेतिः पक्षिणी न दभात्यस्मानाष्ट्री पदं कृणुते अग्निधाने।
शिवो गोभ्य उत पुरुषेभ्यो नो अस्तु मा नो देवा इह हिंसीत्कपोतः ॥ ३ ॥

१. प्रभु-स्मरण होने पर **पक्षिणी हेतिः**=परिग्रह-सम्बन्धी लोभ-वज्र—लोभवृत्तिरूप वज्र **अस्मान्**=हमें **न दभाति**=हिंसित नहीं करता। **आष्ट्री**=(अश् व्याप्तौ) कर्मों में व्याप्त रहनेवाला यह प्रभुभक्त **अग्निधाने**=(हविर्धाने) अग्निहोत्र करने के स्थानभूत कमरे में **पदं कृणुते**=पग रखता है, अर्थात् सदा यज्ञशील बनता है। ऐसा होने पर **नः गोभ्यः**=हमारी गौओं के लिए **उत**=और **पुरुषेभ्यः**=घर के सब व्यक्तियों के लिए **शिवः अस्तु**=वे प्रभु कल्याण करनेवाले हों। २. हे **देवाः**=ज्ञानी पुरुषो! **नः**=हमें **क-पोतः**=वे आनन्द के समुद्र प्रभु **इह**=इस जीवन में **मा हिंसीत्**=हिंसित न करें। हम प्रभु से दण्डनीय न होकर प्रभु से अनुग्रहणीय हों।

भावार्थ—लोभ से ऊपर उठकर हम यज्ञशील बनें। यह यज्ञशीलता हमारा कल्याण करेगी और हमें प्रभु से अनुग्रहणीय बनाएगी।

२८. [अष्टाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—यमः; निर्ऋतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

कपोतम्, प्रणोदम्

ऋचा कपोतं नुदत प्रणोदमिषं मदन्तः परि गां नयामः।
संलोभयन्तो दुरिता पदानि हित्वा न ऊर्जं प्र पदात्पथिष्ठः ॥ १ ॥

१. **ऋचा**=स्तुति के द्वारा **प्रणोदम्**=प्रकृष्ट प्रेरणा प्राप्त करानेवाले **क-पोतम्**=आनन्द-पोत के समान प्रभु को **नुदत**=अपने हृदय में प्रेरित करो। प्रभु के सम्पर्क में **मदन्तः**=आनन्द का अनुभव करते हुए **इषम्**=प्रभु-प्रेरणा को तथा **गाम्**=इस वेदवाणी को **परिनयामः**=अपने साथ परिणत करते हैं। प्रभु-प्रेरणा व प्रभुवाणी को प्राप्त करने के लिए यत्नशील होते हैं। २. इसप्रकार हम दुरिता **पदानि**=अशुभ गतियों को **संलोभयन्तः**=विनष्ट करनेवाले होते हैं। **नः**=हमारे लिए **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को **हित्वा**=धारण करके **पथिष्ठः प्रपदात्**=मार्ग पर चलानेवालों में सर्वश्रेष्ठ प्रभु हमारे आगे चले। प्रभु हमारे नेता हों। उस अग्नि के नेतृत्व में हम भी अग्नि बन पाएँ।

भावार्थ—वे प्रभु आनन्द के पोत हैं। हमें प्रेरणा देनेवाले हैं। हम प्रभु-प्रेरणा व प्रभु वाणी को प्राप्त करने के लिए यत्नशील हों। अशुभ गतियों को छोड़कर बल व प्राण को धारण करके प्रभु के अनुयायी बनें। प्रभु ही हमारे नेता हों।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—यमः; निर्ऋतिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

गो परिणय

परीमे३ग्निमर्षत परीमे गामनेषत। देवेष्वक्रत श्रवः क इमाँ आ दधर्षति ॥ २ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु का अनुसरण करनेवाले **इमे**=ये व्यक्ति **अग्निं परि अर्षत**=प्रभु की ओर गतिवाले होते हैं। **इमे**=ये **गाम्**=वेदवाणी को **परि अनेषत**=परिणीत करते हैं। वेदवाणी को अपनानेवाले होते हैं। २. इसप्रकार ये **देवेषु**=दिव्य गुणों में **श्रवः**=यश को **अक्रत**=करनेवाले होते हैं, दिव्य गुणों को धारण करके यशस्वी बनते हैं। **कः**=अब कौन **इमान्**=इन्हें **आ दधर्षति**=धर्षित कर सकता है? काम-क्रोध, लोभ आदि कोई भी शत्रु इन्हें आक्रान्त करनेवाला

नहीं होता।

भावार्थ—हम प्रभु की ओर चलें, वेदवाणी को परिणीत करें, दिव्य गुणों से यशस्वी बनें और काम आदि से अजय्य हों।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**यमः; निर्ऋतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

प्रथमः मृत्युः (आचार्यः)

यः प्रथमः प्रवतमाससाद बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानः।
यो३स्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदस्तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे॥ ३॥

१. **यः**=जो **प्रथमः**=(मृत्युः=आचार्यः) सर्वप्रथम आचार्य है—'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्', **प्रवतम् आससाद**=जिसने सर्वोच्च स्थान को प्राप्त किया है, **बहुभ्यः पन्थाम् अनुपस्पशानः**=जो अनेक मनुष्यों के लिए मार्ग-प्रदर्शन कर रहे हैं। वे एक प्रभु अनेक जीवों का मार्ग-दर्शन कर रहे हैं। २. **यः**=जो **अस्य**=इन **द्विपदः**=दो पैरवालों व **यः चतुष्पदः**=जो चार पैरवालों का—मनुष्यों व पशुओं का **ईशे**=शासन करनेवाले हैं—ऐश्वर्य देनेवाले हैं, **तस्मै**=उस **यमाय**=सर्वनियन्ता (प्रथमाय) **मृत्यवे**=सर्वप्रथम आचार्य प्रभु के लिए **नमः अस्तु**=प्रणाम हो।

भावार्थ—प्रभु प्रथम आचार्य हैं, सर्वोच्च स्थान पर स्थित हैं, हम सबके लिए मार्ग-दर्शन करते हैं। सब पशु-पक्षियों के ईश हैं। उस सर्वनियन्ता प्रभु के लिए हम प्रणाम करते हैं।

२९. [एकोनत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**यमः; निर्ऋतिः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराट्** ॥

उलूकः

अमून्हेतिः पतत्रिणी न्ये ॑तु यदुलूको वदति मोघमेतत्।
यद्वा कपोतः पदमग्नौ कृणोति॥ १॥

१. **पतत्रिणी**=पतन की कारणभूत **हेतिः**=हनन (विनाश) करनेवाली यह लोभवृति **अमून्**=हमसे दूरस्थ हमारे शत्रुओं को **नि एतु**=निश्चय से प्राप्त हो। लोभवृति के शिकार हमारे शत्रु ही हों। हम इस लोभवृत्ति से बचे ही रहें। २. **यत्**=जब **उलूकः**=(उच समवाये) प्रभु से समवायवाला—स्तवन द्वारा प्रभु से मेलवाला यह स्तोता **वदति**=प्रभु के नामों का उच्चारण करता है तब **एतत् मोघम्**=सब शत्रुओं का आक्रमण व्यर्थ होता है, **यत् वा**=अथवा जब **कपोतः**=आनन्द का पोत प्रभु **अग्नौ**=प्रगतिशील जीवन में **पदम् कृणोति**=पग रखता है, अर्थात् जब कपोत इस अग्नि को प्राप्त होता है। प्रभु की उपस्थिति में उपासक 'काम, क्रोध, लोभ' आदि से आक्रान्त नहीं होता।

भावार्थ—हम प्रभु से मेलवाले बनकर प्रभु के नामों का उच्चारण करें, तब वे आनन्द के पोत प्रभु हमारे हृदयों में आसीन होंगे और तब लोभ आदि शत्रुओं का हमपर आक्रमण न हो सकेगा।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**यमः; निर्ऋतिः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराड्गायत्री** ॥

निर्ऋति के दो दूत

यौ ते दूतौ निर्ऋत इदमेतोऽ प्रहितौ प्रहितौ वा गृहं नः।
कपोतोलूकाभ्यामपदं तदस्तु॥ २॥

१. शरीर में 'रोग' तथा मन में 'काम-क्रोध' निर्ऋति (दुर्गति) के दो दूत हैं। हे **निर्ऋते**=

दुर्गते! **यौ**=जो **ते**=तेरे **दूतौ**=रोग व वासनारूप दूत **अप्रहितौ**=अत्यन्त (प्र) अहितकर हैं **वा**=और **प्रहितौ**=किन्हीं कर्मफलों के रूप में भेजे हुए ये दूत **इदं नः गृहम्**=इस हमारे घर को **एतः**=प्राप्त होते हैं। **कपोत+उलूकाभ्याम्**=आनन्द के पोत प्रभु के द्वारा तथा प्रभु के साथ मेल करनेवाले स्तोता के द्वारा **तत्**=वह **अपदम् अस्तु**=पैर जमालेनेवाला न हो—हमारे शरीररूप गृह में रोग व वासनाएँ दृढ़मूल न हो जाएँ। २. इसका उपाय यही है कि हम उस आनन्द के पोत प्रभु से अपना मेल बनाएँ। प्रभु कपोत हैं तो मैं उलूक बनूँ। बस, फिर यहाँ निर्ऋति के दूतों की जड़ न जम पाएगी।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण करते हुए हम रोगों व वासनाओं से अपने को बचा पाएँ।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**यमः; निर्ऋतिः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाविराडष्टिः** ॥

अवैरहत्याय, सुवीरतायै

अवैरहत्यायेदमा पपत्यात्सुवीरताया इदमा संसद्यात्।
पराङ्वेव परा वद पराचीमनु संवतम्।
यथा यमस्य त्वा गृहेऽरसं प्रतिचाकशानाभूकं प्रतिचाकशान्॥ ३॥

१. ये कपोत (आनन्द का पोत) प्रभु **इदम्**=इस हमारे हृदय में **आपपत्यात्**=प्राप्त हों, जिससे **अवैरहत्याय**=वैर-विरोध के कारण हमारी हत्या व विनाश न हो। हृदय में प्रभु की स्थिति होने पर हमारे हृदय वैर-भाव से रहित होंगे। ये वैर-भाव ही हमारा विनाश का कारण बनते हैं। वे प्रभु **सुवीरतायै**=उत्तम वीरता के लिए **इदम् आसंसद्यात्**=हमारे हृदय में आसीन हों। हृदय में प्रभु की स्थिति हमें शक्ति-सम्पन्न बनाती है। २. हे वैर-भाव! तू **पराङ् एव**=दूर ही जानेवाला हो। **पराचीं संवतम् अनु**=(परा+अञ्च्, सं+वन्) उस परागतिरूप प्रभु (सा काष्ठा सा परा गतिः) को प्राप्त करानेवाली संभक्ति (सम्भजन) का लक्ष्य करके **परावद**=हमसे दूर रहकर ही बात कर। वैर हमारे समीप आनेवाला न हो। ३. **यथा**=जिससे **यमस्य गृहे**=सर्वनियन्ता प्रभु के गृह में—जिस गृह में उस 'यम' का पूजन होता है, उसमें **त्वा**=हे वैर! तुझे **अरसम्**=निर्बल व निःसार **प्रतिचाकशान्**=देखें, **आभूकम्**=(empty, powerless) थोथा, जर्जर-सामर्थ्यशून्य **प्रतिचाकशान्**=देखें।

भावार्थ—प्रभु हमें हृदय में प्राप्त हों, हमारे हृदय में आसीन हों, जिससे हम वैर-भावों से विनष्ट न हो जाएँ, अपितु उत्तम वीर बनें। वैर हमसे दूर रहे। वैर रहते प्रभुपूजन थोड़े ही होता है? प्रभुपूजन होने पर वैर जर्जरीभूत हो जाता है।

विशेष—वैर-भाव से ऊपर उठकर अपना भरण करनेवाले ये लोग 'उपरिबभ्रवः' कहलाते हैं। ये ही अगले दो सूक्तों के ऋषि हैं।

३०. [त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः** ॥ देवता—**शमी** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

मधुना संयुतं यवम्

देवा इमं मधुना संयुतं यवं सरस्वत्यामधि मणावचर्कृषुः।
इन्द्र आसीत्सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन्मरुतः सुदानवः॥ १॥

१. **देवाः**=देववृत्ति के पुरुषों ने **इमम्**=इस मधुना **संयुतम्**=माधुर्य से युक्त **यवम्**=जौ को **सरस्वत्याम्**=ज्ञान की अधिष्ठातृ देवता के निमित्त तथा **मणौ अधि**=शरीरस्थ वीर्यमणि के निमित्त—वीर्य को शरीर में ही सुरक्षित रखने के हेतु से **अचर्कृषुः**=कृषि द्वारा उत्पन्न किया

है। जौ ही देवों का भोजन है। '**यु मिश्रणामिश्रणयोः**' से बना 'यव' शब्द यह संकेत कर रहा है कि यह 'बुराइयों को दूर करनेवाला व अच्छाइयों को मिलानेवाला है।' २. इस यव की उत्पन्न करनेवालों में **सीरपतिः**=हल का स्वामी **इन्द्रः**=इन्द्र **आसीत्**=था। इस यव का उत्पादक जितेन्द्रिय पुरुष होता है। **शतक्रतुः**=यह शत वर्षपर्यन्त यज्ञमय जीवनवाला हुआ। यव सात्त्विक भोजन है। इस सात्त्विक आहार से बुद्धि की सात्त्विकता के कारण जीवन को यज्ञमय बनाना स्वाभाविक ही है। **कीनाशः**=श्रमपूर्वक हल चलानेवाले किसान, **मरुतः**=मितरावी—कम बोलनेवाले—क्रियाशील पुरुष **आसन्**=थे। ये **सुदानवः**=अच्छी प्रकार बुराइयों को काटनेवाले हुए (दाप लवने)। आहार के शुद्ध होने पर अन्तःकरण की पवित्रता से सब वासना-ग्रन्थियों का प्रणाश हो ही जाता है।

भावार्थ—जौ ही सर्वोत्तम अन्न है। यह उत्तम मस्तिष्क का निर्माण करता हुआ ज्ञानवृद्धि का कारण बनता है। वीर्य-रक्षण में यह सहायक है। इसका सेवन करनेवाला 'जितेन्द्रिय, यज्ञशील, मितरावी व अशुभों को काटनेवाला' बनता है।

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः** ॥ देवता—**शमी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शमी

यस्ते मदो॑ऽवके॒शो विके॒शो येना॑भि॒हस्यं॒ पुरु॑षं कृ॒णोषि॑।
आ॒रात्त्वद॒न्या वना॑नि वृक्षि॒ त्वं श॑मि श॒तव॑ल्शा॒ वि रो॑ह॥ २॥

१. हे **शमि**=शमीवृक्ष! **यः**=जो **ते**=तेरा **मदः**=आनन्ददायक रस है, वह **अवकेशः**=बालों को बढ़ानेवाला है, प्रयोक्ता को लम्बे लटकते हुए बालोंवाला बनाता है, **विकेशः**=यह उसे विशिष्ट केशोंवाला बनाता है। **येन**=क्योंकि तू अपने रस से **पुरुषम्**=पुरुष को **अभिहस्यम्**=शरीर व बुद्धि दोनों दृष्टिकोणों से (अभि) विकासवाला (हस्) **कृणोषि**=करता है, अतः **त्वत् अन्यः**=तुझसे भिन्न **वनानि**=वृक्षों को **आरात् वृक्षि**=दूर-दूर तक काट डालता हूँ। २. हे शमि! **त्वम्**=तू अब **शतवल्शा विरोह**=सैकड़ों शाखाओंवाली होती हुई विशिष्टरूप से प्रादुर्भूत हो।

भावार्थ—शमीवृक्ष का रस मानव शक्तियों के विकास के लिए उपयोगी है, अतः शमीवृक्ष के आसपास के अन्य वृक्षों को काटकर इसके विकास के लिए यत्नशील होना चाहिए।

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः** ॥ देवता—**शमी** ॥ छन्दः—**चतुष्पदाशङ्कुमत्यनुष्टुप्** ॥

'केशवर्धनकारी' शमीरस

बृह॑त्पलाशे॒ सुभ॑गे॒ वर्ष॑वृद्ध॒ ऋता॑वरि।
मा॒तेव॑ पु॒त्रेभ्यो॑ मृड॒ केशे॑भ्यः शमि॥ ३॥

१. हे **शमि**=शमीवृक्ष! तू **केशेभ्यः**=बालों के लिए उसी प्रकार **मृड**=सुख करनेवाली हो, **इव**=जैसे **माता पुत्रेभ्यः**=माता पुत्रों को सुखी करती है। माता पुत्रों की वृद्धि का कारण बनती है, तू बालों को बढ़ानेवाली हो। २. तू **बृहत् पलाशे**=बढ़े हुए पत्तोंवाली है, **सुभगे**=उत्तम ऐश्वर्यशाली—शरीर को सुन्दर बनानेवाली **वर्षवृद्धे**=वृष्टिजल से वृद्धि को प्राप्त हुई-हुई व **ऋतावरि**=जलवाली है—रसवाली है।

भावार्थ—शमीवृक्ष का रस बालों का इसप्रकार वर्धन करता है, जैसे माता पुत्रों का वर्धन करती है।

३१. [एकत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषि:—**उपरिबभ्रवः** ॥ देवता—**गौः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

गौ-पृश्निः

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः॥ १॥

१. **अयम्**=यह—गतसूक्त के अनुसार यवादि सात्त्विक अन्नों का सेवन करनेवाला व्यक्ति **गौः**=(गच्छति) क्रियाशील होता है, **पृश्निः**=(संस्प्रष्टा भासाम्—नि० २.१४) ज्ञान-ज्योति का स्पर्श करनेवाला होता है। यह **आ अक्रमीत्**=समन्तात् अपने कर्त्तव्यकर्मों में गतिवाला होता है। यह **मातरम्**=वेदमाता को **पुरः**=सदा अपने सामने स्थापित करके उसकी प्रेरणा के अनुसार **असदत्**=गतिवाला होता है। आगमदीप-दृष्ट मार्ग से ही गति करता है। २. इसप्रकार शास्त्र प्रमाणक बनकर—शास्त्र विधान के अनुसार कार्यों को करता हुआ यह **स्वः पितरम्**=उस प्रकाशमय पिता प्रभु की ओर **प्रयन्**=जानेवाला होता है।

भावार्थ—हम गतिशील बनें, ज्ञानी बनें। वेद के अनुसार कर्म करते हुए प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर आगे बढ़ें।

ऋषि:—**उपरिबभ्रवः** ॥ देवता—**गौः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

महिषः

अन्तश्चरति रोचना अस्य प्राणादपानतः। व्यख्यन्महिषः स्वः॥ २॥

१. **प्राणात्**=प्राण से और **अपानतः**=अपान से, अर्थात् प्राणापान की साधना के द्वारा **अस्य**=इस साधक के **अन्तः**=अन्दर-हृदयदेश में **रोचना**=दीप्ति **चरति**=विचरती है। प्राणायाम द्वारा इसका अन्तःकरण दीप्त हो उठता है। २. यह **महिषः**=प्रभुपूजन करनेवाला साधक **स्वः**=स्वयं देदीप्यमान ज्योति प्रभु को **व्यख्यत्**=देखता है। यह ज्ञानदीप्त हृदय में प्रभु के प्रकाश को देखनेवाला होता है।

भावार्थ—हम प्राणसाधना द्वारा दीप्त हृदयदेश में प्रभु की ज्योति को देखनेवाले बनें।

ऋषि:—**उपरिबभ्रवः** ॥ देवता—**गौः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

वाक् पतङ्ग

त्रिंशद्धामा वि राजति वाक्पतङ्गो अशिश्रियत्। प्रति वस्तोरहर्द्युभिः॥ ३॥

१. यह **वाक्**=प्रभु के नामों व स्तोत्रों का उच्चारण करनेवाला **पतङ्ग**=(पतन गच्छति) स्फूर्ति से क्रियाओं को करनेवाला साधक **अशिश्रियत्**=(श्री सेवायाम्) प्रभु का उपासन करता है और **प्रतिवस्तोः**=प्रतिदिन **अहः द्युभिः**=दिन की दीप्तियों से, न कि रात्रि के अन्धकारों से **त्रिंशद्धाम**=तीसों धाम—आठों प्रहर **विराजति**=देदीप्यमान होता है।

भावार्थ—हम प्रभु का उपासन करें, क्रियाशील बनें। यही चमकने का मार्ग है। प्रकाशमय जीवन में पाप नहीं होते।

विशेष—यह यज्ञमय जीवनवाला पुरुष अग्निहोत्र आदि यज्ञों में प्रवृत्त हुआ-हुआ रोगकृमियों का संहार करनेवाला 'चातन' कहलाता है। स्वस्थ एवं शान्त वृत्तिवाला बनकर यह 'अथर्वा' न डाँवाडोल होता है। अगले सूक्त के प्रथम दो मन्त्रों का ऋषि 'चातन' है, तीसरे का 'अथर्वा'।

३२. [द्वात्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अग्निहोत्र द्वारा रक्षोदहन

अन्तर्दावे जुहुता स्वे३तद्यातुधानक्षयणं घृतेन।
आराद्रक्षांसि प्रति दह त्वमग्ने न नो गृहाणामुप तीतपासि॥ १॥

१. **अन्तः दावे**=अग्नि में **एतत्**=इस **यातुधानक्षयणम्**=पीड़ाकर रोग-कृमियों को नष्ट करनेवाली हवि को **घृतेन**=घृत के साथ **सुजुहुत**=सम्यक् आहुत करो। २. हे **अग्ने**=यज्ञाग्ने! **त्वम्**=तू **रक्षांसि**=रोगकृमियों को **आरात् प्रतिदह**=सुदूर दग्ध कर दे और इसप्रकार **नः गृहाणाम्**=हमारे घरों का **न उपतीतपासि**=सन्तापक नहीं होता है। अग्नि रोगकृमियों के विनाश के द्वारा हमारे घरों को स्वस्थ वातावरणवाला बनाता है।

भावार्थ—हम अग्नि में घृत के साथ कृमिनाशक हविर्द्रव्यों की आहुत करें। यह अग्नि रोगकृमियों के विनाश के द्वारा हमें सुखी करेगा।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

रोगकृमि-विनाश

रुद्रो वो ग्रीवा अशरैत्पिशाचाः पृष्टीर्वोऽपि शृणातु यातुधानाः।
वीरुद्वो विश्वतोवीर्या यमेन समजीगमत्॥ २॥

१. हे **पिशाचाः**=हमारे मांस को खा जानेवाले रोगकृमियो! **रुद्रः**=इस रोगद्रावक यज्ञाग्नि ने **वः ग्रीवाः**=तुम्हारी गर्दनों को **अशरैत्**=हिंसित किया है। हे **यातुधानाः**=यातना देनेवाले कृमियो! यह यज्ञाग्नि **वः**=तुम्हारी **पृष्टीः अपि शृणातु**=पसलियों को भी तोड़ दे। २. **विश्वतो वीर्या वीरुत्**=यह अनन्तवीर्य—रोगों को कम्पित करने की शक्तिवाली—लतारूप ओषधि **वः**=तुम रोगकृमियों को **यमेन सम् अजीगमत्**=मृत्यु के साथ सङ्गत करे—तुम्हें समाप्त करनेवाली हो।

भावार्थ—यज्ञाग्नि रोगकृमियों को ध्वंस करती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'ज्ञान, ऐक्य, अजय्यता', मिथो विघ्नाना उपयन्तु मृत्युम्

अभयं मित्रावरुणाविहास्तु नोऽर्चिषात्त्रिणो नुदतं प्रतीचः।
मा ज्ञातारं मा प्रतिष्ठां विदन्त मिथो विघ्नाना उप यन्तु मृत्युम्॥ ३॥

१. हे **मित्रावरुणौ**=स्नेह व निर्द्वेषता के दिव्य भावो! **इह**=यहाँ **नः**=हमारे राष्ट्र में **अभयम् अस्तु**=निर्भयता हो, किसी प्रकार के शत्रु के आक्रमण का भय न हो। ये मित्र और वरुण—सब प्रजाओं का परस्पर ऐक्य और अविद्वेष **अर्चिषा**=तेजस्विता की ज्वाला से **अत्रिणः**=हमें खा जानेवाले शत्रुओं को **प्रतीचः नुदतम्**=पराङ्मुख करके भगा दें। प्रजाओं का परस्पर ऐक्य राष्ट्र को प्रबल व तेजस्वी बनाता है। उस तेज की ज्वाला में शत्रु भस्म हो जाते हैं। राष्ट्र में ऐक्य होने पर शत्रु आक्रमण का साहस ही नहीं करते। २. हमारे शत्रु **ज्ञातारं मा विदन्त**=ज्ञानी को मत प्राप्त करें—इन्हें कोई ज्ञानी नेता ही उपलब्ध न हो, **मा प्रतिष्ठाम्**=ये प्रतिष्ठा को प्राप्त न करें, इन्हें विजय का सम्मान प्राप्त न हो। ये **मिथः विघ्नानाः**=परस्पर एक-दूसरे को विहत करते हुए **मृत्युम् उपयन्तु**=मृत्यु को प्राप्त करें।

भावार्थ—हम में एक्य हो। यह ऐक्य हमें शत्रुओं के लिए अजय्य बना दे। हमारे शत्रु

परस्पर लड़ते-झगड़ते स्वयं समाप्त हो जाएँ। इन्हें कोई ज्ञानी, एकता का बल प्राप्त करानेवाला नेता न मिले।

विशेष—शत्रुओं का संघात करनेवाला यह व्यक्ति 'जातिकायन' बनता है (जट संघाते)। यह प्रभु-स्तवन करता हुआ कहता है—

३३. [त्रयस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**जातिकायनः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

वनं 'स्व'

यस्येदमा रजो युजस्तुजे जना वनं स्वः। इन्द्रस्य रन्त्यं बृहत्॥ १ ॥

१. **यस्य इन्द्रस्य**=जिस सर्वशक्तिमान् शत्रुविद्राक प्रभु की **रजः**=रञ्जक ज्योति **तुजे**=शत्रुओं के हिंसन के लिए **आयुजः**=(आयोजयति) हमें सन्नद्ध करती है—जिसके तेज से हम शत्रु-संहार करने में समर्थ होते हैं, उस इन्द्र का **इदं स्वः**=यह निरतिशय सुख-साधक तेज, हे **जनाः**=लोगो! **रन्त्यम्**=रमणीय है, **बृहत्**=परिवृढ—बढ़ा हुआ है, **वनम्**=वननीय (सेवनीय) है।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से हम प्रभु के रमणीय तेज को धारण करें। प्रभु के तेज से तेजस्वी होकर हम शत्रु-संहार में समर्थ हों।

ऋषिः—**जातिकायनः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शत्रुधर्षक बल

नाधृष आ दधृषते धृषाणो धृषितः शवः।
पुरा यथा व्यथिः श्रव इन्द्रस्य नाधृषे शवः॥ २ ॥

१. वह इन्द्र **न आधृषे**=औरों से अभिभूत नहीं होता, **आदधृषते**=यह शत्रुओं को समन्तात् धर्षण करनेवाला होता है, **धृषाणः**=यह शत्रुओं का धर्षण करनेवाला है ही। **धृषितः**=(धृषितं) **शवः**=इसका बल शत्रुओं का धर्षक है (धृषितं अस्य अस्ति)। २. **इन्द्रस्य**=इस शत्रु-संहारक प्रभु का **श्रवः**=ज्ञान **पुरा यथा**=पहले की भाँति, अर्थात् सदा से **व्यथिः**=शत्रुओं को पीड़ित करनेवाला है। प्रभु का ज्ञान हमारे सब शत्रुओं का संहारक है। वस्तुतः उस प्रभु का **शवः**=बल **न आधृषे**=कभी भी शत्रुओं से धर्षणीय नहीं होता।

भावार्थ—हम प्रभु का ज्ञान प्राप्त करते हुए प्रभु के बल को धारण करते हैं और इसप्रकार शत्रुओं से धर्षणीय नहीं होते।

ऋषिः—**जातिकायनः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'उरुं पिशंगसन्दृशं' रयिम्

स नो ददातु तां रयिमुरुं पिशङ्गसन्दृशम्। इन्द्रः पतिस्तुविष्टमो जनेष्वा॥ ३ ॥

१. **सः**=वह इन्द्र **नः**=हमारे लिए **तां रयिम्**=उस ज्ञानरूप धन को **ददातु**=दे जोकि **उरुम्**=विशाल है, **पिशङ्ग-सन्दृशम्**=तेजःस्वरूप, प्रभापटल के रूप में प्रकट होनेवाला है। २. **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **पतिः**=हमारे रक्षक हैं—ज्ञानैश्वर्य प्राप्त कराके हमें शत्रुओं के आक्रमण से बचाते हैं। **तुविःतमः**=सब प्रकार के उत्कर्षवाले हैं—महान् व प्रवृद्ध हैं। **जनेषु आ**=सब मनुष्यों में समन्तात् सत्तावाले हैं।

भावार्थ—वे 'तुविःतमः' प्रभु 'विशाल, तेजःस्वरूप, प्रभापटल के रूप में प्रकट होनेवाले' हमारे लिए ज्ञानधन प्राप्त कराके हमारा रक्षण करते हैं।

विशेष—ज्ञान-धन प्राप्त करके सब शत्रुओं का विनाश करनेवाला यह व्यक्ति 'चातन' नामवाला होता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

३४. [चतुस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

स नः पर्षद् अति द्विष

प्राग्नये वाचमीरय वृषभाय क्षितीनाम्। स नः पर्षदति द्विषः॥ १॥

१. हे स्तोतः! **अग्नये**=राक्षसीवृत्तियों को भस्म करनेवाले अग्रणी प्रभु के लिए **वाचम् ईरयः**=स्तुतिलक्षण वाणी को प्रकर्षेण प्रेरित कर। उस प्रभु के लिए जो **क्षितीनाम्**=मनुष्यों के लिए **वृषभाय**=सब शुभ काम्य पदार्थों का वर्षण करनेवाले हैं। २. **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **द्विषः**=द्वेष की सब भावनाओं से **अतिपर्षत्**=पार ले-जाएँ।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें। वे प्रभु ही हमें आगे ले-चलनेवाले तथा सब शुभ पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं। यह प्रभु-स्मरण हमें द्वेष की भावनाओं से पार करेगा।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

प्रभु की तीव्र ज्ञान-ज्योति में द्वेषान्धकार का विलय

यो रक्षांसि निजूर्वत्यग्निस्तिग्मेन शोचिषा। स नः पर्षदति द्विषः॥ २॥
यः परस्याः परावतस्तिरो धन्वातिरोचते। स नः पर्षदति द्विषः॥ ३॥
यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति। स नः पर्षदति द्विषः॥ ४॥
यो अस्य पारे रजसः शुक्रो अग्निरजायत। स नः पर्षदति द्विषः॥ ५॥

१. **यः**=जो **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **तिग्मेन शोचिषा**=बड़ी तीव्र ज्ञानदीप्ति से रक्षांसि **निजूर्वति**=राक्षसीवृत्तियों को नष्ट करते हैं, २. **यः**=जो प्रभु **परस्याः परावतः**=अत्यन्त दूर देश से **धन्व तिरः**=(धन्व=अन्तरिक्ष—नि० १.३) अन्तरिक्ष को भी पार करके **अतिरोचते**=अतिशयेन देदीप्यमान हैं, ३. **यः**=जो प्रभु **विश्वा भुवना**=सब प्राणियों व लोकों को **अभि-विपश्यति**=आभिमुख्येन अलग-अलग देखता है **च**=तथा **संपश्यति**=मिलकर देखता है, अर्थात् वे प्रभु एक-एक प्राणी का अलग-अलग भी रक्षण करते हैं और समूहरूप में भी रक्षण करते हैं। ४. **यः**=जो **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **अस्य रजसः पारे**=इस लोकसमूह से परे **शुक्रः अजायत**=देदीप्यमान शुद्धस्वरूप में प्रादुर्भूत हो रहे हैं '**पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि**', **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **द्विषः अतिपर्षत्**=द्वेष की सब भावनाओं से पार करें।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें, सर्वत्र प्रभु की ज्योति को देखें, उसे ही सबका पालक जानें, उसे ही इस ब्रह्माण्ड से परे शुद्ध ज्योति के रूप में सोचें। यह स्मरण हमें द्वेष की भावनाओं से ऊपर उठाएगा।

विशेष—द्वेष से ऊपर उठकर प्रभु का आलिङ्गन करनेवाला यह 'कौशिक' बनता है (कुश संश्लेषे)। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

३५. [पञ्चत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

वैश्वानर-स्तवन

वैश्वानरो न ऊतय आ प्र यातु परावतः। अग्निर्नः सुष्टुतीरुप॥ १॥

१. **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाला प्रभु **नः**=हमारे **ऊतये**=रक्षण के लिए **परावतः**=सुदूर देश से **आ प्रयातु**=आभिमुख्येन प्राप्त हो। हम प्रभु के सान्निध्य में अपने को पूर्ण सुरक्षित समझें। २. **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **नः**=हमारी **सुस्तुतीः उप**=शोभन स्तुतियों को समीपता से स्वीकार करें।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन करते हुए, प्रभु के सान्निध्य में अपने को पूर्णतया सुरक्षित जानें।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

यज्ञ+स्तवन

वैश्वानरो न आगमदिमं यज्ञं सजूरुप। अग्निरुक्थेष्वंहसु॥ २॥

१. **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का हितकारी वह प्रभु **नः आगमत्**=हमें प्राप्त हो। वह प्रभु **इमं यज्ञम् उप**=हमारे इस जीवन-यज्ञ में प्राप्त होकर **सजूः**=हमारे प्रति प्रीतिवाला हो। हम प्रभु के प्रीतिपात्र बन पाएँ। २. **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **अंहसु**=(अहि गतौ) अभिगन्तव्य **उक्थेषु**=स्तोत्रों के होने पर हमें समीपता से प्राप्त हो।

भावार्थ—हम जीवन को यज्ञमय बनाएँ, प्रभु का स्तवन करें। हमें अवश्य उस वैश्वानर प्रभु का प्रेम प्राप्त होगा।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**वैश्वानरः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

द्युम्नं स्वः

वैश्वानरोऽङ्गिरसां स्तोममुक्थं च चाक्लृपत्। ऐषु द्युम्नं स्व१र्यमत्॥ ३॥

१. **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले वे प्रभु **अङ्गिरसाम्**=क्रियामय जीवनवाले ज्ञानी पुरुषों के **स्तोमम्**=स्तुतिसमूह को **च**=तथा **उक्थम्**=उच्चै गीयमान ज्ञानवाणियों को **चाक्लृपत्**=खूब ही सामर्थ्ययुक्त करते हैं। २. **एषु**=इन ज्ञानियों में वे प्रभु ही **द्युम्नम्**=ज्ञान-ज्योति को तथा **स्वः**=स्वर्ग-सुख को **आयमत्**=सर्वथा प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे स्तोत्रों व ज्ञानवाणियों को शक्तिशाली बनाते हैं। वे हमें ज्ञान व सुख प्राप्त कराते हैं।

विशेष—प्रभु-स्तवन द्वारा ज्ञान प्राप्त करके यह ज्ञानी 'अथर्वा' बनता है—न डाँवाडोल वृत्तिवाला। यही अगले पाँच सूक्तों का ऋषि है।

३६. [षट्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

अजस्त्र घर्मम्

ऋतावानं वैश्वानरमृतस्य ज्योतिषस्पतिम्। अजस्त्रं घर्ममीमहे॥ १॥

१. **ऋतावानम्**=प्रशस्त यज्ञोंवाले (ऋत=यज्ञ), **वैश्वानरम्**=सब मनुष्यों के हितकारी, **ऋतस्य**=(Right) नियमितता के व **ज्योतिषः**=ज्ञानज्योति के **पतिम्**=रक्षक प्रभु से **अजस्त्रं घर्मम्**=हमें न छोड़ जानेवाले—सदा हमारे साथ रहनेवाले तेज को **ईमहे**=माँगते हैं। वस्तुतः इस 'अजस्त्र घर्म' की प्राप्ति का उपाय यही है कि हम भी 'यज्ञशील, सब मनुष्यों के हित में प्रवृत्त तथा भौतिक क्रियाओं में सूर्य-चन्द्र की भाँति नियमिततावाले तथा ज्ञान की रुचिवाले' बनें। ऐसा बनने पर ही शरीर में शक्ति का रक्षण होता है और हमें 'अजस्त्र घर्म' की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—हम उस प्रभु का स्मरण करें जो यज्ञरूप हैं, सबका हित करनेवाले हैं, लोक-लोकान्तरों को नियमितता से चला रहे हैं, ज्ञान के पति हैं। इसप्रकार प्रभु-स्मरण करते हुए

हम 'अक्षीण शक्ति' को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री**॥

लोक, ऋतु व यज्ञ

स विश्वा प्रति चाक्लृप ऋतूंरुत्सृजते वशी। यज्ञस्य वय उत्तिरन्॥ २॥

१. **सः**=वे प्रभु **विश्वा**=सब लोक-लोकान्तरों को **प्रतिचाक्लृपे**=बनाते हैं, **वशी**=सबको वश में करनेवाले वे प्रभु **ऋतून् उत्सृजते**=ऋतुओं का उत्कृष्ट सर्जन करते हैं, अर्थात् वे प्रभु ही सब स्थानों (लोकों) व समयों (ऋतून्) का निर्माण करते हैं। २. **यज्ञस्य वयः उत्तिरन्**=यज्ञ के आयुष्य का वर्धन करते हैं, यज्ञशील पुरुषों को दीर्घजीवन देते हैं।

भावार्थ—वे प्रभु सब लोकों व ऋतुओं का निर्माण करते हैं। इस ब्रह्माण्ड में यज्ञशील पुरुष के आयुष्य का वर्धन करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री**॥

एकः सम्राट्

अग्निः परेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य। सम्राडेको वि राजति॥ ३॥

१. **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु ही **परेषु धामसु**=उत्कृष्ट तेजों में स्थित हैं अथवा दूर-से-दूर स्थानों में व्याप्त हैं। वे ही **भूतस्य**=उत्पन्न जगतों के और **भव्यस्य**=उत्पस्यमान (उत्पन्न होनेवाले) लोगों के **कामः**=कामयिता हैं—'काम संकल्प' द्वारा जन्म देनेवाले हैं। २. वे **सम्राट्**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के शासक हैं, **एकः**=अद्वितीय हैं और **विराजति**=विशेषण दीप्यमान हैं।

भावार्थ—वे प्रभु दूर-से-दूर स्थानों में भी व्याप्त हैं। उत्पन्न और उत्पत्स्यमान जगतों को काम-संकल्प द्वारा जन्म देनेवाले हैं। वे अद्वितीय सम्राट् हैं, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का शासन कर रहे हैं।

३७. [सप्तत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**चन्द्रमाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सहस्राक्षः शपथः

उप प्रागात्सहस्राक्षो युक्त्वा शपथो रथम्।
शप्तारमन्विच्छन्मम वृकइवाविमतो गृहम्॥ १॥

१. जिस समय अपशब्द कहनेवाला पुरुष किसी के लिए अपशब्द का प्रयोग करता है तब वह उसके सहस्रों दोषों को देखनेवाला बनता है—मानो सहस्रों आँखों से उसके दोषों को ढूँढने के लिए यत्नशील होता है, अतः आक्रोश को 'सहस्राक्ष' कहा गया है। यह **सहस्राक्षः शपथः**=सहस्रों आँखोंवाला आक्रोश (अपशब्द) **रथं युक्त्वा**=अपने रथ को जोतकर **उपप्रागात्**=शाप देनेवाले के समीप ही पहुँचता है। जैसे एक योद्धा रथ-स्थित होकर शत्रु पर आक्रमण करता है, उसी प्रकार यह शपथ रथ-स्थित होकर शाप देनेवाले की ओर जाता है। २. यह शपथ **मम**=मुझे **शप्तारम्**=शाप देनेवाले को **अन्विच्छन्**=ढूँढता हुआ उस शप्ता के घर में ऐसे ही पहुँचे, **इव**=जैसेकि **वृकः**=भेड़िया भेड़ को ढूँढता हुआ **अविमतः गृहम्**=भेड़वाले के घर में पहुँचता है।

भावार्थ—जैसे भेड़िया भेड़ को समाप्त कर देता है, उसीप्रकार शाप शाप देनेवाले को ही समाप्त करनेवाला हो।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)** ॥ देवता—**चन्द्रमाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शाप से उत्तेजित न होना

परि णो वृङ्ग्धि शपथ ह्रदमग्निरिवा दहन्।
शप्तारमत्र नो जहि दिवो वृक्षमिवाशनिः ॥ २ ॥

१. हे **शपथ**=आक्रोश! तू **नः**=हमें इसप्रकार **परिवृङ्ग्धि**=छोड़ दे, **इव**=जैसेकि **आदहन्**=समन्तात् जलाने की क्रिया करता हुआ **अग्निः**=अग्नि **ह्रदम्**=जलपूर्ण तालाब को छोड़ देता है। हम भी शापरूप अग्नि के लिए शान्तिजल से पूर्ण ह्रद के समान हों। दूसरों के शब्दों से उत्तेजित न हो उठें। २. हे शाप! तू **नः शप्तारम्**=हमें शाप देनेवाले को ही **अत्र**=यहाँ **जहि**=नष्ट करनेवाला बन। उसी प्रकार **इव**=जैसे कि **दिवः अशनिः**=आकाश की बिजली **वृक्षम्**=वृक्ष को नष्ट कर देती है। शाप से शाप देनेवाला ही दग्ध हो जाए।

भावार्थ—हम शाप से उत्तेजित न हो उठें। शाप शाप देनेवाले को ही दग्ध कर देगा।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)** ॥ देवता—**चन्द्रमाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शुने पेष्ट्रम् इव अवक्षामम्

यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात्।
शुने पेष्ट्रमिवावक्षामं तं प्रत्यस्यामि मृत्यवे ॥ ३ ॥

१. समाज में कोई ऐसा व्यक्ति उपस्थित हो जाता है जो समाज के लिए हानिकर होता है। कई बार विवशता में समाज उसके लिए निन्दा का प्रस्ताव उपस्थित करता है। उस समय के लिए कहते हैं कि **यः**=जो **अशपतः**=किसी प्रकार के शाप का प्रयोग न करते हुए **नः**=हमें **शपात्**=हमें शाप देता है **च**=अथवा **यः**=जो **शपतः**=विवशता में निन्दा का प्रस्ताव करनेवाले **नः**=हमें **शपात्**=बुरा-भला कहता है, **तम्**=उसे **शुने**=कुत्ते के लिए **अवक्षामम्**=सूखे **पेष्ट्रम्**=(piece) टुकड़ों की **इव**=भाँति **तम्**=उसे **मृत्यवे प्रत्यस्यामि**=मृत्यु के लिए फेंकता हूँ, अर्थात् यह गाली देनेवाला व्यक्ति सारे समाज से दूषित किये जाने पर क्षीण होकर मृत्यु का शिकार हो जाता है।

भावार्थ—जो सारे समाज के लिए विद्वेष का कारण बनता है, यह समाज से निन्दित किया जाकर उदासीनता के कारण क्षीण होकर मृत्यु का ग्रास बन जाता है।

३८. [अष्टात्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (वर्चस्कामः)** ॥ देवता—**त्विषिः, बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सिंहे, सूर्ये

सिंहे व्याघ्र उत या पृदाकौ त्विषिरग्नौ ब्राह्मणे सूर्ये या।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥ १ ॥

१. **सिंहे**=शेर में **व्याघ्रे**=चीता में **उत**=और **या त्विषिः**=जो तेजस्विता की दीप्ति **पृदाकौ**=फुँकार मारते हुए सर्प में है। **या**=जो दीप्ति **अग्नौ**=अग्नि में है, **ब्राह्मणे**=ज्ञानदीप्त ब्राह्मण में है तथा **सूर्ये**=सूर्य में है। २. **या**=जो **देवी**=दिव्य, अलौकिक **सुभगा**=उस-उस पिण्ड व प्राणी को सौभाग्ययुक्त बनानेवाली दीप्ति **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **जजान**=प्रादुर्भूत करती है, **सा**=वह दीप्ति **नः वर्चसा संविदानः**=हमें वर्चस् (प्राणशक्ति) से युक्त करती हुई **आ एतु**=सर्वथा प्राप्त हो। '**मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहम्**' इस गीता-वाक्य में सिंह को पशुओं में प्रभु की विभूति कहा गया है। वस्तुतः जहाँ-जहाँ कुछ असाधारण दीप्ति दिखती है, वह प्रभु का स्मरण कराती ही

है, 'यद् यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥' यह दीप्ति हमें भी प्राप्त हो। हम भी प्रभु की विभूति बनें।

भावार्थ—सिंह, व्याघ्र, पृदाकु, अग्नि, ब्राह्मण व सूर्य में जो प्रभु की दीप्ति है, वह हमें वर्चस् से युक्त करती हुई प्राप्त हो।

ऋषिः—**अथर्वा (वर्चस्कामः)**॥ देवता—**त्विषिः, बृहस्पतिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

हस्तिनि—पुरुषस्य मायौ

या हस्तिनि द्वीपिनि या हिरण्ये त्विषिरप्सु गोषु या पुरुषेषु।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना॥ २॥
रथे अक्षेष्वृषभस्य वाजे वाते पर्जन्ये वरुणस्य शुष्मे।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना॥ ३॥
राजन्ये दुन्दुभावायतायामश्वस्य वाजे पुरुषस्य मायौ।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना॥ ४॥

१. **या त्विषिः**=जो दीप्ति **हस्तिनि**=गजेन्द्र में, **द्वीपिनि**=तरक्षु (चीते) में है, **या**=जो दीप्ति **हिरण्ये**=स्वर्ण में है, जो **अप्सु**=जलों में, **गोषु**=गौओं में **या**=जो **पुरुषेषु**=पुरुषों में दीप्ति है। २. जो दीप्ति **रथे**=रथ में है, **अक्षेषु**=रथ के अक्षों (Axles) में है तथा **ऋषभस्य वाजे**=ऋषभ (साँड) के वेगयुक्त गमन में है, जो दीप्ति **वाते**=वायु में है, **पर्जन्ये**=मेघ में है, **वरुणस्य शुष्मे**=जो दीप्ति सूर्य के प्रखर ताप में है—सूर्य के सुखानेवाले ताप में है। ३. जो दीप्ति **राजन्ये**=अभिषिक्त राजा के पुत्र (राजन्य) में है, जो दीप्ति **दुन्दुभौ आयतायाम्**=आयम्यमान—आताड्यमान दुन्दुभि में है जो दीप्ति **अश्वस्य वाजे**=घोड़े के वेगयुक्त गमन में है और जो **पुरुषस्य मायौ**=पुरुष की उच्चैर्घोषलक्षण शब्द में है—४. यह सब दीप्ति वह है **या**=जोकि **देवी**=दिव्य है, **सुभगा**=हमें उत्तम सौभाग्यशाली बनाती है और यह दीप्ति अपने निर्माता **इन्द्रम्**=इन्द्र देवता की महिमा को **जजान**=प्रादुर्भूत करती है। **सा**=वह दीप्ति **वर्चसा संविदाना**=रोगनिवारक शक्ति (Vitality) के साथ ऐकमत्यवाली होती हुई **नः ऐतु**=हमें प्राप्त हो।

भावार्थ—हमारा जीवन प्रभु-दीप्ति से उज्ज्वल हो। यह दीप्ति हमें वर्चस् प्राप्त कराती हुई प्रभु के समीप प्राप्त कराए।

३९. [एकोनचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (वर्चस्कामः)**॥ देवता—**बृहस्पतिः**॥ छन्दः—**जगती**॥

दीर्घजीवन व सर्वश्रेष्ठता

यशो हविर्वर्धतामिन्द्रजूतं सहस्रवीर्यं सुभृतं सहस्कृतम्।
प्रसर्स्राणमनु दीर्घाय चक्षसे हविष्मन्तं मा वर्धय ज्येष्ठतातये॥ १॥

१. **यशः**=यश की कारणभूत **हविः**=दानपूर्वक अदन की वृत्ति **वर्धताम्**=हमारे जीवनों में वृद्धि प्राप्त करे। हम त्यागपूर्वक अदन-(खाने)-वाले बनें और इसप्रकार यशस्वी जीवनवाले हों। यह हवि **इन्द्रजूतम्**=प्रभु द्वारा प्रेरित की गई है—प्रभु ने त्यागपूर्वक अदन की प्रेरणा दी है। यह हवि **सहस्रवीर्यम्**=हमें अनन्त शक्ति प्राप्त कराती है, **सुभृतम्**=(शोभनं भृतं येन) यह हमारा उत्तम भरण करती है, **सहस्कृतम्**=बल के उद्देश्य से यह दी गई है—यह शत्रुओं का पराभव करानेवाला बल देती है। २. हे प्रभो! **अनु**=इस हवि के वर्धन के बाद **हविष्मन्तं मा**=प्रशस्त

हविवाले मुझ **प्रसर्त्राणम्**=खूब गतिशील को **दीर्घाय चक्षसे**=चिरकालभावी दर्शन के लिए—दीर्घजीवन के लिए तथा **ज्येष्ठतातये**=सर्वश्रैष्ठ्य के लिए **वर्धय**=बढ़ाइए। हवि को अपनाता हुआ मैं दीर्घजीवन और सर्वश्रेष्ठता को प्राप्त करूँ।

भावार्थ—प्रभु ने हमें त्यागपूर्वक अदन की प्रेरणा दी है। यह हवि ही हमारे दीर्घजीवन का कारण बनती है और हमें सर्वश्रेष्ठ बनाती है।

ऋषिः—**अथर्वा (वर्चस्कामः)**॥ देवता—**बृहस्पतिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यशस्वी जीवन

अच्छा न इन्द्रं यशसं यशोभिर्यशस्विनं नमसाना विधेम।
स नो रास्व राष्ट्रमिन्द्रजूतं तस्य ते रातौ यशसः स्याम॥ २॥

१. **नः अच्छ**=हमारे आभिमुख्येन वर्तमान **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली, **यशसम्**=यशस्वी, **यशोभिः यशस्विनम्**=यशों के द्वारा हमारे जीवनों को यशस्वी बनानेवाले प्रभु को **नमसानाः**=नमन करते हुए **विधेम**=पूजित करते हैं। २. हे प्रभो! **सः**=वे आप **नः**=हमें **इन्द्रजूतम्**=परमैश्वर्यशाली आपके द्वारा प्रेरित **राष्ट्रं रास्व**=राष्ट्र दीजिए, अर्थात् हमारा राष्ट्र वेदोपदिष्ट आपकी आज्ञाओं के अनुसार सञ्चालित हो। **तस्य ते**=उन आपके **रातौ**=दान में हम **यशसः स्याम**=यशस्वी जीवनवाले हों।

भावार्थ—हम यशस्वी प्रभु का स्मरण करें। हमारा राष्ट्र प्रभु से दिये गये निर्देशों के अनुसार सञ्चालित हो। प्रभु-प्रदत्त इस राष्ट्र में हम यशस्वी जीवनवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा (वर्चस्कामः)**॥ देवता—**बृहस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यशस्तमः

यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत।
यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः॥ ३॥

१. **इन्द्रः**=सूर्य **यशाः**=यशस्वी है, **अग्निः यशाः**=अग्नि यशस्वी है, **सोमः यशाः**=चन्द्रमा यशस्वी **अजायत**=हुआ है। सूर्य अपने तेज से तेजस्वी हुआ है (ज्योतिषां रविरंशुमान्), अग्नि सदा अपनी ज्वाला की ऊर्ध्वगति के कारण प्रसिद्ध है (वसूनां पावकश्चास्मि)। चन्द्रमा की ज्योत्स्ना उसे यशस्वी बना रही है (नक्षत्राणामहं शशी)। २. इसीप्रकार **अहम्**=मैं **यशाः**=यश की कामनावाला होता हुआ **विश्वस्य भूतस्य**=सब प्राणियों में **यशस्तमः अस्मि**=सर्वाधिक यशस्वी बनूँ। सूर्य से तेज को, अग्नि से ऊर्ध्वगति को, चन्द्र से प्रकाशमयी शीतलता को ग्रहण करता हुआ मैं यशस्वीतम बन पाऊँ।

भावार्थ—हम सूर्य के समान तेजोदीप्त बनें। अग्नि के समान ऊर्ध्व गतिवाले हों, चन्द्र के समान आह्लादक ज्योति को धारण करें। इसप्रकार यशस्वी जीवनवाले हों।

४०. [चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (अभयकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**जगती**॥

अभय

अभयं द्यावापृथिवी इहास्तु नोऽभयं सोमः सविता नः कृणोतु।
अभयं नोऽस्तूर्व१न्तरिक्षं सप्तऋषीणां च हविषाभयं नो अस्तु॥ १॥

१. हे **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्करूप द्युलोक तथा शरीररूप पृथिवीलोक! तुम दोनों के अनुग्रह से **इह**=यहाँ **नः**=हमारे लिए **अभयम् अस्तु**=अभय हो। मस्तिष्क की उज्ज्वलता व शरीर की

दृढ़ता हमारे जीवन को निर्भय बनाती है। **सोमः सविता**=चन्द्र और सूर्य **नः अभयं कृणोतु**=हमारे लिए अभयता करें। चन्द्रमा के समान हमारा मन मंगलदायक हो (चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशत्) तथा सूर्य के समान हमारी आँख ज्योतिर्मय हो (सूर्यश्चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्)। २. **नः**=हमारे लिए **उरु अन्तरिक्षम्**=यह विशाल हृदयाकाश **अभयम्**=निर्भयता देनेवाला हो। हमारे हृदय संकुचित न हों, **च**=और **सप्तऋषीणाम्**=सप्तर्षियों (दो कान, दो आँख, दो नासिका-छिद्र व मुख) की **हविषा**=हवि के द्वारा—देकर बचे हुए को खाने के द्वारा **नः**=हमारे लिए **अभयं अस्तु**=निर्भयता हो। सदा यज्ञशेष का सेवन इन सप्तर्षियों को सदा नीरोग रखता है। इनका स्वास्थ्य ही हमें मृत्यु-भय से बचाता है।

भावार्थ—हमारा मस्तिष्क ज्ञानसूर्य से उज्ज्वल हो, शरीर पृथिवी के समान दृढ़ हो, मन चन्द्रमा के समान शीतल, बुद्धि सूर्य के समान तेजोदीप्त तथा हृदय अन्तरिक्ष के समान विशाल हो। हमारी इन्द्रियाँ हवि का ग्रहण करनेवाली बनें—यज्ञशेष का सेवन करती हुई ये इन्द्रियाँ नीरोग हों। इसप्रकार हमें 'अभय' प्राप्त हो।

ऋषिः—**अथर्वा (अभयकामः)**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**जगती**॥

सवितः इन्द्रः

अस्मै ग्रामाय प्रदिशश्चतस्त्र ऊर्जं सुभूतं स्वस्ति सविता नः कृणोतु।
अशत्र्विन्द्रो अभयं नः कृणोत्वन्यत्र राज्ञामभि यातु मन्युः॥ २॥

१. **नः अस्मै ग्रामाय**=हमारे निवासस्थानभूत इस ग्राम के लिए **सविता**=सबका उत्पादक वह प्रभु **प्रदिशः चतस्त्रः**=चारों दिशाओं में **सुभूतम्**=सुष्ठु उत्पन्न—उत्तमता से उत्पन्न हुए-हुए **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति देनेवाले अन्न को और उसके द्वारा **स्वस्ति**=कल्याण को **कृणोत**=करे। हमारे राष्ट्र में पौष्टिक अन्न की कमी न हो। २. **इन्द्रः**=शत्रु-विद्रावक प्रभु **नः**=हमारे लिए **अशत्रुः**=शत्रुओं के आक्रमण-भय से शून्य **अभयम्**=निर्भयता को कृणोतु करे। **राज्ञाम्**=शत्रुभूत राजाओं का **मन्युः**=क्रोध अन्यत्र **यातु**=हमसे भिन्न स्थान में ही प्राप्त हो। कोई भी राजा हमारे राष्ट्र पर आक्रमण न कर पाए।

भावार्थ—सवितादेव के अनुग्रह से हमारे राष्ट्र में पौष्टिक अन्न की कमी न हो तथा इन्द्र की कृपा से हमारा राष्ट्र शत्रुओं के आक्रमण के भय से रहित हो।

ऋषिः—**अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः)**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अनमित्रम्

अनमित्रं नो अधरादनमित्रं न उत्तरात्। इन्द्रानमित्रं नः पश्चादनमित्रं पुरस्कृधि॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रु-विद्रावक प्रभो! **नः**=हमारे लिए **अधरात्**=दक्षिण दिशा में **अनमित्रम्**=शत्रुराहित्य **कृधि**=कीजिए, **नः**=हमारे लिए **उत्तरात्**=उत्तर दिशा से **अनमित्रम्**=शत्रुराहित्य करने का अनुग्रह कीजिए। २. हे इन्द्र! **नः**=हमारे लिए **पश्चात्**=पश्चिम दिशा से **अनमित्रम्**=शत्रुराहित्य करनेवाले होओ तथा **पुरः**=सामने से—पूर्व दिशा से भी **अनमित्रम्**=अशत्रुता करने का अनुग्रह **कृधि**=कीजिए।

भावार्थ—इन्द्र के अनुग्रह से हमें सब दिशाओं से निर्भयता व अशत्रुता प्राप्त हो। किसी भी दिशा में हमारा कोई शत्रु न हो।

विशेष—सब दिशाओं में अशत्रु बना हुआ यह व्यक्ति 'ब्रह्मा' बनता है और प्रार्थना करता है कि—

४१. [एकचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**मन आदयो दैव्या ऋषयः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

मनसे-चक्षसे

मनसे चेतसे धिय आकूतय उत चित्तये।
मत्यै श्रुताय चक्षसे विधेम हविषा वयम्॥ १॥

१. **मनसे**=मनन के उत्तम साधनभूत मन के लिए, **चेतसे**=ज्ञान के साधनभूत चेतस् के लिए, **धिये**=ध्यान-साधन एकाग्र बुद्धि के लिए, **आकूतये**=संकल्प के लिए, **उत**=और **चित्तये**=अतीत आदि विषय-स्मृति हेतु चिति के लिए **वयम्**=हम **हविषा**=दानपूर्वक अदन के द्वारा **विधेम**=प्रभु का पूजन करते हैं। २. **मत्यै**=आगामी विषयों के ज्ञान की जननीभूत मति के लिए, **श्रुताय**=श्रवणजनित ज्ञान के लिए तथा **चक्षसे**=चाक्षुष ज्ञान के लिए हम हवि के द्वारा प्रभुपूजन करते हैं।

भावार्थ—दानपूर्वक अदन, अर्थात् यज्ञशेष का सेवन तथा प्रभु-पूजन हमें 'मन, चेतस्, धी, आकूति, चिति, मति, श्रुत व चक्षस्' प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**मन आदयो दैव्या ऋषयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सरस्वत्या-उरुव्यचे

अपानाय व्यानाय प्राणाय भूरिधायसे।
सरस्वत्या उरुव्यचे विधेम हविषा वयम्॥ २॥

१. **अपानाय**=मुख-नासिका से बहिर् विनिर्गत वायु का फिर अन्तःप्रवेश अपानन व्यापार कहलाता है, इस अपान के लिए, **व्यानाय**=ऊर्ध्व व अधोवृत्ति के त्याग से उस वायु का शरीर में ठहरना 'व्यान' कहलाता है, उस व्यान के लिए तथा शरीरस्थ वायु का मुख-नासिका से बहिर् निर्गमन प्राण कहलाता है, उस **भूरिधायसे**=बहुत प्रकार से—खूब ही धारण करनेवाले **प्राणाय**=प्राण के लिए **वयम्**=हम **हविषा**=दानपूर्वक अदन के द्वारा **विधेम**=प्रभु का पूजन करते हैं। **सरस्वत्यै**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता के लिए तथा **उरुव्यचे**=हृदय की खूब व्यापकता के लिए भी हम हवि के द्वारा प्रभुपूजन करते हैं।

भावार्थ—यज्ञशेष के सेवन तथा प्रभुपूजन से हमारे 'प्राण, अपान, व्यान' ठीक कार्य करेंगे, हमारा ज्ञान बढ़ेगा और हृदय विशाल होगा।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**मन आदयो दैव्या ऋषयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सप्त ऋषयः

मा नो हासिषुर्ऋषयो दैव्या ये तनूपा ये नस्तन्व स्तनूजाः।
अमर्त्या मर्त्याँ अभि नः सचध्वमायुर्धत्त प्रतरं जीवसे नः॥ ३॥

१. **ये**=जो **दैव्याः**=देवों में होनेवाले अथवा देव (प्रभु) की प्राप्ति के साधनभूत **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा सात शरीरस्थ ऋषि हैं, वे **नः**=हमें **मा**=मत **हासिषुः**=छोड़नेवाले हों। वे 'दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें, एक मुख'—सात ऋषि **ये**=जो **तनूपाः**=शरीर का रक्षण करनेवाले हैं, वे **नः** **तन्वः**=हमारे शरीर से ही **तनूजाः**=शरीर-सम्बन्धी इन्द्रियों के रूप में उत्पन्न होनेवाले हैं। २. हे **अमर्त्याः**=अमर्त्य ऋषियो! **मर्त्यान् नः**=मरणधर्मा हम लोगों को **अभिसचध्वम्**=अभितः प्राप्त होओ और **नः** **जीवसे**=हमारे प्रकृष्ट जीवन के लिए **प्रतरं आयुः**=दीर्घजीवन को **धत्त**=धारण

कराओ।

भावार्थ—शरीरस्थ सात इन्द्रियाँ ही सप्तर्षि हैं। ये हममें स्थित हों और हमें दीर्घजीवन प्रदान करें।

४२. [द्वाचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः (परस्परं चित्तैकीकरणकामः)**॥ देवता—**मन्युः**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

अवज्याम् इव धन्वनः

अव॒ ज्यामि॑व॒ धन्व॑नो म॒न्युं त॑नोमि ते हृ॒दः।
यथा॑ संम॑नसौ भू॒त्वा सखा॑यावि॒व सचा॑वहै॥ १॥

१. पति-पत्नी परस्पर कहते हैं कि **धन्वनः**=धनुर्दण्ड से **ज्याम् इव**=जैसे आरोपित ज्या (डोरी) को धानुष्क अवरोपित करता—उतारता है, उसीप्रकार **ते हृदः**=तेरे हृदय से **मन्युम्**=क्रोध को **अवतोनिम**=अपनीत करता—दूर करता हूँ। २. **यथा**=जिससे हम दोनों **संमनसौ**=समान मनवाले **भूत्वा**=होकर—परस्पर अनुरागयुक्त हुए-हुए **सखायौ इव**=समान ख्यानवाले मित्रों की भाँति **सचावहै**=समवेत—संगत होकर एक कार्यकारी बनें।

भावार्थ—पति-पत्नी परस्पर क्रोधशून्य व अनुरागयुक्त होकर समान कार्य को करनेवाले हों—मिलकर कार्य की पूर्ति करनेवाले हों।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः (परस्परं चित्तैकीकरणकामः)**॥ देवता—**मन्युः**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

अधः ते अश्मनः मन्युम्

सखा॑यावि॒व सचावहा॒ अव॑ म॒न्युं त॑नोमि ते।
अ॒धस्ते॒ अश्म॑नो म॒न्युमुपा॑स्यामसि॒ यो गु॒रुः॥ २॥

१. हम दोनों **सखायौ इव**=समान ख्यानवाले मित्रों की भाँति **सचावहै**=मिलकर समानरूप से कार्य करनेवाले बनें। मैं **ते मन्युम् अवतनोमि**=तेरे क्रोध को उसी प्रकार अवतत (उतारा हुआ) करता हूँ, जैसे धनुष से डोरी को उतारते हैं। २. हे क्रुद्ध मनुष्य! **ते**=तेरे **मन्युम्**=क्रोध को उस **अश्मनः अधः**=पत्थर के नीचे **उपास्यामसि**=फेंकते हैं **यः गुरुः**=जो पत्थर भारी होने के कारण हिलाया भी नहीं जा सकता।

भावार्थ—हम क्रोध को एक भारी पत्थर के नीचे दबा दें। यह क्रोध हम तक फिर न आ सके। हम परस्पर प्रेमयुक्त होते हुए एक-दूसरे के कार्य की पूर्ति करनेवाले बनें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः (परस्परं चित्तैकीकरणकामः)**॥ देवता—**मन्युः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यथा अवशाः न वादिषः

अ॒भि ति॑ष्ठामि ते म॒न्युं पार्ष्ण्या॒ प्रप॑देन च।
यथा॑व॒शो न वादि॑षो॒ मम॑ चि॒त्तमु॒पाय॑सि॥ ३॥

१. मैं **ते मन्युम्**=तेरे क्रोध को **पार्ष्ण्या**=पैर के अपरभग से—एड़ी से **च**=तथा **प्रपदेन**=पादाग्र से **अभितिष्ठामि**=ऊपर स्थित होकर निष्पीड़ित कर डालता हूँ। २. **यथा**=जिससे **अवशः**=क्रोध के परवश हुआ-हुआ तू **न वादिषः**=ऊटपटाँग बोलनेवाला न हो और **मम चित्तम् उपायसि**=मेरे मन को तू समीपता से प्राप्त होता है—मेरे मन के अनुकूल मनवाला होता है।

भावार्थ—हम क्रोध को पैर की ठोकर से ठुकरा दें। क्रोध के परवश होकर कटुवचन न बोलें। हम एक-दूसरे से मिले हुए चित्तवाले हों।

४३. [त्रिचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः (परस्परं चित्तैकीकरणकामः)**॥ देवता—**मन्युशमनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विमन्युकः 'दर्भः'

अयं दर्भो विमन्युकः स्वाय चारणाय च।
मन्योर्विमन्युकस्यायं मन्युशमन उच्यते॥ १॥

१. **अयं दर्भः**=यह कुशा (घास) **स्वाय च**=अपनों के लिए भी **च अरणाय**=और शत्रुओं के लिए भी **विमन्युकः**=क्रोधापनयन का हेतु है—इष्टजनविषयक व अनिष्टजनविषयक क्रोध को शान्त करता है, अथवा इष्टजनों व अनिष्टजनों से किये गये क्रोध को शान्त करता है। २. **मन्योः**=मन्युमान् शत्रुभूत पुरुष का तथा **विमन्युकस्य**=मन्युरहित—आपाततः क्रोधाविष्ट आत्मीय पुरुष का **अयम्**=यह दर्भ **मन्युशमनः**=क्रोध को शान्त करनेवाला **उच्यते**=कहा जाता है। सम्भवतः इसीलिए यज्ञवेदि पर कुश के प्रयोग को महत्त्व दिया गया है।

भावार्थ—दर्भ का प्रयोग क्रोध को शान्त करनेवाला है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः (परस्परं चित्तैकीकरणकामः)**॥ देवता—**मन्युशमनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

भूरिमूलः दर्भः

अयं यो भूरिमूलः समुद्रमवतिष्ठति।
दर्भः पृथिव्या उत्थितो मन्युशमन उच्यते॥ २॥

१. **अयं यः**=यह जो सामने **भूरिमूलः**=अनेक मूलों से युक्त—भूमि पर फैल जानेवाला **दर्भः**=दर्भ **समुद्रम् अवतिष्ठति**=(समुद्रवन्त्यस्मादापः) उदकभूयिष्ट देश को आक्रान्त करके स्थिर होता है। यह **पृथिव्याः उत्थितः**=पृथिवी से उत्पन्न हुआ-हुआ दर्भ **मन्युशमनः उच्यते**= क्रोधविनाश का हेतु कहा जाता है।

भावार्थ—समुद्र के किनारे उत्पन्न हुआ-हुआ यह कुश मन्युशमन कहा गया है। इसका प्रयोग शान्ति देनेवाला है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः (परस्परं चित्तैकीकरणकामः)**॥ देवता—**मन्युशमनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

हनव्यां मुख्यां शरणिं विनयामसि

वि ते हनव्यां शरणिं वि ते मुख्यां नयामसि।
यथावशो न वादिषो मम चित्तमुपायसि॥ ३॥

१. हे क्रोधाविष्ट पुरुष! **ते हनव्याम्**=तेरी हनु सम्बन्धी **शरणिम्**=हिंसा-हेतुभूत क्रोधाभिव्यञ्जक धमनि को **विनयामसि**=विनीत करते हैं—दूर करते हैं, तथा **ते**=तेरी **मुख्याम्**=मुख पर उत्पन्न होनेवाली, क्रोधवश उत्पन्न नाड़ी को भी **वि**=विनीत करते हैं, २. **यथा**=जिससे **अवशः**=क्रोध के परवश हुआ-हुआ तू **न वादिषः**=व्यर्थ नहीं बोलता और **मम चित्तम् उपायसि**=मेरे मन को समीपता से प्राप्त होता है।

भावार्थ—दर्भ के प्रयोग से हम क्रोधाविष्ट के क्रोध को शान्त करें, जिससे यह व्यर्थ न बोलता हुआ अनुकूल मनवाला हो।

विशेष—क्रोधशून्य जीवनवाला यह व्यक्ति सबका मित्र 'विश्वामित्र' बनता है। इसका शरीर भी नीरोग है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

४४. [चतुश्चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तिष्ठाद्रोगः अयं तव

अस्थाद् द्यौरस्थात्पृथिव्यस्थाद्विश्वमिदं जगत्।
अस्थुर्वृक्षा ऊर्ध्वस्वप्नास्तिष्ठाद्रोगो अयं तव॥ १ ॥

१. **द्यौः अस्थात्**=ग्रह-नक्षत्रमण्डलोपेत यह द्युलोक स्थित है, नीचे गिरता नहीं। **पृथिवी अस्थात्**=यह सर्वाधारभूत पृथिवी स्थित है। **इदं विश्वं जगत् अस्थात्**=यह परिदृश्यमान जङ्गम प्राणिसमूह स्थित है। २. ये **ऊर्ध्वस्वप्नः**=खड़े-खड़े ही सोते हुए **वृक्षाः अस्थुः**=वृक्ष भी स्थित हैं। **अयं तव रोगः**=यह तेरा रोग भी **तिष्ठात्**=निवृत्त गतिवाला होता जाए (ष्ठा गतिनिवृत्तौ) न बहे, न बढ़े अपितु निवृत्त हो जाए।

भावार्थ—वैद्य रोगी को प्रेरणा देता है कि द्युलोक, पृथिवीलोक, सब जगत् और ये वृक्ष भी स्थित हैं, तेरा रोग भी अभी स्थित हो जाता है, निवृत्त गतिवाला हो जाता है। यह आगे बढ़ता नहीं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

श्रेष्ठम् आस्त्रावभेषजम्

शतं या भेषजानि ते सहस्त्रं संगतानि च।
श्रेष्ठमास्त्रावभेषजं वसिष्ठं रोगनाशनम्॥ २ ॥

१. हे व्याधित! **ते**=तेरी **या**=जो **शतम्**=सैकड़ों **च**=और **सहस्त्रम्**=हज़ारों **भेषजानि**=रोगशामक ओषधियाँ **संगतानि**=प्राप्त हुई हैं, उनमें 'विषाणका' [अगले मन्त्र में वर्णित] ओषधि **श्रेष्ठम्**=श्रेष्ठ है, प्रशस्ततम है। यह **आस्त्रावभेषजम्**=रक्तस्राव की निवर्तक है **वसिष्ठम्**=वासयितृतम है—रुधिर के आस्राव को रोककर तुझे उत्तमता से बसानेवाली है, और **रोगनाशनम्**=रोग को नष्ट करनेवाली है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदामहाबृहती** ॥

विषाणका वातीकृतनाशनी

रुद्रस्य मूत्रमस्यमृतस्य नाभिः।
विषाणका नाम वा असि पितृणां मूलादुत्थिता वातीकृतनाशनी॥ ३ ॥

१. हे विषाणके! तू **रुद्रस्य**=(रोदयति) इस रुलानेवाले भीषण रोग की **मूत्रम् असि**=(मुच् ष्ट्रन्) छुड़ानेवाली है, **अमृतस्य नाभिः**=हमारे जीवनों में नीरोगता को बाँधनेवाली है (णह बन्धने)। **विषाणका नाम वा असि**='विषाणका' यह निश्चय से तेरा नाम है। तू विशेषेण सम्भजनीया है (षण सम्भक्तौ)। २. **पितृणां मूलात् उत्थिता**=पालक ओषधियों के मूल से तू उत्पन्न हुई है, **वातीकृतनाशनी**=वातविकार से होनेवाले सब कष्टों का निवारण करनेवाली है।

भावार्थ—विषाणका नामक ओषधि भीषण रोगों से छुड़ानेवाली, नीरोगता देनेवाली व वात-विकारों को नष्ट करनेवाली है।

विशेष—नीरोग बनकर यह 'अङ्गिराः' बनता है। इसका मस्तिष्क भी ज्ञानोज्ज्वल होता है, अर्थात् यह 'प्रचेताः' कहलाता है, मन में यह 'यमः'=संयमवाला होता है। अगले चार सूक्तों का यही ऋषि है। यह निष्पाप जीवनवाला बनता हुआ कहता है—

४५. [पञ्चचत्वरिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अङ्गिराः प्रचेता यमश्च** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

गृहेषु गोषु मे मनः

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि।
परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः ॥ १ ॥

१. हे **मनस्पाप**=मन के पाप! मन में उत्पन्न होनेवाले पाप-विचार! तू **परः अप इहि**=यहाँ से परे—दूर चला जा, **किम्**=क्यों तू **अशस्तानि**=अशुभ बातों को **शंससि**=प्रशंसित करता है। २. **परा इहि**=तू दूर ही चला जा। **त्वा न कामये**=मैं तुझे नहीं चाहता। **वृक्षान् वनानि संचर**=तू वृक्षों व वनों में भटकनेवाला हो, **मे मनः**=मेरा मन तो **गृहेषु**=घरों में—घर के कार्यों में और **गोषु**=गौओं में अथवा ज्ञान की वाणियों में लगा हुआ है। मुझे तेरे लिए अवकाश नहीं है।

भावार्थ—हे अशुभ का शंसन करनेवाले मनस्पाप! तू मुझसे दूर चला जा। मेरा मन तो घर के कार्यों व गौओं में लगा है। मुझे तेरे लिए अवकाश नहीं। खाली व्यक्ति के मन में ही अशुभ भावों का उदय होता है।

ऋषिः—**अङ्गिराः प्रचेता यमश्च** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

अवशसा, निःशसा, पराशसा

अवशसा निःशसा यत्पराशसोपारिम जाग्रतो यत्स्वपन्तः।
अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद्दधातु ॥ २ ॥

१. **अवशसा**=(शसु हिंसायाम्) अवस्तात् हिंसन से—चुपके-चुपके हिंसन से, **निःशसा**=नितरां हिंसन से, **पराशसा**=पराङ्मुख हिंसन से—सुदूर असाक्षात् रूप से हिंसन से **यत् उपारिम्**=हम जो पाप कर बैठते हैं, **जाग्रतः**=जागते हुए और **स्वपन्तः यत्**=सोते हुए जो पाप कर बैठते हैं, **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु उन **विश्वानि**=सब **अजुष्टानि**=अशोभन, प्रीतिपूर्वक न सेवन किये गये **दुष्कृतानि**=पापों को **अस्मत्**=हमसे **आरे**=दूर **अपदधातु**=पृथक् करके स्थापित करे।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से हम हिंसाकृत सब पापों से बचे रहें। जागते व सोते हम प्रभुस्मरण करते हुए पापों से बचे रहें।

ऋषिः—**अङ्गिराः प्रचेता यमश्च** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रचेताः आङ्गिरसः

यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेऽपि मृषा चरामसि। प्रचेता न आङ्गिरसो दुरितात्पात्वंहसः ॥ ३ ॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन्! **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! हम **यत् अपि**=जो कुछ भी **मृषा**=असत्य **चरामसि**=आचरण कर बैठते हैं, **प्रचेताः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले, **आङ्गिरसः**=शक्तिसम्पन्न आप **नः**=हमें उस **दुरितात्**=दुःख-प्रापक **अंहसः**=पाप से **पातु**=बचाएँ।

भावार्थ—ज्ञान व शक्ति का सम्पादन करते हुए हम पापों से ऊपर उठें।

४६. [षट्चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अङ्गिराः प्रचेता यमश्च** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्** ॥ छन्दः—**ककुम्मतीविष्टारपङ्क्तिः** ॥

स्वप्न का स्वरूप

यो न जीवोऽसि न मृतो देवानाममृतगर्भोऽसि स्वप्न।
वरुणानी ते माता यमः पितारुर्नामासि ॥ १ ॥

१. हे **स्वप्न**=स्वप्न! **यः**=जो तू **न जीवः असि**=न तो जीवित है, **न मृतः**=न ही मृत है—प्राणधारक भी नहीं है, त्यक्तप्राण भी नहीं है। तू **देवानाम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठातृभूत अग्नि आदि देवों का **अमृतगर्भः असिः**=अमृतमय गर्भ है। यह स्वप्न जाग्रदवस्था के इन्द्रिजन्य अनुभवों से जनित वासनाओं से उत्पन्न होता है और वासनाएँ स्थयी हैं, अतः यह स्वप्न भी सदा से चला ही आता है। २. **वरुणानि**=(रात्रिर्वरुणः—ऐ० ४.१०, वारुणी रात्रिः—तै० १.७.१०.१) रात्रि **ते माता**=तेरी माता है। प्रायः रात्रि में सोने पर ही स्वप्नों का क्रम आरम्भ होता है। **यमः पिता**=शरीर का नियन्ता आत्मा ही तेरा पिता है। आत्मा के शरीर में होने पर ही ये स्वप्न होते हैं, अतः आत्मा को इनका पिता कहा गया है। **अररुः नाम असि**='अररु' तेरा नाम है। तू (ऋ गतौ) तीव्र गतिवाला—क्षणस्थायी है।

भावार्थ—शरीरस्थ आत्मा रात्रि के समय स्वप्नों का अनुभव करता है। ये स्वप्न न वास्तविक हैं, न ही एकदम काल्पनिक। इन्द्रियों के व्यापारों से उत्पन्न संस्कार इसे सदा जन्म देनेवाले होते हैं। यह बड़ी तीव्र गतिवाला है। क्षण में ही कहीं-का-कहीं जा पहुँचता है।

ऋषिः—**अङ्गिराः प्रचेता यमश्च** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्** ॥ छन्दः—**शक्वरीगर्भापञ्चपदाजगती** ॥

अन्तकः असि, मृत्युः असि

विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रो॑ऽसि यमस्य करणः।
अन्तकोऽसि मृत्युरसि।
तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुःष्वप्न्यात्पाहि ॥ २ ॥

१. **स्वप्न**=स्वप्न! हम **ते जनित्रं विद्म**=तेरे जन्म को जानते हैं। तू **देवजामीनां पुत्रः असि**=इन्द्रियों से उत्पन्न अनुभवजन्य वासनाओं का पुत्र है। तू **यमस्य करणः**=यम का सबसे महान् साधन है। [ऐतरेय आरण्यक ३.२.४ में कहा है—अथ स्वप्नः। '**पुरुषं कृष्णं कृष्णादन्तं पश्यति, स एनं हन्ति**'—कई स्वप्न मृत्यु का कारण हो जाते हैं]। **अन्तकः असि**=तू अन्तः करनेवाला है, **मृत्युः असि**=मृत्यु ही है। २. हे **स्वप्न**=स्वप्न! **तं त्वा**=उस तुझे **सं विद्म**=पहले कहे हुए प्रकार से सम्यक् जानते हैं। हे **स्वप्न**=स्वप्न! **सः**=वह तू **नः**=हमें **दुःष्वप्न्यात्**=दुःस्वप्नजनित भय से **पाहि**=रक्षित कर।

भावार्थ—स्वप्न इन्द्रियजनित अनुभवों से होनेवाली वासनाओं से उत्पन्न होते हैं। ये शरीर में विकृति लाकर मृत्यु का कारण भी बन जाते हैं। हम दुःस्वप्नों से बचे ही रहें।

ऋषिः—**अङ्गिराः प्रचेता यमश्च** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यथा कलां तथा शफम्

यथा॑ क॒लां य॒था श॒फं य॒थर्णं॑ सं॒नय॑न्ति।
ए॒वा दुः॒ष्वप्न्यं॒ सर्वं॑ द्वि॒षते॒ सं न॑यामसि ॥ ३ ॥

१. **यथा**=जैसे **कलाम्**=एक-एक कला करके—सोलहवाँ भाग करके **यथा शफम्**=जैसे आठवाँ भाग करके **यथा ऋणम्**=जैसे सारे ऋण को **संनयन्ति**=चुका देते हैं, **एव**=इसीप्रकार **सर्वं दुःष्वप्न्यम्**=दुःस्वप्नजनित सब भय को **द्विषते**=द्वेष करनेवाले मनुष्य के लिए **सं नयामसि**=प्राप्त कराते हैं। हमारे शत्रु ही दुःष्वप्नों को प्राप्त करें।

भावार्थ—जैसे थोड़ा-थोड़ा करके सारा ऋण उतर जाता है, उसी प्रकार हम गाढ़निद्रा का अभ्यास करके स्वप्नों को शत्रुओं के पास भेज देते हैं।

४७. [सप्तचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अङ्गिराः प्रचेता यमश्च** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गायत्रं प्रातःसवनम्

अग्निः प्रातःसवने पात्वस्मान्वैश्वानरो विश्वकृद्विश्वशंभूः।
स नः पावको द्रविणे दधात्वायुष्मन्तः सहभक्षाः स्याम॥ १॥

१. **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **प्रातःसवने**=जीवन के प्रातःसवन में—गायत्र-सवन में **अस्मान् पातु**=हमारा रक्षण करे। **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले, **विश्वकृत्**=सम्पूर्ण संसार का निर्माण करनेवाले, **विश्वशंभूः**=दुःख-शमन द्वारा सम्पूर्ण जगत् में शान्ति स्थापित करनेवाले **सः**=वे **पावकः**=पवित्र करनेवाले प्रभु **नः**=हमें **द्रविणे दधातु**=धन में धारण करें। २. इन धनों के द्वारा हम **आयुष्मन्तः**=दीर्घजीवनवाले व **सहभक्षाः स्याम**=मिलकर खानेवाले—मिलकर भोजन करनेवाले—अकेले न खानेवाले बनें।

भावार्थ—जीवन के प्रातःसवन में हम प्रभु को 'अग्नि व पावक', आगे ले-चलनेवाले व पवित्र करनेवाले के रूप में देखें। हम आगे बढ़ें, जीवन को पवित्र बनाएँ। हम सबका हित करनेवाले, निर्माणात्मक कर्मों में प्रवृत्त व शान्त बनें। धनों का सद्विनियोग करते हुए दीर्घजीवी व मिलकर भोजन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**अङ्गिराः प्रचेता यमश्च** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

त्रैष्टुभं माध्यन्दिनं सवनम्

विश्वेदेवा मरुत इन्द्रो अस्मानस्मिन्द्वितीये सवने न जह्युः।
आयुष्मन्तः प्रियमेषां वदन्तो वयं देवानां सुमतौ स्याम॥ २॥

१. **अस्मिन् द्वितीये सवने**=इस दूसरे माध्यन्दिन सवन में **विश्वेदेवाः**=सब दिव्य गुण, **मरुतः**=प्राण, **इन्द्रः**=जितेन्द्रियता **अस्मान् न जह्युः**=हमें न छोड़ें। इस गृहस्थ जीवनरूप माध्यन्दिन सवन में हम दिव्य गुणों को धारण करें, प्राणसाधना में प्रवृत्त हों और इन्द्रियों के अधिष्ठाता बनने का प्रयत्न करें। २. ऐसा करते हुए **वयम्**=हम **आयुष्मन्तः**=प्रशस्त दीर्घजीवनवाले **एषाम्**=इन देवों—मरुत् व इन्द्र के विषय में **प्रियं वदन्तः**=प्रीतिकर बातों को कहते हुए **देवानाम्**=माता-पिता, आचार्य व अतिथि आदि देवों की **सुमतौ स्याम**=कल्याणी मति में हों—इनकी प्रेरणा के अनुसार कार्य करनेवाले हों।

भावार्थ—गृहस्थ जीवन में हम दिव्य गुणों के धारण का सङ्कल्प लें, प्राणायाम करनेवाले हों, जितेन्द्रिय बनने का यत्न करें। प्रशस्त दीर्घजीवनवाले देवों, मरुतों व इन्द्र के विषय में प्रिय बातों को बोलते हुए 'माता-पिता, आचार्य व अतिथियों' की प्रेरणा के अनुसार चलें।

ऋषिः—**अङ्गिराः प्रचेता यमश्च** ॥ देवता—**सुधन्वा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

जागतं तृतीयसवनम्

इदं तृतीयं सवनं कवीनामृतेन ये चमसमैरयन्त।
ते सौधन्वनाः स्व॒रानशानाः स्वि॑ष्टिं नो अभि वस्यो नयन्तु॥ ३॥

१. **इदम्**=यह **तृतीयं सवनम्**=तृतीय जागत सवन **कवीनाम्**=क्रान्तदर्शी पुरुषों का है, **ये**=जो **चमसम्**=इस शरीररूप पात्र को **ऋतेन**=सत्य से ही—यज्ञ से ही **ऐरयन्त**=प्रेरित करते हैं। जीवन के तृतीय सवन में ये वानप्रस्थ व संन्यस्त पुरुष पूर्ण सत्य का आचरण व यज्ञ करने-

वाले होते हैं। २. **ते सौधन्वनाः**=वे उत्तम ओंकाररूप धनुष को अपनानेवाले—प्रणव का जाप करनेवाले **स्वः आनशानाः**=प्रकाश को व्याप्त करते हुए ज्ञानी पुरुष **नः**=हमें **स्विष्टिम्**=उत्तम यज्ञ की **अभि**=ओर **नयन्तु**=ले-चलें तथा इन यज्ञों के द्वारा **वस्यः**=प्रशस्त वसु की ओर ले-चलें।

भावार्थ—जीवन के तृतीय सवन में ज्ञानी पुरुष ऋत को अपनाकर, प्रणव का जाप करते हुए, प्रकाश को प्राप्त कराके हमें यज्ञों व वसुओं की ओर ले-चलनेवाले हों।

४८. [अष्टचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अङ्गिराः प्रचेता यमश्च** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

श्येन, ऋभु, वृषा

श्येनो॑ऽसि गाय॒त्रच्छ॑न्दा॒ अनु॒ त्वार॑भे।
स्व॒स्ति मा॒ सं व॑हा॒स्य य॒ज्ञस्यो॒दृ॒चि॒ स्वाहा॑॥ १॥
ऋ॒भुर॑सि॒ जग॑च्छन्दा॒ अनु॒ त्वार॑भे।
स्व॒स्ति मा॒ सं व॑हा॒स्य य॒ज्ञस्यो॒दृ॒चि॒ स्वाहा॑॥ २॥
वृषा॑सि त्रि॒ष्टुप्छ॑न्दा॒ अनु॒ त्वार॑भे।
स्व॒स्ति मा॒ सं व॑हा॒स्य य॒ज्ञस्यो॒दृ॒चि॒ स्वाहा॑॥ ३॥

१. जीवन के प्रातःसवन में तू **श्येनः असि**=(श्यायतेर्ज्ञानकर्मणः) खूब ही ज्ञान प्राप्त करनेवाला है। **गायत्रच्छन्दाः**=तू गायत्र छन्दवाला है (गयाः प्राणाः, तान् तत्रे) प्राणशक्ति के रक्षण की प्रबल कामनावाला है। **त्वा अनु आरभे**=तेरा लक्ष्य करके मैं जीवन की क्रियाओं को आरम्भ करता हूँ। मेरी सब क्रियाएँ उस गायत्र सवन को सम्यक् पूर्ण करने की दृष्टि से होती हैं। (क) हे प्रभो! आप **मा**=मुझे **अस्य यज्ञस्य उदृचि**=इस प्रातःसवन नामक यज्ञ की अन्तिम ऋचा तक, अर्थात् समाप्ति तक **स्वस्ति संवह**=सम्यक् कल्याण प्राप्त कराइए। इसके लिए मैं **स्वाहा**=आपके प्रति अपना अर्पण करता हूँ।

२. **ऋभुः असि**=(ऋतेन भाति) तू सत्य वेदज्ञान से दीप्त जीवनवाला है। इस तृतीय सवन में तू **जगच्छन्दः**=सम्पूर्ण जगती के हित की कामनावाला हुआ है। **त्वा अनु आरभे**=मैं तेरा लक्ष्य करके ही जीवन की क्रियाओं को आरम्भ करता हूँ। (ख) आप मुझे इस सवन की अन्तिम ऋचा तक कल्याणपूर्वक ले-चलिए। मैं आपके प्रति अपना अर्पण करता हूँ।

३. **वृषा असि**=तू शक्ति व सुखों का सेचन करनेवाला है, **त्रिष्टुप्छन्दाः**=जीवन के इस माध्यन्दिन (त्रैष्टुभ छन्दवाले)-सवन में तू 'काम-क्रोध-लोभ' इन तीनों को रोकने की कामनावाला है। **त्वा अनु आरभे**=तेरा लक्ष्य करके मैं जीवन की सब क्रियाओं को करता हूँ। (ग) हे प्रभो! आप मुझे इस यज्ञ की समाप्ति तक कल्याणपूर्वक ले-चलिए। मैं आपके प्रति अपना अर्पण करता हूँ।

भावार्थ—जीवन के प्रातःसवन में हम श्येन—खूब ही ज्ञान की रुचिवाले व प्राणरक्षण की इच्छावाले हों। माध्यन्दिन सवन में 'काम-क्रोध-लोभ' को रोकने की इच्छावाले तथा अपने में शक्ति का सेचन करनेवाले हों। तृतीय सवन में ज्ञानी बनकर ज्ञान-प्रसार द्वारा जगती के हित में प्रवृत्त हों। प्रभुकृपा से हमारे तीनों सवन पूर्ण हों।

विशेष—जो मनुष्य ज्ञान के निगरण से जीवन का प्रारम्भ करता है (ब्रह्मचारी=ज्ञान को चरनेवाला) और ज्ञानोपदेश में ही जीवन के अन्तिम भाग को लगाता है (गिरति=उपदिशति) वह गर्ग व गर्ग-पुत्र 'गार्ग्य' कहलाता है। यह गार्ग्य ही अगले सूक्त का ऋषि है—

४९. [एकोनपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गार्ग्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कपिः बभस्ति तेजनम्

नहि ते अग्ने तन्व: क्रूरमानंश मर्त्यः।
कपिर्बभस्ति तेजनं स्वं जरायु गौरिव॥ १॥

१. **अग्ने**=हे तेजस्विन् प्रभो! **मर्त्यः**=वह मनुष्य **ते**=आपके दिये हुए **तन्वः**=इस शरीर के **क्रूरम्**=(कृत्) कर्तन व छेदन को **नहि आनंश**=नहीं प्राप्त करता, जो **कपिः**=(कं पिबति) शरीरस्थ रेत:कणरूप जल को पीनेवाला—शरीर में ही खपानेवाला तथा **तेजनम्**=(तेज=to protect) रक्षा के महान् साधन इस वीर्य को **बभस्ति**=(बभस्तिरत्तिकर्मा—नि० ५.१२) शरीर में उसी प्रकार निगीर्ण करनेवाला होता है **इव**=जैसे **गौः**=एक गौ **स्वं जरायु**=अपने जेर को निगीर्ण कर लेती है। निगरण के कारण ही यह 'गार्ग्य' कहलाता है।

भावार्थ—हम उत्पन्न वीर्य को शरीर में ही खपानेवाले बनें। इससे शरीर का कर्तन व छेदन नहीं होगा। यह वीर्य 'तेजन' है, हमारा रक्षण करनेवाला है।

ऋषिः—**गार्ग्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

सात्त्विक जीवन

मेषइव वै सं च वि चोर्व: च्यसे यदुत्तरद्रावुपरश्च खादतः।
शीर्ष्णा शिरोऽप्ससाप्सो अर्दयन्नंशून्बभस्ति हरितेभिरासभिः॥ २॥

१. **मेषः इव**=स्पर्धावाले की भाँति—उन्नति-पथ पर औरों से आगे बढ़ जाने की स्पर्धावाला वीर्य-रक्षक तू **सम् अच्यसे**=औरों के साथ मिलकर चलता है **च**=और **वै उरु च**=खूब ही विशाल **वि अच्यसे**=विविध गतियोंवाला होता है। इस वीर्यरक्षक पुरुष के जीवन में उन्नति-पथ पर आगे बढ़ने की स्पर्धा होती है। यह औरों के साथ मिलकर गतिवाला होता है। इसके विविध कार्य विशालता से युक्त होते हैं। **यत्**=क्योंकि **उत्तर-द्रौ**=(उत्तर=जीव, द्रु=शरीर-वृक्ष) इसके इस जीव-शरीर में यह स्वयं **च**=तथा **उपरः**=मेघ भी **खादतः**=खाते हैं। यह अकेला नहीं खाता, यह यज्ञ करता हुआ मेघों को भी जन्म देनेवाला होता है—'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः'। २. **शीर्ष्णा**=सिर के दृष्टिकोण से यह **शिरः**=शिखर पर पहुँचता है और **अप्ससा अप्सः**=आकृति से तो यह सौन्दर्य ही होता है (अप्सस=from, beauty) **अंशून्**=ज्ञान की रश्मियों की **अर्दयन्**=याचना करता हुआ यह **हरितेभिः आसभिः**=रोग-हरण की भावनाओं के साथ तथा वासनाओं को परे फेंकने की भावनाओं के साथ **बभस्ति**=खाता है। भोजन खाते हुए इसका दृष्टिकोण यही होता है कि यह उसे नीरोगता व निष्पापता देनेवाला हो।

भावार्थ—संसार में हम उन्नति-पथ पर आगे बढ़ने की स्पर्धावाले बनें। सदा यज्ञ करके यज्ञशेष का सेवन करें। ज्ञान के दृष्टिकोण से शिखर पर तथा तेजस्वी, सुन्दर आकृतिवाले हों। ज्ञान की याचना करें। भोजन इस दृष्टिकोण से करें कि यह हमें नीरोगता देनेवाला हो तथा सात्त्विकता को उत्पन्न करके यह वासनाओं को हमसे दूर रक्खे।

ऋषिः—**गार्ग्यः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृज्जगती** ॥

सुपर्णा

सुपर्णा वाचमक्रतोप द्यव्याखरे कृष्णा इषिरा अनर्तिषुः।
नि यन्नियन्त्युपरस्य निष्कृतिं पुरू रेतो दधिरे सूर्यश्रितः॥ ३॥

१. **सुपर्णाः**=गतमन्त्र में वर्णित उत्तमता से अपना पालन व पूरण करनेवाले लोग **उप द्यवि वाचम् अक्रत**=उस ज्योतिर्मय प्रभु के समीप आसीन हुए-हुए स्तुति-वाणियाँ बोलते हैं। **आखरे**=अपने निवास-स्थान में **कृष्णाः**=अच्छाइयों को अपनी ओर आकृष्ट करनेवाले **इषिराः**=ये गतिशील व्यक्ति **अनिर्तिषुः**=अपने कर्त्तव्यकर्मों में नृत्य करते हैं—प्रभु की उपासना के द्वारा अपने जीवन को उत्तम बनाते हुए ये सदा गतिशील होते हैं। २. **यत्**=जब ये **नि**=निश्चय से यज्ञों के द्वारा **उपरस्य**=मेघ की **निष्कृतिम्**=उत्पत्ति (सम्पादन) को **नियन्ति**=प्राप्त होते हैं, तब ये **सूर्यश्रितः**=ज्ञान के सूर्य का सेवन करनेवाले उपासक **पुरु**=पालन व पूरण करनेवाले **रेतः**=शक्तिकणों को **दधिरे**=धारण करते हैं। यज्ञों द्वारा ये मेघों की उत्पत्ति का कारण बनते हैं और ज्ञान-प्रधान जीवन बिताते हुए शक्ति-कणों को अपने अन्दर धारण करते हैं।

भावार्थ—हम उत्तमता से अपना पालन व पूरण करें—प्रभु की उपासना करें—कर्त्तव्यकर्मों में लगे रहें। यज्ञों के द्वारा मेघों के निर्माण में भागी बनें। ज्ञान-साधना में प्रवृत्त हुए-हुए शक्ति का रक्षण करें।

विशेष—इस सूक्त का 'गार्ग्यः' चूहों आदि से यव-क्षेत्रों का रक्षण करता हुआ तथा यवादि सात्त्विक अन्नों का भोजन करता हुआ 'अथर्वा' बनता है और प्रार्थना करता है कि—

५०. [पञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (अभयकामः)** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥

चूहों का विनाश

हृतं तर्दं समङ्कमाखुमश्विना छिन्तं शिरो अपि पृष्टीः शृणीतम्।
यवान्नेददानपि नह्यतं मुखमथाभयं कृणुतं धान्या᳡य॥ १ ॥

१. हे **अश्विना**=कृषि-कर्म में व्याप्त स्त्री-पुरुषो! (अश व्याप्तौ) **तर्दम्**=हिंसक **समंकम्**=(समञ्चनं बिलं संप्रविश्य गच्छन्तम्) बिल में प्रवेश करके रहनेवाले **आखुम्**=चूहे को **हतम्**=विनष्ट करो, **शिरः छिन्तम्**=इसके सिर को काट डालो, **पृष्टीः अपि शृणितम्**=पार्श्व-अस्थियों को भी चूर्णीभूत कर दो। २. यह चूहा **यवान्**=क्षेत्र उत्पन्न यवों को **न इत् अदान्**=न खा जाए, अतः हे अश्विनौ! आप **मुखम्**=इसके मुख को **अपिनह्यतम्**=बाँध दो और **अथ**=ऐसा करके अब **धान्याय**=व्रीहि-यवादिरूप धान्य के लिए **अभयं कृणुतम्**=निर्भयता कीजिए।

भावार्थ—खेती के विनाशक चूहों को नष्ट करना ठीक ही है। धान्य-रक्षण के लिए इनका विनाश आवश्यक है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

इमान् यवान् अहिंसन्तः

तर्द् है पतङ्ग है जभ्य हा उपक्वस।
ब्रह्मेवासंस्थितं हविरनदन्त इमान्यवानहिंसन्तो अपोदित॥ २ ॥

१. **है तर्द**=हे हिंसक जन्तो! **है पतङ्ग**=हे टिड्डीदल! **है जभ्य**=हे हिंसा के योग्य **उपक्वस**=रेंगनेवाले कीट! **इव**=जैसे **ब्रह्मा**=ब्रह्मा **असंस्थितं हविः**=असंस्कृत हवि नहीं लेता, उसी प्रकार तुम **इमान् यवान्**=इन यवों को **अनदन्तः**=न खाते हुए **अहिंसन्तः**=इन्हें किसी प्रकार हिंसित न करते हुए **अप उद् इत**=इस स्थान से दूर चले जाओ।

भावार्थ—धान्यरक्षक लोग कृषिनाशक जन्तुओं से कृषि को बचाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा (अभयकामः)** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

तर्दापते, वघापते

तर्दापते वघापते तृष्टजम्भा आ शृणोत मे।
य आरण्या व्य᳡द्वरा ये के च स्थ व्य᳡द्वरास्तान्त्सर्वाञ्जम्भयामसि॥ ३॥

१. **तर्दापते**=हे चूहे आदि हिंसकों के स्वामिन्! हे **वघापते**=(अवघ्नन्तीति वघाः) कृषिनाशक पतङ्ग आदि के स्वामिन्! **तृष्टजम्भाः**=तीक्ष्ण दाँतोंवाले तुम **मे आशृणोत**=मेरी इस बात को सुनो। **ये**=जो तुम **आरण्याः**=जङ्गल में होनेवाले **व्यद्वराः**=विविधरूप से यवादि को खा जानेवाले हो **च**=और **ये के**=जो कोई ग्राम्य भी **व्यद्वराः**=विविध अदनशील प्राणी हो, **तान् सर्वान्**=उन सबको **जम्भयामसि**=हम नष्ट करते हैं।

भावार्थ—कृषिनाशक चूहों व टिड्डीदलों को समाप्त करना ही ठीक है।

विशेष—यवादि सात्त्विक भोजनों को करता हुआ यह रोगों व वासनाओं को शान्त करता हुआ 'शन्ताति' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

५१. [एकपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सोम

वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ् सोमो अति द्रुतः। इन्द्रस्य युज्यः सखा॥ १॥

१. **वायोः**=(वातः प्राणो भूत्वा०) प्राणसाधना द्वारा **पूतः**=पवित्र हुआ-हुआ तथा **पवित्रेण**=(नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते) ज्ञान के द्वारा—ज्ञान साधना—निरन्तर स्वाध्याय द्वारा **प्रत्यङ्**=(प्रतिमुखम् अञ्चन्) वापस शरीर में गतिवाला होता हुआ **सोमः**=शरीर में उत्पन्न रेतःकण **अतिद्रुतः**=नाभिदेश को लाँघकर ऊर्ध्व गतिवाला होता है। सोम-रक्षण के प्रमुख साधन हैं—प्राणायाम और स्वाध्याय। २. यह सुरक्षित सोम **इन्द्रस्य**=इस जितेन्द्रिय पुरुष का **युज्यः सखा**=परमात्म-प्राप्ति का साधनभूत मित्र है। सोम-रक्षण द्वारा बुद्धि की तीव्रता होकर प्रभु का दर्शन होता है।

भावार्थ—सोम के रक्षण व ऊर्ध्वगमन के लिए हम प्राणसाधना व स्वाध्याय में प्रवृत्त हों। जितेन्द्रिय बनकर हम सोम का रक्षण करेंगे तो यह हमारी बुद्धि को सूक्ष्म बनाकर हमें प्रभु-दर्शन के योग्य बनाएगा।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

आपः

आपो अस्मान्मातरः सूदयन्तु घृतेन नो घृतप्व᳡ः पुनन्तु।
विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरुदिदाभ्यः शुचिरा पूत एमि॥ २॥

१. **आपः**=शरीरस्थ रेतःकण (आपः रेतो भूत्वा०) **मातरः**=हमारे जीवन का निर्माण करनेवाले हैं। ये **अस्मान्**=हमें **सूदयन्तु**=(क्षालयन्तु पापरहितान् शुद्धान् कुर्वन्तु-सा०) पापरहित व शुद्ध जीवनवाला बनाएँ, **घृतेन**=ज्ञान-दीप्ति के द्वारा **घृतप्वः**=मलों के क्षरण व ज्ञानदीपन द्वारा पवित्र करनेवाले ये रेतःकण **नः पुनन्तु**=हमें पवित्र करें। २. **देवीः**=ये दिव्य गुणोंवाले व रोगों को पराजित करने की कामनावाले रेतःकण **हि**=निश्चय से **विश्वम्**=सब **रिप्रम्**=दोषों को **प्रवहन्ति**=बहा ले जाते हैं, धो डालते हैं। **आभ्यः**=इन रेतःकणरूप जलों से **शुचिः**=पवित्र बना

हुआ **आ पूतः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में पवित्र हुआ-हुआ **इत्**=निश्चय से **उत् एमि**=ऊपर उठता हूँ।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित रेतःकण हमें शुद्ध व पवित्र बनाते हैं। सब दोषों से शून्य होकर मैं ऊपर उठता हूँ।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

वरुण

यत्किं चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्याऽश्चरन्ति।
अचित्त्या चेत्तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो देव रीरिषः ॥ ३ ॥

१. हे **वरुण**=सब पापों का निवारण करनेवाले प्रभो! हम **मनुष्याः**=मनुष्य **यत् किंच**=जो कुछ **इदं अभिद्रोहम्**=यह द्रोह-जनित पाप **दैव्ये जने**=देव-सम्बन्धी प्राणियों के विषय में **चरन्ति**=कर बैठते हैं अथवा **चेत्**=यदि **अचित्त्या**=नासमझी से **तव धर्मा**=आपके नियमों का **युयोपिम**=व्यामोह—विपर्यास करते हैं तो हे **देव**=हमारे पापों को जीतने की कामनावाले प्रभो! **नः**=हमें **तस्मात् एनसः**=उस पाप से **मा रीरिषः**=मत हिंसित कीजिए।

भावार्थ—अज्ञानवश हमसे त्रुटियाँ हो जाती हैं। प्रभु हमें प्रेरणा प्राप्त कराके उन पापों से बचाएँ। हम उन पापों के शिकार न हो जाएँ।

विशेष—प्रभु-प्रेरणा से ज्ञान-दीप्ति (भा) प्राप्त करके पापों को परे फेंकनेवाला (be removed गल्) पापों से दूर रहनेवाला यह व्यक्ति 'भागलि' कहलाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

अथ चतुर्दशः प्रपाठकः

५२. [द्विपञ्चाशः सूक्तम्]

ऋषिः—**भागलिः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सूर्य

उत्सूर्यो दिव एति पुरो रक्षांसि निजूर्वन्। आदित्यः पर्वतेभ्यो विश्वदृष्टो अदृष्टहा ॥ १ ॥

१. **सूर्यः**=सबको कर्मों में प्रेरक यह सूर्य **पुरः**=सामने—पूर्व दिशा में **रक्षांसि**=हमारे शरीर में उपद्रव करनेवाले रोगकृमियों को **निजूर्वन्**=नितरां हिंसित करता हुआ **दिवः उत् एति**=अन्तरिक्ष-प्रदेश से उदित होता है। २. वह **आदित्यः**=भूपृष्ठ से जलों का आदान करनेवाला सूर्य **पर्वतेभ्यः**=मेघों के लिए उदित होता है। जलों को वाष्पीभूत करके ऊपर ले-जाता हुआ यह सूर्य मेघों की उत्पत्ति का कारण बनता है। यह **विश्वदृष्टः**=सब प्राणियों से देखा जाता है, और **अदृष्टहा**=अदृष्ट रोगकृमियों का भी विनाशक है।

भावार्थ—उदय होता हुआ सूर्य रोगकृमियों का संहार करता है। यह मेघों के निर्माण में कारण बनता है।

ऋषिः—**भागलिः** ॥ देवता—**गावः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अन्तर्मुख-यात्रा

नि गावो गोष्ठे असदन्नि मृगासो अविक्षत। न्यू३र्मयो नदीनां न्य१दृष्टा अलिप्सत ॥ २ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सूर्य-सम्पर्क से स्वस्थ शरीरवाले व्यक्ति के जीवन में **गावः**=इन्द्रियाँ **गोष्ठे**=शरीररूप गोष्ठ में **नि असदन्**=निश्चय से स्थित होती हैं। ये विषयों में भटकती नहीं रहतीं। अब **मृगासः**=ये आत्मान्वेषण की वृत्तिवाले व्यक्ति **नि अविक्षत**=हृदयान्तरिक्ष में ही प्रवेश

करनेवाले होते हैं। २. इन **नदीनाम्**=प्रभु का स्तवन करनेवालों की **ऊर्मयः**='शोकमोहौ क्षुत्पिपासे जरामृत्यू षडूर्मयः'—छह ऊर्मियाँ, अर्थात् जीवन-समुद्र में उठनेवाली शोक-मोह, भूख-प्यास, जरा व मृत्युरूप छह तरङ्गें **नि अदृष्टाः**=निश्चय से अदृष्ट हो जाती हैं। इनके जीवन में ये छह तरङ्गें नहीं उठतीं। ये तो **नि अलिप्सत**=निश्चय से उस आत्मतत्त्व को ही पाने की कामनावाले होते हैं।

भावार्थ—स्वस्थ पुरुष की इन्द्रियाँ विषयों में नहीं भटकतीं। ये आत्मान्वेषक हृदयान्तरिक्ष में प्रवेश करते हैं। इनके जीवन समुद्र में शोक-मोह आदि की तरङ्गें नहीं उठतीं। ये निश्चय ही प्रभु-प्राप्ति की कामनावाले होते हैं।

ऋषिः—**भागलिः** ॥ देवता—**भेषजम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विश्वभेषजी वीरुध

आयुर्ददं विपश्चितं श्रुतां कण्वस्य वीरुधम्।
आभारिषं विश्वभेषजीमस्यादृष्टान्नि शमयत्॥ ३॥

१. **कण्वस्य**=मेधावी पुरुष की इस **आयुर्ददम्**=दीर्घजीवन को प्राप्त करनेवाली **विपश्चितम्**=रोग-शमनोपाय को जाननेवाली **श्रुताम्**=प्रसिद्ध **विश्वभेषजीम्**=सब रोगसमूहों को शान्त करनेवाली **वीरुधम्**=विविध उन्नतियों की कारणभूत इस वेदज्ञानरूप वल्ली को मैं **आभारिषम्**=प्राप्त करता हूँ। २. लाकर प्रयुज्मान यह वीरुत् **अस्य**=इस रोग के **अदृष्टान्**=शरीर-मध्यवर्ती द्रष्टुमशक्य रोगों को भी **निशमयत्**=शान्त करे।

भावार्थ—हम वेदज्ञान को प्राप्त करें और सब रोगों को अपने से दूर करें। इस वेदविद्या को विश्वभेषजी जानें।

विशेष—विश्वभेषजी वेदविद्या द्वारा पूर्ण नीरोग बना हुआ यह व्यक्ति 'बृहच्छुक्रः' अतिशयित वीर्यवाला—शक्तिशाली होता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

५३. [त्रिपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**बृहच्छुक्रः** ॥ देवता—**पृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

जीवन को उत्तम बनानेवाली दस बातें

द्यौश्च म इदं पृथिवी च प्रचेतसौ शुक्रो बृहन्दक्षिणया पिपर्तु।
अनु स्वधा चिकितां सोमो अग्निर्वायुर्नः पातु सविता भगश्च॥ १॥

१. **द्यौः च पृथिवी च**=द्युलोक व पृथिवीलोक **मे**=मेरे लिए **इदम्**=इस अभिलषित फल को दें। मेरा मस्तिष्करूप द्युलोक व शरीररूप पृथिवीलोक दोनों ही क्रमशः दीप्त व दृढ़ हों। इसप्रकार ये मुझे इष्ट जीवन प्राप्त कराएँ। ये मेरे लिए **प्रचेतसौ**=प्रकृष्टज्ञान का साधन बनें। २. **बृहत्**=वृद्धि का कारणभूत **शुक्रः**=वीर्य **दक्षिणया**=दान की वृत्ति के साथ **पिपर्तु**=मेरा पालन व पूरण करे। ब्रह्मचर्याश्रम में मैं मस्तिष्क व शरीर का उत्तम विकास करता हुआ ज्ञानी बनूँ तो गृहस्थ में वीर्य को नष्ट न करता हुआ दान की वृत्तिवाला बनूँ। ३. अब वानप्रस्थ में **अनु स्वधा**=आत्मतत्त्व का धारण **सोमः**=सौम्यता व **अग्निः**=आगे बढ़ने की भावना **चिकिताम्**=अनुकूल ज्ञान को देनेवाली हों। ४. अन्त में **वायुः**=(वा गतौ) निरन्तर क्रियाशीलता **सविता**=सूर्य की भाँति प्रकाश व प्रेरणा प्राप्त करना **च**=और **भगः**=(भज सेवयाम्) प्रभु-उपासन **नः पातु**=हमारा रक्षण करे।

भावार्थ—ब्रह्मचर्याश्रम में हम मस्तिष्क व शरीर का विकास करें। गृहस्थ में वीर्य का रक्षण

करते हुए दान की वृत्तिवाले बनें। वानप्रस्थ में आत्मतत्त्व की धारणा, सौम्यता व आगे बढ़ने की भावनावाले हों। अन्त में निरन्तर क्रियाशील, प्रकाशदायी, उपासनामय जीवनवाले हों।

ऋषिः—**बृहच्छुक्रः** ॥ देवता—**पृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पुनः

पुनः प्राणः पुनरात्मा न ऐतु पुनश्चक्षुः पुनरसुर्न ऐतु।
वैश्वानरो नो अदब्धस्तनूपा अन्तस्तिष्ठाति दुरितानि विश्वा॥ २॥

१. प्रतिदिन **पुनः**=फिर से **प्राणः**=प्राण **नः**=हमें **आ एतु**=प्राप्त हो। पुनः फिर से **आत्मा**=मन हमें प्राप्त हो। **पुनः**=फिर से **चक्षुः**=दृष्टिशक्ति **नः आ एतु**=हमें प्राप्त हो और **पुनः**=फिर **असुः**=शरीर से मलों को परे फेंकने की शक्ति प्राप्त हो (अस क्षेपणे)। २. **वैश्वानरः**=(अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्॥) जाठराग्नि **नः**=हमारे **अन्तः**=अन्दर **विश्वा दुरितानि**=रोगनिदानभूत सब विकारों को **तिष्ठाति**=निवृत्त गतिवाला करता है। जाठराग्नि के ठीक होने पर रोग उत्पन्न नहीं होते। यह अग्नि **अदब्धः**=रोगादियों से हिंसित नहीं होता, यह **तनूपाः**=शरीर का रक्षक है।

भावार्थ—हमें प्रतिदिन प्राणशक्ति, मन, चक्षु, अपानशक्ति तथा रोगों को उत्पन्न न होने देती हुई जाठराग्नि प्राप्त हो।

ऋषिः—**बृहच्छुक्रः** ॥ देवता—**पृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वर्चस् व शिव-मन

सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सं शिवेन।
त्वष्टा नो अत्र वरीयः कृणोत्वनु नो मार्ष्टु तन्वो३ यद्विरिष्टम्॥ ३॥

१. हम **वर्चसा**=शरीरगत दीप्ति से **पयसा**=देहावस्थिति-निमित्त पयोवत् सारभूत रस से **सम्**=सङ्गत हों। **तनूभिः**=शरीर के सब हस्त-पाद आदि अवयवों से **सम् अगन्महि**=सङ्गत हों तथा **शिवेन मनसा सम्**=शोभन अन्तःकरण से सङ्गत हों। २. **त्वष्टा**=वह ज्ञानदीप्त निर्माता प्रभु **नः**=हमारे लिए **अत्र**=इस जीवन में **वरीयः**=उत्तम 'सत्य, यश, श्री' को **कृणोतु**=करे। **नः**=हमारे **तन्वः**=शरीर का **यत् विरिष्टम्**=जो रोगार्त अङ्ग हो, उसे **अनुमार्ष्टु**=शुद्ध कर दे।

भावार्थ—हम वर्चस्, पयस्, स्वस्थ अङ्गों व शिव मन से सङ्गत हों। प्रभु हमें उत्कृष्ट 'सत्य, यश व श्री' को प्राप्त कराए और सब रोगों को दूर कर दे।

विशेष—ऊँची-से-ऊँची स्थिति में पहुँचकर हम 'ब्रह्मा' बनें। यही अगले दो सूक्तों का ऋषि है—

५४. [चतुष्पञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्नीषोमौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

क्षत्रं, श्रियं, महीम्

इदं तद्युज उत्तरमिन्द्रं शुम्भाम्यष्टये।
अस्य क्षत्रं श्रियं महीं वृष्टिरिव वर्धया तृणम्॥ १॥

१. **इदम्**=इस **तत् उत्तरम्**=उस उत्कृष्ट कर्म को **युजे**=अपने साथ जोड़ता हूँ, श्रेष्ठ कर्मों को ही करनेवाला बनता हूँ। 'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म'—यज्ञादि उत्तम कर्मों को ही अपनाता हूँ। उस **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अष्टये**=अभिमत फल की प्राप्ति के लिए **शुम्भामि**=

अपने में अलङ्कृत करता हूँ। २. हे प्रभो! आप **अस्य**=इस अपने उपासक के **क्षत्रम्**=बल को, **श्रियम्**=श्री को तथा **महीम्**=पूजा की वृत्ति को (मह पूजायाम्) इसप्रकार **वर्धय**=बढ़ाइए, **इव**=जैसेकि **वृष्टिः**=वर्षा **तृणम्**=तृण को बढ़ाती है।

भावार्थ—हम उत्तम कर्मों में व्यापृत हों और प्रभु का स्मरण करें। प्रभु हमारे बल, धन व उपासन के भाव को बढ़ाएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्नीषोमौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अग्नीषोमौ

अस्मै क्षत्रमंग्नीषोमावुस्मै धारयतं रयिम्। इमं राष्ट्रस्याभीवर्गे कृणुतं युज उत्तरम् ॥ २ ॥

१. जीवन में 'अग्नि और सोम', 'ज्योति व आपः' का समन्वय आवश्यक है। अग्नि 'अग्रता, प्रचण्डता, उत्साह, वीरता' आदि का प्रतीक है और सोम 'शान्ति व नम्रता' का। दोनों का मेल जीवन को सुन्दर बनाता है। केवल 'अग्नि' जला देगा और केवल 'सोम' ठण्डा ही कर देगा, अतः मन्त्र में कहा है कि हे **अग्नीषोमौ**=अग्नि व सोमतत्त्वो! **अस्मै**=इस साधक के लिए **क्षत्रम्**=बल को **धारयतम्**=धारण करो। **अस्मै**=इसके लिए **रयिम्**=धन को धारण करो। २. **इमम्**=इसे **राष्ट्रस्य**=राष्ट्र के **अभिवर्गे**=मण्डल (circuit, compass) में **उत्तरं कृणुतम्**=उत्कृष्ट स्थिति में करो। प्रभु कहते हैं कि मैं इसे **युजे**=उत्कृष्ट कर्मों में लगाता हूँ। अग्नि और सोम का समन्वय हमें मार्ग-भ्रष्ट नहीं होने देता।

भावार्थ—अग्नि और सोम (तीव्रता व नम्रता) का समन्वय होने पर हमें बल व ऐश्वर्य प्राप्त होता है। 'अग्नीषोमौ' का उपासक राष्ट्र में उन्नत स्थिति में होता है। प्रभु इसे उत्कृष्ट कर्मों में लगाये रखते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्नीषोमौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सुन्वते यजमानाय

सबन्धुश्चासबन्धुश्च यो अस्माँ अभिदासति।
सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते ॥ ३ ॥

१. **सबन्धुः**=(समानजन्मगोत्रजः) समान गोत्रवाला **च**=या **असबन्धुः च**=असमान गोत्रवाला भी **यः**=जो कोई भी शत्रु **अस्मान् अभिदासति**=हमें उपक्षीण करता चाहता है, **तं सर्वम्**=उन सबको **सुन्वते**=शरीर में सोम (वीर्य) का अभिषव करनेवाले **यजमानाय**=यज्ञशील **मे**=मेरे लिए **रन्धयासि**=वशीभूत कीजिए।

भावार्थ—हम शरीर में सोमशक्ति का सम्पादन करें और यज्ञशील बनें। प्रभु के अनुग्रह से हम सब शत्रुओं को वशीभूत कर पाएँगे।

५५. [पञ्चपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

सर्वोत्तम देवयान मार्ग

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति।
तेषामज्यानिं यतमो वहाति तस्मै मा देवाः परि धत्तेह सर्वे ॥ १ ॥

१. **ये**=जो **बहवः**=बहुत-से **देवयानः पन्थानः**=देवों के जाने योग्य (देवा यैर्यान्ति) मार्ग **द्यावापृथिवी अन्तरा**=इस द्युलोक व पृथिवीलोक के बीच में **संचरन्ति**=(वर्तन्ते) हैं, अर्थात्

संसार में जितने भी उत्तम मार्ग हैं, **तेषाम्**=उनमें से **यतमः**=जौन-सा सबसे अधिक **अज्यानिम्**=समृद्धि को—लाभ को **वहाति**=प्राप्त कराए, **तस्मै**=उस मार्ग के लिए **सर्वे देवाः**=हे सब देवो! आप **इह**=यहाँ—इस जीवन में **मा परिधत्त**=मुझे धारण करो।

भावार्थ—हम देवयान मार्गों में भी सर्वोत्तम देवयान मार्ग से गतिवाले हों। 'द्यावापृथिवी के मध्य में' इन शब्दों में इस भाव को समझकर कि 'मध्यमार्ग' ही श्रेष्ठ है, उसी से चलने का यत्न करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गौ, प्रजा, निवात-शरण

ग्रीष्मो हेमन्तः शिशिरो वसन्तः शरद्वर्षाः स्विते नो दधात।
आ नो गोषु भजता प्रजायां निवात इद्वः शरणे स्याम॥ २॥

१. **ग्रीष्मः हेमन्तः शिशिरः वसन्तः शरद् वर्षाः**=गर्मी, हेमन्त, शिशिर, वसन्त, शरद और वर्षा—ये छह-की-छह ऋतुएँ **नः**=हमें **स्विते**=सुष्टु प्राप्तव्य धन में व उत्तम आचरण में **दधात**=धारण करें। हम ऋतुचर्या का ध्यान करते हुए उस-उस ऋतु के अनुसार ही अपनी दैनिक चर्चा को बनाएँ। २. हे ग्रीष्म आदि ऋतुओ! **नः**=हमें **गोषु प्रजायाम् आभजत**=उत्तम गौ आदि पशुओं में तथा सन्तानों में भागी बनाओ। हमारे घरों में उत्तम गौएँ हों और हम उत्तम प्रजावाले हों। हे ऋतुओ! हम **वः**=आपके **निवाते**=वातादि के उपद्रवों से रहित **शरणे इत्**=गृह में ही **स्याम**=हों—निवास करनेवाले हों।

भावार्थ—ऋतुओं के अनुकूल आचरण करते हुए हम उत्तम 'गौओं, प्रजाओं व वात आदि के उपद्रवों से शून्य' गृहोंवाले हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

इदावत्सर, परिवत्सर, संवत्सर

इदावत्सराय परिवत्सराय संवत्सराय कृणुता बृहन्नमः।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम॥ ३॥

१. **चान्द्राणां प्रभवादीनां पञ्चके पञ्चके युगे। सम्परीदान्विदित्येतच्छब्दपूर्वस्तु वत्सराः।** उत्पत्ति के पश्चात प्रथम वर्ष 'संवत्सर' कहलाता है, दूसरा 'परिवत्सर', तीसरा 'इदावत्सर', चौथा 'अनुवत्सर' और पाँचवां 'इद्वत्सर'। तै० ब्रा० १.४.१०.१ के अनुसार—'**अग्निर्वाव संवत्सरः, आदित्यः परिवत्सरः चन्द्रमा इदावत्सरः, वायुरनुवत्सरः**'। इन **इदावत्सराय परिवत्सराय संवत्सराय**=चन्द्रमा, आदित्य व अग्नि के लिए **बृहत् नमः कृणुत**=खूब ही नमस्कार करो। चन्द्रमा के समान सदा 'शान्त व प्रसन्नचित्त' बनता। आदित्य के समान सदा 'गुणों का आदान करनेवाले व ज्योतिर्मय' बनना तथा अग्नि के समान सदा 'अग्रगतिवाले' बनना ही इनको नमस्कार करना है। २. **वयम्**=हम **तेषाम्**=उन चन्द्रमा, आदित्य व अग्नि की जोकि **यज्ञियानाम्**=पूजा के योग्य व संगतिकरण योग्य हैं, **सुमतौ**=कल्याणी मति में तथा **भद्रे सौमनसे अपि**=शोभन सौमनस्य में **स्याम**=सदा हों। चन्द्र, आदित्य, अग्नि से 'आह्लाद, ज्योति व अग्रगति' का पाठ पढ़ते हुए हम 'शुभ बुद्धि, भद्र मन व स्वस्थ शरीर' को प्राप्त करें।

भावार्थ—हम अपने जीवन में सर्वप्रथम अग्रगति का पाठ पढ़ें—हमारे जीवन का ध्येय 'आरोहणम्', 'आक्रमणम्' हो। फिर हम सूर्य की भाँति ज्ञान से दीप्त बनने के लिए यत्नशील हों और अपने मनों को चन्द्र की भाँति सौम्य बनाएं। हमारे जीवन का लक्ष्य 'सुमति व भद्र

सौमनस' को प्राप्त करना हो।

विशेष—इसप्रकार जीवन का विकास करते हुए हम 'शन्ताति' बनें—शान्ति का विस्तार करनेवाले। यह शन्ताति ही अगले दो सूक्तों का ऋषि है—

५६. [षट्पञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**उष्णिग्गर्भापथ्यापङ्क्तिः** ॥

सर्पदंश कष्ट-निवारण

मा नो॑ देवा अहि॑र्वधी॒त्सतो॑कान्त्स॒हपू॑रुषान्।
संय॑तं॒ न वि ष्प॑र॒द्व्यात्तं॒ न सं य॑म॒न्नमो॑ देवज॒नेभ्यः॑ ॥ १ ॥

१. हे **देवाः**=विष प्रतीकार में कुशल वैद्यो! **अहिः**=साँप **सतोकान्**=पुत्र-पौत्र आदि सन्तानोंवाले **सहपुरुषान्**=भृत्य आदि पुरुषोंसहित **नः** हमें **मा वधीत्**=हिंसित करनेवाले न हों। २. इन **देवजनेभ्यः नः नमः**=सर्पादि के विष-निवारण में समर्थ देवजनों के लिए हम नमस्कार करते हैं, जिनके अनुग्रह व कौशल से **संयतम्**=संश्लिष्ट (बन्द) हुआ-हुआ सर्प का मुख न **विष्परत्**=खुलता नहीं और **व्यात्तम्**=विवृत (खुला हुआ) मुख **न संयमत्**=बन्द नहीं होता। इसप्रकार ये वैद्य साँप को डसने में असमर्थ कर देते हैं।

भावार्थ—कुशल वैद्यों के कौशल से हमें सर्पदंश से होनेवाले कष्टों से मुक्ति प्राप्त हो।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सर्पों के लिए नमस्कार

नमो॒ऽस्त्वसि॒ताय॒ नम॒स्तिर॑श्चिराजये। स्व॒जाय॑ ब॒भ्रवे॒ नमो॒ नमो॑ देवज॒नेभ्यः॑ ॥ २ ॥

१. **असिताय**=कृष्णवर्ण सर्पराज के लिए **नमः अस्तु**=नमस्कार हो—इससे हम दूर ही रहते हैं, दूर से ही इसे प्रणाम करते हैं। **तिरश्चिराजये नमः**=तिर्यग् अवस्थित वलियोंवाले—तिरछी धारियोंवाले सर्प के लिए भी नमस्कार हो—इससे हम दूर से ही बचें। **स्वजाय**=शरीर में चिपट जानेवाले सर्प के लिए तथा **बभ्रवे**=भूरे रङ्गवाले सर्प के लिए **नमः**=नमस्कार हो—इनसे हम बचें और वज्रप्रहार से इन्हें समाप्त करें। २. **देवजनेभ्यः नमः**=सर्प-विष-चिकित्सा करनेवाले वैद्यों के लिए हम उचित सत्कार प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—'असित, तिरश्चिराजि, स्वज व बभ्रु' नामक सभी सर्पों से हम बचें, सर्पविष-चिकित्सकों का उचित आदर करें।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥

सर्पमुख-संहनन

सं ते॑ हन्मि द॒ता द॒तः समु॑ ते ह॒न्वा हनू॑।
सं ते॑ जि॒ह्वया॑ जि॒ह्वां सम्वा॒स्नाह॑ आ॒स्य॒म् ॥ ३ ॥

१. हे **अहे**=सर्प! **ते**=तेरे **दता**=उपरि पङ्क्ति दन्त से **दतः**=अधः पङ्क्ति में स्थित दाँतों को **संहन्मि**=संहत—संश्लिष्ट करता हूँ **उ**=और **ते**=तेरे **हन्वा**=हनु से **हनू**=हनु को **सम्**=संहत कर देता हूँ—तेरे दोनों जबड़ों को परस्पर सटा देता हूँ। **ते**=तेरी **जिह्वया**=जिह्वा से **जिह्वाम्**=जिह्वा को **सम्**=संहत करता हूँ **उ**=और **आस्ना**=तेरे मुख से **आस्यम्**=मुख को **सम्**=संहत करता हूँ—मुख के उत्तर और अधर भागों को संश्लिष्ट कर डालता हूँ।

भावार्थ—सर्प के मुख को सम्यक् भींचकर उसे वशीभूत कर लेना चाहिए।

५७. [सप्तपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

भावरोग की एकमात्र औषध

इदमिद्वा उ भेषजमिदं रुद्रस्य भेषजम्।
येनेषुमेकतेजनां शतशल्यामपब्रवत्॥ १ ॥

१. **इदम् इत् वा**=यह ब्रह्मज्ञान ही **उ**=निश्चय से **भेषजम्**=औषध है। **इदम्**=यह **रुद्रस्य**=परमात्मा का उपदिष्ट वेदज्ञान इस भवरोग का **भेषजम्**=औषध है, **येन**=जिस ब्रह्मज्ञान-(वेदज्ञान)-रूप औषध से **इषुम्**=इस जीवनरूप बाण को **अपब्रवत्**=अपने से दूर करनेवाला होता है। यह जीवनरूप बाण **एकतेजनाम्**=देहरूप एक काण्डवाला है और **शतशल्याम्**=सैकड़ों व्याधियाँ ही इसमें शल्यरूप हैं अथवा जीवन के सौ वर्ष ही इसमें शत शल्य हैं।

भावार्थ—प्रभु से उपदिष्ट वेदज्ञान को क्रिया में अनूदित करने पर हम मुक्त हो जाते हैं। भवरोग का औषध यह वेदज्ञान ही है।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गोमूत्र-फेन से व्रणचिकित्सा

जालाषेणाभि षिञ्चत जालाषेणोप सिञ्चत।
जालाषमुग्रं भेषजं तेन नो मृड जीवसे॥ २ ॥

१. (जालाषमिति उदकनामसु पठितम्। अत्र च विनियोगानुसारेण गोमूत्रफेनलक्षणम्—सा०) हे परिचारको! **जालाषेण अभिषिञ्चत**=गोमूत्र-फेन से व्रण को सब ओर से धोओ (प्रक्षालयत), **जालाषेण उपसिञ्चत**=गोमूत्र-फेन से इसे उपसिक्त करो—रुई को उसमें भिगोकर व्रण पर रखो। यह **जालाषम्**=गोमूत्रफेन **उग्रं भेषजम्**=बड़ा तीक्ष्ण रोग-निवर्तक औषध है। हे इन्द्र! **तेन**=उस जालाष से **नः**=हमें **जीवसे**=दीर्घजीवन की प्राप्ति के लिए **मृड**=सुखी कीजिए।

भावार्थ—गोमूत्रफेन तीव्र कृमिनाशक औषध है। इसके प्रयोग से कैंसर आदि का दूर होना भी सम्भव है।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**रुद्रः** [**भेषजम्**] ॥ छन्दः—**पथ्याबृहती** ॥

सर्वरोग शमन

शं च नो मयश्च नो मा च नः किं चनाममत्।
क्षमा रपो विश्वं नो अस्तु भेषजं सर्वं नो अस्तु भेषजम्॥ ३ ॥

१. हे देव! **नः**=हमारे **शं च**=रोग का शमन भी हो **च**=और **नः मयः**=हमें रोगजनित दुःख की शान्ति से सुख प्राप्त हो **च**=और **नः** हमारा **किंचन**=कोई भी अङ्ग-प्रत्यङ्ग **मा आममत्**=रोगग्रस्त न हो। २. **रपः**=(रपसः) रोग के कारणभूत पाप का **क्षमा**=शमन—शान्ति हो। **नः** हमारे लिए **विश्वम्**=सारे पदार्थ **भेषजम् अस्तु**=औषधरूप हों—हम भोज्यपदार्थों को भी क्षुधारूप रोग के औषध के रूप में ही सेवन करें। **सर्वम्**=(सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः) वे सर्वव्यापक प्रभु **नः**=हमारे लिए **भेषजम् अस्तु** औषध हों। प्रभु-स्मरण हमें सब व्याधियों से बचाए।

भावार्थ—हमारे रोग शान्त हो गये, सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग स्वस्थ हों। भोज्यद्रव्यों को हम औषधरूप से सेवन करें। प्रभु स्मरण हमारे पाप-रोगों का सर्वमहान् औषध हो।

विशेष—अपने जीवन [illegible] यह [illegible] बनता है। इसका

नाम 'अथर्वा' हो जाता है। यही अगले पाँच सूक्तों का ऋषि है—

५८. [अष्टपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (यशस्कामः)** ॥ देवता—**इन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

यशस्वी जीवन

यशसं मेन्द्रो मघवान्कृणोतु यशसं द्यावापृथिवी उभे इमे।
यशसं मा देवः सविता कृणोतु प्रियो दातुर्दक्षिणाया इह स्याम्॥ १॥

१. **मा**=मुझे **मघवान् इन्द्रः**=ऐश्वर्यशाली सर्वशक्तिमान् प्रभु **यशसं कृणोतु**=यशस्वी बनाए। मैं भी ऐश्वर्य व शक्ति से सम्पन्न बनकर यश प्राप्त करूँ। **इमे उभे**=ये दोनों **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **यशसम्**=मुझे यशस्वी बनाएँ। मेरा मस्तिष्करूप द्युलोक ज्ञानसूर्य से दीप्त हो और शरीररूप पृथिवीलोक दृढ़ हो। ये ज्ञानीदीप्ति व शक्ति मुझे यशस्वी बनाएँ। २. **मा**=मुझे **सविता देवः**=प्रेरक व दिव्य गुणों का पुञ्ज प्रभु **यशसं कृणोतु**=यशस्वी करे। मैं प्रभु-प्रेरणा को सुननेवाला बनूँ और दिव्य गुणों का अपने में वर्धन करूँ। इसप्रकार ही तो मेरा जीवन यशस्वी बनेगा। मैं **इह**=इस जीवन में **दक्षिणायाः दातु**=सब दक्षिणाओं के देनेवाले उस प्रभु का **प्रियः स्याम्**=प्रिय बनूँ।

भावार्थ—हम 'धन, शक्ति, ज्ञान व शरीर की दृढ़ता' को धारण करते हुए यशस्वी बनें। प्रभु-प्रेरणा को सुनते हुए दिव्य गुणों को धारण करें और उस सर्वप्रद प्रभु के प्रिय बनें।

ऋषिः—**अथर्वा (यशस्कामः)** ॥ देवता—**इन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

इन्द्रः, आपः

यथेन्द्रो द्यावापृथिव्योर्यशस्वान्यथाप ओषधीषु यशस्वतीः।
एवा विश्वेषु देवेषु वयं सर्वेषु यशसः स्याम॥ २॥

१. **यथा**=जैसे इन्द्रः सूर्य **द्यावापृथिव्योः**=द्युलोक व पृथिवीलोक में **यशस्वान्**=वृष्टिप्रदान आदि कर्मों के कारण यशस्वी है, **यथा**=जैसे **आपः**=जल **ओषधिषु**=व्रीही-यव आदि ओषधियों में **यशस्वतीः**=उनकी वृद्धि का हेतु होने से यशवाले हैं, **एव**=उसी प्रकार **विश्वेषु देवेषु**=सब देवों में **वयम्**=हम **सर्वेषु**=सब गुणों के दृष्टिकोण से **यशसः स्याम**=यशस्वी हों।

भावार्थ—सूर्य की भाँति हम गुणों का आदान करके उन गुणें को सर्वत्र फैलानेवाले बनें। जलों की भाँति रस का सञ्चार करनेवाले हों। सब दिव्य गुणों के कारण यशस्वी बनें।

ऋषिः—**अथर्वा (यशस्कामः)** ॥ देवता—**इन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इन्द्रः, अग्नि, सोम

यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत।
यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः॥ ३॥

इस मन्त्र की व्याख्या ६.३९.३ पर द्रष्टव्य है।

५९. [एकोनषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अरुन्धत्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अरुन्धती ओषधि

अनडुद्भ्यस्त्वं प्रथमं धेनुभ्यस्त्वमरुन्धति। अधेनवे वयसे शर्म यच्छ चतुष्पदे॥ १॥

१. हे **अरुन्धति**=ओषधे! **त्वम्**=तू **प्रथमम्**=पहले **अनडुद्भ्यः**=शकट का वहन

करनेवाले बैलों के लिए **शर्म**=सुख—व्रण आदि को पूरा करने के द्वारा सुख-चैन **यच्छ**=दे, तथा **त्वम्**=तू **धेनुभ्यः**=दूध देनेवाली गौओं के लिए सुख प्रदान कर। २. इसप्रकार **अधेनवे**=धेनु व्यतिरिक्त **वयसे**=पाँच वर्ष से छोटे गवाश्वादि जातीय **चतुष्पदे**=चतुष्पदमात्र के लिए सुख दे।

भावार्थ—अरुन्धती ओषधि के प्रयोग से हमारे बैल, गौ व अन्य पशु व्रणादिरहित होकर सुखी हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अरुन्धत्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पयस्वान् गोष्ठ

शर्म यच्छत्वोषधिः सह देवीररुन्धती। करत्पयस्वन्तं गोष्ठमयक्ष्माँ उत पूरुषान्॥ २॥

१. **देवीः सह अरुन्धती**=दिव्य गुणों से सम्पन्न यह अरुन्धती **ओषधिः**=ओषधि **शर्म यच्छतु**=हमारे सब पशुओं के लिए सुख दे। २. यह अरुन्धती ओषधि सब पशुओं की नीरोगता के द्वारा **गोष्ठम्**=हमारे गो-निवास देश को **पयस्वन्तम् करत्**=प्रभूत दुग्ध से युक्त करे, **उत**=और इस गोदुग्ध के द्वारा **पूरुषान्**=घर के सब व्यक्तियों को **अयक्ष्मान्**=नीरोग करे।

भावार्थ—अरुन्धती ओषधि हमारे पशुओं को नीरोग बनाकर हमारे घरों को दूध से भर दे। इस गोदुग्ध द्वारा यह हमारे सब मनुष्यों को स्वस्थ बनाए।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अरुन्धत्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'विश्वरूपा सुभगा जीवला' अरुन्धती

विश्वरूपां सुभगामच्छावदामि जीवलाम्।
सा नो रुद्रस्यास्तां हेतिं दूरं नयतु गोभ्यः॥ ३॥

१. **विश्वरूपाम्**=नीरोगता द्वारा सबको उत्तम रूप देनेवाली, **सुभगाम्**=उत्तम ऐश्वर्यशाली, **जीवलाम्**=जीवनीशक्ति को देनेवाली इस अरुन्धती को **अच्छ वदामि**=लक्ष्य करके कहता हूँ कि **सा**=वह अरुन्धती **रुद्रस्य अस्तां हेतिम्**=हमारी त्रुटियों के परिणामस्वरूप रुद्र (प्रभु) से फेंके गये अस्त्र को **नः गोभ्यः**=हमारी गौओं से **दूरं नयतु**=दूर देश में प्राप्त कराए, अर्थात् अरुन्धती के प्रयोग से हमारे गवादि पशु नीरोग हों—यह उन्हें उत्तम स्वास्थ्य प्राप्त कराए, उन्हें सौभाग्यवाला करे—उनके दूध में यह जीवनशक्ति को स्थापित करनेवाली हो।

भावार्थ—अरुन्धती 'विश्वरूपा, सुभगा व जीवला' है। यह हमारे पशुओं को नीरोग बनाए।

६०. [षष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अर्यमा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विषितस्तुप 'अर्यमा'

अयमा यात्यर्यमा पुरस्ताद्विषितस्तुपः। अस्या इच्छन्नग्रुवै पतिमुत जायामजानये॥ १॥

१. **पुरस्तात्**=पूर्व दिशा में **वि-षित-स्तुपः**=विशेषरूप से बँधा हुआ है रश्मियों का समुच्छ्रय जिसमें, ऐसा **अयम्**=यह **अर्यमा**=सूर्य **आयाति**=आता है। रश्मि-समूह से युक्त सूर्य पूर्व दिशा में उदित होता है। यह सूर्य इस कन्या को भी एक-एक दिन करके यौवन प्राप्त करता है और आज **अस्यै अग्रुवै**=इस अविवाहित युवति के लिए **पतिम्**=पति को चाहता है, **उत**=और **अजानये**=जायारहित युवक के लिए **जायाम्**=पत्नी को चाहता हुआ यह सूर्य आता है। २. सूर्य अपनी प्रकाशमयी किरणों से युवक व युवतियों को यौवन प्राप्त कराता है और उनमें एक-दूसरे को प्राप्त करने की कामना जगाता है, मानो सूर्य ही इस कार्य को करनेवाला हो। वस्तुतः कन्या का पिता भी 'अर्यमा' है—'**अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति**' जो कन्या के हाथ को पति के हाथ

में देते हैं तथा 'अरीन् यच्छति' काम-क्रोध-लोभ आदि का नियमन करते हैं, साथ ही सूर्य की भाँति **'विषितस्तुप'**=अपने अन्दर ज्ञानरश्मियों के समुच्छ्रय को बाँधनेवाले होते हैं।

भावार्थ—आदर्श पिता सूर्य के समान है। वह अपनी युवति कन्या के लिए पति की कामना करता हुआ एक उत्तम युवक के लिए कन्या का हाथ ग्रहण कराता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अर्यमा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

समनं यती

अश्रमदियमर्यमन्नन्यासां समनं यती। अङ्गो न्व र्यमन्नस्या अन्याः समनमायति ॥ २ ॥

१. हे **अर्यमन्**=सूर्यवत् दीप्तज्ञानवाले कन्या-पितः! **इयम्**=यह आपकी कन्या **अन्यासाम्**=अपनी अन्य सहेलियों के **समनं यती**=(समनं संमननात् संमानाद्वा—निरु० ७.४.३) सम्मानवाले प्रसङ्गों में—पति-मिलाप के अवसरों पर—विवाहोत्सवों में जाती हुई **अश्रमत्**=थक गई है। २. हे **अर्यमन्**=काम-क्रोध के नियन्ता कन्या-पितः! **नु**=अब **अङ्ग उ**=शीघ्र ही ऐसी व्यवस्था करो कि **अन्याः**=इसकी अन्य सहेलियाँ **अस्याः समनम् आयति**=(आयन्ति) इसके विवाहोत्सव में—पति-मिलन प्रसङ्गों में उपस्थित हों।

भावार्थ—युवति कन्या जब अपनी सहेलियों के विवाहोत्सव में सम्मिलित होती है तो उसकी भी 'पति-प्राप्ति' की कामना होना स्वाभाविक है, अतः पिता को अपने कर्त्तव्य की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अर्यमा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रतिकाम्य पति

धाता दाधार पृथिवीं धाता द्यामुत सूर्यम्।
धातास्या अग्रुवै पतिं दधातु प्रतिकाम्य म् ॥ ३ ॥

१. कन्या-पिता प्रभु से प्रार्थना करता है कि **धाता**=सर्वाधार प्रभो! आप **पृथिवीं दाधार**=पृथिवी का धारण करते हैं, **धाता**=सर्वाधार आप ही **द्याम्**=द्युलोक का **उत**=और **सूर्यम्**=सूर्य का धारण करते हैं। **धाता**=धाता आप ही **अस्यै अग्रुवै**=इस पतिकामा कन्या के लिए **प्रतिकाम्यम्**=आभिमुख्येन कामयितव्य **पतिं दधातु**=पति प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—कन्या का पिता प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! आप ही सबके आधार हो। इस कन्या को भी आपने ही आधार देना है। इसके लिए आप ही योग्य वर प्राप्त कराएँगे।

६१. [एकषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

माधुर्य, ज्योति, व्यचस् (व्यापकता, उदारता)

मह्यमापो मधुमदेरयन्तां मह्यं सूरो अभरज्ज्योतिषे कम्।
मह्यं देवा उत विश्वे तपोजा मह्यं देवः सविता व्यचो धात् ॥ १ ॥

१. **आपः**=जल **मह्यम्**=मेरे लिए **मधुमत् एरयन्ताम्**=अपने माधुर्योपेत रस को प्राप्त कराएँ तथा **सूरः**=सूर्य **मह्यम्**=मेरे लिए **कम्**=सुखकर आत्मीय तेज को **ज्योतिषे**=प्रकाश के लिए **अभरत्**=प्राप्त कराता है। जल व सूर्य मुझमें क्रमशः माधुर्य व ज्योति स्थापित करते हैं, २. **उत**=और **तपोजाः**=तप से शक्तियों का प्रादुर्भाव करनेवाले **विश्वेदेवाः**=सब देव (विद्वान्) **मह्यम्**=मेरे लिए **व्यचः**=व्यापन विस्तार को **धात्**=धारण करें। वह **सविता देवः**=

सबका प्रेरक, दिव्य गुणों का पुञ्ज प्रभु भी **मह्यम्**=मेरे लिए उदारता को धारण करानेवाला हो।

भावार्थ—स्वाभाविक सरल जीवन बिताते हुए हम जलों से माधुर्य तथा सूर्य से ज्योति प्राप्त करें। 'माता-पिता, आचार्य व प्रभु' मुझे उदार—विशाल हृदय बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

सत्यम् अनृतम्

अहं विवेच पृथिवीमुत द्यामहमृतूँरजनयं सप्त साकम्।
अहं सत्यमनृतं यद्वदाम्यहं दैवीं परि वाचं विशश्च॥ २॥

१. प्रभु कहते हैं कि **अहम्**=मैं **पृथिवीं उत द्याम्**=पृथिवी और द्युलोक को **विवेच**=पृथक्-पृथक् थामे रखता हूँ। **अहम्**=मैं **साकम्**=साथ-साथ ही **सप्त ऋतून्**=सात गतिशील प्राणों को—'दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँख व मुख' **अजनयम्**=उत्पन्न करता हूँ। २. **अहम्**=मैं **यत् सत्यम् अनृतम्**=जो सत्य और झूठ है, उसका **वदामि**=प्रतिपादन करता हूँ। 'यह सत्य है, यह अनृत है'—इसका बतानेवाला मैं ही हूँ, **च**=और **अहम्**=मैं ही **दैवीं वाचम्**=दिव्य वेदवाणी को **परिविशः**=प्रजाओं का लक्ष्य करके प्रतिपादित करता हूँ।

भावार्थ—द्युलोक व पृथिवीलोक का धारण करनेवाले वे प्रभु ही हैं। प्रभु ही हमें मुखादि सात प्राणों को—इन्द्रियों को प्राप्त कराते हैं। प्रभु ही हमारे लिए सत्य व असत्य का विविक्तरूप से उपदेश करते हैं। प्रभु ही सृष्टि के आरम्भ में वेदवाणी का प्रकाश करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

अग्नीषोमौ

अहं जजान पृथिवीमुत द्यामहमृतूँरजनयं सप्त सिन्धून्।
अहं सत्यमनृतं यद्वदामि यो अग्नीषोमावजुषे सखाया॥ ३॥

१. **अहम्**=मैं **पृथिवीम्**=पृथिवी को **उत द्याम्**=और द्युलोक को **जजान**=प्रादुर्भूत करता हूँ। **अहम्**=मैं ही प्राणिशरीर में **ऋतून्**=गतिशील **सप्त सिन्धून्**=सात प्राण-प्रवाहों को **अजनयम्**=उत्पन्न करता हूँ। २. **अहम्**=मैं ही **यत्**=जो **सत्यम्**=सत्य है और **अनृतम्**=जो अनृत है उसका **वदामि**=उपदेश करता हूँ, हृदयस्थ रूपेण सत्यासत्य का विवेक प्राप्त कराता हूँ। मैं वह हूँ **यः**=जोकि **सखाया**=परस्पर मित्रभूत—एक-दूसरे के पूरक होने से परस्पर सम्बद्ध **अग्नीषोमौ**=अग्नि और सोमतत्त्वों को **अजुषे**=प्रीतिपूर्वक सेवन कराता हूँ, अर्थात् मेरा उपासक अपने जीवन में अग्नि और सोम इन दोनों तत्त्वों का समन्वय करनेवाला बनता है। इसी कारण उसका जीवन समत्ववाला बना रहता है।

भावार्थ—ब्रह्माण्ड व पिण्ड के जनक प्रभु हमारे जीवनों में सत्यासत्य का प्रकाश करते हैं। वे अपने उपासकों में अग्नि व सोमतत्त्व को स्थापित करके उनके जीवनों को समत्वयुक्त करते हैं।

६२. [द्विषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वैश्वानरादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'सूर्य, वायु, मेघ, द्यावापृथिवी' द्वारा पवित्रता

वैश्वानरो रश्मिभिर्नः पुनातु वातः प्राणेनेषिरो नभोभिः।
द्यावापृथिवी पयसा पयस्वती ऋतावरी यज्ञिये नः पुनीताम्॥ १॥

१. **वैश्वानरः**=सब प्राणियों का हित करनेवाला सूर्य **रश्मिभिः**=अपनी किरणों से **नः पुनातु**=हमें पवित्र करे। **वातः**=देहमध्य में विचरण करता हुआ वायु **प्राणेन**=श्वासोच्छ्वासादिरूप से हमें पवित्र करें। **इषिरः**=यह गमनशील—अन्तरिक्ष में विचरण करनेवाला वायु **नभोभिः**=अन्तरिक्ष-प्रदेशस्थ मेघों से हमें पवित्र करे। २. **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **नः**=हमें **पुनीताम्**=पवित्र करें। जो द्यावापृथिवी **पयसा पयस्वती**=सारभूत रस से सारवाले हैं, **ऋतावरी**=उदकवाले हैं और **यज्ञिये**=यज्ञों के निष्पादन में समर्थ हैं, अथवा संगतिकरण योग्य हैं। हमें इन द्यावापृथिवी को मिलाकर ही चलना चाहिए। अपने जीवन में शरीर (पृथिवी) व मस्तिष्क (द्युलोक) दोनों का ही ध्यान रखना चाहिए।

भावार्थ—सूर्य, वायु, मेघ व द्यावापृथिवी—सभी हमें पवित्र करनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वैश्वानरादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वैश्वानरी वाणी का अध्ययन

वैश्वानरीं सूनृतामा रभध्वं यस्या आशास्तन्वो वीतपृष्ठाः।
तया गृणन्तः सधमादेषु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ २॥

१. **वैश्वानरीम्**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले प्रभु से दी गई **सूनृताम्**=उत्तम, दुःखों का परिहाण करनेवाली व सत्य (सु+ऊन+ऋत) वेदवाणी को **आरभध्वम्**=आरम्भ करो, इसका अध्ययन आरम्भ करो, **यस्याः**=जिस वेदवाणी की **आशाः**=दिशाएँ **तन्वः**=विस्तारवाली हैं तथा **वीतपृष्ठाः**=दीप्त व विस्तीर्ण पृष्ठवाली हैं—इस वेदवाणी का ज्ञान अनन्त व दीप्त है। २. **तया**=उस वेदवाणी से **सधमादेषु**=आनन्दपूर्वक मिलकर बैठने के अवसरों पर **गृणन्तः**=प्रभुस्तवन करते हुए **वयम्**=हम **रयीणाम्**=धनों के **पतयः स्याम**=पति हों—दास न बन जाएँ।

भावार्थ—हम वेदवाणी का अध्ययन करें। यह वेदवाणी अनन्त ज्ञानवाली है। मिलकर बैठने के अवसरों पर इस वाणी द्वारा हम प्रभुस्तवन करें और इस संसार में धनों के दास न बनकर उनके स्वामी बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वैश्वानरादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शुचयः, पावकाः

वैश्वानरीं वर्चस आ रभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः।
इहेडया सधमादं मदन्तो ज्योक्पश्येम सूर्यमुच्चरन्तम्॥ ३॥

१. **वैश्वानरीम्**=प्राणिमात्र का हित करनेवाले प्रभु की वेदवाणी को **आरभध्वम्**=पढ़ना आरम्भ करो। यह **वर्चसे**=तुम्हारे वर्चस् के लिए होगी। इससे **शुद्धाः भवन्तः**=पापशून्य होते हुए **शुचयः**=ब्रह्मवर्चस् से दीप्त बनकर **पावकाः**=औरों को भी पवित्र करनेवाले बनो। २. **इह**=यहाँ—घरों में **इडया**=इस वेदवाणी से **सधमादं मदन्तः**=आनन्दपूर्वक मिलकर बैठने के स्थानों में आनन्दित होते हुए हम **ज्योक्**=दीर्घकाल तक **उच्चरन्तं सूर्यम्**=उदय होते हुए सूर्य को **पश्येम**=देखें, अर्थात् बड़े दीर्घजीवी बनें।

भावार्थ—हम वेदवाणी के अध्ययन से पापरहित बनकर औरों को भी पवित्र करनेवाले हों। घरों में मिलकर, आनन्दपूर्वक इसका पाठ करें और दीर्घजीवी बनें।

विशेष—वेदवाणी के अध्ययन के द्वारा काम-क्रोध-लोभ आदि की जिघांसावाला यह पुरुष 'द्रुह्वणः' कहलता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

६३. [त्रिषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—द्रुह्वणः (आयुर्वर्चोबलकामः)॥ देवता—निर्ऋतिः ॥ छन्दः—अतिजगती ॥

'अदो-मदं' अन्नम्

यत्ते॑ दे॒वी निर्ऋ॑तिराब॒बन्ध॒ दाम॑ ग्री॒वास्व॑विमो॒क्यं यत्।
तत्ते॒ वि ष्या॒म्यायु॑षे॒ वर्च॑से॒ बला॑यादोम॒दमन्न॑मद्धि॒ प्रसू॑तः॥ १॥

१. हे पुरुष! **देवी**=तुझे पराजित करने की कामनावाली (दिव् विजिगीषा) अथवा तुझे मद की अवस्था में ले-जानेवाली **निर्ऋतिः**=इस अनिष्टकारिणी पापदेवता ने **ते**=तेरी **ग्रीवासु**=कण्ठगत धमनियों में—तेरी गर्दन में **यत्**=जिस **अविमोक्यम्**=कठिनता से छुड़ाये जाने योग्य **दाम**=रज्जु को—पाश को **आबबन्ध**=बाँधा है, **ते**=तेरे **तत्**=उस पाश को **विष्यामि**=मैं छुड़ाता हूँ। गतमन्त्र के अनुसार वेदाध्ययन की प्रवृत्ति हमें इस निर्ऋति के पाश से छुड़ानेवाली होगी। २. इस निर्ऋति के पाश से मुक्त होकर तू **प्रसूतः**=इस वेदवाणी से प्रेरित हुआ-हुआ **अदोमदम्**=अनन्तकाल तक व्याप्त होनेवाले—आनन्द प्राप्त करानेवाले **अन्नम् अद्धि**=ज्ञान का ओदन खा। 'ब्रह्मचारी'—ज्ञान को चरनेवाला बन, 'आ-चार्य' तुझे इस ज्ञान को चराएँ। यह तेरे **आयुषे**=दीर्घजीवन के लिए हो, **वर्चसे**=प्राणशक्ति के लिए हो तथा **बलाय**=तुझे बल सम्पन्न करे।

भावार्थ—हम वेदाध्यन द्वारा अपने को निर्ऋति के पाश से मुक्त करें। अनन्त आनन्द प्राप्त करानेवाले ज्ञान को प्राप्त करें। ब्रह्मौदन के खानेवाले बनें। यह हमें 'दीर्घजीवन, प्राणशक्ति व बल' प्राप्त कराए।

ऋषिः—द्रुह्वणः (आयुर्वर्चोबलकामः)॥ देवता—यमः ॥ छन्दः—जगतीगर्भाजगती ॥

'निर्ऋतिपाश विमोक्ता' यम (मृत्यु)

नमो॑ऽस्तु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽ य॒स्मया॒न्वि चृ॑ता बन्धपा॒शान्।
य॒मो मह्यं॒ पुन॒रित्त्वां द॑दाति॒ तस्मै॑ य॒माय॒ नमो॑ अस्तु मृ॒त्यवे॑॥ २॥

१. साधक निर्ऋति=पापदेवता से कहता है कि हे **तिग्मतेजः**=तीक्ष्णतेजवाली **निर्ऋते**=पापदेवते! **नमः अस्तु**=हमारा तुझे दूर से ही नमस्कार हो। तूने इन **अयस्मयान्**=लोहे के बने हुए—बड़े दृढ़ **बन्धपाशान्**=बन्धनरज्जुओं को **विचृता**=छिन्न कर दिया है—हमसे पृथक् कर दिया है। हे पापदेवते! तेरी बड़ी कृपा है कि तूने हमें बन्धनमुक्त कर दिया है। २. इस बन्धनमुक्त साधक से प्रभु कहते हैं कि पाप-बन्धनों से मुक्त करनेवाला **यमः**=तुम्हारे जीवन को नियमित बनानेवाला आचार्य **त्वाम्**=तुझे **पुनः इत्**=फिर—पाप-बन्धन से मुक्त करके **मह्यं ददाति**=मुझे देता है। **तस्मै**=उस **यमाय**=जीवन को नियमित करनेवाले **मृत्यवे**=द्वितीय नव-जीवन प्राप्त करानेवाले आचार्य के लिए **नमः अस्तु**=तुम्हारा नमस्कार हो—तुम उन्हें आदरपूर्वक प्रणाम करो।

भावार्थ—हम पाप-देवता को दूर से ही नमस्कार करें। नियन्ता, नव-जीवन देनेवाले आचार्यों का हम आदर करें। वे हमें पाप-बन्धन से मुक्त करके प्रभु के लिए प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—द्रुह्वणः (आयुर्वर्चोबलकामः)॥ देवता—मृत्युः ॥ छन्दः—जगतीगर्भाजगती ॥

यमेन पितृभिः संविदानः

अ॒य॒स्मये॑ द्रु॒प॒दे बे॑धिष इ॒हाभिहि॑तो मृ॒त्युभि॒र्ये स॒हस्र॑म्।
य॒मेन॒ त्वं पि॒तृभिः॑ संविदा॒न उ॑त्त॒मं नाक॒मधि॑ रोहये॒मम्॥ ३॥

१. हे **निर्ऋते**=पापदेवते! तू इस मनुष्य को **अयस्मये**=लोह-निर्मित बड़े दृढ़ **द्रुपदे**=दारु

निर्मित पादबन्धन में—बेड़ियों में **बेधिषे**=बाँध देती है। **इह**=इस लोक में यह पुरुष इन **मृत्युभिः**=मृत्यु के कारणभूत पाशों से **अभिहितः**=बद्ध हो जाता है। उन मृत्युपाशों से बद्ध हो जाता है **ये**=जोकि **सहस्रम्**=हज़ारों की संख्या में हैं। कितने ही पाश-बन्धनों से यह पुरुष जकड़ा जाता है। हे साधक! **त्वम्**=तू **यमेन**=जीवन को नियमित बनानेवाले आचार्य से तथा **पितृभिः**=रक्षा करनेवाले माता-पिता आदि से **संविदानः**=सम्यक् ज्ञान प्राप्त करता हुआ अपने को **इमम्**=इस **उत्तमं नाकम्**=उत्कृष्ट मोक्षलोक में **अधिरोहय**=आरूढ़ कर—तू मोक्षलोक को प्राप्त करनेवाला बन।

भावार्थ—पापदेवता हमें दृढ़ पाशों में जकड़ देती है। हम आचार्यों व पितरों से ज्ञान प्राप्त करके पाप-बन्धनों से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करें।

ऋषिः—**द्रुह्वणः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'वृषा, अग्नि, अर्य' आचार्य

संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ। इडस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर॥ ४॥

१. विद्यार्थी आचार्य से कहता है कि हे **वृषन्**=मुझे ज्ञान-जल से सिक्त करनेवाले, **अग्ने**=मुझे आगे-और-आगे ले-चलनेवाले आचार्य! **अर्यः**=आप जितेन्द्रिय हो और सब ज्ञानों के स्वामी हो। **इत्**=निश्चय से **सम्**=सम्यक् और **सं आ युवसे**=अच्छी प्रकार ही मुझे बुराइयों से पृथक् करते हो और अच्छाई के साथ जोड़ते हो। २. आप **इडः पदे**=इस ज्ञान की वाणी के मार्ग में **समिध्यसे**=खूब ही चमकते हो। **सः**=वे आप **नः**=हमारे लिए **वसूनि**=इन ज्ञान-साधनों को **आभर**=समन्तात् भृत कीजिए। हमें ज्ञानदीप्त करके उस ज्ञानाग्नि में सब निर्ऋति-बन्धनों को भस्म कर दीजिए।

भावार्थ—ज्ञानदीप्त आचार्य हमें ज्ञानसिक्त करके सब बुराइयों से पृथक् करें।

विशेष—यह ज्ञानदीप्त व्यक्ति स्थितप्रज्ञ बनता है। इसकी मति विषयों से आन्दोलित नहीं होती। इसी से यह 'अथर्वा' कहलाता है। यह अथर्वा ही अगले छह सूक्तों का ऋषि है।

६४. [चतुःषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सांमनस्यम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

संज्ञान

सं जानीध्वं सं पृच्यध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते॥ १॥

१. आचार्य का विद्यार्थी को प्रथम उपदेश यह है कि तुम **संजानीध्वम्**=समान ज्ञानयुक्त होओ। ज्ञान ही सब व्यवहारों का मूल है। समान ज्ञानवाले होकर **संपृच्यध्वम्**=मिलकर कार्यों को करनेवाले होओ। **वः**=तुम्हारे **मनांसि**=मन **संजानताम्**=परस्पर विरुद्ध ज्ञानजनक न हों। अन्तःकरण समान ज्ञान को पैदा करेगा तो संज्ञानवाले बनकर मिलकर कर्मों को करनेवाले होंगे। २. **यथा**=जिस प्रकार **संज्ञानानाः**=संज्ञानवाले **पूर्वे**=पालन व पूरण करनेवाले **देवाः**=देव **भागम्** **उपासते**=अपने-अपने कर्त्तव्य का उपासन करते हैं, उसी प्रकार हम भी 'सांमनस्य, संज्ञान व सम्पर्क' वाले हों।

भावार्थ—देव संज्ञानवाले होते हुए अपने कर्त्तव्यकर्मों को करते हैं, उसी प्रकार हम भी संज्ञानवाले होकर अपने-अपने कर्त्तव्यों को करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सांमनस्यम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मन्त्र व चित्त की समानता

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं व्रतं सह चित्तमेषाम्।
समानेन वो हविषा जुहोमि समानं चेतो अभिसंविशध्वम्॥ २॥

१. **मन्त्रः**=तुम्हारा कार्य-अकार्य का पर्यालोचन **समानः**=एकरूप हो। उस मन्त्र के अनुसार **समितिः**=संगति—कार्यों में प्रवृति **समानी**=एकरूप हो, तुम्हारे **व्रतं समानम्**=कर्म एकरूप हों। **एषाम्**=इन सबका **चित्तम्**=अन्तःकरण भी **सह**=एकविध हो—मिला हुआ हो। २. **समानेन**=साधारण—ऐक्य के जनक **हविषा**=दानपूर्वक अदन की वृति से **वः**=तुम्हें **जुहोमि (हावयामि)**=यज्ञशील बनाता हूँ। वस्तुत यह यज्ञशीलता—स्वार्थ से ऊपर उठने की वृत्ति ही हमें परस्पर मेलवाला करती है। इस हवि के द्वारा **समानं चेतः**=एकरूप चित्त को **अभिसंविशध्वम्**=आभिमुख्येन प्राप्त होओ।

भावार्थ—हमारा मन्त्र, समिति, व्रत व चित्त समान हो। हम यज्ञशील होते हुए समान चित्त को प्राप्त हों। हम सब अभिन्न हृदय बन पाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सांमनस्यम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'आकूति, हृदय व मन' की समानता

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥ ३॥

१. हे सांमनस्य की कामनावाले पुरुषो! **वः**=तुम्हारा **आकूतिः**=संकल्प **समानी**=समान हो। **वः**=तुम्हारे **हृदयानि**=संकल्पजनक अन्तःकरण **समाना**=एकरूप हों। २. **वः**=तुम्हारा **मनः**=सुख आदि का अनुभव करनेवाला मन **समानम् अस्तु**=एकरूप हो, **यथा**=जिससे **वः**=तुम्हारा **सुसह**=उत्तमता से मिलकर कार्यों का करना **असति**=हो।

भावार्थ—तुम्हारे संकल्प, हृदय और मन एक हों, जिससे तुम मिलकर कार्यों को कर सको।

६५. [पञ्चषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः— **अथर्वा** ॥ देवता—**पराशरः, इन्द्र** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

शत्रुबाधा-निवारण

अव मन्युरवायताव बाहू मनोयुजा।
पराशर त्वं तेषां पराञ्चं शुष्ममर्दयाधा नो रयिमा कृधि॥ १॥

१. शत्रु-सम्बन्धी **मन्युः**=क्रोध **अव**=हमसे दूर हो। **आयता**=आयम्यमान धनुष् आदि आयुध **अव**=हमसे दूर हों। **मनोयुजा बाहू**=मनसहित इन शत्रुओं की भुजाएँ **अव**=अवाचीन हों—आयुधों के उठाने में अशक्त हों। २. हे **पराशर**=(पराशृणाति शत्रून्) शत्रुओं को सुदूर नष्ट करनेवाले इन्द्र! **त्वम्**=आप **तेषाम्**=उन शत्रुओं के **शुष्मम्**=शत्रुशोषक बल को **पराञ्चम्**=पराङ्मुख **अर्दय**=बाधित कीजिए—हमपर इस बल का आक्रमण न हो, ऐसी व्यवस्था कीजिए। **अध**=अब—शत्रुओं को पराङ्मुख करने के पश्चात् **नः**=हमारे लिए **रयिम्**=ऐश्वर्य को **आकृधि**=समन्तात् प्राप्त कराइए।

भावार्थ—शत्रुओं के क्रोध व आयुधों को हमसे दूर कीजिए। उनके मन में आक्रमण का उत्साह न हो और भुजाओं में आक्रमण की शक्ति न हो। शत्रुओं के बल को हमसे दूर बाधित

कीजिए और हमें ऐश्वर्यशाली बनाइए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पराशरः, इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सैनिकों व प्रजाओं का कर्त्तव्य

निर्हस्तेभ्यो नैर्हस्तं यं देवाः शरुमस्यथ। वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम्॥ २॥

१. हे **देवाः**=शत्रुओं के पराजय की कमानवाले सैनिको! (दिव् विजिगीषा) **निर्हस्तेभ्यः**=हम निहत्थे प्रजाजनों के रक्षण के लिए **यम्**=जिस **नैर्हस्तम्**=शत्रुओं को निहत्था करनेवाले **शरुम्**=हिंसक बाण आदि आयुध को **अस्यथ**=तुम फेंकते हो, तो **अहम्**=मैं प्रजाजन भी **अनेन हविषा**=इस हवि के द्वारा—राष्ट्र रक्षा के लिए दिये जानेवाले धन के द्वारा **शत्रूणां बाहून्**=शत्रुओं की भुजाओं को **वृश्चामि**=काटता हूँ।

भावार्थ—शस्त्रास्त्रशून्य हाथोंवाले प्रजाजनों के रक्षण के लिए सैनिक शक्तिप्रयोग के द्वारा शत्रुओं को निहत्था करनेवाले हों। प्रजाजन धन-प्रदान द्वारा इस युद्ध में सफलता प्राप्त करानेवाली हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पराशरः, इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इन्द्रः+सत्वानः

इन्द्रश्चकार प्रथमं नैर्हस्तमसुरेभ्यः। जयन्तु सत्वानो मम स्थिरेणेन्द्रेण मेदिना॥ ३॥

१. **प्रथमम्**=पहले **इन्द्रः**=राष्ट्र का रक्षक राजा—देववृत्ति की प्रजाओं का रक्षण करानेवाला राजा **असुरेभ्यः**=आसुरवृति के पुरुषों के लिए—राष्ट्र में डाके आदि उपद्रव करानेवाले पुरुषों के लिए **नैर्हस्तं चकार**=निहत्थेपन की व्यवस्था करता है—उन्हें निगृहीत करके निहत्था करता है, इसप्रकार यह राजा आन्तर शत्रुओं का विनाश करता है। २. इस राजा की यह कामना होती है कि **स्थिरेण**=युद्धकर्म में दृढ़ **मेदिना**=सैनिकों के साथ स्नेह करनेवाले **इन्द्रेण**=शत्रुविद्रावक सेनापति के साथ **मम**=मेरे **सत्वानः**=(सादयन्ति शत्रून् इति) शत्रुओं को विनष्ट करनेवाले सैनिक **जयन्तु**=शत्रुओं को पराजित करें।

भावार्थ—राजा राष्ट्र के आन्तर व बाह्य शत्रुओं का विनाश करे। सेनापति वीर और सैनिकों के प्रति स्नेहवाला हो।

६६. [षट्षष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अघहार-वेधन

निर्हस्तः शत्रुरभिदासन्नस्तु ये सेनाभिर्युधमायन्त्यस्मान्।
समर्पयेन्द्र महता वधेन द्रात्वेषामघहारो विविद्धः॥ १॥

१. **अभिदासन्**=हमारा उपक्षय करनेवाला शत्रु **निर्हस्तः अस्तु**=निहत्था हो जाए—उसके हाथ सामर्थ्यशून्य हो जाएँ। **ये**=जो शत्रु **सेनाभिः**=अपनी सेनाओं के साथ **अस्मान् युधम् आयन्ति**=हमारे साथ युद्ध के लिए आते हैं, २. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक सेनापते! तू उन शत्रुओं को **महता वेधन**=महान् हनन-साधन आयुध से—वज्र से **समर्पय**=संयुक्त कर—वज्र के द्वारा इनका विनाश कर। **एषाम्**=इनका **अघहारः**=मरण-लक्षण, दुःख प्राप्त करानेवाला प्रधान पुरुष **विविद्धः**=विशेषरूप से विद्ध हुआ-हुआ **द्रातु**=भाग खड़ा हो।

भावार्थ—सेनाओं द्वारा आक्रमण करनेवाले शत्रु को हम निहत्था करें। इन्हें वज्र के प्रति अर्पित करें। इनके प्रधान को विविद्ध करके भगा दें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शत्रुओं का निर्हस्तीकरण

आतन्वाना आयच्छन्तोऽस्यन्तो ये च धावथ।
निर्हस्ताः शत्रवः स्थनेन्द्रो वोऽद्य पराशरीत्॥ २॥

१. **आतन्वानाः**=धनुषों पर चिल्ला चढ़ाये हुए **आयच्छन्तः**=शरसन्धान द्वारा धनुषों को तानते हुए **च**=तथा **अस्यन्तः**=तीरों को फेंकते हुए **ये**=जो तुम **धावथ**=हमारे अभिमुख शीघ्रता से आते हो, वे तुम सब **शत्रवः**=शत्रु **निर्हस्ताः**=निर्वीर्य हाथोंवाले **स्थन**=होओ। **इन्द्रः**=यह शत्रुविद्रावक सेनापति **वः**=तुम्हें **अद्य**=आज **पराशरीत्**=सुदूर विशीर्ण करता है।

भावार्थ—आक्रमण के लिए उद्यत शत्रुओं को सेनापति निर्हस्त करके सुदूर विनष्ट कर देता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शत्रुधन-विभाजन

निर्हस्ताः सन्तु शत्रवोऽङ्गैषां म्लापयामसि।
अथैषामिन्द्र वेदांसि शतशो वि भजामहै॥ ३॥

१. **शत्रवः**=हमारे शत्रु **निर्हस्ताः सन्तु**=निहत्थे हो जाएँ। हम **एषाम्**=इनके **अङ्गा**=हस्त-पादादि अवयवों को **म्लापयामसि**=म्लान—क्षीणहर्ष करते हैं। २. **अथ**=अब—इन्हें नष्ट करने के पश्चात् हे **इन्द्र**=शत्रु-विद्रावक प्रभो! आपके अनुग्रह से **एषां शत्रूणाम्**=इन शत्रुओं के **वेदांसि**=धनों को—अन्यायार्जित धनों को **वि भजामहै**=इनसे विभक्त कर देते हैं—इनके धनों को इनसे छीनकर यथोचितरूप में बाँट देते हैं।

भावार्थ—शत्रुओं को नष्ट करके उनके अन्यायोपार्जित धनों को उनसे विभक्त कर दिया जाए।

६७. [सप्तषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इन्द्रः+पूषा

परि वर्त्मानि सर्वत इन्द्रः पूषा च सस्त्रतुः।
मुह्यन्त्वद्यामूः सेना अमित्राणां परस्तराम्॥ १॥

१. राष्ट्र में शत्रुओं से मोर्चा लेनेवाला 'इन्द्र' है। सैनिकों की भोजन-व्यवस्था को ठीक रखनेवाला 'पूषा' है। **इन्द्रः पूषा च**=ये इन्द्र और पूषा **सर्वतः**=सब दिशाओं में **वर्त्मानि**=सञ्चरण मार्गों को **परिसस्त्रतुः**=चारों ओर से निरुद्ध करके गति करते हैं। शत्रुओं को प्रवेश के लिए द्वार उपलब्ध नहीं होता। २. **अद्य**=अब **अमूः**=वे दूर पर दिखाई देती हुई **अमित्राणां सेनाः**=शत्रुओं की सेनाएँ—रथ, तुरग, पदाति आदि **परस्तराम्**=अशियेन—बहुत ही **मुह्यन्तु**=व्यामूढचित्त—कार्याकार्य-ज्ञान-शून्य हो जाएँ।

भावार्थ—सेनापति व अन्नाध्यक्ष सब ओर से मार्गों पर गति करते हुए शत्रु-सैन्यों के लिए मार्गों को निरुद्ध कर दें। शत्रु-सैन्य मूढ बनकर आक्रमण करने का साहस छोड़ बैठे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रधान-विनाश

मूढा अमित्राश्चरताशीर्षाण इवाहयः। तेषां वो अग्निमूढानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम्॥ २॥

१. हे **अमित्राः**=हे शत्रुओ! **मूढाः चरत**=जय-उपाय-ज्ञानशून्य होकर तुम युद्धभूमि में इसप्रकार विचरो **इव**=जैसे **अशीर्षाणः अहयः**=अशिरस्क—छिन्नशिरस-सर्प केवल चेष्टा करते हैं, परन्तु कार्य कुछ भी नहीं कर सकते, ऐसे ही तुम भी हो जाओ। २. **अग्निमूढानाम्**=आग्नेय-अस्त्रों से मूढ बने हुए—घबराये हुए **तेषां वः**=उन तुममें से **वरं वरम्**=श्रेष्ठ-श्रेष्ठ को—मुख्य व्यक्तियों को **इन्द्रः**=यह शत्रुविद्रावक सेनापति **हन्तु**=मार डाले। मुख्यों के मारे जाने पर युद्ध समाप्त हो जाने से दूसरों को मारने की आवश्यकता ही नहीं रहती।

भावार्थ—सब मार्गों के रुके होने पर शत्रु घबरा जाएँ। आग्नेय-अस्त्रों के प्रक्षेप से मूढ बने हुए इन शत्रुओं में से राजा चुन-चुनकर मुखियों को मारडाले, जिससे व्यर्थ का नर-संहार न करना पड़े।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

स्वभूमि-प्रत्यावर्तन

ऐषु नह्य वृषाजिनं हरिणस्या भियं कृधि। पराङ्मित्र एषत्वर्वाची गौरुपेषतु॥ ३ ॥

१. हे इन्द्र! तू **एषु**=इन हमारे सैनिकों में **वृषा**=शक्ति का सेचन करता हुआ **अजिनं आनह्य**=चर्मनिर्मित कवच को पहना दे और तब शत्रुओं में **हरिणस्य**=हिरन-सम्बन्धी **भयं कृधि**=भय को उत्पन्न कर दे। जैसे भयभीत हिरन भगा खड़ा होता है, उसी प्रकार हमारे ये शत्रु भाग खड़े हों। २. **अमित्रः**=शत्रु **पराङ् एषतु**=सुदूर भाग जाए। यह **गौः**=शत्रु से अधिकृत कर ली गई भूमि पुनः—**अर्वाची उप एषतु**=हमारे अभिमुख समीपता से प्राप्त हो। हमारी भूमि हमें पुनः प्राप्त हो जाए।

भावार्थ—सेनापति अपने सैनिकों को कवच धारण कराता हुआ उन्हें शक्तिशाली बनाए। शत्रु-सैन्य को भयभीत हिरन की भाँति दूर भगा दे। हमारी भूमि पुनः हमें प्राप्त हो जाए।

६८. [अष्टषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सवित्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पुरोविराडतिशक्वरगर्भाचतुष्पदा-जगती** ॥

अज्ञानान्धकाररूप केशों का वपन

आयमंगन्त्सविता क्षुरेणोष्णेन वाय उदकेनेहि।
आदित्या रुद्रा वसव उन्दन्तु सचेतसः सोमस्य राज्ञो वपत प्रचेतसः॥ १ ॥

१. **अयं सविता**=यह जन्म देनेवाला पिता **क्षुरेण आगमत्**=अज्ञानान्धकाररूप केशों के वपन के साधनभूत शस्त्र के साथ आ गया है। **वायो**=गति के द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाले आचार्य! तू **उष्णेन उदकेन**=(उष दाहे) सब बुराइयों को दग्ध कर देनेवाले ज्ञान-जल को लेकर **इहि**=हमें प्राप्त हो। २. **आदित्याः**=सब गुणों का आदान करनेवाले, **रुद्राः**=(रुत् द्र) सब रोगों को दूर भगानेवाले, **वसवः**=निवास को उत्तम बनानेवाले **सचेतसः**=ज्ञानी पुरुष **उन्दन्तु**=ज्ञान-जलों से हमारे मस्तिष्कों को क्लिन्न करें। हे **प्रचेतसः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले आचार्यो! आप **सोमस्य राज्ञः**=इस सोमशक्ति (वीर्य) का रक्षण करनेवाले, इन्द्रियों के शासक जितेन्द्रिय शिष्य के **वपत**=अज्ञान को वपन करने की कृपा करें।

भावार्थ—जन्मदाता पिता बालक के अज्ञान को दूर करने का प्रयत्न करे। बुराइयों को दूर करनेवाले आचार्य बुराइयों को दग्ध करनेवाले ज्ञान-जल के साथ प्राप्त हों। ये हमें गुणों का आदान करनेवाला, नीरोग व उत्तम निवासवाला बनाएँ और सोम का रक्षण करनेवाले जितेन्द्रिय

शिष्यों के अज्ञान को दूर करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सवित्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

स्वास्थ्य, वीर्य, उत्तम राजप्रबन्ध

अदि॑तिः श्मश्रु॑ वप॒त्वाप॒ उन्द॑न्तु॒ वर्च॑सा।
चिकि॑त्सतु प्र॒जाप॑तिर्दीर्घायु॒त्वाय॒ चक्ष॑से॥ २॥

१. **अदितिः**=स्वास्थ्य का अखण्डन **श्मश्रु**=(श्मनि श्रितम्) शरीरस्थ प्रत्येक रोग को **वपतु**=उच्छिन्न कर दे। **आपः**=शरीरस्थ रेतःकण **वर्चसा उन्दन्तु**=हमें प्राणशक्ति से क्लिन्न करें। हमारा शरीर वीर्यकणों के रक्षण से प्राणशक्ति से पूर्ण हो ताकि यह रोगों का शिकार न होकर स्वस्थ बना रहे। २. **प्रजापतिः**=प्रजाओं का रक्षक राजा **चिकित्सतु**=राष्ट्र में होनेवाले सब उपद्रवों का अपनय (इलाज) करे, जिससे सब प्रजावर्ग **दीर्घायुत्वाय**=दीर्घजीवी हो तथा **चक्षसे**=ज्ञान-चक्षुओं से युक्त हो सके।

भावार्थ—स्वास्थ्य की देवता हमारे सब रोगों को उच्छिन्न करे। सुरक्षित रेतःकण हममें प्राणशक्ति का सञ्चार करें। राजा सब उपद्रवों को दूर करे, जिससे सुरक्षित राष्ट्र में सब प्रजाजन दीर्घजीवी व ज्ञानी हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सवित्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अतिजगतीगर्भात्रिष्टुप्** ॥

गोमान्, अश्ववान्, प्रजावान्

येनाव॑पत्सवि॒ता क्षु॒रेण॒ सोम॑स्य॒ राज्ञो॒ वरु॑णस्य वि॒द्वान्।
तेन॑ ब्रह्माणो वपते॒दम॒स्य गोमा॑नश्व॑वान॒यम॑स्तु प्र॒जावा॑न्॥ ३॥

१. **विद्वान्**=ज्ञानी **सविता**=जन्मदाता पिता—समझदार पिता **येन क्षुरेण**=जिस अज्ञानान्धकार-रूप केशों के वपन के साधनभूत शस्त्र से इस **सोमस्य**=सौम्य स्वभाववाले—सोम (वीर्य) के रक्षक **राज्ञः**=इन्द्रियों पर शासन करनेवाले **वरुणस्य**=द्वेष आदि का निवारण करनेवाले सन्तान के **अवपत्**=अन्धकाररूप केशों का छेदन करता है, **तेन**=उस शस्त्र से हे **ब्रह्माणः**=ज्ञानी आचार्यो! आप भी **अस्य**=इस सोम राजा के—इस जीव के **इदम्**=इस अज्ञानान्धकार को **वपत्**=उच्छिन्न करने की कृपा कीजिए। २. इस अज्ञानान्धकार के छेदन से **अयम्**=यह **गोमान्**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाला, **अश्ववान्**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाला तथा **प्रजावान्**=गृहस्थ होने पर उत्तम सन्तानोंवाला **अस्तु**=हो।

भावार्थ—विद्यार्थी सौम्य, जितेन्द्रिय व निर्देष हो। ज्ञानी आचार्य तथा समझदार पिता इनके अज्ञानान्धकारों को दूर करें। ये उत्तम इन्द्रियोंवाले व सद्गृहस्थ बनकर उत्तम सन्तानोंवाले हों।

६९. [एकोनसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (वर्चस्कामो यशस्कामश्च)** ॥ देवता—**बृहस्पतिः, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यशः+मधु

गि॒राव॑र॒गरा॑टेषु॒ हिर॑ण्ये॒ गोषु॒ यद्यशः॑। सुरा॑यां सि॒च्यमा॑नायां की॒लाले॒ मधु॒ तन्मयि॑॥ १॥

१. **गिरौ**=ज्ञान का उपदेश करनेवाले ब्राह्मणों में **अर-ग-राटेषु**=(अराः, अरय तान् गच्छन्ति इति अरगाः, तेषां राटाः जयघोषा) वीर क्षत्रियों के जयघोषों में, **हिरण्ये**=स्वर्ण में—कृषि-गोरक्षा व वाणिज्य द्वारा स्वर्ण का संग्रह करनेवाले वैश्यों में तथा **गोषु**=गौओं में—गो-सेवक शूरों में **यत् यशः**=जो यशस्वी जीवन है **तत्** **मयि**=वह यशस्वी जीवन मुझे भी प्राप्त हो। २.

सिच्यमानायाम्=पर्जन्य द्वारा सिक्त किये जाते हुए **सुरायाम्**=जल में (सुरा=water) तथा **कीलाले**=इन जलों से उत्पन्न अन्न में जो **मधु**=माधुर्य है, वह मुझमें भी हो।

भावार्थ—स्वकर्त्तव्यपालक 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र' का जो यशस्वी जीवन है वह यशस्वी जीवन मेरा भी हो। मेघ-जल और उनसे उत्पन्न अन्नों में जो माधुर्य है, इनके सेवन से वह माधुर्य मुझमें भी हो।

ऋषिः—**अथर्वा (वर्चस्कामो यशस्कामश्च)** ॥ देवता—**बृहस्पतिः, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मधु से माधुर्य की प्राप्ति

अश्विना सारघेण मा मधुनाङ्क्तं शुभस्पती।
यथा भर्गस्वतीं वाचमावदानि जनाँ अनु॥ २॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **शुभस्पती**=सब शुभ का मुझमें रक्षण करनेवाले हो। **मा**=मुझे **सारघेण मधुना**=मधु-मक्खियों से तैयार किये गये मधु से **अङ्क्तम्**=कान्त जीवनवाला बनाओ। हम प्राणायाम करें और सारघ मधु का सेवन करें, इससे हमारा जीवन भी शुभ ही बनेगा। २. मुझे मधु का सेवन कराओ **यथा**=जिससे **भर्गस्वतीम्**=दीप्तिमती मधुर **वाचम्**=वाणी को **जनान् अनु**=लोगों को लक्ष्य करके **आवदानि**=उच्चारित करूँ। मैं कभी भी कटु शब्दों का प्रयोग करनेवाला न बनूँ।

भावार्थ—प्राणसाधना के साथ मधु का प्रयोग मुझे मधुर बनाए। इस मुध के प्रयोग से मैं भर्गस्वती वाणी का प्रयोग करूँ।

ऋषिः—**अथर्वा (वर्चस्कामो यशस्कामश्च)** ॥ देवता—**बृहस्पतिः, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वर्चः, यशः, यज्ञस्य पयः—ज्ञान

मयि वर्चो अथो यशोऽथो यज्ञस्य यत्पयः।
तन्मयि प्रजापतिर्दिवि द्यामिव दृंहतु॥ ३॥

१. **मयि**=मेरे जीवन में **वर्चः**=वर्चस् (Vitality) प्राणशक्ति हो, **अथ उ**=और निश्चय से **यशः**=यश हो—मेरे सब कार्य यशस्वी हों, **अथ उ**=और अब **यज्ञस्य**=यज्ञ की **यत्**=जो **पयः**=आप्यायनशक्ति है, वह **मयि**=मुझमें हो। २. **प्रजापतिः**=सब प्रजाओं का रक्षक वह प्रभु इन 'वर्चस्, यशस् व यज्ञपयस्' को मेरे जीवन में इसप्रकार **दृंहतु**=दृढ़ करे **इव**=जैसेकि **दिवि द्याम्**=द्युलोक में दीप्यमान ज्योतिर्मण्डल को वे दृढ़ करते हैं। प्रभु मेरे मस्तिष्करूप द्युलोक में भी ज्ञान-विज्ञान के सूर्य व नक्षत्रों को स्थापित करें।

भावार्थ—प्रभुकृपा से मेरा जीवन वर्चस्, यशस्, यज्ञपयस् व ज्ञानवाला हो।

विशेष—वर्चस्, यशस्, यज्ञपयस् व ज्ञान को प्राप्त करनेवाला यह व्यक्ति 'कांकायन'(कंक गतौ) खूब गतिशील बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

७०. [सप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अघ्न्या** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

अघ्न्या और वत्स

यथा मांसं यथा सुरा यथाक्षा अधिदेवने।
यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः।
एवा ते अघ्न्ये मनोऽधि वत्से नि हन्यताम्॥ १॥

यथा हस्ती हस्तिन्याः पदेन पदमुद्युजे।
यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः।
एवा ते अघ्न्ये मनोऽधि वत्से नि हन्यताम्॥ २॥
यथा प्रधिर्यथोपधिर्यथा नभ्यं प्रधावधि।
यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः।
एवा ते अघ्न्ये मनोऽधि वत्से नि हन्यताम्॥ ३॥

१. **यथा**=जैसे **मांसम्**=फल का गूदा **यथा**=जैसे **सुरा**=मेघजल और **यथा**=जैसे **अधिदेवने**=(अधि परि दीव्यन्ति कितवः) द्यूत-स्थान में **अक्षाः**=पासे प्रियतम होते हैं और **यथा**=जैसे **वृषण्यतः पुंसः**=सुरतार्थी पुरुष का **मनः**=मन **स्त्रियां निहन्यते**=स्त्री के प्रति झुकाववाला होता है **एव**=उसी प्रकार हे **अघ्न्ये**=कभी भी नष्ट न करने योग्य वेदवाणि! **ते**=तेरा **मनः**=मन **अधिवत्से**=(वदति) इस स्वाध्यायशील व्यक्ति पर **निहन्यताम्**=प्रह्वीभूत हो। जिस प्रकार मांस आदि प्रेमास्पद होते हैं, इसीप्रकार मैं वत्स तेरा प्रेमास्पद बन पाऊँ, अर्थात् मैं कभी तुझसे पृथक् न होऊँ। २. **यथा**=जैसे **हस्ती**=हाथी **हस्तिन्याः पदम्**=हथिनी के पैर को **पदेन**=अपने पैर से प्रेमपूर्वक **उद्युजे**=ऊपर उठाता है, जैसे सुरतार्थी पुरुष का मन स्त्री के प्रति प्रेमवाला होता है, उसी प्रकार इस वेदवाणी का मन मेरे प्रति प्रेमवाला हो। ३. **यथा**=जैसे **प्रधिः**=लोहे का हल लकड़ी के बने भीतरी चक्र पर रहता है, **यथा**=जैसे **उपधिः**=लकड़ी का चक्र अरों के द्वारा भीतरी धुरे पर रहता है, **यथा नाभ्यम्**=जैसे बीच का धुरा **अधिप्रधौ**=क्रम से अरों और लकड़ी के चक्रसहित अरों पर आ जाता है। जैसे सुरतार्थी पुरुष का मन स्त्री पर गड़ा होता है, उसी प्रकार वेदवाणी का मन मुझ (वत्स) पर गड़ा हो।

भावार्थ—वेदवाणी का अध्ययन ही हमारा मांस हो, यही हमारी शराब वा मेघजल हो। यही हमारी द्यूतक्रीड़ा हो, यही हमारा प्रेमालिङ्गन हो। वेदवाणी हथिनी हो तो मैं उसका हाथी बनूँ। प्रधि, उपधि, नभ्य आदि जैसे परस्पर जुड़े होते हैं उसी प्रकार मैं और वेदवाणी जुड़े हुए हों। मैं कभी वेदाध्ययन का परित्याग न करूँ। वेदवाणी अघ्न्या गौ हो, मैं उसका वत्स (बछड़ा) बनूँ।

विशेष—यह वेदवाणी का वत्स 'ब्रह्मा' बनता है—ज्ञानी बनता है। यही ज्ञानी अन्नदोष व प्रतिग्रहदोष से बचने के लिए यत्नशील होता है।

७१. [एकसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**जगती**॥

'अन्नदोष व प्रतिग्रहदोष' परिहार

यदन्नमद्मि बहुधा विरूपं हिरण्यमश्वमुत गामजामविम्।
यदेव किं च प्रतिजग्रहाहमग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु॥ १॥

१. **यत्**=जो **विरूपम्**=विविधरूपोंवाले **अन्नम्**=अन्न को **बहुधा**=बहुत प्रकार से **अहम् अद्मि**=मैं खा लेता हूँ। भूख की पीड़ा के कारण और भोज्याभोज्य विभाग के बिना जो मैंने खा लिया है, **तत्**=उस मेरे अन्नदोष को वह **होता अग्निः**=सब वस्तुओं को देनेवाला अग्रणी प्रभु **सुहुतं कृणोतु**=सुहुत करे। विवशता में मैं कुछ खा बैठूँ तो प्रभु के अनुग्रह और प्रेरणा से उसे यज्ञ का रूप देने का प्रयत्न करूँ—त्याग करके बचे को ही खाऊँ। २. इसीप्रकार मैं **हिरण्यम्**=सोना, **अश्वम्**=घोड़ा **उत**=और **गाम् अजाम् अविम्**=गौ, बकरी व भेड़ **यत् किंच**

एव=जो कुछ भी—अस्वीकरणीय को भी दरिद्रयवश **प्रतिजग्रह**=ग्रहण कर लूँ, उसे वह सर्वप्रद अग्रणी प्रभु सुहुत करने की कृपा करें। प्रभुकृपा से मैं व्रत ग्रहण करूँ कि 'अभक्ष्य को नहीं खाऊँगा तथा अन्याय्य धन का ग्रहण नहीं करूँगा'।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारे अन्नदोष व प्रतिग्रहण दोष दूर हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

यज्ञ-विनियोग द्वारा ही उपयोग

यन्मा हुतमहुतमाजगाम दत्तं पितृभिरनुमतं मनुष्यैः।
यस्मान्मे मन उदिव रारजीत्यग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु॥ २॥

१. **यत्**=जो **हुतम्**=यज्ञिय अथवा **अहुतम्**=अयज्ञिय धन **मा**=मुझे **आजगाम**=प्राप्त हुआ है, जो **पितृभिः दत्तम्**=मुझे अपने से बड़ों—पिता आदि से दिया गया है, जो **मनुष्यैः अनुमतम्**=मनुष्यों से अनुमत हुआ है, अर्थात् जिसमें समाज दोष नहीं देखती। **यस्मात्**=जिससे मे **मनः**=मेरा मन **उत् रारजीति इव**=खूब ही दीप्त-सा होता है, **तत्**=उस सब धन को वह **होता अग्निः**=सर्वप्रद अग्रणी प्रभु **सुहुतं कृणोतु**=सुहुत करने की कृपा करें। मैं उस धन का यज्ञों में विनियोग करके ही उपयोग करूँ।

भावार्थ—हम प्राप्त धनों का यज्ञों में विनियोग करके ही उपयोग करें।

ऋषिः—**ब्रह्मः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

न अनृत से, न उधार लेकर

यदन्नमद्म्यनृतेन देवा दास्यन्नदास्यन्नुत संगृणामि।
वैश्वानरस्य महतो महिम्ना शिवं मह्यं मधुमदस्त्वन्नम्॥ ३॥

१. हे **देवाः**=देवो—विद्वान् पुरुषो! **यत् अन्नम्**=जिस अन्न को मैं **अनृतेन**=असत्य बोलकर, पराये व्यक्ति का अपहृत करके **अद्मि**=खाता हूँ, **उत**=तथा **दास्यन् अदास्यन्**=जो पदार्थ दूसरे को देना है, उसे दे नहीं रहा हूँ, यूँही **संगृणामि**='दूँगा' बस, इतनी प्रतिज्ञा ही करता हूँ, वह सब **अन्नम्**=अन्न **वैश्वानरस्य**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले महतो महान् महिमावाले देव की **महिम्ना**=महिमा से **मह्यम्**=मेरे लिए **शिवम्**=सुखकर व **मधुमत् अस्तु**=माधुर्यवाला हो, अर्थात् प्रभु ऐसा अनुग्रह करें कि बिना अनृत के, बिना औरों से उधार लिये पुरुषार्थ से अपने भोजन का अर्जन कर सकूँ।

भावार्थ—हम अनृत से प्राप्त भोजन को अशिव समझें, औरों से उधार लेकर खाने को 'कटु' जानें। पुरुषार्थ से ही अपना भोजन अर्जन करने के लिए यत्नशील हों।

विशेष—पवित्र भोजन से स्थिरवृत्तिवाला बनता हुआ 'अथर्वा' अगले सूक्तों का ऋषि है—

७२. [द्विसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**शेपोऽर्कः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

असितः, शेपः, अर्कः

यथासितः प्रथयते वशाँ अनु वपूंषि कृण्वन्नसुरस्य मायया।
एवा ते शेपः सहसायमर्कोऽङ्गेनाङ्गं संसमकं कृणोतु॥ १॥

१. **यथा**=जैसे **असितः**=विषयों में अबद्ध राजा **वशान् अनु**=जितना-जितना अपनी इन्द्रियों को वश में करता है, उतना-उतना **प्रथयते**=अपने राज्य का विस्तृत करता है। यह राजा **अ-**

सुरस्य=(प्रज्ञा—नि० ३.९) प्रज्ञा के पुञ्ज प्रभु की **मायया**=प्रज्ञा से **वपूंषि कृण्वन्**=अपने शरीरों का निर्माण करता है। अपने स्थूल, सूक्ष्म व कारणशरीरों को ठीक करता हुआ यह राजा अपने राष्ट्र को भी विस्तृत करता है। २. **एव**=इसप्रकार हे राष्ट्र! **ते शेपः**=तेरा निर्माण करनेवाला **अर्कः**=प्रभु का उपासक यह राजा **सहसा**=शक्ति के द्वारा **अङ्गेन अङ्गम्**=राष्ट्र के एक अङ्ग को दूसरे अङ्ग से **सं सम् अकम्**=मिलकर गति करनेवाला **कृणोतु**=करे। राष्ट्र के सब विभागों में परस्पर समन्वय (co-ordination) होना आवश्यक ही है।

भावार्थ—राजा विषयों से अबद्ध (असित्) हो, अपनी इन्द्रियों को वश में करता हुआ राष्ट्र का निर्माण करनेवाला हो (शेपः), प्रभुपूजा की वृत्तिवाला हो (अर्कः), अपने शरीर को स्वस्थ बनाता हुआ राज्य के सब अङ्गों में समन्वय करनेवाला हो।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**शेपोऽर्कः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

राष्ट्र का संवर्धन

यथा पसस्तायादरं वातेन स्थूलभं कृतम्। यावत्परस्वतः पसस्तावत्ते वर्धतां पसः ॥ २ ॥

१. हे राजन्! तू इसप्रकार राष्ट्र के अङ्गों में समन्वय कर **यथा**=जिससे यह **पसः**=राष्ट्र **अरम् तायात्**=खूब ही विस्तारवाला व पालित हो। यह राष्ट्र **वातेन**=क्रियाशीलता के द्वारा (परस्पर समन्वय न होने पर काम ठप्प-सा हो जाता है) **स्थूलभम्**=खूब दीप्तिवाला **कृतम्**=किया जाए (स्थूला भा यस्य)। २. **यावत्**=जितना **परस्वतः**=(पॄ पालनपूरणयोः) पालन करनेवाला राजा का **पसः**=राष्ट्र होता है **तावत्**=उतना **ते पसः**=तेरा राष्ट्र **वर्धताम्**=वृद्धि को प्राप्त हो।

भावार्थ—राष्ट्र के अङ्गों में परस्पर समन्वय होने पर राष्ट्र का विस्तार होता है। क्रियाशीलता द्वारा राष्ट्र चमक उठता है। जितना राजा पालन कर पाता है, उतना ही उसका राष्ट्र बढ़ता है।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**शेपोऽर्कः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

यावदङ्गीनम्

यावदङ्गीनं पारस्वतं हास्तिनं गार्दभं च यत्। यावदश्वस्य वाजिनस्तावत्ते वर्धतां पसः ॥ ३ ॥

१. **पारस्वतम्**=पालन करनेवाले का राष्ट्र **यावत् अङ्गीनम्**=जितना ठीक अङ्गोंवाला होता है, उतना ही **हास्तिनम्**=यह उत्तम हाथियोंवाला होता है **च**=और **यत्**=जो यह राष्ट्र है वह **गार्दभम्**=उत्तम गर्दभोंवाला—उत्तम भारवाही पशुओंवाला होता है। २. **यावत्**=जितना **अश्वस्य**=कर्मों में व्याप्त होनेवाले **वाजिनः**=शक्तिशाली राजा का राष्ट्र होता है, **तावत्**=उतना **ते पसः**=तेरा राष्ट्र **वर्धताम्**=वृद्धि को प्राप्त करे।

भावार्थ—राष्ट्र के अङ्गों में परस्पर समन्वय होने पर वहाँ हाथी-घोड़े आदि पशु भी उत्तम होते हैं। राजा जितना-जितना कर्मों में व्याप्त और शक्तिशाली होता है, उतना-उतना उसका राष्ट्र बढ़ता है।

७३. [त्रिसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरुणादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

उत्तम लोगों का सम्पर्क

एह यातु वरुणः सोमो अग्निर्बृहस्पतिर्वसुभिरेह यातु।
अस्य श्रियमुपसंयात सर्व उग्रस्य चेत्तुः संमनसः सजाताः ॥ १ ॥

१. **इह**=इस देश में **वरुणः**=द्वेषादि का निवारण करनेवाला **सोमः**=सौम्य स्वभाव—निरभिमान, **अग्निः**=आगे-और आगे बढ़नेवाला, अग्निवत् तेजस्वी (पावकवर्ण) पुरुष **आयातु**=आये,

हमें ऐसे पुरुष का सम्पर्क प्राप्त हो। **बृहस्पतिः**=महान् ज्ञानी पुरुष सब साधनों के साथ हमें प्राप्त हो। आचार्य शिष्यों से कहते हैं कि हे **सजाताः**=समान जन्मवाले बन्धुओ! तुम **सर्वे**=सब **संमनसः**=समान मनवाले होते हुए **अस्य उग्रस्य चेत्तुः**=इस तेजस्वी ज्ञानी की **श्रियम्**=श्री को **उपसंयात**=प्राप्त होओ, इसके सम्पर्क में, इससे ज्ञान प्राप्त करते हुए, उस जैसा ही बनने का प्रयत्न करो।

भावार्थ—हमें 'वरुण, सोम, अग्नि तथा बृहस्पति' का सम्पर्क प्राप्त हो। ये हमें सब वसुओं को प्राप्त करानेवाला हों। हम सब भी समान मनवाले होते हुए इस ज्ञानी की श्री को प्राप्त करें। हम भी मन में 'निर्द्वेष व निरभिमान' बनें। शरीर में अग्नि के समान तेजस्वी तथा मस्तिष्क में बृहस्पति हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरुणादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शुष्म, आकूति, हवि व घृत

यो वः शुष्मो हृदयेष्वन्तराकूतिर्या वो मनसि प्रविष्टा।
तान्त्सीवयामि हविषा घृतेन मयि सजाता रमतिर्वो अस्तु॥ २॥

१. **यः**=जो **वः**=तुम्हारे **हृदयेषु**=हृदयों में **शुष्मः**=शत्रु-शोषक बल है, तथा **वः**=तुम्हारे **अन्तः मनसि**=हृदय-मध्यवर्ती मन में **या आकूतिः प्रविष्टा**=जो संकल्प प्रविष्ट है, **तान्**=उन संकल्पों व बलों को **हविषा**=त्याग की वृत्ति तथा **घृतेन**=ज्ञान-दीप्ति से **सीव्यामि**=सम्बद्ध कर देता हूँ। २. हे **सजाताः**—समान जन्मवाले व समानरूप से विकासवाले विद्यार्थियो! **मयि**=मुझमें **वः**=तुम्हारी **रमतिः**=रमण अनुकूल वृत्ति हो। '**वसोष्पते निरमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम्**'—[अथर्व० १.१.२] में विद्यार्थी की प्रार्थना थी कि हे वसुओं के पति आचार्य! आप मुझे रमणवाला कीजिए—आनन्दमय प्रकार से पढ़ाइए, जिससे मेरा पढ़ा हुआ मुझमें ही स्थित हो। यहाँ आचार्य भी कहते हैं कि तुम मुझमें रमण करनेवाले होओ। मैं तुम्हें त्यागशील व ज्ञान-दीप्त बनाता हूँ।

भावार्थ—आचार्य को विद्यार्थी के बल व संकल्प को त्यागवृत्ति व ज्ञान-दीप्ति से सम्बद्ध करना है। विद्यार्थियों के मन में त्यागवृत्ति हो और मस्तिष्क में ज्ञान।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरुणादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भूरिक्त्रिष्टुप्** ॥

आचार्य-सान्निध्य

इहैव स्त मापं याताध्यस्मत्पूषा परस्तादपथं वः कृणोतु।
वास्तोष्पतिरनु वो जोहवीतु मयि सजाता रमतिर्वो अस्तु॥ ३॥

१. हे विद्यार्थी! **इह एव स्त**=यहाँ आचार्यकुल में ही रहो। **अस्मत् अधि मा अपयात**=हमसे दूर मत होओ। 'अन्तःवासी' को तो सदा आचार्य के समीप ही रहना है। आचार्य विद्यार्थी को वस्तुतः अपने गर्भ में धारण करता है। **पूषा**=वह पोषक प्रभु **परस्तात्**=हमसे दूर **वः**=तुम्हारे लिए **अपथं कृणोतु**=मार्ग का अभाव करे, अर्थात् प्रभु के अनुग्रह से हमसे दूर जाने के लिए तुम्हें मार्ग ही न मिले। २. **वास्तोष्पतिः**=गृहपालक देव **वः**=तुम्हें **अनुजोहवीतु**=अनुकूलता से पुकारे (आह्वयतु), अर्थात् जब तुम भिक्षा के लिए जाओ तो गृहपतियों को अच्छा ही प्रतीत हो। तुम्हारा शान्त स्वभाव उन्हें प्रिय लगे और वे प्रेम से तुम्हें भिक्षा दें। गृहस्थों को तुम असभ्य प्रतीत न होओ, और यहाँ **मयि**=मुझमें हे **सजातः**=समान विकासवाले विद्यार्थियो! **वः**=तुम्हारा **रमतिः**=रमण **अस्तु**=हो। तुम मिलकर प्रेम से आश्रम में रहनेवाले बनो।

भावार्थ—विद्यार्थी आचार्य के समीप ही रहें—कभी उससे दूर न हों। गृहपति उन्हें प्रेम से भिक्षा दें। आचार्यकुल में विद्यार्थी प्रेमपूर्वक रहते हुए समानरूप से विकासवाले बनें।

७४. [चतुःसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पत्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मेल (परस्पर प्रेम)

सं वः पृच्यन्तां तन्व१ः सं मनांसि समु व्रता।
सं वोऽयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत्॥ १॥

१. उत्तम शिक्षा को प्राप्त लोग राष्ट्र में प्रेम से रहें। प्रभु कहते हैं कि **वः तन्वः**=तुम्हारे शरीर **संपृच्यन्ताम्**=एक-दूसरे से प्रेम से मिला करें—आप परस्पर प्रेम से आलिङ्गन किया करो—राष्ट्र में कन्धे-से-कन्धे मिलाकर चलो। **मनांसि सम्**=आप लोगों के मन भी मिले हुए हों—हृदयों में प्रेम हो नकि द्वेष। **उ**=और **व्रता सम्**=आप लोगों के कर्म भी मिलकर हों—एक-दूसरे के लिए सहायक हों। २. **अयम्**=यह **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **वः**=तुम्हें **सम् अजीगमत्**=सदा संगत रक्खे तथा **वः**=तुम्हें **भगः**=यह ऐश्वर्यवान् प्रभु **सम्**=मिलाये रक्खे। सब लोग ज्ञान-सम्पन्न बनें और उचित ऐश्वर्यों को प्राप्त करते हुए परस्पर प्रेम से मिलकर रहें।

भावार्थ—राष्ट्र के उत्थान के लिए आवश्यक है कि लोग परस्पर प्रेम से मिलें, उनके मनों में द्वेष न हो। उनके कर्म अविरोधी हों। ज्ञान व ऐश्वर्य-सम्पन्न होते हुए सब मिलकर चलें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पत्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ज्ञान व ऐश्वर्य

संज्ञपनं वो मनसोऽथो संज्ञपनं हृदः।
अथो भगस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः॥ २॥

१. **वः**=तुम्हारे **मनसः**=ज्ञान-साधन मनरूप इन्द्रिय का **संज्ञपनम्**=सम्यक् ज्ञान-जनन हो। तुम्हारे मन ज्ञान-प्राप्ति में सम्यक् प्रवृत्त हों, **अथ उ**=अब निश्चय से **हृदः**=तुम्हारे हृदय का भी **संज्ञपनम्**=सम्यक् ज्ञान-जनन हो, तुम्हारे हृदयों में ज्ञान-प्राप्ति के लिए श्रद्धा हो। २. **अथ उ**=अब ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् गृहस्थ बनने पर **भगस्य यत् श्रान्तम्**=ऐश्वर्य का जो श्रमजनित तप है (श्राम्यति अस्मिन्) **तेन**=ऐश्वर्य-प्राप्ति के लिए होनेवाले उस श्रम-जनित तप से **वः**=तुम्हें **संज्ञपयामि**=समान ज्ञानवाला करता हूँ। वस्तुतः जब तक राष्ट्र में 'श्रम से धन-प्राप्ति की भावना' बनी रहती है तब तक लोगों में परस्पर प्रेम भी बना रहता है।

भावार्थ—हमारे मन व हृदय ज्ञान-प्राप्ति के कर्म में सम्यक् प्रवृत्त हों। हम सदा श्रमपूर्वक ही धनार्जन की वृत्तिवाले बनकर परस्पर प्रेम से रहें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पत्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

चातुर्वर्ण्य का परस्पर मेल

यथादित्या वसुभिः संबभूवुर्मरुद्भिरुग्रा अहृणीयमानाः।
एवा त्रिणामन्नहृणीयमान इमाञ्जनान्त्संमनसस्कृधीह॥ ३॥

१. **यथा**=जैसे **आदित्याः**=सूर्यसमान ज्ञान-दीप्त आचार्य **वसुभिः**=उत्तम निवासवाले—आचार्य के समीप प्रेम से रहनेवाले विद्यार्थियों के साथ **संबभूवुः**=मिलकर रहते हैं तथा **उग्राः**=तेजस्वी राजा—शासक लोग **मरुद्भिः**=सैनिकों के साथ **अहृणीयमानाः**=क्रोध न करते

हुए रहते हैं, **एव**=उसी प्रकार हे **त्रिणामन्**=(नामन्=form, mode, manner) कृषि, गोरक्ष व वाणिज्यरूप तीन प्रकारों से धनार्जन करनेवाले वैश्य! तू **अहृणीयमानः**=क्रोध न करता हुआ **इमान् जनान्**=इन कार्य करनेवाले श्रमिक जनों को **इह**=यहाँ, अपने व्यापार-कर्म में **संमनसः कृधि**=समान मनवाला कर, तेरे साथ प्रेम से मिलकर वे इन कार्यों में तेरे सहायक हों।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थियों के साथ प्रेम से रहें। राजा लोग सैनिकों के साथ एक मनवाले हों। वैश्य शूद्रों के साथ प्रेम से वर्तते हुए धनार्जन करें।

विशेष—इसप्रकार प्रेम से बर्ताव होने पर मनुष्य 'कबन्ध' बनता है—अपने में सुखों को बाँधनेवाला। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

७५. [पञ्चसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**कबन्धः (सपत्नक्षयकामः)**॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शत्रु-विद्रावण

निरमुं नुद ओकसः सपत्नो यः पृतन्यति। नैर्बाध्ये॑न हविषेन्द्र एनं पराशरीत्॥ १ ॥

१. **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले राजन्! **अमुम्**=उसे **ओकसः**=इस राष्ट्र से **निर् नुद**=धकेल कर बाहर कर दे **यः सपत्नः**=जो शत्रु **पृतन्यति**=सेना के द्वारा हमारे राष्ट्र पर आक्रमण करता है। २. **इन्द्रः**=शत्रु-विद्रावक राजा **नैर्बाध्येन**=शत्रुओं के निर्बाधन में क्षम **हविषा**=हवि के द्वारा—प्रजा से राष्ट्र-यज्ञ में दिये जानेवाले कररूप धन के द्वारा **एनम्**=इस शत्रु को **पराशरीत्**=सुदूर विनष्ट करे। राजा कर-प्राप्त धन को अन्तः व बाह्य शत्रु से राष्ट्र-रक्षण में विनियुक्त करता है।

भावार्थ—राजा प्रजा से कर प्राप्त करता हुआ राष्ट्र का शत्रुओं से रक्षण करे।

ऋषिः—**कबन्धः (सपत्नक्षयकामः)**॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

दूर-से-दूर धकेलना

परमां तं परावतमिन्द्रो नुदतु वृत्रहा। यतो न पुनरायति शश्वतीभ्यः समाभ्यः॥ २ ॥

१. **वृत्रहा**=राष्ट्र को घेरनेवाले शत्रुओं को नष्ट करनेवाला यह **इन्द्रः**=शत्रुविद्रावक राजा **तम्**=उस शत्रु को **परमां परावतम्**=अतिशयित दूर देश में **नुदतु**=धकेल दे कि **यतः**=जहाँ से वह **शश्वतीभ्यः समाभ्यः**=अनेक वर्षों तक भी **पुनः न आयति**=फिर हमारे राष्ट्र पर चढ़ने के लिए न आ पाये।

भावार्थ—शत्रु को इसप्रकार दूर देश में धकेला जाए कि वह फिर वर्षों तक हमारे राष्ट्र पर आक्रमण का स्वप्न भी न ले।

ऋषिः—**कबन्धः (सपत्नक्षयकामः)**॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**षट्पदाजगती**॥

शत्रु फिर आक्रमण न कर सके

एतु तिस्रः परावत एतु पञ्च जनाँ अति।
एतु तिस्रोऽति रोचना यतो न पुनरायति
शश्वतीभ्यः समाभ्यो यावत्सूर्यो असद्दिवि॥ ३ ॥

१. इन्द्र से धकेला हुआ यह शत्रु **परावतः**=दूर वर्तिनी **तिस्रः**=तीनों भूमियों को **अतिएतु**=लाँघकर दूर चला जाए ('त्रयो व इमे त्रिवृतो लोकाः'—ऐत० २.१७; तिस्रो भूमीर्धारयान्—ऋ० २.२७.८)। यह **पञ्च जनान्**='ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद' रूप से पाँच भागों

में बँटे हुए लोगों को **अति**=लाँघ जाए, अर्थात् समाज से इसका मेल न हो। यह **तिस्त्रः रोचना अति एतु**=सूर्य, विद्युत्, अग्निरूप तीनों ज्योतियों से अतिक्रान्त होकर गति करे—इसे उस स्थान पर कैद में रक्खा जाए, जहाँ सूर्यादि की प्रभा प्राप्त नहीं होती। २. इसे ऐसे स्थान पर बन्धन में डालकर रखा जाए कि **यतः**=जहाँ से यह **न पुनः आयति**=फिर हमपर आक्रमण नहीं कर पाता। **शश्वतीभ्यः समाभ्यः**=बहुत वर्षों तक यह हमपर आक्रमण का स्वप्न भी न ले-सके। **यावत्**=जब तक **सूर्यः दिवि असत्**=सूर्य द्युलोक में है, तब तक यह शत्रु फिर लौटकर न आये।

भावार्थ—शत्रु को तीनों भूप्रदेशों से दूर किया जाए, मानव-समाज से इसे परे किया जाए, इसे अन्धकारमय स्थानों में बन्धन में रखा जाए, जिसे यह फिर हमारे राष्ट्र पर आक्रमण न कर सके।

७६. [षट्सप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**कबन्धः** ॥ देवता—**सान्तपनाग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अग्नि का समिन्धन

य एनं परिषीदन्ति समादधति चक्षसे। संप्रेद्धो अग्निर्जिह्वाभिरुदेतु हृदयादधि॥ १ ॥

१. **ये**=जो **एनम्**=इस परमात्मरूप अग्नि के **परिषीदन्ति**=उपासन के लिए आसीन होते हैं तथा **चक्षसे**=आत्मदर्शन के लिए **समादधति**=इन्द्रियों को समाहित करते हैं, उस समय **हृदयात् अधि**=हृदयदेश **संप्रेद्धः**=दीप्त हुआ-हुआ **अग्निः जिह्वाभिः उदेतु**=यह परमात्मरूप अग्नि उपासकों की जिह्ववाओं से उदित हो—उपासकों की जिह्वाओं से प्रभु के नामों का उच्चारण हो।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन के लिए हम प्रभु की उपासना करें, इन्द्रियों को विषयों से हटाकर उन्हें समाहित करें, वाणी से प्रभु के नामों का उच्चारण करें।

ऋषिः—**कबन्धः** ॥ देवता—**सान्तपनाग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'सान्तपन' अग्नि

अग्नेः सांतपनस्याहमायुषे पदमा रभे।
अद्धातिर्यस्य पश्यति धूममुद्यन्तमास्यतः॥ २ ॥

१. **अग्नेः**=उस अग्रणी **सांतपनस्य**=अतिशयेन ज्ञान-दीप्त प्रभु के **पदम्**=वाचक पद को **अहम्**=मैं **आयुषे**=उत्कृष्ट जीवन की प्राप्ति के लिए **आरभे**=उपक्रान्त करता हूँ—प्रभु के नामों का उच्चारण करता हूँ। २. **अद्धातिः**=(अद्धा प्रत्यक्षमतति, सततं ध्यानेन प्राप्नोति) ध्यान द्वारा प्रभु-दर्शन करनेवाला व्यक्ति **यस्य**=उस प्रभु के **धूमम्**=वासनाओं को कम्पित करनेवाले (धू कम्पने) ज्ञान को **आस्यतः**=अपने मुख से **उद्यन्तम्**=उद्गत होते हुए **पश्यति**=देखता है। हृदयस्थ प्रभु का ज्ञान इस अद्धाति के मुख से उच्चरित होता है। यह ज्ञान वासनाओं का संहार करनेवाला है।

भावार्थ—हम 'सान्तपन अग्नि'—ज्ञानदीप्त प्रभु के नामों का उच्चारण करें। इसप्रकार हृदयस्थ प्रभु के दर्शन करें। यदि हम प्रभु का साक्षात्कार कर पाये तो हृदयस्थ प्रभु का ज्ञान हमारे मुखों से उच्चरित होगा।

ऋषिः—**कबन्धः** ॥ देवता—**सान्तपनाग्निः** ॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

सर्वं जिह्मं मृत्युपदम्

यो अस्य समिधं वेद क्षत्रियेण समाहिताम्। नाभिह्वारे पदं नि दधाति स मृत्यवे॥ ३ ॥

१. **क्षत्रियेण**=(क्षत्रं बलम्) बल में उत्तम पुरुष से **समाहितम्**=हृदय में स्थापित की गई

अस्य=इस 'सान्तपन अग्नि' प्रभु की **समिधम्**=दीप्ति को **यः वेद**=जो जानता है, अर्थात् एक सबल पुरुष जब हृदय में प्रभु-दर्शन करता है तब **सः**=वह **अभिह्वारे**=कुटिलता के मार्ग में **मृत्यवे**=मृत्यु के लिए **पदं न निदधाति**=पग नहीं रखता।

भावार्थ—एक क्षत्रिय—भोगवृत्ति से ऊपर उठने के द्वारा सबल पुरुष हृदय में प्रभु की दीप्ति को देखता है। यह प्रभु-दर्शन करनेवाला व्यक्ति कभी कुटिलता के मार्ग में पग नहीं रखता। कुटिलता को यह मृत्यु का मार्ग समझता है—'सर्वं जिह्मं मृत्युपदम्'।

ऋषिः—**कबन्धः** ॥ देवता—**सान्तपनाग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

न पर्यायिणः, न सन्नाः

नैनं घ्नन्ति पर्यायिणो न सन्नाँ अव गच्छति।
अग्नेर्यः क्षत्रियो विद्वान्नाम गृह्णात्यायुषे॥ ४॥

१. **यः**=जो **क्षत्रियः**=उत्तम बलवाला **विद्वान्**=ज्ञानी पुरुष **आयुषे**=उत्कृष्ट दीर्घजीवन के लिए **अग्नेः**=उस अग्रणी प्रभु का **गृह्णाति**=नाम लेता है—नाम का उच्चारण करता है, **एनम्**=इस प्रभु के उपासक को **पर्यायिणः**=चारों ओर से आनेवाले शत्रु **न घ्नन्ति**=हिंसित नहीं करते। यह **सन्नान्**=उन शत्रुओं को समीपस्थरूप में भी न **अवगच्छति**=नहीं जानता, अर्थात् शत्रु इसके समीप स्थित होने में भी समर्थ नहीं होते।

भावार्थ—जो शक्तिशाली ज्ञानी पुरुष प्रभु के नाम का स्मरण करता है, उसपर शत्रु आक्रमण नहीं करते—उसके समीप आने का भी साहस नहीं करते।

७७. [सप्तसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**कबन्धः** ॥ देवता—**जातवेदाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मर्यादा में स्थिति

अस्थाद् द्यौरस्थात्पृथिव्यस्थाद्विश्वमिदं जगत्।
आस्थाने पर्वता अस्थु स्थाम्न्यश्वाँ अतिष्ठिपम्॥ १॥

१. **द्यौः अस्थात्**=उस नियन्ता प्रभु की आज्ञा से द्युलोक अपने स्थान में स्थित है, **पृथिवी अस्थात्**=पृथिवी भी अपने स्थान में स्थित है। इस द्यावापृथिवी के मध्य में वर्त्तमान **इदं विश्वं जगत्**=यह सारा जगत् **अस्थात्**=अपने-अपने स्थान में स्थित है। **पर्वताः**=पर्वत भी **आस्थाने**=ईश्वर के कल्पित स्थान में **अस्थुः**=स्थित हैं। २. मैं भी **अश्वान्**=इन इन्द्रियाश्वों को **स्थाम्नि**=(fixity, stability) स्थिरता में **अतिष्ठिपम्**=स्थापित करता हूँ, इन्द्रियाश्वों को भटकने से रोककर कर्त्तव्यकर्मों में स्थापित करता हूँ।

भावार्थ—सारा संसार अपनी-अपनी मर्यादा में गति कर रहा है। हम भी इन्द्रियाश्वों को भटकने से रोककर कर्त्तव्यकर्मों में स्थापित करें।

ऋषिः—**कबन्धः** ॥ देवता—**जातवेदाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आवर्तनं निवर्तनम्

य उदानट् परायणं य उदानण्न्यायनम्।
आवर्तनं निवर्तनं यो गोपा अपि तं हुवे॥ २॥

१. **यः**=जो **गोपाः**=हमारी इन्द्रियों का रक्षक प्रभु **परायणम्**=परम स्थान मोक्ष को—ऊँचे से-ऊँचे लोकों को भी व्याप्त कर रहा है और **यः**=जो **न्यायनम् उदानट्**=निचले लोकों को भी

व्याप्त कर रहा है, वह प्रभु ही **आवर्तनम्**=विविध योनियों में हमारे आवर्तन को तथा **निवर्तनम्**=योनियों से निवृत्त होकर मोक्ष-प्राप्ति को व्याप्त करता है, **अपि तं हुवे**=क्या मैं उसे पुकारूँगा? क्या मेरे जीवन में वह शुभ दिन आएगा जबकि मैं उस प्रभु का स्मरण करनेवाला बनूँगा।

भावार्थ—वह शुभ दिन होगा जब मैं इन्द्रियों को विषयों से हटाकर उस प्रभु का स्मरण करनेवाला बनूँगा। वे प्रभु दूर-से-दूर व समीप-से-समीप हैं। वे ही हमें विविध शरीरों में जन्म व मोक्ष प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**कबन्धः** ॥ देवता—**जातवेदाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आवृतः-उपावृतः

जातवेदो नि वर्तय शतं ते सन्त्वावृतः।
सहस्रं त उपावृतस्ताभिर्नः पुनरा कृधि॥ ३॥

१. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **निवर्तय**=हमें इस योनि-भ्रमण से लौटाकर मोक्ष में स्थित कीजिए। हमारे जीवनों में **ते**=आपके **शतम् आवृतः सन्तु**=सैकड़ों आवर्तन हों—हम आपका ही बारम्बा स्मरण करें। **ते**=आपके **सहस्रम्**=हज़ारों ही **उपावृतः**=समीप आवर्तन-सान्निध्य—उपस्थान हों। हम सदा आपकी उपासना करें। २. **ताभिः**=उन आवर्तनों व उपावर्तनों से—नाम-स्मरण व उपासना से **नः**=हमें **पुनः**=फिर **आकृधि**=अपने अभिमुख कीजिए।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण व उपासन करते हुए इस जन्म-मरण के चक्र में भटकने से बचकर प्रभु की ओर जानेवाले बनें।

विशेष—प्रभु के स्मरण व उपासन से स्थिरवृत्ति का बननेवाला 'अथर्वा' अगले चार सूक्तों का ऋषि है।

७८. [अष्टसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**चन्द्रमाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

हविषा रसेन

तेन भूतेन हविषायमा प्यायतां पुनः।
जायां यामस्मा आवाक्षुस्तां रसेनाभि वर्धताम्॥ १॥

१. **तेन**=उस **भूतेन**=(भू प्राप्तौ) भूति व समृद्धि की कारणभूत **हविषा**=हूयमान यज्ञिय पदार्थों से **अयम्**=यह **पुनः**=फिर **आप्यायताम्**=वृद्धि को प्राप्त करे। गृहपति यज्ञशील हो, यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाला हो। इस यज्ञशेष का सेवन अमृत का सेवन है। इससे उसका जीवन बड़ा नीरोग बना रहेगा। २. **याम्**=जिस **जायाम्**=पत्नी को **अस्मै**=इसके लिए **आवाक्षुः**=कन्या के माता-पिता आदि प्राप्त कराते हैं, **ताम्**=उस पत्नी को **रसेन अभिवर्धताम्**=प्रेम के द्वारा यह बढ़ानेवाला हो। पत्नी को पति का उचित प्रेम प्राप्त होता है तो वह सब प्रकार से बढ़ती ही है।

भावार्थ—एक उत्तम गृहपति यज्ञ के द्वारा यज्ञशेष का सेवन करता हुआ दृढ़ाङ्ग बने। पत्नी को यह उचित प्रेम प्राप्त कराता हुआ बढ़ानेवाला हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**चन्द्रमाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पयसा, राष्ट्रेन, रय्या

अभि वर्धतां पयसाभि राष्ट्रेण वर्धताम्। रय्या सहस्रवर्चसेमौ स्तामनुपक्षितौ॥ २॥

१. यह गृहपति **पयसा**=आप्यायन के साधनभूत क्षीर आदि पदार्थों से **अभिवर्धताम्**=वृद्धि को प्राप्त करे। यह **राष्ट्रेण**=ग्राम आदि की समृद्धि से **अभिवर्धताम्**=वृद्धि को प्राप्त करे—राष्ट्रोन्नति में अपनी उन्नति समझे। २. **इमौ**=ये दोनों पति-पत्नी **सहस्रवर्चसा**=अपरिमित तेजवाले **रय्या**=धन से **अनुपक्षितौ स्ताम्**=अक्षीण हों।

भावार्थ—गृहस्थ में दूध आदि पुष्टिकारक पदार्थों की कमी न हो, ग्राम आदि सम्पत्ति की कमी न हो तथा तेजस्विता को बढ़ानेवाले धन की कमी न हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**त्वष्टा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आयुष्य-साधन व दीर्घजीवन

त्वष्टा जायामजनयत्त्वष्टास्यै त्वां पतिम्।
त्वष्टा सहस्रमायूंषि दीर्घमायुः कृणोतु वाम्॥ ३॥

१. **त्वष्टा**=संसार का निर्माता प्रभु **जायाम्**=पत्नी को—पुत्र को जन्म देनेवाली स्त्री को **अजनयत्**=उत्पन्न करता है। **त्वष्टा**=वह प्रभु ही **अस्यै**=इस जाया के लिए **त्वां पतिम्**=तुझ पति को उत्पन्न करता है। प्रभु ही स्त्री-पुरुष को पति-पत्नीभाव के लिए उत्पन्न करते हैं। २. **त्वष्टा**=वह निर्माता प्रभु **सहस्रम् आयूंषि**=शतशः जीवन-साधनों को और उनके द्वारा **दीर्घम् आयुः**=दीर्घजीवन को **वां कृणोतु**=आप दोनों के लिए करे।

भावार्थ—प्रभु ही पुरुष-स्त्री के पति-पत्नीभाव को करते हैं। प्रभु ही दीर्घजीवन के शतशः साधनों को प्राप्त कराके उनके दीर्घ जीवन को सिद्ध करते हैं।

७९. [एकोनाशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**संस्फानम्** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

यज्ञ व अन्नोत्पत्ति

अयं नो नभसस्पतिः संस्फानो अभि रक्षतु। असमातिं गृहेषु नः॥ १॥

१. **अयम्**=यह **नः**=हमारा हविर्धानों (पूजागृहों) में परिदृश्यमान यज्ञाग्नि हवि द्वारा **नभसः पतिः**=द्युलोक का पालन करनेवाला है—'**अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते**'। **संस्फानः**=पर्जन्यों द्वारा वृष्टि कराके धान्यराशि का वर्धयिता यह अग्नि हमारा **अभिरक्षतु**=वर्धन करनेवाला हो। यह स्वास्थ्य भी दे और सौमनस्य भी प्राप्त कराए। २. यह यज्ञाग्नि **नः**=हमारे **गृहेषु**=घरों में **असमातिम्**=(मातिः मानं तया सह समातिः, न समातिः) परिच्छेदरहित धान्य आदि को करे।

भावार्थ—सभी घरों में यज्ञाग्नि प्रज्वलित हो। यह यज्ञाग्नि मेघों को जन्म देती हुई वृष्टि के द्वारा खूब ही अन्न प्राप्त कराए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**संस्फानम्** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

ऊर्जं, पुष्टं, वसु

त्वं नो नभसस्पत ऊर्जं गृहेषु धारय। आ पुष्टमेत्वा वसु॥ २॥

१. हे **नभसस्पते**=हवि द्वारा द्युलोक का पालन करनेवाले यज्ञाग्ने! **त्वम्**=तू **नः**=हमारे **गृहेषु**=घरों में **ऊर्जम्**=बलकर, रसवत् अन्न को **धारय**=धारण कर। २. तेरे द्वारा हमें **पुष्टम्**=स्वस्थ, पुष्टियुक्त प्रजा, पशु **आ एतु**=सर्वथा प्राप्त हों तथा **वसु आ**=निवास के लिए आवश्यक उत्तम पदार्थ व धन प्राप्त हो।

भावार्थ—यज्ञों से अन्न-रस, पुष्ट प्रजा, पशु व वसुओं की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**संस्फानम्** ॥ छन्दः—**त्रिपदाप्राजापत्यागायत्री** ॥

देव संस्फान

देव॑ संस्फान सहस्रापो॒षस्ये॑शिषे।
तस्य॑ नो रास्व॒ तस्य॑ नो धेहि॒ तस्य॑ ते भक्ति॒वांस॑: स्याम॥ ३॥

१. हे **देव**=हमारे सब रोगों को जीतने की कामनावाले [मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्], **संस्फान**=धान्यराशि के वर्धयितः यज्ञाग्ने! तू **सहस्रपोषस्य**=हज़ारों प्रजाओं के पोषक धनों का **ईशिषे**=ईश है, **तस्य नो रास्व**=वह धन हमें प्रदान कर, **तस्य**=उस धन के भाग को **नः धेहि**=हमारे लिए धारण कर। ते आपके **तस्य**=उस धन के भाग का **भक्तिवांसः स्याम**=हम सेवन करनेवाले हों।

भावार्थ—यह यज्ञाग्नि हमारे रोगों को जीतती है, शतशः पोषणों को प्राप्त करानेवाले धनों को देती है। हम भी यज्ञाग्नि से पोषक धनों के भागों को प्राप्त करें।

८०. [अशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**चन्द्रमाः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

दिव्या 'श्वा'

अ॒न्तरि॑क्षेण पतति॒ विश्वा॑ भू॒ताव॒चाक॑शत्।
शुनो॑ दि॒व्यस्य॒ यन्मह॒स्तेना॑ ते ह॒विषा॑ विधेम॥ १॥

१. प्रभु दिव्य हैं, प्रकाशमय हैं, सब गुणों के पुञ्ज हैं, 'श्वा' हैं—गतिशीलता के द्वारा बढ़े हुए हैं। ये प्रभु **विश्वा भूता अवचाकशत्**=सब प्राणियों को देखते हुए **अन्तरिक्षेण पतति**=हृदयान्तरिक्ष में गति करते हैं, हृदयस्थरूपेण सबके कर्मों को देख रहे हैं और सबका ध्यान कर रहे हैं। २. उस **दिव्यस्य शुनः**=प्रकाशमय वर्धमान प्रभु का **यत् महः**=जो तेज है, **तेन**=उस तेज के हेतु से हे प्रभो! आपका **हविषा विधेम**=हवि के द्वारा पूजन करें। त्यागपूर्वक अदन ही हवि है। इसके द्वारा ही प्रभुपूजन होता है **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'**। यह हवि ही हमारे जीवनों को प्रकाशमय व गति द्वारा वृद्धिवाला बनाती है।

भावार्थ—हृदयस्थरूपेण प्रभु हम सबके कर्मों को देख रहे हैं। प्रभु का हवि द्वारा पूजन करते हुए हम दिव्य व गति द्वारा वृद्धिवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**चन्द्रमाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

त्रयः कालकाञ्जाः

ये त्रय॑: कालका॒ञ्जा दि॒वि दे॒वाइ॑व श्रि॒ताः। तान्त्सर्वा॑नह्व ऊ॒तये॒ऽस्मा अ॑रि॒ष्टता॑तये॥ २॥

१. **ये**=जो **त्रयः**=तीन **कालकाञ्जाः**=(कालक-अञ्जाः) उस सर्वगणक (कल संख्याने)—सबका काल करनेवाले प्रभु के प्रकाश हैं—'सूर्य, विद्युत् व अग्नि' रूप से तीन ज्योतियाँ हैं, जो **दिवि**=इस विशाल आकाश में **देवाः इव श्रिताः**=प्रकाशमय पिण्डों के समान आश्रित हैं, **तान् सर्वान्**=उन सबको **ऊतये**=रक्षण के लिए **अह्वे**=पुकारता हूँ। **अस्मै**=इस **अरिष्टतातये**=अहिंसन के विस्तार के लिए—मैं इन प्रकाशों को पुकारता हूँ। २. मेरा मस्तिष्क ज्ञानसूर्य से प्रकाशित हो, मेरा हृदयान्तरिक्ष वासनाओं पर विद्युत् के प्रहारवाला हो, मेरा शरीर उचित अग्नितत्त्ववाला हो, ऐसा होने पर ही मैं अहिंसित होऊँगा।

भावार्थ—हम 'सूर्य, विद्युत् व अग्नि' रूप प्रभु की ज्योतियों को पुकारें। इन्हें जीवन में धारण करें। हमारा मस्तिष्क ज्ञानसूर्य से दीप्त, हृदयान्तरिक्ष वासनाओं पर विद्युत्-प्रहार करनेवाला व शरीर उचित अग्नितत्त्ववाला हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**चन्द्रमाः** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

अप्सु, दिवि, समुद्रे, पृथिव्याम्

अप्सु ते जन्म दिवि ते सधस्थं समुद्रे अन्तर्महिमा ते पृथिव्याम्।
शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेना ते हविषा विधेम॥ ३ ॥

१. हे प्रभो! **अप्सु**=रेतःकणों में **ते जन्म**=तेरा प्रादुर्भाव है, अर्थात् रेतःकणों का रक्षण होने पर बुद्धि का दीपन होकर आपका दर्शन होता है। **दिवि ते सधस्थम्**=ज्ञान के प्रकाश में आपका सहस्थान है। ज्ञान का प्रकाश होने पर ज्ञानी प्रकाशमय हृदय में आपके साथ निवास करता है। यह ज्ञानी **समुद्रे पृथिव्याम् अन्तः**=समुद्र में व इस पृथिवी में **ते महिमा**=आपकी महिमा को देखता है। २. आप (दिव्य श्वा) प्रकाशमय, गतिमय व सदा से वर्धमान हैं। उन **दिव्यस्य शुनः**=प्रकाशमय, वर्धमान आपका **यत् महः**=जो तेज हैं, **तेन**=उस तेज के हेतु से **ते**=आपका **हविषा विधेम**=हवि के द्वारा पूजन करें।

भावार्थ—रेतःकणों का रक्षण हमें प्रभु-दर्शन के योग्य बनाता है। प्रकाशमय हृदय में ज्ञानी आपके चरणों में बैठता है। यह समुद्र व पृथिवी में आपकी महिमा को देखता है। आपके तेज को प्राप्त करने के लिए हवि के द्वारा आपका पूजन करता है।

८१. [एकाशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यन्ता परिहस्तः

यन्तासि यच्छसे हस्तावप रक्षांसि सेधसि।
प्रजां धनं च गृह्णानः परिहस्तो अभूदयम्॥ १ ॥

१. गतसूक्त के अनुसार प्रभुपूजन की वृत्तिवाले हे पुरुष! तू **यन्ता असि**=अपने जीवन को नियम में रखनेवाला है। पाणिग्रहण के समय तू **हस्तौ यच्छसे**=अपने हाथों को अपने जीवन साथी के लिए देता है, **रक्षांसि अप सेधसि**=विनाशक तत्त्वों को घर से दूर करता है—अपने मन में भी राक्षसीभावों का उदय नहीं होने देता। २. वस्तुतः **प्रजाम्**=सन्तान को **गृह्णानः**=समीप भविष्य में प्राप्त करनेवाला **अयम्**=यह पुरुष **धनं च**=धन को भी (गृह्णानः) ग्रहण करने के स्वभाववाला—धनार्जन की योग्यतावाला **परिहस्तः अभूत्**=हाथ का सहारा देनेवाला हुआ है। गृहस्थाश्रम में प्रवेश का मुख्योद्देश्य उत्तम सन्तान की प्राप्ति ही है और गृहस्थ को परिवार के पालन के लिए धन अवश्य कमाना है।

भावार्थ—गृहस्थ में पति का जीवन बड़ा नियमित हो। उसका हृदय राक्षसीभावों से शून्य हो। प्रजा-प्राप्ति की कामनावाला यह धर्नाजन की योग्यता से युक्त हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

मर्यादा से युक्त जीवनवाली माता

परिहस्त वि धारय योनिं गर्भाय धातवे। मर्यादे पुत्रमा धेहि तं त्वमा गमयागमे॥ २ ॥

१. हे **परिहस्त**=हाथ का सहारा देनेवाले पुरुष! **तू योनिम्**=सन्तान को जन्म देनेवाली इस पत्नी को **विधारय**=विशेषरूप में धारण करनेवाला हो। तू **गर्भाय धातवे**=गर्भाधान

करनेवाला हो। २. तू पत्नी से यही कह कि **मर्यादे**=प्रत्येक कार्य को मर्यादा में करनेवाली तू **पुत्रम् आधेहि**=गर्भस्थ सन्तान का सब प्रकार से सम्यक् धारण कर। **तम्**=उस सन्तान को **त्वम्**=तू **आगमे**=ठीक समय पर आगमय=संसार में लानेवाली हो—जन्म देनेवाली हो।

भावार्थ—पति को पत्नी-ग्रहण उत्तम सन्तान के लिए ही करना है। पत्नी को बड़ा मर्यादित जीवन बिताते हुए गर्भावस्था में सन्तान का सम्यक् पोषण करना है और समय पर जन्म देना है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**आदित्याः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पुत्रकाम्या अदिति

यं परिहस्तमबिभरदितिः पुत्रकाम्या।
त्वष्टा तमस्या आ बध्नाद्यथा पुत्रं जनादिति ॥ ३ ॥

१. **पुत्रकाम्या**=उत्तम सन्तान की कामनावाली **अदितिः**=अखण्डित व्रतवाली यह स्त्री **यम्**=जिस **परिहस्तम्**=हाथ का सहारा देनेवाले पुरुष को **अबिभः**=धारण करती है, **त्वष्टा**=संसार का निर्माता प्रभु **तम्**=उस पुरुष को **अस्यै आबध्नात्**=इसके लिए बाँधे—इसके साथ उस पुरुष के सम्बन्ध को स्थिर करे, **यथा**=जिससे यह **पुत्रं जनात्**=उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाली हो। **इति**=यही तो इस सम्बन्ध का उद्देश्य है।

भावार्थ—पत्नी को पुत्र की ही कामनावाला होना चाहिए। वह व्रतमय जीवनवाली होगी तो सन्तान भी उत्तम होगी। उसे पतिव्रता होना, जिससे सन्तान भी व्रतमय जीवनवाले हों।

विशेष—धन कमाने की योग्यतावाला यह पुरुष गृहस्थ में प्रवेश करता है। घर को सौभाग्य-सम्पन्न बनानेवाला (गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तम्), यह पति 'भग' कहलाता है। अगले तीन सूक्तों का ऋषि यह भग ही है।

८२. [द्व्यशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भगः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'इन्द्र वृत्रहा वासव शतक्रतु'

आगच्छत आगतस्य नाम गृह्णाम्यायतः।
इन्द्रस्य वृत्रघ्नो वन्वे वासवस्य शतक्रतोः ॥ १ ॥

१. **आयतः**=अतिशयेन यत्नवान् (यती प्रयत्ने) अथवा सब इन्द्रियों का नियमन करनेवाला (यमु उपरमे) मैं **आगच्छतः**=समन्तात् गतिवाले व **आगतस्य**=आये हुए—हृदयस्थ प्रभु के नाम का **गृह्णामि**=उच्चारण करता हूँ। प्रत्येक गृहस्थ को प्रभु का स्मरण करना ही चाहिए। प्रभु के स्मरण से ही गृहस्थ के भार को उठाने की शक्ति प्राप्त होती है तथा जीवन की पवित्रता बनी रहती है। २. **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली **वृत्रघ्नः**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को विनष्ट करनेवाले **वासवस्य**=सब वसुओं से सम्पन्न, **शतक्रतोः**=सैकड़ों, 'शक्तियों, प्रज्ञानों व कर्मों' वाले प्रभु से **वन्वे**=याचना करता हूँ, इस प्रभु से अभिमत पदार्थों की प्रार्थना करता हूँ। वस्तुतः गृहस्थ में प्रवेश करनेवाले युवक को भी 'इन्द्र, वृत्रहा, वासव व शतक्रतु' बनने का यत्न करना चाहिए। इन्द्र, अर्थात् वह जितेन्द्रिय बने, जितेन्द्रयता ही वर का सर्वमहान् ऐश्वर्य है। यह ज्ञान के द्वारा वासनाओं को विनष्ट करनेवाला हो, सब वसुओं का सम्पादन करे तथा यज्ञमय जीवनवाला हो।

भावार्थ—गृहस्थ में प्रवेश करनेवाला युवक प्रभु का स्मरण करे। यह प्रभु स्मरण ही उसके जीवन को पवित्र व सशक्त बनता है। यह जितेन्द्रिय (इन्द्र) बने, ज्ञानी बनकर वासनाओं का विनाश करनेवाला हो (वृत्रहा), गृहस्थ के लिए आवश्यक वसुओं का सम्पादन करे (वासव)

तथा यज्ञमय जीवनवाला (शतक्रतु) बने।

ऋषिः—**भगः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अश्विना सूर्या

येन सूर्यां सावित्रीमश्विनोहतुः पथा। तेन मामब्रवीद्भगो जायामा वहतादिति॥ २ ॥

१. **येन पथा**=जिस मार्ग से **अश्विना**=अश्विनी देव—दिन और रात **सावित्रीं सूर्याम्**=सविता सम्बन्धी सूर्य को—ज्योति को **ऊहतुः**=धारण करते हैं, **तेन**=उसी मार्ग से तू **जायाम् आवहतात्**=पत्नी को प्राप्त करनेवाला हो, **इति**=यह बात **माम्**=मुझे **भगः**=उस ऐश्वर्यवान् प्रभु ने **अब्रवीत्**=कही है। २. दिन और रात अत्यन्त नियमित गति में चलते हुए 'सूर्या' को प्राप्त करते हैं। एक वर भी उसी प्रकार नियमित गतिवाला होता हुआ तथा प्राणसाधना को अपनाता हुआ (अश्विना—प्राणापानौ) पत्नी को प्राप्त करे।

भावार्थ—पति को 'अश्विनौ' (दिन-रात) की भाँति नियमित गतिवाला होना चाहिए। इसे प्राणसाधना की प्रवृत्तिवाला होना चाहिए (अश्विना—प्राणापानौ)। पत्नी को 'सूर्या' बनना, क्रियाशील (सरति) व प्रकाशमय जीवनवाला होना चाहिए।

ऋषिः—**भगः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रभु का वरद अंकुश

यस्तेऽङ्कुशो वसुदानो बृहन्निन्द्र हिरण्ययः। तेना जनीयते जायां मह्यं धेहि शचीपते॥ ३ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **यः ते अंकुशः**=जो आपका अंकुश—अंकुशवत् आकर्षक हाथ **वसुदानः**=सब वसुओं को देनेवाला है, **बृहन्**=वृद्धि का कारणभूत है, **हिरण्ययः**=ज्योतिर्मय है। प्रभु का हाथ अंकुशवत् है। यह हमें बुराइयों से रोकता है, सब वसुओं को प्राप्त कराता है और हमारा वर्धन करता हुआ हमारे जीवन को ज्योतिर्मय बनाता है। २. हे **शचीपते**=सब वाणियों, शक्तियों व प्रज्ञानों के स्वामिन् प्रभो! **तेन**=उसी अपने अंकुश से **जनीयते**=सन्तान को जन्म देनेवाली पत्नी की कामनावाले **मह्यम्**=मेरे लिए **जायाम्**=पत्नी को भी **धेहि**=प्राप्त कराइए।

भावार्थ—प्रभु के पाप-निवारक वरद हस्तों से हमें सब वसु प्राप्त होते हैं। ये हाथ हमारा वर्धन करते हैं, हमारे जीवन को ज्योतिर्मय बनाते हैं और ये हाथ ही हमें जीवन का साथी (जाया) प्राप्त कराते हैं।

८३. [त्र्यशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भगः** ॥ देवता—**सूर्यादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गण्डमाला की चिकित्सा

अपचितः प्र पतत सुपर्णो वसतेरिव। सूर्यः कृणोतु भेषजं चन्द्रमा वोऽप पोच्छतु॥ १ ॥

१. दोषवश गले से लेकर नीचे फैलनेवाली गिलटियाँ गण्डमाला व 'अपचित' कहलाती हैं (अपाक् चीयमानाः) हे **अपचितः**=गण्डमालाओ! तुम **प्र पतत**=इस शरीर से इसप्रकार निकल जाओ **इव**=जैसेकि **सुपर्णः वसतेः**=शोभनपतन श्येन अपने निवासस्थानभूत घोंसले से उड़ जाता है। २. **सूर्यः**=सूर्य **वः**=तुम्हारा **भेषजं कृणोतु**=चिकित्सा करे और **चन्द्रमाः**=चन्द्र तुम्हें **अप उच्छतु**=दूर विवासित करनेवाला हो।

भावार्थ—एक सद् वैद्य सूर्य व चन्द्र किरणों को सेवन कराके 'गण्डमाला' रोग को हमसे दूर भगा देता है।

ऋषिः—**भगः** ॥ देवता—**सूर्यादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

एनी श्येनी कृष्णा रोहिणी

एन्येका श्येन्येका कृष्णैका रोहिणी द्वे। सर्वासामग्रभं नामावीरघ्नीरपेतन॥ २॥

१. **एका**=एक गण्डमाला **एनी**=ईषत् रक्तमिश्रित श्वेत वर्णवाली है, **एका श्येनी**=एक अत्यन्त शुभ्र वर्णवाली है। **एका कृष्णा**=एक कृष्णवर्णवाली है और **द्वे रोहिणी**=दो लोहित=रक्त वर्णवाली हैं। २. मैं **सर्वासाम्**=इन सब गण्डमालाओं के **नाम**=नमन-(दमन)-साधन-उपाय को **अग्रभम्**=ग्रहण करता हूँ। हे गण्डमालाओ! तुम **अवीरघ्नीः**=हमारी वीर सन्तानों को नष्ट न करती हुई यहाँ से **अपेतन**=दूर चली जाओ।

भावार्थ—हम विविध गण्डमालाओं को दूर करने के साधनों का ग्रहण करते हुए इन्हें अपने जीवनों से दूर करें।

ऋषिः—**भगः** ॥ देवता—**सूर्यादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

असूतिका रामायणी

असूतिका रामायण्य ऽपचित्प्र पतिष्यति।
ग्लौरितः प्र पतिष्यति स गलुन्तो नशिष्यति॥ ३॥

१. **असूतिका**=पूयस्राव को पैदा न करती हुई—देर से पकनेवाली यह **रामायणी**=(रमते आसु प्राणवायुः इति रामाः नाड्यः, ता अयनं यस्याः) प्राणवायु के रमन स्थानाभूत नाड़ियों में मार्ग-वाली यह **अपचित्**=गण्डमाला **प्रपतिष्यति**=अवश्य चली जाएगी। २. **ग्लौ**=वज्रजनित हर्षक्षय **इतः**=यहाँ से **प्रपतिष्यति**=दूर हो जाएगा और **सः**=वह घाव **गलुन्तः**=परिपक्व होकर गलने से **नशिष्यति**=नष्ट हो जाएगा—इससे सब पूय (पस) निकलकर घाव की समाप्ति हो जाएगी।

भावार्थ—औषध-प्रयोग से यह असूतिका रामायणी 'ग्लौ व गलुन्त' के रूप में होती हुई नष्ट हो जाएगी।

ऋषिः—**भगः** ॥ देवता—**सूर्यादयः** ॥ छन्दः—**द्विपदानिचृदार्च्यनुष्टुप्** ॥

प्रेमपूर्वक यज्ञशेष का सेवन

वीहि स्वामाहुतिं जुषाणो मनसा स्वाहा मनसा यदिदं जुहोमि॥ ४॥

१. हे रुग्णपुरुष! तू **स्वाम् आहुतिम्**=यज्ञशेष के रूप में ली गई अपनी इस भोज्य द्रव्य की आहुति को **मनसा जुषाणः**=मन से प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ **वीहि**=खा। यज्ञशेष का प्रीतिपूर्वक सेवन तुझे नीरोगता प्रदान करेगा। २. **यत् इदं जुहोमि**=यह जो मैं तुझे देता हूँ, उसे तू **मनसा**=मन के साथ—पूरे ध्यान के साथ **स्वाहा**=आहुत करनेवाला बन। तू यज्ञशेष ही खाना। यज्ञ करके बचे हुए को खाना ही अमृतभोजन है।

भावार्थ—प्रीतिपूर्वक यज्ञशेष का सेवन करने से गण्डमाला आदि रोग उत्पन्न ही नहीं होते। उत्पन्न हुए-हुए भी नष्ट हो जाते हैं। एवं, औषध के साथ पथ्य-सेवन आवश्यक है।

८४. [चतुरशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भगः** ॥ देवता—**निर्ऋतिः** ॥ छन्दः—**भुरिग्जगती** ॥

निर्ऋति, नकि भूमि

यस्यास्त आसनि घोरे जुहोम्येषां बद्धानामवसर्जनाय कम्।
भूमिरिति त्वाभिप्रमन्वते जना निर्ऋतिरिति त्वाहं परि वेद सर्वतः॥ १॥

१. हे निर्ऋते (दुराचरण)! **यस्याः**=जिस **ते**=तेरे **घोरे आसनि**=भयंकर मुख में **जुहोमि**=मैं अपने को आहुत कर बैठता हूँ—मेरी सब इन्द्रियाँ विषयों से जकड़ी जाकर मेरे पतन का कारण बनती हैं, **एषाम्**=इन **बद्धानाम्**=विषयों से बद्ध इन्द्रियों के **अवसर्जनाय**=छुड़ाने के लिए **कम्**=उस आनन्दमय प्रभु को (जुहोमि) मैं अपना अपर्ण करता हूँ। प्रभु ही मुझे इस निर्ऋति के बन्धन से मुक्त करेंगे। २. हे निर्ऋते! **जनाः**=समान्य लोग **त्वा**=तुझे **भूमिः इति**=(भवन्ति भूतानि यस्याम्) उत्तम निवास-स्थान के रूप में **अभिप्रमन्वते**=मानते हैं—समझते हैं, परन्तु **अहम्**=मैं **त्वा**=तुझे **सर्वतः**=सब दृष्टिकोणों से **निर्ऋतिः इति**=दुर्गति के कारणभूत दुराचार के रूप में **परिवेद**=जानता हूँ।

भावार्थ—इन्द्रियाँ दुराचार का शिकार होकर विषयों से बद्ध हो जाती हैं, प्रभु-स्मरण से हम इन्हें विषयों से मुक्त करें। विषयों को आनन्द का स्थान न मानकर हम इन्हें कष्ट (दुर्गति) का मूल जानें।

ऋषिः—**भगः** ॥ देवता—**निर्ऋतिः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाऽऽर्चीबृहती** ॥

हविष्मती 'भूमि'

भूते हविष्मती भवैष ते भागो यो अस्मासु। मुञ्चेमानमूनेनसः स्वाहा ॥ २ ॥

१. 'निर्ऋति' पाप-देवता है, तो 'भूति' ऐश्वर्य की देवता है। हे **भूते**=ऐश्वर्य की देवते! (विभूतिर्भूतिरैश्वर्यम्) तू **हविष्मती भव**=हविवाली हो। हम तुझे प्राप्त करके त्यागपूर्वक अदन-(खाने)-वाले बनें। **एषः**=यह ही **ते भागः**=तेरा सेवनीय व्यवहार है, **यः अस्मासु**=जो हममें हो, अर्थात् हम सदा तेरा त्यागपूर्वक ही अदन करनेवाले हैं। २. हे ऐश्वर्य! तू **इमान् अमून्**=इनको और उनको—श्रमिकों व पूंजीपतियों को **एनसः मुञ्च**=पाप से मुक्त कर। इनमें से कोई भी लोभ से तेरा ग्रहण करनेवाला न हो, सब त्यागपूर्वक ही तेरा अदन करें। इस पापवृत्ति से छूटने के लिए हम **स्वाहा**=आत्मसमर्पण करनेवाले व त्यागशील बनें।

भावार्थ—हमारा ऐश्वर्य त्याग की वृत्ति से युक्त हो। सम्पत्ति का त्यागपूर्वक अदन ही सेवनीय व्यवहार है। त्यागवृत्ति होने पर यह ऐश्वर्य हमें पाप में नहीं फँसाता। त्याग की वृत्ति होने पर 'श्रमिक और पूँजीपति' दोनों का ही व्यवहार ठीक बना रहता है।

ऋषिः—**भगः** ॥ देवता—**निर्ऋतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

अयस्मय बन्धपाशों का विभेदन

एवो ष्व१स्मन्निर्ऋतेऽनेहा त्वमयस्मयान्वि चृता बन्धपाशान्।
यमो मह्यं पुनरित्त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥ ३ ॥

१. हे **निर्ऋते**=पापदेवते! **एव उ**=इसप्रकार ही, अर्थात् गतमन्त्र के अनुसार त्यागवृत्ति के होने पर ही **त्वम् अनेहा**=तू हमारे लिए निष्पाप जीवनवाली होती है। तू **अस्मत्**=हमसे **अयस्मयान्**=लोहनिर्मित, अर्थात् अतिदृढ़ **बन्धपाशान्**=बन्धन-जालों को **सुविचृत**=सम्यक् छिन्न कर डाल। २. **यमः**=सर्वनियन्ता प्रभु **मह्यम्**=मेरे लिए **पुनः इत्**=फिर भी—त्याग के अभाव में **त्वां ददाति**=तुझे दे देता है। जब हम त्यागवृत्ति को छोड़कर भोग-वृत्ति में चलते हैं तब प्रभु हमें फिर निर्ऋति में ले-जाता है। **तस्मै**=उस **यमाय**=सर्वनियन्ता **मृत्यवे**=मृत्यु प्राप्त करानेवाले प्रभु के लिए **नमः अस्तु**=हमारा नमस्कार हो। हम प्रभु-स्मरण करते हुए भोगवृत्ति से बचे रहें।

भावार्थ—त्यागवृत्ति होने पर ऐश्वर्य हमारे लिए निर्ऋति बनकर पापमय जीवन का कारण नहीं बनता। 'यम' का स्मरण हमें पाप से बचाता है।

ऋषिः—**भगः** ॥ देवता—**निर्ऋतिः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

अयस्मये द्रुपदे बेधिष इहाभिहितो मृत्युभिर्ये सहस्रम्।
यमेन त्वं पितृभिः संविदान उत्तमं नाकमधि रोहयेमम्॥ ४॥

इस मन्त्र की व्याख्या ६.६३.३ पर द्रष्टव्य है।

विशेष—आचार्यों व पितरों के सम्पर्क में ज्ञानी बनकर पाप-बन्धन से मुक्त होनेवाला यह व्यक्ति 'अथर्वा' बनता है—संसार के विषयों से न डाँवाडोल होनेवाला है। यही अगले पाँच सूक्तों का ऋषि है।

८५. [पञ्चाशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (यक्ष्मनाशनकामः)** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वरणः=वरुणः

वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः।
यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमु देवा अवीवरन्॥ १॥

१. **वरणः**=यह वरणवृक्ष **वारयातै**=रोग का निवारण करे। **अयम्**=यह **देवः**=रोगों को जीतने की कामनावाला है (दिव् विजिगीषायाम्) **वनस्पतिः**=(वनस् loveliness) शरीर के सौन्दर्य का रक्षक है। **यः यक्ष्मः**=जो रोग **अस्मिन् आविष्टः**=इस पुरुष में प्रवेश कर गया है, **तम् उ**=उसे निश्चय से **देवाः**=ज्ञानी वैद्य **अवीवरन्**=इस वरण (वरना) के प्रयोग से हटाते हैं।

भावार्थ—वरण को आयुर्वेद में '**वरुणः पित्तलो भेदी श्लेष्मकृच्छ्राश्ममारुतान्। निहन्ति गुल्मवातास्त्रकृमींश्चोष्णोऽग्निदीपनः॥' रक्तदोषघ्नः शिरोवातहरः स्निग्ध आग्नेयो विद्रिध-वातघ्नश्च**' कहा है। यह 'श्लेष्मा, मूत्रदोष, वातदोष, गुल्म, वातरक्त, कृमिदोष, रक्तदोष व शिरोवात' को दूर करनेवाला है। यह आग्नेय है। इसके प्रयोग से हम नीरोग शरीरवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा (यक्ष्मनाशनकामः)** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'इन्द्र, मित्र, वरुण देव'

इन्द्रस्य वचसा वयं मित्रस्य वरुणस्य च।
देवानां सर्वेषां वाचा यक्ष्मं ते वारयामहे॥ २॥

१. **इन्द्रस्य**=रोगरूप सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु के **वचसा**=वचन से—वेदप्रतिपादित वाणी से **वयम्**=हम **ते यक्ष्मम्**=तेरे रोग को **वारयामहे**=निवारित करते हैं। वरणवृक्ष के समुचित प्रयोग से हम तेरे रोग को दूर करते हैं। २. **मित्रस्य**=उस प्रमीति (मृत्यु) से बचानेवाले प्रभु के **च**=तथा **वरुणस्य**=द्वेष आदि का निवारण करनेवाले प्रभु के वचन से हम तेरे रोग को दूर करते हैं। 'इन्द्र' में जितेन्द्रियता का भाव है, 'मित्र' में स्नेह तथा 'वरुण' में निर्द्वेषता का। ये तीनों ही वृत्तियाँ दोष-निवारण के लिए आवश्यक हैं। ३. **सर्वेषां देवानां वाचा**=सब देवों की वाणियों से हम तेरे रोगों को दूर करते हैं। विद्वान् वैद्यों के कथन से वरना का ठीक प्रयोग करते हुए हम नीरोग बनते हैं।

भावार्थ—हम 'जितेन्द्रिय, स्नेहवाले व निर्द्वेष' बनकर रोगों को पराजित करते हैं। विद्वान् वैद्यों के कथन से वरना का ठीक प्रयोग करते हुए हम नीरोग बनते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा (यक्ष्मनाशनकामः)** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यक्ष्म-निवारण

यथा वृत्र इमा आपस्तस्तम्भ विश्वधा यतीः।
एवा ते अग्निना यक्ष्मं वैश्वानरेण वारये॥ ३॥

१. **यथा**=जैसे **वृत्रः**=मेघ **विश्वधा यतीः**=सब ओर बहती हुई **इमाः आपः**=इन जलधाराओं को **तस्तम्भ**=रोके हुए हैं, **एव**=उसी प्रकार **ते यक्ष्मम्**=तेरे राजयोग को **वैश्वानरेण अग्निना**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले जाठराग्नि के द्वारा **वारये**=रोकता हूँ। २. जाठर अग्नि के ठीक होने पर शरीर में रोग नहीं आते। आये हुए रोग भी इस अग्नि के ठीक होने से दूर हो जाते हैं। वरणवृक्ष भी 'आग्नेय' है। इस अग्नि का प्रयोग भी रोग का निवारण करता ही है।

भावार्थ—बादल पानी को रोक लेता है। वरणवृक्ष व वैश्वानर अग्नि (जाठराग्नि) रोग को रोकनेवाला हो। वरणवृक्ष का प्रयोग रोग को फैलने नहीं देता।

८६. [षडशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (वृषकामः)** ॥ देवता—**एकवृषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

एकवृष

वृषेन्द्रस्य वृषा दिवो वृषा पृथिव्या अयम्।
वृषा विश्वस्य भूतस्य त्वमेकवृषो भव॥ १॥

१. **अयम्**=यह प्रभु **इन्द्रस्य**=सूर्य का—सूर्य के अधिष्ठान द्युलोक का **वृषा**=स्वामी है (वृषु ऐश्वर्य), **दिवः**=इस जगमगाते अन्तरिक्षलोक का **वृषा**=स्वामी है तथा **पृथिव्याः**=पृथिवीलोक का स्वामी है। २. यह प्रभु **सर्वस्य भूतस्य वृषा**=सब प्राणियों का स्वामी है। हे उपासक! तू भी इस 'वृषा' प्रभु का उपासन करता हुआ **एकवृषः भव**=अद्वितीय शक्तिशाली बन। अपनी इन्द्रियों का स्वामी बनता हुआ 'एकवृष' बन।

भावार्थ—प्रभु, 'द्युलोक, अन्तरिक्षलोक व पृथ्वीलोक' के स्वामी हैं। वे सब भूतों के स्वामी हैं। इस वृषा का स्मरण करते हुए हम भी 'मस्तिष्क, हृदय व शरीर' के स्वामी बनते हुए 'एकवृष' बनें—अद्वितीय शक्तिशाली स्वामी बनें।

ऋषिः—**अथर्वा (वृषकामः)** ॥ देवता—**एकवृषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'समुद्र, अग्नि व चन्द्र' की भाँति

समुद्र ईशे स्रवतामग्निः पृथिव्या वशी।
चन्द्रमा नक्षत्राणामीशे त्वमेकवृषो भव॥ २॥

१. **समुद्रः**=समुद्र **स्रवताम्**=बहते हुए जलप्रवाहों का **ईशे**=स्वामी है। यह 'सरितां पतिः' कहलाता है। **अग्निः**=अग्नि **पृथिव्याः वशी**=पृथिवी को वश में करनेवाला है। अग्नि ही पृथिवी का प्रमुख देव है। **चन्द्रमाः**=चन्द्रमा **नक्षत्राणम् ईशे**=नक्षत्रों का ईश है। इसका नाम ही 'नक्षेश' है। हे उपासक **त्वम्**=तू भी 'समुद्र, अग्नि व चन्द्र' की भाँति **एकवृषः भव**=अद्वितीय स्वामी बन। समुद्र आदि का स्वामीत्व अव्याहत है, तेरा भी इन्द्रियों पर स्वामित्व अव्याहत हो।

भावार्थ—हम 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' के इसीप्रकार स्वामी बनें जैसे समुद्र नदियों का, अग्नि पृथिवी का तथा चन्द्र नक्षत्रों का ईश है।

ऋषिः—**अथर्वा (वृषकामः)**॥ देवता—**एकवृषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उत्तम पुरुष लक्षण

सम्राडस्यसुराणां ककुन्मनुष्या [णाम्। देवानामर्धभागसि त्वमेकवृषो भव॥ ३॥

१. हे उत्तम पुरुष! तू **असुराणाम्**=(असु+रम्) प्राणशक्ति-सम्पन्न बलवान् पुरुषों का **सम्राट् असि**=सम्राट् है। **मनुष्यणाम्**=मननशील पुरुषों का **ककुत्**=शिखर—शिरोमणि है। **देवानाम्**=दिव्य वृत्तिवाले सब मनुष्यों की **अर्धभाग् असि**=(अर्ध-Increase) वृद्धि का सेवन करनेवाला है। इसप्रकार **त्वम्**=तू **एकवृषः भव**=अद्वितीय श्रेष्ठतावाला हो।

भावार्थ—हम शक्तिशालियों के सम्राट्, ज्ञानियों के शिरोमणि व देवों की समृद्धिवाले बनकर—दिव्य गुणोंवाले बनकर अद्वितीय श्रेष्ठता को प्राप्त करें।

८७. [सप्ताशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ध्रुवः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रजाप्रिय राजा

आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलत्।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत्॥ १॥

१. पुरोहित राज्याभिषेक करता हुआ राजा से कहता है कि हे राजन्! **त्वा आहार्षम्**=तुझे मैं इस सिंहासन पर लाया हूँ, **अन्तः अभूः**=तू सदा राष्ट्र में निवास करनेवाला हो, **अविचाचलत्**=मार्ग से विचलित न होता हुआ तू **ध्रुवः तिष्ठ**=स्थिररूप से सिंहासन पर स्थित हो। २. **सर्वाः विशः**=सब प्रजाएँ **त्वा वाञ्छन्तु**=तुझे चाहें। तू प्रजाओं का प्रिय हो। **त्वत्**=तुझसे **राष्ट्रम्**=यह राष्ट्र **मा अधिभ्रशत्**=कभी भी नष्ट न हो।

भावार्थ—राजा प्रजाओं में ही विचरनेवाला हो। वह इधर-उधर शिकार ही न खेलता रहे। स्थिरवृत्ति का बनकर राज्य करे। प्रजाओं का प्रिय हो। उसे कभी राज्य से पृथक् न होना पड़े।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ध्रुवः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मर्यादित जीवनवाला राजा

इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वतइवाविचाचलत्। इन्द्रेहैव ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय॥ २॥

१. **इह एव एधि**=तू सदा इस राज्यसिंहासन पर ही हो। **मा अप च्योष्ठाः**=कभी भी इस राज्य से च्युत मत हो। **पर्वतः इव**=पर्वत की भाँति **अविचाचलत्**=दृढ हो—मार्ग से डाँवाडोल होनेवाला न हो। २. **इन्द्र**=हे जितेन्द्रिय पुरुष! तू **इह एव**=इस राष्ट्र में ही **ध्रुवः तिष्ठ**=ध्रुव होकर रह **उ**=और **राष्ट्रम्**=राष्ट्र को **धारय**=धारित कर। राष्ट्र की सब प्रजाओं को अपने-अपने कार्य में धारित कर—'**राजा चतुरो वर्णान् स्वधर्मे स्थापयेत्**'। यही तो राष्ट्र-धारण का सर्वोत्तम प्रकार है।

भावार्थ—राजा पर्वत की भाँति कर्त्तव्यमर्यादा में स्थित होता हुआ कभी मार्ग से विचलित न हो। वह जितेन्द्रिय बनकर सब राष्ट्र का धारण करे—'**जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः**'।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ध्रुवः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'सोम ब्रह्मणस्पति' का राजा को उपदेश

इन्द्र एतमदीधरद् ध्रुवं ध्रुवेण हविषा।
तस्मै सोमो अधि ब्रवदयं च ब्रह्मणस्पतिः॥ ३॥

१. **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय राजा **एतम्**=इस राष्ट्रजन को **ध्रुवम् अदीधरत्**=स्थिरता से धारण करनेवाला हो। स्वयं जितेन्द्रिय होता हुआ वह प्रजा को भी ध्रुवता से सन्मार्ग में चलानेवाला हो। यह राजा **ध्रुवेण हविषा**=स्थिर हवि के द्वारा—कर-रूप में प्राप्त होनेवाले धन के द्वारा प्रजा को धारण करे। प्रजा नियम से कर दे और राजा उसका विनियोग राष्ट्रधारण में करे २. **च**=और **तस्मै**=उस राजा के लिए **अयम्**=यह **सोमः**=सौम्य स्वभाववाला **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी आचार्य **अधिब्रवत्**=अधिष्ठातृरूपेण उपदेश देनेवाला हो और राजा इसके उपदेश का कभी उल्लंघन न करे।

भावार्थ—राजा जितेन्द्रिय हो। स्थिररूप से प्राप्त होनेवाले कर के द्वारा वह राष्ट्र का धारण करे। सौम्य, ज्ञानी आचार्य राजा को राजकार्यों (स्वकर्त्तव्यों) का सदा उपदेश देनेवाला हो।

८८. [अष्टाशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ध्रुवः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ध्रुव राजा

ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृ॑थि॒वी ध्रु॒वं विश्व॑मि॒दं जग॑त्।
ध्रु॒वास॑: पर्व॑ता इ॒मे ध्रु॒वो राजा॑ वि॒शाम॒यम्॥ १ ॥

१. जैसे **द्यौः**=द्युलोक **ध्रुवा**=स्थिर है और **पृथिवी ध्रुवा**=पृथिवी स्थिर है। द्यावापृथिवी के अन्दर वर्त्तमान **इदम्**=यह **विश्वं जगत्**=सब संसार **ध्रुवम्**=स्थिर दीखता है और वहाँ के **इमे**=ये **पर्वताः ध्रुवासः**=पर्वत-जैसे ध्रुव हैं, उसी प्रकार **अयम्**=यह **विशाम्**=प्रजाओं का **राजा**=राजा भी **ध्रुवः**=स्थिर हो। राजा कभी भी सन्मार्ग से विचलित होनेवाला न हो।

भावार्थ—प्रजापालक राजा वही होता है जो कर्त्तव्य-मार्ग पर पर्वतों के समान स्थिर होकर रहता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ध्रुवः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'वरुण, बृहस्पति, इन्द्र, अग्नि' द्वारा राष्ट्रधारण

ध्रु॒वं ते॒ राजा॒ वरु॑णो ध्रु॒वं दे॒वो बृह॒स्पति॑:।
ध्रु॒वं त॒ इन्द्र॑श्चा॒ग्निश्च॑ रा॒ष्ट्रं धा॑रयतां ध्रु॒वम्॥ २ ॥

१. हे राजन्! **ते राष्ट्रम्**=तेरे इस राष्ट्र को **राजा**=तेजस्विता से **दीप्त वरुणः**=पाप से निवारण करनेवाला आरक्षी-(पुलिस)-विभाग का यह अध्यक्ष **ध्रुवम्**=स्थिरता से धारण करे। **देवः**=यह दिव्य गुणोंवाला—देववृत्तिवाला **बृहस्पतिः**=ज्ञानी—मुख्य सचिव **ध्रुवः**=ध्रुवता से धारण करे। २. **इन्द्रः च**=शत्रुओं का विद्रावक सेनापति **ते राष्ट्रम्**=तेरे राष्ट्र को **ध्रुवम्**=ध्रुवता से धारण करे। **अग्निः च**=और राष्ट्र की उन्नति का विचार करनेवाला अध्यक्ष तेरे राष्ट्र को **ध्रुवं धारयताम्**=ध्रुवता से धारण करे।

भावार्थ—राजा के राष्ट्र को 'वरुण, बृहस्पति, इन्द्र व अग्नि' आदि ध्रुवता से धारण करनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ध्रुवः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

निरुपद्रव राष्ट्र में मिलकर चलनेवाली प्रजाएँ

ध्रु॒वोऽच्यु॑त॒: प्र मृ॑णीहि॒ शत्रू॒ञ्छत्रू॒य॒तोऽध॑रान्पादयस्व।
सर्वा॒ दिश॒: संम॑नसः स॒ध्रीची॑र्ध्रु॒वाय॑ ते॒ समि॑तिः कल्पतामि॒ह॥ ३ ॥

१. हे राजन्! **ध्रुवः**=इस राष्ट्र में स्थिर **अच्युतः**=मार्ग से विचलित न होनेवाला होता हुआ **शत्रून्**=शत्रुओं को **प्रमृणीहि**=नष्ट कर डाल। **शत्रूयतः**=शत्रु की भाँति आचरण करते हुए अन्य जनों को **अधरान् पादयस्व**=नीचे गिरा दे, पददलित कर दे। २. इसप्रकार शत्रुओं के न रहने पर **सर्वाः दिशः**=सब दिशाएँ—इनमें रहनेवाली प्रजाएँ **संमनसः**=उत्तम मनवाली होती हुई **सध्रीचीः**=मिलकर चलनेवाली हों। प्रजाओं का परस्पर विरोध न हो। **इह**=इस राष्ट्र में **ध्रुवायते**=कर्त्तव्य-पथ में स्थित तेरे लिए **समितिः कल्पताम्**=राष्ट्रसभा समर्थ हो, सामर्थ्य की जनक हो। यह सभा तुझे ध्रुवता से शासन करने में समर्थ करे।

भावार्थ—राजा राष्ट्र को शत्रुभय से रहित करे। इस निरुपद्रव राष्ट्र में सब प्रजाएँ प्रेम से मिलकर चलें। राष्ट्रसभा राजा को शासनकार्य में शक्तिसम्पन्न करे।

८९. [एकोननवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सोमेन दत्तम्

इदं यत्प्रेण्यः शिरो दत्तं सोमेन वृष्ण्यम्।
ततः परि प्रजातेन हार्दिं ते शोचयामसि॥ १॥

१. हे पुरुष! **इदम्**=यह **यत्**=जो **प्रेण्यः**=प्रीणित करनेवाली पत्नी का **शिरः**=सिर **सोमेन**=सकल जगदुत्पादक प्रभु ने **दत्तम्**=तेरे हाथ में दिया है, यह **वृष्ण्यम्**=तुझमें शक्ति का सेचन करनेवाला हो। इस पत्नी के गौरव को बचाना तू अपना धर्म समझे और यह भाव तुझे शक्तिशाली बनाए। २. **ततः**=उस तेरे हाथ में दिये गये सिर से **परिप्रजातेन**=उत्पन्न हुए-हुए स्नेहविशेष से **ते**=तेरे **हार्दिम्**=हृन्मध्यवर्ती अन्तःकरण को **शोचयामसि**=दीप्त करते हैं। तुझे पत्नी के प्रति प्रेम हो, उसके यश को रक्षित करना तू अपना कर्तव्य समझे और यह कर्त्तव्यपालन की भावना तेरे अन्तःकरण को उज्ज्वल करनेवाली हो—उत्साहयुक्त करनेवाली हो।

भावार्थ—एक पति यह समझे कि प्रभु ने इस पत्नी को मुझे प्राप्त कराया है, इसकी कीर्ति का रक्षण मेरा कर्त्तव्य है। यह कर्त्तव्य-भावना उसके हृदय को उत्साहित करे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

परस्पर अनुकूलता

शोचयामसि ते हार्दिं शोचयामसि ते मनः।
वातं धूमइव सध्र्यङ् मामेवान्वेतु ते मनः॥ २॥

१. पति-पत्नी परस्पर कहते हैं कि **ते हार्दिम्**=तेरे हृन्मध्यवर्ति अन्तःकरण को **शोचयामसि**=अनुराग के उत्पादन से दीप्त करते हैं। **ते मनः**=तेरी संकल्प-विकल्पात्मक अन्तःकरण की वृत्तिविशेष को भी **शोचयामसि**=उज्ज्वल करते हैं। पति-पत्नी का हृदय एक-दूसरे के प्रति अनुरागवाला हो, उनका मन एक-दूसरे के प्रति उत्तम संकल्पोंवाला हो। २. **इव**=जैसे **धूमः**=धुँआ **वातम्**=वायु के साथ गतिवाला होता है, इसीप्रकार **ते मनः**=तेरा मन **माम् एव सध्र्यङ्**=मेरे साथ ही गतिवाला होकर **अनु एतु**=अनुकूलता से प्राप्त हो। पति के अनुकूल पत्नी का मन हो, पति का मन पत्नी के अनुकूल हो।

भावार्थ—पति-पत्नी अपने व्यवहार से एक-दूसरे के हृदय व मन को दीप्त करनेवाले हों। इनके मन परस्पर अनुकूलता से युक्त हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मित्रावरुणौ सरस्वती

मह्यं त्वा मित्रावरुणौ मह्यं देवी सरस्वती।
मह्यं त्वा मध्यं भूम्या उभावन्तौ समस्याताम्॥ ३ ॥

१. हे पत्नि! **मह्यम्**=मेरे लिए **त्वाम्**=तुझे **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण **समस्यताम्**=संयुक्त करें। **मह्यम्**=मेरे लिए **देवी**=यह द्योतमाना **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठातृ देवता तुझे संयुक्त करें। स्नेह की भावना (मित्र), निर्द्वेषता (वरुण) व ज्ञानरुचिता (सरस्वती) हमें एक-दूसरे के समीप लानेवाले हों। २. **भूम्याः मध्यम्**=भूमि का मध्य तथा **उभौ अन्तौ**=दोनों सिरे **त्वा**=तुझे **मह्यम्**=मेरे लिए संयुक्त करें। यह सारा संसार तुझे मेरे लिए संयुक्त करनेवाला हो।

भावार्थ—स्नेह, निर्द्वेषता व ज्ञानप्रवणता को अपनाते हुए पति-पत्नी एक-दूसरे के प्रति प्रेमवाले हों। सारा संसार उन्हें परस्पर अनुकूलता से संयुक्त करे।

९०. [नवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इषु निष्कासन

यां ते रुद्र इषुमास्यदङ्गेभ्यो हृदयाय च।
इदं तामद्य त्वद्वयं विषूचीं वि वृहामसि॥ १ ॥

१. **रुद्रः**=(रोदयति) प्रबल आक्रमण के द्वारा रुलानेवाले शत्रु-सेनानी ने **याम् इषुम्**=जिस बाण को **ते**=तेरे **अंगेभ्यः**=अङ्गों के लिए—अंगों की पीड़ा के लिए **हृदयाय च**=और हृदय की पीड़ा के लिए **आस्यत्**=फेंका है, **अद्य**=आज **इदम्**=उसके प्रतीकार के लिए **वयम्**=हम **ताम्**=उस इषु को **त्वत् विषूचीम्**=तुझसे विरुद्ध दिशा में—तुझसे दूर **विवृहामसि**=उत्क्षिप्त करते हैं।

भावार्थ—युद्ध में अस्त्र-शस्त्रों से घायल शरीर को स्वस्थ करने के लिए शरीर में रह गये बाण आदि को निकाल फेंकने की व्यवस्था अत्यन्त आवश्यक है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विषप्रभाव दूरीकरण

यास्ते शतं धमनयोऽङ्गान्यनु विष्ठिताः।
तासां ते सर्वासां वयं निर्विषाणि ह्वयामसि॥ २ ॥

१. हे शूलरोगिन्! **ते अंगानि अनु**=तेरे हाथ-पैर आदि अङ्गों में **याः शतं धमनयः**=जो सैकड़ों नाड़ियाँ **विष्ठिताः**=विविधरूप में अवस्थित हैं **ते**=तेरी **तासां सर्वासाम्**=उन सब नाड़ियों की **निर्विषाणि**=पीड़ा को दूर करनेवाले—विष को बाहर कर देनेवाले औषधों को **वयं ह्वयामसि**=हम सम्पादित करते हैं। विष दूर होते ही दर्द तो दूर हो ही जाएगा।

भावार्थ—धमनियों में विषप्रभाव हो जाने से अङ्ग-प्रत्यङ्ग में पीड़ा आरम्भ हो जाती है। विष को दूर करनेवाले औषध से हम उस पीड़ा को दूर करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**आर्षीभुरिगुष्णिक्** ॥

अस्यते प्रतिहितायै, विसृज्यमानायै निपतितायै

नमस्ते रुद्रास्यते नमः प्रतिहितायै। नमो विसृज्यमानायै नमो निपतितायै॥ ३ ॥

१. **रुद्र**=हे शरवेध द्वारा रुलानेवाले! **अस्यते ते**=फेंकते हुए तेरे लिए **नमः**=नमस्कार हो। हम तुझे दूर से ही छोड़नेवाले बनें, जिससे हमपर बाण न गिरे। **प्रतिहितायै**=धनुष् पर जोड़े हुए—चढ़ाये हुए तेरे इषु के लिए **नमः**=नमस्कार हो। **विसृज्यमानायै**=धनुष् से प्रेरित किये जाते हुए इस इषु के लिए **नमः**=नमस्कार हो। **निपतितायै**=विसर्जन के पश्चात् लक्ष्य पर गिरे हुए इस बाण के लिए **नमः**=नमस्कार हो।

भावार्थ—सबसे प्रथम तो हम रोग के कारणों को ही दूर करें (अस्यते), जब रोग उत्पन्न होने को हों तभी उन्हें रोकें (प्रतिहितायै), उत्पन्न हो रहे रोगों को रोकें (विसृज्यमानायै) और यह आ जाए तो भी इसके दूरी-करण के लिए पूर्ण प्रयत्न करें (निपतितायै)।

विशेष—सब प्रकार के रोगों को तपस्या की अग्नि में दग्ध करके यह 'भृगु' बनता है। अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाला, यह 'अङ्गिरा' होता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

९१. [एकनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिरा**॥ देवता—**यक्षमनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अष्टायोगैः षड्योगैः

इमं यवमष्टायोगैः षड्योगेभिरचर्कृषुः। तेना ते तन्वोऽ३ रपोऽपाचीनमप व्यये॥ १॥

१. **इयं यवम्**=इस जौ को **अष्टायोगैः**=आठ जोड़ीवाले बैलों से अथवा **षड्योगेभिः**=छह जोड़ीवाले बैलों से की जानेवाली कृषि से **अचर्कृषुः**=उत्पन्न करते हैं। इसप्रकार की कृषि में बैलों को कम कष्ट होता है। वे प्रसन्नता से कर्षण में सहायक होंगे तो उत्पन्न होनेवाला यव भी अधिक गुणकारी होगा। २. **तेन**=उस यव (जौ) से **ते तन्वः रपः**=तेरे शरीर के रोगबीज को **अपाचीनम् अप व्यये**=निम्न गति से दूर करते हैं। यव मलशोधन करता हुआ रोग को दूर करनेवाला होता है।

भावार्थ—जिस भूमि में बैलों को पीड़ित न करते हुए अन्न उत्पन्न किया जाता है वह जौ मलों का शोधन करता हुआ रोगों को दूर करता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिरा**॥ देवता—**यक्षमनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

न्यग् भवतु ते रपः

न्य१ग्वातो वाति न्य१क्तपति सूर्यः।
नीचीनमघ्न्या दुहे न्य१ग्भवतु ते रपः॥ २॥

१. **वातः**=वायु **न्यक् वाति**=निम्न गति से चलता है, **सूर्यः न्यक् तपति**=सूर्य अवाङ्मुख (नीचे) तपता है, **अघ्न्या**=अहन्तव्य गौ **नीचीनं दुहे**=दूध का अधोमुख दूहन करती है। २. जैसे ये वायु, सूर्य व अघ्न्या न्यक्त्व धर्म से तपते हैं, उसी प्रकार हे व्याधित! **ते रपः**=तेरा यह शरीर-दोष **न्यक् भवतु**=अधोमुख हो, अर्थात् शान्त हो जाए।

भावार्थ—जैसे वायु, सूर्य व असील गौ का कार्य निम्न गति से होता है, इसीप्रकार तेरा यह शरीर-दोष भी निम्न गतिवाला हो।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिरा**॥ देवता—**यक्षमनाशनम्**॥ छन्दः—**आपः**॥

रोगों से बचानेवाले 'जल'

आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः।
आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम्॥ ३॥

१. **आपः**=जल **इत् वा उ**=निश्चय से **भेषजीः**=औषध हैं। **आपः**=जल **अमीवचातनीः**=रोगों को नष्ट करनेवाले हैं। **आपः**=जल **विश्वस्य भेषजीः**=सब रोगों की औषध हैं। **ताः**=वे **ते**=तेरे लिए **भेषजं कृण्वन्तु**=औषध को करें।

भावार्थ—जलों का समुचित प्रयोग सब रोगों का विनाशक है। ये निश्चय से रोगों को दूर करते हैं। 'जल' का अर्थ ही 'आवृत्त' करनेवाला—रोगों से बचानेवाला है।

विशेष—सब रोगों से बचकर यह 'वाजी' शक्तिशाली बनता है और संसार के विषयों में न उलझता हुआ 'अथर्वा' कहलाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

९२. [द्विनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वाजी** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

वातरंहाः

वातरंहा भव वाजिन्युज्यमान इन्द्रस्य याहि प्रसवे मनोजवाः।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु॥ १॥

१. हे **वाजिन्**=शक्तिशालिन्! **युज्यमानः**=चित्तवृत्ति को एकाग्र करता हुआ तू **वातरंहा भव**=वायु के समान वेगवाला हो—स्फूर्ति से सब कार्यों को करनेवाला हो। **मनोजवाः**=मन के वेगवाला—प्रबल मानसिक शक्तिवाला तू **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की **प्रसवे**=प्रेरणा में **याहि**=गति कर। २. **विश्ववेदसः**=सम्पूर्ण ज्ञानवाले **मरुतः**=मितरावी—कम बोलनेवाले—ज्ञानी पुरुष **त्वा युञ्जन्तु**=प्रेरणा देते हुए तुझे कर्त्तव्यों में नियुक्त करें। **त्वष्टा**=निर्माता प्रभु **ते पत्सु**=तेरे पैरों में **जवं दधातु**=वेग धारण करें—तुझे शक्ति दें।

भावार्थ—प्रभु से शक्ति प्राप्त करके, ज्ञानियों से मार्गदर्शन कराया जाकर तू दृढ़ मानस शक्तिवाला होकर, कार्यों में स्फूर्ति से व्याप्त होनेवाला हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वाजी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

संग्राम-विजय

जवस्ते अर्वन्निहितो गुहा यः श्येने वात उत योऽचरत्परीत्तः।
तेन त्वं वाजिन्बलवान्बलेनाजिं जय समने पारयिष्णुः॥ २॥

१. हे **अर्वन्**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं का हिंसन करनेवाले साधक! **यः जवः**=जो वेग **ते गुहा निहितः**=तेरे हृदयदेश में स्थापित किया गया है, **उत**=और **यः**=जो **परीत्तः**=(परिदानं रक्षणार्थं दानम्) रक्षा के लिए दिया गया (जवः) वेग **श्येने**=बाज में और **वाते**=वायु में **अचरत्**=गति करता है, **तेन**=उस वेग से हे **वाजिन्**=शक्तिशालिन्! **त्वम्**=तू **बलवान्**=बलवाला होता हुआ **बलेन**=बल से **अजिं जय**=संग्राम को जीतनेवाला हो, **समने पारयिष्णुः**=तू संग्राम में पारप्रापणशील है।

भावार्थ—हम श्येनपक्षी के समान वेगवाले हों, वायुसम हमारा वेग हो। हृदयदेश में इस स्फूर्ति को धारण करते हुए हम बलवान् बनें और संसार-संग्राम में विजयी हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वाजी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

दिवि ज्योतिः, स्वं महः

तनूष्टे वाजिन्तन्वं नयन्ती वाममस्मभ्यं धावतु शर्म तुभ्यम्।
अह्रुतो महो धरुणाय देवो दिवीव ज्योतिः स्वमा मिमीयात्॥ ३॥

१. हे **वाजिन्**=शक्तिशाली साधक! **ते तनूः**=तेरा यह शरीर **तन्वं नयन्ती**=शक्तिविस्तार को (तन् विस्तारे) प्राप्त कराता हुआ **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **वामं धावतु**=जो भी सुन्दर—शुभ है, उसे प्राप्त कराए। लोक-कल्याण का यह कार्य अन्ततः **तुभ्यं शर्म**=तुझे सुख देनेवाला हो। २. वह **अह्रुता**=कुटिलताओं से रहित **देवः**=प्रकाशमय प्रभु **धरुणाय**=हमारे धारण के लिए **दिवि ज्योतिः इव**=मस्तिष्क में प्रकाश के समान **स्वं महः**=आत्मिक तेज को **आमिमीयात्**=हममें निर्मित करे।

भावार्थ—एक साधक अपनी साधना करके लोक-कल्याण के कार्यों में प्रवृत्त हो। वह लोगों को शक्ति-विस्तार के मार्ग का उपदेश करे। प्रकाशमय प्रभु हमें ज्ञान व आत्मिक तेज प्राप्त कराएँ।

विशेष—ज्ञान व आत्मिक तेज प्राप्त करके शान्ति का विस्तार करनेवाला 'शन्ताति' अगले सूक्त का ऋषि है।

९३. [त्रिनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**यमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

हम यम तथा देवजनों के कोपभाजन न हों

यमो मृत्युरघमारो निर्ऋथो बभ्रुः शर्वोऽस्ता नीलशिखण्डः।
देवजनाः सेनयोत्तस्थिवांसस्ते अस्माकं परि वृञ्जन्तु वीरान्॥ १॥

१. **यमः**=पापियों का नियमन करनेवाला, **मृत्युः**=(मारयति) प्राणों को छुड़ानेवाला, **अघमारः**=(अपथेन मारयति) पाप के कारण मारनेवाला, **निर्ऋथः**=(निःशेषेण ऋच्छति पीडयति) पापियों को अत्यन्त पीड़ित करनेवाला, **बभ्रुः**=भरणशील, **शर्वः**=सब अशुभों को शीर्ण करनेवाला, **अस्ता**=शत्रुओं को परे फेंकनेवाला, **नीलशिखण्डः**=सर्वोत्तम निधि-(नील=निधि, शिखण्ड crest)-रूप प्रभु तथा **सेनया उत्तस्थिवांसः**=सेना के साथ उठे हुए **देवजनाः**=शत्रु-सैन्यों को पराजित करने की कामनावाले **ते**=वे सब लोग **अस्माकं वीरान्**=हमारे वीरों को **परिवृजन्तु**=परिहृत करें—बाधित न करें।

भावार्थ—हमारे वीरों को प्रभु का दण्ड न भोगना पड़े। सेना के साथ आक्रमण करनेवाले विजिगीषु जन हमारे वीरों पर आक्रमण करने की न सोचें। पापवृत्ति से बचते हुए हम प्रभु के कोपभाजन न हों और वीर बनकर शत्रुओं से आक्रान्त न हो।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**यमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शर्वाय, अस्त्र, राज्ञे, भवाय

मनसा होमैर्हरसा घृतेन शर्वायास्त्र उत राज्ञे भवाय।
नमस्ये[भ्यो] नम एभ्यः कृणोम्यन्यत्रास्मदघविषा नयन्तु॥ २॥

१. **मनसा**=मानस संकल्प से **होमैः**=यज्ञों से **हरसा**=तेजस्विता के सम्पादन से **घृतेन**=(घृ दीप्ति) ज्ञान-दीप्ति से क्रमशः **शर्वाय**=काम आदि शत्रुओं का संहार करनेवाले, **अस्त्रे**=रोगों को परे फेंकनेवाले **उत**=और **राज्ञे**=तेजस्विता से दीप्त **भवाय**=सर्वमहान् ऐश्वर्यशाली प्रभु के लिए तथा **नमस्येभ्यः एभ्यः**=नमस्कार के योग्य इन देवजनों के लिए **नमः कृणोमि**=नमस्कार करता हूँ। २. ये सब **अस्मत्**=हमारे लिए प्रीणित होकर **अघविषाः**=पापरूप विषवाली क्रियाओं को **अन्यत्र**=दूसरे स्थान पर—दूर **नयन्तु**=ले-जाएँ। उस प्रभु का हम 'शर्व, अस्त्रा, राजा व भव' के रूप में स्मरण करते हुए पापों से बचें।

भावार्थ—हम दृढ़ मानस संकल्प द्वारा काम-क्रोध आदि का संहार करें, यज्ञों द्वारा रोगों को दूर करें, तेजस्विता से अपने जीवन को दीप्त बनाएँ तथा ज्ञानदीप्ति द्वारा सर्वोत्तम ऐश्वर्यसम्पन्न बनें। देवजनों का आदर करते हुए पापरूप विषवाली क्रियाओं को अपने जीवन से दूर रक्खें।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**यमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अग्नि, सोम, वरुण, मित्र, वात, पर्जन्य

त्रायध्वं नो अघविषाभ्यो वधाद्विश्वेदेवा मरुतो विश्ववेदसः।
अग्नीषोमा वरुणः पूतदक्षा वातापर्जन्ययोः सुमतौ स्याम॥ ३॥

१. **विश्वेदेवाः**=सब देववृत्तिवाले, **मरुतः**=मितरावी—परिमित बोलनेवाले, **विश्ववेदसः**=सम्पूर्ण ज्ञानवाले पुरुषो! **नः**=हमें **अघविषाभ्यः**=पापरूप विष से युक्त क्रियाओं से होनेवाले **बधात्**=बध से **त्राध्वम्**=रक्षित करो। हम आपके शिक्षण-दीक्षण के द्वारा पापों से दूर रहें। २. **अग्निषोमा**=अग्नि व सोम—तेजस्विता व शान्ति तथा **वरुणः पूतदक्षाः**=(मित्रं हुवे पूतदक्षम्०) वरण तथा मित्र—निर्द्वेषता व स्नेह के भाव हमें पाप से बचाएँ। हम 'तेजस्वी, शान्त, निर्द्वेष व स्नेही' बनकर पाप से दूर हों। वायु की भाँति हम सबके लिए प्राण (जीवन) देनेवाले हों, पर्जन्य की भाँति हम शान्ति का वर्षण करनेवाले हों।

भावार्थ—देववृत्ति के मितरावी, ज्ञानी पुरुष हमें पापों से बचाएँ। हम 'तेजस्वी, शान्त, निर्दोष व स्नेही' बनें। वायु की भाँति हमारी क्रियाएँ सबके लिए प्राणप्रद हों, पर्जन्य की भाँति हम शान्ति का वर्षण करनेवाले हों।

विशेष—यह 'तेजस्वी, शान्त, निर्द्वेष व स्नेही' व्यक्ति 'अथर्वाङ्गिरस्' बनता है—न डाँवाडोल व रसमय अङ्गोंवाला। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

९४. [चतुर्नवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**सरस्वती** ॥ छन्दः—**१ अनुष्टुप्, २ विराड्जगती** ॥

सांमनस्य

सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि।
अमी ये विव्रता स्थन तान्वः सं नमयामसि॥ १॥
अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत।
मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत॥ २॥

व्याख्या द्रष्टव्य ३.८.५-६।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**सरस्वती** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

समृद्ध जीवन

ओते मे द्यावापृथिवी ओता देवी सरस्वती।
ओतौ म इन्द्रश्चाग्निश्चर्ध्यास्मेदं सरस्वति॥ ३॥

१. **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्करूप द्युलोक और शरीररूप पृथिवीलोक **मे**=मेरे जीवन के लिए **आ उते**=आभिमुख्येन सम्बद्ध हैं। मस्तिष्क ज्ञान-विज्ञान के नक्षत्रों से दीप्त है तो शरीर पृथिवी के समान दृढ़ है। **देवी**=प्रकाशमयी **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता **ओता**=मेरे जीवन में ओत-प्रोत हैं। इसीप्रकार **इन्द्रः च अग्निः च**=बल की देवता इन्द्र और प्रकाश की देवता अग्नि **मे ओतौ**=मेरे जीवन में ओत-प्रोत हैं अथवा 'इन्द्र' अर्थात् जितेन्द्रियता और 'अग्नि',

अर्थात् निरन्तर आगे बढ़ने की भावना—ये मेरे जीवन में ओत-प्रोत हैं। २. **हे सरस्वति**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवते! इन सबके अनुग्रह से **इदम्**=इस जीवन को **ऋध्यास्म**=हम समृद्ध कर पाएँ।

भावार्थ—हमारे जीवन में मस्तिष्क व शरीर दोनों की समानरूप से उन्नति हो। हम सरस्वती के उपासक हों—जितेन्द्रिय व आगे बढ़ने की वृत्तिवाले हों। इसप्रकार हम जीवन को समृद्ध बनाएँ।

विशेष—अगले दो सूक्तों का ऋषि भृग्वङ्गिरा है—ज्ञान की अग्नि में अपना परिपाक करनेवाला व गतिशील, सरस अङ्गोंवाला।

९५. [पञ्चनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः (कुष्ठः)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कुष्ठ

अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि। तत्रामृतस्य चक्षणं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ १ ॥
हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि। तत्रामृतस्य पुष्पं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ २ ॥
गर्भो अस्योषधीनां गर्भो हिमवतामुत। गर्भो विश्वस्य भूतस्येमं मे अगदं कृधि ॥ ३ ॥

व्याख्या द्रष्टव्य—५.४.३-४।

१. हे अग्ने=परमात्मन्! आप **ओषधीनाम्**=(ओषः धीयते आसु) परिपाक जिनमें धारण किया जाता है, उन सब ओषधियों के **गर्भः असि**=गर्भ हो—गर्भ की भाँति उनमें अवस्थित हो। **उत**=और **हिमवताम्**=शीत स्पर्शवाली अन्य वनस्पतियों को भी **गर्भः**=गर्भ के समान धारण करनेवाले हो। २. आप वस्तुतः **विश्वस्य**=सारे **भूतस्य**=प्राणिसमूह के व ब्राह्माण्ड के अन्दर **गर्भः**=गर्भवत् अवस्थित हो। ऐसे आप **मे**=मेरे **इमम्**=इस व्यक्ति को **अगदं कृधि**=नीरोग कीजिए। आप इसके अन्दर भी उसी प्रकार अवस्थित हुए इसे नीरोग करनेवाले होओ।

भावार्थ—प्रभु आग्नेय व सौम्य पदार्थों में गर्भवत् स्थित हैं। हमारे अन्दर भी स्थित होते हुए प्रभु हमें नीरोग करें।

९६. [षण्णवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'सोमराज्ञी', ओषधयः

या ओषधयः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः। बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १

१. **याः**=जो **सोमराज्ञीः**=सोम ओषधि जिनकी मुखिया है, ऐसी **बह्वीः**=बहुत-सी **शतविचक्षणाः**=शतवर्षपर्यन्त हमारा ध्यान करनेवाली **ओषधयः**=ओषधियाँ हैं, ऐसी **ताः**=वे ओषधियाँ **बृहस्पतिप्रसूताः**=उस सर्वज्ञ प्रभु से पैदा की गई तथा ज्ञानी वैद्य से प्रयुक्त हुई-हुई **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चन्तु**=कष्टों से मुक्त करें।

भावार्थ—प्रभु ने संसार में विविध ओषधियों को जन्म दिया है। सोमलता इनमें प्रमुख है। इन ओषधियों का ठीक प्रयोग हमें सब कष्टों से मुक्त करता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शपथ्य व वरुण्य रोगों से मुक्ति

मुञ्चन्तु मा शपथ्या३दथो वरुण्या ॑दुत।
अथो यमस्य पड्वीशाद्विश्वस्माद्देवकिल्बिषात् ॥ २ ॥

१. ये ओषधियाँ **मा**=मुझे **शपथ्यात् मुञ्चन्तु**=दुर्वचनजनित रोगों से मुक्त करें। सौम्य ओषधियाँ मन के उद्वेग आदि को दूर करके हमें कटुवचन बोलने से रोकती हैं। राजस भोजन स्वभावतः कुछ उग्रता का कारण बनते हैं। **अथो**=अब **वरुणयात् उत**=जल के कारण हो जानेवाले रोगों से भी बचाएँ। दूषित जल से कई रोग उत्पन्न हो जाते हैं। २. **अथो**=और **यमस्य पड्वीशात्**=मृत्यु के पाशरूप असाध्य रोगों से भी ये हमें बचाएँ। **विश्वस्मात्**=सब **देवकिल्बिषात्**=इन्द्रिय-सम्बन्धी दोषों (रोगों) से भी ये हमें बचानेवाली हों।

भावार्थ—ओषधियाँ हमें दुर्वचन-जनित रोगों से, जल-सम्बन्धी रोगों से, असाध्यकल्प रोगों से तथा सब इन्द्रिय-दोषों से मुक्त करें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**विराड्गायत्री** ॥

चक्षुषा, मनसा, वाचा

यच्चक्षुषा मनसा यच्च वाचोपारिम जाग्रतो यत्स्वपन्तः।
सोमस्तानि स्वधया नः पुनातु॥ ३॥

१. हम **यत्**=जो **चक्षुषा**=आँख से **यत् च**=और जो **मनसा**=मन से **यत् च**=तथा जो **वाचा**=वाणी से **उपारिम**=पाप कर बैठते हैं। **यत्**=जिस पाप को हम **जाग्रतः**=जागते हुए या **स्वपन्तः**=सोते हुए कर बैठते हैं, **सोमः**=सोम **नः**=हमारे **तानि**=उन सब पापों को **स्वधया**=अपनी धारणशक्ति से **पुनातु**=शुद्ध कर डाले।

भावार्थ—सौम्य ओषधियों का प्रयोग हमें आँख, वाणी व मन से हो जानेवाले सब दोषों से मुक्त करता है। जागते-सोते कोई भी दोष इस ओषधि के प्रयोग से हमें पीड़ित नहीं कर पाता। इन ओषधियों के प्रयोग से हम मन में किसी का बुरा नहीं सोचते, किसी को दोषयुक्त दृष्टि से नहीं देखते तथा किसी के प्रति क्रोध-भरे वचन नहीं बोलते।

विशेष—आँख, वाणी व मन के दोषों से मुक्त होकर हम 'मित्रावरुणौ' के उपासक बनते हैं। सबके प्रति स्नेहवाले व प्राणिमात्र के प्रति निर्द्वेषतावाले हम 'अथर्वा' बनते हैं—राग-द्वेष से दोलायमान न होनेवाले। अगले तीन सूक्तों का ऋषि यह 'अथर्वा' ही है।

९७. [सप्तनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**देवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यज्ञ व विजय

अभिभूर्यज्ञो अभिभूरग्निरभिभूः सोमो अभिभूरिन्द्रः।
अभ्य१हं विश्वाः पृतना यथासान्येवा विधेमाग्निहोत्रा इदं हविः॥ १॥

१. विजय की कामनावाले हम लोगों से क्रियामाण यह **यज्ञः**=यज्ञ **अभिभूः**=शत्रुओं का अभिभव करनेवाला है। याग का निष्पादक यह **अग्निः**=अग्नि **अभिभूः**=शत्रुओं को अभिभूत करता है। यज्ञ का साधनभूत **सोमः**=यह सोम भी **अभिभूः**=शत्रुओं का अभिभविता है। इस सोम से तर्पित **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष भी **अभिभूः**=शत्रुओं को अभिभूत करता है। यज्ञ से पवित्रता की भावना का विकास होता है, यज्ञाग्नि हमें भी अग्नि-(उत्साह)-वाला बनाती है। यह यज्ञ हमें भोगवृत्ति से ऊपर उठकर सोम (वीर्य) का रक्षण करनेवाला बनाता है। रक्षित सोम इस जितेन्द्रिय पुरुष को सदा विजयी बनाता है। २. **अहम्**=मैं **विश्वाः पृतनाः**=सब शत्रु-सैन्यों को **यथा**=जिस प्रकार **अभ्यसानि**=अभिभूत करनेवाला बनूँ। **एव**=इसप्रकार **अग्निहोत्राः**=अग्निहोत्र करनेवाले हम **इदं हविः**=इस हवि को **विधेम**=करनेवाले बनें। यज्ञशील

बनकर ही तो हम विजयी बनेंगे।

भावार्थ—यज्ञशील पुरुष का जीवन उत्साह-सम्पन्न होता है। पवित्र जीवनवाला होने से यह सोम का रक्षण करता है। सोमपान करनेवाला यह इन्द्र कभी पराजित नहीं होता।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मित्रावरुणौ**॥ छन्दः—**जगती**॥

मित्रावरुणा

स्वधास्तु मित्रावरुणा विपश्चिता प्रजावत्क्षत्रं मधुनेह पिन्वतम्।
बाधेथां दूरं निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुक्तमस्मत्॥ २॥

१. हे **विपश्चिता**=ज्ञान से युक्त **मित्रावरुणा**=स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! आपके अनुग्रह से हममें **स्वधा अस्तु**=आत्मधारण-शक्ति हो। **प्रजावत् क्षत्रम्**=उत्तम सन्तानोंवाले बल को **इह**=यहाँ—हमारे जीवनों में **मधुना**=माधुर्य से **पिन्वतम्**=सींचो। स्नेह व निर्द्वेषता हमारे जीवनों को आत्मधारण की शक्तिवाला, उत्तम सन्तानवाला, बलसम्पन्न व माधुर्ययुक्त बनाते हैं। २. हे मित्रावरुणा! आप **निर्ऋतिम्**=दुराचार को—पराजयकारिणी पापदेवता को **पराचैः दूरं बाधेथाम्**=पराङ्मुख करके सुदूर नष्ट कीजिए। **कृतं चित्**=शत्रुओं से किये गये भी **एनः**=पराजय निमित्त पाप को **अस्मत्**=हमसे **प्रमुमुक्तम्**=मुक्त करो।

भावार्थ—हम स्नेह व निर्द्वेषता को अपनाकर 'आत्मधारणशक्तिवाले, उत्तम सन्तानोंवाले, बलसम्पन्न व मधुरभाषी बनें और दुराचार से दूर' रहें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**देवाः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

ग्रामजितं गोजितम्

इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम्।
ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा॥ ३॥

१. **इमम्**=इस **वीरम्**=वीर्यवान् राजा को **अनुहर्षध्वम्**=अनुसृत करते हुए हे सैनिको! वीररस से हृष्ट होओ। **उग्रम्**=उद्गूर्ण बलवाले, **इन्द्रम्**=परमैश्वर्ययुक्त इस राजा को **सखाय**=हे समान ज्ञानवाले सैनिको! **अनुसंरभध्वम्**=अनुसृत करके यद्धोद्युक्त होओ। २. इस राजा का अनुसरण करो जोकि **ग्रामजितम्**=ग्रामों का विजय करनेवाला है, **गोजितम्**=गौओं का जय करनेवाला है, **वज्रबाहुम्**=उद्यत आयुधवाला है और इसी लिए **जयन्तम्**=शत्रुओं को पराजित करता है, **अज्म**=क्षेपणशील शत्रुबल को **ओजसा**=बल से **प्रमृणन्तम्**=प्रकर्षेण हिंसित कर रहा है।

भावार्थ—वीर राजा के अनुकूल सैनिक भी हर्ष का अनुभव करते हैं और शत्रुओं को पराजित करनेवाले होते हैं।

९८. [अष्टनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'चर्कृत्य, ईड्य, उपसद्य, नमस्य' राजा

इन्द्रो जयाति न परा जयाता अधिराजो राजसु राजयातै।
चर्कृत्य ईड्यो वन्द्यश्चोपसद्यो नमस्यो भवेह॥ १॥

१. **इन्द्रः**=शत्रुओं को विद्रावण करनेवाला जितेन्द्रिय राजा **जयाति**=विजयी होता है, **न पराजयाता**=कभी पराजित नहीं होता। **राजसु अधिराजः**=सब राजाओं में मुख्य होता हुआ यह **राजयातै**=दीप्त होता है। २. यह तू **चर्कृत्यः**=शत्रुओं का अतिशयेन छेदन करनेवाला, **ईड्यः**=स्तुत्य,

वन्द्यः=वन्दनीय **च**=और **उपसद्यः**=सबसे सेवनीय, समीप जाने योग्य व **नमस्यः**=नमस्कार के योग्य **इह**=यहाँ **भव**=हो।

भावार्थ—राजा जितेन्द्रिय होता हुआ शत्रुओं को जीतनेवाला हो। यह शत्रुछेदन करता हुआ आदरणीय होता है। प्रजाओं के लिए यह उपसद्य व नमस्य हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भास्तारपङ्क्तिः** ॥

'श्रवस्युः अभिभूः' राजा

त्वमि॑न्द्राधिरा॒जः श्र॑व॒स्युस्त्वं भू॑र॒भिभू॑ति॒र्जना॑नाम्।
त्वं दैवी॒र्विश॑ इ॒मा वि रा॒जायु॑ष्मत्क्ष॒त्रम॒जरं॑ ते अस्तु॥ २॥

१. **इन्द्र**=हे शत्रुविद्रावक राजन्! **त्वम्**=तू **अधिराजः**=अन्य राजाओं से श्रेष्ठ हो, **श्रवस्युः**=कीर्तिमान् हो। **त्वम्**=तू **जनानाम्**=लोगों का **अभिभूतिः भूः**=वशीभूत करनेवाला हो। २. **त्वम्**=तू **इमाः**=इन **दैवीः विशः**=दिव्य गुणवाली प्रजाओं पर **विराजः**=विशेषरूप से दीप्त होनेवाला हो। **ते क्षत्रम्**=तेरा बल **आयुष्मत्**=दीर्घजीवनवाला व **अजरम्**=जरारहित—अजीर्ण **अस्तु**=हो।

भावार्थ—राजा अपने शासन के कारण दीप्तिवाला हो। प्रजाओं पर शासन करता हुआ यह अजर, आयुष्मत् व बलवाला हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'शत्रुहः' राजा

प्राच्या॑ दि॒शस्त्वमि॑न्द्रासि॒ राजो॒तोदी॑च्या दि॒शो वृ॑त्रहञ्छत्रु॒हो॑ऽसि।
यत्र॒ यन्ति॑ स्रो॒त्यास्तज्जि॒तं ते॑ दक्षिण॒तो वृ॑ष॒भ ए॑षि॒ हव्यः॑॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रु-विद्रावक राजन्! **त्वम्**=तू **प्राच्याः दिशः राजा असि**=पूर्व-दक्षिण दिशा में होनेवाले देश का राजा है **उत**=और **उदीच्याः दिशः राजा**=पश्चिमोत्तर दिशा में होनेवाले देश का भी राजा है। '**देशः प्राग्दक्षिणः प्राच्य उदीच्यः पश्चिमोत्तरः**'। हे **वृत्रहन्**=शत्रुओं का हनन करनेवाले राजन्! तू **शत्रुहः असि**=राष्ट्र के शातन करनेवालों का नाशक है। २. **यत्र**=जहाँ **स्रोत्याः यन्ति**=जलप्रवाहोंवाली नदियाँ बहती हैं, **तत् ते जितम्**=उस प्रदेश को तूने जीत लिया है। सम्पूर्णभाग को तूने जीता है। ऐसा विजेता तू **वृषभः**=सब सुखों का वर्षण करनेवाला होता हुआ **हव्यः**=हमसे पुकारने योग्य होता है। हमसे पुकारे जानेवाला तू **दक्षिणतः एषि**=दक्षिणभाग में गतिवाला होता है, अर्थात् हमारे द्वारा आदरणीय होता है।

भावार्थ—शत्रुओं को नष्ट करनेवाला राजा राष्ट्र की चारों दिशाओं से रक्षा करता है और प्रजा से आदरणीय होता है।

९९. [नवनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पुरा अंहूरणात्

अ॒भि त्वे॑न्द्र॒ वरि॑मतः पु॒रा त्वां॑हूर॒णाद्धु॑वे। ह्वया॑म्यु॒ग्रं चे॒त्तारं॑ पुरु॒णामा॑नमेक॒जम्॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक राजन्! **वरिमतः**=तेरी शक्तियों के विस्तार के कारण **त्वा अभि हुवे**=मैं तुझे पुकारता हूँ। **अंहूरणात् पुरा त्वा (हुवे)**=पराजय का कारण होनेवाले कुटिलगमन से पूर्व ही मैं तुझे पुकारता हूँ। २. **उग्रम्**=उद्गूर्ण बलवाले **चेत्तारम्**=विजय के उपायों को

समझनेवाले, **पुरुणामानम्**=अनेक शत्रुओं को झुका देनेवाले, **एकजम्**=युद्धों में अकेले ही चमकनेवाले तुझे **ह्वयामि**=मैं पुकारता हूँ।

भावार्थ—राजा शत्रुओं के आक्रमण से होनेवाली दुर्गति से पूर्व ही राष्ट्र-रक्षा की व्यवस्था करता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्राकारतुल्य राजा की भुजाएँ

यो अ॒द्य सेन्यो॑ व॒धो जिघां॑सन्न उ॒दीर॑ते। इन्द्र॑स्य॒ तत्र॑ बा॒हू स॒मन्तं॒ परि॑ दद्मः ॥ २ ॥

१. **यः**=जो **अद्य**=आज **सेन्यः**=शत्रु-सेना का **वधः**=वध-साधन शस्त्र **नः**=हमें **जिघांसन्**=मारना चाहता हुआ **उदीरते**=उद्गत होता है तो **तत्र**=वहाँ—वध होने के समय **इन्द्रस्य**=शत्रु-विद्रावक राजा की **बाहू**=भुजाओं को अपनी रक्षा के लिए **समन्तम्**=सब ओर से **परिदद्मः**=प्राकार की भाँति धारण करते हैं।

भावार्थ—शत्रु के आक्रमण की आशंका होते ही राजा की सैन्यरूप भुजाएँ हमारे रक्षण के लिए चारों ओर उपस्थित हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः, सोमः सविता च** ॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती** ॥

देव सवितः सोम राजन्

परि॑ दद्म॒ इन्द्र॑स्य बा॒हू स॒मन्तं॑ त्रा॒तुस्त्राय॑तां नः।
देव॑ सवि॒तः सोम॑ राजन्त्सु॒मन॑सं मा कृणु स्व॒स्तये॑ ॥ ३ ॥

१. **त्रातुः**=रक्षा करनेवाले **इन्द्रस्य**=शत्रु-विद्रावक राजा की **बाहू**=भुजाओं को **समन्तम्**=चारों और **परिदद्मः**=प्राकारभूत धारण करते हैं। इसप्रकार वह इन्द्र **नः**=हमें **त्रायताम्**=रक्षित करे। २. हे **देव**=शत्रुओं को जीतने की कामनावाले! **सवितः**=सबको राष्ट्र-रक्षा की प्रेरणा देनेवाले; **सोम**=सम्पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त अथवा शक्तिसम्पन्न (सोम के पुञ्ज) **राजन्**=दीप्त होनेवाले राजन्! **स्वस्तये**=क्षेम (अविनाश) के लिए **मा**=मुझे **सुमनसम्**=उत्साहयुक्त मनवाला **कृणु**=कीजिए। शत्रु का आक्रमण होने पर भी हम मन में उत्साह को न खो बैठें, हम स्वस्थ व उत्साहयुक्त चित्त से संग्राम करनेवाले हों।

भावार्थ—राजा शत्रुओं को जीतने की कामनावाला, सबको उत्साह की प्रेरणा देनेवाला, शक्तिसम्पन्न व दीप्त तेजवाला हो। वह सारी प्रजाओं में उत्साह का सञ्चार करे।

विशेष—अगले सूक्त का ऋषि 'गरुत्मान्' है—विशाल बोझ को धारण करनेवाला। राजा के सिर पर सारे राष्ट्र का बोझ होता ही है, यह शत्रुओं से राष्ट्र का रक्षण करता हुआ आन्तरिक विष को भी दूर करता है।

१००. [शततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**गरुत्मान्** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विषदूषणम्

दे॒वा अ॑दुः सूर्यो॑ अदाद् द्यौर॑दात्पृथि॒व्य॑दात्।
ति॒स्रः सर॑स्वतीरदुः सचि॑त्ता विष॒दूष॑णम् ॥ १ ॥

१. **देवाः**=सब देव—ज्ञानी पुरुष **सचित्ताः**=समान मनवाले होते हुए **विषदूषणम्** **अदुः**=विषनाशक औषध देते हैं। **सूर्यः**=सबका प्रेरक आदित्य भी विषदूषण औषध **अदात्**=देता

है। **द्यौः**=यह प्रकाशमय अन्तरिक्षलोक भी उस औषध को **अदात्**=दे। **पृथिवी अदात्**=यह भूमि देवता भी वह औषध दे। २. **तिस्रः**=तीनों **सरस्वतीः**='इडा, भारती, सरस्वती' नामक देवताएँ इस विषनाशक औषध को **अदुः**=देती हैं।

भावार्थ—सब समझदार देवपुरुष, तीनों लोक तथा 'इडा, भारती, सरस्वती' नामक तीनों देवताएँ हमारे जीवनों से ईर्ष्या-द्वेष आदि विषों को दूर करें।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उपजीकाः

यद्वो देवा उपजीका आसिञ्चन्धन्वन्युदकम्। तेन देवप्रसूतेनेदं दूषयता विषम्॥ २॥

१. हे **देवाः**=ज्ञानी पुरुषो! **यत् उदकम्**=जिस जल को **उपजीकाः**=दीमक नाम की श्वेत कीड़ियाँ **धन्वनि**=मरुस्थल में—जलरहित स्थल में **आसिञ्चन्**=अपने मुख से उत्पन्न कर देती हैं, वह जल **वः**=तुम्हारे लिए है। **तेन**=उस **देवप्रसूतेन**=ईश्वरप्रदत्त शक्ति से उत्पन्न जल से **इदं विषं दूषयत्**=इस विष को दूर करो।

भावार्थ—दीमक के मुख में एक अद्भुत शक्ति है। वह उसके द्वारा वायुमण्डल के अम्लजन व उद्रजन को मिलाकर जल उत्पन्न कर देती है। यह जल विष का औषध है। दीमकों से निकाली गई मिट्टी भी अतिमूत्र व नाड़ीव्रण में औषध का काम देती है।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**वनस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

असुराणां दुहिता देवानां स्वसा

असुराणां दुहितासि सा देवानामसि स्वसा।
दिवस्पृथिव्याः संभूता सा चकर्थारसं विषम्॥ ३॥

१. हे ओषधे! (वल्मीकमृत्तिके,) तू **असुराणाम्**=बलशाली, प्राणवान् पुरुषों के लिए **दुहिता असि**=बल का दोहन करनेवाली है। **सा**=वह तू **देवानां स्वसा असि**=देववृत्ति के पुरुषों की बहिन के समान है, उनका हित करनेवाली है। २. **दिवः पृथिव्याः**=अन्तरिक्ष के जल से व पृथिवी से **सम्भूता**=उत्पन्न हुई-हुई **सा**=वह तू **विषम् अरसं चकर्थ**=विष को निर्बल कर देती है।

भावार्थ—वल्मीकमृत्तिका प्राणशक्ति भरनेवाली है, मानसवृत्ति को उत्तम बनानेवाली है और विष-प्रभाव को दूर करती है।

विशेष—इस वल्मीकमृत्तिका के प्रयोग से निर्विष शरीरवाला यह प्राणशक्ति व दिव्य-वृत्ति से जीवन को परिपूर्ण करके 'अथर्वाङ्गिरस' बनता है। अगला सूक्त इसी का है।

१०१. [एकोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः**॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सामर्थ्य+नीतिः

आ वृषायस्व श्वसिहि वर्धस्व प्रथयस्व च।
यथाङ्गं वर्धतां शेपस्तेन योषितमिज्जहि॥ १॥

१. **आवृषायस्व**=तू सब प्रकार से शक्तिशाली पुरुष की भाँति आचरण कर, **श्वसिहि**=प्राणधारण करनेवाला हो, **वर्धस्व**=वृद्धि को प्राप्त हो, **च**=और **प्रथयस्व**=सब अङ्गों की शक्ति का विस्तार कर। २. **यथाङ्गम्**=अङ्ग-अङ्ग में—प्रत्येक अङ्ग में (यथा वीप्सायाम्)

शेप:=तेरा सामर्थ्य बढ़े। **तेन**=उस सामर्थ्य के साथ, **योषितम्**=(युष सेवने) सेवनीय नीति को, **इत् जहि**=निश्चय से प्राप्त हो।

भावार्थ—राजा स्वयं शक्तिशाली बने। अपने सामर्थ्य को बढ़ाता हुआ यह नीतिपूर्वक चले। यही राष्ट्र को शक्तिशाली बनाने का उपाय है।

ऋषि:—**अथर्वाङ्गिरा:** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पति:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

सैनिकशक्ति व राज्यविस्तार

येन॑ कृ॒शं वा॒जय॑न्ति॒ येन॑ हि॒न्वन्त्या॑तु॒रम्।
तेना॒स्य ब्र॑ह्मणस्पते॒ धनु॑रि॒वा ता॑नया॒ पस॑:॥ २॥

१. **येन**=जिस कर्म से **कृशं वाजयन्ति**=दुर्बल को बलवान् बनाते हैं, **येन**=जिस उपाय से **आतुरम्**=रोगी को **हिन्वन्ति**=प्रीणित व पुष्ट करते हैं, **तेन**=उसी कर्म से हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **अस्य**=इसके **पस:**=राष्ट्र को **धनु: इव**=धनुष् के समान—सैनिक सामर्थ्य के अनुपात में **तानय**=फैलाइए।

भावार्थ—राजा राष्ट्र को निरन्तर शक्तिशाली बनाने का प्रयत्न करे। सैनिक सामर्थ्य के अनुपात में ही राष्ट्र का वर्धन होता है।

ऋषि:—**अथर्वाङ्गिरा:** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पति:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

अधिज्यामिव धन्वनि

आहं त॑नोमि ते॒ पसो॒ अधि॒ ज्यामि॑व॒ धन्व॑नि।
क्रम॒स्वर्श॑इव रोहि॒तमन॑वग्लायता॒ सदा॑॥ ३॥

१. प्रभु कहते हैं कि हे साधक! **अहम्**=मैं **ते पस:**=तेरे राष्ट्र को **आ तनोमि**=सब प्रकार से विस्तारवाला करता हूँ। **इव**=जिस प्रकार **अधिधन्वनि**=धनुष् पर **ज्याम्**=डोरी को विस्तृत करते हैं। २. तू **सदा**=सर्वदा **अनवग्लायता**=बिना ग्लानि व थकावटवाले मन के साथ **क्रमस्व**=शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाला हो, **इव**=जैसेकि **ऋश:**=एक हिंसक पशु **रोहितम्**=मृगविशेष पर आक्रमण करता है। शत्रुओं को तू इसीप्रकार जीतनेवाला बन, जैसेकि एक हिंस्र पशु हिरनों को जीत लेता है।

भावार्थ—राजा सैनिकों को शस्त्रास्त्र से सुसज्जित रक्खे। शस्त्रास्त्र के अनुपात में ही राष्ट्र शक्तिशाली बनता है। सैनिक शक्ति के ठीक होने पर ही राष्ट्र की शक्तियों का विस्तार होता है।

विशेष—राष्ट्र का रक्षण करनेवाला यह व्यक्ति 'जमदग्नि' कहलाता है। प्रजापति वै जमदग्नि:-श० १३.२.२.१४। जमदग्नि ही अगले सूक्त का ऋषि है—

१०२. [द्व्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषि:—**जमदग्नि: (अभिसंमनस्काम:)** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

प्रभु की ओर

यथा॒यं वा॒हो अ॑श्विना स॒मैति॒ सं च॒ वर्त॑ते।
ए॒वा माम॒भि ते॒ मन॑: स॒मैतु॒ सं च॑ वर्तताम्॥ १॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापान की साधना करनेवाले पुरुषो! **यथा**=जैसे **अयं वाह:**=यह अश्व **सम् आ एति**=सर्वथा मिलकर गतिवाला होता है। दो घोड़े एक यान में जुते हों तो वे जैसे मिलकर चलते हैं, **च**=और **संवर्तते**=मिलकर वर्तमान होते हैं, **एव**=इसीप्रकार **ते**=तेरा **मन:**=मन

माम् अभि=मेरा (प्रभु का) लक्ष्य करके **सम आ एतु**=सम्यक् गतिवाला हो, **संवर्तताम् च**=और सम्यक् वर्तनवाला हो।

भावार्थ—हम अपने मन को प्रभु में लगाएँ और सदा उत्तम कार्यों में लगे रहकर प्रभु को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—**जमदग्निः (अभिसंमनस्कामः)**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मयि ते वेष्टतां मनः

आहं खिदामि ते मनो राजाश्वः पृष्ट्यामिव।
रेष्मच्छिन्नं यथा तृणं मयि ते वेष्टतां मनः॥ २॥

१. **अहम्**=मैं **ते मनः**=तेरे मन को **आखिदामि**=इसप्रकार खींचता हूँ, **इव**=जैसे **राजाश्वः**=श्रेष्ठ घोड़ा **पृष्ट्याम्**=शंकुबद्ध सम्बन्धन रज्जु को। २. **यथा रेष्मछिन्नम्**=(रेष्मा=वात्या) जैसे वात्यात्मक वायु से छिन्न तृण उसके वश में हुआ-हुआ उसी में घूमता है, उसी प्रकार **ते**=तेरा **मनः**=मन **मयि वेष्टताम्**=मेरे अधीन होकर घूमनेवाला हो। तेरा मन मुझसे कभी दूर न हो।

भावार्थ—जैसे श्रेष्ठ घोड़ा सम्बन्धन रज्जु को और वात्य तृणों को खींचता है, उसी प्रकार मैं (प्रभु) तेरे मन को अपनी ओर खींचता हूँ।

ऋषिः—**जमदग्निः (अभिसंमनस्कामः)**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आञ्जन, मधुघ, कुष्ठ, नलद

आञ्जनस्य मदुघस्य कुष्ठस्य नलदस्य च।
तुरो भगस्य हस्ताभ्यामनुरोधनमुद्भरे॥ ३॥

१. **आञ्जनस्य**=(अञ्ज=व्यक्ति) संसार को व्यक्त करनेवाले—प्रकृति से संसार को प्रकट करनेवाले **मधुघस्य**=(मद्+घृ सेचने) आनन्द का सेचन करनेवाले, **कुष्ठस्य**=(कुष निष्कर्षे) सब बुराइयों को बाहर कर देनेवाले, जीवन को पवित्र बना देनेवाले **च**=और इसप्रकार **नलदस्य**=बन्धनों को काट देनेवाले (नल बन्धने, दो अवखण्डने), **तुरः**=(तुर्वी हिंसायाम्) सब आसुर वृत्तियों का संहार करनेवाले व **भगस्य**=ऐश्वर्य के पुञ्ज प्रभु के **अनुरोधनम्**=पूजन को, पूजा द्वारा अनुकूलता को **हस्ताभ्याम्**=हाथों से, नकि कानों से **उद्भरे**=धारण करता हूँ। २. हाथों से पूजन को धारण करने का भाव यह है कि मैं अपने कर्त्तव्यकर्मों के द्वारा प्रभु का पूजन करता हूँ (स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः)। गुण-कीर्तन तो श्रव्य भक्ति है। यहाँ ये कर्म आँखों से दीखते हैं। 'भूखे को रोटी देना, प्यासे को पानी पिलाना, रोगी का उपचार करना' प्रभु का हाथों द्वारा उपासन है। इसे करता हुआ उपासक जीवन को सद्गुणों से अलंकृत करता है (आञ्जन), जीवन को आनन्द से सिक्त करता है (मदुघ), बुराइयों को दूर करता है (कुष्ठ), अन्ततः बन्धनों को काटनेवाला होता है (नलद)। यही मार्ग है जिससे कि उपासक आसुरवृत्तियों का हिंसन करके (तुर) वास्तविक ऐश्वर्य को प्राप्त करता है (भग)।

भावार्थ—हम कर्त्तव्य कर्मों के द्वारा प्रभु का पूजन करते हुए 'आञ्जन, मदुघ, कुष्ठ, नलद, तुर व भग' बनें।

विशेष—प्रभुपूजन द्वारा सब आसुर वृत्तियों को दूर करके जीवन को उत्कृष्ट दीप्ति से युक्त करनेवाला यह 'उच्छोचन' अगले सूक्त का ऋषि=द्रष्टा है।

अथ पञ्चदशः प्रपाठकः

१०३. [त्र्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**उच्छोचनः** ॥ देवता—**बृहस्पत्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शत्रु-नियमन

संदानं वो बृहस्पतिः संदानं सविता करत्।
संदानं मित्रो अर्यमा संदानं भगो अश्विना॥ १ ॥

१. हे शत्रुओ! **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **वः**=तुम्हारा **सन्दानम्**=बन्धन करे। **सविता**=सर्वप्रेरक प्रभु **सन्दानं करत्**=तुम्हें बन्धन में डाले। ज्ञान के स्वामी, प्रेरक प्रभु से उत्तम प्रेरणा प्राप्त करके स्वाध्याय में निरत हम लोग काम-क्रोध आदि को वश में करनेवाले हों। २. **मित्रः**=सबके प्रति स्नेहवाला, **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) ईर्ष्या-द्वेष आदि का नियमन करनेवाला प्रभु **सन्दानम्**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं का बन्धन करे। हम सबके प्रति स्नेह की साधना करते हुए शत्रुओं का नियमन करनेवाले बनें। **भगः**=वह ऐश्वर्य का पुञ्ज प्रभु **सन्दानम्**=शत्रुओं का बन्धन करे। भग का स्मरण करते हुए हम सब ऐश्वर्यों के स्वामी प्रभु को जानें और इसप्रकार काम-क्रोध आदि को वशीभूत करें तथा विषयों में फँसने से बचें। **अश्विना**=प्राणापान शत्रुओं का बन्धन करें। प्राणसाधना हमें काम-क्रोध आदि को वश में करने में सहायक हो।

भावार्थ—हम प्रभु को 'बृहस्पति, सविता, मित्र, अर्यमा व भग' के रूप में स्मरण करते हुए तथा प्राणसाधना में प्रवृत्त होकर काम-क्रोध आदि शत्रुओं का नियमन करें।

ऋषिः—**उच्छोचनः** ॥ देवता—**बृहस्पत्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उपासक का दृढ़ निश्चय

सं परमान्त्समवमानथो सं द्यामि मध्यमान्। इन्द्रस्तान्पर्यहार्दाम्ना तानग्ने सं द्या त्वम्॥ २ ॥

१. प्राणसाधना करता हुआ उपासक दृढ़ निश्चय करता है कि **परमान्**=उत्कृष्ट शत्रुओं को—ज्ञान-संग व सुख-संग को **संद्यामि**=सम्यक् बद्ध करता हूँ—इन्हें वशीभूत करता हूँ। सत्त्वगुण के ये ही बन्धन है—'सुखसंगेन बध्नाति (सत्त्वं) ज्ञानसंगेन चानघ'। **अवमान्**=निकृष्ट शत्रुओं को—प्रमाद, आलस्य व निद्रा को **सं (द्यामि)**=सम्यक् बाँधता हूँ—इन्हें भी वशीभूत करता हूँ। ये ही तमोगुण के बन्धन हैं 'प्रमादालस्य निद्राभिस्तन्निबध्नाति धनञ्जय'। **अथो**=और **अव मध्यमान्**=रजोगुणजनित मध्यम बन्धनों को भी **सं (द्यामि)**=वशीभूत करता हूँ। यह रजोगुण हमें 'तृष्णा व धनोपार्जनोपायभूत कर्मों में लगे रहनेरूप' बन्धन से बाँधता है। मैं इनसे भी ऊपर उठता हूँ। २. **इन्द्रः**=बल से होनेवाले सब कर्मों को करनेवाला प्रभु **तान्**=उन 'ज्ञान-संग, सुख-संग, प्रमाद, आलस्य, निद्रा, तृष्णा व कर्मसंग' को **पर्यहाः**=(परि ह) परिवर्जित करे। हम 'इन्द्र' अर्थात् जितेन्द्रिय बनकर इन शत्रुओं को वशीभूत करें। हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **तान्**=उन शत्रुओं को **दाम्ना**=रज्जु—संयम-रज्जु से **संद्य**=बाँध डालिए। हम अग्नि बनते हुए—आगे बढ़ने की वृत्तिवाले होते हुए इन शत्रुओं को वशीभूत कर सकें।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय व आगे बढ़ने की भावनावाले (इन्द्र+अग्नि) बनकर 'परम, अवम व मध्यम' सभी शत्रुओं का नियमन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**उच्छोचनः** ॥ देवता—**बृहस्पत्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इन्द्र+अग्नि (सेनापति+राजा)

अमी ये युधमायन्ति केतून्कृत्वानीकशः। इन्द्रस्तान्पर्यहार्दाम्ना तानग्ने सं द्या त्वम्॥ ३ ॥

१. **अमी**=वे **ये**=जो शत्रु **युधम् आयन्ति**=युद्ध को—युद्ध करने के लिए आते हैं, जो **केतून् कृत्वा**=ध्वजाओं को लेकर **अनीकशः**=(संघशः) समूहों में उपस्थित होते हैं, **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावक सेनापति **तान्**=उन्हें **पर्यहाः**=दूर परिवर्जित करे। सेनापति शत्रुसैन्य को रण में पराजित करके दूर भगा दे। हे **अग्ने**=राष्ट्र को आगे ले-जानेवाले राजन्! **त्वम्**=आप **तान्**=उन शत्रुओं को **संद्य**=सम्यक् बन्धन में डालो।

भावार्थ—सेनापति व राजा मिलकर राष्ट्र को शत्रुकृत उपद्रवों से रहित करें।

विशेष—अन्त:शत्रुओं का विजेता व प्रकृष्ट दीप्तियुक्त जीवनवाला 'प्रशोचन' अगले सूक्त का ऋषि है।

१०४. [चतुरुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रशोचनः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आदान-सन्दान

आदानेन सुन्दानेनामित्राना द्यामसि।
अपाना ये चैषां प्राणा असुनासून्त्समच्छिदन्॥ १॥

१. **आदानेन**=(आदीयते आबध्यते अनेन इति) पाश=यन्त्रविशेष से **सन्दानेन**=बन्धन के द्वारा **अमित्रान्**=शत्रुओं को **आद्यामसि**=हम समन्तात् बद्ध करते हैं। २. **ये च**=और जो **एषाम्**=इनके **अपानाः प्राणाः**=अन्तर्मुख प्राणवृत्तिवाले और बहिर्मुख श्वासवृत्तिवाले **असून्**=प्राण हैं, उन्हें **असुना समच्छिदन्**=प्राण से काट डालते हैं—गलगत पाशयन्त्र से प्राणापान की गति को रोककर उन्हें नष्ट कर डालते हैं।

भावार्थ—गलगत पाशयन्त्र द्वारा हम शत्रुओं के प्राणों का उच्छेद करते हैं।

ऋषिः—**प्रशोचनः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'तपसा इन्द्रेण संशितम्' आदानम्

इदमादानमकरं तपसेन्द्रेण संशितम्।
अमित्रा येऽत्र नः सन्ति तानग्न आ द्या त्वम्॥ २॥

१. **इन्द्रेण**=जितेन्द्रिय पुरुष के द्वारा **तपसा**=तप से **संशितम्**=तीक्ष्ण किये हुए **इदम्**=इस **आदानम्**=शत्रुओं के बन्धन-पाश को **अकरम्**=किया है—जितेन्द्रिय व तपस्वी बनकर मैंने शत्रुबन्धन पाश बनाया है। हे **अग्ने**=परमात्मन्! **अत्र**=इस जीवन में **ये**=जो **नः**=हमारे **अमित्राः**=शत्रु **सन्ति**=हैं, **तान्**=उन्हें **त्वम्**=आप **आ द्या**=बन्धन में डालो। आपके अनुग्रह से हमारे सब शत्रु हमारे द्वारा बद्ध किये जाएँ।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से जितेन्द्रिय व तपस्वी बनकर हम सब शत्रुओं को बाँधनेवाले बनें। हम काम-क्रोधादि को वश में कर सकें।

ऋषिः—**प्रशोचनः** ॥ देवता—**सोमः, इन्द्रश्च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इन्द्र+मरुत्वान्

ऐनान्द्यतामिन्द्राग्नी सोमो राजा च मेदिनौ।
इन्द्रो मरुत्वानादानममित्रेभ्यः कृणोतु नः॥ ३॥

१. **इन्द्राग्नी**=जितेन्द्रियता व आगे बढ़ने की वृत्ति **एनान्**=इन शत्रुओं को **आद्यताम्**=सर्वथा बन्धन में करनेवाली हों। इन शत्रुओं को बन्धन में करने में **सोमः**=शरीरस्थ (वीर्य) **च**=और

राजा=(राजृ दीप्तौ) जीवन की दीप्ति **मेदिनौ**=हमारे प्रति स्नेह करनेवाली हों। शत्रुओं को वशीभूत करने पर शरीर में सोम का रक्षण होता है और जीवन दीप्त बनता है। २. **मरुत्वान्**=प्राणोंवाला **इन्द्रः**=इन्द्र **नः**=हमारे **अमित्रेभ्यः**=शत्रुओं के लिए **आदानम्**=बन्धन को **कृणोतु**=करे। प्राणसाधना करता हुआ जितेन्द्रिय पुरुष काम-क्रोध आदि शत्रुओं को वशीभूत करनेवाला हो।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनें, आगे बढ़ने की वृत्तिवाले हों। ऐसा होने पर ही हम सोम का रक्षण कर पाएँगे और जीवन को दीप्ति बना पाएँगे। प्राणसाधना करते हुए जितेन्द्रिय बनना ही काम-क्रोध आदि के वशीकरण का उपाय है।

विशेष—जितन्द्रिय पुरुष ही नीरोग बनता है। यह 'कासा' आदि रोगों का विजेता 'उन्मोचन' कहलता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

१०५. [पञ्चोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**उन्मोचनः** ॥ देवता—**कासा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कासा का दूर गमन (यथा मनः)

यथा मनो मनस्केतैः परापतत्याशुमत्।
एवा त्वं कासे प्र पत मनसोऽनु प्रवाय्य म्॥ १॥

१. **यथा**=जैसे **मनः**=मन **मनस्केतैः**=(मनसा बुद्धिवृत्त्या) बुद्धिवृत्ति से ज्ञायमान विषयों के साथ **आशुमत्**=शीघ्रता से युक्त हुआ-हुआ **परापतति**=दूर-दूर जाता है **एव**=इसीप्रकार हे **कासे**=श्लेष्मरोग! **त्वम्**=तू **मनसः प्रवाय्यम्**=मन की प्रगन्तव्य अवधि को **अनु प्रपत**=लक्ष्य करके गतिवाला हो—तू मनोवेग से इस पुरुष से निकलकर दूर देश में चला जा।

भावार्थ—जैसे मन शीघ्रता से दूर देश में चला जाता है, उसी प्रकार यह खाँसी हमें छोड़कर दूर चली जाए।

ऋषिः—**उन्मोचनः** ॥ देवता—**कासा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यथा बाणः

यथा बाणः सुसंशितः परापतत्याशुमत्।
एवा त्वं कासे प्र पत पृथिव्या अनु संवतम्॥ २॥

१. **यथा**=जैसे **सुसंशितः**=सम्यक् तीक्ष्ण किया हुआ **बाणः**=बाण धनुष् से विमुक्त हुआ-हुआ **आशुमत् परापतति**=शीघ्र दूर जाता है, **एव**=इसीप्रकार हे **कासे**=श्लेष्मरोग! **त्वम्**=तू **पृथिव्याः**=पृथिवी के **संवतम्**=निम्न प्रदेश को **अनु प्रपत**=लक्ष्य करके गतिवाला हो, बाण के वेग से तू पाताल में जा।

भावार्थ—जैसे धनुष् से छोड़ा बाण शीघ्रता से दूर जाता है, वैसे ही यह कासारोग हमसे दूर चला जाए।

ऋषिः—**उन्मोचनः** ॥ देवता—**कासा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यथा सूर्यस्य रश्मयः

यथा सूर्यस्य रश्मयः परापतन्त्याशुमत्। एवा त्वं कासे प्र पत समुद्रस्यानु विक्षरम्॥ ३॥

१. **यथा**=जैसे उदय के पश्चात् **सूर्यस्य रश्मयः**=सूर्य की किरणें **आशुमत् परापतन्ति**=शीघ्रता से सुदूर पहुँच जाती हैं, **एव**=उसी प्रकार हे **कासे**=श्लेष्मरोग! **त्वम्**=तू **समुद्रस्य**=समुद्र के **विक्षरम् अनु**=विविध क्षरणवाले देश का लक्ष्य करके **अनु प्रपत**=शीघ्रता से दूर जा। इस पुरुष

को छोड़कर तू सूर्य-रश्मियों की भाँति शीघ्र समुद्रपर्यन्त चला जा।

भावार्थ—कासा हमसे इसप्रकार दूर भाग जाए जैसेकि सूर्य-रश्मियाँ समुद्रपर्यन्त देशों में जा पहुँचती हैं।

विशेष—रोगों से बचने के लिए गृहों का उचित निर्माण नितान्त आवश्यक है। घर का उचित निर्माण करके रोगों को दूर रखनेवाला 'प्रमोचन' अगले सूक्त का ऋषि=द्रष्टा है।

१०६. [षडुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रमोचनः** ॥ देवता—**दूर्वा, शाला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आदर्शगृह

आयने ते परायणे दूर्वा रोहन्तु पुष्पिणीः।
उत्सो वा तत्र जायतां ह्रदो वा पुण्डरीकवान्॥ १॥

१. हे शाले! **ते**=तेरे **आयने**=आगमन मार्ग में और **परायणे**=निकास में अथवा अगले तथा पिछले भाग में **पुष्पिणीः**=फूलोंवाली **दूर्वाः**=घास **रोहन्तु**=उगें **वा**=और **तत्र**=वहाँ **उत्सः**=उदकप्रस्रवण (चश्मा) **जायताम्**=हो **वा**=अथवा **पुण्डरीकवान्**=कमलोंवाला **ह्रदः**=तालाब हो।

भावार्थ—घर में आगे-पीछे दूर्वा लगी हो। उसमें उत्स व कमलयुक्त तालाब की भी व्यवस्था की जाए।

ऋषिः—**प्रमोचनः** ॥ देवता—**दूर्वा, शाला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मध्ये ह्रदस्य

अपामिदं न्ययनं समुद्रस्य निवेशनम्।
मध्ये ह्रदस्य नो गृहाः पराचीना मुखा कृधि॥ २॥

१. **इदम्**=यह **अपाम्**=प्रजाओं का **न्ययनम्**=निवास-स्थान और **समुद्रस्य निवेशनम्**=जलसमूह का गृह हो (निविशतेऽस्मिन् इति)। **नः गृहाः**=हमारे घर **ह्रदस्य मध्ये**=तालाब के मध्य में हों। हे अग्ने! तू अपने **मुखाः**=ज्वालारूप मुखों को **पराचीना कृधि**=पराङ्मुख कर। ऐसे घरों में अग्निदाह का भय नहीं होता।

भावार्थ—घरों में जलों के सुप्रबन्ध से अग्निदाह की आशंका नहीं रहती।

ऋषिः—**प्रमोचनः** ॥ देवता—**दूर्वा, शाला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

हिमस्य जरायुणा

हिमस्य त्वा जरायुणा शाले परि व्ययामसि।
शीतह्रदा हि नो भुवोऽग्निष्कृणोतु भेषजम्॥ ३॥

१. हे **शाले**=निवासस्थान! **त्वा**=तुझे **हिमस्य जरायुणा**=हिम (शीतल जल) के वेष्टन से **परिव्ययामसि**=चारों ओर से घेरते हैं, तू **नः**=हमारे लिए **शीतह्रदाः भुवः**=शीतल जलवाले तालाब से युक्त हो। **हि**=निश्चय से इस स्थिति में **अग्निः**=अग्नि **भेषजं कृणोतु**=हमारे रोगों के निवारण करने का साधन होकर रोगों को दूर करे।

भावार्थ—घर तालाब आदि से घिरे हुए हों, जिससे बाहर की आग उस तक न पहुँच सके। घरों के अन्दर अग्नि भी भेषज बने—कष्टों को दूर करने का साधन बने।

विशेष—इन घरों में शान्तिपूर्वक निवास करनेवाला 'शन्ताति' अगले सूक्त का ऋषि है।

१०७. [सप्तोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**विश्वजित्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

त्रायमाणायै

विश्वजित् त्रायमाणायै मा परि देहि।
त्रायमाणे द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद्यच्च नः स्वम्॥ १॥

१. हे **विश्वजित्**=सम्पूर्ण संसार को जीतनेवाले प्रभो! **मा**=मुझे **त्रायमाणायै**=जल व अग्नि की उचित व्यवस्था के द्वारा रक्षा करनेवाली शाला के लिए **परिदेहि**=दीजिए—सौंपिए। मुझे ऐसा घर प्राप्त कराइए जो रक्षण करनेवाला हो, जिसमें अग्निदाहादि उपद्रवों व रोगों का भय न हो। २. **त्रायमाणे**=हे रक्षा करनेवाली शाले! **नः**=हमारे **सर्वम्**=सब **द्विपात्**=दो पाँवोंवाले मनुष्यों **च**=और **चतुष्पात्**=चार पैरवाले गौ आदि पशुओं को **रक्ष**=सुरक्षित कर **च**=और **यत्**=जो **नः**=हमारा **स्वम्**=धन है, उसकी भी रक्षा करनेवाली हो।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिए 'त्रायमाण' शाला प्राप्त कराएँ। इसमें हमारे सब मनुष्य व पशु सुरक्षित रूप से निवास करें। यह शाला हमारे सब द्रव्यों का भी रक्षण करनेवाली हो।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**विश्वजित्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विश्वजिते

त्रायमाणे विश्वजिते मा परि देहि।
विश्वजिद् द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद्यच्च नः स्वम्॥ २॥

१. हे **त्रायमाणे**=रक्षा करनेवाली शाले! तू **मा**=मुझे **विश्वजिते**=सम्पूर्ण संसार का विजय करनेवाले प्रभु के लिए **परिदेहि**=अर्पित कर। तुझमें निवास करता हुआ मैं प्रभु का स्मरण करनेवाला बनूँ। २. हे **विश्वजित्**=संसार के विजेता प्रभो! **नः**=हमारे **सर्वम्**=सब **द्विपात्**=दो पाँवोवाले मनुष्यों तथा **चतुष्पात्**=चार पाँववाले गवादि पशुओं का **रक्ष**=रक्षण कीजिए, **च**=और **यत्**=जो **नः**=हमारा **स्वम्**=धन है, उसका भी रक्षण कीजिए।

भावार्थ—सुरक्षित घरों में निवास करते हुए हम प्रभु का स्मरण करें। प्रभु हमारे मनुष्यों, पशुओं व धनों को सुरक्षित करें।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**विश्वजित्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कल्याण्यै

विश्वजित्कल्याण्यै मा परि देहि।
कल्याणि द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद्यच्च नः स्वम्॥ ३॥

१. **विश्वजित्**=संसार के विजेता हे प्रभो! आप **मा**=मुझे **कल्याण्यै**=शुभों की साधिका याग आदि क्रिया के लिए **परिदेहि**=अर्पित कीजिए। आपकी प्रेरणा से सुरक्षित घर में मैं यज्ञादि करनेवाला बनूँ। २. हे **कल्याणि**=शुभ-साधिके यज्ञादि क्रिये! तू **नः**=हमारे **सर्वम्**=सब **द्विपात्**=दोपाये मनुष्यादि को **च**=तथा **चतुष्पात्**=गवादि पशुओं को **रक्ष**=रक्षित कर, **च**=तथा **यत् नः स्वम्**=जो हमारा धन है, उसे भी रक्षित कर।

भावार्थ—प्रभु हमें याज्ञादि शुभ-साधिका क्रियाओं में प्रवृत्त करें। इन क्रियाओं को करते हुए हम सभी प्रकार से सुरक्षित हों।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**विश्वजित्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सर्वविदे

कल्या॑णि सर्व॒विदे॑ मा॒ परि॑ देहि।
सर्व॑विद् द्वि॒पाच्च॒ सर्वं॑ नो॒ रक्ष॒ चतु॑ष्पा॒द्यच्च॑ नः॒ स्वम्॥ ४॥

१. हे **कल्याणि**=शुभ-साधिके यज्ञादि क्रिये! **मा**=मुझे **सर्वविदे परिदेहि**=सर्वज्ञ प्रभु के प्रति अर्पित कर। यज्ञादि शुभ कर्मों को करते हुए हम प्रभु को प्राप्त करें। २. हे **सर्ववित्**=सर्वज्ञ प्रभो! आप **नः**=हमारे **सर्वम्**=सब **द्विपात्**=दो पाँववाले मनुष्यादि को **च**=तथा **चतुष्पात्**=चार पाँववाले गौ आदि पशुओं को **रक्ष**=रक्षित कीजिए, **च**=और **यत् नः स्वम्**=जो हमारा धन है, उसका भी रक्षण कीजिए।

भावार्थ—हम यज्ञादि शुभ कर्मों को करते हुए प्रभु को प्राप्त करें। प्रभु हमारे रक्षक हों।

विशेष—इस सूक्त का सामान्य भाव यह है कि १. प्रभु हमें ऐसा घर प्राप्त कराएँ जो हमारा रक्षण करनेवाला हो, २. इस घर में सुरक्षित रहते हुए हम विश्वजित् प्रभु का स्मरण करें, ३. प्रभु हमें याग आदि शुभ क्रियाओं में प्रेरित करें, ४. ये शुभ क्रियाएँ हमें प्रभु को प्राप्त करानेवाली हों।

प्रभु को प्राप्त करनेवाला और परिणामतः आनन्दमय जीवनवाला यह 'शौनक' बनता है (शुनं सुखम्)। शौनक ही अगले सूक्त का ऋषि है। यह मेधा के लिए प्रार्थना करता है।

१०८. [अष्टोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**शौनकः** ॥ देवता—**मेधा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'गोभिः अश्वेभिः' मेधा

त्वं नो॑ मेधे प्रथ॒मा गोभि॒रश्वे॑भि॒रा ग॑हि।
त्वं सूर्य॑स्य र॒श्मिभि॒स्त्वं नो॑ असि य॒ज्ञिया॑॥ १॥

१. हे **मेधे**=आत्मा को धारण करनेवाली चितिशक्ते! **त्वम्**=तू **नः**=हमें **गोभिः अश्वेभिः**= ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के साथ **आगहि**=प्राप्त हो। हमें उत्तम ज्ञानेन्द्रियों तथा कर्मेन्द्रियों के साथ बुद्धि प्राप्त हो। तू ही **प्रथमा**=सबसे मुख्य है। हे मेधे! तू **सूर्यस्य रश्मिभिः**=ज्ञान के सूर्य प्रभु की ज्ञानमयी किरणों के साथ प्राप्त हो, **त्वम्**=तू ही **नः**=हमारे **यज्ञिया**=जीवन-यज्ञ का सम्पादन करनेवाली **असि**=है।

भावार्थ—हमें उत्तम ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों के साथ मेधा प्राप्त हो। इसके द्वारा हम ज्ञानसूर्य प्रभु से ज्ञान की रश्मियों को प्राप्त करें। यह हमारे जीवन-यज्ञ का सम्पादन करनेवाली हो।

ऋषिः—**शौनकः** ॥ देवता—**मेधा** ॥ छन्दः—**उरोबृहती** ॥

मेधां 'प्रपीतां ब्रह्मचारिभिः'

मे॒धाम॒हं प्र॑थ॒मां ब्रह्म॑ण्वतीं॒ ब्रह्म॑जूता॒मृषि॑ष्टुताम्।
प्रपी॑तां ब्रह्मचा॒रिभि॑र्दे॒वाना॒मव॑से हुवे॥ २॥

१. **अहं मेधाम्**=मैं मेधा बुद्धि को **देवानाम् अवसे हुवे**=अपने जीवन में दिव्य गुणों के रक्षण के लिए पुकारता हूँ, उस मेधा को जो **प्रथमाम्**=सबसे मुख्य स्थान में स्थित है, **ब्रह्मण्वतीम्**=वेदज्ञानवाली है **ब्रह्मजूताम्**=ज्ञानियों से सेवित हुई है, **ऋषिष्टुताम्**=तत्त्वद्रष्टाओं से स्तुत हुई है और **ब्रह्मचारिभिः**=ज्ञान का चरण करनेवाले विद्यार्थियों से **प्रपीताम्**=प्रवर्धित हुई है,

अथवा पी गई है, सम्यक् ग्रहण की गई है।

भावार्थ—बुद्धि हमारे जीवनों में दिव्य गुणों के रक्षण का साधन बनती है। इसी से ज्ञान का वर्धन होता है और 'ज्ञान प्राप्त करना' ही इसकी वृद्धि का साधन बनता है।

ऋषिः—**शौनकः** ॥ देवता—**मेधा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ऋभवः, असुराः, ऋषयः (वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण)

यां मेधामृभवो विदुर्यां मेधामसुरा विदुः।
ऋषयो भद्रां मेधां यां विदुस्तां मय्या वेशयामसि॥ ३॥

१. **यां मेधाम्**=जिस मेधाबुद्धि को **ऋभवः**=(उरु भान्ति) विविध कला-कौशल के ज्ञान से सुशोभित शिल्पी **विदुः**=जानते हैं, **यां मेधाम्**=जिस मेधाबुद्धि को **असुराः**—प्राणसाधना करनेवाले (असु=प्राण) और प्राणसाधना द्वारा शत्रुओं को परे फेंकने (अस् क्षेपणे) **विदुः**=जानते हैं और **याम्**=जिस **भद्राम्**=कल्याणी व स्तुत्य **मेधाम्**=मेधाबुद्धि को **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा लोग **विदुः**=जानते हैं, **ताम्**=उस मेधा को **मयि**=हम सब अपने में **आवेशयामसि**=सब प्रकार से स्थापित करते हैं।

भावार्थ—बुद्धि ही हमें सब कलाओं में प्रवीण करती है (ऋभवः)। यही हमें शत्रुओं को विनष्ट करने की शक्ति प्रदान करती है (असुराः), इसी से हम तत्त्वद्रष्टा बनकर कल्याण को सिद्ध कर पाते हैं (ऋषयः)। इसे प्राप्त करने के लिए हम यत्नशील हों।

ऋषिः—**शौनकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'भूतकृतः' ऋषयः

यामृषयो भूतकृतो मेधां मेधाविनो विदुः। तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कृणु॥ ४॥

१. **याम्**=जिस **मेधाम्**=मेधाबुद्धि को **भूतकृतः**=(भूतम्) प्रत्येक कार्य को उचितरूप में करनेवाले **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा अथवा बुराइयों का संहार करनेवाले (ऋष् to kill) **मेधाविनः**=प्रशस्त मेधावाले पुरुष **विदुः**=जानते हैं, हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **तया मेधया**=उस मेधा से **माम्**=मुझे भी **अद्य**=आज **मेधाविनं कृणु**=मेधावी कीजिए।

भावार्थ—हमें वह मेधा प्राप्त हो, जिसके प्राप्त होने पर हम उचित ही कर्म करते हैं और सब बुराइयों को दूर करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**शौनकः** ॥ देवता—**मेधा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सूर्यरश्मिभिः वचसा

मेधां सायं मेधां प्रातर्मेधां मध्यन्दिनं परि।
मेधां सूर्यस्य रश्मिभिर्वचसा वेशयामहे॥ ५॥

१. **मेधाम्**=इस मेधाबुद्धि को **सायम्**=सायंकाल, इस **मेधाम्**=मेधा को **प्रातः**=प्रातःकाल तथा इस **मेधाम्**=मेधाबुद्धि को **मध्यन्दिनं परि**=मध्याह्न में **वेशयामहे**=अपने अन्दर स्थापित करने के लिए यत्नशील होते हैं। यह प्रयत्न ही वस्तुतः 'प्रातःसवन, माध्यन्दिनसवन व सायन्तन सवन' हैं। २. हम इस **मेधाम्**=मेधा को **सूर्यस्य रश्मिभिः**=ज्ञान के सूर्य प्रभु के ज्ञान की किरणों के द्वारा तथा **वचसा**=वेदवचनों के द्वारा अपने में धारण करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। उस सूर्य की रश्मियों की प्राप्ति के लिए साधनभूत ध्यान, प्राणायाम आदि को अपनाते हैं तथा वेदवचनों का स्वाध्याय करते हैं।

भावार्थ—हम 'प्रातः, मध्याह्न व सायं' सदा मेधा को प्राप्त करने के लिए यत्नशील हों। हम ध्यान द्वारा ज्ञान के सूर्य प्रभु की रश्मियों को देखने का यत्न करें और स्वाध्याय द्वारा वेदवाणी को प्राप्त करें। यही मेधावी बनने का मार्ग है।

विशेष—बुद्धि की साधना में प्रवृत्त मनुष्य 'अथर्वा' बनता है—संसार के विषयों से आन्दोलित न होनेवाला। अगले चार सूक्तों का यही ऋषि है। यह पिप्पली के प्रयोग से शरीर को नीरोग रखता है।

१०९. [नवोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पिप्पली** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

क्षिप्तभेषजी अतिविद्धभेषजी

पिप्पली क्षिप्तभेषज्यू३ुतातिविद्धभेषजी।
तां देवाः समकल्पयन्नियं जीवितवा अलम्॥ १॥

१. **पिप्पली**=यह 'कणा' आदि नामोंवाली ओषधि **क्षिप्तभेषजी**=(क्षिप्तानि अन्यानि भेषजानि यया) अन्य सब ओषधियों को तिरस्कृत करनेवाली है—सबसे श्रेष्ठ है, अथवा (क्षिप्तस्य भेषजी) वातरोगनाशक है **उत**=और **अतिविद्धभेषजी**=(कृत्स्नं रोगं अतिविध्यति निपीडयति इति अतिविद्धा, सा चासौ भेषजः) सब रोगों का अतिशयेन वेधन करनेवाली औषध है, अथवा 'क्षिप्त' रोग को दूर करनेवाली है, जिसमें कि रोगी वेदना से हाथ-पैर पटका करता है। यह 'अतिविद्ध' रोग को भी दूर करती है—जिसमें जाँघ में तीव्र वेदना होती है। २. **ताम्**=उस पिप्पली को **देवाः**=वायु-सूर्य आदि सब देव **समकल्पयन्**=बड़ा शक्तिशाली बनाते हैं। **इयम्**=यह **जीवितवै अलम्**=जिलाने के लिए पर्याप्त है।

भावार्थ—पिप्पली नामक ओषधि 'क्षिप्त व अतिविद्ध' आदि रोगों को दूर करती हुई दीर्घ-जीवन का कारण बनती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पिप्पली** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पिप्पलियों का संवाद

पिप्पल्य१ः समवदन्तायतीर्जननादधि। यं जीवमश्नवामहै न स रिष्याति पूरुषः॥ २॥

१. **पिप्पल्यः**=पिप्पलियाँ **जननात् अधि**=जन्म से ही **आयतीः**=आती हुई **सम् अवदन्त**=परस्पर बात करती हैं कि **यं जीवम्**=जिस जीव को **अश्नवामहै**=हम औषधरूपेण प्राप्त होती हैं, **सः**=वह **पूरुषः**=पुरुष **न रिष्याति**=नष्ट नहीं होता—हिंसित नहीं होता।

भावार्थ—पिप्पलियाँ जब अंकुरित होकर भूमि से ऊपर आती हैं तब मानो परस्पर बात करती हैं कि हमें औषधरूपेण प्राप्त करनेवाला पुरुष कभी हिंसित नहीं होता।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पिप्पली** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

असुराः देवाः (न्यखनन्, उदवपन्)

असुरास्त्वा न्य१खनन्देवास्त्वोदवपन्पुनः।
वातीकृतस्य भेषजीमथो क्षिप्तस्य भेषजीम्॥ ३॥

१. **असुराः**=प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाले वैद्य **त्वा न्यखनन्**=तुझे खोदते हैं। **देवाः**=रोगों को जीतने की कामनावाले वैद्य **त्वा**=तुझे **पुनः उत् अवपन्**=फिर से बोते हैं। २. उस तुझे जो तू **वातीकृतस्य भेषजीम्**=वातकृत रोगों की भेषज है **अथो**=और **क्षिप्तस्य**=उन्माद रोग को दूर

करनेवाली **भेषजम्**=ओषधि है।

भावार्थ—इस 'वातीकृत तथा क्षिप्त' की भेषजभूत पिप्पली को देव तथा असुर खोदते हैं तथा पुनः बो देते हैं। ये पिप्पली का मूलोच्छेद नहीं होने देते।

११०. [दशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

प्रभु का शरीररूप 'आत्मा' (स्वां तन्वम्)

प्रत्नो हि कमीड्यो अध्वरेषु सनाच्च होता नव्यश्च सत्सि।
स्वां चाग्ने तन्वं पिप्रायस्वास्मभ्यं च सौभगमा यजस्व॥ १॥

१. हे प्रभो! आप **प्रत्नः**=सनातन हैं, **हि**=निश्चय से **कम्**=आनन्दस्वरूप आप **ईड्यः**=स्तुति के योग्य हैं **च**=और **अध्वरेषु**=यज्ञों में आप ही **सनात्**=सदा से **होता**=आहुति देनेवाले हैं—आपके द्वारा ही सब यज्ञ परिपूर्ण होते हैं, **च**=और **नव्यः**=आप अपने इस शरीर को, अर्थात् मैं जो आपका शरीर हूँ, उसे **पिप्रायस्व**=प्रीणित कीजिए। आपकी कृपा से मैं अपना पूरण कर सकूँ **च**=और आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **सौभगम्**=सौभाग्य को **आयजस्व**=सर्वथा प्राप्त कराइए।

भावार्थ—प्रभु सनातन हैं, सदा स्तुत्य हैं, वे ही सब यज्ञों के होता हैं, वे ही स्तुत्य हैं। हम प्रभु के शरीररूप हैं, हममें प्रभु का निवास है। प्रभु इस शरीर का पूरण करें और हमें सौभाग्य प्रदान करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सब दुरितों से दूर

ज्येष्ठघ्न्यां जातो विचृतोर्यमस्य मूलबर्हणात्परि पाह्येनम्।
अत्येनं नेषद्दुरितानि विश्वा दीर्घायुत्वाय शतशारदाय॥ २॥

१. **ज्येष्ठघ्न्याम्**=(हन् गतौ) अत्यन्त प्रशस्त क्रियाओं में **जातः**=प्रादुर्भूत हुए-हुए हे अग्ने! आप **एनम्**=अपने इस उपासक को **विचृतोः यमस्य**=(विमोचयित्रोः) अन्धकार से छुड़ानेवाले सूर्य-चन्द्र के नियम के **मूलबर्हणात्**=मूल छेदन से **परिपाहि**=बचाइए। प्रशस्त क्रियाओं में लगा हुआ उपासक अपने हृदय में आपके प्रकाश को देखता है। आप इस उपासक को सूर्य-चन्द्रमा के नियम को न तोड़ने के लिए प्रेरित कीजिए—'स्वस्तिपन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव'—सूर्य-चन्द्रमा की भाँति नियमित गति से मार्ग पर चलता हुआ यह उपासक कल्याण प्राप्त करता है। २. आप **एनम्**=इस उपासक को **विश्वा दुरितानि**=सब दुरितों—अशुभाचरणों से **अति**=उलाँघकर **शतशारदाय**=सौ वर्ष के **दीर्घायुत्वाय**=दीर्घ जीवन के लिए **नेषत्**=ले-चलिए।

भावार्थ—हम उत्तम क्रियाओं को करते हुए प्रभु के प्रकाश को देखें। प्रभु हमें सूर्य और चन्द्रमा की भाँति नियमित गतिवाला बनाएँ और सब दुरितों को दूर करके हमें सौ वर्ष का दीर्घजीवन प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

व्याघ्रे अह्नि

व्याघ्रेऽह्न्यजनिष्ट वीरो नक्षत्रजा जायमानः सुवीरः।
स मा वधीत्पितरं वर्धमानो मा मातरं प्र मिनीज्जनित्रीम्॥ ३॥

१. **व्याघ्रे**=(घ्रा गन्धोपादाने, गन्ध=सम्बन्ध) विशिष्ट सम्बन्ध का उपादान करनेवाले (त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिम्०) **अह्नि**=(न जहाति) कभी भी हमें न छोड़नेवाले उस प्रभु में **वीरः अजनिष्ट**=वीर प्रादुर्भूत होता है। अन्य लोग विपत्ति में हमारा साथ छोड़ जाते हैं, परन्तु उस समय प्रभु के साथ हमारा सम्बन्ध और घनिष्ठ हो जाता है। प्रभु ही वस्तुतः हमारे माता और पिता हैं 'वे अपने इस सम्बन्ध को कभी छोड़ देंगे' ऐसी बात नहीं। हम ही उन्हें भूले रहते हैं। उस प्रभु में स्थित होनेवाला व्यक्ति वीर बनता है। यह **नक्षत्रजाः**=विज्ञान के नक्षत्रों में विकास प्राप्त करता हुआ **जायमानः**=उत्तरोत्तर शक्ति के प्रादुर्भाववाला **सुवीरः**=उत्तम वीर बनता है। २. **सः**=वह सुवीर **वर्धमानः**=वृद्धि को प्राप्त होता हुआ **पितरं मा वधीत्**=पिता का हिंसन करनेवाला न हो—पिता की बात को न माननेवाला न हो तथा **जनित्रीम्**=जन्म देनेवाली **मातरं मा प्रमिनीत्**=माता को हिंसित न करे—माता के अनुशासन में चले। 'प्रभु' पिता हैं, 'वेद' माता है। यह सुवीर प्रभु-प्रेरणा के अनुसार और वेद के आदेश के अनुसार आचरण करनेवाला हो।

भवार्थ—हम उस विशिष्ट सम्बन्धवाले, कभी भी हमारा साथ न छोड़नेवाले प्रभु में स्थित होते हुए 'वीर' बनें। विज्ञान के नक्षत्रों में दीप्त बनकर उत्तम वीर हों। माता-पिता के कहने में चलें—प्रभु की प्रेरणा और वेद के आदेश-अनुसार।

१११. [एकादशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**परानुष्टुप्त्रिष्टुप्** ॥

अनुन्मदितः

इ॒मं मे॑ अग्ने॒ पुरु॑षं मुमुग्ध्य॒यं यो ब॒द्धः सुय॑तो॒ लाल॑पीति।
अ॒तोऽधि॑ ते कृणवद्भाग॒धेयं॒ य॒दानु॑न्मदि॒तोऽस॑ति॥ १॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **इमं मे पुरुषम्**=मेरे इस पुरुष को **मुमुग्धि**=रोगों के कारणभूत पापों से मुक्त कीजिए। **अयम्**=यह **यः**=जो **बद्धः**=इन्द्रियों से बद्ध हुआ-हुआ **सुयतः**=विषयों से खूब ही जकड़ा हुआ—इन्द्रियाँ जिसके लिए ग्रह बनी हुई हैं और विषय अतिग्रह बने हुए हैं—**लालपीति**=बहुत ही बड़बड़ाता है—असम्बद्ध प्रलाप करता है, इसे आप मुक्त कीजिए। २. **अतः**=अब **यदा अनुन्मदितः असति**=जब यह उन्मादरहित हो जाए तब **ते**=आपके **भागधेयम्**=भाग को **अधिकृणवत्**=अधिक करे, अर्थात् यह खूब ही आपका उपासन करे, जिससे पुनः उन्मादवाला न हो जाए।

भावार्थ—प्रभु की उपासना ही हमें विषयोन्माद से बचानेवाली औषध है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रभु-स्मरण=उन्माद-भेषज

अ॒ग्निष्टे॒ नि श॑मयतु॒ यदि॑ ते॒ मन॒ उद्यु॑तम्।
कृ॒णोमि॑ वि॒द्वान्भे॑ष॒जं यथानु॑न्मदि॒तोऽस॑सि॥ २॥

१. हे साधक! **यदि**=यदि **ते**=तेरा **मनः**=मन **उद्युतम्**=(युञ् बन्धने) विषयों से बद्ध हुआ है तो **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **ते निशमयतु**=(शमो दर्शने) तुझे तत्त्वज्ञान प्राप्त कराएँ। विषयों की असारता दिखलाकर तुझे विषयों से पराङ्मुख करें। २. प्रभु कहते हैं कि **विद्वान्**=ज्ञानी मैं तेरे लिए **भेषजं कृणोमि**=औषध करता हूँ **यथा**=जिससे तू **अनुन्मदितः अससि**=उन्मादरहित होता है।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण ही वह औषध है जो विषयों की असारता दिखाकर हमें विषयोन्माद से बचाती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देवैनसात् रक्षसः

देवैनसादुन्मदितमुन्मत्तं रक्षसस्परि। कृणोमि विद्वान्भेषजं यदानुन्मदितोऽसति॥ ३॥

१. **देवैनसात्**=देवों के विषयों में किये गये पाप से **उन्मदितम्**=उन्मादयुक्त हुए-हुए को अथवा **रक्षसः**=(अपने रमण के लिए औरों को क्षय करनेवाले) रोगकृमियों से **उन्मत्तं परि**=उन्मत्त हुए पुरुष को लक्ष्य करके विद्वान्—ज्ञानी मैं **यदा**=जब **भेषजं कृणोमि**=चिकित्सा करता हूँ तब **अनुन्मदितः असति**=यह उन्मादरहित हो जाता है।

भावार्थ—उन्माद के दो कारण हो सकते हैं—एक, देवों के विषय में कोई पाप करना और इससे मानस सन्तुलन खो बैठना। दूसरे, किसी रोगकृमि से उत्पन्न विकार के कारण। ज्ञानी पुरुष इन दोनों प्रकार के उन्माद को उचित औषध-प्रयोग से दूर करे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पागलपन के कारण

पुनस्त्वा दुरप्सरसः पुनरिन्द्रः पुनर्भगः। पुनस्त्वा दुर्विश्वेदेवा यथानुन्मदितोऽससि॥ ४॥

१. हे उन्मादयुक्त पुरुष! **अप्सरसः**=कर्मों में विचरनेवाले **त्वा**=तुझे **पुनः**=फिर से **दुः**=चेतना प्राप्त कराएँ, अर्थात् 'कर्मों में लगे रहना' उन्माद के आक्रमण से बचने का उपाय है। **इन्द्रः**=इन्द्र **पुनः**=फिर से चेतना दे। जितेन्द्रियता हमें उन्माद का शिकार होने से बचाती है। **भगः**=ऐश्वर्य का पुञ्ज प्रभु **पुनः**=फिर से चैतन्य प्राप्त कराए। 'सेवनीय ऐश्वर्य का होना' हमें उन्मत्त नहीं होने देता। २. **विश्वेदेवाः**=सब देव (दिव्य गुण) **त्वा**=तुझे **पुनः**=फिर **दुः**=चेतना प्राप्त कराएँ। राक्षसीभाव भी मनुष्य को उन्मत्त कर देते हैं। मैं तुझे दिव्य भाव प्राप्त करता हूँ **यथा**=जिससे **अनुन्मदितः अससि**=तू उन्मादरहित होता है।

भावार्थ—'अकर्मण्यता, अजितेन्द्रियता, दरिद्रता व दिव्य गुणों का न होना' उन्माद का कारण बनता है। हम 'क्रियाशील, जितेन्द्रिय, सौभाग्यसम्पन्न व दैवी सम्पदावाले' बनकर पूर्ण स्वस्थ मस्तिष्कवाले हों।

११२. [द्वादशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ग्राही के पाश से मुक्ति

मा ज्येष्ठं वधीदयमग्न एषां मूलबर्हणात्परि पाह्येनम्।
स ग्राह्याः पाशान्वि चृत प्रजानन्तुभ्यं देवा अनु जानन्तु विश्वे॥ १॥

१. **अयम्**=यह रोग **एषाम्**=इस परिवार के लोगों में हे **अग्ने**=परमात्मन्! **ज्येष्ठं मा वधीत्**=विद्या और वय (अवस्था) में बड़े को न मारे। **एनम्**=इस ज्येष्ठ को **मूलबर्हणात्**=रोग के मूल के विनाश व उच्छेद के द्वारा **परिपाहि**=रक्षित कर। २. **प्रजानन्**=ज्ञानी होता हुआ **सः**=वह तू **ग्राह्याः पाशान्**=जकड़ लेनेवाले गठिया आदि रोगों के फन्दों को **विचृत**=खोल डाल। प्रभु तुझे ग्राही के पाशों से मुक्त करें। **विश्वेदेवाः**=सूर्य-चन्द्र आदि सब देव **तुभ्यम् अनुजानन्तु**=तुझे अनुज्ञा देनेवाले हों। उनकी अनुज्ञा से तू ग्राही के फन्दों को परे फेंक डाल। सूर्य आदि देवों के सम्पर्क में जीवन बिताने पर ग्राही इत्यादि रोग हमें पीड़ित नहीं कर पाते।

भावार्थ—प्रभुकृपा से घर का बड़ा व्यक्ति ग्राही इत्यादि रोगों के फन्दे में पड़कर शरीर को छोड़नेवाला न हो। रोगों के मूल के नाश से यह सुरक्षित रहे। सूर्यादि देवों के सम्पर्क में

यह इन रोगों से आक्रान्त न हो (अन्य व्यक्ति भी रोगाक्रान्त न हों। सामान्यतः वृद्धावस्था में ये रोग आ घेरते हैं, अतः बड़ों के लिए प्रार्थना की गई है)।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'माता-पिता, पुत्र' सभी का स्वास्थ्य

उन्मुञ्च पाशांस्त्वमग्न एषां त्रयस्त्रिभिरुत्सिता येभिरासन्।
स ग्राह्याः पाशान्वि चृत प्रजानन्पितापुत्रौ मातरं मुञ्च सर्वान्॥ २॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **एषाम्**=इनके **पाशान्**=रोग के फन्दों को **उन्मुञ्च**=खोल दीजिए। **त्रयः**=तीनों—'माता-पिता, पुत्र' **येभिः त्रिभिः**=जिन तीन ग्राही पाशों से (gout, rheumatism, arthritis) **उत्सिताः**=बद्ध **आसन्**=हैं। प्रभु इन तीनों पाशों को खोलने का अनुग्रह करें। २. हे **प्रजानन्**=समझदार गृहस्थ! **सः**=वह तू **ग्राह्याः पाशान्**=ग्राही के पाशों को **विचृत**=खोल दे। उचित औषध-प्रयोग से व सूर्यादि देवों के सम्पर्क में रहने से तू इन पाशों में न जकड़ा जाए। तू **पितापुत्रौ**=पिता व पुत्र को तथा **मातरम्**=माता को—इन **सर्वान्**=सबको **मुञ्च**=इस ग्राही के फन्दे से छुड़ा।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से घर में माता-पिता व पुत्र सभी ग्राही आदि रोगों के पाशों से मुक्त हों, तभी घर स्वर्ग बनता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

घर के दो महान् कष्ट

येभिः पाशैः परिवित्तो विबद्धोऽङ्गेअङ्ग आर्पित उत्सितश्च।
वि ते मुच्यन्तां विमुचो हि सन्ति भ्रूणघ्नि पूषन्दुरितानि मृक्ष्व॥ ३॥

१. **परिवित्तः**=विवाहित छोटे भाई का अविवाहित बड़ा भाई **येभिः पाशैः**=जिन ग्राही आदि रोगों के फन्दों से **विबद्धः**=बँधा हुआ, **अङ्गे-अङ्गे अर्पितः**=(आर्पयितृ=one who injures or hurts) अङ्ग-अङ्ग में पीड़ित है, **च**=और **उत्सितः**=प्रबलरूप से जकड़ा हुआ है, **ते**=वे सब पाश **विमुच्यन्ताम्**=छूट जाएँ। **विमुचः**=इन पाशों से छुड़ानेवाली कितनी ही औषध **हि**=निश्चय से **सन्ति**=हैं। बड़े का स्वस्थ होना परिवार के हित के दृष्टिकोण से नितान्त आवश्यक है। २. हे **पूषन्**=पोषक प्रभो! **भ्रूणघ्नि**=जिनके सन्तान गर्भ में ही नष्ट हो जाते हैं, उस स्त्री में **दुरितानि मृक्ष्व**=दुर्गति के कारणभूत कष्टों को दूर कीजिए। पूषा प्रभु की कृपा से सन्तान का गर्भ में ठीक से पोषण हो और माता स्वस्थ सन्तान को जन्म देनेवाली हो।

भावार्थ—परिवार में आनेवाले दो बड़े भारी कष्ट हैं—एक, अविवाहित बड़े भाई का ग्राही आदि रोग से पीड़ित हो जाना। दूसरे, पुत्रवधू का गर्भ बीच में ही गिर जाना। प्रभु इन दोनों ही कष्टों को दूर करने का अनुग्रह करें।

११३. [त्र्योदशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

त्रित में पाप का शोधन

त्रिते देवा अमृजतैतदेनस्त्रित एनन्मनुष्येषु ममृजे।
ततो यदि त्वा ग्राहिरानशे तां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु॥ १॥

१. **त्रिते**=(त्रीन् लोकान् तनोति) त्रिलोकी का विस्तार करनेवाले प्रभु में—प्रभु की उपासना

में **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **एतत् एनः**=इस पाप को **अमृजत**=शुद्ध कर डालते हैं, प्रभु की उपासना से पाप को अपने से दूर कर देते हैं। **त्रितः**=त्रिलोकी का विस्तारक प्रभु **मनुष्येषु**=मनुष्यों में स्थित **एनत्**=इस पाप को **ममृजे**=दूर कर देता है—प्रभु पाप का सफ़ाया कर देते हैं। २. **ततः**=तब **यदि**=यदि **त्वा**=तुझे **ग्राही**=जकड़ लेनेवाला कोई रोग **आनशे**=व्याप्त कर लेता है तो **देवाः**=ज्ञानी पुरुष तथा सूर्य-चन्द्र आदि देव **ते ताम्**=तेरी उस व्याधि को **ब्रह्मणा नाशयन्तु**=ज्ञान के द्वारा नष्ट कर डालें।

भावार्थ—प्रभु उपासना में चलने से मनुष्य पापों से बचेगा, तब रोग भी इसे पीड़ित नहीं करेंगे। सहसा कोई रोग आ भी जाए तो ज्ञानी पुरुष ज्ञान के द्वारा उस रोग को नष्ट करने में यत्नशील हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पाप का विनाश

मरीचीर्धूमान्प्र विशानु पाप्मन्नुदारान्गच्छोत वा नीहारान्।
नदीनां फेनाँ अनु तान्वि नश्य भ्रूणघ्नि पूषन्दुरितानि मृक्ष्व॥ २ ॥

१. हे **पाप्मन्**=पाप! तू **मरीचीः**=सूर्य-किरणों में **अनुप्रविश**=प्रविष्ट हो—उन किरणों के सन्ताप से तू नष्ट हो जा, **धूमान्**=धुएँ में प्रविष्ट हो—धूम की भाँति कम्पित होकर दूर चला जा, **उदारान्**=(उत् ऋ गतौ) ऊपर गति करनेवाले उन मेघों में **गच्छ**=चला जा। **उत वा**=अथवा **नीहारान्**=कोहरों को प्राप्त हो, कोहरे में विलीन होकर तू अदृष्ट हो जा। २. **नदीनाम्**=नदियों के **तान्**=उन **फेनान् अनु**=फेनों (झागों) के पीछे **विनश्य**=तू नष्ट हो जा, अर्थात् हमसे तू दूर चला जा हमारा तुझसे किसी प्रकार का सम्बन्ध न रहे। ३. हे **पूषन्**=पोषक प्रभो! **भ्रूणघ्नि**=गर्भ में ही जिसके सन्तान विनष्ट हो जाते हैं, उस स्त्री में **दुरितानि मृक्ष्व**=दुर्गति के कारणभूत पापों को आप नष्ट कर डालिए। किन्हीं पापों से जनित शरीर-विकारों को दूर करके आप इसे उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाला बनाइए।

भावार्थ—पाप हमें छोड़कर कहीं दूर प्रदेश में चला जाए। स्त्री पाप-जनित दोष से रहित होकर उत्तम सन्तान को जन्म दे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

मनुष्यैनसानि

द्वादशधा निहितं त्रितस्यापमृष्टं मनुष्यैनसानि।
ततो यदि त्वा ग्राहिरानशे तां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु॥ ३ ॥

१. **मनुष्यैनसानि**=मनुष्यों में आजानेवाले पाप **द्वादशधा**=बारह प्रकार के—पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों तथा मन और बुद्धि में **निहितम्**=स्थापित हुए हैं। हम इन्द्रियों, मन व बुद्धि से ही पाप कर बैठते हैं—**'इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते'**। ये सब पाप **त्रितस्य**='ज्ञान, कर्म व उपासना' का विस्तार करने से **अपमृष्टम्**=धुल जाते हैं। (त्रीन् तनोति) 'काम, क्रोध व लोभ'—इन तीनों को तैर जानेवालों के ये पाप नष्ट हो जाते हैं (त्रीन् तरति)। २. हे मनुष्य! **यदि**=यदि तुझमें **ग्राहिः**=गठिया आदि रोग **आनशे**=व्याप्त होते हैं तो **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **ते**=तेरे **ताम्**=उस ग्राहीरूप रोग को **ब्रह्मणा नाशयन्तु**=ज्ञान के द्वारा नष्ट कर डालें। ज्ञान से पापों का परिमार्जन (सफ़ाया) होता है और तब पापमूलक सब रोग भी विनिष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—हम ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों तथा मन व बुद्धि से हो जानेवाले पापों को 'ज्ञान, कर्म

व उपासना' में लगकर नष्ट करनेवाले हों। ज्ञान के द्वारा ग्राही आदि रोग दूर हो जाएँ।

विशेष—पूर्ण नीरोग, निष्पाप व ज्ञानी बनकर यह 'ब्रह्मा' बनता है। अगले दो सूक्तों का ऋषि यह 'ब्रह्मा' ही है।

११४. [चतुर्दशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ऋतस्य ऋतेन

यद्देवा देवहेडनं देवासश्चकृमा वयम्। आदित्यास्तस्मान्नो यूयमृतस्यर्तेन मुञ्चत ॥ १ ॥

१. हे **देवाः**=माता, पिता, आचार्य आदि देवो! **यत् देवहेडनम्**=देवों के निरादररूप जिस पाप को **देवासः**=(देवासः देवनशीला इन्द्रियपरवशाः सन्तः—सा०) व्यर्थ की क्रीड़ा में फँसे हुए इन्द्रियों के परवश **वयम्**=हम लोग **चकृम**=कर बैठते हैं। इन्द्रिय परवशता में पाप हो ही जाता है, उस समय देवों के प्रति अपने कर्त्तव्यों को हम नहीं कर पाते। २. हे **आदित्याः**=अदिति के पुत्रो! स्वस्थ ज्ञानी पुरुषो! **यूयम्**=आप **तस्मात्**=उस पाप से **ऋतस्य ऋतेन**=यज्ञ-सम्बन्धी सत्य के द्वारा (ऋतम्=यज्ञ, सत्य) **न मुञ्चत**=हमें छुड़ाओ। हम यज्ञ-सम्बन्धी सत्य कर्मों को करते हुए 'देवहेडन' की वृत्ति से मुक्त हों।

भावार्थ—इन्द्रिय परवशता से मनुष्य पाप कर बैठता है। स्वस्थ ज्ञानी पुरुष यज्ञ-सम्बन्धी सत्य-कर्मों में प्रवृत्त करके मनुष्यों को उस पाप से मुक्त करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यज्ञवाहसः

ऋतस्यर्तेनादित्या यजत्रा मुञ्चतेह नः। यज्ञं यद्यज्ञवाहसः शिक्षन्तो नोपशेकिम ॥ २ ॥

१. हे **यजत्राः**=संगतिकरण योग्य व आदरणीय **आदित्याः**=पूर्ण स्वस्थ, ज्ञानी पुरुषो! आप **इह**=इस जीवन में **नः**=हमें **ऋतस्य ऋतेन**=यज्ञ-सम्बन्धी सत्यकर्मों के द्वारा **मुञ्चत**=पाप से मुक्त करो। आपकी संगति व प्रेरणा से हम भी यज्ञशील बनते हुए पापों से मुक्त रहें। २. हे **यज्ञवाहसः**=यज्ञों को वहन करनेवाले देवो! हम **यज्ञम्**=यज्ञ **शिक्षन्तः**=करना चाहते हुए भी **यत्**=जिस पाप के कारण से **न उपशेकिम**=करने में समर्थ नहीं होते, उस पाप से हमें छुड़ाइए। आपकी प्रेरणा व उदाहरण से हम यज्ञों में प्रवृत्त होते हुए अशुभवृत्तियों से बचे रहें।

भावार्थ—आदित्य विद्वान् हमें यज्ञ-सम्बन्धी सत्य-कर्मों के द्वारा पाप से छुड़ाएँ। इस पाप के कारण ही हम चाहते हुए भी यज्ञ नहीं कर पाते।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मेदस्वता स्रुचा

मेदस्वता यजमानाः स्रुचाज्यानि जुह्वतः।
अकामा विश्वे वो देवाः शिक्षन्तो नोप शेकिम ॥ ३ ॥

१. प्रतिदिन काम में आनेवाला चम्मच चिकनाईवाला हो जाता है। इस चम्मच को यहाँ 'मेदस्वान्'—मेदसवाला कहा है। **मेदस्वता**=इस चिकनाईवाले **स्रुचा**=चम्मच में **आज्यानि**=घृतों को **जुह्वतः**=करते हुए **यजमानाः**=यज्ञशील, **अकामाः**=लौकिक फलों की कामना न करनेवाले—कर्तव्य-बुद्धि से यज्ञों को करनेवाले हे **विश्वेदेवाः**=देववृत्ति के सब मनुष्यो! हम भी **वः**=आपके हैं। हमें भी तो आपने अपनी ही भाँति यज्ञशील बनाना था। हम **शिक्षन्तः**=यज्ञ करना चाहते हुए भी, न जाने किस अशुभ प्रभाव से न **उपशेकिम**=यज्ञों को करने में समर्थ नहीं

हो पाते। आप उस वृत्ति से हमें बचाइए और यज्ञ में प्रवृत्त कीजिए।

भावार्थ—देववृत्तिवाले पुरुषों की भाँति हम भी यज्ञशील बनें। सदा यज्ञ करने से हमारे चम्मच घृत की चिकनाईवाले हो जाएँ।

११५. [पञ्चदशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

जाने व अनजाने हो जानेवाले पाप

यद्विद्वांसो यदविद्वांस एनांसि चकृमा वयम्।
यूयं नस्तस्मान्मुञ्चत विश्वेदेवाः सजोषसः ॥ १ ॥

१. **यत्**=जिस पाप-निमित्त को **विद्वांसः**=जानते हुए और **यत्**=जिस पापनिमित्त को **अविद्वांसः**=न जानते हुए, अर्थात् ज्ञान से वा अज्ञान से **वयम्**=हम **एनांसि**=जिन भी पापों को **चकृम**=कर बैठते हैं, हे **विश्वेदेवाः**=देववृत्ति के सब पुरुषो! **यूयम्**=आप **सजोषसः**=समानरूप से प्रीतिवाले होते हुए **नः**=हमें **तस्मात् मुञ्चत**=उस पाप से छुड़ाइए।

भावार्थ—देवों से उचित प्रेरणा प्राप्त करते हुए हम अशुभ कर्मों से बचें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

एनस्यः

यदि जाग्रद्यदि स्वपन्नेन एनस्योऽकरम्। भूतं मा तस्माद्भव्यं च द्रुपदादिव मुञ्चताम् ॥ २ ॥

१. (एनः पापं प्रियम् अस्य, एनसि साधुर्वा) **एनस्यः**=अज्ञानवश पाप की प्रवृत्तिवाला मैं **यदि जाग्रत्**=यदि जागता हुआ, **यदि स्वपन्**=यदि सोता हुआ **एनः अकरम्**=पाप कर बैठता हूँ तो **तस्मात्**=उस पाप से **मा**=मुझे **भूतं भव्यं च**=इहलोक और परलोक (अयं वै लोको भूतं, असौ भविष्यत्—तै० ब्रा० ३.८.१८.६) इसप्रकार **मुञ्चताम्**=छुड़ाएँ **इव**=जैसे **द्रुपदात्**=पादबन्धनार्थ द्रुम से किसी पशु को छुड़ाते हैं। २. इहलोक व परलोक में प्राप्त होनेवाले पाप के अशुभ परिणाम को सोचता हुआ मैं पाप से मुक्त होने का प्रयत्न करूँ।

भावार्थ—पापवृत्ति के उत्पन्न हो जाने पर सोते-जागते पाप होने लगते हैं। मैं इन पापों के इहलोक और परलोक में होनेवाले अशुभ परिणामों को सोचूँ और पापवृत्ति से बचूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

द्रुपदादिव मुमुचानः

द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नात्वा मलादिव। पूतं पवित्रेणेवाज्यं विश्वे शुम्भन्तु मैनसः ॥ ३ ॥

१. **विश्वे**=सब देव **मा**=मुझे **एनसः**=पाप से इसप्रकार **शुम्भन्तु**=शुद्ध करें **इव**=जैसेकि कोई **द्रुपदात्**=काष्ठमय पादबन्धन से **मुमुचानः**=छूटता है। मैं पाप से इसीप्रकार छूट जाऊँ **इव**=जैसे **स्विन्नः**=स्वेदयुक्त पुरुष **स्नात्वा**=स्नान करके **मलात्**=मल से पृथक् हो जाता है। **इव**=जैसे **पवित्रेण**=पवन-साधन वस्त्र आदि से **पूतम्**=शुद्ध किया हुआ **आज्यम्**=घृत शुद्ध हो जाता है; इसीप्रकार सब देव मुझे पाप से मुक्त करें।

भावार्थ—हम पाप से इसप्रकार छूट जाएँ जैसेकि एक पशु खूँटे से, जैसेकि स्विन्न पुरुष स्नान द्वारा स्वेदमल से तथा जैसे छाना हुआ घृत मल से पृथक् हो जाता है।

विशेष—पापों का संहार करनेवाला यह पुरुष 'जाटिकायन' (जट संघाते) कहलाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

११६. [षोडशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—जाटिकायनः ॥ देवता—विवस्वान् ॥ छन्दः—जगती ॥

'यज्ञिय मधुमत्' अन्न

यद्यामं चक्रुर्निखनन्तो अग्रे कार्षीवणा अन्नविदो न विद्यया।
वैवस्वते राजनि तज्जुहोम्यथ यज्ञियं मधुमदस्तु नोऽन्नम्॥ १॥

१. **कार्षीवणाः**=कृषिकर्म का सेवन करनेवाले **अन्नविदः न**=अन्न प्राप्त करानेवालों के समान **विद्यया**=कृषिविद्या के अनुसार **निखनन्तः**=भूमि को खोदते हुए, अर्थात् हल आदि चलाकर भूमि में बीजों को बोते हुए **अग्रे**=सर्वप्रथम **यत् यामं चक्रुः**=जिस नियम को कर देते हैं, **तत्**=उस नियमित अंश को निर्धारित कर के रूप में दिये जानेवाले भाग को **वैवस्वते राजनि**=प्रजा में ज्ञान का प्रकाश फैलानेवाले राजा में **जुहोमि**=आहुत करता हूँ। २. **अथ**=अब—कर के रूप में निधारित अंश को दे देने पर **नः**=हमारे लिए **अन्नम्**=यह अन्न **यज्ञियम्**=संगतिकरण योग्य व पवित्र तथा **मधुमत्**=प्रशस्त माधुर्यवाला **अस्तु**=हो।

भावार्थ—हम ज्ञानपूर्वक कृषिकार्य करते हुए राष्ट्र में अन्न की कमी न होने दें। राजा को कर के रूप में उचित अन्नभाग प्राप्त कराके अविशिष्ट यज्ञिय, मधुमत् अन्न का सेवन करें।

ऋषिः—जाटिकायनः ॥ देवता—विवस्वान् ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

पितृयज्ञावशिष्ट अन्न का सेवन

वैवस्वतः कृणवद्भागधेयं मधुभागो मधुना सं सृजाति।
मातुर्यदेन इषितं न आगन्यद्वा पितापराद्धो जिहीडे॥ २॥

१. हमारे द्वारा उत्पन्न किये गये अन्न में **वैवस्वतः**=ज्ञान-किरणों को फैलानेवाला राजा **भागधेयम्**=भाग को **कृणवत्**=करे, अर्थात् राजा अपने कर-भाग को ग्रहण करे। राजा तो ग्रहण करे ही, राजा के अतिरिक्त हम अपने मान्य व आश्रित व्यक्तियों के लिए भी अन्न-भाग देनेवाले हों। विशेषकर माता-पिता को अन्न-भाग देकर ही बचे हुए को खाएँ। यही पितृयज्ञ कहलाता है। इस पितृयज्ञ को करनेवाला व्यक्ति गतमन्त्र के अनुसार (यज्ञियं मधुमदस्तु नोऽन्नम्) माधुर्योपेत अन्न का सेवन करता है। यह **मधुभागः**=माधुर्योपेत अन्न का सेवन करनेवाला अपने जीवन को **मधुना संसृजाति**=माधुर्य से संसृष्ट कर लेता है। २. इसके विपरीत, अर्थात् पितृयज्ञ के न करने पर **मातुः यत् एनः**=माता के विषय में किया गया जो पाप है, वह **इषितम्**=प्रेरित हुआ हुआ **नः आगन्**=हमें प्राप्त होता है **वा**=अथवा **यत्**=जब यह **पिता अपराद्धः**=पिता हमसे अनादृत होता है—हम पिता को आदरपूर्वक भोजन नहीं कराते तब वह **जिहीडे**=हमारे प्रति क्रोधवाला होता है। हमें माता-पिता के क्रोध का भाजन बनना पड़ता है, इनका अभिशाप हमें लगता है।

भावार्थ—हम राजा के लिए तो उत्पन्न अन्न का भाग दें ही तथा सदा माता-पिता को खिलाकर ही पितृयज्ञ से अवशिष्ट अन्न का ही सेवन करें।

ऋषिः—जाटिकायनः ॥ देवता—विवस्वान् ॥ छन्दः—जगती ॥

अतिथियज्ञावशिष्ट अन्न का सेवन

यदीदं मातुर्यदि वा पितुर्नः परि भ्रातुः पुत्राच्चेतस एन आगन्।
यावन्तो अस्मान्पितरः सचन्ते तेषां सर्वेषां शिवो अस्तु मन्युः॥ ३॥

१. **यदि**=यदि **इदम्**=यह **मातुः**=माता से **यदि वा**=अथवा यदि **पितुः**=पिता से **नः**=हमें

एनः आगन्=पाप प्राप्त हुआ है, अर्थात् उनका उचित आदर न करने से हमें दोष लगा है। **भ्रातुः**=भ्राता से **परि**=अन्य परिजनों से **पुत्रात्**=पुत्र से तथा **चेतसः**=ज्ञान देनेवाले आचार्य से (चेतयति) हमें पाप प्राप्त हुआ है, अर्थात् इन्हें अन्नभाग न देने से जो दोष हमें लगा है, वह सब अन्न का भाग करनेवाले हमसे दूर हो। २. **यावन्तः**=जितने भी **पितरः**=पालक लोग—हमारे बड़े **अस्मान्**=हमें **सचन्ते**=प्राप्त होते हैं, **तेषां सर्वेषाम्**=उन सबका **मन्युः**=क्रोध **शिवः अस्तु**=शान्त हो (शो तनूकरणे)। हम उनका अन्न आदि द्वारा उचित आदर करें और कभी भी उनके क्रोध के पात्र न हों।

भावार्थ—हम माता-पिता, भाई, पुत्र व आचार्य आदि को खिलाकर बचे हुए को ही खाएँ। अतिथियज्ञ को भी महत्त्व दें। यह यज्ञशेष सेवन हमारे लिए अमृत-सेवन होगा।

विशेष—यज्ञशेष-अमृत का सेवन करनेवाला यह व्यक्ति सब बुराइयों को समाप्त करके 'कौशिक' बनता है (कु+शो तनूकरणे—बुराई को क्षीण करनेवाला)। यही अगले पाँच सूक्तों का ऋषि है।

११७. [सप्तदशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**कौशिकः (अनृणकामः)**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'ऋण' उतारना व 'कर' देना

अपमित्यमप्रतीत्तं यदस्मि यमस्य येन बलिना चरामि।
इदं तदग्ने अनृणो भवामि त्वं पाशान्विचृतं वेत्थ सर्वान्॥ १॥

१. **अपमित्यम्**=(अपमातव्यं, अपाकर्त्तव्यम्) अपाकर्त्तव्य—फिर लौटाने योग्य जो धनादि ऋणरूप में उत्तमर्ण से लिया है, परन्तु **अप्रतीत्तम्**=फिर उसे लौटाया नहीं है, ऐसा **यत्**=जो ऋण मैं **अस्मि**=(असामि-अस-ग्रहणे) ग्रहण करता हूँ और **यमस्य**=उस नियामक राजा के **येन बलिना**=(भागधेयः करो बलिः) जिस देय कर से **चरामि**=स्वयं अपना भोजन करता हूँ—कर न देकर खा लेता हूँ, हे **अग्ने**=प्रभो! मैं आपके अनुग्रह से **इदम्**=अब **अनृणः**=उस ऋण से ऋणरहित **भवामि**=होता हूँ। २. हे प्रभो! **त्वम्**=आप उन **सर्वान्**=सब **पाशान्**=ऋण के कारण होनेवाले पाशों को—बन्धनों को **विचृतम्**=काटना **वेत्थ**=जानते हो। आप मुझे ऋण से अनृण होने की प्रेरणा व क्षमता देते हुए ऋणरहित करते हो।

भावार्थ—हम उत्तमर्ण से लिये गये ऋण को चुकाने का पूरा ध्यान रक्खें तथा राजा के लिए देय कर अवश्य दें।

ऋषिः—**कौशिकः (अनृणकामः)**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

जीवनकाल में ही ऋण चुकाना

इहैव सन्तः प्रति दद्म एनज्जीवा जीवेभ्यो नि हराम एनत्।
अपमित्य धान्यं यज्जघासाहमिदं तदग्ने अनृणो भवामि॥ २॥

१. **इह एव सन्तः**=इस लोक में होते हुए ही हम **एनत् प्रति दद्मः**=इस ऋण को उत्तमर्ण के लिए प्रत्यर्पित कर देते हैं। **जीवाः**=जीते हुए ही हम—अपने जीवनकाल में ही **जीवेभ्यः**=जीवित उत्तमर्णों के लिए देह त्यागने से पहले ही **एनत् निहरामः**=इस ऋण को नियम से चुका देते हैं। २. **धान्यम्**=व्रीहि, यवादि को उत्तमर्ण से **अपमित्य**=उधार लेकर **यत् अहं जघास**=जो मैंने खाया है, हे **अग्ने**=परमात्मन्! **इदम्**=अब (इदानीन् तत्=तस्मात्) उस परकीय धान्य-भक्षण से **अनृणः**=ऋणरहित **भवामि**=होता हूँ। ऋण चुकाने के कारण नरकपात से मैं बच जाता हूँ।

भावार्थ—हम लिये हुए ऋण को जीवनकाल में ही चुकाने का प्रयत्न करें। ऋण न चुकाना नरक-पात का कारण बनता है।

ऋषिः—**कौशिकः (अनृणकामः)**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

तीनों लोकों में अनृण

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन्तृतीये लोके अनृणाः स्याम।
ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान्पथो अनृणा आ क्षियेम॥ ३॥

१. हम **अस्मिन्**=इस ब्रह्मचर्याश्रम में—ब्रह्मचर्यपूर्वक स्वाध्याय में तत्पर होते हुए **अनृणाः**=ऋषिऋण से अनृण हों। इसके पश्चात् अगले **परस्मिन्**=उत्कृष्ट गृहस्थाश्रम में सन्तानों का उत्तमता से पालन करते हुए **अनृणाः**=पितृऋण से अनृण होने के लिए यत्नशील हों, फिर **तृतीये लोके**=वानप्रस्थरूप तृतीय स्थान में भी **अनृणाः स्याम**=यज्ञादि उत्तम कर्म करते हुए देवऋण से मुक्त हों। २. **ये देवयानाः**=जो देवों के मार्ग हैं **च**=और जो **पितृयाणाः लोकाः**=पितृयाण लोक हैं—जिन मार्गों से रक्षणात्मक कर्मों में प्रवृत्त लोग चलते हैं, उन **सर्वान्**=सब **पथः**=मार्गों को **अनृणाः आक्षियेम**=हम ऋणरहित होकर ही आक्रान्त करें।

भावार्थ—हम सर्वप्रथम ब्रह्मचर्याश्रम में ऋषिऋण से अनृण होने के लिए यत्नशील हों। गृहस्थ में सन्तान-पालन द्वारा पितृऋण को चुकाएँ और वानप्रस्थ में यज्ञों के द्वारा देवऋण को उतार दें। अब अनृण होकर 'देवयान व पितृयाण' मार्गों का आक्रमण करें।

११८. [अष्टादशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**कौशिकः (अनृणकामः)**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'उग्रंपश्ये उग्रजितौ' अप्सरसौ

यद्धस्ताभ्यां चकृम किल्बिषाण्यक्षाणां गत्नुमुपलिप्समानाः।
उग्रंपश्ये उग्रजितौ तदद्याप्सरसावनु दत्तामृणं नः॥ १॥

१. **यत्**=जो **हस्ताभ्याम्**=(इन्द्रियाणामुपलक्षणमेतत्) हाथ-पाँव आदि इन्द्रियों से **किल्बिषाणि**=पाप **चकृम**=हम कर बैठते हैं, **अक्षाणाम्**=इन्द्रियों के **गत्नुम्**=गन्तव्य शब्द-स्पर्शादि विषयों को **उपलिप्समानाः**=प्राप्त करने की इच्छा करते हुए जो ऋण आदि ले-बैठे हैं, हे **उग्रंपश्ये**=(High, noble) उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त करानेवाली ज्ञानेन्द्रियो! तथा **उग्रजितौ**=उत्कृष्ट कर्मों का विजय करानेवाली कर्मेन्द्रियो! **अप्सरसौ**=अपने-अपने कार्यों में विचरती हुई आप दोनों **अद्य**=अब **नः**=हमारे **तत्**=उपर्युक्त पाप को व **ऋणम्**=ऋण को **अनुदत्ताम्**=आनुकूल्य से उत्तमर्णों के लिए दिला दो।

भावार्थ—विषयों की ओर आकृष्ट हुई इन्द्रियों से हम पाप कर बैठते हैं, तभी हम ऋण आदि के बोझ से भी दब जाते हैं। प्रभुकृपा से हमारी ज्ञान व कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यों में उचितरूप से वर्तती हुई हमें इस योग्य बनाएँ कि हम लिये हुए ऋण को उत्तमर्णों को लौटाकर शुभ मनवाले ही बनें।

ऋषिः—**कौशिकः**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अस्मान् अधिरज्जुः न आयत्

उग्रंपश्ये राष्ट्रभृत्किल्बिषाणि यदक्षवृत्तमनु दत्तं न एतत्।
ऋणान्नो नर्णमेर्त्समानो यमस्य लोके अधिरज्जुरायत्॥ २॥

१. हे **उग्रंपश्ये**=उत्कृष्ट ज्ञान को प्राप्त करानेवाली ज्ञानेन्द्रियो! हे **राष्ट्रभृत्**=इस शरीर-राष्ट्र का भरण करनेवाली कर्मेन्द्रियो! जो हमारे द्वारा किये गये **किल्बिषाणि**=पाप हैं, **यत्**=और जो **अक्षवृत्तम्**=इन्द्रियों से पाप निष्पन्न हो गया है, **नः**=हमारे **एतत्**=इस ऋण ले-लेने आदि सब पापों को **अनुदत्तम्**=आनुकूल्येण निवारित करो। ऋणादि को लौटाकर आगे से हम इस मार्ग पर न जाने का निश्चय करें। २. **ऋणात्**=(भावप्रधानो निर्देशः—ऋणित्वात्) ऋणी होने के कारण **नः**=हमें **यमस्य लोके**=पुण्य-पापानुसार दण्ड देनेवाले सर्वनियन्ता प्रभु के इस लोक में **ऋणम् एर्त्समानः**=ऋण को सदा बढ़ाने की इच्छा करता हुआ यह उत्तमर्ण (ऋध+सन्) **अधिरज्जुः**=हमारे बन्धन के लिए पाशहस्त होकर न **आयत्**=प्राप्त न हो। हम इसके ऋण को न बढ़ने दें और पिछले ऋण को लौटाकर पाप-निवृत्त हो जाएँ।

भावार्थ—इन्द्रियों के विषय-प्रवण होने पर मनुष्य ऋण आदि लेने को बाध्य होता है। उन्हें न चुकाने पर बन्धन में पड़ता है। प्रभुकृपा से हम इस मार्ग से दूर रहें।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अनिरादर

यस्मा॑ ऋ॒णं यस्य॑ जा॒याम॒पैमि॒ यं याच॑मानो अ॒भ्यैमि॑ देवाः।
ते वाचं॑ वादिषु॒र्मोत्त॑रां॒ मद्दे॑वपत्नी अप्स॑रसा॒वधी॑तम्॥ ३॥

१. **यस्मै**=जिस उत्तमर्ण के लिए **ऋणम्**=मैं ऋण धारण करता हूँ, **यस्य जायाम् उपैमि**=जिसकी पत्नी को अनुनय-विनय के लिए मैं प्राप्त होता हूँ—ऋण के लिए खुशामद-सी करता हूँ। अथवा **यम्**=जिस उत्तमर्ण को **याचमानः**=इष्ट धन के लिए प्रार्थना करता हुआ हे **देवाः**=देवो! **अभि आ एमि**=मैं सम्मुख प्राप्त होता हूँ, **ते**=वे **उत्तरां वाचम् मा वादिषुः**=उलटी—प्रतिकूल वाणी को न बोलें। मैं कभी विषयासक्त होकर ऋण लौटाने में असमर्थ होकर उत्तमर्णों के द्वारा किये जानेवाले निरादर का पात्र न होऊँ। २. हे **देवपत्नी**=आत्मा की पत्नीरूप ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप **अप्सरसौ**=अप्सराओ (कर्मों में व्याप्त होनेवाली इन्द्रियो)! आप **मत् अधीतम्**=मेरे इस उपर्युक्त विज्ञान को अच्छी प्रकार समझ लो—चित्त में धारण कर लो।

भावार्थ—विषयासक्ति हमें कभी ऋणपंक में न डुबा दे। हम ऋण लौटाने की अक्षमतावाले होकर कभी निरादर के पात्र न हो जाएँ।

११९. [एकोनविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**वैश्वानरोऽग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ऋण न लेना

यददी॑व्यन्नृ॒णम॒हं कृ॒णोम्यदा॑स्यन्नग्न उ॒त सं॑गृ॒णामि॑।
वै॒श्वा॒न॒रो नो॑ अधि॒पा वसि॑ष्ठ उ॒दिन्न॑याति सुकृ॒तस्य॑ लो॒कम्॥ १॥

१. **यत्**=जो **अदीव्यन्**=जीवकोपार्जन के लिए व्यवहार (कार्य) न करता हुआ **अहम्**=मैं **ऋणं कृणोमि**=अपने ऊपर ऋण कर लेता हूँ। काम न करने पर खाने के लिए ऋण तो लेना ही पड़ता है, परन्तु यह ठीक नहीं। चाहिए तो यही कि पुरुषार्थ से ही धनार्जन किया जाए, किन्तु ऋण लेकर हे **अग्ने**=परमात्मन्! **उत**=यदि मैं **अदास्यन्**=उसे न लौटाता हुआ **संगृणामि**=केवल लौटाने की प्रतिज्ञा ही करता रहता हूँ तो **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों को हित करनेवाला **अधिपा**=अधिष्ठातृरूपेण पालन करनेवाला **वसिष्ठः**=सबको बसानेवाला वह प्रभु **नः**=हमें **इत्**=निश्चय से **उत् नयाति**=इन अशुभवृत्तियों से बाहर (out) ले-चलता है और **सुकृतस्य लोकम्**=पुण्य के

प्रकाश को प्राप्त कराता है। २. 'पुरुषार्थ न करके ऋणी हो जाना' प्रथम पाप है और उस ऋण को न उतारना दूसरा। प्रभु हमें इन पापों से ऊपर उठाएँ। हमें पुण्य का प्रकाश प्राप्त हो।

भावार्थ—हम पुरुषार्थ से धनार्जन करते हुए अपने पोषण की व्यवस्था करें। कभी ऋण ले-भी लें तो उसे विश्वासपात्रतापूर्वक लौटानेवाले बनें। प्रभुकृपा से हम पुण्य के मार्ग का ही आक्रमण करें।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**वैश्वानरोऽग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ज्ञानरुचिता

वैश्वानराय प्रति वेदयामि यद्यृणं संगरो देवतासु।
स एतान्पाशान्विचृतं वेद सर्वानथ पक्वेन सह सं भवेम॥ २॥

१. **वैश्वानराय**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले प्रभु के चरणों में **प्रतिवेदयामि**=निवेदन करता हूँ कि **यदि ऋणम्**=यदि मैं अकर्मण्यतावश ऋण लेने के लिए बाधित होता हूँ तथा **देवतासु संगरः**=देवताओं के विषय में प्रतिज्ञा ही करता हूँ—उनके प्रति कर्त्तव्यों का ठीक से पालन नहीं करता तो **सः**=वह वैश्वानर प्रभु ही **एतान् सर्वान् पाशान्**=लौकिक व वैदिक ऋणरूप इन सब पाशों को **विचृतं वेद**=विश्लिष्ट करना जानते हैं—प्रभु ही मुझे इन पापों से मुक्त कर सकते हैं। २. प्रभुकृपा से **अथ**=अब लौकिक व वैदिक ऋण से अनृण होकर हम **पक्वेन सह**=जीवन को परिपक्व करनेवाले ज्ञान के साथ **संभवेम**=सदा निवास करें। हम अपने को व्यर्थ की विषय-वासनाओं में व भोगविलास के जीवन में न डलकर ज्ञान की रुचिवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु-चरणों में मनुष्य की प्रार्थना यही हो कि हम अपने को लौकिक व वैदिक कर्मों के बन्धन में न डाल बैठें। सदा ज्ञान की रुचिवाले होकर ऋणों को ठीक से चुकाते रहें।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**वैश्वानरोऽग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु-स्मरण व पाप-शोधन

वैश्वानरः पविता मा पुनातु यत्संगरमभिधावाम्याशाम्।
अनाजानन्मनसा याचमानो यत्तत्रैनो अप तत्सुवामि॥ ३॥

१. **पविता**=हमारे जीवनों को शुद्ध बनानेवाला **वैश्वानरः**=सबका हित करनेवाला प्रभु **मा पुनातु**=मुझे पवित्र जीवनवाला बनाए। **अनाजानन्**=हिताहित विभाग को न जानता हुआ अथवा कर्त्तव्याकर्त्तव्य को ठीक से न समझता हुआ **यत्**=जो मैं **संगरम् अभिधावामि**=ऋणापकरण-विषयक प्रतिज्ञा की ओर ही दौड़ता हूँ। 'उस दिन लौटा दूँगा', ऐसी प्रतिज्ञाएँ ही करता रहता हूँ, लौटाता नहीं। इसप्रकार **आशाम्**=(धावामि) मैं उन उत्तमर्णों की आशा पर पानी फेर देता हूँ (धाव् शुद्धौ), उनकी आशाओं का सफ़ाया ही कर डालता हूँ। मैं **मनसा**=मन से **याचमानः**=ऐहिक सुखों की ही याचना करता रहता हूँ। ऐहिक सुखों में फँसने के कारण ही तो ऋणी बनता हूँ और ऋणशोधन में समर्थ नहीं होता। २. हे प्रभो! आपसे शक्ति पाकर **तत्र**=उस वैषयिक सुखासक्ति में और ऋण का आदान करने में **यत्**=जो **एनः**=पाप है **तत्**=उस पाप को **अपसुवामि**=मैं अपने से दूर प्रेरित करता हूँ। हे प्रभो! मेरे इस पापमय जीवन को आपको ही शुद्ध करना है।

भावार्थ—'ऋण न चुकाकर यूँ ही प्रतिज्ञा करते रहना, उत्तमर्ण की आशा पर पानी फेर देना, ऐहिक सुखों में फँसे रहना' यह पाप का मार्ग है। प्रभु-प्रेरणा से मैं इस मार्ग में

न जाकर अपने जीवन को शुद्ध बनाऊँ।

१२०. [विंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**अन्तरिक्षादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

अग्निहोत्र व उत्तम जीवन

यदन्तरिक्षं पृथिवीमुत द्यां यन्मातरं पितरं वा जिहिंसिम।
अयं तस्माद्गार्हपत्यो नो अग्निरुदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम्॥ १॥

१. **यत्**=जो **अन्तरिक्षम्**=हृदयान्तरिक्ष को **पृथिवीम्**=शरीररूप पृथिवी को **उत**=और **द्याम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक को **जिहिंसिम**=हम हिंसित करते हैं। इन्हें ठीक न रखने के द्वारा इनका हिंसन करते हैं, **वा**=तथा **यत्**=जो **मातरं पितरम्**=अपने माता-पिता को हिंसित करते हैं—उनका उचित आदर व ध्यान नहीं करते, **अयं गार्हपत्यः अग्निः**=यह हमारे घरों का रक्षक यज्ञ-अग्नि **नः**=हमें **तस्मात्**=उस पाप से दूर करके **उत् इत्**=इस पाप से बाहर (out) करके निश्चय से **सुकृतस्य लोकं नयाति**=पुण्य के लोकों में प्राप्त कराता है।

भावार्थ—यह अग्निहोत्र वायुमण्डल की शुद्धि के द्वारा, रोगकृमियों के विनाश के द्वारा तथा सौमनस्य प्राप्त कराने के द्वारा हमारे शरीर, मन व मस्तिष्क को उत्तम बनाता है और हमें उत्तमवृत्ति का बनाकर माता-पिता का आदर करनेवाला बनाता है।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**अन्तरिक्षादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

माता-पिता का आदर

भूमिर्मातादितिर्नो जनित्रं भ्रातान्तरिक्षमभिशस्त्या नः।
द्यौर्नः पिता पित्र्याच्छं भवाति जामिमृत्वा माव पत्सि लोकात्॥ २॥

१. **भूमिः**=यह पृथिवी **माता**=हमारी माता है, **अदितिः**=अदीना देवमाता—कभी क्षीण न होनेवाली सूर्यादि देवों की उपादानभूत यह प्रकृति **नः जनित्रम्**=हमारे शरीर को जन्म देनेवाली है, **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्षलोक वृष्टि आदि के द्वारा भरण करने से **भ्राता**=भाई है। **द्यौः**=द्युलोक **नः पिताः**=हमारा पिता है। ये सब **अभिशस्त्या**=अभिशंसन से—मिथ्यापवादजनित पाप से **नः**=हमें बचाकर **शं भवाति**=शान्ति प्राप्त करानेवाले हों। २. हे प्रभो! **जामिम् ऋत्वा**=रिश्तेदारों को प्राप्त करके—उनके सम्पर्क में आकर मैं **पित्र्यात् लोकात् मा अवपत्सि**=पिता से प्राप्त होनेवाले प्रकाश से कभी पृथक् न होऊँ, अर्थात् किन्हीं भी बन्धुओं की बातों में आकर पिता की अवज्ञा करनेवाला न बन जाऊँ।

भावार्थ—त्रिलोकी हमें मिथ्यापवादजनित पापों से बचाकर शान्ति प्राप्त करानेवाली हो। हम बन्धुवर्ग की बातों में आकर माता-पिता की अवज्ञा करनेवाले न बन जाएँ।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**अन्तरिक्षादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

स्वर्ग-तुल्य गृह

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः।
अश्लोणा अङ्गैरह्रुताः स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान्॥ ३॥

१. **यत्र**=जिस गृह में **सुहार्दः**=शोभन हृदयोंवाले, **सुकृतः**=यज्ञादि उत्तम कर्मों को करनेवाले लोग **स्वायाः तन्वः**=अपने शरीर के **रोगम्**=पापमूलभूत ज्वरादि को **विहाय**=छोड़कर **मदन्ति**=दुख से असम्भिन्न सुख के अनुभव में आनन्दित होते हैं, वही तो स्वर्ग है। वह गृहस्थ स्वर्ग है जहाँ

लोगों के हृदय पवित्र हैं, जहाँ लोग यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगे हुए हैं और जहाँ उनके शरीरों में रोग नहीं है। २. हमें **अङ्गैः अश्लोणाः**=अङ्गों से अविकृत होते हुए—कुष्ठ आदि रोगों से रहित **अह्रुताः**=अकुटिल गतिवाले व सरल स्वभाववाले होते हुए **तत्र स्वर्गे**=वहाँ स्वर्ग-तुल्य घर में **पितरौ**=माता-पिता को **च**=और **पुत्रान्**=पुत्रों को **पश्येम**=देखें। माता-पिता का भी ध्यान करें, उनके भोजन आदि की व्यवस्था में गड़बड़ न हो और पुत्रों के शिक्षण-दीक्षण में त्रुटि न रह जाए।

भावार्थ—स्वर्ग-तुल्य गृह वह है जहाँ (क) सबके हृदय पवित्र हैं, (ख) सब यज्ञादि उत्तम कर्मों को करनेवाले हैं, (ग) सबके शरीर नीरोग हैं, (घ) अङ्ग अविकृत हैं, (ङ) स्वभाव सरल व अकुटिल हैं, (च) माता-पिता का आदर है और (छ) सन्तानों का शिक्षण-दीक्षण ठीक है।

१२१. [एकविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

बन्धन-मोक्ष

वि॒षा॒णा॒ पाशा॒न्वि ष्या॒ध्य॑स्मद्य उ॑त्त॒मा अ॑ध॒मा वा॑रु॒णा ये।
दुः॒ष्वप्न्यं॑ दुरि॒तं नि ष्वा॒स्मदथ॑ गच्छेम सुकृ॒तस्य॑ लो॒कम्॥ १ ॥

१. हे प्रभो! **वि-षाणा**=(सन् संभक्तौ) विशिष्ट सम्भजन (उपासन) के द्वारा **पाशान्**=विषयवासनाओं के बन्धनों को **अस्मत्**=हमसे **अधिविष्य**=पृथक् कीजिए **ये**=जो **उत्तमाः**=उत्कृष्ट 'ज्ञानसङ्ग व सुखसङ्ग' रूप सात्त्विक बन्धन हैं, **अधमाः**=जो निकृष्ट 'प्रमाद, आलस्य व निद्रा' रूप तामस् बन्धन हैं, तथा **ये**=जो **वारुणाः**=हमें उत्तम कर्मों से रोककर तृष्णासङ्ग के कारण अन्याय से अर्थसंग्रहों में प्रवृत्त करते हैं, उन राजस् बन्धनों से भी हमें मुक्त कीजिए। २. उपासना करते हुए हम जब बन्धनों से मुक्त हों तब **अस्मत्**=हमसे **दुःष्वप्न्यम्**=अशुभ स्वप्नों के कारणभूत **दुरितम्**=अशुभाचरणों को **निष्व**=पृथक् कीजिए (षू प्रेरणे)। **अथ**=अब-पाशविमोचन के पश्चात् **सुकृतस्य**=पुण्य के **लोकम्**=प्रकाश को **गच्छेम**=प्राप्त हों—सदा पुण्य कर्मों को करते हुए प्रकाशमय लोक में रहनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु की उपासना के द्वारा हम 'सात्त्विक, राजस् व तामस्' बन्धनों से ऊपर उठें, अशुभ स्वप्नों के कारणभूत दुराचरणों से दूर होकर पुण्य से प्राप्त प्रकाशमयलोक में निवास करें।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गार्हपत्य अग्नि द्वारा सुकृत के लोक में

यद्दा॒रुणि॑ ब॒ध्यसे॒ यच्च॒ रज्ज्वां॒ यद्भूम्यां॑ ब॒ध्यसे॒ यच्च॑ वा॒चा।
अ॒यं तस्मा॒द्गार्ह॑पत्यो नो अ॒ग्निरुदिन्न॑याति सुकृ॒तस्य॑ लो॒कम्॥ २ ॥

१. **यत्**=जो तू **दारुणि**=(ore) इन सोना-चाँदी आदि धातुओं में **बध्यसे**=बद्ध हो जाता है—सोने व चाँदी के मोह में फँस जाता है **च**=और **यत्**=जो **रज्ज्वाम्**=बालों के गुम्फनविशेषों में (a lock of braided hair) आसक्त हो जाता है। एक युवति नाना प्रकार से बालों का गुम्फन करती हुई अपने को सुन्दर बनाने में आसक्त हो जाती है। **यत् भूम्यां बध्यसे**=जो तू भूमि में बाँधा जाता है, अधिकाधिक भूमि के स्वामित्व के लिए लालायित हो जाता है, **च**=और **यत्**=जो **वाचा**=वाणी से तू बद्ध होता है—बोलने का व्यसन लग जाता है—मौन रहना कठिन हो जाता है, **अयम्**=यह **गार्हपत्यः अग्निः**=गृहों का रक्षण करनेवाली यज्ञिय अग्नि **तस्मात्**=उस सब

बन्धन से **नः**=हमें **इत्**=निश्चय से **उन्नयाति**=बाहर प्राप्त कराता है और **सुकृतस्य लोकम्**=हमें पुण्य के लोक में ले-चलता है।

भावार्थ—यज्ञिय वृत्ति होने पर हमारे 'सोने-चाँदी, बालों का सौन्दर्य, भूमि-संग्रह व बहुत बोलने' आदि के बन्धन विनष्ट हो जाते हैं।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विचृतौ नाम तारके

उद॑गातां भग॑वती वि॒चृतौ॑ नाम॒ तार॑के।
प्रेहामृत॑स्य यच्छतां॒ प्रैतु॑ बद्धक॒मोच॑नम्॥ ३॥

१. हमारे जीवनों में **भगवती**=उत्तम सौजन्य को प्राप्त करानेवाली **विचृतौ नाम**=पाप-बन्धन को विच्छिन्न करनेवाली **तारके**=पराविद्या व अपराविद्यारूप ताराएँ **उद्गाताम्**=उदित हों। ये तारे **इह**=इस जीवन में हमें **अमृतस्य प्रयच्छताम्**=अमृत प्रदान करें। अपराविद्या से हम अभ्युदय को प्राप्त करते हुए दरिद्रता व रोगादिरूप मृत्युओं से बचें तथा पराविद्या से हम निष्काम कर्म करते हुए जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठ पाएँ—निःश्रेयस को प्राप्त करनेवाले हों। हमें **बद्धकमोचनं प्र एतु**=कुत्सित बन्धनों से मोक्ष प्राप्त हो। हम विषय-वासनाओं के बन्धन से ऊपर उठें।

भावार्थ—हम पराविद्या व अपराविद्या के नक्षत्रों को अपने मस्तिष्क-गगन में उदित करते हुए बन्धनों से मुक्त हों और अमृतत्व को प्राप्त करें।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

बालक की भाँति निर्दोष

वि जि॑हीष्व लो॒कं कृ॑णु ब॒न्धान्मु॑ञ्चासि॒ बद्ध॑कम्।
योन्या॑इव॒ प्रच्यु॑तो॒ गर्भः॑ प॒थः सर्वाँ॒ अनु॑ क्षिय॥ ४॥

१. हे मनुष्य! तू **विजिहीष्व**=विशिष्टरूप से अपने कर्त्तव्यकर्मों में गतिवाला हो। **लोकं कृणु**=अपने जीवन को प्रकाशमय बना। **बद्धकम्**=कुत्सित विषयों में बद्ध इस मन को **बन्धात् मुञ्चासि**=तू बन्धन से मुक्त करता है। २. **योन्याः**=माता के गर्भाशय से **प्रच्युतः**=बाहर आये हुए **गर्भः इव**=गर्भस्थ बालक की भाँति **सर्वान् पथः**=सब मार्गों को **अनुक्षिय**=अनुकूलता से आक्रान्त कर। एक बालक की भाँति निर्दोषभाव (As innocent as a child) से मार्गों का आक्रमण कर।

भावार्थ—हम मन को विषयों से मुक्त करते हुए ज्ञान के प्रकाश में कर्त्तव्य-मार्गों पर चलें। उत्पन्न हुए-हुए बालक की भाँति हमारा जीवन निर्दोष हो।

विशेष—ज्ञानाग्नि में अपने को परिपक्व करनेवाला यह 'भृगु' बनता है। अगले दो सूक्त इसी के हैं।

१२२. [द्वाविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

नियम से अग्निहोत्र करना

ए॒तं भा॒गं परि॑ ददामि वि॒द्वान्विश्व॑कर्मन्प्रथम॒जा ऋ॒तस्य॑।
अ॒स्माभि॑र्द॒त्तं ज॒रसः॑ प॒रस्ता॒दच्छि॑न्नं॒ तन्तु॒मनु॒ सं त॑रेम॥ १॥

१. हे **विश्वकर्मन्**=ब्रह्माण्ड के निर्माता प्रभो! आप ही **ऋतस्य प्रथमजाः**=सत्य वेदवाणी का सृष्टि के आरम्भ में प्रादुर्भाव करनेवाले हैं। **विद्वान्**=इस बात को जानता हुआ मैं **एतं भागं परिददामि**=इस अपने अर्जित धन के अंश को हविरूप से वायु आदि देवों के लिए देता हूँ। ये यज्ञ वेद के 'जरामर्य सत्र' हैं। इनसे तो जीवन में कभी छुटकारा होता ही नहीं। २. इसप्रकार **अस्माभिः दत्तम्**=हमारे द्वारा तो यह भाग दिया ही गया है और हमने देवऋण से अनृण होने का प्रयत्न किया है। अब **जरसः परस्तात्**=(देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा। तथा देहान्तर्प्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति) जरा के पश्चात्—दीर्घजीवन प्राप्त करके देहान्तर प्राप्त होने पर भी **अच्छिन्नं तुन्तम् अनु**=अविच्छिन्न पुत्र-पौत्रादिलक्षण सन्तान-तन्तु में अनुप्रविष्ट होकर (तायते कुलम् अनेनेति तन्तुः) **सन्तरेम**=यज्ञों द्वारा देवऋण को तैरनेवाले बनें, अर्थात् हमारे वंश में यह यज्ञ की परिपाटी बनी ही रहे।

भावार्थ—हम आजीवन अग्निहोत्र को अपनाते हैं। मृत्यु होने पर भी सन्तानों में अनुप्रविष्ट होकर इस देवऋण से अनृण होने का प्रयत्न करते हैं, अर्थात् हमारे वंश में यह यज्ञ अविच्छन्नरूप में चलता ही है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

भूतयज्ञ

तुतं तन्तुमन्वेके तरन्ति येषां दुत्तं पित्र्यमायनेन।
अबन्ध्वेके ददतः प्रयच्छन्तो दातुं चेच्छिक्षान्त्स स्वर्ग एव॥ २॥

१. **येषाम्**=जिनका **पित्र्यम्**=पिता से प्राप्त धन **आयनेन**=(आ+अय गतौ) आगम—वेदशास्त्र के अनुसार यज्ञों में **दत्तम्**=दिया गया है, ऐसे **एके**=विलक्षण **पुरुषं ततं तन्तुम् अनु**=विस्तृत पुत्र-पौत्रादिलक्षण सन्तान-तन्तु में प्रविष्ट होकर **तरन्ति**=इन ऋणों से अनृण हो ही जाते हैं। पिता से प्राप्त धन को विलास में खर्च न करके जो वेदोपदिष्ट यज्ञादि में विनियुक्त करते हैं, वे सन्तानों में अनुप्रविष्ट होकर भी इन ऋणों से तरने का ध्यान रखते हैं। २. **एके**=कई अबन्धु=(अबन्धवे) अनाथों के लिए **ददतः**=देते हुए और **प्रयच्छन्तः**=खूब ही देनेवाले होते हैं और इसप्रकार **चेत्**=यदि वे **दातुं शिक्षान्**=देने के लिए समर्थ होने की इच्छा करते हैं, अर्थात् यदि उनकी इन अनाथों के पालने की वृत्ति बनी रहती है तो उनका **सः स्वर्गः एव**=वह भूतयज्ञ स्वर्ग ही है, अर्थात् इस भूतयज्ञ को करने से उनका जीवन स्वर्ग का जीवन बना रहा है—न व्यसन आते हैं, न रोग। वे जीवन में अमर (नीरोग बने रहते हैं)।

भावार्थ—हम पिता से प्राप्त धनों को यज्ञों में ही विनियुक्त करें। यदि उसे विलास में व्यय करेंगे तो सन्तानों की वृत्ति भी विलासी ही बनेगी और यज्ञ विच्छन्न हो जाएँगे। अनाथों के हित के लिए देते हुए और इस दान के लिए सदा सशक्त होने की इच्छा करते हुए हम स्वर्गोपम सुख को अनुभव करते हैं। ऐसे जीवन में न व्यसन होते हैं, न रोग। यही भूतयज्ञ है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अतिथियज्ञ व देवयज्ञ

अन्वारभेथामनुसंरभेथामेतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते।
यद्वां पुक्वं परिविष्टमग्नौ तस्य गुप्तये दम्पती सं श्रयेथाम्॥ ३॥

१. हे **दम्पती**=पति-पत्नी! आप दोनों **अनुआरभेथाम्**=वेद के आदेश के अनुसार इन यज्ञों का प्रारम्भ करो, **अनुसंरभेथाम्**=आरम्भ करके इन यज्ञों में लगे रहो। इन यज्ञों को आरम्भ करना,

आरम्भ किये हुए यज्ञों का परित्याग सर्वथा अनुचित है। **एतं लोकम्**=यज्ञादि से प्राप्य इस स्वर्गलोक को **श्रद्दधानाः सचन्ते**=श्रद्धावाले—आस्तिक बुद्धिवाले लोग ही सेवन करते हैं, अतः इन यज्ञों में तुम्हारी श्रद्धा बनी ही रहे। आप दोनों (दम्पती) भी श्रद्धावाले बनो और **यत् वां पक्वम्**=आपका जो अन्न अतिथियज्ञ के लिए परिपक्व होता है तथा जो **अग्नौ परिविष्टम्**=हविरूप में अग्नि में प्रक्षिप्त होता है **तस्य**=उस देवयज्ञ और अतिथियज्ञ के **गुप्तये**=रक्षण के लिए **संश्रयेथाम्**=मिलकर उत्तम कर्मों का सेवन करनेवाले बनो। इन अतिथि व देवयज्ञों को करते हुए आप संसार के विषयों में बद्ध होने से बचे रहोगे और अजर व अमर बनकर स्वर्गोपम जीवन को प्राप्त करोगे।

भावार्थ—घर में पति-पत्नी यज्ञों का प्रारम्भ करें। प्रारम्भ किये हुए यज्ञों का त्याग कभी न करें। अतिथि-यज्ञ व देवयज्ञ को सुरक्षित रखते हुए वे सुखी जीवनवाले हों।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

प्रभु-उपासना के साथ यज्ञमय जीवन

यज्ञं यन्तं मनसा बृहन्तमन्वारोहामि तपसा सयोनिः।
उपहूता अग्ने जरसः परस्तात्तृतीये नाके सधमादं मदेम॥ ४॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! मैं **मनसा**=मनन—विचार के साथ तथा **तपसा**=तप के साथ **सयोनिः**=समान स्थान में निवास करता हुआ **यन्तम्**=जीवन में निरन्तर चलते हुए **बृहन्तम्**=वृद्धि के कारणभूत **यज्ञम् अनु**=यज्ञ के अनुसार **आरोहामि**=ऊपरले और ऊपरले लोक में आरोहण करता हूँ—**पृष्ठात्पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहं, अन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्। दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्**=मननशील व तपस्वी बनकर मनुष्य यज्ञों में प्रवृत्त होता है और उत्कृष्ट गति को प्राप्त करता है। ये यज्ञ उसकी वृद्धि—उन्नति का कारण बनते हैं। २. हे परमात्मन्! इसप्रकार यज्ञशील बनकर हम **उपहूताः**=आपकी पुकार करते हुए (उपहूतम् अस्य अस्ति इति उपहूतः) आपकी उपासना करते हुए **जरसः परस्तात्**=बुढ़ापे की समाप्ति पर **तृतीये नाके**=प्रकृति व जीवन के क्षेत्र से ऊपर उठकर परमात्मरूप तृतीय मोक्षलोक में (न अकं दुःखम् अस्मिन् इति) **सधमादं मदेम**=आपके साथ आनन्द का अनुभव करें।

भावार्थ—प्रभु की उपासना के साथ यज्ञमय जीवन मोक्ष का साधक है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**विश्वकर्मा** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

कामधुक् यज्ञ

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक्सादयामि।
यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददातु तन्मे॥ ५॥

१. यज्ञों में ऋत्विजों का वरण करता हुआ यजमान कहता है कि **इमाः**=ये जल जिन्हें कि मैं आपके वरण के समय आपके हाथ धुलाता हुआ **ब्रह्मणां हस्तेषु**=इन चारों आर्षेय ब्राह्मण ऋत्विजों के हाथों में **पृथक्**=अलग-अलग **प्रसादयामि**=प्रक्षालन के हेतु स्थापित करता हूँ, **शुद्धाः**=शुद्ध हैं, **पूताः**=पवित्र हैं, अतएव **योषितः**=(युष्यन्ते, युष सेवायाम्) सेवनीय हैं, **यज्ञियाः**=यज्ञ के योग्य हैं—पवित्र कर्म में उपयोग के योग्य हैं। २. **अहम्**=मैं **यत्कामः**=जिस कामनावाला होता हुआ **वः**=आपके हाथों में **इदम्**=इस जल को **अभिषिञ्चामि**=अभिषिक्त करता हूँ और आपके द्वारा इस यज्ञ को पूर्ण करता हूँ, **सः**=वह **मरुत्वान् इन्द्रः**=प्रशस्त प्राणशक्ति को प्राप्त करानेवाला, सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु **तत् मे ददातु**=उस कामना का मुझे देनेवाला

हो—मेरी उस इच्छा को पूर्ण करे।

भावार्थ—पवित्र होकर हम जिस कामना से यज्ञ करते हैं, हमारी उस कामना को प्रभु पूर्ण करते ही हैं।

१२३. [त्रयोविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यज्ञरूप शेवधि

एतं सधस्थाः परि वो ददामि यं शेवधिमावहाज्जातवेदाः।
अन्वागन्ता यजमानः स्वस्ति तं स्म जानीत परमे व्यो॑मन्॥ १॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **सधस्थाः**=यज्ञवेदि पर मिलकर बैठनेवाले यज्ञशील लोगो! **एतम्**=इस यज्ञ को **वः परिददामि**=तुम्हें देता हूँ। उस यज्ञ को तुम्हारे लिए देता हूँ **तम्**=जिस यज्ञरूप **शेवधिम्**=कोश को **जातवेदाः**=यह यज्ञाग्नि (जातं वेदः—धनं यस्मात्) **आवहात्**=तुम्हारे लिए प्राप्त कराता है। यज्ञ एक कोश है, क्योंकि इसी से पर्जन्यों की उत्पत्ति होकर विविध अन्नों का उत्पादन होगा। २. यह **यजमानः**=यज्ञशील पुरुष **स्वस्ति अनु आगन्ता**=क्रमशः अधिकाधिक कल्याण को प्राप्त होगा। हे यज्ञशील पुरुषो! तुम **तम्**=उस मुझे (परमात्मा को) **परमे व्योमन् जानीत स्म**=इस परम आकाश में सर्वत्र व्याप्त जानो।

भावार्थ—यज्ञ एक शेवधि—कोश है। यज्ञशील पुरुष उत्तरोत्तर कल्याण को प्राप्त होता है। यह प्रभु को जाननेवाला बनता है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यज्ञों से कल्याण व प्रभु-प्राप्ति

जानीत स्मैनं परमे व्यो॑मन्देवाः सधस्था विद लोकमत्र।
अन्वागन्ता यजमानः स्वस्ती॑ष्टापूर्तं स्म कृणुताविरस्मै॥ २॥

१. हे **देवाः**=देववृत्ति के पुरुषो! **सधस्थाः**=यज्ञवेदि पर मिलकर बैठनेवाले आप **एनम्**=इस प्रभु को **परमे व्योमन् जानीत स्म**=परम आकाश में सर्वत्र व्याप्त जानो, और **अत्र**=इस जीवन में भी **लोकं विद**=उत्तम प्रकाशमय जीवन को प्राप्त करो (जानो)। २. यह निश्चय से समझ लो कि **यजमानः स्वस्ति अनु आगन्ता**=यह यज्ञशील पुरुष अधिक-से-अधिक सुख को प्राप्त करेगा, अतः तुम **अस्मै**=इस कल्याण व प्रभु-प्राप्ति के लिए **इष्टापूर्तम्**=यज्ञों व कूप-निर्माण आदि लोकहित के कार्यों को **आविः कृणुत**=अपने जीवन में प्रादुर्भूत करो। ये पवित्र कर्म ही तुम्हारा कल्याण करेंगे—ये प्रभु-प्राप्ति का साधन बनेंगे।

भावार्थ—यज्ञों व लोकहित के कार्यों के द्वारा हम स्वर्ग को प्राप्त करें और प्रभु को भी जानें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**३ द्विपदासाम्न्यनुष्टुप्, ४ द्विपदाप्राजापत्या भुरिगनुष्टुप् (एकावसाना)** ॥

देवाः पितरः पितरो देवाः। यो अस्मि सो अस्मि॥ ३॥
स पचामि स ददामि स यजे स दत्तान्मा यूषम्॥ ४॥

१. **देवाः**=दिव्यवृत्तिवाले पुरुष **पितरः**=रक्षणात्मक कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। **पितरः**=ये रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त लोग ही **देवाः**=देव हैं। यहाँ साहित्य की शैली का सौन्दर्य द्रष्टव्य

है। देव 'पितर' हैं, 'पितर' ही तो देव है। देवों का काम रक्षण है, दैत्यों का विध्वंस। मैं भी **यो** (या+उ) **अस्मि**=गतिशील बनता हूँ और **सः अस्मि** (षोऽन्तकर्मणि) दु:खों का अन्त करनेवाला होता हूँ। २. **सः**=वह मैं **पचामि**=घर में भोजन का परिपाक करता हूँ तो पहले **सः ददामि**=वह में पितरों व अतिथियों के लिए देता हूँ और इसप्रकार **सः यजे**=वह मैं देकर-देवपूजन करके बचे हुए को ही (यज्ञशेष को ही खाता हूँ)। **सः**=वह मैं **दत्तात्**=इस देने की प्रक्रिया से **मा यूषम्**=कभी पृथक् न होऊँ। सदा यज्ञशील बना रहूँ। यहाँ मन्त्र में 'स पचामि' में पचामि परस्मैपद है—दूसरों के लिए ही पकाता हूँ, इसीप्रकार दूसरों के लिए देता हूँ, परन्तु 'स यजे' में यजे 'आत्मनेपद' है। यज्ञ अपने लिए करता हूँ। मैं बड़ों को खिलाता हूँ तो मेरे सन्तान भी इस पितृयज्ञ का अनुकरण क्यों न करेंगे?

भावार्थ—देव सदा रक्षणात्मक कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। मैं भी गतिशील बनकर पर-दुखों का हरण करनेवाला बनूँ। पकाऊँ, यज्ञ करूँ और यज्ञशेष ही खाऊँ।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

नाके

नाके॑ राज॒न्प्रति॑ तिष्ठ॒ तत्रै॒तत्प्रति॑ तिष्ठतु।
वि॒द्धि पू॒र्तस्य॑ नो राज॒न्त्स दे॑व सु॒मना॑ भव॥ ५॥

१. हे **राजन्**=यज्ञादि उत्तम कर्मों से दीप्त जीवनवाले साधक! **नाके प्रतितिष्ठ**=तू सुखमय लोक में प्रतिष्ठित हो। **तत्र**=वहाँ—सुखमय लोक में **एतत्**=तेरा यह यज्ञरूप श्रेष्ठ कर्म भी **प्रतितिष्ठतु**=प्रतिष्ठित हो। २. प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **राजन्**=दीप्त जीवनवाले साधक! **नः पूर्तस्य विद्धि**=हमसे वेद द्वारा उपदिष्ट प्रजा के पालन व पूरणात्मक कर्मों को तू जान—तू पूर्तकर्मों को करनेवाला बन। हे **देव**=दिव्य गुणयुक्त प्रकाशमय जीवनवाले साधक! **सः**=वह तू **सुमना भव**=प्रशस्त मनवाला हो।

भावार्थ—यज्ञादि उत्तम कर्मों से सुखमय जीवनवाले बनकर हम इन यज्ञादि कर्मों में और अधिक प्रवृत्त हों। प्रभु से उपदिष्ट इष्ट व पूर्त कर्मों को करनेवाले बनें। सदा प्रसन्न व प्रशस्त मनवाले बनें।

विशेष—इन यज्ञादि कर्मों में स्थिरता से चलनेवाला 'अथर्वा' अगले तीन सूक्तों का ऋषि है।

१२४. [चतुर्विंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**दिव्या आपः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अपां स्तोकः

दि॒वो नु मां बृ॑ह॒तो अ॒न्तरि॑क्षाद॒पां स्तो॒को अ॒भ्य॑पप्त॒द्रसे॑न।
समि॑न्द्रि॒येण॒ पय॑सा॒हम॑ग्ने॒ छन्दो॑भिर्य॒ज्ञैः सु॒कृतां॑ कृ॒तेन॑॥ १॥

१. साधक अपनी अनुभूति व्यक्त करते हुए कहता है कि **नु**=अब **माम्**=मुझे **दिवः**=उस प्रकाशमय **बृहतः**=महान् **अन्तरिक्षात्**=(अन्तराक्षि) सबके अन्दर निवास करनेवाले अन्तर्यामी प्रभु से **अपां स्तोकः**=ज्ञान-जल का लव (थोड़ा-सा) **रसेन**=आनन्द के साथ **अभ्यपप्तत्**=प्राप्त हुआ है। जब मनुष्य 'अथ अर्वाङ्' अन्तर्दृष्टिवाला बनता है तब उसे प्रकाशमय प्रभु से ज्ञान का अंश व रस (आनन्द) प्राप्त होता है। २. हे **अग्ने**=प्रभो! **अहम्**=आपका प्रिय अथर्वा मैं आपकी कृपा से **इन्द्रियेण**=वीर्य से, **पयसा**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग की शक्ति से—आप्यायन से

छन्दोभिः=वेदवाणियों से **यज्ञैः**=यज्ञों से तथा **सुकृतां कृतेन**=पुण्यशील लोगों के पुण्य कर्मों से **सम्**=सङ्गत होऊँ।

भावार्थ—हम अथर्वा बनकर अन्तर्दृष्टि बनें, जिससे प्रभु के ज्ञान-जल के लव व रस को प्राप्त कर सकें। हम वीर्य, शक्ति के आप्यायन, वेदज्ञान, यज्ञ व पुण्य कर्मों से सङ्गत हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**दिव्या आपः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

फल-वायु-जल

यदि वृक्षादभ्यपप्तत्फलं तद्यद्यन्तरिक्षात्स उ वायुरेव।
यत्रास्पृक्षत्तन्वो३ यच्च वाससु आपो नुदन्तु निर्ऋतिं पराचैः ॥ २ ॥

१. अथर्वा प्रार्थना करता है कि **यदि वृक्षात् अभि अपप्तत्**=यदि वृक्षों से कोई वस्तु मेरी ओर गिरे, अर्थात् मुझे प्राप्त हो तो **तत् फलम्**=वह फल ही हो। मैं वृक्षों के फलों का सेवन करनेवाला बनूँ। **यदि अन्तरिक्षात् सः उ वायुः एव**=यदि अन्तरिक्ष से मुझे कोई वस्तु प्राप्त हो तो वह निश्चय से वायु ही हो। मैं अन्तरिक्ष की खुली वायु में निवास करनेवाला बनूँ। तङ्ग गलियों में जहाँ वायु का खुला प्रवेश नहीं, वहाँ मेरा निवास न हो। २. **यत्र**=जहाँ कहीं भी शरीर पर मल का **अस्पृक्षत्**=स्पर्श हो **च**=और **यत्**=जो वस्त्र पर मल लगे तो उस **निर्ऋतिम्**=मलरूप बुराई (Evil) को **आपः**=जल **पराचैः**=दूर ले-जाने की क्रियाओं द्वारा **तन्वः**=शरीर से और **वाससः**=वस्त्रों से **नुदन्तु**=परे धकेल दे।

भावार्थ—अथर्वा चाहता है कि १. वह वृक्षों के फलों का सेवन करे, २. अन्तरिक्ष की शुद्ध वायु में विचरे तथा ३.जलों द्वारा शरीर व वस्त्रों को शुद्ध रक्खे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**दिव्या आपः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'निर्ऋति व अराति' से दूर

अभ्यञ्जनं सुरभि सा समृद्धिर्हिरण्यं वर्चस्तदु पूत्रिममेव।
सर्वा पवित्रा वितताध्यस्मत्तन्मा तारीन्निर्ऋतिर्मो अरातिः ॥ ३ ॥

१. **अभ्यञ्जनम्**=आँखों में अञ्जन का प्रयोग और उससे नेत्र-मल को दूर करना, अर्थात् ज्ञानाञ्जन द्वारा अज्ञानतिमिर को दूर करना, **सुरभि**=सुगन्धित-(मधुर)-वाणी बोलना (सुरभिर्नो मुखा करत्प्र ण आयूँषि तारिषत्) **सा समृद्धिः**=वह सुपथ से कमाया धन, **हिरण्यम्**=वीर्य, **वर्चः**=रोगनिरोधक शक्ति **तत्**=वह सब **उ**=निश्चय से **पूत्रिमम् एव**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाला है। धन भी जीवन को पवित्र रखने का साधन बनता है। धन के अभाव में 'बुभुक्षितः किन्न करोति पापम्'—भूखा क्या पाप नहीं कर बैठता? २. **सर्वा पवित्रा**=पवित्र करने के सब साधन **अस्मत् अधि**=हमपर **वितता**=विस्तृत हुए-हुए हैं, **तत्**=इसलिए **मा**=मुझे **निर्ऋतिः मा तारीत्**=अनिष्टकारिणी पापदेवता (मलदेवता) मत अतिक्रान्त करे **उ**=और **अरातिः मा**=अदानवृत्ति मत अतिक्रान्त करनेवाली हो। पवित्रता के साधनों से आच्छादित मैं 'निर्ऋति व अराति' का शिकार न होऊँ—न दुर्गति—दुराचरणवाला बनूँ, न अदानवृत्तिवाला।

भावार्थ—ज्ञानाञ्जन-शलाका से अज्ञानतिमिर को दूर करना, 'मधुर शब्द, सुपथार्जित धन, वीर्य व रोग निरोधक शक्ति'—ये सब मेरे जीवन को पवित्र करें। पवित्रता के इन साधनों से आच्छादित हुआ-हुआ मैं दुराचरण व अदानवृत्ति से दूर रहूँ।

१२५. [पञ्चविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वीड्वङ्गः वीडयस्व

वन॑स्पते वी॒ड्व॑ङ्गो॒ हि भू॒या अ॒स्मत्स॑खा प्र॒तर॑णः सु॒वीरः॑ ।
गोभि॑: सन्न॑द्धो असि वी॒डय॑स्वास्था॒ता ते॑ जयतु॒ जेत्वा॑नि ॥ १ ॥

१. अथर्वा अपने शरीर को सम्बोधित करते हुए कहता है कि हे **वनस्पते**=वानस्पतिक पदार्थों के सेवन से बने हुए देह! तू **हि**=निश्चय से **वीडु अङ्गः भूयाः**=दृढ़ अङ्गोंवाला हो। **अस्मत् सखा**=तू हमारा मित्र हो, **प्रतरणः**=संसार-सागर को तैरनेवाला व **सुवीरः**=उत्तम वीरतावाला हो। २. **गोभिः सन्नद्धः असि**=तू ज्ञानरश्मियों से सम्बद्ध है, **वीडयस्व**=तू पराक्रम कर **ते आस्थाता**=तुझ शरीर-रथ पर स्थित होनेवाला यह जीवात्मा (रथी) **जेत्वानि**=जेतव्य शत्रुओं को **जयतु**=जीतनेवाला बने।

भावार्थ—वनस्पति-विकार यह शरीर हमारा साथी हो। यह दृढ़ अङ्गोंवाला बने, ज्ञान की रश्मियों से सम्बद्ध हो। इसपर अधिष्ठित जीव जेतव्य शत्रुओं को जीतनेवाला बने।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

शरीर-रथ

दि॒वस्पृ॑थि॒व्याः पर्योज॒ उद्भृ॑तं॒ वन॒स्पति॑भ्य॒: पर्याभृ॑तं॒ सह॑: ।
अ॒पामो॒ज्मानं॒ परि॒ गोभि॒रावृ॑त॒मिन्द्र॑स्य॒ वज्रं॑ ह॒विषा॒ रथं॑ यज ॥ २ ॥

१. 'यह शरीर-रथ क्या है'? इसका विवेचन करते हुए कहते हैं कि इसमें **दिवः**=मस्तिष्करूप द्युलोक का तथा **पृथिव्याः**=अन्नमयकोशरूप पृथिवी का **ओजः**=बल **परि उद्भृतम्**=सब प्रकार से धारण किया गया है। इस शरीर में **वनस्पतिभ्यः**=वानस्पतिक पदार्थों के सेवन से **सहः**=शत्रुमर्षक बल **पर्याभृतम्**=चारों ओर-अङ्ग-प्रत्यङ्ग में भृत हुआ है। २. इस **अपाम् ओज्मानम्**=(आपो रेतो भूत्वा०) रेतःकणों के बलवाले **गोभिः परि आवृतम्**=ज्ञानरश्मियों से समन्तात् आच्छादित **इन्द्रस्य वज्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष के आयुध के समान **रथम्**=इस शरीर-रथ को **हविषा यज**=दानपूर्वक अदन से युक्त कर। यज्ञशेष के सेवन के द्वारा इसे नीरोग व अमर बना—'यज्ञशेषममृतम्'।

भावार्थ—इस शरीर में हम मस्तिष्क व शरीर दोनों को ही सबल बनाएँ। वानस्पतिक पदार्थों के सेवन से इसे रोगनिरोधक शक्ति से युक्त करें। यह रेतःकणों के बलवाला हो। ज्ञानरश्मियों से आवृत हो। रोगरूप शत्रुओं के लिए वज्र हो। यज्ञशेष के सेवन द्वारा हम इसे नीरोग बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मित्रस्य गर्भः, वरुणस्य नाभिः

इन्द्र॒स्यौजो॑ म॒रुता॒मनी॑कं मि॒त्रस्य॒ गर्भो॒ वरु॑णस्य॒ नाभि॑: ।
स इ॒मां नो॑ ह॒व्यदा॑तिं जुषा॒णो देव॑रथ॒ प्रति॑ ह॒व्या गृ॑भाय ॥ ३ ॥

१. यह शरीर-रथ **इन्द्रस्य ओजः**=जितेन्द्रिय पुरुष का ओज है। इसमें **मरुताम् अनीकम्**=प्राणों का बल है, **मित्रस्य गर्भः**=प्राण का गर्भ है—गर्भवत् अन्तःस्थित व पालनीय है, **वरुणस्य नाभिः**=अपान का यह नाभि है—अपने में बाँधनेवाला। अपान के ठीक कार्य करने पर ही सब अङ्ग सुदृढ़ बने रहते हैं। २. **सः**=वह तू हे **देवरथ**=रोगरूप शत्रुओं की विजिगीषवाले शरीर-

रथ! **नः**=हमारी **इमाम्**=इस **हव्यदातिम्**=हव्य देने की क्रिया का **जुषाणः**=सेवन करता हुआ **हव्या प्रतिगृभाय**=हव्य—यज्ञिय पवित्र पदार्थों को ही ग्रहण कर।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनकर शरीर-रथ को सबल व सुदृढ़ बनाए रक्खें। इसमें प्राणापान का बल ठीक बना रहे। हम यज्ञशील हों और यज्ञशेष के रूप में पवित्र पदार्थों का ही सेवन करें।

१२६. [षड्विंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

दुन्दुभिनाद से पृथिवी व द्युलोक का उच्छ्वसित हो उठना

उप श्वासय पृथिवीमुत द्यां पुरुत्रा ते वन्वतां विष्ठितं जगत्।
स दुन्दुभे सजूरिन्द्रेण देवैर्दूराद्दवीयो अप सेध शत्रून्॥ १॥

१. देश के स्वातन्त्र्य के रक्षण के लिए युद्ध करना पड़े तो यह अथर्वा युद्ध से पराङ्मुख न होकर युद्धवाद्य को सम्बोधित करते हुए कहता है कि **दुन्दुभे**=हे रणभेरि! तू **पृथिवीम् उत द्याम्**=पृथिवी व द्युलोक को **उपश्वासय**=अपने घोष से आपूरित कर दे। यह **विष्ठितम्**=विविधरूप में अवस्थित **जगत्**=प्राणिसमूह **पुरुत्रा**=बहुत प्रदेशों में **ते**=तेरे जयघोष का **वन्वताम्**=संभजन करे। २. हे दुन्दुभे! **सः**=वह तू **इन्द्रेण**=शत्रु-विद्रावक सेनापति तथा **देवैः**=शत्रुविजिगीषावाले सैनिकों के **सजूः**=साथ **दूरात् दवीयः**=दूर से भी दूर **शत्रून् अपसेध**=शत्रुओं को भगा डाल (अपगमय)।

भावार्थ—युद्ध के समय भेरीनाद पृथिवी को गुँजा दे। अपने-अपने स्थान में स्थित हुए सब इस जयघोष को चाहें। सेनापति व सैनिकों के साथ यह भेरीनाद शत्रुओं को दूर भगानेवाला हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

शत्रुभञ्जन

आ क्रन्दय बलमोजो न आ धा अभि ष्टन दुरिता बाधमानः।
अप सेध दुन्दुभे दुच्छुनामित इन्द्रस्य मुष्टिरसि वीडयस्व॥ २॥

१. हे **दुन्दुभे**=रणभेरि! **बलम्**=शत्रु-सैन्य को **आक्रन्दय**=विलापयुक्त कर दे। **नः**=हममें **ओजः आधाः**=बल की स्थापना कर। **दुरिता बाधमानः**=शत्रुकृत दुर्गतों व दुःखों को निवृत्त करती हुई—दूर करती हुई तू **अभिष्टन**=अभितः शत्रुहृदयभञ्जक परुष शब्द कर। २. हे दुन्दुभे! **इतः**=इस युद्धरङ्ग से **दुच्छुनाम्**=दुःखकारी शत्रुसेना को **अपसेध**=दूर भगा दे। **इन्द्रस्य**=शत्रुविद्रावक सेनापति की तू **मुष्टिः असि**=मुष्टिवत् शत्रुओं की भञ्जक है, अतः तू **वीडयस्व**=अत्यन्त दृढ़ हो—शत्रुओं पर पराक्रम प्रकट करनेवाली हो।

भावार्थ—दुन्दुभिनाद शत्रुओं में क्रन्दन मचा दे और हमारे सैन्य में ओजस्विता का आधान करे, शत्रुकृत दुर्गतियों को यह दूर करनेवाला हो। यह मुष्टिप्रहार की भाँति शत्रुभञ्जक बने।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**दुन्दुभिः** ॥ छन्दः—**पुरोबृहतीगर्भात्रिष्टुप्** ॥

शत्रु-पराजय—स्वकीय विजय

प्रामूं जयाभी३मे जयन्तु केतुमद्दुन्दुभिर्वावदीतु।
समश्वपर्णाः पतन्तु नो नरोऽस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=बल के कार्यों को करनेवाले सेनापते! **अमूम्**=उस दूर दृश्यमान सेना को **जय**=जीत। **इमे**=ये हमारे सैनिक **अभिजयन्तु**=शत्रुओं के अभिमुख जाते हुए जय को प्राप्त हों। **केतुमत् दुन्दुभिः वावदीतु**=(प्रज्ञानवत् उच्चैर्ध्वनिम्) यह खूब ऊँचे शब्द करे। **नः**

नरः=हमारे सेनानायक **अश्वपर्णाः**=(अश्वपतनाः) अश्वारूढ़ होते हुए **सम्पतन्तु**=युद्धभूमि में इधर-उधर जाएँ। हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **अस्माकं रथिनः**=हमारे रथारोही **जयन्तु**=विजयी हों।

भावार्थ—यह उच्चस्वर से बजाई जाती हुई रणभेरी शत्रुओं को परास्त करती है और हमें विजयी बनाती है। हमारे घुड़सवार शत्रु-सैन्य में इधर-उधर विचरें तथा हमारे रथी विजयी हों।

विशेष—अगले सूक्त में 'उचित जीवन-मार्ग पर चलने से मनुष्य शत्रुओं को भून डालता है', अतः 'भृगु' कहलाता है, अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाला यह 'अङ्गिराः' है।

१२७. [सप्तविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, यक्ष्मनाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'विद्रध, बलास, लोहित, विसल्पक' की चिकित्सा

विद्रधस्य बलासस्य लोहितस्य वनस्पते।
विसल्पकस्योषधे मोच्छिषः पिशितं चन॥ २॥

१. हे **वनस्पते**=चतुरंगुलपलाशवृक्ष! **ओषधे**=विसपर्क आदि व्याधियों के औषधभूत वटादिवृक्ष! **विद्रधस्य**=विदारणशील हृदयव्रण के—चेतना को नष्ट करनेवाले व्रणविशेष के **बलासस्य**=(बलम् अस्यति क्षिपति) कास-श्वास आदि के, **लोहितस्य**=रुधिरस्रावात्मक रोग के तथा **विसल्पकस्य**=(विविधं सर्पति नाडीमुखेन) शरीर में फैलनेवाले हड्फूटन के **पिशितं चन**=निदानभूत दुष्ट मांस को भी—दुष्ट त्वक् (चमड़ी) आदि को **मा उच्छिषः**=शेष मत छोड़।

भावार्थ—वात, पित्त, कफ के दोषों के तारतम्य से 'त्वचा, रुधिर, मांस' आदि धातुओं को दूषित करके विसर्पक आदि रोग उत्पन्न होते हैं। उन्हें निदानसहित पलाश-वट आदि वनस्पतियों के प्रयोग से दूर करो।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, यक्ष्मनाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

चीपुद्रु

यौ ते बलास तिष्ठतः कक्षे मुष्कावपश्रितौ। वेदाहं तस्य भेषजं चीपुद्रुरभिचक्षणम्॥ २॥

१. हे **बलास**=कास-श्वासादि रोग! **ते**=तेरे **यौ**=जो विसपर्क आदि विकार **कक्षे तिष्ठतः**=बाहूमूल में स्थिर होते हैं और **मुष्कौ अपश्रितौ**=जो अण्डाकृति गिल्टियाँ बुरी तरह से उत्पन्न हो गई हैं, मैं **तस्य**=उसके **भेषजं वेद**=औषध को जानता हूँ। **चीपुद्रुः**='चीपुद्रु' नामवाला द्रुमविशेष **अभिचक्षणम्**=(अभिचक्ष्य निवर्तकम्) व्याधिमूल का सम्यक् निवर्तक औषध है।

भावार्थ—बलास नामक रोग में विसपर्क आदि विकार बाहूमूल में उत्पन्न हो जाते हैं, गिल्टियाँ भी बुरी भाँति पीड़ित करने लगती हैं। 'चिपुद्रु' उस रोग का औषध है। वह चीपुद्रु 'चीवृ आदानसंवरणयोः' रोग के मूलभूत दोष का आदान करके रोग के लिए द्वार बन्द कर देता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, यक्ष्मनाशनम्** ॥ छन्दः—**षट्पदाजगती** ॥

विरेचन द्वारा रोगविनाश

यो अङ्ग्यो यः कर्ण्यो यो अक्ष्योर्विसल्पकः।
वि वृहामो विसल्पकं विद्रधं हृदयामयम्।
परा तमज्ञातं यक्ष्ममधराञ्चं सुवामसि॥ ३॥

१. **यः विसल्पकः**=जो विसर्पक रोग **अङ्ग्यः**=हाथ-पाँव आदि अङ्गों में होनेवाला है, **यः**

कर्ण्यः=जो कानों में उत्पन्न हो जाता है, **यः अक्ष्योः**=जो आँखों में उत्पन्न हो जाता है, उस **विसल्पकम्**=बहुविध विसर्पक को **विवृहामः**=हम उखाड़ फेंकते हैं तथा **विद्रधम्**=विदरणस्वभाव व्रणविशेष को **हृदयामयम्**=हृदय के रोग को भी दूर करते हैं। २. **तम्**=उस **अज्ञातम्**=अनिर्ज्ञातस्वरूप **यक्ष्मम्**=रोग को **अधराञ्चम्**=(अधस्तात् अञ्चन्तम्) नीचे गति करते हुए को **परासुवामसि**=पराङ्मुख प्रेरित करते हैं। विरेचक ओषधियों के द्वारा उसे नष्ट करते हैं।

भावार्थ—हाथ-पैर आदि अङ्गों में, कानों व आँखों में हो जानेवाले विसर्पक रोग को विदरणस्वभाव व्रणविशेष को, हृद्रोग को तथा अज्ञात यक्ष्मरोग को भी विरेचक औषधों के प्रयोग से नष्ट करते हैं।

विशेष—रोगों को दूर करके यह 'अङ्गिरा' बनता है—अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाला। यह प्रभु-स्मरणपूर्वक राष्ट्र में उत्तम राज्यव्यवस्था करके कल्याण प्राप्त करता है। 'अङ्गिरा' ही अगले सूक्त का ऋषि है।

१२८. [अष्टाविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**शकधूमः, सोमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'शकधूम' को राजा बनाना

शकधूमं नक्षत्राणि यद्राजानमकुर्वत। भद्राहमस्मै प्रायच्छन्निदं राष्ट्रमसादिति॥ १॥

१. **नक्षत्राणि**=(न क्षत्र त्र) क्षतों से अपना रक्षण न कर सकनेवाली प्रजाएँ **यत्**=जब **शकधूमम्**=शक्तिशाली बनकर शत्रुओं को कम्पित करनेवाले व्यक्ति को **राजानम् अकुर्वत**=राजा बनाती है, तब **अस्मै इदं राष्ट्रं प्रायच्छन्**=इसके लिए इस राष्ट्र को सौंप देती हैं, **भद्राहम् असात् इति**=इस कारण से सौंप देती हैं कि सब प्रजाओं के लिए अब दिन मंगलमय हों।

भावार्थ—प्रजा राजा को चुने। उस व्यक्ति को इस पद के लिए चुने जोकि 'शकधूम' हो। चुनने के पश्चात् उसे सर्वाधिकार सौंप दे, जिससे वह अपने रक्षणात्मक कार्य को सम्यक् रूप से कर सके। सीमित शक्तिवाले राजा के लिए यह सम्भव नहीं होता। राजा को सर्वाधिकार सौंप देने पर ही प्रजा सुखमय दिनों का अनुभव करती है।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**शकधूमः, सोमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

भद्राहम्

भद्राहं नो मध्यन्दिने भद्राहं सायमस्तु नः।
भद्राहं नो अह्नां प्राता रात्री भद्राहमस्तु नः॥ २॥

१. **मध्यन्दिने**=मध्याह्न के समय **नः**=हमारा **भद्राहम्**=शोभन दिन हो। इसीप्रकार **नः**=हमारा **सायम्**=सूर्यास्त के समय भी **भद्राहम् अस्तु**=पुण्य-दिन हो। **अह्नां प्रातः**=पूर्वाह्नकाल में भी **नः**=हमारा **भद्राहम्**=पुण्य-दिन हो और इसीप्रकार **रात्री**=सारी रात **नः**=हमारे लिए **भद्राहम् अस्तु**=शुभ काल ही प्रमाणित हो।

भावार्थ—राष्ट्र-व्यवस्था के उत्तम होने पर दिन-रात हमारा कल्याण-ही-कल्याण हो।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**शकधूमः, सोमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'आधिदैविक आपत्ति' निराकरण

अहोरात्राभ्यां नक्षत्रेभ्यः सूर्याचन्द्रमसाभ्याम्। भद्राहमस्मभ्यं राजञ्छकधूम त्वं कृधि॥ ३॥

१. हे **शकधूम राजन्**=शक्ति के द्वारा शत्रुओं को कम्पित करनेवाले राजन्! **त्वम्**=आप

अहोरात्राभ्याम्=दिन और रात से **नक्षत्रेभ्यः**=अश्विनी-भरणी आदि नक्षत्रों से तथा **सूर्याचन्द्रमसाभ्याम्**=सूर्य और चन्द्रमा से **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **भद्राहं कृधि**=पुण्याह (पुण्य-दिन) को करने की कृपा करें।

भावार्थ—राष्ट्रव्यवस्था के उत्तम होने पर 'दिन-रात, सूर्य-चन्द्र व नक्षत्र' सब प्रजा के लिए कल्याणकारक होते हैं, अर्थात् सुव्यवस्थित राष्ट्र में आधिदैविक आपत्तियाँ नहीं आतीं।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**शकधूमः, सोमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शकधूम को प्रणाम

यो नो भद्राहमकरः सायं नक्तमथो दिवा।
तस्मै ते नक्षत्रराज शकधूम सदा नमः ॥ ४ ॥

१. हे **शकधूम**=शक्ति के द्वारा शत्रुओं को कम्पित करनेवाले **नक्षत्रराज**=अपना त्राण स्वयं न कर सकनेवाली प्रजाओं के शासक! **यः**=जो आप **नः**=हमारे लिए **सायं नक्तम् अथो दिवा**=सायं, रात्रि और दिन में **भद्राहम् अकरः**=कल्याण करते हैं **तस्मै ते**=उस आपके लिए हम **सदा नमः**=सदा नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—राजा प्रजाओं का रक्षण करता है। प्रजा को चाहिए कि इस राजा का उचित आदर करे।

विशेष—सुरक्षित राष्ट्र में स्वस्थ वृत्ति से आगे बढ़नेवाला यह स्थिर चित्तवाला (अथर्वा) तथा अङ्ग-प्रत्यङ्ग में शक्ति के रसवाला (अंगिराः) 'अथर्वाङ्गिराः' अगले चार सूक्तों का ऋषि है।

१२९. [एकोनत्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भगः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शांशप भग

भगेन मा शांशपेन साकमिन्द्रेण मेदिना। कृणोमि भगिनं माप द्रान्त्वरातयः ॥ १ ॥

१. मैं **शांशपेन**=(शम् शप्—शपते स्पृशतिकर्मणः—नि० ३.१२) शान्ति के स्पर्श से युक्त **भगेन**=ऐश्वर्य से **मा**=मुझे तथा **मेदिना**=सबके प्रति स्नेहवाले **इन्द्रेण**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के **साकम्**=साथ **मा**=अपने-आपको **भगिनम्**=ऐश्वर्यशाली **कृणोमि**=करता हूँ। **अरातयः**=सब अदानवृत्तियाँ व शत्रु **अपद्रान्तु**=मुझसे दूर भाग जाएँ। २. ऐश्वर्य में यह आशंका बनी रहती है कि जीवन कहीं विषय-विलास की वृत्तिवाला न बन जाए, परन्तु यदि ऐश्वर्य के साथ प्रभु-स्मरण भी बना रहे तो ऐसी आशंका नहीं रह जाती, अतः मन्त्र में ऐश्वर्य के साथ प्रभु-स्मरण को जोड़ दिया गया है।

भावार्थ—सुव्यवस्थावाले राष्ट्र में मैं पुरुषार्थ से उस धन का अर्जन करूँ, जिसमें किसी प्रकार की अशान्ति नहीं है। इस धन के साथ प्रभु-स्मरणपूर्वक चलता हुआ मैं विलास में बह जाने से बचा रहता हूँ और धन को लोकहित के कार्यों में व्यय करता हूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भगः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वृक्ष का अभिभव

येन वृक्षाँ अभ्यभवो भगेन वर्चसा सह। तेन मा भगिनं कृणवप द्रान्त्वरातयः ॥ २ ॥

१. हे प्रभो! **येन भगेन**=जिस ऐश्वर्य से **वर्चसा सह**=वर्चस् के साथ—रोगनिरोधक शक्ति के साथ **वृक्षान् अभि अभवः**=(वृक्षते to cover) बुद्धि को आच्छादित कर लेनेवाली लोभवृत्तियों

को आप जीत लेते हो **तेन**=उस ऐश्वर्य से **मा भगिनं कृणु**=मुझे ऐश्वर्यशाली कीजिए। २. प्रभु हमें वह ऐश्वर्य प्राप्त कराएँ, जिसमें कि हम विलास के शिकार न बनकर वर्चस्वी बनें रहें तथा जो ऐश्वर्य हमें लोभाभिभूत करके बुद्धिशून्य न कर दे। हे प्रभो! आपके अनुग्रह से **अरातयः अपद्रान्तुः**=अदानवृत्तियाँ हमसे दूर ही रहें। हम धनों का सदा लोकहित—यज्ञों में विनियोग करनेवाले बनें।

भावार्थ—मुझे ऐश्वर्य प्राप्त हो। मैं वर्चस्वी बनूँ और लोभाभिभूत न होकर दानवृत्तिवाला बना रहूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भगः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अन्धा, पुनःसरः, वृक्षाहितः

यो अन्धो यः पुनःसरो भगो वृक्षेष्वाहितः। तेन मा भगिनं कृणवप द्रान्त्वरातयः ॥ ३ ॥

१. हे प्रभो! आप **मा**=मुझे **तेन**=उस ऐश्वर्य से **भगिनं कृणु**=ऐश्वर्यवाला कीजिए **यः**=जोकि **अन्धः**=मेरा भोजन बनता है (अन्धः=अन्नम्), अर्थात् वह धन दीजिए जिससे मैं भोजन जुटा सकू। **यः**=जो **पुनःसरः**=फिर गतिवाला होता है, अर्थात् मेरी पेटी में बन्द न रहकर लोकहित के कार्यों में विनियुक्त होता है (सृ गतौ)। **यः भगः**=जो ऐश्वर्य **वृक्षेषु**=(व्रश्चू छेदने) वासनाओं का दहन करनेवाले व्यक्तियों में स्थापित होता है। २. हे प्रभो! आपके अनुग्रह से **अरातयः अपद्रान्तु**=अदानवृत्तियाँ हमसे दूर रहें। हम इन धनों को सदा देनेवाले बनें और इसप्रकार 'वृक्ष' वासनाओं का छेदन करनेवाले बनें (व्रश्च छेदने, वृश्चति)। ये धन हमारे लिए वृक्ष (वृक्षते to cover) न बन जाएँ, ये हमारी बुद्धि पर पर्दा न डाल दें।

भावार्थ—प्रभु मुझे वह धन दें जिससे मैं परिवार के लिए अन्न जुटा सकूँ, लोकहित के कार्य कर सकूँ तथा वासनाओं का विच्छेद करनेवाला ही बना रहूँ।

१३०. [त्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**स्मरः** ॥ छन्दः—**१ विराट्पुरस्ताद्बृहती; २-३ अनुष्टुप्** ॥

कामवासना की उत्पत्ति कहाँ?

रथजितां राथजितेयीनामप्सरसामयं स्मरः। देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥ १ ॥

असौ मे स्मरतादिति प्रियो मे स्मरतादिति। देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥ २ ॥

यथा मम स्मरादसौ नामुष्याहं कदा चन। देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥ ३ ॥

१. **रथजिताम्**=रमण के साधनभूत पदार्थों का विजय (संग्रह) करनेवाले पुरुषों का तथा **राथजितेयीनाम्**=रमण-साधन पदार्थों को जीतनेवाले पुरुषों की **अप्सरसाम्**=इन सुन्दर स्त्रियों का अर्थ **अयं स्मरः**=यह 'काम' है। काम-वासना का सम्बन्ध इन रथजितों व राथजितेयी अप्सराओं से ही है। 'रमणसाधन पदार्थों का संग्रह व शारीरिक सौन्दर्य' काम-वासना की उत्पत्ति के साधन बनते हैं। २. हे **देवाः**=देवो! **स्मरम्**=इस 'काम' को **प्रहिणुत**=मुझसे दूर ही भेजो, **असौ माम् अनुशोचतु**=यह काम मेरा शोक करता रहे कि 'किस प्रकार उस पुरुष के हृदय में मेरा निवास था और किस प्रकार मुझे वहाँ से निकलना पड़ गया'। २. **असौ**=वह काम **मे स्मरतात्**=मुझे स्मरण करता रहे **इति**=बस। **मे प्रियः**=मेरा बड़ा प्रिय था, इति **स्मरतात्**=इसप्रकार मेरा स्मरण करके दुखी होता रहे। २. हे देवो! आप ऐसी कृपा करो कि **यथा**=जिससे **असौ मम स्मरतात्**=वह काम मेरा स्मरण करे, **अहं कदाचन अमुष्य न**=मैं कभी उसका स्मरण न करूँ। मुझसे वियोग के कारण 'काम' ही रोए। 'काम' से पृथक् होकर मैं दुःखी न होऊँ।

भावार्थ—कामवासना की उत्पत्ति वहीं होती है, जहाँ रमणसाधन पदार्थों के संग्रह व सौन्दर्य की ओर झुकाव हो। देवों की कृपा से काम मुझसे दूर हो जाए। स्थान-भ्रंश के कारण 'काम' दु:खी हो। मैं कभी इस काम का स्मरण न करूँ।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**स्मर:**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

काम का उन्माद

उन्मा॑दयत मरुत॒ उद॑न्तरिक्ष मादय। अग्न॒ उन्मा॑दया॒ त्वम॒सौ मामनु॑ शोचतु॥ ४॥

१. हे **मरुत:**=वसन्तऋतु की सुन्दर वायुओ! आप इस 'काम' को **उन्मादयत**=उन्मत्त कर दो। हे **अन्तरिक्ष**=सम्पूर्ण वातावरण! **उत् मादय**=तू भी इस काम को उन्मत्त कर दे। हे **अग्ने**=शरीरस्थ अग्नितत्व (Excitement) **त्वम् उन्मादय**=तू भी इस काम को उन्मत्त कर, **असौ माम् अनुशोचतु**—वह मेरा शोक करे। २. वसन्त की वायुएँ, अन्तरिक्ष का सौन्दर्य व उत्तेजना उत्पन्न करनेवाला अग्नितत्त्व मुझे कामातुर न बनाकर 'काम' को ही उन्मत्त बनानेवाले हों और इसप्रकार यह काम मेरे हृदय में स्थान न पाकर, वह मेरा शोक करता रहे।

भावार्थ—कामवासना की उत्पत्ति के लिए कारणभूत वस्तुएँ काम को ही उन्मत्त करें, न कि मुझे। मेरे लिए तो यह काम विलाप ही करता रहे 'कि मेरा निवास-स्थान छिन गया'।

१३१. [एकत्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**स्मर:**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

सिर से पैर तक कामजनित पीड़ा

नि शीर्ष॒तो नि प॑त्त॒त आ॒ध्यो॒३॒॑ नि ति॑रामि ते।
दे॒वा॒: प्र हि॑णुत स्म॒रम॒सौ मामनु॑ शोचतु॥ १॥
अनु॑मते॒ऽन्विदं मन्य॒स्वाकू॑ते॒ समि॒दं नम॑:।
दे॒वा॒: प्र हि॑णुत स्म॒रम॒सौ मामनु॑ शोचतु॥ २॥

१. काम से पीड़ित मनुष्य सिर से पैर तक एक विचित्र-सी व्यथा को अनुभव करता है। वह व्यथा ही यहाँ 'आधि' शब्द से कही गई है। 'काम' के विनाश के लिए कटिबद्ध व्यक्ति 'काम' को ही सम्बोधित करके कहता है कि हे काम! **नि शीर्षत: नि पत्तत:**=सिर से लेकर पाँव तक **ते आध्य:**=तेरे कारण उत्पन्न इन मानस पीड़ाओं को **नितिरामि**=विनष्ट (destroy) व पराभूत करता हूँ। २. हे **देवा:**=देवो! **स्मरं प्रहिणुत**=इस काम को मुझसे दूर भेजो, **असौ माम् अनुशोचतु**=यह काम मेरा शोक करे। मैं 'काम' के कारण शोकातुर न होऊँ। काम ही निर्वासित होकर, स्थान छिन जाने से मेरा शोक करे कि 'किस प्रकार उसके हृदय में रहता था और अब निकाल दिया गया हूँ'। ३. हे **अनुमते**=शास्त्रानुकूल कार्यों को करने की बुद्धे! तू **इदम् अनुमन्यस्व**=इस 'काम-निर्वासन'- रूप मेरी अभिलाषा को अनुज्ञात कर। हे **आकूते**=दृढ़-संकल्प! तेरे लिए **इदं नम: सम्** (प्रापयामि)=इस नमस्कार व आदरभाव को प्राप्त कराता हूँ। तू भी इस कामनिर्वासन का अनुज्ञान कर—मुझे कामनिर्वासन के योग्य बना।

भावार्थ—हम कामवासना को दूर करके कामजनित पीड़ाओं को विनष्ट करें। इस कार्य में शास्त्रानुकूल कार्य करने की बुद्धि तथा दृढ़ संकल्प हमारे सहायक हों। 'देव भी इस 'काम' को हमसे दूर भेजें'—इसका भाव यह है कि हम सूर्य-चन्द्र, वायु आदि देवों के सम्पर्क में जितना अधिक अपने जीवन को बिताएँगे, अर्थात् जीवन जितना स्वाभाविक होगा, उतना ही हम वासना को जीत पाएँगे। कृत्रिम, विलासमय जीवन वासना को जाग्रत् करने में सहायक

होता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्मरः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

काम-विनाश व शक्ति-सम्पादन

यद्धावसि त्रियोजनं पञ्चयोजनमाश्विनम्।
ततस्त्वं पुनरायसि पुत्राणां नो असः पिता॥ ३॥

१. **यत्**=यदि **त्रियोजनं धावसि**=तू तीन योजनपर्यन्त गतिवाला होता है, अथवा **आश्विनम्**=(अश्वेन प्रापणीयम्) घोड़े द्वारा प्राप्त करने योग्य **पञ्चयोजनम्**=पाँच योजन तक (धावसि) गतिवाला होता है, अर्थात् अश्वारूढ़ होकर पाँच योजन जाता है और **ततः**=उस त्रियोजन व पञ्चयोजन दूर स्थित देश से **त्वम्**=तू **पुनः आयसि**=फिर लौट भी आता है, तो **नः पुत्राणां पिता असः**=हम पुत्रों का पिता बन।

भावार्थ—यहाँ स्पष्ट संकेत है कि वासना को जीतकर हम इतने शक्तिशाली हों कि तीन योजन व घोड़े द्वारा पाँच योजन तक आ-जा सकें, तभी हमें गृहस्थ बनकर पिता बनने का अधिकार है।

१३२. [द्वात्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्मरः**॥ छन्दः—**१ त्रिपादनुष्टुप्; २, ४, ५ (महा) बृहती; ३ भुरिगनुष्टुप्**॥

देवा, विश्वेदेवाः, इन्द्राणी, इन्द्राग्नी, मित्रावरुणौ

यं देवाः स्मरमसिञ्चन्नप्स्वन्तः शोशुचानं सहाध्या।
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा॥ १॥
यं विश्वेदेवाः स्मरमसिञ्चन्नप्स्वन्तः शोशुचानं सहाध्या।
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा॥ २॥
यमिन्द्राणी स्मरमसिञ्चदप्स्वन्तः शोशुचानं सहाध्या।
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा॥ ३॥
यमिन्द्राग्नी स्मरमसिञ्चतामप्स्वन्तः शोशुचानं सहाध्या।
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा॥ ४॥
यं मित्रावरुणौ स्मरमसिञ्चतामप्स्वन्तः शोशुचानं सहाध्या।
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा॥ ५॥

१. **यं स्मरम्**=जिस काम को **देवाः**=वासनाओं को जीतने की कामनावाले ज्ञानी लोग **असिञ्चन्**=अपने हृदय में सिक्त करते हैं, **ते**=तेरे लिए भी **तम्**=उस काम को **वरुणस्य धर्मणा**=पापों से निवृत्त करनेवाले प्रभु के धारण के द्वारा **तपामि**=उज्ज्वल बनाता हूँ। सामान्यतः 'काम' वासना का रूप ले-लेता है और यह वासनात्मक काम **आध्या सह**=(कामो गन्धर्वः, तस्याधयोऽप्सरसः—तै० ३.४.७.३) मानस पीड़ारूप अपनी पत्नी के साथ **अप्सु अन्तः**=प्रजाओं में **शोशुचानम्**=अतिशयेन विरहाग्नि से गात्रों को सन्तप्त करनेवाला होता है। यही काम वरुण के धारण से—प्रभु-स्मरण से पवित्र व उज्ज्वल होकर सन्तान को जन्म देनेवाला होता है। (धर्माविरुद्धा कामोऽस्मि भूतेषु भरतर्षभ, प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः)। देवलोग इसी काम को अपने हृदय में सिक्त करते हैं। २. **यम्**=जिस काम को **विश्वेदेवाः**=देववृत्ति के सब

पुरुष अपने में **असिञ्चत्**=सिक्त करते हैं, **यं स्मरम्**=जिस काम को **इन्द्राणी**=इन्द्रपत्नी—जितेन्द्रिय पुरुष की आत्मशक्ति **असञ्चत्**=अपने में सिक्त करती हैं और **यं स्मरम्**=जिस काम को **इन्द्राग्नी**=शत्रुविद्रावक व आगे बढ़ने की वृत्तिवाले पुरुष **असिञ्चताम्**=अपने में सिक्त करते हैं और **यं स्मरम्**=जिस काम को **मित्रावरुणौ**=प्राण-अपान की साधना करनेवाले पुरुष **असिञ्चताम्**=अपने में सिक्त करते हैं, तेरे लिए भी उस काम को प्रभु-स्मरण द्वारा उज्ज्वल बनाता हूँ।

भावार्थ—सामान्यः 'काम' वासना का रूप धारण करके मानस पीड़ा से मनुष्य को विरहाग्नि में सन्तप्त करनेवाला बनता है, परन्तु यदि हम 'देव, विश्वेदेवा, इन्द्राणी, इन्द्राग्नी व मित्रावरुणौ' के समान काम को अपने हृदयों में सिक्त करेंगे तो यह काम प्रभु-स्मरण के द्वारा पवित्र बना रहेगा और सन्तति को जन्म देनेवाला होगा। कामवासना को जीतने का उपाय यही है कि हम ज्ञानी बनें (देवाः), देववृत्ति के बनने का यत्न करें (विश्वेदेवाः), आत्मिक शक्ति का वर्धन करें (इन्द्राणी), जितेन्द्रिय व आगे बढ़ने की वृत्तिवाले हों (इन्द्राग्नी) और प्राणायाम द्वारा प्राणापान की साधना करें (मित्रावरुणौ)।

विशेष—'काम'-वासना को जीतनेवाला यह व्यक्ति सब अविद्याओं व पापों का विध्वंस करनेवाला 'अग-स्त्य' बनता है। यह पाप को पराजित करने के लिए ही मेखला धारण करता है—कटिबद्ध होता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

१३३. [त्रयस्त्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अगस्त्यः** ॥ देवता—**मेखला** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

मेखला-बन्धन

य इमां देवो मेखलामाबबन्ध यः संननाह य उ नो युयोज।
यस्य देवस्य प्रशिषा चरामः स पारमिच्छात्स उ नो वि मुञ्चात्॥ १ ॥

१. **यः**=जो **देवः**=शत्रुहनन-कुशल प्रभु **इमां मेखलां आबबन्ध**=इस मेखला को हमारे कटि-प्रदेश में बाँधते हैं और इस मेखला-बन्धन द्वारा **यः संननाह**=जो हमें कर्त्तव्यकर्मों को करने में सन्नद्ध करते हैं, और **उ**=निश्चय से **नः युयोज**=हमें अपने साथ युक्त करते हैं। ऐसा होने पर **यस्य देवस्य**=जिस सर्वान्तर्यामी देव के **प्रशिषा**=प्रशासन से **चरामः**=हम वर्त्तते हैं—कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, **सः**=वे प्रभु **पारम् इच्छात्**=हमारे प्रारिप्सित कर्म के पार तक हमें ले-चलना चाहें, **उ**=और **सः**=वे ही **नः**=हमें **विमुञ्चात्**=शत्रुओं से मुक्त करें।

भावार्थ—प्रभु ने वेद के द्वारा मेखला-बन्धन का निर्देश किया है। इसके द्वारा प्रभु हमें कर्त्तव्यकर्मों को करने में सन्नद्ध करते हैं और हमें उन कर्मों में सफलता प्राप्त कराते हैं। प्रभु के शासन में चलने पर हम काम-क्रोध आदि शत्रुओं से आक्रान्त नहीं होते।

ऋषिः—**अगस्त्यः** ॥ देवता—**मेखला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ऋषीणाम् आयुधम्

आहुतास्यभिहुत ऋषीणामस्यायुधम्। पूर्वा व्रतस्य प्राश्नती वीरघ्नी भव मेखले॥ २ ॥

१. हे **मेखले**=कटिबन्धभूत मेखले! **आहुता असि**=तू आहुतियों से संस्कृत हुई-हुई है। मेखला-बन्धन के समय किये जानेवाले यज्ञ में दी गई आहुतियों से तू पूजित हुई है, **अभिहुता**=सब ओर तेरी पूजा हुई है (अभिहु=to worship)। मेखला आदि प्रतीकों का उसी प्रकार आदर है जैसाकि देश के झण्डे का। तू **ऋषीणाम् आयुधम् असि**=वासनाओं को विनष्ट

करनेवाले का (ऋष् to kill) आयुध है। ब्रह्मचारी को वासनाओं का शिकार न होने के लिए प्रतिक्षण कटिबद्ध रखती है। २. प्रत्येक **व्रतस्य**=व्रत के **पूर्वा प्राश्नती**=प्रारम्भ में कटिप्रदेश को व्याप्त करती हुई हे **मेखले**=मेखले! तू **वीरघ्नी भव**=इन वीर पुरुषों को प्राप्त होनेवाली हो। (हन् गतौ)।

भावार्थ—यज्ञपूर्वक बाँधी गई यह मेखला वासना-विनाशक पुरुषों का आयुध बनती है। प्रत्येक व्रत के पहले हमें प्राप्त होती हुई यह हमें वीर बनाती है।

ऋषिः—**अगस्त्यः** ॥ देवता—**मेखला** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

(मृत्योः ब्रह्मचारी) ब्रह्मणा, तपसा, श्रमेण, मेखलया

मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मिं निर्याचन्भूतात्पुरुषं यमाय।
तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि ॥ ३ ॥

१. आचार्य स्वयं ब्रह्मचारी होता हुआ शिष्य को ब्रह्मचारी बनाता है (आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते), अतः वह कहता है कि—**यत्**=क्योंकि **अहम्**=मैं **मृत्योः**=आचार्य का (आचार्यो मृत्युः वरुणः सोम ओषधयः पयः) **ब्रह्मचारी अस्मि**=ब्रह्मचारी हूँ, अतः मैं भी **भूतात्**=प्राणीसमूह से **पुरुषम्**=एक पुरुष को **यमाय**=यम-नियम आदि के पालन के लिए **निर्याचत्**=माँगने का इच्छुक हूँ—मैं भी उसे ब्रह्मचारी बनाने का प्रयत्न करता हूँ। २. **तम्**=उसे **अहम्**=मैं **ब्रह्मणा**=ज्ञान से, **तपसा**=तप से, **श्रमेण**=श्रम से तथा **एनम्**=इस पुरुष को **अनया मेखलया सिनामि**=इस मेखला से बद्ध करता हूँ।

भावार्थ—आचार्य को स्वयं ब्रह्मचारी रहकर एक अन्य व्यक्ति को ब्रह्मचारी बनाने की कामना करनी है। उसमें 'ब्रह्म, तप व श्रम' को स्थापित करने का प्रयत्न करना है और उसे मेखला-बद्ध करके दृढ़निश्चयी बनाना है।

ऋषिः—**अगस्त्यः** ॥ देवता—**मेखला** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

मति, मेधा, तप, वीर्य

श्रद्धाया दुहिता तपसोऽधि जाता स्वसा ऋषीणां भूतकृतां बभूव।
सा नो मेखले मतिमा धेहि मेधामथो नो धेहि तप इन्द्रियं च ॥ ४ ॥

१. यह मेखला **श्रद्धायाः दुहिता**=श्रद्धा की दुहिता है, आस्तिक्य बुद्धि का प्रपूरण करनेवाली है, **तपसः अधिजाता**=तप से इसका प्रादुर्भाव हुआ है। **भूतकृतां ऋषीणां स्वसा बभूव**=यथार्थ कर्मों को करनेवाले ऋषियों की यह बहिन है। मेखला का धारण श्रद्धा से होता है, धारित हुई-हुई यह हमें तपस्वी बनाती है और उत्तम कर्मों को कराती हुई यह हमें उत्तम स्थिति में ले-जाती है। २. **मेखले**=मेखले! **सा**=वह तू **नः**=हमारे लिए **मतिम्**=मनन-शक्ति को **आधेहि**=धारण कर, **मेधाम्**=मेधा बुद्धि को **अथो**=और **नः**=हमारे लिए **तपः**=तप को **च इन्द्रियम्**=और वीर्य को **धेहि**=धारण कर।

भावार्थ—मेखला का धारण श्रद्धा से होता है। यह हमें तपस्वी बनाती है और उत्तम कर्मों को कराती हुई उत्तम स्थिति में लाती है। यह हममें 'मति, तप व वीर्य' का स्थापन करती है।

ऋषिः—**अगस्त्यः** ॥ देवता—**मेखला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दीर्घायुत्वाय

यां त्वा पूर्वे भूतकृत ऋषयः परिबेधिरे।
सा त्वं परि ष्वजस्व मा दीर्घायुत्वाय मेखले ॥ ५ ॥

१. हे **मेखले**=मेखले! **यां त्वा**=जिस तुझे **पूर्वे**=अपना पालन व पूरण करनेवाले **भूतकृता**=यथार्थ कर्मों को करनेवाले **ऋषयः**=वासना-विनाशक (ऋष् to kill) तत्त्वद्रष्टा पुरुष **परिबेधिरे**=बाँधते हैं, **सा त्वम्**=वह तू **मां परिष्वजस्व**=मेरा आलिङ्गन कर, जिससे **दीर्घायुत्वाय**=मैं दीर्घजीवन को प्राप्त करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—मेखला धारण करनेवाला 'अपना पालन व पूरण करता है, यथार्थ कर्मों को करता है, वासनाओं का विनाश करता है, तत्त्वद्रष्टा बनता है, और इसप्रकार दीर्घजीवनवाला होता है'।

विशेष—यह दृढ़निश्चयी पुरुष वासनाओं का विनाश करके शक्तिशाली बनता है, अतः 'शुक्रः' (शुक्रं वीर्यम् अस्य अस्ति इति शुक्रः) कहलाता है। यही अगले दो सूक्तों का ऋषि है।

१३४. [चतुस्त्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वज्रः** ॥ छन्दः—**परानुष्टुप्त्रिष्टुप्** ॥

वज्र का प्रयोजन

अयं वज्रस्तर्पयतामृतस्यावास्य राष्ट्रमप हन्तु जीवितम्।
शृणातु ग्रीवाः प्र शृणातूष्णिहा वृत्रस्येव शचीपतिः॥ १॥

१. **अयं वज्रः**=यह पापों का वर्जन करनेवाला दण्ड **ऋतस्य तर्पयताम्**=सत्य-व्यवस्था का प्रीणन करे और **अस्य**=इस शत्रुभूत राजा के **राष्ट्रम् अवहन्तु**=राष्ट्र को सुदूर नष्ट करे, **जीवितम् अप** (हन्तु)=इसके जीवन को भी नष्ट करनेवाला हो। २. **इव**=जैसे **शचीपतिः**=शक्तियों का स्वामी सूर्य **वृत्रस्य**=आच्छादक मेघ के आवरण को छिन्न-भिन्न कर देता है, उसी प्रकार यह वज्र दुष्ट पुरुषों की **ग्रीवाः शृणातु**=गर्दनों को काट डाले और **उष्णिहाः प्र शृणातु**=गुद्दी की नाड़ियों को भी काट दे।

भावार्थ—हम शक्तिशाली बनें। हमारा वज्र शत्रुभूत राजा के राष्ट्र व जीवन को नष्ट करनेवाला हो। यह वज्र ऋत का प्रीणन करे।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वज्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिपदागायत्री** ॥

अधर्मी का पतन

अधरोऽधर उत्तरेभ्यो गूढः पृथिव्या मोत्सृपत्। वज्रेणावहतः शयाम्॥ २॥

१. यह शत्रु **वज्रेण अवहतः**=वज्र से चूर्णीकृत हुआ-हुआ **शयाम्**=सो जाए—मर जाए। यह **उत्तरेभ्यः**=उत्कृष्ट मनुष्यों से **अधरः अधरः**=नीचे-ही-नीचे रहकर **पृथिव्याः गूढः**=पृथिवी से संवृत हुआ-हुआ **मा उत्सृपत्**=कभी न उठे।

भावार्थ—अधर्मी कभी ऊपर न उठ सके।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वज्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

राष्ट्र की हानि करनेवाले का विनाश

यो जिनाति तमन्विच्छ यो जिनाति तमिज्जहि।
जिनतो वज्र त्वं सीमन्तमन्वञ्चमनु पातय॥ ३॥

१. **यः**=जो शत्रु **जिनाति**=हानि पहुँचाता है, हे वज्र! **तम् अनु इच्छ**=तू उसका लक्ष्य करके उसे ढूँढ—उसपर प्रहार करने की इच्छा कर। **यः जिनाति**=जो हानि करता है **तम् इत् जहि**=तू उसे ही नष्ट कर। २. हे **वज्र**=दुष्टों के दण्ड के साधनभूत आयुध। **त्वम्**=तू **जिनतः**=इस हानि

करनेवाले के **सीमन्तम्**=(सीम्नोरन्तः) सिर के मध्यदेश को **अन्वञ्चम् अनुपातय**=अनुक्रम से विदीर्ण कर डाल।

भावार्थ—राष्ट्र की हानि करनेवाले का वज्र के द्वारा विनाश किया जाए।

१३५. [पञ्चत्रिंशिदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वज्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अश्नामि बलं कुर्वे

यदश्नामि बलं कुर्व इत्थं वज्रमा ददे।
स्कन्धानमुष्य शातयन्वृत्रस्येव शचीपतिः॥ १॥

१. मैं **यत् अश्नामि**=जो खाता हूँ, उससे **बलं कुर्वे**=बल का सम्पादन करता हूँ। **इत्थम्**=इसप्रकार शक्ति के दृष्टिकोण से ही भोजन करता हुआ, अर्थात् स्वाद के लिए न खाता हुआ **वज्रम् आददे**=वज्रतुल्य दृढ़ शरीर का आदान करता हूँ। २. अब **अमुष्य**=उस शत्रु के **स्कन्धान्**=कन्धों को मैं इसप्रकार **शातयन्**=नष्ट कर डालता हूँ, **इव**=जैसेकि **शचीपतिः**=शक्तियों का स्वामी सूर्य **वृत्रस्य**=आच्छादन करनेवाले मेघ के अवयवों को छिन्न-भिन्न कर देता है।

भावार्थ—भोजन में स्वाद को मापक न बनाकर मैं स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से खाता हूँ। इसप्रकार शक्ति का सम्पादन करके, वज्रतुल्य दृढ़ शरीरवाला होकर मैं शत्रु के कन्धों को काट डालता हूँ।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**वज्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सं-पान-संगरण

यत्पिबामि सं पिबामि समुद्रइव संपिबः।
प्राणानमुष्य संपाय सं पिबामो अमुं वयम्॥ २॥
यद्गिरामि सं गिरामि समुद्रइव संगिरः।
प्राणानमुष्य संगीर्य सं गिरामो अमुं वयम्॥ ३॥

१. **यत् पिबामि**=मैं जो जल पीता हूँ तो **संपिबामि**=शत्रु का निग्रह करके उसके रस को ही पी जाता हूँ, उसी प्रकार **इव**=जैसेकि **समुद्रः**=समुद्र नदीमुख से सारे जल को लेकर **संपिबः**=सम्यक् पी जाता है। **वयम्**=हम भी **अमुष्य**=उस शत्रु के **प्राणान् संपाय**=प्राणापान आदि व्यापार को पीकर **अमुम्**=उस शत्रु को ही **संपिबामः**=पी जाते हैं। २. **यत् गिरामि**=जो कुछ मैं खाता हूँ तो **संगिरामि**=शत्रु को ही निगल जाता हूँ। **इव**=जैसेकि **समुद्रः**=समुद्र **संगिरः**=नदी-जल को निगीर्ण कर लेता है। **वयम्**=हम भी **अमुष्य**=उस शत्रु के **प्रणान् संगीर्य**=प्राणों को निगलकर **अमुं संगिरामः**=उस शत्रु को ही निगल जाते हैं।

भावार्थ—हम खाते-पीते इस दृष्टिकोण को न भूलें कि इस खान-पान से शक्ति का सम्पादन करके शत्रुओं को ही खा-पी जाना है, स्वाद का दृष्टिकोण तो हमें ही शत्रुओं का शिकार बना देगा।

विशेष—स्वस्थ शरीर के लिए वीतहव्य=पवित्र पदार्थों को खानेवाला ही होना चाहिए। यह 'वीतहव्य' शरीर को स्वस्थ बनाता हुआ अपने केशों को भी सुदृढ़ बनाता है। अगले दो सूक्तों का ऋषि यही है।

१३६. [षट्त्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**वीतहव्यः (केशवर्धनकामः)**॥ देवता—**नितत्नी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—१ **अनुष्टुप्**; २ **द्विपदासाम्नीबृहती (एकावसाना)**॥

नितत्नी

देवी देव्यामधि जाता पृथिव्यामस्योषधे।
तां त्वा नितत्नि केशेभ्यो दृंहणाय खनामसि॥ १॥
दृंह प्रत्नान् जनयाजातान् जातानु वर्षीयसस्कृधि॥ २॥

१. हे **ओषधे**=नितत्नी नामक ओषधे! तू **देवी**=रोगों को जीतने की कामनावाली है, **देव्यां पृथिव्याम् अधिजाता असि**=तू दिव्य गुणों से युक्त इस पृथिवी में उत्पन्न हुई है। हे **नितत्नि**=नितन्वाने=न्यक् प्रसरणशीले—नीचे की ओर फैलनेवाली ओषधे! **तम् त्वा**=उस तुझे **केशेभ्यः दृंहणाय**=केशों के दृढ़ीकरण के लिए **खनामसि**=खोदकर संग्रहीत करते हैं। २. हे ओषधे! तू **प्रत्नान्**=पुरातन केशों को **दृंह**=दृढ़ कर, **अजातान् जनय**=अनुत्पन्न केशों को उत्पन्न कर और **जातान् उ**=पैदा हुए-हुए को भी **वर्षीयसः कृधि**=प्रवृद्धतम व आयततम कर—दीर्घ बना।

भावार्थ—नितत्नी नामक ओषधि के द्वारा केशों से सम्बद्ध विकारों को दूर किया जा सकता है। यह पुराने बालों को दृढ़ करती है, अजातों को उत्पन्न करती है तथा उत्पन्न बालों को लम्बा करने का साधन बनती है। इसी से इसका नाम 'नितत्नी' हुआ है।

ऋषिः—**वीतहव्यः (केशवर्धनकामः)**॥ देवता—**नितत्नी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विश्वभेषजी

यस्ते केशोऽवपद्यते समूलो यश्च वृश्चते।
इदं तं विश्वभेषज्याभि षिञ्चामि वीरुधा॥ ३॥

१. हे कृशदृंहणकाम पुरुष! **यः ते केशः अवपद्यते**=जो तेरा बाल बीच में ही टूटकर भूमि पर गिर पड़ता है **च**=और **यः समूलः वृश्चते**=जो जड़सहित छिन्न हो जाता है। **इदम्**=(इदानीम्) अब **तम्**=उस सब केश को **विश्वभेषज्या**=केशाश्रित सब रोगसमूह की निवर्तिका **वीरुधा**=ओषधि से **अभिषिञ्चामि**=अभितः सिक्त करता हूँ। इस औषध-प्रयोग से केशाश्रित सब रोगसमूह निवृत्त हो जाता है।

भावार्थ—इस विश्वभेषजी (नितत्नी) के प्रयोग से केशों के समस्त रोग दूर हो जाते हैं।

१३७. [सप्तत्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**वीतहव्यः (केशवर्धनकामः)**॥ देवता—**नितत्नी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

जमदग्नि वीतहव्य

यां जमदग्निरखनद्दुहित्रे केशवर्धनीम्। तां वीतहव्य आभरदसितस्य गृहेभ्यः॥ १॥

१. **याम् केशवर्धनीम्**=जिस केशों को बढ़ानेवाली ओषधि को **जमदग्निः**=(जमत् इति ज्वलतिकर्मसु—नि० १.१७, ज्वलन्तः अग्नयो यस्य) जिसके घर में यज्ञाग्नि सदा प्रज्वलित रहती है, वह जमदग्नि **दुहित्रे अखनत्**=दुहिता के लिए खोदता है, **ताम्**=उस ओषधि को **यः वीतहव्यः**=हव्य पदार्थों का ही सेवन करनेवाला **असितस्य गृहेभ्यः**=असित के—कृष्ण केशों के ग्रहण के लिए **आभरत्**=लाता है (आहरत्)।

भावार्थ—बालों के प्रपूरण (दुहित्र=दुह प्रपूरणे) के लिए तथा काला रखने के लिए (असितस्य) यह केशवर्धनी ओषधि उपयोगी है। बालों के रोगों को दूर करने के लिए यज्ञशील होना (जमदग्नि) तथा भोजन में हव्य पदार्थों का ही प्रयोग (वीतहव्य) भी आवश्यक है।

ऋषिः—**वीतहव्यः (केशवर्धनकामः)** ॥ देवता—**नितत्नी वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अभीशुना व्यामेन

अभीशुना मेया आसन्व्यामेनानुमेयाः।
केशा नडाइव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि॥ २॥
दृंह मूलमाग्रं यच्छ वि मध्यं यामयौषधे।
केशा नडाइव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि॥ ३॥

१. हे केशाभिवृद्धिकाम पुरुष! तेरे बाल जो पहले **अभीशुना**=अंगुलियों में **मेयाः आसन्**=चार अंगुल—इसप्रकार मापने योग्य थे। अब **व्यामेन**=प्रसारित हस्तद्वय परिमाण से **अनुमेयाः**=परिच्छेद्य (मापने योग्य) हो गये हैं। हे **ओषधे**=ओषधे! तू **मूलं दृंह**=केशों के मूल को दृढ़ कर, **अग्रम् आयच्छ**=इन केशों के अग्रभाग को आयामयुक्त कर तथा **मध्यं वियामय**=(यमय) मध्यभाग को विशेषरूप से स्थिर कर। २. हे पुरुष! **ते**=तेरे **शीर्ष्णः परि**=सिर के चारों ओर **असिताः केशाः**=ये काले-काले बाल **नडाः इव वर्धन्ताम्**=तृणविशेषों की भाँति खूब बढ़ जाएँ।

भावार्थ—केशवर्धनी के प्रयोग से अंगुलियों से मापने योग्य बाल हाथों से मापने योग्य हो जाते हैं। उनका मूल, अग्र व मध्य—सब दृढ़ व आयत हो जाता है। ये काले-काले बाल नड़ों (तृणों) की भाँति बढ़ जाते हैं।

विशेष—अगले तीन सूक्तों का ऋषि 'अथर्वा' है—स्थिर वृत्तिवाला। यह अपने को स्वस्थ व शक्तिशाली बनाता है।

१३८. [अष्टात्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'श्रेष्ठतमा अभिश्रुता' वीरुध्

त्वं वीरुधां श्रेष्ठतमाभिश्रुतास्योषधे। इमं मे अद्य पूरुषं क्लीबमोपशिनं कृधि॥ १॥

१. हे **ओषधे**=दोषों का दहन करनेवाली ओषधे! **त्वम्**=तू **वीरुधाम्**=सब लताओं में **श्रेष्ठतमा**=सर्वश्रेष्ठ **अभिश्रुता असि**=विख्यात है। तू **मे**=मेरे **इमम्**=इस **क्लीबम् पुरुषम्**=बलहीन पुरुष को **अद्य**=आज **ओपशिनं कृधि**=(ओपश A kind of head ornament) शिरोभूषणवाला कर दे। क्लीबता के कारण यह झुके हुए सिरवाला न होकर, सशक्त बनकर अलंकृत मस्तिष्कवाला हो।

भावार्थ—उत्तम ओषधि-सेवन से यह बलहीन पुरुष सबल बन जाए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ओपशिनं कुरीरिणम्

क्लीबं कृध्योपशिनमथो कुरीरिणं कृधि।
अथास्येन्द्रो ग्रावभ्यामुभे भिनत्त्वाण्ड्यौ ॥ २॥

१. हे ओषधे! तू **क्लीबम्**=इस बलहीन पुरुष को **ओपशिनं कृधि**=शिरोभूषणवाला कर दे। यह सशक्त बनकर अलंकृत मस्तिष्कवाला हो, **अथो**=और इस पुरुष को **कुरीरिणं कृधि**=प्रशस्त

कर्मोंवाला कर दे (कुत्र उच्च—उणा० ४.३३) शक्तिशाली बनकर यह क्रियाशील हो। २. **अथ**=अब **इन्द्रः**=रोगरूप शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला यह उत्तम वैद्य **ग्रावभ्याम्**=पाषाणों द्वारा **अस्य उभे आण्ड्यौ**=इसके दोनों अण्डकोशों के रोगों को **भिनत्तु**=विदीर्ण कर दे।

भावार्थ—ओषधि-प्रयोग से इस रोगी की क्लीबता दूर हो, यह अलंकृत मस्तिष्कवाला बने, क्रियाशील हो, इसके अण्डकोशों का रोग दूर हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

कुरीरं, कुम्बम्

क्लीब क्लीबं त्वाकरं वध्रे वध्रिं त्वाकरमरसारसं त्वाकरम्।
कुरीरमस्य शीर्षणि कुम्बं चाधिनिदध्मसि॥ ३ ॥

१. वैद्य रोग को सम्बोधित करते हुए कहता है—**क्लीब**=हे निर्बलता के रोग! **त्वा क्लीबम् अकरम्**=तुझे निर्बल करता हूँ। **वध्रे**=हे शक्तिबन्धक रोग! **त्वा वध्रिम् अकरम्**=तुझे शक्तिहीन करता हूँ। हे **अरस**=नीरस (शुष्क) करनेवाले रोग! मैंने **त्वा अरसम् अकरम्**=तुझे नीरस कर दिया है। २. इसप्रकार रोग को नीरस करके **अस्य**=इस पुरुष के जीवन में **कुरीरम्**=क्रियाशीलता को **च**=तथा **शीर्षणि**=मस्तिष्क में **कुम्बम्**=शत्रुओं के आक्रमण से बचानेवाली सुगहन बाढ़ को **अधिनिदध्मसि**=हम स्थापित करते हैं।

भावार्थ—क्लीबता को दूर करके वैद्य रोगी को स्वस्थ कर इसे खूब क्रियाशील व ज्ञानवाला बनाता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विकृत वीर्य-नाड़ियों का छेदन

ये ते नाड्यौ देवकृते ययोस्तिष्ठति वृष्ण्यम्।
ते ते भिनद्मि शम्ययामुष्या अधि मुष्कयोः॥ ४ ॥

१. **ये**=जो **ते**=तेरी **नाड्यौ**=दो नाड़ियाँ **देवकृते**=(दिव क्रिडायाम्=कृञ हिंसायाम्) विषय-क्रीड़ा के कारण हिंसित-सी हो गई हैं, **ययोः वृष्ण्यम् तिष्ठति**=जिनमें वीर्य की स्थिति है, **ते**=तेरी **ते**=उन हिंसित नाड़ियों को **अधिमुष्कयोः**=अण्डकोशों के ऊपर **अमुष्याः**=उस स्वस्थ नाड़ी **शम्यया**=युगकीलक-तुल्य शस्त्र के द्वारा **भिनद्मि**=अलग करता हूँ। इन नाड़ियों के पार्थक्य के द्वारा विषय-उन्माद को दूर करता हूँ।

भावार्थ—यदि विषय-क्रीड़ा के कारण वीर्यवाहिनी नाड़ियाँ दूषित हो गई हैं, तो वैद्य उनका छेदन करके इस रोगी को विषय-उन्मादशून्य करने का प्रयत्न करे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विषय-उन्माद निरास

यथा नडं कशिपुने स्त्रियो भिन्दन्त्यश्मना।
एवा भिनद्मि ते शेपोऽमुष्या अधि मुष्कयोः॥ ५ ॥

१. **यथा**=जैसे **स्त्रियः**=स्त्रियाँ **कशिपुने**=(कटं निर्मातुम्) चटाई बनाने के लिए **नडम्**=नरकट घास को—तृणविशेष को **अश्मना भिन्दन्ति**=पत्थर से विदीर्ण करती (कूटती) हैं, **एव**=इसीप्रकार **अधिमुष्कयोः**=अण्डकोशों के ऊपर **ते शेपः**=तेरी जननेन्द्रिय को **अमुष्याः भिनद्मि**=उस स्वस्थ नाड़ी से अलग विदीर्ण करता हूँ। इसप्रकार विषयोन्माद को समाप्त करके वैद्य रुग्ण पुरुष को

स्वस्थ व सबल बनाने का यत्न करे।

१३९. [एकोनचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाविराड्जगती** ॥

सुभगंकरणी 'न्यस्तिका'

न्यस्तिका रुरोहिथ सुभगंकरणी मम।
शतं तव प्रतानास्त्रयस्त्रिंशन्नितानाः। तया सहस्रपर्ण्या हृदयं शोषयामि ते॥ १॥

१. एक युवक विद्या आदि गुणों से अपने को इसप्रकार सुशोभित करे कि एक युवति उसके गुणों को सुनकर उसके प्रति प्रेमवाली हो। वह उसे ही जीवन-साथी के रूप में प्राप्त करने की कामनावाली हो। इसीप्रकार युवति के गुण युवक को प्रेमयुक्त करें। युवक कहता है **न्यस्तिका**=निश्चय से दीप्त होनेवाली (अस् दीप्तौ) अथवा अविद्यान्धकार को परे फेंकनेवाली (अस् क्षेपणे) विद्या का **रुरोहिथ**=मुझमें प्रादुर्भाव हुआ है। यह विद्या **मम सुभगंकरणी**=मेरा सौभाग्य बढ़ानेवाली है। २. हे विद्ये! **शतं तव प्रतानाः**=तेरे सैकड़ों प्रतान—फैलाव हैं, अर्थात् शतवर्षपर्यन्त (आजीवन) होनेवाले तेरे प्रतान हैं, तेरे **त्रयः त्रिंशत्**=तेतीस **नितानाः**=नियमित विस्तार हैं, तेतीस देव तेरे ज्ञान का विषय बनते हैं। हे युवति! **तया सहस्रपर्ण्या**=उस सहस्रों प्रकार से पालन करनेवाली विद्या से **ते हृदयं शोषयामि**=तेरे हृदय को शुष्क करता हूँ—अपने प्रति प्रेमाकुल करता हूँ।

भावार्थ—एक युवक अपने में विद्यादि गुणों का प्रादुर्भाव करके एक युवति को अपने प्रति प्रेममग्न करने का प्रयत्न करे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

परस्पर प्रेमाकुलता

शुष्यतु मयि ते हृदयमथो शुष्यत्वास्य[ ]म्।
अथो नि शुष्य मां कामेनाथो शुष्कास्या चर॥ २॥

१. हे युवति! ते **हृदयम्**=तेरा हृदय **मयि शुष्यतु**=मेरे विषय में प्रेमान्वित होकर शुष्क हो जाए **अथो आस्यं शुष्यतु**=और मेरे वियोग में तेरा मुख भी शुष्कतावाला **अथो**=और **माम्**=मुझे भी तू **कामेन**=तेरे प्रति प्रेम से **निशुष्य**=शुष्क करके स्वयं भी **अथो**=अब **शुष्कास्या**=शुष्क मुखवाली होकर **चर**=विचर।

भावार्थ—विद्यादि गुणों से अलंकृत युवक व युवति एक-दूसरे के गुणश्रवण से प्रेमाकुलता अनुभव करें और एक-दूसरे को जीवन-साथी बनाने का निश्चय करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अन्योन्य हृदयाकर्षण

संवननी समुष्पला बभ्रु कल्याणि सं नुद।
अमूं च मां च सं नुद समानं हृदयं कृधि॥ ३॥

१. हे **बभ्रु**=जीवन में हमारा भरण करनेवाली! **कल्याणि**=मंगलकारिणि विद्ये! तू **संवननी**=सम्यक् सेवनीय व हमें **समुष्पला**=(सं वस् पल गतौ रक्षणे च) उत्तम निवास की ओर ले-जानेवाली है। तू **संनुद**=हमें सम्यक् प्रेरित कर। २. **अमूं च मां च संनुद**=उस युवति को और मुझे एक-दूसरे के प्रति प्रेरित कर। **समानं हृदयं कृधि**=हमें समान हृदयवाला बना।

मेरा हृदय उस युवति का हृदय हो, उस युवति का हृदय मेरा हृदय हो।

भावार्थ—युवक व युवति विद्यादि गुणों से एक-दूसरे के हृदय को अपने प्रति आकृष्ट करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रेमजल के अभाव में शुष्कास्यता

यथोदकमपपुषोऽ पशुष्यत्यास्य [म्।
एवा नि शुष्य मां कामेनाथो शुष्कास्या चर॥ ४॥

१. **यथा**=जैसे **उदकम् अपपुषः**=जल न पीनेवाले पुरुष का **आस्यम् अपशुष्यति**=मुख सूख जाता है, **एव**=इसीप्रकार हे युवति! तू **माम्**=मुझे अपने प्रति **कामेन निशुष्य**=दीप्त प्रेम से सुखाकर **अथो**=अब स्वयं भी मेरे प्रति प्रेम से **शुष्कास्या चर**=शुष्क मुखवाली होकर विचर।

भावार्थ—जैसे प्यासे को जल का ही ध्यान रहता है, इसीप्रकार ये युवक और युवति परस्पर एक-दूसरे की प्राप्ति की कामनावाले हों ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पवित्र प्रेम

यथा नकुलो विच्छिद्य सन्दधात्यहिं पुनः।
एवा कामस्य विच्छिन्नं सं धेहि वीर्यावति॥ ५॥

१. **यथा**=जैसे नकुलः (न-कुला आदाने) कुत्सित कर्मों का आदान न करनेवाला व्यक्ति **अहिं विच्छिद्य**=(आहन्ति) विनाशक वासना को विच्छिन्न करके **पुनः संदधाति**=फिर अपना सम्यक् धारण करता है, एव उसी प्रकार हे **वीर्यावति**=प्रशस्त बलवाली युवति! तू **कामस्य विच्छिन्नं संधेहि**=काम के—प्रेमाकुलता के घाव को भरनेवाली हो, अर्थात् तुझे प्राप्त करके मैं स्वस्थ हो जाऊँ। तेरे प्रति मेरा प्रेम वासनात्मक न होकर पवित्र हो।

भावार्थ—एक युवक का युवति के प्रति पवित्र प्रेम उसका धारण करनेवाला बनता है।

१४०. [चत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः, दन्ताः** ॥ छन्दः—**उरोबृहती** ॥

दन्तौ न कि व्याघ्रौ

यौ व्याघ्राववरूढौ जिघत्सतः पितरं मातरं च।
तौ दन्तौ ब्रह्मणस्पते शिवौ कृणु जातवेदः॥ १॥

१. **यौ**=जो दाँत **व्याघ्रौ**=भेड़िये के समान **अवरूढौ**=उत्पन्न हुए-हुए **पितरं मातरं च जिघत्सतः**=पिता व माता को खाना चाहते हैं, अर्थात् मांसाहार में प्रवृत्त होते हैं, हे **जातवेदः**=(जाते-जाते विद्यते) सर्वव्यापक **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन्! प्रभो! **तौ दन्तौ**=हमारे उन दाँतों को **शिवौ कृणु**=कल्याणकर कीजिए, उनमें मांसाहार की प्रवृत्ति ही न हो। २. वस्तुतः मांसाहार से स्वार्थ की भावना बढ़ती है और गतसूक्त में वर्णित युवक-युवति का परस्पर पवित्र प्रेम होना सम्भव नहीं रहता। पवित्र प्रेम के लिए सात्त्विक अन्न का सेवन आवश्यक है।

भावार्थ—हमारी ऊपर-नीचे की दन्तपंक्तियाँ मांसाहार से दूर ही रहें। ये व्याघ्र न बन जाएँ। मांसाहार से दूर रहने में ही कल्याण है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः, दन्ताः** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाज्ज्योतिष्मतीत्रिष्टुप्** ॥

व्रीहि, यव, माष, तिल

व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम्।
एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च॥ २॥

१. हे दन्तपंक्तियो! **व्रीहिम् अत्तम्**=चावल खाओ, **यवम् अत्तम्**=जौ खाओ, **अथो**=और **माषम्**=उड़द **अथो**=तथा **तिलम्**=तिल खाओ। हे **दन्तौ**=दन्तपंक्तियो! **एषः**=यह ही **वाम्**=आपका **भागः**=भाग **रत्नधेयाय**=शरीर में 'रस, रुधिर, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा व वीर्य' रूप सात रत्नों के धारण के लिए **निहितः**=स्थापित किया गया है। २. हे दाँतो! आप **पितरं मातरं च**=पिता और माता को **मा हिंसिष्टम्**=हिंसित मत करो। जहाँ मातृत्व व पितृत्व का सम्भव है, वह वस्तु तुम्हारा भोजन न बने, अर्थात् तुम मांसाहार से सर्वथा दूर रहो।

भावार्थ—हे दाँतो! तुम्हारा भोजन 'चावल, जौ, उड़द व तिल' है। तुम्हें मांसाहार से दूर रहना है। इसी से शरीर में रस-रुधिर आदि रत्नों का स्थापन होगा।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः, दन्ताः** ॥ छन्दः—**आस्तारपंक्तिः** ॥

'स्योनौ सयुजौ' दन्तौ

उपहूतौ सयुजौ स्योनौ दन्तौ सुमङ्गलौ।
अन्यत्र वां घोरं तन्वः परैतु दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च॥ ३॥

१. हे **दन्तौ**=दोनों दन्तपंक्तियो! आप **उपहूतौ**=(समीपं आहूतौ) एक-दूसरे के समीप पुकारे जाओ, **सयुजौ**=(समानं युञ्जानौ) मिलकर कार्य करनेवाले होओ। **स्योनौ**=सुख देनेवाले व **सुमंगलौ**=उत्तम मंगल के हेतु बनो। २. **वाम्**=आपका **घोरम्**=मांसाहाररूप घोरकर्म **तन्वः अन्यत्र**=हमारे शरीर से अन्यत्र ही **परैतु**=सुदूर स्थान में चला जाए। हे **दन्तौ**=दाँतो! तुम **पितरं मातरं च मा हिंसिष्टम्**=पिता व माता को हिंसित मत करो, अर्थात् किसी भी प्राणी का मांस मत खाओं।

भावार्थ—हमारे दाँत मिलकर मङ्गल कार्य करनेवाले हों। ये मांसाहार से दूर ही रहें। मांसाहाररूप घोर कर्म हमारे शरीर से दूर ही रहे।

विशेष—मांसाहार से दूर रहता हुआ, सबके प्रति प्रेमवाला यह व्यक्ति 'विश्वामित्र' कहलाता है। यही अगले दो सूक्तों का ऋषि है। इस विश्वामित्र का भोजन 'गोदुग्ध' व 'यव' हैं। इन्हीं का अगले सूक्तों में उल्लेख है।

१४१. [एकचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गोदुग्ध सेवन

वायुरेनाः समाकरत्त्वष्टा पोषाय ध्रियताम्।
इन्द्र आभ्यो अधि ब्रवद्रुद्रो भूम्ने चिकित्सतु॥ १॥

१. **वायुः**=वायु **एनाः**=इन हमारी गौओं को **समाकरत्**=संघशः अपने में प्राप्त कराए, अर्थात् ये गौएँ खुली वायु में भ्रमण (चारागाहों में चरने) के लिए जाएँ—'वायुर्येषां सहचारं जुजोष', **त्वष्टा**=पशु के रूप को बनानेवाला यह सूर्य **पोषाय**=अभिवृद्धि के लिए इन गौओं को **ध्रियताम्**=धारण करे। **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **आभ्यः**=इनके रक्षण के लिए **अधिब्रवत्**=आधिक्येन उपदेश

करता है। वेद में गोपालन का स्थान-स्थान पर उपदेश किया गया है। **रुद्रः**=रोगों का चिकित्सक **भूम्ने**=इनके बाहुल्य के लिए **चिकित्सतु**=इनकी व्याधियों का प्रतीकार करे।

भावार्थ—हमारी गौएँ खुली वायु में चारागाहों में चरने के लिए जाएँ। सूर्य अपनी किरणों द्वारा इनमें प्राणशक्ति का धारण करे। प्रभु (राजा) इनके दुग्ध के सेवन के लिए हमें उपदेश दे। रुद्र (पशुचिकित्सक) इनके रोगों को दूर करनेवाला हो।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गोवत्सों का कर्णवेध

लोहि॑तेन॒ स्वधि॑तिना मिथु॒नं कर्ण॑योः कृधि।
अक॑र्ताम॒श्विना॒ लक्ष्म॒ तद॑स्तु प्र॒जया॑ ब॒हु ॥ २ ॥

१. हे गोपाल! **लोहितेन**=लोहितवर्ण ताम्रविकार **स्वधितिना**=शस्त्र से **कर्णयोः**=वत्स-सम्बन्धी कानों में **मिथुनं कृधि**=स्त्री-पुंसात्मक चिह्न कर। **अश्विनौ**=गृहस्थ दम्पती (माता-पिता) **लक्ष्म अकर्ताम्**=इस चिह्न को करें। **तत्**=वह चिह्न **प्रजया बहु अस्तु**=पुत्र-पौत्रादि प्रजा से समृद्ध हो, अर्थात् कानों में किया गया वह चिह्न हमारे गोधन की समृद्धि का कारण बने।

भावार्थ—अपनी गौओं के बछड़ों के कानों में गृहस्थ दम्पती गोपालों द्वारा ताम्रशस्त्र से चिह्न कराएँ (कर्णवेध कराएँ)। यह चिह्न गोसन्तति की वृद्धि के लिए आवश्यक है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देव-असुर-मनुष्य

यथा॑ च॒क्रुर्दे॑वासु॒रा यथा॑ मनु॒ष्या॒ ॅ उ॒त।
ए॒वा स॑हस्रपो॒षाय॑ कृणु॒तं लक्ष्मा॑श्विना ॥ ३ ॥

१. सामान्य मनुष्य यदि 'मनुष्य' शब्द वाच्य हैं, तो उत्तम मनुष्य 'देव' तथा अधम 'असुर' कहलाते हैं। ये क्रमशः राजस्, सात्त्विक व तामस् होते हुए भी गौओं को रखते हैं और अपने गोवत्सों के कानों पर स्त्री-पुंसात्मक चिह्नों को करते हैं। **यथा**=जैसे **देवासुराः**=देव व असुर **चक्रुः**=करते हैं, **उत**=और **यथा**=जैसे **मनुष्याः**=सामान्य मनुष्य भी करते हैं, **एव**=उसी प्रकार **अश्विना**=गृहस्थ दम्पती **लक्ष्म कृणुतम्**=गोवत्सों के कर्णों पर चिह्नों को करें, जिससे **सहस्रपोषाय**=सहस्रों की संख्या में उनका पोषण हो।

भावार्थ—हम 'सात्त्विक, राजस् व तामस्' इनमें से किसी भी श्रेणी में हों, गौओं को रक्खें। उनके वत्सों के कर्णों पर लक्ष्म (चिह्न) बनाएँ, जिससे उनका सहस्रशः पोषण होता रहे।

१४२. [द्विचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वायुः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यव द्वारा रोगकृमि विनाश

उच्छ्र॑यस्व ब॒हुर्भ॑व॒ स्वेन॒ मह॑सा यव।
मृ॒णी॒हि विश्वा॒ पात्रा॑णि॒ मा त्वा॑ दि॒व्याश॒निर्व॑धीत् ॥ १ ॥

हे **यव**=जौ! तू **उच्छ्रयस्व**=ऊपर उठ—प्ररूढ़ होकर उन्नत हो **बहुः भव**=तू अनेकविध व बहुत हो, **स्वेन महसा**=अपने तेज से—रस-वीर्य से **विश्वा पात्राणि**=(पा रक्षणे, रक्षितव्यम् अस्मात् रक्षांसि) सब रोगकृमियों को **मृणीहि**=नष्ट कर डाल। **दिव्या अशिनः**=आकाश से गिरनेवाली विद्युत् **त्वा मा वधीत्**=तुझे हिंसित न करे।

भावार्थ—हमारे क्षेत्रों में जौ की खूब उत्पत्ति हो। यह यव अपनी प्राणशक्ति से (यवे ह प्राण अहित:) शरीरस्थ रोगकृमियों को नष्ट करे। हमारे यव-क्षेत्र विद्युत् गिरने से नष्ट न हों।

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**वायु:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

समुद्र के समान अक्षीण

आशृण्वन्तं यवं देवं यत्र त्वाच्छावदामसि।
तदुच्छ्र्यस्व द्यौरिव समुद्रइवैध्यक्षित: ॥ २ ॥

१. यह 'यव' देव हमारी प्रार्थना को सुनता है। **आशृण्वन्तम्**=हमारी प्रार्थना को सुनते हुए **यवं देवम्**=इस 'यव' देव को **यत्र त्वा अच्छ आवदामसि**=जिस भूमि पर तुझे लक्ष्य करके प्रार्थना करते हैं कि **तत्**=वह तू **द्यौ इव उच्छ्रयस्व**=आकाश की भाँति उन्नत हो, समस्यावस्था में खूब फूल-फलवाला और फलावस्था में **समुद्रइव अक्षित: एधि**=समुद्र के समान क्षयरहित हो।

भावार्थ—ये देवयव—दिव्य गुणयुक्त जौ—रोगों को पराजित करनेवाले जौ-क्षेत्रों में खूब उन्नत हों—आकाश में खूब ऊपर उठें और इनका फल समुद्र के समान अक्षीण हो।

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**वायु:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

यव व अक्षीणता

अक्षितास्त उपसदोऽ क्षिता: सन्तु राशय:।
पृणन्तो अक्षिता: सन्त्वत्तार: सन्त्वक्षिता: ॥ ३ ॥

१. हे यव! **ते उपसद:**=तेरे रक्षण के लिए तेरे समीप बैठनेवाले रक्षकलोग **अक्षिता:**=विनष्ट न हों। **राशय: अक्षिता: सन्तु**=हे यव! तेरे धान्यसमूह कभी क्षीण न हों, **पृणन्त:**=तेरे द्वारा घरों का पूरण करनेवाले **अक्षिता: सन्तु**=अक्षीण हों, **अत्तार: अक्षिता: सन्तु**=तेरा भोजन करनेवाले पुरुष भी अक्षीण हों।

भावार्थ—यव खानेवाले कभी क्षीण नहीं होते, अत: राष्ट्र में यव के उत्पादन पर बल दिया। राष्ट्रं यव: (तै० ३.९.७२) इस वाक्य से यह स्पष्ट है कि यव का राष्ट्रोन्नति से विशेष सम्बन्ध है। सेनान्यं वा एतदोषधीनां यद् यवा:—ऐ० ८.१६ में यव को ओषधियों का मुखिया कहा है।

॥ इति षष्ठं काण्डम् ॥

नमस्ते जी

ऋषि दयानंद द्वारा प्रचारित वैदिक विचारधारा ने सैकड़ो हृदय को क्रन्तिकारी विचारो से भर दिया | जो वेद उस काल में विचारो से भी भुला दिए गए थे | ऋषि दयानंद ने उन हृदयों को वेदों के विचारो से ओतप्रोत कर दिया और देश में वेद गंगा बहने लगी | ऋषि के अपने अल्प कार्य काल में समाज की आध्यात्मिक, सामाजिक, और व्यक्तिगत विचार धारा को बदल के रख दिया | ऋषि के बाद भी कही वर्षो तक यह परिपाटी चली पर यह वैचारिक परिवर्तन पुनः उसी विकृति की और लौट रहा है | और इसी विकृति को रोकने के लिए वैदिक विद्वान प्रो० राजेंद्र जी जिज्ञासु के सानिध्य में "पंडित लेखराम वैदिक मिशन" संस्था का जन्म हुआ है | इस संस्था का मुख्य उद्देश्य वेदों को समाज रूपी शरीर के रक्त धमनियों में रक्त के समान स्थापित करना है | यह कार्य ऋषि के जीवन का मुख्य उद्देश्य था और यही इस संस्था का भी मुख्य उद्देश्य है | संस्था के अन्य उद्देश्यों में सम्लित है साहित्य का सृजन करना | जो दुर्लभ आर्य साहित्य नष्ट होने की और अग्रसर है उस साहित्य को नष्ट होने से बचाना और उस साहित्य को क्रम बद्ध तरीके से हमारे भाई और बहनों के समक्ष प्रस्तुत करना जिससे उनकी स्वाध्याय में रूचि बढ़े और वे तुलनात्मक अध्यन कर सकें जिससे उनकी स्वधर्म में रूचि बढ़े और अन्य मत मतान्तरो की जानकारी उन्हें प्राप्त हो और वे विधर्मियो द्वारा लगाये जा रहे विभिन्न आक्षेपों का उत्तर दे सकें विधर्मियो से स्वयं भी बचें और अन्यो की भी सहयता करें | संस्था का उद्देश्य है समाज के समक्ष हमारे गौरव शाली इतिहास को प्रस्तुत करना जिससे हमारा रक्त जो ठंडा हो गया है वह पुनः गर्म हो सके और हम हमारे इतिहास पुरुषो का मान सम्मान करें और उनके बताये गये नीतिगत मार्ग पर चलें | संस्था का अन्य उद्देश्य गौ पालन और गौ सेवा को बढ़ावा देना जिससे पशुओ के प्रति प्रेम, दया का भाव बढ़े और इन पशुओ की हत्या बंद हो, समाज में हो रहे परमात्मा के नाम पर पाखण्ड, अन्धविश्वास, अत्याचार को जड़ से नष्ट करना और परमात्मा के शुद्ध वैदिक स्वरुप को समाज के समक्ष रखना, हमारे युवा शक्ति को अनेक भोग, विबिन्न व्यसनों, छल, कपट इत्यादि से बचाना |

इन कार्यो को हम अकेले पूरा करने का सामर्थ्य नहीं रखते पर, यह सारे कार्य है तो बड़े विशाल और व्यापक पर अगर संस्था को आप का साथ मिला तो बड़ी सरलता से पूर्ण किये जा सकते है | हमारा समाजिक ढाचा ऐसा है की हम प्रत्येक कार्य की लिए एक दुसरे पर निर्भर है | आशा करते है की इस कार्य में आप हमारी तन, मन से साहयता करेंगे | संस्था द्वारा चलाई जा रही वेबसाइट www.aryamantavya.in और www.vedickranti.in पर आप संस्था द्वारा स्थापित संकल्पों सम्बन्धी लेख पड़ सकते है और भिन्न-भिन्न वैदिक साहित्य को निशुल्क डाउनलोड कर सकते है | कृपया स्वयं भी जाये और अन्यो को भी सूचित करे यही आप की हवी होंगी इस यज्ञ में जो आप अवश्य करेंगे यही परमात्मा से प्रार्थना करते है |

जिन सज्जनों के पास दुर्लभ आर्य साहित्य है एवं वे उसे संरक्षित करने में संस्था की सहायता करना चाहते हैं वो कृपया निम्न पते पर सूचित करें

ptlekhram@gmail.com

धन्यवाद् !

पंडित लेखराम वैदिक मिशन

आर्य मंतव्य टीम

॥ ओ३म् ॥
अथर्ववेदभाष्यम्
पं० हरिशरण सिद्धान्तालङ्कार

ओ३म्

अथर्ववेदभाष्यम्

(द्वितीयो भागः)

भाष्यकार

पं० हरिशरण सिद्धान्तालङ्कार

सम्पादक

परमहंस स्वामी जगदीशवरानन्द सरस्वती
वेदरत्न

प्रकाशक

श्री घूडमल प्रहलाद कुमार आर्य धर्मार्थ न्यास
ब्यानियां पाड़ा, हिण्डौन सिटी,
राजस्थान-३२२ २३०

श्री हरिश्चन्दजी साहित्यानी, दाहोद (गुजरात) के आर्थिक सहयोग द्वारा १०० सैट, अथर्ववेदभाष्यम् तीन भाग मात्र ३५०.०० रु० में उपलब्ध।

प्रकाशक : **श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास**
आर्यसमाज, हिण्डौन सिटी, (राज०)-३२२ २३०
दूरभाष : ०७४६९-२३४६२८, ०९३५२६-७०४४८
चलभाष : ०-९४१४०-३४०७२

संस्करण : श्रावणी उपाकर्म, सन् २००७ (स्वाध्याय पर्व)

मूल्य : २५०.०० रुपये

प्राप्ति-स्थान : १. **श्री हरिकिशन ओम्प्रकाश**
३९९, गली मन्दिरवाली, नया बाँस, दिल्ली-११०००६,
दूरभाष : २३९५८८६४

२. **श्री विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द**
४४०८, नई सड़क, दिल्ली-११०००६, दूरभाष : ०११-२३९७७२१६

३. **श्री वैदिकानन्द**
श्री स्वामी दयानन्द ब्रह्मज्ञान, आश्रम न्यास
वैदिक सदन, भँवरकुआ, इन्दौर (म०प्र०)-४५२ ००१

४. **टङ्कारा साहित्य सदन**
आर्यसमाज, हिण्डौन सिटी, (राज०) दूरभाष : ०७४६९-२३४९००

५. **श्री गणेशदास-गरिमा गोयल,** २७०४, प्रेम-मणि निवास,
नया बाजार, दिल्ली-११०००६, दूरभाष : ०११-५५३७९०७०

शब्द-संयोजक : **स्वस्ति कम्प्यूटर्स,** कैलाशनगर, दिल्ली-३१
दूरभाष : ०९२५५९-३५२८९, ०१७४५-२७४५६८ (निवास)

मुद्रक : **राधा प्रेस,** कैलाशनगर, दिल्ली-११००३१

ओ३म्

वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना, पढ़ाना और सुनना, सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।

—महर्षि दयानन्द सरस्वती
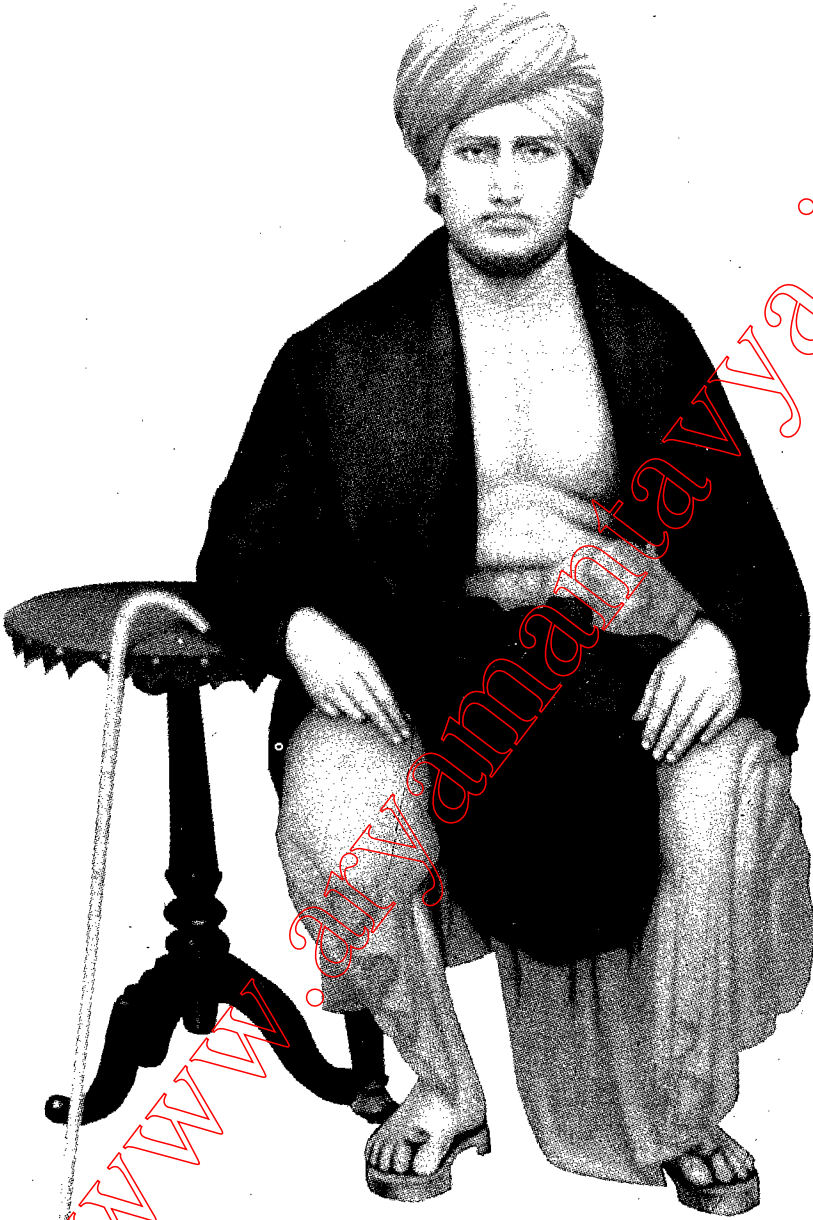
वेदनिधि के सहयोगी
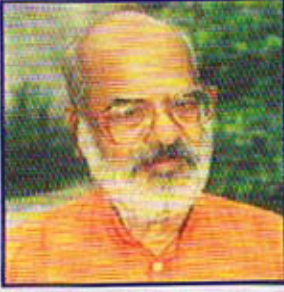
स्वामी श्री जगदीश्वरानन्द
सरस्वती, नई दिल्ली

आचार्य श्री आनन्द पुरुषार्थी
होशंगाबाद (म०प्र०)

श्री हरिश्चन्द्र साहित्यानी
दाहोद, (गुजरात)
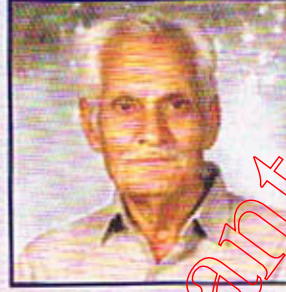
प्रिय योगेश, आपकी स्मृति में-
श्रीमती गरिमा गोयल-श्री गणेशदास गोयल

श्री उपेन्द्रनाथ चतुर्वेदी
आगरा (उ०प्र०)

श्रद्धेय पतिदेव डॉ० बी०एल० मित्तल
आपकी स्मृति में, प्रतिमा मित्तल

श्री मित्रावसु
मॉडल टाउन, दिल्ली
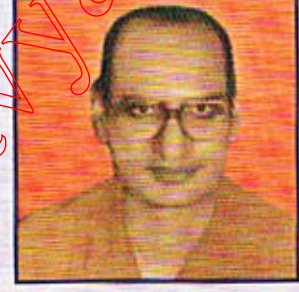
श्रीमती मृदुला गुप्ता
योजना विहार, दिल्ली

श्री कृष्ण चोपड़ा
सोलिहुल (यू०के०)
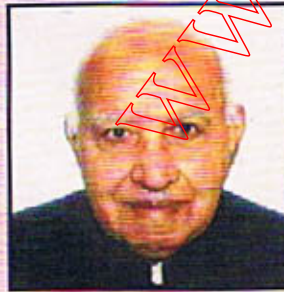
श्री गोपालचन्द्र
बर्मिंघम (यू०के०)

आर्यसमाज (वैदिक मिशन)
वैस्ट मिडलैण्ड्स,
बर्मिंघम (यू०के०)

डॉ० श्री सुधीर आनन्द
अमेरिका

अथ सप्तमं काण्डम्

अथ षोडशः प्रपाठकः

गत सूक्त में वर्णित (६.१४२ में) यव के महत्त्व को समझकर यव को ही मुख्य भोजन बनाता हुआ यह साधक 'अथर्वा' बनता है (अ-थर्व)=न डाँवाडोल वृत्तिवाला। यह ब्रह्मवर्चस् की कामना करता हुआ 'ब्रह्मवर्चसकामः' कहलाता है। इस काण्ड के प्रथम ७ सूक्तों का ऋषि यही है—

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ज्ञान+ऋत+नित्य स्वाध्याय+प्रभुनामस्मरण

धीती वा ये अनयन्वाचो अग्रं मनसा वा येऽवदन्नृतानि।
तृतीयेन ब्रह्मणा वावृधानास्तुरीयेणामन्वत नाम धेनोः॥ १॥

१. 'ब्रह्मवर्चसकाम अथर्वा' वे हैं **ये**=जो **धीती**=ध्यान के द्वारा **वा**=निश्चय से अपने को **वाचः अग्रम्**=वाणी के अग्रभाग में **अनयन्**=प्राप्त कराते हैं, अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में बड़े ध्यानपूर्वक आचार्य-मुख से वेदवाणी को सुनते हैं और इसके अध्ययन में अग्रभाग (First division) में स्थित होते हैं। अब ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थ में आने पर **ये**=जो **वा**=निश्चय से **मनसा ऋतानि अवदन्**=मन से ऋत को ही बोलते हैं—जो कभी अनृतभाषण की बात मन में नहीं आने देते। २. ये व्यक्ति **तृतीयेन**=जीवनयात्रा के तृतीय आश्रम (वानप्रस्थ) में **ब्रह्मणा वावृधानाः**=ज्ञान से—वेदज्ञान से खूब ही बढ़ते हैं, अर्थात् **'स्वाध्याये नित्ययुक्तः स्यात्'** स्वाध्याय में नित्य लगे हुए ये लोग ज्ञानवृद्ध बनते हैं तथा **तुरीयेण**=चौथे आश्रम में, अर्थात् संन्यस्त होकर **धेनोः**=सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाले कामधेनुरूप प्रभु के **नाम अमन्वत**=नाम का मनन करते हैं।

भावार्थ—हम अथर्वा तभी बनेंगे यदि १. प्रथमाश्रम में ध्यानपूर्वक अध्ययन करते हुए ज्ञान के दृष्टिकोण से अग्रभाग में स्थित होगें, २. यदि द्वितीयाश्रम में कभी झूठ बोलने का स्वप्न भी न लेंगे, ३. तृतीय में वेद ज्ञान में निरन्तर बढ़ते हुए, ४ तुरीय में प्रभुनामस्मरण करनेवाले होंगे।

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥

सच्चा पुत्र

स वेद पुत्रः पितरं स मातरं स सूनुर्भुवत्स भुवत्पुनर्मघः।
स द्यामौर्णोदन्तरिक्षं स्व१ः स इदं विश्वमभवत्स आभवत्॥ २॥

१. **सः पुत्रः**=गतमन्त्र में जिस अथर्वा की जीवनयात्रा का चित्रण किया है, वह सच्चा पुत्र (पुनाति त्रायते)—अपने जीवन को पवित्र व रक्षित करनेवाला **पितरं वेद**=अपने पिता प्रभु को जाननेवाला होता है। **सः मातरं वेद**=वह अपनी इस मातृभूत वेदवाणी को जानता है। **सः सूनुः भुवत्**=वह अपने माता-पिता का सच्चा पुत्र होता है। **पुनः**=फिर **सः**=वह **मघः भुवत्**=ऐश्वर्य का पुञ्ज बनता है अथवा **'मघ इति मखनाम'** वह यज्ञशील होता है। २. **सः**=वह **द्याम्**=अपने मस्तिष्करूप द्युलोक को **और्णोत्**=आच्छादित करता है—उसे लोभ के आक्रमण से विनष्ट नहीं

होने देता। **अन्तरिक्षम्**=वह हृदयान्तरिक्ष को आच्छादित करता है—उसे क्रोध के आक्रमण से बचाता है। परिणामतः वह **स्वः**=सुख को प्राप्त होता है। (स्वर्गं व्याप्नोति—सा०)। **सः**=वह लोभ, क्रोध आदि से ऊपर उठकर **इदं विश्वम् अभवत्**=यह सम्पूर्ण विश्व हो जाता है—**'वसुधैव कुटुम्बकम्'** पृथिवी को ही अपना परिवार जानता है। **सः आभवत्**=अन्ततः मुक्त होकर **सर्वतः**=ब्रह्म के साथ (आ) विचरता है, ब्रह्म के साथ होता है।

भावार्थ—हम पिता प्रभु व माता वेद को जानें। हम माता-पिता के सच्चे पुत्र बनकर यज्ञशील हों। मस्तिष्क में लोभ न आने दें, हृदय में क्रोध से दूर रहें। इसप्रकार सुख का व्यापन करें। वसुधा को ही परिवार जानें। मुक्त होकर सर्वत्र प्रभु के साथ विचरें।

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अथर्वाणं यज्ञम्

अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं मातुर्गर्भं पितुरसुं युवानम्।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः॥ १॥

१. **अथर्वाणं इमम्** (अथर्वा वै प्रजापतिः। गो० ब्रा० १.२.१६)=न डाँवाडोल होनेवाले—स्थिर—इस प्रभु को **यः**=जो **मनसा चिकेत**=मनन के द्वारा जानता है, वह तू **नः प्रवोचः**=हमें उस ब्रह्म का उपदेश कर। **तम्**=उस प्रभु को **इह इह ब्रवः**=यहाँ—इस जन्म में ही और इस जन्म में ही उपदिष्ट कर। चूँकि **'इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः'** इस जन्म में ही प्रभु को जान लिया तभी कल्याण है, अन्यथा कल्याण सम्भव नहीं। २. उस प्रभु को उपदिष्ट कर जो **पितरम्**=सबका रक्षण करनेवाला है, **देवबन्धुम्**=देववृत्तिवाले व्यक्तियों को अपने साथ बाँधनेवाला है, **मातुः गर्भम्**=इस मातृभूत पृथिवी के अन्दर व्यापक है, **पितुः असुम्**=इस द्युलोकरूप पिता की प्राणशक्ति है—द्युलोकस्थ सूर्य की किरणों में प्राणशक्ति को स्थापित करनेवाला है, **युवानम्**=सदा युवा है, अजरामर है, अथवा (यु मिश्रणामिश्रणयोः) बुराइयों को पृथक् करनेवाला व अच्छाइयों को हमारे साथ मिलानेवाला है, **यज्ञम्**=पूजनीय संगतिकरणयोग्य व समर्पणीय है।

भावार्थ—ब्रह्म का ज्ञाता पुरुष हमें इसी जन्म में ब्रह्म का उपदेश दे। उपनिषद् के शब्दों में कल्याण इसी बात में है कि हम शरीर-विसर्जन से पूर्व ही प्रभु को जान लें (**इह चेदशकद् बोद्धुं प्राक्शरीरस्य विस्रसः। ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते**)।

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

विष्ठाः—घृणिः

अया विष्ठा जनयन्कर्वराणि स हि घृणिरुरुर्वराय गातुः।
स प्रत्युदैद्धरुणं मध्वो अग्रं स्वया तन्वा तन्वमैरयत॥ १॥

१. **विष्ठा** (विष्ठाः)=विशेषरूप से सर्वत्र स्थितिवाले वे प्रभु **अया**=इस प्रकृति के द्वारा **कर्वराणि जनयन्**=सब कर्मों को प्रादुर्भूत कर रहे हैं। सब क्रियाएँ प्रकृति में ही होती हैं, इन क्रियाओं को प्रभु प्रादुर्भूत करते हैं। **सः हि घृणिः**=वे प्रभु ही प्रकाशमान व दीप्त हैं। **उरुः**=विशाल हैं, **वराय गातुः**=वरणीय मङ्गल के लिए प्रभु ही मार्ग हैं, अर्थात् यदि हम सब प्रभु के निर्देश के अनुसार चलेंगे तो वरणीय उत्तम फलों को प्राप्त करेंगे। २. **सः**=वे प्रभु ही

धरुणम्=सबका धारण करनेवाले **मध्वः अग्रम्**=मधुर वेदज्ञान के सार को **प्रत्युदैत्**=(**अन्तर्भावितण्यर्थः**)=स्तोताओं के लिए प्रकाशित करते हैं, और **स्वया तन्वा**=अपने विराडात्मक शरीर से **तन्वम्**=समस्त प्राणिशरीरों को **ऐरयत**=प्रेरित करते हैं—प्रभु विराट् पिण्ड से सब प्राणिशरीरों को उत्पन्न करते हैं।

भावार्थ—सर्वत्र व्याप्त व दीप्त प्रभु विराट्पिण्ड से सब प्राणियों के शरीरों का निर्माण करते हैं, वे हमें धारणात्मक वेदज्ञान प्राप्त कराते हैं। यदि हम वेद के निर्देश के अनुसार चलते हैं तो वरणीय फलों को प्राप्त करते हैं।

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)**॥ देवता—**वायुः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

तेतीस बड़वाओं का विमोचन

एकया च दुशभिश्चा सुहुते द्वाभ्यामिष्टये विंशत्या च।
तिसृभिश्च वहसे त्रिंशता च वियुग्भिर्वाय इह ता वि मुञ्च॥ १॥

१. हे **वायो**=आत्मन्! (**वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तं शरीरम्**)! तू इस शरीर में **सुहुते**=जिसमें चारों ओर प्रभु के उत्तम दान विद्यमान हैं, **एकया च दशभिः च**=एक और दस, अर्थात् ११ पृथिवीस्थ देवताओं के अंशों से, **द्वाभ्यां विंशत्या च**=दो और बीस, अर्थात् पृथिवीस्थ और अन्तरिक्षस्थ बाईस देवांशों से **तिसृभिः च त्रिंशता च**=तीन और तीस, अर्थात् पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोकस्थ देवताओं से (**ये अन्तरिक्ष एकादशस्थ ये पृथिव्यामेकादशस्थ ये दिव्येकादशस्थ०**) जो इस शरीररथ की **वियुग्भिः**=(विशेषेण युज्यन्ते रथे) बड़वाएँ हैं, उनसे **वहसे**=इस शरीर-रथ का मार्ग पर वहन करता है। २. तू इसप्रकार इनके द्वारा रथ का वहन कर कि यात्रा को पूर्ण करके **ताः**=उन्हें **इह**=यहाँ ही **विमुञ्च**=खोल देवे। जीवन-यात्रा को पूर्ण कर लेने से उनकी आवश्यकता ही न रह जाए। प्रभु शरीर-रथ को इस यात्रा की पूर्ति के लिए ही तो देते हैं, और इसमें सब देवांशों का स्थापन करते हैं '**सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते**'। ये देवांश इस शरीर-रथ के घोड़े हैं। यात्रा पूर्ण हुई और ये अनावश्यक हो गये। यही इनका खोल देना है, यही मुक्ति है।

भावार्थ—इस शरीर-रथ में सर्वत्र प्रभु के अद्भुत दान विद्यमान हैं। इस शरीर-रथ में प्रभु ने तेतीस देवताओं के अंशों को घोड़ियों के रूप में जोता है। इस यात्रा को पूर्ण करके हम इसी जीवन में इन्हें खोलनेवाले बनें।

५. [पञ्चमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

देवपूजा-संगतिकरण-दान

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः॥ १॥

१. प्रभु यज्ञरूप हैं, सब-कुछ देनेवाले हैं (यज दाने)। इस **यज्ञम्**=सर्वप्रद पूजनीय प्रभु को **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **यज्ञेन**=यज्ञ से **अयजन्त**=पूजते हैं। यज्ञरूप प्रभु का पूजन यज्ञ के द्वारा ही होता है। 'यज्ञ' में तीन बातें हैं '**यज देवपूजा-संगतिकरण-दानेषु**' (क) एक तो बड़ों का आदर करना (ख) दूसरे, परस्पर मिलकर चलना (संगतिकरण) तथा (ग) कुछ-न-कुछ देना। **तानि**=वे देवपूजा, संगतिकरण व दान ही **प्रथमानि धर्माणि आसन्**=मुख्य

(सर्वश्रेष्ठ) धर्म थे। २. इन यज्ञों द्वारा **महिमानः** (मह पूजायाम्)=प्रभु का पूजन करनेवाले **ते**=वे देव **ह**=निश्चय से **नाकम्**=मोक्षलोक को **सचन्त**=प्राप्त होते हैं, **यत्र**=जिस मोक्ष में **पूर्वे**=अपना पालन व पूरण करनेवाले—नीरोग व निर्मल लोग, **साध्याः**=साधना की प्रवृत्तिवाले लोग अथवा परहित साधन में प्रवृत्त व्यक्ति तथा **देवाः**=देववृत्तिवाले पुरुष **सन्ति**=होते हैं।

भावार्थ—यज्ञों द्वारा प्रभुपूजन करते हुए हम मोक्ष प्राप्त करें। नीरोग, निर्मल, परहितसाधन में प्रवृत्त देवों का ही मोक्ष में निवास होता है।

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यज्ञः बभूव, स आबभूव

यज्ञो ब॑भूव स आ ब॑भूव स प्र ज॑ज्ञे स उ वावृधे पुनः।
स देवानामधिपतिर्बभूव सो अस्मासु द्रविणमा द॑धातु॥ २॥

१. **यज्ञो बभूव**=वह पूजनीय प्रभु सदा से है, **स आ बभूव**=वह सर्वत्र—चारों ओर विद्यमान है, **सः प्रजज्ञे**=वह इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को प्रादुर्भूत करता है, **सः उ वावृधे पुनः**=फिर वही इस ब्रह्माण्ड का वर्धन करता है। २. **सः**=वे प्रभु ही **देवानाम् अधिपतिः बभूव**=सूर्य, चन्द्र, वायु, अग्नि आदि सब देवों के अधिपति हैं। **सः**=वे प्रभु ही **अस्मासु**=हममें **द्रविणम् आदधातु**=धन का धारण करें। प्रभु यज्ञ हैं—देनेवाले हैं। वे हमें जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक धन दें।

भावार्थ—वे यज्ञरूप प्रभु सदा से हैं—सर्वत्र हैं। वे इस संसार को प्रादुर्भूत करते हैं, प्रलयानन्तर फिर इसका वर्धन करते हैं। वे सब देवों के स्वामी हैं, हमारे लिए भी आवश्यक धन देते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

प्रभु का उपासन व तत्त्वदर्शन

यद्देवा देवान्हविषायजन्तामर्त्यान्मनसामर्त्येन।
मदेम तत्र परमे व्यो॑मन्पश्येम तदुदितौ सूर्यस्य॥ ३॥

१. **यत्**=जब **देवाः** (आत्मविषयविद्यया दीव्यन्ति)=आत्मज्ञान से दीप्त होनेवाले देव **अमर्त्येन मनसा**=(मर्त्यशब्देन क्षयिष्णवो बाह्यविषया उच्यन्ते) विनाशिविषयों में अनासक्त मन के साथ **अमर्त्यान् देवान्**=(देवनसाधनभूता इन्द्रियवृत्तयो देवाः, तासां विषयेषु सातत्येन प्रवर्तनादमर्त्यत्वा-भिधानमथवा तत्त्वविद्योदयपर्यन्तमिन्द्रियवासनानां मनसश्चावस्थानाद् अविनश्वरत्वम्) अमर्त्य इन्द्रियों को **हविषा**=हवि के द्वारा त्यागपूर्वक अदन के द्वारा **अयजन्त**=प्रभु के साथ संगत करते हैं। हम भी **तत्र**=उस सर्वजगदधिष्ठान व अधिष्ठानान्तरशून्य अतएव **परमे**=परम-स्वमहिमप्रतिष्ठव्योमनि—व्योमवत् असंग, सर्वगत, चिदानन्दलक्षण प्रभु में **मदेम**=आनन्द का अभुभव करें और **सूर्यस्य**=सुष्ठु प्रेरक उस प्रभु के **उदितौ**=उदित होने पर—साक्षात्कार होने पर **तत्**=उस प्रकाशमान तत्त्व को **पश्येम**=स्वात्मतया अनुभव करें।

भावार्थ—देव हवि के द्वारा मन के साथ इन्द्रियों को प्रभु के साथ जोड़ते हैं। हम भी उस परम व सर्वव्यापक प्रभु में आनन्द का अनुभव करें और उस प्रभु के हृदय में उदित होने पर तत्त्व के द्रष्टा बनें।

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पुरुषमेध

यत्पुरु॑षेण हविषा यज्ञं देवा अत॑न्वत।
अस्ति नु तस्मादोजीयो यद्विहव्येनेजिरे॥ ४॥

१. **यत्**=यह जो **पुरुषेण हविषा**=पुरुषरूप हवि के द्वारा, अर्थात् प्राजापत्य यज्ञ में अपनी ही आहुति दे देने के द्वारा **देवाः**=देवजन **यज्ञं अतन्वत**=यज्ञ का विस्तार करते हैं तो **अस्ति नु तस्माद् ओजीयः**=उससे भी अधिक शक्तिशाली क्या कोई यज्ञ हो सकता है? **यत्**=जो **विहव्येन**=विशिष्ट हव्य के द्वारा—पुरुषरूप हवि के द्वारा **ईजिरे**=उस प्रभु की उपासना करते हैं। २. वस्तुतः '**सर्वभूतहिते रतः**' सब प्राणियों के हित में लगे हुए पुरुष ही प्रभु के सच्चे उपासक हैं। यही पुरुषमेध यज्ञ है। इससे उत्तम हव्य और कोई हो ही क्या सकता है? यही '**विहव्येन यजन**' है, यही ओजस्वितम है।

भावार्थ—हम अपने को ही प्राजापत्य यज्ञ की आहुति बनाएँ, अर्थात् लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त रहें। यही प्रभु का ओजस्वितम पूजन है।

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)** ॥ देवता—**आत्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शुना-गोरंगैः (प्राणायाम+स्वाध्याय)

मुग्धा देवा उत शुनायजन्तोत गोरङ्गैः पुरुधायजन्त।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः ॥ ५ ॥

१. **मुग्धाः**=सरल व निर्दोष (Simple, innocent) **देवाः**=देव **उत**=निश्चय से **शुना**=(शिव गतिवृद्ध्योः) गतिशील प्राण के द्वारा **अयजन्त**=उस प्रभु का उपासन करते हैं। प्राणायाम के द्वारा चित्तवृत्तिनिरोध से प्रभु में मन को लगाते हैं। **उत**=और **गोरङ्गैः**=ज्ञान की वाणी (वेदधेनु) के अंगों से (अगि गतौ)—ज्ञानों से **पुरुधा अयजन्त**=उस प्रभु का खूब ही यजन करते हैं। प्रभु के उपासन के लिए ये 'प्राणायाम व स्वाध्याय' को साधन बनाते हैं। २. इन देवों में से **यः**=जो भी **इमं यज्ञम्**=इस उपासनीय परमात्मा को **मनसा चिकेत**=मन से जानता है, हृदयदेश में प्रभु का दर्शन करता है, वह तू **नः प्रवोचः**=हमारे लिए भी इस ब्रह्म का उपदेश कर। **तम्**=उस प्रभु को **इह इह ब्रवः**=यहाँ—इसी जीवन में और इस जीवन में ही हमारे लिए उपदिष्ट कर।

भावार्थ—'**सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम्**' कुटिलता मृत्यु का मार्ग है और सरलता प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है। हम सरल बनकर प्राणायाम व स्वाध्याय द्वारा प्रभु को जानें, मन में—हृदय में प्रभु का दर्शन करें। अन्य लोगों को भी प्रभु-प्राप्ति के मार्ग का उपदेश करें।

६. [षष्ठं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)** ॥ देवता—**अदितिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अदिति की विभूति का वर्णन

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वेदेवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥ १ ॥

१. ('**अदितिः**' इति पृथिवीनाम नि० १.१, '**इयं पृथिवी वै देव्यदितिः**' तै० १.४.३.१) **अदितिः**=यह अदीना व अखण्डनीया पृथिवी ही **द्यौः**=द्योतनशील स्वर्ग है। **अदितिः अन्तरिक्षम्**=यह अदिति ही हमारे लिए विशाल अवकाश को प्राप्त करानेवाली है। **अदितिः माता**=यह पृथिवी ही हमारी माता है। **सः पिता सः पुत्रः**=वही पिता व पुत्र है। यह हमारा निर्माण करती है (माता), रक्षण करती है (पिता), हमें पवित्र व रक्षित करती है (पुनाति त्रायते)। २. **अदितिः विश्वेदेवाः**=यह अदिति ही सब देव हैं, सब देवों का निवास-स्थान है। **पञ्च जनाः अदितिः**='ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व निषाद' रूप में विभक्त यह प्रजा अदिति

ही है। **जातम् अदितिः**=जो उत्पन्न हो चुके हैं वे भी अदिति ही हैं, **जनित्वम् अदितिः**= जो उत्पत्स्यमान (उत्पन्न होनेवाले) हैं, वे सब भी अदिति ही हैं। इसप्रकार यहाँ मन्त्र में अदिति की विभूति का वर्णन हुआ है। (इत्यदितेर्विभूतिमाचष्टे—नि० ४।२३)

भावार्थ—पृथिवी 'अदिति' है। यही द्युलोक है, अन्तरिक्ष है, माता-पिता व पुत्र है। अदिति ही विश्वेदेव, पञ्चजन, जात व जनित्व है।

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)**॥ देवता—**अदितिः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

तुविक्षत्रा-सुप्रणीति

म॒हीमू॒ षु मा॒तरं॑ सुव्र॒ताना॑मृ॒तस्य॒ पत्नी॒मव॑से हवामहे।
तु॒वि॒क्ष॒त्राम॒जर॑न्तीमुरू॒चीं सु॒शर्मा॑ण॒मदि॑तिं सु॒प्रणी॑तिम्॥ २॥

१. इस **महीम्**=महती व महनीया, **सुव्रतानां मातरम्**=शोभनकर्मा पुरुषों की मातृस्थानीया, **ऋतस्य पत्नीम्**=सत्य व यज्ञ की पालयित्री, **उ**=और **तुविक्षत्राम्**=बहुत बल व धनवाली, **अजरन्तीम्**=क्षीण न करनेवाली, **उरूचीम्**=बहुत दूर तक गई हुई, विशाल, **सुशर्माणम्**=उत्तम सुख देनेवाली, **सुप्रणीतिम्**=सुख से कर्मों का प्रणयन करनेवाली **अदितिम्**=अखण्डनीया व अन्नों को देनेवाली (अद्) इस पृथिवी को **अवसे**=रक्षण के लिए **सुहवामहे**=उत्तमता से पुकारते हैं।

भावार्थ—यह भूमिमाता यज्ञों का पालन करनेवाली व हमें क्षीण न होने देनेवाली हैं। उत्तम सुख को प्राप्त करानेवाली व सम्यक् कर्मों का प्रणयन करनेवाली है।

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)**॥ देवता—**अदितिः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥

दैवीं नावम्

सु॒त्रामा॑णं पृथि॒वीं द्याम॑ने॒हसं॑ सु॒शर्मा॑ण॒मदि॑तिं सु॒प्रणी॑तिम्।
दैवीं॒ नावं॑ स्वरि॒त्रामना॑गसो॒ अस्र॑वन्ती॒मा रु॑हेमा स्व॒स्तये॑॥ ३॥

१. **सुत्रामाणम्**=(**सुष्ठु त्रायमाणाम्**)=सम्यक् रक्षा करनेवाली, **पृथिवीम्**=विस्तीर्णा, **द्याम्**=द्योतमान व अभिगन्तव्य, **अनेहसम्**=निष्पाप—जहाँ पर पापी मनुष्यों का वास नहीं है, **सुशर्माणम्**=उत्तम सुख देनेवाली, **अदितिम्**=अखण्डनीया, **सुप्रणीतिम्**=सुख से उत्तम कर्मों का प्रणयन करनेवाली, **देवीम् नावम्**=जो देव (प्रभु) को प्राप्त करानेवाली नौका ही है, वह नौका जोकि **सु अरित्राम्**=उत्तम चप्पुओंवाली व **अस्रवन्तीम्**=न चूनेवाली है, ऐसी उस पृथिवीरूप नाव पर हम **अनागसः**=निष्पाप जीवनवाले होते हुए, **स्वस्तये**=कल्याण के लिए **आरुहेम**=आरूढ़ हों।

भावार्थ—यह पृथिवी हमारे लिए एक दैवी नौका बने। यह हमें विषयसागर में निमग्न न करके, भवसागर से पार करनेवाली हो।

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)**॥ देवता—**अदितिः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥

त्रिवरूथं शर्म

वाज॑स्य॒ नु प्र॑स॒वे मा॒तरं॑ म॒हीमदि॑तिं॒ नाम॒ वच॑सा करामहे।
यस्या॑ उ॒पस्थ॑ उ॒र्व॑१न्तरि॑क्षं॒ सा नः॒ शर्म॑ त्रि॒वरू॑थं॒ नि य॑च्छात्॥ ४॥

१. **वाजस्य प्रसवे**=अन्न की उत्पत्ति के निमित्त **नु**=अब **मातरम्**=इस अन्न की निर्मात्री महती **अदितिं नाम**=अदीना व अखण्डनीया इस नामवाली **महीम्**=पृथिवी को **वचसा करामहे**= वेदनिर्देश के अनुसार जोतते और बोते हैं, अर्थात् इसे कृष्ट करके अन्न उत्पादन के लिए यत्नशील होते हैं। २. **यस्याः उपस्थे**=जिस अदिति की गोद में **उरु अन्तरिक्षम्**=विशाल अवकाश है, **सा**=वह अदिति **नः**=हमारे लिए **त्रिवरूथम्**=(वरूथं=Wealth) तीनों धनोंवाला

'शरीर के स्वास्थ्य, मन के नैर्मल्य व बुद्धि के वैशद्य' वाला **शर्म**=सुख **नियच्छात्**=दे।

भावार्थ—इस पृथिवी को कृष्ट करके हम अन्नोत्पादन करें। इसकी विशाल गोद में हमें 'स्वास्थ्य, नैर्मल्य व बुद्धि-वैशद्य' का सुख प्राप्त हो।

७. [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (ब्रह्मवर्चसकामः)**॥ देवता—**अदितिः**॥ छन्दः—**आर्षीजगती**॥

आदित्यों का स्थान, दैत्यों के ऊपर

दितेः पुत्राणामदितेरकारिषमव देवानां बृहतामनर्मणाम्।
तेषां हि धाम गभिषक्समुद्रियं नैनान्नमसा परो अस्ति कश्चन॥ १॥

१. दिति के पुत्र दैत्य हैं, अदिति के आदित्य। **दिति**=खण्डन—तोड़-फोड़ करनेवाले दैत्य हैं, खण्डन न करनेवाले, निर्माता 'आदित्य' व देव हैं। **दितेः पुत्राणां धाम**=दैत्यों के तेज को **अदितेः**=अदिति के पुत्रों **देवानाम्**=देवों के तेज से **अव अकारिषम्**=नीचे करता हूँ। देव वे हैं जोकि **बृहताम्**=बड़े व विशाल हृदय हैं, तथा **अनर्मणाम्**=(अर्मन्—चक्षुरोग) चक्षुरोग से रहित हैं, अर्थात् जिनका दृष्टिकोण ठीक है। २. **तेषाम्**=उन देवों का **धाम**=तेज **हि**=निश्चय से **गभिषक्**=गम्भीर है, **समुद्रियम्**=(समुद्र इव गाम्भीर्ये) समुद्र के समान गम्भीर है, शत्रुओं से प्रवेश न करने योग्य व दुर्जय है। **नमसा**=प्रभु के प्रति नमन के दृष्टिकोण से **एनान् परः कश्चन न अस्ति**=इनसे उत्कृष्ट कोई नहीं है। ये प्रभु के प्रति नमन में सर्वाग्रणी हैं। प्रभु के प्रति नमन ही इनकी गम्भीर शक्ति का कारण है।

भावार्थ—आदित्यों का तेज दैत्यों के तेज से ऊपर है। इन विशालहृदय, सम्यक् दृष्टिवाले देवों का तेज गम्भीर है, शत्रुओं से दुर्जय है। ये देव प्रभु के प्रति सर्वाधिक नमनवाले हैं, इसी से सर्वोत्कृष्ट शक्तिवाले हैं।

आदित्यों का स्थान दैत्यों से ऊपर है, अतः ये उपरिबभ्रु हैं। अगले दो सूक्तों के ऋषि 'उपरिबभ्रवः' ही हैं—

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः**॥ देवता—**बृहस्पतिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

उपरिबभ्रु

भद्रादधि श्रेयः प्रेहि बृहस्पतिः पुरएता ते अस्तु।
अथेममस्या वर आ पृथिव्या आरेशत्रुं कृणुहि सर्ववीरम्॥ १॥

१. हे पुरुष! तू **भद्रात् अधि**=(अधि पञ्चम्यर्थानुवादी) एक मंगल से **श्रेयः**=उत्कृष्ट मंगल को **प्रेहि**=प्राप्त हो। उत्तरोत्तर तेरे मंगल की वृद्धि हो। इस संसार-यात्रा में **बृहस्पतिः**=वह ब्रह्मणस्पति प्रभु **ते पुरः एता अस्तु**=तेरा अग्रगामी (मार्गदर्शक) हो। प्रभुस्मरणपूर्वक तू अधिकाधिक मंगलकार्यों को करनेवाला बन। २. **अथ**=अब हे प्रभो! (उत्तरार्धे बृहस्पतिः सम्बोध्यते—सा०) बृहस्पते! आप **इमम्**=इस पुरुष को **अस्याः पृथिव्याः वरे**=दूर चले गये हैं शत्रु जिसके, ऐसा तथा **सर्ववीरम्**=सब वीर सन्तानोंवाला **कृणुहि**=कीजिए।

भावार्थ—अपने को ऊपर और ऊपर ले-जानेवाला यह 'उपरिबभ्रु' एक से दूसरे कल्याण कर्म को प्राप्त हो। प्रभु इसके मार्गदर्शक हों, इसे इस पृथिवी पर उत्कृष्ट स्थान में स्थापित करके शत्रुरहित व वीर सन्तानोंवाला बनाएँ।

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पूषा

प्रपथे पथामजनिष्ट पूषा प्रपथे दिवः प्रपथे पृथिव्याः।
उभे अभि प्रियतमे सधस्थे आ च परा च चरति प्रजानन्॥ १॥

१. **पूषा**=पोषक प्रभु (मार्गदर्शक देव) **पथाम् प्रपथे अजनिष्ट**=(प्रक्रान्तः पन्थाः प्रपथः) मार्गों के प्रारम्भ में प्रादुर्भूत होता है। प्रभु ही प्रत्येक मार्ग का रक्षण कर रहे हैं। वह पूषा ही **दिवः प्रपथे**=द्युलोक के प्रवेशद्वार पर और **पृथिव्याः प्रपथे**=पृथिवी के प्रवेशद्वार पर रक्षक के रूप में विद्यमान है। २. वह पूषा प्रभु **उभे**=दोनों **प्रियतमे**=अतिशयेन प्रीतिवाले **सधस्थे**=परस्पर मिलकर रहनेवाले (द्यौ पिता, पृथिवी माता) सब प्राणियों के माता व पितारूप द्यावापृथिवी को **अभि**=लक्ष्य करके **प्रजानन्**=प्राणियों से किये गये कर्मों व उन कर्मों के फलों को जानता हुआ **आ च परा च चरति**=द्युलोक से पृथिवीलोक में और पृथिवी से द्युलोक में सर्वत्र विचरते हैं। दोनों लोकों में विचरते हुए वे प्रभु सर्वप्राणिकृत कर्मों के साक्षी हैं।

भावार्थ—'**उपरिबभ्रु**'=उन्नति पथ का उपासक प्रभु को सब मार्गों के रक्षक के रूप में देखता है। वह प्रभु को द्युलोक से पृथिवीलोक तक सर्वत्र विचरता हुआ व सब प्राणियों के कर्मों का साक्षी होता हुआ अनुभव करता है।

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मार्गदर्शक प्रभु

पूषेमा आशा अनु वेद सर्वाः सो अस्माँ अभयतमेन नेषत्।
स्वस्तिदा आघृणिः सर्ववीरोऽप्रयुच्छन्पुर एतु प्रजानन्॥ २॥

१. **पूषा**=वह पोषक देव **इमाः सर्वाः आशाः अनुवेद**=इन सब दिशाओं को अनुक्रम से जानता है। **सः**=वह पूषा **अस्मान्**=हमें **अभयतमेन नेषत्**=अत्यन्त भयरहित मार्ग से ले-चले। २. **स्वस्तिदाः**=वे पूषा कल्याण के देनेवाले हैं, **आघृणिः**=सर्वतो दीप्त व व्याप्त दीप्तिवाले हैं। **सर्ववीरः**=सब वीर सन्तानों को प्राप्त करानेवाले हैं। **प्रजानन्**=प्रकर्षेण सब मार्गों को जानते हुए वे प्रभु **अप्रयुच्छन्**=सदैव कर्मशील होते हुए **पुरः एतु**=हमारे मार्गदर्शक—अग्रगामी हों।

भावार्थ—पूषा प्रभु सब दिशाओं को जाननेवाले हैं, वे हमें अभयतम मार्ग से ले-चलें। वे सर्वतो दीप्त कल्याण करनेवाले प्रभु हमें वीर सन्तानों को प्राप्त कराएँ और हमारे मार्गदर्शक हों।

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**त्रिपदाऽऽर्षीगायत्री** ॥

तव व्रते

पूषन्तव व्रते वयं न रिष्येम कदा चन। स्तोतारस्त इह स्मसि॥ ३॥

१. हे **पूषन्**=पोषकदेव! **तव व्रते**=आपसे उपदिष्ट कर्मों में—आपकी प्राप्ति के साधनभूत यागादि कर्मों में वर्त्तमान **वयम्**=हम **कदाचन न रिष्येम**=कभी हिंसित न हों, पुत्रों, मित्रों व धनादि से वियुक्त होकर दुःखी न हों। २. **इह**=इस जीवन में **ते स्तोतारः स्मसि**=आपके स्तोता बनें, सदा आपका स्मरण करते हुए उत्तम कर्मों में ही प्रवृत्त रहें, मार्गभ्रष्ट न हों।

भावार्थ—' हे पूषन् प्रभो! हम आपका स्मरण करते हुए, आपकी प्राप्ति के साधनभूत, आपसे उपदिष्ट कर्मों में प्रवृत्त रहें।

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दक्षिण हाथ

परि पूषा परस्ताद्धस्तं दधातु दक्षिणम्। पुनर्नो नष्टमाजतु सं नष्टेन गमेमहि ॥ ४ ॥

१. **पूषा**=यह पोषक प्रभु **परस्तात्**=अति दूर देश से भी धन के आदान के लिए हमें **दक्षिणं हस्तं दधातु**=कार्यकुशल हाथ प्राप्त कराएँ। हमें इसप्रकार शक्ति दें कि हम दूर-से-दूर देशों से भी धनार्जन करने में समर्थ हों। २. **नः**=हमें **नष्टम्**=नष्ट हुआ धन **पुनः आजतु**=पुनः प्राप्त हो और **नष्टेन**=उस नष्ट धन से हम **संगमेमहि**=फिर से संगत हो पाएँ।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें कार्यकुशल हाथ प्राप्त हों और हम नष्ट धनों को भी पुनः प्राप्त कर सकें।

कुशलता से कार्य करता हुआ यह व्यक्ति 'शौनक' बनता है (शुनम् इति सुखनाम) सुखी जीवनवाला होता है। यह शौनक ही अगले तीन सूक्तों का ऋषि है।

१०. [दशमं सूक्तम्]

ऋषिः—**शौनकः** ॥ देवता—**सरस्वती** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सरस्वती की आराधना

यस्ते स्तनः शशयुर्यो मयोभूर्यः सुम्नयुः सुहवो यः सुदत्रः।
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे कः ॥ १ ॥

१. हे सरस्वति! **यः**=जो **ते स्तनः**=तुझ वेदवाणीरूप कामधेनु का स्तन—तेरे स्तन से प्राप्त ज्ञानदुग्ध **शशयुः**=(शशयानः अर्चतिकर्मा—नि० ३।१४ शशमानः शंसमानः=निरुक्त ६।८) उस प्रभु के गुणों का शंसन करनेवाला है, **यः मयोभूः**=जो कल्याण का सम्पादक है, **यः सुम्नयुः**=सबके सुख की इच्छा करनेवाला है, **सुहवः**=प्रार्थनीय है, **यः सुदत्रः**=जो कल्याणदान व सुधन है। २. हे **सरस्वति**=ज्ञान की अधिष्ठातृ देवि! **येन**=जिस स्तन से तू **विश्वा वार्याणि पुष्यसि**=सब वरणीय धनों का पोषण करती है **तम्**=उस स्तन को **इह**=यहाँ—इस जीवन में **धातवे कः**=हमारे पीने के लिए कर, हम तेरे स्तन से ज्ञानदुग्ध का पान करके वास्तविक सुख पानेवाले 'शौनक' बन पाएँ।

भावार्थ—वेदवाणीरूप कामधेनु का स्तन उस ज्ञानदुग्ध को प्राप्त कराता है जो प्रभु का शंसन करनेवाला व हमारा कल्याण करनेवाला है। यह सब वरणीय धनों को प्राप्त कराता है।

११. [एकादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शौनकः** ॥ देवता—**सरस्वती** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पर्जन्य

यस्ते पृथु स्तनयित्नुर्य ऋष्वो दैवः केतुर्विश्वमाभूषतीदम्।
मा नो वधीर्विद्युता देव सस्यं मोत वधी रश्मिभिः सूर्यस्य ॥ १ ॥

१. **देव**=हे द्योतनशील पर्जन्य! **ते**=तेरा **यः**=जो **पृथुः**=विस्तीर्ण **स्तनयित्नु**=गर्जनरूप शब्द करता हुआ अशनि=विद्युत् है, **यः ऋष्वः**=जो (ऋत् गतौ to go अथवा to kill) इधर-उधर गतिवाला व संहार करनेवाला है, वह **दैवः केतुः**=देव प्रभु की महिमा का प्रज्ञापक है, **इदं विश्वं आभूषति**=इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त होता है, विद्युत् की सत्ता सर्वत्र है। २. हे देव! उस **विद्युता**=अशनि से **नः**=हमारे **सस्यं**=अन्न को **मा वधीः**=मत नष्ट कर **उत**=और **सूर्यस्य रश्मिभिः**=सूर्य की सन्तापकर किरणों में **मा वधीः**=हमारे अन्न को शुष्क मत होने दे।

भावार्थ—हमारे खेतों में बोये हुए शालि आदि धान्य अतिवृष्टि व अनावृष्टि से नष्ट न

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः** ॥ देवता—**पूषा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दक्षिण हाथ

परि पूषा परस्ताद्धस्तं दधातु दक्षिणम्। पुनर्नो नष्टमाजतु सं नष्टेन गमेमहि ॥ ४ ॥

१. **पूषा**=यह पोषक प्रभु **परस्तात्**=अति दूर देश से भी धन के आदान के लिए हमें **दक्षिणं हस्तं दधातु**=कार्यकुशल हाथ प्राप्त कराएँ। हमें इसप्रकार शक्ति दें कि हम दूर-से-दूर देशों से भी धनार्जन करने में समर्थ हों। २. **नः**=हमें **नष्टम्**=नष्ट हुआ धन **पुनः आजतु**=पुनः प्राप्त हो और **नष्टेन**=उस नष्ट धन से हम **संगमेमहि**=फिर से संगत हो पाएँ।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें कार्यकुशल हाथ प्राप्त हों और हम नष्ट धनों को भी पुनः प्राप्त कर सकें।

कुशलता से कार्य करता हुआ यह व्यक्ति 'शौनक' बनता है (शुनम् इति सुखनाम) सुखी जीवनवाला होता है। यह शौनक ही अगले तीन सूक्तों का ऋषि है।

१०. [दशमं सूक्तम्]

ऋषिः—**शौनकः** ॥ देवता—**सरस्वती** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सरस्वती की आराधना

यस्ते स्तनः शशयुर्यो मयोभूर्यः सुम्नयुः सुहवो यः सुदत्रः।
येन विश्वा पुष्यसि वार्याणि सरस्वति तमिह धातवे कः ॥ १ ॥

१. हे सरस्वति! **यः**=जो **ते स्तनः**=तुझ वेदवाणीरूप कामधेनु का स्तन—तेरे स्तन से प्राप्त ज्ञानदुग्ध **शशयुः**=(शशयानः अर्चतिकर्मा—नि० ३।१४ शशमानः शंसमानः=निरुक्त ६।८) उस प्रभु के गुणों का शंसन करनेवाला है, **यः मयोभूः**=जो कल्याण का सम्पादक है, **यः सुम्नयुः**=सबके सुख की इच्छा करनेवाला है, **सुहवः**=प्रार्थनीय है, **यः सुदत्रः**=जो कल्याणदान व सुधन है। २. हे **सरस्वति**=ज्ञान की अधिष्ठातृ देवि! **येन**=जिस स्तन से तू **विश्वा वार्याणि पुष्यसि**=सब वरणीय धनों का पोषण करती है **तम्**=उस स्तन को **इह**=यहाँ—इस जीवन में **धातवे कः**=हमारे पीने के लिए कर, हम तेरे स्तन से ज्ञानदुग्ध का पान करके वास्तविक सुख पानेवाले 'शौनक' बन पाएँ।

भावार्थ—वेदवाणीरूप कामधेनु का स्तन उस ज्ञानदुग्ध को प्राप्त कराता है जो प्रभु का शंसन करनेवाला व हमारा कल्याण करनेवाला है। यह सब वरणीय धनों को प्राप्त कराता है।

११. [एकादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शौनकः** ॥ देवता—**सरस्वती** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पर्जन्य

यस्ते पृथु स्तनयित्नुर्य ऋष्वो दैवः केतुर्विश्वमाभूषतीदम्।
मा नो वधीर्विद्युता देव सस्यं मोत वधी रश्मिभिः सूर्यस्य ॥ १ ॥

१. **देव**=हे द्योतनशील पर्जन्य! **ते**=तेरा **यः**=जो **पृथुः**=विस्तीर्ण **स्तनयित्नु**=गर्जनरूप शब्द करता हुआ अशनि=विद्युत् है, **यः ऋष्वः**=जो (ऋत् गतौ to go अथवा to kill) इधर-उधर गतिवाला व संहार करनेवाला है, वह **दैवः केतुः**=देव प्रभु की महिमा का प्रज्ञापक है, **इदं विश्वं आभूषति**=इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त होता है, विद्युत् की सत्ता सर्वत्र है। २. हे देव! उस **विद्युता**=अशनि से **नः**=हमारे **सस्यं**=अन्न को **मा वधीः**=मत नष्ट कर **उत**=और **सूर्यस्य रश्मिभिः**=सूर्य की सन्तापकर किरणों में **मा वधीः**=हमारे अन्न को शुष्क मत होने दे।

भावार्थ—हमारे खेतों में बोये हुए शालि आदि धान्य अतिवृष्टि व अनावृष्टि से नष्ट न

हो जाएँ। विद्युत्-पतन व सूर्यसन्ताप उन्हें नष्ट करके हमारे विनाश का कारण न बनें।

१२. [द्वादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शौनकः** ॥ देवता—**सभा, समितिः, पितरश्च** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

उत्तम शासन

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।
येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु॥ १॥

१. सुख-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हमारे जीवन ज्ञान-प्रधान हों (७।१०।१) तथा प्रभुकृपा से अतिवृष्टि व अनावृष्टिरूप आधिदैविक आपत्तियों से हम बचे रहें (७।११।१) इनके साथ 'शासन-व्यवस्था का उत्तम होना' नितान्त आवश्यक है। उसी का उल्लेख प्रस्तुत सूक्त में है। **सभा च मा समितिः च मा**=राजा कहता है कि सभा और समिति मेरा **अवताम्**=रक्षण करें। विद्वानों का समाज 'सभा' है, सांग्रामीण जनसभा 'समिति' है। ये दोनों **प्रजापतेः दुहितरौ**=प्रजापति की दुहिताएँ हैं, उसकी प्रपूरिका हैं (दुह प्रपूरणे)। शासन कार्य में उसके लिए सहायक होती हैं। ये दोनों **संविदाने**=प्रजारक्षण के विषय में ऐकमत्य को प्राप्त हुई-हुई राजा का रक्षण करें। २. राजा सभा व समिति के सदस्यों से कहता है कि **येन संगच्छै**=जिस सदस्य के साथ मैं बातचीत के लिए संगत होऊँ, **सः**=वह विद्वान् **मा उपशिक्षात्**=मुझे समीचीन शिक्षण करनेवाला हो। हे **पितरः**=राष्ट्र के रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त पुरुषो! **संगतेषु**=इकट्ठा होने पर सभाओं में मैं **चारुःवदानि**=मधुर ही भाषण करूँ, राजा भी क्रोध से कुछ न बोले।

भावार्थ—विद्वज्जन-समाज (सभा) तथा सांग्रामीण जनसमाज (समिति) राजा की दुहिताएँ हैं। संगतों में सभा व समिति के सदस्यों को चाहिए कि वे अपनी ठीक सम्मति प्रकट करें और राजा इन संगतों में मधुर शब्दों का ही प्रयोग करे।

ऋषिः—**शौनकः** ॥ देवता—**सभा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

नरिष्टा

विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि।
ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः॥ २॥

हे **सभे**=सभे! **ते नाम विद्म**=तेरा नाम हम जानते हैं। तू **वा**=निश्चय से **नरिष्टा नाम असि**=(न रिष्टा) 'न हिंसित होनेवाली' इस नामावाली है। प्रजा से चुनी गई इस सभा को राजा अपनी मनमानी से भंग नहीं कर सकता। इसी से तू 'नर् इष्टा' प्रजास्थ लोगों की प्रिय है। **ये के च**=जो कोई भी **ते सभासदः**=तेरे सभासद हैं, **ते**=वे **मे**=मेरे लिए **सवाचसः**=मिलकर वचनवाले, एक सम्मतिवाले **सन्तु**=हों। उनकी सम्मतियाँ परस्पर विरुद्ध होकर मेरी परेशानी का कारण न बनें।

भावार्थ—सभा 'नरिष्टा' है—मनुष्यों की इष्ट है, उन्होंने ही इसके सदस्यों को चुना है। इसी से यह 'नरिष्टा' अहिंसित है, राजा अपनी इच्छा से इसे भंग नहीं कर सकता। सभासदों को चाहिए कि वे विचार करके राजा को एक ही सम्मति दें।

ऋषिः—**शौनकः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वर्चः विज्ञानम्

एषामहं समासीनानां वर्चो विज्ञानमा ददे।
अस्याः सर्वस्याः संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु॥ ३॥

१. राजा (सभापति) कहता है कि **अहम्**=मैं **समासीनानां एषाम्**=सभा में मिलकर बैठे हुए इन सदस्यों की **वर्चः**=तेजस्विता को तथा **विज्ञानम्**=विज्ञान को **आददे**=ग्रहण करता हूँ। वैदुष्यजनित प्रभावविशेष ही 'वर्चस्' है, वेदशास्त्रार्थविषयक ज्ञान ही 'विज्ञान' है। २. हे **इन्द्र**=वाणी के अनुशासक इन्द्र! आप **माम्**=मुझे **अस्याः सर्वस्याः संसदः**=इस सारी संसद के **भगिनं**=(भग=ज्ञान) ज्ञानवाला **कृणु**=कीजिए। मैं सारी सभा के विचारों को सुननेवाला बनूँ।

भावार्थ—राजा सभा के सभी सदस्यों के वैदुष्यजनित प्रभावविशेष को जाने तथा वेदशास्त्रार्थ-विषयक ज्ञान से परिचित हो। वह सभा के सभी सभ्यों के विचारों को जाने।

ऋषिः—**शौनकः** ॥ देवता—**मनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

एकाग्रता से प्रस्तुत विषय का विचार

यद्वो मनः परागतं यद्बद्धमिह वेह वा।
तद्व आ वर्तयामसि मयि वो रमतां मनः ॥ ४ ॥

१. सभापति कहता है कि हे सभासदो! **यत्**=जो **वः मनः**=आपका मन **परागतम्**=कहीं दूर गया हुआ है। **वा**=या **यत्**=जो आपका मन **इह इह वा**=इस-इस विषय में, अमुक-अमुक विषय में **बद्धम्**=बँधा हुआ है, **वः**=आपके **तत्**=उस मन को **आवर्तयामसि**=हम सब ओर से लौटाते हैं। हे सभ्यो! **वः मनः**=आपका मन **मयि रमताम्**=मुझमें ही रमण करे, अर्थात् यहाँ प्रस्तुत विषय का ही विचार करनेवाला हो।

भावार्थ—सभा में सब सभ्य एकाग्र होकर प्रस्तुत विषय का ही विचार करें।

एकाग्र होकर चिन्तन करनेवाला, अडाँवाडोल वृत्तिवाला विद्वान् 'अथर्वा' है (न थर्वति)। यही अगले दो सूक्तों का ऋषि है—

१३. [त्रयोदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा (द्विषो वर्चो हर्तुकामः)** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उद्यन् सूर्यः (इव)

यथा सूर्यो नक्षत्राणामुद्यंस्तेजांस्याददे।
एवा स्त्रीणां च पुंसां च द्विषतां वर्च आ ददे ॥ १ ॥

१. **यथा**=जैसे **उद्यन् सूर्यः**=उदय होता हुआ सूर्य **नक्षत्राणां तेजांसि आददे**=नक्षत्रों के तेज को हर लेता है, **इव**=इसी प्रकार मैं **स्त्रीणां च पुंसां च**=चाहे स्त्रियाँ हों, चाहे पुरुष; जो भी **द्विषताम्**=शत्रु हैं, उनके **वर्चः**=तेज को—पराजित करने के सामर्थ्य को, **आददे**=अपहृत कर लेता हूँ।

भावार्थ—हम एकाग्र वृत्ति के बनकर 'अथर्वा' बनें। यह एकाग्रता हमें वह तेजस्विता प्राप्त कराएगी जिससे हम सब शत्रुओं के तेज का वैसे ही अभिभव कर पाएँगे, जैसेकि उदय होता हुआ सूर्य नक्षत्रों के तेज का हरण करता है।

ऋषिः—**अथर्वा (द्विषो वर्चो हर्तुकामः)** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सूर्योदय से पूर्व जाग जाना

यावन्तो मा सपत्नानामायन्तं प्रतिपश्यथ।
उद्यन्त्सूर्यइव सुप्तानां द्विषतां वर्च आ ददे ॥ २ ॥

१. **सपत्नानाम्**=शत्रुओं में **यावन्तः**=जितने तुम **आयन्तम्**=आक्रमण के लिए आते हुए **मा**=मुझे **प्रतिपश्यथ**=देखते हो, **द्विषताम्**=उन सब प्रतिकूलदर्शी तुम शत्रुओं के **वर्चः**=पराक्रमरूप

तेज को, इसप्रकार **आददे**=अपहृत कर लेता हूँ **इव**=जैसेकि **उद्यन् सूर्यः**=उदय होता हुआ सूर्य **सुप्तानाम्**=सोये हुओं के तेज को छीन लेता है।

भावार्थ—शत्रुओं के तेज को मैं इसप्रकार छीन लूँ, जैसेकि उदय होता हुआ सूर्य सोये हुओं के तेज को छीन लेता है। (अतः सूर्योदय से पूर्व जाग जाना आवश्यक ही है)।

१४. [चतुर्दशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सत्यसवं रत्नधाम्

अभि त्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतुम्।
अर्चामि सत्यसवं रत्नधामभि प्रियं मतिम्॥ १॥

१. **त्यम्**=उस प्रसिद्ध **देवम्**=द्योतनात्मक, प्रकाशस्वरूप **ओण्योः**=(सर्वस्य अवित्र्योः) सबके रक्षक द्यावापृथिवी के **सवितारम्**=उत्पादक प्रभु की **अभि अर्चामि**=प्रातः-सायं पूजा करता हूँ। २. उन प्रभु की पूजा करता हूँ जोकि **कविक्रतुम्**=कवियों, मेधावियों के कर्मोंवाले हैं, **सत्यसवम्**=सत्य की प्रेरणा देनेवाले हैं, **रत्नधाम्**=रमणीय धनों के धारण करनेवाले हैं, **अभि-प्रियम्**=आभिमुख्येन सबके प्रीतिकर हैं और अतएव **मतिम्**=सबसे मनन करने के योग्य हैं।

भावार्थ—मैं प्रभु का पूजन करता हूँ। वे प्रभु देव हैं, द्यावापृथिवी के उत्पादक हैं, मेधावी कर्मोंवाले हैं, सत्य के प्रेरक व रत्नों को धारण करनेवाले हैं, प्रीतिकर व मन्तव्य हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अमतिः भाः

ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतत्सवीमनि।
हिरण्यपाणिरमिमीत सुक्रतुः कृपात्स्वः॥ २॥

१. **यस्य**=जिसकी **अमतिः** (अमनशीला—व्यापनशीला)=चारों ओर व्याप्त होनेवाली **भाः**=दीप्ति **ऊर्ध्वा**=उत्कृष्ट होती हुई **अदिद्युतत्**=सम्पूर्ण विश्व को द्योतित करती है। २. **सवीमनि**=उस प्रभु की अनुज्ञा में ही **हिरण्यपाणिः**=हितरमणीय किरणरूप हाथोंवाला **सुक्रतुः**=उत्तम शक्तिवाला सूर्य **कृपात्**=अपने सामर्थ्य से **स्वः अमिमीत**=प्रकाश का निर्माण करता है।

भावार्थ—प्रभु की ज्योति से सारा विश्व द्योतित होता है। प्रभु की अनुज्ञा में ही सूर्य प्रकाश का निर्माण करता है। यह सूर्य किरणरूप हाथों में सब प्राणदायी तत्त्वों को लिये हुए हम सबका हित करने में प्रवृत्त है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रथमाय पित्रे वर्ष्माणमस्मै वरिमाणमस्मै

सावीर्हि देव प्रथमाय पित्रे वर्ष्माणमस्मै वरिमाणमस्मै।
अथास्मभ्यं सवितर्वार्याणि दिवोदिव आ सुवा भूरि पश्वः॥ ३॥

१. हे **देव**=सब-कुछ देनेवाले प्रभो! **हि**=निश्चय से आपने ही **प्रथमाय**=सबसे प्रथम होनेवाली **पित्रे**=आनेवाली सन्तानों के पिता के लिए **सावीः**=सब-कुछ प्रेरित किया है। **अस्मै वर्ष्माणम्**=इसके लिए देह को, तथा **अस्मै**=इसके लिए **वरिमाणम्**=पुत्र-पौत्रादि लक्षणयुक्त उरुत्व (विस्तार) को आपने ही प्राप्त कराया है। प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु के कुछ मानसपुत्र होते हैं (यद्भावा मानसा जाताः) इन्हें प्रभु ही शरीर प्राप्त कराते हैं, और सन्तानों को जन्म देने की शक्ति भी प्राप्त कराते हैं (एषां लोक इमाः प्रजाः)। २. **अथ**=अब **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए

हे **सवितः**=सबके प्रेरक प्रभो! **वार्याणि**=वरणीय वस्तुओं को तथा **भूरि पश्वः**=भरण के साधनभूत बहुत पशुओं को **दिवःदिवः**=प्रतिदिन **आसुव**=प्रेरित कीजिए।

भावार्थ—प्रभु ही सृष्टि के प्रारम्भ में प्रथम मनुष्य को शरीर व सन्तान-जनन शक्ति प्रदान कराते हैं। वर्त्तमान में भी ये प्रभु हमें सदा वरणीय वस्तुओं व भरण के साधनभूत बहुत पशुओं को प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सविता**॥ छन्दः—**जगती**॥

दानं, दक्षं, आयूंषि

दमूना देवः सविता वरेण्यो दधद्रत्नं दक्षं पितृभ्य आयूंषि।
पिबात्सोमं ममददेनमिष्टे परिज्मा चित् क्रमते अस्य धर्मणि॥ ४॥

१. **दमूनाः**=(दानमनाः—नि०) सब अभिलषित पदार्थों को देनेवाला, **देवः**=प्रकाशमय, **सविता**= उत्पादक व प्रेरक, **वरेण्यः**=वरण करने योग्य प्रभु **पितृभ्यः**=रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त लोगों के लिए **रत्नम्**=रमणीय धनों को, **दक्षम्**=बल को तथा **आयूंषि**=दीर्घजीवन को **दधत्**=धारण करता है। २. **अस्य धर्मणि**=इस प्रभु के निर्दिष्ट धारणात्मक कर्मों में प्रवृत्त जीव **सोमं पिबात्**= सोम का शरीर में ही पान करता है, सोम का रक्षण करता है। यह रक्षित सोम **एनं ममदत्**=इसे आनन्दित करता है। यह सोमरक्षक पुरुष **इष्टे**=यज्ञों में **परिज्मा चित्**=परितः गन्ता होता हुआ, यज्ञमय जीवनवाला बनता हुआ **एनं क्रमते**=इस प्रभु को प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्रभु 'दमूना, देव, सविता, वरेण्य' हैं, वे रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त लोगों के लिए 'रमणीय धन, बल व दीर्घजीवन' प्राप्त कराते हैं। प्रभु-निर्दिष्ट धर्मों में प्रवृत्त व्यक्ति (क) सोमरक्षण करता है, यह रक्षित सोम इसे आनन्दित करता है, (ख) यज्ञों में विचरण करता हुआ यह व्यक्ति प्रभु को प्राप्त करता है।

प्रभु-निर्दिष्ट धर्मों में दृढता से चलता हुआ यह सोमरक्षण व यज्ञशीलता से अपने जीवन का उत्तम परिपाक करता है, अतः 'भृगु' कहलाता है। अगले तीन सूक्तों का ऋषि भृगु ही है।

१५. [पञ्चदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**सविता**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सत्यसवां सुचित्रां सहस्रधारां 'सुमतिम्' (वृणे, दुहे)

तां सवितः सत्यसवां सुचित्रामाहं वृणे सुमतिं विश्ववाराम्।
यामस्य कण्वो अदुहत्प्रपीनां सहस्रधारां महिषो भगाय॥ १॥

१. **सवितः**=हे सबके प्रेरक प्रभो! आपकी **ताम्**=उस **सत्यसवाम्**=सत्य की प्रेरणा देनेवाली, **सुचित्राम्**= सुष्ठु पूजनीय व द्रष्टव्य (उत्तम ज्ञान देनेवाली) **विश्ववाराम्**=सबसे वरण के योग्य **सुमतिम्**=शोभन बुद्धि को **अहं आवृणे**=मैं आभिमुख्येन वरता हूँ—प्रार्थित करता हूँ। २. मैं चाहता हूँ **अस्य**=इस सविता की उस सुमति को **याम्**=जिस **सहस्रधाराम्**=सहस्रों प्रकार से धारण करने व सहस्रों धाराओंवाली, **प्रपीनाम्**=प्रकृष्ट आप्यायन-(वर्धन)-वाली बुद्धि को **कण्वः**=मेधावी **महिषः**=प्रभुपूजाप्रवृत्त उपासक **भगाय**=ऐश्वर्यों की प्राप्ति के लिए **अदुहत्**=अपने में प्रपूरित करता है।

भावार्थ—हम मेधावी व प्रभु के उपासक बनकर उस प्रेरक प्रभु की सुमति का अपने में प्रपूरण करें। यही हमें सत्य की प्रेरणा देगी, हममें ज्ञान का वर्धन करेगी, हमारा धारण व वर्धन करेगी। ऐसा होने पर ही हम वास्तविक ऐश्वर्य को प्राप्त करेंगे।

१६. [षोडशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वर्धय, ज्योतय

बृह॑स्पते॒ सवि॑तर्व॒र्धयै॑नं ज्यो॒तयै॑नं मह॒ते सौभ॑गाय।
संशि॑तं चित्सन्त॒रं सं शि॑शाधि॒ विश्व॑ एन॒मनु॑ मदन्तु दे॒वाः ॥ १ ॥

१. हे **बृहस्पते**=(ब्रह्मणस्पते) ज्ञान के स्वामिन्! **सवितः**=सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक प्रभो! **एनम्**=इस अपने उपासक को **वर्धय**=आप बढ़ाइए। **एनम्**=उसे **महते सौभगाय**=महान् सौभाग्य की प्राप्ति के लिए **ज्योतय**=ज्योतिर्मय जीवनवाला कीजिए। २. **संशितं चित्**=खूब तीव्र बुद्धिवाले इसे **सन्तरम्**=सम्यक् **संशिशाधि**=तीव्र बुद्धिवाला कीजिए। **विश्वेदेवाः**='माता, पिता, आचार्य' आदि सब देव **एनं अनुमदन्तु**=इसे देखकर प्रसन्न हों, 'इसका जीवन अच्छा बना है', ऐसा ही कहें।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारी शक्तियों का वर्धन हो, ज्ञानज्योतियों का दीपन हो और महान् सौभाग्य प्राप्त हो। हमारी बुद्धि को प्रभु खूब ही तीव्र करें। सब देव यही कहें कि 'इसका जीवन अच्छा बना है'।

१७. [सप्तदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**धात्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाऽऽर्षीगायत्री** ॥

रयि

धा॒ता द॑धातु नो र॒यिमीशा॑नो॒ जग॑त॒स्पतिः॑। स नः॑ पू॒र्णेन॑ यच्छतु ॥ १ ॥

१. **धाता**=विश्व का धारक देव **नः**=हमारे लिए **रयिं दधातु**=धन को धारण करे। वे प्रभु **ईशानः**=सर्वार्थसाधन समर्थ हैं, **जगतस्पतिः**=सारे ब्रह्माण्ड के स्वामी हैं। **सः**=वे **नः**=हमें **पूर्णेन**=आप्यायित, समृद्ध, धन से **यच्छतु**=(नियच्छतु) युक्त करें (योजयतु)।

भावार्थ—धारक प्रभु की कृपा से हमें वह धन प्राप्त हो जो सब शक्तियों का पूरण करनेवाला बने।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**धात्रादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सुमति

धा॒ता द॑धातु दा॒शुषे॒ प्राचीं॑ जी॒वातु॒मक्षि॑ताम्।
व॒यं दे॒वस्य॑ धीमहि सुम॒तिं वि॒श्वरा॑धसः ॥ २ ॥

१. **धाता**=सबका विधारक देव, **दाशुषे**=हवि देनेवाले यजमान के लिए **प्राचीम्**=प्रकृष्ट गमनवाली, उत्तम मार्ग पर ले-चलनेवाली, **जीवातुम्**=जीवनकारिणी, जीवन की औषधभूत **अक्षिताम्**=अनुपक्षीण, क्षीण न होने देनेवाली सम्पत्ति को **दधातु**=हमारे लिए धारण करे। २. **वयम्**=हम **विश्वराधसः**=सब कार्यों को सिद्ध करनेवाले **देवस्य**=प्रकाशमय प्रभु की **सुमतिम्**=कल्याणी मति को **धीमहि**=धारण करते हैं।

भावार्थ—गतमन्त्र से यहाँ प्रथम पाद में 'रयिम्' शब्द का अनुवर्तन है। प्रभु हमें सम्पत्ति दें, जोकि हमारी अग्रगति की साधक हों, जीवन की रक्षक हों तथा हमें क्षीण न होने दें। साथ ही हम प्रभु की सुमति का भी धारण करे, ताकि यह सम्पत्ति हमें विलास की ओर न ले-जाए।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—धात्रादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

विश्वा वार्या+अमृतम्

धाता विश्वा वार्या दधातु प्रजाकामाय दाशुषे दुरोणे।
तस्मै देवा अमृतं सं व्ययन्तु विश्वेदेवा अदितिः सजोषाः ॥ ३ ॥

१. **धाता**=सबका धारक **देवः**=दिव्यगुणयुक्त, प्रकाशमय प्रभु इस **प्रजाकामाय**=उत्तम सन्तानों की कामनावाले, **दाशुषे**=हवि देनेवाले यज्ञशील पुरुष के लिए **दुरोणे**=गृह में **विश्वा**=सब **वार्या**=वरणीय वस्तुओं को **दधातु**=धारण करे। सन्तानों के निर्माण के लिए किन्हीं आवश्यक साधनों की इसे कमी न रहे। २. **तस्मै**=उस प्रजाकाम दाश्वान् के लिए **देवाः**=वायु, जल आदि देव **अमृतम्**=नीरोगता को **संव्ययन्तु**=संवृत करें, प्राप्त कराएँ (**संवृण्वन्तु**=प्रयच्छन्तु)। **विश्वे**=सब **देवाः**='माता-पिता, आचार्य, अतिथि' आदि देव तथा **अदितिः**=यह अदीना देवमाता वेदवाणी **सजोषाः**=समानरूप से प्रीयमाण होते हुए—प्रसन्न होते हुए इसे अमृतत्व (विषयों के पीछे न मरने की वृत्ति को) प्राप्त करानेवाले हों।

भावार्थ—घर में हमें आवश्यक साधनों की कमी न हो, हम सन्तानों का उत्तम निर्माण कर सकें। जल, वायु आदि देवों की अनुकूलता हमें नीरोगता प्राप्त कराए तथा माता-पिता, आचार्य आदि का सम्पर्क और वेदाध्ययन हमें विषयासक्ति से बचाये।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—धात्रादयो मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

यज्ञमय जीवन तथा यज्ञ का साधनभूत धन

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपतिर्नो अग्निः।
त्वष्टा विष्णुः प्रजया संरराणो यजमानाय द्रविणं दधातु ॥ ४ ॥

१. **धाता**=सबका धारक, **रातिः**=सब कल्याणों का दाता, **सविता**=सर्वोत्पादक व सर्वप्रेरक, **प्रजापतिः**=प्रजाओं का पालक, **निधिपतिः**=वेदज्ञान का रक्षिता (निधीयन्ते पुरुषार्था येषु) **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **नः**=हमारी **इदं हविः जुषन्ताम्**=इस हवि का प्रीतिपूर्वक सेवन करें। प्रभुकृपा से हम हविरूप जीवनवाले बनें। २. वह **त्वष्टा**=रूपों का निर्माता **विष्णुः**=सर्वव्यापक प्रभु **प्रजया संरराणः**=हम प्रजाओं के साथ रमण करता हुआ **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए **द्रविणम्**=यज्ञ के साधनभूत धन को **दधातु**=धारण करे, दे। परमपिता प्रभु की कृपा से हम प्रजाओं को यज्ञात्मक कर्मों के लिए धन की कमी न रहे।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम यज्ञमय जीवनवाले बनें और इन यज्ञों के लिए हमें आवश्यक धन की कमी न रहे।

इस यज्ञमय जीवन में स्थिरता से चलनेवाला 'अथर्वा' अगले सूक्त का ऋषि है। यज्ञों से होनेवाली वृष्टि का इसमें प्रतिपादन है—

१८. [अष्टादशं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—पृथिवी, पर्जन्यः ॥ छन्दः—चतुष्पाद्भुरिगुष्णिक् ॥

यज्ञमय जीवन व वृष्टि

प्र नभस्व पृथिवि भिन्द्धी३दं दिव्यं नभः।
उद्नो दिव्यस्य नो धातरीशानो वि ष्या दृतिम् ॥ १ ॥

१. हे **पृथिवि**=भूमे! तू **प्र नभस्व**=(नभ हिंसायाम्) हल आदि साधनों से अच्छी प्रकार खण्डित हो, और हे **धातः**=धारक प्रभो! आप **ईशानः**=सर्वकर्मसामर्थ्यवाले होते हुए **इदं दिव्यं**

नभः=इस अन्तरिक्षस्थ मेघ को **भिन्द्धि**=विदीर्ण कीजिए और **नः**=हमारे पोषण के लिए **दिव्यस्य उद्नः**=अन्तरिक्षस्थ दिव्यगुणयुक्त जल के **दृतिम्**=बड़े भारी कुप्पेरूप मेघ को **विष्य**=नाना दिशाओं से काट डालिए।

भावार्थ—पृथिवी पर हम सम्यक् हल आदि चलाएँ और अन्तरिक्ष से सम्यक् वृष्टि होकर यह वृष्टि अन्न का उत्पादन करनेवाली हो। जीवन के यज्ञमय होने पर ऐसा होता ही है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पृथिवी, पर्जन्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सोमयाग और भद्र-प्राप्ति

न घ्रंस्तताप न हिमो जघान प्र नभतां पृथिवी जीरदानुः।
आपश्चिदस्मै घृतमित्क्षरन्ति यत्र सोमः सदमित्तत्र भद्रम्॥ २॥

१. **घ्रन्**=ग्रीष्म (गरमी) **न ततापा**=सन्ताप से अन्न को बाधित नहीं करता। **हिमः**=शीत भी **न जघान**=इन अन्नों को नष्ट करनेवाला नहीं होता। **जीरदानुः**=जीवन देनेवाली **पृथिवी**=यह पृथिवी **प्रनभताम्**=सम्यक्तया हल आदि द्वारा खण्डित की जाए। २. **अस्मै**=इस यजमान के लिए **आपः चित्**=जल निश्चय से **घृतं इत् क्षरन्ति**=घृत ही बरसाते हैं। वृष्टि से गोसमृद्धि होकर घृत की कमी नहीं रहती। **यत्र सोमः**=जहाँ सोमयाग होते रहते हैं **तत्र**=वहाँ **सदम् इत्**=सदा ही **भद्रम्**=कल्याण होता है। वहाँ वृष्टि होकर अन्न की कमी नहीं रहती और इसप्रकार अनिष्टनिवृत्ति होकर इष्ट-प्राप्ति होती है।

भावार्थ—सर्वत्र सोमयागों के होने पर वृष्टि ठीक प्रकार होती है, सर्दी व गर्मी का प्रकोप नहीं होता। ठीक से वृष्टि होकर गोसमृद्धि द्वारा घृतवृद्धि होती है।

इस उत्तम स्थिति में उन्नति करता हुआ व्यक्ति ब्रह्मा (बढ़ा हुआ) बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

१९. [एकोनविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**प्रजापतिः, धाता** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

संज्ञान-साम्मनस्य—समानोद्देश्यता

प्रजापतिर्जनयति प्रजा इमा धाता दधातु सुमनस्यमानः।
संजानानाः संमनसः सयोनयो मयि पुष्टं पुष्टपतिर्दधातु॥ १॥

१. **प्रजापतिः**=प्रजाओं का स्रष्टा व पालयिता वह देव **इमाः प्रजाः**=इन पुत्र आदि प्रजाओं को **जनयतु**=जन्म दे। प्रभुकृपा से मुझे सन्तान प्राप्त हों। **धाता**=पोषकदेव **सुमनस्यमानः**=सौमनस्य को प्राप्त हुआ-हुआ **दधातु**=उनका पोषण करे। मेरे प्रति प्रीतिवाला प्रभु मेरी सन्तानों का पोषण करे। २. वे प्रजाएँ **संजानानाः**=समान ज्ञानवाली होती हुई, कार्यों के विषय में परस्पर ऐकमत्य को प्राप्त हुई-हुई, **संमनसः**=संगत मनवाली, परस्पर अविरोधी कार्यों का चिन्तन करनेवाली, **सयोनयः**=समान कारणवाली, एक उद्देश्य से प्रेरित होकर कार्य करनेवाली जिस प्रकार हों वैसे **पुष्टपतिः**=सब पोषणों का पति प्रभु **पुष्टम्**=प्रजाविषयक पोषण को **मयि दधातु**=मुझमें धारण करे।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें सन्तानें प्राप्त हों, हम उनका सम्यक् धारण कर पाएँ। वे सन्तानें संज्ञानवाली, साम्मनस्यवाली तथा समान उद्देश्य से प्रेरित होकर कार्य करनेवाली हों। प्रभु हमारे लिए इसप्रकार की सन्तानों का पोषण करें।

आत्मनिरीक्षण द्वारा (अथ अर्वाङ्) अपनी कमियों को दूर करते हुए ही हम घरों को उत्तम

बना सकते हैं। इन घरों में परस्पर अनुकूल मति (अनुमति) का होना आवश्यक है। अगले सूक्त के ऋषि व देवता ये अथर्वा और अनुमति ही हैं—

२०. [विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अनुमतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अनुमति

अन्वद्य नोऽनुमतिर्यज्ञं देवेषु मन्यताम्। अग्निश्च हव्यवाहनो भवतां दाशुषे मम॥ १॥

१. **अनुमतिः**=अनुकूल बुद्धि, उत्तम कर्मों में अनुज्ञा देनेवाली बुद्धि, **अद्य**=अब **नः**=हमारे **देवेषु यज्ञम्**=देवों के विषय में पूजा, संगतिकरण तथा समर्पण (दान) को **अनुमन्यताम्**=अनुमत (अनुज्ञात) करे। हमारी बुद्धि हमें देवपूजन व देवसंग में प्रेरित करे। २. देवसंग से उत्तम बुद्धिवाले होकर हम यज्ञों में प्रवृत्त हों **च**=और **मम दाशुषे**=मुझ दाश्वान् के लिए, हवि देनेवाले मेरे लिए, **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **हव्यवाहनः**=हव्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाला **भवताम्**=हो। हम यज्ञशील बनें और हव्य पदार्थों को प्राप्त करने के पात्र हों।

भावार्थ—हमारी अनुमति हमें देवपूजन व देवसंग के लिए प्रेरित करे। इसप्रकार यज्ञशील बनते हुए हम प्रभुकृपा से हव्य पदार्थों को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अनुमतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अनुमति, उत्तम कर्म, उत्तम सन्तान

अन्विदनुमते त्वं मंससे शं च नस्कृधि। जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः॥ २॥

१. हे **अनुमते**=अनुकूल बुद्धे! **त्वम्**=तू **अनुमंससे इत्**=हमें शुभकर्मों के अनुकूल ही मति प्राप्त कराना **च**=और इसप्रकार **नः शं कृधि**=हमारे जीवन को शान्तिवाला बनाना। २. तू **आहुतम्**=अग्नि में आहुत किये हुए **हव्यम्**=हव्य का **जुषस्व**=सेवन कर, यज्ञशील बन। हे **देवि**=द्योतमाने अनुमते! तू हमें कर्मानुकूल उत्तम बुद्धि प्राप्त कराके तथा यज्ञशील बनाकर **नः**=हमारे लिए **प्रजां ररास्व**=प्रशस्त प्रजा को प्राप्त करा, उत्तम वातावरण में हमारी सन्तानें भी उत्तम हों।

भावार्थ—अनुमति को प्राप्त करके हम सत्कर्मानुकूल बुद्धिवाले, शान्त व यज्ञशील हों और इसप्रकार उत्तम वातावरणवाले घर में उत्तम सन्तानों को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अनुमतिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रशस्त प्रजावाली, अक्षीयमाण 'सम्पत्ति'

अनु मन्यतामनुमन्यमानः प्रजावन्तं रयिमक्षीयमाणम्।
तस्य वयं हेडसि मापि भूम सुमृडीके अस्य सुमतौ स्याम॥ ३॥

१. **अनुमन्यमानः**=सदा सत्कर्मानुकूल बुद्धि को प्राप्त कराता हुआ अनुमन्ता देव हमारे लिए **प्रजावन्तम्**=प्रशस्त सन्तानोंवाली, **अक्षीयमाणम्**=नष्ट न होती हुई, क्षीणता का कारण न बनती हुई, **रयिम्**=सम्पत्ति को **अनुमन्यताम्**=अनुज्ञात करें, प्राप्त कराएँ। २. **वयम्**=हम **तस्य**=उस अनुमन्ता देव के **हेडसि**=क्रोध में **मा अपि भूम**=मत ही हों। हम प्रभु के क्रोध के पात्र न बनें। **अस्य**=इस अनुमन्ता प्रभु की **सुमृडीके**=शोभन सुखकारिणी **सुमतौ**=अनुग्रहात्मक शोभनबुद्धि में **स्याम**=हों।

भावार्थ—प्रभु हमें प्रशस्त प्रजावाली अक्षीयमाण सम्पत्ति दें। हम प्रभु के क्रोधपात्र न हों और शोभन सुखकारिणी सुमति को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अनुमतिः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

सुप्रणीते,विश्ववारे, सुभगे 'अनुमते'

यत्ते नाम सुहवं सुप्रणीतेऽनुमते अनुमतं सुदानु।
तेना नो यज्ञं पिपृहि विश्ववारे रयिं नो धेहि सुभगे सुवीरम्॥ ४॥

१. हे **सुप्रणीते**=शुभ कार्यों की ओर ले-चलनेवाली **अनुमते**=अनुकूल बुद्धे! **यत् ते नाम**=जो तेरा 'अनुमति' यह नाम है, वह **सुहवम्**=उत्तमता से पुकारने योग्य है, **अनुमतम्**=अभिमत है, इष्ट है और **सुदानु**=शोभन दानोंवाला—अभिमत फलप्रदायक है। २. **तेन**=अपने उस नाम से, हे **विश्ववारे**=सबसे वरणीय व **सुभगे**=शोभनभाग्ययुक्त अनुमते! **नः**=हमारे लिए **यज्ञं पिपृहि**=यज्ञ को पूरित कर और **नः**=हमारे लिए **सुवीरं रयिं धेहि**=उत्तम सन्तानोंवाले धन को धारण कर।

भावार्थ—अनुमति हमें उत्तम मार्ग पर ले-चलनेवाली है, यह सबसे वरणीय है, सौभाग्य को देनेवाली है। यह हमें यज्ञशील, उत्तम सन्तानोंवाला व समृद्ध बनाये।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अनुमतिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

सुक्षेत्रतायै—सुवीरतायै

एमं यज्ञमनुमतिर्जगाम सुक्षेत्रतायै सुवीरतायै सुजातम्।
भद्रा ह्य[स्याः] प्रमतिर्बभूव सेमं यज्ञमवतु देवगोपा॥ ५॥

१. **अनुमतिः**=अनुकूल बुद्धि **इमम्**=इस **सुजातम्**=मन्त्रों व द्रव्यों से सुष्ठु निष्पन्न **यज्ञम्**=यज्ञ को **आजगाम**=प्राप्त होती है। अनुमति के होने पर हम इन यज्ञों को सम्यक्तया करते हैं। परिणामतः **सुक्षेत्रतायै**=ये यज्ञ हमारे क्षेत्रों की उत्तमता के लिए होते हैं और **सुवीरतायै**=उत्तम वीर सन्तानों के लिए होते हैं। २. **अस्याः**=इस अनुमति की **प्रमतिः**=प्रकृष्ट बुद्धि **हि**=निश्चय से **भद्रा बभूव**=कल्याणकारिणी होती है। **सा**=वह **देवगोपा**=दिव्य भावों का रक्षण करनेवाली बुद्धि **इमं यज्ञं अवतु**=इस यज्ञ का रक्षण करे। अनुमति हमें सदा यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रेरित किये रक्खे।

भावार्थ—अनुमति हमें सम्यक् सम्पन्न किये जानेवाले यज्ञों में प्रवृत्त करे, उनसे हमारे क्षेत्र उत्तम हों, हमें उत्तम सन्तान प्राप्त हों। यह अनुमति दिव्य भावों का रक्षण करती हुई हमें यज्ञ में प्रवृत्त करे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अनुमतिः** ॥ छन्दः—**अतिशाक्वरगर्भाजगती** ॥

सबका ध्यान

अनुमतिः सर्वमिदं बभूव यत्तिष्ठति चरति यदु च विश्वमेजति।
तस्यास्ते देवि सुमतौ स्यामानुमते अनु हि मंससे नः॥ ६॥

१. **अनुमतिः**=यह अनुमति देवी **इदं सर्वं बभूव**=इस सबको व्याप्त करती है, **यत्**=जो **तिष्ठति**=स्थावर वृक्षगुल्मादिरूप में स्थित है, **चरति**=जो अबुद्धिपूर्वक चेष्टा कर रहा है, **च**=और **यत्**=जो **विश्वम्**=संसार **उ**=निश्चय से **एजति**=बुद्धिपूर्वक चेष्टा कर रहा है, अनुमति 'वृक्षों, सूर्य आदि गतिमान् पिण्डों व सब प्राणियों' का ध्यान करती है। २. हे **देवि**=प्रकाशमयि **अनुमते**=अनुमते! हम **तस्याः ते**=उस तेरी **सुमतौ स्याम**=कल्याणी मति में हों। तू **हि**=निश्चय से **नः**=हमें **अनुमंससे**=उत्तम कर्मों की अनुज्ञा देती है। तेरे कारण हम सदा उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—अनुमति 'स्थावर, जंगम जगत् का तथा सब प्राणियों का' ध्यान करती है। यह हमें सदा यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त करती है।

इसप्रकार अनुमति द्वारा उत्तम कर्मों को करता हुआ यह अथर्वा 'ब्रह्मा' (बढ़ा हुआ) बनता है। अगले दो सूक्त इसी ऋषि के हैं—

२१. [एकविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आत्मा** ॥ छन्दः—**शक्वरीविराड्गर्भाजगती** ॥

एकः, विभूः, जनानाम् अतिथिः

समेत विश्वे वचसा पतिं दिव एको विभूरतिथिर्जनानाम्।
स पूर्व्यो नूतनमाविवासत्तं वर्तनिरनु वावृत एकमित्पुरु ॥ १ ॥

१. **विश्वे**=सब बन्धु मिलकर **वचसा**=मन्त्ररूप स्तोत्रों से **दिवः पतिं**=प्रकाश के (सूर्य के) स्वामी प्रभु को **समेत**=प्राप्त होओ। वे प्रभु **एकः**=अद्वितीय हैं, **विभूः**=सर्वव्यापक हैं, **जनानाम् अतिथिः**=जन्मवाले प्राणियों के प्रति निरन्तर प्राप्त होनेवाले हैं। २. **सः**=वे प्रभु **पूर्व्यः**=पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम हैं, **नूतनम् आविवासत्**=इस नये-नये संसार को व्याप्त कर रहे हैं (**'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'**)। **तम्**=उस **एकम्**=अद्वितीय प्रभु को ही **पुरु**=नाना प्रकार के **वर्तनिः**=मार्ग **अनुवावृते**=पहुँचते हैं।

भावार्थ—सब मिलकर प्रभु का उपासन करो। प्रभु अद्वितीय हैं, सबके स्वामी हैं, लोगों को सतत प्राप्त होनेवाले हैं। वे प्रभु पालन व पूरण करनेवाले होते हुए सम्पूर्ण संसार में व्याप्त हैं। सभी मार्ग अन्ततः प्रभु की ओर ले-जानेवाले हैं। (विलास के मार्ग भी कष्ट का अनुभव प्राप्त कराके हमारे जीवन की दिशा को बदल देते हैं और हमें प्रभु की ओर ले-चलते हैं)।

२२. [द्वाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**लिङ्गोक्ताः, (ब्रध्नः)** ॥ छन्दः—**द्विपदाविराड्गायत्री (एकावसाना)** ॥

कवीनां मतिः

अयं सहस्रमा नो दृशे कवीनां मतिर्ज्योतिर्विधर्मणि ॥ १ ॥

१. **अयम्**=ये प्रभु **सहस्रम्**=सहस्रसंवत्सर कालपर्यन्त **दृशे**=दर्शन के लिए, ज्ञान-प्रदान के लिए **नः आ** (भवतु)=हमें प्राप्त हों। हम सदा प्रभु से ज्ञान प्राप्त करनेवाले बनें और दीर्घजीवी हों। वे प्रभु **कवीनां मतिः**=ज्ञानी पुरुषों से माननीय हैं। **विधर्मणि**=विविध धर्मों में वे हमारे **ज्योतिः**=प्रकाश हैं, मार्गदर्शक हैं।

भावार्थ—हम प्रभु से प्रकाश प्राप्त करते हुए दीर्घकाल तक जीवन-धारण करें। वे प्रभु ज्ञानियों से मननीय हैं, और विविध धर्मों में मार्गदर्शक हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**लिङ्गोक्ताः (ब्रध्नः)** ॥ छन्दः—**त्रिपदाऽनुष्टुप्** ॥

कैसी उषाएँ

ब्रध्नः समीचीरुषसः समैरयन्।
अरेपसः सचेतसः स्वसरे मन्युमत्तमाश्चिते गोः ॥ २ ॥

१. **ब्रध्नः**=सबको अपने-अपने कर्मों में बाँधनेवाला सूर्य **उषसः समैरयन् (तु)**=उषाओं को प्रेरित करे। उन उषाओं को जोकि **समीचीः**=सम्यक् गतिवाली हैं, जिनमें हम अपने नित्य कर्मों को ठीक प्रकार प्रारम्भ कर देते हैं, **अरेपसः**=जो पापशून्य हैं, जिनमें प्रभुस्मरण से हम पापवृत्ति को विनष्ट करते हैं। **सचेतसः**=ज्ञान से युक्त हैं, जिनमें हम स्वाध्याय द्वारा ज्ञान का वर्धन करते हैं। २. जो उषाएँ **स्वसरे**=दिन में (अहर्नामैतत्) **मन्युमत्तमाः**=अतिशयेन दीप्तिवाली हैं और जो **गोः चिते**=ज्ञान की वाणी के चयन के लिए हैं। जिन उषाओं में हम खूब ही ज्ञान

का संचय करते हैं।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारे लिए उन उषाओं का उदय हो, जिनमें हम क्रियाशील, निष्पाप, ज्ञानवाले व वेदवाणी का चयन करनेवाले बनते हैं।

२३. [त्रयोविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दौःष्वप्न्य आदि का दूरीकरण

दौःष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमराय्यः।
दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि॥ १॥

१. अपने जीवन को नियमित करनेवाला 'यम' इस सूक्त का ऋषि है। अथर्व ४.१७.५ पर इस मन्त्र की व्याख्या हो चुकी है। नियमित जीवन से दौःष्वप्न्य आदि को दूर करके जीवन को उन्नत करता हुआ यह 'ब्रह्मा' बनता है—

२४. [चतुर्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**सविता** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

इन्द्र+अग्नि

यन्न इन्द्रो अखनद्यदग्निर्विश्वे देवा मरुतो यत्स्वर्काः।
तदस्मभ्यं सविता सत्यधर्मा प्रजापतिरनुमतिर्नि यच्छात्॥ १॥

१. **नः**=हमारे लिए **यत्**=जिस धन को **इन्द्रः अखनत्**=इन्द्र खोदता है, अर्थात् जिस गुप्त धन को हमारे लिए इन्द्र प्राप्त कराता है, **यत् अग्निः**=जिसे अग्नि तथा **विश्वेदेवाः**=सब देव प्राप्त कराते हैं। **यत्**=जिसे **मरुतः स्वर्काः**=(सु, अर्च्) उत्तमता से पूजन करनेवाले प्राण प्राप्त कराते हैं, **तत्**=उस धन को **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **सविता**=सर्वप्रेरक **सत्यधर्मा**=सत्य का धारण करनेवाला **प्रजापतिः**=प्रजाओं का रक्षक **अनुमतिः**=अनुकूल मति को प्राप्त करानेवाला प्रभु **नियच्छात्**=प्राप्त कराए। २. जितेन्द्रिय (इन्द्र), आगे बढ़ने की भावनावाले (अग्नि), दिव्य गुण-सम्पन्न (विश्वेदेवा) तथा प्राणसाधना के साथ प्रभु की अर्चना में प्रवृत्त होकर (स्वर्काः मरुतः) हम जिस बल व ज्ञान के ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं, वह सब हमें प्रभु ही प्राप्त कराते हैं। उस समय हम प्रभु-प्रेरणा को सुनते हुए (सविता) सत्य को धारण करनेवाले बनते हैं (सत्यधर्मा), और प्रजाओं के रक्षक बनकर शास्त्रानुकूल कर्मों के करने की प्रवृत्तिवाले होते हैं।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय, आगे बढ़नेवाली वृत्तिवाले, दिव्यगुणों को धारण करनेवाले व प्राणसाधना के साथ प्रभु-अर्चन में प्रवृत्त होनेवाले हों। हमें वे प्रेरक, सत्य के धारक, प्रजाओं के रक्षक, अनुकूल मतिदाता प्रभु उत्तम ऐश्वर्य प्राप्त कराएँगे।

उल्लिखित मन्त्र में निर्दिष्ट मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति ही 'मेधातिथि' है, बुद्धि के साथ चलनेवाला। यह मेधातिथि अगले पाँच सूक्तों का ऋषि है—

२५. [पञ्चविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**मेधातिथिः** ॥ देवता—**विष्णुः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

विष्णु+वरुण

ययोरोजसा स्कभिता रजांसि यौ वीर्यैर्वीरतमा शविष्ठा।
यौ पत्येते अप्रतीतौ सहोभिर्विष्णुमगन्वरुणं पूर्वहूतिः॥ १॥

१. 'विष्णु' (विष् व्याप्तौ) व्यापकता का प्रतीक है तथा 'वरुण' द्वेषनिवारण का। हमें चाहिए कि हम (व्यापक) उदार हृदयवाले व निर्द्वेष बनें। प्रभु में ये गुण निरपेक्षरूप में है, अतः प्रभु 'विष्णु' हैं 'वरुण' हैं। **ययोः**=जिन विष्णु और वरुण के **ओजसा**=बल से **रजांसि स्कभिता**=ये सब लोक थमे हुए हैं। **यौ**=जो दोनों **वीर्यैः**=वीर्यों से **वीरतमा**=सर्वाधिक वीर हैं, **शविष्ठा**=सर्वाधिक बली हैं। २. **यौ**=जो दोनों **पत्येते**=ऐश्वर्य व सामर्थ्य को प्राप्त हैं। **सहोभिः**=अपने बलों के कारण **अप्रतीतौ**=शत्रुओं से अनाक्रान्त हैं। उन **विष्णुं वरुणम्**=विष्णु और वरुण को **पूर्वहूतिः अगन्**=हमारी सर्वप्रथम पुकार प्राप्त हो, हम इन विष्णु और वरुण का ही आराधन करें।

भावार्थ—विष्णु व वरुण की आराधना करते हुए हम 'लोकधारक, वीर, बलवान्, ऐश्वर्यशाली व शत्रुओं से अनाक्रान्त बनें।

ऋषिः—**मेधातिथिः** ॥ देवता—**विष्णुः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

धर्मणा+सहोभिः

यस्येदं प्रदिशि यद्विरोचते प्र चानति वि च चष्टे शचीभिः।
पुरा देवस्य धर्मणा सहोभिर्विष्णुमगन्वरुणं पूर्वहूतिः॥ २॥

१. **यस्य**=जिस विष्णु व वरुण के **प्रदिशि**=शासन में **यत् इदम्**=जो यह जगत् है वह **विरोचते**= विशिष्टरूप से दीप्त होता है। **च**=और उसी विष्णु व वरुण के शासन में ही **प्र अनति**=प्राणधारण करता है, **च**=और **शचीभिः विचष्टे**=उन्हीं की शक्तियों से विविध कर्मों को करता है। २. अतः **देवस्य**=उस द्योतमान् विष्णु व वरुण के **धर्मणा**=धारक कर्म के हेतु से **च**=तथा **सहोभिः**=शत्रुमर्षक शक्तियों के हेतु से **पुरा**=सर्वप्रथम हमारी **पूर्वहूतिः**=प्रारम्भिक पुकार **विष्णुं वरुणं अगन्**=विष्णु व वरुण को ही प्राप्त होती है। विष्णु व वरुण को पुकारते हुए हम भी 'विष्णु व वरुण' बनते हैं और धारणात्मक कर्मों में प्रवृत्त होते हैं तथा बलों को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—विष्णु व वरुण ही सब जगत् को दीप्त करते हैं, जीवन देते है और विविध कर्मफल प्राप्त कराते हैं। हम भी विष्णु (उदार) बनकर समाज को धारण करनेवाले बनें (धर्मणा) और वरुण (निर्द्वेष) बनकर बलवान् बनें।

२६. [षड्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**मेधातिथिः** ॥ देवता—**विष्णुः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

त्रेधा विचक्रमाणः, उरुगायः

विष्णोर्नु कं प्र वोचं वीर्याणि यः पार्थिवानि विममे रजांसि।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः॥ १॥

१. मैं **विष्णोः**=उस सर्वव्यापक प्रभु के **वीर्याणि**=वीरतायुक्त कर्मों को **नु कम्**=शीघ्र ही **प्रावोचम्**=प्रकर्षेण कहता हूँ। उस विष्णु के **यः**=जिसने इन **पार्थिवानि रजांसि विममे**=पार्थिव लोकों को बनाया है। अथवा इन पार्थिव लोकों में होनेवाली अग्नि, विद्युत्, सूर्यात्मक ज्योतियों को (रजांसि) बनाया है। २. **यः**=जिस विष्णु ने **उत्तरम्**=उत्कृष्टतर **सधस्थम्**=(सह तिष्ठन्त्यस्मिन् देवाः) प्रभु के साथ मिलकर बैठने के आधारभूत इस स्वर्ग को **अस्कभायत्**=थामा है। वे विष्णु **त्रेधा**=तीन प्रकार से—पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक में **विचक्रमाणः**=विशिष्टरूप से गति करते हुए **उरुगायः**=खूब ही गायन के योग्य हैं, अथवा सर्वत्र गमनवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु के ही सब वीरतापूर्ण कर्म हैं, प्रभु ही सब अग्नि, विद्युत, सूर्यरूप ज्योतियों

को निर्मित करते हैं। स्वर्ग को भी वे ही थामनेवाले हैं। पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक में गति करते हुए वे प्रभु गायन के योग्य हैं।

ऋषिः—**मेधातिथिः** ॥ देवता—**विष्णुः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराड्गायत्री** ॥

कुचरः, गिरिष्ठाः

प्र तद्विष्णुं स्तवते वीर्या᳡णि मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।
परावत आ जगम्यात्परस्याः॥ २॥

१. **तत्**=(सः) वे सर्वव्यापक (तनु विस्तारे) **विष्णुः**=प्रभु **वीर्याणि** (उद्दिश्य)=वीर कर्मों का लक्ष्य करके **प्रस्तवते**=खूब ही स्तुति किये जाते हैं। **मृगः**=वे प्रभु ही अन्वेषणीय हैं (मृग अन्वेषणे), **न भीमः**=वे भयंकर नहीं, प्रेम ही भगवान् का रूप है, पापियों को दण्ड भी वे उनके कल्याण के लिए प्रेम से ही देते हैं। **कुचरः**=सम्पूर्ण पृथिवी पर विचरण करनेवाले है अथवा कहाँ नहीं हैं? (क्वायं न चरतीति वा—नि०) प्रभु तो सर्वत्र हैं। **गिरिष्ठाः**=वेदवाणियों में स्थित हैं, सब वेद प्रभु का ही तो वर्णन कर रहे हैं (सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति)। २. वे प्रभु **परस्याः परावतः**=दूर-से-दूर होते हुए भी **आजगम्यात्**=हमारे हृदय-देश में आने का अनुग्रह करें। दूर-से-दूर विद्यमान उस प्रभु को हम यहाँ हृदय में अनुभव करने का प्रयत्न करें।

भावार्थ—प्रभु के वीरतापूर्ण कर्म स्तुति के योग्य हैं। उन प्रभु का ही हम अन्वेषण करें, वे प्रेमरूप हैं, सर्वत्र हैं, सब वेदमन्त्रों में उनका ही प्रतिपादन हो रहा है। दूर-से-दूर होते हुए भी वे प्रभु हमें यहाँ हृदयों में प्राप्त हों।

ऋषिः—**मेधातिथिः** ॥ देवता—**विष्णुः** ॥ छन्दः—**षट्पदाविराट्शक्वरी** ॥

धन+ज्ञान+यज्ञशीलता

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा। उरु विष्णो वि क्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि। घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर॥ ३॥

१. **यस्य**=जिस विष्णु के **उरुषु**=विशाल **त्रिषु विक्रमणेषु**=तीन विक्रमणों—अभिप्रायः पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक में **विश्वा भुवनानि अधिक्षियन्ति**=सब प्राणियों का निवास है, हे **विष्णो**=सर्वव्यापक प्रभो! वे आप **उरु विक्रमस्व**=इन लोकों में खूब ही विक्रमवाले होओ। कण-कण में आपका विक्रम दृष्टिगोचर हो। २. हे प्रभो! **नः**=हमारे लिए भी **क्षयाय**=निवास के लिए **उरु कृधि**=प्रभूत धनादि प्राप्त कराइए। हे **घृतयोने**=सम्पूर्ण ज्ञानदीप्ति के आधारभूत प्रभो! **घृतं पिब** (पायय)=हमें भी ज्ञानदीप्ति प्राप्त कराइए और **यज्ञपतिम्**=यज्ञशील व्यक्ति को **प्रप्रतिर**=खूब ही बढ़ानेवाले होओ (तिरतिः वर्धनार्थः)

भावार्थ—सम्पूर्ण लोक प्रभु के तीन विक्रमणों में स्थित हैं। प्रभु हमें निवास के लिए आवश्यक धन प्राप्त कराएँ। हमें ज्ञान दें और हम यज्ञशील लोगों का वर्धन करें। (धन के साथ ज्ञान होने पर मनुष्य विलास में न फँसकर, यज्ञशील बनता है)।

ऋषिः—**मेधातिथिः** ॥ देवता—**विष्णुः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

विष्णु के पांसुर में लोकत्रय की स्थिति

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदा। समूढमस्य पांसुरे॥ ४॥

१. **विष्णुः**=उस सर्वव्यापक प्रभु ने **इदं विचक्रमे**=इस विश्व को विक्रान्त किया। इसे नाना प्रकार से बनाकर वह इसमें व्याप्त हुआ और **त्रेधा**=तीन प्रकार से **पदा निदधे**=अपने पदों को स्थापित किया। इन लोकों को बनाया, इनका धारण किया और अन्त में पुनः अपने में इनका

लय कर लिया। २. **अस्य**=इस व्यापक प्रभु के **पांसुरे**=(पांसुभिः रजोभिः परमाणुभिः युक्ते) प्रकृतिरूप एक चरण में (परमाणुओं से बनी हुई प्रकृति में) **समूढम्**=ये लोक-लोकान्तर धारण किये गये हैं।

भावार्थ—प्रभु 'इन लोकों की उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय' रूप तीन कदमों को रखते हैं। यह सारा ब्रह्माण्ड प्रभु के एक प्रकृतिरूप चरण में निहित है (**पादोऽस्य विश्वा भूतानि**)।

ऋषिः—**मेधातिथिः** ॥ देवता—**विष्णुः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

विष्णुः गोपाः अदाभ्यः

त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः। इतो धर्माणि धारयन्॥ ५॥

१. वे **विष्णुः**=व्यापक प्रभु **गोपाः**=गोपायिता (रक्षक) हैं, **अदाभ्यः**=अहिंस्य हैं, किसी से भी अभिभूत करने योग्य नहीं हैं। वे प्रभु **त्रीणि पदा विचक्रमे**=तीन कदमों को रखते हैं, इन लोकों का निर्माण करते हैं, धारण करते हैं और प्रलय करते हैं। २. **इतः**=(इतं गतम् अस्यास्तीति इतः) वे गतिशील प्रभु **धर्माणि**=भूतों को धारण करनेवाले 'पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक' को **धारयन्**=धारण करते हैं। सब गतियों के स्रोत वे प्रभु ही हैं, वे इन सब लोकों को धारण कर रहे हैं।

भावार्थ—वे प्रभु व्यापक, रक्षक व अहिंस्य हैं, वे इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय करते हैं। सब गतियों के स्रोत होते हुए वे इन लोकों को धारण कर रहे हैं।

ऋषिः—**मेधातिथिः** ॥ देवता—**विष्णुः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

इन्द्रस्य युज्यः सखा

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे। इन्द्रस्य युज्यः सखा॥ ६॥

१. **विष्णोः**=इस व्यापक प्रभु के **कर्माणि पश्यत**=कर्मों को देखो। **यतः**=जिन कर्मों से जीव **व्रतानि**=अपने व्रतों को **पस्पशे**=(स्पश बन्धनस्पर्शनयोः) स्पृष्ट करता है, या व्रतरूप में अपने में बाँधता है। जैसेकि प्रभु दयालु हैं, तो यह उपासक भी दयालु होने का व्रत लेता है। २. वे विष्णु ही **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **युज्यः सखा**=सदा साथ रहनेवाले साथी है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन करते हुए हम प्रभु के अनुसार कर्मों को करने का यत्न करें। प्रभु की तरह ही दयालु बनें। ये प्रभु सदा हमारे साथ रहनेवाले साथी बनते हैं, यदि हम जितेन्द्रिय बनने का यत्न करते हैं।

ऋषिः—**मेधातिथिः** ॥ देवता—**विष्णुः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः। दिवी ऽिव चक्षुराततम्॥ ७॥

१. **विष्णोः**=उस व्यापक प्रभु के **तत्**=व्यापक **परमं पदम्**=सर्वोत्कृष्ट स्थान (ज्ञातव्य तत्त्वों) को **सूरयः**=ज्ञानी लोग **सदा**=सदा **पश्यन्ति**=देखते हैं। वह तो **दिवि**=द्युलोक में **आततं चक्षुः इव**=इस चारों ओर विस्तृत प्रकाशवाली सूर्यरूप आँख के समान है। प्रभु '**आदित्यवर्ण**' है, '**ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः**'=ब्रह्म सूर्य के समान एक प्रकाश ही तो है। '**दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता। यदि भाः सदृशी सा स्याद् भासस्तस्य महात्मनः**'॥ हज़ारों सूर्यों की ज्योति के समान प्रभु की ज्योति है।

भावार्थ—ज्ञानी लोग विष्णु के परमपद को देखते हैं। ब्रह्म एक सूर्यसम ज्योति हैं, प्रकाशरूप हैं।

ऋषिः—**मेधातिथिः** ॥ देवता—**विष्णुः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रकाश, विशालता, दृढ़ता

दिवो विष्ण उत वा पृथिव्या महो विष्ण उरोरन्तरिक्षात्।
हस्तौ पृणस्व बहुभिर्वसव्यैराप्रयच्छ दक्षिणादोत सव्यात्॥ ८॥

१. हे **विष्णो**=व्यापक प्रभो! **दिवः**=द्युलोक से **उत वा**=और **पृथिव्याः**=इस पृथिवीलोक से और हे **विष्णो**=व्यापक प्रभो! इस **महः उरोः अन्तरिक्षात्**=महान् विशाल अन्तरिक्ष से **बहुभिः वसव्यैः**=बहुत वसुओं के (निवास के लिए आवश्यक धनों के) समूहों से **हस्तौ पृणस्व**=अपने हाथों को पूरित कीजिए और उस प्रभूत धनराशि को **दक्षिणात्**=दाहिने हाथ से **उत**=और **सव्यात्**=बायें हाथ से **आप्रयच्छ**=हमारे लिए सभी ओर से प्राप्त कराइए।

भावार्थ—प्रभु हमें तीनों लोकों के धनों को प्राप्त करानेवाले हों। प्रभु हमें द्युलोक से 'प्रकाश', अन्तरिक्ष से 'विशालता' व पृथिवी से 'दृढ़ता' प्राप्त कराएँ। हमारा मस्तिष्क दीप्त हो, हृदय विशाल हो तथा शरीर दृढ़ हो।

२७. [सप्तविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**मेधातिथिः** ॥ देवता—**इडा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

इडा

इडैवास्माँ अनु वस्तां व्रतेन यस्याः पदे पुनते देवयन्तः।
घृतपदी शक्वरी सोमपृष्ठोप यज्ञमस्थित वैश्वदेवी॥ १॥

१. **इडा**=यह वेदवाणी **एव**=ही **अस्मान् व्रतेन अनुवस्ताम्**=हमें उत्तम कर्मों से आच्छादित करनेवाली हो, अर्थात् इस वेदज्ञान को प्राप्त करके हम सदा उत्तम कर्मों को करनेवाले हों। यह वेदवाणी वह है, **यस्याः**=जिसके कि **पदे**=चरणों में **देवयन्तः**=प्रकाशमय प्रभु को प्राप्त करने की कामनावाले पुरुष **पुनते**=अपने को सदा पवित्र करते हैं। २. **घृतपदी**=(घृतं पदे यस्याः) जिसके एक-एक शब्द में ज्ञानदीप्ति है, **शक्वरी**=जो हमें शक्तिशाली बनाती है, **सोमपृष्ठा**=(पृक्ष्=to sprinkle) हमारे जीवन में सोम का सेचन करनेवाली है, अर्थात् वेदाभ्यास से वासना-विलय होकर सोम का शरीर में रक्षण होता है, वह **वैश्वदेवी**=सब दिव्य गुणों को जन्म देनेवाली वेदवाणी **यज्ञं उपास्थित**=उस पूजनीय प्रभु के समीप उपस्थित होती है, हमें प्रभु के समीप प्राप्त कराती है। यह वेदवाणी प्रभु का ही तो पूजन करती है (उपतिष्ठते) **'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'**।

भावार्थ—यह वेदवाणी हमें उत्तम कर्मों में प्रेरित करती हुई, पवित्र जीवनवाला बनाती है। यह 'ज्ञान, शक्ति व सोम का सेचन' करनेवाली है। सब दिव्यगुणों को प्राप्त कराती हुई यह हमें प्रभु के समीप उपस्थित करती है।

२८. [अष्टाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**मेधातिथिः** ॥ देवता—**वेदः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वेद+यज्ञ

वेदः स्वस्तिर्द्रुघणः स्वस्तिः परशुर्वेदिः परशुर्नः स्वस्ति।
हविष्कृतो यज्ञिया यज्ञकामास्ते देवासो यज्ञमिमं जुषन्ताम्॥ १॥

१. **वेदः स्वस्तिः**=यज्ञों में उच्चरित होता हुआ यह वेद हमारे लिए कल्याणकर हो। **द्रुघणः स्वस्तिः**=(द्रुमः हन्यते येन) वृक्ष आदि को काटनेवाला आरा कल्याणकर हो। **परशुः**=तृणादि

काटनेवाला दराँती कल्याणकर हो। **वेदिः**=हवि रखने की आधारभूत वेदि कल्याणकर हो। **परशुः**=लकड़ियों को काटनेवाली कुल्हाड़ी **नः स्वस्ति**=हमारे लिए कल्याणकर हो। २. **यज्ञियाः**=पूजनीय **यज्ञकामाः**=यज्ञों की कामनावाले **ते देवासः**=वे देव **हविः कृतः**=हवि के सम्पादक मेरे **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **जुषन्ताम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले हों।

भावार्थ—वेद तथा यज्ञ के साधनभूत सब पदार्थ हमारा कल्याण करनेवाले हों। सब पूज्यदेव हवि के सम्पादक मेरे इस यज्ञ का प्रीतिपूर्वक सेवन करें।

२९. [एकोनत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**मेधातिथिः** ॥ देवता—**अग्राविष्णू** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अग्राविष्णू

अग्नाविष्णू महि तद्वां महित्वं पाथो घृतस्य गुह्यस्य नाम।
दमेदमे सप्त रत्ना दधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमा चरण्यात्॥ १॥

१. हे **अग्राविष्णू**=अग्नि तथा विष्णुदेव, आगे बढ़ने की प्रवृत्ति तथा व्यापकता (उदारता) **वाम्**=आपका **तद् महित्वम्**=वह माहात्म्य, **महि**=महान् है, आप **गुह्यस्य**=हृदय-गुहा में स्थित **घृतस्य**=ज्ञानदीप्त प्रभु के **नाम पाथः**=नाम का रक्षण करते हो। 'अग्नि तथा विष्णु' अग्रगति की भावना व उदारता हमें प्रभु का स्मरण कराती है। प्रभुस्मरण ही हमें उन्नत व उदार बनाता है। २. ये अग्नि और विष्णु **दमेदमे**=प्रत्येक शरीररूप गृह में **सप्त रत्ना**='रस, रुधिर, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा, वीर्यरूप' सात रमणीय धनों को **दधानौ**=धारण करते हैं। **वां जिह्वा**=आपकी जिह्वा **घृतम्**=ज्ञानदीप्त प्रभु को **आचरण्यात्**=सदा आभिमुख्येन प्राप्त हो। अग्नि व विष्णु की भावना हमें सदा प्रभु का स्मरण करानेवाली हो।

भावार्थ—हम आगे बढ़ने की भावनावाले व उदार वृत्तिवाले बनें। ऐसे बनकर हम सदा प्रभु का स्मरण करें तब हम अपने जीवन में सातों रत्नों को धारण करनेवाले बनेंगे।

ऋषिः—**मेधातिथिः** ॥ देवता—**अग्राविष्णू** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

महि प्रियं धाम

अग्नाविष्णू महि धाम प्रियं वां वीथो घृतस्य गुह्या जुषाणौ।
दमेदमे सुष्टुत्या वावृधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमुच्चरण्यात्॥ २॥

१. हे **अग्राविष्णू**=अग्नि तथा विष्णु, अर्थात् आगे बढ़ने की प्रवृत्ति तथा उदारता! **वाम्**=आपका **धाम**=तेज **महि**=महत्त्वपूर्ण है तथा **प्रियम्**=प्रीतिकर है। आप **जुषाणौ**=परस्पर प्रीतियुक्त होते हुए—मिलकर हममें निवास करते हुए **घृतस्य**=ज्ञानदीप्त प्रभु के **गुह्या**=हृदय-गुहा में स्थित गूढ़रूपों को **वीथः**=प्राप्त कराते हो, अपने अन्दर प्रादुर्भूत करते हो (प्रजन)। २. **दमेदमे**=प्रत्येक शरीर-गृह में **सुष्टुत्या**=प्रभु के उत्तम स्तवन से **वावृधानौ**=आप खूब ही वृद्धि को प्राप्त हो। प्रभुस्मरण से हममें आगे बढ़ने की भावना व उदारता का वर्धन होता है। हे अग्राविष्णू! **वाम्**=आपकी यह **जिह्वा**=जिह्वा **घृतम्**=ज्ञानदीप्त प्रभु को **प्रति उच्चरण्यात्**=प्रतिदिन उच्चरित करे, प्रभुनाम का ही स्मरण करे।

भावार्थ—अग्नि तथा विष्णु (आगे बढ़ने की भावना व उदारता) हमें तेजस्वी बनाती है, प्रभुस्मरण में प्रवृत्त करती है। वस्तुतः प्रभुस्मरण से ही ये वृत्तियाँ विकसित होती हैं।

अग्नि व विष्णु का उपासक '**भृगु**'=तेजस्वी व '**अंगिराः**'=अंग-प्रत्यंग में रसवाला बनता है। यह 'भृग्वंगिराः' ही अगले दो सूक्तों का ऋषि है—

३०. [त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**द्यावापृथिवी, मित्रः, ब्रह्मणस्पतिः, सविता च** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥

अक्षियुग का सम्यक् अञ्जनयुक्त होना

स्वाक्तं मे द्यावापृथिवी स्वाक्तं मित्रो अकरयम्।
स्वाक्तं मे ब्रह्मणस्पतिः स्वाक्तं सविता करत्॥ १॥

१. **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक—माता व पिता **मे स्वाक्तं** (सु आ अक्तम्)=मेरे अक्षियुग को सम्यक् सर्वतः अञ्जनयुक्त (रञ्जित) करें। **अयं मित्रः**=यह सूर्य **स्वाक्तं अकः**=मेरे अक्षियुग को सम्यक् अञ्जनयुक्त करे। २. इसी प्रकार **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **मे स्वाक्तम्**=मेरे अक्षियुग को सम्यक् रञ्जित करे, तथा **सविता स्वाक्तं करत्**=सबका प्रेरक देव मेरे अक्षियुग को सम्यक् रञ्जित करे।

भावार्थ—द्युलोक, पृथिवीलोक, सूर्य तथा ज्ञान के स्वामी प्रेरक प्रभु की कृपा से हमारी आँखे सम्यक् अञ्जनयुक्त बनें, वे ठीक से देखनेवाली हों। हमारा दृष्टिकोण ठीक बना रहे।

३१. [एकत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

इन्द्र, शूर, मघवा

इन्द्रोतिभिर्बहुलाभिर्नो अद्य यावच्छ्रेष्ठाभिर्मघवञ्छूर जिन्व।
यो नो द्वेष्ट्यधरः सस्पदीष्ट यमु द्विष्मस्तमु प्राणो जहातु॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले, **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले **मघवन्**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **नः**=हमें **अद्य**=आज **बहुलाभिः**=बहुत **यावत् श्रेष्ठाभिः**=अतिश्रेष्ठ, अधिक-से-अधिक श्रेष्ठ **ऊतिभिः**=रक्षणों द्वारा **जिन्व**=प्रीणित कीजिए। हम आपके रक्षणों से रक्षित होते हुए कभी भी शत्रुओं से आक्रान्त न हों। २. **यः**=जो **नः द्वेष्टि**=हमारे प्रति अप्रीति करता है, **सः**=वह **अधरः पदीष्ट**=अधोमुख होकर गिरे, पराजित हो। **उ**=और **यं द्विष्मः**=जिस एक के प्रति हम सब अप्रीतिवाले होते हैं, **तम्**=उसे **उ**=निश्चय से **प्राणः जहातु**=प्राण छोड़ जाए, वह मृत्यु का शिकार हो।

भावार्थ—हम उस 'इन्द्र,शूर,मघवा' प्रभु के रक्षण में रक्षित हुए-हुए शत्रुओं से आक्रान्त न हों। जो हम सबके प्रति द्वेष करता है अतएव सबका अप्रिय बनता है, वह अवनत हो व मृत्यु को प्राप्त हो।

'इन्द्र, शूर व मघवा' प्रभु का स्मरण करते हुए द्वेषशून्य होकर,सब प्रकार से आगे बढ़ते हुए हम 'ब्रह्मा' बनते हैं। अगले दो सूक्तों का ऋषि यह 'ब्रह्मा' है—

३२. [द्वात्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रभु-स्मरण व दीर्घ जीवन

उप प्रियं पनिप्नतं युवानमाहुतीवृधम्।
अगन्म बिभ्रतो नमो दीर्घमायुः कृणोतु मे॥ १॥

१. **प्रियम्**=सबके इष्ट—प्रीणनकारी, **पनिप्नतम्**=(पन स्तुतौ) स्तूयमान, **युवानम्**=बुराइयों को दूर करनेवाले तथा अच्छाइयों को हमारे साथ मिलानेवाले, **आहुति-वृधम्**=दानों के द्वारा

हमारा समन्तात् वर्धन करनेवाले (वर्धयितारं) उस प्रभु के **उप**=समीप **नमः बिभ्रतः अगन्म**=नमन को धारण करते हुए प्राप्त होते हैं। वे प्रभु **मे आयुः**=मेरे आयुष्य को **दीर्घं कृणोतु**=दीर्घ करें।

भावार्थ—प्रभु सबके प्रिय हैं, स्तुति के योग्य हैं, बुराइयों को हमसे पृथक् करनेवाले हैं, दानों के द्वारा हमारा चारों ओर से वर्धन करनेवाले हैं। प्रभु के प्रति नमन वासनाविनाश के द्वारा हमारे दीर्घजीवन को सिद्ध करता है।

३३. [त्रयस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**मरुतः, पूषा, बृहस्पतिः, अग्निश्च** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

प्रजा+धन+दीर्घायु

सं मा सिञ्चन्तु मरुतः सं पूषा सं बृहस्पतिः।
सं मायमग्निः सिञ्चतु प्रजया च धनेन च दीर्घमायुः कृणोतु मे॥ १॥

१. **मरुतः**=प्राण **मा संसिञ्चन्तु**=मुझे शक्ति से सम्यक् सिक्त करें। प्राणसाधना द्वारा मेरे शरीर में शक्ति का सेचन हो। प्राणसाधना से ही वीर्य की ऊर्ध्वगति सम्भव होती है। इसी प्रकार **पूषा**=अपनी किरणों में सब पोषक तत्त्वों को लिये हुए यह सूर्य मुझे **सं (सिञ्चतु)**=शक्ति से युक्त करे, **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **सम्**=मुझे शक्ति-सिक्त करे। सूर्यकिरणों में (खुले में) यथासम्भव जीवन-यापन तथा स्वाध्याय की प्रवृत्ति भी शक्ति की रक्षा करने में सहायक होती है। २. **अयं अग्निः**=यह शरीरस्थ जाठराग्नि (वैश्वानर अग्नि) **मा**=मुझे **संसिञ्चतु**=सम्यक् शक्ति-सिक्त करे और इसप्रकार ये सब **प्रजया च धनेन च**=उत्तम सन्तान व ऐश्वर्य के साथ **मे आयुः**=मेरे आयुष्य को **दीर्घम्**=दीर्घ **कृणोतु**=करें।

भावार्थ—हम प्राणसाधना करनेवाले हों, सूर्यकिरणों के सम्पर्क में हमारा निवास हो, हम स्वाध्यायशील बनें, भोजन की मर्यादा से जाठराग्नि को सदा दीप्त रक्खें। इससे हमें उत्तम सन्तान, ऐश्वर्य व दीर्घजीवन प्राप्त होगा।

गतमन्त्र के अनुसार दृढ़ता से मार्ग का अनुसरण करनेवाला व्यक्ति 'अथर्वा' (न डाँवाडोल) बनता है। अगले ५ सूक्तों का ऋषि 'अथर्वा' ही है—

३४. [चतुस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**जातवेदाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

अनागसः अदितये (स्याम)

अग्ने जातान्प्र णुदा मे सपत्नान्प्रत्यजाताञ्जातवेदो नुदस्व।
अधस्पदं कृणुष्व ये पृतन्यवोऽनागसस्ते वयमदितये स्याम॥ १॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **मे जातान्**=मेरे अन्दर प्रादुर्भूत हुए-हुए **सपत्नान्**=शत्रुओं को **प्रणुद**=परे प्रेरित कीजिए। हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **अ-जातान्**=कुछ-कुछ (अ=ईषत्) प्रकट हो रहे—जिनके प्रादुर्भूत होने की सम्भावना हो रही है, उन्हें भी, **प्रतिनुदस्व**=परे धकेल दीजिए। २. **ये पृतन्यवः**=जो हमारे साथ संग्राम की इच्छावाले शत्रु हैं, उन्हें **अधस्पदं कृणुष्व**=हमारे पाँव तले कर दीजिए, हम उन्हें परास्त करनेवाले हों। **ते वयम्**=वे हम अथवा (तव) आपके उपासक हम **अनागसः**=निष्पाप होकर **अदितये स्याम**=स्वास्थ्य के अखण्डन के लिए (अखण्डितत्वाय), अदीनता के लिए तथा अनभिशस्ति (अहिंसन) के लिए हों।

भावार्थ—प्रभुस्मरण हमारे प्रादुर्भूत व प्रादुर्भूत होनेवाले सभी शत्रुओं को दूर करें। हमपर आक्रमण करनेवाले सभी शत्रुओं को हम जीतें। निष्पाप होकर हम 'स्वस्थ, अदीन व अहिंसित' बनें।

३५. [पञ्चत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**जातवेदाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सौभाग्ययुक्त राष्ट्र

प्रान्यान्त्सपत्नान्त्सहसा सहस्व प्रत्यजाताञ्जातवेदो नुदस्व।
इदं राष्ट्रं पिपृहि सौभगाय विश्व एनमनु मदन्तु देवाः॥ १॥

१. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **अन्यान् सपत्नान्**=हमारा प्रातिकूल्य करनेवाले हमसे भिन्न इन शत्रुओं को **सहसा प्र सहस्व**=बल से अभिभूत कीजिए अथवा शीघ्र विनष्ट कीजिए। **अजातान्**=कुछ-कुछ प्रादुर्भूत हो रहे इन शत्रुओं को भी **प्रतिनुदस्व**=परे धकेल दीजिए। २. हे प्रभो! आप **इदं राष्ट्रम्**=हमारे इस राष्ट्र को **सौभगाय पिपृहि**=सौभाग्य के लिए पूरित कीजिए। शत्रुशून्य हमारा यह राष्ट्र सौभाग्य-सम्पन्न हो। परोपद्रवकारियों से युक्त राष्ट्र कभी सस्य आदि से अभिवृद्धिवाला नहीं होता। **विश्वेदेवाः**=सब देव **एनम्**=इस शत्रुहनन कर्म के प्रयोक्ता को **अनुमदन्तु**=हर्षित करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से हमारे शत्रु नष्ट हों। हमारा राष्ट्र सौभाग्यपूर्ण हो। सब देव इस शत्रुहन्ता को हर्षित करनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**जातवेदाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पत्नी के रुधिर-स्राव का निरोध

इमा यास्ते शतं हिराः सहस्रं धमनीरुत।
तासां ते सर्वासामहमश्मना बिलमप्यधाम्॥ २॥

१. हे स्त्रि! **इमाः**=ये **याः**=जो **ते**=तेरी **शतं हिराः**=सैकड़ों नाड़ियाँ—गर्भधारण के लिए अन्दर स्थित सूक्ष्म नाड़ियाँ हैं, **ते**=तेरी **तासां सर्वासाम्**=उन सब नाड़ियों के **बिलम्**=छेद को रुधिर-स्राव के कारणभूत विच्छेद को **अश्मना**=पाषाणविशेष से—फिटकरी से **अपि अधाम्**=आच्छादित करता हूँ। विच्छेद को रोककर स्राव को बन्द करता हूँ।

भावार्थ—नाड़ी-विच्छेद के कारण स्राव प्रारम्भ होने पर स्वास्थ्य के विकृत होने की आशंका बढ़ती ही जाएगी और गर्भस्थ सन्तान पर भी उसका परिणाम अशुभ होगा। एवं, यह विच्छेद शीघ्रातिशीघ्र चिकित्स्य है ही।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**जातवेदाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अस्वं, अप्रजसम्, अश्मानम्

परं योनेरवरं ते कृणोमि मा त्वा प्रजाभि भून्मोत सूनुः।
अस्वं त्वाप्रजसं कृणोम्यश्मानं ते अपिधानं कृणोमि॥ ३॥

१. **ते योनेः परम्**=तेरे घर के पराये, अर्थात् शत्रु को **अवरं कृणोमि**=नीचे करता हूँ, अर्थात् उसे तेरे पादाक्रान्त करता हूँ। **त्वा प्रजा मा अभिभूत्**=तुझे तेरी कोई पुत्री अभिभूत करनेवाली न हो, **उत मा सूनुः**=और न कोई पुत्र अभिभूत करे, अर्थात् सन्तानें तेरी विधेय (आज्ञानुसारिणी) हों। २. मैं **त्वा**=तुझे **अस्वम्**=(असुः प्रज्ञा—नि० ३।९) प्रज्ञावाली व **अप्र-जसम्**=(जसु हिंसायाम्) अहिंसनीय—वासनाओं से अनाक्रमणीय **कृणोमि**=करता हूँ तथा **ते अपिधानम्**=तेरे 'इन्द्रियों, मन,बुद्धि व प्राणों' के आवरणभूत इस शरीर को **अश्मानम्**=पत्थर के समान दृढ़ **कृणोमि**=करता हूँ। तुझे 'बुद्धिमती, पवित्रहृदय व दृढ़शरीर' बनाता हूँ।

भावार्थ—हमारे घर शत्रुओं के वशीभूत न हों। हमारे पुत्र-पुत्री सब विधेय=आज्ञाकारी हों।

हम प्रज्ञावाले, वासनाओं से अहिंसित व दृढ़ शरीरवाले बनें।

३६. [षट्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अक्षि, मनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दाम्पत्य-प्रेम

अक्ष्यौ नौ मधुसंकाशे अनीकं नौ समञ्जनम्।
अन्तः कृणुष्व मां हृदि मन इन्नौ सहासति॥ १॥

१. पत्नी पति को सम्बोधित करती हुई कामना करती है कि **नौ अक्ष्यौ**=हम दोनों की आँखे **मधुसंकाशे**=मधुसदृश हों। जैसे मधु मधुर व स्निग्ध है, इसी प्रकार हमारी आँखें परस्पर अनुरक्त, मधुर प्रेक्षणवाली तथा अत्यन्त स्निग्ध हों। **नौ**=हम दोनों का **अनीकम्**=मुखमण्डल **समञ्जनम्**=यथावत् विकासवाला, प्रसन्नता को प्रकट करनेवाला (Smiling) हो। २. पत्नी पति से कहती है कि **माम्**=मुझे **हृदि**=हृदय में **अन्तः कृणुष्व**=अन्दर स्थान दे। मैं तेरी हृदयंगमा व प्रिया बनूँ। **नौ**=हम दोनों का **मनः**=मन **इत्**=निश्चय से **सह असति**=समान—एक-जैसा हो।

भावार्थ—पति-पत्नी परस्पर मधुर, अनुरक्त आँखों से एक-दूसरे को देखें, उनके चेहरों पर प्रसन्नता झलके। एक-दूसरे को वे अपने हृदय में स्थान दें, उन दोनों का मन साथ-साथ हो।

३७. [सप्तत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वासः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मनुजात वस्त्र द्वारा पति का बन्धन

अभि त्वा मनुजातेन दधामि मम वाससा।
यथासो मम केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन॥ १॥

१. पत्नी पति से कहती है कि **त्वा**=तुझे **मनु-जातेन**=विचारपूर्वक धारण किये गये **मम वाससा**=अपने इस वस्त्र से **अभिदधामि**=अपने साथ बाँधती हूँ। मैं तुझे इसप्रकार अपने साथ सम्बद्ध करती हूँ कि **यथा**=जिससे **केवलः मम असः**=तू केवल मेरा ही हो, **चन**=और **अन्यासाम्**=औरों का नाम भी **न कीर्तयाः**=उच्चरित न करे।

भावार्थ—पत्नी विचारपूर्वक (समझदारी से) वस्त्रों को धारण करती हुई पति की प्रिया बने। पति को प्रसन्न रक्खे, पति का ध्यान कभी पर-स्त्री की ओर न जाए। भद्दे ढंग से धारण किये हुए वस्त्र कभी पति के मन में ग्लानि पैदा कर सकते हैं।

३८. [अष्टात्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः (आसुरी)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रतिज्ञारूप औषध

इदं खनामि भेषजं मां पश्यमभिरोरुदम्।
परायतो निवर्तनमायतः प्रतिनन्दनम्॥ १॥

१. जिस समय एक पत्नी (वधू) संस्कार के समय सभा में प्रतिज्ञा करती है कि '**स नो अर्यमा देवः प्रेतो मुञ्चतु मा पतेः**'='वे शत्रुओं का नियमन करनेवाले प्रभु मुझे यहाँ पितृगृह से मुक्त करें, परन्तु मैं पतिगृह से कभी पृथक् न होऊँ' तो यह प्रतिज्ञा एक प्रबल औषध का कार्य करती है और पति को (वर को) पर-स्त्रीपराङ्मुख बनाती है। यह प्रतिज्ञा पति-पत्नी के प्रेम की कमीरूप रोग का औषध बन जाती है। पत्नी कहती है कि मैं **इदं भेषजम्**=इस

प्रतिज्ञारूप औषध को **खनामि**=(खन् to bury) हृदय क्षेत्र में गाड़नेवाली बनाती हूँ। २. यह औषध **मां पश्यम्** (माम् एवं पत्ये प्रदर्शयत्)=पति के लिए केवल मुझे ही दिखानेवाली बनती है, पति मेरे अतिरिक्त अन्य स्त्रियों की ओर नहीं देखता। **अभिरोरुदम्** (रोरुधम्)=पति के अन्य नारी-संसर्ग को रोकती है। **परायतः निवर्तनम्**=अपने से (मुझसे) परे जाते हुए पति के पुनरावर्तन का कारण बनती है और **आयतः प्रतिनन्दनम्**=मेरे प्रति आते हुए पति के आनन्द को उत्पन्न करती है।

भावार्थ—पत्नी अपने मन में दृढ़ निश्चय करे कि मुझे पतिगृह से कभी पृथक् नहीं होना। ऐसा करने पर पति कभी पर-स्त्री की ओर दृष्टि न करेगा, वह अन्य नारी-संसर्ग से रुकेगा, घर से दूर होता हुआ घर लौटने की कामनावाला होगा और पत्नी के सम्पर्क में प्रसन्नता का अनुभव करेगा।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः (आसुरी)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आसुरी

येना निचक्र आसुरीन्द्रं देवेभ्यस्परि।
तेना नि कुर्वे त्वामहं यथा तेऽसानि सुप्रिया॥ २॥

१. पत्नी कहती है कि **आसुरी**=प्राणशक्ति ने **येन**=जिस उपाय से **इन्द्रम्**=एक जितेन्द्रिय पुरुष को **देवेभ्यः परि**=दिव्य गुणों के लिए सब ओर से **निचक्रे**=निश्चय से समर्थ किया, **तेन**=उसी उपाय से **त्वाम्**=तुझे **अहं निकुर्वे**=मैं अपने लिए निश्चय से प्राप्त करती हूँ, **यथा**=जिससे मैं **ते सुप्रिया असानि**=तेरी सुप्रिया होऊँ।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा निर्दोष जीवनवाला बनकर 'इन्द्र' जितेन्द्रिय पुरुष दिव्य गुणों को धारण करता है। इसी प्रकार प्राणसाधना से स्वस्थ व निर्मल मनवाली पत्नी पति के लिए प्रिय बनती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः (आसुरी)** ॥ छन्दः—**चतुष्पदा उष्णिक्** ॥

सोम-सूर्य-देव

प्रतीची सोमंमसि प्रतीच्युत सूर्यम्।
प्रतीची विश्वान्देवान्तां त्वाच्छावदामसि॥ ३॥

१. हे युवति! तू **सोमं प्रतीची असि**=सोम के प्रति गतिवाली है, सोम को शरीर में सुरक्षित रखनेवाली है, **उत**=और **सूर्यं प्रतीची**=ज्ञानसूर्य के प्रति गतिवाली है। ज्ञानप्राप्ति के प्रति रुचिवाली है। २. सोमरक्षण व ज्ञानरुचिता द्वारा **विश्वान् देवान् प्रतीची**=सब देवों के प्रति गतिवाली है, सब दिव्य गुणों को प्राप्त करनेवाली है **तां त्वां अच्छ**=उस तेरे प्रति **आवदामसि**=आदर के शब्दों को कहते हैं।

भावार्थ—उत्तम गृहपत्नी बनने के लिए आवश्यक है कि एक युवती 'अपने अन्दर शक्ति का रक्षण करनेवाली, ज्ञान की रुचिवाली व दिव्यगुणों को धारण करनेवाली' बने।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वनस्पतिः (आसुरी)** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

घर में पत्नी, सभा में पति

अहं वदामि नेत्त्वं सभायामह त्वं वद।
ममेदसस्त्वं केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन॥ ४॥

१. एक युवती चाहती है कि घर में वही 'सम्राज्ञी' हो, सभा में पति 'सम्राट्' बने, अतः

वह कहती है कि हे पते! **अहं वदामि**=घर में मैं ही बोलती हूँ, **त्वं न इत्**=आप यहाँ न बोलिए। **अह सभायां त्वं वद**=सभा में तो आप ही बोलिए। (अह विनिग्रहार्थीयः), अर्थात् जब आप मेरे समीप प्राप्त होते हैं तब मैं ही बोलती हूँ, आप तो मदुक्त का अनुवादमात्र ही करते हैं, मेरे प्रतिकूल कभी नहीं कहते। सभा में आपका स्थान है, मैं सभा में नहीं जाती, वहाँ मैं जाती भी हूँ तो शान्त रहती हूँ। २. इसप्रकार **त्वम्**=आप **मम इत् असः**=केवल मेरे ही होओ, **अन्यासां न कीर्तयाः चन**=औरों का नाम भी न लीजिए। आपका झुकाव किसी अन्य युवती के प्रति न हों।

भावार्थ—परिवार में यह व्यवस्था हो कि घर में पत्नी, सभा में पति। पति अपनी पत्नी से भिन्न किसी युवती का गुण-कीर्तन करनेवाला न हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वनस्पतिः (आसुरी)**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वैवाहिक प्रतिज्ञा से पति का पत्नी के प्रति झुकाव

यदि॒ वासि॑ तिरोज॒नं यदि॑ वा न॒द्य॑स्ति॒रः।
इ॒यं ह॒ मह्यं॒ त्वामोष॑धिर्ब॒द्ध्वेव॒ न्यान॑यत्॥ ५॥

१. पत्नी कहती है कि हे पते! **यदि वा**=चाहे आप **तिरोजनं असि**=लोगों से तिरोहित प्रदेश में कहीं हैं, **यदि वा**=अथवा **नद्यः तिरः**=निम्नगा नदियाँ (आवयोर्व्यवधायिकाः) हममें व्यवधान करनेवाली हैं तो भी **ह**=निश्चय से **इयं ओषधिः**=यह **'प्रेतो मुञ्चतु मा पतेः स्वाहा'** इन शब्दों में की गई प्रतिज्ञारूप ओषधि **त्वाम्**=आपको **बद्ध्वा इव**=मानो बाँधकर **मह्यं नि आनयत्**=मेरे लिए निरन्तर प्राप्त करानेवाली हो। मेरी यह प्रतिज्ञा आपको मेरे प्रति प्रीतिवाला बनाए।

भावार्थ—पत्नी की पातिव्रत्य की प्रतिज्ञा पति को पत्नी के प्रति प्रेमोन्मुख करनेवाली होती है।

गत मन्त्रों में वर्णित प्रकार से वर्तनेवाले पति-पत्नी ही बुद्धिमान् हैं। वे 'प्रस्कण्व'=मेधावी हैं। अगले सात सूक्तों का ऋषि यह 'प्रस्कण्व' ही है।

३९. [एकोनचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रस्कण्वः**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'दिव्य सुपर्ण' वेदज्ञान

दि॒व्यं सु॑प॒र्णं प॑य॒सं बृ॒हन्त॑म॒पां गर्भं॑ वृष॒भमोष॑धीनाम्।
अ॒भी॒प॒तो वृ॒ष्ट्या त॒र्पय॑न्त॒मा नो॑ गो॒ष्ठे र॑यि॒ष्ठां स्था॑पयाति॥ १॥

१. 'सरस्वती' ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता है। पुल्लिंग में यही भाव 'सरस्वान्' शब्द से व्यक्त हो रहा है। वह सरस्वान् प्रभु (७.४०.१) **नः गोष्ठे**=हमारे इस इन्द्रियों के निवास-स्थानभूत देह में (गावः तिष्ठन्ति अस्मिन्) **रयिष्ठाम्**=ज्ञानैश्वर्य की आधारभूत इस वेदवाणी को **आस्थापयाति**=स्थापित करता है। यह वेदवाणी **दिव्यम्**=प्रकाशमय है, **सुपर्णम्**=ज्ञान के द्वारा हमारा पालन व पूरण करनेवाली है। **पयसम्**=आप्यायन (वर्धन) की साधनभूत, **बृहन्तम्**=बढ़ानेवाली है। यह हमें सब वासनाओं से बचाकर बढ़ी हुई शक्तिवाला करती है। २. यह वेदवाणी **अपां गर्भम्**=सब कर्मों को अपने अन्दर धारण करनेवाली है, इसमें हमारे सब कर्त्तव्य-कर्मों का निर्देश हुआ है। **ओषधीनां वृषभम्**=ओषधियों में यह श्रेष्ठ है। सब काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं को यह विनिष्ट करनेवाली है। **अभीपतः**=(अभीपत्) अपनी ओर आते हुए जनों को **वृष्ट्या तर्पयन्तम्**=ज्ञानवृष्टि से तृप्त करती है।

भावार्थ—सरस्वान् प्रभु हमारे हृदयों में उस ज्ञानप्रकाश को स्थापित करता है जो सब प्रकार से हमारा वर्धन करता है, हमारे काम-क्रोध आदि शत्रुओं का विनाश करता है।

४०. [चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**सरस्वान्** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु के व्रत में

यस्य॑ व्र॒तं प॒शवो॒ यन्ति॒ सर्वे॒ यस्य॑ व्र॒त उ॑प॒तिष्ठ॑न्त॒ आपः॑।
यस्य॑ व्र॒ते पु॑ष्टप॒तिर्निवि॑ष्ट॒स्तं सर॑स्वन्त॒मव॑से हवामहे॥ १॥

१. **यस्य व्रतम्**=जिसके व्रत का **सर्वे पशवः यन्ति**=सब पशु अनुगमन करते हैं, अर्थात् प्रभु ने सब पशुओं में वासना की स्थापना की है, उस वासना के अनुसार सब पशु कर्मों से प्रेरित होते है, **यस्य व्रते**=जिसके व्रत में **आपः उपतिष्ठन्ते**=जल हमारे समीप उपस्थित होते हैं। ये जल बहते-बहते समुद्र में जा मिलते हैं, वहाँ से सूर्य-किरणों द्वारा वाष्पीभूत होकर अन्तरिक्ष में पहुँचते हैं और वृष्टि द्वारा हमें फिर प्राप्त होते हैं। २. **यस्य व्रते**=जिसके नियम में **पुष्टपतिः**=सब पोषणों का स्वामी यह सूर्य—सब प्राणशक्तियों को अपनी किरणों में लिये हुए यह सूर्य, **निविष्टः**=अपने मार्ग में विद्यमान है, **तम्**=उस **सरस्वन्तम्**=महान् विज्ञानराशि प्रभु को **अवसे हवामहे**=अपने रक्षण के लिए पुकारते हैं।

भावार्थ—सब पशु, जल व सूर्य जिस प्रभु के निर्धारित व्रतों में चल रहे हैं। उस विज्ञानस्वरूप प्रभु को हम अपने रक्षण के लिए पुकारते हैं।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**सरस्वान्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

दाशुषे दाश्वांसम्

आ प्र॒त्यञ्चं॑ दा॒शुषे॒ दाश्वां॑सं॒ सर॑स्वन्तं पु॒ष्टप॑तिं र॒यि॒ष्ठाम्।
रा॒यस्पोषं॑ श्रव॒स्युं वसा॑ना इ॒ह हु॑वेम॒ सद॑नं रयी॒णाम्॥ २॥

१. हम **इह**=इस जीवन में **वसानाः**=हवि आदि से प्रभु की परिचर्या करते हुए (विवासतिः परिचरणकर्मा) उस प्रभु को **आ हुवेम**=पुकारते हैं जो **प्रत्यञ्चम्**=हम सबके अन्दर गति करनेवाले हैं, **दाशुषे दाश्वांसम्**=अपना अर्पण करनेवाले के लिए सब-कुछ देनेवाले हैं, **सरस्वन्तम्**=ज्ञान के प्रवाहवाले व **पुष्टपतिम्**=सब पोषणों के स्वामी हैं, **रयिष्ठाम्**=सब ऐश्वर्यों के अधिष्ठाता हैं, २. **रायस्पोषम्**=सब धनों का पोषण करनेवाले, **श्रवस्युम्**=सब अन्नों को प्राप्त करानेवाले (श्रवः=अन्नम्) तथा **रयीणां सदनम्**=ऐश्वर्यों के निवासस्थान हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की आराधना करें। प्रभु ही सब-कुछ देनेवाले व सबका पोषण करनेवाले हैं।

४१. [एकचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**श्येनः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

श्येनः, अवसानदर्शः

अति॒ धन्वा॒न्यत्य॒पस्त॑तर्द श्ये॒नो नृ॒चक्षा॑ अवसान॒दर्शः॑।
त॒रन्विश्वा॒न्यव॑रा॒ रजां॒सीन्द्रे॑ण॒ सख्या॑ शि॒व आ ज॑गम्यात्॥ १॥

१. वे प्रभु **धन्वानि**=मरुदेशों को **अति**=अतिक्रान्त करके **अपः अतितर्द**=जलों को अतिशयेन खोल देते हैं। निरुदक प्रदेशों में भी वृष्टि की व्यवस्था करते हैं। **श्येनः**=वे शंसनीय गतिवाले हैं, **नृचक्षाः**=सब मनुष्यों को देखनेवाले, उनके कर्मों के साक्षी हैं, **अवसानदर्शः**=

(अवसीयते निश्चीयते इति अवसानं कर्मफलम्) कर्मफल को दिखलानेवाले हैं, सबको कर्मानुसार फल देनेवाले हैं। २. **विश्वानि**=सब **अवरा रजांसि**=निचले लोकों को **तरन्**=(तारयन्) पार कराता हुआ **शिवः**=वह कल्याणकारी प्रभु **सख्या इन्द्रेण**=मित्रभूत जितेन्द्रिय पुरुष को **आजगम्यात्**=प्राप्त होता है। सखा इन्द्र के साथ प्रभु का मेल हो। प्रभु हमें निचले लोकों से ऊपर उठाएँ, हमें जितेन्द्रिय बनने का सामर्थ्य दें और हमें प्राप्त हों।

भावार्थ—प्रभु हमारे कल्याण के लिए निरुदक प्रदेशों में भी वृष्टि की व्यवस्था करते हैं। वे प्रशंसनीय गतिवाले प्रभु हमारे कर्मों के साक्षी व कर्मफल प्रदाता हैं। वे हमें निचले लोकों से तराते हुए तथा जितेन्द्रिय बनने का सामर्थ्य देते हुए प्राप्त हों।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**श्येनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सुपर्णः सहस्रपात्

श्येनो नृचक्षा दिव्यः सुपर्णः सहस्रपाच्छतयोनिर्वयोधाः।
स नो नि यच्छाद्वसु यत्पराभृतमस्माकमस्तु पितृषु स्वधावत्॥ २॥

१. वे प्रभु **श्येनः**=शंसनीय गतिवाले हैं, **नृचक्षाः**=मनुष्यों के देखनेवाले, उनके कर्मों के साक्षी हैं, **दिव्यः**=प्रकाशमय व **सुपर्णः**=उत्तमता से हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं। **सहस्रपात्**=अनन्त चरणोंवाले व सर्वत्र गतिवाले हैं, **शतयोनिः**=शतवर्षपर्यन्त इस शरीर-गृह को प्राप्त करानेवाले व **वयोधाः**=प्रकृष्ट जीवन को धारण करानेवाले हैं। २. **सः**=वे प्रभु **नः**=हमारे लिए उस **वसु**=धन को **नियच्छात्**=दें **यत्**=जो **पराभृतम्**=सुदूर धारण किया गया है। जिस धन को यज्ञादि में विनियुक्त करके दूर पहुँचाया गया है। **अस्माकम्**=हमारा वह धन **पितृषु स्वधावत् अस्तु**=पितरों में स्वधावाला हो—पितरों के लिए अर्पित होता हुआ हमारा धारण करनेवाला हो। जब हम उस धन को पितरों के लिए देंगे, तब हमारी सन्तानें भी वैसा पाठ पढ़ेंगी और हमारे लिए उसी प्रकार धन प्राप्त कराएँगी। इसप्रकार पितरों को देते हुए हम अपना ही धारण कर रहे होते हैं।

भावार्थ—प्रभु शंसनीय गतिवाले व हमारे लिए उत्कृष्ट धन को धारण करानेवाले हैं। वे हमें धन दें। यह धन यज्ञादि द्वारा सुदूर देवों में निहित हो और इसके द्वारा हम पितृयज्ञ करनेवाले हों।

४२. [द्विचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**सोमारुद्रौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सोमारुद्रा

सोमारुद्रा वि वृहतं विषूचीममीवा या नो गयमाविवेश।
बाधेथां दूरं निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुक्तमस्मत्॥ १॥

१. हमारे शरीर में 'सोम' जल व शान्ति का प्रतीक है तथा 'रुद्र' अग्नि व शक्ति का। **सोमारुद्रा**=ये दोनों जल व अग्नितत्त्व (शान्ति+शक्ति, आपः+ज्योतिः) **विषूचीम्**=(विष्वग् गमनाम्) शरीर में चारों ओर फैलनेवाली बीमारी को **विवृहतम्**=विनष्ट कर डाले (वृह् उद्यमने) उखाड़ फेंके। **या अमीवा**=जो रोग **नः**=हमारे **गयम् आविवेश**=गृह व शरीर में सर्वतः व्याप्त हो गया है, उस रोग को ये सोम और रुद्र उखाड़कर दूर कर दें। २. और **निर्ऋतिम्**=निकृष्टगमनहेतु—रोगनिदानभूत अशुभवृत्ति को **पराचैः**=(पराङ्मुखं, पराचैः इति अव्ययम्) पराङ्मुख करके **दूरं बाधेथाम्**=हमसे दूर ही रोकें, इतनी दूर रोकें कि वह पुनः हमारे पास न आ सके।

कृतं चित् एनः=इस निर्ऋति के कारण किये हुए पाप व कष्ट को ये सोम और रुद्र **अस्मत्**=हमसे **प्रमुमुक्तम्**=छुड़ा दें।

भावार्थ—जीवन में जल व अग्नि का समन्वय आवश्यक है, आपः व ज्योतिः (शान्ति व शक्ति) का समन्वय ही रोगों, निर्ऋतियों व कष्टों को दूर करता है।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**सोमारुद्रौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मुञ्चतं, अवस्यतम्

सोमारुद्रा युवमेतान्यस्मद्विश्वा तनूषु भेषजानि धत्तम्।
अव स्यतं मुञ्चतं यन्नो असत्तनूषु बद्धं कृतमेनो अस्मत्॥ २॥

१. हे **सोमारुद्रा**=सोम व रुद्र (जल व अग्नि) **युवम्**=आप दोनों **एतानि विश्वा भेषजानि**=इन रोगनिर्हरणक्षम औषधों को **अस्मत् तनूषु**=हमारे शरीरों में **धत्तम्**=स्थापित करो। आपः व ज्योति के समन्वय से वह रस उत्पन्न होता है, जो अमृतम्=नीरोगता देता है। २. **नः**=हमारे **तनूषु बद्धम्**=शरीरों में सम्बद्ध **यत्**=जो **कृतं एनः असत्**=किया गया पाप व कष्ट हो, उसे **अस्मत् मुञ्चतम्**=हमसे विश्लिष्ट (पृथक्) कर दो। हमसे पृथक् करके **अवस्यतम्**=इसे सुदूर विनष्ट ही कर डालो।

भावार्थ—'सोम और रुद्र' का समन्वय रस-विशेष को उत्पन्न करके सब रोगों के विनाश का कारण बने।

४३. [त्रिचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**वाक्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

तुल्यनिन्दास्तुतिः (मौनी)

शिवास्त एका अशिवास्त एकाः सर्वा बिभर्षि सुमनस्यमानः।
तिस्रो वाचो निहिता अन्तरस्मिन्तासामेका वि पपातानु घोषम्॥ १॥

१. हे मिथ्याभिशप्त पुरुष! **ते**=तेरे विषय में **एकाः**=एक तो **शिवाः**=स्तुतिरूप कल्याणी वाणी है। कितने ही व्यक्ति तेरे लिए प्रशंसात्मक शुभ शब्द बोलते हैं तथा **ते**=तेरे विषय में **अशिवाः**= अस्तुतिरूप=निन्दात्मक **एकाः**=अन्य वाणियाँ हैं, अर्थात् कितने ही व्यक्ति तेरे लिए निन्दा के शब्दों का प्रयोग करते हैं। तू उन **सर्वाः**=सब वाणियों को **सुमनस्यमानः**='सुमना' की तरह आचरण करता हुआ, अर्थात् प्रसन्न मनवाला होता हुआ **बिभर्षि**=धारण करता है। २. तू इसप्रकार सोच कि निन्दावाक्य भी तो 'परा-पश्यन्ती-मध्यमा व वैखरी' रूप से चतुष्टयात्मक हैं। उनमें **तिस्रः वाचः**='परा-पश्यन्ती-मध्यमा' ये तीन वाणियाँ तो **अस्मिन्**=इस शब्द प्रयोक्ता पुरुष के **अन्तः निहिताः**=अन्दर ही अवस्थित होती हैं। **तासाम्**=उन चतुष्टयात्मक वाणियों में **एका**=एक वैखरीरूप वाणी ही **घोषम् अनु विपपात**=तालु व ओष्ठ व्यापारजन्य ध्वनि का लक्ष्य करके विशेषेण वर्णपदादिरूपेण प्रवृत्त होती है। उस निन्दात्मक वाक्य के तीन भाग तो उस प्रयोक्ता में ही रहे। एक ही तो मुझे प्राप्त हुआ है। इसप्रकार अधिक हानि तो निन्दा करनेवाले की ही है।

भावार्थ—हम निन्दा-स्तुति में समरूप से स्वस्थ मनवाले बने रहें। यह सोचें कि निन्दात्मक वाक्य का एक भाग ही तो हमारी ओर आता है, तीन भाग इस प्रयोक्ता के शरीर में ही स्थित होते हैं, एवं निन्दक की ही हानि है, हमारी नहीं।

४४. [चतुश्चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः, विष्णुः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

इन्द्राविष्णू

उभा जिग्यथुर्न परा जयेथे न परा जिग्ये कतरश्चनैनयोः।
इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि तदैरयेथाम्॥ १ ॥

१. 'इन्द्र' जितेन्द्रिय पुरुष है—इन्द्रियों का अधिष्ठाता। 'विष्णु' विष् व्याप्तौ, व्यापक व उदार हृदयवाला है। इन्द्र और विष्णु ये **उभा**=दोनों ही **जिग्यथुः**=विजयी होते हैं, **न पराजयेथे**=ये कभी पराजित नहीं होते। **एनयोः**=इन दोनों में से **कतरः चन**=कोई भी **न पराजिग्ये**=पराजित नहीं होता। 'जितेन्द्रियता व उदारता' विजय-ही-विजय का साधन हैं। २. हे **विष्णो**=विष्णो! तू **इन्द्रः च**=और इन्द्र **यत् अपस्पृधेथाम्**=जब परस्पर एक-दूसरे से बढ़कर विजय की स्पर्धावाले होते हो, **तत्**=तब **सहस्रम्**=(सहस् शक्ति) बड़ी प्रबलता के साथ **त्रेधा वि ऐरयेथाम्**=तीन प्रकार से शत्रुओं को कम्पित करके दूर भगानेवाले होते हो। 'काम' को दूर भगाकर आप इस पृथिवीरूप शरीर का रक्षण करते हो। क्रोध को दूर करके हृदयान्तरिक्ष को शान्त बनाते हो तथा लोभ के विनाश से अनावृत्त मस्तिष्क-गगन में ज्ञानसूर्य को दीप्त करते हो। 'स्वास्थ्य, शान्ति व दीप्ति' की प्राप्ति ही त्रेधा विक्रमण है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय व उदारहृदय बनकर विजयी बनें। काम-क्रोध-लोभ को पराजित करके हम स्वस्थ, शान्त व दीप्त जीवनवाले हों।

४५. [पञ्चचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**ईर्ष्यापनयनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ईर्ष्या-भेषजम्

जनाद्विश्वजनीनात्सिन्धुतस्पर्याभृतम्।
दूरात्त्वा मन्य उद्भृतमीर्ष्याया नाम भेषजम्॥ १ ॥

१. वस्तुतः 'ज्ञान' (चिन्तन—संसार को तात्त्विक दृष्टि से देखना) ही 'ईर्ष्या' का औषध है। हे ज्ञान! मैं **त्वा**=तुझे **ईर्ष्यायाः**=ईर्ष्या का **नाम**=झुका देनेवाला, दबा देनेवाला **भेषजम्**=औषध **मन्ये**=मानता हूँ। ज्ञान के द्वारा ईर्ष्या नष्ट हो जाती है। यह ज्ञान **जनात्**=उस पुरुष के जीवन-व्यवहार व उपदेश से **पर्याभृतम्**=प्राप्त होता है जो **विश्वजनीनात्**=सबके हित में प्रवृत्त है, तथा **सिन्धुतः**=ज्ञान का समुद्र ही है तथा समुद्र के समान ही गम्भीर होने से 'समुद्र' ही है, (स+मुद्) प्रसन्नता से युक्त—ईर्ष्या,द्वेष व क्रोध से शून्य है। २. हे ज्ञान! मैं तुझे **दूरात् उद्भृतं मन्ये**=दूर से ही उद्भृत मानता हूँ। 'यह ज्ञान उस पुरुष के समीप प्राप्त होने पर ही मिलेगा', ऐसी बात नहीं। उस महापुरुष के जीवन का ध्यान करने से ही प्राप्त हो जाता है और हमें भी उस ज्ञानी के समान ईर्ष्या से ऊपर उठने के लिए प्रेरित करता है।

भावार्थ—हम ज्ञान की प्रवृत्तिवाले बनें। ज्ञानी पुरुषों के व्यवहार का चिन्तन करें और 'ईर्ष्या' से ऊपर उठने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**ईर्ष्यापनयनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ईर्ष्याग्नि-शमन

अग्नेरिवास्य दहतो दावस्य दहतः पृथक्। एतामेतस्येर्ष्यामुद्नाग्निमिव शमय॥ २ ॥

१. **अग्नेः इव दहतः**=अग्नि के समान क्रोध से मेरे कार्यों को नष्ट करते हुए **अस्य**=इस पुरोवर्ती ईर्ष्यालु पुरुष तथा **पृथक्**=प्रत्येक पदार्थ को अलग-अलग **दहतः**=भस्म करते हुए **दावस्य**=वनाग्नि के समान **एतस्य**=इस पुरोवर्ती ईर्ष्यालु पुरुष की **एताम् ईर्ष्याम्**=इस मद्विषयक ईर्ष्या को **उद्ना**=जल से **अग्निम् इव**=अग्नि की भाँति **शमय**=शान्त कर दो। जैसे जल से अग्नि को शान्त कर देते हैं, उसी प्रकार इस पुरुष की ईर्ष्या को ज्ञान-जल द्वारा शान्त कर दो।

भावार्थ—ईर्ष्या के कारण मनुष्य दूसरे के कार्यों को नष्ट करने में शक्ति का अपव्यय करता है। ज्ञान द्वारा इस ईर्ष्या की अग्नि को इसप्रकार बुझा दिया जाए, जैसेकि जल से अग्नि को बुझा देते हैं।

ईर्ष्या आदि को शान्त करके यह स्थिर चित्तवृत्तिवाला 'अथर्वा' बनता है। यह 'अथर्वा' ही अगले चार सूक्तों का ऋषि है। स्थिर चित्तवाले पति-पत्नी का इन मन्त्रों में वर्णन है—

४६. [षट्चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सिनीवाली**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सिनीवाली पृथुष्टुका

सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढि नः॥ १॥

१. **सिनीवालि**=(सिनं=अन्नं, वालं=पर्व) पर्वों में अन्नवाली, अर्थात् पर्वों में अन्नदान करनेवाली, **पृथुष्टुके**=बहुत स्तुतिवाली व (बहुभिः संस्तुते) बहुतों से संस्तुत, **या**=जो तू **देवानां स्वसा असि**=(स्वयं सारिणी) दिव्य गुणों को अपने अन्दर प्रसारित करनेवाली (देवों की बहिन) है। हे वीर पत्नि! प्रजाओं का पालन करनेवाली तू **आहुतं हव्यम्**=अग्निकुण्ड में आहुत किये गये यज्ञावशिष्ट हव्य (पवित्र) पदार्थों को ही **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाली बन। २. इसप्रकार पर्वों पर अन्नदान करनेवाली, प्रभुस्तवन की वृत्तिवाली, दिव्यगुणों को धारण करनेवाली व यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाली हे **देवि**=प्रकाशमय जीवनवाली! तू **नः**=हमारे लिए **प्रजाम्**=उत्तम सन्तान को **दिदिड्ढि**=दे (दिशतेः लोटि शपः श्लुः)।

भावार्थ—गृहपत्नी को चाहिए कि वह पर्वों पर अन्नदान करनेवाली, प्रभुस्तवन की वृत्तिवाली, दिव्य गुणों की धारिका, यज्ञशेष का सेवन करनेवाली बने। ऐसा होने पर ही वह उत्तम सन्तति को जन्म दे पाती है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सिनीवाली**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सुषूमा बहुसूवरी

या सुबाहुः स्वङ्गुरिः सुषूमा बहुसूवरी।
तस्यै विश्पत्न्यै हविः सिनीवाल्यै जुहोतन॥ २॥

१. **या सुबाहुः**=जो उत्तम भुजाओंवाली, **स्वंगुरिः**=उत्तम अंगुलियोंवाली, **सुषूमा**=उत्तम योनि-(उत्पादक अंगों)-वाली और **बहुसूवरी**=बहुत सन्तानों को जन्म देनेवाली है, **तस्यै**=उस **सिनीवाल्यै**=पर्वों में अन्न देनेवाली **विश्पत्न्यै**=प्रजाओं की रक्षक गृहपत्नी के लिए **हविः जुहोतन**=ग्रहण-योग्य पदार्थों को प्राप्त कराओ। २. पति को चाहिए कि वह इस बात का पूर्ण ध्यान रक्खे कि पत्नी को गृह की सुव्यवस्था के लिए किसी पदार्थ की कमी न रहे।

भावार्थ—उत्तम पत्नी वही है जिसके अंग उत्तम हैं, जो उत्तम सन्तानों को जननेवाली है, अन्न आदि का दान व प्रजाओं का रक्षण करती है। पति को चाहिए कि इस पत्नी के लिए

आवश्यक पदार्थों की कमी न होने दे।

सूचना—मन्त्र का यह भाव भी हो सकता है कि पति ऐसी पत्नी को प्राप्त करने के लिए यज्ञशील हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सिनीवाली** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

इन्द्रं प्रतीची अभियन्ती देवी

या विश्पत्नीन्द्रमसि प्रतीची सहस्रस्तुकाभियन्ती देवी।
विष्णोः पत्नि तुभ्यं राता हवींषि पतिं देवि राधसे चोदयस्व॥ ३॥

१. **या विश्पत्नी**=जो प्रजाओं का पालन करनेवाली तू **इन्द्रं प्रतीची असि**=जितेन्द्रिय पति के अभिमुख प्राप्त होनेवाली है, वह तू **सहस्रस्तुका**=सहस्रों स्तुतियोंवाली, खूब ही प्रभुस्तवन करनेवाली **अभियन्ती**=कर्त्तव्य-कर्मों की ओर गतिवाली **देवी**=प्रकाशमय जीवनवाली है। २. हे **विष्णोः पत्नि**=उदार-हृदयवाले पति की पत्नि! **तुभ्यं हवींषि राता**=तेरे लिए सब हव्य पदार्थ इस पति द्वारा प्राप्त कराये गये हैं। हे **देवि**=दिव्य गुणों को धारण करनेवाली पत्नि! तू **पतिम्**=पति को **राधसे**=सिद्धि के लिए, कार्यों में सफलता के लिए अथवा ऐश्वर्य के लिए **चोदयस्व**=प्रेरित कर।

भावार्थ—पत्नी पति के लिए अनुकूल हो, प्रभुस्तवनपूर्वक कार्यों में प्रवृत्त होनेवाली व प्रकाशमय जीवनवाली हो। यह सदा उदार-हृदय पति को ऐश्वर्य के लिए प्रेरित करनेवाली होती है।

४७. [सप्तचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**कुहूः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

कुहू देवी

कुहूं देवीं सुकृतं विद्मनापसमस्मिन्यज्ञे सुहवा जोहवीमि।
सा नो रयिं विश्ववारं नियच्छाद्ददातु वीरं शतदायमुक्थ्य [म्॥ १॥

१. **कुहूम्**=(कुह विस्मापने) अद्भुत क्रियाशीलता व कार्यकुशलता से विस्मापनशीला, (कुहूर्गूहते, सती हूयते इति वा—नि० ११।३२) घर की बातों को संवृत रखनेवाली व 'कहाँ हो?' इसप्रकार पति से पुकारी जानेवाली **देवीम्**=प्रकाशमय जीवनवाली **सुकृतम्**=शोभन कर्मोंवाली, **विद्मना अपसम्**=ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाली पत्नी को **अस्मिन् यज्ञे**=इस गृहस्थ-यज्ञ में **जोहवीमि**=पुकारता हूँ। २. **सुहवा सा**=उत्तमता से पुकारने योग्य वह पत्नी **नः**=हमारे लिए **विश्ववारं रयिम्**=सबसे वरण के योग्य ऐश्वर्य को **नियच्छात्**=प्राप्त कराए व उस धन का सम्यक् नियमन करे और हमारे लिए **वीरम्**=वीर **शतदायम्**=सैकड़ों धनों का दान करनेवाले **उक्थ्यम्**=प्रशस्त जीवनवाले सन्तान को **ददातु**=प्राप्त कराए।

भावार्थ—अद्भुतरूप से कार्यकुशल, ज्ञानपूर्वक कर्मों को करनेवाली पत्नी इस गृहस्थ-यज्ञ में धन का ठीक प्रकार से नियमन करती हुई, हमें वीर सन्तानों को प्राप्त कराये।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**कुहूः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

देवानाम् अमृतस्य पत्नी

कुहूर्देवानाममृतस्य पत्नी हव्या नो अस्य हविषो जुषेत।
शृणोतु यज्ञमुशती नो अद्य रायस्पोषं चिकितुषी दधातु॥ २॥

१. **कुहूः**=अपनी कार्यकुशलता से सबको विस्मित करनेवाली, **देवानाम्**=दिव्य गुणों का

तथा **अमृतस्य**=नीरोगता का **पत्नी**=रक्षण करनेवाली यह **हव्या**=पुकारने योग्य व प्रभु का आह्वान करने में उत्तम पत्नी **नः**=हमारी **अस्य हविषः**=इस हवि का **जुषेत**=प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाली हो। यह यज्ञशील हो। २. **यज्ञं उशती**=यज्ञों की कामना करती हुई, यह **नः शृणोतु**=हमारी पुकार को सुने और **चिकितुषी**=समझदार होती हुई **अद्य**=आज **रायस्पोषं दधातु**=हमारे लिए धनों का पोषण करे।

भावार्थ—उत्तम गृहपत्नी वही है जो 'कार्यकुशलता, दिव्यगुणों व नीरोगता को धारण करनेवाली तथा प्रभुस्तवन की वृत्तिवाली है। यह यज्ञों का सेवन करती हुई प्रभु की पुकार को सदा स्मरण करे। यह हमारे लिए धनों का पोषण करे।

४८. [अष्टचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**राका** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

राका

राकामहं सुहवां सुष्टुती हुवे शृणोतु नः सुभगा बोधतु त्मना।
सीव्यत्वपः सूच्याच्छिद्यमानया ददातु वीरं शतदायमुक्थ्य [म्॥ १ ॥

१. **राकाम्**=(राका पूर्णे निशाकरे) पूर्ण निशाकर (चन्द्र) के समान शोभायमान इस गृहपत्नी को मैं **सुहवा**=उत्तम प्रकार से तथा **सुष्टुती**=उत्तम स्तुतिवचनों द्वारा **हुवे**=पुकारता हूँ। यह **सुभगा**=सौभाग्यवती पत्नी **नः शृणोतु**=हमारी पुकार को सुने। **त्मना बोधतु**=और स्वयं ही कुशलता से हमारे अभिप्राय को समझनेवाली हो। २. हमारे अभिप्राय को समझती हुई यह **अच्छिद्यमानया सूच्या अपः सीव्यतु**=न छिन्न होती हुई सूचीस्थानीया 'सीवनी' नाड़ी से प्रजनन लक्षण कर्म को सतत करे (षिवु तन्तुसन्ताने) (राका ह वा एतां पुरुषस्य सेवनीं सीव्यति यैषा शिश्नेऽधि, पुमांसो अस्य पुत्रा जायन्ते—ऐ० ३।३७)। २. यह राका हमारे लिए **वीरम्**=वीरता से युक्त, **शतदायम्**=सैकड़ों धनों का दान करनेवाले, **उक्थ्यम्**=प्रशंसनीय पुत्र को **ददातु**=दे, हमारे लिए 'प्रशस्त, उदार, वीर' सन्तानों को प्राप्त कराए।

भावार्थ—पत्नी पूर्णचन्द्र के समान चमके, सब गुणों से युक्त हो। यह पति के अभिप्राय को समझती हुई 'प्रशस्त, उदार, वीर' सन्तान को जन्म दे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**राका** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

सुपेशसः 'सुमतयः'

यास्ते राके सुमतयः सुपेशसो याभिर्ददासि दाशुषे वसूनि।
ताभिर्नो अद्य सुमना उपागहि सहस्रापोषं सुभगे रराणा॥ २ ॥

१. हे **राके**=पूर्णचन्द्रवत् शुभानने! अथवा सब-कुछ प्राप्त करानेवाली (रा दाने) गृहपत्नि! **याः**=जो **ते**=तेरी **सुमतयः**=उत्तम मतियाँ हैं, वे **सुपेशसः**=उत्तम सौन्दर्य का निर्माण करनेवाली हैं, **याभिः**=जिन सुमतियों से **दाशुषे**=तेरे लिये आवश्यक धनों को प्राप्त करानेवाले इस पति के लिए तू **वसूनि**=निवास के लिए आवश्यक सब पदार्थों को **ददासि**=देती है। पति धन प्राप्त कराता है, पत्नी उस धन का सदुपयोग करती हुई वसुओं को उपस्थित करती है। २. **ताभिः**=उन सुमतियों के साथ **अद्य**=आज **सुमनाः**=प्रशस्त मनवाली होती हुई तू **नः उपागहि**=हमें समीपता से प्राप्त हो। हे **सुभगे**=उत्तम सौभाग्यसम्पन्न पत्नि! तू **सहस्रापोषं रराणा**=हज़ारों प्रकार से पोषणों को प्राप्त करानेवाली हो और सुभगा होती हुई इस घर को सौभाग्यसम्पन्न बना।

भावार्थ—पत्नी को पूर्णचन्द्र के समान शोभावाला होना चाहिए। वह अपनी उत्तम

मतियों से सब वसुओं को जुटानेवाली हो। उसके कारण घर सब प्रकार से पोषण को प्राप्त हो।

४९. [एकोनपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**देवपत्न्यः**॥ छन्दः—**आर्षीजगती**॥

तुजये वाजसातये

देवानां पत्नीरुशतीरवन्तु नः प्रावन्तु नस्तुजये वाजसातये।
याः पार्थिवासो या अपामपि व्रते ता नो देवीः सुहवाः शर्म यच्छन्तु॥ १॥

१. **देवानां पत्नीः**=दिव्य गुणों का अपने में रक्षण करनेवाली, **उशतीः**=हित की कामनावाली, ये पत्नियाँ **नः अवन्तु**=हमें प्रीणित करनेवाली हों। **नः**=हमें **तुजये**=उत्तम सन्तानों को प्राप्त कराने के लिए तथा **वाजसातये**=शक्तिप्रद अन्न प्राप्त कराने के लिए **प्रावन्तु**=प्रकर्षेण प्राप्त हों। २. **याः**=जो ये पत्नियाँ **पार्थिवासः**=पृथिवी-स्थानीय हैं (**द्यौरहं पृथिवी त्वम्**) पृथिवीवत् दृढ़ व पालन करनेवाली हैं, **अपि**=और (अपि=चार्थे) **याः**=जो **अपां व्रते**=जलों के व्रत में स्थित हैं, जलों की भाँति ही शान्त, मधुर स्वभाववाली हैं। **ताः**=वे **देवीः**=दिव्य गुणोंवाली **सुहवाः**=शोभन आह्वानवाली पत्नियाँ **नः**=हमारे लिए **शर्म यच्छन्तु**=सुख दें।

भावार्थ—पत्नी का मुख्य कार्य उत्तम सन्तान को जन्म देना व सबके लिए स्वास्थ्यकर अन्न प्राप्त कराना है। ये अपने में दिव्य गुणों का रक्षण करें, पृथिवी की भाँति सबका पालन करनेवाली हों, जलों की भाँति शान्त व मधुर हों, सुन्दरता से पुकारनेवाली हों, घर में सुख का विस्तार करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**देवपत्न्यः**॥ छन्दः—**चतुष्पदापङ्क्तिः**॥

ग्नाः व्यन्तु

उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्य१ग्नाय्यश्विनी राट्।
आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम्॥ २॥

१. **उत**=और ये **देवपत्नीः**=(देवपतयो यासां ताः) दिव्यवृत्तिवाले पुरुषों की पत्नियाँ **ग्नाः व्यन्तु**=इन वेदवाणियों की कामना करें (कामयन्ताम् अश्नन्तु वा) ये वेदवाणियाँ ही इनका अध्यात्म भोजन बनें। ये **इन्द्राणी**=इन्द्र की पत्नी, जितेन्द्रिय पुरुष की पत्नी **अग्नायी**=अग्नि की पत्नी, प्रगतिशील पुरुष की पत्नी, **अश्विनी**=(अश्विनो जाया) प्राणापान के साधक पुरुष की पत्नी, **राट्**=राजन्ती, दीप्त जीवनवाली हो। २. यह **रोदसी** (रुद्रस्य जाया)=रुद्र की पत्नी, रोगों को दूर भगानेवाले पुरुष की पत्नी तथा **वरुणानी**=पापों का निवारण करनेवाले श्रेष्ठ पुरुष की पत्नी **आशृणोतु**=सदा इन वेदवाणियों को सुनें तथा **देवीः**=ये दिव्य गुणोंवाली स्त्रियाँ **यः जनीनां ऋतुः**=जो जायाओं का (सन्तान को जन्म देनेवाली स्त्रियों का) काल है, उस समय **व्यन्तु**=वेदवाणियों की कामना करें। गर्भ में सन्तान की वृद्धि करनेवाली ये स्त्रियाँ यदि इस समय इन वाणियों को सुनेंगी तो 'इन्द्र, अग्नि, अश्विन्, रुद्र व वरुण' के गुणों से युक्त सन्तानों को जन्म देनेवाली होंगी।

भावार्थ—दिव्यगुणों को धारण करनेवाले पुरुषों की पत्नियाँ वेदवाणियों की कामना करती हुई 'जितेन्द्रिय, प्रगतिशील, प्राणशक्ति-सम्पन्न, नीरोग व निष्पाप जीवनवाली' सन्तानों को जन्म देंगी।

उत्तम माता से जन्म लेनेवाली यह सन्तान 'अङ्गिराः'=अंग-प्रत्यंग में रसवाली—शक्तिशाली होती है। 'अङ्गिराः' ही अगले दो सूक्तों का ऋषि है—

५०. [पञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—अङ्गिराः (कितववधकामः)॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

कितव-निराकरण

यथा वृक्षमशनिर्विश्वाहा हन्त्यप्रति। एवाहमद्य कितवानक्षैर्बध्यासमप्रति॥ १॥

१. **यथा**=जैसे **अशनिः**=वैद्युत अग्नि अप्रतिम=अनुपम शक्तिवाला होता हुआ **विश्वाहा**=सदा **वृक्षं हन्ति**=वृक्ष को नष्ट करता है, **एव**=इसी प्रकार **अहम्**=मैं **अद्य**=आज **अप्रति**=प्रतिपक्षरहित होता हुआ **कितवान्**=जुआरियों को **अक्षैः**=पासों के साथ **बध्यासम्**=नष्ट करता हूँ, राष्ट्र से इन्हें दूर करता हूँ। २. जुआ (द्यूत) अपुरुषार्थ का प्रतीक है। पुरुषार्थ के बिना धन प्राप्त करने के सब मार्ग राष्ट्र के अनैश्वर्य का कारण बनते हैं, अतः राजा का यह कर्तव्य होता है कि वह राष्ट्र में द्यूतप्रवृत्तियों को जागरित न होने दे।

भावार्थ—राजा को चाहिए कि राष्ट्र में द्यूतप्रवृत्ति को न पनपने दे।

ऋषिः—अङ्गिराः (कितववधकामः)॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

श्री का निवास कहाँ?

तुराणामतुराणां विशामवर्जुषीणाम्।
समैतु विश्वतो भगो अन्तर्हस्तं कृतं मम॥ २॥

१. **तुराणाम्**=जल्दबाज़ों का, बिना विचारे शीघ्रता से कार्य करनेवालों का, **अतुराणाम्**=आलस्य के कारण स्फूर्ति से कार्य न कर सकनेवालों का, **अवर्जुषीणाम्**=बुराइयों को, अन्याय्य मार्गों को न छोड़नेवाली **विशाम्**=प्रजाओं का **भगः**=ऐश्वर्य **विश्वतः**=सब ओर से **समैतु**=मुझे प्राप्त हो। इन दोषों से रहित यह ऐश्वर्य **मम अन्तः हस्तं कृतम्**=मेरे हाथों के अन्दर किया जाए।

भावार्थ—ऐश्वर्य (श्री) का निवास वहाँ होता है जहाँ १. सब कार्य विचारपूर्वक किये जाएँ, जल्दबाजी में नहीं २. जहाँ आलस्य न करके कार्यों को स्फूर्ति से किया जाए और ३. जहाँ अशुभ व अन्याय्य मार्ग का वर्जन हो।

ऋषिः—अङ्गिराः (कितववधकामः)॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

'स्वावसु' प्रभु

ईडे अग्निं स्वावसुं नमोभिरिह प्रसक्तो वि चयत्कृतं नः।
रथैरिव प्र भरे वाजयद्भिः प्रदक्षिणं मरुतां स्तोममृध्याम्॥ ३॥

१. मैं **स्वावसुम्**=हमारे अन्दर ही निवास करनेवाले **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु को **नमोभिः**=नमस्कारों द्वारा **ईडे**=पूजित करता हूँ। **इह**=यहाँ हमारे जीवनों में **प्रसक्तः**=प्रकर्षेण सम्बद्ध हुआ-हुआ वह प्रभु **नः कृतं विचयत्**=हमारे पुरुषार्थ का वर्धन करे। प्रभु का निवास हमारे अन्दर ही है। वहाँ हृदय में हम प्रभु के साथ बैठने का यत्न करें, प्रभु हमारे पुरुषार्थ व पुण्य का वर्धन करेंगे। २. **वाजयद्भिः**=शक्तिशाली की भाँति आचरण करते हुए **रथैः**=रथों से **इव**=जिस प्रकार शत्रु पर आक्रमण किया जाता है, उसी प्रकार मैं **प्रभरे**=शत्रुओं पर आक्रमण करता हूँ। इसप्रकार शत्रुओं का पराजय करता हुआ मैं **मरुतां स्तोमम्**=प्राणों के समूह को **प्रदक्षिणम्**=अनुक्रमेण **ऋध्याम्**=बढ़ानेवाला बनूँ। काम, क्रोध आदि शत्रुओं को पराजित करके मैं उपचित (बढ़ी हुई) प्राणशक्तिवाला बनूँ।

भावार्थ—हम अन्तःस्थित प्रभु का हृदय-देश में ध्यान करें। प्रभु हमारे पौरुष को बढ़ाएँ। हम शत्रुओं को पराजित करें। इसप्रकार काम-क्रोध आदि को विनष्ट करके हम अपनी

प्राणशक्ति का वर्धन करें।

ऋषिः—**अङ्गिराः (कितववधकामः)** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

विजय

वयं जयेम त्वया युजा वृतमस्माकमंशमुदवा भरेभरे।
अस्मभ्यमिन्द्र वरीयः सुगं कृधि प्र शत्रूणां मघवन्वृष्ण्या रुज॥ ४॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुओं के विद्रावक प्रभो! **त्वया युजा**=आपके साथ मिलकर **वयम्**=हम **वृतम्**=हमें घेर लेनेवाले व हमपर आवरण के रूप में आ जानेवाले 'काम,क्रोध,लोभ' रूप शत्रुओं को **जयेम**=जीतें। **अस्माकम् अंशम्**=हमारे अंश (भाग) को **भरेभरे**=प्रत्येक संग्राम में आप **उद् अव**=प्रकर्षेण रक्षित कीजिए। २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **सुगं वरीयः कृधि**=सुगमता से प्राप्य श्रेष्ठ धन दीजिए, हम कुटिल मार्गों से धनार्जन करनेवाले न हों। हे **मघवन्**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **शत्रूणां वृष्ण्या**=शत्रुओं के बलों को **प्ररुज**=प्रकर्षेण भग्न कीजिए, आपके साथ हम शत्रुओं पर विजय पानेवाले बनें।

भावार्थ—जीवन-संग्राम में प्रभु का स्मरण करते हुए हम काम, क्रोध आदि शत्रुओं को परास्त करें और उत्तम मार्गों से न्याय्य धनों का अर्जन करें।

ऋषिः—**अङ्गिराः (कितववधकामः)** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शत्रुओं को कुचल देना

अजैषं त्वा संलिखितमजैषमुत संरुधम्।
अविं वृको यथा मथदेवा मथ्नामि ते कृतम्॥ ५॥

१. हे राजस् व तामस् भाव! **संलिखितं त्वा**=हृदयपटल पर सम्यक् लिखित (अंकित) हुए-हुए भी तुझे **अजैषम्**=मैं पराजित करता हूँ। **उत**=और **संरुधम्**=उन्नति के मार्ग में रोकनेवाले विघ्नभूत तुझे **अजैषम्**=मैं पराजित करता हूँ। २. **यथा**=जैसे **वृकः**=भेड़िया **अविं मथत्**=भेड़ को मथ डालता है **एव**=इसी प्रकार **ते कृतम्**=तेरे द्वारा उत्पन्न किये गये राजस् और तामस् सब विकारों को **मथ्नामि**=कुचल डालता हूँ।

भावार्थ— 'काम, क्रोध' का हृदय में जो दृढ़ स्थापन हुआ है, उसे मैं उखाड़ फेंकता हूँ। इनके द्वारा उन्नति-पथ में होनेवाले विघ्नों को नष्ट करता हूँ। इन्हें कुचलकर मैं उन्नति-पथ पर आगे बढ़ता हूँ।

ऋषिः—**अङ्गिराः (कितववधकामः)** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

लोभ-विजय

उत प्रहामतिदीवा जयति कृतमिव श्वघ्नी वि चिनोति काले।
यो देवकामो न धनं रुणद्धि समित्तं रायः सृजति स्वधाभिः॥ ६॥

१. **उत**=और **अतिदीवा**=(दिव् विजिगीषायाम्) अतिशयेन विजय की कामनावाला यह साधक **प्रहाम्**=प्रकर्षेण नष्ट करनेवाले इस लोभ को **जयति**=जीतता है, लोभ को पराजित करके व्यसनवृक्ष के मूल को काटनेवाला बनता है। **श्वघ्नी**=(श्वघ्नी स्वं हन्ति—नि० ५।२२) लोभाभिभूत होकर आत्मघात करनेवाला यह व्यक्ति **कृतम् इव**=अपने किये हुए कर्मों के अनुसार **काले विचिनोति**=समय पर फल को चुनता (प्राप्त करता) है। लोभ अन्ततः उसके विनाश का कारण बनता है **'अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पश्यति। ततः सपत्नान् जयति समूलस्तु विनश्यति'**॥ लोभ के कारण न्याय्य-अन्याय्य सभी मार्गों से धनार्जन करता हुआ यह फूलता-

फलता है और खूब ऊँचा उठकर इसप्रकार गिरता है कि इसका समूल विनाश हो जाता है। २. **यः देवकामः**=जो दिव्यगुणों व प्रभुप्राप्ति की कामनावाला होता है, वह **धनं न रुणद्धि**=धन को अपने समीप रोकता नहीं, अपितु यज्ञादि उत्तम कर्मों में उसे प्रवाहित होने देता है, **तम् इत्**=उस देवकाम पुरुष को ही प्रभु **स्वधाभिः**=आत्मधारण-शक्तियों के साथ **रायः संसृजति**=धन देता है। असुरकाम पुरुष धनों के द्वारा ही व्यसनाक्रान्त होकर निधन को प्राप्त होता है।

भावार्थ—विजिगीषु पुरुष लोभाभिभूत न होकर धनों को यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवाहित करता है। प्रभु इसे आत्मधारणशक्ति के साथ धनों को प्राप्त कराते हैं, परन्तु लोभाभिभूत होकर यह आत्मघात करता है, अपने किये कर्मों के परिणामस्वरूप कुछ देर चमककर समूल नष्ट हो जाता है।

ऋषिः—**अङ्गिराः (कितववधकामः)**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

गोदुग्ध व यव

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन वा क्षुधं पुरुहूत विश्वे।
वयं राजसु प्रथमा धनान्यरिष्टासो वृजनीभिर्जयेम॥ ७॥

१. **गोभिः**=गोदुग्ध के सेवन से हम उस **अमतिम्**=कुत्सित मति को **तरेम**=पार कर जाएँ, जोकि **दुरेवाम्**=हमें दुष्टमार्ग पर ले-जाती है। गोदुग्ध सात्त्विक होने से हमें सुमति-सम्पन्न करके शुभ मार्ग पर ले-चलता है। हे **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले प्रभो! **विश्वे**=हम सब **क्षुधम्**=भूख को **वा**=निश्चय से **यवेन**=जौ के द्वारा दूर करनेवाले हों। गोदुग्ध व जौ हमारा भोजन हो। २. इस सात्त्विक भोजन के द्वारा **वयम्**=हम **राजसु**=दीप्त जीवनवालों में **प्रथमाः**=प्रथम हों तथा **अरिष्टासः**=किसी भी प्रकार 'काम, क्रोध, लोभ' आदि शत्रुओं से हिंसित न होते हुए **वृजनीभिः**=पाप का वर्जन करनेवाली शक्तियों के द्वारा **धनानि जयेम**=धनों पर विजय प्राप्त करें।

भावार्थ—'गोदुग्ध व यव' वह सात्त्विक भोजन है जो हमें दुष्ट मार्ग पर ले-जानेवाली कुमति से बचाता है। गोदुग्ध व यव का सेवन करते हुए हम दीप्त जीवनवाले बनें। वासनाओं से हिंसित न होते हुए हम शुभ मार्गों से ही धनों का अर्जन करें।

ऋषिः—**अङ्गिराः (कितववधकामः)**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पुरुषार्थ और विजय

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।
गोजिद्भूयासमश्वजिद्धनंजयो हिरण्यजित्॥ ८॥

१. **कृतम्**=पुरुषार्थ **मे दक्षिणे हस्ते**=मेरे दाहिने हाथ में हो, तब **मे सव्ये**=मेरे बायें हाथ में **जयः आहितः**=विजय स्थापित होती है। पुरुषार्थ से ही विजय प्राप्त होती है। मैं पुरुषार्थ करता हूँ और विजयी बनता हूँ। २. उस समय मैं **गोजित् भूयासम्**=गौवों का विजय करनेवाला, **अश्वजित्**=अश्वों का विजेता, **धनंजयः**=धनों का विजय करनेवाला और **हिरण्यजित्**=स्वर्ण का जीतनेवाला बनता हूँ अथवा मैं ज्ञानेन्द्रियों (गोजित्), कर्मेन्द्रियों (अश्वजित्), ज्ञानधन (धनंजयः), [illegible]तिरमणीय आत्मज्ञान (हिरण्यजित्) को प्राप्त करनेवाला बनता हूँ।

[illegible]र्थ—पुरुषार्थ ही मनुष्य को विजयी बनानेवाला है। यह हमें 'गोजित्, अश्वजित्, [illegible]यजित्' बनाता है।

ऋषिः—**अङ्गिराः (कितववधकामः)** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पुरुषार्थमय जीवन

अक्षाः फलवतीं द्युवं दत्त गां क्षीरिणीमिव।
सं मा कृतस्य धारया धनुः स्नाव्नेव नह्यत॥ १॥

१. **अक्षाः**=हे इन्द्रियो! आप मुझे **फलवतीं द्युवम्**=सफल सार्थक व्यवहार को (दिव् व्यवहारे) **दत्त**=दो। मैं इन्द्रियों से जिन क्रियाओं को करूँ, वे सब क्रियाएँ सफल हों। मेरे लिए यह व्यवहार इसप्रकार फलवाला हो **इव**=जैसे **क्षीरिणीं गाम्**=दूधवाली गौ होती है। मुझसे किया गया व्यवहार मेरे लिए दुधारू गौ के समान लाभप्रद हो। २. हे इन्द्रियो! **मा**=मुझे **कृतस्य धारया**=पुरुषार्थ के धारण से इसप्रकार **संनह्यत**=बाँध दो, **इव**=जैसेकि **धनुः स्नाव्ना**=धनुष को स्नायु-निर्मित डोरी से बाँधते हैं। मेरे इस पुरुषार्थरूपी धनुष का एक सिरा मस्तिष्क हो, दूसरा हृदय। इन दोनों सिरों को कसकर मैं विद्या व श्रद्धा के साथ कर्मरूप तीरों को चलानेवाला बनूँ।

भावार्थ—मैं इन्द्रियों से सदा उत्तम पुरुषार्थ को सिद्ध करनेवाला बनूँ। मैं श्रद्धा और विद्या के साथ कर्म करता हुआ सफल जीवनवाला बनूँ।

५१. [एकपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अङ्गिराः (कितववधकामः)** ॥ देवता—**इन्द्राबृहस्पती** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

बृहस्पति+इन्द्र (ज्ञान+शक्ति)

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरीयः कृणोतु॥ १॥

१. **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **नः**=हमें **पश्चात्**=पीछे से **परिपातु**=रक्षित करे **उत**=और **उत्तरस्मात्**=उत्तर से व **अधरात्**=दक्षिण से **अघायोः**=जिघांसु—हमारे विनाश की कामनावाले पुरुष व शत्रुभूत 'काम, क्रोध, लोभ' से बचाये। २. **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला शक्तिशाली प्रभु **पुरस्तात्**=सामने से तथा **मध्यतः**=मध्यभाग से **नः**=हमें रक्षित करे। **सखा**=वह मित्रभूत प्रभु **सखिभ्यः नः**=हम मित्रों के लिए **वरीयः कृणोतु**=उत्कृष्ट धन प्रदान करे।

भावार्थ—हम ज्ञान और शक्ति का सम्पादन करते हुए सब हिंसक शत्रुओं से अपना रक्षण करें। अपना रक्षण करते हुए उत्कृष्ट धन प्राप्त करें।

ज्ञान और शक्ति का सम्पादन करता हुआ यह व्यक्ति 'अथर्वा' (स्थिर चित्तवृत्तिवाला) बनता है। यह 'सांमनस्य' वाला अथर्वा ही अगले सूक्त का ऋषि है—

५२. [द्विपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सांमनस्यम्, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

संज्ञान—प्राणसाधना

संज्ञानं नः स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः।
संज्ञानमश्विना युवमिहास्मासु नि यच्छतम्॥ १॥

१. **नः**=हमारा **स्वेभिः**=अपनों के साथ **संज्ञानम्**=ज्ञान—ऐकमत्य हो। **अरणेभिः**= (अरमणैः अनुकूलमवदद्भिः) प्रतिकूल पुरुषों के साथ भी **संज्ञानम्**=ऐकमत्य हो। २. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**=आप दोनों **इह**=यहाँ इस जीवन में **अस्मासु**=हममें **संज्ञानं नियच्छतम्**= ऐकमत्य को नियमित करो, स्थापित करो। प्राणसाधना के द्वारा शुद्ध मनवाले होकर हम परस्पर ऐकमत्यवाले हों।

भावार्थ—हम प्राणायाम द्वारा मानस मलों का उपक्षय करते हुए परस्पर ऐकमत्यवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सांमनस्यम्, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'मन व बुद्धि' से परस्पर ऐक्य

सं जा॑नामहै॒ मन॑सा॒ सं चि॑कि॒त्वा मा यु॑ष्महि॒ मन॑सा॒ दैव्ये॑न।
मा घोषा॒ उत्स्थु॑र्बहु॒ले वि॒निर्ह॑ते॒ मेषुः॑ पप्त॒दिन्द्र॒स्याह॒न्याग॑ते॥ २॥

१. **मनसा**=मन के द्वारा हम **संजानामहै**=समान विचारवाले हों तथा **चिकित्वा**=(चिकित्वना) ज्ञान से भी हम **सम्**=संज्ञानवाले हों। हमारे मन व बुद्धि हमें संज्ञान की ओर ले-चलें। हम **दैव्येन मनसा**=दिव्य गुणवाले मन से **मा युष्महि**=कभी पृथक् न हों। २. **बहुले**=(बहुल The dark half of month) कृष्णपक्ष के अन्धकार के **विनिर्हते**=नष्ट कर दिये जाने पर **घोषाः**=अन्धकार में होनेवाली ध्वनियाँ **मा उत्स्थुः**=न उठें, अर्थात् राष्ट्र में न्याय-व्यवस्था के ठीक होने से प्रकाश-ही-प्रकाश हो, लोगों में हाहाकार न मचता रहे और **अहनि आगते**=दिन निकलने पर **इन्द्रस्य इषुः** (अशनिः)=अशनिरूपा मर्मभेदिनी परकीया वाक् **मा पप्तत्**=हमपर न गिरे। वैमनस्य के कारण दूसरों की कठोर वाणियाँ हमपर न गिरें, हम परस्पर अनुकूल वाणीवाले हों।

भावार्थ—हम मन व बुद्धि से परस्पर संज्ञानवाले हों। हमारा मन दिव्य हो। हमारे राष्ट्र से अन्धकार दूर हो, हाहाकार न होता रहे और हमपर विद्युत् के समान मर्मभेदिनी वाणियाँ न गिरें।

इसप्रकार संज्ञानवाला यह व्यक्ति 'ब्रह्मा' (बड़ा) बनता है। अगले दो सूक्तों का ऋषि ब्रह्मा ही है—

५३. [त्रिपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः, बृहस्पतिः, अश्विनौ च** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'यम व बृहस्पति' की अभिशस्ति से बचना

अ॒मु॒त्र॒भूया॒दधि॒ यद्य॒मस्य॒ बृह॑स्पतेर॒भिश॑स्ते॒रमु॑ञ्चः।
प्रत्यौ॑हताम॒श्विना॑ मृ॒त्युम॒स्मद्दे॒वाना॑मग्ने भि॒षजा॒ शची॑भिः॥ १॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **यत्**=जब **अमुत्रभूयात्**=(परलोके भवनं अमुत्रभूयम्) परलोक में होने से, अर्थात् मृत्यु से या प्रतिक्षण परलोक की बातें करते रहकर इस लोक को सुन्दर न बनाने से आप **अधि अमुञ्चः**=हमें मुक्त करते हैं, **यमस्य अभिशस्तेः**=यम के हिंसन से, अर्थात् नियमपूर्वक (Regular) जीवन न बिताने से मुक्त करते हैं तथा **बृहस्पतेः** (अभिशस्तेः)=बृहस्पति के हिंसन से, अर्थात् स्वाध्याय द्वारा ज्ञानवृद्धि न करने से मुक्त करते हैं, अर्थात् जब हम (क) परलोक की बातें न करके इस लोक को सुन्दर बनाने में लगते हैं, (ख) जब हम नियमपूर्वक, सूर्य-चन्द्रमा की भाँति व्यवस्थित जीवन बिताते हैं, (ग) और जब हम स्वाध्यायशील बनते हैं, तब **अश्विना**=प्राणापान **अस्मत्**=हमसे **मृत्युम्**=मृत्यु को **प्रत्यौहताम्**=दूर करते हैं। २. हे प्रभो! ये (अश्विना) प्राणापान **शचीभिः**=शक्तियों के द्वारा **देवानां भिषजा**=इन्द्रियों के वैद्य हैं। प्राणसाधना के द्वारा इन्द्रियों के दोष दग्ध हो जाते हैं और मनुष्य पूर्ण स्वस्थ बनता है।

भावार्थ—हम परलोक का चिन्तन न करते रहकर इस लोक को सुन्दर बनाएँ। २. 'यम' का हिंसन न करें, अर्थात् सूर्य-चन्द्र की तरह नियमित जीवनवाले बनें। ३. बृहस्पति का हिंसन न करें, अर्थात् स्वाध्यायशील बनें। ४. प्राणसाधना में प्रवृत्त हों। ऐसा करने पर ये प्राणापान हमें स्वस्थ बनाकर दीर्घजीवी बनाएँगे।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः, बृहस्पतिः, अश्विनौ च** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गोपाः, अधिपाः, वसिष्ठः, अग्निः

सं क्रामतं मा जहीतं शरीरं प्राणापानौ ते सयुजाविह स्ताम्।
शतं जीव शरदो वर्धमानोऽग्निष्टे गोपा अधिपा वसिष्ठः॥ २॥

१. हे प्राणापानो! आप इस आयुष्काम पुरुष के शरीर में **संक्रामतम्**=मिलकर सम्यक् गतिवाले होवो। इसके **शरीरं मा जहीतम्**=शरीर को मत छोड़ो। हे आयुष्काम! **प्राणापानौ**=ये प्राणापान **ते इह**=तेरे इस शरीर से **सयुजौ स्ताम्**=परस्पर संयुक्त हों, मिलकर कार्य करनेवाले हों। जब तक ये मिलकर कार्य करते रहते हैं, तब तक जीवन ठीक बना रहता है। २. हे आयुष्काम! तू **शतं शरदः जीव**=सौ वर्षपर्यन्त जीवनवाला हो। **वर्धमानः**=तू शरीर में स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से, मन में नैर्मल्य के दृष्टिकोण से तथा बुद्धि में दीप्ति के दृष्टिकोण से सदा बढ़ता हुआ हो। **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **ते गोपाः**=तेरा रक्षक है, **अधिपाः**=अधिष्ठातृरूपेण पालन करनेवाला है, **वसिष्ठः**=वासयितृतम है, तेरे निवास को सर्वाधिक श्रेष्ठ बनानेवाला है।

भावार्थ—शरीर में प्राणापान मिलकर समुचित रूप से कार्य करते हुए हमें दीर्घजीवी बनाएँ। वह अग्रणी प्रभु हमारा रक्षक, पालक व वासयिता हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः, बृहस्पतिः, अश्विनौ च** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

प्राणापान की अपराङ्मुखता

आयुर्यत्ते अतिहितं पराचैरपानः प्राणः पुनरा ताविताम्।
अग्निष्टदाहार्निर्ऋतेरुपस्थात्तदात्मनि पुनरा वेशयामि ते॥ ३॥

१. हे आयुष्काम! **ते यत् आयुः**=तेरा जो जीवन **पराचैः अतिहितम्**=पराङ्मुख होकर चला गया है, **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **तत्**=उस जीवन को **निर्ऋतेः उपस्थात्**=निकृष्टगमन (मृत्यु) की गोद से **आ अहाः**=आहत करे, वापस ले-आये। **तत्**=उस जीवन को **ते आत्मनि**=तेरे शरीर में **पुनः आवेशयमि**=फिर से स्थापित करता हूँ। २. **अपानः**=अपान और **प्राणः**=प्राण **तौ**=वे दोनों **पुनः**=फिर **आ इताम्**=यहाँ शरीर में चारों ओर गतिवाले हों। प्राणापान की क्रिया ठीक होकर ही दीर्घ जीवन प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्राणापान की पराङ्मुखता में मृत्यु है और इनकी अनुकूलता मृत्यु से ऊपर उठाकर दीर्घजीवन प्राप्त कराती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः, बृहस्पतिः, अश्विनौ च** ॥ छन्दः—**उष्णिग्गर्भार्षीपङ्क्तिः** ॥

सप्तर्षियों के प्रति अर्पण

मेमं प्राणो हासीन्मो अपानो ऽवहाय परा गात्।
सप्तर्षिभ्य एनं परि ददामि त एनं स्वस्ति जरसे वहन्तु॥ ४॥

१. **इमम्**=इस पुरुष को **प्राणः मा हासीत्**=प्राण मत छोड़ जाए और **मो**=मत ही **अपानः**=अपान **अवहाय**=छोड़कर **परागात्**=दूर चला जाए। इस पुरुष के शरीर में ये प्राणापान ठीक गति करते रहें। २. मैं **सप्तर्षिभ्यः**=सात शीर्षण्य प्राणों के लिए (दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुख) **एनं परिददामि**=इसे दे डालता हूँ। इसकी रक्षा के लिए उन्हें सौंप देता हूँ। **ते**=वे **एनम्**=इस पुरुष को **स्वस्ति**=कल्याणपूर्वक **जरसे**=पूर्ण जरावस्था **वहन्तु**=प्राप्त कराएँ। यह युवावस्था में ही शरीर न छोड़ जाए।

भावार्थ—हमारे शरीर में प्राणापान की क्रिया ठीक हो। 'कान, नाक, आँख, मुख' सब

ठीक बने रहें। इसप्रकार हम पूर्ण दीर्घजीवन प्राप्त करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः, बृहस्पतिः, अश्विनौ च**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

जरिम्णाः, शेवधिः, अरिष्टः

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम्।
अयं जरिम्णः शेवधिररिष्ट इह वर्धताम्॥ ५॥

१. हे **प्राणापानौ**=प्राण और अपान! **प्रविशतम्**=इस आयुष्काम के शरीर में प्रवेश करो। इसप्रकार प्रवेश करो **इव**=जैसेकि **अनड्वाहौ**=दो बैल **व्रजम्**=एक गोष्ठ में प्रवेश करते हैं। २. **अयम्**=यह आयुष्काम पुरुष **जरिम्णः शेवधिः**=जरा का—पूर्ण वृद्धावस्था का कोश हो। **अरिष्टः**=अहिंसित होता हुआ, मृत्यु की बाधा से रहित होता हुआ, सब इन्द्रियों से अहीन होता हुआ **इह वर्धताम्**=इस लोक में समृद्धि को प्राप्त हो।

भावार्थ—हमारे शरीर में प्राणापान अपने-अपने स्थान में ठीक प्रकार से स्थित हों। यह पुरुष दीर्घजीवी बने, सब अंगों में अहिंसित होता हुआ बढ़े।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः, बृहस्पतिः, अश्विनौ च**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

नीरोगता व दीर्घजीवन

आ ते प्राणं सुवामसि परा यक्ष्मं सुवामि ते।
आयुर्नो विश्वतो दधदयमग्निर्वरेण्यः॥ ६॥

१. हे आयुष्काम पुरुष! **ते**=तेरे **प्राणम्**=प्राण को **आसुवामसि**=शरीर में समन्तात् प्रेरित करते हैं, और इसप्रकार **ते यक्ष्मम्**=तेरे रोग को **परासुवामि**=पराङ्मुख प्रेरित करते हैं। २. **अयम्**=यह **वरेण्यः**=वरणीय (संभजनीय) **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **नः**=हमारे लिए **विश्वतः**=सब ओर से, सब दृष्टिकोणों से **आयुः दधत्**=दीर्घजीवन धारण करे।

भावार्थ—प्राणशक्ति के ठीक से कार्य करने से हमारे शरीर नीरोग हों। प्रभु की उपासना करते हुए हम दीर्घजीवी बनें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः, बृहस्पतिः, अश्विनौ च**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

देवत्रा देवम् (उत्तम ज्योतिः)

उद्वयं तमसस्परि रोहन्तो नाकमुत्तमम्। देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥ ७॥

१. (**'पाप्मा वै तमः'**—तै० ५।१।८।६) **वयम्**=हम **तमसः परि**=पाप से परे (ऊपर) **उत्**=उत्क्रान्त होते हुए **उत्तमम्**=उत्कृष्ट **नाकम्**=दुखसंस्पर्शरहित स्वर्ग को **रोहन्तः**=आरोहण करते हुए **सूर्यम्**=सबके प्रेरक प्रभु को **अगन्म**=प्राप्त हों, जो प्रभु **उत्तमं ज्योतिः**=सर्वोत्तम ज्योति हैं और **देवत्रा देवम्**=देवों में भी देव हैं, सर्वोत्तम देव—महादेव हैं।

भावार्थ—हम पाप से ऊपर उठकर, उत्तम स्वर्ग में आरोहण करते हुए, देवों में भी देव, उत्तम ज्योति, सर्वप्रेरक प्रभु को प्राप्त करें।

५४. [चतुःपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ऋक्सामनि**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विद्या+श्रद्धा

ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते।
एते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु यच्छतः॥ १॥

१. 'ऋक्' विज्ञान का प्रतीक है, 'साम' उपासना (श्रद्धा) व शान्ति का प्रतीक है। ऋक् का स्थान 'मस्तिष्क' है, साम का 'हृदय। हम अपने जीवनों में **ऋचं साम**=विज्ञान व श्रद्धा को, मस्तिष्क व हृदय को **यजामहे**=संगत कर देते हैं। हमारे जीवनरूप धनुष् का एक सिरा 'ऋक्' (विज्ञान) है और दूसरा 'साम' 'उपासना' है। ये ही वे दो तत्त्व हैं **याभ्याम्**=जिनसे कि **कर्माणि कुर्वते**=सब कर्मों को किया करते हैं। विद्या व श्रद्धा से किये जानेवाले कर्म ही वीर्यवत्तर हुआ करते हैं। २. **एते**=मिले हुए ये ऋक् और साम, विद्या और श्रद्धा ही **सदसि राजतः**=सभा में शोभायमान होते हैं। सभा में प्रतिष्ठा 'श्रद्धावान् ज्ञानी' की होती है, केवल श्रद्धालु की नहीं, केवल ज्ञानी की नहीं। ये ऋक् और साम **देवेषु**=देववृत्ति के विद्वानों में **यज्ञं यच्छतः**=यज्ञ को देते हैं। विज्ञान और श्रद्धा होने पर ही देव यज्ञशील बनते हैं।

भावार्थ—श्रद्धा और विद्या के समन्वय से सृष्टि में उत्तम कर्म होते हैं। इनका मेल ही सभा में शोभा का कारण बनता है। इन दोनों के होने पर देव यज्ञशील बनते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

हविः, ओजः, बलम्

ऋचं साम यदप्राक्षं हविरोजो यजुर्बलम्।
एष मा तस्मान्मा हिंसीद्वेदः पृष्टः शचीपते॥ २॥

१. **यत्**=जब मैं **ऋचं हविः अप्राक्षम्**=(ऋग्वेद=विज्ञानवेद) इस विज्ञानवेद से हवि माँगता हूँ (**प्र**=ह्वेञ् ask for), अर्थात् विज्ञान के द्वारा हव्य (पवित्र) पदार्थों को प्राप्त करने का प्रयत्न करता हूँ और जब **साम ओजः अप्राक्षम्**=(सामवेद=उपसनावेद) प्रभु की उपासना से ओजस्विता की प्रार्थना करता हूँ, अर्थात् प्रभु की उपासना से—प्रभु के ओज से ओजस्वी बनता हूँ और इसी प्रकार **यजुः बलम्**= (यजुर्वेद=कर्मवेद) श्रेष्ठतम कर्मों से बल की प्रार्थना करता हूँ, अर्थात् उत्तम कर्मों को करता हुआ बलवान् बनता हूँ। २. **तस्मात्**=उस कारण से हे **शचीपते**=शक्तियों व प्रज्ञानों के स्वामिन् प्रभो! **एषः**=यह **पृष्टः वेदः**=इसप्रकार पूछा हुआ, प्रार्थना किया हुआ वेद **मा**=मुझे **मा हिंसीत्**=मत हिंसित करे।

भावार्थ—यदि हम ऋग्वेद के विज्ञान से हव्य पदार्थों को निर्मित करें, साम द्वारा प्रभु की उपासना से ओजस्वी बनें तथा यजुर्वेद में निर्दिष्ट श्रेष्ठतम कर्म करते हुए सबल बनें तो वेद हमें हिंसित होने से बचाते हैं।

इस मन्त्र के अनुसार 'ऋक्, यजु, साम' से अपने को परिपक्व बनाता हुआ यह 'भृगु' (भ्रस्ज् पाके) बनता है। यह 'भृगु' ही अगले सूक्त का ऋषि है।

५५. [पञ्चपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्परोष्णिक्** ॥

दिवः पन्थानः

ये ते पन्थानोऽव दिवो येभिर्विश्वमैरयः। तेभिः सुम्नया धेहि नो वसो॥ १॥

१. हे **वसो**=सबको उत्तम निवास देने व सबमें बसनेवाले प्रभो! **ये**=जो **ते**=आपके **दिवः पन्थानः**=प्रकाश के मार्ग हैं, देवयान मार्ग हैं, **येभिः**=जिन मार्गों से आप **विश्वम् अव ऐरयः**=सम्पूर्ण विश्व को यहाँ नीचे (पृथिवी पर) प्रेरित करते हैं, **तेभिः**=उन मार्गों से **नः**=हमें **सुम्नया धेहि**=सुख में स्थापित कीजिए।

भावार्थ—हम प्रभु-निर्दिष्ट प्रकाश-मार्गों में चलते हुए सुख प्राप्त करें।

इन प्रकाशमार्गों से विचलित न होनेवाला 'अथर्वा' अगले सूक्त का ऋषि है—

५६. [षट्पञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वृश्चिकादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

(मधू) 'मधुका' सर्पविषनाशनी

तिरश्चिराजेरसितात्पृदाकोः परि संभृतम्। तत्कङ्कपर्वणो विषमियं वीरुदनीनशत्॥ १ ॥
इयं वीरुन्मधुजाता मधुश्चुन्मधुला मधूः। सा विह्रुतस्य भेषज्यथो मशकजम्भनी ॥ २ ॥

१. **तिरश्चिराजेः**=(तिरश्च्य राजयो यस्य) तिर्यग्भूत रेखाओंवाले, **असितात्**=कृष्णवर्ण के, **पृदाकोः**=(पर्द कुत्सिते शब्दे) कुत्सित शब्द करनेवाले सर्प से **परिसंभृतम्**=जो शरीर में चारों ओर व्याप्त हुआ है तथा **कंकपर्वणः**=कंकपक्षी के समान जोड़ोंवाले सर्प से **विषम्**=विष सम्भृत हुआ है, **तत्**=उस विष को **इयम्**=यह **वीरुत्**=विशेषरूप से वृद्धि को प्राप्त होती हुई मधुकाख्या ओषधि **अनीनशत्**=नष्ट करे। २. **इयं वीरुत्**=यह सर्पविष में प्रयुज्यमान ओषधि **मधुजाता**=मधु से निष्पन्न हुई है। **मधुश्चुत्**=मधुर रस स्राविणी है। **मधुला**=मधुमती, **मधुः**=मधू नामवाली है। **सा**=वह विह्रुतस्य **भेषजी**=विशेषरूप से कुटिलता को उत्पन्न करनेवाले विष की औषध है **अथो**=और निश्चय से **मशकजम्भनी**=दंशक मशकों को हिंसित करनेवाली है।

भावार्थ—विविध प्रकार के सर्पविष के प्रभावों को यह 'मधू' (मधुला) नामक ओषधि दूर करनेवाली है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वृश्चकादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सर्पविष-निराकरण

यतो दुष्टं यतो धीतं ततस्ते निर्ह्वयामसि।
अर्भस्य तृप्रदंशिनो मशकस्यारसं विषम्॥ ३ ॥

१. विष-दष्ट पुरुष को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि **यतः दष्टम्**=जिस स्थान में सर्पादि से डसा गया है, **यतः धीतम्**=जिस स्थान में सर्पादि से रुधिर पिया गया है। हे सर्पदष्ट पुरुष! **तत्**=वहाँ से **ते**=तेरे इस विष को **निर्ह्वयामसि**=पुकार कर बाहर करते हैं। २. इस **अर्भस्य**=छोटे से **तृप्रदंशिनः**=शीघ्रता से काटनेवाले व तीव्रता से काटनेवाले **मशकस्य**=मच्छर का **विषं अरसम्**=विष तो निर्वीर्य ही है (शृंगारादौ रसे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः) इस विष को दूर करना कठिन है ही नहीं।

भावार्थ—जहाँ सर्प काटता है और रुधिर पीता है, उस अंग से हम विष को पुकार कर बाहर करते हैं। इस छोटे-से तीव्रता से काटनेवाले मच्छर का विष तो निर्वीर्य ही है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः (विषभैषज्यम्)** ॥ छन्दः—**विराट्प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

विषजनित वक्रता का निरास

अयं यो वक्रो विपरुर्व्य ∫ ङ्गो मुखानि वक्रा वृजिना कृणोषि।
तानि त्वं ब्रह्मणस्पत इषीकामिव सं नमः॥ ४ ॥

१. **अयम्**=यह **यः**=जो सर्पदष्ट पुरुष **वक्रः**=कुटिल अवयवोंवाला (संकोचित अवयवोंवाला) **विपरुः**=विश्लिष्ट पर्वोंवाला (विगतसन्धि) **व्यंगः**=विकृत अंगोंवाला होता हुआ **मुखानि**=मुख आदि अंगों को **वक्रा**=कुटिल व **वृजिना**=अनवस्थित-मुड़ा-तुड़ा हुआ, **कृणोषि**=करता है, हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् वैद्य! **तानि**=उन अंगों को तू इस प्रकार **संनमः**=सन्नत कर, सीधा कर **इव**=जैसेकि **इषीकाम्**=एक ऋजु व दीर्घ इषीका को, बलपूर्वक कुटिल की हुई को, उसकी

कुटिलता को दूर करके सरल कर देते हैं। इसी प्रकार इस सरलांग पुरुष को, विष के कारण जिसमें कुछ कुटिलता आ गई है, विषनिर्हरण द्वारा फिर यथावस्थित अंगोंवाला कर दे।

भावार्थ—विष के प्रभाव से अंगो में उत्पन्न कुटिलता व वक्रता को विष-दूरीकरण द्वारा एक सद्वैद्य दूर करके अंगों को पुनः सरलता प्राप्त कराए।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वृश्चिकादयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शर्कोट हिंसन

अरसस्य शर्कोटस्य नीचीनस्योपसर्पतः।
विषं ह्यस्यादिष्यथो एनमजीजभम्॥ ५॥

१. इस **अरसस्य**=निर्वीर्य, विषसामर्थ्यरहित **नीचीनस्य**=न्यग्भूत, अवाङ्मुख—नीचे किये हुए मुखवाले, **उपसर्पतः**=समीप आते हुए **अस्य**=इस **शर्कोटस्य**=शर्कोट नामक (हिंसन द्वारा कुटिलता पैदा करनेवाले) सर्प के **विषम्**=विष को **हि**=निश्चय से **आ अदिषि**=खण्डित करता हूँ, विष को नष्ट करता हूँ **अथो**=और **एनम्**=इस विषवाले शर्कोट सर्प को भी **अजीजभम्**=मैंने हिंसित किया है।

भावार्थ—शर्कोट नामक विषैले प्राणी के विष को नष्ट करके उस विषैले प्राणी को भी मार देना चाहिए।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वृश्चिकादयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पुच्छदंशी वृश्चिक

न ते बाह्वोर्बलमस्ति न शीर्षे नोत मध्यतः।
अथ किं पापयामुया पुच्छे बिभर्ष्यर्भकम्॥ ६॥

१. हे पुच्छ से डसनेवाले वृश्चिक! **ते बाह्वोः बलं न अस्ति**=तेरी भुजाओं में बल नहीं है। **न शीर्षे**=न सिर में बल है, **उत**=और **न मध्यतः**=तेरे मध्यभाग (उदर) में भी बल नहीं है। **अथ**=अब **किम्**=क्यों **अमुय पापया**=इस पापिष्ठ, पर-पीड़ाकारिणी बुद्धि से **अर्भकम्**=इस अत्यल्प विष को **पुच्छे बिभर्षि**=पूँछ में धारण किये हुए है। तू तो व्यर्थ में ही पर-पीड़ा करने का यत्न करता है।

भावार्थ—बिच्छू व्यर्थ में पर-पीड़ाकारी विष को पूछँ में धारण करता है। इसी प्रकार कई मनुष्य भी सामने नहीं अपितु पीठ पीछे कुछ निन्दा करते रहते हैं, वे वृश्चिक के समान ही हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वृश्चिकादयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पिपीलिकाः, मयूर्यः

अदन्ति त्वा पिपीलिका वि वृश्चन्ति मयूर्यः।
सर्वे भल ब्रवाथ शार्कोटमरसं विषम्॥ ७॥

१. हे सर्प! **त्वा पिपीलिकाः अदन्ति**=तुझे चीटियाँ खा जाती हैं। **मयूर्यः**=मोरनियाँ **विवृश्चन्ति**=विशेषरूप से छिन्न कर डालती हैं। **सर्वे**=सब सर्प-विषनिर्हरणक्षम पुरुष **भल ब्रवाथ**=(भल साध्वर्थवाची) ठीक ही कहते हैं कि **शार्कोटं विषम्**=शर्कोट नामक सर्प का विष **अरसम्**=निर्वीर्य है, इसका दूर करना कुछ कठिन नहीं।

भावार्थ—शर्कोट नामक सर्प को तो चीटियाँ व मोरनियाँ भी खा जाती हैं। 'इसका विष वस्तुतः निर्वीय ही है', यह सब ठीक ही कहते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वृश्चिकादयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पुच्छेन च आस्येन च

य उभाभ्यां प्रहरसि पुच्छेन चास्ये॑न च।
आस्ये३ न ते विषं किमु ते पुच्छधावसत्॥ ८॥

१. हे वृश्चिक! **यः**=जो तू **उभाभ्यां पुच्छेन च आस्येन च**=पूँछ और मुख दोनों से **प्रहरसि**=प्रहार करता है, अतः **ते आस्ये**=तेरे मुख में तो **विषं न**=विष नहीं है, **किम् उ**=और क्या **ते**=तेरे इस **पुच्छधौ**=छोटी पूँछ ही में **असत्**=होता है, अर्थात् तेरा विष किसी को क्या मार सकता है? अतः व्यर्थ में तू डसता ही क्यों है?

भावार्थ—बिच्छू के मुख में तो विष होता ही नहीं, पुच्छधि में होनेवाला विष भी सरलता से ही चिकित्स्य है।

'गत सूक्त के सर्प व वृश्चिक की भाँति मुझे औरों को डसनेवाला नहीं बनना' इस भावना से जीवन का निर्माण करनेवाला यह साधक 'वामदेव' बनता है, वाम सुन्दर दिव्य गुणोंवाला। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

५७. [सप्तपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**सरस्वती** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

वामदेव का अपमान-सहन

यदाशसा वदतो मे विचुक्षुभे यद्याचमानस्य चरतो जनाँ अनु।
यदात्मनि तन्वो॑ मे विरिष्टं सरस्वती तदा पृणद् घृतेन॥ १॥

१. जिस समय एक ब्राह्मण (संन्यासी) जनता में प्रचार करता है, तब कई बार कुछ लोकप्रवाद भी सुनने ही पड़ते हैं, अतः यह प्रार्थना करता है कि **यत्**=जब **वदतः**=जनता में प्रवचन करते हुए **आशसा**=लोगों द्वारा हिंसन से **मे विचुक्षुभे**=मेरा मन कुछ विक्षुब्ध हो उठता है, और **यत्**=जो **जनान् अनुचरतः**=लोगों के प्रति जाते हुए और **याचमानस्य**=किन्हीं कार्यविशेषों के लिए इनसे प्रार्थना करते हुए उनके न समझने से मेरा मन कुछ क्षुब्ध-सा होता है, और **यत्**=जो **मे तन्वः विरिष्टम्**=मेरे शरीर का हिंसन होता है, ये कुछ ईंट-रोड़े बरसा देते हैं, **तत्**=उस सबको **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता **घृतेन आपृणत्**=ज्ञानदीप्ति व मलक्षरण द्वारा पूरित कर दे और मुझे **आत्मनि**=(स्थापयतु इति शेषः) स्वभाव में—क्षोभराहित्य स्थिति में—स्थापित करे। २. ज्ञानी पुरुष लोगों में ज्ञान का प्रचार करेगा व उन्हें किन्हीं कर्मों से रोकेगा तो कुछ विरोधी लोग भी उपस्थित होंगे ही। वे कुछ-न-कुछ हिंसन करेंगे ही, अपमानजनक शब्द भी बोलेंगे, चोट मारने का भी यत्न करेंगे। उस समय यह ज्ञानी पुरुष चाहता है कि ज्ञान उसे क्षुब्ध होने से बचाये। ज्ञान के कारण वह स्वस्थ स्थिति में रह सके।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष जब ज्ञान का प्रचार करते हैं, तब विरोधी लोग अपशब्द भी बोलते हैं, प्रहार भी करते हैं। ज्ञानी को चाहिए कि इन्हें सहन करता हुआ अपने कर्त्तव्य-कर्म में लगा रहे।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**सरस्वती** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

शिशु मरुत्वान् पुत्र

सप्त क्षरन्ति शिशवे मरुत्वते पित्रे पुत्रासो अप्यवीवृतन्नृतानि।
उभे इदस्योभे अस्य राजत उभे यतेते उभे अस्य पुष्यतः॥ २॥

१. **शिशवे**=(शो तनूकरणे) बुद्धि को तीव्र बनानेवाले अथवा काम, क्रोध आदि शत्रुओं

का शासन करनेवाले **मरुत्वते**=प्राणसाधक के लिए (मरुतः प्राणाः) **सप्त क्षरन्ति**=सात छन्दों से युक्त वेदवाणियाँ प्रवाहित होती हैं। हम प्राणसाधना करते हुए काम, क्रोध आदि के विनाश से बुद्धि को तीव्र बना पाएँगे तो इन ज्ञान की वाणियों को क्यों न प्राप्त करेंगे? **अपि**=और ये **पुत्रासः** (पुनाति त्रायते)=ज्ञान की वाणियों के द्वारा अपने को पवित्र करनेवाले तथा अपना त्राण (रक्षण) करनेवाले लोग **पित्रे**=उस पिता प्रभु की प्राप्ति के लिए **ऋतानि अवीवृतन्**=सत्यभूत यज्ञादिरूप कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। २. इस **अस्य**='मरुत्वान् शिशु, ऋत के वर्तनेवाले पुत्र' के **इत् उभे**=निश्चय से दोनों ही लोक उत्तम होते हैं। यह इहलोक के अभ्युदय और परलोक के निःश्रेयस को प्राप्त करता है। **अस्य**=इसके **उभे**=दोनों द्यावापृथिवी—मस्तिष्क व शरीर **राजतः**=ज्ञान व शक्ति से दीप्त होते हैं। **उभे यतेते**=इसके दोनों इन्द्रियगण (ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ) यत्नशील होती हैं, परिणामतः **अस्य**=इसके **उभे पुष्यतः**=ब्रह्म और क्षत्र दोनों पुष्ट होते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ निरन्तर ज्ञान में लगी रहकर इसके ज्ञान का वर्धन करती हैं तथा कर्मेन्द्रियाँ यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त रहकर इसे सशक्त बनाये रखती हैं।

भावार्थ—हम बुद्धि को तीव्र करें (शिशु) प्राणसाधना में प्रवृत्त हों (मरुत्वान्) तथा अपने को पवित्र व रक्षित करें (पुत्र)। इसप्रकार हमें वेद ज्ञान प्राप्त होगा तथा ऋत् का पालन करते हुए हम पिता प्रभु को प्राप्त करेंगे तथा हमारे जीवन में 'ब्रह्म और क्षत्र' का समन्वय होगा।

ज्ञान के अनुसार कर्म करनेवाला 'कौरुपथि' अगले सूक्त का ऋषि है—

५८. [अष्टपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'सुतपौ धृतव्रतौ' इन्द्रावरुणा

इन्द्रा॑वरुणा सुतपावि॒मं सु॒तं सोमं॑ पिबतं॒ मद्यं॑ धृतव्रतौ।
यु॒वो रथो॑ अध्व॒रो दे॑ववीतये॒ प्रति॒ स्वस॑रमुप॑ यातु पी॒तये॑॥ १॥

१. 'इन्द्र' जितेन्द्रिय पुरुष का वाचक है तथा 'वरुण' वासनाओं का निवारण करनेवाले का संकेत करता है। हे **इन्द्रावरुणा**=जितेन्द्रिय व वासना का निवारण करनेवाले पुरुषो! आप **सुतपौ**=शरीर में उत्पन्न सोम का पान करनेवाले हो अथवा (सु-तपौ) उत्तम तपवाले हो। **इमं सुतं सोमम्**=इस शरीर में उत्पन्न सोम को **पिबतम्**=पीओ, इसे शरीर में ही व्याप्त करो। हे **धृतव्रतौ**=व्रतों का धारण करनेवाले इन्द्र और वरुण! **मद्यम्**=शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ यह सोम मद का, हर्ष का जनक है। २. हे इन्द्रावरुणा! **युवोः**=आप दोनों का **रथः**=यह शरीर-रथ **अध्वरः**=हिंसा से रहित व शत्रुओं से अपराजित है अथवा (अध्व-र) मार्ग पर आगे बढ़नेवाला है। यह **देववीतये**=दिव्य गुणों की प्राप्ति के लिए **प्रतिस्वसरम्**=प्रतिदिन (नि० १.९) **पीतये**=सोम के पान के लिए **उपयातु**=प्रभु के समीप जानेवाला हो। प्रातः-सायं प्रभु की उपासना में प्रवृत्त होना 'सोमरक्षण' में सहायक होता है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय व वासनाओं का निवारण करनेवाले बनकर शरीर में सोम का रक्षण करें। इस शरीर-रथ को मार्ग पर आगे-और-आगे ले-चलें। प्रभु-उपासना में प्रवृत्त होकर सोमरक्षण का ध्यान करें।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**इन्द्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'मधुमत्तम' सोम

इन्द्रा॑वरुणा॒ मधु॑मत्तमस्य॒ वृष्णः॒ सोम॑स्य वृषणा॒ वृषे॑थाम्।
इ॒दं वा॒मन्धः॒ परि॑षिक्तमा॒सद्या॒स्मिन्ब॒र्हिषि॑ मादयेथाम्॥ २॥

१. हे **इन्द्रावरुणा**=जितेन्द्रिय व वासनाओं का निवारण करनेवाले पुरुषो! आप इस **मधुमत्तस्य**=जीवन को अत्यन्त मधुर बनानेवाले **वृष्णः**=शक्तिशाली **सोमस्य**=सोम का **वृषेथाम्**=शरीर में ही सेचन करो। आप **वृषणा**=सोमरक्षण द्वारा शक्तिशाली बनते हो। २. **इदम्**=यह सोम **वाम् अन्धः**=आपका भोजन है, **परिषिक्तम्**=यह शरीर में चारों ओर सिक्त हुआ है। अब आप **अस्मिन्**=इस **बर्हिषि**=(बृह् उद्यमने) जिसमें से वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है, उस हृदय में **आसद्य**=आसीन होकर, अर्थात् पवित्र हृदय में प्रभु का ध्यान करते हुए **मादयेथाम्**=आनन्दित होवो।

भावार्थ—इन्द्र और वरुण इस मधुमत्तम सोम का पान करते हुए शक्तिशाली बनते हैं। यह सोम उनका भोजन हो जाता है। इसी दृष्टि से वे पवित्र हृदय में प्रभु का प्रातः-सायं ध्यान करते हैं।

सोमरक्षण द्वारा यह 'बादरायणि' बनता है, (बद to be steady or firm) —अपने मार्ग पर दृढ़ता से चलनेवाला। यह बादरायणि औरों के आक्रोश की चिन्ता न करता हुआ मार्ग पर दृढ़ता से आगे बढ़ता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

५९. [एकोनषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**बादरायणिः** ॥ देवता—**अरिनाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आक्रोश का विनाश

यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात्।
वृक्षइव विद्युता हत आ मूलादनु शुष्यतु॥ १॥

१. **यः**=जो **अशपतः नः शपात्**=आक्रोश न करते हुए भी हमारे प्रति आक्रोश करे, **च यः**=और जो **शपतः नः**=(to swear, to take an oath) शपथ खाते हुए हमें, शपथपूर्वक यह कहते हुए भी कि हमने तुम्हारा कुछ बिगाड़ा नहीं, **शपात्**=गाली दे, वह **आमूलात्**=जड़ से इसप्रकार **अनुशुष्यतु**=सूख जाए, **इव**=जैसेकि **विद्युता हतः वृक्षः**=विद्युत् से मारा हुआ वृक्ष सूख जाता है।

भावार्थ—हम किसी के लिए अपशब्दों का प्रयोग न करें। अपशब्दों का प्रयोक्ता जड़ से ही सूख जाता है।

हम आक्रोशों की परवाह न करते हुए मार्ग पर आगे बढ़ते चलें। यह मार्ग पर बढ़नेवाला व्यक्ति ही 'ब्रह्मा'=बड़ा बनता है। अगले सूक्त का ऋषि यही है—

॥ इति षोडशः प्रपाठकः ॥

अथ सप्तदशः प्रपाठकः

६०. [षष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गृहाः, वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**परानुष्टुप्त्रिष्टुप्** ॥

आदर्श पति

ऊर्जं बिभ्रद्वसुवनिः सुमेधा अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण।
गृहानैमि सुमना वन्दमानो रमध्वं मा बिभीत मत्॥ १॥

१. 'घर में पति का आदर्श क्या है?' इसका चित्रण करते हुए पति के मुख से ही कहलाते हैं कि **ऊर्जं बिभ्रत्**=बल और प्राणशक्ति को धारण करता हुआ **वसुवनिः**=धन का विजय (उपार्जन) करनेवाला, **सुमेधाः**=उत्तम बुद्धिवाला, **अघोरेण मित्रियेण चक्षुषा**=अभयानक—स्नेहभरी दृष्टि से युक्त हुआ-हुआ मैं **गृहान् ऐमि**=(आ एमि) घर के लोगों को प्राप्त करता

हूँ। २. मैं **सुमनाः**=प्रशस्त (प्रसन्न) मनवाला **वन्दमानः**=अभिवादन व स्तुति करता हुआ आता हूँ। **रमध्वम्**=तुम प्रसन्न होवो। **मा बिभीत मत्**=मुझसे भयभीत न होवो। घर में पिता के आने पर घरवालों को प्रसन्नता का अनुभव हो। उनके कठोर स्वभाव के कारण घरवाले भयभीत न हों और अप्रसन्नता का अनुभव न करें।

भावार्थ—आदर्श गृहस्थ वह है जिसका शरीर प्राणशक्ति-सम्पन्न है, जो धन का अर्जन करनेवाला है, प्रेमभरी दृष्टि से युक्त हैं, प्रशस्त मनवाला व प्रभुस्तवन की वृत्तिवाला है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गृहाः, वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'उर्जस्वन्तः पयस्वन्तः' गृहाः

इमे गृहा मयोभुव ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्तः।
पूर्णा वामेन तिष्ठन्तस्ते नो जानन्त्वायतः॥ २॥

१. **इमे गृहाः**=ये घर **मयोभुवः**=सुख उत्पन्न करनेवाले (भावयितारः) हैं, **ऊर्जस्वन्तः**=अन्न रसवाले हैं, **पयस्वन्तः**=क्षीरादि से समृद्ध हैं। **वामेन**=सेवनीय धन से **पूर्णाः**=सम्पूर्ण व समृद्ध होकर **तिष्ठन्तः**=स्थिर होते हुए **ते**=वे गृहजन घर पर **आयतः नः जानन्तु**=प्रवास से लौटे हुए हमें जानें। प्रवास से लौटे हुए पति का सब घरवाले उचित सत्कार करें।

भावार्थ—घर सुखी, अन्न-रसयुक्त, क्षीरादी-सम्पन्न व सेवनीय धन से पूर्ण हों। प्रवास से लौटने पर सब घरवाले गृह-स्वामी का स्वागत करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गृहाः, वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

येषु सौमनसः बहुः

येषामध्येति प्रवसन्येषु सौमनसो बहुः।
गृहानुप ह्वयामहे ते नो जानन्त्वायतः॥ ३॥

१. जब घर सुन्दर होता है तब प्रवास में घर की याद आती ही है। **प्रवसन्**=देशान्तर में बसता हुआ पुरुष **येषां अध्येति**=जिनका स्मरण करता है, **येषु**=जिनमें **बहुः सौमनसः**=बहुत सौमनस्य है— जिनमें रहनेवाले मनुष्य प्रसन्न मनवाले हैं, उन **गृहान्**=घरों को **उपह्वयामहे**=प्राप्त करने के लिए हम प्रार्थना करते हैं। **ते**=वे घर **आयतः नः**=प्रवास से लौटे हुए हमें **जानन्तु**=जानें, घर के लोग प्रसन्नता से हमारा स्वागत करें।

भावार्थ—हमारा घर व घर के लोग ऐसे अच्छे हों कि हमें प्रवास में घर का ही स्मरण हो। ऐसे घरों में जब हम लौटें तब घरवाले प्रसन्नता से हमारा स्वागत करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गृहाः, वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'भूरिधनाः स्वादुसंमुदः' गृहाः

उपहूता भूरिधनाः सखायः स्वादुसंमुदः।
अक्षुध्या अतृष्या स्त गृहा मास्मद् बिभीतन॥ ४॥

१. **भूरिधनाः**=पालक व पोषक धन से युक्त **गृहाः**=घर **उपहूताः**=हमारे द्वारा प्रार्थित हुए हैं। प्रभु हमें ऐसे घरों को प्राप्त कराएँ जहाँ कि आवश्यक धन की कमी न हो, **सखायः**=जिस घर में रहनेवाले लोग परस्पर मित्रभाववाले हों (सखे सप्तपदी भव), **स्वादुसंमुदः**=ये घर स्वादिष्ट पदार्थों से प्रसन्नता को प्राप्त करानेवाले हों। **अक्षुध्याः अतृष्याः स्त**=हे गृहो! आप भूखे और प्यासे ही न रह जाओ, अर्थात् घरों में खान-पान की कमी न हो। हे **गृहाः**=घर के लोगो! **अस्मत् मा बिभीतन**=हमसे भयभीत मत होवो, अर्थात् गृहपति का स्वभाव ऐसा मधुर हो कि

उसके आने पर सब प्रसन्नता का अनुभव करें।

भावार्थ—हम उन घरों के लिए प्रार्थना करते हैं जो पर्याप्त धनवाले हैं, जहाँ लोग परस्पर मित्रभाव से रहते हैं, जहाँ स्वादिष्ट पदार्थ हर्ष का कारण बनते हैं, जहाँ लोग न भूखे हैं न प्यासे।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गृहाः, वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गौ, अजा, अवि व कीलाल अन्न

उप॑हूता इ॒ह गाव॒ उप॑हूता अजा॒वय॑:।
अथो॒ अन्न॑स्य की॒लाल॒ उप॑हूतो गृहे॒षु नः॥ ५॥

१. **इह**=यहाँ घर में **गावः उपहूताः**=गौवों के लिए प्रार्थना की गई है। इसी प्रकार **अजावयः उपहूताः**=भेड़ और बकरियों के लिए प्रार्थना की गई है **अथो**=और **अन्नस्य कीलालः**=अन्न का सारभूत अंश, अर्थात् उत्कृष्ट सात्त्विक अन्न **नः गृहेषु**=हमारे घरों में **उपहूतः**=प्रार्थित हुआ है।

भावार्थ—हमारे घरों में गौवें, भेड़ें, बकरियाँ हों तथा इन घरों में अन्न के सारभूत अंश की, पौष्टिक अन्न की कमी न हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गृहाः, वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'सूनृतावन्तः सुभगाः' गृहाः

सू॒नृता॑वन्तः सु॒भगा॒ इरा॑वन्तो हसामु॒दाः।
अ॒तृ॒ष्या अ॑क्षु॒ध्या स्त॒ गृहा॒ मास्मद् बि॑भीतन॥ ६॥

१. हे **गृहाः**=गृह में रहनेवालो! तुम **सूनृतावन्तः स्त**=प्रिय, सत्य वाणीवाले होओ (प्रवसति यजमाने गृहे जातमप्यरिष्टं पुनरागच्छति गृहस्वामिनि तद्दिवसे न ज्ञापनीयम्) **सुभगाः**=तुम शोभन भाग्य से युक्त होओ **इरावन्तः**=(इरा अन्नं) प्रशस्त अन्नवाले **हसामुदाः**=हँसी के साथ प्रसन्न (मोदमान) होओ। हास से अभिव्यक्त सन्तोषवाले तुम होओ। २. **अतृष्याः अक्षुध्याः स्त**=भूखे प्यासे न रहो, तुम्हें खान-पान की कमी न हो। **गृहाः मा अस्मद् बिभीतन**=हे गृहो! हमसे भयभीत न होओ। गृहपति के मधुरस्वभाव से सबको प्रसन्नता ही हो।

भावार्थ—घर में प्रिय, सत्यवाणी, सौभाग्य, प्रशस्त अन्न व हास्य के साथ प्रमोद हो। यहाँ सब तृप्त हों तथा गृहपति का स्वभाव अत्यन्त मधुर हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गृहाः, वास्तोष्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

भूतिसम्पन्न गृह (पति-पत्नी के कार्य का विभाग)

इ॒हैव स्त॒ मानु॑ गात॒ विश्वा॑ रू॒पाणि॑ पुष्यत।
ऐष्या॑मि भ॒द्रेणा॑ स॒ह भूयां॑सो भवता॒ मया॥ ७॥

१. पति प्रवास में जाता हुआ घर के लोगों से कहता है कि **इह एव स्त**=तुम यहाँ—घर पर ही रहो, **मा अनुगात**=तुम मेरे पीछे जानेवाले मत होओ। यहाँ रहते हुए तुम **विश्वा रूपाणि पुष्यत**=सब सुरूप पुत्रों व गवादि पशुओं का पोषण करो। २. मैं **भद्रेण सह आ एष्यामि**=कल्याणकारक धन के साथ फिर यहाँ आऊँगा। उस समय **मया**=मेरे साथ **भूयांसः भवतः**=अधिक समृद्धि-(भूति)-वाले होओ।

भावार्थ—गृहपति कमाने के लिए बाहर जाता है। घरवालों को चाहिए कि घर में सबके पोषण का पूरा ध्यान करें। गृहपति धन के साथ लौटे हुए गृहपति के साथ वे भूतिसम्पन्न हों।

इस उत्तम घर में धर्म के मार्ग से विचलित न होनेवाला 'अथर्वा' अगले सूक्त का ऋषि है—

६१. [एकषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तप+श्रुत

यद॑ग्ने॒ तप॑सा॒ तप॑ उपत॒प्याम॑हे॒ तपः॑।
प्रि॒याः श्रु॒तस्य॑ भूया॒स्मायु॑ष्मन्तः सुमे॒धसः॑॥ १॥
अग्ने॒ तप॑स्तप्यामह॒ उप॑ तप्यामहे॒ तपः॑।
श्रु॒तानि॑ शृ॒ण्वन्तो॑ व॒यमायु॑ष्मन्तः सुमे॒धसः॑॥ २॥

१. हे **अग्ने**=आचार्य (अग्निराचार्यस्तव) **तपसा** (मनसश्चेन्द्रियाणां चैकाग्र्यं तप उच्यते)=मन व इन्द्रियों की एकाग्रता के साथ **तपः**=(तपः क्लेशसहिष्णुत्वम्) शीतोष्णादि का सहनरूप जो तप है, उस **तपः उपतप्यामहे**=तप को हम आपके समीप तपते हैं। इस तप से हम **श्रुतस्य प्रियाः भूयास्म**=ज्ञान के प्रिय बनें। इसप्रकार **आयुष्मन्तः**=प्रशस्त दीर्घजीवनवाले तथा **सुमधेसः**=उत्तम मेधावाले हों, उत्तम धारणा शक्तिवाले हों। २. हे **अग्ने**=आचार्य! **तपः तप्यामहे**=हम (कृच्छ्र चान्द्रायणादि व्रत) शीतोष्णसहनरूप तप करते हैं। **तपःउपतप्यामहे**=आपके समीप रहते हुए तप करते हैं। **श्रुतानि शृण्वन्तः**=वेदज्ञानों को सुनते हुए **वयम्**=हम **आयुष्मन्तः**=प्रशस्त दीर्घजीवनवाले बनें तथा **सुमेधसः**=उत्तम मेधावाले, धारणाशक्तियुक्त हों।

भावार्थ—आचार्यों के समीप रहते हुए ब्रह्मचारी 'तपस्वी' हों। शास्त्रज्ञानों का श्रवण करते हुए वे प्रशस्त दीर्घजीवनवाले व सुमेधा बनें।

ज्ञानी बनकर यह कश्यप होता है, तत्त्व को देखनेवाला तथा वासनारूप शत्रुओं को मारनेवाला 'मरीचि' (मृ) बनता है। अगले दो सूक्तों का यही ऋषि है—

६२. [द्विषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**मरीचिः काश्यपः** ॥ देवता—**जातवेदाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

काश्यप 'मरीचि' का जीवन

अ॒यम॒ग्निः सत्प॑तिर्वृ॒द्धवृ॑ष्णो र॒थीव॑ प॒त्तीन॑जयत्पु॒रोहि॑तः।
नाभा॑ पृथि॒व्यां निहि॑तो॒ दवि॑द्युतदधस्प॒दं कृ॑णु॒तां ते पृ॑तन्य॒वः॑॥ १॥

१. **अयम्**=यह कश्यप **अग्निः**=अग्रणी है, स्वयं उन्नति-पथ पर चलता हुआ औरों को भी उन्नति-पथ पर ले-चलता है। **सत्पतिः**=सज्जनों का रक्षक है। **वृद्धवृष्णः**=बढ़े हुए बलवाला है। शत्रुओं को इसप्रकार **अजयत्**=जीत लेता है, **इव**=जैसेकि **रथी पत्तीन्**=एक रथी पैदलों पर विजय पानेवाला होता है। यह शरीररूप रथ पर आरूढ़ हुआ-हुआ काम, क्रोध आदि शत्रुओं का पराभव करता है। **पुरोहितः**=यह औरों के सामने (पुरः) आदर्शरूप से स्थापित (हितः) होता है, इसका जीवन औरों के लिए आदर्श उपस्थित करता है। २. **पृथिव्याम् नाभा**=(अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः) यज्ञों में (पृथिवी के केन्द्रभूत यज्ञों में) **निहितः**=स्थापित होता है और **दविद्युतत्**=खूब ही चमकता है। यह यज्ञशील पुरुष उनको **अधस्पदं कृणुताम्**=पाँव तले रोंदनेवाला हो, **ते पृतन्यवः**=जो शत्रु इसके साथ संग्राम के इच्छुक होते हैं, उन शत्रुओं को मार डालने से ही तो यह 'मरीचि' कहलाता है।

भावार्थ—हम शत्रुओं को समाप्त करके 'मरीचि' बनें। ज्ञान की रुचिवाले, शक्तिसम्पन्न (वृद्धवृष्णः) व यज्ञशील बनें, तभी हमारा जीवन दीप्त व औरों के लिए आदर्श होगा।

६३. [त्रिषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**मरीचिः काश्यपः** ॥ देवता—**जातवेदाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'सर्वमहान्+मरीचि'=प्रभु

पृतनाजितं सहमानमग्निमुक्थैर्हवामहे परमात्सधस्थात्।
स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा क्षामद्देवोऽति दुरितान्यग्निः ॥ १ ॥

१. **पृतनाजितम्**=सब संग्रामों को विजित करनेवाले, प्रभुकृपा से ही तो संग्रामों में विजय होती है। **सहमानम्**=शत्रुओं का मर्षण करनेवाले **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु को **उक्थैः**=स्तोत्रों से **परमात् सधस्थात्**=सर्वोत्कृष्ट सहस्थान (हृदय) से **हवामहे**=पुकारते हैं। जीवात्मा व परमात्मा का मिलकर रहने का स्थान हृदय ही है। हृदयदेश से ही प्रभु का आह्वान होता है। ये प्रभु ही पुकारे जाने पर हमारे शत्रुओं का संहार करते हैं। २. **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **विश्वा दुर्गाणि**=सब कठिनताओं से **अतिपर्षत्**=पार करें। वह **देवः**=प्रकाशमय **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **दुरितानि**=सब अशुभ आचरणों को **अति क्षामत्**=(क्षै क्षये) नष्ट कर दें।

भावार्थ—वे अग्रणी प्रभु हमें सब संग्रामों में विजयी बनाएँ। वे हमें दुर्गों=कठिनाइयों से पार करें तथा हमारे दुरितों को विनष्ट करें।

सब दुरितों को दूर करके यह अपने जीवन को बड़ा संयत करता है। संयत करनेवाला यह 'यम' है। यम ही अगले सूक्त का ऋषि है—

६४. [चतुःषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**१ आपः, २ अग्नि** ॥ छन्दः—**१ भुरिगनुष्टुप्, २ न्यङ्कुसारिणीबृहती** ॥

कृष्णः शकुनिः

इदं यत्कृष्णः शकुनिरभिनिष्पतन्नपीपतत्।
आपो मा तस्मात्सर्वस्माद्दुरितात्पान्त्वंहसः ॥ १ ॥
इदं यत्कृष्णः शकुनिरवामृक्षन्निर्ऋते ते मुखेन।
अग्निर्मा तस्मादेनसो गार्हपत्यः प्र मुञ्चतु ॥ २ ॥

१. **इदं यत्**=यह जो **कृष्णः**=काली (मलिन) अथवा मन को अपनी ओर आकृष्ट करनेवाली **शकुनिः**=शक्तिशालिनी पाप-वासना **अभिनिष्पतन्**=चारों ओर से बड़े वेग से हमपर आक्रमण करती हुई **अपीपतत्**=हमें गिराती है (काम-वासना 'प्रद्युम्न है—प्रकृष्ट बलवाली है')। इस वासना में फँसकर मनुष्य पापमय जीवनवाला हो जाता है, यह काम 'महापाप्मा' तो है ही। **तस्मात् सर्वस्मात् दुरितात्**=उस सब दुरित से **अंहसः**=कष्ट के कारणभूत पाप से **मा**=मुझे **आपः पान्तु**=वे व्यापक प्रभु रक्षित करें। प्रभुस्मरण इस वासना के संहार का सर्वोत्तम साधन है। २. हे **निर्ऋते**=आत्मा को नीचे ले-जानेवाली पापप्रवृत्ते! **इदं यत्**=यह जो **कृष्णः शकुनिः**=मलिन तथा प्रबल पाप-वासना **ते मुखेन**=तेरे (निर्ऋति के) मुख से—तेरे द्वारा **अवामृक्षत्** (मृक्ष् संघाते)=नीचे विनष्ट करती—गिराती है। **तस्मात् एनसः**=उस पाप से **मा**=मुझे **गार्हपत्यः अग्निः**=यह शरीर-गृह का पति, आत्मा का हितकारी, अग्रणी प्रभु **प्रमुञ्चतु**=मुक्त करे। प्रभु का स्मरण पाप से मुक्त करता ही है। ये प्रभु गार्हपत्य अग्नि हैं—अग्रणी हैं और शरीर-गृह के पति जीव का सदा हित करनेवाले हैं।

भावार्थ—कामवासना मलिन होती हुई अति प्रबल है। यह हमें नीचे गिरानेवाली है। हम

उस सर्वव्यापक (आपः) अग्रणी (अग्नि) प्रभु का स्मरण करते हुए इस वासना का विनाश करें।

पाप को नष्ट करके शुद्ध जीवनवाला यह व्यक्ति 'शुक्र' नामवाला होता है, शुचितावाला। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

६५. [पञ्चषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रतीचीनफलः

प्रतीचीनफलो हि त्वमपामार्ग रुरोहिथ।
सर्वान्मच्छपथाँ अधि वरीयो यावया इतः॥ १॥

१. हे **अपामार्ग**=सब दोषों को दूर करके हमारे जीवनों को शुद्ध करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **हि**=निश्चय से **प्रतीचीनफलः**=प्रत्यक्ष, साक्षात् होकर ही (त्रिफला विशरणे) पापों को विशीर्ण करनेवाले हैं। जिसके हृदय में आपका साक्षात्कार होता है, आप उसके पापों को नष्ट कर देते हैं। आप **रुरोहिथ**=हृदय देश में प्रादुर्भूत होते हैं। (रुह् प्रादुर्भावे) । आप **सर्वान्**=सब **शपथान्**=आक्रोशों को, अपशब्दों को **इतः मत्**=यहाँ मुझसे **वरीयः** (उरुतरं अत्यर्थम्)=बहुत दूर **यावयाः**=पृथक् कर दीजिए।

भावार्थ—प्रभु अपामार्ग है, हमारे जीवनों का शोधन करनेवाला है। शोधन होता तभी है, जब हृदय-देश में प्रभु का साक्षात्कार हो। यह साक्षात्कार हमारे जीवन से सब आक्रोशों को दूर फेंक देता है। उपासक कभी अपशब्द नहीं बोलता।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**अपामार्गः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रभु-स्मरण से तामस् व राजस् वृत्तियों का निराकरण

यद्दुष्कृतं यच्छमलं यद्वा चेरिम पापया।
त्वया तद्विश्वतोमुखापामार्गाप मृज्महे॥ २॥
श्यावदता कुनखिना बण्डेन यत्सहासिम।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे॥ ३॥

१. **यत् दुष्कृतम्**=जिस दुष्कृत, अशुभ कर्म को हम **चेरिम**=कर बैठते हैं, **यत् शमलम्**=जिस मलिन कलंकजनक घृणित कार्य को कर बैठते हैं, **यत् वा**=अथवा जिस भी अशुभ कर्म को **पापया**=अशुभ (पापमयी) वृत्ति से कर डालते हैं, हे **विश्वेतोमुख**=सब ओर मुखोंवाले, सर्वद्रष्टः! **अपामार्ग**=हमारे जीवनों के शोधक प्रभो! **त्वया**=आपके द्वारा, आपके स्मरण से हम **तत् अपमृज्महे**=उसे सुदूर विनष्ट करते हैं। २. **यत्**=जो **श्यावदता**=काले (मलिन) दाँतोंवाले **कुनखिना**=कुत्सित नखोंवाले **बण्डेन सह** (वडि विभाजने)=भग्नांग व फूट डालनेवाले, चुगलखोर पुरुष के साथ **आसिम**=हम बैठें और उससे प्रभावित हो कुछ ऐसे ही बनने लगें तो हे **अपामार्ग**=हमारे जीवनों के शोधक प्रभो! **वयम्**=हम **सर्वं तत्**=उस अशुभवृत्ति को **त्वया**=आपके स्मरण से **अपमृज्महे**=अपने से दूर करते हैं।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण से सब दुष्कृत, पाप व अशुभवृत्तियाँ दूर हो जाती हैं। मैले-कुचैले—तमोगुणी पुरुषों के साथ अथवा फूट डालनेवाले, चुग़ली करनेवाले तमोगुणी पुरुषों के संग में आ जानेवाले दोषों को हम प्रभु की उपासना के द्वारा दूर कर सकते हैं।

सब पापों से रहित यह श्रेष्ठ सत्त्वगुणवाला पुरुष 'ब्रह्मा' बनता है। अगले दो सूक्तों का ऋषि यही है—

६६. [षट्षष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्राह्मणम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पशवः ब्राह्मणं अश्रवन्

यद्यन्तरिक्षे यदि वात आस यदि वृक्षेषु यदि वोलपेषु।
यदस्रवन्पशव उद्यमानं तद् ब्राह्मणं पुनरस्मानुपैतु॥ १ ॥

१. **यदि**=यदि **अन्तरिक्षे**=इस विशाल अन्तरिक्ष में **ब्राह्मणम्**=ब्रह्मज्ञान **आस**=है। अन्तरिक्ष अपने सब लोक-लोकान्तरों द्वारा प्रभु के स्वरूप का ज्ञान करा रहा है, **यदि वाते**=अथवा निरन्तर बहनेवाले वायु में जो ब्रह्मज्ञान है, यदि **वृक्षेषु**=यदि वृक्षों की रचना में जो प्रभु की महिमा का प्रादुर्भाव हो रहा है, **यदि वा उलपेषु**=अथवा इन कोमल तृणों में भी ब्रह्म की महिमा दिख रही है। अन्तरिक्ष के अनन्त लोक-लोकान्तर तो प्रभु की महिमा का प्रकाश कर ही रहे हैं, वायु भी किस प्रकार जीवन का आधार बनती है? वृक्षों के मूल में डाला हुआ पानी किस प्रकार शिखर तक पहुँचता है? कुशा घास में शरीर के सब मलों के संहार की क्या अद्भुत शक्ति है? २. इन सबसे **उद्यमानम्**=उच्चारण किये जाते हुए **यत्**=जिस ब्रह्मज्ञान को **पशवः**=(पश्यन्ति इति) तत्त्वद्रष्टा पुरुष ही **अश्रवन्**=सुन पाते हैं, **तत् (ब्राह्मणम्)**=वह ब्रह्मज्ञान **पुनः**=फिर **अस्मान् उपैतु**=हमें प्राप्त हो। हम भी इन अन्तरिक्ष आदि से उच्चारित होते हुए ब्रह्मज्ञान को सुननेवाले बनें।

भावार्थ—अन्तरिक्ष, वायु, वृक्ष व पत्थरों में सर्वत्र प्रभुमहिमा का प्रादुर्भाव हो रहा है। इस उच्चरित होती हुई महिमा को तत्त्वद्रष्टा पुरुष ही सुना करते हैं। यह ब्रह्मज्ञान हमें भी प्राप्त हो।

६७. [सप्तषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आत्मा** ॥ छन्दः—**पुरःपरोष्णिग्बृहती** ॥

धिष्ण्याः अग्नयः

पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च।
पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पयन्तामिहैव॥ १ ॥

१. **मा**=मुझे **इन्द्रियम्**=वीर्य व चक्षु आदि इन्द्रियाँ **पुनः**=फिर **एतु**=प्राप्त हों। **आत्मा**=मन **द्रविणम्**=धन **च ब्राह्मणम्**=और ब्रह्मज्ञान मुझे **पुनः**=फिर प्राप्त हो। **पुनः**=फिर **धिष्ण्याः अग्नयः**=(धिष्ण्य=House) शरीरगृह में रहनेवाली, अथवा (धिष्ण्य=Power Strength) शरीर को शक्तिसम्पन्न बनानेवाली अग्नियाँ **यथास्थाम**=अपने-अपने स्थान पर **इह एव कल्पयन्ताम्**=यहाँ शरीर में ही स्थित हुई-हुई हमें शक्तिशाली बनाएँ। २. प्राणाग्निहोत्रोपनिषत् में इन अग्नियों का वर्णन इसप्रकार है कि (क) सूर्यः (अग्निः) मूर्धनि तिष्ठति, (ख) दर्शनाग्निः (आहवनीयः भूत्वा) मुखे तिष्ठति, (ग) शारीरः अग्निः (दक्षिणाग्निः भूत्वा) हृदये तिष्ठति, कोष्ठाग्निः (गार्हपत्यो भूत्वा) नाभ्यां तिष्ठति, अर्थात् सूर्याग्नि मूर्धा में, दक्षिणाग्नि (आहवनीय) मुख में, शरीराग्नि (दिक्षिणाग्नि) हृदय में तथा कोष्ठाग्नि (गार्हपत्य) नाभि में स्थित है। ये सब अग्नियाँ अपना-अपना कार्य ठीक प्रकार से करती हुई हमें शक्तिशाली बनाती हैं।

भावार्थ—हमें 'वीर्य, मन, द्रविण व ज्ञान' की पुनः प्राप्ति हो। शरीरस्थ सब अग्नियाँ अपना-अपना कार्य ठीक प्रकार से करती हुई हमें शक्तिशाली बनाएँ।

इसप्रकार 'शरीर, मन, बुद्धि' के पूर्ण स्वास्थ्य से जीवन में शान्ति का विस्तार करनेवाला 'शन्ताति' अगले दो सूक्तों का ऋषि है—

६८. [अष्टषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**सरस्वती** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सरस्वती के व्रतों में

सरस्वति व्रतेषु ते दिव्येषु देवि धामसु।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः॥ १॥

१. हे **सरस्वति देवि**=ज्ञान की अधिष्ठातृदेवि! (ज्ञान प्रवाह से, गुरु से शिष्य की ओर चलता है, अतः ज्ञान की अधिष्ठात्री 'सरस्वती' कहलाती है। यह प्रकाशमय होने से 'देवी' है) **ते व्रतेषु**=तेरे व्रतों में चलते हुए हम लोगों द्वारा **दिव्येषु धामसु**=दिव्य तेजों के निमित्त **आहुतम्**=पहले अग्निकुण्ड में आहुत किये गये यज्ञावशिष्ट **हव्यं जुषस्व**=हव्य का ही तू प्रीतिपूर्वक ग्रहण कर, अर्थात् तेरे व्रतों में चलते हुए हम यज्ञावशिष्ट हव्यों को ही ग्रहण करनेवाले बनें। तभी हमें 'दिव्य धाम (तेज)' प्राप्त होंगे। २. हे सरस्वति देवि! तू **नः**=हमारे लिए **प्रजां ररास्व**=प्रशस्त सन्तानों को प्राप्त करा। जहाँ घर में ज्ञानप्रधान वातावरण होगा, वहाँ सन्तानें उत्तम होंगे ही। ज्ञान के साथ व्यसनों का विरोध है।

भावार्थ—सरस्वती का आराधक यज्ञावशिष्ट हव्य पदार्थों का ही सेवन करता है। इससे उसे दिव्य तेज प्राप्त होता है और घर में सन्तान भी उत्तम होती हैं।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**सरस्वती** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मधुमन्तः (स्याम)

इदं ते हव्यं घृतवत्सरस्वतीदं पितॄणां हविरास्यं१ यत्।
इमानि त उदिता शन्तमानि तेभिर्वयं मधुमन्तः स्याम॥ २॥

१. हे **सरस्वति**=ज्ञानाधिष्ठातृदेवि! **इदम्**=यह **ते हव्यम्**=तेरा आदान (हु आदाने) **घृतवत्**=(घृ क्षरणदीप्त्योः) मलों के क्षरण व ज्ञान की दीप्तिवाला है। तेरे उपासन से मलों का विनाश होता है और ज्ञान का प्रकाश प्राप्त होता है। यह तेरा **हविः**=आदान **पितॄणाम्**=पितरों का है। रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त लोग तेरा ग्रहण करते हैं। **यत्**=जो यह तेरा ग्रहण है, वह **आस्यम्**=(असु क्षेपणे) सब बुराइयों को परे फेंकनेवाला है। २. **इमानि**=ये **ते उदिता**=तेरे कथन **शन्तमानि**=अत्यन्त शान्ति देनेवाले हैं। यदि एक व्यक्ति वेदवाणी के अनुसार कार्य करता है, तो शान्ति प्राप्त करता है। **तेभिः**=उन तेरे कथनों से **वयम्**=हम **मधुमन्तः स्याम**=अत्यन्त मधुर व्यवहारवाले हों।

भावार्थ—'वेदवाणी' (सरस्वती) का आदान जीवन को निर्मल व दीप्त बनाता है। यह हमें रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त करता है और सब बुराइयों को हमसे दूर करता है। वेदवाणी के कथन शान्ति प्राप्त कराते हैं और हमारे जीवनों को मधुर बनाते हैं।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**सरस्वती** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

शिव, शान्त व शर्मवाले (सुखी)

शिवा नः शन्तमा भव सुमृडीका सरस्वति। मा ते युयोम सन्दृशः॥ ३॥

१. हे **सरस्वति**=वर्णपदादिरूपेण प्रसरणवाली वाग्देवते! **शिवा**=कल्याणकारिणी तू **नः**=हमारे लिए **शन्तमा भव**=अतिशयेन रोगों को दूर करनेवाली व शान्ति प्राप्त करानेवाली हो। **सुमृडीका**=अतिशयेन सुख देनेवाली हो। २. हे सरस्वति! हम **ते संदृशः**=तेरे समीचीन दर्शन से—यथार्थ-स्वरूप ज्ञान से **मा युयोम**=पृथक् न हों। ज्ञान से पृथक् होना ही अपवित्रता व अशान्ति का कारण बनता है।

भावार्थ—हम सदा सरस्वती का आराधन करते हुए शिव, शान्त व शर्म-(सुख)-वाले हों।

६९. [एकोनसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**सुखम्** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

'वायु, सूर्य, दिन-रात व उषा' सब 'शम्' हों

शं नो वातो वातु शं नस्तपतु सूर्यः। अहानि शं भवन्तु
नः शं रात्री प्रति धीयतां शमुषा नो व्यु ͡च्छतु॥ १॥

१. **वातः**=यह बहनेवाला वायु **नः शम्**=हमारे लिए शान्तिकर होकर, **वातु**=प्रवाहित हो **सूर्यः**=सबको कर्मों में प्रेरित करनेवाला सूर्य **नः शं तपतु**=हमारे लिए शान्तिकर दीप्तिवाला हो। **अहानि**=दिन **नः शं भवन्तु**=हमारे लिए शान्तिकर हों। **रात्री**=रात **शं प्रतिधीयताम्**=सुख को हमारे साथ संहित करे (संदधातु) अथवा सुखकर होकर धारण की जाए। **उ**=और **उषाः**=उषा **शं**=शान्तिकर होती हुई **नः**=हमारे लिए **व्युच्छतु**=(विवासित) प्रकाशित हो।

भावार्थ—सरस्वती के आराधन के परिणामस्वरूप हमारे लिए 'वायु, सूर्य, दिन व रात तथा उषाकाल' सब शान्ति देनेवाले हों।

सरस्वती-आराधक यह शान्त व स्थिरवृत्ति का व्यक्ति 'अथर्वा' बनता है। अगले चार सूक्तों का यही ऋषि है—

७०. [सप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**श्येनादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

हिंस्रः स्वपापेन विहिंसितः खलु

यत्किं चासौ मनसा यच्च वाचा यज्ञैर्जुहोति हविषा यजुषा।
तन्मृत्युना निर्ऋतिः संविदाना पुरा सत्यादाहुतिं हन्त्वस्य॥ १॥

१. **असौ**=वह दूरस्थ शत्रु **यत् किम्**=जो कुछ कर्म—शत्रुहननरूप कर्म करने के लिए **मनसा**=मन के द्वारा ध्यान करता है, **यत् च**=और जो कर्म **वाचा**=वाणी से 'करता हूँ' इसप्रकार कहता है तथा **यज्ञैः**=अभिचार कर्मों से, **हविषा**=उस कर्म के लिए उचित द्रव्यों से, **यजुषा**=मन्त्रों से **जुहोति**=होम करता है, **अस्य**=अपने प्रतिपक्ष के विनाश के लिए 'मन, वाणी व शरीर' से उपाय करते हुए शत्रु के **तत्**=उस मन से, ध्यान व वाणी से उक्त कर्म को तथा **आहुतिम्**=क्रिया से निष्पाद्यमान होमकर्म को **सत्यात् पुरा**=सत्यभूत कर्मफल से पहले ही, कर्म के सफल होने से पूर्व ही **निर्ऋतिः**=पाप देवता **मृत्युना संविदाना**=मृत्यु के साथ संज्ञान-(ऐकमत्य)-वाली हुई-हुई **हन्तु**=नष्ट कर डाले।

भावार्थ—शत्रु द्वारा 'मन, वाणी व कर्म' से हमारे विषय में क्रियमाण अभिचार कर्म के फलप्रद होने से पूर्व ही मृत्युसहित पापदेवता उस शत्रु को नष्ट कर डाले। पापकर्म करनेवाला उस कर्म से स्वयं ही विनष्ट हो जाए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**श्येनादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अतिजगतीगर्भाजगती** ॥

यातुधानाः निर्ऋतिः

यातुधाना निर्ऋतिरादु रक्षस्ते अस्य घ्नन्त्वनृतेन सत्यम्।
इन्द्रेषिता देवा आज्यमस्य मथ्नन्तु मा तत् सं पादि यदसौ जुहोति॥ २॥

१. **यातुधानाः**=पीड़ा का आधान करनेवाली व्यक्तियाँ, **निर्ऋतिः**=निकृष्टगमनवृत्ति, दुराचरण, **आत् उ**=और निश्चय से **रक्षः**=राक्षसीभाव **ते**=वे सब-के-सब **अस्य सत्यम्**=इसके सत्य को

भी **अनृतेन घ्नन्तु**=अनृत से नष्ट कर डालें। ये ऐसा करें कि शत्रु से हमारे विषय में क्रियमाण कर्म उसे अभीष्ट फलप्रद न हो, अपितु विपरीत फल देनेवाला हो। २. **इन्द्रेषिताः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु से प्रेरित **देवाः**=सूर्य, विद्युत्, अग्नि आदि देव **अस्य आज्यम्**=इस शत्रु की दीप्ति को (अंज्=to shine, to be beautiful) **मथ्नन्तु**=नष्ट कर डालें। **असौ**=वह शत्रु **यत् जुहोति**=हमारी बाधा के लिए जो कर्म करता है **तत् मा संपादि**=वह कर्म सम्पन्न न हो, फलप्रद न हो, अंगविकल होकर उसी का विनाश करनेवाला हो।

भावार्थ—पर-पीड़ाकारी प्रवृत्तियाँ, दुराचरण व राक्षसीभाव इस विरोधी के कर्म को असफल करें। प्रभु की शक्तियाँ इस सामजविद्वेषी की दीप्ति को विनष्ट करें और इसका अभिचारकर्म असफल ही हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**श्येनादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पुरःककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

अजिर+अधिराज

अजिराधिराजौ श्येनौ संपातिनाविव।
आज्यं पृतन्यतो हतां यो नः कश्चाभ्यघायति॥ ३॥

१. **अजिर-अधिराजौ**=(अज गतिक्षेपणयोः, राजृ दीप्तौ) गतिशील व इन्द्रियों का शासक—ये दोनों व्यक्ति **संपातिनौ श्येनौ इव**=आकाशमार्ग से द्वेष्य पक्षी पर निष्पतनशील बाज़ों के समान हैं। जैसे बाज़ शत्रुभूत पक्षी का विनाश करता है, इसी प्रकार ये अजिर और अधिराज **पृतन्यतः आज्यं हताम्**=सेना द्वारा संग्रामेच्छु पुरुष की दीप्ति को नष्ट करते हैं **यः च कश्चन**=और जो कोई शत्रु **नः**=हमपर **अभ्यघायति**=हिंसारूप पापकर्म करना चाहता है, उसकी दीप्ति को नष्ट करते हैं।

भावार्थ—हम गतिशील (अजिर) व इन्द्रियों के शासक (अधिराज) बनकर शत्रुओं को नष्ट करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**श्येनादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शत्रुबन्धन

अपाञ्चौ त उभौ बाहू अपि नह्याम्यास्य१म्।
अग्नेर्देवस्य मन्युना तेन तेऽवधिषं हविः॥ ४॥

१. **ते**=शत्रुभूत तेरी **उभौ बाहू**=दोनों भुजाओं को **अपाञ्चौ**=पृष्ठभाग से सम्बद्ध करके **अपि-नह्यामि**=बाँध देता हूँ, जिससे तेरी भुजाएँ अभिचार कर्म को कर ही न पाएँ। **आस्यम्**=तेरे मन्त्रो-च्चारणसमर्थ मुख को भी बाँध देता हूँ, जिससे तू होमसाधनभूत मन्त्रों का उच्चारण ही न कर सके। २. उस **देवस्य**=शत्रुओं की विजिगीषावाले **अग्नेः**=अग्निवत् भस्म कर डालनेवाले प्रभु के **तेन मन्युना**=उस तेज से (क्रोध से) **ते हविः**=तेरे होतव्य द्रव्य को ही **अवधिषम्**=नष्ट कर देता हूँ।

भावार्थ—शत्रु को इसप्रकार बद्ध कर दिया जाए कि वह अभिचार कर्म कर ही न सके। प्रभु की विनाशक शक्तियों से उसका हविर्द्रव्य ही विनष्ट हो जाए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**श्येनादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

घोर अग्नि के मन्यु से

अपि नह्यामि ते बाहू अपि नह्याम्यास्य१म्।
अग्नेर्घोरस्य मन्युना तेन तेऽवधिषं हविः॥ ५॥

१. **ते बाहू अपि नह्यामि**=हे शत्रो! तेरी भुजाओं को बाँध देता हूँ। **आस्यम् अपिनह्यामि**=मुख

को भी बाँध देता हूँ। **घोरस्य अग्नेः तेन मन्युना**=शत्रु-भयंकर, अग्निवत् भस्मकारी प्रभु के उस तेज से (क्रोध से) **ते हविः अवधिषम्**=तेरे होतव्यद्रव्यों को ही मैं नष्ट किये देता हूँ।

भावार्थ—औरों के विनाश के लिए यत्नशील पुरुष प्रभु की व्यवस्था से स्वयं ही नष्ट हो जाता है।

७१. [एकसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'पुर, विप्र, धृषद्वर्ण, शत्रुहन्ता' प्रभु

परि त्वाग्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि। धृषद्वर्णं दिवेदिवे हन्तारं भङ्गुरावतः॥ १॥

१. हे **सहस्य**=शत्रुमर्षकबल से सम्पन्न **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **वयम्**=हम **त्वा**=आपको **परिधीमहि**=अपने चारों ओर धारण करते हैं। आपसे सुरक्षित हुए-हुए हम शत्रुओं से आक्रान्त नहीं होते। २. हम उन आपको धारण करते हैं, जो आप **पुरम्**=पालन व पूरण करनेवाले हो, **विप्रम्**=ज्ञानी हो, **धृषद्वर्णम्**=धर्षकरूप हो, शत्रुओं का धर्षण करनेवाले और **दिवेदिवे**=प्रतिदिन **भंगुरावतः**=भग्नशील कर्मवाले राक्षसों के **हन्तारम्**=विनष्ट करनेवाले हो।

भावार्थ—प्रभु 'पुर, विप्र, धृषद्वर्ण व शत्रुहन्ता' हैं। प्रभु को अपने चारों ओर धारण करते हुए हम शत्रुओं से आक्रान्त नहीं होते।

७२. [द्विसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'श्रातं जुहोतन' ब्रह्मचर्य से गृहस्थ में

उत्तिष्ठताव पश्यतेन्द्रस्य भागमृत्वियम्।
यदि श्रातं जुहोतन यद्यश्रातं ममत्तन॥ १॥

१. प्रभु कहते हैं कि **उत्तिष्ठत**=उठो, आलस्य को छोड़ो, लेटे ही न रहो। **अवपश्यत**=अपने अन्दर देखनेवाले बनो। अपनी कमियों को देखकर उन्हें दूर करनेवाले बनो। **इन्द्रस्य**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव के **ऋत्वियम्**=समय पर प्राप्त **भागम्**=कर्त्तव्यभाग को देखनेवाले बनो। जो तुम्हारा प्रस्तुत कर्त्तव्य है, उसे देखकर उसके पालन में तत्पर होवो। जीवन के प्रथमाश्रम में 'ज्ञान-प्राप्ति' ही मुख्य कर्त्तव्य है। उस ज्ञान-प्राप्तिरूप कर्त्तव्य को देखकर उस ज्ञान-प्राप्ति में लगे रहना ही ब्रह्मचारी के लिए शोभा देता है। २. आचार्य का कर्त्तव्य है कि यदि वह **श्रातम्**=यह अनुभव करे कि उसका विद्यार्थी ज्ञानपरिपक्व हो गया है, तो उस ज्ञानपरिपक्व विद्यार्थी को **जुहोतन**=आहुत कर दे, उसकी गृहस्थयज्ञ में आहुति दे दे, उसे गृहस्थ में प्रवेश की स्वीकृति दे दे, परन्तु यदि **अश्रातम्**=वह अभी ज्ञानपरिपक्व नहीं हुआ तो **ममत्तन**=उसे (पचत—सा०) अभी और पक्व करने का यत्न करे अथवा उसे अभी ज्ञान-प्राप्ति में ही आनन्द लेने के लिए प्रेरित करे।

भावार्थ—उठो, अपनी कमियों को दूर करो। ब्रह्मचर्याश्रम में अपने को ज्ञानपरिपक्व करके गृहस्थ में जाने के लिए तैयारी करो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

गृहस्थ से वानप्रस्थ में

श्रातं हविरो ष्विन्द्र प्र याहि जगाम सूरो अध्वनो वि मध्यम्।
परि त्वासते निधिभिः सखायः कुलपा न व्राजपतिं चरन्तम्॥ २॥

१. एक गृहस्थ संयम-जन्यशक्ति व ज्ञान के परिपाक से अपने आश्रम को बड़ी सुन्दरता से पूर्ण करता है। इसके द्वारा गृहस्थ में **हविः श्रातम्**=हवि का ठीक परिपाक किया गया है (हु दानादनयो:) यह सदा देकर बचे हुए को खानेवाला बना है। अब गृहस्थ की समाप्ति पर हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष **उ**=निश्चय से **सु आप्रयाहि**=अच्छी प्रकार घर से जानेवाला बन, अर्थात् तू अब वनस्थ होने की तैयारी कर। **सूरः**=तेरा जीवन-सूर्य **अध्वनः मध्यम्**=मार्ग को **विजगाम**=विशेषरूप से प्राप्त हो गया है, अर्थात् आयुष्य के प्रथम ५० वर्ष बीत गये हैं, अतः अब तेरे वनस्थ होने का समय आ गया है। २. **त्वा परि**=तेरे चारों ओर **निधिभिः**=ज्ञान-निधियों की प्राप्ति हेतु से **सखायः आसते**=समानरूप से ज्ञान-प्राप्त करनेवाले ये विद्यार्थी आसीन होते हैं। ये विद्यार्थी **चरन्तम्**=गतिशील **व्राजपतिम्**=विद्यार्थिसमूह के रक्षक तेरे चारों ओर **कुलपाः न**=कुल के रक्षक के समान हैं। इन योग्य विद्यार्थियों से ही तो कुल का पालन होता है।

भावार्थ—गृहस्थ में दानपूर्वक अदन करते हुए हम पचास वर्ष बीत जाने पर वानप्रस्थ बनें। वहाँ हमें ज्ञान-प्राप्ति के हेतु से ब्रह्मचारी प्राप्त हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वानप्रस्थ से संन्यास में

श्रातं मन्य ऊधनि श्रातमग्नौ सुशृतं मन्ये तदृतं नवीयः।
माध्यन्दिनस्य सवनस्य दध्नः पिबेन्द्र वज्रिन्पुरुकृज्जुषाणः॥ ३॥

१. प्रभु इस वनस्थ से कहते है कि अब तुझे **ऊधनि श्रातं मन्ये**=वेदवाणीरूप गौ के ज्ञानदुग्ध के आधार में परिपक्व मानता हूँ। तूने अपने को ज्ञानविदग्ध बना लिया है। **अग्नौ श्रातम्**=तू ज्ञानाग्नि में परिपक्व हुआ है। शक्ति-सम्पन्नता के कारण तुझमें उत्साह (अग्नि) की भी कमी नहीं हैं, अतः मैं तुझे **सुशृतं मन्ये**=ठीक परिपक्व हुआ-हुआ समझता हूँ। अब **तत्**=तेरा यह जीवन **ऋतम्**=ठीक है, नियमित है, सत्य है। यह जीवन **नवीयः**=स्तुत्य व गतिशील है (नु स्तुतौ, नव गतौ)। २. **इन्द्रः**=हे जितेन्द्रिय पुरुष! **वज्रिन्**=क्रियाशीलतारूप वज्र को हाथ में लिये हुए **पुरुकृत्**=खूब ही कर्म करनेवाले! तू **जुषाणः**=प्रीतिपूर्वक प्रभु की उपासना करता हुआ **माध्यन्दिनस्य सवनस्य**=जीवन के माध्यन्दिन सवनरूप इस गृहस्थाश्रम के **दध्नः पिब**=धारणात्मक कर्म को अपने में पीनेवाला, व्याप्त करनेवाला बन। तू अपने ज्ञानोपदेशों से गृहस्थों को धारण करनेवाला बन। संन्यासी का यही तो कर्त्तव्य है कि ज्ञानोपदेश द्वारा गृहस्थों का धारण करे।

भावार्थ—हम ज्ञान व शक्ति में परिपक्व होकर संन्यस्त और ज्ञान-प्रसार द्वारा संसार को धारण करनेवाले बनें।

७३. [त्रिसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**घर्मः, अश्विनौ, प्रत्यृचं मन्त्रोक्ता वा** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

तपनो घर्मः

समिद्धो अग्निर्वृषणा रथी दिवस्तप्तो घर्मो दुह्यते वामिषे मधु।
वयं हि वां पुरुदमासो अश्विना हवामहे सधमादेषु कारवः॥ १॥

१. हे **वृषणा**=शक्ति का सेचन करनेवाले **अश्विना**=प्राणापानो! **दिवः रथी**=ज्ञानप्रकाश का रथी (नेता=प्राप्त करानेवाला) **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **समिद्धः**=हृदयदेश में समिद्ध किया गया है। प्राणसाधना से अन्तःकरण की अशुद्धियों के क्षय होने पर हृदय में प्रभु-दर्शन होता ही है। **घर्मः**=(घर्मः Sunshine) ज्ञान-सूर्य की दीप्ति **तप्तः**=खूब चमकी है (तप दीप्तौ)। **वाम् इषे**=आपकी

(इषे=इषि) प्रेरणा होने पर **मधु दुह्यते**=सारभूत वीर्यरूप मधु का शरीर में प्रपूरण होता है। प्राणसाधना से वीर्य की शरीर में ऊर्ध्वगति होती है और यह वीर्य सारे शरीर में व्याप्त हो जाता है। २. हे प्राणापानो! **पुरुदमासः**=खूब ही इन्द्रियों का दमन करनेवाले होते हुए अथवा शरीररूप गृहों का पालन व पूरण करते हुए (**दम**=गृह, **पुरु**=पालन व पूरण) **कारवः**=प्रभुस्तवन करनेवाले **वयम्**=हम **सधमादेषु**=यज्ञों में (सह माद्यन्ति देवा अत्र) **हि**=निश्चय से **वां हवामहे**=आपको पुकारते हैं। वस्तुतः प्राणसाधना से ही उत्तमवृत्ति होकर यज्ञों की ओर झुकाव होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हृदय में प्रभु का प्रकाश होता है, ज्ञान-सूर्य का उदय होता है, शरीर में वीर्य की ऊर्ध्वगति होती है और शरीररूप गृहों का सुन्दरता से पालन होता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**घर्मः, अश्विनौ, प्रत्यृचं मन्त्रोक्ता वा** ॥ छन्दः—**पथ्याबृहती** ॥

अश्विना, वृषणा, दस्रा

समिद्धो अग्निरश्विना तप्तो वां घर्म आ गतम्।
दुह्यन्ते नूनं वृषणेह धेनवो दस्रा मदन्ति वेधसः ॥ २ ॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **अग्निः समिद्धः**=हृदयदेश में प्रभु दीप्त हुए हैं। **वाम्**=आपकी कृपा से **घर्मः तप्तः**=ज्ञान-सूर्य का दीपन हुआ है। **आगतम्**=आप हमें प्राप्त होवो। हे **वृषणा**=शक्ति का सेचन करनेवाले प्राणापानो! **नूनम्**=निश्चय से **इह**=आपकी साधनावाले इस जीवन में **धेनवः दुह्यन्ते**=वेदवाणीरूप धेनुओं से ज्ञानदुग्ध का दोहन करते हैं। **दस्रा**=हे मलों व दुःखों का उपक्षय करनेवाले प्राणापानो! **वेधसः**=बुद्धिमान् लोग, उस ज्ञानदुग्ध के दोहन से **मदन्ति**=हर्ष का अनुभव करते हैं।

भावार्थ—प्राणापानों की साधना से प्रभु का प्रकाश प्राप्त होता है, ज्ञान-सूर्य का उदय होता है और प्राणसाधक बुद्धिमान् लोग वेदधेनु से ज्ञानदुग्ध का दोहन करते हुए आनन्द का अनुभव करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**घर्मः, अश्विनौ, प्रत्यृचं मन्त्रोक्ता वा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यज्ञ व अमृतत्त्व

स्वाहाकृतः शुचिर्देवेषु यज्ञो यो अश्विनोश्चमसो देवपानः।
तमु विश्वे अमृतासो जुषाणा गन्धर्वस्य प्रत्यास्ना रिहन्ति ॥ ३ ॥

१. **यज्ञः**=यज्ञ **देवेषु**=देववृत्ति के व्यक्तियों में **स्वाहाकृतः**=स्वार्थत्याग के द्वारा सिद्ध हुआ है। देववृत्ति के व्यक्ति निजू जीवन के व्ययों को कम करते हुए यज्ञों को सिद्ध करते हैं। यह यज्ञ **शुचिः**=जीवन को पवित्र बनानेवाला है। यह यज्ञ वह है **यः**=जोकि **अश्विनोः चमसः**=प्राणापान का—सोमपान का पात्र ही है। यज्ञ से जीवन पवित्र बनता है और वासनाओं से अनाक्रान्त होने के कारण शरीर में सोमरक्षण सम्भव होता है। यह यज्ञ **देवपानः**=दिव्य गुणों का रक्षक है। यज्ञ से दिव्यगुणों का वर्धन होता है। २. **तम् उ**=उस यज्ञ को निश्चय से **जुषाणाः**=प्रीतिपूर्वक सेवन करते हुए **विश्वे**=सब लोग **अमृतासः**=नीरोग शरीरवाले होते हैं, अतः देव लोग इस यज्ञ को **गन्धर्वस्य आस्ना**=वेदवाणी के धारक पुरुष के मुख से **प्रतिरिहन्ति**=प्रतिदिन आस्वादित करते हैं, अर्थात् ये देव मन्त्रोच्चारण करते हुए यज्ञ में प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—स्वार्थत्याग होने पर ही यज्ञ सम्भव होता है। यह जीवन को पवित्र बनाता है, तभी सोम का रक्षण सम्भव होता है और दिव्य गुणों का वर्धन होता है। इस यज्ञ को वेदमन्त्रोच्चारणपूर्वक प्रीति से सेवन करते हुए लोग अमृत=नीरोग होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**घर्मः, अश्विनौ, प्रत्यृचं मन्त्रोक्ता वा** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

माध्वी, धर्तारा विदथस्य, सत्पती

यदुस्रियास्वाहुतं घृतं पयोऽयं स वामश्विना भाग आ गतम्।
माध्वी धर्तारा विदथस्य सत्पती तप्तं घर्मं पिबतं रोचने दिवः ॥ ४ ॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **यत्**=जो **उस्रियासु**=गौवों में **घृतम्**=मलों का क्षरण करने तथा दीप्ति देनेवाला **पयः**=दूध **आहुतम्**=प्रभु-द्वारा दिया गया है, स्थापित हुआ है, **अयं सः**=यह **वां भागः**=आपका भजनीय अंश है। **आगतम्**=आप आओ, उस दूध के ग्रहण के लिए प्राप्त होओ। २. हे प्राणापानो! आप **माध्वी**=मधुविद्या के वेदिता हो। प्रत्येक पदार्थ में प्रभु की महिमा को देखना ही मधुविद्या है। प्राणापान की साधना होने पर यह साधक सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखता है। अथवा **माध्वी**=आप जीवन को मधुर बनानेवाले हो। **विदथस्य धर्तारा**=यज्ञों को धारण करनेवाले हो। **सत्पती**=सब सत्कर्मों के रक्षक हो। **दिवः रोचने**=मस्तिष्करूप द्युलोक के दीप्त होने पर **तप्तं घर्मम्**=दीप्त हुए-हुए ज्ञानसूर्य को (Sunshine घर्म) **पिबतम्**=अपने अन्दर ग्रहण करो। प्राणापान का साधक ज्ञान का अपने अन्दर निरन्तर ग्रहण करता है।

भावार्थ—प्राणसाधक को चाहिए कि वह गोदुग्ध का सेवन करे। यह प्राणसाधना उसे मधुर जीवनवाला, यज्ञशील, उत्तम कर्मों का रक्षक व ज्ञानप्रकाश को अपने अन्दर लेनेवाला बनाएगी।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**घर्मः, अश्विनौ, प्रत्यृचं मन्त्रोक्ता वा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अध्वर्युः पयस्वान्

तप्तो वां घर्मो नक्षतु स्वहोता प्र वामध्वर्युश्चरतु पयस्वान्।
मधोर्दुग्धस्याश्विना तनाया वीतं पातं पयस उस्रियायाः ॥ ५ ॥

१. **वाम्**=हे अश्विनौ! आपका **तप्तः घर्मः**=दीप्त ज्ञानप्रकाश (सूर्यसम दीप्त ज्ञान) **नक्षतु**=हमें प्राप्त हो। प्राणसाधना के द्वारा हमें ज्ञानदीप्ति प्राप्त हो। यह **वाम्**=आपका **स्वहोता**=आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाला व्यक्ति **अध्वर्युः**=यज्ञशील हो तथा **पयस्वान्**=शक्तियों के आप्यायनवाला होता हुआ **प्रचरतु**=प्रकृष्ट गतिवाला हो। प्राणसाधना से मनुष्य 'यज्ञशील, आप्यायित शक्तिवाला तथा प्रकृष्ट गतिवाला' होता है। २. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **तनायाः**='पयस्, दधि, आज्य'-रूप हवियों के देने के द्वारा यज्ञों का विस्तार करती हुई **उस्रियायाः**=इस गौ के **दुग्धस्य**=दोहे गये **मधोः**=मधुर रसोपेत, मधुवत् प्रीणनकारी **पयसः**=दूध का **वीतम्**=भक्षण करो, **पातम्**=पान करो। यह गोदुग्ध ही तुम्हारा खान-पान हो।

भावार्थ—प्राणसाधक 'दीप्त ज्ञानवाला, यज्ञशील, आप्यायित शक्तिवाला व प्रकृष्ट गतिवाला' होता है। प्राणसाधक को चाहिए कि ताज़े गोदुग्ध को ही अपना खान-पान बनाये।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**घर्मः, अश्विनौ, प्रत्यृचं मन्त्रोक्ता वा** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

गोधुक्

उप द्रव पयसा गोधुगोषमा घर्मे सिञ्च पय उस्रियायाः।
वि नाकमख्यत्सविता वरेण्योऽनु प्रयाणमुषसो वि राजति ॥ ६ ॥

१. हे **गोधुक्**=इस वेदधेनु का दोहन करनेवाले साधक! तू **पयसा**=शक्तियों के आप्यायन के हेतु से **उपद्रव**=उस प्रभु के समीप प्राप्त हो। इसी दृष्टि से तू **घर्मे**=ज्ञानदीप्ति के निमित्त **उस्रियायाः**=गौ के **ओषम्**=ताज़ा [illegible] **पयः आसिञ्च**=दूध को अपने में सिक्त कर। गौ का ताज़ा दूध ही अमृत है—'**पीयूषोऽभिनवं पयः**'। इस अमृत के पान से शक्ति

का वर्धन होता है, और बुद्धि-वृद्धि के द्वारा ज्ञानदीप्ति प्राप्त होती है। २. ऐसा करने पर **वरेण्यः सविता**=वह वरणीय, प्रेरक प्रभु तेरे लिए **नाकं वि अख्यत्**=दुःख से असंभिन्न (न अकं) स्वर्ग को प्रकाशित करते हैं। यह साधक **उषसः**=दोषों को दग्ध कर देनेवाली 'विशोका ज्योतिष्मती ऋतम्भरा प्रज्ञा' के **प्रयाणम् अनु**=प्रकर्षेण प्राप्त होने के अनुपात में (या प्रापणे) **विराजति**=दीप्त जीवनवाला होता है।

भावार्थ—हम वेदवाणी का दोहन करनेवाले बनकर शक्तियों का आप्यायन करते हुए प्रभु को प्राप्त हों। ज्ञानदीप्ति के निमित्त ताज़े गोदुग्ध का ही सेवन करें। प्रभु हमारे लिए मोक्ष को प्राप्त कराएँगे। प्राणसाधना द्वारा ऋतम्भरा प्रज्ञा को प्राप्त होकर हम दीप्तजीवनवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**घर्मः, अश्विनौ, प्रत्यृचं मन्त्रोक्ता वा** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

श्रेष्ठ सव

उप॑ ह्वये सु॒दुघां॑ धे॒नुमे॒तां सु॒हस्तो॑ गो॒धुगु॒त दो॑हदेनाम्।
श्रेष्ठं॑ स॒वं स॑वि॒ता सा॑विषन्नो॒ऽभी᳚द्धो घ॒र्मस्तदु॒ षु प्र वो॑चत्॥ ७॥

१. मैं **एताम्**=इस **सुदुघाम्**=सुखसन्दोह्य **धेनुम्**=गौ को **उपह्वये**=पुकारता हूँ। प्रभु हमें सुदुघा धेनु प्राप्त कराएँ। **उत**=और **सुहस्तः गोधुक्**=सधे हुए हाथवाला, दोहन में निपुण ग्वाला **एनां दोहत्**=इसका दोहन करे। दोहन करता हुआ वह गोधुक् इसे पीड़ित न करे। २. इसप्रकार वह **सविता**=प्रेरक प्रभु **नः**=हमारे लिए **श्रेष्ठं सवम्**=(एष हि श्रेष्ठः सर्वेषां सवानां यदुदकं यद्वा पयः—नि० ११।४३) इस श्रेष्ठ दुग्ध को **साविषत्**=प्रेरित करे। इसके सेवन से **घर्मः**=(Sunshine) ज्ञानसूर्य की दीप्ति **अभीद्धः**=हममें दीप्त हुई है। वस्तुतः प्रभु ही **उ**=निश्चय से **तत्**=उस ज्ञान को **सु प्रवोचत्**=सुष्ठु उपदिष्ट करते हैं।

भावार्थ—हमें सुखसन्दोह्य गौ प्राप्त हो। सुहस्त गोधुक् उसका दोहन करे। इस गोदुग्ध के सेवन से हमें उत्तम ज्ञानदीप्ति प्राप्त हो। वस्तुतः इस ज्ञान का हृदयस्थ प्रभु ही तो हमारे लिए प्रवचन करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**घर्मः, अश्विनौ, प्रत्यृचं मन्त्रोक्ता वा** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

गौ का गोचर स्थान से प्रत्यावर्तन

हि॒ङ्कृ॒ण्व॒ती व॑सु॒पत्नी॒ वसू॑नां व॒त्समि॒च्छन्ती॒ मन॑सा न्याग॑न्।
दु॒हाम॒श्विभ्यां॒ पयो॑ अ॒घ्न्येयं सा व॑र्धतां मह॒ते सौभ॑गाय॥ ८॥

१. **हिंकृण्वती**=अपने वत्स के प्रति 'हिं' शब्द करती हुई, **वसूनां वसुपत्नी**=उत्कृष्ट धनों का पालन करनेवाली (गोपालन ऐश्वर्यवृद्धि का कारण बनता है) **मनसा वत्सं इच्छन्ती**=मन में वत्स को चाहती हुई यह **अघ्न्या**=अहन्तव्या गौ **नि आगन्**=निश्चय से आये—प्राप्त हो। सायंकाल चरागाहों में चरने के बाद यह गौ घर में वापस आये। २. **इयम्** (अघ्न्या)=यह गौ **अश्विभ्याम्**=कर्मों में व्याप्त होनेवाले पति-पत्नी के लिए (अश् व्याप्तौ) **पयः दुहाम्**=दूध का दोहन करे। **सा**=वह गौ **महते सौभगाय**=हमारे महान् सौभाग्य के लिए **वर्धताम्**=बढ़े, समृद्ध हो, खूब दूध आदि वस्तुओं को प्राप्त करानेवाली हो।

भावार्थ—सायं गौ अपने बछड़े का स्मरण करती हुई घर वापस आये। यह हमारे लिए दूध प्राप्त कराती हुई सौभाग्य का कारण बनती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**घर्मः, अश्विनौ, प्रत्यृचं मन्त्रोक्ता वा** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

प्रभु-उपासन व शत्रु-विनाश

जुष्टो दमूना अतिथिर्दुरोण इमं नो यज्ञमुप याहि विद्वान्।
विश्वा अग्ने अभियुजो विहत्य शत्रूयतामा भरा भोजनानि॥ ९॥

१. हे प्रभो! आप **जुष्टः**=प्रीतिपूर्वक सेवित हुए-हुए **दमूनाः**=(दानमनाः—नि० ४।४) सब-कुछ देने के मनवाले **अतिथिः**=निरन्तर गतिशील **विद्वान्**=ज्ञानी हैं। वे प्रभु **नः दुरोणे**=इस हमारे घर में **इमं यज्ञं उपयाहि**=इस यज्ञ को प्राप्त हों। हम सब घरों में यज्ञशील बनें। यज्ञों द्वारा प्रभु की उपासना करते हुए प्रभु को प्राप्त करें। २. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **विश्वाः**=सब **शत्रूयताम्**=शत्रु की भाँति आचरण करते हुए लोगों की **अभियुजः**=आक्रमणकारिणी पर-सेनाओं को **विहत्य**=नष्ट करके **भोजनानि आभर**=हमारे लिए पालन-साधनों को प्राप्त कराइए। इसप्रकार व्यवस्था कीजिए कि हम शत्रुओं को पराजित करके ठीक प्रकार अपना पालन कर सकें।

भावार्थ—हम यज्ञों द्वारा प्रीतिपूर्वक प्रभु का उपासन करें। प्रभु हमारे शत्रुओं का विनाश करें। प्रभु हमें पालन-साधनों को प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**घर्मः, अश्विनौ, प्रत्यृचं मन्त्रोक्ता वा** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

महते सौभगाय

अग्ने शर्ध महते सौभगाय तव द्युम्नान्युत्तमानि सन्तु।
सं जास्पत्यं सुयममा कृणुष्व शत्रूयतामभि तिष्ठा महांसि॥ १०॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप हमारे **महते सौभगाय**=महान् सौभाग्य के लिए **शर्ध**=आर्द्रहृदय होओ। (शृधु उन्दने) हमें धन देने के लिए उत्तम मनवाले होओ। **तव**=आपके, आपसे दिये गये **द्युम्नानि**=(Wealth) ऐश्वर्य **उत्तमानि सन्तु**=उत्कृष्ट हों। २. **जास्पत्यम्**=हमारे पति-पत्नी के कर्म को **सुयमम्**=उत्तम संयमवाला **सम् आकृणुष्व**=सम्यक् कीजिए। **शत्रूयताम्**=हमारे प्रति शत्रु की तरह आचरण करते हुए इन शत्रुओं के **महांसि**=तेजों को **अभितिष्ठ**=अभिभूत कीजिए। ये शत्रु हमें पराजित न कर सकें।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम सौभाग्यवाले बनें। प्रभु-प्रदत्त ये धन उत्तम हों। हमारा गृहस्थकर्म बड़ा संयमवाला हो। शत्रुओं के तेज को हम प्रभुकृपा से अभिभूत कर पाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**घर्मः, अश्विनौ, प्रत्यृचं मन्त्रोक्ता वा** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

भगवती (गौ)

सूयवसाद्भगवती हि भूया अधा वयं भगवन्तः स्याम।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती॥ ११॥

१. हे **अघ्न्ये**=अहन्तव्ये गौ! तू **सूयवसात्**=उत्तम चरी को खाती हुई **हि**=निश्चय से **भगवती भूयाः**=उत्तम धनवाली व सौभाग्य को प्राप्त करानेवाली हो। **अध**=अब **वयम्**=हम **भगवन्तः स्याम**=उत्तम ऐश्वर्यवाले हों। इस गौ की कृपा से हम वसुमान् बनें, यह गौ 'वसूनां वसुपत्नी' ही तो है। २. हे अघ्न्ये! तू **विश्वदानीम्**=सदा **तृणं अद्धि**=घास खानेवाली हो, जिससे तेरे शरीर में कभी कोई विकार न आये। तू गोचर में **आचरन्ती**=चारों ओर विचरण करती हुई **शुद्धं उदकं पिब**=शुद्ध जल पी।

भावार्थ—उत्तम यवस (चरी) को खाती हुई, गोचर प्रदेशों में घास चरती हुई, विशुद्ध जल पीती हुई यह गौ हमारे लिए उत्तम दूध दे। यह हमें सौभाग्य-सम्पन्न करे।

७४. [चतुःसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

गण्डमाला की चिकित्सा

अपचितां लोहिनीनां कृष्णा मातेति शुश्रुम।
मुनेर्देवस्य मूलेन सर्वा विध्यामि ता अहम्॥ १॥

१. दोषवश (अपाक् चीयमाना) गले से लेकर नीचे कक्षादि सन्धि-स्थानों में फैलनेवाली गण्डमाला 'अपचित्' है। **लोहिनीनाम्**=इन लाल वर्ण की **अपचिताम्**=गण्डमाला की ग्रन्थियों की **माता**=जननी **कृष्णा इति शुश्रुम**=काले वर्ण की नाड़ियाँ हैं, ऐसा सुना जाता है। जिन नाड़ियों में शुद्ध लाल वर्ण का रक्त बहता है, उनसे भिन्न अशुद्ध नील वर्ण के रक्त की नाडियाँ 'कृष्णा' हैं। इनके कारण ही गण्डमाला की ग्रन्थियों को जन्म मिलता है, अर्थात् अशुद्धरक्त के कारण ये ग्रन्थियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। २. **ताः सर्वाः**=उन सब गण्डमाला की ग्रन्थियों को **अहम्**=मैं **देवस्य**=रोग को जीतने की कामनावाले **मुनेः**='वंगसेन' तरु के **मूलेन**=मूल से **विध्यामि**=विद्ध करता हूँ।

भावार्थ—वंगसेन (अथवा प्रियाल, अगस्ति व पलाश) वृक्ष के मूल से गण्डमाला की ग्रन्थियों का वेधन किया जा सकता है। ये ग्रन्थियाँ अशुद्ध रक्त के कारण उद्भूत हो जाती हैं। 'मुनिः पुंसी वसिष्ठादौ वंगसेनतरौजिने' मेदिनी, (मुनिकेऽचन्मतेऽर्हति प्रियालागस्तिपालाशे)।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'तीव्र, मध्यम व अल्प' स्थिति में गण्डमाला

विध्याम्यासां प्रथमां विध्याम्युत मध्यमाम्।
इदं जघन्या मासामा च्छिनद्मि स्तुकामिव॥ २॥

१. दोष के प्रकर्ष, साम्य (मध्यमस्थिति) व अल्पत्व के भेद से गण्डमाला भी तीन भागों में बँट जाती है। **आसाम्**=इन गण्डमालाओं में **प्रथमाम्**=दोषप्रकर्षेण उद्भूत दुश्चिकित्स्य गण्डमाला को **विध्यामि**=वंगसेन तरु के मूल से बींधता हूँ **उत**=और **मध्यमाम्**=दोष साम्य (मध्यम स्थितिवाले दोष) से उद्भूत न अधिक दुःसाध्य गण्डमाला को भी बींधता हूँ। २. **इदम्**=(इदानीं) अब **आसाम्**=इन गण्डमालाओं में **जघन्याम्**=अल्पदोष समुद्भूता अतएव थोड़े से प्रयत्न से चिकित्सनीया गण्डमाला को भी **स्तुकाम् इव**=ऊन के बाल की भाँति **आच्छिनद्मि**=सर्वतः छिन्न कर देता हूँ।

भावार्थ—'तीव्र, मध्यम व अल्प' जिस भी स्थिति में गण्डमाला हो, उसे एकदम दूर करना ही अभीष्ट है और यह वंगसेन तरु के मूल से हो सकता है।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ईर्ष्या व क्रोध को दूर करना

त्वाष्ट्रेणाहं वचसा वि त ईर्ष्याममीमदम्।
अथो यो मन्युष्टे पते तमु ते शमयामसि॥ ३॥

१. हे ईर्ष्योपेत पुरुष! **ते**=तेरी **ईर्ष्याम्**=ईर्ष्या को **त्वाष्ट्रेण वचसा**=संसार के निर्माता प्रभु की वाणी से (यथा **भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तरा। यथोत मम्रुषो मन एवेर्ष्योर्मृतं मनः** '६।१८।२') **अहम्**=मैं **वि अमीमदम्**=मद-रहित करता हूँ, अर्थात् दूर करता हूँ—ईर्ष्या को उद्रेक-(प्रबलता)-रहित करता हूँ। २. **अथो**=और **हे पते**=स्वामिन्! **यः ते मन्युः**=जो तेरा मेरे

विषय में क्रोध है, **उ**=निश्चय से तेरे **तम्**=उस क्रोध को **शमयामसि**=हम शान्त करते हैं।
वेदवचनों के द्वारा प्रेरित करके तथा अपने मधुर व्यवहार से पत्नी पति की ईर्ष्या व क्रोध को दूर करने का यत्न करे।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**जातवेदाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

व्रतपति प्रभु का मिलकर उपासन

व्रतेन त्वं व्रतपते समक्तो विश्वाहा सुमना दीदिहीह।
तं त्वा वयं जातवेदः समिद्धं प्रजावन्त उप सदेम सर्वे॥ ४॥

१. हे **व्रतपते**=व्रतों के रक्षक प्रभो! **त्वम्**=आप **व्रतेन समक्तः**=व्रत के द्वारा, पुण्य कर्मों के द्वारा संस्कृत-सम्भावित-सम्यक् इष्ट (पूजित) होते हो। व्रतों द्वारा समक्त हुए-हुए आप **विश्वाहा**=सदा **सुमनाः**=शोभन मनवाले—हमारे विषय में अनुग्रहबुद्धियुक्त होते हुए **इह**=यहाँ हमारे घर में **दीदिहि**=दीप्त होओ। २. हे **जादवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **समिद्धम्**=सम्यक् दीप्त **तं त्वा**=उन आपको **प्रजावन्तः**=पुत्रों के समेत **सर्वे वयम्**=हम सब **उपसदेम**=उपासित करें। हम सब मिलकर आपकी उपासना करनेवाले बनें। यह उपासना ही हमें व्रतमय जीवनवाला बनाकर ईर्ष्या, क्रोध आदि से बचाएगी।

भावार्थ—पुण्यकर्मों द्वारा हम व्रतपति प्रभु को अपने जीवन में सम्भावित करें। हम मिलकर प्रातः-सायं घर में प्रभु का उपासन करें। यह उपासन हमें ईर्ष्या व क्रोध से दूर रक्खेगा।

ये उपासक अपने को ईर्ष्या, क्रोध आदि से ऊपर उठाते हैं, अतः 'उपरिबभ्रव' कहलाते हैं। गोदुग्ध का सेवन इन्हें ऊपर उठने में सहायक होता है। ये 'उपरिबभ्रवः' ही अगले सूक्त का ऋषि है—

७५. [पञ्चसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः** ॥ देवता—**अघ्न्याः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सूयवस+शुद्ध जल

प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः।
मा व स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु॥ १॥

इस मन्त्र की व्याख्या अथर्व० ४।२१।७ पर द्रष्टव्य है।

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः** ॥ देवता—**अघ्न्याः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाभुरिक्पथ्यापङ्क्तिः** ॥

रमतयः विश्वनाम्नीः

पदज्ञा स्थ रमतयः संहिता विश्वनाम्नीः। उप मा देवीर्देवेभिरेत।
इमं गोष्ठमिदं सदो घृतेनास्मान्त्समुक्षत॥ २॥

१. हे **रमतयः**=पयःप्रदान आदि से रमयित्री गौवो! तुम **पदज्ञाः स्थ**=(पद्यते गम्यते इति पदं गृहम्) अपने-अपने घर को जाननेवाली हो। गोसंचर स्थान में चरकर फिर अपने घर में ही आनेवाली हो। तुम **संहिताः**=बछड़ों से युक्त हो, **विश्वनाम्नीः**=बहुविध नामोंवाली हो (इडे रन्तेऽदिते सरस्वति प्रिये प्रेयसि महि विश्रुत्येतानि ते अघ्न्ये नामानि—तै० ७।१।६।८) अथवा आप विश्व को अपनी ओर झुकानेवाली हो, क्षीरादि के लाभ के लिए सब गौवों को चाहते ही हैं। २. इसलिए हे **देवीः**=रोगों को पराजित करने की कामनावाली तुम **देवेभिः**=क्रीड़ा करते हुए अपने बछड़ों के साथ **मा उप एत**=मुझे समीपता से प्राप्त होओ और आकर **इमं गोष्ठम्**=इस गो-निवासस्थान को, **इदं सदः**=इस हमारे घर को और **अस्मान्**=हम गृहस्वामियों को **घृतेन**

समुक्षत=घृतोत्पादक दूध से सिक्त कर दो। आपके कारण हमारे घरों में घी–दूध की कमी न रहे।

भावार्थ—गौवें हमारे जीवन को आनन्दयुक्त करनेवाली हैं। दूध आदि की प्राप्ति के लिए सब कोई इनकी प्रार्थना करता हैं। ये हमारे रोगों को पराजित करती हैं, अतः हमारे घरों में इनके द्वारा दूध की कमी न रहे।

अगले सूक्त का ऋषि 'अथर्वा' है। वह स्थिरवृत्ति का होता हुआ 'गण्डमाला' आदि रोगों का विनाश करता है—

७६. [षट्सप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अपचिद् भैषज्यम्** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥

गण्डमाला में लवण का प्रयोग

आ सुस्रसः सुस्रसो असतीभ्यो असत्तराः।
सेहोररसतरा लवणाद्विक्लेदीयसीः॥ १॥

१. **सुस्रसः**=अतिशयेन स्रवणशील—सर्वदा पूय (पस) आदि के रूप में स्रवणशील, अतएव **असतीभ्यः**=पीड़ित करनेवाले रोगी व्यक्तियों से भी **असत्तराः**=अतिशयेन बाधिका ये गण्डमालाएँ **आसुस्रसः**=समन्तात् निरवशेषेण स्रवणशील हों, निःशेष स्रवण से ये नष्ट हो जाएँ। २. **सेहोः**=(सेहुर्नाम विप्रकीर्णावयवः अत्यन्तं निःसारस्तूलादिरूपः पदार्थः) अत्यन्त नीरस तूल आदि रूप पदार्थ से भी **असत्तराः**=ये गण्डमालाएँ निःसारतर हैं, पाकावस्था से पूर्व ये बाधिका हैं ही नहीं। अब ये कक्षादिसन्धि–प्रदेशों में व्याप्त हुई–हुई व्रणरूपेण बाधित करने लगती हैं। सब अवयवों में व्याप्त हो जाने के बाद **लवणात्**=लवण से **विक्लेदीयसीः**=अतिशयेन विविध क्लेदनवाली होती हैं। लवण के प्रयोग से ये गण्डमालाएँ पूय आदि के रूप में स्रवणशील हो जाती हैं और इसप्रकार स्रवणवाली होकर ये नष्ट हो जाती हैं।

भावार्थ—पूय आदि के स्रवणवाली व सेहु के समान शुष्क गण्डमालाएँ भी लवण के प्रयोग से क्लिन्न होकर खूब स्रवणशील हो जाती हैं। स्रवणशील होकर ही ये नष्ट होती हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अपचिद् भैषज्यम्** ॥ छन्दः—**परोष्णिक्** ॥

'ग्रैव्य व उपपक्ष्य' गण्डमाला

या ग्रैव्या अपचितोऽथो या उपपक्ष्याः। विजाम्नि या अपचितः स्वयंस्रसः॥ २॥

१. **याः ग्रैव्याः**=जो गल–प्रदेश में उत्पन्न (ग्रीवाभव) **अपचितः**=गण्डमालाएँ हैं, **अथो**=और **यः उपपक्ष्याः**=पक्ष के समीप—कक्षप्रदेश में होनेवाली गण्डमालाएँ है और **याः अपचितः**=जो गण्डमालाएँ **विजाम्नि**=(विशेषेण जायते अपत्यम् अत्र) गुह्य प्रदेश में हैं, अथवा उरु–सन्धि में हैं, वे सब **स्वयंस्रसः**=स्वयं स्रवणशील हो जाएँ, स्वयं स्रुत होकर नष्ट हो जाएँ।

भावार्थ—ग्रैव्य, उपपक्ष्य गुह्यप्रदेशस्थ गण्डमालाएँ स्रुत होकर नष्ट हो जाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**जायान्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

राजयक्ष्मा

यः कीकसाः प्रशृणाति तलीद्यमवतिष्ठति।
निर्हास्तं सर्वं जायान्यं यः कश्च ककुदि श्रितः॥ ३॥

१. **यः**=जो राजयक्ष्मा रोग **कीकसाः**=हड्डियों को **प्रशृणाति**=हिंसित करता है, हड्डियों में व्याप्त हो जाता है, **तलीद्यम्**=(तलित=अस्थिमांस—नि० २।१६) अस्थिसमीपगत मांस में **अवतिष्ठति**=स्थित होता है, अर्थात् जो मांस का शोषण करता है, **यः कः च**=और जो कोई

कठिन राजयक्ष्मा नामक रोग **ककुदि श्रितः**=ग्रीवाके पृष्ठ भाग में संश्रित हुआ-हुआ शरीर को क्षीण करता है **तं सर्वम्**=उस सब शरीरगत सर्वधातुशोषक **जायान्यम्**=निरन्तर जाया संभोग से जायमान क्षयरोग को **निर्हाः**=औषध द्वारा दूर करे, नष्ट करे।

भावार्थ—संभोग के अतिशय के कारण उत्पन्न राजयक्ष्मा हड्डियों को, मांस को व ग्रीवा के पृष्ठभाग को हिंसित कर देता है। योग्य वैद्य उचित औषध-प्रयोग से इसे दूर करे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**जायान्यः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पक्षी जायान्यः पतति स आ विशति पूरुषम्।
तदक्षितस्य भेषजमुभयोः सुक्षतस्य च॥ ४॥

१. **जायान्यः**=जाया-संभोग से उत्पन्न होनेवाला क्षयरोग **पक्षी**=पक्षवाला—पक्षी बनकर **पतति**=सब जगह पहुँचता है, फैल जाता है। **सः पुरुषम् आविशति**=यह रोग पुरुष के सम्पूर्ण शरीर में प्रविष्ट (व्याप्त) हो जाता है। २. **तत्**=अगले (पाँचवें) मन्त्र में वर्णित हवि **अक्षितस्य**=जो शरीर में चिरकाल से अवस्थित नहीं हुआ, **च**=और जो **सुक्षतस्य**=शरीरगत सब धातुओं का हिंसन करनेवाला है, उन **उभयोः**=दोनों क्षयरोगों (अक्षित और सुक्षत) की **भेषजम्**=औषध है।

भावार्थ—क्षयरोग के बीज सर्वत्र उड़ते-से हैं, वे पुरुष में प्रवेश करके उसे पीड़ित करते हैं। हवि के द्वारा इनका निवारण सम्भव है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**जायान्यः**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

अग्निहोत्र से राजयक्ष्मा का विनाश

विद्म वै ते जायान्य जानं यतो जायान्य जायसे।
कथं ह तत्र त्वं हनो यस्य कृण्मो हविर्गृहे॥ ५॥

१. हे **जायान्य**=जाया-संभोग से उत्पन्न राजयक्ष्मा रोग! हम **ते जानम्**=तेरे उत्पत्ति—निदान (कारण) को **वै**=निश्चय से **विद्म**=जानते हैं। हे **जायान्य**=जाया-संभोगजनित रोग! **यतः जायसे**=जिस कारण से तू उत्पन्न होता है, उसे हम जानते हैं। २. तेरे कारण को जानते हुए हम **यस्य गृहे हविः कृण्मः**=जिसके घर में हवि=अग्निहोत्र करते हैं, **तत्र**=वहाँ यह यजमान को **ह**=निश्चय से **त्वं कथं हनः**=तू किस प्रकार मार सकता है, अर्थात् जहाँ अग्निहोत्र होता है, वहाँ यह रोग नहीं पनप पाता।

भावार्थ—राजयक्ष्मा जाया-संभोग के अतिशय से उत्पन्न होता है। अग्निहोत्र के द्वारा इसका निवारण होता है। (**'अग्नेर्होत्रेण प्रणुदा सपत्नान्।'**, **'मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्॥'**)

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सोम-पान द्वारा 'रयिष्ठान' बनना

धृषत्पिब कलशे सोममिन्द्र वृत्रहा शूर समरे वसूनाम्।
माध्यन्दिने सवन आ वृषस्व रयिष्ठानो रयिमस्मासु धेहि॥ ६॥

१. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **धृषत्**=शत्रुओं का धर्षक होता हुआ तू **कलशे**=सोलह कलाओं के आधारभूत इस शरीर में **सोमं पिब**=सोम का पान कर। हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले इन्द्र! **वृत्रहा**=वृत्र को मारनेवाला तू **वसूनाम्**=वसुओं के, धनों के **समरे**=(सम् ऋ) सम्यक् प्राप्ति के निमित्त सोम का पान कर। शरीर में सोम का पान होने पर ही सब वसुओं की प्राप्ति होती है। २. **माध्यन्दिने सवने**=जीवन के माध्यन्दिन सवन, अर्थात् गृहस्थकाल में

भी **आवृषस्व**=तू सर्वथा शरीर में इस शक्ति का सेचन करनेवाला हो। **रयिष्ठानः**=इसप्रकार ऐश्वर्य का अधिष्ठान होता हुआ तू **अस्मासु**=हममें भी **रयिं धेहि**=रयि का धारण करनेवाला बन। तेरे आदर्श से हम भी वीर्यरक्षण करते हुए रयि को प्राप्त करनेवाले बनें।

भावार्थ—हम 'काम' आदि शत्रुओं का धर्षण करते हुए शरीर में सोम का रक्षण करनेवाले बनें। यही वसुओं की प्राप्ति का मार्ग है। गृहास्थाश्रम में भी वीर्यरक्षण का ध्यान करते हुए सब ऐश्वर्यों के अधिष्ठान बनें। हमारा जीवन औरों को भी उचित प्रेरणा दे।

सोमरक्षण द्वारा अंग-प्रत्यंग में रसवाला यह उपासक 'अंगिराः' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

७७. [सप्तसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिपदागायत्री** ॥

'सान्तपनाः रिशादसः' मरुतः

सान्तपना इदं हविर्मरुतस्तज्जुजुष्टन। अस्माकोती रिशादसः॥ १ ॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! आप **सान्तपनाः**=ज्ञानज्योति को सन्दीप्त करनेवाले हो। **इदं हविः**=यह दानपूर्वक अदन सामग्री है, यज्ञ करके यज्ञावशिष्ट पदार्थ है, **तत् जुजुष्टन**=इसका तुम सेवन करो। सदा यज्ञशेष को ही खानेवाले बनो। २. **अस्माक ऊती**=हमारे रक्षण के उद्देश्य से आप **रिशादसः**=(रिशन्ति हिंसन्ति इति रिश्यः) शत्रुओं के उपक्षपयिता (दस् उपक्षये) हो अथवा इन शत्रुओं के खा जानेवाले (अद् भक्षणे) हो।

भावार्थ—प्राणसाधना से ज्ञानज्योति दीप्त होती है तथा काम-क्रोध आदि हिंसक शत्रुओं का विनाश होता है। यज्ञशेष का सेवन करते हुए ये प्राण हमारा रक्षण करते हैं

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'वसवः' मरुतः

यो नो मर्तो मरुतो दुर्हृणायुस्तिरश्चित्तानि वसवो जिघांसति।
द्रुहः पाशान्प्रति मुञ्चतां स तपिष्ठेन तपसा हन्तना तम्॥ २ ॥

१. हे **वसवः**=बसानेवाले, प्रशस्य अथवा वसुप्रद मरुतो! **यः मर्तः**=जो भी मनुष्य **दुर्हृणायुः**=बुरी तरह से क्रोध करता हुआ **तिरः**=तिरोभूत, अन्तर्हित हुआ-हुआ **नः चित्तानि**=हमारे चित्तों को **जिघांसति**=नष्ट करना चाहता है, हमें क्षुब्ध करता है, **सः**=वह **द्रुहः पाशान्**=पापों के द्रोग्धा वरुण के पाशों को **प्रतिमुञ्चताम्**=धारण करे, वरुण के पाशों से बद्ध हो—प्रभु उसे दण्डित करें। **तपिष्ठेन तपसा**=अतिशयेन दीप्ति को प्राप्त करानेवाले तप से **तं हन्तन**=उसे विनष्ट करो। २. यदि कोई मनुष्य छिपे रूप में हमारे प्रति क्रोध की भावनावाला होकर हमारे मनोरथों को नष्ट करना चाहता है, तो हम उसके प्रति क्रोध न करते हुए यही सोचें कि प्रभु उसे उसके अपराध के लिए दण्डित करेंगे तथा हम तप के द्वारा जीवन को दीप्त बनाते हुए उसके क्रोध को नष्ट करने का यत्न करें।

भावार्थ—जो क्रोधी मनुष्य हमें क्षुब्ध करना चाहता है,वह वरुण के पाशों में जकड़ा जाए।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'संवत्सरीणाः स्वर्काः' मरुतः

संवत्सरीणा मरुतः स्वर्का उरुक्षयाः सगणा मानुषासः।
ते अस्मत्पाशान्प्र मुञ्चन्त्वेनसः सान्तपना मत्सरा मादयिष्णवः॥ ३ ॥

१. **संवत्सरीणाः**=सम्यक् निवास के हेतुभूत **मरुतः**=प्राण **स्वर्काः**=(अर्कम् अन्नम्) उत्तम अन्न का सेवन करनेवाले हैं। प्राणसाधक को सदा सात्त्विक अन्न का ही सेवन करना है। ये प्राण **उरुक्षयाः**=विशाल निवास स्थानवाले हैं, ये शरीर की शक्तियों की विशालता का कारण बनते हैं। **सगणाः**=(सप्तगणा वै मरुतः—तै०२.२.५.७.) सात-सात के सात गणोंवाले हैं। उनचास भागों में बँटकर शरीर में कार्य कर रहे हैं। **मानुषासः**=मनुष्य का हित करनेवाले हैं। हमें विचारशील बनानेवाले हैं। २. ये **ते**=वे मरुत् (प्राण) **अस्मत्**=हमसे **एनसः पाशान्**=पाप के पाशों को **प्रतिमुञ्चन्तु**=छुड़ा दें। **सान्तपनाः**=ये हमें अति दीप्त जीवनवाला बनाते हैं, **मत्सराः**=आनन्दपूर्वक गति करनेवाले हैं और **मादयिष्णवः**=हमें सन्तोष प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना के साथ सात्त्विक अन्न का सेवन करते हुए हम 'दीर्घजीवी, विशाल शक्तियोंवाले, विचारशील, निष्पाप, दीप्त, प्रसन्न व सन्तोषवाले' बनेंगे।

यह प्राणसाधक 'अथर्वा' बनता है, यही अगले सूक्तों का ऋषि है—

७८. [अष्टसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**परोष्णिक्** ॥

'दशना योक्त्र व नियोज्य' का विमोचन

वि ते॑ मुञ्चामि रश॒नां वि योक्त्रं॒ वि नि॒योज॑नम्। इ॒हैव त्वमज॑स्र एध्यग्ने॥ १॥

१. **ते**=तेरी **रशनाम्**=कण्ठ-बन्धनसाधनभूता बाधिका रज्जु को **विमुञ्चामि**=विमुक्त करता हूँ। **योक्त्रं वि (मुञ्चामि)**=मध्यप्रदेश-बन्धनसाधनभूत रज्जुविशेष को भी विमुक्त करता हूँ तथा **नियोजनम् वि**=सर्वावयव-बन्धक नीचीन-बन्धनसाधनभूत रज्जुविशेष को भी तुझसे पृथक् करता हूँ। उपरले अवयवों में, मध्य के अवयवों में अथवा निचले अवयवों में जहाँ कहीं भी कोई रोग का निदानभूत मल है, उसे तेरे शरीर से पृथक् करता हूँ। २. अब 'इन रशना, योक्त्र व नियोजन' के विमोचन के कारण हे **अग्ने**=अग्निवत् दीप्त पुरुष! रोगमुक्ति के कारण चमकनेवाले पुरुष! तू **इह एव**=इस लोक में ही **अजस्त्रः**=शत्रुओं से व मृत्यु से अबाधित हुआ-हुआ **एधि**=हो।

भावार्थ—उत्तम, मध्यम व अधम रोगबन्धनों से मुक्त होकर, अग्निवत् दीप्त होते हुए हम इस लोक में उत्तम जीवनवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

क्षत्राणि द्रविणा भद्रम्

अ॒स्मै क्ष॒त्राणि॑ धा॒रय॑न्तमग्ने युनज्मि॑ त्वा ब्रह्म॑णा दैव्ये॑न।
दीदि॒ह्य१॒स्मभ्यं॒ द्रवि॑णेह भ॒द्रं प्रेमं वो॑चो ह॒वि॒र्दां दे॒वता॑सु॥ २॥

१. **अस्मै**=इस अपने उपासक के लिए **क्षत्राणि धारयन्तम्**=बलों का धारण करनेवाले **त्वा**=आपको, हे **अग्ने**=प्रभो! **दैव्येन ब्रह्मणा**=देव से प्राप्त ज्ञान के द्वारा, प्रभु को प्राप्त करनेवाले ज्ञान के द्वारा, **युनज्मि**=अपने साथ जोड़ता हूँ। प्रभु हमें बल प्राप्त कराते हैं, हम ज्ञान के द्वारा प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनें। २. हे प्रभो! आप **इह**=इस जीवन में **द्रविणा**=धनों को **भद्रम्**=कल्याण व सुख को **दीदिहि**=दीजिए अथवा हमारे लिए धन आदि को दीप्त कीजिए। **इमं हविर्दाम्**=इस हवि देनेवाले यज्ञशील पुरुष को **देवतासु प्रवोचः**=देवों के विषय में प्रकृष्ट ज्ञान दीजिए। इन सूर्य आदि देवों का ज्ञान प्राप्त करके हम उनसे उचित लाभ प्राप्त करते हुए उन्नत जीवनवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु हमें 'बल, धन, कल्याण व ज्ञान' प्राप्त कराते हैं। हम ज्ञान द्वारा प्रभु को प्राप्त करने के लिए यत्नशील हों।

प्रभु से बल आदि को प्राप्त करनेवाला अथर्वा प्रार्थना करता है कि—

७९. [एकोनशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अमावास्या** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

सूर्य+चन्द्र

यत्ते देवा अकृण्वन्भागधेयममावास्ये संवसन्तो महित्वा।
तेना नो यज्ञं पिपृहि विश्ववारे रयिं नो धेहि सुभगे सुवीरम्॥ १॥

१. 'अमावास्या' को अमावास्या इसलिए कहते हैं कि इसमें सूर्य और चन्द्र साथ-साथ रहते हैं। (अमा+वस्) 'सूर्य' प्रकाश व तेजस्विता का प्रतीक है 'चन्द्र' आह्लाद व सौम्यता का। मानव जीवन में दोनों का समन्वय अभीष्ट है। तेजस्विता व सौम्यता का समन्वय सब दिव्य गुणों की उत्पत्ति का हेतु बनता है। हे **अमावास्ये**=अमावास्ये! **ते महित्वा**=तेरी महिमा से **यत्**=जब **संवसन्तः**=सम्यक् मिलकर रहते हुए **देवाः**=देववृत्ति के व्यक्ति **भागधेयं अकृण्वन्**=हवि का भाग करते हैं, अर्थात् यज्ञशील होते हैं तब हे **विश्ववारे**=सबसे वरने के योग्य **सुभगे**=शोभन-भाग्ययुक्त अमावास्ये! **तेन**=उस हविर्भाग के द्वारा **नः यज्ञं पिपृहि**=हमारे यज्ञ को पूर्ण कर तथा **नः**=हमारे लिए **सुवीरम्**=उत्तम वीर सन्तानोंवाले **रयिम्**=ऐश्वर्य को **धेहि**=धारण कर।

भावार्थ—जिस समय एक घर में रहनेवाले व्यक्ति सूर्य व चन्द्रतत्त्वों का अपने में समन्वय करते हैं, उस समय वे (क) परस्पर मिलकर रहते हैं, (ख) देववृत्ति के बनकर यज्ञशील होते हैं, (ग) वीर सन्तानों व ऐश्वर्यों को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अमावास्या** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अमावास्या

अहमेवास्म्यमावास्या ३ मामा वसन्ति सुकृतो मयीमे।
मयि देवा उभये साध्याश्चेन्द्रज्येष्ठाः समगच्छन्त सर्वे॥ २॥

१. **अहम्**=मैं **एव**=ही अमावास्या **अस्मि**='अमावास्या' हूँ। **सुकृतः माम् आवसन्ति**=उत्तम कर्मोंवाले देव मुझमें निवास करते हैं। '**आ मा वसन्ति देवाः**' यही तो अमावास्या शब्द की निरुक्ति है। **मयि इमे**=ये देव मुझमें निवास करते हैं, अतः मैं अमावास्या हूँ। २. **साध्याः च** ('च' शब्दः समुच्चये, सिद्धाः अपि)=साध्य और सिद्ध **उभये**=दोनों ही **इन्द्रज्येष्ठाः**=इन्द्र प्रमुख **सर्वे देवाः**=सब देव **मयि समगच्छन्त**=मुझमें संगत होते हैं। इसप्रकार 'माम् आ वसन्ति देवाः' 'मयि निवसन्ति यष्टव्यत्वेन' 'मयि संगच्छन्ते' यही अमावास्या शब्द का निर्वचन है। २. जिस समय हमारे जीवनों में 'तेजस्विता व सौम्यता' का, 'प्रकाश व आह्लाद' का समन्वय होता है तब सब दिव्य गुणों का विकास होता है। यही अमावास्या में देवों का निवास है। इस घर में सब देववृत्ति के मार्ग पर अग्रसर होते हैं। जिन्होंने अभी चलना प्रारम्भ किया है वे 'साध्य' हैं, जो कुछ आगे निकल गये हैं वे 'सिद्ध' हैं। गृह के मुख्य व्यक्ति 'इन्द्र' हैं। इसप्रकार यह स्वर्ग ही बन जाता है।

भावार्थ—अमावास्या का उपदेश यही है कि एक घर में 'छोटे, बड़े तथा घर के मुख्य व्यक्ति' सब मिलकर उत्तम कर्मों को करते हुए यज्ञशील बनें और घर को स्वर्ग बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अमावास्या** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'वसूनां संगमनी' अमावास्या

आगन्रात्री संगमनी वसूनामूर्जं पुष्टं वस्वावेशयन्ती।
अमावास्यायै हविषा विधेमोर्जं दुहाना पयसा न आगन्॥ ३॥

१. यह **रात्री**=अमावास्या-काल-युक्ता रात्रि **आगन्**=हमें प्राप्त हुई है। हमने अपने जीवन में सूर्य व चन्द्र का समन्वय किया है। यह रात्रि **वसूनां संगमनी**=सब वसुओं—धनों का हमारे साथ मेल करनेवाली है तथा यह **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को **पुष्टम्**=सब अंगों के पोषण को तथा **वसु**=धन को **आवेशयन्ती**=हमारे अभिमुख प्राप्त कराती हुई आती है। २. इस **अमावास्यायै**=अमावास्या के लिए—अपने जीवन में सूर्य-चन्द्र के समन्वय के लिए **हविषा विधेम**=हवि द्वारा हम पूजन करते हैं। यज्ञशील बनने पर ही प्रभुकृपा से अमावास्या का हमारे जीवनों में प्रवेश होता है। **ऊर्जं दुहाना**=बल व प्राणशक्ति का हममें प्रपूरण करती हुई यह **पयसा**=सब शक्तियों के आप्यायन के साथ **नः आगन्**=हमें प्राप्त होती है।

भावार्थ—यज्ञों के द्वारा प्रभु-पूजन होने पर हमारे जीवनों में अमावास्या का आगमन होता है, हमारे जीवनों में सूर्य-चन्द्र का समन्वय, तेजस्विता व सौम्यता का मेल होता है। ऐसा होने पर हमें 'बल, प्राणशक्ति, पोषण, वसु व अंगो का आप्यायन' प्राप्त होता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अमावास्या** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'निर्मात्री' अमावास्या

अमावास्ये न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिभूर्जजान।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ ४॥

१. हे **अमावास्ये**=सूर्य और चन्द्र के साथ-साथ निवासवाली प्रवृत्ते! **त्वत् अन्यः**=तुझसे भिन्न अन्य कोई देव **एतानि विश्वा रूपाणि**=इन सब रूप्यमाण भूतों को **परिभूः न जजान**=व्यापन करनेवाला नहीं उत्पन्न हुआ। अमावास्या ही सब रूपों को प्रादुर्भूत करनेवाली होती है। सूर्य और चन्द्र के समन्वय में ही सब उत्पादन निहित है। इनके समन्वय के अभाव में विनाश है। २. हे अमावास्ये! **यत्कामाः**=जिस फल की कामनावाले होते हुए हम **ते जुहुमः**=तेरे लिए हवियाँ देते हैं, **तत् नः अस्तु**=वह फल हमें प्राप्त हो और **वयम्**=हम **रयीणां पतयः स्याम**=धनों के स्वामी बनें, कभी धनों के दास न बन जाएँ।

भावार्थ—सूर्य-चन्द्र का समन्वय ही सब निर्माण का साधन बनता है। इसके समन्वय में ही इष्टसिद्धि है और यह समन्वय ही हमें धनों का स्वामी बनाता है।

८०. [अशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पौर्णमासी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पौर्णमासी

पूर्णा पश्चादुत पूर्णा पुरस्तादुन्मध्यतः पौर्णमासी जिगाय।
तस्यां देवैः संवसन्तो महित्वा नाकस्य पृष्ठे समिषा मदेम॥ १॥

१. पौर्णमासी के दिन चन्द्रमा पूर्ण होता है, इस दिन वह सोलह कलाओं से युक्त होता है। हमें भी सोलह कला-सम्पन्न बनने की प्रेरणा पूर्णिमा से प्राप्त होती है। हम भी 'प्राण, श्रद्धा, पञ्चभूत, इन्द्रिय, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक व नाम' इन सोलह कलाओं से पूर्ण जीवनवाले बनें। यह **पौर्णमासी**=पूर्णिमा पूर्णचन्द्रोपेता होती हुई **पश्चात् पूर्णा**=पीछे से पूर्ण है,

पुरस्तात् पूर्णा=आगे से भी पूर्ण है, **उत**=और **मध्यतः**=बीच से भी पूर्ण होती हुई **जिगाय**=विजयी होती है। हम भी पीछे, आगे व मध्य से पूर्ण बने। हमारे एक ओर 'शक्ति' है, दूसरी ओर 'ज्ञान' और इन दोनों के बीच में 'नैर्मल्य' है। हमारे शरीर शक्ति-सम्पन्न हों, मस्तिष्क ज्ञानान्वित हों तथा मन नैर्मल्य को लिये हुए हो। २. **तस्याम्**=उस पूर्णिमा में—शक्ति, ज्ञान व नैर्मल्य के समन्वय में, **सं देवैः**=सब दिव्य गुणों के साथ **संवसन्तः**=निवास करते हुए, **महित्वा**=प्रभुपूजन के द्वारा (मह पूजायाम्) **नाकस्य पृष्ठे**=मोक्षलोक में—दुःख से असंभिन्न सुखमय लोक में, **इषा**=प्रभु प्रेरणा के द्वारा **संमदेम**=सम्यक् आनन्द का अनुभव करें।

भावार्थ—पूर्णिमा से पूर्णता का पाठ पढ़ते हुए हम शक्ति, ज्ञान व नैर्मल्य को अपने में पूरण करें। दिव्यगुणों से युक्त होते हुए हम प्रभु-पूजन के साथ प्रभुप्रेरणा को सुनते हुए सुखमय लोक में आनन्द से रहें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पौर्णमासी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'वृषभ, वाजी, पौर्णमास' प्रभु का पूजन

वृषभं वाजिनं वयं पौर्णमासं यजामहे।
स नो ददात्वक्षितां रयिमनुपदस्वतीम्॥ २॥

१. **वयम्**=हम **वृषभम्**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले, **वाजिनम्**=शक्तिशाली **पौर्णमासम्**=पौर्णमासी के चन्द्र के समान उस षोडशी प्रभु (**प्रजापतिः प्रजया संरराणस्त्रीणि ज्योतींषी सचते स षोडशी**—य० ३२।५) को **यजामहे**=पूजित करते हैं। **सः**=वे प्रभु **नः**=हमारे लिए उस **रयिम्**=सम्पत्ति को **ददातु**=दें, जो **अक्षिताम्**=अविनाशित है—किसी से नष्ट नहीं की जा सकती तथा **अनुपदस्वतीम्**=आवश्यक उपभोगों में व्यय होती हुई भी क्षयरहित है।

भावार्थ—हम 'वृषभ, वाजी व पौर्णमास' प्रभु का पूजन करें। वे हमें न क्षीण होनेवाली सम्पत्ति प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रजापति

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिभूर्जजान।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ ३॥

१. हे **प्रजापते**=प्रजाओं के स्वामिन् प्रभो! **त्वत् अन्यः**=आपसे भिन्न अन्य कोई **एतानि विश्वा रूपाणि**=इन सब दृश्यमान पदार्थों को **परिभूः न जजान**=व्याप्त होकर पैदा नहीं कर रहा। आप ही इन सब रूपों को जन्म देनेवाले हैं। २. **यत्कामाः**=जिस कामनावाले होकर हम **ते जुहुमः**=तेरे लिए हवियाँ देते हैं, हवियों के द्वारा आपका पूजन करते हैं, **तत् नः अस्तु**=वह हमें प्राप्त हो। आपके अनुग्रह से **वयम्**=हम **रयीणां पतयः स्याम**=धनों के स्वामी हों।

भावार्थ—प्रभु ही सब पदार्थों में व्याप्त होकर इन्हें जन्म दे रहे हैं। हम जिस कामना से युक्त होकर प्रभु का उपासन करते हैं, हमारी वह कामना पूर्ण होती है। प्रभु के अनुग्रह से ही हम धनों के स्वामी बनते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**पौर्णमासी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पूर्णिमा यजन

पौर्णमासी प्रथमा यज्ञियासीदह्नां रात्रीणामतिशर्वरेषु।
ये त्वां यज्ञैर्यज्ञिये अर्धयन्त्यमी ते नाके सुकृतः प्रविष्टाः॥ ४॥

१. **अह्नाम्**=दिनों तथा **रात्रीणाम् अतिशर्वरेषु**=रात्रियों के प्रबल अन्धकारों में (अतिशयिता शर्वरी येषु), अर्थात् चाहे समृद्धि का प्रकाश हो चाहे असमृद्धि का अन्धकार हो, सदा ही **पौर्णमासी**=पूर्णिमा **प्रथमा यज्ञिया आसीत्**=सर्वप्रथम संगतिकरण योग्य है। मनुष्य को सदा ही इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह अपने जीवन को सोलह कलाओं से पूर्ण बनाने का प्रयत्न करे। २. हे **यज्ञिये**=पूजनीय व संगतिकरणयोग्य पूर्णिमे! **ये**=जो **त्वाम्**=तुझे **यज्ञैः**=यज्ञों से **अर्धयन्ति**=(ऋधु वृद्धौ) बढ़ाते हैं, अर्थात् यज्ञों को करते हुए अपने जीवन में पूर्णिमा की तरह ही सोलह कलाओं से पूर्ण बनने का प्रयत्न करते हैं, **ते अमी**=वे ये **सुकृतः**=पुण्यकर्मा लोग **नाके**=मोक्षलोक में **प्रविष्टाः**=प्रविष्ट होते हैं।

भावार्थ—हमारे जीवन मे चाहे समृद्धि का प्रकाश हो वा असमृद्धि का अन्धकार हो, हमें सदा ही जीवन को सोलह कलाओं से पूर्ण बनाने के लिए यत्नशील होना चाहिए। यही पूर्णिमा का यजन है। यह हमें सुखमय लोक में प्राप्त कराएगा।

८१. [एकाशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सावित्री, सूर्यः, चन्द्रश्च**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सूर्य और चन्द्र

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोऽर्णवम्।
विश्वान्यो भुवना विचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायसे नवः॥ १॥

१. प्रथम सूर्य गति करता है, चन्द्र उसके पीछे गतिवाला होता है। इसप्रकार **एतौ**=ये सूर्य और चन्द्र **पूर्वापरम्**=पौर्वापर्य से, आगे-पीछे, **मायया**=प्रभु की माया (निर्माणशक्ति) से प्रेरित हुए-हुए **चरतः**=द्युलोक में गतिवाले होते हैं। **तौ**=वे दोनों शिशु की भाँति भ्रमण के कारण **शिशू**=दो बालकों की भाँति **क्रीडन्तौ**=विहरण करते हुए **अर्णवं परियातः**=(अर्णांसि उदकानि अस्मिन् सन्ति इति अर्णवः अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष में विचरते हैं। २. उन दोनों में **अन्यः**=एक आदित्य **विश्वा भुवना विचष्टे**=सब लोकों को प्रकाशमय करता है और **अन्यः**=दूसरा चन्द्रमा **ऋतून् विदधत्**=वसन्तादि ऋतुओं को और तदवयवभूत मासों व अर्धमासों को बनाता हुआ **नवः जायते**=नया-नया उत्पन्न होता है। (चन्द्रमा में कलाओं के ह्रास व वृद्धि के कारण 'नया उत्पन्न होता है' ऐसा कहा गया है)।

भावार्थ—सूर्य प्रकाश प्राप्त कराता है, चन्द्रमा ऋतुओं का निर्माण करता है। ज्ञानी दोनों में ही प्रभु की अद्भुत महिमा को देखते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**सावित्री, सूर्यः, चन्द्रश्च**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

चन्द्रमा

नवोनवो भवसि जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेष्यग्रम्।
भागं देवेभ्यो वि दधास्यायन्प्र चन्द्रमस्तिरसे दीर्घमायुः॥ २॥

१. हे **चन्द्रमः**=चन्द्र! **जायमानः**=प्रकट शुक्लपक्ष प्रतिपदादि में एक-एक कला के आधिक्य से उत्पद्यमान होता हुआ **नवः नवः**=प्रतिदिन नूतन ही **भवसि**=होता है। **अह्नां केतुः**=दिनों का तू ज्ञापक है। चन्द्रमा की कलाओं के अनुसार दिनों की गणना की जाती है 'प्रथमा, द्वितीया, तृतीया' आदि अथवा **अह्नां केतुः**=दिनों की समाप्ति पर शुक्लपक्ष में प्रतीची दिशा में तू दिखता है और कृष्णपक्ष में **उषसाम् अग्रम् एषि**=रात्रियों की समाप्ति पर उषःकाल के अग्रभाग में, पूर्व दिशा में दिखता है। २. **आयन्**=हे चक्र! आता हुआ तू **देवेभ्यः भागं विदधासि**=देवों के लिए

ऋषिः—शौनकः (संपत्कामः)॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—ककुम्मतीबृहती ॥

'क्षत्र, वर्चस्, बल, प्रजा, आयु' का धारण

मय्यग्रे अग्निं गृह्णामि सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन।
मयि प्रजां मय्यायुर्दधामि स्वाहा मय्यग्निम्॥ २॥

१. **अग्रे**=सर्वप्रथम मैं **मयि**=अपने में **अग्निं गृह्णामि**=उस अग्रणी प्रभु को धारण करता हूँ, परिणामतः **क्षत्रेण वर्चसा बलेन सह**=क्षतों से त्राण करनेवाले बल से, प्राणशक्ति से (वर्चसा) तथा मनोबल से युक्त होता हूँ। प्रभु का धारण 'क्षत्र, वर्चस् व बल' देता है। २. **मयि प्रजां दधामि**=मैं इस प्रभु-पूजन से उत्तम सन्तान को धारण करता हूँ। **मयि आयुः**=अपने में आयुष्य को धारण करता हूँ। **स्वाहा (सु आह)**=सबसे उत्तम यह कथन है कि **मयि अग्निम्**=अपने में अग्नि को धारण करता हूँ। अग्नि के धारण से इन सबका धारण हो ही जाता है।

भावार्थ—अपने अन्दर प्रभु को धारण करने से हम 'क्षत्र, वर्चस्, बल, प्रजा व आयु' को धारण कर रहे होते हैं।

ऋषिः—शौनकः (संपत्कामः)॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—जगती ॥

क्षत्रेण सुयमम्

इहैवाग्ने अधि धारया रयिं मा त्वा नि क्रन्पूर्वचित्ता निकारिणः।
क्षत्रेणाग्ने सुयममस्तु तुभ्यमुपसत्ता वर्धतां ते अनिष्टृतः॥ ३॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **इह एव**=यहाँ—हम उपासकों में ही **रयिं अधिधारय**=ऐश्वर्य को आधिक्येन स्थापित कीजिए, जो **पूर्वचित्ताः**=(मतिपूर्व=Intentionally, Knowingly) जानबूझकर—पहले से ही चित्त बनाकर **निकारिणः**=हमारा अपकार करनेवाले हैं, वे **त्वा**=तुझे **मा निक्रन्**=अपने अधीन न कर पाएँ, अपने अनुकूल न कर पाएँ। २. हे **अग्ने**=प्रभो! **तुभ्यम्**=आपकी प्राप्ति के लिए हममें **क्षत्रेण सुयमम् अस्तु**=बल के साथ उत्तम संयम हो। हे प्रभो! **ते**=आपका **उपसत्ता**=उपासक **अनिष्टृतः**=किसी से भी हिंसित न होता हुआ, अतिरस्कृत प्रभाववाला, **वर्धताम्**=वृद्धि को प्राप्त हो।

भावार्थ—प्रभु हमें धन दें। हमारा अपमान करनेवाले प्रभु के प्रिय न बनें। प्रभु-प्राप्ति के लिए हम बल के साथ संयमवाले हों। प्रभु के उपासक बनकर हम अहिंसित होते हुए वृद्धि को प्राप्त हों।

ऋषिः—शौनकः (संपत्कामः)॥ देवता—अग्निः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

'प्रकाशक व व्यापक' प्रभु

अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः।
अनु सूर्य उषसो अनु रश्मीननु द्यावापृथिवी आ विवेश॥ ४॥

१. वह **अग्निः**=अग्रणी (प्रकाशमान्) प्रभु **उषसाम् अग्रम् अनु अख्यत्**=उषाकालों के भी पूर्वभाग को क्रम से प्रकाशित करता है। वह **प्रथमः**=सर्वत्र विस्तृत **जातवेदाः**=सवर्ज्ञ प्रभु ही **अहानि अनु (अख्यत्)**=दिनों को अनुक्रम से प्रकाशित करता है। २. वही प्रभु **सूर्यः अनु (सूर्यं)**=सूर्य को प्रकाशित करता है, **उषसः अनु**=उषाकालों को प्रकाशित करता है, **रश्मीन् अनु**=समस्त रश्मियों को (प्रकाशमय पिण्डों को) प्रकाशित करता है। वह प्रभु ही **द्यावापृथिवी आविवेश**=द्युलोक व पृथिवीलोक में सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। वे प्रभु सब पिण्डों व लोकों में अनुप्रविष्ट हो रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु ही उषाकालों, दिनों, सूर्य व अन्य ज्योतिर्मय पिण्डों को प्रकाशित कर रहे हैं। वे ही द्यावापृथिवी में सर्वत्र व्याप्त हो रहे हैं।

ऋषिः—**शौनकः (संपत्कामः)**॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'ब्रह्माण्ड के विस्तारक' प्रभु

प्रत्यग्निरुषसामग्रमख्यत्प्रत्यहानि प्रथमो जातवेदाः।
प्रति सूर्यस्य पुरुधा च रश्मीन्प्रति द्यावापृथिवी आ ततान॥ ५॥

१. **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **उषसाम् अग्रं प्रति अख्यत्**=उषाओं के अग्रभाग को प्रतिदिन प्रकाशित करते हैं। वे प्रभु ही **प्रथमः**=सबके आदिमूल व **जातवेदाः**=सर्वज्ञ हैं, **अहानि प्रति (अख्यत्)**=सब दिनों को प्रकाशित करते हैं। २. **सूर्यस्य रश्मीन्**=सूर्य की रश्मियों को **च**=भी **पुरुधा**=नाना प्रकार से (विविध वर्णयुक्त करके) **प्रति (अख्यत्)**=प्रकाशित करते हैं। **द्यावापृथिवी प्रति आततान**= द्यावापृथिवी के प्रत्येक पदार्थ में आतत (व्यापक) हो रहे हैं—प्रत्येक पदार्थ में अपने प्रकाश को विस्तृत कर रहे हैं।

भावार्थ—वे प्रभु 'उषाओं को, दिनों को, सूर्यरश्मियों को व द्यावापृथिवी के प्रत्येक पदार्थ को' प्रकाशित कर रहे हैं।

ऋषिः—**शौनकः (संपत्कामः)**॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

घृतं ज्ञानदीप्ति

घृतं ते अग्ने दिव्ये सधस्थे घृतेन त्वां मनुरद्या समिन्धे।
घृतं ते देवीर्नप्त्य आ वहन्तु घृतं तुभ्यं दुह्रतां गावो अग्ने॥ ६॥

१. 'घृ क्षरणदीप्त्योः' से बना 'घृतं' शब्द दीप्ति का वाचक है। हे **अग्ने**=परमात्मन्! **ते घृतम्**=आपकी दीप्ति **दिव्ये**=दिव्य गुणयुक्त **सधस्थे**=आत्मा व परमात्मा के मिलकर रहने के स्थान 'हृदय' में है। पवित्र हृदय में प्रभु का प्रकाश दिखता है। इस **घृतेन**=ज्ञानदीप्ति से ही **मनुः**=विचारशील व्यक्ति **अद्य**=अब **त्वां समिन्धे**=आपको दीप्त करता है, आपके प्रकाश को देखता है। २. **देवीः नप्त्यः**=दिव्य गुणोंवाली न पतनशील प्रजाएँ **ते घृतम्**=आपकी ज्ञानदीप्ति को **आवहन्तु**=प्राप्त करें। हे **अग्ने**=परमात्मन्! **तुभ्यम्**=आपकी प्राप्ति के लिए ये **गावः**=वेदवाणियाँ हमारे अन्दर **घृतम्**=ज्ञानदीप्ति का **दुह्रताम्**=प्रपूरण करें।

भावार्थ—पवित्र हृदय में प्रभु का प्रकाश होता है। ज्ञानी मनुष्य ज्ञानदीप्ति द्वारा प्रभु को अपने में समिद्ध करता है। न पतनशील प्रजाएँ आपके प्रकाश को प्राप्त करती हैं, आपकी प्राप्ति के लिए ये वेदवाणियाँ हमारे अन्दर ज्ञान का प्रपूरण करें।

ज्ञानदीप्ति प्राप्त करके मनुष्य सब बन्धनों से मुक्त होता हुआ वास्तविक सुख का निर्माण कर पाता है, अतः 'शुनःशेप' सुख का निर्माण करनेवाला होता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

८३. [त्र्यशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**शुनःशेपः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रभु का सुगुप्त ज्योतिर्मय गृह

अप्सु ते राजन्वरुण गृहो हिरण्ययो मिथः।
ततो धृतव्रतो राजा सर्वा धामानि मुञ्चतु॥ १॥

१. हे **राजन्**=(राजृ दीप्तौ) प्रकाशमय! **वरुण**=पापनिवारक प्रभो! **ते**=आपका **मिथः**=(In

secret) गुप्त **हिरण्ययः**=ज्योतिर्मय **गृहः**=घर **अप्सु**=प्रजाओं में है। प्रभु हम सबके हृदयों में रह रहें है। यह हृदय प्रभु का सुगुप्त ज्योतिर्मय गृह है। २. **ततः**=क्योंकि हम सबका हृदय प्रभु का घर है, वह **धृतव्रतः**=सब नियमों को धारण करनेवाला **राजा**=शासक प्रभु **सर्वा धामानि**=हमारे सब स्थानों को 'शरीर,मन व मस्तिष्क' रूप त्रिलोकी को **मुञ्चतु**=रोग, मलिनता व कुण्ठता आदि दोषों से मुक्त करे।

भावार्थ—प्रभु 'धृतव्रत, राजा व वरुण हैं, प्रजाओं के हृदयों में उनका निवास है। वे प्रभु हमें रोग, मलिनता व कुण्ठता से मुक्त करके 'स्वस्थ शरीरवाला, निर्मल मनवाला व तीव्र बुद्धिवाला' बनाएँ।

ऋषिः—**शुनःशेपः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

आपः, अघ्न्याः, वरुण

धाम्नोधाम्नो राजन्नितो वरुण मुञ्च नः।
यदापो अघ्न्या इति वरुणेति यदूचिम ततो वरुण मुञ्च नः॥ २॥

१. हे **वरुण**=पापनिवारक प्रभो! **राजन्**=दीप्त प्रकाशमय प्रभो! आप **धाम्नः**=प्रत्येक स्थान से **इतः नः मुञ्च**=इस पापवृत्ति से हमें छुड़ाइए। हम 'शरीर, मन व बुद्धि' से किसी का हिंसन न करें। २. हे प्रभो! **यत्**=जब हम **आपः**='प्रभु सर्वव्यापक' है (अप व्याप्तौ) **अघ्न्याः इति**=ये वेदवाणियाँ, वेदधेनुएँ अहन्तव्य हैं, अथवा **वरुण इति यत् ऊचिम**=जो हम यह कहते हैं कि वे प्रभु पापनिवारक हैं' **ततः**=तब हे **वरुण**=पापनिवारक प्रभो! **नः मुञ्च**=हमें पाप से छुड़ाइए ही।

भावार्थ—प्रभु हमें प्रत्येक स्थान से निष्पाप बनाएँ। हम प्रभु को सर्वव्यापक जानें (आपः), वेदवाणियों को अहन्तव्य समझें (अघ्न्याः), इनका प्रतिदिन स्वाध्याय करें तथा प्रभु का पापनिवारकरूप (वरुण) में स्मरण करें, इससे सब पापों से वरुणप्रभु हमें मुक्त करें।

ऋषिः—**शुनःशेपः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'उत्तम, अधम व मध्यम' पाश-विच्छेद

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अधा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम॥ ३॥

१. हे **वरुण**=पापनिवारक प्रभो! **उत्तमं पाशं अस्मत् उत् श्रथाय**=उत्तम पाश को भी हमसे पृथक् करके नष्ट कीजिए। '**सत्त्वं सुखे सञ्जयति**' सत्त्वगुण भी तो हमें योग व स्वाध्याय के आनन्द में आसक्त कर देता है, उसमें फँसे हुए हम आवश्यक रक्षात्मक कर्मों को न भूल जाएँ। **अधमं अव (श्रथाय)**=निकृष्ट पाश को हमसे दूर कीजिए, तमोगुण के 'प्रमाद, आलस्य, निद्रा' रूप पाश में हम न फँसे रहें। **मध्यमं वि (श्रथाय)**=इस मध्यम, अर्थात् रजोगुण के पाश को भी हमसे अलग कीजिए। धन की तृष्णा में फँसे हुए हम हर समय इसकी प्राप्ति की भाग-दौड़ में ही न रह जाएँ। २. **अध**=अब **वयम्**=हम हे **आदित्य**=(आदानात् आदित्यः) सब गुणों का आदान करनेवाले व सब बन्धनों का खण्डन (दाप् लवने) करनेवाले वरुण! **तव व्रते**=आपके उपदिष्ट व्रतों में **अनागसः**=निष्पाप जीवनवाले होते हुए **अदितये**=अखण्डितत्व व अविनाश के लिए हों।

भावार्थ—हम 'सत्त्व, रज व तम' के 'सुख, तृष्णा व प्रमादालस्य—निद्रा' रूप बन्धनों को परे फेंककर प्रभु से उपदिष्ट मार्ग पर चलते हुए अखण्डित जीवनवाले हों।

ऋषिः—**शुनःशेपः** ॥ देवता—**वरुणः** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भात्रिष्टुप्** ॥

'दुःष्वप्न्य=दुरित' दूरीकरण

प्रास्मत्पाशान्वरुण मुञ्च सर्वान्य उत्तमा अधमा वारुणा ये।
दुःष्वप्न्यं दुरितं निः ष्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम्॥ ४॥

१. हे **वरुण**=पापनिवारक प्रभो! **अस्मत्**=हमसे **सर्वान् पाशान् प्रमुञ्च**=सब पाशों को मुक्त कीजिए। **ये**=जो पाश **उत्तमाः**=उत्तम, अर्थात् सत्त्वगुण के सुखरूप पाश हैं, **अधमाः**=जो तमोगुण के प्रमाद आदि पाश हैं, **ये वारुणाः**=जो हमें धर्म के मार्ग से वारित करके छल-छिद्र से धन प्राप्त करने के लिए प्रेरित करते हैं, २. **दुःष्वप्न्यम्**=दुष्ट स्वप्नों के कारणभूत **दुरितम्**=दुराचरण को **निःष्व**=(निस्सुव) हमसे निर्गत कीजिए। **अथ**=अब पाश-विमोचन होने पर हम **सुकृतस्य लोकम्**=पुण्य के लोक को **गच्छेम**=प्राप्त हों, सदा पुण्य कार्यों को ही करनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु हमारे सब पाशों को पृथक् करें। हम दुष्ट स्वप्नों के कारणभूत दुराचरणों से पृथक् होकर सुकृत कर्मों के लोक में गतिवाले हों।

सब बन्धनों से ऊपर उठकर अपने को तपस्या की अग्नि में परिपक्व करनेवाला यह व्यक्ति 'भृगु' बनता है और यही अगले सूक्त में इसप्रकार प्रार्थना करता है—

८४. [चतुरशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

रोगों का दूरीकरण व बल-धारण

अनाधृष्यो जातवेदा अमर्त्यो विराडग्ने क्षत्रभृद्दीदिहीह।
विश्वा अमीवाः प्रमुञ्चन्मानुषीभिः शिवाभिरद्य परि पाहि नो गयम्॥ १॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **अनाधृष्यः**=किसी से भी धर्षण के योग्य नहीं हैं। **जातवेदाः**=सर्वज्ञ हैं, **अमर्त्यः**=अविनाशी हैं। **विराट्**=विशिष्ट दीप्तिवाले आप **क्षत्रभृत्**=बल का धारण करते हुए **इह दीदिहि**=हमारे जीवन में दीप्त होओ। २. **विश्वाः अमीवाः**=सब रोगों को **प्रमुञ्चन्**=हमसे पृथक् करते हुए आप **मानुषीभिः**=मानवोचित **शिवाभिः**=कल्याणी क्रियाओं के द्वारा **अद्य**=आज **नः गयम्**=हमारे इस घर को **परिपाहि**=रक्षित कीजिए।

भावार्थ—'अनाधृष्य, जातवेदा, अमर्त्य, विराट्' प्रभु हमारे जीवन में बल धारण करें। वे प्रभु हमें नीरोग बनाकर मानवोचित कल्याणी क्रियाओं में प्रेरित करें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

क्षत्रम् ओजः

इन्द्र क्षत्रमभि वाममोजोऽजायथा वृषभ चर्षणीनाम्।
अपानुदो जनममित्रायन्तमुरुं देवेभ्यो अकृणोरु लोकम्॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रु-विद्रावक प्रभो! आप **क्षत्रम्**=बल तथा **वामम् ओजः**=सेवनीय ओज को **अभि**=लक्ष्य करके **अजायथाः**=प्रादुर्भूत होते हैं। आपके प्रादुर्भाव से उपासक के जीवन में क्षत्र और ओज की स्थापना होती हैं। २. हे **चर्षणीनां वृषभ**=श्रमशील मनुष्यों पर सुखों का वर्षण करनेवाले प्रभो! आज **अमित्रायन्तम्**= अमित्र (शत्रु) की भाँति आचरण करते हुए **जनम्**=मनुष्य को **अपानुदः**=हमसे दूर कीजिए **उ**=और **देवेभ्यः**=देववृत्ति के पुरुषों के लिए **उरुं लोकं अकृणोः**=विस्तीर्ण स्वर्ग—प्रकाशमयलोक को कीजिए।

भावार्थ—हृदय में प्रभु के प्रादुर्भाव से 'क्षत्र और ओज' की प्राप्ति होती है। प्रभु हमारे

शत्रुओं को दूर करके हमारे लिए उत्तम प्रशंसनीय लोक को प्राप्त करानेवाले होते हैं।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

मृगः, न भीमः

मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत आ जगम्यात्परस्याः।
सृकं संशाय पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून्ताढि वि मृधो नुदस्व॥ ३॥

१. वे इन्द्र **मृगः**=अन्वेषणीय हैं, उपासक 'योग' द्वारा प्रभु को हृदय में देखने का प्रयत्न करते हैं। **न भीमः**=वे प्रभु भयंकर नहीं हैं। **कुचरः**=सर्वत्र पृथिवी पर विचरण करनेवाले हैं (क्वायं न चरतीति वा) अथवा कहाँ नहीं हैं, अर्थात् सर्वत्र हैं, **गिरिष्ठाः**=वेदवाणियों में स्थित हैं, **परस्याः परावतः**=अतिशयेन दूर लोक से भी **आजगम्यात्**=हमें प्राप्त होते हैं। २. हे प्रभो! **इन्द्र**=शत्रु-विद्रावक! आप **सृकम्**=सरणशील **तिग्मम्**=तीव्र **पविम्**=वज्र को **संशाय**=सम्यक् तीक्ष्ण कीजिए। **शत्रून् विताढि**=उस वज्र से शत्रुओं का ताड़न कीजिए और **मृधः विनुदस्व**=संग्रामोद्युक्त—युयुत्सु अन्य शत्रुओं को भी विशेषरूप से दूर प्रेरित कीजिए।

भावार्थ—प्रभु 'अन्वेषणीय, प्रिय, सर्वव्यापक व वेदप्रतिपाद्य' हैं। वे प्रभु हमें प्राप्त हों और हमारे शत्रुओं को दूर प्रेरित करनेवाले हों।

शत्रुओं को नष्ट करके स्थिरवृत्तिवाला यह उपासक 'अथर्वा' बनता है। यह अथर्वा अगले तीन सूक्तों का ऋषि है—

८५. [पञ्चाशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः) ॥ देवता—तार्क्ष्यः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

वाजिनं तार्क्ष्यम्

त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहोवानं तरुतारं रथानाम्।
अरिष्टनेमिं पृतनाजिमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम॥ १॥

१. **त्यम्**=उस **तार्क्ष्यम्**=(तृक्ष गतौ) सर्वव्यापक प्रभु को **उ सु**=निश्चय से सम्यक् **स्वस्तये**=कल्याण की प्राप्ति के लिए **इह**=यहाँ **आहुवेम**=हम पुकारते हैं। जो प्रभु **वाजिनम्**=अन्न व बलवाले हैं, **देवजूतम्**=(जूतिः गतिर्वा प्रीतिर्वा) देवों में गये हुए, देवों में निवास करनेवाले व देवों से प्रीतिवाले हैं, **सहोवानम्**=शत्रुओं को जीतने की शक्तिवाले हैं, **रथानां तरुतारम्**=सब रथों के प्रेरक हैं (**भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया**)। **अरिष्टनेमिम्**=(नेमिः वज्रम्—नि० २.२०) अहिंसित वज्रवाले हैं, **पृतनाजिम्**=सब शत्रु-सैन्यों का विजय करनेवाले हैं और **आशुम्**=शीघ्रता से सब कार्यों को करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम प्रभु को कल्याण के लिए पुकारते हैं। वे प्रभु सर्वव्यापक,सर्वशक्तिमान्, देवों के प्रति प्रीतिवाले, शत्रुओं का मर्षण करनेवाले, शरीररथों के प्रेरक, अहिंसित वज्रवाले, शत्रु-सैन्यों के विजेता व शीघ्रता से कार्यों को करनेवाले हैं।

८६. [षडशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वा (स्वस्त्ययनकामः) ॥ देवता—तार्क्ष्यः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

त्राता अविता

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवेहवे सुहवं शूरमिन्द्रम्।
हुवे नु शक्रं पुरुहूतमिन्द्र स्वस्ति न इन्द्रो मघवान्कृणोतु॥ १॥

१. **त्रातारम् इन्द्रं हुवे**=उस रक्षक सर्वशक्तिमान् प्रभु को पुकारता हूँ। **अवितारम्**=परमैश्वर्य के द्वारा प्रीणित करनेवाले **इन्द्रम्**=प्रभु को पुकारता हूँ। **हवेहवे**=प्रत्येक आह्वान पर **सुहवम्**=सुगमता से पुकारने योग्य **शूरम्**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् प्रभु को पुकारता हूँ। २. **नु**=अब **शक्रम्**=शक्तिशाली **पुरुहूतम्**=बहुतों से पुकारे गये **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को पुकारता हूँ। वह **मघवान्**=सब ऐश्वर्योंवाला **इन्द्रः**=सर्वशक्तिमान् प्रभु **नः**=हमारा **स्वस्ति**=कल्याण **कृणोतु**=करे।

भावार्थ—वे प्रभु हमारा रक्षण, प्रीणन व कल्याण करते हैं। उन शक्तिशाली, ऐश्वर्य-सम्पन्न प्रभु को हम पुकारते हैं।

८७. [सप्ताशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'सर्वत्र प्रविष्ट, सर्वनिर्माता' प्रभु

यो अग्नौ रुद्रो यो अप्स्व१न्तर्य ओषधीर्वीरुध आविवेश।
य इमा विश्वा भुवनानि चाक्लृपे तस्मै रुद्राय नमो अस्त्वग्नये॥ १ ॥

१. **यः रुद्रः**=जो शत्रुओं को रुलानेवाले प्रभु **अग्नौ**=अग्नि में यष्टव्यत्वेन **आविवेश**=प्रविष्ट हो रहे हैं, **यः**=जो **अप्सु अन्तः**=जलों में वरुणात्मना प्रविष्ट हैं, **यः वीरुधः ओषधीः**=जो विविधरूप से उगनेवाली फलपाकान्त लताओं में सोमात्मना प्रविष्ट हैं, **यः**=जो प्रभु **इमा विश्वा भुवनानि**=इन सब भुवनों को **चाक्लृपे**=क्लृप्त (निर्मित) करते हैं, **तस्मै**=उस **रुद्राय**=सर्वजगत् स्रष्टा, सर्वजगदनुप्रविष्ट रुद्रात्मा **अग्नये**=अग्रणी प्रभु के लिए **नमः अस्तु**=नमस्कार हो।

भावार्थ—वे रुद्ररूप प्रभु अग्नि, जल व लताओं में अनुप्रविष्ट हो रहे हैं। प्रभु ही सब भुवनों का निर्माण करते हैं। उस रुद्रात्मा अग्नि के लिए नमस्कार हो।

रुद्र का उपासक वीरुध्=ओषधियों द्वारा सर्प-विष का विनाश करनेवाला यह 'गरुत्मान्' (गरुड़) बनता है (गरुत्=Eating, swallowing)। यह विष को मानो खा ही जाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

८८. [अष्टाशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**गरुत्मान्** ॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥

सर्प-विष चिकित्सा

अपेह्यरिरस्यरिर्वा असि। विषे विषमपृक्था विषमिद्वा अपृक्थाः।
अहिमेवाभ्यपेहि तं जहि॥ १ ॥

१. हे सर्पविष! **अपेहि**=तू हमसे दूर हो। **अरिः असि**=तू हमारा शत्रु है। तू **वा**=निश्चय से **अरिः**=शत्रु **असि**=है। **विषे**=(अर्शाद्यच्) विषवाले सर्प में **विषम् अपृक्थाः**=विष को सम्पृक्त कर। **इत् वा**=निश्चय से **विषम् अपृक्थाः**=विष को विषवाले सर्प से ही संयुक्त कर। २. हे विष! तू जिसका विष है **तम्**=उस **अहिं एव**=आहन्ती साँप को ही **अभ्यपेहि**=लक्ष्य करके समीपता से प्राप्त हो और वहाँ जाकर उस सांप को **जहि**=विनष्ट कर। साँप जिसे काटे, वह यदि उस साँप को काट ले तो सर्प-विष सर्प में ही लौटकर साँप का विनाश कर देता है।

भावार्थ—सर्प-विष की सर्वोच्च चिकित्सा यही है कि सर्पदष्ट पुरुष सर्प को ही डस ले। सर्प का विष सर्प में ही जाता प्रतीत और उसे ही मारनेवाला बनेगा।

अगले सूक्त का ऋषि 'सिन्धुद्वीप' है (सिन्धवो द्वीपो यस्य, द्वीप=A place of refuge,

protection) यह जलों में रक्षण को ढूँढता हुआ प्रार्थना करता है कि—

८९. [एकोननवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मेघजल तथा गोदुग्ध के सेवन से 'वर्चस्' की प्राप्ति

अपो दिव्या अचायिषं रसेन समपृक्ष्महि।
पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा॥ १॥

१. **दिव्याः अपः**=(दिवि भवाः) अन्तरिक्ष के मेघ से प्राप्त होनेवाले जलों को **अचायिषम्**=मैंने पूजित किया है। इन्हें स्नानादि के लिए मैंने स्तुत किया है। **रसेन समपृक्ष्महि**=हम इन जलों के रस से संगत हुए हैं। २. इन दिव्य जलों के प्रयोग के साथ **अग्ने**=हे प्रभो! **पयस्वान्**=प्रशस्त दूधवाला मैं **आगमम्**=आपके समीप उपस्थित हुआ हूँ। **तं मा**=उस मुझे **वर्चसा संसृज**=वर्चस से—प्राणशक्ति से संसृष्ट कीजिए।

भावार्थ—आकाश से प्राप्त होनेवाले मेघजल तथा प्रशस्त गोदुग्ध का सेवन हमें वर्चस्वी बनाता है।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वर्चस्, प्रजा, आयु

सं माग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा।
विद्युर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात्सह ऋषिभिः॥ २॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **मा**=मुझे **वर्चसा संसृज**=वर्चस् से युक्त कीजिए। **प्रजया सम्**=उत्तम सन्तान से युक्त कीजिए, **आयुषा सम्**=आयुष्य से संगत कीजिए। २. **अस्य मे**=मेरे अभिमत को **देवाः विद्युः**=देव जानें, इसका ध्यान करें, इसे पूर्ण करने का ध्यान रक्खें। माता, पिता, आचार्य आदि देव मेरी इष्ट-प्राप्ति में सहायक हों। **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **ऋषिभिः**=तत्त्वद्रष्टा मुनियों के साथ **विद्यात्**=मेरा ध्यान रक्खें, मेरे अभिमत को प्राप्त कराने का अनुग्रह करें।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें 'वर्चस्, उत्तम प्रजा व दीर्घजीवन' प्राप्त हो। देवरूप माता, पिता, आचार्य हमें इसप्रकार बनाएँ कि हम अपने अभिमत को सिद्ध कर सकें। प्रभुकृपा से तत्त्वद्रष्टा अतिथि भी हमें इसी मार्ग पर ले-चलें।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'अवद्य मल' निरास

इदमापः प्र वहतावद्यं च मलं च यत्।
यच्चाभिदुद्रोहानृतं यच्च शेपे अभीरुणम्॥ ३॥

१. हे **आपः**=आप्त पुरुषो! (आपो वै नरसूनवः) गतमन्त्र के देवो व ऋषियो! **इदम्**=यह **अवद्यं च**=जो निन्दनीय, गर्ह्य कर्म है, **यत् च मलम्**=और मुझमें जो मलिन दुराचरण है, **अनृतम्**=जो अनृत (असत्य) है, **यत् च**=और जो **अभीरुणम्**=ऋण लेकर उसके अपलाप के लिए **शेपे**=शपथ खाता हूँ, उस सब पाप को मुझसे दूर करो।

भावार्थ—आप्त-पुरुषों के सम्पर्क में रहते हुए हम 'निन्दनीय-मलिन कर्मों को, द्रोह व अनृत को तथा अपलाप को दूर करें।

सूचना—'**अभीरुणं शेपे**' का भाव 'अनपराधी को कठोर वचन कहना' भी है। यह भी

अनुचित ही है।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिपदानिचृत्परोष्णिक्** ॥

एधः समित् तेजः

एधोऽस्येधिषीय समिदसि समेधिषीय। तेजोऽसि तेजो मयि धेहि॥ ४॥

१. हे अग्ने! **एधः असि**=(एध वृद्धौ) आप सदा से बढ़े हुए हो, **एधिषीय**=मैं भी 'स्वास्थ्य, नैर्मल्य व ज्ञान' की दृष्टि से बढ़ा हुआ बनूँ। हे प्रभो! आप **समित् असि**=(इन्ध्) सम्यक् दीप्त हैं, मैं भी **समेधिषीय**=सम्यक् दीप्त बनूँ। आप **तेजः असि**=तेज के पुञ्ज हैं, **मयि तेजः धेहि**=मुझमें तेज का आधान कीजिए।

भावार्थ—सदा से वृद्ध प्रभु मुझे बढ़ाएँ। दीप्त प्रभु की उपासना मुझे भी दीप्त करे, तेजस्वी प्रभु मुझमें तेज का आधान करें।

तेजस्वी बनकर यह अंग-प्रत्यंग में रसवाला 'अंगिराः' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

९०. [नवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अंगिराः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

दास के ओज का दम्भन

अपि वृश्च पुराणवद् व्रततेरिव गुष्पितम्। ओजो दासस्य दम्भय॥ १॥

१. हे अग्ने! (प्रभो अथवा राजन्!) **व्रततेः**=किसी बेल की **पुराणवत्**=पुरानी **गुष्पितम्**=झाड़-झंकाड़-सी बनी हुई सूखी डालियों को जिस प्रकार माली खोज-खोजकर काट डालता है, उसी प्रकार आप **दासस्य**=(दस् उपक्षये) औरों का उपक्षय करनेवालों में सर्वाग्रणी पुरुष को (दासेषु उत्तमः दास्यः) **अपिवृश्च**=छिन्नांग कर डाल, इसप्रकार **ओजः दम्भय**=इसके ओज को विनष्ट कर दे।

भावार्थ—राजा का कर्तव्य है कि राष्ट्र में दुष्ट पुरुषों को इसप्रकार छिन्नांग कर दे जैसेकि माली बेलों की सूखी, पुरानी डालियों को काट डालता है। राजा औरों का उपक्षय करनेवाले के ओज को विनष्ट कर दे।

ऋषिः—**अंगिराः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**विराट्पुरस्ताद्बृहती** ॥

दास के वसु का विभाजन

वयं तदस्य संभृतं वस्विन्द्रेण वि भजामहै।
म्लापयामि भ्रजः शिभ्रं वरुणस्य व्रतेन ते॥ २॥

१. **अस्य**=इस पुरोवर्ती शत्रुभूत जार के **संभृतं तत् वसु**=एकत्र किये हुए उस धन को **वयम्**=हम **इन्द्रेण विभजामहै**=शत्रुविद्रावक राजा के साथ विभक्त करते हैं। इस धन का एकभाग राजकोष को जाता है और दूसरा भाग जार से पीड़ित परिवार को प्राप्त होता है। २. हे जार! **ते**=तेरे **भ्रजः**=दीप्त तेज को तथा **शिभ्रम्**=(शीभृ कत्थने) आत्मश्लाघा को, **वरुणस्य व्रतेन**=पाप-निवारक देव के कर्म से—पापों को रोकनेवाले राजा की शासनव्यवस्था से **म्लापयामि**=क्षीण करता हूँ।

भावार्थ—राजा जार के धन का अपहरण करके आधा राजकोश में तथा आधा पीड़ित परिवार की सहायता के लिए दे दे। वह उचित दण्ड के द्वारा इस जार के तेज व घमण्ड को नष्ट करनेवाला हो।

ऋषिः—अंगिराः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—षट्पदाभुरिग्जगती ॥

अवस्थ के मान व बल का विनाश

यथा शेपो अपायातै स्त्रीषु चासदनावयाः। अवस्थस्य क्रदीवतः
शाङ्कुरस्य नितोदिनः यदाततमव तत्तनु यदुत्ततं नि तत्तनु॥ ३॥

१. हे राजन्! **अवस्थस्य**=(अव-स्थ) इस नीचे दर्जे के, **क्रदीवतः**=(क्रद् आह्वाने) गँवारों की भाँति लड़ाई के लिए ललकारनेवाले, **शाङ्कुरस्य**=कील के समान सबके मन में चुभनेवाले, **नितोदिनः**=निश्चय से पीड़ित करनेवाले इस दुष्ट का **यत् आततम्**=जो बल फैला हुआ है **तत् अवतनु**=उसे घटा दो, **यत् उत्ततम्**=जो पद उन्नत अवस्था तक पहुँचा हो **तत्**=उस पद को **नितनु**=नीचा कर दो। दुष्ट की शक्ति व मान का कम करना आवश्यक ही है। २. ऐसा इसलिए कीजिए **यथा**=जिससे इसका **शेपः**=कामवासना सम्बन्धी मद **अपायातै**=दूर हो जाए **च**=और वह दुष्ट **स्त्रीषु**=स्त्रियों में **अनावयाः असत्**=न पहुँच सके—उन्हें प्रलोभन में फँसाकर उनका मान नष्ट न कर सके। (**अनावयाः**=अनागच्छत्)।

भावार्थ—राष्ट्र में यदि कोई पुरुष दुष्ट व व्यभिचार की वृत्तिवाला है तो राजा को उसे नष्ट-बल व नष्ट-मानवाला कर देना चाहिए ताकि वह बल व मान के रोब से अनाचार न कर सके।

अनाचार से दूर रहनेवाला 'अथर्वा' (न डाँवाडोल होनेवाला) अगले दो सूक्तों का ऋषि है—

९१. [एकनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—चन्द्रमाः, इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

सुत्रामा स्ववान् सुमृडीकः

इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः।
बाधतां द्वेषो अभयं नः कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम॥ १॥

१. **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली, **सुत्रामा**=उत्तमता से रक्षण करनेवाले, **स्ववान्**=धनवाले, **विश्ववेदाः**=सर्वज्ञ प्रभु **अवोभिः**=रक्षणों के द्वारा **सुमृडीकः भवतु**=उत्तम सुख देनेवाले हों। २. ये प्रभु **द्वेषः (द्वेषांसि)**=द्वेष्टाओं को **बाधताम्**=हिंसित करें, **अभयं नः कृणोतु**=हमारे लिए अभयता (प्रदान) करें। हम **सुवीर्यस्य पतयः स्याम**=उत्तम शक्ति के स्वामी हों। द्वेष विष पैदा करके शक्ति का ह्रास करता है, निर्द्वेष जीवनवाले हम सुवीर्य को प्राप्त करें।

भावार्थ—प्रभु के रक्षण में निर्द्वेष जीवन बिताते हुए हम निर्भय बनें तथा सुवीर्य के पति हों।

९२. [द्विनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—चन्द्रमाः, इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

सुमति+सौमनस

स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मदाराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु।
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम॥ १॥

१. **सुत्रामा**=सुष्ठु त्राता **स्ववान्**=धनवान् **सः इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **अस्मत्**=हमसे **आरात् चित्**=दूर ही **द्वेषः**=द्वेष्टाओं को **सनुतः**=अन्तर्हित करते हुए **युयोतु**=पृथक् करें। २. **यज्ञियस्य**=यज्ञार्ह—पूजनीय **तस्य**=उस प्रभु की **सुमतौ**=श्रेष्ठ अनुग्रहबुद्धि में वर्तमान **वयम्**=हम **भद्रे सौमनसे अपि स्याम**=कल्याणकर सुमनस्कता में ही हों।

भावार्थ—प्रभु के रक्षण में हम द्वेष से दूर होते हुए सुमति व सौमनसवाले हों।

सुमति व सौमनस से परिपक्व हुआ-हुआ यह 'भृगु' व 'अङ्गिराः' (अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रस-वाला) बनता है और प्रभु की सहायता से सब शत्रुओं पर विजय पाने की अभिलाषा करता है।

९३. [त्रिनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

मन्युना इन्द्रेण

इन्द्रेण मन्युना वयमभि ष्याम पृतन्यतः। घ्नन्तो वृत्राण्यप्रति॥ १॥

१. **मन्युना** (मन्यतिर्दीप्तिकर्मा)=(मन्युमता) दीप्तिवाले **इन्द्रेण**=शत्रुओं के विद्रावक प्रभु की सहायता से **वयम्**=हम **पृतन्यतः**=संग्राम को चाहनेवाले युयुत्सु शत्रुओं को **अभिष्याम**=अभिभूत करनेवाले हों। हम **वृत्राणि**=ज्ञान पर पर्दा डाल देनेवाले पापों को (काम, क्रोध आदि शत्रुओं को) **अप्रति**=प्रतिपक्ष को शेष न रहने देते हुए **घ्नन्तः**=विनष्ट करते हुए, शत्रुओं को जीतनेवाले हों।

भावार्थ—दीप्तिमान् प्रभु को साथी पाकर हम संग्रामेच्छु शत्रुओं को पराजित करें। ज्ञान के आवरण बने हुए इन काम-क्रोध आदि को प्रभुकृपा से निःशेष कर डालें।

काम-क्रोध को समाप्त करके यह 'अथर्वा'=न डाँवाडोल होता है। अगले सूक्त में यही ऋषि है—

९४. [चतुर्नवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

केवलीः विशः

ध्रुवं ध्रुवेण हविषाऽव सोमं नयामसि। यथा न इन्द्रः केवलीर्विशः संमनसस्करत्॥ १॥

१. **ध्रुवेण हविषा**=स्थिर हवि (कर) के द्वारा **ध्रुवं सोमम्**=स्थिर सोम-स्वभाववाले राजा को **अवनयामसि**=गाड़ी से आसन्दी के प्रति अवतीर्ण करते हैं, अर्थात् राजा को गद्दी पर बिठाते हैं, और उसके लिए स्थिर रूप से कर देते हैं, तभी तो वह राष्ट्र का रक्षण कर पाता है। बिना कोष के कोई भी कार्य सम्भव नहीं। २. हम इसलिए इन्हें गद्दी पर बिठाते हैं **यथा**=जिससे कि **इन्द्रः**=यह शत्रु-विद्रावक प्रभु **नः**=हमें **केवली संमनसः विशः**=किसी अन्य पर अनाश्रित तथा परस्पर संगत मनवाली प्रजाएँ **करत्**=बनाये।

भावार्थ—राजा को निश्चितरूप से कर देने से ही राजा राष्ट्र का रक्षण कर पाएगा, अतः प्रजा का कर्त्तव्य है कि वह निश्चितरूप से राजा के लिए हवि (कर) दे। राजा प्रजा को किसी अन्य देश पर अनाश्रित, आत्मनिर्भर (Self sufficient) तथा हम प्रजाओं को परस्पर उत्तम मनवाला बनाये।

अगले दो सूक्तों का ऋषि 'कपिञ्जल' है—यह (**कपि-जल**=to encircle with a net) वानर के समान चञ्चलतावाली 'काम-क्रोध' रूप वृत्तियों को घेरकर समाप्त करता है (जल घातने)—

९५. [पञ्चनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**कपिञ्जलः** ॥ देवता—**गृध्रौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

श्यावौ गृध्रौ

उदस्य श्यावौ विथुरौ गृध्रौ द्यामिव पेततुः।
उच्छोचनप्रशोचनावस्योच्छोचनौ हृदः॥ १॥

१. **अस्य**=इस पुरुष के **हृदः उच्छोचनौ**=हृदय को उत्कर्षेण शुष्क करनेवाले (शोकान्वित करनेवाले) ये काम-क्रोध **विथुरौ**=इसकी व्यथा को बढ़ानेवाले हैं। ये **श्यावौ**=गतिशील **गृध्रौ इव**=दो गीधों के समान **द्याम् उत्पेततुः**=आकाश में ऊपर उठते हैं। ये काम-क्रोध बढ़ते ही जाते हैं। ये **अस्य**=इस पुरुष के **उच्छोचनप्रशोचनौ**=महान् शोक का कारण बनते हैं और इसे प्रकर्षेण सुखानेवाले होते हैं।

भावार्थ—'काम-क्रोध' मनुष्य के प्रबल शत्रु हैं। ये सेवन से बढ़ते ही जाते हैं। ये उसके शोक व व्यथा के बढ़ानेवाले होते हैं।

ऋषिः—**कपिञ्जलः** ॥ देवता—**गृध्रौ** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

कुर्कुरौ इव, वृकौ इव

अहमेनावुदतिष्ठिपं गावौ श्रान्तसदाविव।
कुर्कुराविव कूजन्तावुदवन्तौ वृकाविव॥ २॥

१. **अहम्**=मैं **एतौ**=इन दोनों काम-क्रोधरूप शत्रुओं को **उदतिष्ठिपम्**=उत्थापित करता हूँ, बल से इनको बाहर निकालता हूँ, उसी प्रकार **इव**=जैसेकि **श्रान्तसदौ गावौ**=थकावट के कारण बैठे हुए दो बैलों को एक किसान दण्डपातादि द्वारा बलपूर्वक उठाता है। अथवा **कूजन्तौ कुर्कुरौ इव**=जैसे भौंकते हुए दो कुत्तों को पाषाण के प्रहारादि से अपसारित करते हैं, **उद् अवन्तौ वृकौ इव**=जैसे गोयूथ में से बछड़ों को उठाकर ले-जाते हुए भेड़ियों को ग्वाले दूर भगाते हैं।

भावार्थ—ये काम-क्रोध भौंकते हुए कुत्तों के समान हैं, बछड़ों को उठाकर ले-जानेवाले भेड़ियों के समान हैं। इन्हें दूर भगाना आवश्यक है। जैसे किसान जमकर बैठे हुए दो बैलों को दण्डप्रहार से उठाकर गोष्ठ से बाहर करता है, इसी प्रकार इन काम-क्रोध को हृदय से बाहर करना आवश्यक है।

ऋषिः—**कपिञ्जलः** ॥ देवता—**गृध्रौ** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

आतोदिनौ संतोदिनौ

आतोदिनौ नितोदिनावथो संतोदिनावुत।
अपि नह्याम्यस्य मेढ्रं य इतः स्त्री पुमाञ्जभार॥ ३॥

१. ये काम-क्रोध **आतोदिनौ**=सर्वतः व्यथा प्राप्त करानेवाले हैं, **नितोदिनौ**=निश्चय से पीड़ित करनेवाले हैं **उत अथो**=और अब **संतोदिनौ**=मिलकर खूब ही कष्ट देनेवाले हैं। २. इन काम-क्रोध में **यः**=जो भी **इतः**=इधर हृदयदेश में **स्त्री पुमान् जभार**=(स्त्रियं पुमांसं वा) स्त्री या पुरुष को प्रहृत करता है (जहार प्रहृतवान्) तो मैं इस काम-क्रोध के **मेढ्रम्**=(मिह सेचने) सेचन को **अपि नह्यामि**=बद्ध करता हूँ। काम-क्रोध के सेचन को रोककर ही हम अपनी पीड़ाओं को दूर कर सकते हैं। नियमन किये गये काम-क्रोध पीड़ाकर नहीं होते।

भावार्थ—उच्छृङ्खल रूप में काम-क्रोध हमारे हृदय पर आघात करके निश्चय से खूब ही पीड़ा पहुँचाते हैं। इनके सेचन का नियमन आवश्यक है। वशीभूत काम-क्रोध ही ठीक हैं।

९६. [षण्णवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**कपिञ्जलः** ॥ देवता—**वयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अपने स्थान पर

असदन्गावः सदनेऽपप्तद्वसतिं वयः।

आस्थाने पर्वता अस्थुः स्थाम्नि वृक्कावतिष्ठिपम्॥ १॥

१. **गावः सदने असदन्**=गौएँ जैसे अपने स्थान पर बैठती हैं, **वयः**=पक्षी **वसतिं अपप्तत्**=अपने घोंसलों में पहुँचता है, **पर्वताः आस्थाने अस्थुः**=पर्वत अपने स्थान पर स्थित होते हैं, इसी प्रकार मैं **वृक्कौ**=(वृजी वर्जने) इन वर्जनीय काम-क्रोध को **स्थाम्नि प्रतिष्ठिपम्**=इनके स्थान में स्थापित करता हूँ। (स्थामन् Fixity, stability) इनकी चञ्चलता को रोकनेवाला होता हूँ।

भावार्थ—गौएँ गोष्ठ में स्थित ही ठीक लगती हैं (न कि बैठक में), पक्षी घोंसले में ही शोभित होते हैं (न कि घरों में घड़ों पर बैठे हुए), पर्वत अपने स्थान पर स्थित ही अच्छे हैं। इसी प्रकार काम-क्रोध अपने स्थान पर अचञ्चल स्थिति में ही शोभा देते हैं।

इसप्रकार काम-क्रोध की चञ्चलता को दूर करके स्थिर वृत्तिवाला 'अथर्वा' अगले तीन सूक्तों का ऋषि है।

९७. [सप्तनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सर्वप्रद, सर्वज्ञ प्रभु द्वारा जीवनयज्ञ की पूर्ति

यद॒द्य त्वा॑ प्रय॒ति य॒ज्ञे अ॒स्मिन्होत॑श्चिकित्व॒न्नवृ॑णीमही॒ह।
ध्रु॒वम॑यो ध्रु॒वमु॒ता श॑विष्ठ प्रवि॒द्वान्य॒ज्ञमुप॑ याहि॒ सोम॑म्॥ १॥

१. **यत्**=जो **अद्य**=आज, हे **होतः**=सर्वप्रद, **चिकित्वन्**=ज्ञानिन्, सर्वज्ञ प्रभो! **अस्मिन् प्रयति यज्ञे**=इस प्रवर्त्तमान, विच्छेद के बिना क्रियमाण जीवनयज्ञ में **इह त्वा अवृणीमहि**=यहाँ आपका वरण करते हैं तो आप **ध्रुवम् अयः**=निश्चय से सर्वथा (आयाक्षीः) हमारे इस यज्ञ को पूरा करते हैं। हे **शविष्ठ**=सर्वाधिक शक्ति-सम्पन्न प्रभो! **उत**=और आप **ध्रुवम्**=निश्चय से **प्रविद्वान्**=हमारे 'मन, वचन, कर्म' सबको जानते हुए **सोमम् यज्ञं उपयाहि**=इस शान्तभाव से चलनेवाले जीवन-यज्ञ में प्राप्त होओ। आपको ही इस जीवन-यज्ञ की सम्यक् पूर्ति करनी है।

भावार्थ—हम जीवन को यज्ञ का रूप दें। इस यज्ञ की पूर्ति के लिए प्रभु को आमन्त्रित करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मनसा गोभिः (सं नेष)

समि॑न्द्र नो॒ मन॑सा नेष॒ गोभिः॒ सं सू॒रिभि॑र्हरिव॒न्त्सं स्व॒स्त्या।
सं ब्रह्म॑णा दे॒वहि॑तं॒ यदस्ति॒ सं दे॒वानां॑ सुम॒तौ य॒ज्ञिया॑नाम्॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **नः**=हमें **मनसा सं नेष**=मन के साथ संयुक्त कीजिए, हमें मनस्वी बनाइए। **गोभिः**=ज्ञान-प्राप्ति की साधनभूत इन्द्रियों के साथ **सं (नेष)**=संयुक्त कीजिए। हे **हरिवन्**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **सूरिभिः स्वस्त्या सम् (नेष)**=विद्वानों के साथ और उनके द्वारा कल्याण के साथ संयुक्त कीजिए। २. हे प्रभो! हमें उस **ब्रह्मणा**=ज्ञान के साथ **सं (नेष)**=संयुक्त कीजिए, **यत्**=जोकि **देवहितं अस्ति**=विद्वानों के लिए हितकर है, अथवा सृष्टि के प्रारम्भ में 'अग्नि,वायु, आदित्य व अंगिरा' आदि देवों के हृदय में स्थापित हुआ है। हमें आप **यज्ञियानाम्**=यज्ञशील **देवानाम्**=देवों की **सुमतौ**=सुमति में **सं (नेष)**=प्राप्त कराइए।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम 'उत्तम मन, ज्ञानेन्द्रियों, विद्वानों, कल्याण, वेदज्ञान व देव-सुमति' को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अतिथियज्ञ

यानावह उशतो देव देवांस्तान्प्रेरय स्वे अग्ने सधस्थे।
जक्षिवांसः पपिवांसो मधून्यस्मै धत्त वसवो वसूनि॥ ३॥

१. हे **देव**=दिव्य गुणों से प्रकाशमय प्रभो! **यान्**=जिन **उशतः देवान् आवहः**=हमारे हित की कामनावाले देवों को आप हमारे समीप प्राप्त कराते हैं, हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **तान्**=उन्हें **स्वे सधस्थे प्रेरय**=अपने सधस्थ में—मिलकर बैठने के स्थान में प्रेरित कीजिए। वे हमारे घर को अपना ही घर समझें। उन्हें यहाँ किसी प्रकार का परायापन अनुभव न हो। २. वे देव यहाँ **जक्षिवांसः**=हव्य (पवित्र) पदार्थों को खाते हुए तथा **मधूनि पपिवांसः**=मधुर रसवाले पेय पदार्थों को पीकर आनन्द से रहें। हे **वसवः**=उत्तम निवास प्राप्त करानेवाले देवो! **अस्मै**=आपका आतिथ्य करनेवाले इस यज्ञशील यजमान के लिए **वसूनि**=ज्ञान के द्वारा निवास के लिए आवश्यक धनों को **प्रधत्त**=प्राप्त कराइए।

भावार्थ—हे प्रभो! हमारे घरों में देववृत्ति के विद्वान् आएँ, वे इसे अपना ही घर समझें। उचित खान-पान को प्राप्त करके वे हमारे लिए वसुओं का धारण करें, ज्ञान देकर हमें वसु-प्राप्ति के योग्य बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'वसुं घर्मं दिवम्' अनु

सुगा वो देवाः सदना अकर्म य आजग्म सवने मा जुषाणाः।
वहमाना भरमाणाः स्वा वसूनि वसुं घर्मं दिवमा रोहतानु॥ ४॥

१. हे **देवाः**=देववृत्ति के पुरुषो! **वः**=आपके **सदनानि**=स्थानों को **सुगा अकर्म**=सुख से जाने योग्य करते हैं। उन आपके **ये**=जोकि **मा जुषाणाः**=मेरे प्रति प्रीतिवाले होते हुए **सवने आजग्म**=मेरे इस यज्ञ में आये हो। २. आप **स्वा वसूनि**=अपने ज्ञान-धनों को **वहमानाः**=हमें प्राप्त कराते हुए तथा **भरमाणाः**=हमारे लिए इन धनों का पोषण करते हुए **वसुं घर्मं दिवम् अनु आरोहत**=ऐश्वर्य, शक्ति व ज्ञान के अनुपात में उत्कृष्ट लोक में आरोहण करनेवाले बनो।

भावार्थ—हमारे घरों में देववृत्ति के पुरुष आएँ। समय-समय पर होनेवाले यज्ञों में वे हमारे प्रति प्रीतिवाले होते हुए उपस्थित हों। हम उनके लिए सुखद स्थान की व्यवस्था करें। वे हमारे लिए ज्ञान-धनों को प्राप्त कराते हुए अपने ज्ञान व शक्ति के अनुसार उत्कृष्ट लोकों को प्राप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**५ त्रिपदाऽऽर्षीभुरिग्गायत्रीः,**
६ त्रिपदाप्राजापत्याबृहती ॥

यज्ञ

यज्ञ यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं गच्छ। स्वां योनिं गच्छ स्वाहा॥ ५॥
एष ते यज्ञो यज्ञपते सहसूक्तवाकः। सुवीर्यः स्वाहा॥ ६॥

१. हे **यज्ञ**=श्रेष्ठतम कर्म! (यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म) तू **यज्ञं गच्छ**=उपास्य परमात्मा को प्राप्त हो। हम यज्ञ करें और इन यज्ञों को प्रभु के प्रति अर्पित करनेवाले हों। हे यज्ञ! **यज्ञपतिं गच्छ**=तू यज्ञपति को प्राप्त हो, अर्थात् फल-प्रदान के द्वारा यजमान को प्राप्त होनेवाला हो। **स्वां योनिं गच्छ**=अपनी कारणभूत पारमेश्वरी शक्ति को प्राप्त हो, अर्थात् तुझे ये यजमान प्रभुशक्ति से होता

हुआ जानें। **स्वाहा**=(सु आह) यह वाणी कितनी सुन्दर है, वेद का यह कथन वस्तुतः श्रेयस्कर है। २. हे **यज्ञपते**=यजमान! **एषः**=यह **ते यज्ञः**=तुझसे किया जा रहा यज्ञ **सहसूक्तवाकः**=सूक्तवचनों के साथ हुआ है, विविध स्तोत्रों का इसमें उच्चारण हुआ है। **सुवीर्यः**=यह यज्ञ तुझे उत्तम वीर्यवाला बनाता है। **स्वाहा**=यह कथन कितना ही सुन्दर है। इसके सौन्दर्य को समझता हुआ तू यज्ञ करनेवाला बन।

भावार्थ—यज्ञ द्वारा प्रभुपूजन होता है। यह यज्ञ यजमान को उत्तम फल प्राप्त कराता है। यजमान इसे प्रभुशक्ति से होता हुआ समझे। इन यज्ञों को सूक्तवचनों के साथ करता हुआ वह उत्तम वीर्यवाला हो। यज्ञों के इन लाभों को समझता हुआ यजमान यज्ञशील बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—७ **त्रिपदासाम्नीभुरिग्जगती**, ८ **उपरिष्टाद्बृहती** ॥

देवाः=गातुविदः

वषड्ढुतेभ्यो वषडहुतेभ्यः। देवा गातुविदो गातुं वित्त्वा गातुमित ॥ ७ ॥
मनसस्पत इमं नो दिवि देवेषु यज्ञम्।
स्वाहा दिवि स्वाहा पृथिव्यां स्वाहाऽन्तरिक्षे स्वाहा वाते धां स्वाहा ॥ ८ ॥

१. मनुष्य को कुछ धन माता-पिता से या अन्य किन्हीं बन्धुओं से प्राप्त हो जाता है, यह धन 'हुत' (दत्त) है। कुछ धन वह स्वयं अर्जित करता है, यह धन 'अहुत' (किसी और से न दिया गया) है। हम **हुतेभ्यः**=दत्त धनों से **वषट्**=स्वाहा—यज्ञ—करें तथा **अहुतेभ्यः**=स्वयं अर्जित धनों से भी **वषट्**=स्वाहा व यज्ञ करें। **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **गातुविदः**=मार्ग को जाननेवाले हैं। प्रभु कहते हैं कि हे **देवा**=देवो! **गातुं वित्त्वा**=मार्ग को जानकर **गातुम् इत**=उस मार्ग पर ही चलो। मनुष्य अपने कर्त्तव्य को समझे और उसका आचरण करे। यज्ञशीलता ही हमें देव बनाती है। २. हे **मनसस्पते**=अपने मन को वश में करनेवाले जीव! **इमं नः यज्ञम्**=हमसे उपदिष्ट (प्रभूपदिष्ट) इस यज्ञ को **दिवि**=आकाश में **देवेषु**=वायु आदि देवों में **धाम्** (**धाः**)=धारण कर। **स्वाहा**=यह कितनी सुन्दर वाणी कही गई है। इस यज्ञ को तू **दिवि**=सारे आकाश की पवित्रता के निमित्त धारण कर। यह कथन सुन्दरतम है। इसी प्रकार इसे तू **पृथिव्याम्**=पृथिवी में अन्नादि की उत्पत्ति के निमित्त धारण कर। **स्वाहा**=यह कथन भी कितना सुन्दर है। इसे **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्ष के निमित्त—अन्तरिक्ष से होनेवाली वृष्टि के निमित्त धारण कर। **स्वाहा**=यह कथन सुन्दर है! **वाते**=वायु की पवित्रता के निमित्त **स्वाहा**=तू यज्ञ कर, उत्तम हव्य पदार्थों को (**धाः**) धारण कर।

भावार्थ—पिता आदि से प्राप्त तथा अपने पुरुषार्थ आदि से प्राप्त सभी धनों से हमें यज्ञ करना है। इसप्रकार यज्ञ के द्वारा पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक व वायु सब उत्तम होंगे।

९८. [अष्टनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥

'हविषा घृतेन', 'इन्द्रेण वसुना मरुद्भिः'

सं बर्हिरक्तं हविषा घृतेन समिन्द्रेण वसुना सं मरुद्भिः।
सं देवैर्विश्वदेवेभिरक्तमिन्द्रं गच्छतु हविः स्वाहा ॥ १ ॥

१. **बर्हिः**=हृदयान्तरिक्ष **हविषा घृतेन**=दानपूर्वक अदन की वृत्ति से (हु दानादनयोः, घृ क्षरणदीप्त्योः) तथा ज्ञानदीप्ति से **समक्तम्**=सम्यक् अलंकृत हो। जिस हृदय में से वासनाओं को उखाड़ दिया गया है, वह बर्हि है। इस हृदय में यज्ञशेष के सेवन की वृत्ति हो तथा यह ज्ञान

के प्रकाशवाला बने। यह हृदयान्तरिक्ष **इन्द्रेण सं (अक्तम्)**=जितेन्द्रियता की भावना से समक्त हो। **वसुना मरुद्भिः सम्**=निवास को उत्तम बनाने की भावना तथा प्राणों से समक्त हो। २. यह हृदय **देवैः**=देवपुरुषों द्वारा **विश्वदेवेभिः**=सब दिव्य गुणों से **समक्तम्**=सम्यक् अलकृंत किया जाकर **इन्द्रं गच्छतु**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को प्राप्त हो, **हविः (गच्छतु)**=दानपूर्वक अदन की वृत्ति को प्राप्त हो। **स्वाहा**=यह उत्तम वेदवाणी है। यहाँ हवि से प्रारम्भ करके हवि पर ही समाप्ति है। वस्तुतः सर्वमुख्य बात तो हवि ही है। दानपूर्वक अदन से ही प्रभु की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए हृदय को 'त्यागपूर्वक अदन की भावना, ज्ञानदीप्ति, जितेन्द्रियता, शरीर में निवास को उत्तम बनाने की भावना तथा प्राण-साधना' से युक्त करना आवश्यक है। देवलोग हृदय को दिव्य गुणों से युक्त करते हुए तथा त्यागपूर्वक अदन की वृत्तिवाले बनते हुए प्रभु को प्राप्त होते है।

९९. [नवनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वेदिः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

अलंकृत यज्ञवेदि

परि॑ स्तृणीहि॒ परि॑ धेहि॒ वेदिं॒ मा जा॒मिं मो॑षीरमु॒या शया॑नाम्।
हो॒तृ॒षद॑नं॒ हरि॑तं हिर॒ण्ययं॒ नि॒ष्का ए॒ते यज॑मानस्य लो॒के॥ १ ॥

१. हे दर्भ! **परिस्तृणीहि**=तू वेदि के चारों ओर आस्तीर्ण हो, **वेदिं परिधेहि**=वेदि को समन्तात् धारण करनेवाला बन। यज्ञवेदि के चारों ओर शाद्वल प्रदेश हो। **अमुया शयानाम्**=इस वेदि के साथ निवास करनेवाली **जामिम्**=(जायते अस्यां प्रजा इति) यजमान पत्नी को **मा मोषी**=मत हिंसित कर। यज्ञशील पत्नी का घर रोग आदि से आक्रान्त न हो। २. **होतृषदनम्**=होता का घर, यज्ञशील पुरुष का घर **हरितम्**=(हरिद्वर्णं) हराभरा अथवा दुःखों का हरण करनेवाला तथा **हिरण्ययम्**=ज्योतिर्मय होता है। वस्तुतः **एते**=ये यज्ञवेदि के चारों ओर आस्तीर्यमाण दर्भ **यजमानस्य लोके**=इस यज्ञशील पुरुष के घर में **निष्काः**=स्वर्णमय अलंकार होते हैं, अर्थात् यजमान का घर धन-धान्य से पूर्ण होता है।

भावार्थ—शाद्वल प्रदेश से आवृत यज्ञवेदि घर की शोभा हैं। यज्ञशीला गृहपत्नी घर को कभी रोगादि से हिंसित होता हुआ नहीं पाती। यज्ञमय गृह 'दुःखरहित, प्रकाशमय व धन-धान्य से पूर्ण' बनता है।

यज्ञों में व्याप्त जीवनवाला यह व्यक्ति 'यम'=संयत जीवनवाला बनता है। इसे कभी अशुभ स्वप्न नहीं आते। यह यम अगले दोनों सूक्तों का ऋषि है।

१००. [शततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दुःष्वप्न्य पाप से दूर

प॒र्याव॑र्ते दुः॒ष्वप्न्या॑त् पा॒पात् स्वप्न्या॒दभू॑त्याः।
ब्र॒ह्माहमन्त॑रं कृण्वे॒ परा॒ स्वप्न॑मुखाः॒ शुचः॑॥ १ ॥

१. **दुःष्वप्न्यात् पापात्**=अशुभ स्वप्नों के कारणभूत पाप से मैं **पर्यावर्ते**=प्रतिनिवृत्त होता हूँ। उस **अभूत्याः**=अनैश्वर्य, दरिद्रता से भी दूर होता हूँ जोकि **स्वप्न्यात्**=इसप्रकार के स्वप्नों का कारण बनती हुई निद्रासुख को विहत करती है। २. **अहम्**=मैं **ब्रह्म**=ज्ञान को **अन्तरम्**=व्यवधायक

दुःस्वप्न-निवारक **कृण्वे**=करता हूँ। यह ब्रह्म मेरा कवच बनता है और मैं दुःष्वप्न्य पापों से आक्रान्त नहीं होता। इस ब्रह्मरूप व्यवधायक से **स्वप्नमुखाः शुचः**=दुःस्वप्ननिबन्धन शोक **परा (भवन्तु)**=मुझसे दूर हों। मैं ज्ञान से सुरक्षित हुआ इन शोकों से आक्रान्त न होऊँ।

भावार्थ—हम ज्ञान को अपना कवच बनाकर, पापों व दरिद्रता से दूर होकर, अशुभ स्वप्नजनित शोकों को अपने से दूर रक्खें।

१०१. [एकोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

स्वप्न की बात पर विश्वास न करना

यत्स्वप्ने अन्नमश्नामि न प्रातरधिगम्यते।
सर्वं तदस्तु मे शिवं नहि तद् दृश्यते दिवा॥ १ ॥

१. **यत्**=जो **स्वप्ने**=स्वप्न में **अन्नम् अश्नामि**=अन्न खाता हूँ, **प्रातः न अधिगम्यते**=वह प्रातः जागने पर उपलब्ध नहीं होता। **सर्वं तत्**=वह सब स्वप्नभुक्त अन्न **मे**=मेरे लिए **शिवं अस्तु**=कल्याणकर हो, **तद् दिवा नहि दृश्यते**=वह दिन में नहीं दीखता है, अर्थात् 'स्वप्न की बातें सत्य होती हों', ऐसा नहीं है, इससे स्वप्न के कारण घबराना नहीं चाहिए।

भावार्थ—स्वप्न देखने पर हम शोक न करें। प्रत्युत अपने चित्त को दृढ़ करके स्वप्न की बात को 'असत्' समझें।

स्वप्न आदि की बातों से इतना प्रभावित न होनेवाला यह अपने को हिंसित होने से बचाता हुआ 'प्रजापति' बनता हैं। अगले सूक्त का यही ऋषि है—

१०२. [द्व्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**विराट्पुरस्ताद्बृहती** ॥

'अग्नि, वायु, आदित्य व यम' को नमस्कार

नमस्कृत्य द्यावापृथिवीभ्यामन्तरिक्षाय मृत्यवे।
मेक्षाम्यूर्ध्वस्तिष्ठन्मा मा हिंसिषुरीश्वराः॥ १ ॥

१. **द्यावापृथिवीभ्याम् नमस्कृत्य**=द्यावापृथिवी के लिए नमस्कार करके **अन्तरिक्षाय मृत्यवे**= अन्तरिक्ष व मृत्यु के लिए नमस्कार करके **ऊर्ध्वः तिष्ठन्**=ऊपर स्थित होता हुआ, अर्थात् विषय-वासनाओं में न फँसता हुआ **मेक्षामि**=गति करता हूँ (मियक्षतिर्गतिकर्मा—नि० २। २४)। 'द्यावा' मस्तिष्क है, 'पृथिवी' शरीर है। इन्हें दीप्त व दृढ़ बनाने के लिए मैं प्रभु के प्रति नमस्कारवाला होता हूँ। 'अन्तरिक्ष' हृदय है। इसे पवित्र बनाने के लिए भी मैं प्रभु के प्रति नतमस्तक होता हूँ, साथ ही मृत्यु का स्मरण भी करता हूँ। मृत्यु का स्मरण मुझे वासनाओं में फँसने से बचाता है। मैं इन वासनाओं से ऊपर उठ जाता हूँ। २. मेरी तो यही प्रार्थना है कि **मा**=मुझे **ईश्वराः मा हिंसिषुः**=आदित्य, अग्नि, वायु व यम (मृत्युदेव) हिंसित न करें। मैं अहिंसित होता हुआ चिरकाल तक इस लोक में अवस्थित रहूँ। ये देव मुझे दीर्घायुष्य प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—हम मस्तिष्क, शरीर व हृदय को दीप्त, दृढ़ व पवित्र बनाने के लिए मृत्युरूप भगवान् का स्मरण करें। यह स्मरण हमें वासनाओं से ऊपर स्थित करे। हम वासनाओं में न फँसते हुए 'अग्नि, वायु, आदित्य' देवों की अनुकूलता से दीर्घजीवी हों।

वासनाओं से ऊपर उठकर यह व्यक्ति उन्नति-पथ पर बढ़ता है। उन्नत होता हुआ 'ब्रह्मा' बनता हैं। यह 'ब्रह्मा' अगले दो सूक्तों का ऋषि हैं—

१०३. [त्र्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आत्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यज्ञकामः पूर्तिकामः

को अस्या नो द्रुहो ऽवद्यवत्या उन्नेष्यति क्षत्रियो वस्य इच्छन्।
को यज्ञकामः क उ पूर्तिकामः को देवेषु वनुते दीर्घमायुः ॥ १ ॥

१. **कः**=(को ह वै नाम प्रजापतिः—तै० २.२.१०.२) वह अनिरुक्त प्रजापति **क्षत्रियः**=क्षतों से हमारा त्राण करनेवाला है। **वस्यः इच्छन्**=प्रशस्त फल को हमारे लिए देने की इच्छा करता हुआ **नः**=हमें **अस्याः**=इस **अवद्यवत्या**=गर्ह्य कर्मोंवाली **द्रुहः**=जिघांसा से **उन्नेष्यति**=अवश्य ऊपर उठाएगा। २. **कः**=वह प्रजापति **यज्ञकामः**=हमसे अनुष्ठीयमान यज्ञों को चाहता है। **कः उ**=वह प्रजापति ही **पूर्तिकामः**=हमारी धनादि की पूर्ति को चाहता है। **कः**=वह प्रजापति ही **देवेषु**=देववृत्ति के व्यक्तियों में **दीर्घं आयुः**=दीर्घ जीवन को **वनुते**=देते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें हिंसावृत्ति से दूर करके यज्ञों द्वारा समृद्ध करते हैं और हमें दीर्घ जीवन प्राप्त कराते हैं।

१०४. [चतुरुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आत्मा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'सुदुघा नित्यवत्सा' धेनु

कः पृश्निं धेनुं वरुणेन दत्तामथर्वणे सुदुघां नित्यवत्साम्।
बृहस्पतिना सख्यं ञ्जुषाणो यथावशं तन्व ञः कल्पयाति ॥ १ ॥

१. 'पृश्नि' का अर्थ निरुक्त में 'संस्पृष्टो भासा २.१४' इसप्रकार दिया है। ज्ञानदीप्ति से युक्त यह वेद यहाँ 'धेनु' के रूप में कहा गया है। यह धेनु ज्ञानदुग्ध देनेवाली है। सुखसंदोह्य होने से 'सुदुघा' है तथा सदा ही ज्ञानदुग्ध देनेवाली होने से 'नित्यवत्सा' कही गई है। **कः**=वे अनिरुक्त प्रजापति इस **सुदुघाम्**=सुख-संदोह्य, **नित्यवत्साम्**=सदा वत्सवाली (सर्वदा नवप्रसूता), अर्थात् सदा ही ज्ञानदुग्ध देनेवाली **पृश्निम्**=ज्ञानदीप्तियों के स्पर्शवाली **धेनुम्**=वेदधेनु को **वरुणेन**=पापनिवारण के हेतु से **अथर्वणे**=(अ थर्व) स्थिरवृत्तिवाले पुरुष के लिए **दत्ताम्**=दे। २. यह वेदज्ञान को प्राप्त करनेवाला अथर्वा भी **बृहस्पतिना सख्यं जुषाणः**=उस ब्रह्मणस्पति=ज्ञान के स्वामी प्रभु से मित्रता का प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ **यथावशम्**=इन्द्रियों को वश में करने के अनुपात में **तन्वः कल्पयाति**=शरीरों को सामर्थ्ययुक्त करता है, अर्थात् जितना-जितना जितेन्द्रिय बनता है, उतना-उतना अपने को शक्तिशाली बना पाता है।

भावार्थ—प्रभु स्थिरवृत्तिवाले पुरुष के लिए पापनिवृत्ति के हेतु से इस वेदधेनु को प्राप्त कराते हैं, जोकि सुदुघा है और सदा ही ज्ञानदुग्ध देनेवाली है। प्रभु से प्रीतिपूर्वक मित्रता का स्थापन करते हुए हम जितेन्द्रिय बनकर अपने शरीरों को शक्तिशाली बनाएँ।

जिस स्थिरवृत्तिवाले पुरुष के लिए प्रभु वेदज्ञान देते हैं, वह 'अथर्वा' ही अगले दोनों सूक्तों का ऋषि है।

१०५. [पञ्चोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

दैव्य, न कि पौरुषेय

अपक्रामन्पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः।
प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह॥ १॥

१. **पौरुषेयात्**=(पुरुषकृतात्) सामान्य पुरुषों से बनाये गये वचनों (ग्रन्थों) से **अपक्रामन्**=दूर हटता हुआ, **दैव्यं वचः वृणानः**=उस देव-सम्बन्धी इस वेदवचन का वरण करता हुआ, मनुष्यकृत ग्रन्थों के स्थान में देवकृत वाणियों को अपनाता हुआ, **विश्वेभिः सखिभिः सह**=सब समान ख्यानवाले, मिलकर ज्ञान प्राप्त करनेवाले, साथियों के साथ **प्रणीतीः**=प्रकृष्ट नीति-मार्गों का—वेदोपदिष्ट न्याय्य मार्गों का **अभ्यावर्तस्व**=आभिमुख्येन अनुसरण कर।

भावार्थ—पुरुषकृत ग्रन्थों के स्थान पर देवकृत वाणियों का हम अध्ययन करें। अपने सब साथियों के साथ न्याय्य मार्गों का ही अनुसरण करें।

१०६. [षडुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**जातवेदाः, वरुणश्च**॥ छन्दः—**बृहतीगर्भात्रिष्टुप्**॥

दोषनिराकरण व अमृतत्व प्राप्ति

यदस्मृति चकृम किं चिदग्न उपारिम चरणे जातवेदः।
ततः पाहि त्वं नः प्रचेतः शुभे सखिभ्यो अमृतत्वमस्तु नः॥ १॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **यत् किञ्चित्**=जो कुछ **अस्मृति**=कर्त्तव्य के स्मरण न होने के कारण **चकृम**=हम ग़लती कर बैठते हैं, अथवा हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! जो कुछ **चरणे उपारिम**=आचरण में दोष कर बैठते हैं, **ततः**=उस ग़लती से हे **प्रचेतः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले प्रभो! **त्वं नः पाहि**=आप हमें बचाइए। २. इसप्रकार दोषों के दूर होने पर **शुभे**=शुभ कार्यों के होने पर **नः**=हम **सखिभ्यः**=सखाओं के लिए—परस्पर मित्रभाव को प्राप्त हम लोगों के लिए **अमृतत्वम् अस्तु**=अमृतत्व प्राप्त हो, नीरोगता प्राप्त हो।

भावार्थ—हम अस्मरण के कारण यदि कुछ ग़लती कर जाएँ अथवा आचरण में दोषवाले हो जाएँ तो वे सर्वज्ञ प्रकाशमय प्रभु हमें उस ग़लती से बचाएँ। शुभ मार्ग पर चलते हुए हम अमृतत्व को प्राप्त करें।

ज्ञानाग्नि में अपने को परिपक्व करके निष्पाप जीवनवाला 'भृगु' (भ्रस्ज पाके) अगले दो सूक्तों का ऋषि है—

१०७. [सप्तोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः**॥ देवता—**सूर्य आपश्च**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सूर्यस्य सप्त रश्मयः

अव दिवस्तारयन्ति सप्त सूर्यस्य रश्मयः।
आपः समुद्रिया धारास्तास्ते शल्यमसिस्त्रसन्॥ १॥

१. एक ही सूर्य ('कश्यप'=पश्यक=सदा सबको देखनेवाला—प्रकाशित करनेवाला) है, वह 'कश्यप' है। उसके अंगभूत सात सूर्य अन्य सात प्रकार की किरणें हैं (आरोगः, भ्राजः, पटरः, पतङ्गः, स्वर्णरः, ज्योतिषीमान्, विभासः)। ये **सूर्यस्य सप्त रश्मयः**=सूर्य की सात किरणें—

परस्पर समेवत (मिली हुई) किरणें, **समुद्रियाः**=समुद्र से वाष्पीभूत होकर ऊपर उठे हुए तथा मेघरूप में परिणत हुए-हुए, **आपः**=जलों को **दिवः अवतारयन्ति**=द्युलोक से नीचे उतारती हैं, अर्थात् उन जलों का ये किरणें प्रवर्षण करनेवाली होती हैं। २. **ताः**=ये **धाराः**=धारारूप से गिरनेवाले जल अथवा धारण करनेवाले जल **ते शल्यम्**=तेरे पीड़ाकारी कासश्लेष्मादि रोग को **असिस्रसन्**=(स्रंसयन्तु विनाशयन्तु) विनष्ट करें अथवा अन्नोत्पादन द्वारा दुर्भिक्ष के कष्ट को दूर करें।

भावार्थ—सूर्य-किरणें समुद्र-जलों को वाष्पीभूत करके ऊपर ले-जाती हैं। वहाँ से वे उन्हें इस पृथिवी पर बरसाती हुई हमारे रोगों व दुर्भिक्षजनित कष्टों को दूर करती है।

१०८. [अष्टोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः** देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भात्रिष्टुप्**॥

हिंस्रः स्वपापेन विहिंसितः खलु

यो न स्तायद्दिप्सति यो न आविः स्वो विद्वानरणो वा नो अग्ने।
प्रतीच्येत्वरणी दत्वती तान्मैषामग्ने वास्तु भून्मो अपत्यम्॥ १॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **यः**=जो शत्रु **नः**=हमें **तायत्**=(अन्तर्हित नामैतत्) अन्तर्हित रूप से (छिपे-छिपे) **दिप्सति**=हिंसित करना चाहता है और **यः**=जो शत्रु **नः**=हमें **आविः**=प्रकटरूप से हिंसित करना चाहता है और यदि कोई **विद्वान्**=पर-बाधन के उपायों को जाननेवाला **स्वः**=अपना बन्धु, **अरणः वा**=या कोई शत्रु हमें हिंसित करना चाहता है, **तान्**=प्रकट-अप्रकटरूप से जिघांसा आदि करनेवाले उन शत्रुओं को **दत्वती**=दाँतोंवाली **अरणी**=आर्तिकारिणी पीड़ा **प्रतीची एतु**=उसकी ओर ही गतिवाली होकर प्राप्त हो। यह पीड़ारूप राक्षसी दाँतोंवाली होकर उनको ही खा जाने के लिए प्राप्त हो। २. हे **अग्ने**=प्रभो! **एषां वास्तु मा भूत्**=इनका घर न हो। इनका निवास घरों में न होकर कारागारों में हो। **उ**=और **अपत्यं मा**=इनके सन्तान भी न हो। इनके सन्तान इनके धनों के उत्तराधिकारी न समझे जाएँ। अथवा इनके सन्तान हों ही नहीं, क्योंकि सन्तानों में पिता के गुण ही आते हैं और इसप्रकार अवाञ्छनीय तत्त्वों का वर्धन होता है।

भावार्थ—जो बन्धु व शत्रु छिपकर या प्रकटरूप से हमें हिंसित करना चाहते हैं, यह हिंसा उन्हें ही प्राप्त हो (हिंस्रः स्वपापेन विहिंसतः खलु)। इनका स्थान कारागार में हो, इनके सन्तान इनके धन के उत्तराधिकारी न हों।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

वैश्वानरेण सयुजा

यो नः सुप्ताञ्जाग्रतो वाभिदासात्तिष्ठतो वा चरतो जातवेदः।
वैश्वानरेण सयुजा सजोषास्तान्प्रतीचो निर्दह जातवेदः॥ २॥

१. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **यः**=जो **नः**=हम **सुप्तान्**=सोते हुओं को, **जाग्रतः**=जागते हुओं को, **तिष्ठतः चरतः वा**=खड़े हुओं को या चलते हुओं को **अभिदासात्**=उपक्षित (विनष्ट) करे, हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **वैश्वानरेण सयुजा**=जाठराग्निरूप सहाय से (साथी से) मिलकर **सजोषाः**=समानरूप से दुष्टदमनरूप कार्य का (जुष् सेवने) सेवन करनेवाले आप **प्रतीचः**=हमारे विनाश के लिए हमारी ओर आते हुए **तान्**=उन शत्रुओं को **निर्दह**=नितरां दग्ध कर दीजिए। २. इन औरों का उपक्षय करनेवालों की जाठराग्नि ठीक न रहे और इसप्रकार रोगाक्रान्त होकर वे स्वयं ही विनष्ट हो जाएँ।

भावार्थ—औरों का उपक्षय करनेवाले लोग प्रभु से इसप्रकार दण्डित होते हैं कि इनकी

जाठराग्नि विकृत होकर इन्हें रोगी बनाकर विनष्ट कर देती है।

पापवृत्ति से दूर होकर, धर्म में स्थिरवृत्तिवाला (बद स्थैर्य) 'बादरायणि' अगले सूक्त का ऋषि है—

१०९. [नवोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**बादरायणिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**विराट्पुरस्ताद्बृहती** ॥

'उग्र बभ्रु' प्रभु

इदमुग्राय बभ्रवे नमो यो अक्षेषु तनूवशी। घृतेन कलिं शिक्षामि स नो मृडातीदृशे॥ १ ॥

१. **उग्राय**=तेजस्वी—शत्रुओं के लिए भंयकर **बभ्रवे**=धारण करनेवाले प्रभु के लिए **इदं नमः**=यह नमस्कार है, हम 'उग्र बभ्रु' प्रभु के प्रति नतमस्तक होते हैं। **यः**=जो प्रभु **अक्षेषु**=(Sacred knowledge) पवित्र ज्ञान होने पर **तनूवशी**=हमें शरीरों को वश में करनेवाला बनाता है। पवित्र ज्ञान देकर प्रभु हमें शरीर को वशीभूत करनें में समर्थ करते हैं। २. **घृतेन**=इस ज्ञानदीप्ति के द्वारा **कलिम्**=(Strife. dissension; war, battle) झगडों व युद्धों को **शिक्षामि**=अपने से दूर करता हूँ (ताडयामि, हन्मि)। **ईदृशे**=ऐसा होने पर—परस्पर प्रेम होने पर **सः**=वे प्रभु **नः मृडाति**=हमें सुखी करते हैं।

भावार्थ—प्रभु 'उग्र' हैं 'बभ्रु' हैं। पवित्र ज्ञान देकर हमें शरीर को वश में करने की योग्यता प्रदान करते हैं। हम ज्ञान के द्वारा झगड़ों को दूर करके प्रभु के अनुग्रह के पात्र बनते हैं।

ऋषिः—**बादरायणिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यज्ञ व हव्य-सेवन

घृतमप्सराभ्यो वह त्वमग्ने पांसूनक्षेभ्यः सिकता अपश्च।
यथाभागं हव्यदातिं जुषाणा मदन्ति देवा उभयानि हव्या॥ २ ॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **त्वम्**=आप **अप्सराभ्यः**=(अप=कर्म) यज्ञादि उत्तम कर्मों में विचरनेवाली प्रजाओं के लिए **घृतम् वह**=ज्ञानदीप्ति व मल-क्षरण को प्राप्त कराइए, **च**=और **अक्षेभ्यः**=पवित्र ज्ञानों की प्राप्ति के लिए **पांसून्**=(पशि नाशने) वासना-विनाशों को तथा **सिकताः अपः** (षिच् क्षरणे)=शरीर में सिक्त किये जानेवाले रेतःकणरूप जलों को प्राप्त कराइए। प्रभु कर्मशील प्रजाओं को ज्ञान प्राप्त कराते हैं। ज्ञान के लिए वे वासना-विनाश द्वारा शरीर में ही शक्तिकणों के सेवन का सामर्थ्य प्राप्त कराते हैं। शरीर में सिक्त रेतःकण ही ज्ञानाग्नि का ईंधन बनते हैं। २. इसप्रकार ज्ञानदीप्तिवाले **देवाः**=ये देववृत्ति के पुरुष **यथाभागम्**=भाग के अनुसार **हव्यदातिं जुषाणाः**=हव्य(पवित्र) पदार्थों के दान का सेवन करते हुए—यज्ञों में अग्नि के अन्दर हव्य पदार्थों को डालते हुए, **उभयानि हव्या**=(पयः पशूनां रसमोषधीनाम्) पशुओं के दूध व ओषधियों के रसरूप दोनों हव्य पदार्थों के आनन्द का **मदन्ति**=अनुभव करते हैं।

भावार्थ—प्रभु कर्मशील प्रजाओं को ज्ञान प्राप्त कराते हैं। ज्ञान प्राप्त कराने के लिए ही वासना-विनाश व शरीर में शक्ति के सेचन का सामर्थ्य देते हैं। ये देव अपने भाग के अनुसार यज्ञों को करते हुए पशुओं के दूध व ओषधियों के रस का आनन्द लेते हैं।

ऋषिः—**बादरायणिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

हविर्धानमन्तरा सूर्यं च

अप्सरसः सधमादं मदन्ति हविर्धानमन्तरा सूर्यं च।
ता मे हस्तौ सं सृजन्तु घृतेन सपत्नं मे कितवं रन्धयन्तु॥ ३ ॥

१. **अप्सरसः**=यज्ञादि कर्मों में विचरनेवाले लोग (अप् सर) **हविर्धानम्**=(हविर्धीयते अत्र) जिसमें हव्य पदार्थों का ही भोजन के रूप में आधान होता है, उस शरीर (भूलोक) **च**=तथा **सूर्यम्**=ज्ञानसूर्य से अधिष्ठित मस्तिष्करूप द्युलोक के **अन्तरा**=बीच में—हृदयान्तरिक्ष में **सधमादं मदन्ति**=उस प्रभु के साथ स्थिति के आनन्द का अनुभव करते हैं। (सहमदनं यथा भवति तथा मदन्ति)। २. **ताः**=वे यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्तियाँ **मे हस्तौ**=मेरे हाथों को **घृतेन संसृजन्तु**=मलक्षरण से, निर्मलता से संसृष्ट करें। 'कर्मों में लगे रहना' मेरे जीवन को पवित्र बनाये। ये क्रियाशीलता की वृत्तियाँ ही **मे सपत्नम्**=मेरे शत्रुभूत **कितवम्**=(A mad person) पागलपन को **रन्धयन्तु**=विनष्ट करें। ('कितवं' शब्द यहाँ पागलपन का प्रतीक है)।

भावार्थ—क्रियाशील पुरुष पवित्र भोजन करते हुए तथा मस्तिष्क को ज्ञानसूर्य से दीप्त करते हुए हृदय में प्रभुसान्निध्य के आनन्द का अनुभव करते हैं। ये क्रियाशीलता की वृत्तियाँ हमारे हाथों को पवित्रता से संसृष्ट करती हैं तथा पागलपन को विनष्ट करती हैं।

ऋषिः—**बादरायणिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ज्ञान व प्रभु-स्तवन द्वारा विरोधी की पराजय

आदिनवं प्रतिदीव्ने घृतेनास्माँ अभि क्षर।
वृक्षमिवाशन्या जहि यो अस्मान्प्रतिदीव्यति॥ ४॥

१. **प्रतिदीव्ने**=प्रतिकूल व्यवहार करनेवाले के लिए **अस्मान्**=हमें **घृतेन**=मलक्षरण व ज्ञानदीप्ति के साथ **आदिनवं अभिक्षर**=(आदौ नवम्=स्तुतिम्, नु स्तुतौ) दिन के प्रारम्भ में स्तुति को प्राप्त करा। हम स्वाध्याय द्वारा ज्ञान प्राप्त करते हुए तथा प्रतिदिन प्रातः प्रभु-स्तवन करते हुए विरुद्ध व्यवहार करनेवालों को पराजित करें। २. हे प्रभो! **यः अस्मान् प्रतिदीव्यति**=जो हमारे साथ प्रतिकूल व्यवहार करता है, उसे इसप्रकार **जहि**=विनष्ट कीजिए, **इव**=जिस प्रकार **वृक्षम्**=वृक्ष को **अशन्या**=विद्युत् से नष्ट करते हैं।

भावार्थ—ज्ञानदीप्ति तथा प्रभु-स्तवन द्वारा हम विरोधी को पराजित करें। हे प्रभो! आप हमारे विरोधी को इसप्रकार विनष्ट कीजिए जैसेकि वृक्ष को विद्युत् नष्ट करती हैं।

ऋषिः—**बादरायणिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

कार्यसाधक धन तथा विशिष्ट ज्ञान

यो नो द्युवे धनमिदं चकार यो अक्षाणां ग्लहनं शेषणं च।
स नो देवो हविरिदं जुषाणो गन्धर्वेभिः सधमादं मदेम॥ ५॥

१. **यः**=जो प्रभु **नः द्युवे**=हमारे व्यवहार की सिद्धि के लिए **इदं धनं चकार**=इस धन को करते हैं, अर्थात् कार्यसिद्धि के लिए आवश्यक धन प्राप्त कराते हैं। **यः**=जो प्रभु **अक्षाणाम्**=पवित्र ज्ञानों के **ग्लहनम्**=ग्रहण को **शेषणं च**=तथा विशिष्टता को करते हैं, अर्थात् हमारे लिए पवित्र ज्ञानों को विशेषरूप से प्राप्त कराते हैं, **सः देवः**=वे प्रकाशमय प्रभु **नः**=हमारी **इदं हविः**=इस हवि को—दानपूर्वक अदन को, यज्ञशेष के सेवन की वृत्ति को **जुषाणः**=प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले हों। यह हवि हमें प्रभु का प्रिय बनाये। २. हम अपने इस जीवन में **गन्धर्वेभिः**=ज्ञान की वाणियों का धारण करनेवालों के साथ **सधमादं मदेम**=मिलकर एक स्थान में स्थित होते हुए आनन्द का अनुभव करें।

भावार्थ—प्रभु हमें कार्यसाधक धन प्राप्त कराते हैं, विशिष्ट पवित्र ज्ञान का ग्रहण कराते हैं। हम हवि द्वारा, त्यागपूर्वक अदन के द्वारा प्रभु का पूजन करें और ज्ञानियों के साथ मिल-बैठते हुए आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—**बादरायणिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गन्धर्वों का लक्षण

संवसव इति वो नामधेयमुग्रंपश्या राष्ट्रभृतो ह्य१क्षाः।
तेभ्यो व इन्दवो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ ६ ॥

१. गतमन्त्र के गन्धर्वों को सम्बोधित करते हुए कहते है कि **'संवसवः' इति वः नामधेयम्**='संवसवः' यह आपका नाम है, आप उत्तमरूप से मिलकर रहनेवाले या राष्ट्र में प्रजा को बसानेवाले, **उग्रंपश्याः**=तेजस्वी दिखनेवाले, **राष्ट्रभृतः**=राष्ट्र का धारण करनेवाले तथा **हि**=निश्चय से **अक्षाः**=(अक्ष पचाद्यच्) व्यवहारकुशल हो। २. हे **इन्दवः**=शक्तिशाली गन्धर्वो! **तेभ्यः वः**=उन आपके लिए हम **हविषा विधेम**=हवि के द्वारा—उचित कर-प्रदान द्वारा आदर प्रकट करें और **वयम्**=हम **रयीणां पतयः स्याम्**=धनों के स्वामी हों। इन गन्धर्वों से रक्षित हुए-हुए हम धनस्वामी बन पाएँ। (गां भूमिं धारयन्ति) ये गन्धर्व राष्ट्रभूमि का रक्षण करते हैं। रक्षित राष्ट्र में प्रजाएँ उत्तमता से धनार्जन कर पाती हैं।

भावार्थ—राष्ट्र का धारण करनेवाले गन्धर्व प्रजा को उत्तम निवास प्राप्त कराते हैं, तेजस्वी होते हैं, व्यवहार-कुशल होते हैं। ये प्रजाओं से उचित कर प्राप्त करते हुए राष्ट्र की ऐसी उत्तम व्यवस्था करते हैं कि राष्ट्र में सभी धन-स्वामी बनते हैं।

ऋषिः—**बादरायणिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कल्याण का मार्ग

देवान्यन्नाथितो हुवे ब्रह्मचर्यं यदूषिम। अक्षान्यद् बभ्रूनालभे ते नो मृडन्त्वीदृशे॥ ७ ॥

१. **यत्**=क्योंकि **नाथितः**=याचना-(प्रार्थना)-वाला होता हुआ मैं **देवान् हुवे**=ज्ञानियों को पुकारता हूँ, **यत्**=क्योंकि हम **ब्रह्मचर्यं ऊषिम**=ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास करते हैं, **यत्**=क्योंकि **बभ्रून्**=धारणात्मक **अक्षान्**=व्यवहारों को व ज्ञानों को **आलभे**=प्राप्त करता हूँ, तो **ते**=वे गतमन्त्र के गन्धर्व **ईदृशे**=ऐसी स्थिति होने पर **नः**=हमें **मृडन्तु**=सुखी करें।

भावार्थ—हम 'ज्ञान देनेवाले विद्वानों को ही पुकारें, ब्रह्मचर्यपूर्वक निवास करें, धारणात्मक व्यवहारों को ही अपनाएँ' यही कल्याण का मार्ग है।

अगले सूक्त का ऋषि, 'इन्द्राग्नी' शक्ति व प्रकाश की आराधना करता हुआ, 'भृगु' (तपस्वी) है—

११०. [दशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**इन्द्राग्नी** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

वृत्रहन्तमा

अग्न इन्द्रश्च दाशुषे हतो वृत्राण्यप्रति। उभा हि वृत्रहन्तमा॥ १ ॥

१. हे **अग्ने**=प्रकाशस्वरूप **च**=और **इन्द्रः**=सर्वशक्तिमान् प्रभो! आप दोनों रूप से **दाशुषे**=आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाले व्यक्ति के लिए **वृत्राणि**=ज्ञान पर पर्दे के रूप में आ जानेवाली वासनाओं को **अप्रति**=(अप्रतिपक्षम्=निःशेषम्) पूर्णतया **हतः**=विनष्ट करते हो। शक्तिशाली व प्रकाशस्वरूप प्रभु का उपासन वासनाओं को विनष्ट करता है। २. **उभा**=ये प्रकाश और शक्ति दोनों मिलकर **हि**=निश्चय से **वृत्रहन्तमा**=अधिक-से-अधिक वासनाओं को विनष्ट करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम अपने जीवन में प्रकाश व शक्ति का धारण करते हुए वासनाओं को जीतनेवाले बनें।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—इन्द्राग्नी ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

स्वर्ग के प्रापक 'अग्नि और इन्द्र'

याभ्यामजयन्त्स्व१रग्र एव यावातस्थतुर्भुवनानि विश्वा।
प्रचर्षणी वृषणा वज्रबाहू अग्निमिन्द्रं वृत्रहणा हुवेऽहम्॥ २॥

१. **याभ्याम् एव**=जिन अग्नि व इन्द्र के द्वारा ही, प्रकाश व बल के द्वारा ही **स्वः**=स्वर्ग को **अग्रे**=सर्वप्रथम **अजयन्**=जीतते हैं, **यौ**=जो अग्नि और इन्द्र **विश्वा भुवनानि आतस्थतुः**=सब प्राणियों में अधिष्ठित हैं, प्रकाश व बल ही प्राणियों के आधार हैं। २. ये अग्नि और इन्द्र **प्रचर्षणी**=प्रकर्षेण सबको देखनेवाले हैं, **वृषणा**=ये सुखों का सेचन करनेवाले हैं तथा **वज्रबाहू**=गतिशील व वज्र के समान दृढ़ भुजाओंवाले हैं। उन **वृत्रहणा**=सब वासनाओं का विनाश करनेवाले **अग्निम् इन्द्रम्**=अग्नि और इन्द्र को, प्रकाश व बल के देवता को **अहम् हुवे**=मैं पुकारता हूँ। प्रकाश व बल की आराधना करता हुआ मैं वासनाओं से ऊपर उठता हूँ।

भावार्थ—अग्नि और इन्द्र (प्रकाश+बल) स्वर्ग को प्राप्त कराते हैं, ये सबके आधार बनते हैं, हमारा पालन करते हैं, सुखों का सेचन करते हैं, हमें क्रियाशील व दृढ़ बनाते हैं, हमारी वासनाओं का विनाश करते हैं।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—इन्द्राग्नी ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

बृहस्पति+इन्द्र

उप त्वा देवो अग्रभीच्चमसेन बृहस्पतिः।
इन्द्र गीर्भिर्न आ विश यजमानाय सुन्वते॥ ३॥

१. **त्वा**=तुझे **बृहस्पतिः**=ब्रह्मणस्पति, ज्ञान का स्वामी **देवः**=प्रकाशमय प्रभु **चमसेन**=(तिर्यग् बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः तस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्) ज्ञान के आधारभूत मस्तिष्क के द्वारा **उपाग्रभीत्**=उपगृहीत करता है। प्रभु हमें ज्ञानपरिपूर्ण मस्तिष्क (चमस) प्राप्त कराके अपने समीप प्राप्त कराते हैं। २. हे **इन्द्रः**=सर्वशक्तिमान् प्रभो! **नः**=हमारी **गीर्भिः**=स्तुति-वाणियों के द्वारा **यजमानाय**=यज्ञशील **सुन्वते**=सोमाभिषव करनेवाले, शरीर में सोम-शक्ति का सम्पादन करनेवाले, पुरुष के लिए **आविश**=प्राप्त होओ।

भावार्थ—बृहस्पति का आराधन हमें ज्ञानपूर्ण मस्तिष्क प्राप्त कराता है। इन्द्र का स्तवन हमें शक्तिशाली बनाता है, इन्द्र बनकर हम सोम (शक्ति) का पान करते हुए शक्तिसम्पन्न बनते हैं। इस शक्ति का विनियोग हम यज्ञादि उत्तम कर्मों के करने में ही करते हैं।

ज्ञान व शक्ति के समन्वय से बढ़ा हुआ 'ब्रह्मा' अगले सूक्त का ऋषि है—

१११. [एकादशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—वृषभः ॥ छन्दः—पराबृहतीत्रिष्टुप् ॥

सोमधानः कुक्षिः

इन्द्रस्य कुक्षिरसि सोमधान आत्मा देवानामुत मानुषाणाम्।
इह प्रजा जनय यास्त आसु या अन्यत्रेह तास्ते रमन्ताम्॥ १॥

१. अपने जठर को ही सम्बोधित करता हुआ यह 'ब्रह्मा' कहता है कि तू **इन्द्रस्य**=एक जितेन्द्रिय पुरुष का **कुक्षिः असि**=जठर (उदर) है, इसीलिए तू **सोमधानः**=सोम का आधार है, तुझमें सोम सुरक्षित रूप में रहता है। अथवा तू सौम्य (वानस्पतिक) भोजनों को ही अपने में स्थापित करनेवाला है, कभी मांसाहार नहीं करता। तू **देवानां उत मानुषाणाम्**=देवों का तथा

विचारशील पुरुषों का **आत्मा**=शरीर है। तुझमें दिव्य गुणों व मानवता का निवास है। मांसाहार मनुष्य को दिव्य गुणों व मानवता से दूर ले-जाता है। २. प्रभु कहते हैं कि हे सोम का रक्षण करनेवाले पुरुष! **इह**=यहाँ गृहस्थ में **प्रजाः जनय**=सन्तानों को जन्म दे। **याः**=जो **ते**=तेरी प्रजाएँ **आसु**=इन्हीं जन्मभूमियों में निवास करती हैं, **याः अन्यत्र**=और जो अन्यत्र दूर देशों में हैं, **ताः**=वे **ते**=तेरी प्रजाएँ **इह**=इस जीवन में **रमन्ताम्**=सुखी हों।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनकर सोम का रक्षण करें और सौम्य भोजनों को ही खाएँ। इसप्रकार हम दिव्य गुणों व मानवता को अपने में स्थान दें। इस जीवन में उत्तम सन्तानों को जन्म दें। ये सन्तान यहाँ हों या कहीं दूर—वे आनन्द में रहें।

सोम का रक्षण करता हुआ पाप का निवारण करनेवाला 'वरुण' अगले सूक्त का ऋषि है—

११२. [द्वादशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**वरुणः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

शुम्भनी द्यावापृथिवी

शुम्भनी द्यावापृथिवी अन्तिसुम्ने महिव्रते।
आपः सप्त सुस्रुवुर्देवीस्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ १॥

१. **शुम्भनी**=शोभादायक **द्यावापृथिवी**=मस्तिष्क व शरीर **अन्तिसुम्ने**=(अम् गतौ, सुम्नं सुखम्) गति के द्वारा सुख देनेवाले हैं अथवा आन्तरिक (अन्ति=समीप) सुख उत्पन्न करनेवाले हैं और **महिव्रते**=महनीय व्रतोंवाले हैं। २. यहाँ—इस शरीर में **सप्त आपः सुस्रुवुः**=सात ज्ञानजल की धाराएँ बह रही हैं। 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' ये सात शीर्षण्य प्राण 'सप्तर्षि' कहलाते हैं। इनसे सात ज्ञानजल की धाराओं का प्रवाह शरीर में निरन्तर चलता है, **ताः**=वे द्यावापृथिवी तथा सात ज्ञान-जल धाराएँ **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चन्तु**=पाप से मुक्त करें।

भावार्थ—मस्तिष्क की दीप्ति, शरीर का स्वास्थ्य तथा सात ज्ञान-जल धाराएँ हमें अशुभ वृत्तियों से बचाती हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शपथ्यात्, वरुण्यात्

मुञ्चन्तु मा शपथ्या३दथो वरुण्या॒दुत।
अथो यमस्य पड्बीशाद्विश्वस्माद्देवकिल्बिषात्॥ २॥

व्याख्या देखें—अथर्व० ६.९६.२ पर।

अपने को ज्ञानाग्नि में खूब ही परिपक्व करनेवाला 'भार्गव' अगले दो सूक्तों का ऋषि है—

११३. [त्रयोदशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भार्गवः** ॥ देवता—**तृष्टिका** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥

कर्कशता

तृष्टिके तृष्टवन्दन उदमूं छिन्धि तृष्टिके। यथा कृतद्विष्टासोऽमुष्मै शेप्यावते॥ १॥

१. (तृष्ट=Harsh, pungent, rugged, hoarse) हे **तृष्टिके**=वाणी की कर्कशते! **तृष्टवन्दने**=कर्कश स्तुतिवाली **तृष्टिके**=कुत्सितदाहजनिके कर्कशते! तू **अमूं उत् छिन्धि**=उस कर्कश वाणी बोलनेवाली जिह्वा को ही छिन्न करनेवाली हो। जो कर्कश वाणी बोले, वह उस कर्कशता से अपनी जिह्वा को ही छिन्न करनेवाला बने। २. **अमुष्मै**=उस **शेप्यावते**=(शेपः बलम्) प्रशस्त बलवाले पुरुष के लिए तू **यथा**=जिस प्रकार **कृतद्विष्टा**=किये हुए द्वेषवाली

असः=है, उसी अनुपात में हे कर्कशते! तू उस कर्कशवाणी बोलनेवाली जिह्वा को ही छिन्न कर। वह शक्तिशाली पुरुष शान्त है। उसकी शान्ति ही इस कर्कश वाणी बोलनेवाले को और अधिक अशान्त व उत्तेजित कर नष्ट कर देती है।

भावार्थ—हम प्रशस्त शक्तिशाली पुरुषों के प्रति द्वेषवाले होकर कर्कश वाणी न बोलते रहें। ऐसा करने से हम अपनी जिह्वा को ही छिन्न कर बैठेंगे।

ऋषिः—**भार्गवः** ॥ देवता—**तृष्टिका** ॥ छन्दः—**शङ्कुमतीचतुष्पदाभुरिगुष्णिक्** ॥

तृष्टा=विषा

तृष्टासि तृष्टिका विषा विषातक्य सि। परिवृक्ता यथासस्यृषभस्य वशेव॥ २॥

१. हे वाणि! तू **तृष्टा असि**=बड़ी कर्कशा है, **तृष्टिका**=कुत्सितदाहजनिका है। **विषा**=विषरूप तू **विषातकी असि**=(विषं आतंकयति संयोजयति) विष के संयोजन से जीवन को कष्टमय बना देनेवाली हैं। २. तू हमसे **यथा**=उसी प्रकार **परिवृक्ता असि**=छोड़ी हुई हो, **इव**=जिस प्रकार **ऋषभस्य**=शक्ति-सेचन करनेवाले वृषभ से **वशा**=वन्ध्या गौ परिवृक्ता होती है। जैसे ऋषभ से वशा गौ उपभोग्या नहीं होती, इसी प्रकार शक्तिशाली पुरुष कर्कशवाणी का परित्याग ही करता है।

भावार्थ—कर्कशवाणी दाहजनिका है, विषरूप है, यह वन्ध्या है। शक्तिशाली पुरुष इसे सदा अपने से दूर रखता है।

११४. [चतुर्दशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भार्गवः** ॥ देवता—**अग्नीषोमौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

(अग्निषोमौ) शत्रु-निराकरण

आ ते ददे वक्षणाभ्य आ तेऽहं हृदयाद्ददे।
आ ते मुखस्य सङ्काशात्सर्वं ते वर्च आ ददे॥ १॥

१. राष्ट्र का संचालक (सभापति) 'अग्नि' है। राष्ट्र में न्याय-व्यवस्था का अध्यक्ष (मुख्य न्यायाधीश) 'सोम' है। अग्नि और सोम इन दोनों को मिलकर राष्ट्र का सुप्रबन्ध करना होता है। राजा राष्ट्र के शत्रु को सम्बोधित करता हुआ कहता है कि मैं **ते वक्षणाभ्यः**=तेरी छाती के अवयवों से बल को **आददे**=छीन लेता हूँ। **अहम्**=मैं **ते हृदयात्**=तेरे हृदय से बल का **आददे**=अपहरण करता हूँ। २. **ते मुखस्य संकाशात्**=तेरे मुख की समीपता से (संकाश=nearness) **ते सर्वं वर्चः आददे**=तेरे सारे तेज को छीन लेता हूँ, तुझे निस्तेज कर देता हूँ। (संकाश=Appearance) तेरे चेहरे को निस्तेज कर देता हूँ।

भावार्थ—अग्नि और सोम दोनों को मिलकर राष्ट्र के शत्रु को उचित दण्ड-व्यवस्था द्वारा निस्तेज करना चाहिए।

ऋषिः—**भार्गवः** ॥ देवता—**अग्नीषोमौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

रोगों व राक्षसीवृत्तियों का विनाश

प्रेतो यन्तु व्या ध्यः प्रानुध्याः प्रो अशस्तयः।
अग्नी रक्षस्विनीर्हन्तु सोमो हन्तु दुरस्यतीः॥ २॥

१. अग्नि ऐसा चाहता है कि **इतः**=यहाँ—इस राष्ट्र से **व्याध्यः**=सब रोग **प्रयन्तु**=दूर चले जाएँ। सफ़ाई आदि की व्यवस्था इतनी ठीक हो कि रोग उत्पन्न ही न हो पाएँ। **अनुध्याः प्र (यन्तु)**=सब अनुताप व दुश्चिन्तन दूर हों। **उ**=और **अशस्तयः प्र**=अस्तुतियाँ, परकृतनिन्दाएँ व हिंसाएँ दूर हों। २. इसप्रकार **अग्निः**=राष्ट्र का अग्रणी राजा राष्ट्र की **रक्षस्विनीः**=राक्षसी-

वृत्तिवाली शत्रु-सेनाओं को **हन्तु**=नष्ट करे तथा **सोमः**=सौम्य स्वभाववाला न्यायाधीश **दुरस्यतीः**=(दुष्टं परेषाम् इच्छन्तीः) दूसरों का अशुभ चाहनेवाली प्रजाओं को **हन्तु**=राष्ट्र से दूर करे। ये अग्नि और सोम राष्ट्र के अन्तः व बाह्य शत्रुओं को दूर करके राष्ट्र को सुव्यवस्थित करें।

भावार्थ—राष्ट्र से रोगों, अनुतापों, परनिन्दाओं व हिंसाओं को दूर करके सुव्यवस्थित किया जाए। अग्नि और सोम (राजा व न्यायाधीश) मिलकर राष्ट्र को बाहर व अन्दर के शत्रुओं से बचाएँ।

सुव्यवस्थित राष्ट्र में लोग स्थिर मनोवृत्तिवाले (अथर्वा) तथा सरस अंगोंवाले (अंगिराः) शक्ति-सम्पन्न बनें। व्याधिरहित शरीरवाले, अनुतापरहित मनवाले ये 'अथर्वाङ्गिरा' अगले चार सूक्तों के ऋषि हैं—

११५. [पञ्चदशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**सविता, जातवेदाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'पापी लक्ष्मी' का अदर्शन

प्र प॑ते॒तः पा॑पि लक्ष्मि॒ नश्ये॒तः प्रामुतः॑ पत। अ॒य॒स्मये॑नाङ्केन॑ द्वि॒ष॒ते त्वा॒ स॑जामसि॥ १॥

१. हे **पापि लक्ष्मि**=पापरूपिणी लक्ष्मी (अर्थात् अलक्ष्मी) अन्याय्य मार्ग से कमाये गये धन! **इतः प्रपत**=यहाँ से दूर हो जा। **इतः नश्य**=इस प्रदेश से अदृष्ट हो जा। **अमुतः प्रपत**=अति दूर देश से भी तू दूर चला जा। अन्याय्य धन का हमारे यहाँ स्थान न हो। २. **अयस्मयेन अंकेन**=लोहे के बने हुए काँटे से **त्वा**=तुझे **द्विषते सजामसि**=शत्रु के लिए सम्बद्ध करते हैं। अन्याय्य मार्ग से अर्जित धन हमारे शत्रुओं के साथ ही सम्बद्ध हो। इस धन को हम अपने से दूर ही रक्खें।

भावार्थ—अन्याय्य मार्ग से प्राप्त होनेवाला धन हमसे दूर हो। इसका स्थान हमारे शत्रुओं में ही हो।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**सविता, जातवेदाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शोषण की कारणभूत पतयालू लक्ष्मी

या मा॑ ल॒क्ष्मीः प॑तया॒लूरजु॑ष्टाभिच॒स्कन्द॒ वन्द॑नेव वृ॒क्षम्।
अ॒न्यत्रा॒स्मत्स॑वित॒स्तामि॒तो धा॒ हिर॑ण्यहस्तो॒ वसु॒ नो॒ ररा॑णः॥ २॥

१. **या**=जो **पतयालूः**=नीचे गिरानेवाली, दुर्गति की कारणभूत **अजुष्टा**=अप्रिय, निन्द्य **लक्ष्मीः**=लक्ष्मी **मा अभिचस्कन्द**=मुझे अभितः व्याप्त करती है। जो मुझे इसप्रकार व्याप्त कर लेती है, **इव**=जैसेकि **वन्दना वृक्षम्**=एक लताविशेष वृक्ष को घेर लेती है। अथवा यह पतयालू अजुष्टा लक्ष्मी मेरा इसप्रकार शोषण कर देती है (स्कन्दिर् गतिशोषणयोः) जैसेकि अमरबेल वृक्ष का। प्ररूढ़ वन्दन-तरु की शुष्कता प्रसिद्ध ही है। यह लक्ष्मी भी वृक्षरूप मेरे लिए वन्दना लता ही बन जाती है। २. हे **सवितः**=सबके प्रेरक प्रभो! **ताम्**=उस पतयालू लक्ष्मी को **अस्मत्**=हमसे **इतः अन्यत्र**=यहाँ से अन्य देश में **धाः**=स्थापित कीजिए। **हिरण्यहस्तः**=सुवर्णमय हाथोंवाले आप, सुवर्ण को हाथों में लिये हुए आप **नः**=हमारे लिए **वसु**=धन **रराणः**=देनेवाले हो। आप हमें निवास के लिए आवश्यक धन प्राप्त कराइए।

भावार्थ—अन्याय्य धन हमारे शोषण का कारण बनता है। प्रभु उसे हमसे दूर करते हुए, हमारे निवास के लिए आवश्यक पवित्र धनों को प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**सविता, जातवेदाः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पापिष्ठा Vs शिवा (लक्ष्मी)

एकशतं लक्ष्म्यो३ मर्त्यस्य साकं तन्वा जनुषोऽधि जाताः।
तासां पापिष्ठा निरितः प्र हिण्मः शिवा अस्मभ्यं जातवेदो नि यच्छ॥ ३॥

१. **एकाशतं लक्ष्म्यः**=एकाधिकशत संख्याक (१०१) लक्ष्मियाँ **मर्त्यस्य**=मनुष्य के **तन्वा साकम्**=शरीर के साथ **जनुषः अधिजाताः**=जन्म से ही उत्पन्न हुई हैं। मनुष्य स्वभावतः ही सैकड़ों प्रकार से धनों के अर्जन की वृत्तिवाला होता है। २. **तासाम्**=इन लक्ष्मियों में से **पापिष्ठाः**=जो अतिशयेन पापी लक्ष्मियाँ हैं, उन्हें **इतः**=यहाँ से **निः प्रहिण्मः**=निःशेषरूप से अपसारित करते हैं। हम अन्याय्य मार्ग से अर्जित धनों को नहीं चाहते। हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! उनमें जो **शिवाः**=मंगलकारिणी लक्ष्मियाँ हैं, उन्हें **अस्मभ्यं नियच्छ**=हमारे लिए दीजिए।

भावार्थ—मनुष्य स्वभावतः सैकड़ों सरणियों से धन का अर्जन करने में प्रवृत्त होता है। हम पापिष्ठ लक्ष्मियों को अपने से दूर करें और प्रभु के अनुग्रह से न्याय्य मार्ग से ही मंगलकारिणी लक्ष्मी का अर्जन करें।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**सविता,जातवेदाः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रमन्तां पुण्याः लक्ष्मीः

एता एना व्याकरं खिले गा विष्ठिताइव। रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम्॥ ४॥

१. **एताः**=ऊपर मन्त्र १ और २ में निर्दिष्ट **एनाः**=मन्त्र तीन में अन्वादिष्ट लक्ष्मियों को **व्याकरम्**=स्पष्ट रूप से अलग-अलग करता हूँ। उसी प्रकार **इव**=जैसेकि **खिले**=व्रज में (व्रजे—सा०) अथवा अनुपजाऊ भूमि पर **विष्ठिताः गाः**=मिलकर एक देश में स्थित गौओं को गोपाल उस-उस कार्य के लिए विवेकपूर्वक पृथक् करते हैं। २. उनमें **पुण्याः लक्ष्मीः**=जो कल्याणी लक्ष्मियाँ हैं, वे **रमन्ताम्**=मुझमें सुख से रहें। **याः पापीः**=जो पापकारिणी दुर्लक्ष्मियाँ हैं, **ताः अनीनशम्**=उन्हें अपने से दूर करता हूँ।

भावार्थ—विवेकपूर्वक पापी लक्ष्मियों को हम अपने से दूर करें, शुभ लक्ष्मियों को ही अपने समीप रखनेवाले हों।

११६. [षोडशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**चन्द्रमाः, ज्वरः** ॥ छन्दः—**१ परोष्णिक्, २ द्विपदाऽऽर्च्यनुष्टुपेकावसाना**॥

रूर व शीतज्वर

नमो रूराय च्यवनाय नोदनाय धृष्णवे। नमः शीताय पूर्वकामकृत्वने॥ १॥
यो अन्येद्युरुभयद्युरभ्येतीमं मण्डूकमभ्ये त्वव्रतः॥ २॥

१. **च्यवनाय**=(च्यावयित्रे शारीरस्वेदपातयित्रे) अत्यधिक पसीना टपकानेवाले **नोदनाय**=इधर-उधर विक्षिप्त करनेवाले, **धृष्णवे**=अभिभूत कर लेनेवाले, दबा-सा देनेवाले **रूराय**=उष्णज्वर के लिए **नमः**=नमस्कार हो, यह ज्वर हमसे दूर ही रहे। इसी प्रकार **पूर्वकामकृत्वने**=चिरकाल तक पीड़ित करने के द्वारा पहली अभिलाषाओं को छिन्न कर देनेवाले ('इदं करोमि इदं करोमि' इति पूर्वं काम्यमानं अभिलाषं शीतज्वरः निकृन्तति चिरकालं बाधाकारित्वात्) **शीताय**=शीतज्वर के लिए भी **नमः**=नमस्कार हो। हम 'रूर व शीत' दोनों ज्वरों को ही दूर से नमस्कार करते हैं। २. **यः**=जो ज्वर **अन्येद्युः**=दूसरे दिन **इमम्**=इस पुरुष को **अभ्येति**=प्राप्त होता है और जो

उभयद्युः=(उभयोः दिवसयोःअतीतयोः) दो दिन बीत जाने पर (अभ्येति) आता है, अर्थात् चातुर्थिक ज्वर **अव्रतः**=अनियत कालवाला ज्वर **मण्डूकम् अभ्येतु**=मण्डूक को प्राप्त हो। (मण्डूकी=A wanton or unchaste woman) 'मण्डूक' अपवित्र आचरणवाले पुरुष का नाम है। इस अपवित्र पुरुष को ही यह ज्वर प्राप्त हो।

भावार्थ—हम पवित्र जीवनवाले बनकर,उष्णज्वर, शीतज्वर व चातुर्थिकादि ज्वरों से पीड़ित होने से बचें। मण्डूकवृत्तिवाले पुरुष को ही ये ज्वर प्राप्त हों।

११७. [सप्तदशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पथ्याबृहती** ॥

विषय-मरुस्थली का लंघन

आ मन्द्रैरिन्द्र हरिभिर्याहि मयूररोमभिः।
मा त्वा के चिद्वि यमन्विं न पाशिनोऽति धन्वेव ताँ इहि॥ १॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **हरिभिः**=इन इन्द्रियाश्वों से **आयाहि**=हमारे समीप आनेवाला हो। उन इन्द्रियाश्वों से जोकि **मन्द्रैः**=प्रशंसनीय हैं और **मयूररोमभिः**=(मीनाति हिनस्ति इति मयूरः, रु शब्दे रोम) वासनाविध्वंसक शब्दों का उच्चारण करनेवाले हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ गम्भीर ज्ञानवाली होकर प्रशंसनीय हैं तो कर्मेन्द्रियाँ प्रभु के नामों का उच्चारण करती हुई वासनाओं का विनाश करनेवाली हैं। ये इन्द्रियाश्व हमें प्रभु की ओर ले-चलते हैं। २. इस जीवन-यात्रा में **त्वा**=तुझे **केचित्**=कोई भी विषय **मा वियमन्**=मत रोकनेवाले हों। तू विषयों से बीच में ही पकड़ न लिया जाए, **न**=जैसेकि **विं पाशिनः**=पक्षी को जालहस्त शिकारी पकड़ लेते हैं। विषय व्याध के समान हैं, हम इनके शिकञ्जे में न पड़ जाएँ। **तान्**=उन विषयों को **धन्व इव**=मरुस्थल की तरह **अति इहि**=लाँघकर तू हमारे समीप प्राप्त होनेवाला हो। विषय वस्तुतः मरुस्थल हैं, उनमें कोई वास्तविक आनन्द नहीं। उनमें फँसना तो मूढ़ता ही है।

भावार्थ—हम विषयों में न फँसते हुए प्रभु की ओर आगे बढ़नेवाले हों।

११८. [अष्टादशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**सोमः,वरुणः,देवश्च** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वर्म, सोम, वरुण

मर्माणि ते वर्मणा छादयामि सोमस्त्वा राजाऽमृतेनानु वस्ताम्।
उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वाऽनु देवा मदन्तु॥ १॥

१. जिन स्थानों पर विद्ध होकर मनुष्य शीघ्र मृत्यु को प्राप्त होता है, उन्हें मर्म कहते हैं। **ते मर्माणि**=तेरे मर्मस्थलों को **वर्मणा छादयामि**=कवच के द्वारा आच्छादित करता हूँ। कवच से आच्छादित मर्मस्थल शत्रुओं से शीर्ण नहीं किये जाते। अब **राजा**=जीवन को दीप्त करनेवाला **सोमः**=सोम (वीर्य) **त्वा**=तुझे **अमृतेन अनुवस्ताम्**=नीरोगता से आच्छादित करे, अर्थात् सोम का रक्षण तुझे नीरोग बनाए। २. **वरुणः**=द्वेष निवारण की देवता **ते**=तेरे लिए **उरोः वरीयः**=विशाल से भी विशालतर सुख **कृणोतु**=करे। **जयन्तम्**=राग-द्वेषादि सब शत्रुओं को पराजित करते हुए **त्वा**=तुझे **देवाः**=सब देव, सब दिव्यभाव, **अनुमदन्तु**=अनुकूलता से हर्षित करनेवाले हों।

भावार्थ—ज्ञानरूप कवच हमारे मर्मों का रक्षण करे। सुरक्षित सोम हमें नीरोगता प्रदान करे और निर्द्वेषता की देवता हमें आनन्दित करनेवाली हो।

॥ इति सप्तमं काण्डं समाप्तम् ॥

अथाष्टमं काण्डम्

अष्टम काण्ड के प्रथम दो सूक्तों का ऋषि 'ब्रह्मा' है, यह उत्तम सात्त्विक वृत्तिवालों में प्रथम स्थान में है, अर्थात् इसका जीवन सात्त्विकतम है, इसीलिए यह दीर्घजीवन प्राप्त करता है। इन सूक्तों का देवता (विषय) 'आयु' ही है। इसके जीवन का वर्णन निम्न मन्त्रों में देखिए—

अथाष्टादशः प्रपाठकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**पुरोबृहतीत्रिष्टुप्** ॥

सूर्यस्य भागे

अन्तकाय मृत्यवे नमः प्राणा अपाना इह ते रमन्ताम्।
इहायमस्तु पुरुषः सहासुना सूर्यस्य भागे अमृतस्य लोके॥ १ ॥

१. **अन्तकाय**=(अन्तं करोति) सब प्राणियों का नाश करनेवाले, **मृत्यवे**=प्राणों के वियोजक मृत्यु के लिए **नमः**=नमस्कार हो। इस अन्तक की कोपदृष्टि से बचने के लिए हम उचित उपाय करें। हे आयुष्काम पुरुष! **ते**=तेरे **प्राणाः अपानाः**=बहिर्मुख संचारी तथा आवङ्मुख संचारी वायुओं की वृत्तियाँ **इह रमन्ताम्**=इस शरीर में ही रमण करें। २. **अयम्**=यह प्राणसाधना करनेवाला **पुरुषः**=पुरुष **असुना सह**=प्राण के साथ **इह अस्तु**=इस शरीर में ही निवास करनेवाला हो, जोकि **सूर्यस्य भागे**=सूर्यकिरणों का सेवन करनेवाला है (भज सेवायाम्) अतएव **अमृतस्य लोके**=नीरोगता का स्थान है। जब तक यह शरीर सूर्यकिरणों के सम्पर्क में चलता है तब तक नीरोग बना रहता है—'उद्यन्नादित्यः क्रिमीन् हन्ति' उदय होता हुआ सूर्य रोग-कृमियों का विनाशक है।

भावार्थ—हम मृत्यु को दूर करने के लिए प्राणसाधना को अपनाएँ। हमारे शरीर में प्राणापानशक्ति बनी रहे। सूर्य-किरणों के सम्पर्क में रहकर हम शरीर को नीरोग रक्खें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उत्

उदेनं भगो अग्रभीदुदेनं सोमो अंशुमान्।
उदेनं मरुतो देवा उदिन्द्राग्नी स्वस्तये॥ २ ॥

१. **एनम्**=रोगादि के कारण मूर्च्छा-लक्षण अन्धतमस् में प्रवेश करते हुए उस पुरुष को **भगः**=भजनीय—सेवनीय—किरणोंवाला सूर्य **उत् अग्रभीत्**=अन्धकार से ऊपर उठाता है। **अंशुमान् सोमः**=अमृतमय किरणोंवाला चन्द्र **एनम् उत्**=इस पुरुष को ऊपर उठाता है। सूर्य-चन्द्र की किरणों के सम्पर्क में निवास से इसकी प्राणापानशक्ति ठीक बनी रहती है। २. **एनम्**=इस पुरुष को **देवाः**=सब रोगों को पराजित करने की कामनावाले (दिव् विजिगीषायाम्) **मरुतः**=उनचास भागों में विभक्त हुए ये प्राणवायु **उत्**=सब रोगों से ऊपर उठाते हैं। इसी प्रकार **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्निदेव—जितेन्द्रियता व आगे बढ़ने की भावना **उत्**=इसे रोगों से ऊपर उठाते हैं और **स्वस्तये**=इसके कल्याण के लिए होते हैं।

भावार्थ—दीर्घजीवन के लिए आवश्यक है कि हम (क) सूर्य और चन्द्र की किरणों के

सम्पर्क में रहें, (ख) प्राणसाधना में प्रवृत्त हों, (ग) जितेन्द्रिय बनें और (घ) हममें आगे बढ़ने की भावना हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**पुरोबृहतीत्रिष्टुप्**॥

'असु-प्राण-आयु व मन'

इह तेऽसुरिह प्राण इहायुरिह ते मनः।
उत्त्वा निर्ऋत्याः पाशेभ्यो दैव्या वाचा भरामसि॥ ३॥

१. हे आयुष्काम पुरुष! **इह ते असुः**=यहाँ—इस शरीर में तेरा यह 'असु' है (अस् क्षेपणे) सब रोगों को परे फेंकनेवाली शक्ति है। **इह प्राणः**=यहाँ तुझे प्राणित करनेवाला यह प्राण है। 'प्राण-अपान-उदान-व्यान व समान' के रूप में यह शरीर के सब व्यवहारों को ठीक से चलानेवाला है। **इह आयुः**=यहाँ तेरा यह जीवन है 'शतायुर्वै पुरुषः' सौ वर्ष के लिए नियत तेरा जीवन है। **इह ते मनः**=यहाँ तेरा यह मन है—यह तेरा मन 'ज्योतिषां ज्योतिः' ज्योतियों की भी ज्योति है—'येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्' यह मन भूत, भुवन, भविष्यत् का परिगृहीता व अमृत है। २. इन सबके होते हुए रोगादि सम्भव ही कैसे हो सकते हैं? हम **दैव्या वाचा**=देव के द्वारा दी गई वेदवाणी के द्वारा **त्वा**=तुझे **निर्ऋत्याः पाशेभ्यः**=दुर्गति की बन्धन-रज्जुओं से **उत् भरामसि**=ऊपर उठाते हैं। वेदज्ञान द्वारा 'असु,प्राण,आयु व मन' का ठीक ज्ञान प्राप्त करता हुआ तू दुर्गति के पाशों से नहीं जकड़ा जा सकता।

भावार्थ—हम वेदवाणी के द्वारा शरीरस्थ 'असु,प्राण,आयु व मन' का ठीक ज्ञान प्राप्त करके उनके उचित विनियोग व शक्तिवर्धन से दुर्गति के पाशों में जकड़े जाने से अपने को बचाएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः**॥

वेदज्ञान, अग्निहोत्र, सूर्यकिरण-सेवन

उत्क्रामातः पुरुष माव पत्था मृत्योः पड्बीशमवमुञ्चमानः।
मा च्छित्था अस्माल्लोकादग्नेः सूर्यस्य सन्दृशः॥ ४॥

१. हे **पुरुष**=इस देवनगरी में निवास करनेवाले पुरुष! **अतः उत् क्राम**=वेदज्ञान द्वारा इस मृत्युपाश-समूह से तू ऊपर उठ। **मा अवपत्थाः**=तू अवनति-गर्त में गिरनेवाला न हो। **मृत्योः पड्बीशम्**=मृत्यु के पादबन्धन पाश को **अवमुञ्चमानः**=तू अपने से सुदूर विच्छिन्न करनेवाला हो। २. **अस्मात् लोकात्**=गत मन्त्र में 'दैव्या वाचा' शब्दों से वर्णित वेदज्ञान के प्रकाश से (लोक=आलोक) **मा छित्थाः**=तू पृथक् मत हो। **अग्नेः संदृशः**=अग्नि के सन्दर्शन से तू पृथक् न हो—नित्य अग्निहोत्र का दर्शन करनेवाला बन तथा **सूर्यस्य (संदृशः)**=सूर्यदर्शन से पृथक् मत हो—सूर्यकिरणों के सम्पर्क में रहनेवाला बन।

भावार्थ—दीर्घजीवन के लिए आवश्यक है कि हम (क) वेदज्ञान प्राप्त करें,(ख) नियम से अग्निहोत्र करें, (ग) सूर्य-किरणों के सम्पर्क में जीवन-यापन करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

शुद्ध वायु, पवित्र जल व सूर्यकिरण

तुभ्यं वातः पवतां मातरिश्वा तुभ्यं वर्षन्त्वमृतान्यापः।
सूर्यस्ते तन्वे३ शं तपाति त्वां मृत्युर्दयतां मा प्र मेष्ठाः॥ ५॥

१. हे पुरुष! **तुभ्यम्**=तेरे लिए यह **मातरिश्वा**=(मातरि अन्तरिक्षे श्वयति) अन्तरिक्ष में गति करनेवाला **वातः**=वायु **पवताम्**=बहे—पवित्रता करनेवाला हो। **तुभ्यम्**=तेरे लिए **आपः**=जल

अमृतानि वर्षन्तु=अमृतों का वर्षण करें। ये मेघजल तुझे नीरोगता प्राप्त कराएँ। २. **सूर्यः ते तन्वे शं तपाति**=यह सूर्यदेव तेरे शरीर के लिए सुखकर होकर तपे। **मृत्युः त्वा दयताम्**=यह मृत्यु तेरा रक्षण करे, **मा प्रमेष्ठाः**=तू हिंसित न हो।

भावार्थ—'शुद्ध वायु का सेवन, पवित्र मेघ-जलों का ग्रहण व सूर्यकिरणों में निवास' हमें दीर्घजीवन प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उद्यानम्, न अवयानम्

उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि।
आ हि रोहेमममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि॥ ६॥

१. हे **पुरुष**=इस देवपुरी में निवास करनेवाले पुरुष! **ते उद्यानम्**=तेरा उद्गमन—उन्नति ही हो, **न अवयानम्**=कभी तेरा अधोगमन—अवनति न हो। **ते**=तेरे लिए **जीवातुम्**=जीवन औषध तथा **दक्षतातिम्**= बल की वृद्धि **कृणोमि**=करता हूँ। तेरे लिए नीरोगता तथा शक्ति प्राप्त कराता हूँ। २. तू **अमृतम्**=अमरणधर्मा—रोगरहित **सुखम्**=(सु-ख) उत्तम इन्द्रियोंवाले **रथम्**=इस शरीर-रथ पर **आरोह**=आरोहण कर, **अथ**=अब उत्तम जीवन-यात्रा के अन्तिम भाग में **जिर्विः**=पूर्ण अवस्था—बड़ी उम्र को प्राप्त हुआ तू **विदथम् आवदासि**= समन्तात् ज्ञान का प्रचार करनेवाला हो, अपने ज्ञान व अनुभवों से औरों को लाभ पहुँचानेवाला हो।

भावार्थ—हम ऊपर उठें, अवनत न हों। जीवन-शक्ति व बल प्राप्त करें। नीरोग, स्वस्थ इन्द्रियोंवाले शरीर-रथ में जीवन-यात्रा करते हुए जीवन के अन्तिम भाग में ज्ञान का प्रसार करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**त्रिपाद्विराड्गायत्री** ॥

मृत्यु की चिन्ता न करना

मा ते मनस्तत्र गान्मा तिरो भून्मा जीवेभ्यः प्र मदो मानु गाः पितॄन्।
विश्वेदेवा अभि रक्षन्तु त्वेह॥ ७॥

१. हे पुरुष! **ते मनः तत्र मा गात्**=तेरा मन वहाँ=यमलोक में न जाए, अर्थात् तू मृत्यु की चिन्ता से ग्रस्त मत हो। **मा तिरः भूत्**=तेरा मन तिरोहित—विलीन सा—चिन्ता में डूबा हुआ न हो। **मा जीवेभ्यः प्रमदः**=जीवित लोगों के विषय में अपने कर्त्तव्य में तू प्रमादयुक्त न हो। २. **पितॄन् मा अनुगाः**=हर समय चिन्ताकुल हुआ-हुआ तू पितरों के पीछे मत चला जा। **विश्वे देवाः**=सब देव—सूर्य आदि प्राकृतिक देव अथवा इन्द्रियाँ **त्वा**=तुझे **इह**=इस शरीर में **अभि-रक्षन्तु**=सर्वतः रक्षित करें। तू सूर्यादि के सम्पर्क में स्वस्थ इन्द्रियोंवाला होता हुआ दीर्घजीवी बन।

भावार्थ—हम मौत की ही चिन्ता न करते रहें। हमारा मन तिरोहित-सा न बना रहे। हम जीवित लोगों के प्रति अपने कर्त्तव्यों में प्रमाद न करें। सूर्यादि देवों के सम्पर्क में स्वस्थ तथा सुरक्षित जीवन बिताएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**विराट्पथ्याबृहती** ॥

मृत्युर्वै तमः, प्राणो ज्योतिः

मा गतानामा दीधीथा ये नयन्ति परावतम्।
आ रोह तमसो ज्योतिरेह्या ते हस्तौ रभामहे॥ ८॥

१. **मा गतानाम् आदीधीथा**=(दीधी देवने) तू चले गये व्यक्तियों का ही रोना मत रोता रह अथवा उन्हीं का ध्यान मत करता रह, उन गये हुओं का ध्यान न कर, **ये**=जो **परावतं**

नयन्ति=तुझे भी दूर देश में ले-जाते हैं। मरे हुओं को रोता रहेगा तो तू भी मरेगा ही। २. **तमसः**=मृत्यु की चिन्ता के अन्धकार से **ज्योतिः आरोह**=तू प्रकाश में आरोहण कर। **एहि**=तू समन्तात् कर्त्तव्यों में गतिवाला हो। **ते हस्तौ आरभामहे**=हम तेरे हाथों को पकड़ते हैं, तुझे सहारा देकर अन्धकार से ऊपर उठाते हैं। गतमन्त्र में संकेतित 'विश्वेदेवा:'=सब देव हमारे उत्थान में सहायक होते हैं।

भावार्थ—हम गये हुओं का ही रोना न रोते रहकर मृत्यु के अन्धकार से जीवन की ज्योति में आरोहण करें, कर्त्तव्य-कर्मों में तत्पर हों। सब देव इस उत्थान में हमारे सहायक हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपंक्तिः** ॥

'श्यामः शबलः च' श्वानौ (यमरूप)

श्यामश्च त्वा मा शबलश्च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी श्वानौ।
अर्वाङेहि मा वि दीध्यो मात्र तिष्ठः पराङ्मनाः ॥ ९ ॥

१. 'अहर्वै शबलो रात्रिः श्यामः' (कौ० २।९) इस वाक्य के अनुसार 'दिन और रात्रि' ही यम के शबल व श्याम श्वा हैं। हे पुरुष! ये **यौ**=जो **श्यामः च शबलः च**=रात्रि व दिनरूप (श्याम व शबल वर्णवाले) **यमस्य**=सर्वनियन्ता प्रभु के **पथिरक्षी श्वानौ**=मार्गरक्षक श्वा हैं, ये **प्रेषितौ**=भेजे हुए **त्वा**=तुझे **मा**=मत सन्दष्ट करें। दिन व रात्रि हमारे जीवनों को काटते चलते हैं। इसी दृष्टि से इन्हें यमराज के 'श्वा' कहा गया है। २. हे पुरुष! तू इनसे असन्दष्ट हुआ-हुआ **अर्वाङ् एहि**=हमारे सामने आनेवाला बन। **मा विदीध्यः**=गये हुए पुरुषों का विलाप ही मत करता रह। सब प्रकार के रोने-पीटने को छोड़कर अपने कर्त्तव्य-कार्यों को करने के लिए उद्यत हो। **अत्र**=इस जीवन में **पराङ्मनाः**=सुदूर गये हुए मनवाला होकर **मा तिष्ठः**=मत स्थित हो। गये हुए पुरुषों का ही राग न अलापता रह। भटकते हुए मन को स्थिर करके कर्त्तव्य-कर्मों में तत्पर हो।

भावार्थ—दिन-रात्रिरूप यमराज के श्वान ही हमें न काटते रहें। इनसे सन्दष्ट हुए-हुए हम मरे हुओं का राग ही न अलापते रहें। न भटकते हुए मनवाले होकर हम अपने कर्त्तव्यों को करने में तत्पर हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

परस्तात् भयं, अर्वाक् अभयम्

मैतं पन्थामनु गा भीम एष येन पूर्वं नेयथ तं ब्रवीमि।
तम एतत्पुरुष मा प्र पत्था भयं परस्तादभयं ते अर्वाक्॥ १० ॥

१. हे पुरुष! **एतं पन्थाम् मा अनुगाः**=इस मार्ग के पीछे मत जा, जिससे कि मृत जाते हैं। **एषः भीमः**=यह गये हुओं का स्मरण करते रहने का मार्ग भयंकर है। मृतों का ही शोक करते रहना ठीक नहीं। इस मार्ग पर जाने के निषेध के द्वारा मैं तुझे **तं ब्रवीमि**=उस मार्ग का उपदेश करता हूँ, **येन पूर्वं न इयथ**=जिससे मृत्युकाल से पूर्व तू नहीं जाता है। मरों का ही शोक करता रहेगा तो समय से पहले जाएगा ही। २. **एतत्**=यह मरे हुओं का ही शोक करते रहना तो **तमः**=अन्धकार है—अज्ञान है। **मा प्रपत्थाः**=इसकी ओर मत जा। **परस्तात्**=परे, अर्थात् इहलोक के कर्त्तव्यों में ध्यान देकर गये हुओं का शोक करते रहने में तो **भयम्**=भय-ही-भय है। **अर्वाक्**=हम सबके सम्मुख आने में ही **अभयम्**=निर्भयता है। कल्याण इसी बात में है कि तू शोक को छोड़कर जीवितों के सम्मुख प्राप्त हो और उनके प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन कर।

भावार्थ—गये हुओं का ही शोक करते रहना और अपने कर्त्तव्यों में प्रमाद करना भयान्वित

मार्ग है। यह तो हमें समय से पूर्व ही मृत्यु-मुख में ले-जाएगा।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अग्नयः

रक्षन्तु त्वाऽग्नयो ये अप्स्व१न्ता रक्षतु त्वा मनुष्या३ यमिन्धते।
वैश्वानरो रक्षतु जातवेदा दिव्यस्त्वा मा प्र धाग्विद्युता सह॥ ११॥

१. **त्वा**=तुझे ये **अग्नयः**=अग्नियाँ **रक्षन्तु**=रक्षित करें, ये **अप्सु अन्तः**=जो प्रजाओं में निवास करती हैं, ये अग्नियाँ 'माता, पिता, आचार्य' रूप हैं। 'पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताऽग्निर्दक्षिणः स्मृतः। गुरुराहवनीयस्तु साऽग्नित्रेता गरीयसी' मातारूप अग्नि तुझे चरित्रवान्, पितारूप अग्नि शिष्टाचार-सम्पन्न तथा गुरुरूप अग्नि ज्ञानदीप्त जीवनवाला बनाये। वह अग्नि भी **त्वा रक्षतु**=तेरा रक्षण करे, **यम्**=जिसे **मनुष्याः**=मननशील पुरुष **इन्धते**=यज्ञवेदी में दीप्त किया करते हैं। यह अग्निहोत्र में दीप्त अग्नि भी रोगकृमियों के विनाश के द्वारा तेरा रक्षण करे। २. वह **जातवेदाः**=सर्वज्ञ, सर्वव्यापक **वैश्वानरः**=मानवमात्र का हित करनेवाला प्रभु **रक्षतु**=तेरा रक्षण करे। यह **दिव्यः**=द्युलोक में होनेवाला सूर्यरूप अग्नि **विद्युता सह**=विद्युत् के साथ **त्वा मा प्रधाक्**=तुझे दग्ध करनेवाला न हो। सूर्य या विद्युत् के कारण किसी प्रकार की आधिदैविक आपत्ति तुझपर न आये।

भावार्थ—माता,पिता व आचार्यरूप अग्नियों से हमारा जीवन बड़ा सुन्दर बने। नियम से अग्निहोत्र करते हुए हम रोगकृमियों का विनाश करके सुखी व नीरोग हों। प्रभु हमारे रक्षक हों। प्रभु की ये सूर्य या विद्युद्रूप विभूतियाँ हमारे लिए कल्याणकर हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**पञ्चपदाजगती**॥

कामाग्नि तथा देवाग्नि से रक्षण

मा त्वा क्रव्यादभि मंस्तारात्संकसुकाच्चर।
रक्षतु त्वा द्यौ रक्षतु पृथिवी सूर्यश्च त्वा रक्षतां चन्द्रमाश्च।
अन्तरिक्षं रक्षतु देवहेत्याः॥ १२॥

१. हे पुरुष! **क्रव्यात्**=मांस को खा जानेवाला, तुझे अमांस (Emaciated दुर्बल) बना देनेवाला, यह कामाग्नि **त्वा**=तुझे **मा अभिमंस्त**='मेरा यह आहार है' ऐसा अभिमान न करे। तू इस **संकसुकात्**=(कस् to destroy, संकसुक=bad, wicked) नष्ट कर देनेवाली दुरितमय (महापाप्मा) अग्नि से **आरात् चर**=दूर गतिवाला हो। कामाग्नि का तू शिकार न हो जाए। २. यह **द्यौः**=द्युलोक **त्वा रक्षतु**=तेरा रक्षण करे, **पृथिवी रक्षतु**=पृथिवी तेरा रक्षण करे। **सूर्यः च चन्द्रमाः च**=सूर्य और चन्द्रमा **त्वा रक्षताम्**=तेरा रक्षण करें। **अन्तरिक्षम्**=यह अन्तरिक्षलोक भी **देवहेत्याः**=इस विद्युद्रूप देववज्र से **रक्षतु**=तेरा रक्षण करे, अर्थात् किसी प्रकार की आधिदैविक आपत्ति तुझपर न आ पड़े।

भावार्थ—अध्यात्म में हम कामाग्नि का शिकार न हों तथा आधिदैविक जगत् में द्युलोक, पृथिवीलोक व अन्तरिक्षलोक तथा सूर्य-चन्द्र आदि से आनेवाली आधिदैविक आपत्तियों से बचे रहें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**त्रिपदाभुरिग्महाबृहती**॥

षड् देवाः

बोधश्च त्वा प्रतीबोधश्च रक्षतामस्वप्नश्च त्वाऽनवद्राणश्च रक्षताम्।
गोपायंश्च त्वा जागृविश्च रक्षताम्॥ १३॥

१. **बोधः च प्रतिबोधः च**=बोध और प्रतिबोध **त्वा रक्षताम्**=तेरा रक्षण करें। वस्तुओं का

ज्ञान 'बोध' कहाता है और प्रत्येक वस्तु में प्रभु की महिमा का ज्ञान 'प्रतिबोध' शब्द से कहा जाता है। जब हम किसी भी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करते हैं, उस समय उसकी रचना व गुणों में विचित्रता देखते हुए हमें प्रभु की महिमा का भी स्मरण होता है। ऐसा होने पर हम उस वस्तु का ठीक ही प्रयोग करते हैं, उसका अयोग व अतियोग न करके ठीक ही योग करनेवाले बनते हैं। यह यथायोग ही हमारा रक्षण करता है। २. **अस्वप्नः च**=न सो जाना **अनवद्राणः च**=और कुटिल गतिवाला न होना—ये भी **त्वा रक्षताम्**=तेरा रक्षण करें। हम सो न जाएँ, साथ ही गति को कुटिल भी न होने दें। 'सो जाना' तामसी वृत्ति है, 'कुटिलगति' राजसी वृत्ति है। इनसे ऊपर उठकर हम सात्त्विकी वृत्तिवाले बनें। यही वृत्ति हमारा रक्षण करती है। ३. **गोपायन् च**=शरीर का रक्षण करता हुआ यह सात्त्विकभाव **च**=तथा **जागृविः**=जागरित रहना—प्रमादी होकर कर्त्तव्य-कर्मों से विमुख नहीं होना—ये दोनों भाव भी **त्वा रक्षताम्**=तेरा रक्षण करें। हम जीवन-यात्रा में सदा अपना रक्षण करनेवाले तथा नीरोग बनें, जागते हुए रहें, जिससे कामादि शत्रुओं के शिकार न हो जाएँ।

भावार्थ—'बोध-प्रतिबोध', 'अस्वप्न-अनवद्राण' तथा 'गोपायन् और जागृवि' हमारा रक्षण करें। ये क्रमशः 'प्राणापान, मन, बुद्धि और चक्षुर्द्वय' के अभिमानी देव हैं। ये हमारा रक्षण करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**द्विपदासाम्नीभुरिग्बृहती** ॥

तेभ्यः नमः, तेभ्यः स्वाहा (गोपन व रक्षण)

ते त्वा॑ रक्षन्तु ते त्वा॑ गोपायन्तु तेभ्यो॒ नम॒स्तेभ्यः॒ स्वाहा॑॥ १४॥

१. मन्त्र १३ में कहे गये **ते**=वे छह देव **त्वा रक्षन्तु**=तेरा रक्षण करें, तुझे वासनाओं का शिकार न होने दें। **ते त्वा गोपायन्तु**=वे तेरा रक्षण करें, तुझे नाना प्रकार के रोगों से आक्रान्त न होने दें। **तेभ्यः**=उन 'बोध-प्रतिबोध' आदि के द्वारा सूचित देवों के लिए **नमः**=नमस्कार हो। इन देवों का उचित आदर करते हुए हम स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मनवाले बनें। **तेभ्यः स्वाहा**=उन देवों को अपनाने के लिए हम आत्मत्याग करते हैं (स्व+हा) बिना त्याग के हममें इन देवों का निवास सम्भव नहीं।

भावार्थ—'बोध-प्रतिबोध' आदि देव हमारे 'शरीर व मन' का रक्षण करें। इन देवों को हम आदर दें। 'इन्हें धारण करना' जीवन का लक्ष्य बनाएँ। इनके धारण के लिए स्वार्थ-त्याग करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपंक्तिः** ॥

वायु-इन्द्र-धाता-सविता-त्रायमाण

जी॒वेभ्य॑स्त्वा स॒मुदे॑ वा॒युरिन्द्रो॑ धा॒ता द॑धातु सवि॒ता त्राय॑माणः।
मा त्वा॑ प्रा॒णो बलं॑ हासी॒दसुं॒ तेऽनु॑ ह्वयामसि॥ १५॥

१. **त्वा**=तुझे **जीवेभ्यः**=तेरे पोषणीय पुत्र-भार्या-दासादि जीवों के लिए **समुदे**=आनन्द-युक्त जीवन के निमित्त (स+मुदे) **वायुः**=गति द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाला, **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावक, **धाता**=सबका धारक, **सविता**=सर्वोत्पादक व सर्वप्रेरक **त्रायमाणः**=रक्षक प्रभु **दधातु**=धारण करे। तू भी 'वायु' बन—गति के द्वारा बुराइयों का संहार करनेवाला बन। 'इन्द्र' जितेन्द्रिय बन, **धाता**=धारण करनेवाला, **सविता**=निर्माण के कार्यों में प्रवृत्त व **त्रायमाणः**=रक्षक बन। ये बातें ही तेरे जीवन को आनन्दमय बनाएँगी। २. **त्वा**=तुझे **प्राणः**=प्राणशक्ति व **बलम्**=बल **मा हासीत्**=मत छोड़ जाएँ। **ते असुम्**=तेरे प्राण को **अनु ह्वयामसि**=अनुकूलता से पुकारते हैं। तेरे प्राण सचमुच सब दोषों का क्षेपण करते हुए 'असु' इस अन्वर्थ नामवाले हों।

भावार्थ—हम 'वायु, इन्द्र, धाता, सविता व त्रायमाण' प्रभु की उपासना करते हुए 'क्रियाशील,

जितेन्द्रिय, धारक, निर्माण-कार्यों में प्रवृत्त व रक्षक बनें। प्राण व बल हमें न छोड़ जाएँ। हमारे प्राण सब दोषों को दूर करनेवाले हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपंक्तिः** ॥

'जम्भ, संहनु, तमस्, जिह्वा व बर्हि' का शिकार न होना

मा त्वा जम्भः संहनुर्मा तमो विदन्मा जिह्वा बर्हिः प्रमयुः कथा स्याः।
उत्त्वादित्या वसवो भरन्तूदिन्द्राग्नी स्वस्तये॥ १६॥

१. **मा**=मत **त्वा**=तुझे **जम्भः**=(जम्भनं Sexual intercourse) काम-विलास **विदत्**=प्राप्त करे। तू कामोपभोग में न फँस जाए, **संहनुः**=क्रोध में दाँतों का कटकटाना (Clashing) भी मत प्राप्त हो— तू एकदम क्रोध में आपा न खो बैठे। **मा तमः**=(विदत्)=अज्ञानान्धकार भी तुझे प्राप्त न हो। **मा जिह्वा**=जिह्वा तुझे प्राप्त न करे, अर्थात् तू बहुत खाने की वृत्तिवाला न बन जाए। **बर्हिः** (बर्ह् to speak)=तू बहुत बोलनेवाला न हो जाए। ऐसा होने पर **प्रमयुः कथा स्याः**=(प्रगतहिंसः) हिंसा को प्राप्त न होनेवाला तू कैसे हो सकता है? 'काम, क्रोध, अज्ञान, अतिभक्षण व अतिभाषण' की वृत्तियाँ ही विनाश का कारण बनती हैं। २. **त्वा**=तुझे **आदित्याः**=सब ज्ञानों का आदान करनेवाले और **वसवः**=निवास को उत्तम बनानेवाले पुरुष (माता, पिता व आचार्य) **उद् भरन्तु**=जम्भ आदि से ऊपर उठानेवाले हों—तुझे इनका शिकार न होने दें। **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि—जितेन्द्रियता तथा आगे बढ़ने की भावना तुझे **उत्**=कामादि का शिकार होने से बचाएँ, तेरा उद्धार करें। इसप्रकार ये सब **स्वस्तये**=तेरे कल्याण के लिए हों।

भावार्थ—हम 'काम, क्रोध, अन्धकार (अज्ञान), अतिभुक्ति तथा अतिवोक्ति (बहुत बोलने)' के शिकार न हों। हमें ज्ञानी व हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले माता, पिता, आचार्य काम-क्रोध आदि की वृतियों से ऊपर उठाएँ। हम जितेन्द्रिय व आगे बढ़ने की वृत्तिवाले हों। इसप्रकार हम अपना कल्याण सिद्ध करनेवाले बनें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

द्यौः—पृथिवी

उत्त्वा द्यौरुत्पृथिव्युत्प्रजापतिरग्रभीत्। उत्त्वा मृत्योरोषधयः सोमराज्ञीरपीपरन्॥ १७॥

१. हे पुरुष! **त्वा**=तुझे **द्यौः**=द्युलोक **उत् अग्रभीत्**=मृत्यु से ऊपर उठाए। द्युलोकस्थ सूर्य रोगकृमि-विनाशक किरणों के द्वारा तुझे नीरोगता प्रदान करे। **पृथिवी उत्**=यह पृथिवी तुझे मृत्यु से ऊपर उठाए। **प्रजापतिः**=प्रजाओं का रक्षक प्रभु **उत्**=तुझे मृत्यु से ऊपर उठाए। यह पृथिवी माता तुझे शरीर-धारण के लिए आवश्यक भोजन दे तथा प्रभु का स्मरण तुझे उन भोगों के अति प्रयोग से बचानेवाला हो। २. ये पृथिवी से उत्पन्न होनेवाली **ओषधयः**=ओषधियाँ **त्वा**=तुझे **मृत्योः**=मृत्यु से **उत् अपीपरन्**=ऊपर उठाकर पालन करनेवाली हों। ये ओषधियाँ **सोम-राज्ञीः**=(सोमस्य पत्न्यः) सोम की पत्नियाँ हैं—सोम इनका रक्षक है। शरीर में इनके द्वारा उत्पन्न होनेवाला सोम शरीर को दीप्त करनेवाला है (राजृ दीप्तौ)।

भावार्थ—द्युलोकस्थ सूर्य व पृथिवी से उत्पन्न होनेवाले भोज्य पदार्थ हमें मृत्यु से बचाएँ। पृथिवी से उत्पन्न होनेवाली ओषधियों से बननेवाले सोम-कण हमारे जीवन को दीप्त बनाए।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दीर्घजीवन के दो सूत्र

अयं देवा इहैवास्त्वयं मामुत्र गादितः। इमं सहस्रवीर्येण मृत्योरुत्पारयामसि॥ १८॥

१. हे **देवाः**=सूर्यादि देवो! **अयम्**=यह पुरुष **इह एव अस्तु**=यहाँ—इस शरीर में ही हो, **इतः**=यहाँ से वह **अमुत्र मा गात्**=परलोक में मत चला जाए। देवों की अनुकूलता में इसका स्वास्थ्य ठीक बना रहे। २. **इमम्**=इसे **सहस्रवीर्येण** (सहस्र सहस्वत्—नि०)=रोगों का मर्षण करनेवाले वीर्य के द्वारा—शरीर में ही वीर्यरक्षण के द्वारा **मृत्योः उत् पारयामसि**=मृत्यु से पार ले-चलते हैं। शरीर में सुरक्षित वीर्य रोगकृमि-विनाश के द्वारा दीर्घजीवन का साधन बनता है।

भावार्थ—दीर्घजीवन के दो सूत्र हैं—(क) सूर्यादि देवों के सम्पर्क में जीवन बिताना और (ख) शरीर में वीर्यशक्ति का रक्षण करना।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अकालमृत्यु पर रोदन

उत्त्वा मृत्योरपीपरं सं धमन्तु वयोधसः।
मा त्वा व्यस्तकेश्यो३ मा त्वाघरुदो रुदन्॥ १९॥

१. हे आयुष्काम पुरुष! **त्वा**=तुझे **मृत्योः उत् अपीपरम्**=मृत्यु से ऊपर उठाता हूँ, उचित उपायों के द्वारा तुझे मृत्यु से बचाता हूँ। **वयोधसः**=उत्तम अन्न व आयुष्य को धारण करनेवाले देव **सं धमन्तु**=(धयतिर्गतिकर्मा—नि० २।१४) तेरे सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों को ठीक से संगत करें। २. असमय में मृत्यु के कारण **व्यस्तकेश्यः**=बिखरे हुए बालोंवाली बन्धु-योषाएँ (स्त्रियाँ) **त्वा मा रुदन्**=तेरा रोना न रोएँ तथा **अघरुदः**=मृत्युरूप व्यसन के कारण रोनेवाले ये बान्धव **त्वा मा** (रुदन्)=तेरी मृत्यु पर रोनेवाले न बनें। असमय की मृत्यु रोदन का कारण बनती ही है।

भावार्थ—हम अकाल मृत्यु से न मरें, जिससे बन्धु-बान्धवों को हमारी मृत्यु पर रोना-धोना न पड़े।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पुनः नवः

आहार्षमविदं त्वा पुनरागाः पुनर्णवः।
सर्वाङ्ग सर्वं ते चक्षुः सर्वमायुश्च तेऽविदम्॥ २०॥

१. हे मृत्युग्रस्त पुरुष! **आहार्षं त्वा**=मैं तुझे मृत्यु के मुख से बाहर ले-आया हूँ। मृत्युमुख से ऊपर उठाकर मैंने **अविदम्**=तुझे पाया है। **पुनः आगाः**=तू पुनः हमारे बीच में आ गया है। **पुनः नवः**=तू फिर नवीन हो उठा है—तूने नवजीवन पाया है। २. हे **सर्वाङ्ग**=सब स्वस्थ अङ्गोंवाले पुरुष! **ते सर्वं चक्षुः**=तेरी पूर्ण स्वस्थ चक्षु को—पूर्ण स्वस्थ इन्द्रियों को **च**=तथा **सर्वं आयुः अविदम्**=शतसंवत्सरलक्षण-पूर्ण जीवन को मैंने पाया है।

भावार्थ—हम रोगों से ऊपर उठकर पूर्ण स्वस्थ इन्द्रियोंवाले व पूर्ण शतसंवत्सरमित जीवनवाले हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'निर्ऋति, यक्ष्म व मृत्यु' का निराकरण

व्य१वात्ते ज्योतिरभूदप त्वत्तमो अक्रमीत्।
अप त्वन्मृत्युं निर्ऋतिमप यक्ष्मं नि दध्मसि॥ २१॥

१. हे संज्ञाविहीन पुरुष! **ते**=तेरे लिए **वि अवात्**=यह विशिष्ट वायु का प्रवाह बहा है। तेरी मूर्च्छा दूर हो गई है और **ज्योतिः अभूत**=प्रकाश-ही-प्रकाश हो गया है। **त्वम्**=तुझसे **तमः अप अक्रमीत्**=अन्धकार सुदूर चला गया है। २. **त्वत्**=तुझसे **मृत्युम्**=मृत्यु को तथा **निर्ऋतिम्**=मृत्यु

की कारणभूत दुर्गति को **अप निदध्मसि**=दूर स्थापित करते हैं। मृत्यु के निवारण के लिए ही **यक्ष्मम्**=सब रोगों को **अप** (निदध्मसि)=दूर स्थापित करते हैं।

भावार्थ—दुराचार में फँसने पर रोगों से आक्रान्त होकर मनुष्य मृत्यु का शिकार हो जाता है, अतः हम दुराचार व रोगों को दूर करके मृत्यु को दूर करते हैं।

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

अमृत की श्नुष्टि

आ रभस्वेमाममृतस्य श्नुष्टिमच्छिद्यमाना जरदष्टिरस्तु ते।
असुं त आयुः पुनरा भरामि रजस्तमो मोप गा मा प्र मेष्ठाः॥ १॥

१. **इमाम्**=इस **अमृतस्य श्नुष्टिम्**=(यज्ञशेषम् अमृतम्) यज्ञशेषरूप अमृत भोजन को **आरभस्व**= प्रारम्भ कर ('श्नुसु अदने'—जयदेव)—यज्ञशेष का सेवन करनेवाला बन। इस यज्ञशेष के सेवन से **ते**=तेरे लिए **अच्छिद्यमाना**=किन्हीं भी रोगादि से विच्छिन्न न की जाती हुई **जरदष्टिः अस्तु**=जरावस्था की प्राप्ति (अश् व्याप्तौ) हो—तू पूर्ण जीवन को प्राप्त करनेवाला बन। २. **ते**=तुझे **असुम्**=प्राण को तथा **आयुः**=दीर्घजीवन को **पुनः आभरामि**=फिर से प्राप्त कराता हूँ। तू **रजः तमः**=रजोगुण व तमोगुण को **मा उपगाः**=समीपता से मत प्राप्त हो। तेरा झुकाव राजस् व तामस् न होकर सात्त्विक हो। 'प्रमाद, आलस्य व निद्रा' से जहाँ तू ऊपर उठे, वहाँ प्रतिक्षण की अशान्ति व तृष्णा से भी दूर हो। इसप्रकार तू **मा प्रमेष्ठाः**=हिंसा को मत प्राप्त हो।

भावार्थ—हम यज्ञशेष का सेवन करते हुए दीर्घजीवी बनें। राजस् व तामस् वृत्तियों से ऊपर उठकर हम हिंसित न हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

मृत्युपाश-अवमोचन

जीवतां ज्योतिरभ्येह्यर्वाङा त्वा हरामि शतशारदाय।
अवमुञ्चन्मृत्युपाशानशस्तिं द्राघीय आयुः प्रतरं ते दधामि॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सात्त्विक वृत्तिवाला बनने पर तू **जीवतां ज्योतिः अभि एहि**=जीवित पुरुषों की ज्योति को आभिमुख्येन प्राप्त हो। **अर्वाङ् त्वा आहरामि**=(within) तुझे अन्दर की ओर प्राप्त कराता हूँ। जीवन-नदी के इस किनारे—न कि परले किनारे तुझे प्राप्त कराता हूँ। इससे तू **शतशारदाय**=सौ वर्ष के दीर्घजीवन को प्राप्त करनेवाला हो। २. **मृत्युपाशान्**=तू मृत्यु के पाशों को ज्वर, शिरोरोग आदि नानाविध मृत्यु-जालों तथा **अशस्तिम्**=प्रत्येक निन्दित (अप्रशस्त) अवगुण को **अवमुञ्चन्**=छोड़नेवाला हो। **ते**=तेरे लिए **द्राघीयः**=अतिशयेन दीर्घ **प्रतरम्**=प्रकृष्टतर **आयुः**=जीवन को **दधामि**=स्थापित करता हूँ।

भावार्थ—हम सात्त्विक वृत्तिवाले बनकर जीवन-शक्तियुक्त ज्योति को प्राप्त करें, जीवन के परले किनारे न पहुँच जाएँ। रोगादि मृत्युपाशों को परे फेंकते हुए प्रकृष्ट दीर्घजीवन को प्राप्त करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**आस्तारपंक्तिः**॥

'शुद्धवायु व सूर्यकिरणों' का सेवन

वातात्ते प्राणमविदं सूर्याच्चक्षुरहं तव।
यत्ते मनस्त्वयि तद्धारयामि सं वित्स्वाङ्गैर्वद जिह्वयालपन्॥ ३॥

१. मैं **वातात्**=वायु से **ते प्राणम् अविदम्**=तुझे प्राणशक्ति प्राप्त कराता हूँ। **अहम्**=मैं

सूर्यात्=सूर्य से **तव चक्षुः**=तुझे दृष्टिशक्ति प्राप्त कराता हूँ। वायु व सूर्य के सेवन से तू प्राणशक्ति-सम्पन्न व दृष्टिशक्ति-सम्पन्न बन। **यत्ते मनः**=जो तेरा मन है **तत्**=उसे **त्वयि धारयामि**=तुझमें धारण करता हूँ, तेरा मन सदा भटकता ही न रहे। **अङ्गैः संवित्स्व**=तू अङ्गों से सम्यक् युक्त हो (विद् लाभे) **जिह्वया**=जिह्वा से **आलपन्**=उच्चारण करता हुआ **वद**=सम्यक्तया वाणी को प्रेरित कर। तेरे बोलने से तेरी जीवन-शक्ति प्रकट हो।

भावार्थ—शुद्ध-वायु का सेवन व सूर्यकिरणों का सम्पर्क प्राणशक्ति को तथा इन्द्रियों के स्वास्थ्य को प्राप्त कराते हैं। मन की स्थिरता भी दीर्घजीवन का साधन बनती है। स्वस्थ पुरुष के भाषण में जीवन-शक्ति प्रकट होती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपंक्तिः** ॥

इन्द्रियों व प्राणों को दीप्त बनाना

प्राणेन त्वा द्विपदां चतुष्पदामग्निमिव जातमभि सं धमामि।
नमस्ते मृत्यो चक्षुषे नमः प्राणाय तेऽकरम्॥ ४॥

१. प्रभु कहते हैं कि **इव**=जैसे (जातम्) **अग्निम्**=उत्पन्न अग्नि को फूँक आदि द्वारा दीप्त करते हैं, उसी प्रकार **द्विपदाम्**=दोपाये व **चतुष्पदाम्**=चौपाये पशुओं में **जातम्**=उत्पन्न हुए-हुए तुझे **प्राणेन अभिसंधमामि**=प्राणशक्ति द्वारा संधमन करता हूँ—दीप्त करता हूँ। २. जीव उत्तर देता हुआ कहता है कि हे **मृत्यो**=अन्ततः सबका प्राणान्त करनेवाले प्रभो! **ते चक्षुषे नमः**=आपसे दी गई इन चक्षु आदि इन्द्रियों के लिए हम आपको नमस्कार करते हैं। **ते प्राणाय नमः अकरम्**=आपसे दिये गये इन प्राणों के लिए हम आपको नमस्कार करते हैं। हमारा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि आपसे दी गई इन चक्षु आदि इन्द्रियों को तथा आपसे दिये गये इन प्राणों को हम ठीक रक्खें—इनकी शक्ति में क्षीणता न आने दें।

भावार्थ—प्रभु प्रत्येक प्राणी को प्राणों द्वारा दीप्त जीवनवाला बनाते हैं। हमारा मूल कर्त्तव्य यही है कि हम प्रभु-प्रदत्त इन्द्रियों व प्राणों को स्वस्थ रक्खें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

रोग का प्रारम्भ में ही प्रतीकार

अयं जीवतु मा मृतेमं समीरयामसि। कृणोम्यस्मै भेषजं मृत्यो मा पुरुषं वधीः॥ ५॥

अयं जीवतु=यह रुग्ण पुरुष जीये, **मा मृत**=मरे नहीं। हम **इमं समीरयामसि**=इसे प्राणशक्ति से प्रेरित करते हैं। प्राणशक्ति-सम्पन्न होकर यह सब चेष्टाएँ ठीक प्रकार से करे, ऐसी व्यवस्था करते हैं। **अस्मै भेषजं कृणोमि**=इसके लिए औषध करता हूँ। हे **मृत्यो**=मृत्यु! तू **पुरुषं मा वधीः**=इस पुरुष को मत मार। 'वस्तुतः' रोग को आरम्भ में ही औषधोपचार से दूर कर दिया जाए' तभी ठीक है।

भावार्थ—रोग को आरम्भ में ही औषधोपचार से ठीक कर दिया जाए तो उत्तम है, जिससे रोगवृद्धि होकर मृत्यु का भय न रहे।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**पथ्यापंक्तिः** ॥

जीवन्ती ('पाठा' ओषधि)

जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम्।
त्रायमाणां सहमानां सहस्वतीमिह हुवेऽस्मा अरिष्टतातये॥ ६॥

१. **जीवलाम्**=जीवन-शक्ति देनेवाली, **नघारिषाम्**=(न घा रिषाम्) निश्चय से हिंसित न

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाजगती** ॥

परिधि

देवानां हेतिः परि त्वा वृणक्तु पारयामि त्वा रजस उत्त्वा मृत्योरपीपरम्।
आरादग्निं क्रव्यादं निरूहं जीवातवे ते परिधिं दधामि॥ ९॥

१. **देवानां हेतिः**=देवों का अस्त्र **त्वा परिवृणक्तु**=तुझे दूर से छोड़ जाए—तेरी हिंसा करनेवाला न हो। मैं **त्वा**=तुझे **रजसः पारयामि**=रजोगुण से पार करता हूँ। तृष्णा से ऊपर उठा हुआ तू पाप-मार्ग की ओर नहीं जाता **उत्**=और **त्वा**=तुझे **मृत्योः अपीपरम्**=मृत्यु से भी पार करता हूँ, बचाता हूँ। पाप ही तो मृत्यु का कारण बनता है। २. मैं **क्रव्यादं अग्निम्**=कच्चा मांस खा जानेवाले कामाग्नि को **आरात् निरूहम्**= सुदूर प्राप्त कराता हूँ—तुझसे बहुत दूर फेंकता हूँ। **ते जीवातवे**=तेरे जीवन के लिए **परिधिं दधामि**=प्राकार की स्थापना करता हूँ—मर्यादा की स्थापना करता हूँ। मर्यादा ही वह प्राकार है जो हमें मृत्यु से बचाता है।

भावार्थ—हमें सूर्यादि देवों की अनुकूलता प्राप्त हो तथा हम राजस् वृत्तियों से ऊपर उठकर नीरोग जीवनवाले हों, हम कामाग्नि से न जलाये जाएँ, दीर्घजीवन के लिए मर्यादारूप प्राकार के द्वारा हम जीवन को सुरक्षित करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'ब्रह्म' वर्म

यत्ते नियानं रजसं मृत्यो अनवधर्ष्य [म्।
पथ इमं तस्माद्रक्षन्तो ब्रह्मास्मै वर्म कृण्मसि॥ १०॥

१. हे **मृत्यो**=मृत्यु के देव! **यत्**=जो **ते**=तेरा **नियानम्**=(नियान्ति अत्र) मार्ग है, वह **रजसम्**=राजस्—रजोगुण की वृत्तियों से बना हुआ है। 'ईर्ष्या-द्वेष-क्रोध'—ये सब रजोगुण की वृत्तियाँ मृत्यु की ओर ले-जानेवाली हैं। **अनवधर्ष्यम्**=इस मृत्यु के मार्ग का किसी से भी धर्षण नहीं किया जा सकता। २. **इमम्**=इस व्यक्ति को **तस्मात् पथः**=उस मार्ग से **रक्षन्तः**=रक्षित करते हुए हम **अस्मै**=इस पुरुष के लिए **ब्रह्म वर्म कृण्मसि**=ज्ञानरूप कवच देते हैं। इस कवच को धारण कर लेने पर यह राजस् वृत्तियों के—ईर्ष्या-द्वेष-क्रोध के आक्रमण से बचा रहता है।

भावार्थ—हम ज्ञान के कवच को धारण करके ईर्ष्या-द्वेष व क्रोध के आक्रमण से बचे रहें और दीर्घजीवी बन पाएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**विष्टारपंक्तिः** ॥

जरामृत्युम्, दीर्घम् आयुः, स्वस्ति

कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति।
वैवस्वतेन प्रहितान्यमदूतांश्चरतोऽप सेधामि सर्वान्॥ ११॥

१. हे पुरुष! **ते**=तेरे लिए **प्राणापानौ**=इस प्राण और अपान को **कृणोमि**=करता हूँ। प्राणापान को मैं तुझमें स्थापित करता हूँ। इस प्राणापान के द्वारा तेरी **जरां मृत्युम्**=जीर्णता व मृत्यु को भी (कृणोमि=to kill) नष्ट करता हूँ। तेरे लिये **दीर्घम् आयुः**=दीर्घजीवन हो और **स्वस्ति**=कल्याण हो। २. **वैवस्वतेन**= विवस्वान् (सूर्य) के पुत्र इस काल से **प्रहितान्**=भेजे हुए **चरतः**=गति करते हुए 'दिन-रात्रि, मास व ऋतु' रूप कालविभागात्मक **सर्वान् यमदूतान्**=यम (मृत्यु के देवता) के सब दूतों को **अपसेधामि**= आयुष्य-खण्डनरूप कार्य से दूर करता हूँ। ये दिन व रात तुझे जीर्ण नहीं कर पाते।

भावार्थ—प्राणसाधना के द्वारा हम जीर्णता व मृत्यु से ऊपर उठकर दीर्घजीवन व कल्याण प्राप्त करें। निरन्तर चलते हुए ये दिन-रात आदि कालविभाग हमें जीर्ण करनेवाले न हों। प्राणसाधना द्वारा हमारी शक्तियों का विकास ही हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**पुरस्ताद्बृहती**॥

यमदूत

आरादरातिं निर्ऋतिं परो ग्राहिं क्रव्यादः पिशाचान्।
रक्षो यत्सर्वं दुर्भूतं तत्तमइवाप हन्मसि॥ १२॥

१. हम **अरातिम्**=न देने की वृत्ति को—कृपणता को **आरात् अपहन्मसि**=अपने से दूर विनष्ट करते हैं। अदान की वृत्ति हमें भोगप्रवण बनाती है। यह भोगप्रवणता मृत्यु की ओर ले-जाती है। **निर्ऋतिम्**=**'यत्रैतत् कुलं कलही भवति तन्निर्ऋतिगृहीतमित्याचक्षते'** (कौ० सू० ९७।१) जिस कुल में कलह होता है, उस कुल को निर्ऋति गृहीत कहते हैं। अविद्यामय कलहप्रवृत्ति को दूर करते हैं। घर में हर समय का कलह विनाश का कारण बनता ही है। **ग्राहिम्**=ग्रहणशीला लोभवृत्ति को भी अपने से **परः** (अपहन्मसि)=दूर भगाते हैं। लोभवृत्ति में मनुष्य धन को लेता और लेता ही चला जाता है। धन ही उसके जीवन का उद्देश्य बन जाता है। यही अन्ततः उसके निधन का कारण बनता है। **क्रव्यादः**=मांस को खा-जानेवाली **पिशाचान्**=पैशाचिक (राक्षसी) कामवृत्तियों को भी दूर करते हैं। ये कामवृत्तियाँ हमें क्षीण करके (Emaciated) विनष्ट कर डालती हैं। २. **यत्**=जो **दुर्भूतम्**=दुष्ट स्थिति को प्राप्त होनेवाला (दुष्टत्वम् आपन्नम्) राक्षसीभाव है, **तत् सर्वम्**=उन सब दुष्ट **रक्षः**=राक्षसीभावों को **तमः इव**=(अपहन्मसि)=इसप्रकार दूर करते हैं, जैसेकि प्रकाश के द्वारा अन्धकार को दूर किया जाता है।

भावार्थ—'न देने की वृत्ति (अदानशीलता), परस्पर कलह (निर्ऋति), लोभ (ग्राही), कामवृत्तियाँ (क्रव्यादः पिशाचान्) तथा सब राक्षसीभाव'—ये ही यमदूत हैं। इन्हें अपने से दूर रखना ही ठीक है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आयुः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अमृत सजूः असः

अग्नेष्टे प्राणममृतादायुष्मतो वन्वे जातवेदसः।
यथा न रिष्या अमृतः सजूरसस्तत्ते कृणोमि तदु ते समृध्यताम्॥ १३॥

१. पुरोहित यजमान से कहता है कि हे पुरुष! मैं **ते**=तेरे लिए **अग्नेः**=उस अग्रणी प्रभु से **प्राणं वन्वे**=प्राणशक्ति की याचना करता हूँ। उन प्रभु से जो **अमृतात्**=अमृत हैं, जिनकी उपासना में मृत्यु है ही नहीं, **आयुष्मतः**=जो प्रशस्त आयुष्य को प्राप्त करानेवाले हैं, **जातवेदसः**=जो सर्वज्ञ हैं। २. मैं **ते**=तेरे लिए **तत् कृणोमि**=उन कर्त्तव्य-कर्मों को—प्राणसाधनादि नित्य कर्मों को उपदिष्ट करता हूँ, **यथा न रिष्याः**=जिससे तू हिंसित न हो—रोगादि तुझपर आक्रमण न कर पाएँ। **अ-मृतः**=तेरा जीवन नीरोग हो। **सजूः असः**=तू उस परमात्मा के साथ होनेवाला हो, तू प्रभुस्मरणपूर्वक कर्त्तव्य-कर्मों को करनेवाला हो, **उ**=और **ते**=तेरे लिए **तत्**=ये सब कर्म **समृध्यताम्**=समृद्धि का कारण बनें।

भावार्थ—हम प्राणसाधनों द्वारा नीरोग दीर्घजीवन प्राप्त करें। रोगादि से हिंसित न होते हुए 'अमृत' हों, असमय में ही मृत्यु का शिकार न हो जाएँ। प्रभु की उपासना में चलते हुए हम समृद्ध जीवनवाले बनें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**त्र्यवसानाषट्पदाजगती** ॥

सब देवों की अनुकूलता

शिवे ते स्तां द्यावापृथिवी असन्तापे अभिश्रियौ।
शं ते सूर्य आ तपतु शं वातो वातु ते हृदे।
शिवा अभि क्षरन्तु त्वापो दिव्याः पयस्वतीः॥ १४॥

१. **ते**=तेरे लिए **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **शिवे**=कल्याकारी, **असन्तापे**=सन्ताप को दूर करनेवाले व **अभिश्रियौ**=तुझे मस्तिष्क व शरीर में भी श्री प्राप्त करानेवाले **स्ताम्**=हों। **सूर्यः**=सूर्य भी **ते**=तेरे लिए **शं आतपतु**=शान्तिकर होकर तपे। **वातः**=वायु भी **ते हृदे**=तेरे हृदय के लिए **शं वातु**=शान्तिकर होकर बहे। २. **त्वा**=तेरे प्रति **दिव्याः**=द्युलोक में होनेवाले **पयस्वतीः**=प्रशस्त आप्यायन शक्तियों से युक्त **आपः**=जल **शिवाः अभिक्षरन्तु**=कल्याणकर होकर क्षरित हों—बहें।

भावार्थ—सब बाह्य जगत् हमारे लिए अनुकूलतावाला हो, जिससे हम स्वस्थ रहते हुए निरन्तर आगे बढ़ पाएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**पथ्यापंक्तिः** ॥

व्रीहि, पर्वतभूमि व सूर्यचन्द्र का सम्पर्क

शिवास्ते सन्त्वोषधय उत्त्वाहार्षमधरस्या उत्तरां पृथिवीमभि।
तत्र त्वादित्यौ रक्षतां सूर्याचन्द्रमसावुभा॥ १५॥

हे कुमार! **ते**=तेरे लिए **ओषधयः**=आहारार्थ उपयुज्यमान व्रीहि आदि ओषधियाँ **शिवाः सन्तु**=कल्याणकर हों। मैं **त्वा**=तुझे **अधरस्याः**=नीची व हीन गुणवाली पृथिवी से **उत्तरां पृथिवीम् अभि**=उत्कृष्ट गुणवाली, ऊँची व स्वच्छ वायु से पूर्ण पर्वतभूमि में **उत् अहार्षम्**=ऊपर ले-आता हूँ। **तत्र**=वहाँ **त्वा**=तुझे **उभा**=दोनों **आदित्यौ**=(अदितेः पुत्रौ) स्वास्थ्य को पवित्र (पु) व रक्षित करनेवाले (त्र) **सूर्याचन्द्रमसौ**=सूर्य और चन्द्रमा **रक्षताम्**=रक्षित करें।

भावार्थ—नीरोगता व दीर्घजीवन के तीन साधन हैं—(क) व्रीहि (चावल) आदि ओषधियों का सेवन, (ख) ऊँचे स्थल (पर्वत) पर निवास, (ग) सूर्य व चन्द्र के प्रकाश में रहना, खुले में रहना।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अद्रूक्ष्ण 'वस्त्र'

यत्ते वासः परिधानं यां नीविं कृणुषे त्वम्।
शिवं ते तन्वे३ तत्कृण्मः संस्पर्शेऽद्रूक्ष्णमस्तु ते॥ १६॥

१. हे बालक! **यत् ते वासः परिधानम्**=जो तेरा उपरि आच्छादनीय वस्त्र है—उपरले शरीर में पहनने योग्य है, **याम्**=जिसे **त्वम्**=तू **नीविं कृणुषे**=नाभिदेश से सम्बद्ध वस्त्र बनाता है, अर्थात् जो तेरा मध्यदेशाच्छादन वस्त्र है, **तत्**=उन दोनों प्रकार के वस्त्र को **ते तन्वे**=तेरे शरीर के लिए **शिवे कृण्मः**=सुखकर करते हैं। वह वस्त्र **संस्पर्शे**=स्पर्श के विषय में **ते**=तेरे लिए **अद्रूक्ष्णम्**=रूखा न हो—मार्दव लिये हुए **अस्तु**=हो।

भावार्थ—उपरिवस्त्र व अधोवस्त्र हमारे लिए कल्याणकर हों। वे कठोर स्पर्शवाले न हों। वस्त्र स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से धारण किये जाएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**त्रिपादनुष्टुप्** ॥

केशवपन

यत्क्षुरेण मर्चयता सुतेजसा वप्ता वपसि केशश्मश्रु।
शुभं मुखं मा न आयुः प्र मोषीः ॥ १७ ॥

हे संस्कारक पुरुष! **यत्**=जब **वप्ता**=केशों का छेत्ता नापित होता हुआ तू **मर्चयता**=अपना व्यापार करनेवाले **सुतेजसा**=सम्यक् तीक्ष्णता से युक्त **क्षुरेण**=उस्तरे से **केशश्मश्रु**=सिर के व दाढ़ी-मूछों के बालों को **वपसि**=काट डालता है, तब **मुखं शुभम्**=मुख को शुभ बना दे और **नः**=हमारी **आयुः**=आयु को **मा प्रमोषीः**=नष्ट करनेवाला न हो।

भावार्थ—हे लोगो! तुम तीक्ष्ण, स्वच्छ धारवाले उस्तरे से बाल बनवाओ। सिर के व मुख के बाल बनवाकर सुन्दर मुखवाले होओ। नाई की असावधानी तुम्हारे आयुष्य की कमी का कारण न बने।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

व्रीहि-यवौ

शिवौ ते स्तां व्रीहियवावबलासावदोमधौ।
एतौ यक्ष्मं वि बाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः ॥ १८ ॥

१. हे अन्न का ग्रहण करनेवाले पुरुष! **ते**=तेरे लिए अन्नत्वेन कल्पित **व्रीहियवौ**=चावल और जौ **शिवौ स्ताम्**=सुखकर हों, **अ-बल असौ**=शरीर-बल को परे फेंकनेवाले न हों (अस् क्षेपणे), अर्थात् बल की वृद्धि करनेवाले हों अथवा **'अ-बलासौ'**=कष्टकर न हों। **अदोमधौ**=(अद् मधु) खाने में सुखकारी व मधुर प्रतीत हों। २. **एतौ**=ये दोनों **यक्ष्मम्**=शरीरगत रोग को **वि बाधेते**=विशेषरूप से पीड़ित करते हैं। **एतौ**=ये व्रीहि और यव **अंहसः मुञ्चतः**=मानस व शारीर-पापों व पीड़ाओं से छुड़ाते हैं।

भावार्थ—व्रीहि और यव का प्रयोग हमारे दोषों को दूर करके शरीर में बल के आधान द्वारा हमें नीरोगता प्रदान कर कष्टमुक्त करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्बृहती** ॥

कृष्याः धान्यं, पयः

यदश्नासि यत्पिबसि धान्यं कृष्याः पयः।
यदाद्यं यदनाद्यं सर्वं ते अन्नमविषं कृणोमि ॥ १९ ॥

यत्=जो तू **कृष्याः धान्यं अश्नासि**=कृषि के द्वारा उत्पन्न धान्य खाता है और **यत् पयः पिबसि**=जो दूध व जल पीता है, **यत्**=जो अन्न **आद्यम्**=सुखेन भक्षणीय है, **यत्**=और जो **अनाद्यम्**=न खाने योग्य अति कठिन द्रव्य है अथवा अत्यन्त कटु व तिक्त होने से अनाद्य है, उस **ते**=तेरे **सर्वम्**=सब **अन्नम्**=अन्न को **अविषं कृणोमि**=निर्विष—अमृत करता हूँ।

भावार्थ—हम कृषि से उत्पन्न—भूमिमाता से दिये गये अन्न को खाएँ, दूध ही पीएँ। जो कोमल व कठोर पदार्थ हम खाएँ वे विषैले प्रभाव उत्पन्न न करके हमें नीरोग बनानेवाले हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अरायेभ्यः जिघत्सुभ्यः

अह्ने च त्वा रात्रये चोभाभ्यां परि दद्मसि। अरायेभ्यो जिघत्सुभ्य इमं मे परि रक्षत ॥ २० ॥

१. हे कुमार! **त्वा**=तुझे **अह्ने**=दिन के लिए, **रात्रये च**=और रात्रि के लिए **उभाभ्याम्**=इन

दोनों दिन व रात के लिए **परिदद्मसि**=रक्षा के लिए देते हैं। दिन व रात में तेरा जीवन सदा सुरक्षित हो। २. **अरायेभ्यः**=अधनों (निर्धनों) से व धन के अपहर्ता डाकूओं से तथा **जिघत्सुभ्यः**=खाने की इच्छावाले भक्षक **रक्षः**=पिशाचादि से **मे इमं परिरक्षत**=मेरे इस बालक का तुम परिरक्षण करो अथवा हिंसक पशुओं से इसका परिरक्षण करो।

भावार्थ—हमारे कुमार दिन व रात में सुरक्षित जीवन बिता सकें। मार्गों में इन्हें लुटेरों व हिंसक पशुओं से किसी प्रकार का भय न हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**सतःपंक्तिः** ॥

शतं, अयुतं, द्वे युगे (कृणमः)

शतं तेऽ युतं हायनान्द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृणमः।
इन्द्राग्नी विश्वेदेवास्तेऽनु मन्यन्तामहृणीयमानाः॥ २१॥

१. हे युवक! **ते शतं हायनान् कृणमः**=तेरे जीवन को सौ वर्षों का बनाते हैं। इन वर्षों को **अ=युतं (कृणमः)**=अपृथक् रूप से करते हैं, अर्थात् तुम इन वर्षों में परस्पर एक-दूसरे से पृथक् न होओ। इसप्रकार पति-पत्नी का एक युग (जोड़ा) बनता है। अब सन्तानों के होने पर **द्वे युगे**=लड़की-लड़के का दूसरा युग होता है। हम तेरे इस दूसरे युग को करते हैं। इसीप्रकार **त्रीणि**=तीन व **चत्वारि**=चार युगों को करते हैं। पुत्र-पौत्रादि के द्वारा अनेक युगलों को करते हैं। २. **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि तथा **विश्वेदेवाः**=सब देव **अहृणीयमानाः**=किसी प्रकार का क्रोध न करते हुए **अनुमन्यन्ताम्**=तेरे दीर्घजीवन, पत्नी से अवियुक्त जीवन तथा सन्तान-युगलों से सम्पन्न जीवन को अनुमत करें, अर्थात् तू 'इन्द्र'—जितेन्द्रिय बनता हुआ, 'अग्नि'—आगे बढ़ने की भावनावाला होता हुआ तथा **विश्वेदेवाः**=सब दिव्य गुणोंवाला होता हुआ इस दीर्घ व सन्तति-समृद्ध जीवनवाला बन।

भावार्थ—प्रभु कहते हैं कि हम तेरे लिए 'सौ वर्ष का साथी से अवियुक्त, सन्तति से सम्पन्न जीवन देते हैं। तू जितेन्द्रिय, प्रगति की भावनावाला व दिव्यगुण सम्पन्न' बनकर उल्लिखित जीवन को प्राप्त कर।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**पुरस्ताद्बृहती** ॥

ऋतुओं की अनुकूलता

शरदे त्वा हेमन्ताय वसन्ताय ग्रीष्माय परि दद्मसि।
वर्षाणि तुभ्यं स्योनानि येषु वर्धन्त ओषधीः॥ २२॥

१. हे बालक! हम **त्वा**=तुझे **शरदे**=शरद ऋतु के लिए, इसी प्रकार **हेमन्ताय**=हेमन्त के लिए, **वसन्ताय**=वसन्त के लिए तथा **ग्रीष्माय**=ग्रीष्म के लिए **परिदद्मसि**=देते हैं—सौंपते हैं। ये सब ऋतुएँ तेरे जीवन का रक्षण करनेवाली हों। २. **वर्षाणि**=वर्षाऋतु के दिन भी **तुभ्यं स्योनानि**—तेरे लिए सुखकर हों। वे वर्षा ऋतु के दिन, **येषु**=जिनमें कि **ओषधीः वर्धन्ते**=ओषधियाँ वृद्धि को प्राप्त होती हैं। वे वृष्टि के दिन अपनी बढ़ी हुई ओषधियों से तेरे लिए सुखकर हों।

भावार्थ—हमें सब ऋतुओं की अनुकूलता प्राप्त हो, जिससे हम स्वस्थ 'शरीर, मन व बुद्धि'-वाले बने रहें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्राणीरूप गौओं का मृत्युरूप गोपाल

मृत्युरीशे द्विपदां मृत्युरीशे चतुष्पदाम्। तस्मात्त्वां मृत्योर्गोपतेरुद्भरामि स मा बिभेः॥ २३॥

१. **द्विपदाम्**=दो पाँववाले मनुष्य, पक्षी आदि का **मृत्युः ईशे**=सर्वप्राणिसंहर्ता देव ईश है तथा **चतुष्पदां मृत्युः ईशे**=चार पाँववाले गौ, अश्व आदि पशुओं का भी मृत्यु ईश है। कोई भी प्राणधारी मृत्यु का अतिक्रमण नहीं कर सकता। २. **तस्मात्**=उस **गोपतेः**=प्राणीरूप गौओं के गोपालरूप **मृत्योः**=मृत्यु से **त्वा उद् भरामि**=तेरा उद्धार करता हूँ। **सः मा बिभेः**=वह तू भयभीत न हो। मृत्यु-भय ही वस्तुतः असमय की मृत्यु का कारण बन जाता है।

भावार्थ—मृत्यु सब प्राणियों का ईश है। प्राणी गौएँ हैं तो यह मृत्यु 'गोपति' है। मृत्यु का उल्लंघन कोई नहीं कर सकता।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

न मृत्यु, न अधमं तमः

सो ऽरिष्ट न मरिष्यसि न मरिष्यसि मा बिभेः।
न वै तत्र म्रियन्ते नो यन्त्यधमं तमः॥ २४॥

१. हे **अरिष्ट**=रोगादि से की जानेवाली हिंसा से रहित पुरुष! **सः**=वह तू **न मरिष्यसि**=मृत्यु को प्राप्त नहीं होगा, **न मरिष्यसि**=निश्चय ही तू मरने नहीं लगा, इसलिए **मा बिभेः**=डर मत। २. **तत्र**=वहाँ जहाँ कि 'ब्रह्म' को परिधि (रक्षक) बनाया जाता है, **वै**=निश्चय से लोग **न म्रियन्ते**=असमय में मृत्यु का शिकार नहीं होते और **अधमं तमः**=मरणकालीन दुःसह मूर्च्छा को भी **नो यन्ति**=नहीं प्राप्त होते अथवा मृत्यु के बाद अन्धतमस् से आवृत असुर्य लोकों को प्राप्त नहीं होते।

भावार्थ—हम रोगादि से हिंसित न होने पर असमय में मृत्यु का शिकार न होंगे। 'ब्रह्म' को अपनी परिधि बनाने पर न असमय में मरेंगे, न ही अन्धकारमय लोकों को प्राप्त होंगे।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्रह्मरूप परिधि

सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्वः पुरुषः पशुः।
यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीवनाय कम्॥ २५॥

१. **यत्र**=जहाँ **इदं ब्रह्म**=यह ब्रह्मज्ञान व प्रभु **कं जीवनाय**=सुखपूर्वक जीवन के लिए **परिधिः क्रियते**=प्राकार के रूप में कर लिया जाता है, **तत्र**=वहाँ **वै**=निश्चय से **सर्वः**=सब **जीवति**=जीवित रहते हैं **गौः अश्वः पुरुषः पशुः**=गौ, घोड़े, पुरुष व अन्य पशु—सबका यह ब्रह्म रक्षक होता है। प्रभु का विस्मरण व ज्ञान की प्रवृत्ति का न होना ही भोग-विलास की ओर झुकाव करके मृत्यु का कारण बनता है।

भावार्थ—ब्रह्म को जहाँ प्राकार (रक्षक, चारदीवारी) बनाया जाता है, वहाँ सभी सुरक्षित रहते हैं, कोई भी मृत्यु का शिकार नहीं होता।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**आस्तारपंक्तिः** ॥

अमम्रिः-अमृतः-अतिजीवः

परि त्वा पातु समानेभ्योऽभिचारात्सबन्धुभ्यः।
अमम्रिर्भवामृतोऽतिजीवो मा ते हासिषुरसवः शरीरम्॥ २६॥

१. हे पुरुष! गतमन्त्र में वर्णित ब्रह्मज्ञानमय दुर्ग **त्वा**=तुझे **समानेभ्यः**=तेरे समान बल, आयु व विद्यावाले पुरुषों और **सबन्धुभ्यः**=साथ रहनेवाले बन्धुओं की ओर से होनेवाले **अभिचारात्**=आक्रमण से **परिपातु**=रक्षित करे। २. तू **अमम्रिः भव**=असमय में मरनेवाला न हो, **अमृतः**=नीरोग

हो, **अतिजीवः**=अतिशयित जीवन-शक्तिवाला हो। **असवः**=प्राण **ते शरीरम्**=तेरे शरीर को **मा हासिषुः**=मत छोड़ जाएँ।

भावार्थ—ब्रह्मरूप प्राकार हमें सब आक्रमणों से बचाये। हम असमय में न मरनेवाले, नीरोग, अतिशयित जीवन-शक्तिवाले बनें। प्राण हमारे शरीरों को न छोड़ जाएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

एकशतं मृत्यवः

ये मृत्यव एकशतं या नाष्ट्रा अतितार्याः।
मुञ्चन्तु तस्मात्त्वां देवा अग्नेर्वैश्वानरादधि॥ २७॥

१. **ये**=जो प्रसिद्ध **मृत्यवः**=मरण के कारणभूत ज्वर-शिरोव्यथा आदि **एकशतम्**=एक सौ संख्या से संख्यात रोग हैं, **याः**=जो **नाष्ट्राः**=नाशकारिणी **अतितार्याः**=अतितरीतव्य—लङ्घनीय—हिंसिका अविद्याग्रन्थियाँ हैं, **तस्मात्**=इन रोगों वा अविद्याग्रन्थियों से **देवाः**=सब देव—ज्ञानीपुरुष **त्वाम्**=तुझे **मुञ्चन्तु**=छुडाएँ। २. वे ज्ञानीपुरुष तुझे इन रोगों व वासनाओं से छुड़ाएँ जो **अग्नेः वैश्वानरात् अधि**=उस अग्रणी सर्वनरहितकारी प्रभु के प्रतिनिधि हैं (अधि पञ्चम्यर्थानुवादी)। उस प्रभु के ज्ञान-सन्देश को सुनाते हुए ये तुझे सब रोगों व वासनाओं से मुक्त करें।

भावार्थ—प्रभु के प्रतिनिधिभूत ज्ञानीपुरुषों से ज्ञान-सन्देश प्राप्त करके हम रोगों व वासनाओं से ऊपर उठें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आयुः** ॥ छन्दः—**पुरस्ताद्बृहती** ॥

'पूतुद्रु' नाम भेषजम्

अग्नेः शरीरमसि पारयिष्णु रक्षोहाऽसि सपत्नहा।
अथो अमीवचातनः पूतुद्रुर्नाम भेषजम्॥ २८॥

१. हे ब्रह्मन्! आप **अग्नेः शरीरं असि**=अग्नि का शरीर हैं—अग्नि का आपमें निवास है। प्रत्येक प्रगतिशील जीव प्रभु में निवास करता है। **पारयिष्णु**=आप ही इस भवसागर से हमें पार करनेवाले हैं। **रक्षोहा असि**=सब राक्षसीभावों को विनष्ट करनेवाले हैं, **सपत्नहा**=हमारे रोगरूप व काम-क्रोध आदि शत्रुओं का हनन करनेवाले हैं। २. **अथो**=(अपि च) और आप **अमीवचातनः**=सब रोगों के विनाशक हैं। इस महिमावाले आप वस्तुतः **पूतुद्रुः नाम**=पूतद्रु नामवाले हैं। आप इस संसार-वृक्ष को पवित्र करनेवाले हैं (पूत=द्रु), **भेषजम्**=आप सब रोगों के औषध हैं।

भावार्थ—प्रभुस्मरण सब रोगों का औषध है। प्रभु रोगों व वासनाओं को विनष्ट करके हमें पवित्र करते हैं। रोगों व शत्रुओं को विनष्ट करनेवाला 'चातन' ही तीसरे व चौथे सूक्त का ऋषि है।

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शिशानः अग्निः

रक्षोहणं वाजिनमा जिघर्मि मित्रं प्रथिष्ठमुप यामि शर्म।
शिशानो अग्निः क्रतुभिः समिद्धः स नो दिवा स रिषः पातु नक्तम्॥ १॥

१. **रक्षोहणम्**=राक्षसी भावों को नष्ट करनेवाले, **वाजिनम्**=प्रशस्त बलवाले उस प्रभु को **आजिघर्मि**=अपने हृदयदेश में दीप्त करता हूँ तथा **मित्रम्**=सबको मृत्यु व पाप से बचानेवाले **प्रथिष्ठम्**=अतिशयित विस्तारवाले—सर्वव्यापक उस प्रभु की **शर्म उपयामि**=शरण में जाता हूँ।

२. **सः अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **क्रतुभिः समिद्धः**=यज्ञादि कर्मों से हृदयदेश में दीप्त किया हुआ **शिशानः**=हमारी बुद्धियों को तीक्ष्ण करनेवाला है। ये बुद्धियाँ ही तो हमारे कर्मों को पवित्र करनेवाली होंगी। **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **दिवा**=दिन में तथा **नक्तम्**=रात्रि में **रिषः**=हिंसक तत्त्वों से **पातु**=बचाएँ। प्रभु सदा हमारा रक्षण करनेवाले हों। प्रभु से रक्षित हुए-हुए हम तीव्र बुद्धिवाले और यज्ञादि पवित्र कर्मोंवाले बनें।

भावार्थ—हम प्रभु को हृदयदेश में समिद्ध करें। उत्तम कर्मों में लगे हुए प्रभु के प्रिय बनें। प्रभु से दीप्त बुद्धि पाकर हम दिन-रात अपना रक्षण कर पाएँ।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ज्ञान+उपासना

अयोदंष्ट्रो अर्चिषा यातुधानानुप स्पृश जातवेदः समिद्धः।
आ जिह्वया मूरदेवान्रभस्व क्रव्यादो वृष्ट्वाऽपि धत्स्वासन्॥ २॥

१. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **समिद्धः**=गतमन्त्र के अनुसार क्रतुओं द्वारा दीप्त हुए-हुए **अयोदंष्ट्रः**=तीक्ष्ण दंष्ट्राओंवाले आप **अर्चिषा**=अपनी ज्ञानज्वाला से **यातुधानान्**=पीड़ा का आधान करनेवाली राक्षसी वृत्तियों को **उपस्पृशम्**=समीपता से स्पर्श करते हुए भस्म कर देते हैं। आपके द्वारा सब अशुभ वृत्तियाँ दूर की जाती हैं। २. आप **मूरदेवान्**=(दिव् व्यवहारे) मूढ़तापूर्ण व्यवहार करनेवालों को **जिह्वया**=(Flame) ज्ञानज्वाला के द्वारा **आरभस्व**=(to form) उत्तम जीवनवाला बनाइए। **क्रव्यादः**=मांसभक्षण करनेवालों को **वृष्ट्वा** (to bestow)=ज्ञान देकर **आसन् अपिधत्स्व**=अपने मुख में धारण कीजिए (आसन्=face)। इसे अपने सामने अपनी उपासना में संलग्न कीजिए।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से ज्ञानज्वाला द्वारा हमारे अशुभ कर्म नष्ट हो जाएँ और उपासना के द्वारा हमारा जीवन पवित्र बन जाए।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'ब्रह्म+क्षत्र' के द्वारा 'काम-क्रोध का विनाश'

उभोभयाविन्नुप धेहि दंष्ट्रौ हिंस्रः शिशानोऽवरं परं च।
उतान्तरिक्षे परि याह्यग्ने जम्भैः सं धेह्यभि यातुधानान्॥ ३॥

१. हे **उभयाविन्**=ब्रह्म व क्षत्र—ज्ञान व शक्ति—दोनों से सम्पन्न प्रभो! **उभा**=हमारे दोनों शत्रुओं को—काम-क्रोध को (तौ ह्यस्य परिपंथिनौ) **दंष्ट्रौ उपधेहि**=दंष्ट्रान्तर्वर्ती कीजिए—इन्हें समाप्त कर दीजिए। ज्ञान 'काम' को शान्त करेगा तो 'शक्ति क्रोध को समाप्त करनेवाली होगी। हे प्रभो! आप **शिशानः**=हमारी बुद्धि को तीव्र करते हुए **अवरं परं च**=इस काम को और कामोत्पन्न क्रोध को (कामात् क्रोधोऽभिजायते) **हिंस्रः**=नष्ट करनेवाले होते हैं। काम को यहाँ 'अवर' कहा गया है, यह मनुष्य की हीनता का कारण होता है। क्रोध को 'पर' कहने का कारण यही है कि यह काम से उत्पन्न होता है—पीछे होने के कारण यह 'पर' है। २. **उत**=और हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **अन्तरिक्षे**=हमारे हृदयान्तरिक्ष में **परियाहि**=सर्वतः गति करनेवाले होओ। हमारा हृदय आपका निवास-स्थान बने और वहाँ **यातुधानान्**=हमें पीड़ित करनेवाली वासनाओं को **जम्भैः**=अपनी दंष्ट्राओं से **अभिसन्धेहि**=युक्त कीजिए, अर्थात् आप इन वासनाओं के विनाश का कारण बनिए।

भावार्थ—प्रभु 'ब्रह्म और क्षत्र' की चरम सीमा हैं। वे ज्ञान के द्वारा हमारी 'काम' वासना को तथा शक्ति के द्वारा क्रोध को नष्ट करते हैं।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यातुधान को अयातुधान बनाना

अग्ने त्वचं यातुधानस्य भिन्धि हिंस्राशनिर्हरसा हन्त्वेनम्।
प्र पर्वाणि जातवेदः शृणीहि क्रव्यात्क्रविष्णुर्वि चिनोत्वेनम्॥ ४॥

१. हे **अग्ने**=राष्ट्र को उन्नतिपथ पर ले-चलनेवाले राजन्! **यातुधानस्य**=प्रजापीड़क के **त्वचम्**=सम्पर्क को **भिन्धि**=तोड़ दे, इसे अपने साथियों से अलग कर दे। अलग होने पर यह अपने जीवन के मार्ग के विषय में ठीक सोच सकता है। **हिंस्राशनिः**=(अशनि=master) अज्ञान को नष्ट करनेवाला अध्यापक **हरसा**=वासनाओं को विनष्ट करने की शक्ति से **एनं हन्तु**=इस यातुधान को प्राप्त हो (हन् गतौ)। वह ज्ञान देकर इसे अधर्म मार्ग से हटानेवाला हो। २. हे **जातवेदः**=ज्ञानीपुरुष! तू **पर्वाणि**=इसकी वासना-ग्रन्थियों को **प्रशृणीहि**=प्रकर्षेण नष्ट करनेवाला बन। ज्ञान के द्वारा तू इसे वासनामय जगत् से ऊपर उठा। तू उसे इसप्रकार का ज्ञान दे कि वह **क्रविष्णुः**=औरों के मांस की इच्छावाला **क्रव्यात्**=मांसभक्षक पुरुष—औरों के नाश में लगा हुआ पुरुष **एनम्**=इन द्वेषों व दोषों को **वि चिनोतु**=अपने से पृथक् करनेवाला हो। यह औरों के विनाश पर अपने आमोद-भवन को खड़ा न करे।

भावार्थ—राजा यातुधान को उसके साथियों से अलग करे। ज्ञानी पुरुष उसे ज्ञान दें। इस ज्ञान द्वारा वे उसकी वासना-ग्रन्थियों को विनष्ट करें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ज्ञान द्वारा वासना-विनाश

यत्रेदानीं पश्यसि जातवेदस्तिष्ठन्तमग्न उत वा चरन्तम्।
उतान्तरिक्षे पतन्तं यातुधानं तमस्ता विध्य शर्वा शिशानः॥ ५॥

१. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **इदानीम्**=अब **यत्र**=जहाँ भी **तिष्ठन्तम्**=ठहरे हुए—प्रसुप्त अवस्था में पड़े हुए (यातुधान) हिंसक विचार को **उत वा**=अथवा **चरन्तम्**=गति करते हुए, अर्थात् जागरित अवस्था में कार्य करते हुए **पश्यसि**=देखते हैं, **तम्**=उसको **विध्य**=नष्ट कीजिए। हमारे जागरित व प्रसुप्त सभी अशुभ विचार नष्ट हो जाएँ। २. **उत**=और **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष में **पतन्तम्**=गति करते हुए—विविधरूपों में प्रकट होते हुए **यातुधानम्**=यातुधान को **अस्ता**=सुदूर फेंकनेवाले आप **शिशानः**=हमारी बुद्धियों को तीव्र करते हुए **शर्वा** (विध्य)=नाशक शक्ति के द्वारा बींध डालिए। आपकी कृपा से विविधरूपों में हृदय के अन्दर उठनेवाले अशुभ विचार विनष्ट हो जाएँ।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारा ज्ञान बढ़े और अशुभ वृत्तियाँ विनष्ट हो जाएँ।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रेरणा व ज्ञान प्राप्त करना

यज्ञैरिषूः संनममानो अग्ने वाचा शल्याँ अशनिभिर्दिहानः।
ताभिर्विध्य हृदये यातुधानान्प्रतीचो बाहून्प्रति भङ्ग्ध्येषाम्॥ ६॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! अथवा राष्ट्र की अग्रगति को सिद्ध करनेवाले राजन्! आप **यज्ञैः**=उत्तम कर्मों से **इषुः**=प्रेरणाओं को **संनममानः**=प्रेरित करते हुए और **अशनिभिः**=(अशनि=master) आचार्यों के द्वारा **वाचा**=ज्ञान की वाणियों से **शल्यान्**=हृदयवेधी भावनाओं को **दिहानः**=बढ़ाते हुए **ताभिः**=उन प्रेरणाओं से तथा ज्ञानवाणियों से **यातुधानान्**=प्रजापीड़कों

को **हृदये विध्य**=हृदय में विद्ध कीजिए। इनके हृदयों में इनके अपने अपवित्र कार्य ही चुभने लगें। ज्ञान की वाणियाँ इनके हृदयों में इसप्रकार की तीव्र वेदना उत्पन्न करें कि इनका हृदय तीव्र प्रायश्चित्त की भावनावाला हो उठे। २. इसप्रकार इन्हें पापों के प्रति तीव्र वेदनावाला करके **एषाम्**=इनकी **प्रतीचः बाहून्**=पापकर्म में प्रवृत्त (Turned away—धर्ममार्ग से दूर गई हुई) बाहुओं को **भंग्धि**=तोड़ दे, इनमें पापकर्म करने की शक्ति ही न रहे।

भावार्थ—राजा उत्तम कर्मों तथा ज्ञान-प्रकाश के द्वारा यातुधानों के हृदयों में ऐसी चुभन पैदा करे कि वे पापकर्म से घृणा करनेवाले बनकर, उनके लिए प्रायश्चित्त करके पवित्र हो जाएँ।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

अपरिपक्वता को दूर करनेवाली ज्ञान की वाणियाँ

उतारब्धान्त्स्पृणुहि जातवेद उतारेभाणाँ ऋष्टिभिर्यातुधानान्।
अग्ने पूर्वो नि जहि शोशुचान आमादः क्ष्विङ्कास्तमदन्त्वेनीः॥ ७॥

१. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! आप **आरेभाणान्**=आपके स्तवन में प्रवृत्त हमें **स्पृणुहि**=(पालय) रक्षित कीजिए, **उत**=और **आरब्धान्**=जिन्होंने हमें जकड़ लिया है। (रभ to clasp) उन **यातुधानान्**=पीड़ा का आधान करनेवाले राक्षसीभावों को **ऋष्टिभिः**=(ऋष् गतौ, ऋषिर्दर्शनात्) क्रियाशीलता व ज्ञानरूप शस्त्रों के द्वारा (स्पृणुहि) नष्ट कीजिए (स्पृ to kill)। २. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **शोशुचानः**=ज्ञान से दीप्त होते हुए आप मुझे भी ज्ञानदीप्ति प्राप्त कराके **पूर्वः**=(पृ पालनपूरणयोः) मेरा पालन व पूरण करनेवाले होते हुए **निजहि**=इन राक्षसीभावों को नष्ट कर दीजिए। **आमादः** (आम अद्) कच्चेपन को समाप्त कर देनेवाली **एनीः**=उज्ज्वल—शुभ्र **क्ष्विङ्काः**=(क्ष्वु शब्दे) ज्ञान की वाणियाँ **तम्**=उस राक्षसीभाव को **अदन्तु**=खा जाएँ।

भावार्थ—हमारे अशुभभाव दूर होकर हमारे जीवनों में शुद्धभावों का वर्धन हो। ये ज्ञान की वाणियाँ हमारी अपरिपक्वता को दूर कर दें। परिपक्व विचारोंवाले बनकर हम अशुभ वासनाओं में न फँस जाएँ।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ज्ञान के द्वारा उत्कृष्ट जीवन का निर्माण

इह प्र ब्रूहि यतमः सो अग्ने यातुधानो य इदं कृणोति।
तमा रभस्व समिधा यविष्ठ नृचक्षसश्चक्षुषे रन्धयैनम्॥ ८॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **यः यातुधानः**=जो औरों को पीड़ा पहुँचानेवाला है, **(यः) इदं कृणोति**=जो इस जगत् को हानि पहुँचाता है—इस लोक के प्राणियों का हिंसन करता हैं, **सः यतमः**=वह जो भी है, उसे **इह**=यहाँ **प्रब्रूहि**=प्रकर्षेण उपदेश कीजिए। २. हे **यविष्ठ**=अधिक-से-अधिक बुराइयों को दूर करनेवाले प्रभो! **तम्**=उसे **समिधा**=ज्ञानदीप्ति के द्वारा **आरभस्व**=(to form) श्रेष्ठ बना दीजिए। **एनम्**=इसे **नृचक्षसः**=(नॄन् चष्टे) प्रजा का पालन करनेवाले राजा की **चक्षुषे**=आँख के लिए **रन्धय**=(make subject to) वशीभूत कीजिए। राष्ट्र में राजा इन मनुष्यों पर दृष्टि रक्खे और इन्हें प्रजा-विध्वंस के कार्यों से रोककर धीमे-धीमे ज्ञान-प्रकाश के द्वारा इनके सुधार का प्रयत्न करे।

भावार्थ—प्रभु यातुधानों को प्रेरणा देकर परिवर्तित जीवनवाला बनाते हैं। इन्हें राजा के वशीभूत करके इनका सुधार करते हैं।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

राजकर्त्तव्य

तीक्ष्णेनाग्ने चक्षुषा रक्ष यज्ञं प्राञ्चं वसुभ्यः प्र णय प्रचेतः।
हिंस्रं रक्षांस्यभि शोशुचानं मा त्वा दभन्यातुधाना नृचक्षः॥ ९॥

१. हे **अग्ने**=राष्ट्र के अग्रणी राजन्! तू **तीक्ष्णेन चक्षुषा**=बड़ी तीव्र दृष्टि से **यज्ञं रक्ष**=यज्ञ की रक्षा कर। इस राष्ट्र-यज्ञ को यातुधानों के द्वारा किये जानेवाले विध्वंस से बचा। हे **प्रचेतः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले राजन्! **वसुभ्यः**=उत्तम निवासवालों के लिए—जीवन को उत्तमता से बितानेवालों के लिए तू इस राष्ट्र-यज्ञ को **प्राञ्चं प्रणय**=सदा अग्रगतिवाला कर। यह राष्ट्र निरन्तर उन्नतिपथ पर आगे बढ़नेवाला हो और यातुधानों से विपरीत वसुओं के लिए—स्वयं उत्तम जीवन बितानेवाले तथा औरों को उत्तम जीवन बिताने देनेवालों के लिए इस राष्ट्र को तू उन्नत कर। यहाँ वसुओं को उन्नति के सब साधन प्राप्त हों। २. हे **नृचक्षः**=प्रजाओं का ध्यान करनेवाले राजन्! **रक्षांसि हिंस्रम्**=राक्षसीवृत्तियों को समाप्त करने के स्वभाववाले **अभि-शोशुचानम्**=बाहर व भीतर दीप्तिवाले—बाहर स्वास्थ्य के तेज से सम्पन्न और भीतर ज्ञानज्योति से दीप्त **त्वा**=तुझे **यातुधानाः**=ये प्रजापीड़क **मा दभन्**=हिंसित करनेवाले न हों। ये तुझे अपने दबाव में न ला सकें।

भावार्थ—राजा का मूल कर्त्तव्य यही है कि वह राष्ट्रयज्ञ के विघ्नकारी यातुधानों को दूर करे। यातुधानों को दूर करके वसुओं के लिए उन्नति के साधन प्राप्त कराए।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

त्रिविध दण्ड

नृचक्षा रक्षः परि पश्य विक्षु तस्य त्रीणि प्रति शृणीह्यग्रा।
तस्याग्ने पृष्टीर्हरसा शृणीहि त्रेधा मूलं यातुधानस्य वृश्च॥ १०॥

१. हे राजन्! **नृचक्षाः**=प्रजाओं का पालन करनेवाला तू **विक्षु**=प्रजाओं में **रक्षः**=राक्षसी-वृत्तिवाले को **परिपश्य**=सब ओर से देखनेवाला हो। राष्ट्र में जहाँ भी कोई राक्षसीवृत्तिवाला व्यक्ति हो वह तेरी आँख से ओझल न हो जाए। **तस्य**=उस राक्षस के **त्रीणि**=तीन **अग्रा**=प्रमुख दोषों को **प्रतिशृणीहि**=तू एक-एक करके समाप्त करनेवाला हो। राष्ट्र में सब अपराधों के मूल में 'काम-क्रोध तथा लोभ' ही होते हैं। तू पाप के इन तीनों मूलकारणों को समाप्त करनेवाला बन। ज्ञान देकर तू इन्हें कामादि से ऊपर उठानेवाला हो। २. हे **अग्ने**=राष्ट्र की अग्रगति के साधक राजन्! **तस्य**=उसके **पृष्टिः**=आधारभूत स्थानों व लोगों को तू **हरसा**=अपनी तेजस्विता के द्वारा **शृणीहि**=नष्ट कर डाल। तेरे राष्ट्र में कोई भी व्यक्ति राष्ट्र के इन अपराधियों के सहायक (पृष्ठ) न बनें। ३. हे राजन्! तू **यातुधानस्य**=इस प्रजापीड़क के **मूलम्**=मूल को—पापकर्म की आधारभूत वृत्ति को **त्रेधा**=तीन प्रकार से **वृश्च**=काट डाल। 'वाग्दण्ड, धिग्दण्ड, अर्थ वा वधदण्ड' द्वारा तू इस यातुधान की अशुभवृत्ति को समाप्त कर डाल।

भावार्थ—राजा यातुधानों को ज्ञान देकर 'काम-क्रोध-लोभ' का शिकार होने से बचाए। इन्हें शरण देनेवालों को भी दण्डित करे। 'वाग्दण्ड' आदि द्वारा इन्हें पापकर्म से निवृत्त करने के लिए यत्नशील हो।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अध्यापन व उपदेश द्वारा जीवन-परिवर्तन

त्रिर्यातुधानः प्रसितिं त एत्वृतं यो अग्ने अनृतेन हन्ति।
तमर्चिषा स्फूर्जयञ्जातवेदः समक्षमेनं गृणते नि युङ्ग्धि॥ ११॥

१. हे **अग्ने**=राष्ट्र के अग्रणी राजन्! **यः**=जो **यातुधानः**=प्रजापीड़क व्यक्ति **अनृतेन**=अनृत से **ऋतं हन्ति**=ऋत को नष्ट करता है, वह **त्रिः**=तीन बार **ते प्रसितिम् एतु**=तेरे बन्धन में प्राप्त हो। प्रथम बार उसे 'वाग्दण्ड' देकर छोड़ दिया जाए। दूसरी बार उसके लिए 'धिग्दण्ड' का प्रयोग हो। तीसरी बार उसे 'अर्थदण्ड और वधदण्ड' के योग्य समझा जाए। २. हे **जातवेदः**=राष्ट्र में ज्ञान का प्रसार करनेवाले राजन्! **तम्**=उस यातुधान को **अर्चिषा**=ज्ञान की ज्वाला से **स्फूर्जयन्**=(स्फूर्ज् to shine) दीप्त करने के हेतु से **गृणते समक्षम्**=स्तोता व उपदेष्टा के सामने **एनं नियुंग्धि**=इसे नियुक्त कर। प्रभुभक्त उपदेष्टा इसे उचित ज्ञान व प्रेरणा देकर इसके जीवन को ऋतमय बनाने के लिए यत्नशील हो।

भावार्थ—क़ैदियों के लिए अध्यापन व उपदेश की व्यवस्था करके राजा को उनके जीवन को परिवर्तित करने की व्यवस्था करनी चाहिए।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

पति-पत्नी व मित्रों को परस्पर कटुता के लिए 'वाग्दण्ड'

यदग्ने अद्य मिथुना शपातो यद्वाचस्तृष्टं जनयन्त रेभाः।
मन्योर्मनसः शरव्या३ जायते या तया विध्य हृदये यातुधानान्॥ १२॥

१. हे **अग्ने**=राजन्! **यत्**=जो **अद्य**=आज **मिथुना**=पति-पत्नी परस्पर **शपातः**=एक-दूसरे को आक्रुष्ट करनेवाले होते हैं—परस्पर अपशब्द बोल बैठते हैं और क्रोध में आकर राजाधिकरण (न्यायालय) में जाते हैं, **यत्**=जो **रेभाः**=बहुत बोलने के स्वभाववाले मित्र **वाचः तृष्टम्**=वाणी की कटुता को (harsh, pungent) **जनयन्त**=उत्पन्न करते हैं, अर्थात् परस्पर कड़वे शब्द बोलते हुए न्यायालय में आ पहुँचते हैं, इन **यातुधानान्**=एक-दूसरे को पीड़ित करनेवालों को **तया हृदये विध्य**=उस वाणी से हृदय में बींध (विद्ध कर) **या**=जो **मन्योः**=कुछ भी विचारशील पुरुष के **मनसः**=मन की **शरव्या**=शरसंहति (बाणसमूह) **जायते**=बन जाती है, अर्थात् यह उपदेश-वाणी उनके हृदय में प्रभाव पैदा करती है और वे आत्मग्लानि अनुभव करते हुए अपने कर्म के लिए पश्चात्तापयुक्त होते हैं।

भावार्थ—पति-पत्नी परस्पर कटु शब्द बोल बैठें या मित्र तेजी में आकर अशुभ शब्द बोल जाएँ तो राजा उन्हें 'वाग्दण्ड' द्वारा भविष्य में वैसा न करने के लिए प्रेरित करे।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'तप, तेज व ज्योति' से पाप दूर करना

परा शृणीहि तपसा यातुधानान्पराऽग्ने रक्षो हरसा शृणीहि।
परार्चिषा मूरदेवाञ्छृणीहि परासुतृपः शोशुचतः शृणीहि॥ १३॥

१. **तपसा**=तप के द्वारा **यातुधानान्**=पीड़ा देनेवालों को **पराशृणीहि**=दूर विनष्ट कर। जिस समय जीवन में तप की कमी आ जाती है तब भोगवृत्ति बढ़ जाती है, उसी समय मनुष्य औरों को पीड़ित करनेवाला बनता है। यदि प्रजा में तपस्या की भावना बनी रहे तो उनके जीवनों में 'यातुधानत्व' आता ही नहीं। हे **अग्ने**=राजन्! आप **हरसा**=(ज्वलितेन तेजसा—द०) तेजस्विता

के द्वारा **रक्षः**=राक्षसीवृत्तिवालों को **पराशृणीहि**=सुदूर विनष्ट करनेवाले होओ। तेजस्विता अशुभ वृत्तियों को विनष्ट करनेवाली है। २. **अर्चिषा**=ज्ञान की ज्वाला से **मूरदेवान्**=मूर्खतापूर्ण व्यवहार करनेवालों को **पराशृणीहि**=विनष्ट कीजिए। ज्ञान-प्रसार के द्वारा मूर्खता के नष्ट होने पर सब व्यवहार विवेक व सभ्यता के साथ होने लगते हैं। **असुतृपः**=केवल अपने प्राणों को तृप्त करने में लगे हुए **शोशुचतः**=(to burn, consume) औरों के शोक का कारण बनते हुए इन लोगों को तू **पराशृणीहि**=सुदूर विनष्ट कर।

भावार्थ—जीवन में तपस्या के द्वारा यातुधानत्व का विनाश हो, तेजस्विता से राक्षसीवृत्ति का विलोप हो और ज्ञान-प्रसार के द्वारा 'मूर्खतापूर्ण व्यवहार तथा केवल अपने को तृप्त करने की वृत्ति' का—स्वार्थ का विलोप हो।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

हम 'वाचास्तेन' न बनें

परा॒द्य दे॒वा वृ॑जि॒नं शृ॑णन्तु प्र॒त्यगे॑नं श॒पथा॑ यन्तु सृ॒ष्टाः।
वा॒चास्ते॑नं॒ शर॑व ऋच्छन्तु॒ मर्म॒न्विश्व॑स्यैतु॒ प्रसि॑तिं यातु॒धानः॑ ॥ १४ ॥

१. **अद्य**=आज **देवाः**=ज्ञान का प्रसार करनेवाले विद्वान् **वृजिनम्**=पाप को **पराशृणन्तु**=दूर शीर्ण कर दें। ज्ञान-प्रसार से पापवृत्ति दूर हो। राष्ट्र में राजा ज्ञान-प्रसार का पूर्ण ध्यान करे। **तृष्टाः**=उत्पन्न किये हुए कर्कश **शपथाः**=अभिशाप **एनम्**=इस शाप देनेवाले को **प्रत्यक् यन्तु**=लौटकर आभिमुख्येन प्राप्त हों। समझदार मनुष्य गालियों का उत्तर गालियों में नहीं देता और इसप्रकार अपशब्द बोलनेवाले के पास ही उसके अपशब्द लौट जाते हैं। २. **वाचास्तेनम्**=वाणी की चोरी करनेवाले, अर्थात् अनृत व कटु शब्द बोलनेवाले इस व्यक्ति को इसके वचन ही **शरवः मर्मन् ऋच्छन्तु**=शरतुल्य होकर मर्मस्थलों में प्राप्त हों। इस वाचास्तेन को जहाँ अपने शब्द ही पीड़ाकर हों, वहाँ यह **यातुधानाः**=औरों को पीड़ित करनेवाला व्यक्ति **विश्वस्य**=उस सर्वव्यापक प्रभु के (विशति सर्वत्र) **प्रसितिं एतु**=बन्धन को प्राप्त हो। यह वाचास्तेन पशु-पक्षियों की योनियो में भटकता है। अपने जीवनकाल में भी अपने वचनों से स्वयं कष्ट प्राप्त करता है।

भावार्थ—ज्ञान से पाप दूर होता है। ज्ञानी अपशब्दों को न लेकर बोलनेवाले को ही लौटा देता है।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

मनुष्यों व पशुओं पर क्रूरता को रोकना

यः पौरु॑षेयेण क्र॒विषा॑ सम॒ङ्क्ते यो अश्व्ये॑न प॒शुना॑ यातु॒धानः॑।
यो अ॒घ्न्याया॒ भर॑ति क्षी॒रम॑ग्ने॒ तेषां॑ शी॒र्षाणि॒ हर॒साऽपि॑ वृश्च ॥ १५ ॥

१. हे **अग्ने**=राजन्! **तेषाम्**=उनके **शीर्षाणि**=शिरों को **हरसा**=अपने ज्वलित तेज से **वृश्च**=तू छिन्न करनेवाला हो, अर्थात् इनको उचित दण्ड देकर इनके अपवित्र कार्यों से इन्हें रोक। सबसे प्रथम उसे रोक **यः**=जो अपने को **पौरुषेयेण क्रविषा**=पुरुष-सम्बन्धी मांस से **समंक्ते**=संगत करता है। जो नर-मांस का सेवन करता है अथवा औरों को नष्ट करके अपने भोगों को बढ़ाता है, २. उसे तू रोक **यः**=जो **अश्व्येन**=घोड़े के मांस से अपने को संगत करता है—जो घोड़े को दिन-रात जोते रखकर अपनी भोगवृत्ति को बढ़ाने का यत्न करता है। **यः यातुधानः**=जो औरों को पीड़ित करनेवाला **पशुना**=अन्य पशुओं को पीड़ित करके अपने धन को बढ़ाना चाहता है। हे राजन्! तू उसे रोक **यः**=जो **अघ्न्यायाः**=अहन्तव्य गौ के **क्षीरं भरति**=दूध को दूहने की बजाय पीड़ित करके हरना चाहता है। 'बछड़े को भी उचित मात्रा में दूध न देकर सारे दूध को स्वयं

ले-लेने की कामना करता है,' उसे भी राजा दण्ड देकर इस अपराध से रोके।

भावार्थ—राजनियम ऐसा हो कि कोई भी मनुष्य अन्य मनुष्यों पर, घोड़ों व अन्य पशुओं पर, विशेषकर गौओं पर क्रूरता न कर सके।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

विष, न कि दूध

विषं गवां यातुधाना भरन्तामा वृश्चन्तामदितये दुरेवाः।
परैणान्देवः सविता ददातु परा भागमोषधीनां जयन्ताम्॥ १६॥

१. **यातुधानाः**=गौओं को पीड़ित करके गौओं का दूध निकालनेवाले लोग **गवाम्**=गौओं के **विषम्**=विष को **भरन्ताम्**=अपने में धारण करें। वस्तुतः जब गौओं को पीड़ित किया जाता है तब उनके दूध आदि में विष की उत्पत्ति हो जाती है। इस विषैले दूध को पीनेवाले लोग दूध क्या पीते हैं, विष ही पीते हैं। **अदितये**=शरीर के अखण्डन व स्वास्थ्य के लिए दूध का अतिमात्र प्रयोग करनेवाले ये **दुरेवाः**=(दूर एव) ग़लत मार्ग पर चलते हुए यातुधान **आवृश्चन्ताम्**=अपने स्वास्थ्य को छिन्न कर लें। इन दुराचारी यातुधानों का स्वास्थ्य उस विषैले दूध को पीने से नष्ट हो जाए। २. **सविता देवः**=वह प्रेरक देव **एनान्**=इन लोगों को **पराददातु**=स्वरभंग आदि अनुभवों को प्राप्त कराके इन अपकर्मों से पृथक् करे। ये लोग दूध के साथ **ओषधीनां भागम्**=ओषधियों के सेवनीय अंश को **पराजयन्ताम्**=(लभन्ताम्) प्राप्त करनेवाले हों। **'पयः पशूनां रसमोषधीनाम्'** इस मन्त्र की प्रेरणा के अनुसार ये पशुओं के अविषाक्त दूध तथा ओषधियों के रसों का सेवन करनेवाले बनें।

भावार्थ—गौ को पीड़ित करके प्राप्त किया गया दूध विषमय हो जाता है, उसका प्रयोग ठीक नहीं।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

गोपीड़क को दण्ड

संवत्सरीणं पय उस्त्रियायास्तस्य माशीद्यातुधानो नृचक्षः।
पीयूषमग्ने यतमस्तितृप्सात्तं प्रत्यञ्चमर्चिषा विध्य मर्मणि॥ १७॥

१. हे **नृचक्षः**=मनुष्यों का ध्यान करनेवाले प्रजापालक राजन्! **यातुधानः**=गौओं को पीड़ित करके उनके दूध को छीननेवाला यातुधान **उस्त्रियायाः**=गौ का जो **सवंत्सरीणं पयः**=वर्षभर में मिलनेवाला दूध है **तस्य मा अशीत्**=उसका भोजन न करें। उस यातुधान को वर्षभर गौ का दूध पीने को न मिले। वह गौ की सेवा करे, परन्तु उसे गौ के दूध से वंचित रक्खा जाए। क्रूरता से दुग्धहरण का यही समुचित दण्ड है। २. **यतमः**=जो भी यातुधान, **अग्ने**=हे राजन्! **पीयूषम्**=अभिनव पय को—सर्वारम्भ में स्तनों से बाहर आनेवाले दूध को जोकि वस्तुतः बछड़े का भाग है, **तितृप्सात्**=अपनी तृप्ति का साधन बनाने की इच्छा करता है, **तम्**=उस **प्रत्यञ्चम्**=प्रतिकूल मार्ग पर चलनेवाले व्यक्ति के **मर्मणि**=मर्मस्थलों को तू **अर्चिषा**=ज्ञानज्वाला से **विध्य**=बींध दे। तू उसे ऐसे शब्दों में समझाने का प्रयत्न कर कि 'बच्चे भूखे बैठे हों और माता-पिता आनन्द से खा रहे हों' तो क्या यह दृश्य माता-पिता की मानवता का सूचक है? इसीप्रकार गौ का बछड़ा तरसता रह जाए और तुम गौ के ऊधस् से एक-एक बूँद दूध को निकालने का प्रयत्न करो तो यह कहाँ तक ठीक है? इसप्रकार उसे ज्ञान दिया जाए कि यह उसके हृदय में घर कर जाए—उसे अपना अपराध मर्माहत करने लगे।

भावार्थ—पीड़ा देकर गोदुग्ध हरण करनेवाले को वर्षभर दूध न मिलने का दण्ड दिया जाए।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ज्ञान-प्रसार द्वारा यातुधान का अन्त

सनादग्ने मृणसि यातुधानान्न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः।
सहमूरानन्नु दह क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः॥ १८॥

१. हे **अग्ने**=राष्ट्र को आगे ले-जानेवाले राजन्! तू **सनात्**=चिरकाल से **यातुधानान्**=प्रजा व पशुओं के पीड़कों को **मृणसि**=कुचल देता है। **त्वा**=तुझे **पृतनासु**=संग्रामों में **रक्षांसि**=ये राक्षसीवृत्ति के लोग **न**=नहीं **जिग्युः**=जीत पाते। तू **क्रव्यादः**=इन मांसभक्षियों को **सहमूरान्**=जड़ समेत (सह+मूर=मूल) **अनुदह**=भस्म कर दे। इन्हें जड़ समेत भस्म करने का भाव यह है कि 'ये न तो मांस खाएँ और न ही इनकी मांस खाने की रुचि रह जाए। विषय तो जाएँ विषरस भी जाए'। **ते**=आपके **दैव्यायाः हेत्याः**=दिव्य वज्र से—प्रकाशमय वज्र से **मा मुक्षत**=कोई भी यातुधान मुक्त न रह जाए। ज्ञान-प्रकाश के फैलने से उनका यातुधानत्व व क्रव्यादपना ही समाप्त हो जाए।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में ज्ञान-प्रसार के द्वारा यातुधानत्व को समाप्त करे।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अघशंस का दहन

त्वं नो अग्ने अधरादुदक्तस्त्वं पश्चादुत रक्षा पुरस्तात्।
प्रति त्ये ते अजरासस्तपिष्ठा अघशंसं शोशुचतो दहन्तु॥ १९॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमें '**अधरात्**=नीचे से **उदक्तः**=ऊपर से', अर्थात् दक्षिण व उत्तर से, **त्वम्**=आप '**पश्चात्**=पीछे से **उत**=और **पुरस्तात्**=सामने से', अर्थात् पश्चिम से और पूर्व से **रक्ष**=रक्षित कीजिए। २. **शोशुचतः**=सर्वत्र पवित्रता व दीप्ति का संचार करनेवाले **ते**=आपके **त्ये**=वे **अजरासः**=कभी जीर्ण न होनेवाले **तपिष्ठः**=अत्यन्त सन्तापक दण्ड **अघशंसम्**=पाप का शंसन करनेवाले को **प्रतिदहन्तु**=भस्म कर दें। आपकी फैलायी हुई ज्ञान-रश्मियों से इनकी अघशंसन की वृत्ति समाप्त हो जाए। ये ठीक मार्ग को देखकर अशुभ मार्ग से विमुख हो जाएँ। ३. राजा को भी यही चाहिए कि राष्ट्र में सत्यज्ञान के प्रसार की ऐसी व्यवस्था करे कि लोग अशुभ बातों की प्रशंसा न करते रहें।

भावार्थ—प्रभु हमें सब ओर से रक्षित करें। प्रभु का प्रकाश व प्रभु से दिये जानेवाले दण्ड अशुभ के शंसन की वृत्ति को समाप्त करनेवाले हों।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

रक्षण व पूर्ण जीवन

पश्चात्पुरस्तादधरादुतोत्तरात्कविः काव्येन परि पाह्यग्ने।
सखा सखायमजरो जरिम्णे अग्ने मर्तां अमर्त्यस्त्वं नः॥ २०॥

१. हे **राजन्**=ज्ञानदीप्त प्रभो! अथवा ब्रह्माण्ड को नियमित करनेवाले प्रभो! आप **कविः**=क्रान्तदर्शी—तत्त्वज्ञानी हैं, आप **काव्येन**=इस वेदरूप अजरामर काव्य के द्वारा (पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति) **पश्चात् पुरस्तात्**=पीछे व आगे से—पश्चिम व पूर्व से **अधरात् उत उत्तरात्**=नीचे व ऊपर से—दक्षिण व उत्तर से हमें **परिपाहि**=रक्षित कीजिए। आपके इस काव्य की प्रेरणा के अनुसार चलते हुए हम सदा सुरक्षित जीवन बिता पाएँ। २. हे **अग्ने**=हमें आगे ले-चलनेवाले प्रभो! आप **सखा**=हमारे मित्र हो, **सखायम्**=मुझ सखा को

आप (परिपाहि) रक्षित कीजिए। **अजरः**=कभी जीर्ण न होनेवाले आप हमें **जरिम्णे**=पूर्ण जरावस्थावाले जीवन को प्राप्त कराइए। **त्वं अमर्त्यः**=आप अमर्त्य हैं, **नः मर्तान्**=हम मरणधर्मा अपने मित्रों को पूर्ण जीवनरूप अमरता प्राप्त करानेवाले हैं। आपके मित्र बनकर हम पूरे सौ वर्ष तक जीनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु हमें वेदरूपी काव्य के द्वारा पाप से बचाकर पूर्ण जीवन प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

'शफारुज्, यातुधान व रेभ' पर कड़ी दृष्टि रखना

तदग्ने चक्षुः प्रति धेहि रेभे शफारुजो येन पश्यसि यातुधानान्।
अथर्ववज्ज्योतिषा दैव्येन सत्यं धूर्वन्तमचितं न्योष॥ २१॥

१. हे **अग्ने**=राष्ट्र के अग्रणी राजन्! तू **येन**=जिस दृष्टि से **शफारुजः**=(शफाः=नखाः सा०) नखों से औरों का विदारण करनेवाले **यातुधानान्**=प्रजाओं को पीड़ित करनेवाले राक्षसों को **पश्यसि**=देखता हैं, **तत् चक्षुः**=उस आँख को **रेभे**=व्यर्थ कोलाहल करनेवाले—पागल के समान बकनेवाले पुरुष पर भी **प्रतिधेहि**=स्थापित कर। तू राष्ट्र में 'शफारुजों, यातुधानों व रेभों' पर दृष्टि रख। ये धार्मिक प्रजा को पीड़ित करनेवाले न बन पाएँ। इनपर तेरा नियन्त्रण हो। २. **अथर्ववत्**=(न थर्व=move) कर्त्तव्य-पथ से विचलित न होनेवाले प्रजापति (राजा) के समान **दैव्येन ज्योतिषा**=प्रभु-प्रदत्त वेदज्ञान की ज्योति के द्वारा **सत्यं धूर्वन्तम्**=सत्य को हिंसित करनेवाले **अचितम्**=(अ चित्) इस नासमझ, कर्त्तव्यविमुख व्यक्ति को **न्योष**=तू नितरां दग्ध करनेवाला हो। ज्ञानज्योति प्राप्त करके सत्य का हिंसन न करता हुआ यह एक समझदार नागरिक बन जाए।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में उन लोगों पर कड़ी दृष्टि रक्खे जो नखों से औरों का विदारण करते हैं, नाना प्रकार से प्रजा को पीड़ित करते हैं तथा व्यर्थ का कोलाहल मचाये रहते हैं। राजा को चाहिए कि अपने कर्त्तव्य में ढीला न होता हुआ, वेदज्ञान के द्वारा इन्हें समझदार बनाने का प्रयत्न करे, जिससे ये सत्य का हिंसन करने से निवृत्त हों।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रभु का धारण

परि त्वाग्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि।
धृषद्वर्णं दिवेदिवे हन्तारं भङ्गुरावतः॥ २२॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **सहस्य**=शत्रुओं का मर्षण करनेवालों में उत्तम प्रभो! **वयम्**=हम **त्वा**=आपको **परिधीमहि**=अपने में धारण करते हैं, जो आप **पुरम्**=(पॄ पालनपूरणयोः) हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं। आपकी कृपा से ही हम रोगाक्रान्त शरीरोंवाले नहीं होते और आपकी कृपा से ही हमारे मन हीन भावनाओं से रहित रहते हैं। आप **विप्रम्**=ज्ञान देकर हमारा विशेषरूप से पूरण करनेवाले हैं। २. उन आपको हम धारण करते हैं, जिनके **धृषद् वर्णम्**=गुणों का वर्णन व नामोच्चारण ही हमारे शत्रुओं का धर्षण करनेवाला होता है। उन आपको हम **दिवेदिवे**=प्रतिदिन हृदय में धारण करने का प्रयत्न करते हैं। आप **भंगुरावतः**=हमारा भंग करनेवाली राक्षसीवृत्तियों का **हन्तारम्**=नाश करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें, प्रभु को हृदय में धारण करें। प्रभु हमारी राक्षसीवृत्तियों का विनाश करके हमारा पालन करते हैं।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

व्यापक ज्ञान व सूर्यवत् गति

विषेण भङ्गुरावतः प्रति स्म रक्षसो जहि।
अग्ने तिग्मेन शोचिषा तपुरग्राभिरर्चिभिः॥ २३॥

१. हे **अग्ने**=प्रकाशमय प्रभो! आप **विषेण**=(विष् व्याप्तौ) व्यापक ज्ञान के द्वारा **भंगुरावतः**=हमारी शक्तियों का भंग करनेवाली **रक्षसः**=राक्षसीवृत्तियों को **प्रति जहि स्म**=निश्चय से एक-एक करके नष्ट कर दीजिए, ज्ञानाग्नि में सब वासनाएँ भस्म हो ही जाती हैं। २. **तिग्मेन शोचिषा**=तीव्र ज्ञान की ज्योति से तथा **तपुः अग्रभिः**=(तपु=The sun) सूर्य है आगे जिसके ऐसी **ऋष्टिभिः**=(ऋष् गतौ) गतियों से हमारी राक्षसीवृत्तियों को समाप्त कीजिए। सूर्य को सम्मुख करके, अर्थात् सूर्य को आदर्श मानकर की जानेवाली गतियाँ 'तपुरग्रा ऋष्टियाँ' हैं। 'सूर्याचन्द्रमसाविव' सूर्य और चन्द्रमा की भाँति नियमित गति से अशुभ वृत्तियाँ दूर हो जाती हैं।

भावार्थ—व्यापक व दीप्त ज्ञान से तथा सूर्य की भाँति नियमित गति से हम अशुभ वृत्तियों को नष्ट करनेवाले बनें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शृंगद्वयी

वि ज्योतिषा बृहता भात्यग्निराविर्विश्वानि कृणुते महित्वा।
प्रादेवीर्मायाः सहते दुरेवाः शिशीते शृङ्गे रक्षोभ्यो विनिक्ष्वे॥ २४॥

१. **अग्निः**=वह अग्रेणी प्रभु **बृहता ज्योतिषा**=हमारी वृद्धि की कारणभूत महती ज्ञानज्योति से **विभाति**=विशिष्टरूप से दीप्त हो रहा है। वह प्रभु **महित्वा**=अपनी महिमा से **विश्वानि**=सब लोक-लोकान्तरों को **आविः कृणुते**=प्रकट करता है अथवा तेज के द्वारा सबके प्रति अपने को प्रकट करता है। २. वे हृदयस्थ प्रभु **अदेवीः**=आसुरी **दुरेवाः**=दुर्गमन-(दुराचार)-रूप **मायाः**=छल-कपट को **प्रसहते**=अभिभूत करते हैं—प्रभु छल-कपट की वृत्तियों को विनष्ट करते हैं। वे प्रभु **रक्षोभ्यः विनिक्ष्वे**=राक्षसी वृत्तियों के विनाश के लिए **शृङ्गे शिशीते**=उपासक के शृंगों को तीव्र करते हैं। (शृंगे शृणातेः—नि०) 'ज्ञान और कर्म' ही साधक के शृंग हैं। ये उसके शत्रुभूत काम-क्रोध का विनाश करनेवाले होते हैं। उपासक के 'ब्रह्म व क्षत्र' का विकास करके प्रभु काम-क्रोध को दूर भगा देते हैं।

भावार्थ—प्रभु का प्रकाश सर्वत्र व्याप्त है। प्रभु अपनी महिमा से सब लोकों को प्रकाशित करते हैं। वे ही हमारी आसुरी वृत्तियों को विनष्ट करते हैं और हमारे राक्षसीभावों के विनाश के लिए हमारे 'ब्रह्म+क्षत्र' को विकसित करते हैं।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भाजगती** ॥

दुष्ट हृदयता आदि का निराकरण

ये ते शृङ्गे अजरे जातवेदस्तिग्महेती ब्रह्मसंशिते।
ताभ्यां दुर्हार्दमभिदासन्तं किमीदिनं प्रत्यञ्चमर्चिषा जातवेदो वि निक्ष्व॥ २५॥

१. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **ये**=जो **ते**=आपके **अजरे**=कभी जीर्ण न होनेवाले **तिग्महेती**=तीक्ष्णता से हनन के साधनभूत **ब्रह्मसंशिते**=ज्ञान से तीव्र किये गये **शृंगे**=शत्रुओं को शीर्ण करने के साधनरूप 'ब्रह्म व क्षत्र' रूप शृंग हैं, **ताभ्याम्**=उनके द्वारा हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! इस **दुर्हार्दम्**=दुष्ट हृदयवाले पुरुष को **अर्चिषा विनिक्ष्व**=तीव्र ज्वाला से—ज्ञानशक्ति की ज्वाला से

विनष्ट कर दीजिए, जोकि **अभिदासन्तम्**=सर्वतः उपक्षय करनेवाला है, **किमीदिनम्**=दूसरे के जान व माल को तुच्छ समझनेवाला है (किम् इदानीम् इति वदन्तम्) तथा **प्रत्यञ्चम्**=(प्रति अञ्च्) हमारे सम्मुख आक्रमण के लिए आनेवाला है। प्रभु ज्ञान व शक्ति देकर 'दुष्टहृदयता' आदि को विनष्ट कर देते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें ज्ञान व शक्ति प्राप्त कराके शुभ हृदयवाला—औरों का उपक्षय न करनेवाला—औरों के जान व माल को तुच्छ न समझनेवाला व औरों पर आक्रमण न करनेवाला बनाएँ।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

शुचिः पावकः

अग्नी रक्षांसि सेधति शुक्रशोचिरमर्त्यः। शुचिः पावक ईड्यः॥ २६॥

१. **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **रक्षांसि सेधति**=हमारी राक्षसीवृत्तियों को दूर करते हैं। **शुक्रशोचिः**=वे प्रभु दीप्त प्रकाशवाले हैं, **अमर्त्यः**=अविनाशी हैं, **शुचिः**=वे दीप्त हैं, **पावकः**=(पावयिता) हमें पवित्र करनेवाले हैं, **ईड्यः**=स्तुति के योग्य हैं।

भावार्थ—प्रभुस्मरण से राक्षसीवृत्तियाँ दूर भाग जाती हैं।

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

इन्द्र और सोम

इन्द्रासोमा तपतं रक्ष उब्जतं न्य र्पयतं वृषणा तमोवृधः।
परा शृणीतमचितो न्यो षतं हतं नुदेथां नि शिशीतमत्त्रिणः॥ १॥

१. **इन्द्रासोमा**=हे इन्द्र और सोम—जितेन्द्रियता व सौम्यता के भाव! अथवा सोमशक्ति का रक्षण! आप **रक्षः तपतम्**=राक्षसीभावों को सन्तप्त कर डालो और उन्हें **उब्जतम्**=हिंसित कर दो। जितेन्द्रियता से अशुभ वृत्तियाँ दूर होती हैं और सोमरक्षण के द्वारा रोगों के कारणभूत रोगकृमियों का (**रक्षः**=अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाले रोगकृमि) संहार होता है। हे **वृषणा**=हममें शक्ति का सेचन करनेवाले 'इन्द्र और सोम'! **तमोवृधः**=तमोगुण से वृद्धि को प्राप्त होनेवाले दुष्टभावों को **न्यर्पयतम्**=आप नीचे भेजो, अर्थात् पादाक्रान्त करके समाप्त कर दो। २. **अचितः**=अज्ञानों को **पराशृणीतम्**=सुदूर विनष्ट कर दो, **निओषतम्**=इन्हें निश्चय से जला दो, **हतम्**=मार डालो, **नुदेथाम्**=इन्हें परे धकेल दो। **अत्त्रिणः**=हमें खा-जानेवाली 'काम-क्रोध-लोभ' की वृत्तियों को **निशिशीतम्**=नितरां क्षीण कर दो।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनें, सोम का अपने में रक्षण करें। इससे हमारे 'काम-क्रोध-लोभ' रूप शत्रु तो विनष्ट होंगे ही हमारे शरीर भी नीरोग बनेंगे। ये इन्द्र और सोम हमें खा-जानेवाले हमारे शत्रुओं को क्षीण कर दें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'ब्रह्मद्विट्, क्रव्याद, घोरचक्षाः, किमीदी' न बनना

इन्द्रासोमा समघशंसमभ्य१घं तपुर्ययस्तु चरुरग्निमाँइव।
ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने॥ २॥

१. **इन्द्रासोमा**=जितेन्द्रियता व सौम्यता के दिव्यभावो! **अघशंसम्**=पाप का शसंन करनेवाले **अघम्**=पापी को **सम्**=सम्यक् **अभि**(...तम्)=(...)। **तपुः**=यह सन्तापक

राक्षसीभाव **अग्निमान् चरुः इव**=अग्निवाले हविर्द्रव्य की भाँति **ययस्तु**=आयास को प्राप्त हो—भस्मीभूत हो जाए। जैसे अग्नि में डाला हुआ चरु भस्म हो जाता है, इसी प्रकार ये सन्तापकभाव जितेन्द्रियता व सौम्यता में भस्म हो जाएँ। २. हे इन्द्रासोमा! आप **ब्रह्मद्विषे**=ज्ञान से अप्रीतिवाले, **क्रव्यादे**=मांसभक्षक, **घोरचक्षसे**=क्रूरदृष्टि, **किमीदिने**=(किम् इदानीं इति पृच्छते) पिशुनता के भाव के लिए **अनवायम्**=(अव्यवधानं यथा भवति तथा—सा०) निरन्तर **द्वेषः**=अप्रीति को **धत्तम्**=धारण करो। जितेन्द्रियता व सौम्यता हमें 'ब्रह्मद्विट्, क्रव्याद, घोरचक्षसा व किमीदी' बनने से बचाएँ।

भावार्थ—जितेन्द्रियता व सौम्यता की अग्नि में सब सन्तापकभाव भस्म हो जाएँ। हम 'ज्ञान की रुचिवाले, वानस्पतिक भोजन करनेवाले, सौम्यदृष्टि व अनिन्दक' बनें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

दुष्ट-दमन

इन्द्रासोमा दुष्कृतो वव्रे अन्तरनारम्भणे तमसि प्र विध्यतम्।
यतो नैषां पुनरेकश्चनोदयत्तद्वामस्तु सहसे मन्युमच्छवः॥ ३॥

१. हे **इन्द्रासोमा**=जितेन्द्रियता व सौम्यता के भावों से युक्त शासक पुरुषो! आप **दुष्कृतः**=पापकारियों को **वव्रे**=वारक—प्रकाश को दूर करनेवाले **अनारम्भणे**=आलम्बनरहित **तमसि**=अन्धकार में (कारागार में) **अन्तः प्रविध्यतम्**=अन्दर करके दण्डित करो। २. इन्हें इसप्रकार दण्डित करो कि **यतः**=जिससे **एषां एकः चन**=इनका कोई एक भी **पुनः न उदयत्**=फिर उद्‌गत न हो। इनमें से कोई भी हमें प्राप्त होकर पीड़ित करनेवाला न हो। **वाम्**=आपका **तत्**=वह **मन्युमत्**=ज्ञान से युक्त **शवः**=बल **सहसे**=सब शत्रुओं के पराभव करने के लिए **अस्तु**=समर्थ हो।

भावार्थ—राजा जितेन्द्रिय व सोमशक्ति का रक्षण करनेवाला हो। ज्ञानयुक्त बलवाला होता हुआ वह ऐसी समझदारी से दण्ड का प्रणयन करे कि राष्ट्र में दुष्टों का अभाव हो जाए।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

दिवः पृथिव्यः पर्वतेभ्यः

इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवो वधं सं पृथिव्या अघशंसाय तर्हणम्।
उत्तक्षतं स्वर्यं पर्वतेभ्यो येन रक्षो वावृधानं निजूर्वथः॥ ४॥

१. हे **इन्द्रासोमा**=जितेन्द्रियता व सौम्यता के भावो! (**इन्द्र**=राजा, **सोमः**=न्यायाधीश) जितेन्द्रिय राजन् व सौम्य न्यायाधीश! आप दोनों **दिवः**=मस्तिष्करूप द्युलोक से—ज्ञान से **वधम्**=पापी के विनाशक आयुध को **वर्तयतम्**=प्रवृत्त करो। इसप्रकार ज्ञानपूर्वक दण्ड दो कि पापी की पापवृत्ति नष्ट हो जाए। **पृथिव्याः**=पृथिवी से ऐसे आयुध को **सम्** (वर्तयतम्)=उत्पन्न करो जोकि **अघशंसाय**=पाप का शंसन करनेवाले के लिए **तर्हणम्**=विनाशक हो। पार्थिव अस्त्रों से—तलवार आदि से शत्रु का विनाश किया जाए। २. **पर्वतेभ्यः**=पर्ववान् मेघों से **स्वर्यम्**=शब्दपूर्वक सन्तप्त करनेवाली विद्युत्-शक्ति से उत्पन्न शस्त्र को **उत्तक्षतम्**=बनाओ, **येन**=जिससे कि **वावृधानम्**=दुष्टता में बहुत बढ़ते हुए **रक्षः**=राक्षसीवृत्ति के पुरुष को **निजूर्वथः**=आप हिंसित कर दें।

भावार्थ—पापी को ज्ञान के अस्त्र से विनष्ट किया जाए—समझाकर उसके पाप को दूर किया जाए। ऐसा न होने पर पार्थिव अस्त्रों से दण्डित कर उसे पाप-निवृत्ति के लिए प्रेरित किया जाए। विवशता में विद्युत्-शस्त्र से (electric chair पर बिठाकर) उसे समाप्त कर दिया जाए।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

दुष्टों का देश से निर्वासन

इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवस्पर्यग्नितप्तेभिर्युवमश्महन्मभिः।
तपुर्वधेभिरजरेभिरत्त्रिणो नि पर्शाने विध्यतं यन्तु निस्वरम्॥ ५॥

१. **इन्द्रासोमा**=हे जितेन्द्रिय राजन् व सौम्य न्यायाधीश! **युवम्**=आप दोनों **दिवः**=अन्तरिक्ष से **परि**=चारों और **वर्तयतम्**=आयुधों को प्रेरित करो। **अग्नितप्तेभिः**=अग्नि से तपाये हुए **तपुर्वधेभिः**=तापक प्रहरणों से तथा **अजरेभिः**=न जीर्ण होनेवाले, अर्थात् दृढ़ **अश्महन्मभिः**=अश्मसारभूत लोह से बने हुए हनन-साधन आयुधों से **अत्त्रिणः**=औरों को खा जानेवाले राक्षसों के **पर्शाने**=पार्श्वस्थानों में **निविध्यतम्**=प्रहार करो। २. इसप्रकार इन प्रजापीड़क राक्षसों को विध्य करो कि वे **निस्वरम्**=बिना शब्द के **यन्तु**=यहाँ से दूर चले जाएँ। ये प्रजा में अपना रोना रोते हुए ग़लत प्रचार न कर पाएँ।

भावार्थ—राष्ट्र की ठीक व्यवस्था के लिए दुष्टों को उचित दण्ड दिया जाए और उन्हें राष्ट्र से निर्वासित कर दिया जाए।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'मति' रूप 'कक्ष्या'

इन्द्रासोमा परि वां भूतु विश्वत इयं मतिः कक्ष्याश्वेव वाजिना।
यां वां होत्रां परिहिनोमि मेधयेमा ब्रह्माणि नृपतीइव जिन्वतम्॥ ६॥

१. हे **इन्द्रासोमा**=जितेन्द्रिय व सौम्य (विनीत) पुरुषो! **इयम् मतिः**=यह मननीय स्तुति, मननपूर्वक किया गया प्रभुस्तवन **वाम्**=आपके **विश्वतः**=चारों ओर **परिभूतु**=हो। यह आपको इसप्रकार घेरे रहे **इव**=जैसेकि **कक्ष्या**=कमरबन्द **वाजिना अश्वा**=शक्तिशाली घोड़ों को चारों ओर से घेरनेवाला होता है। यह कक्ष्या घोड़ों को सदा सन्नद्ध रखती है, इसी प्रकार यह स्तुति इन्द्र और सोम को सन्नद्ध रक्खे। २. **याम्**=जिस **होत्राम्**=वाणी को **मेधया**=बुद्धि के साथ **वां परिहिनोषि**=आपके लिए प्रेरित करता हूँ, **उभा इमा ब्रह्माणि**=इन ज्ञान की वाणियों को **नृपती इव जिन्वतम्**=(ना चासौ पतिश्च) अग्रगतिवाले व अपने स्वामियों की भाँति अपने अन्दर प्रेरित करो। 'ना' बनो—अग्रगतिवाले बनो, 'पति' अपने स्वामी बनो और ज्ञान-वाणियों को प्राप्त करो।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन हमें इसप्रकार घेरे रहे जैसेकि कमरबन्द घोड़े को घेरे रहता है। हम अग्रगतिवाले व अपने स्वामी बनकर ज्ञान की वाणियों को अपने अन्दर प्रेरित करें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

शत्रु-संहार व प्रभु-स्मरण

प्रति स्मरेथां तुजयद्भिरेवैर्हतं द्रुहो रक्षसो भङ्गुरावतः।
इन्द्रासोमा दुष्कृते मा सुगं भूद्यो मा कदा चिदभिदासति द्रुहुः॥ ७॥

१. हे **इन्द्रासोमा**=जितेन्द्रिय राजन् व सौम्य न्यायाधीश! आप **तुजयद्भिः**=शत्रुओं का संहार करनेवाले **एवैः**=कर्मों से **प्रति स्मरेथाम्**=प्रभु का स्मरण करो। आपका प्रभुस्मरण यही है कि आपकी क्रियाएँ शत्रु-संहार करनेवाली हों। **द्रुहः**=द्रोह की वृत्तिवाले **भंगुरावतः**=तोड़फोड़ करनेवाले **रक्षसः**=राक्षसी वृत्तिवाले पुरुषों को **हतम्**=नष्ट करो। २. हे इन्द्र और सोम! आप ऐसी व्यवस्था करो कि **दुष्कृते**=अशुभ कर्म करनेवाले के लिए **सुगम्**=सुगमता से इधर-उधर जाना **मा भूत्**=मत हो। **यः**=जो **मा**=मुझे **कदाचित्**=कभी **द्रुहुः**=द्रोह की वृत्तिवाला **अभिदासति**=

कमज़ोर करना चाहता है, उसके लिए इधर-उधर जाना सुगम मत हो।

भावार्थ—राजा व न्यायाधीश द्रोही व्यक्तियों को ऐसे दण्डित करें कि वे प्रजा में सुगमता से विचरण न कर सकें। इसप्रकार शत्रुओं का संहार ही वस्तुतः 'इन्द्र और सोम' का प्रभुस्मरण है।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

असतः वक्ता असन् अस्तु

यो मा पाकेन मनसा चरन्तमभिचष्टे अनृतेभिर्वचोभिः।
आपइव काशिना संगृभीता असन्नस्त्वासत इन्द्र वक्ता॥ ८॥

१. **यः**=जो **पाकेन मनसा**=पवित्र मन से **चरन्तम्**=व्यवहार करते हुए **मा**=मुझे **अनृतेभिः वचोभिः**=असत्य दोष से **अभिचष्टे**=दोषारोपित करता है, वह **असतः वक्ता**=असत्य बोलनेवाला **असं अस्तु**=अविद्यमान सत्तावाला हो जाए, अर्थात् वह नष्ट हो जाए। २. हे **इन्द्र**= शत्रुविद्रावक राजन्! **इव**=जैसे **काशिना**=मुट्ठी से **संगृभीताः**=ग्रहण किये हुए **आपः**=जल नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार यह असत्य बोलनेवाला नष्ट हो जाए।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में ऐसी व्यवस्था करे कि औरों पर झूठे दोष लगानेवाले लोग पनपें ही नहीं।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अहये प्रददातु

ये पाकशंसं विहरन्त एवैर्ये वा भद्रं दूषयन्ति स्वधाभिः।
अहये वा तान्प्रददातु सोम आ वा दधातु निर्ऋतेरुपस्थे॥ ९॥

१. **ये**=जो **पाकशंसम्**=परिपक्व व पवित्र वचनोंवाले मुझे **एवैः**=अपने प्राप्तव्य कामों के हेतु से—अपने स्वार्थों के हेतु से **विहरन्ते**=विशिष्टरूप से अपहृत (क्षीण) करते हैं **वा**=अथवा **ये**=जो **भद्रम्**=शुभ कर्मरत मुझे **स्वधाभिः**=अपने वेतन आदि के बल से वेतनभोगी पुरुषों द्वारा **दूषयन्ति**=दूषित करते हैं। **सोमा**=न्यायाधीश **तान्**=उन्हें **अहये प्रददातु**=सर्प के लिए दे-दे—उन्हें सर्पदंशन द्वारा समाप्त करा दे **वा**=अथवा उन्हें **निर्ऋतिः उपस्थे**=मृत्यु की गोद में **आ दधातु**=स्थापित करे।

भावार्थ—सत्यवचन व भद्र कर्मोंवाले पुरुषों को क्षीण व नष्ट करनेवाले लोगों को सर्पदंश द्वारा व अन्य प्रकार से मृत्यु की गोद में स्थापित करना ही ठीक है।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'रिपु व स्तेन' को दण्डित करना

यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने अश्वानां गवां यस्तनूनाम्।
रिपु स्तेन स्तेयकृद्दभ्रमेतु नि ष हीयतां तन्वा३ तना च॥ १०॥

१. हे **अग्ने**=राष्ट्र के अग्रणी राजन्! **यः**=जो **नः**=हमारे **पित्वः**=अन्न के **रसं दिप्सति**=सार को नष्ट करना चाहता है, **यः**=जो हमारी **अश्वानाम्**=कर्मेन्द्रियों की शक्ति (रस) को नष्ट करना चाहता है, **यः**=जो **गवाम्**=हमारी ज्ञानेन्द्रियों के रस को समाप्त करना चाहता है तथा **यः तनूनाम्**=जो हमारे शरीरों के रस को ही समाप्त करना चाहता है, वह **रिपुः**=हमारा विदारण करनेवाला **स्तेयकृत्**=चोरी करनेवाला **स्तेनः**=चोर **दभ्रम् एतु**=हिंसा को प्राप्त हो। **सः**=वह **तन्वा**=अपने शरीर से **च**=और **तना**=अपने पुत्रों से **निहीयताम्**=हीन हो।

भावार्थ—राजा ऐसे व्यक्तियों को अवश्य दण्डित करे जिनका लक्ष्य औरों के अन्नों व

शरीरों को नष्ट करना ही हो।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

हिंसक वृत्तिवाले का बहिष्कार

परः सो अस्तु तन्वा३ तना च तिस्रः पृथिवीरधो अस्तु विश्वाः।
प्रति शुष्यतु यशो अस्य देवा यो मा दिवा दिप्सति यश्च नक्तम्॥ ११॥

१. **यः**=जो **मा**=मुझे **दिवा**=दिन में **दिप्सति**=हिंसित करना चाहता है **च यः**=और जो **नक्तम्**=रात्रि में हमें नष्ट करना चाहता है, हे **देवाः**=देवो! **अस्य यशः प्रतिशुष्यतु**=उसका यश सूख जाए—वह सर्वत्र बदनाम हो जाए। २. **सः**=वह जिघांसावाला व्यक्ति **तन्वा**=अपने शरीर से **तना च**=और अपने पुत्रों से **परः अस्तु**=दूर हो जाए। इसे शरीर व पुत्रों से वियुक्त कर दिया जाए। पुत्रों से इसका कोई सम्बन्ध न रहे, जिससे यह पुत्रों को भी अशुभ वृत्तिवाला न बना दे। यह व्यक्ति **विश्वाः**=प्राणियों का जिनमें प्रवेश है उन **तिस्राः**=तीनों **पृथिवीः**=लोकों के **अधः अस्तु**=नीचे हो, अर्थात् उनका तीनों लोकों से बहिष्कार हो जाए।

भावार्थ—औरों की जिघांसावाला मनुष्य अपकीर्ति को प्राप्त करे, शरीर व पुत्रों से वियुक्त हो, लोकत्रयी से उसका बहिष्कार हो।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सत्य Vs (बनाम) असत्य

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयस्तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत्॥ १२॥

१. **चिकितेषु जनाय**=एक समझदार व्यक्ति के लिए **सुविज्ञानम्**=यह बात सम्यग् जानने योग्य है कि **सत् च असत् च वचसी**=सत्य और असत्य वचन **पस्पृधाते**=परस्पर स्पर्धावाले होते हैं, इनमें परस्पर विरोध है। इनके विरोध को समझदार तुरन्त जान लेता है। **तयोः**=उन दोनों में से **यत्**=जो **सत्यम्**=सत्य है, **यतरत् ऋजीयः**=जो अधिक सरल है, **तत् इत्**=उसे ही **सोमः अवति**=वह शान्त प्रभु रक्षित करता है और **आसत् हन्ति**=असत्य को विनष्ट करता है।

भावार्थ—समझदार व्यक्ति सत्य और असत्य के विरोध को देखता हुआ सत्य को ग्रहण करता है और असत्य को छोड़ता है। प्रभु सत्यवादी का रक्षण करते हैं और असत्यवक्ता को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पाप व असत्य का विनाश

न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम्।
हन्ति रक्षो हन्त्यासद्वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते॥ १३॥

१. **सोमः**=वे शान्त प्रभु **वृजिनम्**=पाप को—पाप करनेवाले को **न वा उ**=निश्चय से नहीं **हिनोति**=बढ़ाते हैं। **मिथुया धारयन्तम्**=मिथ्या से—छलकपट से धारण करते हुए **क्षत्रियम्**=बलशाली पुरुष को भी **न**=वे प्रभु नहीं बढ़ाते हैं। २. वे प्रभु **रक्षः हन्ति**=राक्षसीवृत्तिवालों को नष्ट करते हैं। **असत् वदन्तम्**=झूठ बोलनेवाले को भी **हन्ति**=नष्ट करते हैं। **उभौ**=वे दोनों राक्षसीवृत्तिवाले व झूठ बोलनेवाले **इन्द्रस्य**=इस सर्वशक्तिमान् प्रभु के **प्रसितौ शयाते**=बन्धन में निवास करते हैं।

भावार्थ—प्रभु की व्यवस्था में पापी व मिथ्याचारी का वर्धन नहीं होता। राक्षसीवृत्तिवाले व झूठ बोलनेवाले का विनाश ही होता है।

ऋषि:—**चातन:** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ता:** ॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्** ॥

'अनृतदेव' का हिंसन

यदि॑ वा॒ऽहमनृ॑तदेवो॒ अस्मि॒ मोघं॑ वा दे॒वाँ अ॑प्यू॒हे अ॑ग्ने।
किम॒स्मभ्यं॑ जातवेदो हृणीषे द्रोघ॒वाच॑स्ते निर्ऋ॒थं स॑चन्ताम्॥ १४॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **यदि वा अहम्**=यदि मैं **अनृतदेव:**=असत्य से व्यवहार करनेवाला **अस्मि**=हूँ (दिव् व्यवहारे) **वा**=अथवा **देवान्**=ज्ञानियों के समीप **अपि**=भी **मोघम् ऊहे**=व्यर्थ का ही तर्क-वितर्क करता हूँ, श्रद्धाशून्य होता हुआ सत्य बात को समझने का प्रयत्न नहीं करता। यदि मैं ऐसा हूँ तब तो आप मुझे दण्डित कीजिए, अन्यथा हे **जातवेद:**=सर्वज्ञ प्रभो! **किम्**=क्यों **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **हृणीषे**=आप क्रोध करते हैं। हे प्रभो! हम 'अनृतदेव व व्यर्थ का तर्क-वितर्क' करनेवाले न होते हुए आपके प्रिय ही बनें। २. **द्रोघवाच:**=द्रोहयुक्त वाणीवाले ही **ते**=आपके **निर्ऋथम्**=हिंसन को **सचन्ताम्**=प्राप्त करनेवाले हों। द्रोहयुक्त वाणीवाले ही आपके द्वारा हिंसित किये जाएँ।

भावार्थ—न हम असत्य व्यवहार करनेवाले हों और न ही व्यर्थ का तर्क-वितर्क करनेवाले हों। हम कभी द्रोहयुक्त वाणी का प्रयोग न करें।

ऋषि:—**चातन:** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ता:** ॥ छन्द:—**जगती** ॥

न यातुधान, न सन्तापक

अ॒द्या मु॑रीय॒ यदि॑ यातु॒धानो॒ अस्मि॒ यदि॑ वायु॑स्त॒तप॒ पूरु॑षस्य।
अधा॒ स वी॒रैर्द॒शभि॒र्वि यू॑या॒ यो मा॒ मोघं॒ यातु॑धा॒नेत्याह॑॥ १५॥

१. **यदि**=यदि मैं **यातुधान:**=पीड़ा का आधान करनेवाला राक्षस **अस्मि**=हूँ, तो **अद्या मुरीय**=आज ही मर जाऊँ। **यदि वा**=अथवा यदि **पूरुषस्य**=किसी भी पुरुष के **आयु: ततप**=जीवन को मैं सन्तप्त करता हूँ तो मैं उसी समय मृत्यु को प्राप्त हो जाऊँ। पापी बनने से मर जाना अच्छा है। २. परन्तु **य:**=जो **मा**=मुझे **मोघम्**=व्यर्थ ही **यातुधान इति आह**=पीड़ित करनेवाला कहता है, अर्थात् मुझपर व्यर्थ ही दोषारोपण करता हैं, **स:**=वह **दशभि: वीरै:**=दसों पुत्रों से—सब बन्धुओं से **वियूया:**=पृथक् हो जाए। सब बन्धु उसे अच्छा न समझें और उसका सामाजिक बहिष्कार कर दें।

भावार्थ—न मैं राक्षसीवृत्तिवाला बनूँ और न ही किसी के जीवन को कष्टमय करनेवाला होऊँ।

ऋषि:—**चातन:** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ता:** ॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्** ॥

मिथ्या दोषारोपण का दण्ड

यो माया॑तुं॒ यातु॑धा॒नेत्याह॒ यो वा॑ र॒क्षा: शुचि॑र॒स्मीत्याह॑।
इन्द्र॒स्तं ह॑न्तु म॒हता॑ व॒धेन॒ विश्व॑स्य ज॒न्तोर॑ध॒मस्प॑दीष्ट॥ १६॥

१. **य:**=जो **अयातुम्**=राक्षस न होते हुए **मा**=मुझे **यातुधान इति आह**='राक्षस' इस नाम से कहता है, **य: वा**=अथवा जो **रक्षा:**=राक्षसीवृत्तिवाला पुरुष **शुचि: अस्मि**='मैं पवित्र हूँ' **इति आह**=ऐसा कहता है, **इन्द्र:**=शत्रुविद्रावक प्रभु **तम्**=उसे **महता वधेन हन्तु**=महान् अस्त्र से नष्ट करे। २. ऐसा व्यक्ति **विश्वस्य जन्तो:**=सब प्राणियों से **अधम: पदीष्ट**=निकृष्ट होता हुआ गति करे, इसकी स्थिति सबसे नीचे हो।

भावार्थ—औरों पर मिथ्या दोषारोपण करनेवाला और अपने को पवित्र माननेवाला व्यक्ति

दण्डित हो तथा निकृष्ट स्थिति में रक्खा जाए।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

व्यभिचारिणी का दण्ड

प्र या जिगा॑ति ख॒र्गले॑व॒ नक्त॒मप॑ द्रु॒हुस्त॒न्वं॑१ गूह॑माना।
व॒व्रम॑न॒न्तमव॒ सा प॑दीष्ट॒ ग्रावा॑णो घ्नन्तु र॒क्षस॑ उप॒ब्दैः॥ १७॥

१. **या**=जो **खर्गला इव**=उलूकी के समान **नक्तम्**=रात्रि में **द्रुहुः**=पति के प्रति द्रोह की वृत्तिवाली होती हुई **तन्वं गूहमाना**=अपने शरीर को छिपाती हुई, अर्थात् चुपके-चुपके छद्मवेष में **अप प्रजिगाति**=घर से बाहर जाती हैं, अर्थात् व्यभिचारिणी (जारिणी) के समान आचरण करती है, **सा**=वह **अनन्तं वव्रम्**= अनन्त गहरे गड्ढे को **अवपदीष्ट**=जानेवाली हो—नरक-कुण्डों में गिरनेवाली हो। २. **ग्रावाणः**=उपदेष्टा लोग **उपब्दैः**=ज्ञान के शब्दों से इन **रक्षसः**=राक्षसी-वृत्तिवाले लोगों को **घ्नन्तु**=प्राप्त हों (हन् गतौ) और इनके राक्षसीभावों को विनष्ट करें।

भावार्थ—व्यभिचार द्वारा पति के जीवन को कड़वा करनेवाली स्त्री अनन्त गड्ढों में गिरनेवाली हो। ज्ञानोपदेष्टा ज्ञान के शब्दों द्वारा इसकी इन बुरी वृत्तियों को विनष्ट करें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

रक्षापुरुषों का कर्त्तव्य

वि ति॑ष्ठध्वं मरुतो वि॒क्ष्वी॒३च्छत॑ गृभा॒यत॑ र॒क्षसः॒ सं पि॑नष्टन।
वयो॒ ये भू॒त्वा प॒तय॑न्ति न॒क्तभि॒र्ये वा॒ रिपो॑ दधि॒रे दे॒वे अ॑ध्व॒रे॥ १८॥

१. हे **मरुतः**=रक्षापुरुषो! **विक्षु**=प्रजाओं में **वितिष्ठध्वम्**=विशेषरूप से स्थित होओ। **इच्छत**=प्रजा-पीड़कों को पकड़ने की कामना करो। **गृभायत**=इनका निग्रह करो और **रक्षसः**=इन राक्षसीवृत्तिवालों को **संपिनष्टन**=संचूर्णित कर दो। २. उन व्यक्तियों को नष्ट कर डालो **ये**=जो **वयः भूत्वा**=(वी खादने) प्रजा के भक्षक बनकर **नक्तभिः पतयन्ति**=रात्रि में इधर-उधर औरों के विनाश के लिए गति करते हैं—जो 'नक्तंचर' हैं। **ये वा**=अथवा जो **देवे अध्वरे**=हमारे जीवनों को प्रकाशमय बनानेवाले यज्ञों में—हिंसारहित कर्मों में **रिपः दधिरे**=हिंसाओं को धारण करते हैं। यज्ञों में विघ्न करनेवाले इन राक्षसों को भी मरुत् दण्डित करें।

भावार्थ—प्रजा में विचरण करते हुए राजपुरुष दुष्टों को पकड़ें और उन्हें दण्डित करें। इन नक्तंचरों और यज्ञ-विहन्ता पुरुषों को विनष्ट करें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

दुष्टों पर अश्म-प्रवर्तन

प्र व॑र्तय दि॒वोऽश्मा॑नमिन्द्र॒ सोम॑शितं मघव॒न्त्सं शि॑शाधि।
प्राक्तो अ॑पा॒क्तो अ॑ध॒राद॑ुद॒क्तो॒३ऽभि ज॑हि र॒क्षसः॒ पर्व॑तेन॥ १९॥

१. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभो! **दिवः**=अन्तरिक्षलोक से **अश्मानम्**=अशनि को (Thunder bolt) **प्रवर्तय**=प्रवृत्त कीजिए। इस अशनिरूप वज्र से दुष्टों का संहार कीजिए। हे **मघवन्**=सर्वैश्वर्यवाले प्रभो! **सोमशितम्**=सोमरक्षण द्वारा बुद्धि को तीव्र बनानेवाले पुरुष को **संशिशाधि**=सम्यक् अनुशिष्ट कीजिए—इसे संस्कृत जीवनवाला बनाइए। २. **प्राक्तः अपाक्तः**=पूर्व से व पश्चिम से, **अधरात् उदक्तः**=दक्षिण से व उत्तर से, अर्थात् सब दिशाओं से **रक्षसः**=राक्षसीवृत्तिवाले पुरुषों को **पर्वतेन**=पर्ववाले वज्र से **अभिजहि**=विनष्ट कीजिए।

भावार्थ—अपने को प्रभु का कार्यकर्ता समझता हुआ राजा दुष्टों को सब ओर से दण्डित

करे।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

श्वयातवः

एत उ त्ये पतयन्ति श्वयातव इन्द्रं दिप्सन्ति दिप्सवोऽदाभ्यम्।
शिशीते शक्रः पिशुनेभ्यो वधं नूनं सृजदशनिं यातुमद्भ्यः॥ २०॥

१. **एते**=ये **उ**=निश्चय से **त्ये**=वे **श्वयातवः**=कुत्तों की चालवाले—औरों को काटनेवाले राक्षस लोग **पतयन्ति**=इधर-उधर गतिवाले होते हैं। ये **दिप्सवः**=हिंसन की भावनावाले राक्षस **अदाभ्यम्**=अहिंसनीय **इन्द्रम्**=शासक राजा को भी **दिप्सन्ति**=नष्ट करना चाहते हैं, जिससे अराजक स्थिति में वे अपना कार्य अधिक क्रूरता से कर सकें। २. **शक्रः**=वह सर्वशक्तिमान् प्रभु इन **पिशुनेभ्यः**=निर्दयी पुरुषों (harsh, cruel) के लिए **नूनम्**=निश्चय से **वधम्**=हनन-साधन आयुध को **शिशीते**=तीक्ष्ण करते हैं, ये प्रभु **यातुमद्भ्यः**=पीड़ा देनेवाले लोगों के लिए **अशनिं सृजत्**=अशनिरूप वज्र को उत्पन्न करते हैं। इसप्रकार प्रभु की व्यवस्था से ये दुष्ट दण्डित होते हैं।

भावार्थ—औरों को पीड़ित व अराजकता पैदा करनेवाले लोग प्रभु की व्यवस्था से विनष्ट होते हैं।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'प्रजापीड़क, यज्ञ-विध्वंसक, आक्रामक' राक्षसों का विनाश

इन्द्रो यातूनामभवत्पराशरो हविर्मथीनामभ्या३विवासताम्।
अभीदु शक्रः परशुर्यथा वनं पात्रेव भिन्दन्त्सत एतु रक्षसः॥ २१॥

१. **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु **यातूनाम्**=पीड़ा देनेवालों को **पराशरः अभवत्**=सुदूर विनष्ट करनेवाला होता है। **हविर्मथीनाम्**=यज्ञ के विध्वंसकों का तथा **अभि आविवासताम्**=हमारी आर आनेवालों, अर्थात् हमपर आक्रमण करनेवालों का विनाशक होता है। २. **शक्रः**=वह सर्वशक्तिमान् प्रभु **सतः**=प्राप्त होनेवाले **रक्षसः**=राक्षसों को इसप्रकार **भिन्दन् अभि एतु**=विदीर्ण करता हुआ आता है, **इव**=जैसेकि **इत् उ**=निश्चय से **परशुः वनम्**=कुल्हाड़ा वन को तथा **यथा**=जैसे मुद्गर **पात्रा**=पात्रों को नष्ट करता हुआ आता है।

भावार्थ—प्रभु 'प्रजापीड़क, यज्ञ-विध्वंसक, आक्रामक' राक्षसों का विनाश करते हैं।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उलूकयातुं, गृध्रयातुम्

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र॥ २२॥

१. **उलूकयातुम्**=उल्लू के समान गतिवाले **रक्षः**=राक्षस को हे **इन्द्र**=प्रभो! **दृषदा इव**=जैसे पत्थर से किसी वस्तु को मसल देते हैं, इसप्रकार **प्रमृण**=मसल डालिए। उल्लू अन्धकार में हिंसन करता है, इसी प्रकार अन्धकार में हिंसन करनेवाले चोरों को समाप्त कर दीजिए। २. **शुशुलूकयातुम्**=बड़े कर्कश स्वर में चीखनेवाले छोटे उल्लू की चालवाले राक्षस को **जहि**=मार डालिए। सदा कर्कश स्वर में ही बोलनेवालों को हमसे दूर कीजिए। ३. **श्वयातुम्**=कुत्ते की भाँति लड़ने-झगड़ने—एक-दूसरे को काटनेवालों को नष्ट कीजिए, **उत**=और **कोकयातुम्**=चकवा-चकवी की भाँति कामासक्तिवाले को नष्ट कीजिए। ४. **सुपर्णयातुम्**=गरुड़ की भाँति अभिमान

की चालवाले को पीस डालिए, **उत**=और **गृध्रयातुम्**=गिद्ध की भाँति लोभवृत्तिवाले को समाप्त कर दीजिए।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से हम 'अज्ञानान्धकार, कर्कश स्वर, ईर्ष्या-द्वेष, कामासक्ति, अभिमान व लोभ' से दूर हों।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

पार्थिव व दिव्य कष्टों से दूर

मा नो रक्षो अभि नड्यातुमावदपोच्छन्तु मिथुना ये किमीदिनः।
पृथिवी नः पार्थिवात्पात्वंहसोऽन्तरिक्षं दिव्यात्पात्वस्मान्॥ २३॥

१. हे प्रभो! **नः**=हमें **यातुमावत् रक्षः**=कोई भी हिंसक राक्षसीभाव **मा अभिनट्**=व्याप्त न कर ले। **किमीदिनः**=(किम् इदानीम् इति चरन्तः), अब किसका संहार करें—इसप्रकार सोचकर गति करते हुए ये **मिथुनाः**=जो मिथुनभूत स्त्री-पुमान् हैं, वे **अप उच्छन्तु**=हमसे दूर हो जाएँ। हमारा सम्पर्क इन राक्षसों व किमीदियों से न हो। २. **पृथिवी**=यह पृथिवी **नः**=हमें **पार्थिवात् अंहसः**=शरीररूप पृथिवी से होनेवाले कष्टों से **पातु**=रक्षित करे, तथा **अन्तरिक्षम्**=विशाल अन्तरिक्ष **अस्मान्**=हमें **दिव्यात्**=मस्तिष्करूप द्युलोक से होनेवाले कष्ट से **पातु**=बचाए। हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक में कभी अन्धकार का राज्य न हो।

भावार्थ—हम राक्षसी वृत्तिवाले हिंसक लोगों के सम्पर्क से दूर रहें, पार्थिव व दिव्य कष्टों से बचे रहें।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मूरदेवाः ऋदन्तु

इन्द्र जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियं मायया शाशदानाम्।
विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु मा ते दृशन्त्सूर्यमुच्चरन्तम्॥ २४॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रु-संहारक प्रभो! **पुमांसं यातुधानम्**=पुरुष राक्षस को तो आप **जहि**=नष्ट कीजिए ही, **उत**=और **मायया**=प्रवञ्चना के द्वारा **शाशदानाम्**=हिंसन करती हुई **स्त्रियम्**=स्त्री शरीरवाली राक्षसी को **उत**=भी आप विनष्ट कीजिए। २. **मूरदेवाः**=मारण ही जिनकी क्रीड़ा है (दिव् क्रीडायाम्), वे राक्षस **विग्रीवासः**=गर्दनरहित हुए-हुए **ऋदन्तु**=नष्ट हो जाएँ। **ते**=वे **उच्चरन्तं सूर्यम्**=उदय होते हुए सूर्य को **मा दृशन्**=न देखें, अर्थात् ये लोग दीर्घजीवी न हों।

भावार्थ—प्रजा को पीड़ित करनेवाले स्त्री-पुरुष समाज से दूर हों, औरों को मारने में ही आनन्द लेनेवाले लोग विनाश को प्राप्त हों।

ऋषिः—**चातनः** ॥ देवता—**इन्द्रासोमादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रतिचक्ष्व-विचक्ष्व

प्रति चक्ष्व वि चक्ष्वेन्द्रश्च सोम जागृतम्।
रक्षोभ्यो वधमस्यतमशनिं यातुमद्भ्यः॥ २५॥

१. हे **सोम**=शान्त स्वभाववाले न्यायाधीश। तू **च**=और **इन्द्रः**=यह शत्रुविद्रावक राजा **जागृतम्**=सदा जागते रहो—राष्ट्ररक्षा के लिए सदा सावधान रहो। **प्रतिचक्ष्व**=प्रत्येक दुष्ट को देखनेवाले होओ। **विचक्ष्व**=विशेषरूप से इनपर दृष्टि रक्खो, जिससे कि ये हमें पीड़ित न कर सकें। २. **रक्षोभ्यः**=इन राक्षसीवृत्तिवालों के लिए **वधम्**=हनन-साधन शस्त्रसमूह को **अस्यतम्**=फेंको। **यातुमद्भ्यः**=पीड़ा देनेवालों के लिए **अशनिम्**=वज्र का प्रहार करो। राष्ट्र से राक्षसों व यातुधानों

को दूर रखना इन 'इन्द्र और सोम' का मुख्य कर्त्तव्य है। राक्षसों व यातुधानों से राष्ट्ररक्षा के लिए इन्हें सदा जागरित व सावधान रहना चाहिए।

भावार्थ—'इन्द्र' राजा है, 'सोम' न्यायाधीश। इन्हें राष्ट्र में राक्षसी वृत्तिवालों पर दृष्टि रखनी चाहिए और उन्हें उचित दण्ड देकर राष्ट्र का रक्षण करना चाहिए।

अगले सूक्त का ऋषि 'शुक्र' है। यह अपने अन्दर 'शुक्र' का रक्षण करता हुआ 'वीर्यवान्, सपत्नहा, शूरवीर, परिपाण व सुमंगल' बनता है—

५. [पञ्चमं सूक्तम्]

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्बृहती** ॥

प्रतिसरो मणिः

अयं प्रतिसरो मणिर्वीरो वीराय बध्यते।
वीर्य∫वान्त्सपत्नहा शूरवीरः परिपाणः सुमङ्गलः॥ १॥

१. **अयम्**=यह **मणिः**=वीर्यरूप मणि **प्रतिसरः**=(यः कृत्याः करोति तम् प्रतिसरति) हमारा हिंसन करनेवाले रोगों पर आक्रमण करती है। **वीरः**=(विविधम् ईरयति अपसारयति शत्रुम्) रोगों को कम्पित करके दूर करती है। **वीराय बध्यते**=वीरतापूर्ण कार्यों को करने के लिए शरीर में बाँधी जाती है। इस मणि का शरीर में सुरक्षित रखना ही इसे शरीर में बाँधना है। २. इस मणि को शरीर में बाँधनेवाला पुरुष **वीर्यवान्**=शक्तिशाली बनता है। **सपत्नहा**=रोगरूप शत्रुओं को नष्ट करनेवाला होता है। **शूरवीरः**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाला व रोगों को कम्पित करके दूर करनेवाला होता है। इसप्रकार **परिपाणः**=सब ओर से अपना रक्षण करनेवाला व **सुमङ्गलः**=उत्तम मङ्गलवाला होता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित किया गया वीर्य 'प्रतिसर मणि' है। यह रोगों पर आक्रमण करने-वाला है। इसे शरीर में सुरक्षित करनेवाला अपना रक्षण करता है और अपना मङ्गल सिद्ध करता है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराड्गायत्री** ॥

'सपत्नहा' मणिः

अयं मणिः सपत्नहा सुवीरः सहस्वान्वाजी सहमान उग्रः।
प्रत्यक्कृत्या दूषयन्नेति वीरः॥ २॥

१. **अयम्**=यह **मणिः**=वीर्यरूप मणि **सपत्नहा**=शरीरस्थ रोगरूप शत्रुओं को नष्ट करनेवाला है। **सुवीरः**=रोगरूप शत्रुओं को कम्पित करनेवाला वीर है, **सहस्वान्**=बलवान् है। यह मणि **वाजी**=अत्यधिक शक्ति देनेवाली, **सहमानः**=शत्रुओं को कुचलनेवाली व **उग्रः**=उद्गूर्ण बलवाली है। २. यह **वीरः**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाली मणि **प्रत्यक्**=हमारे अन्दर **कृत्याः**=छेदन-भेदन को **दूषयन्**=दूषित करती हुई—रोगों द्वारा उत्पन्न होनेवाली सब प्रकार की हिंसाओं को विनष्ट करती हुई **एति**=प्राप्त होती है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्यरूपी मणि रोगों का पराभव करती है। शरीर में रोग-जनित सब छेदन-भेदन को दूर करती है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिग्जगती** ॥

वृत्र-विनाश व असुर पराभव

अनेनेन्द्रो मणिना वृत्रमहन्ननेनासुरान्पराभावयन्मनीषी।
अनेनाजयद् द्यावापृथिवी उभे इमे अनेनाजयत्प्रदिशश्चतस्रः॥ ३॥

१. **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **अनेन मणिना**=इस वीर्यरूप मणि के द्वारा **वृत्रम् अहन्**=ज्ञान पर आ जानेवाले 'काम' रूप आवरण को नष्ट करता है। सुरक्षित वीर्य ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और दीप्त ज्ञानाग्नि से काम का दहन होता है। **मनीषी**=वीर्यरक्षण द्वारा सूक्ष्म बुद्धि को प्राप्त मनुष्य **अनेन**=इस वीर्यरूप मणि के द्वारा ही **असुरान्**=सब आसुरवृत्तियों को **परा अभावयत्**=सुदूर पराभूत करनेवाला होता है। २. **अनेन**=इसके द्वारा ही **इमे उभे द्यावापृथिवी**=इन दोनों द्यावापृथिवी को—मस्तिष्करूप द्युलोक व शरीररूप पृथिवी को **अजयत्**=जीतता है, मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त बनाता है तो शरीर को सशक्त करता है। **अनेन**=इस वीर्यरूप मणि के द्वारा **चतस्त्रः प्रदिशः**=चारों दिशाओं और उपदिशाओं को **अजयत्**=जीतनेवाला होता है। सब दिशाओं में इस वीर्यवान् पुरुष की शोभा होती है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष वीर्यरक्षण द्वारा ज्ञानाग्नि को दीप्त करके उससे काम का विध्वंस करता है, सब आसुरीभावों को पराभूत करता है, मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त व शरीर को सशक्त बनाता है और सब दिशाओं में शोभावाला होता है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'स्राक्त्यः मणिः'

अयं स्राक्त्यो मणिः प्रतीवर्तः प्रतिसरः।
ओजस्वान्विमृधो वशी सो अस्मान्पातु सर्वतः॥ ४॥

१. **अयं मणिः**=यह वीर्यरूप मणि **स्राक्त्यः** (स्रै पाके, अक् गतौ, त्य)=तपस्या के द्वारा परिपाक की ओर गति करनेवालों में होनेवाली है। अपने को तपस्या की अग्नि में परिपक्व करनेवाला ही इसका रक्षण कर पाता है, विलासी पुरुष में इसका निवास नहीं होता। **प्रतीवर्तः** (प्रतिकूलं वर्तयति अनेन)=शत्रुओं के मुख को मोड़ देनेवाला है। **प्रतिसरः**=यह वीर्य रोगरूप शत्रुओं पर धावा बोलनेवाला है। २. **ओजस्वान्**=यह हमें प्रशस्त ओजवाला बनाता है, **विमृधः**=शत्रुओं का विमर्दन करनेवाला है और **वशी**=सबको अपने वश में करनेवाला है। **सः**=वह मणि **अस्मान्**=हमें **सर्वतः पातु**=सब ओर से रक्षित करे।

भावार्थ—यह वीर्यरूप मणि अपने को तपस्या की अग्नि में परिपक्व करनेवालों में रहती है। यह प्रतीवर्त व प्रतिसर है। यह हमें ओजस्वी बनाती है व हमारा रक्षण करती है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिक्संस्तारपङ्क्तिः** ॥

'अग्नि, सोम' आदि का महत्त्वपूर्ण कथन

तदग्निराह तदु सोम आह बृहस्पतिः सविता तदिन्द्रः।
ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु॥ ५॥

१. सोम-(वीर्य) रक्षण के द्वारा मनुष्य उन्नति करता हुआ 'अग्नि' बनता है। इससे शक्तिशाली बनकर 'सोम'—शान्त स्वभाववाला होता है। निर्बलता ही चिड़चिड़ेपन को पैदा करती है। वीर्य ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर हमें 'बृहस्पति' बनाता है। वीर्यरक्षण करनेवाला पुरुष निर्माण के कार्यों में प्रवृत्त 'सविता' होता है, और शक्तिशाली बनकर शत्रुओं को दूर भगानेवाला 'इन्द्र' होता है। वीर्यरक्षक पुरुष ही दिव्य वृत्तियोंवाले 'देव' बनते हैं और सबका हित करनेवाले 'पुरोहित' होते हैं (पुरोहितवत् हितकारिणः)। २. यह **अग्निः**=अग्रणी पुरुष **तत् आह**=वही बात कहता है, **उ**=और **सोमः**=शान्त पुरुष भी **तत् आह**=वही बात कहता है। **बृहस्पतिः**=ज्ञानी, **सविता**=निर्माणकार्य-प्रवृत्त, **इन्द्रः**=शत्रुविद्रावक पुरुष भी **तत्**=उस बात को ही कहता है। **ते**=वे **पुरोहिताः**=सबका पूर्ण हित करनेवाले **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **मे**=मेरे लिए यही कहते हैं कि लोगों को चाहिए कि **प्रतीचीः**=अपनी ओर आनेवाली **कृत्याः**=सब हिंसन-क्रियाओं को

प्रतिसरैः=शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाली वीर्यमणियों द्वारा **अजन्तु**=दूर भगा दें। सुरक्षित वीर्य ही हमें सब हिंसनों से बचाता है। यही हमें अग्नि आदि बनने की क्षमता प्रदान करता है।

भावार्थ—वीर्यरक्षण द्वारा सब हिंसकतत्त्वों को दूर करके हम 'अग्नि,सोम,बृहस्पति, सविता, इन्द्र, देव व पुरोहित' बनते हैं।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्बृहती** ॥

'द्यावापृथिवी' का अन्तःस्थापन

अ॒न्तर्द॑धे॒ द्यावा॑पृथि॒वी उ॒ताह॑रु॒त सूर्य॑म्।
ते मे॑ दे॒वाः पु॒रोहि॑ताः प्र॒तीचीः॑ कृ॒त्याः प्र॑तिस॒रैर॑जन्तु ॥ ६ ॥

१. वीर्यरक्षण द्वारा मैं **द्यावापृथिवी अन्तः दधे**=द्युलोक व पृथिवीलोक को अपने अन्दर सुरक्षित रूप से धारण करता हूँ। मस्तिष्करूप द्युलोक को व शरीररूप पृथिवी को अज्ञानान्धकार व रोगों का शिकार नहीं होने देता, **उत**=और **अहः**=दिन को, **उत**=और **सूर्यम्**=सूर्य को मैं अन्दर धारण करता हूँ। 'अहन्' शब्द अ-विनाश का सूचक है—शरीर को मैं रोगों से विनष्ट नहीं होने देता। 'सूर्य' ज्ञान के प्रकाश का प्रतीक है—मैं मस्तिष्क को ज्ञानसूर्य से दीप्त करता हूँ। २. **ते**=वे **देवाः**=दिव्य वृत्तिवाले **पुरोहिताः**=(पृ पालनपूरणयोः, पुरः च हिताः च) सबका पालन व पूरण करनेवाले तथा हित में प्रवृत्त व्यक्ति **प्रतीचीः**=अपने अभिमुख आनेवाली **कृत्याः**=हिंसाओं को **प्रतिसरैः**=रोगरूप शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाली वीर्यमणियों द्वारा **अजन्तु**=दूर भगा दें।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य 'मस्तिष्क व शरीर' के स्वास्थ्य का साधन बनता है। यह शरीर को रोगों से नष्ट नहीं होने देता तथा मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त बनाता है। वीर्यरक्षक, पुरोहित, देव रोगरूप शत्रुओं को दूर भगा देते हैं।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

मणिरूप कवच

ये स्रा॒क्त्यं म॒णिं जना॒ वर्मा॑णि कृ॒ण्वते॑।
सूर्य॑इव॒ दिव॑मा॒रुह्य॒ वि कृ॒त्या बा॑धते॒ व॒शी ॥ ७ ॥

१. **ये**=जो **जनाः**=लोग **स्राक्त्यम्**=तपस्या के द्वारा अपने को परिपक्व बनानेवाले लोगों में निवास करनेवाली **मणिम्**=वीर्यरूप मणि को **वर्माणि कृण्वते**=अपना कवच बनाते हैं, उनके जीवन में यह वीर्यमणि **वशी**=सब रोगादि शत्रुओं को वशीभूत करता हुआ **सूर्यः इव दिवम् आरुह्य**=सूर्य जैसे द्युलोक में आरोहण करता है, उसी प्रकार मस्तिष्करूप द्युलोक में आरुढ़ होकर **कृत्याः**=सब प्रकार के हिंसनों को **विबाधते**=दूर रोकनेवाला होता है। २. वीर्यरूप मणि मस्तिष्करूप द्युलोक का ज्ञानसूर्य बनती है तथा शरीररूप पृथिवीलोक पर आक्रमण करनेवाले सब रोगरूप शत्रुओं को सुदूर विनष्ट करनेवाली होती है।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य हमारा कवच बनता है। यह रोगरूप शत्रुओं के आक्रमण से हमें बचाता है। मस्तिष्क में यह ज्ञानसूर्य के उदय का साधन बनता है और सब छेदन-भेदन को हमसे दूर रखता है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

ऋषिणा इव मनीषिणा

स्रा॒क्त्येन॑ म॒णिन॒ ऋषि॑णेव म॒नीषि॑णा।
अजै॑षं॒ सर्वाः॒ पृत॑ना॒ वि मृधो॑ हन्मि र॒क्षसः॑ ॥ ८ ॥

१. **स्राक्त्येन मणिना**=अपने-आपको तपस्या की अग्नि में परिपाक करनेवालों में निवास करनेवाली इस वीर्यमणि के द्वारा **सर्वाः पृतनाः**=सब शत्रु-सैन्यों को मैं **अजैषम्**=जीतता हूँ। २. **ऋषिणा इव**=(ऋष् to kill) समस्त वासनाओं का संहार करनेवाले तत्त्वद्रष्टा की भाँति **मनीषिणा**=मुझे बुद्धिमान् बनानेवाली इस मणि के द्वारा **मृधः**=मेरा विमर्दन करनेवाले **रक्षसः**= राक्षसीभावों को **विहन्मि**=नष्ट करता हूँ।

भावार्थ—अपने-आपको तपस्या की अग्नि में परिपाक करनेवाला व्यक्ति वीर्यरूप मणि को अपने में सुरक्षित करता है। यह वीर्यरूप मणि उसे सब संग्रामों में विजयी बनाती है और राक्षसीभावों को विनष्ट करती हुई उसे 'मनीषी ऋषि' बनानेवाली होती है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पुरस्कृतिर्जगती** ॥

'आङ्गिरसीः आसुरीः' कृत्याः

याः कृत्या आङ्गिरसीर्याः कृत्या आसुरीर्याः कृत्याः स्वयंकृता या उ चान्येभिराभृताः।
उभयीस्ताः परा यन्तु परावतो नवतिं नाव्या३ अति॥ ९॥

१. **याः कृत्याः**=जो छेदन-भेदन—हिंसा-प्रयोग **आङ्गिरसीः**=अङ्ग-रसों से सम्बद्ध हैं, अर्थात् जिनका घातक प्रभाव 'रस-रुधिर' आदि शरीर की धातुओं पर पड़ता है, **याः कृत्याः आसुरीः**=जो हिंसन-क्रियाएँ (असुषु रमन्ते) प्राणों में क्रीड़ा करनेवाली हैं, अर्थात् जिस छेदन-भेदन का घातक प्रभाव प्राणशक्ति पर पड़ता है, **याः कृत्याः स्वयंकृताः**=जो छेदन-भेदन की क्रियाएँ स्वयं आत्मदोष से उत्पन्न कर ली जाती हैं, **च उ**=और निश्चय से **याः अन्येभिः आभृताः**=जो छेदन-भेदन की क्रियाएँ हमारे साथ सम्बद्ध अन्य पुरुषों से प्राप्त कराई जाती हैं, **ताः**=वे **उभयीः**=दोनों प्रकार की (स्वयंकृत या अन्याभृत) कृत्याएँ **नाव्याः नवतिम् अति**=नौकाओं से तैरने योग्य नव्वे महानदियों को लाँघकर **परावतः परायन्तु**=दूर देश से भी दूर चली जाएँ—हमारे समीप उनका पहुँचना सम्भव ही न रहे। २. जैसे 'सात समुद्र पार' एक काव्यमय शब्द प्रयोग है, उसी प्रकार यहाँ नव्वे महानदियों के पार यह प्रयोग है। ये छेदन-भेदन हमसे दूर ही रहें। हमारे समीप न आ पाएँ। हमारे रस-रुधिर आदि अङ्ग-रसों पर इनका कुप्रभाव न हो, न ही हमारी प्राणशक्ति इन घातक प्रयोगों से प्रभावित हो। हमारे स्वयंकृत खान-पान के दोष इन हिंसाओं का कारण न बनें व अन्यों के साथ सम्पर्क इन हिंसनों को प्राप्त कराने का कारण न बने।

भावार्थ—न तो हमारे रस-रुधिर आदि अङ्ग-रस और न ही हमारे प्राण छेदन-भेदन को प्राप्त हों। न हमारे निजू दोषों से और न ही सम्बन्धित पुरुषों के दोषों से हमें छेदन-भेदन प्राप्त हो।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मणिबन्धन

अस्मै मणिं वर्म बध्नन्तु देवा इन्द्रो विष्णुः सविता रुद्रो अग्निः।
प्रजापतिः परमेष्ठी विराड् वैश्वानर ऋषयश्च सर्वे॥ १०॥

१. **अस्मै**=इस साधक के लिए **देवाः**=सब दिव्यवृत्तियाँ **मणिम्**=वीर्यरूप मणि को **वर्म बध्नन्तु**=कवच के रूप में बाँधें। दिव्यवृत्तियाँ होने पर शरीर में वीर्यमणि सुरक्षित रहती है। यह रोगादि से बचानेवाले कवच की भाँति काम करती है। इन दिव्यवृत्तियों का ही परिणाम 'इन्द्रः, विष्णुः, सविता, रुद्रः, अग्निः, प्रजापतिः, परमेष्ठी, विराट् और वैश्वानरः' शब्दों से अभिव्यक्त हुआ है। ये सब नाम प्रभु के हैं। इन नामों से प्रभु का स्मरण करता हुआ यह साधक **इन्द्रः**= जितेन्द्रिय, **विष्णुः**=(विष् व्याप्तौ) व्यापक—उदारवृत्तिवाला, **सविता**=निर्माण-कार्यों में प्रवृत्त, **रुद्रः**=रोगों को दूर भगानेवाला, **अग्निः**=अग्रणी—अपने को आगे-और-आगे ले-चलनेवाला,

प्रजापतिः=प्रजा के रक्षण में तत्पर, **परमेष्ठी**=परम स्थान में स्थित—तम व रज से ऊपर उठकर सत्त्वगुण में स्थित, **विराट्**=विशिष्ट दीप्तिवाला व **वैश्वानरः**=सब मनुष्यों के हित में प्रवृत्त होता है। ये सब दिव्यवृत्तियाँ शरीर में वीर्यरूप मणि को कवचरूप में बाँधनेवाली बनती हैं। २. **च**=और **सर्वे ऋषयः**=सब ऋषि भी इस साधक के लिए इस वीर्यमणि को कवचरूप में बाँधनेवाले हों। 'ऋषि' तत्त्वद्रष्टा पुरुष हैं। ये उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त कराते हुए वृत्तियों के सुन्दर निर्माण के द्वारा वीर्य का रक्षण करानेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम दिव्य वृत्तियोंवाले व उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त करनेवाले बनकर वीर्यरूप मणि को शरीर में कवच के रूप में धारण करें। ये कवच हमें रोगों व वासनारूप शत्रुओं के आक्रमण से बचाएगा।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

सर्वोत्तम औषध

उत्तमो अस्योषधीनामनड्वाञ्जगतामिव व्याघ्रः श्वपदामिव।
यमैच्छामाविदाम तं प्रतिस्पाशनमन्तितम्॥ ११ ॥

१. हे वीर्यमणे! तू **ओषधीनां उत्तमः असि**=ओषधियों में उत्तम है, सब रोगों को नष्ट करनेवाली—रोगों का आक्रमण ही न होने देनेवाली है। तू इसप्रकार उत्तम है, **इव**=जैसेकि **जगताम्**=गतिशील पशुओं में **अनड्वान्**=गाड़ी खेंचनेवाला बैल अथवा **इव**=जैसे **श्वपदाम् व्याघ्रः**=हिंस्र पशुओं में व्याघ्र। शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ तू ही शरीर-रथ का संचालक है—इन्द्रियरूप घोड़ों में तेरी ही शक्ति काम करती है। शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ तू रोगरूप गीदड़ों के लिए व्याघ्र के समान होता है। २. तेरे शरीर में सुरक्षित होने पर **यम् ऐच्छाम तं अविदाम**='स्वास्थ्य, नैर्मल्य व ज्ञानदीप्ति' रूप जिन ऐश्वर्यों को हम चाहते हैं, उन्हें प्राप्त करनेवाले बनते हैं। तेरे शरीर में सुरक्षित होने पर हम **प्रतिस्पाशनम्**=(स्पश् to obstruct) शत्रुरूप बाधक को—विरोधी के रूप में आक्रमण करनेवाले को **अन्तितम्**=(अन्तःजातः अस्य) समाप्त किया हुआ प्राप्त करें—इन शत्रुओं को नष्ट कर पाएँ।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य सर्वोत्तम औषध है। यह जीवन की गाड़ी को चलाता है, विघ्नभूत रोगादि को विनष्ट करता है। इसके द्वारा वाञ्छनीय सब ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं और विरोधी तत्त्व विनष्ट होते हैं।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

व्याघ्रः सिंहः इव

स इद्व्याघ्रो भवत्यथो सिंहो अथो वृषा। अथो सपत्नकर्शनो यो बिभर्तीमं मणिम्॥ १२ ॥

१. **यः**=जो भी **इमं मणिं बिभर्ति**=इस वीर्यरूप मणि को धारण करता है, **सः इत्**=वह ही **व्याघ्रः भवति**=व्याघ्र होता है, **अथो सिंहः**=और शेर के समान ही होता है। व्याघ्र व सिंह के समान यह सब शत्रुओं को शीर्ण करने में समर्थ होता है। **अथो वृषा**=अब यह सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों में शक्ति का सेचन करनेवाला होता है। २. इसप्रकार सब अङ्गों को बलवान् बनाकर **अथो**=अब यह **सपत्नकर्शनः**=सब शत्रुओं का विनाशक होता है। न तो रोग और न ही वासनाएँ इसे अभिभूत कर पाती हैं।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्यमणि हमें सिंह व व्याघ्र के समान शत्रुओं के अभिभव में समर्थ करती है और सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों में शक्ति का सेचन करती हुई हमारे सब रोगरूप शत्रुओं को नष्ट करती है।

ऋषिः—शुक्रः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

न अप्सरसः, न गन्धर्वाः, न मर्त्याः

नैनं घ्नन्त्यप्सरसो न गन्धर्वा न मर्त्याः।
सर्वा दिशो वि राजति यो बिभर्तीमं मणिम्॥ १३॥

१. **यः**=जो **इमं मणिं बिभर्ति**=इस वीर्यरूपमणि को धारण करता है, **एनम्**=इसे **अप्सरसः**=(अप्सु सरन्ति) यज्ञादि कर्मों में गतिवाले कर्मकाण्डी **न घ्नन्ति**=(हन् to conquer) पराजित नहीं कर पाते, अर्थात् यह यज्ञों में उनसे पीछे नहीं रहता। **न गन्धर्वाः**=ज्ञान की वाणियों को धारण करनेवाले ज्ञानी भी इसे पराजित नहीं कर पाते। यह ज्ञानियों में अग्रभाग में स्थित होता है। २. इसी प्रकार इस वीर्यरूप मणि के धारक को **न मर्त्याः**=सामान्य धनार्जन में प्रवृत्त मनुष्य भी पराजित नहीं कर पाते। यह वीर्य-रक्षण उसे यज्ञादि कर्म करने, ज्ञानोपार्जन व धनार्जन में क्षमता प्रदान करता है। इसप्रकार यह वीर्य-रक्षक पुरुष **सर्वाः दिशः विराजति**=सब दिशाओं में शोभावाला होता है।

भावार्थ—वीर्य का धारण मनुष्य को सब क्षेत्रों में विजयी बनाता है।

ऋषिः—शुक्रः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—षट्पदाजगती ॥

'सहस्रवीर्यमणि' रूप कवच

कश्यपस्त्वामसृजत कश्यपस्त्वा समैरयत्।
अबिभस्त्वेन्द्रो मानुषे बिभ्रत्संश्रेषिणेऽजयत्।
मणिं सहस्रवीर्यं वर्म देवा अकृण्वत॥ १४॥

१. हे वीर्यमणे! **कश्यपः**=सर्वद्रष्टा प्रजापति ने **त्वाम् असृजत्**=तुझे उत्पन्न किया है। **कश्यपः**=वह सर्वद्रष्टा प्रजापति ही **त्वा समैरयत्**=तुझे सर्वोपकार के लिए सम्यक् प्रेरित करता है। **त्वा**=तुझे **इन्द्रः अबिभः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष अपने में धारण करता है। **मानुषे**=(मानुषेषु मध्ये—सा०) मनुष्यों में जो भी पुरुष तुझे **बिभ्रत्**=धारण करता है, वह **संश्रेषिणे**=परस्पर संश्लेषण के स्थानभूत संग्राम में **अजयत्**=विजयी होता है। २. इसप्रकार इस स्राक्त्य मणि के महत्त्व को समझते हुए **देवाः**=ज्ञानी पुरुष **सहस्रवीर्यम् मणिम्**=इस अनन्त शक्तिशाली मणि को **वर्म अकृण्वत**=अपना कवच बनाते हैं। इस कवच से सुरक्षित हुए-हुए वे रोगादि से आक्रान्त नहीं होते।

भावार्थ—प्रभु ने इस वीर्यमणि को जन्म दिया है, प्रभु ने सर्वोपकार के लिए इसे हममें स्थापित किया है। जितेन्द्रिय पुरुष इसे धारण करता है। इसका धारक संग्राम में विजयी बनता है। यह 'सहस्रवीर्य मणि' देवों का कवच है।

ऋषिः—शुक्रः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—पुरस्ताद्बृहती ॥

दीक्षामय व यज्ञमय जीवन

यस्त्वा कृत्याभिर्यस्त्वा दीक्षाभिर्यज्ञैर्यस्त्वा जिघांसति।
प्रत्यक्त्वमिन्द्र तं जहि वज्रेण शतपर्वणा॥ १५॥

१. **यः**=जो **त्वा**=तुझे **कृत्याभिः**=छेदन-भेदन की क्रियाओं से **जिघांसति**=जीतने की कामना करता है, **यः**=जो **त्वा**=तुझे **दीक्षाभिः**=व्रतों द्वारा (वाग्यमन 'मौन' आदि नियमविशेषों से) जीतना चाहता है, **यः त्वा**=जो तुझे **यज्ञैः**=यज्ञों के द्वारा जीतने की कामना करता है, हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **त्वम्**=तू **तं प्रत्यक्**=उसके अभिमुख **शतपर्वणा**=शतवर्षपर्यन्त तेरा पूरण

करनेवाले **वज्रेण**=इस वीर्यमणिरूप वज्र के द्वारा **जहि**=जानेवाला हो (हन् गतौ)। २. यह वीर्यमणिरूप वज्र जहाँ तुझे छेदन-भेदन का शिकार न होने देगा, वहाँ तू इसके द्वारा 'दीक्षा व यज्ञों' में किसी से पराजित नहीं होगा। इस मणि-रक्षा से तेरा जीवन भी दीक्षामय व यज्ञमय बन जाएगा।

भावार्थ—वीर्यमणिरूप वज्र हमारा शतवर्षपर्यन्त पूरण करनेवाला होता है। यह हमारे जीवन को दीक्षामय व यज्ञमय बनाता है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

परिपाणः, सुमङ्गलः

अयमिद्वै प्रतीवर्त ओजस्वान्त्संजयो मणिः।
प्रजां धनं च रक्षतु परिपाणः सुमङ्गलः॥ १६॥

१. **अयं मणिः**=यह वीर्यरूपमणि **इत् वै**=निश्चय से **प्रतीवर्तः**=कृत्याओं के पराङ्मुख करने का साधन है। यह हमें रोगादि जनित छेदन-भेदन से बचानेवाली है। **ओजस्वान्**=यह हमें ओजस्वी बनाती है और **सञ्जयः**=सम्यक् विजयी करती है। २. शरीर में सुरक्षित यह वीर्यमणि **प्रजां धनं च**=प्रजा और धन की **रक्षतु**=रक्षा करे, अर्थात् हमें उत्तम प्रजावाला और उत्तम साधनों से धन कमाने योग्य बनाए। यह **परिपाणः**=सब प्रकार से हमारी रक्षक है और **सुमङ्गलः**=उत्तम कल्याण करनेवाली है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य सब छेदन-भेदन को दूर रखनेवाला है। यह हमें ओजस्वी बनाकर विजयी बनाता है, उत्तम प्रजा व उत्तम धनवाला बनाता है। यह हमारा रक्षण व मङ्गल करनेवाला है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

असपत्नम् ज्योतिः

असपत्नं नो अधरादसपत्नं न उत्तरात्।
इन्द्रासपत्नं नः पश्चाज्ज्योतिः शूर पुरस्कृधि॥ १७॥

१. हे प्रभो! इस वीर्यमणि के द्वारा **नः**=हमें **अधरात्**=दक्षिण दिशा से **असपत्नम्**=शत्रुरहित **कृधि**=कीजिए। इसी प्रकार **उत्तरात्**=उत्तर दिशा से भी **नः**=हमें **असपत्नम्**=शत्रुरहित कीजिए। हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **नः**=हमें **पश्चात्**=पश्चिम दिशा से भी **असपत्नम्**=शत्रुरहित कीजिए। **पुरः**=सामने से वा पूर्व से भी शत्रुरहित कीजिए। २. इस वीर्यमणिरूप कवच को धारण करने पर हमें किसी भी दिशा में रोगादि शत्रुओं का भय न हो। हे **शूर**=हमारे शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! हमारे लिए आप **ज्योतिः (कृधि)**=प्रकाश करनेवाले होओ।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्यमणि हमें सब दिशाओं में शत्रुरहित करके ज्योतिर्मय जीवनवाला बनाए।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

इन्द्र, अग्नि व धाता

वर्म मे द्यावापृथिवी वर्माऽहर्वर्म सूर्यः।
वर्म म इन्द्रश्चाग्निश्च वर्म धाता दधातु मे॥ १८॥

१. **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक—मस्तिष्क व शरीर **मे**=मेरे लिए **वर्म**=कवच को **दधातु**=धारण कराएँ। **अहः**=दिन (अ+हन्) किसी को नष्ट न करने की वृत्ति **वर्म**=कवच को

धारण कराए। **सूर्यः**=ज्ञान का सूर्य **वर्म**=कवच को धारण कराए। वीर्यमणि ही कवच है। इस कवच को धारण करनेवाला मस्तिष्करूप द्युलोक को दीप्त बनाता है, शरीररूप पृथिवीलोक को दृढ़ बनता है। इस कवच को धारण करनेवाला सारे दिन उत्तम कार्यों में प्रवृत्त रहता है और अपने जीवन में ज्ञानसूर्य को उदित करता है। २. **मे**=मेरे लिए **इन्द्रः च अग्निः च**=इन्द्र और अग्नि **वर्म**=इस कवच को धारण कराएँ। जितेन्द्रिय व आगे बढ़ने की भावनावाला बनकर मैं इस वीर्य को अपने में सुरक्षित करूँ। **धाता**=वह धारक प्रभु **मे**=मुझे **वर्म**=वीर्यमणिरूप कवच धारण कराए। धारणात्मक कर्मों में लगा हुआ मैं इस वीर्यमणि को अपने में सुरक्षित करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—वीर्य को अपने अन्दर वह धारण कर पाता है जो अपने मस्तिष्क व शरीर को दीप्त व दृढ़ बनाने का निश्चय करता है (द्यावापृथिवी), जो दिन में एक-एक क्षण को यज्ञादि उत्तम कर्मों में बिताता है (अहः), अपने अन्दर ज्ञानसूर्य को उदित करने के लिए यत्नशील होता है (सूर्यः)। यह जितेन्द्रिय (इन्द्र),आगे बढ़ने की वृत्तिवाला (अग्नि), धारणात्मक कर्मों में प्रवृत्त व्यक्ति (धाता) ही इस वीर्य को अपना कवच बना पाता है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगतीगर्भात्रिष्टुप्** ॥

ऐन्द्राग्नं वर्म

ऐन्द्राग्नं वर्म बहुलं यदुग्रं विश्वेदेवा नाति विध्यन्ति सर्वे।
तन्मे तन्वं त्रायतां सर्वतो बृहदायुष्मां जरदष्टिर्यथासानि॥ १९॥

१. यह **ऐन्द्राग्नम्**=इन्द्र और अग्नि का—जितेन्द्रिय व आगे बढ़ने की वृत्तिवाले पुरुष से धारण किया जानेवाला वीर्यरूप **वर्म**=कवच **बहुलम्**=(बहून् अर्थान् लाति) 'स्वास्थ्य, नैर्मल्य व दीप्ति' रूप अनेक अर्थों को प्राप्त करानेवाला है। **यत्**=जो यह कवच **उग्रम्**=उद्गूर्ण बलवाला है (बढ़े हुए बलवाला है), **सर्वे**=सारे **विश्वे**=शरीर में प्रविष्ट होनेवाले **देवाः**=देव **न अतिविध्यन्ति**=इसका अति वेधन नहीं कर पाते, अर्थात् कोई भी देव इससे बढ़कर नहीं है। वस्तुतः सब देवों की स्थिति इसके ही कारण है। शरीर में वीर्य के सुरक्षित होने पर ही यहाँ सब देवों का वास होता है। चक्षु आदि के रूप में रहनेवाले सूर्यादि देव इस वीर्यमणि से ही शक्ति प्राप्त करते हैं। २. **तत्**=वह वीर्यमणिरूप वर्म **मे**=मेरे **तन्वम्**=शरीर को **सर्वतः त्रायताम्**=सब ओर से रक्षित करे। **यथा**=जिससे **बृहत्**=वृद्धि को प्राप्त होता हुआ मैं **आयुष्मान्**=प्रशस्त जीवनवाला **जरदष्टिः**=पूर्ण जरावस्था का—शतवर्षपर्यन्त जीवन का व्यापन करनेवाला **असानि**=होऊँ।

भावार्थ—जितेन्द्रिय व आगे बढ़ने की वृत्तिवाले बनकर हम वीर्य का रक्षण करें। यह चक्षु आदि सब इन्द्रियों की शक्ति को स्थिर करनेवाला हो। यह मेरे शरीर का रक्षक हो। मैं इसके द्वारा प्रशस्त दीर्घजीवन प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**विराड्गर्भाऽऽस्तारपङ्क्तिः** ॥

देवमणिः

आ मारुक्षद्देवमणिर्मह्या अरिष्टतातये।
इमं मेथिमभिसंविशध्वं तनूपानं त्रिवरूथमोजसे॥ २०॥

१. **देवमणिः**=प्रभु द्वारा शरीर में स्थापित की गई यह वीर्यरूपमणि **मा आरुक्षत्**=मेरे शरीर में सर्वतः आरोहणवाली होती है। शरीर में मैं इसकी ऊर्ध्व गति करनेवाला बनता हूँ। यह **मह्यै**=(महत्यै) महती **अरिष्टतातये**=अहिंसा के लिए होती है। यह सब हिंसनों को दूर करके क्षेम (कल्याण) का साधन बनती है। २. **इमम्**=इस **मेथिम्**=शत्रुओं का विलोडन करनेवाली—

रोगादि का विनाश करनेवाली देवमणि को **अभिसंविशध्वम्**=अभितः सम्यक् सँभालकर रखनेवाले बनो। शरीर में यह तुम्हें नीरोग बनाये और मस्तिष्क में ज्ञानदीप्त। इस मणि का तुम आश्रय करो जोकि **तनूपानम्**=शरीर का रक्षण करनेवाली है, **त्रिवरूथम्**=त्रिविध आवरण से युक्त है—शरीर को रोगों से बचाती है, मन को वासनाओं से आक्रान्त नहीं होने देती तथा बुद्धि को लोभ से उपहत नहीं होने देती। यह मणि **ओजसे**=हमारे ओज के लिए होती है—हमें ओजस्वी बनाती है।

भावार्थ—शरीर में वीर्य की ऊर्ध्व गति होने पर यह हमारे अहिंसन का कारण बनता है। शत्रुओं का विध्वंस करके यह 'शरीर,मन व बुद्धि' का रक्षक आवरण बनता है। हमें ओजस्वी बनाकर शरीर-रक्षण के योग्य बनाता है।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्** ॥

दीर्घायुत्वाय शतशारदाय

अस्मिन्निन्द्रो नि दधातु नृम्णमिमं देवासो अभिसंविशध्वम्।
दीर्घायुत्वाय शतशारदायायुष्माञ्जरदष्टिर्यथासत्॥ २१॥

१. **इन्द्रः**=वह सर्वशक्तिमान् प्रभु **अस्मिन्**=इस वीर्यरूप देवमणि में **नृम्णं नि दधातु**=बल स्थापित करे। हे **देवासः**=देववृत्ति के पुरुषो! तुम **इमम्**=इस वीर्यमणि को **अभिसंविशध्वम्**=अभितः सम्यक् आश्रित करो, इसे शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करो। २. इसलिए तुम इसे शरीर में ही समाविष्ट करो, जिससे यह **शतशारदाय दीर्घायुत्वाय**=सौ वर्षों के दीर्घजीवन के लिए हो। इसे मनुष्य इसलिए धारण करे **यथा**=जिससे वह **आयुष्मान्**=प्रशस्त जीवनवाला व **जरदष्टिः**=पूर्ण जरावस्था को प्राप्त करनेवाला **असत्**=हो।

भावार्थ—प्रभु ने इस वीर्यमणि में बल की स्थापना की है। देववृत्ति के लोग इसका रक्षण करते हैं और प्रशस्त दीर्घजीवनवाले होते हैं।

ऋषिः—**शुक्रः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाविराड्गर्भाभुरिक्शक्वरी** ॥

स्वस्तिदाः—अपराजितः

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी।
इन्द्रो बध्नातु ते मणिं जिगीवाँ अपराजितः सोमपा अभयंकरो वृषा।
स त्वा रक्षतु सर्वतो दिवा नक्तं च विश्वतः॥ २२॥

१. **स्वस्तिदा**=कल्याण करनेवाला, **विशां पतिः**=प्रजाओं का रक्षक **वृत्रहा**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को नष्ट करनेवाला, **विमृधः**=शत्रु-विनाशकारी, **वशी**=सबका वशयिता, **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **ते मणिं बध्नातु**=तेरे शरीर में इस वीर्यमणि को बाँधे। प्रभुकृपा से वीर्य शरीर में ही सुरक्षित हो। वस्तुतः इस वीर्य के द्वारा ही प्रभु हमारे लिए कल्याण व विजय प्राप्त करानेवाले होते हैं। २. वे प्रभु **जिगीवान्**=जयशील हैं, **अपराजितः**=कभी पराजित नहीं होते, **सोमपाः**=प्रभु ही हमारे शरीर में सोम (वीर्य) का पान करनेवाले हैं। इस सोमपान द्वारा **अभयंकरः**=हमें निर्भयता प्राप्त कराते हैं और **वृषा**=हमारे लिए सब सुखों का सेचन करते हैं। **सः**=वे 'अभंयकर वृषा' प्रभु इस मणिबन्धन द्वारा **त्वा**=तुझे **सर्वतः रक्षतु**=सब भयनिमित्तों से बचाएँ। वे प्रभु **दिवा नक्तं च**=दिन और रात **विश्वतः**=सब ओर से रक्षित करें।

भावार्थ—प्रभु ने शरीर में इस वीर्यमणि का बन्धन किया है। इसप्रकार प्रभु हमें कल्याण व विजय प्राप्त कराते हैं। यह वीर्यमणि दिन-रात सब ओर से हमारा रक्षण करती है।

अगले सूक्त की ऋषिका 'मातृनामा' है। यह अपनी युवति कन्या के लिए उत्तम पति का

वरण करती हुई सचमुच 'उत्तम परिवार का निर्माण करनेवाली' होने से मातृनामा कहलायी है। विषय (देवता) भी यही है। कैसे पति का वरण करना है? इस विचार से सूक्त का आरम्भ होता है—

॥ इत्यष्टादशः प्रपाठकः ॥

अथैकोनविंशः प्रपाठकः

६. [षष्ठं सूक्तम्]

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दुर्णामा तथा अलिंश वत्सप

यौ ते॑ मा॒तोन्म॑मा॒र्ज जा॒ताया॑: पति॒वेद॑नौ।
दु॒र्णामा॒ तत्र॒ मा गृ॑ध॒द॒लिंश॑ उ॒त व॒त्सप॑: ॥ १ ॥

१. हे युवति! **जातायाः ते**=(जनी प्रादुर्भावे) यौवन के ठीक रूप से प्रादुर्भाववाली तेरे लिए **पति-वेदनौ**=पति के रूप में प्राप्त होनेवाले **यौ**=जिनको **माता**=तेरी माता ने **उन्ममार्ज**=(ऊर्ध्वमुखं ममार्ज, पत्युः परिग्रहाय परिहृतवती—सा०) स्पष्ट ही अस्वीकार कर दिया है। वे दोनों ही **तत्र मा गृधत्**=तुझ युवति के साथ विवाह के लिए आकांक्षा न करें। २. उनमें से एक तो **दुर्णामा**=कुष्ठ या अर्श (बवासीर) नामक पापरोगवाला है, **उत**=और दूसरा **अलिंशः**=(अलिं श्यति—अल्=शक्ति) शक्ति को क्षीण करनेवाला, अतएव **वत्सपः** (वत्सपिवः)=बच्चों को पी जानेवाला—शिशुनाशक है।

भावार्थ—वर के वरण के समय यह ध्यान रखना चाहिए कि वह कुष्ठ व अर्श आदि पापरोगों से पीड़ित न हो तथा क्षीणशक्ति और शिशुनाशक न हो।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा** ॥ छन्दः—**पुरस्ताद्बृहती** ॥

'पलाल-अनुपलाल' विवाह के लिए निषिद्ध

प॒ला॒लानु॑प॒ला॒लौ शर्कुं॒ कोकं॑ मलिम्लु॒चं प॒लीज॑कम्।
आ॒श्रेषं॑ व॒व्रिवा॑सस॒मृक्ष॑ग्रीवं प्रमी॒लिन॑म् ॥ २ ॥

१. माता इन व्यक्तियों को भी वरण में अस्वीकार कर दे—**पलाल-अनुपलालौ**=जो तृण की भाँति है—अति निर्बल है, अथवा सींकया-सा प्रतीत होता है। **शर्कुम्**='शम् शम् इति कौति' जिसकी आवाज़ शरशराती-सी है। **कोकम्**=चक्रवाक के स्वभाववाला, अथवा (A wolf) भेड़िये कि भाँति बहुत खानेवाला है। **मलिम्लुचम्**=चोरी की वृत्तिवाला—मलिन स्वभाववाला है, **पलीजकम्**=पलित केशोंवाला—वृद्ध-सा है। **आश्रेषम्**=(आश्लिष्य हन्तारम्) जो आलिङ्गन से पीड़ित करनेवाला—किसी संक्रामक रोग से पीड़ित है, **वव्रिवाससम्**=(रूपोपेतवसनवन्तम्) दिखावे के लिए तड़क-भड़क के कपड़े पहने हुए है। **ऋक्षग्रीवम्**=रीछ की भाँति गर्दनवाला है तथा **प्रमीलिनम्**=चुँधी-चुँधी आँखोंवाला है।

भावार्थ— माता-पिता अपनी कन्या के लिए इन 'पलाल,अनुपलाल' आदि का भी वरण न करें।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दुर्णामचातन 'बज'

मा सं वृ॑तो॒ मोप॑ सृप ऊ॒रू माव॑ सृपोऽन्त॒रा।
कृ॒णो॒म्य॑स्यै भेष॒जं ब॒जं दु॑र्णाम॒चात॑नम् ॥ ३ ॥

१. दुर्णामाख्यरोगाभिमानिन्! तू इस युवति के **ऊरू अन्तरा**=ऊरूओं के मध्य में **मा संवृतः**=संवृति—संकोच मत कर तथा **मा उपसृपः**=उपसर्पण—अन्तःप्रवेश मत कर और ऊरूओं के बीच में **मा अवसृपः**=नीचे की ओर गति न कर। २. मैं **अस्यै**=इस युवती के लिए **दुर्णामचातनम्**=दुर्णामाख्य दोष के विनाशक **बजम्**=श्वेत सर्षपरूप **भेषजम्**=औषध को **कृणोमि**=करता हूँ।

भावार्थ—श्वेत सर्षप का प्रयोग दुर्णामाख्य रोग का विनाशक है।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दुर्णामा बनाम सुनामा

दुर्णामा च सुनामा चोभा संवृतमिच्छतः।
अरायानप हन्मः सुनामा स्त्रैणमिच्छताम्॥ ४॥

१. **दुर्णामा च**=दुष्टरोगाक्रान्त पुरुष और **सुनामा च**=उत्तम रूपादियुक्त सुगुण पुरुष **उभा**=दोनों **संवृतम्**=संवरण को—स्वयंवर पर वरे जाने को **इच्छतः**=चाहते हैं। विवाहित होने की इच्छा स्वाभाविक हैं। रोगी भी विवाहित होना चाहता ही है। २. परन्तु हम इस अवसर पर **अरायान्**=अलक्ष्मीक—उत्तम गुण-सम्पत्तिरहित पुरुष को **अपहन्मः**=दूर भगाते हैं। **सुनामा**=उत्तम गुण-सम्पत्तिवाला यशस्वी पुरुष ही **स्त्रैणम्**=स्त्री-शरीर को (स्त्रियाः सम्बन्ध्यङ्गम्—सा०) **इच्छताम्**=चाहे—वही इसे प्राप्त करे।

भावार्थ—दुर्णामाख्य रोगपीड़ित पुरुष के साथ हम युवति कन्या का सम्बन्ध न करें। अलक्ष्मीक पुरुषों को दूर भगाकर यशस्वी पुरुष से ही उनका सम्बन्ध करें।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'अराय' पुरुष

यः कृष्णः केश्यसुर स्तम्बज उत तुण्डिकः।
अरायानस्या मुष्काभ्यां भंससोऽप हन्मसि॥ ५॥

१. **यः कृष्णः**=जो अति कृष्णवर्ण का है, **केशी**=बहुत अधिक बालोंवाला है—सब स्थानों पर बाल-ही-बालवाला है, **असुरः**=असुर—राक्षस-सा प्रतीत होता है, केवल प्राणपोषी (खाऊ=पीऊ) है **स्तम्बजः**=(स्तम्बे: जातः) जंगली-सा प्रतीत होता है, **उत**=और **तुण्डिकः**=कुत्सित मुखवाला है—इन सब **अरायान्**=अलक्ष्मीक पुरुषों को **अस्याः**=इस युवति के **मुष्काभ्याम्**=मुष्कों से—अण्डकोषों से (व्यक्तं पुंसो न तु स्त्रियाः०) तथा **भंससः**=कटिसन्धिप्रदेश से **अपहन्मसि**=दूर करते हैं।

भावार्थ— कृष्ण, केशी, असुर, स्तम्बज व तुण्डिक पुरुष स्त्री-सम्बन्ध के अयोग्य हैं।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अनुजिघ्र आदि कृमियों का विनाश

अनुजिघ्रं प्रमृशन्तं क्रव्यादमुत रेरिहम्।
अरायांछ्वकिष्किणो बजः पिङ्गो अनीनशत्॥ ६॥

१. **अनुजिघ्रम्**=(आघ्रायैव हिंसकम्) सूँघकर ही हिंसित करनेवाले **प्रमृशन्तम्**=(प्रमृश्यैव हन्तारं) छूकर नष्ट करनेवाले, **क्रव्यादम्**=मांस खा जानेवाले—हमें अमांस बना देनेवाले, **उत**=और **रेरिहम्**=(लीढ्वैव हन्तारम्) चाटकर नष्ट कर देनेवाले—इन सब **अरायान्**=अलक्ष्मी के कारणभूत रोगकृमियों को जोकि **श्वकिष्किणः**=(किष्क हिंसायाम्) कुत्ते की भाँति हिंसित

करनेवाले हैं, **पिङ्गः बजः**=पिशङ्गवर्ण का सर्षप **अनीनशत्**=खूब ही नष्ट कर डालता है।

भावार्थ—अनुजिघ्र, प्रमृशन्, क्रव्याद्, रेरिह नामक कुत्ते के समान हिंसन करनेवाले सभी रोगकृमियों को पिशङ्गवर्ण सर्षप नष्ट कर डालता है।

ऋषिः—**मातृनामा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

गर्भिणी-रक्षण

यस्त्वा स्वप्ने निपद्यते भ्राता भूत्वा पितेव च।
बजस्तान्त्सहतामितः क्लीबरूपांस्तिरीटिनः॥ ७॥

१. हे वरवर्णिनि! **यः** जो पुरुष **भ्राता**=भाई **च**=अथवा **पिता इव भूत्वा**=पिता का-सा रूप बनाकर **स्वप्ने**=स्वप्नावस्था में **निपद्यते**=नीचभाव से तेरे समीप आता है, **तान्**=उन सब दुष्टभावयुक्त **क्लीबरूपान्**=नंपुसक **तिरीटिनः**=टेढ़े मार्ग पर जानेवाले पुरुषों को **बजः**=शक्तिशाली—क्रियाशील पति **इतः सहताम्**=इस कुत्सित मार्ग से पराभूत करे।

भावार्थ—पति गर्भिणी युवति का इसप्रकार रक्षण करे कि कोई भी व्यक्ति छिपकर स्वप्नावस्था में भी उससे दुराचार न कर सके।

ऋषिः—**मातृनामा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

छायाम् इव सूर्यः

यस्त्वा स्वपन्तीं त्सरति यस्त्वा दिप्सति जाग्रतीम्।
छायामिव प्र तान्त्सूर्यः परिक्रामन्ननीनशत्॥ ८॥

हे गर्भिणी! **यः**=जो **त्वा**=तुझे **स्वपन्तीम्**=सोई हुई को **त्सरति**=छल से प्राप्त होता है, **यः**=जो **त्वा**=तुझे **जाग्रतीम्**=जागती हुई को **दिप्सति**=पीड़ित करना चाहता है—दबाना चाहता है, **तान्**=उन्हें **इव**= जैसे **सूर्यः छायाम्**=सूर्य छाया को नष्ट करता है, उसी प्रकार **परिक्रामन्**=अपने कर्त्तव्यकर्मों में गति करता हुआ (बजः) पुरुषार्थी पति **अनीनशत्**=सुदूर अदृष्ट करे। पति ऐसी व्यवस्था करे कि कुटिल पुरुषों का उसके घर पर आना ही न हो।

भावार्थ—कर्त्तव्य-परायण पुरुषार्थी पति को गृहरक्षा की ऐसी व्यवस्था करनी चाहिए कि कोई भी कुटिलपुरुष उसके घर में न आ सके, न ही वह स्त्रियों के साथ अशुभ व्यवहार कर सके।

ऋषिः—**मातृनामा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

न मृतवत्सा, न अवतोका

यः कृणोति मृतवत्सामवतोकामिमां स्त्रियम्।
तमोषधे त्वं नाशयास्याः कमलमञ्जिवम्॥ ९॥

१. **यः**=जो रोग **इमां स्त्रियम्**=इस स्त्री को **मृतवत्साम्**=मृत-पुत्रा अथवा **अवतोकाम्**=अवपन्न (विनष्ट) गर्भवाली **कृणोति**=करता है, हे **ओषधे**=ओषधे! **त्वम्**=तू **अस्याः**=इस स्त्री के **तम्**=उस रोग को **नाशय**=नष्ट कर दे। इस रोगविनाश से इसका **कमलम्**=गर्भद्वार **अञ्जिवम्**=अभिव्यक्तिवाला (Shining, brilliant) अथवा स्निग्ध (slippery, smooth) श्लक्ष्णोपेत हो जाए।

भावार्थ—ओषधि के प्रयोग से इस गर्भिणी के गर्भद्वार को इसप्रकार शुद्ध व स्निग्ध किया जाए कि इसकी सन्तान न मृत हो, न अवपन्न हो, अर्थात् यह स्वस्थ सन्तान को जन्म दे सके।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा** ॥ छन्दः—**षट्पदाजगती** ॥

कृमिविनाश

ये शालाः परिनृत्यन्ति सायं गर्दभनादिनः।
कुसूला ये च कुक्षिलाः ककुभाः करुमाः स्रिमाः।
तानोषधे त्वं गन्धेन विषूचीनान्वि नाशय॥ १०॥

१. **ये**=जो भी रोगकृमि **सायं गर्दभनादिनः**=सायं गधे की भाँति शब्द करते हुए **शालाः परिनृत्यन्ति**=गृहों के चारों ओर नृत्य-सा करते प्रतीत होते हैं, ये **कुसूलाः**=जो कुसूल की आकृतिवाले हैं अथवा चिपट जानेवाले हैं(कुस संश्लेषणे), **च**=और **कुक्षिलाः**=बृहत् कुक्षि (बड़े पेटवाले) हैं, **ककुभाः**=अर्जुनवृक्ष की भाँति भयंकर आकृतिवाले हैं, **करुमाः**=(कम् रवन्ते रुवङ् वधे) सुख का विनाश करनेवाले, **स्रिमाः**=(स्रिवु शोषणे) रुधिर का शोषण करनेवाले हैं, **तान्**=उन कृमियों को हे **ओषधे**=गौर व पीत सर्षप **त्वम्**=तू **गन्धेन**=गन्ध के द्वारा—अग्निहोत्र की अग्नि में पड़कर फैलनेवाली गन्ध के द्वारा **विशूचीनां विनाशय**=विरुद्ध दिशाओं में भगाकर नष्ट कर दे।

भावार्थ—स्वास्थ्य के लिए सायं प्रबल हो उठनेवाले, विविध कृमियों का विनाश आवश्यक है। हव्यद्रव्य के गन्ध से इनका विनाश करना इष्ट है। हमारे घरों के पास ये कृमि न रहें।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

'कुकुन्ध' आदि कृमियों का विनाश

ये कुकुन्धाः कुकूरभाः कृत्तीर्दूर्शानि बिभ्रति।
क्लीबाइव प्रनृत्यन्तो वने ये कुर्वते घोषं तानितो नाशयामसि॥ ११॥

१. **ये**=जो **कुकुन्धाः**=(कु+कु+धा) बुरा शब्द करते हैं, **कुकूरभाः**=(कुकूलः तुषानलः तद्वद् भान्ति) कुछ थोड़ा-सा चमकनेवाले हैं, **कृत्तीः**=काटनेवाले तथा **दूर्शानि**=दंश करने के साधनों को **बिभ्रति**=धारण करते हैं, **ये**=जो **क्लीबाः इव प्रनृत्यन्तः**=नुपंसकों की भाँति नृत्य करते हुए **वने घोषं कुर्वते**=वन में शब्द करते हैं, **तान्**=उन कृमियों को **इतः**=यहाँ से **नाशयामसि**=नष्ट करते हैं।

भावार्थ—बुरा शब्द करनेवाले, कुछ-कुछ चमकनेवाले, मुख से काटने व दंश का साधन रखनेवाले, वन में नृत्य के साथ घोष करनेवाले मच्छरादि को यहाँ से दूर कर दो।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

ये सूर्यं न तितिक्षन्ते

ये सूर्यं न तितिक्षन्त आतपन्तममुं दिवः।
अरायान्बस्तवासिनो दुर्गन्धीँल्लोहितास्यान्मककान्नाशयामसि॥ १२॥

१. **ये**=जो कृमि **दिवः**=द्युलोक से **आतपन्तम्**=सर्वतः ताप करते हुए **अमुं सूर्यम्**=उस सूर्य को न **तितिक्षन्ते**=नहीं सहन करते, अर्थात् गर्मी से नष्ट हो जाते हैं, उन **अरायान्**=श्री के विनाशक—श्रीरहित **वस्तवासिनः**=चर्म में निवास करनेवाले—त्वचा पर चिपट जानेवाले **दुर्गन्धीन्**=दुष्ट गन्धवाले **लोहितास्यान्**=लाल-लाल मुखवाले, अर्थात् रुधिर लिप्त मुखवाले **मककान्**=कुत्सित गतिवाले कृमियों को **नाशयामसि**=विनष्ट करते हैं।

भावार्थ—सूर्य की गर्मी में जो नष्ट हो जाते हैं, उन अलक्ष्मी के कारणभूत, चमड़े में चिपटनेवाले, दुर्गन्धयुक्त, रक्तमुख कृमियों को हम नष्ट करते हैं।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

स्त्रीणां श्रोणिप्रतोदिनः

य आत्मानमतिमात्रमंस आधाय बिभ्रति।
स्त्रीणां श्रोणिप्रतोदिन इन्द्र रक्षांसि नाशय॥ १३॥

१. **ये**=जो कृमि **अतिमात्रम्**=बहुत ही अधिक **अंसे आधाय**=औरों को पीड़ा में स्थापित करके **आत्मानम् बिभ्रति**=अपने को धारण करते हैं, अर्थात् जिनका जीवन औरों की पीड़ा पर ही आश्रित है, उन **स्त्रीणां श्रोणिप्रतोदिनः**=स्त्रियों के कटिप्रदेश को पीड़ित करनेवाले **रक्षांसि**=रोगकृमियों को, हे **इन्द्र**=राजन्! **नाशय**=नष्ट कर राजा स्वच्छता आदि की इसप्रकार व्यवस्था कराये कि रोगकृमि उत्पन्न ही न हों।

भावार्थ—औरों को पीड़ित करने पर ही जिनका जीवन निर्भर करता है, स्त्रियों के कटिप्रदेशों को अतिशयेन व्यथित करनेवाले उन रोगकृमियों के विनाश के लिए राजा की ओर से समुचित व्यवस्था होनी आवश्यक है।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

आपाकेस्थाः प्रहासिनः

ये पूर्वे वध्वो३ यन्ति हस्ते शृङ्गाणि बिभ्रतः।
आपाकेस्थाः प्रहासिन स्तम्बे ये कुर्वते ज्योतिस्तानितो नाशयामसि॥ १४॥

१. **ये**=जो कृमि **हस्ते शृङ्गाणि बिभ्रतः**=हाथ में हिंसा-साधन धारण करते हुए **वध्वः पूर्वे यन्ति**=वधुओं के आगे जाते हैं, **आपाकेस्थाः**=जो पाकशालाओं में स्थिर होते हैं, **प्रहासिनः**=जो अपने दंश से हँसाते-से हैं, **ये**=जो कृमि **स्तम्बे**=तृणादि के गुच्छों में **ज्योतिः कुर्वते**=प्रकाश करते हैं, अर्थात् झाड़ियों में चमकते हैं **तान्**=उन सबको **इतः**=यहाँ से **नाशयामसि**=विनष्ट करते हैं।

भावार्थ—जिन कृमियों के हाथ में सींग-सा दंश है, जो पाकगृह में रहते हैं, जो चमकते हैं और स्त्रियों के पास जाकर रोग उत्पन्न करते हैं, उन रोगकृमियों को यहाँ से विनष्ट कर दो।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा ब्राह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाशक्वरी** ॥

खलजाः शकधूमजाः

येषां पश्चात्प्रपदानि पुरः पार्ष्णीः पुरो मुखा।
खलजाः शकधूमजा उरुण्डा ये च मट्मटाः कुम्भमुष्का अयाशवः।
तानस्या ब्रह्मणस्पते प्रतीबोधेन नाशय॥ १५॥

१. **येषाम्**=जिन कृमियों के **प्रपदानि**=पादाग्रप्रदेश **पश्चात्**=पीछे की ओर हैं, **पार्ष्णीः पुरः**=ऐड़ियाँ आगे हैं, **मुखाः पुरः**=प्रपदों के प्रतिकूल मुख आगे ही हैं, **खलजाः**=धान्य शोधन प्रदेशों में होनेवाले, **शकधूमजाः**=गौ-अश्व आदि के पुरीष-पिण्डों के धूम से उत्पन्न होनेवाले **उरुण्डाः**=उद्गत रुण्ड-(सिरोभाग)-वाले **च**=और **ये मट्मटाः**=(मट् अवसादने) जो बहुत पीड़ा देनेवाले हैं, **कुम्भमुष्काः**=कुम्भोपम मुष्क से युक्त हैं, **अयाशवः**=(अयो वायुः) वायु की भाँति शीघ्रगामी हैं, **तान्**=उन सब रोगकृमियों को, हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **अस्याः प्रतिबोधेन**=इस बज (श्वेत सर्षप) ओषधि के प्रतिनियत ज्ञान से **नाशय**=विनष्ट कीजिए।

भावार्थ—विकृत रूपवाले तथा अपवित्र स्थानों में उत्पन्न हो जानेवाले विविध कृमियों को हम 'बज' नामक ओषधि के सम्यक् प्रयोग से दूर करें।

ऋषि:—**मातृनामा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ता:, मातृनामा** ॥ छन्द:—**पथ्यापङ्क्ति:** ॥

अस्त्रैणा: (सन्तु)

पर्यस्ताक्षा अप्रचङ्कशा अस्त्रैणा: सन्तु पण्डगा:।
अव भेषज पादय य इमां संविवृत्सत्यपति: स्वपतिं स्त्रियम्॥ १६॥

१. **पर्यस्ताक्षा:**=जिनकी आँखे फिरी हुई हैं—टेढ़ी आँखवाले, **अप्रचङ्कशा:**=बिल्कुल लंगड़े-लूले **पण्डगा:**=नंपुसक लोग **अस्त्रैणा: सन्तु**=स्त्रियों से रहित हों—इन्हें विवाह का अधिकार न हो। २. हे **भेषज**=चिकित्सक राजवैद्य! **य:**=जो **इमाम्**=इस **स्वपतिं स्त्रियम्**=अपने पति के साथ होनेवाली स्त्री को **अपति:**=किसी का पति न होता हुआ **संविवृत्सति**=प्राप्त करने की इच्छा करता है, उस पुरुष को **अवपादय**=राष्ट्र से दूर कर। जो विवाहित न होकर अन्य स्त्रियों में वर्तना चाहते हैं, उन्हें राष्ट्र से दूर करना ही ठीक है।

भावार्थ—'पर्यस्ताक्ष, अप्रचङ्कश, पण्डग' लोग विवाह के अयोग्य हैं। जो गृहस्थ न बनकर पर-दाराओं में प्रवृत्त होते हैं, उन्हें राष्ट्र से निष्कासित करना ही ठीक है।

ऋषि:—**मातृनामा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ता:, मातृनामा** ॥ छन्द:—**सप्तपदाजगती** ॥

पदा प्रविध्य

उद्धर्षिणं मुनिकेशं जम्भयन्तं मरीमृशम्। उपेषन्तमुदुम्बलं तुण्डेलमुत शालुडम्।
पदा प्र विध्य पार्ष्ण्या स्थालीं गौरिव स्पन्दना॥ १७॥

१. **उद्धर्षिणम्**=अत्यधिक कामी—मिथ्या व्यवहारवाले (हृषु अलीके), **मुनिकेशम्**=मुनियों के समान जटाओं को बढ़ाए हुए—ढोंगी, **जम्भयन्तम्**=हिंसन करते हुए, **मरीमृषम्**=बार-बार गुह्याङ्गों को स्पर्श करनेवाले **उपेषन्तम्**=(उप+ईष) अधिक आने-जानेवाले, **उदुम्बलम्**=अत्यधिक भोगी या मारनेवाले **तुण्डेलम्**=बन्दर के समान आगे बढ़े हुए मुखवाले **उत**=और **शालुडम्**=घमण्डी पुरुष को हे स्त्रि! तू इसप्रकार **पदा प्र विध्य**=पाँवों से ठोकर मार, **इव**=जैसेकि **स्पन्दना गौ:**=कूदनेवाली गौ **पार्ष्ण्या**=ऐड़ी से **स्थालीम्**=दूध दुहे जानेवाली हाँडी को आहत करती है।

भावार्थ—यदि कोई पुरुष कामासक्ति के कारण ढोंगी-सा बना हुआ अपने पुरुषत्व के घमण्ड में स्त्री के साथ अनुचित सम्पर्क करना चाहता है तो स्त्री उसे पादाहत करके उसकी प्रार्थना को ठुकरा दे।

ऋषि:—**मातृनामा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ता:, मातृनामा** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

पिङ्ग:

यस्ते गर्भं प्रतिमृशाज्जातं वा मारयाति ते।
पिङ्गस्तमुग्रधन्वा कृणोतु हृदयाविधम्॥ १८॥

१. **य:**=जो रोगकृमि **ते**=तेरे **गर्भम्**=गर्भ को—गर्भस्थ सन्तान को **प्रतिमृशात्**=पीड़ित करे, **वा**=अथवा **जातम्**=उत्पन्न हुए-हुए **ते**=तेरे पुत्र को **मारयाति**=मार देता है, **तम्**=उसे यह **उग्रधन्वा**=उद्गूर्ण गतिवाला अथवा भंयकर धनुष से युक्त **पिङ्ग:**=गौर सर्षप **हृदयाविधम् कृणोतु**=विद्ध (पीड़ित हृदयवाला) करे। यह सर्षप औषध देवता ही है, इसी से इसे यहाँ 'उग्रधन्वा' कहा है। यह उन गर्भविघातक कृमियों को हृदय में विद्ध करके नष्ट कर डालता है।

भावार्थ—योग्य वैद्य गौर सर्षप के प्रयोग से उन कृमियों को नष्ट करें, जो गर्भ में दोष उत्पन्न कर देते हैं।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

स्त्रीभागान् गन्धर्वान्

ये अम्नो जातान्मारयन्ति सूतिका अनुशेरते।
स्त्रीभागान्पिङ्गो गन्धर्वान्वातो अभ्रमिवाजतु॥ १९॥

१. **ये**=जो कृमि **अम्नः जातान्**=अर्धोत्पन्न गर्भों को **मारयन्ति**=नष्ट कर डालते हैं (अम्नः अबोध-अमन्)। **सूतिकाः अनुशेरते**=अभिनवप्रसवा स्त्रियों के साथ शयन (निवास) करते हैं, उन **गन्धर्वान्**=(गन्ध अर्दनम्, अर्व हिंसायाम्) पीड़ित व हिंसन करनेवाले **स्त्रीभागान्**=(स्त्रीयः भागो येषाम्) स्त्रियों को पकड़नेवाले कृमियों को **पिङ्गः**=गौर सर्षप इसप्रकार **अजतु**=दूर फेंक दे, **इव**=जैसेकि **वातः अभ्रम्**=वायु बादल को सुदूर फेंक देती है।

भावार्थ—गर्भिणियों को पीड़ित करनेवाले व अर्धविकसित बालकों को नष्ट करनेवाले कृमियों को गौर सर्षप विनष्ट करे।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

नीविभार्यौ (भेषजौ)

परिसृष्टं धारयतु यद्धितं मावं पादि तत्।
गर्भं त उग्रौ रक्षतां भेषजौ नीविभार्यौ॥ २०॥

१. स्त्री **परिसृष्टं धारयतु**=पति द्वारा प्रदत्त वीर्य को अपने अन्दर धारण करे, **यत् हितम्**=जो वीर्य गर्भस्थिति के लिए धारण किया गया है, **तत् मा अवपादि**=वह नष्ट न हो जाए। हे स्त्रि! **ते गर्भम्**=तेरे इस गर्भ को—गर्भस्थ बालक को **उग्रौ भेषजौ**=उद्गूर्ण बलवाले ये ओषधरूप श्वेत व पीत सर्षप **रक्षताम्**=रक्षित करें। ये दोषों को दूर करनेवाले सर्षप **नीविभार्यौ**=तेरे मूलधनरूप इस आहित वीर्य को सुन्दरता से भरण करनेवाले हैं।

भावार्थ—श्वेत व पीत सर्षप प्रबल भेषज हैं। इनका प्रयोग पति-प्रदत्त वीर्य का स्त्रीगर्भ में धारण करने में सहायक होता है और धारित गर्भ को नष्ट नहीं होने देता।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रजायै पत्ये

पवीनसात्तङ्गल्वा३च्छायकादुत नग्नकात्।
प्रजायै पत्ये त्वा पिङ्गः परि पातु किमीदिनः॥ २१॥

१. **पवीनसात्**=वज्रतुल्य नासिकावाले **तङ्गल्वात्**=बड़े गालवाले, **छायकात्**=मुख से काटनेवाले (छो छेदने) **उत**=और **नग्नकात्**=नंगे—बालों से रहित, **किमीदिनः**=हर समय भूखे (किम् इदानीं अदानि) इस रोगकृमि से **त्वा**=तुझे **प्रजायै**=उत्तम सन्तान की प्राप्ति के लिए तथा **पत्ये**=पति की अनुकूलता के लिए **पिङ्गः**=पिंग वर्णवाला सर्षप **परिपातु**=रक्षित करे।

भावार्थ—पिंग वर्णवाले सर्षप के प्रयोग से रोगकृमियों के संहार के द्वारा गर्भिणी इसप्रकार स्वस्थ हो कि सन्तान भी उत्तम हो और पति की अनुकूलता भी बनी रहे। अस्वस्थ पत्नी से पति की परेशानी बढ़ती है।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

द्व्यास्यात् चतुरक्षात्

द्व्या स्याच्चतुरक्षात्पञ्चपादादनङ्गुरेः।
वृन्तादभि प्रसर्पतः परि पाहि वरीवृतात्॥ २२॥

१. **द्व्यास्यात्**=दो मुखवाले, **चतुरक्षात्**=चार आँखोंवाले, **पञ्चपादात्**=पाँच पाँववाले, **अनङ्गुरेः**=अंगुलियों से रहित **वृन्तात् अभिप्रसर्पतः**=लता-पुञ्ज से निकलकर हमारी ओर आते हुए अथवा (वृन्तवद् वृन्तं शिरः, पादाग्रं वा) सिर से आगे बढ़े हुए (अवाग् भूयाभिगच्छतः) **वरीवृतात्**=सब अङ्गों को व्याप्त करनेवाले इस कृमि से, हे ओषधे! तू **परिपाहि**=हमारा रक्षण कर।

भावार्थ—कई कृमि बड़े विचित्र-से होते हैं। उनके दो मुख, चार आँखे व पाँच पाँव होते हैं, इनकी अंगुली नहीं दिखती। सिर के बल आगे बढ़े हुए इन कृमियों से यह सर्षप हमारा रक्षण करे।

ऋषिः—**मातृनामा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मांसाहारी कृमि

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः।
गर्भान्खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि॥ २३॥

१. **ये**=जो **आमं मांसं अदन्ति**=कच्चा मांस खाते हैं, **च**=और **ये पौरुषेयम् क्रविः**=पुरुष के मांस को विशेषरूप से खानेवाले हैं, जो **केशवाः**=बड़े-बड़े बालोंवाले **गर्भान् खादन्ति**=गर्भस्थ बालकों को ही खा जाते हैं, **तान्**=उन सब कृमियों को **इतः नाशयामसि**=यहाँ से नष्ट करते हैं।

भावार्थ—कच्चा मांस खा जानेवाले, परिपक्व पौरुष मांस को नष्ट कर डालनेवाले, गर्भस्थ बालकों को खा जानेवाले सब रोगकृमियों को नष्ट करते हैं।

ऋषिः—**मातृनामा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

बजः च पिङ्गः च

ये सूर्यात्परिसर्पन्ति स्नुषेव श्वशुरादधि।
बजश्च तेषां पिङ्गश्च हृदयेऽधि नि विध्यताम्॥ २४॥

१. **ये**=जो कृमि **सूर्यात् परिसर्पन्ति**=सूर्य से—सूर्य प्रकाश से इसप्रकार दूर भागते हैं **इव**=जैसेकि **स्नुषा श्वशुरात् अधि**=पुत्रवधू श्वशुर से दूर हटती है। **तेषाम्**=उन सब कृमियों के **हृदये**=हृदय में **बजः च पिङ्गः च**=यह गौर सर्षप और पिंगल वर्ण का सर्षप **अधिनि-विध्यताम्**=अतिशयेन वेध करनेवाले हों।

भावार्थ—बज और पिंग सर्षप अन्धकार में पनपनेवाले कृमियों को नष्ट करें।

ऋषिः—**मातृनामा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मां पुमांसं स्त्रियं क्रन्

पिङ्ग रक्ष जायमानं मा पुमांसं स्त्रियं क्रन्।
आण्डादो गर्भान्मा दभन्बाधस्वेतः किमीदिनः॥ २५॥

१. हे **पिङ्ग**=पीतवर्ण सर्षप! **जायमानं रक्ष**=उत्पद्यमान शिशु का तू रक्षण कर। **पुमांसं स्त्रियं मा क्रन्**=ये कृमि पुरुष व स्त्री को हिंसित न करें, अथवा जायमान पुंगर्भ को ये स्त्रीगर्भ न कर दें। (केचित् भूतविशेषः पुंगर्भं स्त्रीगर्भं कुर्वन्ति) कई कृमि पुंगर्भ को स्त्रीगर्भ में परिवर्तित कर देते हैं। २. **आण्डादः**=अण्डप्रदेश को खा जानेवाले ये कृमि **गर्भान् मा दभन्**=गर्भों को हिंसित न करें। हे पिङ्ग! इन **किमीदिनः**=(किम् इदम् किम् इदम् इति चरतः) अब क्या खाएँ, अब क्या खाएँ—इसप्रकार विचरते हुए इन कृमियों को **इतः बाधस्व**=यहाँ से—गर्भिणी के सान्निध्य से दूर कर।

भावार्थ—उन कृमियों को गर्भिणी की समीपता से दूर किया जाए जो (क) जायमान शिशुओं को नष्ट कर देते हैं, (ख) पुंगर्भ को स्त्रीगर्भ कर देते हैं, (ग) अण्डकोश-सम्बन्धी प्रदेशों को खा-सा जाते हैं।

ऋषिः—**मातृनामा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः, मातृनामा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विचित्र माला

अप्रजास्त्वं मार्तवत्समाद्रोदमघमावयम्।
वृक्षादिव स्रजं कृत्वाप्रिये प्रति मुञ्च तत्॥ २६॥

१. **अप्रजास्त्वम्**=सन्तान का न होना, **मार्तवत्सम्**=मृत सन्तान का होना **आत्**=और **रोदम्**=उत्पद्यमान दुःख के कारण सर्वदा हृदय में रोते रहना, **अघम्**=पाप **आवयम्**=गर्भ का न ठहरना (non-conception)—ये जितनी भी बातें हैं, **तत्**=उन सबको, उसी प्रकार माला-सी बनाकर **अप्रिये प्रतिमुञ्च**=समाज के साथ अप्रीतिवाले किसी पुरुष में डाल, **इव**=जैसेकि **वृक्षात्**=वृक्ष से फूलों को लेकर **स्रजं कृत्वा**=माला-सी बनाकर किसी प्रिय मित्र को पहना देते हैं।

भावार्थ—उचित औषध-विनियोग से स्त्री के 'अप्रजास्त्व, मार्तवत्स, रोद, अघ, आवय' आदि दोषों को दूर किया जाए।

गृहस्थ को इन सब कष्टों से बचने के लिए स्थिरवृत्तिवाला बनना आवश्यक है। यही 'अथर्वा' है। रोगों के दूरीकरण के लिए उपादेय ओषधियों का ज्ञान प्राप्त करता हुआ यह 'अथर्वा' अगले सूक्त का ऋषि है तो 'ओषधयः' देवता हैं।

७. [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ओषधयः

या बभ्रवो याश्च शुक्रा रोहिणीरुत पृश्नयः।
असिक्नीः कृष्णा ओषधीः सर्वा अच्छावदामसि॥ १॥

१. **याः**=जो **बभ्रवः**=भरण करनेवाली—मांस को बढ़ानेवाली **याः च**=और जो **शुक्राः**=वीर्यवर्धक **रोहिणीः**=घाव इत्यादि को भरनेवाली, **उतः**=और **पृश्नयः**=रस का पोषण करनेवाली, **असिक्नीः**=(षिञ् बन्धने) अंगों के बन्धन—जुड़जाने को खोलनेवाली तथा **कृष्णाः**=आवश्यक विलेखन करनेवाली—मोटेपन को दूर करनेवाली **ओषधीः**=ओषधियाँ हैं, **सर्वाः**=उन सबका **अच्छावदामसि**=सम्यक् उपदेश करते हैं।

भावार्थ—प्रभु से उत्पादित व उपदिष्ट सब ओषधियों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करते हुए हम स्वस्थ व दीर्घजीवनवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देवेषितात् यक्ष्मात्

त्रायन्तामिमं पुरुषं यक्ष्माद्देवेषितादधि।
यासां द्यौष्पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव॥ २॥

१. **यासाम्**=जिन **वीरुधाम्**=बेलों का—ओषधियों का **द्यौः पिता**=द्युलोकस्थ सूर्य ही पिता है—सूर्य ही इनमें प्राणदायी तत्त्वों की स्थापना करता है, वही इनके परिपाक का कारण बनता है। **पृथिवी माता**=यह भूमि ही इन बेलों की माता है, इसी से इन्हें रस व पुष्टि प्राप्त होती

है। **समुद्रः मूलं बभूव**=समुद्र इनका मूल है, समुद्र से ही वाष्पीभूत हुआ-हुआ जल मेघरूप में परिणत होकर इन्हें सींचता है। ये वीरुध **इमं पुरुषम्**=इस पुरुष को **देवेषितात्**=(दिवु क्रीडायाम्) विषयक्रीड़ा द्वारा प्राप्त हुए-हुए **यक्ष्मात्**=राजयक्ष्मा रोग से **अधित्रायन्ताम्**=बचाएँ।

भावार्थ—विषयों में अतिप्रसक्ति से रोग उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। इन रोगों को उचित औषध-प्रयोग से दूर किया जाए।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आपः=दिव्या ओषधयः

आपो अग्रं दिव्या ओषधयः। तास्ते यक्ष्ममेनस्य१मङ्गादङ्गादनीनशन्॥ ३॥

१. **अग्रम्**=सर्वप्रथम **आपः**=ये जल, **दिव्याः ओषधयः**=दिव्य ओषधियाँ हैं। जल सर्वोत्तम औषध है। **ताः**=वे जल **ते**=तेरे **एनस्यम्**=पापजनित—विषयभोग से उत्पन्न **यक्ष्मम्**=रोग को **अङ्गात् अङ्गात्**=एक-एक अङ्ग से **अनीनशन्**=अदृष्ट कर दें। २. जलों का समुचित प्रयोग सर्वदोष विनाशक है। जलों में सब औषध विद्यमान हैं—'**अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा**'। जल शब्द ही 'जल घातने' धातु से बनकर स्पष्ट कर रहा है कि यह सब रोगों का घात करता है।

भावार्थ—जल सर्वोत्तम दिव्य औषध हैं। इनका समुचित प्रयोग सर्वरोगविनाशक है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः**॥ छन्दः—**पञ्चपदापरानुष्टुबतिजगती**॥

उग्राः पुरुषजीवनीः

प्रस्तृणती स्तम्बिनीरेकशुङ्गाः प्रतन्वतीरोषधीरा वदामि।
अंशुमतीः काण्डिनीर्या विशाखा ह्वयामि ते वीरुधो वैश्वदेवीरुग्राः पुरुषजीवनीः॥ ४॥

१. प्रभु कहते है कि हे पुरुष! मैं तेरे लिए उन **ओषधीः**=ओषधियों को **आवदामि**=उपदिष्ट करता हूँ जो **प्रस्तृणतीः**=भूमि को आच्छादित करनेवाली हैं—खूब फैलनेवाली हैं, **स्तम्बिनीः**=तृणों के गुच्छोंवाली हैं, **एकशुङ्गा**=एक कोंपलवाली हैं (शुङ्ग the awn of a corn) तथा **प्रतन्वतीः**=खूब ही फैलनेवाली हैं। २. मैं **ते**=तेरे लिए उन **वीरुधः**=लताओं को **ह्वयामि**=पुकारता हूँ **याः**=जोकि **अंशुमतीः**=बहुत तन्तुओंवाली हैं। **काण्डिनीः**=काण्डों या पोरुओंवाली हैं, **विशाखाः**=शाखाओं से रहित हैं। ये ओषधियाँ **वैश्वदेवीः**=सब दिव्य गुणोंवाली व सब रोगों को जीतनेवाली हैं, **उग्राः**=प्रबल प्रभाववाली हैं, **पुरुषजीवनीः**=पुरुष को जीवन प्रदान करनेवाली हैं—इनके प्रयोग से पुरुष पुनः जीवित हो उठता है।

भावार्थ—प्रभु ने विविध ओषधियों को जन्म दिया है। उनका समुचित ज्ञान व प्रयोग करते हुए हम नीरोग व दीर्घजीवी बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः**॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः**॥

सहः, वीर्यं, बलम्

यद्वः सहः सहमाना वीर्यं१ यच्च वो बलम्।
तेनेममस्माद्यक्ष्मात्पुरुषं मुञ्चतौषधीरथो कृणोमि भेषजम्॥ ५॥

१. हे **सहमानाः**=रोगों का पराभव करनेवाली ओषधियो! **यत् वः**=जो तुम्हारा **सहः**=रोगों के पराभव का सामर्थ्य है, जो तुम्हारी **वीर्यम्**=रोगों को कम्पित करके दूर करने की शक्ति है (वि+ईर्), **यत् च**=और जो **वः बलम्**=तुम्हारा बल है, **तेन**=उस 'सह,वीर्य व बल' से **इमं पुरुषम्**=इस पुरुष को **अस्मात् यक्ष्मात् मुञ्चत**=इस रोग से मुक्त करो। हे **ओषधीः**=तापनाशक

ओषधियो! मैं **अथो**=अब तुम्हारे बल पर ही **भेषजं कृणोमि**=इस रुग्ण पुरुष की चिकित्सा करता हूँ।

भावार्थ—ओषधियों में रोगों को कुचलने की शक्ति है (सहः), ये रोग को कम्पित करके दूर कर देती हैं (वीर्यम्), ये पुरुष को पुनः शक्ति प्रदान करती हैं (बलम्)।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधमः** ॥ छन्दः—**विराड्गर्भाभुरिक्पथ्यापङ्क्तिः** ॥

जीवन्ती, अरुन्धती, पुष्पा (मधुमती)

जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम्।
अरुन्धतीमुन्नयन्तीं पुष्पां मधुमतीमिह हुवेऽस्मा अरिष्टतातये॥ ६॥

१. **अहम्**=मैं **अस्मै अरिष्टतातये**=इसी रोगी पुरुष को स्वास्थ्य लाभ कराने के लिए **इह**=यहाँ **जीवलाम्**=जीवनप्रद **न-घा-रिषाम्**=निश्चय से हानि नहीं पहुँचानेवाली **जीवन्तीम् ओषधीम्**=जीवनी नामक ओषधि को **हुवे**=पुकारता हूँ। २. **उन्नयन्तीम्**=बिस्तर पर पड़े रोगी को फिर से उठा देनेवाली **अरुन्धतीम्**=अरुन्धती नामक ओषधि को पुकारता हूँ तथा **मधुमतीम्**=मधुर रस से परिपूर्ण इस **पुष्पाम्**=पुष्पा नामक ओषधि को पुकारता हूँ।

भावार्थ—'जीवन्ती' ओषधि इस रोगी को पुनः प्राणशक्ति प्राप्त कराती है, 'अरुन्धती' उसके सब रोगों का निरोध करती हुई इसे ऊपर उठा देती है और 'पुष्पा' इसके जीवन में माधुर्य का संचार करती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मेदिनीः

इहा यन्तु प्रचेतसो मेदिनीर्वचसो मम।
यथेमं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि॥ ७॥

प्रचेतसः मम वचसः=प्रकृष्ट ज्ञानदेनेवाले मुझ वैद्य के वचन से **मेदिनीः इह आयन्तु**=पुष्टिकारक ओषधियाँ यहाँ प्राप्त हों, **यथा**=जिससे **इमं पुरुषम्**=इस रुग्ण पुरुष को **दुरितात्**=पाप जन्य भोगरूप रोग से **अधि पारयामसि**=पार कर दें।

भावार्थ—ज्ञानी वैद्य पौष्टिक ओषधियों के प्रयोग से इस रुग्ण के कष्ट का निवारण करे। वैद्य का प्रकृष्ट ज्ञानवाला होना आवश्यक है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अग्नेः घासः, अपां गर्भः

अग्नेर्घासो अपां गर्भो या रोहन्ति पुनर्णवाः।
ध्रुवाः सहस्रनाम्नीर्भेषजीः सन्त्वाभृताः॥ ८॥

१. **अग्नेः घासः**=जो अग्नि का भोजन हैं, अर्थात् जिनके द्वारा वैश्वानर (जाठर) अग्नि दीप्त होती है, जो **अपां गर्भः**=(आपः रेतो भूत्वा०) रेतःकणों को गर्भ में धारण करनेवाली हैं, **याः**=जो **पुनर्णवाः रोहन्ति**=फिर-फिर नई होकर उग आती हैं—बढ़ती हैं, **ध्रुवाः**=जो स्थिर प्रभावशाली हैं, वे **सहस्रनाम्नीः**=हज़ारों नामोंवाली **आभृताः**=समन्तात् पैदा हुई वनस्पति व लताएँ **भेषजीः सन्तु**=रोगों की औषध बनें।

भावार्थ—ये वनस्पतियाँ व लताएँ समन्तात् आभृत हुई-हुई हमारी जाठराग्नि को प्रदीप्त करनेवाली हों, वीर्यशक्ति को बढ़ानेवाली हों। शरीर पर स्थिर प्रभाववाली हों तथा रोगों की औषध बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽर्चीभुरिगनुष्टुप्** ॥

अवकोल्बाः, उदकात्मानः

अवकोल्बा उदकात्मान ओषधयः। व्यृ षन्तु दुरितं तीक्ष्णशृङ्ग्यः ॥ ९ ॥

अवका-उल्बाः=जल के शैवाल के भीतर उत्पन्न होनेवाली, **उदकात्मानः**=जलमय देहवाली **तीक्ष्णशृङ्ग्यः**=तीखे सींग व काँटोंवाली **ओषधयः**=ओषधियाँ **दुरितम्**=अशुभ आचरण से उत्पन्न दुःखदायी रोग को **विऋषन्तु**=विशेषरूप से दूर करें।

भावार्थ—जल के शैवाल के भीतर उत्पन्न होनेवाली तीक्ष्णशृंगी उदकात्मा ओषधियाँ पापरोग को दूर करनेवाली हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

विषदूषणीः बलासनाशनी

उन्मुञ्चन्तीर्विवरुणा उग्रा या विषदूषणीः।
अथो बलासनाशनीः कृत्यादूषणीश्च यास्ता इहा यन्त्वोषधीः ॥ १० ॥

१. **ताः ओषधीः**=वे ओषधियाँ **इह आयन्तु**=यहाँ प्राप्त हों, **याः**=जोकि **उन्मुञ्चतीः**=रोगों से मुक्त करनेवाली हैं। **विवरुणा**=विशेषरूप से वरणीय हैं, क्योंकि वे रोगों का निवारण करनेवाली हैं, **उग्राः**=जो अति प्रबल हैं, **विषदूषणीः**=विष को भी दूषित करनेवाली हैं। २. **अथो**=और अब **याः**=जो ओषधियाँ **बलासनाशनीः**=कफ़ का नाश करनेवाली हैं **च**=और **कृत्या-दूषणीः**=छेदन-भेदन को दूषित करनेवाली हैं—छेदन-भेदन-जनित विकारों को दूर करनेवाली हैं।

भावार्थ—रोग से मुक्त करनेवाली, रोग का निवारण (prevention) करनेवाली, प्रभाववाली, विषदूषणी, कफ़-विकार की निवारक, छेदनजनित विकार को दूर करनेवाली—ये सब ओषधियाँ यहाँ प्राप्त हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सहीयसीः (अपक्रीताः) वीरुधः

अपक्रीताः सहीयसीर्वीरुधो या अभिष्टुताः।
त्रायन्तामस्मिन्ग्रामे गामश्वं पुरुषं पशुम् ॥ ११ ॥

अपक्रीताः=दूर देश से द्रव्य-विनिमय द्वारा प्राप्त की गई **सहीयसीः**=रोगों का मर्षण करनेवाली **वीरुधः**=लताएँ **याः अभिष्टुताः**=जिनकी सब प्रकार से प्रशंसा सुनाई देती है, **वे अस्मिन् ग्रामे**=इस ग्राम में **गां अश्वं पुरुषं पशुम्**=गौ, घोड़े, पुरुष व पशु को **त्रायन्ताम्**=रोग से बचाएँ।

भावार्थ—कई वीरुध दूर देश से द्रव्य द्वारा प्राप्त की जाती हैं। ये रोगों को कुचलनेवाली औषध हमारे गौ, घोड़े, मनुष्य व पशुओं का रोगों से रक्षण करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाविराडतिशक्वरी** ॥

मधोः संभक्ता

मधुमन्मूलं मधुमदग्रमासां मधुमन्मध्यं वीरुधां बभूव।
मधुमत्पर्णं मधुमत्पुष्पमासां मधोः संभक्ता अमृतस्य
भक्षो घृतमन्नं दुह्रतां गोपुरोगवम् ॥ १२ ॥

१. **आसां वीरुधाम्**=इन ओषधिभूत वीरुधों (बेलों) का **मूलं मधुमत्**=मूल माधुर्यवाला

है, **अग्रं मधुमत्**=अग्रभाग माधुर्यवाला है, **मध्यं मधुवत् बभूव**=मध्यभाग भी माधुर्यवाला है। **आसाम्**=इनका **पर्णम्**=पत्ता भी **मधुमत्**=माधुर्यवाला है, **पुष्पं मधुमत्**=फूल भी माधुर्य को लिये हुए हैं। ये वीरुध तो **मधोः संभक्ताः**=मधु से संभक्त हैं—सम्यक् सेवित हुई हैं। २. इन वीरुधों में मधु का अंश सर्वत्र व्यापक है, अतः ये अमृतमय ओषधियाँ **अमृतस्य भक्षः**=अमृतमय भोजन हैं। अमृत के बने भोजन के समान दीर्घ आयुप्रद हैं। ये ओषधियाँ **गो-पुरोगवम्**=गाय जिसमें अग्रगामी हैं—सबसे प्रथम स्थान में रक्खी हैं, ऐसे **घृतं अन्नं दुह्रताम्**=घृत और अन्न का हमारे लिए दोहन करें। इन ओषधियों का सेवन करनेवाली गौओं से हमें दूध और घी प्राप्त हो तथा ये ओषधियाँ तथा वनस्पतियाँ हमारा उत्तम अन्न बने।

भावार्थ—प्रभु से उत्पादित ओषधियों का मूल, मध्य व अग्रभाग, इनके पत्ते व फूल सब मधु के समान मधुर-(गुणकारी)-रस से परिपूर्ण हैं। ये मधुसिक्त ओषधियाँ हमें गोदुग्ध के साथ घृत व अन्न प्राप्त करानेवाली हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सहस्रपर्ण्यः

यावतीः कियतीश्चेमाः पृथिव्यामध्योषधीः
ता मा सहस्रपर्ण्यो मृत्योर्मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १३ ॥

यावतीः कियतीः च=जीतनी-कितनी भी **इमाः**=ये **पृथिव्यां अधि**=इस पृथिवी पर **ओषधीः**=ओषधियाँ हैं, **ताः**=वे **सहस्रपर्ण्यः**=हजारों प्रकार से पालन व पूरण करनेवाली ओषधियाँ **मा**=मुझे **मृत्योः**=मृत्यु से—रोग से तथा **अंहसः**=कष्टों से **मुञ्चन्तु**=मुक्त करें।

भावार्थ—पृथिवी से उत्पन्न सब ओषधियाँ हज़ारों प्रकार से पालन व पूरण करती हैं। वे ओषधियाँ हमें रोगों व कष्टों से मुक्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**उपरिष्टादनिचृद्बृहती** ॥

वैयाघ्रो मणिः

वैयाघ्रो मणिर्वीरुधां त्रायमाणोऽभिशस्तिपाः।
अमीवाः सर्वा रक्षांस्यप हन्त्वधि दूरमस्तम् ॥ १४ ॥

१. **वीरुधाम्**=लता रूप ओषधियों से बनाई गई **वैयाघ्र**=विशिष्ट प्रकार की गन्ध देनेवाली **मणिः**=रोग स्तम्भन गुटिका **त्रायमानः**=रोगों से बचानेवाली और **अभिशस्तिपाः**=निन्दनीय अभिशाप आदि से भी रक्षा करनेवाली होती है। २. यह वैयाघ्र मणि **सर्वाः अमीवाः**=सब प्रकार के रोगों को, **रक्षांसि**=सब रोगकृमियों को **अस्मत् अधि**=हमसे **दूरम् अपहन्तु**=सुदूर विनष्ट करनेवाली हो।

भावार्थ—ओषधियों से निर्मित विविध गन्धोंवाली गोलियाँ सब रोगकृमियों व रोगों को हमसे दूर भगाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सिंहस्येव स्तनथोः सं विजन्तेऽग्नेरिव विजन्त आभृताभ्यः।
गवां यक्ष्मः पुरुषाणां वीरुद्भिरतिनुत्तो नाव्या एतु स्रोत्याः ॥ १५ ॥

१. **इव**=जिस प्रकार पशु **सिंहस्य स्तनथोः संविजन्ते**=शेर के गर्जन से भयभीत होकर भाग उठते हैं और **इव**=जिस प्रकार ये पशु **अग्नेः विजन्ते**=अग्नि से व्याकुल हो उठते हैं। २. इन **वीरुद्भिः**=ओषधिभूत बेलों से **अतिनुत्तः**=अतिशयेन परे धकेला हुआ यह **गवां पुरुषाणां**

यक्ष्मः=गौओं (पशुओं) व पुरुषों का रोग **नाव्याः स्रोत्याः एतु**=नावों से तरने योग्य नदियों से भी परे चला जाए—निन्यानवे नदियों के पार चला जाए।

भावार्थ—ओषधिनुत्त रोग 'सात समुन्द्र पार' पहुँच जाए। ये रोग हमारे जीवन के निन्यानवे वर्षों से परे रहें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मुमुचानाः भूमिं सन्तन्वतीः

मुमुचाना ओषधयोऽग्रेर्वैश्वानरादधि।
भूमिं सन्तन्वतीरित यासां राजा वनस्पतिः॥ १६॥

१. **यासां राजा वनस्पतिः**=जिन ओषधियों का राजा 'सोम' वनस्पति है। यह सोम ज्ञान की रश्मियों का रक्षक हैं। सोमलता शरीर में 'सोम' शक्ति को स्थापित करती हुई ज्ञानाग्नि को दीप्त करती हैं। हे 'सोम' रूप राजावाली **ओषधयः**=ओषधियो! आप **अग्नेः वैश्वानरात् अधि**=शरीरस्थ वैश्वानर अग्नि के द्वारा—जाठराग्नि के सम्यक् दीपन द्वारा **मुमुचानाः**—हमें रोगों से मुक्त करती हुई और **भूमिम्**=इस शरीररूप पृथिवी को **सन्तन्वतीः**=(तनु विस्तारे) विस्तृत शक्तिवाला करती हुई **इतः**=हमें प्राप्त होओ।

भावार्थ—पृथिवी में उत्पन्न ये ओषधियाँ जाठराग्नि के ठीक दीपन द्वारा हमें रोगमुक्त करती हैं और हमारी शक्तियों का विस्तार करती हैं। इन ओषधियों का राजा 'सोम' है। इस सोमलता का रस शरीर में सोम को स्थापित करता हुआ बुद्धि को दीप्त करता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आङ्गिरसीः पयस्वतीः

या रोहन्त्याङ्गिरसीः पर्वतेषु समेषु च।
ता नः पयस्वतीः शिवा ओषधीः सन्तु शं हृदे॥ १७॥

१. **याः आङ्गिरसीः**=जो अंगों में रस का वर्धन करनेवाली **ओषधीः**=ओषधियाँ **पर्वतेषु समेषु च**=पर्वतों में व समस्थलों में **रोहन्ती**=उगती हैं, **ताः**=वे **पयस्वतीः**=आप्यायन-(वर्धन)-कारी रसवाली **शिवाः**=कल्याणकर **ओषधीः**=ओषधियाँ **नः**=हमारे **हृदे**=हृदय के लिए **शं सन्तु**=शान्तिकर हों।

भावार्थ—पर्वतों व मैदानों में प्रादुर्भूत होनेवाली आङ्गिरसी (अंगों में रस का संचार करनेवाली) ओषधियाँ हमारा वर्धन करती हुई हमारे हृदय के लिए शान्तिकर हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

औषध आनन्त्य

याश्चाहं वेद वीरुधो याश्च पश्यामि चक्षुषा।
अज्ञाता जानीमश्च या यासु विद्म च संभृतम्॥ १८॥
सर्वाः समग्रा ओषधीर्बोधन्तु वचसो मम।
यथेमं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि॥ १९॥

१. **अहम्**=मैं **याः च वीरुधः वेद**=जिन लताओं को निश्चय से जानता हूँ, **याः च**=और जिनको **चक्षुषा पश्यामि**=आँख से देखता हूँ, **अज्ञाताः च याः जानीमः**=और आज तक अज्ञात जिन ओषधियों को हम अब जानने लगे हैं, **च**=और **यासु**=जिनमें **संभृतम्**=सम्यक् भरणशक्ति को **विद्म**=हम जानते हैं, २. वे **सर्वाः**=सब **समग्राः**=सम्पूर्ण 'मूल, मध्य व अग्र' भाग समेत

ओषधी:=ओषधियाँ **मम वचस:**=मेरे वचन से **बोधन्तु**=यह समझ लें **यथा**=जिससे **इमं पुरुषम्**=इस रोग-पीड़ित पुरुष को **दुरितात् अधि पारयामसि**=दु:खप्रद रोग से—रोगजनित कष्ट से पार लगा दें। एक वैद्य ओषधियों को सम्बोधन करता हुआ कहता है कि 'इस पुरुष को अवश्य नीरोग करना ही है'।

भावार्थ—कुछ औषध हमें ज्ञात हैं, बहुत-से अज्ञात हैं। कई अज्ञात औषधों को समय-प्रवाह में हम जान पाते हैं। इन सब औषधों के सम्यक् प्रयोग से रुग्ण पुरुष को रोग-कष्ट से मुक्त किया जाए।

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधय:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

व्रीहि: यव: (च)

अश्वत्थो दर्भो वीरुधां सोमो राजाऽमृतं हवि:।
व्रीहिर्यवश्च भेषजौ दिवस्पुत्रावमर्त्यौ॥ २०॥

१. **अश्वत्थ:**=पीपल, **दर्भ:**=कुशा घास, **वीरुधां राजा सोम:**=वीरुधों (बेलों) का राजा 'सोम'—ये तीनों **अमृतं हवि:**=अमृत हवि हैं-अमृत भोजन हैं (हु अदने)। इनका प्रयोग मनुष्य को मृत्यु (रोग) से बचाता है। २. **व्रीहि:**=चावल **यव: च**=और जौ ये दोनों तो **भेषजौ**=औषध ही हैं, **दिव: पुत्रौ**=(दिवु मदे) सब प्रकार के उन्माद से हमारा त्राण करनेवाले (पुनाति त्रायते) तथा **अमर्त्यौ**=रोगों के कारण हमें असमय में न मरने देनेवाले हैं।

भावार्थ—'अश्वत्थ, दर्भ, सोम, व्रीहि और यव' ये हमें नीरोग बनाकर दीर्घजीवन देनेवाले हैं।

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधय:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

पृश्निमातर: (ओषधी:)

उज्जिहीध्वे स्तनयत्यभिक्रन्दत्योषधी:।
यदा व: पृश्निमातर: पर्जन्यो रेतसाऽवति॥ २१॥

१. हे **पृश्निमातर:**=(पृश्नि—संस्प्रष्टा रसान्—नि०) रसों को अपने अन्दर ले-लेने में समर्थ पृथिवी माता से उत्पन्न **ओषधी:**=ओषधियो! **यदा**=जब **पर्जन्य:**=मेघ **स्तनयति**=गरजता है, **अभिक्रन्दति**=खूब ही ध्वनि करता है तब तुम **उज्जिहीध्वे**=ऊपर उठती हो—प्रसन्न होती हो। उस समय यह मेघ **व:**=तुम्हें **रेतसा**=उदक से—जल से **अवति**=प्रीणित करता है। २. मेघ का गर्जन मानो भूमि में प्रसुप्त ओषधियों को ललकारता है, तब वे ओषधियाँ भी अपना सिर ऊपर उठाती हैं। यह पर्जन्य उन-उन ओषधियों को वृष्टि-जल से प्रीणित करता है। पृथिवी इन ओषधियों की माता है तो मेघ इनका पितृ-स्थानीय होता है।

भावार्थ—भूमि में वृष्टि-जल में उत्पन्न हुई ओषधियाँ वस्तुत: ओषधियाँ हैं—ये हमारे शरीर में उत्पन्न दोषों का दहन करनेवाली हैं।

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधय:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

शतहायन:

तस्यामृतस्येमं बलं पुरुषं पाययामसि।
अथो कृणोमि भेषजं यथाऽसच्छतहायन:॥ २२॥

१. **तस्य अमृतस्य**=गतमन्त्र में वर्णित उस मेघ के अमृत (जल) के—उस जल से उत्पन्न **इमं बलम्**=(बल shoot, sprout) इस अंकुरभूत ओषध को **पुरुषं पाययामसि**=पुरुष को पिलाते

हैं। **अथो**=और इसप्रकार **भेषजं कृणोमि**=इसके रोगों की प्रतिक्रिया (चिकित्सा) करते हैं। **यथा**=जिससे कि यह पुरुष नीरोग रहता हुआ **शतहायनः असत्**=सौ वर्ष तक जीनेवाला हो।

भावार्थ—मेघजल से उत्पन्न औषध इस पुरुष को नीरोग व शतवर्ष के दीर्घजीवनवाला बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वराहः, नकुलः, सर्पाः, गन्धर्वाः

वराहो वेद वीरुधं नकुलो वेद भेषजीम्।
सर्पा गन्धर्वा या विदुस्ता अस्मा अवसे हुवे॥ २३॥

१. **वराहः**=सूकर (वरं वरं आहन्ति) **वीरुधं वेद**=रोगहारी वरणीय लताओं को जानता है। **नकुलः**=नेवला **भेषजं वेद**=रोग व विष दूर करनेवाली ओषधि को जानता है। **सर्पाः**=सर्प और **गन्धर्वाः**=गन्ध से अपने खाद्य पदार्थ को प्राप्त करनेवाले प्राणी **याः विदुः**=जिन औषधभूत वीरुधों को जानते हैं, **ताः**=उन्हें **अस्मै**=इस रुग्ण पुरुष की **अवसे**=प्राणरक्षा के लिए **हुवे**=पुकारता हूँ।

भावार्थ—'वराह, नकुल, सर्प व गन्धर्व' जिन मूल कन्दों को खोदकर भूपृष्ठ पर लाते हैं, वे अद्भुत औषध का कार्य करते हैं। रुग्ण पुरुष की प्राणरक्षा में ये बड़े सहायक होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**षट्पदाजगती** ॥

सुपर्णाः मृगाः

याः सुपर्णा आङ्गिरसीर्दिव्या या रघटो विदुः।
वयांसि हंसा या विदुर्याश्च सर्वे पतत्रिणः।
मृगा या विदुरोषधीस्ता अस्मा अवसे हुवे॥ २४॥

१. **याः**=जिन **आङ्गिरसीः**=अंगों में रस का संचार करनेवाली ओषधियों को **सुपर्णाः (विदुः)**=गरुड़ जानते हैं, **याः दिव्याः**=जिन दिव्य गुणोंवाली ओषधियों को **रघटः विदुः**=अति वेग से उड़नेवाले पंक्षी जानते हैं (रघु अटति)। **याः**=जिन औषधों को **वयांसि**=कौवे **हंसाः**=और हंस **विदुः**=जानते हैं, **याः च**=और जिन्हें **सर्वे पतत्रिणः**=पंखोंवाले सब प्राणी जानते हैं, **याः ओषधीः**=जिन ओषधियों को **मृगाः विदुः**=आरण्य हरिण आदि पशु जानते हैं, **ताः**=उन ओषधियों को **अस्मै**=इस पुरुष के लिए **अवसे हुवे**=रोगों से रक्षण के लिए पुकारते हैं।

भावार्थ—प्रभु ने पशु-पक्षियों में वह स्वाभाविक चेतना रक्खी है, जिससे वे अद्भुत ओषधियों को उपलब्ध कर पाते हैं। हम उन ओषधियों के समुचित प्रयोग से इस रुग्ण पुरुष को नीरोग बनानेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

गावः अजा अवयः

यावतीनामोषधीनां गावः प्राश्नन्त्यघ्न्या यावतीनामजावयः।
तावतीस्तुभ्यमोषधीः शर्म यच्छन्त्वाभृताः॥ २५॥

१. **यावतीनाम् ओषधीनाम्**=जितनी ओषधियों को **अघ्न्या गावः**=कभी भी न मारने योग्य गौएँ **प्राश्नन्ति**=खाती हैं **यावतीनाम् अजा अवयः**=जितनी ओषधियों को भेड़-बकरियाँ खाती हैं, **तावतीः**=उतनी, अर्थात् वे सब **ओषधीः**=ओषधियाँ **आभृताः**=आभृत हुई-हुई—समन्तात् धारण की हुई **तुभ्यम् शर्म यच्छन्तु**=तुझे सुख प्रदान करें।

भावार्थ—गौओं, भेड़ों व बकरियों से खाई जानेवाली ओषधियाँ हमारे लिए सुखकर हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥

विश्वभेषजीः (वीरुधः)

यावतीषु मनुष्या भेषजं भिषजो विदुः।
तावतीर्विश्वभेषजीरा भरामि त्वामभि॥ २६॥

१. **यावतीषु**=जितनी वीरुधों में **भिषजः मनुष्याः**=वैद्य लोग **भेषजं विदुः**=रोग की चिकित्सा करनेवाले औषध को जानते हैं, **तावतीः**=उतनी **विश्वभेषजीः**=सब रोगों का प्रतीकार करनेवाली वीरुधों को **त्वां अभि आभरामि**=तुझे चारों ओर से प्राप्त कराता हूँ।

भावार्थ—औषध-निर्माण के लिए साधनभूत सब लताएँ हमारे लिए सुलभ हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

संमातरः इव

पुष्पवतीः प्रसूमतीः फलिनीरफला उत। संमातरइव दुह्रामस्मा अरिष्टतातये॥ २७॥

१. **पुष्पवतीः**=पुष्पोंवाली **प्रसूमतीः**=सुन्दर कोंपलवाली, **फलिनीः**=फलवाली **उत**=और **अफलाः**=फलरहित सब ओषधियाँ **संमातरः इव**=सम्मिलित माताओं के समान **अस्मै अरिष्टतातये**=इस पुरुष के रोग-निवारणरूप कौशल के लिए **दुह्राम्**=रस का दोहन करें।

भावार्थ—विविध ओषधियाँ माताओं के समान हमारे लिए पुष्टिकर रस का दोहन करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भैषज्यं, आयुष्यं, ओषधयः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

पञ्चशलात् दशशलात्

उत्त्वाहार्षं पञ्चशलादथो दशशलादुत।
अथो यमस्य पड्बीशाद्विश्वस्माद्देवकिल्बिषात्॥ २८॥

१. **त्वा**=तुझे **पञ्चशलात्**=पाँच भूतों से बने इस शरीर में (शल गतौ) गति करनेवाले रोग से **उत आहार्षम्**=ऊपर उठाता हूँ, **अथो**=और अब इस नीरोग शरीर में **दशशलात् उत**=दस इन्द्रियों में गति करनेवाले शक्तिक्षीणतारूप दोष से भी ऊपर उठाता हूँ। २. **अथो**=अब **यमस्य पड्बीशात्**=यम के पादबन्धन से तुझे मुक्त करता हूँ—दीर्घजीवी बनाता हूँ और **विश्वस्मात्**=सम्पूर्ण **देवकिल्बिषात्**=देवों के विषय में किये गये पापों से भी तुझे ऊपर उठाता हूँ।

भावार्थ—हम शरीर व इन्द्रियों में स्वस्थ बनें। हमें अजितेन्द्रियता के कारण असमय की मृत्यु प्राप्त न हो। हम प्रभु की आज्ञा का उल्लंघन न करते हुए प्रभु के प्रिय बनें।

अपने को तपस्या की अग्नि में परिपक्व करनेवाला यह उपासक 'भृगु' कहलाता है—अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाला होने से 'अङ्गिराः' है, यही अगले सूक्त का ऋषि है।

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शक्रः, शूरः, पुरन्दरः

इन्द्रो मन्थतु मन्थिता शक्रः शूरः पुरन्दरः।
यथा हनाम सेना अमित्राणां सहस्रशः॥ १॥

१. **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला राजा **मन्थिता**=शत्रुओं का विलोडन करनेवाला होता है। यह **मन्थतु**=शत्रु-सैन्य का विलोडन (हिंसन) करे, **शक्रः**=शक्तिमान् हो, **शूरः**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाला हो, **पुरन्दरः**=शत्रुओं की पुरियों का विदारण करे। २. हे प्रभो! आप ऐसा

अनुग्रह करो **यथा**=जिससे कि **अमित्राणाम्**=शत्रुओं की **सहस्रशः सेनाः**=हज़ारों की सेनाओं को **हनाम**=हम नष्ट करनेवाले बनें।

भावार्थ—राजा शक्तिशाली हो, शत्रुओं को शीर्ण करनेवाला हो, शत्रु-दुर्गों का विध्वंस करे। शत्रु-सैन्यों का विलोडन करता हुआ शत्रुसैन्य का विध्वंस कर दे।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्बृहती** ॥

उपध्मानी पूतिरज्जुः

पूतिरज्जुरुपध्मानी पूतिं सेनां कृणोत्वमूम्।
धूममग्निं परादृश्याऽमित्रा हृत्स्वा दधतां भयम्॥ २॥

१. **उपध्मानी**=बड़े शब्द (विस्फोट) के साथ आग लगा देनेवाली, **पूतिरज्जुः**=दुर्गन्धयुक्त रस्सी (बारुद की बत्ती) **अमूम् सेनाम्**=इस शत्रु-सैन्य को **पूतिं कृणोतु**=दुर्गन्धि से तितर-बितर (पूतिः विशरणम्) कर दे। इस उपध्मानी पूतिरज्जु के **धूमं अग्निम्**=धूएँ व अग्नि को **परादृश्य**=दूर से ही देखकर **अमित्राः**=शत्रु **हृत्सु**=हृदयों में **भयं आ दधताम्**=भय धारण करें।

भावार्थ—विस्फोट के साथ जल उठनेवाली बारूद की बत्ती के प्रयोग से शत्रु तितर-बितर हो जाएँ। वे इसके धूएँ व अग्नि को दूर से ही देखकर भयभीत हो उठें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च** ॥ छन्दः—**विराड्बृहती** ॥

अश्वत्थ, खदिर, वधक

अमूनश्वत्थ निः शृणीहि खादामून्खदिराजिरम्।
ताजद्भङ्ग इव भज्यन्तां हन्त्वेनान्वधको वधैः॥ ३॥

१. हे **अश्वत्थ**=(अश्वे तिष्ठति) घुड़सवार सैनिक! **अमून्**=उन शत्रुओं को **निः शृणीहि**=निश्चितरूप से हिंसित करनेवाला बन। हे **खदिर** (खद् स्थैर्यहिंसयोः)=स्थिरता से शत्रुओं का हिंसन करनेवाले! **अमून्**=उन शत्रुओं को **अजिरम्**=शीघ्र ही **खाद**=खा जा—मार दे। ये शत्रु इसप्रकार **भज्यन्ताम्**=भाग खड़े हों—रण में इनका इसप्रकार भंग हो जाए, **इव**=जैसेकि **ताजद्भङ्गः**=(ताजत् क्षिप्रम्) शीघ्रता से टूट जानेवाला (ताजत् भङ्गो यस्य) सरकण्डा टूट जाता है। **एनान्**=रण में व्यस्त इन शत्रुओं को **वधकः**=शत्रु-वध करनेवाला **वधैः हन्तु**=वध-साधन आयुधों से नष्ट करे, तलवार आदि से उन्हें छिन्नमस्तक करे।

भावार्थ—अश्वत्थों, खदिरों व वधकों द्वारा शीघ्र ही शत्रुसैन्य का हिंसन किया जाए।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च** ॥
छन्दः—**बृहतीपुरस्तात्प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

परुषाह्व

परुषानमून्परुषाह्वः कृणोतु हन्त्वेनान्वधको वधैः।
क्षिप्रं शरइव भज्यन्तां बृहज्जालेन सन्दिताः॥ ४॥

१. **परुषाह्वः**=कठोर व भयंकर आह्वान (ललकारवाला) यह सेनापति **अमून् परुषान् कृणोतु**=उन कठोर शत्रुओं को भी हिंसित करनेवाला हो (कृणोति kills)। **वधकः**=शत्रु-वध करनेवाला यह सेनापति **एनान् वधैः हन्तु**=इन शत्रु-सैन्यों को वध-साधन आयुधों से नष्ट कर डाले। **बृहत् जालेन**=हमारे विशाल सैन्य जाल से **संदिताः**=बद्ध-से हुए-हुए ये शत्रु **क्षिप्रम्**=शीघ्र ही इसप्रकार **भज्यन्ताम्**=टूट जाएँ, **इव**=जैसेकि **शरः**=एक सरकण्डा टूट जाता है। इन शत्रुओं में जमकर लड़ने का सामर्थ्य न रहे और ये रणांगण से भाग खड़े हों। हमारा सैन्य-जाल इन्हें

इसप्रकार घेर-सा ले कि इनके सामने पराजय को स्वीकार करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग न रहे।

भावार्थ—सेनापति शत्रुवध करनेवाला हो। शत्रुओं को सैन्य-जाल से घेरकर शत्रुओं के घुटने टिकवा दे।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विशाल जाल (बृहज्जाल)

अन्तरिक्षं जालमासीज्जालदण्डा दिशो महीः।
तेनाभिधाय दस्यूनां शक्रः सेनामपावपत्॥ ५॥

अन्तरिक्षं जालम् आसीत्=इन्द्र (शक्र=सेनापति) का सैन्य-जाल इतना विशाल था कि मानो अन्तरिक्ष ही जाल था। **महीः दिशः जालदण्डाः**=ये महान् दिशाएँ ही उस जाल की दण्ड थी। **तेन**=उस महान् सैन्य-जाल से **अभिधाय**=बाँधकर **शक्रः**=इस शक्तिशाली सेनापति ने **दस्यूनां सेनाम्**=दस्युओं की सेना को **अपावपत्**=सुदूर खदेड़ दिया। शत्रु-सैन्य का छेदन-भेदन करके राष्ट्र-रक्षण करना ही तो इस शक्र का कर्त्तव्य है।

भावार्थ—सेनापति शक्तिशाली हो। वह अपने विशाल सैन्य-जाल से शत्रु-सैन्य को घेर कर छिन्न-भिन्न करनेवाला हो।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च** ॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः** ॥

पूर्ण शत्रु-पराजय

बृहद्धि जालं बृहतः शक्रस्य वाजिनीवतः।
तेन शत्रूनभि सर्वान्न्युब्ज यथा न मुच्यातै कतमश्चनैषाम्॥ ६॥

१. **वाजिनीवतः**=शक्तिशाली सैन्यवाले **शक्रस्य**=इस शक्तिशाली राजा का **जालम्**=सैन्य-जाल **हि**=निश्चय से **बृहतः बृहत्**=विशाल-से-विशालतर है। इसकी सेना इतनी बड़ी है जितनी बड़ी कि हो सकती है। **तेन**=उस सैन्य-जाल से **सर्वान् शत्रून्**=सब शत्रुओं को **अभि न्युब्ज**=झुका दे—पराजित कर दे—नीचे गिरा दे (bend, press down, throw down)। इनका इस सैन्य-जाल से इसप्रकार बन्धन करे कि **एषाम्**=इनमें से **कतमश्चन**=कोई भी **न मुच्यातै**=छूट न पाये। तेरा सैन्य-जाल सब शत्रुओं का बन्धन करनेवाला हो।

भावार्थ—शक्तिशाली सेनावाला यह राजा अपने विशाल सैन्य-जाल से शत्रु-सैन्य का अशेषेण पराजय करनेवाला हो।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च** ॥
छन्दः—**विपरीतपादलक्ष्माचतुष्पदाऽतिजगती** ॥

सहस्रार्घ, शतवीर्य

बृहत्ते जालं बृहत इन्द्र शूर सहस्रार्घस्य शतवीर्यस्य।
तेन शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदं जघान शक्रो दस्यूनामभिधाय सेनया॥ ७॥

१. हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले! **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक राजन्! **बृहतः**=बढ़ी हुई सैन्य-शक्तिवाले **सहस्रार्घस्य**=हज़ारों से पूज्य **शतवीर्यस्य**=सैकड़ों सामर्थ्योंवाले **ते**=तेरा **जालम्**=सैन्य-जाल **बृहत्**=विशाल है। **शक्रः**=शक्तिशाली सेनापति ने **सेनया**=अपनी सेना से **तेन**=उस जाल से **अभिधाय**=बाँधकर **दस्यूनाम्**=दस्युओं के **शतं सहस्रं अयुतं अर्बुदम्**=सौ, हज़ार, दस हज़ार व लाख सैनिकों को **नि जघान**=समाप्त कर दिया।

भावार्थ—राजा अपने सैन्य-जाल को विशाल बनाये। यह विजयी होता हुआ पूज्य व शक्तिशाली बने। शत्रु हज़ारों व लाखों हों तो भी इन्हें पराजित करनेवाला बने।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्बृहती** ॥

'महान् लोक' रूप जाल

अ॒यं लो॒को जाल॑मासीच्छ॒क्रस्य॑ मह॒तो म॒हान्।
तेना॒हमि॑न्द्रजा॒लेना॒मूंस्तम॑सा॒भि द॑धामि॒ सर्वा॑न्॥ ८ ॥

१. **अयम् महान् लोकः**=यह महान् लोक **महतः शक्रस्य**=महनीय (पूजनीय) शक्तिशाली प्रभु का **जालं आसीत्**=जाल है। इस जाल में फँसा हुआ व्यक्ति अपने स्वरूप को ही नहीं पहचान पाता—योगमाया से समावृत होने के कारण वह प्रभु जीव को दृष्टिगोचर नहीं होता। जीव का जीवन अन्धकारमय-सा बीत जाता है। २. इसी प्रकार एक राजा भी कहता है कि **अहम्**=मैं **तेन इन्द्रजालेन**=उस इन्द्रजाल से—शत्रु-विद्रावक सेनापति से संचालित सैन्यसमूह से **अमून् सर्वान्**=उन सब शत्रुओं को **तमसा अभिदधामि**=अन्धकार से बाँधता हूँ (Fasten, bind)। मेरे सैन्य से घिरे हुए शत्रु किंकर्त्तव्यविमूढ़-से हो जाते हैं—उन्हें कुछ सूझता ही नहीं।

भावार्थ—हमारे सैन्य-समूह से घिरे हुए शत्रु इसप्रकार से मूढ़-से हो जाएँ जैसेकि मायामय लोक से मूढ़ बने हुए मनुष्य अपने को ही नहीं पहचान पाते।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्बृहती** ॥

उग्रा सेदिः—मोहः

से॒दिरु॒ग्रा व्यृ॑द्धि॒रार्ति॑श्चानपवाच॒ना।
श्रम॑स्त॒न्द्रीश्च॒ मोह॑श्च॒ तैर॒मून॒भि द॑धामि॒ सर्वा॑न्॥ ९ ॥

१. **उग्रा सेदिः**=तीव्र महामारी आदि क्लेश (Exhaustion), **व्यृद्धिः**=निर्धनता (विगत ऋद्धि) **च**=और **अनपवाचना आर्तिः**=अकथनीय पीड़ा **श्रमः**=थकावट (Fatigue), **तन्द्रीः च मोहः च**=आलस्य और मूढ़ता, **तैः**=उन सब बातों से **अमून् सर्वान्**=उन सब शत्रुओं को मैं **अभिदधामि**=बाँधता हूँ—घेरता हूँ।

भावार्थ—हम शत्रुओं को ऐसे अस्त्रों से आक्रान्त करते हैं कि वे तीव्र महामारी आदि से पीड़ित होकर विनष्ट हो जाते हैं। इन्हें घेरकर ऐसी स्थिति में कर देते हैं कि ये अन्नादि के अभाव से भूखे मरने लगते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्बृहती** ॥

मृत्यु के 'अघ-ल' दूत

मृ॒त्यवे॒ऽमून्प्र य॑च्छामि मृत्युपा॒शैर॒मी सि॒ताः।
मृ॒त्योर्ये अ॑घ॒ला दू॒तास्तेभ्य॑ ए॒नान्प्रति॑ नयामि ब॒द्ध्वा॥ १० ॥

१. **अमून्**=उन शत्रुओं को **मृत्यवे प्रयच्छामि**=मृत्यु के लिए देता हूँ। **अमी**=वे शत्रु **मृत्युपाशैः सिताः**=मृत्यु के पाशों से बद्ध होते हैं। 'विषाद, दरिद्रता, पीड़ा, थकान, मूर्च्छा' आदि ही मृत्यु के पाश हैं, इनसे मैं इन शत्रुओं को बाँधता हूँ। २. **ये**=जो **मृत्योः**=मृत्यु का **अघलाः**=कष्ट प्राप्त करानेवाले **दूताः**=दूत हैं, **तेभ्यः**=उन रोग-विकारादि यमदूतों के लिए **एनान्**=इन शत्रुओं को **बद्ध्वा**=बाँधकर **प्रतिनयामि**=प्राप्त कराता हूँ।

भावार्थ—हम शत्रुओं को 'विषाद, दरिद्रता, पीड़ा' आदि मृत्यु के दूतों के लिए प्राप्त कराके नष्ट करते हैं।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च ॥ छन्दः—पथ्याबृहती ॥

मृत्युदूताः—यमदूताः

नयतामून्मृत्युदूता यमदूता अपोम्भत।
परःसहस्रा हन्यन्तां तृणेढ्वेनान्मत्यं भवस्य॥ ११ ॥

१. हे **मृत्युदूताः**='विषाद, पीड़ा' आदि मृत्युदूतो! **अमून् नयत**=इन शत्रुओं को ले-जाओ—विनष्ट कर दो। हे **यमदूताः**=यम (नियन्ता प्रभु) के 'आँधी, तूफान, अतिवृष्टि' रूप दूतो! **अप उम्भत**=(उंभ् to confine) उन्हें हमसे दूर बद्ध करो—ये शत्रु हमारे समीप न आ सकें। २. **परः सहस्राः**=ये हज़ारों शत्रु **हन्यन्ताम्**=मारे जाएँ। **एनान्**=इन शत्रुओं को **भवस्य**=सर्वोत्पादक प्रभु से प्राप्त कराई गई **मत्यम्**=तीव्र मानस पीड़ा (harrowing) **तृणेढु**=हिंसित करनेवाली हो।

भावार्थ—हमारे शत्रु आधिदैविक कष्टों से पीड़ित होकर हमसे दूर रहें। तीव्र मानस पीड़ाएँ उनके विनाश का कारण बनें।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च ॥ छन्दः—भुरिगनुष्टुप् ॥

'साध्य, रुद्र, वसु, आदित्य'

साध्या एकं जालदण्डमुद्यत्य यन्त्योजसा।
रुद्रा एकं वसव एकमादित्यैरेक उद्यतः॥ १२ ॥

१. **साध्याः**=साधनामय जीवनवाले लोग **एकं जालदण्डम्**=इस लोकरूप जाल के एक दण्ड को **उद्यत्य**=अपने से दूर (keep back, stop) करके **ओजसा यन्ति**=ओजस्विता के साथ गति करते हैं। **रुद्राः**=(रुत् द्र) रोगों को अपने से दूर करनेवाले—प्राणसाधना में प्रवृत्त लोग **एकम्**=इस लोकजाल के एक दण्ड को अपने से दूर करके गतिवाले होते हैं। इसी प्रकार **एकं वसवः**=एक दण्ड को वसु लोग—अपने निवास को उत्तम बनानेवाले लोग अपने से दूर करते हैं **एकः**=चौथा बचा हुआ एक जालदण्ड **आदित्यैः उद्यतः**=ऊँचे-से-ऊँचे ज्ञान व गुणों का आदान करनेवालों से दूर किया गया है। २. संसार जाल में 'साध्य, रुद्र, वसु व आदित्य' ही बद्ध नहीं होते। साधना की प्रवृत्ति से उत्तम जीवन का प्रारम्भ होता है। जीवन के उत्कर्ष के लिए रोग-विद्रावण आवश्यक है। अपने निवास को उत्तम बनाकर हम औरों को बसानेवाले (वासयन्ति इति वसवः) बनें। अधिक-से-अधिक ज्ञान व गुणों का ग्रहण करते हुए हम आदित्य हों, तभी हम इस संसार-जाल में फँसने से बच सकेंगे।

भावार्थ—हम 'साध्य, रुद्र, वसु व आदित्य' बनते हुए इस संसार में न फँसकर ओजस्विता के साथ आगे बढ़ें।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

विश्वेदेवाः—अङ्गिरसः

विश्वेदेवा उपरिष्टादुब्जन्तो यन्त्वोजसा।
मध्येन घ्नन्तो यन्तु सेनामङ्गिरसो महीम्॥ १३ ॥

१. **विश्वेदेवाः**=देववृत्ति के सब पुरुष **उपरिष्टात्**=ऊपर से—विषयों से ऊपर उठने की वृत्ति से **उब्जन्तः**=इन वासनारूप शत्रुओं को पादाक्रान्त (subdue, press down) करते हुए—दबाते हुए **ओजसा यन्तु**=ओजस्विता के साथ आगे बढ़ें। २. **अङ्गिरसः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाले ये प्रगतिशील पुरुष (अगि गतौ) **मध्येन**=मध्यमार्ग को अपनाने के द्वारा—'अति' से बचने के द्वारा **महीं सेनाम्**=इन वासनारूप शत्रुओं की महती सेना को **घ्नन्तः**=नष्ट करते हुए **यन्तु**=आगे बढ़ें।

भावार्थ—वासनारूप शत्रुओं को पादाक्रान्त करके ही हम 'देव' बनेंगे और मध्य-मार्ग को अपनाने के द्वारा वासनारूप शत्रु-सैन्य को कुचलकर 'अङ्गिरस' बन पाएँगे।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सेना के लिए आवश्यक पदार्थों का जुटाना

वनस्पतीन्वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः।
द्विपाच्चतुष्पादिष्णामि यथा सेनाममूं हनन्॥ १४॥

१. **वनस्पतीन्**=बिना पुष्प के फलवाली वनस्पतियों को, **वानस्पत्यान्**=पुष्पों से फलवाले वानस्पत्यों को **ओषधीः**=फलपाकान्त धान्य आदि को, **उत**=और **वीरुधः**=वीरुधों को—बेलों को, इनके अतिरिक्त **द्विपात्**=दो पाँववाले मनुष्यों को तथा **चतुष्पात्**=बैल-घोड़े आदि पशुओं को इसप्रकार **इष्णामि**=शीघ्रता से यथास्थान पहुँचाता हूँ, **यथा**=जिससे **अमूं सेनाम्**=उस शत्रुसेना को ये **हनन्**=मारनेवाले हों। २. अपनी सेना को आवश्यक पदार्थ प्राप्त न होंगे तो सैनिकों में शत्रुओं से लड़ने का उत्साह मन्द पड़ जाएगा। उस स्थिति में शत्रुसैन्यविध्वंस की बात तो दूर रही, यही भय रहेगा कि अपनी सेना में ही कुछ उपद्रव न खड़ा हो जाए।

भावार्थ—सेना को खान-पान के व अन्य सब साधन प्राप्त कराने आवश्यक हैं। उनके अभाव में सैनिकों के उत्साह में कमी होगी और वे शत्रुसैन्य को पराजित न कर पाएँगे।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गन्धर्व, अप्सरस्, सर्प, देव, पुण्यजन, पितर

गन्धर्वाप्सरसः सर्पान्देवान्पुण्यजनान्पितॄन्।
दृष्टानदृष्टानिष्णामि यथा सेनाममूं हनन्॥ १५॥

१. **गन्धर्वान्**=(गां धारयन्ति) पृथिवी का धारण करनेवाले 'पदातियों, रथियों व घुड़सवारों' को **अप्सरसः**=जल में विचारनेवाले नौसैनिकों (Navy) को, **सर्पान्**=भूमि पर पेट के बल आगे बढ़नेवाले सैनिकों को, **देवान्**=विजिगीषुओं को, **पुण्यजनान्**=धार्मिक प्रवृत्ति के लोगों को, **पितॄन्**=प्रेरणा देनेवाले पितरों को **दृष्टान्**=देखे हुए, अर्थात् परीक्षित रणकुशल पुरुषों को तथा **अदृष्टान्**=अपरीक्षित नव सैनिकों को भी **इष्णामि**=इसप्रकार प्रेरित करता हूँ, **यथा**=जिससे **अमूं सेनाम्**=उस शत्रुसैन्य को ये सब **हनन्**=मारनेवाले हों।

भावार्थ—मैं जल, थल के सभी सैनिकों को इसप्रकार प्रेरित करता हूँ, जिससे वे शत्रुसैन्य का विध्वंस करनेवाले हों।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मृत्युपाश

इम उप्ता मृत्युपाशा यानाक्रम्य न मुच्यसे।
अमुष्या हन्तु सेनाया इदं कूटं सहस्रशः॥ १६॥

१. **इमे**=ये **मृत्युपाशाः उप्ताः**=शत्रुसैन्य को मृत्यु प्राप्त करानेवाले पाश लगा दिये गये हैं, हे शत्रुसैन्य! **यान् आक्रम्य**=जिन पाशों पर पग रखकर तू **न मुच्यसे**=फिर छूट नहीं पाता, उस जाल में तू फँस ही जाता है। २. **इदं कूटम्**=यह जाल (trap) **अमुष्याः सेनायाः**=उस शत्रुसेना के **सहस्रशः हन्तु**=हज़ारों ही सैनिकों को नष्ट करनेवाला हो।

भावार्थ—भूमि पर इसप्रकार घातक प्रयोगों का जाल बिछाया जाए कि उसपर पग रखकर सहस्रशः शत्रु-सैन्य विध्वस्त हो जाए।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अयं होमः, सहस्रहः

घर्मः समिद्धो अग्निनायं होमः सहस्रहः।
भवश्च पृश्निबाहुश्च शर्व सेनामुमूं हतम्॥ १७॥

१. **घर्मः**=कुण्ड (cauldron) **अग्निना समिद्धः**=अग्नि से दीप्त हो उठा है—कुण्ड में अग्नि सम्यक् प्रज्वलित हो गई है। **अयं होमः**=ये होम **सहस्रहः**=हज़ारों रोगकृमियों का विनाशक है। २. हे **शर्वः**=शत्रुसंहारक प्रभो! **भवः च**=हमें जन्म देनेवाला पिता **च**=और **पृश्निबाहुः**=(पृश्नी a ray of light, बाहुः यस्य, बाहृ प्रयत्ने) ज्ञान-रश्मियों को प्राप्त कराने में प्रयत्न है जिसका ऐसा आचार्य—ये दोनों ही **अमूं सेनाम्**=उस शत्रुभूत वासना-सैन्य का **हतम्**=विनाश करें।

भावार्थ—घर में अग्निहोत्र होने से रोगकृमियों का विनाश होता है तथा पिता, माता व आचार्य वासनात्मक वृत्तियों का विनाश करते हैं। उचित शिक्षण के द्वारा वे हममें वासनाओं को नहीं पनपने देते।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

क्षुधं, सेदिं, वधं, भयम्

मृत्योराषमा पद्यन्तां क्षुधं सेदिं वधं भयम्।
इन्द्रश्चाक्षुजालाभ्यां शर्व सेनामुमूं हतम्॥ १८॥

१. हमारे शत्रु **मृत्योः आषम्**=(अष् दीप्तौ) मृत्यु की दीप्त ज्वाला को **आ पद्यन्ताम्**=प्राप्त हों। **क्षुधम्**=भूख को, **सेदिम्**=विनाशक महामारी को, **वधम्**=वध को, **भयम्**=भय को—ये प्राप्त हों। हे **शर्व**=शत्रुसंहारक प्रभो! आप **इन्द्रः च**=और शत्रुविद्रावक राजा **अक्षुजालाभ्याम्**=(अक्षुः=a kind of net) बन्धनों व जालों से **अमूं सेना हतम्**=उस शत्रु-सैन्य को विनष्ट करें।

भावार्थ—प्रभु से शक्ति प्राप्त करके राजा शत्रुसैन्य के संहार में समर्थ हो। वह शत्रुसैन्य में भुखमरी, महामारी, वध व भय उत्पन्न करके उसका विनाश करे।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च** ॥ छन्दः—**पुरस्ताद्विराड्बृहती** ॥

'बृहस्पतिप्रणुत्त' शत्रु

पराजिताः प्र त्रसतामित्रा नुत्ता धावत ब्रह्मणा।
बृहस्पतिप्रणुत्तानां मामीषां मोचि कश्चन॥ १९॥

१. हे **पराजिताः**=पराजित हुए-हुए **अमित्राः**=शत्रुओ! तुम **प्रत्रसत**=भयभीत हो उठो। **ब्रह्मणा**=ज्ञान से **नुत्ताः**=दूर धकेले हुए तुम **धावत**=भाग जाओ। **बृहस्पतिप्रणुत्तानाम्**=बृहस्पति—ज्ञानपूर्वक धकेले हुए **अमीषाम्**=उन शत्रुओं का **कश्चन**=कोई भी **मा मोचि**=न छूट जाए। २. अध्यात्म में वासनारूप शत्रु ज्ञानग्नि में दग्ध हो जाते हैं।

भावार्थ—ज्ञान के द्वारा हम वासनारूप शत्रुओं का पराजय करें। ये शत्रु ज्ञानाग्नि में दग्ध हो जाते हैं। ज्ञान के सामने वासना नहीं ठहरती।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च** ॥ छन्दः—**निचृत्पुरस्ताद्बृहती** ॥

भयभीत शत्रु

अव पद्यन्तामेषामायुधानि मा शकन्प्रतिधामिषुम्।
अथैषां बहु बिभ्यतामिषवो घ्नन्तु मर्मणि॥ २०॥

१. भय के कारण **एषाम्**=हमारे शत्रुओं के **आयुधानि**=अस्त्र-शस्त्र **अवपद्यन्ताम्**=नीचे गिर जाएँ। ये **इषुं प्रतिधां मा शकन्**=बाण को धनुष् पर धारण करने में समर्थ न हों। **अथ**=अब **इषवः**=हमारे बाण **बहु बिभ्यताम्**=बहुत भयभीत हुए-हुए **एषाम्**=इनके **मर्माणि घ्नन्तु**=मर्मस्थलों को हिंसित करनेवाले हों।

भावार्थ—हमसे शत्रुसैन्य इसप्रकार भयभीत हो उठें कि उनके हाथों के अस्त्र नीचे गिर जाएँ। वे धनुष् पर बाण धारण करने में समर्थ न हों। हमारे बाण इन भयभीत शत्रुओं को मर्माहित करनेवाले हों।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मिथो विघ्नाना उपयन्तु मृत्युम्

सं क्रोशतामेनान्द्यावापृथिवी समन्तरिक्षं सह देवताभिः।
मा ज्ञातारं मा प्रतिष्ठां विदन्त मिथो विघ्नाना उप यन्तु मृत्युम्॥ २१ ॥

१. **द्यावापृथिवी**=द्युलोक और पृथिवीलोक **एनान् संक्रोशताम्**=इनकी निन्दा करें। **देवताभिः सह**=सब देवों के साथ **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष **सम्**=इनकी निन्दा करे। **ज्ञातारं मा विदन्त**=ये ज्ञानी को प्राप्त न करें, **मा प्रतिष्ठाम्**=ये प्रतिष्ठा को भी प्राप्त न हों, **मिथः विघ्नानाः**=परस्पर लड़ते हुए **मृत्युं उपयन्तु**=मृत्यु को प्राप्त करें।

भावार्थ—आपस में लड़ते हुए व्यक्ति लोकत्रयी में निन्दित होते हैं। इन्हें ज्ञानियों के सम्पर्क की रुचि नहीं होती। ये सब प्रतिष्ठा को खो बैठते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च** ॥
छन्दः—**२२ चतुष्पदाशक्वरी, २३ उपरिष्टाद्बृहती** ॥

देवरथ

दिशश्चतस्रोऽश्वतर्यो देवरथस्य पुरोडाशाः शफा अन्तरिक्षमुद्धिः।
द्यावापृथिवी पक्षसी ऋतवोऽभीशवोऽन्तर्देशाः किंकरा वाक्परिरथ्यम्॥ २२ ॥
संवत्सरो रथः परिवत्सरो रथोपस्थो विराडीषाग्नी रथमुखम्।
इन्द्रः सव्यष्ठाश्चन्द्रमाः सारथिः॥ २३ ॥

१. वे महेन्द्र (प्रभो) जब इस विश्वरूप त्रिपुर का विजय करते हैं तब **देवरथस्य**=उस विजेता प्रभु के रथ (ब्रह्माण्डरूप रथ) की **चतस्रः दिशः**=चारों दिशाएँ **अश्वतर्यः**=चार घोड़ियों के समान हैं। **पुरोडाशाः**=यज्ञ में डाले जानेवाले चरुद्रव्य **शफाः**=घोड़ियों के खुर हैं। **अन्तरिक्षं उद्धिः**=अन्तरिक्ष अक्षों के ऊपर का भाग है (the part which rests on the axles)। **द्यावापृथिवी**=द्युलोक और पृथिवीलोक **पक्षसी**=दोनों पासे हैं। **ऋतवः अभीशवः**=ऋतुएँ रासें (लगाम) हैं। **अन्तर्देशाः**=बीच के प्रदेश या लोक **किंकराः**=रथ में पीछे खड़े होनेवाले चाकर हैं। **वाक्**=वाणी **परिरथ्यम्**=रथचक्र परिधि है। २. **संवत्सरः**=वर्ष **रथः**=रथ है, **परिवत्सरः**=(सूर्य=परिवत्सरः—ता० १७.१३.१७) सूर्य **रथोपस्थः**=रथ में बैठने का स्थान (seat) है, **विराट्**=ब्रह्मा की प्रथम सन्तानभूत 'समष्टि बुद्धि', **ईषा**=युगदण्ड है। **अग्निः रथमुखम्**=अग्नि रथ का अग्रभाग है। **इन्द्रः**=मेघ (cloud) **सव्यष्ठाः**=वाम् पार्श्व में बैठनेवाला है और **चन्द्रमाः सारथिः**=चन्द्रमा सारथि है।

भावार्थ—मन्त्र वर्णित 'देवरथ' पर आरूढ़ होकर प्रभु त्रैलोक्य पर विजय कर रहे हैं। हम भी इस देवरथ के अनुकरण में इस शरीर को रथ बनाएँ और उसपर आरूढ़ होकर विजयी बनें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः, वनस्पतिः, परसेनाहननं च** ॥
छन्दः—**त्रिष्टुबुष्णिग्गर्भापराशक्वरीपञ्चपदाजगती** ॥

नील-लोहितेन

इतो जयेतो वि जय सं जय जय स्वाहा। इमे जयन्तु परामी जयन्तां स्वाहैभ्यो दुराहाऽमीभ्यः। नीललोहितेनामूनभ्यवतनोमि॥ २४॥

१. हे पुरुष! **इतः जय**=इधर जय प्राप्त कर, **इतः विजय**=इधर विजय प्राप्त कर। **संजय**=सम्यक् विजय प्राप्तकर, **जय**=विजयी ही हो, **स्वाहा**=इसके लिए तू (सु आ हा) अपना समन्तात् त्याग करनेवाला बन। २. **इमे जयन्तु**=ये हमारे वीर विजयी हों, **अमी पराजयन्ताम्**=वे शत्रु लोग पराजित हों। **एभ्यः स्वाहा**=इन हमारे वीरों के लिए (सु आह) उत्तम यश के शब्द उच्चरित हों। **अमीभ्यः दुराहा**=उन शत्रुओं के लिए अपकीर्ति हो। **अमून्**=उन शत्रुओं को **नीललोहितेन**=नीले रुधिर से **अभ्यवतनोमि**=आच्छादित कर देता हूँ—भय के कारण शत्रुओं का रक्त नीला पड़ जाता है।

भावार्थ—स्वार्थ-त्याग करते हुए हम शत्रुओं पर पूर्ण विजय प्राप्त करें। शत्रु पराजित हों—अपकीर्ति को प्राप्त हों, भय से उनका रुधिर नीला पड़ जाए।

शत्रुओं पर विजय प्राप्त करनेवाला यह साधक 'अथर्वा' बनता है—न डाँवाडोल वृत्तिवाला। यह ज्ञानी बनता है, 'कश्यपः' नामवाला होता है—तत्त्व का द्रष्टा (पश्यकः)। यही अगले सूक्त का ऋषि है। सूक्त का देवता 'विराट्' है—विशिष्ट दीप्तिवाला प्रभु। इसके विषय में प्रश्न करते हैं कि—

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वत्सौ

कुतस्तौ जातौ कतमः सो अर्धः कस्माल्लोकात्कतमस्याः पृथिव्याः। वत्सौ विराजः सलिलादुदैतां तौ त्वा पृच्छामि कतरेण दुग्धा॥ १॥

१. प्रभु विराट् हैं—विशिष्ट दीप्तिवाले हैं। प्रकृति सलिलरूप है—सत् है और सारा संसार इसमें लीन हुआ-हुआ है, जैसे बच्चा मातृगर्भ में। प्रकृति के इस रूप को 'आपः' भी कहा गया है। यह प्रारम्भ में सूक्ष्म जल-कणों के बादल की भाँति व्याप्त-सी हो रही है तभी इसे 'नभस्' (nebula) नाम भी दिया जाता है। प्रभु और प्रकृति इस चराचर जगत् के पिता व माता हैं। पञ्चभूतों से बना सम्पूर्ण जगत् जड़ है। इन्हीं पञ्चभूतों से बना शरीर जब आत्मा को प्राप्त होता है तब वह चेतन हो उठता है। शरीरधारी जीव चेतनजगत् कहाता है। यह चेतन व जड़ जगत् ही चराचर संसार है। २. मन्त्र के प्रश्न हैं कि **कुतः तौ जातौ**=वे 'जड़-चेतन' कहाँ से प्रादुर्भूत हो गये। **कतमः सः अर्धः**=कौन-सी वह (ऋधु वृद्धौ) ऋद्धिमान् सत्ता है, जिसने कि इन्हें जन्म दिया? **कस्मात् लोकात्**=किस (लोकृ दर्शने) प्रकाशमय सत्ता से और **कतमस्याः पृथिव्याः**=किस फैले हुए तत्त्व से (प्रथ विस्तारे) ये जड़-चेतन उत्पन्न हो गये? ३. इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **वत्सौ**=ये दोनों जड़-चेतनारूप वत्स (सन्तान) **विराजः**=उस विशिष्ट दीप्तिवाले प्रभु से तथा **सलिलात्**=सलिलरूप प्रकृति से **उत् एताम्**=उद्गत हुए। प्रश्नकर्ता पुनः पूछता है कि **तौ त्वा पृच्छामि**=उन दोनों वत्सों को लक्ष्य करके ही तुझसे पूछता हूँ कि **कतरेण दुग्धा**=इन दोनों में से किसने वेदवाणीरूप गौ का दोहन किया—प्रभु से दी गई वेदवाणी को कौन प्राप्त हुआ?

भावार्थ—प्रभु विराट् हैं, प्रकृति सलिलरूप से चारों ओर फैली हुई है। प्रभुरूप पिता प्रकृतिरूप माता में चराचर जगद्रूप दो वत्सों को जन्म देते हैं। इनमें से चेतन (चर) जीवरूप

वत्स प्रभु से वेदज्ञान प्राप्त करता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

त्रिभुज् योनि

यो अक्रन्दयत्सलिलं महित्वा योनिं कृत्वा त्रिभुजं शयानः।
वत्सः कामदुघो विराजः स गुहा चक्रे तन्व: पराचैः॥ २॥

१. प्रभु वे हैं **यः**=जोकि **महित्वा**=अपनी महिमा से **सलिलम्**=इस सलिलरूपा प्रकृति को **अक्रन्दयत्**=गर्जना-सी कराते हैं—इस अणु-समुद्ररूप प्रकृति में विक्षोभ पैदा करते हैं। वे प्रभु इस **त्रिभुजम्**=सत्त्व, रजस् व तमरूप त्रिगुणों का पालन करनेवाली प्रकृति को **योनिं कृत्वा**=घर-सा बनाकर **शयानः**=निवास कर रहे हैं। यह प्रकृति प्रभु की योनि है, प्रभु इसमें गर्भ धारण करते हैं, तब यह सम्पूर्ण संसार आविर्भूत होता है। २. यह जीव उस **कामदुघः**=सब कामनाओं को पूरण करनेवाले **विराजः**=विशिष्ट दीप्तिवाले प्रभु का **वत्सः**=वत्स है—पुत्र है। **सः**=वह वत्स (जीव) **पराचैः**=(परा अञ्च्) बहिर्गमनों से—प्रकृति के विषयों में फँसने से **तन्वः गुहा चक्रे**=शरीररूप संवरणों (hiding places) को उत्पन्न कर लेता है। यदि जीव विषयों में न भटके तो उसे पुनः इस तनुरूप गुहा में न आना पड़े।

भावार्थ—प्रभु प्रकृति को विक्षुब्ध करते हैं तभी सृष्टि उत्पन्न होती है। प्रभु इस त्रिगुणमयी प्रकृति को योनि बनाकर रह रहे हैं। जीव कामनाओं के पूरक विराट् प्रभु का वत्स है। यह विषयों में भटकने के कारण शरीररूप संवरणों (कैदखानों) को प्राप्त किया करता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः** ॥

त्रिगुणा प्रकृति के साथ चौथा प्रभु

यानि त्रीणि बृहन्ति येषां चतुर्थं वियुनक्ति वाचम्।
ब्रह्मैनद्विद्यात्तपसा विपश्चिद्यस्मिन्नेकं युज्यते यस्मिन्नेकम्॥ ३॥

१. **यानि त्रीणि**=जो ये प्रकृति के तीन 'सत्त्व, रज व तम' रूप गुण हैं ये **बृहन्ति**=(बृहि वृद्धौ) इस चराचर संसार के रूप में बढ़ते हैं। **येषां चतुर्थम्**=जिनका चौथा—इन तीनों गुणों से बनी प्रकृति को धारण करनेवाला चतुर्थ प्रभु **वाचम् वियुनक्ति**=वेदवाणी को जीवों के साथ जोड़ता है। वे प्रभु ही संसार का निर्माण करके जीवों के लिए ज्ञान देते हैं। २. **विपश्चित्**=ज्ञानी पुरुष को चाहिए कि **तपसा**=तप के द्वारा **एनत् ब्रह्म विद्यात्**=इस ब्रह्म को जाने, **यस्मिन्**=जिस ब्रह्म में **एकं युज्यते**='एक' इस संख्या का प्रयोग होता है, **यस्मिन् एकम्**=जिसमें 'एक' ही संख्या का प्रयोग होता है (**स एष एक एकवृदेकव**—अथर्व० १३.१.२०)।

भावार्थ—सत्त्व, रज व तमरूप प्रकृति के तीन गुण इस संसार के रूप में आते हैं। चौथा ब्रह्म जीवों के लिए वेदज्ञान देता है। वह ब्रह्म एक ही है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

संसार का निर्माण

बृहतः परि सामानि षष्ठात्पञ्चाधि निर्मिता।
बृहद् बृहत्या निर्मितं कुतोऽधि बृहती मिता॥ ४॥
बृहती परि मात्राया मातुर्मात्राधि निर्मिता।
माया ह जज्ञे मात्राया मायाया मातली परि॥ ५॥

१. '**अमोऽहमस्मि सा त्वं सा त्वमस्यमोऽहम्**' इस (पार० का० १ कं० ६।३) वाक्य

के अनुसार पुरुष स्त्री का द्वन्द्व 'साम' है। इन द्वन्द्वों के शरीर प्रभु ने पञ्चमहाभूतों के द्वारा बनाये (तं वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना)। **षष्ठात्**=उस छठे प्रभु के द्वारा **पञ्च सामानि**=पाँच स्त्री-पुरुषों के द्वन्द्वरूप शरीर—'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व निषाद' सभी द्वन्द्व **बृहतः परि**=(परि—from, out of) महाभूत (बृहत्=महान्) समाधि में से **अधिनिर्मिता**=बनाये गये। पाँच साम हैं, छठा इनका अधिष्ठाता प्रभु है। **बृहत्**=ये महाभूतसमूह **बृहत्या**=बृहती से—महत्तत्त्व से (प्रकृतेर्महान्) **निर्मितम्**=बनाया गया। अब प्रश्न होता है कि यह **बृहती**=महत्तत्त्व **कुतः**=कहाँ से **अधिमिता**=निर्मित हुआ? इस प्रश्न का उत्तर अगले मन्त्र में देते हैं कि—२. **बृहती**=महत्तत्त्व **मात्रायाः परि**=(मात्रा=matter=मूल प्रकृति) प्रकृति में से निर्मित हुआ। **मातुः**=इस निर्माता प्रभु की अध्यक्षता में **मात्रा अधिनिर्मिता**=('माता प्रजाता'=माता ने बच्चे को जन्म दिया) प्रकृति ने इस महत्तत्त्वरूप सन्तान को जन्म दिया। ३. 'इस संसार को बनाने के लिए प्रभु को प्रज्ञान कहाँ से उत्पन्न हुआ'? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि **माया**=प्रज्ञा **ह**=निश्चय से **मायायाः जज्ञे**=प्रज्ञा से ही प्रादुर्भूत हुई, अर्थात् 'प्रभु की प्रज्ञा कहीं और से उत्पन्न हो' ऐसी बात नहीं। प्रभु 'प्रज्ञानघन' ही हैं। **मायायाः**=इस प्रज्ञा के **परि मातली**=परे (beyond, more than) प्रभु हैं। प्रभु केवल सर्वज्ञ न होकर सर्वशक्तिमान् व सर्वैश्वर्यवान् भी हैं। 'माया व प्रज्ञा' प्रभु का एक रूप है। प्रभु उससे अधिक हैं। 'मातली' इन्द्र-सारथि कहलाता है। 'इन्द्र' जीव है, प्रभु इन जीवों को घुमा रहे हैं। जीवों के शरीररूप रथों के सञ्चालक प्रभु ही हैं।

भावार्थ—प्रभु ने पञ्चमहाभूतों से ब्राह्मण आदि पाँच वर्णों के स्त्री-पुरुषों के शरीरों के द्वन्द्वों का निर्माण किया है। ये महाभूत महत्तत्त्व से हुए। महत्तत्त्व प्रकृति से। प्रभु की अध्यक्षता में प्रकृति ने इन महत्तत्त्व आदि को जन्म दिया। प्रभु की प्रज्ञा किसी और से प्रादुर्भूत नहीं हुई। प्रभु केवल प्रज्ञानस्वरूप न होकर सर्वशक्तिमान् व सर्वेश्वर भी हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

वैश्वानर

वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि द्यौर्यावद्रोदसी विबबाधे अग्निः।
ततः षष्ठादामुतो यन्ति स्तोमा उदितो यन्त्यभि षष्ठमह्नः॥ ६॥

१. **वैश्वानरस्य**=सब नरों के हितकारी व सबका नयन करनेवाले प्रभु की **प्रतिमा**=माप (extent, measure) विस्तार वहाँ तक है, **यावत् उपरि द्यौः**=जहाँ तक ऊपर द्युलोक है। **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **रोदसी विबबाधे**=द्यावापृथिवी का आलोडन करनेवाले हैं। २. **ततः अमुतः षष्ठात्**=उस छठे (मन्त्र चार में) दूरतम (दूरात् सुदूरे) प्रभु से **स्तोमाः**=प्राण (शत० ८।४।१।३ प्राणा वै स्तोमाः) **आयन्ति**=चारों ओर आते हैं, अर्थात् दूर-से-दूर स्थित प्रभु सब प्राणियों में प्राणों का सञ्चार करते हैं। वे प्रभु जोकि **अह्नः**=(अहन्) कभी नष्ट होनेवाले नहीं, इन प्राणों को प्राप्त कराते हैं, और **इतः उत्**=यहाँ से ऊपर उठकर—शरीर से निकलकर **षष्ठं अभियन्ति**=ये प्राण पुनः उस छठे प्रभु की ओर चले जाते हैं।

भावार्थ—वैश्वानर प्रभु सर्वत्र व्याप्त हैं। प्रभु ही सर्वत्र प्राणों का सञ्चार करते हैं, और ये प्राण फिर—मृत्यु होने पर, प्रभु की ओर चले जाते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

वेदवाणी

षट् त्वा पृच्छाम ऋषयः कश्यपेमे त्वं हि युक्तं युयुक्षे योग्यं च।
विराजमाहुर्ब्रह्मणः पितरं तां नो वि धेहि यतिधा सखिभ्यः॥ ७॥

१. हे **कश्यप**=सर्वद्रष्टा प्रभो! **षट् त्वा**=पाँच सामों को (मन्त्र चार में) बनानेवाले छठे आपको **इमे ऋषयः**=ये ऋषि **पृच्छाम**=पूछते हैं। **त्वं हि**=आप ही **युक्तम्**=हमारे साथ सम्बद्ध इन बुद्धि आदि पदार्थों को **योग्यं च**=और जोड़ने योग्य ज्ञानादि को **युयुक्षे**=जोड़ते हैं। आप ही बुद्धि व ज्ञानादि देनेवाले हैं। २. (वाग्वै विराट्—शत० ३।५।१।३४) **विराजम्**=इन सब ज्ञानों का दीपन करनेवाली वेदवाणी को **ब्रह्मणः पितरम् आहुः**=ज्ञान का रक्षक कहते हैं। **ताम्**=उस वेदवाणी को हम **सखिभ्यः**=सखाओं के लिए **यतिधा**=जितने भी प्रकार से सम्भव हो **विधेहि**=धारण कीजिए—हमें वेदवाणी प्राप्त कराइए।

भावार्थ—ऋषि लोग प्रभु को जानने का प्रयत्न करते हैं। प्रभु ही बुद्धि व ज्ञान देनेवाले हैं। ज्ञान की रक्षिका वेदवाणी को प्रभु ही हमारे लिए सब प्रकार से प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि

यां प्रच्युतामनु यज्ञाः प्रच्यवन्त उपतिष्ठन्त उपतिष्ठमानाम्।
यस्या व्रते प्रसवे यक्षमेजति सा विराडृषयः परमे व्यो ऽ मन्॥ ८॥

१. प्रभु ने जीव के लिए वेदवाणी द्वारा ही यज्ञों का प्रतिपादन किया है, अतः वेदवाणी वह है **यां प्रच्युताम् अनु**=जिसके प्रच्युत (हमसे पृथक्) होने पर **यज्ञाः प्रच्यवन्ते**=यज्ञों का भी विलोप हो जाता है और **उपतिष्ठमानाम् (याम्) अनु**=जिसके उपासित होने पर **उपतिष्ठन्ते**=यज्ञ भी हमारे जीवन में उपस्थित रहते हैं। २. **यस्याः**=जिसके **व्रते**=व्रत में—नियमपूर्वक अध्ययन के पुण्यकार्य में, **प्रसवे**=जिसकी प्रेरणा में **यक्षं एजति**=वह उपासनीय प्रभु हमें प्राप्त होता है। **सा विराट्**=सब ज्ञानों में दीप्त होनेवाली वह वेदवाणी ही है। हे **ऋषयः**=ऋषयो! यह वेदवाणी **परमे व्योमन्**=(वि ओम् अन्) उस सर्वोत्कृष्ट प्रभु में है जिसने एक ओर प्रकृति 'वी' और दूसरी ओर जीव 'अन्' को आश्रय दिया हुआ है। वेदवाणी का मुख्य प्रतिपाद्य विषय प्रभु है। प्रभु के प्रतिपादन में जीव व प्रकृति का प्रतिपादन होता ही है।

भावार्थ—वेद अध्ययन के साथ ही यज्ञ चलते हैं—वेद अध्ययन विलुप्त हुआ तो यज्ञ भी विलुप्त हुए। इनकी प्रेरणा में ही हम प्रभु को प्राप्त करते हैं। वेदवाणी का मुख्य प्रतिपाद्य विषय प्रभु ही है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अभिरूपा विराट्

अप्राणैति प्राणेन प्राणतीनां विराट् स्वराजमभ्ये ऽ ति पश्चात्।
विश्वं मृशन्तीमभिरूपां विराजं पश्यन्ति त्वे न त्वे पश्यन्त्येनाम्॥ ९॥

१. यह वेदवाणी **अप्राणा**=प्राणधारण न करती हुई—जड़ होती हुई भी **प्राणतीनां प्राणेन एति**=प्राणधारण करनेवाली प्रजाओं के प्राणों के साथ ही आती है। प्रभु मनुष्य को प्राणित करते हैं और उसे वेदज्ञान प्राप्त कराते हैं। यह **विराट्**=विशिष्ट दीप्तिवाली वेदवाणी सम्पूर्ण पदार्थों का ज्ञान देती हुई **पश्चात्**=पीछे **स्वराजम् अधि एति**=उस स्वयं देदीप्यमान् प्रभु की ओर प्राप्त होती है, सम्पूर्ण पदार्थों के ज्ञान द्वारा इन पदार्थों में प्रभु की महिमा का दर्शन कराती है। इसप्रकार यह हमें प्रभु को प्राप्त करानेवाली होती है। २. **एनाम्**=इस **विश्वं मृशन्तीम्**=सम्पूर्ण संसार के पदार्थों का विवेचन करती हुई **अभिरूपाम्**=कमनीय (सुन्दर) **विराजम्**=दीप्त वेदवाणी को **त्वे पश्यन्ति**=कई देखते हैं—**त्वे न पश्यन्ति**=कई नहीं देखते। सात्त्विक वृत्तिवाले पुरुष इस वेदवाणी के भाव को समझ पाते हैं। वृत्ति के तामस् व राजस् होने पर इसका दर्शन सम्भव नहीं होता।

भावार्थ—'अभिरूपा विराट्' (कमनीय दीप्त) वेदवाणी सब पदार्थों का ज्ञान देती हुई प्रभु की महिमा का प्रतिपादन करती है। इसे सात्त्विक वृत्तिवाले पुरुष ही देख पाते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ब्रह्मा की पत्नी 'सरस्वती'

को विराजो मिथुनत्वं प्र वेद क ऋतून्क उ कल्पमस्याः।
क्रमान्को अस्याः कतिधा विदुग्धान्को अस्या धाम कतिधा व्युष्टीः॥ १०॥

१. **कः**=कौन—कोई बिरला ही **विराजः**=इस विशिष्ट दीप्तिवाली वेदवाणी के **मिथुनत्वम्**=प्रभु के साथ सम्पर्क को **प्रवेद**=जानता है। '**स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्ताम्**'—इन शब्दों में प्रभु जीव से कहते हैं कि 'मैंने यह वेदवाणीरूप माता तेरे सामने प्रस्तुत कर दी है। यह तुझे प्रेरणा देनेवाली हो'। इसप्रकार यह स्पष्ट है कि प्रभु हमारे पिता हैं तो ये वेदवाणी हमारी माता है। **कः ऋतून्**=कोई बिरला ही इसके प्रकाश को (ऋतु=light, splendour) देख पाता है, **उ**=और **कः**=कोई ही **अस्याः कल्पम्**=इसके पवित्र निर्देशों (law, sacred precept) को समझता है। २. **कः**=कोई विरल पुरुष ही **अस्याः**=इसके **क्रमात्**=सामर्थ्यों (power, strength) को जानता है, और यह भी कि **कतिधा विदुग्धान्**=कितने प्रकार से उन सामर्थ्यों का हममें प्रपूरण होता है। **कः**=कोई विरला ही **अस्याः**=इस वेदवाणी के **धाम्**=तेज को जानता है कि **कतिधा व्युष्टीः**=कितने प्रकार से इसके द्वारा अन्धकारों का विनाश होता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे पिता हैं, वेदवाणी हमारी माता है। वेदवाणी का प्रकाश हमें पवित्र कर्त्तव्यकर्मों का निर्देश करता है। यह हमें शक्ति प्रदान करती है और हमारे अज्ञानान्धकार को दूर करती है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**जगती**॥

प्रथमा जनित्री वेदवाणी

इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा।
महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्वधूर्जिगाय नवगज्जनित्री॥ ११॥

१. **इयं एव सा**=यही वह वेदवाणी है (विराट् है), **या**=जो **प्रथमा**=सर्वप्रथम—सृष्टि के आरम्भ में **व्यौच्छत्**=सब अज्ञानान्धकार का विवासन (निराकरण) करती है। **आसु**=इन **इतरासु**=सृष्टि के प्रारम्भ के बाद तत्त्वद्रष्टाओं से प्रतिपाद्य ज्ञान की वाणियों में **प्रविष्टा**=प्रविष्ट हुई-हुई यह वेदवाणी ही **चरति**=गतिवाली होती है। इन तत्त्वद्रष्टा पुरुषों की स्मृतियाँ श्रुतिमूलक ही होती हैं। २. **अस्यां अन्तः**=इस वेदवाणी में **महान्तः महिमानः**=महान् दीप्तियाँ व शक्तियाँ (glory, might, power) हैं। **वधूः**=वहन (धारण) करने योग्य यह वेदवाणी **जिगाय**=सब शत्रुओं पर विजय करती है—अन्धकार को दूर करके राक्षसी वृत्तियों का विनाश करती है। **नवगत्**=यह उस स्तुत्य प्रभु की ओर हमें ले-चलनेवाली है और **जनित्री**=सब सद्गुणों का हममें प्रादुर्भाव करनेवाली है।

भावार्थ—यह श्रुति (वेदवाणी) ही सर्वप्रथम हमारे अज्ञान को दूर करती है। श्रुतिमूलक स्मृतियाँ ही प्रामाणिक होती हैं। यह श्रुति 'शक्ति व दीप्ति' से हमें परिपूर्ण करती है। यह हमारे शत्रुओं का विनाश करती हुई सद्गुणों को हममें भरती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

वेदवाणी को अपनानेवाली प्रजाएँ

छन्दःपक्षे उषसा पेपिशाने समानं योनिमनु सं चरेते।
सूर्यपत्नी सं चरतः प्रजानती केतुमती अजरे भूरिरेतसा॥ १२॥

१. उल्लिखित वेदवाणी गायत्री आदि छन्दों में है। इन **छन्दःपक्षे**=(पक्ष परिग्रहे) छन्दों का परिग्रह करनेवाली पुरुष व स्त्रीरूप प्रजाएँ **उषसा**=(उष दाहे) अपने दोषों को दग्ध करनेवाली और **पेपिशाने**=अपने रूप को अति सुन्दर बनानेवाली होती हैं। ये प्रजाएँ उस **समानम्**=(सम आनयति) सम्यक् प्राणित करनेवाले **योनिम्**=सबके उत्पत्तिस्थान प्रभु की **अनु**=ओर **संचरेते**=सम्यक् गतिवाली होती हैं। २. ये प्रजाएँ **सूर्यपत्नी**=ज्ञानसूर्य का अपने अन्दर रक्षण करनेवाली, **प्रजानती**=प्रकृष्ट ज्ञानवाली, **केतुमती**=प्रशस्त बुद्धि-(intellect)-वाली **अजरे**=अजीर्ण शक्तिवाली व **भूरिरेतसा**=पालक व पोषक रेतःकणोंवाली होती हैं।

भावार्थ—वेदवाणी को अपनानेवालों के जीवन दग्धदोष व सुन्दर बनते हैं। ये प्रभु की ओर गतिवाले होते हैं। अपने अन्दर ज्ञानसूर्य का उदय करते हुए ये ज्ञानी, बुद्धिमान्, अजीर्ण व शक्तिशाली होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ऋतु+रेतस्

ऋतस्य पन्थामनु तिस्र आगुस्त्रयो घर्मा अनु रेत आगुः।
प्रजामेका जिन्वत्यूर्जमेका राष्ट्रमेका रक्षति देवयूनाम्॥ १३॥

१. **ऋतस्य पन्थाम् अनु**=ऋत के (ठीक समय व ठीक स्थान पर कार्य करने के) मार्ग पर चलने के पश्चात् **तिस्रः**=(तिस्रो देवीर्मयो भुवः—'इडा सरस्वती मही') तीन कल्याणकर दिव्य भावनाएँ 'इडा, सरस्वती और मही (भारती)' **आगुः**=प्राप्त होती हैं। 'इडा' प्रभु स्तवन की वाणी है, 'सरस्वती' विद्या है तथा 'मही वा भारती' शरीर का उचित भरण है। इन देवियों का आराधन मनुष्य को वासनाओं के आक्रमण से बचाकर शरीर में रेतस् के रक्षण के योग्य बनाता है। **रेतः अनु**=रेतस् का रक्षण होने पर **त्रयः घर्माः**=तीन यज्ञ—देवपूजा, संगतिकरण व दान **आगुः**=मानव-जीवन में प्राप्त होते हैं। २. **एका**=पूर्वोक्त तीन देवियों में से एक 'इडा'—प्रभु की स्तुतिवाणी **प्रजां जिन्वती**=प्रजा को उत्तम प्रेरणा (to impel) प्राप्त कराती है। घर में माता-पिता को प्रभुस्तवन में प्रवृत्त देखकर सन्तानों को उत्तम प्रेरणा मिलती है। **एका**=एक 'सरस्वती' **ऊर्जं** (जिन्वति)=शरीर में बल व प्राणशक्ति का सञ्चार करती है। **एका**=एक 'मही'—शरीरों के उचित पोषण की वृत्तिवाले **देवयूनाम्**=दिव्य गुणों को अपने साथ जोड़ने की कामनावाले युवकों के सहारे **राष्ट्रं रक्षति**=राष्ट्र का रक्षण करती है। राष्ट्र के व्यक्तियों के स्वस्थ व त्यागशील (देवो दानात्) होने पर राष्ट्र कभी शत्रुओं से पराजित नहीं होता।

भावार्थ—हम वेदोपदिष्ट ऋत के मार्ग पर चलते हुए 'प्रभुस्तवन, ज्ञान व शक्ति सम्भरण' को प्राप्त हों। शरीर में शक्ति का रक्षण करते हुए 'देवपूजा, संगतिकरण व दान की वृत्ति' वाले बनें। परिणामतः 'उत्तम सन्तानोंवाले, उत्तम प्राणशक्तिवाले व उत्तम राष्ट्रवाले' हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदाऽतिजगती** ॥

तुरीया स्थिति

अ॒ग्नी॒षोमा॑वदधु॒र्या तु॒रीयासी॑द्य॒ज्ञस्य॑ प॒क्षावृष॑यः क॒ल्पय॑न्तः।
गा॒य॒त्रीं त्रि॒ष्टुभं॒ जग॑तीमनु॒ष्टुभं॑ बृ॒हद॒र्की यज॑मानाय॒ स्व॑राभर॑न्तीम्॥ १४॥

१. जीवन एक यज्ञ है। इस यज्ञ की उत्तमता के लिए 'अग्नि और सोम' दोनों ही तत्त्व आवश्यक हैं। केवल अग्नितत्त्व जीवन को जलाता है। केवल सोमतत्त्व जीवन को एकदम ठण्डा कर देता है। दोनों का मिश्रण ही जीवन को रसमय व नीरोग बनाता है (आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म) और तभी ब्रह्म की भी प्राप्ति होती है। इसलिए **ऋषयः**=ऋषि लोग **अग्नीषोमौ**=अग्नि और सोमतत्त्वों को **यज्ञस्य पक्षौ**=जीवन यज्ञ के दो पक्षों के रूप में **कल्पयन्तः**=बनाते हुए उस स्थिति को **अदधुः**=धारण करते हैं, **या तुरीया आसीत्**=जो चतुर्थी है। 'जागरित, स्वप्न व सुषुप्ति' से ऊपर उठकर समाधि की स्थिति 'तुरीया' है। अग्नि व सोम का सम्मिश्रण ऋषियों को इस स्थिति में पहुँचने के योग्य बनाता है। २. यह वह स्थिति है जो **गायत्रीम्**=(गयाः प्राणाः तान्तत्रे) प्राणशक्ति का रक्षण करनेवाली है, **त्रिष्टुभम्**=(त्रिष्टुभ्) काम, क्रोध व लोभ के आक्रमण को रोक (stop) देनेवाली है, **जगतीम्**=लोकहित में प्रवृत्त करनेवाली है, **अनुष्टुभम्**=प्रतिदिन प्रभुस्तवन की वृत्तिवाली है, **बृहद् अर्कीम्**=प्रभु की महती पूजा है, तथा **यजमानाय**=अपने साथ 'अग्नि व सोम' का सङ्गतिकरण करनेवाले यजमान के लिए (यज् सङ्गतिकरणे) **स्वः आभरन्तीम्**=प्रकाश व सुख को प्राप्त करानेवाली है।

भावार्थ—हमें जीवन में 'अग्नि व सोम' (विद्या व श्रद्धा, शक्ति व शान्ति, उग्रता व शीतलता) दोनों तत्त्वों का समन्वय करते हुए समाधि की स्थिति में पहुँचने का प्रयत्न करना चाहिए। यह स्थिति ही हमें प्रकाश व सुख प्राप्त कराएगी।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पञ्च

पञ्च॒ व्यु॑ष्टी॒रनु॒ पञ्च॒ दोहा॒ गां पञ्च॑नाम्नीमृ॒तवोऽनु॒ पञ्च॑।
पञ्च॒ दिशः॑ पञ्चद॒शेन॒ क्लृ॒प्तास्ता एक॑मूर्ध्नीर॒भि लो॒कमेक॑म्॥ १५॥

१. **पञ्च व्युष्टीः** (उष दाहे) **अनु**=पाँच मलों के दहन के पश्चात्, अर्थात् पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के मल को दग्ध कर देने पर (प्राणायामैर्दहेद् दोषान्) **पञ्च दोहाः**=पाँचों ज्ञानों का हमारे जीवन में प्रपूरण होता है। निर्मल होकर ही ज्ञानेन्द्रियाँ अपने ज्ञान-प्राप्ति के कार्य को समुचित प्रकार से करती हैं। **पञ्च नाम्नीम्**=(पचि विस्तारे) सर्वव्यापक प्रभु के नामवाली **गां अनु**=वाणी के पीछे **पञ्च ऋतवः**=(ऋ गतौ) पाँचों कर्मेन्द्रियों के कार्य नियमित होते हैं—प्रभु-स्मरण के साथ समय पर पाँचों यज्ञ हमारे जीवन में स्थान पाते हैं। २. जिस समय ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान-प्राप्ति तथा कर्मेन्द्रियाँ यज्ञादि कर्मों को ठीक प्रकार से करती हैं, उस समय **पञ्चदशेन**=(आत्मा पञ्चदशः—तां० १९।११।३) 'पाँच प्राणों, पाँच ज्ञानेन्द्रियों व पाँच कर्मेन्द्रियों' के अधिष्ठाता जीव से **पञ्च दिशः क्लृप्ताः**=पाँचों दिशाएँ शक्तिशाली बनाई जाती हैं। यह उपासक 'प्राची, दक्षिणा, प्रतीची, उदीची व ध्रुवा' इन सब दिशाओं का अधिपति बनने का संकल्प करता है। **ताः**=वे पाँचों दिशाएँ **एकमूर्धनीः**=एक ऊर्ध्वादिग्रूप शिखरवाली होती हुई—इस साधक को ऊर्ध्वादिक् का अधिपति 'बृहस्पति' बनाती हुई **एकं लोकं अभि**=अद्वितीय प्रकाशमय ब्रह्मलोक की ओर ले-जाती हैं।

भावार्थ—हम १. प्राणायाम द्वारा पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के मलों का दहन करें, २. पाँचों कर्मेन्द्रियों से प्रभुस्मरणपूर्वक उत्तम कर्मों को करनेवाले बनें, ३. प्राची, दक्षिणा, प्रतीची, उदीची

व ध्रुवा' इन पाँचों दिशाओं के अधिपति बनते हुए 'ऊर्ध्वा' दिक् की ओर बढ़ें। अन्ततः प्रकाशमय ब्रह्मलोक को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

षट्

षड् जाता भूता प्रथमजर्तस्य षडु सामानि षडहं वहन्ति।
षड्योगं सीरमनु सामसाम षडाहुर्द्यावापृथिवीः षडुर्वीः॥ १६॥

१. **षट्**=छह **भूता**=(भू प्राप्तौ) ज्ञान प्राप्त करानेवाली पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा छठा मन **जाता**=प्रादुर्भूत हुए। ये छह **ऋतस्य**=ऋत के **प्रथमजा**=प्रथम प्रादुर्भाव हैं। प्रभु से ऋत का प्रादुर्भाव हुआ, ऋत से इन छह का प्रादुर्भाव हुआ अथवा प्रभु सत्यज्ञान का प्रथम प्रादुर्भाव करनेवाले हैं—सत्यज्ञान देनेवाले हैं। **उ**=और **षट्**=पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा छठा मन **सामानि**=(षोऽन्तकर्मणि) किसी भी वस्तु को समाप्ति तक ले-जानेवाले हैं, अर्थात् क्रियाओं को पूर्ण करनेवाले हैं। ये ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ तथा मन **षट् अहम्**=(अह व्याप्तौ) इन छह में व्याप्तिवाले प्रभु को **वहन्ति**=प्राप्त कराती हैं। जिस समय बुद्धि के साथ ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन के साथ कर्मेन्द्रियाँ स्थिर हो जाती हैं तब ये प्रभु को प्राप्त कराती हैं, उसी को 'परमा गति' कहते हैं। २. (**सेरं ह्येतद् यत् सीरम्। इरामेवास्मिन्नेतद् दधाति**' श० ७।२।२।२) **सीरम्**=यह शरीर जब **षट् योगम्**=इन छह के योग-(वृत्तिनिरोध)-वाला हो जाता है, तब **अनु सामसाम**=उस समय शान्ति-ही-शान्ति होती है। जब ये विषयों में भटकते हैं तभी अशान्ति का कारण बनते हैं। वृत्ति के शान्त होने पर **द्यावापृथिवीः**=ये द्युलोक व पृथिवीलोक **षट् आहुः**=उस पाँच भूतों के अधिष्ठाता छठे प्रभु को कहते हैं—उसकी महिमा का प्रतिपादन करते हैं। **उर्वीः**=ये विशाल लोक-लोकान्तर **षट्**=उस छठे प्रभु को ही कहते हैं—प्रभु की ही महिमा को दिखाते हैं।

भावार्थ—प्रभु ने पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ व बुद्धि को जन्म दिया, जिससे हम सत्यज्ञान प्राप्त कर सकें। प्रभु ने ही पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन को प्राप्त कराया, जिससे हम कर्मों को पूर्ण कर सकें। ये सब हमें उस प्रभु को प्राप्त करानेवाले होते हैं। जब ये विषयों में नहीं भटकते, तभी शान्ति होती है। उस समय ये द्यावापृथिवी तथा अन्य लोक-लोकान्तर प्रभु की महिमा को ही दिखाते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शीतान्+उष्णान्

षडाहुः शीतान्षडु मास उष्णानृतुं नो ब्रूत यतमोऽतिरिक्तः।
सप्त सुपर्णाः कवयो नि षेदुः सप्त च्छन्दांस्यनु सप्त दीक्षाः॥ १७॥

१. प्रभु ने संसार में इस काल-प्रवाह में जो ऋतुएँ बनाई हैं, उनमें **षट्**=छह **शीतान् मासः आहुः**=शीत मास कहाते हैं, **उ**=और **षट् उष्णान्** (आहुः)=छह गरमी के मास हैं। **ऋतुं नो ब्रूत**=उस ऋतु को हमें बतलाओ तो सही **यतमः अतिरिक्तः**=जो इनसे अतिरिक्त है। वास्तव में मूल तत्त्व दो ही हैं 'सरदी और गरमी'। मानव स्वभाव में ये ही 'आपः, ज्योतिः' कहलाते हैं। इन्हीं को यहाँ (९.१४) 'अग्नीषोमौ' शब्द से कहा है। मनुष्य इन दोनों तत्त्वों को धारण करता है तभी इनके समन्वय में उसका जीवन पूर्ण बनता है। २. इस पूर्ण-से जीवन में **सप्त**=सात **सुपर्णाः** (**कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्**)='दो कान, दो नासा-छिद्र, दो आँखें व मुख' रूप सात सुपर्ण=उत्तमता से पालन करनेवाली इन्द्रियाँ **कवयः**=(कुवन्ति सर्वाः विद्याः) सब विद्याओं का ज्ञान देती हुई **निषेदुः**=शिरोदेश में निषण्ण होती हैं। (कः सप्त खानि विततर्द शीर्षणि)—इन **सप्त छन्दांसि अनु**=पापों से बचानेवाली (छादयन्ति) इन्द्रियों के अनुसार **सप्त**

दीक्षाः=हम जीवनों में सात इन्द्रियों से सात व्रत ग्रहण करते हैं। इसप्रकार हम पुण्यकर्मों को ही करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—हम जीवन में अग्नि व सोमतत्त्व का समन्वय करें (गरमी+सरदी)। तब हमारी सातों ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान देती हुई हमें पापों से बचाएँगी और जीवन को व्रतमय बनाएँगी।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सप्त आज्यानि व सप्त गृध्राः

सप्त होमाः समिधो ह सप्त मधूनि सप्तर्तवो ह सप्त।
सप्ताज्यानि परि भूतमायन्ताः सप्तगृध्रा इति शुश्रुमा वयम्॥ १८॥

१. **'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे'** शरीर में सात ऋषि रक्खे गये हैं। इन ऋषियों के द्वारा इस जीवन में **सप्त होमाः**=सात होम सदा चलते हैं **'येन यज्ञस्तायते सप्तहोता'**। इन यज्ञों से उत्पन्न होनेवाली **समिधः**=दीप्तियाँ भी **ह**=निश्चय से **सप्त**=सात हैं। इन दीप्तियों के साथ **मधूनि सप्त**=सात माधुर्यों की जीवन में उत्पत्ति होती है और **ऋतवः ह सप्त**=सात ही नियमित गतियाँ (ऋ गतौ) होती हैं। २. वस्तुतः **सप्त आज्यानि**=सात जीवन को अलंकृत व दीप्त बनाने के साधन **भूतं परि आयन्**=प्राणि को प्राप्त हुए हैं। **ताः**=वे ही **सप्त गृध्राः**=सात गिद्ध हो जाते हैं, **इति वयं शुश्रुमः**=ऐसा हमने सुना है। प्रभु ने दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुखरूप सात ऋषि हमारे शरीर में रक्खे हैं। ये सात ऋषि हैं। ये ज्ञान का ग्रहण करते हुए जीवन को अलंकृत कर देते हैं, परन्तु जब हम विषयों से आकृष्ट होकर विषयों की ओर चले जाते हैं तब ये 'सात गृध्र' हो जाते हैं। जीवन को अलंकृत करने के स्थान में विषय-पङ्क से उसे मलिन कर डालते हैं।

भावार्थ—प्रभु की व्यवस्था से 'कानों, नासिका छिद्रों, आँखों व मन' द्वारा जीवन में सात होम चलते हैं। इनके द्वारा जीवन 'दीप्त, मधुर व नियमित गति' वाला बनता है। ये सात जीवन को दीप्त करने के साधन विषयाकृष्ट होकर 'सप्त गृध्र' बन जाते हैं—विषय-तृष्णा से बद्ध होकर ये जीवन को मलिन कर देते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अन्तःकरण व बहिरिन्द्रियाँ

सप्त च्छन्दांसि चतुरुत्तराण्यन्यो अन्यस्मिन्नध्यार्पितानि।
कथं स्तोमाः प्रति तिष्ठन्ति तेषु तानि स्तोमेषु कथमार्पितानि॥ १९॥

१. 'प्राणा छन्दांसि' कौ० ११.८ तथा 'प्राणा वै स्तोमाः' शत० ८.४.१.३ के अनुसार प्राणों को वैदिक साहित्य में 'छन्दस् व स्तोम' कहा गया है। ये कान आदि सप्त ऋषि मनुष्य को छादित (सुरक्षित) करने के व प्रभुस्तवन के साधन बनते हैं। **सप्त छन्दांसि**=सात छन्द 'शीर्षण्य प्राण' तो शरीर में हैं ही, **चतुः उत्तराणि**='मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार' इनसे ऊपर हैं। ये बहिरिन्द्रिय हैं, तो वे अन्तरिन्द्रिय। वस्तुतः ये **अन्यः अन्यस्मिन् अधि आर्पितानि**=एक-दूसरे में अर्पित हैं—एक-दूसरे से मिलकर ही ये कार्य करते हैं। २. प्रभु ने शरीर में यह भी एक अद्भुत व्यवस्था की है कि **कथम्**=किस अद्भुत प्रकार से **स्तोमाः**=प्राण **तेषु**=उन 'मन, बुद्धि' आदि में **प्रतितिष्ठन्ति**=प्रतिष्ठित हैं और **तानि**=वे 'मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार' भी **कथम्**=कैसे **स्तोमेषु**=उन प्राणों पर **आर्पितानि**=सर्वथा आश्रित हैं।

भावार्थ—प्रभु ने शरीर में कान आदि सात स्तोमों व छन्दों को स्थापित किया है तथा मन, बुद्धि आदि रूप अन्तःकरण चतुष्टय की स्थापना की है। ये शरीर में अन्योन्याश्रित-से हैं। एक-दूसरे से मिलकर ही ये अपना कार्य कर पाते हैं। यदि अन्तःकरण के बिना बहिरिन्द्रियों का

कार्य नहीं चलता तो बहिरिन्द्रियों के बिना अन्तःकरण भी व्यर्थ-सा हो जाता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

गायत्री, त्रिष्टुप्, जगती, अनुष्टुप्

कथं गायत्री त्रिवृतं व्या॑प कथं त्रिष्टुप्पञ्चदशेन कल्पते।
त्रयस्त्रिंशेन जगती कथमनुष्टुप्कथमेकविंशः॥ २०॥

१. **कथम्**=किस अद्भुत प्रकार से **गायत्री**=(गयाः प्राणाः, तान् तत्रे) प्राणों का रक्षण **त्रिवृतं व्याप**=(त्रिषु ज्ञानकर्मोपासनेषु वर्तते) ज्ञान, कर्म व उपासना में प्रवृत्त पुरुष को व्याप्त करता है। जो भी ज्ञान, कर्म व उपासना में प्रवृत्त होगा, वह प्राणशक्ति का रक्षण कर पाएगा। **कथम्**=किस अद्भुत प्रकार से **त्रिष्टुप्**=काम, क्रोध, लोभ का निरोध (त्रि+ष्टुप्) **पञ्चदशेन कल्पते**=(आत्मा पञ्चदशः तां० १९।११।३) आत्मा को सामर्थ्यवाला बनाता है। वस्तुतः 'काम, क्रोध, लोभ' का निरोध ही आत्मा को शक्तिशाली बनाता है। २. **त्रयस्त्रिंशेन**=तेतीस देवों को अपने में स्थापित करनेवाले साधक से **कथम्**=कैसे अद्भुत रूप में **जगती**=लोकहित का कार्य होता है, और **अनुष्टुप्**=प्रतिदिन प्रभुस्तवन करनेवाला **कथम्**=कैसे **एकविंशः**='पाँच भूत, पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय तथा इक्कीसवें सशक्त मन' वाला होता है। स्तोता के ये इक्कीस-के-इक्कीस तत्त्व बड़े ठीक रहते हैं, अतएव वह पूर्ण स्वस्थ होता है।

भावार्थ—'ज्ञान, कर्म व उपासन' में प्रवृत्त होकर हम प्राणों का रक्षण करें; काम, क्रोध, लोभ का निरोध करके आत्मा को प्रबल बनाएँ; अपने में दिव्य गुणों को धारण करके लोकहित में प्रवृत्त हों तथा प्रभुस्तवन करते हुए हम जीवन के धारक इक्कीस तत्त्वों को अपने में ठीक रक्खें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अष्ट

अष्ट जाता भूता प्रथमजर्तस्याष्टेन्द्रर्त्विजो दैव्या ये।
अष्टयोनिरदितिरष्टपुत्राष्टमीं रात्रिमभि हव्यमेति॥ २१॥

१. '**भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥**' के अनुसार **अष्ट भूता जाता**=आठ पदार्थ प्रकट हुए। ये **ऋतस्य प्रथमजा**=ऋत के प्रथम प्रादुर्भाव थे। प्रभु के दीप्त तप से ऋत का प्रादुर्भाव हुआ। ऋत से 'पञ्चभूतों, मन, बुद्धि व अहंकार' इन आठ का प्रादुर्भाव हुआ। हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! ये **अष्ट**=आठ वे हैं **ये**=जो **दैव्याः ऋत्विजः**=उस देव प्रभु के द्वारा जीवन-यज्ञ को चलाने के लिए उत्पादित किये गये हैं। 'पञ्चभूतों, मन, बुद्धि व अहंकार' को जीवन-यज्ञ के ऋत्विजों के रूप में देखने से जीवन कितना पवित्र बनता है! २. वस्तुतः यह **अदितिः**=अविनाशी प्रकृति **अष्टयोनिः**=इन आठ का घर है। ये आठों ऋत्विज् इस प्रकृतिरूप घर में ही रहते हैं। इसी से यह प्रकृति **अष्टपुत्रः**=इन आठ पुत्रोंवाली कहलाती है। '**रात्रिर्वै संयच्छन्दः**' य० १५।५ के अनुसार रात्रि संयच्छन्द है—संयम की प्रबल अभिलाषा से जब मनुष्य पृथिवी आदि का संयम करते हुए अन्ततः **अष्टमीं रात्रिम्**=अहंकार का आठवें स्थान में संयम करता है तब वह **हव्यं अभि एति**=उस अर्पणीय प्रभु को प्राप्त होता है। अहंकार का विजय करके ही हम प्रभु को प्राप्त होते हैं। यजुर्वेद २६.१ में '**अष्टमी भूतसाधनी**' ऐसा कहा है। यह अष्टमी जीवों को सिद्धि प्राप्त करानेवाली है।

भावार्थ—प्रभु ने ऋत का प्रादुर्भाव करके 'पञ्चभूतों, मन, बुद्धि व अहंकार' इन आठ का प्रादुर्भाव किया। ये आठ ही जीवन-यज्ञ के ऋत्विज् हैं। प्रकृति इन्हीं आठ पुत्रोंवाली है। मनुष्य एक-एक करके जब आठवें स्थान पर अहंकार पर भी विजय प्राप्त कर लेता है, तब

प्रभु को प्राप्त होता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**जगती**॥

समानजन्मा 'क्रतु'

इत्थं श्रेयो मन्यमानेदमागमं युष्माकं सख्ये अहमस्मि शेवा।
समानजन्मा क्रतुरस्ति वः शिवः स वः सर्वाः सं चरति प्रजानन्॥ २२॥

१. विराट् प्रभु कहते हैं कि **इत्थं श्रेयः मन्यमाना**='इसप्रकार कल्याण है', ऐसा मानता हुआ मैं **इदं आगमम्**=तुम्हारे जीवन-यज्ञ में आया हूँ। जब प्रभु उपस्थित रहते हैं, अर्थात् जब तक हम प्रभु को भूलते नहीं, तब तक जीवन पवित्र बना रहता है और अकल्याण का प्रसंग उपस्थित नहीं होता। **युष्माकं सख्ये**=तुम्हारी मित्रता में **अहं शेवा अस्मि**=मैं कल्याणकर हूँ। जब जीव प्रभु का मित्र बन जाता है तब प्रभु उसका कल्याण करते ही हैं। २. प्रभु कहते हैं कि यह **वः**=तुम्हारे **समानजन्मा**=जन्म के साथ ही उत्पन्न हुआ-हुआ **क्रतुः**=यज्ञ **शिवः अस्ति**=कल्याणकर है। **'सह यज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा'** प्रभु ने प्रजाओं को यज्ञ के साथ ही उत्पन्न किया है। ये यज्ञ 'कामधुक्' है, सब इष्ट कामनाओं को पूर्ण करनेवाला है। **सः**=वह यज्ञ **वः सर्वाः**=तुम सबका **प्रजानन्**=ध्यान करता हुआ **संचरति**=गतिवाला होता है। यह यज्ञ जीवनों को स्वर्गमय बना देता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे जीवन-यज्ञ में उपस्थित रहते हैं तो कल्याण-ही-कल्याण होता है। प्रभु ने इस यज्ञ को हमारे साथ ही उत्पन्न किया है। यह यज्ञ हमारा कल्याण करता है और हम सबका पालन करता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

इन्द्र, यम, ऋषि

अष्टेन्द्रस्य षड्यमस्य ऋषीणां सप्त सप्तधा।
अपो मनुष्या३नोषधीस्ताँ उ पञ्चानु सेचिरे॥ २३॥

१. **इन्द्रस्य अष्ट**=जितेन्द्रिय पुरुष के 'शरीर के उपादानभूत पाँचों भूतांशों तथा 'मन, बुद्धि व अहंकार' को **यमस्य षट्**=संयत जीवनवाले पुरुष के पाँचों ज्ञानेन्द्रियों व मन को, **ऋषीणाम्**=(ऋष् to kill) वासनाओं का संहार करनेवाले पुरुषों के **सप्तधा सप्त**=सात-सात प्रकार से विभक्त होकर कार्य करनेवाले, अर्थात् उनचास मरुतों (प्राणों) को **पञ्च अनुसेचिरे**=पाँचों तत्त्व (पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश) अनुकूलता से समवेत होते हैं, परिणामतः इन्द्र के आठ, यम के छह तथा ऋषियों के ये उनचास पदार्थ ठीक बने रहते हैं, अपना-अपना कार्य ठीक प्रकार से करते हैं। २. **उ**=और **अपः मनुष्यान् ओषधीः**=उन मनुष्यों को जिनमें कि एक ओर जल हैं (अपः) और दूसरी ओर ओषधियाँ, **तान्**=उन्हें **उ**=भी ये पाँच अनुकूलता से सेवन करनेवाले होते हैं। मनुष्य का खान-पान यदि जल व ओषधियाँ ही रहें तो पाँचों तत्त्वों के ठीक रहने से उसका स्वास्थ्य ठीक बना रहता है। यहाँ वेद ने मनुष्य को बड़ी सुन्दरता से संकेत किया है कि जल तेरे दक्षिण हस्त में हो तो ओषधियाँ वाम हस्त में, अर्थात् तुझे पानी पीना है और वानस्पतिक भोजन का ही सेवन करना है। अन्यत्र यही भाव **'पयः पशूनां रसमोषधीनाम्'** इन शब्दों में व्यक्त किया गया है कि तुझे पशुओं का दूध ही लेना है, मांस नहीं।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय (इन्द्र), नियन्त्रित जीवनवाले (यम) व वासनाओं का संहार करनेवाले (ऋषि) बनें। जलों व ओषधियों से ही शरीर का पोषण करें, मांस से नहीं। ऐसा होने पर हमें पञ्चभूतों की अनुकूलता से पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त होगा।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

देव, मनुष्य, असुर, ऋषि

केवलीन्द्राय दुदुहे हि गृष्टिर्वशं पीयूषं प्रथमं दुहाना।
अथातर्पयच्चतुरश्चतुर्धा देवान्मनुष्याँ३ असुरानुत ऋषीन्॥ २४॥

१. वेदवाणी 'केवली' है (के+वल्) आनन्दमय प्रभु में विचरण करनेवाली है। यह **इन्द्राय दुदुहे**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए दुही जाती है। **हि**=निश्चय से **गृष्टिः**=यह वेदवाणीरूप सकृत् प्रसूता गौ—सृष्टि के प्रारम्भ में जिसका एक बार ही ज्ञान दे दिया जाता है, वह वेदधेनु **वशम्**=कमनीय—चाहने योग्य, **प्रथमम्**=सर्वोत्कृष्ट व विस्तृत **पीयूषम्**=ज्ञानामृत का **दुहाना**=प्रपूरण करती है। २. **अथ**=अब यह **देवान् मनुष्यान् असुरान् उत ऋषीन्**=देव, मनुष्य, असुर और ऋषि इन **चतुः**=चारों को **चतुर्धा अतर्पयत्**=चार प्रकार से तृप्त करती है। ब्रह्मचर्याश्रम में विचरनेवाले—ज्ञान की स्पर्धा में एक-दूसरे से आगे बढ़ने की भावनावाले विजिगीषु (दिव् विजिगीषायाम्) ब्रह्मचारियों को प्रकृतिज्ञान (ऋग्वेद द्वारा) देती हुई प्रीणित करती है। गृहस्थ में मननपूर्वक कर्म करनेवाले मनुष्यों को (यजुर्वेद के द्वारा) कर्तव्य-कर्मों का उपदेश देती हुई तृप्त करती है। अब प्राणसाधना में प्रवृत्त (असुषु रमन्ते) वानप्रस्थों को (सामवेद द्वारा) प्रभु के उपासन में प्रवृत्त करती हुई आनन्दित करती है तथा अन्ततः सब वासनाओं का संहार करनेवाले ऋषिभूत संन्यासियों को यह ब्रह्मवेद (अथर्ववेद) के द्वारा ब्रह्म के समीप प्राप्त कराती है, तब यह संन्यस्त वाचस्पति बनकर नीरोग व निर्द्वन्द्व बनता है—लोगों को भी यह ऐसा बनने का ही उपदेश करता है।

भावार्थ—प्रभु के द्वारा सृष्टि के आरम्भ में जिसका ज्ञान दिया गया है, वह वेदवाणी हमें 'कमनीय, व्यापक, अमृतमय' ज्ञान प्राप्त कराती है। यह हमें 'देव, मनुष्य, असुर (प्राणसाधक) व ऋषि' बनाती हुई सफल जीवनवाला करती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'एकवृत्' यक्ष

को नु गौः क एकऋषिः किमु धाम का आशिषः।
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुः कतमो नु सः॥ २५॥
एको गौरेक एकऋषिरेकं धामैकधाशिषः।
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुर्नाति रिच्यते॥ २६॥

१. **कः**=कौन **नु**=निश्चय से **गौः**=संसार-शकट का खेंचनेवाल बैल (अनड्वान्) है? **कः**=कौन **एकः**=अद्वितीय **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा है, **उ**=और **किं धाम**=कौन तेज है? **काः आशिषः**=(आशास् to order, to command) कौन-सी शासक शक्तियाँ हैं। **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर **यक्षम्**=सबका संगतिकरण करनेवाला—सब पदार्थों को एक सूत्र में पिरोनेवाला **एकवृत्**=अकेला ही होनेवाला **एकर्तुः**=अकेला ही गति देनेवाला (ऋ गतौ), **सः**=वह **कतमः नु**=निश्चय ये कौन-सा है? २. उत्तर देते हुए कहते हैं कि—**एकः गौः**=वह संसार शकट का वहन करनेवाला अनड्वान्=अद्वितीय प्रभु ही है। **एकः एकऋषिः**=वही अद्वितीय तत्त्वद्रष्टा है। **एकं धाम**=वही अद्वितीय तेज है। **एकधा आशिषः**=एक प्रकार की ही शासक शक्ति है—भिन्न-भिन्न लोगों में भिन्न-भिन्न शासक शक्तियाँ नहीं हैं। **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर **यक्षम्**=पूज्य, सब लोकों का संगतिकरण करनेवाला **एकवृत्**=एक ही है, **एकर्तुः**=वह एक ही गति देनेवाला है। **न अतिरिच्यते**=उससे बढ़कर कोई नहीं है।

भावार्थ—प्रभु इस संसार-शकट का वहन कर रहे हैं। वे तत्त्वद्रष्टा हैं, तेज:पुञ्ज हैं, एकमात्र शासक हैं। वे सब लोक-लोकान्तरों का संगतिकरण करनेवाले प्रभु एक ही हैं। वे ही सारे ब्रह्माण्ड को गति दे रहे हैं। उनसे बढ़कर कोई नहीं है।

इसप्रकार प्रभु से शासित संसार को देखनेवाला यह ज्ञानी मानव-समाज में भी शासन-व्यवस्था लाने का चिन्तन करता है। इसका उपदेश देनेवाला यह आचार्य स्वयं स्थिर वृत्तिवाला होने से 'अथर्वा' बनता है। यह 'अथर्वाचार्य' ही अगले सूक्त का ऋषि है—

१०. [दशमं सूक्तम्, प्रथमः पर्यायः]

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**१ आर्चीपङ्क्तिः, २ याजुषीजगती, ३ साम्न्यनुष्टुप्** ॥

विराट् से गार्हपत्य में

विराड् वा इदमग्र आसीत्तस्या जातायाः। सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति॥ १॥
सोदक्रामत्सा गार्हपत्ये न्य क्रामत्॥ २॥ गृहमेधी गृहपतिर्भवति य एवं वेद॥ ३॥

१. यहाँ काव्यमय भाषा में शासन-व्यवस्था के विकास का सुन्दर वर्णन हुआ है। **अग्रे**=पहले **वै**=निश्चय से **इदम्**=यह **विराट्**=(वि-राट्) राजा से रहित स्थिति **आसीत्**=थी। कोई शासक न था। **तस्याः जातायाः**=उस प्रादुर्भूत हुई-हुई अराजकता की स्थिति से **सर्वं अबिभेत्**=सभी भयभीत हो उठे कि **इयं एव**=यह विराट् अवस्था ही **इदं भविष्यति**=इस जगत् को प्राप्त होगी (भू प्राप्तौ) **इति**=क्या इसी प्रकार यह सब रहेगा? २. इसप्रकार सबके भयभीत होने पर सबमें विचार उठा। एक घर में परिवार के व्यक्तियों ने मिलकर सोचा कि क्या करना चाहिए? परिणामतः **सा**=वह विराट् अवस्था **उदक्रामत्**=उत्क्रान्त हुई। उसमें कुछ सुधार हुआ और प्रत्येक घर में एक व्यक्ति प्रमुख बनाया गया। इसप्रकार **सा**=विराट् अवस्था उत्क्रान्त होकर **गार्हपत्ये न्यक्रामत्**=गार्हपत्य में आकर स्थित हुई। प्रत्येक घर में गृहपति का शासन स्थापित हो गया। घर में अराजकता का लोप हो गया। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार गार्हपत्य व्यवस्था के महत्त्व को समझ लेता है, वह **गृहमेधी भवति**=गृहस्थ यज्ञ को सुन्दरता से चलानेवाला होता है, **गृहपतिः भवति**=गृहपति बनता है—अराजकता पैदा न होने देकर घर का रक्षण करता है।

भावार्थ—विराट् (अराजकता) की स्थिति सबको भयंकर प्रतीत हुई, अतः लोगों ने विचार कर प्रत्येक घर में एक को मुखिया नियत किया। यही 'गार्हपत्य' कहलायी। इससे घर में अराजकता का लोप होकर शान्ति की स्थिति उत्पन्न हुई।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**४ याजुषी जगती, ५ आर्च्यनुष्टुप्** ॥

आहवनीय (ग्रामपंचायत)

सोदक्रामत्साहवनीये न्य क्रामत्॥ ४॥
यन्त्यस्य देवा देवहूतिं प्रियो देवानां भवति य एवं वेद॥ ५॥

१. गार्हपत्य-व्यवस्था हो जाने पर प्रत्येक घर में तो शान्ति स्थापित हो गई, 'परन्तु यदि दो घरों में परस्पर कोई संघर्ष उपस्थित हो जाए तो उसके लिए क्या किया जाए', इस विचार के उपस्थित होने पर **सा उदक्रामत्**=विराट् व्यवस्था में और उन्नति हुई और **सा**=वह विराट् **आहवनीये न्यक्रामत्**=आहवनीय में विश्रान्त हुई। घरों के प्रतिनिधियों की एक सभा बनी। यह आहवनीय कहलायी, जिसमें प्रतिनिधि आहूत होते हैं। २. इस आहवनीय का भी एक मुखिया बना, वही 'ग्राम-प्रधान' कहलाया। **अस्य देवहूतिं देवाः यन्ति**=इस प्रधान की सभा के ज्ञानी

प्रतिनिधियों (देवों की पुकार होने) पर वे देवसभा में जाते हैं। 'आहवनीय' में वे सब देव उपस्थित होते हैं। उसमें घरों के पारस्परिक कलह को सुनकर वे उसका उचित निर्णय करते हैं। इसप्रकार घरों में परस्पर मेल बना रहता है। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार आहवनीय के महत्त्व को समझ लेता है, वह **देवानाम् प्रियः भवति**=ज्ञानी प्रतिनिधियों का प्रिय होता है।

भावार्थ—घरों के पारस्परिक कलहों को समाप्त करने के लिए एक ग्रामसभा बनी। यही 'आहवनीय' कहलायी। ऐसे कलहों के पैदा होने पर प्रधान की पुकार पर सब देव (ज्ञानी प्रतिनिधि) उपस्थित होते हैं और सब पक्षों को सुनकर उचित निर्णय करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—६ **याजुषीजगती, ७ विराड्गायत्री** ॥

दक्षिणाग्नि

सोदक्रामत्सा दक्षिणाग्नौ न्यक्रामत्॥ ६ ॥

यज्ञर्तो दक्षिणीयो वासतेयो भवति य एवं वेद॥ ७ ॥

१. अब एक ग्राम के घरों में तो अराजकता की स्थिति समाप्त हो गई, 'परन्तु दो ग्रामों में कोई संघर्ष उपस्थित हो जाने पर क्या किया जाए', यह समस्या विचारणीय हो गई। परिणामतः **सा उदक्रामत्**=वह विराट् अवस्था और उत्क्रान्त हुई तथा **सा**=वह **दक्षिणाग्नौ न्यक्रामत्**=दक्षिणाग्नि में स्थित हुई। प्रत्येक ग्राम का दक्षिण (कुशल) अग्नि (नेता) इस सभा में उपस्थित होता है। इससे सभा का नाम ही दक्षिणाग्नि हो गया है। २. **यः एवं वेद**=जो इस 'दक्षिणाग्नि' संगठन के महत्त्व को समझ लेता है वह **यज्ञर्तः**=संगठन में गतिवाला, **दक्षिणीयः**=(दक्षिण fame) यशस्वी व **वासतेयः**=लोगों को उत्तमता से बसानेवाला **भवति**=होता है। साथ ही 'दक्षिणाग्नि' के सभ्यों को कुछ दक्षिणा भी दी जाती है तथा निवासस्थान भी दिया जाता है। ये दक्षिणाग्नि के सभ्य दक्षिणीय व वासतेय हैं। इन्हें अपने ग्राम से दूर आना पड़ता है, अतः यह व्यवस्था आवश्यक हो जाती है।

भावार्थ—ग्रामों के पारस्परिक कलहों को निपटाने के लिए ग्रामों के कुशल नेताओं की जो सभा बनती है, वह 'दक्षिणाग्नि' कहलाती है। जो कुशल नेता इस संगठन में उपस्थित होते हैं, वे 'दक्षिणीय व वासतेय' होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—८ **याजुषिजगती, ९ साम्न्यनुष्टुप्** ॥

सभा

सोदक्रामत्सा सभायां न्यक्रामत्॥ ८ ॥

यन्त्यस्य सभां सभ्यो भवति य एवं वेद॥ ९ ॥

१. 'दक्षिणाग्नि' के बन जाने पर एक प्रान्त के ग्रामों के कलह ठीक रूप से निर्णीत हो जाते हैं, 'परन्तु यदि प्रान्तों की कोई समस्या परस्पर उठ खड़ी हो तो क्या करें'? वह विचार उपस्थित होने पर **सा उदक्रामत्**=वह विराट् अवस्था और उत्क्रान्त हुई, और **सा सभायां न्यक्रामत्**=वह सभा में आकर स्थित हुई। प्रत्येक प्रान्त की दक्षिणाग्नि के प्रतिनिधि इसमें सम्मिलित होते हैं। इसमें वे 'सह भान्ति यस्याम्'—मिलकर शोभायमान होते हैं। **यः एवं वेद**=जो इस सभा के महत्त्व को समझ लेता है, वह इस सभा का प्रमुख सदस्य बनता है और **अस्य सभां यन्ति**=इस प्रमुख का सभा में सब दक्षिणाग्नियों के प्रतिनिधि उपस्थित होते हैं। यह सभाप्रधान उन सब प्रतिनिधियों के प्रति **सभ्यः भवति**=अत्यन्त सभ्य व्यवहारवाला होता है। इसप्रकार प्रान्तों के परस्पर कलह सुलझ जाते हैं और देश में शान्ति बनी रहती है।

भावार्थ—प्रान्तों के पारस्परिक कलहों को निपटाने के लिए जो संगठन बनता है, वह 'सभा' कहलाती है। इसका प्रधान सब प्रतिनिधियों से सभ्यतापूर्वक वर्तता हुआ सबके साथ प्रेम बढ़ानेवाला होता है।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**१० याजुषीजगती, ११ साम्नीबृहती** ॥

समिति

सोदक्रामत्सा समितौ न्य॑क्रामत्॥ १०॥
यन्त्यस्य समितिं सामित्यो भवति य एवं वेद॥ ११॥

१. 'अब एक महाद्वीप के देशों में यदि परस्पर कोई कलह उपस्थित हो जाए तो क्या हो', यह विचार उपस्थित होने पर **सा उदक्रामत्**=वह विराट् अवस्था और उत्क्रान्त हुई और **सा समितौ न्यक्रामत्**=वह समिति में विश्रान्त हुई। एक महाद्वीप के देशों के प्रतिनिधियों की यह सभा समिति कहलायी—जिसमें विविध देशों के प्रतिनिधियों का 'सम् इति' मिलकर गमन होता है। २. **यः एवं वेद**=जो इस समिति के महत्त्व को समझता है और लोगों को इसके महत्त्व को समझाता है वह **सामित्यः भवति**=(समितौ साधुः आदरणीयः) समिति में उत्तम होता है और इसके पुकारने पर सब सभ्य **समितिं यन्ति**=समिति में उपस्थित होते हैं। ये समिति के सदस्य देशों के पारस्परिक संघर्षों को पनपने नहीं देते।

भावार्थ—देशों के प्रतिनिधियों की सभा 'समिति' कहलाती है, इसका प्रधान 'सामित्य' कहा जाता है। इसकी अध्यक्षता में समिति के सदस्य देशों के कलहों को दूर करने का यत्न करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**१२ याजुषीजगती, १३ विराड्गायत्री** ॥

आमन्त्रण (U.N.O.)

सोदक्रामत्सामन्त्रणे न्य॑क्रामत्॥ १२॥
यन्त्यस्यामन्त्रणमामन्त्रणीयो भवति य एवं वेद॥ १३॥

१. 'यदि महाद्वीपों का कलह उपस्थित हो जाए तो क्या करें', यह विचार उपस्थित होने पर **सा उदक्रामत्**=वह विराट् अवस्था और उत्क्रान्त हुई और **सा आमन्त्रणे न्यक्रामत्**=वह 'आमन्त्रण' में आकर विश्रान्त हुई। यह इस पृथिवी पर सबसे बड़ा संगठन है। इसमें सब महाद्वीपों से प्रतिनिधि आमन्त्रित होते हैं और वे मिलकर समस्याओं को सुलझाने का यत्न करते हैं। २. **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार इस आमन्त्रण के बनाने की बात को समझता है, वही **आमन्त्रणीयः भवति**=इस आमन्त्रण का प्रधान बनने के योग्य समझा जाता है और सब सदस्य **अस्य**=इसके पुकारने पर **आमन्त्रणं यन्ति**='आमन्त्रण' में जाते हैं—आमन्त्रण में उपस्थित होकर गम्भीर विषयों पर अपना-अपना विचार देने का प्रयत्न करते हैं। यह आमन्त्रण ही 'विश्वशान्ति' का साधन बनता है। यह मानवजाति का सर्वोत्तम संगठन है। इसके होने पर भी कुछ-न-कुछ विराट् अवस्था रह ही जाती है। विराट् अवस्था ही तो उत्क्रान्त होकर यहाँ तक पहुँची है। मनुष्य की सहज अपूर्णता संगठन की अपूर्णता का कारण होगी ही।

भावार्थ—'आमन्त्रण' वह संगठन है, जो महाद्वीपों के पारस्परिक कलहों को निपटाकर मनुष्यों को युद्धों की स्थिति से ऊपर उठाता है। युद्धों के अभाव में ही वास्तविक उन्नति सम्भव है।

१०. [दशमं सूक्तम्, द्वितीयः पर्यायः]

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**१ त्रिपदासाम्न्यनुष्टुप्, २ उष्णिग्गर्भा चतुष्पदोपरिष्टाद्विराड्बृहती, ३ एकपदायाजुषीगायत्री, ४ एकपदासाम्नीपङ्क्तिः** ॥

ऊर्क्, स्वधा, सूनृता, इरावती

सोद॑क्रामृत्साऽन्तरि॑क्षे चतु॒र्धा विक्रा॑न्ताऽतिष्ठत्॥ १॥
तां दे॑वमनु॒ष्या ᳚ अब्रुवन्नि॒यमे॒व तद्वे॑द॒ यदु॒भय॑
उपजी॒वेमे॒मामुप॑ ह्वयामहा॒ इति॑॥ २॥
तामुपा॑ह्वयन्त॥ ३॥
ऊर्ज॒ एहि॒ स्वध॒ एहि॒ सुनृ॑त॒ एही॒रा॑व॒त्येहीति॑॥ ४॥

१. विराट् अवस्था उत्क्रान्त होकर, 'आमन्त्रण' तक पहुँचकर, सचमुच '**विराट्**'='विशिष्ट दीप्तिवाली' हो जाती है। **सा**=वह विराट् **उदक्रामत्**=उत्क्रान्त हुई और उन्नत होकर **सा**=वह **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्ष में **चतुर्धा**=चार प्रकार से **विक्रान्ता अतिष्ठत्**=विक्रमवाली होकर ठहरी, अर्थात् विशिष्ट दीप्तिवाली शासन-व्यवस्था होने पर सारे वातावरण में चार बातों का दर्शन हुआ, तब **ताम्**=उस विराट् को **देवमनुष्याः अब्रुवन्**=देव और मनुष्य, अर्थात् विद्वान् और सामान्य लोग बोले कि **इयम् एव**=यह विराट् ही **तत् वेद**=उस बात को प्राप्त कराती है, **यत् उभये उपजीवेम**=जिसके आधार से हम दोनों जीते हैं, अतः **इमाम् उपह्वयामहे इति**=इस विराट् को हम पुकारते हैं। ज्ञानी व सामान्य लोग अनुभव करते हैं कि यह विराट्—विशिष्ट दीप्तिवाली राष्ट्र-व्यवस्था हमारे जीवनों के लिए आवश्यक पदार्थों को प्राप्त कराती है, अतः देव-मनुष्यों ने **ताम् उपाह्वयन्त**=उस विराट् को पुकारा। हे **ऊर्जे**=बल व प्राणशक्ति देनेवाली विराट्! **एहि**=तू हमें प्राप्त हो। **स्वधे**=आत्मधारण-शक्तिवाली विराट्! **एहि**=तू आ। **सुनृते**=हे प्रिय, सत्यवाणि! तू **एहि**=आ और **इरावति**=अन्नवाली विराट्! **एहि इति**=आओ ही।

भावार्थ—उत्क्रान्त विराट् स्थिति होने पर देव व मनुष्य अनुभव करते हैं कि अब हम 'बल व प्राणशक्ति-सम्पन्न बन पाएँगे, आत्मधारण के सामर्थ्यवाले होंगे, सर्वत्र प्रिय, सत्यवाणी का श्रवण होगा और सबके लिए अन्न सुलभ होगा'।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**५ विराड्गायत्री, ६ आर्च्यनुष्टुप्** ॥

विराट् रूप कामधेनु

तस्या॒ इन्द्रो॑ व॒त्स आसी॑द्गाय॒त्र्य ᳚भि॒धान्य॒भ्रमूधः॑॥ ५॥
बृ॒हच्च॑ रथन्त॒रं च॒ द्वौ स्तना॒वास्तां॑ यज्ञाय॒ज्ञियं॑ च वामदे॒व्यं च॒ द्वौ॥ ६॥

१. उल्लिखित विराट् को—विशिष्ट दीप्तिवाली शासन-व्यवस्था को कामधेनु के रूप में चित्रित करते हुए कहते हैं कि—**तस्याः**=उस विराट्रूप कामधेनु का **इन्द्रः वत्सः आसीत्**=एक जितेन्द्रिय पुरुष वत्स (बछड़ा) है अथवा प्रिय पुत्र है। इस कामधेनु की **गायत्री अभिधानी**=गान करनेवाले का त्राण करनेवाली (गायन्तं त्रायते) यह वेदवाणी बन्धन-रज्जु है। **अभ्रम् ऊधः**=इस विराट्रूप कामधेनु का मेघ ही दुग्धाशय है। जहाँ विराट् होती है, वहाँ पुरुष जितेन्द्रिय होते हैं, वेदविद्या का गान करते हुए वे अपना त्राण करते हैं, उस राष्ट्र में मेघ समय पर बरसकर अन्नादि की कमी नहीं होने देता। २. इस विराट्रूप कामधेनु के **बृहत् च रथन्तरं च**=बृहत् और रथन्तर **द्वौ स्तनौ आस्ताम्**=दो स्तन हैं। **यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च द्वौ**=और यज्ञायज्ञिय तथा वामदेव दो स्तन हैं। '**द्यौर्वै बृहत्**'—शत० ९।१।३।३७ के अनुसार बृहत् का अर्थ द्युलोक

है। '**इयं पृथिवी वै रथन्तरम्**'—शत० ९।१।३।३६ के अनुसार पृथिवी 'रथन्तर' है। '**चन्द्रमा वै यज्ञायज्ञियम्**'—शत० ९।१।२।३९ के अनुसार यज्ञायज्ञिय का अर्थ चन्द्रमा है। '**प्राणो वै वामदेव्यम्**'—शत० ९।१।२।३८ में वामदेव्य का अर्थ प्राण किया गया है।

भावार्थ—विराट्रूप कामधेनु का वत्स 'इन्द्र' है, अभिधानी 'गायत्री' है तथा ऊधस् (अभ्र) है, अर्थात् दीप्त शासन-व्यवस्थावाले राष्ट्र में पुरुष जितेन्द्रिय होते हैं, वेदविद्या का गान होता है, वहाँ समय पर बादल बरसता है। इस कामधेनु के द्युलोक व पृथिवीलोक, चन्द्र व प्राण—चार स्तन हैं।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—७ **साम्नीपङ्क्तिः**, ८ **आसुरीगायत्री**, ९ **साम्न्यनुष्टुप्**, १० **साम्नीबृहती** ॥

रथन्तर, बृहत्, वामदेव्य, यज्ञायज्ञिय

ओषधीरेव रथन्तरेण देवा अदुह्रन्व्यचो बृहता ॥ ७ ॥
अपो वामदेव्येन यज्ञं यज्ञायज्ञियेन ॥ ८ ॥
ओषधीरेवास्मै रथन्तरं दुहे व्यचो बृहत् ॥ ९ ॥
अपो वामदेव्यं यज्ञं यज्ञायज्ञियं य एवं वेद ॥ १० ॥

१. **देवाः**=देववृत्ति के पुरुषों ने **रथन्तरेण**=पृथिवी से **ओषधीः एव अदुह्रन्**=ओषधियों का ही दोहन किया। ये ओषधियाँ ही उनका भोजन बनीं। **बृहता**=द्युलोक से **व्यचः**=विस्तार को (Expanse, Vastness) दोहा। द्युलोक की भाँति ही अपने हृदयाकाश को विशाल बनाया। विशालता ही तो धर्म है। **वामदेव्येन**=प्राण से—प्राणशक्ति से इन्होंने **अपः**=कर्मों का दोहन किया—प्राणशक्ति-सम्पन्न बनकर ये क्रियाशील हुए। **यज्ञायज्ञियेन**=चन्द्रमा के हेतु से—आह्लाद-प्राप्ति के हेतु से (चदि आह्लादे) **यज्ञम्**=इन्होंने यज्ञों को अपनाया। २. **एवम्**=इसप्रकार यह जो विराट् को **वेद**=ठीक से समझ लेता है, **असौ**=इस पुरुष के लिए **रथन्तरम्**=विराट् का पृथिवी-रूपी स्तन—**ओषधीः एव दुहे**=ओषधियों का दोहन करता है, **बृहत्**=द्युलोकरूप स्तन **व्यचः**=हृदय की विशालता को प्राप्त कराता है। **वामदेव्यम्**=प्राणशक्तिरूप स्तन **अपः**=कर्मों को प्राप्त कराता है और **यज्ञायज्ञियम्**=चन्द्ररूप स्तन यज्ञों को प्राप्त कराता है, अर्थात् यज्ञ करके यह वास्तविक आह्लाद को अनुभव करता है।

भावार्थ—विराट्रूप कामधेनु हमें 'ओषधियाँ, हृदय की विशालता, कर्म व यज्ञ' को प्राप्त कराती है।

१०. [दशमं सूक्तम्, तृतीयः पर्यायः]

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—१ **चतुष्पदाविराडनुष्टुप्**, २ **आर्चीत्रिष्टुप्** ॥

वनस्पतियों का विराट् को प्राप्त होना

सोदक्रामत्सा वनस्पतीनागच्छत्तां
वनस्पतयोऽघ्नत सा संवत्सरे समभवत् ॥ १ ॥
तस्माद्वनस्पतीनां संवत्सरे वृक्णमपि रोहति
वृश्चतेऽस्याप्रियो भ्रातृव्यो य एवं वेद ॥ २ ॥

१. **सा**=वह विराट्रूप कामधेनु (विशिष्ट शासन-व्यवस्था) **उदक्रामत्**=उत्क्रान्त हुई। **सा वनस्पतीन् आगच्छत्**=वह वनस्पतियों को प्राप्त हुई, **वनस्पतयः ताम् अघ्नत**=वनस्पतियों ने उसे प्राप्त किया (हन् गतौ)। **सा**=वह **संवत्सरे**=सम्पूर्ण वर्ष में **समभवत्**=उन वनस्पतियों के साथ

हुई—खूब अच्छी फसल हुई। **तस्मात्**=इस कारण से **वनस्पतीनाम्**=वनस्पतियों का **वृक्णम्**=छिन्न भाग **अपि**=भी **संवत्सरे**=वर्षभर में **रोहति**=प्रादुर्भूत हो जाता है। **यः एवं वेद**=जो इस तत्त्व को समझ लेता है कि 'वनस्पतियों का छिन्नभाग भी फिर ठीक हो जाता है, तो हमारा छिन्नभाग भी क्यों न ठीक हो जाएगा' **अस्य**=इसका **अप्रियः भ्रातृव्यः वृश्चते**=अप्रिय शत्रु भी कट जाता है।

भावार्थ—शासन-व्यवस्था के ठीक होने पर राष्ट्र में वृक्ण वृक्षों का रोहण होता है। जैसे वर्षभर में ये वृक्ष पुनः प्रादुर्भूत हो जाते हैं, इसी प्रकार इस राष्ट्र में लोग शत्रुओं से शत्रुता को भी समाप्त कर लेते हैं।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—३ **चतुष्पदाप्राजापत्यापङ्क्तिः, ४ आर्चीबृहती** ॥

पितरों का विराट् को प्राप्त होना

सोद॑क्राम॒त्सा पि॒तॄनाग॑च्छ॒त्तां पि॒तरो॑ऽघ्नत॒ सा मा॒सि सम॑भवत्॥ ३ ॥
तस्मा॑त्पि॒तृभ्यो॑ मा॒स्युप॑मास्यं ददति॒ प्र पि॑तृया॒णं पन्थां॑ जानाति॒ य ए॒वं वेद॑॥ ४ ॥

१. **सा उदक्रामत्**=वह विराट् उत्क्रान्त हुई। **सा पितॄन् आगच्छत्**=वह पितरों को प्राप्त हुई। **पितरः ताम् अघ्नत**=पितृजन उस विराट् को प्राप्त हुए। **सा**=वह विराट् **मासि**=सम्पूर्ण मास में **सम् अभवत्**=उन पितरों के साथ हुई। **तस्मात्**=विराट् के पितरों के साथ होने से **पितृभ्यः**=पितृजनों के लिए **मासि**=प्रत्येक मास पर **उपमास्यं ददति**=मासिक वृत्ति दे देते हैं। उत्तम सन्तान प्रतिमास पितरों के लिए आवश्यक धन देना अपना कर्त्तव्य समझते हैं। यही उनका पितृयज्ञ होता है। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार इस पितृयज्ञ के महत्त्व को समझ लेता है, वह **पितृयाणं पन्थां प्रजानाति**=पितृयाणमार्ग को सम्यक् जान लेता है। इस पितृयाण से चलता हुआ वह चन्द्रलोक (स्वर्ग) को प्राप्त करता है।

भावार्थ—विशिष्ट दीप्तिवाली शासन-व्यवस्थावाले राष्ट्र में युवक पितृयज्ञ को सम्यक् निभाते हैं। प्रतिमास पितरों के लिए आवश्यक धन प्राप्त करा देना वे अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—५ **चतुष्पदाप्राजापत्यापङ्क्तिः, ६ आर्चीबृहती** ॥

देवों का विराट् को प्राप्त होना

सोद॑क्राम॒त्सा दे॒वानाग॑च्छ॒त्तां दे॒वा अ॑घ्नत॒ सार्ध॑मा॒से सम॑भवत्॥ ५ ॥
तस्मा॑द्दे॒वेभ्यो॑ऽर्धमा॒से वष॑ट् कुर्व॒न्ति प्र दे॑व॒यानं॒ पन्थां॑ जानाति॒ य ए॒वं वेद॑॥ ६ ॥

१. **सा उदक्रामत्**=वह विराट् उत्क्रान्त हुई। **सा देवान् आगच्छत्**=वह देवों को प्राप्त हुई। **देवाः**=देव **ताम् अघ्नत**=उसे प्राप्त हुए। **सा**=वह **अर्धमासे सम् अभवत्**=प्रत्येक अर्धमास में उनके साथ रही। **तस्मात्**=इसी कारण से **देवेभ्यः**=देवों के लिए **अर्धमासे**=प्रत्येक अर्धमास पर, अर्थात् प्रत्येक पक्ष पर पूर्णिमा और अमावास्या के दिन **वषट् कुर्वन्ति**=अग्निहोत्र करते हैं। **यः एवं वेद**=जो इस तत्त्व को समझ लेता है कि प्रति पूर्णिमा और अमावास्या पर विशिष्ट यज्ञ करके वायु आदि देवों को शुद्ध करना आवश्यक है, वह **देवयानं पन्थां प्रजानाति**=देवयान मार्ग को भली प्रकार जान लेता है। इस देवयान मार्ग में चलता हुआ वह पुरुष 'सूर्यलोक' को प्राप्त करता है। सूर्य ही सर्वमुख्य देव है। देवयज्ञ करनेवाला सूर्यलोक को प्राप्त करता ही है।

भावार्थ—वायु आदि देवों की शुद्धि के लिए विराट्वाले देश में, पूर्णिमा व अमावास्या पर बड़े-बड़े यज्ञ होते हैं। यज्ञों से चलनेवाले देवलोक को प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—७ **चतुष्पदाप्राजापत्यापङ्क्तिः**, ८ **आर्चीबृहती** ॥

मनुष्यों का विराट् को प्राप्त होना

सोदक्रामत्सा मनुष्याँ३नागच्छत्तां मनुष्या᳚ अघ्नत सा सद्यः समभवत्॥ ७॥
तस्मान्मनुष्ये᳚भ्य उभयद्युरुप हरन्त्युपास्य गृहे हरन्ति य एवं वेद॥ ८॥

१. **सा**=वह विराट् **उदक्रामत्**=उत्क्रान्त हुई। **सा**=वह **मनुष्यान् आगच्छत्**=मनुष्यों को प्राप्त हुई। **मनुष्याः तां अघ्नत**=मनुष्य उस विराट् को प्राप्त हुए। **सा**=वह **सद्यः**=शीघ्र ही **सम् अभवत्**=उनके साथ हुई। **तस्मात्**=मनुष्यों के साथ उस विशिष्ट शासन-व्यवस्था के सम्पर्क के कारण, अर्थात् जब राष्ट्र में शासन-व्यवस्था अति उत्तम होती है तब शासक **मनुष्येभ्यः**=मनुष्यों के लिए **उभयद्युः**=दिन में दो बार—प्रातः वा सायं—**उपहरन्ति**=भोजन प्राप्त कराते हैं। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार समझ लेता है कि दिन में दो बार ही भोजन करना ठीक है, **अस्य गृहे**=इसके घर में **उपहरन्ति**=सब प्राकृतिक शक्तियाँ आवश्यक पदार्थों को प्राप्त कराती हैं। यह दो बार भोजन करनेवाला स्वस्थ रहता है और सब आवश्यक पदार्थों को जुटाने में समर्थ होता है।

भावार्थ—विशिष्ट शासन-व्यवस्था होने पर मनुष्य अग्निहोत्र की भाँति दिन में दो बार ही भोजन करते हुए स्वस्थ रहते हैं और सब आवश्यक पदार्थों को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं।

१०. [दशमं सूक्तम्, चतुर्थः पर्यायः]

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—१ **चतुष्पदासाम्नीजगती**, २ **साम्नीबृहती**, ३ **साम्न्युष्णिक्**, ४ **आर्च्यनुष्टुप्** ॥

असुरों द्वारा माया-दोहन

सोदक्रामत्साऽसुरानागच्छत्तामसुरा उपाह्वयन्त माय एहीति॥ १॥
तस्या विरोचनः प्राह्रादिर्वत्स आसीदयस्पात्रं पात्रम्॥ २॥
तां द्विमूर्धाऽत्व्यो᳚ऽधोक्तां मायामेवाधोक्॥ ३॥
तां मायामसुरा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद॥ ४॥

१. **सा**=वह विराट् राष्ट्र-व्यवस्था **उदक्रामत्**=उत्क्रान्त हुई। **सा असुरान् आगच्छत्**=वह (असुषु रमन्ते) प्राणसाधना में रमण करनेवाले लोगों के समीप प्राप्त हुई। विशिष्ट शासन-व्यवस्था के कारण एक शान्त राज्य में कुछ लोग प्राण-साधना में प्रवृत्त हुए। **ताम्**=उस विराट् को **असुराः**=इन प्राणसाधकों ने **उपाह्वयन्त**=पुकारा कि **माय**=हे प्रज्ञे! **एहि इति**=आओ तो। प्राणसाधकों को इस विराट् ने प्राणसाधना के लिए अनुकूल वातावरण प्राप्त कराया और इसप्रकार यह प्रज्ञावृद्धि का कारण बनी। **तस्याः**=उस प्राणसाधना के लिए अनुकूल वातावरण प्राप्त करानेवाली विराट् का **वत्सः**=वत्स—प्रिय व्यक्ति **विरोचनः**=विशिष्ट दीप्तिवाला **प्राह्रादिः**=प्रकृष्ट आनन्द का पुत्र, अर्थात् प्रकृष्ट आनन्दवाला **आसीत्**=हुआ, तथा इसका **पात्रम्**=यह रक्षणीय शरीर **अयस्पात्रम्**=लोहे का शरीर बना—बड़ा दृढ़ बना। २. **ताम्**=उस विराट्रूप कामधेनु का **द्विमूर्धा**='शरीर व मस्तिष्क' दोनों के दृष्टिकोण से शिखर पर पहुँचनेवाले **अत्व्यः**=ऋतु के अनुसार कर्त्तव्य-कर्मों को करने में कुशल पुरुष ने **अधोक्**=दोहन किया और **ताम्**=उस विराट् से **मायाम् एव**=प्रज्ञा को ही **अधोक्**=दुहा। **असुराः**=ये प्राणसाधक **तां मायाम् उपजीवन्ति**=इस बुद्धि के आश्रय से ही जीवन-यात्रा को पूर्ण करते हैं। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार प्राणसाधना द्वारा प्रज्ञादोहन के महत्त्व को समझ लेता है वह **उपजीवनीयः भवति**=औरों को भी जीवन देनेवाला होता है।

भावार्थ—राष्ट्र में विशिष्ट शासन-व्यवस्था के कारण शान्त वातावरण में प्राणसाधक लोग प्राणसाधना द्वारा प्रज्ञा (माया) प्राप्त करते हैं। ये विशिष्ट दीप्तिवाले, प्रकृष्ट आनन्दवाले व दृढ़ शरीरवाले होते हैं। 'शरीर व मस्तिष्क' दोनों के दृष्टिकोण से शिखर पर पहुँचनेवाले ये व्यक्ति ऋतु के अनुसार कर्म करने में कुशल होकर प्रज्ञापूर्वक जीवन-यात्रा में आगे बढ़ते हैं, औरों को भी उत्कृष्ट जीवन प्राप्त कराने में साधन बनते हैं।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—५ **चतुष्पदासाम्नीजगती, ६ साम्नीबृहती, ७ आसुरीगायत्री, ८ आर्च्यनुष्टुप्** ॥

पितरों द्वारा स्वधा-दोहन

सोदक्रामत्सा पितॄनागच्छत्तां पितर उपाह्वयन्त स्वध एहीति ॥ ५ ॥
तस्या यमो राजा वत्स आसीद्रजतपात्रं पात्रम् ॥ ६ ॥
तामन्तको मार्त्यवोऽधोक्तां स्वधामेवाधोक् ॥ ७ ॥
तां स्वधां पितर उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ८ ॥

१. **सा उदक्रामत्**=वह विराट् उत्क्रान्त हुई। **सा**=वह **पितॄन्**=रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त लोगों को प्राप्त हुई। **पितरः तां उपाह्वयन्त**=पितरों ने उसे पुकारा कि **स्वधे एहि इति**=हे आत्मधारणशक्ते! आओ तो। शासन-व्यवस्था के ठीक होने पर ही रक्षणात्मक कार्य ठीक से सम्पन्न हो सकते हैं। ये रक्षणात्मक कार्यों में संलग्न व्यक्ति आत्मधारणशक्तिवाले होते हैं। इन कार्यों को करते हुए वे यही समझते हैं कि इन कार्यों द्वारा वे औरों का नहीं अपितु अपना ही धारण कर रहे हैं। **तस्याः**=उस विराट् का **वत्सः**=प्रिय यह रक्षणात्मक कार्य में प्रवृत्त व्यक्ति **यमः**=अपनी इन्द्रियों का नियमन करनेवाला व **राजा**=दीप्त जीवनवाला **आसीत्**=होता है। ऐसा बनकर ही तो यह रक्षणात्मक कार्यों को कर पाता है। उसका **पात्रम्**=यह रक्षणीय शरीर **रजतपात्रम्**=प्रजा का रञ्जन करनेवाला शरीर होता है। वह शरीर को स्वस्थ रखते हुआ प्रजा के रञ्जन में प्रवृत्त होता है। २. **ताम्**=उस विराट् को **मार्त्यवः**=(तदधीते तद् वेद) मृत्यु को समझनेवाले—मृत्यु को न भूलनेवाले और इसप्रकार **अन्तकः**=वासनाओं का अन्त करनेवाले इस पुरुष ने **अधोक्**=दोहन किया। **ताम्**=उस विराट् से इसने **स्वधाम् एव अधोक्**=आत्मधारण-शक्ति का ही दोहन किया। **पितरः**=ये रक्षण करनेवाले लोग **तां स्वधां उपजीवन्ति**=उस आत्मधारणशक्ति के द्वारा अपनी जीवन-यात्रा को सुन्दरता से पूर्ण करते हैं और **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार स्व-धा के महत्त्व को समझ लेता है वह **उपजीवनीयः भवति**=औरों की जीवन-यात्रा की पूर्ति में सहायक होता है।

भावार्थ—रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त लोग, इस विशिष्ट दीप्तिवाली शासन-व्यवस्था से युक्त देश में, आत्मधारणशक्ति का उपार्जन करते हैं। ये संयमी व दीप्त होते हैं, अपने शरीर को प्रजा-रञ्जन के कार्यों में आहुत करते हैं। ये मृत्यु को न भूलकर वासनाओं का अन्त करते हैं और आत्मधारण-शक्तिवाले होते हैं। स्वयं सुन्दर जीवन बिताते हुए औरों की सुन्दर जीवन-यात्रा में भी सहायक होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—९ **चतुष्पदोष्णिक्, १० साम्नीबृहती, ११ प्राजापत्यानुष्टुप्, १२ आर्चीत्रिष्टुप्** ॥

मनुष्यों द्वारा कृषि व इरा (अन्न) का दोहन

सोदक्रामत्सा मनुष्या३ नागच्छत्तां मनुष्या३ उपाह्वयन्तेरावत्येहीति ॥ ९ ॥
तस्या मनुर्वैवस्वतो वत्स आसीत्पृथिवी पात्रम् ॥ १० ॥

तां पृथी वैन्यो ऽधोक्तां कृषिं च सस्यं चाधोक्॥ ११॥
ते कृषिं च सस्यं च मनुष्या३ उप जीवन्ति
कृष्टराधिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद॥ १२॥

१. **सा उदक्रामत्**=वह विराट् उत्क्रान्त हुई। **सा मनुष्यान् आगच्छत्**=वह विचारपूर्वक कर्म करनेवालों को (मत्वा कर्माणि सीव्यति) प्राप्त हुई। **ताम्**=उसे **मनुष्याः उपाह्वयन्त**=मनुष्यों ने पुकारा कि **इरावति**=हे अन्नवाली! **एहि इति**=आओ तो। शासन-व्यवस्था के ठीक होने पर मनुष्य सब अन्नों को प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। **तस्याः**=उस विराट् का **वत्सः**=प्रिय—विचारपूर्वक कर्म करनेवाला मनुष्य **मनुः**=विचारशील व **वैवस्वतः**=ज्ञान की किरणोंवाला (सूर्यपुत्र) **आसीत्**=था। इस मनु-वैवस्वत की **पृथिवी पात्रम्**=पृथिवी ही पात्र थी—रक्षण-साधन थी। २. **ताम्**=उस विराट् को **पृथी**=शक्तियों का विस्तार करनेवाले **वैन्यः**=मेधावी पुरुष ने **अधोक्**=दुहा। **ते मनुष्याः**=वे विचारपूर्वक कर्म करनेवाले लोग **कृषिं च सस्यं च उपजीवन्ति**=कृषि व कृषि द्वारा उत्पन्न अन्न से अपनी जीवनयात्रा पूर्ण करते हैं। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार कृषि व अन्न के महत्त्व को समझ लेता है, वह **कृष्टराधिः**=कृषि को सिद्ध करनेवाला होता हुआ **उपजीवनीयः भवति**=जीवन-यात्रा निर्वहण में औरों का सहायक होता है।

भावार्थ—विचारपूर्वक कर्मों को करनेवाले लोग विशिष्ट शासन-व्यवस्थावाले देश में कृषि द्वारा अन्न प्राप्त करते हुए जीवन-यात्रा को पूर्ण करते हैं। शक्तियों का विस्तार करनेवाले ये मेधावी बनते हैं। ये जीवन-यात्रा में औरों के लिए भी सहायक होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**१३ चतुष्पदोष्णिक्, १४ साम्न्युष्णिक्, १५ विराड्गायत्री, १६ आर्चीत्रिष्टुप्**॥

सप्तर्षियों द्वारा ब्रह्म व तप का दोहन

सोदक्रामत्सा सप्तऋषीनागच्छत्तां सप्तऋषय उपाह्वयन्त ब्रह्मण्वत्येहीति॥ १३॥
तस्याः सोमो राजा वत्स आसीच्छन्दः पात्रम्॥ १४॥
तां बृहस्पतिराङ्गिरसो ऽधोक्तां ब्रह्म च तपश्चाधोक्॥ १५॥
तद् ब्रह्म च तपश्च सप्तऋषय उप जीवन्ति।
ब्रह्मवर्चस्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद॥ १६॥

१. **सा**=वह विराट् **उदक्रामत्**=उत्क्रान्त हुई। **सा**=वह **सप्त ऋषीन्**=सात ऋषियों को प्राप्त हुई। मनुष्य के जीवन में **'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे'**—सप्त ऋषि 'दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुख' प्रभु द्वारा स्थापित किये गये हैं। इन **सप्तऋषयः**=सात ऋषियों ने **ताम्**=उस विराट् को **उपाह्वयन्त**=पुकारा कि हे **ब्रह्मण्वति एहि इति**=ज्ञानवाली वेदवाणि! तू आ तो। **तस्याः**=उस विराट् का **वत्सः**=प्रिय यह व्यक्ति **सोमः**=सौम्य स्वभाव का तथा **राजा**=व्यवस्थित जीवनवाला **आसीत्**=हुआ। **छन्दः**=वेदवाणी के छन्द ही उसके **पात्रम्**=रक्षासाधन बनें। २. **ताम्**=उस विराट् को **आङ्गिरसः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाले **बृहस्पतिः**=ज्ञानी पुरुष ने **अधोक्**=दुहा। **ताम्**=उससे **ब्रह्म च तपः च अधोक्**=ज्ञान और तप का ही दोहन किया। **सप्तऋषयः**=ये शरीरस्थ सप्तर्षि **तत्**=उस **ब्रह्म च तपः च**=ब्रह्म और तप को ही **उपजीवन्ति**=जीवन का आधार बनाते हैं। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार ब्रह्म और तप के महत्त्व को समझ लेता है, वह **ब्रह्मवर्चसी**=ब्रह्मवर्चस्वाला व **उपजीवनीयः भवति**=जीवन-यात्रा में औरों की सहायता देनेवाला होता है।

भावार्थ—राष्ट्र में शासन-व्यवस्था के ठीक होने पर शरीरस्थ सप्तर्षि वेदवाणी के द्वारा ज्ञान

व तप का जीवन बनानेवाले होते हैं। यह ज्ञानी व तपस्वी व्यक्ति ब्रह्मवर्चस् प्राप्त करके औरों की जीवनयात्रा में सहायक होते हैं।

१०. [दशमं सूक्तम् पञ्चमः पर्यायः]

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**१ चतुष्पदासाम्नीजगती, २, ३ साम्न्युष्णिक्, ४ आर्च्यनुष्टुप्** ॥

देवों द्वारा 'ऊर्जा' का दोहन

सोदक्रामत्सा देवानागच्छत्तां देवा उपाह्वयन्तोर्ज एहीति॥ १॥
तस्या इन्द्रो वत्स आसीच्चमसः पात्रम्॥ २॥
तां देवः सविताऽधोक्तामूर्जामेवाधोक्॥ ३॥
तामूर्जां देवा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद॥ ४॥

१. **सा उदक्रामत्**=वह विराट् उत्क्रान्त हुई। **सा देवान् आगच्छत्**=वह देवों को—ज्ञानी पुरुषों को प्राप्त हुई। **तां देवाः उपाह्वयन्त**=उसे देवों ने पुकारा कि **उर्जे एहि इति**=हे बल व प्राणशक्ते! आओ तो। **तस्याः**=उस विराट् का **वत्सः**=प्रिय यह देव **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता (जितेन्द्रिय पुरुष) था। **चमसः**=ये सिर ही **पात्रम्**=रक्षासाधन हैं। देवलोग इस चमस्—शिरोभाग को ठीक रखने से ही अपने पर शासन करते हुए इन्द्रियों के दास व विषयासक्त नहीं होते। २. **ताम्**=उस विराट् को **देवः**=उस प्रकाशमय जीवनवाले **सविता**=अपने अन्दर सोम का सवन करनेवाले पुरुष ने **अधोक्**=दुहा। उत्तम शासन-व्यवस्था होने पर शान्त वातावरण में देववृत्ति के पुरुष अपने जीवन को विषय-प्रवण न बनाकर जितेन्द्रिय बनें और सोम-सम्पादन में प्रवृत्त हुए। **तां ऊर्जाम्**=उस बल व प्राणशक्ति को **देवाः**=देव **उपजीवन्ति**=अपना जीवन आधार बनाते हैं। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार ऊर्जा के महत्त्व को समझ लेता है वह **उपजीवनीयः भवति**=औरों के जीवन का भी आधार बनता है औरों का उपजीव्य होता है।

भावार्थ—राष्ट्र-व्यवस्था के शान्त होने पर जितेन्द्रिय देववृत्ति के पुरुष सोम का शरीर में रक्षण करते हुए 'बल व प्राणशक्ति' का दोहन करते हैं और अपने जीवन को उत्तम बनाते हुए औरों के लिए भी सहायक एवं मार्गदर्शक होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**५ चतुष्पदाप्राजापत्याजगती, ६ साम्नीबृहतीत्रिष्टुप्, ७ विराड्गायत्री, ८ आर्चीत्रिष्टुप्** ॥

ब्राह्मण व क्षत्रिय द्वारा 'पुण्यगन्ध' का दोहन

सोदक्रामत्सा गन्धर्वाप्सरस आगच्छत्तां गन्धर्वाप्सरस उपाह्वयन्त पुण्यगन्ध एहीति॥ ५॥
तस्याश्चित्ररथः सौर्यवर्चसो वत्स आसीत्पुष्करपर्णं पात्रम्॥ ६॥
तां वसुरुचिः सौर्यवर्चसो ऽधोक्तां पुण्यमेव गन्धमधोक्॥ ७॥
तं पुण्यं गन्धं गन्धर्वाप्सरस उप जीवन्ति पुण्यगन्धिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद॥ ८॥

१. **सा उदक्रामत्**=वह विराट् उत्क्रान्त हुई। **सा**=वह **गन्धर्वाप्सरसः**=ज्ञान की वाणी को धारण करनेवाले ब्राह्मणों के पास तथा (आपः=नरसूनवः) प्रजाओं में विचरनेवाले (सृ गतौ) क्षत्रियों के पास **आगच्छत्**=आई। **ताम्**=उसे **गन्धर्वाप्सरसः**=ब्राह्मणों तथा क्षत्रियों ने **उपाह्वयन्त**=पुकारा कि **पुण्यगन्धे एहि इति**=पवित्र ज्ञान (पुण्य) के साथ सम्बन्धवाली

(गन्ध=सम्बन्धे) आओ तो। **तस्याः**=उसका **वत्सः**=प्रिय **चित्ररथः**=अद्भुत शरीर-रथवाला अथवा (चित् ज्ञाने) ज्ञानयुक्त शरीर-रथवाला **सौर्यवर्चसः**=सूर्य के समान वर्चस्वाला **आसीत्**=था। **पात्रम्**=उसका यह रक्षणीय शरीर **पुष्करपर्णम्**=(पुष् कर, पृ पालनपूरणयोः) पोषण करनेवाला तथा पालन व पूरण में प्रवृत्त था। २. **ताम्**=उस विराट् को **वसुरुचिः**=शरीर में उत्तम निवास के द्वारा दीप्त होनेवाले **सौर्यवर्चसः**=सूर्यसम वर्चस्वाले ने **अधोक्**=दुहा। इस 'वसुरुचि सौर्यवर्चस्' ने **ताम्**=उस विराट् से **पुण्यं एव गन्धम्**=पवित्र ज्ञान के साथ सम्बन्ध को ही **अधोक्**=दुहा। ये **गन्धर्वाप्सरसः**=ज्ञान की वाणी को धारण करनेवाले और प्रजाओं में विचरनेवाले क्षत्रिय **तम्**=उस **पुण्यगन्धं उपजीवन्ती**=पवित्र ज्ञान के साथ सम्बन्ध को ही जीवनाधार बनाते हैं। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार 'पुण्यगन्ध' के महत्त्व को समझ लेते हैं, वे **पुण्यगन्धिः**=इस पवित्र ज्ञान के साथ सम्बन्धवाले **उपजीवनीयः**=औरों के लिए जीवन में सहायक **भवति**=होते हैं।

भावार्थ—उत्तम शासन-व्यवस्था होने पर ब्राह्मण व क्षत्रिय 'पवित्र ज्ञान के साथ सम्बन्ध' प्राप्त करने के लिए यत्नशील होते हैं। इससे वे शरीर में उत्तम ज्ञान व निवास से दीप्त व सूर्यसम वर्चस्वाले होकर उत्तम जीवन प्राप्त करते हैं और औरों के लिए भी सहायक होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**९ चतुष्पदोष्णिक्, १० साम्नीबृहती, ११ विराड्गायत्री, १२ त्रिपदाब्राह्मीभुरिग्गायत्री** ॥

इतरजनों द्वारा तिरोधा का दोहन

सोद॑क्राम॒त्सेत॑रज॒नाना॒ग॑च्छ॒त्तामित॑रज॒ना उप॑ह्वयन्त॒ तिरो॑ध॒ एही॑ति॥ ९ ॥
तस्या॒ः कुबे॑रो वैश्रव॒णो व॒त्स आसी॑दामपा॒त्रं पात्र॑म्॥ १० ॥
तां र॑ज॒तना॑भिः काबेर॒को ऽधो॒क्तां ति॒रोधा॑मे॒वाधो॑क्॥ ११ ॥
तां ति॒रोधा॑मित॑रज॒ना उप॑ जीव॒न्ति ति॒रो ध॑त्ते॒ सर्वं॑
पा॒प्मान॑मुपजीव॒नीयो॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑॥ १२ ॥

१. **सा उदक्रामत्**=वह विराट् उत्क्रान्त हुई। **सा इतरजनान् आगच्छत्**=(इ-तर) वह काम (वासना) को तैर जानेवाले लोगों को प्राप्त हुई। **ताम्**=उसे **इतरजनाः उपाह्वयन्त**=वासना को तैरनेवाले लोग पुकारते थे कि **तिरोधे एहि इति**=(तिरोधा=Over power, conquer, defeat) हे शत्रुपराजयशक्ते! आओ तो। **तस्याः**=उस विराट् का **वत्सः**=प्रिय—यह वासना को पराजित करनेवाला व्यक्ति **कुबेरः**=(कुबि आच्छादने) शरीर में शक्ति को आच्छादित करनेवाला **वैश्रवणः आसीत्**=विशिष्ट श्रवण-(ज्ञान)-वाला था। **पात्रम्**=उसका यह रक्षणीय शरीर **आमपात्रम्**=सब उत्तम गतियों (अम गतौ) का आधार था। २. **ताम्**=उस विराट् को, **रजतनाभिः**=रञ्जन की साधनभूत शक्ति को अपने अन्दर बाँधनेवाला **काबेरकः**=शक्ति को अपने अन्दर ही आच्छादित करनेवाला, यह **इतरजन**=कामजयी व्यक्ति **अधोक्**=दुहता था। **तां तिरोधाम् एव अधोक्**=उसने उस शक्ति के आच्छादन का—शत्रु पराजय का ही दोहन किया। **इतरजनाः**=ये वासना को तैर जानेवाले लोग **तां तिरोधाम् उपजीवन्ति**=उस शक्ति के आच्छादान की वृत्ति को—शत्रु-पराजय की वृत्ति को ही जीवनाधार बनाते हैं। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार शक्ति के अन्तरधान के महत्त्व को व कामरूप शत्रु को पराजित करने के महत्त्व को समझ लेता है, वह **सर्वं पाप्मानं तिरोधत्ते**=वह सारे पाप को पराजित कर डालता है तथा **उपजीवनीयः भवति**=औरों के जीवन में भी सहायक होता है।

भावार्थ—विशिष्ट शासन-व्यवस्था होने पर कामवासना को पराजित करनेवाला व्यक्ति अपने अन्दर शक्ति को आच्छादित करता है और विशिष्ट ज्ञानवाला बनता है। यह पाप को

पराजित करता हुआ अपने जीवन को सुन्दर बनाता है और औरों के लिए सहायक होता है।

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**१३ चतुष्पदासाम्नीजगती, १४ साम्नीबृहती, १५ साम्न्यनुष्टुप्, १६ आर्च्यनुष्टुप्** ॥

सर्पों द्वारा विष-दोहन

सोद॑क्राम॒त्सा स॒र्पानाग॑च्छ॒त्तां स॒र्पा उपा॑ह्वयन्त॒ विष॑व॒त्येहीति॑॥ १३ ॥
तस्या॑स्त॒क्षको वैशाले॒यो व॒त्स आसी॑दलाबुपा॒त्रं पात्र॑म्॥ १४॥
तां धृ॒तरा॑ष्ट्र ऐराव॒तो ऽधो॒क्तां वि॒षमे॒वाधो॑क्॥ १५॥
तद्वि॒षं स॒र्पा उप॑ जीवन्त्युपजीव॒नीयो॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑॥ १६॥

१. **सा उदक्रामत्**=वह विराट् उत्क्रान्त हुई। **सा सर्पान् आगच्छत्**=वह (सृप गतौ) गतिशील व्यक्तियों को प्राप्त हुई। **ताम्**=उस विराट् को **सर्पाः उपाह्वयन्त**=इन गतिशील पुरुषों ने पुकारा कि **विषवति एहि इति**=(विषम्=जलम्) हे प्रशस्त जलवाली! आओ तो। उत्तम राष्ट्र-व्यवस्था में पानी का समुचित प्रबन्ध होता है। **तस्याः**=उस विराट् का **वत्सः**=प्रिय वह क्रियाशील व्यक्ति **तक्षकः**=(तक्षक त्विषेर्वा) ज्ञान की दीप्तिवाला व **वैशालेयः**=उदार चित्तवृत्तिवाला (विशाला का पुत्र) **आसीत्**=था। इसका **पात्रम्**=यह रक्षणीय शरीर **अलाबुपात्रम्**=(लबि अवस्रंसने) न चूनेवाली शक्ति का पात्र होता है। इसके शरीर से शक्ति का अवस्रंसन नहीं होता। २. **ताम्**=उस विराट् को **धृतराष्ट्रः**=शरीररूप राष्ट्र का धारण करनेवाले **ऐरावतः**=(इरा-Water) प्रशस्त जलवाले—प्रशस्त जल से शरीर को नीरोग रखनेवाले ने **अधोक्**=दुहा। **तां विषम् एव अधोक्**=उसने प्रशस्त जल का ही दोहन किया। **सर्पाः**=वे क्रियाशील जीवनवाले व्यक्ति **तत् विषम् उपजीवन्ति**=उस जल के आधार से जीवन-यात्रा को सुन्दरता से निभाते हैं। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार जल के महत्त्व को समझता है, वह अपने तथा **उपजीवनीयः भवति**=औरों के लिए जीवन में सहायक होता है।

भावार्थ—उत्तम राष्ट्र-व्यवस्था होने पर क्रियाशील व्यक्ति प्रशस्त जल पाकर जीवन को स्वस्थ बना पाते हैं। ये शरीररूप राष्ट्र का उस प्रशस्त जल द्वारा धारण करते हुए औरों के लिए भी सहायक होते हैं।

१०. [दशमं सूक्तम्, षष्ठः पर्यायः]

ऋषिः—**अथर्वाचार्यः** ॥ देवता—**विराट्** ॥ छन्दः—**१ त्रिपदाविराड्गायत्री, २ द्विपदासाम्नीत्रिष्टुप्, ३ द्विपदाप्राजापत्यानुष्टुप्, ४ द्विपदाऽऽर्च्यनुष्टुप्** ॥

विषम्=जलम् (आपः रेतो भूत्वा०)

तद्यस्मा॑ ए॒वं वि॒दुषे॑ऽलाबु॒नाऽभिषि॒ञ्चेत्प्र॒त्याह॑न्यात्॥ १ ॥
न च॑ प्र॒त्याह॒न्यान्मन॑सा त्वा प्र॒त्याह॒न्मीति॑ प्र॒त्याह॑न्यात्॥ २ ॥
यत्प्र॑त्याह॒न्ति॑ वि॒षमे॒व तत्प्र॒त्याह॑न्ति॥ ३ ॥
वि॒षमे॒वास्याप्रि॑यं॒ भ्रातृ॑व्यमनु॒विषि॑च्यते॒ य ए॒वं वेद॑॥ ४॥

१. **यस्मै**=जिस **एवं विदुषे**=इसप्रकार जल के महत्त्व को समझनेवाले व्यक्ति के लिए **अलाबुना**=न चूने के द्वारा **तत्**=उस जल का—'**आपः रेतो भूत्वा०**' रेतःकणों का **अभिषिञ्चेत्**=सेचन करे, अर्थात् यदि प्रभुकृपा से रेतःकणरूप इन जलों का अवस्रंसन न होकर शरीर में अभिसेचन हो तो वह **प्रत्याहन्यात्**=प्रत्येक रोग का विनाश करता है **च**=और **न**

प्रत्याहन्यात्=प्रत्येक रोग का विनाश न भी कर पाये तो भी **मनसा**=मन से '**त्वा प्रत्याहन्मि इति**' **प्रत्याहन्यात्**=तुझे नष्ट करता हूँ, इसप्रकार नष्ट करनेवाला हो। रोग से अभिभूत न होकर वह रोग को अभिभूत करनेवाला बने। मन में 'स्वस्थ हो जाने' का पूर्ण निश्चय रक्खे। २. **यत् प्रत्याहन्ति**=जो तत्त्व रोगों का नाश करता है **तत्**=वह **विषम् एव**=जलरूप रेतःकण ही उन्हें **प्रत्याहन्ति**=नष्ट करता है। वस्तुतः रेतःकण ही रोगों का नाश करते हैं। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार **विषम्**=जल—रेतःकणों के महत्त्व को समझा लेता है, **अस्य**=इसके **अप्रियं भ्रातृव्यम्**=अप्रीतिकर शत्रु (रोगरूप शत्रु) को **अनु**=लक्ष्य करके **विषम् एव विषिच्यते**=यह जल शरीर में सिक्त किया जाता है। शरीर-सिक्त रेतःकण रोग-शत्रुओं के विनाश का कारण बनते हैं।

भावार्थ—जब मनुष्य रेतःकणों के महत्त्व को समझ लेता है तब इनका अवस्रंसन न होने देकर इन्हें शरीर में ही सिक्त करता है। शरीर-सिक्त रेतःकण रोगों का विनाश करते हैं। इनके रक्षण से रोगी का मन रोगाभिभूत नहीं होता।

अथैकोनविंशः प्रपाठकः॥

॥इत्यष्टमं काण्डम्॥

अथ नवमं काण्डम्

अथ विंशः प्रपाठकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मधुकशा

दिवस्पृथिव्या अन्तरिक्षात्समुद्रादग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे।
तां चायित्वाऽमृतं वसानां हृद्भिः प्रजाः प्रति नन्दन्ति सर्वाः ॥ १ ॥

१. 'कशा' वाणी का नाम है। सारभूत मधुरज्ञान को 'मधु' कहा गया है। वेदवाणी मधुकशा है। यह सारभूत ज्ञान देनेवाली है। इस ज्ञान को प्राप्त करके प्रभु-दर्शन करनेवाला 'अथर्वा' प्रथम दो सूक्तों का ऋषि है। यह **मधुकशा**=वेदवाणी **दिवः पृथिव्याः अन्तरिक्षात्**=द्युलोक, पृथिवीलोक तथा अन्तरिक्षलोक के हेतु से—इन सबका ज्ञान प्राप्त कराने के हेतु से **समुद्रात् अग्नेः वातात्**=समुद्र, अग्नि व वायु के हेतु से—इन सबका तात्त्विक ज्ञान देने के हेतु से **हि**=निश्चय से **जज्ञे**=प्रादुर्भूत हुई है। प्रभु इसका प्रकाश सब लोक-लोकान्तरों के ज्ञान के हेतु से करते हैं। २. **ताम्**=उस **अमृतं वसानाम्**=अमृतत्त्व (नीरोगता) को अपने द्वारा आच्छादित करनेवाली—नीरोगता प्राप्त करानेवाली वेदवाणी को **चायित्वा**=(चायृ पूजानिशामनयोः) सुनकर—इसके ज्ञान का श्रवण करके **सर्वाः प्रजाः**=सब प्रजाएँ **हृद्भिः प्रतिनन्दन्ति**=हृदयों से आनन्दित होती हैं। यह वेदवाणी हृदयों में उल्लास पैदा करती है।

भावार्थ—यह वेदवाणी सब लोकों और लोकस्थ सब पदार्थों का ज्ञान देकर हमें नीरोगता व अमरता प्राप्त कराती है। यह हृदयों में उल्लास पैदा करती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुब्गर्भापङ्क्तिः** ॥

प्राण+अमृतम्

महत्पयो विश्वरूपमस्याः समुद्रस्य त्वोत रेत आहुः।
यत ऐति मधुकशा रराणा तत्प्राणस्तदमृतं निविष्टम् ॥ २ ॥

१. **अस्याः**=इस मधुकशा—वेदवाणी का **पयः**=ज्ञानदुग्ध **महत्**=महनीय—पूजनीय है और **विश्वरूपम्**=सब पदार्थों का निरूपण करनेवाला है **उत**=और हे मधुकशे! **त्वा**=तुझे **समुद्रस्य**=(स मुद्) उस आनन्दमय प्रभु का **रेतः आहुः**=रेतस् (वीर्य) कहते हैं। ज्ञान ही प्रभु की शक्ति है। सर्वज्ञ होने से वे प्रभु सर्वशक्तिमान् हैं (knowledge is power)। २. **यतः**=जिधर से यह **मधुकशा**=वेदवाणी **रराणा**=ज्ञानोपदेश करती हुई—ज्ञान देती हुई **आ एति**=गति करती है, **तत्**=वह ज्ञान **प्राणः**=प्राणरूप होता हुआ, **तत्**=वह ज्ञान **अमृतम्**=अमृत (आरोग्य दाता) होता हुआ **निविष्टम्**=स्थापित होता है। वह वेदज्ञान प्राण व अमृतत्त्व को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—महनीय वेदज्ञान संसार के सब पदार्थों का निरूपण करता है। यह ज्ञान ही प्रभु की शक्ति है। जहाँ यह वेदज्ञान होता है, वहाँ प्राणशक्ति और नीरोगता का निवास होता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**पराऽनुष्टुप्** ॥

वेदार्थ की बहुधा मीमांसा

पश्यन्त्यस्याश्चरितं पृथिव्यां पृथङ्नरो बहुधा मीमांसमानाः।
अग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे मरुतामुग्रा नप्तिः ॥ ३ ॥

१. **पृथक्**=अलग-अलग **बहुधा मीमांसमानाः**=नाना प्रकार से विचार करते हुए **नरः**=मनुष्य **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर **अस्याः**=इस वेदवाणी के **चरितं पश्यन्ति**=विस्तार को—ज्ञान को देखते हैं (ऋ गतौ, गतिः ज्ञानम्)। कोई एक मनुष्य वेद के पूर्ण ज्ञान को देखनेवाला नहीं होता। किसी को किसी अर्थांश का स्पष्टीकरण होता है, किसी को किसी अन्य अर्थांश का। किसी ने आधिदैविक अर्थ को देखा तो किसी ने आधिभौतिक और तीसरे ने आध्यात्मिक अर्थ पर ही बल दिया। २. यह **मधुकशा**=वेदवाणी **हि**=निश्चय से **अग्नेः वातात् जज्ञे**=अग्नि व वायु आदि पदार्थों के ज्ञान के हेतु से प्रादुर्भूत होती है। यह मधुकशा **मरुताम्**=प्राणसाधक पुरुषों की **उग्रा नप्तिः**=तेजस्विनी, न गिरने देनेवाली शक्ति है (न पातयित्री)। प्राणसाधक पुरुष इस वेदज्ञान को प्राप्त करके उत्थान की ओर ही चलते हैं।

भावार्थ—वेदवाणी के विचारक इसके विविध अर्थों को देखनेवाले होते हैं। इस वेदवाणी द्वारा प्रभु अग्नि-वायु आदि पदार्थों के ज्ञान का प्रकाश करते हैं। यह वेदवाणी प्राणसाधक पुरुषों को तेजस्वी बनाकर उन्हें उन्नत करती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

हिरण्यवर्णा मधुकशा

मातादित्यानां दुहिता वसूनां प्राणः प्रजानाममृतस्य नाभिः।
हिरण्यवर्णा मधुकशा घृताची महान्भर्गश्चरति मर्त्येषु ॥ ४ ॥

१. यह **मधुकशा**=वेदवाणी **आदित्यानां माता**=आदित्यों की—'प्रकृति, जीव व परमात्मा' के ज्ञान को अपने अन्दर लेनेवालों की निर्मात्री है। इसका अध्येता सब ज्ञानों का अपने अन्दर उपादान करता है, क्योंकि यह सब विद्याओं का भण्डार तो है ही। यह **वसूनां दुहिता**=निवास के लिए आवश्यक सब तत्त्वों की प्रपूरिका है—यह शरीर को स्वस्थ, मन को निर्मल व मस्तिष्क को दीप्त करती है। यह वेदवाणी वस्तुतः **प्रजानां प्राणः**=प्रजाओं का प्राण ही है—सब प्रजाओं को प्राणशक्ति-सम्पन्न करती है। वेदवाणी हमें विलास से दूर करके विनाश से बचाती है। इसप्रकार यह **अमृतस्य नाभिः**=अमृत का केन्द्र है—हममें अमृतत्व को बाँधनेवाली है (णह बन्धने)। २. **हिरण्यवर्णा**=हित-रमणीय ज्ञानों का वर्णन करनेवाली है, **घृताची**=मल-क्षरण व ज्ञान-दीप्ति को प्राप्त करानेवाली है (घृ क्षरणदीप्त्योः)। यह मधुकशा महान् **भर्गः**=महनीय तेज है—महनीय प्रभु का प्रकाश है, यह **मर्त्येषु चरति**=मानवों के निमित्त—मानवमात्र के हित के लिए गतिवाली होती है। यह मधुकशा मनुष्य को ठीक ज्ञान देती हुई, कर्त्तव्य-मार्ग का दर्शन कराती हुई, उसका कल्याण करती है।

भावार्थ—वेदवाणी आदित्यों की माता है, वसुओं की दुहिता, प्रजाओं का प्राण व अमृत की नाभि है। यह हिरण्यवर्णा, घृताची, मधुकशा एक महान् तेज है, जो मानवमात्र के हित में प्रवृत्त है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

जात+तरुण

मधोः कशामजनयन्त देवास्तस्या गर्भो अभवद् विश्वरूपः।
तं जातं तरुणं पिपर्ति माता स जातो विश्वा भुवना वि चष्टे॥ ५॥

१. **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **मधोः कशाम् अजनयन्त**=मधुविद्या की कशा (वेदवाणी) को अपने में प्रादुर्भूत करते हैं, इनके हृदयों में वेदवाणी का प्रकाश होता है। **तस्याः**=उस वेदवाणी का **गर्भः**=ग्रहण **विश्वरूपः अभवत्**=सब पदार्थों का निरूपण करनेवाला होता है। २. **माता**=यह वेदमाता **तम्**=वेदवाणी के धारण करनेवाले **जातम्**=प्रादुर्भूत शक्तियोंवाले तथा **तरुणम्**=वासनाओं को तैरनेवाले को **पिपर्ति**=पालित व पूरित करती है। वेद का धारण इस व्यक्ति को विकसित शक्तियोंवाला व वासनाओं को तैरनेवाला बनाता है। **सः**=वह **जातः**=प्रादुर्भूत शक्तियोंवाला व्यक्ति **विश्वा भुवना विचष्टे**=सब प्राणियों को देखता है—सबका ध्यान करता है।

भावार्थ—देववृत्ति के व्यक्तियों के हृदयों में वेदवाणी का प्रकाश होता है। इससे वे सब पदार्थों के तत्त्वज्ञान को प्राप्त करते हैं। उनकी शक्तियों का विकास होता है। वे वासनाओं को तैरनेवाले होते हैं और सब प्राणियों का ध्यान करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अतिशक्वरीगर्भायवमध्यामहाबृहती** ॥

ब्रह्मा+सुमेधाः

कस्तं प्र वेद क उ तं चिकेत यो अस्या हृदः कलशः सोमधानो अक्षितः।
ब्रह्मा सुमेधाः सो अस्मिन्मदेत॥ ६॥

१. **यः**=जो व्यक्ति **अस्याः**=इस मधुकशा (वेदवाणी) के **हृदः**=सार का (The essence of anything) **कलशः**=घट बनता है, अर्थात् वेदवाणी के सार को धारण करता है, **सोमधानः**=सोमशक्ति को अपने में धारण करता है, **अक्षितः**=रोग आदि से क्षीण नहीं होता, वह **कः**=कोई विरल व्यक्ति ही **तं प्रवेद**=उस प्रभु को जानता है **उ**=और **कः**=वह विरल व्यक्ति ही **तं चिकेत**=(कित निवासे) उस प्रभु में निवास करता है। प्रभु के ज्ञान के लिए आवश्यक है कि हम (क) वेदज्ञान को धारण करें, (ख) सोम को सुरक्षित करें, (ग) रोग आदि से शरीर को क्षीण न होने दें। २. यह 'नीरोग, वासनाशून्य हृदयवाला ज्ञानी' ही **ब्रह्मा**=सर्वोत्तम सात्त्विक ज्ञानी बनता है। **सः**=वह **सुमेधाः**=उत्तम मेधावाला ब्रह्मा **अस्मिन् मदेत**=इस वेदज्ञान में व प्रभु में आनन्दित होता है, रमण करता है।

भावार्थ—वेदवाणी के सार को धारण करनेवाला, सोम का रक्षण करनेवाला, अक्षीणशक्ति सुमेधा 'ब्रह्मा' ही वेदज्ञान व प्रभु में रमण करनेवाला होता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अतिजगतीगर्भायवमध्यामहाबृहती** ॥

'सहस्रधारौ अक्षितौ' स्तनौ

स तौ प्र वेद स उ तौ चिकेत यावस्याः स्तनौ सहस्रधारावक्षितौ।
ऊर्जं दुहाते अनपस्फुरन्तौ॥ ७॥

१. इस मधुकशा (वेदधेनु) के दो स्तन हैं। एक स्तन प्रकृति का ज्ञानदुग्ध देता है तो दूसरा आत्मतत्त्व का ज्ञानदुग्ध प्राप्त कराता है। **यौ**=जो **अस्याः**=इस वेदधेनु के **स्तनौ**=ज्ञानदुग्ध देनेवाले स्तन हैं, वे **सहस्रधारौ**=हज़ारों प्रकार से हमारा धारण करनेवाले हैं और **अक्षितौ**=हमें क्षीण न होने देनेवाले हैं। ये स्तन हममें **ऊर्जं दुहाते**=बल व प्राणशक्ति का प्रपूरण करते हैं तथा

अनपस्फुरन्तौ=(स्फुर सञ्चलने, not refusing to be milked) सदा ज्ञानदुग्ध देनेवाले हैं। २. **यः**=वह गतमन्त्र का 'सुमेधा ब्रह्मा' ही **तौ प्रवेद**=वेदधेनु के उन स्तनों को प्रकर्षेण जाननेवाला है, **उ**=और **सः**=वह ही **तौ चिकेत**=उनमें निवास करता है अथवा उनसे ज्ञानदुग्ध प्राप्त करता है।

भावार्थ—वेदधेनु के दोनों स्तन हमें ज्ञान देकर हज़ारों प्रकार से हमारा धारण करते हैं। वे हमें क्षीण नहीं होने देते, हममें बल व प्राणशक्ति का प्रपूरण करते हैं, सदा ज्ञानदुग्ध देते हैं। सुमेधा ब्रह्मा ही इन्हें जानता है और इनसे ज्ञानदुग्ध प्राप्त करता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भासंस्तारपङ्क्तिः** ॥

हिंकरिक्रती—उच्चैर्घोषा

हिङ्करिक्रती बृहती वयोधा उच्चैर्घोषाऽभ्येति या व्रतम्।
त्रीन्घर्मानभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः ॥ ८ ॥

१. **हिंकरिक्रती**=(हि गतिवृद्ध्योः) गति व वृद्धि करनेवाली यह वेदधेनु **बृहती**=वृद्धि का कारण बनती है और **वयोधाः**=उत्कृष्ट जीवन का धारण करती है। **या**=जो यह **उच्चैः घोषा**=उच्च घोषवाली—यह वेदधेनु ज्ञान की वाणियों का गर्जन करनेवाली है, वह **व्रतम् अभि एति**=व्रतमय जीवनवाले पुरुष को प्राप्त होती है। व्रती पुरुष इस वेदधेनु को प्राप्त करता है। २. **त्रीन् घर्मान् अभिवावशाना**=जीवन के 'प्रातः, माध्यन्दिन व सायन्तन'—इन तीनों सवनों का लक्ष्य करके ज्ञान की वाणियों का प्रतिपादन करती हुई यह वेदवाणी **मायुं मिमाती**=शब्द करती है तथा **पयोभिः पयते**=ज्ञानदुग्धों के साथ हमें प्राप्त होती है।

भावार्थ—वेदधेनु व्रतमय जीवनवालों को ज्ञानदुग्ध प्राप्त कराती है तथा ज्ञान-वाणियों के द्वारा ज्ञानदुग्ध देती हुई उनका वर्धन करती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**पराबृहतीप्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

शाक्वराः, वृषभाः, स्वराजः

यामापीनामुपसीदन्त्यापः शाक्वरा वृषभा ये स्वराजः।
ते वर्षन्ति ते वर्षयन्ति तद्विदे काममूर्जमापः ॥ ९ ॥

१. **शाक्वराः**=शक्तिशाली, **वृषभाः**=अपने में शक्ति का सेचन करनेवाले **स्वराजः**=अपना शासन करनेवाले **आपः**=आप्त पुरुष **याम्**=जिस **आपीनाम्**=सर्वतः आप्यायित वेदधेनु के **उपसीदन्ति**=समीप उपस्थित होते हैं, उसके उपस्थान से **ते वर्षन्ति**=वे अपने में 'शक्ति, ज्ञान व आनन्द' का सेचन करते हैं और **ते**=वे वृषभ **तत् विदे**=उस वेदवाणी को जाननेवाले के लिए **कामम्**=आनन्द को **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को तथा **आपः**=ज्ञानजलों को **वर्षयन्ति**=सिक्त करते हैं, बरसाते हैं।

भावार्थ—हम आत्मशासन द्वारा अपने में शक्ति का सेचन करते हुए शक्तिशाली बनें। शक्तिशाली बनकर ज्ञानदुग्ध से भरपूर वेदधेनु का उपासन करें। यह उपासन हममें 'शक्ति, ज्ञान व आनन्द' का सेचन करनेवाला होगा।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**पुरउष्णिक्पङ्क्तिः** ॥

ज्ञान+शक्ति (वाक् शुष्मम्)

स्तनयित्नुस्ते वाक्प्रजापते वृषा शुष्मं क्षिपसि भूम्यामधि।
अग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे मरुतामुग्रा नप्तिः ॥ १० ॥

१. हे **प्रजापते**=प्रजाओं के रक्षक प्रभो! **ते वाक्**=आपकी वाणी **स्तनयित्नुः**=मेघ-गर्जना के

समान है (हरिरेति कनिक्रदत्०), सबसे सुनने के योग्य है, परन्तु दौर्भाग्यवश सामान्यतः लोग इसे सुनते नहीं। **वृषा**=शक्तिशाली आप **भूम्याम्**=हमारे शरीरों में **शुष्मं अधिक्षपसि**=शक्ति प्रेरित करते हैं। २. **मधुकशा**=मधुरता से ज्ञान का उपदेश करनेवाली वेदवाणी **अग्नेः वातात् हि जज्ञे**=अग्नि-वायु आदि पदार्थों के ज्ञान के हेतु से ही प्रादुर्भूत की गई है। प्रभु ने इन पदार्थों को प्राप्त कराया है तथा वेदवाणी द्वारा इनका ज्ञान दिया है। यह वेदवाणी **मरुताम्**=प्राणसाधकों की **उग्रा नप्तिः**=तेजस्विनी व न गिरने देनेवाली शक्ति है। वेदवाणी द्वारा ये प्राणसाधक सदा उत्थान के पद पर ही चलते हैं।

भावार्थ—प्रभु की वाणी मेघ-गर्जना के समान है। उसे न सुनना हमारा दुर्भाग्य ही है। प्रभु हमें शक्ति प्राप्त कराते हैं और अग्नि, वायु आदि पदार्थों का वेदवाणी द्वारा ज्ञान देते हैं। यह वेदवाणी प्राणसाधक पुरुषों को तेजस्वी व उन्नत बनाती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अश्विनोः, इन्द्राग्न्योः, ऋभूणाम्

यथा सोमः प्रातःसवने अश्विनोर्भवति प्रियः।
एवा मे अश्विना वर्च आत्मनि ध्रियताम्॥ ११॥
यथा सोमो द्वितीये सवन इन्द्राग्न्योर्भवति प्रियः।
एवा म इन्द्राग्नी वर्च आत्मनि ध्रियताम्॥ १२॥
यथा सोमस्तृतीये सवन ऋभूणां भवति प्रियः।
एवा म ऋभवो वर्च आत्मनि ध्रियताम्॥ १३॥

१. जीवन में प्रथम २४ वर्ष ही जीवन-यज्ञ का प्रातःसवन है। **यथा**=जैसे इस **प्रातःसवने**=प्रातःसवन में **सोमः**=शरीर में रस, रुधिर आदि क्रम से उत्पन्न सोम **अश्विनोः**=प्राणापान के साधकों का **प्रियः भवति**=प्रिय होता है। सोमरक्षण से ही प्राणापान की शक्ति बढ़ती है और प्राणसाधना से सोम का रक्षण होता है, **एव**=इसी प्रकार हे **अश्विना**=प्राणापानो! **मे आत्मनि**=मेरी आत्मा में **वर्चः ध्रियताम्**=ब्रह्मवर्चस्=ज्ञानप्रकाश का धारण किया जाए। हम जीवन के इस प्रथम आश्रम में प्राणसाधना द्वारा सोमरक्षण करते हुए ब्रह्मवर्चस्वाले बनें—ज्ञान संचय करें। २. जीवन के अगले ४४ वर्ष माध्यन्दिन सवन है। गृहस्थ का काल ही माध्यन्दिन सवन है। **यथा**=जैसे **द्वितीये सवने**=जीवन के द्वितीये (माध्यन्दिन) सवन में **सोमः**=सोम **इन्द्राग्न्योः प्रियः भवति**=इन्द्र और अग्नि का प्रिय होता है, अर्थात् जितेन्द्रिय (इन्द्र) व प्रगतिशील (अग्नि) बनकर एक गृहस्थ भी सोम का रक्षण कर पाता है, **एव**=इसी प्रकार हे **इन्द्राग्नी**= जितेन्द्रियता व प्रगतिशीलता! **मे आत्मनि**=मेरे आत्मा में **वर्चः**=शक्ति **ध्रियताम्**=धारण की जाए। गृहस्थ में भी जितेन्द्रिय व प्रगतिशील बनकर हम शक्तिशाली बने रहें। ३. जीवन के अन्तिम ४८ वर्ष जीवन का तृतीय सवन है। **यथा**=जैसे इस **तृतीये सवने**=तृतीय सवन में वानप्रस्थ व संन्यास में **सोमः ऋभूणां प्रियः भवति**=सोम ऋभुओं का (ऋतेन भान्ति, उरु भान्ति वा) प्रिय होता है। ये ऋभु वानप्रस्थ में नित्य स्वाध्याययुक्त होकर ज्ञान से खूब ही दीप्त होते हैं तथा संन्यास में पूर्ण सत्य का पालन करते हुए सत्य से देदीप्यमान होते हैं, **एव**=इसी प्रकार से **ऋभवः**=ज्ञानदीप्त व सत्यदीप्त व्यक्तियो! **मे आत्मनि वर्चः ध्रियताम्**=मेरी आत्मा में भी वर्चस् का धारण किया जाए। ज्ञानदीप्ति व सत्यदीप्ति से मेरा जीवन भी दीप्त हो।

भावार्थ—हम जीवन में प्रथमाश्रम में प्राणसाधना द्वारा प्राणापान की शक्ति का वर्धन करते हुए सोम का रक्षण करें। गृहस्थ में भी जितेन्द्रिय व प्रगतिशील बनकर सोमी बनें तथा अन्त

में ज्ञान व सत्य से दीप्त बनकर सोम-रक्षण द्वारा वर्चस्वी बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**पुरउष्णिक्** ॥

मधु जनिषीय, मधु वंशिषीय

मधु जनिषीय मधु वंशिषीय। पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा ॥ १४ ॥

१. **मधु जनिषीय**=मैं अपने जीवन में सोम का रक्षण करता हुआ वर्चस्वी बनकर मधु को ही प्रादुर्भूत करूँ, अर्थात् सदा मधुर शब्द ही बोलूँ, **मधु वंशिषीय**=मधु की ही याचना करूँ, अर्थात् मेरा स्वभाव मधुर ही हो। हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! मैं **पयस्वान्**=प्रशस्त ज्ञानदुग्धवाला व शक्तियों को बढ़ानेवाला होकर **आगमम्**=आपके समीप प्राप्त होता हूँ। **तं मा**=उस मुझे आप **वर्चसा संसृज**=वर्चस् से युक्त कीजिए। वर्चस्वी बनकर ही मैं मधुर बन पाऊँगा।

भावार्थ—मैं जीवन में मधुर शब्द ही बोलूँ, मधुरता की ही याचना करूँ। मैं शक्तियों को आप्यायित करके प्रभु को प्राप्त होऊँ, प्रभु मुझे वर्चस्वी बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वर्चसा, प्रजया, आयुषा

सं माऽग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा।
विद्युर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात्सह ऋषिभिः ॥ १५ ॥

१. इस मन्त्र की व्याख्या ७।९।३ पर द्रष्टव्य है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**१६ अनुष्टुप्, १७ उपरिष्टाद्विराड्बृहती** ॥

मधुकृतः, मक्षाः

यथा मधु मधुकृतः संभरन्ति मधावधि।
एवा मे अश्विना वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥ १६ ॥
यथा मक्षा इदं मधु न्यञ्जन्ति मधावधि।
एवा मे अश्विना वर्चस्तेजो बलमोजश्च ध्रियताम् ॥ १७ ॥

१. **यथा**=जिस प्रकार **मधौ**=मधुमास या वसन्तकाल में **मधुकृतः**=भ्रमर **मधु**=मधुरस को **अधिसंभरन्ति**=आधिक्येन संगृहीत करते हैं, **एव**=इसी प्रकार हे **अश्विना**=प्राणापानो! **मे आत्मनि वर्चः ध्रियताम्**=मेरी आत्मा में वर्चस् का धारण किया जाए। २. **यथा**=जिस प्रकार **मक्षाः**=मधुमक्खियाँ **मधौ**=मधुमास या वसन्तकाल में **इदं मधु**=इस मधुरस को **अधिन्यञ्जन्ति**=(अञ्ज गतौ) आधिक्येन प्राप्त करती है, **एव**=इसी प्रकार **अश्विना**=हे प्राणापानो! **मे आत्मनि**=मेरी आत्मा में **वर्चः तेजः बलम् ओजः च**=ब्रह्मवर्चस्, तेज, बल और ओज **ध्रियताम्**=धारण किये जाएँ।

भावार्थ—जैसे भ्रमर और मधुमक्षिकाएँ थोड़ा-थोड़ा करके मधु का सञ्चय करती हैं, इसी प्रकार हम प्राणसाधना करते हुए 'वर्चस्, तेज, ओज व बल' को धारण करनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

माधुर्य

यद्गिरिषु पर्वतेषु गोष्वश्वेषु यन्मधु। सुरायां सिच्यमानायां यत्तत्र मधु तन्मयि ॥ १८ ॥

१. **यत्**=जो **मधु**=मधुररस—जीवनप्रद ओषधियों का रस **गिरिषु**=बड़े-बड़े पर्वतों में है, **यत्**=जो **पर्वतेषु**=छोटे पर्वतों पर ओषधियों व फलों का रस है, **यत् मधु**=जो मधुरस **गोषु अश्वेषु**=गौओं में मधुर दूध का तथा तीव्र वेगवाले घोड़ों में जो विजय-लक्ष्मी का मधुर आनन्द

है, इसी प्रकार **सिच्यमानायाम्**=पृथिवी पर मेघों से सिक्त किये जाते हुए **सुरायाम्**=वृष्टिजल में **यत्**=जो **तत्र मधु**=वहाँ मधु है, **तत् मयि**=वह मधु मुझमें भी हो।

भावार्थ—जिस प्रकार पर्वतों की ओषधियों में मधुर रस है, जैसे गोदुग्ध में मधुरता है, घोड़े की तीव्र गति में जो विजय-लक्ष्मी का मधु है तथा मेघ-सिक्त वृष्टिजल में जो माधुर्य है, वही माधुर्य मेरी वाणी में भी हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सारघेण मधुना

अश्विना सारघेण मा मधुनाऽङ्क्तं शुभस्पती।
यथा वर्चस्वतीं वाचमावदानि जनाँ अनु॥ १९॥

१. हे **शुभस्पती**=हमारे जीवनों में शुभ का रक्षण करनेवाले **अश्विना**=प्राणापानो! **मा**=मुझे **सारघेण मधुना**=(सारं धारयति संग्राहयति) सार को प्राप्त करानेवाले मधुर ज्ञान से **अंक्तम्**=अलंकृत कीजिए अथवा मधुमक्षिकाओं से संगृहीत (सारघ) मधु से अलंकृत कीजिए। **यथा**=जिससे **जनान् अनु**=लोगों के प्रति **वर्चस्वतीं वाचम् आवदानि**=तेजस्विनी वाणी को बोलूँ। मेरी वाणी में भी वैसा ही माधुर्य हो जैसाकि 'सारघ मधु' में है।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा ज्ञानी बनकर मैं मधुर व तेजस्विनी वाणी ही बोलूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**भुरिक्विष्टारपङ्क्तिः** ॥

इषम्, ऊर्जम्

स्तनयित्नुस्ते वाक्प्रजापते वृषा शुष्मं क्षिपसि भूम्यां दिवि।
तां पशव उप जीवन्ति सर्वे तेनो सेषमूर्जं पिपर्ति॥ २०॥

१. हे **प्रजापते**=प्रजाओं के रक्षक प्रभो! **ते वाक् स्तनयित्नुः**=आपकी वाणी मेघगर्जन के समान गम्भीर है। आप **वृषा**=समस्त सुखों के वर्षक हो। **भूम्याम्**=इस भूमि पर **दिवि**=तथा द्युलोक में आप **शुष्मं क्षिपसि**=बल को प्रेरित करते हैं। शरीर (भूमि) तथा मस्तिष्क (द्युलोक) को आप सबल बनाते हैं। २. **ताम्**=आपकी उस वाणी को ही आधार बनाकर **सर्वे पशवः उपजीवन्ति**=सब तत्त्वद्रष्टा (पश्यन्ति इति पशवः) जीवित होते हैं—अपने जीवन का आधार उस वाणी को ही बनाते हैं। **तेन उ**=उस जीवन को देने के हेतु से ही **सा**=वह वाणी **इषम्**=मस्तिष्क में सत्कर्म की प्रेरणा को तथा शरीर में **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को **पिपर्ति**=पूरित करती है। इस शक्ति के द्वारा ही हम उस प्रेरणा को अपने जीवन का अङ्ग बना पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु की वाणी मेघगर्जन के समान है। वे सुखवर्षक प्रभु हमारे मस्तिष्क व शरीर को सबल बनाते हैं। सब तत्त्वद्रष्टा प्रभु की वाणी को ही अपने जीवन का आधार बनाते हैं। यह वाणी मस्तिष्क में प्रेरणा और शरीर में शक्ति को पूरित करती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मधु, अश्विनौ** ॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽर्च्यनुष्टुप् (एकावसाना)** ॥

पृथिवी दण्डः, हिरण्ययो बिन्दुः

पृथिवी दण्डो३ऽन्तरिक्षं गर्भो द्यौः कशा विद्युत्प्रकशो हिरण्ययो बिन्दुः॥ २१॥

१. गतमन्त्र में कथित प्रजापति का **पृथिवी दण्डः**=पृथिवी दमन स्थान है (दमनात् दण्डः)। सब प्राणी अपना कर्मफल भोगने के लिए पृथिवी पर ही आते हैं। **अन्तरिक्षं गर्भः**=अन्तरिक्ष प्रजापति का गर्भ है। इसमें ही सब लोक स्थित हैं। **द्यौः कशा**=द्युलोक सूर्य द्वारा सबको कर्मों में प्रेरित करता है। सूर्य-किरणें ही प्रजापति के हाथ हैं, उनसे वह सबको जगाता-सा है (कशा

चाबुक)। २. **विद्युत् प्रकशः**=विद्युत् उस प्रभु की प्रकृष्ट ध्वनि है (कश् to sound)। विद्युत् गर्जन मनुष्य को विद्युत् के समान ही शक्तिशाली बनने की प्रेरणा दे रहा है। **हिरण्ययः बिन्दुः**=तैजस् सूर्य आदि उस प्रभु के वीर्य-बिन्दु के समान हैं। ये हमें यही तो प्रेरणा कर रहे हैं कि तुम इस बिन्दु (वीर्य) के रक्षण से ही हिरण्यय=ज्योतिर्मय बनोगे।

भावार्थ—यह पृथिवी प्रजापति का दमन स्थान है, अन्तरिक्ष सब लोकों का आधार (गर्भरूप) है, द्युलोक सूर्यप्रकाश द्वारा कर्म का प्रेरक है। विद्युत् अपने समान प्रकाशमय बनने की प्रेरणा दे रही है और ज्योतिर्मय पदार्थ प्रभु के वीर्य-बिन्दु हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मधु, अश्विनौ**॥ छन्दः—**द्विपदाब्राह्मीपुरउष्णिक्**॥

सप्त मधूनि

यो वै कशायाः सप्त मधूनि वेद मधुमान्भवति।
ब्राह्मणश्च राजा च धेनुश्चानड्वांश्च व्रीहिश्च यवश्च मधु सप्तमम्॥ २२॥

१. **यः**=जो **वै**=निश्चय से **कशायाः**=वेदवाणी के—वेद में प्रतिपादित **सप्त**=सात **मधुनि**=मधुओं को **वेद**=जानता है, वह **मधुमान् भवति**=प्रशस्त मधुवाला—अत्यन्त मधुर जीवनवाला होता है। २. वेदवाणी के सात मधु ये हैं—**ब्राह्मणः च राजा च**=ब्राह्मण और राजा, अर्थात् ब्रह्म और क्षत्र। मनुष्य को ब्रह्म और क्षत्र दोनों का जीवन में समन्वय करके श्रीसम्पन्न बनना है—'इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्'। **धेनुः च अनड्वान् च**=गौ और बैल। गौ इसे अमृतमय दूध देकर अमृत जीवनवाला बनाती है तो बैल इसके अन्नादि की उत्पत्ति का साधन बनता है। **व्रीहिः च यवः च**=चावल और जौ। चावल इसके शरीरस्थ रोगों को दूर करते हैं और जौ इसे प्राणशक्ति-सम्पन्न बनाते हैं—'**यवे ह प्राण आहितः, अपानो व्रीहिराहितः**' इन छह के बाद **सप्तमम्**=सातवाँ **मधु**=शहद है। यह स्थूलता और कृशता को दूर करता हुआ वास्तव में ही जीवन को मधुर बनाता है।

भावार्थ—वेदवाणी में प्रतिपादित सात मधुओं का ज्ञान प्राप्त करके उन्हें अपनाकर हम जीवन को मधुमान् बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मधु, अश्विनौ**॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽर्चीपङ्क्तिः**॥

मधुमान्

मधुमान्भवति मधुमदस्याहार्यं भवति। मधुमतो लोकाञ्जयति य एवं वेद॥ २३॥

१. **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार वेदवाणी के सप्त मधुओं को जान लेता है वह **मधुमान् भवति**=प्रशस्त माधुर्यवाला होता है। **अस्य आहार्यं मधुमत् भवति**=इसका भोजन भी अत्यन्त मधुरता को लिये हुए होता है। यह कटु-तिक्त वस्तुओं का प्रयोग नहीं करता रहता। यह **मधुमतः लोकान् जयति**=माधुर्यवाले लोकों को जीतता है—आनन्दप्रद लोकों को प्राप्त करता है।

भावार्थ—वेदवाणी के सात मधुओं को जानकर उनका ठीक प्रयोग व व्यवहार करता हुआ साधक मधुर जीवनवाला, मधुर आहारवाला व मधुमान् लोकों का विजेता होता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मधु, अश्विनौ**॥ छन्दः—**षट्पदाऽष्टिः**॥

प्रभु के प्रति प्रीति

यद्वीध्रे स्तनयति प्रजापतिरेव तत्प्रजाभ्यः प्रादुर्भवति।
तस्मात्प्राचीनोपवीतस्तिष्ठे प्रजापतेऽनु मा बुध्यस्वेति।
अन्वेनं प्रजा अनु प्रजापतिर्बुध्यते य एवं वेद॥ २४॥

१. **यत्**=जब **वीध्रे**=(वि इन्ध) विगत दीप्तिवाले अन्तरिक्ष में **स्तनयति**=गर्जना होती है तब **तत् प्रजापतिः एव**=वह प्रजापालक प्रभु ही **प्रजाभ्यः प्रादुर्भवति**=प्रजाओं के लिए प्रादुर्भूत हो जाता है—मेघगर्जना में प्रभु की महिमा ही प्रकट होती है। **तस्मात्**=उसी कारण से **प्राचीनोपवीतः**=(प्राचीन, उप वि=कान्ति) इस सनातन प्रभु के प्रति प्रीतिवाला (कामनावाला) मैं स्थित होता हूँ। २. **प्रजापते**=हे प्रजापालक प्रभो! **मा अनु बुध्यस्व**=मुझपर अनुग्रह कीजिए, **इति**=यही मेरी आराधना है। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार मेघगर्जना आदि में प्रभु की महिमा का अनुभव करता है, **एनम्**=इसे **प्रजाः अनु**=अनुकूलतावाली प्रजाएँ प्राप्त होती हैं तथा इसपर **प्रजापतिः अनुबुध्यते**=प्रजापति प्रभु अनुग्रहवाले होते हैं।

भावार्थ—हम मेघगर्जना आदि प्रकृतिक घटनाओं में प्रभु की महिमा का अनुभव करते हुए प्रभु के प्रति प्रीतिवाले हों। ऐसा होने पर हमें अनुकूल प्रजाएँ प्राप्त होंगी और प्रभु का अनुग्रह प्राप्त होगा।

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

घृतेन हविषा आज्येन

सपत्नहनमृषभं घृतेन कामं शिक्षामि हविषाज्येन।
नीचैः सपत्नान्मम पादय त्वमभिष्टुतो महता वीर्ये᳡ण॥ १॥

१. **सपत्नहनम्**=शत्रुओं के विनाशक **ऋषभम्**=शक्तिशाली **कामम्**=कमनीय (कामना के योग्य) प्रभु को **घृतने**=मलों का क्षरण व ज्ञानदीप्ति से, **हविषा**=दानपूर्वक अदन की वृत्ति से तथा **आज्येन**=(to honour, celebrate) भक्तिपूर्वक आदृत करने से **शिक्षामि**=प्राप्त करने के लिए मैं यत्नशील होता हूँ। २. हे प्रभो! **अभिष्टुतः त्वम्**=प्रातः-सायं मेरे द्वारा स्तुत होते हुए आप **महता वीर्येण**=महान् पराक्रम के साथ **मम सपत्नान्**=मेरे शत्रुओं को **नीचैः पादय**=पादाक्रान्त कर दीजिए (नीचे पहुँचा दीजिए)।

भावार्थ—हम 'मलों को दूर करने, ज्ञान प्राप्त करने, दानपूर्वक अदन तथा भक्तिपूर्वक स्मरण' करने के द्वारा प्रभु को प्राप्त करने का प्रयत्न करें। प्रभु हमारे शत्रुओं को नष्ट करने के लिए हमें महान् पराक्रमवाला बनाएँगे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु-स्तवन द्वारा उत्थान

यन्मे मनसो न प्रियं न चक्षुषो यन्मे बभस्ति नाभिनन्दति।
तद् दुःष्वप्न्यं प्रति मुञ्चामि सपत्ने कामं स्तुत्वोदहं भिदेयम्॥ २॥

१. **यत्**=जो **मे मनसः न प्रियम्**=मेरे मन का प्रिय नहीं, **न चक्षुषः**=न आँख का प्रिय है, **यत् मे बभस्ति**=जो मेरा भर्त्सन-सा करता है **न अभिनन्दति**=कुछ आनन्दित नहीं करता **तत्**=उस **दुःष्वप्न्यम्**=दुष्ट स्वप्न के कारणभूत पाप को मैं **सपत्ने प्रतिमुञ्चामि**=अपने शत्रुओं के प्रति छोड़ता हूँ, अर्थात् ऐसी अशुभ वृत्तियाँ शत्रुओं को ही प्राप्त हों। २. **अहम्**=मैं तो **कामं स्तुत्वा**=उस कमनीय प्रभु का स्तवन करके **उत् भिदेयम्**=शत्रुओं को विदीर्ण करता हुआ ऊपर उठूँ।

भावार्थ—अप्रिय पाप हमें न होकर शत्रुओं को ही प्राप्त हों। मैं प्रभु-स्तवन करता हुआ ऊपर-ही-ऊपर उठता चलूँ।

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अशुभ चाहनेवाले की दुर्गति

दुःष्वप्न्यं काम दुरितं च कामाप्रजस्तामस्वगतामवर्तिम्।
उग्र ईशानः प्रति मुञ्च तस्मिन्यो अस्मभ्यमंहूरणा चिकित्सात्॥ ३॥

१. हे **काम**=कमनीय प्रभो! **दुःष्वप्न्यम्**=दुष्ट स्वप्नों की कारणभूत आपत्तियों को **च**=और **काम**=हे चाहने योग्य प्रभो! **दुरितम्**=दुर्गति व दुराचरण को **अप्रजस्ताम्**=प्रजाराहित्य (सन्तानहीनता) को, **अस्वगताम्**=निर्धनता की प्राप्ति व **अवर्तिम्**=वृत्ति के अभाव (निर्जिविका) को **उग्रः**=तेजस्वी व **ईशानः**=सबके स्वामी होते हुए आप **तस्मिन् प्रति मुञ्च**=उस व्यक्ति में छोड़िए, **यः**=जो **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **अंहूरणा**=पाप कर्मों को **चिकित्सात्**=चाहे (कित इच्छायाम्)।

भावार्थ—हे प्रभो! वही व्यक्ति दुर्गति में पड़े जो औरों के लिए अशुभ की कामना करता है।

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शत्रुत्व का दण्ड

नुदस्व काम प्र णुदस्व कामावर्तिं यन्तु मम ये सपत्नाः।
तेषां नुत्तानामधमा तमांस्यग्ने वास्तूनि निर्दह त्वम्॥ ४॥

१. हे **काम**=कमनीय प्रभो! **ये मम सपत्नाः**=जो मेरे शत्रु हैं, उन्हें **नुदस्व**=धकेलिए, **प्रणुदस्व**=खूब ही दूर धकेल दीजिए। हे **काम**=कमनीय प्रभो! वे **अवर्तिं यन्तु**=निर्जीविका (दरिद्रता) की स्थिति को प्राप्त हों, **अधमा तमांसि**=घने अँधेरे में **नुत्तानाम्**=धकेले हुए **तेषाम्**=उन शत्रुओं के **वास्तूनि**=घरों को हे **अग्ने**=प्रभो! **त्वम्**=आप **निर्दह**=भस्म कर दीजिए।

भावार्थ—हे कमनीय प्रभो! औरों से शत्रुता करनेवाले लोग समाज से पृथक् कर दिये जाएँ। ये अवर्ति (दरिद्रता), अन्धकार व गृहशून्यता (बेघरबारी) को प्राप्त हों।

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**अतिजगती** ॥

दुहिता 'धेनुः'

सा ते काम दुहिता धेनुरुच्यते यामाहुर्वाचं कवयो विराजम्।
तया सपत्नान्परि वृङ्ग्धि ये मम पर्येनान्प्राणः पशवो जीवनं वृणक्तु॥ ५॥

१. हे **काम**=कमनीय प्रभो! **सा**=वह **ते**=आपकी **धेनुः**=वेदधेनु—ज्ञानदुग्ध का पान करानेवाली वेदवाणी **दुहिता**=सब कामनाओं का प्रपूरण करनेवाली **उच्यते**=कही जाती है। **यां वाचम्**=जिस वेदवाणी को **कवयः**=ज्ञानी लोग **विराजम् आहुः**=विशिष्ट दीप्तिवाला कहते हैं, **तया**=उस वेद-वाणी द्वारा **ये मम**=जो मेरे शत्रु हैं, उन **सपत्नान् परिवृङ्ग्धि**=शत्रुओं को दूर कीजिए। २. **एनान्**=इन शत्रुओं को **प्राणः**=प्राण **पशवः**=गौ (पश्यन्ति) ज्ञानेन्द्रियाँ तथा **जीवनम्**=जीवन **परिवृणक्तु**=छोड़ जाएँ। इन शत्रुत्व की वृत्तिवालों की 'प्राणशक्ति, ज्ञानेन्द्रियाँ व जीवन-शक्ति' नष्ट हो जाए।

भावार्थ—शत्रुत्व की वृत्तिवाले व्यक्ति वेदवाणी से, प्राण, पशुओं व जीवन से पृथक् हो जाएँ।

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभुपूजन व अग्निहोत्र

कामस्येन्द्रस्य वरुणस्य राज्ञो विष्णोर्बलेन सवितुः सवेन।
अग्नेर्होत्रेण प्र णुदे सपत्नाञ्छम्बीव नावमुदकेषु धीरः॥ ६॥

१. **कामस्य**=कमनीय, **इन्द्रस्य**=शत्रुविद्रावक, **वरुणस्य**=पापनिवारक **राज्ञः**=दीप्त **विष्णोः**=

व्यापक प्रभु के **बलेन**=बल से **सवितुः**=प्रेरक प्रभु के **सवेन**=(यज्ञेन, यज पूजायाम्) पूजने से तथा **अग्नेः होत्रेण**=अग्निहोत्र के द्वारा **सपत्नान् प्रणुदे**=शत्रुओं को इसप्रकार से धकेलता हूँ, **इव**=जैसेकि **धीरः शम्बी**=एक धीर (धैर्य की वृत्तिवाला, समझदार) नाविक **उदकेषु नावम्**=जलों में नाव को प्रेरित करता है।

भावार्थ—पाप-निवारक प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न होकर प्रभु का पूजन व अग्निहोत्र करते हुए हम शत्रुओं को परे धकेल दें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**जगती**॥

'वाजी उग्रः' कामः

अध्यक्षो वाजी मम काम उग्रः कृणोतु मह्यमसपत्नमेव।
विश्वेदेवा मम नाथं भवन्तु सर्वे देवा हवमा यन्तु म इमम्॥ ७॥

१. **मम**=मेरे **अध्यक्षः**=सब कामों का द्रष्टा प्रभु **वाजी**=शक्तिशाली है, **कामः**=कमनीय है, **उग्रः**=शत्रुओं के लिए भयंकर है। ये प्रभु **मह्यम्**=मेरे लिए **असपत्नम्**=शत्रुराहित्य को **एव**=ही **कृणोतु**=करें। प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न बनकर मैं 'काम-क्रोधादि' सब शत्रुओं को कुचलनेवाला बनूँ। २. **विश्वेदेवाः**=सब दिव्य गुण **मम नाथं भवन्तु**=मेरे रक्षक व मेरा ऐश्वर्य हों। काम के विनाश के लिए मेरा जीवन पवित्र प्रेम से परिपूर्ण हो, क्रोधविनाश से मेरा हृदय करुणा से आप्लावित हो। लोभ को नष्ट करके मैं त्याग की वृत्तिवाला बनूँ। ऐसा होने पर **सर्वे देवाः**=सब देववृत्ति के पुरुष **मे इमं हवम्**=मेरी इस पुकार को सुनकर **आयन्तु**=मुझे प्राप्त हों। देवों का सम्पर्क मुझे भी देव बनाए।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से मैं शक्ति-सम्पन्न (वाजी, उग्र) बनकर 'काम-क्रोध-लोभ' रूप शत्रुओं को विनष्ट करूँ। इन्हें विनष्ट करके मैं 'प्रेम, करुणा व त्याग' को अपनाऊँ। देवों के सम्पर्क में मैं देव बनूँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाऽऽर्चीपङ्क्तिः** ॥

'घृतवत् आज्यं' जुषाणाः

इदमाज्यं घृतवज्जुषाणाः कामज्येष्ठा इह मादयध्वम्। कृण्वन्तो मह्यमसपत्नमेव॥ ८॥

१. **इदम्**=इस **घृतवत्**=मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्ति से युक्त **आज्यम्**=(to honour) प्रभुपूजन को **जुषाणाः**=प्रीतिपूर्वक सेवन करते हुए **कामज्येष्ठाः**=उस कमनीय प्रभु को सबसे ज्येष्ठ (श्रेष्ठ) मानते हुए देवो! **इह**=यहाँ—हमारे घर पर **मादयध्वम्**=आप आनन्दित होओ। हमारे आतिथ्य से ये देव प्रसन्न हों। २. ये देव ज्ञान देकर तथा अपने जीवन का उदाहरण उपस्थित करके **मह्यम्**=मेरे लिए **असपत्नम् एव**=शत्रुराहित्य को ही **कृण्वन्तः**=करनेवाले हों। इन देवों का अनुकरण करता हुआ मैं भी देव बनूँ—'काम-क्रोध-लोभ' का विजेता बनूँ (दिव् विजिगीषायाम्)।

भावार्थ—देव वे होते हैं जोकि मलों को दूर करते हुए तथा ज्ञानदीप्ति को बढ़ाते हुए प्रभु का उपासन करते हैं और कमनीय प्रभु को ही ज्येष्ठ मानते हैं। इन देवों का सम्पर्क मुझे भी 'काम, क्रोध व लोभ' से ऊपर उठाए।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रकाश+पराक्रम

इन्द्राग्नी काम सरथं हि भूत्वा नीचैः सपत्नान्मम पादयाथः।
तेषां पन्नानामधमा तमांस्यग्ने वास्तून्यनुनिर्दह त्वम्॥ ९॥

१. 'इन्द्र' शक्ति का प्रतीक है, 'अग्नि' प्रकाश का। हे **इन्द्राग्नी**=शक्ति व प्रकाश के देवो! हे **काम**= कमनीय प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **सरथं भूत्वा**=मेरे साथ इस शरीर-रथ पर आरूढ़ होकर **मम**=मेरे **सपत्नान्**=शत्रुओं को **नीचैः पादयाथः**=नीचे गिरा देते हो। २. हे **अग्ने**=प्रभो! **अधमा तमांसि**=निकृष्ट अन्धकारों में **पन्नानाम्**=प्राप्त हुए-हुए **तेषाम्**=उन शत्रुओं के **वास्तूनि**=निवास-स्थानों को **त्वम्**=आप **अनुनिर्दह**=अनुक्रम से विदग्ध कर दीजिए, अर्थात् प्रभुकृपा से काम-क्रोध की उत्पत्ति के कारण भी विनष्ट हो जाएँ।

भावार्थ—कमनीय प्रभु की कृपा से हम प्रकाश व पराक्रम को प्राप्त करके काम व क्रोध को तथा उनके उत्पत्ति-कारणों को विनष्ट करके प्रेम व करुणा से युक्त हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'निरिन्द्रियाः, अरसाः' सपत्नाः

जहि त्वं काम मम ये सपत्ना अन्धा तमांस्यव पादयैनान्।
निरिन्द्रिया अरसाः सन्तु सर्वे मा ते जीविषुः कतमच्चनाहः॥ १०॥

१. हे **काम**=कमनीय प्रभो! **त्वम्**=आप **मम ये सपत्नाः**=मेरे जो शत्रु हैं, **एनान्**=इन शत्रुओं को **जहि**=नष्ट कर दीजिए और **अन्धा तमांसित अवपादय**=इन्हें घने अँधेरे में नीचे पहुँचा दीजिए। २. **ते सर्वे**=वे सब शत्रु **निरिन्द्रियाः**=निर्वीर्य व **अरसाः**=रसहीन—मृतप्राय **सन्तु**=हो जाएँ। वे **कतमत् चन आहः**=कुछ भी दिन **मा जीविषुः**=न जीएँ, अर्थात् मैं शीघ्र ही उन्हें विनष्ट कर सकूँ।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम शत्रुओं को पराजित कर पाएँ। हम उन्हें क्षीण करके विनष्ट करनेवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

'उरु एधतु' लोक

अवधीत्कामो मम ये सपत्ना उरुं लोकमकरन्मह्यमेधतुम्।
मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्त्रो मह्यं षडुर्वीर्घृतमा वहन्तु॥ ११॥

१. **कामः**=वे कमनीय प्रभु उन्हें **अवधीत्**=नष्ट कर दें, **मम ये सपत्नाः**=जो मेरे शत्रु हैं। मेरे काम-क्रोध-लोभादि शत्रुओं को नष्ट करके प्रभु **मह्यम्**=मेरे लिए **एधतुम्**=वृद्धि के कारणभूत **उरुं लोकम्**=विशाल प्रकाश को **अकरत्**=करें। २. इन शत्रुओं का विजय कर लेने पर **चतस्त्रः प्रदिशः**=पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण (प्राची, प्रतीची, उदीची, दक्षिणा) ये चारों प्रधान दिशाएँ **मह्यं नमन्ताम्**=मेरे लिए झुक जाएँ। मैं चारों दिशाओं का अधिष्ठाता बनूँ—आगे बढ़ूँ (प्राची), इन्द्रियों को विषयों से प्रत्याहृत करूँ (प्रतीची) ऊपर उठूँ (उदीची) और निपुण बनूँ (दक्षिणा)। **मह्यम्**=मेरे लिए **षट् उर्वीः**=आग्नेयी, नैर्ऋति, वायवी, ऐशानी, ध्रुवा व ऊर्ध्वा' नाम्नी छह विशाल दिशाएँ **घृतम्**=मलक्षरण व ज्ञानदीप्ति को **आवहन्तु**=सब ओर से प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—प्रभुकृपा से मेरे शत्रु नष्ट हों। वृद्धि का कारणभूत प्रकाश मुझे प्राप्त हो। सब दिशाएँ मेरे लिए झुक जाएँ—मैं चतुर्दिग्विजय प्राप्त करूँ। सब ओर से मलों को नष्ट करता हुआ मैं ज्ञानदीप्ति प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शत्रुविद्रावण

ते ऽधराञ्चः प्र प्लवन्तां छिन्ना नौरिव बन्धनात्।
न सायकप्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्तनम्॥ १२॥

१. **ते**=वे हमारे शत्रु **अधराञ्चः**=निम्न गतिवाले होकर **प्रप्लवन्ताम्**=उसी प्रकार बह जाएँ, **इव**=जैसेकि **बन्धनात्**=बन्धन से **छिन्ना**=छिन्न हुई-हुई **नौः**=नाव बह जाती है। **सायक-प्रणुत्तानाम्**=बाणों के द्वारा दूर प्रेरित किये हुए इन शत्रुओं का **पुनः**=फिर **निवर्तनं न अस्ति**=लौटना नहीं है।

भावार्थ—दुर्गति को प्राप्त शत्रु बन्धन से छिन्न नौका की भाँति बह जाएँ। बाणों के द्वारा परे धकेले शत्रु फिर लौटने का नाम न लें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽर्च्यनुष्टुप्** ॥

'अग्नि, इन्द्र, सोम'=यव

अग्निर्यव इन्द्रो यवः सोमो यवः। यवयावानो देवा यावयन्त्वेनम्॥ १३॥

१. **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **यवः**=यव हैं—वे हमसे बुराइयों को पृथक् करनेवाले हैं। **इन्द्रः यवः**=वे शत्रुविद्रावक प्रभु हमसे बुराइयों को दूर करते हैं। **सोमः यवः**=सोम (शान्त) प्रभु बुराइयों को हमसे दूर करनेवाले हैं। हम आगे बढ़ने की भावनावाले (अग्नि), जितेन्द्रिय (इन्द्र) व शान्त=विनीत (सोम) बनें। ऐसा बनकर ही हम सब बुराइयों को अपने से दूर कर पाएँगे। २. **देवाः**=माता, पिता, आचार्य व अतिथि आदि देव **यवयावानः**=(यवाः च यावानः च) बुराइयों को पृथक् करनेवाले व शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले हैं (या गतौ)। **एनम्**=इस अपने उपासक को ये देव **यावयन्तु**=सब शत्रुओं से पृथक् करें।

भावार्थ—हम 'अग्नि, इन्द्र व सोम' इन नामों से प्रभु-स्मरण करते हुए आगे बढ़ें, जितेन्द्रिय बनें व शान्त वृत्तिवाले हों। इसप्रकार हम बुराइयों को अपने से पृथक् कर पाएँगे। माता-पिता, आचार्य व अतिथियों का सान्निध्य हमें शत्रुओं को दूर भगाने में सशक्त करे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

द्वेष्यः मित्राणां, परिवर्ग्यः स्वानाम्

असर्ववीरश्चरतु प्रणुत्तो द्वेष्यो मित्राणां परिवर्ग्यः स्वानाम्।
उत पृथिव्यामव स्यन्ति विद्युत उग्रो वो देवः प्र मृणत्सपत्नान्॥ १४॥

१. हमारा शत्रु **असर्ववीरः**=सब वीरों से रहित हुआ-हुआ **प्रणुत्तः**=परे धकेला हुआ **चरतु**=इधर-उधर भटके। यह **मित्राणां द्वेष्यः**=सब मित्रों का द्वेष्य (अप्रीति योग्य) हो जाए। **स्वानां परिवर्ग्यः**=अपनों का छोड़ने योग्य हो जाए, अर्थात् अपने लोग भी इसे छोड़ जाएँ। २. **उत**=और **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर **विद्युतः**=विशिष्ट दीप्तिवाले अस्त्र हमारे शत्रुओं का **अवस्यन्ति**=अन्त कर देते हैं। वह **उग्रः देवः**=शत्रुभयंकर विजेता प्रभु **वः**=तुम्हारे **सपत्नान् प्रमृणत्**=शत्रुओं को कुचल डाले।

भावार्थ—हमारे शत्रु वीरों से रहित, मित्रों के द्वेष्य व अपनों से छोड़ने योग्य हों। हमारे दीप्त अस्त्र उनका अन्त करें और प्रभु उन्हें कुचल देने का अनुग्रह करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

सहस्वान् आदित्यः

च्युता चेयं बृहत्यच्युता च विद्युद्बिभर्ति स्तनयित्नूंश्च सर्वान्।
उद्यन्नादित्यो द्रविणेन तेजसा नीचैः सपत्नान्नुदतां मे सहस्वान्॥ १५॥

१. **इयं बृहती**=सब वृद्धियों की साधनभूत यह **विद्युत्**=विशिष्ट दीप्तिवाली ब्रह्मशक्ति **च्युता च अच्युता च**=(च्युङ् गतौ) गतिमय व स्थिर—चराचर सब पदार्थों को **च**=तथा **सर्वान्**

स्तनयित्नून्=गर्जना करनेवाले सब मेघादि को **बिभर्ति**=धारण करती है। २. **उद्यन्**=मेरे हृदयाकाश में उदित होता हुआ **आदित्यः**=सूर्यसम दीप्त **सहस्वान्**=बलवान् प्रभु **द्रविणेन**=बल (नि० २.९) व **तेजसा**=तेज से **मे सपत्नान्**=मेरे शत्रुओं को **नीचैः नुदताम्**=नीचे धकेल दे।

भावार्थ—दीप्त ब्रह्मशक्ति ही चराचर जगत् को व गर्जना करते हुए मेघादि को धारित करती है। हृदयाकाश में उदित प्रभु बल व तेज प्राप्त कराके मुझे मेरे शत्रुओं को विनष्ट करने में समर्थ करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**चतुष्पदाशक्वरीगर्भापराजगती**॥

ब्रह्म वर्म

यत्ते काम शर्म त्रिवरूथमुद्भु ब्रह्म वर्म विततमनतिव्याध्यं कृतम्।
तेन सपत्नान्परि वृङ्ग्धि ये मम पर्येनान्प्राणः पशवो जीवनं वृणक्तु॥ १६॥

१. हे **काम**=कमनीय प्रभो! **यत्**=जो **ते**=आपका **शर्म**=सुखद **त्रिवरूथम्**='शरीर, मन व बुद्धि' को रक्षित करनेवाला **उद्भु**=उत्तम शक्तिसम्पन्न **ब्रह्म**=ज्ञान है, वह **विततम्**=विस्तृत **अनतिव्याध्यम्**=न वेधने योग्य **वर्म कृतम्**=कवच बनाया गया है। आपका दिया हुआ ज्ञान मेरा कवच बना है। इस कवच को काम-क्रोधादि शत्रु विद्ध नहीं कर सकते। २. **तेन**=उस वेदवाणीरूप कवच से **ये मम**=जो मेरे शत्रु हैं, उन **सपत्नान्**=शत्रुओं को **परिवृङ्ग्धि**=दूर हटा दीजिए। **एनान्**=इन शत्रुओं को **प्राणः**=प्राण, **पशवः**=(पश्यन्ति) ज्ञानेन्द्रियाँ, **जीवनम्**=जीवन **परिवृणक्तु**=छोड़ जाएँ।

भावार्थ—प्रभु-प्रदत्त वेदवाणी वह कवच है, जिसे काम-क्रोध आदि से आक्रान्त नहीं किया जा सकता। इस कवच से मैं शत्रुओं को दूर करूँ। इन शत्रुओं को प्राण, इन्द्रियाँ व जीवन छोड़ जाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**जगती**॥

देव+इन्द्र

येन देवा असुरान्प्राणुदन्त येनेन्द्रो दस्यूनधमं तमो निनाय।
तेन त्वं काम मम ये सपत्नास्तानस्माल्लोकात्प्र णुदस्व दूरम्॥ १७॥

१. **येन**=जिस बल से **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **असुरान् प्राणुदन्त**=आसुरभावों को अपने से दूर धकेल देते हैं, **येन**=जिस बल से **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **दस्यून्**='काम-क्रोध-लोभ' रूप विनाशक वृत्तियों को **अधमं तमः निनाय**=घने अँधेरे में पहुँचा देता है, हे **काम**=कमनीय प्रभो! **तेन**=उस बल से **त्वम्**=आप **तान्**=उन्हें **अस्मात् लोकात्**=इस लोक से **दूरं प्रणुदस्व**=दूर धकेल दो, **ये**=जोकि **मम सपत्नाः**=मेरे शत्रु हैं।

भावार्थ—हम 'देव व इन्द्र'=दिव्यवृत्ति के व जितेन्द्रिय बनकर आसुर व दास्यव भावों को—अपने ही पोषण (आसुर) व दूसरों के विनाश (दस्यु) के भावों को अपने से दूर धकेल दें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**जगती**॥

असुर व दस्यु-विनाश

यथा देवा असुरान्प्राणुदन्त यथेन्द्रो दस्यूनधमं तमो बबाधे।
तथा त्वं काम मम ये सपत्नास्तानस्माल्लोकात्प्र णुदस्व दूरम्॥ १८॥

१. **यथा**=जैसे **देवाः**=देववृत्ति के पुरुषों ने **असुरान्**=आसुरभावों को—अपने ही प्राणपोषण,

अर्थात् स्वार्थ के भावों को **प्राणुदन्त**=परे धकेल दिया। **यथा**=जिस प्रकार **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष ने **दस्यून्**=दास्यव वृत्तियों को—औरों के विनाश की वृत्तियों (काम, क्रोध, लोभ आदि) को **अधमं तमः बबाधे**=घने अँधेरे में पहुँचा दिया, हे **काम**=कमनीय प्रभो! **तथा**=उसी प्रकार **त्वम्**=आप **तान्**=उन्हें **अस्मात् लोकात्**=इस लोक से **दूरं प्रणुदस्व**=दूर धकेल दें, **ये**=जोकि **मम सपत्नाः**=मेरे शत्रु हैं।

भावार्थ—जिस प्रकार देव स्वार्थ के भावों से ऊपर उठते हैं, जिस प्रकार एक जितेन्द्रिय पुरुष विनाश की वृत्तियों (काम, क्रोध, लोभ) से दूर रहता है, उसी प्रकार प्रभुकृपा से मैं उन असुरों व दस्युओं को अपने से दूर कर पाऊँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'प्रथम' प्रभु

कामो जज्ञे प्रथमो नैनं देवा आपुः पितरो न मर्त्याः।
ततस्त्वमसि ज्यायान्विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत्कृणोमि॥ १९॥

१. **कामः**=वह कमनीय प्रभु **प्रथमः जज्ञे**=सबसे पूर्व प्रादुर्भूत हुए-हुए हैं—वे सबसे प्रथम स्थान पर हैं, अग्नि हैं—अग्रणी। प्रभु सब गुणों की चरम सीमा ही तो हैं, अतः वे प्रथम हैं। श्रेष्ठता में **एनम्**=इस प्रभु को **न**=न तो **देवाः**=देव (ज्ञानी ब्राह्मण) **आपुः**=प्राप्त कर पाते हैं, **न पितरः मर्त्याः**=न ही रक्षणात्मक कर्मों में प्रवृत्त पितर (क्षत्रिय) तथा धन-धान्यादि के अर्जन में प्रवृत्त मनुष्य (वैश्य) पा सकते हैं। २. **ततः**=इसप्रकार हे प्रभो! **त्वम्**=आप **ज्यायान्**=सबसे अधिक प्रशस्य **असि**=हैं, **विश्वहा**=सदा **महान्**=महनीय हैं। हे **काम**=कमनीय प्रभो! **तस्मै ते**=उन आपके लिए **इत्**=निश्चय से **नमः कृणोमि**=मैं नमस्कार करता हूँ—मैं आपके प्रति नतमस्तक होता हूँ।

भावार्थ—प्रभु सर्वप्रथम हैं। ऊँचे-से-ऊँचा ज्ञानी ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य भी प्रभु के समान नहीं। उस सदा प्रशस्त व महान् के लिए मैं नतमस्तक होता हूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**२० भुरिक्त्रिष्टुप्, २१ जगती** ॥

'महान्' प्रभु

यावती द्यावापृथिवी वरिम्णा यावदापः सिष्यदुर्यावदग्निः।
ततस्त्वमसि ज्यायान्विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत्कृणोमि॥ २०॥
यावतीर्दिशः प्रदिशो विषूचीर्यावतीराशा अभिचक्षणा दिवः।
ततस्त्वमसि ज्यायान्विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत्कृणोमि॥ २१॥

१. **द्यावापृथिवी**=ये द्युलोक और पृथिवीलोक **वरिम्णा**=विस्तार से **यावती**=जितने बड़े हैं, **यावत्**=जितनी भी दूर तक **आपः सिष्यदुः**=ये जल बह रहे हैं, **यावत्**=जितनी यह **अग्निः**=अग्नि विस्तृत है, **यावतीः**=जितनी दूर तक **विषूचीः**=(वि सु अञ्च) चारों ओर फैलनेवाली **दिशः प्रदिशः**=ये दिशाएँ व उपदिशाएँ फैली हैं, **यावतीः**=जितनी दूर तक **दिवः अभिचक्षणाः**=द्युलोक के प्रकाश को प्रकट करनेवाली **आशाः**=ये दिशाएँ हैं, २. हे **काम**=कमनीय प्रभो! **त्वम्**=आप **ततः**=उनसे **ज्यायान् असि**=अधिक बड़े हैं। **विश्वहा**=सदा **महान्**=महनीय व पूजनीय हैं, **तस्मै ते**=उन आपके लिए **इत्**=निश्चय से **नमः कृणोमि**=नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु की महिमा 'द्यावापृथिवी, जल, अग्नि, दिशा-प्रदिशाओं' से महान् है। उस महान् प्रभु के लिए हम सदा प्रणाम करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—२२ जगती, २३ भुरिक्त्रिष्टुप्, २४ त्रिष्टुप् ॥

ज्यायान् प्रभु

यावतीर्भृङ्गा जत्वः कुरूरवो यावतीर्वघा वृक्षसर्प्यो बभूवुः।
ततस्त्वमसि ज्यायान्विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत्कृणोमि॥ २२॥
ज्यायान्निमिषतोऽसि तिष्ठतो ज्यायान्त्समुद्रादसि काम मन्यो।
ततस्त्वमसि ज्यायान्विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत्कृणोमि॥ २३॥
न वै वातश्चन काममाप्नोति नाग्निः सूर्यो नोत चन्द्रमाः।
ततस्त्वमसि ज्यायान्विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत्कृणोमि॥ २४॥

१. **यावतीः**=जितने भी **भृङ्गाः**=भौंरे, **जत्वः**=चमगादड़, **कुरूरवः**=चीलें हैं, **यावतीः**=जितने भी **वघाः**=टिड्डी आदि जन्तु हैं, जितने भी **वृक्षसर्प्यः**=वृक्षों पर सरकनेवाले कीट **बभूवुः**=हैं—उन सबकी सम्मिलित शक्ति से भी आप महान् हैं। हे **काम**=कमनीय **मन्यो**=ज्ञानस्वरूप प्रभो! आप **निमिषतः**=आँखों को बन्द किये हुए—निमेषोन्मेष के व्यापारवाले जीवों से **ज्यायान्**=बड़े हो, **तिष्ठतः**=इन खड़े हुए वानस्पतिक जगत् से आप बड़े हो, **समुद्रात्**=इन समुद्रों से भी अथवा अन्तरिक्ष से भी आप **ज्यायान्**=बड़े हो। ३. **न वै**=निश्चय से न ही **वातः चन**=यह वायु भी **कामम् आप्नोति**=उस कमनीय प्रभु को व्याप्त कर पाता है, **न अग्निः**=न अग्नि उस प्रभु की महिमा को व्यापता है, **सूर्यः**=सूर्य भी नहीं व्यापता **उत**=और **न चन्द्रमाः**=न चन्द्रमा ही उस प्रभु की महिमा को व्याप सकता है। **ततः**=उन वायु, अग्नि, सूर्य व चन्द्रमा से हे **काम**=कमनीय प्रभो! **त्वम्**=आप **ज्यायान्**=बड़े हो। **विश्वहा महान्**=सदा महनीय (पूजनीय) हो। **तस्मै ते**=उन आपके लिए **इत्**=निश्चय से **नमः कृणोमि**=नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु की महिमा को सारे 'भृंग व कृमि—कीट-पतङ्ग' नहीं व्याप सकते। वे प्रभु चराचर जगत् व सम्पूर्ण अन्तरिक्ष से महान् हैं। वायु, अग्नि, व चन्द्र में ही प्रभु की महिमा समाप्त नहीं हो जाती। प्रभु इन सबसे महान् हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**कामः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शिवाः (भद्राः) बनाम (Vs) पापीः (धियः)

यास्ते शिवास्तन्वः काम भद्रा याभिः सत्यं भवति यद् वृणीषे।
ताभिष्ट्वमस्माँ अभिसंविशस्वान्यत्र पापीरप वेशया धियः॥ २५॥

१. हे **काम**=कमनीय प्रभो! **याः**=जो **ते**=आपके **शिवाः भद्राः तन्वः**=शुभ, कल्याणकारी शक्ति-विस्तार हैं, **याभिः**=जिन शक्ति-विस्तारों से **यत्**=जो **सत्यं भवति**=सत्य होता है, उसी का **वृणीषे**=आप वरण करते हैं, **ताभिः**=उन शक्ति-विस्तारों से **त्वम्**=आप **अस्मान् अभिसंविशस्व**=हमें प्राप्त होओ। **पापीः धियः**=पापमय बुद्धियों को—विचारों को अन्यत्र **अपवेशय**=हमसे दूर अन्य स्थानों पर ही रखिए।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम 'भद्र व शिव' शक्तियों को प्राप्त करें, पापमय विचार हमसे दूर रहें।

विशेष—इन शुभ विचारों को ग्रहण करानेवाला 'भृगु' बनता है। ज्ञानपरिपक्व होकर यह पाप-विचारों को अपने समीप नहीं आने देता। इसी से यह अङ्गिरा भी होता है—अङ्ग-अङ्ग में रसवाला। यह किस प्रकार एक सुन्दर गृह का निर्माण करता है। इस विषय का वर्णन अगले सूक्त में देखिए—

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विश्ववारा शाला

उ॒प॒मितां॑ प्रति॒मिता॒मथो॑ परि॒मिता॑मु॒त। शाला॑या वि॒श्ववा॑राया न॒द्धानि॒ वि चृ॑तामसि ॥ १ ॥

१. **विश्ववारायाः**=(वार=द्वार व वरणीय पदार्थ) सब ओर द्वारोंवाली व वरणीय पदार्थोंवाली **शालायाः**=शाला की **उपमिताम्**=उपमायुक्त (देखने में सराहने योग्य) **प्रतिमिताम्**=प्रतिमानयुक्त (जिसके आमने-सामने की भीतें, द्वार, खिड़की आदि एक नाप में हों) **अथो**=और **परिमिताम्**=परिमाणयुक्त (चारों ओर से नापकर चौरस की हुई) बनावट को **उत**=और **नद्धानि**=बन्धनों को (चिनाई व काष्ठ आदि के मेलों को) **विचृतामसि**=हम अच्छी प्रकार ग्रथित करते हैं।

भावार्थ—हम गृह को 'उपमित, प्रतिमित व परिमित' बनाने का ध्यान करें। इसमें सब ओर द्वार हों। यह सब वरणीय वस्तुओं से युक्त हो। इसके बन्धन दृढ़ व सुग्रथित हों।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पाशों व ग्रन्थियों की दृढ़ता

यत्ते॑ न॒द्धं वि॑श्ववारे॒ पाशो॑ ग्र॒न्थिश्च॒ यः कृ॒तः।
बृ॒ह॒स्पति॑रिवा॒हं ब॒लं वा॒चा वि स्रं॑सयामि॒ तत् ॥ २ ॥

१. हे **विश्ववारे**=सब वरणीय पदार्थोंवाली व सब ओर द्वारोंवाली शाले! **यत् ते नद्धम्**=जो तेरा बन्धन **यः पाशः**=जो जाल **ग्रन्थिः च**=और जोड़ **कृतः**=किया गया है, **अहम्**=मैं **तत्**=उसे उसी प्रकार **वाचा**=वेदवाणी के निर्देशानुसार **विस्रंसयामि**=(स्रंसु अधःपतने) विगत पतनवाला करता हूँ, **इव**=जैसेकि **बृहस्पतिः**=एक ज्ञानी पुरुष **वाचा**=वेदवाणी के निर्देशानुसार कर्म करता हुआ **बलम्**=बल को विगत पतनवाला करता है।

भावार्थ—मैं वेदवाणी के निर्देशानुसार कर्म करता हुआ इस शाला के बन्धनों, जालों व ग्रन्थियों को पतनशून्य व दृढ़ करता हूँ।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आयमन+संबर्हण+दृढ़ीकरण

आ य॑याम॒ सं ब॑बर्ह ग्र॒न्थीँश्च॑कार ते दृ॒ढान्।
परूं॑षि वि॒द्वाञ्छस्ते॒वेन्द्रे॑ण॒ वि चृ॑तामसि ॥ ३ ॥

१. हे शाले! शिल्पी ने **ते ग्रन्थीन् आययाम**=तेरी ग्रन्थियों को सम्यक् बाँधा है, **संबबर्ह**=इन्हें सम्यक् मिलाया है (संवर्द्धितवान् संयोजितवान्) तथा **दृढान् चकार**=दृढ़ किया है। **विद्वान् शस्ता इव**=जिस प्रकार एक ज्ञानी चीर-फाड़ करनेवाला वैद्य सम्यक् पट्टी बाँधता है, इसी प्रकार हम **इन्द्रेण**=प्रभु के स्मरण के साथ **परूंषि**=तेरे जोड़ों को, पर्वों को **विचृतामसि**=विशेषरूप से ग्रथित करते हैं।

भावार्थ—जैसे वैद्य टूटे अवयवों को जोड़कर ठीक से पट्टी बाँध देता है, उसी प्रकार हम इस शाला के जोड़ों को नियमित करें, मिला दें और दृढ़ कर दें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

बन्धनों की दृढ़ता

वं॒शानां॑ ते न॒हना॑नां प्राणा॒हस्य॒ तृण॑स्य च।
प॒क्षाणां॑ विश्ववारे ते न॒द्धानि॒ वि चृ॑तामसि ॥ ४ ॥

१. हे **विश्ववारे**=सब वरणीय वस्तुओंवाली शाले! **ते**=तेरे **वंशानाम्**=बाँसों के **नहनानाम्**=बन्धनों के **च**=और **प्राणाहस्य** (प्र नह) **तृणस्य**=प्रकृष्ट बन्धनवाले तृणों के तथा **ते पक्षाणाम्**=तेरे पार्श्वों को, **नद्धानि**=बन्धनों को **विचृतामसि**=विशेषरूप से ग्रथित करते हैं।

भावार्थ—हम वरणीय वस्तुओं से युक्त इस शाला के वंश-बन्धनों, तृण-बन्धनों तथा पार्श्व-बन्धनों को सुदृढ़ करते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'मानस्य पत्नी' शाला

सन्दंशानां पलदानां परिष्वञ्जल्यस्य च।
इदं मानस्य पत्न्या नद्धानि वि चृतामसि॥ ५॥

१. **इदम्**=(इदानीम्) अब **मानस्य पत्न्याः**=मान की रक्षा करनेवाली, अर्थात् सर्वत्र मान-(माप)-पूर्वक बनाई गई इस शाला के **सन्दंशानाम्**=कैंची के आकार की जुड़ी लकड़ियों के **पलदानाम्**=(पल straw, husk) तृणों से बनी चटाइयों के **च**=और **परिष्वञ्जलस्य**=(परि स्वञ्ज्) चारों ओर के पारस्परिक आलिंगन (बन्धन) के **नद्धानि**=बन्धनों को **विचृतामसि**=विशेषरूप से ग्रथित करते हैं।

भावार्थ—शाला नाप-तोलकर बनाई जाए। इसके 'सन्दंशों, पलदों व परिष्वञ्जल्य' के बन्धन सुदृढ़ हों।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

'शिक्यों से आबद्ध सुन्दर' शाला

यानि तेऽन्तः शिक्यान्याबेधू रण्याय कम्।
प्र ते तानि चृतामसि शिवा मानस्य पत्नी न उद्धिता तन्वे भव॥ ६॥

१. हे शाले! **यानि शिक्यानि**=जिन छींकों को (A loop or swing made of rope) **कम्**=सुख से **रण्याय**=रमणीयता के लिए **ते अन्तः आबेधुः**=शिल्पियों ने तेरे अन्दर बाँधा है, **ते तानि**=तेरे उन छींकों को **प्रचृतामसि**=प्रकर्षेण दृढ़ करते हैं। २. तू **शिवा**=कल्याणकर हो, **मानस्य पत्नी**=हमारे सम्मान का रक्षण करनेवाली हो। **नः तन्वे**=हमारे शक्ति-विस्तार के लिए, **उत् हिता भव**=ऊपर स्थापित हुई-हुई हो अथवा उत्कृष्ट हित करनेवाली हो।

भावार्थ—हमारा घर कार्यार्थ बँधे हुए छींकों से सुन्दर प्रतीत हो। यह घर कल्याणकर व सम्मानप्रद तथा हमारे शरीरों के स्वास्थ्य के लिए हितकर हो।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**परउष्णिक्** ॥

दिव्य गृह का स्वरूप

हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः। सदो देवानामसि देवि शाले॥ ७॥

१. हे **देवि शाले**=प्रकाशमय गृह! (दिव् द्युतौ) तू **हविर्धानम् असि**=हवि को आहित करने का स्थान है। तेरा मुख्य कमरा 'अग्निहोत्र का कमरा' है। सबसे प्रथम तुझमें इस पूजागृह की व्यवस्था की गई है। तब **अग्निशालम्** (असि)=तू अग्निशाला है, तुझमें रसोईघर (Kitchen) की व्यवस्था की गई है। इसके पश्चात् तीसरा **पत्नीनां सदनम्**=गृहपत्नियों के उठने-बैठने का स्थान है। 'पत्नीनां' शब्द सम्मिलित परिवार की सूचना दे रहा है। इसके बाद **सदः**=पुरुषों के उठने-बैठने का कमरा है। २. इन पूजागृह आदि के अतिरिक्त **देवानां सदः असि**=आये-गये अतिथियों (अतिथिदेवो भव) का कमरा भी है। यही सामान्य बैठक (Drawing room)

कहलाती है।

भावार्थ—एक प्रकाशमय आदर्श गृह में पाँच कमरे होने चाहिएँ—'पूजागृह, रसोईघर, स्त्रियों का कमरा, पुरुषों का कमरा व अतिथिगृह'। इनके अतिरिक्त गोष्ठादि अलग होंगे ही।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ओपशं अक्षु

अक्षुमोपशं वितंतं सहस्राक्षं विषूवति। अवनद्धमभिहितं ब्रह्मणा वि चृतामसि॥ ८॥

१. जब कभी घरों पर कुछ लम्बे यज्ञों का विधान होता है तब उन यज्ञ के दिनों में केन्द्रीभूत दिन 'विषूवत्' कहाता है (The central day in sacrifical session)। इस **विषूवति**=यज्ञों के केन्द्रीभूत दिन के अवसर पर **ओपशम्**=गृह के शिरोभूषणरूप इस **अक्षुम्**=जाल को **ब्रह्मणा**=वेद के निर्देशानुसार—ज्ञानपूर्वक **विचृतामसि**=विशेषरूप से ग्रथित करते हैं। २. यह जाल **विततम्**=फैला हुआ—विस्तृत है, **सहस्राक्षम्**=हज़ारों आँखों—झरोखोंवाला हैं, **अवनद्धम्**=नीचे से सम्यक् बद्ध है तथा **अभिहितम्**=चारों ओर से सम्यक् बद्ध हुआ है।

भावार्थ—यज्ञों के अवसर पर केन्द्रीभूत (मुख्य) दिन में घर में जो जाल (तम्बू)-सा लगाया जाए वह शोभा को बढ़ानेवाला, प्रकाश व वायु के लिए सहस्रों झरोखोंवाला, नीचे से चारों ओर से सम्यक् बद्ध हो।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उभौ जीवतां जरदष्टी

यस्त्वा शाले प्रतिगृह्णाति येन चासि मिता त्वम्।
उभौ मानस्य पत्नि तौ जीवतां जरदष्टी॥ ९॥

१. हे **मानस्य पत्नि**=सम्मान का रक्षण करनेवाली शाले! **यः त्वा प्रतिगृह्णाति**=जो तुझे स्वीकार करता है, अर्थात् जो व्यक्ति तुझमें निवास करते हैं **च**=और **येन**=जिस गृहपति से **त्वं मिता असि**=तू मानपूर्वक बनायी गई है **उभौ तौ**=वह गृहपति व अन्य गृह-सदस्य दोनों ही **जरदष्टी जीवताम्**=पूर्ण वृद्धावस्था को व्यापन करनेवाले होते हुए जीएँ, अर्थात् इस घर में सब व्यक्ति दीर्घजीवी बनें।

भावार्थ—घर को वास्तुकला के अनुरूप उचित माप से बनानेवाला गृहपति व घर में रहनेवाले सब व्यक्ति दीर्घजीवी बनें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दृढा, नद्धा, परिष्कृता

अमुत्रैनमा गच्छताद् दृढा नद्धा परिष्कृता।
यस्यास्ते विचृतामस्यङ्गमङ्गं परुष्परुः॥ १०॥

१. हे शाले! **यस्याः ते**=जिस तेरे **अङ्गम् अङ्गम्**=एक-एक अङ्ग को तथा **परुः परुः**=एक-एक जोड़ को **विचृतामसि**=विशेषरूप से ग्रथित करते हैं, वह तू **दृढा**=बड़ी दृढ़, **नद्धा**=सुबद्ध व **परिष्कृता**=सम्यक् अलंकृत हुई-हुई तेरा निर्माण करनेवाले गृहपति को **अमुत्र**=भविष्य में—अगले समय में **आगच्छतात्**=प्राप्त हो, अर्थात् तू प्रतिदिन टूटती-फूटती न रह।

भावार्थ—घर के एक-एक अङ्ग व पर्व को सुग्रथित किया जाए। यह दृढ़, सुबद्ध व परिष्कृत घर भविष्य में गृहपति को सुखी करनेवाला हो।

ऋषि:—**भृग्वङ्गिरा:** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

अमांस भोजन व उत्तम सन्तान-निर्माण

यस्त्वा॑ शाले निमि॒माय॑ संज॒भार॑ वन॒स्पती॑न्।
प्र॒जायै॑ चक्रे त्वा शाले॑ परमे॒ष्ठी प्र॒जाप॑तिः॥ ११॥

१. हे **शाले**=गृह! **यः त्वा निमिमाय**=जो तुझे मानपूर्वक बनाता है और इस घर में **वनस्पतीन्**=वानस्पतिक पदार्थों का **संजभार**=संग्रह करता है, हे **शाले**=गृह! वह **त्वा**=तुझे **प्रजायै चक्रे**=उत्तम सन्तान के लिए बनाता है। जिस घर में मांस आदि पदार्थों का प्रवेश होता है, वह उत्तम सन्तानवाला नहीं बनता। २. उत्तम सन्तानों का निर्माता यह गृहपति **परमेष्ठी**=परम स्थान में स्थित होता है—मोक्ष को प्राप्त करता है और यहाँ **प्रजापतिः**=प्रजाओं का रक्षक होता है।

भावार्थ—घर को मानपूर्वक बनाना चाहिए। इसमें वानस्पतिक पदार्थों का ही संग्रह करना चाहिए, परिणामतः घर में सन्तान उत्तम होते हैं और यह गृहपति प्रजारक्षक होता हुआ मोक्ष प्राप्त करता है।

ऋषि:—**भृग्वङ्गिरा:** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

घर में नियमित अग्निहोत्र

नम॒स्तस्मै॒ नमो॑ दा॒त्रे शाला॑पतये च कृण्मः।
नमो॒ऽग्नये॑ प्र॒चर॑ते॒ पुरु॑षाय च ते॒ नमः॑॥ १२॥

१. **तस्मै**=गतमन्त्र में वर्णित उत्तम सन्तान का निर्माण करनेवाले प्रजापति के लिए **नमः**=नमस्कार करते हैं। **दात्रे नमः**=दानशील पुरुष के लिए नमस्कार करते हैं **च**=और **शालापतये**=घर का रक्षण करनेवाले के लिए **नमः कृण्मः**=नमस्कार करते हैं और **ते**=तुझ **अग्नये प्रचरते पुरुषाय**=अग्नि की सेवा करनेवाले—नियमित रूप से अग्निहोत्र करनेवाले पुरुष के लिए **नमः**=नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—गृहस्थ को चाहिए कि घर में सन्तानों को उत्तम बनाने का प्रयत्न करे, दानशील हो, गृहरक्षण का ध्यान करे तथा घर में अग्निहोत्र के नियम को छिन्न न होने दे।

ऋषि:—**भृग्वङ्गिरा:** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

'विजावती प्रजावती' शाला

गोभ्यो॒ अश्वे॑भ्यो॒ नमो॒ यच्छाला॑यां वि॒जाय॑ते।
विजा॑वति॒ प्रजा॑वति॒ वि ते॒ पाशां॑श्चृतामसि॥ १३॥

१. इस घर में होनेवाले **गोभ्यः अश्वेभ्यः**=गौओं व घोड़ों के लिए **नमः**=उचित अन्न—दाना-घास प्राप्त कराते हैं (नमः=अन्न)। **शालायां विजायते**=इस घर में विशिष्टरूप से **यत्**=जो पदार्थ है, उस सबके लिए हम आदर का भाव रखते हैं, उन सबका समुचित प्रयोग करते हैं। समुचित प्रयोग ही उनका आदर है। २. हे **विजावति**=विविध पदार्थों को उत्पन्न करनेवाली, **प्रजावति**=उत्तम सन्तानोंवाली शाले! **ते पाशान्**=तेरे सब जालों व बन्धनों को **विचृतामसि**=विशेषरूप से ग्रथित करते हैं।

भावार्थ—घर में होनेवाली गौओं और घोड़ों को समुचित दाना-घास प्राप्त कराया जाए। गृह के सब पदार्थों का समुचित प्रयोग हो। गृह के सब बन्धनों को सुदृढ़ बनाया जाए।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—शाला ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

अग्निहोत्र व नीरोगता

अग्निमन्तश्छादयसि पुरुषान्पशुभिः सह।
विजावति प्रजावति वि ते पाशांश्चृतामसि ॥ १४ ॥

१. हे **विजावति**=विविध पदार्थों को उत्पन्न करनेवाली **प्रजावति**=उत्तम सन्तानोंवाली शाले! तू **अन्तः**=अपने अन्दर **अग्निम्**=यज्ञाग्नि को **छादयसि**=सुरक्षितरूप में रखती है, **पशुभिः सह**=गौ आदि पशुओं के साथ **पुरुषान्**=इस घर के पुरुषों को भी सुरक्षित रखनेवाली है। नियमपूर्वक अग्निहोत्र होने से रोग नहीं होते और सभी स्वस्थ रहते हैं। २. हे शाले! हम **ते पाशान्**=तेरे जालों व बन्धनों को **विचृतामसि**=विशेषरूप से ग्रथित करते हैं।

भावार्थ—जिस घर में नियमपूर्वक अग्निहोत्र होता है, वहाँ सब पुरुष और पशु स्वस्थ रहते हैं। प्रशस्त प्रजाओंवाले इस घर के बन्धनों को हम सुदृढ़ करते हैं।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—शाला ॥ छन्दः—पञ्चपदातिशक्वरी ॥

द्यौः, पृथिवी, अन्तरिक्ष

अन्तरा द्यां च पृथिवीं च यद् व्यचस्तेन शालां प्रति गृह्णामि त इमाम्।
यदन्तरिक्षं रजसो विमानं तत्कृण्वेऽहमुदरं शेवधिभ्यः।
तेन शालां प्रति गृह्णामि तस्मै ॥ १५ ॥

१. **द्यां च पृथिवीं च अन्तरा**=द्युलोक व पृथिवीलोक के बीच में **यत् व्यचः**=जो विस्तार है, **तेन**= उसी विस्तार के हेतु से **ते**=तेरे लिए **इमां शालाम्**=इस शाला को **प्रति गृह्णामि**=स्वीकार करता हूँ। इस मन्त्रभाग से यह स्पष्ट है कि निवासगृह एकमंजिला ही शोभा देता है, जिसके ऊपर आकाश है और नीचे पृथिवी है। ऐसे घर में सूर्य का प्रकाश सुविधा से पहुँचेगा। यह सूर्यप्रकाश रोगकृमियों को न पनपने देगा। २. **यत्**=जो **रजसः**=इस गृहलोक का (लोका रजांसि उच्यन्ते—नि० ४।९) **अन्तरिक्षम्**=मध्यभाग **विमानम्**=विशेष मानपूर्वक निर्मित हुआ है, **तत्**=उसे **अहम्**=मैं **शेवधिभ्यः**=कोशों के लिए—धन के रक्षण के लिए **उदरं कृण्वे**=पेट के समान करता हूँ। इस गृह के मध्य में धन के रक्षण के लिए सुगुप्त स्थान है, **तेन**=उसी कारण से **तस्मै**=उस धन-रक्षण के लिए मैं **शालां प्रतिगृह्णामि**=इस गृह को स्वीकार करता हूँ।

भावार्थ—मकान विशेष मानपूर्वक बनाना चाहिए। इसमें सूर्य का प्रकाश और वायु सम्यक् आ सकें, अतः इसकी छत पर आकाश हो, फर्श के नीचे पृथिवी, अर्थात् सामान्यतः यह एक मंजिला ही हो। मध्य में कोश को सुरक्षित रखने के लिए एक गुप्त तलघर (उदर) हो।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—शाला ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

ऊर्जस्वती पयस्वती

ऊर्जस्वती पयस्वती पृथिव्यां निमिता मिता।
विश्वान्नं बिभ्रती शाले मा हिंसीः प्रतिगृह्णतः ॥ १६ ॥

१. हे **शाले**=गृह! तू **ऊर्जस्वती**=अन्न और रसवाली है, **पयस्वती**=प्रशस्त दूध से परिपूर्ण है। **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर **मिता**=बड़े माप से **निमिता**=बनाई गई है। २. **विश्वान्नम्**=सब अन्नों को **बिभ्रती**=धारण करती हुई तू **प्रतिगृह्णतः मा हिंसीः**=तुझे स्वीकार करनेवालों का हिंसन मत कर।

भावार्थ—हमारे घर अन्न, रस व दुग्ध से परिपूर्ण हों। ये बड़े मापकर बने हुए घर अन्नों

को धारण करते हुए, इनमें रहनेवाले हम लोगों का हिंसन न करें।

सूचना—घरों में मांस का स्थान नहीं। मांस आया और स=वह माम्=मुझे ही खाता है (मां-स)।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

पद्वती हस्तिनी इव

तृणैरावृता पलदान्वसाना रात्रीव शाला जगतो निवेशनी।
मिता पृथिव्यां तिष्ठसि हस्तिनीव पद्वती॥ १७॥

१. यह **शाला**=गृह **तृणैः आवृता**=तृणों से आच्छादित है, **पलदान् वसाना**=चटाईयों को ओढे हुए है—इसकी छत तथा दीवारें तृणों व पलदों से बनी हुई हैं। यह **रात्रीः इव**=रात्रि के समान **जगतः निवेशनी**=गतिशील प्राणियों को अपने में निवास देनेवाली है। दिनभर कार्य करके थके हुए लोग रात्रि में घर में आश्रय पाते हैं। २. हे शाले! तू **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर **मिता**=मापकर बनाई हुई **तिष्ठसि**=इसप्रकार स्थित है **इव**=जैसेकि **पद्वती हस्तिनी**=प्रशस्त (सुदृढ़) पाँवोंवाली हथिनी स्थित होती है।

भावार्थ—इस घर पर घास का छप्पर रक्खा है, चारों ओर चटाईयों के वेष्टन हैं। सब स्थान प्रमाण से बने हैं। इसप्रकार का यह घर सुदृढ़ स्तम्भों पर इसप्रकार सुरक्षित रहता है, जिस प्रकार हथिनी अपने चार पाँवों पर।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सूर्यप्रकाश के लिए द्वार का खुलना

इटस्य ते वि चृताम्यपिनद्धमपोर्णुवन्।
वरुणेन समुब्जितां मित्रः प्रातर्व्यु[ब्]जतु॥ १८॥

१. हे शाले! **ते**=तेरे **इटस्य अपिनद्धम्**=(इट गतौ, गमनागमन स्थानस्य—क्षेम०) गमनागमन द्वार के बन्धन को **अपोर्णुवन्**=समय-समय पर खोलता हुआ **विचृतामि**=पुनः विशेरूप से ग्रथित करता हूँ। द्वार के खोलने और बन्द करने का ध्यान रखता हूँ। २. **वरुणेन समुब्जिताम्**=आवरक अन्धकार से आवृत हुई-हुई तुझ शाला को **प्रातः**=रात्रि की समाप्ति पर प्रातः **मित्रः**=सूर्य **व्युब्जतु**=पुनः प्रकाशमय कर दे।

भावार्थ—हमारी शालाओं के द्वार अन्धकार के समय बन्द होकर प्रातः सूर्य के प्रकाश के स्वागत के लिए खुल जाएँ। घर में सूर्य का प्रकाश सम्यक् प्रवेश पाये।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सौम्यं सदः

ब्रह्मणा शालां निमितां कविभिर्निमितां मिताम्।
इन्द्राग्नी रक्षतां शालाममृतौ सोम्यं सदः॥ १९॥

१. **ब्रह्मणा**=ज्ञानपूर्वक **निमिताम्**=बनाई गई **कविभिः मितां निमिताम्**=ज्ञानियों से मापी गई और मानपूर्वक बनाई गई इस **शालाम्**=शाला को **इन्द्राग्नी रक्षताम्**=बल और प्रकाश रक्षित करनेवाले हों। 'इन्द्र' बल का प्रतीक है और 'अग्नि' प्रकाश का। इस **शालाम्**=शाला को **अमृतौ**=विषय-वासना के पीछे न मरनेवाले—विषयों से अनाक्रान्त पति-पत्नी (माता-पिता) रक्षित करें। २. **सदः**=यह घर **सोम्यम्**=सौम्य न कि आग्नेय भोजनों से युक्त हो। सौम्य भोजन इस घर में रहनेवालों को अमृत—नीरोग व दीर्घजीवी बनाएँ।

भावार्थ—घर ज्ञानियों द्वारा ज्ञानपूर्वक मापकर बनाया जाए। इस घर में 'बल व प्रकाश'

दोनों तत्त्वों को सिद्ध करने का यत्न किया जाए। सौम्य भोजनों का ही प्रयोग करते हुए यहाँ के लोग नीरोग व दीर्घजीवी हों।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विश्व प्रजनन

कुलायेऽधि कुलायं कोशे कोशः समुब्जितः।
तत्र मर्तो वि जायते यस्माद्विश्वं प्रजायते॥ २०॥

१. 'कुलम् अयते अत्र' इस व्युत्पत्ति से कुलाय शब्द 'एक परिवार के रहने के स्थान' का वाचक है। **कुलाये अधि**=एक कुलाय पर **कुलायम्**=कुलाय तथा **कोशे**=एक कोश पर **कोशः**=दूसरा कोश **समुब्जितः**=सम्यक् आवृत्त हुआ-हुआ है। एक बड़े परिवार में एक भाई नीचे के मकान में रहता है तो दूसरा ऊपर रह रहा है। २. **तत्र**=वहाँ **मर्तः**=मनुष्य **विजायते**=विशिष्टरूप से अपनी शक्तियों का प्रादुर्भाव करता है, **यस्मात् विश्वं प्रजायते**=जिससे कोई भी सन्तान असर्वाङ्ग (अ-विश्व, विकलांग) उत्पन्न नहीं होती—सब सन्तानें सर्वाङ्ग ही होती हैं।

भावार्थ—एक बड़े परिवार में एक भाई नीचे के गृह में रहता है तो दूसरा ऊपर के। सब मिलकर प्रेम से अपनी शक्तियों का विस्तार करते हैं, परिणामतः इनकी सब सन्तानें सर्वाङ्ग ही होती हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः** ॥

द्विपक्षा-दशपक्षा

या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते।
अष्टापक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भइवा शये॥ २१॥

१. **या द्विपक्षा**=जो शाला दो पक्षों—कक्षागृहोंवाली है, **चतुष्पक्षा**=चार कक्षागृहोंवाली है, **या**=जो **षट्पक्षा निमीयते**=छह कक्षागृहोंवाली मानपूर्वक बनाई गई है। जो शाला **अष्टापक्षाम्**=आठ कक्षागृहोंवाली है, **दशपक्षां शालाम्**=और जो दस पक्षोंवाली शाला है, जो शाला **मानस्य पत्नीम्**=मान का रक्षण करनेवाली है, अर्थात् बड़े माप से बनाई गई है, उसमें मैं इसप्रकार **आशये**=निवास करता हूँ **इव**=जैसेकि **अग्निः**=जाठराग्नि **गर्भे**=उदर में निवास करती है अथवा जैसे जाठराग्नि और गर्भस्थ बालक अपने-अपने स्थान में सुरक्षित रहते हैं।

भावार्थ—परिवार के छोटे-बड़े होने के अनुसार शाला दो से दस कक्षागृहों तक बनाया जा सकता है। ये सब कक्षागृह बड़े माप से बने हों। इनमें हम अतिशयेन सुरक्षितरूप में निवास करें।

सूचना—पं० जयदेवजी शर्मा के अनुसार 'अग्निर्गर्भइव' का अर्थ यह है कि जैसे 'गर्भः अग्निः' गर्भस्थ बालक मातृगर्भ में सुरक्षित रहता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अग्निः आपः

प्रतीचीं त्वा प्रतीचीनः शाले प्रैम्यहिंसतीम्।
अग्निर्ह्यन्तरापश्चर्तस्य प्रथमा द्वाः॥ २२॥

१. हे **शाले**=गृह! **प्रतीचीम्**=मेरे सम्मुख स्थित हुई-हुई **अहिंसतीम्**=किसी भी प्रकार से हिंसन न करती हुई **त्वा**=तेरे प्रति **प्रतीचीनः**=मुख किये हुए आता हुआ **प्र एमि**=तुझे प्राप्त होता हूँ। **अन्तः हि**=तेरे अन्दर निश्चय से **अग्निः आपः च**=अग्नि और जल—दोनों ही तत्त्व विद्यमान हैं जोकि **ऋतस्य**=यज्ञ के **प्रथमा द्वाः**=मुख्य द्वार हैं। प्रत्येक यज्ञ की सिद्धि के लिए 'अग्नि और

जल' आवश्यक हैं।

भावार्थ—हम अनुकूल परिस्थितिवाले घरों को प्राप्त हों। इन घरों में रोगादि से किसी भी प्रकार हमारा हिंसन न हो। घरों में 'अग्नि और जल' दोनों तत्त्व सुलभ हों, क्योंकि इन्हीं के द्वारा सब यज्ञ सिद्ध होंगे।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अयक्ष्माः, आपः, अमृता अग्निः

इमा आपः प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः।
गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना॥ २३॥

१. **इमाः आपः**=इन जलों को जोकि **अयक्ष्माः**=रोगरहित हैं—जिनमें किन्हीं रोगकृमियों के होने की आशंका नहीं है और जो **यक्ष्मनाशनीः**=रोगों का नाश करनेवाले हैं, उन जलों को **प्रभरामि**=मैं घर में प्रकर्षेण प्राप्त कराता हूँ। २. मैं **गृहान्**=इन घरों को **उपप्रसीदामि**=समीपता से, प्रसन्नतापूर्वक प्राप्त होता हूँ—इन घरों में प्रसन्नतापूर्वक स्थित होता हूँ जोकि **अमृतेन अग्निना सह**=कभी न मरनेवाली—कभी न बुझनेवाली व नीरोगता प्राप्त करानेवाली यज्ञाग्नि के साथ हैं—यज्ञाग्नि से युक्त हैं।

भावार्थ—हमारे घर रोगनाशक जलों से युक्त हों तथा इन घरों में नीरोगता प्राप्त करानेवाली यज्ञाग्नि कभी बुझे नहीं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

घर, न कि सतत बन्धन

मा नः पाशं प्रति मुचो गुरुर्भारो लघुर्भव।
वधूमिव त्वा शाले यत्रकामं भरामसि॥ २४॥

१. हे **शाले**=गृह! तू **नः पाशं मा प्रतिमुचः**=हमारे लिए बन्धन करनेवाला न हो—हम सदा घर में ही बँधे न रह जाएँ। **गुरुः भारः**=एक घर का भार बहुत है, **लघुः भव**=प्रभुकृपा से यह हल्का हो जाए। हम गृहस्थ के बोझ को उठाने में समर्थ हों और धीरे-धीरे अपने उत्तरदायित्वों को पूर्ण करते हुए हल्के हो सकें। २. हे शाले! इसप्रकार उत्तरदायित्व के बोझ से रहित होकर अब हम इसी प्रकार तुझे **यत्र कामम्**=इच्छानुसार जहाँ-तहाँ **भरामसि**=ले-जानेवाले हों, **इव**=जिस प्रकार कि हम एक दिन **वधूम्**=वधू को पितृगृह से इच्छानुसार अपने घर में लाये थे। एक दिन हम गृहस्थ बने थे। अब गृहस्थ के बोझ को सम्यक् उठाने के बाद वनस्थ होते हुए घर के बन्धन से मुक्त होते हैं तथा इच्छानुसार किसी अन्य स्थान में डेरा डालते हैं।

भावार्थ—घर हमारे लिए सदा के लिए बन्धन न हो जाएँ। गृहस्थ का बोझ धीमे-धीमे हल्का होता जाए। अन्ततः इस बोझ का निर्वहन करके हम वनस्थ होकर इच्छानुसार स्थानान्तर में बसेरा करें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**शाला** ॥ छन्दः—**२५, ३१ त्रिपदाप्रजापत्याबृहती, २६ त्रिपदासाम्नीत्रिष्टुप्, २७-३० त्रिपदाप्रतिष्ठानामगायत्री (एकावसाना)**

प्रभु-नमन—देववन्दन

प्राच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्ये [भ्यः॥ २५॥
दक्षिणाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्ये [भ्यः॥ २६॥
प्रतीच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्ये [भ्यः॥ २७॥

उदीच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः॥ २८॥
ध्रुवाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः॥ २९॥
ऊर्ध्वाया दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः॥ ३०॥
दिशोदिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः स्वाह्येभ्यः॥ ३१॥

१. **शालायाः**=इस शाला की **प्राच्याः दिशः**=पूर्व दिशा से **महिम्ने नमः**=उस प्रभु की महिमा के लिए हम नतमस्तक हों और साथ ही **स्वाह्येभ्यः**=(सु आह) उत्तम शब्द बोलने योग्य—प्रशस्य **देवेभ्यः**=देववृत्ति के विद्वान् पुरुषों के लिए **स्वाहा**=हम प्रशस्त शब्दों को कहें—विद्वानों का समुचित आदर करें। २. इसी प्रकार **शालायाः**=शाला की दक्षिण दिशा से, **प्रतीच्याः दिशः**=पश्चिम दिशा से **उदिच्याः दिशः**=उत्तर दिशा से **ध्रुवायाः दिशः**=ध्रुव (नीचे की) दिशा से **ऊर्ध्वायाः दिशः**=ऊर्ध्वा दिक् से तथा **दिशःदिशः**=सब दिशाओं-प्रदिशाओं से हम उस प्रभु की महिमा के लिए नतमस्तक हों और प्रशंसनीय देवों के लिए प्रशंसा के शब्दों को कहें।

भावार्थ—हमारे घरों में सर्वत्र प्रभु की महिमा के प्रति नमन हो तथा वन्दनीय विद्वानों का उचित समादर हो।

विशेष—घर में ब्रह्म की महिमा के प्रति सदा नतमस्तक होता हुआ तथा देववन्दन करता हुआ यह उन्नत होता हुआ 'ब्रह्मा' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है। यह ऋषभ नाम से प्रभु-स्तवन करता है—

४ [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ऋषभः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'साहस्रः-उस्रियः' प्रभु

साहस्रस्त्वेष ऋषभः पयस्वान्विश्वा रूपाणि वक्षणासु बिभ्रत्।
भद्रं दात्रे यजमानाय शिक्षन्बार्हस्पत्यउस्रियस्तन्तुमातान्॥ १॥

१. **साहस्रः**=सहस्रों शिरों, बाहुओं, पादों, चक्षुओं व अनन्त सामर्थ्यों से युक्त **त्वेषः**=कान्तिमान् **ऋषभः**=(ऋष गतौ दर्शने च) सर्वव्यापक व सर्वद्रष्टा, **पयस्वान्**=प्रशस्त आप्यायनवाले—आनन्दरस से परिपूर्ण वे प्रभु **विश्वा रूपाणि**=समस्त लोकों व प्राणियों को **वक्षणासु बिभ्रत्**=अपनी कोखों में धारण किये हुए हैं। यह सारा ब्रह्मण्ड प्रभु के एक देश में हैं। २. वे प्रभु **दात्रे**=दानशील अथवा आत्म-समर्पण करनेवाले **यजमानाय**=यज्ञशील उपासक के लिए **भद्रं शिक्षन्**=कल्याण करनेवाले हैं। वे **बार्हस्पत्यः**=आकाश आदि महान् लोकों के स्वामी **उस्रियः**=सब लोकों को अपने अन्दर बसानेवाले **तन्तुम्**=इस ब्रह्माण्ड तन्तु को **आतान्**=चारों ओर विस्तृत कर रहे हैं (अतानीत्)।

भावार्थ—वे प्रभु 'साहस्र, त्वेष, ऋषभ व पयस्वान्' हैं। वे सब लोकों को अपनी कोख में धारण किये हुए हैं। समर्पण करनेवाले यजमान का वे कल्याण करते हैं। वे सब लोकों के स्वामी, सबको अपने में बसानेवाले प्रभु, इस संसार-तन्तु का विस्तार करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ऋषभः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अपां प्रतिमा

अपां यो अग्रे प्रतिमा बभूव प्रभूः सर्वस्मै पृथिवीव देवी।
पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानां साहस्रे पोषे अपि नः कृणोतु॥ २॥

१. **यः**=जो **अग्रे**=सृष्टि के आरम्भ में **अपाम्**=प्रजाओं का (आपो नारा इति प्रोक्ताः) **प्रतिमा बभूव**=निर्माता (Maker, Creator) हुआ (महर्षयः सप्त, पूर्वे चत्वारे, मनवस्तथा। मद्भावा मनसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥) वह **देवी पृथिवी इव**=इस दिव्य गुणोंवाली, सब पदार्थों को देनेवाली पृथिवी के समान **सर्वस्मै प्रभूः**=सबके लिए—सबको आधार देने के लिए समर्थ है। २. वह **वत्सानाम्**=(वदति) स्तवन करनेवालों का अथवा वेदवचनों का उच्चारण करनेवालों का **पिता**=रक्षक है। **अघ्न्यानाम्**=अहन्तव्य वेदवाणियों के **पतिः**=वे प्रभु स्वामी हैं। सब वेदवाणी प्रभु में ही निवास करती हैं। ये प्रभु **साहस्त्रे पोषे**=सहस्रों पराक्रमों से युक्त पोषण में **नः कृणोतु**=हमें करें, अर्थात् सब प्रकार से हमें पुष्ट करें।

भावार्थ—प्रभु सर्गारम्भ में अमैथुनी सृष्टि को जन्म देते हैं, सबका धारण करते हैं, स्तोताओं के रक्षक हैं, वेदवाणियों के पति हैं। वे हमें सहस्रों प्रकार से पुष्ट करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'पुमान् पयस्वान्' प्रभु

पुमा॑नन्तर्वा॑न्त्स्थवि॑रः पय॑स्वान्वसोः॑ कब॑न्धमृष॒भो बि॑भर्ति।
तमिन्द्रा॑य पथिभि॑र्देव॒यानै॑र्हु॒तम॒ग्निर्व॑हतु जा॒तवे॑दाः ॥ ३ ॥

१. **पुमान्**=(पू) सबको पवित्र करनेवाले, **अन्तर्वान्**=सारे ब्रह्माण्ड को अपने में धारण किये हुए **स्थविरः**=स्थिर—कूटस्थ, **पयस्वान्**=आनन्दरसवाले, **ऋषभः**=सर्वव्यापक व सर्वद्रष्टा प्रभु **वसोः**=सबको बसानेवाले संसार के **क-बन्धम्**=सुखमय बन्धन को **बिभर्ति**=धारण करते हैं। प्रभु ने संसार को सुखमय बनाया है। इसमें आसक्ति, अतियोग व व्यवहार का दोष दुःखों को पैदा करता है। २. **तं हुतम्**=उस सर्वप्रद प्रभु को (हु दाने) **इन्द्राय**=परमैश्वर्य की प्राप्ति के लिए **जातवेदाः**=उत्पन्न ज्ञानवाला **अग्निः**=प्रगतिशील जीव **देवयानैः पथिभिः**=देवयान मार्गों से **वहतु**=धारण करे। यदि हम ज्ञानी व प्रगतिशील बनकर देवयान मार्ग से चलेंगे तो क्यों न उस प्रभु को प्राप्त करेंगे?

भावार्थ—प्रभु ने संसार को सुखमय बनाया है। अयोग व व्यवहार-दोष से हम इसे दुःखमय बना लेते हैं। ज्ञानी व प्रगतिशील बनकर हम देवयान मार्गों से चलें तो प्रभु को प्राप्त करेंगे और परमैश्वर्य के भागी होंगे।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'प्रतिधुक् पीयूषः' प्रभुः

पि॒ता व॒त्साना॑ं पति॑रघ्न्याना॑मथो॑ पि॒ता म॑ह॒तां गर्ग॑राणाम्।
व॒त्सो ज॒रायु॑ प्रति॒धुक्पी॒यूष॑ आ॒मिक्षा॑ घृ॒तं तद्व॑स्य रेतः॑ ॥ ४ ॥

१. वे प्रभु **वत्सानां पिता**=स्तुतिवाणियों का उच्चारण करनेवालों के रक्षक हैं, **अघ्न्यानां पतिः**=अहन्तव्य—नित्य स्वाध्याय के योग्य वेदवाणियों के स्वामी हैं, **अथो**=और **महताम्**=महनीय—आदरणीय **गर्गराणाम्**=ज्ञानोपदेष्टाओं के भी वे प्रभु **पिता**=पिता हैं—गुरुओं के भी गुरु हैं (**स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्**)। २. वे प्रभु **वत्सः**=(वदति) सृष्टि के आरम्भ में वेदज्ञान का उपदेश देनेवाले हैं, **जरायुः**=गर्भ वेष्टनचर्म के समान हैं—सारे ब्रह्माण्ड को अपने में आवृत्त किये हुए हैं, **प्रतिधुक्**=प्रत्येक पिण्ड में उस-उस शक्ति का प्रपूरण करनेवाले हैं। सूर्य में प्रभा, चन्द्र में ज्योत्स्ना, पृथिवी में पुण्य गन्ध, जलों में रस, अग्नि में तेज, बुद्धिमानों में बुद्धि, तेजस्वियों में तेज और बलवानों में बल के स्थापित करनेवाले प्रभु ही हैं। **पीयूषः**=(पीय् प्रीतौ)

वे भक्तों को अवर्णनीय आनन्द से प्रीणित करनेवाले हैं, **आमिक्षा**=(आ मेषति, मिषु सेचने) सर्वत्र आनन्द का सेचन करनेवाले हैं। जहाँ कहीं भी **घृतम्**=(घृ दीप्तौ) दीप्ति है **उ**=और **रेतः**=शक्ति है, **तत् अस्य**=वह सब उस प्रभु की ही तो है।

भावार्थ—प्रभु स्तोताओं के रक्षक, अहन्तव्य वेदवाणियों के स्वामी, महनीय ज्ञानोपदेष्टाओं के पिता, वेदज्ञान के उपदेष्टा, सारे ब्रह्माण्ड को अपने अन्दर करनेवाले, प्रत्येक पदार्थ में उस-उस शक्ति का पूरण करनेवाले, भक्तों को अलौकिक आनन्द से प्रीणित करनेवाले, सर्वत्र सुखों के वर्षक हैं। सब दीप्ति व शक्ति प्रभु की ही है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शरीरं बृहन् अद्रिः

देवानां भाग उपनाह एषो३पां रस ओषधीनां घृतस्य।
सोमस्य भक्षमवृणीत शक्रो बृहन्नद्रिरभवद्यच्छरीरम्॥ ५॥

१. वे प्रभु **देवानां भागः**=दिव्यवृत्ति के सब पुरुषों से सेवनीय हैं (भज सेवायाम्)। **एषः**=यह **उपनाहः**=(नह बन्धने) संसार के सब पिण्डों को एक सूत्र में बाँधनेवाला है—सूत्रों का सूत्र है। **अपाम्**=जलों का, **ओषधीनाम्**=ओषधियों का **घृतस्य**=घृत का **रसः**=रस प्रभु ही हैं। २. **शक्रः**=वे शक्तिशाली प्रभु हम पुत्रों के लिए **सोमस्य भक्षम्**=सोम के भोजन को **अवृणीत**=वरते हैं, अर्थात् प्रभु हमारे लिए सौम्य भोजनों को ही नियत करते हैं। इस भोजन से **यत् शरीरम्**=जो यह शरीर है, वह **बृहन् अद्रिः**=एक बड़े पर्वत की भाँति **अभवत्**=हो जाता है। यह शरीर पत्थर के समान दृढ़ हो जाता है। सौम्य भोजनों से उत्पन्न शक्ति शरीर में सुरक्षित होती हुई शरीर को सुदृढ़ बनाती है।

भावार्थ—प्रभु दिव्यवृत्तिवाले पुरुषों से उपासनीय हैं, सब लोकों को एक सूत्र में बाँधनेवाले हैं। जल, ओषधि व घृत में रसरूप में रह रहे हैं। सौम्य भोजनों के द्वारा हमारे शरीरों को सुदृढ़ बनाते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

याः इमाः, याः अमूः

सोमेन पूर्णं कलशं बिभर्षि त्वष्टा रूपाणां जनिता पशूनाम्।
शिवास्ते सन्तु प्रजन्व इह या इमा न्य१स्मभ्यं स्वधिते यच्छ या अमूः॥ ६॥

१. हे प्रभो! आप गतमन्त्र में वर्णित सौम्य भोजनों के द्वारा उत्पन्न **सोमेन पूर्णम्**=सोम से पूर्ण **कलशम्**=इस शरीर-कलश को **बिभर्षि**=धारण करते हो। आप ही **रूपाणां त्वष्टा**=सब रूपों के निर्माता हैं—इन रूपवान् पिण्डों को बनानेवाले हैं और **पशूनां जनिता**=सब प्राणियों के उत्पादक हैं। २. हे प्रभो! **याः इमाः ते प्रजन्वः**=जो ये आपकी प्रजनन शक्तियाँ हैं, वे **इह शिवाः सन्तु**=यहाँ कल्याणकारक हों। हे **स्वधिते**=आत्मधारणशक्तिवाले प्रभो! **याः अमूः**=जो वे आपकी धारणशक्तियाँ हैं, उन्हें **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **नियच्छ**=निश्चय से दीजिए। '**याः इमाः**' से शारीरिक शक्तियों के विकास का संकेत है और '**याः अमूः**' से आत्मिक शक्तियों के विकास का। प्रभु हमें दोनों ही शक्तियाँ प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—प्रभु हमारे शरीर-कलशों को सोम (वीर्य) से पूर्ण करके धारण करते हैं। सब पिण्डों का निर्माण करते हैं और सब प्राणियों को जन्म देते हैं। प्रभु की प्रजनन शक्तियाँ हमारे शरीरों का कल्याण करें और हमें आत्मिक विकास की शक्तियों को प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'शिवः दत्तः' प्रभु

आज्यं बिभर्ति घृतमस्य रेतः साहस्रः पोषस्तमु यज्ञमाहुः।
इन्द्रस्य रूपमृषभो वसानः सो अस्मान्देवाः शिव ऐतु दत्तः॥ ७॥

१. **अस्य**=इस प्रभु की **घृतम्**=ज्ञान-दीप्ति हमारे जीवनों में **आज्यम्**=कान्ति को (अञ्ज कान्तौ) **बिभर्ति**=धारण करती है। (अस्य) **रेतः**=प्रभु के द्वारा हमारे शरीरों में उत्पन्न किया हुआ वीर्य **साहस्रः पोषः**=सहस्रों प्रकार से हमारा पोषण करनेवाला है। **तम् उ**=उस प्रभु को ही निश्चय से **यज्ञम्**=पूजनीय व संगति करने योग्य **आहुः**=कहते हैं। यह प्रभु का मेल ही हमें ज्ञान व शक्ति प्राप्त कराता है। २. **सः**=वह **ऋषभः**=सर्वव्यापक व सर्वद्रष्टा प्रभु **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली के **रूपम्**=रूप को **वसानः**=धारण करता हुआ **अस्मान् आ एतु**=हमें सर्वथा प्राप्त हो। हे **देवाः**=विद्वानो! वे प्रभु **शिवः**=कल्याणकर हैं, और **दत्तः**=(दत्तम् अस्य अस्ति) सब आवश्यक वस्तुओं को देनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु का ज्ञान हमारे जीवनों को कान्त बनाता है। प्रभु से दी गई शक्ति हमारा बहुत प्रकार से रक्षण करती है। वे प्रभु ही उपास्य हैं। परमैश्वर्यवाले वे प्रभु हमें प्राप्त हों। वे प्रभु सब आवश्यक वस्तुओं को देनेवाले हैं और हमारा कल्याण करनेवाले हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

धीरासः, कवयः, मनीषिणः

इन्द्रस्यौजो वरुणस्य बाहू अश्विनोरंसौ मरुतामियं ककुत्।
बृहस्पतिं संभृतमेतमाहुर्ये धीरासः कवयो ये मनीषिणः॥ ८॥

१. वे प्रभु **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष का **ओजः**=बल हैं, जितेन्द्रिय पुरुष में बल के रूप में रहते हैं, **वरुणस्य**=पाप से अपना निवारण करनेवाले की **बाहू**=भुजाएँ हैं (बाहृ प्रयत्ने)। वस्तुतः प्रभु से ही उसे पापनिवारक शक्ति प्राप्त होती है। **अश्विनोः**=कर्मों में व्याप्त (अश् व्याप्तौ) रहनेवाले पति-पत्नी के वे प्रभु **अंसौ**=कन्धों के समान हैं। प्रभुकृपा से ही वे कर्मव्याप्त पति-पत्नी अपने कन्धों पर गृहस्थ-भार को उठाने में समर्थ होते हैं। **मरुताम्**=(मरुतः प्राणाः, मितराविणः) प्राणसाधक व मितभाषी—कर्मशूर पुरुषों के **इयं ककुत्**=ये प्रभु शिखर हैं, अर्थात् इन्हें वे शिखर पर पहुँचानेवाले हैं। २. **एतम्**=इस प्रभु को **बृहस्पतिम्**=आकाश आदि सब बड़े-बड़े लोकों का स्वामी तथा **संभृतम्**=उनका सम्यक् भरण करनेवाला **आहुः**=कहते हैं। **ये**=जोकि **धीरासः**=धीर हैं (धी+ईर), बुद्धिपूर्वक गति करनेवाले हैं, **कवयः**=क्रान्तदर्शी, तत्त्वदर्शी हैं व **मनीषिणः**=(मनसः ईशते) मन का शासन करनेवाले हैं, वे पुरुष प्रभु को ऐसा ही कहते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सब लोक-लोकान्तरों के स्वामी व सम्यक् भरण करनेवाले हैं। वे जितेन्द्रिय पुरुष को शक्ति देते हैं, पाप-निवारण की वृत्तिवाले को पाप-निवारण में समर्थ करते हैं, कर्मव्याप्त पति-पत्नी को गृहस्थ-भार उठाने में समर्थ करते हैं तथा प्राणसाधक मितरावी पुरुषों को शिखर पर पहुँचाते हैं। 'धीर, कवि व मनीषी' प्रभु को इसी रूप में देखते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'इन्द्र सरस्वान्' प्रभु

दैवीर्विशः पयस्वाना तनोषि त्वामिन्द्रं त्वां सरस्वन्तमाहुः॥
सहस्रं स एकमुखा ददाति यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति॥ ९॥

१. हे प्रभो! **पयस्वान्**=सब शक्तियों के दृष्टिकोण से आप्यायनवाले आप **दैवीः विशः**=दिव्य गुणयुक्त प्रजाओं को **आतनोषि**=चारों ओर विस्तृत करते हैं। प्रभु का सम्पर्क प्रजाओं को दिव्य गुण-सम्पन्न बनाता है। हे प्रभो! **त्वाम्**=आपको ही **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् व परमैश्वर्यशाली **आहुः**=कहते हैं। **त्वाम्**=आपको ही **सरस्वन्तम्**=ज्ञानों के प्रवाहवाला—सरस्वती का पति कहते हैं। २. **यः**=जो **ब्राह्मणे**=इस वेदज्ञान में (ब्रह्म के प्रतिपादक मन्त्रों में) **ऋषभम् आजुहोति**=उस सर्वव्यापक व सर्वद्रष्टा प्रभु को ग्रहण करता है (हु आदाने), **सः**=वह **एकमुखाः**=एक ब्रह्म ही जिनका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है, उन **सहस्रम्**=हज़ारों वेदवाणियों को **ददाति**=जनहित के लिए देनेवाला होता है।

भावार्थ—शक्तियों के आप्यायनवाले प्रभु प्रजाओं को दिव्य गुणयुक्त करते हैं। प्रभु सर्वशक्तिमान् व सर्वज्ञ हैं। जो भी व्यक्ति वेदवाणियों में प्रभु का ग्रहण करता है, वह प्रभु के द्वारा प्रतिपादित इन शतशः वेदवाणियों को लोकहित के लिए देता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'बृहस्पति, सविता, त्वष्टा, वायु' प्रभु

बृहस्पतिः सविता ते वयो दधौ त्वष्टुर्वायोः पर्यात्मा त आभृतः।
अन्तरिक्षे मनसा त्वा जुहोमि बर्हिष्टे द्यावापृथिवी उभे स्ताम्॥ १०॥

१. **बृहस्पतिः**=वह आकाशादि महान् लोकों का स्वामी, **सविता**=सर्वोत्पादक प्रभु **ते वयः दधौ**=तेरे लिए उत्कृष्ट जीवन को धारण करता है। उस **त्वष्टुः**=सर्वनिर्माता **वायोः**=गति द्वारा बुराइयों का गन्धन (हिंसन) करनेवाले प्रभु से **ते आत्मा**=तेरा आत्मा **परि आभृतः**=समन्तात् पुष्ट किया गया है। २. हे प्रभो! मैं **अन्तरिक्षे**=अपने हृदयान्तरिक्ष में **मनसा**=मनन के द्वारा **त्वा**=आपके प्रति **जुहोमि**=अपने को अर्पित करता हूँ। **ते**=आपके बनाये हुए **उभे द्यावापृथिवी**=ये दोनों मस्तिष्क व शरीर **बर्हिः**=(बृहि वृद्धौ) वृद्धिवाले **स्ताम्**=हों। आपके अनुग्रह से मैं अपने मस्तिष्क व शरीर को वृद्धियुक्त कर पाऊँ।

भावार्थ—वह 'बृहस्पति, सविता' प्रभु हमें उत्कृष्ट जीवन प्राप्त कराएँ। 'त्वष्टा, वायु' हमारे आत्मा का पोषण करें। हम मनन द्वारा प्रभु को हृदय में धारण करें—हमारे मस्तिष्क व शरीर दोनों वृद्धिशील हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्रह्मा सं स्तौतु भद्रया

य इन्द्रइव देवेषु गोष्वेति विवावदत्।
तस्य ऋषभस्याङ्गानि ब्रह्मा सं स्तौतु भद्रया॥ ११॥

१. **यः**=जो प्रभु **देवेषु इन्द्रः इव**=देवों में इन्द्र के समान हैं। इन्द्रियाँ देव हैं, इनका अधिष्ठाता जीवात्मा 'इन्द्र' है। जैसे इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव है, उसी प्रकार प्रभु सूर्यादि देवों का अधिष्ठाता है। ये प्रभु **गोषु**=वेदवाणियों में **विवावदत्**=खूब ही ज्ञानोपदेश करते हुए **एति**=गति करते हैं—हमें प्राप्त होते हैं। २. **तस्य**=उस **ऋषभस्य**=सर्वव्यापक व सर्वद्रष्टा प्रभु के **अङ्गानि**=अङ्गों का **ब्रह्मा**=चतुर्वेदवेत्ता विद्वान् **भद्रया संस्तौतु**=कल्याणी वेदवाणी द्वारा स्तवन करे।

भावार्थ—प्रभु सूर्यादि देवों के इसप्रकार अधिष्ठाता हैं, जैसेकि जीवात्मा इन्द्रियों का। वे प्रभु वेदवाणी द्वारा हमें कर्त्तव्य का उपदेश देते हैं। ब्रह्मा प्रभु का वर्णन करने में आनन्द का अनुभव करे।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विराट् प्रभु का दर्शन

पार्श्वे आस्तामनुमत्या भगस्यास्तामनूवृजौ।
अष्ठीवन्तावब्रवीन्मित्रो ममैतौ केवलाविति॥ १२॥
भसदासीदादित्यानां श्रोणी आस्तां बृहस्पतेः।
पुच्छं वातस्य देवस्य तेन धूनोत्योषधीः॥ १३॥
गुदा आसन्त्सिनीवाल्याः सूर्यायास्त्वचमब्रुवन्।
उत्थातुरब्रुवन्पद ऋषभं यदकल्पयन्॥ १४॥
क्रोड आसीज्जामिशंसस्य सोमस्य कलशो धृतः।
देवाः संगत्य यत्सर्व ऋषभं व्यकल्पयन्॥ १५॥

१. ब्रह्मा प्रभु के विराट् शरीर की कल्पना इसप्रकार करता है कि उस विराट् पुरुष के **पार्श्वे**=दोनों पार्श्व **अनुमत्याः आस्ताम्**=अनुमति के हैं—एक कला से हीन पूर्णिमा के चाँद के हैं (कलाहीने सानुमतिः) **अनूवृजौ**=पसलियों के दोनों भाग **भगस्य आस्ताम्**=सूर्य के हैं। **मित्रः इति अब्रवीत्**=प्राणवायु ने यह कहा है कि उस विराट् के **एतौ अष्ठीवन्तौ**=ये घुटने तो **केवलौ मम**=केवल मेरे ही हैं। २. **भसत्**=प्रजनन भाग **आदित्यानाम् आसीत्**=आदित्यों का है, **श्रोणी**=कटि के दोनों भाग **बृहस्पतेः आस्ताम्**=बृहस्पति के हैं, **पुच्छम्**=पुच्छ भाग **देवस्य वातस्य**=दिव्य गुणयुक्त वायु का है। **तेन**=वायुनिर्मित पुच्छ से वह **ओषधीः धूनोति**=सब ओषधियों को कम्पित करता है। ३. **गुदाः**=गुदा की नाड़ियाँ **सिनीवाल्याः आसन्**=सिनीवाली (सा दृष्टेन्दुः सिनीवाली) जिसमें चन्द्रमा की एक कला प्रादुर्भूत हो रही है, उस अमावस की हैं, **त्वचम्**=त्वचा को **सूर्यायाः अब्रुवन्**=सूर्या का (सूर्या—The daughter of the sun—उषा)—उषा का कहते हैं। **ऋषभम्**=उस सर्वव्यापक व सर्वद्रष्टा प्रभु को **यत् अकल्पयन्**=जब विराट् पुरुष के रूप में कल्पित किया—सोचा गया तो **पदः**=उसके पाँवों को **उत्थातुः अब्रुवन्**=उत्थाता—[प्राण का] कहा गया। ४. **जामिशंसस्य**=सब जगत् को उत्पन्न करनेवाले, मातृरूप प्रभु का शंसन करनेवाले की वे **क्रोडः आसीत्**=गोद हैं। यह भक्त सदा मातृरूप प्रभु की गोद में आनन्दित होता है। यह प्रभु तो **सोमस्य कलशः**=सोम का—आनन्दरस का कलश ही **धृतः**=धारण किया गया है। **यत्**=जब **सर्वे देवाः**=सब देव **संगत्य**=मिलकर **ऋषभम्**=उस सर्वव्यापक प्रभु को **व्यकल्पयन्**=एक विराट् पुरुष के रूप में कल्पित करते हैं, तब उपर्युक्त प्रकार से ब्रह्मा द्वारा उस प्रभु के अङ्गों का प्रतिपादन होता है।

भावार्थ—ब्रह्माण्ड के सब पिण्ड उस विराट् पुरुष के विविध अङ्गों के रूप में है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वस्तुमात्र की अव्यर्थता

ते कुष्ठिकाः सरमायै कूर्मेभ्यो अदधुः शफान्।
ऊबध्यमस्य कीटेभ्यः श्ववर्तेभ्यो अधारयन्॥ १६॥

१. **ते**=उन दोनों ने **कुष्ठिकाः**=(A kind of poison) शरीर में उत्पन्न हो जानेवाले विषों को **सरमायै**=सरमा (शुनी) के लिए **अदधुः**=धारण किया। ये विषतुल्य शरीराङ्ग भी कुत्तों के लिए ग्राह्य रसोंवाले बन जाते हैं। वे उन्हें चबाते हुए आनन्द का अनुभव करते हैं। **शफान्**=खुरों को **कूर्मेभ्यः**=कछुओं के लिए **अदधुः**=धारण किया। ये पशुओं के खुर भी इनका भोजन बन

जाते हैं। तथा **अस्य**=इस प्रभु की व्यवस्था से पेट में रह जानेवाले **ऊबध्यम्**=अजीर्ण अन्न को भी **श्ववर्तेभ्यः**=(श्वः वर्तन्ते) एक-दो दिन जीनेवाले **कीटेभ्यः**=कीटों के लिए **अधारयन्**=धारण किया।

भावार्थ—प्रभु की व्यवस्था से इस संसार में होनेवाले 'कुष्ठिका, शफ, ऊबध्य' आदि मलभूत पदार्थ भी किन्हीं प्राणियों के लिए भोजन बन जाते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वेदज्ञान व सुन्दर जीवन

शृङ्गाभ्यां रक्ष ऋषत्यवर्तिं हन्ति चक्षुषा।
शृणोति भद्रं कर्णाभ्यां गवां यः पतिरघ्न्यः॥ १७॥

१. **यः**=जो भी **गवां पतिः**=वेदवाणियों का स्वामी बनता है, वह **अघ्न्यः**=विषय-वासनाओं से अहन्तव्य होता है। यह वैषयिक वृत्तियोंवाला नहीं बनता। **कर्णाभ्यां भद्रं शृणोति**=कानों से भद्र को ही सुनता है। यह निन्दा की बातों को सुनने में रुचि नहीं लेता। **शृंगाभ्याम्**=(शृणाति) शरीरस्थ दोषों को विनष्ट करनेवाले प्राणापानरूप शृंगों से **रक्षः**=सब रोगकृमियों को **ऋषति**=नष्ट कर देता है तथा **चक्षुषा**=ज्ञानदृष्टि से **अवर्तिं हन्ति**=दौर्भाग्य (bad fortune, poverty, distress, want) को दूर भगाता है।

भावार्थ—वेदवाणियों का अध्येता 'विषयों में नहीं फँसता, कानों से सदा शुभ सुनता है, प्राणसाधना द्वारा रोगकृमियों का विनाश करता है तथा ज्ञानदृष्टि से दौर्भाग्य को दूर करता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्बृहती** ॥

'प्रभुस्मरण' व 'स्वस्थ, पवित्र जीवन'

शतयाजं स यजते नैनं दुन्वन्त्यग्नयः।
जिन्वन्ति विश्वे तं देवा यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति॥ १८॥

१. **यः ब्राह्मणे**=जो ब्रह्मज्ञान के निमित्त **ऋषभम् आजुहोति**=उस सर्वव्यापक व सर्वद्रष्टा प्रभु को अपने में अर्पित करता है, अर्थात् प्रभु को अपने हृदय में स्थापित करने के लिए यत्नशील होता है, **सः**=वह **शतयाजं यजते**=शतवर्षपर्यन्त यज्ञों को करनेवाला होता है। **एनम्**=इस प्रभु-स्मरणपूर्वक यज्ञ करनेवाले व्यक्ति को **अग्नयः**=अग्नियाँ न **दुवन्ति**=सन्तप्त नहीं करतीं, अर्थात् यह आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक तापों से पीड़ित नहीं होता। २. **तम्**=उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले को **विश्वेदेवाः**=सूर्य-चन्द्रमा आदि सब देव **जिन्वन्ति**=प्रीणित करनेवाले होते हैं। सूर्य-चन्द्रमा आदि सब देवों की अनुकूलता से यह यज्ञशील उपासक पूर्ण स्वस्थ बनता है।

भावार्थ—हम ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के लिए हृदय में प्रभु का ध्यान करें। ऐसा करने पर हमारा जीवन यज्ञमय होगा। हम कष्टाग्नियों से पीड़ित नहीं होंगे और सूर्यादि सब देवों की अनुकूलता से हमें पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त होगा।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ऋषभ-दान

ब्राह्मणेभ्य ऋषभं दत्त्वा वरीयः कृणुते मनः।
पुष्टिं सो अघ्न्यानां स्वे गोष्ठेऽव पश्यते॥ १९॥

१. **ब्राह्मणेभ्यः**=ब्रह्म-जिज्ञासुओं के लिए **ऋषभं दत्त्वा**=सर्वव्यापक व सर्वद्रष्टा प्रभु को—

प्रभु का ज्ञान देकर यह उपदेष्टा **मनः वरीयः कृणुते**=अपने हृदय को विशाल (उदार) बनाता है। ज्ञान का आदान-प्रदान इन ज्ञानियों के मनों को उदार व पवित्र करता है। २. **सः**=वह ज्ञानोपदेष्टा **स्वे गोष्ठे**=अपने गोष्ठ में (An assembly), अपनी सभाओं में **अघ्न्यानाम्**=इन अहन्तव्य वेदवाणियों की **पुष्टिम्**=पुष्टि को **अवपश्यते**=देखता है। इनकी सभाओं में इन ज्ञान की वाणियों की ही चर्चा होती है और उस प्रकार इन्हीं का प्रसार होता है।

भावार्थ—हम गोष्ठियों में अहन्तव्य वेदवाणियों की ही चर्चा करें। ब्रह्मज्ञान का आदान-प्रदान करते हुए विशाल व पवित्र हृदयोंवाले बनें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गावः प्रजाः तनूबलम्

गावः सन्तु प्रजाः सन्त्वथो अस्तु तनूबलम्।
तत्सर्वमनु मन्यन्तां देवा ऋषभदायिने॥ २०॥

१. इस **ऋषभदायिने**=सर्वव्यापक व सर्वद्रष्टा प्रभु का ज्ञान देनेवाले के लिए **गावः सन्तु**=इन्द्रियाँ हों, अर्थात् इसकी सब इन्द्रियाँ सशक्त बनती हैं, **प्रजाः सन्तु**=इसे उत्तम सन्तान प्राप्त हों **अथो**=और **तनूबलम् अस्तु**=इसके शरीर का बल ठीक बना रहे। २. **देवाः**=सूर्य-चन्द्र आदि सब देव ब्रह्मज्ञान देनेवाले के लिए **तत् सर्वम्**='इन्द्रियों, प्रजाओं व बल' उन सबको **अनुमन्यन्ताम्**=अनुमत करें। सब देवों की अनुकूलता से ये सब पदार्थ हमें प्राप्त हों।

भावार्थ—हम परस्पर ब्रह्मज्ञान की चर्चा करते हुए सब देवों की अनुकूलता से उत्तम इन्द्रियों, सन्तानों व शरीर-बल को प्राप्त करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः** ॥

चेतनी रयि

अयं पिपान इन्द्र इद्रयिं दधातु चेतनीम्।
अयं धेनुं सुदुघां नित्यवत्सां वशं दुहां विपश्चितं परो दिवः॥ २१॥

१. **अयम्**=यह **पिपानः**=सदा से आप्यायित (वृद्ध) **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **इत्**=निश्चय से **चेतनीं रयिम्**=चेतना प्राप्त करानेवाले ज्ञानैश्वर्य को **दधातु**=धारण करे। प्रभुकृपा से हमें वह ज्ञानैश्वर्य प्राप्त हो जो हमें चेतना प्राप्त करानेवाला है। २. **अयम्**=यह **दिवः परः**=ज्ञान के दृष्टिकोण से सर्वोत्कृष्ट (पर)—सर्वज्ञ प्रभु **वशं विपश्चितम्**=इन्द्रियों को वश में करनेवाले ज्ञानी को **धेनुं दुहाम्**=वेद-धेनु को दुहे। 'वश विपश्चित' के लिए प्रभु वेदज्ञान दें। इसके लिए उस वेद-धेनु का दोहन करें जोकि **सुदुघाम्**=उत्तमता से दोहन के योग्य है तथा **नित्यवत्साम्**=सदा वत्सवाली है, अर्थात् सदा नवसूतिका होने से सदा ही ज्ञान-दुग्ध देनेवाली है।

भावार्थ—हम इन्द्रियों को वश में करनेवाले व ज्ञान में रुचिवाले हों। प्रभु हमें चेतानेवाला ज्ञानैश्वर्य प्राप्त कराएँ और वेदधेनु हमारे लिए सदा नित नया ज्ञान देनेवाली हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ऋषभः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

आयु-प्रजा-धन

पिशङ्गरूपो नभसो वयोधा ऐन्द्रः शुष्मो विश्वरूपो न आगन्।
आयुरस्मभ्यं दधत्प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सचताम्॥ २२॥

१. **पिशङ्गरूपः**=(पिश to light, irradiate) तेजस्वीरूपवाला **नभसः**=(The sky) आकाशवत् व्यापक (खं ब्रह्म) **वयोधा**=उत्कृष्ट जीवन प्रदाता **ऐन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली (इन्द्र एव ऐन्द्रः),

शुष्मः=बलवान्, **विश्वरूपः**=सम्पूर्ण पदार्थों का निरूपण करनेवाला (विश्वं रूपयति), सब पदार्थों का ठीक-ठीक ज्ञान देनेवाला प्रभु **नः आगन्**=हमें प्राप्त हो। २. ये प्रभु अस्मभ्यम्=हमारे लिए **आयुः**=दीर्घजीवन **च प्रजाम्**=और उत्तम सन्तान प्राप्त कराएँ, **च**=तथा **नः**=हमें **रायः पोषैः**=धनों के पोषणों से **अभिसचताम्**=आभिमुख्येन समवेत करें। प्रभु के अनुग्रह से आवश्यक धनों को प्राप्त करते हुए हम दीर्घजीवी व उत्तम सन्तानोंवाले हों।

भावार्थ—प्रभु तेजस्वी, व्यापक, उत्कृष्ट जीवन देनेवाले, परमैश्वर्यशाली, शक्तिमान् व सब पदार्थों का ज्ञान देनेवाले हैं। वे हमें आयु, प्रजा व धन प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ऋषभः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रेतस् व वीर्य

उपेहोपपर्चनास्मिन्गोष्ठ उप पृञ्च नः।
उप ऋषभस्य यद्रेत उपेन्द्र तव वीर्यम्॥ २३॥

१. हे **उपपर्चन**=अत्यन्त समीपता से सबके साथ सम्पर्कवाले प्रभो! **इह**=इस जीवन में **उप**=आप हमें समीपता से प्राप्त होओ। **अस्मिन् गोष्ठे**=इस ज्ञानसभा में **नः उपपृच**=हमारे साथ सम्पृक्त होओ। ज्ञान-चर्चाओं को करते हुए हम आपके साथ सम्पृक्त हों। २. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमान् प्रभो! **ऋषभस्य तव**=सर्वव्यापक व सर्वद्रष्टा आपका **यत् रेतः**=जो प्रजनन सामर्थ्य व **वीर्यम्**=रोगरूप शत्रुओं को कम्पित करनेवाला सामर्थ्य है, वह हमें **उप उप**=समीपता से प्राप्त हो।

भावार्थ—ज्ञानचर्चाओं को करते हुए हम प्रभु से दूर न हों। प्रभु से हमें रेतस् व वीर्य की प्राप्ति हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ऋषभः**॥ छन्दः—**जगती**॥

आत्मक्रीड़

एतं वो युवानं प्रति दध्मो अत्र तेन क्रीडन्तीश्चरत वशाँ अनु।
मा नो हासिष्ट जनुषा सुभागा रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम्॥ २४॥

१. हे जीवो! **वः**=तुम्हें **अत्र**=यहाँ—इस जीवन में **एतं युवानं प्रतिदध्मः**=इस (यु मिश्रणामिश्रणयोः) बुराइयों से पृथक् करनेवाले तथा अच्छाइयों से मिलानेवाले प्रभु के प्रति धारण-करते हैं, अर्थात् प्रभु से तुम्हारा मेल कराते हैं। **तेन**=उस प्रभु के साथ **क्रीडन्तीः**=क्रीड़ा करते हुए तुम **वशान् अनु चरत**=इन्द्रियों को वश में करने के अनुपात में प्रभु के साथ गति करो। जितना-जितना तुम इन्द्रियों को वश में करोगे, उतना-उतना ही प्रभु के साथ विचरनेवाले बनोगे। आत्मक्रीड़ बनो, इन्द्रियों को वश में करो तथा प्रभु के साथ विचरो। २. यह आत्मवशी प्रार्थना करता है कि—हे **सुभागाः**=उत्तम ऐश्वर्यवाली वेदवाणियो! आप **नः**=हमें **जनुषा मा हासिष्ट**=जन्म से ही मत छोड़ो, अर्थात् जन्म से ही हमारा तुम्हारे साथ सम्बन्ध बना रहे **च**=तथा **रायः पोषैः**=धन के पोषणों के साथ **नः**=हमें **सचध्वम्**=समवेत करो।

भावार्थ—हम प्रभु के साथ मेल बनाये रक्खें, आत्मक्रीड़ बनते हुए जितेन्द्रिय बनें। जन्म से ही वेदवाणियों के साथ हमारा सम्बन्ध हो और हम धनों का पोषण प्राप्त करें।

विशेष—वेदवाणियों में अपने को परिपक्व करनेवाला यह 'भृगु' बनता है। अगले सूक्त का ऋषि यह भृगु ही है—

५. [पञ्चमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

तृतीयं नाकम्

आ नयैतमा रभस्व सुकृतां लोकमपि गच्छतु प्रजानन्।
तीर्त्वा तमांसि बहुधा महान्त्यजो नाकमा क्रमतां तृतीयम्॥ १॥

१. **एतम्**=गतमन्त्र में वर्णित इस 'युवा (प्रभु)' को **आनय**=अपने हृदयदेश में प्राप्त करा और **आरभस्व**= कर्त्तव्य-कर्मों का आरम्भ कर, प्रभु-स्मरणपूर्वक कर्त्तव्य कर्मों में लग जा। **प्रजानन्**=ज्ञानवाला होता हुआ पुरुष **सुकृतां लोकम्**=पुण्यकर्मा लोगों के लोक को **अपि गच्छतु**=प्राप्त हो। २. **महान्ति तमांसि**=महान् अन्धकारों को **बहुधा**=नाना प्रकार से **तीर्त्वा**=तैरकर **अजः**=गति के द्वारा बुराइयों को अपने से परे फेंकनेवाला यह 'पञ्चौदन' (पाँचों इन्द्रियों से ज्ञान का भोजन ग्रहण करनेवाला) जीव **तृतीयं नाकम्**=प्रकृति व जीव से ऊपर उठकर दुःख के अभाववाले तृतीय सुखमय (आनन्दस्वरूप) प्रभु में **आक्रमताम्**=विचरण करे। प्रकृति के भोगों से हम ऊपर उठें तथा जीव के प्रति भी मोह (राग-द्वेष) से दूर हों। इसप्रकार हम आनन्दमय प्रभु में विचरनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु-स्मरणपूर्वक कर्त्तव्य-कर्मों को करते हुए। हम पुण्यकर्मा लोगों के लोकों को प्राप्त करें। अन्धकार से ऊपर उठकर हम प्राकृतिक भोगों व जीव के प्रति राग-द्वेष में न उलझते हुए तृतीय स्थान में स्थित आनन्दमय प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

इन्द्राय यजमानाय

इन्द्राय भागं परि त्वा नयाम्यस्मिन्यज्ञे यजमानाय सूरिम्।
ये नो द्विषन्त्यनु तान्रभस्वानागसो यजमानस्य वीराः॥ २॥

१. **भागम्**=सेवनीय (भज सेवायाम्) **सूरिम्**=ज्ञानी प्रभु को **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय, **यजमानाय**= यज्ञशील **त्वा**=तेरे लिए **अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवन-यज्ञ में **परिनयामि**=प्राप्त कराता हूँ। जितेन्द्रिय व यज्ञशील पुरुष ही प्रभु-प्राप्ति का पात्र बनता है। २. **ये**=जो **नः**=हमें **द्विषन्ति**=अप्रीति से वर्तते हैं, अर्थात् जो दोष हमारे लिए हानिकर होते हैं, **तान् अनु**=उन्हें लक्ष्य करके **रभस्व**=(clasp, embrace) उस प्रभु का आलिंगन करनेवाला बन। प्रभु का आलिंगन इन सब अप्रीतिकर दोषों को दूर कर देगा। इस निर्दोष जीवनवाले **यजमानस्य**=यज्ञशील पुरुष के **वीराः**=वीर सन्तान **अनागसः**=निर्दोष होते हैं। वे सन्तान यज्ञशील बनते हैं।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय व यज्ञशील बनते हुए उस भजनीय, ज्ञानी प्रभु को प्राप्त करें। प्रभु का आलिंगन हमारे जीवन को निर्दोष बनाएगा। निर्दोष यज्ञशील पुरुष के सन्तान भी निष्पाप ही बनते हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदापुरोऽतिशक्वरी जगती** ॥

शुद्धैः शफैः

प्र पदोऽव नेनिग्धि दुश्चरितं यच्चचार शुद्धैः शफैरा क्रमतां प्रजानन्।
तीर्त्वा तमांसि बहुधा विपश्यन्नजो नाकमा क्रमतां तृतीयम्॥ ३॥

१. हे प्रभो! आप इस उपासक के **पदः**=पाँव से **दुश्चरितम्**=दुश्चरित को **प्र+अव+ नेनिग्धि**=प्रकर्षेण दूर धो डालिए, **यत् चचार**=जिस भी दोष को इसने किया है, उस सब

दुश्चरित को इससे पृथक् कीजिए। अब यह **प्रजानन्**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला होता हुआ **शुद्धैः शफैः**=(शम् शान्तिकरणे आलोचने च) पवित्र, शान्त विचारों के साथ **आक्रमताम्**=समन्तात् कार्यों में प्रवृत्त हो। २. यह **अजः**=गति के द्वारा मलों को परे फेंकनेवाला जीव **बहुधा विपश्यन्**=बहुत प्रकार से देखता हुआ—यह आलोचना करता हुआ कि उसका यह कार्य किसी की हानि का कारण तो न बनेगा—**तमांसि तीर्त्वा**=अज्ञान-अन्धकारों को तैरकर **तृतीयं नाकम्**=तृतीय—प्रकृति व जीव से ऊपर परमात्मरूप—आनन्दमय मोक्षधाम में **आक्रमताम्**= विचरनेवाला हो।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारे पाँव दुश्चरित से सदा दूर रहें। हम सदा शान्त विचारों के साथ गति करें। अन्धकारों को तैरकर प्रकाशमय लोकों में विचरण करनेवाले बनें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

श्यामेन असिना

अनु च्छ्य श्यामेन त्वचमेतां विशस्तर्यथापर्व१सिना माभि मंस्थाः।
माभि द्रुहः परुशः कल्पयैनं तृतीये नाके अधि वि श्रयैनम्॥ ४॥

१. हे **विशस्तः**=विशेषरूप से प्रभु-शंसन करनेवाले व पापों को काटनेवाले साधक! **एतां त्वचम्**=ज्ञान पर आये हुए मलिनता व अज्ञान के आवरण को तू **श्यामेन**=(श्यैङ् गतौ) गतिशील **असिना**=(अस दीप्तौ) ज्ञानदीप्ति से—क्रियायुक्त ज्ञान से **यथापरु**=एक-एक पर्व करके **अनुच्छ्य**=काट डाल। २. इस मलिनता को दूर करके भी **मा अभिमंस्थाः**=अभिमान मत कर, **मा अभिद्रुहः**=किसी भी प्राणी से द्रोह न कर। **एनम्**=इस अभिमान व द्रोह को **परुशः**=एक-एक पोरी करके **कल्पय**=काट डाला। इसप्रकार **एनम्**=इस अभिमान व द्रोह से शून्य आत्मा को **तृतीये नाके अधिविश्रय**=प्रकृति व जीव से ऊपर तृतीय (न अकः) दुःखरहित आनन्दमय प्रभु में आश्रित कर।

भावार्थ—क्रियायुक्त ज्ञान से हम मलिनता के आवरण को नष्ट करें। अभिमान व द्रोह से रहित होकर अपने को प्रभु में स्थापित करें। प्रभु ही 'तृतीय नाक' हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

कुम्भी का अग्नि पर श्रयण

ऋचा कुम्भीमध्यग्नौ श्रयाम्या सिञ्चोदकमव धेह्येनम्।
पर्याधत्ताग्निना शमितारः शृतो गच्छतु सुकृतां यत्र लोकः॥ ५॥

१. **ऋचा**=विज्ञान के हेतु से **कुम्भीम्**=इस अपने शरीर-कलश को **अग्नौ अधिश्रयामि**=ज्ञानाग्नि के पुञ्जभूत आचार्य में अधिश्रित करता हूँ। शरीर कलश है, यह सोलह कलाओं का आधार है। आचार्य इसे ज्ञानाग्नि में परिपक्व करता है। एक ब्रह्मचारी ज्ञान-प्राप्ति के हेतु से आचार्य की ज्ञानाग्नि में परिपक्व होने के लिए अपने को आचार्य के प्रति अर्पित करता है और आचार्य से कहता है कि इस कुम्भीरूप मुझमें **उदकम्**=ज्ञान-जल को **आसिञ्च**=सिक्त कीजिए। **एनम्**=इस मुझे **अवधेहि**=दूषित प्रवृत्तियों से दूर (अव) स्थापित कीजिए (धेहि)। २. **शमितारः**=(शम् आलोचने) हे उत्तम आलोचन (तत्त्वदर्शन) से युक्त आचार्यो! मुझे **अग्निना**=ज्ञानाग्नि से **परि आधत्त**=चारों ओर से धारण करो। मैं ज्ञानाग्नि में आहित हुआ-हुआ अपने को परिपक्व कर पाऊँ। **शृतः**=ज्ञानाग्नि में परिपक्व हुआ-हुआ यह आपका शिष्य वहाँ **गच्छतु**=जाए, **यत्र**=जहाँ कि **सुकृतां लोकः**=पुण्यकर्मा लोगों का निवास है, अर्थात् ज्ञानाग्नि में परिपक्व हुआ-हुआ यह व्यक्ति एक उत्तम गृही बने।

भावार्थ—विज्ञान के हेतु से हम आचार्य के समीप रहते हुए अपने को ज्ञानाग्नि में परिपक्व करें और दूषित प्रवृत्तियों से दूर रहते हुए परिपक्व ज्ञानवाले बनकर सद्गृहस्थ बनें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

तप्त चरु व ज्योतिर्मय लोक

उत्क्रामातः परि चेदतप्तस्तप्ताच्चरोरधि नाकं तृतीयम्।
अग्नेरग्निरधि सं बभूविथ ज्योतिष्मन्तमभि लोकं जयैतम्॥ ६॥

१. हे जीव! **चेत्**=यदि तू **अतः**=ज्ञानाग्नि में परिपाकरूप इस कार्य से **परि अतप्तः**=सब प्रकार से सन्तप्त (दुःखी) नहीं हो गया, अर्थात् आचार्यकुल में निवास की तपस्या से तू व्याकुल व निर्विण्ण नहीं हो गया तो **तप्तात् चरोः**=खूब दीप्त ज्ञान के भोजन से (चर गतौ, गतिः=ज्ञानम्) **तृतीयं नाकम्**=प्रकृति और जीव से ऊपर तृतीय आनन्दमय ब्रह्मलोक में **अधि उत्क्राम**=प्रकृष्ट गतिवाला हो। २. हे साधक! तू **अग्नेः अधि**=अग्निरूप आचार्य से **अग्निः संबभूविथ**=अग्नि ही बन गया है। आचार्य ज्ञानाग्नि से दीप्त था, तू भी ज्ञानाग्नि से दीप्त बना है, अतः अब **एतम्**=इस **ज्योतिष्मन्तम्**=प्रकाशमय **लोकम् अभिजय**=लोक को जीतनेवाला बन।

भावार्थ—आचार्यकुल मे तपस्यापूर्वक निवास करता हुआ ब्रह्मचारी यदि अपने को ज्ञानाग्नि में खूब परिपक्व करता है तो इस संसार में प्राकृतिक भोगों व पारस्परिक कलहों का शिकार न होकर मोक्ष को प्राप्त करता है और अपने गृहस्थ को भी ज्योतिर्मय बना पाता है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अज='अग्नि+ज्योति'

अजो अग्निरजमु ज्योतिराहुरजं जीवता ब्रह्मणे देयमाहुः।
अजस्तमांस्यप हन्ति दूरमस्मिंल्लोके श्रद्दधानेन दत्तः॥ ७॥

१. **अजः**=गति के द्वारा बुराइयों को परे फेंकनेवाला यह जीव **अग्निः**=अग्नि है, यह प्रगतिशील होता है, **उ**=और **अजम्**=गति के द्वारा बुराइयों को परे फेंकनेवाले को **ज्योतिः आहुः**=प्रकाश कहते हैं। यह अज प्रकाशमय जीवनवाला होता है। **जीवता**=जीवन को धारण करनेवाले पुरुष से **अजम्**=इस अज को—जीवात्मा को **ब्रह्मणे**=प्रभु व ज्ञान के लिए **देयम् आहुः**=देने योग्य कहते हैं। हमें चाहिए कि हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें और ज्ञान-प्राप्ति में लगे रहें। २. **अस्मिन् लोके**=इस लोक में **श्रत् दधानेन दत्तः**=श्रद्धायुक्त पुरुष से प्रभु के प्रति अर्पित किया हुआ **अजः**=आत्मा—गति के द्वारा बुराइयों को दूर करनेवाला व्यक्ति **तमांसि दूरम् अपहन्ति**=अन्धकारों को अपने से दूर फेंकता है।

भावार्थ—हम गति द्वारा बुराइयों को दूर फेंकते हुए गतिशील व ज्योतिर्मय जीवनवाले बनें। प्रभु के प्रति अपना अर्पण करते हुए श्रद्धामय जीवनवाले बनकर अज्ञान-अन्धकार को अपने से दूर फेंकें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पञ्चौदन

पञ्चौदनः पञ्चधा वि क्रमतामाक्रंस्यमानस्त्रीणि ज्योतींषि।
ईजानानां सुकृतां प्रेहि मध्यं तृतीये नाके अधि वि श्रयस्व॥ ८॥

१. प्रभु ने जीव को पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच ज्ञानरूप भोजनों को प्राप्त करने के लिए दी हैं, अतः जीव पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान प्राप्त करता हुआ 'पञ्चौदन' कहलाता है। यह

पञ्चौदनः=पञ्चौदन जीव **त्रीणि**=तीन **ज्योतींषि**=ज्योतियों को **आक्रंस्यमानः**=आक्रान्त (प्राप्त) करने की इच्छा करता हुआ **पञ्चधा विक्रमताम्**=पाँच प्रकार से विक्रमवाला हो, अर्थात् पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान-प्राप्ति में लगा रहे। प्रकृति का ज्ञान 'प्रथम ज्योति' है, जीव का ज्ञान 'द्वितीय ज्योति' तथा परमात्मा का ज्ञान 'तृतीय ज्योति' है। इसे इन तीनों ही ज्योतियों को प्राप्त करना है। यह सम्भव तभी होगा जबकि ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान-प्राप्ति को ही मुख्य उद्देश्य बनाये रक्खेंगी। इनका विषयों की ओर झुकाव होते ही ज्ञान-प्राप्ति का क्रम समाप्त हो जाता है। २. अतः ज्ञान-प्राप्ति में लगा हुआ तू **ईजानानाम्**=यज्ञशील **सुकृताम्**=पुण्यकर्मा लोगों के **मध्यं प्रेहि**=मध्य में प्राप्त हो। तू भी यज्ञशील व सुकर्मा बनकर अपने को **तृतीये नाके अधिविश्रयस्व**=प्रकृति व जीव से ऊपर तृतीय आनन्दमय ब्रह्मलोक में स्थापित कर।

भावार्थ—हम पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञानप्राप्ति के कार्य में लगे रहें। यज्ञशील व पुण्यकर्मा बनकर ब्रह्मलोक में विचरण करनेवाले बनें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

दुर्ग-लंघन

अजा रोह सुकृतां यत्र लोकः शरभो न चत्तोऽति दुर्गाण्येषः।
पञ्चौदनो ब्रह्मणे दीयमानः स दातारं तृप्त्या तर्पयाति॥ ९॥

१. हे **अज**=गति के द्वारा बुराई को परे फेंकनेवाले जीव! तू **सुकृतां यत्र लोकः**=पुण्यकर्मा लोगों का जहाँ लोक है, वहाँ **आरोह**=आरोहण कर। तू **चत्तः**=(चति याचने, चत्तम् अस्य अस्तीति) याचना—प्रार्थनावाला होता हुआ **शरभः न**=(शॄ हिंसायाम्) शरभ के समान होता है—सब बुराइयों को शीर्ण करनेवाला होता है। ऐसा तू **दुर्गाणि अति एषः**=(इष् गतौ) सब दुर्गों को—कठिनाइयों को लाँघ जाता है। २. यह **पञ्चौदनः**=पाँचों इन्द्रियों से ज्ञान-भोजन को प्राप्त करनेवाला जीव **ब्रह्मणे**=प्रभु के लिए **दीयमानः**=दिया जाता है—अर्पित होता है। **दातारम्**=अपने को प्रभु के लिए देनेवाले को **सः**=वे प्रभु **तृप्त्या तर्पयाति**=तृप्ति से प्राणित (आनन्दित) करते हैं। '**सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः।**' (मुण्डकोपनिषत्)

भावार्थ—हम क्रियाशीलता द्वारा बुराइयों को दूर करनेवाले बनकर पुण्यकर्मा लोगों के लोक में आरूढ़ हों। प्रार्थनामय जीवनवाले बनकर शरभ के समान शत्रुओं को शीर्ण करते हुए दुर्गों को लाँघ जाएँ। ज्ञान-प्राप्ति में लगकर अपने को प्रभु के प्रति अर्पित करें। इस अर्पण करनेवाले को प्रभु आनन्दविभोर कर देते हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

कामदुघा धेनुः

अजस्त्रिनाके त्रिदिवे त्रिपृष्ठे नाकस्य पृष्ठे ददिवांसं दधाति।
पञ्चौदनो ब्रह्मणे दीयमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघाऽस्येका॥ १०॥

१. **अजः**=गति के द्वारा बुराइयों को परे फेंकनेवाला यह जीव! **ददिवांसम्**=प्रभु के प्रति दे डालनेवाले अपने को **नाकस्य पृष्ठे**=आनन्दमय लोक के आधार में **दधाति**=स्थापित करता है। उस आनन्दमय लोक के आधार में स्थापित करता है जोकि **त्रिनाके**=आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक कष्टों से शून्य है (न+अक=दुःख), **त्रिदिवे**='प्रकृति, जीव व परमात्मा' तीनों के प्रकाशवाला है, **त्रिपृष्ठे**=शरीर, मन व बुद्धि तीनों का आधार है। २. यह **पञ्चौदनः**=पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान का भोजन ग्रहण करनेवाला जीव **ब्रह्मणे दीयमानः**=उस ब्रह्म के लिए दिया जाता है, यह ब्रह्म के प्रति अपना अर्पण कर डालता है। यह उस ब्रह्म का साक्षात् करते हुए

कह उठता है कि हे प्रभो! आप तो **विश्वरूपा**=सारे ब्रह्माण्ड के पदार्थों का निरूपण करनेवाली **एका धेनुः असि**=वह अद्वितीय धेनु हो, जोकि **कामदुघा**=सब कामनाओं को पूरण करनेवाली है।

भावार्थ—हम गति द्वारा बुराइयों को परे फेंकते हुए अपने को प्रभु के प्रति अर्पित करें और इसप्रकार अपने को मोक्ष-सुख में स्थापित करें। हम ब्रह्म को इसी रूप में अनुभव करें कि प्रभु 'विश्वरूपा कामधेनु' हैं। वे सब पदार्थों का ज्ञान देनेवाले व सब कामनाओं को पूरण करनेवाले हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

तमो निवारण

एतद्वो ज्योतिः पितरस्तृतीयं पञ्चौदनं ब्रह्मणेऽजं ददाति।
अजस्तमांस्यपं हन्ति दूरमस्मिंल्लोके श्रद्दधानेन दत्तः ॥ ११ ॥

१. हे **पितरः**=पालन करनेवाले जीवो! **एतत्**=यह **वः**=तुम्हारे लिए **तृतीयं ज्योतिः**=तृतीय ज्योति है। प्रकृति व जीव के ज्ञान के पश्चात् प्रभु का ज्ञान 'तृतीय ज्योति' है। ये प्रभु **पञ्चौदनम्**=पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान का भोजन करनेवाले **अजम्**=गति के द्वारा बुराई को परे फेंकनेवाले जीव को **ब्रह्मणे ददाति**=ज्ञान के लिए दे देते हैं। इसे निरन्तर ज्ञान-प्राप्ति में लगे रहने की प्रवृत्तिवाला बनाते हैं। २. **अस्मिन् लोके**=इस लोक में **श्रद्दधानेन**=श्रद्धायुक्त मन से **दत्तः**=उस प्रभु के प्रति दिया हुआ (दत्तं यस्य अस्ति) **अजः**=यह जीव **तमांसि दूरम् अपहन्ति**=अन्धकारों को अपने से दूर फेंकता है। जब जीव प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता है तब उसका सब अज्ञान-अन्धकार विलीन हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु का ज्ञान ही 'तृतीय ज्योति' है। इसे प्राप्त करनेवाला अपने को प्रभु के प्रति दे डालता है। प्रभु के प्रति अपने को दे डालनेवाला उपासक अज्ञान-अन्धकार को अपने से दूर फेंकता है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

इस लोक पर विजय व परमानन्द-प्राप्ति

ईजानानां सुकृतां लोकमीप्सन्पञ्चौदनं ब्रह्मणेऽजं ददाति।
स व्या॑प्तिमभि लोकं जयैतं शिवो॒३ऽस्मभ्यं प्रतिगृहीतो अस्तु॥ १२ ॥

१. **ईजानानाम्**=यज्ञशील **सुकृताम्**=पुण्यकर्मा लोगों के **लोकम् ईप्सन्**=लोक को चाहता हुआ व्यक्ति **पञ्चौदनम्**=पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान का भोजन ग्रहण करनेवाले **अजम्**=गति के द्वारा बुराइयों को परे फेंकनेवाले अपने को **ब्रह्मणे ददाति**=ब्रह्म के लिए दे डालता है। जो भी पुण्यलोक की कामना करता है, वह अपने को ब्रह्म के प्रति दे डालता है। २. **सः**=वह तू **व्याप्तिम् अभि**=(वि आप्ति) सुखविशेष की प्राप्ति का लक्ष्य करके **एतं लोकं जय**=इस लोक को जीतनेवाला बन। इस लोक के विजय के बिना उस परमानन्द की प्राप्ति सम्भव नहीं। वह **प्रतिगृहीतः**=प्रत्येक पिण्ड (वस्तु) में ग्रहण किया गया—प्रत्येक वस्तु में विद्यमान प्रभु **अस्मभ्यं शिवः अस्तु**=हमारे लिए कल्याणकर हो।

भावार्थ—उत्तम लोकों को प्राप्त करने की इच्छा से हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें। परमानन्द की प्राप्ति के लिए इस लोक की विजय आवश्यक है। प्रत्येक पिण्ड में विद्यमान प्रभु हमारा कल्याण करें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अज, विप्र, विपश्चित्

अजो ह्यग्नेरजनिष्ट शोकाद्विप्रो विप्रस्य सहसो विपश्चित्।
इष्टं पूर्तमभिपूर्तं वषट्कृतं तद्देवा ऋतुशः कल्पयन्तु॥ १३॥

१. **अग्नेः**=प्रकाशमय अग्रणी प्रभु की **शोकात्**=दीप्ति से यह उपासक भी **हि**=निश्चय से **अजः अजनष्टि**=गति के द्वारा बुराई को परे फेंकनेवाला बनता है। प्रभु की दीप्ति इसके जीवन को पवित्र बना डालती है। यह **विप्रस्य**=(वि+प्रा) विशेषरूप से पूर्ण करनेवाले प्रभु के **सहसः**=बल से **विप्रः**=अपना पूरण करनेवाला **विपश्चित्**=ज्ञानी बनता है। २. यह 'अज, विप्र, विपश्चित्' गति-(कर्म)-शील, अपना पूरण करनेवाला (उपासना), ज्ञानी (ज्ञान) देव बनता है। ये **देवाः**=देव **वषट् कृतम्**=जिसमें स्वार्थ की आहुति दे दी जाती है, **तत् इष्टम्**=उस यज्ञ को तथा **अभिपूर्तम्**=मनुष्यों व पशु-पक्षियों—दोनों के पूरण करनेवाले **पूर्तम्**=वापी, कूप तड़ागादि के निर्माणरूप कार्य को **ऋतुशः**=प्रत्येक ऋतु में—ऋतु की आवश्यकता के अनुसार **कल्पयन्तु**=सिद्ध करें। इष्ट व पूर्त के द्वारा ये संसार को सुखमय बनाने के लिए यत्नशील हों।

भावार्थ—प्रभु की दीप्ति जीवों को 'अज'=गति द्वारा बुराई को परे फेंकनेवाला बनाती है। 'सर्वतः पूर्ण' प्रभु की शक्ति से यह जीव पूर्ण व ज्ञानी (विप्र-विपश्चित्) बनता है। इन देवपुरुषों को चाहिए कि ऋतु के अनुसार 'इष्ट और पूर्त' को सिद्ध करते हुए संसार का पूरण करें—इसे सुखमय बनाएँ।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'अमोतं वासः+हिरण्यम्'=दक्षिणा (प्रभुदक्षिणा)

अमोतं वासो दद्याद्धिरण्यमपि दक्षिणाम्।
तथा लोकान्त्समाप्नोति ये दिव्या ये च पार्थिवाः॥ १४॥

१. जीव को कर्मानुसार यह शरीर प्राप्त होता है। यह शरीर एक वस्त्र है जोकि हमारे कर्मों से बुना गया है (वासांसि जीर्णानि यथा विहाय)। इस **अमा उतम्**=हमारी गतियों (अम गतौ) से बुने गये **वासः**= शरीररूप वस्त्र को तथा **हिरण्यम् अपि**=(हिरण्यं वै वीर्यम्, हिरण्यं वै ज्योतिः) अपनी शक्ति व ज्योति को भी **दक्षिणां दद्यात्**=दक्षिणारूप से प्रभु को दे दे। वस्तुतः प्रभु ही तो हमारे जीवन-यज्ञ को चला रहे हैं, अतः इस 'शरीर, शक्ति व ज्योति' को प्रभु के प्रति दक्षिणारूप में देना ही चाहिए। इन्हें प्रभु का ही समझना न कि अपना। २. **तथा**=वैसा करने पर, अर्थात् 'शक्ति व ज्योति' सहित शरीर को प्रभु के प्रति अर्पण करने पर यह उपासक **लोकान्**=उन सब लोकों को **समाप्नोति**=प्राप्त करता है, ये **दिव्याः**=जो दिव्य लोक हैं **च**=और **ये पार्थिवाः**=जो पार्थिव लोक हैं। दिव्य लोक मस्तिष्क है और पार्थिक लोक यह शरीर है। प्रभु के प्रति अपना समर्पण कर देनेवाले व्यक्ति का शरीर शक्ति से पूर्ण होता है तथा इसका मस्तिष्क ज्योति से देदीप्यमान होता है।

भावार्थ—हम कर्मानुसार प्राप्त इस शरीर को, शरीर की शक्ति व ज्योति को हमारे जीवन-यज्ञ का संचालन करनेवाले प्रभु के प्रति दक्षिणारूप में दे दें। ऐसा करने पर मस्तिष्क व शरीर दोनों ही उत्तम बनते हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रकाशमय व आनन्दमय लोक में

एतास्त्वाजोप यन्तु धाराः सोम्या देवीर्घृतपृष्ठा मधुश्चुतः।
स्तभान पृथिवीमुत द्यां नाकस्य पृष्ठेऽधि सप्तरश्मौ॥ १५॥

१. हे **अज**=गति के द्वारा बुराइयों को परे फेंकनेवाले जीव! **एताः**=ये **सोम्याः**=सोम-सम्बन्धी (वीर्य की) **धाराः**=धारणशक्तियाँ **त्वा उपयन्तु**=तुझे समीपता से प्राप्त हों। ये धाराएँ **देवीः**=सब रोगों की विजिगीषावाली हैं—नीरोग बनानेवाली हैं, **घृतपृष्ठाः**=ज्ञानदीप्ति से सिक्त करनेवाली हैं (पृष् सेचने) और **मधुश्चुतः**=हृदय में माधुर्य को क्षरित (संचरित) करनेवाली हैं। शरीर में सुरक्षित सोम हमें नीरोग, ज्ञानदीप्त व मधुर स्वभावाला बनाता है। २. इस सोमरक्षण के द्वारा तू **पृथिवीम्**=इस शरीररूप पृथिवी को **उत**=और **द्याम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक को **स्तभान**=थाम। तू सोम-रक्षण करता हुआ शरीर को शक्ति-सम्पन्न व मस्तिष्क को ज्ञान-सम्पन्न बना। ऐसा करता हुआ तू **नाकस्य पृष्ठे**=आनन्दमय लोक के आधार में स्थित हो तथा **सप्तरश्मौ अधि**=सप्त छन्दोमयी ज्ञान किरणोंवाली इस वेदवाणी में स्थित हो।

भावार्थ—सोमरक्षण के द्वारा हम जीवन को नीरोग, ज्ञानदीप्त व मधुर बनाएँ। शरीर व मस्तिष्क का धारण करते हुए प्रकाशमय व आनन्दमय लोकों में विचरें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिपदानुष्टुप्** ॥

अज—स्वर्ग

अजोऽस्यज स्वर्गोऽसि त्वया लोकमङ्गिरसः प्राजानन्।
तं लोकं पुण्यं प्र ज्ञेषम्॥ १६॥

१. हे **अज**=(अज गतिक्षेपणयोः) गतिशील जीव! तू **अजः असि**=गति के द्वारा बुराइयों को अपने से दूर फेंकनेवाला है। बुराइयों को दूर फेंककर **स्वर्गः असि**=प्रकाश व सुख की ओर जानेवाला है। **त्वया**=तेरे साथ **अङ्गिरसः**=अङ्ग-अङ्ग में रसवाले ये गतिशील लोग **लोकं प्रजानन्**=उस प्रकाशमय प्रभु को जान पाते हैं। तेरे साथ ज्ञानचर्चा करते हुए वे अङ्गिरस् प्रभु का ज्ञान प्राप्त करते हैं। २. मनुष्य यही कामना करे कि **तम्**=उस **लोकम्**=प्रकाशमय **पुण्यम्**=पवित्र प्रभु को **प्रज्ञेषम्**=मैं जान पाऊँ। अन्ततः यह ज्ञान ही मनुष्य का कल्याण करनेवाला है।

भावार्थ—जीव 'अज' है, 'स्वर्ग' है। उसे गतिशील बनकर बुराई को अपने से परे फेंक कर प्रकाश प्राप्त करना है। उसके साथ ज्ञानचर्चा करते हुए अन्य लोग भी प्रभु को जान पाएँ। इस 'अज' की एक ही कामना हो कि 'मैं उस प्रकाशमय पवित्र प्रभु को प्राप्त कर पाऊँ'।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यज्ञ व स्वर्ग

येना सहस्रं वहसि येनाग्ने सर्ववेदसम्। तेनेमं यज्ञं नो वह स्वर्देवेषु गन्तवे॥ १७॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **येन**=जिस सामर्थ्य से आप **सहस्रम्**=इन हज़ारों लोक-लोकान्तरों को **वहसि**=धारण करते हैं और **येन**=जिस सामर्थ्य से **सर्ववेदसम्**=सम्पूर्ण ज्ञान व ऐश्वर्य (विद् लाभे) को धारण करते हैं, **तेन**=उसी सामर्थ्य से **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **नः वह**=हमें प्राप्त कराइए। इस यज्ञ द्वारा हम **देवेषु**=देववृत्तिवाले पुरुषों में स्थित होते हुए **स्वः गन्तवे**=प्रकाश व सुख को प्राप्त कराने के लिए यत्नशील हों।

भावार्थ—प्रभु सब लोकों, ऐश्वर्यों व ज्ञानों को धारण करनेवाले हैं। प्रभु हमें यज्ञों को प्राप्त

कराएँ, जिससे हम देव बनकर स्वर्ग को प्राप्त कर सकें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराड्गायत्री** ॥

'पञ्चौदन पक्व अज'

अजः पक्वः स्वर्गे लोके दधाति पञ्चौदनो निर्ऋतिं बाधमानः।
तेन लोकान्त्सूर्यवतो जयेम॥ १८॥

१. **पञ्चौदनः**=पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान-प्राप्ति में लगा हुआ, **अतएव पक्वः**=ज्ञान में परिपक्व हुआ-हुआ **अजः**=गतिशीलता द्वारा बुराइयों को परे फेंकनेवाला जीव **निर्ऋतिम्**=विनाश को **बाधमानः**=रोकता हुआ—अपने को पतन के मार्ग से दूर करता हुआ **स्वर्गे लोके दधाति**=अपने को स्वर्गलोक में स्थापित करता है। स्वर्ग को प्राप्त करने का मार्ग यही है कि हम 'पञ्चौदन, पक्व व अज' बनें और दुर्गति को अपने से दूर करें। **तेन**=उसी मार्ग से हम भी **सूर्यवतः लोकान्**=(ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः) सूर्यसम दीप्त ब्रह्मवाले लोकों को **जयेम**=जीतनेवाले बनें, अर्थात् हम भी 'पञ्चौदन, पक्व व अज' बनकर निर्ऋति का बाधन करते हुए ब्रह्मलोक को प्राप्त करनेवाले बनें।

भावार्थ—हम इस जीवन में पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान-प्राप्ति में प्रवृत्त हों। इसप्रकार अपने को ज्ञानाग्नि में परिपक्व करें। गतिशीलता द्वारा बुराइयों को परे फेंकनेवाले बनें। पतन के मार्ग को अपने से दूर रक्खें। इससे हमारा जीवन स्वर्गोपम बनेगा और हम ब्रह्मलोक को प्राप्त करनेवाले बनेंगे।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'आदित्य, रुद्र व वसु' ब्रह्मचारियों का ज्ञान

यं ब्राह्मणे निदधे यं च विक्षु या विप्रुष ओदनानामजस्य।
सर्वं तदग्ने सुकृतस्य लोके जानीतान्नः संगमने पथीनाम्॥ १९॥

१. **यम्**=जिस आत्मज्ञान को प्रभु ने **ब्राह्मणे निदधे**=ब्रह्मज्ञानी में (आदित्य ब्रह्मचारी में) स्थापित किया है, **च**=और **यम्**=जीव के कर्त्तव्यों के जिस ज्ञान को **विक्षु**=कर्मों में व्याप्त होनेवाली प्रजाओं में (रुद्र ब्रह्मचारियों में) रक्खा है तथा **या**=जो **अजस्य**=जीवात्मा के **ओदनानाम्**=प्रकृति विज्ञानों के **विप्रुषः**=जलकण हैं, (जिन्हें कि वसु ब्रह्मचारी प्राप्त करते हैं), हे **अग्ने**=प्रभो! **तत् सर्वम्**=वह सब—ब्रह्मज्ञान, जीव-कर्त्तव्यज्ञान व प्रकृति विज्ञान **नः**=हमें भी **जानीतान्**=जाने, अर्थात् हमें भी प्राप्त हो। २. यह ज्ञान हमें उस समय प्राप्त हो जबकि हम **सुकृतस्य लोके**=पुण्य के लोक में निवास करनेवाले बनें तथा **पथीनां संगमने**=मार्गों पर सम्यक् गमन करनेवाले हों। पुण्य-कर्मों को करते हुए व मार्ग-भ्रष्ट न होते हुए हम उस सब ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त करें।

भावार्थ—प्रभु जो आत्मज्ञान आदित्य ब्रह्मचारियों को प्राप्त कराते हैं, जिस जीवनकर्त्तव्य-ज्ञान को रुद्र ब्रह्मचारियों को देते हैं तथा जो प्रकृतिविज्ञान के बिन्दु वसु ब्रह्मचारियों को प्राप्त होते हैं, हम पुण्य-कर्म करते हुए व शुभ-मार्ग पर बढ़ते हुए, उस सब ज्ञान को प्राप्त करें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदानुष्टुबुष्णिग्गर्भोपरिष्टाद्बार्हताभुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

विराट् पुरुष

अजो वा इदमग्रे व्य[क्रमत तस्योर इयमभवद् द्यौः पृष्ठम्।
अन्तरिक्षं मध्यं दिशः पार्श्वे समुद्रौ कुक्षी॥ २०॥

१. **अजः**=उस (न जायते) अजन्मा प्रभु ने **वा**=निश्चय से **इदम्**=इस जगत् को **अग्रे**=सर्वप्रथम **व्यक्रमत**=(वि अक्रमत) नाना प्रकार से रचा। '**तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्**' उसे रचकर उसमें अनुप्रविष्ट हो गया। यह ब्रह्माण्ड उस प्रभु का शरीर-सा हो गया—यही विराट् पुरुष हुआ। २. **तस्य**=उस विराट् पुरुष की **इयम्**=यह पृथिवी ही **उरः अभवत्**=छाती हुई, **द्यौः पृष्ठम्**=द्युलोक पीठ बनी और **अन्तरिक्षं मध्यम्**=अन्तरिक्ष ही मध्यभाग हुआ। **दिशः पार्श्वे**=दिशाएँ पार्श्वभाग बनी और **समुद्रौ**=पृथिवीस्थ समुद्र तथा अन्तरिक्षस्थ समुद्र (मेघ) **कुक्षी**=कुक्षी-प्रदेश (कोख) हुए।

भावार्थ—यह ब्रह्माण्ड विराट् पुरुष के शरीर के समान है। पृथिवी छाती है, द्युलोक पीठ, अन्तरिक्ष मध्य हैं और दिशाएँ पार्श्वभाग हैं। पृथिवी व अन्तरिक्षस्थ समुद्र उस विराट् पुरुष के कुक्षी-प्रदेश हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदानुष्टुबुष्णिग्गर्भोपरिष्टाद्-बार्हताभुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

सत्य व ऋतरूप आँखें

स॒त्यं च॒र्तं च॒ चक्षु॑षी॒ विश्वं॑ स॒त्यं श्र॒द्धा प्रा॒णो वि॒राट् शिरः॑।
ए॒ष वा अप॑रिमितो य॒ज्ञो यद॒जः पञ्चौ॑दनः॥ २१॥

१. **सत्यं च ऋतं च**=जीवात्म-सम्बन्धी नियम तथा प्रकृति-सम्बन्धी नियम **चक्षुषी**=उस विराट् पुरुष की आँखें हैं, **विश्वं सत्यम्**=सब सत्यज्ञान तथा **श्रद्धा**=श्रद्धा—उस विराट् शरीर में **प्राणः**=प्राण हैं। **विराट्**=विशिष्ट रूप से दीप्त सूर्यादि पिण्ड **शिरः**=उसके शिर-स्थानीय हैं। २. प्रभु के विराट् शरीर की यह कल्पना हुई है, परन्तु वस्तुतः **एषः**=यह प्रभु **वा**=निश्चय से **अपरिमितः**=किसी भी प्रकार से सीमित नहीं है। वे प्रभु **यज्ञः**=पूजनीय—संगतिकरण योग्य व दानीय (अर्पणीय) हैं। **यत्**=जो ये **अजः**=अजन्मा प्रभु हैं, वे **पञ्चौदनः**=प्रलय के समय पाँचों भूतों से बने इस संसार को ओदन के रूप में ले-लेते हैं। '**यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदने। मृत्युर्यस्योपसेचनम्**'।

भावार्थ—सत्य और ऋत उस विराट् पुरुष की आँखें हैं। सत्यज्ञान और श्रद्धा प्राण हैं, देदीप्यमान सूर्यादि पिण्ड सिर हैं। वस्तुतः वे प्रभु अपरिमित हैं, पूजनीय हैं, अजन्मा हैं और प्रलयकाल के समय पञ्चभूतों से बने इस संसार को खा-सा जाते हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदानुष्टुबुष्णिग्गर्भोपरिष्टाद्-बार्हताभुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु व प्रभु-प्रकाश की प्राप्ति

अप॑रिमितमे॒व य॒ज्ञमा॒प्नोत्यप॑रिमितं लो॒कमव॑ रुन्द्धे।
यो॒३॑ऽजं पञ्चौ॑दनं॒ दक्षि॑णाज्योतिषं॒ ददा॑ति॥ २२॥

१. **यः**=जो **पञ्चौदनम्**=प्रलयकाल के समय पाँचों भूतों को अपना ओदन बना लेनेवाले **दक्षिणाज्योतिषम्**=दान के प्रकाशवाले—सर्वत्र प्रकट दानोंवाले **अजम्**=अजन्मा प्रभु को—प्रभु के ज्ञान को **ददाति**=पात्रभूत शिष्यों के लिए देता है, वह **अपरिमितम्**=उस असीम **यज्ञम्**=पूजनीय प्रभु को **एव आप्नोति**=ही प्राप्त होता है और **अपरिमितं लोकम्**=अपने में अनन्त ज्ञान को **अवरुन्धे**=रोकनेवाला बनता है—खूब ही ज्ञान के प्रकाशवाला होता है।

भावार्थ—औरों को प्रभु का ज्ञान देता हुआ ज्ञानी प्रभु को व प्रभु-प्रकाश को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**पुरउष्णिक्** ॥

स्वस्थ व दृढ़ शरीर का प्रभु के प्रति अर्पण

नास्यास्थीनि भिन्द्यान्न मज्ज्ञो निर्धयेत्। सर्वमेनं समादायेदमिदं प्र वेशयेत्॥ २३॥

१. गतमन्त्र के ज्ञानी पुरुष को चाहिए कि **अस्य**=इस शरीर की **अस्थीनि**=हड्डियों को **न भिन्द्यात्**=न तोड़े। इस शरीर की अस्थियों को दृढ़ बनाये। **मज्ज्ञः न निर्धयेत्**=मज्जाओं को भी पी न जाए—इन्हें सारशून्य न कर दे। इसप्रकार **एनम्**=इस शरीर को **सर्वम्**=पूर्ण व स्वस्थ (Whole) **समादाय**=लेकर **इदम् इदम्**=इस शरीर को इस प्रभु में ही **प्रवेशयेत्**=प्रविष्ट कर दे। अपने को पूर्णरूप से प्रभु में अर्पित करनेवाला बने।

भावार्थ—हम स्वस्थ व दृढ़ शरीरवाले बनकर इस स्वस्थ व दृढ़ शरीर को प्रभु के प्रति समर्पण करनेवाले बनें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदानुष्टुबुष्णिग्गर्भोपरिष्टाद्-बार्हताविराड्जगती** ॥

इषं, मह, ऊर्जम्

इदमिदमेवास्य रूपं भवति तेनैनं सं गमयति।
इषं मह ऊर्जमस्मै दुहे यो३जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ २४॥

१. **इदम् इदम् एव**=यह यह ही, अर्थात् प्रत्येक प्राणी ही **अस्य रूपं भवति**=इस प्रभु का रूप होता है। **तेन एनं संगमयति**=उस प्रभु के साथ इस आत्मा को यह मिला देता है, अर्थात् प्राणियों की सेवा में लीन होकर यह अपने को प्रभु के साथ युक्त कर लेता है। प्राणियों की सेवा ही इसका प्रभुपूजन हो जाती है। 'सर्वभूतहिते रतः' ही तो प्रभु का सच्चा भक्त है। २. **यः**=जो उस **पञ्चौदनम्**=पाँचों भूतों से बने जगत् को ओदन के रूप में प्रलयकाल के समय अपने अन्दर ले-लेनेवाले **दक्षिणाज्योतिषम्**=दान की ज्योतिवाले (सर्वत्र दानों के प्रकाशवाले) **अजम्**=अजन्मा प्रभु के प्रति **ददाति**=अपने को दे डालता है, **अस्मै**=इसके लिए प्रभु **इषम्**=प्रेरणा, **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति तथा **महः**=तेजस्विता प्रदान करते हैं।

भावार्थ—सब प्राणियों में प्रभु के रूप को देखते हुए हम अपने को प्रभु में संगत कर दें। हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करेंगे तो प्रभु हमें 'प्रेरणा, बल व तेजस्विता' प्राप्त कराएँगें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**२५ पञ्चपदानुष्टुबुष्णिग्गर्भोपरिष्टाद्-बार्हताभुरिक्त्रिष्टुप्, २६ त्रिष्टुप्** ॥

दीप्ति-ह्री-दीप्ति तथा स्वर्ग-प्राप्ति

पञ्च रुक्मा पञ्च नवानि वस्त्रा पञ्चास्मै धेनवः कामदुघा भवन्ति।
यो३जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ २५॥
पञ्च रुक्मा ज्योतिरस्मै भवन्ति वर्म वासांसि तन्वे भवन्ति।
स्वर्गं लोकमश्नुते यो३जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ २६॥

१. **यः**=जो **पञ्चौदनम्**=पाँचों भूतों से बने संसार को प्रलयकाल में अपना ओदन बना लेता है उस **दक्षिणाज्योतिषम्**=दान की ज्योतिवाले—सर्वत्र दानों व प्रकाशवाले **अजम्**=अजन्मा प्रभु के प्रति **ददाति**=अपने को दे डालता है, **अस्मै**=अपने को प्रभु के लिए अर्पण करनेवाले इस पुरुष के लिए **पञ्च रुक्मा**=पाँचों कर्मेन्द्रियाँ यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त हुई-हुई देदीप्यमान (रुच दीप्तौ) **भवन्ति**=हो जाती हैं। **पञ्च वस्त्रा**='अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय व

आनन्दमय' कोशरूप पाँचों वस्त्र **नवानि**=नये व स्तुत्य हो जाते हैं। **पञ्च धेनवः**=ज्ञानदुग्ध का दोहन करनेवाली पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ **कामदुघाः**=कमनीय ज्ञानदुग्ध को देनेवाली व सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाली हो जाती हैं। २. **पञ्च रुक्मा**=देदीप्यमान पाँचों इन्द्रियाँ **अस्मै**=इसके लिए **ज्योतिः भवन्ति**=प्रकाश-ही-प्रकाश हो जाती हैं। **वासांसि**=पाँचों कोशरूप वस्त्र **तन्वे**=इसके शरीर के लिए व शक्ति-विस्तार के लिए **वर्म भवन्ति**=कवच बन जाते हैं। इन कवचों से आवृत्त हुआ-हुआ यह किन्हीं भी वासनारूप शत्रुओं से आक्रान्त नहीं होता। इसप्रकार यह **स्वर्गं लोकम् अश्नुते**=स्वर्गलोक को प्राप्त करता है—आनन्दमय जीवनवाला व मोक्ष को प्राप्त करनेवाला बनता है।

भावार्थ—प्रभु के प्रति समर्पण करने से पाँचों कर्मेन्द्रियाँ दीप्त होती हैं, पाँचों कोश स्तुत्य बनते हैं, पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ कमनीय व ज्ञानदुग्ध का दोहन करनेवाली होती हैं। यह समर्पक स्वर्ग व आनन्दमय लोक को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रभुस्मरणपूर्वक सखा का वरण

या पूर्वं पतिं वित्त्वाऽथान्यं विन्दतेऽपरम्।
पञ्चौदनं च तावजं ददातो न वि योषतः॥ २७॥

१. **या**=जो युवति **पूर्वम्**=सबका पालन व पूरण करनेवाले (पृ पालनपूरणयोः) **पतिम्**=रक्षक प्रभु को **वित्त्वा**=प्राप्त करके **अथ**=अब **अन्यम्**=दूसरे **अपरम्**=और पति को **विन्दते**=प्राप्त करती है, अर्थात् यह युवति सर्वरक्षक प्रभु को साक्षी बनाकर लौकिक सखा (पति) को स्वीकार करती है, **च**=और यदि **तौ**=वे दोनों पति-पत्नी **पञ्चौदनम्**=पाँचों भूतों को अपना ओदन बना लेनेवाले **अजम्**=अजन्मा प्रभु के प्रति **ददातः**=अपने को दे डालते हैं, प्रभु के प्रति अपना समर्पण कर देते हैं तो **न वियोषतः**=कभी पृथक् नहीं होते। इन्हें विधुरता व वैधव्य का कष्ट नहीं सहना पड़ता—इनका परस्पर प्रेम बना रहता है।

भावार्थ—प्रभुस्मरणपूर्वक एक युवति अपने जीवनसाथी को चुनती है और गृहस्थ में यदि ये दोनों प्रभु के प्रति अपना अर्पण करते हैं, तो ये एक-दूसरे से पृथक् नहीं होते—इनका परस्पर प्रेम बना रहता है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

समानलोकता

समानलोको भवति पुनर्भुवाऽपरः पतिः।
यो३ऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ २८॥

१. प्रभु को अपना प्रथम पति समझनेवाली युवति जब एक लौकिक पति का वरण करती है तब यह 'पुनर्भूः' कहलाती है। प्रभु से भिन्न **यः**=जो **अपरः पतिः**=दूसरा लौकिक पति है, वह **पुनर्भुवा**=उस पुनर्भू युवति के साथ **समानलोकः भवति**=समान लोक में रहनेवाला होता है। होता यह तभी है यदि वह **पञ्चौदनम्**=पाँचों भूतों को अपना ओदन बना लेनेवाले **दक्षिणाज्योतिषम्**=दान की ज्योतिवाले **अजम्**=अजन्मा प्रभु को **ददाति**=अपने को दे डालता है, प्रभु के प्रति अपना समर्पण कर देता है।

भावार्थ—प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाला युवक अपने जीवन-साथी (पत्नी) के साथ समान लोक में निवास करनेवाला होता है।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अजः पञ्चौदनः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

प्रभु के प्रति अर्पण से 'अभ्युदय-निःश्रेयस' की सिद्धि

अनुपूर्ववत्सां धेनुमनड्वाहमुपबर्हणम्।
वासो हिरण्यं दत्त्वा ते यन्ति दिवमुत्तमाम्॥ २९॥

१. **ते**=वे गृहस्थाश्रम में रहनेवाले पति-पत्नी **दत्त्वा**=प्रभु के प्रति अपने को देकर, अर्थात् अपना आत्म-समर्पण करके **अनुपूर्ववत्साम्**=यथाक्रम (एक के पीछे दूसरे) बछड़ों को देनेवाली **धेनुम्**=गौ को **अनड्वाहम्**=कृषि व शकट-वहन के साधनभूत बैल को, **उपबर्हणम्**=तकिया आदि विष्टर सामग्री को, **वासः**=वस्त्रों को व **हिरण्यम्**=सोने (धन-धान्य) को **यन्ति**=प्राप्त होते हैं और ये **उत्तमां दिवम् (यन्ति)**=सर्वोत्कृष्ट प्रकाशमय लोक को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु के प्रति अपने को अर्पित करनेवाले पति-पत्नी ऐहिक ऐश्वर्य (अभ्युदय) को प्राप्त करके आमुष्मिक निःश्रेयस (उत्तमां दिवम्) को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अजः पञ्चौदनः ॥ छन्दः—ककुम्मत्यनुष्टुप् ॥

इष्ट-बन्धु-स्मरण

आत्मानं पितरं पुत्रं पौत्रं पितामहम्।
जायां जनित्रीं मातरं ये प्रियास्तानुप ह्वये॥ ३०॥

१. गृहस्थ को समय-समय पर इष्ट-बन्धुओं को आमन्त्रित करना ही चाहिए। उन प्रसङ्गों में सर्वप्रथम **आत्मानम् उपह्वये**=प्रभु को पुकारे। प्रभु-प्रार्थना से ही प्रत्येक कार्य का आरम्भ होना चाहिए। इसके बाद **पितरम्**=पिता को **पौत्रम्**=पुत्र-पौत्रों को **पितामहम्**=दादा को **जायाम्**=पत्नी को **जनित्रीं मातरम्**=जन्म देनेवाली माता को तथा **ये प्रियाः**=जो भी प्रिय इष्ट-बन्धु हैं **तान् (उपह्वये)**=उन सबको सम्मानपूर्वक पुकारे।

भावार्थ—घरों में जब कोई कार्यविशेष उपस्थित हो, तब उन अवसरों पर सर्वप्रथम प्रभु का स्मरण करना चाहिए, तदनन्तर पिता, दादा, माता, पत्नी व पुत्र-पौत्रों को भी बुलाना चाहिए। यज्ञ के समय घर के सब व्यक्ति उपस्थित हों। उस समय पत्नी पाकशाला में कुछ पका न रही हो।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अजः पञ्चौदनः ॥ छन्दः—३१ सप्तपदाऽष्टि, ३२, ३३ दशपदाप्रकृतिः ॥

नैदाघ, कुर्वन्, संयन्

यो वै नैदाघं नामर्तुं वेद। एष वै नैदाघो नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः।
निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना।
योऽ३जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ ३१॥
यो वै कुर्वन्तं नामर्तुं वेद।
कुर्वतींकुर्वतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते।
एष वै कुर्वन्नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः।
निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना।
योऽ३जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ ३२॥
यो वै संयन्तं नामर्तुं वेद।
संयतींसंयतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते।
एष वै संयन्नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः।

निरे॒वाप्रि॑यस्य॒ भ्रातृ॑व्यस्य॒ श्रियं॑ दहति॒ भव॑त्या॒त्मना॑।
यो॒३॒जं पञ्चौ॑दनं॒ दक्षि॑णाज्योतिषं॒ ददा॑ति॥ ३३॥

१. **यः**=जो **वै**=निश्चय से **नैदाघं नाम ऋतुं वेद**='नैदाघ' नामवाली ऋतु को जानता है, **यत्**=कि **एषः**=यह **पञ्चौदनः**=पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान-भोजन को ग्रहण करनेवाला **अजः**=गति के द्वारा बुराई को परे फेंकनेवाला जीव ही **वै**=निश्चय से **नैदाघः नाम ऋतुः**=नैदाघ नामक ऋतु है। यह जीव नियमपूर्वक गतिवाला होने से ऋतु है (ऋ गतौ) अपने को ज्ञान व तपस्या की अग्नि में खूब ही दग्ध करनेवाला होने से 'नैदाघ' है। **यः**=जो नैदाघ **पञ्चौदनम्**=प्रलयकाल के समय पाँचों भूतों से बने संसार को अपना ओदन बना लेनेवाले **दक्षिणाज्योतिषम्**=दान की ज्योतिवाले—सर्वत्र प्रकट दानोंवाले **अजम्**=अजन्मा प्रभु के प्रति **ददाति**=अपने को दे डालता है, वह **अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य**=अप्रीतिकर शत्रुभूत 'काम' की **श्रियं निर्दहति एव**=शोभा को, दग्ध ही कर देता है और **आत्मना भवति**=अपने साथ होता है, अर्थात् अपना सन्तुलन नहीं खोता, शान्त रहता है। २. **यः वै कुर्वन्तं नाम ऋतुं वेद**=जो 'कुर्वन्' नामवाली ऋतु को जानता है, **यत्**=कि **एषः**=यह **पञ्चौदनः अजः**=पञ्चौदन अज ही **वै**=निश्चय से **कुर्वन् नाम ऋतुः**=कुर्वन् नामक ऋतु है। नियमित गतिवाला होने से ऋतु है तथा निरन्तर क्रियाशील होने से 'कुर्वन्' है। यह **अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य**=अप्रीतिकर शत्रुभूत 'क्रोध' की **कुर्वतीं कुर्वतीम्**=उन-उन कार्यों को करती हुई **श्रियम् आदत्ते**=श्री को छीन लेता है। क्रोध को श्रीशून्य (पराजित=विनष्ट) करके यह अपने कर्त्तव्य-कर्मों को करने में लगा रहता है। ३. **यः संयन्तं नाम ऋतुं वेद**=जो 'संयन्' नामवाली ऋतु को जानता है, **यत्**=कि **एषः**=यह **पञ्चौदनः अजः**=पञ्चौदन अज ही **वै**=निश्चय से **संयन् नाम ऋतुः**=संयन् नामवाला ऋतु है। नियमित गति के कारण ऋतु है, तो संयम के कारण 'संयन्' है। यह पुरुष **अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य**=अप्रीतिकर 'लोभ' रूप शत्रु की **संयतीं संयतीम् एव**=हमें बारम्बार बाँधनेवाली **श्रियम्**=श्री को आदत्ते छीन लेता है। लोभ को विनष्ट करके यह इन्द्रियों का संयम करता हुआ सचमुच 'संयन्' बनता है।

भावार्थ—हम अपने को ज्ञान व तपस्या में दग्ध करके 'नैदाघ' बनें, निरन्तर कर्म करते हुए 'कुर्वन्' बनें, संयम को सिद्ध करते हुए 'संयन्' हों। 'नैदाघ' बनकर काम पर विजय करें, 'कुर्वन्' बनते हुए 'क्रोध' से दूर रहें तथा 'लोभ' को नष्ट करके 'संयन्' हों। इन सब बातों के लिए प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**३४, ३५ दशपदाप्रकृतिः, ३६ दशपदाऽऽकृतिः** ॥

पिन्वन्, उद्यन्, अभिभूः

यो वै पि॒न्वन्तं॒ नाम॒र्तुं वेद॑।
पि॒न्वतीं॑पिन्वतीमे॒वाप्रि॑यस्य॒ भ्रातृ॑व्यस्य॒ श्रिय॒मा द॑त्ते।
ए॒ष वै पि॒न्वन्नाम॒र्तुर्यद॒जः पञ्चौ॑दनः।
निरे॒वाप्रि॑यस्य॒ भ्रातृ॑व्यस्य॒ श्रियं॑ दहति॒ भव॑त्या॒त्मना॑।
यो॒३॒जं पञ्चौ॑दनं॒ दक्षि॑णाज्योतिषं॒ ददा॑ति॥ ३४॥
यो वा उ॒द्यन्तं॒ नाम॒र्तुं वेद॑।
उ॒द्यतीमु॑द्यतीमे॒वाप्रि॑यस्य॒ भ्रातृ॑व्यस्य॒ श्रिय॒मा द॑त्ते।

ए॒ष वा उ॒द्यन्नाम॒र्तुर्यद॒जः पञ्चौ॑दनः।

निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना।
योऽ३जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ ३५॥
यो वा अभिभुवं नामर्तुं वेद।
अभिभवन्तीमभिभवन्तीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते।
एष वा अभिभूर्नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः।
निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना।
योऽ३जं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति॥ ३६॥

१. **यः**=जो **वै**=निश्चय से **पिन्वन्तं नाम ऋतुं वेद**=पिन्वन् नामक ऋतु को जानता है, **यत्**=कि **एषः**=यह **पञ्चौदनः**=पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान के भोजन को ग्रहण करनेवाला **अजः**=गति के द्वारा बुराइयों को परे फेंकनेवाला जीव ही **पिन्वन् नाम ऋतुः**=पिन्वन् नामक ऋतु है। नियमित गतिवाला होने से 'ऋतु' है और वृद्धि को प्राप्त होनेवाला होने से 'पिन्वन्' है। यह **अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य**=अप्रीतिवाले शत्रुभूत 'मोह' की **पिन्वतीं पिन्वतीम्**=निरन्तर बढ़ती हुई **एव**=भी **श्रियम्**=श्री को **आदत्ते**=छीन लेता है। मोह को श्रीशून्य (विनष्ट) करके यह वस्तुतः वृद्धि को प्राप्त होता हुआ 'पिन्वन्' बनता है। २. **यः**=जो **वै**=निश्चय से **उद्यन्तं नाम ऋतुं वेद**=उद्यन् नामक ऋतु को जानता है, **यत्**=कि **एषः**=यह **पञ्चौदनः अजः वै**=पञ्चौदन अज ही **उद्यन् नाम ऋतु**=उद्यन् नामक ऋतु है। यह 'उद्यन् ऋतु' **अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य**=मदरूप शत्रु की **उद्यतीम् उद्यतीम् एव श्रियम् आदत्ते**=उन्नत होती हुई श्री को छीन लेता है। मद को विनष्ट करके ही यह उत्थान को प्राप्त होता है। अभिमान ही तो पतन का हेतु बनता है। ३. **यः**=जो **वै**=निश्चय से **अभिभुवं नाम ऋतुं वेद**=अभिभू नामक ऋतु को जानता है, **यत्**=कि **एषः**=यह **पञ्चौदनः अजः वै**=पञ्चौदन अज ही निश्चय से **अभिभूः नाम ऋतुः**=अभिभू नामक ऋतु है, वह 'अभिभू ऋतु' **अप्रियस्य भ्रातृव्यस्य**=अप्रीतिकर मत्सररूप शत्रु की **अभिभवन्तीम् अभिभवन्तीम् एव श्रियम् आदत्ते**=अभिभूत करती हुई श्री को छीन लेता है। मात्सर्य को अभिभूत करके ही शत्रुओं का अभिभव कर पाते हैं।

भावार्थ—हम शक्तियों का वर्धन करते हुए 'पिन्वन्' बनें, उन्नत होते हुए 'उद्यन्' हों और सब शत्रुओं का अभिभव करके 'अभिभू' नामवाले हों। पिन्वन् बनकर मोह को परास्त करें, 'उद्यन्' होते हुए 'मद' को नष्ट करें तथा 'अभिभू' बनकर 'मत्सर' से ऊपर उठें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अजः पञ्चौदनः** ॥ छन्दः—**३७ त्रिपदाविराड्गायत्री, ३८ द्विपदासाम्नीत्रिष्टुप् (एकावसाना)** ॥

अज व ओदनों का पाचन

अजं च पचत पञ्च चौदनान्।
सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीः सान्तर्देशाः प्रति गृह्णन्तु त एतम्॥ ३७॥
तास्ते रक्षन्तु तव तुभ्यमेतं ताभ्य आज्यं हविरिदं जुहोमि॥ ३८॥

१. हे जीवो! **अजं च पचत**=उल्लिखित 'नैदाघ', 'कुर्वन्', 'संयन्', 'पिन्वन्', 'उद्यन्' व 'अभिभू' नामक वृत्तियों से जीवात्मा का ठीकरूप में परिपाक करो **च**=और **पञ्च ओदनान्**=पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त होनेवाले ज्ञान-भोजनों का भी परिपाक करो। **सर्वाः**=सब **सान्तर्देशाः**=अन्तर्देशोंसहित **दिशः**=दिशाएँ—दिशाओं में स्थित प्राणी **संमनसः**=उत्तम मनवाले होकर **सध्रीचीः**=सम्मिलित गतिवाले होकर **ते**=तेरे **एतम्**=इस ज्ञान को **प्रतिगृह्णन्तु**=ग्रहण करनेवाले हों। ज्ञान-

परिपक्व व्यक्ति जब ज्ञान का प्रसार करे तब सब दिशाओं में स्थित प्राणी उस ज्ञान के ग्रहण की रुचिवाले हों। २. **ता:**=वे सब दिशाएँ **ते**=तेरी हों—तुझे उन दिशाओं की अनुकूलता प्राप्त हो। **तव**=तेरे **एतम्**=इस ज्ञान को (ज्ञान के ओदन को) **तुभ्यम्**=तेरे लिए **रक्षन्तु**=रक्षित करें। मैं **ताभ्य:**=उन सब दिशाओं के लिए—उनकी अनुकूलता के लिए **इदम्**=उस **आज्यम्**=घृत को और **हवि:**=हवियों को **जुहोमि**=आहुत करता हूँ। अग्निहोत्र से वायु शुद्ध होकर नीरोगता प्राप्त होती है। ज्ञान-प्राप्ति के लिए नीरोगता की नितान्त आवश्यकता है।

भावार्थ—हम तपस्या की अग्नि में आत्मा का परिपाक करें तथा पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से प्राप्त होनेवाले ज्ञानों को प्राप्त करें। इस ज्ञान को सब दिशाओं में स्थित मनुष्य ग्रहण करें। हमें इन दिशाओं की अनुकूलता प्राप्त हो। अग्निहोत्र द्वारा ये सब दिशाएँ शुद्ध वायुवाली होकर नीरोगता को सिद्ध करें।

॥ इति विंशः प्रपाठकः॥

विशेष—पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान के भोजन का परिपाक करनेवाला 'ब्रह्मा' अगले दो सूक्तों का ऋषि है—

अथैकविंशः प्रपाठकः

६. [षष्ठं सूक्तम् (१) प्रथमः पर्यायः]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—**१ नागीनामत्रिपाद्गायत्री, २ त्रिपदाऽऽर्षीगायत्री**॥

यः (संयमी)

यो विद्याद् ब्रह्म प्रत्यक्षं परूंषि यस्य संभारा ऋचो यस्यानूक्यम्॥ १॥
सामानि यस्य लोमानि यजुर्हृदयमुच्यते परिस्तरणमिद्धविः॥ २॥

१. **यः**=(यम्+ड) संयमी पुरुष **प्रत्यक्षं ब्रह्म विद्यात्**=प्रत्यक्ष ब्रह्म को जानता है। उस ब्रह्म को जानता है **यस्य**=जिसकी **संभाराः**=यज्ञ-सामग्रियाँ ही—यज्ञ के लिए एकत्र किये जानेवाले द्रव्य ही **परूंषि**=परु हैं—जोड़ हैं, **ऋचः**=ऋचाएँ ही **यस्य**=जिसकी **अनूक्यम्**=रीढ़ की हड्डी (spine) है। २. **सामानि**=साम-मन्त्र ही **यस्य**=जिसके **लोमानि**=लोम हैं, **यजुः**=यजुर्मन्त्र को **हृदयम्**=हृदय **उच्यते**=कहा जाता है और **परिस्तरणम्**=चारों ओर बिछाने के आसन ही **हविः**=हवि हैं—दानपूर्वक अदन हैं। इसप्रकार का पवित्र यज्ञमय जीवनवाला पुरुष ही मानो 'प्रत्यक्ष ब्रह्म' है। एक संयमी पुरुष को चाहिए कि ऐसे अतिथि में ब्रह्म के दर्शन का प्रयत्न करे और उसका उचित सत्कार करे।

भावार्थ—पवित्र, यज्ञमय, वेदज्ञ, विद्वान् अतिथि में हम प्रत्यक्ष ब्रह्म को देखने का प्रयत्न करें और उसका उचित सम्मान करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—**३ साम्नीत्रिष्टुप्, ४ आर्च्यनुष्टुप्, ५ आसुरीगायत्री**॥

अतिथियज्ञ—देवजन

यद्वा अतिथिपतिरतिथीन्प्रतिपश्यति देवयजनं प्रेक्षते॥ ३॥
यदभिवदति दीक्षामुपैति यदुदकं याचत्यपः प्र णयति॥ ४॥
या एव यज्ञ आपः प्रणीयन्ते ता एव ताः॥ ५॥

१. **यत्**=जब **अतिथिपतिः**=अतिथियों का पालक गृहपति (गृहस्थ Host) **अतिथीन् प्रतिपश्यति**= अतिथियों को देखता है **वै देवयजनं प्रेक्षते**=निश्चय से देवयजन को देखता है। वह यही सोचता है कि यह अतिथियज्ञ ही मेरा देवयज्ञ है। इसके द्वारा मैं अपने

साथ देवों का (दिव्य गुणों का) यजन करूँगा—दिव्य गुणों को धारण करनेवाला बनूँगा। २. **यत् अभिवदति**=जब अतिथि का अभिवादन करता है तब वह **दीक्षाम् उपैति**=यज्ञ में दीक्षा (व्रत-ग्रहण) को प्राप्त करता है। **यत्**=जब **उदकं याचति**=जल-पात्रों में जल के द्वारा 'अर्घ, पाद्य, आचमनीय' आदि लेने के लिए कहता है तब वह **अपः प्रणयति**=मानो देवयज्ञ में जलों को प्रणीता-पात्र में लाता है। ३. **याः एव यज्ञे आपः प्रणीयन्ते**=जो भी जल यज्ञ में प्रणीता-पात्र में लाये जाते हैं, **ताः एव ताः**=वे ही ये जल हैं जो अतिथियज्ञ में 'अर्घ, पाद्य, आचमनीय' के रूप में प्रयुक्त हो रहे हैं।

भावार्थ—अतिथि-सत्कार 'देवयज्ञ' ही है। यह अपने जीवन में दिव्य गुणों को धारण करने का उत्तम साधन है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**६ त्रिपदासाम्नीजगती, ७ साम्नीत्रिष्टुप्, ८ याजुषीत्रिष्टुप्, ९ आर्च्यनुष्टुप्** ॥

आतिथ्य व स्वर्ग

यत्तर्पणमाहरन्ति य एवाग्नीषोमीयः पशुर्बध्यते स एव सः ॥ ६ ॥
यदावसथान्कल्पयन्ति सदोहविर्धानान्येव तत्कल्पयन्ति ॥ ७ ॥
यदुपस्तृणन्ति बर्हिरेव तत् ॥ ८ ॥
यदुपरिशयनमाहरन्ति स्वर्गमेव तेन लोकमव रुन्द्धे ॥ ९ ॥

१. **यत्**=जो **तर्पणम्**=अतिथि के लिए तृप्तिकारक मधुपर्क आदि पदार्थ प्राप्त कराये जाते हैं और **यः एव**=जो **अग्नीषोमीयः**=अग्नि व सोम देवतावाला **पशुः बध्यते**=पशु बाँधा जाता है **सः एव सः**=वह तर्पण वह पशु ही हो जाता है। सिंह आदि अग्नितत्त्व प्रधान पशु हैं, तो गौ आदि सोमतत्त्व प्रधान। यज्ञों में दोनों प्रकार के ही पशु बाँधे जाते हैं। इसप्रकार यज्ञ में उपस्थित बालकों व युवकों को प्राणी-शास्त्र का ज्ञान खेल-खेल में ही हो जाता था। २. **यत्**=जो अतिथि के निवास के लिए **आवसथान् कल्पयन्ति**=उचित गृह बनाते हैं, **तत्**=वह एक प्रकार से **सदोहविर्धानानि**=(सदस) प्राचीन वंशगृह (सभास्थान) और हविर्धान नामक पात्रों को ही **कल्पयन्ति**=बनाते हैं। ३. **यत्**=जो अतिथि के लिए **उपस्तृणन्ति**=चारपाई या टाट बिछाते हैं, **तत् बर्हिः एव**=वह यज्ञ में कुशाओं का बिछौना ही है। ४. **यत् उपरिशयनम् आहरन्ति**=जो गद्दा लाकर चारपाई पर बिछाते हैं अथवा अपने से ऊँचे स्थान में अतिथि को सुलाते हैं तो **तेन**=उस अतिथि-सत्कार की क्रिया से **स्वर्गं लोकम् एव अवरुन्द्धे**=अपने लिए स्वर्गलोक को ही सुरक्षित कर लेते हैं (रोक लेते हैं)।

भावार्थ—अतिथि-सत्कार हमारे घरों को स्वर्ग-तुल्य बनाता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**१० साम्नीभुरिग्बृहती, ११ साम्न्यनुष्टुप्, १२ विराड्गायत्री, १३ साम्नीनिचृत्पङ्क्तिः** ॥

अतिथि के लिए 'बिछौना, स्नान, भोजन' आदि की व्यवस्था

यत्कशिपूपबर्हणमाहरन्ति परिधय एव ते ॥ १० ॥
यदाञ्जनाभ्यञ्जनमाहरन्त्याज्यमेव तत् ॥ ११ ॥
यत्पुरा परिवेषात्खादमाहरन्ति पुरोडाशावेव तौ ॥ १२ ॥
यदशनकृतं ह्वयन्ति हविष्कृतमेव तद्ध्वयन्ति ॥ १३ ॥

१. **यत्**=जो **कशिपु उपबर्हणम्**=(a bed) बिस्तरा वा तकिया **आहरन्ति**=प्राप्त कराते हैं,

ते परिधयः एव=वे यज्ञ में परिधि नामक पलाश-दण्डों के समान हैं (A stick of a sacred tree like पलाश laid around the sacrificial fire)। २. **यत्**=जो **आञ्जन**=आँखों के लिए अञ्जन वा **अभ्यञ्जनम्**=शरीर-मालिश के लिए तेल, उबटन आदि **आहरन्ति**=लाते हैं, **तत् आज्यम् एव**=वह यज्ञ में लाया जानेवाला घृत ही है। **यत्**=जो **परिवेषात्**=घर के लोगों के लिए भोजन परोसने से **पुरा**=पूर्व ही अतिथि के लिए **खादम् आहरन्ति**=भोजन लाते हैं, **तौ पुरोडाशौ एव**=वे यज्ञ की दो पुरोडाश आहुतियाँ ही हैं। ४. **यत्**=जो **अशनकृतं ह्वयन्ति**=भोजन बनानेवाले कुशल पुरुष को बुलाते हैं, **तत् हविष्कृतम् एव ह्वयन्ति**=वह यज्ञ में चरु तैयार करनेवाले पुरुष को ही बुलाते हैं।

भावार्थ—अतिथि के लिए रात्रि में सोने के लिए बिछौना और प्रातः उठने पर स्नान-सामग्री व तदनन्तर भोजनादि प्राप्त कराना—अतिथियज्ञ की ये सब क्रियाएँ देवयज्ञ की क्रियाओं के समान ही हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—**१४-१६ साम्न्यनुष्टुप्, १७ त्रिपदाभुरिग्विराड्गायत्री**॥

अतिथियज्ञ की वस्तुएँ देवयज्ञ की वस्तुएँ

ये व्रीहयो यवा निरुप्यन्तेंऽशव एव ते॥ १४॥
यान्युलूखलमुसलानि ग्रावाण एव ते॥ १५॥
शूर्पं पवित्रं तुषा ऋजीषाभिषवणीरापः॥ १६॥
स्रुग्दर्विर्नेक्षणमायवनं द्रोणकलशाः कुम्भ्यो वायव्या नि पात्राणीयमेव कृष्णाजिनम्॥ १७॥

१. **ये**=जो **व्रीहयः यवाः**=अतिथियज्ञ के अवसर पर चावल व जौ **निरुप्यन्ते**=बिखेरे जाते हैं, **अंशवः एव ते**=वे यज्ञ में सोमलता के खण्डों के समान हैं। २. **यानि**=जो भोजन की तैयारी के लिए **उलूखलमुसलानि**=ऊखल व मूसल हैं, **ग्रावाणः एव ते**=वे यज्ञ में सोम कूटने के लिए उपयोगी पत्थरों के समान हैं। ३. **शूर्पम्**=अतिथि के अन्नशोधन के लिए काम में लाया जानेवाला छाज **पवित्रम्**=सोम के छानने के लिए 'दशापवित्र' नामक वस्त्रखण्ड के समान जानना चाहिए, **तुषाः**=छाज से फटकने पर अलग हो जानेवाले अन्न के तुष **ऋजीषा**=सोम को छानने के बाद प्राप्त फोक के समान हैं। **अभिषवणीः**=अतिथि का भोजन बनाने के लिए प्रयुक्त होनेवाले **आपः**=जल यज्ञ में सोमरस में मिलाने योग्य 'वसनीवरी' नामक जलधाराओं के समान हैं। ४. **स्रुक् दर्विः**=अतिथि का भोजन बनाने के लिए जो कड़छी है, वह यज्ञ के घृत-चमस के समान है, **आयवनम्**=भोजन तैयार करते समय जो दाल आदि के चलाने का कार्य किया जाता है, वह **नेक्षणम्**=यज्ञ में बार-बार सोमरस को मिलाने के समान है। **कुम्भ्यः**=खाना पकाने के लिए जो देगची आदि पात्र हैं, वे **द्रोणकलशाः**=सोमरस रखने के लिए द्रोणकलशों के समान हैं। **पात्राणि**=अतिथि को खिलाने के लिए जो कटोरी, थाली आदि पात्र हैं, वे यज्ञ में सोमपान करने के निमित्त **वायव्यानि**=वायव्य पात्रों के समान हैं और अतिथि के लिए **इयम् एव**=जो उठने-बैठने के लिए भूमि है, वही **कृष्णाजिनम्**=यज्ञ की कृष्ण मृगछाला के समान है।

भावार्थ—अतिथियज्ञ में प्रयुक्त होनेवाली वस्तुएँ देवयज्ञ में प्रयुक्त होनेवाली उस-उस वस्तु के समान हैं।

[षष्ठं सूक्तम् (२) द्वितीयः पर्यायः]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**१ विराट्पुरस्ताद्बृहती, २ साम्नीत्रिष्टुप्, ३ आसुरीत्रिष्टुप्** ॥

अतिथियज्ञ से दीर्घजीवन

यजमानब्राह्मणं वा एतदतिथिपतिः कुरुते यदाहार्याणि प्रेक्षत इदं भूया३ इदा३मिति॥ १ ॥
यदाह भूय उद्धरेति प्राणमेव तेन वर्षीयांसं कुरुते॥ २ ॥
उप हरति हवींष्या सादयति॥ ३ ॥

१. **यत्**=जब **अतिथिपतिः**=अतिथि का पालक गृहस्थ **आहार्याणि**=अतिथि के लिए देने योग्य पदार्थों पर **प्रेक्षते**=दृष्टि करता है और प्रार्थना करता है कि **इदं भूयाः**=यह और अधिक है, **इदम् इति**=यह और अधिक हो, ऐसा कहता है जो **एतत्**=इसप्रकार वह गृहस्थ उस विद्वान् अतिथि को **वै**=निश्चय से **यजमानब्राह्मणम्**=यज्ञ में दीक्षित यजमान ब्राह्मण के समान **कुरुते**=कर लेता है। २. **यत् आह**=और जब गृहमेधि कहता है कि **भूयः उद्धर इति**=इस आहार योग्य पदार्थ में से कुछ और अधिक लीजिए तो **तेन**=उस प्रार्थना से **प्राणम् एव वर्षीयांसं कुरुते**=अपनी प्राणशक्ति को चिरस्थायी करता है और ३. जब **उपहरति**=अन्नादि पदार्थ उसके समीप लाता है तब **हवींषि आसादयति**=यज्ञ की हवियों को ही लाता है।

भावार्थ—अतिथियज्ञ के रूप में देवयज्ञ करते हुए हम दीर्घजीवन प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**४ साम्न्युष्णिक्, ५ साम्नीबृहती, ६ आर्च्यनुष्टुप्** ॥

अतिथि ऋत्विज्

तेषामासन्नानामतिथिरात्मञ्जुहोति॥ ४ ॥
स्रुचा हस्तेन प्राणे यूपे स्रुक्कारेण वषट्कारेण॥ ५ ॥
एते वै प्रियाश्चाप्रियाश्चर्त्विजः स्वर्गं लोकं गमयन्ति यदतिथयः॥ ६ ॥

१. **तेषाम् आसन्नानाम्**=उन समीप बैठे हुए गृहसदस्यों के समीप बैठा हुआ **अतिथिः**=अतिथि **आत्मन् जुहोति**=जब भोजन को अपनी जाठराग्नि में आहुत करता है तब **स्रुचा हस्तेन**=यज्ञचमस के तुल्य हाथ से **यूपे प्राणे**=यज्ञस्तम्भ के तुल्य प्राण के निमित्त **वषट्कारेण स्रुक्कारेण**=स्वाहा शब्द के समान 'स्रुक्-स्रुक्' इसप्रकार के शब्द के साथ वह जाठराग्नि में अन्नरूप हवि को डालता है। इसप्रकार यह अतिथि का भोजन देवयजन (अग्निहोत्र) ही होता है। ३. **एते यत् अतिथयः**=ये जो अतिथि हैं, वे **प्रियाः च अप्रियाः**=चाहे प्रिय हों, चाहे अप्रिय हों, ये **ऋत्विजः**=ऋत्विज् यजमान को **स्वर्गं लोकं गमयन्ति**=स्वर्गलोक को प्राप्त कराते हैं। जिन घरों में अतिथियज्ञ होता रहता है, वे घर स्वर्ग-से बन जाते हैं।

भावार्थ—अतिथि को प्रेमपूर्वक भोजन कराने से गृहस्थ अपने घरों को स्वर्ग-तुल्य बना लेते हैं। ये अतिथि 'ऋत्विज्' होते हैं। ये यजमान को स्वर्ग प्राप्त करानेवाले हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**७ पञ्चपदाविराट्पुरस्ताद्बृहती, ८, ९ साम्न्यनुष्टुप्** ॥

सप्रेम आतिथ्य व पाप-विनाश

स य एवं विद्वान् द्विषन्नश्नीयान्न द्विषतोऽन्नमश्नीयान्न मीमांसितस्य न मीमांसमानस्य॥ ७ ॥

सर्वो वा एष जग्धपाप्मा यस्यान्नमश्नन्ति॥ ८॥
सर्वो वा एषोऽजग्धपाप्मा यस्यान्नं नाश्नन्ति॥ ९॥

१. **यः एवं विद्वान्**=जो इसप्रकार ब्रह्मज्ञानी है, **सः**=वह **द्विषन् न अश्नीयात्**=किसी के प्रति द्वेष करता हुआ न खाये और **द्विषतः अन्नं न अश्नीयात्**=द्वेष करते हुए पुरुष के अन्न को भी न खाए। **न मीमांसितस्य**=शंका के पात्र (सन्देहास्पद) पुरुष के अन्न को भी न खाए, **मीमांसमानस्य न**=हमपर शंका करते हुए पुरुष के अन्न को भी न खाए। **एषः सर्वः वै**=ये सब लोग निश्चय से **जग्धपाप्मा**=नष्ट पापवाले होते हैं, **यस्य अन्नम्**=जिसके अन्न को **अश्नन्ति**=अतिथि खाते हैं और ३. **एषः सर्वः वै**=ये सब निश्चय से **अजग्धपाप्मा**=अनष्ट पापवाले होते हैं, **यस्य अन्नं न अश्नन्ति**=जिसका अन्न अतिथि लोग नहीं खाते।

भावार्थ—प्रेमवाले स्थल में ही आतिथ्य स्वीकार करना चाहिए। जिसके आतिथ्य को विद्वान् अतिथि स्वीकार करते हैं, उसके पाप नष्ट हो जाते हैं। वस्तुतः जहाँ विद्वान् अतिथियों का आना-जाना बना रहता है, वहाँ पापवृत्ति पनप ही नहीं पाती।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—**१० त्रिपदाऽऽर्चीत्रिष्टुप्, ११ भुरिक्साम्नीबृहती, १२ साम्नीत्रिष्टुप्**॥

आतिथ्य प्राजापत्ययज्ञ

सर्वदा वा एष युक्तग्रावार्द्रपवित्रो विततांध्वर आहृतयज्ञक्रतुर्य उपहरति॥ १०॥
प्राजापत्यो वा एतस्य यज्ञो विततो य उपहरति॥ ११॥
प्रजापतेर्वा एष विक्रमाननुविक्रमते य उपहरति॥ १२॥

१. **यः उपहरति**=जो अतिथियों के लिए 'पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय व मधुपर्क' आदि प्राप्त कराता है **एषः**=यह **वै**=निश्चय से **सर्वदा**=सदा ही **युक्तग्रावा**=सोमरस का अभिषव करनेवाले पाषाणों से सोमरस निकालनेवाला होता है, **आर्द्रपवित्रः**=उसका सोमरस सदा 'दशापवित्र' नामक वस्त्र पर छनता है, **वितताध्वरः**=सदा विस्तृत यज्ञवाला होता है और **आहृतयज्ञक्रतुः**=सदा यज्ञकर्म का फल प्राप्त करनेवाला होता है। २. **यः उपहरति**=जो अतिथि के लिए 'अर्घ्य-पाद्य' आदि प्राप्त कराता है, **एतस्य**=इसका **प्राजापत्यः यज्ञः विततः**=प्राजापत्य यज्ञ विस्तृत होता है—प्रजापति (गृहस्थ) के लिए हितकर यज्ञ विस्तृत होता है, अर्थात् इस अतिथियज्ञ से सन्तानों पर सदा उत्तम प्रभाव पड़ता है। ३. **यः उपहरति**=जो अतिथि-सत्कार के लिए इन उचित पदार्थों को प्राप्त कराता है, **एषः**=यह **वै**=निश्चय से **प्रजापतेः विक्रमान् अनुविक्रमते**=प्रजापति के महान् कार्यों का अनुकरण करता है।

भावार्थ—आतिथ्य करनेवालों का यज्ञ सदा चलता है। इसके सन्तानों पर इस आतिथ्य का सदा उत्तम प्रभाव पड़ता है और यह स्वयं प्रभु के महान् कार्यों का अनुसरण करता हुआ उत्तम कार्यों को करनेवाला बनता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—**त्रिपदाऽऽर्चीपङ्क्तिः**॥

अतिथियज्ञ में अग्नित्रय का स्थान

योऽतिथीनां स आहवनीयो यो वेश्मनि स गार्हपत्यो यस्मिन्पचन्ति स दक्षिणाग्निः॥ १३॥

१. **यः**=जो **अतिथीनाम्**=अतिथियों का शरीर है **सः**=वह **आहवनीयः**=आहवनीय अग्नि के

समान है, **यः वेश्मनि**=जो गृहस्थ के घर में निवास करना है **सः गार्हपत्यः**=वह गार्हपत्य अग्नि के समान है और **यस्मिन्**=जिस अग्नि में गृहमेधी लोग **पचन्ति**=अतिथि के लिए अन्नादि पकाते हैं, **सः दक्षिणाग्निः**=वह दक्षिणाग्नि है।

भावार्थ—अतिथियज्ञ में 'आहवनीय, गार्हपत्य व दक्षिणाग्नि' तीनों ही अग्नियाँ उपस्थित हो जाती हैं। इसप्रकार यह यज्ञ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

[षष्ठं सूक्तम् (३) तृतीयः पर्यायः]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**त्रिपदापिपीलिकामध्यागायत्री** ॥

अतिथि से पूर्व भोजन करने का परिणाम

इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति॥ १॥
पयश्च वा एष रसं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति॥ २॥
ऊर्जां च वा एष स्फातिं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति॥ ३॥
प्रजां च वा एष पशूंश्च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति॥ ४॥
कीर्तिं च वा एष यशश्च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति॥ ५॥
श्रियं च वा एष संविदं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति॥ ६॥

१. **यः**=जो **अतिथेः पूर्वः अश्नाति**=अतिथि को खिलाने से पूर्व स्वयं खा लेता है, **एषः वै**=यह निश्चय से **गृहाणाम्**=घरों के **इष्टं च पूर्तं च**=यज्ञ व कूप-तड़ाग आदि निर्माणात्मक पूर्त कर्मों को **अश्नाति**=खा जाता है, विनष्ट कर बैठता है। २. **पयः च वै रसं च**=यह घर के दूध व रस को निश्चय से विनष्ट कर देता है। ३. **ऊर्जां च वै स्फातिं च**=यह बल व प्राणशक्ति को तथा घर की समृद्धि को नष्ट कर बैठता है। ४. यह अतिथि से पहले ही खा लेनेवाला गृहस्थ **प्रजां च पशून् च**=सन्तानों व पशुओं को नष्ट कर बैठता है। ५. **कीर्तिं च यशः च**=यह कीर्ति व यश को नष्ट कर बैठता है और ६. **श्रियं च संविदं च**=श्री (लक्ष्मी) व सौहार्द (सौहार्दभाव) को नष्ट कर देता है।

भावार्थ—अतिथि को खिलाने से पूर्व ही भोजन कर लेनेवाला व्यक्ति घर के 'इष्ट-पूर्त को, दूध व रस को, बल व समृद्धि को, प्रजा और पशुओं को, कीर्ति और यश को तथा श्री और संज्ञान को नष्ट कर बैठता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—७ **साम्नीबृहती,** ८ **पिपीलिकामध्योष्णिक्,** ९ **त्रिपदापिपीलिकामध्यागायत्री** ॥

अतिथि का लक्षण

एष वा अतिथिर्यच्छ्रोत्रियस्तस्मात्पूर्वो नाश्नीयात्॥ ७॥
अशितावत्यतिथावश्नीयाद्यज्ञस्य सात्मत्वाय। यज्ञस्याविच्छेदाय तद् व्रतम्॥ ८॥
एतद्वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात्॥ ९॥

१. **एषः**=यह **वै**=निश्चय से **अतिथिः**=अतिथि है, **यत् श्रोत्रियः**=जो वेद का विद्वान् है, **तस्मात् पूर्वः**=उससे पहले **न अश्नीयात्**=भोजन न करे। २. **अतिथौ अशितावति अश्नीयात्**=अतिथि के भोजन कर लेने पर ही भोजन खाये ताकि **यज्ञस्य सात्मत्वाय**=यज्ञ की संगतता बनी रहे, अर्थात् यज्ञ सम्पूर्णता से सफल हो, **यज्ञस्य अविच्छेदाय**=यज्ञ का विच्छेद (विनाश) न हो, **तत् व्रतम्**=यह व्रत होना चाहिए कि अतिथि से पूर्व नहीं खाना। ३. **एतत् वै उ**=यह ही निश्चय से **स्वादीयः**=सब पदार्थ बहुत स्वादिष्ट हैं, **यत् अधिगवम्**=जो गौ से प्राप्त होता

है, **क्षीरं वा**=दूध या **मांसं वा**=या अन्य मन को अच्छा लगनेवाला (मानसं अस्मिन् सीदति इति—निरु०) दूध से उत्पन्न घी, मलाई, रबड़ी, खोया, खीर आदि पदार्थ है, **तत् एव**=उन पदार्थों को गृहस्थ अतिथि से पूर्व **न अश्नीयात्**=न खाये। अतिथि को खिलाकर ही इन पदार्थों का यज्ञशेष के रूप में ग्रहण करना चाहिए।

भावार्थ—श्रोत्रिय अतिथि को दूध, रबड़ी आदि स्वादिष्ट पदार्थों को खिलाकर उसके बाद ही गृहस्थ को यज्ञशेष के रूप में उन पदार्थों का ग्रहण करना चाहिए। यह गृहस्थ का व्रत है। इस व्रत के पालन से ही यज्ञ की पूर्णता व जीवन का कल्याण हुआ करता है।

[षष्ठं सूक्तम् (४) चतुर्थः पर्यायः]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—१, ३, ५, ७ **प्राजापत्याऽनुष्टुप्**, २, ४, ६, ८ **त्रिपदागायत्री**॥

क्षीर, सर्पि, मधु, मांस

स य एवं विद्वान्क्षीरमुपसिच्योपहरति॥ १॥
यावदग्निष्टोमेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे॥ २॥
स य एवं विद्वान्त्सर्पिरुपसिच्योपहरति॥ ३॥
यावदतिरात्रेणेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे॥ ४॥
स य एवं विद्वान्मधूपसिच्योपहरति॥ ५॥
यावत्सत्रसद्येनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे॥ ६॥
स य एवं विद्वान्मांसमुपसिच्योपहरति॥ ७॥
यावद् द्वादशाहेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे॥ ८॥

१. **यः एवं विद्वान्**=जो इसप्रकार अतिथियज्ञ के महत्त्व को जानता है, **सः**=वह **क्षीरम् उपसिच्य**=दूध को पात्र में डालकर **उपहरति**=अतिथि की तृप्ति के लिए प्राप्त कराता है, तो २. **यावत्**=जितना **सुसमृद्धेन**=उत्तम रीति से सम्पादित **अग्निष्टोमेन इष्ट्वा**=अग्निष्टोम यज्ञ से यज्ञ करके **अवरुन्द्धे**=फल प्राप्त करता है, **तावत्**=उतना **एनेन अवरुन्द्धे**=अतिथियज्ञ से प्राप्त कर लेता है। ३. **यः एवं विद्वान्**=जो इसप्रकार अतिथियज्ञ के महत्त्व को जानता है **सः**=वह **सर्पिः उपसिच्य**=घृत आदि पौष्टिक पदार्थों को पात्र में डालकर **उपहरति**=अतिथि की तृप्ति के लिए प्राप्त कराता है, तो ४. **यावत्**=जितना **सुसमृद्धेन**=सम्यक् सम्पादित **अतिरात्रेण**='अतिरात्र' नामक यज्ञ से **अवरुन्द्धे**=फल प्राप्त करता है **तावत्**=उतना **एनेन अवरुन्द्धे**=इस अतिथि-सत्कार से प्राप्त कर लेता है। ५. **यः एवं विद्वान्**=जो इसप्रकार अतिथियज्ञ के महत्त्व को जानता है **सः**=वह **मधु उपसिच्य**=मधु आदि मधुर पदार्थों को पात्र में डालकर **उपहरति**=अतिथि के लिए प्राप्त कराता है, ६. तो **यावत्**=जितना **सुसमृद्धेन सत्रसद्येन इष्ट्वा**=सम्यक् सम्पादित 'सत्रसद्य' से यज्ञ करके **अवरुन्द्धे**=फल प्राप्त करता है, **तावत्**=उतना **एनेन अवरुन्द्धे**=इस अतिथियज्ञ के करने से प्राप्त करता है। ७. **यः एवं विद्वान्**=जो इसप्रकार अतिथियज्ञ के महत्त्व को समझता है, **सः**=वह **मांसम् उपसिच्य**=मन को रुचिपूर्ण लगनेवाले घी, मलाई, फल (The fleshy part of a fruit) आदि पदार्थों को पात्र में डालकर **उपहरति**=अतिथि के लिए प्राप्त कराता है, तो ८. **यावत्**=जितना **सुसमृद्धेन द्वादशाहेन इष्ट्वा**=सम्यक् सम्पादित 'द्वादशाह' यज्ञ से यज्ञ करके **अवरुन्द्धे**=फल प्राप्त करता है **तावत् एनेन अवरुन्द्धे**=इस अतिथियज्ञ से प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ—अतिथि के लिए 'दूध, घृत, मधु, मांस (मन को अच्छा लगनेवाले पदार्थ) प्राप्त

कराने से क्रमशः अग्निष्टोम, अतिरात्र, सत्रसद्य, द्वादशाह यज्ञों के करने का फल मिलता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**९ भुरिक्प्राजापत्यागायत्री, १० चतुष्पदाप्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

अतिथि-सत्कार से गृहस्थ की उत्तमता

स य एवं विद्वानुदकमुपसिच्योपहरति ॥ ९ ॥
प्रजानां प्रजननाय गच्छति प्रतिष्ठां प्रियः प्रजानां
भवति य एवं विद्वानुदकमुपसिच्योपहरति ॥ १० ॥

१. **यः एवं विद्वान्**=जो इसप्रकार अतिथियज्ञ के महत्त्व को जानता है, **सः**=वह **उदकम्**=जल को **उपसिच्य उपहरति**=पात्र में डालकर अतिथि के लिए प्राप्त कराता है, तो वह २. **प्रजानां प्रजननाय**=उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाला होता है, **प्रतिष्ठां गच्छति**=प्रतिष्ठा को प्राप्त होता है, **प्रजानां प्रियः भवति**=अपनी प्रजाओं का प्रिय होता है। **यः एवं विद्वान्**=जो इसप्रकार अतिथियज्ञ के महत्त्व को समझता हुआ **उदकम् उपसिच्य उपहरति**=जल को पात्र में डालकर अतिथि के लिए प्राप्त कराता है।

भावार्थ—हम अतिथि-सत्कार के महत्त्व को समझते हुए आये हुए अतिथि से जलादि के लिए पूछें। अतिथि के लिए जल प्राप्त कराने से भी हम उत्तम सन्तानों को प्राप्त करके एक सद्गृहस्थ की प्रतिष्ठा को प्राप्त करते हैं।

[षष्ठं सूक्तम् (५) पञ्चमः पर्यायः]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**१ साम्न्युष्णिक्, २ पुरउष्णिक्, ३ भुरिक्साम्नीबृहती** ॥

भूति, प्रजा, पशु

तस्मा उषा हिङ्कृणोति सविता प्र स्तौति ॥ १ ॥
बृहस्पतिरूर्जयोद्गायति त्वष्टा पुष्ट्या प्रति हरति विश्वेदेवा निधनम् ॥ २ ॥
निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

१. **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार अतिथियज्ञ के महत्त्व को समझता है, **तस्मै**=उसके लिए **उषा**=उषा **हिङ्कृणोति**=आनन्द का सन्देश देती है, **सविता प्रस्तौति**=सूर्य विशेष प्रशंसा करता है, **बृहस्पतिः**=प्राण **ऊर्जया उद्गायति**=बल के साथ उसके गुणों का गान करता है, **त्वष्टा पुष्ट्या प्रतिहरति**=त्वष्टा उसे पुष्टि प्रदान करता है, **विश्वे देवा निधनम्**=अन्य सब देव उसे आश्रय प्रदान करते हैं, अतः वह **भूत्याः प्रजायाः पशूनाम्**=सम्पत्ति, प्रजा व पशुओं का **निधनं भवति**=आश्रयस्थान बनता है।

भावार्थ—अतिथि-सत्कार करनेवाला सम्पत्ति, प्रजा व पशुओं का आश्रयस्थान बनता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**४ साम्न्यनुष्टुप्, ५ (पूर्वार्द्धः) त्रिपदानिचृद् विषमानामगायत्री (उत्तरार्द्धः) भुरिक्साम्नीबृहती** ॥

सूर्य के द्वारा अतिथियज्ञ करनेवाले का शंसन

तस्मा उद्यन्त्सूर्यो हिङ्कृणोति संगवः प्र स्तौति ॥ ४ ॥
मध्यन्दिन उद्गायत्यपराह्णः प्रति हरत्यस्तंयन्निधनम् ।
निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥

१. अतिथि-सत्कार करनेवाले **तस्मै**=उस यज्ञमय जीवनवाले पुरुष के लिए **उद्यन् सूर्यः हिङ्कृणोति**=उदय होता हुआ सूर्य आनन्द का सन्देश देता है, **संगवः प्रस्तौति**=संगवकाल (सूर्य जब पर्याप्त ऊपर आ जाता है) उसकी विशेष प्रशंसा (स्तुति) करता है। २. **माध्यन्दिनः**=मध्याह्न **उद्गायति**=उसके गुणों का गान करता है, **अपराह्णः प्रतिहरति**=अपराह्ण काल का सूर्य उसके लिए 'प्रतिहार' करता है—उसे पुष्टि देता है। **अस्तंयन् निधनम्**=अस्त को जाता हुआ सूर्य उसे आश्रय देता है। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार आतिथ्य सत्कार करता है, वह **भूत्याः प्रजायाः पशूनाम्**=सम्पत्ति, प्रजा और पशुओं का **निधनं भवति**=आश्रयस्थान बनता है।

भावार्थ—सूर्य दिन की पाँच अवस्थाओं में अतिथि-सत्कार करनेवाले के यश को उज्ज्वल करता, विस्तृत करता, गायन करता, उसे सब पदार्थ प्राप्त कराता और उसे सब पदार्थों से सम्पन्न करता है। इसप्रकार यह अतिथियज्ञ करनेवाला 'सम्पत्ति, प्रजा व पशुओं' का आश्रय स्थान बनता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—६ **साम्न्यनुष्टुप्, ७ (पूर्वार्द्धः) त्रिपदाविराड्विषमानामगायत्री (उत्तरार्द्धः) भुरिक्साम्नीबृहती** ॥

मेघ द्वारा आतिथ्य करनेवाले का शंसन

तस्मा अभ्रो भवन्हिङ्कृणोति स्तनयन्प्र स्तौति ॥ ६ ॥
विद्योतमानः प्रति हरति वर्षन्नुद्गायत्युद्गृह्णन्निधनम् ।
निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद ॥ ७ ॥

१. **तस्मै**=उस अतिथि-सत्कार करनेवाले के लिए **अभ्रः भवन् हिङ्कृणोति**=उत्पन्न होनेवाला मेघ आनन्द का सन्देश देता है। **स्तनयन् प्रस्तौति**=गर्जना करनेवाला मेघ उसकी प्रशंसा करता है। **विद्योतमानः प्रतिहरति**=विद्युत् से प्रकाशित होनेवाला मेघ उसे पुष्टि देता है, **वर्षन् उद्गायति**=वृष्टि करता हुआ मेघ इसका गुणगान करता है, **उद्गृह्णन्**=जल को ऊपर उठाता हुआ मेघ **निधनम्**=आश्रय देता है। २. **एवम्**=इसप्रकार अतिथियज्ञ के महत्त्व को **यः वेद**=जो समझता है, वह **भूत्याः प्रजायाः पशूनाम्**=सम्पत्ति, प्रजा व पशुओं का **निधनम् भवति**=आश्रयस्थान बनता है।

भावार्थ—मेघ भी अपनी पाँचों स्थितियों में उस आतिथ्य करनेवाले के यश को उज्ज्वल करता, विस्तृत करता, गायन करता, उसे सब पदार्थ प्राप्त कराता तथा उसे सब पदार्थों से सम्पन्न करता है। इसप्रकार अतिथियज्ञ का कर्त्ता सम्पत्ति, प्रजा व पशुओं का आश्रयस्थान बनता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—८ **त्रिपदाविराडनुष्टुप्, ९ साम्न्यनुष्टुप्, १० भूरिक्साम्नीबृहती** ॥

अतिथियज्ञ, सामगान

अतिथीन्प्रति पश्यति हिङ्कृणोत्यभि वदति
प्र स्तौत्युदकं याचत्युद्गायति ॥ ८ ॥
उप हरति प्रति हरत्युच्छिष्टं निधनम् ॥ ९ ॥
निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद ॥ १० ॥

१. जब यह अतिथि-सत्कार करनेवाला **अतिथीन् प्रतिपश्यति**=अतिथियों का दर्शन करता है, तब मानो **हिङ्कृणोति**=सामगान का हिंकार करता है, **अभिवदति**=जब अभिवादन करता

है तब मानो **प्रस्तौति**=स्तुति करता है। **उदकं याचति**=अतिथि के लिए उदक माँगता है तो **उद्गायति**=उद्गान करता है। **उपहरति**=जब उसके सामने खाद्य पदार्थ रखता है तब **प्रतिहरति**=प्रतिहार करता है—'प्रतिहर्त्ता' का कार्य करता है, **उच्छिष्टम् निधनम्**=उसके भोजन कर चुकने पर जो शेष भोजन बचता है, वह निधन है—यज्ञ का अन्तिम प्रसाद है। २. **एवम्**=इसप्रकार आतिथ्य के महत्त्व को **यः वेद**=जो जानता है, वह **भूत्याः प्रजायाः पशूनाम्**=सम्पत्ति, प्रजा व पशुओं का **निधनम्**=आश्रय **भवति**=होता है।

भावार्थ—अतिथियज्ञ करनेवाला सामगान करता हुआ प्रभु का उपासक बनता है, अतः सम्पत्ति, प्रजा व पशुओं का आश्रय होता है।

[षष्ठं सूक्तम् (६) षष्ठः पर्यायः]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**१ आसुरीगायत्री, २ साम्न्यनुष्टुप्, ३ त्रिपदाऽऽर्चीपङ्क्तिः, ४ एकपदाप्राजापत्यागायत्री** ॥

'गृहपति—क्षत्ता तथा परिवेष्टा लोगों' का यज्ञ

यत्क्षत्तारं ह्वयत्या श्रावयत्येव तत्॥ १॥
यत्प्रतिशृणोति प्रत्याश्रावयत्येव तत्॥ २॥
यत्परिवेष्टारः पात्रहस्ताः पूर्वे चापरे च प्रपद्यन्ते चमसाध्वर्यव एव ते॥ ३॥
तेषां न कश्चनाहोता॥ ४॥

१. **यत्**=जब यह आतिथ्य करनेवाला पुरुष **क्षत्तारम्**=(An attendant, the manager of a treasure) सेवक वा कोठारी को **ह्वयति**=बुलाता है, तब मानो **तत्**=उस समय अध्वर्यु-कर्म में **आश्रावयति एव**=आश्रवण ही कराता है। **यत् प्रतिशृणोति**=जब कोठारी उसकी आज्ञा स्वीकार करता है, तब मानो **तत्**=वह **प्रतिश्रावयति एव**=आध्वर्यवकाण्ड का प्रत्याश्रावण करता है। २. **यत्**=जो **परिवेष्टारः**=रसोई परोसनेवाले लोग **पात्रहस्ताः**=हाथ में भोजन के पात्र लिये हुए **पूर्वे च अपरे च**=आगे और पीछे **अवपद्यन्ते**=आ पहुँचते हैं, **चमसाध्वर्यवः एव ते**=वे मानो चमसा लिये हुए यज्ञ के चमसाध्वर्यु लोग ही हैं, **तेषाम्**=उनमें से **कश्चन**=कोई भी **अहोता न**=आहुति न देनेवाला नहीं होता।

भाषार्थ—अतिथि-सत्कार के समय 'गृहपति, उसका क्षत्ता तथा परिवेष्टा लोग' भी मानो हवि की आहुति ही दे रहे होते हैं, अतः अतिथि-सत्कार ही इनका यज्ञ हो जाता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अतिथिः, विद्या** ॥ छन्दः—**५ त्रिपदाऽऽर्चीपङ्क्तिः, ६ आर्चीबृहती** ॥

अवृभथ-उदवसान

यद्वा अतिथिपतिरतिथीन्परिविष्य गृहानुपोदैत्यवभृथमेव तदुपावैति॥ ५॥
यत्सभागयति दक्षिणाः सभागयति यदनुतिष्ठत उदवस्यत्येव तत्॥ ६॥

१. **यत् वै**=जब निश्चय से **अतिथिपतिः**=अतिथियों का पालक—गृहस्थ **अतिथीन् परिविष्य**=अतिथियों को भोजन परोसकर **गृहान् उप उदैति**=पुनः अपने घरों के (गृहस्थ-सम्बन्धियों के) समीप आता है तब मानो **तत्**=वह **अवभृथम् एव उप अवैति**=यज्ञ कर चुकने के पश्चात् अवभृथ स्नान ही कर लेता है। २. **यत् सभागयति**=जो उन्हें कुछ धन भेंट करता है, तो मानो **दक्षिणाः सभागयति**=यज्ञ में ऋत्विजों को दक्षिणा ही देता है और **यत्**=जो **अनुतिष्ठते**=उनकी विदाई के समय समीप स्थित होता है, **तत्**=वह **उद अवस्यति एव**=यज्ञ का उदवसान करना है।

भावार्थ—अतिथियों को तृप्त करके पुनः अपने गृह में आना यज्ञ के अन्त में अवभृथ-

स्नान के समान है। अतिथि को विदा करके लौटाना यज्ञ के उदवसान पर यज्ञ-स्थान से घर लौटने के समान है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—७ **आर्चीबृहती**॥

पृथिवी के विश्वरूप पदार्थों की प्राप्ति

स उपहूतः पृथिव्यां भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन्यत्पृथिव्यां विश्वरूपम्॥ ७॥

१. **सः**=वह—अतिथियज्ञ को पूर्ण करनेवाला गृहस्थ **पृथिव्याम् उपहूतः**=इस पृथिवी पर निमन्त्रित हुआ-हुआ **भक्षयति**=भक्षण (इसका सेवन) करता है, **यत् पृथिव्यां विश्वरूपम्**=जो इस पृथिवी पर नाना रूपोंवाले अन्नादि पदार्थ हैं, **तस्मिन् उपहूतः**=उनमें यह निमन्त्रित होता है।

भावार्थ—अतिथियज्ञ को पूर्ण करनेवाले व्यक्ति को पार्थिव पदार्थों की कमी नहीं रहती।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—८-११ **आर्चीबृहती**॥

'अन्तरिक्ष, द्युलोक, देवों व लोकों' में आमन्त्रण

स उपहूतोऽन्तरिक्षे भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन्यदन्तरिक्षे विश्वरूपम्॥ ८॥
स उपहूतो दिवि भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन्यद्दिवि विश्वरूपम्॥ ९॥
स उपहूतो देवेषु भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन्यद्देवेषु विश्वरूपम्॥ १०॥
स उपहूतो लोकेषु भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन्यल्लोकेषु विश्वरूपम्॥ ११॥

१. **सः**=वह अतिथियज्ञ को पूर्ण करनेवाला व्यक्ति **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्ष में, **दिवि**=द्युलोक में, **देवेषु**=विद्वानों (ब्राह्मणों) में तथा **लोकेषु**=अन्य लोकों में (क्षत्रिय, वैश्यादि में) **उपहूतः**=आमन्त्रित हुआ-हुआ **भक्षयति**=भक्षण (सेवन) करता है, **यत् अन्तरिक्षे दिवि देवेषु लोकेषु**=जो अन्तरिक्ष में, द्युलोक में, देवों में व सामान्य लोगों में **विश्वरूपम्**=नाना रूपोंवाले वायु (अन्तरिक्ष), सूर्यप्रकाश (द्युलोक), ज्ञान (देव), बल, धन व अन्न (लोक) आदि पदार्थ हैं, **तस्मिन् उपहूतः**=उनमें यह निमन्त्रित होता है।

भावार्थ—अतिथियज्ञ को पूर्ण करनेवाले व्यक्ति को 'अन्तरिक्षस्थ, द्युलोकस्थ, दैवस्थ व लोकस्थ' किन्हीं भी पदार्थों की कमी नहीं रहती।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अतिथिः, विद्या**॥ छन्दः—१२ **एकपदासुरीजगती, १३ याजुषीत्रिष्टुप्, १४ एकपदासुर्युष्णिक्**॥

यह लोक, वह लोक व ज्योतिर्मय लोक

स उपहूत उपहूतः॥ १२॥
आप्नोतीमं लोकमाप्नोत्यमुम्॥ १३॥
ज्योतिष्मतो लोकाञ्जयति य एवं वेद॥ १४॥

१. **सः**=वह अतिथियज्ञ को पूर्ण करनेवाला व्यक्ति **उपहूतः**=सादर आमन्त्रित होता है और **उपहूत**=अवश्य ही आमन्त्रित होता है। वह **इमं लोकम् आप्नोति**=इस लोक को प्राप्त करता है और **अमुं लोकम् आप्नोति**=उस लोक को भी प्राप्त करता है—इस लोक के अभ्युदय को और परलोक के निःश्रेयस को यह प्राप्त करनेवाला होता है। **यः**=जो **एवं वेद**=इसप्रकार अतिथियज्ञ के महत्त्व को समझता है और उसे साङ्ग सम्पूर्ण करने का प्रयत्न करता है, वह **ज्योतिष्मतः लोकान् जयति**=प्रकाशमय लोकों को जीतनेवाला होता है।

भावार्थ—अतिथियज्ञ को साङ्ग पूर्ण करनेवाला व्यक्ति सादर आमन्त्रित होता है। वह अभ्युदय और निःश्रेयस को प्राप्त करता है। वह प्रकाशमय लोकों का विजेता होता है।

७ [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषि:—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौ:** ॥ छन्द:—**१ आर्चीबृहती, २ आर्च्युष्णिक्, ३ आर्च्यनुष्टुप्** ॥

प्रजापति से घर्म तक

प्रजापतिश्च परमेष्ठी च शृङ्गे इन्द्रः शिरो अग्निर्ललाटं यमः कृकाटम्॥ १॥

सोमो राजा मस्तिष्को द्यौरुत्तरहनुः पृथिव्यधरहनुः॥ २॥

विद्युज्जिह्वा मरुतो दन्ता रेवतीर्ग्रीवाः कृत्तिका स्कन्धा घर्मो वहः॥ ३॥

१. वेदधेनु के विराट् शरीर की यहाँ कल्पना की गई है। इस वेदवाणी में उस प्रभु का वर्णन है जोकि सब देवों के अधिष्ठान हैं—'**ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः**'। सब देवों को इस गौ के विराट् शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में दिखलाते हैं। **प्रजापतिः च परमेष्ठी च शृंगे**=प्रजापति और परमेष्ठी दोनों इस गौ के सींग हैं, **इन्द्रः शिरः**=इन्द्र सिर है, **अग्निः ललाटम्**=अग्नि ललाट है, **यमः कृकाटम्**=यम गले की घंटी है। २. **सोमः राजा मस्तिष्कः**=सोम राजा उसका मस्तिष्क है, **द्यौः उत्तरहनुः**=द्युलोक उसका ऊपर का जबड़ा है, **पृथिवी अधरहनुः**=पृथिवी उसका नीचे का जबड़ा है। ३. **विद्युत् जिह्वा**=विद्युत् उसकी जिह्वा है। **मरुतः दन्ताः**=मरुत् (वायुएँ) उसके दाँत हैं, **रेवतीः ग्रीवाः**=रेवतीनक्षत्र उसकी गर्दन है, **कृत्तिकाः स्कन्धाः**=कृत्तिका नक्षत्र कन्धे हैं और **घर्मः वहः**=प्रकाशमान् सूर्य व ग्रीष्मऋतु उसके ककुद के पास का स्थान है।

भावार्थ—वेदवाणी में 'प्रजापति परमेष्ठी' के प्रतिपादन के साथ 'इन्द्र, अग्नि, यम, सोम, द्यौ, पृथिवी, विद्युत्, वायु, रेवती व कृत्तिका आदि नक्षत्र व घर्म' का ज्ञान उपलभ्य है।

ऋषि:—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौ:** ॥ छन्द:—**४ साम्नीबृहती, ५ आर्च्यनुष्टुप्, ६ आसुरीगायत्री** ॥

वायु से उपसद तक

विश्वं वायुः स्वर्गो लोकः कृष्णद्रं विधरणी निवेष्यः॥ ४॥

श्येनः क्रोडो३ऽन्तरिक्षं पाजस्यं१ बृहस्पतिः ककुद् बृहतीः कीकसाः॥ ५॥

देवानां पत्नीः पृष्टय उपसदः पर्शवः॥ ६॥

१. **वायुः विश्वम्**=वायु उसके सब अवयव हैं। **स्वर्गः लोकः**=स्वर्गलोक **कृष्णद्रम्**=आकर्षक गति है (कृष्ण द्रु), **विधरणी**=लोकों को पृथक्-पृथक् स्थापित करनेवाली शक्ति **निवेष्यः**=उसका बैठने का कूल्हा है। २. **श्येनः**=श्येनयाग **क्रोडः**=उसका गोद-भाग है, **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष **पाजस्यम्**=पेट है, **बृहस्पतिः ककुद्**=बृहस्पति उसका ककुद है। **बृहतीः**=ये विशाल दिशाएँ **कीकसाः**=उसके गले के मोहरे हैं। ३. **देवानां पत्नीः**='सूर्या, इन्द्राणी, वरुणानी, अग्राणी' आदि देवपत्नियाँ **पृष्टयः**=पृष्ठ के मोहरे, **उपसदः**=उपसद इष्टियाँ **पर्शवः**=उसकी पसलियाँ हैं।

भावार्थ—वेदवाणी में प्रभु के बनाये हुए वायु आदि पदार्थों के ज्ञान के साथ कर्त्तव्यभूत उपसद आदि इष्टियों का भी प्रतिपादन किया गया है।

ऋषि:—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौ:** ॥ छन्द:—**७ त्रिपदापिपीलिकामध्यानिचृद्गायत्री, ८ आसुरीगायत्री, ९, १३ साम्नीगायत्री, १० पुरउष्णिक्, ११, १२ साम्न्युष्णिक्** ॥

मित्र से प्रजा तक

मित्रश्च वरुणश्चांसौ त्वष्टा चार्यमा च दोषणी महादेवो बाहू॥ ७॥

इन्द्राणी भसद्वायुः पुच्छं पवमानो बालाः॥ ८॥

ब्रह्म च क्षत्रं च श्रोणी बलमूरू॥ ९॥

धाता च सविता चाष्ठीवन्तौ जङ्घा गन्धर्वा अप्सरसः
कुष्ठिका अदितिः शफाः॥ १०॥
चेतो हृदयं यकृन्मेधा व्रतं पुरीतत्॥ ११॥
क्षुत्कुक्षिरिरा वनिष्ठुः पर्वताः प्लाशयः॥ १२॥
क्रोधो वृक्कौ मन्युराण्डौ प्रजा शेपः॥ १३॥

१. **मित्रः च वरुणः च**=मित्र और वरुण **अंसौ**=कन्धे हैं, **त्वष्टा च अर्यमा च**=त्वष्टा और अर्यमा **दोषणी**=भुजाओं के ऊपर के भाग हैं, **महादेवः बाहू**=महादेव बाहु हैं (अगली टाँगों का पिछला भाग), **इन्द्राणी**=विद्युत्-शक्ति **भसत्**=गुह्यभाग है, **वायुः पुच्छम्**=वायु पूँछ है, **पवमानः बालाः**=बहता हुआ वायु उसके बाल हैं। २. **ब्रह्म च क्षत्रं च**=ब्रह्म और क्षत्र (ब्राह्मण और क्षत्रिय) **श्रोणी**=उसके श्रोणीप्रदेश (कूल्हे) हैं, **बलम्**=बल (सेना) **ऊरू**=जाँघें हैं। **धाता च सविता च**=धाता और सविता उसके **अष्ठीवन्तौ**=टखने हैं, **गन्धर्वाः जंघाः**=गन्धर्व जंघाएँ हैं **अप्सरसः**=रूपवती स्त्रियाँ (अप्सराएँ) **कुष्ठिकाः**=खुरों के ऊपर-पीछे की ओर लगी अंगुलियाँ हैं, **अदितिः**=पृथिवी **शफाः**=खुर हैं। ३. **चेतः**=चेतना **हृदयम्**=हृदय है, **मेधा**=बुद्धि **यकृत्**=जिगर है, **व्रतं पुरीतत्**=व्रत उसकी आँतें है, **क्षुत् कुक्षिः**=भूख कोख है, **इरा**=अन्न व जल **वनिष्ठुः**=गुदा व बड़ी आँतें हैं, **पर्वताः**=पर्वत व मेघ **प्लाशयः**=छोटी आँतें हैं, **क्रोधः**=क्रोध **वृक्कौ**=गुर्दे हैं, **मन्युः**=शोक व दीप्ति **आण्डौ**=अण्डकोश हैं, **प्रजा शेपः**=प्रजाएँ उसका लिंगभाग हैं (वृक्कौ पुष्टिकरौ प्रोक्तौ जठरस्थस्य मेदसः। वीर्यवाहिशिराधारौ वृषणौ पौरुषावहौ। गर्भाधानकरं लिङ्गमयनं वीर्यमूत्रयोः—शार्ङ्गधर)।

भावार्थ—वेद में मित्र, वरुण से लेकर क्रोध, मन्यु, प्रजा आदि का सुचारुरूपेण प्रतिपादन है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः**॥ छन्दः—**१४-१६ साम्नीबृहती, १७ साम्न्युष्णिक्, १८ एकपदाऽऽसुरीजगती**॥

नदी से निधन तक

नदी सूत्री वर्षस्य पतय स्तना स्तनयित्नुरूधः॥ १४॥
विश्वव्यचाश्चर्मौषधयो लोमानि नक्षत्राणि रूपम्॥ १५॥
देवजना गुदा मनुष्या आन्त्राण्यत्रा उदरम्॥ १६॥
रक्षांसि लोहितमितरजना ऊबध्यम्॥ १७॥
अभ्रं पीबो मज्जा निधनम्॥ १८॥

१. **नदी सूत्री**=नदी इस वेदधेनु की सूत्री (जन्म देनेवाली नाड़ी), **वर्षस्य पतयः**=वृष्टि के पालक मेघ **स्तनाः**=स्तन हैं, **स्तनयित्नुः ऊधः**=गर्जनशील मेघ ऊधस् (औड़ी) है। **विश्वव्यचाः**=सर्वव्यापक आकाश **चर्म**=चमड़ा है, **ओषधयः लोमानि**=ओषधियाँ लोम हैं, **नक्षत्राणि रूपम्**=नक्षत्र उसके रूप, अर्थात् देह पर चितकबरे चिह्न हैं। २. **देवजनाः**=देवजन (ज्ञानी लोग) **गुदाः**=गुदा हैं, **मनुष्याः आन्त्राणि**=मननशील मनुष्य उसकी आँतें हैं, **अत्ताः उदरम्**=अन्य खाने-पीनेवाले प्राणी उसके उदर हैं, **रक्षांसि लोहितम्**=राक्षस लोग रुधिर हैं, **इतरजनाः ऊबध्यम्**=इतर जन अनपचे अन्न के समान हैं, **अभ्रम्**=मेघ **पीवः**=मेदस् (चर्बी) हैं, **निधनम्**=निधन **मज्जा**=मज्जा है (निधन=यज्ञ का अन्तिम प्रसाद)।

भावार्थ—वह वेदवाणी नदियों व निधन सबका प्रतिपादन कर रही है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः** ॥ छन्दः—**१९ एकपदाऽऽसुरीपङ्क्तिः, २० याजुषीजगती, २१ आसुर्यनुष्टुप्, २२ एकपदाऽऽसुरी जगती, २३ एकपदाऽऽसुरी बृहती** ॥

वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'प्रभु'

अग्निरासीन उत्थितोऽश्विना ॥ १९ ॥
इन्द्रः प्राङ् तिष्ठन्दक्षिणा तिष्ठन्यमः ॥ २० ॥
प्रत्यङ् तिष्ठन्धातोदङ् तिष्ठन्त्सविता ॥ २१ ॥
तृणानि प्राप्तः सोमो राजा ॥ २२ ॥
मित्र ईक्षमाण आवृत्त आनन्दः ॥ २३ ॥

१. वेदवाणी में सभी पदार्थों, जीव के कर्त्तव्यों व आत्मस्वरूप का वर्णन है। इनका मुख्य प्रतिपाद्य विषय प्रभु हैं। यह प्रभु हमारे हृदय में **आसीनः**=आसीन हुए-हुए **अग्निः**=अग्नि हैं—हमें निरन्तर आगे ले-चलनेवाले हैं (भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया), **उत्थितः**=हमारे हृदय में उठे हुए ये प्रभु **अश्विना**=प्राणापान हैं, जब प्रभु की भावना हमारे हृदयों में सर्वोपरि होती है तब हमारी प्राणापान की शक्ति का वर्धन होता है। **प्राङ् तिष्ठन्**=पूर्व में (सामने) ठहरे हुए वे प्रभु **इन्द्रः**=हमारे लिए परमैश्वर्यशाली व शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले हैं। **दक्षिणा तिष्ठन्**=दक्षिण में स्थित हुए-हुए वे **यमः**=यम हैं, हमारे नियन्ता हैं, **प्रत्यङ् तिष्ठन्**=पश्चिम में ठहरे हुए वे प्रभु **धाता**=हमारा धारण करनेवाले हैं। **उदङ् तिष्ठन्**=उत्तर में ठहरे हुए **सविता**=हमें प्रेरणा देनेवाले हैं। २. ये ही प्रभु **तृणानि प्राप्तः**=तृणों को प्राप्त हुए-हुए **सोमः राजा**=देदीप्यमान (राज् दीप्तौ) सोम होते हैं। ये तृण भोजन के रूप में उदर में प्राप्त होकर 'सोम' के जनक होते हैं। **ईक्षमाणः**=हमें देखते हुए, ये प्रभु **मित्रः**=हमें प्रमीति (मृत्यु) से बचानेवाले हैं (प्रमीतेः त्रायते= मित्रः), **आवृत्तः**=हममें व्याप्त हुए-हुए वे प्रभु **आनन्दः**=हमारे लिए आनन्दरूप हो जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिए 'अग्नि, अश्विना, इन्द्र, यम, धाता, सविता, सोम' मित्र व आनन्दरूप हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः** ॥ छन्दः—**साम्नीभुरिग्बृहती** ॥

वैश्वदेव, प्रजापति, सर्व

युज्यमानो वैश्वदेवो युक्तः प्रजापतिर्विमुक्तः सर्वम् ॥ २४ ॥

१. **युज्यमानः**=जब हम अपने मनों को इस प्रभु के साथ जोड़ते हैं, तब वे **वैश्वदेवः**=सब दिव्य गुणों को हमारे साथ जोड़ते हैं। **युक्तः**=हमारे साथ युक्त हुए-हुए वे प्रभु **प्रजापतिः**=हम प्रजाओं का रक्षण करनेवाले हैं। **विमुक्तः**=सब बन्धनों से विमुक्त वे प्रभु **सर्वम्**='सर्व' हैं—सबमें समाये हुए हैं।

भावार्थ—वे प्रभु हममें दिव्य गुणों को जन्म देनेवाले हैं, हमारे रक्षक हैं और सबमें समाये हुए हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः** ॥ छन्दः—**२५ साम्न्युष्णिक्, २६ साम्नीत्रिष्टुप्** ॥

'विश्वरूप, सर्वरूप' गोरूप

एतद्वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम् ॥ २५ ॥
उपैनं विश्वरूपाः सर्वरूपाः पशवस्तिष्ठन्ति य एवं वेद ॥ २६ ॥

१. **एतत्**=यह उपरिनिर्दिष्ट वर्णन **वै**=निश्चय से **विश्वरूपम्**=वेदधेनु का सब पदार्थों का (संसार का) निरूपण करनेवाला विराट्रूप है, **सर्वरूपम्**=यह 'सर्व' (सब में समाये) प्रभु का

निरूपण करनेवाला-सा है, **गोरूपम्**=वेदवाणी का गौ के रूप में निरूपण है। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार समझ लेता है, **एनम्**=इसे **विश्वरूपाः**=भिन्न-भिन्न वर्णों व आकृतियोंवाले, **सर्वरूपाः**= 'सर्व' प्रभु की महिमा का प्रतिपादन करनेवाले—व्यक्त व अव्यक्त वाक् सब प्राणी—मनुष्य व पशु-पक्षी आदि **उपतिष्ठन्ति**=पूजित करते हैं। यह उन सब प्राणियों से जीवन के लिए आवश्यक लाभ प्राप्त करता हुआ उनमें प्रभु की महिमा देखता है।

भावार्थ—वेदवाणी में विश्व के सब पदार्थों का निरूपण है। इसमें 'सर्व' (सबमें समाये हुए) प्रभु का भी निरूपण है। वेदधेनु के इस विराट्रूप को देखनेवाला व्यक्ति सब प्राणियों से उचित लाभ प्राप्त करता है, सब प्राणियों में उस 'सर्व' प्रभु की महिमा को देखता है।

विशेष—इसप्रकार वेदधेनु को अपनानेवाला यह व्यक्ति ज्ञानरूप अग्नि में परिपक्व होकर 'भृगु' बनता है, अङ्ग-अङ्ग में रसवाला (नीरोग) यह व्यक्ति 'अङ्गिरस' होता है। यह भृग्वङ्गिरा ही अगले सूक्त का ऋषि है।

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**सर्वशीर्षामयापाकरणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शिरोरोग निराकरण

शीर्षक्तिं शीर्षामयं कर्णशूलं विलोहितम्।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे॥ १॥
कर्णाभ्यां ते कङ्कूषेभ्यः कर्णशूलं विसल्पकम्।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे॥ २॥
यस्य हेतोः प्रच्यवते यक्ष्मः कर्णत आस्यतः।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे॥ ३॥
यः कृणोति प्रमोतमन्धं कृणोति पूरुषम्।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे॥ ४॥
अङ्गभेदमङ्गज्वरं विश्वाङ्ग्यं विसल्पकम्।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे॥ ५॥

१. **शीर्षक्तिम्**=शिरःपीड़ा को **शीर्षामयम्**=सिर के अन्य रोग को (मस्तकशूल व शिरोव्यथा को) **कर्णशूलम्**=कान के दर्द व **विलोहितम्**=जिसमें रुधिर की कमी आ जाती है तथा विकृत रुधिरवाले **ते**=तेरे **सर्वम्**=सब प्रकार के **शीर्षण्यं रोगम्**=सिर में होनेवाले रोग को **बहिः निर्मन्त्रयामहे**=बाहर आमन्त्रित करते हैं—दूर करते हैं। **कर्णाभ्याम्**=कानों से तथा **ते कङ्कूषेभ्यः**=तेरे कानों के अन्दर व्याप्त नाड़ियों से **विसल्पकम्**=नाना प्रकार से रेंगनेवाली—चीस चलानेवाली **कर्णशूलम्**=कान की पीड़ा को बाहर करते है। **यस्य हेतोः**=जिस कारण से **कर्णतः**=कान से और **आस्यतः**=मुख से **यक्ष्मः**=रोगकारी, पीड़ाजनक मवाद **प्रच्यवते**=बहता है, उस समस्त शिरोरोग को हम दूर करते हैं। २. **यः**=जो रोग **प्रमोतं कृणोति**=बहरा कर देता है और **पूरुषम् अन्धं करोति**=पुरुष को अन्धा कर देता है, उस सब रोग को दूर करते हैं। **अङ्गभेदम्**=शरीर के अङ्गों को तोड़ डालनेवाले, **अङ्गज्वरम्**=शरीर के अङ्गों में ज्वर उत्पन्न करनेवाले, **विश्वाङ्ग्यम्**=सब अङ्गों में व्यापनेवाले **विसल्पकम्**=विशेषरूप से तीव्र वेदना के साथ फैलनेवाले **सर्वं शीर्षण्यम्**=सब शिरोरोग को हम तुझसे दूर करते हैं।

भावार्थ—सब शिरोरोगों को दूर करके हम स्वस्थ मस्तिष्क बन जाएँ।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—सर्वशीर्षामयापाकरणम् ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

ज्वरादि को दूर करना

यस्य भीमः प्रतीकाश उद्वेपयति पूरुषम्। तक्मानं विश्वशारदं बहिर्निर्मन्त्रयामहे॥ ६॥
य ऊरू अनुसर्पत्यथो एति गवीनिके। यक्ष्मं ते अन्तरङ्गेभ्यो बहिर्निर्मन्त्रयामहे॥ ७॥
यदि कामादपकामाद्धृदयाज्जायते परि। हृदो बलासमङ्गेभ्यो बहिर्निर्मन्त्रयामहे॥ ८॥
हरिमाणं ते अङ्गेभ्योऽप्वामन्तरोदरात्। यक्ष्मोधामन्तरात्मनो बहिर्निर्मन्त्रयामहे॥ ९॥

१. **यस्य**=जिसका **भीमः**=भयानक **प्रतीकाशः**=स्वरूप ही **पूरुषम् उद्वेपयति**=पुरुष को कम्पित कर देता है, ऐसे **तक्मानम्**=दुःखदायी ज्वर को **विश्वशारदम्**=(शॄ दौर्बल्ये) सब अङ्गों को निर्बल करनेवाले ज्वर को **बहिः निर्मन्त्रयामहे**=बाहर निमन्त्रित करते हैं। **यः**=जो रोग **ऊरू अनुसर्पति**=जंघाओं की ओर बढ़ता है, **अथो**=और **गवीनिके एति**=मूत्राशय के समीप 'गवीनिका' नामक नाड़ियों में पहुँच जाता है, उस **यक्ष्मम्**=रोग को **ते अन्तः अङ्गेभ्यः**=तेरे अन्दर के अङ्गों से बाहर आमन्त्रित करते हैं। २. **यदि**=यदि **बलासम्**=(बल असु क्षेपणे) शरीर के बल का नाशक कफ़ रोग **कामात्**=हमारे इच्छाकृत कर्मों से **अकामात्**=बिना कामना के बाह्य जलवायु के विकार से **हृदयात् परि**=हृदय के समीप **जायते**=उत्पन्न हो जाए तो उसे **हृदः अङ्गेभ्यः**=हृदय के साथ सम्बद्ध अङ्गों से बाहर निकालते हैं। **ते अङ्गेभ्यः**=तेरे अङ्गों से **हरिमाणम्**=पीलिया रोग को, **उदरात् अन्तः**=पेट के भीतर होनेवाले **अप्वाम्**=उदर रोग को **आत्मनः अन्तः**=शरीर के भीतर से **यक्ष्मोधाम्**=यक्ष्मा रोग के अंशों को रखनेवाले रोग को **बहिः निर्मन्त्रयामहे**=बाहर निकाल दें।

भावार्थ—शरीर के अन्दर उत्पन्न हो जानेवाले 'ज्वर, यक्ष्मा, पीलिया, जलोदर व यक्ष्मोधा' आदि रोगों को दूर करके हम नीरोगता के सुख का अनुभव करें।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—सर्वशीर्षामयापाकरणम् ॥ छन्दः—१०, ११ अनुष्टुप्, १२ अनुष्टुब्गर्भा ककुम्मतीचतुष्पदोष्णिक् ॥

सर्वाङ्ग नीरोगता

आसो बलासो भवतु मूत्रं भवत्वामयत्।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत्॥ १०॥
बहिर्बिलं निर्द्रवतु काहाबाहं तवोदरात्।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत्॥ ११॥
उदरात्ते क्लोम्नो नाभ्या हृदयादधि।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत्॥ १२॥

१. **बलासः**=शरीर के बल का नाशक कफ़-रोग **आसः**=बाहर फेंका हुआ **भवतु**=हो—थूक के रूप में बाहर फेंक दिया जाए। **आमयत्**=रोगकारी पदार्थ **मूत्रं भवतु**=मूत्ररूप होकर बाहर आ जाए। **सर्वेषाम्**=सब **यक्ष्माणाम्**=रोगों के **विषम्**=विष को **अहम्**=मैं **त्वत्**=तेरे शरीर से **निर् अवोचम्**=बाहर निकालकर बताऊँ, अर्थात् तुझे नीरोग कर दूँ। २. **तव उदरात्**=तेरे उदर से **काहाबाहम्**=खाँसी आदि को लानेवाला **बिलम्**=फूटन रोग (कास आवह) अङ्गों को कड़-कड़ानेवाला रोग **बहिः निर्द्रवतु**=बाहर निकल जाए। **ते उदरात्**=तेरे उदर से **क्लोम्नः**=कलेजे से, **नाभ्याः**=नाभि से और **हृदयात् अधि**=हृदय से भी सब रोगों के विष को मैं तेरे शरीर से बाहर कर दूँ।

भावार्थ—कफ़-रोग थूक के रूप में, अन्य रोगकारी पदार्थ मूत्र के रूप में शरीर से पृथक् हो जाएँ। खाँसी करनेवाला फूटन रोग भी शरीर से पृथक् हो जाए। हमारा उदर, क्लोम, नाभि व हृदय सब स्वस्थ हों।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**सर्वशीर्षामयापाकरणम्** ॥ छन्दः—**१३, १४, १६-१८ अनुष्टुप्, १५ विराडनुष्टुप्** ॥

बहिः बिलम् (निर्द्रवन्तु)

याः सीमानं विरुजन्ति मूर्धानं प्रत्यर्षणीः। अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम्॥ १३॥
या हृदयमुपर्षन्त्यनुतन्वन्ति कीकसाः। अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम्॥ १४॥
याः पार्श्वे उपर्षन्त्यनुनिक्षन्ति पृष्टीः। अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम्॥ १५॥
यास्तिरश्चीरुपर्षन्त्यर्षणीर्वक्षणासु ते। अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम्॥ १६॥
या गुदा अनुसर्पन्त्यान्त्राणि मोहयन्ति च। अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम्॥ १७॥
या मज्ज्ञो निर्धयन्ति परूंषि विरुजन्ति च। अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम्॥ १८॥

१. **याः**=जो पीड़ाजनक रोग-मात्राएँ **मूर्धानं प्रति अर्षणीः**=मस्तक की ओर गतिवाली होती हैं और **सीमानं विरुजन्ति**=सिर के ऊपरी भाग (खोपड़ी) को नाना प्रकार से पीड़ित करती हैं, वे सब **अनामयाः**=रोगशून्य होकर **अहिंसन्तीः**=हमें हिंसित न करती हुई **बिलं बहिः**=शरीर के छिद्रों से बाहर **निर्द्रवन्तु**=निकल जाएँ। **याः**=जो रोग-मात्राएँ **हृदयम् उपर्षन्ति**=हृदय की ओर तीव्र वेग से बढ़ी चली आती हैं और **कीकसाः अनुतन्वन्ति**=हँसली की हड्डियों में फैल जाती हैं **याः पार्श्वे उपर्षन्ति**=जो पीड़ाएँ दोनों पार्श्वों (कोखों) में तीव्र वेदना करती हुई प्राप्त होती हैं और **पृष्टीः अनुनिक्षन्ति**=पीठ के मोहरों का चुम्बन करने लगती हैं, वे सब रोगरहित व अहिंसक होती हुई शरीर-छिद्रों से बाहर निकल जाएँ। २. **याः अर्षणीः**=जो महापीड़ाएँ **तिरश्चीः**=तिरछी होकर आक्रमण करती हुई **ते वक्षणासु उपर्षन्ति**=तेरी पसलियों में पहुँच जाती हैं, **याः**=जो पीड़ाएँ **गुदाः अनुसर्पन्ति**=गुदा की नाड़ियों में गतिवाली होती हैं **च**=और **आन्त्राणि मोहयन्ति**=आँतों को मूर्च्छित (काम न करनेवाला) कर देती हैं, **याः**=जो **मज्ज्ञः**=मज्जाओं को **निर्धयन्ति**=चूस-सा लेती हैं और सुखा-सा डालती हैं, **च**=और **परूंषि विरुजन्ति**=जोड़ों में दर्द (फूटन) पैदा कर देती हैं, वे सब रोगशून्य व अहिंसक होकर शरीर-छिद्रों से बाहर चली जाएँ।

भावार्थ—जो भी पीड़ादायक तत्त्व शरीर में विकृतियों का कारण बनते हैं, वे पसीने आदि के रूप में शरीर से बाहर हो जाएँ।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**सर्वशीर्षामयापाकरणम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यक्ष्माविष-निराकरण

ये अङ्गानि मदयन्ति यक्ष्मासो रोपणास्तव।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत्॥ १९॥
विसल्पस्य विद्रधस्य वातीकारस्य वालजेः।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत्॥ २०॥

१. **ये**=जो **यक्ष्मासः**=रोगजनक पदार्थ **ते अङ्गानि मदयन्ति**=तेरे अङ्गों को मदयुक्त करते हैं—कम्पित-सा करते हैं और **तव रोपणाः**=तेरी व्याकुलता व मूर्च्छा का कारण बनते हैं, **अहम्**=मैं **सर्वेषां यक्ष्माणां विषम्**=उन सब रोगों के विष को **त्वत् निरवोचम्**=तेरे शरीर से बाहर निकालकर बताता हूँ। २. **विसल्पस्य**=नाना प्रकार के फैलनेवाले पीड़ाकारी रोग (dry spreading itch) **विद्रधस्य**=गिल्टियों की सूजन, **वातीकारस्य**=बाय की पीड़ा **वा अलजेः**=और

आँख के भीतर दाने या रोहे फूलना आदि सब रोगों के विष को मैं तुझसे पृथक् किये देता हूँ।

भावार्थ—पीड़ाजनक व कम्पित करनेवाले विसल्प आदि सब रोगों के विष को शरीर से पृथक् करके हम स्वस्थ बनें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**सर्वशीर्षामयापाकरणम्** ॥ छन्दः—**विराट्पथ्याबृहती** ॥

नीरोग अङ्ग

पादाभ्यां ते जानुभ्यां श्रोणिभ्यां परि भंससः।
अनूकादर्षणीरुष्णिहाभ्यः शीर्ष्णो रोगमनीनशम्॥ २१ ॥

१. **ते पादाभ्याम्**=तेरे चरणों से, **जानुभ्याम्**=गोड़ों से **श्रोणिभ्याम्**=कूल्हों से **परिभंससः**=जघन-भाग से, **अनूकात्**=रीढ़ से **उष्णिहाभ्यः**=गर्दन की नाड़ियों से **अर्षणीः**=तीव्र वेदनाओं को तथा **शीर्षणः रोगम्**=सिर के रोग को **अनीनशम्**=नष्ट कर देता हूँ।

भावार्थ—हम पैर, श्रोणि, भंसस्, अनूक व उष्णिहा' जन्य पीड़ाओं को तथा सिर के रोग को दूर कर स्वस्थ बनें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**सर्वशीर्षामयापाकरणम्** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

'सिर व हृदय की पीड़ा' की चिकित्सा सूर्यरश्मियाँ

सं ते शीर्ष्णः कपालानि हृदयस्य च यो विधुः।
उद्यन्नादित्य रश्मिभिः शीर्ष्णो रोगमनीनशोऽङ्गभेदमशीशमः॥ २२ ॥

१. हे रोगिन्! **ते**=तेरे **शीर्ष्णः कपालानि**=सिर के कपाल-भाग **च**=और **हृदयस्य यः विधुः**=जो हृदय की विशेष प्रकार की पीड़ा थी, उस सबको **सम्**=(अनीनशम्) मैंने नष्ट कर दिया है। हे **आदित्य**=(आदानात्, दाप लवणे) सब रोगों को उखाड़ फेंकनेवाले सूर्य! **उद्यन्**=उदय होता हुआ तू **रश्मिभिः**=अपनी किरणों से **शीर्ष्णः रोगम्**=सिर के रोग को **अनीनशः**=नष्ट कर देता है तथा **अङ्गभेदम्**=अङ्गों की वेदना को तूने **अशीशमः**=शान्त कर दिया है।

भावार्थ—उदय होते हुए सूर्य की किरणें शिरोरोग व हृत्-पीड़ाओं को शान्त कर देती हैं। इसी से सूर्याभिमुख होकर ध्यान करने का महत्त्व है।

विशेष—नीरोग बनकर प्रभु-स्तवन करनेवाला यह व्यक्ति 'ब्रह्मा' बनता है और उस सुन्दर-ही-सुन्दर 'वाम' प्रभु का स्मरण करता है। अगले दो सूक्तों का ऋषि यही है।

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वाम-अशन-घृतपृष्ठ=प्रभु-जीव-प्रकृति

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः।
तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम्॥ १ ॥

१. **अस्य**=इस **वामस्य**=सुन्दर-ही-सुन्दर, सब मलिनताओं से रहित, **पलितस्य**=सब जीवों का पालन करनेवाले, **होतुः**=सब आवश्यक पदार्थों के प्रदाता **तस्य**=उस प्रभु का **भ्राता**=भ्राता **मध्यमः**=मध्य में रहनेवाला जीव है जोकि **अश्नः**=खानेवाला है। जीव के एक ओर प्रकृति है, दूसरी ओर प्रभु। इन दोनों के मध्य में है जीव। यह न तो प्रभु के समान पूर्ण चेतन है और न ही प्रकृति के समान एकदम जड़। प्रभु पूर्ण तृप्त होने से नहीं खाते, प्रकृति जड़ होने से भूख

का अनुभव नहीं करती। जीव ही खाता है। २. **अस्य**=इस प्रभु का **तृतीयः भ्राता**=तीसरा भाई यह प्रकृति है जोकि **घृतपृष्ठः**=चमकते हुए पृष्ठवाली है। इसकी यह चमक ही जीव को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। मैं **अत्र**=यहाँ—प्रकृति में भोगासक्त न होकर **विश्पतिम्**=सब प्रजाओं के पालक **सप्तपुत्रम्**=सात लोकों के रूप में सात पुत्रों को जन्म देनेवाले प्रभु को **अपश्यम्**=देखता हूँ। 'भूः, भूवः, स्वः, महः, जनः, तपः व सत्यम्' नामक सात लोक ही प्रभु के सात पुत्र हैं।

भावार्थ—प्रभु सुन्दर, पालक व दाता हैं, जीव प्रकृति व प्रभु के मध्य में स्थित हुआ-हुआ सब भोगों को भोगता है, प्रकृति से बना हुआ संसार सोने की भाँति चमकीला है। यहाँ हमें प्रभु का दर्शन करने का प्रयत्न करना चाहिए।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सब लोकों का अधिष्ठानभूत 'रथ' (शरीर)

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः॥ २॥

१. यह शरीर रथ है। **रथम्**=इस शरीररूप रथ में **सप्त युञ्जन्ति**='**कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्**'—दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुख-(जिह्वा)-रूप सात दीपक जुड़े हुए हैं। यह शरीर-रथ 'अष्टाचक्रा नवद्वारा' आठ चक्रोंवाला होता हुआ भी **एकचक्रम्**=अद्वितीय चक्रोंवाला है (एक=अद्वितीय)। इसके सब चक्र बड़े महत्त्वपूर्ण हैं। सबसे नीचे मूलाधारचक्र है। इसमें संयम होने पर वीर्यरक्षण होकर मनुष्य अद्भुत शक्ति का अनुभव करता है। सबसे ऊपर 'सूर्यचक्र' है। वहाँ संयम होने पर 'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्' सारे भवनों का ज्ञान हो जाता है। **एकः अश्वः**=मुख्य प्राणरूप अश्व इस रथ को **वहति**=ले-चलता है, जो अश्व कि **सप्तनामा**=सात नामोंवाला है। '**प्राणाः वाव इन्द्रियाणि**'—ये सब इन्द्रियाँ प्राण ही हैं। '**आँख, नाक, कान, मुख**' ये सब प्राण के ही नाम हैं। २. वह **चक्रम्**=शरीर-चक्र **त्रिनाभिः**=तीन नाभियों-(बन्धनों)-वाला है (णह बन्धने)। ये तीन नाभियाँ '**इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि**' हैं। **अजरम्**=यह चक्र अतिशयेन गतिशील है। यहाँ 'इन्द्रियाँ, मन व वासनात्मक बुद्धि' सभी अस्थिर हैं। ये **अनर्वम्**='इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' हिंसित होनेवाले नहीं। अगले शरीरों में भी ये ही हमारे साथ रहेंगे। यह शरीररूप रथ वह है **यत्र**=जहाँ **इमा विश्वा भुवना**=ये सभी लोक **अधितस्थुः**=ठहरे हुए हैं। मस्तिष्क द्युलोक है, हृदय अन्तरिक्ष तथा पाँव पृथिवीलोक है। '**सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठइवासते**' यह शरीर ब्रह्माण्ड के सभी देवों का अधिष्ठान है।

भावार्थ—यह शरीररूप रथ अद्भुत है। यह सब लोकों का अधिष्ठान है। सब देव इसमें उपस्थित हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'सप्तचक्र' रथ का वर्णन

इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः।
सप्त स्वसारो अभि सं नवन्त यत्र गवां निहिता सप्त नामा॥ ३॥

१. **इमं रथम् अधि**=इस शरीररूप रथ पर **ये**=जो **सप्त**=सात (सप् sip) ज्ञान-जल का आचमन करनेवाले सात ऋषि (दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुख) **तस्थुः**=स्थित हैं। ये **सप्त अश्वाः**=सात ऋषि—इन्द्रिय-अश्व **सप्तचक्रम्**=(सप् to know, to worship) श्रद्धारूपी चक्रोंवाले इस रथ को **वहन्ति**=धारण करते हैं, जीवन-मार्ग में आगे और आगे ले-चलते हैं। २. इस शरीर में **सप्त**=(सप् to obtain) सब शक्तियों को प्राप्त करानेवाले (सप् to do, to

perform) या सब कार्यों को करनेवाले **स्वसारः**=(स्वयं सरणाः) अपने आप निरन्तर चलते रहनेवाले—हम सो जाते हैं तो भी ये चलते ही हैं (स्वः आदित्यः तेन सारिताः), अथवा सूर्य से प्रेरित होनेवाले (प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः) ये प्राण इस शरीर को **अभिसंनवन्त**=(सम्यक् नवीकुर्वन्ति) प्रतिदिन इस शरीर-रथ को नया और नया (तरोताज़ा) कर देते हैं। यह शरीर-रथ वह है, **यत्र**=जिसमें **गवां सप्त नामा निहिता**=(गो Diamond) 'रस, रुधिर, मांस, मेदस्, मज्जा, अस्थि व वीर्यरूप सात नामोंवाले रत्नों का स्थापन हुआ है। ये रस आदि ही शरीर को रमणीय बनाते हैं।

भावार्थ—इस शरीर-रथ में सात ऋषियों की स्थिति है। आदरणीय (सात) चक्रोंवाले इस शरीर-रथ को सात इन्द्रियाश्व धारण करते हैं। सात प्राण इसे सदा नया बनाते रखते हैं। इसमें सात धातुओं का स्थापन हुआ है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

को ददर्श प्रथम जायमानम्

को द॑दर्श प्र॒थ॒मं जाय॑मानमस्थ॒न्वन्तं॒ यद॑न॒स्था बिभ॑र्ति।
भूम्या॒ असु॒रसृ॑गा॒त्मा क्व॑ स्वि॒त्को वि॒द्वांस॒मुप॑ गा॒त्प्रष्टु॑मे॒तत्॥ ४॥

१. **कः**=(कामनः, क्रमणः, सुखी वा—निरु०) जो कामना करता है, क्रमण (पुरुषार्थ) करता है और परिणामतः सुखी होता है, वह विरल पुरुष ही **प्रथमं जायमानम्**=पहले से ही प्रादुर्भूत हुए-हुए (अजायमानो बहुधा विजायते) इस आत्मतत्त्व को **ददर्श**=देखता है। यह कितने आश्चर्य की बात है **यत्**=कि **अनस्था**=स्वयं अस्थिरहित होता हुआ यह **अस्थन्वन्तं बिभर्ति**=अस्थियों के पञ्जरवाले इस शरीर को धारण करता है। २. **भूम्याः**=इस पार्थिव शरीररूप रथ का **असुः**=यह प्राण **असृक्**=रुधिर और **आत्मा**=रथी **क्वस्वित्**=भला कहाँ-कहाँ रहते हैं, इसप्रकार का प्रश्न उत्पन्न होते ही **कः**=वह ज्ञान की कामनावाला पुरुष **एतत् प्रष्टुम्**=इस बात को पूछने के लिए **विद्वांसम् उपगात्**=ज्ञानी पुरुष के समीप उपस्थित होता है।

भावार्थ—कोई विरल व्यक्ति ही आत्मतत्त्व का द्रष्टा बनता है। शरीर में प्राण, रुधिर व आत्मा की स्थिति को समझने के लिए यह ज्ञानी के पास उपस्थित होता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

आदर्श उपदेष्टा

इ॒ह ब्र॑वीतु॒ य ई॑म॒ङ्ग वेदा॒स्य वा॒मस्य॒ निहि॑तं प॒दं वेः।
शी॒र्ष्णः क्षी॒रं दु॑ह्रते॒ गावो॑ अस्य व॒व्रिं वसा॑ना उद॒कं प॒दाऽपुः॥ ५॥

१. **यः**=जो **ईम्**=अब **अस्य वामस्य**=इस सुन्दर **वेः**=(goer) क्रियाशील प्रभु के (द्वा सुपर्णा) **निहितं पदम्**=रक्खे हुए पग को **अङ्ग**=(well, indeed) ठीक-ठीक **वेद**=जानता है, वह **इह ब्रवीतु**=इस मानव-जीवन में उपदेश दे। यह ज्ञानी प्रभु के (त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः) तीनों पगों को इसप्रकार स्पष्ट करता है कि प्रथम पग में सर्वत्र व्याप्त (विष् व्याप्तौ) प्रभु सृष्टि का निर्माण करते हैं, द्वितीय पग में वे 'गोपाः' रक्षक हैं, तृतीय पग में अदाभ्यः—अहिंसित होते हुए वे प्रभु प्रलय करनेवाले हैं। २. **अस्य**=इस ज्ञानी पुरुष की **शीर्ष्णः गावः**=सिर की (शिरोभाग में स्थित) ज्ञानेन्द्रियाँ जनता के मानस में **क्षीरं दुह्रते**=ज्ञान-दुग्ध का पूरण करती हैं। इसका ज्ञान जनता के मन व मस्तिष्क के लिए दूध की भाँति पौष्टिक व मधुर भोजन का काम करता है। ३. ये प्रवचनकर्ता **वव्रिं वसानाः**=रूप को—तेजस्विता को धारण करने के हेतु से **पदा**=(पद गतौ) क्रियाशीलता के द्वारा **उदकम्**=(आपः रेतो भूत्वा) वीर्यशक्ति

को **अपुः**=पीते हैं। प्रवचनकर्ता तेजस्वी हो तो वह जनता पर छा-सा जाता है, अतः वीर्यरक्षण आवश्यक ही है। इस वीर्यरक्षण से विचार-शुद्धि भी बनी रहती है। वीर्यरक्षण के लिए यह क्रियाशील बना रहता है (पदा)। अकर्मण्यता ही वासनाओं को पैदा करके वीर्यनाश का कारण बनती है।

भावार्थ—उपदेष्टा को चाहिए कि वह १. प्रभु के निहित तीनों चरणों को जानता हो, सृष्टि की उत्पत्ति, धारण व प्रलय को समझता हो, २. उसकी इन्द्रियाँ क्षीर-तुल्य मधुर शब्दों में उत्तम ज्ञान का दोहन करती हों, ३. वीर्यरक्षण द्वारा उसने तेजस्विता व मधुरता का सम्पादन किया हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

जिज्ञासु का प्रश्न

पाकः पृच्छामि मनसाविजानन्देवानामेना निहिता पदानि।
वत्से बष्कयेऽधि सप्त तन्तून्वि तत्निरे कवय ओतवा उ॥ ६॥

१. जिज्ञासु कहता है कि—**पाकः**=पक्तव्य प्रज्ञावाला, **अविजानन्**=विशेषरूप से न जानता हुआ मैं **देवानाम्**=सूर्य-चन्द्र आदि देवों के **एना**=इन **निहिता पदानि**=रक्खे हुए पदों को **मनसा**=मन से **पृच्छामि**=आपसे पूछता हूँ। सूर्य-चन्द्र आदि देव शरीर में कहाँ-कहाँ रहते हैं—यह जानने के लिए मैं हृदय से उत्सुक हूँ, अतः आपसे पूछने के लिए उपस्थित हुआ हूँ। २. **वत्से**=सदा स्पष्टरूप से बोलनेवाले **बष्कये अधि**=(वट् सत्यम् कष् शासने) सत्य का शासन (अनुशासन, उपदेश) करनेवाले प्रभु में—प्रभु की उपासना में स्थित हुए-हुए **कवयः**=ज्ञानी लोग **सप्त तन्तून् वितत्निरे**=जिसमें ज्ञान का विस्तार किया गया है (तन्) उन सात गायत्री आदि छन्दों के ज्ञानरूप ताने को तानते हैं। तानते इसलिए हैं कि **ओतवै उ**=उसमें कर्म का बाना बुना ही जाए, अर्थात् ये ज्ञान के ताने में कर्म का बाना बुनते हैं—ज्ञानपूर्वक कर्म करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु से अनुशासन प्राप्त करनेवाले क्रियाशील विद्वानों से मैं अपनी आत्मविषयक जिज्ञासा को शान्त करने के लिए पूछता हूँ कि इस देह में किस-किस देवता ने कहाँ-कहाँ स्थिति की है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

छह लोक और सातवाँ लोक

अचिकित्वांश्चिकितुषश्चिदत्र कवीन्पृच्छामि विद्मनो न विद्वान्।
वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम्॥ ७॥

१. **अचिकित्वान्**=अविद्वान् होता हुआ-इस शरीर व शरीरी के रूप को ठीक-ठीक न समझता हुआ **चित्**=ही **अत्र**=इस मानव-जीवन में **चिकितुषः कवीन् विद्मनः**=ज्ञानी, क्रान्तदर्शी विद्वानों से **पृच्छामि**=पूछता हूँ। **न विद्वान्**=न जानता हुआ मैं ज्ञान-प्राप्ति के लिए आपके समीप उपस्थित हुआ हूँ। २. उस प्रभु के विषय में पूछने के लिए उपस्थित हुआ हूँ **यः**=जोकि **इमा**=इन **षट्**=छह **रजांसि**=लोकों को **वि**=अलग-अलग, अपने-अपने स्थान में **तस्तम्भ**=थामे हुए हैं। इस प्रभु के आधार में इतनी तीव्र गति से क्रमण करते हुए भी ये लोक परस्पर टकराते नहीं। मैंने ऐसा सुना है कि सातवाँ लोक तो **अजस्य रूपे**=उस कभी न उत्पन्न होनेवाले प्रभु के स्वरूप में ही विद्यमान है। **एकं किम् अपि स्वित्**=यह लोक तो कुछ अद्वितीय-(एकम्)-सा ही है। इन लोकों की भाँति न होकर यह प्रभु का 'सत्य' स्वरूप ही है।

भावार्थ—हम ज्ञानियों के सम्पर्क में आकर प्रभु के आश्रय में स्थित छह लोकों का ज्ञान

प्राप्त करके उस अद्वितीय सातवें प्रभुरूप लोक को भी जानने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

आदर्श शिष्य

माता पितरमृत आ बभाज धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे।
सा बीभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुपवाकमीयुः॥ ८॥

१. **माता**=जीवन का निर्माण करनेवाला विद्यार्थी **पितरम्**=ज्ञानप्रद पितृरूप आचार्य को **ऋते**=सत्यज्ञान की प्राप्ति के निमित्त **आ बभाज**=सर्वथा सेवित करता है। आचार्य के प्रति श्रद्धा व भक्ति के अभाव में यह आचार्य से क्या ज्ञान प्राप्त करेगा? सत्यज्ञान की प्राप्ति की लालसा से यह आचार्य के पास आता है और **धीत्यग्रे**=(धीतिः अग्रे यस्मिन् तेन) ध्यान व कर्म है प्रमुख जिसमें उस **मनसा**=मन से यह **हि**=निश्चयपूर्वक **संजग्मे**=ज्ञान से संगत होता है। ज्ञान-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि विद्यार्थी श्रमशील हो (student=studious) तथा आचार्य के मुख से निकलते हुए एक-एक शब्द को ध्यान से सुने। उसकी प्रार्थना यही हो कि **'सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन वि राधिषि'**। २. ऐसा विद्यार्थी आचार्य का प्रिय होता है। आचार्य इसे उपनीत करता हुआ मानो अपने गर्भ में ही धारण करता है। यह आचार्य की सन्ततिरूप हुआ-हुआ **बीभत्सुः**= आचार्य के साथ अपने को बाँध देने की इच्छावाला होता है। **गर्भरसा**=गर्भरस से—रहस्यमय ज्ञान के जल से **निविद्धा**=हृदय के अन्तस्तल तक सिक्त होता है। आचार्य के गर्भ में रहता हुआ यह गर्भस्थ बालक के समान गर्भरस से पोषित होता है। गर्भरस शुद्ध साररूप है। यह विद्यार्थी भी आचार्य के शुद्ध साररूप ज्ञान को प्राप्त करनेवाला होता है और सबसे प्रमुख बात यह है कि **नमस्वन्तः इत्**=नमस्वाले, अर्थात् नम्रता से युक्त विद्यार्थी ही आचार्य के समीप पहुँचकर **वाकम्**=उपदेश को—वेदवाणी को **ईयुः**=प्राप्त होते हैं। नम्र शिष्य ही आचार्य से ज्ञान प्राप्त कर पाता है।

भावार्थ—शिष्य में १. जीवन के निर्माण की भावना होनी चाहिए (माता)। २. उसका एकमात्र उद्देश्य सत्यज्ञान की प्राप्ति हो (ऋते)। ३. वह श्रम व ध्यान-प्रधान मनवाला हो (धीत्यग्रे)। ४. आचार्य के सदा समीप हो (बीभत्सुः)। ५. नम्रता की भावना से ओत-प्रोत हो (नमस्वन्तः)।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

दक्षिणायाः धुरि

युक्ता मातासीद् धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद्गर्भो वृजनीष्वन्तः।
अमीमेद्वत्सो अनु गामपश्यद्विश्वरूप्यं त्रिषु योजनेषु॥ ९॥

१. **माता**=जीवन के निर्माण की इच्छावाला शिष्य **दक्षिणायाः धुरि**=दक्षिणा के जुए में (दक्षिणे सरलोदारौ) सरलता व उदारता के अग्रभाग में **युक्ता आसीत्**=आचार्य द्वारा जोड़ा जाता है। आचार्य विद्यार्थियों को सरल व उदार वृत्ति का बनाता है। सरलता के अभाव में पारस्परिक प्रेम का विकास नहीं और उदारता के अभाव में पवित्रता नहीं, विशालता ही तो हृदय को पवित्र बनाती है। यह विद्यार्थी **वृजनीषु**=(Battles, Struggles) जब तक काम-क्रोधरूप वासनाओं से उसका संघर्ष चलता है, तब तक **अन्तः गर्भः अतिष्ठत्**=अन्तर्गर्भ के समान रहता है—आचार्य-गर्भ में तब तक ठहरता है, जब तक कि वह परिपक्व न हो जाए। २. आचार्यकुल में रहता हुआ यह आचार्य का प्रिय **वत्सः**=पुत्र-तुल्य शिष्य **अनु अमीमेत्**=आचार्य के पीछे-ठीक आचार्य के उच्चारण के अनुसार शब्द करता है। आचार्य के पीछे उच्चारण करता हुआ यह

विद्यार्थी **गाम्**=वेदवाणी को **अपश्यत्**=देखता है। इस वेदवाणी का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करता है। यह उस वेदवाणी को देखता है जो **विश्वरूप्यम्**=सब विषयों का निरूपण करनेवाली है। यह विद्यार्थी इस वेदवाणी को **त्रिषु योजनेषु**=तीनों योजनाओं में देखता है—इसके प्रकृति, जीव व परमात्म-सम्बद्ध तीनों अर्थों को देखने का प्रयत्न करता है। ऋग्वेद मुख्यरूप से प्रकृति का वर्णन करता हुआ 'विज्ञानवेद' कहलाता है। यजुर्वेद जीव के कर्त्तव्यों का प्रतिपादन करता हुआ 'कर्मवेद' है और अध्यात्मज्ञान देता हुआ सामवेद 'उपासना वेद' है। अथर्व मनुष्य को रोगों व युद्धों से ऊपर उठकर उन्नत राष्ट्र में सुन्दर जीवनवाला बनकर प्रभु-प्राप्ति का उपदेश करता है, एवं विश्व का निरूपण करनेवाले ये वेद विद्यार्थी को 'प्रकृति, जीव व परमात्मा' के विषय में ज्ञान प्राप्त कराते हुए 'नीरोग, निर्द्वेष व पूर्णपवित्र (सत्य)' बनाते हैं।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थी को 'सरल व उदार' वृत्तिवाला बनाए। विद्यार्थी परिपक्व होने से पूर्व आचार्य कुल में ही निवास करे। आचार्य के पीछे उच्चारण करता हुआ शिष्य अपने ज्ञान को परिपक्व करे। इस वेदवाणी के 'अध्यात्म, अधिभूत व अधिदेव' तीनों क्षेत्रों में होनेवाले अर्थों को देखे।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

तीन माता, तीन पिता

ति॒स्रो मा॒तॄस्त्रीन्पि॒तॄन्बिभ्र॒देक॑ ऊ॒र्ध्वस्त॑स्थौ॒ नेम॑व॒ ग्लाप॑यन्त।
म॒न्त्रय॑न्ते दि॒वो अ॒मुष्य॑ पृ॒ष्ठे वि॑श्व॒विदो॒ वाच॒मवि॑श्वविन्नाम्॥ १०॥

१. जीवन के निर्माण की भावना से आचार्यकुल में रहते हुए **'वसु, रुद्र व आदित्य'** ब्रह्मचारी तीन माताओं के रूप में स्मरण किये गये हैं। ऋचाओं के द्वारा विज्ञान का उपदेश देनेवाले आचार्य 'अग्नि' हैं, यजुर्मन्त्रों द्वारा 'कर्म' का उपदेश देनेवाले आचार्य 'वायु' हैं, साम-मन्त्रों द्वारा प्रभु से सम्बन्ध का प्रतिपादन करनेवाले आचार्य 'सूर्य' हैं। ये आचार्य ही यहाँ तीन पिता कहे गये हैं। इन सबको धारण करनेवाला वह प्रभु ही है। **तिस्त्रः मातॄः**=तीन माताओं को और **त्रीन् पितॄन्**=तीन पितरों को **बिभ्रत्**=धारण करता हुआ **एकः**=वह अद्वितीय प्रभु **ऊर्ध्वः तस्थौ**=सृष्टि की समाप्ति पर भी अपने चैतन्यरूप में स्थित होता है। ये प्रभु ही अगली सृष्टि के आरम्भ में पुनः वेदज्ञान प्राप्त कराते हैं। प्रभु अग्नि आदि ऋषियों को ज्ञान देते हैं। वे अगले शिष्यों को ज्ञान देते हैं। इसप्रकार गुरु-शिष्य परम्परा से चलनेवाला यह ज्ञान नष्ट नहीं होता। आचार्यों से ज्ञान प्राप्त करते हुए शिष्य **ईम्**=निश्चय से **न-अवग्लापयन्त**=ग्लानि को प्राप्त नहीं होते—ये कभी ऊबते नहीं। आचार्य इन्हें रमण कराते हुए बड़े प्रिय ढंग से ज्ञान प्राप्त कराते हैं **'वसोष्पते निरमय, मय्येवास्तु मयि श्रुतम्'**। २. वे आचार्य व शिष्य **अमुष्य दिवः पृष्ठे**=उस उत्कृष्ट ज्ञान के स्तर पर स्थित हुए-हुए **विश्वविदः**=विश्व का ज्ञान प्राप्त करानेवाले **वाचं मन्त्रयन्ते**=इस वेदवाणी का परस्पर विचार करते हैं। ये उस वेदवाणी का विचार करते हैं जो **अविश्वविन्नाम्**=सब व्यक्तियों से प्राप्त नहीं की जाती। सामान्य मनुष्य प्रकृति के भोगों के पीछे जाकर उस वेदवाणी को पढ़ने का यत्न नहीं करता। विरल व्यक्ति ही इसे अपनाते हैं।

भावार्थ—'वसु, रुद्र व आदित्य' ब्रह्मचारी जीवन का निर्माण करनेवाले होने से तीन माताओं के समान हैं। 'प्रकृति, जीव व परमात्मा' का ज्ञान देनेवाले 'अग्नि, वायु व आदित्य' आचार्य तीन पितर हैं। इन सबका धारण करनेवाला अद्वितीय प्रभु है। आचार्यकुल में आचार्य शिष्यों को यह वेदज्ञान देते हैं। इस वेदज्ञान की ओर सभी का झुकाव नहीं होता।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

भूगोल (The globe of our earth)

पञ्चारे चक्रे परिवर्तमाने यस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा।
तस्य नाक्षस्तप्यते भूरिभारः सनादेव न च्छिद्यते सनाभिः॥ ११॥

१. यह पृथिवीचक्र पाँच अरोंवाला है। इस भूमण्डल का पहला भाग भूमध्यरेखा के दोनों और २३×½ डिग्री तक 'उष्ण-कटिबन्ध' कहलाता है। २३×½डिग्री से ६६×½ डिग्री तक उत्तर तथा दक्षिण में दो 'समशीतोष्ण-कटिबन्ध' कहलाते हैं तथा ६६×½ डिग्री से ९० डिग्री तक दोनों ओर 'हिम-कटिबन्ध' हैं। इस **परिवर्त्तमाने**=अपनी कीली पर निरन्तर परिवृत्त होते हुए **पञ्चारे चक्रे**=पाँच अरोंवाले इस पृथिवीचक्र में **यस्मिन्**=जिसमें **विश्वा भुवनानि आतस्थुः**=सभी प्राणी स्थित हैं। **तस्य**=उस पृथिवीचक्र का **भूरिभारः**=पृथिवी के अनन्त-से बोझवाला **अक्षः**=अक्ष (axle) **न तप्यते**=सन्तप्त नहीं होता। 'कितना दृढ़ यह अक्ष है' यह सोचकर ही मनुष्य का सिर चकरा जाता है। यह चक्र **सनात्**=सदा से **सनाभिः**=समान नाभिवाला होता हुआ **एव**=भी **न छिद्यते**=छिन्न नहीं होता।

भावार्थ—यह भूमण्डल का चक्र अपनी कीली पर निरन्तर घूम रहा है। यह पाँच भागों में बटा हुआ है। अनन्त बोझ से लदा हुआ इस पृथिवी का अक्ष सन्तप्त नहीं होता। समान नाभिवाला होता हुआ भी यह चक्र कभी छिन्न नहीं होता। 'पृथिवी च दृढा' यह नितान्त सत्य ही है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

कालचक्र

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्।
अथेमे अन्य उपरे विचक्षणे सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम्॥ १२॥

१. ज्ञानी लोग कालचक्र को **पञ्चपादम्**=पाँच पावोंवाला **आहुः**=कहते हैं। '**उत्क्षेपण, अवक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन**'—ये पाँच कर्म ही इसकी गति के द्योतक हैं। क्रिया होती है और वह क्रिया की गति ही काल के रूप में नापी जाती है। **पितरम्**=काल को वे पिता कहते हैं। '**कालोऽमूं दिवमजनयत् काल इमाः पृथिवीरुत**' (अथर्व० १९.५३.५)। काल ही द्युलोक व पृथिवीलोकों को जन्म देता है, अतः यह उनका पिता है। **द्वादशाकृतिम्**=इसे बारह आकृतियोंवाला कहते हैं। बारह मास ही इसकी बारह आकृतियाँ हैं। इस काल को ही **दिवः परे अर्धे**=द्युलोक के उत्कृष्ट स्थान में **पुरीषिणम्**=जलवाला कहते हैं। कालविशेष में ही सूर्य की तीव्र किरणों से पृथिवीस्थ समुद्र वाष्पीभूत होकर अन्तरिक्षस्थ समुद्र के रूप में परिणत हो जाता है। यह मेघरूप जलपूर्ण कुम्भ काल में ही स्थित है—'पूर्णः कुम्भो अधि काल आहितः (अथर्व० १९.५३.३)। २. **अथ**=अब **इमे अन्ये**=ये अन्य विद्वान् इस रूप में भी कालचक्र का वर्णन करते हैं कि **विचक्षणे**=अपनी सहस्रों आँखों से देखनेवाले (**काले चक्षुर्विपश्यति**—अथर्व० १९.५३.६) सबकी आँखों को देखने की शक्ति देनेवाले **सप्तचक्रे**=सात चक्रोंवाले (दिन-रात का चक्र, सात वारों का चक्र, दो पक्षों का चक्र, मासचक्र, ऋतुचक्र, अयनचक्र, शतवर्षचक्र) **षट् अरे**=छह ऋतुरूप छह अरोंवाले **उपरे**=(उपरमन्ते अस्मिन् प्राणिनः) प्राणियों के उपराम (दीर्घ विश्राम) के स्थानभूत इस काल में **अर्पितम्**=यह सारा विश्व अर्पित है।

भावार्थ—कालचक्र का विचार करते हुए हम उसे व्यर्थ न गँवाने का निश्चय करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

द्वादशार-चक्र

द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य।
आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः॥ १३॥

१. यह कालचक्र **द्वादशारम्**=बारह अरोंवाला है। वैशाख आदि बारह मास ही इसके बारह अरे हैं। यह कालचक्र निरन्तर चलता है। **तत्**=वह **जराय नहि**=कभी जीर्ण नहीं होता। यह **चक्रम्**=चक्र तो **द्यां परि**=इस महान् अन्तरिक्ष में सर्वत्र **वर्वर्ति**=नित्य चलता ही चला जा रहा है। यह चक्र **ऋतस्य**=ऋत का—नियमित गति का है। हमें भी यह नियमित गतिवाला होने का उपदेश कर रहा है। २. हे **अग्ने**=निरन्तर आगे और आगे चलनेवाले कालचक्र! तेरे **सप्तशतानि विंशतिः च**=सात सौ बीस दिन-रातरूप **मिथुनासः**='दिवस-रजनी', 'वासर-वाशुरा', 'घस्र-निशा' नामक द्वन्द्वरूप **पुत्राः**=पुत्र **अत्र**=यहाँ—ब्रह्माण्ड के प्रत्येक पिण्ड में **आतस्थुः**=स्थित हैं। दिन कार्य करने के लिए है और रात्रि विश्राम के लिए। दिनभर काम करता हुआ और रात्रि में विश्राम लेता हुआ यह व्यक्ति पवित्र बना रहता है। यह पवित्रता उसे सुन्दर, दीर्घजीवनवाला बनाती है। एवं, ये दिन-रातरूप मिथुन 'पु-त्र' हैं (पुनन्ति-त्रायन्ते)।

भावार्थ—बारह मासरूप बारह अरोंवाला यह कालचक्र इस महान् अन्तरिक्ष में सर्वत्र गति कर रहा है। इस कालचक्र में सात सौ बीस दिन-रात हैं। ये हमें कार्य व विश्राम के चक्र में चलाते हुए पवित्र और सुरक्षित बनाये रखते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**जगती**॥

'रजः आवृतं' सूर्य चक्षु

सनेमि चक्रमजरं वि वावृत उत्तानायां दश युक्ता वहन्ति।
सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं यस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा॥ १४॥

१. यह पृथिवी भी एक चक्र की भाँति है और इस चक्र की 'नेमि' बदलती नहीं रहती। यह **सनेमि**=समान नेमिवाला है—इस पृथिवीचक्र की परिधि जीर्ण-शीर्ण नहीं होती। यह **चक्रम्**=समान नेमिवाला पृथिवीचक्र **अजरम्**=अजर है—कभी जीर्ण नहीं होता। यह **विवावृते**=विशेष तीव्र गति से सूर्य के चारों ओर बारम्बार घूम रहा है। प्रतिवर्ष यह अपना चक्राकार भ्रमण पूर्ण कर लेता है। २. इस **उत्तानायाम्**=न तो सम और न ही अवतल (Concave), अपितु उत्तान, (Convex) इस भूचक्र पर अवस्था व विकास के दृष्टिकोण से **दश**=दस स्थितियों में वर्त्तमान पुरुष **युक्ताः**=अपने-अपने व्यापार में लगे हुए **वहन्ति**=जीवन का वहन कर रहे हैं। आयुष्य की दश दशतियों में चलते हुए व्यक्ति ही यहाँ 'दश' कहे गये हैं। ३. **सूर्यस्य चक्षुः**=सूर्य का प्रकाश **रजसा**=अन्तरिक्षस्थ जलवाष्पों से आवृत्त हुआ-हुआ **एति**=हम तक पहुँचता है। इतने दीर्घ आवरणों को पार करने के कारण ही हमें सूर्यकिरणों की प्रचण्ड उष्णता अनुभव नहीं होती। यह सूर्यचक्षु वह है, **यस्मिन्**=जिस रजःआवृत्त सूर्यप्रकाश में ही **विश्वा भुवनानि**=सब प्राणी **आतस्थुः**=स्थित हैं। इस प्रकाश के अभाव में जीवन सम्भव नहीं।

भावार्थ—इस भूचक्र की परिधि कभी जीर्ण-शीर्ण नहीं होती। इस उत्तान भूचक्र में जीवन की दस दशतियों में वर्त्तमान मनुष्य अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त हुए-हुए चल रहे हैं। इस भूचक्र पर सूर्य का प्रकाश विशाल अन्तरिक्ष-समुद्र में से होकर हम तक पहुँचता है। इस सूर्यप्रकाश से ही सब जीवित हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पुत्रः=पितुः पिता

स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः।
कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात्स पितुष्पिताऽसत्॥ १५॥

१. इन्द्रियाँ विषयों से मेल (संघात) के कारण '**स्त्रियः**' कहाती हैं। (स्त्यै संघाते)। यास्क कहते हैं—'**स्त्रिय एवैताः शब्दस्पर्शरूपरसगन्धहारिण्यः**'—शब्दादि विषयों को हरण करने से ये स्त्रियाँ ही हैं। ये ही इन्द्रियाँ संयत होने पर ज्ञानोपार्जन का साधन बनकर रक्षा करनेवाली होती हैं, अतः 'पुमस्' (पा डुयसुन्) कहलाती हैं। एक संयमी पुरुष कहता है कि **स्त्रियः सतीः**=स्त्री होते हुए **तान् उ**=उन इन्द्रियों को ही **मे**=मेरे लिए **पुंसः आहुः**=पुमान् कहते हैं। इसप्रकार इन्द्रियों की इस द्विरूपता को **पश्यत्**=देखनेवाला व्यक्ति ही **अक्षण्वान्**=उत्तम आँखोंवाला है, परन्तु जो **न विचेतत्**=इस द्विरूपता को नहीं समझता वह **अन्धः**=अन्धा है। विषयों में ले-जाकर, क्षणिक आनन्द के भोगों में फँसाकर ये हमें समाप्त भी कर सकती हैं और संयत होकर उत्कृष्ट ज्ञान की प्राप्ति का साधन होती हुई ये हमारी रक्षा करनेवाली भी हो सकती हैं। २. **यः**=जो **ईम्**=अब **आचिकेत**=इन इन्द्रियों के स्वरूप को सर्वथा अनुशीलन करके इन्हें समझ लेता है, **सः**=वह **कविः**=ज्ञानी बनता है और **पुत्रः**=ज्ञान द्वारा अपना पवित्रीकरण करके अपना रक्षण करनेवाला होता है। **यः**=जो **ताः**='स्त्रियः' शब्द से कही गई इन इन्द्रियों को **विजानात्**=अच्छी प्रकार समझ लेता है, **सः**=वह **पितुः पिता असत्**=पिता का भी पिता होता है, अर्थात् महान् रक्षक होता है। वह इन्द्रियों को विषयों में फँसने से रोककर उन्हें ज्ञान-प्राप्ति का साधन बनाता हुआ अपने जीवन को पवित्र करनेवाला होता है।

भावार्थ—इन्द्रियाँ विषयासक्त करके हमारे संघात (विनाश) का भी कारण बनती हैं और ज्ञान-प्राप्ति का साधन होती हुई ये इन्द्रियाँ हमें पवित्र बनाती हैं। इनके स्वरूप को समझकर हम इनका ठीक प्रयोग करते हुए ज्ञान द्वारा अपना रक्षण करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

धामशः, न कि रूपशः

साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजा इति।
तेषामिष्टानि विहितानि धामश स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः॥ १६॥

१. जब जीव शरीर ग्रहण करता है तब पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन आत्मा के साथ ही शरीर में प्रवेश करते हैं (सह उत्पन्नानां षड् इन्द्रियाणाम्—यास्क)। ये **साकंजानाम्**=साथ ही होनेवाली इन इन्द्रियों के **सप्तथम्**=सातवें बुद्धितत्त्व को भी **एक-जम्**=उस मुख्य आत्मतत्त्व के साथ रहनेवाली **आहुः**=कहते हैं। आत्मा शरीर-रथ का रथी है तो बुद्धि सारथि है। यह सारथि मनरूप लगाम के द्वारा इन्द्रियरूप घोड़ों को वश में रखता है। ये **षट्**=मन व इन्द्रियाँ बुद्धिरूप सारथि से नियन्त्रित होने पर **यमाः इत्**=निश्चय से यम (नियन्त्रित) कहलाती हैं। उस समय ये **ऋषयः**=तत्त्वदर्शन करनेवाली होती हैं और **देवजाः**=दिव्य गुणों को जन्म देनेवाली होती हैं। ये हमें ज्ञान व दिव्य सम्पत्ति से भर देती हैं। **इति**=बस, नियन्त्रित हुई-हुई ये ज्ञान व दिव्य गुणों को देनेवाली-सी बनती हैं। २. प्रभु ने **तेषाम्**=उन मन, इन्द्रियों व बुद्धि का **धामशः**=शक्ति के दृष्टिकोण से **इष्टानि विहितानि**=वाञ्छनीय पदार्थों का निर्माण किया है। हमें इन सांसारिक पदार्थों का प्रयोग इनकी शक्ति के दृष्टिकोण से ही करना चाहिए, **रूपशः**=सौन्दर्य व स्वादादि के मापक से इन पदार्थों का प्रयोग होने पर **विकृतानि**=विकृत हुई-हुई ये इन्द्रियाँ **स्थात्रे**

रेजन्ते=इस शरीररूप रथ पर रहनेवाले अधिष्ठाता जीव को कम्पित (विचलित) करनेवाली हो जाती हैं, अतः हमें इन पदार्थों का प्रयोग शक्ति के दृष्टिकोण से ही करना चाहिए, न कि सौन्दर्य व स्वाद के लिए।

भावार्थ—शरीर में आत्मा के साथ प्रवेश करनेवाली इन्द्रियाँ, मन व बुद्धि हैं। बुद्धि से नियन्त्रित इन्द्रियाँ व मन हमें ज्ञान व दिव्य गुणों से भर देते हैं। यदि हम प्राकृतिक पदार्थों का प्रयोग इनकी शक्ति को बढ़ाने के दृष्टिकोण से करते हैं तो ठीक है, परन्तु स्वाद व सौन्दर्य की ओर उन्मुख हुई तो ये विकृत होकर जीव को कम्पित (विचलित) करनेवाली होती हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वेदवाणी के चार लाभ

अवः परेण पर एनाऽवरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात्।
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात्क्व स्वित्सूते नहि यूथे अस्मिन्॥ १७॥

१. **गौः**=यह वेदवाणी **पदा**=अपने अर्थगमक पाँवों से **वत्सम्**=(वदति) उच्चारण करनेवाले प्रिय जीव को **बिभ्रती**=धारण करती हुई **उदस्थात्**=जीव को उन्नत स्थान में स्थित करती है (अन्तर्भावितण्यर्थोऽत्र तिष्ठति)। यह वेदवाणी **अवः**=इस निचले क्षेत्र में **परेण**=पर के द्वारा और **परः**=पर क्षेत्र में **एना अवरेण**=इस अवर के द्वारा—हमारा धारण करती है। 'पर' पराविद्या, 'अवर' अपराविद्या। अपराविद्या हमारे लिए सांसारिक पदार्थों को प्राप्त करती है, परन्तु यदि यह पराविद्या से युक्त न हो तो मनुष्य इन पदार्थों का स्वादादि के लिए प्रयोग करता हुआ नष्ट हो जाता है। वह असुर-सा बन जाता है। इसी प्रकार पराविद्या के क्षेत्र में चलते हुए व्यक्ति के लिए यह अपराविद्या प्रकृति के अन्दर सौन्दर्य व व्यवस्था के अद्भुत चमत्कारों को दिखाती हुई साधक को प्रभु की महिमा को देखने योग्य बनाती है। एवं ये अवर पद उसे प्रभुभक्त बनाते हुए पर क्षेत्र में धारण करते हैं। २. **सा**=वह वेदवाणी **कद्रीची**=(कौ अञ्चति) पृथिवी पर गति करती हुई **कं स्वित्**=कितने महान् **अर्धम्**=ऋद्ध स्थान को—सर्वोच्च स्थान को **परागात्**=सुदूर प्राप्त होती है। इस वेदवाणी के अवर पद इस पृथिवी पर प्राकृतिक देवों का बोध देते हैं तो पर पद उस प्रणेता (निर्माता) प्रभु का प्रतिपादन करते हैं। एवं यह वेदवाणी हमें प्रकृति-विज्ञान में निष्णात करती हुई ब्रह्म का दर्शन कराती है। यह ब्रह्मद्रष्टा मुक्त हो जाता है, अतः यह वेदवाणी **क्व स्वित् सूते**=भला, फिर यह जन्म कहाँ देती है?, अर्थात् उस तत्त्वद्रष्टा को सुदीर्घकाल के लिए मुक्त कर देती है। यदि यह वेदाध्येता एक जन्म में मुक्त न भी हो सके तो भी निश्चय से वह **यूथे अस्मिन् नहि**=इस सामान्य लोकसमूह में तो उसे जन्म नहीं देगी। यह 'शुचीनां श्रीमताम्' अथवा 'योगिनामेव', शुचि, श्रीमान् व योगियों के घरों में जन्म लेनेवाला होता है।

भावार्थ—वेदवाणी हमें १. ज्ञानद्वारा उच्च स्थान पर पहुँचाती है। २. यह प्रकृति विद्या से जाने गये पदार्थों से हमें शक्तिसम्पन्न बनाती हुई आत्मविद्या द्वारा मोक्ष प्राप्त कराती है। ३. देवों का ज्ञान देती हुई महादेव की महिमा का दर्शन कराती है। मोक्ष को प्राप्त करने योग्य न होने पर भी यह हमें उत्कृष्ट कुलों में जन्म देती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

देवं मनः

अवः परेण पितरं यो अस्य वेदावः परेण पर एनावरेण।

कवीयमानः क इह प्र वोचद्देवं मनः कुतो अधि प्रजातम्॥ १८॥

१. **अवः**=(अवस्तात्) प्रकृतिविद्या के क्षेत्र में **परेण**=पराविद्या के प्रतिपादक वाक्यों से **यः**=जो **अस्य**=इस ब्रह्माण्ड के **पितरम्**=पालक को **वेद**=जानता है और **अवः परेण**=जैसे प्रकृतिविद्या के क्षेत्र में **परेण**=पराविद्या के प्रतिपादक वाक्यों से, इसी प्रकार **परः**=पराविद्या के क्षेत्र में **एना अवरेण**=इस अपरा विद्या के प्रतिपादक वाक्यों से वह प्रभु को जानता है। विद्या और अविद्या (अपराविद्या) को मिला देने से ही मनुष्य प्रकृति द्वारा अपना पालन करता हुआ प्रभु को पानेवाला बनता है। २. **कवीयमानः**=एक क्रान्तदर्शी तत्त्वद्रष्टा की भाँति आचरण करता हुआ यह **कः**=आनन्दमय जीवनवाला व्यक्ति **इह**=यहाँ **प्रवोचत्**=इस ज्ञान का प्रवचन करता है। इस तत्त्वद्रष्टा के जीवन में **कु-तः अधि**=(कु पृथिवी) पृथिवी से ऊपर उठकर **देवं मनः**=दैवी वृत्तिवाला मन **प्रजातम्**=प्रादुर्भुत हुआ है। 'देवो दानात्' यह प्रजाओं के लिए ज्ञान देने में आनन्द का अनुभव करता है।

भावार्थ—अपराविद्या व पराविद्या को मिलाकर जो ब्रह्माण्ड के पिता प्रभु को जानने का प्रयत्न करता है वह क्रान्तदर्शी, आनन्दमय स्वभाववाला व्यक्ति औरों के लिए इस तत्त्वज्ञान को देता हुआ आनन्द का अनुभव करता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

इन्द्र+सोम

ये अर्वाञ्चस्ताँ उ परांच आहुर्ये पराञ्चस्ताँ उ अर्वाच आहुः।
इन्द्रश्च या चक्रथुः सोम तानि धुरा न युक्ता रजसो वहन्ति॥ १९॥

१. **ये**=जो **अर्वाञ्चः**=अपराविद्या के प्रतिपादक वाक्य हैं, **तान् उ**=उन्हें ही **पराचः आहुः**=पराविद्या के प्रतिपादक वाक्य कहते हैं। अपराविद्या के वाक्यों को समझने पर एक-एक प्राकृतिक पदार्थ में प्रभु की महिमा दीखने लगती है। इसप्रकार ये हमें पराविद्या की ओर ले-जाते हैं। ये **पराञ्चः**=जो पराविद्या के प्रतिपादक वाक्य हैं, **तान् उ**=उन्हें ही **अर्वाचः आहुः**=अपराविद्या के प्रतिपादक कहते हैं। कर्ता को समझते हुए हम कर्ता की रचना को भी समझने लगते हैं। २. **न**=जैसे एक रथ के दो पहिए **धुरा**=अक्ष से **युक्ता**=जुड़े हुए रथ की अग्रगति के साधक होते हैं, उसी प्रकार ये अपरा और परा-विद्याएँ परस्पर जुड़ी हुई मनुष्य को **रजसः वहन्ति**=रजोगुण से ऊपर उठा देती है। केवल अपराविद्या मनुष्य को विलासी बना देती है और केवल पराविद्या उसे अकर्मण्य-सा कर देती हैं। इनका मेल उसे क्रियाशील व अनासक्त बनाकर सत्त्वगुण में अवस्थित करनेवाला होता है। २. ये अपरा व पराविद्या के प्रतिपादक वेदवाक्य **तानि**=वे हैं **या**=जिन्हें **इन्द्रः च**=जितेन्द्रिय पुरुष और **सोम**=हे सौम्यस्वभाव सम्पन्न पुरुष! **चक्रथुः**=तुम दोनों साक्षात् किया करते हो। आदर्श विद्यार्थी 'इन्द्र' है, आदर्श आचार्य सोम है। ये आचार्य व विद्यार्थी दक्षिण व उत्तर अरणि हैं, इनके मिलने से ही ज्ञानाग्नि का प्रादुर्भाव होता है।

भावार्थ—हम अपने जीवन में अपरा व पराविद्या का समन्वय करते हुए रजोगुण से ऊपर उठकर सत्त्वगुण में अवस्थित हों। सौम्यता व जितेन्द्रियता का मेल हमारे जीवन में ज्ञानाग्नि का प्रादुर्भाव करे।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

द्वा सुपर्णा

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परि षस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति॥ २०॥

१. **द्वा सुपर्णा**=जीवात्मा व परमात्मा दो सुपर्ण हैं—उत्तमता से पालन व पूरण करनेवाले

हैं। परमात्मा का पालनात्मक कर्म सर्वत्र प्रत्यक्ष है। जीव भी सद्गृहस्थ बनकर एक परिवार का पालन करता है। ये दोनों **सयुजा**=एक साथ मिलकर हृदयान्तरिक्ष में रहनेवाले हैं, **सखाया**=सखा हैं—दोनों का इकट्ठा ही दर्शन होता है। ये दोनों **समानं वृक्षम्**=एक ही संसाररूप वृक्ष का **परिषस्वजाते**=आलिंगन करते हैं, दोनों इस संसार में रहते हैं। २. **तयोः अन्यः**=उन दोनों सुपर्णों में से एक जीव **पिप्पलम्**=संसार-वृक्ष के फल को **स्वादु अत्ति**=मज़ा लेकर खाता है। **अन्यः**=दूसरा प्रभु **अ श्नन्**=फलों का किसी प्रकार से भोग न करता हुआ **अभिचाकशीति**=चारों ओर, इन फलों को खाते हुए जीवों को देखता है। जीव शरीर रक्षण के लिए खाता है तो ठीक है, स्वाद के लिए खाने लगता है, तो प्रभु से दण्डनीय होता है।

भावार्थ—जीवात्मा व परमात्मा 'सुपर्ण' हैं, 'सयुज्' हैं, 'सखा' हैं। एक ही प्रकृतिवृक्ष पर रहते हैं। जीव स्वाद से इस प्रकृतिवृक्ष के फलों को खाता है, परन्तु प्रभु उसे केवल देखते हैं और आवश्यक होने पर दण्डित करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रभु का ज्ञान व मोक्ष-प्राप्ति

यस्मिन्वृक्षे मध्वदः सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधि विश्वे।
तस्य यदाहुः पिप्पलं स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्यः पितरं न वेद॥ २१॥

१. **यस्मिन् वृक्षे**=विकृतिरूप जिस संसार-वृक्ष पर **मध्वदः सुपर्णाः**=(मधुः अदः) बड़े स्वाद से इस वृक्ष के फलों को भोगनेवाले व बड़े प्रयत्न से (सु) अपने पालन के लिए विविध भोगों को अपने भण्डार में पूरित करनेवाले जीव **निविशन्ते**=(निविश् to be attached to) अनुरक्ति व आसक्तिवाले हो जाते हैं **च**=और इस आसक्ति के कारण **विश्वे**=इसमें प्रविष्ट हुए-हुए, अर्थात् उलझे हुए-हुए ये जीव **अधि सुवते**=खूब अधिकता से इन विषयरूप फलों का लाभ करते हैं (विषयान् लभन्ते—सा०)। २. **तस्य**=उस संसार-वृक्ष का **यत्**=जो **अग्रे स्वादुः**=स्वादिष्टों में अग्रगण्य **पिप्पलम्**=(मोक्षरूप) फल है, **तत्**=उस मोक्षरूप फल को **न उत् नशत्**=नहीं प्राप्त होता, **यः**=जोकि **पितरं न वेद**=इस वृक्ष पर ही रहनेवाले सब जीवों के रक्षक पिता को नहीं जानता।

भावार्थ—प्रभु को जाननेवाला ही प्रभु की महिमा को समझकर उस परमानन्द की प्राप्ति की तुलना में इन भोगों की तुच्छता को समझता है तो इन भोगों के प्रति निर्विण्ण हो जाता है। प्रभु को जाने बिना मोक्ष-सुख सम्भव नहीं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ज्ञान परिपक्वता व प्रभु-प्राप्ति

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भक्षमनिमेषं विदथाऽभिस्वरन्ति।
एना विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश॥ २२॥

१. **यत्र**=जब **सुपर्णाः**=(सुपतनानि इन्द्रियाणि वा) उत्तम गतिवाली इन्द्रियाँ **अनिमेषम्**=बिना पलक झपकाए, अर्थात् निरन्तर दिन-रात **विदथा**=ज्ञान-प्राप्ति के दृष्टिकोण से **अमृतस्य भक्षम्**=(अथ यद् ब्रह्म तदमृतम्—तै०उ० १.२५.१०) ज्ञान के भोजन का **अभिस्वरन्ति**=लक्ष्य करके इन ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करती हैं, तब **एना**=इस ज्ञान की वाणी के उच्चारण से, अर्थात् जीवन को ज्ञानप्रधान बना देने से **सः**=वह **विश्वस्य भुवनस्य गोपाः**=सारे ब्रह्माण्ड का रक्षक **धीरः**=(धियं ईरयति) बुद्धि की प्रेरणादेनेवाला प्रभु **अत्र**=यहाँ—इस जीवन में **पाकः**=(परिपक्वमनस्कम्—सा०) ज्ञान से परिपक्व मनवाले **मा**=मुझे **आविवेश**=प्राप्त होता है।

भावार्थ—हम दिन-रात ज्ञान की वाणियों के अपनाने का प्रयत्न करें। इसप्रकार ज्ञान से परिपक्व मनवाले बनकर हम प्रभु को प्राप्त होनेवाले होंगे।

१०. [दशमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**जगती**॥

तीन बातों को समझना

यद्गा॑य॒त्रे अधि॑ गाय॒त्रमाहि॑तं त्रैष्टु॑भं वा॒ त्रैष्टु॑भान्नि॒रत॑क्षत।
यद्वा॒ जग॒ज्जग॒त्याहि॑तं प॒दं य इत्तद्वि॒दुस्ते अ॑मृत॒त्वमा॑नशुः॥ १॥

१. पहली बात यह है **यत्**=कि **गायत्रे**=यज्ञ में (गायत्रो वै यज्ञः—गो०पू० ४.२४) **गायत्रम्**=पुरुष (गायत्रो वै पुरुषः—ए० ४.३) **अधि आहितम्**=अधीन करके रक्खा गया है। पुरुष का जीवन यज्ञ पर आश्रित है। यज्ञ के अभाव में पुरुष नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगा। **'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः'**—यह यज्ञ ही भुवन का केन्द्र है। २. **वा**=और **त्रैष्टुभात्**=त्रिवेद-विद्या के स्तवन के द्वारा—अपने में 'ज्ञान, कर्म व उपासना'—इन तीनों को स्थिर करने के द्वारा **त्रैष्टुभं निरतक्षत**=अपने जीवन को तीनों सुखों से सम्बद्ध किया करते हैं। ज्ञानपूर्वक कर्मों को करने के द्वारा प्रभु के उपासन से आध्यात्मिक, आधिभौतिक व आधिदैविक'—इन तीनों तापों से निवृत्त होकर (त्रि+ष्टुभ्) मानव जीवन तीन सुखों से सम्बद्ध होता है। (त्रैष्टुभः त्रिभिः सुखैः सम्बद्धः—द०, त्रिवेदविद्यास्तवनेन—द०)। ३. तीसरी बात यह है **यत्**=कि **वै**=निश्चय से **जगत्**=सर्वत्र गतिवाला **पदम्**=मुनियों से जाए, जाने योग्य वह प्रभु **जगति आहितम्**=सारे ब्रह्माण्ड में—कण-कण में आहित हैं। **ये**=जो **इत्**=निश्चय से **तत् विदुः**=उस कण-कण में वर्त्तमान प्रभु को जानते हैं, **ते**=वे **अमृतत्वम् आनशुः**=मोक्ष को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—मोक्ष को वे ही प्राप्त करते हैं जोकि यह समझ लेते हैं कि १. यज्ञ में ही पुरुष का जीवन निहित है, २. ज्ञान, कर्म व उपासना का समन्वय ही त्रिविध दुःखों को रोकता है तथा ३. वे गतिशील मुनियों से गम्य प्रभु ब्रह्माण्ड के कण-कण में विद्यमान हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

गायत्र-अर्क-साम (त्रैष्टुभ)-वाक्

गा॒य॒त्रेण॒ प्रति॑ मिमीते अ॒र्कम॒र्केण॒ साम॒ त्रैष्टु॑भेन वा॒कम्।
वा॒केन॑ वा॒कं द्वि॒पदा॒ चतु॑ष्पदाऽक्षरे॑ण मिमते स॒प्त वाणीः॥ २॥

१. **गायत्रेण**=यज्ञ के द्वारा **अर्कम्**=उपासना को—पूजा को **प्रतिमिमीते**=सम्यक्तया सिद्ध करता है, अर्थात् प्रभु का वास्तविक उपासन यज्ञों के द्वारा ही निष्पन्न होता है **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'**—देव यज्ञरूप विष्णु की यज्ञों के द्वारा ही उपासना करते हैं। **अर्केण**=इस अर्चना से ही **साम**=सच्ची शान्ति प्राप्त होती है। उपासना से ही त्रिविध तापों का निरोध होकर जीवन शान्त बनता है। **त्रैष्टुभेन वाकम्**=त्रिविध तापों के समाप्त होने पर ज्ञान (वेदवाणी) की प्राप्ति होती है। सब प्रकार से शान्त वातावरण में ही ज्ञान का विकास होता है। २. **वाकेन वाकम्**=अब एक ज्ञान से दूसरा ज्ञान **द्विपदा चतुष्पदा**=दिन दुगना और रात चौगुना (by leaps and bounds) बढ़ने लगता है, अर्थात् हम ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग पर पूर्ण तीव्रता से बढ़ चलते हैं। प्रारम्भिक साधना ही समय की अपेक्षा करती है, फिर ज्ञान की वृद्धि होने लगती है और यह साधक **अक्षरेण**=अविनाशी, हृदयस्थ प्रभु के द्वारा **सप्त वाणीः प्रतिमिमते**=सप्त छन्दोमयी इस वेदवाणी को मापने लगते हैं। हृदयस्थ प्रभु ही इन्हें वेद का साक्षात्कार कराने लगते हैं।

भावार्थ—हम यज्ञों के द्वारा प्रभु का उपासन करें। इस उपासन से हमारा जीवन दुःखत्रय निवृत्ति द्वारा शान्त बनेगा। शान्त जीवन में ज्ञानवृद्धि होगी और उत्तरोत्तर ज्ञान-वृद्धि होती हुई, हमें हृदयस्थ प्रभु से ज्ञान-सन्देश के सुनने के योग्य बनाएगी।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

रथन्तरे सूर्यम्

जगता सिन्धुं दिव्य१स्कभायद्रथन्तरे सूर्यं पर्यपश्यत्।
गायत्रस्य समिधस्तिस्त्र आहुस्ततो मह्ना प्र रिरिचे महित्वा॥ ३॥

१. **जगता**=उस सर्वगत, सर्वभूतान्तरात्मा (सर्वं वा इदमात्मा जगत्) प्रभु के द्वारा उपासक **सिन्धुम्**=अपने ज्ञान-समुद्र को (वाग्वै समुद्रः—तां० ६।४।७) **दिवि अस्कभायत्**=द्युलोक में, अर्थात् सर्वोच्च शिखर पर थामता है। इस ज्ञान को प्राप्त करने पर **रथन्तरे**=इस पृथिवी पर ही (इयं पृथिवी वै रथन्तरम्—कौ० ३।५), **सूर्यम्**=स्वर्ग को (एष आदित्यः स्वर्गो लोकः—तै० ३।८।१०।३) **परि अपश्यत्**=चारों ओर देखता है। ज्ञान निष्कामता को जन्म देता है, निष्कामता स्वर्ग को। ज्ञानवृद्धि से द्वेषशून्य होकर हम इस पृथिवी पर स्वर्ग को अवतीर्ण करनेवाले बनेंगे। २. 'गायत्र से उपासना, उपासना से शान्ति, शान्ति से ज्ञान' इस ज्ञानचक्र में ज्ञान-सिन्धु का आदिस्रोत गायत्र ही है। इस **गायत्रस्य**=यज्ञ की **समिधः**=समिन्धन—दीप्त करनेवाली वस्तुएँ **तिस्त्रः आहुः**=तीन कही गई हैं। 'माता, पिता, आचार्य, अतिथि व परमात्मा'—इन पाँच देवों का पूजन पहली समिधा है। इनके साथ मेल (संगतिकरण) दूसरी तथा इनके प्रति अर्पण तीसरी समिधा है। इस ज्ञानयज्ञ की अग्नि में शिष्य से डाली जानेवाली ये तीन समिधाएँ हैं। आचार्य से डाली जानेवाली समिधाओं का नाम 'पृथिवीस्थ पदार्थों का ज्ञान, अन्तरिक्षस्थ पदार्थों का ज्ञान तथा द्युलोकस्थ पदार्थों का ज्ञान' है। **ततः**=उस ज्ञान-प्राप्ति से ही मनुष्य **मह्ना**=बल के दृष्टिकोण से और **महित्वा**=महिमा के दृष्टिकोण से **प्ररिरिचे**=सभी को लाँघ जाता है। यही मनुष्य की महिमा है कि वह ज्ञान के द्वारा इस मर्त्यलोक को ही स्वर्गलोक बना दे।

भावार्थ—मनुष्य प्रभु की उपासना द्वारा सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञान के द्वारा इस भू-मण्डल को वह स्वर्ग बना देता है। इस ज्ञान-यज्ञ में 'पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक'-स्थ पदार्थों के ज्ञान की आहुति देता हुआ वह बल व महिमा के दृष्टिकोण से सभी को लाँघ जाता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सुदुघा धेनु

उप ह्वये सुदुघां धेनुमेतां सुहस्तो गोधुगुत दोहदेनाम्।
श्रेष्ठं सवं सविता साविषन्नोऽभी१द्धो घर्मस्तदु षु प्र वोचत्॥ ४॥
हिङ्कृण्वती वसुपत्नी वसूनां वत्समिच्छन्ती मनसाऽभ्यागात्।
दुहामश्विभ्यां पयो अघ्न्येयं सा वर्धतां महते सौभगाय॥ ५॥

व्याख्या देखें—अथर्व० ७।७३।७-८ वहाँ 'अभ्यागात्' के स्थान पर 'न्यागन्' पाठ है। अर्थ समान ही है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गौः, अमीमेत्

गौरमीमेदभि वत्सं मिषन्तं मूर्धानं हिङ्ङकृणोन्मातवा उ।
सृक्वाणं घर्ममभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः॥ ६॥

१. **गौः**=यह वेदवाणीरूप गौ **मिषन्तम्**=(मिष् to look at) ध्यान से देखते हुए **वत्सम् अभि**=उच्चारण करनेवाले के प्रति **अमीमेत्**=शब्द करती है—बोलती है। यदि हम इस वेदवाणी को ध्यान से देखेंगे और इसे पढ़ेंगे तो यह हमारे प्रति बोलेगी, अर्थात् यह हमें अवश्य समझ में आएगी। यह वेदमाता ध्यान से पढ़नेवाले के **मूर्धानम्**=मस्तिष्क को **हिंकृणोत्**=ज्ञान की किरणों से जगमग कर देती है (रश्मयो वै हिंकारः)। इसलिए इसके मस्तिष्क को ज्ञानपूर्ण करती है कि **मातवा उ**=यह उत्तम ज्ञानी बनकर निर्माण का कार्य कर सके। २. **सृक्वाणम्**=(सृज उत्पन्न करना) उत्पादक **घर्मम्**=तेज को **अभिवावशाना**=पाठक के लिए चाहती हुई, यह वेदवाणी अपने पाठक को **मायुम्**=(माया=ज्ञान) ज्ञानवाला **मिमाति**=बनाती है। एवं, वेदज्ञ विद्वान् ध्वंस के साधनों को नहीं अपितु निर्माण के लिए उपयोगी वस्तुओं को ही आविष्कृत करता है। इसप्रकार यह वेदवाणी **पयोभिः**=अपने ज्ञानरूपी दुग्ध से **पयते**=अपने पाठक को आप्यायित करती है। यदि व्यक्ति इस वेदवाणी का ध्यान से पाठ करता है, तो यह उसका प्रतिफल ज्ञानरूप दूध से देती है।

भावार्थ—यदि हम वेदवाणी को ध्यान से पढ़ेंगे तो यह अवश्य समझ में आएगी। समझ में आने पर यह हमें निर्माण में प्रवृत्त करेगी। इस प्रवृत्ति के साथ हममें उत्पादन की शक्ति भी होगी और हम उत्पादन-शक्ति से इस संसार को अवश्य सुन्दर बना पाएँगे।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**जगती**॥

वेदज्ञान का क्रम

अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसनावधि श्रिता।
सा चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यान्विद्युद्भवन्ती प्रति वव्रिमौहत॥ ७॥

१. **येन**=जिसने **गौः अभिवृता**=चारों ओर से अपना ध्यान हटाकर वेदवाणी को वरा है, अर्थात् उसी में अपने मन को केन्द्रित किया है, **अयं सः**=यह वेदाध्येता **शिंक्ते**=अव्यक्त ध्वनि करता है। यद्यपि उसे वेदार्थ अभी व्यक्त नहीं, तो भी श्रद्धापूर्वक, ध्यान से उसका पाठ करता है, तो **ध्वसनौ**=अज्ञान के ध्वंस में **अधिश्रिता**=लगी हुई यह वेदवाणी उस पुरुष को **मायुं मिमाति**=ज्ञानवाला बनाती है। २. **सा**=वह वेदवाणी **चित्तिभिः**=कर्त्तव्याकर्त्तव्यों के ज्ञान द्वारा **हि**=निश्चय से **मर्त्यम्**=मनुष्य को **निचकार**=ऊँचा उठाती है, (निकार lift up) और **विद्युत् भवन्ती**=विशेषरूप से द्योतमान होती हुई **वव्रिम्**=अपने रूप को **प्रति औहत**=प्रकट करती है।

भावार्थ—वेद को समझने के लिए १. मनुष्य अन्यत्र श्रम न करके श्रद्धापूर्वक वेदाध्ययन में ही लगे। अर्थ समझ में न भी आये तो भी उसका पाठ करे। २. धीरे-धीरे यह वेदवाणी उसके अज्ञान को नष्ट करती हुई उसे ज्ञानी बनाएगी। ३. कर्त्तव्याकर्त्तव्य के ज्ञान के द्वारा उसके आचरण व व्यवहार के स्तर को ऊँचा करेगी और ४. अन्त में यह वेदवाणी उसके सामने स्पष्ट हो जाएगी। वह इसका ऋषि—द्रष्टा बनेगा।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

जीव 'शरीर में व शरीर के बाहर'

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्या॑नाम्।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः॥ ८॥

१. यह जीव **पस्त्यानां मध्ये**=इन शरीररूप गृहों के बीच में **अनत्**=श्वासोच्छ्वास की क्रिया को चलाता हुआ **आशये**=निवास करता है। प्राणों का कार्य तभी तक चलता है, जब तक इस शरीर में जीव का निवास है। **तुरगातु**=यह तूर्णगमन है—बड़ी तीव्रता से सब व्यापारों को

करनेवाला है। एक ही सैकिण्ड में कितनी ही आकृतियों को देख जाता है। **जीवम्**=इसी के कारण शरीर जीवनवाला कहाता है। यह गया और देह निर्जीव हुई। **एजत्**=यही सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों को गतिवाला करता है। इस प्राकृतिक अतएव जड़ शरीर में स्वयं गति नहीं। **ध्रुवम्**=यह आत्मा ध्रुव है। यह ध्रुव आत्मा ही इस पिण्ड को गतिमय बनाता है। २. **मृतस्य**=इस मृत—त्यक्त-प्राण शरीर का **जीव:**=जिलानेवाला आत्मा **स्वधाभि:**=अपनी धारक शक्तियों के द्वारा **चरति**=ब्रह्म के साथ इस वायु में विचरता है (अयं वै यमः योऽयं पवते)—यमलोक, अर्थात् वायुलोक में जाता है। यह **अमर्त्यः**=अमरणधर्मा होता हुआ भी **मर्त्येन सयोनिः**=इस मर्त्य शरीर के साथ समान योनिवाला होता है। सामान्य भाषा में इसे 'पैदा होता हुआ और मरता हुआ' कह देते हैं।

भावार्थ—इस शरीर के साथ होता हुआ यह जीव प्राण धारण करता हुआ, विविध अङ्ग-प्रत्यङ्गों को गति देता हुआ शीघ्रता से कार्य करता है। मृत शरीर को छोड़कर यह अपनी धारण-शक्तियों के साथ यमलोक (वायुलोक) में विचरता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

जीवन का प्रारम्भ, मध्य व अन्त

विधुं दद्राणं सलिलस्य पृष्ठे युवानं सन्तं पलितो जगार।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाऽद्या ममार स ह्यः समान॥ ९॥

१. जिस दिन जीव शरीर धारण किये हुए मातृगर्भ से बाहर आता है, उस दिन वह **विधुम्**=चन्द्रमा-सा प्रतीत होता है। **सलिलस्य पृष्ठे**=जल के समान प्रवाहमय इस संसार के पृष्ठ पर चन्द्रमा के समान उदित हुए-हुए, कुछ देर बाद **दद्राणम्**=टेढ़ी-मेढ़ी गति करते हुए, धीमे-धीमे **युवानं सन्तम्**=युवा होते हुए इस पुरुष को **पलितः जगार**=पालित्य—बालों की सफेदी निगल लेती है। हे जीव! **देवस्य**=उस सारे संसार-व्यवहार को चलानेवाले प्रभु के **काव्यम्**=काव्य को—कविकर्म को—ज्ञानयुक्त इस कर्म को **महित्वा**=महिमा के दृष्टिकोण से **पश्य**=देख कि **अद्या ममार**=आज वह मर गया है, **सः**=वह जोकि **ह्यः समान**=कल ही सम्यक् प्राणधारण किये हुए था। यह जीवन व मृत्यु भी उस अचिन्त्य प्रभु का एक रहस्यम काव्य ही है।

भावार्थ—जीव 'चन्द्र' के समान आता है, टेढ़े-मेढ़े पग रखने लगता है, युवा होता है और अब धीरे-धीरे उसे बालों की सफेदी निगलने लगती है। एक दिन क्या देखते हैं कि वह चला गया जोकि कल ही सम्यक् प्राणित था और सब व्यवहार कर रहा था।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

रहस्यमय जन्म-मरणचक्र

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिरा विवेश॥ १०॥

१. **यः**=जो पिता **ईम्**=निश्चय से **चकार**=अपने वीर्यदान से इसके शरीर को बनाता है, **सः**=वह पिता भी **अस्य न वेद**=इसके सम्बन्ध में कुछ नहीं जानता। 'यह कहाँ था, हमारा इससे क्या सम्बन्ध था' इस विषय में पिता को कुछ भी पता नहीं। **यः**=जो माता व पिता **ईम्**=अब **ददर्श**=इसे देख रहे हैं, **तस्मात् इत् न हिरुक्**=उनसे वह अन्तर्हित ही है। २. **सः**=वह **मातुः योनौ अन्तः**=माता की योनि के अन्दर **परिवीतः**=उल्व व जरायु से परिवेष्टित हुआ-हुआ—मानो एकदम एकान्त में छिपा हुआ यही सोच रहा होता है कि **बहुप्रजाः**=(बहुजन्मभाक्—सा०) अरे! मैं तो कितने ही जन्मों का भागी बना हूँ। **निर्ऋतिः**=दुर्गति का पुतला बना हुआ

में यहाँ **आविवेश**=प्रविष्ट हुआ हूँ। न जाने कब इससे मेरा छुटकारा हो पाएगा। '**अहो दुःखोदधौ मग्ना न पश्यामि प्रतिक्रियाम्। यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्प्रपद्ये महेश्वरम्॥**' दुःख-समुद्र में डूबे हुए मुझे कुछ सूझता ही नहीं। अब यदि इस योनि से मुक्त होकर संसार में आऊँगा तो प्रभु का उपासन करूँगा और इस जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होने के लिए यत्नशील होऊँगा।

भावार्थ—जन्म-मरण का चक्र रहस्यमय है। गर्भस्थ बालक अपने पिछले जन्मों व कष्टों का स्मरण करता हुआ निश्चय करता है कि इस बार जन्म लेने पर वह प्रभु-स्मरण में प्रवृत्त होगा और इस चक्र से मुक्त होने का प्रयत्न करेगा।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

लोकहित के लिए शरीर-धारण

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः॥ ११॥

१. **गोपाम्**=इन्द्रियों की रक्षा करनेवाले को **अनिपद्यमानम्**=फिर-फिर विविध योनियों में नीचे न गिरते हुए को **अपश्यम्**=मैंने देखा है। जितेन्द्रियता द्वारा मुक्त हुए-हुए इस पुरुष को **आ च परा च**=समीप और दूर—हमारी ओर आनेवाले व हमसे दूर जानेवाले **पथिभिः**=मार्गों से **चरन्तम्**=विचरण करते हुए को मैंने देखा है। जहाँ हम हैं, वहाँ भी आता है, और हमसे दूर अन्य लोक-लोकान्तरों में भी जाता है। २. **सः**=वह मुक्तात्मा लोकहित के लिए **सध्रीचीः**=(सह अञ्चति) जिन शरीरों से हमारे साथ उठता-बैठता है, उन शरीरों को **वसानः**=धारण करने के स्वभाववाला होता है। इन शरीरों से हमें उपदेश देता हुआ अपने जन्म-धारण के उद्देश्य को पूरा करता है। **सः विषूचीः**=वह चारों ओर विविध लोकों में जानेवाले शरीरों को भी धारण करता है। इसप्रकार यह समय-समय पर शरीर धारण करता हुआ **भुवनेषु अन्तः**=इन भुवनों में **आवरीवर्ति**=चारों ओर फिर-फिर आवर्तनवाला होता है। लोकहित के लिए जन्म लेनेवाले ये पुरुष ही 'अतिमानव' व महापुरुष हुआ करते हैं।

भावार्थ—पूर्ण जितेन्द्रिय पुरुष मुक्त हो जाता है। यह समय-समय पर शरीर धारण करके लोकहित के लिए भुवनों में विचरण करता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पिता, माता (द्यौष्पिता, पृथिवी माता)

द्यौर्नः पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्नो माता पृथिवी महीयम्।
उत्तानयोश्चम्वो३र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात्॥ १२॥

१. **द्यौः**=यह द्युलोक **अत्र**=इस जीवन में **नः**=हमारा **पिता**=सूर्य के द्वारा वृष्टि व प्राणशक्ति प्राप्त कराके रक्षण कर रहा है। **जनिता**=यही हमें जन्म देनेवाला है—हमारी शक्तियों के प्रादुर्भाव का कारण बनता है। **नाभिः**=यह सब लोकों का बन्धन-स्थान (केन्द्र) है। **इयम् मही पृथिवी**=यह महनीय विस्तृत भूमि **नः बन्धुः**=हमारी मित्रवत् हितकारिणी है। **माता**=यही हमारे जीवन की निर्मात्री है—सब अन्नों को उत्पन्न करके हमारा पालन करती है। २. इन **उत्तानयोः चम्वोः**=(चम्वौ द्यावापृथिव्यौ—निरु०) उत्तमता से विस्तृत द्यावापृथिवी का **योनिः**=शक्ति के मिश्रण का स्थान **अन्तः**=मध्य में, अर्थात् अन्तरिक्षलोक में है। **अत्र**=यहाँ अन्तरिक्षलोक में ही **पिता**=सबका रक्षक यह द्युलोक **दुहितुः**=अन्न आदि के द्वारा सबका धारण करनेवाली पृथिवी में **गर्भम् आधात्**=गर्भ को धारण करता है। अन्तरिक्ष से ही वृष्टि आदि होकर पृथिवी में अन्नादि

को पैदा करने की शक्ति का स्थापन किया जाता है।

भावार्थ—द्युलोक हमारा पिता है तो पृथिवी हमारी माता है। इन दोनों का मेल अन्तरिक्ष में होता है। द्युलोक वृष्टि द्वारा इस पृथिवी में गर्भ का धारण करता है और तब सब अन्नादि पदार्थों का उत्पादन होता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**१३ त्रिष्टुप्, १४ जगती** ॥

चार प्रश्न चार उत्तर

पृच्छामि त्वा परमन्तं पृथिव्याः पृच्छामि वृष्णो अश्वस्य रेतः।
पृच्छामि विश्वस्य भुवनस्य नाभिं पृच्छामि वाचः परमं व्योम ॥ १३ ॥
इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतः।
अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिर्ब्रह्माऽयं वाचः परमं व्योम ॥ १४ ॥

१. हे आचार्य! मैं **त्वा**=आपसे **पृथिव्याः परम् अन्तं पृच्छामि**=इस पृथिवी के परले सिरे के विषय में पूछता हूँ, अथवा इस पृथिवी का पर अन्त=अन्तिम उद्देश्य क्या है? आचार्य उत्तर देते हुए कहते हैं कि **इयं वेदिः**=यह वेदि—जहाँ बैठे हुए हम विचार कर रहे हैं, **पृथिव्याः परः अन्तः**=पृथिवी का परला सिरा है। वर्तुलाकार होने से यह पृथिवी यहीं तो आकर समाप्त भी होती है, और हमारा अन्तिम उद्देश्य यही है कि हम पृथिवी को यज्ञवेदि बना दें। यह देवयजनी ही तो है। २. मैं **वृष्णः**=तेजस्वी **अश्वस्य**=कर्मों में व्याप्त होनेवाले पुरुष की **रेतः पृच्छामि**=शक्ति के विषय में पूछता हूँ। उत्तर यह है कि **अयं सोमः**=यह वीर्य ही इस **वृष्णः अश्वस्य**=शक्तिशाली अनथक कार्यकर्ता पुरुष की **रेतः**=शक्ति है। यही उसे तेजस्वी व कार्यक्षम बनाती है। ३. **विश्वस्य भुवनस्य नाभिम्**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की नाभि, बन्धनस्थान व केन्द्र को **पृच्छामि**=पूछता हूँ। उत्तर देते हुए आचार्य कहते हैं कि **अयं यज्ञः**=यह यज्ञ ही तो **भुवनस्य नाभिः**=भुवन का केन्द्र है। यज्ञ ही सबका पालन कर रहा है। ४. अन्त में मैं **वाचः**=इस वेदवाणी के आधारभूत **परमं व्योम**=परमव्योम (आकाश) को **पृच्छामि**=पूछता हूँ। यह वेदवाणी शब्द किस आकाश का गुण है? उत्तर यह है कि **अयं ब्रह्मा**=यह सदा से बढ़ा हुआ प्रभु ही **वाचः**=वेदवाणी का **परमं व्योम**=परमव्योम है। '**ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्**'। सब ऋचाएँ उस परमव्योम में ही स्थित व इनका कोश है।

भावार्थ—हम पृथिवी को यज्ञवेदि के रूप में परिणत कर दें। शरीर में शक्ति का रक्षण करते हुए तेजस्वी व अनथक कार्यकर्ता बनें। यज्ञ को ही पृथिवी का केन्द्र जानें और प्रभु को इस वेदवाणी का आधार जानते हुए प्रभु की उपासना से ज्ञान प्राप्त करने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मनोबन्धन से मुक्ति

न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन्प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥ १५ ॥

१. **यदि वा इदम् अस्मि**='मैं यह हूँ या कुछ और हूँ' इसप्रकार ठीक-ठीक अपने ही रूप को **न विजानामि**=मैं नहीं जानता। न जानने का कारण यह है कि मैं **निण्यः**=अन्तर्हित हूँ—ढका हुआ-सा हूँ। ढके हुए होने का कारण यह है कि **मनसा**=मन से **सन्नद्धः**=सम्बद्ध होकर **चरामि**=मैं यहाँ संसार में विचर रहा हूँ। मन ने मुझे बुरी तरह से बाँधा हुआ है। २. **यदा**=जब कभी प्रभुकृपा से, सत्सङ्ग में श्रवण आदि के क्रम से **मा**=मुझे **ऋतस्य**=सब सत्य विद्याओं का

प्रकाश करनेवाली **प्रथमजाः**=सृष्टि के प्रारम्भ में ऋषियों के हृदयों में प्रादुर्भूत हुई-हुई यह वेदवाणी **आगन्**=प्राप्त होती है, तब **आत् इत्**=उस समय अविलम्ब ही **अस्याः**=इस वेदवाणी से मैं **भागम्**=उस भजनीय आत्मज्ञान को **अश्नुवे**=प्राप्त कर लेता हूँ। वेदवाणी का सेवन मुझे सब व्यसनों से बचाकर मन की इस जकड़ से बचा लेता है।

भावार्थ—मन के वशीभूत हुआ-हुआ मैं आत्मस्वरूप को ही विस्मृत-सा कर बैठा था। अब वेदवाणी के सेवन से व्यसनों से ऊपर उठकर, अन्तर्मुखी वृत्तिवाला बनकर आत्मदर्शन के योग्य हुआ हूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'आत्मस्वरूप का अज्ञान'-रूप महान् आश्चर्य

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतोऽमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः।
ता शश्वन्ता विषूचीना वियन्ता न्य१न्यं चिक्युर्न नि चिक्युरन्यम्॥ १६॥

१. जीव कर्मानुसार **अपाङ्**=कभी स्थावर, कभी पक्षी-मृगादि की निचली योनियों में **एति**=जाता है और कभी **प्राङ्**=ऋषि-मुनि आदि की उत्कृष्ट योनियों को (एति) प्राप्त होता है। इस शरीर को छोड़ने पर **स्वधया**=अपनी धारण-शक्ति से **गृभीतः**=युक्त हुआ-हुआ यह दूसरे शरीरों में प्रवेश करता है। अपने लिए (स्व) जिन पाप-पुण्यों का उसने धारण किया है (धा lay by), उनसे युक्त हुआ-हुआ वह दूसरे शरीर में प्रवेश करता है। **अमर्त्यः**=स्वरूप से जरामृत्यु से रहित भी यह **मर्त्येन सयोनिः**=मरणधर्मा शरीर के साथ ही समान जन्मवाला होता है। शरीर के साथ संयुक्त-वियुक्त होने से ही इसके लिए जन्म व मृत्यु के शब्दों का प्रयोग होने लगता है। २. **ता शश्वन्ता**=ये दोनों क्षर शरीर और अक्षर आत्मा सनातन काल से मिलते चले आ रहे हैं। ऐसा कोई समय नहीं जबकि यह शरीर प्रथम बार मिला हो। ये शरीर+आत्मा **विषूचीना**=ब्रह्माण्ड में चारों ओर भिन्न-भिन्न लोकों में जानेवाले हैं, केवल पृथिवी पर जन्म होता हो—ऐसी बात नहीं है। जब कभी यह जीव एक शरीर को छोड़ता है तब ये **वियन्ता**=विरुद्ध स्थितियों में जानेवाले होते हैं। गति देनेवाला अभौतिक आत्मा अमर है और इसके विपरीत यह भौतिक शरीर भस्म में परिणत हो जाता है—'**वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳशरीरम्**'। सब कोई **अन्यम्**=इस शरीर को तो **निचिक्युः**=जानते हैं, इसे ही वस्तुतः अपना स्वरूप समझते हैं। **अन्यम्**=उस आत्मतत्त्व को **न निचिक्युः**=नहीं जानते। 'अपने को ही न जानना' कितनी विचित्र बात है!

भावार्थ—अपने अर्जित पाप-पुण्यों के अनुसार जीव निचली व उपरली योनियों में जन्म लिया करता है। ये शरीर और आत्मा सदा से मेलवाले हैं, भिन्न-भिन्न लोकों में गतिवाले हैं। जीव शरीर को छोड़ता है तो आत्मा तो नये शरीर में प्रवेश पाता है और पुराना शरीर भस्मान्त होकर पञ्च तत्त्वों में मिल जाता है। 'हम शरीर को ही जानते हैं, अपने को नहीं जानते' यह कितना बड़ा आश्चर्य है!

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**जगती**॥

प्रकृति में प्रभु का दर्शन

सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो विष्णोस्तिष्ठन्ति प्रदिशा विधर्मणि।
ते धीतिभिर्मनसा ते विपश्चितः परिभुवः परि भवन्ति विश्वतः॥ १७॥

१. प्रकृति से उत्पन्न होनेवाला 'महत्तत्त्व', महान् से उत्पन्न अहंकार तथा अहंकार से उत्पन्न पञ्च तन्मात्राएँ—ये **सप्त**=सात **अर्धगर्भाः**=समृद्ध उत्पादन सामर्थ्यवाले तत्त्व **भुवनस्य रेतः**=सारे

भुवनों की शक्ति हैं—उत्पत्ति के कारण हैं। ये सब **विष्णोः**=उस व्यापक प्रभु के **प्रदिशः**=शासन से **विधर्मणि तिष्ठन्ति**=धारणात्मक कार्य में स्थित हैं। उस प्रभु के शासन में ही अपना-अपना धारण-कार्य कर रहे हैं। २. **ते विपश्चितः**=वे विशेषरूप से देखकर चिन्तन करनेवाले, **ते**=वे **धीतिभिः**=ध्यानों के द्वारा और **मनसा**=मनन के द्वारा **परिभुवः**=उन पदार्थों का चारों ओर से (परि) विचार करनेवाले लोग **विश्वतः परिभवन्ति**=सब प्रकार से इन इन्द्रियों का परिभव करते हैं, इन्हें सब ओर से वशीभूत करते हैं।

भावार्थ—हम प्रकृति से उत्पन्न होते हुए इस संसार के अधिष्ठाता उस प्रभु को न भूलेंगे तो संसार के विषयों में न फँसकर इन्द्रियों को वशीभूत करनेवाले बनेंगे।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**जगती**॥

प्रभुरूप 'परम' व्योम में

ऋचो अक्षरे परमे व्यो॑मन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्ते अमी समासते॥ १८॥

१. **ऋचः**=ऋचाएँ—गुण-वर्णनात्मक सभी मन्त्र **अक्षरे**=उस अविनाशी प्रभु का वर्णन कर रहे हैं, जोकि **परमे**=परम हैं, सर्वोत्कृष्ट हैं। प्रकृति 'अपरा' है जीव 'पर' है और प्रभु 'परम' हैं। ये ऋचाएँ उस प्रभु का वर्णन करती हैं जोकि **व्योमन्**=(वि ओम् उन्) जिनके एक कन्धे पर प्रकृति है और दूसरे पर जीव (वि=प्रकृति, 'गति, प्रजनन, कान्ति, असन् व खादन' का यही तो आश्रय है, अन्=प्राणित होनेवाला जीव)। ये ऋचाएँ उस प्रभु में निषण्ण हैं, **यस्मिन्**=जिसमें कि **विश्वेदेवाः**=सब देव **अधि निषेदुः**=अधीन होकर निषण्ण हो रहे हैं। २. **यः**=जो **तत् न वेद**=उस प्रभु को नहीं जानता **ऋचा**=वह ऋचाओं से **किं करिष्यति**=क्या लाभ प्राप्त करेगा? **ये**=जो **इत्**=निश्चय से **तत् विदुः**=उस व्यापक प्रभु को जानते हैं, **ते अमी**=वे ये लोग **समासते**=इस संसार में सम्यक् आसीन होते हैं—वे परस्पर प्रेम से उठते-बैठते हैं।

भावार्थ—सब ऋचाओं का अन्तिम तात्पर्य उस प्रभु में है, जोकि अविनाशी, सर्वोत्कृष्ट व सर्वाधार हैं। उसी प्रभु में सब देव निषण्ण हैं। प्रभु को नहीं जाना तो ऋचाओं का कुछ लाभ नहीं। प्रभु को जाननेवाले परस्पर प्रेम से व्यवहार करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

निष्पाप ब्रह्म

ऋचः पदं मात्रया कल्पयन्तोऽर्धर्चेन चाक्लृपुर्विश्वमेजत्।
त्रिपाद् ब्रह्म पुरुरूपं वि तष्ठे तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः॥ १९॥

१. **ऋचः**=ऋचाओं के परम प्रतिपाद्य विषयंभूत ब्रह्म के **पदम्**=ज्ञातव्य स्वरूप को **मात्रया**=जगत् का निर्माण करनेवाली शक्ति से **कल्पयन्तः**=कल्पना करते हुए विद्वान् पुरुष **अर्धर्चेन**=उसके तेजोमय समृद्ध ज्ञानमयस्वरूप से इस **एजत्**=गतिशील **विश्वम्**=विश्व को **चाक्लृपुः**=बना हुआ मानते हैं। संसार की रचना में वे प्रभु की बुद्धिपूर्वक कृति व महिमा को देखते हैं। २. **त्रिपात् ब्रह्म**=सृष्टि की 'उत्पत्ति, स्थिति व प्रलयरूप' तीन पगों को रखनेवाला ब्रह्म **पुरुरूपम्**=नाना रूपों को धारण करता हुआ **वितष्ठे**=विविधरूपों में स्थित हो रहा है (रूपंरूपं प्रतिरूपो बभूव)। **तेन**=उसी प्रभु के सामर्थ्य से **चतस्रः प्रदिशः**=चारों दिशाएँ—चारों दिशाओं में स्थित प्राणी **जीवन्ति**=प्राण धारण कर रहे हैं। प्रभु ही सर्वाधार है।

भावार्थ—ज्ञानी लोग सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में प्रभु की महिमा को देखते हैं। इस सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय करनेवाले प्रभु ही नानारूपों में इस ब्रह्माण्ड को धारण किये हुए

हैं। वे ही सर्वाधार हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सूयवसाद् भगवती

सूयवसाद्भगवती हि भूया अधा वयं भगवन्तः स्याम।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती॥ २०॥

इस मन्त्र की व्याख्या अथर्व० ७।७३।११ पर द्रष्टव्य है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाऽतिशक्वरी** ॥

एकपदी—नवपदी

गौरिन्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा भुवनस्य
पङ्क्तिस्तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति॥ २१॥

१. **गौः**=वेदवाणी **इत्**=निश्चय से **मिमाय**=शब्द करती है। यह वेदवाणी इन शब्दों के द्वारा **सलिलानि**=(सति लीनानि) सत् परमात्मा में लीन ज्ञानों को **तक्षती**=हमारे लिए बनानेवाली है। जब हम इन वेदवाणियों को पढ़ेंगे तब ये हमारे अन्दर ज्ञान का निर्माण करती हुई इन शब्दों का उच्चारण करेंगी। इसका एक-एक शब्द हमारे ज्ञान की वृद्धि का कारण बनेगा। **सा**=वह वेदवाणी **एकपदी**=(पद गतौ) उस अद्वितीय परमात्मा में गति-(ज्ञान)-वाली होती है—उस अद्वितीय प्रभु का वर्णन करती है। कभी **द्विपदी**=परमात्मा और जीवात्मा—दोनों का साथ-साथ ज्ञान देती है, ताकि उनकी तुलना ठीक रूप से हो जाए और जीव अपने आदर्श को समझ ले। यह वेदवाणी **चतुष्पदी**=जीव के पुरुषार्थभूत 'धर्मार्थ-काम-मोक्ष' चारों पुरुषार्थों का ज्ञान देती है। २. **अष्टापदी**=शरीरस्थ आठों चक्रों का ज्ञान देती हुई, इन चक्रों के विकास के लिए योग के अङ्गभूत 'यम-नियम' आदि आठों अङ्गों का प्रतिपादन करती है। **नवपदी बभूवुषी**=शरीरस्थ नव इन्द्रिय-द्वारों का ज्ञान देनेवाली होती हुई यह वेदवाणी **सहस्राक्षरा**=हज़ारों रूपों से उस प्रभु को व्याप्त करती है (अक्षर व्याप्तौ)—अनेक रूपों में यह प्रभु का वर्णन करती है। **भुवनस्य पंक्तिः**=(पची विस्तारे) यह ब्रह्माण्ड को विस्तृत करती है—ब्रह्माण्ड का ज्ञान देती है। **तस्याः**=उस वेदवाणी से ही **समुद्राः अधि विक्षरन्ति**=ज्ञान के समुद्रों का प्रवाह चलता है।

भावार्थ—वेदवाणी अद्वितीय प्रभु का वर्णन करती है। जीव व परमात्मा का तुलनात्मक चित्रण करती है। जीव के चारों पुरुषार्थों का प्रतिपादन करती है। शरीरस्थ आठों चक्रों व नौ इन्द्रिय=द्वारों का ज्ञान देती है। प्रभु तथा ब्रह्माण्ड का ज्ञान देती हुई यह ज्ञान के समुद्रों के प्रवाहवाली है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मोक्ष-प्राप्ति के साधन

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवीं व्यू [दुः]॥ २२॥

१. **कृष्णम्**=(कृष् श्रम का प्रतीक है, ण ज्ञान का) उत्पादक श्रम व ज्ञान से बने हुए **नियानम्**=बाड़े में **हरयः**=इन्द्रियों का प्रत्याहरण करनेवाले—कर्मेन्द्रियों को उत्पादन श्रम में तथा ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान-प्राप्ति में लगाये रखनेवाले और इसप्रकार **सुपर्णाः**=अपना पालन व पूरण करनेवाले **अपः वसानः**=अपने कर्त्तव्यकर्मों का धारण करनेवाले लोग **दिवम् उत्पतन्ति**=स्वर्ग

को जाते हैं। २. जब कभी **ते**=वे सत्य-मार्ग पर चलनेवाले लोग **ऋतस्य सदनात्**=सत्य के निवास-स्थान से **आववृत्रन्**=लौट आते हैं, अर्थात् मोक्ष से लौटते हैं तो **आत् इत्**=इसके पश्चात् शीघ्र ही **घृतेन**=ज्ञान की दीप्ति से **पृथिवीं व्युदुः**=इस पृथिवी को क्लिन्न कर देते हैं। मोक्ष से लौटने पर ये पृथिवी पर ज्ञान का प्रकाश फैलाने के लिए यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—मोक्ष-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को ज्ञान व कर्म के बाड़े में प्रत्याहृत करें, अपना पालन व पूरण करें, सदा क्रियामय जीवनवाले हों। मोक्ष से लौटने पर हम ज्ञान-प्रसार के कार्य में ही प्रवृत्त रहें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**मित्रावरुणौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ऋत का पालन, अनृत-विनाश

अपादेति प्रथमा पद्वतीनां कस्तद्वां मित्रावरुणा चिकेत।
गर्भो भारं भरत्या चिदस्या ऋतं पिपर्त्यनृतं नि पाति॥ २३॥

१. **पद्वतीनाम्**=पाँववाली प्रजाओं में **अपात्**=बिना पाँववाली होती हुई यह ब्रह्मशक्ति **प्रथमा एति**=सर्वप्रथम प्राप्त होती है। शरीरधारी जीव पाँववाले हैं, प्रभु अपात् हैं, परन्तु अपात् प्रभु को कोई पाँववाला जीत नहीं पाता। हे **मित्रावरुणा**=प्राणापानो! **वाम्**=आपमें से **तत् चिकेत**=उस ब्रह्म को जो जानता है, वह **कः**=आनन्दमय जीवनवाला होता है। २. वह प्रभु ही **गर्भः**=सारे ब्रह्माण्ड को अपने अन्दर ग्रहण किये हुए **चित्**=निश्चय से **अस्याः**=इस पाँववाली प्रजा की **भारं आभरति**=पोषण क्रिया को सर्वतः सम्यक् धारण करता है। वे प्रभु ही **ऋतं पिपर्ति**=सत्य का पालन करते हैं और **अनृतं निपाति**=अनृत को नीचे रखते हैं। सत्य की विजय और अनृत का पराभव प्रभु ही करते हैं।

भावार्थ—पाँववाली प्रजाओं में अपात् होते हुए भी वे प्रभु प्रथम हैं। प्राणसाधना द्वारा प्रभु का ज्ञान होने पर जीवन आनन्दमय होता है। प्रभु ही सबका पोषण कर रहे हैं। वे हि ऋत का रक्षण व अनृत का विनाश करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**चतुष्पदापुरस्कृतिर्भुरिगतिजगती** ॥

विराट्

विराड्वाग्विराट् पृथिवी विराडन्तरिक्षं विराट् प्रजापतिः।
विराण्मृत्युः साध्यानामधिराजो बभूव तस्य भूतं
भव्यं वशे स मे भूतं भव्यं वशे कृणोतु॥ २४॥

१. वह **विराट्**=विशिष्ट दीप्तिवाला प्रभु ही **वाक्**=वाणी है। वही सृष्टि के आरम्भ में इस वेदज्ञान को देता है। **विराट् पृथिवी**=वे विराट् प्रभु ही पृथिवी हैं—सर्वाधार हैं अथवा सर्वत्र प्रथन-(विस्तार)-वाले हैं। **विराट् अन्तरिक्षम्**=वे प्रभु ही अन्तरिक्ष हैं—सबके अन्दर निवास करनेवाले हैं (अन्तः क्षि निवासे) **विराट्**=ये विराट् प्रभु ही **प्रजापतिः**=सब प्रजाओं का पालन करनेवाले हैं। २. **विराट् मृत्युः**=ये विराट् प्रभु ही आचार्य (आचार्यो मृत्युः) हैं, अथवा सबका अन्त करनेवाले हैं। ये विराट् प्रभु **साध्यानाम्**=पर-कार्यसाधक पुरुषों के **अधिराजः बभूव**=अधिराज हैं—सर्वाधिक पर-कार्यसाधक हैं। यह **भूतं भव्यम्**=भूत व भविष्यत् सब **तस्य वशे**=उस विराट् प्रभु के ही वश में हैं। **सः**=वे प्रभु इस **भूतं भव्यम्**=भूत और भव्य को **मे वशे कृणोतु**=मेरे वश में करें।

भावार्थ—विराट् प्रभु की उपासना करता हुआ मैं भी विराट् बनूँ। भूत और भव्य को वश

में करनेवाला होऊँ। मेरा भूत भी सुन्दर हो और भविष्य भी सुन्दर बने।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

धूएँ से अग्नि का ज्ञान

शकमयं धूममारादपश्यं विषूवता पर एनाऽवरेण।
उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्॥ २५॥

१. **शकमयम्**=(शकृन्मयं शुष्कगोमयसंभूतम्) उपलों की अग्नि से उठे हुए **धूमम्**=धूएँ को **आरात् अपश्यम्**=मैंने दूरी पर देखा है और **एना**=इस **विषूवता**=व्याप्तिवाले—चारों ओर फैले हुए **अवरेण**=समीप ही विद्यमान धूएँ से **परः**=(परस्तात् तत्कारणात् तम् अग्निम्) दूर—आँखों से ओझल अग्नि को मैंने जाना है। जिस प्रकार धूएँ को देख मैं अग्नि को जान पाता हूँ, उसी प्रकार यहाँ अपराविद्या में रचना के ज्ञान से रचयिता का ज्ञान प्राप्त करता हूँ। इसप्रकार इस अपराविद्या की अन्तिम सीमा ही पराविद्या हो जाती है। प्रकृति का ज्ञान ही प्रभु के दर्शन में परिणत हो जाता है। २. प्रभु संसारशकट का वहन करनेवाले 'महान् उक्षा' हैं, तो यह जीव इस पिण्ड का वहन करता हुआ 'पृश्नि (अल्पतनू) उक्षा' है। इस **पृश्निम् उक्षाणम्**=छोटे शरीरवाले जीवरूप उक्षा को **वीराः अपचन्त**=ज्ञान शूर आचार्य ज्ञानाग्नि में परिपक्व करते हैं। इसे वे विदग्ध बनाने का प्रयत्न करते हैं। **तानि धर्माणि**=ये 'प्रकृति, जीव व परमात्मा' के ज्ञानों में परिपक्व करना रूप धर्म ही **प्रथमानि आसन्**=मुख्य धर्म हैं। यह ज्ञान ही उसे प्रकृति की रचना में प्रभु की महिमा को देखने के योग्य बनाएगा।

भावार्थ—धूएँ से जैसे अग्नि का ज्ञान होता है, इसी प्रकार इस सृष्टि-रचना से इसके रचयिता का। व्याप्त विद्यावाले आचार्य जीव को प्रकृति, जीव व प्रभु का ज्ञान देते हैं। यह ज्ञान देना ही मुख्य धर्म है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

त्रयः केशिनः

त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम्।
विश्वमन्यो अभिचष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम्॥ २६॥

१. **त्रयः केशिनः**=तीन प्रकाशमय पदार्थ हैं। 'प्रकृति' तो हिरण्मय पात्र है ही। 'आत्मा' शरीरस्थरूपेण शरीर को दीप्त किये रखता है। प्रभु 'सहस्रांशुसमप्रभ' हैं। उनकी ज्योति को योगी ही देख पाते हैं। ज्ञानी लोग **ऋतुथा विचक्षते**=(ऋतु Light, splendour) प्रकाश के अनुसार इनका व्याख्यान करते हैं—शिष्य की योग्यता देखकर उसके अनुसार इनका प्रतिपादन करते हैं। प्रकृति का ज्ञान वे इस रूप में देते हैं कि **एषाम् एकः**=इन तीनों में से एक 'प्रकृति' **संवत्सरे**=उचित काल में बीजोत्पत्ति करती है—एक बीज को साठ बीजों में करके उनका फैलाव कर देती है। **'प्रकृतिः सूयते सचराचरम्'**—चराचर को यह प्रकृति ही तो उत्पन्न करती है। २. प्रकृति का यह सारा फैलाव प्रभु की अध्यक्षता में हो रहा है। वह **अन्यः**=विलक्षण प्रभु **शचीभिः**=अपनी विविध शक्तियों से **विश्वम्**=इस सारे ब्रह्माण्ड को **अभिचष्टे**=सब ओर से देख रहा है। उस सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् प्रभु की अध्यक्षता में इस प्रकृति के फैलाव में ग़लती नहीं होती। तीसरा एक जीव है। इस **एकस्य**=एक जीव की **ध्राजिः ददृशे**=दौड़—चहल-पहल दीखती है, **न रूपम्**=इसका स्वरूप हमारी आँखों का विषय नहीं बनता। चहल-पहल सब जीव की है। 'प्रकृति व परमात्मा' माता-पिता के समान हैं। जीव बच्चों के समान हैं। बच्चों की ही तो चहल-पहल होती है।

भावार्थ—तीन पदार्थ हैं। प्रकृति से इस संसार का फैलाव होता है। प्रभु इस फैलाव को करते हैं। यहाँ जीव की ही चहल-पहल है—वस्तुतः उसी के लिए तो यह संसार बना है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

ज्ञान के चार विभाग

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥ २७॥

१. **वाक्**=(वाचः) वाणी के **पदानि**=प्रतिपाद्य विषय **चत्वारि परिमिता**=चार की संख्या में मपे हुए हैं। 'ऋक् प्रकृतिविज्ञान, यजुः कर्मविज्ञान, साम उपासना व अध्यात्मशास्त्र, अथर्व रोगशास्त्र व युद्धशास्त्र'। **तानि**=उन चारों वेदों को **ये**=जो **मनीषिणः**=मन का शासन करनेवाले, आमोद-प्रमोदों की इच्छा से ऊपर उठे हुए **ब्राह्मणाः**=ज्ञानी व्यक्ति हैं, वे ही **विदुः**=जानते हैं। २. सामान्य मनुष्यों के अन्दर तो **गुहा**=हृदयगुहा में **निहिता**=रक्खे हुए **त्रीणी**=ऋग्यजुः व सामरूप ये मन्त्र **न इङ्गयन्ति**=नाममात्र भी गतिवाले नहीं होते। '**यस्मिन्नृचः सामयजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः**'। ये हम सबके मर्मों में स्थित हैं। उन्हें प्रसुप्तावस्था से जाग्रदवस्था में लाना मनीषी ब्राह्मणों का ही काम है। **मनुष्याः**=सामान्य मनुष्य तो **वाचः**=वाणी के **तुरीयम्**=चतुर्थांश का ही **वदन्ति**=उच्चारण करते हैं। वे आयुर्वेद व युद्धशास्त्र तक ही सीमित ज्ञानवाले रह जाते हैं।

भावार्थ—हम आयुर्वेद और अर्थशास्त्र के अध्ययन के साथ ज्ञान, कर्म व उपसना' पर बल देते हुए 'चतुष्पाद् ज्ञानवृक्ष' वाले बनें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**गौः, विराट्, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'इन्द्र—मातरिश्वा' प्रभु

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ २८॥

१. **विप्राः**=अपने को विशेषरूप से ज्ञान से परिपूर्ण करनेवाले (वि+प्रा) लोग **एकं सत्**=उस अद्वितीय (पूर्ण स्वतन्त्र) सत्ता को ही **बहुधा वदन्ति**=भिन्न-भिन्न नामों से कहते हैं। **इन्द्रम्**=उस सत्ता को ही 'परमैश्वर्यशाली', **मित्रम्**=सबके प्रति स्नेहमय, **वरुणम्**=श्रेष्ठ, **अग्निम्**=सबसे अग्र स्थान में स्थित **आहुः**=कहते हैं। **अथ उ**=और निश्चय से **सः**=वे प्रभु ही **दिव्यः**=सब ज्योतिर्मय पदार्थों में दीप्त होनेवाले हैं, **सुपर्णः**=पालनादि उत्तम कर्म करनेवाले हैं, **गरुत्मान्**=ब्रह्माण्ड-शकट का महान् भार उठानेवाले हैं। २. उस अद्वितीय सत्ता को ही **अग्निम्**=आगे ले-चलनेवाला, **यमम्**=सर्वनियन्ता, **मातरिश्वा**=अन्तरिक्ष में सर्वत्र व्याप्त (मातरि अन्तरिक्षे श्वयति) **आहुः**=कहते हैं।

भावार्थ—'इन्द्र' आदि नामों से प्रभु का स्तवन करते हुए हम भी वैसा ही बनने का प्रयत्न करें।

॥ इत्येकविंशः प्रपाठकः॥

॥ इति नवमं काण्डम्॥

अथ दशमं काण्डम्

नवम काण्ड के अन्तिम सूक्त का ऋषि ब्रह्मा है। यह उत्तम श्रेणी में सर्वप्रथम स्थान में स्थित है। यह सब प्रकार की हिंसाओं को समाप्त करता हुआ प्रत्येक अङ्ग में रसवाला 'प्रत्यङ्गिरस' बनता है। यही दशम काण्ड के प्रथम सूक्त का ऋषि है। इस सूक्त का विषय कृत्या-दूषण है—हिंसा का दूषण—हिंसा को समाप्त करना—

अथ द्वाविंशः प्रपाठकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**महाबृहती** ॥

'विश्वरूपा-हस्तकृता' कृत्या

यां कल्पयन्ति वहतौ वधूमिव विश्वरूपां हस्तकृतां चिकित्सवः।
साराद्देत्वप नुदाम एनाम्॥ १॥

१. **चिकित्सवः**=(चिकिति to know) समझदार निर्माता लोग **याम्**=जिस **विश्वरूपाम्**=अनेक रूपोंवाली **हस्तकृताम्**=हाथ से बनाई गई कृत्या को—हिंसा प्रयोग को (Bomb इत्यादि के रूप में) **कल्पयन्ति**=बनाते हैं, **वहतौ वधूम् इव**=विवाहकाल में विभूषित वधू की भाँति सुन्दर बनाते हैं। **सा**=वह कृत्या **आरात् एतु**=हमसे दूर हो, **एनाम् अपनुदामः**=हम इसे अपने से दूर करते हैं।

भावार्थ—चतुर शत्रुवर्ग हमारे विनाश के लिए जिन वधू के समान सजे हुए कृत्या-प्रयोगों को करते हैं—विचित्र, सुन्दर आकृतिवाले बम्ब इत्यादि बनाते हैं, ये भिन्न-भिन्न रूपोंवाले आकर्षक, क्रीड़नकों के समान होते हैं। हम इन्हें अपने से दूर करें। इनका शिकार न हो जाएँ।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**विराण्नामगायत्री** ॥

'शीर्षण्वती, नस्वती' कृत्या

शीर्षण्वती नस्वती कर्णिनी कृत्याकृता संभृता विश्वरूपा।
साराद्देत्वप नुदाम एनाम्॥ २॥

१. **कृत्याकृता**=विनाशकारिणी मूर्त्ति (बम्ब आदि) बनानेवाले पुरुष से **संभृता**=बनाई गई **विश्वरूपा**=नाना रूपोंवाली **शीर्षण्वती**=सिरवाली, **नस्वती**=नाकवाली, **कर्णिनी**=कानवाली **सा**=वह कृत्या **आरात् एतु**=दूर हो। **एनाम् अपनुदामः**=हम इसे अपने से दूर करते हैं।

भावार्थ—सिर, कान, नाकवाली, विविध रूपोंवाली कृत्या को हम अपने से दूर करते हैं।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

जाया पत्या नुत्ता इव

शूद्रकृता राजकृता स्त्रीकृता ब्रह्मभिः कृता। जाया पत्या नुत्तेव कर्तारं बन्ध्वृच्छतु॥ ३॥

१. **शूद्रकृता**=श्रमिकों से की गई, **राजकृता**=राजाओं से की गई, **स्त्रीकृता**=स्त्रियों से की गई तथा **ब्रह्मभिः कृता**=ब्राह्मणों से की गई कृत्या **कर्तारम्**=कृत्या के करनेवाले को इसप्रकार **ऋच्छतु**=प्राप्त हो, **इव**=जैसे **पत्या नुत्ता**=पति से परे धकेली हुई **जाया**=पत्नी **बन्धु**=अपने मातृ-बन्धुओं को पुनः प्राप्त होती है।

भावार्थ—शूद्रों, राजाओं, स्त्रियों व ब्राह्मणों से की गई कृत्या कर्त्ता को पुनः इसप्रकार प्राप्त हो, जैसेकि पति से परे धकेली हुई पत्नी अपने मातृबन्धुओं को पुनः प्राप्त होती है।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

क्षेत्रे गोषु पुरुषेषु

अनयाऽहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम्।
यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु॥ ४॥

१. **अहम्**=मैं **अनया ओषध्या**=इस अपामार्ग नामक ओषधि से (अ० ४.१८.५) उन **सर्वाः कृत्याः**=सब हिंसा-प्रयोगों को **अदूदुषम्**=दूषित करता हूँ, **याम्**=जिस हिंसा-प्रयोग को **क्षेत्रे**=मेरे शरीररूप क्षेत्र के विषय में **चक्रुः**=करते हैं (इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते), **याम्**=जिस हिंसा-प्रयोग को **गोषु**=इन्द्रियों के विषय में करते हैं, **वा**=अथवा **या ते पुरुषेषु**=जिसे तेरे पुरुषों—बन्धुओं के विषय में करते हैं।

भावार्थ—अपामार्ग ओषधि के प्रयोग से शरीर और इन्द्रियों के सब रोग दूर हो जाते हैं।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अघ अघकृत् के लिए, The biter bit

अघमस्त्वघकृते शपथः शपथीयते। प्रत्यक्प्रतिप्रहिण्मो यथा कृत्याकृतं हनत्॥ ५॥

१. **अघम्**=यह हिंसारूप पाप **अघकृते अस्तु**=इस पाप को करनेवाले के लिए ही हो। **शपथः**=यह आक्रोश **शपथीयते**=शाप देनेवाले के लिए ही हो। हम इस अघ व शपथ को **प्रत्यक् प्रतिप्रहिण्मः**=वापस भेजे देते हैं, **यथा**=जिससे यह **कृत्याकृतं हनत्**=हिंसा करनेवाले को ही नष्ट करे।

भावार्थ—अघकृत् को ही उसका पाप प्राप्त होता है, शाप देनेवाले को ही शाप लगता है।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रतीचीनः आङ्गिरसः

प्रतीचीन आङ्गिरसोऽध्यक्षो नः पुरोहितः।
प्रतीचीः कृत्या आकृत्यामून्कृत्याकृतो जहि॥ ६॥

१. **प्रतीचीनः**=(प्रति अञ्चु) प्रत्याहार की वृत्तिवाला—इन्द्रियों को विषयों से व्यावृत्त करनेवाला, अतएव **आङ्गिरसः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाला, **अध्यक्षः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता यह व्यक्ति **नः**=हमारा **पुरोहितः**=पुरोहित है। यह **कृत्याः**=शत्रुकृत् सब हिंसाप्रयोगों को **प्रतीचीः**=फिर लौट जानेवाला **आकृत्य**=करके **अमून्**=उन **कृत्याकृतः**=हिंसा करनेवालों को ही **जहि**=विनष्ट करे।

भावार्थ—हम अन्तर्मुखी वृत्तिवाले अतएव अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाले, इन्द्रियों के अधिष्ठाता बनकर औरों के लिए आदर्शरूप हों और उनसे की गई कृत्याओं को वापस भेजकर उन्हीं का विनाश करें।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मा अस्मान् इच्छः अनागसः

यस्त्वोवाच परेहीति प्रतिकूलमुदाय्य [म्।
तं कृत्येऽभिनिवर्तस्व माऽस्मानिच्छो अनागसः॥ ७॥

१. हे **कृत्ये**=हिंसा के प्रयोग! **यः**=जिसने **त्वा उवाच**=तुझे यह कहा कि **परा इह एति**=परे जा और अमुक को मार, तू **तम्**=उस **प्रतिकूलम्**=हमारे विरोध में **उदाय्यम्**=(उत् अय्+य) उठनेवाले शत्रु के पास ही **अभिनिवर्तस्व**=वापस लौट जा, **अनागसः अस्मान् मा इच्छः**=निरपराध हम लोगों को मारने की इच्छा मत कर।

भावार्थ—कृत्या-प्रयोग हम निरपराधियों को मारनेवाला न हो। यह प्रयोक्ता का ही विनाश करे।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ता:** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ऋभुः धिया रथस्य इव

यस्ते परूंषि सन्दधौ रथस्येवर्भुर्धिया।
तं गच्छ तत्र तेऽयनमज्ञातस्तेऽयं जनः॥ ८॥

१. **इव**=जैसे **ऋभुः**=शिल्पी **रथस्य**=रथ के जोड़ों को **धिया**=बुद्धि के द्वारा मिला देता है, उसी प्रकार **यः**=जिसने बड़ी चतुरता से हे कृत्ये! **ते परूंषि संदधौ**=तेरे पर्वों को जोड़ा है, तू **तं गच्छ**=उसी को प्राप्त हो, **तत्र ते अयनम्**=वहाँ ही तेरा निवास-स्थान है, **अयं जनः**=यह जन, अर्थात् हम लोग **ते अज्ञातः**=तेरे अज्ञात ही हों।

भावार्थ—कृत्या का चतुर निर्माता ही कृत्या का शिकार बने। हिंसा का प्रयोग करनेवाला ही उस प्रयोग से हिंसित हो।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ता:** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

प्रतिवर्त्म पुनःसरम्

ये त्वा कृत्वालेभिरे विद्वला अभिचारिणः।
शंभ्वी३दं कृत्यादूषणं प्रतिवर्त्म पुनःसरं तेन त्वा स्नपयामसि॥ ९॥

१. हे कृत्ये! **ये**=जो **विद्वला**=(विद् वेदनायाम्) वेदना प्राप्त करानेवाले **अभिचारिणः**=हिंसा-प्रयोगों को करनेवाले लोग **त्वा**=तुझे **कृत्वा**=करके **अलेभिरे**=प्राप्त करते हैं, **इदम्**=यह **प्रतिवर्त्म**=उलटे रास्ते (वापस) उसे **पुनःसरम्**=फिर लौटा देना **कृत्यादूषणम्**=हिंसक प्रयोग को दूषित करना है। **इदम्**=यह **शम्भु**=शान्ति उत्पन्न करनेवाला है, **तेन**=उस उलटे रास्ते (वापस) लौटा देने के द्वारा **त्वा**=तुझे हे कृत्ये! **स्नपयामसि**=शुद्ध कर डालते हैं—तेरा सफ़ाया कर देते हैं।

भावार्थ—हिंसक प्रयोग को दूर करने का सर्वोत्तम उपाय यही है कि उसे उलटे रास्ते (वापस) लौटा दिया जाए, अर्थात् गाली का उत्तर गाली में न दिया जाए। '**आक्रुष्टः कुशलं वदेत्**'।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ता:** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पापम् अपतिष्ठतु द्रविणम् उप तिष्ठतु

यद्दुर्भगां प्रस्नपितां मृतवत्सामुपेयिम।
अपैतु सर्वं मत्पापं द्रविणं मोप तिष्ठतु॥ १०॥

१. **यत्**=जब **दुर्भगाम्**=दौर्भाग्यवाली, अर्थात् जिसके पति पूर्व ही जा चुके हैं, **प्रस्नपिताम्**=जो शुद्ध आचरणवाली है, **मृतवत्साम्**=जो मृतपुत्रवाली है, अर्थात् जिसकी सन्तान भी चली गई है, अतएव जो बड़ी शोकातुर है, उस स्त्री को **उपेयिम**=हम समीपता से प्राप्त हों, तो उस समय **सर्वं पापम्**=सब पाप, अशुभ मनोवृत्ति **मत् अप एतु**=मुझसे दूर हो। **द्रविणं मा उपतिष्ठतु**=(strength, power, valour, prowess) शक्ति मुझे प्राप्त हो। इस शक्ति के द्वारा पाप से ऊपर उठा हुआ मैं उस शोकातुरा के लिए सहायक हो सकूँ।

भावार्थ—असहाय परन्तु शुद्ध आचरणवाली स्त्री को पाकर हम पाप में न फँस जाएँ,

अपितु शक्तिशाली बनकर हम उसके दुःख को कम करने में सहायक ही बनें।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'सन्देश्य-पाप' निवृत्ति

यत्ते पितृभ्यो ददतो यज्ञे वा नाम जगृहुः।
सन्देश्याऽत्सर्वस्मात्पापादिमा मुञ्चन्तु त्वौषधीः॥ ११॥

१. **यत्**=जब **पितृभ्यः ददतः**=पितरों के लिए देते हुए, अर्थात् पितृयज्ञ को सम्यक् सम्पन्न करते हुए **वा**=अथवा **यज्ञे**=(ददतः) अग्निहोत्र आदि यज्ञों में आहुतियाँ देते हुए **ते**=वे उत्तम आचरण करनेवाले लोग **नाम जगृहुः**=प्रभु-नाम का ग्रहण करते हैं, अर्थात् प्रभु का स्मरण करते हैं और प्रभु-स्मरण के कारण ही उन यज्ञों का अहंकार नहीं करते तब **इमाः ओषधीः**=ये दोषों का दहन करनेवाले आचार्य—विद्वान् लोग **त्वा**=तुझे **सर्वस्मात्**=सब **सन्देश्यात्**=(सन्दिश to give, grant) दान-सम्बन्धी **पापात्**=पाप से **मञ्चन्तु**=मुक्त करें, अर्थात् वे ठीक से प्रेरणा देते हुए यज्ञों में अज्ञानवश हो जानेवाले अपराधों से हमें बचाएँ।

भावार्थ—ज्ञानी लोग पितृयज्ञ व देवयज्ञादि उत्तम कर्मों को करते हुए प्रभुनाम-स्मरण से अहंकारवाले नहीं होते। वे दोषों को दग्ध करनेवाले ज्ञानी पुरुष हमें भी इन दानों में हो जानेवाले अपराधों से बचाएँ।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

वीरुधः वीर्येण, ब्रह्मणः ऋग्भिः, ऋषीणां पयसः

देवैनसात्पित्र्यान्नामग्राहात्सन्देश्या ऽदभिनिष्कृतात्।
मुञ्चन्तु त्वा वीरुधो वीर्ये ऽण ब्रह्मणा ऋग्भिः पयसा ऋषीणाम्॥ १२॥

१. **देवैनसात्**=देवों के विषय में किये गये पाप से, अर्थात् देवयज्ञ आदि न करने से, **पित्र्यात्**=पितरों के विषय में किये गये पाप से—उनका उचित आदर न करने से **नामग्राहात्**=नाम लेते रहने से, अर्थात् दूसरों पर झूठा दोष लगाने से, **सन्देश्यात्**=दान के विषय में होनेवाले पाप से तथा **अभिनिष्कृतात्**=(Injuring, speaking ill of) हिंसन व बुराई करने से **त्वा**=तुझे सब देव **मुञ्चन्तु**=मुक्त करें। सब देव **वीरुधः वीर्येण**=लताओं के वीर्य से—लताओं के भोजन से उत्पन्न शक्ति के द्वारा, **ब्रह्मणः ऋग्भिः**=वेदज्ञान की ऋचाओं से—विज्ञान प्रतिपादक मन्त्रों से तथा **ऋषीणां पयसा**=मन्त्रद्रष्टा ऋषियों द्वारा दिये गये ज्ञानदुग्ध से तुझे दोषों से मुक्त करें।

भावार्थ—हम ओषधि व वनस्पतियों का भोजन करते हुए शरीर में शक्ति का सम्पादन करें। वेद की ऋचाओं से विज्ञान को प्राप्त करें। ऋषियों के प्रवचनों से ज्ञानदुग्ध को प्राप्त करें। इसप्रकार हमारे सब पाप व पापवृत्तियाँ दूर हो जाएँगी।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**उरोबृहती** ॥

ब्रह्मनुत्तं दुर्भूतं अपायती

यथा वातश्च्यावयति भूम्या रेणुमन्तरिक्षाच्चाभ्रम्।
एवा मत्सर्वं दुर्भूतं ब्रह्मनुत्तमपायति॥ १३॥

१. **यथा**=जिस प्रकार **वातः**=तीव्र वायु **भूम्याः**=भूमि के **रेणुम्**=धूलकणों को **च**=और **अन्तरिक्षात्**=अन्तरिक्ष से **अभ्रम्**=मेघ को **च्यावयति**=स्थानभ्रष्ट कर देता है, **एव**=इसी प्रकार **सर्वम्**=सब **दुर्भूतम्**=दुर्भाव—बुरी भावनाएँ, **ब्रह्मनुत्तम्**=ज्ञान द्वारा प्रेरित हुई-हुई **मत्**=मुझसे **अपायति**=पृथक् हो जाती हैं।

भावार्थ—ज्ञान द्वारा सब दुर्भाव मानसस्थली से इसप्रकार उखड़ जाते हैं जैसेकि तीव्र गतिवाले वायु के द्वारा भूमि से धूल-कण स्थानभ्रष्ट हो जाते हैं और अन्तरिक्ष से मेघ छिन्न-भिन्न हो जाते हैं।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'शक्तियुक्त ज्ञान' द्वारा कृत्या का अपनोदन

अप क्राम नानदती विनद्धा गर्दभीव।
कर्तॄन्नक्षस्वेतो नुत्ता ब्रह्मणा वीर्यावता॥ १४॥

१. हे कृत्ये=हिंसा की क्रिये! तू **वीर्यावता ब्रह्मणा**=वीर्यवान् ज्ञान के द्वारा **नुत्ता**=दूर प्रेरित हुई-हुई **इतः**=यहाँ से **कर्तॄन्**=अपने उत्पन्न करनेवालों के पास ही **नक्षस्व**=चली जा—उन्हीं को प्राप्त हो। **इव**=जैसेकि **विनद्धा**=बन्धन से रहित हुई-हुई **गर्दभी**=गधी **नानदती**=रेंकती हुई भाग खड़ी होती है, उसी प्रकार **अपक्राम**=तू यहाँ से दूर चली जा।

भावार्थ—ज्ञान और शक्ति का सम्पादन करते हुए हम शत्रुकृत कृत्याओं को अपने से दूर भगानेवाले हों।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदाविराड्जगती** ॥

कुरूटिनी वाहिनी

अयं पन्थाः कृत्ये इति त्वा नयामोऽभिप्रहितां प्रति त्वा प्र हिण्मः।
तेनाभि याहि भञ्जत्यनस्वतीव वाहिनी विश्वरूपा कुरूटिनी॥ १५॥

१. हे **कृत्ये**=हिंसा-क्रिये! तेरे लिए **अयं पन्थाः**=यह मार्ग है। **इति त्वा नयामः**=तुझे इससे ले-जाते हैं। **अभिप्रहिताम्**=हमारी ओर भेजी हुई **त्वा**=तुझे **प्रतिप्रहिण्मः**=भेजनेवाले के प्रति भेजते हैं। २. **तेन**=उस मार्ग से **अभियाहि**=तू शत्रू के प्रति इसप्रकार जा **इव**=जैसेकि **अनस्वती**=रथोंवाली **विश्वरूपा**=नाना रूपों को धारण करनेवाली—'हाथी, घोड़े, रथ व पदातियों' से युक्त **कुरूटिनी**=(कुटिलं प्रतिघातिनी, रुट प्रतिघाते) प्रबल प्रतिघात करनेवाली **वाहिनी**=सेना **भञ्जती**=शत्रुओं का मर्दन करती हुई जाती है।

भावार्थ—कृत्या को हम कर्त्ता के प्रति वापस भेजते हैं। वह पूर्ण सेना के समान शत्रु पर आक्रमण करती हुई गति करती है।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

नव्वे नदियों के पार

पराक्ते ज्योतिरपथं ते अर्वागन्यत्रास्मदयना कृणुष्व।
परेणेहि नवतिं नाव्या३ अति दुर्गाः स्रोत्या मा क्षणिष्ठाः परेहि॥ १६॥

१. हे कृत्ये! **ते ज्योतिः पराक्**=तेरे लिए परे प्रकाश है। **अर्वाक् ते अपथम्**=इधर तेरे लिए मार्ग नहीं है। **अस्मत् अन्यत्र**=हमसे भिन्न अन्य स्थानों में तू **अयना कृणुष्व**=अपना मार्ग बना। २. **परेण इहि**=तू दूर मार्ग से गति कर। **नाव्याः**=नौका से तैरने योग्य—गहरी **नवतिम्**=नव्वे (अधिक) **दुर्गाः**=अलंघ्य—कठिनता से लाँघने योग्य **स्रोत्याः**=नदियों को **अति**=लाँघकर **परा इहि**=तू दूर चली जा। **मा क्षणिष्ठाः**=हमें हिंसित करनेवाली मत हो (क्षणु हिंसायाम्)।

भावार्थ—कृत्या हमारी ओर आनेवाली न हो। हमसे वह दूर ही रहे। नव्वे नदियों के पार रहती हुई वह हमारा हिंसन करनेवाली न हो।

सूचना—'नव्वे नदियों पार'—यह सुदूरता के भाव का सूचक वाक्यखण्ड (मुहावरा) है।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

हिंसा प्रयोग व वंशोच्छेद

वातइव वृक्षान्नि मृणीहि पादय मा गामश्वं पुरुषमुच्छिष एषाम्।
कर्तृन्निवृत्येतः कृत्येऽप्रजास्त्वाय बोधय॥ १७॥

१. हे कृत्ये=हिंसा के प्रयोग! तू शत्रुओं को इसप्रकार **निमृणीहि**=निर्मूल कर दे **इव**=जैसेकि **वातः वृक्षान्**=वायु वृक्षों को निर्मूल कर डालता है। **पादय**=इन्हें पाँव तले रौंद डाल—दूर भगा दे। **एषाम्**=इनके **गां अश्वं पुरुषम्**=गौ, अश्व व पुरुषों को **मा उच्छिषः**=जीवित मत छोड़। २. **इतः**=यहाँ से **निवृत्य**=लौटकर **कर्तृन्**=इन हिंसा-प्रयोग करनेवाले पुरुषों को **अप्रजास्त्वाय बोधय**=प्रजाहीन हो जाने की चेतावनी दे। उन्हें यह स्पष्ट कर दे कि इन प्रयोगों का परिणाम इतना भयंकर होगा कि तुम्हारा वंश ही उच्छिन्न हो जाएगा।

भावार्थ—हिंसक पुरुषों का हिंसा-प्रयोगों से स्वयं ही हिंसन हो जाता है। उनके सन्तान व वंश के ही उच्छेद हो जाने की आशंका हो जाती है।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**१८ त्रिष्टुप्, १९ चतुष्पदाजगती** ॥

बर्हिषि, श्मशाने, क्षेत्रे

यां ते बर्हिषि यां श्मशाने क्षेत्रे कृत्यां वलगं वा निचख्नुः।
अग्नौ वा त्वा गार्हपत्येऽभिचेरुः पाकं सन्तं धीरतरा अनागसम्॥ १८॥
उपाहृतमनुबुद्धं निखातं वैरं त्सार्यन्वविदाम कर्त्रम्।
तदेतु यत आभृतं तत्राश्वइव वि वर्ततां हन्तु कृत्याकृतः प्रजाम्॥ १९॥

१. **यां कृत्याम्**=जिस छेदनक्रिया की साधनभूत वस्तु को, **वा**=अथवा **वल-गम्**=(वल् संवरणे, ग=गम्) छिपे रूप में गति करनेवाली बम्ब आदि वस्तु को **ते बर्हिषि**=तेरी कुशादि घासों में, **याम्**=जिसे **श्मशाने**=समीपस्थ श्मशान में व **क्षेत्रे**=खेत में **निचख्नुः**=गाड़ देते हैं, **वा**=अथवा जो **धीरतराः**=(तृ अभिभवे) धीरों का भी अभिभव करनेवाले—अपने को अधिक बुद्धिमान् माननेवाले लोग **पाकम्**=पवित्र व **अनागसम्**=निरपराध **सन्तं त्वा**=होते हुए भी तुझे **गार्हपत्ये अग्नौ**=गार्हपत्य अग्नि में **अभिचेरुः**=अभिचरित करते हैं। अभिचारयज्ञ द्वारा अथवा किसी प्रकार गार्हपत्य अग्नि के प्रयोग द्वारा तुझे नष्ट करने का यत्न करते हैं। २. **उपाहृतम्**=उपहाररूप में दी गई **अनुबुद्धम्**=अनुकूल रूप से जानी गई अथवा **निखातम्**=कहीं क्षेत्र आदि में गाड़ी गई **वैरम्**=(वीरस्य भावः, वि+ईर्) विशिष्टरूप से कम्पित करनेवाली **त्सारी**=(त्सर छद्मगतौ) कुटिल गतिवाली—छिपेरूप में गतिवाली (वल-ग) **कर्त्रम्**=(कृत्याम्) घातक वस्तु को **अन्वविदाम**=हमने समझ लिया है, **तत्**=अतः यह **कर्त्रम्**=कृत्या **यतः आभृतम्**=जहाँ से यहाँ पहुँचाई गई है वहीं **एतु**=चली जाए। यह **तत्र**=वहाँ ही—जहाँ से आई है उस आनेवाले स्थान पर **अश्वः इव**=घोड़े की भाँति अथवा व्यापक अग्नि की भाँति **विवर्तताम्**=लौट जाए और **कृत्याकृतः प्रजां हन्तु**=कृत्या करनेवाले की प्रजा को ही नष्ट करे।

भावार्थ—घातक प्रयोग की वस्तु घास आदि में छिपाकर रक्खी जा सकती है, समीप के शमशान या खेत में गाड़ी जा सकती है अथवा गार्हपत्य अग्नि में कोई घातक प्रयोग किया जा सकता है। ये भी सम्भव है कि ऐसी कोई घातक वस्तु बड़ी अनुकूल-सी प्रतीत होती हुई उपहार रूप में दी जाए। ये सब उन कृत्या करनेवालों को ही प्राप्त हों—उन्हीं की प्रजा के विनाश का कारण बनें।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**विराट्प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

स्वायसाः असयः

स्वायसा असयः सन्ति नो गृहे विद्मा ते कृत्ये यतिधा परूंषि।
उत्तिष्ठैव परेहीतोऽज्ञाते किमिहेच्छसि॥ २०॥

१. **नः गृहे**=हमारे घर में **स्वायसाः**=उत्तम लोहे की बनी हुई **असयः सन्ति**=तलवारें हैं और हे **कृत्ये**=शत्रुकृत् हिंसा-प्रयोग! **यतिधा ते परूंषि**=जितने प्रकार के तेरे पर्व हैं उन्हें भी **विद्म**=हम जानते हैं। हम अपने यहाँ शत्रुविनाश के लिए अस्त्र-शस्त्रों को तैयार रक्खें तथा शत्रुकृत् हिंसा-प्रयोगों के प्रति सावधान रहें। २. शत्रुकृत् हिंसा-प्रयोग को सम्बोधित करते हुए हम कह सकें कि **उत्तिष्ठ एव**=तू यहाँ से उठ ही खड़ा हो, **इतः परा इहि**=यहाँ से सुदूर स्थान में चला जा। **अज्ञाते**=हे अज्ञातरूप में रहनेवाली हिंसाक्रिये! **इह किम् इच्छसि**=यहाँ तू क्या चाहती है, अर्थात् यहाँ तेरा क्या काम है? तुझे हम समझ गये हैं—अब तू यहाँ से दूर ही रह।

भावार्थ—हम अपने शस्त्रों को उत्तम स्थिति में रक्खें। शत्रुकृत् हिंसा-प्रयोगों को ठीक से जानकर उन्हें अपने से दूर करें।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इन्द्राग्नी

ग्रीवास्ते कृत्ये पादौ चापि कर्त्स्यामि निर्द्रव।
इन्द्राग्नी अस्मान्रक्षतां यौ प्रजानां प्रजावती॥ २१॥

१. हे **कृत्ये**=शत्रुकृत् छेदन-भेदन क्रिया के लिए मनुष्यरूप में बनाई गई वस्तु! **ते ग्रीवाः**=तेरी गर्दन की नाड़ियों को **च पादौ अपि**=और पाँवों को भी **कर्त्स्यामि**=मैं छिन्न कर डालूँगा, अतः **निर्द्रव**=तू यहाँ से दूर भाग जा। २. **इन्द्राग्नी**=राष्ट्र में हमारे सेनापति व राजा अथवा व्यक्ति में बल व प्रकाश के तत्त्व **अस्मान् रक्षताम्**=हमारा रक्षण करें। **यौ**=बल व प्रकाश के तत्त्व अथवा सेनापति व राजा **प्रजानाम् प्रजावती**=प्रजाओं में प्रशस्त प्रजाओंवाले हैं—अथवा माता के समान प्रजाओं का रक्षण करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम शत्रुकृत् घातक प्रयोगों को दूर करनेवाले हों। बल व प्रकाश के तत्त्व हमारा रक्षण करें। ये दोनों तत्त्व प्रजाओं में प्रशस्त प्रजावाले हैं, अथवा सेनापति व राजा हमारा रक्षण करें।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽर्च्युष्णिक् (एकावसाना)** ॥

'सोमः' राजा अधिपाः मृडिता च

सोमो राजाऽधिपा मृडिता च भूतस्य नः पतयो मृडयन्तु॥ २२॥

१. **सोमः**=शरीरस्थ सोमशक्ति **राजा**=हमारे जीवन को दीप्त बनानेवाली है, **अधिपाः**=हमारा खूब ही रक्षण करनेवाली है **च मृडिता**=और हमारे जीवन को सुखी बनानेवाली है। २. **भूतस्य पतयः**=प्राणियों के रक्षक सब तत्त्व **नः मृडयन्तु**=हमें सुखी करें।

भावार्थ—शरीर में सोम का रक्षण करते हुए हम दीप्त, रक्षित व सुखी जीवनवाले हों।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाभुरिक्विषमागायत्री** ॥

पापकृत्, कृत्याकृत्, दुष्कृत्

भवाशर्वावस्यतां पापकृते कृत्याकृते। दुष्कृते विद्युतं देवहेतिम्॥ २३॥

१. संसार को उत्पन्न करनेवाले प्रभु 'भव' हैं (भू:), संहार (प्रलय) करनेवाले प्रभु 'शर्व' हैं। **भवाशर्वौ**=उत्पादक व संहारक प्रभु **पापकृते**=पाप करनेवाले के लिए,

कृत्याकृते=औरों का छेदन-भेदन करनेवाले के लिए तथा **दुष्कृते**=अशुभ कर्मों को करनेवाले के लिए **देवहेतिम्**=देवों के वज्रभूत **विद्युतम्**=विद्युत् को **अस्यताम्**=फेंकनेवाले हों।

भावार्थ—पापकृत्, कृत्याकृत्, दुष्कृत् लोग उत्पादक व संहारक प्रभु के द्वारा फेंकी गई विद्युत् के शिकार हों। ये लोग आधिदैविक आपत्तियों के द्वारा नष्ट हो जाएँ।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

अष्टापदी भूत्वा

यद्येयथ द्विपदी चतुष्पदी कृत्याकृता संभृता विश्वरूपा।
सेतो३ऽष्टापदी भूत्वा पुनः परेहि दुच्छुने॥ २४॥

१. हे **दुच्छुने**=दुष्ट गतिवाली व दुःखदायिनी कृत्ये! **यदि**=यदि तू **कृत्याकृता**=इन छेदन-भेदन का प्रयोग करनेवाले पुरुषों के द्वारा **संभृता**=सम्यक् बनाई गई, **विश्वरूपा**=अनेक रूपोंवाली **द्विपदी**=दो पाँवोंवाली व **चतुष्पदी**=चार पाँवोंवाली **आ इयथ**=हमारे समीप आती है, तो **सा**=वह तू **अष्टापदी भूत्वा**=आठ पावोंवाली बनकर—दुगुनी व चौगुनी के स्थान में आठ गुनी होकर **इतः**=यहाँ से **पुनः परेहि**=फिर वापस जानेवाली हो।

भावार्थ—हिंसा का प्रयोग हिंसा करनेवाले को ही पुनः द्विगुणित होकर प्राप्त हो।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अभ्यक्ता, अक्ता, स्वरंकृता

अभ्य१क्ताक्ता स्व१रंकृता सर्वं भरन्ती दुरितं परेहि।
जानीहि कृत्ये कर्तारं दुहितेव पितरं स्वम्॥ २५॥

१. **अभ्यक्ता**=चन्दनादि लेप से सब प्रकार से सुन्दर, **अक्ता**=तैलादि से मर्दित, **सु अरंकृता**=उत्तम रीति से आभूषणों से सुसज्जित होकर भी वेश्या के समान **सर्वं दुरितं भरन्ती**=सब दुरित (दुराचरण) को अपने में धारण करती हुई तू हे कृत्ये! **परा इहि**=हमसे दूर जा। २. हे **कृत्ये**=छेदन-क्रिये! तू उसी प्रकार **कर्तारं जानीहि**=अपने उत्पादक को जान, **इव**=जैसेकि **दुहिता स्वं पितरम्**=लड़की अपने पिता को ही समझती है, पति से लौटाई हुई वह पिता के पास ही रहती है और पिता का ही व्यय कराती है। जैसे दुहिता पिता के पास लौट आती है, उसी प्रकार हे कृत्ये! तू कर्ता के पास ही लौट जा।

भावार्थ—बड़ी सुन्दर आकृति की कृत्या का प्रयोग भी कर्त्ता के समीप ही लौट जाए। यह सुन्दराकृति वेश्या के समान विनाशक ही है।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मृगः सः, मृगयुः त्वं

परेहि कृत्ये मा तिष्ठो विद्धस्येव पदं नय। मृगः स मृगयुस्त्वं न त्वा निकर्तुमर्हति॥ २६॥

१. हे **कृत्ये**=हिंसाक्रिये! तू **परा इहि**=यहाँ से दूर जा, **मा तिष्ठः**=हमारे समीप स्थित मत हो। **विद्धस्य एव**=बाण से घायल शिकार के पैरों के निशान देखकर जिस प्रकार शिकार खोज लिया जाता है, उसी प्रकार तू **पदं नय**=शत्रु के पैर खोज-खोजकर उस तक पहुँच जा। २. हे कृत्ये! **सः मृगः**=वह शत्रु मृग है, **त्वं मृगयुः**=तू उस मृग का शिकार करनेवाली है। वह **त्वा**=तुझे **निकर्तुं न अर्हति**=काटने योग्य नहीं है। तू उसी के पास लौटकर उसका छेदन करनेवाली हो।

भावार्थ—हे कृत्ये! तू अपने करनेवाले के समीप ही पहुँच। तू उसी को नष्ट कर। तुझ

मृगयु का वह मृग है। तुझे उसको मारना है, वह तुझे नहीं मार सकता।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

रक्षणात्मक, न कि आक्रमणात्मक (युद्ध)

उत हन्ति पूर्वासिनं प्रत्यादायापर इष्वा।
उत पूर्वस्य निघ्नतो नि हन्त्यपरः प्रति॥ २७॥

१. **अपरः**=(अ-परः) शत्रुत्व की भावना से रहित पुरुष **उत**=भी **पूर्वासिनम्**=(असु क्षेपणे) पहले शस्त्र फेंकनेवाले को **प्रत्यादाय**=उलटा पकड़कर—सैन्य द्वारा उसका स्वागत करके—**इष्वा हन्ति**=बाण से मारता है। श्रेष्ठ पुरुष पहले आक्रमण नहीं करता, परन्तु आक्रान्ता का सेना द्वारा स्वागत करके उसे बाणों से प्रहृत करता है। २. **अ-परः**=यह पर (शत्रु) न होता हुआ—व्यर्थ में वैर न करता हुआ **उत**=निश्चय से **पूर्वस्य निघ्नतः**=पहले हनन (चोट) करते हुए के **प्रतिहन्ति**=प्रतिरोध के लिए चोट करता ही है।

भावार्थ—आक्रमणात्मक युद्ध वाञ्छनीय नहीं है, परन्तु रक्षणात्मक युद्ध तो करना ही है।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदागायत्री** ॥

यः त्वा चकार, तं प्रति

एतद्धि शृणु मे वचोऽथेहि यत एयथ। यस्त्वा चकार तं प्रति॥ २८॥

हे कृत्ये! हिंसनक्रिये! **मे एतत् वचः**=मेरे इस वचन को **शृणु हि**=निश्चय से सुन ही। **अथ इहि**=और अब वहाँ ही जा **यतः आ इयथ**=जहाँ से तू आई है। **यः त्वा चकार**=जो तुझे करता है, **तं प्रति**=उसी के प्रति तू जा।

भावार्थ—हम कभी भी पहले आक्रमण न करें, परन्तु शत्रुकृत् हिंसा को उसी के प्रति लौटाएँ।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**मध्येज्योतिष्मतीजगती** ॥

निरपराध का हिंसन भयंकर पाप है

अनागोहत्या वै भीमा कृत्ये मा नो गामश्वं पुरुषं वधीः।
यत्रयत्रासि निहिता ततस्त्वोत्थापयामसि पर्णाल्लघीयसी भव॥ २९॥

१. हे **कृत्ये**=हिंसनक्रिये! **अनागः हत्या**=निष्पाप का मारना **वै**=निश्चय से **भीमा**=भयंकर है—भयप्रद परिणामों को पैदा करनेवाला है। तू **नः**=हमारे **गां अश्वं पुरुषम्**=गौ, घोड़े व पुरुषों को **मा वधीः**=मत मार। २. हे कृत्ये! तू **यत्र यत्र निहिता असि**=जहाँ-जहाँ भी रक्खी गई है—घासों में, खेतों में, श्मशानों में—जहाँ कहीं भी शत्रु ने तुझे रखने का प्रयत्न किया है, **ततः त्वा उत्थापयामसि**=वहाँ से तुझे उखाड़ फेंकते हैं—उठाकर दूर कर देते हैं। तू **पर्णात् लघीयसी भव**=पत्ते से भी हल्की हो जा, अर्थात् तेरा उखाड़ फेंकना हमारे लिए कठिन न हो।

भावार्थ—दुष्ट शत्रुभूत लोग निरपराध लोगों को भी आहत करने के लिए बम्बादि भारी-भारी हिंसक प्रयोगों को इधर-उधर छिपाकर रखने का प्रयत्न करते हैं। हम इन प्रयोगों को ढूँढकर विनष्ट कर दें।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तमः जालम्

यदि स्थ तमसावृता जालेनाभिहिताइव।
सर्वाः संलुप्येतः कृत्याः पुनः कर्त्रे प्र हिण्मसि॥ ३०॥

१. हे लोगो! **यदि**=यदि तुम **तमसा आवृताः स्थ**=अन्धकार से आच्छादित-से हो, अथवा **जालेन**=जाल से **अभिहिताः इव**=बद्ध-से हो, अर्थात् शत्रुकृत् कृत्याओं के कारण यदि चारों ओर अन्धकार-सा छा गया है और ऐसा लगता है कि हमारे लोग जाल से बद्ध-से हो गये हैं, तो **इतः**=यहाँ से **सर्वाः कृत्याः**=सब हिंसा-प्रयोगों को **संलुप्य**=लुप्त करके—छिन्न करके **पुनः**=फिर **कर्त्रे**=इनके करनेवालों के लिए ही **प्रहिण्मसि**=हम भेजते हैं।

भावार्थ—रक्षकवर्ग का यह कर्त्तव्य है कि शत्रुकृत् अन्धकारों व जाल-बन्धनों से प्रजा का रक्षण करे।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कृत्याकृत्, वलगी, अभिनिष्कारी

कृत्याकृतो वलगिनोऽभिनिष्कारिणः प्रजाम्।
मृणीहि कृत्ये मोच्छिषोऽमून्कृत्याकृतो जहि॥ ३१॥

१. हे **कृत्ये**=छेदन-भेदन की क्रिये! तू **कृत्याकृतः**=छेदन करनेवालों तथा **वलगिनः**=गुप्त प्रयोगों को करनेवालों की (वल संवरणे) तथा **अभिनिष्कारिणः**=आक्रमण करनेवाले की व बुरा सोचनेवाले की (injuring, thinking ill of) **प्रजाम् मृणीहि**=प्रजा को भी कुचल दे, **मा उच्छिषः**=उन्हें बचा मत। **अमून् कृत्याकृतः**=इन हिंसन करनेवालों को **जहि**=तू नष्ट कर दे।

भावार्थ—कृत्या हिंसन करनेवाले लोगों का ही उच्छेद करे।

ऋषिः—**प्रत्यङ्गिरसः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**द्व्यनुष्टुब्गर्भापञ्चपदातिजगती** ॥

कृत्या प्रयोगों का विनाश

यथा सूर्यो मुच्यते तमसस्परि रात्रिं जहात्युषसश्च केतून्।
एवाहं सर्वं दुर्भूतं कर्त्रं कृत्याकृता कृतं हस्तीव रजो दुरितं जहामि॥ ३२॥

१. **यथा**=जैसे **सूर्यः तमसः परिमुच्यते**=सूर्य अन्धकार से मुक्त हो जाता है **च**=और **रात्रिम्**=रात्रि को तथा **उषसः केतून्**=उषा के प्रज्ञापक (प्रकाशमय) चिह्नों को भी **जहाति**=छोड़ देता है, **एव**=इसी प्रकार **अहम्**=मैं **कृत्याकृता**=हिंसनक्रिया करनेवाले पुरुष के द्वारा **कृतम्**=किये हुए **सर्वम्**=सब **दुर्भूतम्**=दुष्ट **कर्त्रम्**=घातक प्रयोग को उसी प्रकार **जहामि**=छोड़ता हूँ, **इव**=जैसेकि **हस्ती**=हाथी **दुरितं रजः**=बुरी प्रकार से प्राप्त हुई-हुई धूल को परे फेंक देता है।

भावार्थ—हम शत्रुकृत् हिंसा-प्रयोगों को इसप्रकार दूर कर पाएँ जैसेकि सूर्य अन्धकार को दूर कर देता है और हाथी बुरी तरह से चिपकी धूल को दूर कर देता है।

सब प्रकार के पापों व अन्धकारों को दूर करने के लिए प्रभु का स्मरण करता हुआ यह पुरुष नर-समूह का अयन (रक्षण-स्थान) बनता है, अतः 'नारायण' नामवाला होता है। यह प्रभु-स्मरण करता हुआ कहता है कि—

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'पार्ष्णी-प्रतिष्ठा' केन?

केन पार्ष्णी आभृते पूरुषस्य केन मांसं संभृतं केन गुल्फौ।
केनाङ्गुलीः पेशनीः केन खानि केनोच्छ्लङ्खौ मध्यतः कः प्रतिष्ठाम्॥ १॥

१. **पूरुषस्य**=पुरुषदेह की **पार्ष्णी**=दोनों एडियाँ **केन आभृते**=किसने बनायी हैं? **मांसं केन**

संभृतम्=मांस को किसने सम्यक् भृत (धारित) किया है? **केन गुल्फौ**=किसने गिट्टों को लगाया है? २. **केन पेशनीः**=किसने सुन्दर अवयवोंवाली (पिश अवयवे) **अंगुलीः**=अंगुलियों को संभृत किया है? **केन खानि**=किसने इन्द्रिय-छिद्रों को बनाया है? **केन उच्छ्लङ्खौ**=(उत् श्लंक् गतौ) किसने उत्कृष्ट गतिवाले दोनों शिरःकपाल बनाये हैं? **मध्यतः**=शरीर के मध्य में **कः**=किसने **प्रतिष्ठाम्**=बैठने के आधारभूत 'श्रोणिफलक'—नितम्ब बनाये हैं?

भावार्थ—एक-एक अंग की रचना में प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर होती है।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गुल्फौ-जानू

कस्मान्नु गुल्फावधरावकृण्वन्नष्ठीवन्तावुत्तरौ पूरुषस्य।
जङ्घे निर्ऋत्य न्य दधुः क्व स्विज्जानुनोः सन्धी क उ तच्चिकेत॥ २॥

१. **कस्मात्**=किस कारण से **नु**=अब **गुल्फौ**=गिट्टे **अधरौ अकृण्वन्**=नीचे बनाये हैं और **पूरुषस्य**=पुरुष-शरीर के **अष्ठीवन्तौ उत्तरौ**=घुटने ऊपर बनाये गये हैं? २. क्योंकर **जङ्घे**=जाँघें **निर्ऋत्य न्यदधुः**=अलग-अलग करके रक्खी गई हैं? **जानुनोः सन्धी क्वस्वित्**=घुटनों की सन्धियों को कहाँ रक्खा गया है? **कः उ तत् चिकेत**=कौन इसे निश्चय से जानता है?

भावार्थ—इस शरीर की रचना को पूरा-पूरा समझना कठिन है।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

कुसिन्ध (धड़)

चतुष्टयं युज्यते संहितान्तं जानुभ्यामूर्ध्वं शिथिरं कबन्धम्।
श्रोणी यदूरू क उ तज्जजान याभ्यां कुसिन्धं सुदृढं बभूव॥ ३॥

१. **चतुष्टयम्**=चार प्रकार के **संहित-अन्तम्**=सटे हुए सिरोंवाला यह **शिथिरम्**=शिथिल (flabby) **कबन्धम्**=धड़ **जानुभ्याम् ऊर्ध्वम्**=घुटनों के ऊपर **युज्यते**=जोड़ा गया है और **यत्**=जो **श्रोणी**=दोनों कूल्हे (The hip, the buttocks) और **ऊरू**=जाँघें हैं, **कः उ**=किसने **तत् जजान**=उन्हें निर्मित किया है? **याभ्याम्**=जिनके साथ **कुसिन्धम्**=(कुस श्लेषणे, धा) श्लेष का धारक (परस्पर संभक्त) अथवा (कु+स्यन्द) मलों का प्रवाहक (कु सिन्ध्) व छोटी-छोटी नाड़ियों से पूर्ण यह धड़ **सुदृढं बभूव**=दृढ़ हुआ है।

भावार्थ—यहाँ ऊरू व श्रोणि-प्रदेशों को निर्मित करके उनपर इस धड़ को किसने सुदृढ़ किया है?

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उरः-पृष्टीः

कति देवाः कतमे त आसन्य उरो ग्रीवाश्चिक्युः पूरुषस्य।
कति स्तनौ व्य दधुः कः कफोडौ कति स्कन्धान्कति पृष्टीरचिन्वन्॥ ४॥

१. **ते**=वे **कति**=कितने व **कतमे**=कौन-से **देवाः**=दिव्य पदार्थ थे, **ये**=जिन्होंने **पूरुषस्य**=इस पुरुष के **उरः**=छाती को **ग्रीवाः**=और गले की नाड़ियों को **चिक्युः**=चिन दिया। **कति स्तनौ**=कितनों ने दोनों स्तनों को **व्यदधुः**=बनाया। **कः कफोडौ**=किसने दोनों कपोलों को बनाया। **कति**=कितनों ने **स्कन्धान्**=कन्धों को और **कति**=कितनों ने **पृष्टीः अचिन्वन्**=पसलियों को एकत्र किया।

भावार्थ—शरीर में छाती, ग्रीवा, स्तन, कपोल, स्कन्ध व पृष्टियों की रचना अद्भुत ही है।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

बाहू-अंसौ

को अस्य बाहू समभरद्वीर्यं करवादिति।
अंसौ को अस्य तद्देवः कुसिन्धे अध्या दधौ॥ ५॥

१. **कः**=किस अद्भुत रचयिता ने **अस्य**=इस पुरुष की **बाहू समभरत्**=भुजाओं को संभृत किया है, **वीर्यं करवात् इति**=जिससे यह वीरतापूर्ण कर्मों को करनेवाला बनता है, **तत्**=उसी कर्त्तव्य-भार को उठाने के उद्देश्य से ही **कः देवः**=किस दिव्य स्रष्टा ने **अस्य कुसिन्धे अधि**=इस पुरुष के धड़ पर **अंसौ आदधौ**=कन्धों को स्थापित किया है।

भावार्थ—भुजाएँ शक्तिशाली कर्मों को करने के लिए दी गई हैं और कन्धे कर्त्तव्यभार को उठाने के लिए प्राप्त कराये गये हैं। हम कर्त्तव्यभार से घबराएँ नहीं, अपितु वीरता के साथ कर्म करनेवाले बनें।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

सप्तखानि

कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्।
येषां पुरुत्रा विजयस्य मह्मनि चतुष्पादो द्विपदो यन्ति यामम्॥ ६॥

१. **कः**=किसने **शीर्षणि**=सिर में **सप्त खानि विततर्द**=सात इन्द्रिय-गोलकों को खोदा है—बनाया है। **इमौ कर्णौ**=इन दोनों कानों को, **नासिके**=दोनों नासिका-छिद्रों को **चक्षणी**=दोनों आँखों को और **मुखम्**=मुख को किसने बनाया है? २. **येषाम्**=जिन इन्द्रिय-गोलकों की **विजयस्य मह्मनि**=विजय की महिमा में उनके स्वस्थ रहने पर ही **चतुष्पादः द्विपदः**=चौपाये और दोपाये—पशु व मनुष्य सभी प्राणी **पुरुत्रा**=अनेक प्रकार से **यामं यन्ति**=मार्ग पर चलते हैं।

भावार्थ—प्रभु ने किस प्रकार इन दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँख व मुखरूप अद्भुत सात इन्द्रिय-गोलकों को बनाया है। इनकी विजय की महिमा में ही सब प्राणी जीवन-मार्ग में आगे बढ़ते हैं।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पुरूची जिह्वा

हन्वोर्हि जिह्वामदधात्पुरूचीमधा महीमधि शिश्राय वाचम्।
स आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तरपो वसानः क उ तच्चिकेत॥ ७॥

१. उस आनन्दमय प्रभु ने ही **हन्वोः**=दोनों जबड़ों के बीच में **पुरूचीम्**=बहुत चलनेवाली **जिह्वाम्**=जिह्वा को **अदधात्**=स्थापित किया है, **अध**=और इस जिह्वा में **महीं वाचम्**=महनीय—महत्त्वपूर्ण वाणी को **अधिशिश्राय**=आश्रित किया है। २. **सः**=वे प्रभु **भुवनेषु अन्तः**=सब भुवनों में **आवरीवर्ति**=वर्त्तमान हो रहे हैं। **अपः वसानः**=सब प्रजाओं को उन्होंने आच्छादित किया हुआ है—सबको अपने गर्भ में धारण किया हुआ है। **कः उ**=निश्चय से कौन **तत् चिकेत**=उस ब्रह्म को जानता है? वह प्रभु अज्ञेयस्वरूप ही हैं।

भावार्थ—जबड़ों में गतिशील जिह्वा का स्थापन कितना अद्भुत है। उस जिह्वा में क्या ही अद्भुत वाणी की शक्ति का स्थापन हुआ है। वे प्रभु सब भुवनों में वर्त्तमान हैं, सब प्राणियों को अपने में धारण कर रहे हैं। प्रभु की गरिमा अव्याख्येय है।

ऋषि:—**नारायण:** ॥ देवता—**पुरुष:, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्** ॥

मस्तिष्कं ललाटं

मस्तिष्कमस्य यतमो ललाटं ककाटिकां प्रथमो यः कपालम्।
चित्वा चित्यं हन्वोः पूरुषस्य दिवं रुरोह कतमः स देवः ॥ ८ ॥

१. **यतम: प्रथम:**=जिस प्रथम देव ने—जिस सर्वव्यापक (प्रथ विस्तारे) देव ने **अस्य पूरुषस्य**=इस पुरुष के **मस्तिष्कं ललाटम्**=मस्तिष्क (भेजे) व ललाट (माथे) को **य:**=जिसने **ककाटिकाम्**=सिर के पिछले भाग को व **कपालम्**=खोपड़ी को तथा **हन्वो: चित्यम्**=दोनों जबड़ों के सञ्चय को **चित्वा**=चिनकर **दिवं रुरोह**=अपने प्रकाशमय रूप में आरोहण किया है, **स: देव: कतम:**=वह देव कौन-सा है?

भावार्थ—पुरुष के 'मस्तिष्क, ललाट, ककाटि, कपाल व हनुओं' की रचना में उस अज्ञेय प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर हो रही है।

ऋषि:—**नारायण:** ॥ देवता—**पुरुष:, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

प्रियाप्रियाणि

प्रियाप्रियाणि बहुला स्वप्नं संबाधतन्द्र्य: ।
आनन्दानुग्रो नन्दांश्च कस्माद्वहति पूरुषः ॥ ९ ॥

१. हे पुरुषो! विचारो कि **उग्र: पूरुष:**=तेजस्वी होता हुआ पुरुष **बहुला**=बहुत प्रकार के **प्रियाप्रियाणि**=प्रिय व अप्रिय भावों को, **स्वप्नम्**=स्वप्न को **संबाधतन्द्र्य:**=बाधाओं (पीड़ाओं) व थकानों को **आनन्दान्**=आनन्दों को **च नन्दान्**=और समृद्धियों को **कस्मात् वहति**=किस कारण से प्राप्त करता है?

भावार्थ—किस देव की अधीनता में तेजस्वी-से-तेजस्वी पुरुष भी प्रिय व अप्रिय कर्मफलों को प्राप्त करता है।

ऋषि:—**नारायण:** ॥ देवता—**पुरुष:, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

आर्ति-उदिति

आर्तिरवर्तिर्निर्ऋतिः कुतो नु पुरुषेऽमतिः ।
राद्धिः समृद्धिरव्यृद्धिर्मतिरुदितयः कुतः ॥ १० ॥

१. **पुरुषे**=इस पुरुष में **आर्ति:**=पीड़ा, **अवर्ति:**=दरिद्रता—वृत्ति का न चलना, **निर्ऋति:**=कृच्छ्रापत्ति (नि० २।७) कष्ट और **अमति:**=अज्ञान व कुमति **कुत: नु**=कहाँ से आ जाते हैं। २. इसीप्रकार **राद्धि:**=सिद्धि, **समृद्धि:**=सम्पत्ति **अव्यृद्धि:**=अन्यूनता (विशेष सम्पत्ति का भाव), **मति:**=बुद्धि, तथा **उदितय:**=उत्थान की क्रियाएँ **कुत:**=कहाँ से होती हैं?

भावार्थ—मनुष्य को कभी पीड़ा, कभी सफलता व कभी उत्थान—ये सब किस परमपुरुष की व्यवस्था में प्राप्त होते हैं?

ऋषि:—**नारायण:** ॥ देवता—**पुरुष:, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्द:—**जगती** ॥

'रुधिर' रूप अद्भुत जल

को अस्मिन्नापो व्य दधाद्विषूवृतः पुरूवृतः सिन्धुसृत्याय जाताः ।
तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः ॥ ११ ॥

१. **अस्मिन् पुरुषे**=इस पुरुष में **आप:**=रुधिररूप जलों को **क: व्यदधात्**=किसने

बनाया है, जोकि **विषूवृतः**=नाना प्रकार से देह में घूमते हैं, **पुरूवतः**=(पॄ पालनपूरणयोः) पालन व पूरण करने के दृष्टिकोण से घूमनेवाले, **सिन्धुसृत्याय जाताः**=नाड़ीरूप सिन्धुओं में गति करने के योग्य हो गये हैं। २. ये रुधिरद्रव **तीव्राः**=तीव्र गतिवाले **अरुणाः**=लाल रंगवाले **लोहिनीः**=लोह धातु को साथ ले-जानेवाले, **ताम्रधूम्राः**=तांबे के धूएँ के समान रंगवाले, **ऊर्ध्वा अवाचीः तिरश्चीः**=ऊपर, नीचे व तिरछे चलनेवाले हैं।

भावार्थ—नाड़ियों में प्रवाहित होनेवाले इस अद्भुत रुधिर का निर्माण किसने किया है?

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

रूपं चरित्रं

को अस्मिन्रूपमदधात्को मह्यानं च नाम च।
गातुं को अस्मिन्कः केतुं कश्चरित्राणि पूरुषे॥ १२॥

१. **कः**=कौन **अस्मिन् पूरुषे**=इस पुरुष में **रूपं अदधात्**=रूप को स्थापित करता है? **च**=और **कः**=कौन **मह्यानं नाम च**=महिमा और नाम को स्थापित करनेवाला है? **कः**=कौन **अस्मिन्**=इस पुरुष में **गातुम्**=गीत को, शब्द को स्थापित करता है? **कः केतुम्**=कौन ज्ञान को, **कः च**=और कौन **चरित्राणि**=आचरणों को स्थापित करता है?

भावार्थ—पुरुष में 'रूप, महिमा, नाम, शब्द, ज्ञान व चरित्रों' का स्थापन कौन करता है?

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्राण-समान

को अस्मिन्प्राणमवयत्को अपानं व्यानमु।
समानमस्मिन्को देवोऽधि शिश्राय पूरुषे॥ १३॥

१. **कः**=किस आनन्दमय देव ने **अस्मिन् पूरुषे**=इस पुरुष में **प्राणम्**=प्राणवायु को **अवयत्**=बुना है। **कः**=किसने **अपानम्**=अपान को **उ**=और **व्यानम्**=सर्वशरीरगामी व्यानवायु को प्रवाहित किया है? २. **अस्मिन्**=इसमें **कः देवः**=किस दिव्य परमपुरुष प्रभु ने **समानम्**=समानवायु को **अधि शिश्राय**=अधिश्रित किया है?

भावार्थ—इस पुरुष में प्राणादि अवयवों का स्थापक पुरुष कितना अद्भुत स्रष्टा है?

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यज्ञ-अमृत

को अस्मिन्यज्ञमदधादेको देवोऽधि पूरुषे।
को अस्मिन्त्सत्यं कोऽनृतं कुतो मृत्युः कुतोऽमृतम्॥ १४॥

१. **कः**=कौन **एकः देवः**=अद्वितीय देव **अस्मिन् पूरुषे अधि**=इस पुरुष में **यज्ञं अदधात्**=यज्ञ को स्थापित करनेवाला हुआ? **कः**=किसने **अस्मिन्**=इसमें **सत्यम्**=सत्य को **कः**=और किसने **अनृतम्**=असत्य को स्थापित किया है? **कुतः मृत्युः**=कहाँ से यह मृत्यु आती है, और **कुतः अमृतम्**=कहाँ से नीरोगता की स्थापना होती है?

भावार्थ—'यज्ञ, सत्य, अनृत, मृत्यु व अमृत' का संस्थापक देव कौन है?

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वासः-जवः

को अस्मै वासः पर्यदधात्को अस्यायुरकल्पयत्।
बलं को अस्मै प्रायच्छत्को अस्याकल्पयज्जवम्॥ १५॥

१. **कः**=कौन **अस्मै**=इस पुरुष के लिए **वासः पर्यदधात्**=देहरूप वस्त्र को धारण कराता है? **कः**=कौन **अस्य**=इस पुरुष के **आयुः अकल्पयत्**=आयुकाल को नियत करता है? **अस्मै**=इस पुरुष के लिए **बलम्**=बल को **कः प्रायच्छत्**=कौन देता है? **कः**=कौन **अस्य**=इसके **जवम्**=वेग व क्रिया-सामर्थ्य को **अकल्पयत्**=रचता है?

भावार्थ—किस अद्भुत देव ने हमें शरीररूप वस्त्र, आयु, बल व वेग को प्राप्त कराया है?

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आपः-अहः

केनापो अन्वतनुत केनाहरकरोद्रुचे।
उषसं केनान्वैन्द्ध केन सायंभवं ददे॥ १६॥

१. **केन**=किससे **आपः**=ये जल अथवा शरीरस्थ वीर्यकण **अन्वतनुत**=अनुकूलता से विस्तृत किये गये हैं? **केन**=किसने **रुचे**=प्रकाश के लिए **अहः**=दिन व सूर्य को **अकरोत्**=बनाया है? **केन**=किसने **उषसम्**=उषाकाल को **अन्वैन्द्ध**=पुरुष के अनुकूल दीप्त किया है और **केन**=किसने **सायंभवं ददे**=सायंकाल को दिया है?

भावार्थ—किस अनुपम देव ने 'जलों, दिनों, उषाओं व सायंकालों' का निर्माण किया है?

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

रेतः-नृतः

को अस्मिन्रेतो न्य दधात्तन्तुरा तायतामिति।
मेधां को अस्मिन्नध्यौहत्को बाणं को नृतो दधौ॥ १७॥

१. **अस्मिन्**=इस पुरुष-देह में **रेतः**=वीर्य को **कः**=कौन देव **न्यदधात्**=निहित करता है, **तन्तुः आतायताम् इति**=जिससे इस पुरुष का प्रजातन्तु फैल सके? शरीर में वीर्य स्थापन का मुख्य उद्देश्य यही है कि प्रजातन्तु का विस्तार हो सके। २. **मेधाम्**=मेधा बुद्धि को **अस्मिन्**=इस पुरुष में **कः**=कौन **अधि औहत्**=धारण करता है? **कः बाणम्**=कौन वाक्शक्ति को और **कः**=कौन **नृतः**=हाथ-पैर आदि की चेष्टाओं को **दधौ**=स्थापित करता है?

भावार्थ—प्रजातन्तु के विस्तार के लिए प्रभु ने शरीर में रेतस् की स्थापना की है। साथ ही 'मेधा, वाक्शक्ति व चेष्टाओं' को स्थापित किया है। प्रत्येक कार्य पहले बुद्धि में, फिर वाणी में और तदनन्तर हाथ-पैर आदि की चेष्टाओं में उपस्थित होता है—'**यन्मनसा मनुते, तद्वाचा वदति, यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति**'। ये सब किस अनुपम देव ने बनाये हैं।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

भूमि-द्युलोक

केनेमां भूमिमौर्णोत्केन पर्यभवद्दिवम्।
केनाभि मह्ना पर्वतान्केन कर्माणि पूरुषः॥ १८॥

१. **पूरुषः**=उस परमपुरुष ने **केन मह्ना**=किस अद्भुत सामर्थ्य से **इमां भूमिं और्णोत्**=इस भूमि को आच्छादित किया है—बिछा-सा दिया है? **केन**=किस सामर्थ्य से **दिवं परि अभवत्**=द्युलोक को समन्तात् व्याप्त किया हुआ है? **केन**=किस अद्भुत सामर्थ्य से **पर्वतान्**=पर्वतों को और **केन**=किस सामर्थ्य से **कर्माणि**=सब कर्मों को **अभि**=(अभवत्) अभिभूत—वशीभूत किया हुआ है?

भावार्थ—उस परमपुरुष ने भूमि को अपनी महिमा से बिछा-सा दिया है और द्युलोक

को व्याप्त किया हुआ है। उसी ने पर्वतों व सब कर्मों को वशीभूत किया हुआ है।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पर्जन्य-सोम

केन॑ पर्जन्य॒मन्वे॑ति केन॒ सोमं॑ विचक्ष॒णम्।
केन॑ य॒ज्ञं च॑ श्र॒द्धां च॒ केना॑स्मि॒न्निहि॑तं॒ मनः॑ ॥ १९ ॥

१. **केन**=किस अद्भुत देव द्वारा यह पुरुष **निहितम्**=अन्तरिक्ष में स्थापित किये हुए **पर्जन्यम्**=मेघ को **अनु एति**=लगातार—प्रतिवर्ष प्राप्त करता है? **केन**=किसके द्वारा शरीर में स्थापित किये गये **विचक्षणम्**=विशिष्ट प्रकाशवाले **सोमम्**=वीर्य को प्राप्त करता है? शरीर में यह सोम ही ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर जीवन को प्रकाशमय बनाता है, यह सोम विचक्षण है। २. **केन**=किस देव के द्वारा स्थापित **यज्ञं च श्रद्धां च**=यज्ञ और श्रद्धा को प्राप्त करता है? और **केन**=किससे **अस्मिन्**=इस देह में **निहितं मनः**=रक्खे हुए मन को अनुकूलता से प्राप्त करता है?

भावार्थ—प्रभु ने मानव-हित के लिए पर्जन्यों का निर्माण करके अन्न को सम्भव किया है (पर्जन्यादन्नसम्भवः)। प्रभु ने इस अन्न द्वारा शरीर में सोम की स्थापना की है। सुरक्षित सोम यज्ञ और श्रद्धा का मूल बनता है और मानसशक्ति का विकास करता है।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'ब्रह्म (ज्ञान) का महत्त्व'

केन॒ श्रोत्रि॑यमाप्नोति॒ केने॒मं प॑रमे॒ष्ठिन॑म्। केने॒मम॒ग्निं पूरु॑षः॒ केन॑ संवत्स॒रं म॑मे ॥ २० ॥
ब्रह्म॒ श्रोत्रि॑यमाप्नोति॒ ब्रह्मे॒मं प॑रमे॒ष्ठिन॑म्। ब्रह्मे॒मम॒ग्निं पूरु॑षो॒ ब्रह्म॑ संवत्स॒रं म॑मे ॥ २१ ॥

१. **केन**=किस हेतु से **श्रोत्रियम् आप्नोति**=वेदज्ञ आचार्य को प्राप्त करता है, **केन**=किससे **इमम्**=इस **परमेष्ठिनम्**=परम स्थान में स्थित प्रभु को प्राप्त करता है? और **पूरुषः**=पुरुष **केन**=किससे **इमं अग्निम्**=इस अग्नि को **ममे**=मापता है—जान पाता है? **केन**=किससे **संवत्सरम्**=काल को मापता है? २. इन प्रश्नों का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **ब्रह्म**=ज्ञान ही **श्रोत्रियम् आप्नोति**=श्रोत्रिय को प्राप्त करता है, अर्थात् ज्ञान के हेतु से ही मनुष्य श्रोत्रिय के समीप जाता है। **ब्रह्म इमं परमेष्ठिनम्**=ज्ञान ही इस परमेष्ठी को प्राप्त करता है। ज्ञान के द्वारा ही प्रभु की प्राप्ति होती है। **पूरुषः**=पुरुष **ब्रह्म इमं अग्निं ममे**=ज्ञान के द्वारा इस अग्नि को मापनेवाला होता है और **ब्रह्म संवत्सरं ममे**=ज्ञान ही काल को मापता है। मनुष्य ज्ञान द्वारा ही यज्ञिय अग्नि के महत्त्व को व कालचक्र की गति को जान पाता है।

भावार्थ—ज्ञान के हेतु से मनुष्य वेदज्ञ आचार्य को प्राप्त करता है। प्राप्त ज्ञान से प्रभु को प्राप्त करता है। ज्ञान से ही यज्ञिय अग्नि में यज्ञादि कर्मों को करता है और कालचक्र की गति को समझता हुआ समय पर कार्यों को करनेवाला बनता है।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

न-क्षत्रं=सत् क्षत्रम्

केन॑ दे॒वाँ अनु॑ क्षियति॒ केन॒ दैव॑जनी॒र्विशः॑। केने॒दम॒न्यन्नक्ष॑त्रं॒ केन॒ सत्क्ष॒त्रमु॑च्यते ॥ २२ ॥
ब्रह्म॑ दे॒वाँ अनु॑ क्षियति॒ ब्रह्म॒ दैव॑जनी॒र्विशः॑। ब्रह्मे॒दम॒न्यन्नक्ष॑त्रं॒ ब्रह्म॒ सत्क्ष॒त्रमु॑च्यते ॥ २३ ॥

१. **केन**=किस सामर्थ्य से मनुष्य **देवान् अनु क्षियति**=देवों के साथ निवास करता है—दिव्य गुणों को अपने में बढ़ानेवाला बनता है? **केन**=किस सामर्थ्य से **दैवजनीः विशः**=प्रभु से उत्पादित प्रजाओं के साथ अनुकूलता से निवास कर पाता है? **केन अन्यत्**=किससे भिन्न—

रहित होकर **इदम्**=यह **न-क्षत्रम्**=क्षतों से अपना त्राण करनेवाला नहीं होता, और **केन**=किसके द्वारा **सत् क्षत्रम्**=उत्तम बलस्वरूप (क्षत्रों से अपना त्राण करनेवाला) **उच्यते**=कहा जाता है। २. **ब्रह्म देवान् अनु क्षियति**=ज्ञान से यह पुरुष देवों के साथ निवास करता है। **ब्रह्म दैवजनीः विशः (अनुक्षियति)**=ज्ञान द्वारा देव से उत्पादित प्रजाओं के साथ अनुकूलता से निवास करता है। **ब्रह्म अन्यत्**=ब्रह्म से रहित **इदं नक्षत्रम्**=यह निर्वीर्य है। **ब्रह्म**=ज्ञान ही **सत् क्षत्रम्**=उत्तम बल **उच्यते**=कहा जाता है।

भावार्थ—ज्ञान से दिव्यगुणों का विकास होता है। ज्ञान से मनुष्य सब प्रजाओं के साथ अनुकूलतापूर्वक निवास करता है। ज्ञानशून्यता ही निर्वीर्यता है। ज्ञान ही उत्कृष्ट बल है।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

भूमिः, द्यौः, अन्तरिक्षम्

केनेयं भूमिर्विहिता केन द्यौरुत्तरा हिता। केनेदमूर्ध्वं तिर्यक्चान्तरिक्षं व्यचो हितम्॥ २४॥
ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तरा हिता। ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक्चान्तरिक्षं व्यचो हितम्॥ २५॥

१. **केन**=किसने **इयं भूमिः**=यह पृथिवीलोक **विहिता**=बनाया है? **केन**=किसने **उत्तरा द्यौः**=यह द्युलोक ऊपर **हिता**=स्थापित किया है? **केन**=किसने **ऊर्ध्वम्**=ऊपर **तिर्यक् च**=और तिरछा—एक सिरे से दूसरे सिरे तक **व्यचः**=फैला हुआ (विस्तारवाला) **इदं अन्तरिक्षं हितम्**=यह अन्तरिक्ष स्थापित किया है? २. **ब्रह्मणा भूमिः विहिता**=ब्रह्म ने इस पृथिवीलोक को बनाया है। **ब्रह्म**=प्रभु ने ही **उत्तरा द्यौः हिता**=द्युलोक को ऊपर स्थापित किया है। **ब्रह्म**=प्रभु ने ही **ऊर्ध्वम्**=ऊपर **तिर्यक् च**=और तिरछे—एक सिरे से दूसरे सिरे तक **व्यचः**=विस्तृत **इदं अन्तरिक्षम्**=यह अन्तरिक्ष **हितम्**=स्थापित किया है।

भावार्थ—प्रभु ही इस ब्रह्माण्ड की त्रिलोकी के निर्माता है।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मूर्धानं हृदयं संसीव्य

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत्पवमानोऽधि शीर्षतः॥ २६॥

१. **अथर्वा**=(अ-थर्व) स्थिरवृत्ति का मनुष्य अथवा आत्मनिरीक्षण करनेवाला मनुष्य (अथ अर्वाङ्) **यत्**=जब **अस्य**=इस देह के **मूर्धानं हृदयं च**=मस्तिष्क व हृदय को **संसीव्य**=सीकर, अर्थात् ज्ञान और श्रद्धा का परस्पर मेल करके **मस्तिष्कात्**=मस्तिष्क (brain, ज्ञान) के द्वारा अपने को **ऊर्ध्वः प्रैरयत्**=ऊपर प्रेरित करता है। श्रद्धा-विरहित ज्ञान उत्थान का हेतु न होकर अवनति का कारण बन जाता है। २. तब **शीर्षतः अधि**=(अधि पञ्चम्यर्थानुवादी) यह अथर्वा सिर से **पवमानः**=अपने को पवित्र करनेवाला बनता है—ज्ञान इसकी पवित्रता का हेतु होता है।

भावार्थ—हम स्थिर-वृत्तिवाले व आत्मनिरीक्षण की वृत्तिवाले बनें। अपने जीवन में ज्ञान व श्रद्धा का समन्वय करें। यह श्रद्धा-समन्वित ज्ञान हमारे उत्थान का कारण बनेगा। यह हमें पवित्र बनाएगा।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देवकोशः समुब्जितः

तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः।
तत्प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः॥ २७॥

१. **तत्**=तब जबकि अथर्वा मूर्धा व हृदय को सी लेता है, **वै**=निश्चय से **अथर्वणः**=इस अर्थवा का **शिरः**=मस्तिष्क **देवकोशः**=देवों का कोष बनता है। तब यह **सम् उब्जितः**=सम्यक् वशीभूत रहता है (keep under, check, subdue)। श्रद्धा के अभाव में मस्तिष्क व्यर्थ के तर्क करता हुआ जीवन को अप्रतिष्ठित-सा कर देता है। २. **तत्**=उस **शिरः**=मस्तिष्क को **अथो**=और **मनः**=मन को **प्राणः**=प्राण और **अन्नम्**=अन्न **अभिरक्षति**=सम्यक् रक्षित करते हैं, अर्थात् मस्तिष्क व मन के स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है कि प्राणसाधना की जाए तथा सात्त्विक अन्न का सेवन हो।

भावार्थ—हम प्राणसाधना व सात्त्विक अन्न के सेवन द्वारा मन व मस्तिष्क को सुरक्षित करेंगे तो इन दोनों के समन्वय से हमारा मस्तिष्क देवकोश बनेगा—ज्ञान का भण्डार बनेगा। यह संयत रहेगा, व्यर्थ के तर्कों से जीवन को अप्रतिष्ठित करनेवाला न होगा। श्रद्धा इसे वश में रक्खेगी।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती** ॥

ऊर्ध्व, तिर्यकः, सर्वाः दिशः

ऊर्ध्वो नु सृष्टा३स्तिर्यङ् नु सृष्टा३ः सर्वा दिशः पुरुष आ बभूवाँ३।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते॥ २८॥

१. **नु**=निश्चय से वह प्रभु **ऊर्ध्वः सृष्टाः**=ऊपर (ascertained=obtained, certain knowledge of) ज्ञात होते हैं—ऊपर द्युलोक के एक-एक पिण्ड में प्रभु की महिमा प्रकट होती है। **तिर्यक् नु सृष्टाः**=निश्चय से एक किनारे से दूसरे किनारे तक (**तिर्यक्**=crosswise) उस प्रभु का निश्चय होता है। कहीं देखो, सर्वत्र उस प्रभु की महिमा दिखती है। **सर्वाः दिशः**=सब दिशाओं में **पुरुषः आबभूव**=वह पुरुष व्याप्त हो रहा है। '**यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः**'—'पर्वत, समुद्र, पृथिवी'—सब उस प्रभु की महिमा का प्रतिपादन कर रहे हैं। २. **यः**=(यम्+उ) संयमी पुरुष ही **ब्रह्मणः पुरं वेद**=ब्रह्म की इस नगरी को जान पाता है, **यस्याः पुरुषः उच्यते**=जिस कारण से ये ब्रह्म पुरुष कहलाते हैं—'पुरि वसति'=पुरी में रहनेवाले हैं। ब्रह्माण्ड प्रभु का पुर है, इसमें वे प्रभु सर्वत्र व्याप्त हो रहे हैं।

भावार्थ—वे प्रभु ऊपर द्युलोक के पिण्डों में अपनी महिमा से प्रकट हो रहे हैं। एक सिरे से दूसरे सिरे तक सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में प्रभु की महिमा प्रकट है। सब दिशाओं में वे व्याप्त हो रहे हैं। संयमी पुरुष ही उस ब्रह्म की ब्रह्माण्डरूप पुरी को जान पाता है। इस पुरी में निवास के कारण ही तो प्रभु 'पुरुष' कहलाते हैं।

सूचना—यहाँ 'सृष्टाः३' आदि में 'विचार्यमाणानाम्' इस सूत्र से 'टि' को प्लुत हुआ है।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

चक्षु, प्राण, प्रजा

यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम्।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः॥ २९॥

१. **यः**=जो पुरुष **वै**=निश्चय से **अमृतेन आवृताम्**=नीरोगता से आच्छादित, अर्थात् पूर्ण नीरोग **ताम्**=उस शरीर-नगरी को **ब्रह्मणः वेद**=ब्रह्म का जानता है, अर्थात् जो यह समझ लेता है कि यह शरीर उस प्रभु का है, **तस्मै**=उस ज्ञानी पुरुष के लिए **ब्रह्म च ब्राह्माः च**=प्रभु व प्रभु से उत्पादित ये सूर्यादि देव **चक्षुः प्राणं प्रजाम्**=चक्षु आदि इन्द्रियाँ, प्राणशक्ति व उत्तम

सन्तान को **ददुः**=देते हैं।

भावार्थ—जो इस शरीर को ब्रह्म का समझता है, वह पूर्ण प्रयत्न से इसे स्वस्थ रखने के लिए यत्नशील होता है। प्रभुकृपा से इसे उत्तम इन्द्रियाँ, प्राणशक्ति व उत्तम प्रजा प्राप्त होती है।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'स्वस्थ दीर्घ जीवन'

न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते॥ ३०॥

१. **यः**=(यम्+उ) जो संयमी पुरुष **पुरम्**=इस शरीर-नगरी को **ब्रह्मणः वेद**=ब्रह्म की जानता है, इसे प्रभु की ही धरोहर समझता है, **यस्याः**=जिससे वह प्रभु **पुरुषः उच्यते**=पुरुष—पुरी में निवास करनेवाले कहे जाते हैं, **तम्**=उस संयमी पुरुष को **वै**=निश्चय से **चक्षुः न जहाति**=आँख आदि इन्द्रियाँ छोड़ नहीं जातीं—उसकी सब इन्द्रियाँ ठीक बनी रहती हैं, **प्राणः**=प्राण भी उसे **जरसः पुरा**=पूर्ण वृद्धावस्था से पूर्व **न**=नहीं छोड़ जाता, अर्थात् वह पूर्ण दीर्घायुष्य प्राप्त करता है।

भावार्थ—संयमी बनकर जब हम इस शरीर-नगरी को प्रभु का समझकर इसका पूरा ध्यान व आदर करते हैं तब हम स्वस्थ व दीर्घ जीवन को प्राप्त करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देवानाम् पूः

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः॥ ३१॥

१. यह शरीररूप **पूः**=नगरी **देवानाम्**=सब सूर्यादि देवों की अधिष्ठानभूत है, **'सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते'**—(सूर्यः चक्षुर्भूत्वा० अग्निर्वाग्भूत्वा०, वायुः प्राणो भूत्वा०, चन्द्रमा मनो भूत्वा०)। **अष्टाचक्रा**=इसमें 'मूलाधार' से लेकर 'सहस्रार' तक आठ चक्र—'मूलाधार' (मेरुदण्ड के मूल में), इसके ऊपर 'स्वाधिष्ठान', 'मणिपूरक' (नाभि में), 'अनाहत' (हृदय में) 'विशुद्धि' (कण्ठ में), 'ललना' (जिह्वा मूल में) 'आज्ञाचक्र' (भ्रूमध्य में) 'सहस्रारचक्र' (मस्तिष्क में) हैं। **नवद्वारा**=नौ इन्द्रिय-द्वारोंवाली यह नगरी **अयोध्या**=शत्रुओं से युद्ध में न जीतने योग्य है। सूर्य का सन्ताप इस नगरी के एक-एक छिद्र से बाहर आये हुए पसीने के रूप में जलकण को वाष्पीभूत कर सकता है, परन्तु नगरी के अन्दर उपद्रव पैदा नहीं कर पाता। २. **तस्याम्**=उस नगरी में एक **हिरण्ययः**=हितरमणीय **कोशः**=कोश है, जिसे 'मनोमय' कोश कहते हैं। यह **स्वर्गः**=आनन्दमय है, **ज्योतिषा आवृतः**=ज्योति से आवृत है। हम इसे राग-द्वेष आदि से मलिन न करें, तो यह चमकीला-ही-चमकीला है—यहाँ आह्लाद-ही-आह्लाद है, यह प्रभु की ज्योति से ज्योतिर्मय है।

भावार्थ—आठ चक्रोंवाली, नौ इन्द्रियाँ-द्वारोंवाली इस शरीररूप अयोध्या नामक देवनगरी में एक ज्योतिर्मय मनोमयकोश है, जो आह्लाद व प्रकाश से परिपूर्ण है। इसे हम राग-द्वेष से मलिन न करें।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**साक्षाद् ब्रह्मप्रकाशिन्यौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठित कोश'

तस्मिन्हिरण्यये कोशे त्र्य [रे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदुः॥ ३२॥

१. **तस्मिन्**=उस **त्र्यरे**='सत्त्व, रजस् व तमस्' रूप तीन अरोंवाले, **त्रिप्रतिष्ठिते**='ज्ञान, कर्म, उपासना' में प्रतिष्ठित **हिरण्यये कोशे**=ज्योतिर्मयकोश में; **तस्मिन्**=उसी मनोमयकोश में **यत्**=जो **आत्मन्वत्**=सदा जीवित (animate, alive) **यक्षम्**=पूजनीय सत्ता है, **तत्**=उस सत्ता को **वै**=निश्चय से **ब्रह्मविदः**=ज्ञानी पुरुष ही **विदुः**=जानते हैं।

भावार्थ—प्रभु का निवास इस मनोमयकोश में है। तम व रज से ऊपर उठकर जब यहाँ सत्त्व की प्रधानता होती है, तब उस सदा चैतन्य, पूजनीय सत्ता का यहाँ दर्शन होता है। एक ज्ञानीपुरुष इसे 'ज्ञान, कर्म व उपासना' में प्रतिष्ठित करता है और इसमें प्रभु को देखने का प्रयत्न करता है।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः, ब्रह्मप्रकाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रभ्राजमाना-अपराजिता

प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम्॥ ३३ ॥

१. जिस समय हम इस शरीर-नगरी को पूरी तरह से स्वस्थ रखने का प्रयत्न करते हैं तब यह अन्नमयकोश में '**प्रभ्राजमानाम्**'=तेजस्विता से दीप्त होती है (भ्राजृ दीप्तौ)। यह प्राणमयकोश में प्राणशक्तिपूर्ण होने से **हरिणीम्**=सब दुःखों को हरण करनेवाली होती है। इसमें रोगों का प्रवेश नहीं होता। मनोमयकोश में यह **यशसा संपरीवृतानाम्**=सब यशस्वी—प्रशस्त भावनाओं से पूर्ण होती है। विज्ञानमयकोश में यह **हिरण्ययीम्**=हितरमणीय ज्ञानज्योति से परिपूर्ण होती है और आनन्दमयकोश में **अपराजिताम्**=किन्हीं भी अशुभ आसुर भावनाओं से पराजित नहीं होती। यह कोश 'सहस्' वाला है—शत्रुकषर्ण शक्तिवाला है, अतएव आनन्दमय है। इस नगरी में **ब्रह्म आविवेश**=प्रभु का प्रवेश होता है, अर्थात् यहाँ प्रभु का दर्शन होता है।

भावार्थ—हम इस शरीर-नगरी को 'प्रभ्राजमाना, हरिणी, यशःसंपरीवृता, हिरण्ययी व अपराजिता' बनाएँ। इसमें हमें प्रभु का दर्शन होगा।

गतमन्त्र के अनुसार इस शरीर-नगरी को 'प्रभ्राजमाना' बनाने की कामनावाला व्यक्ति 'अथर्वा' (अथ अर्वाङ्) आत्मनिरीक्षण की वृत्तिवाला बनता है। आत्मनिरीक्षण करता हुआ यह शरीर में वीर्य-रक्षण का पूर्ण प्रयत्न करता है। यह वीर्य उसके लिए 'वरणमणि' बनती है—सब रोग व मलिनताओं का निवारण करनेवाली। यह कहता है कि—

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'सपत्नक्षयणः वृषा' वरणो मणिः

अयं मे वरणो मणिः सपत्नक्षयणो वृषा।
तेना रभस्व त्वं शत्रून्प्र मृणीहि दुरस्यतः ॥ १ ॥

१. **अयम्**=यह **मे**=मेरी **मणिः**=वीर्यमणि **वरणः**=सब रोगों का निवारण करनेवाली है। **सपत्नक्षयणः**=वासनारूप शत्रुओं को नष्ट करनेवाली है। **वृषा**=हममें शक्ति व सुखों का सेचन करनेवाली है। **तेन**=उस वरण-मणि के द्वारा **त्वम्**=तू **शत्रून् आरभस्व**=रोगादि शत्रुओं को पकड़ ले (sieze, grasp) और इन **दुरस्यतः**=दुष्ट कामनावालों को—अशुभ चाहनेवालों को **प्रमृणीहि**=कुचल दे।

भावार्थ—वीर्य वरणमणि है, यह शत्रुओं का निवारण करनेवाली है। शत्रुओं के निवारण

के द्वारा यह हममें सुखों का सेचन करनेवाली है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

असुरों के अत्याचार से रक्षण

प्रैणाञ्छृणीहि प्र मृणा रभस्व मणिस्ते अस्तु पुरएता पुरस्तात्।
अवारयन्त वरणेन देवा अभ्याचारमसुराणां श्वःश्वः॥ २॥

१. **एनान्**=शत्रुभूत रोगादि को **प्रशृणीहि**=नष्ट कर, **प्रमृण**=कुचल दे, **आरभस्व**=इन्हें निग्रहीत कर ले। यह **ते मणिः**=तेरी वीर्यमणि **पुरस्तात्**=सर्वप्रथम **पुरएता अस्तु**=आगे चलनेवाली हो, अर्थात् यह मणि ऊर्ध्व गतिवाली बने। २. **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **वरणेन**=इस वरणमणि के द्वारा—रोगों का निवारण करनेवाली मणि के द्वारा **असुराणाम्**=असुरों के **श्वः श्वः**=कल-कल होनेवाले **अभ्याचारम्**=आक्रमणों को **अवारयन्त**=रोकते हैं। इस वीर्यमणि के रक्षण से आसुरभावों का आक्रमण नहीं होता।

भावार्थ—हम शरीर में वीर्यमणि को प्रथम स्थान देनेवाले बनें। यह हमें रोगों व आसुरभावों के आक्रमण से बचाए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

हरितः हिरण्ययः

अयं मणिर्वरणो विश्वभेषजः सहस्राक्षो हरितो हिरण्ययः।
स ते शत्रूनधरान्पादयाति पूर्वस्तान्दभ्नुहि ये त्वा द्विषन्ति॥ ३॥

१. **अयं मणिः**=यह वीर्यमणि **वरणः**=रोगों का निवारण करनेवाली है, **विश्वभेषजः**=सब रोगों का औषध है। **सहस्राक्षः**=हज़ारों आँखोंवाली है—सहस्रों प्रकार से हमारा ध्यान करनेवाली है। **हरितः**=सिंह के समान तेजस्वी है—रोगों को नष्ट कर डालनेवाली है। **हिरण्ययः**=ज्योतिर्मय है—ज्ञानाग्नि को दीप्त करनेवाली है। २. **सः**=वह मणि **ते शत्रून्**=तेरे शत्रुओं को **अधरान् पादयाति**=पाँव तले रौंद डालती है। **पूर्वः**=(पृ पालनपूरणयोः) इस मणि का पालन व पूरण करनेवाला तू **तान्**=उन सब शत्रुओं को **दभ्नुहि**=हिंसित कर डाल, **ये त्वा द्विषन्ति**=जो तेरे साथ द्वेष करते हैं—तेरे प्रति प्रीतिवाले नहीं हैं।

भावार्थ—यह वीर्यमणि विश्वभेषज है। यह वीरता व ज्योति की वर्धक है। इसके रक्षण द्वारा हम रोग व वासनारूप शत्रुओं को कुचल दें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'कृत्या, भय व पाप' का निवारण

अयं ते कृत्यां विततां पौरुषेयादयं भयात्।
अयं त्वा सर्वस्मात्पापाद्वरणो वारयिष्यते॥ ४॥

१. **अयम्**=यह वीर्यरूप **वरणः**=वरणमणि **ते**=तेरे **विततां कृत्याम्**=विस्तृत 'छेदन-भेदन' को **वारयिष्यते**=रोक देगी। **अयम्**=यह मणि **पौरुषेयात् भयात्**=पुरुषों में प्राप्त होनेवाले भय से रोकेगी। २. **अयं (वरुणः) मणिः**=यह वरणमणि **त्वा**=तुझे **सर्वस्मात् पापात्** (वारयिष्यते)=सारे पापों से रोकेगी।

भावार्थ—यह वीर्यमणि 'छेदन-भेदन, पुरुष में प्राप्त होनेवाले भय व पाप' का निवारण करने से 'वरण' इस अन्वर्थ नामवाली है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देवः वनस्पतिः

वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः।
यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमु देवा अवीवरन्॥ ५ ॥

१. **वरणः**=ये वीर्यरूप वरणमणि **वारयातै**=सब रोगों का निवारण करती है। **अयं देवः**=यह रोगों को जीतने की कामनावाली है। **वनस्पतिः**=यह सेवनीय वस्तुओं की रक्षक है (वन् संभक्तौ)। २. **यः**=जो **यक्ष्मः**=रोग **अस्मिन् आविष्टः**=इस शरीर में प्रविष्ट हो गया है, **तम् उ**=उसे निश्चय से **देवाः**=विजिगीषु लोग (दिव् विजिगीषायाम्) **अवीवरन्**=इसके द्वारा रोकते हैं।

भावार्थ—वीर्यमणि रोगों का निवारण करने से 'वरण' है। यह रोगों को जीतने की कामनावाली होने से 'देव' है। संभजनीय तत्त्वों के रक्षण से यह 'वनस्पति' है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

अशुभ स्वप्न व अपशकुन

स्वप्नं सुप्त्वा यदि पश्यासि पापं मृगः सृतिं यति धावादजुष्टाम्।
परिक्षवाच्छकुनेः पापवादादयं मणिर्वरणो वारयिष्यते॥ ६ ॥

१. **स्वप्नं सुप्त्वा**=नींद में जाकर (सोकर) यदि **पापं पश्यासि**=यदि तू अशुभ को देखता है, और **मृगः**=कोई आरण्य पशु **यति**=जितना **अजुष्टाम् सृतिं धावात्**=अप्रीतिकर मार्गों में गति करे—रास्ता काट जाए तो इन अपशुकनों से तथा **शकुनेः**=पक्षी के **परिक्षवात्**=नथुनों के फरफराहट से व **पापवादात्**=अमङ्गल शब्दों से **अयम्**=यह **वरणः मणिः**=वीर्यरूप वरणमणि **वारयिष्यते**=तुझे बचाएगा। २. यह वीर्यरूप मणि शरीर में सुरक्षित होने पर अशुभ स्वप्नों से बचाती है। साथ ही यह हृदय को दृढ़ करके अपशकुनों का हृदय पर भयजनक प्रभाव नहीं पड़ने देती।

भावार्थ—वीर्यमणि के शरीर में सुरक्षित होने पर शरीर के स्वस्थ होने से अशुभ स्वप्न नहीं आते, न ही मन के दृढ़ होने से पशु-पक्षियों के शब्दों व गतियों में अपशकुन का भय होता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'अराति, निर्ऋति, अभिचार, भय व वध' से रक्षण

अरात्यास्त्वा निर्ऋत्या अभिचारादथो भयात्।
मृत्योरोजीयसो वधाद्वरणो वारयिष्यते॥ ७ ॥

१. **वरणः**=यह सब बुराइयों का निवारण करनेवाली वीर्यमणि **त्वा**=तुझे **अरात्याः**=अदानवृत्ति से—कृपणता से **वारयिष्यते**=बचाएगी। **निर्ऋत्याः**=दुराचरण से बचाएगी, **अभिचारात्**=रोगादि के आक्रमण से—अभिचार कर्मों से **अथो**=और **भयात्**=अन्य भयों से बचाएगी तथा **मृत्योः ओजीयसः वधात्**=मृत्यु के अति प्रबल वध से यह तुझे बचाएगी।

भावार्थ—वीर्य-रक्षण हमें 'कृपणता, दुरवस्था, रोगों के आक्रमण' भय तथा असमय की मृत्यु' से बचाता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

पापवारक—'वरण' मणिः

यन्मे माता यन्मे पिता भ्रातरो यच्च मे स्वा यदेनश्चकृमा वयम्।
ततो नो वारयिष्यतेऽयं देवो वनस्पतिः॥ ८ ॥

१. **यत् एनः**=जिस पाप को **मे माता**=मेरी माता ने, **यत् मे पिता**=जिसे मेरे पिता ने, **यत् च मे भ्रातरः स्वाः**=और जिसे मेरे भाइयों व बन्धुओं ने, **यत् (एना) वयं चकृम**=जिस पाप को हमने स्वयं किया है, **ततः**=उस सबसे **अयम्**=यह **देवः**=सब अशुभों को जीतने की कामनावाला **वनस्पतिः**=संभजनीय तत्त्वों का रक्षक वरणमणि (वीर्यरूप मणि) **वारयिष्यते**=बचाएगा।

भावार्थ—यह वीर्यरूप वरणमणि शरीरों में सुरक्षित होने पर 'माता, पिता, भाई, बन्धु व स्वयं हमसे' हो जानेवाले पापों से बचाता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सबन्धवः भ्रातृव्याः

वरणेन प्रव्यथिता भ्रातृव्या मे सबन्धवः।
असूर्तं रजो अप्यगुस्ते यन्त्वधमं तमः॥ ९॥

१. **वरणेन**=शरीर में सुरक्षित शत्रुविनाशक वीर्यरूप वरणमणि से **प्रव्यथिता**=भय-संचलित हुए-हुए **मे**=मेरे **भ्रातृव्याः**=शत्रु **सबन्धवः**=अपने बन्धुओंसहित—सब रोग अपने उपद्रवोंसहित, **असूर्तम्**=गतिशून्य **रजः**=लोक को **अपि अगुः**=ओर गये हैं। वीर्यरक्षण द्वारा सब रोग उपद्रवोंसहित जड़ीभूत हो गये हैं। **ते अधमं तमः यन्तु**=वे अधम तम को प्राप्त हों—घने अन्धकार में विलीन हो जाएँ।

भावार्थ—वीर्यरूप वरणमणि के रक्षण से शरीर में आ जानेवाले रोग अपने उपद्रवोंसहित जड़ीभूत होकर विलीन हो जाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आयुष्मान् सर्वपूरुषः

अरिष्टोऽहमरिष्टगुरायुष्मान्त्सर्वपूरुषः।
तं माऽयं वरणो मणिः परि पातु दिशोदिशः॥ १०॥

१. **अरिष्टः अहम्**=मैं अहिंसित होऊँ—रोगादि शत्रुओं से मैं हिंसित न होऊँ। मैं **अरिष्टगुः**=अहिंसित इन्द्रियों-(गावः इन्द्रियाणि)-वाला बनूँ। मैं **आयुष्मान्**=प्रशस्त दीर्घजीवनवाला, **सर्वपूरुषः**=पूर्ण पुरुष (सर्व=स्वस्थ whole-some) बन सकूँ। २. **तं मा**=उस मुझे **अयम्**=यह **वरणः मणिः**=शत्रुनिवारक वीर्यरूप वरणमणि **दिशः दिशः परिपातु**=सब दिशाओं से रक्षित करे। वीर्यमणि द्वारा सुरक्षित हुआ-हुआ मैं रोगों व वासनारूप शत्रुओं का शिकार न होऊँ।

भावार्थ—मैं वीर्यरूप वरणमणि के रक्षण से रक्षित हुआ-हुआ अहिंसित इन्द्रियोंवाला, प्रशस्त दीर्घजीवनवाला व पूर्ण स्वस्थ पुरुष बनूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

राजा, देवः, वनस्पतिः

अयं मे वरण उरसि राजा देवो वनस्पतिः।
स मे शत्रून्वि बाधतामिन्द्रो दस्यूनिवासुरान्॥ ११॥

१. **अयम्**=यह **मे**=मेरा **वरणः**=रोग एवं वासनारूप शत्रुओं का निवारक वीर्यमणि **राजा**=मेरे जीवन को दीप्त करनेवाला है, **देवः**=रोगों को जीतने की कामनावाला है। **वनस्पतिः**=संभजनीय तत्त्वों का रक्षक है। **सा**=वह मणि **उरसि**=छाती में उत्पन्न हो जानेवाले **मे शत्रून्**=मेरे विनाशक रोगरूप शत्रुओं को **विबाधताम्**=नष्ट करे **इव**=जैसे **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष

दस्यून्=(दसु उपक्षये) विनाशक **असुरान्**=आसुरभावों को विनष्ट करता है।

भावार्थ—वीर्यमणि का रक्षण सब हृद्रोगों का बाधन करनेवाला है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'राष्ट्रं, बलं, पशून् ओजः'

इमं बिभर्मि वरणमायुष्माञ्छतशारदः।
स मे राष्ट्रं च क्षत्रं च पशूनोजश्च मे दधत्॥ १२॥

१. **इमम्**=इस **वरणम्**=रोगादि शत्रुओं के वारक वीर्यमणि को **बिभर्मि**=मैं धारण करता हूँ, परिणामतः **आयुष्मान्**=प्रशस्त दीर्घजीवनवाला होता हूँ, **शतशारदः**=सौ वर्ष तक जीनेवाला होता हूँ। **सः**=वह वीर्यरूप वरणमणि **मे**=मेरे **राष्ट्रं च क्षत्रं च**=राष्ट्र व बल को, **पशून् ओजः च**=गौ आदि पशुओं व ओज को **मे दधत्**=मेरे लिए धारण करे। 'पशु' शब्द का अर्थ अग्नि (fire) भी है। तब अर्थ इसप्रकार होगा कि अग्नितत्त्वों व बल को मेरे लिए धारण करे।

भावार्थ—वीर्यरूप वरणमणि का रक्षण करता हुआ मैं प्रशस्त जीवनवाला बनूँ। 'राष्ट्र, बल, अग्नितत्त्व व ओज' को यह मेरे लिए धारण कराए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**१३-१४ पथ्यापङ्क्तिः, १५ षट्पदाजगती**॥

रोगरूप शत्रुओं का भञ्जन

यथा वातो वनस्पतीन्वृक्षान्भनक्त्योजसा।
एवा सपत्नान्मे भङ्ग्धि पूर्वाञ्जाताँ उतापरान्वरणस्त्वाऽभि रक्षतु॥ १३॥
यथा वातश्चाग्निश्च वृक्षान्प्सातो वनस्पतीन्।
एवा सपत्नान्मे प्साहि पूर्वाञ्जाताँ उतापरान्वरणस्त्वाऽभि रक्षतु॥ १४॥
यथा वातेन प्रक्षीणा वृक्षाः शेरे न्य ऽर्पिताः।
एवा सपत्नांस्त्वं मम प्र क्षिणीहि न्य ऽर्पय
पूर्वाञ्जाताँ उतापरान्वरणस्त्वाऽभि रक्षतु॥ १५॥

१. हे वरणमणे! **यथा**=जैसे **वातः**=तेज वायु **वनस्पतीन्**=बिना फूल के फल देनेवाले पीपल आदि को तथा **वृक्षान्**=अन्य वृक्षों को **ओजसा भनक्ति**=शक्ति से तोड़ डालता है, **एव**=इसी प्रकार **मे**=मेरे **पूर्वान् जातान्**=पहले पैदा हुए-हुए **उत**=और **अपरान्**=पीछे आनेवाले **सपत्नान् भङ्ग्धि**=रोगरूप शत्रुओं को विदीर्ण कर दे। २. **यथा**=जैसे **वातः च अग्निः च**=वायु और अग्नि **वनस्पतीन्**=वनस्पतियों को व **वृक्षान्**=वृक्षों को **प्सातः**=खा जाते हैं, **एव**=उसी प्रकार **मे**=मेरे **पूर्वान् जातान् उत अपरान्**=पहले पैदा हुए-हुए और पिछले **सपत्नान्**=शत्रुओं को खा डाल। ३. **यथा**=जैसे **वातेन**=तीव्र वायु से **प्रक्षीणाः**=पत्तों आदि के गिर जाने से क्षीण हुए **न्यर्पिताः**=नीचे अर्पित किये गये—गिराये गये **वृक्षाः**=वृक्ष **शेरे**=भूमि पर लेट जाते हैं—गिर जाते हैं, **एव**=इसी प्रकार हे वरणमणे! **त्वम्**=तू **मम**=मेरे **सपत्नान्**=रोगरूप शत्रुओं को **प्रक्षिणीहि**=क्षीण कर दे और उन्हें **न्यर्पय**=नीचे दबा देनेवाला हो। तेरे द्वारा मैं रोगों को पादाक्रान्त कर पाऊँ। ४. प्रभु अपने आराधक से कहते हैं कि **वरणः**=यह वरणमणि **त्वा अभि रक्षतु**=तेरे शरीर व मन दोनों क्षेत्रों को रक्षित करनेवाली हो। शरीर में यह तुझे रोगों से बचानेवाली हो तथा मन में वासनाओं से रक्षित करनेवाली हो।

भावार्थ—वरणमणि रोग व वासनारूप शत्रुओं को इसप्रकार विनष्ट कर दे जैसेकि तीव्रवायु वृक्षों को। जिस प्रकार जंगल की आग वनस्पतियों को खा जाती है, इसी प्रकार यह वरणमणि रोगों को खा जाए। जैसे तीव्र वायु से वृक्ष गिर जाते हैं, उसी प्रकार इस वरणमणि द्वारा मेरे रोग समाप्त हो जाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

पुरा दिष्टात्, पुरा आयुषः

तांस्त्वं प्र च्छिन्द्धि वरण पुरा दिष्टात्पुरायुषः।
य एनं पशुषु दिप्सन्ति ये चास्य राष्ट्रदिप्सवः॥ १६॥

१. हे **वरण**=शत्रुओं का निवारण करनेवाली वीर्यमणे! **ये एनम्**=जो इस **पशुषु**=शरीरस्थ अग्नियों को **दिप्सन्ति**=हिंसित करना चाहते हैं, **ये च**=और जो **अस्य**=इसके **राष्ट्रदिप्सवः**=शरीररूप राष्ट्र को ही हिंसित करना चाहते हैं, **तान्**=उन्हें **त्वम्**=तू **प्रच्छिन्द्धि**=छिन्न-भिन्न कर डाल। **दिष्टात् पुरा**=नियति से पूर्व ही तू उसे समाप्त कर दे, **पुरा आयुषः**=जीवन के पूर्ण होने से पूर्व ही तू उन्हें समाप्त कर दे। २. 'रोग अपना पूरा समय लेकर जाए', इसकी बजाए उसे यह वरणमणि पहले ही समाप्त करनेवाली बने, उसे आरम्भ में ही नष्ट कर दे।

भावार्थ—वीर्यरूप वरणमणि उन रोगों को आरम्भ में ही समाप्त करनेवाली हो जो शरीरस्थ अनिष्टों व शरीर के ही विध्वंस का कारण बनते हैं।

सूचना—यहाँ यह संकेत भी स्पष्ट है कि जिस राष्ट्र में युवक इस वरणमणि का रक्षण करते हैं, उस राष्ट्र को व उस राष्ट्र के पशुओं को शत्रु हिंसित नहीं कर पाते।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वरणमणिः, वनस्पतिः**॥ छन्दः—**षट्पदाजगती**॥

सूर्यः देवः

यथा सूर्यो अतिभाति यथाऽस्मिन्तेज आहितम्।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा॥ १७॥
यथा यशश्चन्द्रमस्यादित्ये च नृचक्षसि।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा॥ १८॥
यथा यशः पृथिव्यां यथास्मिञ्जातवेदसि।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा॥ १९॥
यथा यशः कन्यायां यथाऽस्मिन्त्संभृते रथे।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा॥ २०॥
यथा यशः सोमपीथे मधुपर्के यथा यशः।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा॥ २१॥

यथा यशोऽग्निहोत्रे वषट्कारे यथा यशः।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा॥ २२॥
यथा यशो यजमाने यथास्मिन्यज्ञ आहितम्।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा॥ २३॥
यथा यशः प्रजापतौ यथास्मिन्परमेष्ठिनि।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा॥ २४॥
यथा देवेष्वमृतं यथैषु सत्यमाहितम्।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा॥ २५॥

१. **यथा**=जैसे **सूर्यः**=सूर्य **अतिभाति**=अतिशयेन चमकता है, **यथा**=जैसे **अस्मिन्**=इसमें **तेजः आहितम्**=तेज स्थापित हुआ है, **एव**=इसी प्रकार **मे**=मेरे लिए **वरणः मणिः**=यह रोगनिवारक वीर्यमणि **कीर्तिम्**=कीर्ति (fame, glory) व **भूतिम्**=ऐश्वर्य को **नियच्छतु**=दे। यह **मा**=मुझे **तेजसा**=तेजस्विता से **समुक्षतु**=सिक्त करे, **यशसा**=(beauty, splendour) सौन्दर्य से **मा समनक्तु**=मुझे अलंकृत करे। २. **यथा**=जैसे **चन्द्रमसि**=चन्द्रमा में **यशः**=सौन्दर्य है, **च**=और **नृचक्षसि आदित्ये**=जैसा सौन्दर्य मनुष्यों को देखनेवाले—उनका पालन करनेवाले (look after) सूर्य में है, **यथा**=जैसा **यशः**=सौन्दर्य **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी में है, और **यथा**=जैसा सौन्दर्य **अस्मिन् जातवेदसि**=इस अग्नि में है। **यथा यशः**=जैसा सौन्दर्य **कन्यायाम्**=इस युवति कन्या में है, और **यथा**=जैसा सौन्दर्य इस **संभृते रथे**=सम्यक् भृत—जिसके सब अवयव सम्यक् जुड़े हुए हैं, ऐसे रथ में हैं। **यथा यशः**=जैसा सौन्दर्य **सोमपीथे**=सोम (वीर्य) के शरीर में ही सुरक्षित करने में है और **यथा यशः**=जैसा सौन्दर्य **मधुपर्के**=अतिथि को दिये जानेवाले पूजाद्रव्य में है, **यथा यशः**=जैसा सौन्दर्य **अग्निहोत्रे**=अग्निहोत्र में है, **यथा यशः**=जैसा सौन्दर्य **वषट्कारे**=स्वाहाकार के उच्चारण में है। **यथा यशः**=जैसा सौन्दर्य **यजमाने**=यज्ञशील पुरुष में है, **यथा यशः**=जैसा सौन्दर्य **अस्मिन् यज्ञे**=इस यज्ञ में **आहितम्**=स्थापित हुआ है। **यथा यशः**=जैसा सौन्दर्य **प्रजापतौ**=प्रजाओं के रक्षक राजा में है और **यथा**=जैसा सौन्दर्य **अस्मिन् परमेष्ठिनि**=इस परमस्थान में स्थित प्रभु में है, इसी प्रकार यह वरणमणि मुझे यश (सौन्दर्य) से अलंकृत करे। ३. **यथा**=जैसे **देवेषु**=देववृत्ति के व्यक्तियों में **अमृतम्**=नीरोगता आहित होता है, **यथा**=जैसे **एषु**=इन देवों में **सत्यं आहितम्**=सत्य स्थापित होता है। देव नीरोग होते हैं और कभी अनृत नहीं बोलते, इसी प्रकार यह वरणमणि मुझे कीर्ति व ऐश्वर्य प्राप्त कराए। यह मुझे तेज से सिक्त करे और सौन्दर्य से अलंकृत करे।

भावार्थ—वरणमणि (वीर्य) के रक्षण से जीवन सूर्यसम दीप्तिवाला होता है, जीवन चन्द्र की भाँति चमकता है, शरीर-रथ संभृत होता है, हमारी प्रवृत्ति यज्ञशीलतावाली होती है व हम नीरोगता तथा सत्य का धारण करते हुए देव बनते हैं।

देववृत्ति का पुरुष अपने जीवन में 'गरुत्मान् तक्षकः'=(गरुतः अस्य सन्ति) विविध ज्ञानरूप पक्षोंवाला तथा निर्माता—निर्माण के कार्यों में प्रवृत्त होता है। इसका चित्रण इसप्रकार है—

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—**गरुत्मान्** ॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

'इन्द्र, देव, वरुण'

इन्द्र॑स्य प्रथ॒मो रथो॑ दे॒वाना॒मप॑रो॒ रथो॒ वरु॑णस्य तृ॒तीय॒ इत्।
अ॒हीना॑मप॒मा रथ॑ स्था॒णुमा॑र॒दथा॑र्षत्॥ १॥

१. यह शरीर रथ है। प्रभु ने जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए इसे हमें प्राप्त कराया है। यह **रथः**=रथ **इन्द्रस्य प्रथमः**=जितेन्द्रिय पुरुष का सबसे पहले है। **अपरः**=दूसरा—दूसरे स्थान पर यह **रथः**=शरीर-रथ **देवानाम्**=रोगादि को जीतने की कामनावालों का है। **तृतीयः**=तीसरा यह **इत्**=निश्चय से **वरुणस्य**=द्वेषादि के निवारण करनेवाले का है। हमें इस शरीर-रथ को प्राप्त करके 'इन्द्र, देव व वरुण' बनना है। २. **अहीनाम्**=(आहन्ति इति अहिः) हिंसक वृत्तिवालों का यह **रथः**=रथ **अपमा**=(अपमः विभक्तेराकारः) सबसे निकृष्ट (अधम Lower) है। यदि मनुष्य हिंसावृत्ति से ऊपर 'इन्द्र, देव व वरुण' बनता हुआ **स्थाणुम् आरत्**=स्थिर—भक्तियोग सुलभ स्थाणु (स्थिर) प्रभु को प्राप्त करता है, **अथ**=तो **अर्षत्**=इस रथ को समाप्त कर डालता है (ऋष् to kill), अर्थात् जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठ जाता है।

भावार्थ—इस शरीर-रथ को प्राप्त करके हम 'जितेन्द्रिय, नीरोग (अजर, अमर) व निर्दोष' बनें, हिंसावृत्तिवाले न हों (अहि), तभी हम प्रभु को प्राप्त करेंगे और इस शरीररथ की आवश्यकता न रहेगी।

ऋषिः—**गरुत्मान्** ॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्** ॥ छन्दः—**त्रिपदायवमध्यागायत्री** ॥

दर्भः, शोचिः, तरूणकम्

द॒र्भः शो॒चिस्त॒रूण॑क॒मश्व॑स्य॒ वारः॑ परु॒षस्य॒ वारः॑। रथ॑स्य॒ बन्धु॑रम्॥ २॥

१. **दर्भः**=कुशा घास **अश्वस्य**=(अश् व्याप्तौ) कर्मों में व्याप्त रहनेवाले पुरुष की **वारः**=वरणीय वस्तु होती है। यज्ञवेदि पर कुशासन आदि के रूप में कुशा का प्रयोग होता है। यह पवित्र मानी गई है। यज्ञिय संस्कारों में इसका स्थान-स्थान पर प्रयोग होता है। २. इसी प्रकार **शोचिः**=ज्ञान की दीप्ति **परुषस्य**=शत्रुओं के प्रति कठोर (sharp, violent, keen)—शत्रुसंहारक पुरुष की **वारः**=वरणीय वस्तु है। ज्ञानाग्नि में ही तो वह इन काम, क्रोध, लोभ को भस्म कर पाएगा। ३. **तरूणकम्**=पृथिवी से अंकुरित (sprout) होनेवाले ये वानस्पतिक पदार्थ **रथस्य बन्धुरम्**=इस शरीर-रथ के शिखर हैं। इन पदार्थों का प्रयोग करता हुआ ही एक व्यक्ति इस शरीर-रथ के सौन्दर्य को स्थिर रख पाता है (बन्धुर—beautiful)।

भावार्थ—हम यज्ञवेदि को कुशादि स्तीर्ण करके यज्ञ करनेवाले बनें, ज्ञानज्योति में वासनाओं को दग्ध कर दें तथा वानस्पतिक पदार्थों का प्रयोग करते हुए शरीर-रथ के सौन्दर्य को नष्ट न होने दें।

ऋषिः—**गरुत्मान्** ॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्** ॥ छन्दः—**पथ्याबृहती** ॥

श्वेतः अरंघुशः

अव॑ श्वेत प॒दा ज॑हि॒ पूर्वे॑ण॒ चाप॑रेण च। उ॒द॒प्लु॒तमि॑व॒ दार्व॒हीना॑मर॒सं वि॒षं वारु॒ग्रम्॥ ३॥
अ॒रं॒घु॒षो नि॒मज्यो॒न्मज्य॒ पुन॑रब्रवीत्। उ॒द॒प्लु॒तमि॑व॒ दार्व॒हीना॑मर॒सं वि॒षं वारु॒ग्रम्॥ ४॥

१. हे **श्वेत**=शुद्ध आचरणवाले पुरुष! तू **पूर्वेण च अपरेण च पदा**=(पद गतौ, गतिर्ज्ञानम्) पूर्व तथा अपर ज्ञान के द्वारा—आत्मतत्त्व तथा प्रकृति के ज्ञान के द्वारा—परा व अपरा विद्या

के द्वारा **अवजहि**=सब बुराइयों को दूर फेंकनेवाला हो, **इव**=जैसे **उदप्लुतम्**=पानी से आप्लुत (flooded, filled with) **दारु**=लकड़ी **अरसम्**=निर्बल हो जाती है, इसी प्रकार हम जब ज्ञान प्राप्त करते हैं तब हमारे लिए **अहीनाम्**=(आहन्तृणाम्) हिंसकों का **विषं** (अरसम्)=विष शक्तिशून्य हो जाता है। ज्ञानी पर हिंसकों के विषैले प्रहारों का प्रभाव नहीं होता। उसका **वाः**=यह ज्ञान-जल **उग्रम्**=तेजस्वी होता है—यह बुराई को धो डालने में समर्थ होता है। २. **अरंघुषः**=प्रभु के स्तोत्रों व ज्ञानवाणियों का खूब उच्चारण करनेवाला यह पुरुष **निमज्य उन्मज्य**=बारम्बार इन स्तोत्रों व ज्ञानवाणियों में डुबकी लगाकर **पुनः**=फिर **अब्रवीत्**=कहता है कि ज्ञान होने पर गीली लकड़ी के समान हिंसकों के विषैले प्रहार निर्बल हो जाते हैं। तेजस्वी ज्ञान-जल सब विषों को प्रभावशून्य कर देता है।

भावार्थ—हम परा व अपरा विद्या का अर्जन करके जीवन को अति शुद्ध बनाएँ। प्रभु के स्तोत्रों के जलों व ज्ञान-जलों में खूब ही स्नान करनेवाले बनें। ऐसा करने पर हम हिंसकों के विषैले प्रहारों से आहत न होंगे। हमारा तेजस्वी ज्ञान-जल विष को धो डालने में समर्थ होगा।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

कसर्णीलं, शिवत्रं, असितम् (हन्ति)

पैद्वो हन्ति कसर्णीलं पैद्वः शिवत्रमुतासितम्।
पैद्वो रथर्व्याः शिरः सं बिभेद पृदाक्वाः॥ ५॥

१. **पैद्वः**=(पद गतौ, पैद्वः-अश्वः—नि० १।१४ कर्मव्याप्त) कर्मशील—गतिशील पुरुष **कसर्णीलम्** (कस् to destroy, नील-निधि) विनाशक धन को, अन्याय व छलादि से उपार्जित धन को **हन्ति**=नष्ट करता है। यह क्रियाशील बनता हुआ अन्याय्य धन को कभी उपार्जित करने का विचार नहीं करता। **पैद्वः**=यह क्रियाशील पुरुष **शिवत्रम्**=कुष्ठादि रोगों को नष्ट करता है **उत्**=और **असितम्**=कृष्ण (मलिन) कर्मों को भी विनष्ट करता है—न यह रोगों का शिकार होता है, न ही पापों का। २. यह **पैद्वः**=गतिशील पुरुष **रथर्व्याः**=इस गतिशील (रथर्यतिर्गतिकर्मा—नि० २।१४) **पृदाक्वाः**=(पृ, दा, कु) पालन के लिए अन्न देनेवाली पृथिवी के **शिरः**=सिर को—पृष्ठ को **संबिभेद**=विदीर्ण करता है। कृषि द्वारा इसके पृष्ठ को भिन्न करनेवाला होता है। वेद के '**अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व**' इस उपदेश के अनुसार यह कृषि करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम गतिशील बनकर कृषि आदि कार्यों से—उत्तम कार्यों से उत्तम अन्नों को प्राप्त करें। रोगों व पापों से बचें तथा अन्यायोपार्जित विनाशक धनों के संग्रह से दूर रहें।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

नेता का कर्त्तव्य

पैद्व प्रेहि प्रथमोऽनु त्वा वयमेमसि।
अहीन्व्य१स्यतात्पथो येन स्मा वयमेमसि॥ ६॥

१. **पैद्व**=हे गतिशील पुरुष! तू **प्रेहि**=प्रकृष्ट गतिवाला बन। **प्रथमः**=शक्तियों के विस्तारवाला हो (प्रथ विस्तारे)। **त्वा अनु वयं आ ईमसि**=तेरे पीछे-पीछे हम भी सब ओर गतिवाले हों। उत्तम नेता स्वयं गतिवाला होता हुआ अनुयायियों के लिए पथ-प्रदर्शक बनता है। २. हे पैद्व! आप **पथः**=उस मार्ग से **अहीन् व्यस्यतात्**=हिंसक तत्त्वों को दूर फेंकें—दूर करें, **येन**=जिस मार्ग से **वयं आ ईमसि स्म**=हम गतिवाले होते हैं। हमारे नेता हमारे मार्गों को विघ्न-बाधाशून्य करें।

भावार्थ—हमारा नेतृत्व गतिशील व्यक्तियों के हाथ में हो। वे हमारे मार्ग से हिंसक तत्त्वों को दूर करें। हमारे लिए उनका जीवन पथ-प्रदर्शक हो।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अर्वः, अहिघ्न्य, वाजिनीवान्

इदं पैद्वो अजायतेदमस्य परायणम्।
इमान्यर्वतः पदाऽहिघ्न्यो वाजिनीवतः॥ ७॥

१. **इदम्**=(इदानीम्) अब **पैद्वः**=यह गतिशील पुरुष **अजायत**=प्रादुर्भूत शक्तियोंवाला होता है (जनी प्रादुर्भावे)। **इदम् अस्य परायणम्**=इसका यह उत्कृष्ट मार्ग है (पर+अयनम्)। **इमानि पदा**=इसके ये पग उस व्यक्ति के पग हैं जोकि **अर्वतः**=वासनाओं का संहारक है (अर्व् to kill) **अहिघ्न्यः**=(षष्ठ्याः सुः) विनाशक तत्त्वों को नष्ट करनेवाला है और **वाजिनीवतः**=शक्तियुक्त है।

भावार्थ—हम गतिशील बनकर अपनी शक्तियों का विकास करें, उत्कृष्ट मार्ग पर चलें, वासनाओं का संहार करें, हिंसक तत्त्वों को नष्ट करें तथा शक्तियुक्त बनें।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**उष्णिग्गर्भापरात्रिष्टुप्**॥

हिंसासामर्थ्य वञ्चन

संयतं न वि ष्परद् व्यात्तं न सं यमत्।
अस्मिन्क्षेत्रे द्वावही स्त्री च पुमांश्च तावुभावरसा॥ ८॥

१. साँप मुख खोलकर डसता है—डसने के समय मुख को भींचता है। यदि उसका खुला हुआ मुख बन्द न हो सके और बन्द हुआ-हुआ खुल न सके तो यह दशन-क्रिया न हो पाएगी। उस स्थिति का ध्यान करते हुए कहते हैं कि—**संयतम्**=बन्द हुआ-हुआ मुख **न विष्परत्**=(स्पृ प्रीतिचालनयोः) न खुल सके, बन्द-का-बन्द ही रह जाए। **व्यात्तम्**=खुला हुआ मुख **न संयतम्**=बन्द न हो पाये। इसप्रकार उसका डसना सम्भव ही न हो। २. **अस्मिन् क्षेत्रे**=इस संसाररूप क्षेत्र में **द्वौ अही**=दो हिंसक हैं, **स्त्री च पुमान् च**=एक स्त्री है, एक पुरुष। 'पुरुष ही हानिकर हों, स्त्रियाँ नहीं' ऐसी बात भी नहीं है, और न ही यह है कि 'स्त्रियाँ हानिकर हों पुरुष नहीं'। दोनों ही हिंसक हो सकते हैं। **तौ उभौ**=वे दोनों **अरसा**=निर्बल हों—असक्त हों। ये हानि करने का सामर्थ्य ही खो बैठें।

भावार्थ—संसार में जो भी पुरुष व स्त्री हिंसक हों, राजपुरुष उन्हें इसप्रकार दण्डित करें कि उनकी हिंसा करने की शक्ति ही न रहे।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वृश्चिक, अहि

अरसास इहाहयो ये अन्ति ये च दूरके।
घनेन हन्मि वृश्चिकमहिं दण्डेनागतम्॥ ९॥

१. **इह**=इस संसार-क्षेत्र में **ये अहयः**=जो हिंसक तत्त्व **अन्ति**=हमारे समीप हैं, **ये च**=और जो **दूरके**=दूर हैं, वे सब **अरसासः**=नीरस व निर्बल हो जाएँ। **आगतं वृश्चिकम्**=समीप आये हुए बिच्छु को **घनेन हन्मि**=घन से नष्ट करता हूँ तथा **अहिम्**=सर्प को **दण्डेन**=डण्डे से मारता हूँ।

भावार्थ—सर्प व बिच्छु स्वभाववाले पुरुषों को दण्डित करना आवश्यक ही है। प्रजा-रक्षण के लिए इन्हें नष्ट करना अनिवार्य है।

सूचना—वृश्चिक को घन से, सर्प को डण्डे से आहत करने का स्वारस्य चिन्त्य है।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अघाश्व व स्वज

अघाश्वस्येदं भेषजमुभयोः स्वजस्य च।
इन्द्रो मेऽहिमघायन्तमहिं पैद्वो अरन्धयत्॥ १०॥

१. कामवासना को यहाँ 'अघाश्व' कहा है—यह '**अघम् अश्नुते**' पाप को व्याप्त करनेवाली होती है। लोभ व तृष्णा को 'स्वज' कहा है, क्योंकि यह (स्वञ्ज् आलिङ्गने) चिपट-सी जाती है तथा (सु अज गतिक्षेपणयोः) हमें सदा भाग-दौड़ में विक्षिप्त-सा रखती है। **इदम्**=इस प्रस्तुत मन्त्र में 'इन्द्र' व 'पैद्व' शब्द से वर्णित 'जितेन्द्रियता व गतिशीलता' **अघाश्वस्य**=कामवासना, **स्वजस्य च**=और तृष्णा, **उभयोः**=इन दोनों का **भेषजम्**=औषध है। २. **इन्द्रः**=जितेन्द्रियता से अलंकृत **पैद्वः**=यह गतिशील देव **मे**=मेरे **अघायन्तम्**=अघ—अशुभ को चाहनेवाली **अहिम्**=आहन्ति—विनाशिका वासना को **अरन्धयत्**=नष्ट करता है। 'इन्द्र व पैद्व' का स्मरण मुझे भी जितेन्द्रिय व गतिशील बनाये। जितेन्द्रिय बनकर मैं कामवासना को पराजित करनेवाला बनूँ तथा गतिशीलता मुझे श्रमजन्य धन को ही चाहनेवाला बनाये।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय व गतिशील बनकर कामवासना व तृष्णा को पराजित करनेवाले बनें।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पृदाकवः प्रदीध्यतः

पैद्वस्य मन्महे वयं स्थिरस्य स्थिरधाम्नः।
इमे पश्चा पृदाकवः प्रदीध्यत आसते॥ ११॥

१. **वयम्**=हम **स्थिरस्य**=स्थिरवृत्तिवाले, **स्थिरधाम्नः**=स्थिर तेजवाले, **पैद्वस्य**=गतिशील व्यक्ति का **मन्महे**=मनन करते हैं, इसके जीवन का चिन्तन करते हैं। **इमे**=ये पैद्व लोग **पृदाकवः**=(पृदाकु) पालन के लिए दान की वृत्तिवाले **प्रदीध्यतः**=(दीधीङ् दीप्तौ) दीप्त जीवनवाले **पश्चा आसते**=विषय-व्यावृत होकर पीछे ही बैठते हैं। 'प्रत्याहार' की साधना करते हुए ये लोग विषयों में नहीं फँसते।

भावार्थ—'स्थिर, स्थिरधाम्ना, पैद्व' लोगों का चिन्तन करते हुए हम भी 'गतिशील, स्थिर वृत्तिवाले व स्थिर तेजवाले' बनें। दान की वृत्तिवाले व दीप्त जीवनवाले बनकर हम विषय-व्यावृत रहें।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**भुरिग्गायत्री**॥

वज्री इन्द्रः

नष्टासवो नष्टविषा हता इन्द्रेण वज्रिणा।
जघानेन्द्रो जघ्निमा वयम्॥ १२॥

१. **वज्रिणा**=गतिशील (वज् गतौ) **इन्द्रेण**=जितेन्द्रिय पुरुष से **हताः**=मारे हुए 'काम, क्रोध, लोभ' रूप असुर **नष्टासवः**=नष्ट-प्राण हो जाते हैं और **नष्टविषाः**=इनका विषैला प्रभाव हमारे जीवन से दूर हो जाता है। २. **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **जघान**=इन असुरों को मार डालता है। **वयम् जघ्निमा**=हम भी इन आसुरभावों को नष्ट करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—गतिशील, जितेन्द्रिय पुरुष 'काम, क्रोध, लोभ' रूप असुरों का विनाश करके उनके विषैले प्रभाव से बचाता है। हम भी ऐसे ही बनें।

ऋषि:—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

दर्विम् करिक्रतं (जहि)

हतास्तिरश्चिराजयो निपिष्टास: पृदाकव:।
दर्विं करिक्रतं श्वित्रं दर्भेष्वसितं जहि॥ १३॥

१. **तिरश्चिराजय:**=कुटिलता (crooked) व छल-छिद्र की पंक्तियाँ **हता:**=नष्ट की गई हैं। **पृदाकव:**=(पिपर्ति स्वम्, 'पिपर्तेर्दाकुर्ह्रस्वश्च') आत्मम्भरिता व स्वार्थ की वृत्तियाँ **निपिष्टास:**=पीस डाली गई हैं। २. **दर्विम्**=विदारण की वृत्ति को **करिक्रतम्**=अतिशयेन कृन्तन (छेदन) की वृत्ति को **श्वित्रम्**=कुष्ठादि रोगों को व **असितम्**=कृष्ण (मलिन) कर्मों को **दर्भेषु**=यज्ञार्थ यज्ञवेदि पर कुशाओं के आस्तिर्ण होने पर **जहि**=नष्ट कर डाल।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनें। यज्ञीय वृत्ति के द्वारा हम 'कुटिलता, स्वार्थ, विदारणवृत्ति, छेदन-भेदन की वृत्ति, रोगों व अशुभ कर्मों को नष्ट कर डालें।'

ऋषि:—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

कैरातिका, कुमारिका

कैरातिका कुमारिका सका खनति भेषजम्।
हिरण्ययीभिरभ्रिभिर्गिरीणामुप सानुषु॥ १४॥

१. 'किरात' शब्द 'कु विक्षेपे तथा अत सातत्यगमने' धातुओं से बनकर निरन्तर विक्षिप्त गतिवाले का वाचक है। 'कुमार' शब्द 'कुमार क्रीडायाम्' से बनकर 'खेलते रहनेवाले' का वाचक है। इन दोनों हानिकर वृत्तियों को दूर करने का उपाय ज्ञान प्राप्त करना है। आचार्यों के समीप रहकर उनकी ज्ञानदान की क्रियाओं में ही इन वृत्तियों को दूर करने का औषध विद्यमान है, अत: कहा है कि **कैरातिका**=निरन्तर विक्षिप्त गतिवाली **कुमारिका**=विषयों में क्रीडा की मनोवृत्तिवाली **सका**=वह कुत्सित आचरणवाली युवति **गिरीणाम्**=ज्ञान की वाणियों का उपदेश देनेवाले गुरुओं की **सानुषु**=(षणु दाने सनोति) ज्ञानदान की क्रियाओं में **भेषजम्**=अशुभ वृत्तियों के निराकरण की औषध को **हिरण्ययीभि: अभ्रिभि:**=(अभ्र गतौ) ज्योतिर्मय गतियों के द्वारा **उपखनति**=समीपता से खोदती है। ज्ञान ही औषध है, उसे यह प्राप्त करती है। इस ज्ञान-औषध को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि ज्ञान-प्राप्ति के अनुकूल क्रियाओंवाली हो। यही भाव यहाँ 'हिरण्ययीभि: अभ्रिभि:' शब्दों से व्यक्त हुआ है।

भावार्थ—ज्ञानदाता आचार्यों के समीप रहकर ज्ञान-प्राप्ति के लिए अनुकूल गतियोंवाले होते हुए हम ज्ञान प्राप्त करें, इस ज्ञान-औषध द्वारा विक्षिप्त गतियों व विषय-क्रीड़ाओं को समाप्त करनेवाले हों।

ऋषि:—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

युवा, भिषक्, पृश्निहा, अपराजित:

आयमगन्युवा भिषक्पृश्निहापराजित:।
स वै स्वजस्य जम्भन उभयोर्वृश्चिकस्य च॥ १५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार आचार्यों से ज्ञान प्राप्त करनेवाला **अयम्**=यह **युवा**=बुराइयों को दूर करनेवाला व अच्छाइयों को अपने साथ मिलानेवाला **भिषक्**=पापरूप रोगों का चिकित्सक **पृश्निहा**=(पृश्नि A ray of light हन गतौ) प्रकाश की किरणों को प्राप्त करनेवाला **अपराजित:**=वासनाओं से पराजित न होनेवाला युवक **आ अगन्**=आया है। २. **स:**=वह **वै**=निश्चय से

स्वजस्य=(स्वज् आलिंगने, सु अज गतिक्षेपणयो:) चिपट जानेवाली व विक्षिप्त गति पैदा करनेवाली तृष्णावृत्ति, **वृश्चिकस्य च**=(व्रश्च् छेदने) और छेदन-भेदन की वृत्ति **उभयो:**=दोनों का ही **जम्भन:**=नाश करनेवाला है।

भावार्थ—ज्ञान प्राप्त करके हम 'युवा, भिषक्, पृश्निहा व अपराजित' बनें। तृष्णा व छेदन-भेदन की वृत्ति का विनाश करें।

ऋषि:—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्द:—**त्रिपदाप्रतिष्ठागायत्री**॥

'इन्द्र, मित्र, वरुण, वात, पर्जन्य:'

इन्द्रो मेऽहिमरन्धयन्मित्रश्च वरुणश्च। वातापर्जन्यो३भा॥ १६॥

१. **इन्द्र:**=जितेन्द्रियता की देवता **मे**=मेरी **अहिम्**=आहन्ति—कामवृत्ति को—ज्ञान पर पर्दे के रूप में आ जानेवाली वासना को **अरन्धयत्**=नष्ट करती है। इसी प्रकार **मित्रा: च वरुण: च**=सबके प्रति स्नेह तथा निर्द्वेषता की भावना मेरी इस वासना को नष्ट करती है। इसी प्रकार **उभा**=दोनों **वातापर्जन्या**=वात व पर्जन्य—क्रियाशीलता की देवता (वा गतौ) तथा सुखों को सिक्त करने की भावना (पृषु सेचने—उ० ३।१०३) मेरे लिए वासना को विनष्ट करें।

भावार्थ—'जितेन्द्रियता, स्नेह की भावना, निर्द्वेषता, क्रियाशीलता व सुखसेचनवृत्ति' को धारण करते हुए हम वासना को विनष्ट करनेवाले बनें।

ऋषि:—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

'अहि' आदि का विनाश

इन्द्रो मेऽहिमरन्धयत्पृदाकुं च पृदाक्व१म्।
स्वजं तिरश्चिराजिं कसर्णीलं दशोनसिम्॥ १७॥

१. **इन्द्र:**=शत्रु-विद्रावक प्रभु **मे**=मेरी **अहिम्**=आहन्ति—विहिंसिका वृत्ति को **अरन्धयत्**=नष्ट कर दें, **पृदाकुं च पृदाक्वम्**=(पिपर्ति स्वम्, पर्द कुत्सिते शब्दे 'पर्देर्नित् संप्रसारणमल्लोपश्च' उ० ३.८०) स्वात्मम्भरिता (स्वार्थवृत्ति) को और कुत्सित शब्दोच्चारण-वृत्ति को नष्ट करने का अनुग्रह करें। २. **स्वजम्**=चिपट जानेवाली व अत्यन्त विक्षिप्त गतिवाली तृष्णावृत्ति को, **तिरश्चिराजिम्**=कुटिलता व छल-छिद्र की पंक्तियों को, **कसर्णीलम्**=विनाशक धन (निधि) को—अन्यायोपार्जित धन को तथा **दशोनसिम्**=इन्द्रिय दशक में उत्पन्न हो जानेवाली (**ऊनसि**=ऊन परिहाणे) हानि को दूर करें।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम 'हिंसा की वृत्ति, स्वार्थ व कुटिल शब्दोच्चारण की वृत्ति, तृष्णा, छल-छिद्र, अन्यायोपार्जित धन तथा इन्द्रिय दशक में आ जानेवाली हानि' से बचें।

ऋषि:—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

'अहि के जनिता' का विनाश

इन्द्रो जघान प्रथमं जनितारमहे तव।
तेषामु तृह्यमाणानां क: स्वित्तेषामसद्रस:॥ १८॥

१. हे **अहे**=विहिंसन की वृत्ति! **इन्द्र:**=जितेन्द्रिय पुरुष **तव**=तेरे **जनितारम्**=उत्पन्न करनेवाले भाव को ही **प्रथमं जघान**=सबसे पहले नष्ट कर डालता है। जिन 'काम, क्रोध, लोभ' के कारण यह हिंसनवृत्ति उत्पन्न होती है, उन कामादि को ही यह जितेन्द्रिय पुरुष नष्ट कर देता है। २. **उ**=निश्चय से **तृह्यमाणानाम्**=नष्ट किये जाते हुए **तेषां तेषाम्**=उन-उन काम-क्रोधादि भावों का **स्वित्**=भला **क: रस: असत्**=क्या रस अवशिष्ट हो सकता है? जब मनुष्य काम-क्रोधादि के

नाश के प्रयत्न में लगता है तब इन हिंसन वृत्तियों का स्वयं ही नाश हो जाता है।

भावार्थ—हम हिंसन वृत्तियों के मूलभूत काम, क्रोध, लोभादि को समाप्त करने का प्रयत्न करें। इन्हें नष्ट करके हम हिंसन-वृत्तियों से दूर हों।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सिन्धोः मध्यं परेत्य

सं हि शीर्षाण्यग्रभं पौञ्जिष्ठइव कर्वरम्।
सिन्धोर्मध्यं परेत्य व्यनिजमहेर्विषम्॥ १९॥

१. गतमन्त्र में 'काम, क्रोध, लोभ' आदि असुरों को अहि (हिंसिका वृत्ति) का जनिता कहा था। यहाँ कहते हैं कि मैं **हि**=निश्चय से इन आसुरवृत्तियों के **शीर्षाणि सम् अग्रभम्**=सिरों को सम्यक् पकड़ लेता हूँ—इनके सिरों को कुचल डालता हूँ। इसप्रकार इन्हें पकड़ लेता हूँ, **इव**=जैसेकि **पौञ्जिष्ठः**=(प्र ओजिष्ठः) प्रकृष्ट तेजस्वी पुरुष **कर्वरम्**=एक चीते (Tiger) को पकड़ लेता है। २. मैं **सिन्धोः मध्यं परेत्य**=ज्ञान-समुद्र के मध्य में दूर तक जाकर—ज्ञान-समुद्र में स्नान करता हुआ—**अहेः विषम्**=हिंसकवृत्ति के विष को—विषैले प्रभाव को—**व्यनिजम्**=धो डालता हूँ। ज्ञान-जल में स्नान करता हुआ मैं हिंसावृत्ति से ऊपर उठता हूँ।

भावार्थ—हम काम, क्रोध, लोभ आदि आसुरवृत्तियों को कुचल दें और ज्ञान का सम्पादन करते हुए हिंसावृत्ति के ऊपर उठें।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

माहिर्भूः, मा पृदाकुः, (यजुः० ८.२३)

अहीनां सर्वेषां विषं परा वहन्तु सिन्धवः।
हतास्तिरश्चिराजयो निपिष्टासः पृदाकवः॥ २०॥

१. **सिन्धवः**=ज्ञान-जल **सर्वेषां अहीनाम्**=सब विहिंसिका वृत्तियों के **विषम्**=विष को—विषैले प्रभाव को **परावहन्तु**=दूर बहा दें। हम ज्ञान प्राप्त करके हिंसा की वृत्ति से ऊपर उठें। इन ज्ञान-जलों द्वारा ही **तिरश्चिराजयः**=(तिरश्ची crooked) छल-छिद्र की वृत्तियों की पंक्तियाँ **हताः**=नष्ट कर दी गई हैं और **पृदाकवः**=(पर्द कुत्सिते शब्दे; कुत्सितवाक्—यजुः० ८.२३) कुत्सितवाणी बोलने की प्रवृत्तियाँ **निपिष्टासः**=पीस डाली गई हैं। यजुर्वेद ८.२३ में यही तो कहा है कि '**माहिर्भूर्मा पृदाकुः**'=न हिंसक बन, न कुत्सितवाणीवाला।

भावार्थ—ज्ञान-जलों द्वारा शुद्ध जीवनवाले बनकर हम 'हिंसा, कुटिलता व कुत्सितवाणी' से ऊपर उठें।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्**॥

ओषधिवरण

ओषधीनामहं वृण उर्वरीरिव साधुया।
नयाम्यर्वतीरिवाहे निरैतु ते विषम्॥ २१॥

१. हे **अहे**=हिंसावृत्ते! **अहं**=मैं **ओषधीनाम्**=(आचार्यो मृत्युर्वरुण ओषधयः पयः) आचार्यों का **वृणे**=वरण करता हूँ। **इव**=जिस प्रकार **उर्वरीः**=उपजाऊ भूमियों (fertile soil) का **साधुया**=उत्तमता से वरण किया जाता है। इन उपजाऊ भूमियों का वरण अन्नों को प्राप्त कराता है। इसी प्रकार आचार्यों का वरण ज्ञान-जलों को प्राप्त कराता है। २. इन आचार्यों से प्राप्त ज्ञान-जलों को मैं इसप्रकार **नयामि**=अपने जीवन में प्राप्त कराता हूँ, **इव**=जैसेकि **अर्वतीः**=(अर्व् to

kill) शत्रुसंहारक घोड़ियों को योद्धा युद्धभूमि में प्राप्त कराता है, अतः हे हिंसावृत्ते! **ते विषं निरैतु**=तेरा विष मेरे जीवन से बाहर निकल जाए।

भावार्थ—आचार्यों का वरण करते हुए हम ज्ञान-जलों में हिंसा की वृत्तियों के विष को धो डालें। ज्ञान हमसे द्वेष व हिंसा को दूर कर दे।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

कान्दाविषम् कनक्नकम्

यद॒ग्नौ सूर्ये॑ वि॒षं पृ॑थि॒व्यामोष॑धीषु॒ यत्।
का॒न्दा॒वि॒षं क॒नक्न॑कं नि॒रैत्वै॑तु॒ ते वि॒षम्॥ २२॥

१. **यत्**=जो **विषम्**=जल **अग्नौ**=अग्नि में है (अग्नेः आपः), **सूर्ये**=सूर्य में है (सूर्यकिरणों से बादलों का निर्माण होकर यह जल प्राप्त होता है '**सहस्रगुणमुत्स्रष्टुं आदत्ते हि रसं रविः**'। **यत्**=जो **पृथिव्याम्**=पृथिवी में है (कूप आदि से प्राप्त होता है) जो **ओषधीषु**=ओषधियों में रसरूप है, वह जल **ऐतु**=हमें सर्वथा प्राप्त हो। २. हे हिंसावृत्ते! **ते**=तेरा जो **कान्दाविषम्**=(विष् व्याप्तौ, कन्द knot) ग्रन्थियों में—जोड़ों में व्याप्त हो जानेवाला **कनक्नकम्**=(कन दीप्तौ, क्नथ हिंसायाम्) दीप्ति को नष्ट कर देनेवाला **विषम्**=विष है, वह **निरैतु**=सब प्रकार से बाहर चला जाए।

भावार्थ—हम अग्नि से उत्पन्न होनेवाले—सूर्य से मेघों द्वारा प्राप्त कराये जानेवाले—पृथिवी से दिये जानेवाले व ओषधिरसों में प्राप्त होनेवाले जलों को प्राप्त करें। हिंसावृत्ति से उत्पन्न हो जानेवाले, जोड़ों में व्याप्त, दीप्तिनाशक विष को दूर करें।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

विद्युतः (अग्निजाः, ओषधिजाः, अप्सुजाः)

ये अ॑ग्नि॒जा ओ॑षधि॒जा अही॑नां॒ ये अ॑प्सु॒जा वि॒द्युत॑ आब॒भूवुः।
येषां॑ जा॒तानि॑ बहु॒धा म॒हान्ति॒ तेभ्यः॑ स॒र्पेभ्यो॒ नम॑सा विधेम॥ २३॥

१. 'अहि' शब्द सर्प का वाचक है—यह 'आहन्ति'—विनाश कर देता है। इसी प्रकार हिंसन करनेवाले व्यक्ति भी 'अहि' हैं। 'अग्निजाः' वे व्यक्ति हैं जोकि 'अग्नौ जाताः' अग्नि का ही मानो अनुभव लेने के लिए उत्पन्न हुए हैं और अग्निविद्या में निपुण होकर बम्ब आदि घातक शस्त्रों के निर्माण में लगे हैं। इसी प्रकार 'ओषधिजाः' वे हैं, जोकि नाना प्रकार की ओषधियों के प्रयोग में निपुण हैं, परन्तु वे इसप्रकार की ओषधियों के निर्माण में प्रवृत्त हैं, जिनके प्रयोग से मनुष्य बिना किन्हीं भौतिक कष्टों का अनुभव किये विलासमय जीवन बिता पाता है। इसी प्रकार 'अप्सुजाः' वे हैं जोकि जलों की विद्या में निपुण होकर युद्धपोतों व पनडुब्बियों के बनाने में लगे हैं। ये सब **विद्युतः**=विशिष्ट ज्ञानज्योति—द्युतिवाले—तो हैं ही। २. अतः मन्त्र में कहते हैं कि **ये**=जो **अहीनाम्**=हिंसकवृत्तिवाले पुरुषों में **अग्निजाः ओषधिजाः**=अग्निविद्या व ओषधिविज्ञान में निपुण हैं, **ये अप्सुजाः**=जो जलविद्या में निपुण होते हुए **विद्युतः**=विशिष्ट द्युतिवाले—वैज्ञानिक **आबभूवुः**=बने हैं, **येषाम्**=जिनके **बहुधा**=बहुत प्रकार से **महान्ति**=महान् आश्चर्यजनक कर्म **जातानि**=हुए हैं—एक ही बम्ब से लाखों का विनाश आदि कर्म प्रकट हुए हैं, **तेभ्यः**=उन **सर्पेभ्यः**=कुटिलवृत्तिवाले विनाशक पुरुषों के लिए **नमसा विधेम**=दूर से ही नमन द्वारा पूजा करते हैं—इन्हें दूर से ही नमस्कार करते हैं। प्रभुकृपा से हम इन व्यक्तियों से बचे ही रहें।

भावार्थ—जो वैज्ञानिक 'अग्नि, ओषधि व जलों' की विद्याओं में निपुण होकर विनाशक शस्त्रास्त्रों को तैयार कर रहे हैं, जिनके 'लाखों का विनाश' आदि भयंकर कर्म हमारे सामने

हैं, उन कुटिलवृत्तिवाले, विशिष्ट द्युतिवाले वैज्ञानिकों के लिए हम दूर से ही नमस्कार करते हैं।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

कन्या (तौदी, घृताची)

तौदी नामासि कन्या घृताची नाम वा असि।
अधस्पदेन ते पदमा ददे विषदूषणम्॥ २४॥

१. 'कन्या' नामक ओषधिविशेष है। बड़ी इलायची 'Large cardamoms' के लिए इस शब्द का प्रयोग होता है। कहते हैं कि **तौदी नाम असि कन्या**=तू तौदी नामवाली कन्या है (तुद् व्यथने)। विषपीड़ा को व्यथित करने से, अर्थात् विषपीड़ा को दूर भगाने से इस कन्या का नाम 'तौदी' है। **वा**=अथवा तू **घृताची नाम असि**=(घृत अञ्च्, घृ क्षरणदीप्त्योः) मलों को क्षरित करके दीप्ति प्राप्त कराने से 'घृताची' नामवाली है। २. **अधस्पदेन**=विषपीड़ा आदि शत्रुओं को पादाक्रान्त करने के हेतु से **ते**=तेरे **विषदूषणम्**=विष को दूषित करनेवाले **पदम्**=मूल को **आददे**=ग्रहण करता हूँ।

भावार्थ—कन्या नामक ओषधि के मूल के द्वारा विष को नष्ट किया जा सकता है। इसी से इसके 'तौदी व घृताची' नाम हुए हैं।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विषस्य तेजः अवाचीनम्

अङ्गादङ्गात्प्र च्यावय हृदयं परि वर्जय।
अधा विषस्य यत्तेजोऽवाचीनं तदेतु ते॥ २५॥

१. **अङ्गात् अङ्गात् प्रच्यावय**=एक-एक अङ्ग से विष के इस तेज को प्रच्युत कर दे। **हृदयं परिवर्जय**=हृदय को इस विष के तेज से पृथक् कर दे। 'इर्ष्या, द्वेष, क्रोध' आदि से भी शरीर में विष उत्पन्न हो जाता है। इस विष को हम प्रत्येक अङ्ग से दूर करें—हृदय में तो इसे उत्पन्न ही न होने दें। २. **अध**=अब **विषस्य यत् तेजः**=विष का जो तेज है, **तत्**=वह **ते अवाचीनं एतु**=तेरे नीचे गतिवाला हो, अर्थात् तू उसे पाँव तले रौंद डाल।

भावार्थ—हम ईर्ष्या आदि से उत्पन्न हो जानेवाले विष को अपने से दूर करें—हृदय में तो यह विष स्थान न ही पाए। इस विष के तेज को हम पादाक्रान्त कर पाएँ।

ऋषिः—**गरुत्मान्**॥ देवता—**सर्पविषापाकरणम्**॥ छन्दः—**षट्पदाबृहतीगर्भाककुम्मती भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

विष-चिकित्सा क्रम

आरे अभूद्विषमरौद्विषे विषमप्रागपि। अग्निर्विषमहेर्निरधात्सोमो निरणयीत्।
दंष्टारमन्वगाद्विषमहिरमृत॥ २६॥

१. **विषम् आरे अभूत्**=विष दूर हो गया है, चूँकि वैद्य ने विष **अरौत्**=विष को रोक दिया है। दंश स्थान से कुछ ऊपर कसकर पट्टी बाँध देने से शरीर में विष फैला नहीं। अब वैद्य ने **विषे**=उस विष में **विषम्**=सजातीय विष को **अपि**=भी **अप्राक्**=(अपर्चीत्) मिला दिया है। २. अब वैद्य ने उस दंशस्थान को जलाया है और इसप्रकार **अग्निः**=अग्नि ने **अहेः विषम्**=सर्प के विष को **निरधात्**=बाहर कर दिया है। **सोमः निः अनयीत्**=शरीरस्थ सोमशक्ति ने भी इसे बाहर प्राप्त कराया है, अथवा सोम ओषधि इसे बाहर ले-जाती है। इसप्रकार करने से **दंष्टारम्**=डसनेवाले साँप को ही **विषम् अनु अगात्**=विष फिर से प्राप्त हुआ है और **अहिः**

अमृत=साँप मर गया है।

भावार्थ—सर्प आदि के दंश में पहले उस स्थान से कुछ ऊपर पट्टी बाँध देना आवश्यक है, पुनः सजातीय विष को वहाँ संपृक्त करना ठीक है। अग्नि से उस स्थान को दग्ध करना चाहिए, 'सोम' नामक ओषधि का प्रयोग वाञ्छनीय है। ऐसा करने पर सर्पविष मानो उसी सर्प को प्राप्त हो जाता है और उसकी मृत्यु का कारण बनता है।

पञ्चम सूक्त के १ से २४ तक मन्त्रों का ऋषि 'सिन्धुद्वीप' है। 'सिन्धवः आपः द्विः गताः यस्मिन्' शरीर में रेतःकणों के रूप में प्रवाहित होनेवाले जल दो प्रकार से 'शरीर में शक्तिरूप से तथा मस्तिष्क में दीप्ति के रूप से' प्राप्त हुए हैं जिसमें, वह व्यक्ति 'सिन्धुद्वीप' है। यह इन 'आपः' (रेतःकणरूप जलों) को सम्बोधित करता हुआ कहता है कि—

५. [पञ्चमं सूक्तम्]

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**१-५ त्रिपदापुरोभिकृतिः ककुम्मतीगर्भापङ्क्तिः, ६ चतुष्पदाजगतीगर्भाजगती** ॥

'ओजस्, सहस्, बल, वीर्य, नृम्ण'

इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं१ स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ।
जिष्णवे योगाय ब्रह्मयोगैर्वो युनज्मि॥ १॥
इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं१ स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ।
जिष्णवे योगाय क्षत्रयोगैर्वो युनज्मि॥ २॥
इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं१ स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ।
जिष्णवे योगायेन्द्रयोगैर्वो युनज्मि॥ ३॥
इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं१ स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ।
जिष्णवे योगाय सोमयोगैर्वो युनज्मि॥ ४॥
इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं१ स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ।
जिष्णवे योगायाप्सुयोगैर्वो युनज्मि॥ ५॥
इन्द्रस्यौज स्थेन्द्रस्य सह स्थेन्द्रस्य बलं स्थेन्द्रस्य वीर्यं१ स्थेन्द्रस्य नृम्णं स्थ।
जिष्णवे योगाय विश्वानि मा भूतान्युप तिष्ठन्तु युक्ता म आप स्थ॥ ६॥

१. हे जलो! **इन्द्रस्य ओजः स्थ**=तुम जितेन्द्रिय पुरुष के ओज हो (ओजस् ability), उसे सब कर्त्तव्यकर्मों को कर सकने के योग्य बनाते हो। **इन्द्रस्य सहः स्थ**=तुम जितेन्द्रिय पुरुष की वह शक्ति हो, जिससे कि यह काम, क्रोध आदि शत्रुओं का धर्षण कर पाता है। **इन्द्रस्य बलं स्थ**=जितेन्द्रिय पुरुष का तुम्हीं मनोबल हो—इन 'आपः' रेतःकणरूप जलों का रक्षण करनेवाला कभी दुर्बल मानस स्थिति में नहीं होता। **इन्द्रस्य वीर्यं स्थ**=तुम जितेन्द्रिय पुरुष की उत्पादन (virility, genertive power) व रोगनिवारक शक्ति हो। **इन्द्रस्य नृम्णं स्थ**=तुम जितेन्द्रिय पुरुष का उत्साह व धन (courage, wealth) हो। २. इन रेतःकणों के रक्षण से 'ओजस्, सहस्, बल, वीर्य व नृम्ण' की प्राप्ति होती है, अतः **जिष्णवे योगाय**=रोगों व वासनारूप शत्रुओं के विजयेच्छु (जिष्णु) उपाय(योग) के लिए मैं **वः**=आपको (रेतःकणों को) **ब्रह्मयोगैः**=ज्ञानप्राप्ति में लगे रहनेरूप उपायों से **युनज्मि**=शरीर में युक्त करता हूँ। इसीप्रकार **क्षत्रयोगैः**=बलों का अपने साथ सम्पर्क करने की कामनारूप उपायों से इन्हें मैं शरीर में युक्त करनेवाला बनता

हूँ। **इन्द्रयोगैः**=परमैश्वर्यवाला बनने की कामनारूप उपायों से मैं इन्हें अपने में जोड़ता हूँ। **सोमयोगैः**=सौम्य भोजनों का ही प्रयोग करने के द्वारा मैं इन्हें शरीर में जोड़ता हूँ तथा अन्ततः **अप्सु योगैः**=निरन्तर कर्मों में लगे रहने के द्वारा मैं इन्हें शरीर में ही सुरक्षित करता हूँ। ३. जब मैं शत्रुओं को जीतने के उपाय के रूप में इन रेतःकणों को शरीर में सुरक्षित करता हूँ, तब **विश्वानि भूतानि**=शरीर का निर्माण करनेवाले 'पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश' रूप सब भूत **मा उपतिष्ठन्तु**=मेरे समीप सहायक रूप में उपस्थित हों। इन सब भूतों की अनुकूलता मुझे प्राप्त हो। हे **आपः**=रेतःकणरूप जलो! आप **मे युक्ताः स्थ**=मेरे साथ युक्त रहो। आपकी संयुक्ति ही तो मेरी विजय का कारण बनती है।

भावार्थ—रेतःकणों के रक्षण से 'ओजस्, सहस्, बल, वीर्य व नृम्ण' प्राप्त होता है। इन रेतःकणों के रक्षण के लिए आवश्यक है कि हम ज्ञानप्राप्ति में लगे रहें—बल व ऐश्वर्य के सम्पादन को अपना लक्ष्य बनाएँ। सौम्य भोजनों का सेवन करें। कर्मों में लगे रहें। इसप्रकार रेतःकणों के रक्षण से सब भूतों की अनुकूलता प्राप्त होगी।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—७-१४ **पञ्चपदाविपरीतपादलक्ष्माबृहती (११, १४ पथ्यापङ्क्तिः)**॥

'अग्नि, इन्द्र, सोम, वरुण, मित्रावरुण, यम, पितर, देवसविता'

अग्नेर्भाग स्थ। अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त।
प्रजापतेर्वो धाम्नाऽस्मै लोकाय सादये॥ ७॥
इन्द्रस्य भाग स्थ। अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त।
प्रजापतेर्वो धाम्नाऽस्मै लोकाय सादये॥ ८॥
सोमस्य भाग स्थ। अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त।
प्रजापतेर्वो धाम्नाऽस्मै लोकाय सादये॥ ९॥
वरुणस्य भाग स्थ। अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त।
प्रजापतेर्वो धाम्नाऽस्मै लोकाय सादये॥ १०॥
मित्रावरुणयोर्भाग स्थ। अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त।
प्रजापतेर्वो धाम्नाऽस्मै लोकाय सादये॥ ११॥
यमस्य भाग स्थ। अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त।
प्रजापतेर्वो धाम्नाऽस्मै लोकाय सादये॥ १२॥
पितॄणां भाग स्थ। अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त।
प्रजापतेर्वो धाम्नाऽस्मै लोकाय सादये॥ १३॥
देवस्य सवितुर्भाग स्थ। अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त।
प्रजापतेर्वो धाम्नाऽस्मै लोकाय सादये॥ १४॥

१. हे **देवीः आपः**=दिव्य गुणयुक्त अथवा रोगों को जीतने की कामनावाले (दिव् विजिगीषायाम्) रेतःकणरूप जलो! आप **अग्नेः**=प्रगतिशील जीव (अग्रणीः) के **भागः स्थ**=भाग हो, अर्थात् प्रगतिशील जीव को प्राप्त होते हो। इसी प्रकार **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के, **सोमस्य**=सौम्य भोजनों के सेवन द्वारा सौम्य स्वभाववाले पुरुष के, **वरुणस्य**=पाप का निवारण करके श्रेष्ठ बने पुरुष के, **मित्रावरुणयोः**=स्नेहवाले व द्वेष का निवारण करनेवाले पुरुष के,

यमस्य=संयमी पुरुष के, **पितॄणाम्**=रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त पुरुषों के, **देवस्य सवितुः**=देववृत्ति का बनकर निर्माणात्मक कार्यों में लगे हुए पुरुष के **भागः स्थ**=भाग हो। ये रेतःकण इन 'अग्नि, इन्द्र, सोम, वरुण, मित्रावरुण, यम, पितर व देवसविता' में ही सुरक्षित रहते हैं। 'अग्नि' आदि बनना ही वीर्यरक्षण का साधन होता है। २. हे (देवीः आपः=) दिव्य गुणयुक्त रेतःकणो! आप **अपां शुक्रम्**=कर्मों में लगे रहनेवाली प्रजाओं का वीर्य हो। आप **अस्मासु**=हममें **वर्चः धत्त**=वर्चस् को—रोगनिवारणशक्ति को धारण करो। मैं **वः**=आपको **प्राजपतेः धाम्ना**=प्रजारक्षक प्रभु के तेज के हेतु से—प्रजापति के तेज को प्राप्त करने के लिए **अस्मै लोकाय**=इस लोक के हित के लिए **सादये**=अपने में बिठाता हूँ। वीर्यरक्षण द्वारा मनुष्य प्रजापति के धाम को प्राप्त करता है और लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त रहता है।

भावार्थ—रेतःकणों के रक्षण के लिए आवश्यक है कि हम प्रगतिशील हों(अग्नि), जितेन्द्रिय बनें (इन्द्र), पापवृत्ति से बचें (वरुण), स्नेह व द्वेष निवारणवाले हों (मित्रावरुण), संयमी बनें (यम), रक्षणात्मक व देववृत्ति के बनकर उत्पादक कार्यों में प्रवृत्त हों(देव सविता)। ये रेतःकण ही कार्यनिरत प्रजाओं का वीर्य हैं, ये हमें रोगनिवारणशक्ति प्राप्त कराते हैं और प्रभु के तेज से तेजस्वी बनाकर लोकहित के कार्यों के योग्य बनाते हैं।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—१५-१८, २१ **दशपदात्रैष्टुब्गार्भाऽतिधृतिः** (१९, २० कृतिः)

रेतःकणों का महत्त्व

यो व आपोऽपां भागो३ऽप्स्व१न्तर्यजुष्यो देवयजनः।
इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि।
तेन तमभ्यतिसृजामो यो३ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
तं वधेयं तं स्तृषीयाऽनेन ब्रह्मणाऽनेन कर्मणाऽनया मेन्या॥ १५॥
यो व आपोऽपामूर्मिरप्स्व१न्तर्यजुष्यो देवयजनः।
इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि।
तेन तमभ्यतिसृजामो यो३ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
तं वधेयं तं स्तृषीयाऽनेन ब्रह्मणाऽनेन कर्मणाऽनया मेन्या॥ १६॥
यो व आपोऽपां वत्सो३ऽप्स्व१न्तर्यजुष्यो देवयजनः।
इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि।
तेन तमभ्यतिसृजामो यो३ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
तं वधेयं तं स्तृषीयाऽनेन ब्रह्मणाऽनेन कर्मणाऽनया मेन्या॥ १७॥
यो व आपोऽपां वृषभो३ऽप्स्व१न्तर्यजुष्यो देवयजनः।
इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि।
तेन तमभ्यतिसृजामो यो३ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
तं वधेयं तं स्तृषीयाऽनेन ब्रह्मणाऽनेन कर्मणाऽनया मेन्या॥ १८॥
यो व आपोऽपां हिरण्यगर्भो३ऽप्स्व१न्तर्यजुष्यो देवयजनः।
इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि।

तेन तमभ्यतिसृजामो यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
तं वधेयं तं स्तृषीयाऽनेन ब्रह्मणाऽनेन कर्मणाऽनया मेन्या॥ १९॥
यो व आपोऽपामश्मा पृश्निर्दिव्यो३प्स्व१न्तर्यजुष्यो देवयजनः।
इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि।
तेन तमभ्यतिसृजामो यो ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
तं वधेयं तं स्तृषीयाऽनेन ब्रह्मणाऽनेन कर्मणाऽनया मेन्या॥ २०॥
यो व आपोऽपामग्रयोऽप्स्व१न्तर्यजुष्या देवयजनाः।
इदं तानति सृजामि तान्माऽभ्यवनिक्षि।
तैस्तमभ्यतिसृजामो यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
तं वधेयं तं स्तृषीयाऽनेन ब्रह्मणाऽनेन कर्मणाऽनया मेन्या॥ २१॥

१. हे **आपः**=रेतःकणो! **यः**=जो **वः**=आपका **अपाम्**=प्रजाओं का **भागः**=पूजन (भज सेवायाम्) है, अर्थात् आपके रक्षण से प्रजाओं के अन्दर जो प्रभु-पूजन का भाव उत्पन्न होता है, इसी प्रकार जो **अपाम् ऊर्मिः**=प्रजाओं का प्रकाश है (ऊर्मि light), आपके रक्षण से जो प्रकाश उत्पन्न होता है। जो **अपां वत्सः**=(वदति) प्रजाओं का ज्ञान की वाणियों का उच्चारण है। **अपां वृषभः**=प्रजाओं में सुखों का सेचन है (वृष् सेचने)। **अपां हिरण्यगर्भः**=प्रजाओं में ज्योति को धारण करना है। **अपां अश्मा**=प्रजाओं का पाषाण-तुल्य दृढ़-शरीर है, **पृश्निः**=अंग-प्रत्यंग में रसों का संस्पर्श है (संस्प्रष्टा रसान्—नि० २।१४) तथा **दिव्यः**=देववृत्तियों का जन्म है और अन्ततः **अपां अग्रयः**=प्रजाओं के अन्दर आगे बढ़ने की वृत्तियाँ हैं। ये सब **अप्सु अन्तः**=प्रजाओं के अन्दर **यजुष्यः**=यजुष्य हैं—यज्ञात्मकवृत्तियों को जन्म देने के लिए उत्तम हैं। ये सब बातें **देवयजनः**=उस देव के साथ—प्रभु के साथ मेल करानेवाली हैं। २. अतः **इदम्** (इदानीम्)=अब मैं **तम् उ**=उस रेतःकण (वीर्यशक्ति) को ही **अतिसृजामि**=अतिशयेन अपने अन्दर उत्पन्न करता हूँ। **तं मा अभि अवनिक्षि**=उसका मैं सफ़ाया न कर दूँ—उसे अपने अन्दर सुरक्षित करूँ (अवनिज् wipe off)**तेन**=उस वीर्यशक्ति के द्वारा **तम् अभि अतिसृजामः**=उसे अपने से दूर करते हैं (अतिसृज् part with) **यः**=जो **अस्मान् द्वेष्टि**=हम सबके प्रति अप्रीतिवाला है और परिणामतः **यं वयं द्विष्मः**=जिससे हम भी प्रीति नहीं कर सकते। **तम्**=उसे **अनेन ब्रह्मणा**=इस ज्ञान के द्वारा **अनेन कर्मणा**=इस यज्ञादि कर्म के द्वारा तथा **अनया मेन्या**=इस उपासनारूप वज्र के द्वारा (मेनिः—मन्) **तं वधेयम्**=उस समाज-विद्विष्ट को समाप्त कर दूँ, **तं स्तृषीय**=उसे नष्ट कर दूँ (स्तृ to kill)।

भावार्थ—रेतःकणों के रक्षण से हममें 'उपासना के भाव, प्रकाश, ज्ञान की वाणियों का उच्चारण, सुख, ज्योति, दृढ़ रसमय दिव्यता व प्रगतिशीलता' की उत्पत्ति होती है, अतः रेतःकणों का रक्षण आवश्यक है। इससे द्वेषभाव भी विनष्ट हो जाता है।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'दुरित व अंहस्' से दूर

यदर्वाचीनं त्रैहायणादनृतं किं चोदिम।
आपो मा तस्मात्सर्वस्माद्दुरितात्पान्त्वंहसः॥ २२॥

१. तीन साल की आयु तक तो पता ही नहीं, **त्रैहायणात् अर्वाचीनम्**=तीन साल की आयु के पश्चात् (on this side of) **यत् किञ्च**=जो कुछ भी **अनृतं उदिम**=हमने अनृत

(असत्य) बोला है **आपः**=ये रेतःकण **तस्मात् सर्वस्मात् दुरितात्**=उस सब दुरित (दुराचरण) से तथा **अंहसः**=उस दुरित से जनित चिन्ता से—कष्ट से (trouble, anxiety, care) **मा पान्तु**=मुझे रक्षित करें।

भावार्थ—रेतःकणों का रक्षण हमें दुरितों व कष्टों से मुक्त करता है।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अरिष्टाः सर्वहायसः

समुद्रं वः प्र हिणोमि स्वां योनिमपीतन।
अरिष्टाः सर्वहायसो मा च नः किं चनाममत्॥ २३॥

१. हे रेतःकणो! (आपः) मैं **वः**=तुम्हें **समुद्रम्**=(स मुद्) सर्वदा आनन्दमय उस प्रभु की ओर **प्रहिणोमि**=भेजता हूँ। तुम्हारे रक्षण के द्वारा ही तो मुझे प्रभु को पाना है। तुम **स्वां योनिम् अपि इतन**=अपने उत्पत्तिस्थान इस शरीर की ओर ही गतिवाले होओ। तुम शरीररूप घर में ही सुरक्षित रहो। २. तुम्हारे रक्षण के द्वारा हम **अरिष्टाः**=अहिंसित हों—रोगों से आक्रान्त न हों। **सर्वहायसः**=पूर्ण वर्षोंवाले व शतवर्षपर्यन्त जीवनवाले हों। **च**=तथा **नः**=हमें **किञ्चन**=कुछ भी **मा आममत्**=पीड़ित करनेवाला न हो—हम किसी रोग के शिकार न हों।

भावार्थ—वीर्यरक्षण द्वारा हम 'रोगों से अहिंसित—शतवर्षपर्यन्त जीवनवाले हों' तथा इनका रक्षण हमें अन्ततः प्रभु को प्राप्त करानेवाला हो।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराड्गायत्री** ॥

'रिप्रं, एनः, दुरितं, मलम्' (अव प्रवहन्तु)

अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मत्।
प्रास्मदेनो दुरितं सुप्रतीकाः प्र दुःष्वप्न्यं प्र मलं वहन्तु॥ २४॥

१. **आपः**=ये रेतःकण **अरिप्राः**=दोषरहित हैं। ये रेतःकण **रिप्रम्**=दोष को **अस्मत् अप**=हमसे दूर करें। ये **सुप्रतीकाः**=(प्रतीक limb, member) शोभन अंगोंवाले—सब अंगों को सुन्दर बनानेवाले रेतःकण **अस्मत्**=हमसे **एनः**=पापों को **प्रवहन्तु**=दूर बहा ले-जाएँ। **दुरितम्**=दुराचरण को ये हमसे **प्र** (वहन्तु)=दूर करें। **दुःष्वप्न्यम्**=दुष्ट स्वप्नों के कारणभूत **मलम्**=मल को **प्र (वहन्तु)**=हमसे दूर बहा दें।

भावार्थ—रेतःकणों का रक्षण हमसे 'दोष, पाप, दुराचरण व दुःष्वप्न्य मलों' को दूर करनेवाला होता है।

इन रेतःकणों के रक्षण के उद्देश्य से यह कृषि आदि उत्पादक कर्मों में प्रवृत्त रहता है। कृषि में हल का स्थान प्रमुख है। इसके फाल को ही 'कुशिक' (ploughshare) कहते हैं। यह कुशिक का ही हो जाता है (कुशिकस्य अयं), अतः 'कौशिक' कहलाता है। यही अगले (२५-३५) मन्त्रों का ऋषि है—

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**षट्पदायथाक्षरंशक्वर्यतिशक्वरी** ॥

पृथिवीसंशितः अग्नितेजाः

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा पृथिवीसंशितोऽग्नितेजाः।
पृथिवीमनु वि क्रमेऽहं पृथिव्यास्तं निर्भजामो योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु॥ २५॥

१. तू **विष्णोः**=एक पवित्र व्यक्ति (A pious man) के **क्रमः**=पराक्रमवाला **असि**=है (क्रमः अस्यास्तीति क्रमः)। **'सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक्'**=ज्ञानी लोग कृषि आदि निर्माण के कार्यों में ही प्रवृत्त होते हैं। वेद का आदेश भी तो यही है कि **'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व'** पासों से मत खेल, खेती ही कर। इसी से तू **सपत्नहा**=रोग व वासनारूप शत्रुओं को नष्ट करनेवाला है। **पृथिवीसंशितः**=इस शरीररूप पृथिवी में तू तीव्र किया गया है। **अग्नितेजाः**=अग्नि के समान तेजस्वी है। २. तू निश्चय कर कि **पृथिवीम् अनु**=इस शरीररूप पृथिवी का लक्ष्य करके—इसे उत्तम, स्वस्थ बनाने के उद्देश्य से—**अहम्**=मैं **विक्रमे**=पराक्रम करता हूँ। **पृथिव्याः**=इस शरीररूप पृथिवी से **तं निर्भजामः**=उस रोग आदि को दूर भगाते हैं (put to flight) **यः अस्मान् द्वेष्टि**=जो हमसे अप्रीति करता है, **यं वयं द्विष्मः**=जिससे हम प्रेम नहीं रखते, **सः मा जीवीत्**=वह हमारा शत्रु न जीए। **तं प्राणः जहातु**=उसे प्राण छोड़ जाएँ।

भावार्थ—कृषि आदि कर्मों में लगे रहने से शरीर स्वस्थ बनता है। अग्नि के समान तेजस्विता प्राप्त होती है। उससे रोग व वासनारूप शत्रु नष्ट हो जाते हैं।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**षट्पदायथाक्षरंशक्वर्यतिशक्वरी** ॥

अन्तरिक्षसंशितो वायुतेजाः

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहान्तरिक्षसंशितो वायुतेजाः।
अन्तरिक्षमनु वि क्रमेऽहमन्तरिक्षात्तं निर्भजामो यो३ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु॥ २६ ॥

१. **विष्णोः क्रमः असि**=तू एक पवित्र व्यक्ति के पराक्रमवाला है। इसी से **सपत्नहा**=रोग व वासनारूप शत्रुओं को नष्ट करनेवाला है। **अन्तरिक्षसंशितः**=तू हृदयरूप अन्तरिक्ष में तीव्र किया गया है, **वायुतेजाः**=वायु के समान तेजस्वी बना है। २. तू निश्चय कर कि **अन्तरिक्षम् अनु**=हृदयान्तरिक्ष को लक्ष्य करके **अहम्**=मैं **विक्रमे**=विशिष्ट पुरुषार्थ करता हूँ और **अन्तरिक्षात्**=हृदयान्तरिक्ष से उन शत्रुओं को दूर भगाता हूँ। **तम् निर्भजामः०** (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—कृषि आदि कर्मों में प्रवृत्त रहकर मैं हृदय में पवित्र बनता हूँ। मेरे हृदय में वायु(वा गतिगन्धनयोः) गति द्वारा बुराई के हिंसन का भाव रहता है और मैं निर्द्वेष बनता हूँ।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**षट्पदायथाक्षरंशक्वर्यतिशक्वरी** ॥

द्यौसंशितः सूर्यतेजाः

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा द्यौसंशितः सूर्यतेजाः।
दिवमनु वि क्रमेऽहं दिवस्तं निर्भजामो यो३ऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु॥ २७॥

१. तू **विष्णोः क्रमः असि**=एक पवित्र व्यक्ति के पराक्रमवाला है। **द्यौसंशितः**=मस्तिष्करूप द्युलोक में तीक्ष्ण किया गया है। **सूर्यतेजाः**=सूर्य के समान तेजस्वी हुआ है। २. तू निश्चय कर कि **अहम्**=मैं **दिवम् अनु**=मस्तिष्करूप द्युलोक को लक्ष्य बनाकर **विक्रमे**=विशिष्ट पुरुषार्थ करता हूँ। **तम् निर्भजामः०** (शेषपूर्ववत्)

भावार्थ—पवित्र कर्मों में व्यापृत हुआ-हुआ मैं मस्तिष्करूप द्युलोक को ज्ञानसूर्य से दीप्त करता हूँ। मेरे कर्मों का लक्ष्य इस द्युलोक को दीप्त बनाना होता है। इस दीप्ति में वासनान्धकार का विलय हो जाता है।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**षट्पदायथाक्षरंशक्वर्यतिशक्वरी** ॥

दिक्संशितो मनस्तेजाः

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा दिक्संशितो मनस्तेजाः।
दिशोऽनु वि क्रमेऽहं दिग्भ्यस्तं निर्भजामो यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु॥ २८॥

१. **विष्णोः क्रमः असि**=तू पवित्र पुरुष के पुरुषार्थवाला है, इसी से **सपत्नहा**=रोग व वासनारूप शत्रुओं को नष्ट करनेवाला है। **दिक् संशितः**=इस शरीर-पिण्ड की 'पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण' सब दिशाओं में तू तीव्र बना है। **मनस्तेजाः**=सभी दृष्टियों से स्वस्थ होने के कारण तू मानस तेज को प्राप्त हुआ है—तेजस्वी मनवाला बना है। २. तू निश्चय कर कि **अहम्**=मैं **दिशः अनु**=इन सब दिशाओं का लक्ष्य करके सभी प्रकार से स्वास्थ्य के लिए **विक्रमे**=पुरुषार्थवाला होता हूँ। **तम्०** (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—पवित्र कर्मों के द्वारा, शरीर की सब दिशाओं को सशक्त बनाकर, मनस्वी होता हुआ मैं सब शत्रुओं को परास्त करता हूँ।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**षट्पदायथाक्षरंशक्वर्यतिशक्वरी** ॥

आशासंशितो वाततेजाः

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहाशासंशितो वाततेजाः।
आशा अनु वि क्रमेऽहमाशाभ्यस्तं निर्भजामो यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु॥ २९॥

१. **विष्णोः क्रमः असि**=तू एक पवित्र पुरुष के पराक्रमवाला है, अतएव **सपत्नहा**=रोग व वासनारूप शत्रुओं को नष्ट करनेवाला है। **आशासंशितः**=इस शरीर-पिण्ड के सम्पूर्ण प्रदेशों में (आशा=space, region) तू तीव्र बना है। **वाततेजाः**=वात (गति) के तेजवाला है। सम्पूर्ण प्रदेश में सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों की गति ठीक से हो रही है। २. तू निश्चय कर कि **आशाः अनु**=शरीरस्थ सम्पूर्ण प्रदेशों का लक्ष्य करके **अहं विक्रमे**=मैं विशिष्ट पुरुषार्थवाला होता हूँ। **तम् निर्भजामः०** (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—पवित्र कर्मों में व्यस्त रहने के द्वारा मैं शरीर के सम्पूर्ण प्रदेश को सशक्त बनाता हूँ। वहाँ से रोगरूप शत्रुओं को दूर भगाता हूँ।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**षट्पदायथाक्षरंशक्वर्यतिशक्वरी** ॥

ऋक्संशितः सामतेजाः

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नह ऋक्संशितः सामतेजाः।
ऋचोऽनु वि क्रमेऽहमृग्भ्यस्तं निर्भजामो यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु॥ ३०॥

१. तू **विष्णोः क्रमः असि**=पवित्र पुरुष के पराक्रमवाला है, अतएव **सपत्नहा**=रोग व वासनारूप शत्रुओं को नष्ट करनेवाला है। **ऋक् संशितः**=विज्ञान से तीक्ष्ण शक्तियोंवाला होता हुआ तू **सामतेजाः**=उपासना के तेजवाला है। विज्ञान ने तेरी शक्तियों को तीक्ष्ण किया है और उपासना ने तुझे प्रभु के तेज से तेजस्वी बनाया है। २. तू निश्चय कर कि इन **ऋचः अनु**=विज्ञानों का लक्ष्य करके ही मैं **विक्रमे**=विशिष्ट पुरुषार्थवाला होता हूँ। **तम् निर्भजामः०** (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—पवित्र कर्मों में लगे रहने से, विज्ञान व उपासना की वृद्धि के द्वारा हम तेजस्वी

बनते हैं और शत्रुओं को परास्त करते हैं।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**षट्पदायथाक्षरंशक्वर्यतिशक्वरी** ॥

यज्ञसंशितो ब्रह्मतेजाः

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा यज्ञसंशितो ब्रह्मतेजाः।
यज्ञमनु वि क्रमेऽहं यज्ञात्तं निर्भजामो यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु॥ ३१ ॥

१. **विष्णोः क्रमः असि**=तू पवित्र पुरुष के पराक्रमवाला है, अतएव **सपत्नहा**=रोग व वासनारूप शत्रुओं को नष्ट करनेवाला है। **यज्ञसंशितः**=यज्ञों के द्वारा तीक्ष्ण शक्तिवाला बना है, और **ब्रह्मतेजाः**=वेदज्ञान के तेजवाला हुआ है। २. तू निश्चय कर कि **यज्ञम् अनु**=यज्ञों का लक्ष्य करके **अहम्**=मैं **विक्रमे**=विशिष्ट पुरुषार्थवाला होता हूँ। यज्ञ मुझे शक्ति सम्पन्न बनाते हैं, अतः मैं यज्ञों के सम्पादन के लिए विशिष्ट पुरुषार्थवाला होता हूँ। उस **यज्ञात्**=यज्ञ के द्वारा **तम्०** (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—पवित्र पुरुषार्थ से पराक्रमवाला होता हुआ मैं यज्ञशील बनता हूँ और ज्ञान के तेज से तेजस्वी होकर मैं सब शत्रुओं को परास्त करता हूँ।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**षट्पदायथाक्षरंशक्वर्यतिशक्वरी** ॥

ओषधिसंशितः सोमतेजाः

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहौषधीसंशितः सोमतेजाः।
ओषधीरनु वि क्रमेऽहमोषधीभ्यस्तं निर्भजामो यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु॥ ३२ ॥

१. **विष्णोः क्रमः असि**=तू पवित्र पुरुष के पराक्रमवाला है। इस पराक्रम से ही **सपत्नहा**=तू रोग व वासनारूप शत्रुओं को नष्ट करनेवाला है। **ओषधिसंशितः**=वानस्पतिक (ओषधि) भोजन द्वारा तू तीक्ष्ण शक्तिवाला हुआ है और **सोमतेजाः**=वानस्पतिक भोजन से उत्पन्न सोम से तेजस्वी बना है। २. तू यह निश्चय कर कि **अहम्**=मैं **ओषधीः अनु विक्रमे**=ओषधि-वनस्पतियों को प्राप्त करने के लक्ष्य से पुरुषार्थवाला होता हूँ और **ओषधिभ्यः**=इन ओषधियों से **तम्०** (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—पवित्र कर्मों को करते हुए हम रोगादि शत्रुओं को विनष्ट करते हैं। ओषधियों के प्रयोग से उत्पन्न सोम(वीर्य) द्वारा मैं तेजस्वी बनता हूँ और इस तेजस्विता के द्वारा निर्द्वेष बनता हूँ।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**षट्पदायथाक्षरंशक्वर्यतिशक्वरी** ॥

अप्सुसंशितः वरुणतेजाः

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहाऽप्सुसंशितो वरुणतेजाः।
अपोऽनु वि क्रमेऽहमद्भ्यस्तं निर्भजामो यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु॥ ३३ ॥

१. **विष्णोः क्रमः असि**=तू पवित्र पुरुष के पराक्रमवाला है, अतएव **सपत्नहा**=रोग व वासनारूप शत्रुओं को नष्ट करनेवाला है। **अप्सुसंशितः**=रेत:कणों में-रेत:कणों के रक्षण द्वारा—तीक्ष्ण शक्तिवाला हुआ है। **वरुणतेजाः**=निर्द्वेष पुरुष के—द्वेष आदि का निवारण करनेवाले

पुरुष के तेजवाला हुआ है। २. तू निश्चय कर कि **अहम्**=मैं **अपः अनु विक्रमे**=रेत:कणों का लक्ष्य करके पुरुषार्थवाला बना हूँ। रेत:कणों के रक्षण के लिए मैंने पुरुषार्थ किया है और **अद्भ्यः**=इन रेत:कणों के द्वारा **तम्०** (शेष पूर्ववत्)।

भावार्थ—पवित्र कर्मों में व्यापृत होकर मैं वीर्यकणों का रक्षण करता हुआ निर्द्वेष जीवनवाला बनता हूँ। इनके रक्षण से ही शत्रुओं को दूर भगाता हूँ।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**षट्पदायथाक्षरंशक्वर्यतिशक्वरी** ॥

कृषिसंशितोऽन्नतेजाः

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा कृषिसंशितोऽन्नतेजाः।
कृषिमनु वि क्रमेऽहं कृष्यास्तं निर्भजामो यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु॥ ३४॥

१. **विष्णोः क्रमः असि**=तू पवित्र पुरुष के पराक्रमवाला है, **सपत्नहा**=कर्मों में व्यापृत रहने के द्वारा रोगरूप शत्रुओं को नष्ट करनेवाला है। **कृषिसंशितः**=कृषिकर्म द्वारा तीक्ष्ण शक्तिवाला बना है और **अन्नतेजाः**=कृषि से उत्पन्न अन्न के द्वारा तेजस्वी बना है। २. तू निश्चय कर कि **कृषिं अनु**=कृषि का लक्ष्य करके **अहं विक्रमे**=मैं पुरुषार्थवाला होता हूँ और इस **कृष्याः**=कृषिकर्म में लगे रहने के द्वारा **तम्०** (शेष पूर्ववत्)।

भावार्थ—हम पवित्र कर्मों को करते हुए कृषि से उत्पन्न अन्न का सेवन करते हुए तेजस्वी बनें और रोग व वासनारूप शत्रुओं को नष्ट करें।

ऋषिः—**कौशिकः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**षट्पदायथाक्षरंशक्वर्यतिशक्वरी** ॥

प्राणसंशितः पुरुषतेजाः

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा प्राणसंशितः पुरुषतेजाः।
प्राणमनु वि क्रमेऽहं प्राणात्तं निर्भजामो यो३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः।
स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु॥ ३५॥

१. **विष्णोः क्रमः असि**=तू पवित्र पुरुष के पराक्रमवाला है, इसप्रकार **सपत्नहा**=रोग व वासनारूप शत्रुओं को नष्ट करनेवाला है। **प्राणसंशितः**=प्राणशक्ति के द्वारा तू तीक्ष्ण बना है, **पुरुषतेजाः**=तुझमें पुरुष को शोभा देनेवाली तेजस्विता है। २. तू निश्चय कर कि **अहम्**=मैं **प्राणम् अनु**=प्राणशक्ति का लक्ष्य करके **विक्रमे**=पुरुषार्थवाला होता हूँ। **प्राणात्**=इस प्राणशक्ति के द्वारा **तम्०** (शेष पूर्ववत्)।

भावार्थ—पवित्र कर्मों को करते हुए हम तीव्र प्राणशक्तिवाले बनें, हममें पुरुषोचित तेजस्विता हो। प्राणशक्ति का सम्पादन करते हुए हम निर्द्वेष बनें।

पवित्र कर्मों द्वारा तीव्रशक्तियुक्त यह पुरुष सब रोग—द्वेष व रोगरूप शत्रुओं को समाप्त करके 'ब्रह्मा' श्रेष्ठ पुरुष बनता है। अगले छह मन्त्रों का ऋषि यह ब्रह्मा ही है—

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाऽतिशाक्वरातिजागतगर्भाऽष्टिः** ॥

जितम्—उद्भिन्नम्

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमभ्य∫ष्ठां विश्वाः पृतना अरातीः।
इदमहमामुष्यायणस्यामुष्याः पुत्रस्य वर्चस्तेजः
प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ ३६॥

१. गत मन्त्रों के अनुसार पुरुषार्थ करने पर **अस्माकं जितम्**=हमारी विजय होती है। **अस्माकम् उद्भिन्नम्**=हमारे द्वारा शत्रुओं का विनाश (Destroying) होता है। मैं **विश्वाः**=सब **अरातीः पृतनाः**=शत्रुभूत सेनाओं को **अभ्यष्ठाम्**=अभिभूत करता हूँ। २. यह ब्रह्मा निश्चय करता है कि **इदम्**=(इदानीम्) अब **अहम्**=मैं अपने शत्रुभूत **आमुष्यायणस्य**=अमुक पिता के तथा **अमुष्याः**=अमुक माता के **पुत्रस्य**=पुत्र के **वर्चः**=वर्चस् (Vitality) को **तेजः**=तेज को **प्राणम्**=प्राणशक्ति को व **आयुः**=जीवन को **निवेष्टयामि**=संवृत्त (Cover) कर देता हूँ। **इदम्**=अब **एनम्**=इसको **अधराञ्चम् पादयामि**=पाँव तले रौंद डालता हूँ—पादाक्रान्त कर लेता हूँ।

भावार्थ—हम विजयी बनें—शत्रुओं को विनष्ट करनेवाले हों। शत्रुओं को सदा पादाक्रान्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**विराट्पुरस्ताद्बृहती** ॥

द्रविण—ब्राह्मणवर्चस्

सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते दक्षिणामन्वावृतम्।
सा मे द्रविणं यच्छतु सा मे ब्राह्मणवर्चसम्॥ ३७॥

१. मैं **सूर्यस्य आवृतम् अनु आवर्ते**=सूर्य के आवर्तन के अनुसार आवर्तनवाला होता हूँ। सूर्य जिस प्रकार नियम से मार्ग पर आगे और आगे बढ़ता है, उसी प्रकार मैं नियमित रूप से अपनी दिनचर्या में चलता हूँ। '**पूषन् तव व्रते वयं न रिष्येम कदाचन**'=हे सूर्य! तेरे व्रत में हम कभी हिंसित न हों। **दक्षिणाम् आवृतम् अनु (आवर्ते)**=(दक्ष वृद्धौ) वृद्धि के कारणभूत इस आवर्तन के पीछे मैं आवर्तनवाला होता हूँ। २. **सा**=वृद्धि की कारणभूत सूर्य के समान पालिता होती हुई वह दिनचर्या **मे**=मेरे लिए **द्रविणं यच्छतु**=कार्यसाधक धन प्रदान करें।

भावार्थ—सूर्य की भाँति नियमितरूप से मार्ग पर चलते हुए हम धनों व ज्ञान के बलों को प्राप्त करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**३८ पुरउष्णिक्, ३९, ४१ आर्षीगायत्री ४० विराड्विषमागायत्री** ॥

दिशाएँ, सप्तर्षि, ब्रह्म, ब्राह्मण

दिशो ज्योतिष्मतीरभ्यावर्ते। ता मे द्रविणं यच्छन्तु ता मे ब्राह्मणवर्चसम्॥ ३८॥
सप्तऋषीनभ्यावर्ते। ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम्॥ ३९॥
ब्रह्माभ्यावर्ते। तन्मे द्रविणं यच्छतु तन्मे ब्राह्मणवर्चसम्॥ ४०॥
ब्राह्मणाँ अभ्यावर्ते। ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम्॥ ४१॥

१. मैं इन **ज्योतिषमतीः दिशः अभि आवर्ते**=ज्योतिर्मय दिशाओं की ओर आवर्तनवाला होता हूँ। प्रतिदिन सन्ध्या में इनका ध्यान करता हुआ इनसे 'आगे बढ़ने की (प्राची), नम्र बनने की (अवाची), इन्द्रियों को विषयों से वापस लौटाने की (प्रतीची) व ऊपर उठने की (उदीची)' प्रेरणा प्राप्त करता हूँ। २. इसी प्रकार मैं **सप्तऋषीन् अभि आवर्ते**=सात ऋषियों की ओर आवर्तनवाला होता हूँ। 'गोतम' ऋषि का स्मरण करके प्रशस्त इन्द्रियोंवाला (गावः इन्द्रियणि) बनता हूँ। 'भरद्वाज' का स्मरण मुझे शक्तिभरण का उपदेश देता है। 'विश्वामित्र' की तरह मैं भी सभी के प्रति प्रेमवाला होता हूँ। जाठराग्नि को न बुझने देकर 'जमदग्नि' बनता हूँ। उत्तम वसुओंवाला 'वसिष्ठ' बनता हुआ 'कश्यप'=ज्ञानी बनने के लिए यत्न करता हूँ और इसप्रकार 'अत्रि'='काम, क्रोध, लोभ' इन तीनों से ऊपर उठता हूँ। २. **ब्रह्म अभि आवर्ते**=मैं

अपने प्रत्येक अवकाश के क्षण में ज्ञान की ओर गतिवाला होता हूँ। इसी उद्देश्य से **ब्राह्मणान् अभि आवर्ते**=ज्ञानियों की ओर आवर्तनवाला होता हूँ। इनके सम्पर्क से ज्ञानी बनता हूँ। ये सब बातें मुझे द्रविण व ब्रह्मवर्चस् प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—दिशाओं से प्रेरणा लेता हुआ, सप्तऋषियों के समान आचरण करता हुआ, अवकाश के प्रत्येक क्षण को ज्ञान-प्राप्ति में लगाता हुआ, ज्ञानियों के संपर्क में चलता हुआ मैं 'द्रविण व ब्रह्मवर्चस्' प्राप्त करूँ।

यह 'द्रविण के साथ ब्रह्मवर्चस्' वाला व्यक्ति विशिष्ट हव्योंवाला होता है—उत्तम त्यागवाला बनता है। यज्ञों को करता हुआ यह 'विहव्य' अगले नौ मन्त्रों का ऋषि है—

ऋषिः—**विहव्यः** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आत्मनिरीक्षण द्वारा शत्रु का अन्वेषण व विनाश

यं व॒यं मृ॒गया॑महे॒ तं व॒धैः स्तृ॑णवामहै।
व्या॒त्ते प॑रमे॒ष्ठिनो॑ ब्रह्म॒णापी॑पदाम॒ तम्॥ ४२॥

१. **यम्**=जिस भी काम, क्रोध व लोभरूप शत्रु को **वयम्**=हम **मृगयामहे**=ढूँढ पाते हैं, **तम्**=उसे **वधैः**=हनन-साधन आयुधों द्वारा **स्तृणवामहै**=समाप्त करते हैं (स्तृणातिर्वधकर्मा—नि० २।१९)। २. **तम्**=उस शत्रु को **ब्रह्मणा**=वेदज्ञान द्वारा **परमेष्ठिनः**=परम स्थान में स्थित प्रभु की **व्यात्ते**=खुली (विशाल) दंष्ट्रा में **अपीपदाम**=प्राप्त कराते हैं, अर्थात् ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करते हुए प्रभु के सान्निध्य में उस शत्रु को समाप्त कर देते हैं।

भावार्थ—आत्मनिरीक्षण द्वारा हम अन्तःस्थ शत्रुओं को खोज-खोजकर ज्ञान की वाणियों के द्वारा प्रभु की समीपता में समाप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—**विहव्यः** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'देवी सहीयसी' आहुतिः

वै॒श्वा॒न॒रस्य॒ दंष्ट्रा॑भ्यां हे॒तिस्तं सम॑धाद॒भि।
इ॒यं तं प्सा॒त्वाहु॑तिः स॒मिद्दे॒वी सही॑यसी॥ ४३॥

१. प्रातः-सायं प्रभु की उपासना ही प्रभु की दो दंष्ट्राएँ हैं। जो भी इस उपासना को अपनाता है उसके लिए यह उपासना शत्रु-नाशन का आयुध बन जाती है। यह **हेतिः**=शत्रुनाशन के लिए वज्र **वैश्वानरस्य दंष्ट्राभ्याम्**=सर्वहितकारी प्रभु की दो दाढ़ों से (प्रातः-सायं की जानेवाली उपासना से) **तम्**=उस शत्रु को **सम् अभि अधात्**=सम्यक् सब ओर से पकड़ ले (दबोच ले)। प्रातः-सायं प्रभु का उपासन हमें शत्रुओं से रक्षा का सामर्थ्य प्राप्त कराता है। २. **इयम्**=यह **देवी**=रोगों को जीतने की कामनावाली **सहीयसी**=रोगरूप शत्रुओं के मर्षण में उत्तम **समित्**=अग्निहोत्र में पड़नेवाली समिधा व **आहुतिः**=हव्य पदार्थ **तं प्सातु**=उस रोगरूप शत्रु को खा जाए। अग्निहोत्र के द्वारा रोगों का विनाश हो जाता है '**अग्रेर्होत्रेण प्रणुदा सपत्नान्**'।

भावार्थ—प्रातः-सायं प्रभु का उपासन करते हुए हम शत्रुओं को परास्त करें। अग्निहोत्र द्वारा रोगों को दूर भगानेवाले हों।

ऋषिः—**विहव्यः** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**त्रिपदागायत्रीगर्भाऽनुष्टुप्** ॥

राज्ञो वरुणस्य बन्धः

राज्ञो॒ वरु॑णस्य ब॒न्धो॑ऽसि।
सो॒३ऽमुमा॑मुष्याय॒णम॒मुष्याः॑ पु॒त्रमन्ने॑ प्रा॒णे ब॑धान॥ ४४॥

१. **राज्ञः**=संसार के शासक व दीप्त **वरुणस्य**=पापों का निवारण करनेवाले प्रभु को तू **बन्धः असि**=अपने हृदयदेश में बाँधनेवाला है। तू प्रभु को हृदय में 'राजा वरुण' के रूप में स्मरण करता है, इसप्रकार स्मरण करता हुआ तू ऐसा ही बनता है। २. **सः**=वह तू **अमुम्**=उस अपने को **आमुष्यायणम्**=अमुक पिता के व **अमुष्याः पुत्रम्**=अमुक माता के पुत्र को **अन्ने प्राणे बधान**=अन्न व प्राण में बाँधनेवाला हो। तू अन्नों—वानस्पतिक भोजनों का ही सेवन करनेवाला बन तथा इन अन्नों को भी प्राणधारण के उद्देश्य से ही खा—अन्न का भी उतना ही सेवन कर जितना की प्राणधारण के लिए पर्याप्त हो।

भावार्थ—हम हृदय में उस दीप्त, पाप-निवारक प्रभु को स्थापित करने का प्रयत्न करें। अपने माता-पिता का स्मरण करते हुए, उनके नाम को कलङ्कित न होने देने के लिए प्राणशक्ति-रक्षण के हेतु वानस्पतिक भोजनों का सेवन करें।

ऋषिः—**विहव्यः** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अन्न का ही सेवन

यत्ते अन्नं भुवस्पत आक्षियति पृथिवीमनु।
तस्य नस्त्वं भुवस्पते संप्रयच्छ प्रजापते॥ ४५ ॥

१. हे **भुवस्पते**=इस पृथिवी के स्वामिन् प्रभो! **यत् ते अन्नम्**=जो आपका यह अन्न **पृथिवीं अनु आक्षियति**=पृथिवी पर चारों ओर निवास करता है, अर्थात् इस पृथिवी से उत्पन्न होता है, हे **भुवस्पते**=पृथिवी के स्वामिन्! **प्रजापते**=प्रजाओं के रक्षक प्रभो! **तस्य**=उस अन्न के अंश को **त्वं**=आप **नः संप्रयच्छ**=हमारे लिए दीजिए।

भावार्थ—हम प्रभुकृपा से इस पृथिवी से उत्पन्न होनेवाले अन्न को प्राप्त करें और उसके द्वारा प्राणों का धारण करें।

ऋषिः—**विहव्यः** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दिव्याः अपः

अपो दिव्या अचायिषं रसेन समपृक्ष्महि।
पयस्वानग्न आगमं तं मा सं सृज वर्चसा॥ ४६ ॥
सं माऽग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा।
विद्युर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात्सह ऋषिभिः॥ ४७ ॥

इन मन्त्रों का भाष्य अथर्व० ७।८९।१-२ पर देखिए।

ऋषिः—**विहव्यः** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

तप द्वारा यातुधानों को शीर्ण करना

यदग्ने अद्य मिथुना शपातो यद्वाचस्तृष्टं जनयन्त रेभाः।
मन्योर्मनसः शरव्या जायते या तया विध्य हृदये यातुधानान्॥ ४८ ॥
परा शृणीहि तपसा यातुधानान्पराऽग्ने रक्षो हरसा शृणीहि।
पराऽर्चिषा मूरदेवाञ्छृणीहि परासुतृपः शोशुचतः शृणीहि॥ ४९ ॥

इन मन्त्रों का भाष्य अथर्व० ८।३।१२-१३ पर देखिए।

ऋषिः—**विहव्यः** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

चतुर्भृष्टि वज्र

अपामस्मै वज्रं प्र हरामि चतुर्भृष्टिं शीर्षभिद्याय विद्वान्।
सो अस्याङ्गानि प्र शृणातु सर्वा तन्मे देवा अनु जानन्तु विश्वे॥ ५०॥

१. **विद्वान्**=ज्ञानी (समझदार) बनता हुआ मैं **अस्मै शीर्षभिद्याय**=इस रोगरूप शत्रु के सिर को फोड़ देने के लिए **चतुर्भृष्टिम्**=(भ्रस्ज पाके) चारों ओर **अयः**=फालोंवाले व चारों ओर से भून डालनेवाले **अपां वज्रम्**=रेतःकणों से बने हुए वज्र को **प्रहरामि**=प्रहृत करता हूँ। **सः**=वह वज्र **अस्य**=इस शत्रु के **सर्वा अङ्गानि**=सब अंगों को **प्रशृणातु**=शीर्ण कर दे। **विश्वेदेवाः**=सब देव **मे तत्**=मेरे उस कार्य का **अनुजानन्तु**=समर्थन करनेवाले हों।

भावार्थ—रेतःकणों के रक्षण के द्वारा रोगरूप शत्रु के सिर का हम भेदन कर डालते हैं। दिव्यगुणों को अपनाते हुए हम वीर्यरक्षण कर पाते हैं और रोग-विनाश के कार्य में समर्थ होते हैं।

छठे सूक्त का ऋषि 'बृहस्पति' है—इसका देवता 'फालमणि' है—वीर्यशक्तिरूप मणि, जोकि सब रोगों व वासनाओं को विशीर्ण करती है (फल् विशरणे)। इसके रक्षण से ही ज्ञानाग्नि भी दीप्त होती है और इसप्रकार इसका रक्षक 'बृहस्पति' बनता है—ज्ञानी।

अथ त्रयोविंशः प्रपाठकः

६. [षष्ठं सूक्तम्]

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

न अरातीयु, न भ्रातृव्य, न दुर्हार्द, न द्विषन्

अरातीयोर्भ्रातृव्यस्य दुर्हार्दो द्विषतः शिरः। अपि वृश्चाम्योजसा॥ १॥

१. वीर्यमणि के रक्षण के द्वारा उत्पन्न हुए-हुए **ओजसा**=ओजस् के द्वारा मैं **भ्रातृव्यस्य**=भ्रातृभाव से शून्य शत्रु के **शिरः**=सिर को **अपिवृश्चामि**=काट डालता हूँ। उस शत्रु के सिर को जोकि **अरातीयोः**=अराति की भाँति आचरण करता है, अर्थात् मैं अदानभावरूप शत्रु के सिर को काट डालता हूँ। **दुर्हार्दः द्विषतः**=दुष्ट हृदयवाले—द्वेष करनेवाले शत्रु के सिर को भी मैं काट डालता हूँ।

भावार्थ—वस्तुतः वीर्यमणि के रक्षित होने पर मनुष्य को वह ओज प्राप्त होता है, जिससे वह उदारवृत्ति का, उत्तम हृदयवाला, द्वेषशून्य तथा भ्रातृभाव से भूषित जीवनवाला बनता है।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मन्थ, रस, वर्चस्

वर्म मह्यमयं मणिः फालाज्जातः करिष्यति।
पूर्णो मन्थेन मागमद्रसेन सह वर्चसा॥ २॥

१. **फालात्**=(फल् विशरणे) रोगों व वासनाओं को विनष्ट करने के उद्देश्य से **जातः**=उत्पन्न हुई-हुई **अयं मणिः**=यह वीर्यमणि **मह्यम्**=मेरे लिए **वर्म करिष्यति**=कवच का कार्य करेगी—कवच बनेगी। २. यह **वर्चसा सह**=वर्चस्—रोगनिवारकशक्ति के साथ **मन्थेन**=सूक्ष्म तत्त्वों के मन्थन—आलोडन—की शक्ति तथा **रसेन**=मानस आनन्द से **पूर्णः**=भरी हुई **मा आगमत्**=मुझे प्राप्त हो।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्यमणि कवच बनती है—यह रोगों व वासनाओं के आक्रमण को विफल करती है। सूक्ष्म तत्त्वों के आलोडन की शक्ति को, मानस आनन्द व शरीर में वर्चस् (प्राणशक्ति) को प्राप्त कराती है।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'जीवलाः शुचयः' आपः

यत्त्वा शिक्वः पराऽवधीत्तक्षा हस्तेन वास्या।
आपस्त्वा तस्माज्जीवलाः पुनन्तु शुचयः शुचिम्॥ ३॥

१. **यत्**=यदि **त्वा**=तुझे **शिक्वः**=छीलनेवाला (शिज् निशाने to make thin) **तक्षा**=बढ़ई **हस्तेन**=हाथ से **वास्या**=बसूले (chisel) से—हाथ में लिये हुए बसूले से—**परा अवधीत्**=बहुत अधिक हिंसित करता है—घाव कर देता है तो भी ये **जीवलाः**=जीवन-शक्ति प्राप्त करानेवाले **शुचयः**=मानस पवित्रता के कारणभूत **आपः**=वीर्यकण (आपः रेतो भूत्वा०) **शुचिं त्वा**=पवित्र मनवाले—हिंसक के प्रति भी विद्वेषशून्य तुझे **तस्मात्**=उस घाव से **पुनन्तु**=पवित्र कर दें—मुक्त कर दें।

भावार्थ—वीर्यकण शरीर में जीवन-शक्ति को तथा मन में पवित्रता को प्राप्त करानेवाले हैं। यदि कोई बसूले से गहरा घाव भी कर दे, तो भी ये वीर्यकण उस घाव को शीघ्र भर देते हैं और हमारे मनों को आक्रान्ता के प्रति रोषवाला नहीं होने देते।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'हिरण्यस्त्रक्' मणि

हिरण्यस्त्रगयं मणिः श्रद्धां यज्ञं महो दधत्। गृहे वसतु नोऽतिथिः॥ ४॥

१. शरीर में सुरक्षित **अयं मणिः**=यह वीर्यमणि **हिरण्यस्त्रक्**=हितरमणीय तत्त्वों को उत्पन्न करनेवाला है (सृज्)। यह **श्रद्धाम्**=हृदय में श्रद्धा को, **यज्ञम्**=हाथों में यज्ञों (श्रेष्ठतम् कर्मों) को, तथा **महः**=शरीर में तेजस्विता को **दधत्**=धारण करता हुआ **अतिथिः**=(अत सातत्यगमने) शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में गतिवाला होता हुआ **नः गृहे**=हमारे शरीरगृह में **वसतु**=निवास करे।

भावार्थ—यह वीर्यमणि शरीर में सुरक्षित होने पर हितरमणीय तत्त्वों को जन्म देती है। यह हृदय में श्रद्धा, हाथों में यज्ञ तथा शरीर में तेज को स्थापित करती है। प्रभुकृपा से यह हमारे शरीर-गृह में ही, गति करती हुई, निवास करे।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाजगती** ॥

घृतं, सुरां, मधु, अन्नम्-अन्नम्

तस्मै घृतं सुरां मध्वन्नमन्नं क्षदामहे। स नः पितेव पुत्रेभ्यः
श्रेयः श्रेयश्चिकित्सतु भूयोभूयः श्वःश्वो देवेभ्यो मणिरेत्य॥ ५॥

१. **तस्मै**=उस वीर्यमणि के लिए हम **घृतम्**=घृत को **सुराम्**=(अपां च वा एष ओषधीनां च रसो यत्सुरा—श० १२।८।१।४) जल व ओषधियों के रस को, **मधु**=शहद को तथा **अन्नं अन्नम्**=खाने योग्य सात्त्विक अन्न को **क्षदामहे**=(क्षद भक्षणे) खाते हैं। इनके द्वारा उत्पन्न वीर्यमणि शरीर में सुरक्षित रहता है। २. **सः**=वह **मणिः**=वीर्यमणि **देवेभ्यः**=दिव्य गुणों के विकास के लिए **भूयः भूयः**=अधिकाधिक **श्वःश्वः**=अगले-अगले दिन **एत्य**=प्राप्त होकर **नः**=हमें उसी प्रकार **श्रेयः श्रेयः चिकित्सतु**=उत्तम कल्याणों में निवास कराए, **इव**=जैसे **पिता**=पिता **पुत्रेभ्यः**=पुत्रों के लिए उत्तम निवास प्राप्त कराता है।

भावार्थ—उत्तम अन्नों द्वारा उत्पन्न वीर्य शरीर में सुरक्षित रहता है। यह हमें उसी प्रकार कल्याण में निवास कराता है जैसे पिता पुत्रों को। सुरक्षित हुआ-हुआ वीर्य हमारे अन्दर दिव्य गुणों का वर्धन करता है।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाविराट्शक्वरी** ॥

अग्नि के लिए आज्य (कान्ति व गति)

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे।
तमग्निः प्रत्यमुञ्चत सो अस्मै दुह आज्यं
भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि॥ ६ ॥

१. **बृहस्पतिः खदिरम्**=ज्ञान का अधिष्ठाता (ज्ञानी) पुरुष **यम्**=जिस **फालम्**=रोगों को विशीर्ण करनेवाली **घृतश्चुतम्**=शरीर में दीप्ति को क्षरित करनेवाली, **उग्रम्**=तेजस्वी **खदिरम्**=स्थिरता को पैदा करनेवाली व वासनारूप शत्रुओं को हिंसित करनेवाली **मणिम्**=वीर्यरूप मणि को **ओजसे**= ओजस्विता की प्राप्ति के लिए **अबध्नात्**=अपने अन्दर बाँधता है। २. **तम्**=उस मणि को **अग्निः**=प्रगतिशील जीव **प्रत्यमुञ्चत**=कवच के रूप में बाँधता है। **सः**=वह मणि **अस्मै**=इसके लिए **भूयः भूयः**=अधिकाधिक **श्वः श्वः**=अगले-अगले दिन **आज्यं दुहे**=कान्ति व गति को प्रपूरित करती है—इसे कान्तिमय व गतिशील बनाती है। **तेन**=उस मणि के द्वारा **त्वं**=तू **द्विषतः जहि**=सब अप्रीतिकर शत्रुओं—रोगों व वासनाओं को विनष्ट कर।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष ओजस्विता की प्राप्ति के लिए इस वीर्यमणि को अपने अन्दर धारण करता है। प्रगतिशील जीव इसे अपना कवच बनाता है। वह मणि इसके लिए कान्ति व गति देती है। इससे यह अप्रीतिकर रोग व शत्रुओं का नाश करता है।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**अष्टपदाऽष्टिः** ॥

इन्द्र के लिए बल

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे।
तमिन्द्रः प्रत्यमुञ्चतौजसे वीर्या ∫ य कम्।
सो अस्मै बलमिद्दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि॥ ७ ॥

१. **बृहस्पतिः.....खदिरम्**=(देखें मन्त्र छह में) २. **तम्**=उस मणि को **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **ओजसे**=ओजस्विता के लिए तथा **वीर्याय**=बल के लिए **कम्**=सुख से **प्रत्यमुञ्चत**=कवच के रूप में धारण करता है। **सः**=वह मणि **अस्मै**=इसके लिए **भूयः भूयः**=अधिकाधिक **श्वः श्वः**=अगले-अगले दिन **इत्**=निश्चय से **बलं दुहे**=बल को प्रपूरित करती है। **तेन**=उस मणि के द्वारा **त्वं**=तू **द्विषतः**=अप्रीतिकर शत्रुओं को **जहि**=विनष्ट कर डाल।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष वीर्यमणि को कवच के रूप में धारण करता है। यह मणि इसे बलवान् बनाती है। तब यह अप्रीतिकर शत्रुओं का विनाश कर पाता है।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**अष्टपदाऽष्टिः** ॥

सोम के लिए वर्चस्

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे।
तं सोमः प्रत्यमुञ्चत महे श्रोत्राय चक्षसे।
सो अस्मै वर्च इद्दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि॥ ८ ॥

१. **ओजसे**=ओजस्विता के लिए **बृहस्पतिः खदिरम्**=(देखें मन्त्र छह में) २. **तम्**=उस मणि को **सोमः**=शान्तस्वभाववाला व्यक्ति **प्रत्यमुञ्चत**=कवच के रूप में धारण करता है। जैसे प्रगतिशीलता व जितेन्द्रियता वीर्यरक्षण में सहायक होती हैं, इसी प्रकार शान्तस्वभाव भी वीर्यरक्षण में साधन होता है। यह सोम इसे **महे**=महत्त्व के लिए, **श्रोत्राय**=श्रवणशक्ति के लिए

व **चक्षसे**=दृष्टिशक्ति के लिए धारण करता है। **सः**=वह मणि **अस्मै**=इसके लिए **इत्**=निश्चय से **वर्चः**=वर्चस् को—प्राणशक्ति को **भूयः भूयः**=अधिकाधिक **श्वः श्वः**=अगले-अगले दिन **दुहे**=प्रपूरित करती है। **तेन**=उससे **त्वम्**=तू **द्विषतः जहि**=अप्रीतिकर शत्रुओं को नष्ट करनेवाला बन।

भावार्थ—सोम (शान्त स्वभाव) और वीर्य-रक्षण द्वारा वर्चस्वी बनकर हम अप्रीतिकर शत्रुओं को नष्ट कर डालें।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**अष्टपदाऽष्टिः** ॥

सूर्य के लिए भूति

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे।
तं सूर्यः प्रत्यमुञ्चत तेनेमा अजयद्दिशः।
सो अस्मै भूतिमिद्दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि॥ ९॥

१. **बृहस्पतिः खदिरम् ओजसे**=(देखें मन्त्र छह में) २. **तम्**=उस वीर्यमणि को **सूर्यः**=सूर्यवत् निरन्तर गतिशील कर्त्तव्यकर्मपरायण मनुष्य **प्रत्यमुञ्चत**=कवच के रूप में धारण करता है। **तेन**=उससे वह **इमा दिशः अजयत्**=इन दिशाओं का विजय करता है। **सः**=वह मणि **अस्मै**=इसके लिए **भूयः भूयः**=अधिकाधिक **श्वःश्वः**=अगले-अगले दिन **इत्**=निश्चय से **भूतिम्**='स्वास्थ्य, नैर्मल्य व ज्ञान' के ऐश्वर्य को **दुहे**=प्रपूरित करती है। **तेन**=उस मणि के द्वारा **त्वम्**=तू **द्विषतः**=अप्रीतिकर शत्रुओं को **जहि**=विनष्ट कर डाल।

भावार्थ—वीर्यमणि को रक्षित करता हुआ कर्त्तव्यकर्मपरायण पुरुष भूति को प्राप्त करता है तथा अप्रीतिकर शत्रुओं का नाश कर देता है।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**नवपदाधृतिः** ॥

चन्द्रमा के लिए श्री

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे।
तं बिभ्रच्चन्द्रमा मणिमसुराणां पुरोऽजयद्दानवानां हिरण्ययीः।
सो अस्मै श्रियमिद्दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि॥ १०॥

१. **बृहस्पतिः खदिरम् ओजसे**=(देखें मन्त्र छह में) २. **तम्**=उस मणि को **बिभ्रत्**=धारण करता हुआ **चन्द्रमाः**=आह्लादमय स्वभाववाला पुरुष **असुराणाम्**=औरों को विनष्ट करनेवाले (अस् क्षेपणे) **दानवानाम्**=छेदन-भेदन के स्वभाववाले पुरुषों की **हिरण्ययीः**=विलास की ज्योति से जगमगाती **पुरः**=पुरियों को **अजयत्**=जीतता है, अर्थात् यह विलास में न फँसता हुआ औरों का छेदन-भेदन व विनाश नहीं करता। **सः**=वह मणि **अस्मै**=इस आह्लादमय स्वभाववाले पुरुष के लिए **भूयः भूयः**=अधिकाधिक **श्वःश्वः**=अगले-अगले दिन **इत्**=निश्चय से **श्रियम्**=श्री को **दुहे**=प्रपूरित करती है। **तेन**=उस मणि के द्वारा **त्वम्**=तू **द्विषतः**=अप्रीतिकर शत्रुओं को **जहि**=विनष्ट कर डाल।

भावार्थ—आह्लादमय स्वभाववाला पुरुष इस वीर्यमणि का रक्षण करता हुआ आसुरभावों से ऊपर उठता है। श्री को प्राप्त करके यह शत्रुओं को शीर्ण कर डालता है।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

वाजिनम् (Strength)

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं मणिमाशवे।
सो अस्मै वाजिनं दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि॥ ११॥

१. **बृहस्पतिः**=ज्ञानी पुरुष **यं मणिम्**=जिस वीर्यरूप मणि को **अबध्नात्**=अपने शरीर में ही बद्ध करता है, जिससे **आशवे**=शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त हो सके तथा **वाताय**=गति द्वारा सब बुराइयों का हिंसन हो जाए (वा गतिगन्धनयोः)। २. **सः**=वह मणि **अस्मै**=इस बृहस्पति के लिए **भूयः भूयः**=अधिकाधिक **श्वःश्वः**=अगले-अगले दिन **वाजिनं दुहे**=वीरता (Heroism, strength) को, शक्ति को प्रपूरित करती है। **तेन**=उस वीरता के द्वारा **त्वम्**=तू **द्विषतः**=अप्रीतिकर रोगों व वासनारूप शत्रुओं को **जहि**=नष्ट कर।

भावार्थ—क्रियाशील बनकर वीर्यरक्षण द्वारा शक्तिशाली होते हुए हम शत्रुओं को शीर्ण कर दें।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाशक्वरी** ॥

महः

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे।
तेनेमां मणिना कृषिमश्विनावभि रक्षतः।
स भिषग्भ्यां महो दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि॥ १२॥

१. **बृहस्पतिः यं मणिम् अबध्नात्**=(मन्त्र ११ में द्रष्टव्य है) २. **तेन मणिना**=उस मणि के द्वारा—वीर्यरूप मणि को अपने में रक्षित करने के द्वारा **अश्विनौ**=कर्मों में व्याप्त होनेवाले नर-नारी **कृषिम् अभिरक्षतः**=कृषि का रक्षण करते हैं (अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व०)—सट्टे आदि के कामों में रुचिवाले न होकर श्रम-साध्य कर्मों द्वारा ही धनार्जन करते हैं। **सः**=वह मणि भी **भिषग्भ्याम्**=वीर्यरक्षण द्वारा रोगों का प्रतीकार करनेवाले इन वैद्यभूत नर-नारियों के लिए **महः**=तेजस्विता को **भूयः भूयः**=अधिकाधिक **श्वःश्वः**=अगले-अगले दिन **दुहे**=प्रपूरित करती है। **तेन**=उस तेजस्विता से **त्वम्**=तू **द्विषतः जहि**=इन अप्रीतिकर शत्रुओं को विनष्ट कर।

भावार्थ—वीर्यरक्षण से मनुष्य में कृषि आदि श्रमसाध्य कर्मों में रुचि होती है। वे सट्टे के कामों में व लॉटरीज़ में नहीं पड़े रहते। ये तेजस्विता को प्राप्त कर नीरोग बनते हैं।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाशक्वरी** ॥

सूनृता

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे।
तं बिभ्रत्सविता मणिं तेनेदमजयत्स्वः।
सो अस्मै सूनृतां दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि॥ १३॥

१. **बृहस्पतिः यं मणिम् अबध्नात्**=(मन्त्र ११ में द्रष्टव्य है) २. **तं मणिम्**=उस वीर्यमणि को **बिभ्रत्**=धारण करता हुआ **सविता**=निर्माण के कर्मों में प्रेरित होनेवाला (सू=उत्पन्न करना) व्यक्ति **तेन**=उस मणि से **इदं स्वः**=इस सुख व प्रकाश का **अजयत्**=विजय करता है। **सः**=वह मणि **अस्मै**=इसके लिए **सूनृताम्**=प्रिय सत्यवाणियों को **भूयः भूयः**=अधिकाधिक **श्वःश्वः**=अगले-अगले दिन **दुहे**= प्रपूरित करता है। **तेन**=उस मणि के द्वारा **त्वम्**=तू **द्विषतः**=अप्रीतिकर शत्रुओं को **जहि**=विनष्ट कर।

भावार्थ—वीर्यरक्षण द्वारा निर्माण के कार्यों में रुचिवाला यह व्यक्ति सुख व प्रकाश में निवास करता हुआ प्रिय, सत्य वाणियों को ही बोलता है।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाशक्वरी** ॥

अमृतम्

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे।
तमापो बिभ्रतीर्मणिं सदा धावन्त्यक्षिताः।
स आभ्योऽमृतमिद्दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि॥ १४॥

१. **बृहस्पतिः यं मणिम् अबध्नात्**=(मन्त्र ११ में द्रष्टव्य है) २. **तं मणिम्**=उस वीर्यमणि को **बिभ्रतीः**=धारण करती हुई **आपः**=कर्मों में व्याप्त होनेवाली प्रजाएँ (आप् व्याप्तौ, आपो नारा इति प्रोक्ताः) **सदा**=सदा **अक्षिताः**=शरीरों में न क्षीण हुई-हुई **धावन्ति**=गतिवाली और शुद्ध-जीवनवाली होती है (धावु गतिशुद्ध्योः)। **सः**=वह मणि **आभ्यः**=इन प्रजाओं के लिए **इत्**=निश्चय से **भूयः भूयः**=अधिकाधिक **श्वःश्वः**=अगले-अगले दिन **अमृतं दुहे**=नीरोगता को प्रपूरित करती है। **तेन**=उस निरोगता के द्वारा **त्वम्**=तू **द्विषतः**=अप्रीतिकर शत्रुओं को **जहि**=विनष्ट कर डाल।

भावार्थ—वीर्यरक्षण द्वारा हम अक्षीण व पवित्र-जीवनवाले बने रहते हैं। यह वीर्य हमें नीरोगता प्राप्त कराता है और शत्रुओं को विनष्ट करने के योग्य बनाता है।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाशक्वरी** ॥

सत्यम्

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे।
तं राजा वरुणो मणिं प्रत्यमुञ्चत शंभुवम्।
सो अस्मै सत्यमिद्दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि॥ १५॥

१. **बृहस्पतिः यं मणिम् अबध्नात्**=(मन्त्र ११ में द्रष्टव्य है) २. **तम्**=उस **शंभुवम्**=शान्ति को उत्पन्न करनेवाली **मणिम्**=वीर्यमणि को **राजा**=अपने जीवन को बड़ा व्यवस्थित (regulated) करनेवाला **वरुणः**=सब पापों व अशुभाचरणों का वारण करेवाला साधक **प्रत्यमुञ्चत**=कवच के रूप में धारण करता है। **सः**=वह मणि **अस्मै**=इस राजा व वरुण के लिए **भूयःभूयः**=अधिकाधिक **श्वःश्वः**=अगले-अगले दिन **इत्**=निश्चय से **सत्यं दुहे**=सत्य का प्रपूरण करती है—इस वीर्यमणि का रक्षक पुरुष असत्य नहीं बोलता। **तेन**=उस मणि के द्वारा **त्वम्**=तू **द्विषत्**=अप्रीतिकर शत्रुओं को **जहि**=विनष्ट कर।

भावार्थ—व्यवस्थित व सदाचारी जीवनवाले बनकर हम वीर्यमणि को धारण करें। यह 'शान्ति, सत्य व अशत्रुता' को प्राप्त कराएगी।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाशक्वरी** ॥

जितिम्

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे।
तं देवा बिभ्रतो मणिं सर्वाँल्लोकान्युधाऽजयन्।
स एभ्यो जितिमिद्दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि॥ १६॥

१. **बृहस्पतिः यं मणिम् अबध्नात्**=(मन्त्र ११ में द्रष्टव्य है) २. **तं मणिम्**=उस वीर्यमणि को **बिभ्रतः**=धारण करते हुए **देवाः**=देववृत्ति के व्यक्ति **युधा**=युद्ध के द्वारा **सर्वान् लोकान्**='पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक', अर्थात् शरीर, हृदय व मस्तिष्करूप सभी लोकों को **अजयन्**=जीतते हैं। ये इस मणि के द्वारा शरीर को स्वस्थ, मन को निर्मल व मस्तिष्क को दीप्त बनाते हैं। **सः**=वह मणि **एभ्यः**=इनके लिए **भूयःभूयः**=अधिकाधिक **श्वःश्वः**=अगले-अगले दिन **इत्**=निश्चय से

जितिम् दुहे=विजय को प्रपूरित करती है। **तेन**=उस मणि के द्वारा **त्वम्**=तू **द्विषतः**=अप्रीतिकर शत्रुओं को **जहि**=विनष्ट कर।

भावार्थ—देववृत्ति के बनकर वीर्यमणि का रक्षण करने पर हम इसके द्वारा विजय-ही-विजय प्राप्त करते हुए 'स्वस्थ, निर्मल व दीप्त' बनेंगे।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाशक्वरी** ॥

विश्वम्

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे। तमिमं देवता मणिं प्रत्यमुञ्चन्त शंभुवम्।
स आभ्यो विश्वमिद्दुहे भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ १७ ॥

१. **बृहस्पतिः यं मणिम् अबध्नात्**=(मन्त्र ११ में द्रष्टव्य है) २. **तं शंभुवम् मणिम्**=उस शान्ति उत्पन्न करनेवाली वीर्यमणि को **देवताः**=देववृत्ति के पुरुष **प्रत्यमुञ्चन्त**=कवच के रूप में धारण करते हैं। **सः**=वह मणि **आभ्यः**=इन देवलोगों के लिए **भूयःभूयः**=अधिकाधिक **श्वःश्वः**=अगले-अगले दिन **इत्**=निश्चय से **विश्वं दुहे**=सम्पूर्ण (स्वस्थ) शरीर को प्रपूरित करती है। **तेन**=उस मणि के द्वारा **त्वम्**=तू **द्विषतः जहि**=अप्रीतिकर शत्रुओं को नष्ट कर डाल।

भावार्थ—देववृत्ति का पुरुष वीर्यरक्षण द्वारा सम्पूर्ण (स्वस्थ) शरीर प्राप्त करता है और सब शत्रुओं को शीर्ण करनेवाला बनता है।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ऋतवः, आर्तवाः, संवत्सरः

ऋतवस्तमबध्नतार्तवास्तमबध्नत। संवत्सरस्तं बद्ध्वा सर्वं भूतं वि रक्षति ॥ १८ ॥

१. **ऋतवः**=(ऋ गतौ) ऋतुओं की भाँति नियमित गतिवाले—व्यवस्थित दिनचर्यावाले लोग **तम्**=उस वीर्यमणि को **अबध्नत**=अपने अन्दर बाँधते हैं। **आर्तवाः**=ऋतुओं के अनुसार चर्यावाले—ऋतुचर्या का ठीक से पालन करनेवाले **तम् अबध्नत**=उस वीर्यमणि को अपने अन्दर बद्ध करते हैं। २. **संवत्सरः**=(संवत्सर इव नियमेन वर्त्तमानः—द० य० २७।४८) वर्ष की तरह नियम में चलनेवाला और इसप्रकार अपने निवास को उत्तम बनानेवाला (सं वसति इति) व्यक्ति **तं बद्ध्वा**=इस वीर्यमणि को अपने में सुरक्षित करके **सर्वं भूतम्**=सब शरीरस्थ अङ्गों को—पदार्थों व तत्त्वों को **विरक्षति**=रक्षित करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम ऋतुओं की भाँति नियमित दिनचर्यावाले बनकर, ऋतुचर्या का भी पालन करते हुए, वर्ष की भाँति नियम में वर्त्तमान होकर वीर्य का रक्षण करें। रक्षित वीर्य शरीरस्थ सब धातुओं व पदार्थों का रक्षण करेगा।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अन्तर्देशाः—प्रदिशः

अन्तर्देशा अबध्नत प्रदिशस्तमबध्नत।
प्रजापतिसृष्टो मणिर्द्विषतो मेऽधराँ अकः ॥ १९ ॥

१. **अन्तर्देशाः**=(अन्तः देशो येषाम्) अन्दर ही जिनका देश है—जो अन्तर्मुखी वृत्तिवाले हैं, वे इस वीर्यमणि को **अबध्नत**=शरीर में बाँधते हैं। **प्रदिशः**=(प्रकृष्टा दिक् येषाम्) हृदयस्थ प्रभु के प्रकृष्ट निर्देशों (प्रेरणाओं) को सुननेवाले लोग **तम् अबध्नत**=उस वीर्यमणि को अपने में बाँधते हैं। २. **प्रजापतिसृष्टः**=प्रजाओं के रक्षक प्रभु से उत्पन्न की गई यह **मणिः**=वीर्यमणि **मे**=मेरे **द्विषतः**=अप्रीतिकर रोगरूप शत्रुओं को **अधरान् अकः**=पादाक्रान्त करती है—पाँव तले

रौंद देती है।

भावार्थ—हम अन्तर्मुखी वृत्तिवाले बनें—अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा को सुनें। इसप्रकार वीर्यमणि को अपने अन्दर बद्ध करते हुए रोगों को कुचल देनेवाले बनें।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

अथर्वाणः, आथर्वणाः, अङ्गिरसः

अथर्वाणो अबध्नताथर्वणा अबध्नत।
तैर्मेदिनो अङ्गिरसो दस्यूनां बिभिदुः पुरस्तेन त्वं द्विषतो जहि॥ २०॥

१. **अथर्वाणः**=(न थर्वति) स्थिर बुद्धिवाले—विषयों में डाँवाडोल न होनेवाले—पुरुष **अबध्नत**=वीर्यमणि को अपने में बद्ध करते हैं। **आथर्वणाः**=स्थिर प्रभु के उपासक (स्थाणु का संभजन करनेवाले) **अबध्नत**=इस वीर्यमणि को अपने में बाँधते हैं। २. **तैः**=इन अथर्वाओं व आथर्वणों से **मेदिनः**=स्नेहवाले—उनके संग में रहनेवाले—**अङ्गिरसः**=गतिशील (अगि गतौ) लोग **दस्यूनां पुरः**='काम, क्रोध, लोभ' रूप दस्युओं की नगरियों का **बिभिदुः**=विदारण (विध्वंस) कर देते हैं। हे जीव! **तेन**=उस वीर्यमणि के द्वारा **त्वम्**=तू भी **द्विषतः जहि**=इन अप्रीतिकर रोगरूप शत्रुओं को विनष्ट करनेवाला बन।

भावार्थ—हम स्थिरवृत्ति के बनकर तथा स्थिर (स्थाणु) प्रभु के उपासक बनकर और ऐसे ही लोगों के सम्पर्क में रहते हुए वासनाओं को विनष्ट कर डालें—वीर्य को अपने अन्दर सुरक्षित करें और रोगरूप शत्रुओं को नष्ट कर डालें।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

धाता

तं धाता प्रत्यमुञ्चत स भूतं व्य कल्पयत्। तेन त्वं द्विषतो जहि॥ २१॥

१. **तम्**=उस वीर्यमणि को **धाता**=अपनी इन्द्रियों का धारण (स्थिर) करनेवाला व्यक्ति **प्रत्यमुञ्चत**=कवच के रूप में धारण करता है। **सः**=वह सुरक्षित वीर्यमणि **भूतम्**=इस उत्पन्न शरीर को **व्यकल्पयत्**=विशेषरूप से सामर्थ्यवाला बनाता है (क्लृप् सामर्थ्ये)। प्रभु कहते है कि हे जीव! **तेन**=इस वीर्यमणि के द्वारा **त्वम्**=तू **द्विषतः जहि**=इन रोगरूप शत्रुओं को नष्ट कर।

भावार्थ—इन्द्रियों का धारक 'जितेन्द्रिय' पुरुष इस वीर्यमणि को अपना कवच बनाता है। वह उत्पन्न शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग को शक्तिशाली बनाता है। इस वीर्यमणि द्वारा हम रोगों को कुचलते हैं।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

रस + वर्चस्

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।
स मायं मणिरागमद्रसेन सह वर्चसा॥ २२॥

१. **बृहस्पतिः**=सर्वज्ञ प्रभु ने **देवेभ्यः**=देववृत्ति के पुरुषों के लिए **यम्**=जिस **असुरक्षितिम्**=आसुर भावनाओं को—काम, क्रोध, लोभ को विनष्ट करनेवाली **यम्**=जिस वीर्यमणि को **अबध्नात्**=शरीर में बाँधा है। २. **सः अयं मणिः**=वह यह वीर्यमणि **मा**=मुझे **रसेन**=मानस रस (आनन्द) के साथ तथा **वर्चसा सह**=शरीरस्थ वर्चस्—रोगनिरोधक शक्ति के साथ **आगमत्**=प्राप्त हो।

भावार्थ—हम देववृत्ति के बनें। शरीर में वीर्यमणि को सुरक्षित कर पाएँगे। इसकी रक्षा से जहाँ हम आसुरभावों को विनष्ट कर पाएँगे, वहाँ मानस आनन्द व शरीरस्थ प्राणशक्ति को

प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

व्रीहि-यव, मधु-घृत, कीलाल

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।
स माऽयं मणिरागमत्सह गोभिरजाविभिरन्नेन प्रजया सह॥ २३॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।
स माऽयं मणिरागमत्सह व्रीहियवाभ्यां महसा भूत्या सह॥ २४॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।
स माऽयं मणिरागमन्मधोर्घृतस्य धारया कीलालेन मणिः सह॥ २५॥

१. **बृहस्पतिः**=(मन्त्र २२ में द्रष्टव्य है) २. **सः अयं मणिः**=वह यह मणि **मा**=मुझे **गोभिः सह**=उत्तम गौवों के साथ, **अजा+अविभिः**=बकरियों व भेड़ों के साथ, **अन्नेन प्रजया सह**=अन्न व उत्तम सन्तान के साथ **आगमत्**=प्राप्त हो। २. यह मणि मुझे **व्रीहियवाभ्याम्**=चावल व जौ के साथ, **महसा**=तेजस्विता व **भूत्या सह**=ऐश्वर्य के साथ प्राप्त हो। इसी प्रकार यह मणि मुझे **मधोः**=शहद की तथा **घृतस्य**=घृत की **धारया**=धारा के साथ तथा **मणिः**=यह वीर्यमणि **कीलालेन सह**=(कीलालं अन्नं—नि० २.७) सुसंस्कृत अन्न के साथ मुझे प्राप्त हो।

भावार्थ—वीर्यमणि के रक्षण के लिए आवश्यक है कि हमारा जीवन कृत्रिमता से दूर होकर स्वाभाविक हो। हमारे घर गौवों, बकरियों, भेड़ोंवाले व अन्न से युक्त हों। इन्हीं घरों में उत्तम सन्तान सम्भव होती है। इन घरों में चावल व जौ भोज्यपदार्थ हों, तभी तेजस्विता व ऐश्वर्य का विकास होगा। इन घरों में मधु, घृत व सुसंस्कृत अन्न की कमी न हो। (मांस आदि भोजन व अन्य उत्तेजक पेय द्रव्य वीर्यरक्षण के अनुकूल नहीं हैं)।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**२६-२७ पथ्यापङ्क्तिः, २८ अनुष्टुप्** ॥

ऊर्जया—भूतिभिः

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।
स माऽयं मणिरागमदूर्जया पयसा सह द्रविणेन श्रिया सह॥ २६॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।
स माऽयं मणिरागमत्तेजसा त्विष्या सह यशसा कीर्त्या सह॥ २७॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।
स माऽयं मणिरागमत्सर्वाभिर्भूतिभिः सह॥ २८॥

१. **बृहस्पतिः**=(मन्त्र २२ में द्रष्टव्य है) २. **सः अयं मणिः**=वह यह मणि **मा**=मुझे **पयसा सह ऊर्जया**=शक्तियों के आप्यायन के साथ बल व प्राणशक्ति के साथ तथा **श्रिया सह**=शोभा के साथ **द्रविणेन**=कार्यसाधक धन के साथ **आगमत्**=प्राप्त हो। **त्विष्या सह तेजसा**=कान्तियुक्त तेज के साथ तथा **कीर्त्या सह**=कीर्ति (fame) के साथ **यशसा**=सौन्दर्य (beauty, splendour) को लेकर, यह मणि मुझे प्राप्त हो तथा यह मणि **सर्वाभिः भूतिभिः सह**=सब ऐश्वर्यों के साथ मुझे प्राप्त हो।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्यमणि हमारे लिए 'शक्तियों के आप्यायन के साथ ऊर्जा को

प्राप्त कराती है, श्री के साथ द्रविण देती है। कान्ति के साथ तेज तथा कीर्ति के साथ यश देनेवाली है। यह सब ऐश्वर्यों को प्राप्त कराती है।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'अभिभु-क्षत्रवर्धन' मणि

तमिमं देवता मणिं मह्यं ददतु पुष्टये। अभिभुं क्षत्रवर्धनं सपत्नदम्भनं मणिम्॥ २९॥

१. **देवताः**=संसार के सूर्य, चन्द्र आदि देव **मह्यम्**=मेरे लिए **तम् इमम् मणिम्**=इस वीर्यमणि को **पुष्टये ददतु**=पुष्टि के लिए प्राप्त कराएँ। सब बाह्य देवों की अनुकूलता हमारे शरीरों में इस मणि का रक्षण करे। २. उस **मणिम्**=मणि को देव हमें दें जोकि **अभिभुम्**=सब रोगों का अभिभव करनेवाली है, **क्षत्रवर्धनम्**=बल को बढ़ानेवाली है तथा **सपत्नदम्भनम्**='काम, क्रोध, लोभ' रूप शत्रुओं को हिंसित करनेवाली है।

भावार्थ—सूर्य-चन्द्र आदि सब देवों की अनुकूलता हमारे शरीरों में वीर्यमणि का रक्षण करे। यह रोगों को अभिभूत करती है, बल को बढ़ाती है तथा 'काम, क्रोध, लोभ' रूप शत्रुओं को नष्ट करती है।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्रह्मणा+तेजसा

ब्रह्मणा तेजसा सह प्रति मुञ्चामि मे शिवम्। असपत्नः सपत्नहा सपत्नान्मेऽधराँ अकः॥ ३०॥

१. **तेजसा सह ब्रह्मणा**=तेजस्विता के साथ ज्ञान के हेतु से **मे शिवम्**=मेरे लिए कल्याणकर इस वीर्यमणि को मैं **प्रतिमुञ्चामि**=धारण करता हूँ। यह मणि **असपत्नः**=सपत्नों (शत्रुओं) से रहित है। इसके धारण करने पर कोई शत्रु हमपर आक्रमण नहीं कर सकता। यह मणि **सपत्नहा**=सब शत्रुओं को नष्ट करनेवाली है। यह **मे सपत्नान्**=मेरे शत्रुओं को **अधरान् अकः**=पराजित करे—पाँव तले रौंद दे।

भावार्थ—शरीर में रक्षित वीर्यमणि हमारे शत्रुओं को नष्ट करके हमें तेजस्विता व ज्ञान प्राप्त कराती है।

ऋषिः—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाजगती** ॥

द्विषतः, उत्तरं, पयः, श्रैष्ठ्याय

उत्तरं द्विषतो मामयं मणिः कृणोतु देवजाः।
यस्य लोका इमे त्रयः पयो दुग्धमुपासते।
स माऽयमधि रोहतु मणिः श्रैष्ठ्याय मूर्धतः॥ ३१॥

१. **अयं**=यह **देवजाः**=(देवाः जायन्ते यस्मात्) दिव्य गुणों की उत्पत्ति की कारणभूत **मणिः**=वीर्यमणि **माम्**=मुझे **उत्तरं कृणोतु**=शत्रुओं के ऊपर करे—शत्रुओं का विजेता बनाए। **यस्य**=जिस मणि के **दुग्धं पयः**=प्रपूरित आप्यायन को—जिस मणि के द्वारा प्राप्त कराई गई वृद्धि को **इमे त्रयो लोकाः**=ये तीनों लोक **उपासते**=उपासित करते हैं। शरीररूप पृथिवीलोक इस मणि के द्वारा ही दृढ़ किया जाता है, इसी से मनरूप अन्तरिक्षलोक शान्त बनता है, इसी से मस्तिष्करूप द्युलोक दीप्त बनता है। २. **सः अयं मणिः**=वह यह वीर्यमणि **माम् मूर्धतः अधिरोहतु**=मेरे मस्तिष्क की दिशा में—मस्तिष्क की ओर आरूढ़ हो। इसकी ऊर्ध्वगति होकर यह मेरे मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि का ईंधन बने। यह मणि मेरी **श्रैष्ठ्याय**=श्रेष्ठता के लिए हो।

भावार्थ—यह दिव्य गुणों को उत्पन्न करनेवाली वीर्यमणि मेरे शत्रुओं को परास्त करे।

इससे मेरे 'शरीर, मन व मस्तिष्क' तीनों लोक आप्यायित हों। यह मणि मुझमें ऊर्ध्वगतिवाली होकर मुझे श्रेष्ठ बनाये।

ऋषि:—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

देव, पितर, मनुष्य

यं देवाः पितरो मनुष्या उपजीवन्ति सर्वदा।
स माऽयमधि रोहतु मणिः श्रैष्ठ्याय मूर्धतः॥ ३२॥

१. **यम्**=जिस वीर्यमणि को **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष—ब्राह्मण (ज्ञानी), **पितरः**=रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त क्षत्रिय, **मनुष्याः**=मननपूर्वक व्यवहारों को करनेवाले वैश्य **सर्वदा उप जीवन्ति**=सदा आश्रय करके जीते हैं। यह वीर्यमणि ही तो उन्हें उत्तम 'ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य' बनाती है। **सः**=वह **अयं मणिः**=यह वीर्यमणि **मा मूर्धतः अधिरोहतु**=मेरे मस्तिष्क की ओर आरूढ़ हो—इसकी ऊर्ध्वगति होकर यह मेरे मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि का ईंधन बने और इसप्रकार यह मेरी **श्रैष्ठ्याय**=श्रेष्ठता के लिए हो।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य ही हमें उत्तम 'देव, पितर व मनुष्य' बनाता है। यह मस्तिष्क की ओर आरूढ़ होकर ज्ञानाग्नि का ईंधन बने और मुझे श्रेष्ठता प्रदान करे।

ऋषि:—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रजा, पशवः, अन्नम् अन्नम्

यथा बीजमुर्वरायां कृष्टे फालेन रोहति। एवा मयि प्रजा पशवोऽन्नमन्नं वि रोहतु॥ ३३॥

१. **यथा**=जिस प्रकार **उर्वरायाम्**=उर्वरा भूमि में **फालेन कृष्टे**=हल के लोहफलक से भूमि के कृष्ट होने पर **बीजं रोहति**=बीज उगता है—फल आदि रूप में वृद्धि को प्राप्त करता है। **एव**=इसी प्रकार इस वीर्यमणि के रक्षण से **मयि**=मुझमें **प्रजा**=सन्तान **पशवः**=गौ आदि पशु व **अन्नं अन्नम्**=खाने योग्य सात्त्विक अन्न **विरोहतु**=विशेषरूप से वृद्धि को प्राप्त हों।

भावार्थ—वीर्यरक्षण से मैं उत्तम सन्तान, गौ आदि पशुओं व सात्त्विक अन्न को प्राप्त होऊँ।

ऋषि:—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यज्ञवर्धन—शतदक्षिण

यस्मै त्वा यज्ञवर्धन मणे प्रत्यमुचं शिवम्।
तं त्वं शतदक्षिण मणे श्रैष्ठ्याय जिन्वतात्॥ ३४॥

१. हे **यज्ञवर्धन**=यज्ञों की वृत्ति को बढ़ानेवाली **मणे**=वीर्यमणे! **यस्मै**=जिस भी पुरुष के लिए **शिवं त्वा**=कल्याणकर तुझे **प्रत्यमुचम्**=मैं बाँधता हूँ, हे **शतदक्षिण**=शतवर्षपर्यन्त वृद्धि की कारणभूत **मणे**=वीर्यमणे! **त्वम्**=तू **तम्**=उस पुरुष को **श्रैष्ठ्याय**=श्रेष्ठता के लिए **जिन्वतात्**=प्रीणित कर।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्यमणि यज्ञों की वृत्ति को बढ़ाती है तथा शतवर्षपर्यन्त वृद्धि का कारण बनती है।

ऋषि:—**बृहस्पतिः** ॥ देवता—**वनस्पतिः, फालमणिः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाऽनुष्टुब्गर्भाजगती**॥

सुमति, स्वस्ति, प्रजा, चक्षु, पशु

एतमिध्मं समाहितं जुषाणो अग्ने प्रति हर्य होमैः। तस्मिन्विदेम
सुमतिं स्वस्ति प्रजां चक्षुः पशून्त्समिद्धे जातवेदसि ब्रह्मणा॥ ३५॥

१. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **एतम्**=इस **इध्मम्**=दीप्त **समाहितम्**=हृदय में स्थापित प्रभु को **होमैः**=दानपूर्वक अदन से—यज्ञशेष के सेवन से **जुषाणः**=प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ **प्रतिहर्य**=प्राप्त करने के लिए कामनावाला हो (हर्य गतिकान्त्योः)। २. **तस्मिन्**=उस **जातवेदसि**=सर्वज्ञ प्रभु के **ब्रह्मणा**=ज्ञान के द्वारा **समिद्धे**=हृदयदेश में दीप्त होने पर हम **सुमतिम्**=कल्याणी मति को, **स्वस्ति**=कल्याण को, **प्रजाम्**=उत्तम सन्तान को, **चक्षुः**=चक्षु आदि इन्द्रियों को तथा **पशून्**=गौ आदि पशुओं को **विदेम**=प्राप्त करें।

भावार्थ—हम त्यागपूर्वक अदन करते हुए प्रभु का उपासन करें। प्रभु को ज्ञान के प्रकाश में, हृदय में समाहित करें। तब हम 'सुमति, स्वस्ति, प्रजा, चक्षु व पशुओं' को प्राप्त करेंगे।

७. [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥

'तप, ऋत, व्रत, श्रद्धा, सत्य' की स्थिति कहाँ?

कस्मि॒न्नङ्गे॒ तपो॑ अ॒स्याधि॑ तिष्ठति॒ कस्मि॒न्नङ्ग॑ ऋ॒तम॒स्याध्याहि॑तम्।
क्व॑ व्र॒तं क्व॑ श्र॒द्धाऽस्य॑ तिष्ठति॒ कस्मि॒न्नङ्गे॑ स॒त्यम॑स्य॒ प्रति॑ष्ठितम्॥ १॥

१. इस सप्तम सूक्त में प्रभु को 'स्कम्भ'=सर्वाधाररूप से स्मरण किया गया है। स्थितप्रज्ञ व्यक्ति ही प्रभु का इस रूप में अनुभव करता है। वह स्थितिप्रज्ञ 'अथर्वा (न डाँवाडोल होनेवाला) ही इस सूक्त का ऋषि है। यह अथर्वा 'ब्रह्म-जिज्ञासा' को इसप्रकार उठाता है कि **अस्य**=इस स्कम्भ के **कस्मिन् अङ्गे**=कौन-से अङ्ग (अवयव) में **तपः अधितिष्ठति**=तप की स्थिति है? **अस्य कस्मिन् अङ्गे**=इसके कौन-से अंग में **ऋतम् अध्याहितम्**=ऋत स्थापित हुआ है? **अस्य क्व**=इसके कौन से अवयव में **व्रतम्**=व्रत और **क्व**=कहाँ **श्रद्धा तिष्ठति**=श्रद्धा स्थित है। **अस्य**=इसके **कस्मिन् अङ्गे**=किस अङ्ग में **सत्यं प्रतिष्ठतम्**=सत्य प्रतिष्ठित है।

भावार्थ—ब्रह्मजिज्ञासु प्रभु को 'सर्वाधार स्कम्भ' के रूप में सोचता हुआ जिज्ञासा करता है कि इस स्कम्भ में किस-किस अङ्ग में 'तप, ऋत, व्रत, श्रद्धा व सत्य' की स्थिति है?

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

कौन-से अङ्ग से 'अग्नि, वायु व चन्द्र' का निर्माण?

कस्मा॒दङ्गा॑द्दीप्यते अ॒ग्निर॑स्य॒ कस्मा॒दङ्गा॑त्पवते मात॒रिश्वा॑।
कस्मा॒दङ्गा॒द्वि मि॑मी॒तेऽधि॑ च॒न्द्रमा॑ म॒ह स्क॒म्भस्य॒ मिमा॑नो॒ अङ्ग॑म्॥ २॥

१. **अस्य**=इस स्कम्भ—सर्वाधार—प्रभु के **कस्मात् अङ्गात्**=किस अङ्ग से **अग्निः दीप्यते**=अग्नि दीप्त होती है? **मातरिश्वा**=वायु **कस्मात् अङ्गात् पवते**=किस अङ्ग से बहनेवाला होता है? **चन्द्रमाः**=यह आह्लादजनक ज्योतिवाला चन्द्र **महः स्कम्भस्य**=उस पूजनीय (महान्) सर्वाधार प्रभु के **अङ्गम् मिमानः**=स्वरूप को प्रकट करता हुआ—प्रभु की महिमा का प्रकाश करता हुआ—**कस्मात् अङ्गात्**=किस अङ्ग से **वि**=विविध प्रकार से **अधिमिमीते**=अपना मार्ग मापता रहता है? यह कभी सोलह कलाओंवाला व कभी निष्कल दीखता है। यह व्यवस्था भी कितनी कौतूहलकारी है।

भावार्थ—ब्रह्मजिज्ञासु जिज्ञासा करता है कि उस स्कम्भ में किन-किन अङ्गों से इन 'अग्नि, वायु व चन्द्रमा' आदि देवों का प्रकाश होता है?

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'भूमि, अन्तरिक्ष, द्युलोक व द्युलोकोत्तर प्रदेश' की स्थिति कहाँ?

कस्मिन्नङ्गे तिष्ठति भूमिरस्य कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्यन्तरिक्षम्।
कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्याहिता द्यौः कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्युत्तरं दिवः॥ ३॥

१. **अस्य**=इस स्कम्भ के **कस्मिन् अङ्गे**=किस अङ्ग में **भूमिः तिष्ठति**=भूमि स्थित है? और **कस्मिन् अङ्गे**=किस अङ्ग में **अन्तरिक्षं तिष्ठति**=अन्तरिक्ष स्थित है? **कस्मिन् अङ्गे**=किस अङ्ग में **आहिता**=स्थापित हुआ-हुआ यह **द्यौः तिष्ठति**=द्युलोक स्थित है? और **कस्मिन् अङ्गे**=किस अङ्ग में **दिवः उत्तरम्**=द्युलोक से भी ऊपर का प्रदेश **तिष्ठति**=स्थित है।

भावार्थ—ब्रह्मजिज्ञासु जिज्ञासा करता है कि उस सर्वाधार प्रभु के किन अङ्गों में ये 'भूमि, अन्तरिक्ष, द्युलोक व द्युलोकोत्तर प्रदेश' स्थित हैं?

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'सूर्य, वायु व जल' कहाँ चले जा रहे हैं?

क्व१ प्रेप्सन्दीप्यत ऊर्ध्वो अग्निः क्व१ प्रेप्सन्पवते मातरिश्वा।
यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यावृतः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ ४॥

१. यह **ऊर्ध्वः अग्निः**=ऊपर द्युलोक में वर्तमान अग्नि, अर्थात् सूर्य **क्व प्रेप्सन्**=कहाँ पहुँचने की कामना करता हुआ **दीप्यते**=चमक रहा है? और **क्व प्रेप्सन्**=कहाँ पहुँचने की कामना करता हुआ यह **मातरिश्वा**=वायु **पवते**=बह रहा है? २. **यत्र**=जहाँ **प्रेप्सन्तीः**=पहुँचने की कामना करती हुई **आवृतः**=चारों ओर वर्तनवाली ये जलधाराएँ **अभियन्ति**=चारों ओर (पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण में) गतिवाली होती हैं, **तम्**=उसे **स्कम्भम्**=स्कम्भ—सर्वाधार **ब्रूहि**=कहो। **सः**=वह **स्वित्**=निश्चय से **क-तमः एव**=अतिशयेन आनन्दमय ही है।

भावार्थ—ये 'सूर्य, वायु व जल' न जाने कहाँ पहुँचने की कामना करते हुए निरन्तर गतिमय हैं? वस्तुतः जिसके आधार में ये सब गतिवाले हो रहे हैं, वे सर्वाधार प्रभु ही हैं—वे 'स्कम्भ' हैं। निश्चय से वे परमानन्दमय हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'अर्धमास, मास, संवत्सर, ऋतुएँ व आर्तव पुष्प' आदि कहाँ?

क्वा ऽर्धमासाः क्व यन्ति मासाः संवत्सरेण सह संविदानाः।
यत्र यन्त्यृतवो यत्रार्तवाः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ ५॥

१. ये **अर्धमासाः**=मास के आधे भाग, अर्थात् पक्ष **क्व यन्ति**=किसमें गतिवाले हो रहे है? **संवत्सरेण सह संविदानाः**=वर्ष के साथ संज्ञान-(मेल)-वाले होते हुए **मासाः**=ये मास (महिने) **क्व यन्ति**=किस आधार में गतिवाले हो रहे हैं? २. **यत्र**=जिस आधार में **ऋतवः**=वसन्तादि ऋतुएँ **यन्ति**=गतिवाली हैं, और **यत्र**=जिस आधार में **आर्तवाः**=सब ऋतु-सम्बन्धी पुष्प, फल, मूल गतिवाले हैं, **तम्**=उस आधार को **स्कम्भं ब्रूहि**='स्कम्भ'—सर्वाधार कहो। **सः**=वह **स्वित्**=निश्चय से **कतमः एव**=अत्यन्त आनन्दमय ही है।

भावार्थ—'अर्धमास, मास, संवत्सर, ऋतुएँ व आर्तव पुष्प-फल आदि' ये सब जिस आधार में गतिवाले हो रहे हैं, वे सर्वाधार प्रभु ही 'स्कम्भ' नामवाले हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अहोरात्रे—आपः

क्व१ प्रेप्सन्ती युवती विरूपे अहोरात्रे द्रवतः संविदाने।
यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यापः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ ६॥

१. **क्व प्रेप्सन्ती**=कहाँ-पहुँचने की अभिलाषा करती हुई ये दो **विरूपे**=विपरीत रूपवाली—प्रकाश व अन्धकारमयी (एक श्वेता और दूसरी कृष्णा) **संविदाने**=परस्पर मन्त्रणा-सी करती हुई **अहोरात्रे युवती**=दिन व रात्रिरूप युवतियाँ **द्रवतः**=चली जा रही हैं? **यत्र**=जिसके आधार में **प्रेप्सन्तीः**=विविध वस्तुओं को प्राप्त करने की कामना करती हुई **आपः**=प्रजाएँ (आपो वै नरसूनवः) **अभियन्ति**=चारों ओर गति कर रही हैं, **तम्**=उस आधार को **स्कम्भम्**=स्कम्भ—सर्वाधार प्रभु **ब्रूहि**=कहो। **सः एव**=वही **स्वित्**=निश्चय से **कतमः**=अत्यन्त आनन्दमय है।

भावार्थ—प्रभु के आधार में ही ये दिन व रात निरन्तर चले जा रहे हैं। उसी के आधार में सब प्रजाएँ, विविध पदार्थों को प्राप्त करने की कामना से गतिवाली हो रही हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**परोष्णिक्**॥

द्यावापृथिवी (प्रजापतिः)

यस्मिन्त्स्तब्ध्वा प्रजापतिर्लोकान्त्सर्वाँ अधारयत्।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ ७॥

१. **यस्मिन् स्तब्ध्वा**=जिसमें आधार पाकर (अपने को थामकर) **प्रजापतिः**=('द्यावापृथिवी हि प्रजापतिः, मातेव च हि पितेव च प्रजापतिः'—श० ५.१.५.२६) ये पिता व माता के समान द्युलोक व पृथिवीलोक **सर्वान् लोकान् अधारयत्**=सब लोकों का धारण कर रहे हैं। सब लोक इस द्यावापृथिवी में ही तो आश्रित हैं और ये द्यावापृथिवी उस स्कम्भ (प्रभु) में आहित है। **तम्**=उस **स्कम्भम्**=आधारभूत प्रभु का ही **ब्रूहि**=प्रतिपादन करो। **सः एव**=वही **स्वित्**=निश्चय से **कतमः**=अतिशयेन आनन्दमय है।

भावार्थ—ये द्यावापृथिवी, प्रभु में आधारित हुए-हुए, सब लोकों का धारण कर रहे हैं। वे प्रभु स्कम्भ, सर्वाधार हैं, और कतमः=अतिशयेन आनन्दमय हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

'परम, अवम, व मध्यम' सृष्टि उस असीम प्रभु में

यत्परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम्।
कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र यन्न प्राविशत्कियत्तद्बभूव॥ ८॥

१. **यत्**=जो **परमम्**=उत्कृष्ट सात्त्विक, **अवमम्**=निकृष्ट तामस, **यत् च मध्यमम्**=और जो मध्यम राजस् **विश्वरूपम्**=सब भिन्न-भिन्न रूपोंवाला वस्तुजगत् **प्रजापतिः ससृजे**=प्रजापालक प्रभु ने उत्पन्न किया है। **'ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये। मत्त एवैति तान् विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि'।** **तत्र**=उस सारे वस्तु-जगद्रूप ब्रह्माण्ड में **स्कम्भः**=वे सर्वाधार प्रभु **कियता प्रविवेश**=कितने अंश में प्रविष्ट हुए हैं? प्रभु का **यत्**=जो अंश **न प्राविशत्**=यहाँ नहीं प्रविष्ट हुआ, **'पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि'** इस पुरुषसूक्त के वाक्य के द्वारा स्पष्ट है कि प्रभु के एकदेश में ही सारा ब्रह्माण्ड स्थित है, प्रभु के तीन अंश तो इससे ऊपर ही हैं।

भावार्थ—प्रभु ने 'सात्त्विक, राजस् व तामस्' त्रिविध वस्तुजगत्वाले इस ब्रह्माण्ड को रचा

है। यह सारा ब्रह्माण्ड उसके एक देश में ही है—उसका त्रिपाद् तो अपने प्रकाशमय स्वरूप में ही स्थित है। एवं, स्थान के दृष्टिकोण से वे प्रभु असीम हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'दिक्कालाद्यनवच्छिन्न' प्रभु

कियता स्कम्भः प्र विवेश भूतं कियद्भविष्यदन्वाशयेऽस्य।
एकं यदङ्गमकृणोत्सहस्रधा कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र॥ ९॥

१. **कियता**=अपने कितने अंश में **स्कम्भः**=वह सर्वाधार प्रभु **भूतं प्रविवेश**=भूतकाल में प्रविष्ट हुआ? **अस्य कियत्**=इस स्कम्भ का कितना अंश **भविष्यत् अन्वाशये**=आनेवाले भविष्यकाल में प्रविष्ट होता है? इस स्कम्भ ने **यत्**=जब **एकं अङ्गम्**=अपने एक अङ्ग को (अङ्गभूत अव्यक्त को) **सहस्रधा अकृणोत्**=हज़ारों प्रकारों में वर्त्तमानकाल में प्रकट किया है, **तत्र**=वहाँ—उस वर्त्तमान में वह **स्कम्भः**=सर्वाधार प्रभु **कियता प्रविवेश**=कितने अंश में प्रविष्ट हुआ है? थोड़े ही अंश में प्रकट हुआ है।

भावार्थ—वे सर्वाधार प्रभु भूत, भविष्यत् व वर्त्तमान काल से अवच्छिन्न नहीं हैं। वे प्रभु तो दिक्कालाद्यनवच्छिन्न ही हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्बृहती** ॥

'लोक, कोश, ब्रह्म, सत् व असत्' का आधार 'स्कम्भ'

यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्म जना विदुः।
असच्च यत्र सच्चान्त स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ १०॥

१. **यत्र**=जिसके आधार में **लोकान् च**=सब लोकों **च कोशान्**=और सब कोशों तथा **ब्रह्म**=ज्ञान को **आपः जनाः**=आप्त जन—ज्ञानी पुरुष **विदुः**=जानते हैं। **यत्र अन्तः**=जिसके अन्दर **सत् च असत् च**=वह कार्यजगत् व कारणजगत् निहित है, **तम्**=उस ब्रह्म को ही **स्कम्भं ब्रूहि**=स्कम्भ (सर्वाधार) नाम से कहो। **सः एव**=वह ही **स्वित्**=निश्चय से **कतमः**=अतिशयेन आनन्दमय है।

भावार्थ—आप्तजन उस प्रभु को ही सब लोकों, सब कोशों, आवरणों व ज्ञानों का आधार जानते हैं। उसी में ये कार्यजगत् व कारणजगत् आधारित हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाज्ज्योतिर्जगती** ॥

सबका धारक 'ब्रह्माश्रित तप'

यत्र तपः पराक्रम्य व्रतं धारयत्युत्तरम्। ऋतं च यत्र श्रद्धा चापो ब्रह्म समाहिताः
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेवः सः॥ ११॥

१. **यत्र**=जिसके आश्रय पर **पराक्रम्य**=पराक्रम करके **तपः**=तप **उत्तरं व्रतं धारयति**=उत्कृष्ट आचरण को धारण करता है, अर्थात् आचरण को उत्कृष्ट बनानेवाले तप का आधार वे प्रभु ही तो हैं **च**=और **यत्र**=जिसमें **ऋतं श्रद्धा च**=ऋत और श्रद्धा **आपः ब्रह्म**=सब जीवगण व ज्ञान **समाहिताः**=एक ही साथ (सम्) स्थापित हैं (आहिताः) **तम्**=उस देव को **स्कम्भं ब्रूहि**=सर्वाधार 'स्कम्भ' कहो। **सः एव**=वह ही **स्वित्**=निश्चय से **कतमः**=अतिशयेन आनन्दमय है।

भावार्थ—सब व्रतों के धारक तप, ऋत, श्रद्धा, सब जीवगण व ज्ञान का धारक वह आनन्दमय 'स्कम्भ' नामक प्रभु ही है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाज्ज्योतिर्जगती** ॥

'भूमि, अन्तरिक्ष, द्युलोक तथा अग्नि, चन्द्र, सूर्य व वायु' का आधार 'ब्रह्म'

यस्मि॒न्भूमि॑र॒न्तरि॑क्षं॒ द्यौर्यस्मि॒न्नध्याहि॑ता।
यत्रा॒ग्निश्च॒न्द्रमाः॒ सूर्यो॒ वात॒स्तिष्ठ॒न्त्यार्पि॑ताः स्क॒म्भं तं ब्रूहि कत॒मः स्वि॑दे॒व सः ॥ १२ ॥

१. **यस्मिन्**=जिसमें **भूमिः अन्तरिक्षम्**=भूमि और अन्तरिक्ष तथा **यस्मिन्**=जिसमें **द्यौः**=द्युलोक **अध्याहिता**=स्थापित है। **यत्र**=जिसमें **अग्निः चन्द्रमाः सूर्यः वातः**=अग्नि, चन्द्र, सूर्य और वायु **आर्पिताः तिष्ठन्ति**=समन्तात् अर्पित हुए-हुए स्थित हैं, **तम्**=उसी को **स्कम्भम्**=सर्वाधार **ब्रूहि**=कहो। **सः एव**=वह ही **स्वित्**=निश्चय से **कतमः**=अतिशयेन आनन्दमय है।

भावार्थ—'भूमि, अन्तरिक्ष, द्युलोक तथा अग्नि, चन्द्र, सूर्य व वायु' को अपने में स्थापित करनेवाला वह प्रभु ही है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**परोष्णिक्** ॥

तेतीस देवों का आधार 'ब्रह्म'

यस्य॒ त्रय॑स्त्रिंशद्दे॒वा अङ्गे॒ सर्वे॑ स॒माहि॑ताः। स्क॒म्भं तं ब्रूहि कत॒मः स्वि॑दे॒व सः ॥ १३ ॥

१. **यस्य अङ्गे**=जिसके एक अङ्ग (एक देश) में **सर्वे त्रयस्त्रिंशद् देवाः**=सब तेतीस देव **समाहिताः**=परस्पर संगतरूप में स्थापित हैं, **तम्**=उस प्रभु को ही **स्कम्भं ब्रूहि**=सर्वाधार 'स्कम्भ' कहो। **सः एव**=वही **स्वित्**=निश्चय से **कतमः**=अतिशयेन आनन्दमय है।

भावार्थ—'आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य व इन्द्र और प्रजापति' इन तेतीस देवों के आधार वे आनन्दमय प्रभु ही हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्बृहती** ॥

प्रथमजाः ऋषयः, ऋचः, साम, यजुर्मही, एकर्षिः

यत्र॒ ऋष॑यः प्रथम॒जा ऋचः॒ साम॒ यजु॒र्मही।
ए॒क॒र्षिर्यस्मि॒न्नार्पि॑तः स्क॒म्भं तं ब्रूहि कत॒मः स्वि॑दे॒व सः ॥ १४ ॥

१. **यत्र**=जिसके आधार में **प्रथमजाः ऋषयः**=सृष्टि के प्रारम्भ में होनेवाले 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा' नामक ऋषि तथा इन ऋषियों को प्राप्त कराई गई **ऋचः सामयजुः मही**=ऋग्वेद की वाणियाँ, यजुरूप वाणियाँ, साम-मन्त्र तथा महनीय अथर्ववेद (ब्रह्मवेद) ये सब स्थित हैं तथा **एकः ऋषिः**=(ऋषिः इन्द्रियम्—नि० १२,३६) अद्वितीय मुख्य इन्द्रिय 'मन' **यस्मिन् आर्पितः**=जिसमें अर्पित हुआ है, **तम्**=उस **स्कम्भम्**=सर्वाधार प्रभु का **ब्रूहि**=प्रतिपादन कर। **सः एव**=वही **स्वित्**=निश्चय से **कतमः**=अतिशयेन आनन्दमय है।

भावार्थ—सृष्टि के प्रारम्भ में होनेवाले 'अग्नि, वायु, आदित्य, अङ्गिरा' आदि ऋषि, इनके द्वारा दी जानेवाली 'ऋग्, यजु, साम व अथर्व' वाणियाँ तथा अनुपम इन्द्रिय 'मन' जिसमें अर्पित है, वही सर्वाधार आनन्दमय प्रभु है—'स्कम्भ' है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाज्ज्योतिर्जगती** ॥

अमृत, मृत्यु, समुद्र

यत्रा॒मृतं॑ च मृ॒त्युश्च॒ पुरु॒षेऽधि॒ स॒माहि॑ते।
स॒मु॒द्रो यस्य॑ ना॒ड्यः॑ पुरु॒षेऽधि॒ स॒माहि॑ताः
स्क॒म्भं तं ब्रूहि कत॒मः स्वि॑दे॒व सः ॥ १५ ॥

१. **यत्र पुरुषे**=जिस परम पुरुष में **अमृतं च मृत्युः च**=अमृत (नीरोगता) तथा मृत्यु **अधिसमाहिते**=आश्रित हैं और **समुद्रः**=यह विशाल अन्तरिक्षस्थ मेघ **यस्य**=जिसके महान् ब्रह्माण्डमय शरीर में **पुरुषे नाड्यः इव**=पुरुष के शरीर में रुधिरभरी नाड़ियों के समान **अधि समाहिताः**=स्थापित हैं, **तम्**=उसी को **स्कम्भम्**=सर्वाधार **ब्रूहि**=कहो। **सः एव**=वह स्कम्भ ही **स्वित्**=निश्चय से **कतमः**=अतिशयेन आनन्दमय है।

भावार्थ—वह 'स्कम्भ' प्रभु ही सर्वाधार है। उसी के आधार में 'अमृत, मृत्यु व समुद्र' समाहित हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**उपरिष्टाद् बृहती**॥

चतस्रः प्रदिशः—यज्ञः

यस्य चतस्रः प्रदिशो नाड्य१स्तिष्ठन्ति प्रथमाः।
यज्ञो यत्र पराक्रान्तः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ १६॥

१. **चतस्रः प्रदिशः**=ये चारों विशाल दिशाएँ **यस्य प्रथमाः नाड्यः**=जिसकी मुख्य नाड़ियों के समान **समाहिताः**=समाहित हुई **तिष्ठन्ति**=स्थित हैं। **यत्र**=जिसमें **यज्ञ**=श्रेष्ठतम कर्म—सृष्टिरूप यज्ञ—**पराक्रान्तः**=उत्कृष्टता से सम्पादित होता है। **तं स्कम्भं ब्रूहि**=उस सर्वाधार का तू प्रतिपादन कर। **सः एव**=वह स्कम्भ ही **स्वित्**=निश्चय से **कतमः**=अत्यन्त आनन्दमय है।

भावार्थ—उस विराट् पुरुष के शरीर की चार मुख्य नाड़ियों के समान ये चार दिशाएँ हैं। उस प्रभु से ही यज्ञादि उत्तम कर्मों का सम्पादन होता है। वे स्कम्भ नामक प्रभु अतिशयेन आनन्दमय हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**षट्पदाजगती**॥

परमेष्ठी, प्रजापति

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम्।
यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम्।
ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कम्भमनुसंविदुः॥ १७॥

१. **ये**=जो **पुरुषे**=इस पुरुष-शरीर में **ब्रह्म विदुः**=उस ब्रह्म को जानते हैं, **ते**=वे ही **परमेष्ठिनम्**=परम स्थान में स्थित प्रभु को **विदुः**=वस्तुतः जानते हैं। प्रभु का जब भी दर्शन होगा, हृदय में ही तो होगा। सारे विश्व में उसकी महिमा का प्रकाश होता है, हृदय में प्रभु का दर्शन। **यः**=जो **परमेष्ठिनं वेद**=उस परम स्थान में स्थित प्रभु को **वेद**=जानता है, **च**=और **यः**=जो उसे **प्रजापतिं वेद**=सब प्रजाओं का रक्षक जानता है **ये**=जो उस **ज्येष्ठम्**=सर्वश्रेष्ठ—सर्वमहान् **ब्राह्मणम्**=ज्ञानपुञ्ज प्रभु को **विदुः**=जानते हैं, **ते**=वे **स्कम्भम्**=उस सर्वाधार को **अनुसंविदुः**=अनुकूलता से जाननेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे हृदयों में स्थित हैं। वे 'परमेष्ठी, प्रजापति, ज्येष्ठ, ज्ञानपुञ्ज व सर्वाधार' हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्बृहती**॥

शिरः वैश्वानरः, चक्षुः अङ्गिरसः

यस्य शिरो वैश्वानरश्चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्।
अङ्गानि यस्य यातवः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ १८॥
यस्य ब्रह्म मुखमाहुर्जिह्वां मधुकशामुत।
विराजमूधो यस्याहुः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ १९॥

१. **यस्य**=जिसका **शिरः**=सिर **वैश्वानरः**=वैश्वानर अग्नि है, **चक्षुः**=आँख ही **अङ्गिरसः**=प्राण ('प्राणो वै अङ्गिराः' श० ६।१।२।२८) **अभवन्**=हो गये हैं। **यस्य अङ्गानि**=जिसके अङ्ग **यातवः**=गतिशील प्राणी हैं। **यस्य**=जिसका **मुखम्**=मुख ही **ब्रह्म**=वेदज्ञान हैं, **उत**=और **जिह्वाम्**=जिह्वा को **मधुकशाम्**=मधुरता से प्रेरणा देनेवाली वेदवाणी **आहुः**=कहते हैं। **यस्य**=जिसके **ऊधः**=ऊधस् (the bosom) वक्षस्थल को **विराजम्**=विशिष्ट दीप्तिवाला **आहुः**=कहते हैं। २. **तम्**=उस **स्कम्भम्**=सर्वाधार प्रभु को **ब्रूहि**=कह—उसी का स्तवन कर। **सः**=वह **एव**=ही **स्वित्**=निश्चय से **कतमः**=अत्यन्त आनन्दमय है।

भावार्थ—यह सारा ब्रह्माण्ड उस प्रभु के भिन्न-भिन्न अङ्गों के समान है। वे सर्वाधार प्रभु अतिशयेन आनन्दमय हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**उपरिष्टाज्ज्योतिर्जगती**॥

ऋग्, यजु, साम, अथर्व

यस्मादृचो अपातक्षन्यजुर्यस्मादपाकषन्।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाऽङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ २०॥

१. **यस्मात्**=जिससे **ऋचः**=ऋचाएँ—विज्ञान-प्रतिपादक मन्त्र—**अपातक्षन्**=बनाये गये, **यस्मात्**= जिससे **यजुः**=यजुर्मन्त्र—कर्मप्रतिपादक मन्त्र **अपाकषन्**=निर्मित हुए। **सामानि**=साम-मन्त्र—उपासना प्रतिपादक मन्त्र **यस्य**=जिसके **लोमानि**=लोम तुल्य हैं, तथा **अथर्व-अङ्गिरसः**= अङ्गिरा ऋषि के हृदय में प्रेरित किये गये अथर्ववेद के मन्त्र **मुखम्**=जिसका मुख है। **तम्**=उस **स्कम्भम्**=सर्वाधार प्रभु को **ब्रूहि**=कह, उसी का स्तवन कर। **सः एव**=वही **स्वित्**=निश्चय से **कतमः**=अतिशयेन आनन्दमय है।

भावार्थ—प्रभु ने 'ऋग्, यजुः, साम' मन्त्रों द्वारा ज्ञान, कर्म, उपासना का प्रतिपादन किया तथा अथर्व-मन्त्रों द्वारा 'कम खाने व कम बोलने' का उपदेश देते हुए अङ्ग-प्रत्यङ्ग को रसमय बनने का संकेत किया।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**बृहतीगर्भाऽनुष्टुप्**॥

'असत् शाखा' का उपासन

असच्छाखां प्रतिष्ठन्तीं परममिव जना विदुः।
उतो सन्मन्यन्तेऽवरे ये ते शाखामुपासते॥ २१॥

१. अदृश्य होने से प्रकृति 'अ-सत्' कहलाती है तथा यह दृश्य जगत् 'सत्' कहा गया है। संसार-वृक्ष की शाखाएँ ऊपर-नीचे फैली हैं '**अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखाः**'। इस वृक्ष का मूल वह 'असत्' प्रकृति है। यह अनन्त शाखाओंवाला संसार बड़े दृढ़ मूलवाला है। यह हमारे हृदयों में प्रतिष्ठित-सा हो जाता है। **प्रतिष्ठन्तीम्**=हृदयों में प्रकर्षेण अपना स्थान बनाती हुई इन **असत् शाखाम्**=प्रकृतिमूलक वृक्ष-शाखाओं को ही **जनाः**=सामान्य लोग **परमं इव विदुः**=सर्वोत्तम-सा जानते हैं। २. **उतो**=और **ये**=जो **शाखाम्**=इस संसारवृक्ष-शाखा की **उपासते**= उपासना करते हैं **ते अवरे**=वे निम्न श्रेणी के लोग इसे ही **सत् मन्यन्ते**=श्रेष्ठ समझते हैं। इसी में उलझे हुए वे जन्म-मरण के चक्र से ऊपर नहीं उठ पाते।

भावार्थ—सामान्य लोग प्रकृति से उत्पन्न इस संसार-वृक्ष को ही 'परम' समझते हैं, इसे ही वे सत् (श्रेष्ठ) मानते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाज्ज्योतिर्जगती** ॥

आदित्य, रुद्र, वसु

यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः।
भूतं च यत्र भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ २२ ॥

१. **यत्र**=जिसमें **आदित्याः च**=बारह आदित्य देव, **रुद्राः च**=ग्यारह रुद्रदेव **च**=तथा **वसवः**=आठ वसु **समाहिताः**=सम्यक् स्थापित हैं। सब देवों के आधारभूत वे प्रभु ही तो स्कम्भ हैं। **यत्र**=जहाँ **भूतं च भव्यं च**=जो लोक भूतकाल में थे तथा भविष्यत् में होंगे तथा वर्त्तमानकाल में **सर्वे लोकाः**=सब लोक **प्रतिष्ठिताः**=प्रतिष्ठित हैं, **तम्**=उस **स्कम्भम्**=सर्वाधार प्रभु को **ब्रूहि**=कह—स्तवन कर। **सः एव**=वे प्रभु ही **स्वित्**=निश्चय से **कतमः**=अतिशयेन आनन्दमय हैं।

भावार्थ—आदित्यों, रुद्रों व वसुओं के आधार वे प्रभु ही हैं। कालत्रयी में होनेवाले सब लोक उस प्रभु में ही प्रतिष्ठित हैं। उस सर्वाधार 'स्कम्भ' का ही हम स्तवन करें, वे ही आनन्दस्वरूप हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले' वे प्रभु

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा निधिं रक्षन्ति सर्वदा।
निधिं तमद्य को वेद यं देवा अभिरक्षथ ॥ २३ ॥

१. **त्रयस्त्रिंशद् देवाः**=तेतीस देव (बारह आदित्य, ग्यारह रुद्र, आठ वसु, इन्द्र व प्रजापति) **यस्य निधिम्**=जिसके द्वारा दी गई निधि (कोश) को **सर्वदा रक्षन्ति**=सदा अपने में रखते हैं '**तेन देवा देवतामग्र आयन्**'=उस प्रभु से ही तो ये सब देव देवत्व को प्राप्त करते हैं। '**तस्य भासा सर्वमिदं विभाति**'=उसी की दीप्ति से तो ये सब दीप्त हो रहे हैं। २. हे **देवाः**=देवो! **यं निधिम्**=जिस निधि को तुम **अभिरक्षथ**=अपने अन्दर रक्षित करते हो, **अद्य**=आज **तम्**=उस (निधिम्) उस निधि को **कः वेद**=कौन पूरा-पूरा जानता है। प्रभु ने एक-एक देव में देवत्व स्थापित किया है। उस देवत्व को ही पूर्णतया जानना कठिन है। संस्थापक के जानने की बात तो दूर रही। इस पृथिवी को भी कौन पूर्णतया जानता है?

भावार्थ—प्रभु ने सब देवों में जिस देवत्व को स्थापित किया है, उसे भी पूर्णतया जानना संभव नहीं। प्रभु तो अज्ञेय हैं ही।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्रह्मविद् देवों के सम्पर्क में

यत्र देवा ब्रह्मविदो ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते।
यो वै तान्विद्यात्प्रत्यक्षं स ब्रह्मा वेदिता स्यात् ॥ २४ ॥

१. **यत्र**=जहाँ **देवाः**=देववृत्ति के **ब्रह्मविदः**=ब्रह्मज्ञानी पुरुष **ब्रह्म**=उस प्रभु को ही **ज्येष्ठम्**=सर्वश्रेष्ठरूप में **उपासते**=उपासित करते हैं—प्रभु को ही ज्येष्ठ मानकर पूजित करते हैं, वहाँ **यः**=जो भी **वै**=निश्चय से **तान्**=उन ब्रह्मज्ञानियों को **प्रत्यक्षं विद्यात्**=प्रत्यक्ष जानता है—उनके सम्पर्क में आकर उनसे ज्ञान का श्रवण करता है, **सः**=वह भी **ब्रह्मा**=सर्वोत्तम सात्त्विक व्यक्ति बनता है और **वेदिता स्यात्**=ज्ञानी होता है।

भावार्थ—ब्रह्मविद् देव तो ब्रह्म को 'ज्येष्ठ' रूप में उपासित करते ही हैं, उनके सम्पर्क

में आकर उनसे दिये गये ज्ञान का श्रोता भी सात्त्विक व ज्ञानी बनता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देव—असत्—स्कम्भ (पर—परतर—परतम)

बृहन्तो नाम ते देवा येऽसतः परि जज्ञिरे।
एकं तदङ्गं स्कम्भस्यासदाहुः परो जनाः ॥ २५ ॥

१. **ये**=जो **असतः**=अव्यक्त प्रकृति से **परिजज्ञिरे**=प्रादुर्भूत हुए हैं, **ते देवाः**=ये सूर्य, वायु, अग्नि आदि देव भी **बृहन्तः नाम**=निश्चय से बृहत् हैं। इन सूर्य आदि देवों की महिमा भी महान् है। इन देवों का कारणभूत वह **असत्**=अव्याकृत (अदृश्य-सा) प्रधान (प्रकृति) **परः**=इन सब देवों से उत्कृष्ट है। कारणात्मना वह प्रधान इन कार्यभूत सूर्यादि देवों से उत्कृष्ट होना ही चाहिए। **जनाः**=ज्ञानी लोग **तत्**=उस असत् को भी **स्कम्भस्य**=सर्वाधार प्रभु का **एकं अङ्गं आहुः**=एक अङ्ग ही कहते हैं। वह अङ्गी स्कम्भ तो इस अङ्गभूत असत् से कितना ही महान् है, '**त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः**'।

भावार्थ—सूर्य,वायु, अग्नि देव महान् हैं। इनका कारणभूत 'असत्' (प्रधान=प्रकृति) इनसे पर है। वह असत् भी सर्वाधार प्रभु का एक अङ्ग ही है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

स्कम्भ का एक अङ्ग 'पुराण'

यत्र स्कम्भः प्रजनयन्पुराणं व्यवर्तयत्।
एकं तदङ्गं स्कम्भस्य पुराणमनुसंविदुः ॥ २६ ॥

१. **यत्र**=जहाँ **स्कम्भः**=वे सर्वाधार प्रभु **प्रजनयन्**=इस सृष्टि की उत्पत्ति के हेतु से **पुराणम्**=प्रवाहरूप से सनातन प्रधान (प्रकृति) को **व्यवर्तयत्**=निवृत्त करते हैं—विविध रूपों में परिवर्तित करते हैं। वहाँ ज्ञानी पुरुष **तत् पुराणम्**=उस सनातन प्रधान को **स्कम्भस्य**=उस सर्वाधार प्रभु का ही **एकं अङ्गम्**=एक अङ्ग **अनुसंविदुः**=अनुसन्धान करते हुए सम्यक् जानते हैं। इस प्रधान (Matter) का भी अन्तिम स्वरूप सामर्थ्य=शक्ति (energy) ही है और यह सामर्थ्य प्रभु का ही तो अङ्ग है—गुण है।

भावार्थ—'प्रकृति' कभी विकृति के रूप में और कभी फिर प्रकृति के रूप में चली आती हुई 'पुराण' (सन्तान) है। प्रभु इसी का विवर्तन करते हुए सृष्टि को जन्म देते हैं। यह पुराण—प्रकृति भी अन्ततः सामर्थ्य के रूप में होती हुई उस प्रभु का ही एक अङ्ग है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

महादेव के अङ्गभूत तेतीस देव

यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे।
तान्वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥ २७ ॥

१. **यस्य अङ्गे**=जिस विराट् पुरुष के शरीर में **त्रयस्त्रिंशद् देवाः**=तेतीस देव **गात्रा विभेजिरे**=भिन्न-भिन्न अङ्गों का सेवन करते हैं। विराट् पुरुष के भिन्न-भिन्न अङ्ग ही ये देव हैं। **तान् त्रयस्त्रिंशद् देवान्**=उसे विराट् पुरुष के भिन्न-भिन्न अङ्गभूत तेतीस देवों को **एके ब्रह्मविदः**=केवल ब्रह्मज्ञानी लोग ही **वै**=निश्चय से **विदुः**=जानते हैं।

भावार्थ—तेतीस देवों के आधारभूत वे चौंतीसवें महादेव हैं। सर्वाधार होने से वे 'स्कम्भ' हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

हिरण्यगर्भ

हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भं प॑र॒मम॑नत्यु॒द्यं जना॑ विदुः। स्क॒म्भस्तद॒ग्रे प्रासि॑ञ्च॒द्धिर॑ण्यं लो॒के अ॑न्त॒रा ॥ २८ ॥

१. **जनाः**=ज्ञानी लोग **हिरण्यगर्भम्**=(हिरण्यं वै ज्योतिः) सम्पूर्ण ज्योति जिसके गर्भ में है, उस प्रभु को **परमम्**=सर्वोत्कृष्ट व **अनति-उद्यम्**='जिसका स्तवन अत्युक्त हो ही नहीं सकता' ऐसा **विदुः**=जानते हैं। वे प्रभु 'वाचाम् अगोचर' हैं—वाणी का विषय बन ही नहीं सकते। २. वे **स्कम्भः**=सर्वाधार प्रभु **अग्रे**=सृष्टि के प्रारम्भ में **तत् हिरण्यम्**=उस ज्योति को **लोके अन्तरा**=इस लोक के अन्दर **प्रासिञ्चत्**=सींचते हैं। 'सूर्य, विद्युत व अग्नि' आदि ज्योतियों को वे प्रभु ही तो बनाते हैं। '**त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी**'।

भावार्थ—प्रभु हिरण्यगर्भ हैं—परम हैं—अनत्युद्य हैं। वे सर्वाधार प्रभु ही इस लोक में सूर्य आदि ज्योतियों का स्थापन करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'लोकों, तप व ऋत' के आधार प्रभु

स्क॒म्भे लो॒काः स्क॒म्भे तपः॑ स्क॒म्भेऽध्यृ॒तमाहि॑तम्।
स्कम्भ॑ त्वा वेद प्र॒त्यक्ष॒मिन्द्रे॒ सर्वं॒ समाहि॑तम् ॥ २९ ॥

१. **स्कम्भे**=उस सर्वाधार प्रभु में ही **लोकाः**=ये सब लोक आहित हैं। **स्कम्भे**=उस सर्वाधार में ही **तपः**=तप आहित है—'ऋत व सत्य' के जनक तप के आधार प्रभु ही हैं '**ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत**'। **स्कम्भे**=उस सर्वाधार प्रभु में ही **ऋतम् अधि आहितम्**=ऋत स्थापित है। २. हे **स्कम्भ**=सर्वाधार प्रभो! मैं **त्वा**=आपको **प्रत्यक्षं वेद**=एक-एक पदार्थ में स्पष्ट जानता हूँ। सब पदार्थों में आपकी ही महिमा दीखती है। **इन्द्रे**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु में ही सर्वं **समाहितम्**=सब समाहित है।

भावार्थ—वे प्रभु ही 'लोकों, तप व ऋत' के आधार हैं। इन्द्र में सब लोक समाहित हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इन्द्रः स्कम्भ

इन्द्रे॑ लो॒का इन्द्रे॒ तप॒ इन्द्रे॒ऽध्यृ॒तमाहि॑तम्।
इन्द्रं॑ त्वा वेद प्र॒त्यक्षं॑ स्क॒म्भे सर्वं॒ प्रति॑ष्ठितम् ॥ ३० ॥

१. **इन्द्रे लोकाः**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु में सब लोक आहित हैं। **इन्द्रे तपः**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु में ही तप की स्थिति है। **इन्द्रे ऋतम् अधि आहितम्**=उस इन्द्र में ही ऋत स्थापित हुआ है। **इन्द्रं त्वा**=परमैश्वर्यशाली आपको मैं **प्रत्यक्षं वेद**=प्रत्येक पिण्ड में प्रत्यक्ष देखता हूँ—सब पदार्थों में आपकी महिमा दृष्टिगोचर होती है। **स्कम्भम्**=सर्वाधार आपमें ही **सर्वं प्रतिष्ठितम्**=यह सारा ब्रह्माण्ड प्रतिष्ठित है।

भावार्थ—प्रभु ही इन्द्र हैं—परमैश्वर्यशाली हैं। 'लोकों, तप व ऋत' के आधारभूत इन्द्र सचमुच 'स्कम्भ' हैं—सर्वाधार हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**मध्येज्योतिर्जगती** ॥

नामस्मरण व स्वराज्य प्राप्ति

नाम॒ नाम्ना॑ जोहवीति पु॒रा सूर्या॑त्पु॒रोषसः॑। यद॒जः प्र॑थ॒मं सं॑ब॒भूव॒
स ह॒ तत्स्व॒राज्य॑मियाय॒ यस्मा॒न्नान्यत्पर॒मस्ति॑ भू॒तम् ॥ ३१ ॥

१. **सूर्यात् पुरा**=सूर्योदय से पूर्व ही, सूर्योदय से क्या? **उषसः पुरा**=उषाकाल से भी पहले **नाम्ना**='इन्द्र, स्कम्भ' आदि नामों से एक साधक **नाम जोहवीति**=उस शत्रुओं को नमानेवाले प्रभु को पुकारता है। इस 'नाम-जप' से प्रेरणा प्राप्त करके **यत्**=जब **अजः**=सब बुराइयों को क्रियाशीलता द्वारा परे फेंकनेवाला जीव (अज गतिक्षेपणयोः) **प्रथमम्**=उस सर्वाग्रणी व सर्वव्यापक (प्रथ विस्तारे) प्रभु के **संबभूव**=साथ होता है, अर्थात् प्रभु से अपना मेल बनाता है, तब **सः**=वह अज **ह**=निश्चय से **स्वराज्यम् इयाय**=स्वराज्य प्राप्त करता है—अपना शासन करनेवाला बनता है, इन्द्रियों का दास नहीं होता। वह उस स्वराज्य को प्राप्त करता है **यस्मात्**=जिससे **परम्**=बड़ा **अन्यत्**=दूसरा **भूतम्**=पदार्थ **न अस्ति**=नहीं हैं।

भावार्थ—जब एक साधक ब्राह्ममुहूर्त में प्रभु का स्मरण करता है तब वह बुराइयों को दूर करके प्रभु के साथ मेलवाला होता है। यह प्रभु-सम्पर्क इसे इन्द्रियों का स्वामी (न कि दास) बनाता है। यह आत्मशासन—स्वराज्य—सर्वोत्तम वस्तु है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—३२, ३४ **उपरिष्टाद्विराड्बृहती, ३३ पराविराडनुष्टुप्**॥

प्रभु का विराट् देह

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ ३२॥
यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः।
अग्निं यश्चक्र आस्यं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ ३३॥
यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ ३४॥

१. **यस्य**=जिसका **भूमिः**=यह पृथिवी **प्रमा**=पादमूल के समान है—पाँव का प्रमाण है, **उत**=और **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष **उदरम्**=उदर है, **यः दिवं मूर्धानं चक्रे**=जिसने द्युलोक को अपना मूर्धा (मस्तक) बनाया है। **यस्य**=जिसके **सूर्यः**=सूर्य **च**=और **पुनर्णवः चन्द्रमाः**=फिर-फिर नया होनेवाला यह चन्द्र **चक्षुः**=आँख है। **यः अग्निं आस्यं चक्रे**=जिसने अग्नि को अपना मुख बनाया है। **यस्य वातः प्राणापानौ**=जिसके वायु ही प्राणापान हैं। **अङ्गिरसः चक्षुः अभवन्**=(अङ्गिरसं मन्यन्ते अङ्गानां यद्रसः—छां० १.२.१०) अङ्गरस ही उसकी आँख हुए। **दिशः यः प्रज्ञानीः चक्रे**=दिशाओं को जिसने प्रकृष्ट ज्ञान का साधन (श्रोत्र) बनाया। २. **तस्मै**=उस **ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः**=ज्येष्ठ ब्रह्म के लिए हम नतमस्तक होते हैं। प्रभु के लिए सूर्योदय से पूर्व सूर्योदय से ही क्या, उषाकाल से भी पूर्व उठकर प्रणाम करना चाहिए। यह प्रभु-नमन ही सब गुणों को धारण के योग्य बनाएगा।

भावार्थ—यह ब्रह्माण्ड उस सर्वाधार प्रभु का देह है। इस ब्रह्माण्ड को वे ही धारण कर रहे हैं। इसके अङ्गों में उस प्रभु की महिमा को देखने का प्रयत्न करना चाहिए। इस महिमा को देखता हुआ साधक उस प्रभु के प्रति नतमस्तक होता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**चतुष्पदाजगती**॥

सर्वाधार 'स्कम्भ'

स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उभे इमे स्कम्भो दाधारोर्वन्तरिक्षम्।
स्कम्भो दाधार प्रदिशः षडुर्वीः स्कम्भ इदं विश्वं भुवनमा विवेश॥ ३५॥

१. **स्कम्भः**=उस सर्वाधार प्रभु ने ही **इमे उभे द्यावापृथिवी**=इन दोनों द्युलोक व पृथिवीलोक को **दाधार**=धारण किया हुआ है। **स्कम्भः**=स्कम्भ ने ही **उरु अन्तरिक्षं दाधार**=विशाल अन्तरिक्ष को धारण किया है। **स्कम्भः**=स्कम्भ ने ही **षट् उर्वीः प्रदिशः**=छह बड़ी दिशाओं को **दाधार**=धारण किया है। **स्कम्भे**=उस सर्वाधार प्रभु के एकदेश में ही **इदं विश्वं भुवनम्**=यह सारा भुवन **आविवेश**=प्रविष्ट हुआ है। प्रभु इन सबमें व्याप्त हो रहे हैं—प्रभु की व्याप्ति से ही यह उस-उस दीप्ति को धारण करता है।

भावार्थ—प्रभु ही द्यावापृथिवी को, विशाल अन्तरिक्ष को तथा छह बड़ी दिशाओं को धारण किये हुए हैं। यह सारा ब्रह्माण्ड प्रभु के एकदेश में प्रविष्ट है और प्रभु की दीप्ति से दीप्त हो रहा है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्विराड्बृहती** ॥

श्रमात्, तपसः (जातः)

यः श्रमात्तपसो जातो लोकान्त्सर्वान्त्समानशे।
सोमं यश्चक्रे केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ ३६॥

१. **यः**=जो प्रभु **श्रमात्**=श्रम से व **तपसः**=तप से **जातः**=प्रादुर्भूत होते हैं—जिन्हें श्रम व तप के द्वारा ही हृदयदेश में देखा जा सकता है। वे प्रभु **सर्वान् लोकान् समानशे**=सब लोकों को व्याप्त किये हुए हैं। **यः**=जिन प्रभु ने **सोमम्**=सोमशक्ति के पुञ्ज बननेवाले जीव को—वीर्यरक्षा द्वारा ज्ञानदीप्त जीव को—**केवलं चक्रे**=(क वलू) आनन्द में विचरण करनेवाला, अर्थात् मुक्त किया है। **तस्मै**=उस ज्योष्ठाय **ब्रह्मणे**=ज्येष्ठ ब्रह्म के लिए **नमः**=हम प्रणाम करते हैं।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन श्रम व तप से होता है। वैसे वे प्रभु सर्वत्र व्याप्त हो रहे हैं। ब्रह्मचर्य द्वारा सोम (वीर्य) का पुञ्ज बननेवाले साधक को प्रभु आनन्द में विचरनेवाला करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वातः, मनः, अपः

कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः।
किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीर्नेलयन्ति कदा चन॥ ३७॥

१. **कथम्**=क्यों **वातः**=वायु **न इलयति**=स्थिर होकर शान्त (keep still, become quite) नहीं होता? **कथम्**=क्योंकर **मनः न रमते**=यह मन कहीं भी स्थिरता से रमता नहीं? **किम् सत्यं प्रेप्सन्तीः**=किस सत्य को प्राप्त करने की कामनावाले हुए-हुए ये **आपः**=जल **कदाचन**=कभी भी **न इलयन्ति**=स्थिर होकर शान्त नहीं होते? २. नितरन्तर चल रही वायु को देखकर जिज्ञासु के हृदय में जिज्ञासा होती है कि वायु किधर भागा चला जा रहा है? इसी प्रकार ये जल किस सत्य की खोज में निरन्तर बहते चल रहे हैं? यह मन भी अन्ततोगत्वा कहाँ रति का अनुभव करेगा? संसार के विषय तो कुछ ही देर बाद उसे निर्विण्ण कर डालते हैं।

भावार्थ—जिज्ञासु को इस निरन्तर बहते वायु व जलों को देखकर उत्कण्ठा होती है कि ये किधर भागे चले जा रहे हैं? मन भी किसी एक स्थान में रति का अनुभव क्यों नहीं करता?

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

तपसि क्रान्तं, सलिलस्य पृष्ठे

महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे।
तस्मिञ्छ्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परितइव शाखाः॥ ३८॥

१. **भुवनस्य मध्ये**=सारे ब्रह्माण्ड में (ब्रह्माण्ड के अन्दर) वे **महद्यक्षम्**=महान् पूजनीय प्रभु स्थित हैं। सब पिण्डों में ओत-प्रोत सूत्र वे प्रभु ही तो हैं। **तपसि क्रान्तम्**=वे प्रभु तप में सबसे आगे बढ़े हुए हैं—सबको लाँघ गये हैं। वे **सलिलस्य**=(सत् लीनं अस्मिन्) प्रलयकाल में यह सब सत्तावाला जगत् जिसमें लीन हो जाता है, उस प्रधान (महद् ब्रह्म) के **पृष्ठे**=पृष्ठ पर ये प्रभु स्थित हैं—प्रकृति के अधिष्ठाता हैं। **'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्'**। २. **ये उ के च देवाः**=और जो कोई भी देव हैं, वे **तस्मिन्**=उस प्रभु में ही **छ्रयन्ते**=आश्रय करते हैं, इसी प्रकार आश्रय करते हैं **इव**=जैसेकि **वृक्षस्य**=वृक्ष के **स्कन्धः**=तने के **परितः**=चारों ओर **शाखाः**=शाखाएँ आश्रित होती हैं।

भावार्थ—वे प्रभु इस ब्रह्माण्ड के एक-एक पिण्ड में ओत-प्रोत सूत्र के समान हैं। वे तपोमय प्रभु ही प्रकृति के अधिष्ठाता हैं। उन प्रभु में ही सब देव आधारित हो रहे हैं—उस महान् देव से ही इन्हें देवत्व प्राप्त हो रहा है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**उपरिष्टाज्ज्योतिर्जगती**॥

अङ्ग-प्रत्यङ्गों द्वारा प्रभु-पूजन

यस्मै हस्ताभ्यां पादाभ्यां वाचा श्रोत्रेण चक्षुषा।
यस्मै देवाः सदा बलिं प्रयच्छन्ति विमितेऽमितं
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः॥ ३९॥

१. **यस्मै**=जिसके लिए और **यस्मै**=जिसके लिए ही **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **हस्ताभ्याम्**=हाथों से, **पादाभ्याम्**=पावों से **वाचा श्रोत्रेण चक्षुषा**=वाणी, श्रोत्र व आँख से **सदा**=सदा **बलिम्**=पूजा (worship) को **प्रयच्छन्ति**=प्राप्त कराते हैं, और वस्तुतः इस पूजा के कारण ही देव बन पाते हैं। इन देवों के सब कार्य प्रभु-पूजन के लिए ही होते हैं। जो प्रभु **विमिते**=विविधरूपों में बने हुए इस मित (परिमित) संसार में **अमितम्**=असीम—अपरिमित व अनन्त है, **तम्**=उन्हीं को **स्कम्भं ब्रूहि**=सर्वाधार कहो। **सः एव**=वे ही **स्वित्**=निश्चय से **कतमः**=अतिशयेन आनन्दमय हैं।

भावार्थ—देवपुरुषों की सब अङ्गों से होनेवाली क्रियाएँ प्रभु-पूजन के रूप में होती हैं। इस परिमित संसार में वे अपरिमित प्रभु ही अतिशयेन आनन्दमय हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**४० अनुष्टुप्, ४१ आर्षीत्रिपदागायत्री**॥

'सृष्टि व प्रभु' को समझनेवाले में तीन बातें

अप तस्य हतं तमो व्यावृत्तः स पाप्मना।
सर्वाणि तस्मिञ्ज्योतींषि यानि त्रीणि प्रजापतौ॥ ४०॥
यो वेतसं हिरण्ययं तिष्ठन्तं सलिले वेद। स वै गुह्यः प्रजापतिः॥ ४१॥

१. (क) **तस्य**=उसका **तमः अपहतम्**=अन्धकार सुदूर विनष्ट हो जाता है—उसका अज्ञान विनष्ट होकर उसका जीवन प्रकाशमय हो जाता है। (ख) **सः**=वह **पाप्मना**=पाप से **व्यावृत्तः**=दूर (हटा हुआ) होता है। (ग) **तस्मिन्**=उसमें वे **सर्वाणि**=सब **ज्योतींषि**=ज्योतियाँ होती हैं **यानि त्रीणि**=जो तीन **प्रजापतौ**=प्रजारक्षक प्रभु में हैं। ये ज्योतियाँ इसके जीवन में शरीर के स्वास्थ्य की दीप्ति के रूप में, मन के नैर्मल्य के रूप में तथा मस्तिष्क की ज्ञानज्योति के रूप में प्रकट होती हैं। २. उस व्यक्ति के जीवन में ये ज्योतियाँ प्रकट होती हैं **यः**=जोकि **सलिले**=(सत् लीनम् अस्मिन्) यह कार्यजगत् जिसमें लीन होकर रहता है, उस प्रकृति में **तिष्ठन्तम्**=स्थित

हुए-हुए **हिरण्ययम्**=इस चमकीले (हिरण्मय) **वेतसम्**=(ऊतं स्यूतं) परस्पर सम्बद्ध लोक-लोकान्तरोंवाले संसार को **वेद**=जानता है और जो यह जानता है कि **सः**=वह **वै**=निश्चय से **प्रजापतिः**=प्रजापालक प्रभु **गुह्याः**=मेरी हृदय-गुहा में ही स्थित है। इसप्रकार जाननेवाला व्यक्ति अन्धकार व पाप से दूर होकर ज्योतिर्मय जीवनवाला बनता है।

भावार्थ—जो व्यक्ति इस चमकीले, परस्पर सम्बद्ध लोक-लोकान्तरोंवाले, प्रकृतिनिष्ठ संसार को जानता है तथा प्रभु को हृदयस्थ रूपेण प्रतीत करता है, वह अन्धकार से ऊपर उठता है, पाप से दूर होता है तथा प्रभु की ज्योतियों को प्राप्त करके 'स्वस्थ, निर्मल व दीप्त' जीवनवाला बनता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

विरूपे युवती

तन्त्रमेके युवती विरूपे अभ्याक्रामं वयतः षण्मयूखम्।
प्रान्या तन्तूंस्तिरते धत्ते अन्या नाप वृञ्जाते न गमातो अन्तम्॥ ४२॥

१. **एके**=कोई दो **युवती**=एक-दूसरे से नित्य संगत (यु मिश्रणे) **विरूपे**=तमः व प्रकाशमय विरुद्धरूपवाली उषा व रात्रिरूप तरुणियाँ **अभ्याक्रामम्**=बार-बार आ-आ और जा-जाकर **षण्मयूखम्**=छह दिशाओं व छह ऋतुओंवाले विश्वरूप **तन्त्रम्**=जाल को **वयतः**=बुन रही हैं। २. इनमें से **अन्या**=एक उषारूप युवति **तन्तून्**=सूर्यकिरणरूप तन्तुओं को **प्रतिरते**=फैलाती है, **अन्या**=दूसरी रात्रिरूप युवति **धत्ते**=उन सब किरणों को अपने अन्दर समेट लेती है। **न अपवृञ्जाते**=वे दोनों कभी अपने कार्य को नहीं छोड़तीं—विश्राम नहीं लेतीं, **न अन्तं गमातः**=न ही कार्य के अन्त तक पहुँचती हैं। उषा और रात्रि के रूप में यह कालचक्र चलता ही रहता है।

भावार्थ—उषा व रात्रिरूप युवतियों द्वारा छह ऋतुओंवाला कालरूप जाल बुना जा रहा है, निरन्तर बुना जा रहा है—पर यह बुनाई चल ही रही है—इसका कहीं अन्त ही नहीं आता।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

वयन व उद्गिरण

तयोरहं परिनृत्यन्त्योरिव न वि जानामि यतरा परस्तात्।
पुमानेनद्वयत्युद् गृणत्ति पुमानेनद्वि जभाराधि नाके॥ ४३॥

१. **परिनृत्यन्त्योः इव**=नृत्य-सा करती हुई **तयोः**=उन उषा व रात्रिरूप युवतियों में **यतरा परस्तात्**=कौन-सी परली है—कौन-सी पहले उत्पन्न हुई **अहं न विजानामि**=यह मैं नहीं जानता। इनका तो चक्र न जाने कब से चल ही रहा है। २. **पुमान्**=वह परम पुरुष प्रभु **एनत् वयति**=इस समस्त विश्वजाल को बुनता है, **पुमान् एनत् उत् गृणत्ति**=वह परम पुरुष ही इसे उधेड़ डालता है—इसे निगल लेता है। वह परम पुरुष ही **एनत्**=इसे **नाके अधि विजभार**=सुखमय आश्रय में अथवा आकाश में विहृत करता है—धारण करता है।

भावार्थ—यह उषा व रात्रि का चक्र 'अज्ञेय प्रारम्भ' वाला है। इस विश्वजाल को वे परम पुरुष प्रभु ही बुनते हैं व उधेड़ डालते हैं। वे ही आकाश में इसका धारण कर रहे हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**स्कम्भः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽर्च्यनुष्टुप्**॥
पञ्चपदानिचृत्पदपङ्क्तिर्वा (एकावसाना)

मयूखाः—सामानि

इमे मयूखा उप तस्तभुर्दिवं सामानि चक्रुस्तसराणि वातवे॥ ४४॥

१. **इमे**=ये **मयूखाः**=ज्ञानरश्मियाँ **दिवं उपतस्तभुः**=मस्तिष्करूप द्युलोक को थामनेवाली बनती हैं। जब साधक प्रभु से रचे हुए इस सृष्टियज्ञ को समझने का प्रयत्न करता है, तब उसका मस्तिष्क धीमे-धीमे ज्ञानरश्मियों से दीप्त हो उठता है। ये ज्ञानी पुरुष **सामानि**=साममन्त्रों द्वारा उपासनाओं को **चक्रुः**=करते हैं। ये साम **तसराणि**=(तस् उपक्षये) सब दुःखों का उपक्षय करनेवाले होते हैं, तथा **वातवे**=गति द्वारा सब बुराइयों को दूर करनेवाले होते हैं (वा गतिगन्धनयोः)।

भावार्थ—साधक लोग ज्ञान द्वारा मस्तिष्क को दीप्त करते हुए उपासना द्वारा सब बुराइयों व दुःखों को दूर करते हैं।

आठवें सूक्त का ऋषि 'कुत्स' है (कुथ हिंसायाम्)—सब बुराइयों का हिंसन करनेवाला। यह प्रभु-स्मरण करता हुआ ही ऐसा बन पाता है। यह स्तवन करता हुआ कहता है कि—

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्विराड्बृहती** ॥

केवलं स्वः

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति।
स्वर्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः॥ १॥

१. **यः**=जो **भूतं च भव्यं च**=भूत में हो चुके और भविष्यत् में होनेवाले **यः च सर्वम्**=और जो वर्त्तमान में विद्यमान सब लोकों का **अधितिष्ठति**=अधिष्ठाता है। **यस्य च स्वः**=और जिसका प्रकाश **केवलम्**=आनन्द में संचरण करानेवाला है, **तस्मै ज्येष्ठाय**=उस सर्वश्रेष्ठ—सर्वमहान् **ब्रह्मणे नमः**=ब्रह्म के लिए मैं नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु कालत्रयी में होनेवाले सब लोक-लोकान्तरों के अधिष्ठाता हैं। प्रभु का प्रकाश हमें आनन्द में विचरण कराता है। हम उस ज्येष्ठ ब्रह्म के लिए नमस्कार करते हैं।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भाऽनुष्टुप्** ॥

स्कम्भ (ब्रह्म)

स्कम्भेनेमे विष्टभिते द्यौश्च भूमिश्च तिष्ठतः।
स्कम्भ इदं सर्वमात्मन्वद्यत्प्राणन्निमिषच्च यत्॥ २॥

१. प्रभु सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के आधारभूत स्कम्भ हैं। उस **स्कम्भेन**=सर्वाधार स्कम्भभूत प्रभु के द्वारा **विष्टभिते**=विशेषरूप से थामे हुए **इमे**=ये **द्यौः च भूमिः च**=द्युलोक और पृथिवीलोक **तिष्ठतः**=स्थित हैं। **इदम्**=यह **सर्वम्**=सब **आत्मन्वत्**=आत्मावाला, **यत् प्राणत्**=जो प्राण धारण कर रहा है—श्वासोच्छ्वास ले-रहा है (चर) **यत् च निमिषत्**=और जो आँखे बन्द किये हुए पड़ा है, यह सब जगत् **स्कम्भे**=उस सर्वाधार प्रभु में ही आश्रित हैं।

भावार्थ—प्रभु द्युलोक व पृथिवीलोक को धारण कर रहे हैं। सब प्राणी—यह चराचर जगत्—उस प्रभु के ही आधार में है।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गुणातीत की प्रभु के समीप स्थिति

तिस्रो ह प्रजा अत्यायमायन्नन्या अर्कमभितोऽविशन्त।
बृहन्ह तस्थौ रजसो विमानो हरितो हरिणीरा विवेश॥ ३॥

१. **तिस्रः प्रजाः**=सात्त्विक, राजस्, तामस् स्वभाववाली प्रजाएँ **ह अति आयम् आयन्**=निश्चय से अत्यधिक(बारम्बार) आवागमन को प्राप्त होती हैं, परन्तु **अन्याः**=इनसे भिन्न

गुणातीत स्थितिवाली (नित्यसत्त्वस्थ) प्रजाएँ **अर्कम् अभितः नि अविशन्त**=उस पूजनीय प्रभु के समीप स्थित होती हैं। २. वे प्रभु **ह**=निश्चय से **बृहन्**=महान् होते हुए, **रजसः विमानः**=लोकों को विशेष मानपूर्वक बनाते हुए **तस्थौ**=स्थित हैं, वे **हरितः**=सूर्यसम दीप्तिवाले प्रभु **हरिणीः**=समस्त दिशाओं में **आविवेश**=प्रविष्ट हो रहे हैं। वस्तुतः उस तेजोदीप्त प्रभु की दीप्ति से ही सब पिण्ड दीप्त होते हैं **'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'।**

भावार्थ—गुणों से बद्ध प्रजाएँ आवागमन के चक्र में चलती हैं। गुणातीत व्यक्ति प्रभु के समीप स्थित होते हैं। वे महान् प्रभु सब लोक-लोकान्तरों का निर्माण करके उनमें स्थित हो रहे हैं।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु का कालचक्र

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तत्राहतास्त्रीणि शतानि शङ्कवः षष्टिश्च खीला अविचाचला ये॥ ४॥

१. प्रभु-निर्मित कालचक्र का **एकं चक्रम्**=संवत्सररूप एक चक्र है। इसकी **द्वादश प्रधयः**=बारह मासरूपी बारह प्रधियाँ (पुट्ठियाँ) हैं। **त्रीणि नभ्यानि**='सरदी, गरमी व वर्षा' रूप तीन ऋतुएँ—इस चक्र में तीन नाभियाँ हैं। **तत् कः उ चिकेत्**=उस कालचक्र के रहस्य को कोई विरला ही जान पाता है। २. **तत्र**=उस कालचक्र में **त्रीणी शतानि**=तीन सौ **शंकवः**=बड़े दिनरूप खूँटे, **च**=तथा **षष्टिः खीलाः**=साठ छोटे दिनरूप कील **आहताः**=जड़े हुए हैं—आहत(लगे हुए) हैं। **ये**=जो शंकु और खील **अ-विचाचलाः**=अकुटिल गतिवाले हैं, सदा ठीक गति से चलनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु का बनाया हुआ कालचक्र सचमुच अद्भुत ही है।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥,

षड् यमाः—एकः एकजः

इदं सवितर्वि जानीहि षड्यमा एक एकजः।
तस्मिन्हापित्वमिच्छन्ते य एषामेक एकजः॥ ५॥

१. हे **सवितः**=अपने अन्दर सोम का सवन करनेवाले जीव! **इदं विजानीहि**=तू यह समझ ले कि **षड्**=पाँच ज्ञानेन्द्रिय और एक मन—ये छह तो **यमाः**=यम हैं—परस्पर जोड़े के रूप में रहनेवाले हैं। अकेली आँख नहीं देखती, मन से मिलकर ही देखनेवाली बनती है। इसी प्रकार कान आदि भी मन से मिलकर ही अपना कार्य कर पाते हैं। **एकः**=एक आत्मा **एकजः**=अकेला ही शरीर में प्रादुर्भूत हुआ करता है। **'एकः प्रजायते जन्तु एक एव विलीयते'।** २. **यः**=जो यह **एषाम्**=इन्द्रियों आदि में **एकः**=एक जीव **एकजः**=अकेला ही प्रादुर्भूत होनेवाला है, **तस्मिन् ह**=उसमें ही निश्चय से ये इन्द्रियाँ व मन **आपित्वम्**=मित्रता को **इच्छन्ते**=चाहते हैं। उस आत्मतत्त्व की मित्रता में ही इन सबका कार्य चलता है। उसके शरीर को छोड़ते ही ये सब भी शरीर को छोड़ जाते हैं।

भावार्थ—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और छठा मन—ये सब मिलकर ही कार्य करनेवाले हैं। जीव अकेला ही संसार में जन्म लेता है, अकेला ही विलीन होता है। इस 'एकज' आत्मा में ही इन्द्रियाँ व मन मित्रता को चाहते हैं। उसके शरीर में आने पर ये शरीर में आते हैं, उसके छोड़ जाने पर ये भी शरीर को छोड़ जाते हैं।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

जरन्नाम

आविः सन्निहितं गुहा जरन्नाम महत्पदम्।
तत्रेदं सर्वमार्पितमेजत्प्राणत्प्रतिष्ठितम्॥ ६॥

१. वह **आविः**=एक-एक पदार्थ में अपनी महिमा से प्रकट होनेवाला, **जरत्**=स्तुति के योग्य, **नाम**=प्रसिद्ध **महत्**=महान् व पूजनीय, **पदम्**=पाने के योग्य (पद गतौ) **सत्**=अविनाशी प्रभु गुहा **निहितम्**=हृदयरूप गुहा में स्थित हैं। २. **तत्र**=उस प्रभु में ही **इदं सर्वम्**=यह सब **आर्पितम्**=अर्पित हुआ-हुआ है। **एजत्**=गति करता हुआ व **प्राणत्**=प्राणों को धारण करता हुआ यह सब प्राणिजगत् (तत्र) **प्रतिष्ठितम्**=उस प्रभु में प्रतिष्ठित है।

भावार्थ—वे सर्वत्र प्रकट महिमावाले पूज्य प्रभु हमारे हृदयों में स्थित हैं। उन प्रभु में ये सारा ब्रह्माण्ड व प्राणिजगत् प्रतिष्ठित है।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**पराबृहती** ॥

एकचक्रं—एकनेमि

एकचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं क्व१ तद् बभूव॥ ७॥

१. वे प्रभु **एकचक्रम्**=अद्वितीय कर्त्ता **वर्तते**=हैं। **एकनेमि**=(नेमिः नयनं चालनम्) अद्वितीय संचालनवाले हैं। **सहस्राक्षरम्**=हज़ारों (अक्षर=अक्षय) अविनाशी शक्तियोंवाले हैं। **पुरः**=आगे व **पश्चा**=पीछे **प्र**=प्रकर्षेण **नि**=निश्चयपूर्वक वर्तमान हैं—सर्वत्र व्याप्त हैं। ये प्रभु **अर्धेन**=एक अंश से **विश्वम्**=सम्पूर्ण **भुवनम्**=भुवन को **जजान**=प्रादुर्भूत कर रहे हैं (पादोऽस्य विश्वा भूतानि) **यत्**=जो **अस्य**=इस अविनाशी प्रभु का **अर्धम्**=समृद्ध (ऋधु वृद्धौ) स्वरूप है **तत् क्व बभूव**=वह कहाँ है? (त्रिपादस्यामृतं दिवि) 'प्रभु का वह समृद्ध स्वरूप किसी अन्य आधार में स्थित हो ऐसी बात नहीं है।'

भावार्थ—वे प्रभु अद्वितीय कर्त्ता, अद्वितीय संचालक, अनन्तशक्तियोंवाले, आगे-पीछे सर्वत्र हैं। प्रभु के एकदेश में यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रकट हो रहा है। प्रभु का अपना समृद्धस्वरूप, अन्य आधारवाला न होता हुआ प्रकाशमय है।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पञ्चवाही

पञ्चवाही वहत्यग्रमेषां प्रष्टयो युक्ता अनुसंवहन्ति।
अयातमस्य ददृशे न यातं परं नेदीयोऽवरं दवीयः॥ ८॥

१. **पञ्चवाही**=पञ्चभूतों से बने हुए संसार का वहन करनेवाले वे प्रभु **अग्रं वहति**=हमें आगे और आगे ले-चलते हैं। **एषाम्**=इन भूतों के **प्रष्टयः**=(प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्) जिज्ञासु लोग—ज्ञान को प्राप्त करने की कामनावाले लोग—**युक्ताः**=समाहित हुए-हुए (युज समाधौ) **अनुसंवहन्ति**=उस प्रभु के पीछे-पीछे अपनी जीवन-यात्रा का संवहन करते हैं। २. **अस्य**=इस प्रभु का **अयातम्**=न जाना—शरीर में आना व ठहरना तथा **यातम्**=जाना—शरीर को छोड़ना—**न ददृशे**=नहीं दिखता। वे प्रभु जीव की भाँति शरीर में आते-जाते नहीं रहते। **परं नेदीयः**=वे दूर-से-दूर होते हुए समीप हैं, तथा **अवरं दवीयः**=समीप-से-समीप होते हुए दूर हैं (तद्दूरे तद्वन्तिके दूरात् सुदूरे, तदिहान्तिके च)।

भावार्थ—प्रभु पंचभूतात्मक जगत् का वहन करनेवाले हैं। समाहित जिज्ञासु लोग प्रभु के पीछे-पीछे अपनी यात्रा का संवहन करते हैं। प्रभु जीव की भाँति शरीर में आते-जाते नहीं रहते। वे दूर-से-दूर व समीप-से-समीप हैं।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'तिर्यग्बिल ऊर्ध्वबुध्न' चमस

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्।
तदासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः॥ ९॥

१. **तिर्यग्बिलः**=तिरछे मुखवाला तथा **ऊर्ध्वबुध्नः**=ऊपर मूल-(पेंदे, Bottom)-वाला **चमसः**=एक पात्र है। (शिर एव अर्वाग् बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः—बृ० २।२।३) यह शिर ही वह पात्र है। **तस्मिन्**=उसमें **विश्वरूपं यशः**=नाना रूपवाले यश (An Object of glory) **निहितम्**=रक्खे हैं। (प्राणा वै यशो विश्वरूपम्—बृ० २।२।३) प्राण ही नानारूप यश हैं, वे इस पात्र में रक्खे गये हैं। २. **तत्**=(तत्र) वहाँ उस पात्र में **सप्त ऋषयः**=सात ऋषि (कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्) दो कान, दो नासिका छिद्र, दो आँखे व मुख **साकम्**=साथ-साथ **आसते**=आसीन होते हैं। दो कान ही 'गौतम-भारद्वाज' हैं, दो आँखें ही 'विश्वामित्र-जमदग्नि' हैं, दो नासिका छिद्र 'वसिष्ठ और कश्यप' हैं तथा मुख 'अत्रि' हैं (बृ २।२।४)। ये वे ऋषि हैं **ये**=जो **अस्य महतः**=इस महनीय देव-मन्दिर के (सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते) **गोपाः**=रक्षक (पहरेदार) हैं।

भावार्थ—शरीर में शिर 'तिर्यग्बिल, ऊर्ध्वबुध्न' चमस है। इसमें नाना यशस्वी पदार्थ रक्खे गये हैं। यहाँ 'दो कान, दो आँखें' दो नासिका-छिद्र व मुख' सात ऋषि हैं। ये इस महनीय देव-मन्दिर (शरीर) के रक्षक हैं।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुबगर्भा त्रिष्टुप्** ॥

ओ३म्

या पुरस्ताद्युज्यते या च पश्चाद्या विश्वतो युज्यते या च सर्वतः।
यया यज्ञः प्राङ् तायते तां त्वा पृच्छामि कतमा स ऋचाम्॥ १०॥

१. मैं **त्वा**=आपसे **ताम्**=(ऋचं) उस स्तुत्य वाणी को **पृच्छामि**=पूछता हूँ **या**=जो **पुरस्तात् युज्यते**=मन्त्रों के प्रारम्भ में जोड़ी जाती है (ओम् अभ्यादाने—पा०), **च**=और **या**=जो **पश्चात्**=पीछे—समाप्ति पर भी जुड़ती है (प्रणवष्टेः)। **या**=जो वाणी **विश्वतः युज्यते**=चारों ओर से जुड़ती है, **च**=और **या**=जो **सर्वतः**=सब कालों में (सब प्रकार) जुड़ती है। २. **यया**=जिस वाणी से **यज्ञः**=सब श्रेष्ठ कर्म **प्राङ् तायते**=आगे और आगे विस्तृत किये जाते हैं। **सा**=वह ओमरूप वाणी ही **ऋचाम्**=स्तुत्यवाणियों में **क-तमा**=अतिशयित आनन्द देनेवाली है।

भावार्थ—मन्त्रों के प्रारम्भ में व अन्त में 'ओम्' का उच्चारण होता है। सब ओर, सब कालों में 'ओम्' की ध्वनि ही उपादेय है। सब कार्य 'ओम्' से ही प्रारम्भ करने चाहिएँ। इसी से यज्ञों का प्रारम्भ किया जाता है। यह स्तुत्यवाणियों में अतिशयित आनन्द प्राप्त करानेवाली है।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

सर्वं खल्विदं ब्रह्म

यदेजति पतति यच्च तिष्ठति प्राणदप्राणन्निमिषच्च यद्भुवत्।
तद्दाधार पृथिवीं विश्वरूपं तत्संभूय भवत्येकमेव॥ ११॥

१. **यत् एजति**=जो कम्पित होता है, **पतति**=गतिवाला होता है, **यत् च तिष्ठति**=और जो स्थित होता है, **प्राणत् अप्राणत्**=श्वास लेता हुआ, या न श्वास लेता हुआ है, **यत् च**=और जो **निमिषत् भुवत्**=सदा आँखे मूँदे हुए है, **तत्**=उस सबको, **पृथिवीम्**=इस सम्पूर्ण चराचर पदार्थों की आधारभूत पृथिवी को **दाधार**=वे प्रभु धारण कर रहे हैं—'ओम्' शब्द वाच्य प्रभु ही इस सबके आधार हैं। २. **विश्वरूपं तत्**=वह नानारूपोंवाला ब्रह्माण्ड **संभूय**=उस प्रभु के साथ होकर—उसी के एकदेश में स्थिर होकर—**एकम् एव भवति**=वह एक प्रभु ही हो जाता है। प्रभु-मध्य पतित (स्थित) होने से यह प्रभु के ग्रहण से ही गृहीत होता है—इसकी अलग सत्ता नहीं दिखती। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' का यही तो अर्थ है।

भावार्थ—सब प्राणिमात्र व सब पिण्ड प्रभु से धारण किये जा रहे हैं। प्रभु से भिन्न देश में स्थित न होने से ये प्रभु के ग्रहण से ही गृहीत होते हैं—ये सब प्रभु में ही समाये हुए हैं।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**पुरोबृहतीत्रिष्टुब्गर्भाऽऽर्षीपङ्क्तिः** ॥

नाक—पालः

अनन्तं विततं पुरुत्राऽनन्तमन्तवच्चा समन्ते।
ते नाकपालश्चरति विचिन्वन्विद्वान्भूतमुत भव्यमस्य॥ १२॥

१. **अनन्तम्**=अनन्त—सीमारहित-सा—परम कारण 'प्रकृति' नामक पदार्थ ही **पुरुत्रा विततम्**=नाना रूपों में—कार्यपदार्थों में फैला हुआ है। **अनन्तम्**=वह अन्तरहित-सा कारणपदार्थ, **च अन्तवत्**=और अन्तवाला सीमायुक्त कार्यपदार्थ—ये दोनों **सम् अन्ते**=एक-दूसरे की सीमा हैं—कार्यकारणभाव के रूप से एक-दूसरे से मिले हुए हैं। २. **अस्य**=इस विश्व के **भूतम्**=अतीत में उत्पन्न हुए-हुए **उत**=और **भव्यम्**=भविष्य में उत्पन्न होनेवाले को **विद्वान्**=जाननेवाला वह **नाकपालः**=मोक्षधाम का भी पालक प्रभु **ते विचिन्वन्**=उन अनन्त और अन्तवाले कारणात्मक व कार्यात्मक जगत् को विविक्तरूप से जानता हुआ **चरति**=सर्वत्र गतिवाला है—और प्रलय के समय इस सबको अपने अन्दर ले-लेनेवाला (खा जानेवाला) है।

भावार्थ—अनन्त-सी प्रकृति इन अन्तवाले कार्य-पदार्थों को जन्म देती है। ये दोनों कारण-कार्य परस्पर सम्बद्ध सीमावाले हैं—जुड़े हुए हैं। वे भूत-भव्य के ज्ञाता प्रभु इनका विवेक करते हुए सर्वत्र गतिवाले हो रहे हैं।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

कतमः—केतुः

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरदृश्यमानो बहुधा वि जायते।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः॥ १३॥

१. वह **प्रजापतिः**=सब प्रजाओं का रक्षक प्रभु **गर्भे अन्तः चरति**=सब पदार्थों के अन्दर गतिवाला है—सबमें व्याप्त है। **अदृश्यमानः**=न देखा जाता हुआ—इन्द्रियों का विषय न होता हुआ वह प्रभु **बहुधा विजायते**=नाना रूपों से प्रादुर्भूत होता है। सूर्य और चन्द्र में वह 'प्रभा' रूप से, अग्नि में 'तेज' रूप से, पृथिवी में 'पुण्यगन्ध' रूप से, जलों में 'रस' रूप से तथा नरों में 'पौरूष' रूप से वही प्रकट हो रहा है। २. वे प्रभु **अर्धेन**=अपने एकदेश में स्थित इस प्रकृति से **विश्वं भुवनम्**=सम्पूर्ण भुवन को **जजान**=प्रादुर्भूत करते हैं। **यत्**=जो **अस्य**=इस प्रभु का **अर्धम्**=इस प्रकृति से ऊपर जो समृद्धरूप है **सः**=वह **कतमः**=अत्यन्त आनन्दमय व **केतुः**=प्रकाशमय (A ray of light) है।

भावार्थ—वह प्रभु अदृश्य होते हुए भी प्रत्येक पदार्थ में अपनी महिमा से प्रादुर्भूत हो रहे

हैं। यह सारा ब्रह्माण्ड प्रभु के एकदेश में जन्म व लयवाला होता है। प्रभु का अपना समृद्धरूप आनन्द व प्रकाशमय है।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दृश्य होते हुए भी अदृश्य

ऊर्ध्वं भरन्तमुदकं कुम्भेनेवोदहार्य१म्।
पश्यन्ति सर्वे चक्षुषा न सर्वे मनसा विदुः॥ १४॥

१. **इव**=जैसे **कुम्भेन**=घड़े के द्वारा **उदकं ऊर्ध्वं भरन्तम्**=पानी को ऊपर भरते (खेंचते) हुए **उदहार्यम्**=कहार को **सर्वे**=सब **चक्षुषा पश्यन्ति**=आँख से देखते हैं, इसी प्रकार समुद्ररूप कूएँ से, मेघरूप घड़ों के द्वारा, जल को ऊपर अन्तरिक्ष में पहुँचाते हुए प्रभु को सब आँख से देखते हैं। २. प्रभु अन्तरिक्ष में पानी को ऊपर ले-जा रहे हैं—कितनी अद्भुत उस उदहार्य की महिमा है? परन्तु **सर्वे**=सब **मनसा न विदुः**=मन से उस प्रभु को पूरा जान नहीं पाते। वे प्रभु 'अचिन्त्य' हैं 'अव्यक्तोऽयमचिन्त्योयमविकार्योऽयमुच्यते'। सर्वत्र प्रभु की कृति दृष्टिगोचर होती है, परन्तु वे प्रभु हमारे ज्ञान का विषय नहीं बनते।

भावार्थ—सर्वत्र प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर होती है, परन्तु वे प्रभु दीखते नहीं।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**भूरिग्बृहती** ॥

महद् यक्षम्

दूरे पूर्णेन वसति दूर ऊनेन हीयते।
महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति॥ १५॥

१. **दूरे**=दूर-से-दूर होता हुआ भी वह प्रभु **पूर्णेन वसति**=पालन व पूरण करनेवाले ज्ञानी पुरुष के साथ रहता है। ज्ञानी पुरुष हृदयदेश में प्रभु का दर्शन करते हैं। **ऊनेन**=परिहीन शक्तियों व ज्ञानवालों से **दूरे हीयते**=वे प्रभु दूर छोड़े जाते हैं, अर्थात् अज्ञानियों व निर्बलों से वे प्रभु दूर ही होते हैं। २. वे **महद् यक्षम्**=महान् पूजनीय प्रभु **भुवनस्य मध्ये**=सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं। **तस्मै**=उन प्रभु के लिए **राष्ट्रभृतः बलिं भरन्ति**=राष्ट्र का धारण करनेवाले, अर्थात् केवल अपने लिए न जीनेवाले लोग बलि को—भागधेय को—प्राप्त कराते हैं, अर्थात् अर्जित धन का यज्ञों में विनियोग करके यज्ञशेष का ही वे सेवन करते हैं। इसप्रकार ही तो प्रभु का पूजन होता है **'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवाः'**।

भावार्थ—प्रभु ज्ञानियों के साथ निवास करते हैं, अज्ञानियों से वे दूर हैं। वे पूज्य प्रभु सर्वत्र व्याप्त हैं। यज्ञशील पुरुष ही प्रभु को पूजते व पाते हैं।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ज्येष्ठं (ब्रह्म)

यतः सूर्य उदेत्यस्तं यत्र च गच्छति।
तदेव मन्येऽहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किं चन॥ १६॥

१. **यतः**=जिस प्रभु के द्वारा **सूर्यः उदेति**=यह सूर्य उदय को प्राप्त करता है, **यत्र च**=और जिस प्रभु के आधार में ही **अस्तं गच्छति**=अस्त होता है, **तत् एव**=उस प्रभु को ही **अहं ज्येष्ठं मन्ये**=मैं सर्वश्रेष्ठ जानता हूँ, **उ**=और **तत्**=उस ब्रह्म को **किञ्चन न अत्येति**=कुछ भी (कोई भी) लाँघ नहीं पाता।

भावार्थ—प्रभु ही सूर्योदय व सूर्यास्त के—जगत् की उत्पत्ति व लय के आधार व

मूलकारण हैं। वे प्रभु ही सर्वश्रेष्ठ हैं—उनसे अतिक्रमण करके कोई भी पदार्थ नहीं है (न तत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यः)।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

आदित्य, अग्नि, हंस

ये अर्वाङ् मध्य उत वा पुराणं वेदं विद्वांसमभितो वदन्ति।
आदित्यमेव ते परि वदन्ति सर्वे अग्निं द्वितीयं त्रिवृतं च हंसम्॥ १७॥

१. **ये**=जो वेदज्ञ **अर्वाङ्**=इस काल में, **मध्ये**=मध्य में **उत वा**=और **पुराणम्**=पुराण काल में, अर्थात् सदा ही **वेदम्**=ज्ञान को **विद्वांसम्**=जाननेवाले ईश को **अभितः**=चारों ओर अथवा दिन के प्रारम्भ व अन्त में—दिन के दोनों ओर—प्रातः-सायं **वदन्ति**=वर्णित व स्तुत करते हैं, **ते सर्वे**=वे सब **आदित्यम् एव परिवदन्ति**=ज्ञानों का अपने में आदान करनेवाले प्रभु को ही कहते हैं। स्तोता लोग यही कहते हैं कि वे प्रभु सदा ही ज्ञानमय हैं—सम्पूर्ण ज्ञानों का आदान करनेवाले वे प्रभु 'सूर्यसम ज्योति' ही तो हैं 'ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः'। २. वे स्तोता उस प्रभु को **द्वितीयम्**=(द्वयोः पूरणः) जीव व प्रकृति दोनों का पूरण करनेवाला और **अग्निम्**=अग्रणी प्रतिपादित करते हैं, **च**=तथा वे प्रभु को **त्रिवृतम्**=(त्रिषु वर्तते) तीनों कालों व तीनों लोकों में सदा सर्वत्र वर्त्तमान **हंसम्**=(हन्ति) पापों का विनाशक कहते हैं। प्रभु की सर्वव्यापकता का स्मरण हमें पापों से बचाता है।

भावार्थ—प्रभु सदा ही ज्ञानस्वरूप हैं। हम प्रातः-सायं प्रभु का इस रूप में स्मरण करें कि वे सब ज्ञानों का अपने में आदान करनेवाले 'आदित्य' हैं, प्रकृति व जीव का पूरण करनेवाले वे प्रभु हमें आगे ले-चलनेवाले 'अग्नि' हैं, सदा सर्वत्र वर्त्तमान वे प्रभु हमें पापों से बचानेवाले—हमारी पापवृत्तियों को नष्ट करनेवाले 'हंस' हैं।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

हंस—हरि

सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम्।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन्याति भुवनानि विश्वा॥ १८॥

१. **स्वर्गं पततः**=सदा आनन्दमय लोक में गति करनेवाले—सदा आनन्दस्वरूप—**हंसस्य**=हमारे पापों का नाश करनेवाले और पापनाश द्वारा **हरेः**=दुःखों का हरण करनेवाले **अस्य**=इस प्रभु के **पक्षौ**=सृष्टि निर्माण (दिन) व प्रलय (रात्रि)-रूप दो पक्ष **सहस्राह्ण्यम्**=सहस्र युगपर्यन्त परिणामवाले दिन व रात में **वियतौ**=फैले हुए हैं व विशिष्टरूप से नियमबद्ध हैं (**सहस्रयुग-पर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः, रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः**)। २. **सः**=वे प्रभु **सर्वान् देवान्**=तेतीस-के-तेतीस सब देवों को **उरसि उपदद्य**=अपने हृदय में—एकदेश में—ग्रहण करके **विश्वा भुवनानि संपश्यन्**=सब लोकों को सम्यक् देखते हुए—उनका धारण करते हुए (सं दृश् to look-after) **याति**=सर्वत्र प्राप्त होते हैं(या प्रापणे)।

भावार्थ—सदा आनन्दमय लोक में निवास करनेवाले, पापविनाशक, दुःखनिवारक प्रभु के सृष्टि-निर्माण व प्रलयरूप दिन व रात सहस्रयुगों के परिणामवाले हैं। वे प्रभु सब देवों को अपने में धारण करते हुए, सब लोकों को देखते हुए सर्वत्र प्राप्त हो रहे हैं।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यस्मिन् ज्येष्ठम् अधिश्रितम्

सत्येनोर्ध्वस्तपति ब्रह्मणाऽर्वाङ् वि पश्यति।
प्राणेन तिर्यङ् प्राणति यस्मिञ्ज्येष्ठमधि श्रितम्॥ १९॥

१. **यस्मिन् ज्येष्ठम् अधिश्रितम्**=जिस उपासक के हृदय में वह सर्वश्रेष्ठ प्रभु अधिश्रित हुए हैं—निरन्तर ठहरे हैं, वह पुरुष **सत्येन ऊर्ध्वः तपति**=सत्य से ऊँचा उठकर—सत्य के द्वारा उन्नत होकर दीप्त होता है—चमकता है, अर्थात् यह ब्रह्मनिष्ठ पुरुष कभी असत्य नहीं बोलता। यह **ब्रह्मणा**=ज्ञान के द्वारा **अर्वाङ् विपश्यति**=नीचे (Downword) देखता है—नम्र होता है तथा **प्राणेन**=प्राणशक्ति के द्वारा **तिर्यङ्**=एक छोर से दूसरे छोर तक (Transverse)—सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों में **प्राणति**=प्रकर्षेण जीवन-शक्तिवाला होता है।

भावार्थ—ब्रह्मनिष्ठ व्यक्ति 'शरीर में प्राणशक्ति-सम्पन्न, मन में सत्यपूतात्मा तथा मस्तिष्क में ज्ञानविनीत' होता है।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अरणी (दो अरणियाँ)

यो वै ते विद्यादरणी याभ्यां निर्मथ्यते वसु।
स विद्वाञ्ज्येष्ठं मन्येत स विद्याद् ब्राह्मणं महत्॥ २०॥

१. **यः**=जो उपासक **वै**=निश्चय से **ते अरणी**=उन दो अरणियों को—स्वदेहरूप अधरारणि तथा प्रणवरूप उत्तरारणि को **विद्यात्**=जानता है, **याभ्याम्**=जिन दो अरणियों के द्वारा **वसु**=सबको बसानेवाला वह प्रभु **निर्मथ्यते**=मथा जाता है—मथकर प्रकाशित किया जाता है। **सः विद्वान्**=वह दोनों अरणियों को जाननेवाला पुरुष ही **ज्येष्ठं मन्येत**=उस सर्वश्रेष्ठ प्रभु का मनन कर पाता है। **सः**=वही **महत्**=महनीय **ब्राह्मणम्**=ब्रह्मज्ञान को—वेदज्ञान को **विद्यात्**=जानता है। २. '**स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्। ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्॥** —श्वेता० १।१४। देह अधरारणि है और प्रणव उत्तरारणि। ध्यान के द्वारा इनका मथन होता है और परमगूढ़ आत्मतत्त्व का दर्शन हुआ करता है।

भावार्थ—हम इस मानव-शरीर को प्राप्त करके प्रणव (ओम्) का मानस जप करें। इसी से पवित्र हुए-हुए हृदय में प्रभु के प्रकाश की प्राप्ति होगी।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अत्ता चराचरग्रहणात्

अपादग्रे समभवत्सो अग्रे स्व१राभरत्।
चतुष्पाद्भूत्वा भोग्यः सर्वमादत्त भोजनम्॥ २१॥

१. **अग्रे**=सृष्टि के पूर्व **सः**=वे परम पुरुष 'प्रभु' **अपात्**=(अ, पद् गतौ) अविशेषरूप—'अमात्र' स्वरूप **सम् अभवत्**=थे। वे प्रभु **अग्रे**=सृष्टि की उत्पत्ति से पूर्व **स्वः आभरत्**=प्रकाशमय रूप को धारण करते थे। २. सृष्टि के होने पर वे प्रभु **चतुष्पात् भूत्वा**='प्रकाशवान्', 'अनन्तवान्, ज्योतिष्मान् व आयतनवान्' रूप चारों पादोंवाले होकर **भोग्यः**=भोगने में उत्तम वे प्रभु **सर्वं भोजनम् आदत्त**=सारे ब्रह्माण्ड को भोजन के रूप में ग्रहण कर लेते हैं। '**अत्ता चराचर-ग्रहणात्**'=चर-अचर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अपना भोजन बनाने से वे 'अत्ता' कहलाते हैं। इसप्रकार सारे ब्रह्माण्ड को कोई भी अन्य अपना भोजन नहीं बना पाता एवं वे प्रभु 'भोक्ता' हैं।

भावार्थ—सृष्टि से पूर्व प्रभु 'अमात्र' के रूप में हैं। वे प्रकाश का पोषण किये हुए हैं। सृष्टि में वे प्रभु चतुष्पाद् होकर—'प्रकाशवान्, अनन्तवान्, ज्योतिष्मान् व आयतनवान्' होकर सारे ब्राह्माण्ड को भोजन के रूप में लील लेनेवाले सर्वोत्तम भोक्ता हैं।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**पुरउष्णिक्**॥

'उत्तरावान् सनातन' देव का उपासन

भोग्यो भवदथो अन्नमदद् बहु। यो देवमुत्तरावन्तमुपासातै सनातनम्॥ २२॥

१. **यः**=जो पुरुष **देवम्**=उस प्रकाशमय **उत्तरावन्तम्**=श्रेष्ठ गुणों की चरम सीमारूप (प्रत्येक गुण absolute निरपेक्षरूप से प्रभु में ही तो है) **सनातनम्**=सदा से विद्यमान प्रभु को **उपासातै**=पूजता है, वह भी **भोग्यः**=उत्तम भोगवाला **भवत्**=होता है, **अथो**=और **बहु अन्नम् अदत्**=बड़े लम्बे काल तक अन्न खानेवाला होता है, अर्थात् सुदीर्घ जीवन प्राप्त करता है।

भावार्थ—'उत्तरावान् सनातन' देव का स्मरण पुरुष को उत्तम भोक्ता व सुदीर्घ काल तक अन्न खानेवाला बनाता है।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सनातनः-पुनर्णवः

सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात्पुनर्णवः।
अहोरात्रे प्र जायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः॥ २३॥

१. **एनम्**=इस प्रभु को **सनातनं आहुः**=सनातन कहते हैं, परन्तु **उत अद्य**=वह तो आज भी **पुनर्णवः**=फिर नये-का-नया ही है। जैसे **अहोरात्रे**=दिन व रात **अन्यः अन्यस्य रूपयोः**=एक-दूसरे के रूपों में से **प्रजायेते**=उत्पन्न होते हैं। २. दिन से रात्रि पैदा होती है और रात्रि से दिन पैदा होता है। ये रात और दिन नित्य नये-ही-नये लगते हैं। इसी प्रकार सनातन भी वे प्रभु नित नये-ही नये हैं।

भावार्थ—सनातन होते हुए भी वे प्रभु नवीन-ही-नवीन हैं। वे कभी जीर्ण नहीं होते।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

देवः रोचते एष एतत्

शतं सहस्रमयुतं न्य र्बुदमसंख्येयं स्वमस्मिन्निविष्टम्।
तदस्य घ्नन्त्यभिपश्यत एव तस्माद्देवो रोचत एष एतत्॥ २४॥

१. **अस्मिन्**=इस प्रभु में **शतम्**=सैकड़ों, **सहस्रम्**=हज़ारों, **न्यर्बुदम्**=लक्षों व **असंख्येयम्**=गणनातीत **स्वम्**=धन **निविष्टम्**=स्थापित है। **अस्य**=इस **अभिपश्यतः एव**=सब ओर देखते हुए प्रभु के **तत्**=इस तेज को ही **घ्नन्ति**=सब सूर्य आदि लोक प्राप्त करते हैं। सूर्य आदि पिण्डों में अपना तेज नहीं, उनमें इस तेज को प्रभु ही स्थापित करते हैं। **'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'**। **तस्मात्**=उस कारण से **एतत्**=यह सूर्य आदि चमकता हुआ जो पिण्डमात्र है, **एषः**=यह **देवः रोचते**=प्रकाशमय प्रभु ही चमक रहा है, अर्थात् सूर्य, चन्द्र, तारा आदि में प्रभु की दीप्ति ही दीप्त हो रही है।

भावार्थ—उस प्रभु में अनन्त ऐश्वर्य स्थापित है। सब ओर देखते हुए वे प्रभु ही इन सब पिण्डों को दीप्त करते हैं, अतः इन सूर्य आदि पिण्डों में प्रभु की दीप्ति ही दीप्त हो रही है।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

एक अणु, दूसरी अदृश्य-सी तथा तीसरी इनमें व्याप्त (तीन सत्ताएँ)

बालादेकमणीयस्कमुतैकं नेव दृश्यते।
ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया॥ २५॥

१. **एकम्**=एक पुरुष (जीवात्मा) **बालात् अणीयस्कम्**=बाल से भी अत्यन्त सूक्ष्म (अणुपरिमाण) है ('बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते'—श्वे०) **उत**=और **एकम्**=प्रकृति **न इव दृश्यते**=नहीं-सी दिखती—सत्त्व, रज, तम की साम्यावस्थारूप वह प्रकृति भी अव्यक्त-सी रहती है। २. **ततः**=उन दोनों से भी सूक्ष्मतम **परिष्वजीयसी**=आलिंगन करती हुई—सर्वत्र व्याप्त होती हुई **देवता**=देवता है—प्रभु है। **सा मम प्रिया**=वही मेरी प्रीति का कारण बनती है। जब मैं प्रकृति से ऊपर उठकर उस देवता के सम्पर्क में आता हूँ तब एक अवर्णनीय आनन्द का अनुभव करता हूँ।

भावार्थ—आत्मा बाल से सूक्ष्मतर अणुपरिमाणवाला है। प्रकृति भी आँखों का विषय न बनती हुई अव्यक्त है। इनके अन्दर व्याप्त इनका आलिंगन करनेवाले देवता प्रभु हैं। वे ही मेरी प्रीति का कारण बनते हैं।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**द्व्युष्णिग्गर्भाऽनुष्टुप्** ॥

मर्त्यस्य गृहे इयं कल्याणी अजरा अमृता

इयं कल्याण्य१जरा मर्त्यस्यामृता गृहे। यस्मै कृता शये स यश्चकार जजार सः॥ २६॥

१. **इयम्**=यह, गतमन्त्र में वर्णित, 'परिष्वजीयसी' देवता **कल्याणी**=हमारा कल्याण करनेवाली है। **अजरा**=कभी जीर्ण नहीं होती, **मर्त्यस्य**=मरणधर्मा जीव के **गृहे**=इस शरीरगृह में **अ-मृता**=न मरनेवाली है। शरीर में आत्मा के साथ परमात्मा का भी निवास है। शरीर में ममत्व रखनेवाला आत्मा तो 'जन्म-मरण' के चक्र में फँसता है, परन्तु इसमें रहता हुआ भी परमात्मा जन्म-मरण के चक्र से ऊपर है। २. **यस्मै कृता**=जिस जीव के लिए, कर्मफल भोगने के लिए आधार रूप से, यह शरीर-नगरी बनायी जाती है, **सः शये**=वह इसमें ममत्वपूर्वक निवास करता है। **यः चकार**=जो परमात्मा इस नगरी को बनाता है, **सः जजार**=वह स्तुति के योग्य होता है (जॄ स्तुतौ)। इस शरीर की रचना में अङ्ग-प्रत्यङ्ग की रचना के कौशल में उस प्रभु की महिमा का अनुभव करता हुआ स्तोता उस प्रभु का स्तवन करता है।

भावार्थ—शरीर में आत्मा व परमात्मा दोनों का निवास है। आत्मा इसमें रहता हुआ कर्मफल भोगता है। इसका निर्माता प्रभु स्तुति का विषय बनता है।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती** ॥

विविधरूपों में

त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी।
त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः॥ २७॥

१. हे जीवात्मन्! **त्वम्**=तू इस शरीर-गृह में निवास करता हुआ **स्त्री**=स्त्री होता है, **त्वं पुमान् असि**=तू ही पुमान् होता है। **त्वं कुमारः**=तू कुमार होता है, **उत वा**=अथवा **कुमारी**=कुमारी के रूप में होता है। इसप्रकार कभी नर व कभी मादा के रूप में जन्म लेता है। २. **त्वम्**=तू ही **जीर्णः**=जीर्णशक्तिवाला होकर **दण्डेन वञ्चसि**=दण्ड के सहारे चलनेवाला होता है। **त्वम्**=तू **जातः**=उत्पन्न हुआ-हुआ-शरीर को धारण किये हुए—**विश्वतोमुखः भवसि**=सब ओर मुखवाला

होता है। बहिर्मुखी इन्द्रियों से चारों ओर दूर-दूर तक देखनेवाला व विषयों को भोगनेवाला बनता है।

भावार्थ—जीव शरीर में निवास करता हुआ 'पुरुष, स्त्री, कुमार व वृद्ध' के रूपों में होता है। शरीर में रहता हुआ यह चारों ओर दूर-दूर तक देखनेवाला व विषयों का उपभोग करनेवाला बनता है।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पिता उत पुत्रः, ज्येष्ठः उत वा कनिष्ठः

उतैषां पितोत वा पुत्र एषामुतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः।
एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः॥ २८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार शरीर धारण करनेवाला यह जीवात्मा **उत एषां पिता**=इन सन्तानों का कभी तो पिता बनता है, **उत वा**=और निश्चय से **एषाम्**=इन अपने माता-पिताओं का **पुत्रः**=पुत्र होता है। **उत एषां ज्येष्ठः**=कभी तो भाइयों में बड़ा होता है, **उत वा**=अथवा कभी **कनिष्ठः**=छोटा होता है। २. **ह**=निश्चय से **एकः देवः**=वह अद्वितीय प्रकाशमय प्रभु **मनसि प्रविष्टः**=हमारे हृदयों में स्थित है। **प्रथमः जातः**=वह सृष्टि बनने से पहले ही प्रादुर्भूत हुआ-हुआ है **ऊ**=और वर्त्तमान में **सः**=वे प्रभु ही **गर्भे अन्तः**=सब लोक-लोकान्तरों व प्राणियों में प्रविष्ट होकर रह रहे हैं—अन्दर स्थित हुए-हुए सबका नियमन कर रहे हैं।

भावार्थ—जीव शरीर में प्रविष्ट होकर कभी पिता है तो कभी पुत्र, कभी ज्येष्ठ है तो कभी कनिष्ठ, परन्तु वे अद्वितीय प्रभु पहले से ही प्रादुर्भूत हैं और वर्त्तमान में वे प्रभु ही सबके अन्दर स्थित होते हुए सब लोक-लोकान्तरों का नियमन कर रहे हैं।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पूर्ण प्रभु से पूर्ण सृष्टि का निर्माण

पूर्णात्पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते। उतो तदद्य विद्याम यतस्तत्परिषिच्यते॥ २९॥

१. प्रभु पूर्ण हैं—पूर्ण ज्ञानी व पूर्ण शक्तिमान्। उन **पूर्णात्**=पूर्ण प्रभु से **पूर्णम् उदचति**=यह पूर्ण जगत् उद्गत होता है और वह **पूर्णम्**=न्यूनतारहित जगत् **पूर्णेन सिच्यते**=पूर्ण प्रभु के द्वारा सिक्त किया जाता है। **'मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्'**=महद् ब्रह्म (महत्तत्व को जन्म देनेवाली प्रकृति) प्रभु की योनि है, उसमें प्रभु गर्भ की स्थापना करते हैं। इसी से यह संसार उत्पन्न होता है। २. **उतो**=और निश्चय से **अद्य**=आज हम **तद् विद्याम**=उस प्रभु को जानें **यतः**=जिसके द्वारा **तत्**=वह महद् ब्रह्म **परिषिच्यते**=सिक्त किया जाता है। प्रभु इस संसार के पिता हैं, प्रकृति माता है। प्रभु द्वारा सिक्तवीर्या यह प्रकृति ब्रह्माण्ड को जन्म देती है। 'जन्माद्यस्य यतः' यही तो प्रभु का लक्षण है कि इस जगत् का जन्म आदि जिससे होता है, वे ही प्रभु हैं।

भावार्थ—प्रभु पूर्ण हैं, अतः उनका बनाया यह जगत् भी पूर्ण है। प्रकृति में गर्भ धारण करके ब्रह्माण्ड को जन्म देनेवाले प्रभु को हम जानें।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

सनत्नी-पुराणी

एषा सनत्नी सनमेव जातैषा पुराणी परि सर्वं बभूव।
मही देव्युषसो विभाती सैकेनैकेन मिषता वि चष्टे॥ ३०॥

१. **एषा**=यह प्रभु-शक्ति **सनत्नी**=(सन् संभक्तौ, नी) सम्भजनशील पुरुषों का प्रणयन (आगे ले-चलना) करनेवाली **सनम् एव जाता**=सदा से ही प्रसिद्ध है। **एषा पुराणी**=यह सनातन काल से चली आ रही शक्ति **सर्वं परिबभूव**=सबको व्याप्त किये हुए है। २. **सा मही**=वह महनीय (पूजनीय) **देवी**= प्रकाशमयी शक्ति **उषसः**=उषाकालों को **विभाती**=प्रकाशित करती हुई **एकेन एकेन मिषता**=प्रत्येक निमेषोन्मेषवाले प्राणी के द्वारा **विचष्टे**=देखती है। सब प्राणियों को दर्शन आदि की शक्ति प्राप्त करानेवाली वह 'सनत्नी पुराणी' शक्ति ही है।

भावार्थ—प्रभु-शक्ति ही भक्तों का प्रणयन करनेवाली है, यही सबमें व्याप्त हो रही है। यही उषाकालों को प्रकाशित करती है—यही सब प्राणियों को दर्शनादि की शक्ति देती है।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अवि

अविर्वै नाम देवतर्तेनास्ते परीवृता।
तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः ॥ ३१ ॥

१. वे प्रभु **वै**=निश्चय से **अविः नाम देवता**=(अव रक्षणे) 'रक्षक' इस नामवाली देवता हैं। प्रभु सबके रक्षक हैं, अतः उनका नाम 'अवि' है। ये प्रभु **ऋतेन परीवृता आस्ते**=ऋत से परिवृत हुए-हुए विद्यमान हैं। प्रभु में अनृत सम्भव नहीं, वे सत्यस्वरूप हैं—सत्य ही हैं। २. **तस्याः**=उस ऋत से परिवृत 'अवि' नामवाली देवता के **रूपेण**=सौन्दर्य, प्रकाश (Beauty, elegance, grace) से **इमे वृक्षाः**=ये वृक्ष **हरिताः**=हरे-भरे हैं और **हरितस्रजः**=हरे-भरे पत्तों की मालाओंवाले हैं। वृक्षों को पत्तों द्वारा सौन्दर्य वे प्रभु ही प्राप्त करा रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु सबके रक्षक और सत्यस्वरूप हैं। उसी की कृपा से ये वृक्ष हरे-भरे हैं।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रभु का अजरामर काव्य

अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति।
देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति ॥ ३२ ॥

१. **अन्ति सन्तम्**=समीप होते हुए उस प्रभु को **न जहाति**=जीव कभी छोड़ नहीं पाता—प्रभु से दूर होना उसके लिए सम्भव नहीं, साथ ही **अन्ति सन्तम्**=समीप होते हुए उस प्रभु को **न पश्यति**=यह देखता भी नहीं। प्रभु से दूर होना भी सम्भव नहीं और समीप होते हुए भी उसका देखना सम्भव नहीं। २. हे जीव! तू **देवस्य**=उस प्रकाशमय प्रभु के **काव्यम्**=इस वेदज्ञानरूप काव्य को **पश्य**=देख। यह ज्ञान **न ममार**=न विनष्ट होता है, **न जीर्यति**=न ही जीर्ण होता है। यह ज्ञान सनातन होता हुआ भी सदा नवीन है। यह कभी किसी समय में अनुपयुक्त out of date नहीं होता।

भावार्थ—प्रभु हमारे समीप हैं, परन्तु हम प्रभु को देख नहीं पाते। प्रभु का यह वेदरूप काव्य अजरामर है। हम इस काव्य को देखने का व्रत लें।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वेदों का अन्तिम प्रतिपाद्य विषय 'महद् ब्रह्म'

अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम्।
वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत् ॥ ३३ ॥

१. **अपूर्वेण**=उस अपूर्व—कारणरहित प्रभु से (सदा से विद्यमान प्रभु से) **वाचः इषिताः**=ये

वेदवाणियाँ प्रेरित की गई हैं। प्रभु ने इन्हें 'अग्नि, वायु, आदित्य व अङ्गिरा:' नामक ऋषियों के हृदयों में स्थापित किया है। **ता:**=वे वेदवाणियाँ **यथायथं वदन्ति**=सब पदार्थों का यथार्थ ज्ञान देती हैं—सब पदार्थों का ठीक-ठाक प्रतिपादन करती हैं। २. **वदन्ती:**=सब पदार्थों का ज्ञान देती हुई ये वेदवाणियाँ **यत्र गच्छन्ति**=अन्ततः जहाँ ये पहुँचती हैं **तत्**=उसी को **महत् ब्राह्मणं आहु:**=महान् ब्राह्मण—महनीय ज्ञानी—ज्ञानस्वरूप प्रभु कहते हैं, अर्थात् इन वाणियों का अन्तिम प्रतिपाद्य विषय वे प्रभु ही हैं। '**सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति**' तथा '**ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्**'। सब ऋचाएँ अन्ततः प्रभु का ही प्रतिपादन करती हैं।

भावार्थ—अपूर्व प्रभु से प्रेरित ये वेदवाणियाँ सत्यज्ञान देती हुई अन्ततः प्रभु में विश्रान्त होती हैं।

ऋषि:—**कुत्स:** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

अपां पुष्पम्

यत्र देवाश्च मनुष्या श्चारा नाभाविव श्रिता:।
अपां त्वा पुष्पं पृच्छामि यत्र तन्मायया हितम्॥ ३४॥

१. **यत्र**=जिस प्रभु में **देवा: च मनुष्या: च**=देव और मनुष्य **श्रिता:**=उस प्रकार आश्रित हैं, **इव**=जैसे **नाभौ अरा:**=नाभि में आरे प्रतिष्ठित होते हैं। मैं उस **अपां पुष्पम्**=(आपो नारा इति प्रोक्ता:) नर-समूहों का पोषण करनेवाले प्रभु को **त्वा पृच्छामि**=तुझसे पूछता हूँ (शिष्य के नाते आचार्य से पूछता हूँ)। उस प्रभु को पूछता हूँ, **यत्र**=जिनमें **मायया हितम्**=प्रकृति से धारण किया गया **तत्**=वह संसार आश्रित है।

भावार्थ—प्रभु में ही सब देव व मनुष्य आश्रित हैं। वे ही नर-समूहों का पोषण करनेवाले हैं। प्रभु में ही यह माया से धारण किया गया संसार आश्रित है।

ऋषि:—**कुत्स:** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु की दिव्य शक्तियाँ

येभिर्वात इषित: प्रवाति ये ददन्ते पञ्च दिश: सध्रीची:।
य आहुतिमत्यमन्यन्त देवा अपां नेतार: कतमे त आसन्॥ ३५॥

१. **येभि:**=जिन देवों से (प्रभु की दिव्य शक्तियों से) **इषित:**=प्रेरित हुआ-हुआ **वात:** **प्रवाति**=वायु बहता है। **ये**=जो देव **सध्रीची:**=साथ मिली हुई **पञ्च**=विस्तृत (पची विस्तारे) **दिश:**=दिशाओं को **ददन्ते**=हमारे लिए प्राप्त कराते हैं, **ये देवा:**=जो देव **आहुतिम्**=यज्ञ में डाली गई आहुति को **अति अमन्यन्त**=अतिशयेन आदृत करते हैं, **ते**=वे **अपां नेतार:**=प्रजाओं का प्रणयन करने-(आगे ले-चलने)-वाले **कतमे आसन्**=कौन-से हैं?

भावार्थ—प्रभु की दिव्य शक्तियाँ ही जीवनभूत वायु को बहाती हैं, वे ही हमारे लिए इन विस्तृत दिशाओं को प्राप्त कराती हैं तथा हमसे यज्ञों में प्रेरित आहुति को आदृत करती हैं।

ऋषि:—**कुत्स:** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्** ॥

'अग्नि, वायु, सूर्य'

इमामेषां पृथिवीं वस्त एकोऽन्तरिक्षं पर्येको बभूव।
दिवमेषां ददते यो विधर्ता विश्वा आशा: प्रति रक्षन्त्येके॥ ३६॥

१. **एषां एक:**=इनमें से एक 'अग्नि' नामक देव **इमां पृथिवीं वस्ते**=इस पृथिवी को आच्छादित करता है। **एक:**=एक 'वायु' नामक देव **अन्तरिक्षं परि बभूव**=अन्तरिक्ष को

व्याप्त कर रहा है। **एषाम्**=इनमें से एक 'सूर्य' नामक देव **दिवं ददते**=द्युलोक को धारण करता है (दधते), वह सूर्य **यः**=जोकि **विधर्ता**=सब प्रजाओं का धारण करनेवाला है—'**प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः**'। **एके**=कई चन्द्र-नक्षत्रादि देव **विश्वाः आशाः प्रतिरक्षन्ति**=सब दिशाओं का रक्षण कर रहे हैं। वे देव ही इन सब पिण्डों के अधिष्ठातृदेव कहलाते हैं। इन सब देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले वे सर्वमहान् देव ही प्रभु हैं, ब्रह्म हैं।

भावार्थ—'अग्नि' देव पृथिवी का धारण करता है, तो वायुदेव अन्तरिक्ष में व्याप्त हो रहा है। सूर्य द्युलोक का अधिष्ठातृदेव है और यह सब प्राणियों का धारण कर रहा है। इनके अतिरिक्त चन्द्र-नक्षत्रादि देव सब दिशाओं के रक्षण का निमित्त बन रहे हैं। इन सब देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले प्रभु की महिमा को हम इन सब देवों में देखने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सूत्रस्य सूत्रम्

यो विद्यात्सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात्स विद्याद् ब्राह्मणं महत्॥ ३७॥
वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः।
सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यद् ब्राह्मणं महत्॥ ३८॥

१. **यः**=जो उस **विततं सूत्रम्**=फैले हुए सूत्र को **विद्यात्**=जानता है, **यस्मिन्**=जिसमें कि **इमाः प्रजाः**=ये सब प्रजाएँ **ओताः**=ओत-प्रोत हैं। उस **सूत्रस्य सूत्रम्**=सूत्र के भी सूत्र को—सर्वोपरि सूत्र को—**यः विद्यात्**=जो जानता है, **सः**=वह **महत् ब्राह्मणं विद्यात्**=उस महान् ज्ञानस्वरूप प्रभु को जानता है। वे ब्रह्म ही तो वह सूत्र हैं जिसमें कि सब लोक-लोकान्तर ग्रथित हुए-हुए हैं। २. **अहम्**=मैं उस **विततं सूत्रम्**=फैले हुए सूत्र को **वेद**=जानता हूँ, **यस्मिन्**=जिसमें कि **इमाः प्रजाः ओताः**=ये सब प्रजाएँ ओत-प्रोत हैं। **अथो**=और अब **अहम्**=मैं **सूत्रस्य सूत्रं वेद**=सूत्र के सूत्र को—सर्वोपरि सूत्र को जानता हूँ **यत्**=जोकि **महत् ब्राह्मणम्**=महनीय ज्ञानस्वरूप ब्रह्म हैं।

भावार्थ—प्रभु वे सूत्र हैं, जिनमें कि ये सब लोक-लोकान्तररूप पिण्ड पिरोये हुए हैं। '**मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव**' ऐसा गीता में कहा है। यजुः० ३२.१२ में भी कहते हैं कि '**ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत्तदभवत्तदासीत्**' वे प्रभु 'ऋत के फैले हुए तन्तु' ही हैं।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भात्रिष्टुप्** ॥

'प्रदहन् विश्वदाव्यः' अग्निः

यदन्तरा द्यावापृथिवी अग्निरैत्प्रदहन्विश्वदाव्यः।
यत्रातिष्ठन्नेकपत्नीः परस्तात्क्वे वासीन्मातरिश्वा तदानीम्॥ ३९॥

१. **यत्**=जब **द्यावापृथिवी अन्तरा**=द्युलोक व पृथिवीलोक के बीच में **प्रदहन्**=प्रकर्षेण सबको भस्म करता हुआ **विश्वदाव्यः**=(दु उपतापे) सम्पूर्ण संसार को उपतप्त करनेवाला **अग्निः ऐत्**=अग्नि गतिवाला होता है। **यत्र**=जहाँ **परस्तात्**=दूर तक ये दिशाएँ **एकपत्नीः अतिष्ठन्**=एक अग्निरूप पतिवाली होकर ही स्थित थीं, अर्थात् जब चारों ओर अग्नि-ही-अग्नि का राज्य था, **तदानीम्**=उस समय **मातरिश्वा** [illegible] **क्व आसीत्** [illegible]ही था? निश्चय से इसकी स्थिति कहाँ थी? चारों ओर अग्नि-ही-अग्नि थी, क्या उस समय इस अग्नि में ही इस

मातरिश्वा की स्थिति थी? २. वस्तुतः अग्नि का भी अधिष्ठाता वह सूत्रात्मा ही तो है। अग्नि में हमारे पार्थिव शरीर न रह पाएँगे, परन्तु आत्मतत्त्व उसमें थोड़े ही जल जाता है?

भावार्थ—प्रलयकाल में चारों ओर अग्नि-ही-अग्नि होकर सब भस्म हो जाता है। उस समय इसका अधिष्ठाता वह सूत्रात्मा ही है, जोकि अवशिष्ट रहता है।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'बृहन् पवमानः' प्रभु

अप्स्वा॑सीन्मात॒रिश्वा॒ प्रवि॑ष्टः॒ प्रवि॑ष्टा दे॒वाः स॑लि॒लान्या॑सन्।
बृ॒हन्ह॑ तस्थौ॒ रज॑सो वि॒मानः॒ पव॑मानो ह॒रित॒ आ वि॑वेश ॥ ४० ॥

१. प्रलय के समय सब कार्यजगत् नष्ट होकर कारणरूप में चला जाता है, यह कारणरूप प्रकृति ही 'आपः' कहलाती है—सर्वत्र एक समान (साम्यावस्था) फैला हुआ तत्त्व। यही 'सलिल' कहलाती है (सत् लीनम् अस्मिन्)—जिसमें यह सब दृश्य (सत्) जगत् लीन हो जाता है। **मातरिश्वा**=वह सूत्रात्मा **अप्सु**=इस एक-समान फैले हुए परमाणुरूप प्रकृतितत्त्व में **प्रविष्टः आसीत्**=प्रविष्ट हुआ-हुआ था। **देवाः**=सूर्य आदि सब देव भी **सलिलानि**=इन सलिलों में ही—कारणभूत परमाणुओं में ही **प्रविष्टाः आसन्**=प्रविष्ट हुए-हुए थे। २. उस समय **ह**=निश्चय से **बृहन्**=महान् प्रभु **ह**=ही **रजसः विमानः**=सब लोकों का वि-मान—कारणरूप में अलग-अलग करनेवाला-(निर्माण से विपरीत विमान करनेवाला) **तस्थौ**=स्थित था। यह **पवमानः**=पवित्रीकरणवाला (सब ब्रह्माण्ड का सफ़ाया कर देनेवाला) प्रभु **हरितः**=सब दिशाओं में **आविवेश**=प्रविष्ट हो रहा था। उस समय चारों ओर प्रभु-ही-प्रभु थे—अन्य कोई सत्ता प्रतीत न होती थी।

भावार्थ—प्रलय के समय प्रभु कारणरूप व्यापक परमाणुओं में प्रविष्ट थे। सूर्यादि ये सब देव भी कारणरूप परमाणुओं में चले गये थे। एक प्रभु ही इस ब्रह्माण्ड का विमान (Dismantling) करते हुए स्थित थे। वे सफ़ाया कर देनेवाले प्रभु ही सब ओर विद्यमान थे।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गायत्री-अमृत-साम

उत्त॑रेणेव गाय॒त्रीम॒मृते॒ऽधि॒ वि च॑क्रमे।
साम्ना॒ ये साम॑ सं॒विदु॑र॒जस्तद्द॑दृशे॒ क्व॑ ॥ ४१ ॥

१. जीवन का 'प्रातःसवन' (प्रथम चौबीस वर्ष) गायत्र कहलाता है **'गायत्र वै प्रातःसवनम्'**—ऐत० ६।२। इस सवन में मुख्य कार्य यही है कि (गयाः प्राणाः तान् तत्रे) प्राणशक्ति का रक्षण किया जाए। यह रक्षण ही ब्रह्मचर्य कहलाता है। इस **गायत्रीं उत्तरेण इव**=प्राणशक्ति के रक्षणवाले प्रातःसवन के बाद ही **अमृते**=(अमृतम् इव हि स्वर्गो लोकः—तै० १.३.७.५) स्वर्गलोक में **अधिविचक्रमे**= अधिष्ठातृरूपेण विचरणवाला होता है। ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थ ही स्वर्गलोक है। ब्रह्मचर्याश्रम में प्राणशक्ति के रक्षण का यह परिणाम होता है कि गृहस्थ स्वर्ग-सा बनता है। नीरोग गृहस्थ ही स्वर्ग है। २. गृहस्थ ही माध्यन्दिन सवन है। इसकी समाप्ति पर वानप्रस्थ व संन्यास ही सायन्तन सवन हैं। यहाँ **साम्ना**=उस पुरुष की उपासना के द्वारा (तमेतम्पुरुषं सामेति छन्दोगा उपासते, एतस्मिन् हीदꣳ सर्वꣳ समानम्—श० १०।५।२।२०) **ये**=जो **साम**=क्षत्र (बल) व साम्राज्य को (क्षत्रं वै साम—श० १२।८।३।२३ साम्राज्यं वै साम) **संविदुः**=सम्यक् जानते व प्राप्त करते हैं, अर्थात् जो प्रभु-उपासना के द्वारा शक्ति-सम्पन्न बनते हैं और इन्द्रियों के पूर्ण शासक (सम्राट्) बनते हैं, **तत्**=तब यह **अजः**=जन्म न लेनेवाला जीव

क्व ददृशे=कहाँ दीखता है? अर्थात् यह इस देह के छूट जाने पर मुक्त हो जाता है और प्रभु के साथ विचरता है। इस शरीर में न आने से वह आँखों का विषय नहीं बनता।

भावार्थ—हम जीवन के प्रात:सवन में प्राणशक्ति का (वीर्य का) पूर्ण रक्षण करते हुए 'गायत्री' के उपासक बनें तभी गृहस्थ में नीरोग रहते हुए हम इसे 'अमृत' बना पाएँगे और अन्तत: प्रभु के साथ मेल से हम शक्ति व इन्द्रियों के साम्राज्य (शासकत्व) को प्राप्त करके प्रभु के साथ विचरनेवाले बनेंगे—मुक्त हो जाएँगे। उस समय शरीर में न आने से हम दीखेंगे नहीं।

ऋषि:—**कुत्स:** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्द:—**(त्रिपदा) विराड्गायत्री** ॥

निवेशन:—सत्यधर्मा

निवेशन: संगमनो वसूनां देवइव सविता सत्यधर्मा।
इन्द्रो न तस्थौ समरे धनानाम्॥ ४२॥

१. गत मन्त्र में वर्णित साधक **निवेशन:**=सबको उत्तम निवेश प्राप्त करानेवाला—सबका आश्रय बनता है। **वसूनां संगमन:**=निवास के लिए आवश्यक धनों का अपने में मेल करनेवाला होता है। यह **सविता देव: इव**=उस प्रेरक प्रकाशमय प्रभु की भाँति होता है—सदा सबको उत्तम प्रेरणा देनेवाला होता है, **सत्यधर्मा**=सत्य को धारण करता है। २. **धनानाम्**=सब धनों का **समरे**=(सम्+अर=ऋ गतौ) संगमन होने पर **इन्द्र: न**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की भाँति **तस्थौ**=स्थित होता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासक सबका आश्रय, धनों का आधार, उत्तम प्रेरणा देनेवाला, सत्य का धारण करनेवाला बनता है। ऐश्वर्यों का संगमन होने पर यह परमैश्वर्यशाली प्रभु का ही छोटा रूप प्रतीत होने लगता है।

ऋषि:—**कुत्स:** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

पुण्डरीकं नवद्वारम्

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत्तद्वै ब्रह्मविदो विदु:॥ ४३॥

१. **पुण्डरीकम्**=(पुण कर्मणि शुभे) पुण्य कर्म करने का साधनभूत (धर्मैकहेतुम्) **नवद्वारम्**=नौ इन्द्रिय द्वारोंवाला, **त्रिभि: गुणेभि: आवृतम्**='सत्त्व, रजस्, तमस्' नामक तीन गुणों से आवृत्त (आच्छादित) यह शरीर है। **तस्मिन्**=इस शरीर में **यत्**=जो **आत्मन्वत्**=आत्मावाला, अर्थात् जीवात्मा का भी अधिष्ठाता **यक्षम्**=पूजनीय देव है, **तत्**=उस यक्ष को **वै**=निश्चय से **ब्रह्मविद: विदु:**=ब्रह्मज्ञानी ही जान पाते हैं—उस यक्ष को जाननेवाले ही तो ये ब्रह्मज्ञानी हैं।

भावार्थ—यह नव इन्द्रिय-द्वारोंवाला व सत्त्व, रज, तमरूप गुणों से आवृत्त शरीर पुण्य कर्म करने के लिए दिया गया है। इस शरीर में ही आत्मा का अधिष्ठाता वह पूज्य प्रभु भी स्थित है। ब्रह्मज्ञानी उसे ही जानने का प्रयत्न करते हैं।

ऋषि:—**कुत्स:** ॥ देवता—**अध्यात्मम्** ॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्** ॥

'अजर-धीर-युवा' प्रभु

अकामो धीरो अमृत: स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोन:।
तमेव विद्वान्न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥ ४४॥

१. ब्रह्मज्ञानी उस प्रभु को इस रूप में जानता है कि वे प्रभु **अकाम:**=सब प्रकार की कामनाओं से रहित हैं। वे **धीर:**=(धिया ईर्ते) बुद्धिपूर्वक गतिवाले हैं—उनकी सब कृतियाँ

बुद्धिपूर्वक होने से पूर्ण हैं। वे **अमृतः**=अविनाशी हैं, **स्वयम्भूः**=सदा से स्वयं होनेवाले हैं—उनका कोई कारण नहीं है—वे कारणों के भी कारण हैं। **रसेन तृप्तः**=वे रस से तृप्त हैं—रसरूप हैं 'रसो वै सः'। **कुतश्चन ऊनः न**=किसी भी दृष्टिकोण से न्यून नहीं हैं—वे पूर्ण-ही-पूर्ण हैं। २. **तम्**=उन **धीरम्**=बुद्धिपूर्वक गतिवाले **अजरम्**=कभी जीर्ण न होनेवाले **युवानम्**=नित्य तरुण अथवा बुराइयों का अमिश्रण व अच्छाइयों का मिश्रण करनेवाले **आत्मानम्**=परमात्मा को **विद्वान् एव**=जानता हुआ ही पुरुष **मृत्योः न बिभाय**=मृत्यु से भयभीत नहीं होता—वह जन्ममरण के चक्र से मुक्त होकर मोक्षलाभ करता है।

भावार्थ—वे प्रभु 'अकाम, धीर, अमृत, स्वयम्भू, अजर व युवा' हैं। रस से तृप्त व न्यूनता से रहित हैं। उन प्रभु को जानकर मनुष्य मृत्यु-मुख से मुक्त हो जाता है। यह भी 'अकाम, धीर, अजर व युवा' बनने का यत्न करता है।

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**शतौदना** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'शतौदना' वेदवाणी

अघायतामपि नह्या मुखानि सपत्नेषु वज्रमर्पयैतम्।
इन्द्रेण दत्ता प्रथमा शतौदना भ्रातृव्यघ्नी यजमानस्य गातुः॥ १॥

१. इस सूक्त में वेदवाणी को ही 'शतौदना' कहा है—यह शतवर्षपर्यन्त हमारे जीवनों को सुख से सिक्त करती है (उन्दी क्लेदने)। इस वेदवाणी को प्राप्त करनेवाला 'अथर्वा'=स्थिर वृत्तिवाला (न थर्व) पुरुष है। यह अथर्वा ही इस सूक्त का ऋषि है। वह वेदवाणी को सम्बोधित करता हुआ कहता है कि **अघायताम्**=पाप की कामनावालों के—दूसरों का अशुभ चाहनेवालों के—**मुखानि अपिनह्य**=मुखों को बाँध दे तथा **सपत्नेषु**=शत्रुओं पर **एतं वज्रं अर्पय**=इस वज्र को अर्पित कर, अर्थात् तेरे अध्ययन से न तो मनुष्य औरों का अशुभ चाहने की वृत्तिवाला होता है और न ही काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रुओं का शिकार होता है। २. यह वेदवाणी **इन्द्रेण दत्ता**=उस शत्रुविद्रावक परमैश्वर्यशाली प्रभु से दी गई है। **प्रथमा**=तू (प्रथ विस्तारे) अधिक-से-अधिक शक्तियों के विस्तारवाली है। **शतौदना**=शतवर्षपर्यन्त हमें शक्ति से सिक्त करनेवाली है। **भ्रातृव्यघ्नी**=शत्रुओं को नष्ट करनेवाली है। यह वेदवाणी **यजमानस्य गातुः**=यज्ञशील पुरुष की मार्गदर्शिका है। यज्ञों का प्रतिपादन करती हुई यह वेदवाणी अपने अध्येता को यज्ञों में प्रवृत्त करती है।

भावार्थ—वेदवाणी हमें किसी की भी अशुभकामना से रोकती है, यह हमारे रोगरूप शत्रुओं को नष्ट करती है। प्रभु इसे सृष्टि के प्रारम्भ में हमारे लिए देते हैं। यह हमारी शक्तियों का विस्तार करती हुई शतवर्षपर्यन्त हमें सुखों से सिक्त करती है। काम-क्रोध आदि शत्रुओं को विनष्ट करती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**शतौदना** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यज्ञिया वेदवाणी (वेदधेनु)

वेदिष्टे चर्म भवतु बर्हिर्लोमानि यानि ते।
एषा त्वा रशनाग्रभीद् ग्रावा त्वैषोऽधि नृत्यतु॥ २॥
बालास्ते प्रोक्षणीः सन्तु जिह्वा सं माष्ट्वर्घ्न्ये।
शुद्धा त्वं यज्ञिया भूत्वा दिवं प्रेहि शतौदने॥ ३॥

१. वेदवाणी को धेनु के रूप में चित्रित करते हुए कहते हैं कि **ते चर्म**=तेरा चर्म **वेदिः भवतु**=यज्ञ की वेदि बने। **यानि ते लोमानि**=जो तेरे लोम हैं, वे **बर्हिः**=कुशासन हैं। **एषा**=यह जो **रशनाम्**=रज्जु **त्वा अग्रभीत्**=तुझे ग्रहण करती है—बाँधती है, यह **ग्रावा**=स्तत्रों का उच्चारण करनेवाला स्तोता है। **एषः**=यह स्तोता **त्वा अधिनृत्यतु**=तुझपर नृत्य करनेवाला हो। वेदाध्ययन ही इसका यज्ञ है—इस यज्ञ में वह आनन्द लेनेवाला हो। २. हे **अघ्न्ये**=अहन्तव्ये वेदधेनो! **ते बालाः**=तेरे बाल **प्रोक्षणीः सन्तु**=यज्ञवेदि के शोधन-जल हों। **जिह्वा**=तेरी जिह्वा **संमार्ष्टु**=सम्यक् शोधन करनेवाली हो। हे **शतौदने**=शतवर्षपर्यन्त हमारे जीवन को सुखों से सींचनेवाली वेदवाणि! **त्वम्**=तू **शुद्धा**=शुद्ध व **यज्ञिया भूत्वा**=यज्ञ के योग्य व यज्ञशीला होकर **दिवं प्रेहि**=प्रकाशमय स्वर्गलोक को प्राप्त कर। वेदाध्ययन करनेवाला पुरुष अपने जीवन को शुद्ध व यज्ञशील बनाकर स्वर्ग को प्राप्त करता है।

भावार्थ—वेदाध्ययन को यज्ञ ही समझना चाहिए। इसमें कभी विच्छेद न करते हुए हम अपने जीवनों को शुद्ध व यज्ञिय बनाकर अपने घरों को स्वर्गोपम बनाने में समर्थ हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**शतौदना** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कामप्रेण स कल्पते

यः शतौदनां पचति कामप्रेण स कल्पते।
प्रीता ह्य स्यर्त्विजः सर्वे यन्ति यथायथम् ॥ ४ ॥

१. **यः**=जो **शतौदनाम्**=शतवर्षपर्यन्त जीवन को सुखों से सिक्त करनेवाली वेदवाणी को **पचति**= परिपक्व करता है, अर्थात् वेदवाणी से अपने ज्ञान को परिपक्व करता है, तो **सः**=वह **कामप्रेण**=(प्रा पूरणे) कामनाओं को पूर्ण करनेवाले व्यवहार से **कल्पते**=समर्थ होता है। ज्ञान के परिपाक से इसके कार्यों में इसे सफलता प्राप्त होती है। २. **अस्य**=इस परिपक्व ज्ञानवाले व्यक्ति के प्रति **हि**=निश्चय से **ऋत्विजः**=सब यज्ञ करनेवाले ऋत्विज् **प्रीताः**=प्रसन्न व प्रीतिवाले होते हैं। इसे **सर्वे**=सब ऋत्विज् **यथायथम्**=ठीक-ठाक **यन्ति**=प्राप्त होते हैं। यह ऋत्विजों का प्रिय व प्राप्य होता है।

भावार्थ—जो इस शतौदना (शतवर्षपर्यन्त जीवन को आनन्दसिक्त करनेवाली) वेदवाणी का अपने में पचन करता है, वह सफल मनोरथ होता है और यज्ञशील पुरुषों के साथ उसका मेल होता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**शतौदना** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अपूपनाभिं कृत्वा

स स्वर्गमा रोहति यत्रादस्त्रिदिवं दिवः। अपूपनाभिं कृत्वा यो ददाति शतौदनाम् ॥ ५ ॥

१. **यः**=जो **अपूपनाभिं कृत्वा**=(इन्द्रियम् अपूपः—ऐ० २।१४, णह बन्धने) इन्द्रियों को बाँधकर (देशबन्धः चित्तस्य धारणा)—इन्द्रियों व मन को हृदयदेश में बाँधकर—**शतौदनाम्**=इस शतवर्षपर्यन्त आनन्दसिक्त करनेवाली वेदवाणी को **ददाति**=औरों के लिए प्राप्त कराता है, अर्थात् जो स्वाध्याय-प्रवचन को ही अपना ध्येय बना लेता है, **सः**=वह उस **स्वर्गं आरोहति**=स्वर्ग में आरोहण करता है, **यत्र**=जहाँ कि **दिवः**=ज्ञान की ज्योति से **अदः त्रिदिवम्**=वे 'शरीर, हृदय व मस्तिष्क' (पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक) तीनों ही प्रकाशमय—तेजोदीप्त—हैं।

भावार्थ—'स्वाध्याय और प्रवचन'—मनुष्यों को सब प्रकार की आसक्तियों से ऊपर उठाकर इन्हें 'तेजस्वी शरीर, पवित्र हृदय व दीप्त मस्तिष्क' वाला बनाता है, अतः हमें जितेन्द्रिय बनकर स्वाध्याय-प्रवचन को ही अपना मुख्य कार्य बनाना चाहिए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**शतौदना** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

हिरण्यज्योतिषं कृत्वा

स तांल्लोकान्त्समाप्नोति ये दिव्या ये च पार्थिवाः ।
हिरण्यज्योतिषं कृत्वा यो ददाति शतौदनाम् ॥ ६ ॥

१. **यः हिरण्यज्योतिषं कृत्वा**=जो हितरमणीय ज्योति (वेदज्ञान) का सम्पादन करके—इस ज्योति को आचार्यकुल में प्राप्त करके—इस **शतौदनाम् ददाति**=शतवर्षपर्यन्त जीवन को आनन्द से सिक्त करनेवाली वेदवाणी को औरों के लिए देता है—प्रवचन द्वारा औरों के लिए इसका ज्ञान प्राप्त कराता है। **सः**=वह **तान्**=उन सब **लोकान् समाप्नोति**=लोकों को सम्यक् प्राप्त करता है, ये **दिव्याः**=जो दिव्य हैं **ये च**=और जो **पार्थिवाः**=पार्थिव हैं। हृदयान्तरिक्ष व मस्तिष्क ही दिव्यलोक हैं तथा शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग ही पार्थिवलोक हैं। इन सबको वह 'तेजस्विता, पवित्रता व दीप्ति' वाला बनाने में सफल होता है।

भावार्थ—इस 'हितरमणीय ज्योतिवाली, जीवन को सदा आनन्दसिक्त करनेवाली' वेदवाणी का स्वाध्याय-प्रवचन हमें दीप्त 'दिव्य व पार्थिव' लोकोंवाला बनाता है—इससे हमारा शरीर तेजस्वी, मन ओजस्वी व मस्तिष्क ज्योतिर्मय बनता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**शतौदना** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शमितारः+पक्तारः

ये ते देवि शमितारः पक्तारो ये च ते जनाः ।
ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति मैभ्यो भैषीः शतौदने ॥ ७ ॥

१. हे **देवि**=प्रकाशमयी शतौदने वेदवाणि! **ये ते शमितारः**=(शम् आलोचने) जो नियमपूर्वक तेरा आलोचन करनेवाले—ज्ञान प्राप्त करनेवाले पुरुष हैं, **च**=और **ये जनाः**=जो मनुष्य **ते पक्तारः**=अपने में तेरा परिपाक करनेवाले आचार्य (भृगु) हैं, **ते सर्वे**=वे सब शिष्य और आचार्य **त्वा**=तेरा **गोप्स्यन्ति**=रक्षण करेंगे। हे **शतौदने**=शतवर्षपर्यन्त जीवन को आनन्दसिक्त करनेवाली वेदवाणि! तू **एभ्यः मा भैषीः**=इनसे भयभीत न हो। इनके होते हुए तेरे विनाश (विलोप) का किसी प्रकार भी भय नहीं।

भावार्थ—जब आचार्यकुल में रहते हुए विद्यार्थी, परिपक्व ज्ञानवाले आचार्यों से इस वेदज्ञान का ग्रहण करते हुए इसका आलोचन करते हैं तब इस वेदज्ञान के शमन (आलोचन) व पचन से इसके विलोप का भय नहीं होता।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**शतौदना** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अग्निष्टोमम् अतिद्रव

वसवस्त्वा दक्षिणत उत्तरान्मरुतस्त्वा ।
आदित्याः पश्चाद्गोप्स्यन्ति साग्निष्टोममति द्रव ॥ ८ ॥

१. शतौदना वशा—शतवर्षपर्यन्त ज्ञानदुग्ध से हमारा सेचन करनेवाली वेदधेनु से कहते हैं कि **वसवः**=वसु ब्रह्मचारी—प्रकृति का ज्ञान प्राप्त करनेवाले—Natural science का अध्ययन करनेवाले ये ब्रह्मचारी **दक्षिणतः**=दक्षिण की ओर से **त्वा गोप्स्यन्ति**=तेरा रक्षण करेंगे। **उत्तरात्**=उत्तर से **मरुतः**=(मितराविणः=महद् द्रवन्ति—नि० ११।१३) मपा-तुला बोलनेवाले, खूब क्रियाशील व्यक्ति **त्वा** (गोप्स्यन्ति)=तुझे रक्षित करेंगे तथा **आदित्याः**=प्रकृति, जीव व परमात्मा के ज्ञान का आदान करनेवाले आदित्य ब्रह्मचारी **पश्चात्**=पीछे से—पश्चिम से तेरा रक्षण करेंगे।

इसप्रकार दक्षिण, पश्चिम, उत्तर से रक्षित हुई-हुई **सा**=वह तू **अग्निष्टोमम्**=(अग्ने: स्तोमो यस्य) उस प्रभु का स्तवन करनेवाले की ओर **अतिद्रव**=अतिशयेन गतिवाली हो।

भावार्थ—इस वेदधेनु को वसु, मरुत् व आदित्य रक्षित कर रहे हैं। इनसे रक्षित हुई-हुई यह वेदधेनु प्रभु के स्तोता को अतिशयेन प्राप्त होती है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अतिरात्रम् अतिद्रव

देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसंश्च ये।
ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति सातिरात्रमति द्रव॥ ९॥

१. **देवाः**=काम, क्रोध आदि आसुरभावों को जीतने की कामनावाले, **पितरः**=रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त लोग, **मनुष्याः**=विचारपूर्वक कार्यों को करनेवाले (मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति), **ये च**=और जो **गन्धर्वाप्सरसः**=(गां धारयन्ति, अप्सु—कर्मसु सरन्ति) ज्ञान की वाणियों को धारण करनेवाले यज्ञशील लोग हैं, **ते सर्वे**=वे सब **त्वा गोप्स्यन्ति**=हे वेदधेनो! तेरा रक्षण करेंगे। वस्तुतः वेदज्ञान को अपनाने से ही वे 'देव, पितर, मनुष्य, गन्धर्व व अप्सरस्' बनते हैं। **सा**=वह तू **अतिरात्रम्**=(रा दाने) अतिशयेन दानशील पुरुष को **अतिद्रव**=शीघ्रता से प्राप्त हो। दानशील और अतएव विलास में न फँसे हुए व्यक्ति को यह वेदवाणी प्राप्त होती है।

भावार्थ—वेदवाणी के रक्षक 'देव, पितर, मनुष्य, गन्धर्व व अप्सरस्' हैं। यह दानशील—विषयों में अनासक्त पुरुष को प्राप्त होती है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शतौदना के दान से सर्वलोकाप्ति

अन्तरिक्षं दिवं भूमिमादित्यान्मरुतो दिशः।
लोकान्त्स सर्वानाप्नोति यो ददाति शतौदनाम्॥ १०॥

१. **यः**=जो **शतौदनाम्**=शतवर्षपर्यन्त जीवन को आनन्द से सिक्त करनेवाली इस वेदवाणी को **ददाति**=देता है, **सः**=वह **अन्तरिक्षं दिवं भूमिम्**=अन्तरिक्ष, द्युलोक व पृथिवी को, **आदित्यान्**=आदित्यों को **मरुतः दिशः**=वायु व दिशाओं को और संक्षेप में **सर्वान् लोकान्**=सब लोकों को **आप्नोति**=प्राप्त करता है, अर्थात् वेदवाणी का आलोचन व परिपाक करने के अनन्तर जो इस वेदवाणी को औरों के लिए देनेवाला बनता है, वह सब लोकों को अपने अनुकूल करनेवाला होता है।

भावार्थ—वेदज्ञान में अपने को परिपक्व करके इसका देनेवाला—औरों के लिए इसे प्राप्त करानेवाला सब लोकों को अपना पाता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

घृतं प्रोक्षन्ती

घृतं प्रोक्षन्ती सुभगा देवी देवान्गमिष्यति।
पक्तारमघ्न्ये मा हिंसीर्दिवं प्रेहि शतौदने॥ ११॥

१. **घृतं प्रोक्षन्ती**=शतवर्षपर्यन्त हमारे जीवनों को आनन्दसिक्त करनेवाली यह वेदवाणी हमारे जीवनों में (घृ क्षरणदीप्त्योः) दीप्ति का सेचन करती है, **सुभगा**=यह उत्तम ऐश्वर्यों को प्राप्त करानेवाली **देवी**=प्रकाशमयी—काम-क्रोध को जीतने की कामनावाली वेदवाणी **देवान् गमिष्यति**=देववृत्ति के पुरुषों को प्राप्त होगी। काम-क्रोध को परास्त करनेवाले पुरुष ही इसे प्राप्त

करने के अधिकारी होते हैं। २. हे **शतौदने**=आजीवन आनन्दित करनेवाली **अघ्न्ये**=अहन्तव्ये वेदवाणि! **पक्तारं मा हिंसी:**=तेरा परिपाक करनेवाले व्यक्तियों को मत हिंसित कर—तेरा पाक करनेवाले व्यक्ति हिंसित न हों (वेद एव हतो हन्ति)। यह वाणी अघ्न्या है—हम इसका हनन न करेंगे तो यह भी हमें हिंसित होने से बचाएगी। हे शतौदने! तू **दिवं प्रेहि**=प्रकाश व आनन्द (द्युति=मोद) को प्राप्त कर—तू आनन्द को प्राप्त करानेवाली हो।

भावार्थ—वेदवाणी प्रकाशमयी है। यह हमारे जीवनों को ज्ञानसिक्त करती है, सौभाग्यसम्पन्न बनाती है। यह देववृत्ति के पुरुषों को प्राप्त होती है। जो भी अपने में इसका परिपाक करते हैं, उनका हिंसन न होने देती हुई यह उन्हें ज्योति व आनन्द प्राप्त कराती है

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्द:—**पथ्यापङ्क्तिः**॥

क्षीर, सर्पि, मधु

ये देवा दिविषदो अन्तरिक्षसदश्च ये ये चेमे भूम्यामधि।
तेभ्यस्त्वं धुक्ष्व सर्वदा क्षीरं सर्पिरथो मधु॥ १२॥

१. **ये देवा:**=जो देव **दिविषद:**=द्युलोक में आसीन हैं, **ये च अन्तरिक्षसद:**=और जो अन्तरिक्ष में स्थित हैं, **ये च इमे**=और जो ये **भूम्याम् अधि**=इस पृथिवी पर हैं (ये देवा दिव्येकादश स्थ, ये देवा अन्तरिक्ष एकादश स्थ, ये देवा: पृथिव्यामेकादश स्थ—अथर्व० १९।२७।११-१३) **तेभ्य:**=उनके लिए **त्वम्**=तू **सर्वदा**=सदा **क्षीरं सर्पि: अथो मधु**=दूध, घी व शहद को **धुक्ष्व**=प्रपूरित कर। हमारा मस्तिष्क ही द्युलोक है, हृदय अन्तरिक्षलोक है तथा शरीर पृथिवीलोक है। बाहर के सब देव शरीर में आकर स्थित हुए हैं **'सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठइवासते'**। इन सब देवों के लिए यह वेदवाणी क्षीर, सर्पि व मधु के प्रयोग का उपदेश करती है। इनका प्रयोग इन सब देवों को सशक्त बनाये रखता है।

भावार्थ—'पय: पशूनां रसमोषधीनाम्' इस वेदनिर्देश के अनुसार दूध व रस आदि का ही प्रयोग शरीरस्थ सब देवों (इन्द्रियों) को सशक्त बनाये रखता है।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**शतौदना**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

आमिक्षा, क्षीर, सर्पि, मधु

यत्ते शिरो यत्ते मुखं यौ कर्णौ ये च ते हनू।
आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु॥ १३॥
यौ त ओष्ठौ ये नासिके ये शृङ्गे ये च तेऽक्षिणी।
आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु॥ १४॥
यत्ते क्लोमा यद्धृदयं पुरीतत्सहकण्ठिका।
आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु॥ १५॥
यत्ते यकृद्ये मतस्ने यदान्त्रं याश्च ते गुदा:।
आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु॥ १६॥
यस्ते प्लाशिर्यो वनिष्ठुर्यौ कुक्षी यच्च चर्म ते।
आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु॥ १७॥

१. हे वेदधेनो! **यत् ते शिर:**=जो तेरा सिर है, **यत् ते मुखम्**=जो तेरा मुख है, **यौ कर्णौ**=जो कान हैं, **ये च ते हनू**=और जो तेरे जबड़े हैं। इसी प्रकार **यौ ते ओष्ठौ**=जो तेरे ओष्ठ हैं, **ये**

नासिके=जो नासाछिद्र हैं, **ये शृङ्गे**=जो सींग हैं, **ये च ते अक्षिणी**=जो तेरी आँखें हैं। **यत् ते क्लोमा**=जो तेरा फेफड़ा है **यत् हृदयम्**=जो हृदय है, **सहकण्ठिका पुरीतत्**=कण्ठ के साथ मल की बड़ी आँत है, **यत् ते यकृत्**=जो तेरा कलेजा है, **ये मतस्ने**=जो गुर्दे हैं, **यत् आन्त्रम्**=जो आँत है, **याः च ते गुदा**=और जो तेरी मलत्याग करनेवाली नाडियाँ हैं। **यः ते प्लाशिः**=जो तेरी अन्न की आधारभूत आँत है, **यः वनिष्ठुः**=जो अन्तःरक्त को बाँटनेवाली आँत है, **यौ कुक्षी**=जो कुक्षिप्रदेश हैं, **यत् च ते चर्म**=और जो तेरी चमड़ी है, २. ये सब-के-सब अवयव अर्थात् भिन्न-भिन्न लोक-लोकान्तरों व पदार्थों का ज्ञान **दात्रे**=तेरे प्रति अपने को देनेवाले के लिए (दा दाने) वासनाओं का विनाश करनेवाले के लिए (दाप् लवने) और इसप्रकार अपने जीवन को शुद्ध बनानेवाले के लिए (दैप् शोधने) **आमिक्षाम्**=(तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेवी आमिक्षा भवति) गर्म दूध में दही के मिश्रण से उत्पन्न पदार्थ को **क्षीरः सर्पिः अथो मधु**=दूध, घृत व शहद को **दुह्रताम्**=दूहें—प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—वेदज्ञान हमारे लिए 'आमिक्षा-सर्पि, क्षीर व मधु' को प्राप्त कराता है, अर्थात् हमें इनके प्रयोग के लिए प्रेरित करता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**शतौदना** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वेदज्ञान व सात्त्विक अन्न

यत्ते॑ म॒ज्जा यद॒स्थि यन्मां॒सं यच्च॒ लोहि॑तम्।
आ॒मिक्षां॑ दुह्रतां दा॒त्रे क्षी॒रं स॒र्पिरथो॑ मधु॑॥ १८॥
यौ ते॑ बा॒हू ये दो॒षणी॒ याव॑सौ॒ या च॑ ते क॒कुत्।
आ॒मिक्षां॑ दुह्रतां दा॒त्रे क्षी॒रं स॒र्पिरथो॑ मधु॑॥ १९॥
यास्ते॑ ग्री॒वा ये स्क॒न्धा याः पृ॒ष्टीर्याश्च॒ पर्श॑वः।
आ॒मिक्षां॑ दुह्रतां दा॒त्रे क्षी॒रं स॒र्पिरथो॑ मधु॑॥ २०॥
यौ त॑ ऊ॒रू अ॑ष्ठी॒वन्तौ॒ ये श्रोणी॒ या च॑ ते भ॒सत्।
आ॒मिक्षां॑ दुह्रतां दा॒त्रे क्षी॒रं स॒र्पिरथो॑ मधु॑॥ २१॥
यत्ते॒ पुच्छं॒ ये ते॒ बाला॒ यदूधो॒ ये च॑ ते॒ स्तना॑ः।
आ॒मिक्षां॑ दुह्रतां दा॒त्रे क्षी॒रं स॒र्पिरथो॑ मधु॑॥ २२॥
यास्ते॒ जङ्घा॒ याः कुष्ठि॑का ऋ॒च्छरा॒ ये च॑ ते श॒फाः॥
आ॒मिक्षां॑ दुह्रतां दा॒त्रे क्षी॒रं स॒र्पिरथो॑ मधु॑॥ २३॥
यत्ते॒ चर्म॑ शतौदने॒ यानि॒ लोमा॑न्यघ्न्ये।
आ॒मिक्षां॑ दुह्रतां दा॒त्रे क्षी॒रं स॒र्पिरथो॑ मधु॑॥ २४॥

१. **यत् ते मज्जा**=जो तेरी मज्जा (अस्थि की मींग) है, **यत् अस्थि**=जो हड्डी है, **यत् मांसम्**=जो मांस है **यत् च लोहितम्**=और जो रुधिर है। **यौ ते बाहू**=जो तेरी भुजाएँ हैं, **ये दोषणी**=जो भुजा के उपरले भाग हैं, **यौ अंसौ**=जो कन्धे है, **या च ते ककुत्**=और जो तेरा कुहान है। **याः ते ग्रीवाः**=जो तेरी गर्दन की हड्डियाँ हैं, **ये स्कन्धाः**=जो तेरे कन्धों की हड्डियाँ हैं, **याः पृष्टीः**=जो पीठ की हड्डियाँ हैं, **याः च पशर्वः**=और जो पसलियाँ हैं। **यौ ते उरू**=जो तेरी जाँघे हैं, **अष्ठीवन्तौ**=जो घुटने हैं, **ये श्रोणी**=जो कूल्हे हैं, **या च ते भसत्**=जो तेरा पेडू है, **यत् ते पुच्छम्**=जो तेरी पूँछ है, **ये ते बालाः**=जो तेरे बाल हैं, **यत् ऊधः**=जो तेरा दुग्धाशय

है, **ये च ते स्तनाः**=और जो तेरे स्तन हैं। **याः ते जंघाः**=जो तेरी जाँघें है, **याः कुष्ठिकाः**=जो कुष्ठिकाएँ हैं—खुट्टियाँ हैं (The mouth or openings), छिद्र हैं, **ऋच्छराः**=खुट्टों के ऊपर के भाग (कलाइयाँ) हैं, **ये च ते शफाः**=और जो तेरे खुर हैं। हे **शतौदने**=शतवर्षपर्यन्त हमारे जीवनों को आनन्दसिक्त करनेवाली वेदधेनो! **यत् ते चर्म**=जो तेरा चाम है और हे **अघ्न्ये**=अहन्तव्ये वेदधेनो! **यानि लोमानि**=जो तेरे लोम हैं। २. ये सब, अर्थात् सब लोक-लोकान्तरों का ज्ञान **दात्रे**=तेरे प्रति अपने को दे डालनेवाले के लिए **आमिक्षाम्**=श्रीखण्ड को, **क्षीरम्**=दूध को, **सर्पिः**=घृत को **अथो मधु**=और मधु को **दुह्राताम्**=प्रपूरित करें।

भावार्थ—वेदधेनु के ज्ञानदुग्ध का पान करते हुए हम 'आमिक्षा, क्षीर, सर्पि व मधु' जैसे उत्तम पदार्थों का ही प्रयोग करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**शतौदना** ॥ छन्दः—**द्व्युष्णिग्गर्भाऽनुष्टुप्** ॥

यज्ञ व स्वर्गलोक

क्रोडौ ते स्तां पुरोडाशावाज्येनाभिघारितौ।
तौ पक्षौ देवि कृत्वा सा पक्तारं दिवं वह॥ २५॥

१. हे शतौदने! **ते क्रोडौ**=तेरे दोनों पार्श्वभाग (गोद) **पुरोडाशौ स्ताम्**=पुरोडाश हों—(The sacrificial oblation made of ground rice, leaving of an oblation) यज्ञिय आहुतियाँ बनें। जो यज्ञिय आहुतियाँ **आज्येन अभिघारितौ**=घृत से सिक्त हैं (Sprinkle over, moisten) हम तेरा अध्ययन करते हुए तेरे द्वारा उपदिष्ट यज्ञों को करनेवाले बनें। प्रातः-सायं अग्निहोत्र करते हुए हुतशेष को ही खानेवाले बनें। '**अग्निहोत्रसमो विधिः**'—प्रातः-सायं यज्ञ करके यज्ञशेष को ही सदा भोजन के रूप में ग्रहण करें। २. हे **देवि**=प्रकाशमयी वेदवाणि! तू **तौ**=उन दोनों पुरोडाशों को **पक्षौ कृत्वा**=पक्ष (पंख) बनाकर **सा**=वह तू **पक्तारम्**=यज्ञिय हवि का परिपाक करनेवाले इस व्यक्ति को **दिवं वह**=प्रकाशमय स्वर्गलोक में प्राप्त करानेवाली बन। मुण्डकोपनिषत् १.२.४-६ में यही भाव इस रूप में दिया गया है कि '**काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा। स्फुलिंगिनी विश्वरुची च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वा॥ एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन्। तन्नयन्त्येताः सूर्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः॥ एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति। प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः॥**' अर्थात् जो अग्नि-जिह्वाओं में यथासमय आहुतियाँ प्राप्त कराता है, उसे ये आहुतियाँ सूर्यरश्मियों द्वारा ब्रह्मलोक में ले-जानेवाली होती हैं।

भावार्थ—प्रातः-सायं यज्ञ में दी जानेवाली आहुतियाँ ही वेदधेनु के दो पार्श्वभाग (गोद) हैं। ये आहुतियाँ ही ज्ञानपरिपक्व यजमान को स्वर्ग में प्राप्त कराती हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**शतौदना** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाबृहत्यनुष्टुबुष्णिग्गर्भाजगती** ॥

एक-एक कण यज्ञार्पित हो

उलूखले मुसले यश्च चर्मणि यो वा शूर्पे तण्डुलः कणः।
यं वा वातो मातरिश्वा पवमानो ममाथाग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु॥ २६॥

१. **यः तण्डुलः कणः**=जो चावल का कण **उलूखले**=ऊखल में, **मुसले**=मूसल में **च**=और **यः चर्मणि**=मृगछाला पर (चर्मासन पर), **यः वा शूर्पे**=या जो छाज में है, **वा**=अथवा **यम्**=जिसको **मातरिश्वा**=अन्तरिक्ष में गतिवाले **पवमानः**=पवित्र करनेवाले **वातः**=वायु ने **ममाथ**=मथा है—विलोडित किया (Turn up and down) **तत्**=उसे यह **होता**=(यज्ञाद् भवति

पर्जन्यः, पर्जन्यादन्नसम्भवः) सब अन्नों को पर्जन्यों द्वारा प्राप्त करानेवाला **अग्निः**=यज्ञाग्नि **सुहुतं कृणोतु**=सम्यक् हुत करे।

भावार्थ—हम एक-एक तण्डुल-कण (धान्य-कण) को यज्ञ के लिए अर्पित करें। सदा यज्ञशेष खानेवाले ही बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**शतौदना** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाऽतिजागताऽनुष्टुब्गर्भाशक्वरी** ॥

'दिवा-मधुर-दीप्त' जीवन

अपो देवीर्मधुमतीर्घृतश्चुतो ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक्सादयामि।
यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहं तन्मे सर्वं सं पद्यतां वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ २७॥

१. **ब्रह्मणां हस्तेषु**=ज्ञानियों के हाथों में **पृथक्**=अलग-अलग स्थित इन **देवीः**=प्रकाशमयी, **मधुमतीः**=जीवन को अत्यन्त मधुर बनानेवाली **घृतश्चुतः**=ज्ञानदीप्ति को हममें सिक्त करनेवाली **अपः**=ज्ञानजल की धाराओं को **प्रसादयामि**=मैं अपने में प्रकर्षेण स्थापित करता हूँ। मैं ज्ञानियों से इन ज्ञानों को प्राप्त करता हूँ। २. **यत् कामः**=जिस कामनावाला **अहम्**=मैं, हे ज्ञानजलो! **वः**=आपको **इदम्**=(इदानीम्) अब **अभिषिञ्चामि**=सिक्त करता हूँ, **तत् मे सर्वं संपद्यताम्**=वह मेरी सब कामनाएँ सिद्ध हों। **वयम्**=हम सब **रयीणां पतयः स्याम**=धनों के स्वामी बनें, कभी धनों के दास न बन जाएँ। हमारे जीवन में धन साधनरूप से हो—न कि साध्यरूप से।

भावार्थ—हम ज्ञानियों से ज्ञानजलों को अपने में स्थापित करने का प्रयत्न करें। ये ज्ञानजल हमारे जीवनों को दिव्य, मधुर व दीप्त बनाते हैं। हमारी सब कामनाएँ पूर्ण होती हैं और हम धनों के स्वामी बनते हैं, न कि धनों के दास। वेदाध्ययन से योगविभूतियों के स्वामी बनें।

१०. [दशमं सूक्तम्]

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

वेदधेनु के 'बालों, शफों व रूप' के लिए नमन

नमस्ते जायमानायै जातायां उत ते नमः।
बालेभ्यः शफेभ्यो रूपायाघ्न्ये ते नमः॥ १॥

१. इस सूक्त का ऋषि कश्यप है—पश्यक—द्रष्टा, जो वेदमन्त्रों में दिये गये ज्ञान का दर्शन करता है। 'वशा' इस सूक्त का देवता है—गौ, वेदधेनु। यह वेदधेनु हमारे लिए वाञ्छनीय (वश् wish) ज्ञान प्राप्त कराती है। हे वेदधेनो! **जायमानायै**=प्रभु से प्रादुर्भूत होती हुई **ते**=तेरे लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। **उत**=और **जातायै**=अग्नि आदि ऋषियों के हृदय में प्रादुर्भूत हुई-हुई **ते नमः**=तेरे लिए हम नमस्कार करते हैं। 'यह वेदज्ञान प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु से उच्चरित होता है '**तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्**'। इस वेदज्ञान को अग्नि आदि ऋषि सुनते हैं। 'पूर्वे चत्वारः' सबसे प्रथम के चार व्यक्तियों के हृदयों में प्रभु द्वारा यह स्थापित होता है। २. हे **अघ्न्ये**=अहन्तव्ये—कभी हनन न करने योग्य प्रतिदिन स्वाध्याय के योग्य वेदधेनो! **ते**=तेरे **बालेभ्यः**=बालों के लिए **शफेभ्यः**=शफों (Hoofs) के लिए और **रूपाय**=रूप के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। भिन्न-भिन्न पदार्थों का ज्ञान ही इस वेदधेनु के भिन्न-भिन्न अङ्गों के रूप में चित्रित हुआ है। ओषधि-वनस्पतियों का ज्ञान ही इसके बाल हैं, 'धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष' का ज्ञान ही इसके चार शफ हैं (शान्ति देनेवाले हैं, शम्+स्फाय्), 'अग्नि' का ज्ञान ही इसका रूप है।

भावार्थ—सृष्टि के आरम्भ में जायमाना व जाता इस वेदवाणी के लिए हम आदर का

भाव धारण करते हैं। भिन्न-भिन्न पदार्थों का ज्ञान ही इस वेदधेनु के भिन्न-भिन्न अङ्ग हैं— उन सब अङ्गों के लिए हम नमन करते हैं।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वेदज्ञान व आत्मज्ञान

यो विद्यात्सप्त प्रवतः सप्त विद्यात्परावतः।
शिरो यज्ञस्य यो विद्यात्स वशां प्रति गृह्णीयात्॥ २॥

१. **यः**=जो **सप्त**=सात **प्रवतः**=(प्रवतः गतिकर्मा—नि० २.१४) गति करनेवाली कर्मेन्द्रियों को (दो हाथ, दो पैर, पायु, उपस्थ, उदर), **विद्यात्**=जाने तथा **सप्त परावतः**=सात (परावत इति दूरनामसु पठितम्—नि० ३।२६) दूर-दूर के विषयों का ज्ञान देनेवाली ज्ञानेन्द्रियों को (कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्) **विद्यात्**=जाने। इसी प्रकार **यः**=जो **यज्ञस्य**=(पुरुषो वाव यज्ञः) यज्ञरूप पुरुष के **शिरः विद्यात्**=उत्तमांगभूत मस्तिष्क को जाने, **सः**=वह **वशां प्रतिगृह्णीयात्**=इस वेदवाणीरूप गौ का ग्रहण करे।

भावार्थ—वेदवाणीरूप गौ का ग्रहण तो उसी ने किया जिसने कि 'कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों व मस्तिष्क' को समझा। वेदवाणी से उन सब कर्मों का उपदेश दिया जाता है, जिन्हें कर्मेन्द्रियों को करना है; इससे वह सब ज्ञान दिया जाता है जोकि मस्तिष्क व ज्ञानेन्द्रियों को प्राप्त करना है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विचक्षण सोम

वेदाहं सप्त प्रवतः सप्त वेद परावतः।
शिरो यज्ञस्याहं वेद सोमं चास्यां विचक्षणम्॥ ३॥

१. **अहम्**=मैं **अस्याम्**=इस वेदवाणी में **सप्त**=सात **प्रवतः**=गति करनेवाली इन कर्मेन्द्रियों को **वेद**=जान पाता हूँ, **सप्त**=सात **परावतः**=दूर-दूर के पदार्थों का ज्ञान देनेवाली ज्ञानेन्द्रियों को **वेद**=जान पाता हूँ। **यज्ञस्य**=यज्ञरूप पुरुष के **शिरः**=मस्तिष्क को भी **अहं वेद**=मैं जान पाता हूँ **च**=तथा **विचक्षणम्**=उस विशिष्ट द्रष्टा—सर्वद्रष्टा—**सोमम्**=प्रेरक प्रभु को मैं इस वेदवाणी से जान पाता हूँ। वस्तुतः सारे वेद अन्ततः उस प्रभु का ही तो प्रतिपादन करते हैं 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति।'

भावार्थ—वेदवाणी में कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों, मस्तिष्क व सर्वद्रष्टा प्रेरक प्रभु' का प्रतिपादन है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सहस्रधारा वशा

यया द्यौर्यया पृथिवी ययापो गुपिता इमाः।
वशां सहस्रधारां ब्रह्मणाच्छावदामसि॥ ४॥

१. **यया**=जिस वेदवाणी से **द्यौः** (गुपितः)=द्युलोक अपने में सुरक्षित किया गया है, **यया पृथिवी**=जिससे यह पृथिवीलोक अपने में सुरक्षित हुआ है, **यया**=जिस वेदवाणी से **इमाः आपः**=यह व्यापक अन्तरिक्षलोक **गुपिताः**=सुरक्षित किया गया है। उस **सहस्रधाराम्**=हज़ारों ज्ञानों का अपने में धारण करनेवाली **वशाम्**=वेदधेनु का **ब्रह्मणा**=ज्ञान के हेतु से **आवदामसि**=हम अच्छी प्रकार से उच्चारण करते हैं।

भावार्थ—यह वेदवाणी हमारे लिए 'द्युलोक, पृथिवीलोक व अन्तरिक्षलोक'—इन तीनों

लोकों का ज्ञान देती है। सहस्रों ज्ञानों द्वारा हमारा धारण करनेवाली इस वेदवाणी का हम ज्ञान-प्राप्ति के उद्देश्य से उच्चारण करते हैं।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाऽतिजागतानुष्टुभं स्कन्धोग्रीवीबृहती** ॥

कंसाः, दोग्धार, गोमारः

शतं कंसाः शतं दोग्धारः शतं गोप्तारो अधि पृष्ठे अस्याः।
ये देवास्तस्यां प्राणन्ति ते वशां विदुरेकधा॥ ५॥

१. **ये देवाः**=जो देववृत्ति के पुरुष हैं, वे **शतं**=शतवर्षपर्यन्त, अर्थात् आजीवन **अस्याः**=इस वेदधेनु (वाणी) के **कंसाः**=(कम्+स) कामना करनेवाले बनते हैं, **शतं दोग्धारः**=वे शतवर्षपर्यन्त इसका दोहन करनेवाले होते हैं—वे इससे ज्ञानदुग्ध प्राप्त करते हैं, **शतं गोप्तारः**=आजीवन वे इसका रक्षण करते हैं। वे (अस्याः) **अधिपृष्ठे**=इसके पृष्ठ पर स्थित होते हैं—यह वेदधेनु इनका आधार बनती है। जो देव **तस्यां प्राणन्ति**=उसमें ही प्राणों को धारण करते हैं, **ते**=वे देव **वशाम्**=इस वेदधेनु को **एकधा विदुः**=एक प्रकार से ही जानते हैं—उनका इसके विषय में एक ही अनुभव होता है कि यह वेदधेनु कल्याणकर ज्ञानदुग्ध ही देनेवाली है। इसके अनुसार आचरण करने से कल्याण-ही-कल्याण है।

भावार्थ—हम आजीवन इस वेदधेनु की कामना करें, इसके ज्ञानदुग्ध का दोहन करें, इसके रक्षक बनें। यही हमारा आधार हो, यही हमारा जीवन हो। हम सदा इसे कल्याण-ही-कल्याण करनेवाली पाएँगे।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥

यज्ञपदी-इराक्षीरा

यज्ञपदीराक्षीरा स्वधाप्राणा महीलुका।
वशा पर्जन्यपत्नी देवाँ अप्येति ब्रह्मणा॥ ६॥

१. **वशा**=यह वेदधेनु **यज्ञपदी**=यज्ञों की ओर गतिवाली है—यज्ञों का प्रकाश करती हुई हमें उन यज्ञों के लिए प्रेरित करती है। **इराक्षीरा**=यह अन्न व क्षीरवाली है—अन्न और क्षीर प्राप्त कराती है। **स्वधाप्राणा**=आत्मधारण शक्ति से प्राणित होनेवाली है—यह अपने अपनानेवाले को स्वतन्त्र (अपराश्रित) बनाती है। **महीलुका**=(रुचा) महनीय दीप्ति-(प्रकाश)-वाली है। २. यह **वशा**=चाहने योग्य वेदधेनु **पर्जन्यपत्नी**=मेघों की पत्नी है, अर्थात् जिस राष्ट्र में इस वेदधेनु का उचित मान रहता है, इसका जहाँ खूब ही स्वाध्याय होता है, वहाँ वृष्टि बड़ी ठीक होती है (न वर्षं मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभि वर्षति)। यह वशा **ब्रह्मणा**=ज्ञान के हेतु से **देवान् अपि एति**=देववृत्ति के व्यक्तियों को प्राप्त होती है। जितना-जितना हम देववृत्ति के बनेंगे, उतना-उतना ही इस वशा के प्रिय होंगे।

भावार्थ—यह वेदज्ञान हमारे जीवनों को 'यज्ञमय, स्वाश्रित व दीप्तिवाला तथा अन्नक्षीरयुक्त' बनाता है। जिस राष्ट्र में इस वशा को अपनाया जाता है, वहाँ वृष्टि ठीक रूप से होती है। देव इसे ज्ञान के हेतु से प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अग्नि+सोम (पर्जन्य, विद्युतः)

अनु त्वाग्निः प्राविशदनु सोमो वशे त्वा।
ऊधस्ते भद्रे पर्जन्यो विद्युतस्ते स्तना वशे॥ ७॥

१. हे **वशे**=वेदधेनो! **त्वा अनु अग्निः प्राविशत्**=तेरे पीछे अग्नि का प्रवेश होता है, इसी प्रकार **सोमः त्वा अनु**=सोम तेरे पीछे प्रवेश करता है, अर्थात् जो भी व्यक्ति वेदवाणी को अपनाता है, उसके जीवन में अग्नितत्त्व की ठीक स्थिति होती है—उसके शरीर में अग्नितत्त्व उचित मात्रा में रहता है तथा यह वेदाध्येता सोम को शरीर में सुरक्षित कर पाता है। इन अग्नि और सोमतत्त्वों के ठीक होने पर ही जीवन 'रसमय, नीरोग व ज्ञानवाला' बनता है। २. हे **भद्रे**=कल्याणकारिणि वेदधेनो! **ते ऊधः**=तेरा यह ज्ञानदुग्धाशय **पर्जन्यः**=परातृप्ति का जनक है—अतिशयित आनन्द देनेवाला है। हे **वशे**=चाहने योग्य वेदधेनो! **ते स्तनाः**=तेरे वे स्तन **विद्युतः**=विशिष्ट दीप्तिवाले हैं। तेरे स्तनों से जो ज्ञानदुग्ध प्राप्त होता है वह हमारे जीवनों को दीप्त बनाता है।

भावार्थ—वेदज्ञान को अपनाने पर मनुष्य अपने जीवन में अग्नि और सोमतत्त्वों का समन्वय कर पाता है। इस वेदधेनु का दिया हुआ ज्ञान हमारी तृप्ति का साधन बनता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥

राष्ट्रं, अन्नं, क्षीरम्

अपस्त्वं धुक्षे प्रथमा उर्वरा अपरा वशे। तृतीयं राष्ट्रं धुक्षेऽन्नं क्षीरं वशे त्वम्॥ ८॥

१. हे **वशे**=वेदधेनो! **त्वम्**=तू **प्रथमाः अपः**=सर्वमुख्य मोक्षसाधक नित्यकर्मों को **धुक्षे**=हममें प्रपूरित करती है। यह वेदवाणी हमारे मानवजन्म के अन्तिम पुरुषार्थ 'मोक्ष' को लक्ष्य में रखती हुई, 'धर्म, अर्थ, काम' का समन्वय करती हुई हमें यही उपदेश करती है कि धर्मपूर्वक धनों का अर्जन करो (अग्ने नय सुपथा राये) तथा इन अर्थों के द्वारा न्याय्य आनन्दों को (कामों को) प्राप्त करो 'इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्। क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ॥' —अ० १४।१।२२। हे **वशे**=कमनीये वेदधेनो! **त्वम्**=तू **उर्वराः**=सर्वसस्याढ्य **अपराः**=अपर (अन्य) लौकिक (अपः) कर्मों का भी उपदेश करती है। जिन कर्मों के द्वारा हमें सब धन-धान्यों को प्राप्त करना है, उनका भी यह वेदवाणी हमें उपदेश करती है 'अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व'। २. हे वेदधेनो! तू **तृतीयम्**=तीसरे स्थान में **राष्ट्रं धुक्षे**=राष्ट्र का प्रपूरण करती है। उस राष्ट्र में **अन्नं क्षीरम्**=अन्न और क्षीर को प्रपूरित करनेवाली है। राष्ट्र में तू सात्त्विक खान-पान की कमी नहीं होने देती।

भावार्थ—वेद मोक्षसाधक मुख्य कर्मों का उपदेश देता हुआ, उन लौकिक कर्त्तव्य-कर्मों का भी उपदेश करता है, जिनसे कि हम राष्ट्र को उन्नत बनाते हुए अन्न, क्षीर आदि जीवन के पोषक पदार्थों को प्राप्त कर पाते हैं।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आदित्यों का सोमपान

यदादित्यैर्हूयमानोपातिष्ठ ऋतावरि। इन्द्रः सहस्रं पात्रान्त्सोमं त्वापाययद्वशे॥ ९॥

हे **ऋतावरि**=सत्यज्ञान से परिपूर्ण वेदवाणि! **यत्**=जब **आदित्यैः**=आदित्य ब्रह्मचारियों से **हूयमाना**=पुकारी जाती हुई तू **उपातिष्ठः**=उनके समीप उपस्थित होती है, अर्थात् जब आदित्य ब्रह्मचारी इस वेदज्ञान को प्राप्त करना ही अपना ध्येय बना लेता है, तब **इन्द्रः**=वह शत्रुविद्रावक प्रभु, हे **वशे**=कमनीय वेदधेनो! **त्वा**=तेरे द्वारा **सहस्रं पात्रान्**=हज़ारों योग्य व्यक्तियों को **सोमं अपाययत्**=सोम का पान कराता है-(सोम A ray of light)-ज्ञान की किरणों को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—हम 'आदित्य' बनने का संकल्प करें। प्रभु हमें वेदवाणी के द्वारा प्रकाश की किरणों को प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुपु** ॥

प्राची (पुराची) न कि अनूची

यदनूचीन्द्रमैरात्त्वं ऋषभोऽह्वयत्। तस्मात्ते वृत्रहा पयः क्षीरं क्रुद्धोऽहरद्वशे ॥ १० ॥

१. हमें चाहिए कि जीवन में ज्ञान को सर्वप्रथम स्थान दें। वेदवाणी हमारे जीवनों में पीछे चलनेवाली न हो, अपितु उसका स्थान सर्वप्रथम हो—वह अनूची (अनु अञ्च, पश्चाद् गच्छन्ती) न होकर प्राची (प्र अञ्च) हो। वेदवाणी हमारे पीछे न हो, वह हमारे आगे हो। हे **वशे**=कमनीये वेदधेनो! **यत्**=जब तू **अनूची**=पीछे चलनेवाली होती हुई **इन्द्रम्**=इन इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव को प्राप्त होती है तब **आत्**=शीघ्र ही **ऋषभः**=वे शक्तिशाली प्रभु **त्वा अह्वयत्**=तुझे वापस पुकार लेते हैं। २. **वृत्रहा**=वासना के विनष्ट करनेवाले प्रभु **क्रुद्धः**=तुझे अग्रस्थान न देने के कारण क्रुद्ध हुए-हुए **तस्मात्**=उस व्यक्ति से **ते**=तेरे **पयः**=आप्यायन (वृद्धि) के साधनभूत **क्षीरम्**=ज्ञानदुग्ध को **अहरत्**=हर (carry away) लेते हैं। प्रभु ने सृष्टि के प्रारम्भ में सर्वप्रथम यह वेदज्ञान ही तो दिया, अतः इसका स्थान सर्वप्रमुख होना ही चाहिए।

भावार्थ—जो व्यक्ति जीवन में ज्ञान को सर्वप्रथम स्थान नहीं देता, वह प्रभु का प्रिय नहीं बनता। क्रुद्ध हुए-हुए प्रभु उसके, शक्तियों को आप्यायित करनेवाले, ज्ञान को हर लेते हैं।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

क्रुद्धः Vs नाकः

यत्ते क्रुद्धो धनपतिरा क्षीरमहरद्वशे। इदं तदद्य नाकस्त्रिषु पात्रेषु रक्षति ॥ ११ ॥

१. हे **वशे**=कमनीये वेदधेनो! वह **धनपतिः**=ज्ञानधन के स्वामी प्रभु **क्रुद्धः**=ज्ञान को सर्वप्रथम स्थान न देने से क्रुद्ध हुए-हुए **यत्**=चूँकि **ते क्षीरं आ अहरत्**=तेरे ज्ञानदुग्ध को हमसे हर लेते हैं **तत्**=अतः **अद्य**=आज (अब) **नाकः**=आनन्दमय स्वभाववाला जीव **इदम्**=इस वेदज्ञान को **त्रिषु पात्रेषु रक्षति**=तीनों पात्रों में रक्षित करता है—'ज्ञानेन्द्रियाँ, मन व बुद्धि' ही इस ज्ञान के तीन पात्र हैं। यह इन तीनों को ज्ञानप्राप्ति में लगाने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—ज्ञानप्राप्ति में न लगाकर हम प्रभु के क्रोध के पात्र बनते हैं, अतः हम 'ज्ञानेन्द्रियों, मन व बुद्धि' के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने का यत्न करें।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अथर्वा—दीक्षितः

त्रिषु पात्रेषु तं सोममा देव्यहरद्वशा। अथर्वा यत्र दीक्षितो बर्हिष्यास्त हिरण्यये ॥ १२ ॥

१. **यत्र**=जहाँ **दीक्षितः**=व्रत ग्रहण किया हुआ **अथर्वा**=स्थिरवृत्ति का ब्रह्मचारी **हिरण्यये**=चमकते हुए—मल से रहित **बर्हिषि**=वासनाशून्य हृदय में **आस्त**=स्थित होता है, वहाँ **वशा देवी**=कमनीया प्रकाशमयी वेदधेनु **त्रिषु पात्रेषु**=ज्ञानेन्द्रियों, मन व बुद्धि में **तं सोमम्**=उस प्रकाश की किरण को **आ अहरत्**=सर्वथा प्राप्त कराती है।

भावार्थ—जब हम व्रतमय जीवनवाले (दीक्षित) स्थिरवृत्तिवाले (अथर्वा) व वासनाशून्य हृदयवाले (बर्हि) बनेंगे तब इस कमनीया वेदधेनु से ज्ञानदुग्ध को प्राप्त करेंगे। इस धेनु का ताज़ा दूध ही 'सोम' है। यह हमारे जीवनों को प्रकाश की किरणों से व्याप्त करनेवाला है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सं सोमेन

सं हि सोमेनागत समु सर्वेण पद्वता। वशा समुद्रमध्यष्ठाद्गन्धर्वैः कलिभिः सह ॥ १३ ॥

१. **हि**=निश्चय से **वशा**=यह कमनीया वेदधेनु **सोमेन**=सोम के साथ **सम् आगत**=संगत होती है। जो भी व्यक्ति पृथिवी से उत्पन्न सौम्य भोजनों को करता हुआ शरीर में सोम (वीर्य) का रक्षण करता है, यह वेदवाणी उसे ही प्राप्त होती है। **उ**=और **सर्वेण पद्वता**=सब गतिशील (पद गतौ) व्यक्तियों से इसका **सम्**=मेल होता है। यह **वशा**=कमनीया वेदधेनु **समुद्रं अध्यष्ठात्**=(स मुद्) प्रसादयुक्त मनवाले व्यक्ति में अधिष्ठित होती है। **गन्धर्वैः कलिभिः सह**=ज्ञान की वाणियों को धारण करनेवाले (कला अस्य अस्तीति कली) कला-सम्पन्न पुरुषों के साथ यह वेदधेनु निवास करती है।

भावार्थ—हम वेदज्ञान को प्राप्त करने के लिए सौम्य भोजन करनेवाले बनें, 'गतिशील-प्रसन्न मनवाले, ज्ञानरुचि व कलावित्' हों।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सं वातेन

सं हि वातेनागत समु सर्वैः पतत्रिभिः। वशा समुद्रे प्रानृत्यदृचः सामानि बिभ्रती ॥ १४ ॥

१. **ऋचः**=विज्ञानों को तथा **सामानि**=प्रभुस्तोत्रों को **बिभ्रती**=धारण करती हुई यह **वशा**=वेदवाणी **समुद्रे**=प्रसादयुक्त मनवाले पुरुष में **प्रानृत्यत्**=प्रकर्षेण नृत्य करती है, अर्थात् इस 'समुद्र' को ही प्राप्त होती है। **हि**=निश्चय से यह **वातेन**=हृदयान्तरिक्ष में (वा गतौ) गति के संकल्पवाले पुरुष के साथ **सम् अगत**=संगत होती है, **उ**=और **सर्वैः पतत्रिभिः सम्**=सब ऊँची उड़ान लेनेवालों के साथ—ऊँचे उद्देश्यवालों के साथ यह संगत होती है।

भावार्थ—वेदज्ञान को प्राप्त करने के लिए हम निर्मल (प्रसन्न) मनवाले हों, हृदय में कर्मसंकल्प से युक्त हों, जीवन में किसी ऊँचे लक्ष्य से प्रेरित होकर चलें।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सं सूर्येण

सं हि सूर्येणागत समु सर्वेण चक्षुषा। वशा समुद्रमत्यख्यद्भद्रा ज्योतींषि बिभ्रती ॥ १५ ॥

१. यह **वशा**=कमनीया वेदधेनु **हि**=निश्चय से **सूर्येण**=(सरति) निरन्तर गतिवाले, अतएव चमकनेवाले पुरुष के साथ **सम् अगत**=संगत होती है **उ**=और यह वशा **सर्वेण चक्षुषा**=सब देखनेवालों के साथ **सम्**=संगत होती है—आँख बन्द करके चलनेवालों को यह वेदज्ञान नहीं प्राप्त होता। २. **भद्रा ज्योतींषि**=कल्याणकर ज्ञानज्योतियाँ को **बिभ्रती**=धारण करती हुई यह वशा **स-मुद्रम्**=प्रसन्न मनवाले पुरुष को **अति अख्यत्**=अतिशयेन देखती है—उसका यह पालन करती है (Look after)।

भावार्थ—वेदवाणी को प्राप्त करने के लिए हम सूर्य की भाँति निरन्तर गतिवाले व संसार में आँख खोलकर चलनेवाले बनें। प्रसन्न मनवाले होकर हम वेदवाणी की भद्र ज्योतियों को प्राप्त करने के पात्र हों।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अश्वः समुद्रः भूत्वा

अभीवृता हिरण्येन यदतिष्ठ ऋतावरि। अश्वः समुद्रो भूत्वाऽध्यस्कन्दद्वशे त्वा ॥ १६ ॥

१. हे **ऋतावरि**=ऋत (सत्य) ज्ञानोंवाली **वशे**=कमनीय वेदवाणि! **यत्**=चूँकि तू **हिरण्येन**=हितरमणीय ज्ञानज्योति से **अभीवृता**=समन्तात् आच्छादित हुई हुई **अतिष्ठः**=स्थित हुई है, अतः **समुद्रः**=सदा प्रसन्न मनवाला यह व्यक्ति **अश्वः भूत्वा**=(अश् व्याप्तौ) कर्मशील होकर

त्वा अधि अस्कन्दत्=(स्कन्द् गतौ) तुझे आधिक्येन प्राप्त करता है।

भावार्थ—वेदवाणी सब सत्यज्ञानों का प्रकाश करती है। प्रसन्न मन से कर्मों में व्यस्त रहनेवाला व्यक्ति इसे प्राप्त करता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वशा—देष्ट्री—स्वधा

तद्भद्राः समगच्छन्त वशा देष्ट्र्यथो स्वधा।
अथर्वा यत्र दीक्षितो बर्हिष्यास्त हिरण्यये॥ १७॥

१. **यत्र**=जहाँ **दीक्षितः**=व्रतों को ग्रहण किये हुए **अथर्वा**=स्थिरवृत्तिवाला (न थर्व) आत्मालोचनशील (अथ अर्वाङ्) पुरुष **हिरण्यये**=ज्योतिर्मय—निर्मल—ईर्ष्या-द्वेषादि मलों से रहित—**बर्हिषि**=वासनाशून्य हृदय में **आस्त**=स्थित होता है, **तत्**=तो वहाँ **भद्राः**=कल्याण करनेवाली ये तीन बातें **सम् अगच्छन्त**=संगत होती हैं—एक तो **वशा**=वेदधेनु—यह उस अथर्वा को ज्ञानदुग्ध का पान कराती है, दूसरी **देष्ट्री**=प्रभु की प्रेरणा—वह उसके लिए कर्तव्य-कर्मों का निर्देश करती है, **अथो**=और **स्वधा**=आत्मधारणशक्ति—यह कभी पराश्रित नहीं होता और परिणामतः सुखी रहता है (सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्)।

भावार्थ—हम स्थिरवृत्तिवाले (अथर्व) व व्रतमय जीवनवाले बनें। हमारा हृदय वासनाशून्य हो। ऐसे हृदय में स्थित होने पर प्रभु की वेदधेनु हमें ज्ञानदुग्ध का पान कराती है, प्रभु की प्रेरणा सुन पड़ती है तथा हम आत्मधारणशक्तिवाले बनते हैं।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

राजन्य, स्वधा, यज्ञ, चित्त

वशा माता राजन्यस्य वशा माता स्वधे तव।
वशाया यज्ञ आयुधं ततश्चित्तमजायत॥ १८॥

१. **वशा**=यह कमनीया वेदधेनु ही **राजन्यस्य माता**=प्रजा का रञ्जन करनेवाले 'राजन्य' (क्षत्रिय) की माता है—वेदज्ञान ही उसे राजन्य बनाता है। मनु लिखते है कि '**सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति**'। हे **स्वधे**=आत्मधारणशक्ते! यह **वशा**=वेदधेनु ही **तव माता**=तेरी माता है। वेद ही तुझे आत्मधारणशक्तिवाला व अपराश्रित बनाएगा। २. **वशायाः**=इस वेदधेनु का **आयुधम्**=शत्रुनिवारक शस्त्रसमूह **यज्ञे**=यज्ञ में निहित है। यज्ञों के द्वारा ही वेद हमें शत्रुओं के आक्रमण से रक्षित होने का उपदेश करता है—यज्ञों में प्रवृत्त व्यक्ति 'काम, क्रोध, लोभ' आदि का शिकार नहीं होता। **ततः**=उस वशा से ही 'काम, क्रोध, लोभ' से अनाक्रान्त होने पर **चित्तम् अजायत**=सब संज्ञान उत्पन्न होता है (चिती संज्ञाने)।

भावार्थ—वेदधेनु एक उत्तम क्षत्रिय को, आत्मधारणशक्ति को, यज्ञरूप आयुध को तथा संज्ञान को आविर्भूत करती है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ऊर्ध्वरेता बनना

ऊर्ध्वो बिन्दुरुदचरद् ब्रह्मणः ककुदादधि।
ततस्त्वं जज्ञिषे वशे ततो होताऽजायत॥ १९॥

१. **ब्रह्मणः ककुदात् अधि**=(अधिः पञ्चम्यर्थानुवादी) ज्ञान के शिखर के हेतु से **बिन्दुः**=वीर्यकण **ऊर्ध्वः उदचरत्**=शरीर में ऊर्ध्व गतिवाला हुआ, अर्थात् शरीर में जब शक्ति

की ऊर्ध्वगति होती है, तभी यह शरीर में सुरक्षित हुई-हुई ज्ञानाग्नि का ईंधन बनती है और हम ज्ञान के शिखर पर पहुँचने के योग्य बनते हैं। २. हे **वशे**=कमनीये वेदधेनो! **ततः**=तभी—वीर्य की ऊर्ध्वगति होने पर ही **त्वं जज्ञिषे**=तू प्रादुर्भूत होती है—तेरे प्रकाश को यह ऊर्ध्वरेता पुरुष ही प्राप्त करता है। **ततः**=तभी—वीर्य की ऊर्ध्वगति होने पर ही **होता**=वह सब साधनों को देनेवाला प्रभु **अजायत**=प्रादुर्भूत होता है—तभी हम हृदय में प्रभु का प्रकाश पाते हैं।

भावार्थ—ज्ञान के शिखर पर पहुँचने के लिए, वेदवाणी के व प्रभु के प्रकाश को पाने के लिए आवश्यक है कि हम शरीर में वीर्य की ऊर्ध्वगतिवाले बनें।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वेदधेनु के भिन्न-भिन्न अंग

आस्नस्ते गाथा अभवन्नुष्णिहाभ्यो बलं वशे।
पाजस्या॑ज्जज्ञे यज्ञ स्तनेभ्यो रश्मयस्तव॥ २०॥
ईर्माभ्यामयनं जातं सक्थिभ्यां च वशे तव।
आन्त्रेभ्यो जज्ञिरे अन्ना उदरादधि वीरुधः॥ २१॥

१. हे **वशे**=वेदधेनो! **ते आस्नः**=तेरे मुख से **गाथाः अभवन्**=गायन योग्य स्तोत्रों का प्रादुर्भाव हुआ। **उष्णिहाभ्यः**=ग्रीवा की नाड़ियो से **बलम्**=बल का प्रादुर्भाव हुआ। **पाजस्यात्**=तेरे उदर से **यज्ञः जज्ञे**=यज्ञ का प्रादुर्भाव हुआ। **तव स्तनेभ्यः**=तेरे स्तनों से **रश्मयः**=रश्मियों—किरणों का प्रादुर्भाव हुआ। २. हे **वशे**=वेदधेनो! **तव**=तेरी **ईर्माभ्याम्**=भुजाओं से **च**=तथा **सक्थिभ्याम्**=दोनों जंघाओं से **अयनं जातम्**=दक्षिणायन व उत्तरायण का प्रादुर्भाव हुआ। **आन्त्रेभ्यः**=तेरी आँतों से **अन्नाः जज्ञिरे**=खाने योग्य पदार्थ प्रादुर्भूत हुए, तथा **उदरात् अधि**=उदर से **वीरुधः**=प्रतानिनी (फैलनेवाली) बेलों का प्रादुर्भाव हुआ।

भावार्थ—वेदधेनु के भिन्न-भिन्न अङ्गों से उन-उन वस्तुओं के प्रादुर्भाव का अभिप्राय इतना ही है कि वेदधेनु इन सब पदार्थों के ज्ञानरूप दुग्ध को देनेवाली है—वेद से हमें इन पदार्थों का ज्ञान प्राप्त होता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

स हि नेत्रमवेत् तव

यदुदरं वरुणस्यानुप्राविशथा वशे। ततस्त्वा ब्रह्मोदह्वयत्स हि नेत्रमवेत्तव॥ २२॥

१. सृष्टि के प्रारम्भ में यह वेदज्ञान प्रभु से प्रादुर्भूत होता है तथा प्रलय के आने पर प्रभु में ही चला जाता है। हे **वशे**=वेदधेनो! **यत्**=जो तू प्रलय के समय **वरुणस्य उदरम्**=उस पापनिवारक प्रभु के उदर में **अनुप्राविशथाः**=अनुप्रविष्ट हो जाती है, **त्वा**=उस तुझको **ब्रह्मा**=सर्वोत्तम सात्त्विक स्थितिवाला पुरुष ('ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव०') **ततः**=वहाँ से **उद् अह्वयत्**=ऊपर पुकारता है। यह ब्रह्मा अग्नि के द्वारा ऋग्वेद का, वायु के द्वारा यजुर्वेद का, आदित्य के द्वारा सामवेद का, अङ्गिरा के द्वारा अथर्ववेद का ज्ञान प्राप्त करता है। **सः**=वह ब्रह्मा **हि**=निश्चय से **तव नेत्रम्**=तेरे नेत्र को—प्रणयन, नेतृत्व को, **अवेत्**=जानता है। ब्रह्मा तुझसे मार्गदर्शन प्राप्त करता है और औरों के लिए तुझे प्राप्त कराता है।

भावार्थ—यह वेदवाणी प्रलयकाल में प्रभु में प्रविष्ट होकर रहती है। सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा इसका आह्वान करता है तथा 'अग्नि, वायु, आदित्य व अङ्गिरा' द्वारा इसका दोहन करके वह औरों के लिए इसे प्राप्त करानेवाला बनता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥

असूसूः—वशा

सर्वे गर्भादवेपन्त जायमानादसूस्वः।

ससूव हि तामाहुर्वशेति ब्रह्मभिः क्लृप्तः स ह्यस्या बन्धुः॥ २३॥

१. वेदवाणी असुओं को—प्राणों को जन्म देने से 'असूसू' कही गई है। इस **असूस्वः**=प्राणशक्ति को जन्म देनेवाली वेदधेनु के **जायमानात् गर्भात्**=प्रादुर्भूत होते हुए गर्भ से **सर्वे अवेपन्त**=काम, क्रोध आदि सब शत्रु काँप उठते हैं। वेदज्ञान से हमें प्राणशक्ति प्राप्त होती है, इस प्राणशक्ति से सम्पन्न होकर हम काम, क्रोध आदि पर विजय प्राप्त करते हैं। २. **ससूव हि**=जब इस वेदधेनु ने निश्चय से प्राणशक्ति को जन्म दिया तब **ताम्**=उस वेदधेनु को **आहुः**=कहते हैं कि **वशा इति**=यह सचमुच 'वशा' है। शत्रुओं को वशीभूत करनेवाली है। इसका आराधक **ब्रह्मभिः क्लृप्तः**=ज्ञान की वाणियों से शक्तिसम्पन्न बनता है (क्लृप् सामर्थ्ये)। **सः**=वह शक्तिसम्पन्न व्यक्ति ही **अस्याः बन्धुः**=इसे अपने में बाँधनेवाला है।

भावार्थ—जो भी वशा को अपने जीवन में बाँधता है, वह इसके द्वारा शक्तिसम्पन्न बनकर काम, क्रोध आदि को जीत लेता है। यह वशा प्राणशक्ति को जन्म देनेवाली है, इसप्रकार यह सचमुच शत्रुओं को वश में करनेवाली 'वशा' ही है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्बृहती** ॥

वशा—वशी

युध एकः सं सृजति यो अस्या एक इद्वशी।

तरांसि यज्ञा अभवन्तरसां चक्षुरभवद्वशा॥ २४॥

१. **यः**=जो **अस्याः**=इस वेदधेनु का **एकः इत्**=निश्चय से अद्वितीय **वशी**=वश में करनेवाला होता है वह **एकः**=अकेला ही अपने जीवन में **युधः संसृजति**='काम, क्रोध, लोभ' से युद्ध करनेवाले 'प्रेम, करुणा व त्याग' रूप योद्धाओं को संसृष्ट करता है। जितना-जितना हम वेदज्ञान को प्राप्त करते हैं, उतना-उतना 'प्रेम, करुणा व त्याग' को विकसित करके, 'काम, क्रोध, लोभ' रूप शत्रुओं को विनष्ट कर पाते हैं। २. इस वशा (वेदधेनु) को वश में करनेवाले वशी के **यज्ञाः**=यज्ञ ही **तरांसि अभवन्**=बल होते हैं। इन **तरसाम्**=यज्ञरूप बलों की **चक्षुः**=प्रकाशिका **वशा अभवत्**=यह वेदधेनु ही होती है। वेद द्वारा उपदिष्ट यज्ञों को करते हुए हम शत्रुओं से अजय्य बन जाते हैं।

भावार्थ—वेदधेनु को अपनानेवाला व्यक्ति अपने जीवन में 'प्रेम, करुणा व त्याग' को उत्पन्न करके 'काम, क्रोध, लोभ' को पराजित करनेवाला बनता है। इस वशी के यज्ञ ही बल होते हैं। इसके लिए इन यज्ञों की प्रकाशिका यह वशा है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यज्ञ—ज्ञानसूर्य—ओदन (सुखद भोजन)

वशा यज्ञं प्रत्यगृह्णाद्वशा सूर्यमधारयत्।

वशायामन्तरविशदोदनो ब्रह्मणा सह॥ २५॥

१. **वशा**=यह कमनीया वेदधेनु **यज्ञं प्रत्यगृह्णात्**=यज्ञ का ग्रहण करती है। जो वशा का ग्रहण करता है, वह यज्ञशील बनता है। **वशा**=यह कमनीया वेदधेनु **सूर्यम् अधारयत्**=हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञानसूर्य का धारण करती है। **वशायाम् अन्तः**=इस वशा के अन्दर **ब्रह्मणा सह**=ज्ञान

के साथ **ओदनः**=सुख से क्लिन्न करनेवाला भोजन **अविशत्**=प्रविष्ट हुआ है, अर्थात् यह वशा हमें ब्रह्म—ज्ञान तो प्राप्त कराती ही है, साथ ही हमें भोजन प्राप्त करने के योग्य भी बनाती है।

भावार्थ—यदि हम वेदवाणी को अपनाएँगे तो 'यज्ञशील बनेंगे, ज्ञानसूर्य से दीप्त जीवनवाले होंगे, सात्त्विक सुखद अन्नों को प्राप्त करेंगे'।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः** ॥

देव, मनुष्य, असुर, पिता, ऋषि

वशामेवामृतमाहुर्वशां मृत्युमुपासते।
वशेदं सर्वमभवद्देवा मनुष्या३ असुराः पितर ऋषयः॥ २६॥

१. **वशाम्**=इस कमनीया वेदधेनु को **एव**=ही **अमृतम् आहुः**=अमृत कहते हैं, इससे दिया गया ज्ञान हमारी अमरता का साधन बनता है। **वशाम्**=वशा को ही **मृत्युम्**=आचार्य के रूप में (आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः) **उपासते**=उपासित करते हैं। वास्तविक आचार्य वशा ही है। २. **वशा**=यह वेदधेनु ही **इदं सर्वं अभवत्**=यह सब हो जाती है—**देवाः**=देव **मनुष्याः**=मनुष्य **असुराः**=असुर, **पितरः**=पिता तथा **ऋषयः**=ऋषि। वशा हमें देव—प्रकाशमय दिव्य जीवनवाला बनाती है। यह हमें विचारपूर्वक कर्म करनेवाला मनुष्य (मत्वा कर्माणि सीव्यति) बनाती है। यह हमें प्राणशक्ति सम्पन्न (असून् राति) करती है। हम इसके द्वारा रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त 'पितर' बनते हैं, और वासनाओं को विनष्ट करते हुए हम ऋषि होते हैं (ऋष् to kill)।

भावार्थ—वशा ही अमृत है। यही हमारा आचार्य है, यह हमें 'देव, मनुष्य, असुर, पिता व ऋषि' बनाती है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**शङ्कुमत्यनुष्टुप्**॥

'सर्वपात् अनपस्फुरन्' यज्ञ

य एवं विद्यात्स वशां प्रति गृह्णीयात्।
तथा हि यज्ञः सर्वपाद्दुहे दात्रेऽनपस्फुरन्॥ २७॥

१. **यः**=जो **एवं विद्यात्**=इसप्रकार समझ लेता है कि इस वेदवाणी के द्वारा दिया गया ज्ञान हमें अमरता प्राप्त कराता है और यह हमें यज्ञों में प्रेरित करके देववृत्ति का बनाता है, **सः**=वह **वशां प्रतिगृह्णीयात्**=इस वेदधेनु को अवश्य प्राप्त करता ही है। २. **तथा**=वैसा करने पर वेद से यज्ञों की प्रेरणा लेकर जब हम यज्ञशील बनते हैं तब यह **यज्ञः**=यज्ञ **हि**=निश्चय से **सर्वपाद्**=सब चरणोंवाला होता हुआ—विधिपूर्वक किया जाता हुआ—**अनपस्फुरम्**=(स्फुर संचलने) विचलित—विच्छिन्न न होता हुआ **दात्रे**=हवि देनेवाले इस यज्वा के लिए **दुहे**=सब कामनाओं का दोहन करता है। उस यज्वा के लिए यज्ञ कामधुक् होता है।

भावार्थ—वेदवाणी यज्ञों का प्रतिपादन करती है। ये यज्ञ अविच्छिन्नरूप से विधिपूर्वक होते हुए हमारी सब कामनाओं को पूर्ण करते हैं।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ऋग्, यजुः, साम में यजुः का दुष्प्रतिग्रहत्व

तिस्रो जिह्वा वरुणस्यान्तर्दीद्यत्यासनि।
तासां या मध्ये राजति सा वशा दुष्प्रतिग्रहा॥ २८॥

१. **वरुणस्य**=पापों का निवारण करनेवाले प्रभु के **आसनि अन्तः**=मुख में **तिस्रः जिह्वाः**=तीन जिह्वाएँ **दीद्यति**=चमकती हैं। '**तिस्रो वाच उदीरते गावो मिमन्ति धेनवः। हरिरेति कनिक्रदत्**'॥ प्रभु गर्जना करते हुए हमारे समीप प्राप्त होते हैं, वे तीन वाणियों का उच्चारण करते हुए आते है। वे वाणियाँ ही 'ऋग्, यजुः व साम' हैं। 'ऋग्' विज्ञान है, 'यजु' कर्म तथा 'साम' उपासना। २. **तासाम्**=उन वाणियों में **या**=जो **मध्ये राजति**=बीच में दीप्त होती है, **सा**=वह यजुः रूप वेदवाणी **दुष्प्रतिग्रहा**=ग्रहण करने में कठिन है। कर्म विज्ञानपूर्वक ही करने होते हैं और उन कर्मों को प्रभु के प्रति अर्पण करने से ही प्रभु का उपासन होता है। इसप्रकार कर्म का महत्त्व स्पष्ट है। यही करने योग्य है, परन्तु है बड़ा कठिन।

भावार्थ—वरुण प्रभु की तीन वाणियाँ है 'ऋग्, यजुः व साम'। इनमें श्रेष्ठतम कर्मरूप मध्य की वाणी कठिन है। कर्म करना सरल नहीं, परन्तु प्रभु का उपासन ज्ञानपूर्वक किये गये कर्मों से ही होता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**त्रिपदागायत्री** ॥

आपः अमृतं यज्ञः पशवः

चतुर्धा रेतो अभवद्वशायाः। आपस्तुरीयममृतं तुरीयं यज्ञस्तुरीयं पशवस्तुरीयम्॥ २९॥

१. **वशायाः**=इस वेदवाणी की **रेतः**=सन्तान (Progeny)—प्रजा—**चतुर्धा अभवत्**=चार प्रकार की होती है। **आपः तुरीयम्**=एक चौथाई तो कर्मों में व्याप्त रहनेवाले नर हैं (आप् व्याप्तौ)—वेदवाणी मनुष्यों को यही प्रेरणा देती है कि '**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः**'=कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की कामना करो। **तुरीयम्**=वशा का एक चौथाई रेतस् **अमृतम्**=नीरोगता है। वेद मनुष्य को वाचस्पति बनकर नीरोग बनने का उपदेश देता है। २. **तुरीयम्**=वेद का तृतीय तुरीयांश **यज्ञः**=यज्ञ है। वह सविता देव मनुष्य को इन यज्ञों के लिए ही निरन्तर प्रेरित कर रहा है। **पशवः तुरीयम्**=वेद का चतुर्थ रेतस् पशु है '**तवेमे पञ्च पशवः गौरश्वः पुरुषोऽजावयः**' इस मन्त्र भाग द्वारा गौ, अश्व, अजा, अवि आदि पशुओं को मानव जीवन के साथ जोड़ दिया गया है। '**दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वान् आशुः सप्तिः**' आदि शब्दों द्वारा उत्तम धेनुओं, बैलों व घोड़ों के लिए निर्देश हुआ है।

भावार्थ—वेदवाणी मनुष्य को 'क्रियाशील जीवनवाला, नीरोग, यज्ञशील व उत्तम गौ आदि पशुओंवाला' बनने की प्रेरणा देती है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

साध्याः वसवः द्यौः

वशा द्यौर्वशा पृथिवी वशा विष्णुः प्रजापतिः।
वशाया दुग्धमपिबन्त्साध्या वसवश्च ये॥ ३०॥

१. **वशा**=यह वेदधेनु ही **द्यौः**=द्युलोक है, **वशा पृथिवी**=यह वेदधेनु ही पृथिवीलोक है, अर्थात् यह वेदधेनु ही द्युलोक से पृथिवीलोक तक सब पदार्थों का ज्ञान देनेवाली है। **वशा**=यह वेदधेनु ही **विष्णुः**=प्रत्येक पदार्थ में व्याप्त **प्रजापतिः**=प्रजाओं का रक्षक प्रभु है। यह वेदवाणी प्रत्येक पदार्थ में प्रभु की सत्ता व महिमा का दर्शन कराती है। २. **वशायाः**=इस वेदधेनु के **दुग्धम्**=ज्ञानदुग्ध को वे ही पीते हैं **ये**=जो **साध्याः**=साधना में प्रवृत्त **च**=और **वसवः**=अपने निवास को उत्तम बनानेवाले हैं। वस्तुतः वशा के दुग्धपान का ही यह परिणाम होता है कि हम साधनामय जीवनवाले व उत्तम निवासवाले बनते हैं। इसके दुग्ध का पान करनेवाला व्यक्ति सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखता है।

भावार्थ—यह कमनीया वेदवाणी हमें सब पदार्थों का ज्ञान देती है—सब पदार्थों में प्रभु की व्याप्ति व महिमा का दर्शन कराती है, इसप्रकार यह हमारे जीवनों को साधनामय व उत्तम निवासवाला करती है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**उष्णिग्गर्भाऽनुष्टुप्** ॥

ब्रध्नस्य विष्टपि

वशायां दुग्धं पीत्वा साध्या वसवश्च ये।
ते वै ब्रध्नस्य विष्टपि पयो अस्या उपासते॥ ३१॥

१. **वशायाः दुग्धं पीत्वा**=इस वेदधेनु के ज्ञानदुग्ध का पान करके **ये साध्याः**=जो साधनामय जीवनवाले **च**=और **वसवः**=उत्तम निवासवाले बनते हैं, **ते**=वे **वै**=निश्चय से **ब्रध्नस्य विष्टपी**=(ब्रध्न the sun, शिव) सूर्यलोक में व ब्रह्मलोक में **अस्याः**=इस वेदधेनु के **पयः उपासते**=आप्यायित करनेवाले ज्ञानदुग्ध का उपासन करते हैं—ब्रह्म में स्थित होते हैं और ज्ञानमय जीवनवाले बनते हैं।

भावार्थ—इस वेदधेनु के ज्ञानदुग्ध का पान करनेवाला व्यक्ति 'साधनामय जीवनवाला, उत्तम निवासवाला व ब्रह्म में स्थितिवाला (ब्रह्मनिष्ठ)' बनता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**विराट्पथ्याबृहती** ॥

'सोम और घृत' का दोहन

सोममेनामेके दुह्रे घृतमेक उपासते।
ये एवं विदुषे वशां ददुस्ते गतास्त्रिदिवं दिवः॥ ३२॥

१. **एके**=कई वसु (अपने निवास को उत्तम बनानेवाले व्यक्ति) **एनां सोमं दुह्रे**=इस वेदधेनु से सोम (वीर्य) का दोहन करते हैं। **एके**=कई साध्य (साधनामय जीवनवाले व्यक्ति) **घृतम्**=मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्ति की उपासना करते हैं। यह वेदवाणी हमें (उत्तम निवासवाला निर्मल व ज्ञानदीप्त जीवनवाला) बनाती है। २. **ये**=जो **एवं विदुषे**=इसप्रकार ज्ञानी पुरुष के लिए—इस बात को (वेदधेनु के दुग्धपान के महत्त्व को) समझनेवालों के लिए **वशां ददुः**=इस वेदधेनु को प्राप्त कराते हैं, **ते**=वे **दिवः**=इस ज्ञान से **त्रिदिवम्**=स्वर्ग को **गताः**=जाते हैं। जिज्ञासु के लिए ज्ञान देनेवाले आचार्य स्वर्ग को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—वेदवाणी के अध्ययन से 'सौम्य, निर्मल व ज्ञानदीप्त' बनकर जो जिज्ञासुओं के लिए इस वेदज्ञान को प्राप्त कराते हैं, वे स्वर्ग को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ऋत, ब्रह्म, तप

ब्राह्मणेभ्यो वशां दत्त्वा सर्वाँल्लोकान्त्समश्नुते।
ऋतं ह्य१स्यामार्पितमपि ब्रह्माथो तपः॥ ३३॥

१. **ब्राह्मणेभ्यः**=ब्रह्म-प्राप्ति की कामनावालों के लिए **वशाम्**=इस वेदधेनु को **दत्त्वा**=देकर **सर्वान् लोकान्**=सब लोकों को **समश्नुते**=सम्यक् प्राप्त करता है। ब्रह्मदान से सब उत्तम लोकों की प्राप्ति होती है। २. **अस्याम्**=इस वशा में **हि**=निश्चय से **ऋतम्**=सत्यज्ञान (ठीक-ठीक ज्ञान) **आर्पितम्**=अर्पित हुआ-हुआ है—स्थापित हुआ है, **ब्रह्म अपि**=(बृहि वृद्धौ) हृदय की विशालता भी इसमें स्थापित हुई है, **अथो**=और **तपः**=इसमें तप स्थापित हुआ है। इस वेदधेनु का उपासक शरीर में तपस्वी, हृदय में विशाल अथवा हृदय में ब्रह्म की भावनावाला तथा मस्तिष्क में सत्यज्ञान

से परिपूर्ण बनता है। इस वेदज्ञान को औरों को प्राप्त करानेवाला सर्वोत्तम दानी उत्तम लोकों को क्यों न प्राप्त करेगा?

भावार्थ—ज्ञान-प्राप्ति की कामनावालों के लिए उत्तम ज्ञान प्राप्त कराके हम उत्तम लोकों को प्राप्त करते हैं। यह वेदधेनु अपने ज्ञानदुग्ध से हमें 'सत्यज्ञानवाला, विशाल हृदयवाला व तपस्वी' बनाती है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देव, मनुष्य, भूति

वशां देवा उप जीवन्ति वशां मनुष्या उत।
वशेदं सर्वमभवद्यावत्सूर्यो विपश्यति॥ ३४॥

१. **देवाः**=आसुरभावों पर विजय प्राप्ति की कामनावाले लोग **वशाम् उपजीवन्ति**=इस वेदधेनु पर ही उपजीवित हैं—यही उन्हें आसुरभावों पर विजय प्राप्त कराती है, **उत**=और **मनुष्याः**=मननपूर्वक कर्मों को करनेवाले लोग भी **वशां** (उपजीवन्ति)=इस वेदधेनु पर ही उपजीवित हैं। यह वेदधेनु ही उन्हें सात्त्विकवृत्तिवाला व सोचकर कर्म करनेवाला बनाती है। २. **यावत् सूर्यः विपश्यति**=जहाँ तक सूर्य प्रकाश करता है, अर्थात् **इदं सर्वम्**=इन सब लोकों को **वशा अभवत्**=यह वेदधेनु ही भूतियुक्त करती है।

भावार्थ—वेदज्ञान ही हमें आसुरभावों पर विजयी बनाकर 'देव' बनाता है। यही हमें मननपूर्वक कार्यों को करनेवाला 'मनुष्य' बनाता है और यही हमारे सब लोकों को भूतियुक्त करता है।

॥ इति त्रयोविंशः प्रपाठकः ॥

॥ इति दशमं काण्डम् ॥

अथैकादशं काण्डम्

दशम काण्ड की समाप्ति 'वशा' सूक्त पर है। इस वशा=कमनीया वेदवाणी को अपनानेवाला 'ब्रह्मा' है—ब्रह्मवेत्ता। ज्ञान ही इसका भोजन—'ओदन'—है। ग्यारहवें काण्ड के प्रथम सूक्त का ऋषि यह 'ब्रह्मा' ही है तथा देवता 'ओदन' है—ज्ञान का भोजन।

अथ चतुर्विंशः प्रपाठकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुबगर्भाभुरिक्पङ्क्तिः** ॥

ब्रह्मौदन का पचन

अग्ने जायस्वादितिर्नाथितेयं ब्रह्मौदनं पचति पुत्रकामा।
सप्तऋषयो भूतकृतस्ते त्वा मन्थन्तु प्रजया सहेह ॥ १ ॥

१. हे **अग्ने**=यज्ञाग्ने! **जायस्व**=तू हमारे घरों में प्रादुर्भूत हो। **इयम्**=यह **अदितिः**=अदीना देवमाता—दीनता से दूर रहनेवाली व दिव्य गुणों को धारण करनेवाली **नाथिता**=ऐश्वर्यवाली होती हुई (नाथ् ऐश्वर्ये), **पुत्रकामा**=उत्तम सन्तान की कामनावाली होकर **ब्रह्मौदनं पचति**=ज्ञान के भोजन का परिपाक करती है, अथवा घर में उसी भोजन को पकाती है, जोकि बुद्धिवर्धक होकर ज्ञानवृद्धि का कारण बनता है। घर में उत्तम सन्तान की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि (क) घर में यज्ञाग्नि प्रज्वलित रहे, (ख) माता अदीनवृत्ति की हो व दिव्य गुणों को धारण करनेवाली हो, (ग) ऐश्वर्यवाली होती हुई यह स्वाध्यायशील हो तथा बुद्धिवर्धक सात्त्विक भोजन का ही घर में परिपाक करे, (घ) उसके अन्दर उत्तम सन्तान की प्राप्ति की कामना हो। २. **सप्तऋषयः**=(सप् to worship) प्रभु का पूजन करनेवाले (ऋष् to kill) व पूजन द्वारा वासना का विनाश करनेवाले, **भूतकृतः**=यथार्थ (सत्य) कर्मों को ही करनेवाले **ते**=गृहवासी जन **प्रजया सह**=सन्तानों के साथ **इह**=यहाँ—घर में हे अग्ने! **त्वा मन्थन्तु**=तेरा मन्थन करें। हम अरणि-मन्थन द्वारा यज्ञाग्नि प्रज्वलित करके यज्ञों को करनेवाले हों।

भावार्थ—सन्तान की उत्तमता के लिए आवश्यक है कि १. घर में अग्निहोत्र नियम से हो—यज्ञमय वातावरण हो। २. माता अदीनवृत्ति की व दिव्यगुणों को धारण करनेवाली हो। ३. माता ऐश्वर्यवाली होती हुई उत्तम सन्तान की प्राप्ति की इच्छा से ब्रह्मौदन का परिपाक करे। ४. घर के लोग उपासना द्वारा वासना का विनाश करें—उत्तम कर्मों को करनेवाले हों। ५. सन्तानों के साथ मिलकर प्रतिदिन अग्निहोत्र करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भाविराट्त्रिष्टुप्** ॥

धूम—सुवीर

कृणुत धूमं वृषणः सखायोऽद्रोघाविता वाचमच्छ।
अयमग्निः पृतनाषाट् सुवीरो येन देवा असहन्त दस्यून् ॥ २ ॥

१. हे **वृषणः**=अपने में शक्ति का सेचन करनेवाले, **सखायः**=परस्पर प्रेम से चलनेवाले लोगो! तुम **धूमं कृणुत**=ऐसे सन्तान को जन्म दो जो शत्रुओं को कम्पित करनेवाला हो (धूञ् कम्पने), **अद्रोघ अविता**=द्रोहशून्य व रक्षा करनेवाला हो। **वाचम् अच्छ**=वेदवाणी की ओर

चलनेवाला हो। उत्तम सन्तान को जन्म देने के लिए आवश्यक है कि हम शक्ति का शरीर में ही सेचन करें तथा परस्पर प्रेम (सखित्व) से वर्तें। इसप्रकार हम नीरोग व निर्द्वेष होंगे तो हमारी सन्तान भी उत्तम होंगे। २. **अयम्**=यह सन्तान **अग्निः**=प्रगतिशील होता है, **पृतनाषाट्**=शत्रुसैन्य का मर्षण करनेवाला होता है, **सुवीरः**=उत्तम वीर होता है, **येन**=जिस सन्तान के द्वारा **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **दस्यून् असहन्त**=दस्युओं का पराभव करते हैं, अर्थात् घरों में दास्यव वृत्तियों को नहीं पनपने देते। सन्तान उत्तम हों, तो घर उत्तम बने रहते हैं।

भावार्थ—हम अपने में शक्ति का सेचन करनेवाले व परस्पर निर्द्वेषतावाले बनें तो हमारी सन्तान 'शत्रुओं को कम्पित करनेवाली, द्रोहशून्य, रक्षणात्मक वृत्तिवाली, ज्ञानरुचि, प्रगतिशील, शत्रुसैन्यसंहारक व सुवीर' होंगी। इन सन्तानों से हमारे घरों में कभी दास्यव वृत्तियों का प्रवेश नहीं होगा।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदाशाक्वरगर्भाजगती** ॥

महते वीर्याय, ब्रह्मौदनाय पक्तवे

अग्नेऽजनिष्ठा महते वीर्या᳡य ब्रह्मौदनाय पक्तवे जातवेदः।
सप्तऋषयो भूतकृतस्ते त्वाऽजीजनन्नस्यै रयिं सर्ववीरं नि यच्छ॥ ३॥

१. **अग्ने**=हे प्रगतिशील जीव! तू **महते वीर्याय**=महनीय वीर्य के लिए—प्रशस्त पराक्रम के लिए—**अजनिष्ठाः**=प्रादुर्भूत हुआ है। हे **जातवेदः**=उत्पन्न ज्ञानवाले जीव! तू **ब्रह्मौदनाय पक्तवे**=ज्ञान के भोजन के परिपाक के लिए प्रादुर्भूत हुआ है। तूने शक्ति व ज्ञान का सम्पादन किया है। २. **ते**=वे **सप्त ऋषयः**=प्रभुपूजन करनेवाले (सप् to worship) व प्रभुपूजन द्वारा वासनाओं का संहार करनेवाले (ऋष् to kill) **भूतकृतः**=यथार्थ (सत्य) कर्मों को ही करनेवाले **त्वा अजीजनन्**=तुझे जन्म देनेवाले हुए। तू भी **अस्यै**=इस अपनी गृहपत्नी के लिए **सर्ववीरं रयिं नियच्छ**=सब वीर सन्तानोंवाले ऐश्वर्य को देनेवाला हो। गृहपति का यह कर्त्तव्य है कि संयत जीवन के द्वारा वह वीर सन्तानों को जन्म देनेवाला हो तथा उनके पालने के लिए पुरुषार्थ से आवश्यक ऐश्वर्य को जुटानेवाला बने।

भावार्थ—गृहपति को शक्तिशाली व ज्ञानप्रधान जीवनवाला बनना योग्य है। वह वीर सन्तानों से युक्त हो और ऐश्वर्य को घर में प्राप्त करानेवाला बने।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

ब्रह्मचर्याश्रम में ज्ञान, गृहस्थ में अतिथियज्ञ

समिद्धो अग्ने समिधा समिध्यस्व विद्वान्देवान्यज्ञियाँ एह वक्षः।
तेभ्यो हविः श्रपयं जातवेद उत्तमं नाकमधि रोहयेमम्॥ ४॥

१. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **समिधा**=ज्ञानदीप्ति से **समिद्धः**=आचार्यों द्वारा दीप्त किया हुआ **समिध्यस्व**=दीप्त हो, अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में आचार्य तेरी ज्ञानाग्नि में 'पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक' के पदार्थों के ज्ञान के रूपवाली तीन समिधाओं को डाले। इससे तेरी ज्ञानाग्नि खूब दीप्त हो और तू ज्ञान से चमक उठे। अब गृहस्थ में प्रवेश करने पर **विद्वान्**=ज्ञानी होता हुआ तू **इह**=यहाँ—घर पर **यज्ञियान् देवान्**=पूजनीय दिव्य वृत्तिवाले ज्ञानी पुरुषों को **आवक्षः**=प्राप्त करा—तू इनका आतिथ्य करनेवाला बन। २. **तेभ्यः**=उन यज्ञिय देवों के लिए **हविः श्रपयन्**=हवि को—पवित्र भोजनीय द्रव्य को (हु अदने) पकाता हुआ, हे **जातवेदः**=उत्पन्न ज्ञानवाला तू **इमम्**=इस अपने को **उत्तमं नाकम् अधिरोहय**=उत्तम दुःख से रहित मोक्षलोक में प्राप्त करानेवाला बन। ज्ञानी अतिथियों का आतिथ्य तेरे जीवन को पवित्र बनाये और तू मोक्ष-प्राप्ति

का अधिकारी हो।

भावार्थ—ब्रह्मचर्याश्रम में हम लोकत्रयी के पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करें। गृहस्थ में आने पर यज्ञियदेवों के सम्पर्क में रहें। उनका आतिथ्य करते हुए हम उनकी प्रेरणाओं से पवित्र जीवनवाले बनकर मोक्ष के भागी हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भाविराट्त्रिष्टुप्** ॥

देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ

त्रेधा भागो निहितो यः पुरा वो देवानां पितॄणां मर्त्यानाम्।
अंशाञ्जानीध्वं वि भजामि तान्वो यो देवानां स इमां पारयाति॥ ५ ॥

१. हे मनुष्यो! **पुरा**=सृष्टि के प्रारम्भ में ही **यः**=जो **वः**=तुम्हारे लिए **त्रेधा भागः निहितः**=तीन प्रकार से भाग रक्खा गया है, एक तो **देवानाम्**=वायु आदि देवों का, दूसरा **पितॄणाम्**=पितरों का तथा तीसरा **मर्त्यानाम्**=अतिथिरूप मनुष्यों का, **तान् अंशान् जानीध्वम्**=उन अंशों को तुम समझो। मैं उन सब अंशों को **वः विभजामि**=तुम्हारे लिए प्राप्त कराता हूँ। मैं तुम्हें इन सब यज्ञों के लिए आवश्यक धन प्राप्त कराता हूँ। २. इनमें **यः**=जो **देवानाम्**=देवों का भाग है, अर्थात् जो वायु आदि की शुद्धि के लिए देवयज्ञ किया जाता है, **सः**=वह **इमाम् पारयाति**=इस प्रजा को भवसागर से पार करता है—सब कष्टों से मुक्त करता है। नीरोगता का कारण बनकर यह देवयज्ञ प्रजा के जीवन को सुखी करता है।

भावार्थ—प्रभु ने हमें जो धन प्राप्त कराया है वह देवयज्ञ, पितृयज्ञ व अतिथियज्ञ के लिए नियुक्त किया जाना चाहिए। इनमें देवयज्ञ वायुशुद्धि द्वारा प्रजा को रोग आदि कष्टों से पार करता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

'मात्रा (बलम्)'

अग्ने सहस्वानभिभूरभीदसि नीचो न्युब्ज द्विषतः सपत्नान्।
इयं मात्रा मीयमाना मिता च सजातांस्ते बलिहृतः कृणोतु॥ ६ ॥

१. **अग्ने**=हे प्रगतिशील जीव! तू **सहस्वान्**=शत्रुमर्षक बलवाला है। **अभिभूः**=शत्रुओं को अभिभूत करनेवाला, **इत्**=सचमुच **अभि असि (भवसि)**=शत्रुओं को पराभूत करता है। तू **द्विषतः सपत्नान्**=द्वेष करनेवाले इन शत्रुओं को **नीचः न्युब्ज**=नीचे पादाक्रान्त कर दे (उब्ज आर्जवे, अत्र उपसर्गवशाद् अधोमुखीकरणम् अर्थः—सा०)। २. जीवन में शत्रुओं को पराभूत करने का मूलभूत उपाय सब कार्यों को माप-तोलकर करना है। विशेषकर भोजन में तो मात्रा आवश्यक ही है। यह मात्रा ही उपनिषद् के 'मात्रा बलम्' इन शब्दों में बल की संस्थापक है। **इयम्**=यह **मीयमाना**=सदा मापी जाती हुई **च मिता**=और मपी हुई **मात्रा**=मात्रा **ते**=तेरे **सजातान्**=साथ उत्पन्न होनेवालों को **बलिहृतः कृणोतु**=तेरे लिए बलि (कर) देनेवाला करे, अर्थात् ये सब सजात तेरे अधीन हों। 'मात्रा' के नियम का पालन करना हमें औरों से अधिक शक्तिशाली बनाता है। राजा मात्रा में कर लेता है तो आभ्यन्तर व बाह्य उपद्रवों का शिकार नहीं होता। इसी प्रकार हम 'खाने व बोलने' में मात्रा के नियम का पालन करते हुए व्याधियों व आधियों से पीड़ित नहीं होते।

भावार्थ—'मात्रा' के नियम का पालन करते हुए हम शत्रुओं को अभिभूत करनेवाले बनें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शक्तिरक्षण व स्वर्ग

साकं सजातैः पयसा सहैध्युदुब्जैनां महते वीर्या᳡य।
ऊर्ध्वो नाकस्याधि रोह विष्टपं स्वर्गो लोक इति यं वदन्ति॥ ७॥

१. हे अग्ने! **सजातैः साकम्**=अपने समान उत्पत्तिवालों के साथ **पयसा सह**=(क्षत्रं वै पयः, श० १२।७।३।८) क्षत्र (बल) के साथ **एधि**=तू निवास करनेवाला हो। **एनाम्**=इस भूमि को **महते वीर्याय**=महान् पराक्रम के लिए **उदुब्ज**=उन्नत कर। २. **ऊर्ध्वः**=उन्नत होता हुआ तू **नाकस्य विष्टपम्**=दुःख से असम्भिन्न लोक में **अधिरोह**=अधिरूढ़ हो, **यम्**=जिस लोक को **'स्वर्गः लोकः' इति**=स्वर्गलोक इसप्रकार **वदन्ति**=कहते हैं।

भावार्थ—हम शक्ति का वर्धन करते हुए उन्नत होने का ध्यान करें। यह शक्ति का रक्षण ही हमें उन्नत करके 'स्वर्गलोक' में स्थितिवाला करता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराड्गायत्री** ॥

यज्ञ व स्वर्गलोक

इयं मही प्रति गृह्णातु चर्म पृथिवी देवी सुमनस्यमाना।
अथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम्॥ ८॥

१. **इयम्**=यह पुरोवर्तिनी **मही**=देवयजनभूमि **चर्म**=आस्तीर्यमाण अजिन को **प्रतिगृह्णातु**=स्वीकार करे। हम इस देवयजनभूमि पर मृगचर्म बिछाकर प्रभु के ध्यान व यज्ञ में प्रवृत्त हों। **देवी पृथिवी**=यह देवतारूप पृथिवी **सुमनस्यमाना**=मन को शोभन करती हुई अनुग्रह बुद्धियुक्त हो। इसपर किये जानेवाले ध्यान व यज्ञ हमें शुभ मनवाला बनाएँ। २. **अथ**=अब ध्यान, यज्ञ आदि द्वारा शुभ मनवाले होते हुए हम **सुकृतस्य लोकं गच्छेम**=पुण्य के लोक को प्राप्त हों। हमारा यह लोक पुण्यों का लोक बने।

भावार्थ—इस पृथिवी पर ध्यान व यज्ञादि उत्तम कर्मों को करते हुए हम शुभ लोक को प्राप्त करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**शाक्वरातिजागतगर्भाजगती** ॥

शत्रुसंहार व प्रजोन्नति

एतौ ग्रावाणौ सयुजा युङ्ग्धि चर्मणि निर्भिन्ध्यंशून्यजमानाय साधु।
अवघ्नती नि जहि य इमां पृतन्यव ऊर्ध्वं प्रजामुद्भरन्त्युदूह॥ ९॥

१. हे यज्ञशील पुरुष! तू **एतौ**=इन **सयुजा**=अवहनन (कूटने के) कर्म में साथ-साथ व्याप्रियमाण **ग्रावाणौ**=अश्मवत् दृढ़तर ऊखल और मूसल को **चर्मणि**=अवहननार्थ आस्तीर्ण चर्म पर **युङ्ग्धि**=स्थापित कर। अब **यजमानाय साधु अंशून् निर्भिन्धि**=इस यज्ञशील पुरुष के लिए यागनिर्वतक व्रीहिकणों को सम्यक् तुषरहित कर (**उलूखलमुसलयोः ग्रावत्वेन रूपणात् व्रीहयः सोमांशुत्वेन रूप्यन्ते**), यज्ञ के लिए हविर्द्रव्यों को तैयार कर। २. ऊखल व मूसल में व्रीहिकणों को कूटती हुई गृहपत्नी से पति कहता है कि **अवघ्नती**=इस अवहनन कार्य को करती हुई तू उनको भी **निजहि**=नष्ट कर, **ये**=जोकि **इमां पृतन्यवः**=इस मातृभूमि पर सेना द्वारा आक्रमण की कामनावाले होते हैं। जिस प्रकार **उद् भरन्ती**=तू मूसल को ऊपर उठाती है, उसी प्रकार **प्रजां ऊर्ध्वं उदूह**=प्रजा को ऊर्ध्व (श्रेष्ठ) स्थान प्राप्त करा।

भावार्थ—जिस प्रकार यज्ञ के लिए हविर्द्रव्यों को ऊखल में कूटते हैं, इसी प्रकार हम शत्रुओं को कूटनेवाले बनें। जैसे मूसल को ऊपर उठाया जाता है, इसी प्रकार हम अपनी प्रजाओं को उन्नत करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**पुरोऽतिजगतिविराड्जगती** ॥

त्रयः वराः

गृहाण ग्रावाणौ सकृतौ वीर हस्त आ ते देवा यज्ञिया यज्ञमगुः।
त्रयो वरा यतमांस्त्वं वृणीषे तास्ते समृद्धीरिह राधयामि॥ १०॥

१. हे **वीर**=वीर्यवन् अध्वर्यो! तू **सकृतौ**=(सह-कृतौ) मिलकर कार्य करनेवाले इन **ग्रावाणौ**=ऊखल व मूसल को **हस्ते गृहाण**=हाथ में ले, अर्थात् यज्ञ के लिए हविद्रव्यों को तैयार करने के लिए सन्नद्ध हो। **ते यज्ञियाः देवाः**=वे यज्ञशील देव—पूजनीय ज्ञानी पुरुष-**यज्ञम् अगुः**=यज्ञ में आएँ और तेरे इस यज्ञ को सम्यक् सम्पन्न करें। २. **त्रयः वराः**=यजमान से वरयितव्य (प्रार्थनीय) तीन ही पदार्थ हैं। एक तो 'कर्मसमृद्धि', दूसरी उसकी फ़लभूत 'ऐहिकी समृद्धि' (Prosperity) तथा 'आमुष्मिकी समृद्धि' (मोक्ष)। हे यजमान! **त्वम्**=तु **यतमान् वृणीषे**=जिन वरों को प्रार्थित करता है, **ते**=तेरे लिए **ताः समृद्धीः**=उन समृद्धियों को (कर्मसमृद्धि, ऐहिकी समृद्धि, आमुष्मिकी समृद्धि) **इह**=इस यज्ञ में **राधयामि**=संसिद्ध करता हूँ। यह यज्ञ इष्टकामधुक् तो है ही।

भावार्थ—हम यज्ञसामग्री को सिद्ध करें। ज्ञानी ऋत्विज् हमारे यज्ञों में उपस्थित हों। हमें इन यज्ञों द्वारा कर्मसमृद्धि के साथ ऐहिकी व आमुष्मिकी समृद्धि प्राप्त हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

धीतिः-जनित्रम्

इयं ते धीतिरिदमु ते जनित्रं गृह्णातु त्वामदितिः शूरपुत्रा।
परा पुनीहि य इमां पृतन्यवोऽस्यै रयिं सर्ववीरं नि यच्छ॥ ११॥

१ हे यज्ञशील पुरुष! **इयम्**=यह यज्ञशीलता व वासनाराहित्य ही **ते**=तेरा **धीतिः**=सोमपान बनता है—यज्ञशीलता से ही तू सोम का रक्षण कर पाता है। **इदम् उ ते जनित्रम्**=निश्चय से यह सोमपान ही तेरी शक्तिविकास का साधन होता है। **त्वाम्** तुझे यह **शूरपुत्रा**=अपने पुत्रों को शूर बनानेवाली **अदितिः**=अदीना देवमाता—वेदवाणीरूप माता-**गृह्णातु**=अनुगृहीत करे या तुझे ग्रहण करनेवाली हो। तू सदा इसकी गोद में निवास करे। २. **ये**=जो **इमां पृतन्यवः**=इसके प्रति संग्राम की कामनावाले हों, अर्थात् इसको विहत करनेवाली वृत्तियाँ हों, उन्हें **परापुनीहि**=दूर करनेवाला हो—उन वृत्तियों को हृदय से दूर कर दे, जिस प्रकार व्रीहि से तुष को पृथक् कर देते हैं, इसप्रकार उत्तम जीवनवाला बनकर **अस्यै**=इस अपनी पत्नी के लिए **सर्ववीरं रयिम्**=वीर सन्तानों से युक्त ऐश्वर्य को **नियच्छ**=प्राप्त करा।

भावार्थ—यज्ञशील बनकर हम सोम का रक्षण करें। सुरक्षित सोम हमारी शक्तियों के विकास का कारण बने। इस शक्ति के विकास के लिए ही हम स्वाध्याय-विरोधी सब बातों को छोड़कर स्वाध्यायशील बनें। यह स्वाध्याय ही तो हमें वासनाओं का शिकार होने से बचाएगा। अब हम सद्गृहस्थ बनकर वीर सन्तानों व ऐश्वर्य को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उपश्वसे-द्रुवये

उपश्वसे द्रुवयै सीदता यूयं वि विच्यध्वं यज्ञियासस्तुषैः।
श्रिया समानानति सर्वान्त्स्यामाधस्पदं द्विषतस्पादयामि॥ १२॥

१. **उपश्वसे**=(उपश्वस Sounding, roaring) प्रभु के नामों के उच्चारण में तथा **द्रुवये**=(द्रुवयः a measure) माप में—प्रत्येक क्रिया को माप-तोल कर करने में—माप-तोलकर खाने आदि की क्रियाओं में **यूयं सीदत**=तुम आसीन होओ, अर्थात् तुम प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करो तथा खान-पान आदि क्रियाओं को बड़ा माप-तोलकर करो तथा **यज्ञियासः**=यज्ञिय वृत्तिवाले बनकर **तुषैः**=तुच्छ वृत्तिवाले पुरुषों से—तुषों के समान निःसार पुरुषों से **विविच्यध्वम्**=अपने को पृथक् करनेवाले होओ। सदा सत्संग में स्थित होनेवाले बनो। २. इसप्रकार जीवनवाले बनकर हम **श्रिया**=श्री के दृष्टिकोण से **सर्वान् समानान्**=सब समान जन्मवाले पुरुषों को **अति स्याम**=लांघ जाएँ। मैं **द्विषतः**=द्वेष करनेवाले शत्रुओं को **अधस्पदं पादयामि**=पाँवों तले रौंद डालता हूँ (पादयोरधस्तात् क्षिपामि)

भावार्थ—प्रभुस्तवन से पृथक् न होते हुए हम भौतिक वस्तुओं का प्रयोग एकदम माप-तोलकर करें। तुच्छवृत्ति के पुरुषों के संग में न उठें-बैठें, औरों से अधिक श्रीवाले हों और शत्रुओं को पादाक्रान्त कर सकें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

नारी का कार्यों में लगे ही रहना

परेहि नारि पुनरेहि क्षिप्रमपां त्वा गोष्ठोऽध्यरुक्षद्भराय।
तासां गृह्णीताद्यतमा यज्ञिया असन्विभाज्य धीरीतरा जहीतात्॥ १३॥

१. हे **नारि**=गृहकार्यों का प्रणयन करनेवाली गृहपत्नि! तू **परेहि**=(परा इहि) कार्यवश बाहर अवश्य जा, परन्तु **क्षिप्रं पुनः एहि**=शीघ्र ही फिर लौटने की कर—सहेलियों में ही गप्पें न मारती रह। उन्हीं की गोष्ठी में न बैठी रह, चूँकि **अपां गोष्ठः**=कर्मों का समूह **भराय**=भरण करने के लिए **त्वा अध्यरुक्षत्**=तेरे सिर पर आरूढ़ है। तेरे सिर पर गृहकार्यों का बोझ विद्यमान है—उन सब कर्त्तव्यों को भी तो तुझे निभाना है। २. **तासाम्**=उन कर्मों में **यतमाः यज्ञियाः असन्**=जितने यज्ञिय (पवित्र) कर्म हैं, उनको तू **गृह्णीतात्**= ग्रहण कर, उन कर्त्तव्यों के पालन में यत्नशील हो। **धीरी**=बुद्धिमती तू **विभाज्य**=अच्छे व बुरे कर्मों को अलग-अलग करके **इतराः**=जो शुभेतर अशुभ कर्म हैं उन्हें **जहीतात्**=छोड़ दे।

भावार्थ—गृहपत्नी कार्यवश घर से बाहर जाए भी तो शीघ्र ही लौट आये, क्योंकि उसके सिर पर तो कर्मों का बड़ा भार लदा है। यह यज्ञिय कर्मों को स्वीकार करे और बुद्धिमती होती हुई अशुभ कर्मों का परित्याग कर डाले।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सुपत्नी-प्रजावती

एमा अंगुर्योषितः शुम्भमाना उत्तिष्ठ नारि तवसं रभस्व।
सुपत्नी पत्या प्रजया प्रजावत्या त्वागन्यज्ञः प्रति कुम्भं गृभाय॥ १४॥

१. **शुम्भमानाः**=शोभनालंकारों व उत्तम गुणों से युक्त **इमाः योषितः**=ये नारियाँ **आ अगुः**=घरों में प्राप्त हुई हैं। हे **नारि**=गृहकार्य प्रणेत्रि! तू **उत्तिष्ठ**=उठ—आलस्य को परे फेंककर कार्यों

में लग। **तवसं रभस्व**=शक्तिशाली पति का आलिंगन करनेवाली बन। २. तू **पत्या सुपत्नी**=इस पति से उत्तम पतिवाली बन। **प्रजया प्रजावती**=प्रजा से प्रशस्त प्रजावाली हो। **त्वा**=तुझे **यज्ञः आ अगन्**=यज्ञ समन्तात् प्राप्त हो—तू सदा यज्ञशील हो। **कुम्भम्**=(क+उम्भ् पूरणे) तु सुख का पूरण करनेवाले कार्य को ही **प्रतिगृभाय**=प्रतिदिन ग्रहण करनेवाली हो।

भावार्थ—शुभ गुणों से अलंकृत गृहिणी आलस्य को छोड़कर घर के कार्यों में व्यापृत रहे। उसका शक्तिशाली पति से सम्पर्क हो। यह उत्तम पति व प्रशस्त सन्तानोंवाली हो। यज्ञशील हो। सुख का पूरण करनेवाले कार्यों को ही स्वीकार करे।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

गातुवित्—वीरवित् (यज्ञः)

ऊर्जो भागो निहितो यः पुरा व ऋषिप्रशिष्टाप आ भरैताः।
अयं यज्ञो गातुविन्नाथवित्प्रजाविदुग्रः पशुविद्वीरविद्वो अस्तु॥ १५ ॥

१. हे नारि! **एताः**=इन **ऋषिप्रशिष्टा**=(ऋषिः मन्त्रः) वेदमन्त्रों द्वारा उपदिष्ट **अपः**=कर्मों को **आभर**=सब प्रकार से धारण करनेवाली हो। यह कर्म वह है **यः**-जोकि **पुरा**=सृष्टि के प्रारम्भ में ही प्रभु द्वारा **वः**-तुम्हारे लिए **ऊर्जः**=बल व प्राणशक्ति का **भागः**=अंश **निहितः**=रक्खा गया है। कर्म ही तो तुम्हारी शक्ति को स्थिर रक्खेगा। कर्म छोड़ा और जीर्णता आई (Rest किया rust लगा)। २. **अयं यज्ञः**=यह यज्ञात्मक कर्म **वः**=तुम्हारे लिए **गातुवित्**=स्वर्ग-मार्ग का प्रापक है, **नाथवित्**=प्रभु को व ऐश्वर्य को प्राप्त करानेवाला है (नाथ=ऐश्वर्य), **प्रजावित्**=यह उत्तम शक्तियों के विकास (सन्तानों) को प्राप्त करानेवाला है, **उग्रः**=तेजस्वी है, **पशुवित्**=उत्तम गवादि पशुओं को प्राप्त करानेवाला है। यह यज्ञ **वीरवित् अस्तु**=उत्तम वीर सन्तानों को प्राप्त करानेवाला हो।

भावार्थ—नारी वेदोपदिष्ट यज्ञात्मक कर्मों में व्यापृत रहे। इससे शक्ति बनी रहेगी और जीर्णता न आएगी। यह यज्ञ स्वर्ग का मार्ग है, प्रभु को प्राप्त करानेवाला है। यह उत्तम प्रजा-(शक्ति-विकास)-वाला, उत्तम पशुओंवाला व वीर सन्तानोंवाला है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

आर्षेयाः, दैवाः, तपिष्ठाः

अग्ने चरुर्यज्ञियस्त्वाध्यरुक्षच्छुचिस्तपिष्ठस्तपसा तपैनम्।
आर्षेया दैवा अभिसंगत्य भागमिमं तपिष्ठा ऋतुभिस्तपन्तु॥ १६ ॥

१. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **यज्ञियः चरुः**=(चरुः ओदनः—श० ४।४।२।१) यज्ञरूप (पूजनीय) प्रभु से प्राप्त होनेवाला यह ब्रह्मौदन (ज्ञान का ओदन) **त्वा अधि अरुक्षत्**=तुझपर अधिरूढ़ हो—तू ब्रह्मौदन प्राप्त करने को अपना मुख्य कर्त्तव्य समझ। यह **शुचिः**=जीवन को पवित्र बनानेवाला है, **तपिष्ठः**=अत्यन्त दीप्त है। इस ब्रह्मौदन से मानवजीवन पवित्र व दीप्त बनता है। **तपसा**=तप के द्वारा—तपस्वी जीवन के द्वारा—भोगों में एकदम अनासक्त जीवन के द्वारा—**एनं तप**=इस ब्रह्मौदन को अपने में दीप्त कर। २. **आर्षेयाः**=(ऋषिर्वेदः, तस्य इमे) वेद (ज्ञान) के प्रति रुचिवाले, **दैवाः**=देव प्रभु के उपासक **तपिष्ठाः**=तपस्वी जीवनवाले व्यक्ति **अभिसंगत्य**=एकत्र होकर—चारों ओर से सभा में सम्मिलित होकर—**इमं भागम्**=इस भजनीय वेदज्ञानरूप चरु को **ऋतुभिः**=अपनी-अपनी नियमित गतियों के द्वारा **तपन्तु**=दीप्त करनेवाले हों। 'आर्षेय, दैव, तपिष्ठ' लोग ही पुरुषार्थ के द्वारा इस ब्रह्मौदन (यज्ञिय चरु) का परिपाक कर पाते हैं।

भावार्थ—हम ज्ञान-प्राप्ति को ही अपना सर्वोपरि कर्त्तव्य समझें। यह हमारे जीवन को पवित्र व दीप्त बनाता है। तप के द्वारा ही हम ज्ञानदीप्त बनते हैं। ज्ञानरुचिवाले, उपासक व तपस्वी बनकर हम सभा में एकत्र होकर, पुरुषार्थी होते हुए, इस भजनीय ज्ञान का सेवन करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनः**॥ छन्दः— **विराड्जगती**॥

ज्ञानरुचिता व स्वर्ग-निर्माण

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा आपश्चरुमव सर्पन्तु शुभ्राः।
अदुः प्रजां बहुलान्पशून्नः पक्तौदनस्य सुकृतामेतु लोकम्॥ १७॥

१. **शुद्धाः**=शुद्ध चरित्रवाली **पूताः**=पवित्र मनवाली **इमाः योषितः**=ये स्त्रियाँ **यज्ञियाः**=यज्ञशीला हैं। **आपः**=कर्मों में व्याप्त होनेवाली अतएव **शुभ्राः**=शुद्ध व दीप्त जीवनवाली ये **चरुम् अवसर्पन्तु**=ब्रह्मौदन—ज्ञान-भोजन—के प्रति गतिवाली हों। ये खाली समय को ज्ञान-प्राप्ति में ही लगाने का ध्यान करें। २. ये गृहिणियाँ **नः**=हमारे लिए **प्रजाम्**=उत्तम सन्तान को तथा **बहुलान् पशून्**=दुग्धादि बहुत पदार्थों को प्राप्त करानेवाले—बहुत-से गवादि पशुओं को **अदुः**=दें। **ओदनस्य पक्ता**=ज्ञान के भोजन का परिपाक करनेवाला यह गृहपति **सुकृताम् लोकम्**=पुण्यकर्मा लोगों के लोक को **एतु**=प्राप्त हो। इनका घर स्वर्गतुल्य बने।

भावार्थ—पवित्र जीवनवाली स्त्रियाँ कर्मों में व्याप्त रहें—खाली समय को ज्ञान-प्राप्ति में लगाएँ। इस जीवन में ये उत्तम सन्तानों व उत्तम पशुओं को प्राप्त करेंगी। ज्ञानरुचि-गृहपति घर को स्वर्ग बनानेवाला होगा।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनः**॥ छन्दः—**अतिजगतगर्भापरातिजागतीविराडतिजगती**॥

स्वर्ग-मार्ग

ब्रह्मणा शुद्धा उत पूता घृतेन सोमस्यांशवस्तण्डुला यज्ञिया इमे।
अपः प्र विशत प्रति गृह्णातु वश्चरुरिमं पक्त्वा सुकृतामेत लोकम्॥ १८॥

१. **ब्रह्मणा शुद्धाः**=वेदज्ञान से शुद्ध जीवनवाले, **उत**=और **घृतेन पूताः**=मलों के क्षरण द्वारा पवित्र हुए-हुए, **सोमस्य अंशवः**=सोमशक्ति को शरीर में विभक्त करनेवाले, **तण्डुलाः**=(तडि विध्वंसे) वासनाओं का विध्वंस करनेवाले **इमे**=ये पुरुष **यज्ञियाः**=यज्ञमय जीवनवाले हैं। २. प्रभु आदेश देते हैं कि **अपः प्रविशत**=कर्मों में प्रवेश करो—क्रियाशील जीवनवाले बनो। **चरुः**=यह ब्रह्मौदन **वः प्रतिगृह्णातु**=तुम्हारा ग्रहण करे, अर्थात् तुम्हें ज्ञान-प्राप्ति का व्यसन-सा लग जाए। **इमं पक्त्वा**=इस ज्ञान-भोजन को परिपक्व करके तुम **सुकृतां लोकं एत**=पुण्यकर्मा लोगों के लोक में—स्वर्ग में प्राप्त होओ।

भावार्थ—हमें चाहिए कि हम वेदज्ञान द्वारा जीवन को शुद्ध बनाएँ, मलक्षरण द्वारा पवित्र जीवनवाले हों। सोम को शरीर में ही सुरक्षित रक्खें, वासनाओं का विध्वंस करके यज्ञशील हों। क्रियामय जीवनवाले होकर ज्ञान-प्राप्ति में लगाववाले हों। यही मार्ग है स्वर्ग प्राप्त करने का।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ज्ञानरुचि सम्पन्न वंश

उरुः प्रथस्व महता महिम्ना सहस्रपृष्ठः सुकृतस्य लोके।
पितामहाः पितरः प्रजोपजाऽहं पक्ता पञ्चदशस्ते अस्मि॥ १९॥

१. हे ब्रह्मौदन=ज्ञान के भोजन! तू **महता महिम्ना**=अपनी महनीय महिमा से हमारे जीवन में **उरुः प्रथस्व**=खूब फैल। **सहस्रपृष्ठः**=(पृष्ठ सेचने) तू शतशः सुखों का सेचन करनेवाला हो।

हमें **सुकृतस्य लोके**=पुण्य के लोक में स्थापित कर। २. हमारे वंश में **पितामहाः**=दादा-परदादा आदि **पितरः**=हमारे रक्षक—सात पीढ़ियों के लोग तथा **प्रजा**=हमारे पुत्र **उपजा**=पुत्रों के पुत्र भी सात पीढ़ी तक तथा **पंचदशः अहम्**=इनके बीच में पन्द्रहवाँ मैं **ते पक्ता अस्मि**=हे ब्रह्मौदन! तेरा पकानेवाला हूँ, अर्थात् हमारे वंश में सभी ज्ञान की रुचिवाले हों।

भावार्थ—हमारे वंश में पूर्वज व अवरज सभी वंश में ज्ञान की रुचिवाले हों। यह ज्ञान हमारी महिमा का वर्धक होता है, शतशः सुखों का सेचक होता है तथा सुकृत के लोक में हमें स्थापित करता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**अतिजागतगर्भापराशक्वराचतुष्पदाभुरिग्जगती** ॥

ब्रह्मौदनः=देवयानः

सहस्रपृष्ठः शतधारो अक्षितो ब्रह्मौदनो देवयानः स्वर्गः।
अमूंस्त आ दधामि प्रजया रेषयैनान्बलिहाराय मृडतान्मह्यमेव॥ २०॥

१. **ब्रह्मौदनः**=यह ज्ञान का भोजन **सहस्रपृष्ठः**=सहस्रों सुखों का सेचन करनेवाला है। **शतधारः**=शत-वर्षपर्यन्त—आजीवन हमारा धारण करनेवाला है। **अ-क्षितः**=(न क्षितं यस्मात्) इससे कभी हमारा विनाश नहीं होता। **देवयानः**=यह देव की प्राप्ति का मार्ग है। **स्वर्गः**=जीवन को सुखमय व प्रकाशमय बनानेवाला है। २. हे ब्रह्मौदन! मैं **अमून्**=उन अपने शत्रुओं को **ते आदधामि**=तेरी अधीनता में स्थापित करता हूँ। वस्तुतः ज्ञानरुचिता होने पर ये काम-क्रोध आदि शत्रु अपने आप ही नष्ट हो जाते हैं। **प्रजया**=मेरी शक्तियों के विकास के हेतु से **एनान् रेषय**=इन शत्रुओं को नष्ट कर डालिए। **मह्यम्**=मुझ **बलिहाराय**=बलि प्राप्त करानेवाले के लिए—बलिवैश्वदेवादि यज्ञों को करनेवाले के लिए यह ब्रह्मौदन **मृडतात् एव**=अनुग्रह ही करनेवाला हो। ज्ञान के द्वारा मेरा जीवन सुखी हो।

भावार्थ—ज्ञान हमारे जीवनों को आनन्दमय बनाता हुआ हमें प्रभु की ओर ले-चलता है। यह जीवन को प्रकाशमय बना देता है। यह ज्ञान हमारे शत्रुओं को नष्ट करे, हमारे विकास के लिए इन कामादि शत्रुओं का विनाश आवश्यक है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥

उदय

उदेहि वेदिं प्रजया वर्धयैनां नुदस्व रक्षः प्रतरं धेह्येनाम्।
श्रिया समानानति सर्वान्त्स्यामाधस्पदं द्विषतस्पादयामि॥ २१॥

१. हे पक्वौदन पुरुष—ज्ञान के भोजन का परिपाक करनेवाले पुरुष! तू **वेदिं उत् एहि**=यज्ञभूमि के प्रति उत्कर्षेण प्राप्त होनेवाला हो। **प्रजया**=अपने सन्तानों के साथ **एनान्**=इस यज्ञवेदि को **वर्धय**=तू बढ़ानेवाला हो—यज्ञवेदी की शोभा को बढ़ा। सन्तानों के साथ मिलकर यज्ञ कर। **नुदस्व रक्षः**=राक्षसी भावों को परे धकेल दे। **एनाम्**=इस यज्ञवेदि को **प्रतरम्**=प्रकृष्टतर रूप में **धेहि**=धारण कर। २. प्रभु से प्रेरित हुआ-हुआ उपासक प्रार्थना करता है कि मैं **श्रिया**=श्री के दृष्टिकोण से **सर्वान् समानान् अति स्याम**=एकसमान जन्मा पुरुषों को लाँघ जाऊँ और **द्विषतः**=द्वेष के कारणभूत काम-क्रोध आदि को **उधस्पदं पादयामि**=पाँव तले रौंद डालता हूँ।

भावार्थ—हम सन्तानों के साथ यज्ञवेदि की शोभा को बढ़ानेवाले बनें। राक्षसी भावों को दूर धकेल दें। सर्वाधिक श्रीवाले हों और काम-क्रोध आदि शत्रुओं को पादाक्रान्त कर लें।

ऋषि:—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अनमीवा (विराज)

अभ्यावर्तस्व पशुभिः सहैनां प्रत्यङेनां देवताभिः सहैधि।
मा त्वा प्रापच्छपथो माभिचारः स्वे क्षेत्रे अनमीवा वि राज॥ २२॥

१. हे ब्रह्मौदन (ज्ञान के भोजन)! **एनाम्**=इस गृहपत्नी को **पशुभिः सह अभ्यावर्तस्व**=गौ आदि पशुओं के साथ प्राप्त हो। यह गृहिणी गौ आदि का पालन भी करे और स्वाध्याय भी अवश्य करे तथा **एनाम्**=इसे **देवताभिः सह**=यष्टव्य देवों के साथ **प्रत्यङ् एधि**=तू आभिमुख्येन जाता हुआ हो, अर्थात् यह देवयज्ञ आदि यज्ञों को भी करे और ज्ञान के भोजन का परिपाक भी करे—यह स्वाध्यायशील भी हो। २. इस स्थिति में **त्वा**=तुझे **शपथः मा प्रापत्**=आक्रोश मत प्राप्त हो—तू अपशब्द बोलनेवाली न हो, तेरे लिए कोई अपशब्द न कहे। तुझे **अभिचारः मा**=हिंसार्थ की जानेवाली क्रियाएँ भी प्राप्त न हों। तू किसी की हिंसा के लिए कोई कर्म न कर। **स्वे क्षेत्रे**=अपने इस घर में व शरीर में **अनमीवा विराज**=रोगरहित हुई-हुई दीप्त जीवनवाली बन।

भावार्थ—गृहपत्नी स्वाध्याय को न छोड़ती हुई गौ आदि पशुओं की सेवा करे—देवयज्ञादि यज्ञों को करनेवाली हो, कभी अपशब्द कहनेवाली व हिंसाकर्म में प्रवृत्त न हो। इसप्रकार घर में नीरोग व दीप्त जीवनवाली बने।

ऋषि:—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

हृदयरूप वेदि

ऋतेन तष्टा मनसा हितैषा ब्रह्मौदनस्य विहिता वेदिरग्रे।
अंसद्रीं शुद्धामुप धेहि नारि तत्रौदनं सादय दैवानाम्॥ २३॥

१. '**यन्वेवात्र विष्णुमन्वविन्दँस्तस्माद् वेदिर्नाम**' (श० १।२।५।१०) हृदय में प्रभु का दर्शन व प्राप्ति होती है, अतः हृदय ही वेदि है। यह **वेदिः**=हृदयरूप वेदि **ऋतेन तष्टा**=ऋत के द्वारा तनूकृत—सम्यङ् निर्मित—होती है। सत्य से ही यह शुद्ध बनी रहती है। **मनसा**=मनन के द्वारा **एषा**=यह **हिता**=धारण की जाती है। इसका मुख्य कार्य मनन ही है। यह **अग्रे**=सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु द्वारा **ब्रह्मौदनस्य विहिता**=ब्रह्मौदन की बनाई गई है। प्रभु ने 'अग्नि' आदि ऋषियों के हृदय में इस ब्रह्मौदन (ज्ञान-भोजन) की स्थापना की, अतः यह हृदयवेदि ब्रह्मौदन की वेदि कहलाती है। २. हे **नारि**=गृह को उन्नतिपथ पर ले-चलनेवाली गृहिणि! तू इस वेदि को **शुद्धाम्**=राग-द्वेष आदि मलों से शून्य तथा **अंसद्रीम्**=(अंसत्रम्=अंहसस्त्राणम्—नि० ५।२६) अंहस् (पाप) का द्रावण करनेवाली—पाप को अपने से दूर भगानेवाली—निष्पाप बनाकर **उपधेहि**=प्रभु की उपासना में धारण कर—शुद्ध निष्पाप हृदय से प्रभु की उपासना में प्रवृत्त हो। **तत्र**=उस शुद्ध हृदयवेदि में **दैवानाम्**=सूर्य-चन्द्र, नक्षत्र आदि सब देवों के **ओदनम्**=ज्ञानरूप भोजन को **सादय**=(आसादय) प्राप्त कर।

भावार्थ—हम हृदय को ऋत के द्वारा शुद्ध बनाएँ, मनन के द्वारा इसका धारण करें, इसे ब्रह्मौदन के लिए बनाई गई वेदि समझें। इसे शुद्ध व निष्पाप बनाकर प्रभु की उपासना करते हुए ज्ञान प्राप्त करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥

'नर व नारी' ज्ञान संचेता बनें

अदि॑ते॒र्हस्तां॒ स्रुच॑मे॒तां द्वि॒तीयां॑ सप्तऋ॒षयो॑ भूत॒कृतो॒ याम॑कृ॒ण्वन्।
सा गात्रा॑णि वि॒दुष्यो॑द॒नस्य॒ दर्वि॒र्वेद्या॒मध्ये॑नं चिनोतु॥ २४॥

१. स्वाध्याय को ज्ञानयज्ञ कहा जाए तो वाणी उस यज्ञ का 'स्रुच' बनती है (a wooden ladle)। **अदितेः**=अदीना देवमाता इस वेदज्ञान का यह **द्वितीयाम्**=दूसरा **हस्ताम्**=(हस् to brighten up) चमकता हुआ **स्रुचम्**=चम्मच है (वाग् वै स्रुचः—श० ६।३।१।८)। यह वाणीरूप चम्मच वह चम्मच है **यां एताम्**=जिस वाणीरूप चम्मच को **सप्त ऋषयः**=प्रभु का पूजन करनेवाले व वासनाओं का संहार करनेवाले (सर्प to worship, ऋष् to kill) **भूतकृतः**=यथार्थ कर्मों को करनेवाले लोग **अकृण्वन्**=अपने अन्दर सम्पादित कराते हैं। इस वाणीरूप चम्मच द्वारा ही वे ज्ञानरूप घृत की आहुति हृदयरूप वेदि में प्राप्त कराते हैं। २. गृहपत्नी से कहते हैं कि **सा**=वह **दर्विः**=(दॄ विदारणे) वासनाओं को विदीर्ण करनेवाली तू **ओदनस्य**=इस ब्रह्मौदन के **गात्राणि विदुषी**=अङ्गों को जानती हुई **वेद्याम्**=हृदयवेदि में **एनम्**=इस ब्रह्मौदन को **अधिचिनोतु**=आधिक्येन संचित करनेवाली हो। तू भी खूब ही ज्ञान को प्राप्त करनेवाली बन।

भावार्थ—घर में पुरुष भी 'सप्त ऋषि व भूतकृत' बनकर वाणी द्वारा ज्ञान को प्राप्त करे तथा गृहपत्नी भी वासनाओं को विदीर्ण करनेवाली बनकर ज्ञान का संचय करे।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥

आर्षेय पुरुषों का अहिंसन

शृ॒तं त्वा॑ ह॒व्यमुप॑ सीदन्तु॒ दैवा॒ नि॒:सृप्या॒ग्नेः पुन॑रेना॒न्प्र सी॑द।
सोमे॑न पू॒तो ज॒ठरे॑ सीद ब्र॒ह्मणा॑मार्षे॒यास्ते॒ मा रि॑षन्प्राशि॒तार॑ः॥ २५॥

१. **शृतम्**=परिपक्व **त्वा**=तुझ **हव्यम्**=अदन करने के योग्य ब्रह्मौदन को **दैवाः**=देव (प्रभु) के उपासक **उपसीदन्तु**=समीपता से प्राप्त हों। प्रभु के उपासकों को यह दिव्य परिपक्व ज्ञान प्राप्त होता है। हे ब्रह्मौदन! तू **अग्नेः**=उस अग्रणी प्रभु से **निःसृप्य**=निकलकर **पुनः**=फिर **एनान्**=इन उपासकों को **प्रसीद**=प्राप्त हो। प्रभु के उपासक हृदयस्थ प्रभु से ज्ञान प्राप्त करते हैं। २. **सोमेन**=शरीर में सुरक्षित सोमशक्ति द्वारा **पूतः**=पवित्र हुआ-हुआ, हे ब्रह्मौदन! तू **ब्रह्मणाम्**=इन ज्ञानियों के **जठरे**=जठर में—इनके अन्दर **सीद**=आसीन हो। शरीर में सुरक्षित सोम ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है और दीप्त ज्ञानाग्नि में ज्ञान पवित्र हो जाता है। **ते प्राशितारः**=वे ब्रह्मौदन को खानेवाले **आर्षेयाः**=(ऋषिः वेदः, तस्य इमे) ज्ञान के उपासक लोग **मा रिषन्**=हिंसित न हों।

भावार्थ—प्रभु के उपासक परिपक्व ज्ञान को प्राप्त करते हैं—इन्हें अन्तःस्थ प्रभु से ज्ञान प्राप्त होने लगता है। शरीर में सुरक्षित सोम से ज्ञान की पवित्रता होती है। ब्रह्मौदन को खानेवाले ये ज्ञानभक्त पुरुष वासनाओं से हिंसित नहीं होते।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥

सोमरक्षण तथा ज्ञानी ब्राह्मणों का आतिथ्य

सोम॑ राज॒न्त्संज्ञान॒मा व॑पैभ्य॒: सुब्रा॑ह्मणा यत॒मे त्वो॑प॒सीदा॑न्।
ऋषी॑नार्षे॒यांस्तप॒सोऽधि॑ जा॒तान्ब्र॑ह्मौद॒ने सु॒हवा॑ जोहवीमि॥ २६॥

१. हे **राजन् सोम**=शरीर में सुरक्षित होने पर शरीर की शक्तियों को दीप्त करनेवाले सोम (वीर्य)! **एभ्यः**=इन सबके लिए, **यतमे**=जितने **सुब्राह्मणाः**=उत्तम ब्रह्म के उपासक लोग **त्वा**

उपसीदान्=तेरी उपासना करें, अर्थात् तुझे शरीर में सुरक्षित रखने के लिए यत्न करें, उन सबके लिए **संज्ञानम्**=सम्यक् ज्ञान को **आवप**=(निधेहि—सा०) प्राप्त करा। सोमरक्षण के द्वारा ज्ञानाग्नि को दीप्त करके हम संज्ञानवाले बनें। २. एक गृहपत्नी संकल्प करती है मैं **सुहवा**=शोभन आह्वानवाली होती हुई **ब्रह्मौदने**=ज्ञान के भोजन के निमित्त **तपसः अधिजातान्**=तप के द्वारा विकसित ज्ञानवाले **आर्षेयान्**=सदा (ऋषौ भवान्) ज्ञान में निवास करनेवाले **ऋषीन्**=(ऋष् to kill) वासना को विनष्ट करनेवाले इन लोगों को **जोहवीमि**=पुकारती हूँ। इनका आतिथ्य करती हुई इनसे ज्ञान की प्रेरणाओं को प्राप्त करती हूँ।

भावार्थ—हम शरीर में सोम का रक्षण तथा घर में ज्ञानी ब्राह्मणों का आतिथ्य करते हुए ज्ञान प्राप्त करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**अतिजागतागर्भाभुरिग्जगती** ॥

'शुद्ध, पवित्र, यज्ञिय' युवतियाँ

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक्सादयामि।
यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददादिदं मे॥ २७॥

१. **इमाः**=ये **योषितः**=स्त्रियाँ **शुद्धाः**=शुद्ध जीवनवाली, **पूताः**=पवित्र मानस भावनावाली व **यज्ञियाः**=यज्ञशीला हैं। इन्हें **ब्रह्मणाम्**=ज्ञानियों के **हस्तेषु**=हाथों में **पृथक्**=अलग-अलग **प्र सादयामि**=प्रकर्षेण बिठाता हूँ—स्थापित करता हूँ। एक का विवाह एक के ही साथ करता हूँ। एक युवति को एक युवक का ही जीवनसखा बनाता हूँ। २. **यत् कामः**=जिस कामनावाला होकर **अहम्**=मैं **वः**=तुम्हें **इदम् अभिषिञ्चामि**=इस अभिषेक क्रियावाला करता हूँ **सः मरुत्वान् इन्द्रः**=वह प्राणोंवाला—प्राणसाधना करनेवाला जितेन्द्रिय पुरुष **मे इदं ददात्**=मेरे लिए इस कामना को देनेवाला हो। पिता पुत्री को गृहस्थ में इसीलिए अभिषिक्त करता है कि वह सन्तान को जन्म देनेवाली बने। यदि उसे जीवन-साथी (पति) प्राणशक्ति-सम्पन्न व जितेन्द्रिय प्राप्त होता है, तो वह अवश्य उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाली बनती है।

भावार्थ—पिता अपनी कन्याओं को 'शुद्ध, पवित्र, यज्ञशील' बनाने का प्रयत्न करे। बड़ा होने पर उन्हें ज्ञानी पुरुषों के हाथों में अलग-अलग सौंपे। इनके पति प्राणसाधक व जितेन्द्रिय होते हुए उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाले हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

स्वर्गः पन्थाः

इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पक्वं क्षेत्रात्कामदुघा म एषा।
इदं धनं नि दधे ब्राह्मणेषु कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः॥ २८॥

१. **इदं मे ज्योतिः**=यह मेरा ज्ञान का प्रकाश है, अर्थात् मैं ज्ञान से जीवन को ज्योतिर्मय करने के लिए यत्नशील होता हूँ। **अमृतम्**=यह नीरोगता है, **हिरण्यम्**=यह शरीर में सुरक्षित हितरमणीय वीर्यशक्ति है। **क्षेत्रात् पक्वम्**=खेतों में जिसका परिपाक हुआ है, वह वानस्पतिक भोज्य पदार्थ है। **मे**=मेरी **एषा**=यह **कामदुघा**=खूब ही दूध देनेवाली गौ है। २. **इदं धनम्**=इस धन को **ब्राह्मणेषु निदधे**=मैं ज्ञानियों में स्थापित करता हूँ, अर्थात् ज्ञानियों के लिए आवश्यक धनों को प्राप्त कराता हुआ 'अतिथियज्ञ' करता हूँ। मैं **पितृषु पन्थां कृण्वे**=पितरों में अपने मार्ग को बनाता हूँ, अर्थात् मैं भी पालनात्मक कर्मों में प्रवृत्त होता हूँ। यह मार्ग वह है **यः**=जोकि **स्वर्गः**=सुख व प्रकाश की ओर जानेवाला है।

भावार्थ—स्वर्ग का मार्ग यह है कि (क) हम ज्ञान का संचय करें, (ख) नीरोग बनें, (ग) वीर्यरक्षण करनेवाले हों (घ) वानस्पतिक भोजन करें, (ङ) घर में कामदुघा धेनु रक्खें, (च) ज्ञानियों को लोकहित के कार्यों के लिए धन दें, (छ) पालनात्मक प्रवृत्तिवाले बनें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**भुरिग्जगती** ॥

तुष—कम्बूक

अग्नौ तुषाना वप जातवेदसि परः कम्बूकाँ अप मृड्ढि दूरम्।
एतं शुश्रुम गृहराजस्य भागमथो विद्म निर्ऋतेर्भागधेयम्॥ २९॥

१. **तुषान्**=तुषवत् (भूसी की भाँति) तुच्छ प्रकृति के मनुष्यों को **जातवेदसि अग्नौ**=ज्ञानी अग्रणी राजा में **आवप**=फेंक। तुच्छ प्रकृति के दुष्ट पुरुषों को राजा को सौंप देना चाहिए। **एतम्**=इसे **गृहराजस्य**=घरों के रक्षक—राष्ट्रगृह के शासक राजा का **भागं विद्म**=भाग जानते हैं। राजा इन्हें अपनी अधीनता में करके उचित दण्डादि देता हुआ ठीक प्रकृति का बनाने का प्रयत्न करता है। २. **कम्बूकान्**=(plunderer) लुटेरों का **परः**=परस्तात् **दूरम् अपमृड्ढि**=सुदूर सफ़ाया कर दे। इन्हें राष्ट्र से पृथक् कर देना ठीक है। **अथो**=और इन लुटेरों को **निर्ऋतेः**=दुर्गति का **भागधेयम् विद्म**=भाग जानते हैं। इन्हें कष्टमय स्थिति में प्राप्त कराना ही ठीक है।

भावार्थ—राजा को चाहिए कि तुच्छ प्रकृति के दुष्ट पुरुषों को उचित दण्ड आदि द्वारा ठीक प्रकृति का बनाने का प्रयत्न करे—उन्हें ज्ञान देने की व्यवस्था के द्वारा आगे बढ़ाने का प्रयत्न करे (जातवेदस, अग्नि)। लुटेरों को तो राष्ट्र से दूर ही कर दे—उनका कष्टमय स्थिति में होना ठीक ही है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'श्राम्यन्, पचन्, सुन्वन्'

श्राम्यतः पचतो विद्धि सुन्वतः पन्थां स्वर्गमधि रोहयैनम्।
येन रोहात्परमापद्य यद्वय उत्तमं नाकं परमं व्यो॒म॥ ३०॥

१. ब्रह्मचर्याश्रम में **श्राम्यतः**=ज्ञान-प्राप्ति में श्रम करते हुए, **पचतः**=ज्ञानाग्नि में अपना परिपाक करते हुए, **सुन्वतः**=शरीर में सोम-(वीर्य)-शक्ति का अभिषव करते हुए इन युवकों को **विद्धि**=जान—इनका रक्षण कर। गत मन्त्र के तुषों से ये भिन्न हैं। इन्होंने ही तो राष्ट्रगृह का उत्तम सदस्य बनना है। इनका जितना ध्यान रखा जाए उतना ही ठीक है। हे प्रभो! आप **एनम्**=इस 'श्राम्यन्, पचन्, सुन्वन्' पुरुष को **स्वर्गं पन्थाम्**=प्रकाश व सुख को प्राप्त करानेवाले मार्ग पर **अधिरोहय**=अधिरूढ़ कीजिए, २. **येन**=जिससे यह **यत् परं वयः आपद्य**=जो उत्कृष्ट जीवन है, उसे प्राप्त करके **उत्तमं नाकम्**=उत्कृष्ट सुखमय स्थिति को **रोहात्**=आरूढ़ हो तथा **परमं व्योम**=सर्वोत्कृष्ट व्योम (आकाशवत् व्यापक) प्रभु को प्राप्त करे (**ओम् खं ब्रह्म**)।

भावार्थ—हम श्रमशील, ज्ञानाग्नि में अपने को परिपक्व करनेवाले व सोम का सम्पादन करनेवाले बनें। प्रकाश व सुख के मार्ग पर आरूढ़ हों। उत्कृष्ट जीवन को प्राप्त करके स्वर्ग-तुल्य इस जीवन को बिताने के बाद प्रभु को प्राप्त करें—मुक्त हो जाएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

मनःशुद्धि + शरीर-शुद्धि

बभ्रेरध्वर्यो मुखमेतद्वि मृड्ढ्याज्याय लोकं कृणुहि प्रविद्वान्।
घृतेन गात्रानु सर्वा वि मृड्ढि कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः॥ ३१॥

१. हे **अध्वर्यो**=यज्ञशील पुरुष! **बभ्रेः**=धारण करनेवाले **एतत्**=इस ब्रह्मौदन के **मुखं विमृड्ढि**=द्वार को—प्रमुख साधन को—शुद्ध कर डाल। मन ही इस ब्रह्मौदन का 'मुख' है, इस मन को तू शुद्ध करनेवाला बन, **प्रविद्वान्**=ज्ञानी होता हुआ तू **आज्याय**=(अज् to shine, to be beautiful) जीवन को दीप्त व सुन्दर बनाने के लिए **लोकं कृणुहि**=प्रकाश का सम्पादन कर। जितना ही अन्तःप्रकाश प्राप्त होगा, उतना ही जीवन दीप्त व सुन्दर बनेगा। २. अब **घृतेन**=मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्ति के द्वारा **सर्वा गात्रा अनुविमृड्ढि**=सब अंग-प्रत्यंगों को शुद्ध कर डाल। इसप्रकार जीवन को शुद्ध मन के द्वारा ज्ञान से पूरित करके, अन्तःप्रकाश के द्वारा जीवन को सुन्दर बनाकर तथा मलक्षरण द्वारा सब अङ्गों को नीरोग व सशक्त बनाकर मैं **पितृषु**=रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त लोगों में **पन्थां कृण्वे**=मार्ग बनाता हूँ। मैं भी रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त होता हूँ। इसप्रकार मैं उस स्थिति का निर्माण करता हूँ **यः स्वर्गः**=जो प्रकाश व सुख को प्राप्त करानेवाली है।

भावार्थ—स्वर्ग की स्थिति को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि हम (क) ज्ञान-प्राप्ति के साधनभूत मन को शुद्ध बनाएँ, (ख) जीवन को अलंकृत करने के लिए अन्तःप्रकाश प्राप्त करें, (ग) मल-क्षरण द्वारा सब अङ्गों को शुद्ध बना दें, (घ) रक्षणात्मक कार्यों को करनेवाले पितरों के मार्ग पर चलें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

ज्ञान से अभिमान-विनाश

बभ्रे रक्षः समदमा वपैभ्योऽब्राह्मणा यतमे त्वोपसीदान्।
पुरीषिणः प्रथमानाः पुरस्तादार्षेयास्ते मा रिषन्प्राशितारः॥ ३२॥

१. **बभ्रे**=हे पोषण करनेवाले ब्रह्मौदन (ज्ञान के भोजन)! **यतमे**=जितने भी **अब्राह्मणाः**=ब्रह्म को न जाननेवाले अज्ञानी पुरुष **त्वा उपसीदान्**=तेरी उपासना करें, अर्थात् ज्ञान-प्राप्ति में प्रवृत्त हों, **एभ्यः**=इनके लिए तू **सः मदं रक्षः**=मद (अभिमान) से युक्त राक्षसी वृत्तियों को **आवप**=काटनेवाला बन। २. **ते प्राशितारः**=वे ब्रह्मौदन का अशन करनेवाले **मा रिषन्**=राक्षसी वृत्तियों से हिंसित न हों। ये **पुरीषिणः**=पालन व पूरण करनेवाले हों। **पुरस्तात् प्रथमानाः**=आगे और आगे शक्तियों का विस्तार करते हुए **आर्षेयाः**=(ऋषौ भवाः, ऋषिर्वेदः) वेदज्ञान में निवास करनेवाले हों।

भावार्थ—ज्ञान हमारे जीवन से अभिमानयुक्त सब राक्षसी वृत्तियों को दूर करे। इस ज्ञान को प्राप्त करनेवाले हम पालन व पूरण करनेवाले बनें, आगे और आगे शक्तियों को विस्तृत करते चलें तथा ज्ञान में ही निवास करनेवाले हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

ज्ञान के द्वारा सब देवों की अनुकूलता

आर्षेयेषु नि दध ओदन त्वा नानार्षेयाणामप्यस्त्यत्र।
अग्निर्मे गोप्ता मरुतश्च सर्वे विश्वेदेवा अभि रक्षन्तु पक्वम्॥ ३३॥

१. प्रभु कहते हैं कि हे **ओदन**=ब्रह्मौदन—ज्ञान के भोजन! **त्वा**=तुझे **आर्षेयेषु**=ज्ञानरुचिवाले पुरुषों में **निदधे**=स्थापित करता हूँ। **अनार्षेयाणाम्**=ज्ञानरुचिशून्य पुरुषों का **अत्र**=इस ब्रह्मौदन में **न अपि अस्ति**=भाग नहीं है। ज्ञान की रुचि के अभाव में उन्हें ज्ञान प्राप्त करना ही क्या? २. ज्ञान की रुचिवाले पुरुष को **मे अग्निः गोप्ता**=मेरा यह अग्नितत्त्व रक्षित करनेवाला होता है, **च**=और **सर्वे मरुतः**=सब मरुत (प्राण) भी उस ज्ञानरुचि पुरुष का रक्षण करते हैं। ज्ञानरुचिता

होने पर वासनामय जीवन नहीं होता और वासनामय जीवन के न होने पर शरीर में अग्नितत्त्व तथा प्राणशक्ति ठीक बनी रहती है। **पक्वम्**=इस ज्ञान परिपक्व मनुष्य को **विश्वेदेवाः**=संसार के सूर्य-चन्द्रादि सब देव **अभिरक्षन्तु**=सर्वतः रक्षित करनेवाले हों। ज्ञानी पुरुष सब देवों के साथ समुचित सम्पर्क बनाता हुआ सुखी व नीरोग जीवनवाला होता ही है।

भावार्थ—ज्ञानरुचि पुरुष ज्ञान को प्राप्त करके, सब देवों के साथ समुचित सम्पर्क बनाते हुए, सुखी व सुरक्षित जीवनवाले होते हैं। वासनामय जीवन न होने के कारण इनके शरीर में अग्नितत्त्व तथा प्राणशक्ति ठीक बनी रहती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

प्रजामृतत्वम्—दीर्घम् आयुः—ऐश्वर्यम्

यज्ञं दुहानं सदमित्प्रपीनं पुमांसं धेनुं सदनं रयीणाम्।
प्रजामृतत्वमुत दीर्घमायू रायश्च पोषैरुप त्वा सदेम॥ ३४॥

१. हे प्रभो! ज्ञान प्राप्त करते हुए हम **त्वा उपसदेम**=आपके समीप प्राप्त हों, जो आप **यज्ञं दुहानम्**=सब यज्ञों का प्रपूरण करनेवाले हैं। **सदम् इत् प्रपीनम्**=सदा से ही प्रवृद्ध हैं। **पुमांसम्** (पू+डुयसुन) पवित्र करनेवाले हैं **धेनुम्**=ज्ञानदुग्ध का पान करानेवाले तथा **रयीणां सदनम्**=सब ऐश्वर्यों का निवास-स्थान हैं। २. आपकी उपासना करते हुए हम **प्रजामृतत्वम्**=(प्रजया अमृतत्त्वम् 'प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम्'—ऋ० ५।४।१०) प्रजाओं के द्वारा अमृतत्त्व को, **उत**=और **दीर्घम् आयुः**=दीर्घ जीवन को, **च**=तथा **रायः पोषैः**=धन के पोषणों के साथ उत्तम आयुष्य को (**उपसदेम**=उपगम्यास्म) प्राप्त हों।

भावार्थ—प्रभु यज्ञों का पूरण करनेवाले, सदा से वृद्ध, पवित्र करनेवाले, ज्ञानदुग्ध का पान करानेवाले व धनों के कोश हैं। हम प्रभु की उपासना करते हुए प्रजाओं के द्वारा अमृतत्व को, दीर्घजीवन व ऐश्वर्य को प्राप्त करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनः**॥ छन्दः—**चतुष्पदाककुम्मत्युष्णिक्**॥

वृषभः—स्वर्गः

वृषभो ऽसि स्वर्ग ऋषीनार्षेयान्गच्छ। सुकृतां लोके सीद तत्र नौ संस्कृतम्॥ ३५॥

१. हे प्रभो! आप **वृषभः असि**=सुखों व शक्ति का सेचन करनेवाले हैं, **स्वर्गः**=प्रकाश को प्राप्त करानेवाले हैं (स्वः गमयति)। आप **ऋषीन्**=(ऋष् to kill) वासनाओं का संहार करनेवाले **आर्षेयान्**=(ऋषौ वेदे भवान्) ज्ञान में रुचिवाले पुरुषों को **गच्छ**=प्राप्त होओ। २. आप **सुकृताम्**=पुण्यकर्मा लोगों के **लोके**=लोक में **सीद**=आसीन होओ। **तत्र**=वहाँ सुकर्मा लोगों के लोक में **नौ**=पति-पत्नी हम दोनों का **संस्कृतम्**=(Purification) पवित्रीकरण हो। सत्संग में हम पवित्र जीवनवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु वृषभ हैं—स्वर्ग हैं। वासनाओं को विनष्ट करनेवाले ज्ञानरुचि-पुरुषों को प्राप्त होते हैं। पुण्यकर्मा लोगों के लोक में प्रभु का निवास है। वहाँ सज्जन-संग में ही हम पति-पत्नी का पवित्रीकरण होता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मौदनः**॥ छन्दः—**पुरोविराट्त्रिष्टुप्**॥

ब्रह्मलोक-प्राप्ति

समाचिनुष्वानुसंप्रयाह्यग्ने पथः कल्पय देवयानान्।
एतैः सुकृतैरनु गच्छेम यज्ञं नाके तिष्ठन्तमधि सप्तरश्मौ॥ ३६॥

१. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **सम् आचिनुष्व**=तू सब ओर से ज्ञान का संचय कर और **अनु सं प्रयाहि**=उस ज्ञान के अनुसार सम्यक् गतिवाला हो। अपने जीवन में **देवयानान् पथः कल्पय**=देवयान मार्गों का निर्माण कर—उन मार्गों से चल, जिनपर देव चला करते हैं। २. यह ज्ञान संचेता जीव प्रार्थना करता है कि **एतैः सुकृतैः**=इन उत्तम कर्मों से हम **अधि सप्तरश्मौ**=सूर्य से भी ऊपर **नाके**=दुःख से असंभिन्न आनन्दमय स्वरूप में **तिष्ठन्तम्**=स्थित होते हुए **यज्ञम्**=उस उपासनीय—संगतिकरणयोग्य व समर्पणीय प्रभु को **अनुगच्छेम**=प्राप्त हों। '**सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा**'।

भावार्थ—हम ज्ञान का सञ्चय करें, ज्ञान के अनुसार कर्मों को करनेवाले बनें। देवयान मार्गों पर चलें। इन पुण्यकर्मों के द्वारा 'पृथिवीलोक से ऊपर अन्तरिक्ष को, अन्तरिक्ष से ऊपर द्युलोक को तथा द्युलोक से ऊपर उठकर ब्रह्मलोक को प्राप्त करें।'

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मौदनः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥

ज्ञान-सुकृत—प्रकाश व आनन्द

येन देवा ज्योतिषा द्यामुदायन्ब्रह्मौदनं पक्त्वा सुकृतस्य लोकम्।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं स्व रारोहन्तो अभि नाकमुत्तमम्॥ ३७॥

१. **देवाः**=देव लोग **येन ज्योतिषा**=जिस ज्योति के द्वारा **ब्रह्मौदनम्**=ज्ञानरूपी भोजन का **पक्त्वा**=परिपाक करके **सुकृतस्य लोकम्**=पुण्यकर्मों के लोकभूत **द्याम् उद् आयन्**=द्युलोक को प्राप्त करते हैं, **तेन**=उस ज्योति से हम भी **सुकृतस्य लोकम्**=पुण्यकर्मों के लोक को **गेष्म**=प्राप्त हों। २. **स्वः आरोहन्तः**=प्रकाश में आरोहण करते हुए हम **उत्तमम् नाकम् अभि (गेष्म)**=सर्वोत्तम आनन्दमय लोक की ओर जाएँ।

भावार्थ—ज्ञान प्राप्त करके हम सुकृतों द्वारा प्रकाशमय लोक का विजय करें। प्रकाशमय लोक से आनन्दमय लोक में पहुँचें।

यह ज्ञानी पुरुष 'अथर्वा'=न डाँवाडोल वृत्तिवाला बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**परातिजागताविराड्जगती** ॥

भव व शर्व का अनुग्रह

भवाशर्वौ मृडतं माभि यातं भूतपती पशुपती नमो वाम्।
प्रतिहितामायतां मा वि स्राष्टं मा नो हिंसिष्टं द्विपदो मा चतुष्पदः॥ १॥

१. **भवाशर्वौ**=(भवति अस्मात् सर्वं जगत्, शृणाति सर्वं जगत्) सृष्टि के आदि में सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करनेवाले व संहृति समय पर समस्त संसार को समाप्त करनेवाले प्रभो! **मृडतम्**=हमें सुखी करो। **मा अभियातम्**=रक्षणार्थ मुझे आभिमुख्येन प्राप्त होओ, अथवा हिंसन के लिए मुझपर आक्रमण मत करो। **भूतपती**=आप सब प्राणियों के रक्षक हो, **पशुपती**=गौ-महिष आदि सब पशुओं का पालन करनेवाले हो। **वाम् नमः**=आपको मेरा नमस्कार है। २. आप **प्रतिहिताम्**=अपने धनुष पर जोड़ी हुई **आयताम्**=ज्या (डोरी) के साथ खैंचे हुए अपने इषु (बाण) को **मा विस्राष्टम्**=हमपर मत छोड़ो। **नः**=हमारे **द्विपदः**=दो पाँववाले पुत्र-भृत्यादिरूप मनुष्यों को तथा **चतुष्पद**=चार पाँववाले गो-महिष, अश्वादि प्राणियों को **मा हिंसिष्टम्**=हिंसित मत करो।

भावार्थ—प्रभु ही संसार की उत्पत्ति व विनाश करनेवाले हैं। हम प्रभु का अनुग्रह प्राप्त

करें। हम सब भूतों व पशुओं के पति उस प्रभु के दण्डपात्र न हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुबगर्भापञ्चपदापथ्याजगती**॥

पशुपति द्वारा रक्षण

शुने क्रोष्ट्रे मा शरीराणि कर्तमलिक्लवेभ्यो गृध्रेभ्यो ये च कृष्णा अविष्यवः। मक्षिकास्ते पशुपते वयांसि ते विघसे मा विदन्त॥ २॥

१. हे भव और शर्व प्रभो! **शरीराणि**=हमारे शरीरों को **शुने क्रोष्ट्रे**=कुत्ते व गीदड़ के लिए **मा कर्तम्**=मत कीजिए—हम कुत्तों व गीदड़ों के भोजन न बन जाएँ। **अलिक्लवेभ्यः** (a kind of carrion bird अलं, शक्ति, क्लव भये) अपनी शक्ति से भयभीत करनेवाले **गृध्रेभ्यः**=गिद्धों के लिए **च ये**=अथवा जो **कृष्णाः**=कृष्णवर्णवाले **अविष्यवः**=मांसेच्छु पक्षी आकाश में उड़ते हैं, इनके भक्षण के लिए शरीरों को न कीजिए। २. हे **पशुपते**=सब पशुओं के पालक प्रभो! **ते मक्षिकाः**=ये आपकी मक्खियाँ, **ते वयांसि**=आपके ये पक्षी **विघसे**=अन्न के निमित्त **मा विदन्त**=हमारे शरीरों को न प्राप्त करें—हम इनका भोजन न बन जाएँ।

भावार्थ—हे प्रभो! आप सबके रक्षक हैं। आपसे रक्षित हुए-हुए हम कुत्तों, गीदड़ों, भयंकर गिद्धों, कौवों, मक्खियों व अन्य पक्षियों के भोजन न बन जाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**चतुष्पदास्वराडुष्णिक्**॥

रुद्र के लिए प्रणाम

क्रन्दाय ते प्राणाय याश्च ते भव रोपयः। नमस्ते रुद्र कृण्मः सहस्राक्षायामर्त्य॥ ३॥

१. हे प्रभो! **ते**=आपके **क्रन्दाय**=क्रन्दन व शब्द के लिए—सृष्टि के प्रारम्भ में दिये जानेवाले वेदज्ञान के लिए (हरिरेति कनिक्रदत्), **प्राणाय**=आपसे दी जानेवाली इस प्राणवायु के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। **च**=और हे **भव**-सृष्टि को जन्म देनेवाले प्रभो! **या**=जो **ते**=आपकी **रोपयः**=विमोहनशक्तियाँ हैं, प्रलयकाल में मूढ़ अवस्था में प्राप्त करानेवाली शक्तियाँ हैं, उन सबके लिए हम नमस्कार करते हैं। २. हे **रुद्र**=अन्तकाल में सबको रुलानेवाले (रोदयति), सब (रुत् द्र) दुःखों के दूर करनेवाले (द्रावक) प्रभो! **अमर्त्य**=अमरणधर्मा **सहस्राक्षाय**=सहस्रों दर्शन शक्तियोंवाले, सर्वजगत् साक्षी **ते**=आपके लिए **नमः कृण्मः**=हम नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—प्रभु सृष्टि के प्रारम्भ में वेदज्ञान देते हैं, प्राणशक्ति प्राप्त कराते हैं, निद्रा व प्रलय में मूढ़ अवस्था में प्राप्त कराते हैं। सब दुःखों के द्रावक, अमरणधर्मा व सर्वसाक्षी हैं। उन आपके लिए हम नमस्कार करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

नमः पुरस्तात् अथ पृष्ठतः ते

पुरस्तात्ते नमः कृण्म उत्तरादधरादुत। अभीवर्गाद्दिवस्पर्यन्तरिक्षाय ते नमः॥ ४॥

१. हे रुद्र! **पुरस्तात्**=पूर्व दिशा में **ते नमः कृण्मः**=आपके लिए नमस्कार करते हैं, **उत**=तथा **उत्तरात्**=उत्तर दिशा में आपके लिए नमस्कार करते हैं। २. **अभीवर्गात्**=(अभितःवृज्यते गृहादिरूपेण परिच्छिद्यते इति अभीवर्गः, अवकाशात्मक आकाशः) अवकाशात्मक आकाश से व **दिवः परि**=द्योतमान आकाश से ऊपर के भाग में **अन्तरिक्षाय**=नियन्तृरूपेण सबके अन्दर अवस्थित (अन्तरा क्षायमाण) **ते नमः**=आपके लिए नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—प्रभु आगे-पीछे, ऊपर-नीचे सब ओर हैं। गृहादि से परिच्छिन्न आकाश से,

द्योतमान आकाश से भी परे व सबके अन्दर नियन्तृरूपेण वे निवास कर रहे हैं। उनके लिए हम नतमस्तक होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—५ **अनुष्टुप्**, ६ **आर्षी गायत्री** ॥

मुख आदि अंगों में प्रभुमहिमा का दर्शन

मुखाय ते पशुपते यानि चक्षूंषि ते भव। त्वचे रूपाय सन्दृशे प्रतीचीनाय ते नमः॥ ५॥

अङ्गेभ्यस्त उदराय जिह्वाया आस्याय ते। दद्भ्यो गन्धाय ते नमः॥ ६॥

१. हे **पशुपते**=सब पशुओं के रक्षक प्रभो! **ते मुखाय नमः**=आपके मुख के लिए नमस्कार करते हैं—आपसे दिये गये इस मुख के महत्त्व को समझते हुए हम इसका उचित आदर करते हैं। हे **भव**=उत्पादक प्रभो! **यानि**=जो **ते चक्षूंषि**=आपकी दी हुई ये आँखें हैं, इनके लिए हम नमस्कार करते हैं। **ते**=आपसे दिये गये **त्वचे**=त्वचा के लिए, **रूपाय**=सौन्दर्य के लिए **संदृशे**=सम्यग् दर्शन व ज्ञान के लिए तथा **प्रतीचीनाय**=अन्तःस्थित प्रत्यगात्मरूप आपके लिए **नमः**=नमस्कार करते हैं। २. **ते**=आपके इन **अंगेभ्यः**=अंगों के लिए **उदराय**=उदर के लिए **नमः**=नमस्कार करते हैं। **ते**=आपसे दी गई **जिह्वायै**=जिह्वा के लिए **आस्याय**=मुख के लिए—वाक्शक्ति के लिए नमस्कार करते हैं। **ते**=आपसे दिये गये **दद्भ्यः**=दाँतों के लिए तथा **गन्धाय**=गन्धग्राहक घ्राणेन्द्रिय के लिए नमस्कार करते हैं। इनका उचित प्रयोग ही इनका आदर है।

भावार्थ—प्रभु से दिये गये मुख आदि अंगों का ठीक प्रयोग करते हुए हम प्रभु को नमस्कार करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रभु से मेल क्यों?

अस्त्रा नीलशिखण्डेन सहस्राक्षेण वाजिना।
रुद्रेणार्धकघातिना तेन मा समरामहि॥ ७॥

१. **अस्त्रा**=(अस् दीप्तौ+तृन्) दीप्तिवाले, **नीलशिखण्डेन**=(नी प्रापणे, नीलः निधिः, शिखण्डः प्राप्तिः, शिख गतौ) निधियों को प्राप्त करानेवाले **सहस्राक्षेण**=हज़ारों आँखोवाले—सर्वद्रष्टा, **वाजिना**=शक्तिशाली, **रुद्रेण**=दुःखों के द्रावक, **अर्धकघातिना**=अधूरेपन को नष्ट करनेवाले—पूर्णता व सफलता को प्राप्त करानेवाले **तेन**=इस प्रभु से हम **मा सम् अरामहि**=(समर) लड़ाई करनेवाले न हों—प्रभु के साथ हम एक बननेवाले हों।

भावार्थ—जितना-जितना हमारा प्रभु से मेल होगा, उतना-उतना हमारा जीवन दीप्त बनेगा, हम निधि-सम्पन्न बनेंगे, विस्तृत दृष्टिवाले, शक्तिशाली, दुःखरहित व पूर्णता को प्राप्त करनेवाले बनेंगे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**महाबृहती** ॥

प्रभु नमन व पापवर्जन

स नो भवः परि वृणक्तु विश्वत आपइवाग्निः परि वृणक्तु नो भवः।
मा नोऽभि मांस्त नमो अस्त्वस्मै॥ ८॥

१. **सः भवः**=वह सुखोत्पादक प्रभु **नः**=हमें **विश्वतः परिवृणक्तु**=सब ओर से उपद्रवों से वर्जित (रहित) करे। **इव**=जैसे **अग्निः**=दग्ध करता हुआ अग्नि **आपः**=जलों को छोड़ देता है, इसी प्रकार **भवः**=वह उत्पादक प्रभु **नः**=हमें **परिवृणक्तु**=उपद्रवसमूह से परिवर्जित करे। २. पाप से रहित **नः**=हमें **मा अभिमांस्त**=वे प्रभु हिंसित न करें (मन्यतिर्हिंसाकर्मा)। **अस्मै**=इस प्रभु के लिए **नमः अस्तु**=हमारा सदा नमस्कार हो। यह प्रभु-नमन ही वस्तुतः हमें पापों व

उपद्रवों से बचानेवाला बनता है।

भावार्थ—प्रभकृपा से पाप हमें इसप्रकार छोड़ जाएँ, जैसेकि अग्नि जलों को छोड़ जाता है। हम रुद्र को प्रणाम करनेवाले बनें, रुद्र हमारे पापों का विनाश करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**आर्षीत्रिष्टुप्**॥

पञ्च पशवः

चतुर्नमो अष्टकृत्वो भवाय दश कृत्वः पशुपते नमस्ते।
तवेमे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुरुषा अजावयः॥ ९॥

१. **भवाय**=संसार को उत्पन्न करनेवाले प्रभु के लिए **चतुः**=चार बार, चार ही बार क्यों? **अष्टकृत्वः**=आठ बार **नमः**=नमस्कार हो। पूर्वादि चारों दिशाओं में नमस्कार हो, और चार ही क्यों? अवान्तर दिशाओं को मिलाकर आठों दिशाओं में प्रभु के लिए हमारा नमस्कार हो। हे **पशुपते**=सब प्राणियों के रक्षक प्रभो! **दशकृत्वः**=दस बार **ते नमः**=आपके लिए नमस्कार हो। चार दिशा, चार अवान्तर दिशा तथा नीचे-ऊपर (ध्रुवा-ऊर्ध्वा) को मिलाकर दस बार प्रभु को प्रणाम हो। २. हे प्रभो! **इमे**=ये **पञ्च पशवः**=पाँच पशु **तव**=आपके **विभक्ताः**=(वि भज् सेवायाम्) विशिष्ट रूप से सेवित हैं—आपके ये स्वभूत ही हैं—दाहिनी ओर **गावः अश्वाः**=गौ व घोड़े, बीच में **पुरुषाः**=मनुष्य तथा बायीं ओर **अजावयः**=बकरी व भेड़ें। वस्तुतः गौवें व घोड़े मनुष्य के दाहिने हाथ हैं, तो अजा-अवि उसके बायें हाथ के समान हैं। मानव-उन्नति में इन चारों पशुओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

भावार्थ—हम सब दिशाओं में प्रभु के लिए प्रणाम करते हैं। पशुपति प्रभु ने मनुष्य को केन्द्र में रखकर उसकी उन्नति में साधनभूत गौ-घोड़े, अजा व अवि आदि पशुओं को बनाया है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**पुरःकृतिः त्रिपदाविराट्त्रिष्टुप्**॥

प्रभु के प्रशासन में

तव चतस्रः प्रदिशस्तव द्यौस्तव पृथिवी तवेदमुग्रोर्व१न्तरिक्षम्।
तवेदं सर्वमात्मन्वद्यत्प्राणत्पृथिवीमनु॥ १०॥

१. हे **उग्र**=उद्गूर्णबल रुद्र! **चतस्रः**=चारों **प्रदिशः**=प्रधानभूत प्राची आदि दिशाएँ **तव**=आपकी ही स्वभूत हैं। **द्यौः**=वह प्रकाशमय स्वर्गलोक भी **तव**=आपके ही वश में है। **पृथिवी**=यह पृथिवीलोक भी **तव**=आपका ही स्वभूत है। **इदम्**=यह **उरु**=विस्तीर्ण **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष भी **तव**=आपके ही अधीन है। २. **इदं सर्वं आत्मन्वत्**=भोक्तृरूप आत्मा से अधिष्ठित ये सब शरीरसमूह **तव**=आपके ही प्रशासन में हैं। **पृथिवीम् अनु**=पृथिवी को लक्ष्य करके, अर्थात् इस पृथिवी पर **यत् प्राणत्**=जो प्राण ले-रहा है, वह सब आपके ही प्रशासन में है।

भावार्थ—सब ब्रह्माण्ड व सब प्राणी प्रभु के प्रशासन में ही चल रहे हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**पञ्चपदाजगतीगर्भाविराट्शक्वरी**॥

विशाल ब्रह्माण्डकोश के स्वामी प्रभु को प्रणाम

उरुः कोशो वसुधानस्तवायं यस्मिन्निमा विश्वा भुवनान्यन्तः।
स नो मृड पशुपते नमस्ते परः क्रोष्टारो अभिभाः श्वानः
परो यन्त्वघरुदो विकेश्यः॥ ११॥

१. हे **पशुपते**=सब प्राणियों के रक्षक प्रभो! **अयम्**=यह **वसुधानः**=निवास के हेतुभूत सब लोकों को धारण करनेवाला **उरुः कोशः**=विशाल ब्रह्माण्डकोश **तव**=आपका ही स्वभूत है,

यस्मिन् अन्तः=जिस ब्रह्माण्डकोश के अन्दर **इमा विश्वा भुवनानि**=ये सब भूतसमूह निवास करते हैं, **सः**=वे आप **नः**=हमारे लिए **मृड**=सुख दीजिए। **ते नमः**=हम आपके लिए नतमस्तक होते हैं। २. आपके अनुग्रह से **अभिभाः**=अभिभव करनेवाले **क्रोष्टारः**=क्रोशनशील गीदड़ व **श्वानः**=कुत्ते **परः**=हमसे परे हों तथा **अघरुदः**=अमंगलकर रोदनवाली **विकेश्यः**=विकीर्ण केशोंवाली पीड़ाएँ **परः यन्तु**=हमसे दूर हों।

भावार्थ—प्रभु इस विशाल ब्रह्माण्डकोश के स्वामी हैं। हम उन्हें प्रणाम करते हैं। प्रभुकृपा से हम गीदड़ों व कुत्तों से आक्रान्त न हों। हम बिखरे हुए केशोंवाली, कष्टकर रोदनवाली पीड़ाओं से बचे रहें

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

धनुर्धारी रुद्र

धनुर्बिभर्षि हरितं हिरण्ययं सहस्रघ्नि शतवधं शिखण्डिन्।
रुद्रस्येषुश्चरति देवहेतिस्तस्यै नमो यतमस्यां दिशीतः॥ १२॥

हे **शिखण्डिन्**=(शिख गतौ) सर्वत्र गतिशील परमात्मन्! आप **धनुः बिभर्षि**=धनुष धारण करते हैं जो धनुष् **हरितम्**=दुष्टों का हरण करनेवाला व **हिरण्ययम्**=हिरण्य का विकारभूत, अर्थात् दीप्त है। **सहस्रघ्नि**=हज़ारों को एक ही प्रयत्न से मारनेवाला है **शतवधम्**=सैकड़ों आयुधों (वध=वज्र—नि०) से युक्त है। २. **रुद्रस्य**=दुष्टों को रुलानेवाले **देवहेतिः**=उस देव का हनन-साधन **इषुः**=बाण **चरति**=गतिवाला होता है। **इतः**=यहाँ हमारे स्थान से **यतमस्यां दिशि**=जिस भी दिशा में यह रुद्र का इषु गतिवाला होता है, **तस्यै**=उस रुद्र के इषु के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—प्रभु को धनुर्धारी रुद्र के रूप में स्मरण करते हुए हम पाप से बचें और प्रभु के इषु से विद्ध किये जाने योग्य न हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

भागकर कहाँ जाएँगे?

योऽभियातो निलयते त्वां रुद्र निचिकीर्षति।
पश्चादनुप्रयुङ्क्षे तं विद्धस्य पदनीरिव॥ १३॥

१. हे **रुद्र**=दुष्टों को रुलानेवाले प्रभो! जो भी पापकर्त्ता **अभियातः**=तुझसे अभिगत (आक्रान्त) होता हुआ **निलयते**=छुपाने की कोशिश करता है, और **त्वां निचिकीर्षति**=आपको हिंसित करना चाहता है, आप **पश्चात्**=एकदम इसके बाद ही **तम् अनुप्रयङ्क्षे**=उस अपकारी जन को यथापराध दण्डित करते हैं। उसी प्रकार दण्डित करते हैं **इव**=जैसेकि **विद्धस्य पदनीः**=शस्त्रहत पुरुष के भूमि-निक्षिप्त पैरों के निशान देखता हुआ पुरुष शत्रु के निलयन-स्थान तक पहुँचकर उस शत्रु को प्रतिविद्ध करता है।

भावार्थ—पापकर्त्ता पुरुष प्रभु के बाण से अपने को बचा नहीं सकते। कहीं भी छिपकर भाग जाए, कितना भी प्रभु का हिंसन करना चाहे, वह रुद्र के बाणों का गोचर होकर ही रहता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिपदाविराड्गायत्री**॥

भवः+रुद्रः

भवारुद्रौ सयुजा संविदानावुभावुग्रौ चरतो वीर्याय।
ताभ्यां नमो यतमस्यां दिशीतः॥ १४॥

१. **भवारुद्रौ**='सृष्टि को उत्पन्न करनेवाले व अन्ततः प्रलय करनेवाले' प्रभु के ये दोनों रूप **सयुजौ**=परस्पर मेलवाले व **संविदानौ**=ऐकमत्यवाले हैं। इनमें विरोध हो, ऐसी बात नहीं। प्रारम्भ करने के समय प्रभु 'भव' हैं, समाप्त करने के समय वे 'रुद्र' हैं। **उभौ उग्रौ**=ये भव और रुद्र दोनों उद्‌गूर्ण बलवाले हैं। **वीर्याय चरतः**=शक्तिशाली कर्म के लिए गतिवाले होते हैं। २. **इतः**=यहाँ से **यतमस्यां दिशि**=जिस भी दिशा में वे भव और रुद्र हैं **ताभ्यां नमः**=हम उन दोनों के लिए उस दिशा में नमस्कार करते हैं। 'पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊपर-नीचे' सब ओर हम प्रभु को भव और रुद्र के रूप में देखते हैं और उन्हें नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—हम 'सृष्टि व प्रलय' रूप दोनों कार्यों में प्रभु की महिमा का अनुभव करें और उस भव और रुद्ररूप प्रभु को सब ओर नमस्कार करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'भवाय शर्वाय' नमः

नम॑स्तेऽस्त्वाय॒ते नमो॑ अस्तु पराय॒ते। नम॑स्ते रुद्र॒ तिष्ठ॑त॒ आसी॑नायो॒त ते॒ नमः॑ ॥ १५ ॥
नमः॑ सा॒यं नमः॑ प्रा॒तर्नमो॒ रात्र्या॒ नमो॒ दिवा॑। भ॒वाय॑ च श॒र्वाय॑ चो॒भाभ्या॑मक॒रं नमः॑ ॥ १६ ॥

१. हे **रुद्र**=दुःखों के द्रावक प्रभो! **आयते ते नमः अस्तु**=हमारे अभिमुख आते हुए आपके लिए नमस्कार हो, **परायते नमः अस्तु**=दूर जाते हुए भी आपके लिए नमस्कार हो। **तिष्ठते ते नमः**=खड़े होते हुए आपके लिए नमस्कार हो, **उत**=और **आसीनाय ते नमः**=बैठे हुए आपके लिए नमस्कार हो। निराकार प्रभु में इन आने-जाने व उठने की क्रियाओं का सम्भव नहीं है, परन्तु पुरुषरूप में प्रभु का ध्यान करता हुआ उपासक प्रभु को इन रूपों में देखता है। २. **सायं नमः**=सायं नमस्कार हो, **प्रातः नमः**=प्रातःकाल नमस्कार हो, **राज्या नमः**=रात्रि के समय नमस्कार हो, **दिवा नमः**=दिन के समय नमस्कार हो। **भवाय च शर्वाय च उभाभ्याम्**=सृष्टि के उत्पादक व संहारक दोनों रूपोंवाले प्रभु के लिए मैं **नमः अकरम्**=नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—हम आते-जाते, उठते-बैठते, प्रभु के लिए नमस्कार करें। प्रातः व सायं तथा दिन में व रात में प्रभु को उत्पादक व प्रलयकर्त्ता के रूप में सोचते हुए नतमस्तक हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराड्गायत्री** ॥

'जिह्वया ईयमान' रुद्र का अविस्मरण

स॒ह॒स्रा॒क्षम॑तिप॒श्यं पु॒रस्ता॑द्रु॒द्रमस्य॑न्तं बहु॒धा वि॑प॒श्चित॑म्।
मोपा॑राम जि॒ह्वयेय॑मानम् ॥ १७ ॥

१. **सहस्राक्षम्**=सहस्रों आँखोंवाले, **अतिपश्यम्**=सब बाधाओं का अतिक्रमण करके देखनेवाले, **पुरस्तात् बहुधा अस्यन्तम्**=अनेक प्रकार से शर-जाल को सामने फेंकते हुए **विपश्चितम्**=ज्ञानी **रुद्रम्**=उस दुःखद्रावक प्रभु को, **जिह्वया ईयमानम्**=प्रलयकाल में जिह्वाग्र से सारे संसार के भक्षण के लिए गति करते हुए को **मा उप अराम**=(ऋ हिंसायाम्) हिंसित न करें—न भूलें।

भावार्थ—रुद्ररूप में प्रभु का स्मरण हमें पवित्र जीवनवाला बनाये।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराड्गायत्री** ॥

'श्यावाश्व' प्रभु को प्रणाम

श्या॒वाश्वं॑ कृ॒ष्णमसि॑तं मृ॒णन्तं॑ भी॒मं रथं॑ के॒शिनः॑ पा॒दय॑न्तम्।
पूर्वे॑ प्रती॑मो॒ नमो॑ अस्त्वस्मै ॥ १८ ॥

१. **श्यावाश्वम्**=(श्यैङ् गतौ, अश् व्याप्तौ) गतिमात्र में व्याप्तिवाले, अर्थात् सम्पूर्ण गतियों

के कारणभूत, **कृष्णम्**=सबको आकृष्ट करनेवाले **असितम्**=अबद्ध, **मृणन्तम्**=शत्रुओं को हिंसित करते हुए, **भीमम्**=शत्रु-भयंकर, **केशिनः**=प्रकाश की किरणरूप केशोंवाले सूर्य के **रथम्**=रथ को **पादयन्तम्**=गति देते हुए उस प्रभु को **पूर्वे**=अपना पालन व पूरण करनेवाले हम **प्रतीमः**=(प्रति इमः) जानते हैं—उसके साक्षात्कार के लिए प्रयत्न करते हैं। **अस्मै नमः अस्तु**=इस प्रभु के लिए नमस्कार हो।

भावार्थ—हम प्रभु का इस रूप में स्मरण करते हैं कि वे गतिमात्र के स्रोत हैं, सबका आकर्षण करनेवाले, अबद्ध, शत्रुओं का संहार करनेवाले व शत्रुभयंकर हैं। सूर्य के रथ को गति देनेवाले उस प्रभु का हम अपना पालन व पूरण करते हुए साक्षात्कार करते हैं और उस प्रभु के प्रति नतमस्तक होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराड्गायत्री** ॥

वज्रपात का न होना

मा नोऽभि स्रा मत्यं देवहेतिं मा नः क्रुधः पशुपते नमस्ते।
अन्यत्रास्मद्दिव्यां शाखां वि धूनु॥ १९॥

१. हे **पशुपते**=प्राणियों के रक्षक प्रभो! **मत्यम्**=(मते समीकरणे साधुः A harrow) सबको बराबर कर देनेवाली **देवहेतिम्**=इस दिव्य अस्त्ररूप विद्युत् को **नः**=हमारा **मा अभिस्राः**=लक्ष्य करके मत फेंकिए। हमपर आकाश से यह बिजली न गिर पड़े। गिरती हुई विद्युत् सबको गिराती हुई समीकृत-सा कर देती है। **नः मा क्रुधः**=हमारे प्रति आप क्रोध न कीजिए—हम पाप से बचते हुए आपके क्रोध-पात्र न हों। **नमः ते**=हम आपके लिए नतमस्तक होते हैं। २. इस **दिव्याम्**=आकाश में होनेवाली—अलौकिक—**शाखाम्**=(खे शेते, शक्नोतेर्वा—नि०) आकाश में शयन करनेवाली शक्तिशाली विद्युत् को **अस्मत् अन्यत्र**=हमसे भिन्न अन्य स्थान में ही **विधूनु**=कम्पित कीजिए। हम विद्युत्पतन के शिकार न हों।

भावार्थ—जीवन को स्वाभाविक व सरल बनाते हुए हम विद्युत्पतन आदि आधिदैविक आपत्तियों के शिकार न हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिग्गायत्री** ॥

प्रभु के निर्देशानुसार

मा नो हिंसीरधि नो ब्रूहि परि णो वृङ्ग्धि मा क्रुधः। मा त्वया समरामहि॥ २०॥

१. हे पशुपते! **नः मा हिंसीः**=हमें हिंसित मत कीजिए। **नः**=हमें **अधिब्रूहि**=आधिक्येन ज्ञानोपदेश कीजिए। **नः**=हमें **परिवृङ्ग्धि**=सब पापों से बचाइए। **मा क्रुधः**=हमपर क्रोध मत कीजिए। सदा शुभाचरण करते हुए हम आपके प्रिय बनें। २. हे प्रभो! हम **त्वया**=आपके साथ **मा समरामहि**=समर (युद्ध) की स्थिति में न हों। सदा आपके निर्देशों के अनुसार चलनेवाले हों।

भावार्थ—हम प्रभु से ज्ञान प्राप्त करके तदनुसार गति करते हुए कभी प्रभु के क्रोध के पात्र न हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पियारू-प्रजा-हनन

मा नो गोषु पुरुषेषु मा गृधो नो अजाविषु।
अन्यत्रोग्र वि वर्तय पियारूणां प्रजां जहि॥ २१॥

१. हे **उग्र**=उद्गूर्णबल प्रभो! **नः**=हमारी **गोषु**=गौवों में व **पुरुषेषु**=पुरुषों में **मा गृधः**=हिंसित

करने के लिए कामना न कीजिए। इसीप्रकार **नः**=हमारी **अजा-अविषु**=बकरियों व भेड़ों में **मा**=(गृधः) हिंसा की कामना न कीजिए। ये सब हे पशुपते! आप द्वारा रक्षित ही हों। २. हे प्रभो! आप अपने वज्र को **अन्यत्र**=हमसे भिन्न स्थान में ही **विवर्तय**=प्राप्त कराइए—फेंकिए। **पियारूणाम्**=(पीयतिहिंसाकर्मा—नि०) हिंसकों की **प्रजां जहि**=प्रजा को ही विनष्ट कीजिए।

भावार्थ—पशुपति के प्रसाद से हमारी गौवें, मनुष्य, भेड़ व बकरियाँ सब सुरक्षित हों। प्रभु का वज्र हिंसकों को ही विनष्ट करनेवाला हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**विषमपादलक्ष्मात्रिपदामहाबृहती** ॥

'तक्मा कासिका' रूप रुद्रहेति

यस्य तक्मा कासिका हेतिरेकमश्वस्येव वृषणः क्रन्द एति।
अभिपूर्वं निर्णयते नमो अस्त्वस्मै॥ २२॥

१. **यस्य**=जिस रुद्र की **तक्मा**=जीवन को कष्टप्रद बना देनेवाली **कासिका**=कुत्सित शब्दकारिणी ज्वरादि पीड़ा **हेतिः**=हनन-साधन—आयुधरूप होती हुई **एकम्**=एक अपकारी पुरुष को इसप्रकार **एति**=प्राप्त होती है **इव**=जैसेकि **वृषणः**=शक्तिशाली **अश्वस्य**=घोड़े का **क्रन्दः**=हेषा शब्द ही हो, अर्थात् प्रभु ज्वरयुक्त खाँसी को भी पापकर्म के दण्ड के रूप में प्राप्त कराते हैं। २. **अभिपूर्वम्**=पूर्वजन्म के कर्मों का लक्ष्य करके **निर्णयते**=दण्ड का निर्णय करते हुए **अस्मै नमः अस्तु**=इस रुद्र के लिए नमस्कार हो।

भावार्थ—रुद्र प्रभु कर्मों के अनुसार दण्ड का निर्णय करते हुए अपकारी पुरुष को ज्वरयुक्त खाँसी प्राप्त कराते हैं। यह उस पापकारी के जीवन को कष्टमय बनाती हुई उसे पाप से रुकने की प्रेरणा देती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराड्गायत्री** ॥

'अयज्वा देवपीयु' का दण्डन

यो३ऽन्तरिक्षे तिष्ठति विष्टभितोऽयज्वनः प्रमृणन्देवपीयून्।
तस्मै नमो दशभिः शक्वरीभिः॥ २३॥

१. **यः**=जो प्रभु **अन्तरिक्षे**=इस द्यावापृथिवी के मध्य में—अन्तरिक्ष में सर्वत्र—**विष्टभितः**=स्थिर हुए-हुए **तिष्ठति**=ठहरे हैं, वे **अयज्वनः**=अयज्ञशील **देवपीयून्**=देवों के—सज्जनों के हिंसक पुरुषों को **प्रमृणन्**=कुचल देते हैं। **तस्मै**=उस रुद्र प्रभु के लिए **दशभिः**=दसों **शक्वरीभिः**=कर्मों में शक्त अंगुलियों से **नमः**=नमस्कार हो, अर्थात् उन रुद्र के लिए हम अञ्जलिबन्धन द्वारा प्रणाम करते हैं।

भावार्थ—प्रभु आकाशवत् सर्वत्र स्थित हैं (ओम् खं ब्रह्म)। वे अयज्ञशील, देवहिंसक पुरुषों को पीड़ित करते हैं। हम प्रभु को प्रणाम करते हुए यज्ञशील व सज्जन-सेवक ही बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

प्रभु के शासन में

तुभ्यमारण्याः पशवो मृगा वने हिता हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि।
तव यक्षं पशुपते अप्स्व१न्तस्तुभ्यं क्षरन्ति दिव्या आपो वृधे॥ २४॥

१. **तुभ्यम्**=तेरे शासन के मानने के लिए ही ये सब **आरण्याः पशवः**=वन्य पशु हैं। आपसे ही **वने**=वन में **मृगाः**=हरिण, शार्दूल, सिंह आदि पशु, **हंसाः**=हंस, **सुपर्णाः**=शोभनपतनवाले श्येन आदि, **शकुनाः**=शक्तिशाली गृध्र आदि **वयांसि**=(वनचर) पक्षी **हिताः**=स्थापित किये गये

करने के लिए कामना न कीजिए। इसीप्रकार **नः**=हमारी **अजा-अविषु**=बकरियों व भेड़ों में **मा**=(गृधः) हिंसा की कामना न कीजिए। ये सब हे पशुपते! आप द्वारा रक्षित ही हों। २. हे प्रभो! आप अपने वज्र को **अन्यत्र**=हमसे भिन्न स्थान में ही **विवर्तय**=प्राप्त कराइए—फेंकिए। **पियारूणाम्**=(पीयतिहिंसाकर्मा—नि०) हिंसकों की **प्रजां जहि**=प्रजा को ही विनष्ट कीजिए।

भावार्थ—पशुपति के प्रसाद से हमारी गौवें, मनुष्य, भेड़ व बकरियाँ सब सुरक्षित हों। प्रभु का वज्र हिंसकों को ही विनष्ट करनेवाला हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**विषमपादलक्ष्मात्रिपदामहाबृहती** ॥

'तक्मा कासिका' रूप रुद्रहेति

यस्य॑ त॒क्मा कासि॑का हे॒तिरेक॒मश्व॑स्येव॒ वृष॑णः क्रन्द॒ एति॑।
अ॒भि॒पू॒र्वं नि॒र्णय॑ते॒ नमो॑ अस्त्व॒स्मै ॥ २२ ॥

१. **यस्य**=जिस रुद्र की **तक्मा**=जीवन को कष्टप्रद बना देनेवाली **कासिका**=कुत्सित शब्दकारिणी ज्वरादि पीड़ा **हेतिः**=हनन-साधन—आयुधरूप होती हुई **एकम्**=एक अपकारी पुरुष को इसप्रकार **एति**=प्राप्त होती है **इव**=जैसेकि **वृषणः**=शक्तिशाली **अश्वस्य**=घोड़े का **क्रन्दः**=हेषा शब्द ही हो, अर्थात् प्रभु ज्वरयुक्त खाँसी को भी पापकर्म के दण्ड के रूप में प्राप्त कराते हैं। २. **अभिपूर्वम्**=पूर्वजन्म के कर्मों का लक्ष्य करके **निर्णयते**=दण्ड का निर्णय करते हुए **अस्मै नमः अस्तु**=इस रुद्र के लिए नमस्कार हो।

भावार्थ—रुद्र प्रभु कर्मों के अनुसार दण्ड का निर्णय करते हुए अपकारी पुरुष को ज्वरयुक्त खाँसी प्राप्त कराते हैं। यह उस पापकारी के जीवन को कष्टमय बनाती हुई उसे पाप से रुकने की प्रेरणा देती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराड्गायत्री** ॥

'अयज्वा देवपीयु' का दण्डन

यो॒३॒॑ऽन्तरि॑क्षे॒ तिष्ठ॑ति॒ विष्ट॑भि॒तोऽय॑ज्वनः प्रमृ॒णन्दे॑वपी॒यून्।
तस्मै॒ नमो॑ द॒शभिः॒ शक्व॑रीभिः ॥ २३ ॥

१. **यः**=जो प्रभु **अन्तरिक्षे**=इस द्यावापृथिवी के मध्य में—अन्तरिक्ष में सर्वत्र—**विष्टभितः**=स्थिर हुए-हुए **तिष्ठति**=ठहरे हैं, वे **अयज्वनः**=अयज्ञशील **देवपीयून्**=देवों के—सज्जनों के हिंसक पुरुषों को **प्रमृणन्**=कुचल देते हैं। **तस्मै**=उस रुद्र प्रभु के लिए **दशभिः**=दसों **शक्वरीभिः**=कर्मों में शक्त अंगुलियों से **नमः**=नमस्कार हो, अर्थात् उन रुद्र के लिए हम अञ्जलिबन्धन द्वारा प्रणाम करते हैं।

भावार्थ—प्रभु आकाशवत् सर्वत्र स्थित हैं (ओम् खं ब्रह्म)। वे अयज्ञशील, देवहिंसक पुरुषों को पीड़ित करते हैं। हम प्रभु को प्रणाम करते हुए यज्ञशील व सज्जन-सेवक ही बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

प्रभु के शासन में

तुभ्य॑मार॒ण्याः प॒शवो॑ मृ॒गा वने॑ हि॒ता हं॒साः सु॑प॒र्णाः श॑कु॒ना वयां॑सि।
तव॑ य॒क्षं प॑शुपते अ॒प्स्व॑१॒न्तस्तुभ्यं॑ क्षरन्ति दि॒व्या आपो॑ वृ॒धे ॥ २४ ॥

१. **तुभ्यम्**=तेरे शासन के मानने के लिए ही ये सब **आरण्याः पशवः**=वन्य पशु हैं। आपसे ही **वने**=वन में **मृगाः**=हरिण, शार्दूल, सिंह आदि पशु, **हंसाः**=हंस, **सुपर्णाः**=शोभनपतनवाले श्येन आदि, **शकुनाः**=शक्तिशाली गृध्र आदि **वयांसि**=(वनचर) पक्षी **हिताः**=स्थापित किये गये

हैं। २. **तव**=आपका **यक्षम्**=पूजनीय अंश ही **अप्सु अन्तः**=सब प्रजाओं के अन्दर है। **दिव्याः आपः**=ये अन्तरिक्षस्थ जल **तुभ्यं वृधे**=आपकी महिमा को बढ़ाने के लिए ही **क्षरन्ति**=क्षरित हो रहे हैं। बरसते हुए मेघों में प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर होती है।

भावार्थ—सब आरण्य पशु-पक्षी प्रभु के शासन में ही गति कर रहे हैं। प्रजाओं में भी वह-वह विभूति उस प्रभु के अंश के कारण ही है। बरसते हुए मेघों में भी प्रभु की ही महिमा दिखती है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**पञ्चपदातिशक्वरी**॥

जलचरों में प्रभु-महिमा का प्रकाश

शिंशुमारा अजगराः पुरीकया जषा मत्स्या रजसा येभ्यो अस्यसि।
न ते दूरं न परिष्ठास्ति ते भव सद्यः सर्वान्परि
पश्यसि भूमिं पूर्वस्माद्धंस्युत्तरस्मिन्त्समुद्रे॥ २५॥

१. **शिंशुमाराः**=नक्र विशेष, **अजगराः**=अजगर, **पुरिकयाः**=कठोर पीठवाले कछुए, **जषाः**=बड़े मत्स्य **मत्स्याः**=मछलियाँ, **रजसाः**=(रजांसि उदकम्—नि०) अन्य जलचर—ये सब प्राणी तेरे ही हैं, **येभ्यः**=जिनसे **अस्यसि**=तू दीप्त होता है—इन सबमें तेरी महिमा का दर्शन होता है। २. हे प्रभो! **ते**=आपसे **न दूरम्**=कुछ भी दूर नहीं है। हे **भव**=सर्वोत्पादक! **न ते परिष्ठा अस्ति**=कोई वस्तु आपको घेर लेनेवाली नहीं है। आप **सद्यः**=शीघ्र ही **सर्वान् परिपश्यसि**=सबको देखते हैं। **पूर्वस्मात्**=पूर्वसमुद्र से लेकर **उत्तरस्मिन् समुद्रे**=उत्तर समुद्र में होनेवाली **भूमिं हंसि**=(हन् गतौ) भूमि को आप प्राप्त होते हैं—सारी भूमि पर व्याप्त हो रहे हैं।

भावार्थ—नक्र आदि सब बड़े-बड़े जलचरों में प्रभु की महिमा प्रकट हो रही है। प्रभु प्रत्येक वस्तु के सदा सन्निहित हैं। सबका ध्यान करते हैं। सर्वत्र व्याप्त व सर्वत्र गतिवाले हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिपदाविराड्गायत्री**॥

तक्मा, विष, दिव्य अग्नि

मा नो रुद्र तक्मना मा विषेण मा नः सं स्त्रा दिव्येनाग्निना।
अन्यत्रास्मद्विद्युतं पातयैताम्॥ २६॥

१. हे **रुद्र**=दुष्टों को रुलानेवाले प्रभो! **नः**=हमें **तक्मना**=जीवन को कष्टमय बनानेवाले ज्वर से **मा संस्त्राः**=मत संसृष्ट कीजिए। **विषेण**=प्राणापहारी विष से **मा**=मत संसृष्ट कीजिए तथा **नः**=हमें **दिव्येन अग्निना**=अन्तरिक्ष में होनेवाली विद्युद्रूप अग्नि से **मा**=मत संसृष्ट कीजिए। २. हे रुद्र! **एताम्**=इस **विद्युतम्**=विद्युत् को **अस्मत्**=हमसे **अन्यत्र**=अन्य स्थान में **पातय**=गिराइए।

भावार्थ—हम पवित्र जीवनवाले बनते हुए सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखें और ज्वर, विष व विद्युत्पतन द्वारा असमय में विनष्ट न हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिपदाविराड्गायत्री**॥

नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व

भवो दिवो भव ईशे पृथिव्या भव आ पप्र उर्वन्तरिक्षम्।
तस्मै नमो यतमस्यां दिशीतः॥ २७॥

१. **भवः**=वह सर्वोत्पादक प्रभु **दिवः ईशे**=द्युलोक का ईश है। **भवः**=वही प्रभु **पृथिव्याः**=(ईशे) पृथिवी का ईश है। **भवः**=सर्वोत्पादक प्रभु **उरु अन्तरिक्षम्**=इस विशाल अन्तरिक्ष को **आ पप्रे**=अपने तेज से आपूरित किये हुए हैं। **तस्मै**=उस भव के लिए **इतः**=इस

अपने स्थान से **यतमस्यां दिशि**=जिस भी दिशा में वे हैं, उन्हें **नमः**=नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—उस त्रिलोकी में व्याप्त त्रिलोकी के अधिपति को हम सब दिशाओं में नमस्कार करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

श्रद्धा, निष्पक्षता व सुख

भव राजन्यजमानाय मृड पशूनां हि पशुपतिर्बभूथ।
यः श्रद्दधाति सन्ति देवा इति चतुष्पदे द्विपदेऽस्य मृड॥ २८॥

१. हे **भव**=सर्वोत्पादक! **राजन्**=सर्वशासक प्रभो! **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए **मृड**=आप सुख दीजिए। आप **हि**=निश्चय से **पशूनां पशुपतिः बभूथ**=सब पशुओं (प्राणियों) के रक्षक व स्वामी हैं। २. **यः**=जो **इति श्रद्दधाति**=इसप्रकार विश्वास रखता है कि **देवाः सन्ति**=आपकी दिव्यशक्तियाँ सर्वत्र सत्तावाली हैं, **अस्य**=इस श्रद्धालु के **द्विपदे**=दो पाँववाले मनुष्यों के लिए तथा **चतुष्पदे**=चार पाँववाले 'गौ, अश्व, अजा, अवि' आदि पशुओं के लिए **मृड**=सुख दीजिए। प्रभुशक्तियों की सार्वत्रिक सत्ता में विश्वास करनेवाला व्यक्ति पाप से बचता है और परिणामतः प्रभुकृपा का पात्र होता है।

भावार्थ—वे सर्वोत्पादक, सर्वशासक प्रभु यज्ञशील पुरुषों का रक्षण करते हैं। प्रभुशक्ति की सार्वत्रिक सत्ता का विश्वासी मनुष्य निष्पाप व सुखी जीवनवाला बनता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

पूर्ण जीवन

मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा नो वहन्तमुत मा नो वक्ष्यतः।
मा नो हिंसीः पितरं मातरं च स्वां तन्वं रुद्र मा रीरिषो नः॥ २९॥

१. हे प्रभो! **नः**=हमारे **महान्तम्**=घर में बड़े व्यक्ति को **मा रीरिषः**=मत हिंसित कीजिए **उत**=और **नः**=हमारे **अर्भकम्**=छोटे को भी **मा**=मत मारिए। **नः**=हमारे **वहन्तम्**=गृहभार का वहन करनेवाले गृहपति को मत नष्ट कीजिए और **नः**=हमारे **वक्ष्यतः**=समीप-भविष्य में भार वहन करनेवाले युवक को भी **मा**=मत हिंसित कीजिए। २. **नः**=हमारे **पितरम्**=पिता **मातरं च**=व माता को **मा हिंसीः**=मत हिंसित कीजिए। हे **रुद्र**=सब दुःखों के द्रावक प्रभो! **नः**=हमारे **स्वां तन्वम्**=इस अपने शरीर को **मा (रीरिषः)**=मत नष्ट कीजिए।

भावार्थ—हम सब गृहवासी 'रुद्र' प्रभु का स्मरण करें और पूर्ण आयुष्य को प्राप्त होनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदाउष्णिक्** ॥

श्वभ्यः नमः

रुद्रस्यैलबकारेभ्योऽसंसूक्तगिलेभ्यः। इदं महास्येभ्यः श्वभ्यो अकरं नमः॥ ३०॥

१. **रुद्रस्य**=शत्रुओं का रोदन करानेवाले रुद्र के लिए **ऐलवकारेभ्यः**=(ऐलवानि—इल प्रेरणे) प्रेरणायुक्त कर्मों को करनेवाले लोगों के लिए **नमः अकरम्**=मैं नमस्कार करता हूँ। प्रभु की प्रेरणा के अनुसार चलनेवालों के लिए नमस्कार करता हूँ **अ-संसूक्त-गिलेभ्यः**=अशुभ भाषणों को निगल जानेवालों के लिए—कभी अशुभ न बोलनेवाले **श्वभ्यः**=(श्वि गतिवृद्ध्योः) गति द्वारा वृद्धि को प्राप्त होनेवाले पुरुषों के लिए (**इदं नमः अकरम्**)=नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—उस रुद्र के इन पुरुषों के लिए मैं आदरपूर्वक प्रणाम करता हूँ जोकि (क) प्रभु-प्रेरणायुक्त कर्मों को करते हैं। (ख) कभी अपशब्द नहीं बोलते। (ग) जिनके मुख से महनीय शब्दों का ही उच्चारण होता है। (घ) जो गति द्वारा उन्नति-पथ पर बढ़ रहे हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भवादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**विपरीतपादलक्ष्माषट्पदात्रिष्टुप्** ॥

पवित्र-प्रणाम

नमस्ते घोषिणीभ्यो नमस्ते केशिनीभ्यः।
नमो नमस्कृताभ्यो नमः संभुञ्जतीभ्यः।
नमस्ते देव सेनाभ्यः स्वस्ति नो अभयं च नः॥ ३१॥

१. हे रुद्र! **ते**=आपसे **घोषिणीभ्यः**=प्रेरित वेदवाणियों की घोषणा करनेवाली **सेनाभ्यः**=(स+इन=स्वामी) सदा आपके साथ रहनेवाली (आपका स्मरण करनेवाली) इन प्रजाओं के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। हे प्रभो! **ते**=आपकी इन **केशिनीभ्यः**=प्रकाश की रश्मियोंवाली (केश A ray of light) प्रजाओं के लिए **नमः**=नतमस्तक होते हैं। **नमस्कृताभ्यः**=आपको प्रणाम करनेवाली इन प्रजाओं के लिए **नमः**=प्रणाम करते हैं। **संभुञ्जतीभ्यः**=मिलकर भोजन करनेवाली व सम्यक् पालन करनेवाली प्रजाओं के लिए **नमः**=प्रणाम है। २. हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! **ते**=आपकी इन (सेनाभ्यः) सदा आपके स्मरण के साथ गति करनेवाली प्रजाओं के लिए **नमः**=हमारा नमस्कार हो। इसप्रकार **नः**=हमें भी **स्वस्ति**=कल्याण **च**=और **अभयम्**=निर्भयता प्राप्त हो।

भावार्थ—हम उन प्रजाओं को प्रणाम करते हैं जोकि (क) प्रभु-प्रदत्त वेदवाणियों की घोषणा करती हैं। (ख) प्रकाश की रश्मियोंवाली हैं (ग) प्रभु को प्रणाम करनेवाली हैं (घ) सबका सम्यक् पालन करनेवाली व मिलकर खानेवाली हैं तथा (ङ) सदा प्रभुस्मरण के साथ निवासवाली हैं। इसप्रकार हम भी कल्याण व निर्भयता को प्राप्त करते हैं।

सदा प्रभु-स्मरण के साथ रहनेवाले ये व्यक्ति अन्तर्मुखी वृत्तिवाले 'अथर्वा' (अथ अर्वाङ्) बनते हैं। यही अगले सूक्त का ऋषि है। ब्रह्म (ज्ञान) ही इनका भोजन होता है। इस ब्रह्मौदन (बार्हस्पत्यौदन) का एक विराट् शरीर के रूप में इस सूक्त में वर्णन है—

३. [तृतीयं सूक्तम्, प्रथमः पर्यायः]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः** ॥ छन्दः—**१ आसुरीगायत्री; २ त्रिपदासमविषमागायत्री; ३ आसुरीपङ्क्तिः; ४ साम्न्यनुष्टुप्; ५ साम्न्युष्णिक्; ६ आसुरीपङ्क्तिः** ॥

'बृहस्पतिः शिरा'

तस्यौदनस्य बृहस्पतिः शिरो ब्रह्म मुखम्॥ १॥
द्यावापृथिवी श्रोत्रे सूर्याचन्द्रमसावक्षिणी सप्तऋषयः प्राणापानाः॥ २॥
चक्षुर्मुसलं काम उलूखलम्॥ ३॥
दितिः शूर्पमदितिः शूर्पग्राही वातोऽपाविनक्॥ ४॥
अश्वाः कणा गावस्तण्डुला मशकास्तुषाः॥ ५॥
कब्रु फलीकरणाः शरोऽभ्रम्॥ ६॥

१. **तस्य ओदनस्य**=उस ब्रह्मौदन के विराट् शरीर का **बृहस्पतिः शिरः**=महान् लोकों का स्वामी प्रभु ही शिरःस्थानीय है, अर्थात् वह बृहस्पति ही इसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। **ब्रह्म**=ज्ञान **मुखम्**=मुख है—इस ओदन के मुख से ब्रह्म (ज्ञान) की वाणियाँ उच्चरित होती हैं। इस ओदन के विराट् शरीर के **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **श्रोत्रे**=कान हैं। इसमें

द्युलोक से पृथिवीलोक तक सब लोक-लोकान्तरों का ज्ञान सुनाई पड़ता है। **सूर्याचन्द्रमसौ**=सूर्य और चाँद इस ओदन-शरीर की **अक्षिणी**=आँखें हैं। सूर्य व चन्द्र द्वारा ही यह ज्ञान प्राप्त होता है। दिन का अधिष्ठातृदेव सूर्य है, रात्रि का चन्द्र। हमें दिन-रात इस ज्ञान को प्राप्त करना है। **सप्तऋषयः**=शरीरस्थ सप्तऋषि ही **प्राणापानाः**=इसके प्राणापान हैं। **'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्'**=दो कानों, दो नासिका-छिद्रों, दो आँखों व मुख के द्वारा ही इस ओदन-शरीर का जीवन धारित होता है। २. इस ओदन को तैयार करने के लिए **चक्षुः मुसलम्**=आँख मूसल का कार्य करती है, **कामः**=इच्छा ही इसके लिए **उलूखलम्**=ओखली है। प्रत्येक वस्तु को आँख खोलकर देखने पर वह वस्तु उस ब्रह्म की महिमा का प्रतिपादन कर रही होती है। इच्छा के बिना यह ज्ञान प्राप्त नहीं होता। **दितिः**=यह खण्डनात्मक जगत्—जिस जगत् में प्रतिक्षण छेदन-भेदन चल रहा है, वह कार्यजगत्—इस ओदन के लिए **शूर्पम्**=छाज होता है। **अदितिः**=मूल प्रकृति **शूर्पग्राही**=उस छाज को मानो पकड़े हुए है। **वातः**=यह वायु ही **अपाविनक्**=धान से तण्डुलों को पृथक् करनेवाला होता है। **अश्वाः कणाः**=इस ओदन के कण 'अश्व' हैं, **गावः तण्डुलाः**= ओदन के उपादानभूत तण्डुल गौवें हैं। **मशकाः तुषाः**=अलग किये हुए तुष (भूसी) मशक आदि क्षुद्र जन्तु हैं। **कब्रु**=(कब् to colour) चित्रित प्राणी या जगत् इस ओदन के **फलीकरणाः**= (Husks separated from the grain) छिलके हैं तथा **अभ्रं शरः**=मेघ ऊपर आई हुई पपड़ी (Cream) की भाँति हैं।

भावार्थ—प्रभु ने वेदज्ञान दिया। इसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म है। इसमें 'द्युलोक, पृथिवीलोक, सूर्य-चन्द्र, सप्तर्षि, चक्षु, काम, दिति, अदिति, वात, अश्व, गौ, मशक, चित्रित जगत् (प्राणी) व मेघ' इन सबका वर्णन उपलभ्य है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः** ॥ छन्दः—७ **प्राजापत्यानुष्टुप्; ८ साम्न्यनुष्टुप्; ९ आसुर्यनुष्टुप्; १० आसुरीपङ्क्तिः** ॥

धातुएँ व कृषिसम्बद्ध पदार्थ

श्यामम॒योऽस्य मां॒सानि॒ लोहि॑तमस्य॒ लोहि॑तम् ॥ ७ ॥
त्रपु॒ भस्म॒ हरि॑तं॒ वर्णः॒ पुष्क॑रमस्य॒ ग॒न्धः ॥ ८ ॥
खलः॒ पात्रं॒ स्फ्याव॑सा॒वीषे अ॒नूक्ये॑ ॥ ९ ॥
आ॒न्त्राणि॑ ज॒त्रवो॑ गु॒दा व॒रत्राः॑ ॥ १० ॥

१. **अस्य**=इस ब्रह्मौदन के विराट् शरीर के **श्यामम् अयः**=काले वर्ण का लोहधातु **मांसानि**=मांस स्थानापन्न है। **लोहितम्**=(अयः) लालवर्ण के ताम्र आदि धातु **अस्य लोहितम्**=इसका रुधिर ही है। **त्रपु**=सीसा **भस्म**=ओदनपाक के अनन्तर रहनेवाली राख ही है। **हरितम्**= मनोहारिवर्णवाला हेम (सोना) इसका **वर्णः**=वर्ण है। **पुष्करम्**=कमल **अस्य गन्धः**=इस ओदन का गन्ध है। २. **खलः**=व्रीहि आदि धान्यों का पलाल से पृथक् करने का स्थान **पात्रम्**=यह ओदन का पात्र है। **स्फ्यौ**=दोनों 'स्फ्य' नामक यज्ञसाधन (A sword shaped implement used in sacrifices) इसके **अंसौ**=कँधे हैं। **ईषे**=शकट-सम्बन्धी दण्ड इसके **अनूक्ये**=कन्धे व मध्यदेह के संधि-स्थल हैं, पृष्ठास्थिविशेष हैं। **जत्रवः**=जोत इसकी **आन्त्राणि**=आँतें हैं, **वरत्राः**=रज्जुएँ **गुदाः**=गुदा स्थानापन्न हैं।

भावार्थ—वेद में जहाँ 'लोहा, तांबा, सीसा, सोना' आदि धातुओं के वर्णन के साथ कमल आदि पुष्पों का वर्णन उपलभ्य है, वहाँ कृषक के साथ सम्बद्ध 'खल, स्फ्य, ईषा, जत्रु, वरत्र' आदि वस्तुओं का भी प्रतिपादन है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः** ॥ छन्दः—**११ भुरिगार्च्यनुष्टुप्; १२ याजुषीजगती; १३ साम्न्युष्णिक्** ॥

ब्रह्मौदन का पाचन

इयमेव पृथिवी कुम्भी भवति राध्यमानस्यौदनस्य द्यौरपिधानम्॥ ११॥
सीताः पर्शवः सिकता ऊबध्यम्॥ १२॥
ऋतं हस्तावनेजनं कुल्यो ∫ पसेचनम्॥ १३॥

१. **राध्यमानस्य ओदनस्य**=पकाये जा रहे ब्रह्मौदन की **इयम् पृथिवी एव**=यह पृथिवी ही **कुम्भी भवति**=देगची होती है और **द्यौः अपिधानम्**=द्युलोक उस कुम्भी के मुख का छादक-पात्र=ढकना बनता है। इसप्रकार यह ब्रह्मौदन इस द्यावापृथिवी के सारे अन्तराल को व्याप्त करके वर्त्तमान हो रहा है। इसमें सब पिण्डों व पदार्थों का ज्ञान दिया गया है। **सीताः**=कर्षण से उत्पन्न, बीज का जिनमें आवपन होता है, वे लांगल-पद्धतियाँ इस ओदन के विराट् शरीर की **पर्शवः**=पार्श्व-स्थियाँ हैं। **सिकताः**=रेतःकण **ऊबध्यम्**=उदरगत अजीर्ण अन्न के मल के समान हैं। २. **ऋतम्**=सत्य या व्यवस्थित (right) जीवन ही **हस्तावनेजनम्**=हाथ धोने का जल है। **कुल्या**=कुलों के लिए हितकर नीति इस ओदन का **उपसेचनम्**=मिश्रणसाधन-सेचन जल है।

भावार्थ—वेद द्युलोक से पृथिवीलोक तक सब पिण्डों का प्रतिपादन करता है। यहाँ 'सीता, सिकता, ऋत व कुल्या' इन सबका प्रतिपादन है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः** ॥ छन्दः—**१४ आसुरीगायत्री; १५ साम्न्युष्णिक्; १६ आसुरीबृहती** ॥

कुम्भी का अग्नि पर स्थापन

ऋचा कुम्भ्यधिहितार्त्विज्येन प्रेषिता॥ १४॥
ब्रह्मणा परिगृहीता साम्ना पर्यूढा॥ १५॥
बृहदायवनं रथन्तरं दर्विः॥ १६॥

१. **कुम्भी**=ब्रह्मौदन के पाचन की साधनभूत 'द्युलोकरूप ढक्कनवाली पृथिवीरूप कुम्भी' **ऋचा अधिहिता**=ऋग्वेद के मन्त्रों से अग्नि के ऊपर स्थापित होती है। **आर्त्विज्येन**=(ऋत्विजः अध्वर्यवः) ऋत्विक्-सम्बन्धी कर्मों के प्रतिपादक यजुर्वेद से **प्रेषिता**=अग्नि के प्रति भेजी जाती है। **ब्रह्मणा परिगृहीता**=आथर्वण ब्रह्मवेद से यह परितः धारित होती है और **साम्ना पर्यूढा**=साममन्त्रों से अंगारों से परिवेष्टित की जाती है। २. उस समय **बृहत्**=बृहत्साम **आयवनम्**=उदक में प्रक्षिप्त तण्डुलों का मिश्रणसाधन काष्ठ होता है और **रथन्तरम्**=रथन्तरसाम **दर्विः**=ओदन के उद्धरण की साधनभूत कड़छी होती है।

भावार्थ—इस ब्रह्मौदन का पाचन 'ऋग्, यजुः, साम व अथर्व' मन्त्रों से होता है तथा 'बृहत् रथन्तर' आदि साम इस ओदन-पाचन के साधन बनते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः** ॥ छन्दः—**आसुर्यनुष्टुप्** ॥

ब्रह्मौदन के पक्ता (पाचक)

ऋतवः पक्तार आर्तवाः समिन्धते॥ १७॥
चरुं पञ्चबिलमुखं घर्मो३भीन्धे॥ १८॥

१. **ऋतवः**=ऋतुएँ **पक्तारः**=इस ओदन को पकानेवाली हैं, सामान्यतः ओदन का पाक काल के अधीन तो है ही। **आर्तवाः**=ऋतु-सम्बन्धी अहोरात्र **समिन्धते**=इसे सन्दीप्त करते हैं। ब्रह्मौदन

के पकाने की साधनभूत ज्ञानाग्नि को दीप्त करते हैं। दिन-रात्रि में परिवर्तन के साथ ज्ञान में वृद्धि होती चलती है। २. **पञ्चबिलम् चरुम्**='गौ, अश्व, पुरुष, अजा, अवि' रूप पञ्चधा विभिन्न मुखवाली ब्रह्मौदन (चरु) के पाचन की साधनभूत स्थाली को **घर्मः**=यह आदित्य **अभीन्धे**=सम्यक् दीप्त करता है। ज्ञानाग्नि को दीप्त करने में सूर्य का प्रमुख स्थान है। सूर्य-किरणें केवल शरीर के स्वास्थ्य को ही नहीं बढ़ातीं, बुद्धि को भी स्वस्थ करती हैं।

भावार्थ—ऋतुएँ, ऋतु-सम्बन्धी अहोरात्र तथा सूर्य-किरणें हमारी बुद्धि की वृद्धि का साधन बनती हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः** ॥ छन्दः—**प्राजापत्यानुष्टुप्** ॥

'सर्वलोकावाप्ति' रूप ओदनफल

ओदनेन यज्ञवचः सर्वे लोकाः समाप्याः ॥ १९ ॥
यस्मिन्त्समुद्रो द्यौर्भूमिस्त्रयोऽवरपरं श्रिताः ॥ २० ॥
यस्य देवा अकल्पन्तोच्छिष्टे षडशीतयः ॥ २१ ॥

१. **ओदनेन**=इस ज्ञान के ओदन से (यज्ञैः प्राप्तव्यत्वेन उच्यमानाः—'वचेः विच्चिरूपम्') **यज्ञवचः**=यज्ञों से प्राप्तव्यरूप में कहे गये **सर्वे लोकाः**=सब लोक **समाप्याः**=प्राप्त करने योग्य होते हैं। ज्ञान-प्राप्ति से उन सब उत्तम लोकों की प्राप्ति होती है, जो लोक कि यज्ञों से प्राप्तव्य हैं। २. यह ओदन वह है **यस्मिन्**=जिसमें **समुद्रः**=अन्तरिक्ष, **द्यौः भूमिः**=द्युलोक व पृथिवीलोक **त्रयः**=तीनों ही **अवरपरम्**=उत्तराधारभाव से—एक नीचे दूसरा ऊपर, इसप्रकार **श्रिताः**=स्थित हैं। इस ओदन में लोकत्रयी का ठीकरूप में ज्ञान दिया गया है। ३. यह ओदन वह है **यस्य**=जिसके—जिससे प्रतिपादित—**उच्छिष्टे**=(ऊर्ध्वं शिष्टे) प्रलय से भी बचे रहनेवाले प्रभु में **षट् अशीतयः**=(अश् व्याप्तौ) 'पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊपर-नीचे' इन छह दिशाओं में व्याप्तिवाले—इनमें रहनेवाले **देवाः**=सूर्यचन्द्र आदि सब देव **अकल्पन्त**=सामर्थ्यवान् बनते हैं।

भावार्थ—ज्ञान से उत्तम लोकों की प्राप्ति होती है। इस वेदज्ञान में लोकत्रयी का ज्ञान उपलभ्य है। इसमें उस प्रभु का प्रतिपादन है, जिसके आधार से सूर्य आदि सब देव शक्तिशाली बनते हैं। (तस्य भासा सर्वमिदं विभाति)।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः** ॥ छन्दः—**२२ प्राजापत्यानुष्टुप्; २३ आसुरीबृहती; २४ त्रिपदाप्राजापत्याबृहती; २५ साम्न्युष्णिक्** ॥

न अल्पः, न अनुपसेचनः

तं त्वौदनस्य पृच्छामि यो अस्य महिमा महान् ॥ २२ ॥
स य ओदनस्य महिमानं विद्यात् ॥ २३ ॥
नाल्प इति ब्रूयान्नानुपसेचन इति नेदं च किं चेति ॥ २४ ॥
यावद्दाताऽभिमनस्येत तन्नाति वदेत् ॥ २५ ॥

१. वेदज्ञान को यहाँ 'ब्रह्मौदन' कहा गया है। इस ब्रह्मौदन का सर्वमहत्त्वपूर्ण प्रतिपाद्य विषय प्रभु हैं, अतः एक आचार्य से जिज्ञासु (विद्यार्थी) कहता है कि **तं त्वा**=उन आपसे मैं **ओदनस्य**=ओदन के विषय में **पृच्छामि**=पूछता हूँ, **यः**=जो **अस्य**=इस ब्रह्मौदन की **महान् महिमा**=महनीय महिमा है। इसका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रतिपाद्य विषय प्रभु के विषय में मैं आपसे पूछता हूँ। २. आचार्य उत्तर देते हुए कहते हैं कि **सः**=वह **यः**=जो **ओदनस्य**=इस ब्रह्मौदन की **महिमानम्**=महिमा को—सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रतिपाद्य विषय को **विद्यात्**=जाने वह **इति**

ब्रूयात्=इतना ही कहे (कह सकता है) कि **न अल्पः**=वे प्रभु अल्प नहीं हैं—सर्वमहान् हैं, सर्वत्र व्याप्त हैं। **न अनुपसेचनः इति**=वे उपासक को आनन्द से सिक्त न करनेवाले नहीं। प्रभु उपासक को आनन्द से सर्वतः सिक्त कर देते हैं। उपासक एक अवर्णनीय आनन्द का अनुभव करता है। वह उस प्रभु के विषय में यही कह सकता है कि **इदं च किञ्च न इति**=वे प्रभु यह जो कुछ प्रत्यक्ष दिखता है, वह नहीं है। 'आँखों से दिखनेवाले व कानों से सुनाई पड़नेवाले व नासिका से घ्राणीय, जिह्वा से आस्वादनीय व त्वचा से स्पर्शनीय' वे प्रभु नहीं है। वे 'यह नहीं है—यह नहीं हैं' यही उस ओदन की महान् महिमा के विषय में कहा जा सकता है। ३. **दाता**=ब्रह्मज्ञान देनेवाला **यावत्**=जितना **अभिमनस्येत**=उस ब्रह्म के विषय में मन से विचार करे, **तत् न अतिवदेत्**=उससे अधिक न कहे, अर्थात् ब्रह्म के विषय में मनन पर ही वह अधिक बल दे और जितना उसका मनन कर पाये उतना ही जिज्ञासु से कहे।

भावार्थ—वेदज्ञान का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'ब्रह्म' है। ब्रह्म के विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि वह 'सर्वमहान्' हैं, आनन्ददाता हैं, इन्द्रियों का विषय नहीं हैं। हमें उसके मनन का ही प्रयत्न करना है। उसका शब्दों से ज्ञान देना कठिन है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**बार्हस्पत्यौदनः**॥ छन्दः—२६ **आर्च्युष्णिक्**; २७, २८ **साम्नीबृहती**; २९ **भुरिक्साम्नीबृहती**; ३० **याजुषीत्रिष्टुप्**; ३१ **अल्पशःपङ्क्तिरुतयाजुषी**॥

पराञ्चं+प्रत्यञ्चम् (न अहम्; न माम्)

ब्रह्मवादिनो वदन्ति पराञ्चमोदनं प्राशी३ः प्रत्यञ्चा३मिति॥ २६॥
त्वमोदनं प्राशी३स्त्वामोदना३ इति॥ २७॥
पराञ्चं चैनं प्राशीः प्राणास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह॥ २८॥
प्रत्यञ्चं चैनं प्राशीरपानास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह॥ २९॥
नैवाहमोदनं न मामोदनः॥ ३०॥
ओदन एवौदनं प्राशीत्॥ ३१॥

१. **ब्रह्मवादिनः**=ज्ञान का प्रतिपादन करनेवाले **वदन्ति**=प्रश्न करते हुए कहते हैं कि तूने **पराञ्चम्**=(पर अञ्च्) परोक्ष ब्रह्म में गतिवाले **ओदनम्**=ज्ञान के भोजन को **प्राशीः**=खाया है, अर्थात् पराविद्या को ही प्राप्त करने का यत्न किया है अथवा **प्रत्यञ्चम् इति**=(प्रति अञ्च्) अपने अभिमुख—सामने उपस्थित इन प्रत्यक्ष पदार्थों का ही, अर्थात् अपराविद्या को ही जानने का यत्न किया है? एक प्रश्न वे ब्रह्मवादी और भी करते हैं कि यह जो तू संसार में भोजन करता है तो क्या **त्वम् ओदनं प्राशीः**=तूने भोजन खाया है, या **ओदनः त्वाम् इति**=इस ओदन ने ही तुझे खा डाला है? २. प्रश्न करके वे ब्रह्मवादी ही समझाते हुए **एनं आह**=इस ओदनभोक्ता से कहते हैं कि **पराञ्चं च एनं प्राशीः**=(च=एव) यदि तू केवल परोक्ष ब्रह्म का ज्ञान देनेवाले इस ज्ञान के भोजन को ही खाएगा तो **प्राणाः त्वा हास्यन्ति इति**=प्राण तुझे छोड़ जाएँगे, अर्थात् तू जीवन को धारण न कर सकेगा और वे **एनं आह**=इसे कहते हैं कि **प्रत्यञ्चं च एनं प्राशीः**=केवल अभिमुख पदार्थों का ही ज्ञान देनेवाले इस ओदन को तू खाता है तो **अपानाः त्वा हास्यन्ति इति**=दोष दूर करने की शक्तियाँ तुझे छोड़ जाएँगी, अर्थात् केवल ब्रह्मज्ञानवाला मृत ही हो जाएगा, और केवल प्रकृतिज्ञानवाला दूषित जीवनवाला हो जाएगा। ३. इसी प्रकार सांसारिक भोजन के विषय में वह कहता है कि **न एव अहम् ओदनम्**=न तो मैं ओदन को खाता हूँ और **न माम् ओदनः**=न ओदन मुझे खाता है। अपितु **ओदनः एव**=यह अन्न का विकार अन्नमयकोश ही **ओदनं प्राशीत्**=अन्न खाता है, अर्थात् जितनी इस अन्नमयकोश की आवश्यकता

होती है, उतने ही अन्न का यह ग्रहण करता है। मैं स्वादवश अन्न नहीं खाता। इसीलिए तो यह भी मुझे नहीं खा जाता। स्वादवश खाकर ही तो प्राणी रोगों का शिकार हुआ करता है।

भावार्थ—हम परा व अपराविद्या दोनों को प्राप्त करें। अपराविद्या के अभाव में जीवनधारण सम्भव न होगा और पराविद्या के अभाव में जीवन दोषों से परिपूर्ण हो जाएगा, क्योंकि तब हम प्राकृतिक भोगों में फँस जाएँगे। इसी बात को इसप्रकार कहते हैं कि शरीर की आवश्यकता के लिए ही खाएँगे तब तो ठीक है, यदि स्वादों में पड़ गये तो इस अन्न का ही शिकार हो जाएँगे।

३. [तृतीयं सूक्तम्, द्वितीयः पर्यायः]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**साम्नीत्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरीगायत्री, दैवीजगती, एकपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्**॥

बृहस्पतिना शीर्ष्णा

ततश्चैनमन्येन शीर्ष्णा प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
ज्येष्ठतस्ते प्रजा मरिष्यतीत्येनमाह।
तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
बृहस्पतिना शीर्ष्णा। तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ३२॥

१. '३।१।१' में कहा था कि ओदन का मुख्य प्रतिपाद्य विषय (शिरःस्थानीय विषय) 'बृहस्पति=सर्वज्ञ प्रभु' ही है। उसी पर बल देने के लिए कहते हैं कि **ततः च**=और तब जबकि वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय वह सब महान् लोकों का रक्षक (बृहतामाकाशादीनां पतिः) सर्वज्ञ प्रभु है, **च**=और **येन**=जिस बृहस्पतिरूप सिर से **पूर्वे ऋषयः**=अपना पालन व पूरण करनेवाले, वासनाओं का संहार (ऋष् to kill) करनेवाले ज्ञानियों ने **एतं प्राश्नन्**=इस ब्रह्मौदन को खाया तो यदि तू **एनम्**=इस ब्रह्मौदन को **अन्येन च शीर्ष्णा**=बृहस्पति से भिन्न सिर से **प्राशीः**=खाता है—यदि तू इसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म को न जानकर कुछ और ही समझता है तो ब्रह्मज्ञ आचार्य **एनम् आह**=इस शिष्य से कहता है कि **ते**=तेरी **प्रजा**=सन्तान **ज्येष्ठतः**=ज्येष्ठादि क्रम से **मरिष्यति इति**=विनष्ट हो जाएगी। **अहम्**=मैंने जो **तम्**=उस ओदन को **वै**=निश्चय से **न अर्वाञ्चम्**=न केवल यहाँ—नीचे (पृथिवी) के विषयों का ज्ञान देनेवाला (अर्वाङ् अञ्चन्तम्) **न पराञ्चम्**=न दूर के (द्युलोक के ही) पदार्थों का ज्ञान देनेवाला (परा अञ्चन्तम्) तथा **न प्रत्यञ्चम्**=न ही (प्रति अञ्चन्तम्) केवल सामने के—अन्तरिक्षस्थ पदार्थों का ज्ञान देनेवाला जाना है अपितु **तेन**=उस **बृहस्पतिना शीर्ष्णा**='ब्रह्म' ही इसका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है, शिरःस्थानीय है, इसप्रकार मानकर **एनं प्राशिषम्**=इस ब्रह्मौदन को खाया है, **तेन एनं अजीगमम्**=उस बृहस्पतिरूप सिर से ही मैंने इसे प्राप्त किया है। २. **एषः ओदनः**=यह ब्रह्मौदन **वै**=निश्चय से **सर्वाङ्गः**=सम्पूर्ण अंगोंवाला **सर्वपरुः**=सम्पूर्ण पर्वों-(अवयव-सन्धियों)-वाला व **सर्वतनूः**=सम्पूर्ण (whole स्वस्थ) शरीरवाला है। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार इस ब्रह्मौदन को समझ लेता है वह **सर्वाङ्गः एव**=सब अंगोंवाला ही **सर्वपरुः**=सम्पूर्ण अवयवसन्धियोंवाला व **सर्वतनूः**=स्वस्थ शरीरवाला **संभवति**=होता है, पुण्यलोकों में जन्म लेता है।

भावार्थ—हमें वेद का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म को ही जानना। यह वेद केवल पृथिवी के, द्युलोक के व सम्मुखस्थ अन्तरिक्ष लोक के ही पदार्थों का वर्णन नहीं करता। इसे तो यही

समझकर पढ़ना कि इन सब वाणियों का अन्तिम तात्पर्य उस प्रभु में है। इसप्रकार पढ़ने पर यह हमें पूर्ण स्वस्थ बनाएगा और हमारी सन्तानें भी दीर्घजीवी होंगी।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**साम्नीत्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरीगायत्री, आर्च्यनुष्टुप्, आसुरीबृहती, आसुरीजगती**॥

द्यावापृथिवीभ्यां श्रोत्राभ्याम्

ततश्चैनमन्याभ्यां श्रोत्राभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
बधिरो भविष्यसीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
द्यावापृथिवीभ्यां श्रोत्राभ्याम्। ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ३३॥

१. **ततः च**=और तब **एनम्**=इस ब्रह्मौदन को **याभ्यां श्रोत्राभ्याम्**=जिन द्यावापृथिवीरूप श्रोत्रों से **पूर्वे ऋषयः**=पालन व पूरण करनेवाले, वासनाओं के संहारक तत्त्वद्रष्टा पुरुषों ने **प्राश्नन्**=खाया—ग्रहण किया, **अन्याभ्याम्**=उससे भिन्न द्यावापृथिवीरूप श्रोत्रों से **प्राशीः**=ग्रहण करेगा तो वह तत्त्वद्रष्टा **एनम् आह**=इसे कहता है कि **बधिरः भविष्यसि इति**=अपनी श्रोत्रशक्ति को नष्ट कर बैठेगा। **अहम्**=मैंने तो **तम्**=उस ओदन को **वै**=निश्चय से **न अर्वाञ्चम्**=न केवल यहाँ—नीचे पृथिवी के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला, **न पराञ्चम्**=न दूर के—द्युलोक के ही पदार्थों का ज्ञान देनेवाला **न प्रत्यञ्चम्**=न सम्मुख—अन्तरिक्ष के ही पदार्थों का ज्ञान देनेवाला जाना है। अपितु **ताभ्यां द्यावापृथिवीभ्यां श्रोत्राभ्याम्**=उन द्यावापृथिवीरूप श्रोत्रों के हेतु से ही **एनं प्राशिषम्**=इस ब्रह्मौदन का ग्रहण किया है, **ताभ्याम्**=उन द्यावापृथिवीरूप श्रोत्रों के हेतु से ही **एनं अजीगमम्**=इस ब्रह्मौदन को प्राप्त हुआ हूँ। इन श्रोत्रों के द्वारा ही तो मुझे ब्रह्म की महिमा का श्रवण करना है। २ **एषः वा ओदनः०** (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—तत्त्वद्रष्टा ऋषियों ने इस वेदज्ञान को द्यावापृथिवीरूप श्रोत्रों से ग्रहण किया। इसमें दिया गया द्यावापृथिवी का ज्ञान उनके लिए ब्रह्म का ज्ञान देनेवाला हुआ। इससे उन्होंने ब्रह्म की महिमा को जाना। यदि यह द्यावापृथिवी का ज्ञान हमें ब्रह्म की महिमा को सुनानेवाला नहीं हुआ तो 'बधिर' ही तो रहे, अतः हम इनके ज्ञान में प्रभु-महिमा का श्रवण करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**साम्नीत्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरीगायत्री, आर्च्यनुष्टुप्, आसुरीपङ्क्तिः, आसुरीत्रिष्टुप्**॥

सूर्याचन्द्रमसाभ्याम् अक्षीभ्याम्

ततश्चैनमन्याभ्यामक्षीभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
अन्धो भविष्यसीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
सूर्याचन्द्रमसाभ्यामक्षीभ्याम्। ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ३४॥

१. **ततः च**=और तब **याभ्यां च अक्षीभ्याम्**=जिन सूर्य व चन्द्ररूप आँखों से **पूर्वे ऋषयः**=अपना पालन व पूरण करनेवाले, वासनाओं के संहारक तत्त्वद्रष्टा पुरुषों ने **एतम्**=इस ब्रह्मौदन का **प्राश्नन्**=सेवन किया, **अन्याभ्याम्**=उनसे भिन्न आँखों से **एनं प्राशीः**=इसको तू खाता है तो **एनं आह**=वह तत्त्वद्रष्टा इससे कहता है कि **अन्धः भविष्यसि इति**=तू अन्धा हो

जाएगा। **तं अहम्**=उस तत्त्वज्ञान को निश्चय से मैं **न अर्वाञ्चम्**=न केवल यहाँ—नीचे पृथिवी के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला, **न पराञ्चम्**=न सुदूर द्युलोक के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला, **न प्रत्यञ्चम्**=और न ही सम्मुखस्थ अन्तरिक्ष के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला जानता हूँ। **ताभ्याम्**=उन **सूर्याचन्द्रमसाभ्यां अक्षीभ्याम्**=सूर्यचन्द्ररूप आँखों से **एनं प्राशिषम्**=इस ब्रह्मौदन का ग्रहण करता हूँ। **ताभ्यां एनम् अजीगमम्**=उन नेत्रों से ही इसे प्राप्त करता हूँ। यह सूर्यचन्द्र का ज्ञान मेरे लिए ब्रह्मदर्शन का साधन बनता है। २. **एषः वा ओदनः०** (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—तत्त्वद्रष्टा ऋषि इस वेदवाणी को सूर्यचन्द्र की आँखों से देखते हैं। इसमें दिया गया सूर्य-चन्द्र का ज्ञान उनके लिए ब्रह्म का ज्ञान देनेवाला होता है। सूर्य व चन्द्र में वे ब्रह्म की महिमा को देखते हैं। जो इन सूर्य व चन्द्र में ब्रह्म की महिमा को नहीं देखता, वह अन्धा ही तो है, अतः हम सूर्य व चन्द्र में प्रभु की प्रभा को देखने का यत्न करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**साम्नीत्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरीगायत्री, एकपदाऽऽसूर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्, आर्च्यनुष्टुप्, याजुषीगायत्री** ॥

ब्रह्मणा मुखेन

ततश्चैनमन्येन मुखेन प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
मुखतस्ते प्रजा मरिष्यतीत्येनमाह।
तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
ब्रह्मणा मुखेन। तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ३५॥

१. **ततः च**=और तब **येन च मुखेन**=जिस मुख से **एतम्**=इस ब्रह्मौदन को **पूर्वे ऋषयः**=अपना पालन व पूरण करनेवाले, वासनाओं का संहार करनेवाले तत्त्वद्रष्टा ज्ञानियों ने **प्राश्नन्**=ग्रहण किया, **अन्येन**=उससे भिन्न मुख से **प्राशीः**=तू इस ओदन को खाता है, तो **एनं आह**=इसे वह तत्त्वद्रष्टा कहता है कि **मुखतः ते प्रजा मरिष्यति इति**=(अभिमुखप्रदेशे—सा०) तेरे सामने ही तेरी प्रजा मरेगी। **अहं वै तम्**=मैं तो निश्चय से उस ब्रह्मौदन को **न अर्वाञ्चम्**=न केवल नीचे—पृथिवी आदि पदार्थों को ज्ञान देनेवाला, **न पराञ्चम्**=न ही दूरस्थ द्युलोक के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला और **न प्रत्यञ्चम्**=न सम्मुखस्थ अन्तरिक्ष के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला समझता हूँ। मैंने तो **तेन ब्रह्मणा मुखेन**=उस ब्रह्मरूप मुख से ही **एनं प्राशिषम्**=इस ब्रह्मौदन को खाया है, **तेन**=उस ब्रह्म-मुख से ही **एनं अजीगमम्**=इसे पाया है। परमात्मा से दिये गये मुख से मैंने वेदवाणियों का उच्चारण करते हुए उस ब्रह्म को जाना है। २. **एषः वा ओदनः०** (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—हम ज्ञान को ही ब्रह्मौदन के विराट् शरीर का मुख स्थानीय समझते हुए ज्ञान-प्राप्ति के लिए यत्नशील हों। अन्यथा हम विषय-प्रवण होकर मुख से अशुभ शब्दों को बोलते हुए अपनी प्रजाओं को ही नष्ट करनेवाले बनेंगे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**साम्नीत्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरीगायत्री, एकपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्, आर्च्यनुष्टुप्, आसुरीबृहती** ॥

अग्नेः जिह्वया

ततश्चैनमन्यया जिह्वया प्राशीर्यया चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
जिह्वा ते मरिष्यतीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।

अग्नेर्जिह्वया। तयैनं प्राशिषं तयैनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ३६॥

१. **ततः च**=और तब **यया च जिह्वया**=जिस जिह्वा से, दृष्टिकोण से **पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्**=पालन व पूरण करनेवाले तत्त्वद्रष्टा ज्ञानियों ने इस भोजन को खाया, **अन्यया**=उससे भिन्न जिह्वा से, अर्थात् भिन्न दृष्टिकोण **एनं प्राशीः**=इस ओदन को खाएगा, तो वह ब्रह्मज्ञ **एनं आह**=इससे कहता है कि **ते जिह्वा मरिष्यति**=तेरी जिह्वा नष्ट हो जाएगी। **अहम्**=मैं तो **वै**=निश्चय से **तम्**=उस ब्रह्मज्ञान को **न अर्वाञ्चम्**=न केवल नीचे—पृथिवी के ही पदार्थों का ज्ञान देनेवाला, **न पराञ्चम्**=न दूरस्थ द्युलोक के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला और **न प्रत्यञ्चम्**=न सम्मुखस्थ अन्तरिक्ष के ही पदार्थों का ज्ञान देनेवाला मानता हूँ। मैं तो **तया अग्नेः जिह्वया**=उस अग्नि की जिह्वा से **एनं प्राशिषम्**=इस ब्रह्मौदन को खाता हूँ **तया**=उसी से **एनम् अजीगमम्**=इसे प्राप्त हुआ हूँ। २. **एषः वा ओदनः०** (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—ब्रह्मौदन के विराट् शरीर की जिह्वा पर 'अग्नि' है। मैं अग्निदेव के गुणों को समझता हुआ इस अग्निदेव में भी उस ब्रह्म का तेज देखता हूँ। वेद अग्नि का ज्ञान देता हुआ इस ब्रह्म का ही ज्ञान देता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**साम्नीत्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरीगायत्री, एकपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्, साम्नीपङ्क्तिः, आसुरीपङ्क्तिः, दैवीपङ्क्तिः**॥

ऋतुभिः दन्तैः

ततश्चैनमन्यैर्दन्तैः प्राशीर्यैश्चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
दन्तास्ते शत्स्यन्तीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
ऋतुभिर्दन्तैः। तैरेनं प्राशिषं तैरेनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ३७॥

१. **ततः च**=और तब **यैः च दन्तैः**=जिन दाँतों से **एतम्**=इस ब्रह्मौदन को **पूर्वे ऋषयः**=पालन व पूरण करनेवाले, वासनाओं का संहार करनेवाले ऋषियों ने **प्राश्नन्**=खाया, **अन्यैः**=उनसे भिन्न दाँतों से—भिन्न दृष्टिकोण से जो **एनं प्राशीः**=इस ब्रह्मौदन को खाता है, तो वह तत्त्वद्रष्टा **एनम् आह**=इसे कहता है कि **ते दन्ताः शत्स्यन्ति**=तेरे दाँत टूट जाएँगे। **तं वै अहम्**=उस ब्रह्मौदन को निश्चय से मैं तो **न अर्वाञ्चम्**=न केवल नीचे पृथिवी के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला, **न पराञ्चम्**=न ही दूरस्थ द्युलोक के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला और **न प्रत्यञ्चम्**=न ही सम्मुखस्थ अन्तरिक्ष के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला मानता हूँ। मैंने तो **एनम्**=इस ब्रह्मौदन को **तैः ऋतुभिः दन्तैः**=उन ऋतुरूप दाँतों से **प्राशिषम्**=खाया है। दो-दो मासों में बनी हुई ये ऋतुएँ मानो ऊपर व नीचे की दन्तपंक्तियाँ हैं। **तैः**=उनके द्वारा मैंने **एनं अजीगमम्**=इस ब्रह्मौदन को प्राप्त किया है, अर्थात् सब ऋतुओं में ज्ञान को प्राप्त करते हुए ज्ञान का वर्धन किया है। २. **एषः वा ओदनः०** (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—ऋषि लोग सब ऋतुओं में ज्ञान प्राप्त करने के लिए यत्नशील होते हैं। सब ऋतुएँ वे दाँत हैं, जिनसे कि ब्रह्मौदन खाया जाता है। यदि हमारे दाँत इस ज्ञान की वाणियों के उच्चारण में व्याप्त नहीं होते और व्यर्थ के स्वादिष्ट भोजनों को ही करते हैं तो वे दाँत शीघ्र नष्ट हो

जाते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**साम्नीत्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरीगायत्री, एकपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्, प्राजापत्यागायत्री** ॥

सप्तर्षिभिः प्राणापानैः

ततश्चैनमन्यैः प्राणापानैः प्राशीर्यैश्चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
प्राणापानास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
सप्तर्षिभिः प्राणापानैः। तैरेनं प्राशिषं तैरेनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ३८॥

१. **ततः च**=और तब **यैः च प्राणापानैः**=जिन प्राणापानों से **पूर्वे ऋषयः**=पालन करनेवाले ऋषियों ने **एतं प्राश्नन्**=इस ब्रह्मौदन को खाया, **अन्यैः**=उनसे भिन्न प्राणापानों से **एनं प्राशीः**=इस ब्रह्मौदन को तू खाता है, तो वह ब्रह्मज्ञानी **एनम् आह**=इसे कहता है कि **प्राणापानाः त्वा हास्यन्ति**=प्राण और अपान तुझे छोड़ जाएँगे। प्राणापान की शक्ति को ठीक रखने में इस ब्रह्मौदन का सेवन सहायक है। **अहं वै तम्**=मैं तो निश्चय से उस ब्रह्मौदन को **न पराञ्चं न अर्वाञ्चं न प्रत्यञ्चम्**=न केवल पृथिवी के, न ही द्युलोक के और न सम्मुखस्थ इस अन्तरिक्ष के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला मानता हूँ। यह इन सब लोकों के पदार्थों का ज्ञान देता हुआ ब्रह्म का ज्ञान दे रहा है। मैंने **तैः**=उन **सप्तर्षिभिः प्राणापानैः**=दो कान, दो नासिका छिद्र, दो आँखें व मुखरूप सप्तर्षिभूत प्राणापानों के द्वारा **एनं प्राशिषम्**=इस ब्रह्मौदन को खाया है, **तैः एनं अजीगमम्**=उन सप्तर्षियों से इसे प्राप्त किया है। २. **एषः वा ओदनः०** (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—हम दो कानों, नासिका-छिद्रों, आँखों व मुखरूप सप्तर्षियों द्वारा ज्ञान-प्राप्ति का यत्न करें। अन्यथा इनकी शक्ति क्षीण हो जाएगी। वेद का स्वाध्याय प्राणापान की शक्ति को ठीक रखनेवाला होता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**साम्नीत्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरीगायत्री, एकपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्, आर्च्यनुष्टुप्, प्राजापत्यागायत्री, आसुर्युष्णिक्** ॥

अन्तरिक्षेण व्यचसा

ततश्चैनमन्येन व्यचसा प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
राजयक्ष्मस्त्वा हनिष्यतीत्येनमाह।
तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
अन्तरिक्षेण व्यचसा। तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ३९॥

१. **ततः च**=और तब **येन च व्यचसा**=जिस विस्तार (Expance, vastness) के हेतु से निश्चयपूर्वक **एतम्**=इस ब्रह्मौदन को **पूर्वे ऋषयः**=पालन व पूरण करनेवाले तत्त्वद्रष्टाओं ने **प्राश्नन्**=खाया, **अन्येन**=उससे भिन्न विस्तार के दृष्टिकोण से **एनं प्राशीः**=इसे तू खाता है, तो वह ज्ञानी **एनम् आह**=इससे कहता है कि **राजयक्ष्मः त्वा हनिष्यति इति**=राजयक्ष्मा तुझे नष्ट कर डालेगा। **अहम्**=मैं तो **तं वै**=उस ब्रह्मौदन को निश्चय से **न अर्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्**=न केवल यहाँ—नीचे पृथिवी के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला, न सुदूर द्युलोक के पदार्थों

का ज्ञान देनेवाला और न ही केवल सम्मुखस्थ अन्तरिक्ष के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला जाना है। मैंने **एनम्**=इसे **तेन अन्तरिक्षेण व्यचसा**=उस हृदयान्तरिक्ष के विस्तार के हेतु से **प्राशिषम्**=खाया है, **तेन एनं अजीगमम्**=उसी के हेतु से प्राप्त किया है। २. **एषः वा ओदनः०** (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—हम वेदज्ञान को हृदयान्तरिक्ष के विस्तार के हेतु से प्राप्त करें। यदि हमारा उद्देश्य केवल ऐश्वर्य व विलास के विस्तार का बना, तो हम ऐश्वर्य-विस्तार के साथ विलास-पंक में डूबकर राजयक्ष्मा आदि रोगों के शिकार हो जाएँगे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**साम्नीत्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरीगायत्री, एकपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्, आर्च्यनुष्टुप्, आसुरीबृहती, दैवीपङ्क्तिः** ॥

दिवा पृष्ठेन

ततश्चैनमन्येन पृष्ठेन प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
विद्युत्त्वा हनिष्यतीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
दिवा पृष्ठेन। तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ४०॥

१. **ततः च**=और तब **एतम्**=इस ब्रह्मौदन को **येन च पृष्ठेन**=निश्चय से जिस ज्ञान व प्रकाश के सेचन (पृषु to sprinkle) के हेतु से **पूर्वे ऋषयः प्राश्नन्**=पालक तत्त्वद्रष्टाओं ने खाया, **अन्येन**=उससे भिन्न धन आदि सेचन के हेतु से **एनं प्राशीः**=इसे खाता है, तो वह तत्त्वद्रष्टा **एनम् आह**=इससे कहता है कि **विद्युत् त्वा हनिष्यति इति**=बस, यह धन की चमक (विद्युत्) ही तुझे मार डालेगी। **अहम्**=मैं तो **वै तम्**=निश्चय से उसे **न अर्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्**=न केवल पृथिवी के, न केवल सुदूर द्युलोक के और न ही केवल सम्मुखस्थ अन्तरिक्षलोक के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला जानता हूँ और **तेन दिवा पृष्ठेन**=उस ज्ञानदीप्ति के हेतु से ही **एनं प्राशिम्**=इसे मैंने खाया है, **तेन एनम् अजीगमम्**=उसी हेतु से इसे प्राप्त किया है। २. **एषः वा ओदनः०** (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—हमें इस ब्रह्मौदन को अपने मस्तिष्करूप द्युलोक को ज्ञानसिक्त करने के उद्देश्य से ही खाना है। धन आदि के विस्तार का उद्देश्य होने पर इस धन की चमक ही हमें खा जाएगी।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**साम्नीत्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरीगायत्री, एकपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्, आसुरीपङ्क्तिः** ॥

पृथिव्या उरसा

ततश्चैनमन्येनोरसा प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
कृष्या न रात्स्यसीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
पृथिव्योरसा। तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ४१॥

१. **ततः च**=और तब **येन उरसा**=जिस ब्रह्मौदन के विराट् शरीर की छातीरूप पृथिवी के उद्देश्य से **पूर्वे ऋषयः**=पालक तत्त्वद्रष्टाओं ने **एतं च प्राश्नन्**=इस ब्रह्मौदन को निश्चय से खाया, **अन्येन**=उससे भिन्न अन्य उद्देश्य से **एनम्**=इस ब्रह्मौदन को **प्राशीः**=खाता है, तो **एनं आह**=वह ज्ञानी इसे कहता है कि **कृष्या न रात्स्यसि इति**=कृषि के द्वारा तू संसिद्धि को प्राप्त

न करेगा। कृषि ही तो तेरी जीवन-यात्रा की सहायक है। '**कृषिमित् कृषस्व**'=अवश्य कृषि करनेवाला बन, यही तो वेदोपदेश है। **अहम्**=मैं तो **तं वै**=उस वेदज्ञान को निश्चय से **न अर्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्**=न केवल पृथिवी के, न केवल द्युलोक के और न ही सम्मुखस्थ अन्तरिक्षलोक के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला जानता हूँ। मैंने तो **तेन पृथिव्या उरसा**=उस पृथिवी को ही इस ब्रह्मौदन के विराट् शरीर की छाती जानकर **प्राशिषम्**=इसे खाया है, **तेन एनं अजीगमम्**=उसी हेतु से प्राप्त किया है। जिस प्रकार माता के उर:स्थल पर ही बच्चे का पालन होता है, उसी प्रकार इस पृथिवी पर ही हमारा पालन होता है। यहाँ कृषि की सिद्धि करके हमें ओषधि, वनस्पतियों को प्राप्त करके जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए इस शरीर-रथ को सदा ठीक रखना है। २. **एषः वा ओदनः०** (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—हम वेदज्ञान को प्राप्त करके इस पृथिवीमाता के उर:स्थल से कृषि द्वारा अन्न-रसों को प्राप्त करें और इस यात्रा की पूर्ति के लिए शरीर-रथ को ठीक रक्खें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**साम्नीत्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरीगायत्री, एकपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्, आर्च्यनुष्टुप्, दैवीत्रिष्टुप्**॥

सत्येन उदरेण

ततश्चैनमन्येनोदरेण प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
उदरदारस्त्वा हनिष्यतीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
सत्येनोदरेण। तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ४२॥

१. **ततः च**=और तब **येन च उदरेण**=जिस उदर से निश्चयपूर्वक **पूर्वे ऋषयः**=पालक तत्त्वद्रष्टाओं ने **एतं प्राश्नन्**=इस ब्रह्मौदन का सेवन किया, यदि तू **अन्येन**=उससे भिन्न उदर से **एनं प्राशीः**=इसे खाता है, तो **एनम् आह**=वह तत्त्वद्रष्टा इससे कहता है कि **उदरदारः त्वा हनिष्यति इति**=(उदरस्य दरणम्) अतिसार-रोग तुझे नष्ट कर डालेगा। **तं वा अहम्**=मैं तो निश्चय से उस ब्रह्मौदन को **न अर्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्**=न केवल इस पृथिवी का, न सुदूर द्युलोक का और न ही सम्मुखस्थ अन्तरिक्षलोक के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला मानता हूँ। मैंने तो **तेन सत्येन उदरेण**=सत्य के उदर से ही **एनं प्राशिषम्**=इस ब्रह्मौदन को खाया है, **तेन एनम् अजीगमम्**=उस सत्य के उदर से ही इसे प्राप्त किया है। इस वेदज्ञान से मैंने यह सीखा है कि भोजन में पूर्ण सत्य का पालन करना आवश्यक है। वही भोजन करना ठीक है जोकि उदर के द्वारा सुपच हो। यही भोजन हमें अतिसार आदि रोगों से बचाएगा। २. **एषः वा ओदनः०** (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—हम वेदज्ञान प्राप्त करें और '**अग्रे तौलस्य प्राशान**', इस वेदादेश के अनुसार भोजन में पूर्ण सत्य नियमों का पालन करें 'हिताशी, मिताशी व कालभोजी' बनें। ऐसा होने पर ही हम अतिसार आदि रोगों से पीड़ित न होंगे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**साम्नीत्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरीगायत्री, दैवीजगती, एकपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्, आर्च्यनुष्टुप्, आसुरीपङ्क्तिः**॥

समुद्रेण वस्तिना

ततश्चैनमन्येन वस्तिना प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।

अप्सु मरिष्यसीत्यैनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
समुद्रेण वस्तिना। तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ४३॥

१. '**वसति अस्मिन् अशितपीतान्नोदकम् इति वस्तिः मूत्राशयः। इतरावयवानामिव तस्यापि प्राशने साधकतमत्वमस्त्येव**—सा०' शरीर में भोजन का सब जल अन्ततः मूत्राशय में निवास करता है। यह शरीरस्थ समुद्र है। इसका ठीक रहना स्वास्थ्य के लिए नितान्त आवश्यक है। वास्तव में जैसे समुद्रजल शरीर के मलों को दूर करने का साधन है, इसी प्रकार यह वस्तिजल भी सभी मलों को दूर करके नीरोग बनानेवाला है। '**नरमूत्रम् रसायनम्**' ऐसा आयुर्वेद में कहा गया है। **ततः च**=और तब **येन च वस्तिना**=निश्चय से जिस वस्ति से **पूर्वे ऋषयः**=पालक तत्त्वद्रष्टाओं ने **एतं प्राश्नन्**=इस ब्रह्मौदन को खाया है, **अन्येन**=उससे भिन्न अन्य वस्ति से **एनं प्राशीः**=यदि तू इसे खाता है तो वह ब्रह्मज्ञानी **एनम् आह**=इसे कहता है कि **अप्सु मरिष्यसि इति**=(आपः रेतो भूत्वा०) रेतःकणों के विषय में तू विनाश को प्राप्त होगा। इन रेतःकणों को ठीक से सुरक्षित न रख सकेगा। **अहम्**=मैंने तो **तं वै**=उस ब्रह्मौदन को निश्चय से **न अर्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्**=न केवल नीचे इस पृथिवी के पदार्थों का, न सुदूर द्युलोक के पदार्थों का और न ही केवल सम्मुखस्थ अन्तरिक्षलोक के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला जाना है। मैंने **एनम्**=इस ब्रह्मौदन को **तेन समुद्रेण वस्तिना**=उस शरीरस्थ समुद्रतुल्य वस्तिप्रदेश को ठीक रखने के हेतु से **प्राशिषम्**=सेवन किया है, **तेन एनं अजीगमम्**=उसी हेतु से इसे प्राप्त किया है। इसके स्वास्थ्य से ही तो मैं शरीर में रेतःकणरूप जलों को सुरक्षित करके स्वस्थ बना हूँ। २. **एषः वा ओदनः०** (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—हम वेदज्ञान द्वारा शरीरस्थ समुद्ररूप वस्तिप्रदेश के महत्त्व को समझें। इसके स्वास्थ्य से शरीर में रेतःकणरूप जलों का रक्षण करते हुए जीवन का धारण करें। '**मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्**'।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**साम्नीत्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरीगायत्री, एकपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्, आर्च्यनुष्टुप्, आसुरीजगती**॥

मित्रावरुणयोः ऊरुभ्याम्

ततश्चैनमन्याभ्यामूरुभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
ऊरू ते मरिष्यत इत्यैनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
मित्रावरुणयोरूरुभ्याम्। ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ४४॥

१. ('अर्पते अनेन' 'अर्तेरूरच्च' सूत्र से कु प्रत्यय व ऋ को ऊर आदेश) 'ऊरु' गति के साधनभूत होते हैं। वेद के अनुसार हमारी सब गति 'मित्र व वरुण' की होनी चाहिए, अर्थात् हमारे सब कार्य स्नेह व निर्द्वेषता के साथ होने चाहिएँ। **ततः च**=और तब **याभ्यां च ऊरुभ्याम्**=निश्चय से जिन ऊरु-प्रदेशों से—जङ्घाओं (Thighs) से **पूर्वे ऋषयः**=पालक तत्त्वद्रष्टाओं ने **एतं प्राश्नन्**=इस ब्रह्मौदन को खाया, **अन्याभ्याम्**=उनसे भिन्न ऊरुओं से **एनं प्राशीः**=इस ओदन को तूने खाया तो **ते ऊरू मरिष्यतः इति**=तेरे ये ऊरूप्रदेश विकृत हो जाएँगे—मर जाएँगे।

ऐसा वह ब्रह्मज्ञानी **एनं आह**=इसे कहता है **अहम्**=मैंने तो **वै**=निश्चय से **तम्**=उस ब्रह्मौदन को **न अर्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्**=न केवल नीचे पृथिवी के पदार्थों का, न ही सुदूर द्युलोक के पदार्थों का और न ही केवल सम्मुखस्थ अन्तरिक्षलोक के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला जाना है। मैंने तो **एनम्**=इस ब्रह्मौदन को **ताभ्यां मित्रावरुणयोः ऊरुभ्याम्**=उन मित्र और वरुण के ऊरु-प्रदेशों के हेतु से **प्राशिषम्**=खाया है, **ताभ्याम्**=उनके हेतु से ही **एनं अजीगमम्**=इसे प्राप्त किया है। २. **एषः वा ओदनः०**(शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—हम वेदज्ञान द्वारा प्रेरणा लेकर सदा स्नेह व निर्द्वेषता से गतिवाले बनें और इसप्रकार अपने ऊरु-प्रदेशों को पूर्ण स्वस्थ बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**साम्नीत्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरीगायत्री, साम्न्यनुष्टुप्, आर्च्यनुष्टुप्, आसुरीपङ्क्तिः, दैवीत्रिष्टुप्** ॥

त्वष्टुः अष्ठीवद्भ्याम्

ततश्चैनमन्याभ्यामष्ठीवद्भ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
स्रामो भविष्यसीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
त्वष्टुरष्ठीवद्भ्याम्। ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ४५॥

१. शरीर में घुटनों की अस्थियाँ अपना विशेष ही महत्त्व रखती हैं (अतिशयितं अस्थि यस्मिन् इति) इन अस्थियों में प्रभु की महिमा दृष्टिगोचर होती है। **ततः च**=और तब **याभ्यां च अष्ठीवद्भ्याम्**=जिन घुटनों से **पूर्वे ऋषयः**=पालक तत्त्वद्रष्टाओं ने **एतं प्राश्नन्**=इस ब्रह्मौदन को खाया है, **अन्याभ्याम्**=उनसे भिन्न घुटनों के दृष्टिकोण से **एतं प्राशीः**=यदि तू इस ओदन को खाता है, तो वह तत्त्वद्रष्टा **एनं आह**=इसे कहता है कि **स्रामः भविष्यसि इति**=तू पके हुए घुटनोवाला (स्रै पाके, शुष्कजंघः—सा०)—शुष्क जंघाओंवाला हो जाएगा। **अहम्**=मैं तो **तं वै**=उस ब्रह्मौदन को निश्चय से **न अर्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्**=न नीचे पृथिवी के पदार्थों का, न ही दूरस्थ द्युलोक के पदार्थों का और न सम्मुखस्थ अन्तरिक्षलोक के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला समझता हूँ। मैंने तो **ताभ्याम्**=उन **त्वष्टुः अष्ठीवद्भ्याम्**=निर्माता की महिमा के प्रतिपादक घुटनों से **एनं प्राशिषम्**=इस ब्रह्मौदन को खाया है, **ताभ्यां एनं अजीगमम्**=उन्हीं से इसे प्राप्त किया है। २. **एषः वा ओदनः०** (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—तत्त्वद्रष्टा ऋषियों को इन अतिशयित प्रशस्त अस्थिवाले घुटनों में भी उस निर्माता (त्वष्टा) की महिमा का दर्शन होता है। हम भी इनके द्वारा ब्रह्मौदन को खानेवाले बनें, अर्थात् इनका विचार करते हुए ब्रह्मज्ञान को प्राप्त करें

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**साम्नीत्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरीगायत्री, एकपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्, आर्च्यनुष्टुप्, याजुषीगायत्री** ॥

अश्विनोः पादाभ्याम्

ततश्चैनमन्याभ्यां पादाभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
बहुचारी भविष्यसीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
अश्विनोः पादाभ्याम्। ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।

सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ४६॥

१. 'पाद' (पद गतौ) गति के लिए दिये गये हैं। यदि इनके द्वारा मनुष्य गतिमय जीवन रखता है तो उसकी प्राणापान शक्ति ठीक बनी रहती है और मानव-जीवन नीरोग रहता है, अतः तत्त्वद्रष्टा पुरुष पाँवों से गति के महत्त्व को समझते हुए गतिशील जीवनवाले होते हैं। **ततः च**=और तब **याभ्यां च पादाभ्याम्**=जिन गतिशील पाँवों से **पूर्वे ऋषयः**=पालक तत्त्वद्रष्टाओं ने **एतं प्राश्नन्**=इस ब्रह्मौदन को खाया है **अन्याभ्याम्**=उनसे भिन्न औरों पर प्रहार करनेवाले पाँवों से **एनं प्राशीः**=इस ब्रह्मौदन को खाया है, तो **एनं आह**=वह तत्त्वद्रष्टा इसे कहता है कि **बहुचारी भविष्यसि इति**=तू व्यर्थ में भटकनेवाला बनेगा। **अहम्**=मैं तो **तं वै**=उस ब्रह्मज्ञान को निश्चय से **न अर्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्**=न केवल यहाँ नीचे पृथिवी के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला मानता हूँ, न ही सुदूर द्युलोक के पदार्थों का और न ही सम्मुखस्थ अन्तरिक्षलोक के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला मानता हूँ। मैंने **एनम्**=इस ब्रह्मौदन को **ताभ्याम्**=उन **अश्विनोः**=प्राणापान के **पादाभ्याम्**=पाँवों से **प्राशिषम्**=खाया है, **ताभ्याम्**=उनसे ही **एनं अजीगमम्**=इसे प्राप्त किया है। २. **एषः वा ओदनः०** (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—तत्त्वद्रष्टा पुरुष प्राणापान की शक्ति के वर्धन के लिए पाँवों से उचित गतिवाले होते हैं। परिणामतः ये व्यर्थ में भटकनेवाले नहीं होते।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**साम्नीत्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरीगायत्री, दैवीजगती, एकपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्, आर्च्यनुष्टुप्, आसुरीबृहती**॥

सवितुः प्रपदाभ्याम्

ततश्चैनमन्याभ्यां प्रपदाभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
सर्पस्त्वा हनिष्यतीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
सवितुः प्रपदाभ्याम्। ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ४७॥

१. हमारे प्रपद, अर्थात् पादाग्र (पञ्जे) सदा सविता के हों, अर्थात् हम सदा निर्माण के कार्यों के लिए ही गतिवाले हों। **ततः च**=और तब **याभ्यां च प्रपदाभ्याम्**=जिन पञ्जों से **पूर्वे ऋषयः**=पालक तत्त्वद्रष्टाओं ने **एनं प्राश्नन्**=इस ब्रह्मौदन को खाया है, **अन्याभ्याम्**=उनसे भिन्न पञ्जों से **एनं प्राशीः**=यदि तू इस ब्रह्मौदन को खाता है तो **एनं आह**=वह तत्त्वद्रष्टा इसे कहता है कि **सर्पः त्वा हनिष्यति इति**=कुटिल गति (Serpentive motion) तुझे नष्ट कर डालेगी। **अहम्**=मैं तो **तं वै**=उस ब्रह्मौदन को निश्चय से **न अर्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्**=न केवल यहाँ—नीचे पृथिवी के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला, न सुदूर द्युलोक के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला और न ही सम्मुखस्थ अन्तरिक्षलोक के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला मानता हूँ। मैंने **एनम्**=इस ब्रह्मौदन को **ताभ्याम्**=उन **सवितुः प्रपदाभ्याम्**=निर्माता के पञ्जों से ही **प्राशिषम्**=खाया है, **ताभ्यां एनं अजीगमम्**=उन्हीं के हेतु से इसे प्राप्त किया है। **एषः वा ओदनः०** (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—इन पञ्जों (प्रपदों) में भी प्रभु की रचना की महिमा को देखता हुआ मैं सदा निर्माणात्मक कार्यों के लिए ही गतिशील होता हूँ। कुटिलगति से मैं सदा दूर रहता हूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**साम्नीत्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरीगायत्री, साम्न्यनुष्टुप्, आर्च्यनुष्टुप्, याजुषीगायत्री** ॥

ऋतस्य हस्ताभ्याम्

ततश्चैनमन्याभ्यां हस्ताभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
ब्राह्मणं हनिष्यसीत्यैनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
ऋतस्य हस्ताभ्याम्। ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ४८ ॥

१. प्रभु ने हाथ दिये हैं। इनसे हमें सदा उत्तम कर्मों (ऋत=right) को ही करना है। **ततः च**=और तब **याभ्यां च हस्ताभ्याम्**=जिन हाथों से **एतम्**=इस ब्रह्मौदन को **पूर्वे ऋषयः**=पालक तत्त्वद्रष्टाओं ने **प्राश्नन्**=खाया है, **अन्याभ्याम्**=उनसे भिन्न हाथों से **एनं प्राशीः**=इसे खाता है, तो **एनम् आह**=इसे तत्त्वद्रष्टा कहता है कि **ब्राह्मणं हनिष्यसि इति**=ब्रह्मज्ञान को तू नष्ट करनेवाला होगा। ऋत के पालन से ब्रह्मज्ञान की वृद्धि होती है और ऋत का विनाश ब्रह्मज्ञान के विनाश का हेतु बनता है। **अहम्**=मैं **वै तम्**=निश्चय से उस ब्रह्मौदन को **न अर्वाञ्चम्**=न केवल नीचे पृथिवी के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला मानता हूँ **न पराञ्चम्**=न सुदूर द्युलोक के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला और न ही **न प्रत्यञ्चम्**=सम्मुखस्थ अन्तरिक्षलोक के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला। मैं तो **ताभ्याम् ऋतस्य हस्ताभ्याम्**=उन ऋत के हाथों से **एनं प्राशिषम्**=इस ब्रह्मौदन को खाता हूँ, **ताभ्यां एनम् अजीगमम्**=ऋत के हाथों से ही इसे प्राप्त करता हूँ। २. **एषः वा ओदनः०** (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—हम वेद से प्रेरणा प्राप्त करके सदा हाथों से ऋत (ठीक कर्मों) को ही करनेवाले बनें। ऋत का पालन हमारे ब्रह्मज्ञान की वृद्धि का कारण बनेगा।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**साम्नीत्रिष्टुप्, एकपदाऽऽसुरीगायत्री, एकपदाऽऽसुर्यनुष्टुप्, साम्न्यनुष्टुप्, आर्च्यनुष्टुप्, दैवीत्रिष्टुप्, एकपदा भूरिक्साम्नीबृहती** ॥

सत्ये प्रतिष्ठाय

ततश्चैनमन्यया प्रतिष्ठया प्राशीर्यया चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्।
अप्रतिष्ठानोऽनायतनो मरिष्यसीत्यैनमाह।
तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्।
सत्ये प्रतिष्ठाय। तयैनं प्राशिषं तयैनमजीगमम्।
एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः।
सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद॥ ४९ ॥

१. इस पृथिवी पर गति करते हुए हम इस पृथिवी को प्रतिष्ठा (आधार) समझते हैं, परन्तु वास्तव में प्रतिष्ठा तो 'सत्य' है—सत्यस्वरूप प्रभु ही अन्तिम आधार है। **ततः च**=और तब **यया च प्रतिष्ठया**=जिस सत्यरूप आधार के विचार से **पूर्वे ऋषयः**=पालक तत्त्वद्रष्टाओं ने **एतं प्राश्नन्**=इसे ब्रह्मौदन को खाया है, **अन्यया**=उससे भिन्न अन्न लौकिक आधारों के द्वारा **प्राशीः**=तू ब्रह्मौदन को खाता है, तो **एनम् आह**=तत्त्वद्रष्टा इसे कहता है कि **अप्रतिष्ठानः**=आधारशून्य हुआ-हुआ **अनायतनः**=बिना घर-बारवाला **मरिष्यसि इति**=तू मर जाएगा। **अहम्**=मैं तो **तं वै**=उस ब्रह्मौदन को निश्चय से **न अर्वाञ्चम्**=न केवल नीचे पृथिवी के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला, **न**

पराञ्चम्=न सुदूर द्युलोक के पदार्थों का ज्ञान देनेवाला और **न प्रत्यञ्चम्**=न ही सम्मुखस्थ अन्तरिक्ष-लोक के पदार्थों का ही ज्ञान देनेवाला जानता हूँ। **सत्ये प्रतिष्ठाय**=सत्य में ही प्रतिष्ठित होकर **तया**=उस सत्य में प्रतिष्ठा के द्वारा ही **एनं प्राशिषम्**=इस ब्रह्मौदन को खाया है, **तया एनम् अजीगमम्**=उस सत्यप्रतिष्ठा के द्वारा ही इसे प्राप्त किया है। २. **एषः वा ओदनः०** (शेष पूर्ववत्)

भावार्थ—हम वेद से प्रेरणा प्राप्त करके सत्य को ही अपना आधार समझें। अन्य आधार धोखा दे जाते हैं। सत्यस्वरूप प्रभु ही हमारे सच्चे आधार हैं।

३. [तृतीयं सूक्तम्, तृतीयः पर्यायः]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**५० आसुर्यनुष्टुप्, ५१ आर्च्युष्णिक्** ॥

ब्रध्नस्य विष्टपम्

एतद्वै ब्रध्नस्य विष्टपं यदोदनः ॥ ५० ॥
ब्रध्नलोको भवति ब्रध्नस्य विष्टपि श्रयते य एवं वेद ॥ ५१ ॥

१. **यत् एतत् ओदनः**=यह जो ब्रह्मौदन—सुखों से हमें सिक्त करनेवाला वेदज्ञान है, वह **वै**=निश्चय से **ब्रध्नस्य**=इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अपने में बाँधनेवाले महान् प्रभु का (ब्रह्मा का) **विष्टपम्**=लोक है, अर्थात् यह वेदज्ञान हमें प्रभु की ओर ले-चलनेवाला है। २. **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार इस ओदन के आधार को समझ लेता है, वह **ब्रध्नलोकः भवति**=ब्रह्मलोकवाला होता है, अर्थात् **ब्रध्नस्य विष्टपि**=उस सब ब्रह्माण्ड को अपने में बाँधनेवाले महान् प्रभु के लोक में **श्रयते**=आश्रय करता है।

भावार्थ—यह ब्रह्मौदन (वेदज्ञान) ब्रह्म का लोक है। वेद को समझनेवाला पुरुष ब्रह्मलोक को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**५२ त्रिपदाभुरिक्साम्नीत्रिष्टुप्; ५३ आसुरीबृहती** ॥

ओदन से तेतीस लोक

एतस्माद्वा ओदनात्त्रयस्त्रिंशतं लोकान्निरमिमीत प्रजापतिः ॥ ५२ ॥
तेषां प्रज्ञानाय यज्ञमसृजत ॥ ५३ ॥

१. **प्रजापतिः**=परमात्मा ने **एतस्मात् वै ओदनात्**=निश्चय से इस ओदन (वेदज्ञान) से ही **त्रयस्त्रिंशतम्**=तेतीस **लोकान्**=लोकों को **निरमिमीत**=बनाया। '**वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे**' यह मनुवाक्य इसी भाव को व्यक्त कर रहा है। शब्द से सृष्टि की उत्पत्ति का सिद्धान्त सब प्राचीन साहित्यों में उपलभ्य है। २. **तेषाम्**=उन लोकों के **प्रज्ञानाय**=प्रकृष्ट ज्ञान के लिए प्रभु ने **यज्ञम् असृजत**=यज्ञ की उत्पत्ति की। '**यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु**'=देवपूजा (बड़ों का आदर), परस्पर प्रेम (प्रणीतिरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सह) तथा आचार्य के प्रति अपना अर्पण कर देना, ये तीन उपाय प्रभु ने **असृजत**=रचे। 'देवपूजा, संगतिकरण व दान' से ही ज्ञान की प्राप्ति सम्भव है।

भावार्थ—वेद-शब्दों से ही सृष्टि की उत्पत्ति हुई। इन्हें समझने के लिए आवश्यक है कि हम बड़ों का आदर करें, परस्पर प्रीतिपूर्वक वर्तें तथा आचार्यों के प्रति अपने को दे डालें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**५४ द्विपदा भुरिक्साम्नीबृहती; ५५ साम्न्युष्णिक्; ५६ प्राजापत्याबृहती** ॥

प्राणरोध—शीघ्रमृत्यु

स य एवं विदुष उपद्रष्टा भवति प्राणं रुणद्धि ॥ ५४ ॥

न च प्राणं रुणद्धि सर्वज्यानिं जीयते॥ ५५॥

न च सर्वज्यानिं जीयते पुरैनं जरसः प्राणो जहाति॥ ५६॥

१. **यः**=जो **एवम्**=इसप्रकार **विदुषः**=सृष्टितत्त्व के ज्ञाता का—ओदन के महत्त्व को समझनेवाले का **उपद्रष्टा**=आलोचक (निन्दक) **भवति**=होता है **सः**=वह **प्राणं रुणद्धि**=प्राणशक्ति का निरोध कर बैठता है—उसकी प्राणशक्ति क्षीण हो जाती है। २. **न च प्राणं रुणद्धि**=और केवल प्राणशक्ति का निरोध ही नहीं कर बैठता, वह **सर्वज्यानिं जीयते**=सब प्रकार की हानि का भागी होता है—वह सर्वस्व खो बैठता है। **न च सर्वज्यानिं जीयते**=न केवल सर्वस्व खो बैठता है, अपितु **प्राणः**=प्राण—जीवन **एनम्**=इसे **जरसः पुरा जहाति**=बुढ़ापे से पहले ही छोड़ जाता है, अर्थात् युवावस्था में ही समाप्त हो जाता है।

भावार्थ—जो ज्ञान के महत्त्व को न समझता हुआ ज्ञान-प्रवण नहीं होता, बल्कि ज्ञानियों की आलोचना ही करता है, वह प्राणशक्ति के ह्रास—सर्वनाश व शीघ्रमृत्यु का भागी बनता है।

गत सूक्तों में वर्णित ब्रह्मज्ञान में अपने को परिपक्व करनेवाला 'भार्गव' बनता है। यह उस 'स उ प्राणस्य प्राणः' प्राणों के भी प्राण प्रभु से अपना मेल बनाकर 'वैदर्भि' (दृभ् to tie, fasten, string together) कहलाता है। यह 'भार्गव वैदर्भि' 'प्राण' नाम से प्रभु का स्तवन करता है कि—

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**शङ्कुमत्यनुष्टुप्**॥

प्राणात्मा प्रभु को प्रणाम

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे। यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम्॥ १॥

१. उस **प्राणाय**=('सर्वप्राणिशरीरं व्याप्य चेष्टते—हिरण्यगर्भः'—सा०) सबके प्राणभूत प्रभु के लिए **नमः**=नमस्कार हो, **यस्य**=जिस प्राणप्रभु के **इदं सर्वं वशे**=यह सम्पूर्ण चराचरात्मक जगत् वश में है, **यः**=जो प्राणों का प्राण प्रभु **भूतः**=(सर्वदा लब्धसत्ताकः, भूतकालावच्छिन्नः, न तु भविष्यन्) सदा से हैं—'वे कभी होंगे' ऐसा उनके लिए नहीं कहा जाता। **सर्वस्य ईश्वरः**=सब प्राणिजात के ईश हैं—कर्मानुसार विविध योनियों में प्राप्त करानेवाले हैं। **यस्मिन्**=जिस प्राणात्मा प्रभु में **सर्वं प्रतिष्ठितम्**=सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है—'जो सर्वाधार हैं' उन प्रभु के लिए हम प्रणाम करते हैं।

भावार्थ—हम प्राणात्मा प्रभु को प्रणाम करते हैं। उन्हीं के वश में यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड है। वे प्रभु सदा से हैं, सबके ईश्वर हैं, सबकी प्रतिष्ठा (आधार) हैं।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मेघात्मा प्रभु

नमस्ते प्राण क्रन्दाय नमस्ते स्तनयित्नवे। नमस्ते प्राण विद्युते नमस्ते प्राण वर्षते॥ २॥

१. मेघरूप में वे प्राणप्रभु ही वृष्टि करते हैं। हे **प्राण**=सबको प्राणित करनेवाले मेघरूप प्रभो! **क्रन्दाय ते नमः**=बादलों की घटा में प्रवेश करके ध्वनि करते हुए आपके लिए नमस्कार हो। **स्तनयित्नवे ते नमः**=उसी प्रकार स्तनित व गर्जित करते हुए आपके लिए नमस्कार हो। २. हे **प्राण**=प्राणात्मा प्रभो! **विद्युते ते नमः**=विद्युद्रूप से विद्योतमान आपके लिए प्रणाम हो और तब हे **प्राण**=सबके प्राणभूत प्रभो! **वर्षते ते नमः**=वृष्टि करते हुए आपके लिए प्रणाम हो।

भावार्थ—प्रभु ही मेघों में क्रन्दन व गर्जन करते हैं। उन्हीं की शक्ति व व्यवस्था से ही सब विद्योतन व वर्षण होता है।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सूर्यात्मा प्रभु

यत्प्राण स्तनयित्नुनाऽभिक्रन्दत्योषधीः। प्र वीयन्ते गर्भान्दधतेऽथो बह्वीर्वि जायन्ते॥ ३॥

१. **यत्**=(यदा) जब **प्राणः**=जगत् प्राणभूत सूर्यात्मक देव **स्तनयित्नुना**=मेघध्वनि से **ओषधीः अभिक्रन्दति**=व्रीहि-यवादि ग्राम्य व आरण्य लताओं के प्रति शब्द करता है, तब वे ओषधियाँ **प्रवीयन्ते**=प्राणाभिक्रन्दनमात्र से ही गर्भ को ग्रहण करती हैं—प्रजननाभिमुख होती हैं। वर्षाऋतु सब ओषधियों के गर्भग्रहण का काल है ही, तब ये ओषधियाँ **गर्भान् दधते**=गर्भों को धारण करती हैं। **अथो**=तदनन्तर **बह्वीः**=बहुत प्रकारोंवाली **विजायन्ते**=उत्पन्न होती हैं।

भावार्थ—सूर्य व मेघ आदि में प्राणरूप से स्थित प्रभु मानो ओषधियों को लक्ष्य करके मेघध्वनि से शब्द करते हैं। तब प्रजननाभिमुख हुई-हुई ये ओषधियाँ गर्भग्रहण करती हैं और विविधरूपों में प्रादुर्भूत हो जाती हैं।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वृष्टि व प्राणिमात्र की प्रसन्नता

यत्प्राण ऋतावागतेऽभिक्रन्दत्योषधीः।
सर्वं तदा प्र मोदते यत्किं च भूम्यामधि॥ ४॥

१. **यत्**=जब **प्राणः**=प्राणदाता—प्राणशक्ति का पुञ्ज प्रभु **ऋतौ आगते**=ऋतु के—वर्षाकाल के आने पर **ओषधीः अभिक्रन्दति**=ओषधियों के प्रति मेघध्वनि से आक्रन्दन करता है **तदा**=तब **भूम्याम् अधि**=इस पृथिवी पर **यत् किञ्च**=जो कोई प्राणिसमूह है, **सर्वं प्रमोदते**=वह सब प्रसन्न हो उठता है।

भावार्थ—ग्रीष्म से सन्तप्त प्राणिसमूह मेघध्वनि को सुनते ही प्रफुल्लित हो उठता है।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वर्षम्—महः

यदा प्राणो अभ्यवर्षीद्वर्षेण पृथिवीं महीम्।
पशवस्तत्प्र मोदन्ते महो वै नो भविष्यति॥ ५॥

१. **यदा**=जब **प्राणः**=यह प्राणदाता मेघात्मा प्रभु **महीं पृथिवीम्**=इस महती विस्तीर्ण भूमि को **वर्षेण अभ्यवर्षीद्**=वृष्टि द्वारा अभितः सिक्त करता है, **तत्**=तब **पशवः प्रमोदन्ते**=सब पशु प्रसन्न होते हैं कि **नः महः भविष्यति**=हमारा तो अब उत्सव होगा। वृष्टि से पृथिवी पर सर्वत्र खूब सस्य उत्पन्न होंगे और उनके खाने से हमारा समुचित पोषण होगा।

भावार्थ—वृष्टि से अन्न व अन्न से प्राणियों का जीवन होता है। इसप्रकार मेघध्वनि होने पर उज्ज्वल उत्सव की कल्पना करके सब पशु प्रसन्न होते हैं।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ओषधियों का कृतज्ञता प्रकाशन

अभिवृष्टा ओषधयः प्राणेन समवादिरन्।
आयुर्वै नः प्रातीतरः सर्वा नः सुरभीरकः॥ ६॥

१. प्रभु ने ओषधियों के विकास के लिए वृष्टि की। ये **अभिवृष्टाः ओषधयः**=वृष्टिजल से सिक्त हुई-हुई ओषधियाँ **प्राणेन समवादिरन्**=प्राणात्मा प्रभु से संवाद करती हैं कि हे प्रभो!

वै=निश्चय से तूने **नः आयुः**=हमारी आयु को **प्रातीतरः**=बढ़ाया है और **न सर्वाः**=हम सबको **सुरभीः अकः**=सुगन्धवाला किया है।

भावार्थ—वे प्राणात्मा प्रभु ही मेघरूप से वृष्टि करके सब ओषधिओं को उत्पन्न करते हैं और इन्हें सुगन्ध से युक्त करते हैं।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सब क्रियाओं का निर्वर्तक 'प्राण'

नम॑स्ते अस्त्वाय॒ते नमो॑ अस्तु पराय॒ते।
नम॑स्ते प्राण॒ तिष्ठ॑त॒ आसी॑नायो॒त ते॒ नमः॑ ॥ ७॥

१. प्रभु-प्रदत्त प्राणशक्ति से ही सब कार्यों की सिद्धि होती है। आगमनादि सब क्रियाएँ प्राण-व्यापार से ही निर्वर्त्य हैं, अतः कहते हैं कि हे प्राण! **आयते ते नमः अस्तु**=आगमन क्रिया करते हुए तेरे लिए नमस्कार हो। **परायते नमः अस्तु**=पराङ्मुख जाते हुए तेरे लिए नमस्कार हो। हे प्राण! **तिष्ठते ते नमः**=जहाँ कहीं भी स्थित हुए-हुए तेरे लिए नमस्कार हो, **उत**=और **आसीनाय ते नमः**=उपविष्ट हुए-हुए तेरे लिए नमस्कार हो।

भावार्थ—प्रभु-प्रदत्त प्राणों से होती हुई विविध क्रियाओं को देखकर हम प्रभु के प्रति प्रणत हों।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

पराचीनाय—प्रतीचीनाय

नम॑स्ते प्राण प्राण॒ते नमो॑ अस्त्वपान॒ते।
परा॒चीना॑य ते॒ नमः॑ प्रती॒चीना॑य ते॒ नमः॒ सर्व॑स्मै त इ॒दं नमः॑ ॥ ८॥

१. हे **प्राण**=प्राण! **प्राणते ते नमः**=प्राणन-व्यापार करते हुए तेरे लिए नमस्कार हो, **अपानते नमः अस्तु**=अपानन-व्यापार करते हुए तेरे लिए नमस्कार हो। **पराचीनाय**=(पराञ्चनाय) परागमन स्वभाववाले देह से बाहर अवस्थित **ते नमः**=तेरे लिए नमस्कार हो। **प्रतीचीनाय**=(प्रतिमुखं अञ्चते) प्रतिमुख आते हुए देहमध्य में वर्तमान **ते**=तेरे लिए **नमः**=नमस्कार हो। संक्षेप में, **सर्वस्मै ते**=सब व्यापारों को करनेवाले सर्वप्राणिशरीरान्तर्वर्ती **ते**=तेरे लिए **इदं नमः**=यह नमस्कार हो।

भावार्थ—प्राणापान आदि क्रियाओं को शरीर में प्रवृत्त करानेवाले उस प्राणों के प्राण प्रभु के लिए हमारा नमस्कार हो।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

न केवल प्रिया, अपितु प्रेयसी 'तनूः'

या ते॑ प्राण प्रि॒या त॒नूर्यो ते॑ प्राण॒ प्रेय॑सी।
अथो॒ यद्भे॑ष॒जं तव॒ तस्य॑ नो धेहि जी॒वसे॑॥ ९॥

१. प्राण का व्यापार ठीक से होने पर शरीर बड़ा सुन्दर बनता है—सुन्दर ही क्या इसकी स्थिति अत्यन्त सुन्दर होती है, अतः कहते हैं कि हे **प्राण**=प्राण! **या**=जो **ते**=तेरा **प्रिया तनूः**=स्वस्थ अतएव प्रीतिकर शरीर है, **या उ**=और जो निश्चय से, हे **प्राण**=प्राण! **ते प्रेयसी**=(तनूः) तेरा अतिशयित प्रीति करनेवाला शरीर है **अथो**=और **यत्**=जो **तव भेषजम्**=तेरा औषधगुण है, **तस्य नः धेहि**=उसे हमारे लिए धारण कर, **जीवसे**=जिससे हम उत्तम जीवनवाले बनें।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें प्राणसाधना द्वारा वह प्राणशक्ति प्राप्त हो, जिससे कि हमारी तनू (शरीर) नीरोग व प्रिय (सुन्दर) बने।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सर्वस्य ईश्वरः प्राणः

प्राणः प्रजा अनु वस्ते पिता पुत्रमिव प्रियम्।
प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न॥ १०॥

१. **प्राणः**=प्राण **प्रजाः**=देव, तिर्यङ्, मनुष्य आदि सब प्रजाओं को **अनुवस्ते**=अनुक्रमेण आच्छादित किये हुए हैं। उनके शरीरों को नाड़ियों के द्वारा व्याप्त करके रह रहा है। यह प्राण प्रजाओं को इसप्रकार आच्छादित किये हुए हैं, **इव**=जैसेकि पिता **प्रियं पुत्रम्**=अपने प्रिय पुत्र को अपने वस्त्र से आच्छादित करता है। २. **यत् च**=और जो जङ्गमात्मक वस्तु **प्राणति**=प्राणन-व्यापार करती है **यत् च न**=और जो स्थावरात्मक वस्तु प्राणन-व्यापार नहीं करती, **प्राणः**=प्राण **ह**=निश्चय से **सर्वस्य**=उस सबका **ईश्वरः**=ईश्वर है। स्थावरों में भी आत्मा से अविनाभूत यह प्राण निरुद्धगतिवाला होता हुआ अन्दर है ही।

भावार्थ—प्राण सब प्रजाओं को अपने से आच्छादित करके सब रोगों के आक्रमणों से बचाता है।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्राणसाधना से उत्तम लोक

प्राणो मृत्युः प्राणस्तक्मा प्राणं देवा उपासते।
प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोक आ दधत्॥ ११॥

१. **प्राणः मृत्युः**=यह 'प्राण' देव ही अपने निर्गमन के द्वारा सब प्राणियों का मारणकर्ता होता है तथा **प्राणः तक्मा**=प्राण ही, पूर्ण स्वस्थगतिवाला न होता हुआ, ज्वरादि रोगों का कारण बनता है। **देवाः**=शरीरस्थ सब इन्द्रियाँ **प्राणं उपासते**=इस प्राण की ही उपासना करती हैं—सब इन्द्रियों में वस्तुतः प्राणशक्ति ही कार्य करती है। **'प्राणः वाव इन्द्रियाणि'**। २. **प्राणः ह**=प्राण ही निश्चय से **सत्यवादिनम्**=सत्यवादी पुरुष को **उत्तमे लोके आदधत्**=उत्तम लोक में धारण करता है। प्राणसाधना से जैसे शरीर से रोग नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार इस साधना से मन से असत्य दूर भाग जाता है, इसप्रकार इस साधक की उत्तम गति होती है।

भावार्थ—प्राण का बहिर्गमन ही मृत्यु है, इसकी अस्वस्थ गति ही रोग है। सब इन्द्रियों में प्राणशक्ति ही कार्य करती है। प्राणसाधना से मानस दोष भी दूर होकर उत्तम लोक की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'प्राणः' विराट्

प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री प्राणं सर्व उपासते॥
प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहुः प्रजापतिम्॥ १२॥

१. **प्राणः**=सारे ब्रह्माण्ड को प्राणित करनेवाला प्रभु ही **विराट्**=इस स्थूल प्रपञ्च का अधिष्ठाता (शासक) ईश्वर है। वह **प्राणः**=प्राणशक्ति देनेवाला प्रभु ही **देष्ट्री**=अपने-अपने व्यापारों में सबको प्रेरित करनेवाला है **प्राणम्**=इस 'विराट् देष्ट्री' प्राण को ही **सर्वे उपासते**=सब लोग स्वाभिलषित की सिद्धि के लिए सेवित करते हैं। २. **प्राणः ह**=सबको प्राणित करनेवाले प्रभु ही **सूर्यः चन्द्रमाः**=सबके प्रेरक 'आदित्य' व अमृतमय 'सोम' हैं, प्रभु 'अग्नीषोमात्मक' हैं। **प्राणम्**=इस प्राण को ही **प्रजापतिम् आहुः**=प्रजाओं का स्रष्टा देव कहते हैं।

भावार्थ—प्राणों के भी प्राण प्रभु इस ब्रह्माण्डरूप शरीर के अधिष्ठाता 'विराट्' हैं। वे ही सबके कर्त्तव्यों का निर्देश करनेवाले हैं। सब लोग इस प्राण की ही उपासना करते हैं। वह प्राण ही सूर्य-चन्द्र व प्रजापति हैं। अग्नीषोमात्मक होता हुआ यह प्राण ही सब प्रजाओं का पालक है।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

व्रीहि+यव=अपान+प्राण

प्राणापानौ व्रीहियवावनड्वान्प्राण उच्यते।
यवे ह प्राण आहितोऽपानो व्रीहिरुच्यते॥ १३॥

१. इस संसार में **व्रीहि-यवौ**=चावल और जौ **प्राणापानौ**=प्राण और अपान हैं। **यवे**=जौ में **ह**=निश्चय से **प्राणः आहितः**=प्राणशक्ति स्थापित हुई है और **व्रीहि**=चावल **अपानः उच्यते**=अपान कहा जाता है—सब दोषों का अपनयन करनेवाला है। २. वस्तुतः **प्राणः**=प्राण ही **अनड्वान्** (अनसः जीवनस्य वाहकः)=जीवन-शकट का वहन करनेवाला **उच्यते**=कहा जाता है। 'अपान' आदि सब मुख्यप्राण के ही अवान्तर रूप हैं।

भावार्थ—प्राणात्मा प्रभु ने जीवन-शकट के वहन के लिए शरीर में प्राणापान की स्थापना की है। इनके पोषण के लिए प्रभु ने 'यव व व्रीहि' नामक धान्यों को प्राप्त कराया है।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥

सर्वोत्पादक 'प्राण'

अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा।
यदा त्वं प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुनः॥ १४॥

१. **पुरुषः**=अन्न-रस परिणामरूप शरीर को धारण करनेवाला पुरुष **गर्भे अन्तरा**=स्त्री के गर्भाशय के मध्य में **अपानति प्राणति**=प्राण का प्रवेश होने पर अपान व प्राणन-व्यापारों को करता है। हे प्राण! तू शुक्रशोणितावस्था में ही पुरुषशरीर में प्रवेश करके उसके परिणाम के लिए प्राणापान वृत्तियों को पैदा करता है। २. हे **प्राण**=प्राणात्मन् प्रभो! **यदा**=जब आप **जिन्वसि**=गर्भीभूत पुरुष को मातृयुक्त आहार से परिणत अन्न-रस से प्रीणित(पुष्ट) करते हो, **अथ**=तब ही **सः पुनः जायते**=वह पुरुष स्वार्जित परिपक्व पुण्य-पाप के फल के उपभोग के लिए पुनः भूमि पर उत्पन्न होता है।

भावार्थ—मातृगर्भ में प्राण का प्रवेश होने पर ही प्राणापान का व्यापार चलता है। प्राण ही गर्भीभूत पुरुष को पुष्ट करके पृथिवी पर जन्म देता है।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्** ॥

प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्

प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते।
प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्॥ १५॥

१. **प्राणम्**=उस जीवनदाता प्रभु को ही **मातरिश्वानम् आहुः**=मातरिश्वा 'मातरि अन्तरिक्षे श्वसिति वर्तते'—सम्पूर्ण आकाश में व्याप्तिवाला कहते हैं। **प्राणः ह**=वह प्राण ही **वातः उच्यते**=सर्वजगदाधारभूत सूत्रात्मा वायु कहलाता है। २. **प्राणे**=इस सर्वव्यापक सर्वजगदाधारभूत प्राणात्मा प्रभु में ही **ह**=निश्चय से **भूतं भव्यं च**=भूतकालावच्छिन्न उत्पन्न जगत् तथा भविष्यत् कालावच्छिन्न उत्पत्स्यमान जगत् आश्रित है। बहुत क्या कहना, **सर्वं**=यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड **प्राणे**

प्रतिष्ठितम्=उस प्राणात्मा प्रभु में प्रतिष्ठित है।

भावार्थ—प्राणात्मा प्रभु ही सर्वव्यापक व सर्वाधार हैं। उन्हीं में भूत व भव्य सब-कुछ प्रतिष्ठित है।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

चार प्रकार की ओषधियाँ

आथर्वणीराङ्गिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत।
ओषधयः प्र जायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि॥ १६ ॥

१. जो ओषधियाँ मन की स्थिरता में सहायक होती हैं वे (अ-थर्व) 'आथर्वणी' कहाती हैं। अंग-प्रत्यंग में रस का सञ्चार करनेवाली ओषधियाँ 'आंगिरसी' हैं। देवों, अर्थात् सब इन्द्रियों को निर्दोष व सशक्त बनानेवाली ओषधियाँ 'दैवी' हैं। विचारपूर्वक कर्म करनेवाले मनुष्य 'मत्वा कर्माणि सीव्यति' को जन्म देनेवाली 'मनुष्यजा' कहलाती हैं। ये '**आथर्वणीः, आंगिरसीः, दैवीः उत मनुष्यजाः**'=आथर्वणी, आंगीरसी, दैवी और मनुष्यजा **ओषधयः**=ओषधियाँ **प्रजायन्ते**=तभी पैदा होती हैं, **यदा**=जब हे **प्राण**=प्राणात्मन् प्रभो! **त्वं जिन्वसि**=आप प्रीणित करते हैं। हे प्राण! आप ही वृष्टिप्रदान से इन ओषधियों का पोषण करते हैं।

भावार्थ—प्रभुकृपा से वृष्टि होकर उन विविध ओषधियों की उत्पत्ति होती है, जोकि 'मानस स्थिरता में सहायक होती हैं, अंग-प्रत्यगों में रस का सञ्चार करती हैं, इन्द्रियों को निर्दोष व सशक्त बनाती हैं तथा हमें विचारपूर्वक कर्म करनेवाला करती हैं'।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ओषधयः-वीरुधः

यदा प्राणो अभ्यवर्षीद्वर्षेण पृथिवीं महीम्।
ओषधयः प्र जायन्तेऽथो याः काश्च वीरुधः॥ १७ ॥

१. **यदा**=जब **प्राणः**=वे प्राणात्मा प्रभु मेघरूप में इस **महीं पृथिवीम्**=महनीय पृथिवी को **वर्षेण अभ्यवर्षीत्**=वृष्टि से सिक्त करते हैं, तब **ओषधयः**=व्रीहि-यव आदि ओषधियाँ, **अथो**=और अब **याः काः च**=जो कोई नाना रूपवाली **वीरुधः**=विरोहणशील लताएँ हैं, वे सब भी **प्रजायन्ते**=प्रादुर्भूत हो उठती हैं—भूगर्भ से ऊपर उठती दिखने लगती हैं।

भावार्थ—प्राण-प्रदाता प्रभु मेघात्मा होकर इस महनीय पृथिवी को वृष्टि से सींचते हैं, तब विविध ओषधियों व लताओं का पृथिवीगर्भ से प्रादुर्भाव होता है।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रभुस्मरण व अमृतत्व

यस्ते प्राणेदं वेद यस्मिंश्चासि प्रतिष्ठितः।
सर्वे तस्मै बलिं हरानमुष्मिँल्लोक उत्तमे॥ १८ ॥

१. हे **प्राण**=प्राणशक्ति के पुञ्ज प्रभो! **ते**=आपके **इदम्**=इस ऊपर वर्णित माहात्म्य को **यः वेद**=जो जानता है, **यस्मिन् च**=और जिस विद्वान् में **प्रतिष्ठितः असि**=आप भाव्यमान (सदा स्मरणीय) होते हो, **तस्मै**=उस ज्ञानी पुरुष के लिए **अमुष्मिन् उत्तमे लोके**=उस स्वर्गतुल्य उत्तम लोक में **सर्वे**=सब देव—सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, अग्नि आदि प्राकृतिक शक्तियाँ—**बलिम्**=अमृतमय भाग को **हरान्**=प्राप्त कराते हैं, एवं यह प्रकाशमय व स्वस्थ जीवनवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु-महिमा को जानने व स्मरण करनेवाला पुरुष स्वर्गतुल्य उत्तम लोक में

निवास करता है। सूर्य-चन्द्र आदि सब देवों की उसके लिए अनुकूलता होकर उसे अमृतत्व (नीरोगता) प्राप्त होती है।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'प्रभुवाणी' श्रवण

यथा प्राण बलिहृतस्तुभ्यं सर्वाः प्रजा इमाः।
एवा तस्मै बलिं हरान्यस्त्वा शृणवत्सुश्रवः॥ १९॥

१. हे **प्राणः**=प्राणात्मन् प्रभो! **यथा**=जैसे **इमाः सर्वाः प्रजाः**=ये सब प्रजाएँ **तुभ्यं बलिहृतः**=आपके लिए उपहार लानेवाली होती हैं—ब्रह्मयज्ञ के रूप में संसार में ज्ञानवृद्धि के लिए अपनी आय का कुछ अंश देती हैं, **एव**=इसी प्रकार **तस्मै बलिं हरान्**=उसके लिए भी बलि लाती हैं, **यः**=जो हे **सुश्रवः**=हमारी प्रार्थनाओं को सुननेवाले प्रभो! **त्वा शृणवत्**=आपसे उच्चरित इन वेदवचनों को सुनता है।

भावार्थ—हम प्रभु वाणियों को सुनेंगे तो प्रभु के प्रिय बनकर सब प्रजाओं के भी प्रिय होंगे।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुब्गर्भात्रिष्टुप्** ॥

गर्भरूप से रहनेवाला 'प्राण' प्रभु

अन्तर्गर्भश्चरति देवतास्वाभूतो भूतः स उ जायते पुनः।
स भूतो भव्यं भविष्यत्पिता पुत्रं प्र विवेशा शचीभिः॥ २०॥

१. **देवतासु**=सूर्य, चन्द्र, विद्युत्, अग्नि आदि सब देवों में **गर्भः**=गर्भरूप होता हुआ **अन्तः चरति**=अन्दर विचरण करता है। **आभूतः**=समन्तात् व्याप्त हुआ-हुआ **भूतः**=(जातः) नित्य होता हुआ **सः उ**=वह प्राण ही **पुनः जायते**=उस-उस शरीर के साथ फिर उत्पन्न-सा होता है। २. **भूतः**=नित्य वर्त्तमान **सः**=यह प्राण **भूतम्**=भूतकालावच्छिन्न वस्तु को, **भविष्यत्**=भाविकालावच्छिन्न उत्पत्स्यमान वस्तु को **शचीभिः**=अपनी शक्तियों से **प्रविवेश**=इसप्रकार प्रविष्ट होता है, जैसेकि **पिता पुत्रम्**=पिता अपने पुत्र में अपने अवयवों से प्रविष्ट होता है। प्राण पिता है, यह उत्पन्न जगत् उसका पुत्र है। इसमें वह प्रविष्ट है।

भावार्थ—सूर्यादि सब देवों में वह प्राणात्मा प्रभु प्रविष्ट हुए-हुए हैं, इसी से ये देव देवत्व को प्राप्त हुए हैं। भूत, भविष्यत् सभी वस्तुओं में प्रभु ही अपनी शक्तियों से प्रविष्ट हैं।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**मध्येज्योतिर्जगती** ॥

सूर्यात्मा प्रभु

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्। यदङ्ग स
तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री नाहः स्यान्न व्यु च्छेत्कदा चन॥ २१॥

१. **हंसः**=(हन्ति गच्छति) सर्वत्र गतिवाला जगत्प्राणभूत प्रभु **सलिलात्**=इस जलप्रवाहवत् प्रवाहरूप संसार से **उच्चरन्**=ऊपर उठता हुआ **एकं पादं नः उत्खिदति**=एक पाद (अंश) को उद्धृत नहीं करता। एक पाद को इस ब्रह्माण्ड में निश्चल स्थापित करता है। **'त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः'**। २. हे **अंग**=प्रिय! **सः**=वह ऊपर उठता हुआ सूर्यात्मा प्रभु **यत्**=यदि **तम्**=उस यहाँ निहित एक पाद को **उत्खिदेत्**=उद्धृत करले तो **न एव अद्य न श्वः स्यात्**='आज और कल' का यह सब व्यवहार समाप्त हो जाए, **न रात्री न अहः स्यात्**=न रात हो और न दिन हो और **कदाचन**=कभी भी न **व्युच्छेत्**=(व्युच्छनम् उषसः प्रादुर्भावः) उषा

का प्रादुर्भाव ही न हो। सूर्यात्मा प्रभु के अभाव में काल-व्यवहार का सम्भव है ही नहीं।

भावार्थ—यह जगत् सलिलवत् प्रवाहमय है। इसके निर्माता प्रभु के एकदेश में इसकी स्थिति है। प्रभु के तीन चरण इस ब्रह्माण्ड के ऊपर हैं, प्रभु का एक पाद ही यहाँ ब्रह्माण्ड में है। प्रभु यदि यहाँ न हों तो सूर्यादि के प्रकाश के अभाव में 'आज, कल, दिन-रात व उषा' आदि सब काल-व्यवहारों की समाप्ति ही हो जाए।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अष्टाचक्रं, एकनेमि, सहस्राक्षरम्

अष्टाचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः॥ २२॥

१. **अष्टाचक्रम्**='रस, रुधिर, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा, वीर्य व ओजस्' नामक आठ धातुरूप आठ चक्रोंवाला यह शरीररूप रथ **एकनेमि वर्तते**=प्राणरूप एकनेमि से वेष्टित हुआ-हुआ प्रवृत्त होता है। यह **सहस्राक्षरम्**=सहस्रों अक्षों से युक्त है ('रः' मत्वर्थीयः) अथवा बहुविध व्याप्तिवाला है(अश् व्याप्तौ)। यह रथात्मक शरीर **पुरः**='पुरस्तात्' पूर्वभाग में **प्र** (वर्तते)=प्रवृत्त होता है और **पश्चा नि** (वर्तते) फिर पीछे लौटता है। इसप्रकार प्राण प्राणिशरीरों में प्रवेश करके प्रवृत्ति व निवृत्ति को उत्पन्न करता है। २. सूत्रात्मभावेन स्थित वह प्राणात्मा प्रभु **अर्धेन**=अपने एक पाद (अंश) से **विश्वं भुवनम्**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को **जजान**=प्रादुर्भूत करता है। **अस्य**=इस सूत्रात्मा प्राण का **यत्**=जो अन्य **अर्धम्**=आधा अंश है, वह अपरिच्छिन्न अंश **क-तमः**=(कः सुखम्) अत्यन्त आनन्दमय है, **सः केतुः**=वह प्रकाशमय (A ray of light) है।

भावार्थ—प्रभु ने इस शरीर-रथ को रस आदि आठ धातुरूप चक्रोंवाला बनाया है, प्राण ही इन चक्रों की एकनेमि (वेष्टन) है। यह शरीर-रथ हज़ारों अक्षोंवाला है, आगे और पीछे इसकी प्रवृत्ति होती है। प्राणात्मा प्रभु के एकदेश में ब्रह्माण्ड की सब क्रियाएँ हो रही हैं। प्रभु के त्रिपाद् तो आनन्दमय व प्रकाशमय ही हैं

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

क्षिप्रधन्वा प्राण

यो अस्य विश्वजन्मन ईशे विश्वस्य चेष्टतः।
अन्येषु क्षिप्रधन्वने तस्मै प्राण नमोऽस्तु ते॥ २३॥

१. **यः**=जो प्राण **अस्य**=इस **विश्वजन्मनः**=नानारूप जन्मोंवाले **चेष्टतः**=व्याप्रियमाण—चेष्टा करते हुए—**विश्वस्य**=सम्पूर्ण जगत् का **ईशे**=ईश है, और **अन्येषु**=(अन प्राणने) प्राणिशरीरों में **क्षिप्रधन्वने**=(क्षिवि गत्यर्थः) शीघ्रता से गति व व्याप्तिवाला है। हे प्राण! **तस्मै ते**=तथाविध तुझे **नमः अस्तु**=नमस्कार हो।

भावार्थ—प्राणात्मा प्रभु ही इस सम्पूर्ण संसार के ईश हैं। वे ही सब प्राणिशरीरों में प्राणरूप से व्याप्त हैं। हम उनके लिए नतमस्तक होते हैं।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्रह्मणा मा अनु तिष्ठतु

यो अस्य सर्वजन्मन ईशे सर्वस्य चेष्टतः।
अतन्द्रो ब्रह्मणा धीरः प्राणो मानु तिष्ठतु॥ २४॥

१. **यः**=जो **अस्य**=इस **सर्वजन्मनः**=नानारूप जन्मोंवाले **चेष्टतः**=चेष्टा करते हुए

सर्वस्य=सम्पूर्ण जगत् का **ईशे**=ईश है। वह **अतन्द्रः**=सब प्रकार के आलस्य से रहित—सदा सर्वत्र गतिवाला—**धीरः**=ज्ञानशक्ति से युक्त **प्राणः**=प्राणात्मा प्रभु **ब्रह्मणा**=वेदज्ञान द्वारा **मा अनुतिष्ठतु**=मेरे साथ स्थित हो—वेदज्ञान द्वारा मैं उस प्राणात्मा प्रभु को प्राप्त करूँ।

भावार्थ—प्राणात्मा प्रभु सबके ईश हैं—वे अतन्द्र व धीर हैं। मैं वेदज्ञान द्वारा प्रभु को प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सदा जागरित

ऊर्ध्वः सुप्तेषु जागार ननु तिर्यङ् नि पद्यते।
न सुप्तमस्य सुप्तेष्वनु शुश्राव कश्चन॥ २५॥

१. वे प्राणात्मा प्रभु **सुप्तेषु**=निद्रापरवश प्राणियों में **ऊर्ध्वः जागार**=उत्थित हुए-हुए जाग रहे हैं। रक्षक के सोने का काम ही क्या? **ननु**=निश्चय से सब प्राणी तो **तिर्यङ् निपद्यते**=तिर्यग् अवस्थित हुए-हुए निद्रापरवश होकर सोते हैं, अतः रक्षकभूत आपने तो जागना ही है। २. प्राणियों के **सुप्तेषु**=निद्रापरवश हो जाने पर **अस्य**=उन शरीरों के मध्यवर्ती प्राणात्मा प्रभु के **सुप्तम्**=सोने को **कश्चन**=कोई भी **न अनुशुश्राव**=नहीं सुनता है। प्राणात्मा प्रभु कभी सोते नहीं।

भावार्थ—सब प्राणी सो जाते हैं—सदा जागरित प्राणात्मा प्रभु रक्षा करते हैं, उनका सोना अप्रसिद्ध है।

ऋषिः—**भार्गवो वैदर्भिः** ॥ देवता—**प्राणः** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भाऽनुष्टुप्** ॥

अपां गर्भम् इव

प्राण मा मत्पर्यावृतो न मदन्यो भविष्यसि।
अपां गर्भमिव जीवसे प्राण बध्नामि त्वा मयि॥ २६॥

१. हे **प्राण**=प्राणात्मन् प्रभो! **मत्**=मुझसे **मा पर्यावृतः**=पराङ् मुख मत होओ। हे प्राण! तू **मत् अन्यः न भविष्यसि**=कभी भी मुझसे पृथक् न होगा। मेरे साथ तू तादात्म्यापन्न ही है। हे **प्राण**=प्राणात्मन् प्रभो! मैं **जीवसे**=उत्कृष्ट जीवन की प्राप्ति के लिए **त्वा**=आपको **मयि**=अपने में **बध्नामि**=इसप्रकार बाँधता हूँ, **इव**=जैसे **अपां गर्भम्**=उदक (जल) गर्भभूत वैश्वानर अग्नि को अपने अन्दर धारण करते हैं।

भावार्थ—हम प्राणात्मा प्रभु से कभी पृथक् न हों। प्रभु को इसप्रकार अपने अन्दर धारण करें जैसेकि जल गर्भभूत वैश्वानर अग्नि को धारण करते हैं।

प्राणात्मा प्रभु (ब्रह्म) को धारण करनेवाला यह 'ब्रह्मा' बनता है—बढ़ा हुआ। यही अगले सूक्त का ऋषि है। ब्रह्म की ओर चलनेवाला 'ब्रह्मचारी' देवता है—

५. [पञ्चमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—**पुरोऽतिजागताविराड्गर्भात्रिष्टुप्** ॥

ब्रह्मचारी का आचार्य-पालन

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन्देवाः संमनसो भवन्ति।
स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं तपसा पिपर्ति॥ १॥

१. **ब्रह्मचारी**=(ब्रह्मणि वेदात्मके चरितुं शीलं यस्य) वेदात्मक ब्रह्म में विचरण करनेवाला विद्यार्थी **उभे**=दोनों **रोदसी**=द्यावापृथिवी को—मस्तिष्क व शरीर को **इष्णन्**=उन्नत (Promote) करता हुआ—तेज से व्याप्त करता हुआ, अर्थात् वीर्यरक्षण द्वारा शरीर व मस्तिष्क को तेजस्वी

व दीप्त बनाता हुआ **चरति**=गतिवाला होता है। **तस्मिन्**=उस ब्रह्मचारी में **देवाः**=सब इन्द्रियाँ (वाणी आदि के रूप में शरीर में रहनेवाले अग्नि आदि देव) **संमनसः**=समान मनवाले, अर्थात् अनुग्रहबुद्धिवाले **भवन्ति**=होते हैं। अथवा सब **देवाः**=ज्ञानी उपाध्याय वर्ग उसपर अनुग्रह बुद्धियुक्त होते हैं। २. **सः**=वह ब्रह्मचारी **पृथिवीम्**=शरीररूप पृथिवी को **च दिवम्**=तथा मस्तिष्करूप द्युलोक को **दाधार**=धारण करता है। **सः**=वह ब्रह्मचारी **तपसा**=तप के द्वारा—'ऋत, सत्य, शान्त-स्वभाव, मन व इन्द्रियों के दमन तथा श्रुत (शास्त्र-श्रवण) के द्वारा—**आचार्यम्**=अपने आचार्य को **पिपर्ति**=पालित करता है—आचार्य की पूर्णता करता है। आचार्य ज्ञान देता है—यह ब्रह्मचारी तप के द्वारा उस ज्ञान का ग्रहण करता हुआ आचार्य के अभीष्ट कर्म की पूर्ति करता है।

भावार्थ—ब्रह्मचारी वीर्यरक्षण द्वारा शरीर व मस्तिष्क को उन्नत बनाता है। अपनी सब इन्द्रियों व मन को प्रशस्त करता है। शरीर व मस्तिष्क का धारण करता हुआ तपस्या द्वारा आचार्य-प्रदत्त ज्ञान का ग्रहण करता हुआ आचार्य को पालित करता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाबृहतीगर्भाविराट्शक्वरी** ॥

देव, मनुष्य आदि सब जगत् का ब्रह्मचर्य द्वारा धारण

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग्देवा अनुसंयन्ति सर्वे।
गन्धर्वा एनमन्वायन्त्रयस्त्रिंशत्त्रिशताः षट्सहस्राः
सर्वान्त्स देवांस्तपसा पिपर्ति॥ २॥

१. **ब्रह्मचारिणम्**=ब्रह्मचर्य का आचरण करते हुए पुरुष के लिए **पितरः**=रक्षणात्मक कार्यों में व्यापृत क्षत्रिय, **देवजनाः**=(दिव् व्यवहारे) शुद्ध व्यवहार करनेवाले वैश्यजन, **पृथग् देवाः**=(दिव् गतौ) अलग-अलग प्रकार के कर्म करनेवाला श्रमिक वर्ग, **सर्वे**=ये सब **अनुसंयन्ति**=अनुकूल गतिवाले होते हैं। **गन्धर्वाः**=ज्ञान की वाणियों का धारण करनेवाले ब्राह्मण तो **एनम् अनु आयन्**=इसके अनुकूल गतिवाले होते ही हैं। ब्रह्मचारी को चातुर्वर्ण्य की अनुकूलता प्राप्त होती है। २. शरीर में जो **त्रयः**=तीन देव हैं—वाणीरूप से अग्नि, प्राणरूप से वायु तथा चक्षु के रूप में सूर्य, इन **सर्वान् देवान्**=सब देवों को **सः**=वह ब्रह्मचारी **तपसा पिपर्ति**=तप के द्वारा अपने में सुरक्षित करता है। ये अग्नि, वायु, सूर्यरूप देव ही अपनी महिमा से **त्रिंशत्**=तीस, **त्रिशताः**=तीन सौ व **षट् सहस्राः**=छह हज़ार हो जाते हैं। इन सब देवशक्तियों को ब्रह्मचारी अपने में धारण करता है।

भावार्थ—ब्रह्मचारी को 'क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व ब्राह्मण' इन सबकी अनुकूलता प्राप्त होती है। यह अपने तप से सब देवों को अपने में पालित करता है। यहाँ शूद्र के 'पृथक् देवाः' शब्द से यह संकेत स्पष्ट है कि इन शूद्रों का इकट्ठ (Union) नहीं होना चाहिए, अन्यथा ये अनसूयापूर्वक ब्राह्मणादि की सेवा नहीं कर सकेंगे।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—**उरोबृहती** ॥

गर्भम् अन्तः

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥ ३॥

१. **आचार्यः**=आचार्य **ब्रह्मचारिणम्**=ब्रह्मचारी को **उपनयमानः**=अपने समीप प्राप्त कराता हुआ **अन्तः**=विद्याशरीर के मध्य में **गर्भः कृणुते**=गर्भरूप से स्थापित करता है। **तम्**=उस ब्रह्मचारी को **तिस्रः रात्रीः**=तीन रात्रियों तक—प्रकृति, जीव व परमात्मा-विषयक अज्ञानान्धकार

के दूर होने तक **उदरे बिभर्ति**=अपने अन्दर धारण करता है। आजकल की भाषा में प्राथमिक, माध्यमिक व उच्च शिक्षणालयों में ज्ञान प्राप्त कर लेने तक वह आचार्यकुल में ही रहता है। २. तीन रात्रियों की समाप्ति पर **जातं तम्**=विद्यामय शरीर से प्रादुर्भूत हुए-हुए उस ब्रह्मचारी को—स्नातक को—**द्रष्टुम्**=देखने के लिए **देवाः अभिसंयन्ति**=देव आभिमुख्येन प्राप्त होते हैं। देव उसे देखने के लिए उपस्थित होते हैं। (**स हि विद्यातस्तं जनयति। तच्छ्रेष्ठं जन्म। शरीरमेव मातापितरौ जनयतः**। आपस्तम्ब १।१।१५-१७)

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थी को अपने समीप अत्यन्त सुरक्षित रूप में रखता है। वहाँ वासनाओं व विलासों से दूर रखता हुआ वह उसे 'विकसित शरीर, मन व मस्तिष्कवाला' बनाता है। इसप्रकार विकसित जीवनवाले विद्यार्थी को देखने के लिए विद्वान् उपस्थित होते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

तीन समिधाएँ

इयं समित्पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति।
ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति ॥ ४ ॥

१. **इयं पृथिवी**=यह पृथिवी **समित्**=उस ब्रह्मचारी की पहली समिधा है। **द्यौः द्वितीया**=द्युलोक दूसरी समिधा बनती है **उत**=और **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष तीसरी **समिधा पृणाति**=समिधा से अपने को पूरित करता है। पृथिवी के पदार्थों का ज्ञान पहली समिधा है—इससे वह शरीररूप पृथिवीलोक को बड़ा सुन्दर बनाता है। अन्तरिक्ष के पदार्थों का ज्ञान दूसरी समिधा है—इससे वह अपने हृदयान्तरिक्ष को पवित्र व शान्त बनाता है। द्युलोक के पदार्थों का ज्ञान तीसरी समिधा है—इससे वह अपने मस्तिष्करूप द्युलोक को बड़ा उज्ज्वल व दीप्त बनाता है। २. यह **ब्रह्मचारी**=ज्ञान में विचरण करनेवाला विद्यार्थी **समिधा**=ज्ञानदीप्ति के द्वारा, **मेखलया**=कटिबद्धता—कार्य को दृढ़ता से करने के द्वारा, **श्रमेण**=श्रम की वृत्ति के द्वारा तथा **तपसा**=तपस्या के द्वारा (**ऋतं तपः, सत्यं तपः, श्रुतं तपः, दमस्तपः, शमस्तपो दानं तपो यज्ञस्तपः, 'भूर्भुवः सुवः' ब्रह्मैतदुपास्वैतत्तपः**—तै० आ० १०।८) **लोकान् पिपर्ति**=शरीरस्थ 'पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक को—शरीर, मन व मस्तिष्क को—पूरित करता है—इनकी कमी को दूर करता है'।

भावार्थ—ब्रह्मचारी आचार्यकुल में 'पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक' के पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करता है। 'ज्ञानदीप्ति, कटिबद्धता (दृढ़ निश्चय), श्रम व तप के द्वारा वह 'शरीर, मन व मस्तिष्क' रूप तीन लोकों का पूर्ण विकास करता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सर्वप्रथम आचार्य 'ब्रह्म'

पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत्।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥ ५ ॥

१. जो सर्वजगत् का कारण, सत्यज्ञानादि लक्षणयुक्त 'ब्रह्म' है, उस **ब्रह्मणः**=ब्रह्म से ही **ब्रह्मचारी**=ज्ञान प्राप्त करनेवाला **पूर्वः जातः**=(प्रथमम् उत्पन्नः—सा०) सबसे प्रथम हुआ। सबसे पूर्व ब्रह्म ने ही 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिराः' इन (पूर्वे चत्वारः) सर्वाधिक मेधावी चार ऋषियों को वेदज्ञान दिया। ये ब्रह्म के ही ब्रह्मचारी हुए। यह ब्रह्मचारी **घर्मं वसानः**=संयमजनित शक्ति से दीप्त रूप को धारण करता हुआ ऊपर उठा। २. **तस्मात्**=उस ब्रह्मचारी से **ब्राह्मणम्**=ज्ञानियों का 'स्व'भूत (सम्पत्तिरूप) **ज्येष्ठम्**=प्रशस्यतम व वृद्धतम **ब्रह्म**=वेदज्ञान **जातम्**=प्रादुर्भूत हुआ, अर्थात् इस ब्रह्मचारी ने अपनी श्रेष्ठतम ज्ञानरूप सम्पत्ति को प्राप्त किया। **च**=और इस

ब्रह्मचारी में **सर्वे देवाः**=सब दिव्य गुण **अमृतेन साकम्**=अमृतत्व (नीरोगता) के साथ प्रादुर्भूत हुए। इसका मस्तिष्क ज्ञान से, हृदय दिव्य गुणों से तथा शरीर नीरोगता से परिपूर्ण होता है।

भावार्थ—सबसे प्रथम ब्रह्म के समीप 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा' ने ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदज्ञान को प्राप्त किया। इनका मस्तिष्क ब्रह्म (ज्ञान) से, हृदय देवों (दिव्य गुणों) से तथा शरीर नीरोगता से (अमृतत्व से) परिपूर्ण हुआ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—**शाक्वरगर्भाचतुष्पदाजगती** ॥

समावर्तन

ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः।
स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत्॥ ६॥

१. आचार्यकुल में पढ़कर घर के प्रति वापस आता हुआ **ब्रह्मचारी**=ज्ञान में विचरण करनेवाला युवक **एति**=घर के प्रति आ रहा है। यह **समिधा समिद्धः**=ज्ञानदीप्ति से दीप्त है,, **कार्ष्णं वसानः**=कृष्ण मृगचर्म को ओढ़े हुए है। **दीक्षितः**=इसने व्रतों को ग्रहण किया है। **दीर्घश्मश्रुः**=बड़े-बड़े मुखस्थ बालोंवाला है। स्पष्ट है कि आचार्यकुल में बहुत वस्त्रों की व्यवस्था न थी, न ही वहाँ नापित का स्थान था। २. **सः**=वह ब्रह्मचारी **सद्यः**=शीघ्र ही **पूर्वस्मात्** (समुद्रात्)=ब्रह्मचर्याश्रमरूप पूर्वसमुद्र से **उत्तरं समुद्रम्**=गृहस्थरूप उत्तरसमुद्र को **एति**=प्राप्त होता है। ब्रह्मचर्याश्रम के बाद गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। **लोकान् संगृभ्य**=पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक आदि तीनों लोकों का सम्यक् ज्ञान ग्रहण करके—शरीर (पृथिवी) को दृढ़, हृदय (अन्तरिक्ष) को पवित्र व मस्तिष्क (द्युलोक) को दीप्त बनाकर—**मुहुः आचरिक्रत्**=अतिशयेन कर्त्तव्य-कर्मों में प्रवृत्त होता है।

भावार्थ—आचार्यकुल में तपस्या के द्वारा ज्ञानदीप्ति से दीप्त होकर यह ब्रह्मचारी आचार्य से दीक्षा लेकर घर लौटता है—गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है और 'दृढ़ शरीर, पवित्र हृदय व दीप्त मस्तिष्क' बनकर कर्त्तव्य-कर्मों को सम्यक्तया करनेवाला बनता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—**विराड्गर्भात्रिष्टुप्** ॥

ब्रह्म, अपः लोकं, प्रजापतिम्

ब्रह्मचारी जनयन्ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम्।
गर्भो भूत्वाऽमृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वाऽसुरांस्ततर्ह॥ ७॥

१. **अमृतस्य योनौ गर्भः भूत्वा ब्रह्मचारी**=ज्ञानामृत के केन्द्र आचार्यकुल में—आचार्यगर्भ में रहता हुआ अतएव किन्हीं भी वासनाओं के आक्रमण से आक्रान्त न होकर सदा ज्ञान में विचरता हुआ यह ब्रह्मचारी **ब्रह्म**=ज्ञान को **अपः**=यज्ञ आदि श्रेष्ठ कर्मों को **लोकम्**=दर्शनशक्ति—वस्तुओं को वास्तविक रूप में देखने की शक्ति को **जनयन्**=अपने में प्रादुर्भूत करता हुआ तथा उस **परमेष्ठिनं विराजं प्रजापतिम्**=परम स्थान में स्थित, विशिष्ट दीप्तिवाले, प्रजाओं के रक्षक प्रभु को (**जनयन्**=) अपने हृदयदेश में प्रादुर्भूत करता हुआ, यह **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय बनता है तथा **ह**=निश्चय से (इन्द्रः) **भूत्वा**=जितेन्द्रिय बनकर **असुरान् ततर्ह**=आसुरभावों का हिंसन कर डालता है।

भावार्थ—आचार्य को उपनीत किये हुए ब्रह्मचारी को अपने गर्भ में धारण करते हुए 'ज्ञान, यज्ञादिक कर्मों, दर्शनशक्ति व प्रभुस्मरण की भावना' से युक्त करना है तभी वह ब्रह्मचारी जितेन्द्रिय बनकर आसुरभावों का संहार कर पाएगा।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—**पुरोऽतिजागताविराड्जगती** ॥

पृथिवीं दिवञ्च

आ॒चा॒र्य᳡स्ततक्ष॒ नभ॑सी उ॒भे इ॒मे उ॒र्वी ग॑म्भी॒रे पृ॑थि॒वीं दिवं॑ च।
ते र॑क्षति॒ तप॑सा ब्रह्मचा॒री तस्मि॑न्दे॒वाः संम॑नसो भवन्ति ॥ ८ ॥

१. **आचार्य** :=आचार्य(=ब्रह्मचारी को ज्ञान का चारण करानेवाला) **उभे इमे**=इन दोनों **नभसी**=(नह बन्धने) परस्पर सम्बद्ध **उर्वी गम्भीरे**=विशाल व गम्भीर **पृथिवीं दिवं च**=पृथिवी व द्युलोक को **ततक्ष**=बनाता है। आचार्य ब्रह्मचारी को अपने गर्भ में सुरक्षित रखता हुआ और वासनाओं से आक्रान्त न होने देता हुआ विस्तृत शक्तिवाले शरीररूप पृथिवीलोक से तथा गम्भीर ज्ञानवाले मस्तिष्करूप द्युलोक से युक्त करता है। ब्रह्मचारी में वह शक्ति व ज्ञान को परस्पर सम्बद्ध (नभसी) करने का यत्न करता है। २. **ब्रह्मचारी**=ज्ञान में विचरण करनेवाला यह शिष्य **ते**=उन दोनों शरीररूप पृथिवीलोक को तथा मस्तिष्करूप द्युलोक को **तपसा**=तप के द्वारा **रक्षति**=अपने में सुरक्षित करता है। **तस्मिन्**=उस ब्रह्मचारी में **देवाः**=दिव्य वृत्तियाँ **संमनसः**=संगत मनवाली **भवन्ति**=होती हैं। यह ब्रह्मचारी दिव्य वृत्तियों से युक्त जीवनवाला बनता है। अथवा यह 'माता-पिता, आचार्य व अतिथि' आदि देवों का प्रिय बनता है।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थी के जीवन में शक्ति व ज्ञान भरने का यत्न करता है। यह विद्यार्थी तप से अपने में ज्ञान व शक्ति का रक्षण करता हुआ देवों का प्रिय बनता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भात्रिष्टुप्** ॥

ते समिधौ

इ॒मां भूमिं॑ पृथि॒वीं ब्र॑ह्मचा॒री भि॒क्षामा ज॑भार प्र॒थ॒मो दिवं॑ च।
ते कृ॒त्वा स॒मिधा॒वुपा॑स्ते त॒योरार्पि॑ता॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑ ॥ ९ ॥

१. **ब्रह्मचारी**=ज्ञान में विचरण करनेवाला यह ब्रह्मचारी **इमाम्**=इस **पृथिवीम्**=शक्तियों के विस्तारवाले **भूमिम्**=(भवन्ति भूतानि यस्याम्) प्राणियों के निवासस्थानभूत व शरीररूप पृथिवीलोक को **भिक्षाम् आजभार**=भिक्षारूप से प्राप्त करता है। **प्रथमः**=शक्तियों के विस्तारवाला यह ब्रह्मचारी **दिवं च**=ज्ञानज्योति से देदीप्यमान मस्तिष्करूप द्युलोक को भी आचार्य से भिक्षारूप में प्राप्त करता है। २. **ते**=उन दोनों को—शरीर व मस्तिष्क को—**समिधौ कृत्वा**=तेजस्विता व ज्ञान से दीप्त बनाकर यह **उपास्ते**=प्रभु का उपासन करता है। **तयोः**=उन दोनों में—पृथिवी व द्युलोक में **विश्वा भुवनानि आर्पिता**=सब भुवन अर्पित हैं, अर्थात् शरीर व मस्तिष्क के ठीक होने पर अन्य सब अंग-प्रत्यंग स्वयं ठीक रहते ही हैं। मानस आह्लाद तभी सम्भव है जबकि शरीर व मस्तिष्क स्वस्थ हों।

भावार्थ—ब्रह्मचारी आचार्य से पृथिवी व द्युलोक की भिक्षा माँगता है—अन्य सब लोक तो इनमें ही अर्पित हैं। शक्तिसम्पन्न शरीर व ज्ञानदीप्त मस्तिष्क इस ब्रह्मचारी को सर्वांग सुन्दर जीवनवाला बना देते हैं, ऐसा बनना ही प्रभु का उपासन है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

ब्राह्मण की दो निधि

अ॒र्वाग॒न्यः प॒रो अ॒न्यो दि॒वस्पृ॒ष्ठाद् गुहा॑ नि॒धी निहि॑तौ॒ ब्राह्म॑णस्य।
तौ र॑क्षति॒ तप॑सा ब्रह्मचा॒री तत्केव॑लं कृणुते॒ ब्रह्म॑ वि॒द्वान् ॥ १० ॥

१. ज्ञानप्रधान जीवनवाला व्यक्ति 'ब्राह्मण' है। 'अपराविद्या और पराविद्या' ये दो ब्राह्मण

की निधि हैं। अपराविद्या 'द्युलोक व द्युलोक से नीचे अन्तरिक्षलोक व पृथिवीलोक' का ज्ञान देती है और पराविद्या दिवस्पृष्ठ से भी परे ब्रह्मलोक का ज्ञान प्राप्त कराती है। **अन्यः**=एक अपराविद्यारूप निधि **अर्वाक्**=दिवस्पृष्ठ से नीचे के पदार्थों का ज्ञान है। **अन्यः**=दूसरी पराविद्यारूप निधि **दिवः पृष्ठात् परः**=दिवस्पृष्ठ से ऊपर ब्रह्म का ज्ञान है। ये दोनों **निधी**=ज्ञानकोश **ब्राह्मणस्य गुहा निहितौ**=ज्ञानी की हृदयगुहा में स्थापित हुए हैं। २. **तौ**=उन दोनों निधियों को **ब्रह्मचारी**=यह ज्ञान में विचरण करनेवाला व्यक्ति **तपसा रक्षति**=तप के द्वारा रक्षित करता है। यह ज्ञानी पुरुष **तत् केवलं ब्रह्म**=उस आनन्द में विचरनेवाले (के वलति) आनन्दरूप प्रभु को **विद्वान्**=जानता हुआ **कृणुते**=(कृ to kill) सब वासनाओं का संहार कर डालता है।

भावार्थ—अपराविद्या व पराविद्यारूप ब्राह्मण की दो निधि हैं। तप के द्वारा इनका रक्षण होता है। ब्रह्मज्ञानी पुरुष सब वासनाओं का संहार कर डालता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

दो अग्नियाँ

अर्वागन्य इतो अन्यः पृथिव्या अग्नी समेतो नभसी अन्तरेमे।
तयोः श्रयन्ते रश्मयोऽधि दृढास्ताना तिष्ठति तपसा ब्रह्मचारी॥ ११॥

१. **अन्यः अर्वाक्**=एक तेजस्विता की अग्नि (घर्म) यहाँ नीचे पृथिवीलोक में है। शरीररूप पृथिवीलोक तेजस्विता की अग्नि से सम्पन्न है। **इतः पृथिव्याः अन्यः**=यहाँ पृथिवी से दूर द्युलोक में एक अन्य ज्ञानाग्नि है। **इमे**=ये **अग्नी**=तेजस्विता व ज्ञान की दो अग्नियाँ **नभसी**=(नह बन्धने) परस्पर सम्बद्ध हुई-हुई **अन्तरा**=इस शरीर के मध्य में **समेतः**=संगत होती हैं—सम्यक् प्राप्त होती हैं। २. **तयोः अधि**=उन पृथिवी व द्युलोक में **दृढाः**=परस्पर मेल से अतिप्रबल **रश्मयः**=तेज (शक्ति) व ज्ञान की किरणें **श्रयन्ते**=आश्रय करती हैं। **तान्**=उन रश्मियों को **तपसा**=तप के द्वारा **ब्रह्मचारी आतिष्ठति**=समन्तात् रक्षित करता है।

भावार्थ—ब्रह्मचारी तप के द्वारा अपने जीवन में तेजस्विता व ज्ञान की अग्नियों को धारण करता हुआ चमकता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—**शाक्वरगर्भाचतुष्पदाविराडतिजगती** ॥

मेघरूप ब्रह्मचारी

अभिक्रन्दन् स्तनयन्नरुणः शितिङ्गो बृहच्छेपोऽनु भूमौ जभार।
ब्रह्मचारी सिञ्चति सानौ रेतः पृथिव्यां तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः॥ १२॥

१. **अभिक्रन्दन्**=भूमि का मानो आह्वान करता हुआ, **स्तनयन्**=विद्युत् की गर्जनावाला, **अरुणः**=लाल भूरा-सा (Reddish brown) **शितिंगः**=श्वेत व काले वर्णों में (शिति white, black) गतिवाला (पानी से भरा होने पर 'काला', बरस जाने पर 'श्वेत') मेघ, **बृहत् शेपः**=(प्रभूतं प्रजननम्—सा०) अपने प्रभूत प्रजनन सामर्थ्य को **भूमौ अनुजभार**=इस पृथिवी पर प्राप्त कराता है। २. यह **ब्रह्मचारी**=(ब्रह्म wealth, food) ऐश्वर्य व भोजन के साथ विचरनेवाला मेघ **सानौ**=पर्वत शिखरों पर तथा **पृथिव्याम्**=पृथिवी पर **रेतः सिञ्चति**=जल को सिक्त करता है। इस रेतःसेचन से ही तो **चतस्रः प्रदिशः**=चारों प्रकृष्ट दिशाएँ—इन दिशाओं में स्थित प्राणी **जीवन्ति**=जीते हैं।

भावार्थ—मेघ भी मानो ब्रह्मचारी है। जल की ऊर्ध्वगति से बनता हुआ यह हमें भी ऊर्ध्वरेता बनने की प्रेरणा देता है। यह पृथिवी पर जब अपने रेतःसेचन करता है, तब अन्नादि की उत्पत्ति होकर सब प्राणियों का जीवन सम्भव होता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

सर्वमहान् 'ब्रह्मचारी' प्रभु

अ॒ग्नौ सूर्ये॑ च॒न्द्रम॑सि मा॒तरि॑श्वन्ब्रह्मचा॒र्यप्सु स॒मिध॒मा द॑धाति।
तासा॑म॒र्चींषि॒ पृथ॑ग॒भ्रे च॑रन्ति॒ तासा॒माज्यं॒ पुरु॑षो व॒र्षमापः॑ ॥ १३ ॥

१. सदा ज्ञान के साथ विचरनेवाले प्रभु सर्वमहान् 'ब्रह्मचारी' हैं। ये **ब्रह्मचारी**=ज्ञानस्वरूप में विचरनेवाले प्रभु **अग्नौ सूर्ये चन्द्रमसि मातरिश्वन् अप्सु**=अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, वायु व जलों में **समिधम्**=दीप्ति को **आदधाति**=स्थापित करता है। अग्नि में तेज, सूर्य-चन्द्रमा में प्रभा, वायु में जीवन-शक्ति व प्रवाह तथा जलों में रस प्रभु ही तो स्थापित करते हैं। २. **तासाम्**=इन जल आदि की **अर्चींषि**=दीप्तियाँ **पृथक्**=अलग-अलग **अभ्रे चरन्ति**=उदकपूर्ण मेघ में विचरण करती हैं। **तासाम्**=इन जल आदि में स्थापित दीप्तियों का ही कार्यरूप **आज्यं पुरुषो वर्षम् आपः**=आज्य, पुरुष, वृष्टि व जल हैं। 'आज्य' का अर्थ घृत है। इसके साधनभूत गौ आदि की समृद्धि होती है। गौवों के ठीक होने पर उत्तम सन्तान की समृद्धि 'पुरुष' शब्द से कही जा सकती है। इन मेघों से समय पर **'वर्षम्'**=वृष्टि होती है और उससे 'आपः' अर्थात् वापी, कूप-तड़ाग आदि की समृद्धि होती है।

भावार्थ—प्रभु ने 'अग्नि, सूर्य, चन्द्र, वायु व जलों' में समिध् (तेज) को स्थापित किया है। इन सबकी दीप्तियाँ मेघ में एकत्र होती हैं। उनसे गवादि पशुओं, पुरुषों, वृष्टि व जलों की वृद्धि होती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आचार्य; मृत्युः, सत्वानः, जीमूताः

आ॒चा॒र्यो॑ मृ॒त्युर्वरु॑णः॒ सोम॒ ओष॑धयः॒ पयः॑।
जी॒मूता॑ आस॒न्त्सत्वा॑न॒स्तैरि॒दं स्व॒राभृ॑तम् ॥ १४ ॥

१. **आचार्यः**=आचार्य **मृत्युः**=मृत्यु है। गर्भ में धारण करके द्वितीय जन्म देने के कारण और इसप्रकार उपनीत ब्रह्मचारी को द्विज बनाने के कारण आचार्य मृत्यु है। **वरुणः**=पाप से निवारित करनेवाला यह आचार्य वरुण है। **सोमः**=चन्द्र के समान आह्लादमय व शान्त वृत्तिवाला होने से सोम है। **ओषधयः**=दोषदहन शक्ति का आधान करनेवाला (उष दाहे) आचार्य 'ओषधयः' है। **पयः**=दोषदहन द्वारा शक्ति का आप्यायन करने से आचार्य 'पयः' है। २. इस आचार्य के **सत्वानः**=समीप सदनशील ये विद्यार्थी **जीमूताः आसन्**=(जीवनं भूतं बद्धं येषु) जीवन-शक्ति से परिपूर्ण हुए। **तैः**=उन आचार्यों के समीप रहकर जीवन को अपने में बाँधनेवाले ब्रह्मचारियों से **इदं स्वः आभृतम्**=यह सुख, प्रकाश व तेज धारण किया गया है।

भावार्थ—आचार्य को विद्यार्थी को नवीन जीवन देने से 'मृत्यु' नाम दिया गया है और विद्यार्थी नवजीवन को अपने में बद्ध करने के कारण 'जीमूत' कहलाया है। ब्रह्मचारी अपने आचार्य के जीवन व ज्ञान से 'प्रकाश व तेज' धारण करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—**पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुप्** ॥

आचार्य ज्ञान देते हैं, विद्यार्थी दक्षिणा

अ॒मा घृ॒तं कृ॑णुते॒ केव॑लमाचा॒र्यो॑ भू॒त्वा वरु॑णो॒ यद्य॒दैच्छ॑त् प्र॒जाप॑तौ।
तद् ब्र॑ह्मचा॒री प्राय॑च्छ॒त्स्वान्मि॒त्रो अध्या॒त्मनः॑ ॥ १५ ॥

१. **आचार्यः**=आचार्य **वरुणः भूत्वा**=पाप व द्वेष का निवारण करनेवाला होकर **केवलं**

घृतम्=आनन्दमय प्रभु में (के+वल्) विचरण करनेवाले ज्ञान को **अमा कृणुते**=विद्यार्थी के साथ करता है। आचार्य विद्यार्थी के लिए प्रभु से दिये गये ज्ञान को देनेवाला बनता है। २. **तत्**=तब **ब्रह्मचारी**=ब्रह्मचारी भी **मित्रः**=स्नेहवाला बनकर या पापों से अपने को बचानेवाला बनकर, **यत् यत् ऐच्छत्**=जिस-जिस वस्तु को आचार्य चाहता है, उन सब **स्वान्**=धनों को—आत्मीय वस्तुओं को—**आत्मनः अधि**=अपने से **प्रजापतौ प्रायच्छत्**=प्रजाओं के रक्षक आचार्य में प्राप्त कराता है।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थी को ज्ञान देता है। विद्यार्थी आचार्य के लिए इष्ट दक्षिणा देता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आचार्य व राजा का ब्रह्मचारी होना

आचार्यो॑ ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः।
प्रजापतिर्वि राजति विराडिन्द्रोऽभवद्वशी॥ १६॥

१. **आचार्य**=आचार्य **ब्रह्मचारी**=ब्रह्म(ज्ञान) में विचरण करनेवाला ही होना चाहिए। इसी प्रकार **प्रजापतिः**=प्रजारक्षक राजा भी **ब्रह्मचारी**=ज्ञान में विचरण करनेवाला ही होता है। ऐसा ही **प्रजापतिः**=राजा **विराजति**=विशिष्ट दीप्ति व शासनशक्तिवाला बनता है। यह **विराट्**=विशिष्ट दीप्तिवाला **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय राजा ही **वशी अभवत्**=प्रजाओं को वश में रखनेवाला होता है। अजितेन्द्रिय राजा कभी प्रजा पर आधिपत्य नहीं कर पाता '**जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः**'।

भावार्थ—आचार्य व राजा का ब्रह्मचारी होना आवश्यक है, तभी वे विद्यार्थियों व प्रजा को धर्म के मार्ग पर चला सकेंगे।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्रह्मचर्य द्वारा 'राष्ट्ररक्षण व शिष्य-निर्माण'

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो॑ ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते॥ १७॥

१. **राजा**=शासक **ब्रह्मचर्येण तपसा**=ब्रह्मचर्यरूप तप के अनुष्ठान से ही **राष्ट्रं विरक्षति**=राष्ट्र का सम्यक् रक्षित करनेवाला होता है। **आचार्यः**=आचार्य भी **ब्रह्मचर्येण**=ब्रह्मचर्य के द्वारा **ब्रह्मचारिणम् इच्छते**=शिष्य को ब्रह्मचारी बनाने की कामना करता है। ब्रह्मचर्य के नियम में स्थित आचार्य को ही ब्रह्मचारी प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—ब्रह्मचर्य के द्वारा ही राजा राष्ट्र का रक्षण करता है और इसी से आचार्य ब्रह्मचारियों का निर्माण कर पाता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दीप्ति, निर्दोषता, स्वास्थ्य

ब्रह्मचर्येण कन्या॒३ युवानं विन्दते पतिम्।
अनड्वान्ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति॥ १८॥

१. **ब्रह्मचर्येण**=ब्रह्मचर्य के द्वारा—जितेन्द्रिय बनकर शक्तिरक्षण के द्वारा—**कन्या**=एक दीप्त जीवनवाली (कन् दीप्तौ) युवति **युवानं पतिं विन्दते**=युवा पति को—रोग आदि बुराइयों से रहित व शक्ति आदि उत्तम गुणों से युक्त पति को (यु मिश्रणामिश्रणयोः) प्राप्त करती है एवं ब्रह्मचर्य के दो लाभों का यहाँ संकेत हुआ है (क) जीवन दीप्त बनता है तथा (ख) रोगादि दोषों से

रहित व स्फूर्ति आदि गुणों से युक्त होता है। २. **ब्रह्मचर्येण**=ब्रह्मचर्य से ही **अनड्वान्**=(अनः वहति) गाड़ी को खैंचनेवाला बैल, तथा **अश्वः**=(मार्गं अश्नुते) मार्ग का व्यापन करनेवाला घोड़ा **घासं जिगीर्षति**=घास को निगलने की इच्छा करता है, अर्थात् ब्रह्मचर्य के अभाव में उदरयन्त्र भी शीघ्र विकृत हो जाता है और खान-पान की शक्ति भी जाती रहती है।

भावार्थ—ब्रह्मचर्य के दीप्ति, निर्दोषता व शरीर के अवयवों का ठीक से कार्य करते रहना—ये लाभ हैं, अतः इसका महत्त्व स्पष्ट है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अमृतता व दीप्ति

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्व१राभरत्॥ १९॥

१. **ब्रह्मचर्येण तपसा**=ब्रह्मचर्यरूप तप के द्वारा **देवाः**=सब देव **मृत्युम् अप अघ्नत**=मृत्यु को अपने से दूर भगाते हैं (हन् गतौ)—अमृतत्व व नीरोगता को प्राप्त करते हैं। २. **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **ह**=निश्चय से **देवेभ्यः**=इन्द्रियों के लिए **ब्रह्मचर्येण**=ब्रह्मचर्य से ही **स्वः आभरत्**=दीप्ति व प्रकाश (सुख) को प्राप्त कराता है। ब्रह्मचर्य से ही इन्द्रियों की शक्ति ठीक बनी रहती है।

भावार्थ—ब्रह्मचर्य से 'नीरोगता व इन्द्रियों की शक्ति की दीप्ति' प्राप्त होती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'ओषधियों व काल' का ब्रह्मचर्य

ओषधयो भूतभव्यमहोरात्रे वनस्पतिः।
संवत्सरः सहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः॥ २०॥

१. **ओषधयः**=फलपाकान्त व्रीहि-यव आदि, **भूतभव्यम्**=उत्पन्न और उत्पत्स्यमान चराचरात्मक जगत् **अहोरात्रे**=दिन और रात, **वनस्पतिः**=शरीरों में प्रकाश की रक्षक (वनानां पालयिता—वन Light) वनस्पतियाँ, **संवत्सरः**=द्वादश मासात्मक काल **ऋतुभिः सह**=वसन्तादि छह ऋतुओं के साथ, ये सब **ब्रह्मचारिणः जाताः**=ब्रह्मचारी के तप की महिमा से ठीक प्रादुर्भाववाले हुए।

भावार्थ—जिस राष्ट्र में ब्रह्मचर्य का पालन होता है, वहाँ ओषधियाँ, वनस्पतियाँ ठीक समय पर प्रादुर्भूत होती हैं। वहाँ ऋतुओं के साथ कालचक्र भी सुचारुरूपेण चलता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पशु-पक्षियों का ब्रह्मचर्य

पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये।
अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः॥ २१॥

१. **पार्थिवाः**=पृथिवी सम्बन्धी, **दिव्याः**=अन्तरिक्ष में होनेवाले, **आरण्याः ग्राम्याः च**=अरण्य में होनेवाले सिंह आदि तथा ग्राम में होनेवाले गौ आदि **ये पशवः**=जो पशु हैं, **अपक्षाः**=पक्षरहित, **पक्षिणः च**=और पंखोंवाले जो भी प्राणी हैं, **ते**=वे सब **ब्रह्मचारिणः जाताः**=ब्रह्मचर्य के प्रभाव से उत्पन्न हुए। वस्तुतः प्रभुप्रदत्त वासना—सहज ज्ञान के अनुसार ये सब ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाले बने। ब्रह्मचर्य ही इनके स्वास्थ्य का कारण बना।

भावार्थ—सब पशु-पक्षी प्रभुप्रदत्त वासना के कारण ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए स्वस्थ जीवनवाले हुए।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्रह्मचर्य व प्राणशक्ति

पृथक्सर्वे प्राजापत्याः प्राणानात्मसु बिभ्रति।
तान्त्सर्वान्ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम्॥ २२॥

१. **सर्वे प्राजापत्याः**=प्रजापति की सब सन्तानें **आत्मसु**=अपने देहों में **पृथक्**=(नाना स्वसम्बन्धिनः) अलग-अलग स्व-स्वसम्बन्धी **प्राणान् बिभ्रति**=प्राणों को धारण करती हैं। न् **सर्वान्**=उन सब प्राणों को **ब्रह्मचारिणि आभृतम्**=ब्रह्मचारी में समन्तात् धारण किया गया ह्म **रक्षति** (ब्रह्म Wealth) वीर्यरूप धन ही सुरक्षित करता है।

भावार्थ—ब्रह्मचर्य से ही प्राणशक्ति का वर्धन होता है। अब्रह्मचारी की सन्तानें प्राणधारण हीं करतीं, प्रत्युत मर जाती हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—**पुरोबार्हतातिजागतगर्भात्रिष्टुप्** ॥

वीर्यरक्षण का महत्त्व

देवानामेतत्परिषूतमनभ्यारूढं चरति रोचमानम्।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम्॥ २३॥

१. **देवानाम्**=वासनाओं को जीतने की कामनावाले, देववृत्ति के पुरुषों का **एतत्**=यह रीरस्थ वीर्य **परिषूतम्**=परिगृहीत हुआ-हुआ—शरीर में ही चारों ओर व्याप्त किया हुआ **नभ्यारूढम्**=रोग आदि से अनाक्रान्त हुआ-हुआ **रोचमानम्**=ज्ञानदीप्ति से दीप्त हुआ-हुआ **रति**=शरीर में गतिवाला होता है। २. **तस्मात्**=उस शरीरस्थ वीर्य से ही **ब्राह्मणम्**=ब्रह्म-म्बन्धी **ज्येष्ठं ब्रह्म**=सर्वोत्कृष्ट ज्ञान, **जातम्**=प्रादुर्भूत हुआ **च**=और **अमृतेन साकम्**=अमृत—रोगता के साथ **सर्वे देवाः**=सब दिव्य गुण उत्पन्न हुए।

भावार्थ—देववृत्ति के पुरुष वीर्य का शरीर में ही रक्षण करते हैं। यह सुरक्षित वीर्य रोगों अनाक्रान्त व दीप्त होकर शरीर में गति करता है। इस सुरक्षित वीर्य से 'सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मज्ञान, द्व्य गुणों व नीरोगता' की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

भ्राजद् ब्रह्म + विश्वेदेवाः

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद्विभर्ति तस्मिन्देवा अधि विश्वे समोताः।
प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम्॥ २४॥

१. **ब्रह्मचारी**=ब्रह्मचर्यवाला यह वीर्यरक्षक पुरुष **भ्राजत् ब्रह्म बिभर्ति**=देदीप्यमान ज्ञान को धारण करता है। **तस्मिन् अधि**=उस ब्रह्मचारी में ही **विश्वेदेवाः**=सब दिव्यगुण **समोताः**=सम्बद्ध होते हैं (**'यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति'**—तै० आ० २.१५.१)। २. सब देवों का निवासस्थान बना हुआ यह ब्रह्मचारी **प्राणापानौ**=प्राणापान शक्ति को, **आत्**=और तब **व्यानम्**=व्यान नामक वायु को **वाचम्**=वाक्शक्ति को, **मनः**=सर्वेन्द्रियानुग्राहक अन्तःकरण को, **हृदयम्**=अन्तःकरण के निवासस्थानभूत हृदयकमल को **ब्रह्म**=वेदात्मक ज्ञान को **मेधाम्**=आशुविद्या-ग्रहणकुशला बुद्धि को **जनयन्**=अपने में प्रादुर्भूत करनेवाला होता है।

भावार्थ—ब्रह्मचारी देदीप्यमान ज्ञान व दिव्य गुणों को धारण करता हुआ अपने में 'प्राण, अपान, व्यान, वाणी, मन, हृदय, प्रभु व मेधा' को प्रादुर्भूत करता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मचारी** ॥ छन्दः—२५ **आर्च्युष्णिक् (एकावसाना)** ;
२६ **मध्येज्योतिरुष्णिग्गर्भात्रिष्टुप्** ॥

स्नातक

चक्षुः श्रोत्रं यशो अस्मासु धेह्यन्नं रेतो लोहितमुदरम्॥ २५॥
तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत्तप्यमानः समुद्रे।
स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते॥ २६॥

१. हे ब्रह्मचर्यात्मक ब्रह्मन्! आप **अस्मासु**=हममें **चक्षुः श्रोत्रम्**=देखने व सुनने की शक्ति को और **यशः**=कीर्ति को **धेहि**=धारण कीजिए। इसी दृष्टिकोण के **अन्नम्**=भोज्य अन्न को, **रेतः**= अन्न से उत्पन्न इस वीर्य को, **लोहितम्**=रुधिर को तथा **उदरम्**=उदर को—उदरोपलक्षित समस्त शरीर को (**धेहि**=) धारण कीजिए। २. **तानि**=उन चक्षु, श्रोत्र आदि को **कल्पत्**=सामर्थ्ययुक्त करता हुआ **ब्रह्मचारी**=वीर्यरक्षक युवक **समुद्रे**=ज्ञान के समुद्र आचार्य के गर्भ में **तपः तप्यमानः**=तप भी करता हुआ **सलिलस्य पृष्ठे**=ज्ञान-जल के पृष्ठ पर **अतिष्ठत्**=स्थिर होता है। इस ज्ञान-जल में **स्नातः**=स्नान करके शुद्ध बना हुआ **सः**=वह ब्रह्मचारी **बभ्रुः**=वीर्य का धारण करनेवाला **पिंगलः**= तेजस्विता से पिंगल वर्णवाला **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर **बहु रोचते**=बहुत ही चमकता है।

भावार्थ—ब्रह्मचारी अपने में 'चक्षु, श्रोत्र, यश, अन्न, रेत, लोहित व उदर' को धारण करता हुआ आचार्य के गर्भ में तपस्यापूर्वक स्थित होता है। यह ज्ञान-जल में स्नान करके, वीर्यरक्षण से तेजस्वी बना हुआ इस पृथिवी पर खूब ही चमकता है।

यह निष्पाप जीवनवाला ब्रह्मचारी शान्ति का विस्तार करनेवाला 'शन्ताति' होता हुआ अगले सूक्त में निष्पापता के लिए प्रार्थना करता है—

६. [षष्ठं सूक्तम्]

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'अग्नि—सूर्य' द्वारा 'पाप व कष्ट से मोचन'

अग्निं ब्रूमो वनस्पतीनोषधीरुत वीरुधः।
इन्द्रं बृहस्पतिं सूर्यं ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ १॥

१. 'पाप' क्या है? एक वस्तु का अयथायोग 'ग़लत प्रयोग' ही पाप है और इस पाप के कारण ही कष्ट होते हैं। प्रस्तुत मन्त्रों में प्रयुक्त 'अंहस्' शब्द के दोनों ही अर्थ हैं (i) Sin (पाप) (ii) Trouble, anxiety, care, distress (कष्ट)। यदि हम अग्नि आदि देवों का ठीक ज्ञान प्राप्त करके इनका उपयुक्त प्रयोग करेंगे तो पाप व कष्ट से ऊपर उठ पाएँगे, अतः कहते हैं कि **अग्निं ब्रूमः**=अग्नि का व्यक्त (स्पष्ट) प्रतिपादन करते हैं—उसका ठीक ज्ञान प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार **वनस्पतीन् ओषधीः उत वीरुधः**=वनस्पतियों, ओषधियों व लताओं का ठीक प्रकार से प्रतिपादन करते हैं। २. **इन्द्रं बृहस्पतिं सूर्यम्**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले (इन्द्र), ज्ञान के स्वामी (बृहस्पति), सबको कर्मों में प्रेरित करनेवाले (सुवति कर्मणि—सूर्यः) प्रभु को हम स्तुत करते हैं और स्वयं भी जितेन्द्रिय, ज्ञानी व क्रियाशील बनने का प्रयास करते हैं। **ते**=वे सब अग्नि आदि देव **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चन्तु**=पाप व कष्ट से मुक्त करें।

भावार्थ—हम अग्नि आदि देवों का ठीक ज्ञान प्राप्त करते हुए उनकी सहायता से पापों व कष्टों से बचें।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'वरुण—विवस्वान्' द्वारा पाप व कष्ट से मोचन

ब्रूमो राजानं वरुणं मित्रं विष्णुमथो भगम्।
अंशं विवस्वन्तं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ २ ॥

१. **राजानम्**=शासन करनेवाले व दीप्त, **वरुणम्**=पाप का निवारण करनेवाले, **मित्रम्**=सबके प्रति स्नेहवाले, **विष्णुम्**=व्यापक **अथो**=और **भगम्**=ऐश्वर्यशाली प्रभु को **ब्रूमः**=कहते हैं। इन नामों से प्रभु का स्मरण करते हुए ऐसा ही बनने का प्रयत्न करते हैं। २. **अंशम्**=धनों का संविभाग करनेवाले व **विवस्वन्तम्**=विशिष्ट निवास को प्राप्त करानेवाले प्रभु को **ब्रूमः**=हम स्तुत करते हैं। हम भी धनों का संविभाग करते हुए सबके निवास का साधन बनते हैं। **ते**=वे 'राजा, वरुण, विवस्वान्' आदि सब देव **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चन्तु**=पापों व कष्टों से मुक्त करें।

भावार्थ—हम 'राजा, वरुण, मित्र, विष्णु, भग, अंश व विवस्वान्' आदि नामों से क्रियात्मकरूप में प्रभुस्तवन करते हुए पाप व कष्ट से दूर हों।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'देव त्वष्टा' प्रभु द्वारा पापमोचन

ब्रूमो देवं सवितारं धातारमुत पूषणम्। त्वष्टारमग्रियं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ३ ॥

१. **देवम्**=दान आदि गुणों से युक्त, **सवितारम्**=सबके प्रेरक, **धातारम्**=सबका धारण करनेवाले **उत**=और **पूषणम्**=सबके पोषक प्रभु का **ब्रूमः**=गुणगान करते हैं। **त्वष्टारम्**=निर्माता व **अग्रियम्**=सबसे प्रथम होनेवाले प्रभु का **ब्रूमः**=स्तवन करते हैं। **ते**=वे सब देव **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चन्तु**=पापों व कष्टों से बचाएँ।

भावार्थ—हम 'देव, सविता, धाता, पूषा, त्वष्टा व अग्रिय' प्रभु का स्मरण करें। यह स्मरण हमें वैसा बनने की प्रेरणा देता हुआ पापों व कष्टों से बचाए।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'गन्धर्व व अर्यमा'

गन्धर्वाप्सरसो ब्रूमो अश्विना ब्रह्मणस्पतिम्।
अर्यमा नाम यो देवस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ४ ॥

१. **गन्धर्व-अप्सरसः**=(गां धारयन्ति, अप्सु सरन्ति) वेदवाणी का धारण करनेवाले व प्रशस्त कर्मों में गतिवाले पुरुषों का **ब्रूमः**=हम स्तवन करते हैं। इसी प्रकार **अश्विना**=प्राणापान की साधना करनेवाले **ब्रह्मणस्पतिम्**=ज्ञान के रक्षक पुरुषों का हम स्तवन करते हैं। **अयर्मा नाम यः देवः**=अर्यमा नामक जो देव है—शत्रुओं का नियमन करनेवाला जो देव है—**ते**=वे सब **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चन्तु**=पापों व कष्टों से बचाएँ।

भावार्थ—हम 'वेदवाणी का धारण करनेवाले, यज्ञादि कर्मों को करनेवाले, प्राण-साधना में प्रवृत्त, ज्ञान के स्वामी, व वासनारूप शत्रुओं का नियमन करनेवाले (अरीन् यच्छति)' बनें। यही पाप व कष्ट से बचने का मार्ग है।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अहोरात्रे—सूर्यचन्द्रमसौ

अहोरात्रे इदं ब्रूमः सूर्याचन्द्रमसावुभा। विश्वानादित्यान्ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ५ ॥

१. **अहोरात्रे**=दिन और रात्रि का लक्ष्य करके हम **इदं ब्रूमः**=इस स्तुतिवाक्य का उच्चारण

करते हैं। **सूर्याचन्द्रमसौ**=सूर्य और चन्द्रमा **उभौ**=दोनों का लक्ष्य करके स्तुतिवचन कहते हैं। इसी प्रकार **विश्वान्**=सब **आदित्यान्**=आदित्यों का स्तवन करते हैं। संक्रान्तिभेद से सूर्यों का भेद होकर ये '**धातार्य्यमामित्राख्या वरुणांशभगा विप्रवस्वदिन्द्रयुता:। पूषाह्वयपर्जन्यौ त्वष्टा विष्णुश्च भानवः प्रोक्ताः**' धाता, अर्यमा आदि बारह आदित्यों के गुणों का स्तवन करते हैं। **ते**=वे सब **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चन्तु**=पाप व कष्ट से मुक्त करें।

भावार्थ—हम दिन व रात के चक्र में, सूर्य व चन्द्रमा की ज्योति में तथा आदित्यों की संक्रान्तियों में प्रभु-महिमा को देखते हुए पापवृत्ति से ऊपर उठें और कष्टों से बचें।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वात—पर्जन्य

वातं ब्रूमः पर्जन्यमन्तरिक्षमथो दिशः।
आशाश्च सर्वा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ ६॥

१. हम **वातम्**=वायु को **पर्जन्यम्**=मेघ को, **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष को **अथो**=और **दिशा**=दिशाओं को **ब्रूमः**=व्यक्तरूपेण प्रतिपादित करते हैं—इनके गुणों का ज्ञान प्राप्त करते हैं, **च**=और हम **सर्वाः आशाः ब्रूमः**=सब विदिशाओं—दिगन्तरालों का **ब्रूमः**=ज्ञान प्राप्त करते हैं। **ते**=वे वायु आदि सब देव **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चन्तु**=पाप व कष्ट से मुक्त करें।

भावार्थ—हम 'वात, पर्जन्य, अन्तरिक्ष, दिशाओं तथा विदिशाओं' में प्रभु की महिमा को देखते हुए निष्पाप व सुखी जीवनवाले हों।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अहोरात्र—उषा—सोम

मुञ्चन्तु मा शपथ्या ऽदहोरात्रे अथो उषाः।
सोमो मा देवो मुञ्चतु यमाहुश्चन्द्रमा इति॥ ७॥

१. **अहोरात्रे**=दिन और रात **अथो**=तथा **उषाः**=उषाकाल **मा**=मुझे **शपथ्यात्**=आक्रोशजनित पाप से **मुञ्चन्तु**=मुक्त करें। मैं किसी भी समय पर-निन्दा में प्रवृत्त में न होऊँ। यह **सोमः देवः**=दिव्य गुणयुक्त प्रकाशमय 'सोम', **यम्**=जिसको 'चन्द्रमा' **इति आहुः**=चन्द्रमा (=आह्लाद देनेवाला) इस नाम से कहते हैं, **मा मुञ्चतु**=मुझे आक्रोशजनित पाप से मुक्त करे। शीतल ज्योत्स्नावाले चन्द्र का स्मरण मुझे भी शीतल स्वभाववाला बनाए।

भावार्थ—'दिन, रात, उषा व चन्द्र' ये सब मुझे आक्रोशजनित पाप से मुक्त करें।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पशु-पक्षियों का अहिंसन

पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या उत ये मृगाः।
शकुन्तान्पक्षिणो ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ ८॥

१. **पार्थिवाः**=पृथिवी पर विचरनेवाले, **दिव्याः**=आकाश में गतिवाले, **पशवः**=जो भी मनुष्येतर प्राणी हैं, **उत**=और ये **आरण्याः मृगाः**=वन्य हिरण, शार्दूल, सिंह आदि पशु हैं, तथा **शकुन्तान् पक्षिणः**=शक्तिशाली पक्षियों को **ब्रूमः**=हम स्तुत करते हैं—इनकी रचना व स्वभाव आदि का चिन्तन करते हैं। **ते**=वे सब **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चन्तु**=पाप व कष्ट से मुक्त करें।

भावार्थ—पशु-पक्षियों की गतिविधियों में भी प्रभु-महिमा को देखते हुए इनके हिंसनरूप पाप से बचें।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'भवशर्व, रुद्र, पशुपति'

भवाशर्वाविदं ब्रूमो रुद्रं पशुपतिश्च यः।
इषूर्या एषां संविद्म ता नः सन्तु सदा शिवाः ॥ ९ ॥

१. **भवाशर्वौ**=भव और शर्व को—सुखों के उत्पादक व दुःखों के विनाशक (शृ) प्रभु को—लक्ष्य करके हम **इदम्**=इस स्तुतिवचन को **ब्रूमः**=कहते हैं। **रुद्रम्**=दुष्टों को रुलानेवाले, **च**=और **यः पशुपतिः**=जो सब प्राणियों के रक्षक प्रभु हैं, उन्हें लक्ष्य करके हम इस स्तुतिवचन को कहते हैं। २. **एषाम्**=इन 'भव, शर्व, रुद्र व पशुपति' की **याः इषूः संविद्म**=जिन प्रेरणाओं को हम जानते हैं, **ताः**=वे सब प्रेरणाएँ **नः**=हमारे लिए **सदा**=सदा **शिवाः सन्तु**=कल्याणकारिणी हों।

भावार्थ—'भव' का स्मरण करते हुए हम भी सुखों का उत्पादन करनेवाले हों, 'शर्व' का स्मरण हमें दुःखदलन में प्रवृत्त करे। 'रुद्र' का स्मरण करते हुए हम दुष्टता का दलन करें और प्राणियों का रक्षण करते हुए हम 'पशुपति' के समान बनें। यही शिवमार्ग है।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

द्युलोक, नक्षत्र, भूमि, यक्ष

दिवं ब्रूमो नक्षत्राणि भूमिं यक्षाणि पर्वतान्।
समुद्रा नद्यो वेशन्तास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १० ॥

१. **दिवम्**=इस द्योतमान द्युलोक का हम **ब्रूमः**=स्तवन करते हैं। द्युलोक में आश्रित **नक्षत्राणि**=नक्षत्रों को—जोकि पुण्यकृत् लोगों के धाम हैं (**सुकृतां वा एतानि ज्योतींषि यन्नक्षत्राणि**—तै० अ० ५.५.१.३), उनका स्तवन करते हैं। **भूमिम्**=भूमि का **यक्षाणि**=भूमि पर स्थित पुण्यक्षेत्रों का (पूज्य स्थानों का), **पर्वतान्**=पर्वतों का गुणस्तवन करते हैं। २. **समुद्राः**=समुद्रों, **नद्यः**=नदियों व **वेशन्ताः**=जो अल्प सर (तालाब) हैं, उन सबका गुणस्तवन करते हैं। इन सबमें प्रभु की महिमा को देखते हैं। इसप्रकार **ते**=वे सब **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चन्तु**=पाप व कष्ट से बचाएँ।

भावार्थ—द्युलोक, नक्षत्र, भूमि, यक्ष, समुद्र, नदी आदि में सर्वत्र प्रभु-महिमा का अवलोकन करते हुए हम पापों से बचें।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सप्तर्षि—यमश्रेष्ठ पितर

सप्तर्षीन्वा इदं ब्रूमोऽपो देवीः प्रजापतिम्।
पितॄन्यमश्रेष्ठान्ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ११ ॥

१. **सप्तर्षीन्**=सप्तर्षियों का लक्ष्य करके हम **इदं ब्रूमः**=इस स्तुतिवचन को कहते हैं। प्रभु ने 'दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखे व मुख' इन सप्तर्षियों का कितनी सुन्दरता से शरीर में स्थापन किया है। इन **देवीः अपः**=रोगों को जीतने की कामना करनेवाले रेतःकणरूप जलों का हम स्तवन करते हैं (दिव् विजिगीषायाम्)। **प्रजापतिम्**=प्रजाओं के रक्षक प्रभु का, **यमश्रेष्ठान् पितॄन्**=नियन्त्रण करनेवालों में श्रेष्ठ पितरों का **ब्रूमः**=हम स्तवन करते हैं, **ते**=वे सब **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चन्तु**=पाप व कष्ट से बचाएँ।

भावार्थ—सप्तर्षियों व वीर्य का गुणस्तवन करते हुए हम उनका रक्षण करें। प्रभु का व पितरों का स्मरण करें। ये हमें पापों व कष्टों से बचाएँगे।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

त्रिलोकी के देव

ये देवा दिविषदो अन्तरिक्षसदश्च ये। पृथिव्यां शक्रा ये श्रितास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १२ ॥

१. **ये**=जो **दिविषदाः देवाः**=द्युलोक में स्थित होनेवाले देव हैं, **ये च**=और जो **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष में आसीन होनेवाले देव हैं, **ये**=जो **शक्राः**=शक्तिशाली देव **पृथिव्यां श्रिताः**=पृथिवी पर आश्रित हैं, **ते**=वे सब **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चन्तु**=पापों व कष्टों से बचाएँ।

भावार्थ—सब देवों की अनुकूलता हमें निष्पाप व सुखी जीवनवाला बनाए।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आदित्य—रुद्र—वसु

आदित्या रुद्रा वसवो दिवि देवा अथर्वाणः।
अङ्गिरसो मनीषिणस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १३ ॥

१. **आदित्याः**=सब गुणों का आदान करनेवाले, **रुद्राः**=रोगों को दूर भगानेवाले, **वसवः**=निवास को उत्तम बनानेवाले, **दिवि देवाः**=ज्ञान के प्रकाश में स्थित होनेवाले देव, **अथर्वाणः**=(अ थर्वति: चरतिकर्मा) स्थिरवृत्तिवाले, **अंगिरसः**=अंग-प्रत्यंग में रसवाले **मनीषिणः**=बुद्धिमान् पुरुष, **ते**=वे सब **नः अंहसः मुञ्चन्तु**=हमें पापों व कष्टों से बचाएँ।

भावार्थ—हम आदित्य आदि की वृत्ति को अपनाते हुए कष्टों व पापों से ऊपर उठें।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यज्ञ, यजुः, होत्रा

यज्ञं ब्रूमो यजमानमृचः सामानि भेषजा। यजूंषि होत्रा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १४ ॥

१. **यज्ञं ब्रूमः**=अग्निष्टोम आदि यज्ञों का हम स्तवन करते हैं। **यजमानम्**=यज्ञशील पुरुष का स्तवन करते हैं, **ऋचः**=यज्ञ में विनियुक्त पादबद्ध मन्त्रों का, **सामानि**=प्रगीतमन्त्रों का, **भेषजा**=रोगशान्तिकर वामदेव्य आदि का **यजूंषि**=यजुर्मन्त्रों का तथा **होत्राः**=सोमयाग में 'होता मैत्रावरुणो ब्राह्मणाच्छंसी पोता नेष्टा अच्छावाक् अग्नीध्र' आदि वषट्कर्ताओं की क्रियाओं का **ब्रूमः**=हम स्तवन करते हैं। **ते**=वे सब **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चन्तु**=पापों व कष्टों से बचाएँ।

भावार्थ—यज्ञों में प्रवृत्त हुए-हुए हम पापों व कष्टों से दूर हों।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'सोम, दर्भ, भंग, यव, सहस्'

पञ्च राज्यानि वीरुधां सोमश्रेष्ठानि ब्रूमः।
दर्भो भङ्गो यवः सहस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १५ ॥

१. **वीरुधाम्**=लताओं के—विरोहणशील (विरुध्) व रोगों को रोकनेवाली (विरुद) ओषधियों के—**पञ्च**=पाँच **राज्यानि**=रोगों के निवारण के द्वारा प्रजा का रञ्जन करनेवाले राजा (वैद्य) से विनियुज्यमान पत्र-काण्ड-पुष्प-फल-मूलात्मक राज्यों का **ब्रूमः**=हम गुणस्तवन करते हैं। ओषधियों के पाँच राज्य **सोमश्रेष्ठानि**=सोम श्रेष्ठ हैं, अर्थात् इन ओषधियों में सोम सर्वश्रेष्ठ है। इसके बाद **दर्भः भंगः यवः सहः**=कुश, शण, यव व सहमाना हैं। दर्भ (दृ विदारणे) रोगों का विदारण करनेवाला है, भंग (भञ्जो आमर्दने) रोगों का आमर्दन कर देता है। (यु अमिश्रणे) रोगों को हमसे दूर करता है और सहः (षह मर्षणे) रोगों को कुचलता है। **ते**=वे सब **नः**=हमें **अंहसः**=कष्टों से **मुञ्चन्तु**=मुक्त करें।

भावार्थ—'सोम, दर्भ, भंग, यव, सहस्' आदि ओषधियों का ज्ञानपूर्वक प्रयोग करते हुए हम रोगों का समूल विनाश करते हैं।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

एकशतं मृत्यवः

अरायान्ब्रूमो रक्षांसि सर्पान्पुण्यजनान्पितॄन्।
मृत्यूनेकशतं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ १६॥

१. **अरायान्**=अदानवृत्तिवाले, **रक्षांसि**=अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाले मनुष्यों का हम **ब्रूमः**=व्यक्तरूप से प्रतिपादन करते हैं—इनके जीवन का विचार करते हैं। जहाँ **सर्पान्**=कुटिल गतिवाले पुरुषों के जीवन को कहते हैं, वहाँ उनकी तुलना में **पुण्यजनान्**=गुणी—शुभकर्म-प्रवृत्त—लोगों का तथा **पितॄन्**=रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त लोगों का भी स्तवन करते हैं। इस सब विचार से हम 'अराय, रक्षस् व सर्प' न बनकर 'पुण्यजन व पितर' बनने का संकल्प करते हैं। २. **एकशतम्**=एक अधिक सौ **मृत्यून्**=मृत्यु के कारणभूत रोगों का भी प्रतिपादन व विचार करते हैं। विचार करके उनके कारणभूत अपथ्यों को दूर करने के लिए यत्न करते हैं। **ते**=वे सब **नः**=हमें **अंहसः**=कष्ट से व पाप से **मुञ्चन्तु**=पृथक् करें।

भावार्थ—हम शुभ व अशुभ प्रवृत्तिवाले लोगों के जीवनों की तुलना करते हुए शुभ प्रवृत्तिवाले बनने के लिए यत्नशील हों। रोगों के कारणों का विचार करके उन कारणों को दूर करके कष्टों से मुक्त हों।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ऋतुचर्या का पालन

ऋतून्ब्रूम ऋतुपतीनार्तवानुत हायनान्।
समाः संवत्सरान्मासांस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ १७॥

१. **ऋतून् ब्रूमः**=हम ऋतुओं का विचारपूर्वक प्रतिपादन करते हैं। **ऋतुपतीन्**=ऋतुओं के पतियों (वसन्त के अधिपति 'वसुओं', ग्रीष्म के 'रुद्र', वर्षा के 'आदित्य', शरत् के 'ऋतु' तथा हेमन्तशिशिर के 'मरुतों') का स्तवन करते हैं। **आर्तवान्**=इन ऋतुओं में होनेवाले पदार्थों का स्तवन करते हैं। **हायनान् समाः संवत्सरान्**=चान्द्र, सौर, सावन भेद से त्रिविध संवत्सरों का तथा **मासान्**=मासों का विचार करते हैं। इनका विचार करते हुए हम ऋतुचर्या का ठीक से पालन करते हैं। **ते**=वे सब **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चन्तु**=कष्ट व पाप से मुक्त करें।

भावार्थ—ऋतुचर्या का ठीक प्रकार पालन करते हुए हम कष्टों व पापों से ऊपर उठें।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देवों द्वारा रक्षण

एत देवा दक्षिणतः पश्चात्प्राञ्च उदेत।
पुरस्तादुत्तराच्छक्रा विश्वेदेवाः समेत्य ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ १८॥

१. हे **देवाः**=दिव्य गुणों व दिव्य गुणयुक्त पुरुषो! आप **दक्षिणतः एत**=दक्षिणदिशा से हमें प्राप्त होओ। इसी प्रकार **पश्चात्**=पश्चिम से **प्राञ्चः**=अग्रगतिवाले होते हुए **उत् एत**=उत्कर्षेण हमें प्राप्त होओ। **पुरस्तात्**=पूर्व से तथा **उत्तरात्**=उत्तर से **शक्राः**=शक्तिशाली **विश्वेदेवाः**=सब देव **समेत्य**=मिलकर—इकट्ठे प्राप्त होकर **ते**=वे सब **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चन्तु**=पाप से मुक्त करें।

भावार्थ—हमें सब दिशाओं से दिव्य गुणों व दिव्य पुरुषों की प्राप्ति हो। उनके सम्पर्क में

हम अशुभ से बचते हुए सुखी जीवनवाले हों।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'सत्यसन्ध—ऋतावृध्' देव

विश्वान्देवानिदं ब्रूमः सत्यसंन्धानृतावृधः।
विश्वाभिः पत्नीभिः सह ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ १९॥
सर्वान्देवानिदं ब्रूमः सत्यसंन्धानृतावृधः।
सर्वाभिः पत्नीभिः सह ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ २०॥

१. **विश्वान् देवान्**=(विशन्ति) प्रजाओं में प्रवेश करनेवाले (विचरनेवाले) **देवान्**=सब आसुरभावों को जीतने की कामनावाले, **सत्यसंधान्**=सत्य के साथ मेलवाले व **ऋतावृधः**=ऋत का (समय पर सब कार्यों को करने की वृत्ति का) वर्धन करनेवाले पुरुषों का लक्ष्य करके हम **इदं ब्रूमः**=यह स्तुतिवचन कहते हैं। **ते**=वे सब देव **विश्वाभिः पत्नीभिः सह**=अपने अन्दर प्रविष्ट सब पालनशक्तियों के साथ **न**=हमें **अंहसः मुञ्चन्तु**=पाप व कष्ट से मुक्त करें। २. **सर्वान्**=(whole) पूर्ण स्वस्थ **देवान्**=देवों को **इदं ब्रूमः**=लक्ष्य करके यह स्तुतिवचन कहते हैं, ये देव **सत्यसंधान्**=सत्य प्रतिज्ञावाले व **ऋतावृधः**=ऋत का वर्धन करनेवाले हैं। **सर्वाभिः पत्नीभिः सह**=अपनी सब पालकशक्तियों के साथ **ते**=वे **नः**=हमें **अंहसः मुञ्चन्तु**=पाप से मुक्त करें।

भावार्थ—हम सत्य के साथ मेलवाले व ऋत का पालन करनेवाले देव बनकर पापों व कष्टों से दूर होने का यत्न करें।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

भूत-भूतपति

भूतं ब्रूमो भूतपतिं भूतानामुत यो वशी। भूतानि सर्वा संगत्य ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ २१॥

१. **भूतम्**=लब्धसत्ताक (उत्पन्न) वस्तुमात्र को लक्ष्य करके हम **ब्रूमः**=स्तुतिवचन—उनके गुणों के प्रतिपादक वचनों को कहते हैं। **भूतपतिम्**=सब भूतों के रक्षक, **उत**=और **यः भूतानां वशी**=जो सब भूतों को वश में करनेवाला देव है, उसके स्तुतिवचनों को कहते हैं। **ते**=वे **सर्वा भूतानि**=सब भूत **संगत्य**=परस्पर संगत होकर, **न**=हमें **अंहसः मुञ्चन्तु**=पाप व कष्ट से मुक्त करें।

भावार्थ—हम भूतों (उत्पन्न पदार्थों) के गुणों को समझें। भूतपति प्रभु का स्मरण करें। इसप्रकार भूतपति के स्मरण के साथ भूतों का ठीक प्रयोग करते हुए कष्टों से बचें।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दिशाएँ, ऋतुएँ व संवत्सर की दंष्ट्राएँ

या देवीः पञ्च प्रदिशो ये देवा द्वादशर्तवः।
संवत्सरस्य ये दंष्ट्रास्ते नः सन्तु सदा शिवाः॥ २२॥

१. **याः**=जो **देवीः**=दिव्य-गुणों से युक्त **पञ्च**=(पचि विस्तारे) विस्तृत **प्रदिशः**=प्रकृष्ट दिशाएँ हैं और **ये**=जो **देवाः**=दिव्य गुणयुक्त **द्वादश ऋतवः**=(**'मधुश्च माधवश्च'**—तै० आ० १।४।१।४।१) दो-दो मासों से बनी हुई, अतएव छह होती हुई भी बारह मासोवाली ऋतुएँ हैं और **ये**=जो **संवत्सरस्य दंष्ट्रा**=आश्विन मास के अन्तिम आठ व कार्तिक मास के सारे दिन वर्ष रूप की यमदंष्ट्रा हैं (इन दिनों में रोग अधिक होते हैं, अतः इन्हें यमदंष्ट्रा कहा गया है), **ते**=वे सब **नः**=हमारे लिए **सदा**=सदा **शिवाः**=कल्याणकर **सन्तु**=हों।

भावार्थ—सब दिशाएँ, ऋतुएँ व वर्ष के यमदंष्ट्रा नामक काल भी हमारे लिए कल्याणकर हों

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भाऽनुष्टुप्** ॥

अमृतम् भेषजम्

यन्मातली रथक्रीतममृतं वेद भेषजम्।
तदिन्द्रो अप्सु प्रावेशयत्तदापो दत्त भेषजम्॥ २३ ॥

१. **मातली**=इन्द्र (जीवात्मा) के शरीर-रथ का सारथिरूप यह बुद्धि **रथक्रीतम्**=(रथे क्रीतं) शरीर-रथ में द्रव्यविनिमय से—(भोजन का विनिमय रस में, रस का रुधिर में, रुधिर का मांस में, मांस का मेदस् में, मेदस् का अस्थि में, अस्थि का मज्जा में व मज्जा का वीर्य में—इसप्रकार विनिमय द्वारा) प्राप्त **यत्**=जिस **अमृतम्**=निरोगता के देनेवाले **भेषजम्**=सब रोगों के औषधभूत वीर्य को **वेद**=प्राप्त करता है **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **तत्**=उस वीर्य को **अप्सु प्रावेशयत्**=शरीरस्थ रुधिररूप जलों में प्रविष्ट कराता है। जितेन्द्रियता द्वारा वीर्य की ऊर्ध्वगति करता हुआ इन्हें रुधिर में व्याप्त कर देता है, **तत्**=अतः **आपः**=हे रुधिररूप जलो! आप हमारे लिए **भेषजम् दत्त**=यह औषध दो।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य सब रोगों का औषध बनता है। बुद्धि ही इसके महत्त्व को समझकर जितेन्द्रिय पुरुष को इसके रक्षण के लिए प्रेरित करती है।

यह वीर्यरक्षण करनेवाला 'इन्द्र' संसार की समाप्ति पर भी बचे रहनेवाले उस 'उच्छिष्ट' प्रभु का स्मरण करता है। प्रभुस्मरण द्वारा अपनी वृत्ति को अन्तर्मुखी करता हुआ 'अथर्वा' (अथ अर्वाङ्) बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

७. [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उच्छिष्टे नामरूपम्

उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः।
उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम्॥ १ ॥

१. **उच्छिष्टे**=सम्पूर्ण संसार के प्रलीन हो जाने पर भी अपने 'सत्' स्वरूप में बचे रहनेवाले प्रभु में ही **नामरूपम्**=नामधेयात्मक शब्द प्रपञ्च और उससे निरूपणीय सम्पूर्ण अर्थ प्रपञ्च आहित है, **च**=और **उच्छिष्टे**=उस उच्छिष्ट प्रभु में ही **लोकः आहितः**=यह सब लोक आस्थित है। २. **उच्छिष्टे**=उस उच्छिष्ट प्रभु में ही **इन्द्रः च अग्निः च**=द्युलोकाधिपति इन्द्र (सूर्य) और पृथिवी का अधिपति अग्नि दोनों आहित हैं। उसके ही **अन्तः**=अन्दर **विश्वं समाहितम्**=सम्पूर्ण जगत् सम्यक् स्थापित है।

भावार्थ—सब नामरूप, सब लोक, सूर्य, अग्नि व सम्पूर्ण विश्व उच्छिष्ट प्रभु में ही आहित है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उच्छिष्टे द्यावापृथिवी

उच्छिष्टे द्यावापृथिवी विश्वं भूतं समाहितम्।
आपः समुद्र उच्छिष्टे चन्द्रमा वात आहितः॥ २ ॥

१. **द्यावापृथिवी**=ये द्युलोक व पृथिवीलोक **उच्छिष्टे**=प्रलय के बाद भी शिष्यमाण प्रभु में आश्रय करके रह रहे हैं। **विश्वं भूतम्**=इन द्यावापृथिवी के सब प्राणी **समाहितम्**=उच्छिष्ट

में ही सम्यक् आहित हैं। **आपः**=ये जल व **समुद्रः**=समुद्र **चन्द्रमाः**=चन्द्र तथा **वातः**=वायु ये सब **उच्छिष्टे आहिताः**=उस उच्छिष्यमाण प्रभु में ही आश्रित हैं।

भावार्थ—उच्छिष्ट प्रभु में ही द्यावापृथिवी, सब भूत, जल, समुद्र, चन्द्र व वायु आहित हैं।

ऋषिः— **अथर्वा** ॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सन् उच्छिष्टे असन् च

सन्नुच्छिष्टे असंश्चोभौ मृत्युर्वाजः प्रजापतिः।
लौक्या उच्छिष्ट आयत्ता व्रश्च द्रश्चापि श्रीर्मयि॥ ३॥

१. **सन्**=सत्तावाला प्रतीत होता हुआ यह कार्यजगत् **असन् च**=अव्यक्त सा—अभावात्मक-सा लगता हुआ कारणजगत् **उभौ**=दोनों **उच्छिष्टे**=उस उच्छिष्ट में आश्रित हैं। **मृत्युः**=प्रपञ्च का मारक मृत्यु, **वाजः**=प्रपञ्च का बल, **प्रजापतिः**=अन्नोत्पादन द्वारा प्रजा का रक्षक मेघ, **लौक्याः**=लोकसम्बन्धिनी सब प्रजाएँ **उच्छिष्टे**=उस उच्छिष्यमाण प्रभु में ही **आयत्ताः**=अधीन होकर रह रहे हैं। **व्रः च**=सबको अपने में आवृत करनेवाला आकाश **द्रः च**=और गतिरूप काल तथा **मयि श्रीः**=मुझमें जो श्री है, वह सब उस उच्छिष्ट प्रभु में ही आश्रित हैं।

भावार्थ—'सन्, असन्, मृत्यु, वाज, प्रजापति, लौक्य, व्र, द्र, और श्री सब प्रभु में आश्रित है।'

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उच्छिष्टे देवताः श्रिताः

दृढो दृंहस्थिरो न्यो ब्रह्म विश्वसृजो दश।
नाभिमिव सर्वतश्चक्रमुच्छिष्टे देवताः श्रिताः॥ ४॥

१. **दृढः**=दृढ़ अंगोंवाला—प्रवृद्ध शरीरवाला देव, **दृंहस्थिरः**=दृंहण के द्वारा स्थिर किया हुआ यह लोक, **न्यः**=(नेतारस्तत्रत्याः प्राणिनः—सा०) उन लोकों में रहनेवाले प्राणी, **ब्रह्म**=बढ़ा हुआ जगत् का कारण अव्यक्तात्मक (महत्तत्त्व), **दश विश्वसृजः**=नौ प्राणों के साथ मुख्य प्राण—ये प्राण तो विश्व के स्रष्टा हैं—तथा **देवताः**=सब देव **उच्छिष्टे**=उस उच्छिष्ट प्रभु में इसप्रकार **श्रिताः**=आश्रित हैं, **इव**=जैसे **नाभिम्**=नाभि को **सर्वतः**=सब ओर से आवेष्टित करके **चक्रम्**=रथचक्र स्थित होता है।

भावार्थ—सब दृढ़ देव, दृढ़ता से स्थिर किया हुआ लोक, उन लोकों में गति करनेवाले प्राणी, दश प्राण व सब देव प्रभु में इसप्रकार आश्रित हैं, जैसे नाभि में रथचक्र।

ऋषिः— **अथर्वा** ॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ऋक्-साम-यजुः उच्छिष्टे

ऋक्साम यजुरुच्छिष्ट उद्गीथः प्रस्तुतं स्तुतम्।
हिङ्कार उच्छिष्टे स्वरः साम्नो मेडिश्च तन्मयि॥ ५॥

१. **ऋक्**=यज्ञ में याज्यानुवाक्यादि रूप से विनियुक्त पादबद्ध मन्त्र, **साम**=प्रगीतमन्त्र, **यजुः**=प्रश्लिष्ट पठित अनुष्ठेयार्थप्रकाशक मन्त्र, **उच्छिष्टे**=उच्छिष्यमाण ब्रह्म में समाश्रित हैं। **उद्गीथः**=उद्गाता से गीयमान सामभाग, **प्रस्तुतम्**=प्रस्तोता से गीयमान प्रस्तावाख्य भाग, **स्तुतम्**=स्तवनकर्म, **हिंकारः**=गायन के प्रारम्भ में प्रयुज्यमान 'हिं' शब्द, **साम्नः**=सब सामों के साथ सम्बद्ध **स्वरः**='क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र, अतिमन्द्र' रूप सप्तविध स्वर **च**=और **मेडिः**=ऋगक्षरों व गानविशेष का संसर्जक स्तोमविशेष—ये सब उच्छिष्ट में आश्रित हैं। **तत्**=ये सब यज्ञसमृद्धि के लिए **मयि**=मुझमें भी हों।

भावार्थ—'ऋक्, साम, यजुः' रूप त्रिविध मन्त्र, उद्गीथादि पाँचों सामभक्तियाँ उस उच्छिष्ट में ही आश्रित हैं। यज्ञसमृद्धि के लिए मैं भी इनको धारण करूँ।

ऋषिः— **अथर्वा** ॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**पुरउष्णिग्बार्हतपराऽनुष्टुप्** ॥

उच्छिष्टे यज्ञस्यांगानि

ऐन्द्राग्रं पावमानं महानाम्नीर्महाव्रतम्।
उच्छिष्टे यज्ञस्याङ्गान्यन्तर्गर्भइव मातरि॥ ६॥

१. **ऐन्द्राग्रम्**=इन्द्र और अग्नि का स्तवन करनेवाला प्रातःसवन में प्रयुज्यमान साम, **पावमानम्**=तीनों सवनों में प्रयुज्यमान पवमान सोमदेवतावाला साम, **महानाम्नीः**='विदा मघवन् विदा गातुं०' इत्यादि ऋचाएँ 'इन ऋचाओं में गाया जानेवाला शाक्वर साम', **महाव्रतम्**='राजन्, गायत्र, बृहद्, रथन्तर, भद्र' नामक पाँच सामों से क्रियमाण स्तोत्र। इसप्रकार 'ऐन्द्राग्र०' आदि **यज्ञस्य अंगानि**=यज्ञ के सब अंग **उच्छिष्टे अन्तः**=उच्छिष्यमाण प्रभु के अन्दर इसप्रकार रह रहे हैं, **इव**=जैसी **मातरि गर्भः**=माता के गर्भ में सन्तान होती है। ब्रह्म में आश्रित होते हुए ये सब यज्ञ के अंश यज्ञ को समृद्ध करते हैं।

भावार्थ—ऐन्द्राग्र, पावमान, महानाम्नी व महाव्रत आदि यज्ञ के सब अङ्ग उच्छिष्ट प्रभु में ही आश्रित हैं।

ऋषिः— **अथर्वा** ॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उच्छिष्ट में 'राजसूय' आदि यज्ञों की स्थिति

राजसूयं वाजपेयमग्निष्टोमस्तदध्वरः। अर्काश्वमेधावुच्छिष्टे जीवबर्हिर्मदिन्तमः॥ ७॥

१. **राजसूयम्**=(राजा सूयते प्रेर्यते यस्मिन् कर्मणि) जिस कर्म में राजा को कर्त्तव्यों की प्रेरणा दी जाती है, **वाजपेयम्**=(वाजः अन्नं द्रवीकृत्य पेयं यस्मिन् कर्मणि) जिसमें यह प्रेरणा दी जाती है कि 'अन्न को खूब चबाकर खाना है' वह कर्म, **अग्निष्टोमः**=जहाँ अग्रणी प्रभु का स्तवन होता है **तत् अध्वरः**=वह हिंसा के लवलेश से शून्य यज्ञ, **अर्काश्वमेधौ**=जिसमें 'अग्नि' नाम से प्रभु की अर्चना होती है, वह उपासना यज्ञ (अर्क) तथा जहाँ 'आदित्य' नाम से उस सर्वव्यापक प्रभु का उपासन होता है, वह अश्वमेध यज्ञ (अश् व्याप्तौ, अश्नुते, मेधृ संगमे)—ये सब यज्ञ उस **उच्छिष्टे**:=उच्छिष्यमाण प्रभु में आश्रित हैं तथा **जीवबर्हिः**=जिसमें जीव का सब प्रकार से वर्धन होता है (बृहि वृद्धौ) वह **मदिन्तमः**=अत्यन्त आनन्द देनेवाला यज्ञात्मक कर्म भी उस प्रभु में आश्रित है।

भावार्थ—'राजसूय' आदि सब यज्ञ उच्छिष्यमाण प्रभु में ही आश्रित हैं।

ऋषिः— **अथर्वा** ॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अग्न्याधेय आदि का आश्रय 'उच्छिष्ट'

अग्न्याधेयमथो दीक्षा कामप्रश्छन्दसा सह।
उत्सन्ना यज्ञाः सत्राण्युच्छिष्टेऽधि समाहिताः॥ ८॥

१. **अग्न्याधेयम्**=अग्निहोत्र में किया जानेवाला अग्नि के आधान का कर्म, **दीक्षा**=व्रतग्रहण, **कामप्रः**=सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाले काम्य कर्म, **छन्दसा सह**=गायत्री आदि छन्दों व अथर्ववेद के साथ **उत्सन्नाः यज्ञाः**=जिन यज्ञों द्वारा जीव ऊपर उठकर (उत् सन्न) ब्रह्म में स्थित होते हैं, वे यज्ञ तथा **सत्राणि**=(सीदन्ति एषु बहवो यजमानाः) बहुकर्तृक सोमयाग—ये सब **उच्छिष्टे अधि**=उच्छिष्यमाण प्रभु में **समाहिताः**=समाश्रित हैं।

भावार्थ—'अग्न्याधेय, दीक्षा, कामप्र, छन्दस्, उत्सन्न, यज्ञ व सत्रों' के आश्रय वे उच्छिष्ट प्रभु ही हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अग्निहोत्र आदि का आश्रय 'प्रभु'

अ॒ग्नि॒हो॒त्रं च॑ श्र॒द्धा च॑ वषट्का॒रो व्र॒तं तपः॑।
दक्षि॑णे॒ष्टं पू॒र्तं चोच्छि॑ष्टेऽधि॒ समा॑हिताः॥ ९॥

१. **अग्निहोत्रं च**=सायं-प्रातः किया जानेवाला अग्निहोत्र (**सायं प्रातरग्निहोत्रं जुहुयात्**—आप० श्रौ० ६।१५।१४) **श्रद्धा च**=यज्ञानुष्ठान विषयक आस्तिक्य बुद्धि, **वषट्कारः**=याज्यान्त में हविःप्रदान के लिए प्रयुज्यमान 'वषट्' शब्द, **व्रतम्**=असत्य न बोलने का व्रत, **तपः**=मन व इन्द्रियों का एकाग्रतारूप तप **दक्षिणा**=यज्ञ की समाप्ति पर ऋत्विज् के लिए देय द्रव्य, **इष्टम्**=यज्ञ, **पूर्तं च**=वापी, कूप आदि निर्माण, लोकपूरक कर्मों का अनुष्ठान—ये सब **उच्छिष्टे अधि समाहिताः**=उच्छिष्ट प्रभु में ही आश्रित हैं।

भावार्थ—अग्निहोत्र आदि सब कर्मों का आधार प्रभु हैं।

ऋषिः— **अथर्वा**॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

एकरात्र—द्विरात्र

ए॒क॒रा॒त्रो द्वि॑रा॒त्रः स॑द्यः॒क्रीः प्र॒क्रीरु॒क्थ्यः॑।
ओतं॒ निहि॑तमु॒च्छिष्टे य॒ज्ञस्या॒णूनि॑ वि॒द्यया॑॥ १०॥

१. **एकरात्रः**=(एकं रात्रिं व्याप्य वर्त्तमानः सोमयागः 'एकरात्र') एक रात्रि तक चलनेवाला सोमयाग, **द्विरात्रः**=दो रात्रियों तक चलनेवाला सोमयाग, **सद्यः क्रीः**=(सद्यः तदानीमेव क्रीयते सोमोऽस्मिन् इति) जिसमें उसी समय सोम का क्रय होता है, वह सोमयाग तथा **प्रक्रीः**=प्रकर्षेण सोमक्रयवाला सोमयाग **उक्थ्यः**=अग्निष्टोम के बाद होनेवाले तीन स्तुतशस्त्र जिसमें उक्थसंज्ञक हैं, वह सोमयाग—ये सब **उच्छिष्टे**=उच्छिष्यमाण प्रभु में **ओतम्**=आबद्ध हैं और **निहितम्**=निक्षिप्त (रक्खे हुए) हैं। इसप्रकार **यज्ञस्य**=यज्ञ-सम्बन्धी **अणूनि**=सूक्ष्मरूप **विद्यया**=ज्ञान के साथ उस ब्रह्म में ही आश्रित हैं।

भावार्थ—'एकरात्र, द्विरात्र' आदि सोमयागों का उपदेश प्रभु ही देते हैं। सब यज्ञों के सूक्ष्मरूप ज्ञान के साथ प्रभु में ही आश्रित हैं।

ऋषिः— **अथर्वा**॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

चतूरात्र—पंचरात्र

च॒तू॒रा॒त्रः प॑ञ्चरा॒त्रः ष॑ड्रा॒त्रश्चो॒भयः॑ स॒ह।
षो॒ड॒शी स॑प्तरा॒त्रश्चोच्छि॑ष्टाज्जज्ञिरे॒ सर्वे॒ ये य॒ज्ञा अ॒मृते॑ हि॒ताः॥ ११॥

१. **चतूरात्रः**=चार रात्रियों में सम्पन्न होनेवाला सोमयाग, **पञ्चरात्रः षड्रात्रः सप्तरात्रः च**=पाँच, छह और सात रात्रियों में सम्पन्न होनेवाले सोमयाग तथा **उभयः सह**=(उभौ चतूरात्रलक्षणौ अवयवौ अस्य सः अष्टरात्रः उभयः) दो चतूरात्रों से बना हुआ अष्टरात्र और इसी प्रकार दशरात्र, द्वादशरात्र व चतुर्दशरात्र सोमयाग, **षोडशी**=सोलह स्तोत्रोंवाला षोडशी सोमयाग—ये सब यज्ञ **उच्छिष्टात् जज्ञिरे**=उच्छिष्यमाण प्रभु से उत्पन्न हुए। ये सब **यज्ञाः**=यज्ञ वे हैं **ये**=जोकि **अमृते हिताः**=अमृतलक्षणफल-जनन में समर्थ हैं।

भावार्थ—अमृत प्राप्त करानेवाले चतूरात्र आदि सब सोमयाग प्रभु द्वारा ही प्रादुर्भूत किये

गये हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विश्वजित् अभिजित्

प्रतीहारो निधनं विश्वजिच्चाभिजिच्च यः।
साह्नातिरात्रावुच्छिष्टे द्वादशाहोऽपि तन्मयि॥ १२॥

१. **प्रतीहारः**=उद्गीथ भक्ति के बाद होनेवाली प्रतिहर्ता से उच्यमान साम की चौथी भक्ति 'प्रतिहार' **निधनम्**=जिस भाग से साम की समाप्ति होती है वह 'निधन' (इसे सब उद्गाताओं को बोलना होता है), **यः विश्वजित् च अभिजित् च**=विश्वजित् व अभिजित् नामवाले सोमयाग, **साह्न अतिरात्रौ**=एक दिन में समाप्यमान सवनत्रयात्मक सोमयाग तथा रात्रि को लाँघकर होनेवाला उनतीस स्तुतशस्त्रोंवाला सोमयाग तथा **द्वादशाहः अपि**=(द्वादशान्त अह्नां समाहारो यस्मिन्) बारह दिनोंवाला क्रतु भी—ये सब **उच्छिष्टे**=उच्छिष्यमाण प्रभु में आश्रित हैं, **तत्**=ये सब अनुक्रान्त (क्रमशः कथित) यज्ञसमूह **मयि**=मुझमें हों, मैं इन यज्ञों को करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—'प्रतीहार, निधन, विश्वजित्, अभिजित्, साह्न, अतिरात्र, द्वादशाह' आदि यज्ञ प्रभु में आश्रित हैं। मैं भी इन्हें करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सूनृता—संनतिः

सूनृता संनतिः क्षेमः स्वधोर्जामृतं सहः।
उच्छिष्टे सर्वे प्रत्यञ्चः कामाः कामेन तातृपुः॥ १३॥

१. **सूनृता**=प्रिय सत्यवाणी, **संनतिः**=(फलस्य नतिः) फल-प्राप्ति (सत्यप्रतिष्ठायां सर्वक्रिया-फलाश्रयत्वम्)—सत्य के होने पर क्रियाफल-प्राप्ति, **क्षेमः**=उपनत फल का रक्षण, **स्वधा**=धारक अन्न, **ऊर्जा**=प्राणस्थापक बलदायी अन्न, **अमृतम्**=अमृतत्व प्रापक पीयूष (अभिनव पय=ताज़ा दूध) **सहः**=पराभिभवनक्षम बल—ये **सर्वे**=सब **कामाः**=काम्यमान फलविशेष **उच्छिष्टे**=उच्छिष्यमाण प्रभु में ही हैं। २. ये सब **प्रत्यञ्चः**=आत्माभिमुख प्राप्त होते हुए **कामेन तातृपः**=काम्यमान अभिलषित फल से यजमान को प्रीणित करते हैं।

भावार्थ—यज्ञशील पुरुष को 'सूनृता, संनति, क्षेम, स्वधा, ऊर्जा, अमृत, सहः' ये सब कमनीय पदार्थ तृप्ति देनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

भूमीः—समुद्राः—दिवः

नव भूमीः समुद्रा उच्छिष्टेऽधि श्रिता दिवः।
आ सूर्यो भात्युच्छिष्टेऽहोरात्रे अपि तन्मयि॥ १४॥

१. **नव भूमीः**=नौ खण्डोंवाले ये पृथिवीलोक अथवा स्तुति के योग्य ये पृथिवीलोक, **समुद्राः**= अन्तरिक्षस्थ लोक तथा **दिवः**=उपरितन द्युलोक **उच्छिष्टे अधिश्रिताः**=उच्छिष्यमाण प्रभु में आश्रित हैं। यह **सूर्यः**=सूर्य तथा **अहोरात्रे अपि**=दिन-रात भी **उच्छिष्टे**=उस उच्छिष्ट प्रभु में ही **आभाति**=चमक रहे हैं। **तत्**=वह प्रभु **मयि**=मुझमें भी दीप्त हो—मैं भी प्रभु के प्रकाश से प्रकाशवाला बनूँ।

भावार्थ—पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक सभी प्रभु में आश्रित हैं। सूर्य व दिन-रात प्रभु में ही दीप्त होते हैं। प्रभु के आधार में मैं भी दीप्तिवाला बनूँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सब यज्ञों का धारक 'प्रभु'

उपहव्यं विषूवन्तं ये च यज्ञा गुहा हिताः।
बिभर्ति भर्ता विश्वस्योच्छिष्टो जनितुः पिता॥ १५॥

१. **उपहव्यम्**=उपहव्य नामक सोमयाग को, **विषूवन्तम्**=गवामयन नामक संवत्सर सत्र के मासषट्कात्मक पूर्वोत्तर पक्षों के मध्य में एकविंशस्तोमक अनुष्ठेय सोमयाग को, **ये च**=और जो अन्य **यज्ञाः गुहा हिताः**=यज्ञ गुहा में निगूढ हैं—अज्ञायमान-से हैं—विद्वानों की बुद्धिरूप गुहा में हैं—उन सब यज्ञों को यह **उच्छिष्टः**=उच्छिष्यमाण परमात्मा **बिभर्ति**=धारण करता है। जो प्रभु **विश्वस्य भर्ताः**=सम्पूर्ण जगत् का भरण करनेवाले हैं, **जनितुः पिता**=जनयिता पिताओं के भी पिता हैं। सब जनयिता प्रभु से उत्पन्न होकर ही जनक बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सब यज्ञों के धारक हैं। प्रभु विश्व के भर्ता हैं, जनकों के भी जनक हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

असोः 'पौत्रः—पितामह'

पिता जनितुरुच्छिष्टोऽसोः पौत्रः पितामहः।
स क्षियति विश्वस्येशानो वृषा भूम्यामतिघ्न्य [ः॥ १६॥

१. **उच्छिष्टः**=वह उच्छिष्यमाण प्रभु **जनितुः पिता**=जनकों का भी जनक (रक्षक) है। वह **पितामहः**=जनकों का भी जनक प्रभु **असोः**=प्राण का **पौत्रम्**=(पौत्रम् अस्य अस्ति इति) पोतृकर्म करनेवाला—पवित्रता का सम्पादक है। हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले वे प्रभु ही हैं। २. **सः**=वह **विश्वस्य ईशानः**=इस सम्पूर्ण संसार के ऐश्वर्यवाले प्रभु **वृषा**=सब सुखों का सेचन करनेवाले हैं। **अतिघ्न्यः**=हनन से ऊपर उठे हुए—अहननीय होते हुए वे प्रभु **भूम्याम् क्षियति**=इस पृथिवी पर निवास करते हैं—सब प्राणिशरीरों में वे प्रभु स्थित हो रहे हैं (अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर।—गीता ८।४)।

भावार्थ—प्रभु जनकों के जनक हैं। ये पितामाह प्रभु प्राणों को पवित्र करनेवाले हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के ईशान वे प्रभु सब सुखों के दाता हैं। अहननीय होते हुए वे सब प्राणिशरीरों में निवास कर रहे हैं।

सूचना—यहाँ 'पौत्रः, पितामहः' शब्दों में विरोधाभास अलंकार द्रष्टव्य है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ऋतं-सत्यम्

ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च।
भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं [लक्ष्मीर्बलं बले॥ १७॥

१. **ऋतम्**=मन से यथार्थ संकल्पन, **सत्यम्**=वाणी से यथार्थभाषण, **तपः**=तप (व्रतोपवासादि नियम) **राष्ट्रम्**=राज्य **श्रमः**=श्रम—शब्दादि विषयोपभोग से उपरति (विश्रान्ति), **च धर्मः**=और धर्म, **च**=तथा **कर्म**=यज्ञादि कर्म, **भूतम्**=उत्पन्न जगत् **भविष्यत्**=उत्पत्स्यमान जगत् **वीर्यम्**=सामर्थ्य, **लक्ष्मी**=सर्ववस्तु सम्पत्ति, **बलम्**=शरीरगत सामर्थ्य—ये सब **बले**=उस बलवान् **उच्छिष्टे**=उच्छिष्यमाण प्रभु में ही आश्रित हैं।

भावार्थ—'ऋत, सत्य, तप, राष्ट्र, श्रम, कर्म, भूत, भविष्यत्, वीर्य, लक्ष्मी व बल' ये सब बलवान् प्रभु में ही आश्रित हैं।

ऋषिः— **अथर्वा** ॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

समृद्धि ओज

समृद्धिरोज आकूतिः क्षत्रं राष्ट्रं षडुर्व्यः।
संवत्सरोऽध्युच्छिष्ट इडा प्रैषा ग्रहा हविः॥ १८॥

१. **समृद्धिः**=इष्टफल की अभिवृद्धि, **ओजः**=शरीरबल, **आकूतिः**=इष्टफलविषयक संकल्प **क्षत्रम्**=क्षात्र तेज, **राष्ट्रम्**=राज्य, **षट् उर्व्यः**=छह उर्वियाँ—द्युलोक, पृथिवीलोक, दिन, रात, जल, ओषधियाँ (आप० श्रौ० १।२।१) **संवत्सरः**=द्वादशमासात्मक काल, **इडा**=वेदवाणी, **प्रैषाः**=प्रेरकमन्त्र, **ग्रहाः**=गृह्यमाण सोम, **हविः**=चरु, पुरोडाशादि हविर्द्रव्य—ये सब **उच्छिष्टे अधि**=उच्छिष्यमाण प्रभु के आधार से हैं।

भावार्थ—समृद्धि, ओज व आकूति आदि का आधार वे प्रभु ही हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यज्ञाः होत्राः

चतुर्होतार आप्रियश्चातुर्मास्यानि नीविदः।
उच्छिष्टे यज्ञा होत्राः पशुबन्धास्तदिष्टयः॥ १९॥

१. **चतुर्होतारः**=चतुर्होतृसंज्ञक मन्त्र ('चित्ति स्रुक्'—तै० आ० ३।१-५), **आप्रियः**=होता जिन मन्त्रों से यज्ञ करता है (आप्रीभिः आप्नुवन् तद् आप्रीणाम् आप्रित्वम्—तै० ब्रा० २।२।८।२) **चातुर्मास्यानि**=चार मासों में क्रियमाण 'वैश्वदेव, वरुणप्रघास, साकमेध और शुनासीरीय' नामक चार पर्व, **नीविदः**=स्तोतव्य गुणप्रकर्ष निवेदनपरक मन्त्र, **यज्ञाः**=याग, **होत्राः**=होतृ प्रमुख सात वषट्कर्त्ता, **पशुबन्धाः**='अग्नीषोमीय सवनीय अनुबन्धी' रूप सोमांगभूत पशुयाग, **इष्टयः**=अंगभूत यज्ञ, **तत्**=वह सब चतुर्होतृप्रभृतिक मन्त्र, यज्ञ व यज्ञांग **उच्छिष्टे**=उच्छिष्यमाण प्रभु में आश्रित होकर रह रहे हैं।

भावार्थ—सब मन्त्रों, यज्ञों व यज्ञांगों के आधार प्रभु ही हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अर्धमासाः च मासाः च

अर्धमासाश्च मासाश्चार्तवा ऋतुभिः सह।
उच्छिष्टे घोषिणीरापः स्तनयित्नुः श्रुतिर्मही॥ २०॥

१. **अर्धमासाः**=पन्द्रह दिनों से बने पक्ष, **मासाः**=चैत्र आदि महीने, **आर्तवाः**=ऋतुसम्बन्धी पदार्थ, **ऋतुभिः सह**=वसन्त आदि ऋतुओं के साथ **उच्छिष्टे**=उस उच्छिष्यमाण प्रभु में आश्रित हैं। **घोषिणीः आपः**=वे घोषयुक्त जल, **स्तनयित्नुः**=गर्जना करता हुआ मेघ तथा **मही श्रुतिः**=यह महनीय (आदरणीय) वेदवाणी उस प्रभु में ही आश्रित हैं।

भावार्थ—'सब काल, उस-उस काल में होनेवाले पदार्थ, जल, मेघ व वेदवाणी' ये सब उच्छिष्यमाण प्रभु में आश्रित हैं।

ऋषिः— **अथर्वा** ॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्** ॥

शर्कराः सिकताः

शर्कराः सिकता अश्मान ओषधयो वीरुधस्तृणा।
अभ्राणि विद्युतो वर्षमुच्छिष्टे संश्रिता श्रिता॥ २१॥

१. **शर्कराः**=क्षुद्र पाषाणविशेष (बजरी), **सिकताः**=बालुका (रेत), **अश्मानः**=पत्थर, **ओषधयः**=व्रीहि-यव आदि ओषधियाँ, **वीरुधः**=लताएँ, **तृणा**ः=गौ आदि से उपभोग्य घास, **अभ्राणि**=मेघ, **विद्युतः**=बिजली, **वर्षम्**=वृष्टि—ये सब **उच्छिष्टे**=उच्छिष्यमाण प्रभु में **संश्रिता**=समवस्थित हुए-हुए **श्रिता**=प्रभु के आश्रय में रह रहे हैं।

भावार्थ—'शर्करा, सिकता, पाषाण' आदि सब पदार्थों के आधार प्रभु ही हैं।

सूचना—'संश्रिता' का अर्थ अन्य 'स्वाश्रय समवेत पदार्थ' भी लिया जा सकता है। ये सब भी उस उच्छिष्ट में **श्रिता**=आश्रित हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**विराट्पथ्याबृहती**॥

प्राप्ति, समाप्ति, व्याप्ति

राद्धिः प्राप्तिः समाप्तिर्व्याऽप्तिर्मह एधतुः।
अत्याप्तिरुच्छिष्टे भूतिश्चाहिता निहिता हिता॥ २२॥

१. **राद्धिः**=फल की सिद्धि, **प्राप्तिः**=प्रेप्सित फल की प्राप्ति, **समाप्तिः**=कर्म की पूर्णता, **व्याप्तिः**=नाना मनोरथों के अनुरूप फलों की प्राप्ति, **महः**=तेज, **एधतुः**=वृद्धि, **अत्याप्तिः**=आशातीत प्राप्ति, **भूतिः**=समृद्धि जोकि **आहिता**=चारों ओर सूर्य आदि देवों में स्थापित है, अथवा जो **निहिता**=पर्वतकन्दराओं व भूगर्भ में सुरक्षित रक्खी है—वह सब **उच्छिष्टे हिता**=उच्छिष्यमाण प्रभु में स्थापित है।

भावार्थ—सब 'सिद्धि, प्राप्ति, वृद्धि व भूति' के आधार प्रभु ही हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**उच्छिष्टः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सर्वाधार प्रभु

यच्च प्राणति प्राणेन यच्च पश्यति चक्षुषा।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥ २३॥
ऋचः सामानि च्छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥ २४॥
प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥ २५॥
आनन्दा मोदाः प्रमुदोऽभीमोदमुदश्च ये।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥ २६॥
देवाः पितरो मनुष्या ऽगन्धर्वाप्सरसश्च ये।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥ २७॥

१. **यत् च**=जो भी प्राणिसमूह **प्राणेन प्राणति**=प्राणवायु से प्राणन-व्यापार करता है अथवा घ्राणेन्द्रिय से गन्धों को सूँघता है, **यत् च**=और जो प्राणिसमूह **चक्षुषा पश्यति**=आँख से रूप को देखता है **सर्वे**=वे सब प्राणी **उच्छिष्टात् जज्ञिरे**=उच्छिष्यमाण प्रभु से प्रादुर्भूत हुए हैं तथा **दिवि**=द्युलोक में स्थित **दिविश्रितः**=प्रकाशमय सूर्य के आकर्षण में श्रित **देवाः**=(दिव् गतौ) गतिमय लोक उस उच्छिष्ट प्रभु में ही आश्रित हैं। २. **ऋचः**=पादबद्ध मन्त्र, **सामानि**=गीतिविशिष्टमन्त्र, **छन्दांसि**=गायत्री आदि छन्दों वाले, **यजुषा सह**=यज्ञ प्रतिपादक मन्त्रों के साथ **पुराणम्**=सृष्टि-निर्माण व प्रलयादि के प्रतिपादक मन्त्र ये सब उच्छिष्यमाण प्रभु में आश्रित हैं।

२. **प्राणापानौ**=प्राण और अपान, **चक्षुः श्रोत्रम्**=आँख व कान, **अक्षितिः च**=क्षय का अभाव **या च क्षितिः**=और जो क्षय है, वह सब उच्छिष्ट प्रभु में आश्रित है। इसी प्रकार **आनन्दाः**=विषयोप-भोगजनित सुख, **मोदाः**=विषयदर्शनजन्य हर्ष, **प्रमुदाः**=प्रकृष्ट विषयलाभजन्य हर्ष, **ये च**=और जो **अभीमोदमुदः**=(अभिमोदेन मोदयन्ति) संनिहित सुख हेतु पदार्थ हैं—ये सब उस प्रभु में आश्रित हैं। ३. **देवाः**=आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य तथा इन्द्र और प्रजापति नामक तेतीस देव, **पितरः**=पालनात्मक कर्मों में प्रवृत्त रक्षक वर्ग, **मनुष्याः**=प्रभुमननपूर्वक धनार्जन करनेवाले मनुष्य, **गन्धर्व-अप्सरसः च ये**=जो वेदवाणी का धारण (गां धारयन्ति) और यज्ञादि कर्मों को करनेवाले (अप्सु सरन्ति) लोग हैं—ये सब उस प्रभु के आधार से ही रह रहे हैं।

भावार्थ—प्राणिमात्र व पदार्थमात्र के आधार वे प्रभु ही हैं, सब ज्ञानों व आनन्दों का आधार भी वही हैं।

सर्वाधार प्रभु का स्मरण करता हुआ यह साधक अपने कर्त्तव्यमार्ग पर निरन्तर आगे बढ़ता है। कर्त्तव्य कर्म करने को ही अपना मार्ग समझनेवाला यह 'कौरुपथि' ही अगले सूक्त का ऋषि है। इस सूक्त का देवता 'अध्यात्मम्' है, इसमें शरीर की रचना आदि का काव्यमय वर्णन है—

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मन्यु का जाया आवहन

यन्मन्युर्जायामावहत्संकल्पस्य गृहादधि।
क आसं जन्याः के वराः क उ ज्येष्ठवरोऽभवत्॥ १॥

१. स्वमहिम प्रतिष्ठ परब्रह्म की और सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिका मायाशक्ति (प्रकृति) की कर्मपरिपाक जनित सम्बन्ध के कारण उत्पन्न होनेवाली जो परमेश्वर-सम्बन्धी सिसृक्षावस्था है, उसी का यहाँ लौकिक विवाह के रूप में निरूपण करते हैं। **यत्**=जब **मन्युः**=(मन्यते सर्वं जानाति-सा०) सर्वज्ञ प्रभु **जायाम् आवहत्**=(जायते अस्यां सर्वं जगत्—सा०) सिसृक्षावस्थापन्न पारमेश्वरी मायाशक्ति को भार्यारूप से स्वीकार करनेवाला हुआ तो वह इस जाया को **संकल्पस्य गृहात् अधि**=(सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय—तै० आ० ८।६।१) संकल्प के घर से लाया। संकल्प से ही इस सिसृक्षावस्थारूप जाया की उत्पत्ति हुई। २. उस समय उस जाया के आवहन के प्रसंग में **के जन्याः असन्**=कौन जायापक्ष के लोग थे। **के वराः**=कौन वरपक्ष के लोग थे। **च**=और **कः**=कौन् **ज्येष्ठवरः अभवत्**=विवाह करनेवाला प्रधानभूत वर हुआ।

भावार्थ—प्रभु के संकल्प से सिसृक्षावस्था की उत्पत्ति हुई। इसके होने पर ही प्रभु ने इस विविध सृष्टि को प्रादुर्भूत किया।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तप + कर्म

तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्य॑र्णवे।
त आसं जन्यास्ते वरा ब्रह्म ज्येष्ठवरोऽभवत्॥ २॥

१. उस सृष्टि के समय **महति अर्णवे अन्तः**=महान् प्रकृति के अणु-समुद्र में **तपः च कर्म च एव आस्ताम्**=प्रभु के स्रष्टव्य पर्यालोचनात्मक तप की (यस्य ज्ञानमयं तपः) तथा प्राणियों से अनुष्ठित फलोन्मुख परिपक्व कर्म की स्थिति हुई। उस समय तप और कर्म ही उपकरणरूप से अवस्थित थे। २. **ते**=वे तप और व्यक्तियों से अनुष्ठित बहुल कर्म ही **जन्याः आसन्**=विवाहप्रवृत्त

बन्धुजन थे। **ते**=वे ही **वराः**=वरण करनेवाले बाराती थे। **ब्रह्म**=सिसृक्षावस्थावाला जगत् कारणभूत ब्रह्म ही **ज्येष्ठवरः अभवत्**=ज्येष्ठवर था।

भावार्थ—सृष्टि के निर्माण में महत्त्वपूर्ण उपकरण दो ही हैं (१) प्रभु का स्रष्टव्य पर्यालोचनात्मक तप तथा (२) प्राणियों का फलोन्मुख परिपक्व कर्म।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देवप्रत्यक्ष से महद् ब्रह्म का ज्ञान

दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा।
यो वै तान्विद्यात्प्रत्यक्षं स वा अद्य महद्वदेत्॥ ३॥

१. **पुरा**=सृष्टि के प्रारम्भ में **देवेभ्यः**=सूर्य आदि ब्रह्माण्ड के देवों से **दश देवाः**=शरीरस्थ चक्षु आदि दस देव **साकम् अजायन्त**=साथ-साथ प्रादुर्भूत हुए (सूर्यः चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्, अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्, वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्०) २. **यः**=जो भी उपासक **वै**=निश्चय से **तान्**=उन देवों को **प्रत्यक्षं विद्यात्**=अपरोक्षरूप में जानता है—अर्थात् इन देवों का साक्षात्कार करता है, **सः वै**=वही निश्चय से **अद्य**=अब **महद् वदेत्**=देशकालकृत-परिच्छेदरहित ब्रह्म को प्रतिपादित (उपदिष्ट) करता है। उसे इन देवों में प्रभु की महिमा दीखती है। यह महिमा उसे प्रभु का आभास प्राप्त कराती है।

भावार्थ—शरीर में ब्रह्माण्ड के सूर्य आदि देवों से चक्षु आदि देव उत्पन्न होते हैं। इन देवों को जाननेवाला ही प्रभु की महिमा को देखनेवाला बनता है।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दश देव

प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या।
व्यानोदानौ वाङ् मनस्ते वा आकूतिमावहन्॥ ४॥

१. **प्राणापानौ**=प्राण और अपान, **चक्षुः श्रोत्रम्**=आँख और कान, **अक्षितिः च**=अक्षीयमाण ज्ञानशक्ति (यह आत्मस्वरूपत्वेन नित्य है), **या च क्षितिः**=और जो निवासहेतुभूता क्रियाशक्ति है (क्षि निवासगत्योः), **व्यानोदानौ**=अन्न रस को सब नाड़ियों में (विविधं अनिति) विविधरूप से प्रेरित करनेवाला व्यान तथा उद्गारादि व्यापार को (ऊर्ध्वं अनिति) करनेवाला उदान, **वाङ्-मनः**=वाणी तथा मन **ते**=वे प्राणापान आदि दस देव **आकूतिम्**=पुरुषकृत संकल्प को **आवहन्**=आभिमुख्येन प्राप्त कराते हैं। पुरुष के अभिमत अर्थ को सिद्ध करनेवाले ये ही दस हैं।

भावार्थ—शरीर में स्थित प्राणापान आदि दस देव हमारे सब अभिमत अर्थों को सिद्ध करते हैं।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कर्मरूप सृष्टि का मूलकारण

अजाता आसन्नृतवोऽथो धाता बृहस्पतिः। इन्द्राग्नी अश्विना तर्हि कं ते ज्येष्ठमुपासत॥ ५॥
तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्य[र्णवे। तपो ह जज्ञे कर्मणस्तत्ते ज्येष्ठमुपासत॥ ६॥

१. **ऋतवः**=वसन्त आदि ऋतुएँ उस सृष्टि के समय में अभी **अजाताः आसन्**=उत्पन्न न हुई थीं। **अथो**=और **धाता**=सबका धारण करनेवाला 'सूर्य' **बृहस्पतिः**=(बृहन् चासौ पतिः) वृद्धि का कारणभूत रक्षक वायु भी न था। **इन्द्र-अग्नी**=मेघ (विद्युत्) व अग्नि भी न थे। **अश्विना**=दिन व रात (नि० १।२।१) भी न थे। ये 'धाता, बृहस्पति, इन्द्राग्नी, अश्विना' नामक

छह ऋतुओं के अधिपति भी न थे। **ते**=वे सब धाता आदि अपनी उत्पत्ति के लिए **कम्**=किस **ज्येष्ठम्**=सबसे बड़े कारणभूत जनयिता की **उपासत**=उपासना करते थे? २. उत्तर देते हुए कहते हैं कि **महति अर्णवे अन्तः**=महान् प्रकृति के अणु-समुद्र में **तपः च एव**=जगत् स्रष्टा ईश्वर का स्रष्टव्य पर्यालोचनात्मक तप ही और **कर्म च**=कल्पान्तर में प्राणियों से अनुष्ठित फलोन्मुख परिपक्व कर्म ही **आस्ताम्**=थे। २. वस्तुतः **तप**=प्रभु का पर्यालोचनात्मक तप भी **ह**=निश्चय से **कर्मणः**=कल्पान्तर में प्राणियों से किये हुए कर्म से ही **जज्ञे**=प्रादुर्भूत हुआ। यदि प्राणियों के कर्म न होते तो स्वमहिम प्रतिष्ठ असंग व उदासीन प्रभु सृष्ट्युन्मुख होते ही नहीं और तब यह स्रष्टव्य पर्यालोचनात्मक तप भी न होता। एवं तप भी कर्म से पैदा हुआ, अतः **ते**=वे धाता आदि **तत्**=उस कर्म की ही **ज्येष्ठम्**=वृद्धतम सृष्टि के कारण के रूप में **उपासते**=उपासना करते हैं। कर्म को ही मूलकारण जानते हैं।

भावार्थ—सृष्टि के प्रारम्भ में अभी न ऋतुएँ थी न इनके अधिपति थे। वे अधिपति समझते हैं कि तप व कर्म से सृष्टि होती है। तप भी तो कर्म से होता है, अतः मूल कारण कर्म ही है।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पुराणवित्

येत आसीद्भूमिः पूर्वा यामद्धातय इद्विदुः।
यो वै तां विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित्॥ ७॥

१. **इतः**=इस पुरोवर्तिनी भूमि से **पूर्वा**=पूर्वभाविनी—अतीतकल्पस्थ, **या भूमिः आसीत्**=जो भूमि थी, **याम्**=जिस पूर्वा भूमि को **अद्धातयः**=(अद्धा प्रत्यक्षम् अतन्ति व्याप्नुवन्ति) तपः प्रभाव से प्राप्त ज्ञानवाले अतीत व अनागत के ज्ञाता महर्षि **इत्**=ही **विदुः**=जानते हैं। **ताम्**=उस अतीतकल्पस्था भूमि को **यः वै**=जो निश्चय से **नामथा**=(नामप्रकारेण—सा०) उसमें जो-जो वस्तु हैं, उन्हें नाम के साथ **विद्यात्**=जानता है, **सः**=वह **पुराणवित्**=पुरातन अर्थ का जाननेवाला विद्वान् ही **मन्येत्**=इस सारी वर्तमान भूमि को भी जान सकता है।

भावार्थ—सृष्टि की रचना को पूरा-पूरा समझना कठिन ही है। समाधि से सर्वज्ञता को प्राप्त करनेवाले विरले पुरुष ही इसे जान पाते हैं।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इन्द्र-से-इन्द्र, सोम-से-सोम

कुत इन्द्रः कुतः सोमः कुतो अग्निरजायत।
कुतस्त्वष्टा समभवत्कुतो धाताजायत॥ ८॥
इन्द्रादिन्द्रः सोमात्सोमो अग्नेरग्निरजायत।
त्वष्टा ह जज्ञे त्वष्टुर्धातुर्धाताजायत॥ ९॥

१. **इन्द्र**=इन्द्र (मेघ व विद्युत्) **कुतः अजायत**=किससे प्रादुर्भूत हुआ? **सोमः**=(षू प्रेरणे) यह प्रेरक वायु **कुतः**=कहाँ से उत्पन्न हो गई? **अग्निः कुतः**=(अजायत) अग्नि कहाँ से उत्पन्न हो गई। **त्वष्टा**=सब जीवों के शरीर का निर्माण करनेवाला पृथिवीतत्त्व **कुतः**=कहाँ से **समभवत्**=हुआ, **धाता**=धारण करनेवाला वह सूर्य **कुतः अजायत**=कहाँ से हो गया? २. **इन्द्रात्**=पूर्वकल्प में जिस रूप में इन्द्र था उस इन्द्र से **इन्द्रः**=इदानीन्तन इन्द्र **अजायत**=प्रादुर्भूत हुआ। इसी प्रकार **सोमात् सोमः**=पूर्वकल्प के सोम से, यह इस कल्प का सोम हुआ। **अग्नेः अग्निः**=पूर्वकल्प के अग्नितत्त्व ने इस कल्प का अग्नितत्त्व हुआ। **ह**=निश्चय से **त्वष्टुः**=पूर्वकल्प

के पृथिवी तत्त्व से **त्वष्टा जज्ञे**=यह त्वष्टा—पृथिवी तत्त्व प्रादुर्भूत हुआ। **धातुः धाता अजायत**=पूर्वकल्प के धाता से इस कल्प का धाता हो गया।

भावार्थ—जैसे पूर्वकल्प में सृष्टि की रचना हुई थी ठीक उसी प्रकार इस कल्प में भी सृष्टि-रचना हुई। (पूर्व—पूर्वसृष्ट्यनुसारेणैव इदानीन्तना अपि इन्द्रादयो देवाः सृष्टाः। '**सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्**'—सा०)

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देवेभ्यः देवाः

ये त आसन्दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा।
पुत्रेभ्यो लोकं दत्त्वा कस्मिंस्ते लोक आसते॥ १०॥

१. **पुराः**=प्रारम्भ में **ये**=जो **ते**=वे **दश देवाः**=चक्षु आदि दस देव **देवेभ्यः**=सूर्य आदि देवों से **जाताः आसन्**=प्रादुर्भूत हुए (सूर्यः चक्षुर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत्) **पुत्रेभ्यः**=अपने पुत्र चक्षु आदि के लिए **लोकं दत्त्वा**=लोक—स्थान देकर **ते**=वे देव **कस्मिन् लोके आसते**=किस लोक में आसीन होते हैं?

भावार्थ—जिज्ञासु प्रश्न करता है कि इन्द्रियों का व उनके अधिष्ठातृदेवों का निवासाश्रय कौन-सा है?

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कं लोकमनु प्राविशत्

यदा केशानस्थि स्नाव मांसं मज्जानमाभरत्।
शरीरं कृत्वा पादवत्कं लोकमनु प्राविशत्॥ ११॥

१. **यदा**=जब सृष्टिकाल में **केशान्**=शिरोरुहों को **अस्थि स्नाव मांसं मज्जानम्**=शरीरोपादानभूत हड्डियों, अस्थिसंधिबन्धन की साधनभूत शिराओं, मांस, अस्थ्यन्तर्गत रस (मज्जा) को स्रष्टा ने **समभरत्**=एकत्र संभृत किया। संभृत हुए-हुए केश आदि द्वारा **शरीरम्**=शरीर को **पादवत् कृत्वा**=हस्तपाद आदि अंगोपांगसहित करके **कं लोकम् अनुप्राविशत्**=किस अन्य लोक में अनुप्रविष्ट हुआ? वस्तुतः उसी पुरुष शरीर में ही आत्मभावेन उसने प्रवेश किया।

भावार्थ—इस शरीर में वह स्रष्टा केश आदि का आभरण करके इसी में अनुप्रविष्ट होता है। ('**तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्**'—तै० आ० ८।६.१ '**अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि**'—छा० उ० ६।३।२)।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

किसने? किससे?

कुतः केशान्कुतः स्नाव कुतो अस्थीन्याभरत्।
अङ्गा पर्वाणि मज्जानं को मांसं कुत आभरत्॥ १२॥

१. **केशान्**=केशों को **कुतः आभरत्**=किस मूल उपादानकारण से बनाकर रक्खा? **स्नाव कुतः**=स्नायुओं को किस पदार्थ से बनाया? **अस्थीनि कुतः**=हड्डियों को किस उपादान से बनाया? **अंगा**=अन्य अंगों को **पर्वा**=पर्वों को **मांसम्**=मांस को **मज्जानम्**=अस्थिरस को **कुतः आभरत्**=किस उपादान से आभृत किया? तथा **कः (आभरत्)**=किसने इन सबका आभरण किया?

भावार्थ—किसने ये सब केश आदि पदार्थ बनाये? किस पदार्थ से बनाये?

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

संसिचो नाम ते देवाः

संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्त्समभरन्।
सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन्॥ १३॥

१. **ये देवाः**=मन्त्र १० में कहे गये ज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियात्मक जो दश देव हैं अथवा अधिष्ठातृसहित प्राणापानादि हैं, वे **संभारन्**=(संभ्रियन्ते इति) केश आदि को **समभरन्**=एक स्थान पर संभृत करनेवाले हुए। **ते देवाः संसिचः नाम**=(सम् सिञ्चन्ति) वे देव सब संभारों को एकत्र करके बन्धक रस से बाँधते हैं, इसी से वे 'संसिच्' नामवाले हैं—वे संसेचन समर्थ संधायक हैं। २. वे **देवाः**=देव **मर्त्यम्**=इस मरणधर्मा **सर्वम्**=सम्पूर्ण शरीर को **संसिच्य**=रुधिर से आर्द्र करके **पुरुषम् आविशन्**=पुरुषाकृति करके इसमें प्रविष्ट हुए।

भावार्थ—जब तक शरीर में प्राणों का निवास है तब तक ही प्राणाधिष्ठित शरीर सब व्यवहारों को करने में समर्थ होता है, अतः प्राणदेव ही पृथिव्यादि पंचभूतात्माओं से उत्पन्न केश अस्थ्यादि धातुमय पुरुष शरीर को प्रविष्ट करके रह रहे हैं।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कः ऋषिः ?

ऊरू पादावष्ठीवन्तौ शिरो हस्तावथो मुखम्।
पृष्ठीर्बर्जह्ये पार्श्वे कस्तत्समदधादृषिः॥ १४॥

१. **ऊरू**=जाँघों को, **अष्ठीवन्तौ**=जानुओं को, **शिरः**=सिर को, **पादौ**=पाँवों को, **हस्तौ**=हाथों को **अथो मुखम्**=और मुख को **पृष्ठीः**=पार्श्वास्थियों—पसलियों को, **बर्जह्ये**=हंसली की हड्डियों को, **पार्श्वे**=छाती की पसलियों को **तत्**=उस सब ढाँचे को **कः ऋषिः**=किस सर्वद्रष्टा विवेकी ने **समदधात्**=परस्पर जोड़ा।

भावार्थ—ऊरू आदि अवयवों को कौन तत्त्वद्रष्टा संहित करनेवाला है ?

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

महती संधा

शिरो हस्तावथो मुखं जिह्वां ग्रीवाश्च कीकसाः।
त्वचा प्रावृत्य सर्वं तत्सन्धा समदधान्मही॥ १५॥

१. **शिरः**=मूर्धा को, **हस्तौ**=हाथों को, **अथो मुखम्**=और मुख को, **जिह्वाम्**=जिह्वा को, **ग्रीवाः च**=गर्दन के मोहरों को, **च कीकसाः**=और अन्य अस्थियों को **त्वचा प्रावृत्य**=चर्म से आच्छादन करके **सर्वं तत्**=उस सब अंगसमूह को **मही सन्धा**=महनीय प्रभु की सन्धानशक्ति (संधानकर्त्री देवता) **समदधात्**=संहित, परस्पर संश्लिष्ट, स्वस्वव्यापारक्षम करनेवाली हुई।

भावार्थ—प्रभु की संधानशक्ति ने सब अंग-प्रत्यंगों को त्वचा से आवृत करके परस्पर संश्लिष्ट कर दिया।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कः वर्णम् आभरत् ?

यत्तच्छरीरमशयत्संधया संहितं महत्।
येनेदमद्य रोचते को अस्मिन्वर्णमाभरत्॥ १६॥

१. **यत्**=जो **संधया संहितम्**=प्रभु की संधानशक्ति से संहित हुआ-हुआ **महत् शरीरं अशयत्**=यह महनीय शरीर शेते (वर्तते)=यहाँ ब्रह्माण्ड में निवास करता है, **अस्मिन्**=इस शरीर में **कः**=किस देव ने **वर्णम्**=उस वर्ण को **आभरत्**=भरा **येन**=जिससे कि **इदम्**=यह शरीर **अद्य रोचते**=आज दीप्त हो रहा है।

भावार्थ—सन्धानशक्ति से संहित अवयवोंवाले इस शरीर में कौन देव कृष्ण-गौर आदि वर्णों को भर देता है?

ऋषिः—**कौरुपथिः**॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वर्ण को भरनेवाली 'ईशा'

सर्वे॑ दे॒वा उपा॑शिक्ष॒न्तद॑जानाद्व॒धूः स॒ती।
ईशा॑ व॒शस्य॒ या जा॒या सास्मि॒न्वर्ण॒माभ॑रत्॥ १७॥

१. **सर्वे देवाः**=इन्द्रादि सब देवों ने **उपाशिक्षन्**=समीप होकर शक्त होना चाहा। **वधूः सती**=परमेश्वर से जिसका विवाह हुआ है, उस आद्या चिद्रूपिणी शक्ति ने **तत् अजानात्**=देवों से किये गये उस संकल्प को जाना। ऐतरेयोपनिषद् में यही भाव इन शब्दों में कहा गया है—**'ता एनमब्रुवन् आयतनं नः प्रजानीहि यस्मिन् प्रतिष्ठता अन्नमदामेति'**। २. तब **या**=यह जो **वशस्य**=सम्पूर्ण संसार को वश में करनेवाले ईश की **जाया**=पत्नी के रूप में **ईशा**=ईशाना नियन्त्री मायाशक्ति है, **सा**=उस पारमेश्वरी शक्ति ने ही **अस्मिन्**=इस षाट्कौशिक छह तहों में लिपटे हुए शरीर में **वर्णम् आभरत्**=गौर-कृष्णादि वर्ण प्राप्त कराया।

भावार्थ—प्रभु ही देवों के एकत्रनिवास के लिए इस षाट्कौशिक शरीर को बनाते हैं। वे ही अपनी शक्ति से इसमें गौर-कृष्ण आदि वर्णों को भरते हैं।

ऋषिः—**कौरुपथिः**॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उत्तरः त्वष्टा

य॒दा त्वष्टा॒ व्यतृ॑णत्पि॒ता त्वष्टु॒र्य उत्त॑रः।
गृ॒हं कृ॒त्वा मर्त्यं॑ दे॒वाः पुरु॑ष॒मावि॑शन्॥ १८॥

१. **यदा**=जब **त्वष्टुः**=कर्मों के द्वारा अपने शरीर आदि का निर्माण करनेवाले जीव का **यः पिता**=जो प्रभुरूप पिता है, उन्हीं **उत्तरः त्वष्टा**=सर्वोत्कृष्ट निर्माता प्रभु ने **व्यतृणत्**=इस शरीर में इन्द्रियरूप छिद्रों को बनाया तब **देवाः**=सूर्य आदि देव **मर्त्यं पुरुषम्**=इस मरणधर्मा पुरुषशरीर को **गृहं कृत्वा**=घर बनाकर **आविशन्**=प्रविष्ट हो गये। **'सूर्यः चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्०'** सूर्य चक्षु बनकर आँखों में, वायु प्राण बनकर नासिका में, अग्नि वाणी बनकर मुख में, चन्द्रमा मन बनकर हृदय में ऐसे ही अन्य देव अन्य-अन्य स्थानों में प्रविष्ट हो गये।

भावार्थ—जीव के कर्मानुसार शरीर बनता है, अतः जीव तो इसका 'त्वष्टा' है ही, परन्तु कर्मानुसार इन योनियों में प्राप्त करानेवाला प्रभु 'उत्तर त्वष्टा' है। वह इन शरीरों में इन्द्रिय-द्वारों को बना देता है और देव उन स्थानों में आकर आसीन हो जाते हैं।

ऋषिः—**कौरुपथिः**॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

स्वप्नः—पालित्यम्

स्वप्नो॒ वै त॒न्द्रीर्निर्ऋ॑तिः पा॒प्मानो॒ नाम॑ दे॒वताः॑।
ज॒रा खाल॑त्यं॒ पालि॑त्यं॒ शरी॑र॒मनु॒ प्रावि॑शन्॥ १९॥

१. शरीर में इन्द्रियादि देवों के प्रवेश कर लेने पर तथा प्राणापानादि के प्रविष्ट हो जाने

पर शरीर सर्वव्यवहारक्षम हो गया। अब इसमें विविध विकारों का भी प्रारम्भ हुआ। **स्वप्नः**=स्वाप (निद्रा), **वै**=निश्चय से **तन्द्रीः**=अलसता, **निर्ऋतिः**=दुर्गति, **पाप्मानः नाम देवताः**='ब्रह्महत्या, सुरापान, स्तेय, परस्त्री-संसर्ग, दुःसंग' आदि पापमय व्यवहार (दिव् व्यवहारे), **जरा**=बुढ़ापा, **खालत्यम्**=गञ्जापन, **पालित्यम्**=बालों की सफ़ेदी—ये सब विकार **शरीरम् अनुप्राविशन्**=शरीर में अनुप्रविष्ट हो गये।

भावार्थ—शरीर में प्राणन-व्यापार का प्रारम्भ हो जाने पर स्वप्न आदि विकारों का प्रवेश भी हो जाता है।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

स्तेयम्—सत्यम्

स्तेयं दुष्कृतं वृजिनं सत्यं यज्ञो यशो बृहत्।
बलं च क्षत्रमोजश्च शरीरमनु प्राविशन्॥ २०॥

१. **स्तेयम्**=चोरी की वृत्ति, **दुष्कृतम्**=दुष्कर्म, **वृजिनम्**=पाप (crime दुष्कृत, पाप sin), **सत्यम्**=यथार्थकथन, **यज्ञः**=याग, **यशः**=कीर्ति, **बृहत् बलं च**=वृद्धि का कारणभूत बल, **क्षत्रम्**=क्षतों से त्राण करनेवाली शक्ति, **ओजः च**=और ओजस्विता—इन सबने **शरीरम् अनु प्राविशन्**=शरीर में प्रवेश किया।

भावार्थ—जहाँ शरीर में चोरी आदि भावों का उद्गम हुआ वहाँ सत्य आदि का भी प्रादुर्भाव हुआ।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

भूति—अभूति—श्रद्धा-अश्रद्धा

भूतिश्च वा अभूतिश्च रातयोऽरातयश्च याः।
क्षुधश्च सर्वास्तृष्णाश्च शरीरमनु प्राविशन्॥ २१॥
निन्दाश्च वा अनिन्दाश्च यच्च हन्तेति नेति च।
शरीरं श्रद्धा दक्षिणाश्रद्धा चानु प्राविशन्॥ २२॥

१. **भूतिः च वै अभूतिः च**=समृद्धि और निश्चय से असमृद्धि, **रातयः**=दानवृत्तियाँ, **च याः**=और जो **अरातयः**=अदानवृत्तियाँ हैं, **क्षुधः च**=भूख और **सर्वाः तृष्णाः च**=सब प्रकार की प्यास—ये **शरीरम् अनुप्राविशन्**=शरीर में प्रविष्ट हुईं। २. **निन्दाः च वै**=निश्चय से निन्दा की वृत्तियाँ, **अनिन्दाः च**=अनिन्दा के भाव,'**यत् च हन्ति इति, न इति च**=और जो 'हाँ' या 'न' इसप्रकार इच्छा व अनिच्छा के भाव हैं, **च**=तथा **श्रद्धा**=धर्मकार्यों में श्रद्धा, उसके लिए **दक्षिणा**=पुरस्कार देने का विचार तथा **अश्रद्धा**=श्रद्धा का न होना—ये सब बातें **शरीरं अनुप्राविशत्**=शरीर में प्रविष्ट हो गईं।

भावार्थ—शरीर में समृद्धि-असमृद्धि व श्रद्धा-अश्रद्धा आदि नाना भावों की स्थिति होती रहती है। ये ही बातें हमारे उत्थान व पतन का कारण बनती हैं।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ऋचः साम अथो यजुः

विद्याश्च वा अविद्याश्च यच्चान्यदुपदेश्य[म्]।
शरीरं ब्रह्म प्राविशदृचः सामाथो यजुः॥ २३॥

१. **विद्याः च वै**=निश्चय से आत्मज्ञान (पराविद्या) **अविद्याः च**=और अपरा विद्याएँ (प्रकृति-विज्ञान) **यत् च अन्यत् उपदेश्यम्**=और इनसे भिन्न जो भी उपदेश्य है; वह सब **ब्रह्म**=ज्ञान **शरीरं प्राविशत्**=शरीर में प्रविष्ट हुआ। शरीर में **ऋचः**=ऋचाओं का **साम अथो यजुः**=साम और यजुः का भी प्रवेश हुआ 'विज्ञान, उपासना व कर्म' तीनों की शरीर में स्थिति हुई।

भावार्थ—हमारा शरीर विद्याओं, अविद्याओं, विज्ञान, उपासना व कर्म सभी का आधार बनता है।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

हसः नरिष्टा नृत्तानि

आनन्दा मोदाः प्रमुदोऽभीमोदमुदश्च ये।
हसो नरिष्टा नृत्तानि शरीरमनु प्राविशन्॥ २४॥

१. **आनन्दाः**=विषयोपभोगजनित सुख, **मोदाः**=विषयदर्शनजन्य हर्ष, **प्रमुदः**=प्रकृष्ट विषयलाभजन्य हर्ष, **ये च**=और जो **अभीमोदमुदः**=(अभिमोदेन मोदयन्ति) संनिहित सुख हेतु पदार्थ, **हसः**=हास **नरिष्टा**=(नर इष्ट) मनुष्य के इच्छागोचर शब्द-स्पर्शादि विषय तथा **नृत्तानि**=नर्तन—ये सब आनन्द आदि **शरीरम् अनु प्राविशन्**=पुरुष के शरीर में प्रविष्ट हो गये।

भावार्थ—शरीरधारी जीव आनन्द आदि वृत्तियों का अनुभव करता है।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आयुजः—प्रयुजः—युजः

आलापाश्च प्रलापाश्चाभीलापलपश्च ये।
शरीरं सर्वे प्राविशन्नायुजः प्रयुजो युजः॥ २५॥

१. **आलापाः च**=आभाषण (सार्थक वचन), **प्रलापाः च**=निरर्थक वचन, **ये च**=और जो **अभीलापलपः**=उत्तर-प्रत्युत्तररूप कथन (जो प्रत्यक्ष में दूसरे की बातें सुनकर प्रत्युत्तर में बातें कही जाएँ), **आयुजः**=आयोजन, **प्रयुजः**=प्रयोग और **युजः**=योग (मेल-जोल)—आलाप आदि **सर्वे**=ये सब **शरीरं प्राविशन्**=शरीर में प्रविष्ट हुए।

भावार्थ—जीवित पुरुष आलाप आदि करता है तथा आयोजन आदि में प्रवृत्त होता है।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

चक्षुः श्रोत्रं वाङ् मनः

प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या।
व्यानोदानौ वाङ् मनः शरीरेण त ईयन्ते॥ २६॥

१. **प्राणापानौ**=प्राण और अपान, **चक्षुः श्रोत्रम्**=आँख व कान, **अक्षितिः च**=क्षय का अभाव, **या च क्षितिः**=और जो क्षय है, **व्यानोदानौ**=व्यानवायु व उदानवायु, **वाक् मनः**=वाणी और मन—**ते**=वे सब **शरीरेण**=इस शरीर के साथ **ईयन्ते**=गतिवाले होते हैं।

भावार्थ—प्राणापान आदि शरीर में प्रविष्ट होकर अपने-अपने व्यापारों में प्रवृत्त होते हैं।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आशिषः प्रशिषः, संशिषः विशिषः

आशिषश्च प्रशिषश्च संशिषो विशिषश्च याः।
चित्तानि सर्वे संकल्पाः शरीरमनु प्राविशन्॥ २७॥

१. **आशिषः च**=आशासन—इष्ट फल प्रार्थनाएँ (आशीर्वाद), **प्रशिषः च**=प्रशासन (आज्ञाएँ) **संशिषः**=संशासन (अनुज्ञाएँ), **याः च विशिषः**=और जो विशेष आज्ञाएँ हैं, **चित्तानि**=चित्त, मन, बुद्धि, अंहकार आदि तथा **सर्वे संकल्पाः**=सब अन्तःकरण वृत्तियाँ **शरीरम् अनुप्राविशन्**=शरीर में प्रविष्ट हुईं।

भावार्थ—जीवित शरीर में आशासन-प्रशासन आदि के साथ नाना प्रकार की स्मृतियाँ व संकल्प होते रहते हैं।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'बीभत्सु' शरीर (सुबद्ध-सुघटित)

आस्नेयीश्च वास्तेयीश्च त्वरणाः कृपणाश्च याः।
गुह्याः शुक्रा स्थूला अपस्ता बीभत्सावसादयन्॥ २८॥

१. **आस्नेयीः च**=(अस्यते क्षिप्यते यत् नाडीषु) रुधिर में होनेवाले, **वास्तेयीः च**=मूत्राधार में होनेवाले, **त्वरणाः**=शीघ्रगतिवाले, **याः च कृपणाः**=और जो कृश (पतले) व **स्थूलाः**=स्थूल (गाढ़े), **गुह्याः**=(गुहायां भवाः) हृदयदेश में रहनेवाले या अदृश्य व **शुक्राः**=वीर्यरूप में परिणत **अपः**=जल हैं, **ताः**=वे सब जल **बीभत्सौ**=इस (बध बन्धने) सुबद्ध शरीर में **असादयन्**=प्राप्त होते हैं—स्थित होते हैं।

भावार्थ—जल शरीर में विविधरूपों में स्थित होकर शरीर की सुबद्धता का साधन बनता है।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अस्थि=समिधा, रेतस्=आज्य

अस्थि कृत्वा समिधं तदष्टापो असादयन्।
रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन्॥ २९॥

१. **अस्थि**=अस्थि-(हड्डी)-समूह को **समिधं कृत्वा**=समिन्धनसाधन (शरीरपरिपाक का निमित्त) बनाकर **आपः**=शरीरस्थ जलों ने **तत् अष्ट**=उन आठ धातुओं को (रस, रुधिर, मांस, मेदस्, अस्थि, मज्जा, वीर्य व ओज) **असादयन्**=शरीर में स्थापित किया और **रेतः**=वीर्य को ही **आज्यं कृत्वा**=जीवन-यज्ञ का घृत बनाकर **देवाः**=इन्द्रियों के अधिष्ठातृदेवों ने **पुरुषम् आविशन्**=पुरुष शरीर में प्रवेश किया।

भावार्थ—यह जीवन एक 'जरामर्य प्राणाग्निहोत्र' है। अस्थियाँ ही इसमें समिधाएँ हैं तथा वीर्य घृत है। अग्नि आदि देव इस शरीर में स्थित होकर इस जीवन-यज्ञ को चला रहे हैं।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विराट् ब्रह्मणा सह

या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह।
शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः॥ ३०॥

१. **याः आपः**=जो 'आस्नेयी वास्तेयी' आदि जल हैं (११।८।२८), **याः च देवताः**=जो इन्द्रियों के अधिष्ठातृदेव सूर्य आदि हैं, और **या विराट्**=जो प्रभु की विशिष्ट शक्ति हैं, वे **ब्रह्मणा सह**=ब्रह्म के साथ **शरीरं प्राविशत्**=शरीर में प्रविष्ट होती हैं। इस शरीर में **ब्रह्म (प्राविशत्)**=प्रभु का प्रवेश होता है। वही सबका अन्तर्यामी है। **शरीरे अधि प्रजापतिः**=इस शरीर में प्रजाओं का पालक (पुत्रोत्पादक) जीव रहता है। यह जीव के विविध भोगों का स्थान बनता है।

भावार्थ—शरीर में अपनी प्रकृतिरूप शक्ति के साथ ब्रह्म का भी निवास है—वे प्रभु तो

अन्तर्यामिरूप से यहाँ रह ही रहे हैं। शरीर में भोगों को भोगनेवाला जीव भी प्रजापति बनकर रह रहा है।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर

सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य वि भेजिरे।
अथास्येतरमात्मानं देवाः प्रायच्छन्नग्नये॥ ३१ ॥

१. **सूर्यः**=सूर्य **चक्षुः**=चक्षु-इन्द्रिय को आत्मीयभाग के रूप में स्वीकार करता है। **वातः**=वायु **प्राणम्**=घ्राणेन्द्रिय को अपना भाग बनाता है (**आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्, वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्**—ऐ० आ० २।४।२) इसी प्रकार **पुरुषस्य**=इस पुरुष की अन्य इन्द्रियों को उनके अधिष्ठातृदेव **विभेजिरे**=विभागपूर्वक स्वीकार करते हैं। २. **अथ**=इसके बाद **इतरम्**=प्राण-इन्द्रिय आदि से व्यतिरिक्त **अस्य आत्मानम्**=इसके स्थूलशरीर को **देवाः**=सब देव **अग्नये प्रायच्छन्**=अग्नि के लिए भागरूप से देते हैं। एवं, मरणानन्तर अग्नि से केवल यह स्थूलशरीर ही दग्ध किया जाता है।

भावार्थ—'ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्चैव तथा कर्मेन्द्रियाण्यपि। वायवः पञ्च बुद्धिश्च मनः सप्तदशं विदुः ॥' यह सप्तदशात्मक लिंगशरीर मुक्तिपर्यन्त नष्ट न होकर उन-उन देवों का निवासस्थान बना रहता है। स्थूलशरीर बारम्बार अग्नि का भाग बनता है।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देवमन्दिर

तस्माद्वै विद्वान्पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते। सर्वा ह्य᳕स्मिन्देवता गावो गोष्ठइवासते॥ ३२ ॥

१. **तस्मात्**=उपर्युक्त कारण से—क्योंकि यहाँ भिन्न-भिन्न इन्द्रियों में उस-उस देवता का निवास है **वै**=निश्चयपूर्वक **विद्वान्**=ज्ञानी पुरुष **इदं पुरुषम्**=इस पुरुष-शरीर को **ब्रह्म इति**='अत्यन्त महत्त्वपूर्ण (बृहि वृद्धौ) है' इस रूप में **मन्यते**=मानता है। **अस्मिन्**=इस शरीर में **हि**=निश्चय से **सर्वाः देवताः**=सब देव इसप्रकार **आसते**=आसीन होते हैं, **इव**=जैसेकि **गावः गोष्ठे**=गौएँ गोशाला में।

भावार्थ—सब देवों का निवासस्थान यह शरीर वस्तुतः अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देवमन्दिर है। इसे पवित्र बनाए रखना हमारा मौलिक कर्त्तव्य है।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

त्रेधा

प्रथमेन प्रमारेण त्रेधा विष्वङ् वि गच्छति।
अद एकेन गच्छत्यद एकेन गच्छतीहैकेन नि षेवते॥ ३३ ॥

१. शरीर का अभिमानी जीव शरीर व इन्द्रियों से पुण्य-पापात्मक कर्मों को करके उनके फलभोग के लिए त्रिविध गतिवाला होता है। **प्रथमेन प्रमारेण**=शरीरात्मक कर्म के क्षय से प्रथमभावी स्थूलशरीर के प्रमृत होने से वह त्यक्तशरीर जीवात्मा **त्रेधा**=तीन प्रकार से **विष्वङ् विगच्छति**=नाना योनियों में आता है। **अदः**=विप्रकृष्ट (दूरस्थ) स्वर्गाख्य स्थान को **एकेन**=पुण्यकर्म से **गच्छति**=प्राप्त होता है, **अदः**=विप्रकृष्ट नरकाख्य स्थान को **एकेन गच्छति**=पापकर्म से प्राप्त होता है। तथा **इह**=इस भूलोक पर **एकेन**=पुण्य-पापात्मक मिश्रित कर्म से **निषेवते**=नितरां सुखदुःखात्मक भोगों का सेवन करता है।

भावार्थ—('पुण्येन पुण्यलोकं नयति, पापेन पापं, उभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्—प्रश्नो० ३.७) शरीर को छोड़ने पर पुण्य से स्वर्ग की, पाप से नरक की और पुण्य-पाप की समता में मनुष्यलोक में जन्म मिलता है।

ऋषिः—**कौरुपथिः** ॥ देवता—**मन्युः, अध्यात्मम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अप्सु शरीरम्, शरीरे शवः

अप्सु स्तीमासु वृद्धासु शरीरमन्तरा हितम्।
तस्मिञ्छवोऽध्यन्तरा तस्माच्छवोऽध्युच्यते॥ ३४॥

१. **वृद्धासु**=बढ़े हुए **स्तीमासु**=गीला कर देनेवाले **अप्सु अन्तरा**=जलों के भीतर **शरीरम् हितम्**=यह शरीर रक्खा हुआ है। 'आपः रेतो भूत्वा०' जल ही रेतःकणों का रूप धारण करते हैं। इन्हीं से शरीर का निर्माण होता है। **तस्मिन् अधि अन्तरा**=उस शरीर के भीतर **शवः**=यह गति देनेवाला आत्मतत्त्व है। **तस्मात्**=गति देने के कारण ही **शवः**=यह गति का स्रोत बलवान् आत्मा **अधि उच्यते**=अधिष्ठातृरूपेण कहा जाता है।

भावार्थ—रेतःकणरूप जलों में शरीर की स्थिति है। शरीर में आत्मा की, आत्मा ही इसे गति देता है, अतः आत्मा इसका अधिष्ठाता कहा जाता है।

अगले सूक्त का ऋषि कांकायन है—कंक का अपत्य। कंक् गतौ to go धातु से कंक शब्द बना है। यह प्रजाओं का क्षतों से त्राण करनेवाले क्षत्रिय का वाचक है। यह क्षत्रिय 'अर्बुदि' है (अर्ब to go, to kill) यह शत्रुओं के प्रति आक्रमण करता है और उनका संहार करता है—

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—**काङ्क्षायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाविराट्शक्वरी** ॥

उदार प्रदर्शन से शत्रुओं का भयभीत हो जाना

ये बाहवो या इषवो धन्वनां वीर्याणि च।
असीन्परशूनायुधं चित्ताकूतं च यद्धृदि।
सर्वं तदर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय॥ १॥

१. **ये बाहवः**=हमारे योद्धओं की जो भुजाएँ हैं—आयुधग्राही हाथ हैं, **याः इषवः**=जो बाण हैं, **च**=और **धन्वनां वीर्याणि**=धनुर्धारियों के बल हैं, उन सबको तथा **असीन्**=तलवारों को, **परशून्**=कुल्हाड़ों को, **आयुधम्**=शस्त्रों को **च**=और **हृदि**=हृदय में **यत्**=जो **चित्ताकूतम्**=चित्त से किया जाता हुआ शत्रुमारण संकल्प है, हे **अर्बुदे**=शत्रुसंहारक सेनापते! **त्वम्**=तू **तत् सर्वम्**=उन बाहु आदि को तथा सब आयुधों को **अमित्रेभ्यः**=शत्रुओं के लिए **दृशे कुरु**=दिखलाने के लिए कर, जिससे कि इन युद्ध-प्रकरणों को देखकर शत्रुओं के मनों में भीति का उद्भव हो, **च**=तथा हे अर्बुदे! तू शत्रुओं के लिए **उदारान् प्रदर्शय**=विशाल आयोजनाओं को दिखला। इन विशाल आयोजनाओं को देखकर वे भयभीत हो उठें। उनमें युद्ध का उत्साह रहे ही नहीं।

भावार्थ—शत्रु हमारे योद्धओं, अस्त्र-शस्त्रों व विशाल आयोजनाओं को देखकर भयभीत हो जाए और युद्ध के उत्साह को छोड़ बैठे।

ऋषिः—**काङ्क्षायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

उत्थान व सन्नाह

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम्।
सन्दृष्टा गुप्ता वः सन्तु या नो मित्राण्यर्बुदे॥ २॥

१. हे **मित्राः**=(मिञ् प्रक्षेपणे) शत्रुओं का प्रक्षेपण करनेवाले **देवजनाः**=(दिव् विजिगीषायाम्) विजय की कामनावाले लोगो! **यूयं उत्तिष्ठत**=आप सब उठ खड़े होओ, **संनह्यध्वम्**=युद्ध के लिए संनद्ध हो जाओ। २. हे **अर्बुदे**=शत्रु का संहार करनेवाले सेनापते! **या नः मित्राणि**=जो भी हमारे मित्र शत्रुओं के विरोध में लड़ने के लिए आये हैं, वे **वः**=तुम सब देवजनों से (तृतीयार्थे षष्ठी) **संदृष्टाः**=सम्यक् निरीक्षित व **गुप्ताः सन्तु**=सुरक्षित हों।

भावार्थ—मित्र, देवजन उद्यत होकर और सम्यक् सन्नद्ध होकर हमारे शत्रुओं से युद्ध करें। हमारे मित्रों का वे रक्षण करें।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**परोष्णिक्** ॥

आदान-संदान

उत्तिष्ठतमा रभेथामादानसन्दानाभ्याम्।
अमित्राणां सेना अभि धत्तमर्बुदे॥ ३॥

१. हे **अर्बुदे**=शत्रुसंहार करनेवाले सेनापते! तथा **न्यर्बुदे**=(मन्त्र ४ से उद्धृत) निश्चय से शत्रु के प्रति जानेवाले सेनापते! आप **उत्तिष्ठतम्**=उठ खड़े होओ, **आरभेथाम्**=(राभस्यं कार्योपक्रमः) शत्रुसंहार का कार्य प्रारम्भ करो॥ **आदान-संदानाभ्याम्**=(आदीयते अनेन, ग्रहणार्थं रज्जुयन्त्रम् आदानम्, सन्दीयते बध्यते अनेन सन्दानम्) आदान व सन्दानरूप रज्जुयन्त्रों से **अमित्राणाम्**=शत्रुओं की **सेनाः**=सेनाओं को **अभिधत्तम्**=बाँध डालो।

भावार्थ—मुख्य सेनापति (अर्बुदि) तथा अधीन सेनापति (न्यर्बुदि) मिलकर शत्रुसेनाओं को पाशरज्जु व बन्धनरज्जुओं से जकड़ डालें।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**उष्णिग्बृहतीगर्भापरात्रिष्टुप्षट्पदाऽतिजगती** ॥

अर्बुदि + न्यर्बुदि

अर्बुदिर्नाम यो देव ईशानश्च न्य र्बुदिः।
याभ्यामन्तरिक्षमावृतमियं च पृथिवी मही।
ताभ्यामिन्द्रमेदिभ्यामहं जितमन्वेमि सेनया॥ ४॥

१. **यः**=जो **अर्बुदिः नाम**='अर्बुदि' नामवाला मुख्य सेनापति है, वह **देवः**=शत्रुओं को जीतने की कामनावाला है (दिव् विजिगीषायाम्), **च**=और **न्युर्बुदि**=अधीनस्थ सेनापति **ईशानः**=शत्रुओं को जीतने में समर्थ है। ये अर्बुदि व न्यर्बुदि वे हैं **याभ्याम्**=जिनसे **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष **च**=और **इयं मही पृथिवी**=यह महती पृथिवी **आवृतम्**=आवृत की गई है। वायुसेना द्वारा अन्तरिक्ष आवृत किया गया है, तथा नौसेना व स्थल (पदाति) सेना से यह पृथिवी आवृत की गई है। २. **ताभ्याम्**=उन द्यावापृथिवी को व्याप्त करके वर्त्तमान **इन्द्रमेदिभ्याम्**=राजा के प्रति पूर्ण स्नेहवाले अर्बुदि व न्यर्बुदि द्वारा **सेनया**=सेना के द्वारा **जितम्**=जीते हुए प्रदेश को **अहं अनु एमि**=मैं अनुकूलता से प्राप्त होता हूँ।

भावार्थ—अर्बुदि व न्यर्बुदि शत्रुओं को जीतने की कामनावाले व शत्रुओं को जीतने में समर्थ हों। ये अन्तरिक्ष व पृथिवी को वायुसेना व स्थलसेना से आवृत करके शत्रुप्रदेश को जीतनेवाले बनें। वे प्रदेश हमारे लिए अनुकूलता से गति करने योग्य बनें।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

भोगेभिः परिवारय

उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह। भञ्जन्नमित्राणां सेनां भोगेभिः परि वारय॥ ५॥

१. हे **देवजन**=शत्रु-विजिगीषु पुरुष! **अर्बुदे**=शत्रुसंहारक सेनापते! **त्वम्**=तू **सेनया सह**=सेना के साथ **उत्तिष्ठ**=उठ खड़ा हो। **अमित्राणाम्**=शत्रुओं की **सेनाम्**=सेना को **भञ्जन्**=आमर्दित करता हुआ—कुचलता हुआ **भोगेभिः परिवारय**=(भोग An army in column) व्यूह में स्थित सेनाओं के द्वारा घेर ले।

भावार्थ—सेनापति शत्रुसेना को अपनी व्यूढ सेना के द्वारा घेर ले तथा उसका आमर्दन कर दे—उसे कुचल डाले।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'सप्त जातान्'

सप्त जातान्न्यर्बुद उदाराणां समीक्षयन्।
तेभिष्ट्वमाज्ये हुते सर्वैरुत्तिष्ठ सेनया॥ ६॥

१. हे **न्यर्बुदे**= निश्चय से शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले सेनानि! **त्वम्**=तू **उदाराणाम्**=विशाल आयोजनाओं का **समीक्षयन्**=शत्रुओं के लिए सन्दर्शन कराता हुआ तथा **सप्त जातान्**=('स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च' राज्यांगानि प्रकृतयः) 'स्वामी, अमात्य, सुहृत, कोश, राष्ट्र, दुर्ग तथा सैन्य' रूप सातों विकसित हुए-हुए राज्यांगों को दिखलाता हुआ, **तेभिः सर्वैः**=उन सब राज्यांगों के साथ तथा **सेनया**=विशेषकर सेना के साथ **आज्ये हुते**=युद्धाग्नि में घृत पड़ जाने पर—युद्ध के भड़क उठने पर **उत्तिष्ठ**=उठ खड़ा हो।

भावार्थ—युद्ध की परिस्थिति में राज्य के सभी अंग, विशेषतया सेना उसमें पूर्ण योग देनेवाली हो तभी विजय सम्भव होती है।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रतिघ्नाना—अश्रुमुखी

प्रतिघ्नानाश्रुमुखी कृधुकर्णी च क्रोशतु। विकेशी पुरुषे हते रदिते अर्बुदे तव॥ ७॥

१. हे **अर्बुदे**=शत्रुओं का संहार करनेवाले सेनापते! **तव रदिते**=(रद विलेखने raid) तेरे द्वारा शत्रुओं का विलेखन—अवदारण होने पर—तेरे द्वारा आक्रमण किये जाने पर **पुरुषे हते**=अपने पुरुषों के मारे जाने पर शत्रु-स्त्रियाँ **प्रतिघ्नाना**=अपनी-अपनी छाती को पीटती हुई, **अश्रुमुखी**=आँसुओं से व्याप्त मुखोंवाली **कृधुकर्णी च**=और कर्णाभरणों के त्याग से ह्रस्व कर्णोंवाली व मन्द श्रवणशक्तिवाली होती हुई **क्रोशतु**=रोदन करे।

भावार्थ—हमारे सेनापति द्वारा शत्रुसैन्य के पुरुषों के संहार होने पर शत्रु-स्त्रियाँ छाती पीटती हुई आँसुओं से व्याप्त मुखोंवाली व मन्द श्रवणवाली चीखती-चिल्लाती दीखें।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

संकर्षन्ती—करूकरम्

संकर्षन्ती करूकरं मनसा पुत्रमिच्छन्ती। पतिं भ्रातरमात्स्वान्रदिते अर्बुदे तव॥ ८॥

१. हे **अर्बुदे**=शत्रुसंहारक सेनापते! **तव रदिते**=तेरे आक्रमण करने पर शत्रु-स्त्री **करूकरं संकर्षन्ती**=अपने हाथ-पैर की हड्डियों को ('करू' शब्द करनेवाली हस्तपादादिगत संधिवाली अस्थियाँ=करूकर) मचकाती हुई (हड्डियों को खैंचती हुई), **मनसा पुत्रम् इच्छन्ती**=मन से पुत्र को चाहती हुई—युद्ध में गये हुए पुत्रादि की मृत्यु के भय से घबराकर उनके जीवन की कामना करती हुई—**पतिं भ्रातरम्**=पति व भाई को चाहती हुई, **आत् स्वान्**=और अन्य बन्धुओं को चाहती हुई (**क्रोशतु**) विलाप करे।

भावार्थ—युद्ध में अपने बन्धुओं की मृत्यु के भय से व्याकुल शत्रु-स्त्री, पुत्र, पति, भाई व बन्धुओं का विलाप करनेवाली हो।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

शत्रुशवों को खाकर पक्षी तृप्त हों

अलिक्लवा जाष्कमदा गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः।
ध्वाङ्क्षाः शकुनयस्तृप्यन्त्वमित्रेषु समीक्षयन्रदिते अर्बुदे तव॥ ९॥

१. **अलिक्लवाः**=(अल सामर्थ्ये क्लव वैक्लव्ये) अपने बल से भय देनेवाले चील आदि **जाष्कमदाः**=(जसु हिंसायाम्) हिंसा में ही आनन्द लेनेवाले सारस आदि **गृध्राः**=गिद्ध, **श्येनाः**=बाज, **पतत्रिणः**=अन्य मांसभक्षक पक्षी, **ध्वांक्षाः**=कौवे आदि **शकुनयः**=पक्षी, हे **अर्बुदे**=सेनापते! **तव रदिते**=तेरा आक्रमण होने पर **अमित्रेषु**=शत्रुओं में **समीक्षयन्**=(व्यत्ययेन एकवचनम्—सा०) उनके मरण को देखते ही मरणानन्तर उन्हें खाने से **तृप्यन्तु**=तृप्त हों।

भावार्थ—शत्रुशवों को खाते हुए गिद्ध आदि तृप्ति का अनुभव करें।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

श्वापदं मक्षिका क्रिमिः

अथो सर्वं श्वापदं मक्षिका तृप्यतु क्रिमिः।
पौरुषेयेऽधि कुणपे रदिते अर्बुदे तव॥ १०॥

१. **अथो**=(अपि च) और **सर्वम्**=सब **श्वापदम्**=(शुनः पदानीव पदानि यस्य—सा०) शृगाल, व्याघ्र आदि हिंस्रपशु **मक्षिका**=मांसनिषेविणी नीलमक्षिका तथा **क्रिमिः**=मांस के जीर्ण होने पर पैदा हो जानेवाले प्राणी—ये सब, हे **अर्बुदे**=शत्रुसंहारक सेनापते! **तव रदिते**=तेरा आक्रमण होने पर **पौरुषेये कुणपे अधि**=पुरुष-सम्बन्धी शव—शरीर पर **तृप्यन्तु**=तृप्त हों।

भावार्थ—सेनापति द्वारा शत्रु का विनाश होने पर शत्रुओं के मृत-शरीरों को हिंस्र-पशु, मक्षिका व कृमि खानेवाले बनें।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

निवाशा घोषः

आ गृह्णीतं सं बृहतं प्राणापानान्न्यर्बुदे।
निवाशा घोषाः सं यन्त्वमित्रेषु समीक्षयन्रदिते अर्बुदे तव॥ ११॥

१. हे **अर्बुदे**=शत्रुसंहारक सेनापते! **न्यर्बुदे**=निश्चय से शत्रु पर आक्रमण करनेवाले उपसेनापते! **प्राणापानान् आगृह्णीतम्**=शत्रुसम्बन्धी प्राणापानों को सब ओर से ले-लो, **संबृहतम्**=समूल उत्खिन्न कर दो। २. **तव रदिते**=आपके द्वारा शत्रुविलेखन होने पर **अमित्रेषु**=शत्रुओं पर **समीक्षयन्**=(षष्ठ्यर्थे प्रथमा) उस आक्रमण को देखते हुए लोगों के **निवाशाः घोषाः**=(नीचीनं वाश्यमानाः) दबी आवाजों में किये जाते हुए शब्द **संयन्तु**=चारों ओर उठ खड़े हों।

भावार्थ—हमारे सेनानी शत्रुओं को घेर लें व उत्खिन्न (नष्ट) कर दें। शत्रुओं पर होनेवाले आक्रमण को देखकर देखनेवाले चीख उठें।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उरुग्राहैः बाह्वङ्कैः

उद्वेपय सं विजन्तां भियामित्रान्त्सं सृज। उरुग्राहैर्बाह्वङ्कैर्विध्यामित्रान्न्यर्बुदे॥ १२॥

१. हे **न्यर्बुदे**=निश्चय से शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले सेनानि! **अमित्रान्**=हमारे शत्रुओं को **उद्वेपय**=आप कम्पित कर दो, **संविजन्ताम्**=वे शत्रु भय से विचलित हो उठें। **भिया संसृज**=इन शत्रुओं को भय से आक्रान्त कर दीजिए। **अरुग्राहैः**=जाँघों के जकड़नेवाले तथा **बाह्वङ्कैः**=बाहुओं को वक्र गतिवाला करनेवाले (क्रुञ्च to move in a curve) शस्त्रों से **अमित्रान् विध्य**=शत्रुओं को विद्ध कर दो।

भावार्थ—हे सेनानि! तू शत्रुओं को कम्पित व भयभीत करके दूर भगा दे। इन्हें ऐसे शस्त्रों से आक्रान्त कर जो इनकी जाँघों को जकड़ दें तथा भुजाओं को वक्र गतिवाला कर दें।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

भुजाओं व चित्तों की मूढ़ता

मुह्यन्त्वेषां बाहवश्चित्ताकूतं च यद्धृदि।
मैषामुच्छेषि किं चन रदिते अर्बुदे तव॥ १३॥

१. हे **अर्बुदे**=शत्रुसंहारक सेनापते! **तव रदिते**=तेरा आक्रमण होनेपर **एषाम्**=इन शत्रुओं की **बाहवः**=भुजाएँ विष के आवेश के कारण **मुह्यन्तु**=मूढ़—अपने व्यापार में असमर्थ हो जाएँ, **च**=और इन शत्रुओं के **हृदि**=हृदय में और **यत्**=जो **चित्ताकूतम्**=चित्त में सङ्कल्प हैं, वह भी मूढ़ व विस्मृत हो जाए। **एषाम्**=इन शत्रुओं का **किंचन**=कुछ भी रथ, तुरग, हस्ति आदि लक्षण बल(सैन्य) **मा उच्छेषि**=मत अवशिष्ट हो।

भावार्थ—हे सेनापते! तू शत्रुओं की भुजाओं व चित्तों को मूढ़ बना दे। शत्रुओं का सब सैन्य तेरे द्वारा समाप्त कर दिया जाए।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

उरः प्रतिघ्नानाः, पटूरौ आघ्नानाः

प्रतिघ्नानाः सं धावन्तूरः पटूरावाघ्नानाः।
अघारिणीर्विकेश्यो रुदत्यः पुरुषे हते रदिते अर्बुदे तव॥ १४॥

१. हे **अर्बुदे**=शत्रुसंहारक सेनापते! **तव रदिते**=तेरे द्वारा शत्रुविनाश होने पर **पुरुषे हते**=अपने पतियों के मारे जाने पर उनकी स्त्रियाँ **उरः प्रतिघ्नानाः**=छातियों को पीटती हुई **पटूरौ आघ्नानाः**=जँघाओं को दुहत्थड़ मार-मारकर रोती हुई **अघारिणीः**=भर्तृवियोगजनित दुःख से पीड़ित हुई-हुई, **विकेश्यः**=बिकीर्ण केशोंवाली **रुदत्यः**=रोती हुई **संधावन्तु**=मृतपुरुषों के शवों की ओर शीघ्रता से दौड़ें।

भावार्थ—युद्ध में पतियों के मारे जाने से शत्रु-स्त्रियाँ विलाप करती हुई इधर-उधर भागें।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाशक्वरी** ॥

श्वन्वतीः अप्सरसः

श्वन्वतीरप्सरसो रूपका उतार्बुदे।
अन्तःपात्रे रेरिहतीं रिशां दुर्णिहितैषिणीम्।
सर्वास्ता अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय॥ १५॥

१. **श्वन्वतीः**=(शुना क्रीडार्थेन सारमेयेण सहिताः) कुत्तों को साथ लेकर घूमनेवाली **अप्सरसः**=गन्धर्व स्त्रियों को, **उत**=और **रूपकाः**=मायावश नाना रूप धारण करनेवाली सेनाओं को, हे **अर्बुदे**=शत्रुसंहारक सेनापते! **त्वम्**=तू **सर्वाः ताः**=उन सबको **अमित्रेभ्यः दृशे कुरु**=शत्रुओं को दिखा तथा **पात्रे अन्तः रेरिहतीम्**=पात्र के अन्दर फिर-फिर चाटती हुई **दुर्निहित एषिणीम्**=बुरी

तरह से फेंके हुए को चाहती हुई **रिशाम्**=हिंसक सेना को, **च**=और **उदारान्**=उत्कृष्ट शस्त्र-प्रयोगों को **प्रदर्शय**=शत्रुओं के लिए दिखलानेवाला बन।

भावार्थ—शत्रुओं के लिए विविध 'हिंसक, भक्षक व रूपक' सेनाओं को तथा उत्कृष्ट शस्त्र-प्रयोगों को दिखलाया जाए, जिससे वे युद्ध से भयभीत हो उठें।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**१६ पञ्चपदाविराडुपरिष्टाज्ज्योतिस्त्रिष्टुप्, १७ त्रिपदागायत्री** ॥

विविध मायावी प्रयोग

खड़ूरेऽधिचङ्क्रमां खर्विकां खर्ववासिनीम्।
य उदारा अन्तर्हिता गन्धर्वाप्सरसश्च ये। सर्पा इतरजना रक्षांसि॥ १६ ॥
चतुर्दंष्ट्राञ्छ्यावदतः कुम्भमुष्काँ असृङ्मुखान्। स्वभ्यसा ये चोद्भ्यसाः॥ १७॥

१. **खड़ूरे**=आकाश के दूरदेश में **अधि**=ऊपर **चङ्क्रमाम्**=चङ्क्रमणशील—इधर-उधर प्रादुर्भूत होती हुई **खर्विकाम्**=छोटी-छोटी **खर्ववासिनीम्**=कुछ चीखती-सी हुई(वासयते to scream) माया को तू शत्रुओं को दिखा। **ये**=जो **उदाराः**=विशाल योजनाएँ हैं, उन्हें शत्रुओं के लिए प्रदर्शित कर **च**=और **ये अन्तर्हिताः**=जो भीतर छिपे हुए **गन्धर्वाप्सरसः**=पृथिवी का धारण करनेवाले (गां धारयन्ति) व जलों में विचरनेवाले (अप्सु सरन्ति) **सर्पाः**=कुटिल चालवाले, **इतरजनाः**=अन्य लोग हैं, **रक्षांसि**=राक्षसी वृत्तिवाले क्रूर लोग हैं, उन्हें तू शत्रुओं के लिए दिखला। २. **चतुर्दंष्ट्रान् श्यावदतः कुम्भमुष्कान्**=चार-चार दाढ़ोंवाले, काले-काले दाँतोवाले, घड़े के समान बड़े-बड़े अण्डकोशोंवाले **असृङ्मुखान्**=रुधिर लिप्त मुखोंवाले भंयकर रूपों को शत्रुओं को दिखा। **ये च**=और जो **स्वभ्यसाः**=स्वयं भयंकर **उद्भ्यसाः**=दूसरों में भय उत्पन्न करने में समर्थ हैं, उन्हें शत्रुओं को दिखा।

भावार्थ—शत्रुओं को भयभीत करने के लिए विविध मायावी प्रयोगों का प्रदर्शन किया जाए।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

जयाँश्च जिष्णुश्च

उद्वेपय त्वमर्बुदेऽमित्राणाममूः सिचः। जयाँश्च जिष्णुश्चामित्राँ जयतामिन्द्रमेदिनौ॥ १८ ॥

१. हे **अर्बुदे**=शत्रुसंहारक सेनापते! **त्वम्**=तू **अमित्राणाम्**=शत्रुओं की **अमूः सिचः**=उन सेना-पंक्तियों को (सेना के प्रान्तभागों को) **उद्वेपय**=कम्पित कर दे। **जयान् च**=जीतता हुआ **च**=और **जिष्णुः**=जीतने के स्वभाववाला—ये दोनों **इन्द्रमेदिनौ**=प्रभु के साथ स्नेहवाले होते हुए **जयताम्**=विजय प्राप्त करें।

भावार्थ—हमारे सेनापति शत्रुसैन्य को कम्पित करें। हमारे ये अर्बुदि और न्युर्बुदि राजा के साथ स्नेहवाले होते हुए सदा जीतते हुए हों, जीतने के स्वभाववाले हों। ये शत्रुओं को पराजित करें।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अग्निजिह्वाः धूमशिखा

प्रब्लीनो मृदितः शयां हतोऽमित्रो न्यर्बुदे।
अग्निजिह्वा धूमशिखा जयन्तीर्यन्तु सेनया॥ १९ ॥

१. हे **न्यर्बुदे**=निश्चय से शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले सेनापते! **प्रब्लीनः**=(ब्ली वेष्टने)

घिरा हुआ **मृदितः**=पिसे हुए गात्रोंवाला **हतः**=गतप्राण हुआ-हुआ **अमित्रः**=शत्रु **शयाम्**=भूमि पर सोनेवाला हो। **अग्निजिह्वाः**=आग की ज्वालाएँ **धूमशिखाः**=धूम के प्ररोहोंवाली **सेनया जयन्तीः**=सेना के साथ शत्रुओं को पराजित करती हुई **यन्तु**=गतिवाली हों।

भावार्थ—हे सेनापते! तू आग्नेयास्त्रों का प्रयोग करती हुई सेना के साथ विजय को प्राप्त हो।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'वरंवरम् हन्तु'

तयार्बुदे प्रणुत्तानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम्।
अमित्राणां शचीपतिर्मामीषां मोचि कश्चन॥ २०॥

१. हे **अर्बुदे**=शत्रुसंहारक सेनापते! **तया**=गतमन्त्र में वर्णित धूमशिखा व अग्निज्वाला से **प्रणुत्तानाम्**=रणांगण से दूर धकेले हुए **अमित्राणाम्**=शत्रुओं के **वरंवरम्**=श्रेष्ठ-श्रेष्ठ योद्धाओं को **हन्तु**=आप मार डालें। **शचीपतिः**=शक्ति का स्वामी **इन्द्रः**=शत्रुविद्रावक राजा शत्रुओं को मारे। **अमीषां कश्चन मा मोचि**=इनमें से कोई छूट न जाए।

भावार्थ—शत्रुओं के प्रमुख व्यक्तियों को मार डाला जाए, विवशता में इनका सर्वोच्छेद ही ठीक है।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शत्रुओं के दिलों का दहल जाना

उत्कसन्तु हृदयान्यूर्ध्वः प्राण उदीषतु।
शौष्कास्यमनु वर्ततामित्रान्मोत मित्रिणः॥ २१॥

१. शत्रुओं के **हृदयानि**=हृदय **उत्कसन्तु**=शरीर से उद्गत हो जाएँ—उखड़ जाएँ। **प्राणः**=इन शत्रुओं का प्राणवायु **ऊर्ध्वः उदीषतु**=शरीर से ऊपर उठकर निकल जाए। **अमित्रान्**=शत्रुओं को **शौष्कास्यम्**=भय के कारण मुख का सूख जाना (निर्द्रवत्वम्) **अनुवर्तताम्**=अनुगत (प्राप्त) हो। **उत**=इसके विपरीत (On the other hand) **मित्रिणः मा**=हमारे मित्रभूत लोगों को आस्यशोष आदि प्राप्त न हो।

भावार्थ—हमारे शत्रुओं के दिल उखड़ जाएँ, उनके प्राण शरीर से निकलने को हों और आस्य (मुख) शोषण से वे मृत्यु को प्राप्त हों। हमारे मित्रों की ऐसी स्थिति न हो।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाशक्वरी** ॥

तूपराः बस्ताभिवासिनः

ये च धीरा ये चाधीराः पराञ्चो बधिराश्च ये।
तमसा ये च तूपरा अथो बस्ताभिवासिनः।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय॥ २२॥

१. **ये च धीराः**=और जो धीर (धिया ईर्ते इति धीरः)—समझदार हैं, परन्तु **ये अधीराः**=जो शत्रु पर आक्रमण के लिए अति अधीर (चञ्चल) हैं, **च**=और **ये**=जो **पराञ्चः**=परे—दूर तक गति करनेवाले हैं, **बधिराः च**=आक्रमण की अधीरता में रुकने की किसी भी बात को न सुननेवाले हैं, **तमसाः**=आक्रमण के विषय में किसी भी विघ्न को न सोचनेवाले तमोगुण प्रधान हैं, **ये च**=और जो **तूपराः**=तोप के गोले के समान हिंसक हैं (तुप हिंसायाम्), **अथो**=और **बस्ताभिवासिनः**=(बस्त ... हिंसा में ही निवास करते) हैं, अर्थात् स्वभावतः क्रूर हैं, **सर्वान् तान्**=उन सबको, हे **अर्बुदे**=शत्रुसंहारक सेनापते! **त्वम्**=तू **अमित्रेभ्यः दृशे**

कुरु=शत्रुओं के देखने के लिए कर **च**=और **उदारान् प्रदर्शय**=युद्ध की प्रकृष्ट आयोजनाओं को उनके लिए दिखा, जिससे वे शत्रु भयभीत होकर युद्ध की रुचि व उत्साह से रहित हो जाएँ।

भावार्थ—शत्रु हमारे योद्धओं के उत्साह व युद्ध की विशाल आयोजनाओं को देखकर भयभीत हो उठें और युद्ध के उत्साह को छोड़ दें।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

अर्बुदि + त्रिषन्धिः च

अर्बुदिश्च त्रिषन्धिश्चामित्रान्नो वि विध्यताम्।
यथैषामिन्द्र वृत्रहन्हनाम शचीपतेऽमित्राणां सहस्रशः॥ २३॥

१. **अर्बुदिः च**=शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाला सेनापति **च**=और **त्रिषन्धिः**=तीनों 'जल, स्थल और वायु' सेनाओं का अधिष्ठाता राजा **नः अमित्रान्**=हमारे शत्रुओं को **विविध्यताम्**=विद्ध करें। इसप्रकार इन्हें विद्ध करें कि हे **इन्द्र**=शत्रुओं के विद्रावक, **वृत्रहन्**=राष्ट्र को घेरनेवालों को नष्ट करनेवाले, **शचीपते**=शक्ति के स्वामिन् राजन्! **यथा**=जिससे **एषाम्**=इन **अमित्राणाम्**=शत्रुओं के **सहस्रशः हनाम**=हज़ारों को ही एक उद्योग से हम मारनेवाले हों।

भावार्थ—शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाला सेनापति तथा 'जल, स्थल व वायु' सेनाओं का शासक राजा हमारे शत्रुओं को इसप्रकार विद्ध करें कि हज़ारों शत्रु एक ही उद्योग से नष्ट हो जाएँ।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाशक्वरी** ॥

न अन्न की कमी, न योद्धाओं की

वनस्पतीन्वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः।
गन्धर्वाप्सरसः सर्पान्देवान्पुण्यजनान्पितॄन्।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय॥ २४॥

१. **वनस्पतीन्**=बिना पुष्प के फलवाले वृक्षों को, **वानस्पत्यान्**=फूलों के बाद फल देनेवाले वृक्षों को (वानस्पत्यं फलैः पुष्पात् तैरपुष्पाद् वनस्पतिः) **ओषधीः**=व्रीहि-यव आदि **उत**=तथा **वीरुधः**=विरोहणशील लताओं को, हे **अर्बुदे**=सेनापते! **त्वम्**=तू **अमित्रेभ्यः**=शत्रुओं के लिए **दृशे कुरु**=दिखला। शत्रु को यह स्पष्ट हो जाए कि हम इन्हें घेरकर भूखा नहीं मार सकते। २. **गन्धर्वाप्सरसः**=(गां धारयन्ति, अप्सु सरन्ति) पृथिवी का धारण करनेवाले व जल में विचरनेवाले सैनिकों को, **सर्पान्**=सर्पवत् कुटिल गतिवाले योद्धओं को, **देवान्**=विजिगीषुओं को **पुण्यजनान्**=पवित्रात्माओं को व **पितॄन्**=रक्षक पितरों को (बुजुर्गों को) **सर्वान् तान्**=उन सबको **च**=और **उदारान्**=युद्ध के विशाल आयोजनों को शत्रुओं के लिए **प्रदर्शय**=दिखा, जिससे वे युद्ध की पूरी तैयारी व सभी के सहयोग को देखकर युद्ध का उत्साह छोड़ दें।

भावार्थ—शत्रु को यह स्पष्ट हो जाए कि न तो यहाँ अन्न की कमी है, न ही योद्धओं की। इसप्रकार शत्रु युद्ध की पूरी तैयारी को देखकर भयभीत हो जाएँ और युद्ध से पराङ्मुख हो जाएँ।

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाशक्वरी** ॥

देवानुग्रह से शत्रुओं पर शासन

ईशां वो मरुतो देव आदित्यो ब्रह्मणस्पतिः।
ईशां व इन्द्रश्चाग्निश्च धाता मित्रः प्रजापतिः।
ईशां व ऋषयश्चक्रुरमित्रेषु समीक्षयन्नदिते अर्बुदे तव॥ २५॥

१. हे **अर्बुदे**=सेनापते! **अमित्रेषु**=शत्रुओं पर **तव रदिते**=तेरा आक्रमण होनेपर, उस आक्रमण को **समीक्षयन्**=(व्यत्येन एकवचनम्) देखते हुए **मरुतः**=वायुओं के समान वेगवान् भट, **देवः आदित्यः**=विजिगीषु, सूर्यसम तेजस्वी पुरुष तथा **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञानी पुरुष **वः**=(अमित्रेषु) तुम्हारे शत्रुओं पर **ईशाम् चक्रुः**=शासन करें। **इन्द्रः च अग्निः च**=शत्रुविद्रावक राजा, अग्निसम तेजस्वी सैनिक, **धाता मित्रा प्रजापतिः**=धारण करनेवाला, प्रमीति (मृत्यु) से बचानेवाला, प्रजा का रक्षक देव **वः ईशाम्** (**चक्रुः**)=शत्रुओं पर तुम्हारे शासन को स्थापित करें तथा **ऋषयः**=(ऋष् to kill) शत्रुसंहारक तत्त्वद्रष्टा लोग **वः ईशाम्** (**चक्रुः**)=शत्रुओं पर तुम्हारा शासन स्थापित करें।

भावार्थ—जब हमारे सेनापति द्वारा शत्रुओं पर आक्रमण किया जाता है तब सब देव हमारी सहायता करते हैं और शत्रुओं पर हमारा शासन स्थापित होता है। (God helps those who help themselves)

ऋषिः—**काङ्कायनः** ॥ देवता—**अर्बुदिः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

मित्राः देवजनाः

तेषां सर्वेषामीशाना उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम्।
इमं संग्रामं संजित्य यथालोकं वि तिष्ठध्वम्॥ २६॥

१. **तेषाम्**=उन **सर्वेषाम्**=सब शत्रुओं के **ईशानाः**=शासक होने के हेतु से **उत्तिष्ठत**=उठो और **संनह्यध्वम्**=अपनी कमर कस लो—युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाओ। हे **मित्राः**=हमारे साथ स्नेहवाले **देवजनाः**=शत्रु विजिगीषावाले लोगो! **यूयम्**=तुम सब **इमं संग्रामं संजित्य**=इस संग्राम को सम्यक् जीतकर **यथालोकम्**=अपने-अपने स्थान पर, नियत पदों पर **वितिष्ठध्वम्**=विशेषरूप से स्थित होओ।

भावार्थ—हम सब मित्र व विजिगीषावाले होते हुए अपने शत्रुओं को परास्त करके ही दम लें।

शत्रुविनाश के लिए आवश्यक है कि हम अपना सम्यक् परिपाक करें (भ्रस्ज पाके), 'भृगु' बनें और अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाले-शक्तिसम्पन्न 'अङ्गिराः' बनें। यह 'भृगु अंगिरा' ही अगले सूक्त का ऋषि है—

१०. [दशमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**विराट्पथ्याबृहती** ॥

शत्रुविद्रावण

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह।
सर्पा इतरजना रक्षांस्यमित्राननु धावत॥ १॥

१. हे **उदाराः**=औदार्यगुण से युक्त सेनानायको! **केतुभिः सह**=अपनी ध्वजाओं के साथ **उत्तिष्ठत**=युद्ध के लिए उठ खड़े होओ। **संनह्यध्वम्**=कवच आदि धारण करके युद्ध के लिए उद्युक्त हो जाओ। हे **सर्पाः**=सर्पवत् कुटिल गतिवाले सैनिको! **इतरजनाः**=सामान्य लोगों से भिन्न वीर पुरुषो! **रक्षांसि**=रक्षण समर्थ पुरुषो! **अमित्रान् अनुधावत**=शत्रुओं का शीघ्रता से पीछा करनेवाले बनो।

भावार्थ—देशरक्षा के लिए हम पताकाओं को लेकर उठ खड़े हों—सन्नद्ध हो जाएँ। हमारे वीर सैनिक शत्रुओं का पीछा करके उन्हें खदेड़ दें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**षट्पदात्रिष्टुब्गर्भाऽतिजगती** ॥

सुव्यवस्थित राष्ट्र

ईशां वो वेद राज्यं त्रिषन्धे अरुणैः केतुभिः सह।
ये अन्तरिक्षे ये दिवि पृथिव्यां ये च मानवाः।
त्रिषन्धेस्ते चेतसि दुर्णामान उपासताम्॥ २॥

१. **वः**=तुम्हारा **राज्यम्**=राज्य **ईशां वेद**=शासनशक्ति को जानता है, अर्थात् राष्ट्र में सर्वत्र शासन की सुव्यवस्था है। हे **त्रिषन्धे**=जल, स्थल व वायु-सेना के साथ समर्थ राजन्! **अरुणैः केतुभिः सह**=विजय की सूचक अरुण वर्णवाली पताकाओं के साथ रहनेवाला जो तू है, उससे **त्रिषन्धेः**=तुम त्रिषन्धि के **चेतसि**=चित्त में वे सब **दुर्णामानः**=(दुर् नम्) दुष्टता को झुकानेवाले—राष्ट्र से दुष्टता को दूर करनेवाले **मानवाः**=विचारशील पुरुष **उपासताम्**=समीपता से रहनेवाले हों—**ये**=जो **दिवि**=द्युलोक में निवास करनेवाले हैं, अर्थात् जो ज्ञान में विचरण करते हुए सदा मस्तिष्करूप द्युलोक में निवास करते हैं, **ये अन्तरिक्षे**=जो उपासना-प्रवृत्त लोग सदा हृदयान्तरिक्ष में निवास करते हैं, **ये च**=और जो सामान्य व्यवहार में प्रवृत्त लोग **पृथिव्याम्**=इस पृथिवी पर हैं।

भावार्थ—राष्ट्र में शासन सुव्यवस्थित हो। राजा की विजयसूचक पताकाएँ सदा फहराती रहें। राजा दुष्टता को दूर करनेवाले उन सब पुरुषों का ध्यान करे (रक्षण करे) जोकि 'ज्ञान, उपासना व पार्थिव (संसारी) व्यवहार' में प्रवृत्त हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**विराडास्तारपङ्क्तिः** ॥

अयोमुखाः सूचीमुखाः

अयोमुखाः सूचीमुखा अथो विकङ्कतीमुखाः।
क्रव्यादो वातरंहस आ सजन्त्वमित्रान्वज्रेण त्रिषन्धिना॥ ३॥

१. इस **वज्रेण**=वज्र-तुल्य दृढ़ शरीरवाले (यदश्नामि बलं कुर्व इत्थं वज्रमाददे) **त्रिषन्धिना**='जल, स्थल व वायु' सेना के अध्यक्ष से प्रयुक्त हुए-हुए ये बाण **अमित्रान् आसजन्तु**=शत्रुओं को जा-जाकर लगें। जो बाण **अयोमुखाः**=लोहे के समान कठोर मुखवाले हैं, **सूचीमुखाः**=सूई के समान तीक्ष्ण चोंचवाले हैं, **अथो**=और **विकङ्कतीमुखाः**=कंघी के समान मुखवाले हैं, **क्रव्यादः**=कच्चे मांस को खा-जानेवाले हैं और **वातरंहसः**=वायु के समान वेगवाले हैं।

भावार्थ—हमारे वज्रतुल्य दृढ़ शरीरवाले त्रिषन्धि सेनानी से छोड़े गये तीक्ष्ण बाण शत्रुओं को विद्ध करनेवाले हों।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥

सुहिता सेना

अन्तर्धेहि जातवेद आदित्य कुणपं बहु। त्रिषन्धेरियं सेना सुहितास्तु मे वशे॥ ४॥

१. हे **जातवेद**=उत्पन्न ज्ञानवाले—समझदार **आदित्य**=(आदानात्, दाप् लवने) समन्तात् शत्रुओं का खण्डन करनेवाले सेनापते! तू **बहु कुणपम्**=बहुत शवों को **अन्तः धेहि**=यहाँ रणांगण में स्थापित करनेवाला हो, अर्थात् सहस्रशः शत्रुओं को धराशायी करनेवाला बन। २. **इमम्**=यह **सुहिता**=सम्यक् धारण की गई **मे सेना**=मेरी सेना **त्रिषन्धेः**='जल, स्थल व वायु' सेना से मेलवाले मुख्य सेनापति के **वशे अस्तु**=वश में हो।

भावार्थ—हमारा सेनापति समझदार, उपादानुशील (full of resources) व शत्रुओं का समन्तात् छेदन करनेवाला बने। सम्यक् धारण की गई यह सेना उसके वश में हो। विजय के

लिए आवश्यक है कि हमारी सेना सुशिक्षित हो, उसका सम्यक् पालन किया जाए तथा वह पूर्णतया सेनापति के शासन में हो।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

युद्धयज्ञ में प्राणाहुति

उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह।
अयं बलिर्व आहुतस्त्रिषन्धेराहुतिः प्रिया॥ ५॥

१. हे **देवजन**=शत्रु को जीतने की कामनावाले! **अर्बुदे**=शत्रुसंहारक सेनापते! **सेनया सह**=सेना के साथ **त्वम् उत्तिष्ठ**=तू उठ खड़ा हो—युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जा। **अयम्**=यह **बलिः**=युद्ध-यज्ञ में आत्मबलि **वः आहुतः**=आपके द्वारा दी गई है। युद्ध में देशरक्षा के लिए प्राणों तक को आहुत कर देनेवाले ये सैनिक हैं। यह **आहुतिः**=प्राणों को युद्ध-यज्ञ में आहुत कर देना **त्रिषन्धेः प्रिया**='जल, स्थल व वायु-सेना' के सेनापति को प्रिय है।

भावार्थ—सेनापति सेना के साथ शत्रु के मुक़ाबले के लिए सन्नद्ध हो जाए। सेना द्वारा देशरक्षा के लिए युद्ध में अपने प्राणों की बलि दी जाती है। युद्ध-यज्ञ में पड़नेवाली यह प्राणों की आहुति सेनापति को प्रिय ही लगती है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शितिपदी—चतुष्पदी

शितिपदी सं द्यतु शरव्येयं चतुष्पदी।
कृत्येऽमित्रेभ्यो भव त्रिषन्धेः सह सेनया॥ ६॥

१. **शितिपदी**=(शी to sharpen) तीव्र गतिवाली—तीक्ष्ण चरणोंवाली, **इयम्**=यह **चतुष्पदी**=(हस्त्यश्वरथपादातं सेनाङ्गचतुष्टयम्) 'हाथी, घोड़े, रथ व पैदल' इन चारों सेनाओंवाली **शरव्या**=(शरौ कुशला) बाणविद्या में कुशल सेना **संद्यतु**=शत्रुओं का खण्डन करनेवाली हो। २. हे **कृत्ये**=शत्रुओं का छेदन करनेवाली सेने! तू **त्रिषन्धेः सेनया सह**=त्रिषन्धि की इस 'जल, स्थल व वायु' सेना के साथ **अमित्रेभ्यः भव**=शत्रुओं के विनाश के लिए हो ('मशकाय धूमः' की भाँति यहाँ चतुर्थी का प्रयोग है)।

भावार्थ—सेना तीव्र गतिवाली हो, वह 'हाथी, घोड़े, रथ व प्यादों' से युक्त हो, बाणविद्या में कुशल हो, यह शत्रुओं का छेदन करनेवाली हो।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

धूमाक्षी कृधुकर्णी

धूमाक्षी सं पततु कृधुकर्णी च क्रोशतु।
त्रिषन्धेः सेनया जिते अरुणाः सन्तु केतवः॥ ७॥

१. **धूमाक्षी**=आग्नेयास्त्रों के धुएँ से आवृत आँखोंवाली, **कृधुकर्णी च**=और पटहध्वनि से हतश्रवण सामर्थ्यवाली (अल्पश्रोत्रा) परकीया सेना **क्रोशतु**=किंकर्त्तव्यतामूढ़ बनी हुई आक्रोश करे। २. इसप्रकार **त्रिषन्धेः**='जल स्थल व वायुसेना' के सेनापति की **सेनया**=सेना के द्वारा **जिते**=शत्रु को जीत लेने पर **अरुणाः केतवः सन्तु**=हमारी अरुण वर्ण की पताकाएँ फहराएँ। हमारी विजयसूचक अरुणवर्ण की पताकाएँ आकाश में फहराएँ।

भावार्थ—शत्रुसेना हमारे आग्नेयास्त्रों के धूम से व्याकुल आँखोंवाली व युद्ध-वाद्य की ध्वनि से विनष्ट श्रवण सामर्थ्यवाली होकर चीखें व चिल्लाएँ। हमारी अरुण वर्ण की विजय-पताकाएँ

आकाश में फहराएँ।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—त्रिषन्धिः ॥ छन्दः—विराट्त्रिष्टुप् ॥

मृत शत्रुसैन्य पर

अवायन्तां पक्षिणो ये वयांस्यन्तरिक्षे दिवि ये चरन्ति।
श्वापदो मक्षिकाः सं रभन्तामामादो गृध्राः कुणपे रदन्ताम्॥ ८॥

१. हमारी विजय होने पर मृतशत्रुसैन्य पर मांसभक्षण के लिए वे **पक्षिणः**=पक्षी **अव अयन्ताम्**=नीचे उतरें (अवाङ्मुखं निपद्यन्ताम्) **ये वयांसि**=जो कौवे आदि पक्षी **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्षे में **चरन्ति**=गतिवाले होते हैं, तथा **ये दिवि**=जो गिद्ध-चील आदि द्युलोक में—बहुत ऊपर आकाश में विचरते हैं। २. **श्वापदः**=कुत्ते, गीदड़ आदि श्वापद, **मक्षिकाः**=मक्खियाँ **संरभन्ताम्**=शवों के भक्षण के लिए उद्यत हों (अपक्रमन्ताम्) तथा **आमादः**=कच्चा मांस खानेवाले **गृध्राः**=गिद्ध **कुणपे**=शवों पर **रदन्ताम्**=अपनी चोंचों व पञ्जों से विलेखन करें।

भावार्थ—मृतशत्रुसैन्य के शव पक्षियों, हिंस्रपशुओं, मक्खियों व गिद्धों का भोजन बनें।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—त्रिषन्धिः ॥ छन्दः—पुरोविराड्पुरस्ताऽऽयोतिस्त्रिष्टुप् ॥

इन्द्रसन्धा

यामिन्द्रेण सन्धां समधत्था ब्रह्मणा च बृहस्पते।
तयाऽहमिन्द्रसन्धया सर्वान्देवानिह हुव इतो जयत मामुतः॥ ९॥

१. हे **बृहस्पते**=बृहतीसेना के पति! **यां सन्धाम्**=जिस प्रतिज्ञा का **इन्द्रेण ब्रह्मणा च**=मुझ शत्रुविद्रावक राजा तथा राष्ट्र के ज्ञानियों के साथ **समधत्थाः**=आपने संधारित किया है, **अहम्**=मैं इस राष्ट्र का शासक **तया इन्द्रसंधया**=उस राजा के द्वारा की गई प्रतिज्ञा के हेतु से **सर्वान् देवान्**=सब विजिगीषुओं को **इह**=यहाँ **हुवे**=पुकारता हूँ। हे देवो! आप **इतः जयत**=इन हमारी सेनाओं में जय को स्थापित करो **मा अमुतः**=उन शत्रुसेनाओं में नहीं।

भावार्थ—राजा प्रजा के चुने हुए ज्ञानी पुरुषों के साथ प्रजारक्षण की प्रतिज्ञा करता है। उस प्रतिज्ञा की पूर्त्यर्थ वह विजिगीषु पुरुषों को आमन्त्रित करता है और शत्रुओं को पराजित कर राष्ट्र का रक्षण करता है।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—त्रिषन्धिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

असुरक्षयणं वधम्

बृहस्पतिराङ्गिरस ऋषयो ब्रह्मसंशिताः। असुरक्षयणं वधं त्रिषन्धिं दिव्याश्रयन्॥ १०॥

१. **बृहस्पतिः**=सर्वोत्कृष्ट ज्ञानी **आंगिरसः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाले देवमन्त्री ने तथा **ब्रह्मसंशिताः**=ज्ञान से तीक्ष्ण बने हुए **ऋषयः**=ऋषियों ने **दिवि**=विजिगीषा होने पर **असुरक्षयणं वधम्**=असुरों (दुष्ट शत्रुओं) का विनाश करनेवाले आयुधों तथा **त्रिषन्धिम्**='जल, स्थल, वायु' सेना के सेनापति का **आश्रयन्**=आश्रय किया।

भावार्थ—सेनापति के व अस्त्रों के ठीक होने पर ही विजय सम्भव है।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—त्रिषन्धिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

ओजसे च बलाय च

येनासौ गुप्त आदित्य उभाविन्द्रश्च तिष्ठतः।
त्रिषन्धिं देवा अभजन्तौजसे च बलाय च॥ ११॥

१. **येन**=जिस त्रिषन्धि सेनापति के द्वारा **गुप्तः**=रक्षित हुआ-हुआ **असौ**=वह **आदित्यः**=ज्ञान का आदान करनेवाला 'ब्राह्मण' **च**=तथा **इन्द्रः**=शत्रुविद्रावक 'क्षत्रिय' **उभौ**=दोनों **तिष्ठतः**=अपने-अपने कर्त्तव्य-कर्मों में स्थित होते हैं, उस **त्रिषन्धिम्**='जल, स्थल व वायु' सेना के साथ मेलवाले सेनापति को **देवाः**=सब विजिगीषु लोग **अभजन्त**=सेवित करते हैं, जिससे **ओजसे च बलाय च**=वे वृद्धि के साधनभूत ओज को तथा शत्रुक्षय के साधनभूत बल को प्राप्त कर सकें।

भावार्थ—सेनापति के द्वारा शत्रुओं को परास्त करने पर सुरक्षित राष्ट्र में सब ब्राह्मण व क्षत्रिय अपने कर्त्तव्य-कर्मों में स्थित होते हैं। इस सुरक्षित राष्ट्र में सब देव ओजस्विता व बल का सम्पादन करते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदापथ्यापङ्क्तिः** ॥

बृहस्पति आङ्गिरस का वज्र

सर्वाँल्लोकान्त्समजयन्देवा आहुत्यानया।
बृहस्पतिराङ्गिरसो वज्रं यमसिञ्चतासुरक्षयणं वधम्॥ १२॥

१. **आङ्गिरसः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाले शक्तिशाली शरीरवाले **बृहस्पतिः**=ज्ञानी पुरुष ने **यम्**=जिस **असुरक्षयणम्**=असुरों का क्षय करनेवाले **वधम्**=आयुधभूत **वज्रम्**=वज्र को **असिञ्चत**=सिक्त किया—जिस क्रियाशीलतारूप वज्र को (वज् गतौ) अपनाया **अनया आहुत्या**=इस वज्ररूप आहुति के द्वारा **देवाः**=देवों ने **सर्वान्**=सब लोकों को **समजयन्**=जीत लिया। क्रियाशीलतारूपी वज्र से ही देव विजयी बनते हैं।

भावार्थ—जीवन में क्रियाशील बनकर हम सब आसुरभावों को परास्त करें और इसप्रकार शरीर में 'आङ्गिरस' तथा मस्तिष्क में बृहस्पति बनें। यही सब लोकों को जीतने का मार्ग है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाजगती** ॥

अमित्रान् हन्मि ओजसा

बृहस्पतिराङ्गिरसो वज्रं यमसिञ्चतासुरक्षयणं वधम्।
तेनाहममूं सेनां नि लिम्पामि बृहस्पतेऽमित्रान्हन्म्योजसा॥ १३॥

१. **आङ्गिरसः बृहस्पतिः**=शक्तिशाली ज्ञानीपुरुष ने **यम्**=जिस **असुरक्षयणं वधम्**=आसुरभावों के विनाशक आयुध **वज्रं असिञ्चतः**क्रियाशीलता को अपने जीवन में सिक्त किया, **तेन**=उसी क्रियाशीलतारूप वज्र के द्वारा **अहम्**=मैं **अमूं सेनाम्**=उस शत्रुसेना को **निलिम्पामि**=नितरां छिन्न करता हूँ। हे **बृहस्पते**=प्रभो! मैं अब **ओजसा**=ओजस्विता से **अमित्रान् हन्मि**=सब शत्रुओं को विनष्ट कर देता हूँ।

भावार्थ—क्रियाशीलता रूप वज्र से आसुरभावों का विनाश करते हुए हम शत्रुसैन्य को छिन्न कर डालें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यज्ञशीलता व आन्तर शत्रुविजय

सर्वे देवा अत्यायन्ति ये अश्नन्ति वषट्कृतम्।
इमां जुषध्वमाहुतिमितो जयत मामुतः॥ १४॥

१. **ये**=जो **वषट्कृतम्**=यज्ञ में वषट्शब्दोच्चारण पूर्वक आहुत किये हुए यज्ञशेष को ही **अश्नन्ति**=खाते हैं, वे **सर्वे**=सब **देवाः**=देववृत्ति के व्यक्ति **अत्यायन्ति**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं

का अतिक्रमण करके प्रभु के सम्मुख उपस्थित होते हैं। २. इसलिए हे समझदार पुरुषो! **इमां आहुतिं जुषध्वम्**=इस आहुति का सेवन करनेवाले बनो। इस यज्ञशीलता के द्वारा **इतः जयत**=इधर से विजय प्राप्त करो, अर्थात् शरीरस्थ शत्रुओं को जीतने में समर्थ होओ। **मा अमुतः**=दूर से—बाहर से विजय करनेवाले ही न बनो। बाह्यशत्रुओं को जीतने का वह महत्त्व नहीं, जोकि अन्तःशत्रुओं को जीतने का महत्त्व है।

भावार्थ—हम यज्ञशील बनकर अन्तःशत्रुओं के विजेता बनें। बाह्यशत्रुओं के विजय से ही अपने को कृतकृत्य न मान बैठें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

महती सन्धा

सर्वे॑ दे॒वा अ॒त्याय॑न्तु त्रिष॑न्धेराहु॑तिः प्रि॒या।
स॒न्धां म॑ह॒तीं र॑क्षत॒ यया॒ग्रे असु॑रा जि॒ताः॥ १५॥

१. **सर्वे देवाः**=सब विजिगीषु पुरुष **अति आयन्तु**=काम, क्रोध आदि को लाँघकर प्रभु के समीप प्राप्त हों। **त्रिषन्धेः**=‘जल, स्थल व वायु’ सेना के सेनापति की **आहुतिः**=देशरक्षा के यज्ञ में दी गई प्राणों की आहुति **प्रिया**=प्रीति का सम्पादन करनेवाली है। ‘तन-मन-धन’ की आहुति देकर ही व्यक्ति मनुष्यों का व प्रभु का प्रिय बनता है। २. **महतीं संधाम्**=सर्वमहान् प्रतिज्ञा को कि ‘**यदि योन्याः प्रमुच्येऽहं तत्प्रपद्ये महेश्वरम्**’ अब की बार संसार में आने पर अवश्य प्रभु की शरण में आऊँगा’ गर्भावस्था में की गई इस सर्वमहान् प्रतिज्ञा को रक्षित करो। इस प्रतिज्ञा का पालन करते हुए, तुम इस बात को न भूलना कि यही वह महती संधा है **यया**=जिसके द्वारा **अग्रे**=सर्वप्रथम **असुराः जिताः**=देवों द्वारा असुरों का पराजय किया गया।

भावार्थ—हम तन, मन, धन की लोकहित के यज्ञ में आहुति देते हुए प्रभु को प्राप्त करें। इस आहुति से ही तो प्रभु को प्राप्त करने के लिए देव, असुरों का पराजय करते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाककुम्मत्यनुष्टुप्त्रिष्टुब्गर्भाशक्वरी** ॥

‘वायु, इन्द्र, आदित्य व चन्द्र’ देव-सम्बन्धी अस्त्र

वा॒युर॒मित्रा॑णामिष्व॒ग्राण्याञ्च॑तु।
इन्द्र॑ एषां बा॒हून्प्रति॑ भनक्तु॒ मा श॑कन्प्रति॒धामिषु॑म्।
आ॒दि॒त्य ए॑षाम॒स्त्रं वि ना॑शयतु च॒न्द्रमा॑ यु॒ताम॑ग॒तस्य॒ पन्था॑म्॥ १६॥

१. **वायुः**=हमारा वायव्यास्त्र **अमित्राणाम्**=शत्रुओं के **इषु अग्राणि**=बाणों के अग्रभागों को **आ अञ्चतु**=आभिमुख्येन प्राप्त हो—लक्ष्यप्राप्ति से पूर्व ही शत्रुबाणों को गिरा दिया जाए। **इन्द्रः**=ऐन्द्र (विद्युत् का) अस्त्र **एषाम्**=इन शत्रुओं की **बाहून् प्रतिभनक्तु**=भुजाओं को भग्न कर दे, इसप्रकार भग्न कर दे कि वे **इषुं प्रतिधाम्**=बाण को पुनः धनुष पर धारण करने के लिए **मा शकन्**=मत समर्थ हों। २. **आदित्यः**=आग्नेयास्त्र (आदित्य का) **एषाम्**=इन शत्रुओं के **अस्त्रम्**=अस्त्रों को **विनाशयतु**=नष्ट कर दे। इनके सामर्थ्य को कुण्ठित करके समाप्त कर दे। **चन्द्रमाः**=चन्द्र-सम्बन्धी-(वारुणास्त्र)-अस्त्र **अगतस्य**=हम तक आने की इच्छावाले, परन्तु हम तक न पहुँचे हुए शत्रु के **पन्थाम्**=मार्ग को **युताम्**=उससे पृथक् कर दे—शत्रु को हम तक पहुँचने का मार्ग ही प्राप्त न हो।

भावार्थ—विविध अस्त्रों के प्रयोग से हम शत्रु को हमपर आक्रमण के अयोग्य बना दें।

ऋषि:—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

देवों का ब्रह्मरूप वर्म

यदि प्रेयुर्देवपुरा ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे।
तनूपानं परिपाणं कृण्वाना यदुपोचिरे सर्वं तदरसं कृधि॥ १७॥

१. **यदि**=(यदा) जब **देवपुराः**=देवनगरियों में निवास करनेवाले व्यक्ति **प्रेयुः**=शत्रु पर आक्रमण के लिए चलते हैं तब **ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे**=ज्ञान को व प्रभु को अपना कवच बनाते हैं। इस ब्रह्मकवच से ये अपना रक्षण करनेवाले होते हैं। २. ज्ञानपूर्वक तथा प्रभुस्मरणपूर्वक **तनूपानम्**=अपने शरीरों का रक्षण तथा **परिपाणम्**=समन्तात् राष्ट्र का रक्षण **कृण्वानाः**=करते हुए ये **सर्वं तत् अरसं कृधि**=उस सबको नि:सार कर देते हैं, **यत्**=जो **उप ऊचिरे**=हमारे विषय में शत्रुओं ने हीन बातें कही हैं। शत्रुओं की अभिमान भरी बातों को, उन्हें परास्त करके, ये व्यर्थ कर देते हैं।

भावार्थ—देवलोग प्रभु को अपना कवच बनाकर शत्रु पर आक्रमण करते हैं। शत्रुओं को परास्त करके ये उनकी डींगों को समाप्त कर देते हैं।

ऋषि:—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मृत्युना च पुरोहितम्

क्रव्यादानुवर्तयन्मृत्युना च पुरोहितम्। त्रिषन्धे प्रेहि सेनया जयामित्रान्प्र पद्यस्व॥ १८॥

१. हे **त्रिषन्धे**='जल, स्थल व वायु' सेना के अध्यक्ष! तू **क्रव्यादा**=मांसभक्षक पशुओं से इन शत्रुओं को **अनुवर्तयन्**=अनुव्रत करता हुआ, **च**=और **मृत्युना पुरोहितम्**=मृत्यु ही जिसके सामने खड़ी है, अर्थात् जो अब शीघ्र ही समाप्त हो जाएगा, उस शत्रु को **सेनया प्रेहि**=सेना के साथ आक्रान्त कर, **जय**=इन शत्रुओं को जीत ले तथा **अमित्रान् प्रपद्यस्व**=इन शत्रुओं के मध्य में विजेता के रूप में प्रवेश करनेवाला हो।

भावार्थ—हमारा त्रिषन्धि सेनापति शत्रुओं को परास्त करके विजेता के रूप में उनके मध्य में, सन्धि आदि के लिए, प्रवेश करे।

ऋषि:—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तमसा परिवारय (मोहनास्त्र)

त्रिषन्धे तमसा त्वममित्रान्परि वारय। पृषदाज्यप्रणुत्तानां मामीषां मोचि कश्चन॥ १९॥

१. **त्रिषन्धे**=हे 'जल, स्थल व वायु' सेना का सन्धान करनेवाले सेनापते! **त्वम्**=तू **तमसा**=धूम्रास्त्र द्वारा उत्पन्न किये गये अन्धकार से **अमित्रान् परिवारय**=शत्रुओं को घेर ले। शत्रु चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार में होते हुए किंकर्त्तव्यमूढ़-से बन जाएँ। २. **पृषद् आज्य-प्रणुत्तानाम्**=(पृष् to kill आज्य=अंज् to go) विनाशकारी आक्रमण (धावे) से परे धकेले हुए **अमीषाम्**=उन शत्रुओं में **कश्चन मा मोचि**=कोई भी छूटे नहीं। सब शत्रुओं का सफाया ही कर दिया जाए।

भावार्थ—त्रिषन्धि को चाहिए कि वह शत्रुसैन्य को, अन्धकार-ही-अन्धकार में करके, विनाशक आक्रमण द्वारा समाप्त कर दे।

ऋषि:—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शत्रुसैन्य सम्मोहन

शितिपदी सं पतत्वमित्राणाममूः सिचः। मुह्यन्त्वद्यामूः सेना अमित्राणां न्यर्बुदे॥ २०॥

१. **शितिपदी**=(शि to sharpen) शीघ्र व तीव्र गतिवाली हमारी सेना **संपततु**=शत्रुसैन्य पर टूट पड़े। **अमित्राणाम्**=शत्रुओं की **अमूः**=वे दूरस्थ **सिचः**=सेनापक्तियाँ हमारी सेना द्वारा आक्रान्त की जाएँ। **अद्य**=आज **अमित्राणाम्**=शत्रुओं की **अमूः सेना**=वे सेनाएँ, हे **न्यर्बुदे**=निश्चय से शत्रुओं पर धावा बोलनेवाले सेनापते! **मुह्यन्तु**=हमारी सेनाओं के आक्रमण से मूढ़ हो जाएँ।

भावार्थ—हमारी सेनाओं के प्रबल आक्रमण से शत्रुसैन्य सम्मूढ़ हो जाए।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**विराट्पुरस्ताद्बृहती** ॥

जहि एषां वरं वरम्

मूढा अमित्रा न्यर्बुदे जह्ये[े]षां वरंवरम्। अनया जहि सेनया॥ २१॥

१. हे **न्यर्बुदे**=निश्चय से शत्रुओं पर धावा बोलनेवाले सेनापते! **अमित्राः**=जो शत्रुसेनाएँ **मूढा**=मोहावस्था में चली गई हैं, **एषाम्**=इनके **वरंवरम् जहि**=श्रेष्ठ-श्रेष्ठ—चुने हुए वीरों को मार डाल। **अनया सेनया**=इस सेना के द्वारा **जहि**=इन्हें विनष्ट कर डाल।

भावार्थ—मूढ़ बनी हुई शत्रुसेनाओं के मुख्य व्यक्तियों को चुन-चुनकर मार डाला जाए। शत्रु को पराजित करने का यही सर्वोत्तम उपाय है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ज्यापाश—कवचपाश—रथपाश

यश्च कवची यश्चाकवचो३ऽमित्रो यश्चाज्मनि।
ज्यापाशैः कवचपाशैरज्मनाभिहतः शयाम्॥ २२॥

१. **यः च कवची**=जो कवचवाला है, **यः च अकवचः**=और जो कवच नहीं पहने हुए है, **यः च अमित्रः**=और जो शत्रु **अज्मनि**=(अजति अनेन इति अज्म रथः) रथारूढ़ है, वह **ज्यापाशैः**=धनुर्गत मौर्वी के पाशों से, **कवचपाशैः**=कवच के पाशों से तथा **अज्मना**=रथगत पाशों से **अभिहतः**=हिंसित हुआ-हुआ **शयाम्**=रणांगण में लेटे।

भावार्थ—कवचधारी शत्रुसैनिक मौर्वी पाशों से हिंसित किये जाएँ, बिना कवचवाले कवचपाशों से हिंसित हों तथा रथस्थ रथपाशों का शिकार बनें। इसप्रकार हम शत्रुसैन्य को पराजित करें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वर्मिणः—सादिनः

ये वर्मिणो येऽवर्माणो अमित्रा ये च वर्मिणः।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे हताञ्छ्वानोऽदन्तु भूम्याम्॥ २३॥
ये रथिनो ये अरथा असादा ये च सादिनः।
सर्वानदन्तु तान्हतान्गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः॥ २४॥

१. **ये**=जो **अमित्राः**=शत्रु **वर्मिणः**=शस्त्रवारक कवच से युक्त हैं, **ये अवर्माणः**=जो कवचरहित हैं, **ये च वर्मिणः**=और जो कवचव्यतिरिक्त शस्त्रनिवारक साधन से युक्त हैं, हे **अर्बुदे**=शत्रुसंहारक सेनापते! **हतान् तान् सर्वान्**=तेरे द्वारा मारे हुए उन सबको **भूम्याम्**=इस पृथिवी पर **श्वानः अदन्तु**=कुत्ते खाएँ। २. **ये रथिनः**=जो शत्रु रथी हैं, **ये अरथाः**=जो रथरहित हैं, **असादाः**=जो अश्वादि यानों से रहित पदाति हैं, **ये च सादिनः**=और जो अश्वारूढ़ हैं, **हतान् तान् सर्वान्**=मारे हुए उन सबको **गृध्राः**=गिद्ध **श्येनाः**=बाज और **पतत्रिणः**=चील-कौवे आदि पक्षी **अदन्तु**=खाएँ।

भावार्थ—'कवचधारी, बिना कवचवाले, रथी, अरथ, पदाति व घुड़सवार' सभी शत्रुसैनिक रणांगण में मृत होकर कुत्तों, गिद्धों, बाजों व चील-कौवे आदि का भोजन बनें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**ककुभुष्णिक्** ॥

शत्रुसेना का पूर्ण पराजय

सहस्रकुणपा शेतामामित्री सेना समरे वधानाम्। विविद्धा ककजाकृता॥ २५॥

१. **आमित्री सेना**=शत्रुसेना हमारी सेना को प्राप्त करके **वधानाम्**=हनन-साधन आयुधों का **समरे**=(सम्-अर) संगमन होने पर **विविद्धा**=विविध शस्त्रपातों से मारी हुई **सहस्रकुणपा**=असंख्यात शवों से युक्त हुई-हुई **ककजाकृता**=(खण्डशः कृता, Mutilated आप्टे) टुकड़े-टुकड़े की हुई **शेताम्**=रणांगण में शयन करे।

भावार्थ—हम शत्रुसेना को खण्डशः करके (कुचल कर) रणांगण में सुलानेवाले बनें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

शत्रु का 'मर्माहत व धराशायी' होना

मर्माविधं रोरुवतं सुपर्णैरदन्तु दुश्चितं मृदितं शयानम्।
य इमां प्रतीचीमाहुतिममित्रो नो युयुत्सति॥ २६॥

१. **यः**=जो **अमित्रः**=शत्रु **नः**=हमारी **इमाम्**=इस **प्रतीचीम्**=शत्रु के अभिमुख जाती हुई **आहुतिम्**=युद्धयज्ञ में डाली गई बाण-प्रक्षेपरूप आहुति को (हु दाने) **युयुत्सति**=युद्ध करने के लिए चाहता है, अर्थात् जो हमारे आक्रमण को रोकने का प्रयत्न करता है, उस शत्रु को **अदन्तु**=गिद्ध आदि पक्षी खानेवाले बनें। २. उस शत्रु को, जोकि **सुपर्णैः**=शोभनपतन शरों से **मर्माविधम्**=मर्मस्थलों में विद्ध हुआ है, **दुश्चितम्**=(दुःखैः पूरितम्) दुःखों से जिसका हृदय भरा हुआ है—जिसे चारों ओर संकट-ही-संकट दीखता है—अतएव **रोरुवतम्**=अतिशयेन विलाप कर रहा है, **मृदितम्**=जो युद्ध में चूर्णीभूत (पिसा-हुआ) हो गया है, और **शयानम्**=भूमि पर लेट गया है—धराशायी हो गया है, ऐसे शत्रु को गिद्ध आदि पक्षी खा जाएँ।

भावार्थ—जो हमारे शरप्रक्षेप के विरोध में युद्ध करना चाहता है, वह मर्माहत होकर धराशायी हो जाए और गिद्धों का भोजन बने।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिषन्धिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

त्रिषन्धिना वज्रेण

यां देवा अनुतिष्ठन्ति यस्या नास्ति विराधनम्।
तयेन्द्रो हन्तु वृत्रहा वज्रेण त्रिषन्धिना॥ २७॥

१. **देवाः**=शत्रुओं को जीतने की कामनावाले योद्धा युद्धयज्ञ में **याम्**=जो बाणप्रक्षेपरूप आहुति **अनुतिष्ठन्ति**=प्रदान करते हैं, **यस्याः**=जिस आहुति की **विराधनम्**=विराद्धि—मोघवीर्यता—असफलता **नास्ति**=नहीं है **तया**=उस आहुति से **इन्द्रः**=शत्रुविद्रावक राजा **वृत्रहा**=राष्ट्र के घेरनेवालों का नाशक होता हुआ **त्रिषन्धिना**='जल, स्थल व वायु'—तीनों सेनाओं से मेलवाले **वज्रेण**=गतिशील व वज्रसंहनन मुख्यतम सेनापति के द्वारा **हन्तु**=शत्रुओं को नष्ट करे।

भावार्थ—शत्रुविद्रावक राजा वज्रतुल्य दृढ़शरीरवाले सेनापति के द्वारा बाणों की प्रक्षेपरूप आहुति से शत्रुओं को नष्ट कराए।

॥ इत्येकादशं काण्डम् ॥

अथ द्वादशं काण्डम्

यहाँ प्रथम सूक्त का ऋषि 'अथर्वा' है—यह स्थिरवृत्ति का है (न थर्वति) तथा आत्मनिरीक्षण की प्रवृत्तिवाला है (अथ अर्वाङ्)। यह स्वार्थ के लिए न जीकर परार्थ में प्रवृत्त होता है, पृथिवी को अपना घर बनाता है। इसकी धारणा है कि—

अथ षड्विंशः प्रपाठकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पृथिवीं धारयन्ति

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु॥ १॥

१. '**बृहत् सत्यम्**=वृद्धि का कारणभूत सत्य, **उग्रं ऋतम्**=प्रबल तेजस्विता का साधक—ऋत, अर्थात् भौतिक क्रियाओं का ठीक समय व ठीक स्थान पर करना, **दीक्षा**=व्रतग्रहण, **तपः**=तप, **ब्रह्म**=ज्ञान और **यज्ञः**=यज्ञ'—ये बातें **पृथिवीं धारयन्ति**=पृथिवी का धारण करती हैं। जब एक राष्ट्र में लोग, 'सत्य, ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म और यज्ञों' को अपनाते हैं तब वह राष्ट्र उत्तम बनता है। २. **सा**=वह **नः**=हमारे **भूतस्य भव्यस्य पत्नी**=भूत और भविष्य का रक्षण करनेवाली—हमारे भूत और भविष्य को उज्ज्वल बनानेवाली **पृथिवी**=पृथिवी **नः**=हमारे लिए **उरुं लोकम्**=(उरु exellent) उत्तम प्रकाश को व विशाल स्थान को **कृणोतु**=करे। इस पृथिवी पर सत्य आदि का पालन करते हुए हम पृथिवी का धारण करते हैं। धारित हुई-हुई यह पृथिवी हमारे भूत व भविष्यत् को उज्ज्वल बनाती है और हमारे लिए उत्तम प्रकाश को प्राप्त कराती है।

भावार्थ—हम 'सत्य, ऋत, दीक्षा, ब्रह्म व यज्ञ'-मय जीवनवाले होते हुए इस पृथिवी का धारण करें, पृथिवी हमारे भूत व भविष्य को अर्थात् सम्पूर्ण जीवन को उज्ज्वल बनाएगी तथा हमारे लिए प्रकाशमय जीवन को प्राप्त कराएगी—इस विस्तृत पृथिवी पर हम सब परस्पर प्रेम से रह पाएँगे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

पृथिवी माता की विशाल गोद

असंबाधं मध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः॥ २॥

१. पृथिवी 'पृथिवी' है—सचमुच पर्याप्त विस्तारवाली है। यह अपनी गोद में मानवों के लिए पर्याप्त स्थान रखती है। उनके परस्पर सम्बाध=टकराने की यहाँ आवश्कता ही नहीं। सामान्यतः एक देश व दूसरे देश के मध्य में पर्वत व नदी, सिन्धु आदि की इसप्रकार की एक स्वाभाविक सीमा-सी बनी हुई है कि एक-दूसरे से लड़ने की सुविधा व सम्भावना ही कम हो जाती है। इसप्रकार **मानवानाम्**=मनुष्यों के **असम्बाधम् मध्यतः**=परस्पर न टकराने की व्यवस्था करती हुई, **यस्याः**=जिस पृथिवी के **उद्वतः**=(Height, elevatives, declivity, precipice) उच्चस्थल, **प्रवतः**=(Declivity, precipice) ढलान व **समम्**=समस्थल **बहु**=बहुत हैं। **या**=जो

पृथिवी **नानावीर्याः**=विविध शक्तियोंवाली **ओषधीः**=ओषधियों को **बिभर्ति**=धारण करती है, वह पृथिवी **नः प्रथताम्**=हमारी शक्तियों का विस्तार करे और **नः राध्यताम्**=हमारे लिए कार्यों में सिद्धि को प्राप्त करानेवाली हो।

भावार्थ—पृथिवी विशाल है—समझदार व्यक्तियों को यहाँ परस्पर टकराने (सम्बाध) की आवश्यकता नहीं। पृथिवी के उच्चस्थल, ढलान व समस्थल बहुत हैं। वे भिन्न-भिन्न स्वभाववाले व्यक्तियों के रहने के लिए पर्याप्त हैं। यह पृथिवी विविध ओषधियों को जन्म देती हुई हमें शक्ति-सम्पन्न बनाती है और सफल करती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत्सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु॥ ३॥

१. **यस्याम्**=जिस पृथिवी में **समुद्रः**=समुद्र हैं, **उत**=और **सिन्धुः**=प्रवाहमयी नदियाँ हैं, **आपः**=झील आदि के रूप में जल हैं, **यस्याम्**=जिसमें **कृष्टयः**=श्रमशील कृषकजन **अन्नं संबभूवुः**=अन्न उत्पन्न करते हैं। २. **यस्याम्**=जिस पृथिवी में **इदम्**=यह **प्राणत् एजत्**=प्राणधारण करनेवाले गतिशील प्राणी **जिन्वति**=अन्न-जल से तृप्ति का अनुभव करते हैं, **सा**=वह **भूमिः**=भूमि **नः**=हमें **पूर्वपेये दधातु**=पालनात्मक व पूरणात्मक (पृ पालनपूरणयोः) दुग्ध-रस आदि पेय पदार्थों में (पयः पशूनां रसमोषधीनाम्) **दधातु**=धारण करे। हमें दुग्ध-रस आदि प्राप्त कराके पुष्टि देनेवाली हो।

भावार्थ—प्रभु ने इस पृथिवी पर समुद्रों, नदियों व झील आदि द्वारा पानी की सुव्यवस्था की है। यहाँ श्रमशील मनुष्य अन्न के उत्पादन का ध्यान करते हैं और अन्न-रस द्वारा तृप्ति का अनुभव करते हुए अपना धारण करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाजगती** ॥

गोदुग्ध+अन्न

यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत्सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु॥ ४॥

१. **यस्याः पृथिव्याः**=जिस पृथिवी की **चतस्रः प्रदिशः**=चारों दिशाएँ प्रकर्षवाली हैं—जिससे सब ओर विविध सौन्दर्य है। **यस्याम्**=जिसमें **कृष्टयः**=श्रमशील मनुष्य **अन्नं संबभूवुः**=अन्न को सम्यक् उत्पन्न करते हैं। २. **या**=जो पृथिवी **बहुधा**=बहुत प्रकार से **प्राणत् एजत्**=प्राणधारण करनेवाले गतिशील प्राणियों का **बिभर्ति**=भरण व पोषण करती है। **सा भूमिः**=वह भूमि **नः**=हमें **गोषु**=गौओं में **अन्ने अपि**=तथा अन्न में भी **दधातु**=स्थापित करे। गोदुग्ध हमारे लिए सदा सुलभ बना रहे तथा अन्न की हमें कमी न हो।

भावार्थ—इस पृथिवी की सभी दिशाएँ उत्तम हैं। यहाँ श्रमशील कृषकजन अन्न का उत्पादन करते हैं। यह सभी प्राणियों का धारण करती है। हमारे यहाँ गोदुग्ध व अन्न सदा सुलभ हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाजगती** ॥

भग+वर्चस्

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु॥ ५॥

१. **यस्याम्**=जिस पृथिवी पर **पूर्वे**=अपना पालन व पूरण करनेवाले **पूर्वजनाः**=श्रेष्ठ—प्रथमस्थान में स्थित, सात्त्विकवृत्ति के पुरुष **विचक्रिरे**=विशिष्ट कर्मों को करते हैं। **यस्याम्**=जिस पृथिवी पर **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **असुरान् अभ्यवर्तयन्**=असुरों को आक्रान्त करते हैं (अभिवृत् to attack, assail) अर्थात् जहाँ असुर प्रबल नहीं हो पाते। २. वह **गवाम्**=गौओं की **अश्वानाम्**=घोड़ों की **च**=और **वयसः**=पक्षियों की **विष्ठाम्**=(वि-स्था) विविध रूप से रहने का स्थान बनी हुई **पृथिवी**=भूमि **नः**=हममें **भगं वर्चः**=ऐश्वर्य और तेज **दधातु**=धारण कराये। यह पृथिवी हमारे लिए ऐश्वर्य व तेज को देनेवाली हो।

भावार्थ—इस पृथिवी पर पालन व पूरण करनेवाले श्रेष्ठजन विविध कर्त्तव्य-कर्मों को करते हैं। यहाँ देव असुरों को प्रबल नहीं होने देते। यह पृथिवी गौओं, घोड़ों व पक्षियों का विशिष्ट स्थिति-स्थान है। यह पृथिवी हमारे लिए ऐश्वर्य व तेज का धारण करे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाजगती** ॥

'वसुधानी हिरण्यवक्षाः' पृथिवी

विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी।
वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु॥ ६॥

१. यह **भूमिः**=पृथिवी **विश्वंभरा**=सबका भरण करनेवाली है, **वसुधानी**=निवास के लिए आवश्यक सब द्रविणों का धारण करनेवाली है, **प्रतिष्ठा**=सबका आधार है, **हिरण्यवक्षाः**=सारे जगत् को बसानेवाली है। २. **वैश्वानरं अग्निं बिभ्रती**=उत्तम अन्न व दुग्ध की समिधाओं व आहुतियों द्वारा हमारी जाठराग्नि का भरण करती हुई यह **इन्द्रऋषभा**=सूर्यरूप ऋषभवाली पृथिवी **नः**=हमें **द्रविणे दधातु**=धनों में धारण करे। पृथिवी 'गौ' है, सूर्य उसका 'ऋषभ' है। जैसे ऋषभ गौ में शक्ति का सेचन करता है, इसीप्रकार सूर्य इस पृथिवी में वृष्टिजल का सेचन करता है। तब यह पृथिवी अन्नादि द्रविणों को जन्म देनेवाली होती है।

भावार्थ—यह पृथिवी सबका भरण करनेवाली है, सब वसुओं का धारण करनेवाली, सबका आधार, सुवर्ण की खानोंवाली यह पृथिवी सब जगत् को बसानेवाली है। यह अन्नादि द्वारा हमारी जाठराग्नि को ईंधन प्राप्त कराती हुई, हमें सब द्रविणों को प्राप्त कराती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

मधु

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम्।
सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा॥ ७॥

१. **यां पृथिवीं भूमिम्**=जिस अतिशय विस्तारवाली भूमि का **अस्वप्नाः**=निद्रा व आलस्य से रहित **देवाः**=देव लोग **विश्वदानीम्**=सदा **अप्रमादम् रक्षन्ति**=प्रमादरहित होकर रक्षित करते हैं, **सा**=वह पृथिवी **नः**=हमारे लिए **प्रियं मधु**=प्रीणित करनेवाले मधुवत् मधुर अन्नों को **दुहाम्**=प्रपूरित करे **अथो**=और इनके द्वारा **वर्चसा उक्षतु**=शक्ति से सिक्त करे।

भावार्थ—सब देव प्रमादशून्य होकर इस पृथिवी की रक्षा करते हैं। यह हमारे लिए मधु का दोहन करती हुई हमें शक्ति से सिक्त करे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाविराडष्टिः** ॥

'सत्येनावृतम् अमृतम्' हृदयम्

यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद्यां मायाभिरन्वचरन्मनीषिणः।
यस्या हृदयं परमे व्यो∫मन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे॥ ८॥

१. **या**=जो **अग्रे**=पहले **अर्णवे अधि**=महान् समुद्र में **सलिलम् आसीत्**=जलरूप ही थी, अर्थात् जल में ही लीन हुई-हुई थी (अद्भ्यः पृथिवी) जलों से ही तो इसकी उत्पत्ति होती है, **याम्**=जिस पृथिवी को **मनीषिणः**=ज्ञानी लोग **मायाभिः**=प्रज्ञानों के साथ **अनु अचरन्**=अनुकूलता से सेवित करते हैं। **सा भूमिः**=वह भूमि **नः**=हमारे लिए **उत्तमे राष्ट्रे**=(मनीषियों से सेवित) उत्तम राष्ट्र में **त्विषिं बलं दधतु**=ज्ञानदीप्ति व बल को धारण करे। २. वह पृथिवी हमारे लिए 'त्विषि और बल' को धारण करे, **यस्याः पृथिव्याः**=जिस पृथिवी का—पृथिवी पर विचरण करनेवाले मनीषियों का—**हृदयम्**=हृदय **परमे व्योमन्**=परम व्योम, अर्थात् प्रभु में है (ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्०) और अतएव **सत्येन आवृतम्**=सत्य से आवृत है—प्रभुस्मरण से हृदय में असत्य के प्रवेश का सम्भव नहीं रहता, अतएव **अमृतम्**=अमृत है—विषय-वासनाओं के पीछे मरनेवाला नहीं है।

भावार्थ—यह पृथिवी पहले जलरूप थी। इस पृथिवी पर मनीषी लोग ज्ञानपूर्वक विचरण करते हैं। पृथिवी पर विचरनेवाले इन मनीषियों का हृदय प्रभु में स्थित होता है—सत्य से आवृत होता है और विषय-वासनाओं के पीछे मरनेवाला नहीं होता।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**परानुष्टुप्** ॥

समानीः आपः

यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा॥ ९॥

१. **यस्याम्**=जिस पृथिवी पर **आपः**=जल **परिचराः**=चारों ओर गतिवाले हैं—सर्वत्र उपलभ्य हैं तथा **समानीः**=(सम् अन्) सम्यक् प्राणित करनेवाले हैं (अपोमयाः प्राणाः)। ये जल **अहोरात्रे**=दिन-रात **अप्रमादं क्षरन्ति**=प्रमादशून्य होकर संचलित हो रहे हैं। २. **सा**=वह **भूरिधारा**=अनन्त अथवा पालक व पोषक धाराओंवाली **भूमिः**=पृथिवी **नः**=हमारे लिए **पयः**=दुग्ध का—आप्यायन करनेवाली वस्तुओं का **दुहाम्**=प्रपूरण करे। **अथो**=और दुग्ध के प्रपूरण के द्वारा **वर्चसा उक्षतु**=वर्चस् से सिक्त करे—हमें यह शक्तिशाली बनाए।

भावार्थ—इस पृथिवी पर प्राणशक्तिप्रद जल चारों दिशाओं में बह रहे हैं। यह पृथिवी हमारे लिए दुग्ध के प्रपूरण के द्वारा शक्ति का सेचन करनेवाली बनती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाजगती** ॥

शचीपति इन्द्र

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे। इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः।
सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः॥ १०॥

१. **याम्**=जिस पृथिवी को **अश्विनौ**=सूर्य व चन्द्र **अमिमाताम्**=मापने में लगे हैं—पूर्व से पश्चिम की ओर जाते हुए सूर्य व चन्द्र मानो पृथिवी को माप ही रहे हैं। **यस्याम्**=जिस पृथिवी पर **विष्णुः**=(आदित्यानामहं विष्णुः) सर्वाधिक देदीप्यमान विष्णु नामक आदित्य **विचक्रमे**=विशिष्ट

गतिवाला व पुरुषार्थवाला होता है। अथवा **विष्णुः**=सर्वव्यापक प्रभु **यस्याम्**=जिस पृथिवी पर **विचक्रमे**=विविध सृष्टि (पदार्थों) को उत्पन्न करता है। २. **याम्**=जिस भूमि को **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय, **शचीपतिः**=शक्ति व प्रज्ञान का स्वामी पुरुष **आत्मने**=अपने लिए **अनमित्राम्**=शत्रुरहित **चक्रे**=करता है। जितेन्द्रिय बनकर, शक्ति व प्रज्ञान के साथ विचरने पर, यहाँ कोई भी पदार्थ हमारे लिए हानिकर नहीं होता। **सा नः भूमिः**=वह हमारी भूमिमाता **मे**=मेरे लिए **पयः विसृजताम्**=दूध दे, जैसेकि **माता पुत्राय**=माता पुत्र के लिए दुग्ध देती है।

भावार्थ—सूर्य और चन्द्र से इस पृथिवी का मानो मापन हो रहा है। इन सूर्य-चन्द्र के द्वारा सर्वव्यापक प्रभु पृथिवी पर विविध वनस्पतियों को जन्म दे रहे हैं। यह पृथिवी शक्ति व प्रज्ञान के स्वामी जितेन्द्रिय पुरुष की मित्र है। यह भूमि हम पुत्रों के लिए आप्यायन के साधनभूत दुग्ध आदि पदार्थों को दे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाविराडष्टिः** ॥

अजीतः अहतः अक्षतः

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु।
बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्।
अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम्॥ ११ ॥

१. हे **पृथिवि**=भूमिमातः! **ते गिरयः**=तेरे ये छोटे-छोटे पहाड़, **हिमवन्तः पर्वताः**=हिमाच्छादित पर्वत और **ते अरण्यम्**=तेरा यह जंगल **स्योनम् अस्तु**=हमारे लिए सुखकर हो। तेरे गिरि हमारे लिए विविध ओषधियों को प्राप्त कराएँ, हिमाच्छादित पर्वत नदियों के उद्गम स्थान हों तथा अरण्य हमें सब काष्ठों को प्राप्त करानेवाले व हमारी गौवों के लिए चारागाहों के रूप में हों। २. मैं **पृथिवीम्**=अतिशयेन विस्तारवाली, **भूमिम्**=(भवन्ति भूतानि यस्यां सा) प्राणियों की निवासस्थानभूत **पृथिवीम्**=पृथिवी पर, **अजीतः**=अपराजित हुआ-हुआ **अक्षतः**=चोट न खाया हुआ **अहतः**=अहिंसित रूप में **अध्यष्ठाम्**=अधिष्ठित होऊँ। उस पृथिवी पर मैं अधिष्ठित होऊँ, जोकि **बभ्रुम्**=हम सबका भरण करनेवाली है, **कृष्णाम्**=जो कृषकों द्वारा कृष्ट हुई है, **रोहिणीम्**=सब वनस्पतियों को उत्पन्न करनेवाली है, **विश्वरूपाम्**=नाना प्रकार के प्राणियों से युक्त है, **ध्रुवाम्**=अपनी मर्यादा में स्थित है तथा **इन्द्रगुप्ताम्**=प्रभु द्वारा अथवा प्रभु के प्रतिनिधिरूप राजा द्वारा सुरक्षित हुई है।

भावार्थ—पृथिवी के 'गिरि, हिमाच्छादित पर्वत व अरण्य' हमारे लिए सुखकर हों। यह हमारा भरण करती है, कृषि द्वारा अन्नों को देती है, सब वनस्पतियों की उद्गमस्थली है। मैं अपराजित व अक्षत हुआ-हुआ इसपर स्थित होऊँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाशक्वरी** ॥

माता भूमिः—पुत्रोऽहं पृथिव्याः

यत्ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः।
तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु॥ १२ ॥

१. हे **पृथिवि**=पृथिवि! **यत्**=जो **ते**=तेरे **ऊर्जः**=(ऊर्क् अन्नं च रसं च—नि० ९.४१) अन्न और रस **ते**=तेरे **तन्वः**=शरीर से **संबभूवुः**=उत्पन्न होते हैं, **तासु**=उन अन्न-रस आदि में **नः**=हमें **अभिधेहि**=धारण कर और उन अन्न-रस आदि से **नः**=हमें **पवस्व**=पवित्र जीवनवाला बना।

पृथिवी का मध्य व केन्द्र शतशः स्वर्ण आदि धातुओं का उद्गमस्थल है। वह हमें इन हिरण्य आदि के साथ प्राप्त हो। २. **भूमिः माता**=यह भूमि माता है, **अहं पृथिव्याः पुत्रः**=मैं पृथिवी का पुत्र हूँ। **पर्जन्यः पिता**=मेघ ही पिता है। **सः**=वह **उ**=निश्चय से **नः पिपर्तु**=हमें पालित व पूरित करे। भूमि माता है, पर्जन्य पिता है। पर्जन्य ही वृष्टिसेचन द्वारा भूमि में अन्नादि का उत्पादन करता है। मैं इनसे पालित इनका पुत्र हूँ।

भावार्थ—पृथिवी के मध्य व केन्द्र में शतशः स्वर्णादि धातुएँ स्थापित हैं। पृथिवी के शरीर से ही सब अन्न-रस आदि की उत्पत्ति होती है। यह भूमि माता इनके द्वारा हमारा पालन करती है। भूमि माता है, पर्जन्य पिता है। ये मेरा पालन करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाशक्वरी** ॥

यज्ञवेदि

यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः।
यस्यां मीयन्ते स्वरवः पृथिव्यामूर्ध्वाः शुक्रा आहुत्याः पुरस्तात्।
सा नो भूमिर्वर्धयद्वर्धमाना॥ १३ ॥

१. **यस्यां भूम्याम्**=जिस भूमि पर **वेदिं परिगृह्णन्ति**=वेदि का ग्रहण करते हैं और **यस्याम्**=जिस भूमि पर वेदि को बनाकर, **विश्वकर्माणः**=सबके लिए (विश्व) कर्मों को करनेवाले विश्वकर्मा लोग **यज्ञं तन्वते**=यज्ञ का विस्तार करते हैं। २. **यस्यां पृथिव्याम्**=जिस पृथिवी पर **स्वरवः**=(A part of a sacrificial post) यज्ञ का स्तम्भ **ऊर्ध्वाः**=खूब ऊँचे-ऊँचे और **शुक्राः**=उज्ज्वल (चमकते हुए) **आहुत्याः पुरस्तात्**=आहुति से पूर्व **मीयन्ते**=मापकर बनाये जाते हैं, **सा**=वह **वर्धमाना**=इन यज्ञों से वृद्धि को प्राप्त होती हुई **भूमिः**=भूमि **नः वर्धयत्**=हमें बढ़ाये।

भावार्थ—इस पृथिवी पर हम यज्ञवेदियों का निर्माण करके यज्ञों को करनेवाले बनें। यज्ञों से वृष्टि द्वारा (अग्निहोत्रं स्वयं वर्षम्) पृथिवी का वर्धन होता है। यह हमारा वर्धन करती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**महाबृहती** ॥

अ-द्वेष

यो नो द्वेषत्पृथिवि यः पृतन्याद्योऽभिदासान्मनसा यो वधेन।
तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि॥ १४ ॥

१. हे **पृथिवि**=भूमिमातः! **यः नः द्वेषत्**=जो भी हमसे द्वेष करता है, **यः पृतन्यात्**=जो सेना के द्वारा हमपर आक्रमण करता है, **यः**=जो **मनसा अभिदासात्**=मन से हमारा उपक्षय करता है—मन से हमारा अशुभ चाहता है, **यः वधेन**=जो हनन-साधन आयुधों से हमारा क्षय करता है, हे **पूर्वकृत्वरि**=शत्रुकृन्तन में सबसे प्रथम स्थान में स्थित **भूमे**=भूमिमातः! **नः तम्**=हमारे उस द्वेष्टा को **रन्धय**=वशीभूत कर अथवा विनष्ट कर (rend)।

भावार्थ—हे भूमिमातः! कुछ ऐसी व्यवस्था कर कि कोई हमारा 'द्वेष्टा, आक्रान्ता, अशुभेच्छु व हन्ता' न हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाशक्वरी** ॥

अमृत ज्योति

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः।
तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य
उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति॥ १५ ॥

१. हे **पृथिवि**=पृथिवि! **त्वत् जाताः**=तुझसे प्रादुर्भूत हुए-हुए—इस पार्थिव शरीर को प्राप्त हुए-हुए **मर्त्याः**=मनुष्य **त्वयि चरन्ति**=तुझपर ही विचरते हैं। **त्वम्**=तू **द्विपदः**=दो पाँववाले इन मनुष्यों को **बिभर्षि**=भृत व पोषित करती है, **त्वं चतुष्पदः**=तू ही चौपायों को धारण करती है। २. **इमे**=ये **पञ्च मानवाः**='ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व निषाद' इन पाँच भागों में विभक्त मनुष्य **तव**=तेरे ही पुत्र हैं। **येभ्यः मर्त्येभ्यः**=जिन तेरे पुत्ररूप मर्त्यों के लिए **उद्यन् सूर्यः**=उदय होता हुआ सूर्य **रश्मिभिः**=अपनी किरणों के द्वारा **अमृतं ज्योतिः**=अमृत ज्योति को—कृमिनाश द्वारा नीरोगता प्राप्त करानेवाले प्रकाश को **आतनोति**=विस्तृत करता है।

भावार्थ—पृथिवी से उत्पन्न ये प्राणी इस पृथिवी पर ही विचरते हैं—यह पृथिवी मनुष्यों व पशु-पक्षियों का धारण करती है। 'ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि पाँच भागों में विभक्त तेरे रूप इन मर्त्यों के लिए उदय होता हुआ सूर्य अमृत ज्योति देता है।'

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**साम्नीत्रिष्टुप्**॥

समग्राः वाचः मधु

ता नः प्रजाः सं दुह्रतां समग्रा वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम्॥ १६॥

१. हे **पृथिवि**=भूमिमातः! **ताः**=वे **नः**=हमारी **प्रजाः**=प्रजाएँ—सन्तान **समग्राः वाचः**=सम्पूर्ण ज्ञानवाणियों का **संदुह्रताम्**=सम्यक् दोहन करें, अर्थात् वे खूब ज्ञान की रुचिवाली बनें और हे पृथिवि! तू **मह्यम्**=मेरे लिए **मधु धेहि**=माधुर्य को धारण कर। मैं सदा मधुरवाणी ही बोलनेवाला बनूँ।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारी सन्तानें ज्ञान प्रधान हों और हमारे जीवन में मधुरता हो। हम कभी कटु शब्द न बोलें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'विश्व-सू' पृथिवी

विश्वस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम्।
शिवां स्योनामनु चरेम विश्वहा॥ १७॥

१. **विश्वस्वम्**=(सूः) सम्पूर्ण धनों को उत्पन्न करनेवाली, **ओषधीनां मातरम्**=ओषधियों की मातृभूत **ध्रुवाम्**=मर्यादा में स्थित, **पृथिवीम्**=अतिशयेन विस्तारवाली **भूमिम्**=इस भूमि पर **विश्वहा**=सदा **अनुचरेम**=अनुकूलता से विचरण करें। यह पृथिवी इतनी विशाल है कि यहाँ परस्पर संघर्ष की आवश्यकता ही नहीं। २. इस पृथिवी पर हम विचरण करें जोकि **धर्मणा धृताम्**=धर्म से धारण की गई है, अर्थात् जब तक यहाँ रहनेवाले मनुष्य धर्म का पालन करते हैं तब तक यह पृथिवी भी सबका धारण करती हुई सुन्दर बनती है। **शिवाम्**=यह कल्याणकारिणी है और **स्योनाम्**=सुख-दा है। अध्यात्म दृष्टिकोण से व भौतिक दृष्टिकोण से—दोनों ही दृष्टिकोणों से यह हमारा शुभ करती है।

भावार्थ—यह पृथिवी सब धनों को उत्पन्न करती है, ओषधियों को जन्म देती है। यह हमारे लिए मातृवत् कल्याणकारिणी है। धर्म के द्वारा इसका धारण होता है (धर्मो धारयते प्रजाः)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**षट्पदात्रिष्टुबनुष्टुब्गर्भातिशक्वरी**॥

महत् सधस्थम्

महत्सधस्थं महती बभूविथ महान्वेग एजथुर्वेपथुष्टे। महांस्त्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादम्।
सा नो भूमे प्र रोचय हिरण्यस्येव संदृशि मा नो द्विक्षत कश्चन॥ १८॥

१. हे **भूमे**=भूमिमातः! तू **महत् सधस्थम्**=मिलकर रहने का महान् स्थान है, **महती**

बभूविथ=तू सचमुच विशाल है। **महान् ते वेगः**=तेरा वेग महान् है—तू तीव्र गतिवाली है। **एजथुः वेपथुः**=तेरा हिलना-डुलना भी महान् है—कम्प (भूकम्प) अति प्रबल है। **महान् इन्द्रः**=पूजनीय परमैश्वर्यशाली प्रभु **अप्रमादं त्वा रक्षति**=प्रमादरहित होकर तेरा रक्षण कर रहे हैं। २. हे भूमे! **सा**=वह तू **नः प्ररोचयः**=हमें दीप्त जीवनवाला बना। **हिरण्यस्य इव**=स्वर्ण की तरह **संदृशि**=दिखनेवाली—चमकती हुई दीप्त भूमे! तू ऐसी कृपा कर कि **कश्चन**=कोई भी **नः**=हमसे **मा द्विक्षत**=द्वेष न करे।

भावार्थ—यह विशाल पृथिवी हम सबके लिए मिलकर रहने की भूमि है। इसका वेग व कम्प महान् है—प्रभु इसके रक्षक हैं। यह हमें द्वेषशून्य व दीप्त जीवनवाला बनाए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**उरोबृहती** ॥

पृथिवी का मुख्य देव 'अग्नि'

अ॒ग्निर्भूम्या॒मोष॑धीष्व॒ग्निमापो॑ बिभ्रत्य॒ग्निरश्म॑सु।
अ॒ग्निर॒न्तः पुरु॑षेषु गोष्वश्वे॑ष्व॒ग्नयः॑ ॥ १९ ॥

१. **अग्निः भूम्याम्**=अग्नि इस भूमि पर मुख्य देव के रूप से है। **ओषधीषु**=सब ओषधियों में भी अग्नि है। **आपः अग्निं बिभ्रति**=जल अग्नि को धारण करते हैं। यह **अग्निः अश्मसु**=अग्नि पाषाणों में भी है। २. **अग्निः**=वैश्वानररूप से यह अग्नि **पुरुषेषु अन्तः**=पुरुषों के देह में निवास करता है। **गोषु अश्वेषु**=गौवों व घोड़ों में भी **अग्नयः**=पाचनशक्ति के रूप में अग्नियाँ हैं।

भावार्थ—पृथिवी का मुख्य अग्नि 'ओषधियों, जलों, पाषाणों, पुरुषों, गौवों व घोड़ों' में सर्वत्र निवास करता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**विराडुरोबृहती** ॥

त्रिलोकी में 'अग्नि' का निवास

अ॒ग्निर्दि॒व आ त॑पत्य॒ग्नेर्दे॒वस्यो॒र्व१॒॑न्तरि॑क्षम्।
अ॒ग्निं मर्ता॑स इन्धते हव्य॒वाहं॑ घृ॒तप्रि॑यम् ॥ २० ॥

१. **दिवः**=द्युलोक से यह **अग्निः आतपति**=सूर्यरूप अग्नि समन्तात् दीप्त हो रहा है। **देवस्य अग्नेः**=प्रकाशमय विद्युद्रूप अग्नि का ही यह **उरु अन्तरिक्षम्**=विशाल अन्तरिक्ष है। **मर्तासः**=इस पृथिवी पर स्थित मनुष्य उस **अग्निं इन्धते**=अग्नि को दीप्त करते हैं, जोकि **हव्यवाहम्**=हव्य पदार्थों का वहन करता है और **घृतप्रियम्**=घृत के द्वारा प्रीणित होनेवाला है, अर्थात् मनुष्य यहाँ यज्ञाग्नि को दीप्त करते हैं।

भावार्थ—यह अग्नि द्युलोक में सूर्यरूप से है, अन्तरिक्ष में विद्युद्रूप से तथा इस पृथिवी पर यज्ञाग्नि के रूप में मनुष्यों से दीप्त किया जाता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**साम्नीत्रिष्टुप्** ॥

असित-ज्ञूः

अ॒ग्निवा॑साः पृथि॒व्य᳚सितज्ञू॒स्त्विषी॑मन्तं॒ संशि॑तं मा कृणोतु ॥ २१ ॥

१. **पृथिवी**=यह भूमि **अग्निवासाः**=अग्निरूप वस्त्र को धारण किये हुए है तथा इसमें अग्नि का वास है—पृथिवी के अन्दर भी अग्नि तत्त्व है और बाहर भी। **असित-ज्ञूः**=यह 'अग्निवासाः पृथिवी' उस अबद्ध, (अ सक्त) प्रभु का ज्ञान दे रही है। इसपर उत्पन्न एक-एक पत्र-पुष्प उस प्रभु की महिमा का प्रतिपादन कर रहा है। यह पृथिवी **मा**=मुझे **त्विषीमन्तम्**=ज्ञान की दीप्तिवाला व **संशितम्**=तेजस्वी **कृणोतु**=करे। इसका एक-एक पदार्थ मेरी उत्सुकता को बढ़ाता हुआ

मेरी ज्ञानवृद्धि का कारण बने और इसके पदार्थ मुझसे ठीक उपयुक्त हुए-हुए मुझे तेजस्वी बनाएँ।

भावार्थ—यह अग्निवासा पृथिवी मुझे भी ज्ञानाग्नि व तेजस्विता की अग्निवाला बनाए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाविराडतिजगती** ॥

प्राणशक्ति-सम्पन्न दीर्घजीवन

भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यमरंकृतम्।
भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः।
सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु जरदष्टिं मा पृथिवी कृणोतु॥ २२॥

१. **भूम्याम्**=इस पृथिवी पर **देवेभ्यः**=वायु आदि देवों के लिए—इनकी शुद्धि के लिए—**अरंकृतम्**=सम्यक् सुसंस्कृत की हुई **हव्यम्**=हव्य सामग्री को तथा **यज्ञम्**=अग्नि के साथ घृतादि के सम्पर्क रूप (यज्ञ संगतिकरणे) यज्ञ को **ददति**=देते हैं। इस यज्ञ के द्वारा ही वस्तुतः **भूम्याम्**=इस पृथिवी पर **मर्त्याः मनुष्याः**=ये मरणधर्मा **स्वधया**=(पितृभ्यः स्वधा) वृद्ध माता-पिताओं के लिए दिये जानेवाले अन्न से तथा **अन्नेन**=स्वयं भुज्यमान अन्न से **जीवन्ति**=जीते हैं। यज्ञ ही मनुष्यों को आवश्यक अन्न प्राप्त कराते हैं। २. **सा: भूमिः**=वह भूमि **नः**=हमारे लिए **प्राणम् आयुः**=प्राणशक्ति व दीर्घजीवन को **दधातु**=धारण करे। यह **पृथिवी**=पृथिवी **मा**=मुझे **जरदष्टिम्**=जरावस्थापर्यन्त पूर्ण दीर्घजीवन को व्याप्त करनेवाला **कृणोतु**=करे, अर्थात् यज्ञवेदि बनी हुई यह पृथिवी हमें प्राणशक्ति व प्रशस्त दीर्घजीवन प्राप्त कराए।

भावार्थ—हम इस पृथिवी पर यज्ञशील बनें। ये यज्ञ हमें स्वधा व अन्न प्राप्त कराएँ। इस प्रकार हम प्राणशक्ति-सम्पन्न दीर्घ जीवनवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाविराडतिजगती** ॥

गन्धवती पृथिवी

यस्ते गन्धः पृथिवी संबभूव यं बिभ्रत्योषधयो यमापः।
यं गन्धर्वा अप्सरसश्च भेजिरे तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन॥ २३॥

१. हे **पृथिवि**=भूमे! **यः ते गन्धः संबभूव**=जो तेरा गन्ध सर्वत्र विशेष गुणरूप से विद्यमान है। **यम्**=जिस गन्ध को **ओषधयः बिभ्रति**=ओषधियाँ धारण करती हैं, और **यम् आपः**=जिसको जल धारण करते हैं। **यम्**=जिस गन्ध को **गन्धर्वाः**=वेदवाणी के धारक ज्ञानी पुरुष **च**=तथा **अप्सरसः**=यज्ञादि कर्मों में संचरण करनेवाली स्त्रियाँ **भेजिरे**=सेवित करती हैं, **तेन**=उसी गन्ध से **मा**=मुझे **सुरभिं कृणु**=उत्तम गन्धवाला कर—मेरे जीवन को भी सुगन्धमय बना। २. मेरा जीवन इसप्रकार सुगन्धमय हो कि **कश्चन**=कोई भी **नः मा द्विक्षत**=हमसे द्वेष न करे।

भावार्थ—गन्ध पृथिवी का विशेष गुण है। सब ओषधियाँ व पृथिवी पर होनेवाले इस गन्ध को धारण किये हुए हैं। ज्ञानी पुरुष व क्रियाशील स्त्रियाँ उत्तम यशोगन्धवाले होते हैं। हमारा जीवन भी ज्ञान व कर्म से यशस्वी व सुगन्धित हो। कोई भी हमसे द्वेष न करे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदानुष्टुबगर्भाजगती** ॥

कमल-गन्ध

यस्ते गन्धः पुष्करमाविवेश यं संजभ्रुः सूर्याया विवाहे।
अमर्त्याः पृथिवि गन्धमग्रे तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन॥ २४॥

१. **यः**=जो, हे पृथिवि! तेरा गन्ध **पुष्करम् आविवेश**=कमल में प्रविष्ट हुआ है तथा **यं गन्धम्**=जिस गन्ध को **अमर्त्याः**=ये अमरधर्मा वायु आदि देव **सूर्यायाः**=उषाकाल

के **विवाहे**=विशिष्टरूप से प्राप्त होने पर **अग्रे संजभ्रुः**=आगे और आगे प्राप्त कराते हैं। सूर्योदय के अवसर पर कमल खिलते हैं और उनपर से बहनेवाला वायु उनके पराग-गन्ध को अपने साथ आगे ले-जाता है। हे **पृथिवि**=भूमिमातः! **मा**=मुझे भी **तेन सुरभिं कृणु**=उस गन्ध से सुगन्धित जीवनवाला बना। २. जिस प्रकार वायुप्रवाह के साथ कमलगन्ध सर्वत्र प्रसृत होता है, उसी प्रकार मेरा जीवन सर्वतः यशोगन्ध से पूर्ण हो। उत्तमकर्मों को करता हुआ मैं यशस्वी बनूँ। **कश्चन**=कोई भी **नः मा द्विक्षत**=हमारे साथ द्वेष न करे।

भावार्थ—कमल-गन्ध की तरह हमारा जीवन उत्तम कर्मों की यशोगन्धवाला हो। हम सब के प्रिय बनें—किसी से हमारा द्वेष न हो। हम संसार-सरोवर में कमल की तरह अलिप्तभाव से रहें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**सप्तपदोष्णिगनुष्टुब्गर्भाशक्वरी**॥

भग-रुचि-वर्चस्

यस्ते गन्धः पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु भगो रुचिः।
यो अश्वेषु वीरेषु यो मृगेषूत हस्तिषु।
कन्या[यां] वर्चो यद्भूमे तेनास्माँ अपि सं सृज मा नो द्विक्षत कश्चन॥ २५॥

१. हे **भूमे**=भूमिमातः! **यः ते गन्धः**=जो तेरा गन्ध **पुरुषेषु**=पौरुषयुक्त मनुष्यों में **स्त्रीषु**=स्त्रियों में तथा **पुंसु**=(पु) पवित्र जीवनवाले पुरुषों में है, **यः**=जो **मृगेषु**=हरिणों में **उत**=और **हस्तिषु**=हाथियों में है और **यत्**=जो **कन्यायाम्**=युवति कन्या में **वर्चः**=वर्चस् (तेजोदीप्ति) के रूप में है, **तेन**=उस गन्ध से—'ऐश्वर्य दीप्ति व वर्चस्' (भगः रुचिः वर्चः) से **अस्मान् अपि मा संसृज**=हमें भी संसृष्ट कर। हमारा जीवन ऐसा हो कि **नः**=हमें **कश्चन**=कोई भी **मा द्विक्षत**=द्वेष न करे। हमारे साथ सबकी प्रीति हो।

भावार्थ—इस पृथिवी के सम्पर्क से उस-उस स्थान पर 'भग, रुचि व वर्चस्' दिखता है। हमारा जीवन भी 'ऐश्वर्य, दीप्ति व तेजस्विता' वाला हो। हमारा सभी से प्रेम हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शिला, भूमिः, अश्मा, पांसुः

शिला भूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः सन्धृता धृता।
तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः॥ २६॥

१. यह पृथिवी कहीं **शिला**=शिला के रूप में है। ये शिलाएँ मकान आदि बनाने में उपयुक्त होती हैं। **भूमिः**=कहीं मैदानों के रूप में है, जहाँ कृषि से विविध अन्न उत्पन्न होते हैं। **अश्मा**=कहीं यह पत्थर-ही-पत्थर है, जिन्हें तोड़कर सड़कों व फर्श आदि के निर्माण में उपयुक्त किया जाता है। **पांसुः**=कहीं यह भूमि धूल के रूप में है, जिसे तेज़ वायु उड़ाकर आकाश में पहुँचा देती है और वहाँ यह मेघ के जलबिन्दुओं का केन्द्र बनती है। **सा भूमिः**=यह प्राणियों का निवासस्थानरूप पृथिवी **संधृता**=सम्यक् धारण की गई है, **धृता**=प्रभु ने इसे मर्यादा में स्थापित किया है। २. **तस्मै**=उस **हिरण्यवक्षसे**=हिरण्य को वक्षस्थल में लिये हुई, **पृथिव्यै**=पृथिवी के लिए **नमः अकरम्**=हम आदर करते हैं। 'इसको माता समझना तथा इससे दिये गये वानस्पतिक पदार्थों का ही प्रयोग करना' इसका आदर है।

भावार्थ—यह पृथिवी शिलाओं, मैदानों, पत्थरों व धूलि के भिन्न-भिन्न रूपों में है। प्रभु से धारित व मर्यादा में स्थापित की गई है। इस हिरण्यवक्षा पृथिवी के लिए हम नमस्कार करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विश्वधायाः पृथिवी

यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा।
पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छावदामसि॥ २७॥

१. **यस्याम्**=जिसमें **वृक्षाः**=वृक्ष, **वानस्पत्याः**=और नाना प्रकार के वनस्पति, **विश्वहा**=सदा **ध्रुवाः**=ध्रुव रूप से—निश्चल रूप से **तिष्ठन्ति**=स्थित हैं, उस **विश्वधायसं पृथिवीम्**=समस्त पदार्थों का धारण करनेहारी **धृताम्**=प्रभु से मर्यादा में स्थापित की गई भूमि को **अच्छावदामसि**=लक्ष्य करके हम परस्पर चर्चा करते हैं। २. मिलकर पृथिवी का ज्ञान प्राप्त करते हैं। उसके स्वरूप व उससे उत्पन्न वृक्षों-वनस्पतियों की चर्चा करते हैं।

भावार्थ=पृथिवी से उत्पन्न वृक्षों व वनस्पतियों का ज्ञान प्राप्त करके, उनका ठीक प्रयोग करते हुए हम अपना धारण करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां (प्रक्रामन्तः)

उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः।
पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम्॥ २८॥

१. **उत् ईराणाः**=ऊपर पर्वतों पर चढ़ते हुए, **उत**=और **आसीनाः**=घरों में बैठे हुए, **तिष्ठन्तः**=कार्यवश किसी स्थान में स्थित हुए-हुए अथवा **दक्षिणसव्याभ्याम्**=दाहिने व बायें **पद्भ्याम्**=पैरों से **प्रक्रामन्तः**=गति करते हुए हम **भूम्याम्**=इसी पृथिवी पर **मा व्यथिष्महि**=पीड़ित न हों।

भावार्थ—हम इस पृथिवी पर विविध कार्यों में गति करते हुए किसी भी प्रकार से पीड़ित न हों। कार्य में लगे रहना ही पीड़ित न होने का साधन है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'विमृग्वरी' पृथिवी

विमृग्वरीं पृथिवीमा वदामि क्षमां भूमिं ब्रह्मणा वावृधानाम्।
ऊर्जं पुष्टं बिभ्रतीमन्नभागं घृतं त्वाभि नि षीदेम भूमे॥ २९॥

१. **विमृग्वरीम्**=विशिष्ट रूप से शोधन करनेवाली (मिट्टी से शोधन होता ही है—यह शरीर के विषों को भी चूस लेती है) **पृथिवीं आवदामि**=पृथिवी का मैं समन्तात् गुणगान करता हूँ। यह **क्षमाम्**=सब आघातों को सहनेवाली, **भूमिम्**=सब प्राणियों का निवास स्थान (भवन्ति भूतानि यस्याम्), **ब्रह्मणा वावृधानाम्**=(ब्रह्म=अन्नं) अन्नों के द्वारा सबका वर्धन करनेवाली है। २. **ऊर्जम्**='बल व प्राणशक्ति'-प्रद, **पुष्टम्**=पुष्टिकारक **अन्नभागं घृतम्**=भजनीय अन्न को तथा घृत को **बिभ्रतीम्**=धारण करती हुई, हे **भूमे**=भूमिमातः! **त्वा अभिनिषीदेम**=तुझपर हम समन्तात् निषण्ण हों—तेरी गोद में बैठें।

भावार्थ—यह पृथिवी शोधन का कारण बनती है। सहनेवाली, प्राणियों का निवासस्थान, तथा अन्न द्वारा हमारा खूब ही वर्धन करनेवाली है। बलप्रद व पुष्टिकारक भजनीय अन्न व घृत को धारण करती हुई इस पृथिवी पर हम समन्तात् निषण्ण हों।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—भूमिः ॥ छन्दः—त्रिपदाविराड्गायत्री ॥

शुद्धा आपः

शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु यो नः सेदुरप्रिये तं नि दध्मः।
पवित्रेण पृथिवि मोत्पुनामि॥ ३०॥

१. **शुद्धाः आपः**=शुद्ध जल **नः तन्वे**=हमारे शरीर के लिए व शक्ति-विस्तार के लिए—**क्षरन्तु**=क्षरित हों—बहें। **यः नः सेदुः**=जो भी हमारा विनाशक तत्त्व है, **तम्**=उसको **अप्रिये निदध्मः**=सबके अप्रीति के कारणभूत शत्रु में स्थापित करते हैं। विनाशक तत्त्व हमसे दूर हों। ये उनको प्राप्त हों जो सारे समाज के विद्विष्ट हैं। २. **पृथिवि**=विस्तृत भूमे! मैं **पवित्रेण**=तेरे इस पवित्र जल से **मा उत्पुनामि**=अपने को शुद्ध करता हूँ।

भावार्थ—पृथिवी से उद्भूत ये जल—कूप आदि से प्राप्त जल हमारे विनाशक तत्त्वों को नष्ट करके हमें पवित्र करते हैं।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—भूमिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

पुरुषार्थ व अपतन

यास्ते प्राचीः प्रदिशो या उदीचीर्यास्ते भूमे अधराद्याश्च पश्चात्।
स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु मा नि पप्तं भुवने शिश्रियाणः॥ ३१॥

१. हे **भूमे**=प्राणियों की निवास-स्थानभूत भूमे! **याः**=जो **ते**=तेरे **प्राचीः प्रदिशः**=पूर्व दिशा में होनेवाले प्रदेश हैं, **याः उदीचीः**=जो प्रदेश उत्तर दिशा में हैं, **याः**=जो **ते**=तेरे प्रदेश **अधरात्**=दक्षिण दिशा में (नीचे) हैं, **च याः**=और जो **पश्चात्**=पश्चिम दिशा में हैं, **ताः**=वे सब प्रदेश **चरते मह्यम्**=चलते हुए—श्रम करते हुए मेरे लिए **स्योनाः भवन्तु**=सुखद हों। २. **भुवने**=इस लोक में **शिश्रियाणः**=अपने कर्त्तव्य-कर्मों का खूब ही सेवन करता हुआ मैं **मा निपप्तम्**=पतन को न प्राप्त होऊँ।

भावार्थ—पुरुषार्थी के लिए सब भू-प्रदेश सुखद हैं। कर्त्तव्य-कर्मों का सेवन करता हुआ व्यक्ति कभी पतन को प्राप्त नहीं होता।

ऋषिः—अथर्वा ॥ देवता—भूमिः ॥ छन्दः—पुरस्ताज्ज्योतिस्त्रिष्टुप् ॥

प्रशस्त रक्षण व्यवस्था

मा नः पश्चान्मा पुरस्तान्नुदिष्ठा मोत्तरादधरादुत।
स्वस्ति भूमे नो भव मा विदन्परिपन्थिनो वरीयो यावया वधम्॥ ३२॥

१. हे **भूमे**=भूमिमातः! **नः**=हमें **पश्चात्**=पीछे से—पश्चिम से **मानुदिष्ठाः**=व्यथित न कर। **मा पुरस्तात्**=सामने से व्यथित न कर। **उत्तरात् उत अधरात्**=उत्तर से व दक्षिण मे **मा**=पीड़ित न कर। हे भूमे! **नः**=हमारे लिए **स्वस्ति भव**=कल्याण करनेवाली हो। २. हमें मार्गों में **परिपन्थिनः**=लुटेरे, चोर **मा विदन्**=प्राप्त न हों। **वधम्**=इन लुटेरों से हनन साधन आयुधों को **वरीयः यावया**=बहुत ही दूर पृथक् कर। इनके अस्त्र हमसे दूर ही रहें।

भावार्थ—इस पृथिवी पर हमें किसी भी ओर से पीड़ा न पहुँचे। मार्गों में लुटेरों का कष्ट न हो। इनके वध-साधन हमसे दूर ही रहें, अर्थात् राष्ट्र में रक्षण-व्यवस्था प्रशस्त हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सूर्य व दृष्टिशक्ति

यावत्तेऽभि विपश्यामि भूमे सूर्येण मेदिना।
तावन्मे चक्षुर्मा मेष्टोत्तरामुत्तरां समाम्॥ ३३॥

१. हे **भूमे**=भूमिमातः! **मेदिना सूर्येण**=इस स्नेही मित्र सूर्य की सहायता से **यावत्**=जितना भी **ते अभिविपश्यामि**=तेरे इन सब पदार्थों को देखता हूँ **तावत्**=उतना ही **मे चक्षुः**=मेरी आँख **मा मेष्ट**=हिंसित न हो। **उत्तरां उत्तरां समाम्**=अगले और अगले वर्ष यह हिंसित न होकर अपना कार्य ठीक से करती रहे।

भावार्थ—इस पृथिवी पर हमारे स्नेही मित्र इस सूर्य की सहायता से हमारी दृष्टिशक्ति ठीक बनी रहे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**षट्पदात्रिष्टुब्बृहतीगर्भातिजगती** ॥

सुखद-शयन

यच्छयानः पर्यावर्ते दक्षिणं सव्यमभि भूमे पार्श्वम्।
उत्तानास्त्वा प्रतीचीं यत्पृष्टीभिरधिशेमहे।
मा हिंसीस्तत्र नो भूमे सर्वस्य प्रतिशीवरि॥ ३४॥

१. हे **भूमे**=भूमिमातः! **यत्**=जब **शयानः**=लेटा हुआ मैं **दक्षिणं सव्यं पार्श्वम् अभि**=दाहिने या बायें पासे की ओर **पर्यावर्ते**=करवट लूँ अथवा **यत्**=जब हम **उत्तानाः**=ऊर्ध्वमुख **प्रतीचीं त्वा**=जिसके पश्चिम की ओर हमारे पाँव हैं, ऐसी तुझपर **पृष्टीभिः**=पीठ के मोहरों के बल पर **अधिशेमहे**=शयन करते हैं, तब **तत्र**=वहाँ, हे **भूमे**=भूमिमातः! **नः मा हिंसीः**=हमें हिंसित मत कर। **सर्वस्व प्रतिशीवरि**=तू तो सबको अपनी गोद में सुलानेवाली जननी है। हे जननि! तू हमें हिंसित न होने देना।

भावार्थ—हम समय पर भूमि माता की गोद में सुखपूर्वक शयन करें।

सूचना—यहाँ यह स्पष्ट है कि (क) यथासम्भव नीचे सोना। (ख) पाँव पश्चिम में हो। (ग) सदा एक पासे नहीं लेटे रहना। (घ) कभी-कभी उत्तान शयन भी आवश्यक है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पृथिवी के 'मर्म व हृदय' का अपीड़न

यत्ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु।
मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम्॥ ३५॥

१. हे **भूमे**=सब वनस्पतियों को जन्म देनेवाली पृथिवि! **यत् ते विखनामि**=जब मैं तेरा हल द्वारा अवदारण करके कुछ बोता हूँ, **तत्**=तब वह **क्षिप्रं अपिरोहतु**=शीघ्र प्रादुर्भूत हो—अंकुरित होकर भूमि से ऊपर प्रकट हो। भूमि खूब उपजाऊ हो। २. हे **विमृग्वरि**=विशेषरूप से शुद्ध करनेवाली पृथिवि! मैं **ते**=तेरे **मर्म**=मर्मस्थानों को **मा अर्पिपम्**=पीड़ित न करूँ (रिफ to injure), **वि ते हृदयम्**=तेरे हृदय को **मा**=विनष्ट न करूँ। पृथिवी के ओषधि-पोषक अंश ही उसके 'मर्म' हैं और इसके रसप्रद अंश ही इसका हृदय है। इन्हें कभी नष्ट नहीं करना चाहिए, अन्यथा भूमि अनुपजाऊ व बंजर हो जाएगी।

भावार्थ—हम पृथिवी के मर्मों व हृदय को पीड़ित न करते हुए ही इसपर हल चलाएँ

तभी इसमें बोये गये बीज सम्यक् अंकुरित होंगे।

सूचना—भूमि पर हल चलाते समय खूब गहरा खोदना और एक बार ही अधिक फ़सल प्राप्त करने की कामना करना उचित नहीं। इससे भूमि शीघ्र बंजर हो जाती है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**विपरीतपादलक्ष्मापङ्क्तिः**॥

ऋतुचक्र

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः।
ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम्॥ ३६॥

१. हे **भूमे**=भूमिमातः! '**ग्रीष्मः, वर्षाणि, शरत्, शिशिरः, वसन्तः**'=ये ग्रीष्म आदि ऋतुएँ **ते**=तेरी हैं। ये **ते**=तेरी **ऋतवः**=ऋतुएँ **हायनीः**=प्रतिवर्ष आनेवाली **विहिताः**=की गई हैं। प्रतिवर्ष यह ऋतुचक्र तुझपर चलता है और वर्ष की पूर्ति होती है। २. हे **पृथिवि**=अतिशय विस्तारवाली भूमे! **अहोरात्रे**=दिन व रात **नः**=हमारे लिए **दुहाताम्**=इन ऋतुओं का दोहन करनेवाले हों। इन ऋतुओं में हमें सदा उत्कृष्ट ओषधि-वनस्पति प्राप्त होती रहें।

भावार्थ—प्रभु ने इस पृथिवी पर प्रतिवर्ष चलनेवाले एक ऋतुचक्र का स्थापन किया है। दिन और रात हमारे लिए इस ऋतुचक्र से उत्तम ओषधियों-वनस्पतियों का दोहन करनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**भूमिः**॥ छन्दः—**पञ्चपदाशक्वरी**॥

'शक्र, वृषा, वृषभ' राजा

याप सर्पं विजमाना विमृग्वरी यस्यामासन्नग्नयो ये अप्स्व१न्तः।
परा दस्यून्ददती देवपीयूनिन्द्रं वृणाना पृथिवी न वृत्रम्।
शक्राय दध्रे वृषभाय वृष्णे॥ ३७॥

१. **या**=जो पृथिवी **सर्पं अपविजमाना**=सर्प के समान कुटिल पुरुष से भय खाती हुई कुटिल पुरुषों से दूर ही रहना चाहती है, **विमृग्वरी**=विशिष्ट रूप से शुद्ध-पवित्र करनेवाली, **यस्याम्**=जिस पृथिवी पर **अग्नयः**=वे प्रशस्त 'माता-पिता व आचार्य'-रूप अग्नियाँ **आसन्**=हैं, **ये**=जोकि **अप्सु अन्तः**=प्रजाओं के अन्दर निवास करती हैं '**पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः। गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी**'। यह **पृथिवी**=भूमि **देवपीयून्**=देववृत्ति के पुरुषों का हिंसन करनेवाले **दस्यून्**=दस्युओं को **परादती**=दूर करने के हेतु से **इन्द्रं वृणाना**=शत्रुओं के नाशक, जितेन्द्रिय राजा का वरण करती है, **न वृत्रम्**=ज्ञान पर पर्दा डाल देनेवाले विलासी राजा का वरण नहीं करती। २. यह पृथिवी **शक्राय**=शक्तिशाली **वृष्णे**=प्रजाओं पर सुखों का सेचन करनेवाले, **वृषभाय**=श्रेष्ठ राजा के लिए ही **दध्रे**=धारण की जाती है। राजा वही ठीक है जोकि 'शक्र' है, 'वृषा' है और अतएव 'वृषभ' है। ऐसा ही राजा राष्ट्र-शकट का वहन करने में समर्थ होता है।

भावार्थ—यह पृथिवी कुटिलवृत्ति के, देवों के हिंसक दस्युओं से भय खाती है। यह प्रजाओं में प्रशस्त 'माता, पिता व आचार्य'-रूप अग्नियों से हमारे जीवन को शुद्ध बनाती है। यह 'इन्द्र' का वरण करती है, न कि वृत्र का। इसका शासक वही ठीक है जो 'शक्तिशाली, प्रजाओं पर सुखों का सेचन करनेवाला व श्रेष्ठ' है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाजगती** ॥

आदर्श भूमि

यस्यां सदोहविर्धाने यूपो यस्यां निमीयते।
ब्रह्माणो यस्मामर्चन्त्यृग्भिः साम्ना यजुर्विदः।
युज्यन्ते यस्यामृत्विजः सोममिन्द्राय पातवे॥ ३८॥

१. **यस्याम्**=जिस भूमि पर **सदोहविर्धाने**=सभामण्डप व यज्ञस्थलियाँ बनायी जाती हैं, **यस्याम्**=जिसपर **यूपः**=यज्ञस्तम्भ **निमीयते**=निश्चित मानपूर्वक बनाया जाता है। **यस्याम्**=जिसपर **ब्रह्माणः**=वेदज्ञ विद्वान् **ऋग्भिः**=ऋचाओं के द्वारा तथा **साम्ना**=साममन्त्रों के द्वारा **अर्चन्ति**=प्रभु का अर्चन करते हैं 'ऋग्भिः' विज्ञान का संकेत करता है तथा 'साम्ना' श्रद्धा का। प्रभु का उपासन विज्ञान व श्रद्धा के समन्वय से ही होता है। २. **यस्याम्**=जिस पृथिवी पर **यजुर्विदः**=यजुर्मन्त्रों के ज्ञाता **ऋत्विजः**=ऋतु के अनुसार यज्ञ करनेवाले लोग **युज्यन्ते**=अपने यज्ञादि कर्मों में युक्त होते हैं तथा **सोमं पातवे**=शरीर में सोम के पान के लिए **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली, शत्रुविद्रावक प्रभु के लिए **युज्यन्ते**=योग में प्रवृत्त होते हैं। प्रभु का स्मरण वासनाविनाश के द्वारा हमें सोमपान के योग्य बनाता है।

भावार्थ—एक आदर्श राष्ट्र में सभामण्डप व यज्ञस्थलियाँ होती हैं। यहाँ यज्ञस्तम्भों का निर्माण होकर ऋत्विजों द्वारा यज्ञ किये जाते हैं, ज्ञानियों द्वारा प्रभु का अर्चन होता है तथा शरीर में सोमरक्षण के लिए शत्रुविद्रावक प्रभु से चित्तवृत्ति का सम्पर्क बनाया जाता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सप्तसत्र, यज्ञ व तप

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः। सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह॥ ३९॥

१. **यस्याम्**=जिस भूमि पर **पूर्वे**=अपना पालन व पूरण करनेवाले **भूतकृतः**=(right, proper, fit भूत) उचित कर्मों को करनेवाले **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा व वासनाओं का संहार करनेवाले ज्ञानीलोग **गाः उदानृचुः**=ज्ञानवाणियों के द्वारा प्रभु का स्तवन (अर्चन) करते हैं। २. इस भूमि पर **वेधसः**=ज्ञानी लोग (learned man) **सप्तसत्रेण**=देवपूजन से तथा **तपसा सह**=तप के साथ सदा ज्ञानवाणियों का उच्चारण करते हैं।

भावार्थ—आदर्श राष्ट्र में लोग अपना पालन व पूरण करते हैं, यथार्थ बातों को करते हैं, वासनाओं का संहार करते हैं। यहाँ ज्ञानी लोग 'सप्तसत्र, यज्ञ व तप' से युक्त होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इन्द्र के नेतृत्व में

सा नो भूमिरा दिशतु यद्धनं कामयामहे। भगो अनुप्रयुङ्क्तामिन्द्र एतु पुरोगवः॥ ४०॥

१. **सा भूमिः**=वह, गतमन्त्र के अनुसार यज्ञों व तपोंवाली भूमि **नः**=हमारे लिए **यत् धनं कामयामहे**=जिस धन की कामना करे, उस धन को **आदिशतु**=सर्वथा प्रदान करे। **भगः**=वह भजनीय प्रभु **अनुप्रयुङ्क्ताम्**=हमें शिक्षित करे (to give instruction)—हम प्रभु के निर्देश में चलें। **इन्द्रः**=वह शत्रुविद्रावक प्रभु ही **पुरोगवः एतु**=हमारा अग्रगामी हो—हम प्रभु के अनुयायी बनें।

भावार्थ—जिस राष्ट्र में यज्ञ व तप होता है, वहाँ सब धन प्राप्त होते हैं। हम तो यही चाहें कि प्रभु हमें मार्ग का निर्देश करें और हमारे पुरोगामी हों—हम प्रभु के अनुयायी बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाककुम्मतीशक्वरी** ॥

गायन, नर्तन व युद्ध

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः।
सा नो भूमिः प्र णुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु॥ ४१ ॥

१. **यस्यां भूम्याम्**=जिस भूमि पर **मर्त्याः**=मनुष्य **गायन्ति नृत्यन्ति**=गायन व नर्तन करते हैं और **व्यैलबाः**=(ऐलव noise, हैं) विशिष्ट शब्दोंवाले—युद्ध के आह्वान के घोषवाले मनुष्य **यस्यां युध्यन्ते**=जिसपर शत्रुओं के साथ युद्ध करते हैं। **यस्याम्**=जिस भूमि पर **आक्रन्दः**=शत्रुओं को ललकारना होता है और **दुन्दुभिः वदति**=युद्ध का नगारा बजता है **सा भूमिः**=वह पृथिवी **नः सपत्नान्**=हमारे शत्रुओं को **प्रणुदताम्**=परे धकेलनेवाली हो। २. यह **पृथिवी**=भूमिमाता **मा**=मुझे **असपत्नम्**=शत्रुरहित **कृणोतु**=करे। इस पृथिवी पर कहीं गायन व नर्तन हो रहा होता है, तो कहीं युद्ध। युद्ध के समय गायन व नर्तन सम्भव नहीं रहता। हम असपत्न बनकर, युद्धों की स्थिति से ऊपर उठकर ही हर्ष का जीवन बिता सकते हैं।

भावार्थ—इस पृथिवी पर एक ओर युद्ध हैं, दूसरी ओर हर्षपूर्वक गायन व नर्तन हैं। प्रभु हमें असपत्न बनाएँ, जिससे हम युद्धों से ऊपर उठकर जीवन का आनन्द ले-सकें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**स्वराडनुष्टुप्** ॥

व्रीहियवौ

यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पञ्च कृष्टयः।
भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे॥ ४२ ॥

१. **यस्याम्**=जिस पृथिवी पर **व्रीहियवौ अन्नम्**=चावल व जौ मनुष्य के प्रशस्त भोजन हैं। **यस्याः**=जिस पृथिवीमाता के **इमाः**=ये **पञ्च**=पाँच **कृष्टयः**=मनुष्य 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा निषाद' पुत्ररूप हैं। २. उस **पर्जन्यपत्न्यै**=मेघ की पत्नीरूप, **वर्षमेदसे**=वृष्टिजलरूप स्नेह-वाली—वृष्टिजल से स्निग्ध **भूम्यै**=भूमि के लिए **नमः अस्तु**=हमारा नमस्कार हो। इस भूमि का हम उचित आदर करें। इसमें अन्नोत्पादन के लिए यत्नशील हों। मेघ इस पृथिवी का पति है, वह पृथिवी पर जल का सेचन करता है। इस वृष्टि-जल से स्निग्ध पृथिवी में अन्न का उत्पादन होता है।

भावार्थ—हम व्रीहि व यव को ही अपना मुख्य भोजन बनाएँ। सभी को अपना भाई समझें। वृष्टि-जल से स्निग्ध होनेवाली भूमि में अन्नोत्पादन के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**विराडास्तारपङ्क्तिः** ॥

नगर व क्षेत्र

यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते।
प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः कृणोतु॥ ४३ ॥

१. **यस्याः**=जिस पृथिवी के **पुरः**=नगर **देवकृताः**=ज्ञानी (समझदार) शिल्पियों द्वारा बनाये गये हैं—अतएव जिनमें स्वास्थ्य आदि के साधनों की सुव्यवस्था है। **यस्याः**=जिस पृथिवी के **क्षेत्रे**=खेतों में **विकुर्वते**=वैश्य लोग विशिष्ट कृषि कर्मों को करते हैं, उस **विश्वगर्भाम्**=सब प्राणियों को अपने में धारण करनेवाली **पृथिवीम्**=पृथिवी को **आशाम् आशाम्**=प्रत्येक दिशा में **प्रजापतिः**=वे प्रभु **नः**=हमारे लिए **रण्यां कृणोतु**=रमणीय करें।

भावार्थ—इस पृथिवी पर उत्तम नगरों का देवों द्वारा निर्माण हो। यहाँ क्षेत्रों में वैश्य विविध

बीज वपन आदि कर्मों को करें। प्रभु इस पृथिवी को हमारे लिए सर्वतः रमणीय बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

वसुदा, वसुधा

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे।
वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना॥ ४४॥

१. **गुहा**=अपनी गुहाओं में **बहुधा निधिं बिभ्रती**=विविध कोशों को धारण करती हुई **पृथिवी**=यह भूमि **मे**=मेरे लिए **वसु**=धन को **मणिम्**=वैदूर्य आदि मणियों को तथा **हिरण्यम्**=सुवर्ण को **ददातु**=दे। २. यह **वसुदाः**=धनों को देनेवाली **देवी**=दिव्यगुणयुक्त पृथिवी **रासमाना**=वसुओं को देती हुई, **सुमनस्यामाना**=हमारे मन का उत्तम साधन बनती हुई **वसूनि दधातु**=वसुओं को हमारे लिए दे। यह भूमिमाता हमारे लिए वसुओं का धारण करे।

भावार्थ—यह पृथिवी वसुधा है। यह हमारे लिए वसुदा हो। वसुओं को प्राप्त करके हम सौमनस्यवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

विवाचसं—नानाधर्माणम्

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती॥ ४५॥

१. **बहुधा**=बहुत प्रकार से **विवाचसम्**=विविध भाषाओं के बोलनेवाले, **नानाधर्माणम्**=अनेक प्रकार के धर्मों के माननेवाला **जनम्**=जनसमुदाय **यथा ओकसम्**=जैसे एक घर में रहता है उसी प्रकार अनेक प्रकर की बोली और कर्म करनेवालों को **बिभ्रती**=धारण करती हुई यह **पृथिवी**=भूमिमाता **मे**=मेरे लिए **सहस्रम्**=हज़ारों **द्रविणस्य धाराः**=धन की धाराओं को **दुहाम्**=प्रपूरित करे—दे। २. यह पृथिवी मेरे लिए इसप्रकार धन की धाराओं का दोहन करे, **इव**=जैसेकि **अनपस्फुरन्ती**=न हिलती (Shake, tremble) हुई **ध्रुवा**=स्थिरता से स्थित **धेनुः**=गाय हमारे लिए दुग्ध का प्रपूरण करती है। यह पृथिवी भी कम्परहित हुई-हुई, मर्यादा में चलती हुई हमारे लिए द्रविणों का दोहन करे। यहाँ राष्ट्रों में सुव्यवस्था के कारण उपद्रव (Agitaion) ही न होते रहें (अनपस्फुरन्ती) तथा लोग नियमों का पालन करनेवाले हों (ध्रुवा)।

भावार्थ—एक राष्ट्र में भिन्न-भिन्न बोली बोलनेवाले—भिन्न प्रकार के कर्म करनेवाले लोग, एक घर की भाँति निवास करें। राष्ट्र में हलचलें (उपद्रव) ही न होते रहें—लोग व्यवस्थित जीवनवाले हों तब वह पृथिवी सबके लिए धन की धाराओं को प्राप्त करानेवाली होती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाऽनुष्टुब्गर्भापराशक्वरी** ॥

'सर्प-वृश्चिक' निराकरण

यस्ते सर्पो वृश्चिकस्तृष्टदंश्मा हेमन्तजब्धो भृमलो गुहा शये।
क्रिमिर्जिन्वत्पृथिवि यद्यदेजति प्रावृषि तन्नः
सर्पन्मोप सृपद्यच्छिवं तेन नो मृड॥ ४६॥

१. हे **पृथिवि**=भूमिमातः! **यः ते**=जो तेरे **सर्पः**=साँप **वृश्चिकः**=बिच्छू **तृष्टदंश्मा**=तीखे काटनेवाले हैं, अथवा अपने दंशन से प्यास लगानेवाले हैं तथा **हेमन्तजब्धः**=हेमन्त काल के शीत से पीड़ित **भृमलः**=भीरु जाति के जीव **गुहाशये**=गुहाओं में शयन करते हैं अथवा **हेमन्तजब्धः**=हिम-विनाशक, अर्थात् ज्वर के उत्पादक **भृमलः**=घुमरी पैदा करनेवाले कृमि

गुहाशये=बिलों में पड़े सोया करते हैं। २. हे पृथिवि! ऐसे **यत् यत्**=जो भी **क्रिमिः**=कीट **प्रावृषि**=वर्षा ऋतु में **जिन्वत्**=प्राणित होते हुए **एजति**=गतिशील होते हैं, **तत्**=वह **सर्पन्**=गति करता हुआ **नः मा उपसृपत**=हमारे समीप न आये। हे पृथिवि! **यत् शिवम्**=जो हमारे लिए कल्याणकारी हो **तेन नः मृड**=उससे हमें सुखी कर।

भावार्थ—निवास स्थानों में सर्प, वृश्चिक या अन्य कृमि-कीटों का भय न हो। लोग इनके भय से रहित हुए-हुए सुखपूर्वक जीवन बिता पाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाऽनुष्टुब्गर्भापराशक्वरी** ॥

जनायन-शकटवर्त्म-'रथवर्त्म'-शकटवर्त्म-जनायन

ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे।
यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं पन्थानं जयेमानमित्रमतस्करं
यच्छिवं तेन नो मृड॥ ४७॥

१. हे पृथिवि! **ये**=जो **ते**=**बहवः**=बहुत-से **जनायनाः**=(जन+अयन्) मनुष्यों के जाने के मार्ग हैं, **रथस्य वर्त्म**=(मध्य में जो) रथ का मार्ग है, **च**=और **अनसः यातवे**=बैलगाड़ियों के जाने के लिए जो मार्ग है एवं, सड़क किनारों पर जनमार्ग हैं, मध्य में रथमार्ग हैं, इनके बीच में दोनों ओर गाड़ियों के मार्ग हैं। २. **यैः**=जिनसे **भद्रपापाः**=परोपकारी व स्वार्थी (अच्छे व बुरे) **उभये**=दोनों प्रकार के लोग **संचरन्ति**=बराबर चला करते हैं, हम **तं पन्थानम्**=उस मार्ग को **जयेम**=विजय करें—प्राप्त करें, जोकि **अनमित्रम्**=शत्रुरहित है, तथा **अतस्करम्**=चोर-डाकू से रहित है। हे पृथिवि! **यत्**=जो **शिवम्**=कल्याणकर पदार्थ है, **तेन नः मृड**=उससे हमें सुखी कर।

भावार्थ—हमारे राष्ट्र में मार्ग सुव्यवस्थित हों—'पैदलमार्ग, शकटमार्ग व रथमार्ग' इसप्रकार मार्ग सुविभक्त हों। सबके लिए आने-जाने की सुविधा हो। मार्गों में शत्रुओं का भय न हो। हमें पृथिवी सुखकर पदार्थों को प्राप्त कराए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**पुरोऽनुष्टुप्त्रिष्टुप्** ॥

'क्षमा' (सहनशीला पृथिवी)

मल्वं बिभ्रती गुरुभृद्भद्रपापस्य निधनं तितिक्षुः।
वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय वि जिहीते मृगाय॥ ४८॥

१. **मल्वम्**=(मल् to hold, possess) धन को पकड़कर रखनेवाले कृपण को भी **बिभ्रती**=धारण करती हुई यह पृथिवी **गुरुभृत्**=(गुरु great) विशाल हृदयवालों को धारण करती है। **भद्रपापस्य**=भले-बुरे सभी के **निधनम्**=निवास (residence) को **तितिक्षुः**=यह सहनेवाली है। यह 'कृपण, उदार, भद्र व पाप' सभी का धारण करती है—अपने पर सभी के निवास को सहती है। २. यह **पृथिवी**=भूमिमाता **वराहेण**=(मेघेन) मेघ के साथ **संविदाना**=ऐकमत्य को प्राप्त हुई-हुई, अर्थात् अपने पति पर्जन्य से मिलकर—मेघ द्वारा वृष्टि होने पर **मृगाय**=उत्तम बीजों का अन्वेषण करनेवाले **सूकराय**=(सुवं प्रसवं करोति) बीजवपन करनेवाले कृषक के लिए **विजिहीते**=विशेषरूप से प्राप्त होती है। कृषक इसमें बीजवपन करते हैं और यह विविध अन्नों को जन्म देती है।

भावार्थ—इस पृथिवी पर 'कृपण, उदार व भले-बुरे' सभी रहते हैं। यह पृथिवी मेघ से मिलकर कृषक के लिए विविध अन्नों को प्राप्त कराती है। इस अन्न द्वारा वह सभी का पोषण करती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

आरण्य पशुओं से रक्षण

ये त आरण्याः पशवो मृगा वने हिताः सिंहा व्याघ्राः पुरुषादश्चरन्ति।
उलं वृकं पृथिवी दुच्छुनामित ऋक्षीकां रक्षो अप बाधयास्मत्॥ ४९ ॥

१. हे भूमिमातः! **ये**=जो **ते**=तेरे **आरण्याः पशवः**=जंगली पशु हैं, **वने हिताः**=वनों में स्थापित **मृगाः**=मृग हैं (जो ग्रामों में आकर खेतियों को विनष्ट कर देते हैं), जो **पुरुषादः**=मनुष्यों को भी खा जानेवाले **सिंहाः व्याघ्राः**=शेर व चीते **चरन्ति**=इधर-उधर घूमते हैं (चिड़ियाघर में रखे हुए नहीं)। इसी प्रकार **उलम्**=सियार (A kind of wild animal) **वृकम्**=भेड़िया, **दुच्छुनाम्**=दुष्ट कुत्ते, **ऋक्षीकाम्**=रीछ आदि को **इतः**=यहाँ से **अपबाधय**=दूर कर। २. यह **पृथिवि**=पृथिवी **रक्षः**=राक्षसीवृत्ति के पुरुषों को अथवा अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाले रोगकृमियों को **अस्मत्**=हमसे दूर ही रोक दे।

भावार्थ—राजा आरण्य पशुओं से प्रजा की रक्षा करे। इस बात का ध्यान करे कि मृग ही खेतियों को न चर जाएँ। सियार, भेड़िये, पागल कुत्ते आदि के उपद्रव न हों। रीछ व रोगकृमि हमसे दूर रहें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अवाञ्छनीय तत्त्वों का निराकरण

ये गन्धर्वा अप्सरसो ये चारायाः किमीदिनः।
पिशाचान्त्सर्वा रक्षांसि तानस्मद्भूमे यावय॥ ५० ॥

१. **ये**=जो लोग **गन्धर्वाः**=(गन्धं अर्वति=अर्व गतौ) इतर-फुलेल आदि गन्धों में ही खेलनेवाले हैं **अप्सरसा**=और जो स्त्रियाँ स्वर्गलोक की वेश्याएँ ही प्रतीत होती हैं—वेशभूषा की चमक-दमक ही जिनका जीवन है, **ये च**=और जो **अरायाः**=एकदम अदान की वृत्तिवाले हैं (रा दाने) **किमीदिनः**=अब क्या खाएँ और अब क्या हड़प करें (किम् इदानीम्, किम् इदानीम्) यही जिनकी वृत्ति है। हे **भूमे**=भूमिमातः! **तान्**=उनको **अस्मत् यावय**=हमसे पृथक् कर। २. **पिशाचान्**=मांस खानेवाली क्रूरवृत्तिवाले पुरुषों को तथा **सर्वा रक्षांसि**=सब राक्षसों को—अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवालों को हमसे पृथक् कर।

भावार्थ—हमारे मध्य में 'भोगप्रधान जीवनवाले (गन्धर्व+अप्सरस्), कृपण, औरों का धन हड़प करनेवाले, पिशाच व राक्षस' न हों, हमारे समाज से ये दूर ही रहें, जिससे इनका कुप्रभाव समाज को दूषित करनेवाला न हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाऽनुष्टुब्गर्भाककुम्मतीशक्वरी** ॥

विविध पक्षी—वायु, आँधी व लू

यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि।
यस्यां वातो मातरिश्वेयते रजांसि कृण्वंश्च्यावयंश्च वृक्षान्।
वातस्य प्रवामुपवामनु वात्यर्चिः॥ ५१ ॥

१. **याम्**=जिस पृथिवी पर **द्विपादः**=ये दो पाँववाले अथवा पृथिवी व अन्तरिक्ष पर दोनों स्थानों में गतिवाले (द्वयोः पद्यन्ते) **पक्षिणः**=पक्षी **संपतन्ति**=सम्यक् गतिवाले होते हैं, **हंसाः**=हंस, **सुपर्णाः**=गरुड़, **शकुनाः**=गिद्ध या चील (Vulture or kite) तथा **वयांसि**=कौवे (Crow) जिसपर उड़ा करते हैं, वह यह हमारी भूमिमाता है। २. **यस्याम्**=जिसमें **मातरिश्वा**=अन्तरिक्ष

में निरन्तर गतिवाला यह **वातः**=वायु **ईयते**=चलता है। **रजांसि कृण्वन्**=सारे अन्तरिक्ष में धूल-ही-धूल फैलाता हुआ, **च**=और **वृक्षान् च्यावयन्**=वृक्षों को अपने स्थान से च्युत करता हुआ यह वायु आँधी के रूप में चलता है। इस **वातस्य प्रवाम् उपवाम् अनु**=वायु के प्रबलवेग (प्रवा) व निरन्तर बहने (उपवा) के साथ **अर्चिः**=गर्मी की ज्वाला (लू) भी **वाति**= चलती है। यह प्रचण्ड लू भी दुर्गन्ध की समाप्ति व क्रिमियों के विनाश के लिए आवश्यक ही होती है।

भावार्थ—इस पृथिवी पर नाना प्रकार के पक्षियों का सम्पतन होता है। यहाँ अन्तरिक्ष में वायु निरन्तर बहती है—कभी वह आँधी के रूप में होती है और वृक्षों को उखाड़ रही होती है और कभी-कभी यह प्रचण्ड लू के रूप में चलती हुई सब रोगकृमियों व दुर्गन्ध का विनाश करती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाऽनुष्टुब्गर्भापरातिजगती** ॥

दिन-रात, वृष्टि, गौवें व प्रिय तेज

यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि।
वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता सा नो दधातु भद्रया प्रिये धामनिधामनि॥ ५२॥

१. **यस्यां भूम्याम् अधि**=जिस भूमि पर **कृष्णं अरुणं च**=एक तो अन्धकारमय, परन्तु दूसरा प्रकाशमय **अहोरात्रे**=रात्रि और दिन **संहिते**=परस्पर मिलाकर रखे हुए **विहिते**=स्थापित किये गये हैं। दिन के बाद रात्रि आती है और रात्रि के बाद दिन। इसप्रकार ये परस्पर 'संहित' (सम्बद्ध) हैं। एक प्रकाशमय है, दूसरी अन्धकारमय। २. यह **भूमिः**=पृथिवी समय-समय पर **वर्षेण वृता**=वृष्टिजल से आच्छादित होती रहती है और इसप्रकार यह **भद्रया आवृता**=(भद्रा A cow) गौओं से आवृत होती है। वृष्टि से चारे की कमी नहीं रहती और ये गौवें खूब फूलती-फलती हैं। **सा**=वह वृष्टि व गौवों से आच्छादित भूमि हमें **नः**=हमसे **प्रिये**=प्रीति करनेवाले **धामनिधामनि**=प्रत्येक तेज (Energy) में **दधातु**=स्थापित करे।

भावार्थ—प्रभु ने हमारे जीवन के लिए दिन व रात का क्रम बाँधा है। इसपर वृष्टि व गौवों की व्यवस्था की है। वे गौवें हमारे प्रिय तेज का कारण बनती हैं—अपने दूध के द्वारा हमें तेजस्विता प्राप्त कराती हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**पुरोबार्हतानुष्टुप्** ॥

व्यचः—मेधा

द्यौश्च म इदं पृथिवी चान्तरिक्षं च मे व्यचः।
अग्निः सूर्य आपो मेधां विश्वे देवाश्च सं ददुः॥ ५३॥

१. **द्यौः च**=द्युलोक, **पृथिवी च**=पृथिवीलोक, **अन्तरिक्षं च**=और अन्तरिक्षलोक **मे**=मेरे लिए **इदं व्यचः**=इस विशालता—विशाल हृदयता (Expanse, Vastness) को दें। द्युलोकस्थ सूर्य सभी के लिए प्रकाश देता है, पृथिवी से उत्पन्न फूल-फल सभी भद्र-पापियों का पोषण करते हैं, अन्तरिक्ष में बहनेवाला वायु सभी को जीवन देता है। मेरे हृदय में भी सभी के लिए स्थान हो। २. **अग्निः**=पृथिवी का मुख्यदेव 'अग्नि', **सूर्यः**=द्युलोक का मुख्य देव 'सूर्य', **आपः**=अन्तरिक्ष में मेघस्थ जल, **विश्वेदेवाः च**=और सब देव मिलकर मुझे **मेधां संददुः**=बुद्धि देनेवाले हों। सभी देवों की अनुकूलता में मैं स्वस्थ मस्तिष्क बनूँ। सब देवों की अनुकूलता होने पर ही स्वास्थ्य प्राप्त होता और बुद्धि भी स्वस्थ बनी रहती है।

भावार्थ—त्रिलोकी के विस्तार का चिन्तन मुझे भी विशाल बनाये। सूर्य आदि सब देव

मुझे स्वस्थ बनाते हुए स्वस्थ मस्तिष्कवाला करें।

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अभीषाट्—विश्वषाट्

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम्। अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः ॥५४॥

१. **अहम्**=मैं **सहमानः**='सर्दी, गर्मी' आदि द्वन्द्वों को सहनेवाला और **भूम्याम्**=इस पृथिवी पर **उत्तरः नाम अस्मि**=उत्कृष्टतर यश-(नाम)-वाला हूँ। **अभीषाट् अस्मि**=मैं चारों ओर से आक्रमण करनेवाले काम-क्रोध आदि शत्रुओं का मषर्ण करनेवाला हूँ। **विश्वाषाट्**=(विशन्ति) न चाहते हुए भी मेरे अन्दर घुस आनेवाले इन शत्रुओं का मैं पराभव करनेवाला हूँ। **आशां आशां विषासहिः**=मैं प्रत्येक दिशा में शत्रुओं को पराजित करनेवाला हूँ। अथवा (आशा=इच्छा) सब इच्छाओं को कुचल देनेवाला हूँ।

भावार्थ—इस भूपृष्ठ पर मैं द्वन्द्वों का सहन करनेवाला बनूँ और इसप्रकार उत्कृष्ट जीवनवाला होऊँ। चारों ओर से आक्रमण करते हुए व मेरे न चाहते हुए भी मुझमें प्रवेश करते हुए काम-क्रोध आदि को मैं जीतूँ। सब भौतिक इच्छाओं से ऊपर उठूँ।

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सु-भूतम्

अदो यद्देवि प्रथमाना पुरस्ताद्देवैरुक्ता व्यसर्पो महित्वम्।
आ त्वा सुभूतमविशत्तदानीमकल्पयथाः प्रदिशश्चतस्रः ॥ ५५ ॥

१. हे **देवि**=हमारे सब व्यवहारों को सिद्ध करनेवाली भूमिमातः! **यत्**=जब तूने **पुरस्तात्**=प्रारम्भ में **अदः महित्वम्**=उस महत्त्व को—विशालता को **व्यसर्पः**=(सृप गतौ) प्राप्त किया, तो **देवैः**=विद्वानों से '**प्रथमाना**' **उक्ता**=विस्तार को प्राप्त होती हुई 'पृथिवी' इस रूप में कही गई। २. **तदानीम्**=उस समय **त्वा**=तुझमें **सुभूतम्**=उत्तम ऐश्वर्य—उत्तम स्थिति (Well-being, Welfare) **आ आविशत्**=समन्तात् प्रविष्ट हुई। तूने **चतस्रः प्रदिशः**=चारों दिशाओं में स्थित प्राणियों को **अकल्पयथाः**=शक्तिशाली बनाया (क्लृपू सामर्थ्ये)।

भावार्थ—विस्तृत महत्त्ववाली होने के कारण ही यह पृथिवी 'पृथिवी' है। इसमें चारों ओर उत्तम ऐश्वर्य की स्थिति है। यह चतुर्दिगवस्थित प्राणियों को शक्तिशाली बनाती है।

ऋषि:—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'ग्राम, अरण्य, सभा, संग्राम व समिति' में भूमिमाता का यशोगान

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम्।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥ ५६ ॥

१. **ये ग्रामाः**=जो ग्राम, **यत् अरण्यम्**=जो जंगल, **याः सभाः**=जो सभाएँ **अधिभूम्याम्**=इस भूमि पर हैं—ये **संग्रामाः**=जो संग्राम व जो **समितयः**=शान्ति-सभाएँ (Peace conferences) इस पृथिवी पर होती हैं, **तेषु**=उनमें **ते चारु वदेम**=तेरे लिए सुन्दर ही वचन कहें। २. जब भी हम एकत्र हों, जहाँ भी एकत्र हों, वहाँ प्रभु से उत्पादित इस पृथिवी के महत्त्व का चर्चण करें। यह चर्चण हमें इस भूमिमाता का स्मरण कराएगा—हमें अनुभव होगा कि हम इस माता के ही तो पुत्र हैं—अतः परस्पर भाई हैं। ऐसा सोचने पर हम द्वेष से दूर व परस्पर प्रेमवाले होंगे।

भावार्थ—हम 'ग्राम, अरण्य, सभा, संग्राम व समितियों' में सर्वत्र भूमिमाता का यशोगान करते हुए परस्पर बन्धुत्व का अनुभव करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**पुरोतिजागताजगती** ॥

नित्य नव सर्जन

अश्वइव रजो दुधुवे वि ताञ्जनान्य आक्षियन्पृथिवीं यादजायत।
मन्द्राग्रेत्वरी भुवनस्य गोपा वनस्पतीनां गृभिरोषधीनाम्॥ ५७॥

१. **इव**=जैसे **अश्वः**=घोड़ा **रजः दुधवे**=धूलि को कम्पित करके दूर कर देता है, उसी प्रकार **ये**=जो लोग **पृथिवीं आक्षियन्**=पृथिवी पर समन्तात् बसे हैं, **तान् जनान्**=उन सब मनुष्यों को, **यात् अजायत**=जब से यह पृथिवी हुई है तब से **वि (दुधुवे)**=कम्पित करके दूर करती आयी है। इस पृथिवी पर कोई भी प्राणी स्थिर नहीं है। सभी के ये शरीर नश्वर हैं। २. यह पृथिवी **मन्द्रा**=पुराने को समाप्त करके निरन्तर नये को जन्म देती हुई सचमुच प्रशंसनीय (Praiseworthy) है, **अग्र इत्वरी**=आगे और आगे चलनेवाली है, **भुवनस्य गोपाः**=सब लोकों का—अपने पर होनेवाले प्राणियों का रक्षण करनेवाली है। रक्षण के लिए ही सब **वनस्पतीनाम् ओषधीनां गृभिः**=वनस्पतियों व ओषधियों का अपने में ग्रहण करनेवाली है।

भावार्थ—यह पृथिवी पुराने शरीरों को समाप्त करके नयों को जन्म दे रही है। यह प्रशंसनीय पृथिवी निरन्तर आगे चलती हुई सब प्राणियों की रक्षक है—रक्षण के लिए ही सब वनस्पतियों को अपने में धारण किये हुए है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**पुरस्ताद्बृहती** ॥

त्विषीमान्—जूतिमान्

यद्वदामि मधुमत्तद्वदामि यदीक्षे तद्वनन्ति मा।
त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान्हन्मि दोधतः॥ ५८॥

१. **यत् वदामि**=जो कुछ भी बोलूँ **तत् मधुमत् वदामि**=वह मिठास से भरा हुआ ही बोलूँ। **यत् ईक्षे**=जब देखूँ तो **तत् मा वनन्ति**=लोग मुझे प्रेम (Like, love) ही करते हैं। मेरा बोलना व देखना सब मधुर ही हो। २. मैं **त्विषीमान् अस्मि**=ज्ञान की दीप्तिवाला हूँ, **जूतिमान्**=उत्तम कर्मों में वेगवाला हूँ—उन्हें स्फूर्ति से करनेवाला हूँ। **दोधतः**=(दुध् to kill, injure, hurt) भूमि-माता के पुत्रों का हनन करते हुए **अन्यान्**=शत्रुभूत जनों को **अवहन्मि**=सुदूर विनष्ट करता हूँ।

भावार्थ—हमारा बोलना व देखना प्रेमपूर्ण व मधुर हो। हम दीप्ति व स्फूर्तिवाले बनें। शत्रुभूत जनों को सुदूर विनष्ट करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शान्ति, सुगन्ध, सुख, मधु व पयस्

शन्तिवा सुरभिः स्योना कीलालोध्नी पयस्वती।
भूमिरधि ब्रवीतु मे पृथिवी पयसा सह॥ ५९॥

१. **शन्तिवा**=शान्ति-सम्पन्न, **सुरभिः**=उत्तम गन्ध से युक्त, **स्योना**=सुख देनेवाली, **कीलालोध्नी**=अमृतमय रस को—मधु को गाय की भाँति अपने थनों में (ऊधस्) धारण करनेवाली, **पयस्वती**=क्षीर-सम्पन्न **भूमिः**=प्राणियों का निवास स्थान (भवन्ति भूतानि यस्याम्) यह भूमि हो। २. यह **पृथिवी**=प्रथन-(विस्तार)-वाली भूमि **पयसा सह**=अपने ही आप्यायन (वर्धन) के साधनों के साथ **मे अधिब्रवीतु**=मुझे पुकारे, उसी प्रकार जैसेकि एक माता दूध का गिलास हाथ में लिये हुए एक बच्चे को पुकारती है। यह पृथिवी मुझे 'पयस्' प्राप्त कराए।

भावार्थ—यह भूमिमाता हमारे लिए 'शान्ति, सुगन्ध, सुख व पयस्' प्राप्त कराए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'भुजिष्यं पात्रम्'

यामन्वैच्छद्धविषा विश्वकर्मान्तरर्णवे रजसि प्रविष्टाम्।
भुजिष्यं पात्रं निहितं गुहा यदाविर्भोगे अभवन्मातृमद्भ्यः ॥ ६० ॥

१. **अर्णवे अन्तः**=महान् प्रभु के अन्दर, **रजसि प्रविष्टाम्**=अन्तरिक्ष में प्रविष्ट (स्थित) **याम्**=जिस पृथिवी को **विश्वकर्मा**=समस्त संसार का निर्माता प्रभु **हविषा**=हवि के हेतु से **अन्वैच्छत्**=चाहता है। प्रभु की कामना से ही सृष्टि होती है **'सोऽकामयत०'**। प्रभु वस्तुतः इस पृथिवी को इसलिए बनाते हैं कि इसपर रहनेवाले मनुष्य इस पृथिवी पर यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त हों—इसे 'देवयजनी' बना दें। यह पृथिवी अपने कारणभूत अणुसमुद्र में निहित है—अन्तरिक्ष में यह स्थित है। २. **भुजिष्यं पात्रम्**=भोग्य सन्तानादि से सुसज्जित पात्र के समान यह पृथिवी है। यह पृथिवी **निहितं गुहायाम्**=अपने कारणभूत अणुसमुद्रों की गुफ़ा में निहित है। यह वह पात्र है **यत्**=जोकि **भोगे**=भोग के अवसर आने पर **मातृमद्भ्यः**=पृथिवी को अपनी माता जाननेवाले इन जीवों के लिए **आविः अभवन्**=प्रकट हो जाती है।

भावार्थ—पृथिवी पहले अणुसमुद्र के रूप में अन्तरिक्ष में प्रविष्ट हुई-हुई होती है। प्रभु इसका निर्माण करते हैं, ताकि जीव इसपर यज्ञों को कर सकें। यह पृथिवी एक 'भुजिष्य पात्र' के रूप में हैं। यह पात्र भोग का अवसर आने पर प्रभु के द्वारा प्रकट कर दिया जाता है। जो पृथिवी को माता के रूप में देखते हैं, उन्हें सब आवश्यक पोषण-सामग्री इस भूमिमाता से प्राप्त होती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**पुरोबार्हतात्रिष्टुप्** ॥

आवपनी—अदितिः

त्वमस्यावपनी जनानामदितिः कामदुघा पप्रथाना।
यत्त ऊनं तत्त आ पूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य ॥ ६१ ॥

१. हे भूमे! **त्वम्**=तू **जनानाम्**=लोगों की—विविध कोनों में उत्पन्न मनुष्यों की **आवपनी असि**=बीज बोने की स्थली है। तू **पप्रथाना**=अत्यन्त विस्तारवाली होती हुई **कामदुघा**=सब कामनाओं का प्रपूरण करनेवाली **अदितिः**=(गोनाम—नि० २.११) गौ ही है। यह पृथिवी सब अन्नों को उत्पन्न करनेवाली है—सब काम्य भोगों का दोहन करनेवाली कामधेनु ही है। २. **यत्**=जो **ते ऊनम्**=तुझमें कमी आती है—अन्नोत्पादन से जो तेरी शक्ति क्षीण होती है **तत् ते**=उस तेरी कमी को वृष्टि व वायुमण्डल की नत्रजन गैस के द्वारा, **ऋतस्य प्रथमजाः**=यज्ञों का सर्वप्रथम प्रादुर्भाव करनेवाला **प्रजापतिः**=प्रजारक्षक प्रभु **आपूरयाति**=आपूरित कर देता है। यज्ञों के द्वारा वृष्टि होकर पृथिवी की उत्पादन-शक्ति ठीक बनी रहती है।

भावार्थ—यह पृथिवी अन्नों का उत्पादन करनेवाली व सब काम्य पदार्थों को प्राप्त करानेवाली कामधेनु है। प्रभु यज्ञादि की व्यवस्था के द्वारा पृथिवी की शक्ति को पुनः-पुनः स्थिर किये रखते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**पराविराट्निचृत्त्रिष्टुप्** ॥

बलिहृतः (स्याम)

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः।
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥ ६२ ॥

१. हे **पृथिवि**=भूमिमातः! **ते उपस्थाः**=तेरी गोद में स्थित होनेवाले गो-दुग्ध आदि पदार्थ तथा **प्रसूताः**=तुझसे उत्पन्न ये वनस्पति **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **अनमीवाः**=रोगों को न पैदा करनेवाले तथा **अयक्ष्माः**=हृद्रोग के जनक **न सन्तु**=न हों। २. **नः**=हमारी **आयुः**=आयु **दीर्घम्**=दीर्घ हो—हम दीर्घजीवी बनें और **प्रतिबुध्यमानाः**=ज्ञान-प्राप्ति द्वारा प्रतिबुद्ध होते हुए—अपने कर्त्तव्य-कर्मों के प्रति जागरूक होते हुए **वयम्**=हम **तुभ्यम्**=हे पृथिवि! तेरे लिए **बलिहृतः स्याम**=बलि देनेवाले हों। तेरे रक्षण के द्वारा अपने रक्षण के लिए उचित कर आदि देनेवाले हों।

भावार्थ—पृथिवी पर होनेवाले गोदुग्ध, अन्नादि पदार्थ हमारे लिए नीरोगता देनेवाले हों। हम दीर्घ व प्रतिबुद्ध जीवनवाले होते हुए इस भूमिमाता के लिए बलि (कर) देनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**भूमिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

श्री+भूति

भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम्।
संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम्॥ ६३॥

१. हे **भूमे मातः**=मातृवत् हितकारिणि भूमे! तू **मा**=मुझे **भद्रया**=गौ के द्वारा **सुप्रतिष्ठितम् धेहि**=घर में सम्यक् स्थापित कर। गौ के होने पर घर में 'स्वास्थ्य, शान्ति व दीप्ति' बनी रहती है। गोदुग्ध हमें शरीर से स्वस्थ, मन से शान्त तथा मस्तिष्क से ज्ञानदीप्त बनाता है। २. हे **कवे**=प्रशंसनीय (Praise-worthy) मातः! **दिवा संविदाना**=प्रकाशमय इस द्युलोक से (द्यौष्पिता, पृथिवी माता) संज्ञान-(ऐकमत्य)-वाली होती हुई तू **मा**=मुझे **श्रियाम्**=श्री में तथा **भूत्याम्**=भूति में—ऐश्वर्य में **धेहि**=स्थापित कर। हम श्रीवाले बनें—धनों को प्राप्त करें और भूतिसम्पन्न हों—ऐश्वर्यवाले हों, उन धनों के स्वामी बनकर आनन्द को प्राप्त करें।

भावार्थ—हे भूमिमातः! मैं तेरे पृष्ठ पर गौ के साथ में सम्यक् प्रतिष्ठित होऊँ। यह पृथिवी माता, पिता द्युलोक के साथ, मुझे श्री और भूति में स्थापित करे। मैं आवश्यक धनों को प्राप्त करके जीवन को आनन्दमय बना पाऊँ।

इस भूमिमाता की गोद में रहता हुआ जो भी व्यक्ति अपना ठीक प्रकार से परिपाक करता है, वह 'भृगु' (भ्रस्ज पाके) बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है। यह क्रव्याद् अग्नि को (न केवलं क्रव्यात् शवदाहे शवमांसम् अनति अपितु घोरत्वात् यक्ष्मादीन् बहून रोगान् मृत्युं च बहुविधम् आवहति। तथैव नाना प्रकारको भवति—सा०) रोग, आपत्ति व मृत्यु की कारणभूत अग्नि को सम्बोधन करते हुए कहता है कि—

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अधराङ् परेहि

नडमा रोह न ते अत्र लोक इदं सीसं भागधेयं त एहि।
यो गोषु यक्ष्मः पुरुषेषु यक्ष्मस्तेन त्वं साकमधराङ् परेहि॥ १॥

१. हे क्रव्याद् अग्ने! **नडम् आरोह**=तू नड पर आरोहण कर—नड निर्मित तीखे शर पर तू चढ़—उस शर का तू शिकार हो। **ते अत्र लोकः न**=तेरा यहाँ स्थान नहीं है—तुझे हममें निवास नहीं करना। **इदम्**=इस **ते भागधेयम्**=तेरे भाग्यभूत **सीसम्**=सीसे को—सीसे की बनी घातक गोली को **एहि**=तू प्राप्त हो। यह क्रव्याद् अग्नि तीर व गोली का शिकार बने—हमें पीड़ित करनेवाला न हो। २. हे क्रव्यात्! **यः गोषु यक्ष्मः**=जो गौवों में रोग है, **पुरुषेषु यक्ष्मः**=पुरुषों

में रोग है, **तेन साकम्**=उस रोग के साथ **त्वम्**=तू **अधराङ् परा इहि**=नीचे की ओर गति करता हुआ दूर चला जा। क्रव्यात् अग्नि का रोगों के साथ नीचे के मार्ग से जाने का भाव यह है कि शरीर में ये मलद्वार अपना कार्य ठीक प्रकार से करते रहें—प्रत्येक रोग में सर्वप्रथम इस शोधन का ही ध्यान करना चाहिए।

भावार्थ—'रोग, आपत्ति व मृत्यु' का कारणभूत क्रव्यात् अग्नि, तीर व गोली का शिकार बने—अर्थात् नष्ट हो। निचले मलद्वारों के मार्ग से सब रोग दूर चले जाएँ। शरीर में मल का संचय हो ही नहीं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'अघशंस—दुःशंस, कर-अनुकर व यक्ष्म' का निराकरण

अघशंसदुःशंसाभ्यां करेणानुकरेण च। यक्ष्मं च सर्वं तेनेतो मृत्युं च निरजामसि॥ २ ॥

१. 'अघशंस' वे व्यक्ति हैं जोकि बुराई का शंसन करते हैं (शंस् to praise)। 'दुःशंस' वे हैं जोकि बुरी तरह से विनाश का कारण बनते हैं (शंस् to injure, hurt, kill)। इनके सहायक—इनका 'दाहिना हाथ' बने हुए व्यक्ति 'कर' हैं। इनकी नौकरी करनेवाले 'अनुकर' हैं। **अघशंसदुःशंसाभ्याम्**=अघशंस और दुःशंसों के साथ, **च**=और **करणे अनुकरणे**=इनके हाथ बने हुए सहायकों व भृत्यों के साथ होना **च**=और **सर्वं यक्ष्मम्**=जो सम्पूर्ण रोग है, **तेन**=उसके साथ **मृत्युं च**=मृत्यु को भी **इतः**=यहाँ से **निरजामसि**=बाहर—दूर फेंकते हैं।

भावार्थ—हम अपने 'राष्ट्र, समाज व परिवार' से 'अघशंस व दुःशंस लोगों को, उनके करों व अनुकरों को तथा सब रोगों को' दूर करते हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः** ॥

'मृत्यु, ऋति व अराति' का निराकरण

निरितो मृत्युं निर्ऋतिं निररातिमजामसि।
यो नो द्वेष्टि तमद्ध्यग्ने अक्रव्याद्यमु द्विष्मस्तमु ते प्र सुवामसि॥ ३ ॥

१. प्रजापीड़क व्यक्ति 'क्रव्याद् अग्नि' है, तो पीड़कों से रक्षा करनेवाला राजा 'अक्रव्याद् अग्नि' है। राजा से प्रजावर्ग कहता है कि हम **इतः**=यहाँ अपने जीवन से **मृत्युम्**=मृत्यु को—रोगों को **निः अजामसि**=निकालकर दूर करते हैं। **ऋतिम्**=(ऋणोति to kill, attack) औरों पर आक्रमण करने व हिंसन की वृत्ति को **निः**=दूर करते हैं। **अरातिम् निः**=(अजामसि) अदान व कृपणता की वृत्ति को दूर करते हैं। जो व्यक्ति हम सबके प्रति द्वेष करता है **तम्**=उसे आप **अद्धि**=नष्ट (Destroy) कीजिए। **उ**=और **यं द्विष्मः**=जिस एक को हम सब प्रीति नहीं कर पाते **तम्**=उसको **उ**=निश्चय से **ते प्रसुवामसि**=तेरे प्रति प्रेरित करते हैं।

भावार्थ—राष्ट्र में जब राजा 'अक्रव्याद् अग्नि' होता है—प्रजा को प्रजापीड़कों से रक्षित करता है तब प्रजा 'रोग, हिंसा की वृत्ति तथा कृपणता' से दूर होती है और राजा प्रजाद्वेषियों को उचित दण्ड देनेवाला होता है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'क्रव्याद् अग्नि व व्याघ्र' का दूरीकरण

यद्यग्निः क्रव्याद्यदि वा व्याघ्र इमं गोष्ठं प्रविवेशान्योकाः।
तं माषाज्यं कृत्वा प्र हिणोमि दूरं स गच्छत्वप्सुषदोऽप्यग्नीन्॥ ४ ॥

१. **यदि**=यदि **क्रव्यात् अग्निः**=प्रजा के मांस को खानेवाला कोई प्रजापीड़क राक्षसीवृत्तिवाला

मनुष्य **वा**=अथवा **अनि ओका:**=न निश्चित निवास-स्थानवाला कोई **व्याघ्र:**=व्याघ्र—हिंस्र पशु **इमं गोष्ठं प्रविवेश**=इस गोष्ठ में—गौवों के निवास-स्थान में—प्रविष्ट हुआ है तो **तम्**=उसको **माषाज्यं कृत्वा**=(मष् हिंसायाम्, आजि=युद्धसाधनं आज्यम्=शस्त्र। **अज् गतिक्षेपणयोः। वज्रो हि आज्यम्**—श० १.३.२.१७) हिंसक शस्त्र बनाकर **दूरं प्रहिणोमि**=दूर प्रेरित करता हूँ। तीर (नड) व गोली (सीसे) द्वारा उसे दूर भगाता हूँ। २. यह 'क्रव्याद् अग्नि व व्याघ्र' **अप्सुषदः**=प्रजाओं में आसीन होनेवाले **अग्नीन्**=राजपुरुषों की **अपि एतु**=ओर प्राप्त होनेवाला हो, अर्थात् राजपुरुष इन क्रव्याद् अग्नियों व व्याघ्रों को प्रजा से दूर रखने की व्यवस्था करें। ये **अप्सरः**=(अप् सर Officers) प्रजा में विचरण करते हुए इन क्रव्यादों व व्याघ्रों से प्रजा को पीड़ित न होने दें।

भावार्थ—राजपुरुष दूर दफ्तरों में ही न बैठे रहकर प्रजाओं में विचरण करनेवाले बनें। इसप्रकार वे प्रजा में प्रवेश कर जानेवाले क्रव्याद् अग्नि (राक्षसों) व व्याघ्रों से प्रजा को बचाएँ।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दण्ड का उद्देश्य 'सुधार'

यत्त्वा क्रुद्धाः प्रचक्रुर्मन्युना पुरुषे मृते।
सुकल्पमग्ने तत्त्वया पुनस्त्वोद्दीपयामसि॥ ५॥

१. हे **अग्ने**=क्रव्यात् अग्ने—प्रजापीड़क पुरुष! **पुरुषे मृते**=तेरे द्वारा किसी पुरुष के मृत होने पर **मन्युना**=शोक से—दुःख से (मन्युर्शोकौ नु शुक् स्त्रियाम्) **क्रुद्धाः**=क्रुद्ध हुए-हुए व्यक्ति **त्वा प्रचक्रुः**=(प्रकृ Assault, outrage, insult) तुझपर आक्रमण करते हैं या तुझे अपमानित करते हैं, **त्वया तत् सुकल्पम्**=तेरे साथ वह उत्तम ही विधान है (कल्प=A sacred precept, rule)। २. वस्तुतः उचित दण्ड के द्वारा हम **पुनः**=फिर से **त्वा उद्दीपयामसि**=(Illuminate) तुझे प्रबुद्ध करते हैं। यह दण्ड तेरी प्रसुप्त मानव चेतना को जगानेवाला बनता है और तू फिर से क्रव्यात्पन को छोड़कर मानव बनता है—अब तू औरों को पीड़ित न करने का निश्चय करता है।

भावार्थ—जब एक क्रव्यात् (प्रजापीड़क) किसी पुरुष की हत्या का कारण बनता है तब मृत पुरुष के बन्धु व मित्र क्रुद्ध होकर उसपर आक्रमण करते हैं। यह क्रव्यात् के प्रति व्यवहार ठीक ही है। इसका मुख्य उद्देश्य क्रव्यात् की प्रसुप्त चेतना को जागरित करके उसे फिर से मानव बनाना ही होता है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिगार्षीपङ्क्तिः** ॥

नवजीवन प्रदाता 'तेतीस देव'

पुनस्त्वादित्या रुद्रा वसवः पुनर्ब्रह्मा वसुनीतिरग्ने।
पुनस्त्वा ब्रह्मणस्पतिराधाद्दीर्घायुत्वाय शतशारदाय॥ ६॥

१. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **त्वा**=तुझे **पुनः**=फिर से **आदित्याः**=आदित्य **शतशारदाय**=सौ वर्ष तक चलनेवाले **दीर्घायुत्वाय**=दीर्घजीवन के लिए **आधात्**=स्थापित करें। इसी प्रकार **रुद्राः**=रुद्र और **वसवः**=वसु तुझे शतशारद दीर्घायुत्व के लिए स्थापित करनेवाले हों। बारह आदित्य वर्ष के बारह मास हैं, दश प्राण व आत्मा ये ११ रुद्र हैं, 'पञ्चभूत, मन, बुद्धि, अहंकार' वसु हैं। ये सबके सब तेरे दीर्घजीवन का साधन बनें। २. इन ३१ देवों के साथ **वसुनीतिः**=सब वसुओं को निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों को प्राप्त करानेवाला **ब्रह्मा**=सृष्टि-निर्माता प्रभु **पुनः**=फिर शतशारद दीर्घायुत्व के लिए स्थापित करे और **ब्रह्मणस्पतिः**=वेदज्ञान का स्वामी प्रभु **पुनः**=फिर **त्वा**=तुझे शतशारद दीर्घायुत्व को प्राप्त कराये।

भावार्थ—'आदित्य, रुद्र, वसु, ब्रह्मा (Creater) तथा ब्रह्मणस्पति (Giver of knowledge)' ये सब हमें फिर से पवित्र जीवनवाला बनाकर सौ वर्ष का दीर्घजीवन प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

मांस भोजन Vs. शाक भोजन

यो अ॒ग्निः क्र॒व्यात्प्र॑वि॒वेश॑ नो गृ॒हमि॒मं पश्य॒न्नित॑रं जा॒तवे॑दसम्।
तं ह॑रामि पितृय॒ज्ञाय॑ दू॒रं स घ॒र्ममि॑न्धां पर॒मे स॒धस्थे॑॥ ७ ॥

१. एक घर में जब तक शाकभोजन चलता है तब तक वह घर हव्याद् अग्निवाला होता हे। हव्य पदार्थों का प्रयोग करते हुए ये लोग अपनी बुद्धियों के विकास के द्वारा ज्ञान प्राप्त करते हैं, अतः यह 'हव्याद् अग्नि जातवेदस्' नामवाली होती है। **इमं इतरं जातवेदस्**=इस दूसरी जातवेदस् अग्नि को **पश्यन्**=देखती हुई **यः**=जो **क्रव्यात् अग्निः**=मांस भोजनवाली अग्नि **नः गृहम्**=हमारे घरों में **प्रविवेश**=घुस आती है, **तम्**=उसको **दूरं हरामि**=मैं घर से दूर करता हूँ। हम कई बार स्वादवश या मांसभोजन की पौष्टिकता के भ्रमवश मांसभोजन में प्रवृत्त हो जाते हैं, यही 'क्रव्याद् अग्नि' का घर में प्रवेश है। २. इस क्रव्याद् अग्नि के प्रवेश से मानव के स्वभाव में क्रूरता व स्वार्थ का प्राबल्य होता है। तब हम बड़ों के आदर व सेवा को भूल जाते है, अतः इस क्रव्याद् अग्नि को मैं दूर करता हूँ, जिससे **पितृयज्ञाय**=हमारे घरों में पितृयज्ञ ठीक रूप से चलता रहे। **सः**=क्रव्याद् अग्नि को दूर करनेवाला व पितृयज्ञ को ठीक प्रकार से करनेवाला वह शाकभोजी पुरुष **परमे सधस्थे**=इस उत्कृष्ट, आत्मा व परमात्मा के मिलकर बैठने के स्थान हृदय में **घर्मम्**=उस दीप्ति व मलों का क्षरण करनेवाले प्रभु को **इन्धाम्**=दीप्त करे, अर्थात् हृदय में प्रभुदर्शन करनेवाला बने।

भावार्थ—हमारे घरों में मांसभोजन की प्रवृत्ति न हो। हम शाकभोजी रहते हुए स्वार्थ व क्रूरता से दूर रहें। इसप्रकार हमारे घरों में पितृयज्ञ (बड़ों का आदर) सदा चलता रहे और हृदयों में हम प्रभु का दर्शन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

'क्रव्याद् अग्नि' 'रोग व दोष' प्रापकता

क्र॒व्यादम॒ग्निं प्र हि॑णोमि दू॒रं य॒मरा॑ज्ञो गच्छतु रिप्रवा॒हः।
इ॒हायमित॑रो जा॒तवे॑दा दे॒वो दे॒वेभ्यो॑ ह॒व्यं व॑हतु प्रजा॒नन्॥ ८ ॥

१. **क्रव्यादम् अग्निम्**=मांस खानेवाली अग्नि को **दूरं प्रहिणोमि**=मैं अपने से दूर भेजता हूँ। यह क्रव्याद् अग्नि **यमराज्ञः**=यमराज की है, अर्थात् इस मांसभक्षक अग्नि का सम्बन्ध मृत्यु की देवता से है—यह मांसभोजन मृत्यु का (रोगों का) कारण बनता है, अतः **रिप्रवाहः**=दोषों का वहन करनेवाली यह क्रव्याद् अग्नि **गच्छतु**=हमारे घरों से दूर ही जाए। हमारी प्रवृत्ति मांसभोजन की न हो जाए। २. **अयम्**=यह **इतरः**=मांसभोजन से दूसरा वानस्पतिक भोजनोंवाला **जातवेदाः**=ज्ञान के प्रादुर्भाववाला हव्याद् अग्नि ही **इह**=यहाँ हमारे घरों में हो। यह अग्नि **देवः**=हमारे जीवनों को प्रकाशमय व दिव्यगुणसम्पन्न बनानेवाला है, अतः **प्रजानन्**=एक समझदार पुरुष **देवेभ्यः**=दिव्यगुणों की प्राप्ति के लिए **हव्यं वहतु**=हव्य पदार्थों को ही इस जाठराग्नि में प्राप्त करानेवाला हो।

भावार्थ—मांसभोजन से जीवन रोगों व दोषों से परिपूर्ण बनता है, अतः हम दिव्यगुणों के विकास के लिए हव्य (सात्त्विक, वानस्पतिक) पदार्थों का ही प्रयोग करें।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—अनुष्टुब्गार्भाविपरीतपादलक्ष्मापङ्क्तिः ॥

मांस भोजन व मृत्युदृंहण

क्रव्यादमग्निमिषितो हरामि जनान्दृंहन्तं वज्रेण मृत्युम्।
नि तं शास्मि गार्हपत्येन विद्वान्पितॄणां लोकेऽपि भागो अस्तु॥ ९॥

१. राजा कहता है कि **इषितः**=प्रजा से प्रेरित किया हुआ मैं **जनान् मृत्युं दृंहन्तम्**=मनुष्यों की मृत्यु को दृढ़ करते हुए, अर्थात् लोगों में रोगों की वृद्धि करते हुए इस **क्रव्यादं अग्निम्**=मांसभक्षक अग्नि को **वज्रेण हरामि**=वज्र से—कठोर दण्ड से दूर करता हूँ। जब राजसभा 'मांसभक्षण-निषेध' का नियम बनाती हैं, तब राजा का कर्त्तव्य है कि कठोर दण्ड द्वारा इस मांसभक्षण की प्रवृत्ति को समाप्त करे। यह मांसभक्षण लोगों में रोगवृद्धि का कारण बनता है। २. राजा कहता है कि **विद्वान्**=मांसभक्षण के दोषों को जानता हुआ मैं **तम्**=उस मांसभक्षक को **निशास्मि**=निश्चित रूप से दण्डित करता हूँ। **गार्हपत्येन**=गार्हपत्य के हेतु से मैं उसे दण्डित करता हूँ। इसलिए मैं उसे दण्डित करता हूँ कि वह उत्तम गृहपति बने। सन्तानों का उत्तम निर्माण करनेवाला हो और **लोके**=इस लोक में **पितॄणां अपि भागः अस्तु**=पितरों का भी उचित सेवन (भज सेवायाम्) हो। वस्तुतः मांसभोजी न तो सन्तानों का उत्तम निर्माण कर पाता है और न ही बड़ों का उचित सम्मान करनेवाला होता है। मांसभोजनवाले गृह में **'स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान्'** वाली बात नहीं होती। देव मांसभोजी नहीं, मांस असुरों का भोजन है।

भावार्थ—राजा को चाहिए कि राष्ट्र में मांसभोजन को निषिद्ध रक्खे, जिससे लोग उत्तम गृहपति बनते हुए जहाँ सन्तानों का उत्तम निर्माण करें, वहाँ वृद्ध माता-पिता का भी आदर व सेवा करनेवाले बनें।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

पितृयाण+देवयान

क्रव्यादमग्निं शशमानमुक्थ्यं प्र हिणोमि पथिभिः पितृयाणैः।
मा देवयानैः पुनरा गा अत्रैवैधि पितृषु जागृहि त्वम्॥ १०॥

१. **क्रव्यादम् अग्निम्**=मांसभक्षक अग्नि को, जोकि **शशमानम्**=(शश् to jump) मर्यादाओं का उल्लंघन करनेवाली है, **उक्थ्यम्**=चाहे वह कितनी भी प्रशंसित हो रही है तो भी, **प्रहिणोमि**=अपने से दूर भेजता हूँ। लोग मांस भोजन की कितनी भी प्रशंसा करें कि 'इससे तो शक्ति बढ़ती है, प्रभु ने इन पशुओं को मनुष्य के लिए ही तो बनाया है, हरिण आदि को न मारा जाएगा तो वे खेतियों को भी तो समाप्त कर डालेंगे' तो भी मैं मांसभोजन में प्रवृत्त नहीं होता। **पितृयाणैः पथिभिः**=पितृयाण-मार्गों पर चलने के हेतु से मैं मांसभोजन से दूर रहता हूँ। मांसभोजन मुझे स्वार्थी व क्रूर बनाकर वृद्ध पितरों की सेवा से भी दूर कर देता है। २. मांसभोजन से दूर रहनेवाले पुरुष से प्रभु कहते हैं कि तू **पुनः**=फिर, गृहस्थ को सुन्दरता से निभाने के बाद, **देवयानैः**=देवयान-मार्गों से चलता हुआ **मा आगाः**=मुझे प्राप्त हो। गृहस्थ कर्त्तव्यों की पूर्ति होने तक **अत्र एव एधि**=यहाँ ही हो, अर्थात् संन्यस्त न होकर घर में ही रह और **त्वम् पितृषु जागृहि**=पितरों में जागरित रह। उनके प्रति अपने कर्त्तव्य में प्रमाद न कर।

भावार्थ—मांसभोजन की कितनी भी प्रशंसा की जाए तो भी हम उसमें प्रवृत्त न हों। हम गृहस्थ में रहते हुए स्वकर्त्तव्य पालन करते हुए पितृयज्ञ को सम्यक्तया पालित करें। गृहस्थ समाप्ति पर देवयान-मार्ग से चलते हुए प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'संकसुक' अग्नि का दीपन

समिन्धते संकसुकं स्वस्तये शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः।
जहाति रिप्रमत्येन एति समिद्धो अग्निः सुपुना पुनाति॥ ११॥

१. सद्गृहस्थ लोग **स्वस्तये**=कल्याण की प्राप्ति के लिए **संकसुकम्**=उत्तम (सम्यक्) गति देनेवाले उस ब्रह्माण्ड के शासक (कस गतौ शासने च) प्रभु को **समिन्धते**=अपने हृदयदेश में समिद्ध करते हैं। इसप्रकार वे **शुद्धाः भवन्तः**=शुद्ध होते हुए—अपना शोधन करते हुए **शुचयः**=पवित्र मनोवृत्तिवाले बनते हैं। **पावकाः**=अपने सम्पर्क में आनेवाले को भी पवित्र करते हैं। २. यह हृदयदेश में प्रभु का दर्शन करनेवाला व्यक्ति **रिप्रम् जहाति**=दोष को त्यागता है। **एनः अति एति**=पाप को लाँघ जाता है। **समिद्धः अग्निः**=हृदयदेश में समिद्ध हुआ-हुआ यह अग्रणी प्रभु **सुपुना**=उत्तम पावन क्रिया से **पुनाति**=हमारे जीवनों को पवित्र कर देते हैं।

भावार्थ—जब हम हृदयदेश में प्रभु को समिद्ध करते हैं तब वे प्रभु हमारे जीवनों को पवित्र कर देते हैं। यह प्रभु सम्पर्कवाला व्यक्ति दोषों को त्यागता है—पापों से ऊपर उठता है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'देव, अग्नि, संकसुक' प्रभु

देवो अग्निः संकसुको दिवस्पृष्ठान्यारुहत्।
मुच्यमानो निरेणसोऽमोगस्माँ अशस्त्याः॥ १२॥

१. वे प्रभु **देवः**=सब विघ्नों को जीतनेवाले हैं, **अग्निः**=सब विघ्नों को समाप्त करके हमें आगे ले-चलनेवाले हैं, **संकसुकः**=सारे ब्रह्माण्ड को सम्यक् गति देनेवाले हैं। **दिवः पृष्ठानि आरुहत्**=ज्ञान के शिखरों पर आरोहण किये हुए हैं—सर्वज्ञान-सम्पन्न—ब्रह्मणस्पति हैं। २. ये प्रभु **एनसः**=पाप से **निःमुच्यमानः**=पूर्णरूप मुक्त होते हुए—अपापविद्ध होते हुए—**अस्मान्**=हमें भी **अशस्त्याः**=अशस्ति से—अशुभ से **अमोक्**=मुक्त करें।

भावार्थ—प्रभु 'देव हैं, अग्नि हैं, संकसुक हैं'। ज्ञानशिखर पर आरुढ़ हुए-हुए अपापविद्ध हैं। ये प्रभु हमें सब अशुभों से मुक्त करें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यज्ञियाः, शुद्धाः

अस्मिन्वयं संकसुके अग्नौ रिप्राणि मृज्महे।
अभूम यज्ञियाः शुद्धाः प्र ण आयूंषि तारिषत्॥ १३॥

१. **वयम्**=हम **अस्मिन्**=इस हृदयदेश में समिद्ध किये गये, **संकसुके अग्नौ**=ब्रह्माण्ड को सम्यक् गति देनेवाले अग्रणी प्रभु में **रिप्राणि**=दोषों को **मृज्महे**=धो डालते हैं। प्रभु स्मरण द्वारा जीवन को पवित्र बनाने के लिए यत्नशील होते हैं। २. प्रभुस्मरण द्वारा दोषों का प्रमार्जन करके हम **यज्ञियाः**=यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त, **शुद्धाः**=शुद्ध जीवनवाले **अभूम**=हुए हैं। वे प्रभु **नः**=हमारे **आयूंषि**=जीवनों को **प्रतारिषत्**=खूब दीर्घ करें।

भावार्थ—प्रभुस्मरण द्वारा दोषों का प्रमार्जन करके हम यज्ञिय व शुद्ध बनें और दीर्घजीवन को प्राप्त करें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'संकसुक, विकसुक, निर्ऋथ, निस्वर'

संकसुको विकसुको निर्ऋथो यश्च निस्वरः।
ते ते यक्ष्मं सवेदसो दूराद्दूरमनीनशन्॥ १४॥

१. **संकसुकः**=वे प्रभु सारे ब्रह्माण्ड का सम्यक् शासन करनेवाले हैं। **विकसुकः**=विविधरूपों में लोक-लोकान्तरों को गति देनेवाले हैं। **निर्ऋथः**=पीड़ा का सर्वथा नाश करनेवाले हैं **च**=और प्रभु वे हैं **यः**=जो **निस्वरः**=उपताप से रहित हैं—अपने उपासकों से उपताप को दूर करनेवाले हैं। २. प्रभु का उपर्युक्त रूपों में स्मरण करते हुए और स्वयं भी वैसा बनते हुए **ते**=वे **सवेदसः**=ज्ञानी पुरुष (ज्ञान के साथ रहनेवाले पुरुष) **ते यक्ष्मम्**=तेरे राजरोग को **दूरात् दूरम्**=दूर-से-दूर **अनीनशन्**=नष्ट करें। प्रस्तुत मन्त्र में ब्राह्मण 'संकसुक' है—अपना सम्यक् शासन करनेवाला। क्षत्रिय 'विकसुक' है—राज्य के सब कार्यों को चलानेवाला—सब विभागों को गति देनेवाला। वैश्य 'निर्ऋथ' है—अन्नादि का सम्यक् उत्पादन करता हुआ यह प्रजा को पीड़ा से बचाता है। शूद्र 'निस्वर' है—बोलता कम है। शोधन आदि द्वारा उपताप को दूर करता है। ये सब अपना-अपना कार्य करते हुए, संज्ञान द्वारा राष्ट्र को रोगों से मुक्त रखते हैं।

भावार्थ—प्रभु को 'शासक—गति देनेवाले, पीड़ा व उपताप से दूर ले-जानेवाले' रूप में देखते हुए ज्ञानी पुरुष हमारे रोगों को सुदूर विनष्ट करें। राष्ट्र का उत्तम शासन करते हुए ये लोग राष्ट्र को रोगों से बचाएँ।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'जनयोपन' अग्नि को दूर करना

यो नो अश्वेषु वीरेषु यो नो गोष्वजाविषु।
क्रव्यादं निर्णुदामसि यो अग्निर्जनयोपनः॥ १५॥

१. **यः**=जो भी **नः**=हमारे **अश्वेषु**=अश्वों के विषय में, **वीरेषु**=वीर सन्तानों के विषय में और **यः**=जो **नः**=हमारी **गोषु**=गौवों में, **अजाविषु**=बकरियों व भेड़ों में पीड़ा पहुँचानेवाला मांसभक्षी पुरुष है उस **क्रव्यादम्**=मांसाहारी को **निर्णुदामसि**=सुदूर धकेल देते हैं। २. **यः**=जो भी **अग्निः**=अग्नि की भाँति सन्ताप पहुँचानेवाला व्यक्ति **जनयोपनः**=लोगों को विमूढ़ बनानेवाला है—उसको हम दूर करते हैं।

भावार्थ—जो भी मांसाहारी सन्तापक पुरुष घोड़ों, गौवों, भेड़-बकरियों व वीरों को पीड़ित करता है, उसका दूर करना आवश्यक है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**ककुम्मतीपराबृहत्यनुष्टुप्** ॥

सर्वहित के लिए क्रव्याद् का निर्णोदन

अन्येभ्यस्त्वा पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यस्त्वा।
निः क्रव्यादं नुदामसि यो अग्निर्जीवितयोपनः॥ १६॥

१. हम **त्वा**=तुझ 'क्रव्याद् अग्नि' को—मांसभक्षक सन्तापक पुरुष को **अन्येभ्यः पुरुषेभ्यः**=अन्य पुरुषों के हित के लिए भी **निःनुदामसि**=दूर प्रेरित करते हैं। **गोभ्यः अश्वेभ्यः**=गौवों व घोड़ों के हित के लिए भी **त्वा**=तुझे दूर प्रेरित करते हैं। २. उस तुझको हम दूर प्रेरित करते हैं, **यः**=जो **जीवितयोपनः**=(योप् to destroy, blot out, obliterate) जीवन को नष्ट करनेवाला **अग्निः**=अग्निवत् सन्तापक है।

भावार्थ—सबके हित के लिए मांसभक्षक, अग्निवत् सन्तापक, जीवन के विनाशक पुरुष को दूर करना ही चाहिए।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

घृतस्ताव का द्युलोक में आरोहण

यस्मिन्देवा अमृजत यस्मिन्मनुष्या उत।
तस्मिन्घृतस्तावो मृष्ट्वा त्वमग्ने दिवं रुह॥ १७॥

१. **यस्मिन्**=जिस प्रभु में **देवाः अमृजत**=देववृत्ति के पुरुष अपना शोधन करते हैं, **उत**=और **यस्मिन्**=जिस प्रभु में **मनुष्याः**=मननशील पुरुष भी—विचारपूर्वक कर्म करनेवाले मनुष्य भी अपना शोधन करते हैं, **तस्मिन्**=उस प्रभु में ही हे **घृतस्तावः**=उस ज्ञानदीप्त (घृ दीप्तौ) निर्मल (घृ क्षरणे) प्रभु का स्तवन करनेवाले **अग्ने**=अग्रणी—अपने को आगे और आगे ले-चलनेवाले पुरुष! **त्वम्**=तू **मृष्ट्वा**=अपना शोधन करके **दिवं रुह**=प्रकाशमय मोक्षलोक में आरोहण कर।

भावार्थ—प्रभु का उपासन करनेवाले पुरुष आत्मजीवन का शोधन करते हुए मोक्षलोक में आरोहण करते हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥

मा अपक्रमीः

समिद्धो अग्न आहुत स नो माभ्यपक्रमीः। अत्रैव दीदिहि द्यवि ज्योक्च सूर्यं दृशे॥ १८॥

१. हे **आहुत**=(आ हुतं यस्य) समन्तात् विविध दानोंवाले **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **समिद्धः**=आप हमारे द्वारा हृदयदेश में समिद्ध किये गये हो। **सः**=वे आप **नः**=हमसे **मा अभि अपक्रमीः**=दूर न होओ। हम आपसे कभी पृथक् न हों। २. **अत्र एव**=यहाँ हमारे हृदयों में ही **द्यवि दीदिहि**=अपने प्रकाशमयरूप में प्रदीप्त होओ। हम हृदयों में आपके प्रकाश को सदा देखें। **च**=और **ज्योक्**=दीर्घकाल तक **सूर्यं दृशे**=सूर्य के दर्शन के लिए हों, अर्थात् दीर्घजीवी बनें।

भावार्थ—हम हृदयों में सदा प्रभु के प्रकाश को देखें, प्रभु से कभी दूर न हों और इस प्रकार दीर्घजीवन को प्राप्त करें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'सीस व नड' प्रभु का स्मरण

सीसे मृड्ढ्वं नडे मृड्ढ्वमग्नौ संकसुके च यत्।
अथो अव्यां रामायां शीर्षक्तिमुपबर्हणे॥ १९॥

१. 'किस प्रकार मनुष्य संसार में आता है, कुछ बड़ा होता है, शिक्षणालय को पूरा करके गृहस्थ में प्रवेश करता है, कुछ फूलता-फलता है, जिम्मेदारियों को समाप्त करके जाने की तैयारी करता है' यह सब-कुछ सोचने पर यह संसार एक शिरोवेदना के समान ही प्रतीत होता है—झंझट-ही-झंझट-सा लगता है। मन्त्र में कहते हैं कि **यत्**=इस **शीर्षक्तिम्**=शिरोवेदना को **सीसे मृड्ढ्वम्**=उस (षिञ् बन्धने, ई गतौ 'ईयते', स्यति 'षोऽन्तकर्मणि') संसार को बाँधनेवाले, उसे गति देनेवाले व उसका अन्त करनेवाले 'उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय' हेतु प्रभु में शोध डालो—प्रभु स्मरण द्वारा सिरदर्दी को दूर कर डालो। प्रभु-स्मरण होने पर संसार-यात्रा सुखेन पूर्ण हो जाती है। **नडे मृड्ढ्वम्**=(नड गहने) उस गहन (Incomprehensible) अचिन्त्य प्रभु से इसे शोध डालो। इससे उस 'नड' प्रभु में विलीन हुआ-हुआ मन परेशान नहीं होता। **च**=और उस **संकसुके अग्नौ**=सम्यक् शासन करनेवाले—सम्यक गति देनेवाले अग्रणी प्रभु में इस सिरदर्द को

शोध डालो। प्रभु-स्मरण उस शान्ति व शक्ति को देगा, जिससे यह यात्रा ठीक प्रकार से पूर्ण हो जाएगी। २. **अथो**=और **रामायां अव्याम्**=सर्वत्र रमण करनेवाले (अव रक्षणे) सर्वरक्षक प्रभु में इस शिरोवेदना का अन्त कर डालो। प्रभुचिन्तन संसार को सुखद बना देगा। अन्त में **उपबर्हणे**= उस उपासकों की वृद्धि के कारणभूत ब्रह्म में (बृहि वृद्धौ) इस वेदना का अन्त कर डालो।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें कि वे संसार की 'उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय' का हेतु हैं। अचिन्त्य हैं, शासक व गति देनेवाले हैं, सर्वरक्षक व सर्वत्र रमण करनेवाले हैं। वे प्रभु उपासकों की वृद्धि के कारणभूत हैं। इस प्रकार प्रभु का स्मरण होने पर यह संसार हमारे लिए सिरदर्द न बनेगा।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शुद्धाः यज्ञियाः

सीसे मलं सादयित्वा शीर्षक्तिमुपबर्हणे।
अव्यामसिक्न्यां मृष्ट्वा शुद्धा भवत यज्ञियाः ॥ २० ॥

१. **सीसे**=(षिञ् बन्धने, ई गतौ, षोऽतकर्मणि) संसार की उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय के हेतुभूत ब्रह्म में **मलम्**=मन की सब मैल को **सादयित्वा**=नष्ट करके तथा **उपबर्हणे**=उपासकों की वृद्धि के कारणभूत ब्रह्म में **शीर्षक्तिम्**=सब सिरदर्दों को समाप्त करके, **अव्याम्**=उस सर्वरक्षक **असिक्न्याम्**=अजर (जरा से पलित न होनेवाले) प्रभु में **मृष्ट्वा**=अपने को शुद्ध बनाकर **शुद्धाः**=पवित्र व **यज्ञियाः**=यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त **भवत**=हो जाओ।

भावार्थ—प्रभु का उपासन हमारे मन की मैल को नष्ट करता है। इस उपासना से संसार हमारे लिए सिरदर्द नहीं बना रहता। उस सर्वरक्षक, अजरामर प्रभु का चिन्तन हमें शुद्ध व पवित्र बना देता है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**मृत्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मृत्यु का मार्ग (देवयान से दूर)

परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्त एष इतरो देवयानात्।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमीहेमे वीरा बहवो भवन्तु॥ २१ ॥

१. शुद्ध-पवित्र बनकर हम मृत्यु से कह सकते हैं कि **मृत्यो**=हे मृत्युदेवते! तू **परं पन्थाम्**=सुदूर मार्ग को **अनु**=लक्ष्य करके **परेहि**=हमसे दूर चली जा। उस मार्ग पर जा **यः**=जो **एषः**=यह **ते**=तेरा है, **देवयानात् इतरः**=जो मार्ग देवयान से भिन्न है। देवों का मार्ग देने का है, 'देवो दानात्'। असुरों का मार्ग खाने का है 'स्वेष्वास्येषु जह्वतश्चेरुः'। २. हे मृत्यो! **चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमि**=देखती व सुनती तेरे लिए मैं यह कहता हूँ कि **इह**=यहाँ हमारे घर में **इमे वीराः**=ये वीर सन्तान **बहवः भवन्तु**=(बृहते, बृहि वृद्धौ) वृद्धिशील हों। शरीर, मन व बुद्धि के दृष्टिकोण से ये उन्नति करनेवाले हों।

भावार्थ—हम देवयान मार्ग से गति करते हुए मृत्यु से बचे रहें—हमारे सन्तान भी 'शरीर, मन व बुद्धि' के दृष्टिकोण से वृद्धि प्राप्त करें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**मृत्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

भद्रा देवहूतिः

इमे जीवा वि मृतैराववृत्रन्नभूद्भद्रा देवहूतिर्नो अद्य।
प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय सुवीरासो विदथमा वदेम॥ २२ ॥

१. **इमे**=घर में रहनेवाले ये व्यक्ति **जीवाः**=जीवित हों—मुर्दे-से न हों। ये **मृतैः वि आववृत्रन्**=मृत्युओं (रोगों) से पृथक् हों। ये रोगाक्रान्त होकर असमय में ही चले न जाएँ। **नः**=हमारे लिए **अद्य**=आज **देवहूतिः**=देवों का आह्वान, अर्थात् देववृत्ति के लोगों का अतिथिरूपेण घर पर आना-जाना **भद्रा अभूत्**=कल्याणकर हो। २. उनसे प्रेरणा लेकर **प्राञ्चः अगाम**=हम आगे और आगे बढ़नेवाले हों। **नृतये हसाय**=नाचते व हँसते हुए हम आगे बढ़ते चलें। हम **सुवीरासः**=उत्तम वीर बनते हुए **विदथम् आवदेम**=ज्ञान का ही चर्चण करें। हमारा समय ज्ञान की चर्चाओं में ही उपयुक्त हो।

भावार्थ—हम रोगों से बचकर जीवनशक्ति से परिपूर्ण हों। विद्वानों के सम्पर्क में, उत्तम प्रेरणा को प्राप्त करके आगे बढ़ते चलें। प्रसन्नता से व वीरतापूर्ण जीवन से युक्त होकर हम ज्ञान की ही चर्चा करें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**मृत्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'मर्यादित—पुरुषार्थमय' दीर्घजीवन

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम्।
शतं जीवन्तः शरदः पुरूचीस्तिरो मृत्युं दधतां पर्वतेन॥ २३॥

१. **जीवेभ्यः**=जीवों के लिए **इमं परिधिं दधामि**=इस मर्यादा की स्थापना करता हूँ। जीव प्रत्येक कार्य को मर्यादा में करनेवाले हों। अति को छोड़कर सब कार्यों में मध्यमार्ग का अवलम्बन करें। २. **नु**=निश्चय से **एषाम्**=इनके **एतं अर्थम्**=इस धन को **अपरः मा गात्**=दूसरा प्राप्त न हो। सब अपने पुरुषार्थ से धर्नाजन करनेवाले हों। दूसरे से धन लेने की कामना ही न करें। अपने पुरुषार्थ से खानेवाले ही 'उत्तम' हैं, पिता से लेकर खानेवाले 'मध्यम', मामा का खानेवाले 'अधम' व श्वसुर पर आश्रित होनेवाले 'अधमाधम' हैं। ३. सब जीव **शतं शरदः जीवन्तः**=सौ वर्ष तक जीएँ। जीएँ भी **पुरूचीः**=अत्यन्त गतिशील होते हुए। अकर्मण्य होकर खाट पर लेटे-लेटे जीना कोई जीना नहीं है। ४. **पर्वतेन**=(पर्व पूरणे) निरन्तर अपने पूरण के द्वारा—कमियों को दूर करते रहने के द्वारा **मृत्युं तिरः दधताम्**=मृत्यु को अपने से तिरोहित ही रक्खें। प्रतिदिन का यह पूरण मृत्यु को हमारे समीप न आने दे।

भावार्थ—[हम मर्यादा में चलें। पुरुषार्थ से धन कमाएँ। सौ वर्ष तक जीएँ और मृत्यु को अपने से दूर ही रक्खें। —सम्पा०]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**मृत्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अनुपूर्वं यतमानाः

आ रोहतायुर्जरसं वृणाना अनुपूर्वं यतमाना यति स्थ।
तान्वस्त्वष्टा सुजनिमा सजोषाः सर्वमायुर्नयतु जीवनाय॥ २४॥

१. **यति स्थ**=इस घर में जितने भी आप सब हों वे **अनुपूर्वं यतमानाः**=क्रमशः गृह की स्थिति को उत्तम बनाने के लिए प्रयत्न करते हुए **आयुः आरोहत**=जीवन में आगे और आगे बढ़ो। **जरसं वृणानाः**=आप जरावस्था का वरण करनेवाले बनो। यौवन में ही आपका जीवन समाप्त न हो जाए। पिता के बाद पुत्र आता है। पिता ने जैसे घर को अच्छा बनाने का यत्न किया था, उसी प्रकार पुत्र गृहस्थिति को और अधिक उन्नत करने के लिए यत्नशील होता है। इस प्रकार अनुपूर्व यत्न करते हुए सब पूर्ण जरावस्था तक जीनेवाले बनते हैं। पुत्र कभी पिता से पहले चला नहीं जाता। २. **तान् वः**=उन गृह में रहनेवाले आप सबको **त्वष्टा**=संसार का

निर्माता प्रभु **सुजनिमा**=उत्तम जन्मों को देनेवाला व **सजोषाः**=सदा हृदयों में हमारे साथ प्रीतिपूर्वक स्थित होनेवाला **जीवनाय**=उत्कृष्ट दीर्घजीवन के लिए **सर्वम् आयुः जयतु**=पूर्ण जीवन को प्राप्त कराए।

भावार्थ—हम अपने घरों में सदा उत्तम स्थिति के लिए प्रयत्न करते हुए, आगे बढ़ें। प्रभु से संगत हुए-हुए जीवन को उत्तम बनाएँ।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**मृत्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अविच्छिन्न पूर्ण जीवन

यथाहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथर्तव ऋतुभिर्यन्ति साकम्।
यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूंषि कल्पयैषाम्॥ २५॥

१. **यथा**=जिस प्रकार **अहानि**=दिन **अनुपूर्वं भवन्ति**=अनुक्रम से आते रहते हैं—एक दिन के बाद दूसरा दिन आ जाता है और उससे लगा हुआ तीसरा दिन और इस प्रकार यह दिनों का क्रम चलता है, **धातः**=हे सबका धारण करनेवाले प्रभो! **एवा**=इसी प्रकार **एषाम्**=इन तपस्वी (भृगु) पुरुषों के **आयूंषि कल्पय**=जीवनों को बनाइए। **यथा**=जैसे **ऋतवः**=ऋतुएँ **ऋतुभिः साकं यन्ति**=ऋतुओं के साथ गतिवाली होती है, जैसे इन ऋतुओं का क्रम अविच्छिन्नरूप से चलता जाता है, इसीप्रकार इन भृगुओं के जीवन में भी 'ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ व संन्यास' का क्रम अविच्छिन्न रूप से पूर्ण हो। ३. **यथा**=जैसे **पूर्वम्**=पूर्वकाल में उत्पन्न हुए-हुए पिता को **अपरः न जहाति**=अर्वाक् काल में होनेवाला सन्तान नहीं छोड़ता है, अर्थात् पिता से पूर्व ही जीवन को समाप्त करके चला नहीं जाता, इस प्रकार हे प्रभो! इन स्वभक्तों के जीवनों को भी बनाइए। कोई भी व्यक्ति शत वर्ष से पूर्व ही जानेवाला न हो जाए।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हमारी जीवन-यात्रा मध्य में ही विच्छिन्न न हो जाए। पुत्र पिता से पूर्व कभी न चला जाए।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**मृत्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अश्मन्वती नदी

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वं वीरयध्वं प्र तरता सखायः।
अत्रा जहीत ये असन्दुरेवा अनमीवानुत्तरेमाभि वाजान्॥ २६॥

१. यह संसार नदी **अश्मन्वती**=पत्थरोंवाली है—इसमें तैरना सुगम नहीं। विविध प्रलोभन ही इसमें पत्थरों के समान हैं। **रीयते**=यह निरन्तर चल रही है—संसार में रुकने का काम नहीं। **संरभध्वम्**=एक-दूसरे के साथ मिलकर तैयार हो जाओ। **वीरयध्वम्**=वीरतापूर्वक आचरण करो। **सखायः प्रतरत**=मित्र बनकर एक-दूसरे का हाथ पकड़कर, इस नदी को तैर जाओ। २. **ये दुरेवाः असन्**=जो भी दुराचरण हों, उन्हें **अत्रा जहीत**=यहाँ ही छोड़ जाओ। उनके बोझ को लादकर तैरना सुगम न होगा। इन अशुभों को छोड़कर **अनमीवान्**=रोगरहित **वाजान् अभि**=शक्तियों को लक्ष्य बनाकर **उत्तरेम**=इस नदी को तैर जाएँ।

भावार्थ—प्रलोभन-पाषाणों से परिपूर्ण इस भव-नदी को तैरना आसान नहीं। यहाँ साथी बनकर वीरता से हम इस नदी को पार करने का संकल्प करें। अशुभों को यहीं छोड़कर नीरोगता देनेवाली शक्तियों को लेकर हम परले पार उतरें।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—मृत्युः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

अशिव-त्याग व शिव-प्राप्ति

उत्तिष्ठता प्र तरता सखायोऽश्मन्वती नदी स्यन्दत इयम्।
अत्रा जहीत ये असन्नशिवाः शिवान्त्स्योनानुत्तरेमाभि वाजान्॥ २७॥

१. हे **सखायः**=मित्रो! **उत्तिष्ठत**=उठो—आलस्य को छोड़ो। **प्रतरत**=इस नदी को तैरने के लिए यत्नशील होओ। **इयम्**=यह **अश्मन्वती**=पथरीली—प्रलोभन-पाषाणों से परिपूर्ण **नदी**=संसाररूप नदी **स्यन्दते**=बह रही है। २. **ये अशिवाः असन्**=जो भी अकल्याणकर पदार्थ हों, **अत्रा जहीत**=उन्हें यहाँ ही छोड़ जाओ। **स्योनान्**=सुखकर **शिवान्**=कल्याण के साधक **वाजान् अभि**=बलों का लक्ष्य करके **उत्तरेम**=हम नदी को पार कर जाएँ। अशुभ कर्मों का बोझ हमें इस नदी में डुबोएगा ही—परस्पर लड़ते हुए भी हम इस नदी में डूबेंगे ही, अतः सखा बनकर तथा अशिवों को छोड़कर हम इस नदी को तैरने का प्रयत्न करें।

भावार्थ—इस संसार-नदी को तैरने के लिए आवश्यक है कि (क) आलस्य को छोड़ा जाए (ख) मित्रभाव से सबके साथ वर्ता जाए (ग) अशुभों को छोड़ने का प्रयत्न किया जाए।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—मृत्युः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

वैश्वदेवी 'वेदवाणी'

वैश्वदेवीं वर्चस आ रभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः।
अतिक्रामन्तो दुरिता पदानि शतं हिमाः सर्ववीरा मदेम॥ २८॥

१. हे मनुष्यो! **वैश्वदेवीम्**=सब दिव्यगुणों की जननी इस वेदवाणी को **वर्चसे**=तेजस्विता की प्राप्ति के लिए **आरभध्वम्**=प्रारम्भ करो। इस वेदवाणी का अध्ययन तुम्हें सब बुराइयों से बचाकर अच्छाइयों की ओर ले-चलेगा। उस समय तुम **शुद्धाः भवन्तः**=मलों से रहित होते हुए, **शुचयः**=अर्थ के दृष्टिकोण से पवित्र बनोगे और **पावकाः**=अपने मनों को पूर्ण पवित्र बना पाओगे। २. तुम्हारी यही कामना हो कि **दुरिता पदानि**=सब दुराचरण के मार्गों को **अतिक्रामन्तः**=उल्लंघन करते हुए, **सर्ववीराः**=सब वीर सन्तानोंवाले होते हुए हम **शतं हिमाः मदेम**=सौ वर्ष तक आनन्द का अनुभव करें।

भावार्थ—वेदवाणी का अध्ययन हमें तेजस्वी बनाएगा, शुद्ध, शुचि व पवित्र करेगा। उस समय हम दुरितों से दूर रहकर, वीर बनते हुए शतवर्षपर्यन्त उल्लासमय जीवनवाले होंगे।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—मृत्युः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

वायुमद्भिः उदीचीनैः

उदीचीनैः पथिभिर्वायुमद्भिरतिक्रामन्तोऽवरान्परेभिः।
त्रिः सप्त कृत्व ऋषयः परेता मृत्युं प्रत्यौहन्पदयोपनेन॥ २९॥

१. **उदीचीनैः**=उत्कर्ष की ओर ले-जानेवाले (उद् अञ्च), **वायुमद्भिः**=प्राणसाधना से युक्त, जिनमें प्राणायाम आदि का अभ्यास किया जाता है, हम उन **परेभिः पथिभिः**=उत्कृष्ट मार्गों से **अवरान्**=निम्न भोगमार्गों—राजस् व तामस् मार्गों को **अतिक्रामन्तः**=लाँघकर आगे बढ़ते हुए हों। प्राणसाधना के द्वारा हम तमोगुण व रजोगुण से ऊपर उठकर स्वस्थ बनें। २. इसप्रकार **ऋषयः**=वासनाओं का संहार करनेवाले (ऋष् to kill) **त्रिः सप्तकृत्वः**=तीन बार 'मन, वाणी व कर्म' के दृष्टिकोण से तथा सात बार 'दो कानों, दो नासिका छिद्रों, दो आँखों व मुख' के दृष्टिकोण से **परेताः**=(परा इताः) उत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त हुए। 'मन, वाणी व कर्म' के दृष्टिकोण

से तथा कान आदि सातों होताओं के दृष्टिकोण से पवित्र बनें। इन्होंने **पदोपनेन मृत्युं प्रत्यौहन्**=मृत्यु के चरणों को विमोहन (to destroy, obliterate, blot out) द्वारा—रोगों के कारणों को दूर करने के द्वारा मृत्यु को अपने से परे विनष्ट किया (उहिर् वधे)।

भावार्थ—हम प्राणसाधना करते हुए उत्कृष्ट मार्ग पर चलें। मन, वाणी व कर्म के दृष्टिकोण से तथा सातों 'कर्णौ, नासिके, चक्षुषी, मुखम्' के दृष्टिकोण से पवित्र बनते हुए उत्कृष्ट स्थिति को प्राप्त हों। मृत्यु के कारणों को दूर करते हुए दीर्घजीवी बनें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**मृत्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सधस्थे आसीनाः

मृत्योः पदं योपयन्त एत द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः।
आसीना मृत्युं नुदता सधस्थेऽथ जीवासो विदथमा वदेम॥ ३०॥

१. **मृत्योः पदम्**=मृत्यु के पद को—रोगों के कारणों को **योपयन्तः**=मिटाते हुए **एत**=(आ-इत) समन्तात् कर्त्तव्य-कर्मों में गतिशील होओ। इसप्रकार **द्राघीयः**=दीर्घ व **प्रतरम्**=उत्कृष्ट **आयुः दधानाः**=जीवन को धारण करते हुए होओ। २. **सधस्थे**=प्रभु के साथ मिलकर बैठने के स्थान हृदय में **आसीनाः**=बैठे हुए, अर्थात् हृदय में प्रभु का ध्यान करते हुए **मृत्युं नुदत**=मृत्यु को परे धकेल दो। **अथ**=अब **जीवासः**=जीवनीशक्ति से परिपूर्ण हुए-हुए हम **विदथम् आवदेम**=समन्तात् ज्ञान का प्रवचन करें।

भावार्थ—मृत्यु के कारणों को दूर करते हुए हम दीर्घ, उत्कृष्ट जीवन को धारण करें। हृदय में प्रभु का ध्यान करते हुए मृत्यु को दूर करें। जीवनशक्ति से परिपूर्ण होते हुए हम ज्ञान का प्रवचन करें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**मृत्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पत्नी

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं स्पृशन्ताम्।
अनश्रवो अनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे॥ ३१॥

१. **इमाः नारीः**=ये स्त्रियाँ **अविधवाः**=विधवा न हों—पतियों से वियुक्त न हों। **सुपत्नी**=उत्तम पतियोंवाली होती हुई **आञ्जनेन**=(अञ्जन Fire) अग्निहोत्र के साधनभूत **सर्पिषा संस्पृशन्ताम्**=घृत से युक्त हों। सदा घृत से अग्निहोत्र करनेवाली हों। २. **अनश्रवः**=ये आसुओं से रहित हों। **अनमीवाः**=रोगरहित हों। **सुरत्नाः**=उत्तम रमणीय धनोंवाली हों। ये **जनयः**=उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाली देवियाँ **योनिम् अग्रे आरोहन्तु**=घर में आगे आरोहण करें—अर्थात् घरों में आदरणीय स्थानों में आरूढ़ हों।

भावार्थ—पत्नी की स्थिति जितनी उत्कृष्ट होगी, उतना ही घर उत्तम बनेगा। ये कष्ट में न हों, नीरोग हों, रमणीय धनोंवाली हों। अग्निहोत्र करनेवाली हों।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**मृत्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ

व्याकरोमि हविषाहमेतौ तौ ब्रह्मणा व्य१हं कल्पयामि।
स्वधां पितृभ्यो अजरां कृणोमि दीर्घेणायुषा समिमान्त्सृजामि॥ ३२॥

१. प्रभु कहते हैं कि **अहम्**=मैं **एतौ**=इन दोनों पति-पत्नी को **हविषा**=हवि के द्वारा—दानपूर्वक अदन के द्वारा—यज्ञशेष के सेवन के द्वारा **व्याकरोमि**=(वि आ कृ) विशिष्टरूप से

समन्तात् निर्मित करता हूँ, अर्थात् अग्निहोत्र की प्रवृत्ति के द्वारा—सदा यज्ञशेष (अमृत) के सेवन से इनके सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग सुपुष्ट होते हैं। **तौ**=उन दोनों पति-पत्नी को **अहम्**=मैं **ब्रह्मणा**=ज्ञान के द्वारा **विकल्पयामि**=विशिष्ट सामर्थ्यवाला बनता हूँ। (क्लृप् सामर्थ्ये)। ज्ञान की प्रवृत्ति इन्हें, विलासवृत्ति से ऊपर उठाकर शक्तिसम्पन्न करती है। २. इनके घर में **पितृभ्यः**=वृद्ध माता-पिता के लिए **स्वधाम्**=स्वधा को—पितरों के लिए दीयमान अन्न को (पितृभ्यः स्वधा) **अजरां कृणोमि**=न जीर्ण होनेवाला करता हूँ। इनके यहाँ वृद्ध माता-पिता को सदा उत्तम भोजन प्राप्त रहता है। इसप्रकार ये पति-पत्नी देवयज्ञ (हविषा), ब्रह्मयज्ञ (ब्रह्मणा) तथा पितृयज्ञ (पितृभ्यः स्वधा) को नियम से करते हैं। इसप्रकार **इमान्**=इस घर में रहनेवाले इन सब लोगों को **दीर्घेण आयुषा**=दीर्घजीवन से **संसृजामि**=संसृष्ट करता हूँ—ये सब इन यज्ञों के कारण दीर्घजीवी बनते हैं।

भावार्थ—हवि के द्वारा हम अङ्ग-प्रत्यङ्ग को पुष्ट करनेवाले बनें। ज्ञान के द्वारा हम विशिष्ट सामर्थ्यवाले हों। पितृयज्ञ को कभी विस्मृत न करें। यही दीर्घजीवन की प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**मृत्युः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु की प्रीति

यो नो॑ अ॒ग्निः पि॑तरो हृ॒त्स्व॑१॒न्तरा॑वि॒वेशा॒मृतो॒ मर्त्ये॑षु।
मय्य॒हं तं परि॑ गृह्णामि दे॒वं मा सो अ॒स्मान्द्वि॑क्षत॒ मा व॒यं तम्॥ ३३॥

१. हे **पितरः**=ज्ञान के द्वारा हमारा रक्षण करनेवाले पितरो! **यः**=जो **नः मर्त्येषु**=हम मरणधर्मा पुरुषों के **हृत्सु अन्तः**=हृदयों के अन्दर **अमृतः अग्निः**=अविनाशी अग्रणी प्रभु **आविवेश**=प्रविष्ट हुए-हुए हैं, **अहम्**=मैं **तं देवम्**=उस प्रकाशमय प्रभु को **मयि परिगृह्णामि**=अपने अन्दर ग्रहण करता हूँ। उस प्रभु को अपने हृदय में देखने के लिए यत्नशील होता हूँ। २. **सः**=वह प्रभु **अस्मान् मा द्विक्षत**=हमारे प्रति अप्रीतिवाला न हो—**वयम्**=हम **तम्**=उस प्रभु को **मा**=अप्रीति करनेवाले न हों। हमें प्रभु की उपासना प्रिय हो और इस प्रकार हम प्रभु के प्रिय बनें।

भावार्थ—पितरों की कृपा से हम हृदयों में प्रभु को देखनेवाले बनें। सदा प्रभु के उपासक हों और प्रभु के प्रिय बनें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सरलता व उदारता

अ॒पा॒वृत्य॒ गार्ह॑पत्यात्क्र॒व्यादा॒ प्रेत॒ दक्षि॑णा।
प्रि॒यं पि॒तृभ्य॑ आ॒त्मने॑ ब्र॒ह्मभ्यः॑ कृणुता प्रि॒यम्॥ ३४॥

१. **क्रव्यादा अपावृत्य**=(क्रव्य अद्) मांसभक्षण की प्रवृत्ति से हटकर—कभी मांस-सेवन न करते हुए—**गार्हपत्यात्**=गार्हपत्य के हेतु से, अर्थात् घर को उत्तम बनाने के हेतु से, **दक्षिणा प्रेत**=(दक्षिणे सरलोदारौ) सरल व उदार मार्ग से चलो। सरलता व उदारता ही घर को उत्तम बनाएगी, कुटिलता व कृपणता घरों के पतन का हेतु बनती हैं। २. यहाँ तक घर में रहते हुए तुम **पितृभ्यः प्रियं कृणुत**=पितरों के लिए प्रिय कर्म ही करो। **आत्मने**=जो तुम्हें प्रिय लगता हो—वैसा ही दूसरों के साथ करो। **ब्रह्मभ्यः प्रियं (कृणुत)**=ब्रह्मज्ञानियों के लिए जो प्रिय हो वैसा ही करो। पितरों के लिए प्रिय करना ही 'पितृयज्ञ' है। ब्रह्मज्ञानियों का प्रिय करना 'ब्रह्मयज्ञ' व 'अतिथियज्ञ' है। पितृयज्ञ व ब्रह्मयज्ञ करनेवाला यह व्यक्ति औरों के साथ वैसा ही वर्तता है, जैसाकि वह औरों से बर्ताव की अपेक्षा करता है।

भावार्थ—मांसभक्षण हमें सरलता व उदारता से दूर ले-जाता है और परिणामतः घर को

छिन्न-भिन्न कर देता है। हम पितरों के लिए, ब्रह्मज्ञानियों के लिए प्रिय कार्यों को करते हुए औरों के साथ वैसा ही बरतें जैसाकि हम उनसे अपने प्रति बतार्व चाहते हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मांसभक्षण का परिणाम

द्विभागधनमादाय प्र क्षिणात्यवर्त्या।
अग्निः पुत्रस्य ज्येष्ठस्य यः क्रव्यादनिराहितः॥ ३५॥

१. **यः**=जो **क्रव्यात् अग्निः**=मांसभक्षक अग्नि **अनिराहितः**=बाहर स्थापित नहीं किया जाता, अर्थात् यदि हममें मांसभक्षण की प्रवृत्ति आ जाती है, तो यह भक्षण प्रवृत्ति **ज्येष्ठस्य पुत्रस्य**=ज्येष्ठ पुत्र के **द्विभागधनम् आदाय**=दुगने भाग में प्राप्त हुए-हुए धन को भी **अवर्त्या प्रक्षिणाति**=दरिद्रता से विनाश कर देती है। (अवर्ति Bad fortune, poverty)। २. मांसभक्षण की प्रवृत्ति भाइयों के पारस्परिक प्रेम को भी कम कर देती है। उनके दायविभाग में भी कलह उत्पन्न हो जाते हैं। बड़ा भाई दुगुना हड़पने की वृत्तिवाला बनता है, परन्तु यह दुगुना धन भी उसका मांसभक्षण आदि दुर्व्यसनों में समाप्त हो जाता है। इस घर में दरिद्रता व दौर्भाग्य का राज्य हो जाता है।

भावार्थ—मांसभक्षण से परस्पर प्रेम नहीं रहता। भाई आपस में दायविभाग पर ही लड़ पड़ते हैं। यदि अन्याय से बड़ा लड़का दुगना धन ले भी लेता है, तो भी वह शीघ्र ही धन को व्यसनों में समाप्त करके दरिद्र हो जाता है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

कृषते, वनुते, वस्नेन विन्दते

यत्कृषते यद्वनुते यच्च वस्नेन विन्दते। सर्वं मर्त्यस्य तन्नास्ति क्रव्याच्चेदनिराहितः॥ ३६॥

१. **यत्**=यदि **क्रव्यात् अनिराहितः**=मांसभक्षक अग्नि घर से दूर नहीं स्थापित किया जाता, अर्थात् यदि मांसभक्षण प्रवृत्ति से दूर नहीं रहा जाता तो **मर्त्यस्य तत् सर्वं नास्ति**=मनुष्य का वह सब नष्ट हो जाता है **यत्**=जो वह **कृषते**=कृषि द्वारा प्राप्त करता है, **यद् वनुते**=वह पिता की सम्पत्ति में संविभाग द्वारा प्राप्त करता है, **च**=और **यत्**=जो **वस्नेन विन्दते**=(वस्न=मूल्य) क्रय-विक्रय व्यवहार से प्राप्त करता है।

भावार्थ—मांसभक्षण की प्रवृत्ति मनुष्य को क्रूर व विलासी बनाकर विनाश की ओर ले-जाती है। यह उसके सब धन के विनाश का कारण बनती है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पुरस्ताद्बृहती** ॥

अयज्ञियः, हतवर्चाः

अयज्ञियो हतवर्चा भवति नैनेन हविरत्तवे।
छिनत्ति कृष्या गोर्धनाद्यं क्रव्यादनुवर्तते॥ ३७॥

१. **क्रव्यात् यं अनुवर्तते**=मांसभक्षक अग्नि जिसका अनुवर्तन करती है, अर्थात् जो मांसभक्षण की प्रवृत्तिवाला बनता है, वह **अयज्ञियः भवति**=यज्ञों की प्रवृत्तिवाला नहीं रहता—श्रेष्ठ कर्मों से दूर होकर क्रूर कर्मों को करने में प्रवृत्त हो जाता है। विलास में पड़ा हुआ यह मनुष्य **हतवर्चाः**=नष्ट तेजवाला होता है। **एनेन हविः अत्तवे न**=इससे दानपूर्वक अदन (हवि) नहीं किया जाता—यह सारे-का-सारा खाने की करता है—अपने ही मुँह में आहुति देनेवाला असुर बन जाता है। २. यह क्रव्याद् अग्नि इस मांसाहारी को **कृष्याः धनात् छिनत्ति**=कृषि से उत्पन्न धन से पृथक् कर देती है। **गोः (धनात्)**=गौवों के पालन से प्राप्त धन से पृथक् कर

देती है। यह कृषि व गो-पालन आदि से दूर होकर सट्टे आदि में प्रवृत्त हो जाता है। अपने विलासमय जीवन के लिए एक रात में ही धनी बनने के स्वप्न देखा करता है।

भावार्थ—मांसाहारी 'अयज्ञिय व हतवर्चा' हो जाता है। यह असुर बन जाता है। इसे कृषि व गोपालन के स्थान में सट्टे का व्यापार प्रिय हो जाता है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विषयों का आकर्षण

मुहुर्गृध्यैः प्र वदत्यार्तिं मर्त्यो नीत्य। क्रव्याद्यानग्निरन्तिकादनुविद्वान्वितावति ॥ ३८ ॥

१. **यान्**=जिन पुरुषों को **क्रव्यात् अग्निः**=यह मांसभक्षक अग्नि **अन्तिकात्**=समीप से **अनुविद्वान्**=अनुक्रम से वेदना को प्राप्त कराता हुआ (विद्—वेदना का अनुभव) **वितावति**=(तु हिंसायाम्) विशेषरूप से हिंसित करता है, वह **मर्त्यः**=मनुष्य **आर्तिं नि इत्य**=पीड़ा को निश्चय से प्राप्त करके भी **मुहुः**=फिर **गृध्यैः प्रवदति**=भोगलिप्सुओं के साथ बात करता है। अपने भोगप्रवण साथियों के वातावरण से दूर नहीं हो पाता। मांसभोजन आरम्भ में बेशक स्वादिष्ट व उत्तेजक हो, परन्तु कुछ देर बाद यह पीड़ाओं व रोगों का कारण बनने लगता है। धीमे-धीमे यह वेदना को प्राप्त कराता हुआ हिंसा का कारण बनता है, परन्तु विषयों का स्वभाव ही ऐसा है कि मनुष्य पीड़ित होकर भी फिर अपने भोगप्रवण साथियों के संग में इन भोगों में आसक्त हो जाता है।

भावार्थ—मांसभोजन विविध पीड़ाओं का कारण बनता है, परन्तु मांसभोजनादि में आसक्त पुरुष पीड़ित होकर भी इन विषयों को छोड़ नहीं पाता।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मांसभोजन से रोग व मृत्यु

ग्राह्या गृहाः सं सृज्यन्ते स्त्रिया यन्म्रियते पतिः।
ब्रह्मैव विद्वानेष्यो३ यः क्रव्यादं निरादधत्॥ ३९ ॥

१. **ब्रह्म विद्वान् एव**=चतुर्वेदवेत्ता ज्ञानी पुरुष ही **एष्यः**=ढूँढना चाहिए **यः**=जोकि उचित ज्ञान देकर **क्रव्यादम्**=इस मांसभक्षक अग्नि को **निरादधत्**=हमारे घरों से दूर ही स्थापित करे। यह ज्ञानी पुरुष मनुष्यों को समझाए कि इस मांसभोजन के परिणामस्वरूप **गृहाः**=घर **ग्राह्या**=जकड़ लेनेवाले, गठिया आदि रोगों से **संसृज्यन्ते**=संसृष्ट—युक्त हो जाते हैं। मांसभोजन इसलिए हेय है **यत्**=चूँकि **स्त्रियाः पतिः म्रियते**=स्त्री का पति असमय में ही काल के वश में हो जाता है।

भावार्थ—ज्ञानीपुरुष गृहस्थों को उपदेश दे कि मांसभोजन से गठिया आदि रोगों की उत्पत्ति हो जाती है और मनुष्य की असमय में ही मृत्यु हो जाती है, अतः यह त्याज्य है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पुरस्ताद्ककुम्मत्यनुष्टुप्** ॥

'रिप्र, शमल, दुष्कृत' निराकरण

यद्रिप्रं शमलं चकृम यच्च दुष्कृतम्।
आपो मा तस्माच्छुम्भन्त्वग्नेः संकसुकाच्च यत्॥ ४० ॥

१. **यत् रिप्रम्**=जिस दोष को, **शमलम्**=पाप (sin) को, **च**=और **यत् दुष्कृतम्**=जिस दुष्कर्म—अशुभ व्यवहार को **चकृम**=हम कर बैठें, **आपः**=(आपो नाराः इति प्रोक्ताः, आप्नुवन्ति सद्गुणान् याः ताः) उत्तम गुणोंवाले पुरुष **मा**=मुझे **तस्मात्**=उस पाप से **शुम्भन्तु**=शुद्ध करनेवाले हों। वे आप्त पुरुष उत्तम ज्ञान देकर मेरे दुर्गुणों को दूर करनेवाले हों। २. **च**=तथा **यत्**=जो भी

संकसुकात् अग्नेः=संकसुक अग्नि, अर्थात् सम्यक् शासन करनेवाले व सारे ब्राह्माण्ड को गति देनेवाले प्रभु से दूर होकर हम भी पाप कर बैठते हैं, उस सबसे ये आप्त पुरुष मुझे दूर करनेवाले हों।

भावार्थ—हम कर्मों में जो भी त्रुटि कर बैठते हैं या अशुभ व्यवहार कर बैठते हैं, उस सबसे सद्गुणी पुरुष हमें दूर करनेवाले हों। उस शासक, गति-प्रदाता प्रभु को भूलकर हम जो पाप कर बैठते हैं, उससे भी ये आप्त पुरुष हमें पृथक् करें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रजानतीः (आपः)

ता अधरादुदीचीरावंवृत्रन्प्रजानतीः पथिभिर्देवयानैः ।
पर्वतस्य वृषभस्याधि पृष्ठे नवाश्चरन्ति सरितः पुराणीः ॥ ४१ ॥

१. **ताः**=वे **प्रजानतीः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाली आप्त प्रजाएँ **अधरात्**=निम्न मार्गों को छोड़कर **उदीचीः**=उत्कृष्ट मार्गों से गति करनेवाली होती हुई **देवयानैः पथिभिः**=देवयान मार्गों से **आववृत्रन्**=कर्मों में आवर्तनवाली होती हैं। ज्ञानी पुरुष सदा निम्न मार्गों को छोड़कर उत्कृष्ट मार्गों से चलते हैं। ये आसुरभावों को त्यागकर दैवी प्रवृत्तियों को अपनाते हैं। २. **पर्वतस्य**=पूरण करनेवाले **वृषभस्य**=सुखों के वर्षक प्रभु के **अधिपृष्ठे**=आश्रय में—प्रभु की गोद में **पुराणीः सरितः**=क्षीण (Decayed) हुई-हुई नदियाँ फिर से **नवाः चरन्ति**=नवीन होकर गतिवाली होती हैं। जैसे वृष्टिवाले पर्वत पर क्षीण हुई-हुई नदियाँ फिर से जलपूर्ण होकर प्रवाहवाली होती हैं, उसी प्रकार हमारा पूर्ण करनेवाले, सुखों के वर्षक प्रभु के आश्रय में हमारा निम्न स्तर का जीवन पुनः उच्च स्तर का बन जाता है। हम नीचे से ऊपर आ जाते हैं। आसुरमार्ग को छोड़कर दिव्यमार्ग का आश्रय करते हैं।

भावार्थ—प्रभु की गोद में हम निम्न मार्ग को छोड़कर उत्कृष्ट मार्ग पर गति करनेवाले बनें। प्रभुस्मरण हमें देवयान में प्रेरित करे। क्षीण हुए-हुए हम फिर से पूर्ण हो जाएँ।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाभुरिगार्चीगायत्री** ॥

देवयजन की प्राप्ति

अग्ने अक्रव्यान्निः क्रव्यादं नुदा देवयजनं वह ॥ ४२ ॥

१. हे **अक्रव्यात् अग्ने**=अमांसभक्षक—सात्त्विक अन्न का सेवन करनेवाले अग्रणी पुरुष! तू ज्ञानोपदेश के द्वारा **क्रव्यादं नुद**=मांसभक्षक अग्नि को हमसे दूर कर—हमें मांसभोजन की प्रवृत्ति से बचा और इसप्रकार **देवयजनं आवह**=देवयजन को सब प्रकार से प्राप्त करा। हम आपके द्वारा ज्ञान को प्राप्त करके देवों के समान यज्ञशील बन जाएँ। २. मांसभक्षण हमें स्वार्थी बनाकर देवयजन से दूर करता है। इस मांसभक्षण-प्रवृत्ति से ऊपर उठकर हम पुनः देवों की तरह यज्ञमय जीवनवाले बनें—हम औरों के लिए जीना सीखें।

भावार्थ—क्रव्याद् अग्नि को दूर करके हम देवयजन को प्राप्त करें, मांसभोजन से ऊपर उठकर हम यज्ञशील बनें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मांसभक्षण से व्याघ्रयोनि

इमं क्रव्यादा विवेशायं क्रव्यादमन्वगात् ।
व्याघ्रौ कृत्वा नानानं तं हरामि शिवापरम् ॥ ४३ ॥

१. प्रभु कहते हैं कि **इमम्**=इस पुरुष में **क्रव्यात् आविवेश**=मांसभक्षक अग्नि ने प्रवेश किया है, अर्थात् यह मांस-भक्षण के स्वभाववाला बना है। **अयम्**=यह एक अन्य पुरुष **क्रव्यादम् अनु अगात्**=मांसभक्षक पुरुष के पीछे चलनेवाला हुआ है—मांसाहारी के संग में रहनेवाला हुआ है। २. इन दोनों को—मांसभक्षक को तथा मांसभक्षक का संग करनेवाले को **व्याघ्रौ कृत्वा**=व्याघ्रा बनाकर **तं शिवापरम्**=(शिव-अपर) उस शिव से भिन्न—मांसभक्षणरूप अशिव दोष को **नानानं हरामि**=पृथक् प्राप्त कराके दूर करता हूँ (नाना+णीञ् प्रापणे) प्रभु मांसाहारी को व्याघ्र बनाकर मांसभक्षण से रजा देते हैं—वह इससे ऊब-सा उठता और उसका यह दोष दूर हो जाता है।

भावार्थ—'मांसभक्षक व मांसभक्षक का संगी' ये दोनों व्याघ्र योनि में जाते हैं। इसप्रकार प्रभु इन्हें मांसभक्षण प्रवृत्ति से बचने का निर्देश करते हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**द्विपदाऽर्चीबृहती** ॥

अन्तर्धि—परिधि

अ॒न्त॒र्धिर्दे॒वानां॑ परि॒धिर्म॑नु॒ष्या॑णाम॒ग्निर्गार्ह॑पत्य उ॒भया॑नन्त॒रा श्रि॒तः ॥ ४४ ॥

१. 'गार्हपत्य अग्नि' शब्द 'पिता' के लिए भी प्रयुक्त होता है '**पिता वै गार्हपत्योऽग्निः**' मनु०। यह पिता जब प्रभु का उपासन करता है तब इस गृहपति से युक्त 'प्रभु' भी 'गार्हपत्य अग्नि' है। यह प्रभुरूप गार्हपत्य अग्नि **देवानां अन्तर्धिः**=देवों को अन्दर धारण करनेवाला है। प्रभुस्मरण से दिव्यगुणों का धारण होता है। यह गार्हपत्य अग्नि **मनुष्याणां परिधिः**=मनुष्यों का चारों ओर से धारण व रक्षण करनेवाला है। प्रभु उपासकों का रक्षण करते ही हैं। २. **गार्हपत्यः अग्निः**=यह उपासना करनेवाले गृहपतियों से संयुक्त अग्रणी प्रभु **उभयान् अन्तरा श्रितः**=दोनों के बीच में श्रित हैं—स्थित हैं। ये प्रभु एक ओर हमें 'देव' बनाते हैं, दूसरी ओर 'मनुष्य'। प्रभु का उपासक देव तो बनता ही है—महादेव के सम्पर्क में देव नहीं बनेगा तो क्या बनेगा? यह उपासक इस प्राकृतिक संसार में भी सब कार्यों को मननपूर्वक करता है। मननपूर्वक कार्यों को करता हुआ ऐश्वर्यवान् तो बनता है, परन्तु उस ऐश्वर्य में फँसता नहीं।

भावार्थ—प्रभु 'गार्हपत्य अग्नि' हैं—प्रत्येक गृहपति से उपासना के योग्य हैं। यह उपासना उसे 'देव' व 'मनुष्य' बनाएगी।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

अच्छे और अधिक अच्छे

जी॒वाना॒मायुः॒ प्र ति॑र॒ त्वम॑ग्ने पि॒तॄणां॑ लो॒कमपि॑ गच्छन्तु॒ ये मृ॒ताः।
सु॒गा॒र्ह॒प॒त्यो वि॒तप॒न्नरा॑तिमु॒षामु॑षां॒ श्रेय॑सीं धेह्य॒स्मै ॥ ४५ ॥

१. हे **अग्ने**=गृहपति से युक्त (उपासित) अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **जीवानाम् आयुः प्रतिर**=जीवों के आयुष्य को बढ़ाइए। आपकी कृपा से **ये**=जो जीव उत्तम जीवन बिताकर **मृताः**=अब इस शरीर को छोड़ चुके हैं, वे **पितृणां लोकम् अपि गच्छन्तु**=पितृलोक को प्राप्त हों—इस मर्त्यलोक में जन्म न लेकर पितृलोक—चन्द्रलोक में वे जन्म लेने के योग्य बनें। २. वह **सुगार्हपत्यः**=गृहपतियों से उपास्य श्रेष्ठ प्रभु **अरातिं वितपन्**=अदानवृत्ति को हममें बुझाता हुआ (वि-तप्) अथवा हमारे काम-क्रोध आदि शत्रुओं को संतप्त करनेवाला है। प्रभु निरन्तर हमारे शत्रुओं का विनाश कर रहे हैं। हे प्रभो! आप **अस्मै**=हमारे लिए **उषां उषाम्**=प्रत्येक उषा को **श्रेयसीम्**=प्रशस्यतर कीजिए—हम आज से अच्छे बनें, आज से आनेवाले दिन में और अच्छे बनें।

भावार्थ—प्रभु हमें दीर्घजीवन प्राप्त कराएँ। हम मरकर उत्कृष्ट लोकों में ही जन्म लेनेवाले बनें। प्रभु हमारे शत्रुओं को संतप्त करके हमारे लिए प्रत्येक उषाकाल को पूर्वापेक्षया अधिक प्रशस्त बनाएँ।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**द्विपदासाम्नीत्रिष्टुप्** ॥

ऊर्ज्+रयि

सर्वानग्ने सहमानः सपत्नानैषामूर्जं रयिमस्मासु धेहि ॥ ४६ ॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **एषाम्**=इन अपने भक्तों के **सर्वान् सपत्नान्**=सब शत्रुओं को **सहमानः**=पराभूत करते हुए आप **अस्मासु**=हम उपासकों के जीवनों में **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को तथा **रयिम्**=ऐश्वर्य को **धेहि**=धारण कीजिए। 'काम-वासना' को समाप्त करके आप हमें बल प्राप्त कराइए। 'क्रोध' के विनाश के द्वारा हमारी प्राणशक्ति को सुरक्षित कीजिए तथा 'लोभ' को दूर करके हमें उत्तम ऐश्वर्य प्राप्त कराइए।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हम 'काम' पर विजय प्राप्त करके बल-सम्पन्न बनें, क्रोध को जीतकर प्राणशक्ति का रक्षण करें तथा लोभ को परास्त करके उत्तम ऐश्वर्यवाले हों।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—अग्निः, मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—पञ्चपदाबार्हतवैराजगर्भाजगती ॥

'पप्रि—वह्नि' प्रभु

इममिन्द्रं वह्निं पप्रिमन्वारभध्वं स वो निर्वक्षद्दुरितादवद्यात्।
तेनाप हत शरुमापतन्तं तेन रुद्रस्य परि पातास्ताम् ॥ ४७ ॥

१. **इमम्**=इस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली, **वह्निम्**=लक्ष्य-स्थान पर पहुँचानेवाले (वह् प्रापणे) **पप्रिम्**=सबका पालन व पूरण करनेवाले प्रभु के **अनु**=साथ **आरभध्वम्**=प्रत्येक कार्य का प्रारम्भ करो—प्रभुस्मरणपूर्वक प्रत्येक कार्य को करो। **सः**=वे प्रभु **वः**=तुम्हें **दुरितात्**=दुराचरण से व **अवद्यात्**=सब निन्द्य कर्मों से **निर्वक्षत्**=दूर करेंगे। **तेन**=उस प्रभु के साथ, अर्थात् प्रभु की उपासना करते हुए तुमपर **आपतन्तं शरुम्**=गिरता हुआ अस्त्र **अपहत**=दूर नष्ट होता है। **तेन**=उस प्रभु के साथ होते हुए, तुम **रुद्रस्य अस्ताम्**=(अस्तां=An arrow) रुद्र से फेंके गये बाण से **परिपात**=चारों ओर से बचाओ। ऐसा प्रयत्न करो कि यह रुद्र का बाण तुमपर न पड़े। प्रभु की उपासना हमें अन्तःशत्रुओं के आक्रमण व आधिदैविक आपत्तियों से बचाएगी।

भावार्थ—प्रभु हमें लक्ष्य-स्थान पर पहुँचानेवाले हैं, वे हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं। प्रभु हमें पापों से बचाते हैं। प्रभु की उपासना हमें आक्रमणकारी शत्रुओं से बचाती है तथा हम प्रभु के क्रोध-पात्र नहीं बनते।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

'अनड्वान्+प्लव' प्रभु

अनड्वाहं प्लवमन्वारभध्वं स वो निर्वक्षद्दुरितादवद्यात्।
आ रोहत सवितुर्नावमेतां षड्भिरुर्वीभिरमतिं तरेम ॥ ४८ ॥

१. **अनड्वाहम्**=संसार-शकट का वहन करनेवाले तथा **प्लवम्**=भव-सागर से पार करनेवाले बेड़ेरूप प्रभु को **अनु आरभध्वम्**=स्मरण करके सब कार्यों का प्रारम्भ करो। **सः**=वे प्रभु **वः**=तुम्हें **दुरितात्**=सब दुराचरणों से तथा **अवद्यात्**=निन्द्य कर्मों से **निर्वक्षत्**=पार करते हैं। प्रभुस्मरणपूर्वक कार्यों के करने पर दुराचरण व पाप से हम सदा दूर रहते हैं। २. हे मनुष्यो! तुम **सवितुः**=उस उत्पादक व प्रेरक प्रभु की **एतां नावम् आरोहत**=इस नाव पर आरोहण करो।

प्रभुरूपी नाव तुम्हें कभी इस भव-सागर में डूबने नहीं देगी। **षड्भिः उर्विभिः**=(उर्णुञ् आच्छादने) छह रक्षणों के द्वारा (उर्व्या=Protection)—'काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद व मत्सर' रूप छह शत्रुओं से रक्षण के द्वारा **अमतिं तरेम**=हम अमति को—बुद्धि के अभाव व अप्रशस्त विचारों को तैर जाएँ। प्रभुरूप नाव में बैठे हुए हम इन काम-क्रोध आदि की प्रबल तरंगों से आहत न हों और सदा शुभ विचारवाले बने रहें।

भावार्थ—प्रभुरूप नाव में बैठकर हम भव-सागर को तैर जाएँ। इस नाव में बैठे हुए हम काम-क्रोध आदि की तरंगों से आक्रान्त न होंगे, हम शुद्ध विचारोंवाले बने रहेंगे।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

पुरुषगन्धिः

अहोरात्रे अन्वेषि बिभ्रत्क्षेम्यस्तिष्ठन्प्रतरणः सुवीरः।
अनातुरान्त्सुमनसस्तल्प बिभ्रज्ज्योगेव नः पुरुषगन्धिरेधि॥ ४९॥

१. हे **तल्प**=सर्वाधार प्रभो! सबके विश्रामस्थानभूत प्रभो! आप **अहोरात्रे**=दिन-रात **बिभ्रत्**=सबको धारण करते हुए **अनु एषि**=अनुकूल गतिवाले होते हो। **क्षेम्यः**=सबके क्षेम करने में उत्तम, **तिष्ठन्**=सदा खड़े हुए—सदा सावधान **प्रतरणः**=भव-सागर से तरानेवाले, **सुवीरः**=हमारे शत्रुओं को सम्यक् कम्पित करके दूर करनेवाले हैं। २. हे प्रभो! आप **नः**=हम **अनातुरान्**=नीरोग तथा **सुमनसः**=उत्तम मनवालों को **बिभ्रत्**=धारण करते हुए **ज्योग् एव**=दीर्घकाल तक ही **पुरुषगन्धिः एधि**='पुनाति—रुणद्धि—स्यति' अपने को पवित्र करनेवाले, अपने में शक्ति का संयम (निरोध) करनेवाले तथा शत्रुओं का अन्त करनेवाले पुरुषों के साथ सम्बन्धवाले (गन्ध=सम्बन्ध) होओ। हम पुरुष बनकर आपके सम्बन्धी बन पाएँ।

भावार्थ—वे प्रभु सर्वाधार हैं, दिन-रात हमारा धारण कर रहे हैं। हमें आधि-व्याधि-शून्य बनाते हैं। वे प्रभु हमारे वस्तुतः सम्बन्धी होते हैं यदि हम 'अपने को पवित्र बनाएँ, अपने में शक्ति का संयम करें तथा काम-क्रोध आदि का अन्त कर दें।'

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्विराड्बृहती** ॥

मांसाहार व पापमय जीवन

ते देवेभ्य आ वृश्चन्ते पापं जीवन्ति सर्वदा।
क्रव्याद्यानग्निरन्तिकादश्वइवानुवपते नडम्॥ ५०॥

१. **यान्**=जिन पुरुषों को **क्रव्याद् अग्निः**=मांसभक्षक अग्नि—मांसभक्षण की प्रवृत्ति **अन्तिकात्**=समीप से **अनुवपते**=उस प्रकार छिन्न करनेवाली होती है, जैसेकि **अश्वः नडम्**=एक घोड़ा तृणविशेष को काट डालता है। **ते**=वे मांसाहारी पुरुष **देवेभ्यः आवृश्चन्ते**=देवों से कट जाते हैं—देवों से उनका सम्बन्ध नहीं रहता—उन्हें दिव्य प्रवृत्तियाँ छोड़ जाती हैं तथा वे **सर्वदा पापं जीवन्ति**=सदा पापमय जीवनवाले हो जाते हैं।

भावार्थ—मांसाहार से दिव्य प्रवृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं और जीवन पापमय हो जाता है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पर-कुम्भी का अपहरण

ये ऽश्रद्धा धनकाम्या क्रव्यादा समासते।
ते वा अन्येषां कुम्भीं पर्यादधति सर्वदा॥ ५१॥

१. **ये**=जो **अश्रद्धाः**=प्रभु तथा धर्मकृत्यों में श्रद्धावाले न होते हुए **धनकाम्या**=धन की

कामना से **क्रव्यादा**=मांसाहारी पुरुषों के साथ **समासते**=उठते-बैठते हैं, **ते**=वे **वै**=निश्चय से **सर्वदा**=सदा **अन्येषाम्**=दूसरों की **कुम्भीम् पर्यादधति**=कुम्भी पर ही मन को लगाये रखते हैं। यहाँ 'कुम्भी' शब्द 'छोटे से कोश' के लिए प्रयुक्त हुआ है। ये लोग दूसरों के कोश का अपहरण करना चाहते हैं। इनकी प्रवृत्ति छलछिद्र से पराय धन को लूटने की बन जाती है।

भावार्थ—श्रद्धाशून्य व धन की लालसावाला पुरुष मांसाहारियों के संग से दूसरों के धनों को छीनने की मनोवृत्तिवाला बन जाता है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पुरस्ताद्विराड्बृहती** ॥

व्यसन की दुरन्तता

प्रेवं पिपतिषति मनसा मुहुरा वर्तते पुनः।
क्रव्याद्यानग्निरन्तिकादनुविद्वान्वितावति॥ ५२॥

१. **यान्**=जिन मनुष्यों को **क्रव्यात् अग्निः**=मांसभक्षण करनेवाला अग्नि **अन्तिकात्**=बहुत समीपता के कारण, अर्थात् मांसभक्षण की प्रवृत्ति के बहुत बढ़ जाने के कारण **अनुविद्वान्**=(विद्=वेदना की अनुभूति) अनुक्रम से वेदना को प्राप्त कराता हुआ **वितावति**=हिंसित करता है, वह मनुष्य **मनसा**=मन से—हृदय से **प्रपिपतिषति इव**=इस मांसभक्षण से दूर जाने की कामनावाला-सा होता है। उसे कष्ट के कारण विचार होता है कि 'मांस खाना छोड़ दूँ'। वह छोड़ता भी है, परन्तु **पुनः**=फिर **मुहुः**=बारम्बार **आवर्तते**=मांसभक्षण की ओर लौट आता है।

भावार्थ—मांसभक्षण का व्यसन विविध वेदनाओं का कारण बनता है। वेदनाओं से पीड़ित होकर वह मन में व्यसन से ऊपर उठने का निश्चय करता है, परन्तु बारम्बार इस व्यसन में प्रवृत्त हो जाता है। इसकी हेयता को समझता हुआ भी वह इसे छोड़ नहीं पाता।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अविः कृष्णा—माषाः पिष्टाः (ते भागधेयम्)

अविः कृष्णा भागधेयं पशूनां सीसं क्रव्यादपि चन्द्रं त आहुः।
माषाः पिष्टा भागधेयं ते हव्यमरण्यान्या गह्वरं सचस्व॥ ५३॥

१. **अविः**=(अव रक्षणम्) मातृरूपेण सबका रक्षण करनेवाली, **कृष्णा**=सबको अपनी ओर आकृष्ट करनेवाली प्रकृति **पशूनां भागधेयम्**=सब प्राणियों का भाग है। सामान्यतः मनुष्य को प्रकृति से प्रदत्त इन वानस्पतिक पदार्थों का सेवन करना ही ठीक है। हे **क्रव्यात्**=मांसभक्षण करनेवाले पुरुष! **ते चन्द्रं अपि**=तेरी इस चाँदी को भी—धन को भी—**सीसं आहुः**=तेरे लिए सीसे की गोली कहते हैं। तेरा यह धन तेरे ही विनाश का कारण बन जाता है। २. **पिष्टाः माषाः**=पिसे हुए ये उड़द ही **ते भागधेयम्**=तेरा भाग हैं। इन्हीं का तूने सेवन करना है, मांस का नहीं। अपनी वृत्ति को उत्तम बनाये रखने के लिए तू **हव्यम्**=हव्य को—अग्निहोत्र को—तथा **आरण्यान्याः गह्वरम्**=अरण्य की गुफा को—ध्यान के लिए एकान्त प्रदेश को (सावित्रीमप्यधीयीत गत्वारण्यं समाहितः) **सचस्व**=सेवन करनेवाला बन। यह 'सन्ध्या-हवन' तेरी वृत्ति को उत्तम बनाएगा और तू मांसभक्षणादि दुर्व्यसनों से बचा रहेगा।

भावार्थ—हमें प्रकृतिमाता से दिये गये वानस्पतिक पदार्थों का ही सेवन करना है। माषों का ही सेवन करना है, मांस का नहीं। अपनी प्रवृत्ति को ठीक रखने के लिए ही हम 'ध्यान व यज्ञ' का सेवन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'तिल्पिञ्जं—दण्डनम्' नडम्

इषीकां जरतीमिष्ट्वा तिल्पिञ्जं दण्डनं नडम्।
तमिन्द्र इध्मं कृत्वा यमस्याग्निं निरादधौ॥ ५४॥

१. **जरतीम्**=(जरिता गरिता स्तोता) उस प्रभु का स्तवन करती हुई (सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्०) **इषीकाम्**=(to urge, impel) कर्त्तव्य-कर्मों की प्रेरणा देती हुई वेदवाणी को **इष्ट्वा**=अपने साथ संगत करके (यज् संगतिकरणे), तथा **तिल्पिञ्जम्**=(तिल् स्निग्धीभावे, पिजि निकेतने) स्नेह के निकेतन—प्रेमपुञ्ज—प्राणिमात्र के प्रति दयालु, **दण्डनम्**=मार्गभ्रष्ट होने पर दण्ड देनेवाले—न्यायकारी **नडम्**=(नड् गहने) गहन व अचिन्त्यस्वरूप प्रभु को **इष्ट्वा**=पूजकर 'यज देवपूजायाम्' **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय उपासक **तम्**=उस प्रभु को ही **इध्मं कृत्वा**=दीप्त बनाकर—प्रभु की उपासना से प्रभु के प्रकाश को देखकर, **यमस्य अग्निं निरादधौ**=यम की अग्नि को अपने से दूर स्थापित करता है, अर्थात् इसे उस नियन्ता प्रभु के दण्ड से दण्डित नहीं होना पड़ता। इसके लिए प्रभु का रूप 'शिव' ही होता है—'रुद्र' रूप नहीं।

भावार्थ—हम वेदवाणी का अध्ययन करें तथा उस 'न्यायकारी, दयालु' प्रभु का स्मरण करें। ऐसा करने पर हमें प्रभु का प्रकाश प्राप्त होगा और हमें मार्गभ्रंश के कारण होनेवाले कष्ट न उठाने पड़ेंगे।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भात्रिष्टुप्** ॥

अर्पण

प्रत्यञ्चमर्कं प्रत्यर्पयित्वा प्रविद्वान्पन्थां वि ह्या ∫ विवेश।
परामीषामसून्दिदेश दीर्घेणायुषा समिमान्त्सृजामि॥ ५५॥

१. **प्रत्यञ्चम्**=प्रत्यग्—अन्दर हृदय में विद्यमान **अर्कम् प्रति**=पूजनीय व सूर्यसम दीप्त प्रभु के प्रति **अर्पयित्वा**=अपना अर्पण करके **प्रविद्वान्**=यह प्रकृष्ट ज्ञानी पुरुष **हि**=निश्चय से **पन्थां वि आविवेश**=मार्ग पर विशेषरूप से प्रविष्ट होता है—यह कभी मार्गभ्रष्ट नहीं होता। २. इसप्रकार प्रभु के प्रति अर्पण करके, ज्ञानप्रकाश को प्राप्त करनेवाला और सदा सुमार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति **अमीषाम्**=उन शत्रुभूत काम-क्रोध आदि के **असून् परादिदेश**=प्राणों को परादिष्ट करता है—नष्ट करता है। प्रभु कहते हैं कि **इमान्**=इन अपने इन्द्रिय, मन, बुद्धि-साधनों को शत्रुओं का शिकार न होने देनेवाले उपासकों को **दीर्घेण आयुषा संसृजामि**=दीर्घजीवन से युक्त करता हूँ।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें, ज्ञानी बनकर सुमार्ग पर चलें। शत्रुभूत काम-क्रोध को विनष्ट करें तब प्रभु हमें दीर्घजीवन से संयुक्त करेंगे।

अपने जीवन को प्रभु उपासन द्वारा नियन्त्रित करनेवाला 'यम' अगले सूक्त का ऋषि है। यह अपने गृहस्थ-जीवन को स्वर्ग बनाने का प्रयत्न करता है। स्वर्ग बनाने के लिए यह भी आवश्यक है कि भोजन सात्त्विक हो—वहाँ मांस आदि का प्रवेश न हो। सायण लिखते हैं कि '**स्वर्गौदनात् क्रव्यादं रक्षश्च पिशाचं च परिहरति**' स्वर्ग को प्राप्त करानेवाले ओदन से 'क्रव्याद् अग्नि' को दूर रखता है—मांसभक्षण का प्रवेश नहीं होने देता। इस सूक्त का देवता (विषय) 'स्वर्गौदन अग्नि' ही है।

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

पुमान्

पुमान्पुंसोऽधि तिष्ठ चर्मेहि तत्र ह्वयस्व यतमा प्रिया ते।
यावन्तावग्रे प्रथमं समेयथुस्तद्वां वयो यमराज्ये समानम्॥ १ ॥

१. घर को स्वर्ग बनाने के लिए सर्वप्रथम आवश्यक बात यह है कि मनुष्य शक्तिशाली हो। निर्बलता कभी स्वर्ग को जन्म नहीं दे सकती, अतः कहते हैं कि **पुमान्**=तू शक्तिशाली बन—पुरुष बन। **पुंसः अधितिष्ठ**=शक्तिशालियों का अधिष्ठाता बन। शक्तिशालियों में तेरा स्थान उच्च हो। **चर्म इहि**=(फलकोऽस्त्री फलं चर्म) तू ढाल को प्राप्त हो। शरीर में 'वीर्य' ही वह ढाल है, जोकि सब रोगरूप शत्रुओं के आक्रमण से हमें बचाती है। **तत्र**=वहाँ गृहस्थाश्रम में **ह्वयस्व**=तू उस जीवन के साथी को पुकार **यतमा प्रिया ते**=जोकि तुझे प्रिय हो। वस्तुतः घर का स्वर्ग बनना इस बात पर निर्भर करता है कि 'जीवन का साथी अनुकूल मिलता है या नहीं'। साथी की अनुकूलता में घर अवश्य स्वर्ग बनता है। २. **अग्रे**=पहले ब्रह्मचर्याश्रम में आप **यावन्तौ**=जितने **प्रथमं समेयथुः**=प्रथम स्थान में गतिवाले होते हो, अर्थात् उन्नति करते हो, **तत्**=वह **वाम्**=आप दोनों का **वयः**=जीवन **यमराज्ये**=संयत जीवनवाले पुरुष के राज्यभूत इस गृहस्थ में **समानम्**=समान बना रहे, अर्थात् जैसे ब्रह्मचर्याश्रम में आपका जीवन संयम से उन्नत हुआ, उसी प्रकार इस गृहस्थ को भी आप दोनों ने **यमराज्ये**=संयमीपुरुष का राज्य बनाना। इस यमराज्य में आप दोनों का जीवन उसी प्रकार उन्नत बना रहे, जैसेकि ब्रह्मचर्याश्रम में उन्नत था।

भावार्थ—घर को स्वर्ग बनाने के लिए आवश्यक है कि (क) पुरुष शक्तिशाली हो—वीर्यरूप ढालवाला हो। (ख) उसे जीवन का साथी अनुकूल मिले (ग) गृहस्थ को भी ये 'यमराज्य' बनाये रक्खें, अर्थात् गृहस्थ में भी संयम व व्यवस्था से चलें।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उतना 'ज्ञान, वीर्य, तेज व वाजिन (शक्ति)'

तावद्वां चक्षुस्तति वीर्या∫णि तावत्तेजस्ततिधा वाजिनानि।
अग्निः शरीरं सचेत यदैधोऽधा पक्वान्मिथुना सं भवाथः॥ २ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जितना-जितना (यावन्तौ) पति-पत्नी ब्रह्मचर्याश्रम की भाँति गृहस्थ में भी संयम से चलते हैं (यमराज्ये) **तावत्**=उतना ही **वाम्**=आप दोनों का **चक्षुः**=ज्ञान होता है, **तति वीर्याणि**=उतनी ही वीर्यशक्ति होती है। **तावत् तेजः**=उतनी ही आप तेजस्विता प्राप्त करते हो, **ततिधा**=उतने ही प्रकार के **वाजिनानि**=आपके बल होते हैं। २. ('अग्निर्वै कामः'—कौ० १९.२) परन्तु **यदा**=जब **अग्निः**=कामाग्नि **शरीरं सचते**=शरीर में समवेत होती है, तब **एधः**=यह शरीर उसके लिए काष्ठ-सा हो जाता है। कामाग्नि शरीररूप काष्ठ को दग्ध कर देती है, अतः संयमपूर्वक जीवन बिताते हुए इस नियम का ध्यान रक्खो कि **अधा**=अब **पक्वात्**=परिपक्व वीर्य से **मिथुना**=तुम दोनों स्त्री पुमान् **संभवाथः**=मिलकर सन्तान को जन्म देनेवाले होओ। सन्तानोत्पत्ति के लिए ही परस्पर मेल इष्ट है, विलास के लिए नहीं। कामाग्नि तो हमें दग्ध ही कर डालेगी। कामाग्नि से बचना नितान्त आवश्यक है।

भावार्थ—(घ) जितना हमारे जीवन में संयम होता है उतना ही हमें 'ज्ञान, वीर्य, तेज व वाजिन (शक्ति)' प्राप्त होता है। (ङ) कामाग्नि हमें दग्ध कर देती है, अतः कामाग्नि का शिकार न होते हुए हम परिपक्व वीर्य से सन्तान को जन्म देनेवाले हों। सन्तानोत्पत्ति के लिए ही पति-

पत्नी का परस्पर सम्पर्क हो।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

मिलकर

समस्मिँल्लोके समु देवयाने सं स्मा समेतं यमराज्येषु।
पूतौ पवित्रैरुप तद्ध्वयेथां यद्यद्रेतो अधि वां संबभूव॥ ३॥

१. हे पति-पत्नी! तुम दोनों **अस्मिन् लोके**=इस लोक में **सम् एतम्**=मिलकर चलो। तुम्हारी सब लौकिक क्रियाएँ परस्पर मिलकर हों—उनमें तुम्हारा विरोध न हो। **उ**=और **देवयाने**=देवयान मार्ग पर—मोक्ष की ओर ले-जानेवाले मार्ग पर **सम्**=मिलकर ही चलो। **संस्म**=मिलकर होते हुए तुम दोनों **यमराज्येषु**=संयमी पुरुष के शासनवाले इस गृहस्थरूप राज्य में **समेतम्**=मिलकर चलो। पति-पत्नी की सब लौकिक क्रियाएँ धर्म-सम्बन्धी कार्य तथा गृहस्थरूप के कार्य मिलकर अविरोध से हों। २. **यत् यत्**=जब-जब **वां रेतः**=तुम दोनों का वीर्य **अधिसंबभूव**=गर्भ में एकत्र होकर पुत्ररूप से स्थिर हो जाए, तब **पवित्रैः पूतौ**=पवित्र कार्यों से पवित्र हुए-हुए तुम दोनों **तत् उपह्वयेथाम्**=उस गर्भस्थ सन्तान को पुकारो—उस गर्भस्थ सन्तान पर शुभ संस्कारों को डालने का प्रयत्न करो।

भावार्थ—(च) गृहस्थाश्रम में पति-पत्नी मिलकर सब कार्यों को करें। (छ) जब सन्तान गर्भस्थ हों तब स्वयं पवित्र हुए-हुए अपने शुभ कार्यों से उन सन्तानों पर भी शुभ-संस्कार डालने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

कर्त्तव्य परायणता

आपस्पुत्रासो अभि सं विशध्वमिमं जीवं जीवधन्याः समेत्य।
तासां भजध्वममृतं यमाहुर्यमोदनं पचति वां जनित्री॥ ४॥

१. **आपस्पुत्रासः**=(आप् व्याप्तौ) हे सर्वव्यापक प्रभु के पुत्रो! **जीवधन्याः**=सन्तान के द्वारा धन्य जीवनवाले तुम **इमं जीवं समेत्य**=इस सन्तान को प्राप्त करके **अभिसंविशध्वम्**=अपने कर्त्तव्य-कर्मों में सम्यक् प्रविष्ट (संलग्न) हो जाओ। कर्त्तव्य-कर्मों में लगे रहने से ही वह उत्तम वातावरण बनता है, जिसमें सन्तानों का जीवन उत्तम होता है। २. **तासाम्**=उन सन्तानों के **यं अमृतं आहुः**=जिसको न मरने देनेवाला कहते हैं, उस ओदन का **भजध्वम्**=सेवन करो। वस्तुतः उत्तम भोजन से उत्तम वीर्य का निर्माण होकर सन्तान भी उत्तम होते हैं। भोजन का दोष सन्तानों को भी प्रभावित करता ही है। उस भोजन को खाओ **यं ओदनम्**=जिस भोजन को **वां जनित्री**=तुम्हें जन्म देनेवाली यह प्रकृतिमाता **पचति**=परिपक्व करती है, अर्थात् तुम वानस्पतिक पदार्थों का ही सेवन करो। ये पदार्थ तुम्हें अमृतत्व—नीरोगता प्राप्त कराएँगे।

भावार्थ—(क) उत्तम सन्तानों को प्राप्त करके हम कर्त्तव्य-कर्मों में लगे रहने के द्वारा उस उत्तम वातावरण को पैदा करें, जिसमें सन्तानों का निर्माण ठीक ही हो। (ख) साथ ही प्रकृति से प्रदत्त अन्न व फलों का सेवन करते हुए अमृतत्व (नीरोगता) को प्राप्त करें।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

वानस्पतिक भोजन

यं वां पिता पचति यं च माता रिप्रान्निर्मुक्त्यै शमलाच्च वाचः।
स ओदनः शतधारः स्वर्ग उभे व्याप नभसी महित्वा॥ ५॥

१. ('द्यौष्पिता पृथिवी माता') द्युलोक से वृष्टि होकर पृथिवी में अन्न उत्पन्न होता है। इस अन्नोत्पत्ति में द्युलोक 'पिता' है तो पृथिवी 'माता' है। इस अन्न से ही हमारा जीवन धारित होता है। एवं द्युलोक हमारा पिता है तो पृथिवी माता है। **यम्**=जिस अन्न को **वाम्**=दोनों **पिता**=वह द्युलोकरूप पिता **पचति**=पकाता है, **च**=और **यं माता**=जिस ओदन को यह भूमिमाता उत्पन्न करती है, वह ओदन **रिप्रान् निर्मुक्त्यै**=सब रोगरूप दोषों से छुटकारे के लिए है, **च**=और यह अन्न **वाचः शमलात्**=(शम् अल=वारण) वाणी के अशान्त शब्दों के निवारण के लिए है। इन सात्त्विक अन्नों का सेवन करने पर—मांसाहार से दूर रहने पर हम नीरोग भी होंगे और क्रोध में अशान्त शब्दों का प्रयोग भी न करेंगे। २. **सः ओदनः**=वह द्युलोक व पृथिवी से (पिता व माता से) दिया हुआ भोजन **शतधारः**=हमें सौ वर्ष तक धारण करनेवाला है, **स्वर्गः**=हमें सुखमय—प्रकाशमयलोक में प्राप्त करानेवाला है। यह ओदन **महित्वा**=अपनी महिमा से **उभे नभसी व्याप**=दोनों लोकों को—पृथिवी व द्युलोक को व्याप्त करनेवाला है। पृथिवी 'शरीर' है, द्युलोक 'मस्तिष्क' है। यह सात्त्विक वानस्पतिक अन्न 'शरीर व मस्तिष्क' दोनों को ही ठीक बनाता है। इससे शरीर नीरोग रहता है तथा मस्तिष्क दीप्त बनता है। मांसभोजन रोगों व क्रूर छल-कपटमयी प्रवृत्तियों को पैदा करता है।

भावार्थ—हम वानस्पतिक भोजनों का ही सेवन करें। यह भोजन हमारे जीवनों को निर्दोष बनाएगा, दीर्घजीवन का साधन बनेगा, जीवन को सुखी व प्रकाशमय करेगा तथा शरीर को शक्तिसम्पन्न करता हुआ मस्तिष्क को दीप्ति-सम्पन्न करेगा।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

स्वर्ग (ज्योतिष्मान्+मधुमान्)

उभे नभसी उभयांश्च लोकान्ये यज्वनामभिजिताः स्वर्गाः।
तेषां ज्योतिष्मान्मधुमान्यो अग्रे तस्मिन्पुत्रैर्जरसि सं श्रयेथाम्॥ ६॥

१. हे पति-पत्नी! गतमन्त्र के अनुसार वानस्पतिक भोजनों का ही प्रयोग करते हुए तुम **उभे नभसी**=दोनों लोकों को—द्यावापृथिवी को—मस्तिष्क व शरीर को **संश्रयेथाम्**=सम्यक् प्राप्त करनेवाले बनो। भोजन से तुम्हारा शरीर शक्ति को तथा मस्तिष्क दीप्ति को प्राप्त करेगा **च**=और इस भोजन से तुम **उभयान् लोकान्**=दोनों लोकों को—अपने बड़े वृद्ध माता-पिता को तथा छोटे सन्तानों को सेवित करनेवाले बनो। बड़ों का आदर करो तथा छोटों का निर्माण करने के लिए यत्नशील होओ। मांसाहार हमें स्वार्थी-सा बनाकर इन वृत्तियों से दूर करता है। २. **ये**=जो **यज्वनाम् अभिजिताः**=यज्ञशील पुरुषों से जीते गये **स्वर्गाः**=प्रकाशमय व सुखमय लोक हैं, **तेषाम्**=उनमें भी **यः**=जो **अग्रे**=सर्वप्रथम **ज्योतिष्मान् मधुमान्**=ज्योति व माधुर्यवाला लोक है, **तस्मिन्**=उस लोक में **पुत्रैः**=अपने सन्तानों के साथ **जरसि**=(संश्रयेथाम्) पूर्ण वृद्धावस्था में प्रभुस्मरणपूर्वक आश्रय करनेवाले होओ। तुम्हारा घर स्वर्ग हो—प्रकाश व माधुर्य से पूर्ण हो—यहाँ दीर्घजीवनवाले तुम अपने सन्तानों के साथ आनन्दपूर्वक रहो।

भावार्थ—सात्त्विक अन्नों के सेवन के परिणामस्वरूप हमारे मस्तिष्क व शरीर दीप्त व शक्त हों। हमारे घरों में बड़ों का आदर व छोटों का प्रेमपूर्वक निर्माण हो। हमारा घर यज्ञशील पुरुषों का वह श्रेष्ठ स्वर्ग बने, जिसमें ज्योति व माधुर्य का व्यापन हो। इस स्वर्ग में हम दीर्घकाल तक पुत्रों के साथ, प्रभुस्मरणपूर्वक (जरसि=स्तुतौ) निवास करें।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

श्रद्धापूर्वक आगे और आगे

प्राचींप्राचीं प्रदिशमा रभेथामेतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते।
यद्वां पक्वं परिविष्टमग्नौ तस्य गुप्तये दम्पती सं श्रयेथाम्॥ ७॥

१. हे **दम्पती**=पति-पत्नी! आप दोनों **प्राचीं प्राचीं प्रदिशम्**=आगे और आगे बढ़ने की प्रकृष्ट दिशा को **आरभेथाम्**=पहुँचनेवाले बनो (reach)। आपका कदम आगे की दिशा में ही बढ़े। निरन्तर उन्नतिपथ पर आप चलनेवाले बनो। **एतं लोकम्**=इस लोक को—इस उन्नति की दिशा को **श्रद्दधानाः सचन्ते**=श्रद्धामय पुरुष ही प्राप्त करते हैं। इस दिशा में प्रगति आसन नहीं होती—श्रद्धा से चलते चलना ही इस दिशा का मूलमन्त्र है। २. **यत्**=जो **वाम्**=आप दोनों का **पक्वम्**=घर में भोजन परिपक्व हुआ है, और **अग्नौ परिविष्टम्**=अग्नि में जिसका परिवेषण हुआ है, अर्थात् अग्नि में जिसकी आहुति दी गई है, **तस्य गुप्तये**=उसके रक्षण के लिए तुम **संश्रयेथाम्**=मिलकर प्रभु का सेवन करो। घर में मिलकर प्रभु की उपासना से उत्तम प्रवृत्तियाँ बनी रहती हैं। ऐसे घरों में यज्ञादि उत्तम कर्मों का लोप नहीं होता।

भावार्थ—हम श्रद्धापूर्वक आगे बढ़ने की दिशा में चलें। यज्ञशेष को खानेवाले बनें। उत्तमकर्मों की प्रवृत्ति के अविच्छेद के लिए मिलकर प्रभु का उपासन करें।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

दाक्षिण्य व प्रभुस्मरण

दक्षिणां दिशमभि नक्षमाणौ पर्यावर्तेथामभि पात्रमेतत्।
तस्मिन्वां यमः पितृभिः संविदानः पक्वाय शर्म बहुलं नि यच्छात्॥ ८॥

१. अब **दक्षिणां दिशम् अभि**=दाक्षिण्य (नैपुण्य) की दिशा की ओर **नक्षमाणौ**=गति करते हुए तुम दोनों (पति-पत्नी) **एतत् पात्रम् अभि पर्यावर्तेथाम्**=इस रक्षक प्रभु की ओर फिर-फिर लौटते हुए **वाम्**=तुम दोनों को **यमः**=वह सर्वनियन्ता प्रभु **पितृभिः संविदानः**=पितरों के द्वारा संज्ञान को प्राप्त कराता हुआ **पक्वाय**=ज्ञान में परिपक्व हुए-हुए के लिए **बहुलं शर्म नियच्छात्**=बहुत ही सुख प्राप्त कराए। प्रभु उपासक को ज्ञान प्राप्त कराने का प्रबन्ध करते हैं। जो भी ज्ञान प्राप्त करता है, उसे वे सुखी करते हैं।

भावार्थ—हम दाक्षिण्य को प्राप्त करने पर प्रभु को न भूलें। अन्यथा इस दाक्षिण्य से प्राप्त ऐश्वर्य हमारे पतन का कारण बन जाएगा। प्रभु का स्मरण होने पर प्रभु हमें पितरों द्वारा ज्ञान प्राप्त कराते हैं और ज्ञान परिपक्व व्यक्ति के लिए वे सुख देनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रत्याहार की श्रेष्ठ दिशा

प्रतीची दिशामियमिद्वरं यस्यां सोमो अधिपा मृडिता च।
तस्यां श्रयेथां सुकृतः सचेथामधा पक्वान्मिथुना सं भवाथः॥ ९॥

१. **इयं प्रतीची**=(प्रति अञ्च्) यह प्रत्याहार—इन्द्रियों को विषयों से वापस लाने की दिशा ही **दिशाम् इत् वरम्**=दिशाओं में निश्चय से श्रेष्ठ है। जीवन में सर्वाधिक महत्त्व इस बात का है कि हम इन्द्रियों को विषयों में न फँसने दें। यह प्रत्याहार की दिशा वह है **यस्याम्**=जिसमें **सोमः**=वे शान्त प्रभु **अधिपाः**=रक्षक हैं **च मृडिता**=और सुखी करनेवाले हैं। प्रभु का रक्षण व अनुग्रह (आनन्द) उसी को प्राप्त होता है जो प्रत्याहार का पाठ पढ़ता है। २. अतः हे दम्पती!

तस्यां श्रयेथाम्=उस प्रत्याहार की दिशा में ही आश्रय करो, **सुकृतः सचेथाम्**=पुण्यकर्मा लोगों से ही मेल करो—उन्हीं के संग में उठो-बैठो। **अधा**=अब **पक्वात्**=वीर्य का ठीक परिपाक होने से ही **मिथुनं संभवाथः**=मिलकर सन्तान को जन्म देनेवाले बनो। तुम विलास का शिकार न होकर इसे एक पवित्र कार्य जानो। इस पवित्रता के लिए प्रत्याहार की कितनी आवश्यकता है?

भावार्थ—ऐश्वर्य को प्राप्त करके भी इन्द्रियों को विषयासक्त न होने देना—उन्हें विषय व्यावृत्त करना ही पवित्रतम कार्य है। ऐसा होने पर ही प्रभु का रक्षण व अनुग्रह प्राप्त होता है। पति-पत्नी जितेन्द्रिय बनकर सन्तानोत्पत्ति के लिए ही परस्पर मेलवाले हों।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उत्तरं राष्ट्रं प्रजया उत्तरावत्

उत्त॑रं राष्ट्रं प्रजयो॑त्तराव॑द्दिशामुदी॑ची कृणवन्नो अग्र्य॑म्।
पाङ्क्तः छन्दः पुरु॑षो बभूव विश्वै॑र्विश्वाङ्गैः सह सं भ॑वेम॥ १०॥

१. **उत्तरं राष्ट्रम्**=एक उत्कृष्ट राष्ट्र **प्रजया उत्तरावत्**=उत्तम प्रजा से अधिक उत्कर्षवाला बनता है। वस्तुतः राष्ट्र-व्यवस्था ठीक होने पर ही राष्ट्र में उत्तम सन्तान होते हैं और वे उत्तम सन्तान राष्ट्र के और अधिक उत्कर्ष का कारण बनते हैं। यह **दिशाम् उदीची**=दिशाओं में उत्तर दिशा (उत् अञ्च) हमें ऊपर उठने की प्रेरणा देती हुई **नः अग्रं कृण्वत्**=हमारी अग्रगति—उन्नति का कारण बने। २. इस उत्कृष्ट राष्ट्र में, उत्तर दिशा से ऊपर उठने की प्रेरणा लेता हुआ **पुरुषः**=पुरुष **पांक्तं छन्दः**=पाँच रूपोंवाला (छन्द Appearance, look, shape) **बभूव**=होता है। इसके शरीर का निर्माण करनेवाले 'पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश' रूप पाँचों भूत इसके अनुकूल होते हैं और परिणामतः यह स्वस्थ शरीरवाला होता है। इस शरीर में पञ्चधा विभक्त प्राण (प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान) ठीक कार्य करता है। प्राणशक्ति के ठीक होने से पाँचों कर्मेन्द्रियाँ व पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ भी अपना-अपना कार्य ठीक प्रकार से करती हैं और 'मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार व हृदय' इन पाँच भागों में विभक्त अन्तःकरण भी पवित्र बना रहता है। ये ही इस पांक्त पुरुष के पाँचरूप (छन्द) है। ऐसा होने पर **विश्वैः**=सब तथा **विश्वांगैः सह**=पूर्ण अंगों के साथ हम **संभवेम**=पुत्ररूप में जन्म लेनेवाले बनें। '**तद्धिजायायाः जायात्वं यदस्यां जायते पुनः**'=अपनी जाया में पति ही पुत्ररूप से जन्म लेता है, अतः यदि उसके सब अंग ठीक होंगे तो सन्तान भी तदनुरूप ही होंगे। उत्तम सन्तानों से राष्ट्र उत्तम बनेगा।

भावार्थ—उत्तर दिशा हमें उन्नति की प्रेरणा देती है। स्वयं अपने पाँचों रूपों को ठीक रखते हुए हम उत्कृष्ट प्रजा को जन्म दें, उससे हमारा राष्ट्र और अधिक उन्नत हो।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ध्रुवता

ध्रुवेयं वि॒राण्नमो॑ अस्त्वस्यै शि॒वा पु॒त्रेभ्य॑ उ॒त मह्य॑मस्तु।
सा नो॑ देव्यदिते विश्ववार इर्य॑इव गो॒पा अ॒भि र॑क्ष प॒क्वम्॥ ११॥

१. **इयं ध्रुवा**=यह ध्रुवादिक् **विराट्**=विशिष्ट ही दीप्तिवाली है—ध्रुवता में ही इसकी शोभा है। **अस्यै नमः अस्तु**=इसके लिए नमस्कार हो। इस ध्रुवादिक से हम भी ध्रुवता का पाठ पढ़ते हैं। इसप्रकार ध्रुवता—स्थिरता का पाठ पढ़ाती हुई यह **पुत्रेभ्यः**=हमारे सन्तानों के लिए **उत**=और **मह्यम्**=मेरे लिए **शिवा अस्तु**=कल्याणकर हो। अस्थिरता में कोई भी उन्नति सम्भव नहीं होती। सब उत्कर्ष इस ध्रुवता से ही प्राप्य है। २. हे **देवि**=दिव्यगुणों को प्राप्त करानेवाली, **अदिते**=स्वास्थ्य

को न नष्ट होने देनेवाली (अ+दिति, दो अवखण्डने) **विश्ववारे**=सबसे वरने योग्य ध्रुवादिक् **सा**=वह तू **नः**=हमारे लिए **इर्यः इव**=(Destroying the enemies) सब शत्रुओं को नष्ट करनेवाली है। **गोपाः**=तू हमारा रक्षण करती है। तू **पक्वम् अभिरक्ष**=हमारे अन्दर परिपक्व वीर्य का रक्षण करनेवाली हो। स्थिरवृत्ति में ही वीर्यरक्षण सम्भव है।

भावार्थ—हम ध्रुवा दिक् से ध्रुवता का पाठ पढ़ें। यह ध्रुवता हमारा कल्याण करे। यह 'दिव्यगुणों को प्राप्त करानेवाली व स्वास्थ्य को सुरक्षित रखनेवाली है'। यह हमारे शत्रुओं को नष्ट करके हमारा रक्षण करती है। यह ध्रुवता की वृत्ति हमारे शरीरों में वीर्य का भी रक्षण करनेवाली है।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

प्रभु से आलिङ्गन

पितेव पुत्रानभि सं स्वजस्व नः शिवा नो वाता इह वान्तु भूमौ।
यमोदनं पचतो देवते इह तन्नस्तप उत सत्यं च वेत्तु॥ १२॥

१. हे प्रभो! प्राची आदि दिशाओं से उत्तम पाठों को पढ़नेवाले **नः**=हमें आप इस प्रकार **अभिसंस्वजस्व**=आलिंगन कीजिए, **इव**=जैसेकि **पिता पुत्रान्**=पिता पुत्र का आलिंगन करता है। आपका अनुग्रह होने पर **इह भूमौ**=यहाँ पृथिवी पर **नः**=हमारे लिए **शिवाः वाताः वान्तु**=कल्याणकर वायुएँ बहें—सारा आधिदैविक जगत् हमारे अनुकूल हो। २. **यम् ओदनम्**=जिस भोजन को **इह**=यहाँ **देवते पचतः**=द्युलोकरूप पिता तथा पृथिवीरूप माता हमारे लिए पकाते हैं, **तम्**=उस ओदन को **नः**=हमारा **तपः**=तप **सत्यं च**=और सत्य **वेत्तु**=जाने, अर्थात् उस भोजन के सेवन से हम तपस्वी व सत्यवादी बनें। यह भोजन हमारे शरीर में तप व मन में सत्य का स्थापन करे।

भावार्थ—हम प्रभु आलिंगन प्राप्त करें, तब सम्पूर्ण आधिदैविक जगत् हमारे अनुकूल होगा। द्युलोक व पृथिवी से प्रदत्त सात्त्विक अन्नों का सेवन करते हुए हम तपस्वी व सत्यवादी बनें।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—स्वर्गः, ओदनः, अग्निः ॥ छन्दः—स्वराडार्षीपङ्क्तिः ॥

शोधन (नीरोगता के लिए)

यद्यत्कृष्णः शकुन एह गत्वा त्सरन्विषक्तं बिल आससाद।
यद्वा दास्या३र्द्रहस्ता समङ्क्त उलूखलं मुसलं शुम्भतापः॥ १३॥

१. **यत् यत्**=जब तक **कृष्णः शकुनः**=यह कृष्ण वर्ण का पक्षी (कौवा) **इह**=यहाँ **आ गत्वा**=आकर **त्सरन्**=टेढ़ी चालें चलता हुआ **विषक्तम्**=जमकर **बिले**=किसी बिल में—आले आदि में **आससाद**=बैठ जाए **यत् वा**=अथवा जब **दासी**=घर में बर्तन आदि साफ़ करनेवाली कार्यकर्त्री **आर्द्रहस्ता**=कार्य करते समय उन्हीं गीले हाथों से **उलूखलं मुसलम्**=ऊखल व मूसल को **समङ्क्ते**=(smear with) लिथेड़ देती है—अपवित्र कर देती है तब **आपः**=हे जलो! **शुम्भत**=उस स्थान को व ऊखल-मूसल को तुम शुद्ध कर दो।

भावार्थ—घर में कौवा आदि पक्षी कुछ अपवित्र कर दें, अथवा कोई कार्यकर्त्री ऊखल-मूसल आदि को मलिनता से लिप्त कर दे तो उसका जलों से सम्यक् शोधन कर लेना आवश्यक है, अन्यथा रोग आदि के फैलने की आशंका बढ़ जाती है।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'पवित्रैः पूतः' ग्रावा

अयं ग्रावा पृथुबुध्नो वयोधाः पूतः पवित्रैरप हन्तु रक्षः।
आ रोह चर्म महि शर्म यच्छ मा दम्पती पौत्रमघं नि गाताम्॥ १४॥

१. **अयम्**=यह **ग्रावा**=(गृणाति) स्तुतिवचनों का उच्चारण करनेवाला **पृथुबुध्नः**=विशाल ज्ञान के आधारवाला (बुध्), **वयोधाः**=प्रकृष्ट जीवन को धारण करनेवाला, **पवित्रैः पूतः**=(नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते) ज्ञानों के द्वारा पवित्र जीवनवाला बना हुआ व्यक्ति (यम) **रक्षः अपहन्तु**=राक्षसी-वृत्तियों को अपने से दूर करे। प्रभुस्तवन करते हुए हम ज्ञान को अपने जीवन का आधार बनाएँ। यह ज्ञान हमें पवित्र व उत्कृष्ट जीवनवाला बनाए। हमारे जीवन में राक्षसीभाव न जमा हो जाएँ। २. हे साधक! तू **चर्म**=जीवन की ढाल के रूप में काम करनेवाले वीर्य के दृष्टिकोण से **आरोह**=उन्नत होने का प्रयत्न कर। वीर्य की ऊर्ध्वागति को सिद्ध कर। **महि शर्म यच्छ**=इस प्रकार घर में सभी को सुख देनेवाला बन। इस वीर्यरक्षण व संयत जीवन के द्वारा **दम्पती**=पति-पत्नी **पौत्रम् अघम्**=पुत्र-सम्बन्धी कष्ट को **मा निगाताम्**=प्राप्त न हों। वीर्यरक्षण व संयमवाले पति-पत्नी दीर्घजीवी व विधेय सन्तानों को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—पति-पत्नी में 'प्रभुस्तवन, ज्ञानरुचिता, संयम व वीर्यरक्षण' की भावना होने पर सन्तान उत्तम होते हैं।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वानस्पतिक भोजन का महत्त्व

वनस्पतिः सह देवैर्न आगन्रक्षः पिशाचाँ अपबाधमानः।
स उच्छ्रयातै प्र वदाति वाचं तेन लोकाँ अभि सर्वाञ्जयेम॥ १५॥

१. **वनस्पतिः**=पवित्र वानस्पतिक भोजन **देवैः सह**=दिव्यगुणों के साथ **नः आगन्**=हमें प्राप्त हो। हम वानस्पतिक भोजन ही करें। इस प्रकार मांसाहार से आ जानेवाली स्वार्थ व क्रूरता आदि की वृत्तियों से बचे रहें। यह भोजन **रक्षः**=रोगकृमियों को **पिशाचान्**=पैशाचिक वृत्तियों को **अपबाधमानः**=हमसे दूर रक्खे। २. **सः**=वानस्पतिक भोजन करनेवाला वह 'यम' (संयमी पुरुष) **उच्छ्रयातै**=उत्कृष्ट मार्ग का सेवन करता है। यह **वाचं प्रददाति**=स्तुतिवचनों का उच्चारण करता है। **तेन**=इस प्रकार की वृत्ति के द्वारा **सर्वान् लोकान् अभिजयेम**=हम सब लोकों का विजय करनेवाले बनें। पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक व द्युलोक का विजय करते हुए ब्रह्मलोक को प्राप्त करें।

भावार्थ—वानस्पतिक भोजन हमें दिव्यवृत्तिवाला बनाता है—राक्षसीभावों को दूर करता है। हम उत्कृष्ट जीवनवाले बनकर प्रभुस्तवन की वृत्तिवाले बनते हैं और सब लोकों का विजय करते हुए ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सप्तमेध परिग्रह व स्वर्गलोक

सप्त मेधान्पशवः पर्यगृह्णन्य एषां ज्योतिष्माँ उत यश्चकर्श।
त्रयस्त्रिंशद्देवतास्तान्त्सचन्ते स नः स्वर्गमभि नेष लोकम्॥ १६॥

१. **पशवः**=(पश्यन्ति) देखनेवाले—विचारशील पुरुषों ने **सप्त मेधान्**=(सप्त ऋषिभिः साध्यान् मेधान् सप्त मेधान्) 'कर्णाविमौ, नासिके, चक्षणी, मुखम्' दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें

व मुखरूप सप्तर्षियों से साध्य यज्ञों का **पर्यगृह्णन्**=परिग्रह किया है (येन यज्ञस्तायते सप्तहोता) **तान्**=उनको **त्रयस्त्रिंशद्**=तेतीस **देवता सचन्ते**=देव प्राप्त होते हैं—'पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक' में स्थित ग्यारह-ग्यारह—सब तेतीस देव इनके शरीर में निवास करते हैं (सर्वा ह्यस्मिन्देवता गावो गोष्ठ इवासते)। इनके शरीर में सब देवों की सुस्थिति होती है—सब दिव्यगुण इन्हें प्राप्त होते हैं। २. **यः**=जो **एषाम्**=इनमें **ज्योतिष्मान्**=सर्वाधिक ज्योतिवाला है (तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्), **उत**=और **यः**=जो **चकर्श**=सूक्ष्मतम है, **सः**=वह सर्वज्ञ सूक्ष्मतम (निराकार) प्रभु **नः**=हमें **स्वर्गं लोकम् अभिनेष**=स्वर्गलोक की ओर ले-चलता है—हमें घरों को स्वर्गतुल्य बनाने की शक्ति प्रदान करता है।

भावार्थ—हम यज्ञों को अपनाएँगे तो दिव्यगुणों को प्राप्त करते हुए स्वर्ग को प्राप्त करनेवाले होंगे।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**स्वराडार्षीपङ्क्तिः** ॥

न अलक्ष्मी, न कृपणता

स्वर्गं लोकमभि नो नयासि सं जायया सह पुत्रैः स्याम।
गृह्णामि हस्तमनु मैत्वत्र मा नस्तारीन्निर्ऋतिर्मो अरातिः॥ १७॥

१. हे प्रभो! आप **नः**=हमें **स्वर्गं लोकम् अभि**=स्वर्गलोक की ओर **नयासि**=ले-चलते हो। आप हमें ऐसी शक्ति प्राप्त कराते हो कि हम अपने घर को स्वर्गलोक बना पाते हैं। हम **जायया सह**=अपनी पत्नी के साथ **स्याम**=हों तथा **पुत्रैः सं (स्याम)**=पुत्रों के साथ संगत हों। सदा पत्नी के साथ सम्यक् धर्म का पालन करते हुए उत्तम पुत्रों को प्राप्त करें। २. हे प्रभो! **हस्तम् गृह्णामि**=जिस भी साथी का हाथ में पकड़ता हूँ—जिस भी युवति के साथ मेरा पाणिग्रहण होता है—**अनु मा एतु**=वह सदा अनुकूलता से मेरा अनुगमन करनेवाली हो। **अत्र**=इस गृहस्थ में, इस प्रकार अनुकूलता के होने पर **नः**=हमें **निर्ऋतिः**=अलक्ष्मी **मा तारीत्**=अभिभूत न करे (तॄ अभिभवे), **उ**=और **अरातिः**=अदान की वृत्ति भी **मा (तारीत्)**=अभिभूत करनेवाली न हो। न तो हमारे घर में अलक्ष्मी का राज्य हो, न ही कृपणता का।

भावार्थ—हम घर को स्वर्ग बना पाएँ। पत्नी व पुत्रों के साथ सदा प्रेम से रहें। पति-पत्नी की अनुकूलता हो। अलक्ष्मी व कृपणता का हमारे यहाँ निवास न हो।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'ग्राहिं पाप्मानम्' अति

ग्राहिं पाप्मानमति ताँ अयाम तमो व्य स्य प्र वदासि वल्गु।
वानस्पत्य उद्यतो मा जिहिंसीर्मा तण्डुलं वि शरीर्देवयन्तम्॥ १८॥

१. जीव प्रार्थना करता है कि **ग्राहिम्**=शरीर को जकड़ लेनेवाले गठिया आदि रोगों को तथा **पाप्मानम्**=पापवृत्ति को, **तान्**=उन सब अशुभों को **अति अयाम**=हम लाँघ जाएँ। प्रभु इस प्रार्थना का उत्तर देते हुए कहते हैं कि (क) **तमः व्यस्य**=अन्धकार को दूर करके **वल्गु प्रवदासि**=तू सुन्दर शब्दों को ही बोलनेवाला बन। (ख) **वानस्पत्यः**=वनस्पतियों का ही सेवन करनेवाला तू सदा **उद्यतः**=कर्त्तव्यकर्मों के पालन में उद्यत रह। (ग) **मा जिहिंसीः**=हिंसा करनेवाला न बन। (घ) **देवयन्तम् तण्डुलम्**=तुझे देव बनाने की कामना करते हुए इस तण्डुल को—व्रीहि को **मा विशरीः**=शीर्ण मत कर, तेरे घर में यह तण्डुल सदा संचित रहे। यह तुझे देववृत्ति का बनानेवाला हो।

भावार्थ—हम प्रभु के इन उपदेशों को न भूलें (क) ज्ञान की वृद्धि करते हुए हम सुन्दर शब्द बोलें (ख) शाकभोजी बनकर कर्त्तव्यकर्मों में लगे रहें। (ग) अहिंसावृत्तिवाले हों (घ) दिव्यता प्राप्त करानेवाले व्रीहि आदि भोजनों का ही प्रयोग करें। ऐसा करने पर हम रोगों व पापों से बचे रहेंगे।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

विश्वव्यचाः+घृतपृष्ठः

विश्वव्यचा घृतपृष्ठो भविष्यन्त्सयोनिर्लोकमुप याह्येतम्।
वर्षवृद्धमुप यच्छ शूर्पं तुषं पलावानप तद्विनक्तु॥ १९॥

१. **विश्वव्यचाः**=सब गुणों व शक्तियों के विस्तारवाला तथा **घृतपृष्ठः**=ज्ञानदीप्ति को अपने में सींचनेवाला **भविष्यन्**=होना चाहता हुआ तू **सयोनिः**=उस प्रभु के साथ समान गृहवाला होता हुआ, अर्थात् हृदय में प्रभु के साथ निवास करता हुआ **एतं लोकम् उपयाहि**=इस लोक को प्राप्त हो—प्रभुस्मरणपूर्वक संसार में विचरनेवाला। यह प्रभुस्मरण ही तुझे इस संसार में आसक्त होने से बचाकर सुरक्षित शक्तिवाला व दीप्त ज्ञानवाला बनाएगा। २. इसी उद्देश्य से तू **वर्षवृद्धम्**=वरणीय गुणों से (वृ वरणे) व वर्षों से बढ़े हुए (बड़ी उमरवाले अनुभवी) **शूर्पम्**= छाज के समान इस पुरुष को **उपयच्छ**=अपने को दे डाल—इस पुरुष के प्रति अपना अर्पण कर जिससे जो कुछ **तुषम्**=भूसा है तथा **पलावान्**=तिनके आदि हैं **तत्**=उसे **अपविनक्तु**=वह दूर कर दे—पृथक् कर दे। वह वरणीय गुणोंवाला वृद्ध पुरुष तेरे अवगुणों को दूर करनेवाला हो।

भावार्थ—यदि हम प्रभु-स्मरणपूर्वक इस संसार में विचरेंगे तो अनासक्ति के द्वारा हम सब शक्तियों के विस्तारवाले व दीप्त ज्ञानवाले बनेंगे। गुणी वृद्ध पुरुषों के सम्पर्क में अपने सभी दोषों को दूर करने में समर्थ होंगे।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ब्राह्मण कौन?

त्रयो लोकाः संमिता ब्राह्मणेन द्यौरेवासौ पृथिव्य१न्तरिक्षम्।
अंशून्गृभीत्वान्वारभेथामा प्यायन्तां पुनरा यन्तु शूर्पम्॥ २०॥

१. **ब्राह्मणेन**=ब्रह्मज्ञानी पुरुष ने **त्रयः लोकाः**=तीनों लोक—**द्यौः एव असौ, पृथिवी, अन्तरिक्षम्**='निश्चय से द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथिवी' **संमिताः**=सम्यक् निर्मित किये हैं। इसने अपने मस्तिष्करूप द्युलोक को ज्ञानसूर्य से दीप्त किया है, हृदयान्तरिक्ष को चन्द्र की शीतल ज्योत्स्ना से आनन्दमय बनाया है तथा पृथिवीरूप शरीर को शक्ति की अग्नि से युक्त किया है। २. हे पति-पत्नी! तुम भी **अंशून् गृभीत्वा**=इस ब्रह्मज्ञानी से ज्ञानरश्मियों को प्राप्त करके **अन्वारभेथाम्**=अपने कर्त्तव्यकर्मों का आरम्भ करो। इसप्रकार ही सब गुण **आप्यायन्ताम्**=तुम्हारे अन्दर बढ़ें और **पुनः**=फिर-फिर **शूर्पम्**=इस छाजरूप वृद्ध ब्राह्मण के समीप **आयन्तु**=तुम आओ और अपने जीवन के दोषरूप अज्ञान को अपने से पृथक् करनेवाले बनो।

भावार्थ—ब्राह्मण वह है जोकि अपने शरीर, मन व मस्तिष्क को सुन्दर बनाता है। इसके सम्पर्क में ज्ञानरश्मियों को प्राप्त करके मनुष्य अपने कर्त्तव्य कर्मों को करे। इन ब्राह्मणों के सम्पर्क में हम दोषों को दूर करते हुए निरन्तर वृद्धि को प्राप्त हों।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

एकरसता

पृथग्रूपाणि बहुधा पशूनामेकरूपो भवसि सं समृद्ध्या।
एतां त्वचं लोहिनीं तां नुदस्व ग्रावा शुम्भाति मलगइव वस्त्रा॥ २१॥

१. इस संसार में **बहुधा**=(Generally) बहुत प्रकार से—प्रायः **पशूनाम्**=प्राणियों के—पशुतुल्य भोगप्रधान जीवन बितानेवाले मनुष्यों के **रूपाणि पृथक्**=रूप अलग-अलग होते हैं। वे स्थिरवृत्ति के नहीं होते। ये एकरूप से ऊबकर दूसरे की ओर और उससे ऊबकर तीसरे की ओर चलते हैं। गतमन्त्र में वर्णित हे ब्राह्मण! तू **संसमृद्ध्या**=ज्ञान व गुणों की सम्यक् समृद्धि के कारण **एकरूपः भवसि**=एकरूप होता है—तू जीवन में स्थिरवृत्ति का बनता है। २. **एताम्**=इस और **ताम्**=उन सामान्य लोगों के द्वारा अपनायी जानेवाली **लोहिनीं त्वचम्**=लोहित वर्ण की त्वचा हमें सक्त कर डालती है—विविधरूपों की ओर तेरा आकर्षण होता है। **ग्रावा**=यह प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करनेवाला पुरुष **शुम्भति**=अपने जीवन को इसप्रकार शुद्ध कर डालता है, **इव**=जैसेकि **मलगः वस्त्रा**=मल को दूर करनेवाला धोबी वस्त्रों को शुद्ध किया करता है।

भावार्थ—प्रायः लोग एकरसता की ओर झुकाववाले नहीं होते। वे विविध व्यञ्जनों व विविध वस्त्रों से सदा आकृष्ट होते रहते हैं। एक सच्चा ब्राह्मण इस राजसी वृत्ति को दूर करके एकरस होने का प्रयत्न करता है। यह प्रभुस्तवन करता हुआ अपने जीवन की मलिनताओं को इस प्रकार दूर कर देता है, जैसे धोबी वस्त्रों की मलिनता को।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

विकृत तनू का फिर से ठीक करना

पृथिवीं त्वा पृथिव्यामा वेशयामि तनूः समानी विकृता त एषा।
यद्यद् द्युत्तं लिखितमर्पणेन तेन मा सुस्रोर्ब्रह्मणापि तद्वपामि॥ २२॥

१. प्रभु प्रजा से कहते हैं कि **पृथिवीं त्वा**=(प्रथ विस्तारे) शक्तियों के विस्तारवाली तुझको **पृथिव्याम् आवेशयामि**=सब प्रकार से (आ) शक्तियों के विस्तार में स्थापित करता हूँ। **एषा**=यह **ते**=तेरा **विकृता तनूः**=विकृत हुआ-हुआ शरीर **समानी**=(सम् अन् प्राणने) पुनः सम्यक् प्राणित हो उठता है। २. **अर्पणेन**=(ऋ हिंसायाम्) हिंसन से—किसी आघात व प्रहार आदि से **यत् यत्**=जो-जो **द्युत्तम्**=(प्रज्वलितम्) जल-सा उठा है, अथवा **लिखितम्**=अवदारित हुआ है, **तेन**=उससे **मा सुस्रोः**=तू स्रुत न हो जा—तेरा शरीर बह न जाए। **ब्राह्मणा**=ज्ञान से—ज्ञानपूर्वक किये गये उपाय से **तत्**=उस सबको **अपि वपामि**=(begets, produce, weave) फिर से ठीक कर देता हूँ—उसमें आ गई कमी को दूर कर देता हूँ।

भावार्थ—हमारी शक्तियों का विस्तार ठीक बना रहे। शरीर में जो विकार आ जाता है, वह दूर होकर शरीर पुनः ठीक से प्राणित हो उठे। जो-जो कुछ यहाँ जल जाए या अवदारित हो जाए, उसे ज्ञानपूर्वक ठीक किया जाए। प्रयत्न किया जाए कि उस आघात से रुधिर का बहुत स्राव न हो जाए।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

परस्पर स्नेह व यज्ञशीलता

जनित्रीव प्रति हर्यासि सूनुं सं त्वा दधामि पृथिवीं पृथिव्या।
उखा कुम्भी वेद्यां मा व्यथिष्ठा यज्ञायुधैराज्येनातिषक्ता॥ २३॥

१. प्रभु प्रजा से कहते हैं कि तू **प्रतिहर्यासि**=प्रत्येक के साथ इसप्रकार स्नेह करनेवाली हो, **इव**=जैसेकि **जनित्री सूनुम्**=माता पुत्र को प्रेम करती है। **पृथिवीं त्वा**=शक्तियों के विस्तारवाली तुझको **पृथिव्या**=शक्ति-विस्तार के साथ **संदधामि**=सम्यक् धारण करता हूँ। परस्पर प्रेम से वर्तना भी शक्तियों की स्थिरता का साधन बनता है। २. तू उसी प्रकार **मा व्यथिष्ठाः**=व्यथित न हो, जैसेकि **वेद्याम्**=वेदी में **यज्ञायुधैः**=यज्ञ के उपकरणों के साथ **आज्येन अतिषक्ता**=घृत से अतिशयेन मेलवाली **उखा**=कुण्ड व **कुम्भी**=जलपात्र पीड़ित न हों, अर्थात् तेरे घर में यज्ञ होते रहें और तेरा जीवन सर्वथा सुखमय बना रहे।

भावार्थ—हम परस्पर प्रेम से वरतें तथा हमारे घरों में यज्ञों की परिपाटी ठीक प्रकार से चलती रहे। इसप्रकार हमारी शक्तियाँ सुस्थिर रहेंगी और हमारा जीवन सुखमय बनेगा।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'अग्नि, इन्द्र, वरुण, सोम'

अ॒ग्निः पच॒न्रक्ष॑तु त्वा पु॒रस्ता॒दिन्द्रो॑ रक्षतु दक्षिण॒तो म॒रुत्वा॑न्।
वरु॑णस्त्वा दृंहाद्ध॒रुणे॑ प्र॒तीच्या॑ उत्त॒रात्त्वा॒ सोमः॒ सं द॑दातै ॥ २४ ॥

१. **पुरस्तात्**=पूर्व की ओर से **पचन् अग्निः**=तेरी शक्तियों का परिपाक करता हुआ अग्रणी प्रभु **त्वा रक्षतु**=तेरी रक्षा करे। प्रथमाश्रम में प्रभु को 'अग्नि' नाम से स्मरण करता हुआ निरन्तर आगे बढ़नेवाला बन और अपनी शक्तियों का ठीक से परिपाक कर। २. **मरुत्वान्**=मरुतों-(प्राणों)-वाला **इन्द्रः**=शत्रुविद्रावक सर्वैश्वर्यसम्पन्न प्रभु **दक्षिणतः रक्षतु**=दक्षिण की ओर से तेरी रक्षा करे। हम द्वितीयाश्रम में प्राणसाधना करते हुए, जितेन्द्रिय बनकर दाक्षिण्य प्राप्त करें और ऐश्वर्य को सिद्ध करें। ३. **वरुणः**=सब पापों का निवारण करनेवाला प्रभु **प्रतीच्याः**=पश्चिम दिशा से **त्वा**=तुझे **धरुणे दृंहात्**=धारणात्मक कर्म में दृढ़ करे। अब वानप्रस्थाश्रम में हम प्रत्याहार का पाठ पढ़ते हुए (प्रति अञ्च) सब विषयों से अपना निवारण करें (वरुण) और चित्तवृत्ति को सुस्थिर करने का प्रयत्न करें (धरुण)। ४. अब **सोमः**=वे शान्त प्रभु **उत्तरात्**=उत्तर से **त्वा**=तुझे **संददातै**=सम्यक् प्रजा के लिए दें। चतुर्थाश्रम में संन्यस्त होकर हम उत्तम जीवनवाले शान्त (सोम) बनकर प्रजाहित में प्रवृत्त हों और सब लोगों के लिए ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—प्रथमाश्रम में हम ठीक प्रकार से शक्तियों का परिपाक करें। द्वितीयाश्रम में प्राणसाधना द्वारा जितेन्द्रिय बने रहकर विषयासक्त होने से बचें। तृतीयाश्रम में सब विषयों का निवारण करके स्थिरवृत्तिता का अभ्यास करें। चतुर्थाश्रम में शान्त व सौम्य बनकर सर्वत्र प्रकाश फैलाएँ।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

एक तुरीयाश्रमी का चित्रण

पू॒ताः प॒वित्रैः॑ पवन्ते अ॒भ्राद्दिवं॑ च॒ यन्ति॑ पृथि॒वीं च॑ लो॒कान्।
ता जी॑व॒ला जी॒वध॑न्याः प्रति॒ष्ठाः पात्र॒ आसि॑क्ताः॒ पर्य॒ग्निरि॑न्धाम् ॥ २५ ॥

१. गतमन्त्र में वर्णित चतुर्थाश्रम की प्रजाएँ **पवित्रैः पूताः**=(नहि ज्ञाने सदृशं पवित्रमिह विद्यते) पवित्रता के साधनभूत ज्ञान से पवित्र बने हुए **पवन्ते**=गतिशील होते हैं। **अभ्रात्**=(अभ्र गतौ) गतिशीलता के द्वारा **दिवं च यन्ति**=मास्तिष्करूप द्युलोक को प्राप्त करते हैं, **पृथिवीम्**=इस शरीररूप पृथिवीलोक को प्राप्त करते हैं **च**=और **लोकान्**=शरीर के अन्य अङ्ग-प्रत्यङ्गों को ठीक रख पाते हैं। २. **ताः**=उन तुरीयाश्रमी प्रजाओं को, जोकि **जीवलाः**=जीवनशक्ति से परिपूर्ण हैं, **जीवधन्या**=अपने जीवन को धन्य बनानेवाली **प्रतिष्ठाः**=स्थिरवृत्ति की हैं, **पात्रे आसिक्ताः**=(पात्रे

आसिक्तं येषाम्) शरीररूप पात्र में शक्ति का सेचन करनेवाली होती हैं—पूर्णरूप से जितेन्द्रिय होती हुई शक्ति का रक्षण करती हैं, उन्हें **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु **परि इन्धाम्**=सर्वतः दीप्त करनेवाले हों। प्रभुकृपा से इनका जीवन सर्वतः दीप्त=मलिनता से शून्य हो। इनका जीवन ही लोगों को प्रेरणा देनेवाला हो।

भावार्थ—एक संन्यस्त पुरुष ज्ञान से पवित्र जीवनवाला बनकर गतिशील होता है। गतिशीलता ही इसके मस्तिष्क, शरीर व सब अङ्गों को स्वस्थ रखती है। इन जीवनशक्ति से परिपूर्ण, धन्य जीवनवाले, स्थिरवृत्ति के जितेन्द्रिय पुरुषों को प्रभु दीप्त जीवनवाला बनाते हैं।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

शुद्धः शुम्भन्ते

आ यन्ति दिवः पृथिवीं सचन्ते भूम्याः सचन्ते अध्यन्तरिक्षम्।
शुद्धाः सतीस्ता उ शुम्भन्त एव ता नः स्वर्गमभि लोकं नयन्तु॥ २६॥

१. गतमन्त्र में वर्णित संन्यस्त पुरुष **दिवः**=ज्ञान के प्रकाश से **आयन्ति**=समन्तात् गतिवाले होते हैं—ज्ञान के प्रकाश को फैलाने के लिए परिव्रजन करते हैं। **पृथिवीं सचन्ते**=इस शरीररूप पृथिवी के साथ मेलवाले होते हैं—शरीर को स्वस्थ रखते हैं। लोकहित के लिए भी शरीर को स्वस्थ रखना आवश्यक ही है। **भूम्याः**=(भू शुद्धौ) शोधन के दृष्टिकोण से **अन्तरिक्षम् अधिसचन्ते**=हृदयान्तिरक्ष का सेवन करते हैं, अर्थात् हृदयस्थ प्रभु का ध्यान करते हैं। यह प्रभु का ध्यान इनके जीवन को शुद्ध बनाए रखता है। २. **शुद्धा सतीः ताः**=स्वयं शुद्ध जीवनवाली होती हुई वे प्रभु की प्रजाएँ (वे प्रभु के संदेशहर) **उ**=निश्चय से **शुम्भन्ते एव**=अन्य लोगों के जीवनों को शुद्ध बनाती हैं। **ताः**=वे प्रभु के व्यक्ति अपने ज्ञानोपदेश द्वारा **नः**=हमें **स्वर्गं लोकम् अभि**=स्वर्गलोक की ओर **नयन्तु**=ले-चलें। इनकी ज्ञानवाणियाँ हमें इसप्रकार उत्तम कर्मों में प्रेरित करें कि हम अपने घरों को स्वर्ग बना सकें।

भावार्थ—संन्यस्त लोग (क) ज्ञान के साथ विचरते हैं, (ख) शरीर को स्वस्थ रखते हैं, (ग) हृदयस्थ प्रभु का ध्यान करते हुए जीवन को शुद्ध बनाते हैं, (घ) शुद्ध जीवनवाले होते हुए औरों को भी शुद्ध करते हैं, (ङ) ज्ञानोपदेश द्वारा उन्हें उस मार्ग पर ले-चलते हैं, जिससे वे अपने घरों को स्वर्ग-तुल्य बना पाते हैं।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

शुक्राः शुचयः अमृतासः

उतेव प्रभ्वीरुत संमितास उत शुक्राः शुचयश्चामृतासः।
ता ओदनं दम्पतिभ्यां प्रशिष्टा आपः शिक्षन्तीः पचता सुनाथाः॥ २७॥

१. **उत**=और **प्रभ्वीः इव**=जैसी ये प्रजाएँ प्रकृष्ट सामर्थ्य-(प्रभाव)-वाली होती हैं, **उत**=और वैसी ही **संमितासः**=सम्यक् ज्ञानवाली भी होती हैं। शरीर में स्वस्थ, मस्तिष्क में दीप्त **उत**=और **शुक्राः**=वीर्यवान् होती हुई **शुचयः**=पवित्र मनवाली होती हैं, **च**=और **अमृतासः**=नीरोग शरीरवाली होती हैं। २. **ताः**=वे **प्रशिष्टाः आपः**=प्रकर्षेण शिष्ट (सुबोध) प्रजाएँ **शिक्षन्तीः**=उत्तम शिक्षण करती हुई तथा **सुनाथा**=उत्तम ज्ञानैश्वर्यवाली व उत्तम आशीर्वचनोंवाली होती हुई **दम्पतीभ्याम्**=गृहस्थ पति-पत्नी के लिए **ओदनं पचत**=उत्कृष्ट ज्ञानौदन का परिपाक करें—उन्हें ज्ञान देनेवाली हों।

भावार्थ—संन्यासी प्रभावजनक शरीरवाला व ज्ञानी हो। वीर्यवान् होता हुआ मन में पवित्र

व शरीर में नीरोग हो। ये अत्यन्त शिष्ट व आशीर्वचनोंवाले होते हुए उत्तम शिक्षण के द्वारा गृहस्थों के लिए ज्ञान के भोजन का परिपाक करें—उन्हें ज्ञान दें।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

संख्याताः अपि असंख्याताः

संख्याता स्तोकाः पृथिवीं सचन्ते प्राणापानैः संमिता ओषधीभिः।
असंख्याता ओप्यमानाः सुवर्णाः सर्वं व्या ∫ पुः शुचयः शुचित्वम्॥ २८॥

१. **संख्याताः**=(चक्ष् ख्या to perceive) सत्य का दर्शन किये हुए, **स्तोकाः**=(षुच् प्रसादे) प्रसन्नचित्तवाले ये संन्यस्त पुरुष=संन्यासी **पृथिवीं सचन्ते**=इस पृथिवी के साथ—पृथिवीस्थ प्राणियों के साथ मेलवाले होते हैं। ज्ञान देने के द्वारा उनके कल्याण के लिए यत्नशील होते हैं। ये संन्यस्त **प्राणापानैः**=प्राणापान की शक्तियों से तथा **ओषधीभिः**=ओषधियों से **संमिताः**=संमित—उपमित होते हैं। ये ही वस्तुतः राष्ट्र के प्राणापान—जीवन के रक्षक होते हैं तथा दोषों को दग्ध (उष दाहे) करनेवाले होते हैं। २. **असंख्याताः**=(संख्या to be connected with) किन्हीं के साथ भी अपने को सम्बद्ध न करते हुए ये **ओप्यमानाः**=चारों ओर ज्ञान को फैलाते हुए (ज्ञान का वपन करते हुए) **सुवर्णाः**=उत्तम रूप में प्रभु के गुणों का प्रतिपादन करते हुए **शुचयः**=पवित्र जीवनवाले **सर्वं शुचित्वम् व्यापुः**=पूर्ण पवित्रता का व्यापन करनेवाले होते हैं। पवित्रता को व्याप्त करनेवाले ये पुरुष ही 'आप्त' कहलाते हैं। इनके शब्द लोगों के लिए प्रमाणभूत होते हैं।

भावार्थ—संन्यस्त पुरुष 'सत्यदर्शी, सदा प्रसन्न, प्रजाओं के प्राण व दोषदग्धा' होते हैं। ये अनासक्त भाव से ज्ञान का प्रसार करते हैं। प्रभु के गुणों का सम्यक् प्रतिपादन करते हुए पवित्रता से व्याप्त जीवनवाले 'आप्त' पुरुष होते हैं।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अक्रोधेन जयेत् क्रोधम्

उद्योधन्त्यभि वल्गन्ति तप्ताः फेनमस्यन्ति बहुलांश्च बिन्दून्।
योषेव दृष्ट्वा पतिमृत्वियायैतैस्तण्डुलैर्भवता समापः॥ २९॥

१. प्राकृतजन तो **उद्योधन्ति**=परस्पर युद्ध करने लगते हैं, **अभिवल्गन्ति**=एक दूसरे पर आक्रमण करते हैं, **तप्ताः**=क्रोधसंतप्त हुए-हुए **फेनम् अस्यन्ति**=ओष्ठप्रान्तों से आग को छोड़ते हैं, **च**=और **बहुलान् बिन्दून्**=कितनी ही थूक (ष्ठीवन) की बून्दें उनके मुख से गिरती हैं, अर्थात् ये प्राकृतजन क्रोध में उन्मत्त-से हो जाते हैं और भला करनेवाले पर भी आक्रमण कर बैठते हैं। २. ऐसा होने पर भी हे **आपः**=आप्त पुरुषो! आप **ऐतैः तण्डुलैः**=(तदि विध्वंसे) विध्वंसकारी पुरुषों के साथ भी इस प्रकार प्रेम से **सम्भवत**=मेलवाले होओ—इन्हें भी इसप्रकार प्रेम से ज्ञान देनेवाले बनो **इव**=जैसेकि **योषा**=पत्नी **पतिं दृष्ट्वा**=पति को देखकर **ऋत्वियाय**=ऋतु धर्म के लिए मेलवाली होती है। हे आप्त पुरुषो! इन विध्वंसकों को भी आप इसीप्रकार प्रेम से ज्ञान दो।

भावार्थ—प्राकृतजन क्रोध में आकर लड़ते हैं, एक-दूसरे पर आक्रमण करते हैं, क्रोधोन्मत्त होने पर इनके मुख से आग व थूक भी गिरने लगती है। फिर भी आप्त संन्यासियों को इन्हें प्रेम से ज्ञान देना ही है। इन्हें अक्रोध से उन प्राकृतजनों के क्रोध को जीतना है।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पात्रों द्वारा ज्ञान-प्रसार

उत्थापय सीदतो बुध्न एनानद्भिरात्मानमभि सं स्पृशन्ताम्।
अमासि पात्रैरुदकं यदेतन्मितास्तण्डुलाः प्रदिशो यदीमाः॥ ३०॥

१. हे राजन्! **बुध्ने**=तले (Bottom) में **सीदतः**=बैठे हुए—अतिनिकृष्ट स्थिति में पहुँचे हुए **एनान्**—इन प्राकृत जनों को **उत्थापय**=तू ऊपर उठा—इनके अन्दर तू ज्ञान का प्रकाश प्राप्त कराने का प्रयत्न कर। ये प्राकृत जन **अद्भिः**=ज्ञानजलों से **आत्मानं अभिसंस्पृशन्ताम्**=अपने को सब ओर से संसृष्ट करें। यह ज्ञानजल इनकी शुद्धि का कारण बने। २. **यत् एतत् उदकम्**=जो यह ज्ञानजल है, इसे तू **पात्रैः**=योग्य व्यक्तियों के द्वारा **अमासि**=(मा Assign, mete out) इन अधःपतित लोगों में प्राप्त कराता है, **यदि इमाः प्रदिशः**=यदि इन सब प्रकृष्ट दिशाओं में फैले हुए भी ये **तण्डुलाः**=विध्वंसकारी पुरुष हैं तो भी वे **मिताः**=(Cast, thrown out) राष्ट्र से दूर कर दिये जाते हैं। ज्ञान-प्रकाश से इनके जीवन अपकर्षशून्य होने लगते हैं और वे भी धीमे-धीमे पवित्र जीवनवाले हो जाते हैं।

भावार्थ—राजा का यह कर्त्तव्य है कि पात्र (योग्य) व्यक्तियों द्वारा राष्ट्र में सर्वतः ज्ञान के प्रसार का प्रबन्ध करे, जिससे सब प्रजाएँ ज्ञान-जल में शुद्ध जीवनवाली बनकर ऊपर उठें—राष्ट्र में किसी का जीवन अतिनिकृष्ट न रह जाए।

॥ इति षड्विंशः प्रपाठकः ॥

अथ सप्तविंशः प्रपाठकः

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उत्तम वानस्पतिक भोजन के लिए

प्र यच्छ पर्शुं त्वरया हरौषमहिंसन्त ओषधीर्दान्तु पर्वन्।
यासां सोमः परि राज्यं बभूवामन्युता नो वीरुधो भवन्तु॥ ३१॥

१. **पर्शुम्**=परशु को—दराँती को **प्रयच्छ**=प्रकर्षेण हाथ में काबू कर। **त्वरया**=शीघ्रता कर। **ओषम् आहर**=(ओषम् Sharp taste, pungency) तीखे स्वाद को दूर कर। ओषधियों को काटनेवाले लोग **ओषधीः अहिंसन्तः**=ओषधियों को नष्ट न करते हुए **पर्वन् दान्तु**=पर्व (गाँठ) पर काटें। ओषधियों के मूल को नष्ट न होने देना आवश्यक है। २. चन्द्रमा ओषधियों में रस का सञ्चार करता है, इसी से वह ओषधीश कहलाता है। इसकी किरणों में अमृतरस होता है। उस रस से वह ओषधियों को रसयुक्त करता है, अतः कहते हैं कि **यासां राज्यम्**=जिस राज्य को **सोमः**=यह चन्द्र **परिबभूव**=व्याप्त करता है। जहाँ-जहाँ ओषधियाँ हैं, वे सब इस चन्द्र से ही रसान्वित की जाती हैं। ये **वीरुधः**=बेलें व वनस्पतियाँ **नः**=हमारे लिए **अमन्युताः भवन्तु**=क्रोध को दूर करनेवाली हों। चन्द्र के समान ही ये हमारे मनों को आह्लादमय वृत्तिवाला बनाएँ।

भावार्थ—मनुष्य वानस्पतिक भोजन करनेवाले ही बनें। ये भोजन उन्हें क्रूरवृत्तिवाला न बनाकर कोमल वृत्तिवाला बनाएगा। ओषधियों के मूल को नष्ट न होने दें। उनके ओष (pungency) को दूर करने का प्रयत्न करें। अपरिपक्व फल में 'ओष' का सम्भव होता है।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पवित्रता व प्रसन्नता के वातावरण में

नवं बर्हिरोदनाय स्तृणीत प्रियं हृदश्चक्षुषो वल्ग्वस्तु।
तस्मिन्देवाः सह दैवीर्विशन्त्विमं प्राश्नन्त्वृतुभिर्निषद्य॥ ३२॥

१. **ओदनाय**=भोजन के लिए **नवम्**=नवीन व प्रशस्य **बर्हिः**=कुशासन को **स्तृणीत**=बिछाओ। जो आसन **हृदः प्रियम्**=हृदय को प्रिय लगे तथा **चक्षुषः वल्गु अस्तु**=आँख के लिए सुन्दर हो। २. **तस्मिन्**=उस प्रिय सुन्दर आसन पर **देवाः**=घर के पुरुष तथा **देवीः**=देववृत्ति की स्त्रियाँ **सह**=साथ-साथ **विशन्तु**=बैठें (उपविशन्तु) और **निषद्य**=उस आसन पर बैठकर **इमम्**=इस ओदन को **ऋतुभिः**=ऋतुओं के अनुसार **प्राश्नन्तु**=खाएँ। भोजन ऋतु के अनुकूल हो। यही भोजन वस्तुतः शरीर का ठीक से पालन करेगा।

भावार्थ—भोजन के लिए जो कुशासन बिछाया जाए वह सुन्दर हो। भोजन खाने के समय हृदय में किसी प्रकार के कुविचार न हों, (देवाः दैवीः) इकट्ठे बैठकर भोजन करें। भोजन ऋतु के अनुकूल हो।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अग्निष्टोमैः—देवताभिः

वनस्पते स्तीर्णमा सीद बर्हिरग्निष्टोमैः संमितो देवताभिः।
त्वष्ट्रेव रूपं सुकृतं स्वधित्यैना एहाः परि पात्रे ददृश्राम्॥ ३३॥

१. हे **वनस्पते**=ज्ञानरश्मियों के स्वामिन्! व (Worshipping=पूजा की वृत्तिवाले) उपासक! **स्तीर्णम् बर्हिः**=इस बिछाये हुए कुशासन पर **आसीद**=बैठ। यहाँ बैठकर **अग्निष्टोमैः**=प्रभुस्तवनों से तथा प्रभुस्तवन द्वारा **देवताभिः**=दिव्यगुणों से **संमितः**=(Furnished with) संमित हो—अलंकृत हो। हम ज्ञानप्रधान जीवनवाले बनें। अपने प्रत्येक दिन को हम प्रभुपूजन द्वारा दिव्यगुण धारण के प्रयत्न में व्यतीत करें। २. **इव**=जिस प्रकार **त्वष्ट्रा**=एक शिल्पी द्वारा **स्वधित्या**=परशु से **रूपं सुकृतम्**=रूप सुन्दर बनाया जाता है, अर्थात् जैसे वह परशु से लकड़ी को छील-छालकर मेज़ आदि का सुन्दर रूप प्रदान करता है, इसी प्रकार **एना**=इससे **एहाः**=नानाविध चेष्टाएँ (आ+ईह) **पात्रे परिददृश्राम्**=रक्षक प्रभु के आश्रय में देखी जाएँ। यह उपसाक भी प्रभुस्मरणपूर्वक उत्तम क्रियाओं द्वारा जीवन को उत्तम रूप प्राप्त कराए।

भावार्थ—हम ज्ञानप्रधान जीवनवाले बनें। प्रभुपूजन द्वारा दिव्यगुण धारण का प्रयत्न करें। जैसे शिल्पी परशु द्वारा काष्ठ को कुरसी, मेज़ आदि का सुन्दर रूप प्राप्त कराता है, इसी प्रकार उपासक द्वारा प्रभुस्मरणपूर्वक क्रियाओं से जीवन को सुन्दर रूप दिया जाए।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**विराड्गर्भात्रिष्टुप्** ॥

षष्ट्यां शरत्सु निधिपाः

षष्ट्यां शरत्सु निधिपा अभीच्छात्स्वः पक्वेनाभ्यश्नवातै।
उपैनं जीवान्पितरश्च पुत्रा एतं स्वर्गं गमयान्तमग्नेः॥ ३४॥

१. **षष्ट्यां शरत्सु**=जीवन के प्रथम साठ वर्षों में **निधिपाः**=वीर्यरूप निधि (वास्तविक सम्पत्ति) का रक्षक पुरुष **स्वः अभि इच्छात्**=स्वर्ग को प्राप्त करने की कामना करे। यह **पक्वेन**=अपने परिपक्व ज्ञान से अथवा शक्ति के परिपाक से **अभि अश्नवातै**=(स्वः) स्वर्ग को प्राप्त करनेवाला बनता है। यदि एक व्यक्ति ब्रह्मचर्य व गृहस्थ में शक्तिरूप निधि का रक्षण

करता है और ज्ञान की परिपक्वता के लिए प्रयत्न करता है, तो उसका घर स्वर्ग क्यों न बनेगा? २. **एनम्**=इसके आश्रय में **पितरः पुत्राः च उपजीवान्**=इसके वृद्ध माता-पिता व सन्तान सुखी व सुन्दर जीवनवाले हों। यह घर में वृद्ध माता-पिता की सेवा करे और सन्तानों का सुन्दर निर्माण करे। हे प्रभो! **एनम्**=इस निधिपा पुरुष को **अग्नेः**=अग्नि के—आहवनीय अग्नि के **अन्तम्**=सुन्दर **स्वर्गं गमय**=स्वर्ग को प्राप्त कराइए। यह घर में यज्ञों को करता हुआ घर को स्वर्ग बनाने में समर्थ हो।

भावार्थ—जीवन के प्रथम साठ वर्षों में हम वीर्यरूपनिधि का रक्षण करनेवाले बनें (बाद में तो रक्षण स्वतः ही हो जाता है '**धातुषु क्षीयमाणेषु शमः कस्य न जायते**')। शक्तिरक्षण व परिपक्व ज्ञान से हम घर को स्वर्ग बनाएँ। यहाँ पितरों का आदर करें व सन्तानों के निर्माण का ध्यान करें तभी हमारा घर 'यज्ञशील पुरुष का सुन्दर स्वर्ग' बनेगा।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु-दर्शन के लिए तीन बातें

धर्ता ध्रियस्व धरुणे पृथिव्या अच्युतं त्वा देवताश्च्यावयन्तु।
तं त्वा दम्पती जीवन्तौ जीवपुत्रावुद्वासयातः पर्यग्निधानात्॥ ३५॥

१. हे प्रभो! आप **धर्ता**=धारण करनेवाले हैं। **पृथिव्याः धरुणे**=इस शरीररूप पृथिवी के धारण होने पर **ध्रियस्व**=आप हमारे हृदयों में धारण किये जाएँ, अर्थात् हम अपने हृदयों में आपका धारण करनेवाले बनें। संयम द्वारा शरीर को स्वस्थ रखकर हम हृदयों में आपका धारण करनेवाले हों। **अच्युतं त्वा**=(imperishable) अक्षर (अविनाशी) आपको **देवताः**=देववृत्ति के पुरुष **च्यावयन्तु**=अपने हृदयों में चुवाने (स्थापित करने) का प्रयत्न करें (make, form, create, bring about)। देववृत्ति के बनकर हम हृदयों में आपका दर्शन करनेवाले हों। २. **तं त्वा**=उन आपको **दम्पती**=पति-पत्नी **जीवन्तौ**=स्वयं उत्कृष्ट जीवन को धारण करते हुए **जीवपुत्रौ**=जीवित पुत्रोंवाले होते हुए **परि**=(Very much, excessively) खूब ही **अग्निधानात्**=कुण्ड में यज्ञाग्नि के आधान के द्वारा **उद्वासयातः**=अपने हृदयों में उत्कर्षेण बसाते हैं। यज्ञों को करते हुए ये पवित्र जीवनवाले बनकर हृदय में आपका दर्शन करते हैं।

भावार्थ—हृदय में प्रभुदर्शन के लिए आवश्यक है कि हम (क) संयम द्वारा शरीर को स्वस्थ रक्खें (धरुणे पृथिव्याः), (ख) देववृत्ति के बनें (देवताः), (ग) खूब ही यज्ञशील हों (परिअग्निधानात्)।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु-प्राप्ति व सर्वकामाप्ति

सर्वान्त्समागा अभिजित्य लोकान्यावन्तः कामाः समतीतृपस्तान्।
वि गाहेथामायवनं च दर्विरेकस्मिन्पात्रे अध्युद्धरैनम्॥ ३६॥

१. हे साधक! **सर्वान् लोकान् अभिजित्य**=शरीररूप 'पृथिवी', हृदयरूप 'अन्तरिक्ष' तथा मस्तिष्करूप 'द्युलोक' इन सब लोकों को जीतकर, अर्थात् शरीर को स्वस्थ, हृदय को पवित्र तथा मस्तिष्क को दीप्त बनाकर **सम् आगाः**=तू प्रभु के समीप प्राप्त होनेवाला हो। प्रभु-प्राप्ति के द्वारा **यावन्तः कामाः**=जितनी भी अभिलाषाएँ हैं, **तान्**=उनका तू **सम् अतीतृपः**=सम्यक् तृप्त करनेवाला हो। प्रभु-प्राप्ति में सब कामनाएँ पूर्ण हो ही जाती हैं। २. इस साधक के जीवन को **आयवनम्**=(आ+यु=मिश्रणामिश्रणयोः) समन्तात् बुराइयों का अमिश्रण तथा अच्छाइयों का

मिश्रण **च**=और **दर्विः**=वासनाओं का विदारण **विगाहेथाम्**=(Pervade) विशेषरूप से व्याप्त करनेवाले हों। इस प्रकार हे साधक! तू **एनम्**=अपने इस जीवन को **एकस्मिन्**=उस अद्वितीय **पात्रे**=रक्षक प्रभु में **अधि उद्धर**=आधिक्येन उद्धृत करनेवाला बन—प्रभुस्मरण करता हुआ तू अपने जीवन का उद्धार कर। यह प्रभुस्मरण ही तुझे भव-सागर में डूबने से बचाएगा।

भावार्थ—हम 'शरीर, मन व मस्तिष्क' को स्वस्थ बनाते हुए प्रभु को प्राप्त करें। प्रभु-प्राप्ति में सब कामनाएँ प्राप्त हो जाती हैं। हमारे जीवनों में बुराइयों का अमिश्रण व वासनाओं का विदारण विशेषरूप से हो। उस अद्वितीय रक्षक प्रभुस्मरण के द्वारा हम अपना उद्धार करें।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु की गोद में

उप॑ स्तृणीहि प्रथय॑ पुरस्ता॑द् घृतेन॒ पात्र॑म॒भि घा॑रयै॒तत्।
वा॒श्रेवो॒स्रा तरु॑णं स्तन॒स्युमि॒मं दे॑वासो अ॒भिहि॒ङ्कृ॑णोत ॥ ३७ ॥

१. हे साधक! तू **उपस्तृणीहि**=उस अमृत प्रभु को अपना उपस्तरण बना (अमृतोपस्तरण-मसि)—प्रभु की गोद में स्थित हो। उस प्रभु को ही **पुरस्तात् प्रथय**=अपने सामने विस्तृत कर—सदा प्रभुस्मरण करनेवाला बन—प्रभु से ओझल न हो। इस प्रकार **एतत् पात्रम्**=इस शरीररूप पात्र को **घृतेन**=ज्ञानदीप्ति के द्वारा **अभिघारय**=क्षरित मलोंवाला व दीप्तिवाला बना। २. हे **देवासः**=देववृत्ति के पुरुषो! **इमं अभिहिङ्कृणोत**=इस प्रभु के प्रति प्रेम से स्तुतिवचनों का इस प्रकार उच्चरण करो, **इव**=जैसेकि **वाश्रा उस्रा**=रंभाती हुई गौ **तरुणम्**=तरुण **स्तनस्युम्**=स्तन के दूध पीने की इच्छावाले बछड़े के प्रति शब्द करती है।

भावार्थ—हम प्रभु की गोद में बैठें, सदा प्रभु का स्मरण करें, ज्ञान द्वारा शरीर को पवित्र व दीप्त बनाएँ। प्रभु के प्रति प्रेम से स्तोत्रों का उच्चारण करें।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

महिषः सुपर्णः

उपा॑स्तरी॒रक॑रो लो॒कमे॒तमु॒रुः प्र॑थता॒मस॑मः स्व॒र्गः।
तस्मि॑ञ्छ्रयातै महि॒षः सु॑प॒र्णो दे॒वा ए॑नं दे॒वता॑भ्यः॒ प्र य॑च्छान् ॥ ३८ ॥

१. **उप अस्तरीः**=तूने उस अमृत प्रभु को अपना उपस्तरण बनाया है—प्रभु की गोद में बैठा है। इस प्रकार **एतं लोकं अकरः**=इस प्रकाश को—आलोक को प्राप्त (सिद्ध) किया है। अब तेरे लिए यह **उरुः**=विशाल **असमः**=(षम वैक्लव्ये) सब व्याकुलताओं से शून्य **स्वर्गः प्रथताम्**=सुखमय लोक विस्तृत हो। प्रभुस्मरण व प्रकाश के होने पर हमारा लोक क्यों न स्वर्ग बनेगा? २. **तस्मिन्**=उस स्वर्ग में वह **छ्रयातै**=आश्रय करता है, जोकि **महिषः**=(मह पूजायाम्) प्रभु का पूजन करनेवाला और **सुपर्णः**=उत्तम पालनात्मक व पूरणात्मक कर्मों में व्यापृत रहता है। **एनम्**=इस 'महिष सुपर्ण' को **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **देवताभ्यः**=दिव्यवृत्तियों के लिए **प्रयच्छान्**=प्राप्त कराएँ। यह साधक देवों के सम्पर्क में दिव्यवृत्तिवाला बने।

भावार्थ—प्रभु की गोद में स्थित होने व प्रकाश प्राप्त करने पर जीवन सुखमय बनता है। इस स्वर्ग में—सुखमय जीवन में वही निवास करता है जो प्रभुपूजन करता हुआ सर्वभूतहितरत रहता है। देवों के सम्पर्क में यह सदा देववृत्तिवाला बनता है।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुब्गर्भात्रिष्टुप्** ॥

सह वो अन्नभागः

यद्यज्जाया पचति त्वत्परःपरः पतिर्वा जाये त्वत्तिरः।
सं तत्सृजेथां सह वां तदस्तु सम्पादयन्तौ सह लोकमेकम्॥ ३९॥

१. हे गृहपते! **जाया**=तेरी पत्नी **यत् यत्**=जो-जो कुछ **त्वत् परः पचति**=मुझसे परे (अलग) पकाती है, **वा**=अथवा हे **जाये**=पत्नी! **पतिः त्वत् परः (पचति)**=पति तुझसे अलग पकाता है। **तिरः**=वह सब दूर हो जाए—(तिरः भू Disappear, vanish) तुम्हारे घर से वह सब तिरोहित हो जाए। **तत् संसृजेथाम्**=उस सबको आप दोनों मिलकर संसृष्ट करो। **वाम्**=आप दोनों का **तत्**=वह खान-पान **सह अस्तु**=साथ-साथ हो। इस प्रकार ही आप **एकं लोकं सम्पादयन्तौ**=एक लोक का सम्पादन करते हुए होओगे। २. अलग-अलग खाते रहने से उस प्रेम की सृष्टि नहीं होती जोकि एक घर को स्वर्ग बनाने के लिए आवश्यक है। इसी दृष्टि से प्रभु ने अन्यत्र आदेश दिया है कि **'समानी प्रपा सह वो अन्नभागः'** तुम्हारा पीने का पानी अलग-अलग न हो—तुम्हारा अन्न का सेवन अलग-अलग न होकर साथ-साथ ही हो।

भावार्थ—पति-पत्नी अलग-अलग चुपके से कुछ न खाकर घर में मिलकर ही खानेवाले हों। पाणिग्रहण के मन्त्रों में पति व्रत लेता है कि **'न स्तेयमद्मि मनसोदमुच्ये'**=मैं अलग से कुछ न खाऊँगा—मन में ऐसा विचार ही न आने दूँगा। यही बात प्रेमवृद्धि द्वारा घर को स्वर्ग बनाती है।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सम्मिलित भोजन व बन्धुत्व अविस्मरण

यावन्तो अस्याः पृथिवीं सचन्ते अस्मत्पुत्राः परि ये संबभूवुः।
सर्वांस्ताँ उप पात्रे ह्वयेथां नाभिं जानानाः शिशवः समायान्॥ ४०॥

१. **यावन्तः**=जितने भी **अस्याः**=इस मेरी पत्नी में **अस्मत् पुत्राः**=मेरे पुत्र **पृथिवीं सचन्ते**=इस पृथिवी के साथ सम्बद्ध हैं, अर्थात् जीवित हैं और **ये**=जो **परि संबभुवुः**=चारों ओर—इधर-उधर भिन्न-भिन्न स्थानों में रह रहे हैं, हे दम्पती! तुम **तान् सर्वान्**=उन सबको **पात्रे उपह्वयेथाम्**=पात्र में पुकारो, अर्थात् समय-समय पर भोजन के लिए एकत्र करो। **नाभिम्**=बन्धुत्व को **जानानाः**=जानते हुए **शिशवः समायान्**=शिशु वहाँ एक स्थान पर आएँ। २. माता-पिता से सन्तान जन्म लेते हैं। बड़े होकर वे भिन्न-भिन्न स्थानों में कार्य करने लगते हैं। उनका भी परिवार बनता है। माता-पिता को चाहिए कि कभी-कभी सन्तानों को परिवार समेत भोजन पर बुलाएँ। उन सबके छोटे-छोटे बालक भी बन्धुत्व को अनुभव करते हुए वहाँ एकत्र होंगे। वस्तुतः एकत्र होना उन्हें एक-दूसरे के समीप लाएगा।

भावार्थ—माता-पिता समय-समय पर सब सन्तानों को सपरिवार भोजन पर बुलाते रहें, ताकि सब भाइयों का व उनके सन्तानों का परस्पर बन्धुत्व (स्मरण) बना रहे। परस्पर के बन्धुत्व को वे भूल ही न जाएँ।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ऐश्वर्य, माधुर्य, ज्ञानरुचिता, नीरोगता

वसोर्या धारा मधुना प्रपीना घृतेन मिश्रा अमृतस्य नाभयः।
सर्वास्ता अव रुन्धे स्वर्गः षष्ट्यां शरत्सु निधिपा अभीच्छात्॥ ४१॥

१. **वसोः याः धाराः**=निवास के लिए आवश्यक धन की जो धाराएँ हैं, जोकि **मधुना प्रपीनाः**=माधुर्य से—परस्पर मधुर व्यवहार से—अतिशयेन पुष्ट हुई-हुई हैं, **घृतेन मिश्राः**=ज्ञानदीप्ति से युक्त हैं, तथा **अमृतस्य नाभयः**=नीरोगता की नाभि (केन्द्र) हैं, **ताः सर्वाः**=उन सब वसुधाराओं को **स्वर्गः अवरुन्धे**=स्वर्ग अपने में रोकता है, अर्थात् 'जहाँ ऐश्वर्य है—मधुर व्यवहार है—ज्ञान की प्रधानता है—नीरोगता का निवास है' वहीं स्वर्ग है। २. इस स्वर्ग को **अभीच्छात्**=वही व्यक्ति प्राप्त करने की कामना करे जोकि **षष्ट्यां शरत्सु निधिपाः**=जीवन के प्रथम साठ वर्षों में वीर्यरूप निधि का रक्षण करनेवाला है। प्रथम वयस् में यदि हम संयमी जीवन बिताते हुए इस अद्भुत वीर्य-निधि का रक्षण करते हैं तो हमारा जीवन अवश्य स्वर्गमय बनता है। उस सशक्त जीवन में हम पुरुषार्थ से आवश्यक धन का अर्जन करने में समर्थ होते हैं, हमारे व्यवहार में माधुर्य बना रहता है, हमारी प्रवृत्ति ज्ञान-प्रधान होती है और शरीर सदा नीरोग होता है। यही तो स्वर्ग है।

भावार्थ—हम जीवन के प्रथम साठ वर्षों में संयम द्वारा वीर्यरक्षण से जीवन को स्वर्ग बनाएँ। 'ऐश्वर्यशाली, मधुर, ज्ञानरुचि व नीरोग' बनकर सुखी हों।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

वीर्य-निधि का रक्षण

निधिं निधिपा अभ्ये ∫ नमिच्छादनीश्वरा अभितः सन्तु येऽ३न्ये।
अस्माभिर्दत्तो निहितः स्वर्गस्त्रिभिः काण्डैस्त्रीन्त्स्वर्गानरुक्षत्॥ ४२ ॥

१. **निधिपाः**=वीर्यरूप निधि की रक्षा करनेवाला **एनं निधिम्**=इस वीर्य-निधि को **अभीच्छात्**=सब प्रकार से प्राप्त करना चाहे। इस वीर्यरूप निधि का वह सब प्रकार से रक्षण करे। **ये अन्ये**=जो इन वीर्य-निधि के रक्षकों से भिन्न व्यक्ति हैं, अर्थात् जो इस निधि के महत्त्व को न समझते हुए इसका रक्षण नहीं करते वे **अभितः अनीश्वराः सन्तु**=इहलोक व परलोक दोनों के दृष्टिकोण से ऐश्वर्यरहित हों—न वे अभ्युदय को प्राप्त करें, न निःश्रेयस को। २. **अस्माभिः**=हमसे तो यह वीर्य-निधि **दत्तः**=(दैङ् पालने) रक्षित हुआ है, इसीलिए **स्वर्गः निहितः**=हमारे लिए स्वर्ग स्थापित हुआ है। मनुष्य को चाहिए कि वह वीर्यरक्षण द्वारा 'ज्ञान, कर्म व उपासना' रूप **त्रिभिः काण्डैः**=तीन काण्डों के द्वारा—जीवन के इन तीन नियमों के द्वारा **त्रीन् स्वर्गान् अरुक्षत्**=तीन स्वर्गों का आरोहण करे। कर्मकाण्ड द्वारा शरीर को सशक्त व स्वस्थ बनाए। उपासना काण्ड द्वारा हृदय को निर्मल बनाए। ज्ञानकाण्ड द्वारा मस्तिष्क को दीप्त रक्खे।

भावार्थ—वीर्यरक्षण के अभाव में न अभ्युदय की प्राप्ति है, न निःश्रेयस का सम्भव। वीर्यरक्षक के लिए ही स्वर्ग है। यह वीर्यरक्षक पुरुष ज्ञान, कर्म व उपासना द्वारा 'द्युलोक (मस्तिष्क), पृथिवीलोक (शरीर) व अन्तरिक्षलोक (हृदय) का विजय करता है।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

आदित्य अङ्गिरस्, न कि क्रव्यात् पिशाच

अग्नी रक्षस्तपतु यद्विदेवं क्रव्यात्पिशाच इह मा प्र पास्त।
नुदाम एनमप रुध्मो अस्मदादित्या एनमङ्गिरसः सचन्ताम्॥ ४३ ॥

१. **अग्निः**=राष्ट्र का अग्रणी राजा **रक्षः तपतु**=उन राक्षसीवृत्ति के लोगों को दण्डित करे, **यत्**=जोकि **विदेवम्**=सब दिव्यवृत्तियों से रहित हैं। **क्रव्यात्**=मांसाहारी **पिशाचः**=राक्षसीवृत्ति

का पुरुष **इह**=राष्ट्र में **मा प्रपास्त**=रक्षण को प्राप्त न करे। २. **एनम्**=इस राक्षसीवृत्तिवाले पुरुष को **नुदामः**=हम अपने से परे प्रेरित करते हैं, इसे **अस्मत् अपरुध्मः**=अपने से दूर ही रोकते हैं। **एनम्**=हमारे राष्ट्र के प्रजाजनों को **आदित्याः**=ज्ञान का आदान करनेवाले **अंगिरसः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाले—स्वस्थ शरीर पुरुष ही **सचन्ताम्**=मेल प्राप्त करानेवाले हों।

भावार्थ—राजा ऐसी व्यवस्था करे कि प्रजाजनों का सम्पर्क 'क्रव्यात् पिशाचों' से न होकर 'आदित्य अङ्गिरसों' से हो।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**पराबृहतीत्रिष्टुप्** ॥

घृत+मधु

आदित्येभ्यो अङ्गिरोभ्यो मध्विदं घृतेन मिश्रं प्रति वेदयामि।
शुद्धहस्तौ ब्राह्मणस्यानिहत्यैतं स्वर्गं सुकृतावपीतम्॥ ४४॥

१. प्रभु कहते हैं कि मैं इन **आदित्येभ्यः**=ज्ञान का आदान करनेवाले, **अङ्गिरोभ्यः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाले, अर्थात् पूर्ण स्वस्थ पुरुषों के द्वारा **घृतेन मिश्रम्**=ज्ञानदीप्ति से युक्त (घृ दीप्तौ) **इदं मधु**=इस माधुर्य को—मधुर व्यवहार को **प्रतिवेदयामि**=तुम्हारे लिए प्राप्त कराता हूँ। इन आदित्यों के सम्पर्क में हमें 'ज्ञान व मधुर व्यवहार' की शिक्षा प्राप्त होती है। २. हे पति-पत्नी! तुम दोनों **ब्राह्मणस्य**=इस ज्ञानी के द्वारा दिये गये **एतम्**=इस ज्ञान व माधुर्य को **अनिहत्य**=नष्ट न करके **शुद्धहस्तौ**=शुद्ध हाथोंवाले होकर, अर्थात् सुपथ से धनार्जन करते हुए तथा **सुकृतौ**=सदा शुभ कर्मों को करते हुए **स्वर्गम् अपि इतम्**=स्वर्ग की ओर बढ़ो (चलो), अर्थात् तुम अपने घर को स्वर्ग बना पाओ।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमें आदित्य विद्वानों के सम्पर्क में ज्ञान व माधुर्य का शिक्षण प्राप्त हो। हम इस ब्राह्मण से दिये गये ज्ञान को नष्ट न करते हुए, सुपथ से धर्नाजन करके, सुकृत् बनकर घर को स्वर्ग बनाएँ।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

घृतवत् सर्पिः

इदं प्रापमुत्तमं काण्डमस्य यस्माल्लोकात्परमेष्ठी समाप।
आ सिञ्च सर्पिर्घृतवत्समङ्ग्ध्येष भागो अङ्गिरसो नो अत्र॥ ४५॥

१. हृदयान्तरिक्ष से सम्बद्ध उपासनाकाण्ड है, शरीररूप पृथिवी से सम्बद्ध कर्मकाण्ड तथा मस्तिष्करूप द्युलोक के साथ ज्ञानकाण्ड का सम्बन्ध है। मैं **अस्य**=इस प्रभु के **इदं उत्तमं काण्डम्**=इस सर्वोत्तम ज्ञानकाण्ड को **प्रापम्**=प्राप्त हुआ हूँ, अर्थात् प्रभु से वेद द्वारा दिये गये ज्ञान को प्राप्त करता हूँ। **यस्मात् लोकात्**=जिस ज्ञान के प्रकाश से **परमेष्ठी समाप**=प्रभु प्राप्त होते हैं। २. हे जीव! तू **घृतवत्**=ज्ञानदीप्ति से युक्त **सर्पिः**=(सृप गतौ) क्रियाशीलता को **आसिञ्च**=अपने जीवन में सींच, अर्थात् सदा ज्ञानपूर्वक कर्मों को करनेवाला बन और इस प्रकार **समङ्ग्धि**=अपने जीवन को सद्गुणों से अलंकृत (Decorate) कर। **अत्र**=इस जीवन में **अङ्गिरसः**=अङ्गिरस् पुरुष का **एषः भागः नः**=यह भजनीय व्यवहार हमारा हो। हम भी अङ्गिरस् बनें और सदा ज्ञानपूर्वक कर्म करते हुए जीवन को सद्गुणों से मण्डित करें।

भावार्थ—हम ज्ञान को प्राप्त करें। ज्ञान के द्वारा प्रभु को प्राप्त करें। हमारी सब क्रियाएँ ज्ञानपूर्वक हों और इस प्रकार हमारे जीवन सद्गुणों से अलंकृत हो पाएँ।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सत्य, तप व देववृत्ति

स॒त्याय॑ च॒ तप॑से दे॒वता॑भ्यो नि॒धिं शे॑व॒धिं परि॑ दद्म ए॒तम्।
मा नो॑ द्यूतेऽव॑ गा॒न्मा समि॑त्यां॒ मा स्मा॒न्यस्मा॒ उत्सृ॑जता पु॒रा मत्॥ ४६ ॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि **एतं निधिम्**=इस वीर्यरूप निधि को तथा **शेवधिम्**=(Valuable treasure) धन को **परिदद्मः**=तेरे लिए देते हैं ताकि तू **सत्याय**=सत्ययुक्त जीवन को बिता सके, **तपसे**=तपस्वी जीवन को बिता सके **च**=तथा **देवताभ्यः**=दिव्यगुणों को धारण कर सके। अशक्ति व निर्धनता में 'सत्य, तप व देववृत्ति' की साधना सम्भव नहीं। २. **नः**=हमसे दिया गया वह धन **द्युते मा अवगात्**=जुए में न चला जाए और **मा समित्याम्**=संग्रामों में या महफ़िलों में नष्ट न हो जाए। **मत्**=मुझसे **पुरा**=(for the defence of) सत्य आदि के रक्षण के लिए प्राप्त इस धन को **अन्यस्मै**='सत्य, तप व देवताओं' से भिन्न बातों के लिए **मा उत्सजृत**=मत दे डालो।

भावार्थ—प्रभु हमें वीर्यरूप निधि व लक्ष्मी (धन) को प्राप्त कराते हैं ताकि हमारा जीवन 'सत्य, तप व देववृत्ति' वाला बन सके। हम इस धन को जुए व लड़ाइयों व महफ़िलों में ही नष्ट न कर दें। प्रभु-प्रदत्त धन को 'सत्य, तप व देववृत्ति' के रक्षण का साधन ही बनाएँ।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

पचामि----ददामि

अ॒हं प॑चाम्य॒हं द॑दामि॒ ममेदु॒ कर्म॑न्क॒रुणेऽधि॑ जा॒या।
कौमा॑रो लो॒को अ॑जनिष्ट पु॒त्रो३॒॑ऽन्वार॑भेथां॒ वय॑ उत्त॒राव॑त्॥ ४७ ॥

१. **अहं पचामि, अहं ददामि**=घर में मैं जिस भी वस्तु का परिपाक करता हूँ, प्रथम उसे देता हूँ। अतिथियज्ञ में व बलिवैश्वदेवयज्ञ में उसका विनियोग करके यज्ञशेष का ही सेवन करता हूँ। वृद्ध माता-पिता को खिलाकर ही पीछे मैं खाता हूँ—इसप्रकार पितृयज्ञ को भी लुप्त नहीं होने देता। **मम**=मेरे **करुणे कर्मन्**=करुणात्मक कर्मों में **जाया अधि**=मेरी पत्नी अधिष्ठातृरूपेण कार्य करनेवाली है। 'आधार देने योग्य व्यक्तियों को (आध्रं चित्) आवश्यक पदार्थ प्राप्त कराना उसका कार्य है। २. **पुत्रः**=सन्तान भी **कौमारः**=क्रीड़क की मनोवृत्तिवाला (Sportsman like spirit) तथा **लोकः**=प्रकाशमय जीवनवाला **अजनष्ट**=हुआ है। हमारी पुत्रों व पुत्र-वधुओं के लिए एक ही प्रेरणा है कि तुम भी **अनु**=हमारे पीछे **उत्तरावत् वयः आरभेथाम्**=उत्कृष्ट जीवन को प्रारम्भ करो।

भावार्थ—उत्कृष्ट जीवन का स्वरूप यह है कि हम (क) यज्ञशेष को खाएँ (ख) गृहिणी उपकार के कार्यों की अधिष्ठात्री हो (ग) सन्तानों को हम क्रीड़क की मनोवृत्तिवाला व प्रकाशमय जीवनवाला बनाएँ (घ) उन्हें एक ही प्रेरणा दें कि उन्होंने हमसे अधिक उत्कृष्ट जीवन बिताना है।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

न किल्बिषं, न आधारः

न कि॒ल्बिष॒मत्र॒ नाधा॒रो अ॒स्ति न यन्मि॒त्रैः स॒मम॑मान॒ एति॑।
अनू॑नं॒ पात्रं॒ निहि॑तं न ए॒तत्प॒क्तारं॑ प॒क्वः पु॒नरा वि॑शाति॥ ४८ ॥

१. **अत्र**=यहाँ हमारे जीवन में **न किल्बिषम् अस्ति**=न पाप है, **न आधारः**=(धृङ् अवध्वंसने falling) न पतन। **न**=न ही यह बात है **यत्**=कि **मित्रैः सम्**=मित्रों के साथ

अममानः एति=(अम् to eat) इधर-उधर खाता हुआ घूमता है। आजकल के युग की भाषा में वह होटलों में मित्रों के साथ चायपार्टी ही नहीं करता रहता है। २. **नः**=हमारा **एतत् पात्रम्**=यह अन्न का पात्र **अनूनं निहितम्**=न न्यूनतावाला स्थापित होता है। हमारे घर में कभी अन्न की कमी नहीं होती। इसप्रकार पवित्र जीवन में **पक्तारम्**=अपना परिपाक करनेवाले का **पक्वः**=यह परिपक्व हुआ-हुआ वीर्य पुनः **आविशाति**=फिर से शरीर में समन्तात् प्रवेश करता है—शरीर में ही व्याप्त हो जाता है।

भावार्थ—हमारे जीवनों में न पाप हो, न पतन। न ही हम मित्रों के साथ इधर-उधर खाते-पीते रहें। घर में हमारे अन्न की कमी न हो परिपक्वशक्ति को तपस्या के द्वारा शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**यमः** ॥ **स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

धेनुः, अनड्वान्, वयः

प्रियं प्रियाणां कृणवाम तमस्ते यन्तु यतमे द्विषन्ति।
धेनुरनड्वान्वयोवय आयदेव पौरुषेयमप मृत्युं नुदन्तु॥ ४९ ॥

१. हम अपने व्यवहार में **प्रियाणां प्रियं कृणवाम**=प्रिय व्यक्तियों का प्रिय ही करें। **यतमे द्विषन्ति**=जो भी द्वेष करते हैं, **ते तमः यन्तु**=वे अन्धकार को प्राप्त हों। द्वेष करनेवालों का जीवन अन्धकारमय हो। २. **धेनुः**=दुधारू गौ, **अनड्वान्**=हमारी गाड़ियों को खैंचनेवाला अथवा कृषि का साधनभूत बैल तथा **आयत् एव वयः**=(Sacrificial food) सदा प्राप्त होता हुआ यज्ञिय भोजन **पौरुषेयं अपमृत्युम्**=पुरुष-सम्बन्धी अपमृत्यु को **नुदन्तु**=हमारे जीवन से दूर धकेल दे। उत्तम दूध को, कृषि से उत्पन्न अन्न को तथा यज्ञिय भोजन को प्राप्त करते हुए हम पूर्ण दीर्घजीवन को प्राप्त करें।

भावार्थ—हम अपने व्यवहार में प्रिय ही रहें—द्वेषभावना से दूर रहें। द्वेष जीवन को अन्धकारमय बना देता है। गोदुग्ध, कृषि से उत्पन्न अन्न और यज्ञिय भोजन का सेवन करते हुए हम अपमृत्यु से बचें और पूर्ण जीवन को प्राप्त करें।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

हिरण्यं ज्योतिः

समग्रयो विदुरन्यो अन्यं य ओषधीः सचते यश्च सिन्धून्।
यावन्तो देवा दिव्याऽऽतपन्ति हिरण्यं ज्योतिः पचतो बभूव॥ ५० ॥

१. **अग्रयः**=प्रगतिशील पुरुष **अन्यो अन्यम् संविदुः**=परस्पर एक-दूसरे को सम्यक् जानते हैं। वे परस्पर बड़े उत्तम व्यवहारवाले होते हैं। अग्नि व प्रगतिशील पुरुष वह है **यः ओषधीः सचते**=जोकि वानस्पतिक भोजनों को करता है, **च यः**=और जो **सिन्धून्**=(स्यन्दन्ते) प्रवाहित होनेवाले जलों को पीता है। 'सादा खाना, पानी-पीना और उच्च विचारवाला बनना' यही 'अग्नि' का लक्षण है। २. **यावन्तः**=जितने भी **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष हैं, वे **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **आतपन्ति**=अपने को ज्ञानदीप्त बनाते हैं। यह ज्ञानदीप्ति ही उन्हें पवित्र जीवनवाला बनाकर देव बना देती है। **पचतः**=जो भी अपने जीवन को तपस्या की अग्नि में परिपक्व करता है, उस व्यक्ति को **हिरण्यं ज्योतिः**=हितरमणीय ज्ञानज्योति **बभूव**=प्राप्त होती है (भू प्राप्तौ)।

भावार्थ—प्रगतिशील पुरुष परस्पर प्रीतिपूर्वक वर्तते हैं, वे द्वेष नहीं करते। ये अन्न व जल का सेवन करते हैं और ज्ञान के द्वारा जीवन को देववृत्ति का बनाते हैं। इन तपस्वियों को हितरमणीय ज्योति प्राप्त होती है।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

क्षत्र+अमोतं वासः

एषा त्वचां पुरुषे सं बभूवानग्नाः सर्वे पशवो ये अन्ये।
क्षत्रेणात्मानं परि धापयाथोऽमोतं वासो मुखमोदनस्य॥ ५१ ॥

१. **त्वचाम् एषा**=त्वचाओं में यह त्वचा—किन्हीं भी बालों से अनावृत त्वचा **पुरुषे संबभूव**=पुरुष में है, अर्थात् पुरुष की यह त्वचा है जो कि नग्न-सी है। **ये अन्ये सर्वे पशवः**=जो और सारे पशु हैं, वे जो **अनग्नाः**=नग्न नहीं है—उन्हें शीतोष्ण के निवारण के लिए वस्त्रान्तर की आवश्यकता नहीं। २. हे पति-पत्नी! आप दोनों **क्षत्रेण**=बल से—वीर्यशक्ति से **आत्मानम्**=अपने को **परिधापयाथः**=परिधापित करो—यह क्षत्र ही आपका वस्त्र बने। इस क्षत्र के साथ **अमा ऊतं वासः**=घर में बुना हुआ वस्त्र **ओदनस्य**=इन अन्नमयकोश का **मुखम्**=प्रधान परिधान (वस्त्र) होता है।

भावार्थ—प्रभु ने मनुष्य की त्वचा को अन्य प्राणीयों की तरह बालों से आवृत नहीं किया, अतः मनुष्य को वस्त्रों की आवश्यकता होती है। मुख्य वस्त्र तो 'बल' ही है। जितनी शक्ति कम होगी उतनी वस्त्रें की आवश्यकता अधिक होगी। उसके लिए प्रयत्न करना चाहिए कि घर पर कते-बुने वस्त्र ही पहने जाएँ।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

समानं तन्तुं अभि सं वसानौ

यदक्षेषु वदा यत्समित्यां यद्वा वदा अनृतं वित्तकाम्या।
समानं तन्तुमभि संवसानौ तस्मिन्त्सर्वं शमलं सादयाथः॥ ५२ ॥

१. **यत्**=जो झूठ तुम **अक्षेषु**=अभियोगों (Lawsuit) में **वदाः**=बोल बैठते हो, **यत् समित्याम्**= जो संग्रामों में (व सभाओं में), **यत् वा**=अथवा जो **अनृतम्**=झूठ **वित्तकाम्या**=धन की कामना से **वदाः**=तुम बोलते हो, उस **सर्वं शमलम्**=सब नैतिक अपवित्रता (Moral impurity) को, **समानं तन्तुम्**=सर्वत्र समानरूप से विस्तृत (Supreme Being) सर्वव्यापक उस प्रभु को **अभिसंवसानौ**=चारों ओर से ओढ़ते हुए, **तस्मिन् सादयाथः**=उस प्रभु में विनष्ट कर डालो। प्रभु में निवास करनेवाला व्यक्ति इन अनृतरूप मलों से आक्रान्त नहीं होता।

भावार्थ—अभियोगों के अवसरों पर, संग्रामों व सभाओं में तथा धन की कामना से हम झूठ बोल बैठते हैं, परन्तु जब हम अपने को सर्वव्यापक प्रभु से आच्छादित हुआ-हुआ अनुभव करेंगे तब यह सब अनृत का मल हमसे दूर हो जाएगा।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वर्षं वनुष्व----अपि गच्छ देवान्

वर्षं वनुष्वापि गच्छ देवांस्त्वचो धूमं पर्युत्पातयासि।
विश्वव्यचा घृतपृष्ठो भविष्यन्त्सयोनिर्लोकमुप याह्येतम्॥ ५३ ॥

१. **वर्षम्**=(वृषु सेचने) शक्ति के शरीर में सेचन को **वनुष्व**=तू सेवित कर। शरीर में उत्पन्न शक्ति को शरीर में ही सिक्त करने के लिए यत्नशील हो और इसप्रकार **देवान् अपिगच्छ**=दिव्यगुणों की ओर गतिवाला हो। **त्वचः**=अपनी त्वचा से **धूमम्**=मलिनतारूप धूम को **पर्युत्पातयासि**=दूर फेंकनेवाला हो। शरीर में शक्ति के रक्षण से जहाँ मन दिव्य गुणों से सम्पन्न बनेगा, वहाँ शरीर की त्वचा भी रोगों की निस्तेजस्विता से शून्य होकर चमक उठेगी २. **विश्वव्यचाः**=सब शक्तियों

के विस्तारवाला, **घृतपृष्ठः**=ज्ञानदीप्ति को अपने में सींचनेवाला **भविष्यन्**=होना चाहता हुआ तू **सयोनिः**=प्रभु के साथ एक घर में निवासवाला, अर्थात् हृदय में प्रभु के साथ स्थित हुआ-हुआ **एतं लोकम् उपयाहि**=इस लोक को प्राप्त हो—प्रभुस्मरणपूर्वक इस लोक में विचरनेवाला बन। यह प्रभुस्मरण तेरी सब क्रियाओं को पवित्र बनाएगा।

भावार्थ—शरीर में ही वीर्यशक्ति के सेचन से मन में दिव्यगुणों की स्थिति होगी तथा शरीर में नीरोगता के कारण त्वचा चमक उठेगी। साथ ही प्रभुस्मरणपूर्वक सब क्रियाओं को करने पर मनुष्य अपनी शक्तियों का विस्तार करेगा और ज्ञानदीप्ति से अपने को दीप्त कर पाएगा।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

कृष्णा, रुशती, लोहिनी

तन्वं स्वर्गो बहुधा वि चक्रे यथा विद आत्मन्नन्यवर्णाम्।
अपाजैत्कृष्णां रुशतीं पुनानो या लोहिनी तां ते अग्नौ जुहोमि॥ ५४॥

१. **स्वर्गः**=(स्वः गच्छति) प्रकाश को प्राप्त होनेवाला व्यक्ति **तन्वम्**=अपने शरीर को **बहुधा**=नाना प्रकार से **विचक्रे**=विशिष्ट (भिन्न-भिन्न) रूपों में करता है। वैसे-वैसे ही वह इस कार्य को कर पाता है, **यथा**=जिस-जिस प्रकार वह इस तनू को **आत्मन्**=अपने अन्दर **अन्यवर्णाम् विदे**=विलक्षण वर्णोंवाली जान पाता है। वह देखता है कि जिस अजा (प्रकृति) से उसका यह शरीर बना है वह अजा लोहित, शुक्ल व कृष्णावर्णा है। उसका शरीर व शरीरस्थ मन भी परिणामतः लोहित, शुक्ल व कृष्णावृत्तियोंवाला है। ये वृतियाँ ही क्रमशः 'राजसी, सात्त्विक व तामसी' कहलाती हैं। ३. यह **स्वर्गः**=प्रकाश को प्राप्त होनेवाला व्यक्ति **कृष्णाम् अपाजैत्**=कृष्णावर्णा तामसीवृत्ति को अपने से दूर करता है—इसे सुदूर पराजित करके नष्ट करनेवाला होता है। **रुशतीम्**=दीप्त (Bright) सात्त्विकी वृत्ति को **पुनानः**=पवित्र व परिमार्जित करता है और या **लोहिनी**=जो रक्तवर्णा राजसी वृत्ति है, **ते ताम्**=हे प्रभो! आपकी बनाई हुई उस वृत्ति को **अग्नौ जुहोमि**=प्रगतिशीलता में आहुत (अर्पित) करता हूँ, अर्थात् रजोगुण का वह 'स्वर्ग' (प्रकाश की ओर चलनेवाला व्यक्ति) इतना ही लाभ लेने का प्रयत्न करता है कि इसकी क्रियाशीलता बनी रहे, अर्थात् यह रजोगुण उसे सत्त्वगुण में आगे बढ़ने में सहायक हो।

भावार्थ—हम अपने अन्दर विविध वर्ण की वृत्तियों को जानकर तामसीवृत्ति को दूर करें, सात्त्विक वृत्ति को अधिकाधिक पवित्र करते हुए राजसी वृत्ति को उसकी सहायिका बनाएँ, अर्थात् रजोगुण के कारण सत्त्वगुण क्रियाशील बना रहे और हम सात्त्विक भावों में आगे बढ़ते चलें।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाः शङ्कुमत्योऽतिजागतशाक्वरातिशाक्वरधार्त्यगर्भातिधृतयः, कृतिः** ॥

प्राच्यै दिशे

प्राच्यै त्वा दिशे३ग्नयेऽधिपतयेऽसिताय रक्षित्र आदित्यायेषुमते।
एतं परि दद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः। दिष्टं नो अत्र जरसे
नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम॥ ५५॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि **एतं त्वा**=इस तुझको **प्राच्यै दिशे परिदद्मः**=उस प्राची दिशा के लिए—आगे बढ़ने की दिशा के लिए (प्र अञ्च्) देते हैं, अर्पित करते हैं, जिस दिशा का **अग्नये अधिपतये**=अधिपति अग्नि है। अग्रगति का अधिपति ही अग्नि कहलाता है। इस दिशा

का **रक्षित्रे असिताय**=रक्षिता असित है—'अ-सित'=अबद्ध, जो विषयों की शृंखला से बद्ध नहीं हो गया। **आदित्याय इषुमते**=यह दिशा आदित्यरूप प्रेरणावाली है। इस दिशा में उदित हुआ-हुआ सूर्य निरन्तर आगे बढ़ने की प्रेरणा दे रहा है। **नः**=हमसे दी गई **तम्**=उस प्राची दिशा की स्थिति को **गोपायत**=तब तक सुरक्षित रक्खो, **अस्माकम् आ एतोः**=जब तक कि हमारे समीप तुम सर्वथा पहुँच नहीं जाते (एतोः=आगमनात्)। जीव प्रार्थना करता है कि **दिष्टम्**=दैव अथवा प्रभु का यह निर्देश **नः**=हमें **अत्र**=इस प्राची दिशा में—अग्रगति के मार्ग में **जरसे**=प्रभुस्तवन के लिए **निमेषत्**=प्राप्त कराए। हम प्रभुस्तवन करते हुए निरन्तर आगे बढ़ें तथा **जरा**=यह प्रभुस्तवन ही **नः**=हमें **मृत्यवे**=मृत्यु के लिए **परिददातु**=दे। प्रयाणकाल में प्रभुस्मरण करते हुए ही हम प्राणों का त्याग करें। **अथ**=अब **पक्वेन**=सदा परिपक्व प्रभु के **सह सम्भवेम**=साथ स्थिति को प्राप्त करें—प्रभु के साथ विचरनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु हमें अग्रगति करते हुए 'अग्नि' बनने का उपदेश देते हैं। इस अग्रगति के रक्षण के लिए हम विषयों से बद्ध न हों और सूर्य से निरन्तर आगे बढ़ने की प्रेरणा लें। यह अग्रगति के मार्ग में प्रभुस्तवन करें। प्रभुस्तवन करते हुए ही जीवन के अन्तिम प्रयाण में प्राणों को छोड़ें और प्रभु के साथ विचरनेवाले बनें।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाः शङ्कुमत्योऽतिजागतशाक्वरातिशाक्वरधार्त्यगर्भातिधृतयः** ॥

दक्षिणायै दिशे

दक्षिणायै त्वा दिश इन्द्रायाधिपतये तिरश्चिराजये रक्षित्रे यमायेषुमते।
एतं परि दद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः। दिष्टं नो अत्र जरसे
नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम॥ ५६॥

१. प्रभु कहते हैं कि **एतं त्वा**=इस तुझको **दक्षिणायै दिशे**=दाक्षिण्य की दिशा के लिए अर्पित करते हैं, जिस दिशा में **इन्द्राय अधिपतये**=इन्द्र अधिपति है। दाक्षिण्य का अधिपति इन्द्र है—परमैश्वर्यवाला है। किसी भी कार्य में दाक्षिण्य परमैश्वर्य को प्राप्त कराता ही है। **तिरश्चिराजये रक्षित्रे**=इस दाक्षिण्य की रक्षक पशु-पक्षियों की पंक्ति है। प्रभु ने चील में आदर्श उड़ान को स्थापित किया है, मधुमक्षिका में शहद के निर्माण की शक्ति को तथा सिंह में तरण के दाक्षिण्य को। मनुष्य इनसे प्रेरणा प्राप्त करता है। यह दिशा **यमाय इषुमते**=यमरूप प्रेरणावाली है। हमारे जीवनों के नियन्ता 'माता, पिता व आचार्य' दाक्षिण्य को प्राप्त करने की प्रेरणा दे रहे हैं। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—निरन्तर आगे बढ़ते हुए हम दाक्षिण्य को प्राप्त करेंगे। इस दाक्षिण्य से हम इन्द्र=ऐश्वर्यशाली होंगे। इस दाक्षिण्य की रक्षा के लिए पशु-पक्षियों को स्थापित किया है। नियन्ता आयार्च आदि हमें इसके लिए प्रेरित करता है।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः, ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाः शङ्कुमत्योऽतिजागतशाक्वरातिशाक्वरधार्त्यगर्भातिधृतयः, कृतिः** ॥

प्रतीच्यै दिशे

प्रतीच्यै त्वा दिशे वरुणायाधिपतये पृदाकवे रक्षितेऽन्नायेषुमते।
एतं परि दद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः। दिष्टं नो अत्र जरसे
नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम॥ ५७॥

१. प्रभु कहते हैं कि **एतं त्वा**=इस तुझको **प्रतीच्यै दिशे**=(प्रति अञ्च्) वापस लौटने की दिशा के लिए अर्पित करते हैं—यह दिशा प्रत्याहार की दिशा है—इन्द्रियों को विषयों से व्यावृत्त करने की दिशा है। **वरुणाय अधिपतये**=इस दिशा का अधिपति वरुण है—विषयों से अपना निवारण करनेवाला। **पृदाकवे रक्षित्रे**=(पृ-दा-कु) पालन व पूर्ण के लिए सब अन्न को देनेवाली पृथिवी इस प्रत्याहार की रक्षिका है—यह अपने से दूर फेंके गये सब पदार्थों को अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है। **अन्नाय इषुमते**=अन्न ही इस दिशा की प्रेरणा दे रहा है कि प्रत्यहार के अभाव में, हे मनुष्यो! तुममें मुझे खा सकने का सामर्थ्य भी न रहेगा। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—दाक्षिण्य से ऐश्वर्य प्राप्त करके हमें बड़ा सावधान होने की आवश्यकता है। कहीं हम इस ऐश्वर्य के कारण विषयों का शिकार न हो जाएँ, अतः यह 'प्रतीची' हमें प्रत्याहार का पाठ पढ़ाती है। हम पढेंगे तो वरुणः=श्रेष्ठ बनेंगे। यह भूमिमाता निरन्तर प्रत्याहार में लगी है। अन्न भी हमें प्रत्याहार की प्रेरणा देता हुआ कहता है कि प्रत्याहार के अभाव में 'तुम मुझे न खाओगे, मैं ही तुम्हें खा जाऊँगा'।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाः शङ्कुमत्योऽतिजागतशाक्वरातिशाक्वरधार्त्यगर्भातिधृतयः, कृतिः** ॥

उदीच्यै दिशे

उदीच्यै त्वा दिशे सोमायाधिपतये स्वजाय रक्षित्रेऽशन्या इषुमत्यै।
एतं परि दद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः। दिष्टं नो अत्र जरसे
नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम॥ ५८॥

१. प्रभु कहते हैं कि अब प्रत्याहार का पाठ पढ़ने पर **एतं त्वा**=इस तुझको **उदीच्यै दिशे**=(उत् अञ्च्) इस ऊपर उठने की—उन्नति की दिशा के लिए सौंपते हैं। प्रत्याहार के होन पर ही उन्नति सम्भव होती है। इस **सोमाय अधिपतये**=दिशा का अधिपति सोम है—सौम्य=विनीत। विनीतता ही उत्थान का कारण बनती है 'नम्रत्वेनोन्नतिमन्तः'। **स्वजाय रक्षित्रे**=(सु अज) उत्तमता से गतिमय होनेवाला, कर्तव्य-कर्मों में लगे रहनेवाला व्यक्ति ही उन्नति की दिशा का रक्षक है। **अशन्यै इषुमत्यै**=(अशनिः=fire) निरन्तर ऊर्ध्व जलनेवाली अग्नि इसी उन्नति की दिशा की प्रेरणा दे रही है। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—प्रत्याहार का पाठ हमें उन्नति की दिशा में चलने योग्य बनाएगा। यदि हम सौम्य बने रहेंगे तभी उन्नति के अधिपति भी होंगे। निरन्तर क्रियाशीलता इस उन्नति का रक्षण करेगी और ऊर्ध्वज्वलनवाली अग्नि हमें निरन्तर उन्नति की प्रेरणा देती है।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाः शङ्कुमत्योऽतिंजागतशाक्वरतिशाक्वरधार्त्यगर्भातिधृतयः, कृतिः** ॥

ध्रुवायै दिशे

ध्रुवायै त्वा दिशे विष्णवेऽधिपतये कल्माषग्रीवाय रक्षित्र ओषधीभ्य
इषुमतीभ्यः। एतं परि दद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः। दिष्टं नो अत्र
जरसे नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम॥ ५९॥

१. उन्नति के मार्ग पर चलनेवाले के लिए प्रभु निर्देश करते हैं कि **एतं त्वा**=इस तुझे **ध्रुवायै दिशे**=ध्रुवा दिशा के लिए अर्पित करता हूँ। तुझे जीवन में ध्रुव बनना है—स्थिरवृत्ति का। डाँवाडोल वृत्तिवाला व्यक्ति कभी उन्नति नहीं करता। **विष्णवे अधिपतये**=विष्णु इस दिशा का

अधिपति है—व्यापक उन्नति करनेवाला। यह 'शरीर, मन व मस्तिष्क' तीनों को स्वस्थ बनाकर सब क्षेत्रों में उन्नतिवाला होता है। **कल्माषग्रीवाय रक्षित्रे**=इस ध्रुवा दिशा का रक्षिता कल्माषग्रीव है—विविध विज्ञानों से चित्रित कण्ठवाला। **ओषधीभ्यः इषुमतीभ्यः**=सब दोषों का दहन करनेवाली ये ओषधियाँ इस ध्रुवता की प्रेरणा दे रही हैं। दोषों का दहन करके हम उन्नति की ध्रुव नींव डालते हैं। शेष पूर्ववत्०

भावार्थ—उन्नति की स्थिरता के लिए ध्रुवता नितान्त आवश्यक है। इस ध्रुवता का अधिपति विष्णु है—'शरीर, मन व मस्तिष्क' तीनों को स्वस्थ बनानेवाला। विविध विज्ञानों से चित्रित कण्ठवाला व्यक्ति इस ध्रुवता का रक्षक है। 'ध्रुवता से ही दोषों का दहन होगा,' ओषधियाँ यह प्रेरणा दे रही हैं। ओषधियाँ दोषों का दहन तो करती ही हैं (उष दाहे)।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**स्वर्गः ओदनः, अग्निः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाः शङ्कुमत्योऽतिजागतशाक्वरातिशाक्वरधार्त्यगर्भातिधृतयः, कृतिः** ॥

ऊर्ध्वायै दिशे

ऊ॒र्ध्वायै॑ त्वा दि॒शे बृह॒स्पत॒येऽधि॑पतये श्वि॒त्राय॑ रक्षि॒त्रे व॒र्षायेषु॑मते।
ए॒तं परि॑ दद्म॒स्तं नो॑ गोपाय॒तास्माक॒मैतोः॑। दि॒ष्टं नो॒ अत्र॑ ज॒रसे॒
नि ने॑षज्ज॒रा मृ॒त्यवे॒ परि॑ णो ददा॒त्वथ॑ प॒क्वेन॑ स॒ह सं भ॑वेम॥ ६०॥

१. **एतं त्वा**=इस ध्रुववृतिवाले तुझ पुरुष को **ऊर्ध्वायै दिशे**=ऊर्ध्वा दिक् के लिए देते हैं—तू उन्नति के शिखर पर पहुँचनेवाला बन। **बृहस्पतये अधिपतये**=इस दिशा का अधिपति बृहस्पति है—ब्रह्मणस्पति=ज्ञान का स्वामी। यह ज्ञान का स्वामी सर्वोच्च स्थिति में है। **श्वित्राय रक्षित्रे**=ज्ञान के द्वारा शुद्ध जीवनवाला इस सर्वोच्च स्थिति का रक्षक है। **वर्षाय इषुमते**=उस स्थिति में—धर्ममेघ समाधि में अन्दर से होनेवाली आनन्द की वृष्टि इस ऊर्ध्वादिक् में पहुँचने के लिए प्रेरणा देती है। जितना-जितना हम ऊर्ध्वादिक् में स्थिर होंगे उतना-उतना ही आनन्द अनुभव होगा। शेष पूर्ववत्०

भावार्थ—ध्रुवता हमें सर्वोच्च स्थिति में पहुँचाती है। इस स्थिति का अधिपति बृहस्पति है—ज्ञानी है। शुद्ध जीवनवाला इस स्थिति का रक्षण करता है तथा आनन्द की वृष्टि का अनुभव हमें यहाँ पहुँचने की प्रेरणा देता है।

यह बृहस्पति ही 'कश्यप' है—पश्यक। यही अगले सूक्त का ऋषि है। यह सब भूतों को अपने वश में करनेवाला होता है, अतः 'वशा' अगले सूक्त का देवता (विषय) है। सबको अपने वश में करने का साधन यह कमनीय वेदवाणी बनती है। वस्तुतः वेदवाणी ही कमनीय (चाहने योग्य) व ज्ञानदुग्ध को देनेवाली 'वशा' है—

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ब्रह्म-दान

द॒दा॒मीत्ये॒व ब्रू॑याद॒नु चै॑ना॒मभु॑त्सत।
व॒शां ब्र॒ह्मभ्यो॒ याच॑द्भ्य॒स्तत्प्र॒जाव॒दप॑त्यवत्॥ १॥

१. **याचद्भ्यः ब्रह्मभ्यः**=याचना करनेवाले ब्राह्मणों (ज्ञान के पिपासुओं) के लिए '**ददामि**' **इति एव ब्रूयात्**='देता हूँ' ऐसा ही कहे, अर्थात् ज्ञान देने में संकोच व निषेध न करे **च**=और **एनाम्**=इस **वशाम्**=वेदवाणी को **अनु अभुत्सत**=आचार्यों की अनुकूलता में—उनके

निर्देशानुसार आचरण करते हुए जानें। २. **तत्**=वह ज्ञान देने व प्राप्त करने का कार्य **प्रजावत्**=राष्ट्र में उत्तम प्रजाओंवाला व **अपत्यवत्**=परिवारों में उत्तम सन्तानोंवाला होता है। ज्ञान के प्रसार से प्रजा व सन्तान उत्तम बनते है।

भावार्थ—चाहनेवाले ज्ञान-पिपासुओं के लिए यह वेदज्ञान देना ही चाहिए। आचार्य के निर्देशानुसार कार्य करते हुए हम ज्ञान प्राप्त करते हैं। यह ज्ञान-प्रसार प्रजाओं व सन्तानों के जीवनों को उत्तम बनाता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देवों की गौ

प्रजया स वि क्रीणीते पशुभिश्चोप दस्यति।
य आर्षेयेभ्यो याचद्भ्यो देवानां गां न दित्सति॥ २॥

१. प्रभु ने सृष्टि के प्रारम्भ में इस वेदवाणीरूप गौ को 'अग्नि, वायु, आदित्य व अङ्गिरा' इन देवों को प्राप्त कराया, अतः यह वेदधेनु 'देवों की गौ' कहलाती है। इस **देवानां गाम्**=देवधेनु को **यः**=जो **याचद्भ्यः**=याचना करनेवाले **आर्षेयेभ्यः**=ऋषि सन्तानों के लिए—पवित्राचरण जिज्ञासुओं के लिए **न दित्सति**=नहीं देना चाहता है, **सः**=वह **प्रजया विक्रीणीते**=प्रजा के साथ अपने को बेच डालता है, अर्थात् ऐसा राष्ट्र परतन्त्र हो जाता है **च**=और **पशुभिः उपदस्यति**=वह पशुओं से क्षीण हो जाता है। ऐसे राष्ट्र में गवादि पशु भी उत्तम दूध आदि देनेवाले नहीं रहते।

भावार्थ—जिस राष्ट्र में राजा वेदज्ञान के प्रसार के लिए प्रयत्नशील नहीं होता वह राष्ट्र परतन्त्र और उत्तम पशुओं से रहित हो जाता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

साङ्ग वेदाध्ययन

कूटयास्य सं शीर्यन्ते श्लोणया काटमर्दति।
बण्डया दह्यन्ते गृहाः काणया दीयते स्वम्॥ ३॥

१. **कूटया**=(कूट दानाभावे to abstain from giving) वेदवाणी के न देने से **अस्य संशीर्यन्ते**=इस राष्ट्र के पुरुष शीर्ण (नष्ट) हो जाते हैं। (कूटा A cow whose horns are broken) (शिक्षा प्राणं तु वेदस्य, मुखं व्याकरणं स्मृतम्। निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते) **कूटया**='शिक्षा, व्याकरण व निरुक्त' के बिना वेदवाणी से **अस्य सं शीर्यन्ते**=इस राष्ट्र के पुरुष शीर्ण ही होते हैं। **श्लोणया**=(Cripple छन्दः पादौ तु वेदस्य 'शिक्षा') छन्दोरहित अतएव लंगड़ी वेदवाणी से **काटम् अर्दति**=(अर्द गतौ, कम् well) कूएँ में पड़ता है, अर्थात् वेदवाणी को छन्दों के ज्ञान के साथ ग्रहण करने से ही उसका ठीक भाव अवगत होता है। २. **बण्डया**=(A cow without a tail) (हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते) कल्पमय हाथों से रहित लूली वेदवाणी से **गृहाः दह्यन्ते**=घर भस्म हो जाते हैं। 'कल्प' अनुष्ठान का प्रतिपादन करते हैं। यदि वेदों को पढ़कर भी तद्विहित यज्ञों का अनुष्ठान न होगा तो घरों का क्या कल्याण होना? **काणया**= (ज्योतिषमयनं चक्षुः, निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते) ज्योतिष के ज्ञान से रहित वेदवाणी से **स्वं दीयते**=ज्ञानधन का विनाश ही होता है (दी क्षये), अर्थात् वेद को ठीक प्रकार से समझने के लिए ज्योतिष (नक्षत्रविद्या) को समझना भी आवश्यक है।

भावार्थ—वेदवाणी को ठीक से समझने के लिए 'शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द व ज्योतिष' इन अङ्गों का अध्ययन नितान्त आवश्यक है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययन

विलोहितो अधिष्ठानाच्छक्नो विन्दति गोपतिम्।
तथा वशायाः संविद्यं दुरदभ्ना ह्युच्यसे॥ ४॥

१. **अधिष्ठानात्**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनने से—इन्द्रियरूप अश्वों पर आरूढ़ होने से **विलोहितः**=विशिष्टरूप से तेजस्वी **शक्रः**=शक्तिशाली पुरुष **गोपतिम् विन्दति**=ज्ञान की वाणियों (वेदवाणियों) के स्वामी को प्राप्त होता है। इस गोपति को प्राप्त करके यह भी ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करनेवाला होता है **तथा**=इसीप्रकार, अर्थात् जितेन्द्रिय (ब्रह्मचारी) बनकर आचार्य-चरणों में उपस्थित होने से ही **वशायाः**=इस वेदवाणी का **संविद्यम्**=सम्यक् ज्ञान होता है। हे वशे! तू **हि**=निश्चय से **दुरदभ्ना उच्यसे**=(दुर् अदभ्ना) बुराइयों से न दबाई जानेवाली कही जाती है। जहाँ वेदवाणी का अध्ययन होता है, वहाँ बुराइयों का प्रवेश नहीं।

भावार्थ—वेदाध्ययन के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक है। जहाँ वेदाध्ययन है, वहाँ बुराइयों का प्रवेश नहीं।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विक्लिन्दुः

पदोरस्या अधिष्ठानाद्विक्लिन्दुर्नाम विन्दति।
अनामनात्सं शीर्यन्ते या मुखेनोपजिघ्रति॥ ५॥

१. **अस्याः**=इस वेदवाणी के **पदोः**=ज्ञान-विज्ञानरूप पाँवों में **अधिष्ठानात्**=अधिष्ठित होने से, अर्थात् वेदवाणी के द्वारा विज्ञान-सहित ज्ञान को प्राप्त करने पर मनुष्य **विक्लिन्दुः**=(क्लिदिं रोदने शोके च) सब प्रकार के शोक से ऊपर उठा हुआ **नाम विन्दति**=यश को प्राप्त करता है। २. परन्तु **अनामनात्**=इन वाणियों का मनन न करने से लोग **संशीर्यन्ते**=नष्ट हो जाते हैं। **याः**=जिन वाणियों को **मुखेन उपजिघ्रति**=केवल मुख से सूँघता है, अर्थात् जिन वाणियों को केवल मुख से बोलता हुआ, समझने का प्रयत्न नहीं करता, वे वाणियाँ इसका कल्याण नहीं करतीं।

भावार्थ—वेदवाणी द्वारा ज्ञान-विज्ञान प्राप्त करके हम शोकातीत होकर यशस्वी होते हैं। इनके न समझने—केवल उच्चारण से कल्याण नहीं। समझने पर उन्हें आचरण में लाएँगे और कल्याण को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वेदज्ञता के आडम्बर का अभाव

यो अस्याः कर्णावास्कुनोत्या स देवेषु वृश्चते।
लक्ष्म कुर्व इति मन्यते कनीयः कृणुते स्वम्॥ ६॥

१. **यः**=जो **अस्याः**=इस वेदवाणी के **कर्णौ आस्कुनोति**=(निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते) निर्वचनरूप कानों को आवृत किये रखता है, अर्थात् वेदशब्दों का निवर्चन नहीं करता, **सः**=वह **देवेषु**=विद्वानों में **आवृश्चते**=छिन्न हो जाता है। इस व्यक्ति का परिगणन विद्वानों में नहीं रहता, चूँकि निर्वचन के अभाव में यह वेदों का असंगत अर्थ करता है। २. जो व्यक्ति **'लक्ष्म कुर्वे' इति मन्यते**=ऐसा समझता है कि मैं इस वेदवाणी को अपना 'चिह्न' (पदवी) बनाता हूँ, अर्थात् जो वेदवाणी को पढ़ने के स्थान पर उसका आडम्बर अधिक करता है, वह **स्वं कनीयः कृणुते**=अपने वास्तविक

ऐश्वर्य को न्यून करता है। दिखावे से उसकी वेदज्ञता कलंकित हो जाती है।

भावार्थ—हमें निर्वचन द्वारा वेदशब्दों के मर्म को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। वेदज्ञता के आडम्बर की अपेक्षा वेद को समझने का अधिक प्रयत्न करना चाहिए तभी हम देव बनेंगे।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वत्सान् घातुकः 'वृकः'

यदस्याः कस्मैचिद्भोगाय बालान्कश्चित्प्रकृन्तति।
ततः किशोरा म्रियन्ते वत्सांश्च घातुको वृकः॥ ७॥

१. **यत्**=जब **कस्मैचित् भोगाय**=किसी सांसारिक भोग-विलास के दृष्टिकोण से **कश्चित्**=कोई व्यक्ति **बालान्**=अपने छोटे बच्चों को **अस्याः प्रकृन्तति**=इस वेदवाणी से विच्छिन्न करता है, अर्थात् इसप्रकार सोचकर कि 'वेद पढ़कर क्या करेगा? क्या कमा पाएगा?' वह अपने सन्तानों को वेद न पढ़ाकर अन्य मार्गों पर ले-जाता है, **ततः**=तब **किशोराः म्रियन्ते**=वे युवक विलासवृत्ति के शिकार होकर युवावस्था में ही मर जाते हैं। २. वस्तुतः इस दिशा में सोचनेवाला व्यक्ति अपने **वत्सान्**=सन्तानों को **घातुकः**=मारनेवाला **वृकः**=भेड़िया ही होता है। वह सन्तानों का कल्याण नहीं कर पाता।

भावार्थ—माता-पिता को चाहिए कि वे अपने सन्तानों को वेद अवश्य पढ़ाएँ। 'वेद पढ़ाने से उतना रुपया न कमा पाएगा' यह सोचकर वेद न पढ़ानेवाला पिता एक वृक के समान है जोकि अपने सन्तानरूप वत्सों को मारता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वेदत्याग से रोग व मृत्यु

यदस्या गोपतौ सत्या लोम ध्वाङ्क्षो अजीहिडत्।
ततः कुमारा म्रियन्ते यक्ष्मो विन्दत्यनामनात्॥ ८॥

१. **गोपतौ**=ज्ञान की वाणियों के रक्षक विद्वान् पुरुष में **सत्याः अस्याः**=विद्यमान इस वेदवाणी के **लोम**=(लूञ् छेदने) वासना विच्छेदनरूप कर्म को **यत्**=जब **ध्वांक्षः**=(ध्वाक्षि घोरवाशिते) व्यर्थ के कर्कश शब्द बोलनेवाला—कां कां बोलनेवाला व्यक्ति **अजीहिडत्**=घृणा से देखता है, अर्थात् 'वेदवाणी वासना का विच्छेद करती है' इस बात का उपहास करता है, **ततः**=तब **कुमाराः**=उस घर में आनेवाली सन्तानें **म्रियन्ते**=छोटी उम्र में ही मर जाती हैं। २. **अनामनात्**=इस वेदवाणी का अभ्यास व मनन न करने से **यक्ष्मः विन्दति**=घरवालों को रोग प्राप्त होता है। जब घर में वेदवाणी का स्थान भोग-विलास ले-लेता है, तब उस घर में रोगों का आना स्वाभाविक ही है।

भावार्थ—'वेदवाणी के रक्षक विद्वान् के जीवन में यह वेदवाणी वासनाओं का विच्छेद करती है', जब इस बात का उपहास करके वेद का त्याग होता है तब असमय की मृत्यु व रोगों का आक्रमण होता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वेद की अवज्ञा से अपरूपता

यदस्याः पल्पूलनं शकृद्दासी समस्यति। ततोऽपरूपं जायते तस्मादव्येष्यदेनसः॥ ९॥

१. **यत्**=जब **अस्याः**=इस वेदवाणी के **शकृत्**=(शं करोति, शक्नोति, शकृत्) शान्ति देनेवाले अथवा (शक्) शक्ति देनेवाले **पल्पूलनम्**=(पल गतौ, पूर संघाते) ज्ञान-समूह को **दासी**=(दसु

उपक्षये) ज्ञान का हिंसन करनेवाली, ज्ञान में अरुचिवाली प्रजा **समस्यति**=अपने से दूर फेंकती है, **ततः**=तब **तस्माद् एनसः**=उस ज्ञानहिंसनरूप पाप से **अव्येष्यत्**=(अ वि एष्यत्) पृथक् न होता हुआ अपत्यवर्ग **अपरूपं जायते**=कुरूप हो जाता है। २. भोग-विलास की प्रवृत्ति में पड़कर वह अपनी शकल ही बिगाड़ लेता है। यदि वेदज्ञान को अपने से परे नहीं फेंकता तो यह वेदज्ञान उसे 'शान्ति व शक्ति' प्राप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—वेदज्ञान की अवज्ञा एक ऐसा पाप है जो हमें 'अशक्त व अपरूप' बना देता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्राह्मण+देव

जायमानाभि जायते देवान्त्सब्राह्मणान्वशा।
तस्माद् ब्रह्मभ्यो देयैषा तदाहुः स्वस्य गोपनम्॥ १०॥

१. **जायमाना**=सृष्टि के प्रारम्भ में प्रभु से प्रादुर्भूत होती हुई **वशा**=यह वेदवाणी **सब्राह्मणान् देवान्**=ब्राह्मणोंसहित देवों के प्रति **अभिजायते**=प्रादुर्भूत होती है, अर्थात् वेदज्ञान का पात्र ज्ञान की रुचिवाला (ब्राह्मण) देववृत्तिवाला पुरुष (देव) ही होता है। २. **तस्मात्**=इसलिए **एषा**=यह वेदवाणी **ब्रह्मभ्यः देया**=ज्ञान की रुचिवाले पुरुषों के लिए दी जानी चाहिए। **तत्**=उस वशा के दानरूप कर्म को **स्वस्य गोपनम् आहुः**=अपने ज्ञानैश्वर्य का रक्षण ही कहते हैं, अर्थात् ज्ञान देनेवाला व्यक्ति अपने ज्ञानैश्वर्य को बढ़ा ही रहा होता है।

भावार्थ—हमें ज्ञानरुचि व देववृत्तिवाला बनकर वेदज्ञान का पात्र बनना चाहिए। वेदज्ञान को प्राप्त करके हम औरों के लिए इसे देनेवाले बनें। इसप्रकार ही हम अपने ज्ञानैश्वर्य का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्रह्मज्येयम्

य एनां वनिमायन्ति तेषां देवकृता वशा। ब्रह्मज्येयं तदब्रुवन्य एनां निप्रियायते॥ ११॥

१. **ये**=जो **एनाम्**=इस **वनिम् आयन्ति**=संभजनीय वेदवाणी को सब प्रकार से प्राप्त करते हैं, यह **देवकृता वशा**=प्रभु से उत्पन्न की गई कमनीय वेदवाणी **तेषाम्**=उनकी ही है। वेदवाणी उन्हें ही प्राप्त होती है, जो इसे चाहते हैं, २. परन्तु **यः एनाम्**=जो इस वेदवाणी को **निप्रियायते**=नीचभाव से (नि) अपना ही प्रिय धन मानकर छिपा रखता है, उसके **तत्**=उस कार्य को **ब्रह्मज्येयं अब्रुवन्**=ज्ञान का हिंसन कहते हैं (ज्या वयहानौ)। ज्ञान को पात्रों में देना ही उचित है। यही इस ज्ञानधन के रक्षण का उपाय है।

भावार्थ—ज्ञान के प्रबल इच्छुकों को ही यह वेदज्ञान प्राप्त होता है। पात्रों में इस ज्ञान का अदान, इस ज्ञान का हिंसन है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वेदज्ञान के अदान से अशुभवृतियाँ

य आर्षेयेभ्यो याचद्भ्यो देवानां गां न दित्सति।
आ स देवेषु वृश्चते ब्राह्मणानां च मन्यवे॥ १२॥

१. **यः**=जो **याचद्भ्यः**=ज्ञानकी याचना करते हुए **आर्षेयेभ्यः**=(ऋषिः वेदः) वेदप्रिय व्यक्तियों के लिए **देवानाम्**=देववृत्ति के पुरुषों को प्राप्त होनेवाली **गाम्**=वेदवाणीरूप गौ को **न दित्सति**=नहीं देना चाहता, **सः**=वह **देवेषु आवृश्चते**=दिव्यगुणों के विषय में छिन्न हो जाता

है, अर्थात् दिव्यगुणों से रहित हो जाता है **च**=और **ब्राह्मणानाम्**=ज्ञानरुचि पुरुषों के **मन्यवे**=क्रोध के लिए होता है—ज्ञानरुचि पुरुषों का वह प्रिय नहीं रहता।

भावार्थ—जो चाहते हुए वेदप्रिय पुरुषों के लिए वेदज्ञान को नहीं देता, वह अपने-आपको दिव्यगुणों से छिन्न कर लेता है और ज्ञानरुचि पुरुषों का प्रिय नहीं रहता।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वशाभोगः

यो अस्य स्याद्वशाभोगो अन्यामिच्छेत तर्हि सः।
हिंस्ते अदत्ता पुरुषं याचितां च न दित्सति॥ १३॥

१. **यः**=जो **अस्य**=इस **वशाभोगः स्यात्**=कमनीय वेदवाणी का पालन (भुज् पालने) हो ऐसा चाहे, अर्थात् यदि यह अपने समीप वेदवाणी का रक्षण चाहे, **तर्हि**=तो **सः**=वह **अन्याम्**=जीवन का पालन करनेवाली दूसरी वृत्ति (जीविका) को **इच्छेत्**=चाहे। वेदवाणी को जीविका-प्राप्ति का साधन न बनाये। २. **यचितां च**=माँगी हुई वृत्ति को भी **न दित्सति**=यदि यह देना नहीं चाहता, तो **अदत्ता**=न दी हुई यह वेदवाणी **पुरुषं हिंस्ते**=उस वेदज्ञ पुरुष को हिंसित कर देती है।

भावार्थ—वेदज्ञ पुरुष को चाहिए कि वेदज्ञान के इच्छुक के लिए वेदवाणी को दे ही। वह इसे आजीविका-प्राप्ति का साधन न बनाये। यदि वेदज्ञ वेदज्ञान को औरों के लिए नहीं देता तो वह वेदज्ञान उसका ही हिंसन कर देता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वेदज्ञानरूप शेवधि

यथा शेवधिर्निहितो ब्राह्मणानां तथा वशा।
तामेतदच्छायन्ति यस्मिन्कस्मिंश्च जायते॥ १४॥

१. **यथा**=जैसे **शेवधिः निहितः**=किसी पुरुष का कोश सम्यक् स्थापित किया जाता है, **तथा**=उसीप्रकार **वशा**=यह कमनीय वेदवाणी **ब्राह्मणानाम्**=ब्राह्मणों का कोश है। ब्राह्मण का वास्तविक कोश यह 'वेदवाणी' ही है। **एतत्**=(एतस्मात्) इस कारण से **यस्मिन् कस्मिन् च**=जिस किसी में भी वेदवाणी का प्रादुर्भाव हो, **ताम् अच्छ आयन्ति**=वहीं उस वेदवाणी की ओर से ब्राह्मण आते हैं, अर्थात् वेदवाणी के ग्रहण के लिए, जहाँ भी इसके मिलने का सम्भव हो, वहीं ये ब्राह्मण पहुँच जाते हैं।

भावार्थ—'वेदवाणी' ब्राह्मण का वास्तविक कोश है। जिस किसी भी पुरुष से इसकी प्राप्ति सम्भव होती है, ये ब्राह्मण उसे प्राप्त करने के लिए वहीं पहुँच जाते हैं।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्राह्मण का 'स्व' (वेदवाणी)

स्वमेतदच्छायन्ति यद्वशां ब्राह्मणा अभि।
यथैनानन्यस्मिञ्जिनीयादेवास्या निरोधनम्॥ १५॥

१. **यत्**=जो **ब्राह्मणाः**=ज्ञानी पुरुष **वशाम् अभि आयन्ति**=वेदवाणी की ओर आते हैं **एतत्**=ये **स्वम् अच्छ (आयन्ति)**=अपने ऐश्वर्य की ओर आते हैं। ब्राह्मणों का ऐश्वर्य वेदवाणी ही तो है। २. **यथा**=जिस प्रकार (चूँकि) **अस्याः निरोधनम्**=इस वेदवाणी का रोक देना, अर्थात् वेदवाणी को छोड़कर अन्य कर्मों में प्रवृत्त होना **एनान्**=इन ब्राह्मणों को **अन्यस्मिन् जिनीयात् एव**=अन्य व्यापार आदि कर्मों में हिंसित ही करता है। यदि एक ब्राह्मण धन के लोभ में वेदवाणी

को छोड़कर अन्य कार्यों में प्रवृत्त होता है तो उसके वे व्यापार आदि कर्म हिंसित ही होते हैं।

भावार्थ—ब्राह्मण का धन 'वेदवाणी' ही है। यदि यह वेदाध्ययन विमुख होकर व्यापार में लगेगा तो यह वेदवाणी का निरोधरूप पाप उसके व्यापार को असफल बनाएगा।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आ त्रैहायणात्

चरे॑दे॒वा त्रै॑हाय॒णादवि॑ज्ञातगदा स॒ती।
व॒शां च॑ वि॒द्यान्ना॑रद ब्राह्म॒णास्तर्ह्ये॒ष्याः॥ १६॥

१. **अविज्ञातगदा सती**=नहीं जाना गया है स्पष्ट उच्चारण (गद) जिसका, ऐसी होती हुई भी यह वेदवाणी **आ त्रैहायणात्**=तीन वर्ष की आयु से प्रारम्भ करके **चरेत् एव**=हमारे जीवन में विचरण करे ही। तीन वर्ष की आयु से ही हम इसे पढ़ना प्रारम्भ कर दें। १. हे **नारद**=नर सम्बन्धी 'शरीर, मन, इन्द्रियाँ व बुद्धि' को शुद्ध करनेवाले जीव! (नरसम्बन्धिनं नारं दायति—दैप् शोधने) **वशां च विद्यात्**=जब इस वेदवाणी को कुछ जान जाए—तद्गत मन्त्रों को याद कर ले—**तर्हि**=तो **ब्राह्मणाः एष्याः**=अब ब्रह्मवेत्ता विद्वान् अन्वेषण के योग्य हैं, अर्थात् ज्ञानी ब्राह्मणों के समीप उपस्थित होकर उनसे वेदार्थ को जानना चाहिए।

भावार्थ—तीन वर्ष की आयु से ही हम वेदों का स्मरण प्रारम्भ कर दें और अब स्मरणानन्तर ज्ञानी ब्राह्मणों के समीप पहुँचकर इसे समझने का प्रयत्न करें। इस प्राकर ही हमारा जीवन शुद्ध बनेगा।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

भवाशर्वौ

य ए॑ना॒मव॑शा॒माह॑ दे॒वानां॒ निहि॑तं नि॒धिम्।
उ॒भौ तस्मै॑ भवाश॒र्वौ प॑रि॒क्रम्ये॒षुम॑स्यतः॥ १७॥

१. **यः**=जो **एनाम्**=इस वेदवाणी को **अवशाम् आह**=न कमनीया—न चाहने योग्य कहता है और ऐसा नहीं समझता कि यह वेदवाणी तो **देवानां निहितं निधिम्**=देवों का प्रभु द्वारा हृदय में स्थापित ज्ञानकोश है, **तस्मै**=उसके लिए **उभौ**=दोनों **भवाशर्वौ**=भव और शर्व उत्पत्ति व संहार—जन्म और मरण **परिक्रम्य**=परिक्रमा करके **इषुम् अस्यतः**=बाण फेंकते हैं, अर्थात् इसे जन्म और मरण पीड़ित किये रहते हैं। यह बारम्बार जन्म लेता है और मरण का शिकार होता है—जन्म-मरण के चक्र में फँसा रहता है।

भावार्थ—ज्ञान के कोश को कमनीय न माननेवाला व्यक्ति ज्ञान से दूर रहता हुआ जन्म-मरण के चक्र में फँसा रहता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ऊधः+स्तनान्

यो अ॒स्या॒ ऊधो॒ न वेदाथो॑ अ॒स्या स्तना॑नु॒त।
उ॒भये॑नै॒वास्मै॑ दुहे॒ दातुं॒ चेदश॑कद्व॒शाम्॥ १८॥

१. **यः**=जो **अस्याः**=इस वेदधेनु को **ऊधः न**=(न as, like) दुग्धाशय के समान समझता है। **उत अथो**=और अब **अस्याः**=इस वेदधेनु के **स्तनान्**=स्तनों को **वेद**=जानता है। उन स्तनों से ज्ञानदुग्ध का दोहन करता है, तब **अस्मै**=इस दोग्धा के लिए **उभयेन एव**=इहलोक व परलोक दोनों के हेतु से **दुहे**=ज्ञानदुग्ध का प्रपूरण करती है। यह दोग्धा वेदधेनु से ज्ञानदुग्ध

प्राप्त करके दोनों लोकों का कल्याण सिद्ध करता है। यह उसे अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों को प्राप्त करानेवाली होती है, परन्तु यह सब होता तभी है **चेत्**=यदि यह **वशाम्**=इस कमनीय वेदवाणी को **दातुं अशकत्**=औरों के लिए देने में समर्थ होता है।

भावार्थ—हम वेदधेनु के दुग्धाशय व स्तनों को प्राप्त करके ज्ञानदुग्ध का दोहन करें। इस ज्ञान को औरों के लिए देनेवाले बनें। यह ज्ञान हमें अभ्युदय व निःश्रेयस देनेवाला होगा।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दुरदभ्ना

दुरदभ्नैनमा शये याचितां च न दित्सति।
नास्मै कामाः समृध्यन्ते यामदत्त्वा चिकीर्षति॥ १९॥

१. **दुरदभ्ना**=कभी न दबनेवाली यह वशा (वेदवाणी) **एनम्**=इस व्यक्ति में **आशये**=निवास करती है **च**=और फिर भी **याचितां न दित्सति**=माँगी हुई को यह देना नहीं चाहता, अर्थात् यदि कोई उस वेदज्ञान को प्राप्त करने के लिए उसके समीप आता है और यह उसे देता नहीं तो **अस्मै**=इसके लिए **कामाः न समृध्यन्ते**=इष्ट वस्तुएँ समृद्ध नहीं होती—इसकी कामनाएँ पूर्ण नहीं होती। २. **याम्**=जिस भी कामना को यह **अदत्त्वा**=वेदवाणी को न देकर **चिकीर्षति**=करना चाहता है, उसमें यह असफल ही हो जाता है। वेदवाणी का ज्ञान न देकर यदि यह किन्हीं अन्य व्यापार आदि में प्रवृत्त होता है, तो उसमें असफल ही हो जाता है।

भावार्थ—हमें वेदज्ञान प्राप्त हो तो हम उसके प्रसार के लिए सदा यत्नशील हों। इसका प्रसार न करके अन्य व्यापारों में प्रवृत्त होंगे तो हमारे वे व्यापार समृद्ध न होंगे।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्** ॥

ब्राह्मणं मुखं कृत्वा

देवा वशामयाचन्मुखं कृत्वा ब्राह्मणम्।
तेषां सर्वेषामददद्धेडं न्ये ऽति मानुषः॥ २०॥

१. **ब्राह्मणं मुखं कृत्वा**=ब्राह्मण—ब्रह्मवेत्ता को मुख बनाकर **देवाः**=देववृत्ति के व्यक्ति **वशाम्**=इस कमनीय वेदवाणी को **अयाचन्**=माँगते हैं। देव प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हम ब्राह्मणों से वेदज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनें। २. परन्तु यदि यह **मानुषः**=ज्ञानी ब्राह्मण **तेषां सर्वेषाम् अददत्**=उन सबके लिए इस वेदज्ञान को नहीं देता तो यह **हेडं नि एति**=घृणा को निश्चय से प्राप्त करता है। यह वेदज्ञान को न देनेवाला व्यक्ति आदरणीय नहीं होता।

भावार्थ—देवलोग प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हम ब्रह्मवेत्ताओं से कमनीय वेदवाणी का ज्ञान का प्राप्त करें, परन्तु यदि कोई ब्राह्मण प्रार्थित होने पर भी इस ज्ञान को नहीं देता तो वह आदरणीय नहीं होता।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पशूनां हेडम्

हेडं पशूनां न्ये ऽति ब्राह्मणेभ्योऽददद्वशाम्।
देवानां निहितं भागं मर्त्यश्चेन्निप्रियायते॥ २१॥

१. **ब्राह्मणेभ्यः**=ब्रह्मज्ञान के इच्छुकों के लिए **वशाम्**=इस कमनीय वेदवाणी को **अददत्**=न देता हुआ **पशूनां हेडं नि एति**=पशुओं की घृणा को निश्चय से प्राप्त करता है अथवा पशुओं का भी यह प्रिय नहीं होता—इसके गौ आदि पशु सम्पन्न-क्षीरतम नहीं होते। २. यह सब तब

होता है **चेत्**=जबकि **देवानाम्**='अग्नि, वायु, आदित्य व अङ्गिरा' आदि देवों के **निहितं भागम्**=हृदयों में प्रभु द्वारा स्थापित इस भजनीय वेदज्ञान को **मर्त्यः**=कोई मनुष्य **निप्रियायते**=नीच भाव से अपना ही प्रिय धन मानकर छिपा रखता है।

भावार्थ—हमें वेदज्ञान को प्राप्त करके अवश्य उसका प्रचार करना चाहिए। वेदज्ञान को चाहनेवालों के लिए उसे देना चाहिए। अन्यथा हम पशुओं के भी प्रिय न रहेंगे, वे हमें उत्तम दूध आदि को प्राप्त करानेवाले न होंगे।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'वशा' किसकी ?

यद॒न्ये श॒तं याचे॑युर्ब्राह्म॒णा गोप॑तिं व॒शाम्।
अथै॑नां दे॒वा अ॑ब्रुवन्ने॒वं ह॑ वि॒दुषो॑ व॒शा ॥ २२ ॥

१. **गोपति**=वेदवाणी के स्वामी को चाहिए कि बड़ी उत्तमता से औरों के लिए इस वेदवाणी को देनेवाला बने। सब लोग इससे वेदवाणी को प्राप्त करना चाहें। **यत्**=जब **अन्ये**=दूसरे **शतं ब्राह्मणाः**=सैकड़ों ब्रह्म (वेदज्ञान) की प्राप्ति के इच्छुक पुरुष **एनां गोपतिम्**=इस गोपति से **वशां याचेयुः**=कमनीय वेदवाणी की याचना करें, **अथ**=अब **देवाः अब्रुवन्**=सब देववृत्ति के पुरुष कहते हैं कि **एवं ह**=ऐसा करने पर ही **विदुषः वशा**=इस ज्ञानी की यह कमनीय वेदवाणी होती है।

भावार्थ—वेदवाणी का वास्तविक स्वामी वही बनता है जो मधुरता से इसके ज्ञान को औरों के लिए देनेवाला बनता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

तस्मै पृथिवी दुर्गा

य ए॒वं वि॒दुषेऽद॒त्वाथा॒न्येभ्यो॒ दद॑द्व॒शाम्।
दु॒र्गा तस्मा॑ अधि॒ष्ठाने॑ पृथि॒वी स॒हदे॑वता ॥ २३ ॥

१. **अथ**=अब **यः**=जो **एवम्**=इसप्रकार (मधुरता से) **विदुषे**=एक विद्वान् के लिए—समझदार के लिए **वशाम्**=कमनीय वेदवाणी को **अदत्त्वा**=न देकर **अन्येभ्यः**=अन्य पुरुषों के लिए, धन आदि के प्रलोभन से प्रेरित होकर, **ददत्**=देता हुआ होता है, **तस्मै**=उसके लिए यहाँ **अधिष्ठाने**=घर में यह **पृथिवी**=पृथिवी **सहदेवता**=सब अग्नि, जल, वायु आदि देवों के साथ **दुर्गा**=दुःख देनेवाली (दुः गमयति) होती है।

भावार्थ—वेदवाणी का यदि धन के बदले विक्रय किया जाता है और एक विद्वान् के लिए इसे प्राप्त नहीं कराया जाता तो यह पृथिवी, अन्य सब देवों के साथ, उसके लिए कष्टप्रद हो जाती है, अर्थात् वह वेदवाणी का विक्रेता आधिदैविक आपत्तियों का शिकार होता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

नारदः

दे॒वा व॒शाम॑याच॒न्यस्मि॑न्न॒ग्रे अजा॑यत।
ताम॒तां वि॒द्यान्नार॑दः स॒ह दे॒वैरुदा॑जत ॥ २४ ॥

१. **यस्मिन्**=जिसमें **अग्रे अजायत**=सबसे प्रथम अथवा सृष्टि के प्रारम्भ में इस वेदवाणी का प्रादुर्भाव हुआ, **देवाः**=देवों ने **वशाम् अयाचन्**=उनसे इस वेदवाणी की याचना की। प्रभु ने सृष्टि के आरम्भ में 'अग्नि' आदि के हृदयों में इस वेदवाणी का प्रादुर्भाव किया। उनसे अन्य देवों ने इसकी याचना की और इसप्रकार गुरु-शिष्य परम्परा से इसका ज्ञान संसार में प्रसृत हुआ।

२. **ताम् एताम्**=सृष्टि के प्रारम्भ में दी गई इस वेदवाणी को **विद्यात्**=मनुष्य जानता है और **नार-दः**=नारद बनता है—नर-सम्बन्धी इन्द्रियों, मन व बुद्धि को शुद्ध करनेवाला बनता है (नरसम्बन्धिनं नारं दायति)। यह **देवैः सह**=दिव्य गुणों के साथ सम्पृक्त हुआ-हुआ **उद् आजत**=उत्कृष्ट मार्ग पर गतिवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु ने वेदवाणी का प्रादुर्भाव अग्नि आदि के हृदयों में किया। उनसे अन्य देवों ने इस वेदज्ञान को प्राप्त किया। वेदज्ञान द्वारा वे शुद्ध इन्द्रिय व प्रशस्त मन, बुद्धिवाले बने और दिव्यगुणों के साथ उत्कृष्ट मार्ग पर गतिवाले हुए।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अनपत्य+अल्पपशु

अनपत्यमल्पपशुं वशा कृणोति पूरुषम्।
ब्राह्मणैश्च याचितामथैनां निप्रियायते॥ २५॥

१. यह **वशा**=कमनीया वेदवाणी **पुरुषम्**=पुरुष को **अनपत्यम्**=सन्तानरहित तथा **अल्प-पशुम्**=अल्प गवादि पशुओंवाला **कृणोति**=कर देती है, **अथ च**=यदि **ब्राह्मणैः**=ज्ञान के इच्छुक पुरुषों से **याचिता**=यह माँगी जाए और यह गोपति **एनां निप्रियायते**=इस वशा को नीच भाव से अपना ही प्रिय धन मानकर छिपा रखता है।

भावार्थ—ब्राह्मणों से प्रार्थित होने पर भी जो इस वेदवाणी को उनके लिए न देकर इसे प्रिय धन की भाँति छिपा रखता है तो वह 'अनपत्य व अल्पपशु' हो जाता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अग्नि, सोम, काम, मित्र, वरुण

अग्नीषोमाभ्यां कामाय मित्राय वरुणाय च।
तेभ्यो याचन्ति ब्राह्मणास्तेष्वा वृश्चतेऽददत्॥ २६॥

१. **ब्राह्मणाः**=ज्ञानरुचिवाले विद्वान् **अग्नीषोमाभ्याम्**=शरीर में अग्नि व सोम तत्त्व की ठीक स्थिति के लिए, **कामाय**=इष्ट पदार्थों की प्राप्ति के लिए और **मित्राय वरुणाय च**=प्राणापान के ठीक से कार्य करने के लिए **तेभ्यः**=उन ज्ञानियों से **याचन्ति**=कमनीय देववाणी की याचना करते हैं। यह वेदवाणी उन्हें अग्नि व सोम आदि को प्राप्त करानेवाली बनेगी। २. एक गोपति **अददत्**=उन ब्राह्मणों के लिए इस वेदवाणी को न देता हुआ **तेषु आवृश्चते**=उन 'अग्नि, सोम, काम व मित्र-वरुण' से छिन्न हो जाता है, इस वेदवाणी को छिपानेवाले के जीवन में अग्नि, सोम आदि की ठीक स्थिति नहीं होती।

भावार्थ—वेदवाणी को अपनाने का लाभ यह है कि हमारे जीवन में अग्नि, सोम आदि तत्त्वों की उचित स्थिति होती है। यह गोपति इस वेदवाणी को ब्राह्मणों के लिए न देता हुआ इन अग्नि, सोम आदि को छिन्न कर बैठता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'आचार्याय प्रियं धनमाहर, प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः'

यावदस्या गोपतिर्नोपशृणुयादृचः स्वयम्।
चरेदस्य तावद्गोषु नास्य श्रुत्वा गृहे वसेत्॥ २७॥

१. **यावत्**=जब तक **अस्याः**=इस वशा (वेदवाणी) के **गोपतिः**=ज्ञान की वाणियों का रक्षक आचार्य **स्वयम्**=अपने-आप **ऋचः**=ऋचाओं को **न उपशृणुयात्**=विद्यार्थी से सुन न ले **तावत्**=तब

तक **अस्य गोषु चरेत्**=इस आचार्य से दी जानेवाली ज्ञान की वाणियों में ही यह विद्यार्थी विचरण करे, अर्थात् जब तक आचार्य इस विद्यार्थी की परीक्षा न ले-ले तब तक यह विद्यार्थी ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययन में ही प्रवृत्त रहे। २. परन्तु परीक्षोत्तीर्ण होने पर, अर्थात् **श्रुत्वा**=आचार्य से इन ज्ञान की वाणियों को सम्यक् सुनकर **अस्य गृहे न वसेत्**=इस आचार्य के घर में ही न रहता रहे। आचार्य से स्वीकृति पाकर संसार में आये। गृहस्थ आदि आश्रमों का सम्यक् निर्वहण करता हुआ अन्ततः संन्यस्त होकर उस वेदवाणी का सन्देश सबको सुनानेवाला बने। आचार्यकुल में ही अपने को समाप्त कर लेना भी ठीक नहीं होता। आयार्चकुल में इस वेदवाणी का श्रवण होता है, 'मनन' तो गृहस्थ में ही होना है और फिर वानप्रस्थ में इसका निदिध्यासन होकर संन्यास में वह इसका साक्षात्कार करता है और औरों के लिए इस ज्ञान को देनेवाला बनता है।

भावार्थ—जब तक आचार्य से ली जानेवाली परीक्षा में यह विद्यार्थी उत्तीर्ण नहीं होता तब तक उसे आचार्यकुल में ही रहना है। उसके बाद वहीं न रहता रहे, अपितु गृहस्थ आदि आश्रमों में आगे बढ़े।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आयुः च, भूतिं च

यो अस्या ऋचं उपश्रुत्याथ गोष्वचीचरत्।
आयुश्च तस्य भूतिं च देवा वृश्चन्ति हीडिताः॥ २८॥

१. **यः**=जो **अस्याः**=इस वशा (वेदवाणी) की **ऋचः**=ऋचाओं को **उपश्रुत्य**=आचार्य के समीप सुनकर **अथ**=भी **गोषु अचीचरत्**=इन्द्रियों के विषय में कुटिल गतिवाला होता है—वेद पढ़कर भी विषयासक्त हो जाता है, तो **देवाः**=पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश आदि देव **हीडिताः**=क्रुद्ध हुए-हुए **तस्य**=उस विषयासक्त पुरुष के **आयुः च भूतिम् च**=आयु और ऐश्वर्य को **वृश्चन्ति**=छिन्न कर डालते हैं। २. वेद पढ़कर भी विषयासक्ति मनुष्य को 'रावण' बना देती है। यह रावण ऐश्वर्य व आयु से भ्रष्ट हो जाता है।

भावार्थ—वेदाध्ययन के बाद भी यदि एक व्यक्ति विषय-प्रवण हो जाता है, तो वह अपने आयुष्य व ऐश्वर्य को नष्ट कर बैठता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

स्थाम (शक्ति व स्थिरता)

वशा चरन्ति बहुधा देवानां निहितो निधिः।
आविष्कृणुष्व रूपाणि यदा स्थाम जिघांसति॥ २९॥

१. यह **वशा**=कमनीया वेदवाणी **बहुधा चरन्ती**=बहुत प्रकार से (चर गतौ, गतिः=ज्ञानम्) ज्ञान देती है। सब सत्य विद्याओं का यह प्रकाशन करती है। **देवानां निहितः निधिः**=यह वशा देवों के हृदयों में स्थापित एक कोश है। यह ज्ञान देवों के हृदयों में प्रभु द्वारा स्थापित किया गया है—यह एक अक्षय ज्ञान का कोश है। २. हे वशे! **यदा स्थाम जिघांसति**=जब यह ज्ञानपिपासु ब्राह्मण शक्ति (Strength) व स्थिरवृत्ति (Stability) को प्राप्त करना चाहता है तब तू **रूपाणि आविष्कृष्णुष्व**=इसके लिए पदार्थों के तात्त्विक स्वरूपों को प्रकट कर। तत्त्वज्ञान को प्राप्त करके यह विषयासक्ति से ऊपर उठे और शक्ति व स्थिरता को प्राप्त करनेवाला बने।

भावार्थ—वेदवाणी प्रभु द्वारा देवहृदयों में स्थापित ज्ञानकोश है। यह पदार्थों का नाना प्रकार से ज्ञान देती है। तत्त्वज्ञान को प्राप्त करके एक ब्राह्मण शक्ति व स्थिरता को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ज्ञान की अधिकाधिक पिपासा

आविरात्मानं कृणुते यदा स्थाम जिघांसति।
अथो ह ब्रह्मभ्यो वशा याच्ञ्याय कृणुते मनः॥ ३०॥

१. **यदा**=जब एक ब्राह्मण (ब्रह्म—वेद-को जानने का इच्छुक पुरुष) **स्थाम जिघांसति**=शक्ति व स्थिरता को प्राप्त करने की कामना करता है, तब यह वशा (वेदवाणी) इसके लिए **आत्मानं आविः कृणुते**=अपने को प्रकट करती है। उससे तत्त्वज्ञान को प्राप्त करके ही वासनात्मक जगत् से ऊपर उठकर शक्ति व स्थिरता का सम्पादन करता है। २. **अथो ह**=और अब ही **वशा**=यह वेदवाणी **ब्रह्मभ्यः याच्ञ्याय**=ज्ञानों की याचना के लिए **मनः कृणुते**=मन को करती है, अर्थात् यह वशा अपने अध्येता के मन को इस रूप में प्रेरित करती है कि वह अधिकाधिक ज्ञान का पिपासु होता जाता है।

भावार्थ—वेदवाणी का प्रकाश उसी के लिए होता है जो शक्ति व स्थिरता के सम्पादन के लिए यत्न करता है। वेदवाणी इसके मन को अधिकाधिक ज्ञान की ओर आकृष्ट करती है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शक्ति+दिव्यगुण

मनसा सं कल्पयति तद्देवाँ अपि गच्छति।
ततो ह ब्रह्माणो वशामुपप्रयन्ति याचितुम्॥ ३१॥

१. यह वेदवाणी **मनसा**=मनन के द्वारा **संकल्पयति**=हमें सम्यक् समर्थ बनाती है (क्लृप् सामर्थ्ये)। **तत्**=तब यह **अध्येता देवान् अपिगच्छति**=दिव्यगुणों की ओर गतिवाला होता है। शक्ति के साथ ही सब सद्गुणों का वास है। Virtue वीरत्व ही तो है। इसी कारण उपनिषद् में यह कहा गया है कि '**नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः**' निर्बल से आत्मतत्त्व अलभ्य है। २. **ततो ह**=उस कारण से ही, क्योंकि यह वशा हमें समर्थ बनाकर दिव्यगुण-सम्पन्न करती है, **ब्रह्माणः**=ब्राह्मणवृत्ति के लोग **वशाम्**=कमनीया वेदवाणी को **याचितुम्**=माँगने के लिए **उपप्रयन्ति**=ज्ञानियों के (गोपतियों के) समीप उपस्थित होते हैं।

भावार्थ—वेदवाणी का मनन हमें शक्तिशाली बनाकर दिव्यगुण-सम्पन्न बनाता है, इसीलिए ब्राह्मणवृत्ति के लोग इस वशा की याचना के लिए गोपति के समीप उपस्थित होते हैं।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पितृयज्ञ, देवयज्ञ, बलिवैश्वदेवयज्ञ

स्वधाकारेण पितृभ्यो यज्ञेन देवताभ्यः।
दानेन राजन्यो वशाया मातुर्हेडं न गच्छति॥ ३२॥

१. एक **राजन्यः**=अपनी प्रजाओं का रञ्जन करनेवाला राजा **पितृभ्यः स्वधाकारेण**=पितरों के लिए स्वधा के द्वारा, अर्थात् पितृयज्ञ करने से, तथा **देवताभ्यः**=वायु आदि देवों की शुद्धि के लिए **यज्ञेन**=देवयज्ञ (अग्निहोत्र) के द्वारा तथा **दानेन**=सब भूतों के हित के लिए अन्न आदि के देने के द्वारा, अर्थात् भूतयज्ञ (बलिवैश्वदेवयज्ञ) के द्वारा इस **मातुः**=जीवनों का निर्माण करने-वाली **वशायाः**=कमनीया वेदवाणी के **हेडं न गच्छति**=निरादर को नहीं प्राप्त होता। २. जिस राष्ट्र में 'पितृयज्ञ, देवयज्ञ व भूतयज्ञ' आदि यज्ञों का आयोजन होता है, उस राष्ट्र पर इस वशा माता की कृपा बनी रहती है। वेद के अनुसार चलता हुआ वह राष्ट्र फूलता-फलता रहता है।

भावार्थ—एक राजा अपने राष्ट्र में 'पितृयज्ञ, देवयज्ञ व भूतयज्ञ' को प्रचलित करता हुआ वेदमाता का प्रिय बनता है। वेद उस राष्ट्र का सुन्दर निर्माण करता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वशा माता व राष्ट्र

वशा माता राजन्य ॒स्य तथा संभूतमग्रशः।
तस्या आहुरनर्पणं यद् ब्रह्मभ्यः प्रदीयते॥ ३३॥

१. **वशा**=यह वेदवाणी ही **राजन्यस्य**=एक क्षत्रिय की **माता**=निर्मात्री है। जैसे एक बालक माता से पोषित होता है और माता के निर्देश में चलकर ही उन्नत होता है, उसी प्राकर एक राजा इस वेदमाता से पोषित होता है और उसे वेदमाता के निर्देश के अनुसार ही चलना चाहिए। **तथा अग्रशः संभूतम्**=वैसा ही नियम प्रारम्भ में प्रभु द्वारा बना दिया गया है। '**ब्रह्म क्षत्रमृध्नोति**'= ब्रह्म ही क्षत्र का संवर्धन करता है। २. **तस्याः**=उस वशा माता का यह **अनर्पणम् आहुः**=अत्याग कहाता है, **यत्**=जो **ब्रह्मभ्यः**=ज्ञान पिपासुओं के लिए **प्रदीयते**=इसका दान किया जाता है। 'राष्ट्र में आचार्यों द्वारा ब्रह्मचारियों के लिए सदा इस वेद का ज्ञान दिया जाता रहे', यही राष्ट्र द्वारा वेदवाणी का अत्याग होता है। ऐसा होने पर एक राष्ट्र उन्नत होता है।

भावार्थ—राष्ट्र का निर्माण वेदमाता द्वारा होता है। सृष्टि के प्रारम्भ से ही प्रभु ने यही व्यवस्था की कि राजा ब्राह्मण के निर्देशानुसार राष्ट्र-व्यवस्था करे। 'सृष्टि में आचार्य ब्रह्मचारियों के लिए वेदज्ञान देते रहें', यही राष्ट्र द्वारा वेदमाता का अत्याग है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्रह्मयज्ञ

यथाज्यं प्रगृहीतमालुम्पेत्स्रुचो अग्नये।
एवा ह ब्रह्मभ्यो वशामग्नय आ वृश्चतेऽददत्॥ ३४॥

१. **यथा**=जिस प्रकार **प्रगृहीतम्**=चम्मच में सम्यक् लिया हुआ **आज्यम्**=घृत **स्रुचः**=चम्मच से **अग्नये**=अग्नि के लिए **आलुम्पेत्**=छिन्न हो जाए, अर्थात् अग्नि में न डाला जाए **एवा ह**=इसप्रकार ही **ब्रह्मभ्यः**=ब्रह्मचारियों के लिए **वशाम् अददत्**=कमनीया वेदवाणी को न देता हुआ **अग्नये आवृश्चते**=अग्नि के लिए—प्रगतिदेव के लिए छिन्न हो जाता है, अर्थात् जिस राष्ट्र में विद्यार्थियों के लिए आचार्यों द्वारा वेदज्ञान उसी प्रकार नहीं दिया जाता जैसे कि कोई चम्मच से घृत को अग्नि के लिए न दे, तो वह राष्ट्र उन्नत नहीं हो पाता।

भावार्थ—'राष्ट्र में आचार्यों द्वारा विद्यार्थिरूप अग्नि में वेदज्ञानरूप घृत की आहुति पड़ती ही रहे' तभी राष्ट्र उन्नत होता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पुरोडाशवत्सा

पुरोडाशवत्सा सुदुघा लोकेऽस्मा उप तिष्ठति
सास्मै सर्वान्कामान्वशा प्रददुषे दुहे॥ ३५॥

१. 'पुरः दाशति' आगे देता है, इसी से यह 'पुरोडाश' कहलाता है। यह पुरोडाश है प्रिय जिसको, ऐसी यह **पुरोडाशवत्सा**=आगे और आगे देनेवाले को प्यार करनेवाली यह वशा (वेदवाणी) **अस्मै**=इस पुरोडाश देनेवाले के लिए **लोके**=इस लोक में **सुदुघा**=उत्तम ज्ञानदुग्ध का दोहन करनेवाली होती हुई **उपतिष्ठति**=उपस्थित होती है। २. उसके समीप उपस्थित होकर **सा**

वशा=वह कमनीया वेदवाणी **अस्मै प्रददुषे**=इस वेदवाणी को औरों को देनेवाले के लिए **सर्वान् कामान्**=सब इष्ट पदार्थों को **दूहे**=प्रपूरित करती है।

भावार्थ—वेदज्ञान को प्राप्त करके उस ज्ञान को ओरों को देनेवाला व्यक्ति ही वेदवाणी का प्रिय होता है। वेदवाणी अपने इस प्रिय के लिए सब इष्ट पदार्थों को प्राप्त कराती है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

नारकं लोकं

सर्वान्कामान्यमराज्ये वशा प्रददुषे दुहे।
अथाहुर्नारकं लोकं निरुन्धानस्य याचिताम्॥ ३६॥

१. यह **वशा**=कमनीया वेदवाणी **यमराज्ये**=इस नियन्ता प्रभु के राज्य में **प्रददुषे**=वेदवाणी को औरों को देनेवाले के लिए **सर्वान् कामान् दुहे**=सब इष्ट (काम्य) पदार्थों का दोहन (प्रपूरण) करती है। २. **अथ**=इसके विपरीत अब **याचिताम्**=माँगी हुई भी वेदवाणी को **निरुन्धानस्य**=रोकनेवाले के **नारकं लोकं आहुः**=नरकलोक को कहते हैं, अर्थात् इस वशा के निरोधक को नरक की प्राप्ति होती है—इसकी दुर्गति होती है।

भावार्थ—नियन्ता प्रभु के राज्य में जो वेदवाणी को ओरों के लिए प्राप्त कराता है, उसकी सब इष्ट कामनाएँ पूर्ण होती हैं और माँगने पर भी न देनेवाले को नरक की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वेदवाणी के निरादर का परिणाम

प्रवीयमाना चरति क्रुद्धा गोपतये वशा।
वेहतं मा मन्यमानो मृत्योः पाशेषु बध्यताम्॥ ३७॥

१. यह वशा कमनीया वेदवाणी **प्रवीयमाना**=(वी असने) परे फेंकी जाती हुई **गो-पतये** (गौ-भूमि) भूमिपति राजा के लिए **क्रुद्धा चरति**=क्रुद्ध हुई-हुई गति करती है। यदि राजा राष्ट्र में इस वेदवाणी का प्रचार नहीं करता तो वह इस वशा के कोप का भाजन होता है। २. **मा**= मुझे—वशा को **वेहतम्**=एक वन्ध्या गौ (a barren cow) **मन्यमानः**=मानता हुआ—मुझे निष्फल समझता हुआ यह राजा **मृत्योः पाशेषु**=मृत्यु के पाशों में **बध्यताम्**=बाँधा जाए।

भावार्थ—वेदवाणी का निरादर राष्ट्र की अवनति का, मृत्यु (परतन्त्रता) का कारण बनता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वेदवाणी का निरदार व दरिद्रता

यो वेहतं मन्यमानोऽमा च पचते वशाम्।
अप्यस्य पुत्रान्पौत्रांश्च याचयते बृहस्पतिः॥ ३८॥

१. **यः**=जो **वेहतम् मन्यमानः**=वेदवाणी को एक वन्ध्या गौ की भाँति मानता है, **च**=और जो इस **वशाम्**=वेदवाणी को **अमा पचते**=घर में अपने लिए पकाता है, अर्थात् इसे अर्थ-प्राप्ति का साधन बनाता है तो **बृहस्पतिः**=यह ज्ञान का स्वामी प्रभु **अस्य पुत्रान् पौत्रान् च अपि**=इसके पुत्र-पौत्रों को भी **याचयते**=भिखमंगा बना देता है।

भावार्थ—वेदवाणी को व्यर्थ समझना अथवा इसे अपने लिए अर्थ-प्राप्ति का साधन बनाना सारे कुल की दरिद्रता का हेतु बनता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विषं दुहे

महदेषाव तपति चरन्ती गोषु गौरपि।
अथो ह गोपतये वशाददुषे विषं दुहे॥ ३९ ॥

१. **एषा**=यह **गौः**=वेदवाणीरूपी गौ **गोषु**=ज्ञानरश्मियों में **चरन्ती अपि**=विचरती हुई भी **महत् अवतपति**=खूब ही दीप्त होती है। यह वेदज्ञान ज्ञानों में भी उत्तम ज्ञान है, यह सब ज्ञानों में देदीप्यमान होता है। २. **अथो ह**=ऐसी दीप्त होती हुई भी **वशा**=यह वेदवाणी **अददुषे गोपतये**=वेदज्ञान को औरों के लिए न देनेवाले गोपति (ज्ञानस्वामी) के लिए **विषं दुहे**=विष का दोहन करती है।

भावार्थ—वेदज्ञान सर्वोत्तम ज्ञान है। यह ज्ञानों में भी ज्ञानरूप से दीप्त होता है, परन्तु जो गोपति बनकर औरों के लिए इस ज्ञान को नहीं देता, उसके लिए यह वेदवाणी विष का दोहन करती है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वेदवाणी के प्रसार से सर्वहित-सिद्धि

प्रियं पशूनां भवति यद् ब्रह्मभ्यः प्रदीयते।
अथो वशायास्तत्प्रियं यद्देवत्रा हविः स्यात्॥ ४० ॥

१. **यत्**=जब यह वेदवाणी **ब्रह्मभ्यः प्रदीयते**=ब्रह्मज्ञान के इच्छुकों के लिए दी जाती है, तब यह **प्रियं पशूनां भवति**=सब प्राणियों का प्रिय (हित) होता है, अर्थात् ज्ञान-प्रसार से सबका भला ही होता है। **अथो**=और वस्तुतः **वशायाः तत् प्रियम्**=इस वेदवाणी को भी यह बड़ा प्रिय है **यत्**=कि **देवत्रा**=देववृत्ति के व्यक्तियों में **हविः स्यात्**=(हु दाने) उसका दान हो।

भावार्थ—वेदवाणी के प्रसार से सबका हित होता है। वेदवाणी को भी यह प्रिय है कि उसे देववृत्ति के व्यक्तियों में दिया जाए।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'विलिप्ती व भीमा' वशा

या वशा उदकल्पयन्देवा यज्ञादुदेत्य।
तासां विलिप्त्यं भीमामुदाकुरुत नारदः॥ ४१ ॥

१. **देवाः**=देववृत्ति के लोगों ने **यज्ञात्**=यज्ञ के द्वारा—श्रेष्ठतम कर्मों के द्वारा **उत् एत्य**=वासनामय जगत् से ऊपर उठकर **याः वशाः उदकल्पयन्**=जिन वेदवाणियों को अपने जीवन में स्थापित किया (निर्मित किया), **तासाम्**=उनमें से **नारदः**=नरसम्बन्धी 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' को शुद्ध करनेवाले नारद ने **विलिप्त्यम्**=(विलिप्तीं) शक्तियों का उपचय करनेवाली **भीमाम्**=शत्रुओं के लिए भयंकर वशा को **उदाकुरुत**=सबसे ऊपर किया—सबसे उच्च स्थान दिया। 'वह वेदवाणी जोकि शक्ति के उपचय व शत्रुभेदन का साधन बनती है' नारद के दृष्टिकोण में सर्वमहत्त्वपूर्ण हुई।

भावार्थ—जितना-जिना हम यज्ञों में प्रवृत्त होकर जीवन को पवित्र बना पाएँगे उतना-उतना ही अपने हृदयों को वेदवाणी के प्रकाश का आधार बनाएँगे। इन्द्रियों, मन व बुद्धि को शुद्ध बनानेवाले नारद के लिए 'विलिप्ती व भीमा' वेदवाणी सर्वाधिक महत्त्व की है। ये हमारी शक्तियों का उपचय करती हैं और वासनारूप शत्रुओं को भेदन करनेवाली होती हैं।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वशानां वशतमा (इति)

तां देवा अमीमांसन्त वशेया ३ मवशेति।
तामब्रवीन्नारद एषा वशानां वशतमेति॥ ४२॥

१. **देवाः**=देववृत्ति के लोग **ताम्**=उस वेदवाणी को **अमीमांसन्त**=सोचने लगे कि **इयं वशा अवशा इति**=यह वेदवाणी कमनीया (चाहने योग्य) है अथवा कमनीया नहीं है। यह चाहने योग्य है, अथवा चाहने योग्य नहीं है। २. इस विचार के होने पर **नारदः**=नरसम्बन्धी 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' का शोधक नारद **अब्रवीत्**=बोला कि यह तो **वशानां वशतमा इति**=कमनीय वस्तुओं में कमनीयतम है—इससे अधिक कामना के योग्य और कोई वस्तु है ही नहीं।

भावार्थ—वेदवाणी वस्तुतः सर्वाधिक कमनीय वस्तु है। यह मनुष्य का सर्वाधिक कल्याण करनेवाली है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मनुष्यजाः वशाः कति ?

कति नु वशा नारद यास्त्वं वेत्थ मनुष्यजाः।
तास्त्वा पृच्छामि विद्वांसं कस्या नाश्नीयादब्राह्मणः॥ ४३॥

१. हे **नारद**=नरसम्बन्धी 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' को शुद्ध करनेवाले विद्वन्! **कति नु वशाः**=कितनी वे वेदवाणियाँ हैं, **याः**=जिन्हें **त्वम्**=आप **मनुष्यजाः वेत्थ**=मनुष्यों में प्रादुर्भूत होनेवाली जानते हो, अर्थात् मनुष्यों में प्रभु ने कितनी ज्ञान की वाणियों को स्थापित किया है? **ताः**=उन्हें **विद्वांसं त्वा**=ज्ञानी तुझको **पृच्छामि**=पूछता हूँ। यह भी पूछता हूँ कि **अब्राह्मणः**=ज्ञान की अरुचिवाला—अब्रह्मचारी **कस्याः न अश्नीयात्**=किसका उपभोग नहीं कर पाता? यह अब्रह्मचारी किस वाणी को ग्रहण करने में समर्थ नहीं होता?

भावार्थ—कितनी ही ज्ञान-वाणियाँ हैं, जिनका प्रभु द्वारा मनुष्य में प्रादुर्भाव किया जाता है, अब्रह्मचारी उन ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करने में समर्थ नहीं होता।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

नारद द्वारा उत्तर

विलिप्त्या बृहस्पते या च सूतवशा वशा।
तस्या नाश्नीयादब्राह्मणो य आशंसेत भूत्याम्॥ ४४॥

१. हे **बृहस्पते**=ज्ञानिन्! **या च वशा**=जो कमनीया वेदवाणी निश्चय से **सूतवशा**=(नियन्ता सूतः) अपना नियमन करनेवाले के वश में होती है, **तस्याः**=उस **विलिप्त्याः**=हमारा विशेष उपचय करनेवाली वेदवाणी का **अब्राह्मणः**=अब्राह्मण वृत्तिवाला, अब्रह्मचारी न **अश्नीयात्**=नहीं उपभोग कर पाता, **यः**=जो **भूत्याम्**=ऐश्वर्य में **आशंसेत**=आशंसा—इच्छा करता है, जिसका जीवनोद्देश्य रुपया-पैसा हो जाता है, वह इस वेदवाणी को प्राप्त नहीं कर पाता।

भावार्थ—वेदवाणी उसे प्राप्त नहीं होती जो ऐश्वर्य की कामनावाला हो जाता है तथा जो आत्मनियन्त्रण की शक्तिवाला नहीं होता।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कतमा भीमतमा

नम॑स्ते अस्तु नारदानु॒ष्ठु वि॒दुषे॑ व॒शा।
क॒त॒मासां॑ भी॒मत॑मा याम॑द॑त्त्वा परा॒भवे॑त्॥ ४५॥

१. हे **नारद**=नरसम्बन्धी 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' को शुद्ध करनेवाले साधक! **ते नमः अस्तु**=तेरे लिए नमस्कार हो। **विदुषे**=ज्ञानी के लिए **वशा**=यह वेदवाणी **अनुष्ठु**=अनुकूल स्थितिवाली होती है। २. **आसाम्**=इन वेदवाणियों में **कतमा भीमतमा**=कौन-सी अतिशयेन भयंकर है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि वह भयंकर है **याम्**=जिसको **अदत्त्वा**=न देकर **पराभवेत्**=पराभूत होता है। जिन वेदवाणियों की प्रेरणा से युवकों के जीवन का निर्माण होता है, जब उन वेदवाणियों को उनके लिए प्राप्त नहीं कराया जाता तब उनके जीवन विकृत होकर सारे परिवार के लिए दुर्गति का कारण बनते हैं। एवं, इन वेदवाणियों में जो **क-तमा**=अत्यन्त आनन्द का कारण होती है, वही न दी जाने पर **भीमतमा**=भयंकर हो जाती है।

भावार्थ—हम जीवन की शुद्धि के लिए वेदवाणी को अपनाएँ। यह हमारे जीवनों को आनन्दमय बनाती है। यह वेदवाणी जब आनेवाली सन्तानों को प्राप्त नहीं कराई जाती, तो हमारे लिए यह भयंकर हो जाती है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सूतवशा वशा

वि॒लि॒प्ती या बृ॑हस्प॒तेऽथो॑ सू॒तव॑शा व॒शा।
तस्या॒ नाश्नी॑या॒दब्रा॑ह्म॒णो॒ य आ॒शंसे॑त॒ भूत्या॑म्॥ ४६॥

१. हे **बृहस्पते**=ज्ञानिन्! **वशा**=जो वेदवाणी **विलिप्ती**=हमारी शक्तियों का विशेषरूप से उपचय करनेवाली है और जो **सूतवशा**=अपने जीवन का नियन्त्रण करनेवाले के वश में होती है, **तस्याः**=उस वेदवाणी का वह **अब्राह्मणः**=अब्रह्मचारी **न अश्नीयात्**=नहीं उपभोग कर पाता, **यः**=जोकि **भूत्यां आशंसेत**=ऐश्वर्य में इच्छावाला होता है। धन की ओर झुकाव हो जाने पर मनुष्य वेदवाणी को नहीं प्राप्त करता। यह वेदवाणी हमारी शक्तियों का उपचय करती है और उसी को प्राप्त होती है जोकि अपना नियन्त्रण करनेवाला बनता है।

भावार्थ—धनासक्त अब्राह्मण इस वेदवाणी को नहीं प्राप्त करता। यह शक्तियों का उपचय करनेवाली वेदवाणी नियन्ता को ही प्राप्त होती है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

(विलिप्ती सूतवशा वशा) अनाव्रस्कः

त्रीणि॒ वै व॑शाजा॒तानि॑ वि॒लि॒प्ती सू॒तव॑शा व॒शा।
ताः प्र य॑च्छेद् ब्र॒ह्मभ्यः॒ सो॑ऽनाव्र॒स्कः प्र॒जाप॑तौ॥ ४७॥

१. **त्रीणि**=तीन **वै**=निश्चय से **वशाजातानि**=इस कमनीया वेदवाणी के प्रादुर्भाव हैं। यह 'ऋग्, यजुः, साम' रूप से प्रादुर्भूत होकर हमारे जीवनों में 'विज्ञान, कर्म व उपासना' का विकास करती है। विज्ञान के द्वारा यह **विलिप्ती**=विशेषरूप से हमारी शक्तियों का उपचय करती है। विज्ञान द्वारा प्रकृति के ठीक प्रयोग से हमारी शक्तियों का विस्तार होता है। यजुः द्वारा विविध यज्ञों का उपदेश देती हुई यह हमें निरन्तर कर्मों में प्रेरित किये रखती है। मनुष्य अपनी इन्द्रियों को निरन्तर यज्ञों में प्रवृत्त रखता हुआ 'सूत' (नियन्ता) बनता है। इन इन्द्रियों को नियन्त्रित

रख पाने से ही वस्तुतः यह वेदवाणी को प्राप्त कर पाता है। यह **सूतवशा**=नियन्ता के ही वश में होनेवाली है। अन्ततः साम द्वारा उपासना में प्रवृत्त करके यह हमें प्रभु के समीप पहुँचाती है। प्रभु के समीप पहुँचकर हम प्रभु-जैसे ही बनते हैं, अतएव यह वेदवाणी **वशा**=कमनीया—चाहने योग्य है। २. मनुष्य को चाहिए कि **ताः**=उन वेदवाणियों को स्वयं प्राप्त करके **ब्रह्मभ्यः**=ब्रह्मचारियों के लिए **प्रयच्छेत्**=देनेवाला बने। **सः**=वह वेदवाणी का औरों के लिए देनेवाला व्यक्ति **प्रजापतौ**=उस प्रजापति प्रभु में **अनाव्रस्कः**=अच्छेद्य होता है। यह प्रभु से दण्डनीय नहीं होता।

भावार्थ—वेदवाणी हमारे जीवनों में 'ज्ञान, कर्म व उपासना' का विकास करती है। मनुष्य इन वेदवाणियों को प्राप्त करके इनका ज्ञान औरों के लिए देनेवाला बने तभी यह प्रभु से दण्डनीय नहीं होता।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ब्राह्मणों की हवि

एतद्वो ब्राह्मणा हविरिति मन्वीत याचितः।
वशां चेदेनं याचेयुर्या भीमाददुषो गृहे॥ ४८॥

१. **चेत्**=यदि **एनम्**=इस वेदज्ञ पुरुष से **वशां याचेयुः**=वेदवाणी की याचना करें, तो यह वेदज्ञ पुरुष उन वेदवाणी की प्राप्ति के इच्छुकों से यही कहे कि हे **ब्राह्मणाः**=ब्रह्मज्ञान के अभिलाषियो! **एतद् वः हविः**=यह तो है ही आपकी हवि—यह तो आपको देने के लिए ही (हु दाने) है। २. **याचितः**=वेदवाणी को माँगता हुआ, वेदज्ञ पुरुष **इतिमन्वीत**=यही विचार करे कि यह वेदवाणी तो वह है **या**=जोकि **अददुषः गृहे**=न देनेवाले के घर में **भीमा**=भयंकर है, अर्थात् यदि मैं पात्रों में इसको प्रदान न करूँगा तो यह मेरे लिए भयंकर होगी। वेदवाणी को देना ही पुण्य है, छिपाना पाप है।

भावार्थ—वेदवाणी पात्रों में देने के लिए ही है। प्रार्थना किया हुआ भी वेदज्ञ पुरुष यदि इसे पात्रों में नहीं प्राप्त कराता तो वह अपने लिए अशुभ परिणामों को आमन्त्रित करता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

भेद

देवा वशां पर्यवदन्न नोऽदादिति हीडिताः।
एताभिर्ऋग्भिर्भेदं तस्माद्वै स पराभवत्॥ ४९॥

१. **नः**=हमारे लिए इसने **न अदात्**=इस वेदवाणी को नहीं दिया **इति**=इस कारण **हीडिताः**=क्रुद्ध हुए-हुए **देवाः**=देवों ने **वशाम्**=वेदवाणी से **एताभिः ऋग्भिः**=इन ऋचाओं से इसके **भेदम्**=पार्थक्य को **पर्यवदन्**=किया। देववृत्ति के व्यक्तियों ने गोपति से वशा की याचना की। उसने याचना की उपेक्षा करके वेदवाणी को नहीं दिया। देवों को यह ठीक नहीं लगा। देवों ने वशा से ही कहा कि इस गोपति का ऋचाओं से पार्थक्य हो जाए। २. **तस्माद्**=उस कारण से **सः**=गोपति **वै**=निश्चय से **पराभवत्**=पराभूत हो गया। वस्तुतः वेदज्ञान का प्रसार आवश्यक ही है। इसका प्रसार न करनेवाला 'भेद' है—इस वाणी का विदारण करनेवाला है। इस विदारण करने से इसका स्वयं विदारण हो जाता है।

भावार्थ—हम वेदज्ञान प्राप्त करें। इस वेदज्ञान को देववृत्ति के व्यक्तियों को देनेवाले बनें। इसका अदान हमारा ही विदारण करनेवाला होगा।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पराजय

उतैनां भेदो नाददाद्वशामिन्द्रेण याचितः।
तस्मात्तं देवा आगसोऽवृश्चन्नहमुत्तरे॥ ५०॥

१. **उत**=और **इन्द्रेण**=एक जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी (पुरुष) से **याचितः**=प्रार्थना किया गया भी यह **भेदः**=वेदवाणी का विदारण करनेवाला गोपति **एनां वशाम्**=इस वेदवाणी को **न अददात्**=नहीं देता था। इन्द्र ने भेद से वशा को देने की प्रार्थना की, परन्तु भेद ने इन्द्र के लिए इसे नहीं दिया, **तस्मात् आगसः**=उस अपराध से **देवाः**=देवों ने **अहमुत्तरे**=संग्राम में उस भेद को **अवृश्चन्**=छिन्न कर दिया। यह गोपति वेदवाणी को इन्द्र के लिए न देने के अपराध से संग्राम में पराजित हो गया।

भावार्थ—वेदवाणी को पात्रों में न प्राप्त करानेवाला जीवन-संग्राम में पराजित हो जाता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

परिरापिणः

ये वशाया अदानाय वदन्ति परिरापिणः।
इन्द्रस्य मन्यवे जाल्मा आ वृश्चन्ते अचित्त्या॥ ५१॥

१. **ये**=जो **परिरापिणः**=व्यर्थ की बातें करनेवाले लोग **वशायाः**=वेदवाणी के **अदानाय**=न देने के लिए **वदन्ति**=व्यर्थ की युक्तियों का प्रतिपादन करते हैं। वे **जाल्माः**=असमीक्ष्यकारी लोग **अचित्त्या**=इस नासमझी से **इन्द्रस्य**=उस शत्रुविदारक प्रभु के **मन्यवे आवृश्चन्ते**=क्रोध के लिए छिन्न-भिन्न होते हैं, अर्थात् इनपर प्रभु का कोप होता है और ये विनष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ—वेदवाणी का प्रसार करना ही चाहिए। उसके प्रसार को रोकने के बहाने न ढूँढने चाहिएँ। ऐसा करेंगे तो हम प्रभु के कोपभाजन होंगे।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वेदज्ञान प्रसार पर प्रतिबन्ध

ये गोपतिं पराणीयाथाहुर्मा ददा इति।
रुद्रस्यास्तां ते हेतिं परि यन्त्यचित्त्या॥ ५२॥

१. **ये**=जो बलावलेपवाले क्षत्रिय लोग **गोपतिम्**=ज्ञान के स्वामी को **पराणीय**=प्रजावर्ग से दूर करके **अथ**=अब **आहुः**=यह कहते हैं कि **मा ददाः इति**=इन प्रजाओं के लिए इस वेदज्ञान को मत दो, **ते**=वे बलदर्पदृप्त राजन्य **अचित्त्या**=इस नासमझी से **रुद्रस्य**=उस दुष्टों को रुलानेवाले प्रभु के **अस्तां हेतिम्**=फेंके हुए वज्र को **परियन्ति**=सर्वतः प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—यदि एक राजा ज्ञान की वाणी के प्रसार पर प्रतिबन्ध लगाता है, तो वह प्रभु के वज्र से आहत होता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**वशा** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

समाज से बहिष्कार

यदि हुतां यद्यहुताममा च पचते वशाम्।
देवान्त्सब्राह्मणानृत्वा जिह्मो लोकान्निर्ऋच्छति॥ ५३॥

१. **यदि**=यदि **हुताम्**=आचार्य के द्वारा दी गई **च**=और **यदि**=यदि **अहुताम्**=औरों के लिए

न प्राप्त करायी गई इस **वशाम्**=वेदवाणी को **अमा पचते**=अपने घर में ही परिपक्व करता है, अर्थात् इस वेदज्ञान को औरों के लिए नहीं देता, तो वह वेदज्ञान का अदाता **जिह्मः**=कुटिल व्यक्ति **सब्राह्मणान् देवान्**=ब्राह्मणोंसहित देवों को **ऋत्वा**=हिंसित करके **लोकात् निर्ऋच्छति**=समाज से निर्गत हो जाता है। समाज से यह बहिष्कृत कर दिया जाता है।

भावार्थ—आचार्य ने हमें वेदज्ञान दिया। हमें भी चाहिए कि हम इसे 'अहुता' न करके औरों के लिए देनेवाले बनें अन्यथा हम देववृत्ति के ज्ञानियों का हिंसन ही कर रहे होते हैं—वेदज्ञान को इनके लिए प्राप्त कराना ही इनका रक्षण है। यदि यह रक्षण हम नहीं करेंगे तो समाज हमारा बहिष्कार कर देगा।

इसप्रकार वेदज्ञान को न देने के दुष्परिणाम को समझकर इस ब्रह्मगवी (वेदधेनु वशा) को औरों के लिए देनेवाला यह 'अथर्वाचार्य' बनता है—स्थिरवृत्तिवाला आचार्य। यही अगले पर्याय सूक्तों का ऋषि है। इनका देवता (विषय) ब्रह्मगवी=वेदधनु है—

५ [पञ्चमं सूक्तम्, प्रथमः पर्यायः]

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**१ प्राजापत्यानुष्टुप्, २ भुरिक्साम्न्यनुष्टुप्** ॥

सत्यं यशः श्रीः

श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्तर्ते श्रिता ॥ १ ॥
सत्येनावृता श्रिया प्रावृता यशसा परीवृता ॥ २ ॥

१. यह ब्रह्मगवी (वेदधनु) **श्रमेण तपसा सृष्टा**=श्रम और तप के द्वारा उत्पन्न होती है। आलसी व आरामपसन्द को यह वेदवाणी प्राप्त नहीं होती। ब्रह्मचारी को परिश्रमी व तपस्वी होना ही चाहिए। यह वेदवाणी **ब्रह्मणा वित्ता**=ज्ञान के द्वारा प्राप्त होती है—समझदार विद्यार्थी ही इसे प्राप्त कर पाता है। **ऋते श्रिता**=यह ऋत में आश्रित है—जहाँ जीवन सूर्य व चन्द्र की भाँति व्यवस्थित होता है, वहीं वेदज्ञान भी आश्रय करता है। २. यह ब्रह्मगवी **सत्येन आवृता**=सत्य से आवृत है, **श्रिया प्रावृता**=श्री से प्रावृत—खूब ही आवृत है और **यशसा परीवृता**=यश से चारों दिशाओं में आच्छादित है, अर्थात् ब्रह्मगवी को अपनानेवाला व्यक्ति सत्यवादी, श्रीसम्पन्न व यशस्वी बनता है।

भावार्थ—वेदज्ञान को प्राप्त करने के लिए 'श्रम, तप, ब्रह्म=ज्ञान=समझदारी व ऋत=व्यवस्थित जीवन' की आवश्कता है और यह वेदज्ञान हमें 'सत्य, यश व श्री' को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**३ चतुष्पदा स्वराडुष्णिक्, ४ आसुर्यनुष्टुप्** ॥

स्वधा...श्रद्धा...दीक्षा

स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्यूढा दीक्षया गुप्ता यज्ञे।
प्रतिष्ठिता लोको निधनम् ॥ ३ ॥
ब्रह्म पदवायं ब्राह्मणोऽधिपतिः ॥ ४ ॥

१. यह ब्रह्मगवी (वेदधेनु) **स्वधया परिहिता**=(स्व-धा) आत्मधारणशक्ति से परिहित है—समन्तात् धारण की गई है अथवा 'पितृभ्यः स्वधा' पितरों का आदर करने से यह प्राप्त होती है। **श्रद्धया पर्यूढा**=श्रद्धा से यह वहन की गई है। बिना श्रद्धा के इस वेदज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। **दीक्षया गुप्ताः**=व्रतग्रहण से यह रक्षित होती है, अर्थात् व्रतधारण करनेवाला व्यक्ति ही इसको अपने में सुरक्षित कर पाता है। **यज्ञे प्रतिष्ठिता**=यह यज्ञ में प्रतिष्ठित है, अर्थात् यज्ञमय जीवनवाला व्यक्ति इस ब्रह्मगवी का आदर कर रहा होता है। **लोको निधनम्**=यह संसार इसका

घर है (Residence), अर्थात् इस वेदवाणी का प्रयोजन इस संसार-गृह को सुन्दर बनाना ही है। २. इस ब्रह्मगवी से दिया जानेवाला **ब्रह्म**=ज्ञान **पदवायम्**=(पद्यते मुनिभिर्यस्मात् तस्मात् पद उदाहृत:) उस प्रभु को प्राप्त करनेवाला है (वा गतौ) **ब्राह्मणः**=एक ब्रह्मचारी **अधिपतिः**=इस ज्ञान का अधिपति बनता है।

भावार्थ—इस वेदवाणी की प्राप्ति के लिए 'स्वधा, श्रद्धा व दीक्षा' की आवश्यकता है। यज्ञमय जीवन से इसकी प्रतिष्ठा होती है। यह संसार ही इसका घर है—यह घर को सुन्दर बनाती है। इससे दिया गया ज्ञान हमें ब्रह्म को प्राप्त कराता है। हम इसके अधिपति 'ब्राह्मण' बनें।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—५ **साम्नीपङ्क्तिः**, ६ **साम्न्युष्णिक्** ॥

सत्य, बल व लक्ष्मी

तामाददानस्य ब्रह्मगवीं जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य॥ ५॥
अप क्रामति सूनृता वीर्यं पुण्या लक्ष्मीः॥ ६॥

१. **ताम्**=उस **ब्रह्मगवीम्**=ब्रह्मगवी को—**आददानस्य**=छीन लेनेवाले अथवा छिन्न करनेवाले (दाप् लवने) तथा **ब्राह्मणम्**=इस ब्रह्मगवी से दिये जानेवाले ज्ञान के अधिपति ब्राह्मण को **जिनतः**=सतानेवाले (ज्या वयोहानौ) **क्षत्रिस्य**=क्षत्रिय की **सूनृता**=प्रिय सत्यवाणी **अपक्रामति**=दूर भाग जाती है—इसके जीवन में इस सूनृता का स्थान नहीं रहता। **वीर्यम्**=इसका वीर्य नष्ट हो जाता है तथा **पुण्या लक्ष्मीः**=पुण्य लक्ष्मी इससे दूर चली जाती है।

भावार्थ—यदि एक क्षत्रिय इस वेदधनु का छेदन करता है और इसके स्वामी ब्राह्मण को सताता है तो वह 'सत्य, बल व पुण्य लक्ष्मी' से रहित हो जाता है।

[पञ्चमं सूक्तम्, द्वितीयः पर्यायः]

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—७ **साम्नीत्रिष्टुप्, भुरिगार्च्यनुष्टुप, ९ आर्च्यनुष्टुप्, १० उष्णिक्, ११ आर्चीनिचृत्पङ्क्तिः** ॥

ओज व तेज आदि का विनाश

ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक्चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च॥ ७॥
ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च॥ ८॥
आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च॥ ९॥
पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं चर्तं च सत्यं चेष्टं च पूर्तं च प्रजा च पशवश्च॥ १०॥
तानि सर्वाण्यप क्रामन्ति ब्रह्मगवीमाददानस्य जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य॥ ११॥

१. **ओजः च तेजः च**=ओज और तेज, **सहः च बलं च**=शत्रुमर्षणशक्ति और बल, **वाक् च इन्द्रियं च**=वाणी की शक्ति तथा वीर्य, **श्रीः च धर्मः च**=श्री और धर्म। इसीप्रकार **ब्रह्म च क्षत्रं च**=ज्ञान और बल, **राष्ट्रं च विशः च**=राज्य और प्रजा, **त्विषिः च यशः च**=दीप्ति व यश, **वर्चः च द्रविणं च**=रोगनिरोधक शक्ति (Vitality) और कार्यसाधक धन तथा **आयुः च रूपं च**=दीर्घजीवन व सौन्दर्य, **नाम च कीर्तिश्च**=नाम और यश, **प्राणः च अपानः च**=प्राणापानशक्ति (बल का स्थापन व दोष का निराकरण करनेवाली शक्ति), **चक्षुः च श्रोत्रं च**=दृष्टिशक्ति व श्रवणशक्ति तथा इनके साथ **पयः च रसः च**=गौ आदि का दूध और ओषधियों का रस, **अन्नं च अन्नाद्यं च**=अन्न और अन्न खाने का सामर्थ्य, **ऋतं च सत्यं च**=भौतिक क्रियाओं का ठीक समय व स्थान पर होना तथा व्यवहार में सत्यता, **इष्टं च पूर्तं च**=यज्ञ तथा 'वापी, कूप व

तड़ाग' आदि का निर्माण, **प्रजा च पशवः च**=सन्तान व गौ आदि पशु। २. **तानि सर्वाणि**=ये सब उस **क्षत्रियस्य**=क्षत्रिय के **अपक्रामन्ति**=दूर चले जाते हैं व विनष्ट हो जाते हैं जोकि **ब्रह्मगवीम् आददानस्य**=ब्रह्मगवी (वेदधनु) का छेदन करता है और **ब्राह्मणां जिनतः**=ब्राह्मण को पीड़ित करता है।

भावार्थ—ब्रह्मगवी का छेदन करनेवाला व ब्राह्मण को पीड़ित करनेवाला क्षत्रिय ओज व तेज आदि को विनष्ट कर बैठता है।

[पञ्चमं सूक्तम्, तृतीयः पर्यायः]

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**१२ विराड्विषमागायत्री १३ आसुर्यनुष्टुप्, १४ साम्न्युष्णिक्ः, १५ गायत्री** ॥

गायत्री आवृता ब्रह्मगवी

सैषा भीमा ब्रह्मगव्य१घविषा साक्षात्कृत्या कूल्बजमावृता॥ १२॥
सर्वाण्यस्यां घोराणि सर्वे च मृत्यवः॥ १३॥
सर्वाण्यस्यां क्रूराणि सर्वे पुरुषवधाः॥ १४॥
सा ब्रह्मज्यं देवपीयुं ब्रह्मगव्या दीयमाना मृत्योः पड्बीश आ द्यति॥ १५॥

१. **सा एषा ब्रह्मगवी**=वह यह ब्रह्मगवी—ब्राह्मण की वाणी **आवृता**=निरुद्ध हुई-हुई **भीमा**=बड़ी भयंकर है। यह **अघविषा**=राष्ट्र में पाप के विष को फैलानेवाली है। **साक्षात् कृत्या**=यह तो स्पष्ट छेदन-भेदन (हिंसा) ही है। **कूल्बजम्**=(कु+उल दाहे+ज) यह ब्रह्मगवी का निरोध भूमि पर दाह को उत्पन्न करनेवाला है। २. **अस्याम्**=इस ब्रह्मगवी के निरुद्ध होने पर **सर्वाणि घोराणि**=राष्ट्र में सब घोर कर्म होने लगते हैं **च**=और **सर्वे मृत्यवः**=सब प्रकार के रोग उठ खड़े होते हैं। **अस्याम्**=इस ब्रह्मगवी के निरुद्ध होने पर **सर्वाणि क्रूराणि**=सब क्रूर कर्म होते हैं और **सर्वे पुरुषवधाः**=सब पुरुषों के वध प्रारम्भ हो जाते हैं—क़त्ल होने लगते हैं। ३. **सा**=वह **आदीयमाना**=(दाप् लवने) छिन्न की जाती हुई **ब्रह्मगवी**=ब्राह्मण की वाणी उस **ब्रह्मज्यम्**=ज्ञान का हिंसन करनेवाले, **देवपीयुम्**=देवों के हिंसक बलदृप्त राजन्य को **मृत्योः पड्बीशे**=मौत की बेड़ी में **आद्यति**=बाँधती है (आ-दो बन्धने)।

भावार्थ—राष्ट्र में ब्राह्मण की वाणी पर प्रतिबन्ध लगाने से राष्ट्र में पाप, हिंसा व क्रूर कर्मों का प्राबल्य हो जाता है। अन्ततः यह प्रतिबन्धक राजा भी मृत्यु के पञ्जे में फँसता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**१६, १७, १९ प्राजापत्यानुष्टुप्, १८ याजुषीजगती** ॥

मेनिः+हेतिः

मेनिः शतवधा हि सा ब्रह्मज्यस्य क्षितिर्हि सा॥ १६॥
तस्माद्वै ब्राह्मणानां गौर्दुराधर्षा विजानता॥ १७॥
वज्रो धावन्ती वैश्वानर उद्वीता॥ १८॥
हेतिः शफानुत्खिदन्ती महादेवो ३ पेक्षमाणा॥ १९॥

१. **सा**=वह निरुद्ध ब्रह्मगवी **हि**=निश्चय से **शतवधा मेनिः**=सैकड़ों प्रकार से वध करनेवाला वज्र ही है। **ब्रह्मज्यस्य**=ज्ञान का हिंसन करनेवालों की **सा**=वह **हि**=निश्चय से **क्षितिः**=विनाशिका है (क्षि क्षये)। **तस्मात्**=उस कारण से यह **ब्राह्मणानां गौः**=ब्राह्मणों की वाणी **विजानता**=समझदार पुरुष से **वै**=निश्चय ही **दुराधर्षा**=धर्षण के योग्य नहीं है—वह इसका धर्षण नहीं करता। २. यदि नासमझी के कारण इसका घर्षण हुआ तो **धावन्ती**=राष्ट्र में से भागती हुई यह ब्रह्मगवी

वज्रः=वज्र ही होती है और **उद्वीता**=(throw, cast) बाहर फेंकी गई (निर्वासित हुई-हुई) यह ब्रह्मगवी **वैश्वानरः**=अग्नि ही हो जाती है, अर्थात् यह राष्ट्र से दूर की गई ब्रह्मगवी वज्र के समान घातक व अग्नि के समान जलानेवाली होती है। पीड़ित होने पर **शफान् उत्खिदन्ती**=(Strike) अपने शफों (खुरों) को ऊपर आहत करती हुई यह **हेतिः**=हनन करनेवाला आयुध बनती है, और **अप ईक्षमाणा**=(Stand in need of) सहायता के लिए इधर-उधर देखती हुई, किसी रक्षक को चाहती हुई यह ब्रह्मगवी **महादेवः**=प्रलयंकर महादेव ही हो जाती है, अर्थात् जिस राष्ट्र में यह ब्रह्मगवी अत्याचारित होकर सहायता की अपेक्षावाली होती है, वहाँ यह प्रलय ही मचा देती है।

भावार्थ—प्रतिबन्ध को प्राप्त हुई-हुई ब्रह्मगवी राष्ट्र के विनाश का कारण बनती है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**२० प्राजापत्यानुष्टुप्, २२साम्नीबृहती, २३ याजुषीत्रिष्टुप्** ॥

क्षुरपवि----शीर्षक्ति

क्षुरपविरीक्षमाणा वाश्यमानाभि स्फूर्जति ॥ २० ॥
मृत्युर्हिङ्कृण्वत्युग्रो देवः पुच्छं पर्यस्यन्ती ॥ २१ ॥
सर्वज्यानिः कर्णौ वरीवर्जयन्ती राजयक्ष्मो मेहन्ती ॥ २२ ॥
मेनिर्दुह्यमाना शीर्षक्तिर्दुग्धा ॥ २३ ॥

१. **ईक्षमाणा**=अत्याचरित यह ब्रह्मगवी सहायता के लिए इधर-उधर झाँकती हुई **क्षुरपविः**=(The point of a spear) छुरे की नोक के समान हो जाती है। यह अत्याचारी की छाती में प्रविष्ट होकर उसे समाप्त कर देती है। **वाश्यमाना**=सहायता के लिए पुकारती हुई यह **अभिस्फूर्जति**=चारों ओर मेघगर्जना के समान शब्द पैदा कर देती है। **हिङ्कृण्वती**=बंभारती हुई यह **मृत्युः**=ब्रह्मज्य की मौत होती है। **पुच्छं पर्यस्यन्ती**=पूँछ फटकारती हुई यह ब्रह्मगवी **उग्रः देवः**=संहार करनेवाला काल (देव) ही बन जाती है। २. **कर्णौ वरीवर्जयन्ति**=(Turn away, avert) कानों को बारम्बार परे करती हुई यह ब्रह्मगवी **सर्वज्यानिः**=सब हानियों का कारण बनती है और **मेहन्ती**=मेहन (मूत्र) करती हुई **राजयक्ष्मः**=राजयक्ष्मा (क्षय) को पैदा करती है। **दुह्यमाना**=यदि यह ब्रह्मगवी दोही जाए, अर्थात् उसे भी धनार्जन का साधन बनाया जाए, तो यह **मेनिः**=वज्र ही हो जाती है और **दुग्धा**=दुग्ध हुई-हुई **शीर्षक्तिः**=सिरदर्द ही हो जाती है।

भावार्थ—ब्रह्मगवी पर किसी तरह का अत्याचार करना अनुचित है, अत्याचरित हुई-हुई यह अत्याचारी की हानि व मृत्यु का कारण बनती है। इसे अर्थप्राप्ति का साधन भी नहीं बनाना, अन्यथा यह एक सरदर्द ही हो जाती है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**२४ आसुरीगायत्री, २५ साम्न्यनुष्टुप्, २६ साम्न्युष्णिक्, २७ आर्च्युष्णिक्** ॥

अन्धकार व विनाश

सेदिरुपतिष्ठन्ती मिथोयोधः परामृष्टा ॥ २४ ॥
शरव्या३ मुखेऽपिनह्यमान ऋतिर्हन्यमाना ॥ २५ ॥
अघविषा निपतन्ती तमो निपतिता ॥ २६ ॥
अनुगच्छन्ती प्राणानुप दासयति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यस्य ॥ २७ ॥

१. यदि एक ब्रह्मज्य राजन्य एक वेदज्ञ ब्राह्मण को नौकर की तरह अपने समीप उपस्थित होने के लिए आदिष्ट करता है, तो **उपतिष्ठन्ती**=उसके समीप उपस्थित होती हुई यह ब्रह्मगवी **मेदिः**=उस अत्यचारी के विनाश का कारण होती है। **परामृष्टा**=और यदि उस अत्याचारी से यह किसी प्रकार परामृष्ट होती है—कठोर स्पर्श को प्राप्त करती है, तो **मिथोयोधः**=यह राष्ट्र की इन प्रकृतियों को परस्पर लड़ानेवाली हो जाती है, अर्थात् ये शासक आपस में ही लड़ मरते हैं। इस ब्रह्मघ्न द्वारा **मुखे अपिनह्यमाने**=मुख के बाँधे जाने पर, अर्थात् प्रचार पर प्रतिबन्ध लगा दिये जाने पर **शरव्या**=यह लक्ष्य पर आघात करनेवाले बाणसमूह के समान हो जाती है। **हन्यमाना**=मारी जाती हुई यह ब्रह्मगवी **ऋतिः**=विनाश ही हो जाती है। **निपतन्ती**=नीचे गिरती हुई यह **अघविषा**=भयंकर विष हो जाती है और **निपतिता तमः**=गिरी हुई चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार फैला देती है। संक्षेप में, इसप्रकार पीड़ित हुई-हुई यह **ब्रह्मगवी**=वेदवाणी **ब्रह्मज्यस्य**=ब्रह्म की हानि करनेवाले इस ब्रह्मघाती के **अनुगच्छन्ती**=पीछे चलती हुई **प्राणान् उपदासयति**=उसके प्राणों को विनष्ट कर डालती है।

भावार्थ—ब्रह्मज्य शासक ज्ञानप्रसार का विरोध करता हुआ राष्ट्र को अन्धकार के गर्त में डाल देता है और स्वयं भी उस अन्धकार में ही कहीं विलीन हो जाता है।

[पञ्चमं सूक्तम्, चतुर्थः पर्यायः]

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**२८ आसुरीगायत्री, २९ आसुर्यनुष्टुप्; ३० साम्न्यनुष्टुप्; ३१ याजुषीत्रिष्टुप्** ॥

वैर......असमृद्धि......पाप......पारुष्य

वैरं विकृत्यमाना पौत्राद्यं विभाज्यमाना ॥ २८ ॥
देवहेतिर्ह्रियमाणा व्यृ॑द्धिर्हृता ॥ २९ ॥
पाप्माधिधीयमाना पारुष्यमवधीयमाना ॥ ३० ॥
विषं प्रयस्यन्ती तक्मा प्रयस्ता ॥ ३१ ॥

१. 'एक बलदृप्त राजन्य इस ब्रह्मगवी का हनन करता है, और परिणामतः राष्ट्र में किस प्रकार का विनाश उपस्थित होता है' इसका यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार में वर्णन किया गया है। कहते हैं कि यह ब्रह्मगवी **विकृत्यमाना**=विविध प्रकार से छिन्न की जाती हुई। अपने विद्वेषियों के लिए **वैरम्**=वैर को उत्पन्न करती है, ये ब्रह्मगवी का विकृन्तन करनेवाले परस्पर वैर-विरोध में लड़ मरते हैं। **विभाज्यमाना**=अंग-अंग काटकर आपस में बाँटी जाती हुई ब्रह्मगवी **पौत्राद्यम्**=पुत्र-पौत्र आदि को खा जानेवाली होती है। **ह्रियमाना**=हरण की जाती हुई यह **देवहेतिः**=इन्द्रियों (इन्द्रियशक्तियों) की विनाशक होती है, और **हृता**=हरण की गई होने पर **व्यृद्धिः**=सब प्रकार की असमृद्धि का कारण बनती है। २. **अधिधीयमाना**=इस ब्रह्मज्य द्वारा अधिकार में रक्खी हुई—पूर्णरूप से प्रतिबद्ध-सी हुई-हुई **पाप्मा**=पाप के प्रसार का हेतु बनती है, **अवधीयमाना**=तिरस्कृत करके दूर की जाती हुई **पारुष्यम्**=क्रूरताओं को उत्पन्न करती है, अर्थात् इस स्थिति में राजा प्रजा पर अत्याचार करने लगता है। **प्रयस्यन्ती विषम्**=ब्रह्मज्य द्वारा कष्ट उठाती हुई विष के समान प्राणनाशक बनती है, **प्रयस्ता**=सताई हुई होने पर यह **तक्मा**=ज्वर ही हो जाती है।

भावार्थ—ब्रह्मगवी का छेदन व तिरस्कार राष्ट्र में 'वैर, अकालमृत्यु, इन्द्रियशक्ति-विनाश, असमृद्धि, पाप व पारुष्य' का कारण बनता है और विष बनकर ज्वरित करनेवाला होता है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**३२ साम्नीगायत्र्यासुरीगायत्री; ३३, ३४ साम्नीबृहती; ३५ भुरिक्साम्न्यनुष्टुप्** ॥

अघ, अभूति, पराभूति

अघं पच्यमाना दुःष्वप्न्यं पक्वा॥ ३२॥
मूलबर्हणी पर्याक्रियमाणा क्षितिः पर्याकृता॥ ३३॥
असंज्ञा गन्धेन शुगुद्ध्रियमाणाशीविष उद्धृता॥ ३४॥
अभूतिरुपह्रियमाणा पराभूतिरुपहृता॥ ३५॥

१. यह ब्रह्मगवी **पच्यमाना**=हाँडी आदि में पकाई जाती हुई **अघम्**=पाप व दुःख का कारण होती है और **पक्वा**=पकाई होने पर **दुःष्वप्न्यम्**=अशुभ स्वप्नों का कारण बनती है। **पर्याक्रियमाणा**=कड़छी से हिलाई-डुलाई जाती हुई **मूल बर्हणी**=मूल का ही नाश करनेवाली होती है और **पर्याकृता**=कड़छी से लोटी-पोटी गई यह ब्रह्मगवी **क्षितिः**=विनाश-ही-विनाश हो जाती है। २. **गन्धेन**=(गन्धनम् हिंसनम्) हिंसन से व पकाये जाने के समय उठते हुए गन्ध से यह **असंज्ञा**=अचेतनता को पैदा करती है। **उद्ध्रियमाणा**=कड़छी से ऊपर निकाली जाती हुई यह **शुक्**=शोकरूप होती है, **उद्धृता**=ऊपर निकाली गई होने पर **आशीविषः**=सर्प ही हो जाती है—सर्प के समान प्राणहर होती है। **उपह्रियमाणा**=पकाई जाकर परोसी जाती हुई यह **अभूतिः**=अनैश्वर्य होती है। **उपहृता**=परोसी हुई होकर **पराभूतिः**=यह पराभव का कारण बनती है।

भावार्थ—पीड़ित की गई तथा भोग का साधन बनाई गई ब्रह्मगवी 'पाप, अशुभस्वप्न, मूलोच्छेद, विनाश, अचेतनता, शोक, अनैश्वर्य व पराभव' का कारण बनती है—सर्प के समान विनाशक हो जाती है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**३६ साम्न्युष्णिक्; ३७ आसुर्यनुष्टुप्; ३८ प्रतिष्ठागायत्री** ॥

अभ्युदय व निःश्रेयस का विनाश

शर्वः क्रुद्धः पिश्यमाना शिमिदा पिशिता॥ ३६॥
अवर्तिरश्यमाना निर्ऋतिरशिता॥ ३७॥
अशिता लोकाच्छिनत्ति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यमस्माच्चामुष्माच्च॥ ३८॥

१. **पिश्यमाना**=टुकड़े-टुकड़े की जाती हुई यह ब्रह्मगवी **क्रुद्धः शर्वः**=क्रुद्ध हुए-हुए प्रलंकार रुद्र के समान होती है। **पिशिता**=काटी गई होने पर **शिमिदा**=शान्ति व सुख को नष्ट करनेवाली होती है (दाप् लवने)। **अश्यमाना**=खाई जाती हुई **अवर्तिः**=दरिद्रता व सत्ताविनाश का हेतु होती है और **अशिता निर्ऋतिः**=खायी गई होकर पापदेवता व मृत्यु के समान भयंकर होती है। २. **अशिता ब्रह्मगवी**=खायी गई यह 'ब्रह्मगवी' **ब्रह्मज्यम्**=ज्ञान के विनाशक इस राजन्य को **अस्मात् च अमुष्मात् च**=इस लोक से और परलोक से—अभ्युदय व निःश्रेयस से—**छिनत्ति**=उखाड़ फेंकती है।

भावार्थ—वेदवाणी का प्रतिरोध प्रलयंकर होता है—यह शान्ति का विनाश कर देता है, दरिद्रता व दुर्गति का कारण बनता है तथा अभ्युदय व निःश्रेयस को विनष्ट कर देता है।

[पञ्चमं सूक्तम्, पञ्चमः पर्यायः]

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**३९ साम्नीपङ्क्तिः; ४० याजुष्यनुष्टुप्; ४१ भुरिक्साम्न्यनुष्टुप्; ४२ आसुरीबृहती** ॥

सर्वविनाश

तस्या॑ आ॒हन॑नं कृ॒त्या मे॒निरा॒शस॑नं वल॒ग ऊब॑ध्यम्॥ ३९ ॥
अ॒स्व॒गता॒ परि॑ह्णुता॥ ४० ॥
अ॒ग्निः क्र॒व्याद्भू॒त्वा ब्रह्म॒ग॒वी ब्र॑ह्म॒ज्यं प्र॒विश्या॑त्ति॥ ४१ ॥
सर्वा॒स्याङ्गा॒ पर्वा॒ मूला॑नि वृश्चति॥ ४२ ॥

१. **तस्याः**=उस ब्रह्मगवी का **आहननम्**=मारना **कृत्या**=अपनी हिंसा करना है, **आशसनम्**=उसका टुकड़े करना **मेनिः**=वज्राघात के समान है, **ऊबध्यम्**=(दुर् बन्धनम्) उसको बुरी तरह से बाँधना **वलगः**=(वल+ग) हलचल की ओर ले-जानेवाला है—प्रजा में विप्लव को पैदा करनेवाला है। २. **परिह्णुता**=(ह्णु अपनयने) अपनीता व चुरा ली गई यह ब्रह्मगवी **अस्व-गता**=निर्धनता की ओर गमनवाली होती है—यह निर्धनता को उत्पन्न कर देती है। उस समय यह ब्रह्मगवी **क्रव्यात् अग्निः भूत्वा**=कच्चा मांस खा-जानेवाली अग्नि बनकर **ब्रह्मज्यं प्रविश्य अत्ति**=ब्रह्म की हानि करनेवाले में प्रवेश करके उसे खा जाती है। **अस्य**=इसके **सर्वा अङ्गा**=सब अङ्गों को **पर्वा**=पर्वों को—जोड़ों को व **मूलानि**=मूलों को **वृश्चति**=छिन्न कर देती है।

भावार्थ—विनष्ट की गई ब्रह्मगवी विनाश का ही कारण बनती है।

ऋषिः=**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**४३ साम्नीबृहती; ४४ पिपीलिकामध्यानुष्टुप्; ४५ आर्चीबृहती; ४६ भुरिक्साम्न्यनुष्टुप्** ॥

वंशविनाश

छि॒नत्त्य॑स्य पितृ॒ब॒न्धु परा॑ भावयति मातृ॒ब॒न्धु॥ ४३ ॥
वि॒वा॒हां ज्ञा॒तीन्त्सर्वा॒नपि॑ क्षापयति ब्रह्म॒ग॒वी
ब्र॑ह्म॒ज्यस्य॑ क्षत्रि॒येणापु॑नर्दीयमाना॥ ४४ ॥
अ॒वा॒स्तुमे॑न॒मस्व॑ग॒मप्र॑जसं करोत्यपरापर॒णो भ॑वति क्षी॒यते॑॥ ४५ ॥
य ए॒वं वि॒दुषो॑ ब्राह्म॒णस्य॑ क्ष॒त्रियो॒ गामा॑द॒त्ते॥ ४६ ॥

१. पीड़ित की गई ब्रह्मगवी **अस्य पितृबन्धु छिनत्ति**=पैतृक सम्बन्धों को छिन्न कर डालती है, **मातृबन्धु पराभावयति**=मातृपक्षवालों को भी पराभूत करती है। यह **ब्रह्मगवी**=वेदवाणी यदि **क्षत्रियेण**=क्षत्रिय से **अपुनः दीयमाना**=फिर वापस लौटाई न जाए तो यह **ब्रह्मज्यस्य**= ब्रह्मघाती के **विवाहान्**=विवाहों को व **सर्वान् ज्ञातीन् अपि**=सब रिश्तेदारों को भी **क्षापयति**=नष्ट कर देती है। २. **यः**=जो **क्षत्रियः**=क्षत्रिय **एवं विदुषः ब्रह्मणस्य**=इसप्रकार ज्ञानी ब्राह्मण की **गाम् आदत्ते**=इस ब्रह्मगवी को छीन लेता है, वह **अपरापरणः भवति**=सहायक से रहित हो जाता है अथवा पुराणों व नयों से रहित हो जाता है—सब इसका साथ छोड़ जाते हैं और **क्षीयते**=यह नष्ट हो जाता है। यह छिन्ना ब्रह्मगवी **एनम्**=इसको **अवास्तुम्**=घर-बार से रहित, **अस्वगम्**=(अ स्व ग) निर्धन व **अप्रजसम्**=सन्तानरहित **करोति**=कर देती है।

भावार्थ—छिन्ना ब्रह्मगवी ब्रह्मज्य के सब वंश को ही समाप्त कर देती है।

[पञ्चमं सूक्तम्, षष्ठः पर्यायः]

ऋषिः=कश्यपः ॥ देवता—ब्रह्मगवी ॥ छन्दः—४७, ४९ प्राजापत्यानुष्टुप्; ४८ आर्च्यनुष्टुप्; ५० साम्नीबृहती ॥

ब्रह्मज्य की अन्त्येष्टि

क्षिप्रं वै तस्याहनने गृध्राः कुर्वत ऐलबम्॥ ४७॥
क्षिप्रं वै तस्यादहनं परि नृत्यन्ति केशिनीराघ्नानाः पाणिनोरसि कुर्वाणाः पापमैलबम्॥ ४८॥
क्षिप्रं वै तस्य वास्तुषु वृकाः कुर्वत ऐलबम्॥ ४९॥
क्षिप्रं वै तस्य पृच्छन्ति यत्तदासी३ दिदं नु ता३ दिति॥ ५०॥

१. **क्षिप्रम्**=शीघ्र ही **वै**=निश्चय से **तस्य**=उस ब्रह्मज्य के **आहनने**=मारे जाने पर **गृध्राः**=गिद्ध **ऐलबम्**=(Noise, cry) कोलाहल **कुर्वते**=करते हैं। **क्षिप्रं वै**=शीघ्र ही निश्चय से **तस्य आदहनं परि**=उस ब्रह्मज्य के भस्मीकरण स्थान के चारों ओर **केशिनीः**=खुले बालोंवाली, **पाणिना उरसि आघ्नानाः**=हाथ से छाती पर आघात करती हुई, **पापं ऐलबम् कुर्वाणाः**=अशुभ शब्द 'क्रन्दन-ध्वनि' करती हुई स्त्रियाँ **नृत्यन्ति**=नाचती हैं। २. **क्षिप्रं वै**=शीघ्र ही निश्चय से **तस्य**=उसके **वास्तुषु**=घरों में **वृकाः ऐलबम् कुर्वते**=भेड़िये शोर करने लगते हैं, अर्थात् उसका घर उजड़कर भेड़ियों का निवासस्थान बन जाता है। **क्षिप्रं वै**=शीघ्र ही निश्चय से **तस्य पृच्छन्ति**=उसके विषय में पूछते हैं **यत्**=कि **तत् आसीत्**=ओह! इसका तो वह अवर्णनीय वैभव था **इदं नु तत् इति**=क्या यह वही है—बस, वह सब यही खण्डहर होकर ढेर हुआ पड़ा है।

भावार्थ—ब्रह्मज्य का विनाश हो जाता है। उसका घर उजड़ जाता है—सब ऐश्वर्य समाप्त हो जाता है।

ऋषिः—कश्यपः ॥ देवता—ब्रह्मगवी ॥ छन्दः—५१-५३ प्राजापत्यानुष्टुप्; ५४, ५५ प्राजापत्योष्णिक्; ५६ आसुरीगायत्री ॥

छेदन.....हिंसा.....आशरविनाश

छिन्ध्या च्छिन्धि प्र च्छिन्ध्यपि क्षापय क्षापय॥ ५१॥
आददानमाङ्गिरसि ब्रह्मज्यमुप दासय॥ ५२॥
वैश्वदेवी ह्यु१च्यसे कृत्या कूल्बजमावृता॥ ५३॥
ओषन्ती समोषन्ती ब्रह्मणो वज्रः॥ ५४॥
क्षुरपविर्मृत्युर्भूत्वा वि धाव त्वम्॥ ५५॥
आ दत्से जिनतां वर्च इष्टं पूर्तं चाशिषः॥ ५६॥

१. हे **आंगिरसि**=विद्वान् ब्राह्मण की शक्तिरूप वेदवाणि! तू **ब्रह्मज्यम्**=ज्ञान के ध्वंसक दुष्ट पुरुष को **छिन्धि**=काट डाल, **आच्छिन्धि**=सब ओर से काट डाल, **प्रच्छिन्धि**=अच्छी प्रकार काट डाल। **क्षापय क्षापय**=उजाड़ डाल और उजाड़ ही डाल। २. हे आंगिरसि! तू **हि**=निश्चय से **वैश्वदेवी उच्यसे**=सब दिव्य गुणोंवाली व सब शत्रुओं की विजिगीषावाली (दिव् विजिगीषायाम्) कही जाती है। **आवृता**=आवृत कर दी गई—प्रतिबन्ध लगा दी गई तू **कृत्या**=हिंसा हो जाती है, **कूल्वजम्**=(कु+उल दाहे+ज) इस पृथिवी पर दाह को उत्पन्न करनेवाली होती है। तू **ओषन्ती**=जलाती हुई, और **सम् ओषन्ती**=खूब ही जलाती हुई **ब्रह्मणो वज्रः**=इस ब्रह्मज्य के

लिए ब्रह्म (परमात्मा) का वज्र ही हो जाती है। ३. **क्षुरपविः**=छुरे की नोक बनकर **मृत्युः भूत्वा विधाव त्वम्**=मौत बनकर तू ब्रह्मज्य पर आक्रमण कर। इन **जिनताम्**=ब्रह्मज्यों के **वर्चः**=तेज को **इष्टम्**=यज्ञों को **पूर्तम्**=वापी, कूप, तड़ागादि के निर्माण से उत्पन्न फलों को **आशिषः च**=और उन ब्रह्मज्यों की सब कामनाओं को तू **आदत्से**=छीन लेती है—विनष्ट कर डालती है।

भावार्थ—नष्ट की गई ब्रह्मगवी इन ब्रह्मज्यों को ही छिन्न कर डालती है। वैश्वदेवी होती हुई भी यह ब्रह्मज्यों के लिए हिंसा प्रमाणित होती है। यह उनके सब पुण्यफलों को छीन लेती है।

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**५७-५९, ६० गायत्री; ६१ प्राजापत्यानुष्टुप्** ॥

अघात् अघविषा

आदाय जीतं जीताय लोके ३ऽमुष्मिन्प्र यच्छसि॥ ५७॥
अघ्न्ये पदवीर्भव ब्राह्मणस्याभिशस्त्या॥ ५८॥
मेनिः शरव्या भवाघादघविषा भव॥ ५९॥
अघ्न्ये प्र शिरो जहि ब्रह्मज्यस्य कृतागसो देवपीयोरराधसः॥ ६०॥
त्वया प्रमूर्णं मृदितमग्निर्दहतु दुश्चितम्॥ ६१॥

१. हे ब्रह्मगवि! तू **जीतम्**=हिंसाकारी पुरुष को **आदाय**=पकड़कर **अमुष्मिन् लोके**=परलोक में **जीताय प्रयच्छसि**=उससे पीड़ित पुरुष के हाथों में सौंप देती है। यह ब्रह्मज्य अगले जीवन में उस ब्राह्मण की अधीनता में होता है। हे **अघ्न्ये**=अहन्तव्ये वेदवाणि! तू **ब्राह्मणस्य**=इस ज्ञानी ब्राह्मण की **अभिशस्त्या**=हिंसा से उत्पन्न होनेवाले भयंकर परिणामों को उपस्थित करके **पदवीः भव**=मार्गदर्शक बन। तू ब्रह्मज्य के लिए **मेनिः**=वज्र **भव**=हो, **शरव्या**=लक्ष्य पर आघात करनेवाले शरसमूह के समान हो, **अघात् अघविषा भव**=कष्ट से भी घोर कष्टरूप विषवाली बन। २. हे **अघ्न्ये**=अहन्तव्ये वेदवाणि! तू इस **ब्रह्मज्यस्य**=ज्ञान के विघातक, **कृतागसः**=(कृतं आगो येन) अपराधकारी, **देवपीयोः**=विद्वानों व दिव्यगुणों के हिंसक, **अराधसः**=उत्तम कार्यों को न सिद्ध होने देनेवाले दुष्ट के **शिरः प्रजहि**=सिर को कुचल डाल। **त्वया**=तेरे द्वारा **प्रमूर्णम्**=मारे गये, **मृदितम्**=चकनाचूर किये गये, **दुश्चितम्**=दुष्टबुद्धि पुरुष को **अग्निः दहतु**=अग्नि दग्ध कर दे।

भावार्थ—ब्रह्मगवी का हिंसक पुरुष जन्मान्तर में ब्राह्मणों के वश में स्थापित होता है। हिंसित ब्रह्मगवी ब्रह्मज्य का हिंसन करती है। हिंसित ब्रह्मगवी से यह ब्रह्मज्य अग्नि द्वारा दग्ध किया जाता है।

[पञ्चमं सूक्तम्, सप्तमः पर्यायः]

ऋषिः—**कश्यपः** ॥ देवता—**ब्रह्मगवी** ॥ छन्दः—**६२-६४, ६५ गायत्री; ६६ प्राजापत्यानुष्टुप्; ६७ प्राजापत्यागायत्री** ॥

व्रश्चन.....प्रव्रश्चन.....संव्रश्चन

वृश्च प्र वृश्च दह प्र दह सं दह॥ ६२॥
ब्रह्मज्यं देव्यघ्न्य आ मूलादनुसन्दह॥ ६३॥
यथायाद्यमसादनात्पापलोकान्परावतः॥ ६४॥
एवा त्वं देव्यघ्न्ये ब्रह्मज्यस्य कृतागसो देवपीयोरराधसः॥ ६५॥

वज्रेण शतपर्वणा तीक्ष्णेन क्षुरभृष्टिना॥ ६६॥

प्र स्कन्धान्प्र शिरो जहि॥ ६७॥

१. हे **देवि**=शत्रुओं को पराजित करनेवाली **अघ्न्ये**=अहन्तव्ये वेदवाणि! तू **ब्रह्मज्यम्**=इस ब्राह्मणों के हिंसक को—ज्ञान-विनाशक को **वृश्च**=काट डाल, **प्रवृश्च**=खूब ही काट डाल, **संवृश्च**=सम्यक् काट डाल। **दह**=इसे जला दे, **प्रदह**=प्रकर्षेण दग्ध कर दे और **संदह**=सम्यक् दग्ध कर दे। **आमूलात् अनुसंदह**=जड़ तक जला डाल। २. यथा जिससे यह **ब्रह्मज्य यमसादनात्**=(अयं वै यमः याऽयं पवते) इस वायुलोक से **परावतः**=सुदूर **पापलोकान्**=पापियों को प्राप्त होनेवाले घोर लोकों को **अयात्**=जाए। मरकर यह ब्रह्मज्य वायु में विचरता हुआ पापियों को प्राप्त होनेवाले लोकों को (असुर्य लोकों को जोकि घोर अन्धकार से आवृत हैं) प्राप्त होता है। २. **एवा**=इसप्रकार हे **देवि अघ्न्ये**=दिव्यगुणसम्पन्न अहन्तव्ये वेदवाणि! **त्वम्**=तू इस **ब्रह्मज्यस्य**=ब्रह्मघात करनेवाले दुष्ट के **स्कन्धान्**=कन्धों को **शतपर्वणा वज्रेण**=सौ पर्वोंवाले—नोकों, दन्दानोंवाले वज्र से **प्रजहि**=नष्ट कर डाल। **तीक्ष्णेन**=बड़े तीक्ष्ण **क्षुरभृष्टिना**=(भृष्टि Frying) भून डालनेवाले छुरे से **शिरः प्र**=(जहि) सिर को काट डाल।

भावार्थ—ब्रह्मज्य का इस हिंसित वेदवाणी द्वारा ही व्रश्चन व दहन कर दिया जाता है।

ऋषिः—**कश्यपः**॥ देवता—**ब्रह्मगवी**॥ छन्दः—६८-७० **प्राजापत्यानुष्टुप्**; ७१ **आसुरिपङ्क्तिः**; ७२ **प्राजापत्यात्रिष्टुप्**; ७३ **आसुर्युष्णिक्**॥

ब्रह्मज्य का संहार व निर्वासन

लोमान्यस्य सं छिन्धि त्वचमस्य वि वेष्टय॥ ६८॥

मांसान्यस्य शातय स्नावान्यस्य सं वृह॥ ६९॥

अस्थीन्यस्य पीडय मज्जानमस्य निर्जहि॥ ७०॥

सर्वास्याङ्गा पर्वाणि वि श्रथय॥ ७१॥

अग्निरेनं क्रव्यात्पृथिव्या नुदतामुदोषतु वायुरन्तरिक्षान्महतो वरिम्णः॥ ७२॥

सूर्य एनं दिवः प्र णुदतां न्योषतु॥ ७३॥

१. **अस्य**=इस ब्रह्मघाती (वेदविरोधी) के **लोमानि संछिन्धि**=लोमों को काट डाल। **अस्य त्वचं विवेष्टय**=इस की त्वचा (खाल) को उतार लो। **अस्य मांसानि शातय**=इसके मांस के लोथड़ों को काट डाल। **अस्य स्नावानि संवृह**=इसकी नसों को ऐंठ दे—कुचल दे। **अस्य अस्थीनि पीडय**=इसकी हड्डियों को मसल डाल। **अस्य मज्जानम् निर्जहि**=इसकी मज्जा को नष्ट कर डाल। **अस्य**=इसके **सर्वा अङ्गा पर्वाणि**=सब अङ्गों व जोड़ों को **विश्रथय**=ढीला कर दे-बिल्कुल पृथक्-पृथक् कर डाल। २. **क्रव्यात् अग्निः**=कच्चे मांस को खा-जानेवाला अग्नि **एनम्**=इस ब्रह्मज्य को **पृथिव्याः नुदताम्**=पृथिवी से धकेल दे और **उत् ओषतु**=जला डाले। **वायुः**=वायुदेव **महतः वरिम्णः**=महान् विस्तारवाले **अन्तरिक्षात्**=अन्तरिक्ष से पृथक् कर दे और **सूर्यः**=सूर्य **एनम्**=इसको **दिवः**=द्युलोक से **प्रणुदताम्**=परे धकेल दे और **नि ओषतु**=नितरां व निश्चय से दग्ध कर दे। इस ब्रह्मघाती को अग्नि आदि देव अपने लोकों से पृथक् कर दें।

भावार्थ—ब्रह्मघाती के अङ्ग-प्रत्यङ्ग का छेदन हो जाता है और इसका त्रिलोकी से निर्वासन कर दिया जाता है।

॥ इति द्वादशं काण्डम्॥

वेद प्रभु की वाणी है।

दिव्य ज्ञान वेद प्रभु वाणी है। इसका विस्तार कर मानव जीवन में सुख, शान्ति व ऐश्वर्य वृद्धि का प्रयास करने वाले ही परम पिता परमात्मा को प्रिय होते हैं। पण्डित हरिशरण सिद्धान्तालंकार ईश्वर के एक ऐसे ही प्रिय पुत्र थे। आजीवन ब्रह्मचारी रह कर उन्होंने निरन्तर वेदों का स्वाध्याय किया और इससे अर्जित ज्ञान को वाणी व लेखनी से जन-जन तक पहुँचाया।

भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों से सम्बन्धित वेदाशय को प्रकट करने वाली तीस से अधिक पुस्तकों के प्रणयन के अतिरिक्त उन्होंने लगभग पन्द्रह हजार पृष्ठों में चारों वेदों का भाष्य भी किया। उनके अपने शब्दों में इस वेद भाष्य का उद्देश्य है "हमने अपनी ओर से प्रयास किया है कि सामान्य पाठक पढ़कर यह न कह बैठे कि समझ में नहीं आया और कोई विद्वान् यह न कह सके कि व्याकरण की दृष्टि से ठीक नहीं।"

वेद विद्या की अमूल्य निधि ईश्वर ने सृष्टि के आदि में मानव जाति को प्रदान की थी। इसमें पृथ्वी व तृण से लेकर प्रकृति पर्यन्त पदार्थों के गुणों का ठीक-ठीक ज्ञान एवं जीवन में लोक व्यवहार की सिद्धि तथा भगवत्-प्राप्ति के लिए मार्गदर्शन है। वेदों का मुख्य विषय तो अध्यात्म ज्ञान ही है। प्रतीकों, रूपको व अलंकारों में बांध कर इसे गुह्य रूप में प्रस्तुत किया गया है। वेद के शब्द ऐसे रहस्यमय ज्ञान की ओर संकेत करते हैं जिन्हें भाषा की साधारण पद्धति से समझा ही नहीं जा सकता।

वेद के इस गुह्य ज्ञान का उद्घाटन ऋषि-मुनियों ने दीक्षा, तप एवं ध्यान द्वारा ब्राह्मण ग्रन्थों व उपनिषदों में किया। कालान्तर में साधना के अभाव में तथा अप्रचलित भाषा शैली के कारण वेद के अभिप्राय को समझना कठिन होता गया। यही कारण था कि रावण, स्कन्द स्वामी, उद्गीथ, वररूचि, भट्ट भास्कर, महिधर व उव्वट आदि बाद के भाष्यकार वेद के वास्तविक अर्थों को अपने भाष्यों में प्रकट न कर पाए।

पाश्चात्य विद्वान् भी वेदों में निहित उदात्त ज्ञान का मूल्यांकन न कर सके। वे इन्हें आदिम काल के पशुपालकों के गीत अथवा वैदिक युग का इतिहास तथा गाथा भण्डार मात्र समझ कर रह गये। उन्नीसवीं शताब्दि के उत्तरार्द्ध में महर्षि दयानन्द ने नैरुक्तिक प्रणाली से भाष्य करके दिखाया कि वेदों में बीज रूप से सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान विद्यमान है।

पण्डित हरिशरण सिद्धान्तालंकार ने स्वामी दयानन्द की निर्दिष्ट पद्धति के अनुसार वेदभाष्य किया है। वह निरुक्त एवं व्याकरण के अप्रतिम विद्वान् थे। वेद मन्त्रों की शास्त्रीय दृष्टि से व्याख्या करने तथा संगति लगाने में उनकी प्रतिभा अपूर्व थी। व्याकरण, धातु पाठ से युक्त उनका यह भाष्य जहां उद्भट विद्वानों के लिए विचार विमर्श की सामग्री प्रस्तुत करता है वहीं सामान्य पाठक के लिए यह अत्यन्त प्रेरणादायक, रोचक, सरल, सुबोध एवं सहज में ही हृदयंगम हो जाने वाला है।

अजय भल्ला

नमस्ते जी

ऋषि दयानंद द्वारा प्रचारित वैदिक विचारधारा ने सैकड़ो हृदय को क्रन्तिकारी विचारो से भर दिया | जो वेद उस काल में विचारो से भी भुला दिए गए थे | ऋषि दयानंद ने उन हृदयों को वेदों के विचारो से ओतप्रोत कर दिया और देश में वेद गंगा बहने लगी | ऋषि के अपने अल्प कार्य काल में समाज की आध्यात्मिक, सामाजिक, और व्यक्तिगत विचार धारा को बदल के रख दिया | ऋषि के बाद भी कही वर्षो तक यह परिपाटी चली पर यह वैचारिक परिवर्तन पुनः उसी विकृति की और लौट रहा है | और इसी विकृति को रोकने के लिए वैदिक विद्वान प्रो॰ राजेंद्र जी जिज्ञासु के सानिध्य में "पंडित लेखराम वैदिक मिशन" संस्था का जन्म हुआ है | इस संस्था का मुख्य उद्देश्य वेदों को समाज रूपी शरीर के रक्त धमनियों में रक्त के समान स्थापित करना है | यह कार्य ऋषि के जीवन का मुख्य उद्देश्य था और यही इस संस्था का भी मुख्य उद्देश्य है | संस्था के अन्य उद्देश्यों में सम्लित है साहित्य का सृजन करना | जो दुर्लभ आर्य साहित्य नष्ट होने की और अग्रसर है उस साहित्य को नष्ट होने से बचाना और उस साहित्य को क्रम बद्ध तरीके से हमारे भाई और बहनों के समक्ष प्रस्तुत करना जिससे उनकी स्वाध्याय में रूचि बढे और वे तुलनात्मक अध्यन कर सकें जिससे उनकी स्वधर्म में रूचि बढ़े और अन्य मत मतान्तरो की जानकारी उन्हें प्राप्त हो और वे विधर्मियो द्वारा लगाये जा रहे विभिन्न आक्षेपों का उत्तर दे सकें विधर्मियो से स्वयं भी बचें और अन्यो की भी सहयता करें | संस्था का उद्देश्य है समाज के समक्ष हमारे गौरव शाली इतिहास को प्रस्तुत करना जिससे हमारा रक्त जो ठंडा हो गया है वह पुनः गर्म हो सके और हम हमारे इतिहास पुरुषो का मान सम्मान करें और उनके बताये गये नीतिगत मार्ग पर चलें | संस्था का अन्य उद्देश्य गौ पालन और गौ सेवा को बढ़ावा देना जिससे पशुओ के प्रति प्रेम, दया का भाव बढ़े और इन पशुओं की हत्या बंद हो, समाज में हो रहे परमात्मा के नाम पर पाखण्ड, अन्धविश्वास, अत्याचार को जड़ से नष्ट करना और परमात्मा के शुद्ध वैदिक स्वरुप को समाज के समक्ष रखना, हमारे युवा शक्ति को अनेक भोग, विबिन्न व्यसनों, छल, कपट इत्यादि से बचाना |

इन कार्यो को हम अकेले पूरा करने का सामर्थ्य नहीं रखते पर, यह सारे कार्य है तो बड़े विशाल और व्यापक पर अगर संस्था को आप का साथ मिला तो बड़ी सरलता से पूर्ण किये जा सकते है | हमारा समाजिक ढाचा ऐसा है की हम प्रत्येक कार्य की लिए एक दुसरे पर निर्भर है | आशा करते है की इस कार्य में आप हमारी तन, मन से साहयता करेंगे | संस्था द्वारा चलाई जा रही वेबसाइट www.aryamantavya.in और www.vedickranti.in पर आप संस्था द्वारा स्थापित संकल्पों सम्बन्धी लेख पड़ सकते है और भिन्न-भिन्न वैदिक साहित्य को निशुल्क डाउनलोड कर सकते है | कृपया स्वयं भी जाये और अन्यो को भी सूचित करे यही आप की हवी होंगी इस यज्ञ में जो आप अवश्य करेंगे यही परमात्मा से प्रार्थना करते है |

जिन सज्जनों के पास दुर्लभ आर्य साहित्य है एवं वे उसे संरक्षित करने में संस्था की सहायता करना चाहते हैं वो कृपया निम्न पते पर सूचित करें

ptlekhram@gmail.com

धन्यवाद् !

पंडित लेखराम वैदिक मिशन

आर्य मंतव्य टीम

॥ ओ३म् ॥
अथर्ववेदभाष्यम्
पं० हरिशरण सिद्धान्तालङ्कार

प्रकाशकीय

परमपिता परमात्मा ने अपने प्रियतम पुत्र मनुष्य के सुचारु तथा निरन्तर उन्नतिशील जीवन के लिए पवित्र ज्ञान वेद प्रदान किया। यह ज्ञान अपने आप में पूर्ण है। यह जीवन को ऐसी आभा प्रदान करता है जिससे मनुष्य निरन्तर प्रगति करता हुआ अनन्त आनन्द की प्राप्ति करता है। ऐसा आनन्द जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। जो प्राप्त करता है वही भोगता है।

वेद का सन्देश निरन्तरता है। जीवन में कहीं भी और कभी भी विराम नहीं, विश्राम नहीं। कर्त्तव्य-कर्म का लगातार करते जाना ही आनन्द की प्राप्ति का साधन है। कर्म ज्ञान के बिना पंगु तथा दृष्टिहीन है जिसका प्रदाता वेद है। इसका अध्ययन और तदनुरूप आचरण मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य होना चाहिए।

श्रद्धेय स्वामी श्री जगदीश्वरानन्दजी सरस्वती की स्नेहिल प्रेरणा तथा सर्वाङ्गीण सहयोग का यह सुफल है कि हम अपने अल्प साधनों, लेकिन वेद के प्रति दृढ़ और अटूट निष्ठा के कारण वेदभाष्य के इस महनीय पवित्र कर्म में प्रवृत्त हुए हैं। जब हम भावनाओं के सहारे इस कर्म में प्रवृत्त हुए तब हमें मात्र इतना आभाष था कि जीवन को सार्थकता प्रदान करनेवाला कार्य करने जा रहे हैं। यह कैसे और किस प्रकार होगा, इसका अनुमान नहीं था। श्रद्धेय स्वामीजी की कृपा के फलस्वरूप हम आधा कार्य सम्पन्न करने जा रहे हैं। शेष भी पूर्ण होगा ही।

इस क्रम में हमारे यज्ञ के एक प्रमुख अङ्ग अग्रिम सदस्य तथा पाठकों का धन्यवाद करना चाहूँगा जिन्होंने हमारे प्रति विश्वास बनाये रखा। सदस्यों ने समय-समय पर जानना चाहा कि कार्य की क्या स्थिति है? इस क्रम में अप्रिय क्षण बहुत न्यून आये और समझाने पर वह सन्तुष्ट हो गये।

हमारे आदरास्पद् स्वामी श्री जगदीश्वरानन्दजी सरस्वती विपरीत शारीरिक स्थितियों में भी निष्ठा से इस यज्ञ की परिपूर्णता के लिए कार्यरत हैं वह वेदज्ञान द्वारा प्राप्त कर्म करने की ऊर्जा का ही परिणाम है। इस क्रम में जब-जब कुछ शिथिलता हमारे अन्दर आई तब-तब हमारे मार्गदर्शक बड़े भाई श्री रमेशकुमारजी ने सहारा लगाया और हम जो कार्य करने जा रहे हैं उसका महत्त्व समझाया जिसने हमारे अन्दर ऊर्जा का सञ्चार किया। श्री महेन्द्रसिंहजी आर्य ने अथर्ववेद का कार्य बड़े ही उत्साह तथा निष्ठा से करके हमें उत्साहित किया जिसके लिए आपका धन्यवाद। हमारे अनेकों आत्मीय जनों ने इसके अग्रिम सदस्य बनाकर उत्साह बढ़ाया है। हम इन सभी का धन्यवाद करते हैं।

इस यात्रा में जिन-जिनका, जिस-जिस रूप में सहयोग रहा है, हम उन सभी का हार्दिक धन्यवाद करते हुए भविष्य में इसी आत्मीयभाव की अपेक्षा करते हुए परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि ज्ञान की इस साधना को पूर्णता तक पहुँचाये।

—प्रभाकरदेव आर्य

"वेद सब सत्यविद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।"

—महर्षि दयानन्द सरस्वती

अथ त्रयोदशं काण्डम्

इस काण्ड में 'ब्रह्मा' ऋषि है। यह उत्तम सात्त्विक गति में भी सर्वप्रथम है 'ब्रह्मा विश्वसृजो धर्मो महानव्यक्तमेव च'। 'उत्तमां सात्त्विकीमेतां गतिमाहुर्मनीषिणः'॥ यह 'रोहितः आदित्यः' है। शरीर के दृष्टिकोण से यह रोहित है। (रोहितं=Blood, अस्य अस्ति) रुधिर-सम्पन्न तेजस्वी है तथा मस्तिष्क के दृष्टिकोण से यह आदित्य है—ज्ञानसूर्य से दीप्त मस्तिष्करूप द्युलोकवाला। यही आदर्श पुरुष है। इस काण्ड का देवता यह 'रोहित आदित्य' है। अध्यात्म में यह रोहित आदित्य 'तेजस्वी व ज्ञानी' है। इस रोहित आदित्य का चित्रण देखिए—

अथ प्रथमोऽनुवाकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अप्सु अन्तः

उदेहि वाजिन्यो अप्स्व१न्तरिदं राष्ट्रं प्र विश सूनृतावत्।
यो रोहितो विश्वमिदं जजान स त्वा राष्ट्राय सुभृतं बिभर्तु॥ १॥

१. हे **वाजिन्**=शक्तिशालिन्! **यः अप्सु अन्तः**=जो तू सदा कर्मों के अन्दर रहनेवाला है, वह तू **उदेहि**=(उत् आ इहि) सब प्रकार से उन्नत हो। तेरे लिए एक ही नियम है—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' तूने यहाँ कर्म करते हुए ही जीवन यापन करना है। तू **इदं राष्ट्रम्**=अपने इस राष्ट्र में **सुनृतावत् प्रविश**=प्रिय, सत्य वाणीवाला होकर प्रवेश कर। आचार्यकुल से समावृत्त होने पर तुझे सर्वप्रथम यही उपदेश दिया गया था कि **'सत्यं वद'**=सत्य ही बोलना। २. **यः**=जो **रोहितः**=अतिशयेन तेजस्वी अथवा सदा से वर्धमान प्रभु हैं **इदं, विश्वम् जजान**=इस विश्व को उत्पन्न करते हैं। **सः**=वे प्रभु **त्वा**=तुझे **राष्ट्राय**=इस राष्ट्र के लिए **सुभृतं बिभर्तु**=सम्यक् भरण किये गये को धारण करें। प्रभुकृपा से माता के द्वारा तेरे जीवन में 'चरित्र' का भरण हो, पिता द्वारा 'शिष्टाचार' का भरण किया जाए तथा आचार्य द्वारा 'ज्ञान' का भरण हो। इसप्रकार सुभृत तू राष्ट्र के उत्थान का कारण बने।

भावार्थ—एक पुरुष सदा क्रियाशील जीवनवाला होकर उन्नत हो। प्रिय, सत्य वाणीवाला बनकर राष्ट्र में प्रवेश करे। प्रभुकृपा से यह 'माता-पिता, आचार्य' द्वारा सुभृत होकर राष्ट्र का भरण करनेवाला बने।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

उद् वाजः आगन्

उद्वाज आ गन्यो अप्स्व१न्तर्विश आ रोह त्वद्योनयो याः।
सोमं दधानोऽप ओषधीर्गाश्चतुष्पदो द्विपद आ वेशयेह॥ २॥

१. **यः अप्सु अन्तः**=जो तू सदा कार्यों में निवासवाला है, वह **वाजः**=शक्तिशाली तू **उद् आगन्**=उन्नत—उदित—उन्नत हुआ है। **त्वत् योनयः याः विशः**=तेरे घर में रहनेवाली जो प्रजाएँ हैं, उन्हें **आरोह (आरोहय)**=उन्नत करनेवाला बन। २. **यः सोमं दधानः**=जो तू सोम=शक्ति का धारण करनेवाला है, वह तू **अपः ओषधीः गाः**=जलों, ओषधियों तथा गोदुग्ध का सेवन

करनेवाला बन (गौः=गोदुग्ध)। **इह**=यहाँ इस घर में **चतुष्पदः द्विपदः आ वेशय**=चार पाँववाले गौ आदि पशुओं व मनुष्यों का तू प्रवेश करानेवाला हो—सम्यक् निवास करानेवाला हो।

भावार्थ—कर्त्तव्य कर्मों में तत्पर बनकर हम शक्तिशाली बनते हुए उन्नत हों। घर में सबकी उन्नति के लिए यत्नशील हों। शरीर में शक्ति का रक्षण करते हुए जलों, ओषधियों, वनस्पतियों व गोदुग्ध का ही सेवन करें। घर में गौओं व सब घरवालों का ध्यान करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**जगती**॥

उग्राः पृश्निमातरः

यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शत्रून्।
आ वो रोहितः शृणवत्सुदानवस्त्रिषप्तासो मरुतः स्वादुसंमुदः॥ ३॥

१. **यूयम्**=तुम **उग्राः**=तेजस्वी बनों, **पृश्निमातरः** (संस्पृष्टाभासम्=पृश्निः) ज्ञान-ज्योतियों से स्पृष्ट इस वेदवाणी को अपनी माता के समान जानों—उसकी प्रेरणा के अनुसार कार्य करते हुए उत्तम जीवनवाले बनों। **रुद्रेण युजा**=शत्रुविद्रावक प्रभु के साथ **शत्रून् प्रमृणीत**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं को कुचल डालो। २. **रोहितः**=वे तेजपुञ्ज अथवा सर्वतोवृद्ध प्रभु **वः आशृणवत्**=तुम्हारी प्रार्थना को सुनें—तुम प्रभु का आराधन करनेवाले बनो। **सुदानवः**=शत्रुओं का खूब ही (दाप् लवने) नाश करनेवाले होओ। **त्रिषप्तासः**=कर्म, ज्ञान व उपासनारूप त्रयी में 'दो कानों, दो नासिका-छिद्रों, दो आँखों व मुख' रूप (कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्) सप्तर्षियों को प्रवृत्त करनेवाले बनो। **मरुतः**=मितरावी—कम बोलनेवाले—कर्मवीर, नकि वाग्वीर बनो तथा **स्वादुसंमुदः**=घर में स्वादिष्ट पदार्थों का मिलकर (सम्) आनन्द लेनेवाले होओ।

भावार्थ—तुम्हारा शरीर तेजस्वी हो, मस्तिष्क में तुम ज्ञान की रुचिवाले बनो। प्रभु के उपासक बनकर हृदय में स्थित कामादि शत्रुओं को कुचल डालो। प्रभु का आराधन करते हुए शत्रुओं को कुचल डालो। कान आदि इन्द्रियों को 'ज्ञान, कर्म, उपासना' में प्रवृत्त करो। मितरावी बनो तथा स्वादिष्ट पदार्थों का मिलकर आनन्द लेनेवाले होओ। अकेले मत खाओ।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**जगती**॥

ब्रह्माण्डरूप राष्ट्र का निर्माण

रुहो रुरोह रोहित आ रुरोह गर्भो जनीनां जनुषामुपस्थम्।
ताभिः संरब्धमन्वविन्दन्षडुर्वीर्गातुं प्रपश्यन्निह राष्ट्रमाहाः॥ ४॥

१. **रोहितः**=वह सदा से प्रवृद्ध प्रभु **रुहः रुरोह** (**रुह् प्रादुर्भावे**)=सब सृष्टि की उत्पत्ति की सामग्रियों को जन्म देते हैं। प्रकृति से 'महतत्त्व, अहंकार, पञ्चतन्मात्राएँ, इन्द्रियों व पञ्चस्थूलभूतों' को जन्म देते हैं। **जनीनां गर्भः**=सब उत्पादक सामग्रियों को गर्भ में धारण करनेवाला वह प्रभु **जनुषां उपस्थं आरुरोह**=सब उत्पन्न होनेवाले पदार्थों को गोद में आरोहन किये हुए हैं—सब उत्पन्न पदार्थों के अन्दर व्याप्त हैं। २. **ताभिः संरब्धम्**=उन सब उत्पादक शक्तियों से युक्त (closely joined) उस प्रभु को **षट् उर्वीः**=ये छह विशाल दिशाएँ **अनुअविन्दन्**=व्याप्त किये हुए हैं—इन सब विस्तृत दिशाओं में वे व्याप्त हैं। **गातुं प्रपश्यन्**=मार्ग को प्रकर्षेण दिखलाता हुआ वह प्रभु (प्रपश्यन्=प्रदर्शयन्) **इह**=यहाँ **राष्ट्रम्**=इस ब्रह्माण्डरूप राष्ट्र को **आहाः**=प्राप्त कराता है (आहरत्) इस ब्रह्माण्डरूप राष्ट्र को इस रूप में लानेवाले वे प्रभु ही हैं।

भावार्थ—वे प्रभु सृष्टिनिर्माण की सब सामग्रियों को जन्म देते हैं। इन सामग्रियों को अपने

अन्दर धारण करते हुए वे सब पदार्थों में विद्यमान हैं। सब उत्पादक शक्तियों से युक्त प्रभु सब दिशाओं में व्याप्त हैं। वे पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ऊपर-नीचे सर्वत्र विद्यमान हैं। हम सब के लिए मार्ग दिखलाते हुए वे प्रभु ब्रह्माण्डरूप राष्ट्र को उत्पन्न करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**जगती**॥

व्यास्थन् मृधः

आ ते राष्ट्रमिह रोहितोऽहार्षीद् व्या [स्थन्मृधो अभयं ते अभूत्।
तस्मै ते द्यावापृथिवी रेवतीभिः कामं दुहाथामिह शक्वरीभिः॥ ५॥

१. हे जीव! **रोहितः**=वह सदा से वृद्ध प्रभु **ते**=तेरे लिए **इह**=यहाँ **राष्ट्रम्**=इस ब्रह्माण्ड राष्ट्र को **आ आहार्षीत्**=प्राप्त कराते हैं—जीव की उन्नति के लिए ही प्रभु ने सृष्टि को रचा है। वे प्रभु ही जीव के **मृधः**=हिंसक काम-क्रोधादि शत्रुओं को **वि आस्थत्**=(असु क्षेपणे) सदूर विनष्ट करते हैं। हे जीव! उस प्रभु की गोद में **ते अभयं अभूत्**=तेरे लिए अभय हो गया है। २. **तस्मै ते**=प्रभु की गोद में रहनेवाले तेरे लिए **द्यावापृथिवी**=ये पिता व मातारूप द्युलोक व पृथिवीलोक **इह**=यहाँ **शक्वरीभिः रेवतीभिः**=शक्तियों से युक्त सम्पत्तियों के द्वारा **कामं दुहाथाम्**=सब काम्य पदार्थों का दोहन करें। ये द्यावापृथिवी जीव को शक्तियुक्त सम्पत्तियाँ प्राप्त कराएँ और उन्नति के लिए आवश्यक सब पदार्थों को सिद्ध करें।

भावार्थ—प्रभु इस ब्रह्माण्डरूप राष्ट्र को बनाते हैं। उपासक के कामादि शत्रुओं को विनष्ट करके उसे अभय प्राप्त कराते हैं। इस उपासक को ये द्यावापृथिवी शक्ति व सम्पत्ति प्राप्त कराते हुए सब इष्ट पदार्थों को देते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'उत्पादक व धारक' प्रभु

रोहितो द्यावापृथिवी जजान तत्र तन्तुं परमेष्ठी ततान।
तत्र शिश्रियेऽज एकपादोऽदृंहद् द्यावापृथिवी बलेन॥ ६॥

१. **रोहितः**=वह सदा से प्रवृद्ध तेजोमय प्रभु **द्यावापृथिवी जजान**=द्युलोक व पृथिवीलोक को—तदन्तरवर्ती सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को जन्म देते हैं। **तत्र**=उस ब्रह्माण्ड में **परमेष्ठी**=परम स्थान में स्थित प्रभु **तन्तुं ततान**=(तन्तु offspring, issue, race, cobweb) प्राणिजातियों को—शरीरों के जाल को विस्तृत करते हैं। प्रभु सृष्टि को उत्पन्न करते हैं, उसमें विविध प्राणियों के जाल का विस्तार करते हैं। २. **तत्र**=उस विस्तृत तन्तु में—प्राणिमात्र के हृदय में **एकपादः अजः**=एक चाल से चलनेवाले, सम्पूर्ण संसार को गति देनेवाले एकरस प्रभु **शिश्रिये**=आश्रय करते हैं। सबके हृदयों में प्रभु का निवास है। वे प्रभु ही **बलेन**=अपनी शक्ति से **द्यावापृथिवी अदृंहत्**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को—द्युलोक व पृथिवीलोक को दृढ़ किये हुए हैं। प्रभु ही सारे ब्रह्माण्ड का धारण कर रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु सारे ब्रह्माण्ड को जन्म देते हैं। विविध प्रजातन्तु का उसमें विस्तार करते हैं। सबको गति देनेवाले वे एकरस प्रभु सबके हृदयों में आसीन हैं। सारे ब्रह्माण्ड को अपनी शक्ति से धारण किये हुए हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

तेन स्वः स्तभितं तेन नाकः

रोहितो द्यावापृथिवी अदृंहत्तेन स्व [स्तभितं तेन नाकः।
तेनान्तरिक्षं विमिता रजांसि तेन देवा अमृतमन्वविन्दन्॥ ७॥

१. **रोहितः**=वह तेजोमय प्रभु **द्यावापृथिवी अदृंहत्**=द्युलोक व पृथिवीलोक को दृढ़ करते हैं। बल से उनका धारण करते हैं। **तेन**=उस प्रभु ने ही **स्वः स्तभितम्**=स्वर्गलोक को थामा है, **तेन नाकः**=मोक्षलोक को धारण करनेवाले भी वे प्रभु ही हैं। २. **तेन**=उस प्रभु ने ही **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष को व **रजांसि**=लोकों को **विमितः**=विशेष मानपूर्वक बनाया है। **तेन**=उस प्रभु के आश्रय से ही **देवाः**=देववृत्ति के लोग **अमृतं अन्वविन्दन्**=अमृत को—मोक्षसुख को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु की शक्ति से ही द्यावापृथिवी दृढ़ किये गये हैं। प्रभु ने ही स्वर्ग व मोक्ष को थामा हुआ है। प्रभु ही अन्तरिक्ष व विविध लोकों को मानपूर्वक बनाते हैं। प्रभु के आश्रय से ही देव अमृतत्व को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

तदैक्षत बहु स्याम्

वि रोहितो अमृशद्विश्वरूपं समाकुर्वाणः प्ररुहो रुहश्च।
दिवं रूढ्वा महता महिम्ना सं ते राष्ट्रमनक्तु पयसा घृतेन॥ ८॥

१. **रोहितः**=उस तेजोमय प्रभु ने **प्ररुहः रुहः च**=इस संसार-वृक्ष की ऊपर-नीचे फैली हुई शाखाओं को (अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखाः) **समाकुर्वाणः**=सम्यक् उत्पन्न करने के हेतु से **विश्वरूपं वि अमृशत्**=इस ब्रह्माण्ड के रूप का विमर्श किया। 'ब्रह्माण्ड को कैसे बनाना है', यह विचार किया—तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय इति। २. **महता महिम्ना**=अपनी महान् महिमा से **दिवं रूढ्वा**=तेरे मस्तिष्करूप द्युलोक में आरोहण करके (अर्थात् तेरे मस्तिष्क में प्रभु की महिमा ही व्याप्त हो) वे प्रभु **ते राष्ट्रम्**=तेरे शरीररूप राष्ट्र को **पयसा**=शक्तियों के आप्यायन तथा **घृतेन**=ज्ञानदीप्ति से **समनक्तु**=सम्यक् अलंकृत करें। तू सदा प्रभु की महिमा का चिन्तन कर और इसप्रकार तेरी शक्तियों व ज्ञान का वर्धन हो।

भावार्थ—प्रभु ने विविध शाखाओं से व्याप्त इस संसार-वृक्ष के निर्माण का विस्तार किया, जब हम उस निर्माता की महिमा का मस्तिष्क में विचार करते हैं तब वे प्रभु हमारी शक्तियों व ज्ञान का वर्धन करके हमें अलंकृत जीवनवाला बनाते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**जगती**॥

रुहः प्ररुहः आरुहः

यास्ते रुहः प्ररुहो यास्त आरुहो याभिरापृणासि दिवमन्तरिक्षम्।
तासां ब्रह्मणा पयसा वावृधानो विशि राष्ट्रे जागृहि रोहितस्य॥ ९॥

१. **याः**=जो **ते**=तेरे द्वारा निर्मित इस संसार-वृक्ष की **रुहः प्ररुहः**=नीचे-ऊपर फैली हुई शाखाएँ हैं, **याः**=जो **ते**=तेरे द्वारा कृत ये शाखाएँ **आरुहः**=समन्तात् उत्पन्न हुई-हुई हैं, **याभिः**=जिनसे **दिवम्**=द्युलोक व **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष को **आपृणासि**=तूने समन्तात् पूर्ण किया हुआ है। **तासां ब्रह्मणा**=उनके ज्ञान के द्वारा तथा **पयसा**=आप्यायनशक्ति के द्वारा **वावृधानाः**=खूब ही वृद्धि को प्राप्त कराता हुआ तू **रोहितस्य**=अपनी शक्तियों का प्रादुर्भाव करनेवाले पुरुष के **विशि**=प्रजा में व **राष्ट्रे**=राष्ट्र में **जागृहि**=जागरित हो। हे प्रभो! रोहित की प्रजा व राष्ट्र का आप रक्षण कीजिए। मनुष्य रोहित बनने का यत्न करे—बढ़ी हुई शक्तियोंवाला—तेजस्वी। प्रभु उसका रक्षण क्यों न करेंगे?

भावार्थ—यह संसार-वृक्ष नीचे-ऊपर चारों ओर फैली हुई शाखाओंवाला है। इसका ज्ञान

हमारे उत्थान के लिए आवश्यक है। यह ज्ञान हमारा आप्यायन करनेवाला बनता है। हम 'रोहित' बनकर प्रभु के रक्षणीय होते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

संमाता वत्सः रोहितः

यास्ते विशस्तपसः संबभूवुर्वत्सं गायत्रीमनु ता इहागुः।
तास्त्वा विशन्तु मनसा शिवेन संमाता वत्सो अभ्येतु रोहितः॥ १०॥

१. हे प्रभो! **याः**=जो **ते विशः**=तेरी प्रजाएँ **तपसः संबभूवुः**=तप के साथ मिलकर होती हैं, अर्थात् जो प्रजाएँ तपस्वी जीवनवाली होती हैं **ताः**=वे प्रजाएँ **इह**=यहाँ—इस जीवन में **वत्सम्**=(वसति) सर्वत्र निवासवाले (वदति) वेदज्ञान का उपदेश देनेवाले प्रभु को तथा **गायत्रीम्**=प्रभु से दी जानेवाली (गयाः प्राणः, तान् तत्रे) प्राणों की रक्षिका वेदवाणी के **अनु अगुः**=अनुकूलता से प्राप्त होते हैं। ये तपस्वी प्रभु का स्मरण करते हैं और वेदवाणी से कर्त्तव्य-ज्ञान प्राप्त करके उसका आचरण करते हैं। हे प्रभो! **ताः**=वे प्रजाएँ **शिवेन मनसा**=कल्याणकर मन से **त्वा विशन्तु**=तुझमें प्रवेश करें। इन प्रजाओं को वह प्रभु **अभ्येतु**=आभिमुख्येन प्राप्त हो जो **संमाता**=सम्यक् निर्माण करनेवाला है, **वत्सः**=सर्वव्यापक है व वेदवाणी का उच्चारण करनेवाला है, **रोहितः**=सदा वृद्ध व तेजस्वी है।

भावार्थ—हम तपस्वी जीवनवाले हों, प्रभु-स्मरण करें, वेदवाणी को अपनाएँ, शिव मनवाले बनकर प्रभु में प्रवेश करनेवाले हों। प्रभु 'संमाता हैं, वत्स हैं, रोहित हैं'। इसप्रकार स्मरण करते हुए हम भी निर्माण करनेवाले हों। ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करें व तेजस्वी बनें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अधि नाके अस्थात्

ऊर्ध्वो रोहितो अधि नाके अस्थाद्विश्वा रूपाणि जनयन्युवा कविः।
तिग्मेनाग्निर्ज्योतिषा वि भाति तृतीये चक्रे रजसि प्रियाणि॥ ११॥

१. **ऊर्ध्वः**='सत्त्व, रज, तम' रूपगुणवाली त्रिगुणमयी प्रकृति को धारण करता हुआ भी उससे ऊपर उठा हुआ '**भूतभृन्न च भूतस्थः**' **रोहितः**=तेजस्वी, सदा वृद्ध प्रभु **नाके**=मोक्षसुख में **अधि अस्थात्**=अधिष्ठातृरूपेण वर्तमान हैं। वे प्रभु **विश्वा रूपाणि जनयन्**=सब रूपों को प्रादुर्भूत करते हैं। **युवा**=सब बुराइयों को दूर करनेवाले व अच्छाइयों को हमारे साथ मिलानेवाले **कविः**=क्रान्तप्रज्ञ हैं—सृष्टि के आरम्भ में वेदज्ञान के रूप में सब सत्यविद्याओं का उपदेश करते हैं। २. वह **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **तिग्मेन ज्योतिषा**=तीव्र ज्योति से **विभाति**=दीप्त हैं—वहाँ प्रकाश-ही-प्रकाश है। 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्'—अन्धकार से परे हैं। वे प्रभु ही **तृतीये रजसि**=तृतीय लोक में—'तृतीये धामन्' तम व रजस् से ऊपर उठकर सत्त्व में पहुँचने पर—पृथिवी व अन्तरिक्ष से ऊपर उठकर द्युलोक में पहुँचने पर—पाषाणों की निष्क्रियता व वायु की चंचलता से ऊपर उठकर सूर्य की दीप्ति में पहुँचने पर **प्रयाणि चक्रे**=हमारे लिए सब आनन्दों को करते हैं।

भावार्थ—प्रभु मोक्ष में अधिष्ठातृरूपेण वर्तमान हैं। सब रूपों को प्रादुर्भूत करते हुए बुराइयों को हमसे दूर करके अच्छाइयों को मिलाते हुए क्रान्तप्रज्ञ वे प्रभु हैं। तीव्र ज्योति से प्रकाशमान वे प्रभु ही मोक्षसुखों को प्राप्त करानेवाले हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**जगती**॥

सोमपृष्ठः सुवीरः

सहस्रशृङ्गो वृषभो जातवेदा घृताहुतः सोमपृष्ठः सुवीरः।
मा मा हासीन्नाथितो नेत्त्वा जहानि गोपोषं च मे वीरपोषं च धेहि॥ १२॥

१. **सहस्रशृङ्गः**=सूर्य के समान सहस्रों शृङ्गरूप किरणों से युक्त **वृषभः**=सब सुखों का वर्षण करनेवाला **जातवेदाः**=सर्वज्ञ **घृताहुतः**=(घृतं आहुतं येन) सर्वत्र ज्ञानदीप्ति देनेवाला हृदयस्थरूपेण ज्ञान का प्रकाश देनेवाला **सोमपृष्ठः (पृष सेचने)**=शक्ति को उपासकों में सिक्त करनेवाला **सुवीरः**=उत्तम वीर—शत्रुओं को सम्यक् कम्पित करनेवाला **नाथितः**=प्रार्थना किया हुआ वह प्रभु **मा**=मुझे **मा हासीत्**=न छोड़े जाए। २. हे प्रभो! **न इत् त्वा जहानि**=न ही मैं आपको छोड़ जाऊँ—मैं आपसे दूर न हो जाऊँ। आप मेरे लिए **गोपोषं च धेहि**=ज्ञान की वाणियाँ का पोषण धारण कीजिए **च**=तथा **वीरपोषम्**=वीरता का पोषण धारण कीजिए। आपकी कृपा से मैं वीर और विज्ञानी बनूँ। उत्तम गौ और वीर सन्तानोंवाला बनूँ।

भावार्थ—हे प्रभो! आप प्रकाशमय व शक्तिसम्पन्न हैं। मैं आपकी आराधना करता हुआ आपसे दूर न होऊँ। आप मुझे ज्ञानी व वीर बनाएँ। मुझे गौओं व वीर सन्तानों से युक्त करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अतिशक्वरगर्भातिजगती**॥

सामित्यै

रोहितो यज्ञस्य जनिता मुखं च रोहिताय वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि।
रोहितं देवा यन्ति सुमनस्यमानाः स मा रोहैः सामित्यै रोहयतु॥ १३॥

१. **रोहितः**=वह तेजस्वी, सदावृद्ध प्रभु **यज्ञस्य जनिता मुखं च**=यज्ञ को जन्म देनेवाला व इसका प्रवर्तक है—मुखिया है। सर्वप्रथम सर्वमहान् यज्ञ के करनेवाले प्रभु ही हैं। इस **रोहिताय**=तेजस्वी, सदावृद्ध प्रभु के लिए **वाचा श्रोत्रेण मनसा**=वाणी, श्रोत्र व मन से **जुहोमि**=मैं अपना अर्पण करता हूँ। मैं वाणी से प्रभु के स्तोत्रों का गायन करता हूँ, मेरे कान प्रभुस्तोत्रों का ही श्रवण करते हैं और मन से मैं प्रभु के गुणों व महिमा का ही स्मरण व चिन्तन करता हूँ। २. इसप्रकार **सुमनस्यमानाः**=उत्तम मनवाले होते हुए **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **रोहितं यन्ति**=तेजस्वी, सदावृद्ध प्रभु को प्राप्त करते हैं। **सः**=वह रोहित प्रभु **मा**=मुझे **रोहैः**=सब प्रकार के आरोहणों के द्वारा—शरीर के स्वास्थ्य, मन की निर्मलता व बुद्धि की तीव्रता के द्वारा **सामित्यै**=(सम् इति) अपने साथ मेल के लिए—ब्रह्मसंस्पर्श के लिए **रोहयतु**=पृथिवी से अन्तरिक्ष में, अन्तरिक्ष से द्युलोक में, द्युलोक से ब्रह्मलोक में आरूढ़ करे। 'पृष्ठात् पृथिव्या-हमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहं दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्'। 'सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते'।

भावार्थ—प्रभु यज्ञों के उपदेष्टा हैं। यज्ञों को करते हुए तथा उन यज्ञों को प्रभु के प्रति अर्पण करते हुए हम प्रभु को प्राप्त करें, उन्नत होते हुए ब्रह्मसंस्पर्शवाले बनें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिपदापुरः-परशाक्वराविपरीतपादलक्ष्मापङ्क्तिः**॥

यज्ञ व तेजस्विता

रोहितो यज्ञं व्य दधाद्विश्वकर्मणे तस्मात्तेजांस्युप मेमान्यागुः।
वोचेयं ते नाभिं भुवनस्याधि मज्मनि॥ १४॥

१. **रोहितः**=उस तेजस्वी, सदावृद्ध प्रभु ने **विश्वकर्मणे**=इस सृष्टिरूप कर्म के लिए **यज्ञं व्यदधात्**=यज्ञ का विधान किया। यज्ञसहित ही प्रजाओं को जन्म देकर यह कहा कि इस यज्ञ से ही तुम फूलो-फलोगे। यही तुम्हारी इष्टकामनाओं को पूर्ण करेगा। प्रभु द्वारा विहित **तस्मात्**=उस यज्ञ से ही **इमानि तेजांसि**=ये तेज **मा**=मुझे **उप आगुः**=समीपता से प्राप्त होते हैं। यज्ञ से विपरीत भोगवृत्ति है। यह भोगवृत्ति ही सब तेजों के विनाश का कारण बनती है। २. हे प्रभो! **अधि मज्मनि**=(मज्म बलनाम-नि० २.९) बल के निमित **ते भुवनस्य नाभिम्**=आपके इस यज्ञ को—भुवननाभि को **'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः' वोचेयम्**=अपने जीवन से कहूँ, अर्थात् यज्ञशील बनकर बल व तेज को प्राप्त करूँ।

भावार्थ—यज्ञ ही सृष्टिचक्र का आधार है। यही हमें तेजस्वी बनाता है। यज्ञ से विपरीत भोगवृत्ति तेजोविनाश का कारण बनती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अतिजागतगर्भापराजगती**॥

बृहती, पङ्क्तिः, ककुप्

आ त्वा रुरोह बृहत्यू३त पङ्क्तिरा ककुब्वर्चसा जातवेदः।
आ त्वा रुरोहोष्णिहाक्षरो वषट्कार आ त्वा रुरोह रोहितो रेतसा सह॥ १५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जीवन से यज्ञ का प्रतिपादन करनेवाले—यज्ञमय जीवनवाले **त्वा**=तुझे **बृहती आरुरोह**=बृहती आरोहण करती है। 'वाग्वै बृहती' (श० १४.४.१.२२) यह वाग्रूप बृहती तुझे प्राप्त होती है। वेदवाणी द्वारा प्राप्त ज्ञान तुझे अलंकृत करता है **उत**=और **पङ्क्तिः**=('पङ्क्तिर्विष्णोः पत्नी' गो० उ० २.९) विष्णु की पत्नी 'लक्ष्मी' तुझे मातृरूपेण प्राप्त होती है। इसके द्वारा तेरे सारे भौतिक कार्य शोभा के साथ चलते हैं। हे **जातवेदः**=उत्पन्न ज्ञानवाले (विद् ज्ञाने) तथा उत्पन्न धनवाले (विद् लाभे) उपासक! तुझे **वर्चसा**=वर्चस के साथ **ककुप् आ (रोह)**=प्राणो वै ककुप् छन्दः श० ८.५.२.४ प्राणशक्ति आरूढ़ होती है। तू प्राणशक्ति-सम्पन्न बनकर नीरोग व सुन्दर जीवनवाला होता है। २. **त्वा**=तुझे **उष्णिहा अक्षरः**=(आयुर्वा उष्णिक्-ऐ०१.५) जिसमें शक्ति का क्षरण (विनाश) नहीं हुआ ऐसा **आयुष्य आरुरोह**=प्राप्त होता है। **वषट्कारः (आरुरोह)**=('ओजश्च सहश्च वषट्कारश्च प्रियतमे तन्वौ' ऐ० ३.८) तुझे ओजस्विता व सहनशक्ति प्राप्त होती है। अब इस स्थिति में वह **रोहितः**=तेजस्वी प्रभु **रेतसा सह**=रेतस् के साथ (शक्ति के साथ) **त्वा**=तुझे **आरुरोह**=आरोहण करता है—प्राप्त होता है।

भावार्थ—यज्ञशील को 'ज्ञान, श्री, प्राणशक्ति, वर्चस, शक्ति-सम्पन्न दीर्घजीवन, ओजस्विता व सहनशीलता' प्राप्त होती है और अब 'शक्ति के साथ प्रभु' इसे प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**विराड्बृहती**॥

सर्वव्यापक प्रभु

अयं वस्ते गर्भं पृथिव्या दिवं वस्तेऽयमन्तरिक्षम्।
अयं ब्रध्नस्य विष्टपि स्व१र्लोकान्व्या१नशे॥ १६॥

१. यह उपासक प्रभु का स्तवन करता हुआ कहता है कि **अयम्**=यह परमेश्वर **पृथिव्या गर्भं वस्ते**=इस पृथिवीलोक के गर्भ को भी आच्छादित करता है। **दिवं वस्ते**=द्युलोक को भी आच्छादित करता है, **अयं अन्तरिक्षम्**=यह अन्तरिक्षलोक का भी आच्छादन करनेवाला है। २. यह प्रभु **ब्रध्नस्य विष्टपि**=सूर्य के प्रदेश में **स्वः लोकान्**=प्रकाशमय व सुखमय लोकों को **व्यानशे**=व्याप्त किये हुए है। वस्तुतः प्रभु की व्याप्ति से ही वे प्रकाश व आनन्द से परिपूर्ण

हैं।

भावार्थ—प्रभु पृथिवी के गर्भ में, अन्तरिक्ष में व द्युलोक में सर्वत्र व्याप्त हैं। सूर्य के प्रदेश में प्रकाशमय लोकों को भी व्याप्त किये हुए हैं। अपनी व्याप्ति से वे उन्हें प्रकाशमय व सुखमय बना रहे हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**पञ्चपदाककुम्मतीजगती**॥

'पृथिवी-योनिः तल्पा' स्योना सुशेवा

वाचस्पते पृथिवी नः स्योना स्योना योनिस्तल्पा नः सुशेवा।
इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन्पर्यग्निरायुषा वर्चसा दधातु॥ १७॥

१. हे **वाचस्पते**=वेदवाणी के स्वामिन् प्रभो! आपसे दी गई इस वेदवाणी को हम देखें और उसके अनुसार जीने का प्रयत्न करें। ऐसा करने पर **पृथिवी नः स्योना**=यह पृथिवी हमारे लिए सुखकर हो। **योनिः स्योना**=घर सुख देनेवाला हो। **नः तल्पा सुशेवा**=हमारा यह सोने का मंच भी सुख देनेवाला हो। सब वस्तुओं का ठीक विनियोग करते हुए हम सुखी हों। २. **इह एव**= यहाँ—इस मानव-जीवन में ही **प्राणः**=वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का प्राणभूत प्रभु **नः सख्ये अस्तु**=हमारी मित्रता में हो—हम प्रभु के सखा बन पाएँ। हे परमेष्ठिन्! परम स्थान में स्थित प्रभो! **तं त्वा**=उस आपको **अग्निः**=यह प्रगतिशील जीव **आयुषा वर्चसा**=आयुष्य और वर्चस् के साथ **परिदधातु**=अपने हृदय में धारण करे अथवा अपने चारों ओर धारण करे, आपसे अपने को सुरक्षित समझे। चारों ओर आपकी सत्ता को अनुभव करता हुआ निर्भय हो।

भावार्थ—प्रभुप्रदत्त वेदज्ञान को अपनाने पर ये पृथिवी, घर व शय्या सब हमारे लिए सुखकर होंगे। प्रभु हमारे मित्र होंगे। हम प्रगतिशील बनकर दीर्घजीवन व शक्ति के साथ प्रभु को अपने हृदयों में धारण करनेवाले होंगे।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥
छन्दः—**पञ्चपदापरशाक्वराभुरिक्ककुम्मत्यतिजगती**॥

ऋतवः वैश्वकर्मणाः

वाचस्पत ऋतवः पञ्च ये नौ वैश्वकर्मणाः परि ये संबभूवुः। इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन्परि रोहित आयुषा वर्चसा दधातु॥ १८॥

१. हे **वाचस्पते**=वेदज्ञान के स्वामिन् प्रभो! ये **पञ्च ऋतवः**=('पञ्चऋतवः हेमन्तशिशिरयोः समासेन'-ऐ०ब्रा०') जो पाँच ऋतुएँ हैं, वे **नौ**=हमारे लिए **वैश्वकर्मणाः**=सब ऋतुओं के अनुकूल कर्मों की साधक हों। ये ऋतुएँ वे हों **ये**=जोकि (नौ) **परिसंम्बभूवुः**=हमारे चारों ओर सम्यक् रूप में होती हैं। ऋतुओं का विपर्यय हमारे स्वास्थ्य के लिए हानिकारक न हो। २. इसप्रकार **इह एव**=इस जीवन में ही **प्राणः**=वह प्राणों-का-प्राण प्रभु (स उ प्राणस्य प्राणः) **नः सख्ये अस्तु**=हमारी मित्रता में हो। हम सदा प्रभु के सखा बन पाएँ। हे **परमेष्ठिन्!**=परम स्थान में स्थित प्रभो! **तं त्वा**=उन आपको **रोहितः**=तेजस्वी होता हुआ यह उपासक **आयुषा वर्चसा**=दीर्घजीवन व वर्चस् के साथ **परिदधातु**=अपने चारों ओर धारण करे। आपको चारों ओर अनुभव करता हुआ अपने को सुरक्षित जानने से निर्भय हो।

भावार्थ—सब ऋतुएँ हमारे अनुकूल हों। हम सब कर्मों को ऋतुओं के अनुसार करनेवाले हों। प्रभु की मित्रता में हम निर्भय हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥
छन्दः—**पञ्चपदापरातिजागताककुम्मत्यतिजगती**॥

सौमनसं गाः प्रजाः

वाचस्पते सौमनसं मनश्च गोष्ठे नो गा जनय योनिषु प्रजाः।
इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन्पर्यहमायुषा वर्चसा दधामि॥ १९॥

१. हे **वाचस्पते**=ज्ञान की वाणियों के स्वामिन् प्रभो! आप **नः**=हमारे लिए **सौमनसं मनः**=प्रशस्त प्रसादमय मननवाले मन को **जनय**=उत्पन्न कीजिए **च**=और **गोष्ठे**=हमारी गौशाला में **गाः**=(जनय) गौओं को प्रादुर्भूत कीजिए तथा **योनिषु प्रजाः**=घरों में उत्तम सन्तानों को प्राप्त कराइए। २. **इह एव**=इस जीवन में ही **प्राणः**=वह सबका प्राण प्रभु **नः सख्ये अस्तु**=हमारी मित्रता में हो—हम प्रभु के सखा बन पाएँ। हे **परमेष्ठिन्**=परम स्थान में स्थित प्रभो! **तं त्वा**=उन आपको **अहम्**=मैं **आयुषा वर्चसा**=आयुष्य व वर्चस् के साथ **परिदधामि**=अपने चारों ओर धारण करता हूँ। वस्तुतः आपका धारण ही मुझे आयुष्य व वर्चस् प्राप्त कराता है।

भावार्थ—प्रभु के वेदज्ञान को अपनाते हुए हम 'मनःप्रसाद, उत्तम गौओं व उत्तम प्रजाओं' को प्राप्त करें, प्रभु की मित्रता में चलें। प्रभु को चारों ओर धारण करते हुए दीर्घजीवी व वर्चस्वी बनें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सूनृतावत् राष्ट्र

परि त्वा धात्सविता देवो अग्निर्वर्चसा मित्रावरुणावभि त्वा।
सर्वा अरातीरवक्रामन्नेहीदं राष्ट्रमकरः सूनृतावत्॥ २०॥

१. वह **सविता देवः**=उत्पादक व प्रेरक (सविता) तथा प्रकाशमय (देव) **त्वा**=तुझे **परिधात्**=सब ओर से धारण करता है। प्रभु की प्रेरणा को सुनता और निर्माण के कार्यों में प्रवृत्त होता तथा स्वाध्याय द्वारा विकासमय जीवनवाला बनना ही धारण का मार्ग है। इसी से हम कभी भी शत्रुओं से आक्रान्त नहीं होते। **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु तुझे **वर्चसा**=वर्चस्—रोग-निरोधक शक्ति से धारण करें। हममें आगे बढ़ने की भावना होगी तो हम रोगों से आक्रान्त होंगे ही नहीं। **मित्रावरुणौ**=स्नेह व निर्द्वेषता के भाव **त्वा**=तुझे **अभि**=शरीर व मस्तिष्क दोनों के दृष्टिकोण से रक्षित करें। द्वेष से उत्पन्न होनेवाले विष शरीर व मस्तिष्क पर घातक प्रभाव डालते हैं। २. इसप्रकार 'सविता, देव, अग्नि, मित्र व वरुण' की आराधना करता हुआ तू **सर्वाः अरातिः**=सब शत्रुओं को **अवक्रामन्**=नीचे पादाक्रान्त करता हुआ **एहि**=गति कर। तेरे सब कर्त्तव्य शत्रुओं को कुचल कर किये जाएँ। 'काम, क्रोध, लोभ' से प्रेरित होकर तेरी गति न हो। इसप्रकार **इदं राष्ट्रम्**=इस शरीररूप राष्ट्र को **सूनृतावत् अकरः**=प्रिय, दुःखनाशक सत्य (सू ऊन् ऋत) वाणीवाला कर। तेरे जीवन में सत्य-ही-सत्य हो—असत्य का अंश भी न हो।

भावार्थ—हम 'सविता' के आराधक बनकर निर्माण के कार्यों में प्रवृत्त हों, 'देव' की आराधना करते हुए प्रकाशमय जीवनवाले बनें। आगे बढ़ने की भावना हमें तेजस्वी बनाए। स्नेह व निर्द्वेषता हमारे शरीर व मस्तिष्क का धारण करें। 'काम, क्रोध, लोभ' को कुचलकर हम कर्मों में प्रवृत्त हों। हमारा जीवन सत्यमय हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**आर्षीनिचृद्गायत्री** ॥

पृषती प्रष्टिः

यं त्वा पृषती रथे प्रष्टिर्वहति रोहित। शुभा यासि रिणन्नपः ॥ २१ ॥

१. हे **रोहित**=सदावृद्ध, तेजस्विन् प्रभो! **यं त्वा**=जिस आपको **रथे**=इस शरीररूप रथ में **पृषती**=(to weary, vex. pain) प्राकृतिक भोगविलास में कष्ट को अनुभव करनेवाला अतएव **प्रष्टिः**=(bystander) प्राकृतिक भोगों से उपराम हुआ-हुआ (एक ओर होकर खड़ा हुआ) यह साधक **वहति**=धारण करता है तब आप **शुभा यासि**=उसके लिए सब शुभों को प्राप्त कराते हैं और **अपः रिणन्**=उसके रेतःकणों को शरीर में ही प्रेरित करते हैं।

भावार्थ—प्रकृति चमकती है, जीव का उसकी ओर झुकाव होना स्वाभाविक है, परन्तु जब मनुष्य प्राकृतिक भोगों में विनाश अनुभव करता है तब वह प्रभु की ओर झुकता है। प्रभु उसे सब सुखों को प्राप्त कराते हैं। अब यह साधक शरीरस्थ रेतःकणों की ऊर्ध्वगति के लिए यत्नशील होता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

रोहितस्य अनुव्रता रोहिणी

अनुव्रता रोहिणी रोहितस्य सूरिः सुवर्णा बृहती सुवर्चाः।
तया वाजान्विश्वरूपां जयेम तया विश्वाः पृतना अभि ष्याम ॥ २२ ॥

१. 'रोहित' प्रभु हैं, 'रोहिणी' प्रकृति है, प्रभु की पत्नी के रूप में यह प्रकृति है। प्रभु महादेव है तो यह पार्वती है, प्रभु विष्णु है तो यह लक्ष्मी है, प्रभु ब्रह्मा हैं तो यह सरस्वती है। जब 'रोहिणी' सब देवों को जन्म देनेवाली प्रकृति **रोहितस्य**=उस तेजस्वी प्रभु के **अनुव्रता**=अनुकूल व्रतवाली होती है, अर्थात् प्रकृति के सब पदार्थ हमें प्रभु की ओर ले-चलनेवाले होते हैं, उस समय यह **सूरिः**=ज्ञानवाली, **सुवर्णा**=उत्तमता से प्रभु के गुणों का वर्णन करनेवाली, **बृहती**=हमारे हृदयों को विशाल बनानेवाली तथा **सुवर्चाः**=उत्तम वर्चस्वाली होती है। यदि हम प्रकृति के भोगों में न फँसकर प्रकृति के पदार्थों में प्रभु की महिमा को देखते हुए उनका सदुपयोग करें तो यह प्रकृति हमें 'ज्ञानी, प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाला, विशाल हृदय व वर्चस्वी' बनाती है। २. **तया**=उस प्रकृति से हम **विश्वरूपां वाजान् जयेम**=अङ्ग-प्रत्यङ्गों को रूपसम्पन्न बनानेवाली शक्तियों का विजय करें। प्रकृति के पदार्थों के ठीक प्रयोग से हमारे सब अङ्ग सशक्त व सुरूप बनते हैं। **तया**=उस प्रभु की अनुव्रता प्रकृति से हम **विश्वाः पृतनाः**=सब शत्रुओं को **अभिष्याम**=अभिभूत करें। प्रकृति का युक्त प्रयोग होने पर यह हमें प्रभु की ओर ले-चलती है। उस समय ये हमें विजयी-ही-विजयी बनाती है।

भावार्थ—हम प्रकृति का इसप्रकार से प्रयोग करें कि यह हमें प्रभु की ओर ले-चलनेवाली हो। उस समय हम 'ज्ञानी, स्तोता, विशाल हृदय व तेजस्वी' बनेंगे। हम इस प्रकृति के द्वारा सब शक्तियों पर विजय करते हुए सब शत्रुओं को जीतनेवाले बनेंगे।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

रोहिणी रोहितस्य इदं सदः

इदं सदो रोहिणी रोहितस्यासौ पन्थाः पृषती येन याति।
तां गन्धर्वाः कश्यपा उन्नयन्ति तां रक्षन्ति कवयोऽप्रमादम् ॥ २३ ॥

१. **रोहिणी**=प्रकृति **रोहितस्य**=उस तेजस्वी प्रभु का **इदं सदः**=यह घर है—निवास स्थान

है। प्रभु प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान है। **असौ पन्थाः**=मार्ग वह है **पृषती येन याति**=यह (पृष् to give) सब पदार्थों को देनेवाली प्रकृति जिससे जाती है। प्रकृति का प्रत्येक पदार्थ पिण्ड एकदम नियमित गति से चल रहा है। जीव को भी चाहिए की वह सूर्य और चन्द्र की भाँति नियमित गति से चले। 'स्वस्तिपन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव'। २. **ताम्**=उस प्रकृति को **गन्धर्वाः**=ज्ञान की वाणियों का धारण करनेवाले **कश्यपाः**=तत्त्वद्रष्टा लोग **उन्नयन्ति**=उन्नत करते हैं—अपने जीवन में उत्कर्षण प्राप्त करते हैं—प्रकृति का ठीक प्रयोग करते हुए वे उसे उचित आदर देते हैं। **ताम्**=उस प्रकृति को **कवयः**=ज्ञानी लोग **अप्रमादम्**=प्रमादशून्य होकर **रक्षन्ति**=रक्षित करते हैं। प्रकृति के बने हुए इस शरीर के रक्षण को भी वे धर्म समझते हैं और इस शरीर की बड़ी सावधानी से रक्षा करते हैं

भावार्थ—प्रकृति में सर्वत्र प्रभु का वास है। प्रकृति के बने सूर्यादि सब पिण्डों को प्रभु ही प्रकाश प्राप्त कराते हैं। इन सूर्य-चन्द्रादि की भाँति नियमित मार्ग का ये अनुसरण करते हैं। प्रकृति के ठीक प्रयोग से वे उसका आदर करते हैं और शरीर-रथ का पूर्णरूपेण रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सूर्यस्य अश्वाः

सूर्यस्याश्वा हरयः केतुमन्तः सदा वहन्त्यमृताः सुखं रथम्।
घृतपावा रोहितो भ्राजमानो दिवं देवः पृषतीमा विवेश॥ २४॥

१. **सूर्यस्य**=सूर्य के **अश्वाः**=किरणरूप अश्व **हरयः**=हमारे सब रोगों का हरण करनेवाले हैं। **केतुमन्तः**=प्रकाशवाले ये किरणरूप अश्व **अमृताः (न मृतं येभ्यः)**=हमें मृत्यु व रोगों से बचाते हैं और इसप्रकार **रथम्**=शरीर-रथ को **सुखं वहन्ति**=(ख=इन्द्रियाँ) उत्तम इन्द्रियोंवाला बनाकर वहन करते हैं। 'उद्यन्नादित्यः कृमीन् हन्ति निम्लोचन हन्तु रश्मिभिः'। २. **घृतपावा**=इन सूर्यादि पिण्डों में दीप्ति का रक्षण करनेवाला **रोहितः**=वह तेजस्वी **भ्राजमानः**=दीप्त होता हुआ **देवः**=प्रकाशमय प्रभु **दिवम्**=इस प्रकाशमय द्युलोक—द्युलोकस्थ सूर्य तथा **पृषतीम्**=इस 'लोहित शुक्ल, कृष्ण' (रज, सत्त्व, तमवाली) चित्रित प्रकृति में **आविवेश**=प्रविष्ट हो रहा है। वस्तुतः प्रभु से ही इन प्राकृतिक पिण्डों को वह-वह 'विभूति, श्री व ऊर्ज्' प्राप्त हो रहे हैं।

भावार्थ—सूर्य की किरणें हमारे शरीर-रथ को नीरोग बनानेवाली हैं। सूर्य में इस दीप्ति को प्रभु ही स्थापित करते हैं। प्रभु प्रत्येक प्राकृतिक पिण्ड में प्रविष्ट हुए-हुए उस-उस श्री को वहाँ प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

रोहितः वृषभः तिग्मशृङ्गः

यो रोहितो वृषभस्तिग्मशृङ्गः पर्यग्निं परि सूर्यं बभूव।
यो विष्टभ्नाति पृथिवीं दिवं च तस्माद्देवा अधि सृष्टीः सृजन्ते॥ २५॥

१. **यः**=जो प्रभु **रोहितः**=सदा प्रवृद्ध व तेजस्वी हैं **वृषभः**=सुखों का सेचन करनेवाले व **तिग्मशृङ्गः**=बड़े तीक्ष्ण ज्ञानकिरणरूप शृङ्गोंवाले हैं, वे प्रभु ही **अग्निं परिबभूव**=अग्नि को समन्तात् व्याप्त कर रहे हैं और **सूर्यम् परि (बभूव)**=सूर्य को व्याप्त कर रहे हैं। वस्तुतः प्रभु ही अग्नि में तेज के रूप से रह रहे हैं और सूर्य में वे ही 'प्रभा' के रूप में हैं। 'तेजश्चास्मि विभावसौ प्रभास्मि शशिसूर्ययोः'। **यः**=जो प्रभु **दिवं पृथिवीं च**=द्युलोक व पृथिवीलोक को **विष्टभ्नाति**=थामते हैं, **तस्मात्**=उस प्रभु से ही—प्रभु की शक्ति से ही और प्रभु के अधिष्ठातृत्व

में ही (अधि) **देवाः**=सब देव **सृष्टीः अधि सृजन्ते**=सृष्टियों को जन्म देते हैं। 'मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्' यह चराचर जगत् प्रभु की अध्यक्षता में ही प्रकृति से उत्पन्न होता है।

भावार्थ—वे प्रभु तेजस्वी हैं, सुखों का वर्षण करनेवाले व तीव्र किरणरूप शृङ्गोंवाले हैं। अग्नि व सूर्यादि में प्रभु ही व्याप्त हो रहे हैं। वे प्रभु ही द्युलोक व पृथिवीलोक का धारण करते हैं। सब देव प्रभु की अध्यक्षता में ही सृष्टियों को रचते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**विराट्परोष्णिक्**॥

दिवम् आरुहत्

रोहितो दिवमारुहन्महतः पर्यर्णवात्। सर्वा रुरोह रोहितो रुहः॥ २६॥

१. वह **रोहितः**=तेजस्वी प्रभु **महतः परि अर्णवात्**=(अर्णवः agitated) महान् क्षुब्ध (तीव्र गतिमय) प्रकृति के अणुसमुद्र से **दिवं परि आरुहत्**=(परि=वर्जने) ऊपर उठकर अपने प्रकाशमय स्वरूप में स्थित हैं। सम्पूर्ण प्रकृति के अणुसमुद्र को वे ही गति दे रहे हैं, परन्तु स्वयं शान्त हैं 'तदेजति तन्नैजति', 'भूतभृन्न च भूतस्थः'। २. वह **रोहितः**=तेजस्वी प्रभु **सर्वाः रुहः रुरोह**=संसार-वृक्ष की सब शाखाओं को जन्म देनेवाले हैं और इन सबमें व्याप्त हो रहे हैं। (सबका आरोहण करते हैं)।

भावार्थ—यह रोहित प्रभु इस प्रकृति के अणुसमुद्र को गति देकर संसार का निर्माण करते हैं, परन्तु इसमें उलझते नहीं। वे प्रभु ही संसार-वृक्ष की सब शाखाओं को प्रादुर्भूत करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पयस्वती घृताची 'धेनुः'

वि मिमीष्व पयस्वतीं घृताचीं देवानां धेनुरनपस्पृगेषा।
इन्द्रः सोमं पिबतु क्षेमो अस्त्वग्निः प्र स्तौतु वि मृधो नुदस्व॥ २७॥

१. वेदरूपी धेनु ज्ञानदुग्ध द्वारा हमारा पोषण करती है। इस **पयस्वतीम्**=ज्ञानदुग्ध देनेवाली—दुग्ध द्वारा हमारा पोषण करनेवाली तथा **घृताचीम्**=(घृ दीप्तौ क्षरणे) मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्ति द्वारा हमारे जीवनों को अलंकृत करनेवाली वेदधेनु को **विमिमीष्व**=विशिष्टरूप से निर्मित कर—उसका उच्चारण कर (मा=to roar, sound)। **एषा**=यह **देवानां धेनुः**=देवों—देववृत्ति के पुरुषों की गाय है। **अनपस्पृक्**=यह पृथक् करने योग्य नहीं—सदा स्पर्श के योग्य है। वेद का स्वाध्याय तो नित्य करना ही है। २. एक **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष को चाहिए कि वह **सोमं पिबतु**=सोमशक्ति का शरीर में पान करे। सुरक्षित सोम ही ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है, तभी वेदधेनु के दुग्धपान की रुचि उत्पन्न होती है। इसप्रकार हमारा **क्षेमः अस्तु**=कल्याण-ही-कल्याण हो। **अग्निः प्रस्तौतु**=यह प्रगतिशील जीव प्रभु का स्तवन करे और **मृधः विनुदस्व**=संहार करनेवाले इन काम, क्रोध, लोभरूप शत्रुओं को दूर धकेल दे। प्रभु-स्तवन कामादि शत्रुओं पर विजय प्राप्त कराएगा, इसप्रकार सोम का रक्षण सम्भव होगा और ज्ञानाग्नि की दीप्ति होकर वेदधेनु के ज्ञानदुग्ध के पान की क्षमता बढ़ेगी।

भावार्थ—वेदधेनु का ज्ञानदुग्ध हमारा आप्यायन करता है, यह मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करानेवाली है। जितेन्द्रिय पुरुष सोम का रक्षण करता हुआ ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है। प्रभु-स्तवन करता हुआ यह काम, क्रोधादि शत्रुओं को अपने से दूर रखता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

'अभीषाड् विश्वाषाड्' अग्निः

समिद्धो अग्निः समिधानो घृतवृद्धो घृताहुतः।
अभीषाड् विश्वाषाडग्निः सपत्नान्हन्तु ये मम॥ २८॥

१. **अग्निः सम् इद्धः**=गतमन्त्र के अनुसार वेद के स्वाध्याय से वह अग्रणी प्रभु हमारे हृदयों में समिद्ध हुए हैं। **सम् इधानः**=सम्यक् दीप्त होते हुए ये प्रभु **घृतवृद्धः**=दोषों के क्षरण व ज्ञानदीप्ति द्वारा हमारे अन्दर बढ़ते हैं, **घृताहुतः**=वस्तुतः प्रभु ही ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करानेवाले हैं (घृतं आहुतं येन)। २. ये प्रभु ही ज्ञान देकर **अभीषाट्**=हमारे शत्रुओं का सर्वत्र पराभव करनेवाले हैं। **विश्वाषाट्**=हमारे अन्दर प्रविष्ट हो जानेवाले कामादि शत्रुओं का पराभव करनेवाले हैं। इसप्रकार **अग्निः**=ये अग्रणी प्रभु ही **ये मम**=जो मेरे शत्रु हैं उन सब **सपत्नान् हन्तु**=शत्रुओं का विनाश करें।

भावार्थ—स्वाध्याय के द्वारा हम प्रभु के प्रकाश को हृदयों में देखने का प्रयत्न करें। दीप्त होते हुए प्रभु हमारे ज्ञान को और बढ़ाते हैं और प्रभु ही हमारे शत्रुओं का विनाश करते हैं, हमें कामादि पर विजय प्राप्त करने की क्षमता प्रदान करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ज्ञानाग्नि Vs. क्रव्यादग्नि

हन्त्वेनान्प्र दहत्वरिर्यो नः पृतन्यति। क्रव्यादाग्निना वयं सपत्नान्प्र दहामसि॥ २९॥

१. वह प्रभु **एनान्**=इन हमारे शत्रुओं का विनाश करे। **यः अरिः**=जो भी शत्रु **नः पृतन्यति**=हमपर आसुरभावों की सेना से आक्रमण करता है, अग्रणी प्रभु उनको **प्रदहतु**=जला दे। हमारे अन्दर प्रविष्ट हो जानेवाले शत्रुओं को हम ज्ञानाग्नि द्वारा भस्म करनेवाले हों। २. **वयम्**=हम **क्रव्यात् अग्निना**=कच्चा मांस खा जानेवाले कामाग्नि द्वारा **सपत्नान् प्रदहामसि**=शत्रुओं को ही जलानेवाले हों। कामाग्नि हमारे शत्रुओं को भस्म करे। हम ज्ञानाग्नि द्वारा इन कामादि शत्रुओं का विनाश करनेवाले बनें।

भावार्थ—कामाग्नि हमारे शत्रुओं को भस्म करे। हम ज्ञानाग्नि द्वारा इन कामादि शत्रुओं को भस्म करनेवाले बनें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अग्नेः तेजोभिः

अवाचीनानव जहीन्द्र वज्रेण बाहुमान्।
अधा सपत्नान्मामकानग्नेस्तेजोऽभिरादिषि॥ ३०॥

१. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों को वश में करनेवाले **बाहुमान्**=प्रशस्त भुजाओंवाले, अर्थात् शक्तिशाली साधक! तू **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूप व्रज से **अवाचीनान्**=निम्न गतिवाले—नीचे की ओर ले-जानेवाले इन काम, क्रोधादि शत्रुओं को **अवजहि**=सुदूर विनष्ट कर। जितेन्द्रियता व क्रियाशीलता हमें शत्रुओं को वश में करने योग्य बनाती है। २. **अध**=अब मैं **मामकान् सपत्नान्**=अपने शत्रुओं को **अग्नेः तेजोभिः**=उस अग्रणी प्रभु के तेजों से **आ आदिषि**=निगृहीत कर लेता हूँ। प्रभु की उपासना में उपासक प्रभु के तेज से तेजस्वी बनता है और काम, क्रोधादि शत्रुओं को निगृहीत करने में समर्थ होता है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय व क्रियाशील बनकर शत्रुओं का पराभव करें। प्रभु के तेज से

तेजस्वी होकर हम शत्रुओं का निग्रह करने में समर्थ हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**पञ्चपदाककुम्मतीशाक्वरगर्भाजगती**॥

बृहस्पति, इन्द्राग्नी, मित्रावरुणौ

अग्ने सपत्नानधरान्पादयास्मद् व्यथया सजातमुत्पिपानं बृहस्पते।
इन्द्राग्नी मित्रावरुणावधरे पद्यन्तामप्रतिमन्यूयमानाः॥ ३१॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **सपत्नान् अधरान् पादय**=शत्रुओं को नीचे गतिवाला कीजिए, उन्हें पादाक्रान्त कर दीजिए। **सजातम्**=साथ ही उत्पन्न होनेवाले **उत्पिपानम्**=(पि गतौ, उत्पेपीयमानं कुटिलमुद्गच्छन्तम्)=कुटिल गतिवाले इस कामरूप शत्रु को हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **अस्मत्**=हमसे **व्यथया**=पीड़ित करके दूर कर दीजिए। २. हे **इन्द्राग्नी**=जितेन्द्रियता व अग्रगति की भावनाओ! **मित्रावरुणौ**=स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! ये शत्रु **अप्रतिमन्यूयमानाः**=हमारे प्रति क्रोध न कर सकने योग्य होते हुए—निष्फल क्रोधवाले होते हुए **अधरे पद्यन्ताम्**=नीचे गतिवाले हों—पराजित हो जाएँ।

भावार्थ—हममें आगे बढ़ने की भावना हो (अग्नि) ज्ञान-प्राप्ति की रुचि हो (बृहस्पति), हम जितेन्द्रिय बनें और आगे बढ़ें (इन्द्र+अग्नि) तथा स्नेह व निर्द्वेषतावाले हों (मित्र+वरुण)। यही मार्ग है जिससे हम शत्रुओं का पराभव कर सकेंगे।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सूर्य की किरणों में नीरोगता

उद्यंस्त्वं देव सूर्य सपत्नानव मे जहि।
अवैनानश्मना जहि ते यन्त्वधमं तमः॥ ३२॥

१. काम-क्रोधादि शत्रुओं की भाँति रोग भी हमारे शत्रु हैं। उदय होता हुआ सूर्य रोगकृमियों को नष्ट करके इन रोगरूप शत्रुओं को नष्ट करता है। 'उद्यन्नादित्य क्रिमीन् हन्तु निम्लोचन् हन्तु रश्मिभिः।' इसलिए कहते हैं कि हे **देव सूर्य**=हमारे रोगों को जीतने की कामनावाले सूर्य! **उद्यन् त्वम्**=उदय होता हुआ तू **मे सपत्नान् अवजहि**=मेरे इन रोगरूप शत्रुओं को विनष्ट कर। २. हे साधक! तू **एनान्**=शत्रुओं को **अश्मना** (**अश्मा भवतु नस्तनूः**)=पाषाण-तुल्य दृढ़ शरीर से **अवजहि**=सुदूर भगा दे। तू शरीर को दृढ़ बना। यह रोगों का शिकार हो ही न पाये। **ते**=वे रोगरूप सब शत्रु **अधमं तमः यन्तु**=गहन अन्धकार को प्राप्त हों—इनकी स्थिति पाताललोक में हो। ये हम तक न पहुँच पाएँ।

भावार्थ—सूर्यकिरणों के सम्पर्क में जीवन बीताते हुए हम नीरोग शरीरवाले बनें। हमारे दृढ़ शरीर में रोगों का प्रवेश हो ही न सके।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

घृतेन ब्रह्मणा

वत्सो विराजो वृषभो मतीनामा रुरोह शुक्रपृष्ठोऽन्तरिक्षम्।
घृतेनार्कमभ्य[र्]चन्ति वत्सं ब्रह्म सन्तं ब्रह्मणा वर्धयन्ति॥ ३३॥

१. **विराजः वत्सः**=(वत्सः वसतीति) विराट् में अधिष्ठातृरूपेण निवास करनेवाला (ततो विराडजायत, विराजोऽधि पुरुषः), **मतीनां वृषभः**=बुद्धियों का, ज्ञानों का वर्धन करनेवाला **शुक्रपृष्ठः**=देदीप्यमान पृष्ठवाला, अर्थात् अत्यन्त तेजस्वी प्रभु **अन्तरिक्षं आरुरोह**=हमारे हृदय अन्तरिक्ष में आरोहण करता है। हम हृदय में विराट् पिण्ड द्वारा सृष्टि के निर्माता प्रभु का स्मरण

करते हैं। प्रभु ही हमें बुद्धियों को प्राप्त कराते हैं। वे प्रभु तेजोदीप्त (आदित्यवर्ण) हैं। २. इस **अर्कम्**=अर्चनीय, **वत्सम्**=सर्वत्र निवासवाले व वेदज्ञान का उपदेश करनेवाले प्रभु को उपासक **घृतेन**=मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्ति के द्वारा **अभ्यर्चन्ति**=पूजते हैं। **ब्रह्म सन्तम्**=उपासक ज्ञानस्वरूप होते हुए प्रभु को **ब्रह्मणा वर्धयन्ति**=ज्ञान के द्वारा अपने अन्दर बढ़ाते हैं।

भावार्थ—हम विराट् पिण्ड में निवास करनेवाले, बुद्धियों के वर्धक, तेजःपुञ्ज प्रभु का हृदयों में ध्यान करें। हम प्रभु को मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्ति द्वारा पूजें। ब्रह्म का पूजन ब्रह्म (ज्ञान) द्वारा ही हो सकता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रभु-प्राप्ति का मार्ग

दिवं च रोह पृथिवीं च रोह राष्ट्रं च रोह द्रविणं च रोह।
प्रजां च रोहामृतं च रोह रोहितेन तन्वं संस्पृशस्व॥ ३४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु की उपासना करता हुआ तू **दिवं च रोह**=मस्तिष्करूप द्युलोक का आरोहण कर—मस्तिष्क को उत्तम बना। **पृथिवीं च रोह**=शरीररूप पृथिवीलोक का भी तू विकास कर। **राष्ट्रं च रोह**=अपने गृहरूप राष्ट्र को भी उन्नत कर। **द्रविणं च रोह**=अपने धन को भी बढ़ानेवाला बन। २. **प्रजां च रोह**=सन्तानों को उत्तम बना। **अमृतं च रोह**=नीरोगता का प्रादुर्भाव कर। इसप्रकार करता हुआ तू **तन्वम्**=अपने शरीर को **रोहितेन संस्पृशस्व**=उस तेजस्वी प्रभु से मेलवाला कर।

भावार्थ—वस्तुतः प्रभु-प्राप्ति का मार्ग यही है कि हम दीप्तमस्तिष्क व तेजस्वी शरीरवाले बनें। गृहरूप राष्ट्र को उन्नत करें, आवश्यक धन का सम्पादन करें, उत्तम सन्तानों को प्राप्त करें, उन्हें नीरोग बनाएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्बृहती**॥

रोहितः देवाः

ये देवा राष्ट्रभृतोऽभितो यन्ति सूर्यम्।
तैष्टे रोहितः संविदानो राष्ट्रं दधातु सुमनस्यमानः॥ ३५॥

१. ये **देवाः**=जो देववृत्ति के पुरुष **राष्ट्रभृतः**=राष्ट्र का धारण करनेवाले हैं, वे **अभितः सूर्यं यन्ति**=शीघ्रता से (अभितः=quickly) सूर्यसम ज्योतिवाले ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। ब्रह्म की उपासनावाले ये देव ही वस्तुतः राष्ट्र का भरण कर पाते हैं। ब्रह्म की उपासना उन्हें शक्ति व पवित्रता प्राप्त कराती है। २. **तैः**=उन विद्वानों से **संविदानः**=ऐकमत्यवाला तथा **सुमनस्यमनः**=प्रीतिवाला होता हुआ **रोहितः**=तेजोदीप्त, सदावृद्ध प्रभु **ते राष्ट्रं दधातु**=तेरे राष्ट्र को धारण करें। प्रभु इन देवों के द्वारा राष्ट्र का धारण करते हैं।

भावार्थ—राष्ट्र का धारण वे देववृत्ति के व्यक्ति ही कर पाते हैं जो प्रभु के सम्पर्क में शक्ति व पवित्रता का सम्पादन करते हैं। इनके प्रति प्रीतिवाले प्रभु इन्हें राष्ट्रधारण-शक्ति प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**निचृन्महाबृहती**॥

'ब्रह्मपूताः यज्ञाः', 'अध्वगतः हरयः'

उत्त्वा यज्ञा ब्रह्मपूता वहन्त्यध्वगतो हरयस्त्वा वहन्ति।
तिरः समुद्रमति रोचसेऽर्णवम्॥ ३६॥

१. गतमन्त्र में संकेतित देव बनने के लिए हमें क्या करना है? इसका प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **ब्रह्मपूताः यज्ञाः उद्वहन्ति**=वेदमन्त्रों से पवित्र हुए-हुए यज्ञ विषयवासनाओं से ऊपर उठाते हैं। **अध्वगतः हरयः**=मार्ग पर चलनेवाले घोड़े—ये इन्द्रियाश्व **त्वा वहन्ति**=तुझे प्रभु के समीप प्राप्त कराते हैं। यदि हमारे इन्द्रियाश्व विषयपंक में मग्न न होकर मार्ग पर आगे बढ़ेंगे, तो हम प्रभु को प्राप्त करेंगे ही। २. इसप्रकार यज्ञनशील बनकर इन्द्रियाश्व द्वारा मार्ग पर आगे बढ़ता हुआ व्यक्ति प्रभु को प्राप्त करता है। इस व्यक्ति के लिए कहते हैं कि तू **समुद्रं अर्णवम्**=इस गतिशील अणुसमुद्र से बने ब्रह्माण्ड से **तिरः अतिरोचसे**=पार होकर अतिशयेन देदीप्यमान होता है। (ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत। ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः)। यज्ञ करना और मार्ग पर आगे बढ़ना ही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है।

भावार्थ—हम वेदमन्त्रों के साथ यज्ञ करें तथा इन्द्रियाश्वों को मार्ग से भटकने से बचाएँ। यही संसार से पार होने का मार्ग है। इसी मार्ग से प्रभु को प्राप्त होकर हम दीप्त जीवनवाले बन पाएँगे।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**परशाक्वराविराडतिजगती**॥

वसुजिति गोजिति सन्धनाजिति

रोहिते द्यावापृथिवी अधिश्रिते वसुजिति गोजिति सन्धनाजिति।
सहस्रं यस्य जनिमानि सप्त च वोचेयं ते नाभिं भुवनस्याधि मज्मनि॥ ३७॥

१. **रोहिते**=अतिशयेन तेजस्वी व सदावृद्ध प्रभु में ही **द्यावापृथिवी**=ये द्युलोक व पृथिवीलोक **अधिश्रिते**=आश्रित हैं। द्यावापृथिवी के अन्तर्गत सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को वे प्रभु ही धारण कर रहे हैं, जो **वसुजिति**=वसुओं को जीतनेवाले हैं—हमारे लिए सब वसुओं (निवास के लिए आवश्यक पदार्थों) को प्राप्त करानेवाले हैं। **गोजिति**=हमारे लिए गौओं का विजय करानेवाले हैं—गौओं को प्राप्त करानेवाले हैं। अथवा (**गावः**=इन्द्रियाणि) हमारे लिए इन्द्रियों का विजय करनेवाले हैं—प्रभु-स्मरण ही हमें इन्द्रियों के विजय के योग्य बनाता है। **सन्धनाजिति**=वे प्रभु ही धनों का सम्यक् विजय करनेवाले हैं। प्रभु वे हैं **यस्य**=जिनके **सहस्रं जनिमानि**=हज़ारों प्रादुर्भाव हैं—वे प्रभु हज़ारों लोकों का निर्माण करते हैं **च**=और उन लोकों में **सप्त**='कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' इन सात ऋषियों को जन्म देते हैं, जिनके द्वारा हमारा यह सप्तहोता यज्ञ चलता है, 'येन यज्ञस्तायते सप्तहोता'। हे प्रभो! मैं **मज्मनि**=बल के निमित्त—बल प्राप्त करने के लिए **ते**=आपके द्वारा उपदिष्ट **भुवनस्य नाभिम्**=इस भुवन के केन्द्रभूत यज्ञ को 'अयं यज्ञो भुवनस्य नाभिः' **अधिवोचेयम्**=आधिक्येन कहूँ—जीवन से यज्ञों का ही प्रतिपादन करूँ—यज्ञनशील बनूँ।

भावार्थ—प्रभु ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का आधार हैं। प्रभु ही वसुओं, गौओं व धनों का विजय करनेवाले हैं। सब लोकों को प्रभु उत्पन्न करते हैं और जीवन-यज्ञों को सम्यक् पूर्ण करने के लिए 'दो कान, दो नासिका छिद्र, दो आँखें व मुख' को प्राप्त कराते हैं। हम बल प्राप्त करने के लिए सप्तहोतृक यज्ञों का विस्तार करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यशाः

यशाः यासि प्रदिशो दिशश्च यशाः पशूनामुत चर्षणीनाम्।
यशाः पृथिव्या अदित्या उपस्थेऽहं भूयासं सवितेव चारुः॥ ३८॥

१. हे प्रभो! **यशाः**=(यशः अस्ति अनेन) उपासक के जीवन को यशस्वी बनानेवाले आप

दिशः प्रदिशः च यासि=सब दिशाओं व प्रदिशाओं में व्याप्त हैं। आप ही **पशूनाम् यशाः**=उस-उस पशु में उस-उस यश को स्थापित करनेवाले हैं। मक्खियों को फूलों से रस लेकर शहद के निर्माण की शक्ति आप ही प्राप्त कराते हैं। चील को निष्कम्प पक्षों से आकाश में गति की शक्ति आप ही देते हैं। सिंह को नदी को कुशलता से तैरने की शक्ति आप ही देते हैं **उत**=और **चर्षणीनाम्**=मनुष्यों के यश भी आप ही है। बुद्धिमानों की बुद्धि आप हैं तो तेजस्वियों के तेज आप ही हैं। बलवानों का कामरागविवर्जित बल भी आप ही हैं। २. हे प्रभो! आपकी कृपा से **पृथिव्याः**=इस पृथिवी माता की तथा **अदित्याः**=अखण्डित वेदवाणी की **उपस्थे**=गोद में **अहम्**=मैं **यशाः**=यशस्वी जीवनवाला **भूयासम्**=होऊँ। मैं **सविता इव चारुः**=सूर्य की भाँति दीप्त, सुन्दर जीवनवाला बनूँ। पृथिवीमाता की गोद में रहता हुआ, स्वाभाविक जीवन बिताता हुआ मैं स्वस्थ बनूँ तथा वेदवाणी की गोद में मैं ज्ञानदीप्त बनूँ। इसप्रकार सूर्य के समान चमकनेवाला होऊँ।

भावार्थ—दिशाओं में, पशुओं व मनुष्यों में, सर्वत्र प्रभु के ही यश का विस्तार है। हम पृथिवीमाता की गोद में वेदवाणी को अपनाते हुए स्वस्थ, ज्ञानदीप्त बनकर यशस्वी जीवनवाले हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रोचन सूर्य विपश्चित्

अमुत्र सन्निह वेत्थेतः संस्तानि पश्यसि।
इतः पश्यन्ति रोचनं दिवि सूर्यं विपश्चितम्॥ ३९॥

१. हे प्रभो! आप **अमुत्र सन्**=उस सुदूर स्थान में होते हुए **इह वेत्थ**=यहाँ सब-कुछ जानते हो और **इतःसन्**=इधर होते हुए **तानि पश्यसि**=उन सुदूर की वस्तुओं को भी देखते हो। २. इसप्रकार प्रभु के उपासक **इतः**=इधर हृदयदेश में उस प्रभु को **पश्यन्ति**=देखते हैं, जो प्रभु **रोचनम्**=दीप्त हैं, **दिवि सूर्यम्**=अपने प्रकाशमय स्वरूप में निरन्तर गतिवाले हैं। **विपश्चितम्**=ज्ञानी हैं। २. प्रभु का हृदय में ध्यान करते हुए हम भी ओजस्वी बनें (रोचनम्), ज्ञानपूर्वक क्रियाओं को करनेवाले हों (दिवि सूर्यम्) अधिक-से-अधिक ज्ञान को प्राप्त करें (विपश्चितम्)।

भावार्थ—प्रभु पृथिवीलोक में स्थित होते हुए द्युलोक को सम्यक् देखते हैं, द्युलोक में होते हुए पृथिवी को सम्यक् देखते हैं। इन प्रभु को उपासक हृदय में 'रोचन, सूर्य, विपश्चित्' रूप में देखता है। ऐसा ही बनने का प्रयत्न करता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रभु का दर्शन

देवो देवान्मर्चयस्यन्तश्चरस्यर्णवे। समानमग्निमिन्धते तं विदुः कवयः परे॥ ४०॥

१. हे प्रभो! **देवः**=आप प्रकाशमय व सम्पूर्ण गति के स्रोत हैं **देवान् मर्चयसि**=सूर्यादि सब देवों को आप ही (मर्च् to move) गति देते हैं। आप ही **अर्णवे**=गतिमय अणुसमुद्र के **अन्तः चरसि**=अन्दर विचरण करते हैं—एक-एक कण में आप व्याप्त हैं। २. **तम्**=उस **समानम्**=(सम्यक् आनयति) सबको समानरूप से प्राणित करनेवाले **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु को **कवयः**=क्रान्तदर्शी विद्वान् **इन्धते**=अपने हृदयों में समिद्ध करते हैं। उस प्रभु को **परे**=प्राकृतिक भोगों से दूर रहनेवाले ज्ञानी ही **विदुः**=जानते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सूर्यादि सब पिण्डों को गति देते हैं। अणुसमुद्र में भी प्रभु व्याप्त हैं। उस प्रभु को ज्ञानी अपने हृदयों में समिद्ध करते हैं। प्रभु का ज्ञान उन्हीं को होता है जो प्राकृतिक भोगों से ऊपर उठते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रकृतिविद्या+आत्मविद्या

अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात्।
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात्क्व स्वित्सूते नहि यूथे अस्मिन्॥ ४१॥

१. अपराविद्या 'अवः' है, तो पराविद्या 'परः' है। **अवः परेण**=अपराविद्या को पराविद्या के साथ तथा **परः**=पराविद्या को **एना अवरेण**=इस अपराविद्या के साथ **पदा**=अपने पदों से—शब्दों से **बिभ्रती**=धारण करती हुई **गौः**=यह वेदवाणी **वत्सम्**=(वदति) उच्चारण करनेवाले इस जीवरूप वत्स को **उत् अस्थात्**=उन्नत करती है (उत्थापयति)। अकेली प्रकृतिविद्या अन्धकार में ले-जाती है, तो अकेली आत्मविद्या घोर अन्धकार में प्राप्त कराती है। यह वेदवाणी दोनों का मेल करती हुई प्रकृतिविद्या से हमें मृत्यु से तैराती है तथा आत्मविद्या से अमृतत्व को प्राप्त कराती है। प्रकृतिविद्या से अभ्युदय को सिद्ध करती है तो आत्मविद्या से निःश्रेयस को। २. इसप्रकार **सा**=वह वेदवाणी **कद्रीची**=(कौ अञ्चति) पृथिवी पर गति करती हुई **कंस्वित्**=कितने महान् **अर्धम्**=सर्वोच्च स्थान को **परागात्**=सुदूर प्राप्त कराती है। अपने बाह्य अर्थों से यह प्रकृति का ज्ञान देती हुई अन्तर अर्थों से प्रभु का साक्षात्कार कराती है। इसप्रकार प्रभु-दर्शन कराती हुई यह वेदवाणी **क्वस्वित् सूते**=भला जन्म कहाँ देती है? यह मुक्ति की स्थिति को प्राप्त कराके जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठा देती है। मुक्ति न भी प्राप्त हो तो भी **नहि यूथे अस्मिन्**=सामान्य लोकसमूह में तो जन्म देती ही नहीं, '**शुचीनां श्रीमतां गेहे**', '**अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्**'=पवित्र श्रीमानों व योगियों के कुल में यह हमें जन्म प्राप्त कराती है, 'तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्' वहाँ उत्तम बुद्धिसंयोग को प्राप्त करके हम मुक्ति के मार्ग पर आगे बढ़ते हैं।

भावार्थ—वेदवाणी अपरा व पराविद्या का समन्वय करके हमें मृत्यु से ऊपर उठाकर अमृतत्व प्राप्त कराती है। यह प्रकृतिविद्या द्वारा अभ्युदय में गति कराती हुई आत्मविद्या से मोक्ष में पहुँचाती है। यह हमें जन्म-मरण के चक्र से ऊपर उठाती है अथवा योगियों के प्रशस्त कुल में ही जन्म देती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥

एकपदी-नवपदी

एकपदी द्विपदी सा चतुष्पद्यष्टापदी नवपदी बभूवुषी।
सहस्राक्षरा भुवनस्य पङ्क्तिस्तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति॥ ४२॥

१. यह वेदवाणी **एकपदी**=(पद गतौ, गतिः ज्ञानम्) उस अद्वितीय प्रभु का ज्ञान देती है। **द्विपदी**=जीव-परमात्मा का 'द्वा सुपर्णा' आदि मन्त्रों में चित्रण करती है। **सा चतुष्पदी**=यह वाणी 'सोऽयमात्मा चतुष्पाद', इन उपनिषद् शब्दों के अनुसार आत्मा के चार पदों का वर्णन करती है। **अष्टापदी**='भूमि, आपः, अनल, वायु, खं, मनः, बुद्धि व अहंकार' रूप प्रभु की आठ मूर्त्तियों का प्रतिपादन करती है तथा **नवपदी बभूवुषी**=शरीरस्थ आत्मा के इन्द्रियरूप नवद्वारों (अष्टाचक्रा नवद्वारा०) का वर्णन करनेवाली होती हुई यह वाणी **सहस्राक्षरा**=हज़ारों प्रकार से

प्रभु के रूप का व्यापन कर रही है (अश् व्याप्तौ)। २. प्रभु का प्रतिपादन करती हुई यह वाणी **भुवनस्य पङ्क्तिः**=इस ब्रह्माण्ड का विस्तार करनेवाली है (पच् विस्तारे)। सम्पूर्ण भुवन का विस्तृत प्रतिपादन करती है। **तस्याः**=उस वेदवाणी से ही **समुद्राः**=सब विज्ञानों के समुद्र **अधिविक्षरन्ति**=प्रवाहित होते हैं। सब सत्यविद्याओं का आदिस्रोत यही तो है।

भावार्थ—यह वेदवाणी आत्मा व परमात्मा का विविध रूपों में वर्णन करती हुई भुवन की विद्याओं का भी विस्तृत वर्णन करती है। यह सब सत्यविद्याओं का आदिस्रोत है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराण्महाबृहती**॥

प्रकाशमय नीरोग जीवन

आरोहन्द्यामुमृतः प्राव मे वचः।
उत्त्वा यज्ञा ब्रह्मपूता वहन्त्यध्वगतो हरयस्त्वा वहन्ति॥ ४३॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि **द्याम् आरोहन्**=मस्तिष्करूप द्युलोक में आरोहन करता हुआ **अ-मृतः**=नीरोग बनता हुआ तू **मे वचः प्राव**=मुझसे दी गई वेदवाणी का प्रकर्षेण रक्षण कर। यह वेदवाणी ही वस्तुतः प्रकाशमय व नीरोग जीवनवाला बनाएगी। २. **त्वा**=तुझे **ब्रह्मपूताः**=वेदवाणी के उच्चारण से पवित्र किये गये **यज्ञाः**=यज्ञ **उद् वहन्ति**=उत्कृष्ट स्थिति में प्राप्त कराते हैं। **अध्वगतः हरयः**=मार्ग पर चलनेवाले ये इन्द्रियाश्व **त्वा वहन्ति**=तुझे लक्ष्यस्थान पर पहुँचानेवाले होते हैं।

भावार्थ—वेदवाणी का नियम से स्वाध्याय करते हुए हम प्रकाश व नीरोगता को प्राप्त करें—दीप्त मस्तिष्कवाले व नीरोग शरीरवाले बनें। मन्त्रों द्वारा हम यज्ञों को करनेवाले हों तथा हमारे इन्द्रियाश्व सदा मार्ग पर आगे बढ़ते हुए हमें लक्ष्यस्थान पर पहुँचाएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**परोष्णिक्**॥

स्वाध्याय व ध्यान

वेद तत्ते अमर्त्य यत्त आक्रमणं दिवि। यत्ते सधस्थं परमे व्यो॑मन्॥ ४४॥

१. हे **अमर्त्य**=अमरणधर्मा, अविनाशी प्रभो! **यत् ते**=जो आपका **दिवि आक्रमणम्**=प्रकाशमय लोकों में आक्रमण है, **ते तत् वेद**=आपके उस रूप को मैं जानता हूँ, 'आप प्रकाशस्वरूप हैं', ऐसा मैं समझता हूँ। २. **यत्**=जो **ते**=आपका **परमे व्योमन्**=इस सर्वोत्कृष्ट हृदयाकाश में **सधस्थम्**=मिलकर ठहरना—आत्मा के साथ स्थित होना है, उसे मैं जानता हूँ। जीव को दो बातें समझनी हैं—१. यह कि प्रभु प्रकाशरूप हैं, प्रभु की प्राप्ति के लिए ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। २. प्रभु का दर्शन हृदयदेश में होगा, जब भी चित्तवृत्ति का निरोध करके हम अन्तर्मुखी वृत्तिवाले बनेंगे तभी हृदय में प्रभु के साथ अपने को स्थित पाएँगे।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि स्वाध्याय द्वारा हम ज्ञान को बढ़ाएँ तथा चित्तवृत्ति के निरोध का अभ्यास करते हुए अन्तर्मुख वृत्तिवाले बनें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'सूर्य' ब्रह्म

सूर्यो द्यां सूर्यः पृथिवीं सूर्य आपोऽति पश्यति।
सूर्यो भूतस्यैकं चक्षुरा रुरोह दिवं महीम्॥ ४५॥

१. **सूर्यः**=वह सूर्यसम दीप्त ज्योतिवाला प्रभु **द्याम्**=द्युलोक को **अति पश्यति**=अन्तःप्रविष्ट

होकर देख रहा है। **सूर्यः**=यह सूर्य प्रभु ही **पृथिवीम्**=पृथिवी में प्रविष्ट होकर देख रहा है। **सूर्यः**=यह सूर्य नामक ब्रह्म **आपः**=(आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः) सब प्रजाओं में प्रविष्ट होकर उनके प्रत्येक विचार व आचार को देख रहा है। द्युलोक, पृथिवीलोक व तत्रस्थ सब मनुष्यों को वे प्रभु अन्तःप्रविष्ट होकर देख रहे हैं। २. **सूर्यः**=वे सूर्यसम दीप्तिवाले प्रभु **भूतस्य**=प्राणिमात्र के **एकं चक्षुः**=अद्वितीय चक्षु हैं—प्रभु ही सबके मार्गदर्शक हैं। ये प्रभु **दिवं महीं आरुरोह**=द्युलोक व पृथिवलोक में आरोहण किये हुए हैं—अधिष्ठातृरूपेण वहाँ वर्तमान हैं। प्रभु के अधिष्ठातृत्व में ही यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड गति कर रहा है।

भावार्थ—द्युलोक, पृथिवीलोक, तत्रस्थ सब प्रजाओं को उनके अन्दर व्याप्त होकर देखनेवाले वे प्रभु ही हैं। प्राणिमात्र की वे अद्वितीय चक्षु हैं—मार्गदर्शक हैं। द्युलोक व पृथिवीलोक के सारे व्यवहार प्रभु के अधिष्ठातृत्व में चल रहे हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रोहित का महान् सृष्टियज्ञ

उर्वीरासन्परिधयो वेदिर्भूमिरकल्पत। तत्रैतावग्नी आधत्त हिमं घ्रंसं च रोहितः ॥ ४६ ॥

१. प्रभु ने जब इस सृष्टियज्ञ को आरम्भ किया तब **उर्वीः**=विशाल दिशाएँ **परिधयः आसन्**=परिधियाँ हुईं—परकोटा बनीं। **भूमिः वेदिः अकल्पत**=यह भूमि वेदि बनी और **ततः**=उस भूमिरूप वेदि पर **रोहितः**=उस तेजस्वी, सदावृद्ध प्रभु ने **एतौ**=इन दोनों **अग्नी**=अग्नियों को **आधत्त**=स्थापित किया। **हिमं घ्रंसं च**=एक अग्नि तो शीतल ज्योत्स्नावाली चन्द्ररूप थी तथा द्वितीय अग्नि देदीप्यमान सूर्यरूप थी इस सृष्टियज्ञ के दिन-रात में क्रमशः सूर्य व चन्द्र ही अग्नि हैं। इन्हीं में यह सृष्टियज्ञ चल रहा है।

भावार्थ—प्रभु के इस सृष्टियज्ञ में विशाल दिशाएँ परिधिरूप हैं। भूमि वेदि है और सूर्य व चन्द्र अग्निरूप हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वर्षाज्यौ अग्नी

हिमं घ्रंसं चाधाय यूपान्कृत्वा पर्वतान्। वर्षाज्यावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥ ४७ ॥

१. **रोहितस्य**=उस तेजस्वी, सदावृद्ध प्रभु के ये **वर्षाज्यौ**=वृष्टिरूप घृतवाले **अग्नी**=सूर्य-चन्द्ररूप अग्नि **हिमं घ्रंसं च**=शीत व आतप को समय-समय पर आहित करके और **पर्वतान् यूपान् कृत्वा**=पर्वतों को यज्ञस्तम्भरूप करके **ईजाते**=इस सृष्टियज्ञ को चलाते हैं। २. इस सृष्टियज्ञ के मुख्य प्रवर्तक ये सूर्य और चन्द्र हैं। इस यज्ञ की वेदिरूप भूमि के स्तम्भ ये पर्वत हैं। ये सूर्य और चन्द्र समय-समय पर शीत व आतप का आदान करते हुए इस यज्ञ को चला रहे हैं।

भावार्थ—यह सृष्टि यज्ञ है। पर्वत यज्ञवेदिरूप भूमि के स्तम्भ हैं। वृष्टि ही यहाँ आज्य (घृत) है। सूर्य और चन्द्र इस यज्ञ की अग्नियाँ हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ब्रह्मणाग्नि समिध्यते

स्वर्विदो रोहितस्य ब्रह्मणाग्निः समिध्यते।
तस्माद् घ्रंसस्तस्माद्धिमस्तस्माद्यज्ञोऽजायत ॥ ४८ ॥

१. **स्वर्विदः**=सुख व प्रकाश को प्राप्त करानेवाले **रोहितस्य**=सदाप्रवृद्ध प्रभु के **ब्रह्मणा**=वेदज्ञान

से—वेदज्ञान के अनुसार अथवा मन्त्रोच्चारणपूर्वक **अग्निः समिध्यते**=यज्ञवेदि में अग्नि समिद्ध किया जाता है, **तस्मात्**=उस रोहित प्रभु से ही **घ्रंसः**=दीप्ति का कारणभूत यह सूर्य, **तस्मात् हिमः**=उस प्रभु से ही शीतल ज्योत्स्नावाला चन्द्र तथा **तस्मात्**=उस प्रभु से ही **यज्ञः**=यह सृष्टि-यज्ञ **अजायत**=विशिष्टरूप से प्रादुर्भूत होता है।

भावार्थ—प्रभु से आदिष्ट मन्त्रों द्वारा यज्ञवेदि में यज्ञाग्नि समद्धि किया जाता है। वे प्रभु ही सूर्य व चन्द्र द्वारा इस सृष्टि-यज्ञ को चला रहे हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'ब्रह्मवृद्धौ ब्रह्मेद्धौ' अग्नी

ब्रह्मणाग्नी वावृधानौ ब्रह्मवृद्धौ ब्रह्माहुतौ।
ब्रह्मेद्धावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः॥ ४९॥

१. **स्वर्विदः**=सुख व प्रकाश को प्राप्त करानेवाले **रोहितस्य**=तेजस्वी, सदावृद्ध प्रभु के **ब्रह्मेद्धौ (ब्रह्म इद्धौ)**=ज्ञान द्वारा दीप्त किये गये **अग्नी**=सूर्य व चन्द्ररूप अग्नि **ईजाते**=सृष्टियज्ञ को चलाते हैं। २. ये दोनों **अग्नी**=अग्नियाँ **ब्रह्मणा वावृधानौ**=प्रभु से वेद द्वारा निरन्तर वृद्ध की जाती हैं। **ब्रह्मवृद्धौ**=ब्रह्म द्वारा ये वृद्ध हुई हैं। **ब्रह्माहुतौ**=ब्रह्म द्वारा ये समन्तात् आहुत हुए हैं। प्रभु ने ही इन्हें बनाया है। प्रभु ही इनके प्रकाश को चारों ओर प्राप्त करा रहे है—प्रभु ही तो इनकी प्रभा हैं, 'प्रभास्मि शशिसूर्ययोः'।

भावार्थ—सूर्य-चन्द्ररूप अग्नियों द्वारा यह सृष्टियज्ञ चल रहा है। ये दोनों अग्नियाँ प्रभु द्वारा वृद्ध की गई हैं—प्रभु ही इनके प्रकाश को चारों ओर प्राप्त करा रहे है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

(सत्ये+अप्सु), ज्ञान+कर्म

सत्ये अन्य समाहितोऽप्स्वन्यः समिध्यते।
ब्रह्मेद्धवग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः॥ ५०॥

१. **अन्यः**=सूर्यरूप एक अग्नि **सत्ये समाहितः**=सत्य में समाहित हुआ है। उदय होता हुआ सूर्य सब अन्धकार का विनाश करता है। मस्तिष्क में भी उदय होता हुआ ज्ञान का सूर्य सब अज्ञान-अन्धकार का विनाशक बनता है। **अन्यः**=दूसरा चन्द्ररूप अग्नि **अप्सु समिध्यते**=कर्मों में समिद्ध होता है। यज्ञादि सब कर्म 'प्रतिपदा, अष्टमी, एकादशी, पूर्णिमा व अमावास्या' आदि चन्द्र-तिथियों को देखकर ही सम्पन्न होते हैं। 'चदि आह्लादे' आह्लादक चन्द्र भी कर्मों के होने पर उदित होता है। आलस्य में आनन्द की समाप्ति हो जाती है। २. ये दोनों **ब्रह्मेद्धौ अग्नी**=ब्रह्म द्वारा समिद्ध किये गये सूर्य-चन्द्ररूप अग्नि **स्वर्विदः**=ज्ञान व सुख को प्राप्त करानेवाले **रोहितस्य**=तेजस्वी व सदावृद्ध प्रभु के **ईजाते**=सृष्टियज्ञ को चलाते हैं। हमारे जीवनों में भी ज्ञान असत्य को नष्ट करता है तथा कर्म आनन्द के चन्द्र का उदय करते हैं। इसप्रकार ज्ञान व कर्मों द्वारा जीवन-यज्ञ का प्रवर्तन होता है।

भावार्थ—हमारे जीवनों में ज्ञान के सूर्य का उदय होकर सब असत्य का विनाश हो जाए, साथ ही कर्मों में तत्पर हुए-हुए हम आनन्द के चन्द्र को हृदयान्तरिक्ष में उदित कर सकें। ये यज्ञ व कर्म इस जीवनयज्ञ के प्रवर्तक हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वातः+इन्द्रः ब्रह्मणस्पतिः

यं वातः परिशुम्भति यं वेन्द्रो ब्रह्मणस्पतिः।
ब्रह्मेद्धावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः॥ ५१॥

१. **यम्**=जिस चन्द्र-(आह्लाद)-रूप अग्नि को **वातः**=वायु की भाँति निरन्तर गतिशील पुरुष **परिशुम्भति**=अपने जीवन में अलंकृत करता है। **यं वा**=तथा जिस ज्ञान-सूर्यरूप अग्नि को **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **ब्रह्मणस्पतिः**=वेदज्ञान का पति होता हुआ अपने में सुशोभित करता है। ये दोनों कर्म व ज्ञानरूप **अग्नी**=अग्नियाँ **ब्रह्मेद्धौ**=उस प्रभु द्वारा समिद्ध की जाकर **रोहितस्य स्वर्विदः**=सदावृद्ध व सुख प्राप्त करानेवाले प्रभु के यज्ञ को **ईजाते**=सम्पन्न करती हैं। सारे ब्रह्माण्ड में यह सृष्टि-यज्ञ सूर्य व चन्द्र द्वारा चल रहा है। यही जीवन-यज्ञ इस पिण्ड में ज्ञान व कर्मरूप अग्नियों द्वारा चलता है।

भावार्थ—हम वायु के समान निरन्तर क्रियाशील बनकर हृदय में आनन्द के चन्द्र को उदित करें। जितेन्द्रिय व ज्ञानी बनकर मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञानसूर्य को उदित करें। इसप्रकार प्रभु से प्रदत्त इन ज्ञान व कर्मरूप अग्नियों से हमारा जीवन-यज्ञ सम्प्रवृत्त हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः**॥

सृष्टियज्ञ में यज्ञमय जीवन

वेदिं भूमिं कल्पयित्वा दिवं कृत्वा दक्षिणाम्।
घ्रंसं तदग्निं कृत्वा चकार विश्वमात्मन्वद्वर्षेणाज्येन रोहितः॥ ५२॥

१. **रोहितः**=उस तेजस्वी, सदावृद्ध प्रभु ने **वेदिं भूमिं कल्पयित्वा**= भूमि को यज्ञवेदि के रूप में बनाकर **दिवं दक्षिणां कृत्वा**=द्युलोक को—प्रकाश को यज्ञ की दक्षिणा करके और **घ्रंसम्**=इस दीप्त आतपवाले सूर्य को **तत् अग्निं कृत्वा**=इस यज्ञवेदी की अग्नि बनाकर **वर्षेण आज्येन**=वृष्टिरूप घृत से **आत्मन्वत् विश्वं चकार**=प्रशस्त आत्मशक्तिवाले इस सृष्टियज्ञ को किया। २. प्रभु इस सृष्टियज्ञ में सब लोक-लोकान्तरों का निर्माण करके जीव को शरीररूप निवास स्थान प्राप्त कराते हैं। इसमें मन आदि साधनों के द्वारा यज्ञ की ओर झुकाववाला होकर यह प्रशस्त जीवनवाला बन पाता है।

भावार्थ—सृष्टि को हम प्रभु द्वारा किये जानेवाले यज्ञ के रूप में देखें। स्वयं भी यज्ञमयजीवनवाले होते हुए प्रशस्तजीवनवाले बनें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सृष्टियज्ञ की सामग्री

वर्षमाज्यं घ्रंसो अग्निर्वेदिर्भूमिरकल्पयत्।
तत्रैतान्पर्वतानग्निर्गीर्भिरूर्ध्वाँ अकल्पयत्॥ ५३॥

१. **अग्निः**=उस अग्रणी प्रभु ने **वर्षं आज्यं अकल्पयत्**=वृष्टि को ही इस सृष्टियज्ञ के लिए घृत के रूप में बनाया। इस यज्ञ में **घ्रंसः**=देदीप्यमान सूर्य ही **अग्निः**=अग्नि हुआ। **भूमिः वेदिः**=यह पृथिवी ही सृष्टि-यज्ञ की वेदि हुई। २. **तत्र**=उस वेदि पर प्रभु ने **गीर्भिः**=वेदवाणियों के द्वारा **एतान् पर्वतान्**=इन पर्वतों को **ऊर्ध्वान् अकल्पयत्**=ऊपर यज्ञस्तम्भों के रूप में खड़ा किया। ऐसा प्रतीत होता है कि पर्वतरूप यज्ञस्तम्भों पर वेदवाणियाँ अंकित हों। ये हिमाच्छादित पर्वत प्रभु की महिमा का प्रतिपादन तो कर ही रहे हैं।

भावार्थ—इस सृष्टि-यज्ञ में 'वृष्टि' घृत है। 'सूर्य' अग्नि और 'भूमि' वेदि है। यहाँ पर्वत यज्ञस्तम्भ हैं, जिनपर वेदवाणियाँ मानो अंकित हुई हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यज्ञों की आधारभूत यह 'भूमि'

गीर्भिरूर्ध्वान्कल्पयित्वा रोहितो भूमिमब्रवीत्।
त्वयीदं सर्वं जायतां यद्भूतं यच्च भाव्य॑म्॥ ५४॥

१. **गीर्भिः**=वेदवाणियों के द्वारा **ऊर्ध्वान् कल्पयित्वा**=यज्ञस्तम्भों के रूप में ऊपर खड़े हुए पर्वतों को रचकर **रोहितः**=उस तेजस्वी, सदावृद्ध प्रभु ने **भूमिं अब्रवीत्**=इस वेदिरूप भूमि से कहा कि हे भूमे! **इदं सर्वम्**=यह सब **यत् भूतम्**=जो हुआ है **यत् च भाव्यम्**=और जो होना है, वह सब **त्वयि जायताम्**=तुझमें सम्पन्न हो। २. इस सृष्टियज्ञ की वेदि यह भूमि ही है। 'हो चुका व होनेवाला' सब यज्ञ इस वेदि में ही होते हैं। 'भवन्ति भूतानि यस्याम्', 'जिसमें सब प्राणी होते हैं', वही तो भूमि है। एवं, यही भूमि भूत व भाव्य सब यज्ञों का आधार है।

भावार्थ—सब सृष्टियज्ञ इस पृथिवीरूप वेदि पर ही होता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**ककुम्मतीबृहतीगर्भापथ्यापङ्क्तिः**॥

'उत्पादक व धारक' प्रभु

स यज्ञः प्रथमो भूतो भव्यो अजायत।
तस्माद्ध जज्ञ इदं सर्वं यत्किं चेदं विरोचते रोहितेन ऋषिणाभृतम्॥ ५५॥

१. **सः**=वह **भूतः**=सदा से हुआ-हुआ—सदा से वर्तमान **भव्यः**=सदा रहनेवाला प्रभु **प्रथमः**=सर्वव्यापक व सर्वश्रेष्ठ **यज्ञः**=पूजनीय **अजायत**=हुआ। **तस्मात् ह**=उस प्रभु से ही निश्चयपूर्वक **इदं सर्वं जज्ञे**=यह सब-कुछ हुआ। **यत् किञ्च**=जो कुछ भी **इदं विरोचते**=यह चमकता है। 'यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा। तत्तदेवावगच्छ त्वं ममतेजोंऽशः सम्भवम्', जो कुछ विभूति सम्पन्न है, वह सब उस प्रभु से हुआ है। २. प्रभु ने ही इन दीप्त पिण्डों को जन्म दिया है और **रोहितेन**=उस तेजस्वी, सदावृद्ध **ऋषिणा**=(ऋष् to kill) तत्त्वद्रष्टा व अज्ञानान्धकार नाशक प्रभु से ही **भृतम्**=धारण किया गया है।

भावार्थ—प्रभु ही अनादि-अनन्त यज्ञरूप हैं। वह प्रभु ही सब दीप्त पिण्डों को दीप्ति प्राप्त करा रहे हैं। उन सदावृद्ध, तेजस्वी, ज्ञानी प्रभु ने ही सृष्टि को धारण किया हुआ है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

गौ व सूर्य का आदर

यश्च गां पदा स्फुरति प्रत्यङ्सूर्यं च मेहति।
तस्य वृश्चामि ते मूलं न च्छायां करवोऽपरम्॥ ५६॥

१. इस सृष्टि में मनुष्य को 'गौ व सूर्य' का आदर करना है। 'गौ' मनुष्य को सात्त्विक दूध प्राप्त कराके 'स्वस्थ शरीर, पवित्र मन व दीप्त मस्तिष्क' प्राप्त कराती है। इसीप्रकार सूर्य की किरणें सब रोगकृमियों का नाश करती हुई उसे स्वास्थ्य प्रदान करती हैं। आयुर्वेद में सूर्याभिमुख होकर मेहन से 'मूत्रकृच्छ' आदि रोग हो जाने का उल्लेख है। २. मन्त्र में कहते हैं कि **यः च गां पदा स्फुरति**=जो निश्चय से गौ को पाँव से कुचलने की करता है (to braise, destroy), **च**=और **सूर्यं प्रत्यङ्**=सूर्याभिमुख होकर **मेहति**=मूत्र करता है, **तस्य ते**=उस तेरे **मूलं**

वृश्चामि=मूल को काट डालता हूँ। तू **अपरम्**=इसके बाद **छायां न करवः**=(छाया beauty) जीवन के सौन्दर्य को करनेवाला न हो, तेरे जीवन का सौन्दर्य समाप्त हो जाए।

भावार्थ—हम जीवन में गौ का समुचित आदर करें, घर में गौ का प्रथम स्थान हो। गौ को घर का मूल समझें। हम सूर्य की किरणों को सदा शरीर पर लेनेवाले बनें। 'सूर्याभिमुख होकर मूत्र करने से रोग हो जाते हैं', इसे कभी न भूलें। 'सूर्याभिमुख मेहन' जीवन के सौन्दर्य को समाप्त करनेवाला है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्**॥

यज्ञों में विघ्न करने का परिणाम

यो माभिच्छायमत्येषि मां चाग्निं चान्तरा।
तस्य वृश्चामि ते मूलं न च्छायां करवोऽपरम्॥ ५७॥

१. **यः**=जो तू **अभिच्छायाम्**=सौन्दर्य की ओर चल रहे, अर्थात् सुन्दर पथ का आक्रमण कर रहे **मा**=मुझे **अत्येषि**=(अति इ=subdue) दबाता है, सताता है, **तस्य ते**=उस तेरे **मूलं वृश्चामि**=मूल को मैं काट देता हूँ। वस्तुतः उत्तम पथ पर चल रहे व्यक्तियों को पीड़ित करनेवाले को समाप्त कर देना आवश्यक ही है। २. **मां च अग्निं च अन्तरा**=मेरे और अग्नि के बीच में जो तू (अत्येषि) अतिशयेन आता है वह तू **अपरम्**=इसके बाद **छायां न करवः**=सौन्दर्य को करनेवाला न हो। एक व्यक्ति और अग्नि के बीच में आने का भाव है 'यज्ञों में विघ्न करना'। जो भी यज्ञ करते हुए पुरुष के लिए विघ्न करनेवाला बनता है उसका सौन्दर्य समाप्त हो जाता है। वह यज्ञविहन्ता देव न रहकर असुर बन जाता है।

भावार्थ—सुन्दर पथ पर चलते हुए व्यक्ति को विहत करनेवाला नष्ट हो जाता है। यजनशील के यज्ञ का विघातक पुरुष अपने जीवन के सौन्दर्य को समाप्त कर लेता है

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'दुःष्वप्न्य शमल व दुरित' दूरीकरण

यो अद्य देव सूर्य त्वां च मां चान्तरायति।
दुःष्वप्न्यं तस्मिञ्छमलं दुरितानि च मृज्महे॥ ५८॥

१. हे **देव सूर्य**=प्रकाशमय गतिशील प्रभो! **अद्य**=आज **यः**=जो भी बात **त्वां च मां च अन्तरा**=आपके और मेरे बीच में **अयति**=आती है, अर्थात् मुझे आपके दर्शन से रोकती है, **तस्मिन्**=उसके निमित्त—उसे दूर करने के लिए **दुःष्वप्न्यम्**=अशुभ स्वप्नों के कारणभूत प्रत्येक वस्तु को, **शमलम्**=(sin, moral impurity) नैतिक दोषों को, **दुरितानि च**=और अशुभ कर्मों को **मृज्महे**=दूर करते हैं। २. ये 'दुःष्वप्न्य, शमल व दुरित' ही हमें प्रभु-दर्शन से वंचित करने का कारण बनते हैं। इन्हें दूर करके हम अपने जीवन का शोधन करते हुए अपने को प्रभु-दर्शन के योग्य बनाते हैं।

भावार्थ—उस 'प्रकाशमय, गति के स्रोत' प्रभु का दर्शन उसे ही होता है जो 'दुःष्वप्नों, शमलों व दुरितों' को दूर कर पाता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**

मार्ग पर

मा प्र गाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः। मान्त स्थुर्नो अरातयः॥ ५९॥

१. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **वयम्**=हम **पथः मा प्रगाम**=मार्ग

से विचलित न हों। मार्गभ्रष्ट होकर हम आपसे दूर न हो जाएँ। हे प्रभो! हम **सोमिनः**=अपने में सोम (वीर्यशक्ति) का रक्षण करनेवाले **यज्ञात्**=यज्ञ से—देवपूजा, संगतिकरण व दानरूप उत्तम कर्म से दूर न हों। बड़ों के आदर, परस्पर प्रेम व दान की वृत्तिवाले बनकर हम शरीर में सोम का रक्षण कर पाएँ। ३. हे प्रभो! आप ऐसा अनुग्रह कीजिए कि **अरातयः**=काम-क्रोध-लोभादि शत्रु **नः अन्तः मा स्थुः**=हमारे अन्दर स्थित न हों। हमारा हृदय इन कामादि का अधिष्ठान न हो। इन शत्रुओं से अपने हृदय को शून्य करके ही हम आपके दर्शन के योग्य बन पाएँगे।

भावार्थ—हम मार्गभ्रष्ट न हों, यज्ञशील, 'काम-क्रोध-लोभ' से शून्य हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

यज्ञस्य प्रसाधनः

यो यज्ञस्य प्रसाधनस्तन्तुर्देवेष्वाततः। तमाहुतमशीमहि ॥ ६० ॥

१. **यः**=जो प्रभु **यज्ञस्य प्रसाधनः**=सब यज्ञों को सिद्ध करनेवाले हैं, 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च'। सब यज्ञ प्रभुकृपा से ही पूर्ण हुआ करते हैं। जो प्रभु **देवेषु**=सूर्यादि सब देवों में **आततः तन्तुः**=फैले हुए तन्तु हैं। वस्तुतः प्रभु के कारण ही उस-उस पिण्ड में वह-वह शक्ति दृष्टिगोचर होती है। '**पुण्यो गन्धः पृथिव्यां च रसोऽहमप्सु कौन्तेय। तेन शक्तिरस्मि विभावसौ प्रभास्मि शशिसूर्ययोः॥ तेजस्तेजस्विनामहं बलं बलवतः चाहम्। बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि।**' २. **तम्**=उस **आहुतम्**=समन्तात् दानोंवाले प्रभु को **अशीमहि**=हम सेवन करनेवाले बने, प्रभु का ही मनन करें।

भावार्थ—प्रभु सब यज्ञों के साधक हैं, सब देवों में व्याप्त सूत्र हैं। इन प्रभु के ही दान समन्तात् दृष्टिगोचर होते हैं। इनका हम उपासन करें।

अथ द्वितीयोऽनुवाकः

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'आदित्य मीढ्वान्' प्रभु

उदस्य केतवो दिवि शुक्रा भ्राजन्त ईरते।
आदित्यस्य नृचक्षसो महिव्रतस्य मीढुषः ॥ १ ॥

१. **अस्य**=इस प्रभु की **केतवः**=प्रकाश की किरणें **शुक्राः**=(शुच दीप्तौ) अतिशयेन पवित्र व **भ्राजन्तः**=दीप्त होती हुई **दिवि उत् ईरते**=सम्पूर्ण द्युलोक में व सब व्यवहारों में उद्गत होती हैं। सम्पूर्ण आकाश में, आकाशस्थ एक-एक पिण्ड में प्रभु की रचना का कौशल व विज्ञान दीप्त हो रहा है। २. उस प्रभु का प्रकाश सर्वत्र दीखता है जोकि **आदित्यस्य**=(आदानात्) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अपने एक देश में लिये हुए हैं। **नृचक्षसः**=मनुष्यमात्र का ध्यान कर रहे हैं अथवा सभी के कर्मों को देख रहे हैं। **महिव्रतस्य**=महनीय व्रतोंवाले हैं और **मीढुषः**=सबपर सुखों का सेचन करनेवाले हैं। हम भी आदित्य बनें—सब अच्छाइयों को अपने अन्दर लेनेवाले बनें। नृचक्षसः=केवल अपना ध्यान न करके औरों का भी ध्यान करनेवाले बनें। महनीय व्रतों को धारण करें, इसप्रकार सबपर सुखों का वर्षण करने के लिए यत्नशील हों।

भावार्थ—हम प्रभु का 'आदित्य, नृचक्षसः महिव्रत व मीढ्वान्' नामों से स्मरण करते हुए स्वयं भी ऐसा बनने का प्रयत्न करें। सृष्टि में सर्वत्र प्रभु के प्रकाश को देखने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'भुवन-गोपा' सूर्य (प्रभु)

दिशां प्रज्ञानां स्वरयन्तमर्चिषा सुपक्षमाशुं पतयन्तमर्णवे।
स्तवाम सूर्यं भुवनस्य गोपां यो रश्मिभिर्दिश आभाति सर्वाः ॥ २ ॥

१. हम **सूर्यं स्तवाम**='ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः' सूर्यसमंज्योति ब्रह्म को स्तुत करते हैं, जो प्रभु **अर्चिषा**=अपनी ज्ञानदीप्ति से, प्रकाश की किरणों से **प्रज्ञानाम्**=(प्रज्ञापिनीनाम्) जीव के मार्गों का ज्ञान देनेवाली **दिशाम्**=दिशाओं का—निर्देशों व संकेतों का **स्वरयन्तम्**=उपदेश कर रहे हैं **सुपक्षम्**=उत्तम परिग्रह व आश्रय देनेवाले हैं। **आशुम्**=संसार में सर्वत्र व्याप्त हैं। **अर्णवे पतयन्तम्**=संसार-समुद्र में ऐश्वर्यवाले हैं। जहाँ-जहाँ कुछ भी उत्तमता है वह सब उस प्रभु के कारण ही तो है। २. उन प्रभु का स्तवन करते हैं जो **भुवनस्य गोपाम्**=सारे ब्रह्माण्ड के रक्षक हैं, और **यः**=जो **रश्मिभिः**=अपनी प्रकाश की किरणों से **सर्वाः दिशः आभाति**=सब दिशाओं को आभासित कर रहे हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करते हैं। प्रभु हमें जीवनमार्ग की दिशाओं का संकेत कर रहे हैं। सर्वत्र व्याप्त होते हुए वे हमारे उत्तम आश्रय-स्थान हैं। संसार में सर्वत्र उन्हीं का ऐश्वर्य दीप्त हो रहा है। वे प्रभु ही ब्रह्माण्ड के रक्षक हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'प्राङ्-प्रत्यङ्' व्याप्त प्रभु

यत्प्राङ् प्रत्यङ् स्वधया यासि शीभं नानारूपे अहनी कर्षि मायया।
तदादित्य महि तत्ते महि श्रवो यदेको विश्वं परि भूम जायसे ॥ ३ ॥

१. हे प्रभो! **यत्**=जो आप **स्वधया**=अपनी धारणशक्ति से **शीभम्**=शीघ्र ही **प्राङ् प्रत्यङ् यासि**=पूर्व से पश्चिम तक सर्वत्र गतिवाले होते हैं, वे आप **मायया**=अपनी दिव्य ज्ञानशक्ति से **नानारूपे**=भिन्न-भिन्न रूपोंवाले **अहनी कर्षि**=दिन-रात को बनाते हैं। प्रभु ने वस्तुतः दिन व रात के क्रमवाला यह सृष्टिक्रम कितना सुन्दर बनाया है। २. हे **आदित्य**=सारे ब्रह्माण्ड को अपने में आदान करनेवाले प्रभो! **ते**=आपका **तत्**=जो **महि**=महान् व पूजनीय **श्रवः**=यश है, आप **विश्वं भूम परिजायसे**=सारे ब्रह्माण्ड में चारों ओर प्रादुर्भूत हो रहे हैं, सर्वत्र आपकी महिमा का प्रकाश हो रहा है।

भावार्थ—पूर्व से पश्चिम तक सर्वत्र प्रभु व्याप्त हो रहे हैं। प्रभु ने अपनी माया से क्या ही सुन्दर दिन व रात्रि का क्रम बनाया है। प्रभु का यश महान् है। वे प्रभु सर्वत्र अपनी महिमा से प्रादुर्भूत हो रहे हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'आजिम् परियान्तम्' (सूर्यम्)

विपश्चितं तरणिं भ्राजमानं वहन्ति यं हरितः सप्त बह्वीः।
स्रुताद्यमत्रिर्दिवमुन्निनाय यं त्वा पश्यन्ति परियान्तमाजिम् ॥ ४ ॥

१. **विपश्चितम्**=सबको देखनेवाले **तरणिम्**=अन्धकार से तरानेवाले **भ्राजमानम्**=देदीप्यमान **यम्**=जिस सूर्य को **सप्त बह्वीः हरितः**=सात रंगोंवाली अनेक किरणें **वहन्ति**=सर्वत्र प्राप्त कराती हैं, **यम्**=जिसको **अत्रिः**=(अ अत्रि) त्रिगुणातीत प्रभु **स्रुतात्**=स्रुत के हेतु से—आकाश से वृष्टि-जल के वर्षण के हेतु से **दिवम् उन्निनाय**=द्युलोक में प्राप्त कराते हैं, **तं त्वा**=उस तुझ सूर्य को

आजिम् परियान्तम्=(race-course, road-way) मार्ग पर गति करते हुए को **पश्यन्ति**=ज्ञानी लोग देखते हैं। २. ज्ञानी पुरुष सूर्य में प्रभु की महिमा को देखते हुए आश्चर्य करते हैं कि (क) किस प्रकार यह दीप्त सूर्य करोड़ों किलोमीटरों तक अन्धकार को समाप्त कर देता है, (ख) इसकी सात रंगों में विभक्त अनन्त किरणें किस प्रकार विविध प्राणशक्तियों का हममें संचार कर रही हैं, (ग) किस प्रकार यह सूर्य दृष्टि का हेतु बनकर सब अन्नों का उत्पादक बनता है, (घ) किस प्रकार यह सूर्य अपने मार्ग पर आकृष्ट लोकसमूह के साथ आगे बढ़ रहा है।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष मार्ग पर आगे बढ़ते हुए अपने प्रकाश से अन्धकार को दूर करते हुए सप्त वर्ण की किरणों से प्राणदायी तत्त्वों का संचार करते हुए वृष्टि का हेतु बनते हुए सूर्य को देखते हैं और प्रभु की महिमा का स्मरण करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'दिन-रात का बनानेवाला' सूर्य

मा त्वा दभन्परियान्तमाजिं स्वस्ति दुर्गाँ अति याहि शीभम्।
दिवं च सूर्य पृथिवीं च देवीमहोरात्रे विमिमानो यदेषि॥ ५॥

१. हे **सूर्य**=सूर्य! **आजिम् परियन्तम्**=मार्ग पर आगे बढ़ते हुए **त्वा**=तुझे **मा दभन्**=कोई भी हिंसित नहीं कर पाते। तू **शीभम्**=शीघ्र ही **दुर्गान्**=दुःखेन गन्तव्य सब (दुर्ग) मार्गों को **अतियाहि**=लांघकर चलनेवाला हो और **स्वस्ति**=हमारे कल्याण का कारण बन। हे सूर्य! **अहोरात्रे**=दिन और रात्रि का **विमिमानः**=मापपूर्वक निर्माण करता हुआ **यत् एषि**=जब तू गति करता है तब तू **दिवं च**=इस द्युलोक को **देवीं पृथिवीम्**=दिव्यगुणोंवाली पृथिवी को हमारे लिए (स्वस्ति) कल्याण का साधन बनाता है। सूर्य के कारण सब देव हमारे लिए कल्याण का साधन बनते हैं। सूर्य केन्द्र में है और सब लोक-लोकान्तर इसके चारों ओर गति कर रहे हैं। सूर्य इन सबको हमारे लिए कल्याणकर बनाता है।

भावार्थ—मार्ग पर चलते हुए सूर्य को कोई भी विघ्न रोक नहीं पाते। दिन व रात्रि का निर्माण करता हुआ यह सूर्य सब लोकों को हमारे लिए हितसाधक बनाता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सूर्यरथ

स्वस्ति ते सूर्य चरसे रथाय येनोभावन्तौ परियासि सद्यः।
यं ते वहन्ति हरितो वहिष्ठाः शतमश्वा यदि वा सप्त बह्वीः॥ ६॥

१. हे **सूर्य**=सूर्य! **ते चरसे रथाय**=तेरे निरन्तर चलनेवाले इस रथ के लिए **स्वस्ति**=उत्तम स्थिति हो, **येन**=जिस रथ के द्वारा **उभौ अन्तौ सद्यः परियासि**=दोनों अन्तों को, पूर्व व पश्चिम को अथवा उत्तरायण व दक्षिणायन को तू शीघ्र ही जानेवाला होता है। २. **यं ते**=जिस तेरे रथ को **वहिष्ठाः हरितः वहन्ति**=वहन करने में सर्वोत्तम ये किरणरूप अश्व वहन करते हैं। ये किरणें ही **शतं अश्वाः**=तेरे रथ के सैकड़ों घोड़े हैं। **यदि वा**=अथवा **सप्त**=सात रंगोंवाली **बह्वीः**=(बृहि वृद्धौ) वृद्धि की कारणभूत किरणें तेरे रथ का वहन करती हैं।

भावार्थ—सूर्य अपने रथ से पूर्व से पश्चिम में अथवा उत्तरायण से दक्षिणायन में गतिवाला होता है। इस सूर्यरथ का वहन करनेवाली किरणें विविध प्रकार के प्राणदायी तत्त्वों को हमारे लिए प्राप्त कराती हुई हमारी वृद्धि का कारण बनती हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'सुख-स्योना, सुवह्नि' रथ

सुखं सूर्य रथमंशुमन्तं स्योनं सुवह्निमधि तिष्ठ वाजिनम्।
यं ते वहन्ति हरितो वहिष्ठाः शतमश्वा यदि वा सप्त बह्वीः॥ ७॥

१. हे **सूर्य**=सूर्य! तू **रथम् अधितिष्ठ**=इस रथ पर अधिष्ठित हो, जो रथ **सुखम्**=हमारी सब इन्द्रियों की उत्तमता का कारण बनता है। **अंशुमन्तम्**=जो प्रकाश की किरणोंवाला है। **स्योनम्**=हमारे लिए सुख करनेवाला है। **सुवह्निम्**=हमें स्वस्थ बनाता हुआ लक्ष्यस्थान की ओर ले चलनेवाला है और **वाजिनम्**=हमें शक्तिशाली बनाता है। २. उस रथ पर तू अधिष्ठित हो **यं ते**=जिस तेरे रथ को **वहिष्ठाः हरितः वहन्ति**=वहनक्रिया में सर्वोत्तम किरणरूप अश्व वहन करते हैं **शतं अश्वाः**=सैकड़ों किरणाश्व इस तेरे रथ का वहन करनेवाले हैं। **यदि वा**=अथवा **सप्त बह्वीः**=सात रंगोंवाली—सात प्राणदायी तत्त्वों को प्राप्त करानेवालीं, अतएव प्राणियों की वृद्धि की कारणभूत ये किरणें तेरे रथ का वहन करती हैं।

भावार्थ—यह सूर्य का रथ अपने मार्ग पर किरणरूप अश्वों से आगे और आगे बढ़ता है। यह प्राणियों के लिए इन्द्रियों का स्वास्थ्य प्रदान करता है, अतएव उनके लिए सुखद व उन्हें लक्ष्यस्थान पर पहुँचानेवाला होता है। यह उन्हें शक्तिशाली बनाता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**जगती**॥

'सप्ताश्व' सूर्य

सप्त सूर्यो हरितो यातवे रथे हिरण्यत्वचसो बृहतीरयुक्त।
अमोचि शुक्रो रजसः परस्ताद्विधूय देवस्तमो दिवमारुहत्॥ ८॥

१. **सूर्यः**=सूर्य **यातवे**=मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए **रथे**=अपने रथ में **सप्त**=सात रंगोंवाली **हिरण्यत्वचसः**=ज्योति के सम्पर्कवाली **बृहती**=वृद्धि की कारणभूत **हरितः**=किरणों को **अयुक्त**=जोतता है। सूर्य के रथ में किरणरूप अश्व जुते हैं। ये सात रंगोंवाले हैं, इसी से सूर्य का नाम 'सप्ताश्व' हो गया है। इन किरणों का हिरण्य=ज्योति के साथ सम्पर्क है। हमारी वृद्धि का ये कारण बनती हैं। २. **शुक्रः**=वह दीप्त सूर्य **रजसः**=सब अन्धकार (gloom) से **परस्तात् अमोचि**=सुदूर छोड़ा गया है। यह **देवः**=प्रकाशमय सूर्य **तमः विधूय**=सब अन्धकार को कम्पित करके **दिवं आरोहत्**=द्युलोक में आरूढ़ हुआ है।

भावार्थ—सूर्य सप्ताश्व है, इसकी सात किरणें हमारे लिए प्राणदायी तत्त्वों को प्राप्त कराती हुई हमारी वृद्धि का कारण बनती हैं। अन्धकार से परे वर्तमान यह सूर्य द्युलोक में आरूढ़ हुआ है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'आदिति-पुत्र' सूर्य

उत्केतुना बृहता देव आगन्नपावृक्तमोऽभि ज्योतिरश्रैत्।
दिव्यः सुपर्णः स वीरो व्य ख्यददितेः पुत्रो भुवनानि विश्वा॥ ९॥

१. **देवः**=यह प्रकाशमान सूर्य **बृहतः केतुना**=वृद्धि के कारणभूत प्रकाश के साथ **उत् आगन्**=उदित हुआ है। इस सूर्य ने **तमः अपावृक्**=सब अन्धकार को दूर कर दिया है, **ज्योतिः अश्रैत्**=ज्योति का आश्रय किया है। २. **सः दिव्यः**=वह सूर्य सब अन्धकार के विजय की कामनावाला है, **सुपर्णः**=उत्तमता से हमारा पालन व पूरण करनेवाला है। **वीरः**=रोगकृमियों को

कम्पित करके दूर करनेवाला है। यह **अदितेःपुत्रः**=(अ-दिति) शरीर के पवित्रीकरण द्वारा स्वास्थ्य का त्राण करनेवाला सूर्य **विश्वा भुवनानि**=सब भुवनों को **व्यख्यत्**=विशेषरूप से देखता है (look) अथवा प्रकाशित करता है (Illuminate)।

भावार्थ—सूर्य उदित होता है, अन्धकार को दूर करके प्रकाश करता है। हमें नीरोग बनाता है, रोगकृमियों को कम्पित करके विनष्ट करता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः**॥

'विश्वरूप पोषक' सूर्य

उद्यन्रश्मीना तनुषे विश्वा रूपाणि पुष्यसि।
उभा समुद्रौ क्रतुना वि भासि सर्वाँल्लोकान्परिभूर्भ्राजमानः॥ १०॥

१. हे सूर्य! **उद्यन्**=उदय होता हुआ तू **रश्मीन् आतनुषे**=प्रकाश की किरणों को चारों ओर विस्तृत करता है। प्रकाश की किरणों के द्वारा **विश्वा रूपाणि**=सब सौन्दर्यों का (beauty, elegance, grace) तू **पुष्यसि**=पोषण करता है। २. **उभा समुद्रौ**=दोनों समुद्रों को—पृथिवीस्थ समुद्र को तथा अन्तरिक्ष में मेघरूप समुद्र को **क्रतुना**=अपने कर्म के द्वारा तू **विभासि**=दीप्त करता है। सूर्य की क्रिया द्वारा ही अन्तरिक्षस्थ समुद्र की उत्पत्ति होती है तथा वृष्टि होकर नदी-प्रवाहों से पृथिवीस्थ समुद्र का पूरण होता है। **सर्वान् लोकान् परिभूः**=तू सब लोकों को चारों ओर से व्याप्त करता है। **भ्राजमानः**=दीप्त है। सूर्य अपने प्रकाश से सब लोकों को प्रकाशित करता है।

भावार्थ—रश्मियों का विस्तार करता हुआ सूर्य सब सौन्दर्यों का पोषण करता है। पृथिवीस्थ व अन्तरिक्षस्थ समुद्रों का निर्माण करता है। सब लोकों को प्रकाश से व्याप्त करता हुआ चमक रहा है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**बृहतीगर्भात्रिष्टुप्**॥

दो शिशु (सूर्य और चन्द्र)

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोऽर्णवम्।
विश्वान्यो भुवना विचष्टे हैरण्यैरन्यं हरितो वहन्ति॥ ११॥

१. **एतौ**=ये दो **शिशू**=प्रभु के सन्तानों के समान सूर्य और चन्द्रमा **मायया**=प्रभु की माया से—अद्भुत रचना कौशल से (Extraordinary power, wisdom), **क्रीडन्तौ**=खेलते हुए-से **पूर्वापरं चरतः**=पूर्व से पश्चिम की ओर गति करते हैं, इस प्रकार **अर्णवं परियातः**=अन्तरिक्ष में सर्वत्र गति करते हैं। २. इनमें **अन्यः**=एक 'सूर्य' **विश्वा भुवना विचष्टे**=सब लोकों को प्रकाशित करता है और **अन्यम्**=दूसरे 'चन्द्र' को **हरितः**=सूर्यरश्मियाँ ही **हैरण्यैः**=हितरमणीय प्रकाशों से **वहन्ति**=ले-चलती हैं। सूर्य की किरणें ही चन्द्र को ज्योतिर्मय करती हैं। सूर्य का आतप चन्द्र में प्रतिक्षिप्त होने पर 'ज्योत्स्ना' के रूप में हो जाता है और हमारे लिए हितरमणीय बन जाता है।

भावार्थ—प्रभु की माया से सूर्य व चन्द्र आकाश में क्रीड़ा करते हुए पूर्व से पश्चिम की ओर जाते हैं। सूर्य सब भुवनों को प्रकाशित करता है और चन्द्र अपनी हितरमणीय ज्योत्स्ना द्वारा हमें आनन्दित करनेवाला होता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'काल-निर्माता' सूर्य

दिवि त्वात्रिरधारयत्सूर्या मासाय कर्तवे।
स एषि सुधृतस्तपन्विश्वा भूतावचाकशत्॥ १२॥

१. हे **सूर्य**=रविमण्डल! **अत्रिः**=उस त्रिगुणातीत प्रभु ने (अ-त्रि) **त्वा**=तुझे **मासाय कर्तवे**=मास आदि कालविभागों को करने के लिए **दिवि अधारयत्**=द्युलोक में धारण किया है। २. **सः**=वह तू **सुधृतः**=सम्यक् धारण किया हुआ **तपन्**=अत्यन्त दीप्त होता हुआ **विश्वा भूता अवचाकशत्**=सब प्राणियों को देखता हुआ **एषि**=गति करता है।

भावार्थ—सूर्य की गति से ही मास आदि काल-विभाग चलता है। यह सूर्य सब लोकों को प्रकाशित करता हुआ व सब प्राणियों को देखता हुआ चलता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उभौ अन्तौ

उभावन्तौ समर्षसि वत्सः संमातराविव। नन्वे३तदितः पुरा ब्रह्म देवा अमी विदुः॥ १३॥

१. हे सूर्य! तू **इव**=जिस प्रकार **वत्सः मातरौ सं (अर्षति)**=एक सन्तान माता-पिता को सम्यक् प्राप्त होता है उसीप्रकार तू भी **उभौ अन्तौ सं अर्षसि**=द्युलोक व पृथिवीलोक दोनों अन्तों को प्राप्त होता है। तेरी किरणें द्युलोक व पृथिवीलोक दोनों में फैली हैं। २. **ननु**=निश्चय से **अमी देवाः**=वे देववृत्ति के पुरुष **इतः**=तेरे इस ज्ञान के द्वारा **पुरा**=(पृ पालनपूरणयोः) पालन व पूरण के साथ **एतत् ब्रह्म विदुः**=इस ब्रह्म को जानते हैं। देवलोग सूर्य के ज्ञान से, सूर्य का ठीक प्रकार प्रयोग करते हुए अपने स्वास्थ्य व आयुष्य का रक्षण करते हैं तथा सूर्य के अन्दर प्रभु की महिमा का दर्शन भी करते हैं कि किस प्रकार सूर्य द्युलोक व पृथिवीलोक दोनों को ही अपनी किरणों से व्याप्त करता है। किस प्रकार पूर्व व पश्चिम में प्राप्त होता है। किस प्रकार कभी उत्तरायण में तो कभी दक्षिणायन में।

भावार्थ—सूर्य एक ओर द्युलोक को तो दूसरी ओर पृथिवी को अपनी किरणों से व्याप्त करता है। पूर्व में उदित होता है, पश्चिम में अस्त होता है। कभी उत्तर की ओर झुका प्रतीत होता है, कभी दक्षिण की ओर। ये सब व्यवस्थाएँ हमारे पालन के लिए आवश्यक हैं। वस्तुतः विचित्र ही है महिमा उस महान् प्रभु की!

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'वृष्टि व कालचक्र' का कारणभूत सूर्य

यत्समुद्रमनु श्रितं तत्सिषासति सूर्यः। अध्वास्य विततो महान्पूर्वश्चापरश्च यः॥ १४॥

१. **यत्**=जो जल **समुद्रं अनुश्रितम्**=समुद्र में आश्रय किये हुए है, **तत्**=उसे **सूर्यः**=सूर्य **सिषासति**=संविभक्त करना चाहता है। सूर्य समुद्र-जल को अपनी किरणों के द्वारा वाष्पीभूत करके ऊपर ले-जाता है, मानो सूर्य समुद्र-जल का पान करता है। २. **अस्य**=इस सूर्य का **यः अध्वा**=जो मार्ग **पूर्वः च अपरः च**=पूर्व से पश्चिम तक **विततः**=फैला हुआ है, वह निश्चय से **महान्**=अतिशयेन बड़ा है अथवा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह सूर्य का मार्ग ही सब कालचक्र का कारण बनता है।

भावार्थ—सूर्य ही समुद्र-जल को वाष्पीभूत करके ऊपर ले-जाता है और मेघ-निर्माण द्वारा वृष्टि का कारण बनता है। पूर्व से पश्चिम तक फैला हुआ सूर्य का मार्ग ही कालचक्र का

निर्माण करनेवाला बनता है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

ब्रह्मप्राप्ति के लिए तीन बातें

तं समाप्नोति जूतिभिस्ततो नाप चिकित्सति।
तेनामृतस्य भक्षं देवानां नाव रुन्धते॥ १५॥

१. **तम्**=उस सूर्यसम ज्योति ब्रह्म को **जूतिभिः समाप्नोति**=कर्त्तव्यकर्मों को वेग से, अप्रमाद से करने के द्वारा प्राप्त करता है। **ततः**=उस ब्रह्म से **न अप चिकित्सति**=ये दूर रहने की कामना नहीं करता, ब्रह्म-प्राप्ति की प्रबल कामनावाला होता है। २. **तेन**=उस ब्रह्म-प्राप्ति के उद्देश्य से ही **देवानाम्**=देवों के **अमृतस्य भक्षम्**=अमृत के भोजन को ये ब्रह्म-प्राप्ति के इच्छुक पुरुष **न अवरुन्धते**=नहीं रोकते, अर्थात् देवों की भाँति ये अमृत का भोजन करनेवाले होते हैं। यज्ञशेष ही अमृत है, अमृत का सेवन करते हुए ये ब्रह्म को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—ब्रह्म-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि (क) हम कर्त्तव्यकर्मों को अप्रमाद से करनेवाले हों, (ख) ब्रह्म-प्राप्ति की प्रबल इच्छावाले हों, (ग) यज्ञशेष का सेवन करनेवाले बनें।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः॥ छन्दः—आर्षीगायत्री॥

'जातवेदा देवः सूर्य' का धारण

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम्॥ १६॥

१. **केतवः**=ज्ञानीपुरुष **त्यम्**=उस **जातवेदसम्**=(जातेजाते विद्यते) सर्वत्र व्याप्त (जातं जातं वेत्ति) सर्वज्ञ प्रभु को **उ**=निश्चय से **उद् वहन्ति**=हृदय में धारण करते हैं। प्रभु **देवम्**=प्रकाशमय हैं, **सूर्यम्**=सूर्यसम ज्योति हैं, अथवा सबको हृदयस्थरूपेण प्रेरणा देनेवाले हैं (सुवति)। २. ये ज्ञानी पुरुष इसलिए प्रभु को हृदयों में धारण करते हैं, जिससे **दृशे विश्वाय**=सम्पूर्ण संसार का दर्शन कर सकें। प्रभु के हृदय में होने पर यह सब-कुछ ज्ञात हो ही जाता है।

भावार्थ—ज्ञानी लोग हृदयों में प्रभु का स्मरण करते हैं, जिससे सम्पूर्ण संसार का ज्ञान प्राप्त कर सकें।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः॥ छन्दः—आर्षीगायत्री॥

वासना-नक्षत्र-विलय

अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः। सूराय विश्वचक्षसे॥ १७॥

१. **विश्वचक्षसे**=सम्पूर्ण संसार को प्रकाशित करनेवाले **सूराय**=सूर्य के लिए **अक्तुभिः**=रात्रियों के साथ **नक्षत्रा अपयन्ति**=सब नक्षत्र इस प्रकार दूर भाग जाते हैं **यथा**=जैसे **त्ये तायवः**=वे चोर भाग जाते हैं। २. इसी प्रकार उस ब्रह्म का हृदय में प्रकाश होने पर अज्ञान-अन्धकाररूप रात्रियों के साथ वासनारूप नक्षत्र भी विलीन हो जाते हैं।

भावार्थ—हम हृदयों में प्रभु का ध्यान करें, यही वासनाओं को विलीन करने का मार्ग है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः॥ छन्दः—आर्षीगायत्री॥

केतवः रश्मयः

अदृश्रन्नस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु। भ्राजन्तो अग्नयो यथा॥ १८॥

१. **अस्य**=इस उदित हुए-हुए सूर्य की **केतवः**=प्रज्ञापक प्रकाश देनेवाली **रश्मयः**=प्रकाश की किरणें **जनान् अनु**=मनुष्यों को लक्ष्य करके **वि अदृश्रन्**=इसप्रकार विशिष्टरूप से दिखती

हैं, **यथा**=जैसेकि **भ्राजन्तः अग्नयः**=चमकती हुई अग्नियाँ। २. सूर्य के उदित होने पर जैसे सूर्य की किरणें सारे ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करनेवाली होती हैं, उसी प्रकार हमारे जीवन में ज्ञान के सूर्य का उदय होता है और जीवन प्रकाशमय हो जाता है। ये प्रकाश देदीप्यमान अग्नि के समान होता है। इसमें सब बुराइयाँ भस्म हो जाती हैं।

भावार्थ—हमारे जीवन में ज्ञान का उदय हो और हमारी सब बुराइयाँ अन्धकार के समान विलीन हो जाएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**आर्षीगायत्री**॥

त्रिविध स्वास्थ्य

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य। विश्वमा भासि रोचन॥ १९॥

१. हे **सूर्य**=सूर्य! **तरणिः**=तू हमें रोगों से तारनेवाला है। उदय होता हुआ सूर्य रोग-कृमियों को नष्ट करता है और इसप्रकार हमें नीरोग बनाता है। **विश्वदर्शतः**=(विश्वं दर्शतं द्रष्टव्यं यस्य) सूर्य सारे संसार का पालन करता है (दृश् to look after)। **ज्योतिष्कृत् असि**=तू सर्वत्र प्रकाश करनेवाला है। हे **रोचन**=सर्वत्र प्रकाश करनेवाले! तू **विश्वं आभासि**=सम्पूर्ण अन्तरिक्ष को समन्तात् प्रकाशित कर देता है। सूर्य के उदय होते ही सम्पूर्ण अन्तरिक्ष सब ओर से चमक जाता है। २. सूर्य शरीर को रोगों से रहित करके स्वस्थ बनाता है (तरणि)। मस्तिष्क को यह ज्योतिर्मय करता है (ज्योतिष्कृत्) और हृदयान्तरिक्ष को सब मलिनताओं से रहित करके चमका देता है। एवं सूर्य के प्रकाश का प्रभाव 'शरीर, मस्तिष्क व मन' सभी को सौन्दर्य प्रदान करनेवाला है।

भावार्थ—सूर्य 'शरीर, मन व मस्तिष्क' के त्रिविध स्वास्थ्य को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**आर्षीगायत्री**॥

'देव व मानुष' बनकर 'ब्रह्मदर्शन'

प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषीः। प्रत्यङ् विश्वं स्व [र्] दृशे॥ २०॥

१. हे सूर्य! तू **देवानां विशः प्रत्यङ्**=देवों की प्रजाओं के प्रति गति करता हुआ **उदेषि**=उदित होता है, अर्थात् सूर्य का प्रकाश प्रजाओं को दिव्यगुणोंवाला व दैवीवृत्तिवाला बनाता है। सूर्य के प्रकाश में रहनेवाले लोग दिव्यगुणोंवाले बनते हैं। सूर्य का प्रकाश मन पर अत्यन्त स्वास्थ्यजनक प्रभाव डालता है। **मानुषीः प्रत्यङ् उदेषि**=मनुष्यों के प्रति गति करता हुआ यह सूर्य उदय होता है। सूर्य हमें मानुष बनाता है। मानुष वह है जो 'मत्वा कर्माणि सीव्यति' विचारपूर्वक कर्म करता है। सूर्य के प्रकाश में रहनेवाले व्यक्ति समझ से काम करनेवाले होते हैं अथवा सूर्य मनुष्यों के प्रति उदित होता है—दयालुओं के प्रति। सूर्यप्रकाश मनुष्य की मनोवृत्ति को अक्रूर बनाता है। सामान्यतः हिंसावृत्ति के पशु व असुर रात्रि के अन्धकार में ही कार्य करते हैं। सूर्य का प्रकाश उनके लिए अरुचिकर होता है। २. **स्वर्दृशे**=उस स्वयं राजमान ज्योति 'ब्रह्म' के दर्शन के लिए तू **विश्वं प्रत्यङ्**=सबके प्रति गति करता हुआ उदय होता है। इस उदय होते हुए सूर्य में द्रष्टा को प्रभु की महिमा का आभास मिलता है। यह सूर्य उसे प्रभु की विभूति के रूप में दीखता है।

भावार्थ—सूर्य का प्रकाश हमें देव व मानुष बनाता है और प्रभु का दर्शन कराता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**आर्षीगायत्री**॥

भुरण्यन्=लोकभरण करनेवाला

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु। त्वं वरुण पश्यसि॥ २१॥

१. हे **पावक**=प्रकाश से जीवनों को पवित्र करनेवाले! हे **वरुण**=सब रोगों व आसुर-भावनाओं का निवारण करनेवाले सूर्य! **त्वम्**=तू **जनान् भुरण्यन्तम्**=लोगों का भरण व पोषण करनेवाले को—लोकों के धारणात्मक कर्मों में लगे हुए पुरुष को **येन चक्षसा**=जिस प्रकाश से **अनुपश्यसि**=अनुकूलता से देखता है, उसी प्रकाश को हम प्राप्त करें। वही प्रकाश हमसे स्तुति के योग्य हो। २. जो लोग द्वेष का निवारण करके (वरुण) अपने हृदय को पवित्र बनाकर (पावक) लोकहितकारी कार्यों में प्रवृत्त होते हैं (भुरण्यन्तम्) उनके लिए सूर्य का प्रकाश सदा हितकारी होता है। वस्तुतः हमारी वृत्ति उत्तम हो तो संसार भी हमारे लिए उत्तम होता है। हमारी दृष्टि में न्यूनता आने पर प्रकृति के देवता भी हमारे लिए उतने हितकर नहीं रहते।

भावार्थ—सूर्य का प्रकाश उनके लिए हितकर होता है जो लोकों का भरण करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**आर्षीगायत्री** ॥

दिन-रात्रि का निर्माण

वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहर्मिमानो अक्तुभिः। पश्यञ्जन्मानि सूर्य॥ २२॥

१. हे **सूर्य**=आकाश में निरन्तर सरण करनेवाले आदित्य! तू **द्याम्**=इस विस्तृत द्युलोक में **वि एषि**=विशेषरूप से गतिवाला होता है। द्युलोक में सूर्य का उदय होता है और वह सूर्य इस द्युलोक में आकर **पृथुरजः**=इस विस्तृत अन्तरिक्षलोक में आगे-आगे बढ़ता है। इस गति के द्वारा **अक्तुभिः**=प्रकाश की किरणों के द्वारा (रात्रियों के साथ) **अहः मिमानः**=दिन को यह निर्मित करता है। २. इसप्रकार दिन व रात्रियों के निर्माण से यह सूर्य **जन्मानि**=सब जन्म लेनेवाले प्राणियों को **पश्यन्**=देखता है, अर्थात् सब प्राणियों का पालन करता है। यदि केवल दिन-ही-दिन होता तो मनुष्य कर्म करते-करते श्रान्त होकर समाप्त हो जाता और रात्रि-ही-रात्रि होती तो मनुष्य को आराम करते-करते जंग ही खा जाता। एवं, यह दिन-रात का चक्र मनुष्य का सुन्दरता से पालन कर रहा है। इस चक्र के द्वारा सूर्य सब प्राणियों का रक्षण करता है।

भावार्थ—सूर्य उदित होकर अन्तरिक्ष में आगे बढ़ता हुआ दिन-रात्रि के निर्माण के द्वारा हमारा पालन करता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**आर्षीगायत्री** ॥

सप्ताश्व

सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य। शोचिष्केशं विचक्षणम्॥ २३॥

१. हे **देव**=द्योतमान, हृदयों को निर्मल करके दीप्त करनेवाले! **सूर्य**=निरन्तर सरणशील—सभी को कार्यों में प्रवृत्त करनेवाले सूर्य! **त्वा**=तुझे **सप्त हरितः**=सात रंगोंवाली रसहरणशील किरणें **रथे**=रथ में **वहन्ति**=धारण करती हैं, आगे ले-चलती हैं। २. तुझे ये आगे ले-चलती है जो तू **शोचिष्केशम्**=देदीप्यमान किरणरूप केशोंवाला है, **विचक्षणम्**=विशिष्ट प्रकाशवाला है अथवा सबके मस्तिष्कों को ज्ञानज्योति से प्रकाशित करनेवाला है।

भावार्थ—सूर्य सप्ताश्व है, सात रंगोंवाली सात किरणों से हमारे अन्दर सात प्राणदायी तत्त्वों को प्रविष्ट करके यह सूर्य हमारे रोगों का हरण करता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**आर्षीगायत्री** ॥

सूर्य-चङ्क्रमण

अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्य [ः। ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः॥ २४॥

१. **सूरः**=सूर्य **रथस्य नप्त्यः**=हमारे शरीररूप रथों को न गिरने देनेवाली **सप्त**=सात **शुन्ध्युवः**=शोधक किरणों को **अयुक्त**=रथ में जोतता है। सूर्य की किरणें सात रंगों के भेद से सात प्रकार की हैं। ये हमारे शरीरों में प्राणशक्ति का संचार करके हमारे शरीरों का शोधन करती हैं और उन शरीरों को गिरने नहीं देतीं। २. यह सूर्य **ताभिः**=उन **स्वयुक्तिभिः**=अपने रथ में जुती हुई किरणरूप अश्वों के साथ **याति**=अन्तरिक्ष में आगे-और-आगे चलता है।

भावार्थ—सूर्य अपनी सात वर्णों की किरणों के साथ आगे-और-आगे बढ़ रहा है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**ककुम्मत्यास्तारपङ्क्तिः**॥

मोक्ष से पुनरावृत्ति

रोहितो दिवमारुहत्तपसा तपस्वी।
स योनिमैति स उ जायते पुनः स देवानामधिपतिर्बभूव॥ २५॥

१. **रोहितः**=प्रभु की उपासना से अपना वर्धन करनेवाला **तपस्वी**=तपोमय जीवनवाला साधक **तपसा**=तप के द्वारा **दिवं आरुहत्**=प्रकाशमय ब्रह्मलोक में—मोक्ष में आरोहण करता है। मोक्षप्राप्ति के लिए तपस्या अत्यन्त आवश्यक है। भोगप्रधान जीवन के साथ मोक्ष का सम्बन्ध नहीं है। **सः**=वह तपस्वी **योनिम् आ एति**=अपने घर (ब्रह्मलोक) को सब प्रकार से प्राप्त होता है। इस घर में परान्तकाल तक निवास करके **सः**=वह **उ**=निश्चय से **पुनः जायते**=पुनः जन्म लेता है, शरीरधारण करके इस लोक में आता है। २. **सः**=वह **देवानां अधिपतिः बभूव**=दिव्यगुणों का स्वामी होता है। यह मोक्ष से लौटनेवाला व्यक्ति उत्तम दिव्यगुणसम्पन्न जीवनवाला होता है। स्वर्गच्युत व्यक्तियों के जीवन में 'दान-प्रसंग, मधुरवाणी, देवार्चन तथा ब्राह्मण-तर्पण' आदि उत्तम गुणों की स्थिति होती है। **स्वर्गच्युतानामिह भूमिलोके चत्वारि चिह्नानि वसन्ति देहे। दानप्रसङ्गो मधुरा च वाणी सुरार्चनं ब्रह्म तर्पणं च॥**

भावार्थ—हम तपस्या के द्वारा उन्नत होते हुए मोक्ष प्राप्त करते हैं। परान्तकाल के पश्चात् पुनः यहाँ जन्म लेते हैं। उस समय हमारी वृत्ति दिव्यगुणसम्पन्न होती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**पुरोद्व्यतिजागताभुरिग्जगती**॥

'विश्वतोमुख' प्रभु

यो विश्वचर्षणिरुत विश्वतोमुखो यो विश्वतस्पाणिरुत विश्वतस्पृथः।
सं बाहुभ्यां भरति सं पतत्त्रैर्द्यावापृथिवी जनयन्देव एकः॥ २६॥

१. **यः**=जो प्रभु **विश्वचर्षणिः**=सर्वद्रष्टा, **उत**=और **विश्वतोमुखः**=सब ओर मुखवाले हैं **यः**=जो **विश्वतः पाणिः**=सब ओर हाथोंवाले हैं, **उत**=और **विश्वतस्पृथः**=सब ओर पूरण (व्याप्ति)-वाले हैं (पृ पालनपूरणयोः), २. वे प्रभु **बाहुभ्यां भरति**=बाहुओं से द्युलोक को सम्यक् भृत करते हैं और **पतत्त्रैः**=पतनशील इन पाँवों से पृथिवीलोक को भृत कर रहे हैं, वे **एकः देवः**=अद्वितीय प्रभु **द्यावापृथिवी जनयन्**=द्युलोक व पृथिवीलोक को प्रादुर्भूत कर रहे हैं।

भावार्थ—वे प्रभु सर्वद्रष्टा व सर्वव्यापक हैं। प्रभु सर्वत्र सब इन्द्रियों के गुणों के आभासवाले हैं। वे प्रभु ही द्यावापृथिवी का प्रादुर्भाव व धारण करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥

एकपाद, द्विपाद, त्रिपाद, षट्पाद

एकपाद् द्विपदो भूयो वि चक्रमे द्विपात्त्रिपादमभ्येति पश्चात्।
द्विपाद्ध षट्पदो भूयो वि चक्रमे त एकपदस्तन्वं समासते॥ २७॥

१. **एकपात्**=वायु (वायुरेकपात् तस्य आकाशं पादः—गो०पू० २.८) **द्विपदः**=चन्द्र से (चन्द्रमा द्विपात् तस्य पूर्वपक्षा परपक्षौ पादौ—गो०पू० २.८) **भूयः विचक्रमे**=अधिक विक्रम व गतिवाला है। **द्विपात्**=चन्द्र **त्रिपादम्**=(आदित्यस्त्रिपात् तस्येमे लोकाः पादः—गो०पू० २.८) सूर्य को **पश्चात् अभि एति**=राशिसंक्रमण में पीछे से जा पकड़ता है। २. **द्विपात् ह**=निश्चय से यह चन्द्र **षट्पदः**=(अग्निः षट्पास्तस्य पृथिव्यान्तरिक्षं द्यौः एष ओषधिवनस्पतय इमानि भूतानि पादाः—गो०पू० २.९) अग्नि से भी **भूयः विचक्रमे**=अधिक विक्रमवाला है, चन्द्रमा से किये जा रहे रस-संचार को ओषधि-वनस्पतियों में होता हुआ भी अग्नि शुष्क नहीं कर पाता। अग्नि की उपस्थिति में चन्द्रमा उनमें रस का संचार करने में समर्थ होता है। **ते**=वे सब चन्द्र, सूर्य, अग्नि (द्विपात्, त्रिपात् व षट्पात्) **एकपदः तन्वं समासते**=वायु के शरीर में सम्यक् आसीन होते हैं। (वायोरग्निः) वायु से ही अग्नि की उत्पत्ति होती है। यह अग्नि ही द्युलोक में सूर्यरूप में है तथा उसी की एक किरण अन्तरिक्ष में चन्द्रमारूप से। एवं, यह 'सूर्य, चन्द्र, अग्नि' वायु के ही शरीर में स्थित हैं।

भावार्थ—एक ज्ञानी पुरुष ब्रह्माण्ड में 'एकपात् (वायु), द्विपात् (चन्द्र), त्रिपात् (आदित्य) व षटपात् (अग्नि)' के कार्यक्रम को देखता हुआ प्रभु की महिमा का अनुभव करता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अतन्द्रः यास्यन्

अतन्द्रो यास्यन्हरितो यदास्थाद् द्वे रूपे कृणुते रोचमानः।
केतुमानुद्यन्त्सहमानो रजांसि विश्वा आदित्य प्रवतो वि भासि॥ २८॥

१. हे **आदित्य**=किरणों द्वारा जलों का आदान करनेवाले सूर्य! **यदा**=जब **अतन्द्रः यास्यन्**=तन्द्रा से रहित होकर गति की इच्छावाले आप **हरितः आस्थात्**=इन किरणरूप अश्वों पर अधिष्ठित होते हो तब **रोचमानः**=देदीप्यमान होते हुए आप **द्वे रूपे कृणुते**=दिन व रात्रि के दो रूपों को प्रकट करते हो। २. **केतुमान्**=प्रकाश की किरणोंवाले **उद्यन्**=उदय होते हुए **विश्वा एनांसि सहमानः**=(रजस् Gloom, darkness) सब अन्धकारों को कुचलते हुए आप **प्रवतः विभासि**=(Delight, elevation) सब उच्च स्थानों को दीप्त करनेवाले होते हैं। उदय होते हुए सूर्य का प्रकाश सर्वप्रथम पर्वत शिखरादि उच्च स्थानों को ही प्रकाशमय करता है।

भावार्थ—सूर्य में तन्द्रा का नितान्त अभाव है। यह प्रकाशमय किरणों का अधिष्ठाता है। दिन व रात्रि का निर्माण करता हुआ यह उदित होता है तो अन्धकार का पराभव करके प्रारम्भ में ही शिखरों को दीप्त करनेवाला होता है। सूर्य की भाँति हमें भी तन्द्राशून्य गतिवाला बनना है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः** ॥ छन्दः—**बार्हतगर्भानुष्टुप्** ॥

महान्

बण्महाँ असि सूर्य बडादित्य महाँ असि।
महांस्ते महतो महिमा त्वमादित्य महाँ असि॥ २९॥

१. हे **सूर्य**=निरन्तर गतिशील (सरति) व सबको कार्य में प्रेरित करनेवाले (सुवति कर्मणि) सूर्य! तू **बट्**=सचमुच ही महान् **असि**=महान् है, महनीय है। हे **आदित्य**=किरणों द्वारा जलों का आदान करनेवाले आदित्य! तू **बट्**=सचमुच **महान्**=महनीय है—प्रभु की महिमा का तुझमें प्रकाश हो रहा है (तेजसां रविरंशुमान्)। तू तेजस्वी पदार्थों में प्रभु की विभूति ही है। २. **महतः ते**=महनीय तेरी **महिमा महान्**=महिमा महान् है। हे **आदित्य**=आदान करनेवाले सूर्य! उदय होते ही समन्तात् कृमियों का छेदन-भेदन (दाप् लवणे) करनेवाले सूर्य! (उद्यन्नादित्य क्रिमीन् हन्ति)। **त्वं महान् असि**=तू महान् है।

भावार्थ—हम सूर्य की भाँति निरन्तर सरणशील, गतिशील, कर्त्तव्यकर्म-तत्पर बनकर तथा अच्छाइयों का आदान करते हुए (आदानात्) व बुराइयों का छेदन-भेदन करते हुए 'सूर्य व आदित्य' बनें और इसप्रकार महनीय जीवनवाले हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**पञ्चपदोष्णिग्बृहतीगर्भाऽतिजगती**॥

देवः, महिषः, स्वर्जित्

रोचसे दिवि रोचसे अन्तरिक्षे पतङ्ग पृथिव्यां रोचसे रोचसे अप्स्व१न्तः।
उभा समुद्रौ रुच्या व्यापिथ देवो देवासि महिषः स्वर्जित्॥ ३०॥

१. हे **पतङ्ग**=(पत गतौ, ऐश्वर्य च) ऐश्वर्य के साथ गतिवाले प्रभो! आप **दिवि रोचसे**=द्युलोक में दीप्त होते हो—द्युलोक में सूर्य के रूप में आपकी महिमा का प्रकाश होता है। **अन्तरिक्षे रोचसे**=अन्तरिक्ष में आप दीप्त होते हैं—'चन्द्र, विद्युत्, वायु' आदि देवों में आपकी महिमा का प्रकाश है। **पृथिव्यां रोचसे**=पृथिवीस्थ अग्नि आदि देवों में भी आपकी ही दीप्ति दीप्त हो रही है। (तेजसवास्मि विभावसौ)। **अप्सु अन्तः रोचसे**=जलों के अन्दर भी आप ही दीप्त हो रहे हैं। 'अप्सु' का अर्थ 'प्रजाओं' में यह भी है—सब प्रजाओं में प्रभु का ही प्रकाश दिखता है। २. **उभा समुद्रौ**=पृथिवीस्थ समुद्रों को तथा अन्तरिक्षस्थ 'मेघरूप' समुद्रों को **रुच्या व्यापिथ**=दीप्ति से आप व्याप्त कर रहे हो। हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! **देवः असि**=आप सचमुच देव हैं। **महिषः**=पूजनीय हैं—पूजा के योग्य हैं। **स्वर्जित्**=हमारे लिए प्रकाश व सुख का विजय करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु का प्रकाश व महिमा सर्वत्र दीप्त है। हमारे हृदयों में भी प्रभु दीप्त हो रहे हैं। प्रभुस्मरण करते हुए हम 'देव' बनें। दैवीवृत्तिवाले बनकर महनीय जीवनवाले हों। इसप्रकार प्रकाशमय लोक का विजय करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'आशु, विपश्चित्' प्रभु

अर्वाङ् परस्तात्प्रयतो व्यध्व आशुर्विपश्चित्पतयन्पतङ्गः।
विष्णुर्विचित्तः शवसाधितिष्ठन्प्र केतुना सहते विश्वमेजत्॥ ३१॥

१. वे प्रभु **अर्वाङ् परस्तात्**=समीप-से-समीप होते हुए दूर-से-दूर हैं (तद्दूरे तद्वन्तिके)। **व्यध्वे प्रयतः**=इस विस्तृत मार्ग में सर्वत्र फैले हुए हैं—सर्वव्यापक हैं। **आशुः**=सर्वत्र व्याप्तिवाले **पतयन्**=सारे ब्रह्माण्ड के ऐश्वर्यवाले होते हुए वे प्रभु **विपश्चित्**=ज्ञानी हैं और **पतङ्गः**=सम्पूर्ण ऐश्वर्यों को प्राप्त हैं। २. **विष्णुः**=सर्वत्र व्याप्त वे प्रभु **विचित्तः** (विशिष्टं चित्तं यस्मात्) विशिष्ट चेतना को प्राप्त करानेवाले हैं। **शवसा**=अपने बल से **अधितिष्ठन्**=सम्पूर्ण संसार के अधिष्ठाता होते हुए प्रभु **एजत् विश्वम्**=गति करते हुए सारे ब्रह्माण्ड को **केतुना**=अपने ज्ञान से **प्रसहते**=(bear,

support, bearup) धारण करते हैं।

भावार्थ—दूर-से-दूर व समीप-से-समीप वर्तमान वे प्रभु ही सारे ब्रह्माण्ड के ईश्वर हैं। वे सर्वत्र व्याप्त, सर्वज्ञ प्रभु ही इसका धारण कर रहे हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'अद्भुत ज्ञानी, पूज्य, पालक' प्रभु

चित्रश्चिकित्वान्महिषः सुपर्ण आरोचयन्रोदसी अन्तरिक्षम्।
अहोरात्रे परि सूर्यं वसाने प्रास्य विश्वा तिरतो वीर्या णि॥ ३२॥

१. **चित्रः**=वे प्रभु अद्भुत महिमावाले हैं, **चिकित्वान्**=ज्ञानी हैं, **महिषः**=वे पूजनीय प्रभु ही **सुपर्णः**=उत्तमता से पालन करनेवाले हैं। वे ही **रोदसी**=द्यावापृथिवी को तथा **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष को **आरोचयन्**=दीप्त कर रहे हैं। २. ये **सूर्यं परिवसाने**=सूर्य को सब ओर से धारण करते हुए (ओढ़े हुए) **अहोरात्रे**=दिन और रात **अस्य**=इस प्रभु के **विश्वा वीर्याणि**=सब वीर कर्मों को **प्रतिरतः**=बढ़ा रहे हैं—प्रभु के वीरता पूर्ण कर्मों की महिमा को प्रकट करते हैं।

भावार्थ—वे 'अद्भुत ज्ञानी, पूज्य, पालक' प्रभु सर्वत्र व्याप्त हैं। सूर्य की गति से निर्मित ये दिन व रात प्रभु की महिमा का ही प्रकाश कर रहे हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'शक्ति व ज्योति' के धाता प्रभु

तिग्मो विभ्राजन्तन्वं शिशानोऽरंगमासः प्रवतो रराणः।
ज्योतिष्मान्पक्षी महिषो वयोधा विश्वा आस्थात्प्रदिशः कल्पमानः॥ ३३॥

१. वे प्रभु **तिगमः**=शत्रुओं के लिए अति तीक्ष्ण व **विभ्राजन्**=विशिष्ट दीप्तिवाले हैं। **तन्वं शिशानः**=अपने शरीर को अत्यन्त तीक्ष्ण बनानेवाले हैं—जो भी व्यक्ति अपने को प्रभु का शरीर बनाता है, अर्थात् प्रभु को अपने अन्दर बिठाता है, हृदय में प्रभु का ध्यान करता है, प्रभु उसकी शक्तियों को बढ़ाते हैं। **अरंगमासः प्रवतः रराणः**=(अरं=शक्ति, प्रवतः Heights) शक्ति व उत्कर्षों को प्राप्त करानेवाले हैं। २. **ज्योतिषमान्**=वे प्रभु ज्योतिर्मय हैं, प्रकाशस्वरूप हैं। **पक्षी**=(पक्ष परिग्रहे) साधनों का परिग्रह करनेवाले हैं। **महिषः**=वे पूज्य प्रभु **वयोधाः**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाले हैं। **विश्वाः प्रदिशः**=सब प्रकृष्ट (विस्तृत) दिशाओं को **कल्पमानः**=शक्तिशाली बनाते हुए **आस्थात्**=समन्तात् स्थित हैं। सब दिशाओं में स्थित प्राणियों को प्रभु ही शक्ति प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु को जो भी धारण करता है, प्रभु उसे शक्ति व ज्योति प्राप्त कराते हैं। प्रभु हमें शक्तिप्रापक उत्कर्षों की ओर ले-चलते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**आर्षीपङ्क्तिः**॥

देवानाम् 'केतुः+अनीकम्'

चित्रं देवानां केतुरनीकं ज्योतिष्मान्प्रदिशः सूर्यं उद्यन्।
दिवाकरोऽति द्युम्नैस्तमांसि विश्वातारीहुरितानि शुक्रः॥ ३४॥

१. वे प्रभु **देवानाम्**=सूर्यादि सब देवों के **केतुः**=प्रकाशक हैं, **चित्रं अनीकम्**=उनका बल अद्भुत है, सब देवों को प्रकाश और शक्ति प्राप्त करानेवाले प्रभु ही हैं। **ज्योतिष्मान्**=ज्योतिर्मय हैं। **प्रदिशः**=इन प्रकृष्ट दिशाओं में **सूर्यः उद्यन्**=सूर्यरूपेण उदित होते हुए वे प्रभु **दिवाकरः**=दिन

व प्रकाश करनेवाले हैं। २. वे **शुक्रः**=पवित्र व दीप्त प्रभु **द्युम्नैः**=ज्ञान-ज्योतियों से **विश्वा तमांसि**=सब अज्ञानान्धकारों को **अति अतारीत्**=पार करनेवाले हैं—अविद्या-अन्धकार को नष्ट करके प्रकाश प्राप्त करानेवाले हैं। अविद्या-अन्धकार को दूर करके **दुरितानि**=सब दुरितों को भी वे प्रभु दूर करनेवाले हैं।

भावार्थ—सब देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले प्रभु ज्योतिष्मान् हैं। वे हमारे अविद्या-अन्धकार को दूर करके हमें सब दुरितों से पार ले-जाते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'मित्र, वरुण और अग्नि' के चक्षु

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्राद् द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥ ३५॥

१. **देवानाम्**=सूर्यादि प्रकाशमान पिण्डों का **चित्रं अनीकम्**=अद्भुत बलस्वरूप वह प्रभु **उत् अगात्**=उदित हुआ है। इन सूर्यादि पिण्डों में प्रभु का प्रकाश ही दीप्त हो रहा है। वे प्रभु **मित्रस्य**=सूर्य के **वरुणस्य**=चन्द्र के तथा **अग्नेः**=अग्नि के **चक्षुः**=प्रकाशक हैं। २. वे प्रभु **द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्**=द्युलोक, पृथिवीलोक तथा अन्तरिक्षलोक का **आ अप्रात्**=समन्तात् पूरण किये हुए हैं—प्रभु इन सब लोकों में व्याप्त हैं। **सूर्यः**=वे प्रभु सूर्य हैं—सूर्यसम् देदीप्यमान हैं। **जगतः तस्थुषः च**=जंगम व स्थावर के आत्मा हैं—इन सबके अन्दर व्याप्त होकर रह रहे हैं।

भावार्थ—वे प्रभु देवों के अद्भुत बल हैं। सूर्य, चन्द्र व अग्नि के प्रकाशक हैं, त्रिलोकी को व्याप्त किये हुए हैं और जंगम व स्थावर जगत् के आत्मा हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यम् अविन्दत् अत्रिः

उच्चा पतन्तमरुणं सुपर्णं मध्ये दिवस्तरणिं भ्राजमानम्।
पश्याम त्वा सवितारं यमाहुरजस्त्रं ज्योतिर्यदविन्ददत्रिः॥ ३६॥

१. **उच्चा पतन्तम्**=सर्वोच्च स्थिति में परमैश्वर्यवान् होते हुए (पत् गतौ ऐश्वर्ये च) **अरुणम्**=तेजस्वी व प्रकाशमान **सुपर्णम्**=उत्तमता से सबका पालन करनेवाले **दिवः मध्ये तरणिम्**=ज्ञान के मध्य में तारनेवाले, अर्थात् ज्ञान देकर सब दुरितों से पार करनेवाले, **भ्राजमानम्**=दीप्त **सवितारम्**=सबके उत्पादक व प्रेरक **त्वा**=आपको हे प्रभो! **पश्याम**=देखें। उन आपको देखें, **यम्**=जिनको **अजस्त्रं ज्योतिः आहुः**='न क्षीण होनेवाली निरन्तर ज्योति', इस रूप में कहते हैं। **यत्**=इस ज्योति को **अत्रिः**=त्रिगुणातीत (नित्य सत्त्वस्थ) पुरुष **अविन्दत्**=प्राप्त करता है। उस प्रभु का दर्शन अत्रि करता है।

भावार्थ—प्रभु 'परमेश्वर हैं, तेजस्वी हैं, सबका पालन करनेवाले हैं'। ज्ञान द्वारा दुरितों से दूर करनेवाले, दीप्त व प्रेरक हैं। ये प्रभु सदा प्रकाशमय हैं, त्रिगुणातीत पुरुष ही प्रभु को पाते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**पञ्चपदाविराड्गर्भाजगती**॥

'अदिति-पुत्र' प्रभु

दिवस्पृष्ठे धावमानं सुपर्णमदित्याः पुत्रं नाथकाम उप यामि भीतः।
स नः सूर्य प्र तिर दीर्घमायुर्मा रिषाम सुमतौ ते स्याम॥ ३७॥

१. **दिवः पृष्ठे**=ज्ञान के आधार में **धावमानम्**=हम सबके जीवनों को शुद्ध करते हुए (धाव् शुद्धौ) **सुपर्णम्**=उत्तमता से हमारा पालन करते हुए **अदित्याः पुत्रम्**=वेदवाणी के द्वारा (अ-दिति=अखण्डिता वाक्) हमें पवित्र व रक्षित करनेवाले (पुनाति, त्रायते) प्रभु को **भीतः**=संसार के इन काम-क्रोधरूप शत्रुओं से भयभीत हुआ-हुआ मैं **नाथकामः**=नाथ को, रक्षक को चाहता हुआ **उपयामि**=समीपता से प्राप्त होता हूँ। २. हे **सूर्य**=उत्तम कर्मों में प्रेरित करनेवाले प्रभो! **सः**=वे आप **नः**=हमारे लिए **दीर्घम् आयुः**=दीर्घजीवन को **प्रतिर**=अत्यन्त बढ़ानेवाले होओ। **मा रिषाम**=हम हिंसित न हों। **ते सुमतौ स्याम**=सदा आपकी कल्याणी मति में निवास करें।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान द्वारा हमारा शोधन करते हैं। प्रभु की कल्याणी मति में चलते हुए हम दीर्घ आयुष्य को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सहस्र युगपर्यन्त दिन व रात

सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम्।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन्याति भुवनानि विश्वा॥ ३८॥

१. **स्वर्गं पततः**=सदा आनन्दमय लोक में गति करनेवाले—सदा आनन्दस्वरूप **हंसस्य**=हमारे पापों का नाश करनेवाले और पापनाश के द्वारा **हरेः**=दुःखों का हरण करनेवाले **अस्य**=इस प्रभु के **पक्षौ**=सृष्टि-निर्माण व प्रलयरूप दो पक्ष (दिन व रात) **सहस्राह्ण्यं वियतौ**=सहस्र युगपर्यन्त परिमाणवाले दिन व रात में फैले हुए हैं—या विशिष्टरूप से नियमबद्ध हैं। (सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः। रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः)। २. **सः**=वे प्रभु **सर्वान् देवान्**=सब पृथिवीस्थ, अन्तरिक्षस्थ व द्युलोकस्थ ग्यारह-ग्यारह कुल तेतीस देवों को **उरसि उपदद्य**=अपने हृदय में, अपने एक देश में ग्रहण करके **विश्वा भुवनानि**=सब लोकों को **सम्पश्यन् याति**=सम्यक् देखते हुए—सबका सम्यक् धारण करते हुए **याति**=गति करते हैं।

भावार्थ—सदा आनन्दमयलोक में निवास करनेवाले, पापनाशक, दुःखनिवारक प्रभु के सृष्टिनिर्माण व प्रलयरूप दिन व रात नियमबद्ध रूप से सहस्र युगों के परिमाणवाले हैं। वे प्रभु सब देवों को अपने अन्दर धारण करके सब लोकों को देखते हुए गति करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'काल व प्रजापति' प्रभु

रोहितः कालो अभवद्रोहितोऽग्रे प्रजापतिः।
रोहितो यज्ञानां मुखं रोहितः स्व१राभरत्॥ ३९॥

१. **रोहितः**=सदा से वृद्ध वे प्रभु ही **कालः अभवत्**=काल हैं 'दिक्कालाकाशः न परमात्मनो व्यतिरिच्यन्ते', भूत, भविष्यत्, वर्तमानरूप कालत्रयी के स्वामी वे प्रभु ही हैं। **रोहितः**=सदा से वृद्ध वे प्रभु ही **अग्रे प्रजापतिः**=सबसे आगे, सर्वमुख्य प्रजापति हैं, प्रजाओं के रक्षक हैं। २. **रोहितः**=ये रोहित प्रभु ही **यज्ञानां मुखम्**=वेद द्वारा सब यज्ञों का प्रतिपादन करनेवाले हैं और **रोहितः**=ये रोहित प्रभु इन यज्ञों द्वारा **स्वः आभरत्**=सुख व आनन्द का भरण करनेवाले हैं।

भावार्थ—सदा से वृद्ध वे प्रभु ही काल हैं, प्रजापति हैं, यज्ञों के प्रतिपादक व सुखों के पोषक हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रकाशक प्रभु

रोहि॑तो लो॒को अ॑भव॒द्रोहि॒तोऽत्य॑तप॒द्दिव॑म्।
रोहि॑तो र॒श्मिभि॒र्भूमिं॑ समु॒द्रमनु॒ सं च॑रत्॥ ४०॥

१. **रोहितः**=वे सदा से वृद्ध **लोकः अभवत्**=लोक हैं, प्रकाश हैं। **रोहितः**=ये रोहित प्रभु ही **दिवं अति अतपत्**=द्युलोकस्थ सूर्य को अतिशेयन दीप्त करते हैं। प्रभु की दीप्ति से ही सूर्य दीप्त है। २. **रोहितः**=वे सदावृद्ध प्रभु ही **रश्मिभिः**=अपनी प्रकाश की किरणों से **भूमिं समुद्रम्**=इस भूमि व अन्तरिक्ष का **अनु संचरत्**=लक्ष्य करके गति करनेवाले होते हैं। प्रभु ही सब सूर्यचक्र व नक्षत्रों को प्रकाश प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही लोक हैं। वे रोहित प्रभु ही सूर्यादि को दीप्त कर रहे हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'व्यापक, अधिपति, रक्षक' प्रभु

सर्वा॒ दिश॒ः सम॑चर॒द्रोहि॒तोऽधि॑पतिर्दि॒वः। दिवं॑ समु॒द्रमा॒द्भूमिं॒ सर्वं॑ भू॒तं वि र॑क्षति॥ ४१॥

१. **रोहितः**=वे तेजस्वी सदावृद्ध प्रभु **दिवः अधिपतिः**=सम्पूर्ण ज्ञान व प्रकाश के स्वामी हैं। जहाँ-जहाँ देवत्व है, प्रकाश है वह सब उस प्रभु का ही है। ये प्रभु **सर्वाः दिशः समचरत्**=सब दिशाओं में संचार करते हैं—सर्वत्र व्याप्त हैं। २. ये प्रभु **दिवम्**=द्युलोक को **समुद्रम्**=अन्तरिक्षलोक को **आत्**=और **भूमिम्**=इस पृथिवी को, **सर्वं भूतम्**=सब प्राणियों को **विरक्षति**=रक्षित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु सर्वत्र व्याप्त हैं, प्रकाश के अधिपति हैं, सबका रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'शुक्रः, अतन्द्रः' प्रभु

आ॒रोह॑ञ्छु॒क्रो बृ॒ह॒तीरत॑न्द्रो॒ द्वे रू॒पे कृ॑णुते॒ रोच॑मानः।
चि॒त्रश्चि॑कि॒त्वान्म॑हि॒षो वात॑माया॒ याव॑तो लो॒काना॒भि यद्वि॒भाति॑॥ ४२॥

१. **बृहती आरोहन्**=इन विशाल दिशाओं में आरोहण करता हुआ, **शुक्रः**=ज्ञानदीप्त, **अतन्द्रः**=आलस्यशून्य **रोचमानः**=तेजस्विता से दीप्त प्रभु **द्वे रूपे कृणुते**=जंगम व स्थावर—दो रूपोंवाले संसार को बनाता है। २. **चित्रः**=वे प्रभु अद्भुत हैं, **चिकित्वान्**=ज्ञानी हैं, **महिषः**=पूजनीय हैं। **वातमायाः**=वायु में भी व्याप्तिवाले हैं। **यावतः लोकान् अभि**=जितने भी लोक हैं, उनका लक्ष्य करके वे प्रभु **यत् विभाति**=जब दीप्त होते हैं तब सचमुच ही पूजनीय होते हैं।

भावार्थ—वे सर्वत्र व्याप्त प्रभु दीप्त व आलस्यशून्य हैं। वे ही सब लोकों में दीप्ति प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**जगती**॥

'गातुवित्' प्रभु

अ॒भ्य१॒॑न्यदेति॒ पर्य॒न्यद॑स्यतेऽहोरा॒त्राभ्यां॑ महि॒षः कल्प॑मानः।
सूर्यं॑ व॒यं रज॑सि क्षि॒यन्तं॑ गातु॒विदं॑ हवामहे॒ नाध॑मानाः॥ ४३॥

१. **अन्यत् अभि एति**=एक हमारी ओर आता है, **अन्यत् परि अस्यते**=दूसरा हमसे परे फेंका जाता है। दिन आता है तो रात्रि परे फेंकी जाती है। रात्रि आती है तो दिन परे फेंका

जाता है। इसप्रकार **अहोरात्राभ्याम्**=दिन और रात्रि के द्वारा **महिषः**=वह पूजनीय प्रभु **कल्पमानः**=हमारे आयुष्यों को काट रहे हैं। दिन और रात्रि एक क्रम में आते हैं और हमारे आयुष्य को जीर्ण करते चलते हैं। २. उस **सूर्यम्**=सूर्यसम ज्योति ब्रह्म को **रजसि क्षियन्तम्**=सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में निवास करनेवाले, **गातुविदम्**=हमारे लिए मार्ग का ज्ञापन करनेवाले को, **वयम्**=हम **नाधमानाः हवामहे**=प्रार्थना करते हुए पुकारते हैं। प्रभु ही मार्गदर्शन करते हुए हमें पापों से बचाते हैं और इस प्रकार हमारा कल्याण करते हैं।

भावार्थ—दिन व रात्रि के निर्माण द्वारा हमारे आयुष्य का यापन होता चलता है। वे प्रभु सर्वत्र व्याप्त हैं, हमें मार्ग दिखा रहे हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**चतुष्पदापुरःशाक्वराभुरिग्जगती**॥

'सुविदत्रो यज्ञत्रः' प्रभु

पृथिवीप्रो महिषो नाधमानस्य गातुरदब्धचक्षुः परि विश्वं बभूव।
विश्वं संपश्यन्त्सुविदत्रो यजत्र इदं शृणोतु यदहं ब्रवीमि॥ ४४॥

१. **पृथिवीप्रः**=इस पृथिवी को विविध ओषधि-वनस्पतियों से पूरण करनेवाले **महिषः**=पूजनीय **नाधमानस्य गातुः**=प्रार्थना करनेवाले के मार्गदर्शक **अदब्धचक्षुः**=अहिंसित दृष्टिवाले, सर्वद्रष्टा वे प्रभु **विश्वं परिबभूव**=सारे विश्व को व्याप्त किये हुए हैं। २. **विश्वं संपश्यन्**=सारे संसार का सम्यक् निरीक्षण व धारण करते हुए वे प्रभु **सुविदत्रः**=सब उत्तम वस्तुओं के प्रापण (विद् लाभे) के द्वारा हमारा त्राण करनेवाले हैं। **यजत्रः**=वे प्रभु पूजनीय हैं, संगतिकरण-योग्य हैं और समर्पणीय हैं। प्रभु के प्रति हमें अपना अर्पण कर देना चाहिए। वे प्रभु **यद् अहं ब्रवीमि**=जो मैं प्रार्थना के रूप में कहता हूँ, **इदं शृणोतु**=इस बात को सुनें। मेरी प्रार्थना को सुनने की प्रभु कृपा करें। वस्तुतः मैं इस योग्य बनूँ कि मेरी प्रार्थना सुनी जाए।

भावार्थ—वे प्रभु इस पृथिवी को हमारे पालन के लिए सब आवश्यक वस्तुओं से परिपूरित करते हैं। सर्वत्र व्याप्त वे प्रभु हम सबका ध्यान करते हैं। वे 'सुविदत्र' हैं, हमारी प्रार्थना को सुनते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अतिजागतगर्भाजगती**॥

पृथिवीं, समुद्रं, द्यां, अन्तरिक्षं (परिबभूव)

पर्यस्य महिमा पृथिवीं समुद्रं ज्योतिषा विभ्राजन्परि द्यामन्तरिक्षम्।
सर्वं संपश्यन्त्सुविदत्रो यजत्र इदं शृणोतु यदहं ब्रवीमि॥ ४५॥

१. **अस्य**=उस प्रभु की **महिमा**=महिमा **पृथिवीम् समुद्रं परि** (बभूव)=पृथिवी और समुद्र को व्याप्त कर रही है। **ज्योतिषः विभ्राजन्**=ज्योति से दीप्त होते हुए वे प्रभु **द्याम् अन्तरिक्षम्**=द्युलोक व अन्तरिक्षलोक को **परि (बभूव)**=व्याप्त किये हुए हैं। २. **सर्वं संपश्यन्**=सबको सम्यक् देखते हुए वे प्रभु **सुविदत्रः**=सब उत्तम वस्तुओं के प्रापण के द्वारा हमारा त्राण करनेवाले हैं। **यज्ञत्रः**=वे प्रभु पूजनीय हैं, संगतिकरण-योग्य हैं और समर्पणीय हैं। **यत् अहं ब्रवीमि**=जो भी मैं प्रार्थना के रूप में प्रभु से कहता हूँ, प्रभु **इदं शृणोतु**=उसको सुनें। मेरी प्रार्थना न सुनने योग्य न हो। मैं अपने को प्रार्थना सुने जाने का पात्र बनाऊँ।

भावार्थ—प्रभु की महिमा 'पृथिवी, समुद्र, द्युलोक व अन्तरिक्षलोक' में सर्वत्र विद्यमान है। वे प्रभु हम सबका ध्यान करते हैं। मैं इस योग्य बनूँ कि वे 'सुविदत्र, यज्ञत्र' प्रभु मेरी

प्रार्थना को सुनें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

आश्रम चतुष्टय

अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम्।
यह्वाइव प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः सिस्रते नाकमच्छ॥ ४६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब प्रभु हमारी प्रार्थना को सुनते हैं तब ब्रह्मचर्याश्रम में **समिधा**='पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक' के पदार्थों के ज्ञान द्वारा (इन्ध् दीप्तौ) **अग्निः अबोधि**=ज्ञानाग्नि दीप्त की जाती है। ब्रह्मचारी आचार्य द्वारा ज्ञानसमिद्ध किया जाता है। ये ब्रह्मचारी स्नातक बनकर (स स्नातः बभ्रुः०) जब गृहस्थ बनता है तब **प्रति आयतीं उषासम्**=प्रत्येक आनेवाले ऊषाकाल में **जनानां धेनुं इव**=लोगों के प्रति गौ की भाँति होता है। गौ जैसे-दूध देकर लोगों का पोषण करती है, यह भी सब आश्रमियों का पोषण करनेवाला होता है। २. जैसे **यह्वाः**=तनिक बड़े होकर **पक्षी वयाम्**=शाखा को **प्र उज्जिहानाः**=प्रकर्षेन छोड़नेवाले होते हैं—घोंसले से निकलकर जैसे वे आकाश में उड़ते हैं, उसीप्रकार ये भी गृहस्थ की समाप्ति पर घर को छोड़कर वनस्थ होने की कामनावाले होते हैं। अब वानप्रस्थ की साधना को पूर्ण करके **भानवः**=सूर्यसम ज्ञान की ज्योतिवाले वे संन्यस्त पुरुष सबके लिए प्रभु का सन्देश सुनाते हुए **नाकं अच्छ प्रसिस्रते**= मोक्षलोक की ओर आगे बढ़ते हैं।

भावार्थ—ब्रह्मचारी ज्ञानदीप्त बनें, गृहस्थ सबका पालन करनेवाला हो। गृहस्थ को पूर्ण करके मनुष्य वनस्थ बनें। साधना के द्वारा ज्ञानदीप्त बनकर प्रभु का सन्देश सबको सुनाता हुआ मोक्ष की ओर प्रगतिवाला हो।

अथ तृतीयोऽनुवाकः

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अष्टपदाऽऽकृतिः**॥

ब्रह्महत्यारूप पाप

य इमे द्यावापृथिवी जजान यो द्रापिं कृत्वा भुवनानि वस्ते।
यस्मिन्क्षियन्ति प्रदिशः षडुर्वीर्याः पतङ्गो अनु विचाकशीति।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ १॥

१. **यः**=जो प्रभु **इमे द्यावापृथिवी जजान**=इन द्युलोक व पृथिवीलोक को उत्पन्न करता है, **यः**=जो प्रभु **द्रापिं कृत्वा**=अपने को कवच बनाकर **भुवनानि वस्ते**=सब भुवनों को आच्छादित करते हैं, अर्थात् जिस प्रभु ने सारे भुवनों को आच्छादित करके उनका रक्षण किया हुआ है, **यस्मिन्**=इस प्रभु में **षट् उर्वीः प्रदिशः**=छह विस्तृत दिशाएँ **क्षियन्ति**=निवास करती है, **याः**=जिन दिशाओं को **पतङ्गः**=यह सूर्य **अनुविचाकशीति**=अनुकूलता से प्रकाशित करता है, २. **तस्य**=उस **देवस्य क्रुद्धस्य एतत् आगः**=उस क्रुद्ध देव प्रभु के प्रति यह अपराध है, **यः**=जो **एवं विद्वांसम्**= इसप्रकार ज्ञानी **ब्राह्मणं जिनाति**=ब्राह्मण को हिंसित करता है। उस ब्रह्मवेता का हिंसन ब्रह्म का हिंसन है। इसप्रकार ज्ञान की हत्या होती है। हे **रोहित**=सदा से प्रवृद्ध प्रभो! इस ब्रह्मज्य को आप **उत् वेपय**=कम्पित कर दीजिए, **प्रक्षिणीहि**=इसे हिंसित कीजिए। इस **ब्रह्मज्यस्य**=ज्ञान की हानि करनेवाले के **पाशान् प्रतिमुञ्च**=पाशों को जकड़ दीजिए। प्रभु की व्यवस्था से हमारे

समाज से इस ब्रह्मज्य का निराकरण हो जाए, जिससे ज्ञानवृद्धि होकर राष्ट्र ठीक दिशा में आगे बढ़े।

भावार्थ—उन ब्रह्मज्ञानियों का आदर होना चाहिए जो प्रभु को इस संसार का उत्पादक व धारक जानते हैं, जो प्रभु को, सूर्य से प्रकाशित सब विस्तृत दिशाओं में, व्यापक जानते हैं। इन ब्रह्मज्ञानियों की हत्या करनेवाला प्रभु से कम्पनीय, हिंसनीय व पाशबन्धनीय हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**षट्पदाभुरिगष्टिः**॥

वाताः समुद्राः

यस्माद्वाता॑ ऋतु॒था पव॑न्ते॒ यस्मा॑त्समु॒द्रा अधि॑ वि॒क्षर॑न्ति।
तस्य॑ दे॒वस्य॑ क्रु॒द्धस्यै॒तदागो॒ य ए॒वं वि॒द्वांसं॑ ब्राह्म॒णं जि॒नाति॑।
उद्वे॑पय रोहित॒ प्र क्षि॑णीहि ब्रह्म॒ज्यस्य॒ प्रति॑ मुञ्च॒ पाशा॑न्॥ २॥

१. **यस्मात्**=जिस प्रभु की व्यवस्था से **वाताः**=वायुएँ **ऋतुथा पवन्ते**=ऋतुओं के अनुसार यथोचितरूप में बहती हैं और **यस्मात्**=जिस प्रभु की व्यवस्था से **समुद्राः**=समुद्र **अधिविक्षरन्ति**=विविध दिशाओं में क्षरित होते हैं। क्षारयुक्त जलवाले होते हैं, उस प्रभु के प्रति यह अपराध है जो इस ब्रह्मज्ञानी को हिंसित करता है। शेष पर्वूवत्।

भावार्थ—प्रभु की व्यवस्था से ही उस-उस ऋतु में यथोचित वायुओं के प्रवाह चलते हैं, उसकी व्यवस्था से ही सब दिशाओं में समुद्रों के प्रवाह क्षरित हो रहे हैं। इस ब्रह्म को जाननेवाले का निरादर न करके उसके द्वारा राष्ट्र में ज्ञानवृद्धि करना ही उचित है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**३ षट्पदाऽष्टिः, ४ षट्पदाऽतिशाक्वरगर्भाधृतिः**॥

मारयति प्राणयति

यो मा॒रय॑ति प्रा॒णय॑ति॒ यस्मा॑त्प्रा॒णन्ति॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑।
तस्य॑ दे॒वस्य॑ क्रु॒द्धस्यै॒तदागो॒ य ए॒वं वि॒द्वांसं॑ ब्राह्म॒णं जि॒नाति॑।
उद्वे॑पय रोहित॒ प्र क्षि॑णीहि ब्रह्म॒ज्यस्य॒ प्रति॑ मुञ्च॒ पाशा॑न्॥ ३॥
यः प्रा॒णेन॒ द्यावा॑पृथि॒वी त॒र्पय॑त्यपा॒नेन॑ समु॒द्रस्य॑ ज॒ठरं॒ यः पिप॑र्ति।
तस्य॑ दे॒वस्य॑ क्रु॒द्धस्यै॒तदागो॒ य ए॒वं वि॒द्वांसं॑ ब्राह्म॒णं जि॒नाति॑।
उद्वे॑पय रोहित॒ प्र क्षि॑णीहि ब्रह्म॒ज्यस्य॒ प्रति॑ मुञ्च॒ पाशा॑न्॥ ४॥

१. **यः**=जो प्रभु **मारयति**=सबको मृत्यु प्राप्त कराता है तथा **प्राणयति**=प्राणित करता है, अर्थात् जो सब प्राणियों की मृत्यु और जन्म का कर्त्ता है। **यस्मात्**=जिससे **विश्वा भुवनानि**=सब लोक **प्राणन्ति**=प्राण धारण करते हैं। २. **यः**=जो **प्राणेन**=प्राण के द्वारा **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक को—तत्रस्थ प्राणियों को **तर्पयति**=प्रीणित करता है तथा **अपानेन**=अपान के द्वारा दोषों को दूर करनेवाली इस अपानशक्ति के द्वारा **यः**=जो **समुद्रस्य**='पुरुषो वै समुद्रः' (जै०उ० ३.३५.५)। आनन्दमय जीवनवाले पुरुष के (स+मुद्) जठरं **पिपर्ति**=जठर को पालित व पूरित करता है, उस प्रभु के प्रति यह अपराध है कि इस ब्रह्म के ज्ञानी की हत्या करके ज्ञान-प्रसार के कार्य में रुकावट उत्पन्न करना। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—प्रभु ही सबको जन्म-मृत्यु प्राप्त कराते हैं, प्रभु के आधार से सब लोक प्राणित हो रहे हैं। प्रभु ही प्राणशक्ति के द्वारा हमारा प्राणन करते हैं और अपान द्वारा दोष-निवारणपूर्वक

जीवन को आनन्दमय बनाते हैं। इस ज्ञान के प्रसार करनेवाले की हत्या पाप है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥
छन्दः—**सप्तपदाशाक्वरातिशाक्वरगर्भाप्रकृतिः**॥

'विराट्' आदि का आधार 'प्रभु'

यस्मिन्विराट् परमेष्ठी प्रजापतिरग्निर्वैश्वानरः सह पङ्क्त्या श्रितः।
यः परस्य प्राणं परमस्य तेज आददे।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ ५॥

१. **यस्मिन्**=जिस प्रभु में विराट् (इयं पृथिवी विराट्—गो०उ० ६.२) यह पृथिवी, **परमेष्ठी**=(आपो वै प्रजापतिः परमेष्ठी ता हि परमे स्थाने तिष्ठन्ति—शत० ८.२.३.१३) प्रजा के रक्षक ये परम स्थान में विस्तृत होकर वृष्ट होनेवाले जल, **अग्निः**=अग्नि, **प्रजापतिः**=(एतद् वै प्रजापतेः प्रत्यक्षं रूपं यद् वायुः—कौ० १९.२) वायु **वैश्वनरः**=आकाश (एष वै बहुलो वैश्वनरो यदाकाशः—शत० १०.६.१.६) **पङ्क्त्या सह**=पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच प्राणों के साथ होनेवाला जीव **श्रृतः**=आश्रित है। २. **परस्य प्राणम्**=परा प्रकृतिरूप जीव के प्राण को (इतरस्त्वन्यां प्रवृतिं विद्धि मे परां जीवभूताम्) तथा **परमस्य तेजः**=परम स्थान में स्थित सूर्य के तेज को **आददे**=स्वयं ग्रहण करता है। उस प्रभु के प्रति यह अपराध है कि जो ब्रह्मज्ञानी को हिंसित करता है। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—वह प्रभु 'पृथिवी, जल, वायु, अग्नि, आकाश व जीवों' का आश्रय है। वही जीव के प्राणों व सूर्य के तेज को ग्रहण करता है। इसप्रकार के ब्रह्म के ज्ञाता का हिंसन करना पाप है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥
छन्दः—**सप्तपदाशाक्वरातिशाक्वरगर्भाप्रकृतिः**॥

सर्वाधार प्रभु

यस्मिन्षडुर्वीः पञ्च दिशो अधि श्रिताश्चतस्र आपो यज्ञस्य त्रयोऽक्षराः।
यो अन्तरा रोदसी क्रुद्धश्चक्षुषैक्षत।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ ६॥

१. **यस्मिन्**=जिस प्रभु में **षट् उर्वीः**=ये छह विशाल **पञ्च दिशाः**=(तवेमे पञ्च पशवः गौरश्वः पुरुषोऽजावयः) पाँच पशुओं सहित दिशाएँ **अधिश्रिताः**=आश्रित हैं। इसीप्रकार **चतस्रः आपः**='ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र' रूप चारों प्रजाएँ (आपो नारा इति प्रोक्ताः), **यज्ञस्य त्रयः अक्षराः**=यज्ञ के तीनों अक्षर उस पूज्य प्रभु के वाचक तीन 'अ उ म्' रूप अक्षर (तस्य वाचकः प्रणवः, 'ओंकारप्रणवौ समौ') भी जिसमें आश्रित हैं। २. **यः**=जो ये **रोदसी अन्तरा**=इन द्यावापृथिवी के बीच में **क्रुद्धः**=पापियों के प्रति क्रुद्ध हुआ-हुआ **चक्षुषा**=सूर्यरूप आँख से **ऐक्षत**=देखता है (चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ)। उस परमात्मा के प्रति यह पाप है कि इसप्रकार के ब्रह्मज्ञानी की हत्या करना। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—प्रभु ही विशाल दिशाओं को, उनमें स्थित 'गौ, अश्व, पुरुष, अजा, अवि' इन

पाँच पशुओं को, 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र' रूप चार प्रजाओं को, 'अ उ म्' इन तीनों अक्षरों को धारण करते हैं, वे ही सूर्यरूप आँख द्वारा पापियों पर क्रोधदृष्टि करते हैं। इस प्रभु के ज्ञाता ज्ञानी ब्राह्मण का आदर ही करना चाहिए, न कि हत्या।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**सप्तपदाऽनुष्टुब्गर्भाऽतिधृतिः**॥

अन्नाद-प्रजापति-ब्रह्मणस्पति

यो अन्नादो अन्नपतिर्बभूव ब्रह्मणस्पतिरुत यः। भूतो भविष्यद्भुवनस्य यस्पतिः।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ ७॥

१. **यः**=जो प्रभु **अन्नादः**=सब अन्नों का अदन करनेवाले हैं (अहं अन्नादः, 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवतः ओदने') **अन्नपतिः बभूव**=जो सब अन्नों के स्वामी व रक्षक हैं **उत यः ब्रह्मणस्पतिः**=और जो ज्ञान के स्वामी हैं। २. **यः**=जो **भूतः**=दूर-से-दूर भूतों में भी सदा से वर्तमान, **भविष्यत्**=भविष्यत् में भी सदा रहनेवाले ('कभी नहीं थे', यह नहीं 'कभी नहीं रहेंगे', यह भी नहीं) प्रभु हैं, **यः भुवनस्य**=जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के **पतिः**=स्वामी हैं, उस ब्रह्म के प्रति यह अपराध है कि उसप्रकार के ब्रह्मज्ञानी की हिंसा करना। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—जो ब्रह्मज्ञानी प्रभु को 'अन्नाद, अन्नपति व ब्रह्मणस्पति' रूप में देखता है और जो प्रभु को 'सदा से वर्तमान, सदा से रहनेवाला' भुवनपति जानता है उस ब्रह्मज्ञानी की हिंसा करना महान् पाप है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**षट्पदाऽत्यष्टिः**॥

त्रयोदशं मासं (निर्मिमीते)

अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ ८॥

१. **अहोरात्रैः**=दिन और रातों के **विमितम्**=विशेष रूप से परिमित, नपे हुए **त्रिंशत् अङ्गम्**=तीस अंगों से बने हुए **त्रयोदशं मासम्**=तेरहवें मास को भी **यः निर्मिमीते**=जो पूरी तरह से बना देता है उस व्यवस्थापक प्रभु के प्रति यह अपराध है कि ऐसे ब्रह्मज्ञानी की हत्या करना। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—प्रभु ने इस कालचक्र का अद्भुत निर्माण किया है। समय-समय पर तेरहवाँ मास भी आता है और बड़े नियमितरूप से आता है। इस कालविद्या में निपुण ब्रह्मज्ञानी की हत्या करना महापाप है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**सप्तपदाभुरिगतिधृतिः**॥

द्युलोक की ओर जाना व फिर वहाँ से लौटना

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्य।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ ९॥

१. **हरयः**=जल का वाष्पीभवन द्वारा हरण करनेवाली, **सुपर्णाः**=सम्यक् पालन व पोषण

करनेवाली **अपः वसानाः**=जल को धारण करनेवाली सूर्य की किरणें **कृष्णं नियानम्**=कृष्ण वर्ण या नील वर्णवाले सबके स्थानरूप **दिवं उत पतन्ति**=द्युलोक की ओर गतिवाली होती हैं। सूर्य की किरणों के द्वारा जल का वाष्पीभवन होता है। इन वाष्पीभूत जलों को लेकर सूर्य की किरणें मानो फिर आकाश की ओर गतिवाली होती हैं। २. **ते**=वे सूर्य की किरणें **ऋतस्य सदनात्**=इस ऋत (rain-water) के सदन से—वृष्टिजल के घररूप अन्तरिक्षलोक से **आववृत्रन्**=फिर यहाँ लौटनेवाली बनती हैं। सूर्य की किरणरूप हाथों द्वारा जलवाष्पों को ऊपर ले-जाता है, सूर्य के ये किरणरूप हाथ जलों को लेने के लिए फिर इस पृथिवीलोक की ओर आवृत होते हैं। प्रभु की यह क्या विचित्र रचना है? इस रचना में प्रभु की महिमा को देखनेवाले ब्रह्मज्ञानी की हत्या करना पाप है।

भावार्थ—सूर्य की किरणें जलों को लेकर ऊपर अन्तरिक्ष में जाती हैं। वहाँ के जलकणों को स्थापित करके पुनः जलकणों को लेने के लिए यहाँ लौटती हैं। इस प्रक्रिया में प्रभु की महिमा को देखनेवाले ब्रह्मज्ञानी का आदर करना हमारा कर्त्तव्य है। उसकी हिंसा करना महान् पाप है। (मुक्तात्मा भी द्युलोक की ओर जाता है और परान्तकाल के पश्चात् फिर वहाँ से यहाँ लौटता है)।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**सप्तपदाभुरिगतिधृतिः**॥

सप्त सूर्याः

यत्ते चन्द्रं कश्यप रोचनावद्यत्संहितं पुष्कलं चित्रभानु।
यस्मिन्त्सूर्या आर्पिताः सप्त साकम्।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ १०॥

१. हे **कश्यप**=सर्वद्रष्टा प्रभो! **यत्**=जो **ते**=आपका **चन्द्रम्**=सबको आह्लादित करनेवाला **रोचनावत्**=दीप्तियुक्त **पुष्कलम्**=पुष्टिकारी व पर्याप्त **संहितम्**=एकत्र स्थापित **चित्रभानु**=अद्भुत दीप्तिवाला प्रकाशमयस्वरूप है। यह वह स्वरूप है कि **यस्मिन्**=जिस प्रकाशमयस्वरूप में **सप्तसूर्याः**=सात रंगोंवाली किरणोंवाले ये सूर्य **साकं आर्पिताः**=साथ-साथ अर्पित हैं। २. प्रभु ने वस्तुतः इन सूर्यों को सात वर्णोंवाली किरणोंवाला बनाकर हमारे शरीरों में सात प्राणशक्तियों के स्थापन की सुन्दर व्यवस्था की है। इन सात प्राणशक्तियों से शरीरस्थ सप्तर्षि व सप्तहोता पूर्ण स्वस्थरूप से रहते हैं तभी ये साधक सातों लोकों का विभाजन करता हुआ प्रभु को प्राप्त करता है। इसप्रकार इन अद्भुत सूर्य प्रकाशों में प्रभु की महिमा के द्रष्टा ब्रह्मज्ञानी का हिंसन महापाप है।

भावार्थ—सर्वद्रष्टा प्रभु का स्वरूप आह्लादकारी और प्रकाशमय है। उसने सूर्य को सात रंगों की किरणोंवाला बनाया है। हमारे शरीर में सात प्राणशक्तियों की स्थापना की है, जिससे शरीरस्थ सप्तर्षि व सप्त होता पूर्ण स्वस्थ रहते हैं। इसप्रकार सूर्यप्रकाश में प्रभु की महिमा को देखनेवाले ब्राह्मण की हिंसा करना महापाप है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**सप्तपदाभुरिगतिधृतिः**॥

अप्रमादम् सदम्

बृहदेनमनु वस्ते पुरस्ताद्रथन्तरं प्रति गृह्णाति पश्चात्। ज्योतिर्वसाने सदमप्रमादम्।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।

उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ ११॥

१. (द्यौर्वै बृहत्—शत० ९.१.२.३७, रथन्तरं हि इयं पृथिवी—शत० १.७.२.१७) **बृहत्**=यह महान् द्युलोक **एनम्**=इस प्रभु को **पुरस्तात्**=सामने से **अनुवस्ते**=आच्छादित करता है और **रथन्तरम्**=यह पृथिवी **पश्चात्**=पीछे से **प्रतिगृह्णाति**=ग्रहण करती है। इसप्रकार **ज्योतिः**=ज्योतिर्मय प्रभु को **वसाते**=वस्त्र के समान आच्छादित करते हुए ये द्यावापृथिवी **अप्रमादम्**=प्रमादशून्य **सदम्**=गृह के समान हैं। इसप्रकार प्रभु की ज्योति को दिखलानेवाले द्यावापृथिवी को जो एक उत्तम गृह के रूप में देखता है, उस ब्रह्मज्ञानी का हनन प्रभु के प्रति एक महान् अपराध है। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—द्युलोक ने प्रभु को आगे से धारण किया हुआ है, पृथिवी ने पीछे से। एवं, यह संसार-गृह प्रभु की ज्योति से परिपूर्ण है। इस रूप में संसार को देखनेवाले ब्रह्मज्ञानी का हनन महापाप है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**सप्तपदाभुरिगतिधृतिः**॥

सबले सध्रीची

बृहदन्यतः पक्ष आसीद्रथन्तरमन्यतः सबले सध्रीची। यद्रोहितमजनयन्त देवाः।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ १२॥

१. **बृहत्**=यह विशाल आकाश **अन्यतः पक्षः आसीत्**=एक ओर का पक्ष है **अन्यतः रथन्तरम्**=यह पृथिवी दूसरी ओर का। ये दोनों **सध्रीची**=साथ-साथ चलनेवाले होते हुए **सबले**=बलयुक्त हैं। २. इस रूप में ब्रह्माण्ड को विद्वानों ने देखा **यत्**=जबकि **देवाः**=द्यावापृथिवी के अन्दर स्थित सूर्यादि देवों ने **रोहितम्**=उस सदा से वृद्ध प्रभु को **अजनयन्त**=प्रकट किया। संसार एक शकट है तो द्युलोक उसका एक पक्ष है और पृथिवीलोक दूसरा। इस शकट का वहन करनेवाले 'अनड्वान्' प्रभु हैं। इसप्रकार से संसार को देखनेवाले ज्ञानियों का हनन एक महान् पाप है। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—संसाररूप शकट का एक चक्र द्युलोक है तो दूसरा चक्र यह पृथिवीलोक है। प्रभु इसका वहन कर रहे हैं। मिलकर गति करते हुए ये दोनों लोक अत्यन्त बलयुक्त हैं। इस अद्भुत शकट के स्वामी व नियन्ता प्रभु हैं। इनके द्रष्टा ब्रह्मज्ञानियों का हनन प्रभु के प्रति महान् पाप है।

सूचना—शरीर में ये दोनों पक्ष 'प्राण और अपान' है। एक परिवार में ये 'पति व पत्नी' हैं। एक राष्ट्र में 'राजा व प्रजा' हैं। ये मिलकर चलने पर ही सबल होते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अष्टपदाविकृतिः**॥

'अग्नि, मित्र, सविता, इन्द्र'

स वरुणः सायमग्निर्भवति स मित्रो भवति प्रातरुद्यन्।
स सविता भूत्वान्तरिक्षेण याति स इन्द्रो भूत्वा तपति मध्यतो दिवम्।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ १३॥

१. **सः वरुणः**=वे प्रभु वरुण हैं—सब अन्धकार का निवारण करनेवाले व वरणीय हैं। **सायम्**=सायंकाल होने पर, अन्धकार के अवसर पर **अग्निः भवति**=अग्नि के समान प्रकाशक

होते हैं। **सः**=वे **प्रातः उद्यन्**=प्रातः उदय होते हुए सूर्य के समान **मित्रः भवति**=प्रमीति से—मृत्यु से हमें बचानेवाले हैं। प्रातः उदय होता हुआ सूर्य रोग-कृमियों का संहार करता है। प्रभु ही हमें नीरोगता प्रदान करते हैं। २. **सः**=वे प्रभु **सविता**=सबके प्रेरक होते हुए **अन्तरिक्षेण याति**=हृदयान्तरिक्ष से गति करते हैं—हृदयस्थरूपेण हमें कर्त्तव्य-कर्मों की प्रेरणा देते हैं। **इन्द्रः भूत्वा**=परमैश्वर्यवाले होते हुए वे प्रभु **दिवं मध्यतः तपति**=मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञानसूर्य के रूप में दीप्त होते हैं। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—वे प्रभु अन्धकार में प्रकाश प्राप्त कराते हैं, नीरोगता देनेवाले हैं, हृदयस्थरूपेण सत्कर्मों की प्रेरणा देते हैं, मस्तिष्करूप द्युलोक में वे ज्ञानसूर्य के समान होते हैं। इस रूप में ब्रह्मदर्शन करनेवाले ब्राह्मणों का हनन महान् पाप है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अष्टपदाविकृतिः**॥

सहस्र युगपर्यन्त आरोहण

सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम्।
स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन्याति भुवनानि विश्वा।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ १४॥

व्याख्या अथर्व० १३.२.३८ पर द्रष्टव्य है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**सप्तपदानिचृदतिधृतिः**॥

पुरुशाकः अत्रि

अयं स देवो अप्स्व१न्तः सहस्रमूलः पुरुशाको अत्त्रिः। य इदं विश्वं भुवनं जजान।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ १५॥

१. **अयं सः देवः**=यह वह प्रकाशमय प्रभु हैं, **यः**=जो **इदं विश्वं भुवनम्**=इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को **जजान**=उत्पन्न करते हैं। ये प्रभु **अप्सु अन्तः**=सब प्रजाओं के हृदयों में निवास करते हैं। ये प्रभु **सहस्रमूलः**=इन सहस्रों लोकों के मूल हैं। **पुरुशाकः**=महान् शक्तिवाले हैं। **अत्त्रिः** (अ-त्रि) त्रिगुणातीत हैं अथवा (अदनात्) प्रलयकाल आने पर सब लोकों को स्वयं लील जानेवाले हैं। २. प्रभु ही ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करते हैं, अपनी अनन्त शक्ति से वे ही इसका धारण करते हैं और अन्त में इसका अपने में लय कर लेते हैं (जन्माद्यस्य यतः)। इसप्रकार ब्रह्म को देखनेवाले ज्ञानी का हनन प्रभु के प्रति महान् पाप है। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—प्रभु जगत्स्रष्टा हैं, सहस्रों लोकों के आधार हैं, वे अनन्त शक्तिवाले प्रभु संसार को अन्ततः अपने में लीन कर लेते हैं। ये प्रभु ही सब प्रजाओं के हृदयों में निवास करते हैं। प्रभु के ज्ञाता ब्रह्मज्ञानी का हनन प्रभु के प्रति महान् पाप है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अष्टपदाऽऽकृतिः**॥

रघुष्यदः हरयः

शुक्रं वहन्ति हरयो रघुष्यदो देवं दिवि वर्चसा भ्राजमानम्।
यस्योर्ध्वा दिवं तन्व१स्तपन्त्यर्वाङ् सुवर्णैः पटरैर्वि भाति।

तस्य॑ दे॒वस्य॑ क्रु॒द्धस्यै॒तदागो॒ य ए॒वं वि॒द्वांसं॑ ब्राह्म॒णं जि॒नाति॑।
उद्वे॑पय रोहित॒ प्र क्षि॑णीहि ब्रह्म॒ज्यस्य॒ प्रति॑ मुञ्च॒ पाशा॑न्॥ १६॥

१. उस **शुभ्रम्**=शुद्ध (शुच्) **देवम्**=प्रकाशमय, **दिवि**=द्युलोक में (सम्पूर्ण आकाश में) **वर्चसा**=दीप्ति से **भ्राजमानम्**=दीप्त होते प्रभु को **रघुष्यदः**=तीव्र गतिवाले, स्फूर्ति के साथ अपने कर्त्तव्यकर्मों के करने में लगे हुए **हरयः**=अज्ञान का हरण (नाश) करनेवाले, ज्ञानकिरणों से दीप्त मनुष्य **वहन्ति**=धारण करते हैं। प्रभु की प्राप्ति 'ज्ञानपूर्वक कर्त्तव्यकर्म-परायण' पुरुषों को ही होती है। २. **यस्य**=जिस प्रभु के **ऊर्ध्वाः तन्वः**=ऊपर होनेवाले शक्तियों के विस्तार (तन् विस्तारे) **दिवं तपन्ति**=द्युलोक को—द्युलोकस्थ नक्षत्रों व सूर्यो को दीप्त करते हैं, वे प्रभु ही **अर्वाङ्**=यहाँ नीचे **सुवर्णैः**=उत्तम वर्णोंवाले **पटरैः**=प्रकाशों से (पट दीप्तौ) **विभाति**=विशिष्टरूप से अथवा विविधरूपों से चमकता है। यहाँ पृथिवी पर भी प्रत्येक पुष्प-फलादि की अपनी निराली ही शोभा है। इस सब शोभा का मूल वे प्रभु ही हैं। इस प्रकार प्रभु की महिमा के द्रष्टा ब्रह्मज्ञानी का हनन ब्रह्म के प्रति महान् अपराध है। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—प्रभु का धारण कर्त्तव्य-कर्मपरायण ज्ञानी पुरुष ही करते हैं। वे प्रभु शुद्ध हैं, प्रकाशमय हैं। प्रभु की शक्ति से ही सूर्यादि पिण्ड दीप्त हो रहे हैं और वे प्रभु ही उत्तम वर्णोंवाले प्रकाशों से इन पुष्प-फलों में दीप्त हो रहे हैं, इस प्रभु के ज्ञाता ब्रह्मज्ञानी का हनन महान् अपराध है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**सप्तपदाकृतिः**॥

एक ज्योतिः

येना॑दि॒त्यान्ह॒रितः॑ सं॒वह॑न्ति॒ येन॑ य॒ज्ञेन॑ ब॒हवो॒ यन्ति॑ प्रजा॒नन्तः॑।
यदेकं॒ ज्योति॑र्बहु॒धा वि॒भाति॑।
तस्य॑ दे॒वस्य॑ क्रु॒द्धस्यै॒तदागो॒ य ए॒वं वि॒द्वांसं॑ ब्राह्म॒णं जि॒नाति॑।
उद्वे॑पय रोहित॒ प्र क्षि॑णीहि ब्रह्म॒ज्यस्य॒ प्रति॑ मुञ्च॒ पाशा॑न्॥ १७॥

१. **येन**=जिस प्रभु की शक्ति से **हरितः**=जल व रोगों का हरण करनेवाली सूर्य-रश्मियाँ **आदित्यान् संवहन्ति**=रश्मिभेद से भिन्न-भिन्न नामों से कहे जानेवाले इन सूर्यों का वहन करती हैं और **येन यज्ञेन**=जिस उपास्य व संगतिकरण योग्य प्रभु से—प्रभु की उपासना से **बहवः**=बहुत-से **प्रजानन्तः**=ज्ञानी पुरुष **यन्ति**=मोक्ष को प्राप्त होते है। २. **यत्**=जो **एकम्**=अद्वितीय **ज्योतिः**=प्रकाश **बहुधा**=नाना प्रकार से **विभाति**=दीप्त होता है। वस्तुतः वह प्रभु ही सूर्य, चन्द्र में आभारूप से और अग्नि में तेज के रूप से चमकता है। ज्ञानियों का ज्ञान भी वे प्रभु हैं, बुद्धिमानों की बुद्धि भी वे ही हैं। इसप्रकार से ब्रह्म को देखनेवाले का हनन वस्तुतः ब्रह्म के प्रति अपराध ही है। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—प्रभु की शक्ति से ही किरणें सूर्य का वहन करती हैं। प्रभु के सम्पर्क से ही ज्ञानी मोक्ष को प्राप्त होते हैं। प्रभुरूप ज्योति ही भिन्न-भिन्न रूपों में द्योतित होती है। इस ब्रह्म-ज्योति के द्रष्टा का हनन ब्रह्म के प्रति महान् पाप है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अष्टपदाऽऽकृतिः**॥

शरीररूप रथ

स॒प्त यु॑ञ्जन्ति॒ रथ॒मेक॑चक्र॒मेको॒ अश्वो॑ वहति स॒प्तना॑मा।
त्रि॒नाभि॑ च॒क्रम॒जर॑मन॒र्वं यत्रे॒मा विश्वा॒ भुव॒नाधि॑ त॒स्थुः।

तस्य॑ दे॒वस्य॑ क्रु॒द्धस्यै॒तदागो॒ य ए॒वं वि॒द्वांसं॑ ब्राह्म॒णं जि॒नाति॑।
उद्वे॑पय रोहित॒ प्र क्षि॑णीहि ब्रह्म॒ज्यस्य॒ प्रति॑ मुञ्च॒ पाशा॑न्॥ १८॥

१. **सप्त**=सात (कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्) कर्णादि शरीरस्थ ऋषि **एकचक्रं रथम्**=एक चक्रवाले—अकेले पहिये के समान काम करनेवाले जीवात्मा से युक्त शरीर-रथ को **युञ्जन्ति**=जोतते हैं। जीवात्मारूप चक्रवाले इस शरीर-रथ में ये सप्तर्षि जुते हुए हैं। वस्तुतः **एकः अश्वः**=शरीर में सर्वत्र व्याप्त शक्तिवाला अकेला जीव (अश् व्याप्तौ) **सप्तनामः**=इन सात ऋषियों की ओर झुकनेवाला—इन सातों को अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त करनेवाला **वहति**=अपने को वहाँ प्राप्त कराता है **यत्र इमा विश्वा भुवना**=जहाँ ये सब भुवन **अधितस्थुः**=स्थित हैं, अर्थात् अपने को परमात्मा में प्राप्त कराता है। २. यह **चक्रम्**=शरीरस्थ कर्त्ता जीव **त्रिनाभि**='सत्त्व, रज व तम' प्रकृति के तीन गुणों के बन्धनवाला है। इन तीन के बन्धन से ही आत्मा को शरीर में आना होता है। वास्तव में यह **अजरम्**=कभी जीर्ण होनेवाला तथा **अनर्वम्**=कभी हिंसित होनेवाला नहीं है (न हन्यते हन्यमाने शरीरे)। शरीर ही उत्पन्न व नष्ट हुआ करता है, वह चक्र (कर्त्ता) तो 'न जायते म्रीयते वा कदाचित्' न पैदा होता है, न मरता है। शरीर-रथ की अद्‌भुत रचना को समझनेवाला ब्रह्मज्ञानी आदरणीय है। उसका हनन ब्रह्म के प्रति महान् अपराध है।

भावार्थ—इस शरीर-रथ में 'दो कान, दो नासिका छिद्र, दो आँखें व मुख' ये सात ऋषि जुड़े हुए हैं। जीवात्मा यहाँ कर्त्ता है। वह 'सत्त्व, रज व तम' के बन्धन में पड़कर शरीर में आता-जाता है। वस्तुतः वह न जीर्ण होनेवाला, न मरनेवाला है। इस आत्मतत्त्व को समझनेवाले ज्ञानी का हनन महान् पाप है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अष्टपदाभुरिगाकृतिः**॥

पिता देवानां, जनिता मतीनाम्

अ॒ष्टधा यु॒क्तो व॑हति॒ वह्नि॑रु॒ग्रः पि॒ता दे॒वानां॑ ज॒नि॒ता म॑ती॒नाम्।
ऋ॒तस्य॒ तन्तुं॒ मन॑सा॒ मि॒मानः॒ सर्वा॒ दिशः॑ पवते मा॒त॒रिश्वा॑।
तस्य॑ दे॒वस्य॑ क्रु॒द्धस्यै॒तदागो॒ य ए॒वं वि॒द्वांसं॑ ब्राह्म॒णं जि॒नाति॑।
उद्वे॑पय रोहित॒ प्र क्षि॑णीहि ब्रह्म॒ज्यस्य॒ प्रति॑ मुञ्च॒ पाशा॑न्॥ १९॥

१. **अष्टधा**='यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि' इन आठ योगांगों द्वारा युक्त जीव द्वारा अपने साथ जोड़ा गया **वह्निः**=संसार शकट का-वहन करनेवाला **उग्रः**=तेजस्वी प्रभु ही **देवानां पिता**=सूर्यादि सब देवों का रक्षक है। वह प्रभु ही **मतीनाम् जनिता**=बुद्धियों का प्रादुर्भाव करनेवाला है। २. **ऋतस्य**=सृष्टियज्ञ के **तन्तुम्**=सूत्र को **मनसा मिमानः**=मनःशक्ति, संकल्प से ही निर्माण करता हुआ मातरिश्वा मातृरूप प्रकृति में गति देनेवाला (श्वि गतौ) वह प्रभु **सर्वाः दिशः पवते**=सब दिशाओं में व्याप्त हैं। इसप्रकार प्रभु के ज्ञाता ब्रह्मज्ञानी का हनन प्रभु के प्रति महान् अपराध है। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—यमादि के पालन से समाधि द्वारा जीव से प्राप्त किये जानेवाले प्रभु संसार-शकट के धारक हैं, तेजस्वी हैं, सूर्यादि के रक्षक हैं, बुद्धियों के जनक हैं। सृष्टियज्ञ के तन्तु को संकल्प से ही निर्मित करनेवाले हैं। प्रकृति को गति देनेवाले हैं, वे प्रभु सब दिशाओं में व्याप्त हैं। इस ब्रह्म के ज्ञाता का सदा आदर ही करना चाहिए।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**षट्पदाऽत्यष्टिः**॥

अन्तः गायत्र्याम्

सम्यञ्चं तन्तुं प्रदिशोऽनु सर्वा अन्तर्गायत्र्याममृतस्य गर्भे।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ २०॥

१. उस **सम्यञ्चम्**=सम्यक् गति करनेवाले **तन्तुम्**=विस्तृत सूत्र के **अनु**=आश्रय पर ही **सर्वाः प्रदिशः**=समस्त दिशाएँ आश्रित हैं। ये समस्त दिशाएँ—दिशास्थ प्राणी **गायत्र्याम् अन्तः**=(गयाः प्राणाः तान् तत्रे) प्राणों की रक्षिका गायत्री में है। गायत्री इनकी माता के समान है, वह इनके जीवन का निर्माण करनेवाली है। ये सब जीव **अमृतस्य गर्भे**=उस अमृत प्रभु के गर्भ में हैं। इसप्रकार ब्रह्म को देखनेवाले ज्ञानी का हनन महान् अपराध है। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—सब दिशाएँ सम्यक् गतिवाले ऋत के तन्तु में आश्रित हैं। सब प्राणियों के जीवन का निर्माण करनेवाली यह गायत्री है। सब प्राणी उस अमृत प्रभु के गर्भ में हैं। इसप्रकार ज्ञान देनेवाले ब्राह्मण की हत्या सर्वमहान् पाप है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अष्टपदाऽऽकृतिः**॥

तीन

निम्रुचस्तिस्रो व्युषो ह तिस्रस्त्रीणि रजांसि दिवो अङ्ग तिस्रः।
विद्मा ते अग्ने त्रेधा जनित्रं त्रेधा देवानां जनिमानि विद्म।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ २१॥

१. **निम्रुचः**=निम्नगतियाँ (नि-म्रुच् गतौ) **तिस्रः**=तीन हैं—तीन बातें हमारी अधोगति का कारण बनती हैं, वे हैं—'काम, क्रोध और लोभ'। **ह**=निश्चय से **व्युषः तिस्रः**=(वि उष दाहे) दोषों को दग्ध करनेवाली भी तीन बातें हैं, वे है—'ज्ञान, कर्म और उपासना'। **त्रीणि रजांसि**=तीन ही लोक हैं—पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक। शरीर में ये तीन लोक—'देह, हृदय व मस्तिष्क' हैं। 'काम' देह को विनष्ट कर देता है, 'क्रोध' हृदय को तथा 'लोभ' मस्तिष्क को। 'कर्म' शरीर को ठीक रखता है, 'उपासना' हृदय को तथा 'ज्ञान' मस्तिष्क को। हे **अङ्ग**=प्रिय! **दिवः तिस्रः**=ज्ञान भी तीन हैं—प्रकृति का ज्ञान, जीव का ज्ञान व परमात्मा का ज्ञान। प्रकृति के ज्ञान से, प्रकृति का ठीक उपयोग होने पर रोग नहीं आते। जीव को समझने पर, जीव के साथ ठीक व्यवहार होने पर झगड़े नहीं होते। प्रभु की सर्वव्यापकता का ज्ञान होने पर पापवृत्ति हमें आक्रान्त नहीं करती। २. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! हम **त्रेधा**=तीन प्रकार से **ते जनित्रं विद्म**=तेरे प्रादुर्भाव को जानते हैं। तम, रज व सत्त्व से ऊपर उठकर, गुणातीत बनकर ही हम आपको जान पाते हैं। प्रमाद, आलस्य, निद्रा से ऊपर उठना ही तमोगुण से ऊपर उठना है। तृष्णा से ऊपर उठना ही रजस् से ऊपर उठना है तथा सुखसंग से ऊपर उठना ही सत्त्वातीत होना हैं। इस स्थिति में ही हम प्रभु को प्राप्त करते हैं। **देवानां जनिमानि त्रेधा विद्म**='अग्नि, वायु, सूर्य' आदि देवों के 'पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक' में होनेवाले तीन भागों में विभक्त प्रादुर्भावों को हम जानते हैं। ग्यारह पृथिवी के देव हैं, ग्यारह अन्तरिक्ष के व ग्यारह द्युलोक के। इसप्रकार प्रभु की सृष्टि को समझनेवाले ब्रह्मज्ञानी को मारना एक महान् पाप है। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—'काम, क्रोध, लोभ' अधोगति के कारण बनते हैं। 'ज्ञान, कर्म, उपासना' दोषदहन के साधन हैं। 'देह, हृदय व मस्तिष्क' यह अध्यात्म की त्रिलोकी है। 'प्रकृति, जीव व प्रभु' का ज्ञान ही त्रिविध ज्ञान है। तम, रज व सत्त्व से ऊपर उठकर हम प्रभु के प्रकाश को देखते हैं। अग्नि, वायु, सूर्यादि देव पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक में ग्यारह-ग्यारह की संख्या में प्रादुर्भूत होते हैं। इसप्रकार हम प्रभु की सृष्टि में प्रभु की महिमा को देखनेवाले को आदर दें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**षट्पदात्यष्टिः**॥

पृथिवी का आच्छादन, अन्तरिक्ष में समुद्र का स्थापन

वि य और्णोत्पृथिवीं जायमान आ समुद्रमदधादन्तरिक्षे।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ २२॥

१. **यः**=जो प्रभु **जायमानः**=प्रादुर्भूत होते हुए **पृथिवीं वि और्णोत्**=हमारी इस शरीररूप पृथिवी को विशेषरूप से आच्छादित करते हैं। जब भी हम प्रभु के प्रकाश को देखेंगे—प्रभु का हममें प्रादुर्भाव होगा तब वे हमारे शरीरों के कवच होंगे। उस समय हमारे शरीर रोगों से आक्रान्त न हो पाएँगे। वे प्रभु ही प्रादुर्भूत होते हुए **अन्तरिक्षे**=हमारे हृदयान्तरिक्ष में **समुद्रम्**=ज्ञानसमुद्र को **आ अदधात्**=सर्वथा स्थापित करते हैं। प्रभु का प्रादुर्भाव हुआ तो सब अन्धकार समाप्त हो जाता है और प्रकाश-ही-प्रकाश हो जाता है। ब्रह्म को इस रूप में जाननेवाले ब्राह्मण का हनन ब्रह्म के प्रति अपराध है। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—हम प्रभु को अपने में प्रादुर्भूत करने का प्रयत्न करें। प्रभु हमारे शरीररूप पृथिवी के कवच होंगे और हमारे हृदयान्तरिक्ष में ज्ञानसमुद्र की स्थापना करेंगे। ब्रह्म को इस रूप में जाननेवाले ब्राह्मण का हनन महापाप है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अष्टपदाविकृतिः**॥

क्रतुभिः केतुभिः

त्वमग्ने क्रतुभिः केतुभिर्हितो३ऽर्कः समिद्ध उदरोचथा दिवि।
किमभ्या३र्चन्मरुतः पृश्निमातरो यद्रोहितमजनयन्त देवाः।
तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति।
उद्वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान्॥ २३॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप **क्रतुभिः**=यज्ञों के द्वारा तथा **केतुभिः**=प्रकाश की रश्मियों के द्वारा **हितः**=हृदयदेश में स्थापित किये जाते हो। **अर्कः**=आप पूजनीय हो, **समिद्धः**=ज्ञान से दीप्त हो। आप **दिवि**=अपने प्रकाशमय स्वरूप में **उत् अरोचथाः**=उत्कर्षेण दीप्त होते हो। २. **यत्**=जब **देवाः**=सूर्यादि देव **रोहितम्**=उस सदा से वृद्ध प्रभु को **अजनयन्त**=प्रादुर्भूत करते हैं—उस प्रभु की महिमा को हमें दिखलाते हैं, तब ये **मरुतः**=प्राणसाधना करनेवाले **पृश्निमातरः**=ज्ञान की वाणियों को अपनी माता के समान बनानेवाले, अर्थात् वेदमाता से सतत प्रेरणा प्राप्त करनेवाले ये ज्ञानी **किम् अभि आर्चन्**=उस अनिर्वचनीय प्रभु का ही पूजन करते हैं। इन प्रभुपूजक ब्रह्मज्ञानियों का हनन प्रभु के प्रति महान् अपराध है। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—वे प्रभु यज्ञों व ज्ञानों के द्वारा हृदयदेश में समिद्ध किये जाते हैं। वे पूजनीय, ज्ञानदीप्त प्रभु अपने प्रकाशमयस्वरूप में दीप्त हो रहे हैं। सूर्यादि देव इस प्रभु को प्रकाशित करते

हैं। प्राणसाधक, ज्ञानप्रवण मनुष्य उस अनिर्वचनीय प्रभु का पूजन करते हैं। इन ब्रह्मपूजक ज्ञानियों का हनन महान् पाप है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**सप्तपदाकृतिः**॥

आत्मदाः बलदाः

य आ॑त्म॒दा ब॑ल॒दा यस्य॒ विश्व॑ उ॒पास॑ते प्र॒शिषं॒ यस्य॑ दे॒वाः।
यो॒ ३॒ स्येशे॑ द्वि॒पदो॒ यश्चतु॑ष्पदः।
तस्य॑ दे॒वस्य॑ क्रु॒द्धस्यै॒तदागो॒ य ए॒वं वि॒द्वांसं॑ ब्राह्म॒णं जि॒नाति॑।
उद्वे॑पय रोहित॒ प्र क्षि॑णीहि ब्रह्म॒ज्यस्य॒ प्रति॑ मुञ्च॒ पाशा॑न्॥ २४॥

१. **यः आत्मदाः**=जो जीवहित के लिए अपने को दे डालनेवाले हैं, जो निरन्तर जीवहित के लिए सृष्टि-निर्माण, धारण व प्रलय आदि कर्मों में प्रवृत्त हैं। (**यः**) **बलदाः**=जो सब प्रकार की आवश्यक शक्तियों को प्राप्त करानेवाले हैं। **यस्य**=जिस प्रभु का **विश्वे**=सब लोग **उपासते**=उपासन करते हैं। **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **यस्य प्रशिषम्**=जिसकी आज्ञा का उपासन करते हैं, अर्थात् जिसकी आज्ञाओं के अनुसार कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। **यः**=जो प्रभु **अस्य**=इस **द्विपदः**=दो पाँववाले मनुष्यों के तथा **यः**=जो **चतुष्पदः**=चार पाँववाले इन गवादि पशुओं के **इशे**=ईश हैं, अर्थात् इनमें उस-उस ऐश्वर्य को स्थापित करनेवाले हैं। मनुष्यों में बुद्धि, तेज व बल को व अद्भुत शक्तियों को स्थापित करनेवाले वे प्रभु ही हैं। **तस्य**=उस प्रभु के प्रति यह महान् अपराध है कि इसप्रकार के ब्रह्मज्ञानी की हत्या की जाए। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—प्रभु अपने को जीवहित के लिए दिये हुए हैं। वे हमें बल प्राप्त कराते हैं। सब प्रभु का उपासन करते हैं। देव प्रभु के शासन में चलते हैं। मनुष्यों में व पशुओं में जो भी ऐश्वर्य है वह सब उस प्रभु का है। इस प्रभु के ज्ञाता का हनन प्रभु के प्रति महान् पाप है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अष्टपदाविकृतिः**॥

चतुष्पात् मन

एक॑पाद् द्वि॒पदो॒ भूयो॒ वि च॑क्रमे द्वि॒पात्त्रि॒पाद॑म॒भ्ये॑ ति प॒श्चात्।
चतु॑ष्पाच्चक्रे द्वि॒पदा॑मभिस्व॒रे सं॒पश्य॑न्प॒ङ्क्तिमु॑प॒तिष्ठ॑मानः।
तस्य॑ दे॒वस्य॑ क्रु॒द्धस्यै॒तदागो॒ य ए॒वं वि॒द्वांसं॑ ब्राह्म॒णं जि॒नाति॑।
उद्वे॑पय रोहित॒ प्र क्षि॑णीहि ब्रह्म॒ज्यस्य॒ प्रति॑ मुञ्च॒ पाशा॑न्॥ २५॥

१. **एकपात्**=वे एकरस प्रभु **द्विपदः**=दो पाँववाले मनुष्य से **भूयः विचक्रमे**=अधिक गति व पराक्रमवाले हैं। **द्विपात्**=ये द्विपात् मनुष्य **त्रिपादम्**=लोक त्रयीरूप तीन पादोंवाले सूर्य के पश्चात् **अभि एति**=पीछे गतिवाला होता है, अर्थात् सूर्य उदय के साथ इसके कार्य प्रारम्भ होते हैं और सूर्यास्त के साथ इसके कार्य समाप्त होते हैं। (पूषन्तव व्रते वयं न रिष्येम कदाचन)। सूर्य के अनुसार कर्म करते हुए मनुष्य हिंसित नहीं होते। २. **द्विपादं अभिस्वरे**=मनुष्यों के शासन में (स्वृ शब्दे) **चतुष्पात्**='मन, बुद्धि, चित्त व अहंकार' के रूप में चतुर्विध गतिवाला यह अन्तःकरण **पङ्क्तिं उपतिष्ठमानः**=ज्ञानेन्द्रिय पञ्चक व कर्मेन्द्रिय पञ्चक में उपस्थित होता हुआ इन इन्द्रियों का अनुविधान करता हुआ (यन्मनोऽविधियते) **संपश्यन् चक्रे**=सम्यक् देखता हुआ कर्मों को करता है। मनुष्य-शरीर में यह 'अन्तःकरण' एक अद्भुत रचना है। यह आत्मा और इन्द्रियों का मेल करनेवाला है। इसके द्वारा ही इन्द्रियों के सब कार्य होते हैं। इस अद्भुत रचना को देखनेवाला ज्ञानी ब्रह्म की महिमा का अनुभव करता है। इस ब्रह्मज्ञ की हत्या ब्रह्म के प्रति

महान् पाप है। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—सारे मनुष्यों से भी एक प्रभु का पराक्रम अधिक है। मनुष्य सूर्य के व्रत में चलकर अहिंसित रहता है। मानव-शरीर में मन की अद्भुत रचना को देखनेवाला ज्ञानी ब्रह्म की महिमा का अनुभव करता है। इस ज्ञानी का आदर करना योग्य है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्, रोहितः, आदित्यः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'कृष्णा' का पुत्र 'अर्जुन' (रात्रि का पुत्र सूर्य)

कृष्णायाः पुत्रो अर्जुनो रात्र्या वत्सो ऽजायत।
स ह द्यामधि रोहति रुहो रुरोह रोहितः॥ २६॥

१. (रात्रिर्वै कृष्णा शुक्लवत्सा, तस्या असावादित्यो वत्सः—शत० ९.२.३.३) **कृष्णायाः रात्र्याः**=इस कृष्ण वर्णवाली—चारों ओर अन्धकारमयी रात्रि का **अर्जुनः पुत्रः**=श्वेत वर्ण का यह सन्तानरूप सूर्य **वत्सः**=प्रभु की महिमा का प्रतिपादन करनेवाला (वदति) **अजायत**=हुआ है। यह सूर्य सर्वत्र प्रकाश करता हुआ प्रभु की महिमा का प्रकाश कर रहा है। सूर्य प्रभु की सर्वमहति विभूति है। **सः ह**=यह सूर्य निश्चय से **द्यां अधिरोहति**=इस द्युलोक में आरोहण करता है। यह **रोहितः**=तेजस्वी सूर्य ही **रुहः सः रुरोह**=सब वनस्पतियों को प्रादुर्भूत करता है। सूर्य की किरणों के अभाव में बीज अंकुरित नहीं हो पाते। जहाँ सूर्य की किरण नहीं, वहाँ वनस्पति भी नहीं। सूर्य ही इनका प्रादुर्भाव करता हुआ इनमें प्राणदायी तत्त्वों का स्थापन करता है। यह सूर्य वस्तुतः प्रभु की अद्भुत महिमा का प्रतिपादन करता है।

भावार्थ—यह भी प्रभु की अद्भुत महिमा है कि एकदम कृष्णवर्ण की रात्रि का पुत्र-सन्तान श्वेत सूर्य होता है। यह सूर्य सब वनस्पतियों के प्रादुर्भाव का कारण बनता है। इस सूर्य में ज्ञानी पुरुष ब्रह्म की महिमा को देखता है।

अथ चतुर्थोऽनुवाकः

४. [चतुर्थं सूक्तम्; प्रथमः पर्यायः]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्**॥ छन्दः—**प्राजापत्यानुष्टुप्**॥

सविता महेन्द्रः

स एति सविता स्व ऽर्दिवस्पृष्ठे ऽवचाकशत्॥ १॥
रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः॥ २॥

१. **सः**=वह **सविता**=सर्वोत्पादक व सर्वप्रेरक **स्वः**=प्रकाशमय प्रभु **दिवः पृष्ठे**=(पृष्ठात् पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षाद्दिवमारुहम्। दिवो नकस्य पृष्ठात् स्वरज्योतिरगामहम्॥) द्युलोक के पृष्ठ पर—मोक्षधाम में **अवचाकशत्**=प्रकाश करता हुआ **एति**=प्राप्त होता है। मनुष्य जब पृथिवीपृष्ठ से ऊपर उठता है, अर्थात् भोग्य वस्तुओं की कामना से ऊपर उठता है और अन्तरिक्ष से भी ऊपर उठता है, अर्थात् हृदय में यशादि की कामना से भी रहित होता है तब द्युलोक में पहुँचता है, अर्थात् ज्ञानरुचिवाला होता हुआ सदा ज्ञान में विचरण करता है। इसमें भी आसक्तियुक्त न होता हुआ यह स्वरज्योति प्रभु को प्राप्त करता है। यहाँ उसे प्रभु का प्रकाश प्राप्त होता है। २. उस समय **रश्मिभिः**=ज्ञान की किरणों से **नभः आभृतम्**=उसका मस्तिष्करूप द्युलोक व हृदयाकाश आ-भृत हो जाता है—वहाँ प्रकाश-ही-प्रकाश होता है—वहाँ अन्धकार का चिह्न भी नहीं होता। उस समय इसके हृदयदेश में **आवृतः**=प्रकाश से समन्तात् आच्छादित प्रकाशमय **महेन्द्रः**=महान् ऐश्वर्यशाली प्रभु **एति**=प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—जब हम पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक से ऊपर उठकर मोक्षलोक में पहुँचते हैं तब वे प्रभु प्रकाश प्राप्त कराते हुए हमें प्राप्त होते हैं। यह मुक्तात्मा सम्पूर्ण आकाश को प्रभु के प्रकाश से व्याप्त देखता है। इस जीवन्मुक्त के हृदयदेश में प्रकाश से आवृत प्रभु प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्**॥ छन्दः—**प्राजापत्यानुष्टुप्**॥

धाता, अर्यमा, अग्नि

स धाता स विधर्ता स वायुर्नभ उच्छ्रितम्। रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः॥ ३॥
सो ऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः। रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः॥ ४॥
सो अग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः। रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः॥ ५॥

१. **सः**=वे प्रभु **धाता**=सबका निर्माण करनेवाले हैं (धाता)। **सः विधर्ता**=वे विशेषरूप से धारण करनेवाले हैं। **सः वायुः**=वे गति द्वारा सब बुराइयों का गन्धन (हिंसन) करनेवाले हैं। **नभः**=(णह बन्धने) वे सूत्ररूपेण सबको अपने में बाँधनेवाले हैं (मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव)। **उच्छ्रितम्**=वे प्रभु सर्वोन्नत हैं—प्रत्येक उत्तमता की चरमसीमा ही तो प्रभु हैं। इसप्रकार प्रभु-चिन्तन करनेवाले का **नभः**=मस्तिष्करूप द्युलोक **रश्मिभिः आभृतम्**=ज्ञानरश्मियों से आभृत होता है तथा **आवृतः**=ज्ञान से आवृत **महेन्द्रः एति**=प्रभु प्राप्त होते हैं। २. **सः**=वे प्रभु ही **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) हमारे काम-क्रोधादि शत्रुओं का नियमन करनेवाले हैं। **सः वरुणः**=वे वरणीय व श्रेष्ठ हैं। **सः**=वे **रुद्राः**=(रुत्-र) ज्ञानोपदेश करनेवाले हैं। **सः महादेवः**=वे महान् देव हैं। ३. **सः अग्निः**=वे प्रभु ही अग्रणी हैं, हमें आगे ले-चलनेवाले हैं। **उ**=और **सः सूर्यः**=वे प्रभु ही सूर्य हैं, हमें कर्मों में प्रेरित करनेवाले हैं (सुवति कर्मणि) **उ**=और **सः एव**=वे ही **महायमः**=सर्वमहान् नियन्ता हैं। इस प्रकार प्रभु का स्मरण करनेवाला पुरुष अपने हृदयाकाश को ज्ञानरश्मियों से परिपोषित करता है और इसे ज्ञान से आवृत प्रभु प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—हम 'धाता, विधर्ता' आदि नामों से प्रभु का स्मरण करते हुए वैसा ही बनने का प्रयत्न करें। परिणामतः हमें प्रकाश प्राप्त होगा और हमारा हृदय प्रभु का अधिष्ठान बनेगा।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्**॥ छन्दः—**प्राजापत्यानुष्टुप्**॥

दश वत्साः

तं वत्सा उप तिष्ठन्त्येकशीर्षाणो युता दश। रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः॥ ६॥
पश्चात्प्राञ्च आ तन्वन्ति यदुदेति वि भासति। रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः॥ ७॥
तस्यैष मारुतो गणः स एति शिक्याकृतः॥ ८॥
रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः॥ ९॥

१. **तम्**=उस परमात्मा को **एकशीर्षाणः**=एक आत्मारूप सिरवाले **युताः**=परस्पर मिले हुए—मिलकर कार्य करते हुए **दश वत्साः**=दस अत्यन्त प्रिय प्राण **उपतिष्ठन्ति**=समीपता से उपस्थित होते हैं। शरीर में प्राण 'प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनञ्जय', इन दस भागों में विभक्त होकर कार्य करता है। ये शरीर में प्रियतम वस्तु हैं, इनके साथ ही जीवन है। इनकी साधना से इनका अधिष्ठाता 'आत्मा' प्रभु की उपासना करनेवाला बनता है। २. ये प्राण **पश्चात्**=पीछे व **प्राञ्चः**=आगे गतिवाले **आतन्वन्ति**=शरीर की शक्तियों का विस्तार करते हैं। इस प्राणसाधना को करता हुआ जीव **यत् उदेति**=जब उत्कर्ष को प्राप्त करता है तब **विभासति**=विशिष्ट दीप्तिवाला होता है। वस्तुतः यह प्राणसाधक प्रभु की दीप्ति से

दीप्ति-सम्पन्न बनता है। ३. **एष मारुतः गणः**=यह प्राणों का गण **तस्य**=उस प्रभु का ही है। प्रभु ही जीव के लिए इसे प्राप्त कराते हैं। **सः**=वे प्रभु **शिक्याकृतः**=इन प्राणों का आधारभूत छींका बना हुआ **एति**=इस साधक को प्राप्त होता है। वस्तुतः प्रभु की उपासना प्राणशक्ति की वृद्धि का कारण बनती है। प्राणसाधना द्वारा हम प्रभु का उपासन कर पाते हैं।

भावार्थ—आत्मा अधिष्ठाता है, दस प्राण उसके वत्स हैं, प्रियतम वस्तु हैं। ये पीछे-आगे शरीर में सर्वत्र शक्ति का विस्तार करते हैं। इन प्राणों का आधार प्रभु हैं। ये प्राण हमें प्रभु-प्राप्ति में सहायक होते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्**॥ छन्दः—**१०-११ प्राजापत्यानुष्टुप्, १२ विराड्गायत्री, १३ आसुर्युष्णिक्**॥

एकः एकवृत्, एकः एव

तस्ये॒मे नव॒ कोशा॑ विष्ट॒म्भा न॑व॒धा हि॒ताः॥ १०॥
स प्र॒जाभ्यो॒ वि प॑श्यति॒ यच्च॑ प्रा॒णति॒ यच्च॒ न॥ ११॥
तमि॒दं निग॑तं॒ सहः॒ स ए॒ष एक॑ एक॒वृदेक॑ ए॒व॥ १२॥
ए॒ते अ॑स्मिन्दे॒वा ए॑क॒वृतो॑ भवन्ति॥ १३॥

१. **तस्य**=उस प्रभु के **इमे**=ये **नव**=नौ **कोशाः**=निधिरूप इन्द्रियाँ—दो कान, दो नासिका छिद्र, दो आँखें, मुख, गुदा व उपस्थ **विष्टम्भाः**=शरीर के विशिष्ट स्तम्भ हैं ये **नवधा हिताः**=नौ प्रकार से नौ स्थानों में पृथक्-पृथक् स्थापित हुए हैं। इनकी रचना में उस प्रभु की अद्भुत् महिमा दृष्टिगोचर होती है। इनके द्वारा **सः**=वे प्रभु **प्रजाभ्यः विपश्यति**=प्रजाओं का विशेषरूप से ध्यान करते हैं। **यत् च प्राणयति यत् च न**=जो भी प्रजाएँ प्राणधारण कर रही हैं और जो प्राणधारण नहीं कर रही हैं, उन सबको प्रभु धारण कर रहे हैं। २. **तम्**=उस प्रभु को **इदं सः**=वह शत्रुमर्षक बल **निगतम्**=निश्चय से प्राप्त है। **सः एषः एकः**=वे ये प्रभु एक हैं, **एकवृत्**=एक ही हैं (एकः वर्तते)। **एकः एव**=निश्चय से एक ही हैं। **अस्मिन्**=इस प्रभु में **एते देवाः**=ये सब देव **एकवृतः** (**एकस्मिन् वर्तन्ते**)=एक स्थान में होनेवाले **भवन्ति**=होते हैं। वे प्रभु सब देवों के आधार हैं, प्रभु से ही तो उन्हें देवत्व प्राप्त हो रहा है।

भावार्थ—प्रभु ने शरीर में नौ इन्द्रियों को नौ कोशों के रूप में स्थापित किया है। वे प्रभु चराचर जगत् का ध्यान करते हैं। प्रभु को शत्रुमर्षक बल प्राप्त है। प्रभु एक हैं। सब देव इस प्रभु के आधारवाले हैं।

४. [चतुर्थं सूक्तम्; द्वितीयः पर्यायः]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्**॥ छन्दः—**१४ भुरिक्साम्नीत्रिष्टुप्, १५ आसुरीपङ्क्तिः**॥

कीर्तिः च यशः च

की॒र्तिश्च॒ यश॒श्चाम्भ॑श्च॒ नभ॑श्च ब्राह्मणवर्च॒सं चान्नं॑ चा॒न्नाद्यं॑ च॥ १४॥
य ए॒तं दे॒वमे॑क॒वृतं॒ वेद॑॥ १५॥

यः=जो भी **एतं देवम्**=इस प्रकाशमय प्रभु को **एकवृतं वेद**=एकत्वेन वर्तमान जानता है, अर्थात् जो प्रभु की अद्वितीय सत्ता का अनुभव करता है, उसे **कीर्तिः च**=प्रभु-कीर्तन से प्राप्त होनेवाला यश, **यशः च**=लोकहित के कर्मों से प्राप्त होनेवाला यश, **अम्भः च**=(अभि शब्दे) ज्ञानजल, **नभः च**=प्रबन्धसामर्थ्य, **ब्राह्मणवर्चसं च**=ब्रह्मतेज, **अन्नं च**=अन्न **अन्नाद्यं च**=और अन्न

के खाने का सामर्थ्य—ये सब वस्तुएँ प्राप्त होती हैं, अर्थात् प्रभु की अद्वितीय सत्ता का साक्षात् करनेवाला व्यक्ति भौतिक व आध्यात्मिक दोनों दृष्टिकोणों से उत्कृष्ट जीवनवाला बनता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासक 'यशस्वी, ज्ञान व शक्तिसम्पन्न, ऐश्वर्यशाली व स्वस्थ' जीवनवाला बनता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्**॥ छन्दः—१६ **प्राजापत्याऽनुष्टुप्**, १७-१८ **आसुरीगायत्री**॥

अद्वितीय प्रभु

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते। य एतं देवमेकवृतं वेद॥ १६॥
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते। य एतं देवमेकवृतं वेद॥ १७॥
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते। य एतं देवमेकवृतं वेद॥ १८॥

१. **ये**=जो **एतं देवम्**=इस प्रकाशमय प्रभु को **एकवृतं वेद**=एकत्वेन वर्तमान जानता है व जानता है कि वह प्रभु **न द्वितीयः**=न दूसरा, **न तृतीयः**=न तीसरा और **न चतुर्थः अपि**=न चौथा भी **उच्यते**=कहा जाता है। **न पञ्चमः**=न पाँचवाँ, **न षष्ठः**=न छठा, **न सप्तमः**=न सातवाँ भी **उच्यते**=कहा जाता है। **न अष्टमः**=न आठवाँ, **न नवमः**=न नौवा, **न दशमः अपि**=और न ही दसवाँ **उच्यते**=कहा जाता है। प्रभु एक हैं और एक ही हैं।

भावार्थ—उस सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् प्रभु की सत्ता अद्वितीय है। दो की आवश्यकता होते ही प्रभु की सर्वज्ञता व सर्वशक्तिमत्ता विहत हो जाती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्**॥ छन्दः—१९ **प्राजापत्याऽनुष्टुप्**, २० **विराड्गायत्री**, २१ **अनुष्टुप्**॥

सर्वाधार प्रभु

स सर्वस्मै वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न। य एतं देवमेकवृतं वेद॥ १९॥
तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव। य एतं देवमेकवृतं वेद॥ २०॥
सर्वे अस्मिन्देवा एकवृतो भवन्ति। य एतं देवमेकवृतं वेद॥ २१॥

१. **सः**=वे प्रभु **यत् च प्राणति यत् च न**=जो प्राणधारण करता है और प्राणधारण नहीं करता **सर्वस्मै**=उस सबके लिए, अर्थात् सब चराचर व जंगम-स्थावर का **विपश्यति**=विशेषरूप से ध्यान करते हैं। २. **तम्**=उस प्रभु को **इदं सः**=यह शत्रुमर्षक बल **निगतम्**=निश्चय से प्राप्त है। **सः एषः**=वे ये प्रभु **एकः**=एक हैं **एकवृत्**=एकत्वेन वर्तमान हैं, **एकः एव**=एक ही हैं **सर्वे देवाः**=सूर्यादि सब देव **अस्मिन्**=इस प्रभु में **एकवृतः भवन्ति**=एक आधार में वर्तमान होते हैं। इन सबका आधार वह अद्वितीय प्रभु ही है।

भावार्थ—प्रभु सब चराचर का ध्यान करते हैं, सम्पूर्ण शत्रुमर्षक बल को प्राप्त हैं। वे प्रभु एक हैं, एक ही हैं। वे ही सब देवों के एक आधार हैं।

४. [चतुर्थं सूक्तम्; तृतीयः पर्यायः]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्**॥ छन्दः—२२ **भुरिक्प्राजापत्यात्रिष्टुप्**, २३ **आर्चीगायत्री**, २४ **त्रिष्टुप्**॥

ब्रह्म च तपः च

ब्रह्म च तपश्च कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च
ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च। य एतं देवमेकवृतं वेद॥ २२॥

भूतं च भव्यं च श्रद्धा च रुचिश्च स्वर्गश्च स्वधा च॥ २३॥
य एतं देवमेकवृतं वेद॥ २४॥

१. **यः**=जो भी **एतं देवम्**=इस प्रकाशमय प्रभु को **एकवृतं वेद**=एकत्वेन वर्तमान जानता है, वह **ब्रह्म च तपः च**=वेदज्ञान व तपस्वी जीवन को **कीर्तिं च यशः च**=प्रभु कीर्तन से प्राप्त होनेवाले यशः को तथा लोकहित में प्रवृत्तिजन्य यश को, **अम्भः च नभः च**=ज्ञानजल को व प्रबन्ध-सामर्थ्य को **ब्रह्मवर्चसं च**=ब्रह्मतेज को, **अन्नं च अन्नाद्यं च**=अन्न को व अन्न-भक्षण सामर्थ्य को, **भूतं च भव्यं च**=यशस्वी भूत व यशस्वी भविष्य को **श्रद्धा च रुचिः च**=उत्तम कर्मों में श्रद्धा व प्रीति को और परिणामतः **स्वर्गः च स्वधा च**=सुखमय स्थिति व आत्मधारण-शक्ति को प्राप्त करता है।

भावार्थ—प्रभु की अद्वितीय सत्ता में विश्वास रखनेवाला व्यक्ति भौतिक व आध्यात्मिक जीवन को उत्कृष्ट बनाता हुआ यशस्वी जीवनवाला बनता है। इसके भूत व भविष्यत् दोनों ही सुन्दर होते हैं। वर्तमान में वह उत्तम कर्मों में श्रद्धा व प्रीतिवाला होकर सुखमय स्थिति व आत्मधारणशक्ति को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्**॥ छन्दः—२५ **एकपदाऽऽसुरीगायत्री, २६ आर्च्युनुष्टुप्, २७-२८ प्राजापत्याऽनुष्टुप्**॥

मृत्यु अमृतम्

स एव मृत्युः सो३ मृतं सो३ भ्वं१ स रक्षः॥ २५॥
स रुद्रो वसुवनिर्वसुदेये नमोवाके वषट्कारोऽनु संहितः॥ २६॥
तस्येमे सर्वे यातव उप प्रशिषमासते॥ २७॥
तस्यामू सर्वा नक्षत्रा वशे चन्द्रमसा सह॥ २८॥

१. **सः एव**=वे अद्वितीय प्रभु ही **मृत्युः**=मृत्यु हैं—जीवों को प्राणों से वियुक्त करनेवाले व नया शरीर प्राप्त करानेवाले हैं। **सः अमृतम्**=वे ही मोक्षधाम को प्राप्त करानेवाले हैं। **सः अभ्वम्**=वे महान् हैं और **सः रक्षः**=वे ही सबके रक्षक हैं। २. **सः रुद्रः**=वे प्रभु ही ज्ञान देनेवाले हैं। **वसुदेये**=सब वस्तुओं के देने के कार्य में **वसुवनिः**=सब वस्तुओं का संभजन करनेवाले हैं (विभक्तारं हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः) तथा **नमो वाके**='नमः' वचनपूर्वक किये जानेवाले ब्रह्मयज्ञ में **वषट्कारः**='स्वाहा' करनेवाले के रूप में **अनुसंहितः**=निरन्तर स्मरण किये जाते हैं। प्रभु ने जीवहित के लिए अपने को दे डाला है—सर्वमहान् त्याग करनेवाले प्रभु ही हैं। वे 'आत्मदाः' हैं। ३. **इमे सर्वे यातवः**=ये सब गतिशील पिण्ड—सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि **तस्य**=उस प्रभु की **प्रशिषम् उपासते**=आज्ञा का उपासन करते हैं। ये सूर्यादि प्रभु के शासन में गति कर रहे हैं। **अमू सर्वा नक्षत्रा**=वे सब नक्षत्र **चन्द्रमसा सह**=चन्द्रमा के साथ **तस्य वशे**=उसके वश में हैं। प्रभु सब लोक-लोकान्तरों के अधिपति हैं और सब पिण्ड उस प्रभु के प्रशासन में गतिवाले हो रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु ही मृत्यु हैं, वे ही अमृत हैं। वे महान् हैं, रक्षक हैं, ज्ञानदाता हैं, वसुओं को प्राप्त करानेवाले हैं। त्यागपुञ्ज वे प्रभु नमस्करणीय हैं। सब पिण्ड प्रभु के शासन में गति कर रहे हैं।

४. [चतुर्थं सूक्तम्; चतुर्थः पर्यायः]

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आध्यात्मम्॥ छन्दः—२९, ३३ आसुरीगायत्री, ३०, ३२ प्राजापत्याऽनुष्टुप्, ३१ विराड्गायत्री, ३४ साम्न्युष्णिक्॥

'दिन व रात्रि में, अन्तरिक्ष व वायु में, द्युलोक व दिशाओं में' प्रभु का प्रकाश

स वा अह्नोऽजायत तस्मादहरजायत॥ २९॥
स वै रात्र्या अजायत तस्माद्रात्रिरजायत॥ ३०॥
स वा अन्तरिक्षादजायत तस्मादन्तरिक्षमजायत॥ ३१॥
स वै वायोरजायत तस्माद्वायुरजायत॥ ३२॥
स वै दिवो ऽजायत तस्माद् द्यौरध्यजायत॥ ३३॥
स वै दिग्भ्यो ऽजायत तस्माद्दिशो ऽजायन्त॥ ३४॥

१. **सः वा**=वे प्रभु निश्चय से **अह्नः अजायत**=दिन से प्रादुर्भूत हो रहे हैं—दिन की रचना में प्रभु की महिमा का प्रकाश हो रहा है। **तस्मात्**=उस प्रभु से ही तो **अहः अजायत**=यह दिन प्रकट किया गया है। प्रभु ने दिन (अ-हन्) का निर्माण करके मनुष्यों को एक भी क्षण नष्ट न करते हुए आगे बढ़ने का अवसर दिया है। २. इसीप्रकार **सः वै**=वे प्रभु निश्चय से **रात्र्या अजायत**=रात्रि से प्रादुर्भूत हो रहे हैं। किस प्रकार रात्रि रमयित्री=हमारी सारी थकावट को दूर करके हमें प्रफुल्लित कर देती है। **तस्मात् रात्रिः अजायत**=उस प्रभु से ही यह रात्रि प्रादुर्भूत की गई है। ३. **सः वा**=वे प्रभु निश्चय से **अन्तरिक्षात् अजायत**=इस 'वायु, चन्द्र, मेघ व विद्युत्' के आधारभूत अन्तरिक्ष से प्रकट हो रहे हैं। **तस्मात्**=उस प्रभु से ही **अन्तरिक्षं अजायत्**=यह अन्तरिक्ष प्रादुर्भूत किया गया है। ४. **सः वै**=वे प्रभु निश्चय से **वायोः अजायत**=वायु से प्रादुर्भूत हो रहे हैं। प्राणिमात्र के जीवन की कारणभूत ये वायु भी उस प्रभु की अद्भुत ही सृष्टि है। **तस्मात्**=उस प्रभु से ही **वायुः अजायत**=उस जीवनप्रद वायु का प्रादुर्भाव किया गया है। ५. **सः वै**=वे प्रभु निश्चय से **दिवः**=सूर्य के आधारभूत इस द्युलोक से **अजायत**=प्रादुर्भूत महिमावाले हो रहे हैं। सम्पूर्ण प्रकाशमय व प्राणशक्ति का स्रोत कितना अद्भुत है यह सूर्य! **तस्मात्**=उस प्रभु से ही **द्यौः**=सूर्य-प्रकाश से देदीप्यमान यह द्युलोक **अध्यजायत**=उत्पन्न किया गया है। ६. **सः वै**=वे प्रभु निश्चय से **दिग्भ्यः**=इन प्राची आदि दिशाओं से **अजायत**=प्रादुर्भूत महिमावाले हो रहे हैं। उत्तर-दक्षिण में किस प्रकार चुम्बकीय शक्ति कार्य करती है और किस प्रकार सूर्यादि सब पिण्ड पूर्व से पश्चिम की ओर गति कर रहे हैं? यह सब-कुछ अद्भुत ही है। **तस्मात्**=इस प्रभु से **दिशः अजायन्त**=इन दिशाओं का प्रादुर्भाव किया गया है।

भावार्थ—दिन व रात्रि में, अन्तरिक्ष व वायु में, द्युलोक व दिशाओं में सर्वत्र प्रभु की महिमा का प्रकाश हो रहा है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—आध्यात्मम्॥ छन्दः—३५, ३६ प्राजापत्याऽनुष्टुप्, ३७, ३८ साम्न्युष्णिक्, ३९ आसुरीगायत्री॥

'भूमि, अग्नि, जल, ऋचाओं तथा यज्ञों में' प्रभु की महिमा का प्रकाश

स वै भूमेरजायत तस्माद्भूमिरजायत॥ ३५॥
स वा अग्नेरजायत तस्मादग्निरजायत॥ ३६॥

स वा अद्भ्यो ऽजायत तस्मादापोऽजायन्त॥ ३७॥
स वा ऋग्भ्यो ऽजायत तस्मादृचो ऽजायन्त॥ ३८॥
स वै यज्ञादजायत तस्माद्यज्ञो ऽजायत॥ ३९॥

१. **सः**=वह प्रभु **वै**=निश्चय से **भूमेः**=इस भूमि से **अजायत**=प्रादुर्भूत महिमावाला हो रहा है। यह भूमि अपने से उत्पन्न होनेवाले विविध वनस्पतियों के पत्र-पुष्पों में विविध पुण्यगन्धों को प्राप्त करा रही है। किन्हीं भी दो वनस्पतियों की गन्ध एक-सी नहीं, क्या ही अद्भुत चमत्कार-सा है! **भूमिः**=यह भूमि **तस्मात्**=उस प्रभु से ही तो **अजायत**=उत्पन्न हुई है। २. **सः वा**=वह प्रभु निश्चय से **अग्नेः**=अग्नि से **अजायत**=प्रादुर्भूत होता है। मिलाने व फाड़ने (संयुक्त व वियुक्त करने) की विरोधी शक्तियों को लिये हुए यह अग्नि भी विचित्र ही तत्त्व है। **तस्मात्**=उस प्रभु से ही **अग्निः अजायत**=अग्नि उत्पन्न किया गया है। ३. **सः वा**=वह प्रभु निश्चय से **अद्भ्यः**=सब वनस्पतियों में विविध रसों का संचार करनेवाले जलों से **अजायत**=प्रादुर्भूत महिमावाला होता है। **तस्मात्**=उस प्रभु से ही तो **आपः अजायन्त**=जल प्रादुर्भूत हुए हैं। ४. **सः वा**=यह प्रभु निश्चय से **ऋग्भ्यः**=ऋचाओं से **अजायत**=प्रादुर्भूत हो रहा है। किसप्रकार ये ऋचाएँ सम्पूर्ण प्रकृति-विज्ञान को प्रकट कर रही हैं? **तस्मात् ऋचाः अजायन्त**=उस प्रभु ने सृष्टि के आरम्भ में ही इन ऋचाओं का ज्ञान दिया है। ५. **सः वै**=वह प्रभु निश्चय से **यज्ञात्**=यज्ञ से **अजायत**=प्रकट हो रहा है, किसप्रकार 'यज्ञ' पर्जन्य को उत्पन्न कर वृष्टि द्वारा अन्नों का उत्पादन करके हमारे जीवन का आधार बनता है? **तस्मात् यज्ञः अजायत**=प्रभु से ही प्रजाओं के साथ ही इस यज्ञ का भी प्रादुर्भाव किया गया है। यज्ञ ही जीवन है।

भावार्थ—'भूमि, अग्नि, जल, ऋचाओं व यज्ञों' में इस प्रभु की महिमा का प्रादुर्भाव हो रहा है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्**॥ छन्दः—**४० आसुरीगायत्री, ४१ साम्नीबृहती, ४२ प्राजापत्याऽनुष्टुप्, ४३ आर्षीगायत्री**॥

यज्ञरूप प्रभु

स यज्ञस्तस्य यज्ञः स यज्ञस्य शिरस्कृतम्॥ ४०॥
स स्तनयति स वि द्योतते स उ अश्मानमस्यति॥ ४१॥
पापाय वा भद्राय वा पुरुषायासुराय वा॥ ४२॥
यद्वा कृणोष्योषधीर्यद्वा वर्षसि भद्रया यद्वा जन्यमवीवृधः॥ ४३॥

१. **सः**=वे प्रभु **यज्ञः**=यज्ञ हैं, उपास्य हैं। **तस्य यज्ञः**=उस प्रभु का ही यज्ञ है। वस्तुतः यज्ञ प्रभु ही करते हैं। **सः**=वे प्रभु **यज्ञस्य**=यज्ञ के **शिरः कृतम्**=सिर बनाये गये हैं। 'ओ३म्' इस नाम से ही यज्ञों में सब मन्त्रों का आरम्भ किया जाता है (सैषा एकाक्षरा ऋक् 'ओ३म्' तपसोऽग्रे प्रादुर्बभूव। एष वै यज्ञस्य परस्ताद् युज्यते एषा पश्चात् एतया यज्ञस्य तायते—गो० १.१२)। २. **सः**=वे प्रभु ही वस्तुतः इन यज्ञों के होने पर **स्तनयति**=मेघ-गर्जना के रूप में गरजते हैं। **सः विद्योतते**=वे विद्युत् के रूप में द्योतित होते हैं, **उ**=और **सः**=वे ही **अश्मानं अस्यति**=ओलों की वृष्टि करते हैं, ओलेरूप पत्थरों को फेंकते हैं। ३. इसप्रकार वृष्टि के द्वारा सबके लिए अन्न उत्पन्न करते हैं। **पापाय वा**=चाहे वह पापी पुरुष हो **भद्राय वा पुरुषाय**=चाहे कल्याणी प्रकृति का कृती पुरुष हो। **वा असुरस्य**=चाहे असुर हो, आसुरी प्रकृति का हो। आप सभी के लिए **यत्**=जो **वा**=निश्चय से **ओषधीः कृणोषि**=ओषधियों को करते हैं। **यत् वा**=अथवा जो **भद्रया**

वर्षसि=कल्याण के हेतु से वृष्टि करते हैं **यत् वा**=अथवा जो **जन्यं अवीवृधः**=उत्पन्न होनेवाले प्राणियों का वर्धन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु यज्ञ हैं। यज्ञों द्वारा वे वृष्टि करते हैं। वृष्टि के द्वारा वे सभी के लिए अन्नों का उत्पादन करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्**॥ छन्दः—४४ **साम्न्यनुष्टुप**, ४५ **आसुरीगायत्री**॥

'अनन्त महिमा' प्रभु

तावांस्ते मघवन्महिमोपो ते तन्वः शतम्॥ ४४॥

उपो ते बध्वे बद्धानि यदि वासि न्यर्बुदम्॥ ४५॥

१. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशाली प्रभो! **तावान् ते महिमा**=उतनी तेरी महिमा है, जितना विस्तृत यह ब्रह्माण्ड है। यह सब तेरी ही तो महिमा है। **उपो**=और **ते तन्वः शतम्**=ये सब आपके ही सैकड़ों शरीर हैं। २. **उपो**=और **ते बध्वे**=आपके नियमों के बन्धन में ये सब पिण्ड **बद्धानि**=बँधे हुए हैं। हे प्रभो! **यदि वा**=अथवा आप **न्यर्बुदम् असि**=असंख्यों ही रूपों में हैं अथवा (अर्व गतौ) सर्वत्र प्राप्त हैं, निरन्तर व्यापक हैं।

भावार्थ—यह ब्रह्माण्ड प्रभु की ही महिमा है। सब लोक-लोकान्तर प्रभु के ही सैकड़ों शरीर हैं। ये सब प्रभु के नियम-बन्धन में बद्ध हैं। प्रभु इन सबमें व्याप्त हो रहे हैं।

४. [चतुर्थं सूक्तम्; पञ्चमः पर्यायः]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्**॥ छन्दः—४६ **आसुरीगायत्री**, ४७ **यवमध्यागायत्री**॥

विभूः प्रभूः

भूयानिन्द्रो नमुराद्भूयानिन्द्रासि मृत्युभ्यः॥ ४६॥

भूयानरात्याः शच्याः पतिस्त्वमिन्द्रासि विभूः प्रभूरिति त्वोपास्महे वयम्॥ ४७॥

१. **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **न-मुरात्**=न नष्ट होनेवाले कारणजगत् से **भूयान्**=बड़े हैं, अधिक हैं, इसीप्रकार **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशाली प्रभो! आप **मृत्युभ्यः**=न मरणधर्मा कार्यजगत् से **भूयान् असि**=अधिक हैं। यह प्रकृति व प्रकृतिजनित सारा ब्रह्माण्ड प्रभु के एक देश में ही है। २. हे प्रभो! आप **अरात्याः**=मानव-शान्ति की नाशिका अशुभवृत्ति से **भूयान्**=अधिक हैं। आपके उपासक को यह 'अराति' विनष्ट शान्तिवाला नहीं कर पाती। हे **इन्द्र**=प्रभो! आप **शच्याः पतिः असि**=शक्ति व प्रज्ञान के पति हैं। **वयम्**=हम **त्वा**=आपको **विभूः**=सर्वव्यापक तथा **प्रभूः**=सर्वशक्तिमान् **इति**=इस रूप में **उपास्महे**=उपासित करते हैं।

भावार्थ—यह कारणजगत् व कार्यजगत् प्रभु के एक देश में है। प्रभु अपने उपासक की शान्ति को नष्ट नहीं होने देते। वे शक्ति व प्रज्ञान के स्वामी हैं। प्रभु सर्वव्यापक व सर्वशक्तिमान् हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्**॥ छन्दः—४८ **साम्न्युष्णिक्**, ४९ **निचृत्साम्नीबृहती**॥

प्रभु की कृपादृष्टि

नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत॥ ४८॥

अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन॥ ४९॥

१. हे **पश्यत**=सर्वद्रष्टः प्रभो! **नमस्ते अस्तु**=आपके लिए नमस्कार हो। हे **पश्यत**=सबका ध्यान करनेवाले प्रभु **मा पश्य**=आप मुझे देखिए, मुझपर अपनी कृपादृष्टि सदा बनाये रखिए।

आप मुझे **अन्नाद्येन**=अन्न के खाने के सामर्थ्य से, **यशसा**=यश से, **तेजसा**=तेज से तथा **ब्राह्मणवर्चसेन**=ब्रह्मवर्चस् से युक्त कीजिए।

भावार्थ—हे प्रभो! आपकी कृपादृष्टि हमें प्राप्त हो। आप हमें 'अन्नाद्य, यश, तेज व ब्रह्मवर्चस्' प्राप्त कराइए।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्**॥ छन्दः—**५० प्राजापत्याऽनुष्टुप्, ५१ विराड्गायत्री**॥

प्रभु सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और शत्रुमर्षक

अम्भो अमो महः सह इति त्वोपास्महे वयम्। नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत।
अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन॥ ५०॥
अम्भो अरुणं रजतं रजः सह इति त्वोपास्महे वयम्।
नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत। अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन॥ ५१॥

१. हे प्रभो! **वयम्**=हम **त्वा**=आपको **अम्भः**=सर्वव्यापक (आप् व्याप्तौ) **अमः**=सर्वज्ञ (अम् गतौ) **महः**=पूजनीय व शक्तिसम्पन्न तथा **सहः**=शत्रु-सेना का मर्षण करनेवाले **इति**=के रूप में **उपास्महे**=उपासित करते हैं। २. **अम्भः**=सर्वव्यापक **अरुणम्**=प्रकाशस्वरूप **रजतम्**= आनन्दस्वरूप **रजः**=(ज्योतिः रज उच्यते —नि० ४.१९) तेजःस्वरूप, **सहः**=शत्रुओं का मर्षण करनेवाले **इति**=के रूप में **वयम्**=हम **त्वा**=हे प्रभो! आपका **उपास्महे**=उपासन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु सर्वव्यापक, सर्वज्ञ, पूजनीय, प्रकाशरूप, आनन्दस्वरूप, तेजस्वरूप व शत्रुओं को कुचल देनेवाले हैं।

४. [चतुर्थं सूक्तम्: षष्ठः पर्यायः]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आध्यात्मम्**॥ छन्दः—**५२, ५३ प्राजापत्याऽनुष्टुप्, ५४ द्विपदाऽर्षीगायत्री, ५५ साम्न्युष्णिक्, ५६ निचृत्साम्नीबृहती**॥

उरुः पृथुः भवद्वसुः

उरुः पृथुः सुभूर्भुव इति त्वोपास्महे वयम्।
नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत।
अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन॥ ५२॥
प्रथो वरो व्यचो लोक इति त्वोपास्महे वयम्।
नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत।
अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन॥ ५३॥
भवद्वसुरिदद्वसुः संयद्वसुरायद्वसुरिति त्वोपास्महे वयम्॥ ५४॥
नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत॥ ५५॥
अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन॥ ५६॥

१. हे प्रभो! **वयम्**=हम **त्वा**=आपको **उरुः**=सर्वोत्तम (Excellent) **पृथुः**=सर्वमहान् (Important) **सुभूः**=उत्तम शक्तिरूप में सब पदार्थों में वर्तमान **भुवः**=सबका उत्पत्ति-स्थान **इति**=इस रूप में **उपास्महे**=उपासित करते हैं। २. हे प्रभो! **वयम्**=हम **त्वा**=आपको **प्रथः**=सर्वज्ञ विस्तृत **वरः**=सर्वश्रेष्ठ, वरणीय **व्यचः**=सर्वव्यापक, **लोकः**=सर्वद्रष्टा **इति**=इस रूप में **उपास्महे**= उपासित करते हैं। ३. हे प्रभो! **वयम्**=हम **त्वा**=आपको **भवद्वसुः**=(भवन्ति वसूनि यस्मात्) सब

वसुओं का उद्भव, **इदद्वसुः**=(इन्दन्ति वसवः श्रेष्ठाः यस्मात्) श्रेष्ठों को ऐश्वर्यशाली बनानेवाला, **संयद्वसुः**=पृथिवी आदि सब वसुओं का नियमन करनेवाला, **आयद्वसुः**=सब निवास-साधनों का विस्तार करनेवाला (आयच्छति विस्तारयति इति) **इति**=इस रूप में **उपास्महे**=उपासित करते हैं।
४. हे **पश्यत**=सर्वद्रष्टः प्रभो! **ते नमः अस्तु**=आपके लिए नमस्कार हो। **पश्यत**=हे सर्वद्रष्टः! **मा पश्य**=आप मेरा पालन कीजिए (Look-after) मुझे 'अन्नाद्य, यश, तेज व ब्रह्मवर्चस्' प्राप्त कराइए।

भावार्थ—प्रभु उरु हैं, पृथु हैं, भवद्वसु हैं। ये सर्वद्रष्टा प्रभु मुझे अन्नाद्य, यश, तेज व ब्रह्मवर्चस् प्राप्त कराएँ।

॥ इति त्रयोदशं काण्डम्॥

अथ चतुर्थदशं काण्डम्

अथैकोनत्रिंशः प्रपाठकः

अथ प्रथमोऽनुवाकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—**सावित्री** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'सत्य, सूर्य, ऋत, सोम'

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधि श्रितः॥ १॥

१. इस सारे काण्ड का ऋषि व देवता सूर्या सावित्री ही है। यह गृहपत्नी का नाम रक्खा गया है। स्पष्ट है कि पति को सूर्यसम ज्ञानदीप्त होना चाहिए तथा पत्नी सावित्री हो—बच्चों को व घरवालों को सदा उत्तम प्रेरणा देनेवाली। सूर्या सावित्री कहती है कि **सत्येन भूमिः उत्तभिता**=सत्य से पृथिवी थामी गई है। पृथिवी सत्य पर ही आश्रित है। विशेषतः घर में पति-पत्नी का सत्य-व्यवहार ही उसके गृहस्थ-जीवन को सुखी बना सकता है। असत्य से वे परस्पर आशंकित मनोवृत्तिवाले होंगे और गृहस्थ के मूलतत्त्व 'प्रेम' को खो बैठेंगे। २. **सूर्येण द्यौः उत्तभिता**=सूर्य से द्युलोक थामा गया है। द्युलोकत्व इस सूर्य के कारण ही है। सूर्य ज्ञान का प्रतीक है। ज्ञान के बिना घर प्रकाशमय नहीं लगता। ज्ञान से ही मापक ऊँचा उठता है। ज्ञान के अभाव में मनुष्य 'मनुष्य' ही नहीं रहता। ज्ञानशून्य घर का जीवन पशुतुल्य हो जाता है। ३. **आदित्याः**=**अदिति**=अदीना देवमाता के पुत्र, अर्थात् देव **ऋतेन**=ऋत से—नियमितता व यज्ञ से **तिष्ठन्ति**=स्थित होते हैं। जहाँ ऋत होता है वहाँ घर के व्यक्ति 'देव' बनते हैं। घर का तीसरा सूत्र 'ऋत' है। सब कार्यों को व्यवस्था से करना आवश्यक ही है। घर में यज्ञों का होना उतना ही आवश्यक है। ये यज्ञ ही घर को स्वर्ग बनाते हैं। **सोमः**=वीर्य **दिवि अधिश्रितः**=ज्ञान में आश्रित है। सोम के रक्षण के लिए स्वाध्याय की वृत्ति आवश्यक है। यह सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। साथ ही इस सोम का रक्षण करनेवाले पति-पत्नी उत्तम सन्तानों को जन्म देते हैं।

भावार्थ—उत्तम घर वह है, (क) जहाँ सत्य है, (ख) ज्ञान प्रवणवत्ता है, (ग) ऋत का पालन होता है—यज्ञमय जीवन होता है और (घ) सोम का रक्षण होता है।

ऋषिः—**सावित्री** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देवत्व शक्ति व विज्ञान

सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही।
अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः॥ २॥

१. **सोमेन**=शरीर में सोम (वीर्य) के रक्षण से ही **आदित्याः**=अदीना देवमाता के पुत्र, अर्थात् देव **बलिनः**=बलवाले होते हैं। सोम रक्षण से ही वे देव बन पाते हैं। शरीर में उत्पन्न होनेवाला, भोजन के रूप में ग्रहण की गई ओषधियों का सारभूत यह सोम (वीर्य) ही है। इसका रक्षण ही देवों को देवत्व प्राप्त कराता है। **सोमेन**=सोम से ही **पृथिवी**=शरीररूप पृथिवी **मही**=महनीय व महत्त्वपूर्ण बनती है। शरीर में सब वसुओं—निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों

का स्थापन इस सोम के द्वारा ही होता है। २. उ=और **अथ**=अब **एषां नक्षत्राणां उपस्थे**=इन विविध विज्ञान के नक्षत्रों की उपासना के निमित्त **सोमः**=यह सोम (वीर्य) **आहितः**=शरीर में स्थापित किया गया है। इस सोम के रक्षण से ज्ञानाग्नि तीव्र होती है और इस प्रकार मनुष्य अपने मस्तिष्क-गगन में ज्ञान के नक्षत्रों का उदय कर पाता है।

भावार्थ—सोम रक्षा के तीन महत्त्वपूर्ण परिणाम हैं—(क) हृदय में देववृत्ति का प्रादुर्भाव, (ख) शरीर में शक्ति का स्थापन और (ग) मस्तिष्क में विज्ञान के नक्षत्रों का उदय।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सोमपान का वास्तविक रूप

सोमं मन्यते पपिवान्यत्संपिंषन्त्योषधिम्।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति पार्थिवः॥ ३॥

१. 'सोम ओषधीनामाधिष्ठाता', 'सोम वीरुधां पते', 'गिरिषु हि सोमः' इन ब्राह्मणग्रन्थों के वाक्यों से यह स्पष्ट है कि सोम एक लता है, जो पर्वतों पर उत्पन्न होती है और अत्यन्त गुणकारी है, परन्तु प्रस्तुत प्रकरण में सोम का भाव इस वानस्पतिक ओषधि से नहीं है। यहाँ तो 'रेतः सोमः' वीर्यशक्ति ही सोम है। मन्त्र में कहते हैं कि **यत्**=जो **ओषधिं संपिषन्ति**=ओषधी को सम्यक् पीसते हैं और उसका रस निकालकर **मन्यते**=मानते हैं कि **सोमं पपीवान्**=हमने सोम पी लिया है। उनकी यह धारणा ठीक नहीं। २. **यं सोमम्**=जिस सोम को **ब्रह्माणः विदुः**=ज्ञानी पुरुष जानते हैं, **तस्य**=उस सोम का **पार्थिवः**=पार्थिव भोगों में ग्रसित पुरुष **न अश्नाति**=भक्षण नहीं कर सकता। सोम तो शरीर में उत्पन्न होनेवाला वीर्य है। पार्थिव भोगों से ऊपर उठा हुआ ज्ञानी पुरुष ही इसको शरीर में सुरक्षित करके इसे ज्ञानाग्नि का ईंधन बनाता है। दीप्त ज्ञानाग्निवाला बनकर ब्रह्मदर्शन का अधिकारी होता है।

भावार्थ—सोमलता के रस का पान करना सोमपान नहीं है। वीर्य का रक्षण ही सोमपान है। भौतिकवृत्तिवाला पुरुष इस सोम का पान नहीं कर पाता, ज्ञानी ही इस सोम का पान करता है।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**सोमः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आप्यायन व दीर्घजीवन

यत्त्वा सोम प्रपिबन्ति तत आ प्यायसे पुनः।
वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः॥ ४॥

१. हे **सोम**=वीर्यशक्ते! **यत्**=जब ज्ञानी पुरुष **त्वा प्रपिबन्ति**=तुझे प्रकर्षेण शरीर में ही पीने का प्रयत्न करते हैं **ततः**=तब **पुनः आप्यायसे**=फिर से तू शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों की शक्ति को आप्यायित कर देता है। तू शरीर को पुष्ट, मन को निर्मल व बुद्धि को तीव्र बनाता है। २. **वायुः सोमस्य रक्षिता**=वायु सोम का रक्षण करनेवाला है। वायु अर्थात् प्राणों की साधना शरीर में वीर्य की ऊर्ध्वगति का कारण बनती है। इस ऊर्ध्वगति से **मासः**=(मस्यते to change form) शरीर की आकृति को परिवर्तित कर देनेवाला, क्षीण अङ्गों को फिर से आप्यायित कर देनेवाला यह सोम **समानां आकृतिः**=वर्षों का बनानेवाला होता है, अर्थात् सोमरक्षण से दीर्घ आयुष्य प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा सोम की ऊर्ध्वगति होती है। शरीर में रक्षित सोम सब अङ्ग-प्रत्यङ्गों की शक्ति को बढ़ानेवाला व दीर्घजीवन प्राप्त करानेवाला होता है।

ऋषिः—**सावित्री** ॥ देवता—**सोमः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वासनाओं का उद्बर्हण व ज्ञानप्रवणता

आच्छद्विधानैर्गुपितो बार्हतैः सोम रक्षितः।
ग्राव्णामिच्छृण्वन्तिष्ठसि न ते अश्नाति पार्थिवः ॥ ५ ॥

१. **आच्छत् विधानैः**=समन्तात् आवरण के उपायों से—सब ओर से आक्रमण करनेवाली वासनाओं को दूर रखने के उपायों से **गुपितः**=यह सोम सुरक्षित हुआ है। **बार्हतैः**=वासनाओं के उद्बर्हणों, समूल विनाशों के द्वारा **सोमः रक्षितः**=सोम शरीर में रक्षित होता है। धान्य के रक्षण के लिए घास-फूँस का उद्बर्हण आवश्क होता है, इसीप्रकार सोम के रक्षण के लिए वासनाओं का हृदयक्षेत्र से उद्बर्हण आवश्यक है। २. हे सोम! तू **इत्**=निश्चय से **ग्राव्णाम्**=ज्ञानी स्तोताओं की ज्ञान-चर्चाओं को **शृण्वन्**=सुनता हुआ **तिष्ठसि**=शरीर में स्थित होता है। जो मनुष्य ज्ञानप्रधान जीवन बिताता है, यह सोम उसकी ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर उसकी ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है। एवं, शरीर में उपयुक्त हुआ-हुआ यह सोम नष्ट नहीं होता। **पार्थिवः ते न अश्नाति**=हे सोम! पार्थिव भोगों में आसक्त पुरुष तेरा सेवन नहीं करता। भोगासक्ति सोमरक्षा की विरोधिनी है।

भावार्थ—सोम-रक्षण के लिए वासनाओं का उद्बर्हण आवश्यक है, उसके लिए ज्ञानप्रवणता उत्तम साधन है।

ऋषिः—**सावित्री** ॥ देवता—**विवाहः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वास्तविक सम्पत्ति

चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम्। द्यौर्भूमिः कोश आसीद्यदयात्सूर्या पतिम् ॥ ६ ॥

१. **यत्**=जब **सूर्या पतिम् अयात्**=सविता की पुत्री—उज्ज्वल ज्ञानवाली यह सूर्या अपने पति के गृह को जाती है उस समय **द्यौः भूमिः**=ज्ञानदीप्त मस्तिष्क तथा पृथिवी के समान दृढ़ शरीर इसके **कोशः आसीत्**=वास्तविक धन थे। ज्ञान व शक्ति ही इसका कोश था। इस कोश को लेकर ही यह पतिगृह को प्राप्त हुई। २. उस समय **चित्तिः**=ज्ञान व समझदारी **उपबर्हणम् आः (आसीत्)**=इसका सिरहाना था। जैसे-सिरहाना सिर को सहारा देता है उसीप्रकार इस कन्या की समझदारी ही इसे समस्याओं के सुलझाने में सहायक होती है। **चक्षुः अभ्यञ्जनम् आः**=इसका ठीक दृष्टिकोण व स्नेहपूर्ण दृष्टि ही सुरमा था। अञ्जन आँख के अभ्यञ्जन, सौन्दर्यवर्धन का कारण होता है। इसीप्रकार इसका ठीक दृष्टिकोण व स्नेहपूर्ण दृष्टि इसके सौन्दर्य को बढ़ानेवाली थी।

भावार्थ—कन्या की योग्यता यह है कि वह समझदार हो (चित्तिः), उसका दृष्टिकोण ठीक हो तथा वह स्नेहपूर्ण दृष्टिवाली हो (चक्षुः)। यह मस्तिष्क के ज्ञान व शरीर के बलरूप कोश को लेकर पतिगृह को प्राप्त हो।

ऋषिः—**सावित्री** ॥ देवता—**विवाहः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

रैभी नाराशंसी, भद्रं गाथा

रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी। सूर्याया भद्रमिद्वासो गाथयैति परिष्कृता ॥ ७ ॥

१. विवाह के समय **रैभी**=प्रभु-स्तवन करनेवाली ऋचा ही **अनुदेयी**=इसका दहेज **आसीत्**=था। पिता कन्या को ऋचाओं द्वारा प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाली बनाता है। यह स्तुतिवृत्तिवाली बना देना ही सर्वोत्तम दहेज देना है। **नाराशंसी**=नर-समूह के शंसन की वृत्ति, सबकी प्रशंसा

करने की वृत्ति और कमियों की ओर ध्यान न देने की वृत्ति ही इसका **न्योचनी**=कुर्त्ता होता है अथवा वीर पुरुषों के चरितों का शंसन, अर्थात् इनका इतिहास ज्ञान ही इस युवति का समुचित वस्त्र है। २. **भद्रं इत् सूर्यायाः वासः**=इस युवति की भद्रता ही इसका ओढ़ने का वस्त्र है। **गाथया**=प्रभु गुणगान से **परिष्कृता**=अलंकृत हुई-हुई यह युवति **एति**=पतिगृह की ओर आती है।

भावार्थ—कन्या को स्तुतिवृत्तिवाला बना देना ही सच्चा दहेज है। सदा दूसरों के गुणों को देखने की वृत्तिवाला होना ही इसका कुर्त्ता है। यह युवति किसी के भी अवगुणों की ओर ध्यान नहीं देती, अतः निन्दा नहीं करती। इसका वस्त्र इसकी भद्रता है, शिष्टाचार है। यह प्रभु-गुणगान की वृत्ति से परिष्कृत जीवनवाली बनकर पतिगृह को प्राप्त होती है।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

जीवन-साथी का अन्वेषण

स्तोमा आसन्प्रतिधयः कुरीरं छन्द ओपशः।
सूर्याया अश्विना वराग्निरासीत्पुरोगवः॥ ८॥

१. **स्तोमाः**=प्रभु के स्तोम ही नवयुवति को **प्रतिधयः आसन्**=(प्रतिधि=Food) भोजन दें। जिसप्रकार अन्न का भोजन शरीर की पुष्टि का कारण बनता है, उसीप्रकार प्रभु के स्तोत्र इसकी अध्यात्म पुष्टि का कारण बनते हैं। **छन्दः**=वासनाओं से बचानेवाले (छद आवरणे) वेदमन्त्र ही इसके **कुरीरम्** शिरोवस्त्र (A kind of head dress for women) व **ओपशः**=शिरोभूषण थे। इन छन्दों के द्वारा ही इसके मस्तिष्क की शोभा थी। २. **सूर्यायाः**=सूर्या के **अश्विना**=माता-पिता कर्मव्याप्त (अशू व्याप्तौ) जनक व जननी ही **वरा**=इसके साथी का वरण करनेवाले थे। उन्होंने सूर्या के जीवनसंगी को ढूँढने का काम आरम्भ किया। इनके इस कार्य में **अग्निः पुरोगवः आसीत्**=ज्ञानी ब्राह्मण ही इनका अगुआ, पथप्रदर्शक था। वस्तुतः विद्यार्थियों के आचार्य ही अग्नि हैं। वे इनके शिक्षक होने से इनके गुण-कर्म-स्वभावों से परिचित होने के कारण ठीक चुनाव कर पाते हैं। वे आचार्य परामर्श देते हैं। उस परामर्श से माता-पिता देखभाल करते हैं और अन्त में सन्तानों की स्वीकृति होने पर ये सम्बन्ध परिपक्व हो जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु-स्तोत्र ही सूर्या का भोजन है। वेदमन्त्र ही उसके शिरोवस्त्र व शिरोभूषण हैं। माता-पिता इस सूर्या के जीवनसाथी को ढूँढने का यत्न करते हैं। आचार्य इस कार्य में उनका सहायक होता है।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'सूर्या व सोम' का परिणय

सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभा वरा। सूर्यां यत्पत्ये शंसन्तीं मनसा सवितादंदात्॥ ९॥

१. पत्नी को 'सूर्या' बनना चाहिए तो पति को 'सोम'। पति शरीर में सोम का रक्षण करता हुआ सोमशक्ति का पुञ्ज बने। सोमरक्षण से वह अत्यन्त सौम्य स्वभाव का बन पाएगा। यह **सोमः**=सोमशक्ति का रक्षक व सौम्य स्वभाव का युवक **वधूयुः अभवत्**=वधू की कामनावाला हुआ, **उभा अश्विना**=दोनों माता-पिता **वरा**=उसके साथी का चुनाव करनेवाले **आस्ताम्** थे। २. 'सूर्या' के माता-पिता उसके लिए योग्य साथी की खोज में थे। 'सोम' युवक के माता-पिता भी उसके लिए एक योग्य युवति की खोज में थे। **अग्निः**=ज्ञानी आचार्य ने उन्हें उचित परामर्श दिया। **यत्**=जब उसके सुझाव पर **पत्ये शंसन्तीम्**=पति का शंसन करनेवाली **सूर्याम्**=सूर्या

को **सविता**=जन्म देनेवाले पिता ने **मनसा**=पूरे मन से **अददात्**=सोम के लिए दे दिया। इसप्रकार सूर्या का सोम के साथ विवाह सम्पन्न हो गया।

भावार्थ—युवक की विवाह करने की इच्छा हुई। माता-पिता ने खोज की और आचार्य के परामर्श से माता-पिता ने अपनी कन्या को वर को सौंप दिया।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाह**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वधू का रथ

मनो अस्या अन आसीद् द्यौरासीदुत च्छदिः।
शुक्रावनड्वाहावास्तां यदयात्सूर्या पतिम्॥ १०॥

१. **यत्**=जब **सूर्या**=सावित्री **पतिं अयात्**=पति को प्राप्त हुई तब **अस्याः**=इस सूर्या का **मनः**=मन ही **अनः आसीत्**=रथ था। यह अपने मनोरथ पर आरूढ़ होकर पतिगृह को गई, इच्छापूर्वक यह पति को प्राप्त हुई। इसका सम्बन्ध माता-पिता ने इसकी इच्छा के बिना नहीं किया। उस समय मन तो रथ था, **उत**=और **द्यौः**=मस्तिष्क **छदिः आसीम्**=छत थी। उस रथ का रक्षक मस्तिष्क था। केवल हृदय की भावुकता के कारण यह सम्बन्ध नहीं हुआ था, यह सम्बन्ध मस्तिष्क से, अर्थात् सब बातें सोच-विचारकर किया गया था। २. इस मनोमय रथ की छत मस्तिष्क बना तो **शुक्रौ**=गतिशील कर्मेन्द्रियाँ (शुक् गतौ) तथा दीप्त ज्ञानेन्द्रियाँ (शुच दीप्तौ), इस रथ के **अनड्वाहौ आस्ताम्**=वृषभ थे। इसकी कर्मेन्द्रियाँ कर्मनिपुण होती हुईं इसे सशक्त बना रही थी और ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञानप्राप्ति में कुशल होती हुईं इसे ज्ञानदीप्त कर रहीं थी। यह शक्ति व ज्ञान ही इस रथ के संचालक थे।

भावार्थ—पति के चुनाव में सूर्या भी सहमत थी। यह सम्बन्ध भावुकता के कारण न होकर सोच-समझकर किया गया था। सूर्या की कर्मेन्द्रियाँ व ज्ञानेन्द्रियाँ गृहस्थ की गाड़ी को खेंचने में सशक्त बनीं थीं।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'ज्ञान व श्रद्धा के समन्वय' से कार्य तत्परता

ऋक्सामाभ्यामभिहितौ गावौ ते सामनावैताम्।
श्रोत्रे ते चक्रे आस्तां दिवि पन्थाश्चराचरः॥ ११॥

१. गतमन्त्र के मनोमय रथ में **ते गावौ**=वे ज्ञानन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँरूप वृषभ **ऋक्सामाभ्याम्**=विज्ञान व उपासना से **अभिहितौ**=प्रेरित हुए-हुए थे, अर्थात् इन्द्रियों के सब व्यवहारों में विज्ञान व उपासना का समन्वय था। इसका प्रत्येक कार्य 'ज्ञान व श्रद्धा' के मेल से हो रहा था, इसीलिए ये इन्द्रियरूप वृषभ **सामनौ एताम्**=बड़ी शान्तिवाले होकर गति कर रहे थे, अर्थात् यह सूर्या ज्ञान व श्रद्धा से सम्पन्न होकर शान्तभाव से सब कार्यों को करती थी। २. **श्रोत्रे ते चक्रे आस्ताम्**=कान ही रथ के वे चक्र थे। 'चक्र' गति का प्रतीक है, श्रोत्र सुनने का। सूर्या सुनती थी और उसके अनुसार करती थी। उसका यह **चराचरः**=अत्यन्त क्रियाशील (भृशं चरति) **पन्थाः**=जीवन का मार्ग **दिवि**=ज्ञान में आश्रित था, अर्थात् सूर्या की सब क्रियाएँ ज्ञानपूर्वक होती थीं। वह किसीप्रकार के रुढ़िवाद में फँसी हुई न थी।

भावार्थ—'सूर्या' ज्ञान व श्रद्धा से युक्त होकर शान्तभाव से ज्ञानपूर्वक निरन्तर क्रियामय जीवनवाली होती है।

ऋषि:—सावित्री ॥ देवता—विवाह: ॥ छन्द:—अनुष्टुप् ॥

'प्राण, अपान, व्यान' की ठीक स्थिति

शुची॑ ते च॒क्रे या॒त्या व्या॒नो अक्ष॒ आह॑तः।
अनो॑ मन॒स्मयं॑ सू॒र्यारो॑हत्प्रय॒ती पति॑म्॥ १२॥

१. **पतिं प्रयती**=पतिगृह की ओर जाती हुई **सूर्या**=सूर्या **मनस्मयं अनः**=मन के बने रथ पर **आरोहत्**=आरूढ़ हुई, अर्थात् मन में उत्साह व प्रेम से परिपूर्ण होकर पतिगृह को हृदय से चाहती हुई चली। २. उस समय **यात्याः**=जाती हुई सूर्या के रथ के **ते चक्रे**=वे चक्र **शुची**=पवित्र प्राणापान ही थे और उन प्राणापानरूप चक्रों में **व्यानः अक्षः आहतः**=व्यान अक्ष के रूप में लगा हुआ था (प्राणापाणे पवित्रे—तै० ३.२.४.४)। प्राणापान ही शुची व पवित्र हैं। ये यदि रथ के पहिये हैं तो व्यान उनका अक्ष है। 'भूः' इति प्राणाः, 'भुवः' इति अपानाः, 'स्वः', इति व्यानः—इन ब्राह्मणग्रन्थों के शब्दों में 'भूः, भुवः, स्वः' ही प्राणापान व व्यान हैं। अध्यात्म में 'भूः' शरीर है, 'भुवः' हृदयान्तरिक्ष है, 'स्वः' मस्तिष्करूप द्युलोक है। सूर्या के ये तीनों ही लोक बड़े ठीक हैं। इनको ठीक बनाकर वह मनोमय रथ पर आरूढ़ हुई है। ये रथ ही उसे पतिगृह की ओर ले-जा रहा है।

भावार्थ—सूर्या के 'प्राण, अपान, व्यान' ठीक कार्य करनेवाले हैं, अतएव वह पूर्ण स्वस्थ व उल्लासमय मनवाली है। प्रसन्नता से पतिगृह की ओर चली है।

ऋषि:—सावित्री ॥ देवता—विवाह: ॥ छन्द:—अनुष्टुप् ॥

गोदान

सू॒र्याया॑ वह॒तुः प्राग॑ात्सवि॒ता यम॒वासृ॑जत्।
म॒घासु॑ ह॒न्यन्ते॒ गाव॒: फल्गु॑नीषु॒ व्यु॑ह्यते॥ १३॥

१. **सूर्यायाः वहतु प्रागात्**=सूर्या का दहेज (गाय के रूप में दिया जानेवाला सामान) आज गया है। **सविता**=सूर्या के जन्मदाता पिता ने **यम् अवासृजत्**=जिसको दिया है या भेजा है। **मघासु**=मघा नक्षत्र में **गावः हन्यन्ते**=दहेज के रूप में दी जानेवाली गौएँ भेजी जाती हैं (हन् गतौ) और **फल्गुनीषु**=फल्गुनी नक्षत्र में **पर्यूह्यते**=कन्या का विवाह कर दिया जाता है। २. मघा नक्षत्रवाली पूर्णिमा माघी कहलाती है और फल्गुनी नक्षत्रवाली पूर्णिमा फाल्गुनी। एवं विवाह से एक मास पूर्व गोदान-विधि सम्पन्न हो जाती है। ये गौ इसलिए दी जाती है कि गुरुकुल में शिक्षित होनेवाला यह तपःकृश युवक गोदुग्ध से आप्लावित शरीरवाला हो जाए।

भावार्थ—गोदान-विधि विवाह से एक मास पूर्व सम्पन्न हो जाती है।

ऋषि:—सावित्री ॥ देवता—विवाह: ॥ छन्द:—विराट्प्रस्तारपङ्क्तिः ॥

सम्बन्ध करवानेवाले मूल पुरुष के विषय में

यद॑श्विना पृ॒च्छमा॑ना॒वया॑तं त्रिच॒क्रेण॑ वह॒तुं सू॒र्याया॑:।
क्वैकं॑ च॒क्रं वा॑मासी॒त्क्व॑ दे॒ष्ट्राय॑ तस्थथुः॥ १४॥

१. **यत्**=जब **अश्विना**=लड़के के (वर के) माता-पिता (पति-पत्नी) **सूर्यायाः**=सूर्या के **वहतुम्**=विवाह के दहेज को **पृच्छमानौ**=चाहते हुए (पूछते हुए, ask for) **त्रिचक्रेण आयातम्**=तीन चक्रों से आते हैं, अर्थात् सामन्यतः वर पक्ष के माता-पिता तीन चक्कर लगाते हैं। पहले चक्कर में तो वे कन्यापक्ष के लोगों के विषय में जानकारी प्राप्त करने के लिए किसी परिचित मित्र के यहाँ आते हैं। उस समय अपना कोई व्यक्ति उनके साथ नहीं होता। ये गुप्तरूप से ही जानकारी

प्राप्त कर लौट जाते हैं। अब सम्बन्ध ठीक हो जाने पर 'वहतु' के लिए दूसरा चक्कर लगता है। इस समय बिरादरी के व नगर के सज्जन भी साथ होते हैं। तीसरा चक्कर विवाह-कार्य के लिए होता है। मन्त्र 'त्रिचक्रेण' शब्द इन्हीं चक्करों का संकेत कर रहा है। २. विवाह के समय उपस्थित सब देव (सज्जन) वर के माता-पिता से स्वभावतः पूछते हैं कि इस सम्बन्ध को करवाने में किन-किन सज्जनों का मुख्य स्थान है? आप पहले कहाँ आकर ठहरे थे? **वाम्**=आप दोनों का **एकं चक्रम्**=प्रथम चक्कर **क्व आसीत्**=कहाँ हुआ था? सूर्या के विषय में **देष्ट्राय**=विविध निर्देशों को पाने के लिए **क्व तस्थथुः**=आप किनके यहाँ ठहरे थे?

भावार्थ—विवाह में उपस्थित होने पर उन सज्जन के विषय में वर के माता-पिता से पूछते हैं कि 'आप पहले पहल आकर कहाँ ठहरे? किससे आपको सब बातों का ज्ञान हुआ?'

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहः**॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः**॥

वृत युवक द्वारा नये माता-पिता का वरण

यदयातं शुभस्पती वरेयं सूर्यामुप।

विश्वेदेवा अनु तद्वामजानन्पुत्रः पितरमवृणीत पूषा॥ १५॥

१. **यत्**=जब **शुभस्पती**=सब शुभ कर्मों का रक्षण करनेवाले युवक के माता-पिता **सूर्यां वरेयम्**=सूर्या के वरण के लिए **उप अयातम्**=यहाँ समीप प्राप्त हुए तो **विश्वेदेवाः**=सब देव—समझदार लोग साथ आये हुए अनुभवी, वृद्ध सज्जन **वाम्, तत्**=आप दोनों के उस कार्य की **अनु अजानन्**=अनुज्ञा देनेवाले हुए। सबने सम्बन्ध को सराहा। २. ऐसा हो जाने पर—सब बड़ों की अनुज्ञा मिल जाने पर **पूषा पुत्रः**=अपना ठीक प्रकार से पोषण करनेवाला वृत युवक—वर के रूप में आया हुआ युवक **पितरं अवृणीत**=कन्या के माता-पिता को अपने माता-पिता के रूप में वरता है।

भावार्थ—विवाह के प्रसङ्ग की पूर्ति पर वृत युवक अपने श्वसुर व श्वश्रू को माता-पिता के रूप में वरता है।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रथम चक्र तथा पिछले दो चक्र

द्वे ते चक्रे सूर्ये ब्रह्माण ऋतुथा विदुः।

अथैकं चक्रं यद् गुहा तदद्धातय इद्विदुः॥ १६॥

१. हे **सूर्ये**=सूर्य के अनुकूल व्रतवाली कन्ये! **ते**=तेरे विषय में **द्वे चक्रे**=लगनेवाले दो चक्रों को तो **ब्रह्माणः**=सब ज्ञानी पुरुष **ऋतुथा विदुः**=उस-उस समय के अनुसार जानते ही है। दहेज लेने के लिए आनेवाला चक्र और विवाह के लिए आनेवाला चक्र तो सबको पता लगता ही है। २. **अथ**=परन्तु **एकं चक्रम्**=पहला चक्र जबकि वरपक्ष के व्यक्ति पूछताछ के लिए अपने किसी मित्र के यहाँ आकर ठहरे, **गुहा**=जो चक्र संवृत-सा है, **तत्**=उस चक्र को तो **अद्धातयः इत्**=उस चक्र के ज्ञाता ही, अर्थात् उस चक्र में भाग लेनेवाले ही **विदुः**=जानते हैं। वर के माता-पिता व उनके स्थानीय मित्र, जिनके यहाँ वे आकर ठहरते हैं, ही उस चक्र को जानते हैं। यह पूछताछ संवृत रूप में कर लेना ही व्यावहारिक दृष्टिकोण से ठीक है। 'अजी, वहाँ क्या बात ठहरी', इसप्रकार की चर्चाओं का न होना ही ठीक है।

भावार्थ—विवाह-प्रसङ्ग में सर्वप्रथम जानकारी के लिए लगाया गया चक्र गुप्त ही होता है। पिछले दो दहेज तथा विवाह के लिए लगाये जानेवाले चक्र तो सबको ज्ञात होते ही हैं।

ऋषिः—**सावित्री** ॥ देवता—**विवाहः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सुबन्धु-'पतिवेदन-अर्यमा' (Marriges are made in heaven)

अर्यमणं यजामहे सुबन्धुं पतिवेदनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनात्प्रेतो मुञ्चामि नामुतः॥ १७॥

१. विवाह में उपस्थित लोग विशेषतया वर-वधू के माता-पिता सब मिलकर इस रूप में प्रभु का उपासन करते हैं कि **अर्यमणम्**=सब शत्रुओं का नियमन करनेवाले (अरीन् यच्छति) अथवा सब-कुछ देनेवाले 'अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति', उस प्रभु का **यजामहे**=हम पूजन करते हैं। वह प्रभु ही **सुबन्धुम्**=हमारा उत्तम बन्धु है, वही इन वर-वधू को परस्पर बाँधनेवाला है। प्रभु ही तो **पतिवेदनम्**=एक युवति के योग्य पति प्राप्त कराते हैं। २. **इव**=जैसे **उर्वारुकम्**=खरबूजे को **बन्धनात्**=बन्धन से अलग करते हैं—बेल से तोड़कर अलग करते हैं, उसीप्रकार इस युवति को भी **इतः मुञ्चामि**=इधर से, अर्थात् पितृगृह से मैं मुक्त करता हूँ, **अमुतः न**=श्वसुर-गृह से नहीं। ये कन्या बिना किसी प्रकार का कष्ट अनुभव करती हुई अपने पितृगृह से छूटे और पतिगृह को प्राप्त करे।

भावार्थ—वस्तुतः प्रभुकृपा से ही एक युवति के लिए उत्तम पति की प्राप्ति होती है। युवति पितृगृह को प्रसन्नतापूर्वक छोड़कर पतिगृह को प्राप्त करे।

ऋषिः—**सावित्री** ॥ देवता—**विवाहः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वर का व्रतग्रहण

प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम्।
यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगासति॥ १८॥

१. विवाह हो जाने पर (युवक) प्रभु को साक्षी करके व्रत लेता है कि मैं इस युवति को **इतः**=इस पितृगृह से **प्रमुञ्चामि**=मुक्त कर रहा हूँ, **न अमुतः**=उधर से, अर्थात् पतिगृह से कभी मुक्त न करूँगा। मुक्त करना तो दूर रहा, **अमुतः सुबद्धाम् करम्**=उस पतिगृह में इसे सुबद्ध करता हूँ। इसको यही अनुभव होगा कि 'मेरा तो घर यही है, यह पतिगृह ही है, मैं ही तो इस घर की साम्राज्ञी हूँ'। २. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले व **मीढ्वः**=सब सुखों का सेचन करनेवाले प्रभो! आप ऐसा अनुग्रह कीजिए कि **यथा**=जिससे **इयम्**=यह युवति वधू **सुपुत्रा**=उत्तम सन्तानोंवाली व **सुभगा**=उत्तम ऐश्वर्यवाली **असति**=हो। यह इस घर को उत्तम सन्तानों व ऐश्वर्यों से परिपूर्ण करनेवाली बने, सचमुच गृहलक्ष्मी प्रमाणित हो।

भावार्थ—वर का यह व्रत होना चाहिए कि वह अपने प्रेम द्वारा इस वधू को घर में सुबद्ध करे, जिससे घर उत्तम सन्तानों व सौभाग्यों से सम्पन्न हो। जहाँ गृहपत्नी का आदर नहीं, पति-पत्नी में परस्पर कलह है,वह घर नरक-सा बन जाता है, वहाँ उत्तम सन्तानों व सौभाग्यों का स्थान नहीं।

ऋषिः—**सावित्री** ॥ देवता—**विवाहः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

वर की वधू के विषय में आकांक्षा

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद्येन त्वाबध्नात्सविता सुशेवाः।
ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोके स्योनं ते अस्तु सहसंभलायै॥ १९॥

१. वर वधू से कहता है कि **त्वा**=तुझे **वरुणस्य पाशात्**=वरुण के बन्धन से **प्रमुञ्चामि**=छुड़ाता हूँ। पिता वरुण पाशी है। पिता भी सन्तानों को नियमपाश में बाँधकर रखता है। सन्तान को

श्रेष्ठ बनाने के लिए यह आवश्यक ही है। इस वरुण के पाश से वर ही उसे छुड़ाता है। उस पाश से मैं तुझे छुड़ाता हूँ, **येन**=जिससे **सुशेवा:**=उत्तम सुख को प्राप्त करानेवाले **सविता**=जन्मदाता, प्रेरक पिता ने **त्वा अबध्नात्**=तुझे बाँधा हुआ था। पिता का यह कर्त्तव्य ही है कि वह सन्तानों को नियमपाश में बाँधकर चले। कन्याओं को सुरक्षित रखना अत्यन्त आवश्यक ही होता है। २. **ऋतस्य योनौ**=जिस घर में सब वस्तुएँ ऋतपूर्वक होती हैं, अर्थात् ठीक समय पर होती हैं, उस **सुकृतस्य लोके**=पुण्यलोक में, अर्थात् जहाँ सब कार्य शुभ ही होते हैं, उस घर में **सहसम्भलायै**=(भल परिभाषणे) सबके साथ मधुरता से भाषण करनेवाली **ते**=तेरे लिए **स्योनं अस्तु**=सुख-ही-सुख हो।

भावार्थ—वर को इस बात की प्रसन्नता है कि उसकी भाविनी पत्नी को पिता ने नियमों के बन्धनों में बाँधकर रक्खा था। अब वह पतिगृह में भी सब कार्यों को समय पर करनेवाली होगी, घर में शुभ ही कार्य होंगे और वह सबके साथ मधुरता से बोलनेवाली होगी।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पिता का कन्या को उपदेश

भगस्त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्र वहतां रथेन।
गृहान्गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि॥ २०॥

१. पतिगृह को जाते समय पिता कन्या को अन्तिम उपदेश देता है कि **भगः**=ऐश्वर्य का उपार्जन करनेवाला यह पति **हस्तगृह्य**=पाणिग्रहण करके—यथाविधि तेरे हाथ का ग्रहण करके **त्वा इतः नयतु**=तुझे यहाँ—पितृगृह से ले-जानेवाला हो। इस समय **अश्विना**=ये तेरे धर्मपिता व धर्ममाता (श्वसुर एवं श्वश्रू) **त्वा**=तुझे **रथेन**=रथ से **प्रवहताम्**=घर की ओर ले-जानेवाले हों। २. तू **गृहान् गच्छ**=पतिगृह को जा। **यथा**=जिससे तू **गृहपत्नी असः**=पतिगृह में गृहपत्नी बन पाए। तूने वहाँ घर के सारे उत्तरदायित्व को अपने कन्धे पर लेना है, अतः **वशिनी**=अपनी सब इन्द्रियों को वश में करनेवाली **त्वम्**=तू **विदथम् आवदासि**=ज्ञानपूर्वक, समझदारी से सब कार्य करनेवाली हो। तेरी प्रत्येक बात का घर के निर्माण पर प्रभाव होना है, अतः अपना नियन्त्रण करती हुई, समझदारी से सब कार्य करती हुई सच्चे अर्थों में गृहपत्नी बनना।

भावार्थ—गृहपत्नी के लिए आवश्यक है कि (क) सब इन्द्रियों को वश में करके चले तथा (ख) सब बातें समझदारी से करे।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहः**॥ छन्दः—**जगती**॥

उत्तम सन्तान व गार्हपत्य

इह प्रियं प्रजायै ते समृध्यतामस्मिन्गृहे गार्हपत्याय जागृहि।
एना पत्या तन्वं सं स्पृशस्वाथ जिर्विर्विदथमा वदासि॥ २१॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'वशिनी' बनने पर **इह**=इस जीवन में **प्रजायै**=उत्तम सन्तान के लिए **ते**=तेरा **प्रियम्**=आनन्द **समृध्यताम्**=वृद्धि को प्राप्त हो। तेरे प्रसन्न होने पर ही सन्तान उत्तम होगी, माता की प्रसन्नता सन्तान के सौन्दर्य का कारण बनती है। **अस्मिन् गृहे**=इस घर में **गार्हपत्याय जागृहि**=घर के कर्त्तव्यों के पालन व रक्षणात्मक कर्मों के लिए तू सदा जागरित रहे। पत्नी की सफलता व सम्मान के दो ही मूलसूत्र हैं—एक तो वह उत्तम सन्तान को जन्म देनेवाली हो, सन्तान के अभाव में गृह आनन्दमय नहीं होता और पति-पत्नी के परस्पर प्रेम में भी कमी आ जाती है तथा दूसरी बात यह कि वह सदा सावधान व जागरित रहे। घर में

उसके प्रमाद से सौभाग्य का निवास नहीं होता। उसकी जागृति ही घर को समृद्ध बनाती है। २. इस गृहस्थ में **एना पत्या**=इस पति के साथ **तन्वं सं स्पृशस्व**=तू अपने शरीर व रूप को एक कर दे, तू उसकी अर्द्धाङ्गिनी ही बन जा। तुम दोनों अब दो न रहकर एक हो जाओ और इसप्रकार परस्पर मेल से गृहस्थ को सुन्दरता से बिताकर **अथ**=अब **जिर्विः**=जरावस्था को प्राप्त करने पर **विदथम्**=ज्ञान को **आवदासि**=उच्चरित करनेवाली होओ, अर्थात् वानप्रस्थ बनकर ज्ञान का प्रसार करनेवाली बन। गृहस्थ के साथ ही तेरा जीवन समाप्त न हो जाए।

भावार्थ—एक युवति गृहपत्नी बनने पर उत्तम सन्तान की प्राप्ति के आनन्द का अनुभव करे और घर के कार्यों में सदा जागरूक रहे। गृहस्थ को सफलता से बिताकर वनस्थ होने पर ज्ञान के क्षेत्र में विचरण करे।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वर-वधू को आशीर्वाद

इ॒हैव स्तं॒ मा वि यौ॑ष्टं॒ विश्व॒मायु॒र्व्य॑श्नुतम्।
क्रीड॑न्तौ पु॒त्रैर्नप्तृ॑भि॒र्मोद॑मानौ स्वस्त॒कौ॥ २२॥

१. हे वर-वधू! तुम दोनों **इह एव स्तम्**=यहाँ गृहस्थ में सुन्दर जीवनवाले होओ **मा वि यौष्टम्**=एक-दूसरे से पृथक् मत होओ, किसी एक का अल्पायुष्य तुम्हें वियुक्त करनेवाला न हो जाए। **विश्वम् आयुः व्यश्नुतम्**=तुम पूर्ण आयु को प्राप्त करनेवाले बनो। २. **पुत्रैः नप्तृभिः**=पुत्रों व नातियों से **क्रीडन्तौ**=खेलते हुए **मोदमानौ**=आनन्द का अनुभव करते हुए **स्वस्तकौ**=(सु+अस्तक) उत्तम गृहवाले बनो।

भावार्थ—पति-पत्नी गृह पर ही सारे अतिरिक्त समय को बिताएँ और अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए पूर्ण जीवन को प्राप्त करें। घर में सन्तानों की क्रीड़ा, वृद्धि का व घर के सौभाग्य का कारण बने।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**सौमार्कौ**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

दम्पती का कार्यविभाग

पू॒र्वा॒प॒रं च॑रतो मा॒यैतौ शिशू॒ क्रीड॑न्तौ॒ परि॑ यातोऽर्ण॒वम्।
विश्वा॒न्यो भुव॑ना वि॒चष्ट॑ ऋ॒तूँर॒न्यो वि॒दध॑ज्जायसे॒ नवः॑॥ २३॥

१. घर में पहुँचकर **एतौ**=ये दोनों युवक-युवति (पति-पत्नी) **शिशू**=स्वाध्याय के द्वारा अपनी बुद्धि को तीव्र बनानेवाले होते हुए **मायया**=प्रज्ञान के द्वारा **पूर्वापरं चरतः**=(पूर्वस्मात् उत्तरं समुद्रम्) ब्रह्मचर्य से गृहस्थ में प्रवेश करते हैं। ब्रह्मचर्याश्रमरूप प्रथम समुद्र को तैरकर गृहस्थाश्रमरूप द्वितीय समुद्र में आते हैं। इस **अर्णवम्**=समुद्र में **क्रीडन्तौ**=क्रीडा की मनोवृत्ति बनाकर सब कर्त्तव्य-कर्मों में गतिवाले होते हैं। इस मनोवृत्ति के कारण ही ये ऊँच-नीच में घबरा नहीं जाते। इस वृत्ति के अभाव में वस्तुतः संसार बड़ा कष्टमय प्रतीत होने लगता है। २. इन पति-पत्नी में **अन्यः**=एक पति तो **विश्वा भुवना विचष्टे**=घर में प्रवेश करनेवाले सब प्राणियों का ध्यान (look after) करता है। पति का कार्य रक्षण ही तो है (पा रक्षणे)। घर में सब आवश्यक सामग्री का वह व्यवस्थापन करता है। **अन्यः**=गृहस्थनाटक का दूसरा मुख्य पात्र 'पत्नी' **ऋतून् विदधत्**=गर्भाधान के लिए उचित समयों को धारण करती हुई **नवः जायसे**=फिर नवीन जन्म लेती है। इस प्रकार वह एक नये प्राणी को संसार में लाती है। पत्नी का कार्य उत्कृष्ट सन्तान को जन्म देना है और पति ने उस सन्तान के रक्षण व पोषण के सब

साधनों को जुटाने का ध्यान करना है।

भावार्थ—समझदार पति-पत्नी क्रीड़क की मनोवृत्ति से चलते हुए गृहस्थ को बड़ी सुन्दरता से निभाते हैं। पत्नी एक नव-सन्तान को जन्म देती है तो पति उसके रक्षण व पोषण का उत्तरदायित्व लेता है।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**चन्द्रमा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पति

नवोंनवो भवसि जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेष्यग्रम्।
भागं देवेभ्यो वि दधास्यायन्प्र चन्द्रमस्तिरसे दीर्घमायुः॥ २४॥

१. मानव-स्वभाव कुछ इस प्रकार का है कि वह एक वस्तु से कुछ देर पश्चात् ऊब जाता है। 'गृहस्थ में पति-पत्नी परस्पर ऊब न जाएँ', इस दृष्टिकोण से **जायमानः**=अपनी शक्तियों का विकास करता हुआ तू (पति) **नवः नवः भवसि**=सदा नवीन बना रहता है। तेरा जीवन पुराना-सा (जीर्ण-सा) नहीं हो जाता। **अह्नां केतुः**=दिनों का तू प्रकाशक होता है—दिनों को तू प्रकाशमय बनाता है। स्वाध्याय के द्वारा अधिकाधिक प्रकाशमय जीवनवाला होता है। **उषसां अग्रम् एषि**=उषाओं के अग्रभाग में आता है, अर्थात् बहुत सवेरे ही प्रबुद्ध होकर क्रियामय जीवनवाला होकर चलता है। २. तू **आयन्**=गतिशील होता हुआ **देवेभ्यः भागं विदधासि**=देवों के लिए भाग को विशेषरूप से धारण करता है, अर्थात् यज्ञशील बनता है। यज्ञों को करके यज्ञशेष का ही सेवन करता है। इसप्रकार हे **चन्द्रमः**=आह्लादमय जीवनवाले पते! तू **दीर्घं आयुः प्रतिरसे**=दीर्घ जीवन को अत्यन्त विस्तृत करता है। मन की प्रसन्नता तेरे दीर्घ जीवन का कारण बनती है।

भावार्थ—पति अपनी शक्तियों का विकास करता हुआ सदा स्तुत्य (नव) जीवनवाला हो। दिन को ज्ञान के प्रकाश से उज्ज्वल बनाए, प्रातः जागरित होकर कार्यप्रवृत्त हो, यज्ञशील बने तथा प्रसन्न मनोवृत्तिवाला होता हुआ दीर्घ जीवन प्राप्त करे।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**वधूवासः संस्पर्शमोचनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अतिथियज्ञ व मानस पवित्रता

परा देहि शामुल्यं ब्रह्मभ्यो वि भजा वसु।
कृत्यैषा पद्वती भूत्वा जाया विशते पतिम्॥ २५॥

१. हे नवविवाहित पुरुष! तू **शामुल्यम्**=शमन करने योग्य मानस दुर्भाव को—मलिनता को **परादेहि**=दूर कर दे, **ब्रह्मभ्यः**=ज्ञानी ब्राह्मणों के लिए **वसु विभजा**=निवास के लिए अवश्यक धन देनेवाला बन, यही तेरा ब्रह्मयज्ञ हो। तेरे घर पर विद्वान् ब्राह्मण आते रहें, उनसे तुझे उचित प्रेरणा मिलती रहे। तेरा यह अतिथियज्ञ नववधू को भी उत्तम प्रेरणाएँ प्राप्त कराएगा। तुझे भी सदा मानस दुर्भावों को दूर करने में सहायक होगा। २. **एषा जाया**=यह पत्नी **कृत्या**=(कृती छेदने) काम-क्रोधादि शत्रुओं का छेदन करनेवाली होती हुई **पद्वती भूत्वा**=(पद् गतौ) प्रशस्त चरणोंवाली—उत्तम क्रियाओंवाली होकर **पतिं विशते**=पति के साथ एक हो जाती है। पति-पत्नी में द्वैत न रहकर ऐक्य उत्पन्न होता है। पत्नी उसकी अर्द्धाङ्गिनी ही हो जाती है।

भावार्थ—गृहपति को चाहिए कि मन को सदा पवित्र बनाने के लिए यत्नशील हो। अतिथियज्ञ करता हुआ ज्ञानी ब्राह्मणों से सदा उत्तम प्रेरणा प्राप्त करे, ऐसा होने पर पत्नी भी काम-क्रोधादि का छेदन करती हुई क्रियाशील बनकर पति के साथ एक हो जाती है।

ऋषिः—**सावित्री** ॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अनुरागयुक्त क्रियाशील जीवन

नीललोहितं भवति कृत्यासक्तिर्व्य ज्यते।
एधन्ते अस्या ज्ञातयः पतिर्बन्धेषु बध्यते॥ २६॥

१. **नीललोहितम्**=(पूर्वं नीलं, पश्चात् लोहितम्) ब्रह्मचर्याश्रम में जो हृदय सांसारिक रंगों में न रंगा जाकर बिल्कुल नीरंग (कृष्ण)-सा था अब गृहस्थ में आने पर वह लोहितम्=कुछ-कुछ प्रेम की लालिमावाला **भवति**=होता है। 'अनुराग' (प्रेम) युक्त होता है। पति-पत्नी के परस्पर अनुरागयुक्त जीवन में **कृत्यासक्तिः**=कर्त्तव्य-कर्मों के प्रति रुचि **व्यज्यते**=विशेषरूप से दीप्त हो जाती है। पति-पत्नी मिलकर घर को स्वर्ग बनाने का निश्चय करते हैं और आलस्यशून्य होकर क्रियाओं में तत्पर होते हैं। २. हृदय में अनुराग तथा क्रियाशीलता होने पर **अस्याः**=इस नव-विवाहिता पत्नी के **ज्ञातयः एधन्ते**=सब बन्धु बढ़ते हैं, उन्हें प्रसन्नता का अनुभव होता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि पति **बन्धेषु बध्यते**=उस युवति का पति उसके प्रति प्रेम-बन्धनों में बद्ध हो जाता है। पत्नी का विशुद्ध प्रेम तथा क्रियाशीलता पति को उसकी ओर आकृष्ट करते हैं।

भावार्थ—पत्नी अनुरागयुक्त हृदयवाली व क्रियाशील जीवनवाली होती हुई बन्धु-बान्धवों की प्रसन्नता का और पति के आकर्षण का कारण बनती है।

ऋषिः—**सावित्री** ॥ देवता—**वधूवासः संस्पर्शमोचनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

भोगासक्ति का दुष्परिणाम

अश्लीला तनूर्भवति रुशती पापयामुया।
पतिर्यद्वध्वो ३ वाससः स्वमङ्गमभ्यूर्णुते॥ २७॥

१. एक युवक जिसका कि **तनूः**=शरीर **रुशती**=देदीप्यमान होता है, यह **यत्**=यदि **पतिः**=पति बनने पर, गृहस्थ में प्रवेश करने पर, **वध्वः वाससः**=वधू के वस्त्रों से **स्वं अङ्गं अभ्यूर्णुते**=अपने अङ्गों को आच्छादित करता है, अर्थात् पत्नी के वस्त्रों को ओढ़कर घर पर ही बैठा रहता है, पत्नी के साथ प्रेमालाप में ही परायण रहता है तो उसका शरीर **अमुया पापया**=उस पापवृत्ति से **अश्लीला भवति**=श्रीशून्य हो जाता है। २. वधू के वस्त्रों को पहनकर घर में ही बैठे रहने का भाव प्रेमासक्त होकर अकर्मण्य बन जाने से है। विवाहित हो जाने पर भी एक युवक हृदय-प्रधान बनकर अपने कर्त्तव्यों को उपेक्षित न कर दे। पत्नी के प्रति आसक्ति उसे कर्त्तव्यविमुख न बना दे। ऐसा होने पर जीवन भोगप्रधान होकर नष्ट श्रीवाला हो जाता है।

भावार्थ—नवविवाहित युवक को चाहिए कि भोगप्रधान जीवनवाला न बन जाए। हर समय घर पर ही न बैठा रहे।

ऋषिः—**सावित्री** ॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आशसन, विशसन, अधिविकर्तन

आशसनं विशसनमथो अधिविकर्तनम्।
सूर्यायाः पश्य रूपाणि तानि ब्रह्मोत शुम्भति॥ २८॥

१. (क) **आशसनम्**=घर में सब प्रकार से उन्नति की इच्छा करता हुआ व तदनुसार शासन करना, अर्थात् घर के अन्दर सब कार्यों के ठीक प्रकार से होने की व्यवस्था करना, (ख) **विशसनम्**=विशिष्ट इच्छाओंवाला होना, अर्थात् घर की उन्नति के लिए आवश्यक सब पदार्थों

को जुटाने की कामना करना तथा सब आवश्यक कार्यों को करना। (ग) **अथो**=और निश्चय से **अधिविकर्तनम्**=वस्त्रों को विविधरूपों में काटने आदि का काम करना। **सूर्यायाः**=सूर्यसम दीप्त जीवनवाली इस गृहिणी के **रूपाणि पश्य**=इन रूपों को देखिए। सूर्या घर में समुचित शासन रखती है, उत्कृष्ट शब्दोंवाली होती है और कपड़ों के सीने आदि के कार्यों को स्वयं भी करती है। २. **उत**=और **ब्रह्मा**=घर का निर्माण करनेवाला समझदार पति **तु**=तो **तानि**=सूर्या के उन सब कार्यों को **शुम्भति**=शोभायुक्त करता है। उन कार्यों में थोड़ी बहुत कमी होती भी है तो उसे उचित परामर्श देकर दूर करने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—गृहपत्नी (क) घर का समुचित शासन करती है, (ख) नई-नई इच्छाएँ करती हुई घर को उन्नत करने का प्रयत्न करती है (ग) वस्त्रों के सीने आदि की व्यवस्था को स्वयं करती है।

ऋषिः—**सावित्री** ॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः** ॥ छन्दः—**पुरस्ताद्बृहती** ॥

पत्नी द्वारा भोजन की समुचित व्यवस्था

तृष्टमेतत्कटुकमपाष्ठवद्विषवन्नैतदत्तवे।
सूर्यां यो ब्रह्मा वेद स इद्वाधूयमर्हति॥ २९॥

१. सूर्या का सर्वमहान् कर्त्तव्य यह है कि भोजन की व्यवस्था को इसप्रकार सुन्दर व व्यवस्थित बनाये रक्खे कि घर में कोई अस्वस्थ हो ही नहीं। वह अन्नों के विषय में यह ध्यान रक्खे कि (क) **एतत् तृष्टम्**=यह गरम भोजन अत्यन्त प्यास पैदा करनेवाला है। (ख) **कटुकम्**=ये कटु है, काटनेवाला है। (ग) **अपाष्ठवत्**=यह फोकवाला है या कटिला-सा है (घ) **विषवत्**=यह विषैले प्रभाव को पैदा करनेवाला है, अतः **एतत अत्तवे न**=यह खाने योग्य नहीं। इसप्रकार वधू भोजन का पूरा ध्यान करे। २. पति को भी चाहिए कि वह पत्नी की मनोवृत्ति को समझे। समझकर इसप्रकार वर्ते कि पत्नी का जी दुःखी न हो। इस **सूर्याम्**=ज्ञानदीप्त, क्रियाशील वधू को **यः ब्रह्मा वेद**=जो विशाल हृदयवाला ज्ञानी पुरुष ठीक प्रकार से समझता है **सः इत्**=वह ही **वाधूयम् अर्हति**=इस वधू-प्राप्ति के कर्म के योग्य है। नासमझ पति पत्नी को कभी प्रसन्न नहीं रख सकता।

भावार्थ—वधू पाकस्थान की अध्यक्षता करती हुई न खाने योग्य अन्नों को घर से दूर रक्खे। पति भी पत्नी की मनोवृत्ति को समझता हुआ अपने व्यवहार से उसे सदा प्रसन्न रक्खे।

ऋषिः—**सावित्री** ॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गृह में उत्तम वस्त्रों का प्राप्त करना

स इत्तत्स्योनं हरति ब्रह्मा वासः सुमङ्गलम्।
प्रायश्चित्तिं यो अध्येति येन जाया न रिष्यति॥ ३०॥

१. **सः ब्रह्मा इत्**=वह अपने हृदय को विशाल बनानेवाला ज्ञानी पुरुष ही **तत्**=उस **स्योनम्**=सुखकर **सुमंगलम्**=उत्तम मंगल के साधनभूत **वासः**=वस्त्र को **हरति**=घर में प्राप्त कराता है, **येन**=जिस वस्त्र से **जाया न रिष्यति**=पत्नी हिंसित नहीं होती। पत्नी के लिए वस्त्र सुखकर भी हों, अच्छे भी लगें और स्वास्थ्य-रक्षा के लिए भी आवश्यक हों। २. वह ब्रह्मा इन वस्त्रों को प्राप्त करता है **यः**=जो **प्रायश्चित्तिं अध्येति**='प्रायोनाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते। तपोनिश्चयसंयोगात् प्रायश्चित्तमितीर्यते॥' तपस्यापूर्वक जीवन बिताने का निश्चय करता है, इस बात को भूलता नहीं (अध्येति=remembers) कि आराम का जीवन विनाश की ओर ले-जाता

है। Ease, disease का कारण है। यह तपस्वी जीवन घरवालों के लिए अति उत्तम प्रभाव पैदा करता है।

भावार्थ—विशाल हृदयवाला पति इस बात का ध्यान करता है कि पत्नी को आवश्यक वस्तुओं की कमी न हो। वह अपना जीवन तपस्यापूर्वक बिताता है, यह तपस्या ही उसे ब्रह्मा बनाती है।

ऋषिः—**सावित्री** ॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

आशीर्वाद के तीन शब्द

युवं भगं सं भरतं समृद्धमृतं वदन्तावृतोद्येषु।
ब्रह्मणस्पते पतिमस्यै रोचय चारु संभलो वदतु वाचमेताम्॥ ३१॥

१. पति-पत्नी के लिए प्रेरणा प्राप्त कराते हुए उपस्थित विद्वान् कहते हैं कि **युवम्**=तुम दोनों **ऋतोद्येषु**=जहाँ ऋत ही बोला जाता है, जिनमें अनृत (असत्य) का व्यवहार नहीं होता, उन व्यवहारों में **ऋतं वदन्तौ**=सत्य बोलते हुए **समृद्धम्**=सम्यक् बढ़े हुए **भगं संभरतम्**=ऐश्वर्य का संभरण करो। पति-पत्नी घर को ऋत व्यवहारों द्वारा अति समृद्ध बनाएँ। २. वे विद्वान् प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **अस्यै**=इस पत्नी के लिए **पतिं रोचय**=पति को प्रेमास्पद बनाइए, यह पति के लिए प्रीतिवाली हो। पति भी **संभलः**=(भल परिभाषणे) उत्तम भाषणवाला होता हुआ **एतां वाचम्**=इस वाणी को **चारु वदतु**=सुन्दरता से ही बोले। इसकी वाणी में कभी भी कटुता का अंश न हो।

भावार्थ—पति-पत्नी ऋत व्यवहारों में ऋत (सत्य) ही बोलते हुए घर को समृद्ध करें। पत्नी पति के प्रति प्रीतिवाली हो। पति मधुरवाणी ही बोले।

ऋषिः—**सावित्री** ॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सोमवर्चसः गावः

इहेदसाथ न परो गमाथेमं गावः प्रजया वर्धयाथ।
शुभं यतीरुस्रियाः सोमवर्चसो विश्वे देवाः क्रन्निह वो मनांसि॥ ३२॥

१. हे **गावः**=गौवो! **इह इत् असाथ**=तुम इस घर में ही होओ, **परः न गमाथ**=इस घर से दूर न जाओ। तुम **इमम्**=इस गृहपति को **प्रजया वर्धयाथ**=उत्तम सन्तान से बढ़ानेवाली होओ। गोदुग्ध का सेवन 'स्वस्थ शरीर, निर्मल मनवाली व दीप्त मस्तिष्क' सन्तान को प्राप्त कराता है। २. **शुभं यतीः**=उत्तमता से गमन करती हुई (वायुर्येषां सहचारं जुजोष) शुद्ध वायु में चिरागाहों में चरने के लिए जाती हुई **उस्त्रियाः**=ये गौएँ **सोमवर्चसः**=सोम वर्चस्वाली हैं—शान्तियुक्त शक्ति देनेवाली हैं। **इह**=इस संसार में **विश्वेदेवाः**=देववृत्ति के सब पुरुष **वः मनांसि क्रन्**=तुम्हारे मनों को करें, अर्थात् तुम्हें घरों पर रखने के लिए हृदय से इच्छा करें। सब समझदार लोग यह समझ लें कि गौओं से घर सब प्रकार से समृद्ध बनता है।

भावार्थ—गौएँ सौम्य दुग्ध देती हुई घर की समृद्धि व उत्तम सन्तति का साधन बनती हैं। सब देव इन्हें घरों पर रखने की कामना करते हैं।

ऋषिः—**सावित्री** ॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'पोषक व धारक' गौ

इमं गावः प्रजया सं विशाथायं देवानां न मिनाति भागम्।
अस्मै वः पूषा मरुतश्च सर्वे अस्मै वो धाता सविता सुवाति॥ ३३॥

१. हे **गावः**=गौओ! **इमम्**=इस नव-गृहस्थ को **प्रजया सं विशाथ**=उत्तम सन्तति के हेतु से प्राप्त होओ। **अयम्**=यह **देवानां भागं न मिनाति**=देवों के भाग को हिंसित नहीं करता, अर्थात् देवयज्ञ आदि में प्रमाद न करता हुआ, देवों के लिए उनका भाग देकर बचे हुए यज्ञशेष को ही सेवन करता है। 'तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः'। इस गौ के द्वारा ही घृतादि प्राप्त कराकर देवयज्ञादि यज्ञ सम्पन्न कराये जाते हैं। **अस्मै**=इस गृहस्थ युवक के लिए **वः**=तुम्हें **पूषा**=पोषक प्रभु **च**=और **सर्वे मरुतः**=सब मरुत् प्राण प्राप्त कराते हैं, अर्थात् तुम्हारे दूध का प्रयोग करता हुआ ही यह अपने शरीर का उचित पोषण कर पाएगा तथा प्राणशक्ति के वर्धन में समर्थ होगा। **अस्मै**=इस गृहस्थ युवक के लिए **वः**=तुम्हें **धाता**=धारण करनेवाला **सविता**=शक्तियों को उत्पन्न करनेवाला प्रभु **सुवाति**=जन्म देता व प्रेरित करता है। प्रभु ने गौओं को वस्तुतः इसीलिए तो बनाया है कि ये इन गृहस्थों को उत्तम सात्त्विक दूध देकर उनका धारण करें और उनके शरीर में शक्तियों को उत्पन्न करें।

भावार्थ—गोदुग्ध का सेवन उत्तम सन्तति को प्राप्त कराता है। यह शरीर का पोषण व धारण करता है, इससे प्राणशक्ति का वर्धन होता है। इसके द्वारा ही हम यज्ञादि को सुचारुरूप से कर पाते हैं।

ऋषिः—**सावित्री** ॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः** ॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

'अनृक्षरा ऋजवः' पन्थानाः

अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्थानो येभिः सखायो यन्ति नो वरेयम्।
सं भगेन समर्यम्णा सं धाता सृजतु वर्चसा॥ ३४॥

१. कन्या के माता-पिता चाहते हैं कि हमारी कन्या के **पन्थानः**=मार्ग **अनृक्षराः**=कण्टकरहित **ऋजवः**=सरल **सन्तु**=हों, अर्थात् यह पतिगृह में जाकर कण्टकरहित, कुटिलता से शून्य मार्गों से चलनेवाली हो। ये पतिगृह में काँटे बोनेवाली न बन जाए। यह उन मार्गों से चले, **येभिः**=जिनके कारण **सखायः**=उसके पति के मित्र भी **वरेयम्**=हमारी अन्य कन्याओं के वरण के लिए **नः यन्ति**=हमारे समीप प्राप्त होते हैं। २. कन्या पक्षवाले कामना करते हैं कि **धाता**=सबका धारण करनेवाला प्रभु हमारी कन्या को **संसृजतु**=ऐश्वर्यशाली, धन कमाने की योग्यता के साथ संसृष्ट करे। **अर्यम्णा सम्**=(अरीन् यच्छति) शत्रुओं का संयम करनेवाले काम-क्रोध को जीत लेनेवाले युवक के साथ संसृष्ट करे तथा **वर्चसा सम्**=शक्ति के पुञ्ज प्रभु के साथ संसृष्ट करे।

भावार्थ—युवति के माता-पिता की कामना होती है कि हमारी कन्या पतिगृह में इसप्रकार कण्टकशून्य सरल मार्गों से चले कि वर के सभी मित्र हमारी अन्य कन्याओं को प्राप्त करने की कामनावाले हों। हमारी कन्या को 'सौभाग्यसम्पन्न, संयमी, वर्चस्वी' पति प्राप्त हो।

ऋषिः—**सावित्री** ॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'अक्ष, सुरा, गौ' में स्थित वर्चस्

यच्च वर्चो अक्षेषु सुरायां च यदाहितम्।
यद्गोष्वश्विना वर्चस्तेनेमां वर्चसावतम्॥ ३५॥

१. **यत्**=जो **च**=निश्चय से **वर्चः**=तेज **अक्षेषु**=ज्ञानेन्द्रियों में व ज्ञानों में **आहितम्**=स्थापित हुआ है **च**=और **यत्**=जो तेज **सुरायाम्**=ऐश्वर्य में (आहितम्) स्थापित हुआ है, **यत् वर्चः**=जो तेज **गोषु**=गौ आदि पशुओं में है, हे **अश्विना**=प्राणापानो! **तेन वर्चसा**=उस तेज से **इमाम्**=इस युवति को **अवताम्**=रक्षित करो। यह युवति ब्राह्मणों के ज्ञान से सम्पन्न हो, क्षत्रियों के ऐश्वर्य

से, ईशशक्ति (शासन-शक्ति) से सम्पन्न हो तथा वैश्यों के गौ आदि पशुओं से सम्पन्न हो। ज्ञान-सम्पन्न होकर यह समझदारी से सारा व्यवहार करे। शासन-शक्ति-सम्पन्न होने से घर को सुव्यवस्थित रक्खे तथा गौ आदि पशुओं के द्वारा घर में पौष्टिक आहार की व्यवस्था करनेवाली हो।

भावार्थ—पत्नी बननेवाली युवति में तीन गुण आवश्यक हैं—ज्ञान, शासन-शक्ति तथा गौ आदि पशुओं से प्रेम (न कि कुत्तों से)। इसके लिए प्राण-साधना सहायक है।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्राणसाधना द्वारा वर्चस् की प्राप्ति

येन महानघ्न्या जघनमश्विना येन वा सुरा।
येनाक्षा अभ्यषिच्यन्त तेनेमां वर्चसावतम्॥ ३६॥

१. **येन वर्चसा**=जिस वर्चस् से, शक्ति से **महान् अघ्न्या**=महनीय (पूजनीय) व न हन्तव्य गौ का **जघनम्**=जघन प्रदेश (निचला दुग्धाशय प्रदेश) सिक्त होता है, **वा**=अथवा **येन**=जिस वर्चस् से **सुरा**=ऐश्वर्य से सिक्त होता है, **येन**=जिस वर्चस् से **अक्षाः**=ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान-**अभ्यषिच्यन्त**=सिक्त होती हैं, **तेन**=उस वर्चस् से हे **अश्विना**=प्राणापानो! **इमाम् अवताम्**=इस युवति को प्रीणित करो। २. एक युवति प्राणसाधना करती हुई उस वर्चस् को प्राप्त करे जो अहन्तव्य गौ के दुग्धाशय को प्राप्त है, जो ऐश्वर्यशाली को प्राप्त है और जो ज्ञानियों को प्राप्त है।

भावार्थ—एक गृहस्थ युवति के लिए प्राणसाधना आवश्यक है। यह प्राणसाधना ही तेजस्विता प्राप्त करानेवाली सर्वोत्तम क्रिया है।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अनिध्म अग्नि

यो अनिध्मो दीदयदप्स्व१न्तर्यं विप्रास ईडते अध्वरेषु।
अपां नपान्मधुमतीरपो दा याभिरिन्द्रो वावृधे वीर्या᳡वान्॥ ३७॥

१. **यः**=जो **अनिध्मः**=बिना ही इध्मों-(काष्ठों)-वाला होता हुआ भी **अप्सु अन्तः दीदयत्**=सब प्रजाओं के अन्दर दीप्त होता है, **यम्**=जिसको **विप्रासः**=ज्ञानी लोग **अध्वरेषु**=यज्ञों में **ईडते**=पूजते हैं, वह **अपां नपात्**=हमारी शक्तियों को न नष्ट होने देनेवाला प्रभु हमारे लिए **मधुमतीः अपाः दाः**=जीवन को मधुर बनानेवाले रेतःकणों को दें, **याभिः**=जिन रेतःकणों से **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **वावृधे**=अत्यन्त वृद्धि को प्राप्त करता है और **वीर्यवान्**=शक्तिशाली होता है। २. प्रभुरूप अग्नि हम सबके हृदयों में प्रकाशित हो रही है, इस अग्नि के उद्बोधन के लिए काष्ठों की आवश्यकता नहीं होती। ये प्रभु ज्ञानियों से यज्ञों में उपासित होते हैं। उपासित प्रभु हमें वासनाओं से रक्षित करके उन शक्तिकणों से युक्त करते हैं, जो हमारे जीवनों को मधुर व वृद्धिवाला बनाते हैं।

भावार्थ—हम हृदयों में प्रभु के प्रकाश को देखने के लिए यत्नशील हों तथा यज्ञों में प्रवृत्त होकर प्रभु का उपासन करें। प्रभु हमें जितेन्द्रिय बनाकर उन शक्तिकणों से युक्त करेंगे जो हमारे जीवनों को मधुर व वृद्धिवाला बनाएँगे।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः**॥ छन्दः—**पुरोबृहतीत्रिपदापरोष्णिक्**॥

नीरोगता व शुभ व्यवहार

इदमहं रुशन्तं ग्राभं तनूदूषिमपोहामि। यो भद्रो रोचनस्तमुदचामि॥ ३८॥

१. **इदम्**=(इदानीम्) अब प्रभु की उपासना के अन्तर **अहम्**=मैं **रुशन्तम्**=नष्ट करनेवाले,

तनूदूषिम्=शरीर को दूषित करनेवाले, **ग्राभम्**=शरीर को पकड़ लेनेवाले (जकड़ लेनेवाले) रोग को **अप ऊहामि**=शरीर से दूर करता हूँ। प्रभु की उपासना रेत:कणों के रक्षण के द्वारा हमें नीरोग बनाती है। २. रोगों को दूर करके **यः भद्रः रोचनः**=जो कल्याण व सुख देनेवाला, जीवन को दीप्त बनानेवाला व्यवहार है, **तम् उदचामि**=उसे उत्कर्षेण प्राप्त होता हूँ।

भावार्थ—हम नीरोग बनकर कल्याण करनेवाले यशस्वी व्यवहारों में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—**सावित्री** ॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

युवति का स्नान व अग्नि परिक्रमा के अनन्तर पतिगृह प्रवेश

आस्यै ब्राह्मणाः स्नपनीर्हरन्त्ववीरघ्नीरुदजन्त्वापः।
अर्यम्णो अग्निं पर्येतु पूषन्प्रतीक्षन्ते श्वशुरो देवरश्च॥ ३९॥

१. **आस्यै**=इस युवति के लिए **ब्राह्मणाः**=ज्ञानी पुरुष **स्नपनीः**=स्नान कराने के साधनभूत जलों को **आहरन्तु**=प्राप्त कराएँ, जीवन को शुद्ध बनाने के साधनभूत ज्ञान-जलों को इसके लिए दें तथा इसे **अवीरघ्नीः अपाः उत् अजन्तु**=वीर सन्तानों को न नष्ट होने देनेवाले ज्ञान-जल उत्कर्षेण प्राप्त हों। इसे उत्तम सन्तान के निर्माण के पालन के लिए आवश्यक ज्ञान भी अवश्य प्राप्त कराया जाए। २. **अर्यम्णः अग्निं परि एतु**=(अर्यमा अरीन् यच्छति) शत्रुओं के नियन्ता प्रभु अग्नि की यह परिक्रमा करे। अग्नि जैसे व्रत पर दृढ़ है, इसीप्रकार अपने व्रतों पर दृढ़ रहने की प्रतिज्ञा करे। 'नाधः शिखा याति कदाचिदेव' अग्नि की ज्वाला कभी नीचे नहीं जाती, इसीप्रकार यह युवति भी ऊर्ध्वगति का व्रत ले। ऐसी 'ज्ञान-जल में स्नात', सन्तान के निर्माण व पालन के ज्ञान से युक्त, उत्कृष्ट आचरणवाली युवति की ही **पूषन्**=पोषक पति **श्वशुरः**=श्वसुर भावी पिता **च देवरः**=और पति के छोटे भाई **प्रतीक्षन्ते**=प्रतीक्षा करते हैं, ऐसी कामना करते हैं कि उनके गृह में ऐसी युवति ही आये।

भावार्थ—एक युवति में पत्नी बनने के योग्य योग्यता के लिए आवश्यक है कि वह 'ज्ञान-जल स्नात' हो, सन्तान निर्माण के आनन्दों को समझती हो और उत्तम कुलीन आचरणवाली हो।

ऋषिः—**सावित्री** ॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पत्नी के आवश्यक गुण

शं ते हिरण्यं शमु सन्त्वापः शं मेथिर्भवतु शं युगस्य तर्द्म।
शं त आपः शतपवित्रा भवन्तु शमु पत्या तन्वं सं स्पृशस्व॥ ४०॥

१. हे वधु! **हिरण्यम्**=(हिरण्यं वै ज्योतिः) हितरमणीय ज्ञान का प्रकाश **ते शम्**=तेरे लिए शान्तिकर हो, **उ**=और **आपः** (आपो वै प्राणाः—शत० ३.८.२.४) प्राणशक्तियाँ **शं सन्तु**=शान्तिकर हों। तेरा मस्तिष्क ज्ञान-ज्योति से उज्ज्वल हो तो शरीर शक्ति-सम्पन्न बने। **मेथिः**=समझदारी (Understanding) **शं भवतु**=शान्ति देनेवाली हो, तू घर में समझदारी से वर्तनेवाली हो। **युगस्य**=राग-द्वेषरूप शत्रुओं के जोड़े का **तर्द्म**=हिंसन **शम्**=शान्तिकर हो। राग-द्वेष, काम-क्रोधरूप शत्रुओं का हिंसन करके तू शान्त जीवनवाली हो। 'तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ' ये राग-द्वेष ही तो शत्रु हैं। **शतपवित्रा**=शतवर्षपर्यन्त जीवन को पवित्र बनानेवाले **आपः**=रेत:कण **ते सं भवन्तु**=तेरे लिए शान्तिकर हों, **उ**=और **शम्**=शान्त जीवनवाली बनकर **पत्या**=पति के साथ **तन्वं संस्पृशस्व**=शरीर से स्पर्शवाली हो। पवित्र शान्तभाव से ही उत्तम सन्तान की उत्पत्ति के लिए तेरा पति से सम्बन्ध हो।

भावार्थ—पत्नी 'ज्ञानज्योति, प्राणशक्ति, समझदारी, काम-क्रोध-विनाश तथा रेतःकणों' से युक्त होकर पवित्र शान्तभाव से पति के साथ सम्पर्कवाली हो।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

दोष-निराकरण

खे रथस्य खेऽनसः खे युगस्य शतक्रतो।
अपालामिन्द्र त्रिष्पूत्वाकृणोः सूर्यत्वचम्॥ ४१॥

१. हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञान व शक्तिवाले प्रभो! **रथस्य खे**=शरीररूप रथ के छिद्र में **अनसः खे**=(अन प्राणने), प्राणमयकोश के छिद्र में—इन्द्रियों के छिद्र में (प्राणाः वाव इन्द्रियाणि) **युगस्य खे**=आत्मा व इन्द्रियों को परस्पर जोड़नेवाले मन के छिद्र में, हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं के विद्रावक प्रभो! इस **अपालाम् (अप अलम्)**=दोषों का सुदूर वारण करने के लिए यत्नशील युवति को **त्रिः पूत्वा**=तीन प्रकार से पवित्र करके—शरीर, इन्द्रियों व मन में पवित्र व निर्दोष बनाकर **सूर्यत्वचम् अकृणोः**=आप सूर्यसम दीप्त त्वचावाला बनाते हैं, इसे नितराम तेजस्वी बनाते हैं। २. शरीर, इन्द्रियों व मन के दोषों का निराकरण होने पर जीवन तेजस्वी व पवित्र बनता ही है। शरीर के दोष रोग हैं, इन्द्रियों के दोष विषयसंग हैं तथा मन का दोष राग-द्वेष परिपूर्णता है। प्रभु अपाला के इन सब दोषों को दूर करते हैं।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारे राष्ट्र में युवतियाँ 'शरीर, इन्द्रियों व मन' के दोषों से रहित होकर सूर्यसम दीप्त त्वचावाली हों।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सौमनस्य, प्रजा, सौभाग्य, रयि

आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम्।
पत्युरनुव्रता भूत्वा सं नह्यस्वामृताय कम्॥ ४२॥

१. **सौमनसम्**=उत्तम स्वास्थ्य (मन का), **प्रजां सौभाग्यं रयिम्**=सन्तान, सौभाग्य व सम्पत् को **आशासाना**=चाहती हुई, हे पुत्रवधु! तू **पत्युः अनुव्रता भूत्वा**=पति के अनुकूल व्रतोंवाली होकर **कम्**=सुखपूर्वक **अमृताय**=अमृतत्व के लिए, शतवर्षपर्यन्त जीवन के लिए **सं नह्यस्व**=संनद्ध हो जा।

भावार्थ—पत्नी 'सौमनस, सन्तति, सौभाग्य व सम्पत्' की कामना करती हुई पति के अनुकूल व्रतोंवाली होकर पूरे सौ वर्ष के दीर्घजीवन के लिए कामना करे।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सम्राज्ञी (पत्नी)

यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा। एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य॥ ४३॥

यथा=जिस प्रकार **वृषा**=वृष्टि का कारणभूत (समुद्र से जल वाष्पीभूत होकर आकाश में पहुँचते हैं और वहाँ बादलों के रूप में होकर बरसते हैं), **सिन्धु**=समुद्र **नदीनाम् साम्राज्यं सुषुवे**=नदियों के साम्राज्यों को अपने लिए उत्पन्न करता है, **एव**=इसीप्रकार **त्वम्**=हे पुत्रवधु! तू **पत्युः अस्तं परेत्य**=पति के घर में पहुँचकर **सम्राज्ञी ऐधि**=शासन करनेवाली बन। एक युवति पतिगृह में प्राप्त होकर घर की व्यवस्था को समुचित रखने का उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर ले।

भावार्थ—जिस प्रकार समुद्र नदियों का सम्राट् है, उसीप्रकार युवतियाँ गृहों का शासन

करनेवाली हों, सम्राज्ञी हों।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

घर की समुचित व्यवस्था

सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु सम्राज्ञ्युत देवृषु। ननान्दुः सम्राज्ञ्येधि सम्राज्ञ्युत श्वश्र्वाः॥ ४४॥

१. पत्नी को घर में जाकर घर का समुचित प्रबन्ध करना है। उससे कहते हैं कि यहाँ पतिगृह में तू परायापन अनुभव न करना। परायेपन की बात तो दूर रही तू **श्वशुरेषु**=पितृतुल्य बड़े लोगों में **सम्राज्ञी ऐधि**=सम्राज्ञी बन। उनके सब कार्यों की सम्यक् व्यवस्था करनेवाली हो। **उत**=और **देवृषु सम्राज्ञी**=सब देवरों में भी तू सम्राज्ञी हो। उनके सब कार्यों को समुचितरूप से कराती हुई तू उनके रञ्जन का कारण बन। २. **ननान्दुः सम्राज्ञी ऐधि**=ननद की भी तू सम्राज्ञी हो। तू ननद की सब आवश्यकताओं का ध्यान करती हुई उसकी प्रिय बन, **उत**=और **श्वश्र्वाः**=श्वश्रू की भी **सम्राज्ञी**=तू सम्राज्ञी हो। सास को भी अपने उचित व्यवहार से तू महारानी-सी प्रिय लगे।

भावार्थ—पत्नी को चाहिए कि घर में सब व्यवस्थाओं का समुचितरूप से पालन करती-कराती हुई वह बड़े व छोटे सबकी प्रिय बने।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

घर में काते-बुने गये वस्त्रों का धारण

या अकृन्तन्नवयन्याश्च तत्निरे या देवीरन्ताँ अभितोऽददन्त।
तास्त्वा जरसे सं व्ययन्त्वायुष्मतीदं परि धत्स्व वासः॥ ४५॥

१. हे **आयुष्मति**=दीर्घ जीवन को प्राप्त करानेवाली नववधु! **याः**=जिन साड़ियों को **देवीः अकृन्तन्**=घर की देवियों ने स्वयं काता है और **अवयन्**=बुना है **याः च तत्निरे**=और जिनको घर की देवियों ने ही ताना है तथा **याः**=जिनको इन्होंने **अभितः अन्तान् अददन्त**=दोनों ओर के आँचलों (सिरों) को सिया है, **ताः**=वे साड़ियाँ **त्वा**=तुझे **जरसे संव्ययन्तु**=दीर्घ जीवन के लिए आच्छादित करनेवाली हों। हे आयुष्मति! **इदं वासः परि धत्स्व**=इस वस्त्र को ही धारण कर।

भावार्थ—घर में काते-बुने गये वस्त्रों के धारण की परिपाटी ही उत्तम है। इन वस्त्रों के एक-एक सूत्र में प्रेम का अंश पिरोया हुआ होता है तथा व्यर्थ के फैशन से भी बचाव रहता है।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः**॥ छन्दः—**जगती**॥

कन्या को प्रसन्नतापूर्वक पतिगृह में भेजना

जीवं रुदन्ति वि नयन्त्यध्वरं दीर्घामनु प्रसितिं दीध्युर्नरः।
वामं पितृभ्यो य इदं समीरिरे मयः पतिभ्यो जनये परिष्वजे॥ ४६॥

१. कन्या को माता-पिता पालते हैं, युवति होने पर उसे पतिगृह में भेजते हैं। उस समय वियोग में रोना कुछ अमंगल-सा हो जाता है, अतः कहते हैं कि **जीवं रुदन्ति**=जो इस जीवित व्यक्ति के लिए ही रोते हैं, वे **अध्वरं विनयन्ति**=इस पवित्र विवाह-यज्ञ को अमंगलयुक्त कर देते हैं। जो **नरः**=अनासक्तिपूर्वक कर्त्तव्य-कर्मों को करनेवाले (न रमते) लोग हैं वे **दीर्घाम् प्रसितिं अनुदीध्युः**=अपनी कन्या के इस दीर्घ बन्धन—पति-पत्नी सम्बन्ध को ध्यान करके दीप्त होते हैं। 'किस प्रकार उनकी कन्या पति के साथ मिलकर अपने गृहस्थ-यज्ञ को अनुकूलता

से चलाएगी' यह सोचकर वे प्रसन्न होते हैं। २. **ये**=जो भी **इदम्**=इस गृहयज्ञ को **सम् ईरिरे**=सम्यक् प्रेरित करते हैं वे **पितृभ्यः वामम्**=माता-पिता बड़ों के लिए सुन्दर कार्य को ही करते हैं। यह **जनये परिष्वजे**=पत्नी का आलिंगन **पतिभ्यः मयः**=पतियों के लिए भी कल्याणकर होता है।

भावार्थ—अपनी कन्या को पतिगृह में भेजने के अवसर पर माता-पिता प्रसन्नता का अनुभव करें। यही कामना करें कि उनकी कन्या पति के साथ दीर्घ बन्धन में बद्ध होकर रहे। यह गृहस्थ-यज्ञ तो माता-पिता के लिए अत्यन्त सुन्दर वस्तु है तथा पति के लिए यह पत्नी का सम्बन्ध कल्याणकर ही है।

ऋषिः—**सावित्री** ॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पाषाणतुल्य दृढ़ शरीर

स्योनं ध्रुवं प्रजायै धारयामि तेऽश्मानं देव्याः पृथिव्या उपस्थे।
तमा तिष्ठानुमाद्या सुवर्चा दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु॥ ४७॥

१. हे नववधु! **देव्याः पृथिव्या उपस्थे**=इस दिव्यगुणोंवाली पृथिवी माता की गोद में **ते**=तेरे लिए **स्योनम्**=सुखकर **ध्रुवम्**=स्थिरता से रहनेवाले, रोगों से न हिल जानेवाले **अश्मानम्**=पाषाणतुल्य दृढ़ शरीर को **प्रजायै**=उत्तम सन्तान की प्राप्ति के लिए **धारयामि**=धारण करता हूँ। जितना पृथिवी के सम्पर्क में उठना-बैठना होगा उतना ही शरीर स्वस्थ रहेगा। शरीर को पाषाणतुल्य दृढ़ बनाना आवश्यक है। माता का शरीर पूर्ण स्वस्थ होगा तो सन्तान भी उत्तम होगी। २. हे नववधु! तू **अनुमाद्या**=पति की अनुकूलता में हर्ष को प्राप्त करती हुई **सुवर्चाः**=उत्तम वर्चस् बनकर **तं आतिष्ठ**=उस पाषाणतुल्य दृढ़ शरीर में स्थित हो। **सविता**=सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक प्रभु **ते**=तेरे लिए **आयुः दीर्घं कृणोतु**=दीर्घ जीवन करें।

भावार्थ—पत्नी गृह में पृथिवी की गोद में उठने-बैठनेवाली हो। इसप्रकार उसका शरीर स्वस्थ व दृढ़ होगा, गद्दों व पलंगों पर ही बैठने से नहीं। तब प्रजा भी उत्तम होगी, पति की अनुकूलता में तेजस्विनी होती हुई यह दृढ़ शरीर में निवास करें और प्रभुकृपा से दीर्घ जीवन को प्राप्त करे।

ऋषिः—**सावित्री** ॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

प्रजया च धनेन च

येनाग्निरस्या भूम्या हस्तं जग्राह दक्षिणम्।
तेन गृह्णामि ते हस्तं मा व्यथिष्ठा मया सह प्रजया च धनेन च॥ ४८॥

१. राजा पृथिवीपति कहलाता है, मानो यह पृथिवी का दक्षिण हाथ ग्रहण करके उसे अपनी पत्नी बनाता है और उसका सम्यक् रक्षण करता है, उसीप्रकार एक युवक भी युवति के हाथ को ग्रहण करता हुआ कहता है कि **अग्निः**=राष्ट्र को आगे ले-चलनेवाला राजा **येन**=जिस हेतु से **अस्याः भूम्याः**=भूमि के—प्रजाओं के निवासस्थानभूत पृथिवी के **दक्षिणं हस्तं जग्राह**=दाहिने हाथ को ग्रहण करता है, **तेन**=उसी हेतु से मैं **ते हस्तं गृह्णामि**=तेरे हाथ का ग्रहण करता हूँ। तू **मा व्यथिष्ठाः**=पितृगृह से पृथक् होती हुई किसी भी प्रकार पीड़ित न हो, दुःखी न हो। तू **मया सह**=मेरे साथ **प्रजया च धनेन च**=प्रजा व धन के साथ सम्यक् निवासवाली होगी, उत्तम सन्तति को प्राप्त होगी और तुझे उनके पालन के लिए आवश्यक धन की कमी न रहेगी।

भावार्थ—गृहस्थ युवक का कर्त्तव्य है कि घर में उत्तम सन्तति के पालन-पोषण के लिए

आवश्यक धन की कमी न होने दे।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

देव, सविता, सोम, राजा

देवस्ते सविता हस्तं गृह्णातु सोमो राजा सुप्रजसं कृणोतु।
अग्निः सुभगां जातवेदाः पत्ये पत्नीं जरदष्टिं कृणोतु॥ ४९॥

१. हे वधु! **देवः**=दिव्यगुणों की प्रकृतिवाला **सविता**=सदा उत्तम प्रेरणाएँ देनेवाला यह युवक **ते**=तेरे **हस्तम्**=हाथ को **गृह्णातु**=ग्रहण करे। **सोमः**=सौम्य स्वभाववाला व सोमशक्ति का पुञ्ज **राजा**=व्यवस्थित (Regulated) जीवनवाला यह युवा पति तुझे **सुप्रजसं कृणोतु**=उत्तम सन्तानवाला करे। पति देववृत्तिवाला हो, घर में सबको उत्तम प्रेरणाएँ प्राप्त करानेवाला हो। सौम्य स्वभाव व शक्ति का पुञ्ज हो तथा व्यवस्थित जीवनवाला हो। २. **जातवेदाः अग्निः**=वह सर्वज्ञ अग्रणी प्रभु **सुभगां पत्नीम्**=तुझ सौभाग्यशालिनी पत्नी को **पत्ये**=पति के लिए **जरदष्टिं कृणोतु**=पूर्ण अवस्था को प्राप्त करनेवाला, अर्थात् दीर्घजीवनवाला करे। तू दीर्घजीवन को धारण करती हुई पति के लिए गृहस्थ-यज्ञ की पूर्ति में साथी बन।

भावार्थ—पति 'देववृत्ति का, सदा उत्तम प्रेरणा देनेवाला, सौम्य व व्यवस्थित जीवनवाला हो'। पत्नी सौभाग्यशालिनी व दीर्घजीवनवाली होती हुई पति के लिए इस गृहस्थ-यज्ञ में सहायता करनेवाली हो।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

भग, अर्यमा, सविता, पुरन्धि, देव

गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः॥ ५०॥

१. पति पत्नी से कहता है—मैं **सौभगत्वाय ते हस्तं गृह्णामि**=घर को सुभग-सम्पन्न बनाने के लिए तेरे हाथ का ग्रहण करता हूँ, **यथा**=जिससे **मया पत्या**=मुझ पति के साथ इस घर को सौभाग्य-सम्पन्न बनाती हुई तू **जरदष्टिः असः**=जरावस्था का व्यापन करनेवाली, दीर्घजीवनवाली हो। २. **भगः अर्यमा सविता पुरन्धिः देवाः**=भग, अर्यमा, सविता, पुरन्धि व देवों ने **त्वा**=तुझे **गार्हपत्याय**=गृहपतित्व के लिए—गृह के कार्य को सम्यक् चलाने के लिए **मह्यं अदुः**=मेरे लिए दिया है, अर्थात् तेरे माता-पिता ने यह देखकर कि (क) मैं धन को उचितरूप में कमानेवाला हूँ, (ख) काम-क्रोधादि शत्रुओं का नियमन करनेवाला हूँ (अरीन् यच्छति), (ग) निर्माणात्मक कार्यों में अभिरुचिवाला हूँ (सविता), (घ) पालक बुद्धि से युक्त हूँ (पुरन्धि), (ङ) उत्तम गुणों को अपनाये हुए हूँ (देवाः)। यह सब देखकर ही उन्होंने तेरे हाथ को मेरे हाथ में दिया है।

भावार्थ—पति को उचित मार्ग से धन कमानेवाला, काम-क्रोधादि का नियमन करनेवाला, निर्माणात्मक प्रवृत्तिवाला, पालक बुद्धियुक्त व देववृत्तिवाला होना चाहिए।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

नव गृहपतिः

भगस्ते हस्तमग्रहीत्सविता हस्तमग्रहीत्। पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव॥ ५१॥

१. पति पत्नी से कहता है कि **भगः**=उचित मार्गों से ऐश्वर्य को कमानेवाले ने ही **ते हस्तं**

अग्रहीत्=तेरे हाथ का ग्रहण किया है। **सविता**=निर्माणात्मक कर्मों में अभिरुचिवाले ने ही **हस्तं अग्रहीत्**=तेरे हाथ को ग्रहण किया है। २. **पत्नी त्वं असि धर्मणा**=यज्ञादि उत्तम कर्मों के हेतु से ही तू मेरी पत्नी हुई है। तेरे साथ मिलकर यज्ञादि उत्तम कर्मों को कर पाऊँगा। **अहं त्वं गृहपतिः**=मैं तेरे घर का रक्षक होऊँगा। घर तो तेरा ही होगा, तूने ही इसका निर्माण करना होगा। मैं तो रक्षकमात्र ही होऊँगा।

भावार्थ—ऐश्वर्य की कामनावाला तथा निर्माण के कार्यों में रुचिवाला युवक ही एक युवति का हाथ ग्रहण करता है, जिससे उसके साथ वह धर्म के कार्यों को कर सके। पत्नी ने ही घर को बनाना है, पति तो उस निर्मित घर का रक्षक होगा।

ऋषिः—**सावित्री** ॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ममेयमस्तु पोष्या

ममेयमस्तु पोष्या मह्यं त्वादाद् बृहस्पतिः।
मया पत्या प्रजावति सं जीव शरदः शतम्॥ ५२॥

१. **इयम्**=यह पत्नी **मम पोष्या अस्तु**=मेरी पोषणीय हो। मैं घर में पोषण के लिए आवश्यक वस्तुओं की कमी न होने दूँ। **मह्यम्**=मेरे लिए **त्वा**=तुझे **बृहस्पतिः अदात्**=ब्रह्मणस्पति प्रभु ने प्राप्त कराया है, दिया है। प्रभु की कृपा से ही यह हमारा सम्बन्ध हुआ है। हे **प्रजावति**=उत्तम सन्तानों को जन्मदेनेवाली सुभगे! तू **मया पत्या**=मुझ पति के साथ **शरदः शतम्**=शतवर्षपर्यन्त **संजीव**=सम्यक् जीनेवाली हो। हम दोनों मिलकर इस गृहस्थयज्ञ को सम्यक् सम्पन्न करें।

भावार्थ—गृहपति यह अपना सर्वाधिक आवश्यक कर्त्तव्य समझे कि घर में पोषण के लिए आवश्यक सामग्री में कमी न हो। पत्नी भी इस सम्बन्ध को प्रभु प्रेरणा से हुआ-हुआ समझती हुई पति के साथ प्रेम से गृहस्थयज्ञ में उत्तम सन्तानोंवाली बने।

ऋषिः—**सावित्री** ॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

बृहस्पते कवीनाम् प्रशिषा

त्वष्टा वासो व्य ∫ दधाच्छुभे कं बृहस्पतेः प्रशिषा कवीनाम्।
तेनेमां नारीं सविता भगश्च सूर्यामिव परि धत्तां प्रजया॥ ५३॥

१. **त्वष्टा**=देवशिल्पी, उत्तम गृहनिर्माता ने **बृहस्पतेः**=उस ज्ञानी प्रभु की वेदोपदीष्ट **प्रशिषा**=आज्ञा के अनुसार तथा **कवीनाम्**=ज्ञानियों के **प्रशिषा**=प्रशासन के अनुसार (Architect के निर्देशानुसार) **शुभे**=शोभा की वृद्धि के लिए **कं वासः**=सुखप्रद वासगृह को **व्यदधात्**=बनाया है। २. **तेन**=उस वासगृह के द्वारा, उस घर में सम्यक् निवास के द्वारा **सूर्याम् इव इमां नारीम्**=सूर्या के समान दीप्त इस नारी को **सवितः भगः च**=निर्माणात्मक कार्यों में रुचिवाला यह ऐश्वर्य का विजेता पति **प्रजया परिधत्ताम्**=उत्तम प्रजा के हेतु से धारण करे। घर में सब व्यवस्था ठीक होने से मनःप्रसाद के कारण उत्तम सन्तानों का होना स्वाभाविक है।

भावार्थ—प्रभु द्वारा वेदोपदीष्ट प्रकार से तथा वास्तुकला-निपुण गृहालेखकर्त्ता (Architect) के निर्देशानुसार उत्तम शिल्पी द्वारा घर बनवाया जाए। उसमें प्रेरक व धन के अर्जक (earn) पति के साथ प्रसन्नतापूर्वक रहती हुई यह पत्नी उत्तम प्रजावाली हो।

ऋषिः—**सावित्री** ॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

एक नारी के चौदह रत्न

इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी मातरिश्वा मित्रावरुणा भगो अश्विनोभा।
बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु ॥ ५४ ॥

१. **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि, अर्थात् जितेन्द्रियता व आगे बढ़ने की भावना, **द्यावापृथिवी**=स्वस्थ मस्तिष्क व स्वस्थ शरीर (मूर्ध्नो द्यौः, पृथिवी शरीरम्) **मातरिश्वा**=वायु, अर्थात् शुद्ध वायु का सेवन, **मित्रावरुणा**=स्नेह व निर्द्वेषता (द्वेष-निवारण) की भावना, **भगः**=उत्तम ऐश्वर्य—दरिद्रता का अभाव, **उभा अश्विना**=दोनों प्राण व अपान, **बृहस्पतिः**=(बृहतां पतिः) विशाल हृदयता, संकुचित मनोवृत्ति का न होना, **मरुतः**=मितराविता—बहुत बोलने की प्रवृत्ति का न होना, **ब्रह्म**=ज्ञान **सोमः**=शरीर में सोमशक्ति का **रक्षण**—ये सब **इमां नारीम्**=इस नारी को **प्रजया वर्धयन्तु**=उत्तम सन्तति से बढ़ाएँ। इन्द्र व अग्नि आदि शब्दों से सूचित भाव इस नारी को उत्तम सन्तति प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—सन्तति की उत्तमता के लिए गृहिणी को 'जितेन्द्रियता, प्रगतिशीलता, स्वस्थ मस्तिष्क, स्वस्थ शरीर, शुद्ध वायुसेवन, स्नेह, निर्द्वेषता, उत्तम ऐश्वर्य, प्राणशक्ति, अपानशक्ति, विशाल हृदयता, मितराविता, ज्ञान व सोमशक्ति का शरीर में रक्षण'—इन चौदह रत्नों को अपने जीवन में धारण करना चाहिए।

ऋषिः—**सावित्री** ॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः** ॥ छन्दः—**पुरस्ताद्बृहती** ॥

केश-प्रसाधन-जनित 'सौन्दर्य'

बृहस्पतिः प्रथमः सूर्यायाः शीर्षे केशाँ अकल्पयत्।
तेनेमामश्विना नारीं पत्ये सं शोभयामसि ॥ ५५ ॥

१. **बृहस्पतिः**=ब्रह्मणस्पति, ज्ञान के स्वामी **प्रथमः**=(प्रथ विस्तारे) शक्तियों के विस्तारवाले प्रभु ने **सूर्यायाः शीर्षे**=सूर्य के समान ज्ञानदीप्त अथवा सूर्य के समान सरणशीला (क्रियाशीला) इस नारी के शीर्षे=सिर पर **केशान् अकल्पयत्**=बालों की रचना की है। हे **अश्विना**=स्त्री व पुरुषो! **इमां नारीम्**=इस नारी को **तेन**=उस केशसमूह से **पत्ये**=पति के लिए **संशोभयामसि**=सम्यक् शोभित करते हैं। बाल स्त्री के सिर की शोभा की वृद्धि के कारण बनते हैं। केशों की ठीक स्थिति स्त्री की शोभा व सौन्दर्य को बढ़ानेवाली होती है।

भावार्थ—स्त्री केशों की सुस्थिति द्वारा अपनी शोभा को बढ़ानेवाली होती है।

ऋषिः—**सावित्री** ॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गुण-कर्म-स्वभाव को समझकर साथी का चुनाव

इदं तद्रूपं यदवस्त योषा जायां जिज्ञासे मनसा चरन्तीम्।
तामन्वर्तिष्ये सखिभिर्नवग्वैः क इमान्विद्वान्वि चचर्त पाशान् ॥ ५६ ॥

१. **योषा**=यह स्त्री **यत् अवस्त**=जो उत्तम वस्त्रों को धारण करती है, **इदं तत् रूपम्**=यह उसका उत्तम रूप है। उत्तम वस्त्रों को धारण करके यह रूपवती हुई है। **मनसा चरन्तीम्**=ज्ञानपूर्वक विचरण करती हुई **जायाम्**=जाया को, पत्नी को मैं **जिज्ञासे**=और अधिक जानना चाहता हूँ। गुण-कर्म-स्वाभावों को समझकर ही जीवनसाथी का चुनना ठीक होता है। केवल वस्त्रजनित सौन्दर्य पर ही मुग्ध होकर साथी का चुनाव नहीं हुआ करता। २. इसप्रकार ठीक चुनाव होने

पर **ताम् अनु**=उसको साथी के रूप में प्राप्त करने के लक्ष्य से **नवग्वैः सखिभिः**=प्रशस्त गतिवाले मित्रों के साथ **अन्वर्तिष्ये**=गतिवाला होऊँगा। इन मित्रों के साथ उस युवति के गृह पर उपस्थित होकर उसे सहधर्मिणि के रूप में स्वीकार करूँगा। **कः विद्वान्**=कोई विरल ज्ञानी पुरुष ही **इमान् पाशान्**=इन प्रेम-बन्धन के पाशों को **विचचर्त**=काटा करता है। सामान्यतः इन प्रेम-बन्धनों से बद्ध होकर सद्गृहस्थ बनना ही मानवोचित मार्ग है।

भावार्थ—वस्त्रों से एक युवति का शरीर शोभावाला होता ही है, परन्तु साथी का चुनाव केवल इस वस्त्रजनित सौन्दर्य के ही कारण न हो। उसके स्वभाव के सौन्दर्य को समझकर ही साथी का चुनाव उचित है। चुनाव ठीक हो जाने पर उसकी प्राप्ति के लिए प्रशस्ताचरण मित्रों के साथ उसके घर पर जाना चाहिए। प्रेम-बन्धनों को एकदम काट डालना बहुत प्रकृष्ट ज्ञानी पुरुष के लिए ही सम्भव है। सामान्यतः सद्गृहस्थ बनना ही सत्पथ पर चलना है।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पश्यन् वेदत्

अहं वि ष्यामि मयि रूपमस्या वेददित्पश्यन्मनसः कुलायम्।
न स्तेयमद्मि मनसोदमुच्ये स्वयं श्रथ्नानो वरुणस्य पाशान्॥ ५७॥

१. **अस्याः रूपम्**=इस युवति के रूप को अपने **मनसः कुलायम् पश्यन्**=मन का घोंसला, मन का आश्रय-स्थान देखता हुआ **वेदत् इत्**=निश्चय से समझता हुआ ही **अहम्**=मैं इसके रूप को **मयि विष्यामि**=अपने हृदय में (विष्यति to complete) पूर्ण करता हूँ, पूर्णरूप से धारण करता हूँ। इसका रूप मेरे मन के लिए आकर्षक हुआ है। उस आकर्षण के परिणामों को भी समझता हुआ मैं इसके रूप को अपने रूप में स्थान देता हूँ। 'मैं केवल हृदय से इसे चाहता हूँ', ऐसी बात नहीं। मस्तिष्क से विचार करके मैं इस सम्बन्ध को स्वीकार कर रहा हूँ। २. आज से **न स्तेयं अद्मि**=कोई भी वस्तु मैं चुपके-चुपके अकेले न खाने का व्रत लेता हूँ। **मनसा उद्मुच्ये**=अलग खाने के विचार को मैं मन से ही छोड़ देता हूँ। इसप्रकार **वरुणस्य पाशान्**=व्रतों के बन्धन के तोड़नेवालों को बाँधनेवाले वरुण के पाशों को स्वयं **श्रथ्नानः**=स्वयं ढीला करनेवाला होता हूँ। मैं अपने को व्रतों के बन्धनों में बाँधकर चलता हूँ और परिणामतः वरुण के पाशों से बद्ध नहीं होता।

भावार्थ—एक युवक युवति के रूप को तो देखता ही है, परन्तु केवल भावुकतावश आकृष्ट न होकर मस्तिष्क से सोचकर सम्बन्ध को स्थापित करता है। इसी कारण यह वरुण के पाशों से जकड़ा नहीं जाता। यह आज से 'अकेले न खाने का' व्रत लेता है। मिलकर खाना परस्पर प्रेम का वर्धक होता है।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

उरुं लोकं, सुगं पन्थाम्

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद्येन त्वाबध्नात्सविता सुशेवाः।
उरुं लोकं सुगमत्र पन्थां कृणोमि तुभ्यं सहपत्न्यै वधु॥ ५८॥

१. **त्वा**=तुझे **वरुणस्य पाशात्**=श्रेष्ठ प्रभु के उस पाश से **प्रमुञ्चामि**=छुड़ाता हूँ, **येन**=जिस पाश से **त्वा**=तुझे **सुशेवाः**=उत्तम कल्याण करनेवाले **सविता**=इस आनन्ददाता पिता ने **अबध्नात्**=बाँधा हुआ था। पुत्री के प्रति पिता का प्रेम ऐसा होता है कि उसको तोड़ लेना सरल नहीं। प्रभु ने इस प्रेम-बन्धन को पैदा किया है। यौवनावस्था तक पिता इस प्रेम के कारण ही

उसे पालित व पोषित करता है। २. अब यह उसका भावी पति उसे इस बन्धन से छुड़ाकर कहता है कि हे **वधु**=गृहस्थ के बोझ का वहन करनेवाली पत्नि! **अत्र**=यहाँ गृहस्थाश्रम में **सहपत्न्यै**=पति के साथ मिलकर गृहस्थभार का वहन करनेवाली **तुभ्यम्**=तेरे लिए **उरुं लोकम्**=विशाल लोक को, प्रकाश को तथा **सुगं पन्थां कृणोमि**=सुगमता से चलने योग्य मार्ग बनाता हूँ। मैं प्रयत्न करता हूँ कि तुझे समस्याओं का अन्धकार यहाँ न घेर ले और तुझे मार्ग पर बढ़ने पर कठिनता न हो।

भावार्थ—'पति' पत्नी को उसके पितृगृह से पृथक् करता हुआ प्रभु से उत्पादित पितृप्रेम के बन्धन से छुड़ाता है और प्रयत्न करता है कि पतिगृह में उसके सामने समस्याओं का अन्धकार न हो और उसे जीवन-मार्ग में आगे बढ़ने में कठिनता न हो।

ऋषिः—**सावित्री** ॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गृह का पवित्र वातावरण

उद्यच्छध्वमप रक्षो हनाथेमां नारीं सुकृते दधात।
धाता विपश्चित्पतिमस्यै विवेद भगो राजा पुर एतु प्रजानन्॥ ५९॥

१. घर में सभी को यह कर्त्तव्यरूप से कहा जाता है कि **उद्यच्छध्वम्**=उद्यमवाले होओ, आलस्य को दूर फेंककर कर्त्तव्य-कर्मों में तत्पर होओ। **रक्षः अपहनाथ**=राक्षसीभावों को दूर नष्ट करो। आलस्य में ही राक्षसीभाव जागरित होते हैं। उद्योग से युक्त उत्तम वातावरण में **इमां नारीम्**=इस नारी को भी **सुकृते दधात**=पुण्यकर्म में धारण करो। यह भी इस गृह के उत्तम वातावरण में यज्ञादि पुण्यकर्मों को करनेवाली हो। २. उस **विपश्चित् धाता**=ज्ञानी, धारक प्रभु ने ही **अस्यै पतिं विवेद**=इसके लिए पति को प्राप्त कराया है। वह **भगः**=ऐश्वर्यशाली **राजा**=सबका शासक **प्रजानन्**=सर्वज्ञ प्रभु **पुरः एतु**=इसके आगे प्राप्त हो, इसके लिए मार्गदर्शक हो। यह युवति यही अनुभव करे कि प्रभु ने मुझे इस पति के साथ सम्बन्ध प्राप्त कराया है। प्रभु मेरे लिए मार्गदर्शक होंगे। इस मार्ग पर आक्रमण करती हुई मैं भी ऐश्वर्य-सम्पन्न व दीप्त जीवनवाली बन पाऊँगी (भगः राजा)।

भावार्थ—घर का वातावरण पुरुषार्थवाला होगा तो वहाँ अशुभ वृत्तियाँ होंगी ही नहीं। पवित्र वातावरण में यह युवति भी यज्ञादि पवित्र कर्मों को करनेवाली होगी। वह यही भाव धारण करेगी कि प्रभु ने मेरे लिए यह सम्बन्ध प्राप्त कराया है और प्रभु ही मेरे लिए मार्गदर्शक होंगे। उस मार्ग पर चलती हुई मैं ऐश्वर्य (भग) व दीप्ति (राजा) से सम्पन्न बन पाऊँगी।

ऋषिः—**सावित्री** ॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

चतुरः पादान् चत्वारि आयुष्पलानि

भगस्ततक्ष चतुरः पादान्भगस्ततक्ष चत्वार्युष्पलानि।
त्वष्टा पिपेश मध्यतोऽनु वर्ध्रान्त्सा नो अस्तु सुमङ्गली॥ ६०॥

१. **भगः**=उस भजनीय प्रभु ने हमारे लिए **चतुरः पादान्**=चार 'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष' रूप गन्तव्य पुरुषार्थों को **ततक्ष**=बनाया है। हमने केवल 'अर्थ-काम' में आसक्त नहीं होना। धर्म व मोक्ष से सुरक्षित अर्थ-काम ही पुरुषार्थ हैं। उनके न रहने पर तो ये व्यर्थ ही हो जाते हैं। धर्मपूर्वक अर्थ व काम होंगे तो ये मोक्ष के साधक बनेंगे। **भगः**=इस भजनीय प्रभु ने **चत्वारि**=चार—स्वाध्याय, यज्ञ व तपस्या कर्मों को **उष्पलानि**=(उष दाहे, पल रक्षणे) कामाग्नि में दग्ध हो जाने से रक्षण करनेवाला **ततक्ष**=बनाया है। स्वाध्याय, यज्ञ, तप

व दानरूप धर्मों में प्रवृत्त होने पर हम कामाग्नि से दग्ध होने से बचे रहेंगे। २. **त्वष्टा**=वह ज्ञानदीप्त निर्माता (त्विष् तक्ष्) प्रभु **मध्यता**=इस गृहस्थरूप जीवन के माध्यन्दिन सवन में **अनुवर्ध्रान्**=अनुकूल संयम रज्जुओं को **पिपेश**=हमारे लिए निर्मित करता है। यहाँ संयमी जीवनवाले पुरुषों से युक्त गृहस्थ में **सा**=वह नववधू **नः**=हमारे लिए **सुमंगली अस्तु**=उत्तम मंगलों को सिद्ध करनेवाली हो। वासनामय जीवन होने पर पत्नी घर को मंगलमय नहीं बना सकती।

भावार्थ—'प्रभु ने धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष' इन चार पुरुषार्थों को हमारे लिए मन्तव्य मार्ग के रूप में नियत किया है। गृहस्थ में कामाग्नि में दग्ध हो जाने से रक्षण के लिए 'स्वाध्याय, यज्ञ, तप व दान' इन सुकृतों का स्थापन किया है। गृहस्थ में भी व्रतरूप संयम-रज्जुओं से हमें बाँधा है। ऐसे घर में पत्नी सुमंगली होती है।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

गृहस्थ-रथ

सुकिंशुकं वहतुं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम्।
आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पतिभ्यो वहतुं कृणु त्वम्॥ ६१॥

१. हे **सूर्ये**=सविता की पुत्री! सूर्यसम दीप्त जीवनवाली सरणशीले! तू **आरोह**=इस गृहस्थ-रथ पर आरूढ़ हो, जो रथ **सुकिंशुकम्**=उत्तम प्रकाशवाला है, जिसे तूने स्वाध्याय के द्वारा उत्तम प्रकाश से युक्त करना है। **वहतुम्**=जो हमें उद्दिष्ट स्थल की ओर ले-जानेवाला है। **विश्वरूपम्**=जो सर्वत्र प्रविष्ट प्रभु का निरूपण करनेवाला है, चमकता है। यहाँ सबका स्वास्थ्य उत्तम होने से सब चमकते हैं। **सुवृतम्**=यह रथ उत्तम वर्तनवाला है। यहाँ सबकी वृत्ति उत्तम है तथा **सुचक्रम्**=यह रथ उत्तम चक्रवाला है, अर्थात् सब उत्तम कर्मों में प्रवृत्त हैं। २. हे सूर्ये! **त्वम्**=तू इस **वहतुम्**=रथ को **पतिभ्यः**=सब पतिकुलवालों के लिए **अमृतस्य लोकम्**=नीरोगता का स्थान तथा **स्योनं कृणु**=सुखप्रद कर। तेरे उत्तम व्यवहार व प्रबन्ध से यहाँ सब नीरोग और सुखी रहें।

भावार्थ—गृहपत्नी ने घर में ऐसी व्यवस्था करनी है कि वहाँ सभी स्वाध्यायशील हों, प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाले हों, स्वास्थ्य की ज्योति से चमकते हों, उत्तम वृत्तिवाले व उत्तम कर्मोंवाले हों, घर में नीरोगता व सुख हो।

ऋषिः—**सावित्री**॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अभ्रातृघ्नी, अपशुघ्नी, अपतिघ्नी, पुत्रिणी

अभ्रातृघ्नीं वरुणापशुघ्नीं बृहस्पते। इन्द्रापतिघ्नीं पुत्रिणीमस्मभ्यं सवितर्वह॥ ६२॥

१. हे **वरुण**=द्वेष का निवारण करनेवाले प्रभो! आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **अभ्रातृघ्नीम् आवह**=उस पत्नी को प्राप्त कराइए जो द्वेषादि के द्वारा हमारे भाइयों को नष्ट करनेवाली न हो, अपितु जिसके कारण भाइयों का प्रेम परस्पर बढ़े। हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! आप हमारे लिए ऐसी पत्नी प्राप्त कराइए जो **अपशुघ्नीम्**=घर के गौ आदि पशुओं को नष्ट करनेवाली न हो। उसे गोरक्षण आदि का ज्ञान हो। २. हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप उस पत्नी का इस घर में प्रवेश कराइए, जो **अपतिघ्नीम्**=पति को नष्ट करनेवाली न हो। पत्नी जितेन्द्रिय हो। वह वासनामय जीवनवाली होगी तो पति को भोगप्रवण बनाकर क्षीणशक्ति कर डालेगी। हे **सवितः**=सर्वोत्पादक प्रभो! हमें उस पत्नी को प्राप्त कराइए जो **पुत्रिणीम्**=प्रशस्त पुत्रों को जन्म देनेवाली हो। वह गृहस्थ को एक पवित्र सन्तान-निर्माण का आश्रम समझे। इसे

भोगस्थली न जाने।

भावार्थ—एक उत्तम पत्नी वरुण से निर्द्वेषता का पाठ पढ़कर भाइयों के प्रेम को बढ़ानेवाली होती है। बृहस्पतिरूप में प्रभु-स्मरण से स्वयं भी विदूषी बनने का प्रयत्न करती है। इस ज्ञान के द्वारा गवादि पशुओं का भी समुचित रक्षण करती है। जितेन्द्रिय होती हुई पति के विनाश का कारण नहीं होती और सविता के स्मरण से गृहस्थ को पवित्र सन्तान-निर्माण का आश्रम समझती है।

ऋषिः—**सावित्री** ॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शाला का द्वार वधू के लिए स्योन हो

मा हिंसिष्टं कुमार्यं स्थूणे देवकृते पथि।
शालाया देव्या द्वारं स्योनं कृण्मो वधूपथम्॥ ६३ ॥

१. घर में पुरुष व स्त्री घर के दो स्तम्भों के समान होते हैं, जो घर का धारण करते हैं। हे **स्थूणे**=घर के स्तम्भरूप स्त्री-पुरुषो! आप **देवकृते पथि**=उस महान् देव प्रभु से निश्चित किये गये मार्ग पर चलते हुए, अर्थात् अपने-अपने कर्त्तव्य-कर्मों को करते हुए **कुमार्यम्**=इस तुम्हारे घर में प्राप्त कुमारी युवति को **मा हिंसिष्ट**=हिंसित मत करो। घर में बड़े स्त्री-पुरुषों का यह कर्त्तव्य होता है कि आई हुई नववधू को किसी प्रकार से पीड़ित न होने दे। वह यहाँ परायापन ही न अनुभव करती रहे। २. घर के सब स्त्री-पुरुष व्रत लें कि हम इस **दैव्याः शालायाः**=दिव्यगुणों से व प्रकाश से युक्त शाला के **द्वारम्**=द्वार को **स्योनम् वधूपथम्**=सुखकर व वधू का मार्ग **कृण्मः**=बनाते हैं, अर्थात् 'यह वधू इस शाला के द्वार में प्रवेश करती हुई सुख ही अनुभव कर', ऐसी व्यवस्था करते हैं।

भावार्थ—घर के सब स्त्री-पुरुषों का यह कर्त्तव्य है कि वे अपने व्यवहार से नववधू के लिए किसी प्रकार के परायेपन व असुविधा को अनुभव न होने दें।

ऋषिः—**सावित्री** ॥ देवता—**विवाहमन्त्राशिषः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

अनाव्याधा देवपुरा

ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्म पूर्वं ब्रह्मान्ततो मध्यतो ब्रह्म सर्वतः।
अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य शिवा स्योना पतिलोके वि राज॥ ६४ ॥

१. नववधू जिस घर में प्रवेश करे वहाँ **अपारम्**=पीछे की ओर **ब्रह्म युज्यताम्**=ब्रह्म का सम्पर्क हो, **पूर्वम्**=सामने की ओर **ब्रह्म**=प्रभु का सम्पर्क हो, **अन्ततः मध्यता**=दोनों सिरों व मध्य में भी **ब्रह्म**=प्रभु का सम्पर्क हो। **सर्वतः ब्रह्म**=सब ओर ब्रह्म का सम्पर्क हो। इस घर में सभी प्रभु का स्मरण करनेवाले हों। २. हे नववधु! तू **अनाव्याधाम्**=व्याधियों से शून्य **देवपुराम्**=देववृत्ति के लोगों की नगरीरूप इस गृह को **प्रपद्य**=प्राप्त होकर यहाँ **पतिलोके**=पतिलोक में **शिवः**=कल्याणकर कर्मों को करनेवाली व **स्योना**=सुखी जीवनवाली **विराज**=विशिष्टरूप से दीप्त हो।

भावार्थ—नववधू को वह घर प्राप्त हो जहाँ सब प्रभु का स्मरण करनेवाले लोग हों, जिस घर में रोग नहीं, जिस घर में लोग देववृत्ति के हैं। यहाँ यह कर्त्तव्यपरायण सुखी जीवनवाली होवे।

अथ द्वितीयोऽनुवाकः

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अग्नि के प्रति कन्या का अर्पण

तुभ्यमग्रे पर्यवहन्त्सूर्यां वहतुना सह।
स नः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह॥ १॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **सूर्याम्**=इस सूर्या को—सूर्यसम दीप्त कन्या को इसके माता-पिता **वहतुना सह**=सम्पूर्ण दहेज के साथ **अग्रे**=पहले **तुभ्यम्**=तेरे लिए **पर्यवहन्**=प्राप्त कराते हैं। माता-पिता को अपनी कन्या को दूसरे घर में भेजते हुए आशंका का होना स्वाभाविक ही है। वे प्रभु से कहते हैं कि हम तो इसे आपको ही सौंप रहे हैं। आपने ऐसी कृपा करनी कि वह ठीक स्थान पर ही जाए। २. हे अग्ने! हमने तो इस कन्या को आपके लिए सौंप दिया है। **सः**=वे आप **नः**=हमारी इस कन्या को **पतिभ्यः**=पतियों के लिए **जायां दाः**=पत्नी के रूप में प्राप्त कराइए। आप इस कन्या को **प्रजया सह**=उत्तम प्रजा के साथ कीजिए। 'अग्नि' शब्द (आचार्य) के लिए भी आता है। कन्या को आचार्य के प्रति सौंपकर माता-पिता आचार्य द्वारा ही उसका सम्बन्ध कराएँ।

भावार्थ—कन्याओं के विवाह-सम्बन्ध आचार्यों के माध्यम से होने पर सम्बन्ध के अनौचित्य की शंका नितान्त कम हो जाती है। यह सम्बन्ध प्रभु-पूजनपूर्वक होना ही ठीक है।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

परस्पर सामनस्य से दीर्घजीवन

पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा सह वर्चसा। दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम्॥ २॥

१. **अग्निः**=आचार्य, जिसके प्रति कन्या के माता-पिता ने कन्या के सम्बन्ध का कार्यभार सौंपा था, **पुनः**=फिर **पत्नीं अदात्**=पत्नी को पति के लिए देता है। वह उस पत्नी को **आयुषा वर्चसा सह**=आयुष्य और वर्चस् के साथ पति के लिए प्राप्त कराता है। इस सम्बन्ध से पत्नी आयुष्य और वर्चस्वाली बनती है। २. **अस्याः यः पतिः**=इस पत्नी का जो पति है वह भी **दीर्घायुः**=दीर्घजीवनवाला होता है और **शतं शरदः जीवाति**=सौ वर्ष तक जीनेवाला होता है। आचार्य पति-पत्नी का ठीक सम्बन्ध कराके दोनों के दीर्घजीवन को सिद्ध करता है।

भावार्थ—पति-पत्नी का सुन्दर सामञ्जस्य होने पर ही दोनों का दीर्घजीवन निर्भर है।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सोमः, गन्धर्वः, अग्निः, मनुष्यजाः

सोमस्य जाया प्रथमं गन्धर्वस्तेऽपरः पतिः।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः॥ ३॥

१. **प्रथमम्**=सबसे पहले यह युवति **सोमस्य जाया**=सोम की पत्नी होती है। कन्या के माता-पिता सबसे प्रथम यह विचार करते हैं कि पति सौम्यस्वभाव का हो, कटु स्वभाव का न हो। **ते**=तेरा **अपरः पतिः**=दूसरा पति **गन्धर्वः**=वेदवाणी का धारण करनेवाला है। 'सौम्यता' यदि पति का प्रथम गुण है तो 'ज्ञान की वाणियों का धारण' उसका दूसरा गुण है। पति का ज्ञानी व ज्ञानरुचिवाला होना आवश्यक है। २. **तृतीयः**=तीसरे स्थान पर **अग्निः**=प्रगतिशील

मनोवृत्तिवाला **ते पतिः**=तेरा पति है। पति में तीसरा गुण यह होना चाहिए कि वह प्रगतिशील हो, जिसमें कोई महत्त्वाकांक्षा नहीं, उसने क्या उन्नति करनी? **तुरीय**=चौथा **ते पतिः**=तेरा पति वह है जोकि **मनुष्यजाः**=मनुष्य की सन्तान है, अर्थात् जिसमें मानवता है, जो दयालु है, न कि क्रूर।

भावार्थ—पति में क्रमशः 'सौम्यता, ज्ञानरुचिता, प्रगतिशीलता व मानवता' का होना आवश्यक है।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'सोम+गन्धर्व+अग्नि+मानव' को धन व पुत्रों की प्राप्ति

सोमो ददद्गन्धर्वाय गन्धर्वो ददद॒ग्नये। रयिं च पुत्रांश्चादाद॒ग्निर्मह्य॒मथो॑ इमाम्॥ ४॥

१. **सोमः**=सोम (सौम्यस्वभाव का व्यक्ति) जिसके लिए कन्या के माता-पिता ने अपनी कन्या देने का निश्चय किया हुआ था, **गन्धर्वाय ददत्**=गन्धर्व के लिए इस कन्या को देनेवाला होता है, अर्थात् सौम्यता के साथ ज्ञानयुक्त पति प्राप्त हो जाता है तो फिर सोम के साथ सम्बन्ध न करके उस गन्धर्व के साथ ही सम्बन्ध किया जाता है। **गन्धर्वः**=ये गन्धर्व (ज्ञानी) भी **अग्नये ददत्**=इस कन्या को अग्नि—प्रगतिशील के लिए देता है, अर्थात् यदि सौम्यता व ज्ञान के साथ प्रगतिशीलता का गुण भी मिल जाए तो वह पति उत्तम होता है। 'सोम' उत् है, 'सोम+गन्धर्व' उत्तर है और 'सोम+गन्धर्व+अग्नि' उत्तम है। यह **अग्निः**=प्रगतिशील व्यक्ति भी **अथो**=अब, निश्चय से **इमाम्**=इस युवति को **मह्यम्**=मुझ मानव के लिए **अदात्**=देता है और वह अग्नि मेरे लिए **रयिं च पुत्रान् च**=धन और उत्तम सन्तति की प्राप्त करानेवाला होता है।

भावार्थ—'सौम्य' पति ठीक है, सौम्य से अधिक उत्कृष्ट (ज्ञानी) है, उससे भी उत्कृष्ट प्रगतिशील स्वभाववाला। इस प्रगतिशील में मानवता और अधिक शोभा को बढ़ा देती है। सोने पर सुहागे का काम करनेवाली होती है।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**जगती**॥

'न कामातुर न कृपण' गृहपति

आ वा॑मगन्त्सुम॒तिर्वा॑जिनीवसू॒ न्य᳚श्विना हृ॒त्सु कामा॑ अरंसत।
अभू॑तं गो॒पा मि॑थु॒ना शु॑भस्पती प्रि॒या अ॑र्य॒म्णो दुर्याँ॑ अशीमहि॥ ५॥

१. पति-पत्नी अश्विनीदेवों से प्रार्थना करते हैं कि **वाजिनीवसू**=अन्नरूप धनवाले **अश्विना**=प्राणापानो! **वाम्**=आप दोनों की **सुमतिः**=कल्याणीमति **आ अगन्**=हमें सर्वथा प्राप्त हो। प्राणापान को 'अन्न-धनवाले' इसीलिए कहा है कि इन्हीं से अन्न का पाचन होता है। वैश्वनर अग्नि (जाठराग्नि) प्राणापान से युक्त होकर सब अन्नों का पाचन करती है। अन्न का ठीक पाचन होकर इस सात्त्विक अन्न से सात्त्विक ही बुद्धि प्राप्त होती है। हे प्राणापानो! आपकी कृपा से **कामाः**=वासनाएँ **हृत्सु**=हृदयों में **नि अरंसत**=पूर्णरूप से नियमित हों। कामवासना का नियमन ही गृहस्थ का सर्वमहान् कर्त्तव्य है। इसके नियमन से सन्तान भी उत्तम होते हैं और पति-पत्नी की शक्ति भी स्थिर रहती है, इसप्रकार इससे नीरोगता व दीर्घजीवन सिद्ध होते हैं। २. हे प्राणापानो! आप **गोपा अभूतम्**=हमारी इन्द्रियों का रक्षण करनेवाले होओ। आप **मिथुना**=द्वन्द्वरूप में मिलकर कार्य करनेवाले होते हुए **शुभस्पती**=सब शुभों के पति होते हो। 'शुभ' का अर्थ (Water) शरीरस्थ रेतःकण भी है। प्राणसाधना के द्वारा शरीर में इनकी ऊर्ध्वगति होकर शरीर में ही रक्षण होता है। ३. पत्नी प्रार्थना करती है कि **प्रियाः**=पति को प्रिय होती हुई हम

अथवा प्रियरूपवाली होती हुई हम **अर्यम्णाः**=कामादि को वश में करनेवाले, नियन्त्रित वासनावाले (अरीन् यच्छति) तथा उदार (अर्यमेति तमाहुर्यो ददातीति) पति के **दुर्यान्**=घरों को **अशीमहि**=प्राप्त करें। हमें ऐसा पति प्राप्त हो जो न तो कामातुर हो और न ही कृपण।

भावार्थ—गृहस्थ में प्राणसाधना द्वारा हम 'अन्न के समुचित पाचनवाले, सुमति-सम्पन्न, नियमित वासनावाले, सुरक्षित इन्द्रियोंवाले व ऊर्ध्वरेतस्वाले' बनें। गृहपति न कामातुर हों, न कृपण।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**जगती**॥

सुगं तीर्थं सुप्रपाणं पथिष्ठां स्थाणुम्

सा मन्दसाना मनसा शिवेन रयिं धेहि सर्ववीरं वचस्य᳕म्।
सुगं तीर्थं सुप्रपाणं शुभस्पती स्थाणुं पथिष्ठामप दुर्मतिं हतम्॥ ६॥

१. घर में **सा**=वह पत्नी भी **मन्दसाना**=घर के सारे वातावरण में हर्ष पैदा करती हुई **शिवेन मनसा**=शुभ मन से **सर्ववीरम्**=सब वीर सन्तानोंवाले **वचस्यम्**=प्रशंसनीय (न अवद्य) **रयिं धेहि**=धन को धारण करे। पत्नी की प्रसन्नता व मनःप्रसाद घर को उत्तम सन्तानों व उत्तम धनवाला बनाता है। हे **शुभस्पती**=शरीर में (शुभ water=रेतःकण) रेतःकणों के रक्षण के द्वारा सब शुभों का रक्षण करनेवाले पति-पत्नी! आप दोनों **सुगं तीर्थम्**=सुख से जाने योग्य घाटयुक्त जलाशय को, **सुप्रपाणम्**=उत्तम प्याऊ को तथा **पथिष्ठां स्थाणुम्**=मार्ग में स्थित होनेवाले वृक्षों को धारण करो, अर्थात् वापि, कूप, तड़ाग आदि बनानेवाले बनो तथा मार्ग के दोनों ओर वृक्ष लगानेवाले होओ। ये कर्म ही तो 'आपूर्त' हैं। **दुर्मतिं अपहतम्**=विषय-वासना में प्रवृत्त करनेवाली दुर्मति को अपने से दूर रक्खो।

भावार्थ—गृह में पत्नी मनःप्रसाद द्वारा उत्तम सन्तान व उत्तम धन का धारण करनेवाली हो। पति-पत्नी घाटों, प्याऊ तथा वृक्षों की स्थापनारूप आपूर्त कर्मों को करनेवाले हों। विषय-वासना की ओर झुकाववाली दुर्मति को अपने से दूर रक्खें।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रोगकृमि-भय-निवारण

या ओषधयो या नद्यो३ यानि क्षेत्राणि या वना।
तास्त्वा वधु प्रजावतीं पत्ये रक्षन्तु रक्षसः॥ ७॥

याः ओषधयः=जो ओषधियाँ हैं, **याः नद्यः**=जो नदियाँ हैं **यानि क्षेत्राणि**=जो क्षेत्र (खेत) हैं **या वना**=जो भी वन हैं, हे **वधु**=सन्तान को वहन करनेवाली पत्नि! **ताः**=वे सब **त्वा**=तुझे **पत्ये**=इस पति के हित के लिए, इसके वंश के अविच्छेद के लिए **प्रजावतीम्**=प्रशस्त प्रजा-(सन्तान)-वाला करें। ये सब तुझे **रक्षसः**=अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाले रोगकृमियों से **रक्षन्तु**=रक्षित करें।

भावार्थ—घर का सारा वातावरण इसप्रकार का हो कि वहाँ रोगकृमिजनित रोगों का भय न हो। इस स्वस्थ वातावरण में गृहपत्नी उत्तम सन्तान को जन्म देती हुई पति के वंश के अविच्छेद का कारण बने।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'सुगं स्वस्तिवाहन' पन्था

एमं पन्थामरुक्षाम सुगं स्वस्तिवाहनम्। यस्मिन्वीरो न रिष्यत्यन्येषां विन्दते वसु॥ ८॥

इमम्=इस **सुगम्**=शुभ की ओर ले-जानेवाले **स्वस्तिवाहनम्**=कल्याण प्राप्त करानेवाले **पन्थाम् आ अरुक्षाम**=मार्ग पर ही आरोहण करें। हम सदा शुभ मार्ग पर ही चलें, उस मार्ग पर चलें, जिसपर चलता हुआ **वीरः न रिष्यति**=वीरपुरुष हिंसित नहीं होता तथा **अन्येषाम्**=विलक्षण पुरुषों (Extra-ordinary) के **वसु विन्दते**=धन को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम उत्तम मार्ग पर चलते हुए वीर बनें, रोगादि से हिंसित न हों तथा विशिष्ट धनों को प्राप्त करें।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**षट्पदाविराडत्यष्टिः**॥

गन्धर्वः व देवीः अप्सरसः

इदं सु मे नरः शृणुत ययाशिषा दंपती वाममश्नुतः।
ये गन्धर्वा अप्सरसंश्च देवीरेषु वानस्पत्येषु येऽधि तस्थुः।
स्योनास्ते अस्यै वध्वै भवन्तु मा हिंसिषुर्वहतुमुह्यमानम्॥ ९॥

१. हे **नरः**=मनुष्यो! **मे**=मेरे **इदम्**=इस वचन को **सुशृणुत**=सम्यक् श्रवण करो। इस वचन में उस आशीर्वाद का प्रतिपादन है, **यया आशिषा**=जिस आशीर्वाद से **दम्पती**=पति-पत्नी **वामम्**=सुन्दर गृहस्थ-जीवन को **अश्नुतः**=व्याप्त करनेवाले होते हैं। **ये गन्धर्वाः**=जो ज्ञान की वाणियों का धारण करनेवाले ज्ञानी पुरुष हैं **च**=और **देवीः अप्सरसः**=दिव्य व्यवहारों को सिद्ध करनेवाली (अप्+सर) क्रियाशील देवियाँ हैं, **ये**=जो **एषु वानस्पत्येषु**=इन वनस्पतिजनित पदार्थों पर ही **अधितस्थुः**=स्थित होते हैं, अर्थात् जो कभी भी मांसाहार की ओर नहीं झुकते **ते**=वे **अस्यै वध्वै**=इस वधू के लिए **स्योनाः भवन्तु**=सुख देनेवाले हों। नवदम्पती के लिए इससे उत्तम आशीर्वाद और क्या हो सकता है कि उनके सास-श्वसुर ज्ञान की हविवाले व क्रियाशील जीवनवाले हों। ये वानस्पतिक पदार्थों का सेवन करनेवाले हों। इसप्रकार 'सास-श्वसुर' कभी भी कटुता को उत्पन्न नहीं होने देते। २. उल्लिखित 'गन्धर्व और देवी' अप्सराएँ **उह्यमानम्**=युवक व युवति से धारण किये जाते हुए इस गृहस्थ को **मा हिंसिषुः**=हिंसित न होने दें। उनका व्यवहार वधू को उत्साहित करनेवाला हो। उत्साहयुक्त हृदयवाली वधू ही गृहस्थ-रथ का सम्यक् वहन कर पाएगी।

भावार्थ—जिस युवक और युवति को उत्तम सास-श्वसुर प्राप्त होते हैं, वे उत्साहमय जीवनवाले होते हुए गृहस्थ-रथ का सम्यक् वहन कर पाते हैं। श्वसुर ज्ञानरुचिवाला हो, सास यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त हो। दोनों ही मांसभोजन से दूर रहें। इससे बढ़कर वधू का सौभाग्य नहीं। इन 'गन्धर्वों व अप्सराओं' को पाकर युवतियाँ गृहस्थ का सम्यक् वहन कर पाती हैं।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रोगनिवारण

ये वध्वश्चन्द्रं वहतुं यक्ष्मा यन्ति जनाँ अनु।
पुनस्तान्यज्ञिया देवा नयन्तु यत आगताः॥ १०॥

१. **ये यक्ष्मा**=जो रोग **जनान् अनु**=मनुष्यों को प्राप्त होने के पश्चात् **वध्वः चन्द्रं वहतुम्**=वधू के आह्लादमय, सुन्दर शरीर-रथ को भी **यन्ति**=प्राप्त होते हैं, **तान्**=उन रोगों को **यज्ञियाः देवाः**=आदरणीय विद्वान् पुरुष **पुनः**=फिर वहाँ **नयन्तु**=प्राप्त कराएँ, **यतः आगताः**=जहाँ से कि ये आये थे। २. पुरुष का जीवन कुछ भी भोगप्रधान हुआ तो शरीर में 'यक्ष्मा' का प्रवेश हो जाता है। पुरुष से यह रोग वधू को भी प्राप्त हो जाता है। आदरणीय विद्वान् अतिथियों का

यह कर्त्तव्य होता है कि जिस कारण से ये रोग उत्पन्न होते हैं उनका ठीक से ज्ञान देकर उन कारणों को दूर करने के लिए प्रेरित करें। मुख्य बात यही है कि पति-पत्नी का जीवन भोगप्रधान न हो जाए।

भावार्थ—मनुष्य भोगप्रवण होते ही रोगों को आमन्त्रित करता है। ये रोग पत्नी को भी प्राप्त हो जाते हैं। घर में अतिथिरूपेण आने-जानेवाले विद्वानों का कर्त्तव्य होता है कि वे रोग-कारणों का ज्ञान देकर रोगों को दूर करने में सहायक हों।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

चोर आदि के भय का अभाव

मा विदन्परिपन्थिनो य आसीदन्ति दम्पती। सुगेन दुर्गमतीतामप द्रान्त्वरातयः॥ ११॥

१. **ये परिपन्थिनः**=जो भी चोरादि विरोधी व्यक्ति—रास्ते में लूट लेनेवाले व्यक्ति **आसीदन्ति**=इधर-उधर छिपकर बैठे होते हैं, वे इन **दम्पती**=पति-पत्नी को **मा विदन्**=प्राप्त न हों। २. हम सब बराती, बरात के लोग **दुर्गम्**=कठिनता से गन्तव्य प्रदेशों को भी **सुगेन अतिताम्**=सुगमता से लाँघ जाएँ। **अरातयः अपद्रान्तु**=शत्रु सुदूर नष्ट हो जाएँ।

भावार्थ—बारात के मार्ग में किसी प्रकार का भय न हो। चोरादि के विघ्नों से बचकर हम दुर्गम स्थलों को भी निर्विघ्नता से पार कर सकें।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**जगती**॥

वहतु (a marriage)

सं काशयामि वहतुं ब्रह्मणा गृहैरघोरेण चक्षुषा मित्रियेण।
पर्याणद्धं विश्वरूपं यदस्ति स्योनं पतिभ्यः सविता तत्कृणोतु॥ १२॥

१. पति कहता है कि मैं **वहतुम्**=इस गृहस्थ-(विवाहित)-जीवन को **ब्रह्मणा**=ज्ञान से **गृहैः**=उत्तम गृह से (गृहाः पुंसि च भूम्न्येव) **अघोरेण मित्रियेण चक्षुसा**=क्रोध के लव से शून्य स्नेहभरी दृष्टि से **संकाशयामि**=प्रकाशमय करता हूँ। विवाह व विवाहित जीवन तभी उत्तम होता है जब पति-पत्नी ज्ञानदीप्तिवाले हों, उनके पास रहने के लिए उत्तम गृह हो तथा परस्पर क्रोधशून्य, प्रेमभरी दृष्टि से देखनेवाले हों। २. **सविता**=वह सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक प्रभु **पतिभ्यः**=पतियों के लिए **तत् स्योनं कृणोतु**=उस घर को बड़ा सुखद बनाएँ, **यत्**=जो घर **पर्याणद्धम्**=चारों ओर से सब प्रकार से बद्ध है, सुनियन्त्रित है तथा **विश्वरूपं असि**=उस सर्वव्यापक प्रभु के गुणों का निरूपण करनेवाला—प्रभु-स्तवन करनेवाला है, अर्थात् कल्याणकर घर वही होता है जिसमें सबका जीवन सुव्यवस्थित, प्रतिबद्ध है तथा जहाँ प्रातः-सायं सब घरवाले मिलकर प्रभु-स्तवन करते हैं।

भावार्थ—विवाहित जीवन के सुखी होने के लिए आवश्यक है कि (क) हम ज्ञान की रुचिवाले हों। (ख) निवास के लिए उत्तम गृह हो। (ग) परस्पर प्रेमपूर्ण दृष्टि से सब देखें। (घ) जीवन व्रतबन्ध व नियमबद्ध हों। (ङ) सब मिलकर प्रातः-सायं प्रभु का उपस्थान करते हों।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

शिवा नारी

शिवा नारीयमस्तमागन्निमं धाता लोकमस्यै दिदेश।
तामर्यमा भगो अश्विनोभा प्रजापतिः प्रजया वर्धयन्तु॥ १३॥

१. **इयम्**=यह **शिवा**=कल्याण करनेवाली **नारी**=गृहपत्नी **अस्तम् आगात्**=इस घर में आई है, **धाता**=उस सर्वाधार प्रभु ने **अस्यै**=इसके लिए **इमं लोकं दिदेश**=इस स्थान को निर्दिष्ट किया है अथवा प्रकाश को प्राप्त कराया है। प्रभु की व्यवस्था से ही एक युवति को एक नये घर के निर्माण के लिए प्रेरणा प्राप्त होती है। २. **ताम्**=इस नारी को **अर्यमा**=(अरीन् यच्छति) काम-क्रोधादि शत्रुओं का नियमन **भगः**=संसार-यात्रा का साधनभूत मननीय ऐश्वर्य **उभा अश्विना**=दोनों प्राणापान—प्राण साधना द्वारा प्राणापान की शक्ति का वर्धन तथा **प्रजापतिः**=सन्तान के रक्षण की भावना **प्रजया वर्धयन्तु**=उत्तम सन्तान के द्वारा बढ़ाएँ। 'अर्यमा' आदि देव नामों से सूचित भावनाएँ ही हमें उत्तम सन्तान को प्राप्त करानेवाली होंगी।

भावार्थ—प्रभु की व्यवस्था से एक युवति एक नवगृहनिर्माण के लिए घर में आती है। इसके व्यवहार पर ही घर का कल्याण निर्भर है। घर में उत्तम सन्तानों का जन्म तभी होता है जब पति-पत्नी काम-क्रोधादि का नियमन करें, आवश्यक ऐश्वर्यों का सम्पादन करें, प्राणसाधना द्वारा प्राणापान को पुष्ट करें तथा सन्तान के संरक्षण की भावनावाले हों।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'आत्मन्वती उर्वरा' नारी

आत्मन्वत्युर्वरा नारीयमागन्तस्यां नरो वपत बीजमस्याम्।
सा वः प्रजां जनयद्वक्षणाभ्यो बिभ्रती दुग्धमृषभस्य रेतः॥ १४॥

१. **आत्मन्वती**=प्रशस्त अन्तःकरणवाली, आत्मिक बल से युक्त **उर्वरा**=उत्तम सन्तान को जन्म देने में समर्थ **इयं नारी आगन्**=यह नारी गृहपत्नी के रूप में इस घर में आई है। हे **नरः**=उन्नति-पथ पर चलनेवाले मनुष्यो! विषयों में आसक्त न होनेवाले पुरुषो (न रमते)! **तस्याम्**=ऐसी 'आत्मन्वती उर्वरा' नारी में **बीजं वपत**=सन्तानोत्पादनक्षम वीर्य का वपन करो। २. **सा**=वह नारी **ऋषभस्य**=शक्तिशाली पुरुष के **दुग्धं रेतः**=दोहन किये गये रेतस को, वीर्य को **बिभ्रती**=धारण करती हुई **वः**=तुम्हारे लिए **वक्षणाभ्यः प्रजां जनयत्**=अपनी कोखों (वक्षणा sides, flank) से उत्तम सन्तान को जन्म दे। मनु का यह वाक्य मन्त्रांश को सुव्यक्त कर रहा है, 'क्षेत्रभूता स्मृता नारी बीजभूतः स्मृतः पुमान्। क्षेत्रबीजसमायोगात् सम्भवः सर्वदेहिनाम्॥' (९.३३)। नारी क्षेत्र है, पुमान् बीज है। क्षेत्रबीज के योग से ही सब देहियों का जन्म होता है।

भावार्थ—स्त्री प्रशस्त मनवाली व सन्तानोत्पादन में समर्थ हो। वह शक्तिशाली पुरुष के वीर्य को धारण करती हुई उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाली हो।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

सरस्वती सिनीवाली

प्रति तिष्ठ विराडसि विष्णुरिवेह सरस्वति।
सिनीवालि प्र जायतां भगस्य सुमतावसत्॥ १५॥

१. हे **सरस्वति**=ज्ञानजल को धारण करनेवाली गृहपत्नि! तू **इह प्रतितिष्ठ**=इस गृह में प्रतिष्ठित हो, तू सबसे मान प्राप्त कर। **विराट् असि**=तू विशिष्ट ही दीप्तिवाली है—तेरी शोभा निराली है। तू **विष्णुः इव**=देदीप्यमान सूर्य की भाँति है (आदित्यानामहं विष्णुः)। २. हे **सिनीवालि**=प्रशस्त अन्नोंवाली—सदा सात्त्विक अन्नों का सेवन करनेवाली गृहपत्नि! तेरी सुव्यवस्था से यह गृहपति **प्रजायताम्**=सन्तान के रूप में जन्म लेनेवाला हो (तद्धि जायाया जायात्वं यदस्यां

जायते पुनः ।) इसका पति **भगस्य**=ऐश्वर्यशाली भजनीय प्रभु की **सुमतौ असत्**=कल्याणी मति में सदा निवास करे। प्रभु-प्रेरणा को प्राप्त करता हुआ, सुपथ से धर्नाजन करनेवाला हो।

भावार्थ—घर में गृहपत्नी का समुचित मान हो। वह घर में सूर्य की भाँति दीप्त हो। प्रशस्त अन्नों का सेवन करनेवाली हो, उत्तम सन्तान को जन्म दे। इसका गृहपति भी प्रभु-प्रेरणा को सुनता हुआ सुपथ से धर्नाजन करनेवाला हो।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अदुष्कृत् व्येनस् अघ्न्या

उद्व ऊर्मिः शम्या हन्त्वापो योक्त्राणि मुञ्चत।
मादुष्कृतौ व्ये᳡नसावघ्न्यावशुनमारताम्॥ १६॥

१. हे मनुष्यो! **वः**=तुम्हारा **ऊर्मिः**=ऊपर ऊठने का उत्साह **उत्**=ऊपर और ऊपर **हन्तु**=गतिवाला हो, उन्नति के लिए उत्साह बढ़ता ही चले। **शम्याः**=शान्तगुणों से युक्त पुरुष **हन्तु**=सब बुराइयों का संहार करनेवाले हों। **आपः**=हे प्रजाओ! **योक्त्राणि**=(योजयते to censer) निन्दित कर्मों को **मुञ्चत**=छोड़ दो। २. हे स्त्रि-पुरुषो! आप **अदुष्कृतौ**=दुष्ट कर्मों से रहित हुए-हुए **विएनसौ**=विगत पापोंवाले—नष्ट पापोंवाले **अघ्न्यौ**=हिंसा से ऊपर उठे हुए होकर **अशुनम्**=दुःख को **मा आरताम्**=सर्वथा प्राप्त मत हो।

भावार्थ—गृहस्थ में मनुष्य उत्साह-सम्पन्न बनें। शान्तभाव से कर्म करते हुए बुराइयों को नष्ट करें। निन्दित कर्मों को छोड़ दें। दुष्कृत से दूर होते हुए निष्पाप बनकर अहिंसा धर्म का पालन करते हुए सुखी हों।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अघोरचक्षुः

अघोरचक्षुरपतिघ्नी स्योना शग्मा सुशेवा सुयमा गृहेभ्यः।
वीरसूर्देवृकामा सं त्वयैधिषीमहि सुमनस्यमाना॥ १७॥

१. हे नववधु! तू **अघोरचक्षुः**=आँख में क्रूरतावाली न होकर प्रिय, सौम्य दृष्टिवाली होना। **अपतिघ्नी**=किसी भी प्रकार पति के कष्टों का कारण बनकर पति के आयुष्य को नष्ट करनेवाली न होना। **स्योना**=सुख देनेवाली होना, **शग्मा**=निरन्तर उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होना। **गृहेभ्यः**=घर में रहनेवालों के लिए **सुशेवा**=उत्तम सेवावाली तथा **सुयमा**=उत्तम नियन्त्रणवाली बनना। २. **वीरसूः**=वीर सन्तानों को जन्म देनेवाली हो, **देवृकामा**=पति के छोटे भाइयों के साथ भी मधुर, प्रीतियुक्त व्यवहारवाली होना। इसप्रकार तू सदा **सुमनस्यमाना**=सौमनस्यवाली होना—सदा प्रसन्नचित्त रहना, मनःप्रसाद को अपनाना। ऐसी जो तू है, उस **त्वया**=तेरे साथ **सम्‌ऐधिषीमहि**=हम सम्यक् वृद्धि को प्राप्त करें।

भावार्थ—पत्नी सदा प्रसन्नचित्त, कार्यव्यस्त, पति के दीर्घायु का कारण, सेवा की वृत्तिवाली व गृह की व्यवस्था में रखनेवाली हो। पति व घर के अन्य सब व्यक्ति इसके व्यवहार से प्रसन्न हों और घर में फूलें-फलें।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

गार्हस्थ अग्नि की सपर्य

अदेवृघ्न्यपतिघ्नीहैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः।
प्रजावती वीरसूर्देवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य॥ १८॥

१. हे वधु! तू **इह**=इस घर में **अदेवृघ्नी अपतिघ्नी ऐधि**=देवरों व पति को नष्ट करनेवाली न होती हुई फूल-फल, अर्थात् तेरा व्यवहार भाइयों में कटुता पैदा न कर दे। परस्पर झगड़ते हुए वे अपने आयुष्य को कम न कर बैठें। **पशुभ्यः शिवा**=तू घर के गवादि पशुओं के लिए भी कल्याण करनेवाली होना—उन सबका भी पूरा ध्यान करना। **सुयमा सुवर्चाः**=तू उत्तम संयमवाली और परिणामतः उत्तम वर्चस्वाली बनना। २. संयम व सुवर्चस् जीवनवाली तू **प्रजावती**=उत्तम सन्तानवाली, **वीरसूः**=वीरों को ही जन्म देनेवाली बनना। 'कोई भी सन्तान निर्बल न हो', इस बात का पूरा ध्यान रखना। **देवृकामा**=पति के भाइयों के साथ भी मधुर व्यवहारवाली और इसप्रकार **स्योना**=घर में सुख को बढ़ानेवाली बनना। घर में सुख की वृद्धि के हेतु से ही तूने **इमं गार्हपत्यं आग्निं सपर्य**=इस गार्हपत्य अग्नि का पूजन करना—भोजन के परिपाक आदि की व्यवस्था का पूरा ध्यान करना।

भावार्थ—गृहपत्नी घर में कलह का कारण न बने, गवादि पशुओं का भी ध्यान करे। संयत जीवनवाली व वर्चस्विनी हो। उत्तम सन्तान को जन्म देती हुई घर में सुख-वृद्धि का कारण बने। भोजन के परिपाक को 'गार्हपत्य अग्नि में यज्ञ' रूप समझे। इस यज्ञ को सम्यक् करती हुई सबके स्वास्थ्य को सिद्ध करे।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अलक्ष्मी का निर्वासन

उत्तिष्ठेतः किमिच्छन्तीदमागा अहं त्वेडे अभिभूः स्वाद् गृहात्।
शून्यैषी निर्ऋते याजगन्थोत्तिष्ठाराते प्र पत मेह रंस्था॥ १९॥

१. हे **निर्ऋते**=अलक्ष्मि! तू **इतः उत्तिष्ठ**=यहाँ से खड़ी हो। **किं इच्छन्ति इदं आ अगाः**=क्या चाहती हुई तू इस घर में आई है। **अहं त्वा ईडे**=मैं तुझसे प्रार्थना करता हूँ कि तू चुपके-से चली जा। **अभिभूः स्वात् गृहात्**=मैं अपने घर से तेरा पराभव करनेवाला हूँ। तुझे इस घर से अवश्य बहिष्कृत करूँगा। २. **शून्यैषी**=घर को सूना करना चाहती हुई **या**=जो तू **आजगन्थ**=यहाँ आई है, वह तू **उत्तिष्ठ**=उठ खड़ी हो। हे **अराते**=अदान की वृत्ति, कृपणते! **प्रपत**=यहाँ से भाग जा। **इह मा रंस्था**=यहाँ तू रमण करनेवाली न हो।

भावार्थ—पति-पत्नी यह दृढ़ निश्चय करें कि उनके घर में अलक्ष्मी व अराति (अदानवृत्ति) का निवास नहीं होगा।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**पुरस्ताद्बृहती**॥

देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, पितृयज्ञ

यदा गार्हपत्यमसपर्यैत्पूर्वमग्निं वधूरियम्।
अधा सरस्वत्यै नारि पितृभ्यश्च नमस्कुरु॥ २०॥

१. **यदा**=जब **इयं वधूः**=यह वधू **पूर्वम्**=पहले **गार्हपत्यं अग्निं असपर्यैत्**=गार्हपत्य अग्नि का पूजन करती है, **अधा**=अब हे **नारि**=गृहपत्नि! तू **सरस्वत्यै**=सरस्वती के लिए—ज्ञान की अधिष्ठात्री देवी के लिए **च**=तथा **पितृभ्यः**=पितरों के लिए **नमस्कुरु**=नमस्कार कर। २. गार्हपत्य अग्नि का पूजन यही है कि नैत्यिक अग्निहोत्र अवश्य किया जाए तथा घर में भोजनादि की सुव्यवस्था को सुव्यवस्थित रक्खा जाए, यही देवयज्ञ है। इसके साथ गृहपत्नी का यह भी आवश्यक कर्त्तव्य है कि वह स्वाध्याय करे, यही सरस्वती-पूजन व ब्रह्मयज्ञ है। स्वाध्यायानन्तर बड़ों के चरणों में प्रणाम किया जाए, यह बड़ों को आदर देना ही पितृयज्ञ है।

भावार्थ—एक वधू घर में 'देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ व पितृयज्ञ' को अवश्य सम्पादित करनेवाली हो।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शर्म-वर्म

शर्म वर्मैतदा ह॑रास्यै नार्यां उपस्तिरे॑। सिनीवालि प्र जा॑यतां भग॑स्य सुमतावस॑त्॥ २१॥

१. हे प्रभो! आप **अस्यै नार्यै**=इस नारी के लिए **उपस्तिरे**=ओढ़ने के लिए **एतत्**=इस **शर्म वर्म**=सुखदायक कवचरूप गतमन्त्र में वर्णित 'देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ व पितृयज्ञ' को **आहर**=प्राप्त कराइए। ये यज्ञ इस नारी के लिए सुखप्रद कवच हों। इनसे आवृत हुई-हुई यह 'रोग, वासना व अल्पायुष्य' आदि से आक्रान्त न हो। २. हे **सिनीवालि**=प्रशस्त अन्नोंवाली नारि! तेरे द्वारा तेरा पति **प्रजायताम्**=उत्तम सन्तानोंवाला हो तथा घर की सुव्यवस्था के कारण शान्त मस्तिष्कवाला होता हुआ **भगस्य सुमतौ असत्**=ऐश्वर्य के पुञ्ज भजनीय प्रभु की कल्याणमिति में हो, अर्थात् प्रभु के निर्देशों के अनुसार यह जीवन का यापन करनेवाला बने।

भावार्थ—एक गृहपत्नी के लिए 'देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ व पितृयज्ञ' सुखदायक कवच के रूप में हों। इस कवच को धारण करके यह 'रोगों, वासनाओं व अल्पायुष्य' का शिकार न हो। इसकी सुव्यवस्था के द्वारा इसका शान्त मस्तिष्क पति उत्तम सन्तानोंवाला व प्रभु की प्रेरणा में चलनेवाला हो।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'मृगचर्म पर तृणासन बिछा' उसपर बैठकर अग्निहोत्र करना

यं बल्बजं न्यस्यथ चर्म चोपस्तृणीथन।
तदा रो॑हतु सुप्रजा या कन्या॑ विन्दते पति॑म्॥ २२॥

उप॑ स्तृणीहि बल्बजमधि चर्म॑णि रोहिते। तत्रोपविश्य॑ सुप्रजा इममग्निं स॑पर्यतु॥ २३॥

१. **चर्म च उपस्तृणीथन**=जो तुम मृगचर्म बिछाते हो और उसपर **यम्**=जिस **बल्बजम्**=तृणासन को **न्यस्यथ**=स्थापित करते हो, **तत्**=उस आसन पर **सुप्रजाः**=यह उत्तम प्रजा को जन्म देनेवाली **कन्या**=कन्या **या पतिं विन्दते**=जो अभी-अभी पति को प्राप्त करती है, **आरोहतु**=आरोहण करे। इस आसन पर वह उपविष्ट हो। २. हे पुरुष! तू **रोहिते चर्मणि अधि**=रोहित मृग के चर्म (मृगचर्म) पर **बल्बजम् उपस्तृणीहि**=इस तृणासन को बिछा दे। **तत्र**=उस आसन पर **उपविश्य**=बैठकर **सुप्रजाः**=उत्तम प्रजा को जन्म देनेवाली यह कन्या **इमम् अग्निं सपर्यतु**=इस अग्नि का पूजन करे। घर में अग्निहोत्र करना आवश्यक है। यह घर के रोगकृमियों को नष्ट करके स्वास्थ्य का साधक होता है।

भावार्थ—गृहपत्नी मृगचर्म पर तृणासन बिछाकर, उसपर बैठे। वहाँ स्थिरतापूर्वक सुख से बैठकर प्रतिदिन अग्निहोत्र अवश्य करे। यह अग्निहोत्र घर की नीरोगता का साधक है।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**पुरानुष्टुप्त्रिष्टुप्**॥

अग्निहोत्र से रोगकृमि-विनाश

आ रो॑ह चर्मोप॑ सीदाग्निमेष देवो ह॑न्ति रक्षांसि सर्वा॑।
इह प्रजां ज॑नय पत्ये॑ अस्मै सुज्यैष्ठ्यो भ॑वत्पुत्रस्त॑ एषः॥ २४॥

१. हे गृहपत्नि! तू **चर्म आरोह**=इस मृगचर्म के आसन पर आरोहण कर। **अग्निं उपसीद**=इसपर बैठकर तू अग्नि की उपासना कर। प्रभु-स्मरणपूर्वक अग्निहोत्र करनेवाली बन। **एषः देवः**=यह रोगों को पराजित करने की भावनावाली (दिव् विजिगीषायाम्) अग्निदेव **सर्वा रक्षांसि हन्ति**=

सब रोगकृमियों का निवारण कर डालता है। २. **इह**=इस रोगशून्यगृह में **अस्मै पत्यै**=इस पति के लिए—इस पति के वंश के अविच्छेद के लिए **प्रजां जनय**=सन्तानों को जन्म देनेवाली हो। **एषः ते पुत्रः**=यह तेरा पुत्र **सुज्यैष्ठ्यः भवत्**=उत्तम ज्यैष्ठतावाला हो (शोभनं ज्यैष्ठ्यम्) यह ज्ञान, बल व धन की दृष्टि से आगे बढ़ा हुआ हो।

भावार्थ—गृहपत्नी घर में नियमितरूप से अग्निहोत्र करती हुई घर को रोगकृमिरहित बनाए। वहाँ पर उत्तम सन्तान को जन्म दे। वह सन्तान 'ज्ञान, बल व धन' की दृष्टि से अच्छी प्रकार से बढ़नेवाला हो।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**पुरानुष्टुप्त्रिष्टुप्**॥

श्रीर्वै पशवः

वि तिष्ठन्तां मातुरस्या उपस्थान्नानारूपाः पशवो जायमानाः।
सुमङ्गल्युप सीदेममग्निं संपत्नी प्रति भूषेह देवान्॥ २५॥

१. यहाँ घर में **अस्याः मातुः उपस्थात्**=इस भूमिमाता की गोद से **जायमानाः**=प्रादुर्भूत होते हुए **नानारूपाः पशवः**=विविधरूपोंवाले पशु **वितिष्ठन्ताम्**=विशेषरूप से स्थित हों। 'स नः पवस्व शं गवे शं जनाय शं अर्वते', इस मन्त्र के अनुसार घर में गौ हो तथा घर में घोड़े का भी स्थान हो। गौ सात्त्विक दूध के द्वारा हमारे शरीर-पोषण के साथ हमारी बुद्धि का भी वर्धन करती है तथा घोड़ा व्यायाम का साधन बनकर शक्तिवर्धन का हेतु बनता है। घर में पुरुष के एक ओर गौ और घोड़े का स्थान है तो दूसरी ओर अजा (बकरी) और अवि (भेड़) का। घर में इन पशुओं के होने पर 'श्री, यश व शान्ति' बनी रहती है। विवाह-संस्कार पर वर वधू से प्रारम्भ में ही कहता है कि 'शिवा पशुभ्यः' तूने घर में इन पशुओं का भी कल्याण करनेवाली बनना। इसे 'बलिवैश्वदेवयज्ञ' समझना। २. इसप्रकार **सुमंगली**=उत्तम मंगल करनेवाली **इमं अग्निं उपसीद**=इस अग्नि का उपासन कर—प्रभु-स्मरणपूर्वक अग्निहोत्र करनेवाली बन। देवयज्ञ द्वारा तू घर को स्वस्थ व दिव्यगुणसम्पन्न बनानेवाली हो और **संपत्नी**=सदा पति का साथ देनेवाली, पति के साथ निवास करनेवाली तू **इह**=इस घर में **देवान् प्रति भूष**=(भूष् to spread) विद्वान् अतिथियों का लक्ष्य करके आसन को बिछानेवाली हो, अर्थात् अतिथियज्ञ को सम्यक् सम्पन्न करनेवाली बन। घर में आये-गये का यथोचित्त सत्कार आवश्यक ही है।

भावार्थ—घर की श्री, यश व शर्म का साधन बननेवाले, 'गौ, अश्व, अजा, अवि' रूप पशुओं का भी गृहपत्नी ध्यान करे। अग्निहोत्र को नियम से करे, अतिथियज्ञ को भी उपेक्षित न करे।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिपदाविराण्नामगायत्री, अनुष्टुप्**॥

सुमंगली-स्योना

सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शंभूः॥
स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान्विशेमान्॥ २६॥
स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः।
स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव॥ २७॥

१. हे नववधु! **सुमंगली**=घर का उत्तम मंगल साधनेवाली, **गृहाणां प्रतरणी**=घरों को दुःख से पार लगानेवाली **पत्ये सुशेवा**=पति के लिए उत्तम सुख देनेवाली **श्वशुराय शंभूः**=श्वसुर के लिए शान्ति प्राप्त करानेवाली तथा **श्वश्र्वै स्योना**=सास के लिए भी सुख देनेवाली तू **इमान्**

गृहान् प्रविश=इन घरों में प्रवेश कर। २. **श्वशुरेभ्यः**=घर में श्वसुर-तुल्य बड़ों के लिए तू **स्योना भव**=सुख देनेवाली हो। **पत्ये गृहेभ्यः**=पति के लिए तथा पति की माता के लिए **स्योना**=सुख देनेवाली हो। **अस्यै सर्वस्यै विशे**=घर में स्थित इस सारी प्रजा के लिए—पति के भाइयों के लिए व उनकी सन्तानों के लिए **स्योना**=तू सुख ही देनेवाली हो। **स्योना**=सुख देनेवाली होती हुई **एषां पुष्टाय भव**=इन सबके पोषण के लिए हो। गृह में कलह सबके अकल्याण व कष्टों का कारण बनती है। यह गृहपत्नी सभी के लिए सुखकर होती हुई सबके कल्याण का ही कारण बने।

भावार्थ—गृहपत्नी ने घर में सबके मंगल व सुख को साधनेवाली बनना है। उसके कारण घर में कलह उत्पन्न न हो और सबका समुचित पोषण हो।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सौभाग्य के लिए आशीर्वाद

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत। सौभाग्यमस्यै दत्त्वा दौर्भाग्यैर्विपरेतन॥ २८॥
या दुर्हार्दो युवतयो याश्चेह जरतीरपि। वर्चो न्वस्यै सं दत्ताथास्तं विपरेतन॥ २९॥

१. जब बारात लौटती है तब नववधू को देखने के लिए सभी पड़ोसी बन्धु उपस्थित होते हैं। उस समय वर प्रार्थना करता है कि हे सज्जनो व बन्धुओ! **इयं वधूः सुमंगलीः**=यह नववधू उत्तम मंगलवाली है। आप सब **सम् एत**=यहाँ मिलकर उपस्थित हों और **इमाम् पश्यत**=इसे अपनी कृपादृष्टि से अनुगृहीत करो। **अस्यै**=इस नववधू के लिए **सौभाग्यं दत्वा**=सौभाग्य देकर और इसके **दौर्भाग्यैः**=दौर्भाग्यों को परे फेंकने के लिए साथ ही लेकर **विपरेतन**=घरों को लौटिए। जैसे वैद्य रोगी को स्वास्थ्य देकर व उसके रोग को ले-जाता है, उसीप्रकार सब महानुभाव इसे सौभाग्य देकर इसके दौर्भाग्यों को दूर ले-जाइए। **याः**=जो **दुर्हार्दः युवतयः**=उत्तम हृदयवाली युवतियाँ नहीं हैं, जिन्हें इस नववधू से कुछ ईर्ष्या भी है **च**=और **याः**=जो **इह**=यहाँ **जरतीः अपि**=वृद्ध स्त्रियाँ भी हैं, वे **नु**=अब **अस्यै**=इस नववधू के लिए **वर्चः संदत्त**=तेजस्विता प्रदान करें और **अथ**=अब **अस्यै**=इसके लिए **संदत्त**=मंगल आशीर्वाद दें और आशीर्वाद देने के बाद ही **अस्तं विपरेतन**=घरों को वापस जाएँ।

भावार्थ—वर चाहता है कि सभी पड़ोसी व बन्धुजन इस नववधू को सौभाग्य का आशीर्वाद दें। कुछ ईर्ष्या के होने पर भी युवतियाँ इससे आशीर्वाद ही दें। वृद्धाओं की भी यह आशीर्वादपात्र बने। ये सब इसके दौर्भाग्यों को दूर फेंकने का कारण बनें।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रुक्म प्रसारणं वह्यम्

रुक्मप्रस्तरणं वह्यं विश्वा रूपाणि बिभ्रतम्।
आरोहत्सूर्या सावित्री बृहते सौभगाय कम्॥ ३०॥

१. **सूर्या**=सूर्यसम तेजस्विनी, **सावित्री**=उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाली यह वधू **बृहते सौभगाय**=महान् सौभाग्य के लिए **कं वह्यम्**=इस सुखप्रद गृहस्थ-रथ पर **आरोहत्**=आरूढ़ हुई है। यह वधू इस गृहस्थ के सौभाग्य को बढ़ानेवाली ही प्रमाणित होगी। २. यह गृहस्थ **रुक्मप्रस्तरणम्**=देदीप्यमान, शुद्ध व अलंकृत प्रस्तरणों—बिछौनोंवाला है तथा **विश्वा रूपाणि बिभ्रतम्**=(रूप cattle) गौ आदि सब पशुओं से युक्त हो। यहाँ न आवश्यक वस्त्रों की कमी है, न दूध, दही आदि की ही कमी है।

भावार्थ—वधू को 'सूर्या व सावित्री' होना है। वर को ऐसी व्यवस्था करनी है कि घर में न आवश्यक वस्त्रों की कमी हो और न शरीर के लिए आवश्यक दूधादि भोजनों की कमी हो।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**जगती**॥

सुमनस्यमाना

आ रोह तल्पं सुमनस्यमानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै।
इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्रा उषसः प्रति जागरासि॥ ३१॥

१. हे वधु! तू **सुमनस्यमाना**=प्रसन्नचित्तवाली होती हुई **इह**=यहाँ—गृहस्थाश्रम में **तल्पं आरोहः**=पर्यंक (चारपाई) पर आरोहण कर और **अस्मै**=इस पति के लिए—इसके वंश के अविच्छेद के लिए **प्रजां जनय**=सन्तान को जन्म दे। उत्तम सन्तान के लिए पति-पत्नी की मानस प्रसन्नता सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसमें भी पत्नी का सौमनस्य अधिक महत्त्व रखता है। २. वधू के लिए उपदेश है कि तू **इन्द्राणी इव**=इन्द्र की पत्नी के समान बन। तेरा पति भी जितेन्द्रिय हो, तू भी इन्द्रियों को वश में रखनेवाली हो। वैषयिक वृत्ति होने पर सन्तानों के उत्तम होने का प्रश्न ही नहीं होता। **सुबुधा**=तू उत्तम बोधवाली हो। **बुध्यमाना**=बड़ी समझदार—सब बातों को ठीक से समझनेवाली हो। **ज्योतिरग्राः उषसः**=नक्षत्र, ताराओंवाली उषाओं में ही **प्रतिजागरासि**=तू प्रतिदिन जागनेवाली हो—सूर्य-उदय से बहुत पूर्व ही जागकर क्रियाशील होती है।

भावार्थ—सन्तानों की उत्तमता के लिए गृहिणी ने 'सदा प्रसन्न मनवाली, जितेन्द्रिय व ज्ञानरुचि, समझदार व उषाकाल में प्रबुद्ध होनेवाली' होना है। ऐसी बनकर ही वह उत्तम सन्तानों को जन्म दे पाती है।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**पुरानुष्टुप्त्रिष्टुप्**॥

पवित्र गृहस्थाश्रम

देवा अग्रे न्य ऽ पद्यन्त पत्नीः समस्पृशन्त तन्व ऽ स्तनूभिः।
सूर्येव नारि विश्वरूपा महित्वा प्रजावती पत्या सं भवेह॥ ३२॥

१. **अग्रे**=सृष्टि के आरम्भ में **देवाः**=देववृत्ति के पुरुषों ने **पत्नीः न्यपद्यन्त**=पत्नियों को प्राप्त किया। **तन्वः**=अपने शरीरों को **तनूभिः**=उनके शरीरों से **समस्पृशन्त**=संस्पृष्ट किया। उत्तम सन्तान को जन्म देना भी एक पवित्र कार्य ही है। देववृत्ति के पुरुष इसे स्वीकार करते हैं। २. हे **नारि**=गृहस्थ-यज्ञ को आगे ले-चलनेवाली वधु! तू **सूर्या इव**=सूर्य के समान दीप्त जीवनवाली बन। **विश्वरूपा**=सब अङ्गों में रूप-सौन्दर्यवाली हो। **महित्वा**=प्रभु-पूजन के द्वारा (मह पूजायाम्) **प्रजावती**=प्रशस्त प्रजावाली होती हुई तू **इह**=यहाँ **पत्या संभव**=पति के साथ एक होकर रहनेवाली हो। तू पति की अर्द्धांगिनी बन जा। तुम दोनों परस्पर एक हो जाओ।

भावार्थ—गृहस्थ में उत्तम सन्तान को जन्म देना एक दिव्य व पवित्र कार्य है। पत्नी सूर्यसम दीप्त हो, वह सर्वांग सुन्दर होती हुई उत्तम सन्तानवाली हो। प्रभुपूजन करती हुई पति के साथ यह एक हो जाए।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**विराडास्तारपङ्क्तिः**॥

कन्या के पिता को सर्वमहान् निर्देश

उत्तिष्ठेतो विश्वावसो नमसेडामहे त्वा।
जामिमिच्छ पितृषदं न्य ऽ क्तां स ते भागो जनुषा तस्य विद्धि॥ ३३॥

१. विवाह हो जाने पर कन्या के वियोग से कुछ अन्यमनस्क पिता से कहते हैं कि **इतः उत्तिष्ठ**=अब इस आसन से उठिए। प्रभु से आप प्रार्थना कीजिए कि हे **विश्वावसो**=सम्पूर्ण धनोंवाले, सबको बसानेवाले प्रभो! **नमसा त्वा ईडामहे**=नमन के द्वारा हम आपका पूजन करते हैं। आपसे बनाई गई इस व्यवस्था के सामने हम सिर झुकाते हैं कि कन्या को पालकर हम उसे उसके वास्तविक घर में भेज दें। २. पिता से कहते हैं कि अब तू इस विवाहित कन्या की चिन्ता छोड़कर **जामिम् इच्छ**=उस कन्या की इच्छा कर—ध्यान कर जो **पितृषदम्**=अभी पितृगृह में ही आसीन है, **न्यक्ताम्**=निश्चय से अलंकृत अङ्गोंवाली है। **जनुषा**=आपके यहाँ जन्म लेने के कारण **सः ते भागः**=वह आपका कर्त्तव्यभाग है—उसका रक्षण आपका कर्त्तव्य है। **तस्य विद्धि**=उसका ही ध्यान कीजिए।

भावार्थ—कन्या के पिता को चाहिए कि विवाहित कन्या की चिन्ता को छोड़कर वह दूसरी अविवाहित कन्या के रक्षण व पोषण का ही ध्यान करे। विवाहित कन्या की सुख-समृद्धि के लिए प्रभु की प्रार्थना अवश्य करे, परन्तु उसके लिए बहुत चिन्तित न होता रहे।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**पुरानुष्टुप्त्रिष्टुप्**॥

अप्सरसः

अप्सरसः सधमादं मदन्ति हविर्धानमन्तरा सूर्यं च।
तास्ते जनित्रमभि ताः परेहि नमस्ते गन्धर्वर्तुना कृणोमि॥ ३४॥

१. **अप्सरसः**=(अप्+सर) उत्तम कर्मों में संचार करनेवाली ये नारियाँ **हविर्धानम्**=जहाँ हवि का धारण किया जाता है, उस पृथिवी, **सूर्यं च**=और जहाँ सूर्य उदय होता है उस द्युलोक के **अन्तरा**=मध्य में—अन्तरिक्ष में **सधमादं मदन्ति**=उस प्रभु के साथ उपासना में बैठकर आनन्दित होती हैं। इनका पृथिवीलोकरूप शरीर यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहता है तथा ये शरीररूप वेदि में हविरूप पवित्र भोजन को ही प्राप्त कराती हैं। मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान के सूर्य को उदित करती हैं और हृदयान्तरिक्ष में प्रभु का उपासन करती हुई प्रभु के साथ आनन्दित होती हैं। २. हे वर! **ताः**=वे नारियाँ ही **ते जनित्रम्**=तेरी जाया हैं—तेरी सन्तान को जन्म देनेवाली हैं **ताः अभि गन्धर्वऋतुना परेहि**=उनकी ओर (परा=towards) ज्ञानी पुरुष की नियमित गति से तू प्राप्त हो। उनके साथ तेरा सम्पर्क शास्त्रविधि के अनुसार उचित ऋतु पर हो। **ते**=इसप्रकार ऋतुगामी तेरे लिए **नमः कृणोमि**=मैं नमस्कार करता हूँ। ऐसे पुरुष को प्रत्येक व्यक्ति आदर देता है।

भावार्थ—अप्सरोरूप गृहनारियाँ यज्ञ करनेवाली हों, उनका भोजन भी यज्ञरूप हो। मस्तिष्करूप द्युलोक में ये ज्ञानसूर्य को उदित करें। हृदय में प्रभु का उपासन करती हुई आनन्दित हों। ज्ञानी पति इनके प्रति ऋतुगामी होता हुआ उत्तम सन्तान प्राप्त करे और आदरणीय जीवनवाला हो।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**पुरोबृहतीत्रिष्टुप्**॥

नमसे, भामाय चक्षुषे

नमो गन्धर्वस्य नमसे नमो भामाय चक्षुषे च कृण्मः।
विश्वावसो ब्रह्मणा ते नमोऽभि जाया अप्सरसः परेहि॥ ३५॥

१. **गन्धर्वस्य**=ज्ञान को धारण करनेवाले इस युवक को **नमसे नमः**=नम्रता के लिए अथवा शत्रुओं को झुकानेवाले बल के लिए हम नमस्कार **कृण्मः**=करते हैं **च**=और इस युवक के **भामाय**=तेजस्विता से दीप्त **चक्षुषे**=नेत्रों के लिए **नमः**=नमस्कार करते हैं। हे **विश्वावसो**=घर

में सबको बसानेवाले व सब आवश्यक धनोंवाले युवक! **ब्रह्मणा**=ज्ञान के कारण **ते नमः**=हम तेरे लिए नमस्कार करते हैं। तू **अप्सरसः**=गृहकार्यों में गतिशील **जायाः अभि**=पत्नी का लक्ष्य करके (परा towards)=**इहि** उसकी ओर जानेवाला हो।

भावार्थ—उत्तम गृहपति वही है जो 'नम्रता, उत्तम बल, दीप्त नेत्र व ज्ञान' से युक्त है। यह घर में सबको बसाने के लिए आवश्यक धनों का अर्जन करनेवाला हो। क्रियाशील पत्नी को प्राप्त होकर उत्तम सन्तान को प्राप्त करे।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**देवाः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

धन+सौमनस

राया वयं सुमनसः स्यामोदितो गन्धर्वमावीवृताम्।
अगन्त्स देवः परमं सधस्थमगन्म यत्र प्रतिरन्त आयुः॥ ३६॥

१. **वयम्**=हम **राया**=धन के साथ **सुमनसः स्याम**=उत्तम मनवाले भी हों। उत्तम मनोवृत्ति के न होने पर धन हमारे विनाश का ही कारण बनेगा। **इतः उत्**=इधर से ऊपर उठकर—संसार के भोगों से ऊपर उठे हुए **गन्धर्वम्**=हम उस ज्ञान के धारक प्रभु का **आवीवृताम्**=आवर्तन करनेवाले हों—प्रभु-नाम का निरन्तर स्मरण करें। २. **सः देवाः**=वह प्रकाशमय प्रभु **परमं सधस्थम्**=सर्वोत्कृष्ट प्रभु के साथ मिलकर बैठने के स्थानभूत इस हृदयदेश में **अगन्**=प्राप्त हो। हम भी उस प्रभु के समीप **अगन्म**=प्राप्त हों, **यत्र**=जिसमें स्थित होते हुए **आयुः प्रतिरन्त**= जीवन को प्रकर्षेण पार कर पाते हैं, अत्युत्तम दीर्घजीवन प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—धन के साथ हम प्रशस्त मनवाले हों, विषयों से ऊपर उठकर प्रभु का स्मरण करनेवाले हों, वे प्रभु हमें हृदयदेश में प्राप्त हों। प्रभु में स्थित हुए-हुए हम प्रकृष्ट दीर्घ जीवन को प्राप्त करें।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

ऋत्विये संसृजेथाम्

सं पितरावृत्विये सृजेथां माता पिता च रेतसो भवाथः।
मर्यइव योषामधिरोहयैनां प्रजां कृण्वाथामिह पुष्यतं रयिम्॥ ३७॥

१. **पितरौ**=समीप भविष्य में माता-पिता बननेवाले तुम दोनों **ऋत्विये**=ऋतुकाल के प्राप्त होने पर **संसृजेथाम्**=परस्पर संसृष्ट होओ **च**=और आप दोनों **रेतसः**=इस रेतस् के द्वारा (रज-वीर्य के द्वारा) **माता पिता भवाथः**=माता-पिता बनते हो। इस रज-वीर्य के मेल से सन्तान होती है और यह सन्तान तुम्हें माता-पिता की पदवी प्राप्त कराती है। २. हे विवाहित होनेवाले युवक! तू **मर्यः इव**=एक शक्तिशाली मनुष्य की भाँति **एनां योषाम् अधिरोहय**=इस स्त्री को अपनी शैय्या पर आरूढ़ कर। तुम दोनों **प्रजां कृण्वाथाम्**=उत्तम सन्तान का निर्माण करो और **इह**=यहाँ—इस जीवन में **रयिं पुष्यतम्**=धन का पोषण करो।

भावार्थ—ऋतुकाल में परस्पर संगत होते हुए ये वर-वधू बीजवपन के द्वारा उत्तम सन्तान को जन्म देकर माता व पिता बनें। ये जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक धन का पोषण करनेवाले हों।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पूषा शिवतमा

तां पूषञ्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या३ वपन्ति।
या न ऊरू उशती विश्रयाति यस्यामुशन्तः प्रहरेम शेपः॥ ३८॥

१. हे **पूषन्**=अपनी शक्तियों का उचित पोषण करनेवाले युवक! तू **तां शिवतमाम्**=उस अतिशयेन मंगलमय स्वभाववाली पत्नी को **एरयस्व**=प्रेरित करनेवाला हो। पति में सन्तान-प्राप्ति की कामना हो तो पत्नी को भी उस भावना से युक्त होने के लिए प्रेरित करे। उस पत्नी को तू प्रेरणा देनेवाला हो **यस्याम्**=जिसमें **मनुष्याः**=विचारशील व्यक्ति **बीजं वपन्ति**=सन्तानोत्पत्ति के लिए बीज का वपन करते हैं। २. पत्नी वही ठीक है **या**=जो **उशती**=उत्तम सन्तान की कामनावाली होती हुई **नः ऊरू विश्रयाति**=हमारे ऊरूओं को खोलनेवाली होती है। **यस्याम्**=जिसमें पति भी **उशन्तः**=उत्तम सन्तान की कामनावाले होते हुए **शेपं प्रहरेम**=जननेन्द्रिय को प्राप्त कराते हैं। सन्तान की कामना से होनेवाला यह बीजवपन 'वीर्यदान' कहलाता है। भोगवृत्ति में यही 'वीर्यविनाश' हो जाता है।

भावार्थ—पति 'पूषा' हो, पत्नी 'शिवतमा'। दोनों उत्तम सन्तान की कामनावाले होकर ही परस्पर सम्बद्ध हों। यह सम्बन्ध पवित्र होता हुआ शक्ति-विनाश का कारण न बनेगा।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

मोदमानौ

आ रोहोरुमुप धत्स्व हस्तं परि ष्वजस्व जायां सुमनस्यमानः।
प्रजां कृण्वाथामिह मोदमानौ दीर्घं वामायुः सविता कृणोतु॥ ३९॥

१. हे पूषन् (पुष्टशक्तिवाले वर)! **ऊरुं आरोह**=युवति की जाँघ पर आरोहण कर। **हस्तं उपधत्स्व**=हाथ को तकिये के रूप में सहारा देनेवाला बना और **सुमनस्यमानः**=प्रसन्नचित्तवाला होता हुआ **जायां परिष्वजस्व**=पत्नी का आलिंगन करनेवाला हो। प्रसन्नचित्तता पर ही सन्तान की उत्तमता निर्भर है। हे पूषन् और हे शिवतमे! आप दोनों **इह**=यहाँ—गृहस्थाश्रम में **मोदमानौ**=अत्यन्त हर्ष का अनुभव करते हुए **प्रजां कृण्वाथाम्**=उत्तम सन्तति का निर्माण करो। **सविता**=वह सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक प्रभु **वां आयुः**=आप दोनों के आयुष्य को **दीर्घं कृणोतु**=अत्यन्त दीर्घ करे।

भावार्थ—पति प्रसन्नता से मोदमाना पत्नी का आलिंगन करता हुआ उत्तम सन्तान को जन्म दे। इस पवित्र भावनावाले (भोगवृत्ति से ऊपर उठे हुए) पति-पत्नी के आयुष्य को प्रभु दीर्घ करें।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**जगती**॥

अदुर्मङ्गली

आ वां प्रजां जनयतु प्रजापतिरहोरात्राभ्यां समनक्त्वर्यमा।
अदुर्मङ्गली पतिलोकमा विशेमं शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥ ४०॥

१. **प्रजापतिः**=सब प्रजाओं का रक्षक प्रभु **वां प्रजाम्**=आप दोनों की सन्तति को **आजनयतु**=प्रादुर्भूत करे। प्रभु-कृपा से आप दोनों को उत्तम सन्तति प्राप्त हो। **अर्यमा**=शत्रुओं का नियमन करनेवाला प्रभु **अहोरात्राभ्यां समनक्तु**=दिन-रात से आपको संगत करे, अर्थात् आपके जीवन को प्रभु दीर्घ करें। वस्तुतः काम-क्रोधादि शत्रुओं को जीतना ही दीर्घजीवन का साधन है। हे युवति! तू **अदुर्मङ्गली**=सब अशुभों से रहित हुई-हुई **इमं पतिलोकं आविश**=उस पतिलोक को प्राप्त कर। पतिलोक को प्राप्त होकर तू उसे मंगलमय करनेवाली हो। **नः**=हमारे

द्विपदे शं भव=दो पाँववाले मनुष्यादि के लिए शान्ति प्राप्त करानेवाली हो, **चतुष्पदे शम्**=चार पाँववाले गवादि पशुओं के लिए भी तू शान्ति प्राप्त करा।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से पति-पत्नी को उत्तम सन्तान व दीर्घजीवन प्राप्त हो। पतिलोक में आती हुई युवति इस पतिलोक को मंगलमय बनाए। इस पतिलोक में मनुष्यों व पशुओं सभी को शान्ति प्राप्त हो।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

वाधूयं वासः, वध्वः च वस्त्रम्

देवैर्दत्तं मनुना साकमेतद्वाधूयं वासो वध्वश्च वस्त्रम्।
यो ब्रह्मणे चिकितुषे ददाति स इद्रक्षांसि तल्पानि हन्ति॥ ४१॥
यं मे दत्तो ब्रह्मभागं वधूयोर्वाधूयं वासो वध्वश्च वस्त्रम्।
युवं ब्रह्मणेऽनुमन्यमानौ बृहस्पते साकमिन्द्रश्च दत्तम्॥ ४२॥

१. हे बृहस्पते और इन्द्र! आप विवाह की कामनावाले एक युवक के लिए **देवैः**=दिव्यगुणों के साथ तथा **मनुना साकम्**=ज्ञान के साथ **एतत्**=इस **वाधूयं वासः**=वधू के लिए उपयुक्त गृह को **च**=तथा **वध्वः वस्त्रम्**=वधू के वस्त्र को **दत्तम्**=देते हो। यहाँ प्रभु को बृहस्पति और इन्द्र नाम से स्मरण करते हुए यह संकेत हुआ है कि एक युवक को ज्ञान प्राप्त करना है और जितेन्द्रियता द्वारा दिव्यगुण-सम्पन्न (देवराट् इन्द्र) बनना है, तभी वह उत्तम पति बन पाएगा। गृहस्थ के सम्यक् विवाह के लिए यह भी आवश्यक है कि निवास के लिए एक गृह हो और उसमें वस्त्रादि की कमी न हो। २. इस घर को **यः**=जो **चिकितुषे ब्रह्मणे**=ज्ञानी ब्राह्मण के लिए **ददाति**=देता है, **सः इत्**=वही **तल्पानि रक्षांसि**=शैय्या-सम्बन्धी राक्षसीभावों को, अर्थात् भोगविलास की वृत्तियों को विनिष्ट कर डालता है। घर को ब्राह्मण के लिए देने का भाव यह है कि घर में ज्ञानी ब्राह्मण के आने पर घर को 'आपका ही है', ऐसा कहकर उस ज्ञानी अतिथि के प्रति अर्पित करते हैं। वे ज्ञानी भी स्नेहपूर्वक घर को उत्तम बनाने की प्रेरणा देते हैं। इसप्रकार इस घर में उस ज्ञानी के सम्पर्क के कारण पवित्र भावना बनी रहती है। ३. हे **बृहस्पते**=ज्ञान के पति प्रभो! **च इन्द्रः साकम्**=और परमैश्वर्यशाली प्रभु साथ-साथ **युवम्**=आप दोनों **वधूयोः**=वधू की कामनावाले—गृहस्थ में प्रवेश की कामनावाले **मे**=मेरे लिए **यं ब्रह्मभागम्**=जिस ज्ञान के अंश को **वाधूयं वासः**=वधू के निवास के योग्य गृह को **च**=और **वध्वः वस्त्रम्**=वधू के वस्त्र को **दत्तः**=देते हो, आप उसको **ब्रह्मणे**=ज्ञानी ब्राह्मण के लिए **अनुमन्यमानौ**=अनुमति देते हुए ही **दत्तम्**=देते हो। आप मुझे यह अनुकूल मति भी प्राप्त कराते हो कि मैं उस घर को ज्ञानी ब्राह्मण के लिए अर्पित करनेवाला बनूँ। यह ब्राह्मण-सत्कार ही इस घर को पवित्र बनाए रक्खेगा।

भावार्थ—'बृहस्पति व इन्द्र' नाम से प्रभु-स्मरण करता हुआ युवक ज्ञानी व जितेन्द्रिय बनकर दिव्यगुणों को धारण करे। गृहस्थ के निर्वाह के लिए गृहसामग्री को जुटाने के लिए यत्नशील हो। अपने घर को वह ज्ञानी ब्राह्मण के प्रति अर्पित करने की वृत्तिवाला बनकर घर को विलास का शिकार होने से बचा लेता है।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुब्गार्भापङ्क्तिः**॥

सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ

स्योनाद्योनेरधि बुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ।
सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो जीवावुषसो विभातीः॥ ४३॥

१. **स्योनात् योनेः अधिबुध्यमानौ**=सुखकर घर के हेतु से आधिक्येन प्रबुद्ध (जागरित), सावधान होते हुए, अर्थात् प्रमाद, आलस्य व निद्रा से ऊपर उठकर घर को सुखमय बनाते हुए **हसामुदौ**=हँसी के साथ प्रसन्न होते हुए **महसा मोदमानौ**=तेजस्विता से आनन्दित होते हुए **सुगू**=उत्तम इन्द्रियोंवाले व उत्तम गौओंवाले **सुपुत्रौ**=उत्तम सन्तानोंवाले और इसप्रकार **सुगृहौ**=उत्तम गृहोंवाले **जीवौ**=जीवनीशक्ति से परिपूर्ण आप दोनों पति-पत्नी **विभातीः उषसः तराथः**=देदीप्यमान उषाकालों को तैरनेवाले बनो।

भावार्थ—घर को उत्तम बनाने के लिए आवश्यक है कि पति-पत्नी प्रबुद्ध हों, प्रसन्न हों, तेजस्विता से प्रफुल्लित हों। उत्तम गौओं, उत्तम सन्तानों व उत्तम घरोंवाले होकर जीवनीशक्ति से परिपूर्ण होते हुए उषाकालों को तैरनेवाले बनें।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**प्रस्तारपङ्क्तिः**॥

नवं वसानः सुरभिः सुवासाः

नवं वसानः सुरभिः सुवासा उदागां जीव उषसो विभातीः।
आण्डात्पतत्रीवामुक्षि विश्वस्मादेनसस्परि॥ ४४॥

१. एक गृहस्थ प्रार्थना करता है कि मैं **नवं वसानः**=(नु स्तुतौ) स्तुति को धारण करता हुआ—प्रभु स्मरण को—प्रणवजप को अपना कवच बनाता हुआ **सुरभिः**=सुगन्धित, पापशून्य, यशस्वी जीवनवाला **सुवासाः**=उत्तम वस्त्रों को धारण किये हुए **जीवः**=जीवनशक्ति से परिपूर्ण मैं **विभातीः उषसाः**=देदीप्यमान उषाओं में **उत् आगाम्**=शैय्या से उठ खड़ा होऊँ—बिछौनों को छोड़कर कर्त्तव्यकर्मों में तत्पर होऊँ। २. इसप्रकार सदा उषाकाल में जागता हुआ मैं **विश्वस्मात् एनसः**=सब पापों से इसप्रकार **परि अमुक्षि**=दूर होऊँ **इव**=जैसेकि **आण्डात्पतत्री**=अण्डे से पक्षी मुक्त हो जाता है।

भावार्थ—प्रणवजप करते हुए हम सुगन्धित जीवनवाले बनें, उषाकाल में प्रबुद्ध हों। पाप से सर्वथा मुक्त होकर दीप्तजीवनवाले हों।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ज्ञान व पवित्रता

शुम्भनी द्यावापृथिवी अन्तिसुम्ने महिव्रते।
आपः सप्त सुस्रुवुर्देवीस्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ ४५॥

१. **द्यावापृथिवी**=हमारे मस्तिष्क व शरीर **शुम्भनी**=ज्ञान और शक्ति-सम्पन्न होते हुए जीवन को शोभायमान करें। **अन्तिसुम्ने**=ये हमें प्रभु के सामीप्य में सुख प्राप्त करानेवाले हों। **महिव्रते**=महनीय व्रतोंवाले हों। 'द्यौरहं पृथिवी त्वम्', वर से उच्चारण किये जानेवाले इस वाक्य के अनुसार प्रकाशमय जीवनवाला 'वर' द्यौ है तथा पृथिवी के समान अपने व्रतों पर दृढ़ रहनेवाली वधू पृथिवी है। ये अपने जीवन को शोभायुक्त करें, प्रभु सामीप्य का आनन्द अनुभव करें और महनीय व्रतोंवाले हों। २. हमारे जीवनों में **सप्त देवीः आपः सुस्रुवुः**='दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुख' इन सप्त ऋषियों से प्रवाहित होनेवाले दिव्यज्ञानजल बहें। **ताः**=वे दिव्यज्ञानजल **नः**=हमें **अंहसा मुञ्चन्तु**=पाप से छुड़ाएँ। ज्ञान हमारे जीवनों को पवित्र करे।

भावार्थ—हमारे मस्तिष्क व शरीर शोभासम्पन्न हों। हमारे जीवनों में 'दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुख' इन सप्त ऋषियों से उद्भूत हुए ज्ञानजल पवित्रता लानेवाले हों।

ऋषि:—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

कन्या के प्रस्थानकाल में 'नमस्कार'

सूर्यायै देवेभ्यो मित्राय वरुणाय च।
ये भूतस्य प्रचेतसस्तेभ्य इदमकरं नमः॥ ४६॥

१. विदा के समय कन्या के पिता सर्वप्रथम अपनी कन्या को ही नमस्कार करते हैं। **सूर्यायै नमः अकरम्**=सूर्या को मैं नमस्कार करता हूँ। सूर्या को मैं यही कहना चाहता हूँ कि तूने कुल की लाज रखने के लिए शुभ व्यवहार ही करना, नमस्करणीय ही बने रहना। **देवेभ्यः**=बारात में आये हुए देवों के लिए भी मैं नमस्कार करता हूँ। आप सबने यहाँ आकर इस प्रसंग की शोभा बढ़ाकर मुझे कृतकृत्य किया है। **मित्राय वरुणाय च**=वर के माता-पिता के लिए जोकि स्नेह व निर्द्वेषता की भावना से ओत-प्रोत हैं, मैं नमस्कार करता ही हूँ। आप इस नवदम्पती में भी स्नेह व निर्द्वेषता के भावों को भरने का अनुग्रह करना। २. **ये**=जो **भूतस्य**=प्राणियों के **प्रचेतसः**=प्रकृष्ट ध्यान करनेवाले देव हैं, उन सब देवों के लिए **इदं नमः अकरम्**=इस नमस्कार को करता हूँ। सब देव इस नवदम्पती का रक्षण करें, इसकी समृद्धि का कारण बनें।

भावार्थ—कन्यापक्षवालों को चाहिए कि विदा के समय अपनी कन्या को उत्तम प्रेरणा करते हुए सबको नमस्कारपूर्वक उचित आदर के साथ विदा करें।

ऋषि:—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्द:—**पथ्याबृहती**॥

शरीर की अद्भुत रचना

य ऋते चिदभिश्रिषः पुरा जत्रुभ्य आतृदः।
सन्धाता सन्धिं मघवा पुरूवसुर्निष्कर्ता विहुतं पुनः॥ ४७॥

१. **यः**=जो प्रभु **अभिश्रिषः ऋते चित्**=सन्धान द्रव्य के बिना ही **जत्रुभ्यः आतृदः पुरा**=ग्रीवास्थिवाले स्थान से कट जाने से पूर्व **सन्धिं सन्धाता**=जोड़ को फिर से मिला देनेवाले हैं। वे प्रभु सचमुच **मघवा**=परम ऐश्वर्यवाले हैं। प्रभु ने शरीर की व्यवस्था ही इसप्रकार से की है कि सब घाव फिर से भर जाते हैं। गर्दन ही कट जाए तो बात अलग है, अन्यथा सब कटाव फिर से जुड़ जाते हैं। २. **पूरू वसुः**=वे पालक और पूरक वसुओंवाले प्रभु **पुनः**=फिर से **विहुतं निष्कर्ता**=कटे हुए को ठीक कर देनेवाले हैं। सब कटाओं को फिर से भर देते हैं। शरीर में प्रभु ने यह अद्भुत ही व्यवस्था की है।

भावार्थ—शरीर में प्रभु ने क्या ही अद्भुत रचना की है कि बड़े-से-बड़ा घाव भी फिर से भर जाता है। हम भी प्रभुस्मरण करते हुए पारस्परिक मानस घावों को फिर से भरनेवाले हों।

ऋषि:—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्द:—**सत:पङ्क्तिः**॥

'नीलं पिशङ्गं लोहितम्' तमः

अपास्मत्तम उच्छतु नीलं पिशङ्गमुत लोहितं यत्।
निर्दहनी या पृषातक्य१स्मिन्तां स्थाणावध्या सजामि॥ ४८॥

१. हे प्रभो! **अस्मत्**=हमसे **तमः अपउच्छतु**=अविद्यान्धकार दूर हो, **यत्**=जो अविद्यान्धकार **नीलम्**=अत्यन्त कृष्णवर्ण का है—अँधेरे को लाकर जो हमें प्रमाद, आलस्य व निद्रा में ले-जानेवाला है, वह अविद्यान्धकार भी दूर हो (यत्)=जो **पिशङ्गम्**=पिशङ्ग, कपिलवर्ण का है, जो हमें प्रत्येक वस्तु के विश्लेषण में प्रवृत्त करनेवाला है, जिसके कारण वस्तु का विश्लेषण

करते हुए हम कर्त्तव्यकर्मों को भी विस्मृत कर देते हैं, यह भी एक आसंग ही है। इसे ही 'ज्ञानसंग' कहा गया है। **उत**=और यह अविद्यान्धकार भी **यत्**=जोकि **लोहितम्**=लालवर्ण का है। जो तेजस्विता के अतिरेक में हमें निरन्तर इधर-उधर भटकाता है, जो हमें यश व धन की कामना से बाँधकर कर्त्तव्यविमुख कर देता है। २. **निर्दहनी**=निश्चय से जलन को उत्पन्न करनेवाली **या**=जो **पृषातकी**=(पृष् vese, pain, veary) अन्ततः पीड़ित करनेवाली यह अविद्या है, **ताम्**=इस अविद्या को **अस्मिन् स्थाणौ**=इस वृक्ष के ठूँठ में **अध्यासजामि**=आसक्त करता हूँ। उस अविद्या को इन स्थानों को अर्पित करके मैं अविद्या से मुक्त होता हूँ। 'स्थाणु' शब्द का अर्थ प्रभु भी है। उस प्रभु में स्थित हुआ-हुआ मैं इस अविद्या को अपने से दूर करता हूँ और इन वृक्षों में उसे स्थापित करता हूँ।

भावार्थ—हम सब प्रकार के अज्ञान को अपने से दूर करें। प्रभु का स्मरण हमारे जीवन को प्रकाशमय बनाएगा।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

व्यृद्धि व असमृद्धि से दूर

यावतीः कृत्या उपवासने यावन्तो राज्ञो वरुणस्य पाशाः।
व्यृ[द्धयो या असमृद्धयो या अस्मिन्ता स्थाणावधि सादयामि॥ ४९॥

१. अग्निहोत्र की प्रज्वलित अग्नि में कई कृमियों का नाश तो होता ही है, अतः कहते हैं कि **उपवासने**=यज्ञादि की अग्नि के प्रज्वलन (Kindling a sacred fire) में **यावतीः कृत्या**=जो भी हिंसाएँ हो जाती हैं, **यावन्तः**=जितने भी अनृतवादी के लिए **राज्ञः वरुणस्य पाशाः**=राजा वरुण के पाश हैं, **याः व्यृद्धयः**=जो भी अनेश्वर्य हैं, **याः असमृद्धयः**=(समृद्धि power) जो शक्तिशून्यताएँ हैं, **ताः**=उन सबको **अस्मिन् स्थाणौ**=इस स्थिर और अविचल प्रभु में स्थित होता हुआ मैं **अधिसादयामि**=विनष्ट करता हूँ।

भावार्थ—प्रभुस्मरण द्वारा 'हिंसा, असत्य, दौर्भाग्य व शक्तिशून्यता' को दूर करके हम उत्तम जीवनवाले बनते हैं। प्रभुस्मरण हमें अहिंसक, सत्यवादी, सौभाग्यसम्पन्न व समृद्ध बनाता है।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**उपरिष्टान्निचृद्बृहती**॥

पवित्र यज्ञमय सम्बन्ध

या मे प्रियतमा तनूः सा मे बिभाय वाससः।
तस्याग्रे त्वं वनस्पते नीविं कृणुष्व मा वयं रिषाम॥ ५०॥

१. 'कन्धे पर बोझ पड़ना' एक शब्दप्रयोग है, जिसका भाव कन्धे पर एक उत्तरदायित्व का आ जाना है। एक युवक के कन्धे पर अब एक युवति का यह वस्त्र आ पड़ा है तो वह 'उसके उत्तरदायित्व की वृद्धि हो जाती है', इतना ही नहीं अपितु उसके भोगविलास में डूब जाने की आशंका भी बढ़ जाती है, अतः युवक कहता है कि **या**=जो **मे प्रियतमा तनूः**=मेरा यह प्रियतम—प्यारा व सुन्दर प्रतीत होनेवाला शरीर है, **मे सा**=मेरा वह शरीर **वाससः बिभाय**=इस मेरे कन्धे पर आ जानेवाले वस्त्र से भयभीत होता है। मुझे भय प्रतीत होता है कि कहीं विलास में पड़कर मैं इस प्रियतम तनू को विकृत न कर बैठूँ। हे **वनस्पते**=यज्ञस्तम्भ (sacrificial post) **त्वम्**=तू **अग्रे**=पहले **तस्य**=उसके वस्त्र की **नीविं कृणुष्व**=ग्रन्थि (Knot) को कर। पहले वह वस्त्र तेरे साथ बँधे और बाद में मेरे साथ। यज्ञस्तम्भ के साथ युवति के वस्त्र-बन्धन का भाव यह कि इस युवक-युवति का सम्बन्ध मिलकर यज्ञ करने के लिए हो।

यज्ञीय वृत्ति के होने पर हम विलासमय जीवन में न डूबेंगे और इसप्रकार **वयम्**=हम **मा रिषाम**=हिंसित न होंगे। पति-पत्नी तो यज्ञमय जीवन होने पर हिंसित होंगे ही नहीं, ऐसा होने पर उनके सन्तान भी उत्तम होंगे। यही भाव 'वयम्' इस बहुचनान्त शब्द से संकेतित हो रहा है।

भावार्थ—एक युवति का वस्त्र एक युवक के कन्धे पर पड़ता है तो उस समय यह सम्बन्ध की पवित्रता को बनाये रखने के लिए इस वस्त्र-ग्रन्थि को पहले यज्ञस्तम्भ से करता है, अर्थात् प्रभु से यही प्रार्थना करता है कि हमारा यह सम्बन्ध यज्ञिय हो। हम मिलकर यज्ञ करते हुए विलासी वृत्ति से बचे रहें। इसप्रकार हम स्वस्थ हों और उत्तम सन्तानों को प्राप्त करें। इसी उद्देश्य से अगले मन्त्र में कहेंगे कि स्त्रियाँ अपने अतिरिक्त समय को वस्त्रों को कातने व बुनने में व्यतीत करें।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**भुरिगनुष्टुप्**॥

गृह में ही वस्त्र निर्माण

ये अन्ता यावतीः सिचो य ओतवो ये च तन्तवः।
वासो यत्पत्नीभिरुतं तन्नः स्योनमुप स्पृशात्॥ ५१॥

१. **ये अन्तः**=जो वस्त्रों की झालरें हैं, **यावतीः सिचः**=जितनी किनारियाँ हैं, **ये ओतवः**=जो उनके बाने हैं **च**=और **ये तन्तवः**=जो ताने के सूत्र हैं, इस प्रकार **यत् वासः**=जो वस्त्र **पत्नीभिः उतम्**=गृहदेवियों ने ही बुना है, **तत्**=वह **स्योनम्**=सुखकर वस्त्र ही **नः उपस्पृशात्**=हमारे शरीर को छूए। २. स्त्रियों का अतिरिक्त समय वस्त्र-निर्माण में व्यतीत होकर उन्हें भोगविलास की वृत्ति से ऊपर उठनेवाला बनाए। इसप्रकार प्रत्येक युवति देश के ऐश्वर्य की वृद्धि में भी कुछ-न-कुछ सहायक हो रही होगी और समय को भी उत्तमता से व्यतीत कर पाएगी। वस्तुतः इन वस्त्रों के एक-एक तार में प्रेम भी ग्रथित हुआ-हुआ होता है। उस वस्त्र को धारण करके प्रेम की पवित्र भावना में भी वृद्धि होती है। यान्त्रिक वस्त्र 'मृत'-सा होता है तो यह 'जीवित' होता है। यान्त्रिक वस्त्रों में केवल 'सौन्दर्य' है तो गृह के वस्त्र में प्रेममय सौन्दर्य है।

भावार्थ—गृहिणियाँ अपने अतिरिक्त समय का घर के वस्त्रों के निर्माण में सदुपयोग करें। इसप्रकार वे ऐश्वर्य-वृद्धि में व विलासवृत्ति-विनाश में सहायक बनेगी।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**विराट्परोष्णिक्**॥

दीक्षा अवसर्जन

उशतीः कन्यला इमाः पितृलोकात्पतिं यतीः। अव दीक्षामसृक्षत स्वाहा॥ ५२॥

१. **उशतीः**=पतिलोक की कामना करती हुई **इमाः कन्यलाः**=ये कन्याएँ—दीप्त जीवनवाली युवतियाँ (**कन् दीप्तौ**), **पितृलोकात् पतिं यतीः**=पितृलोक से पति की ओर जाती हुई **दीक्षाम्**=व्रत-संग्रह को **अव असृक्षत्** (to form, to create)=निर्मित करती हैं। गृह के उत्तम निर्माण के लिए व्रत के बन्धन में अपने को बाँधकर पतिगृह की ओर जाती हैं। २. इसके लिए **स्वाहा**=वे महान् स्वार्थ-त्याग करती हैं। वस्तुतः 'वर्षों एक गृह से सम्बद्ध रहकर उसे छोड़कर अन्यत्र जाना' त्याग तो है ही और अपने कन्धों पर एक नवगृह-निर्माण के भार को उठाना भी त्याग ही है। इस उत्तरदायित्व को समझने पर विलास में डूबने की आशंका नहीं रहती।

भावार्थ—एक दीप्त जीवनवाली युवति पितृगृह से पतिगृह की ओर जाती है। इस समय यह व्रतों को आधार बनाकर उत्तम गृह के निर्माण में अपनी आहुति दे डालती है। इसी से जीवन की पवित्रता बनी रहती है।

ऋषिः—सावित्री सूर्या॥ देवता—आत्मा॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

वर्चः, तेजः, भगः, यशः, पयः, रसः

बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वेदेवा अधारयन्।
वर्चो गोषु प्रविष्टं यत्तेनेमां सं सृजामसि॥ ५३॥
बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वेदेवा अधारयन्।
तेजो गोषु प्रविष्टं यत्तेनेमां सं सृजामसि॥ ५४॥
बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वेदेवा अधारयन्।
भगो गोषु प्रविष्टो यस्तेनेमां सं सृजामसि॥ ५५॥
बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वेदेवा अधारयन्।
यशो गोषु प्रविष्टं यत्तेनेमां सं सृजामसि॥ ५६॥
बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वेदेवा अधारयन्।
पयो गोषु प्रविष्टं यत्तेनेमां सं सृजामसि॥ ५७॥
बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वेदेवा अधारयन्।
रसो गोषु प्रविष्टो यस्तेनेमां सं सृजामसि॥ ५८॥

१. **बृहस्पतिना**=उस ब्रह्मणस्पति—ज्ञान के स्वामी प्रभु से **अवसृष्टा**=(form, create), वेदवाणी में प्रतिपादित कर्त्तव्यदीक्षा को **विश्वेदेवाः**=देववृत्ति के सब विद्वान् **आधारयन्**=धारण करते हैं। गृहस्थ बनने पर देववृत्ति के पुरुष प्रभु-प्रतिपादित कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए यत्नशील होते हैं। २. गृहस्थ में प्रवेश करने पर इन देवों का यही संकल्प होता है कि **यत् वर्चः**=जो वर्चस्, रोगनिरोधक शक्ति **गोषु प्रविष्टम्**=इन वेदवाणियाँ में प्रविष्ट है, **तेन**=उस वर्चस् से **इमाम्**=इस युवति को **संसृजामसि**=संसृष्ट करते हैं, अर्थात् वेदोपदिष्ट कर्त्तव्यों का पालन करते हुए हम वर्चस्वी जीवनवाले बनते हैं। ३. इसी प्रकार इन वाणियों में जो **तेजः प्रविष्टम्**=तेज प्रविष्ट है, उस तेज से इसे संयुक्त करते हैं। **यः भगः प्रविष्टः**=इनमें जो ऐश्वर्य निहित है, **यत् यशः**=जो यश स्थापित है, **यत् पयः**=जो आप्यायन (वर्धन) निहित है तथा **यः रसः**=जो रस, आनन्द विद्यमान है, उससे इस युवति को संसृष्ट करते हैं।

भावार्थ—देववृत्तिवाला पति स्वयं वेदवाणी से अपना सम्बन्ध बनाता है, अपनी पत्नी को भी इस सम्बन्ध की महत्ता समझाता है। इस वेदवाणी के द्वारा वे 'वर्चस्, तेज, ऐश्वर्य, यश, शक्तिवर्धन व आनन्द' को प्राप्त करते हैं। इनसे युक्त होकर वे गृह को स्वर्गोपम बनाते हैं।

ऋषिः—सावित्री सूर्या॥ देवता—आत्मा॥ छन्दः—५९, ६०, ६२ पथ्यापङ्क्तिः, ६१ त्रिष्टुप्॥

अघ-निवारक 'अग्नि व सविता'

यदीमे केशिनो जना गृहे ते समनर्तिषू रोदेन कृण्वन्तो३ घम्।
अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्र मुञ्चताम्॥ ५९॥
यदीयं दुहिता तव विकेश्यरुदद् गृहे रोदेन कृण्वत्य१घम्।
अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्र मुञ्चताम्॥ ६०॥
यज्जामयो यद्युवतयो गृहे ते समनर्तिषू रोदेन कृण्वतीरघम्।
अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्र मुञ्चताम्॥ ६१॥

यत्ते प्रजायां पशुषु यद्वा गृहेषु निष्ठितमघकृद्भिरघं कृतम्।
अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्र मुञ्चताम्॥ ६२॥

१. **यदि**=यदि **इमे**=ये **केशिनाः जनाः**=बिखरे हुए बालोंवाले लोग **ते गृहे**=तेरे घर में **अघं कृण्वन्ति**=(अघ: pain, grief, distress) शोक करते हुए **रोदेन समनर्तिषुः**=नाच-कूद करने लगें—बिलखें तो **तस्मात् एनसः**=उस (एनस् unhappiness) निरानन्दता से—दुःखमय वातावरण से **अग्निः सविता च**=अग्नि और सविता—वह अग्रणी, सर्वोत्पादक प्रभु **त्वा प्रमुञ्चताम्**=तुझे मुक्त करें। तुम्हारे अन्दर आगे बढ़ने की भावना हो तथा निर्माण के कार्यों में लगे रहने की प्रवृत्ति हो। ऐसा होने पर घर में इसप्रकार बिलख-बिलखकर रोने के दृश्य उपस्थित न होंगे। २. **यदि इयम्**=यदि यह **तव दुहिता**=तेरी दूरेहिता—विवाहिता कन्या **विकेशी**=बालों को खोले हुए **गृहे अरुदन्**=घर में रोती है और **रोदेन**=अपने रोने से **अघं कृण्वती**=दुःख के वातावरण को उपस्थित कर देती है और इसीप्रकार **यत्**=जो **जामयः**=तेरी विवाहिता बहिनें, **यत् युवतयः**=और युवति कन्याएँ **ते गृहे समनर्तिषुः**=तेरे घर में नाच-कूद मचा देती हैं और **रोदेन अघं कृण्वति**=रोने के द्वारा दुःखमय वातावरण बना देती हैं, इसीप्रकार **यत्**=जो **ते प्रजायाम्**=तेरी सन्तानों में, **पशुषु**=गवादि पशुओं में **यत् वा**=अथवा **गृहेषु**=पत्नी में **अघकृद्भिः**=किन्हीं पापवृत्तिवालों ने **निष्ठितम् अघं कृतम्**=(निष्ठितम्=firm, certain) निश्चितरूप से स्थाई कष्ट उत्पन्न कर दिया है तो अग्नि और सविता तुझे उस कष्ट से मुक्त करें। वस्तुतः आगे बढ़ने की भावना से और घर में सबके निर्माण-कार्यों में लगे रहने से इसप्रकार के कष्टों में रोने के अवसर उपस्थित ही नहीं होते। सामान्यतः घरों में शान्ति बनी रहती है। अग्नि व सविता की उपासना के अभाव में अज्ञान की वृद्धि होती है, दुःखद घटनाएँ उपस्थित हो जाती हैं और रोने-धोने के दृश्य उपस्थित हुआ करते हैं।

भावार्थ—यदि घरों में सब आगे बढ़ने की भावना से युक्त हों और निर्माण के कार्यों में प्रवृत्त रहें तो व्यर्थ के कलहों के कारण रोने-धाने के दृश्य उपस्थित ही न हों।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पूल्य आववन

इयं नार्युप ब्रूते पूल्यान्यावपन्तिका। दीर्घायुरस्तु मे पतिर्जीवाति शरदः शतम्॥ ६३॥

१. **इयं नारी**=यह नारी **पूल्यानि अवपन्तिका**=पूल्यों का वपन करती हुई (पूल to collect) संग्रह-कार्यों के बीज का वपन करती हुई, अर्थात् घर में मेल व निर्माण के कार्यों की ही प्रवृत्ति को पैदा करती हुई **उपब्रूते**=प्रभु से प्रार्थना करती है कि—**मे पतिः दीर्घायुः अस्तु**=मेरा पति दीर्घजीवी हो, **शरदः शतं जीवाति**=वे सौ वर्ष के पूर्ण आयुष्य तक जीनेवाले बनें। २. वस्तुतः स्त्री के संग्रहात्मक कार्यों से घर का वातावरण उत्तम बना रहता है और पति का जीवन आनन्दमय व दीर्घ होता है। इस नारी के विग्रहात्मक कार्य ही घर के वातावरण को कलहमय बनाकर पति के जीवन को निरानन्द व अल्प कर देते हैं।

भावार्थ—घर में नारी इसप्रकार वर्ते कि परस्पर सबका मेल बना रहे और प्रसन्नता से पति का जीवन दीर्घ हो।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

चक्रवाकः इव दम्पती

इहेमाविन्द्र सं नुद चक्रवाकेव दम्पती। प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्य[श्नुताम्॥ ६४॥

१. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले ऐश्वर्यशाली प्रभो! **इह**=इस घर में **इमौ दम्पती**=इन पति-पत्नी को **चक्रवाकः इव**=चकवा-चकवी की भाँति **संनुद**=प्रेरित कीजिए। 'चक्रवाक' की भावना है 'चक तृप्तौ, वच भाषणे', जो तृप्त हैं, असन्तुष्ट नहीं और प्रभु का गुणगान करते हैं। घर में पति-पत्नी काम-क्रोध से ऊपर उठे हुए, आवश्यक ऐश्वर्य से युक्त हुए-हुए प्रसन्नतापूर्वक प्रभु का स्मरण करनेवाले हों। २. **एनौ**=ये सन्तुष्ट व प्रभु-स्मरणयुक्त पति-पत्नी **प्रजया**=उत्तम सन्तान के साथ **स्वस्तकौ**=उत्तम गृहवाले होते हुए **विश्वं आयुः**=पूर्ण जीवन को **व्यश्नुताम्**=प्राप्त करें। इनके शरीर स्वस्थ हों। मन पवित्र हों तथा मस्तिष्क सुलझे हुए हों।

भावार्थ—प्रभुकृपा से घर में पति-पत्नी पुरुषार्थ के साथ प्रभु-स्मरण करते हुए पवित्र ऐश्वर्यवाले हों। उत्तम सन्तान को प्राप्त करके अपने घर को शुभ बनाएँ और पूर्ण जीवन प्राप्त करें।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

आ-स्नान

यदासन्द्यामुपधाने यद्वोपवासने कृतम्।
विवाहे कृत्यां यां चक्रुरास्नाने तां नि दध्मसि॥ ६५॥

१. **यत्**=जो **आसन्द्याम्**=कुर्सी में बैठने के उपकरणभूत आसन में, **उपधाने**=तकिये में, **यत् वा**=अथवा **उपवासने**=अग्नि के प्रज्वलन में (kindling of fire) **कृतम्**=दोष उत्पन्न कर दिया गया है अथवा **विवाहे**=विवाह के सारे कार्यक्रम में **याम् कृत्यां चक्रुः**=जिस छेदन-भेदन की क्रिया को दुष्ट लोग कर देते हैं **ताम्**=उस सबको **आस्नाने निदध्मसि**=(षण शौचे) सर्वतः शोधन प्रक्रिया के द्वारा (निधा=put down, remove, end) समाप्त करते हैं। २. कुर्सी को एकबार हाथ से ठीक प्रकार हिलाकर तभी उसपर बैठना चाहिए इससे उसमें कुछ विकार होगा तो उसका पता लग जाएगा। सिरहाने व बिस्तरे को भी एकबार झाड़ लेना ठीक है। अग्नि प्रज्वलन में तो सावधानी नितान्त आवश्यक है ही। विवाह के अवसर पर जागरूकता के अभाव में अधिक हानि हो जाने की सम्भावना होती ही है।

भावार्थ—कुर्सी पर बैठने, तकिये पर सिर रखने, अग्नि के प्रज्वलन व विवाह-कार्य के समय जागरूक होते हुए शोधन आवश्यक है, अन्यथा हानि की सम्भावना बनी रहती है।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सम्भल का कम्बल

यद्दुष्कृतं यच्छमलं विवाहे वहतौ च यत्।
तत्संभलस्य कम्बले मृज्महे दुरितं वयम्॥ ६६॥

१. **यत्**=जो **विवाहे**=विवाह के अवसर पर **वहतौ च**=और दहेज में या रथ में, जिसमें बैठकर पतिगृह की ओर जाया जाता है, उस रथ में **यत्**=जो **दुष्कृतम्**=अशुभ हो जाता है, **यत्**=जो **शमलम्**=शान्तिभंग का कारणभूत विघ्न हो जाता है, **तत् दुरितम्**=उस सब अशुभ आचरण को **वयम्**=हम **सम्भलस्य**=सम्यक् परिभाषण करनेवाले—ठीक प्रकार से बात करनेवाले पुरुष के **कम्बले**=मधुरवाणीरूप जल में (कम्बलम्=जलम्) **मृज्महे**=धो डालते हैं।

भावार्थ—विवाह के अवसर पर तथा रथ द्वारा पतिगृह की ओर प्रस्थान के अवसर पर मधुरता से व्यवहार करते हुए हम सब अशुभों व अशान्तियों को दूर करते हैं।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यज्ञिय व शुद्ध दीर्घजीवन

संभले मलं सादयित्वा कम्बले दुरितं वयम्।
अभूम यज्ञियाः शुद्धाः प्र ण आयूंषि तारिषत्॥ ६७॥

१. **सम्भले**=सम्यक् परिभाषण में **मलं सादयित्वा**=सब मल को विनष्ट करके **वयम्**=हम **कम्बले**=मधुरवाणीरूप जल में **दुरितम्**=सब दुरित को दूर करके **यज्ञियाः**=यज्ञ करने के योग्य **शुद्धा अभूम**=शुद्ध हो जाते हैं। प्रभु **नः आयूंषि प्रतारिषत्**=हमारे जीवनों को दीर्घ करें।

भावार्थ—हम सम्यक् परिभाषणरूप जलों में सब मल व दुरितों को दूर करके पवित्र जीवनवाले बनें और प्रभु के अनुग्रह से दीर्घजीवी हों।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**पुरउष्णिक्**॥

कृत्रिम कण्टक

कृत्रिमः कण्टकः शतदन्य एषः। अपास्याः केश्यं मलमप शीर्षण्यं लिखात्॥ ६८॥

१. **यः**=जो **एषः**=यह **शतदन्**=सैकड़ों दाँतोंवाली **कृत्रिमः**=शिल्पियों द्वारा निर्मित **कण्टकः**=कंघी है, वह **अस्याः**=इस वधू के **केश्यम्**=केशों में होनेवाले **शीर्षण्यं मलम्**=सिर के मल को **अपलिखात्**=दूर व सुदूर कर दे। २. कंघी से बाहर से सिर-शुद्धि इसप्रकार हो जाती है कि उसमें किसी प्रकार की जुएँ आदि पड़कर क्लेश का कारण नहीं बन पातीं। जहाँ अन्तःशुद्धि अत्यन्त आवश्यक है, वहाँ बाह्यशुद्धि उसमें सहायक बनती है।

भावार्थ—सिर के बालों को कंघी से शुद्ध कर लेना आवश्यक है। इससे मल-सञ्चित होकर केशों में जुएँ आदि पड़ने की आशंका नहीं रहती।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**षट्पदातिशक्वरी**॥

नीरोगता का रहस्य

अङ्गादङ्गाद्वयमस्या अप यक्ष्मं नि दध्मसि।
तन्मा प्राप॑त्पृथिवीं मोत देवान्दिवं मा प्रापदुर्व१न्तरिक्षम्।
अपो मा प्रापन्मलमेतदग्ने यमं मा प्रापत्पितृंश्च सर्वान्॥ ६९॥

१. **वयम्**=हम शुद्धता व अग्निहोत्रादि द्वारा **अस्याः**=इस युवति के **अङ्गात् अङ्गात्**=प्रत्येक अंग से **यक्ष्मं अपनिदध्मसि**=रोग को सुदूर निवारित करते हैं। **तत्**=वह रोग **पृथिवीं मा प्रापत्**=इस शरीररूप पृथिवी को मत प्राप्त हो **उत**=और **देवान् मा**=विषयों की प्रकाशक इन इन्द्रियों को मत प्राप्त हो। **दिवं मा प्रापत्**=मस्तिष्करूप द्युलोक में न प्राप्त हो तथा **उरु अन्तरिक्षम्**=इस विशाल हृदयान्तिरक्ष में मत प्राप्त हो। २. **अग्ने**=यज्ञिय अग्ने! **एतत्**=यह रोगजनक **मलम्**=मल **अपः मा प्रापत्**=रेतःकणों में मत प्राप्त हो जाए। **यमं मा प्रापत्**=यह मल इस दम्पतीरूप जोड़े को मत प्राप्त हो **उ**=तथा **सर्वान् पितृन्**=सब पितरों को भी मत प्राप्त हो। वस्तुतः रोगजनक मल से बचने का साधन भी 'यम तथा पितृन्' शब्द से संकेतित हो रहा है। हमें संयमी बनना है तथा रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त रहना है, रोगों से बचने का यही मार्ग है।

भावार्थ—इस नवविवाहित युवति के शरीर में नीरोगता हो, इसमें रोगकृमियों का प्राबल्य न हो जाए। इसके 'शरीर, इन्द्रियाँ, मस्तिष्क, हृदय, रेतःकण' रोगजनक मलों से प्रभावित न

हों। इस घर में सब संयमी बने रहें व रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त रहें। इसप्रकार यहाँ सब नीरोग रहें।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

संनहन

सं त्वा॑ नह्यामि॒ पय॑सा पृथि॒व्याः सं त्वा॑ नह्यामि॒ पय॒सौष॑धीनाम्।
सं त्वा॑ नह्यामि प्र॒जया॒ धने॑न॒ सा संन॑द्धा सनुहि॒ वाज॒मेमम्॥ ७०॥

१. पति कहता है कि हे मेरे जीवन के साथी! **त्वा**=तुझे **पृथिव्याः**=पृथिवी के—पृथिवी से उत्पन्न **पयसा**=आप्यायन के साधनभूत पदार्थों से **संनह्यामि**=सम्यक् बद्ध करता हूँ। मैं **ओषधिनाम् पयसा**=ओषधियों की आप्यायन-शक्ति से **संनह्यामि**=सन्नद्ध करता हूँ। मैं अपने पास पार्थिव पदार्थों व ओषधि-वनस्पतियों की कमी नहीं होने देता। २. **त्वा**=तुझे **प्रजया धनेन**=उत्तम सन्तानों व धनों से **संनह्यामि**=इस कुल से सम्यक् बद्ध करता हूँ। इस प्रकार सब आवश्यक पदार्थों से **सन्नद्धा**=सन्नद्ध हुई-हुई **सा**=वह तू **इमं वाजम्**=इस शक्ति को **आसनुहि**=समन्तात् अंग-प्रत्यंग में संभजन करनेवाली हो। घर-सञ्चालन के लिए आवश्यक वस्तुओं की कमी होने पर चिन्ता के कारण शक्ति में कमी आ जाती है। सब आवश्यक पदार्थों से परिपूर्ण गृह चिन्ता का विषय न बनकर शक्तिवृद्धि का हेतु होता है।

भावार्थ—पति का कर्त्तव्य है कि घर में सब आवश्यक पदार्थों को प्राप्त करने की व्यवस्था करे। इससे पत्नी का जीवन चिन्ता से दूर होता हुआ सशक्त बना रहेगा।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**बृहती**॥

अम+सा, साम+ऋक्, द्यौ+पृथिवी

अमो॒ऽहम॑स्मि॒ सा त्वं सामा॒हम॒स्म्यृक्त्वं द्यौर॒हं पृ॑थि॒वी त्वम्।
तावि॒ह सं भ॑वाव प्र॒जामा ज॑नयावहै॥ ७१॥

१. पति कहता है कि **अहम्**=मैं **अमः**=प्राणशक्ति (vital air) **अस्मि**=हूँ तो **त्वम्**=तू **सा (असि)**=लक्ष्मी है (सा name of लक्ष्मी)। पति को प्राणशक्तिसम्पन्न होना चाहिए तथा पत्नी तो गृहलक्ष्मी होकर ही घर को शोभान्वित कर सकेगी। २. **साम अहं अस्मि**=मैं साम हूँ, **त्वं ऋक्**=तू ऋचा है। पति ने साम के गायन के समान मधुर होना है न कि कर्कश स्वभाव का। पत्नी ने विज्ञानवाली बनना है—समझदार। ऋचाओं से साम पृथक् नहीं, इसीप्रकार पति ने पत्नी से पृथक्त्व को सोचना ही नहीं। ३. **द्यौः अहम्**=मैं द्युलोक के समान हूँ, **त्वं पृथिवी**=तू पृथिवी है। द्युलोक बरसता है, पति ने भी घर में धन की वृष्टि करनी है। पृथिवी उत्पन्न करती है, पत्नी ने भी उत्तम पदार्थों का निर्माण करना है। द्युलोक पृथिवी पर वृष्टि का सेचन करता है, इसीप्रकार पति पत्नी में वीर्य का सेचन करनेवाला है। पृथिवी अन्नादि को उत्पन्न करती है, पत्नी उत्तम सन्तान को। ४. पति कहता है कि **तौ**=वे हम दोनों **इह सम्भवाव**=यहाँ सह स्थानों में मिलकर हों। हमारे हृदय एक हों, मन एक हों, हम अविद्वेषवाले हों, परस्पर प्रीतिसम्पन्न हों। इसप्रकार हम **प्रजां आजनयावहै**=उत्तम सन्तान को जन्म दें।

भावार्थ—पति प्राण है तो पत्नी लक्ष्मी। प्राणशक्ति ही शरीर को लक्ष्मी-सम्पन्न बनाती है। पति शान्त हो, पत्नी विज्ञानवाली। पति द्युलोक के समान ज्ञानदीप्त हो, पत्नी पृथिवी के समान दृढ़ आधारवाली। ऐसे पति-पत्नी ही मिलकर उत्तम सन्तान को जन्मदेनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अरिष्टासू

जनियन्ति नावग्रवः पुत्रियन्ति सुदानवः। अरिष्टासू सचेवहि बृहते वाजसातये॥ ७२॥

१. **अग्रवः**=(अग्रे गन्तारः) हमारे आगे चलनेवाले, अर्थात् हमारे बड़े (हमारे माता-पिता) **नौ**=हम दोनों को **जनयन्ति**=पति-पत्नी के रूप में चाहते हैं। **सुदानवः**=ये उत्तम दानशील व्यक्ति **पुत्रियन्ति**=हमारे लिए सन्तानों की कामना करते हैं। 'वर-वधू' दोनों के माता-पिता 'इन्हें उत्तम सन्तान प्राप्त हो', ऐसी कामना करते हैं। २. **अरिष्टासू**=अहिंसित प्राणोंवाले हम प्राणशक्ति को नष्ट न करते हुए **सचेवहि**=परस्पर मिलकर चलें। इसप्रकार हम **बृहते वाजसातये**=महान् शक्ति-लाभ के लिए हों। हमारी शक्ति में वृद्धि ही हो।

भावार्थ—हम बड़ों के आशीर्वाद के साथ पति-पत्नी के रूप में होते हुए इसप्रकार परस्पर मिलकर चलें कि हमारी प्राणशक्ति अहिंसित रहे और हम शक्ति प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रजावत् शर्म

ये पितरो वधूदर्शा इमं वहतुमागमन्। ते अस्यै वध्वै संपत्न्यै प्रजावच्छर्म यच्छन्तु॥ ७३॥

१. **ये पितरः**=जो हमारे पितर—बड़े लोग **वधूदर्शाः**=वधू को देखने की कामनावाले **इमम्**=इस **वहतुं आगमन्**=विवाह में आये हैं, **ते**=वे सब **अस्यै**=इस **संपत्न्यै**=पति के साथ सम्यक् मेलवाली **वध्वै**=वधू के लिए **प्रजावत् शर्म यच्छन्तु**=प्रशस्त सन्तानवाले सुख को प्राप्त कराएँ। उत्तम सन्तान की प्राप्ति के लिए आशीर्वाद दें।

भावार्थ—विवाह में उपस्थित सब बड़े लोग इस पति के साथ मेलवाली वधू के लिए उत्तम सन्तति की प्राप्ति का आशीर्वाद दें।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पूर्वा रशनायमाना

येदं पूर्वागन्रशनायमाना प्रजामस्यै द्रविणं चेह दत्त्वा।
तां वहन्त्वगतस्यानु पन्थां विराडियं सुप्रजा अत्यजैषीत्॥ ७४॥

१. **या**=जो **पूर्वा**=(पृ) पालन व पूरण करनेवाली **रशनायमाना**=रशना के समान आचरण करनेवाली, अर्थात् कर्त्तव्यकर्मों के करने में सदा कटिबद्ध यह युवति **इदम्**=इस गृह में **आगन्**=आई है। **अस्यै**=इस वधू के लिए **इह**=यहाँ इस गृह में **प्रजां द्रविणं च दत्वा**=उत्तम सन्तति व ऐश्वर्य को प्राप्त कराके **ताम्**=उस वधू को **अ-गतस्य पन्थाम् अनुवहन्तु**=न चले गये, अर्थात् दीर्घजीवी पति के मार्ग पर अनुकूलता से सब देव ले-चलें। सब देवों के अनुग्रह से यह दीर्घजीवी पति के अनुकूल मार्ग पर चलनेवाली हो। इसका सौभाग्य स्थिर रहे और पति के साथ अनुकूलता में बनी रहे। २. इस प्रकार **इयम्**=यह **विराट्**=अति तेजस्विनी वधू **सुप्रजाः**=उत्तम प्रजावाली होती हुई **अति अजैषीत्**=सब कष्टों व शत्रुओं को जीतनेवाली बनें।

भावार्थ—पत्नी (क) पालनात्मक व पूरणात्मक कर्मों में प्रवृत्त हो। (ख) कर्त्तव्य-कर्मों के करने में सदा कटिबद्ध हो। (ग) सौभाग्यशालिनी बने। (घ) पति के अनुकूल मार्ग पर चले। तेजस्विनी हो। (ङ) उत्तम प्रजावाली हो। (च) कष्टों व शत्रुओं को जीतनेवाली हो।

ऋषिः—**सावित्री सूर्या**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सुबुधा-बुध्यमाना

प्र बुध्यस्व सुबुधा बुध्यमाना दीर्घायुत्वाय शतशारदाय।
गृहान्गच्छ गृहपत्नी यथासो दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु॥ ७५॥

१. पत्नी को अन्तिम आशीर्वाद व शिक्षा इस रूप में दी जाती है कि **प्रबुध्यस्व**=तू प्रकृष्ट बोधवाली हो। **सुबुधा**=उत्तम बुद्धिवाली तू **बुध्यमाना**=समझदार बन। इसप्रकार तू **शतशारदाय दीर्घायुत्वाय**=शत वर्षों के दीर्घजीवन के लिए हो। २. **गृहान् गच्छ**=पति के गृह को तू प्राप्त हो **यथा**=जिससे तू **गृहपत्नी असः**=गृहपत्नी बने। तू वस्तुतः घर का उत्तमता से रक्षण करनेवाली हो। **सविता**=वह सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक प्रभु ते **आयुः**=तेरे आयुष्य को **दीर्घं कृणोतु**=दीर्घ करे।

भावार्थ—पत्नी उत्तम बोधवाली होती हुई सब कार्यों को समझदारी से करे। पतिगृह को प्राप्त होकर वस्तुतः गृहपत्नी बने। प्रभु-स्मरणपूर्वक कार्यों को करती हुई दीर्घजीवन प्राप्त करे।

॥ **इति चतुर्थदशं काण्डम्**॥

अथ पञ्चदशं काण्डम्

अथ त्रिंशः प्रपाठकः ॥

अथ प्रथमोऽनुवाकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

सम्पूर्ण पञ्चदशकाण्ड का ऋषि अथर्वा है—अथ अर्वाङ् =अन्तः-निरीक्षण करनेवाला व अथर्वा न डाँवाडोल होनेवाला। यह व्रात्य है—व्रतमय जीवनवाला है, विद्वान्, ज्ञानी है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः** ॥ छन्दः—**साम्नीपङ्क्तिः, द्विपदासाम्नीबृहती** ॥

इयमान व्रात्य

व्रात्य आसीदीयमान एव स प्रजापतिं समैरयत्॥ १॥

स प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्नपश्यत्तत्प्राजनयत्॥ २॥

१. **व्रात्यः**=व्रतसमूह का पालन करनेवाला यह व्रतीपुरुष **इयमानः एव आसीत्**=गतिशील ही था, यह कभी अकर्मण्य नहीं हुआ। **सः**=वह व्रात्य **प्रजापतिं समैरयत्**=अपने हृदयदेश में प्रजापति प्रभु की भावना को प्रेरित करता था। इसने हृदय में प्रभु का चिन्तन किया। वस्तुतः प्रभु-स्मरणपूर्वक क्रिया होने पर क्रिया में अपवित्रता नहीं आती। २. **सः प्रजापतिः**=उस प्रजापति प्रभु ने **सुवर्णम्**=प्रभु गुणों का सम्यक् वर्णन करनेवाले इस ज्ञानी को **आत्मन् अपश्यत्**=अपनी गोद में बैठा देखा। ब्रह्मनिष्ठ होकर ही तो यह व्रात्य सब कर्मों को कर रहा था, **तत्**=अतः **प्राजनयत्**=प्रभु ने इस व्रात्य के जीवन का विकास किया। इसे उत्तम गुणों से युक्त जीवनवाला बनाया।

भावार्थ—व्रतमय जीवनवाला यह साधक क्रियाशील हुआ। इसने हृदय में प्रभु की भावना को प्रेरित किया। प्रभु ने इस आत्मनिष्ठ व्रात्य के गुणों का विकास किया।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः** ॥ छन्दः—३ **एकपदायजुर्ब्राह्म्यनुष्टुप्, ४ एकपदाविराड्गायत्री, ५ साम्न्यनुष्टुप्** ॥

'ब्रह्म (ज्ञान) तप व सत्य' द्वारा व्रात्य का 'महादेव व ईशान' बनना

तदेकमभवत्तल्ललामभवत्तन्महदभवत्तज्ज्येष्ठमभवत्तद् ब्रह्माभवत्तपोऽभवत्तत्सत्यमभवत्तेन प्राजायत॥ ३॥

सोऽवर्धत स महानभवत्स महादेवोऽभवत्॥ ४॥

स देवानामीशां पर्यैत्स ईशानोऽभवत्॥ ५॥

१. **तत्**=प्रभु ने जब इस व्रात्य की शक्तियों का विकास किया तब वह **एकं अभवत्**=अद्वितीय हुआ—वह अनुपमरूप से विकसित शक्तियोंवाला बना। **तत् ललामं अभवत्**=वह बड़े सुन्दर (charming) जीवनवाला हुआ। **तत् महत् अभवत्**=वह महान् हुआ। विकसित शक्तियोंवाले सुन्दर जीवनवाला होने से वह पूज्य हुआ। **तत् ज्येष्ठम् अभवत्**=वह प्रशस्यतम बना—सबसे बड़ा हुआ—'ज्ञान-बल व ऐश्वर्य' से बढ़ा। **तत् ब्रह्म अभवत्**=वह ज्ञान का पुञ्ज बना। **तत् तपः अभवत्**=वह तपोमूर्ति हुआ। **तत् सत्यं अभवत्**=वह सत्य का पालन करनेवाला हुआ।

तेन=उस 'ब्रह्म, तप व सत्य' से वह **प्राजायत**=प्रकृष्ट विकासवाला हुआ। मस्तिष्क में ज्ञान से, शरीर में तप से तथा मन में सत्य से शोभायमान हुआ। २. इसप्रकार **सः**=वह **अवर्धत**=बढ़ा, **सः**=वह **महान्**=पूज्य **अभवत्**=हुआ। **सः महादेवः अभवत्**=उस महान् देव प्रभु के पूजन से वह पुजारी भी प्रभु के रंग में रंगा गया और वह महादेव ही हो गया। 'ब्रह्म इव' परमेश्वर-सा बन गया। ३. **सः**=वह **देवानाम्**=सब देवों की **ईशा पर्यैत्**=ऐश्वर्यशक्ति को व्याप्त करनेवाला हुआ। सब दिव्यगुणों को धारण करने के लिए यत्नशील हुआ। इसी से **सः**=वह **ईशानः**=ईशान **अभवत्**=हो गया। उस व्रात्य का नाम ईशान ही पड़ गया।

भावार्थ—व्रात्य ने प्रभु-सम्पर्क द्वारा अपने जीवन को अनुपम, सुन्दर, महान् व ज्येष्ठ बनाया। 'ज्ञान, तप व सत्य' को धारण करके वह विकसित शक्तिवाला हुआ। महादेव की उपासना करता हुआ 'महान् व ईशान' बना।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**६ त्रिपदाप्राजापत्याबृहती, ७ आसुरीपङ्क्तिः, ८ त्रिपदाऽनुष्टुप्**॥

इन्द्रधनुष् द्वारा 'अन्तः व बाह्य' शत्रुओं का विजय

स एकव्रात्यो ऽभवत्स धनुरादत्त तदेवेन्द्रधनुः॥ ६॥
नीलमस्योदरं लोहितं पृष्ठम्॥ ७॥
नीलेनैवाप्रियं भ्रातृव्यं प्रोर्णोति लोहितेन
द्विषन्तं विध्यतीति ब्रह्मवादिनो वदन्ति॥ ८॥

१. सब देवों का ईश बनकर **सः**=वह **एकव्रात्यः अभवत्**=अद्वितीय व्रतमय जीवनवाला हुआ। **सः धनुः आदत्त**=उसने धनुष् ग्रहण किया। धनुष् कोई और नहीं था। **तत् एव इन्द्रधनुः**=वही इन्द्रधनुष् था। 'प्रणवो धनुः' ओंकाररूप धनुष् को उसने ग्रहण किया। २. **अस्य**=इस धनुष् का **उदरं नीलम्**=उदर नीला है और **पृष्ठं लोहितम्**=पृष्ठ लोहित है। 'ओम्' इस धनुष का 'अ' एक सिरा है, 'म्' दूसरा। 'अ' विष्णु है, 'म्' शिव व रुद्र है। इसका मध्य 'उ' ब्रह्मा है। ३. यह उदर में होनेवाला—मध्य में होनेवाला 'उ' नील है, '(नि+इला)'=निश्चित ज्ञान की वाणी है। इसका अधिष्ठाता ब्रह्मा है। **नीलेन एव**=इसके द्वारा ही **अप्रियं भ्रातृव्यम्**=अप्रीतिकर शत्रु=कामवासना को **प्रोर्णोति**=आच्छादित कर देता है। ज्ञान प्रबल हुआ तो वह काम को नष्ट कर देता है। 'ओम्' इस धनुष् का पृष्ठ सिरा 'अ और म्' क्रमशः विष्णु व रुद्र के वाचक होते हुए शक्ति की सूचना देते हैं। 'लोहित' रुधिर का वाचक है तथा लाल रंग का प्रतिपादन करता है। ये दोनों ही शक्ति के साथ सम्बद्ध हैं। इस **लोहितेन**=शक्ति से **द्विषन्तं विध्यति**=द्वेष करनेवाले को विद्ध करता है—शत्रुओं को जीतता है। 'उ' से अन्तःशत्रुओं की विजय होती है तो 'म्' से बाह्यशत्रुओं की। **इति ब्रह्मवादिनो वदन्ति**=ऐसा ब्रह्मज्ञानी पुरुष कहते हैं।

भावार्थ—व्रतमय जीवनवाला पुरुष 'ओम्' नामक इन्द्रधनुष् को अपनाता है। इस धनुष् का मध्य 'उ' 'ज्ञान की वाणी' (वेद) का वाचक है। इसके द्वारा यह अन्तःशत्रु काम का विजय करता है और इस धनुष के सिरे 'अ' और 'म्' विष्णु व रुद्र के वाचक होते हुए शक्ति के प्रतीक हैं। इनके द्वारा यह बाह्य शत्रुओं को जीतता है।

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**१ साम्न्यनुष्टुप्, २ साम्नीत्रिष्टुप्, ३ द्विपदाऽऽर्षीपङ्क्तिः, ४ द्विपदाब्राह्मीगायत्री**॥

प्राची दिशा में 'बृहत्-रथन्तर, आदित्य व विश्वेदेवों' की प्राप्ति

स उदतिष्ठत्स प्राचीं दिशमनु व्य᳚चलत्॥ १॥
तं बृहच्च रथन्तरं चादित्याश्च विश्वे च देवा अनुव्य᳚चलन्॥ २॥
बृहते च वै स रथन्तराय चादित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च देवेभ्य आ वृश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुपवदति॥ ३॥
बृहतश्च वै स रथन्तरस्य चादित्यानां च विश्वेषां च देवानां प्रियं धाम भवति तस्य प्राच्यां दिशि॥ ४॥

१. **सः**=वह व्रात्य **उदतिष्ठत्**=उठा, आलस्य को छोड़कर उद्यत हो गया और **सः**=वह **प्राचीं दिशम्**=(प्र अञ्च) आगे बढ़ने की दिशा को **अनुव्यचलत्**=लक्ष्य करके चला। व्रतमय जीवनवाला पुरुष क्यों न आगे बढ़ेगा? २. **तम्**=उस व्रतमय जीवनवाले, अग्रगति के लिए निरन्तर उद्यत व्रात्य को **बृहत् च**=हृदय की विशालता, **रथन्तरं च**=शरीररूप रथ से जीवनमार्ग को पार करने की वृत्ति **आदित्याः च**=सूर्यसम ज्ञानदीप्तियाँ तथा **विश्वेदेवाः**=सब दिव्यगुण **अनुव्यचलन्**=अनुकूलता से प्राप्त हुए। ३. **सः**=वह व्रात्य **वै**=निश्चय से **बृहते च**=हृदय की विशालता के लिए **रथन्तराय**=शरीररूप रथ के द्वारा जीवनमार्ग को पार करने की वृत्ति के लिए **आदित्येभ्यः च**=ज्ञानदीप्तियों को प्राप्त करने के लिए **च**=और **विश्वेभ्यः देवेभ्यः**=सब दिव्यगुणों के ग्रहण के लिए **आवृश्चते**=समन्तात् वासनारूप शत्रुओं का छेदन करता है। यह भी शत्रुओं का छेदन करने में प्रवृत्त होता है। **यः**=जो **एवम्**=इसप्रकार **विद्वांसं व्रात्यम् उपवदति**=ज्ञानी व्रतीपुरुष के समीप उपस्थित होकर इन ज्ञानों व व्रतों की चर्चा करता है—इन ज्ञान व व्रत की बातों को ही पूछता है, ४. **सः**=वह **वै**=निश्चय से **बृहत् च**=विशाल हृदय का **रथन्तरस्य च**=शरीर-रथ से जीवन-यात्रा के मार्ग को पार करने की वृत्ति का, **आदित्यनां च**=विज्ञानों के आदानों का **च**=और **विश्वेषां देवानाम्**=सब दिव्यगुणों का **प्रियं धाम भवति**=प्रियधाम बनता है। इन सब बातों का वह निवासस्थान होता है। **तस्य**=उस विद्वान् व्रात्य के जीवन में **प्राच्यां दिशि**=प्रगति की दिशा में 'बृहत्, रथन्तर, आदित्य और विश्वेदेव' जीवन के साथी बनते हैं।

भावार्थ—जिस समय यह व्रतमय जीवनवाला पुरुष आलस्य को छोड़कर प्रगति की दिशा में आगे बढ़ता है तब इस दिशा में वह 'विशालहृदयता, शरीर-रथ से जीवनमार्ग को पार करने की वृत्ति, विज्ञानों का आदान व दिव्यगुणों के धारण' से अलंकृत जीवनवाला होता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**५ द्विपदाऽऽर्चीजगती, ६ साम्न्यनुष्टुप्, ७ पदपङ्क्तिः, ८ त्रिपदाप्राजापत्यात्रिष्टुप्**॥

श्रद्धा (कीर्ति और यश) मातरिश्वा पवमान

श्रद्धा पुंश्चली मित्रो मागधो विज्ञानं वासोऽहरुष्णीषं रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ कल्मलिर्मणिः॥ ५॥
भूतं च भविष्यच्च परिष्कन्दौ मनो विपथम्॥ ६॥
मातरिश्वा च पवमानश्च विपथवाहौ वातः सारथी रेष्मा प्रतोदः॥ ७॥

कीर्तिश्च यशश्च पुरःसुरावैनं कीर्तिर्गच्छत्या यशो गच्छति य एवं वेद॥ ८॥

१. प्राची दिशा में आगे बढ़नेवाले इस विद्वान् व्रात्य की **श्रद्धा पुंश्चली**=श्रद्धा प्रेरिका भावना होती है (प्रमोसं चालयति प्रेरयति)! यह अपने अग्रगति के मार्ग पर श्रद्धापूर्वक आगे बढ़ता है। इसके लिए **मित्रः**=प्राणशक्ति के संचार द्वारा मृत्यु से रक्षित करनेवाला (प्रमीते त्रायते) सूर्य **मागधः**=स्तुति पाठक होता है। सूर्य इन्हें प्रभु-स्तवन करता प्रतीत होता है। सूर्य प्रभु की अद्भुत विभूति है—यह प्रभु की महिमा का मानो गायन करता है। **विज्ञानं वासः**=विज्ञान इसका वस्त्र होता है। विज्ञान इसके आच्छादन का साधन बनता है। **अहः उष्णीषम्**=दिन इसका उष्णीष स्थानापन्न होता है। दिन को यह शिरोवेष्टन=मुकुट बनाता है। दिन के एक-एक क्षण को यह उपयुक्त करता हुआ उन्नति-शिखर पर पहुँचने के लिए यत्नशील होता है। **रात्री केशः**=रात्रि इसके केश बनते हैं। केश जैसे सिर के रक्षक होते हैं उसीप्रकार रात्रि इसके लिए रमयित्री होती हुई इसे स्वस्थ मस्तिष्क बनाती है। **हरितौ**=अन्धकार का हरण करनेवाले सूर्य और चन्द्र **प्रवतौ**=इसे विराट् पुरुष के कुण्डल प्रतीत होते हैं और **कल्मलिः**=तारों की ज्योति (splendour) **मणिः**=उसे विराट् पुरुष की मणि प्रतीत होती है। ये सूर्य-चन्द्र व तारों में प्रभु की महिमा को देखता है। २. **भूतं च भविष्यत् च**=भूत और भविष्यत् **परिष्कन्दौ**=इसके दास (servent) होते हैं। भूत से यह ग़लतियों को न करने का पाठ पढ़ता है और भविष्यत् को उज्ज्वल बनाने के स्वप्न लेता है तथा प्रवृद्ध पुरुषार्थवाला होता है। **मनः**=मन इसका **विपथम्**=विविध मार्गों से गति करनेवाला युद्ध का रथ होता है। मन के दृढ़ संकल्प से ही तो इसने जीवन-संग्राम में विजय पानी है। ३. **मातरिश्वा च पवमानश्च**=श्वास तथा उच्छ्वास इसके **विपथवाहौ**=मनरूपी रथ के वाहक घोड़े होते हैं। प्राणापान के द्वारा ही जीवन-रथ आगे बढ़ता है। **वातः सारथी**=क्रियाशीलता (वा गतौ) इस रथ का सारथि है। **रेष्मा प्रतोदः**=वासनाओं का संहार ही चाबुक है। ४. **कीर्तिः च यशः च**=प्रभु-गुणगान (glory, speach) व (कीर्तन तथा दीप्ति splendour) इसके **पुरः सरौ**=आगे चलनेवाले होते हैं। **यः एवं वेदः**=जो इसप्रकार इस सारी बात को समझ लेता है, वह भी इस मार्ग पर चलता है और **कीर्तिः गच्छति**=कीर्ति प्राप्त होती है तथा **यशः गच्छति**=यश प्राप्त होता है।

भावार्थ—विद्वान् व्रात्य जब प्राची दिशा में (अग्र गति की दिशा में) आगे बढ़ता है तब उसे श्रद्धा, कीर्ति व यशादि प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—९ **साम्न्यनुष्टुप्, १० एकपदोष्णिक्, ११ द्विपदाऽऽर्षीभुरिक्त्रिष्टुप्, १२ आर्षीपरानुष्टुप्**॥

दक्षिणा दिक् में 'यज्ञायज्ञिय वामदेव्य यज्ञ यज्ञमान व पशुओं' की प्राप्ति

स उदतिष्ठत्स दक्षिणां दिशमनु व्य चलत्॥ ९॥
तं यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च यज्ञश्च यजमानश्च।
पशवश्चानुव्य चलन्॥ १०॥
यज्ञायज्ञियाय च वै स वामदेव्याय च यज्ञाय च यजमानाय
च पशुभ्यश्चा वृश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुपवदति॥ ११॥
यज्ञायज्ञियस्य च वै स वामदेव्यस्य च यज्ञस्य च यजमानस्य
च पशूनां च प्रियं धाम भवति तस्य दक्षिणायां दिशि॥ १२॥

१. **सः**=वह व्रात्य **उदतिष्ठत्**=उठता है। आलस्य को छोड़कर आगे बढ़ता हुआ **सः**=वह

दक्षिणां दिशम्=नैपुण्य की दिशा को **अनुव्यचलत्**=अनुक्रमेण प्राप्त होता है, किसी भी क्षेत्र में निरन्तर आगे बढ़ता हुआ वह बड़ा निपुण बन जाता है। २. **तम्**=उस नैपुण्यप्राप्त व्रात्य को **यज्ञायज्ञियं च**=(सर्वेभ्यो यज्ञेभ्यः हितकरं वेदज्ञानम्) सब यज्ञों के लिए हितकर वेदज्ञान, **वामदेव्यं च**=सुन्दर, दिव्यगुणों (वाम lovely) के लिए हितकर प्रभु-स्तवन, **यज्ञः च**=श्रेष्ठतम कर्म, **यजमानाः च**=यज्ञशील पुरुष **च**=तथा **पशवः**=यज्ञघृत को प्राप्त कराने के लिए आवश्यक गवादि पशु **अनुव्यचलन्**=अनुकूलता से प्राप्त होते हैं। उसके अनुकूल गतिवाले होते हैं। ३. **सः**=वह व्रात्य विद्वान् **वै**=निश्चय से **यज्ञायज्ञियाय च**=यज्ञों के लिए हितकर वेदज्ञान के लिए, **वामदेव्याय च**=सुन्दर, दिव्यगुणों के लिए हितकर प्रभु-स्तवन के लिए, **यज्ञाय च**=यज्ञ के लिए, **यजमानाय च**=यज्ञशील पुरुष की प्राप्ति के लिए, **पशुभ्यः च**=गवादि पशुओं की प्राप्ति के लिए **आवृश्चते**=समन्तात् वासनारूप शत्रुओं का छेदन करता है। वह व्यक्ति भी ऐसा ही करता है, **यः**=जो **एवम्**=इसप्रकार **विद्वांसं व्रात्यं उपवदति**=ज्ञानी व्रतीपुरुष के समीप इसीप्रकार ज्ञानचर्चा करता है। ४. यह वासनारूप शत्रुओं का छेदन करनेवाला पुरुष **वै**=निश्चय से **यज्ञायजिस्य च**=यज्ञों के लिए हितकर वेदज्ञान का **वामदेवस्य च**=सुन्दर, दिव्यगुणों के लिए हितकर प्रभु-स्तवन का **यज्ञस्य च**=यज्ञ का, **यजमानस्य च**=यज्ञशील पुरुषों का, **पशूनां च**=यज्ञ का घृत प्राप्त करानेवाले गवादि पशुओं का **प्रियं धाम भवति**=प्रिय स्थान बनता है—ये सब इसे प्राप्त होते हैं, **तस्य**=उस विद्वान् व्रात्य के जीवन में **दक्षिणां दिशि**=दक्षिण दिशा में 'यज्ञायज्ञीय, वामदेव्य, यज्ञ, यजमान, पशु' जीवन के साथी बनते हैं।

भावार्थ—यह विद्वान् व्रात्य आलस्य को छोड़कर आगे बढ़ता हुआ नैपुण्य को प्राप्त करता है तो वह 'यज्ञों के लिए हितकर वेदज्ञान को, दिव्यगुणोत्पादक प्रभु-स्तवन को, यज्ञों को, यज्ञमानों व पशुओं' को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**१३ द्विपदाऽऽर्चीजगती, १४ साम्नीपङ्क्तिः**॥

उषा, अमावास्या, पौर्णमासी

उषाः पुंश्चली मन्त्रो मागधो विज्ञानं वासोऽहरुष्णीषं
रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ कल्मलिर्मणिः॥ १३॥
अमावास्या च पौर्णमासी च परिष्कन्दौ मनो विपथम्।
मातरिश्वा च पवमानश्च विपथवाहौ वातः सारथी
रेष्मा प्रतोदः। कीर्तिश्च यशश्च पुरः सरावैनं कीर्तिर्गच्छत्या
यशो गच्छति य एवं वेद॥ १४॥

१. दक्षिण दिशा में—नैपुण्य की दिशा में गतिवाले इस विद्वान् व्रात्य की **उषाः**=उषा **पुंश्चली**=नारी के समान होती है, इसे कर्मों में प्रेरित करती है। यह उषा में ही उठकर कर्त्तव्य-कर्मों का प्रारम्भ करता है। **मन्त्रः मागधः**=वेदमन्त्र इसके स्तुति-पाठक होते हैं। यह मन्त्रों द्वारा प्रभु-स्तवन करता है। शेष मन्त्र पञ्चमवत्। २. **अमावास्या च पौर्णमासी च परिष्कन्दौ**=अमावास्या और पौर्णमासी इसके सेवक होते हैं। अमावास्या से यह अपने जीवन में सूर्य-चन्द्र के समन्वय का पाठ पढ़ता है। मस्तिष्क में ज्ञानसूर्य को तथा हृदय में मनःप्रसादरूप चन्द्र को उदित करने का प्रयत्न करता है तथा पौर्णमासी से जीवन को पूर्ण चन्द्र की भाँति सोलह कला सम्पूर्ण बनाने के लिए यत्नशील होता है। शेष मन्त्र षष्ठवत्।

भावार्थ—यह विद्वान् व्रात्य आगे बढ़ता हुआ, नैपुण्य को प्राप्त करता हुआ, ऐश्वर्यसम्पन्न

होकर भी उषाकाल में प्रबुद्ध होकर मन्त्रों द्वारा प्रभु-स्तवन करता है। अपने जीवन में ज्ञान व मन:प्रसाद का समन्वय करता है और जीवन को पूर्ण व चन्द्र की भाँति सोलह कला सम्पन्न बनाता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—१५ **साम्न्यनुष्टुप्**, १६ **साम्नीत्रिष्टुप्**, १७ **द्विपदाविराडार्षीपङ्क्तिः**, १८ **द्विपदाब्राह्मीगायत्री**॥

प्रतीची दिशा में 'वैरूप, वैराज, आपः, वरुण राजा'

स उद॑तिष्ठ॒त्स प्र॒तीचीं॒ दिश॒मनु॒ व्य॑चलत्॥ १५॥
तं वै॑रू॒पं च॑ वैरा॒जं चाप॑श्च॒ वरु॑णश्च॒ राजा॑नु॒व्य॑चलन्॥ १६॥
वै॒रू॒पाय॑ च॒ वै स वै॑रा॒जाय॑ चा॒द्भ्यश्च॒ वरु॑णाय च॒
राज्ञ॒ आ वृ॑श्चते॒ य ए॒वं वि॒द्वांसं॒ व्रात्य॑मुप॒वद॑ति॥ १७॥
वै॒रू॒पस्य॑ च॒ वै स वै॑रा॒जस्य॑ चा॒पां च॒ वरु॑णस्य च॒
रा॒ज्ञः प्रि॒यं धाम॑ भवति॒ तस्य॑ प्र॒तीच्यां॑ दि॒शि॥ १८॥

१. **सः**=वह व्रात्य विद्वान् **उदतिष्ठत्**=उठा और आलस्य को दूर भगाकर **प्रतीचीं दिशं अनुव्यचलत्**=प्रतीची दिशा की ओर 'प्रति अञ्च' प्रत्याहार की दिशा में चला। इन्द्रियों को इसने विषय-व्यावृत्त करने का प्रयत्न किया। २. इस प्रत्याहार के होने पर **तम्**=उस व्रात्य विद्वान् को **वैरूपं च**=विशिष्ट तेजस्वीरूप **वैराजं च**=विशिष्ट ज्ञानदीप्ति, **आपः च**=रेतःकण (आपः रेतो भूत्वा०), **वरुणः च राजा**=और जीवन को दीप्त करनेवाला (राजा), निर्द्वेषता का भाव **अनुव्यचलन्**=अनुकूलता से प्राप्त हुए। ३. **सः**=वह व्रात्य विद्वान् **वै**=निश्चय से **वैरूपाय च**=विशिष्ट तेजस्वीरूप के लिए, **वैराजाय च**=विशिष्ट ज्ञानदीप्ति के लिए, **अद्भ्यः च**=शरीर में रेतःकणों के रक्षण के लिए **च**=तथा **वरुणाय राज्ञः**=जीवन को दीप्त बनानेवाले निर्द्वेषता के भाव के लिए **आवृश्चते**=समन्तात् वासनाओं का छेदन करता है। यह पुरुष भी वासनाओं का छेदन करता है, **यः**=जो **एवम्**=इसप्रकार **व्रात्यम्**=व्रती **विद्वांसम्**=विद्वान् के **उपवदति**=समीप होकर इन बातों की चर्चा करता है। ४. **सः**=वह **वैरूपस्य च**=विशिष्ट तेजस्वीरूप का, **वैराजाय च**=विशिष्ट ज्ञानदीप्ति का, **अपां च**=रेतःकणों का **च**=और **राज्ञः वरुणस्य**=जीवन को दीप्त बनानेवाले निर्द्वेषता के भाव का **प्रियं धाम भवति**=प्रिय स्थान बनता है। **तस्य**=उस विद्वान् व्रात्य के **प्रतीच्यां दिशि**=इस प्रत्याहार की दिशा में 'वैरूप, वैराज़, आपः और वरुण राजा' साथी बनते हैं।

भावार्थ—यह व्रात्य विद्वान् प्रत्याहार के द्वारा 'विशिष्ट तेजस्वीरूप को, विशिष्ट ज्ञानदीप्ति को, रेतःकणों को तथा जीवन को दीप्त बनानेवाली निर्द्वेषता' को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—१९ **द्विपदाऽऽर्षीजगती**, २० **आसुरीगायत्री**॥

प्रत्याहार में सफल बनने के लिए

इ॒रा पुं॑श्च॒ली हसो॑ माग॒धो वि॒ज्ञानं॒ वासोऽह॑रु॒ष्णीषं॒
रात्री॒ केशा॒ हरि॑तौ प्र॒व॒तौ क॑ल्म॒लिर्म॒णिः॥ १९॥
अह॑श्च॒ रात्री॑ च परिष्कन्दौ मनो॑ विप॒थम्। मा॒त॒रिश्वा॑ च॒
पव॑मानश्च विपथवा॒हौ वातः॒ सार॑थी रे॒ष्मा प्र॑तो॒दः। की॒र्तिश्च॒

यशश्च पुरःसुरावैनं कीर्तिर्गच्छत्या यशो गच्छति य एवं वेद॥ २०॥

१. इस व्रात्य विद्वान् के प्रत्याहार की दिशा में चलने पर इस **पुंश्चली**=ज्ञानवाणी की अधिष्ठात्री देवता पत्नी के समान होती है—प्रेरणा देनेवाली होती है। **हसः मागधः**=हास्य इसका स्तुतिपाठक होता है, इसे अपने चारों ओर खिलते हुए फूल व चमकते हुए (twinkling) तारे प्रभु-स्तवन करते प्रतीत होते है। शेष पञ्चम मन्त्रवत्। २. **अह च रात्री च**=दिन और रात **परिष्कन्दौ**=सेवक (servant) होते हैं। दिन इसे यज्ञादि उत्तम कर्मों को करने का अवसर देता है और रात्री इसे अपने अन्दर फिर से शक्ति भरने में सहायक होती है। शेष सप्तमाष्टममन्त्रवत्।

भावार्थ—यह व्रात्य विद्वान् इस प्रत्याहार में सफलता प्राप्त करने के लिए सरस्वती का प्रिय बनता है, प्रसन्न रहता हुआ प्रभु-स्तवन करता है, दिन को यज्ञादि उत्तम कर्मों में व्यतीत करता है और रात्रि में विश्राम करता हुआ फिर से अपने में शक्ति भरता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**२१ साम्न्यनुष्टुप्, २२ साम्नीत्रिष्टुप्, २३ निचृदार्षीपङ्क्तिः, २४ द्विपदाब्राह्मीगायत्री**॥

उदीची दिशा में 'श्यैत, नौधस, सप्तर्षि, सोम राजा'

स उदतिष्ठत्स उदीचीं दिशमनु व्यचलत्॥ २१॥

तं श्यैतं च नौधसं च सप्तर्षयश्च सोमश्च राजानुव्यचलन्॥ २२॥

श्यैताय च वै स नौधसाय च सप्तर्षिभ्यश्च सोमाय च राज्ञ आ वृश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुपवदति॥ २३॥

श्यैतस्य च वै स नौधसस्य च सप्तर्षीणां च सोमस्य च राज्ञः प्रियं धाम भवति तस्योदीच्यां दिशि॥ २४॥

१. **सः**=वह व्रात्य **उदतिष्ठत्**=आलस्य छोड़कर उठ खड़ा हुआ और **सः**=वह इन्द्रियों को विषयों से व्यावृत्त करके **उदीचीं दिशं अनुव्यचलत्**=उत्तर दिशा की ओर—उन्नति की ओर क्रमशः चला। २. **तम्**=उन्नति की दिशा में चलते हुए उसको **श्यैतं च**=(श्यैङ् गतौ) गतिशीलता **नौधसं च**=(नौधा ऋषिर्भवति नवनं दधाति—नि०) प्रभु-स्तवन, **सप्तर्षयः च**='दो कान, दो आँखें, दो नासिका-छिद्र व मुख' रूप सप्तर्षयः और **राजा सोमः**=जीवन को दीप्त बनानेवाला सोम (वीर्यशक्ति)—ये सब **अनुव्यचलन्**=अनुकूलता से प्राप्त हुए। ३. **सः**=वह व्रात्य **वै**=निश्चय से **श्यैताय च**=गतिशीलता के लिए **नौधसाय च**=प्रभु-स्तवन के लिए, **सप्तर्षभ्यः च**=कान आदि सप्तर्षियों के लिए **च**=और **राज्ञे सोमाय**=जीवन को दीप्त बनानेवाले सोम (वीर्य) के लिए **आवृश्चते**=समन्तात् वासनाओं का विनाश करता है। वह भी वासनाओं का विनाश करता है **यः**=जो **एवम्**=इसप्रकार **व्रात्यम्**=व्रती **विद्वांसम्**=विद्वान् को **उपवदति**=समीपता से प्राप्त होकर इस उन्नति के मार्ग की चर्चा करता है। ४. **सः**=वह व्रात्य विद्वान् **वै**=निश्चय से **श्यैतस्य च**=क्रियाशीलता का **नौधसस्य च**=प्रभु-स्तवन की वृत्ति का **सप्तर्षीणां च**=कान आदि सप्तर्षियों का **च**=और **राज्ञः सोमस्य**=जीवन को दीप्त बनानेवाले सोम का **प्रियं धाम भवति**=प्रिय स्थान बनता है। **तस्य**=उस व्रात्य विद्वान् के **उदीच्यां दिशि**=उत्तर दिशा में—उन्नति की दिशा में 'श्यैत, नवधस, सप्तर्षि व सोम राजा' साथी होते हैं।

भावार्थ—यह व्रात्य विद्वान् उन्नति की दिशा में आगे बढ़ता हुआ 'गतिशीलता, प्रभु-स्तवन, सप्तर्षियों द्वारा ज्ञानप्राप्ति तथा सोमरक्षण द्वारा दीप्त जीवन' को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः** ॥ छन्दः—२५ **द्विपदाऽऽर्चीजगती,** २६ **साम्न्यनुष्टुप्,** २७ **पदपङ्क्तिः,** २८ **त्रिपदाप्राजापत्यात्रिष्टुप्** ॥

विद्युत्, स्तनयित्नु, श्रुतविश्रुत

विद्युत्पुंश्चली स्तनयित्नुर्मागधो विज्ञानं वासोऽहरुष्णीषं रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ कल्मलिर्मणिः ॥ २५ ॥

श्रुतं च विश्रुतं च परिष्कन्दौ मनो विपथम् ॥ २६ ॥

मातरिश्वा च पवमानश्च विपथवाहौ वातः सारथी रेष्मा प्रतोदः ॥ २७ ॥

कीर्तिश्च यशश्च पुरःसरावैनं कीर्तिर्गच्छत्या यशो गच्छति य एवं वेद ॥ २८ ॥

१. इस उन्नति की दिशा में चलनेवाले व्रात्य की **विद्युत् पुंश्चली**=बिजली के समान विशिष्ट ज्ञान की दीप्ति पत्नी होती है—प्रेरिका होती है। **स्तनयित्नु**=मेघ-गर्जना इसका **मागधः**=स्तुतिपाठ होता है। मेघ गर्जना में भी यह प्रभु की महिमा को देखता है। शेष पञ्चम मन्त्रवत्। २. **श्रुतं च विश्रुतं च**=प्रकृति-विज्ञान व अध्यात्म-विज्ञान इस व्रात्य विद्वान् के **परिष्कन्दौ**=सेवक होते हैं। प्रकृति-विज्ञान से यह अभ्युदय को सिद्ध करता है तो अध्यात्म-विज्ञान से यह निःश्रेयस की साधना करनेवाला होता है। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—यह व्रात्य विद्वान् निरन्तर उन्नत होने के लिए, विशिष्ट ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करने के लिए यत्नशील होता है। यह मेघ-गर्जना में भी प्रभु-स्तवन होता हुआ देखता है। प्रकृति-विज्ञान इसके अभ्युदय का साधक होता है और आत्मविज्ञान इसे निःश्रेयस का अधिकारी बनाता है।

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**रुद्रः** ॥ छन्दः—१ **त्रिपदासमविषमागायत्री,** २ **त्रिपदाभुरिगार्चीत्रिष्टुप्,** ३ **द्विपदाप्राजापत्याऽनुष्टुप्,** ४ **त्रिपदास्वराट्प्राजापत्यापङ्क्तिः** ॥

व्रात्य की आसन्दी

स संवत्सरमूर्ध्वो ऽतिष्ठत्तं देवा अब्रुवन्व्रात्य किं नु तिष्ठसीति ॥ १ ॥

सो ऽब्रवीदासन्दीं मे सं भरन्त्विति ॥ २ ॥

तस्मै व्रात्यायासन्दीं समभरन् ॥ ३ ॥

तस्या ग्रीष्मश्च वसन्तश्च द्वौ पादावास्तां शरच्च वर्षाश्च द्वौ ॥ ४ ॥

१. **सः**=वह व्रात्य विद्वान् **संवत्सरम्**=वर्षभर **ऊर्ध्वः अतिष्ठत्**=संसार से मानो ऊपर उठा हुआ ही, अपनी तपस्या में ही स्थित रहा। **तम्**=उसको **देवाःअब्रुवन्**=देववृत्ति के व्यक्तियों ने मिलकर कहा अथवा माता-पिता व आचार्यादि ने **इति**=इसप्रकार कहा कि—हे **व्रात्य**=व्रतमय जीवनवाले विद्वन्! **किम्**=क्या **नु**=अब भी **तिष्ठति इति**=इसप्रकार तपस्या में ही स्थित हुए हो। अब कहीं आश्रम में स्थित होकर लोकहित के दृष्टिकोण से कार्य आरम्भ करो न? २. इसप्रकार देवों के आग्रह पर **सः**=उस व्रात्य ने **इति**=इसप्रकार **अब्रवीत्**=कहा कि **मे**=मेरे लिए आप **आसन्दीं संभरन्तु**=आसन्दी का संभरण करने की कृपा कीजिए। 'मुझे कहाँ बैठकर कार्य करना चाहिए', उस बात का आप निर्देश कीजिए। ३. यह उत्तर पाने पर सब देवों ने **तस्मै व्रात्याय**=उस व्रात्य के लिए **आसन्दीं समभरन्**=आसन्दी प्राप्त कराई। वस्तुतः वह आसन्दी क्या थी? सारा काल ही उस आसन्दी के चार चरणों के रूप में था। इस आसन्दी के संभरण का कोई

शुभ मुहूर्त थोड़े ही निकालना था। शुभ कार्य के लिए सारा समय ही शुभ है। ४. देवों से प्राप्त कराई गई **तस्याः**=उस आसन्दी के **ग्रीष्मः च वसन्तः च**=ग्रीष्म और वसन्त ऋतु **द्वौ पादौ आस्ताम्**=दो पाँव थे तथा **शरद च वर्षा च द्वौ**=शरद और वर्षा दूसरे दो पाये बने। वस्तुतः इस व्रात्य ने न सर्दी देखनी है न गर्मी, न वर्षा न पतझड़। उसने तो सदा ही लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त होना है।

भावार्थ—व्रात्य विद्वान् संसार से अलग रहकर तपस्या ही न करता रह जाए। उसे लोकहित के कार्यों को भी अवश्य करना ही चाहिए और इन शुभ कार्यों के लिए मुहूर्त ढूँढने की आवश्यकता नहीं। शुभ कार्य के लिए सारा समय शुभ ही है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**५ आर्चीबृहती, ६ आसुर्यनुष्टुप्, ७ साम्नीगायत्री, ८ आसुरीपङ्क्तिः, ९ आसुरीजगती**॥

'ज्ञान व उपासना'-मयी आसन्दी

बृहच्च रथन्तरं चानूच्ये३ आस्तां यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च तिरश्चये॥ ५॥
ऋचः प्राञ्चस्तन्तवो यजूंषि तिर्यञ्चः॥ ६॥
वेद आस्तरणं ब्रह्मोपबर्हणम्॥ ७॥
सामासाद उद्गीथोऽपश्रयः॥ ८॥
तामासन्दीं व्रात्य आरोहत्॥ ९॥

१. व्रात्य की इस आसन्दी के **बृहत् च रथन्तरं च**=हृदय की विशालता और शरीर-रथ से भवसागर को तैरने की भावना ही **अनूच्ये आस्ताम्**=दाएँ-बाएँ की लकड़ी की दो पाटियाँ थीं **च**=तथा **यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च**=यज्ञों के लिए हितकर वेदज्ञान तथा सुन्दर दिव्यगुणों के लिए हितकर प्रभु का उपासन ही **तिरश्च्ये**=दो तिरछे काष्ठ सेरुवे थे। २. **ऋचः**=ऋचाएँ—प्रकृतिविज्ञान के मन्त्र ही उस आसन्दी के **प्राञ्चः तन्तवः**=लम्बे फैले हुए तन्तु थे और **यजूंषि**=यज्ञ-प्रतिपादक मन्त्र ही **तिर्यञ्चः**=तिरछे फैले हुए तन्तु थे। **वेदः**=ज्ञान ही उस आसन्दी का **आस्तरणम्**=बिछौना था, **ब्रह्म**=तप (ब्रह्मः तपः) व तत्त्वज्ञान ही **उपबर्हणम्**=तकिया (सिर रखने का सहारा) था। **साम**=उपासना-मन्त्र व शान्तभाव ही **आसादः**=उस आसन्दी में बैठने का स्थान था और **उद्गीथः**=उच्चैः गेय 'ओम्' इसका **उपश्रयः**=सहारा था (टेक थी)। ३. **ताम्**=इस ज्ञानमयी **आसन्दीम्**=आसन्दी पर **व्रात्यः आरोहत्**=व्रात्य ने आरोहण किया।

भावार्थ—व्रात्य जिस आसन्दी पर आरोहण करता है वह ज्ञान व उपासना की बनी हुई है। उपासना से शक्ति प्राप्त करके व ज्ञान से मार्ग का दर्शन करके वह लोकहित के कार्यों में आसीन होता है—तत्पर होता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**१० प्राजापत्यात्रिष्टुप्, ११ विराड्गायत्री**॥

देवजनों के रक्षण में

तस्य देवजनाः परिष्कन्दा आसन्त्संकल्पाः प्रहाय्या३ विश्वानि भूतान्युपसदः॥ १०॥
विश्वान्येवास्य भूतान्युपसदो भवन्ति य एवं वेद॥ ११॥

१. **तस्य**=उस व्रात्य के **देवजनाः**=माता-पिता-आचार्यादि देव **परिष्कन्दाः आसन्**=चारों ओर गति करनेवाले रक्षक होते हैं। इनके रक्षण में यह अपना लोकहित का कार्य उत्तमता से

कर पाता है। **संकल्पाः**=उस-उस कार्य को करने के संकल्प इसके **प्रहाय्याः**=दूत होते हैं। इन संकल्पों के द्वारा यह अपने कार्यों को करने में समर्थ होता है। **विश्वानि भूतानि**=सब प्राणी **उपसदः**=इसके समीप बैठनेवाले होते हैं—इसी की शरण में जाते हैं, इसे ही वे अपना सहारा मानते हैं। २. **यः**=जो भी व्रात्य **एवं वेद**=इसप्रकार समझ लेता है कि उसका जीवनलक्ष्य 'भूतहित' ही है, **अस्य**=इसके **विश्वानि एव भूतानि**=सभी प्राणी **उपसदः भवन्ति**=समीप आसीन होनेवाले होते हैं।

भावार्थ—लोकहित में प्रवृत्त व्रात्य को 'माता-पिता-आचार्य' आदि देवों का रक्षण प्राप्त होता है। संकल्पों द्वारा यह अपने सन्देश को दूर तक पहुँचाने में समर्थ होता है और सब प्राणी इसकी शरण में आते हैं।

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—१ **दैवीजगती**, २ **आर्च्यनुष्टुप्**, ३ **द्विपदाप्राजापत्याजगती**॥

प्राच्याः दिशः

तस्मै॑ प्राच्या॑ दि॒शः॥ १॥

वा॒स॒न्तौ मासौ॑ गो॒प्तारा॒वकु॑र्वन्बृहच्च॑ रथन्त॒रं चा॑नुष्ठा॒तारौ॑॥ २॥

वा॒स॒न्तावे॑नं मासौ॒ प्राच्या॑ दि॒शो गो॑पायतो बृ॒हच्च॑ रथन्त॒रं चानु॑ तिष्ठतो॒ य ए॒वं वेद॑॥ ३॥

१. **तस्मै**=उस व्रात्य के लिए **प्राच्याः दिशः**=पूर्व दिशा से सब देव **वासन्तौ मासौ**=वसन्त ऋतु के दो मासों को **गोप्तारौ अकुर्वन्**=रक्षक बनाते हैं **च**=तथा **बृहत् रथन्तरं च**=हृदय की विशालता तथा शरीर-रथ से जीवन-यात्रा को पूर्ण करने की प्रवृत्ति को **अनुष्ठातारौ**=विहित कार्यसाधक बनाते हैं। **एनम्**=इस व्रात्य को **वासन्तौ मासौ**=वसन्त ऋतु के दो मास **प्राच्याः दिशः गोपायतः**=पूर्व दिशा से रक्षित करते हैं **च**=तथा **बृहत् रथन्तरं च**=हृदय की विशालता तथा शरीर-रथ से भव-सागर को तैरने की प्रवृत्ति **अनुतिष्ठतः**=उसके कर्त्तव्य-कर्मों को करनेवाले होते हैं। इस व्यक्ति के ये कर्त्तव्य साधक होते हैं, **यः**=जो **एवं वेद**=इस तत्त्व को समझ लेता है, वह 'बृहत् और रथन्तर' के महत्त्व को जान लेता है।

भावार्थ—व्रात्य को वसन्त के दो मास पूर्व दिशा से रक्षित करते हैं और 'बृहत् तथा रथन्तर' इसे कर्त्तव्य-कर्मों में प्रवृत्त करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—४ **प्राजापत्यागायत्री**, ५ **प्राजापत्यापङ्क्तिः**, ६ **आर्चीजगती**॥

दक्षिणायाः दिशः

तस्मै॒ दक्षि॑णाया दि॒शः॥ ४॥

ग्रैष्मौ॒ मासौ॑ गो॒प्तारा॒वकु॑र्वन्यज्ञाय॒ज्ञियं॑ च वामदे॒व्यं चा॑नुष्ठा॒तारौ॑॥ ५॥

ग्रैष्मावे॑नं मासौ॒ दक्षि॑णाया दि॒शो गो॑पायतो यज्ञाय॒ज्ञियं॑ च वामदे॒व्यं चानु॑ तिष्ठतो॒ य ए॒वं वेद॑॥ ६॥

१. **तस्मै**=इस व्रात्य के लिए **दक्षिणायाः दिशः**=दक्षिणा दिक् से सब देवों ने **ग्रैष्मौ मासौ**=ग्रीष्म ऋतु के दो मासों को **गोप्तारौ अकुर्वन्**=रक्षक बनाया, **च**=तथा **यज्ञायज्ञियम्**=यज्ञों

के साधक वेदज्ञान को **वामदेव्यं च**=सुन्दर दिव्यगुणों की साधक ईश-उपासना को **अनुष्ठातारौ**=विहित कार्यसाधक बनाया। २. **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार 'यज्ञायज्ञिय व वामदेव्य' के महत्त्व को समझता है, **एनम्**=इस व्रात्य को **दक्षिणाया दिशः**=दक्षिण दिक् से **ग्रैष्मौ मासौ गोपायतः**=ग्रीष्म ऋतु के दो मास रक्षित करते हैं, **च**=तथा **यज्ञायज्ञियम्**=यज्ञों का साधक वेदज्ञान **वामदेव्यं च**=सुन्दर दिव्यगुणों का साधन प्रभु-पूजन **अनुतिष्ठतः**=विहित कार्यों को सिद्ध कराते हैं।

भावार्थ—व्रात्य को ग्रीष्मर्तु के दो मास दक्षिण दिशा से रक्षित करते हैं और 'यज्ञसाधक वेदज्ञान तथा सुन्दर दिव्यगुणों का साधन व प्रभु-पूजन' विहित कर्मों में प्रवृत्त करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—७ **प्राजापत्यागायत्री, ८ आर्चीनुष्टुप्, ९ आर्चीत्रिष्टुप्**॥

प्रतीच्याः दिशः

तस्मै प्रतीच्या दिशः॥ ७॥
वार्षिकौ मासौ गोप्तारावकुर्वन्वैरूपं च वैराजं चानुष्ठातारौ॥ ८॥
वार्षिकावेनं मासौ प्रतीच्या दिशो गोपायतो वैरूपं च
वैराजं चानु तिष्ठतो य एवं वेद॥ ९॥

१. **तस्मै**=उस व्रात्य के लिए **प्रतीच्याः दिशः**=पश्चिम दिशा से सब देव **वार्षिकौ मासौ**=वर्षा ऋतु के दो मासों को **गोप्तारौ अकुर्वन्**=रक्षक बनाते हैं **च**=तथा **वैरूपम्**=विशिष्ट तेजस्विता-सम्पन्न रूप को **वैराजं च**=तथा विशिष्ट ज्ञानदीप्ति को **अनुष्ठातारौ**=विहित कार्यसाधक बनाते हैं। २. **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार 'वैरूप और विराज' के महत्त्व को समझता है, **एनम्**=इस व्रात्य को **वार्षिकौ मासौ**=वर्षा के दो मास **प्रतीच्याः दिशः**=पश्चिम दिशा से **गोपायतः**=रक्षित करते हैं, **च**=तथा **वैरूपम्**=विशिष्ट तेजस्विता-सम्पन्न रूप **वैराजं च**=और विशिष्ट ज्ञानदीप्ति **अनुतिष्ठतः**=विहित कर्मों को सिद्ध करने में प्रवृत्त होते हैं।

भावार्थ—व्रात्य को पश्चिम दिशा से वर्षा के दो मास रक्षित करते हैं और 'वैरूप तथा वैराज' विहित कर्मों को सिद्ध करने में समर्थ करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**१० प्राजापत्यागायत्री, ११ साम्नीत्रिष्टुप्, १२ द्विपदाप्राजापत्याजगती**॥

उदीच्याः दिशः

तस्मा उदीच्या दिशः॥ १०॥
शारदौ मासौ गोप्तारावकुर्वञ्छ्यैतं च नौधसं चानुष्ठातारौ॥ ११॥
शारदावेनं मासावुदीच्या दिशो गोपायतः श्यैतं च
नौधसं चानु तिष्ठतो य एवं वेद॥ १२॥

१. **तस्मै**=उस व्रात्य के लिए **उदीच्याः दिशः**=उत्तर दिशा से सब देवों ने **शारदौ मासौ**=शरद् ऋतु के दो मासों को **गोप्तारौ अकुर्वन्**=रक्षक बनाया, **च**=तथा **श्यैतम्**=क्रियाशीलता को **नौधसं च**=और प्रभु-स्तवन को **अनुष्ठातारौ**=विहित कार्यसाधक बनाया। २. **यः**=जो **एवं वेद**=इसप्रकार क्रियाशीलता व प्रभु-स्तवन के महत्त्व को समझता है **एनम्**=इस व्रात्य विद्वान् को **उदीच्याः दिशः**=उत्तर दिशा से **शारदौ मासौ**=शरद् ऋतु के दो मास **गोपायतः**=रक्षित करते

हैं **च**=और **श्यैतं नौधसं च**=क्रियाशीलता व प्रभु-स्तवन विहित कार्यों के सिद्ध करने में प्रवृत्त करते हैं।

भावार्थ—व्रात्य विद्वान् उत्तर दिशा की ओर से शरद् ऋतु के दो मासों से रक्षित किया जाता है तथा क्रियाशीलता व प्रभु-स्तवन इसे विहितकार्यों के अनुष्ठान में प्रवृत्त करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**१३ दैवीजगती, १४ प्राजापत्याबृहती, १५ द्विपदाऽऽर्चीपङ्क्तिः**॥

ध्रुवायाः दिशः

तस्मै ध्रुवाया दिशः॥ १३॥
हैमन्तौ मासौ गोप्तारावकुर्वन्भूमिं चाग्निं चानुष्ठातारौ॥ १४॥
हैमन्तावेनं मासौ ध्रुवाया दिशो गोपायतो
भूमिश्चाग्निश्चानु तिष्ठतो य एवं वेद॥ १५॥

१. **तस्मै**=उस व्रात्य विद्वान् के लिए **ध्रुवायाः दिशः**=ध्रुव दिशा से **हैमन्तौ मासौ**=हेमन्त ऋतु के दो मासों को सब देवों ने **गोप्तारौ अकुर्वन्**=रक्षक बनाया तथा **भूमिं च अग्निं च**=इस भूमिरूप शरीर को तथा शरीर में स्थित अग्निरूप शक्ति को **अनुष्ठातारौ**=विहित कार्यसाधक बनाया। इस व्रात्य का शक्तिसम्पन्न शरीर विहितानुष्ठान में प्रवृत्त हुआ। २. **यः**=जो व्रात्य **एवं वेद**=इसप्रकार भूमि व अग्नि के प्रयोजन को समझता है **एनम्**=इस व्रात्य को **हैमन्तौ मासौ**=हेमन्त ऋतु के दो मास **ध्रुवायाः दिशः**=ध्रुवा दिशा से **गोपायतः**=रक्षित करते हैं और **भूमिः च अग्निः च अनुतिष्ठतः**=शरीर व शरीरस्थ शक्ति विहित कर्मों के अनुष्ठान में प्रवृत्त करते हैं।

भावार्थ—व्रात्य विद्वान् ध्रुवा दिशा से हेमन्त ऋतु के दो मासों द्वारा रक्षित होता है तथा इस विद्वान् को शक्तिसम्पन्न शरीरविहित कार्य के अनुष्ठान में समर्थ करता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**१६ दैवीजगती, १७ आर्च्युष्णिक्, १८ द्विपदाऽऽर्चीपङ्क्तिः**॥

ऊर्ध्वायाः दिशः

तस्मा ऊर्ध्वाया दिशः॥ १६॥
शैशिरौ मासौ गोप्तारावकुर्वन्दिवं चादित्यं चानुष्ठातारौ॥ १७॥
शैशिरावेनं मासावूर्ध्वाया दिशो गोपायतो
द्यौश्चादित्यश्चानु तिष्ठतो य एवं वेद॥ १८॥

१. **तस्मै**=उस व्रात्य विद्वान् के लिए **ऊर्ध्वायाः दिशः**=ऊर्ध्वा दिशा से सब देवों ने **शैशिरौ मासौ**=शिशिर ऋतु के दो मासों को **गोप्तारौ अकुर्वन्**=रक्षक बनाया। **दिवं च आदित्य च**=मस्तिष्करूप द्युलोक को तथा ज्ञानरूप आदित्य को **अनुष्ठातारौ**=विहित कार्यसाधक बनाया। **यः**=जो विद्वान् **एवं वेद**=इसप्रकार ज्ञानसम्पन्न मस्तिष्क के महत्त्व को समझता है **एनम्**=इस व्रात्य को **शैशिरौ मासौ**=शिशिर ऋतु के दो मास **ऊर्ध्वायाः दिशः**=ऊर्ध्वा दिक् से **गोपायतः**=रक्षित करते हैं **च**=तथा **द्यौः आदित्यः च**=मस्तिष्क तथा ज्ञान (धीः+विद्या) **अनुतिष्ठतः**=इसके सब विहित कार्यों को सिद्ध करते हैं। यह ज्ञान-सम्पन्न मस्तिष्क से पवित्र कार्यों का ही सम्पादन करनेवाला होता है।

भावार्थ—ऊर्ध्वा दिक् से शिशिर के दो मास व्रात्य विद्वान् की रक्षा करते हैं और यह व्रात्य

विद्वान् ज्ञानसम्पन्न मस्तिष्क से विहित कार्यों का सम्पादन करता है।

सूचना—सम्पूर्ण सूक्त का सार यह है कि व्रात्य विद्वान् सब कालों में स्वस्थ जीवनवाला होता हुआ अपने जीवन में 'ज्ञान, कर्म व उपासना' का समन्वय करता हुआ शास्त्रविहित कर्त्तव्यों के अनुष्ठान में तत्पर रहता है।

५. [पञ्चमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**रुद्रः**॥ छन्दः—**१ त्रिपदासमविषमागायत्री, २ त्रिपदाभुरिगार्चीत्रिष्टुप्, ३ द्विपदाप्राजापत्यानुष्टुप्**॥

प्राच्याः दिशः अन्तर्देशात्

तस्मै प्राच्या दिशो अन्तर्देशाद्भवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन्॥ १॥
भव एनमिष्वासः प्राच्या दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु
तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः॥ २॥
नास्य पशून्न समानान्हिनस्ति य एवं वेद॥ ३॥

१. **तस्मै**=उस व्रात्य के लिए सब देवों ने **प्राच्याः दिशः अन्तर्देशात्**=पूर्व दिशा के अन्तर्देश (मध्यदेश) से **भवम्**=सर्वोत्पादक प्रभु को **इष्वासम्**=धनुर्धारी—धनुष् के द्वारा रक्षक **अनुष्ठातारम्**=सब क्रियाओं का करनेवाला **अकुर्वन्**=किया। इसे बाल्यकाल से ही यह शिक्षा प्राप्त हुई थी कि वे सर्वोत्पादक प्रभु तुम्हारे रक्षक हैं और सब क्रियाएँ उन्हीं की शक्ति व कृपा से होती हैं। २. **भवः**=वह सर्वोत्पादक **इष्वासः**=धनुर्धर प्रभु **एनम्**=इस व्रात्य को **प्राच्याः दिशः अन्तर्देशात्**=पूर्व दिशा के मध्यदेश से **अनुष्ठाता**=सब कार्यों को करने का सामर्थ्य देता हुआ **अनुतिष्ठति**=अनुकूलता से स्थित होता है। ३. **यः एवं वेद**=जो इस प्रकार उस 'भव, इष्वास, अनुष्ठाता' प्रभु को समझ लेता है **एनम्**=इस विद्वान् व्रात्य को **शर्वाः**=वह (शॄ हिंसायाम्) प्रलय-कर्त्ता प्रभु (रुद्र), **न भवः**=न ही (ब्रह्म) सर्वोत्पादक प्रभु, **न ईशानः**=न ही ईश (शासक, विष्णु) **हिनस्ति**=विनष्ट करते हैं। **अस्य**=इसके **पशून् न**=पशुओं को भी नष्ट नहीं करते। **न समानान्**=न इसके समान—तुल्य गुणवाले व्यक्तियों को, बन्धु-बान्धवों को विनष्ट करते हैं।

भावार्थ—यह व्रात्य विद्वान् पूर्वदिशा के अन्तर्देश में उस सर्वोत्पादक प्रभु को ही अपना, अपने पशुओं का, अपने समान बन्धु-बान्धवों का रक्षक जानता है, उन्हें ही कार्य करने की शक्ति देनेवाला समझता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**रुद्रः**॥ छन्दः—**४ त्रिपदास्वराट्प्राजापत्यापङ्क्तिः, ५, ७, ९, ११, १३ त्रिपदाब्राह्मीगायत्री [नास्य इत्यस्योक्तम्], ६, ८, १२ त्रिपदाककुप्, १०, १४ आर्षीगायत्री, १५ विराड्बृहती, १६ द्विपदाप्राजापत्याऽनुष्टुप्**॥

सब अन्तर्देशों से

तस्मै दक्षिणाया दिशो अन्तर्देशाच्छर्वमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन्॥ ४॥
शर्व एनमिष्वासो दक्षिणाया दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु
तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः। नास्य पशून्न समानान्हिनस्ति य एवं वेद॥ ५॥
तस्मै प्रतीच्या दिशो अन्तर्देशात्पशुपतिमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन्॥ ६॥
पशुपतिरेनमिष्वासः प्रतीच्या दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु
तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः। नास्य पशून्न समानान्हिनस्ति य एवं वेद॥ ७॥

तस्मा उदीच्या दिशो अन्तर्देशादुग्रं देवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन्॥ ८॥
उग्र एनं देव इष्वास उदीच्या दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु
तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः।
नास्य पशून्न समानान्हिनस्ति य एवं वेद॥ ९॥
तस्मै ध्रुवाया दिशो अन्तर्देशाद्रुद्रमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन्॥ १०॥
रुद्र एनमिष्वासो ध्रुवाया दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु
तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः।
नास्य पशून्न समानान्हिनस्ति य एवं वेद॥ ११॥
तस्मा ऊर्ध्वाया दिशो अन्तर्देशान्महादेवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन्॥ १२॥
महादेव एनमिष्वास ऊर्ध्वाया दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु
तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः।
नास्य पशून्न समानान्हिनस्ति य एवं वेद॥ १३॥
तस्मै सर्वेभ्यो अन्तर्देशेभ्य ईशानमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन्॥ १४॥
ईशान एनमिष्वासः सर्वेभ्यो अन्तर्देशेभ्योऽनुष्ठातानु
तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः॥ १५॥
नास्य पशून्न समानान्हिनस्ति य एवं वेद॥ १६॥

१. **तस्मै**=उस व्रात्य के लिए **दक्षिणायाः दिशः अन्तर्देशात्**=दक्षिणदिशा के अन्तर्देश से **शर्वम्**=सर्वसंहारक प्रभु को सब देवों ने **इष्वासम्**=धुनर्धर रक्षक को तथा **अनुष्ठातारम्**=सब क्रियाओं का सामर्थ्य देनेवाला **अकुर्वन्**=किया। यह **इष्वासः शर्वः**=धनुर्धर—सर्वसंहारक प्रभु **एनम्**=इस व्रात्य को **दक्षिणायाः दिशः अन्तर्देशात्**=दक्षिणदिक् से मध्यदेश से **अनुष्ठाता अनुतिष्ठति**=सब कार्यों का सामर्थ्य देता हुआ अनुकूलता से स्थित होता है। २. **तस्मै**=उस व्रात्य के लिए **प्रतीच्याः दिशः अन्तर्देशात्**=पश्चिमदिशा के अन्तर्देश से **पशुपतिं इष्वासम्**=सब प्राणियों के रक्षक धनुर्धर प्रभु को सब देवों ने **अनुष्ठातारं अकुर्वन्**=सब कार्यों को करने का सामर्थ्य देनेवाला किया। यह **इष्वासः पशुपतिः**=धनुर्धर सब प्राणियों का रक्षक प्रभु **एनम्**=इस व्रात्य को **प्रतीच्याः दिशः अन्तर्देशात्**=पश्चिमदिशा के मध्यदेश से **अनुष्ठातानुतिष्ठति**=सब कार्यों को करने का सामर्थ्य देता हुआ अनुकूलता से स्थित होता है। ३. **तस्मै**=उस व्रात्य के लिए **उदीच्याः दिशः अन्तर्देशात्**=उत्तरदिशा के अन्तर्देश से **उग्रं देवम्**=प्रचण्ड सामर्थ्यवाले (so powerful), शत्रुभयंकर (fierce), उदात्त (highly noble) दिव्य प्रभु को सब देवों ने **इष्वासम्**=धनुर्धर को **अनुष्ठातारं अकुर्वन्**=सब कार्यों को करने की सामर्थ्य देनेवाला किया। यह **उग्रः देवः**=उदात्त, दिव्य प्रभु **इष्वासः**=धनुर्धर होकर **एनम्**=इस व्रात्य को **उदीच्याः दिशः अन्तर्देशात्**=ऊपर दिशा के मध्यदेश से **अनुष्ठाता अनुतिष्ठति**=सब कार्यों का सामर्थ्य देनेवाला होता हुआ अनुकूलता से स्थित होता है। ४. **तस्मै**=उस व्रात्य के लिए **ध्रुवायाः दिशः अन्तर्देशात्**=ध्रुवा दिशा के अन्तर्देश से **रुद्रम्**=शत्रुओं को रुलानेवाले प्रभु को सब देवों ने **इष्वासम्**=धनुर्धर को **अनुष्ठातारं अकुर्वन्**=सब कार्यों को करने का सामर्थ्य देनेवाला बनाया। यह **रुद्रः इष्वासः**=रुद्र धनुर्धर **एनम्**=इस व्रात्य को **ध्रुवायाः दिशः अन्तर्देशात्**=ध्रुवादिशा के मध्यदेश से **अनुष्ठाता अनुतिष्ठति**=सब कार्यों को करने का सामर्थ्य देता हुआ अनुकूलता से

स्थित होता है। ५. **तस्मै**=उस व्रात्य के लिए **ऊर्ध्वाया: दिश: अन्तर्देशात्**=ऊर्ध्वा दिक् के अन्तर्देश से **महादेवम्**=सर्वमहान्, सर्वपूज्य देव को सब देवों ने **इष्वासम्**=धनुर्धर की **अनुष्ठातारं अकुर्वन्**=सब क्रियाओं का सामर्थ्य देनेवाला किया। **देव:**=यह महादेव **इष्वास:**=यह महान् धनुर्धर देव **एनम्**=इस व्रात्य को **ऊर्ध्वाया: दिश: अन्तर्देशात्**=ऊर्ध्वादिक् के अन्तर्देश से **अनुष्ठाता अनुतिष्ठति**=सब कार्यों को करने का सामर्थ्य देता हुआ अनुकूलता से स्थित होता है। ६. **तस्मै**=उस व्रात्य के लिए **सर्वेभ्य: अन्तर्देशेभ्य:**=सब मध्य देशों से सब देवों ने **ईशानम्**=सबके शासक प्रभु **इष्वासम्**=धनुर्धर को **अनुष्ठातारं अकुर्वन्**=कार्यों को करने का सामर्थ्य देनेवाला किया। यह **ईशान: इष्वास:**=सबका ईशान प्रभु धनुर्धर होकर **एनम्**=इस व्रात्य को **सर्वेभ्य: अन्तर्देशेभ्य:**=सब अन्तर्देशों से **अनुष्ठाता अनुतिष्ठति**=सब कार्यों को करने का सामर्थ्य देता हुआ अनुकूलता से स्थित होता है।

भावार्थ—एक व्रात्य विद्वान् दक्षिण दिशा के अन्तर्देश में सर्वसंहारक प्रभु को अपने रक्षक व सामर्थ्यदाता के रूप में देखता है। पश्चिम दिशा के अन्तर्देश से सब प्राणियों का रक्षक प्रभु इसे अपने रक्षक के रूप में दिखता है। उत्तर दिशा के अन्तर्देश से प्रचण्ड सामर्थ्यवाले प्रभु उसका रक्षण कर रहे हैं तो ध्रुवा दिशा के अन्तर्देश से रुद्र प्रभु उसके शत्रुओं को रुला रहे हैं। ऊर्ध्वा दिशा के अन्तर्देश से महादेव उसका रक्षण कर रहे हैं तो सब अन्तर्देशों से ईशान उसके रक्षक बने हैं। इन्हें ही वह अपने लिए सब कार्यों को करने का सामर्थ्य देनेवाला जानता है।

६. [षष्ठं सूक्तम्]

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्य:**॥ छन्द:—**१ आसुरीपङ्क्ति:, २ आर्चीपङ्क्ति:, ३ आर्षीपङ्क्ति:**॥

ध्रुवा दिशा से 'भूमि, अग्नि, ओषधी, वनस्पति, वानस्पत्य व वीरुध'

स ध्रुवां दिशमनु व्य चलत्॥ १॥
तं भूमिश्चाग्निश्चौषधयश्च वनस्पतयश्च वानस्पत्याश्च वीरुधश्चानुव्य चलन्॥ २॥
भूमेश्च वै सो ३ ग्नेश्चौषधीनां च वनस्पतीनां च वानस्पत्यानां च वीरुधां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद॥ ३॥

१. **स:**=वह व्रात्य **ध्रुवां दिशं अनुव्यचलत्**=ध्रुवादिक् को लक्ष्य करके गतिवाला हुआ। उसने ध्रुवादिक् के अनुकूल गति की और परिणामत: **तम्**=उस व्रात्य को **भूमि: च अग्नि: च**=पृथिवी का मुख्य देव अग्नि, **ओषधय: च वनस्पतय: च**=पृथिवी पर उत्पन्न होनेवाली ओषधी-वनस्पतियाँ तथा **वानस्पत्या: च वीरुध: च**=विविध प्रकार के फल, अन्न व लताएँ **अनुव्यचलन्**=अनुकूल गतिवाली हुईं। २. **य:**=जो **एवं वेद**=इसप्रकार इस ध्रुवादिशा को समझने का प्रयत्न करता है, **स:**=वह व्रात्य **वै**=निश्चय से **भूमे: च अग्ने: च**=भूमि और अग्नि का **ओषधीनां च वनस्पतिनां च**=ओषधियों व वनस्पतियों का **वानस्पत्यनां च वीरुधां च**=फलों, अन्नों व बेलों का **प्रियं धाम भवति**=प्रिय अवस्थान बनता है।

भावार्थ—व्रात्य विद्वान् ध्रुवादिशा के अनुकूल गतिवाला होकर 'भूमि, अग्नि, ओषधी, वनस्पति तथा वानस्पत्य व वीरुधों' का प्रिय पात्र बनता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः** ॥ छन्दः—४ **आसुरीपङ्क्तिः,**
५ **साम्नीत्रिष्टुप्,** ६ **निचृद्बृहती** ॥

ऊर्ध्वा दिक् में 'ऋत, सत्य, सूर्य-चन्द्र व नक्षत्र'

स ऊर्ध्वां दिशमनु व्य चलत्॥ ४॥
तमृतं च सत्यं च सूर्यश्च चन्द्रश्च नक्षत्राणि चानुव्य चलन्॥ ५॥
ऋतस्य च वै स सत्यस्य च सूर्यस्य च चन्द्रस्य च
नक्षत्राणां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद॥ ६॥

१. **सः**=वह व्रात्य **ऊर्ध्वां दिशं अनुव्यचलत्**=ऊर्ध्वादिक् का लक्ष्य करके गतिवाला हुआ। उस समय **तम्**=उस व्रात्य को **ऋतं च सत्यं च**=भौतिक जगत् के नियम (सब भौतिक क्रियाओं की नियमितता) तथा अध्यात्म जगत्-नियम (शुद्ध, नैतिक आचरण), **सूर्यः च चन्द्रः नक्षत्राणि च**=सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र ये सब **अनुव्यचलन्**=अनुकूलता से प्राप्त हुए। २. **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार ऊर्ध्वादिक् को समझता है, **सः**=वह व्रात्य **वै**=निश्चय से **ऋतस्य च सत्यस्य च**=ऋत और सत्य का तथा **सूर्यस्य च चन्द्रस्य च नक्षत्राणां च**=सूर्य, चन्द्र, नक्षत्रों का **प्रियं धाम भवति**=प्रियस्थान बनता है।

भावार्थ—एक व्रात्य विद्वान् ऊर्ध्वादिक् की ओर ध्यान करता है तो उसे सृष्टि में ऋत और सत्य कार्य करते हुए दिखते हैं तथा सूर्य, चन्द्र व नक्षत्रों में प्रभु की महिमा दिखती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः** ॥ छन्दः—७ **आसुरीबृहती,** ८ **साम्नीपङ्क्तिः,**
९ **प्राजापत्यात्रिष्टुप्** ॥

ऊर्ध्वा दिक् में 'ऋक्, यजुः, सत्य व ब्रह्म (अथर्व)'

स उत्तमां दिशमनु व्य चलत्॥ ७॥
तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्य चलन्॥ ८॥
ऋचां च वै स साम्नां च यजुषां च ब्रह्मणश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद॥ ९॥

१. **सः**=वह व्रात्य **उत्तमां दिशं अनुव्यचलत्**=उत्तमादिक् का लक्ष्य करके गतिवाला हुआ। उसने जीवन को उत्तम बनाने का दृढ़ संकल्प किया **तम्**=उस उत्तमादिक् की ओर गतिवाले व्रात्य को **ऋचः च सामानि च**=ऋचाएँ व साम—विज्ञानमन्त्र व उपासनामन्त्र **च**=तथा **यजूंषि च ब्रह्म च**=यज्ञ-प्रतिपादक मन्त्र तथा ब्रह्मज्ञान देनेवाले अथर्वमन्त्र **अनुव्यचलन्**=अनुकूलता से प्राप्त हुए। २. **सः**=वह व्रात्य **वै**=निश्चय से **ऋचां च साम्नां च**=ऋचाओं और साममन्त्रों का **च**=और **यजुषां ब्रह्मणश्च**=यज्ञ प्रतिपादक मन्त्रों व ब्रह्मज्ञानप्रद मन्त्रों का **प्रियं धाम भवति**=प्रिय स्थान बनता है, **यः**=जो व्रात्य **एवं वेद**=इसप्रकार उत्तमा दिक् में अनुकूलता से गति का विचार करता है।

भावार्थ—उत्तमादिक् में गति का संकल्प करनेवाला व्रात्य 'ऋक्, यजुः, साम व अथर्व (ब्रह्म)' मन्त्रों का प्रिय स्थान बनता है। इनके द्वारा ही तो उसने जीवन को उत्तम बनाना है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः** ॥ छन्दः—१० **आसुरीबृहती,**
११ **साम्नीत्रिष्टुप्,** १२ **निचृद्बृहती** ॥

बृहती दिशा में 'इतिहास, पुराण, गाथा और नाराशंसी'

स बृहतीं दिशमनु व्य चलत्॥ १०॥

तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्य ᳚चलन्॥ ११॥
इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च
नाराशंसीनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद॥ १२॥

१. **सः**=वह व्रात्य **बृहतीं दिशं अनुव्यचलत्**=बृहती दिशा—वृद्धि की दिशा का लक्ष्य करके चला। **तम्**=उस बृहती दिशा में चलनेवाले व्रात्य को **इतिहासः पुराणं च**=सृष्टि-उत्पत्ति आदि का नित्य इतिहास और जगदुत्पत्ति आदि का वर्णनरूप पुराण **च**=तथा **गाथाः नाराशंसीः च**=किसी का दृष्टान्त-दार्ष्टान्तरूप कथा-प्रसंग कहनारूप गाथाएँ तथा मनुष्यों के प्रशंसनीय कर्मों का कहनारूप नाराशंसी **अनुव्यचलन्**=अनुकूलता से प्राप्त हुई। इनके द्वारा ही वस्तुतः वह वेद व्याख्यान को सुन्दरता से कर पाया। २. **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार इतिहास आदि के महत्त्व को समझता है, **सः**=वह व्रात्य **वै**=निश्चय से **इतिहासस्य पुराणस्य च**=इतिहास व पुराण का **च**=तथा **गाथानां नाराशंसीनां च**=गाथाओं व नाराशंसियों का **प्रियं धाम भवति**=प्रिय धाम होता है। इनके द्वारा वह वेद को खूब व्याख्यात कर पाता है।

भावार्थ—एक व्रात्य विद्वान् 'इतिहास, पुराण, गाथा व नाराशंसी' द्वारा वेद का वर्धन—व्याख्यान करता हुआ 'बृहती दिक्' की ओर चलता है—वृद्धि की दिशा में आगे बढ़ता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**१३ आसुरीबृहती, १४ आर्चीत्रिष्टुप्, १५ विराड्जगती**॥

परमा दिशा में 'यज्ञाग्नियां, यजमान व पशु'

स परमां दिशमनु व्य᳚चलत्॥ १३॥
तमाहवनीयश्च गार्हपत्यश्च दक्षिणाग्निश्च
यज्ञश्च यजमानश्च पशवश्चानुव्य᳚चलन्॥ १४॥
आहवनीयस्य च वै स गार्हपत्यस्य च दक्षिणाग्नेश्च यज्ञस्य
च यजमानस्य च पशूनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद॥ १५॥

१. **सः**=वह व्रात्य **परमां दिशं अनुव्यचलत्**=परमा दिशा की ओर गतिवाला हुआ—सर्वोत्कृष्ट यज्ञीय मार्ग की ओर गतिवाला हुआ। **तम्**=उस व्रात्य को **आहवनीयः च गार्हपत्यः च दक्षिणा अग्निः च**=आहवनीय, गार्हपत्य व दक्षिणा अग्नि नामक तीनों अग्नियाँ **च**=और **यज्ञः यजमानः च पशवः च**=यज्ञ, यजमान और यज्ञसाधक गवादि पशु **अनुव्यचलन्**=अनुकूलता से प्राप्त हुए। २. **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार इस यज्ञिय परमा दिशा को समझ लेता है, **सः**=वह व्रात्य **वै**=निश्चय से **आहवनीयस्य च गार्हपत्यस्य च दक्षिणाग्नेः च**=आहवनीय, गार्हपत्य तथा दक्षिणाग्नि नामक तीनों अग्नियों का **च**=और **यज्ञस्य यज्ञमानस्य च पशुनां च**=यज्ञ, यजमान व यज्ञ के लिए घृतादि पदार्थों को प्राप्त करानेवाले गवादि पशुओं का **प्रियं धाम भवति**=प्रिय आश्रय-स्थान बनता है।

भावार्थ—एक व्रात्य विद्वान् यज्ञों द्वारा परमा दिशा में आगे बढ़ने का संकल्प करता है। इसे 'यज्ञाग्नियां व यज्ञ, यजमान व यज्ञसाधक पशु' सब अनुकूलता से प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**१६ आसुरीबृहती, १७ आर्चीपङ्क्तिः, १८ विराड्जगती**॥

अनादिष्टा दिक् में 'ऋतुएँ, आर्तव, लोक, लौक्य मास, अर्धमास व अहोरात्र'

सोऽनादिष्टां दिशमनु व्य चलत्॥ १६॥
तमृतवश्चार्तवाश्च लोकाश्च लौक्याश्च
मासाश्चार्धमासाश्चाहोरात्रे चानुव्य चलन्॥ १७॥
ऋतूनां च वै आर्तवानां च लोकानां च लौक्यानां च मासानां
चार्धमासानां चाहोरात्रयोश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद॥ १८॥

१. **सः**=वह व्रात्य **अनादिष्टां दिशाम्**=जिसमें किसी प्रकार का प्रयोजन (aim, intention) नहीं है, ऐसी एकदम निष्कामता की दिशा में **अनुव्यचलत्**=चला। **तम्**=उस व्रात्य को **ऋतवः च आर्तवाः च**=सब ऋतुएँ व ऋतुजनित सब पदार्थ **च**=और **लोकः लौक्याः च**=सब लोक और लोकों में होनेवाले पदार्थ **च**=तथा **मासाः अर्धमासाः च अहोरात्रे च**=महीने, पक्ष व दिन-रात **अनुव्यचलन्**=अनुकूलता से प्राप्त हुए। २. **यः एवं वेद**=इसप्रकार जो अनादिष्टा निष्कामता की दिशा के महत्त्व को समझ लेता है, **सः**=वह व्रात्य **वै**=निश्चय से **ऋतुनां च आर्तवानां च**=ऋतुओं का और ऋतुजनित पत्र-पुष्प-फलों का **च**=और **लोकानां लौक्यनां च**=लोकों का और लोकों में होनेवालों का **च**=तथा **मासानां अर्धमासां च अहोरात्रयोः च**=महीनों, पक्षों व दिन-रात का **प्रियं धाम भवति**=प्रिय धाम बनता है।

भावार्थ—निष्काम होकर अनादिष्टा दिक् में आगे और आगे बढ़ने पर इस व्रात्य को सब ऋतुएँ, लोक व काल अनुकूलता से प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**१९ आर्च्युष्णिक्, २० साम्न्यनुष्टुप्, २१ आर्षीबृहती**॥

अनावृत्ता दिशा में 'दिति, अदिति, इडा, इन्द्राणी'

सोऽनावृत्तां दिशमनु व्य चलत्ततो नावर्त्स्यन्नमन्यत॥ १९॥
तं दितिश्चादितिश्चेडा चेन्द्राणी चानुव्य चलन्॥ २०॥
दितेश्च वै सोऽदितेश्चेडायाश्चेन्द्राण्याश्च प्रियं धाम
भवति य एवं वेद॥ २१॥

१. **सः**=वह व्रात्य **अनावृत्तां दिशं अनुव्यचलत्**=अनावृत्ता दिशा में अनुकूलता से गतिवाला हुआ **ततः**=तब **न आवर्त्स्यन् अमन्यत**='लौटूँगा नहीं', ऐसा उसने विचार किया। 'आगे और आगे चलते चलना, लौटना नहीं', वही वस्तुतः एक संन्यस्त का आदर्श है। **तम्**=उस व्रात्य को इस अनावृत्ता दिशा में चलने पर **दितिः च अदितिः च**=वासनाओं का खण्डन और स्वास्थ्य का अखण्डन (पवित्रता व स्वास्थ्य) **च**=तथा **इडा इन्द्राणी च**=वेदवाणी और इन्द्रशक्ति **अनुव्यचलन्**=अनुकूलता से प्राप्त हुई। २. **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार न लौटने की दिशा के महत्त्व को समझ लेता है **सः**=वह व्रात्य **वै**=निश्चय से **दितेः च अदितेः च**=वासना-विनाश और स्वास्थ्य के अविनाश का **च**=तथा **इडायाः इन्द्राण्याः च**=वेदवाणी व इन्द्रशक्ति का **प्रियं धाम भवति**=प्रिय आधार बनता है।

भावार्थ—हम आगे बढ़ना और न लौटना का' व्रत लेकर पवित्र, स्वस्थ, ज्ञानी व

आत्मशक्ति-सम्पन्न' बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**२२ परोष्णिक्, २३ आर्चीत्रिष्टुप्**॥

विराट्, देव, देवता

स दिशोऽनु व्य चलत्तं विराडनु व्य चलत्सर्वे च देवाः सर्वाश्च देवताः॥ २२॥
विराजश्च वै स सर्वेषां च देवानां सर्वासां च
देवतानां प्रियं धाम भवति य एवं वेद॥ २३॥

१. **सः**=वह व्रात्य **दिशः**=वेद के निर्देशों के अनुसार **अनुव्यचलत्**=गतिवाला हुआ, परिणामतः **तम्**=उस व्रात्य को **विराट्**=विशिष्ट दीप्ति **च**=और **सर्वेदेवाः**=सब दिव्यभाव, **च**=और **सर्वाः देवताः**=सब दिव्यशक्तियाँ **अनुव्यचलन्**=अनुकूलता से प्राप्त हुईं। २. **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार प्रभु-निर्देशों के पालन के महत्त्व को समझ लेता है **सः**=वह व्रात्य **वै**=निश्चय से **विराजः च**=विशिष्ट ज्ञानदीप्ति का **च**=और **सर्वेषां देवानाम्**=सब दिव्यभावों का **च**=तथा **सर्वासां देवतानाम्**=सब दिव्यशक्तियों का **प्रियं धाम भवति**=प्रिय निवासस्थान बनता है।

भावार्थ—एक व्रात्य विद्वान् वेद-निर्देशों के अनुसार चलता हुआ 'विशिष्ट ज्ञानदीप्ति को, सब दिव्यभावों को तथा सब दिव्यशक्तियों' को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**२४ आसुरीबृहती, २५ आर्च्यनुष्टुप्, २६ विराड्बृहती**॥

प्रजापति परमेष्ठी तथा पिता, पितामह

स सर्वानन्तर्देशाननु व्य चलत्॥ २४॥
तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चानुव्य चलन्॥ २५॥
प्रजापतेश्च वै स परमेष्ठिनश्च पितुश्च पितामहस्य
च प्रियं धाम भवति य एवं वेद॥ २६॥

१. **सः**=वह व्रात्य **सर्वान् अन्तर्देशान् अनुव्यचलत्**=सब अन्तर्देशों में—दिशाओं के मध्यमार्गों में अनुकूलता से गतिवाला हुआ। अविरोध से यह अपने मार्ग पर बढ़नेवाला बना **च**=और **तम्**=उस व्रात्य को **प्रजापतिः च**=प्रजारक्षक प्रभु **परमेष्ठी च**=सर्वोपरि स्थान में स्थित प्रभु **पिता च पितामहः च**=पिता और पितामह **अनुव्यचलन्**=अनुकूलता से प्राप्त हुए, अर्थात् इस व्रात्य को प्रभु व पिता उत्तम प्रेरणा देनेवाले बने। २. **यः**=जो **एवं वेद**=इसप्रकार अविरोध से सब अन्तर्देशों में चलने के महत्त्व को समझ लेता है, **सः**=वह व्रात्य **वै**=निश्चय से **प्रजापतेः**=प्रजारक्षक प्रभु का **परमेष्ठिनः च**=और परम स्थान में स्थित प्रभु का **च**=और **पितुः पितामहस्य च**=पिता व पितामह का **प्रियं धाम भवति**=प्रिय धाम बनता है।

भावार्थ—एक व्रात्य विद्वान् सब अन्तर्देशों में (दिङ्मध्यों में) अविरोध से चलता हुआ सर्वरक्षक व सर्वश्रेष्ठ प्रभु का तथा पिता व पितामह का प्रिय बनता है।

७. [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**१ त्रिपदानिचृद्गायत्री, २ एकपदाविराड्बृहती, ३ विराडुष्णिक्**॥

महिमा-सद्रुः, समुद्रः

स महिमा सद्रुर्भूत्वान्तं पृथिव्या अगच्छत्स समुद्रो ऽभवत्॥ १॥

तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चापश्च श्रद्धा च वर्षं भूत्वानुव्य ∫ वर्तयन्त॥ २॥
ऐनमापो गच्छत्यैनं श्रद्धा गच्छत्यैनं वर्षं गच्छति य एवं वेद॥ ३॥

१. **सः**=वह व्रात्य **महिमा**=(मह पूजायाम्) पूजा की वृत्तिवाला—प्रभुपूजनपरायण तथा **सद्रुः**=द्रुतगति से युक्त—अतिकर्मनिष्ठ **भूत्वा**=होकर **पृथिव्याः अन्तम्**=पृथिवी के अन्त को—पार्थिव भागों की समाप्ति को **आगच्छत्**=प्राप्त हुआ और परिणामतः **सः**=वह व्रात्य **समुद्रः**=अत्यन्त आनन्द-(मोद)-मय जीवनवाला हुआ। पार्थिव भागों से ऊपर उठकर प्रभुस्मरणपूर्वक कर्त्तव्यकर्मों में प्रवृत्त होना ही आनन्द का मार्ग है। २. **तम्**=उस व्रात्य को **प्रजापतिः च परमेष्ठी च**=प्रजारक्षक, परम स्थान में स्थित प्रभु, **पिता च पितामहः च**=पिता और पितामह, **आपः च श्रद्धा च**=(आपः रेतो भूत्वा) शरीरस्थ रेतःकण और श्रद्धा की भावना **वर्षं भूत्वा**=आनन्द की वृष्टि का रूप धारण करके **अनुवर्तयन्त**=अनुकूलता से कर्मों में प्रवृत्त करते हैं। 'प्रभु प्रेरणा, बड़ों की प्रेरणा तथा शक्ति और श्रद्धा' इसे कर्त्तव्य-कर्मों में प्रेरित करते हैं। यह उन्हीं में आनन्द का अनुभव करता है। ३. **एनम्**=इस व्रात्य को **आपः**= शरीरस्थ रेतःकण **आगच्छन्ति**=समन्तात् प्राप्त होते है। **एनम्**=इसे **श्रद्धा**=श्रद्धा **आगच्छति**=प्राप्त होती है। **एनम्**=इसे **वर्षम्**=आनन्द की वृष्टि **आगच्छति**=प्राप्त होती है। ये उस व्रात्य को प्राप्त होती हैं जो **एवं वेद**=इस प्रकार कर्त्तव्यकर्मों में प्रवृत्त होने के महत्त्व को समझ लेता है। वह यह समझ लेता है कि परमेष्ठी बनने का उपाय प्रजापति बनना ही है, अर्थात् सर्वोच्च स्थिति तभी प्राप्त होती है जब हम प्रजारक्षणात्मक कर्मों में प्रवृत्त हों।

भावार्थ—व्रात्य प्रभुपूजन-परायण होकर कर्त्तव्यकर्मों में लगा रहता है, पार्थिव भोगों से ऊपर उठकर आनन्दमय जीवनवाला होता है। इसे प्रभु-प्रेरणा, बड़ों की प्रेरणा तथा शक्ति और श्रद्धा सदा कर्मों में प्रेरित करती हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—४ **एकपदागायत्री**, ५ **पङ्क्तिः**॥

श्रद्धा, यज्ञ, प्रकाश तथा अन्न और अन्नाद्य

तं श्रद्धा च यज्ञश्च लोकश्चान्नं चान्नाद्यं च भूत्वाभिपर्यावर्तन्त॥ ४॥
ऐनं श्रद्धा गच्छत्यैनं यज्ञो गच्छत्यैनं लोको गच्छत्यैनमन्नं गच्छत्यैनमन्नाद्यं गच्छति य एवं वेद॥ ५॥

१. **तम्**=उस व्रात्य को **श्रद्धा च यज्ञः च**=श्रद्धा और यज्ञ **लोकः च**=प्रकाश, **अन्नं च अन्नाद्यं च**=जौ, चावलादि अन्न तथा भात आदि खाने योग्य पदार्थ **भूत्वा**=(भू गतौ) प्राप्त होकर **अभिपर्यावर्तन्त**=अभ्युदय व निःश्रेयस (अभि) के साधक कर्मों में प्रवृत्त करते हैं। २. **यः**=जो **एवं वेद**=इसप्रकार 'श्रद्धा, यज्ञ व प्रकाश के तथा अन्न और अन्नाद्य' के महत्त्व को समझ लेता है, **एनम्**=इस व्रात्य को **श्रद्धा आगच्छति**=श्रद्धा प्राप्त होती है, **एनम्**=इसे **यज्ञः आगच्छति**=यज्ञ प्राप्त होता है, **एनम्**=इसको **लोकः**=प्रकाश **आगच्छति**=प्राप्त होता है, **एनम्**=इसे **अन्नम्**=अन्न **आगच्छति**=प्राप्त होता है। **एनम्**=इसे **अन्नाद्यं आगच्छति**=खानेयोग्य भातादि पदार्थ प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—यह व्रात्य 'श्रद्धा, यज्ञ, प्रकाश, अन्न व अन्नाद्य' से युक्त होकर अभ्युदय व निःश्रेयस-साधक कर्मों में प्रवृत्त होता है।

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**१ साम्न्युष्णिक्, २ प्राजापत्याऽनुष्टुप्, ३ आर्चीपङ्क्तिः**॥

राजन्य

सो ऽरज्यत ततो राजन्यो ऽजायत॥ १॥
स विशः सबन्धूनन्नमन्नाद्यमभ्युदतिष्ठत्॥ २॥
विशां च वै स सबन्धूनां चान्नस्य चान्नाद्यस्य च प्रियं धाम भवति य एवं वेद॥ ३॥

१. **सः अरज्यत**=इस व्रात्य ने प्रजाओं का रञ्जन किया। **ततः**=उस रञ्जन के कारण **राजन्यः**=राजन्य **अजायत**=हो गया। 'राजति' दीप्त जीवनवाला बना। **सः**=वह प्रजा का रञ्जन करनेवाला व्रात्य **सबन्धून् विशः**=बन्धुओंसहित प्रजाओं का तथा **अन्नं अन्नाद्यं अभि**=अन्न और अन्नाद्य का लक्ष्य करके **उदतिष्ठत्**=उत्थानवाला हुआ। उसने बन्धुओं व प्रजाओं की स्थिति को उन्नत करने का प्रयत्न किया कि अन्न व अन्नाद्य की कमी न हो। कोई भी भूखा न मरे। २. **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार समझ लेता है कि उसने बन्धुओं व प्रजाओं को उन्नत करना है और अन्न व अन्नाद्य की कमी नहीं होने देनी, **सः**=वह व्रात्य **वै**=निश्चय से **सबन्धूनां च**=अपने समान बन्धुओं का **विशाम् च**=प्रजाओं का तथा **अन्नस्य अन्नाद्यस्य च**=अन्न और अन्नाद्य का **प्रियं धाम भवति**=प्रिय स्थान बनता है।

भावार्थ—एक व्रात्य लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त हुआ-हुआ बन्धुओं व प्रजाओं को उन्नत करने का प्रयत्न करता है, अन्न व अन्नाद्य की कमी न होने देने के लिए यत्नशील होता है। इसप्रकार प्रजाओं का रञ्जन करता हुआ यह राजन्य होता है।

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**१ आसुरीजगती, २ आर्चीगायत्री, ३ आर्चीपङ्क्तिः**॥

'सभा, समिति, सेना, सुरा' का अनुचलन

स विशोऽनु व्य ऽचलत्॥ १॥
तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानुव्य ऽचलन्॥ २॥
सभायाश्च वै स समितेश्च सेनायाश्च सुरायाश्च
प्रियं धाम भवति य एवं वेद॥ ३॥

१. **सः**=वह गत सूक्त का राजन्य व्रात्य **विशः अनुव्यचलत्**=प्रजाओं की उन्नति का लक्ष्य करके गतिवाला हुआ। 'प्रजा-समृद्धि' ही उसके शासन का धेय बना। ऐसा होने पर **तम्**=उस राजन्य व्रात्य को **सभा च समितिः च**=व्यवस्थापिका सभा व कार्यकारिणी समिति **च**=तथा **सेना सुरा च**=(सुर ऐश्वर्य) राष्ट्ररक्षक सेना व राज्यकोष (राज्यलक्ष्मी) **अनुव्यचलन्**=अनुकूलता से प्राप्त हुए। २. **यः एवं वेद**=जो राजन्य व्रात्य 'प्रजा-समृद्धि' को ही शासन का लक्ष्य समझ लेता है **सः**=वह व्रात्य **वै**=निश्चय से **सभायाः च समितेः च**=सभा व समिति का **च**=तथा **सेनायाः सुरायाः च**=सेना व राज्यलक्ष्मी का **प्रियं धाम भवति**=प्रिय स्थान बनता है।

भावार्थ—प्रजा की उन्नति को ही शासन का लक्ष्य समझनेवाला राजन्य व्रात्य—व्रती राजा—सभा-समिति, सेना व सुर (लक्ष्मी) का प्रिय बनता है।

१०. [दशमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—१ **द्विपदासाम्नीबृहती**, २ **त्रिपदाऽऽर्चीपङ्क्तिः**॥

राजा द्वारा विद्वान् व्रात्य का सत्कार

तद्यस्यैवं विद्वान्व्रात्यो राज्ञोऽतिथिर्गृहानागच्छेत्॥ १॥
श्रेयांसमेनमात्मनो मानयेत्तथा क्षत्राय ना वृश्चते तथा राष्ट्राय ना वृश्चते॥ २॥

१. **तत्**=इसलिए **यस्य राज्ञः गृहान्**=जिस राजा के घर को **एवं विद्वान् व्रात्यः**=इसप्रकार ज्ञानी व्रती **अतिथिः आगच्छेत्**=अतिथिरूपेण प्राप्त हो, राजा को चाहिए कि **एनम्**=इसको **आत्मनः श्रेयांसम्**=अपने से अधिक श्रेष्ठ को **मानयेत्**=मान दे **तथा** वैसा करने पर यह राजा **क्षत्राय**=क्षतों से त्राण करनेवाले बल के लिए **न आवृश्चते**=अपने को छिन्न करनेवाला नहीं होता तथा वैसा करने पर **राष्ट्राय**=राष्ट्र के लिए **न आवृश्चते**=अपने को छिन्न करनेवाला नहीं होता, अर्थात् यह विद्वान् व्रात्य अतिथि का सत्कार करनेवाला राजा उससे उत्तम प्रेरणाएँ प्राप्त करके बल व राष्ट्र का वर्धन करनेवाला होता है।

भावार्थ—राजा राष्ट्र में आये विद्वान् व्रात्य का उचित सत्कार करे। उससे उत्तम प्रेरणाएँ प्राप्त करता हुआ राष्ट्र के बल व ऐश्वर्य का वर्धन करनेवाला हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—३ **द्विपदाप्राजापत्यापङ्क्तिः**, ४ **त्रिपदावर्धमानागायत्री**, ५ **त्रिपदासाम्नीबृहती**॥

'ब्रह्म+क्षत्र' का उत्थान

अतो वै ब्रह्म च क्षत्रं चोदतिष्ठतां ते अब्रूतां कं प्र विशावेति॥ ३॥
अतो वै बृहस्पतिमेव ब्रह्म प्र विशत्विन्द्रं क्षत्रं तथा वा इति॥ ४॥
अतो वै बृहस्पतिमेव ब्रह्म प्राविशदिन्द्रं क्षत्रम्॥ ५॥

१. **अतः**=इसप्रकार राजा के द्वारा विद्वान् व्रात्य का मान करने से **वै**=निश्चयपूर्वक **ब्रह्म च क्षत्रं च**=ब्रह्म और क्षत्र—ज्ञान और बल—दोनों **उदतिष्ठताम्**=उन्नत होते हैं—उथित होते हैं। **ते**=वे ब्रह्म और **क्षत्र अब्रूताम्**=कहते हैं **इति**=कि **कं प्रविशाव**=हम किसमें प्रवेश करें। २. **अतः**=इस राजा द्वारा व्रात्य के सत्कार से उत्पन्न हुआ-हुआ **ब्रह्म**=ज्ञान **वै**=निश्चय से **बृहस्पतिं एव**=ब्रह्मणस्पति—वेदज्ञ विद्वान् पुरोहित में ही **प्रविशतु**=प्रवेश करे तथा **वा**=उसीप्रकार निश्चय से **क्षत्रम्**=बल **इन्द्रम्**=राष्ट्रशत्रुओं के विदारक राजा में प्रवेश करे, **इति**=यह निर्णय ठीक है। ३. **अतः**=इस निर्णय के होने पर **वै**=निश्चय से **ब्रह्म**=ज्ञान **बृहस्पतिं एव प्राविशत्**=बृहस्पति में ही प्रविष्ट हुआ और **क्षत्रं इन्द्रम्**=बल ने शत्रुविदारक राजा में आश्रय किया।

भावार्थ—राजा द्वारा विद्वान् व्रात्यों का आदर करने पर राष्ट्र पुरोहित बृहस्पति ब्रह्मसम्पन्न होता है, शत्रुविदारक राजा बल-सम्पन्न होता है। ब्रह्म व क्षत्र मिलकर राष्ट्र के उत्थान का कारण बनते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—६, ८, १० **द्विपदाऽऽसुरीगायत्री**, ७, ९ **साम्न्युष्णिक्**, ११ **आसुरीबृहती**॥

पृथिवी+द्यौ (ज्ञान व बल)

इयं वा उ पृथिवी बृहस्पतिर्द्यौरेवेन्द्रः॥ ६॥

अयं वा उ अग्निर्ब्रह्मासावादित्यः क्षत्रम्॥ ७॥
ऐनं ब्रह्म गच्छति ब्रह्मवर्चसी भवति॥ ८॥
यः पृथिवीं बृहस्पतिमग्निं ब्रह्म वेद॥ ९॥
ऐनमिन्द्रियं गच्छतीन्द्रियवान्भवति॥ १०॥
य आदित्यं क्षत्रं दिवमिन्द्रं वेद॥ ११॥

१. **इयं वा उ पृथिवी**=यह पृथिवी ही निश्चय से **बृहस्पतिः**=बृहस्पति है, **द्यौः एव इन्द्रः**=द्युलोक ही इन्द्र है। जैसे पृथिवी व द्युलोक माता व पिता के रूप में होते हुए सब प्राणियों का धारण करते हैं (द्यौष्पिता, पृथिवीमाता), इसीप्रकार बृहस्पति व इन्द्र—ज्ञानी पुरोहित व राजा मिलकर राष्ट्र का धारण करते हैं। २. **अयं वा उ अग्निः**=निश्चय से यह अग्नि ही **ब्रह्म**=ज्ञान है और **असौ आदित्यः क्षत्रम्**=वह आदित्य क्षत्र=बल है। ज्ञान ही राष्ट्र को ले-चलनेवाला 'अग्रणी' है। जैसे उदय होता हुआ सूर्य कृमियों का संहार करता है, उसीप्रकार क्षत्र व बल राष्ट्रशत्रुओं का उपमर्दन करनेवाला आदित्य है। ३. **एनम्**=इस व्यक्ति को **ब्रह्म आगच्छति**=ज्ञान समन्तात् प्राप्त होता है। यह **ब्रह्मवर्चसी भवति**=ब्रह्मवर्चसवाला होता है, **यः**=जो **पृथिवीं बृहस्पतिम्**=पृथिवी को बृहस्पति के रूप में तथा **अग्निं ब्रह्म**=पृथिवी के मुख्य देव अग्नि को बृहस्पति के मुख्य गुण 'ब्रह्म' (ज्ञान) के रूप में **वेद**=जानता है, ४. **एनम्**=इस व्यक्ति को **इन्द्रियम् आगच्छति**=समन्तात् वीर्य (बल) प्राप्त होता है, तथा यह **इन्द्रवान् भवति**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाला होता है जो **आदित्यं क्षत्रम्**=सूर्य को बल के रूप में तथा **दिव्यम्**=सूर्याधिष्ठान द्युलोक को **इन्द्रम्**=बल के अधिष्ठानभूत राजा के रूप में देखता है।

भावार्थ—हम ज्ञान को ही माता के रूप में जानें 'ज्ञानाधिपति, बृहस्पति' पृथिवी के रूप में है। इसका गुण 'ज्ञान' अग्नि है। इसे प्राप्त करके हम ब्रह्मवर्चस्वी हों। बल को हम रक्षक पिता द्युलोक के रूप में देखें। द्युलोक इन्द्र है तो उसका मुख्य देव आदित्य बल है। इस तत्त्व को समझकर हम प्रशस्त, सबल इन्द्रियोंवाले बनें।

११. [एकादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—१ **दैवीपङ्क्तिः**, २ **द्विपदापूर्वात्रिष्टुबतिशक्वरी**॥

आतिथ्य

तद्यस्यैवं विद्वान्व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत्॥ १॥
स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वाऽवात्सीर्व्रात्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति॥ २॥

१. **तत्**=इसलिए **यस्य गृहान्**=जिसके घरों को **एवम्**=(इण् गतौ)=गति के स्रोत अथवा सर्वगत=(सर्वव्यापक) परमात्मा को **विद्वान्**=जानता हुआ **व्रात्यः**=व्रतमय जीवनवाला **अतिथिः**=अतिथि **आगच्छेत्**=आये—प्राप्त हो तो **स्वयम्**=अपने-आप **एनम्=अभि उदेत्य**=इसकी ओर जाकर **ब्रूयात्**=कहे कि **व्रात्य**=हे व्रतिन्! **क्व अवात्सीः**=आप कहाँ रहे, **व्रात्य**=हे व्रतिन्! **उदकम्**=आपके लिए यह जल है। **व्रात्य**=हे व्रतिन्! मेरे गृह के ये भोजन **तर्पयन्तु**=आपको तृप्त व प्रीणित करनेवाले हों। हे **व्रात्य**=व्रतमय जीवनवाले विद्वन्! **यथा ते प्रियम्**=जैसे आपको

प्रिय हो **तथास्तु**=उसीप्रकार से व्यवस्था की जाए। **यथा ते वशः**=जैसे आपकी इच्छा (wish) हो, **तथास्तु**=वैसा ही हो। यथा **ते निकामः**=जैसे आपकी अभिलाषा हो, **तथास्तु इति**=वैसा ही किया जाए।

भावार्थ—घर पर आये हुए विद्वान् व्रात्य का सत्कारपूर्वक आतिथ्य करना आवश्यक है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—३-६ **निचृदार्चीबृहती, ७ द्विपदाप्राजापत्याबृहती**॥

आतिथ्य से दीर्घजीवन

यदेनमाह व्रात्य क्वाऽवात्सीरिति पथ एव तेन देवयानानव रुन्द्धे॥ ३॥
यदेनमाह व्रात्योदकमित्यप एव तेनाव रुन्द्धे॥ ४॥
यदेनमाह व्रात्य तर्पयन्त्विति प्राणमेव तेन वर्षीयांसं कुरुते॥ ५॥
यदेनमाह व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्त्विति प्रियमेव तेनाव रुन्द्धे॥ ६॥
ऐनं प्रियं गच्छति प्रियः प्रियस्य भवति य एवं वेद॥ ७॥

१. **यत्**=जो **एनम्**=इस विद्वान् व्रात्य को **आह**=यह कहता है कि **व्रात्य**=हे व्रतिन्! **क्व अवात्सीः इति**=आप कहाँ रहे? **तेन एव**=उस निवास के विषय में सत्कारपूर्वक किये गये प्रश्न के द्वारा ही **देवयानान् पथः अवरुन्द्धे**=देवयानमार्गों को अपने लिए सुरक्षित करता है, अर्थात् इस प्रकार आतिथ्य से उसकी प्रवृत्ति उत्तम होती है और वह देवयानमार्गों से चलनेवाला बनता है। २. **यत् एनम् आहः**=जो इसको कहता है कि **व्रात्य उदकम् इति**=हे व्रतिन्! आपके लिए यह जल है। **तेन एव**=इस जल के अर्पण से ही यह **आपः अवरुन्द्धे**=उत्तम कर्मों को अपने लिए सुरक्षित करता है, अर्थात् उस अतिथि की प्रेरणाओं से प्रेरित होकर उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होनेवाला होता है। **यत् एनम् आह**=जो इस विद्वान् व्रात्य से कहता है कि **व्रात्य तर्पयन्तु इति**=हे व्रतिन्! ये भोजन आपको तृप्त करनेवाले हों। **तेन एव**=इस सत्करण से ही **प्राणं वर्षीयांसं कुरुते**=जीवन को दीर्घ करता है। स्वयं आतिथ्यावशिष्ट भोजन करता हुआ दीर्घजीवनवाला बनता है। ३. **यत् एनम् आह**=जो इस व्रात्य से कहता है कि **व्रात्य**=हे व्रतिन्! **यथा ते प्रियम्**=जैसा आपको प्रिय लगे **तथा अस्तु इति**=वैसा ही हो। **तेन एव**=उस प्रिय प्रश्न से ही **प्रियं अवरुन्द्धे**=अपने लिए प्रिय को सुरक्षित करता है। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार व्रात्य से प्रिय-विषयक प्रश्न करना जानता है, **एनम्**=इस प्रश्नकर्त्ता को **प्रियं आगच्छति**=प्रिय प्राप्त होता है और वह **प्रियः प्रियस्य भवति**=प्रियों का प्रिय बनता है।

भावार्थ—विद्वान् व्रात्यों के आतिथ्य से हम देवयानमार्ग पर चलनेवाले, उत्तम कर्मों में प्रवृत्त, दीर्घजीवनवाले व सर्वप्रिय बनते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—८ **निचृदार्चीबृहती, ९ द्विपदाप्राजापत्याबृहती, १० भुरिगार्चीबृहती, ११ द्विपदाऽऽर्च्यनुष्टुप्**॥

वशः-निकामः

यदेनमाह व्रात्य यथा ते वशस्तथास्त्विति वशमेव तेनाव रुन्द्धे॥ ८॥
ऐनं वशो गच्छति वशी वशिनां भवति य एवं वेद॥ ९॥
यदेनमाह व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति निकाममेव तेनाव रुन्द्धे॥ १०॥
ऐनं निकामो गच्छति निकामे निकामस्य भवति य एवं वेद॥ ११॥

१. **यत्**=जो **एनम्**=इसको **आह**=कहता है कि हे **व्रात्य**=व्रतिन्! **यथा ते वशः**=जैसी आपकी इच्छा हो, **तथा अस्तु इति**=वैसा ही हो। **तेन**=उस कथन से वह **वशमेव अवरुन्द्धे**=चाहने योग्य पदार्थों को अपने लिए सुरक्षित करता है। **यः एवं वेद**=जिस प्रकार व्रात्य का आतिथ्य करता हुआ 'यथा ते वशः तथा अस्तु' यह कहना जानता है, **एवम्**=इस आतिथ्यकर्त्ता को **वशः आगच्छति**=सब इष्ट-पदार्थ प्राप्त होते हैं और यह **वशिनां वशी भवति**=सर्वश्रेष्ठ वशी बनता है। २. **यत्**=जो **एनम् आह**=इसको कहता है कि हे **व्रात्य**=व्रतिन्! **यथा ते निकामः**=जैसी आपकी अभिलाषा हो **तथा अस्तु इति**=वैसा ही हो **तेन**=उस कथन से **निकामं एव अवरुन्द्धे**=सब अभिलषित पदार्थों को अपने लिए सुरक्षित करता है। **यः एवं वेद**=जो अतिथि के लिए ऐसा करना जानता है **एनं निकामः आगच्छति**=इसे अभिलषित पदार्थ सर्वतः प्राप्त होते हैं। **निकामस्य निकामे भवति**=अभिलषित पदार्थों की प्राप्ति (पूर्ति) में यह स्थित होता है, अभिलषित पदार्थों को प्राप्त करता है।

भावार्थ—आतिथ्य हमारे सब मनोरथों को पूर्ण करता है और हमें सब अभिलषित पदार्थ प्राप्त होते हैं।

१२. [द्वादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**१ त्रिपदागायत्री, २ प्राजापत्याबृहती, ३ भुरिक्प्राजापत्याऽनुष्टुप्**॥

देवयज्ञ, अतिथियज्ञ

तद्यस्यैवं विद्वान्व्रात्य उद्धृतेष्वग्निष्वधिश्रितेऽग्निहोत्रे ऽतिथिर्गृहानागच्छेत्॥ १॥
स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्याति सृज होष्यामीति॥ २॥
स चातिसृजेज्जुहुयान्न चातिसृजेन्न जुहुयात्॥ ३॥

१. **तत्**=इसलिए **यस्य गृहान्**=जिसके घर पर **एवं विद्वान् व्रात्यः**=(इण् गतौ) सर्वत्र गतिवाले प्रभु को जाननेवाला **व्रती उद्धृतेषु अग्निषु**=अग्नियों के गार्हपत्य से उठाकर आहवनी में आधान किये जाने पर **अग्निहोत्रे अधिश्रिते**=अग्निहोत्र के प्रारम्भ होने की तैयारी हो जाने पर **अतिथिः आगच्छेत्**=अतिथि के रूप में प्राप्त हो तो **स्वयम्**=अपने-आप **एनं अभि उदेत्य**=इसके प्रति प्राप्त होकर कहे कि हे **व्रात्य**=व्रतिन्! **अतिसृज**=आप मुझे अनुज्ञा दीजिए जिससे **होष्यामि इति**=मैं यज्ञ करूँ। २. इसप्रकार अनुज्ञा माँगने पर **सः च अतिसृजेत्**=यदि वह अनुज्ञया दे दे तो **जुहुयात्**=अग्निहोत्र करे, परन्तु यदि **न च अतिसृजेत्**=यदि वह अनुज्ञा न दे तो **न जुहुयात्**=अग्निहोत्र न करे।

भावार्थ—अग्निहोत्र प्रारम्भ होने के अवसर पर अकस्मात् अतिथि आ जाए तो गृहस्थ व्रात्य का आदरपूर्वक स्वागत करे। उससे अनुज्ञया लेकर ही अग्निहोत्र करे। जबतक अतिथि अनुज्ञया न दे तब अग्निहोत्र स्थगित रक्खे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**४ भुरिक्प्राजापत्याऽनुष्टुप्, ५-६ आसुरीगायत्री, ७ त्रिपदा प्राजापत्यात्रिष्टुप्**॥

अतिथि सत्कार व गृहरक्षण

स य एवं विदुषा व्रात्येनातिसृष्टो जुहोति॥ ४॥
प्र पितृयाणं पन्थां जानाति प्र देवयानम्॥ ५॥

न देवेष्वा वृश्चते हुतमस्य भवति॥ ६॥
पर्यस्यास्मिँल्लोक आयतनं शिष्यते य एवं विदुषा व्रात्येनातिसृष्टो जुहोति॥ ७॥

१. **सः**=वह गृहस्थ **यः**=जो **एवम्**=इस गति के स्रोत प्रभु को **विदुषा**=जाननेवाले **व्रात्येन**=व्रतीपुरुष से **अतिसृष्टः**=अनुज्ञा दिया हुआ **जुहोति**=अग्निहोत्र करता है, **प्र पितृयाणं पन्थां जानाति**=पितृयाण मार्ग को जानता है और **देवयानं प्र (जानाति)**=देवयानमार्ग को भी जानता है। बड़ों के आदेश में चलना ही पितृयाणमार्ग है और दिव्यगुणों को प्राप्त करानेवाला मार्ग ही देवयान है। घर पर आये हुए मान्य अतिथि से अनुज्ञा लेकर अग्निहोत्र आदि में प्रवृत्त होने से घर में पितृयाण व देवयान मार्गों की नींव पड़ती है। २. **यः**=जो **एवं विदुषा**=गति के स्रोत प्रभु के ज्ञाता व्रात्य से **अतिसृष्टः जुहोति**=अनुज्ञा दिया हुआ अग्निहोत्र करता है, वह **देवेषु**=देवों के विषय में **न आवृश्चते**=अपने कर्त्तव्य को क्षीण नहीं करता, अर्थात् उनके विषय में अपने कर्त्तव्य का पालन करता है **अस्य हुतं भवति**=इसका अग्निहोत्र ठीक सम्पन्न होता है तथा **अस्मिन् लोके**=इस जगत् में **अस्य आयतनम्**=इसका घर **परिशिष्यते**=विनाश से बचा रहता है, अर्थात् इस घर में विलास आदि की वृत्तियाँ उत्पन्न होकर इसके विनाश का कारण नहीं बनतीं।

भावार्थ—विद्वान् व्रती अतिथि से अनुज्ञा लेकर ही अग्निहोत्र आदि में प्रवृत्त होने से उस अतिथि का मान बना रहता है और गृहस्थ के घर में उत्तम प्रथाएँ बनी रहती हैं जो घर को विनष्ट नहीं होने देतीं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**८ विराड्गायत्री, ९-१० आसुरीगायत्री, ११ त्रिपदाप्राजापत्यात्रिष्टुप्**॥

बड़ों का निरादर व गृहविनाश

अथ य एवं विदुषा व्रात्येनानतिसृष्टो जुहोति॥ ८॥
न पितृयाणं पन्थां जानाति न देवयानम्॥ ९॥
आ देवेषु वृश्चते अहुतमस्य भवति॥ १०॥
नास्यास्मिँल्लोक आयतनं शिष्यते य एवं विदुषा व्रात्येनानतिसृष्टो जुहोति॥ ११॥

१. **अथ**=अब **यः**=जो **एवं विदुषा**=इसप्रकार ज्ञानी **व्रात्येन**=व्रती से **अनतिसृष्टः**=बिना अनुज्ञा पाये ही, उसके आतिथ्य को उपेक्षित करके **जुहोति**=यज्ञ में प्रवृत्त होता है, वह **पितृयाणं पन्थां न प्रजानाति**=पितृयाणमार्ग के तत्त्व को नहीं जानता **न देवयानं प्र (जानाति)**=न ही देवयानमार्ग के रहस्य को जानता है। २. **यः**=जो **एवं विदुषा व्रात्येन**=इसप्रकार ज्ञानीव्रती से **अनतिसृष्टः**=बिना अनुज्ञा प्राप्त किये हुए ही **जुहोति**=अग्निहोत्र में प्रवृत्त हो जाता है, वह **देवेषु**=देवों के विषय में **आवृश्चते**=अपने कर्त्तव्य को छिन्न करता है। **अहुतम् अस्य भवति**=इसका अग्निहोत्र किया न किया बराबर हो जाता है और **अस्मिन् लोके**=इस संसार में **अस्य आयतनम्**=इसका घर उत्तम परिपाटियों के न रहने से **नशिष्यते**=विनष्ट हो जाता है।

भावार्थ—अतिथि की उपेक्षा करके यज्ञ में लगे रहना भी उचित नहीं, इससे घर में बड़ों के आदर की भावना का विलोप होकर घर विनाश की ओर चला जाता है।

१३. [त्रयोदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**१ साम्न्युष्णिक्, २, ६ प्राजापत्याऽनुष्टुप्, ३, ५, ७ आसुरीगायत्री, ४, ८ साम्नीबृहती, ९ द्विपदानिचृद्गायत्री, १० द्विपदाविराड्गायत्री**॥

आतिथ्य से पुण्यलोकों की प्राप्ति

तद्यस्यैवं विद्वान्व्रात्य एकां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति॥ १॥
ये पृथिव्यां पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे॥ २॥
तद्यस्यैवं विद्वान्व्रात्यो द्वितीयां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति॥ ३॥
ये३ न्तरिक्षे पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे॥ ४॥
तद्यस्यैवं विद्वान्व्रात्यस्तृतीयां रात्रिमतिथिर्गृहे वसति॥ ५॥
ये दिवि पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे॥ ६॥
तद्यस्यैवं विद्वान्व्रात्यश्चतुर्थीं रात्रिमतिथिर्गृहे वसति॥ ७॥
ये पुण्यानां पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे॥ ८॥
तद्यस्यैवं विद्वान्व्रात्योऽपरिमिता रात्रीरतिथिर्गृहे वसति॥ ९॥
य एवापरिमिताः पुण्या लोकास्तानेव तेनाव रुन्द्धे॥ १०॥

१. **तत्**=इसलिए **यस्य गृहे**=जिसके घर में **एवं विद्वान्**=सर्वत्र गतिवाले प्रभु को जानता हुआ **व्रात्यः**=व्रतीपुरुष **एकाम् रात्रिम्**=एक रात **अतिथिः वसति**=अतिथि बनकर रहता है तो **तेन**=उस अतिथि से वह **गृहस्थ यः**=जो **पृथिव्याम्**=पृथिवी में **पुण्याः लोकाः**=पुण्यलोक हैं **तान् एव**=उनको ही **अवरुन्द्धे**=अपने लिए सुरक्षित करता है। २. **तत्**=इसलिए **यस्य गृहे**=जिसके घर में **एवं विद्वान् व्रात्यः**=सर्वत्र गतिवाले प्रभु को जाननेवाला व्रतीपुरुष **द्वितीयां रात्रिं अतिथिः वसति**=दूसरे रात भी अतिथिरूपेण रहता है तो **तेन**=उस आतिथ्य कर्म से ये **अन्तरिक्षे पुण्याः लोकाः**=जो अन्तरिक्ष में पुण्यलोक हैं **तान् एव**=उनको निश्चय ही **अवरुन्द्धे**=अपने लिए सुरक्षित करता है। ३. **तत्**=इसलिए **यस्य गृहे**=जिसके घर में **एवं विद्वान् व्रात्यः**=उस गति के स्रोत (इ गतौ) प्रभु को जाननेवाला व्रतीपुरुष **तृतीयां रात्रिम्**=तीसरी रात भी **अतिथिः वसति**=अतिथिरूप में रहता है तो **तेन**=उस आतिथ्य कर्म से **ये दिवि पुण्याः लोकाः**=जो द्युलोक में पुण्यलोक हैं **तान् एव अवरुन्द्धे**=उनको अपने लिए निश्चय से सुरक्षित कर पाता है। ४. **तत्**=इसलिए **यस्य गृहे**=जिसके घर में **एवं विद्वान् व्रात्यः**=गति के स्रोत प्रभु को जाननेवाला व्रतीपुरुष **चतुर्थीं रात्रिं अतिथिः वसति**=चौथी रात भी अतिथिरूपेण रहता है तो **तेन**=उस आतिथ्य कर्म से **ये पुण्यानां पुण्याः लोकाः**=जो पुण्यों के भी पुण्यलोक हैं—अतिशयेन पुण्यलोक हैं, **तान् एव अवरुन्द्धे**=उन्हें अपने लिए सुरक्षित कर लेता है। ५. **तत्**=इसलिए **यस्य गृहे**=जिसके घर में **एवं विद्वान् व्रात्यः**=गति के स्रोत प्रभु को जाननेवाला व्रती विद्वान् **अपरमिताः रात्रीः अतिथिः वसति**=न सीमित—बहुत रात्रियों तक अतिथिरूपेण रहता है तो **तेन**=उस आतिथ्य कर्म से यह गृहस्थ **ये एव अपरिमिताः पुण्याः लोकाः**=जो भी अपरिमित पुण्यलोक हैं **तान् अवरुन्द्धे**=उन सबको अपने लिए सुरक्षित कर लेता है।

भावार्थ—विद्वान् व्रात्य के आतिथ्य से गृहस्थ पुण्यलोकों को प्राप्त करता है। उन विद्वान् व्रात्यों की प्रेरणाएँ इन्हें पुण्य मार्ग पर ले चलती हुई पुण्यलोकों को प्राप्त कराती हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः** ॥ छन्दः—**११ प्राजापत्यापङ्क्तिः, १२ आसुरीजगती, १३ सतःपङ्क्तिः, १४ अक्षरपङ्क्तिः** ॥

अव्रात्य अतिथि का भी अनिरादर

अथ यस्याव्रात्यो व्रात्यब्रुवो नामबिभ्रत्यतिथिर्गृहानागच्छेत्॥ ११ ॥
कर्षेदेनं न चैनं कर्षेत्॥ १२ ॥
अस्यै देवताया उदकं याचामीमां देवतां वासय इमामिमां देवतां परि वेवेष्मीत्येनं परि वेविष्यात्॥ १३ ॥
तस्यामेवास्य तद्देवतायां हुतं भवति य एवं वेद॥ १४ ॥

१. **अथ**=अब **यस्य गृहान्**=जिसके घर को **अव्रात्यः**=एक अव्रती **व्रात्यब्रुवः**=अपने को व्रती कहनेवाला, **नाम बिभ्रती**=केवल अतिथि के नाम को धारण करनेवाला **अतिथिः आगच्छेत्**=अतिथि आ जाए तो क्या **एनं कर्षेत्**=इसे खदेड़ दें—क्या इसका निरादर करके भगा दें? **न च एनं कर्षेत्**=नहीं, निश्चय से उसे निरादरित न करें, २. अपितु अतिथि की भावना से ही इसप्रकार अपनी पत्नी से कहे कि **अस्यै देवतायै उदकं याचामि**=इस देवता के लिए उदक (पानी) माँगता हूँ। **इमां देवतां वासये**=इस देवता को निवास के लिए स्थान देता हूँ। **इमाम्**=इस और **इमां देवताम्**=इस देवता को ही **परिवेवेष्यात्**=भोजन परोसे। ऐसा करने पर **अस्यै**=इस गृहस्थ का **तत्**=वह भोजन परिवेषणादि कर्म **तस्यां एव देवतायाम्**=उस अतिथिदेव में ही **हुतं भवति**=दिया हुआ होता है। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार अतिथि के महत्त्व को समझता है, वह इस व्रात्यब्रुव को भी भोजन परोस ही देता है और अतिथियज्ञ को विच्छिन्न नहीं होने देता।

भावार्थ—अव्रती भी अतिथिरूपेण उपस्थित हो जाए तो उसका निरादर न करके उसे भी खानपान से तृप्त ही करें। अतिथियज्ञ को विच्छिन्न न होने दे।

१४. [चतुर्दशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः** ॥ छन्दः—**१ त्रिपदाऽनुष्टुप्, २ आसुरीगायत्री** ॥

मारुतं शर्धः+अन्नादं मनः

स यत्प्राचीं दिशमनु व्यचलन्मारुतं शर्धो भूत्वानुव्य[चलन्मनो ऽन्नादं कृत्वा॥ १ ॥
मनसान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद॥ २ ॥

१. **सः**=वह व्रात्य **यत्**=जब **प्राचीं दिशं अनुव्यचलत्**=प्रगति (प्र अञ्च) की दिशा में क्रमशः आगे बढ़ा तो **मारुतं शर्धः**=प्राण-सम्बन्धी बल का पुञ्ज **भूत्वा**=होकर, अर्थात् प्राणसाधना द्वारा सबल बनकर **अनुव्यचलत्**=क्रमशः आगे बढ़ा। २. इसके साथ यह **मनः अन्नादं कृत्वा**=मन को अन्नाद बनाकर आगे बढ़ा। मन के दृष्टिकोण से यह भोजन खानेवाला हुआ। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार समझ लेता है कि मन की पवित्रता का निर्भर अन्न पर ही है, (जैसा अन्न वैसा मन, you are what you eat, आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः) वह **अन्नादेन**=अन्न का ग्रहण करनेवाले **मनसा अन्नं अत्ति**=मन से अन्न खाता है। मन की अपवित्रता के कारणभूत अन्न को नहीं खाता।

भावार्थ—हम प्राणसाधना द्वारा प्राणशक्ति का वर्धन करें और मन की पवित्रता के दृष्टिकोण से सात्त्विक भोजन ही खाएँ, यही प्रगति की दिशा में आगे बढ़ने का उपाय है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—३ **परउष्णिक्**, ४ **आसुरीगायत्री**॥

इन्द्र+अन्नादं बलं

स यद्दक्षिणां दिशमनु व्यचलदिन्द्रो भूत्वानुव्य ᳚चलद् बलमन्नादं कृत्वा॥ ३॥
बलेनान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद॥ ४॥

१. **सः**=वह **यत्**=जब **दक्षिणां दिशं अनुव्यचलत्**=दक्षिणा (नैपुण्य) की दिशा की ओर चला तो **इन्द्रः भूत्वा अनुव्यचलत्**=जितेन्द्रिय बनकर चला। जितेन्द्रिय बनकर ही हम दाक्षिण्य प्राप्त कर सकते हैं। २. दाक्षिण्य प्राप्त करनेवाला **यः**=जो भी व्यक्ति **एवं वेद**=इस तत्त्व को समझ लेता है कि जितेन्द्रियता से दाक्षिण्य प्राप्त किया जा सकता है, वह जितेन्द्रिय बनकर **बलं आन्नदं कृत्वा**=बल को अन्न खानेवाला करके आगे बढ़ता है। **अन्नादेन बलेन अन्नं अत्ति**=अन्न को खानेवाले बल से अन्न को खाता है। उसी अन्न को खाता है जो बल को बढ़ानेवाला है। ये किसी भी स्वाद को भोजन का मापक नहीं बनाता।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनकर दाक्षिण्य प्राप्त करें। बल के वर्धन के दृष्टिकोण से ही भोजन करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**, ६ **आसुरीगायत्री**॥

वरुण राजा+अन्नादीः अपाः

स यत्प्रतीचीं दिशमनु व्यचलद्वरुणो राजा भूत्वानुव्य ᳚चलदपो ऽन्नादीः कृत्वा॥ ५॥
अद्भिरन्नादीभिरन्नमत्ति य एवं वेद॥ ६॥

१. **सः**=वह व्रात्य **यत्**=जब **प्रतीचीं दिशं अनुव्यचलत्**=प्रत्याहार—इन्द्रियों को विषयों से व्यावृत्त करने की दिशा की ओर चला तो **वरुणः**=सब व्यसनों का निराकरण करनेवाला वह **राजा**=दीप्तजीवनवाला **भूत्वा**=होकर **अनुव्यचलत्**=अनुक्रमेण गतिवाला हुआ। २. **यः**=जो **एवं वेद**=इस तत्त्व को समझ लेता है कि निर्व्यसन व दीप्तजीवनवाला बनने के लिए 'प्रत्याहार' आवश्यक है, वह **आपः**=रेतःकणों को **अन्नादीः कृत्वा**=अन्न खानेवाला बनाकर प्रत्याहार को सिद्ध करता है। यह **अन्नादीभिः अद्भिः अत्ति**=अन्न को खानेवाले रेतःकणों से ही अन्न को खाता है। उन्हीं सौम्य अन्नों का सेवन करता है जो रेतःकणों के रक्षण के लिए अनुकूलतावाले हों, अर्थात् यह उत्तेजक, राजस् भोजन से बचता है, राजस् भोजनों का सेवन नहीं करता।

भावार्थ—हम निर्व्यसन व दीप्तजीवनवाले बनकर इन्द्रियों को विषयों से व्यावृत्त करें। उन्हीं सात्त्विक भोजनों का सेवण करें जो रेतःकणों के रक्षण के लिए हितकर हों, न राजसों, न तामसों का।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—७ **प्रस्तारपङ्क्तिः**, ८ **आसुरीगायत्री**॥

सोमराजा+अन्नादी ज्ञानयज्ञाहुति

स यदुदीचीं दिशमनु व्यचलत्सोमो राजा
भूत्वानुव्य ᳚चलत्सप्तर्षिभिर्हुत आहुतिमन्नादीं कृत्वा॥ ७॥
आहुत्यान्नाद्यान्नमत्ति य एवं वेद॥ ८॥

१. **सः**=वह व्रात्य **यत्**=जब **उदीचीम्**=(उद् अञ्च) उन्नति की दिशा की ओर **अनुव्यचलत्**=चला तो **सोमः**=सौम्य, शान्त व **राजा**=दीप्तजीवनवाला **भूत्वा**=बनकर **अनुव्यचलत्**=क्रमशः आगे बढ़ा। सौम्यता व ज्ञानदीप्त जीवन में ही उन्नति सम्भव है। २. **यः एवं वेद**=जो

इस तत्त्व को समझ लेता है कि उन्नति के लिए सौम्य, दीप्त जीवन की आवश्यकता है वह **सप्तर्षिभिः**='दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुख' रूप सप्तर्षियों से **हुते**=किये जानेवाले ज्ञानयज्ञ में **आहुतिम्**=ज्ञेय विषयों की आहुति को **अन्नादीं कृत्वा**=अन्न खानेवाली बनाकर आगे बढ़ता है। इस **अन्नाद्या आहुत्या**=अन्न को खानेवाली, विषयों की ज्ञानयज्ञ में दी जानेवाली आहुति से ही यह **अन्नं अत्ति**=अन्न को खाता है। उसी अन्न को खाता है जो ज्ञानेन्द्रियों को अपने कार्य में सक्षम करे।

भावार्थ—हम सौम्य व ज्ञानदीप्त जीवनवाले बनते हुए जीवन में ऊर्ध्वगतिवाले हों। उन्हीं अन्नों का सेवन करें जो ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञानप्राप्ति के कार्य में सक्षम करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—९ **पुरउष्णिक्**, १० **आसुरीगायत्री**॥

विष्णु+अन्नादी विराट्

स यद् ध्रुवां दिश॒मनु॒ व्यच॑लद्विष्णु॒र्भूत्वानु॒व्य॑चलद् वि॒राज॑मन्ना॒दीं कृ॒त्वा॥ ९॥
वि॒राजा॑न्ना॒द्यान्न॒मत्ति॒ य ए॒वं वेद॑॥ १०॥

१. **सः**=वह व्रात्य **यत्**=जब **ध्रुवां दिशं अनुव्यचलत्**=ध्रुवता—स्थिरता की दिशा की ओर चला तो **विष्णुः**=व्यापक उन्नतिवाला—'शरीर, मन व मस्तिष्क' तीनों की उन्नतिवाला—'स्वस्थ शरीर, पवित्र मन व दीप्त मस्तिष्क' वाला **भूत्वा अनुव्यचलत्**=होकर अनुकूलता से गतिवाला हुआ। त्रिविध उन्नति में ही उन्नति की स्थिरता है। २. **यः एवं वेद**=जो त्रिविध उन्नति में ही उन्नति की स्थिरता के तत्त्व को समझ लेता है, वह **विराजम्**=इस विशिष्ट दीप्ति को ही **अन्नादीं कृत्वा**=अन्न खानेवाला बनकर चलता है। उसी अन्न को खाता है जो उसे विराट्—विशिष्ट दीप्तिवाला बनाए। **अन्नाद्या**=अन्न को खानेवाला **विराजा**=विशिष्ट दीप्ति से ही वह **अन्नं अत्ति**=अन्न खाता है—उसी अन्न को खाता है, जो उसे विशिष्ट दीप्तिवाला बनाता है।

भावार्थ—उन्नति की स्थिरता इसी में है कि हम शरीर, मन व मस्तिष्क तीनों को उन्नत करें, तभी हम 'विराट्' बनेंगे। विराट् बनने के दृष्टिकोण से ही अन्न खाना चाहिए—वह अन्न जो हमें 'शरीर में स्वस्थ, मन में पवित्र तथा मस्तिष्क में दीप्त' बनाये।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—११ **स्वराड्गायत्री**,
१२ **भुरिक्प्राजापत्याऽनुष्टुप्**॥

रुद्र+अन्नादी ओषधी

स यत्प॒शूननु॒ व्यच॑लद्रु॒द्रो भू॒त्वानु॒व्य॑चल॒दोष॑धीरन्ना॒दीः कृ॒त्वा॥ ११॥
ओष॑धीभिरन्ना॒दीभि॒रन्न॒मत्ति॒ य ए॒वं वेद॑॥ १२॥

१. **सः**=वह **यत्**=जब **पशुं अनुव्यचलत्**=पशुओं के अनुकूल गतिवाला हुआ—पशुओं को किसी प्रकार की हानि न पहुँचानेवाला बनकर चला तब **रुद्रः भूत्वा अनुव्यचलत्**=(रुत् द्र) रोगों को दूर भगानेवाला बनकर चला। किसी को हानि न पहुँचाना ही अपने को हानि से बचाने का उपाय है। **यः एवं वेद**=जो इस तत्त्व को समझ लेता है कि रोगों से बचने के लिए आवश्यक है कि हम किन्हीं भी पशुओं को हानि न पहुँचाएँ, वह **ओषधीः अन्नादीः कृत्वा**=ओषधियों को ही अन्नभक्षण करनेवाला बनाकर चलता है। दोष-दहन करनेवाले अन्नों का ही सेवन करता है (उष दाहे+धी) **अन्नादीभिः ओषधीभिः**=अन्नों को खानेवाली दोषदग्धकरी स्थिति से ही वह अन्न खाता है।

भावार्थ—हम नीरोग बनने के लिए किसी भी पशु के अहिंसन का व्रत लें। उन्हीं भोजनों

को खाएँ जो शरीर के दोषों का दहन करनेवाले हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**१३ आर्चीपङ्क्तिः, १४ भुरिक्प्राजापत्याऽनुष्टुप्**॥

यमः राजा+अन्नाद स्वधाकार

स यत्पितॄननु व्यचलद्यमो राजा भूत्वानुव्य᳡चलत्स्वधाकारमन्नादं कृत्वा॥ १३॥
स्वधाकारेणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद॥ १४॥

१. **सः**=वह **यत्**=जब **पितॄन् अनुव्यचलत्**=पितरों को लक्ष्य करके गतिवाला हुआ तो **यमः राजा भूत्वा अनुव्यचलत्**=संयत व दीप्तजीवनवाला होकर चला। संयत व दीप्ति जीवनवाला बनकर ही तो वह पितरों के समान बन सकेगा। २. **यः एवं वेद**=जो पितरकोटि में प्रवेश के लिए संयम व ज्ञानदीप्ति के महत्त्व को समझता है, वह **स्वधाकारं अन्नादं कृत्वा**=स्वधाकार को अन्नाद बनाकर चलता है, अर्थात् पहले पितरों (बड़ों) को खिलाकर पीछे स्वयं खाता है (पितृभ्यः स्वधा)। यह **अन्नादेन स्वधाकारेण अन्नं अत्ति**=अन्न खानेवाले स्वधाकार से ही अन्न को खाता है, अर्थात् सदा पितृयज्ञ करके अवशिष्ट को ही खानेवाला बनता है।

भावार्थ—पितृयाणमार्ग का सफलता से आक्रमण करने के लिए आवश्यक है कि हम संयत व ज्ञानदीप्तजीवनवाले बनें और पितरों को खिलाकर पितृयज्ञावशिष्ट को ही खाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**१५ आर्चीपङ्क्तिः, १६ भुरिक्प्राजापत्याऽनुष्टुप्**॥

अग्निः+स्वाहाकार अन्नाद

स यन्मनुष्या३ँननु व्यचलदग्निर्भूत्वानुव्य᳡चलत्स्वाहाकारमन्नादं कृत्वा॥ १५॥
स्वाहाकारेणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद॥ १६॥

१. **सः**=वह **यत्**=जब **मनुष्यान् अनुव्यचलत्**=मनुष्यों के अनुकूल गतिवाला हुआ, अर्थात् जब उसने एक उत्तम मानव बनने का निश्चय किया तब **अग्निः भूत्वा अनुव्यचलत्**=अग्नि बनकर चला—निरन्तर आगे बढ़नेवाला प्रकाशमय उत्साहवाला (अग्नि=उत्साह)। २. **यः एवं वेद**=जिसने यह समझ लिया कि उत्तम सन्तान वही है जो 'आगे बढ़नेवाला, प्रकाशमय व उत्साहवाला' है, तो वह **स्वाहाकारम् अन्नादं कृत्वा**=स्वाहाकार को अन्नाद बनाकर चला। यज्ञ करके यज्ञशेष को खाने की वृत्तिवाला बना। यह व्यक्ति **अन्नादेन स्वाहाकारेण अन्नं अत्ति**=अन्न को खानेवाले स्वाहाकार से ही अन्न को खाता है। पहले 'अग्नये स्वाहा' और पीछे 'उदराय'। यह उसका जीवन-सूत्र बनता है।

भावार्थ—उत्तम मानव वही है जो 'अग्रगतिवाला, प्रकाश व उत्साहवाला है'। यह सदा यज्ञशेष अमृत का सेवन करता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**१७ आर्चीत्रिष्टुप्, १८ भुरिक्प्राजापत्याऽनुष्टुप्**॥

बृहस्पति+वषट्कार अन्नाद

स यदूर्ध्वां दिशमनु व्यचलद् बृहस्पतिर्भूत्वानुव्य᳡चलद्वषट्कारमन्नादं कृत्वा॥ १७॥
वषट्कारेणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद॥ १८॥

१. **सः**=वह **यत्**=जब **ऊर्ध्वाम्**=उन्नति की सर्वोपरि **दिशं अनुव्यचलत्**=दिशा की ओर चला, तब **बृहस्पतिः भूत्वा अनुव्यचलत्**=ब्रह्मणस्पति—ज्ञान का स्वामी बनकर चला। २. **यः**

एवं वेद=जो इस बात को समझ लेता है कि उन्नति के शिखर पर पहुँचने के लिए बृहस्पति बनना आवश्यक है, वह **वषट्कारम्**=(वश् to kill) वासना-विनाश के कार्य को **अन्नादं कृत्वा**=अन्न का खानेवाला करके चलता है, अर्थात् उन्हीं भोजनों को करता है जो वासनाओं को उत्तेजित करनेवाले न हों। यह **वषट्कारेण**=वषट्काररूपी **अन्नादेन**=अन्न खानेवाले से **अन्नं अत्ति**=अन्न को खाता है, अर्थात् भोजन का उद्देश्य वासनाशून्य शक्ति को जन्म देना ही मानता है।

भावार्थ—उन्नति के शिखर पर ज्ञान के द्वारा ही पहुँचा जा सकता है। ज्ञान के मार्ग में वासनाएँ ही विघातक हैं, अतः भोजन वही ठीक है जो वासनाशून्य शक्ति को जन्म दे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**१९ भुरिङ्नाम्नीगायत्री, २० आसुरीगायत्री**॥

ईशान+अन्नादमन्यु

स यद्देवाननु व्यचलदीशानो भूत्वानुव्य चिलन्मन्युमन्नादं कृत्वा॥ १९॥
मन्युनान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद॥ २०॥

१. **सः**=वह व्रात्य **यत्**=जब **देवान् अनुव्यचलत्**=दिव्यगुणों की प्राप्ति को लक्ष्य करके चला तब **ईशानः भूत्वा अनुव्यचलत्**=ईशान—इन्द्रियों का स्वामी बनकर गतिवाला हुआ। बिना ईशान बने दिव्यगुणों का सम्भव कहाँ? जितेन्द्रियता ही उस वृत्त का केन्द्र है, जिसकी परिधि पर सब दिव्यगुणों की स्थिति है। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार जितेन्द्रियता व सद्गुणों के कारणकार्य-भाव को समझ लेता है, वह **मन्युम्**=(A sacrifice, spirit, couarge) त्याग व उत्साह को **आनन्दं कृत्वा**=आनन्द बनाकर चलता है। **मन्युना अन्नादेन अन्नं अत्ति**=त्याग व उत्साहरूप अन्नादि से ही अन्न को खाता है। उसी सात्त्विक भोजन का ग्रहण करता है जो उसके मन में त्यागवृत्ति व उत्साह को जन्म दे।

भावार्थ—जितेन्द्रियता ही सब दिव्यगुणों का मूल है। जितेन्द्रियता के लिए हम उन्हीं भोजनों को करें जो हमारे हृदयों में उत्साह व त्यागवृत्ति का संचार करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**२१ प्राजापत्यात्रिष्टुप्, २२ आसुरीगायत्री**॥

प्रजापति+अन्नाद प्राण

स यत्प्रजा अनु व्यचलत्प्रजापतिर्भूत्वानुव्य चलत्प्राणमन्नादं कृत्वा॥ २१॥
प्राणेनान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद॥ २२॥

१. **सः**=वह **यत्**=जब **प्रजाः अनुव्यचलत्**=प्रजाओं के हित का लक्ष्य करके गतिवाला हुआ तब **प्रजापतिः भूत्वा अनुव्यचलत्**=प्रजाओं का रक्षक बनकर अनुकूल गतिवाला हुआ। २. इस समय यह **प्राणम् अन्नादं कृत्वा**=प्राण को अन्न खानेवाला करके चला, अर्थात् केवल प्राण-धारण के उद्देश्य से ही उसका भोजन होता था। **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार समझ लेता है कि वह खाने के लिए नहीं आया, अपितु जीवन के लिए खाना है, वह **अन्नादेन प्राणेन अन्नम् अत्ति**=अन्न को खानेवाले प्राण से अन्न को खाता है—प्राणधारण के लिए ही उसका भोजन होता है।

भावार्थ—हम प्राणधारण के लिए—जीवन की रक्षा के लिए भोजन करें। जीवन को प्रजाहित में तत्पर करें—प्राजापत्ययज्ञ में जीवन की आहुति दें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**२३ आर्चीत्रिष्टुप्, २४ आसुरीगायत्री**॥

परमेष्ठी+अन्नाद ब्रह्म

स यत्सर्वानन्तर्देशाननु व्यचलत्परमेष्ठी भूत्वानुव्य ऽचलद् ब्रह्मान्नादं कृत्वा॥ २३॥
ब्रह्मणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद॥ २४॥

१. **सः**=वह **यत्**=जब **सर्वान् अन्तर्देशान्**=सब अन्तर्देशों में—प्रजाओं के निवासस्थानों में **अनुव्यचलत्**=अनुकूलता से गतिवाला हुआ तो **परमेष्ठी भूत्वा अनुव्यचलत्**=परम स्थान में स्थित होता हुआ गतिवाला हुआ। प्रजाहित के लिए सब अन्तर्देशों में भ्रमण ही मानवजीवन का चरमोत्कर्ष है। इस समय यह **ब्रह्म अन्नादं कृत्वा**=ब्रह्म को ही अन्नाद बनाकर चला। भोजन को केवल इसलिए खाने लगा कि स्वस्थ शरीर में मैं ब्रह्मदर्शन कर पाऊँगा। २. **यः एवं वेद**=जो इसप्रकार प्रजाहित के लिए सब अन्तर्देशों में विचरण को आवश्यक समझ लेता है, वह परमेष्ठी (व्रात्य) **ब्रह्मणा अन्नादेन अन्नम् अत्ति**=अन्न को खानेवाले ब्रह्म से ही अन्न को खाता है—भोजन का उद्देश्य ही ब्रह्म-प्राप्ति ही जानता है। जो भोजन ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग पर चलने में सहायक है, उन्हीं को करता है।

भावार्थ—प्रजाहित के लिए सब अन्तर्देशों में विचरते हुए हम 'परमेष्ठी' बनें। उन्हीं भोजनों को करें जो हमारी प्रवृत्तियों को ब्रह्मप्रवण करनेवाले हों।

१५. [पञ्चदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**१ दैवीपङ्क्तिः, २ आसुरीबृहती (१-२ तस्य व्रात्यस्येत्यस्योक्तम्)**॥

सात 'प्राण, अपान, व्यान'

तस्य व्रात्यस्य॥ १॥
सप्त प्राणाः सप्तापानाः सप्त व्यानाः॥ २॥

१. **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रतमय जीवनवाले विद्वान् के **सप्त प्राण**=सात प्राण हैं। **सप्त अपानाः**=सात अपान हैं और **सप्त व्यानाः**=सात व्यान हैं। २. शरीर में शक्ति का संचार करनेवाले तत्त्व प्राण हैं। शरीर में दोषों को दूर करनेवाले तत्त्व अपान हैं तथा शरीर की सब क्रियाओं को शासित करनेवाली शक्तियाँ व्यान हैं।

भावार्थ—व्रात्य 'सात प्राणों, सात अपानों तथा सात व्यानों' का स्वामी होता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**३ प्राजापत्याऽनुष्टुप्, ४ भुरिक्प्राजापत्याऽनुष्टुप्, ५ द्विपदासाम्नीबृहती (३-५ तस्य व्रात्यस्येत्यस्योक्तम्)**॥

अग्नि, आदित्य, चन्द्रमा

तस्य व्रात्यस्य। यो ऽस्य प्रथमः प्राण ऊर्ध्वो नामायं सो अग्निः॥ ३॥
तस्य व्रात्यस्य। यो ऽस्य द्वितीयः प्राणः प्रौढो नामासौ स आदित्यः॥ ४॥
तस्य व्रात्यस्य। यो ऽस्य तृतीयः प्राणो३भ्यू ऽढो नामासौ स चन्द्रमाः॥ ५॥

१. **तस्य व्रातस्य**=उस व्रात्य का, **यः अस्य**=जो इसका **प्रथमः प्राणः**=पहला प्राण है, **ऊर्ध्वः नाम**=वह ऊर्ध्व नामवाला है, **अयं सः अग्निः**=यह वह 'अग्नि' है। **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य का **यः अस्य**=जो इसका **द्वितीयः प्राणः**=द्वितीय प्राण है, वह **प्रौढः नाम**=प्रौढ नामवाला, **असौ सः आदित्यः**=वह वही आदित्य है। **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य का **यः अस्य तृतीयः**

प्राणः=जो इसका तीसरा प्राण है **अभ्यूढः नाम**=अभ्यूढ नामवाला है। **असौ सः चन्द्रमाः**=वह वही चन्द्रमा है। २. प्रथम प्राण 'ऊर्ध्व' व 'अग्नि' है। 'ऊर्ध्व' का अभिप्रायः है शरीर में रेत:कणों की ऊर्ध्वगति करनेवाला। प्राणसाधना के द्वारा शरीर के रेत:कण ऊर्ध्वगतिवाले होते ही हैं। यह 'अग्नि' है—शरीर में उचित शक्ति की अग्नि का पोषण करता है। दूसरा प्राण 'प्रौढ' (प्र+ऊढ)=प्रकृष्ट वहनवाला है। यह हमें उन्नति की दिशा में ले-चलता है। प्राणसाधना द्वारा बुद्धि का विकास होकर हमारा ज्ञान बढ़ता है। यह ज्ञान ही हमें उन्नत करनेवाला होता है, अतः इस प्राण को 'आदित्य' कहा गया है—सब ज्ञानों व गुणों का आदान करनेवाला। अब तृतीय प्राण 'अभि ऊढ' है। यह हमें प्रभु की ओर—आत्मतत्त्व की ओर ले-चलता है। प्राणायाम द्वारा ही विवेकख्याति होकर आत्मदर्शन होता है। यह प्राण 'चन्द्रमा' है—(चदि आह्लादे) अद्भुत आह्लाद का साधन बनता है। आत्मदर्शन का आनन्द वाग्विषय न होकर अन्त:करणग्राह्य ही है।

भावार्थ—व्रात्य प्राणसाधना करता हुआ अपने अन्दर शक्ति को 'अग्नि' को, ज्ञान व गुणों के आदानरूप 'आदित्य' को तथा आत्मदर्शन के आनन्द रूप 'चन्द्रमा' को धारण करता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**६ द्विपदासाम्नीबृहती, ७-८ भुरिक्प्राजापत्याऽनुष्टुप्, ९ विराड्गायत्री (६-९ तस्य व्रात्यस्येत्यस्योक्तम्)**

पवमानः, आपः, पशवः, प्रजाः

तस्य॒ व्रात्य॑स्य। यो ऽस्य चतुर्थः प्रा॒णो वि॒भूर्नामा॒यं स पव॑मानः॥ ६॥
तस्य॒ व्रात्य॑स्य। यो ऽस्य पञ्च॒मः प्रा॒णो योनि॒र्नाम॒ ता इ॒मा आप॑ः॥ ७॥
तस्य॒ व्रात्य॑स्य। यो ऽस्य ष॒ष्ठः प्रा॒णः प्रि॒यो नाम॒ त इ॒मे प॒शव॑ः॥ ८॥
तस्य॒ व्रात्य॑स्य। यो ऽस्य स॒प्तमः प्रा॒णोऽप॑रिमितो॒ नाम॒ ता इ॒माः प्र॒जाः॥ ९॥

१. **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य का, **यः**=जो **अस्य**=इसका **चतुर्थः प्राणः**=चतुर्थ प्राण है, वह **विभूः नाम**=विभू नामवाला है—वैभवसम्पन्न-शक्तिशाली। **अयं सः**=यह वह **पवमानः**=वायु है—जीवन को गति देने के द्वारा पवित्र रखनेवाला है। पवित्रता के साथ शक्ति भी देने के कारण यह 'विभू' है। २. **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य का **यः अस्य**=जो इसका **पञ्चमः प्राणः**=पाँचवा प्राण है, **योनिः नाम**=वह योनि नामवाला है—उत्तम सन्तति को जन्म देनेवाला—उत्पत्ति का कारण **ताः इमाः आपः**=वे ये रेत:कण ही हैं। प्राणायाम द्वारा सुरक्षित रेत:कण ही सन्तान को जन्म देने का साधन बनते हैं। ३. **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य का **यः अस्य**=जो इसका **षष्ठः प्राणः**=षष्ठ प्राण है, वह **प्रियः नाम**=प्रिय नामवाला है—प्रीति को उत्पन्न करनेवाला। **ते इमे पशवः**=वे ये पशु ही हैं। 'पश्यन्ति इति' जो ज्ञान-प्राप्ति का साधन बनती है, अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ ही यहाँ पशु कही गई हैं। प्राणशक्ति की वृद्धि में इनकी भी वृद्धि है। ये ज्ञान का वर्धन करती हुई प्रीति का कारण बनती हैं। ४. **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य का **यः**=जो इसका **सप्तमः प्राणः**=सातवाँ प्राण है, वह **अपरिमितः नाम**=अपरिमित नामवाला है। यह मनुष्य को बड़ी व्यापक वृत्तिवाला बनाता है। **ताः इमाः प्रजाः**=वे ही ये शक्तियों के प्रादुर्भाव हैं। प्राणायाम से अद्भुत शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है—इसी को यहाँ 'प्रजाः' (जनी प्रादुर्भावे) इस रूप में कहा गया है।

भावार्थ—प्राणसाधना से शक्तियों का जन्म होकर जीवन की पवित्रता उत्पन्न होती है। शरीर में सुरक्षित रेत:कण सन्तान को जन्म देने का साधन बनते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ सशक्त

होकर ज्ञानसम्पादन करती हुई प्रीति उत्पन्न करती हैं और सब शक्तियों का प्रादुर्भाव होकर हम अपरिमित लोकों (ब्रह्मलोक) को प्राप्त करनेवाले बनते हैं।

१६. [षोडशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**१, ३ साम्न्युष्णिक्; २,४,५ प्राजापत्योष्णिक्; ६ याजुषीत्रिष्टुप्; ७ आसुरीगायत्री; (१-७ तस्य व्रात्यस्येत्यस्योक्तम्)**॥

सात 'अपान' दोषापनयन साधन

तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य प्रथमोऽपानः सा पौर्णमासी॥ १॥
तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य द्वितीयोऽपानः साष्टका॥ २॥
तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य तृतीयोऽपानः सामावास्या॥ ३॥
तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य चतुर्थोऽपानः सा श्रद्धा॥ ४॥
तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य पञ्चमोऽपानः सा दीक्षा॥ ५॥
तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य षष्ठोऽपानः स यज्ञः॥ ६॥
तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य सप्तमोऽपानस्ता इमा दक्षिणाः॥ ७॥

१. **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य का **यः अस्य**=जो इसका **प्रथमः अपानः**=प्रथम अपान है **सा पौर्णमासी**=वह पौर्णमासी है **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य का **यः अस्य**=जो इसका **द्वितीयः अपानः**=द्वितीय अपान है **सा अष्टका**=वह अष्टका है। **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य का **यः अस्य**=जो इसका **तृतीयः अपानाः**=तीसरा अपान है **सा अमावास्या**=वह अमावास्या है **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य का **यः अस्य**=जो इसका **चतुर्थः अपानः**=चौथा अपान है **सा श्रद्धा**=वह श्रद्धा है **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य का **यः अस्य**=जो इसका **पञ्चमः अपानः**=पञ्चम अपान है **सा दीक्षा**=वह दीक्षा है **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य का **यः अस्य**=जो इसका **षष्ठः अपानः**=छठा अपान है, **सः यज्ञः**=वह यज्ञ है और **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य का **यः अस्य**=जो इसका **सप्तमः अपानः**=सातवाँ अपान है **ताः इमा दक्षिणाः**=वे ये दानवृत्तियाँ हैं। २. व्रात्य ने अपने दोषों को दूर करने के लिए जिन साधनों को अपनाया, वे ही अपान हैं। पहला अपान पौर्णमासी है, अर्थात् व्रात्य संकल्प करता है कि जैसे पूर्णिमा का चाँद सब कलाओं से पूरिपूर्ण है, इसी प्रकार मैं भी अपने जीवन को १६ कलाओं से (प्राण, श्रद्धा, पंचभूत, इन्द्रियाँ, मन, अन्न, वीर्य, मन्त्र, कर्म, लोक व नाम) परिपूर्ण बनाऊँगा। जीवन को ऐसा बनाने के लिए दूसरा 'अपान' अष्टक साधन बनता है। अष्टका से अष्टांगयोगमार्ग अभिप्रेत है। इस योगमार्ग को (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि) अपनाने से मानवजीवन पूर्णता की ओर अग्रसर होता है। इस जीवन का तीसरा अपान है 'अमावास्या'। इसका अभिप्राय है 'सूर्य व चन्द्र' का एक राशि में होना। इस व्रात्य के जीवन में मस्तिष्क गगन में ज्ञानसूर्य का उदय होता है तो हृदय में भक्तिरस के चन्द्र का। एवं इसका जीवन प्रकाश व आनन्द से परिपूर्ण होता है। ४. इस अनुभव से इसके जीवन में 'श्रद्धा' का प्रवेश होता है। यह श्रद्धा उसके जीवन को पवित्र करती हुई उसके लिए 'कामायनी' बनती है। इस श्रद्धा के कारण ही यह 'दीक्षा' में प्रवेश करता है—कभी भी इसका जीवन 'अव्रती' नहीं होता। अल्पव्रतों का पालन करता हुआ यह महाव्रतों की ओर झुकता है। इसका जीवन 'यज्ञमय' बनता है। यज्ञों की पराकाष्ठा ही 'दक्षिणाएँ' व दानवृत्तियाँ होती हैं (यज् दान) इनको अपनाता हुआ यह सब पापों को छिन्नकर लेता है

और पूर्ण पवित्र जीवनवाला बनकर प्रभु की प्रीति का पात्र होता है।

भावार्थ—हम इस सूक्त में प्रतिपादित 'पौर्णमासी, अष्टका, अमावास्या, श्रद्धा, दीक्षा, यज्ञ, दक्षिणा' रूप सात अपानों को अपनाते हुए पवित्र जीवनवाला बनें।

१७. [सप्तदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**१,५ प्राजापत्योष्णिक्; २, ७ आसुर्यनुष्टुप्; ३ याजुषीत्रिष्टुप्; ४ साम्न्युष्णिक्; ६ याजुषीत्रिष्टुप्; (१-७ तस्य व्रात्यस्येत्यस्योक्तम्)**॥

सात व्यान

तस्य॒ व्रात्य॑स्य। यो॑ऽस्य प्र॒थमो॑ व्या॒नः सेयं भूमिः॥ १॥
तस्य॒ व्रात्य॑स्य। यो॑ऽस्य द्वि॒तीयो॑ व्या॒नस्तद॒न्तरि॑क्षम्॥ २॥
तस्य॒ व्रात्य॑स्य। यो॑ऽस्य तृ॒तीयो॑ व्या॒नः सा द्यौः॥ ३॥
तस्य॒ व्रात्य॑स्य। यो॑ऽस्य च॒तु॒र्थो॑ व्या॒नस्तानि॒ नक्ष॑त्राणि॥ ४॥
तस्य॒ व्रात्य॑स्य। यो॑ऽस्य प॒ञ्च॒मो व्या॒नस्त ऋ॒तवः॥ ५॥
तस्य॒ व्रात्य॑स्य। यो॑ऽस्य ष॒ष्ठो व्या॒नस्त आ॑र्त॒वाः॥ ६॥
तस्य॒ व्रात्य॑स्य। यो॑ऽस्य स॒प्त॒मो व्या॒नः स सं॑वत्स॒रः॥ ७॥

१. **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य का **यः**=जो **अस्य**=इसका **प्रथमः व्यानः**=पहला व्यान है, **सा इयं भूमिः**=वह यह भूमि है। **तस्य व्रात्यस्य अस्य**=उस व्रात्य का **यः अस्य**=जो इसका **द्वितीयः व्यानः**=दूसरा व्यान है **तत् अन्तरिक्षम्**=वह अन्तरिक्ष है। **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य का **यः अस्य**=जो इसका **तृतीयः व्यानः**=तीसरा व्यान है, **सा द्यौः**=वह द्युलोक है। **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य का **यः**=जो **अस्य**=इसका **चतुर्थः व्यानः**=चौथा व्यान है **तानि**=वे **नक्षत्राणि**=नक्षत्र हैं। **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य का **यः**=जो **अस्य**=इसका **पंचमः व्यानः**=पाँचवाँ व्यान है **ते ऋतवः**=वे ऋतुएँ हैं। **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य का **यः**=जो **अस्य**=इसका **षष्ठः व्यानः**=छठा व्यान है **ते आर्तवाः**=वे आर्तव हैं—उस-उस ऋतु में होनेवाले फल, अन्न आदि हैं। **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य का **यः**=जो **अस्य**=इसका **सप्तमः व्यानः**=सातवाँ व्यान है, **सः संवत्सरः**=वह संवत्सर है। २. 'व्यान' का अर्थ आचार्य (स्वा० दयानन्द) यजुः० १५.६५ पर 'विविधविद्या व्याप्ति' करते हैं। १.२० पर 'विविधमन्यते व्याप्यते येन स सर्वेषां शुभगुणानां कर्मविद्योगानाञ्च व्याप्तिहेतुः' इस रूप में लिखते हैं। एवं स्पष्ट है कि व्यान का भाव—सब ज्ञानों की प्राप्ति—जीवन के निर्माण के लिए, जीवन को शुभगुणों व विद्याओं से व्याप्त करने के साधनभूत प्राणवायु पर आधिपत्य। इस व्रात्य के जीवन में प्रथम व्यान 'भूमि' है, द्वितीय 'अन्तरिक्ष', तृतीय 'द्यौः' और चतुर्थ 'नक्षत्र'। यह व्रात्य इन सबके ज्ञान को सम्यक्तया प्राप्त करके क्रमशः अपने 'शरीर, मन व मस्तिष्क' (भूमि, अन्तरिक्ष, द्यौः) को उत्तम बनाता हुआ व विज्ञान के नक्षत्रों को अपने मस्तिष्क-गगन में उदित करता है। इनके उदय से ही वह जीवन के लिए आवश्यक सब सामग्री को जुटानेवाला होता है। ३. पाँचवाँ व्यान 'ऋतुएँ' हैं, छठा 'आर्तव' ऋतुओं में होनेवाले अन्न व फल तथा सातवाँ 'संवत्सर'। यह व्रात्य अपनी ऋतुचर्या को ठीक रखता है, उस-उस ऋतु में उन 'आर्तव' पदार्थों का ठीक प्रयोग करता है, सम्पूर्ण वर्ष बड़ी नियमित गतिवाला होता है। इसी दृष्टिकोण से यह कालविद्या को खूब समझने का प्रयत्न करता है।

भावार्थ—व्रात्य 'भूमि, अन्तरिक्ष, द्युलोक, नक्षत्र, ऋतु, आर्तव व संवत्सर' इन सबका ज्ञान प्राप्त करके इनका ठीक प्रयोग करता हुआ अपने जीवन को सुन्दरतम बनाता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**८ प्रतिष्ठाऽऽर्चीपङ्क्तिः; ९ द्विपदासाम्नीत्रिष्टुप्; १० साम्न्यनुष्टुप् (८-१० तस्य व्रात्यस्येत्यस्योक्तम्)**॥

अमृतत्वम्-आहुतिः

तस्य व्रात्यस्य। समानमर्थं परि यन्ति देवाः संवत्सरं वा एतदृतवोऽनुपरियन्ति व्रात्यं च॥ ८॥

तस्य व्रात्यस्य। यदादित्यमभिसंविशन्त्यमावास्यां चैव तत्पौर्णमासीं च॥ ९॥

तस्य व्रात्यस्य। एकं तदेषाममृतत्वमित्याहुतिरेव॥ १०॥

१. **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य के **समानं अर्थम्**=(सम् आनयति) पृथक् प्राणित करने के प्रयोजन को **देवाः परियन्ति**=सब देव—प्राकृतिक शक्तियाँ सर्वतः इसप्रकार प्राप्त होती हैं, जैसे **ऋतुवः**=ऋतुएँ **एतत् संवत्सरम्**=इस संवत्सर को **अनुपरियन्ति**=अनुक्रमेण प्राप्त होती हैं। ये **च**= और ये सब धातुएँ **व्रात्यम्**=व्रात्य को भी अनुकूलता से प्राप्त होती हैं। ऋतुओं की अनुकूलता से यह व्रात्य स्वस्थ बना रहता है। २. ये सब प्राकृतिक शक्तियाँ (देव) **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य के **यत् आदित्यं अभिसंविशन्ति**=ज्ञानसूर्य में अनुकूलता से प्रविष्ट होती हैं, **अमावास्यां च एव**=और निश्चय से उस व्रात्य की अमावास्या में—ज्ञानसूर्य व भक्तिरसरूप चन्द्र के समन्वय में प्रवेश करती हैं, **च तत्**=और तब **पौर्णमासीम्**=पौर्णमासी में—जीवन को सोलह कलापूर्ण बनाने में, प्रवेश करती हैं, **तत्**=वे 'सब प्राकृतिक शक्तियाँ **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य को ज्ञानसूर्ययुक्त जीवनवाला बनाती है—इसके जीवन में ज्ञानसूर्य व भक्तिचन्द्र का समन्वय करना तथा इसे षोडश कला सम्पन्न जीवनवाला करना' **एषाम्**=इन देवों का **एकम्**=अद्वितीय कर्म है। यही **अमृतत्वम्**=अमृतत्व है। यही **आहुतिः एव**=परब्रह्म में व्रात्य का आहुत हो जाना है—पूर्णरूप से अर्पित हो जाना।

भावार्थ—हम व्रात्य बनते हैं तो सब देव (प्राकृतिक शक्तियाँ) हमारे अनुकूल होते हुए हमें ज्ञानसूर्य से दीप्त जीवनवाला बनाते हैं। ये हमारे जीवन में ज्ञान व भक्ति के सूर्य और चन्द्र का सहवास कराते हैं तथा हमारे जीवन को सोलह कलापूर्ण करते हैं। यही अमृतत्व है, यही प्रभु के प्रति अर्पण है।

१८. [अष्टादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अध्यात्मम्, व्रात्यः**॥ छन्दः—**१ दैवीपङ्क्तिः; २, ३ आर्चीबृहती; ४ आर्च्यनुष्टुप्; ५ साम्न्युष्णिक्**॥

व्रात्याय नमः

तस्य व्रात्यस्य॥ १॥

यदस्य दक्षिणमक्ष्यसौ स आदित्यो यदस्य सव्यमक्ष्यसौ स चन्द्रमाः॥ २॥

योऽस्य दक्षिणः कर्णोऽयं सो अग्निर्योऽस्य सव्यः कर्णोऽयं स पवमानः॥ ३॥

अहोरात्रे नासिके दितिश्चादितिश्च शीर्षकपाले संवत्सरः शिरः॥ ४॥

अह्ना प्रत्यङ् व्रात्यो रात्र्या प्राङ् नमो व्रात्याय॥ ५॥

१. **तस्य व्रात्यस्य**=उस व्रात्य को—अमृतत्व को प्राप्त करनेवाले तथा प्रभु के प्रति अपना

अर्पण करनेवाले व्रात्य की **यत् अस्य दक्षिणम् अक्षि**=जो इसकी दाहिनी आँख है **असौ स आदित्यः**=वही आदित्य है। **यत् अस्य सव्य अक्षि**=जो इसकी बायीं आँख है **असौ स चन्द्रमाः**=वही चन्द्रमा है। दाहिनी आँख ज्ञान का आदान करनेवाली है तो बायीं आँख सबको चन्द्र=शीतल ज्योत्स्ना की भाँति प्रेम से देखनेवाली है। **यः**=जो **अस्य दक्षिणः कर्णः**=इसका दाहिना कान है **अयं सः**=वह ये **अग्निः**=अग्नि है, **यः अस्य सव्यः कर्णः**=जो इसका बायाँ कान है, **अयं सः**=वह यह **पवमानः**=पवमान है। दाहिने कान से यह अग्रगति (उन्नति) की बातों को सुनता है तो बाएँ कान से उन्हीं ज्ञानचर्चाओं को सुनता है जो उसे पवित्र बनानेवाली हैं। २. इसके **अहोरात्रे नासिके**=नासिका-छिद्र अहोरात्र हैं। दाहिना छिद्र अहन् है तो बायाँ रात्रि। दाहिना सूर्यस्वरवाला (दिन) है तो बायाँ चन्द्रस्वरवाला (रात) है। दाहिना प्राणशक्ति का संचार करता है तथा बायाँ अपान के द्वारा दोषों को दूर करता है। इसी दृष्टि से यह दिन-रात प्राणसाधना का ध्यान करता है। इस व्रात्य के **दितिः च अदितिः च शीर्षकपाले**=दिति और अदिति सिर के दो कपाल हैं (Cerebrum, cerebelium) प्रकृति विद्या ही दिति है, आत्मविद्या अदिति। यह विविध प्रकार का ज्ञान प्राप्त करता है। **संवत्सरं शिरः**=इसका संवत्सर ही सिर है। सम्पूर्ण वर्ष उसी ज्ञान को प्राप्त करने का यह प्रयत्न करता है, जोकि उसके निवास को उत्तम बनाने के लिए आवश्यक है। ३. इस प्रकार अपने जीवन को बनाकर वह **व्रात्यः**=व्रतमय जीवनवाला पुरुष **अह्नः**=दिनभर के कार्यों को करने के द्वारा दिन की समाप्ति पर **प्रत्यङ्**=अपने अन्दर आत्मतत्त्व को देखने का प्रयत्न करता है और **रात्र्या**=सम्पूर्ण रात्रि के द्वारा अपने जीवन में शक्ति का संचार करके **प्राङ्**=(प्र अञ्च) अपने कर्तव्य-कर्मों में आगे बढ़ता है। **व्रात्याय नमः**=इस व्रात्य के लिए हम नमस्कार करते हैं।

भावार्थ—व्रतमय जीवनवाले पुरुष की दाहिनी आँख ज्ञान का आदान करती है तो बायीं आँख सबको प्रेम से देखती है। इसका दाहिना कान अग्रगति की बातों को सुनता है तो बायाँ कान पवित्रता की। इसके नासिका-छिद्र दिन-रात दीर्घश्वास लेनेवाले होते हैं। यह प्रकृतिविद्या व आत्मविद्या को प्राप्त करता है। कालज्ञ बनता है—सब कार्यों को ठीक स्थान व ठीक समय पर करता है। दिनभर के कार्य के पश्चात् आत्मचिन्तन करता है और रात्रि विश्राम के बाद कर्त्तव्यों में प्रवृत्त होता है। यह व्रात्य नमस्करणीय है।

॥ इति पञ्चदशं काण्डम्॥

अथ षोडशं काण्डम्

अथैकत्रिंशः प्रपाठकः

अथ प्रथमोऽनुवाकः १. [प्रथमं सूक्तम्]

१. 'अथर्वा' का भाव है 'न डाँवाडोल होनेवाला' (अथर्वा) तथा 'अथ अर्वाङ्' अपने अन्दर देखनेवाला—आत्मनिरीक्षण करनेवाला। यह आत्मनिरीक्षण करता हुआ अनुभव करता है कि—

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**प्रजापतिः**॥ छन्दः—**द्विपदासाम्नीबृहती**॥

प्रभु+'माता-पिता-आचार्य'

अतिसृष्टो अपां वृषभोऽतिसृष्टा अग्नयो दिव्याः॥ १॥

१. मैंने **अपां वृषभः**=(आपो नारा इति प्रोक्ताः) नर-समूह पर सुखों का वर्षण करनेवाले प्रभु को **अतिसृष्टः**=(to part with, abandon, dismiss) छोड़ दिया—ध्यान द्वारा प्रभु-सम्पर्क-प्राप्त करने का विचार नहीं किया। इतना ही नहीं, **अग्नयः**=माता-पिता व आचार्यरूप अग्नियों को भी (पिता वै गार्हपत्योऽग्निः माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः। गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी। —मनु०) **अतिसृष्टः**=छोड़ दिया। उनके निर्देशों के अनुसार चलने के लिए यत्न नहीं किया। **दिव्याः**=ये अग्नियाँ तो दिव्य थीं। इन्होंने ही तो मेरे जीवन को प्रकाशमय बनाया था। इनसे दूर होकर मेरा जीवन अन्धकारमय हो गया।

भावार्थ—प्रभु का ध्यान तथा माता-पिता व आचार्य की प्रेरणाएँ हमारे जीवनों को प्रकाशमय व सुखी बनाती हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**प्रजापतिः**॥ छन्दः—**याजुषीत्रिष्टुप्**॥

रुजन्-मृणन्

रुजन्परिरुजन्मृणन्प्रमृणन्॥ २॥

१. माता, पिता व आचार्यों की प्रेरणाओं को न सुनने पर तथा प्रभु-ध्यान को छोड़ने से जीवन की स्थिति विकृत और अतिविकृत हो गई। **रुजन्**=मैंने अपने शरीर को रुग्ण कर लिया। **परिरुजन्**=शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग में मैं शक्तिभंग का कारण बना। जीवन के विलासमय हो जाने से शक्ति-विनाश तो होना ही था। २. **मृणन्**=(to slay) मैं मन के सब उत्तमभावों का हिंसन करनेवाला बना। **प्रमृणन्**=मैंने दिव्यभावों को पूर्णतया नष्ट ही कर डाला।

भावार्थ—प्रभु के ध्यान से तथा 'माता पिता व आचार्य की प्रेरणा' से दूर होने पर शरीर व्याधियों का तथा मन आधियों का शिकार हो जाता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**प्रजापतिः**॥ छन्दः—**द्विपदासाम्नीबृहती**॥

आत्मदूषिः—तनूदूषिः

म्रोको मनोहा खनो निर्दाह आत्मदूषिस्तनूदूषिः॥ ३॥

१. उत्तम प्रेरणाओं के अभाव में मन बड़ा अशान्त हो जाता है। यह 'कामवासना' का शिकार होता है। यह **म्रोकः**=(म्रुच् to go, to move) मन को अतिशयेन चञ्चल व

अशान्त कर देता है। **मनोहा**=मन को मार ही डालता है, चिन्तन की शक्ति रह ही नहीं जाती—उत्साह नहीं रहता। **खनः**=(खनु अवदारणे) शरीर की सब शक्तियों का भी यह अवदारण कर देता है। **निर्दाहः**=वासना के सन्ताप से यह सदा जलता रहता है। २. **आत्मदूषिः**=यह काम मन को तो दूषित करता ही है **तनूदूषिः**=शरीर को भी दूषित कर डालता है। यह मदन (कामदेव) 'मन्मथ' है—चेतना को नष्ट करनेवाला है और 'मार' है—शरीर की शक्तियों को नष्ट करके मार ही डालता है।

भावार्थ—कामवासना जीवन में अशान्ति व अज्ञान पैदा करती है। यह शक्तियों का अवदारण करके हृदय में जलन का कारण बनती है। यह मन व शरीर को दूषित करती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**आसुरीगायत्री** ॥

'काम' विनाश

इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि ॥ ४ ॥

१. **इदम्**=(इदानीम्) अब मैं **तम्**=शरीर व मन को दूषित करनेवाले उस काम को **अतिसृजामि**= सुदूर छोड़ता हूँ। **तम्**=उस 'काम' को मैं **मा**=मत **अभ्यवनिक्षि**=परिचुम्बित करूँ (निक्ष् to kiss)। इस कामवासना के प्रति मेरा स्नेह न हो। इसे अपना सर्वमहान् शत्रु जानकर मैं इसे नष्ट करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—शरीर व मन को दूषित करनेवाली इस कामवासना को हम दूर से ही प्रणाम करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**द्विपदासाम्नीपङ्क्तिः** ॥

सर्वमहान् शत्रु

तेन तमभ्यतिसृजामो योऽ३स्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

१. **यः**=जो यह 'काम'-रूप शत्रु **अस्मान् द्वेष्टिः**=हमारे साथ प्रीति नहीं करता और **यम्**=जिसको **वयम्**=हम भी **द्विष्मः**=प्रिय नहीं जानते, **तेन**=उस हेतु से **तम्**=उस काम को **अतिसृजामः**=सुदूर छोड़ने के लिए यत्नशील होते हैं। यह हमारे विनाश का कारण बनता है। आत्मविनाश से बचने के लिए काम का परित्याग आवश्यक ही है।

भावार्थ—कामरूप शत्रु हमारे साथ कभी प्रीति नहीं कर सकता। इसे दूर करना आवश्यक ही है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**साम्न्यनुष्टुप्** ॥

कर्म+ज्ञान

अपामग्रमसि समुद्रं वोऽभ्यवसृजामि ॥ ६ ॥

१. काम को जीतने के लिए दो मार्ग हैं। उन्हीं का संकेत प्रभु इस रूप में करते हैं कि **अपाम् अग्रम् असि**=(अप् कर्म) तू कर्मों के अग्रभाग में है, अर्थात् कर्मशील पुरुषों का मुखिया है तथा **वः**=तुम्हें **समुद्रम् अभि**=ज्ञान के समुद्र की ओर **अवसृजामि**=भेजता हूँ, अर्थात् तुम अपना सारा खाली समय ज्ञान-प्राप्ति में ही लगाने का ध्यान करो। ज्ञान अनन्त है। (अनन्तपारं किल शब्दशास्त्रम्)। ज्ञानप्राप्ति में लगे रहने पर काम ज्ञानग्नि में भस्म ही हो जाएगा। कर्मों में लगे रहने से काम को हमपर आक्रमण का अवसर ही न मिलेगा।

भावार्थ—कामवासना से आक्रान्त न होने का सुन्दरतम उपाय यही है कि हम कर्मों में लगे रहें तथा सारे खाली समय का उपयोग ज्ञान-प्राप्ति में करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**निचृद् [द्विपदा] विराड्गायत्री** ॥

'म्रोक-खनि' काम

यो३प्स्व१ग्निरति तं सृजामि म्रोकं खनिं तनूदूषिम्॥ ७॥

१. **यः**=जो **अप्सु**=(आपो नारा इति प्रोक्ताः) प्रजाओं में यह **अग्निः**=कामाग्नि उत्पन्न हो जाता है। यह 'मनसि-ज' है—भौतिक सौन्दर्य को देखकर मन में उत्पन्न हो ही जाता है। **तम् अति सृजामि**=उसको मैं कर्मों में व ज्ञान-प्राप्ति में लगे रहकर सुदूर परित्यक्त करता हूँ। २. उस कामाग्नि को दूर करता हूँ जोकि **म्रोकम्**=जीवन को बड़ा अशान्त बनाता है। **खनिम्**=शक्तियों का अवदारण कर देता है तथा **तनूदूषिम्**=शरीर को दूषित ही कर डालता है।

भावार्थ—हृदय में उत्पन्न हो जानेवाली इस कामाग्नि को हम ज्ञान व कर्म में व्यापृत रहकर दूर करते हैं। इसने ही तो हमारे जीवन को अशान्त बनाया हुआ था, शक्तियों को विनष्ट कर दिया था तथा सारे शरीर को ही दूषित कर दिया था।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**द्विपदासाम्नीपङ्क्तिः** ॥

कामाग्नि का भयंकर परिणाम

यो व आपोऽग्निराविवेश स एष यद्वो घोरं तदेतत्॥ ८॥

१. हे **आपः**=प्रजाओ! **यः**=जो **अग्निः**=कामाग्नि **वः आविवेश**=तुममें प्रविष्ट हो गया है **सः एव**=वही—वह कामाग्नि ही **यत् वः घोरम्**=जो तुम्हारे लिए भयंकर है, **तत् एतत्**=वह सब यही है। शरीर में, मन में व मस्तिष्क में जो कुछ भी भयंकर विकार आता है, वह सब इस कामाग्नि के कारण है।

भावार्थ—हम ज्ञान-प्राप्ति में व कर्मों में लगे रहकर कामाग्नि को शान्त करें। अन्यथा 'शरीर, मन व मस्तिष्क' पर इसका परिणाम अति भयंकर होगा।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**आसुरीपङ्क्तिः** ॥

इन्द्र का इन्द्रिय से अभिषेचन

इन्द्रस्य व इन्द्रियेणाभि षिञ्चेत्॥ ९॥

१. उल्लिखित मन्त्र के अनुसार कामाग्नि का शमन **वः**=तुम्हें **इन्द्रस्य**=एक जितेन्द्रिय पुरुष के **इन्द्रियेण**=वीर्य व बल से **अभिषिञ्चेत्**=सिक्त करे। कामाग्नि के शमन से शरीर में शक्ति सुरक्षित रहती है। यह शक्ति प्रत्येक इन्द्रिय को उस-उस सामर्थ्य से सम्पन्न करती है।

भावार्थ—हम कामाग्नि को शान्त करके वीर्यरक्षण द्वारा इन्द्रियों को शक्ति-सम्पन्न बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**याजुषीत्रिष्टुप्** ॥

'अरिप्राः' आपः

अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मत्॥ १०॥

१. **आपः** (आपः रेतो भूत्वा०)=कामाग्नि के शमन से शरीर में सुरक्षित हुए रेतःकण **अरिप्राः**=निर्दोष हैं (रिप्रम् sin)। शरीर में रेतःकणों का रक्षण होने पर किसी प्रकार की अपवित्रता (Impurity रिप्रम्) उत्पन्न नहीं होती। २. ये सुरक्षित रेतःकण **अस्मत्**=हमसे **रिप्रम् अप**=पापों व अपवित्रता को दूर करें। शरीर में सुरक्षित रेतःकण जहाँ शरीर को पवित्र व निर्मल और अतएव नीरोग रखते हैं, वहाँ ये मन को पापभावना से आक्रान्त नहीं होने देते।

भावार्थ—कामाग्नि का शमन हममें रेतःकणों का रक्षण करे। ये सुरक्षित रेतःकण हमें नीरोग

व निर्मल बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**साम्न्युष्णिक्** ॥

'एनस् व दुःष्वप्न्य' का दूरीकरण

प्रास्मदेनो वहन्तु प्र दुःष्वप्न्यं वहन्तु॥ ११ ॥

१. शरीर में सुरक्षित रेतःकण **अस्मत्**=हमसे **एनः प्रवहन्तु**=पाप को दूर बहा ले-जाएँ। केवल पाप को ही नहीं, **दुःष्वप्न्यम्**=अशुभ स्वप्नों के कारणभूत सब पापों व अशुभ विचारों को **प्रवहन्तु**=दूर ले-जाएँ।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित रेतःकण हमारे जीवन से पापों व अशुभ स्वप्नों के कारणभूत अशुभ विचारों को दूर ही रखते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**[द्विपदा] आर्च्यनुष्टुप्** ॥

शिवचक्षु

शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया तन्वोप स्पृशत त्वचं मे॥॥१२॥

१. हे **आपः**=शरीर में सुरक्षित रेतःकणो! तुम **मा**=मुझे **शिवेन चक्षुषा पश्यत्**=कल्याणकारिणि दृष्टि से देखो। तुम्हारे द्वारा मेरा कल्याण हो—मेरी चक्षु आदि सब इन्द्रियाँ ठीक बनी रहें। यही तो 'सु-ख' है—इन्द्रियों का (ख) उत्तम होना (सु)। २. हे आप! तुम **मे त्वचम्**=मेरी त्वचा को **शिवया तन्वा**=कल्याणयुक्त शरीर से **उपस्पृशत**=स्पृष्ट करो, अर्थात् इन सुरक्षित रेतःकणों द्वारा मेरा शरीर कल्याणयुक्त हो और वह सुन्दर त्वचा से आवृत हुआ रहे।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित रेतःकण चक्षु आदि सब इन्द्रियों की शक्ति को ठीक बनाये रखते हैं और नीरोग शरीर को नीरोग त्वचा से आवृत किये रहते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**[द्विपदा] आर्च्यनुष्टुप्** ॥

क्षत्रं+वर्चः

शिवानग्नीनप्सुषदो हवामहे मयि क्षत्रं वर्च आ धत्त देवीः॥ १३॥

१. हम कामाग्नि को शान्त करके उन **शिवान् अग्नीन्**=कल्याणकारिणी 'तेजस्विता-स्नेह व ज्ञान' की अग्नियों को **हवामहे**=पुकारते हैं, जोकि **अप्सुषदः**=इन सुरक्षित रेतःकणों में आसीन होनेवाली हैं। रेतःकणों के रक्षण से शरीर में तेजस्विता की अग्नि, हृदय में स्नेह की अग्नि तथा मस्तिष्क में ज्ञान की अग्नि का प्रादुर्भाव होता है। २. हे **देवीः**=रेतःकणरूप दिव्यगुणों से युक्त जलो! **मयि**=मुझमें **क्षत्रम्**=क्षतों से त्राण करनेवाले बल को तथा **वर्चः**=रोगों का निवारण करनेवाली प्राणशक्ति को **आधत्त**=स्थापित करो।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित रेतःकण हमें 'क्षत्र व वर्चस्' प्राप्त कराते हैं। इनमें ही 'तेजस्विता, स्नेह व ज्ञान' की अग्नियाँ निहित हैं।

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वाक्** ॥ छन्दः—**आसुर्यनुष्टुप्** ॥

मधुरवाणी

निर्दुरर्मण्य ऊर्जा मधुमती वाक्॥ १॥

मधुमती स्थ मधुमतीं वाचमुदेयम्॥ २॥

१. गतसूक्त के भाव के अनुसार कामाग्नि के शान्त होने पर तथा रेतःकणों के रक्षित होने

पर **दुःअर्मण्यः** (a disease of the eye)=जीवन को दुःखमय बनानेवाला आँख का रोग **निः**=हमसे दूर हो। ये रेतःकण हमें 'शिवचक्षु' प्राप्त कराएँ। हम आँखों से मृदु को ही देखें। न हमारी आँखें अभद्र को देखें और न ही हम अशुभ वाणी बोलें। हमारी **वाक्**=वाणी **ऊर्जा**=बल व प्राणशक्ति के साथ **मधुमती:**=अत्यन्त माधुर्य को लिये हुए हो। २. हे शरीरस्थ रेतःकणो! (आपः) तुम **मधुमतीः स्थ**=अत्यन्त माधुर्यवाले हो—शरीर में सुरक्षित होकर तुम सारे जीवन को मधुर बनाते हो। तुम्हारा रक्षण होने पर **मधुमतीं वाचम् उदेयम्**=अत्यन्त मधुर ही वाणी को बोलूँ।

भावार्थ—रेतःकणों के रक्षण के द्वारा हमारे चक्षु आदि इन्द्रियों के रोग दूर हों। हम शिव ही देखें और हमारी वाणी ओजस्विनी व मधुर हो। रेतःकण हमारे जीवन को अतिशयेन मधुर बनाते हैं। मैं मधुर ही वाणी बोलूँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वाक्**॥ छन्दः—**साम्न्युष्णिक्**॥

गोपाः—गोपीथः

उपहूतो मे गोपा उपहूतो गोपीथः॥ ३॥

१. जीवन को ठीक बनाये रखने के लिए **मे**=मेरे द्वारा **गोपाः**=वह इन्द्रियों का रक्षक प्रभु **उपहूतः**=पुकारा गया है। मैं प्रभु की आराधना करता हूँ और इसप्रकार अपनी इन्द्रियों को विषयों से बद्ध नहीं होने देता। इसी उद्देश्य से **गोपीथः**=(पीथः=drink) ज्ञान की वाणियों का पान **उपहूतः**=पुकारा गया है। मैं ज्ञान की वाणियों के पान के लिए प्रार्थना करता हूँ। 'प्रभु-स्मरण व ज्ञान की वाणियों का पान' ये ही दो साधन हैं, जो मेरे जीवन को मधुर बनाते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का आराधन करें और ज्ञान की वाणियों के पान में तत्पर रहें। इसप्रकार हम अपने जीवन को मधुर बना पाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वाक्**॥ छन्दः—**त्रिपदासाम्नीबृहती**॥

भद्र-श्रवण

सुश्रुतौ कर्णौ भद्रश्रुतौ कर्णौ भद्रं श्लोकं श्रूयासम्॥ ४॥

१. हे प्रभो! आपके अनुग्रह से **कर्णौ सुश्रुतौ**=मेरे कान उत्तम श्रवणशक्ति से सम्पन्न हों। श्रवणशक्ति में किसी प्रकार की कमी न हो जाए। ये **कर्णौ**=कान **भद्रश्रुतौ**=सदा भद्र बातों को ही सुननेवाले हों। श्रवणशक्ति का प्रयोग सदा कल्याणी वाणियों के श्रवण के लिए ही हो। २. हे प्रभो! आपका स्मरण करता हुआ मैं सदा **भद्रं श्लोकम्**=कल्याणकर पद्यों को ही **श्रूयासम्**=सुनूँ। ज्ञान की शुभवाणियाँ ही मेरे कानों का विषय बनें। '**भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः**'।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारे कानों की शक्ति ठीक बनी रहे और हम उनसे सदा भद्र वाणियों का ही श्रवण करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**वाक्**॥ छन्दः—**आर्च्यनुष्टुप्**॥

सुश्रुति+उपश्रुति

सुश्रुतिश्च मोपश्रुतिश्च मा हासिष्टां सौपर्णं चक्षुरजस्त्रं ज्योतिः॥ ५॥

१. हे प्रभो! **सुश्रुतिः च**=उत्तम श्रवण-शक्ति तथा **उपश्रुतिः च**=आचार्यों के समीप रहकर श्रवण **मा**=मुझे **मा हासिष्टाम्**=मत छोड़ जाएँ। मैं सदा उत्तम श्रवणशक्तिवाला होऊँ और ज्ञानियों के चरणों में उपस्थित होकर ज्ञान की वाणियों का श्रवण करूँ। २. **सौपर्णं चक्षुः**=सुपर्ण (गरुड़) की दृष्टि हमें प्राप्त हो—हम दूर तक देख सकें। अथवा **सौपर्णम्**=उत्तमता से पालन व पूरण

करनेवाली दृष्टि हमें प्राप्त हो और **अजस्रं ज्योतिः**=हमारी ज्ञान की ज्योति निरन्तर दीप्त रहे—हम स्वाध्याय से कभी पराङ्मुख न हों।

भावार्थ—हमारी कान की शक्ति ठीक रहे, हम सदा आचार्यचरणों में ज्ञानचर्चाओं को सुनें। दूरदृष्टि बनें, स्वाध्याय में कभी विच्छेद न होने दें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**वाक्** ॥ छन्दः—**निचृद् [द्विपदा] विराड्गायत्री** ॥

ऋषि-प्रस्तर

ऋषीणां प्रस्तरो ऽसि नमो ऽस्तु दैवाय प्रस्तराय ॥ ६ ॥

१. उल्लिखित मन्त्रों की भावना के जीवन में अनूदित होने पर यह **प्रस्तरः**=पत्थर के समान दृढ़ शरीर (अश्मा भवतु नस्तनूः) **ऋषीणाम्**=ऋषियों का शरीर हो जाता है। 'सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे'=इस शरीर में सात ऋषि (कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्) प्रभु ने रक्खे ही हैं। हे मेरे शरीर! तू ऋषियों का **प्रस्तरः**=प्रस्तर **असि**=है। २. **दैवाय**=उस महान् देव से दिये गये अथवा उस महान् देव की प्राप्ति के साधनभूत इस **प्रस्तराय**=प्रस्तर-तुल्य शरीर के लिए **नमः अस्तु**=उचित आदर का भाव हो। इसकी शक्तियों को हम पवित्र समझें, उन्हें कभी विनष्ट न होने दें। इस शरीर के प्रति आदर का भाव होने पर हम इसकी शक्तियों को भोग-विलास में व्ययित न करेंगे।

भावार्थ—इस शरीर को हम ऋषियों का आश्रम समझें। इसे देव-मन्दिर जानकर इसमें प्रभु का पूजन करें। इसकी शक्तियों को विलास में विनष्ट न कर डालें।

इसप्रकार इस शरीर को 'ऋषियों का आश्रम' व 'दैव-मन्दिर' बनानेवाला व्यक्ति 'ब्रह्मा' बनता है—सर्वमहान्। अगले दो सूक्त इस ब्रह्मा के ही हैं—

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ब्रह्मादित्यौ** ॥ छन्दः—**आसुरीगायत्री** ॥

मूर्धा

मूर्धाहं रयीणां मूर्धा समानानां भूयासम् ॥ १ ॥

१.ब्रह्मा यह कामना करता है कि **अहम्**=मैं **रयीणाम्**=ऐश्वर्यों का—अन्नमय आदि कोशों की सम्पत्ति का—'तेज-वीर्य-बल व ओज-मन्यु (ज्ञान) तथा सहस् (सहनशक्ति)' का—**मूर्धा**=शिखर **भूयासम्**=होऊँ। मैं तेजस्विता आदि गुणों में अग्रणी बनूँ। २. **समानानाम्**=अपने समान लोगों में मैं **मूर्धा**=शिखर पर स्थित होऊँ। ब्राह्मण हूँ तो ब्राह्मणों में सर्वश्रेष्ठ ज्ञानी बनूँ। क्षत्रिय हूँ तो बल में सब क्षत्रियों को पराजित करनेवाला होऊँ। वैश्य हूँ तो अत्यधिक कमानेवाला व देनेवाला बनकर वैश्यों का मूर्धन्य बनूँ।

भावार्थ—मैं अन्नमय आदि कोशों के ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवालों में शिरोमणि होऊँ। अपने समान लोगों का अग्रणी बनूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ब्रह्मादित्यौ** ॥ छन्दः—**आर्च्यनुष्टुप्** ॥

रुजः-वेनी:

रुजश्च मा वेनश्च मा हासिष्टां मूर्धा च मा विधर्मा च मा हासिष्टाम् ॥ २ ॥

१. **रुजः च** (रुजो भंगे)=शत्रुओं का विदारण **वेनः च**=और प्रभु का पूजन (वेन्=worship) **मा**=मुझे **मा हासिष्टाम्**=मत छोड़ जाएँ। मैं सदा प्रभु का पूजन करनेवाला बनूँ और

प्रभु-पूजन द्वारा काम-क्रोधादि शत्रुओं का विदारण करूँ। २. **मूर्धा च**=मस्तिष्क **च**=और **विधर्मा च**=विशिष्ट धारणशक्ति **मा**=मुझे **मा हासिष्टाम्**=मत छोड़ जाएँ। ज्ञान मुझे धारण-शक्ति-सम्पन्न बनाए। ज्ञान के अभाव में ही मनुष्य धारणशक्ति से रहित होकर 'पा-गल' हो जाता है। (पा=रक्षण, गल=च्युत)।

भावार्थ—मैं जीवन में प्रभुपूजन करता हुआ शत्रुओं का विदारण करनेवाला बनूँ तथा मस्तिष्क को स्वस्थ रखता हुआ ज्ञान द्वारा विशिष्ट धारणशक्तिवाला होऊँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मादित्यौ**॥ छन्दः—**आर्च्यनुष्टुप्**॥

उर्वः-चमसः

उर्वश्च मा चमसश्च मा हासिष्टां धर्ता च मा धरुणश्च मा हासिष्टाम्॥ ३॥

१. **उर्वः च**=(उर्वति to kill) शत्रुओं का संहार **च**=तथा **चमसः**=(चमसः=सोमपानपात्र, व जौ-चावल की बनी रोटी) सोमपानपात्र **मा**=मुझे **मा हासिष्टाम्**=मत छोड़ जाएँ अथवा जौ चावल की रोटी मुझे न छोड़ जाए, अर्थात् मैं सदा काम-क्रोधादि शत्रुओं का संहार करनेवाला बनूँ। इनका संहार करता हुआ मैं शरीर में सोम (वीर्य) का पान करनेवाला बनूँ तथा इसी उद्देश्य से सदा जौ-चावल आदि सात्त्विक अन्नों का सेवन करूँ। २. **धर्ता च**=वह सबका धारक प्रभु **च**=और **धरुणः**=स्वर्ग (Heaven) **मा**=मुझे **मा हासिष्टाम्**=मत छोड़ जाएँ। प्रभु से धारण किया जाता हुआ मैं सदा स्वर्ग में निवास करूँ।

भावार्थ—काम-क्रोधादि शत्रुओं का संहार करके मैं शरीर को सोम (वीर्य) के पान का पात्र बनाऊँ। प्रभु से धारण किया जाता हुआ मैं सदा स्वर्ग में निवास करूँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मादित्यौ**॥ छन्दः—**प्राजापत्यात्रिष्टुप्**॥

आर्द्रपविः-आर्द्रदानुः

विमोकश्च मार्द्रपविश्च मा हासिष्टामार्द्रदानुश्च मा मातरिश्वा च मा हासिष्टाम्॥ ४॥

१. **विमोकः च**=काम-क्रोधादि शत्रुओं से छुटकारा **च**=और **आर्द्रपविः**=शत्रुरुधिर से क्लिन्न वज्र **मा**=मुझे **मा हासिष्टाम्**=मत छोड़ जाएँ, अर्थात् मैं काम आदि से सदा मुक्त रहूँ और अपने क्रियाशीलतारूप वज्र के द्वारा शत्रुओं का संहार करनेवाला बनूँ। २. **आर्द्रदानुः च**=स्नेहार्द्र हृदय से युक्त दानवृत्ति **च**=और **मातरिश्वा**=वेदमाता में गति व वृद्धि, अर्थात् वेद की प्रेरणा के अनुसार कार्यों को करते हुए उन्नत होना **मा**=मुझे **मा हासिष्टाम्**=मत छोड़ जाएँ। मैं दानवृत्ति व वेदानुकूल आचरण को अपनानेवाला बनूँ।

भावार्थ—'काम-क्रोध आदि शत्रुओं से छुटकारा', 'क्रियाशीलतारूप व्रज द्वारा शत्रुसंहार', 'स्नेहपूर्वक दानवृत्ति', तथा 'वेदानुकूल आचरण' ये बातें सदा मेरे जीवन में हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मादित्यौ**॥ छन्दः—५ **साम्न्युष्णिक्**, ६ **द्विपदासाम्नीत्रिष्टुप्**॥

असन्तापं मे हृदयम्

बृहस्पतिर्म आत्मा नृमणा नाम हृद्यः॥ ५॥

असंतापं मे हृदयमुर्वी गव्यूतिः समुद्रो अस्मि विधर्मणा॥ ६॥

१. **बृहस्पतिः**=वह ज्ञान का स्वामी प्रभु **मे आत्मा**=मेरी आत्मा है—मुझमें प्रभु का निवास है। मैं भी प्रभु के शरीर के समान हूँ। वह प्रभु **नृमणा नाम**='नृमणा' नामवाला है—'नृषु मनो यस्य' उन्नति-पथ पर चलनेवालों में मनवाला है, उनका सदा ध्यान करनेवाला है। वे प्रभु **हृद्यः**=हम सबके हृदयों में निवास करनेवाले हैं। २. इस प्रभु का स्मरण करते हुए **मे**=मेरा

हृदयम्=हृदय **असंतापम्**=सन्तापशून्य है। **गव्यूतिः उर्वी**=इन्द्रियरूप गौओं का प्रचारक्षेत्र विशाल है, अर्थात् मेरी इन्द्रियाँ दूर-दूर के विषयों का भी ज्ञान प्राप्त करनेवाली हैं और विशालहित के साधक कर्मों को करने में तत्पर हैं। **विधर्मणा**=विशिष्ट धारणशक्ति के द्वारा मैं **समुद्रः अस्मि**=सदा आनन्दमय (स-मुद्) जीवनवाला हूँ अथवा समुद्र जैसे सब रत्नों का आधार है, उसीप्रकार मैं भी धारणात्मक कर्मों का आधार बनता हूँ।

भावार्थ—प्रभु को मैं अपनी आत्मा जानूँ। वे प्रभु हमारा ध्यान करनेवाले हैं। हमारे हृदयों में उनका वास है। इस प्रभु का स्मरण करता हुआ मैं सन्तापशून्य हृदयवाला, विशाल दृष्टिकोणवाला तथा धारणात्मकशक्ति से आनन्दमय जीवनवाला बनूँ।

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ब्रह्मादित्यौ** ॥ छन्दः—**साम्न्यनुष्टुप्** ॥

नाभिः

नाभिरहं रयीणां नाभिः समानानां भूयासम् ॥ १ ॥

१. **अहम्**=मैं **रयीणाम्**=सब ऐश्वर्यों का **नाभिः**=अपने में बाँधनेवाला बनूँ। इसीप्रकार **समानानाम्**=अपने समान जातिवालों का भी **नाभिः भूयासम्**=केन्द्र बन पाऊँ। उन सबमें मैं श्रेष्ठ बनूँ। सब मुझे ही नेता के रूप में देखें।

भावार्थ—हम सब कोशों के ऐश्वर्यों का सम्पादन करते हुए अपने वर्ग में श्रेष्ठतम स्थान में पहुँचने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ब्रह्मादित्यौ** ॥ छन्दः—**साम्न्युष्णिक्** ॥

सूषाः

स्वासदसि सूषा अमृतो मर्त्येष्वा ॥ २ ॥

१. **स्वासत् असि** (स्व आ सत्)=तू सब ओर से इन्द्रिय-वृत्तियों को प्रत्याहृत करके अपने में आसीन होनेवाला है। प्रतिदिन ध्यान में स्थित होकर आत्मनिरीक्षण करने की प्रवृत्तिवाला है और इसलिए **सूषाः**=(सु उष्) दोषों को सम्यक् दग्ध करनेवाला है (उष दाहे)। दोषों को दग्ध करके तू **मर्त्येषु**=मरणधर्मा पुरुषों में **अमृतः**=अमृत बना है। न तो तू विषयों के पीछे मारा-मारा फिरता है (अ मृत) और न ही तू रोगों का शिकार होता है (एकशतं मृत्यवः)। संसार में फैले हुए सैकड़ों रोगों का तू शिकार नहीं होता।

भावार्थ—हम प्रतिदिन अपने अन्दर आसीन होनेवाले हों—आत्मनिरीक्षण करें और दोषों को दग्ध करके अमृत बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ब्रह्मादित्यौ** ॥ छन्दः—**साम्न्यनुष्टुप्** ॥

प्राणापान

मा मां प्राणो हासीन्मो अपानोऽवहाय परा गात् ॥ ३ ॥

१. आत्मनिरीक्षण करनेवाला व्यक्ति युक्ताहार-विहार करनेवाला बनता है। युक्ताहार-विहारवाला होता हुआ यह प्रार्थना करता है कि **माम्**=मुझे **प्राणः**=प्राणशक्ति **मा हासीत्**=मत छोड़ जाए। **उ**=और **अपानः**=अपानशक्ति भी **माम्**=मुझे छोड़कर **मा परागात्**=दूर मत चली जाए। २. प्राणशक्ति ने ही तो शरीर में बल का संचार करना है तथा अपान ने सब दोषों का निराकरण करके हमें स्वस्थ बनाना है।

भावार्थ—आत्मनिरीक्षण करते हुए मैं युक्ताहार-विहारवाला बनूँ तथा वासनाओं को विनष्ट

करता हुआ अपनी प्राणापानशक्ति को सुरक्षित रक्खूँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मादित्यौ**॥ छन्दः—**त्रिपदाऽनुष्टुप्**॥

रक्षण

सूर्यो माह्नः पात्वग्निः पृथिव्या वायुरन्तरिक्षाद्यमो मनुष्ये᳡भ्यः सरस्वती पार्थिवेभ्यः॥ ४॥

१. **सूर्यः**=सूर्य **मा**=मुझे **अह्नः पातु**=अहन् (दिन) से रक्षित करे। जहाँ तक सम्भव हो मैं दिनभर सूर्य के सम्पर्क में अपने कार्यों को करनेवाला बनूँ। सूर्य की भाँति ही निरन्तर क्रियाशील रहूँ। (अ+हन्) एक क्षण को भी आलस्य में अपव्ययित न करूँ। **अग्निः पृथिव्याः**=अग्नि पृथिवी से मुझे रक्षित करे। प्रातः-सायं अग्नि-परिचर्या (अग्निहोत्र) करता हुआ मैं शरीररूप पृथिवी में आ जानेवाले रोगरूप शत्रुओं से बचा रहूँ। **वायुः अन्तरिक्षात्**=वायु अन्तरिक्ष से मुझे रक्षित करे। खुली वायु में जीवन-यापन करता हुआ मैं हृदयान्तरिक्ष को उदार व पवित्र बना पाऊँ। मेरे हृदय में वायु की भाँति ही सदा गतिशीलता का संकल्प बना रहे। २. **यमः**=नियन्ता राजा **मनुष्येभ्यः**=मनुष्यों से मेरा रक्षण करे। शासन-व्यवस्था के ठीक होने से मैं आधिभौतिक कष्टों से बचा रहूँ। मेरा स्वयं का जीवन भी संयमवाला हो। इस संयत जीवन में **सरस्वती**=विद्या की अधिष्ठातृ देवता **पार्थिवेभ्यः**=शरीररूप पृथिवी में उत्पन्न हो जानेवाले पार्थिव कष्टों से मुझे बचाए। स्वाध्याय द्वारा सरस्वती की आराधना मुझे अध्यात्म-कष्टों से रक्षित करनेवाली हो।

भावार्थ—'सूर्य, अग्नि व वायु' का उचित आराधन मुझे आधिदैविक कष्टों से बचाए। उचित शासनव्यवस्था आधिभौतिक कष्टों से बचानेवाली हो तथा सरस्वती का आराधन मुझे अध्यात्म-कष्टों से बचाए।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मादित्यौ**॥ छन्दः—**आसुरीगायत्री**॥

प्राणसाधना द्वारा दोषदहन

प्राणापानौ मा मा हासिष्टं मा जने प्र मेषि॥ ५॥

१. **प्राणापानौ**=प्राण और अपान **मा**=मुझे **मा हासिष्टं**=मत छोड़ जाएँ। मैं सदा प्राणापान की साधना करनेवाला बनूँ। प्राण की अपान में तथा अपान की प्राण में आहुति देता हुआ प्राणापान यज्ञ को करनेवाला बनूँ। २. इस साधना को करता हुआ मैं **जने**=मनुष्य के विषय में **मा**=मत **प्रमेषि**=भ्रान्त (go astray) हो जाऊँ, अर्थात् मनुष्यों के विषय में किसी प्रकार की ग़लती न करूँ। सदा मानवोचित कार्य ही करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—हम प्राणसाधना में प्रवृत्त रहते हुए इन्द्रिय-दोषों को दूर करनेवाले बनें—'तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्'।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**ब्रह्मादित्यौ**॥ छन्दः—**आर्च्युष्णिक्**॥

सर्वः सर्वगणाः

स्वस्त्य१द्योषसो दोषसश्च सर्व आपः सर्वगणो अशीय॥ ६॥

१. **अद्य**=आज, हे **आपः**=शरीरस्थ रेतःकणरूप जलो! **उषसः दोषसः च**=दिनों व रात्रियों में—दिन के आरम्भ से दिन की समाप्ति तक—**सर्वः**=(whole) सब पूर्ण अङ्गोंवाला, अर्थात् स्वस्थ होता हुआ तथा **सर्वगणाः**='पंचभूतों के गण, पाँच प्राणों के गण, पाँच कर्मेन्द्रियों के गण, पाँच ज्ञानेन्द्रियों के गण' तथा 'मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार व हृदय' रूप अन्तःकरण पञ्चकवाला मैं **स्वस्ति अशीय**=कल्याण को प्राप्त करूँ।

भावार्थ—गतमन्त्र के अनुसार प्राणसाधना के होने पर, शरीरस्थ दोषों के दूर होने से,

शरीर में रेत:कणों का रक्षण होगा। इनके रक्षण से हम स्वस्थ होंगे, हमारे शरीरस्थ सब पञ्चक बड़े ठीक होंगे। तब प्रातः से सायं तक सारा दिन हम कल्याण-ही-कल्याण का अनुभव करेंगे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ब्रह्मादित्यौ** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराड्गर्भाऽनुष्टुप्** ॥

मित्रावरुणौ-दक्षम्

शक्वरी स्थ पशवो मोप स्थेषुर्मित्रावरुणौ मे प्राणापानावग्निर्मे दक्षं दधातु॥ ७॥

१. गतमन्त्र से 'आपः' का यहाँ भी अनुवर्तन है। हे आपः (शरीरस्थ रेत:कणो)! **शक्वरी स्थ**=तुम शरीर को शक्तिशाली बनानेवाले हो। इन रेत:कणों के रक्षण से **पशवः** (प्राणः पशवः शत० ७.५.२.६)=प्राण **मा उपस्थेषुः**—मुझे प्राप्त हों। रेत:कणों का रक्षण मेरे प्राणापान को सबल बनाए। २. ये **प्राणपानौ**=प्राण और अपान **मे मित्रावरुणौ**=मुझे पापों व मृत्यु से बचानेवाले (प्रमीतेः त्रयते) तथा मुझे द्वेषशून्य बनानेवाले (वारयति) हैं। प्राणसाधना के होने पर शरीर नीरोग बनता है तथा मन निष्पाप व निर्दोष होता है। ३. इन रेत:कणों का रक्षण होने पर **अग्निः**=शरीर में उचित मात्रा में विकसित हुआ-हुआ अग्नितत्त्व **मे दक्षं दधातु**=मुझमें बल का धारण करे।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा शरीर में रेत:कणों का रक्षण होता है। इसप्रकार ये प्राणापान हमें 'नीरोग, निर्द्वेष, निष्पाप व शक्तिशाली' बनाते हैं।

प्राणसाधना द्वारा हम इन्द्रियों का संयम करनेवाले 'यम' बनते हैं। अगले सब सूक्तों का (५ से ९ तक) ऋषि 'यम' ही है—

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ५. [पञ्चमम् सूक्तम्]

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्** ॥ छन्दः—**१ विराड्गायत्रीबृहती, २ (द्वि०), ३ (तृ०)** ॥

ग्राही का पुत्र

विद्म ते स्वप्न जनित्रं ग्राह्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः॥ १॥

अन्तकोऽसि मृत्युरसि॥ २॥

तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुःष्वप्न्यात्पाहि॥ ३॥

१. हे **स्वप्न**=सोने के समय, गाढ़ निन्द्रा के न होने पर, अन्तःकरण में उत्पन्न होनेवाले स्वप्न! **ते जनित्रं विद्म**=तेरे उत्पत्तिकारण को हम जानते हैं। **ग्राह्याः पुत्रः असि**=तू ग्राही का पुत्र है। वह बीमारी जो हमें पकड़ लेती है 'ग्राही' कहलाती है। इस बीमारी से सामान्य पुरुष दुःखी जीवनवाला होकर रात को भी उस बीमारी के ही स्वप्न देखता है। इसप्रकार यह स्वप्न उसे मृत्यु की ओर ले जाता है। यह **यमस्य करणः**=यम का करण—साधन बनता है। २. वस्तुतः हे स्वप्न! तू **अन्तकः असि**=अन्त करनेवाला है, **मृत्युः असि**=तू मौत ही है। ३. हे **स्वप्न**=रात्रि में भी व्याकुलता का कारण बननेवाले स्वप्न! **तं त्वा**=उस तुझको **तथा**=उस तेरे अन्तक व मृत्यु के ठीक रूप को हम **संविद्म**=सम्यक् जानते हैं। तुझे ठीक रूप में देखते हैं। जैसा तू है, वैसा तुझे समझते हैं। वैसा समझकर ही प्रार्थना करते हैं कि हे **स्वप्न**=स्वप्न! **सः**=वह तू **नः**=हमें **दुःष्वप्न्यात् पाहि**=दुष्ट स्वप्नों के कारणभूत रोगों से बचा। न हम ग्राही से पीड़ित हों और न ही अशुभ स्वप्नों को देखें।

भावार्थ—हमें बुरी तरह से जकड़ लेनेवाले रोग ग्राही कहलाते हैं। इनसे पीड़ित होने पर हम अशुभ स्वप्नों को देखते हैं। ये स्वप्न हमें मृत्यु की ओर ले जाते है। हम प्रयत्न करके ऐसे रोगों से अपने को बचाएँ। परिणामतः अशुभ स्वप्नों से बचकर दीर्घजीवी बनें।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—दुःष्वप्ननाशनम् ॥ छन्दः—४-६ (प्र०) विराड्गायत्री; ४-७ (द्वि०), ९ प्राजापत्यगायत्री; ४-७ (तृ०), १० द्विपदासाम्नीबृहती; ७ (प्र०) भुरिग्विराड्गायत्री; ८ स्वराड्विराड्गायत्री ॥

'दुर्गति, अशक्ति, अनैश्वर्य व पराजय' आदि से बचना

विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्ऋत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः।
अन्तकोऽसि मृत्युरसि। तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुःष्वप्न्यात्पाहि॥ ४॥
विद्म ते स्वप्न जनित्रमभूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः।
अन्तकोऽसि मृत्युरसि। तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुःष्वप्न्यात्पाहि॥ ५॥
विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्भूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः।
अन्तकोऽसि मृत्युरसि। तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुःष्वप्न्यात्पाहि॥ ६॥
विद्म ते स्वप्न जनित्रं पराभूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः।
अन्तकोऽसि मृत्युरसि। तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुःष्वप्न्यात्पाहि॥ ७॥
विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि यमस्य करणः॥ ८॥
अन्तकोऽसि मृत्युरसि॥ ९॥
तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुःष्वप्न्यात्पाहि॥ १०॥

१. हे **स्वप्न**=स्वप्न! **ते जनित्रं विद्म**=तेरे उत्पत्ति-कारण को हम जानते हैं। तू **निर्ऋत्याः पुत्रः असि**=दुर्गति (विनाश, decay) का पुत्र है। मृत्यु की देवता का तू साधन बनता है। तू अन्त करनेवाला है, मौत ही है। हे स्वप्न! उस तुझको हम तेरे ठीक रूप में जानते हैं। तू हमें दुःस्वप्नों की कारणभूत इस दुर्गति (निर्ऋति=विनाश) से बचा। २. हे स्वप्न! हम **ते जनित्रं विद्म**=तेरे उत्पत्ति-कारण को समझते हैं। तू **अभूत्याः पुत्रः असि**=अभूति का (want of power) शक्ति के अभाव का पुत्र है। शक्ति के विनाश के कारण तू उत्पन्न होता है। मृत्यु की देवता का तू साधन बनता है। तू अन्त करनेवाला है, मौत ही है। हे स्वप्न! उस तुझको हम तेरे ठीक रूप में जानते हैं। तू हमें दुःस्वप्नों की कारणभूत इस अभूति (शक्ति के विनाश) से बचा। ३. हे स्वप्न! हम **ते जनित्रं विद्म**=तेरे उत्पत्ति-कारण को जानते हैं। तू **निर्भूत्याः पुत्रः असि**=अनैश्वर्य (ऐश्वर्य के नष्ट हो जाने) का पुत्र है। धन के विनष्ट होने पर रात्रि में उस निर्भूति के कारण अशुभ स्वप्न आते हैं। हे स्वप्न! तू मृत्यु की देवता का साधन बनता है। तू अन्त करनेवाला है, मौत ही है। हे स्वप्न! हम तुझे तेरे ठीक रूप में जानते हैं। तू हमें दुःस्वप्नों की कारणभूत इस निर्भूति (अनैश्वर्य) से बचा। ४. हे स्वप्न! हम **ते जनित्रं विद्म**=तेरे उत्पत्ति-कारण को जानते हैं। तू **पराभूत्याः पुत्रः असि**=पराजय का पुत्र है। तू मृत्यु की देवता का साधन बनता है। तू अन्त करनेवाला है, मौत ही है। हे स्वप्न! तू हमें दुःस्वप्नों की कारणभूत इस पराभूति (पराजय) से बचा। ५. हे स्वप्न! हम **ते जनित्रं विद्म**=तेरे उत्पत्ति-कारण को जानते हैं। तू **देवजामीनां पुत्रः असि**=(देवः इन्द्रियाँ, जम् to eat) 'इन्द्रियों का जो निरन्तर विषयों का चरण (भक्षण) है' उसका पुत्र है। इन्द्रियाँ सदा विषयों में भटकती हैं तो रात्रि में उन्हीं विषयों के स्वप्न आते रहते हैं। इसप्रकार ये स्वप्न **यमस्य करणः**=मृत्यु की देवता के उपकरण बनते हैं। हे स्वप्न! तू तो **अन्तकः असि**=अन्त ही करनेवाला है, **मृत्युः असि**=मौत ही है। हे स्वप्न! **तं त्वा**=उस तुझको **तथा**=उस प्रकार, अर्थात् मृत्यु के उपकरण के रूप में **संविद्म**=हम जानते हैं, अतः हे स्वप्न! **सः**=वह तू **नः**=हमें **दुःष्वप्न्यात् पाहि**=दुष्ट स्वप्नों के कारणभूत इन

'इन्द्रियों के निरन्तर विषयों में चरण' से बचा।

भावार्थ—'दुर्गति-अशक्ति-अनैश्वर्य-पराजय व इन्द्रियों का विषयों में भटकना' ये सब अशुभ स्वप्नों के कारण होते हुए शीघ्र मृत्यु को लानेवाले होते हैं। हम इन सबसे बचकर अशुभ स्वप्नों को न देखें और दीर्घजीवन प्राप्त करें।

६. [षष्ठं सूक्तम्]

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्, उषाः** ॥ छन्दः—**प्राजापत्याऽनुष्टुप्**॥

विजय-पूजन-निष्पापता

अजैष्माद्यासनामाद्याभूमानागसो वयम्॥ १॥

१. **अद्य**=आज **अजैष्म**=हमने सब वासनाओं को जीता है। इसी उद्देश्य से **असनाम** (worship)=हमने प्रभुपूजन किया है और प्रभुपूजन द्वारा **वयम्**=हम **अद्य**=आज **अनागसः अभूम**=निष्पाप हुए हैं।

भावार्थ—हम सदा वासनाओं को पराजित करने के लिए यत्नशील हों। इस वासना-संग्राम में विजय के लिए प्रभु का पूजन करें। यह प्रभुपूजन हमें निष्पाप बनाएगा।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्, उषाः** ॥ छन्दः—**प्राजापत्याऽनुष्टुप्**॥

दुःष्वप्नों का दूरीकरण

उषो यस्माद्दुःष्वप्न्यादभैष्माप तदुच्छतु॥ २॥

१. हे **उषः**=सब अन्धकारों का दहन करनेवाली उषे! **यस्मात्**=जिस **दुःष्वप्न्यात्**=दुष्ट स्वप्नों के कारणभूत 'ग्राही, दुर्गति, अशक्ति, अनैश्वर्य, पराजय व इन्द्रियों की विषय-परायणता' आदि से **अभैष्म**=हम भयभीत होते हैं, **तत्**=वह सब **अप उच्छतु**=हमसे दूर हो।

भावार्थ—'उषाकाल में जाग जाना' स्वयं दुष्ट स्वप्नों से हमें बचाता है। दुष्ट स्वप्नों की कारणभूत दुर्गति आदि भी हमसे दूर हों।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्, उषाः** ॥ छन्दः—**प्राजापत्याऽनुष्टुप्**॥

द्विषते-शपते

द्विषते तत्परा वह शपते तत्परा वह॥ ३॥

१. हे उषः! दुष्ट स्वप्नों के कारणभूत जितने भी रोग, दुर्गति आदि तत्त्व हैं **तत्**=उनको **द्विषते**=द्वेष की वृत्तिवाले पुरुष के लिए, सबके साथ प्रीति न करनेवाले पुरुष के लिए, **परावह**=सुदूर ले-जानेवाली हो। **तत्**=उन दुष्ट स्वप्नों के कारणभूत पदार्थों को **शपते**=आक्रोश करनेवाले क्रोधी स्वभाववाले पुरुष के लिए **परावह**=सुदूर ले-जा।

भावार्थ—दुष्ट स्वप्नों के कारणभूत दुर्गति आदि तत्त्व द्वेष की वृत्तिवाले आक्रोशी पुरुष के लिए प्राप्त हों। न हम द्वेष करें, न शाप दें। इसप्रकार दुःष्वप्नों से बचे रहें।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्, उषाः** ॥ छन्दः—**प्राजापत्याऽनुष्टुप्**॥

सर्वाप्रियता

यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तस्मा एनद्गमयामः॥ ४॥

१. **यम्**=जिस एक समाज-विरोधी पुरुष को हम सब **द्विष्मः**=प्रीति नहीं कर पाते **च**=और **यत्**=जो **नः द्वेष्टि**=हम सबके प्रति अप्रीतिवाला है **तस्मै**=उस सर्वाप्रिय पुरुष के लिए **एनत्**=इस दुष्ट स्वप्नों के कारणभूत ग्राही, निर्ऋति आदि को **गमयामः**=प्राप्त कराते हैं। २. वस्तुतः समाज

में जो सबका अप्रिय बन जाता है, वह सदा द्वेषाग्नि में जलता रहता है और परिणामतः भयंकर रोगों का शिकार हो जाता है। दुष्ट स्वप्नों को देखता हुआ यह अल्पायु हो जाता है।

भावार्थ—हम समाज में इसप्रकार शिष्टता व बुद्धिमत्ता से वर्तें कि सबके द्वेषपात्र न बन जाएँ। यह स्थिति नितान्त अवाञ्छनीय है। यह दुष्ट स्वप्नों व अल्पायुष्य का कारण बनती है।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्, उषाः** ॥ छन्दः—५ **साम्नीपङ्क्तिः**, ६ **निचृदार्चीबृहती** ॥

उषा+वाक्, उषस्पति+वाचस्पति

उषा देवी वाचा संविदाना वाग्देव्युषसा संविदाना ॥ ५ ॥
उषस्पतिर्वाचस्पतिना संविदानो वाचस्पतिरुषस्पतिना संविदानः ॥ ६ ॥

१. 'हमारे जीवनों में गतमन्त्र में वर्णित सर्वाप्रियता न उत्पन्न हो जाए' इसके लिए हम प्रयत्न करें कि **उषाः देवी**=अन्धकार को दूर करनेवाली यह उषा **वाचा संविदाना**=स्तुति व ज्ञान की वाणियों के साथ मेलवाली हो—ऐकमत्यवाली हो, अर्थात् उषा में जागरित होकर हम प्रभु-स्तवनपूर्वक स्वाध्याय में प्रवृत्त हों। हमारी यह **वाग् देवी**=दिव्य गुणयुक्त वाणी **उषसा संविदाना**=उषा के साथ मेलवाली हो। उषाकाल में हम स्तोत्रों व ज्ञानवाणियों का ही उच्चारण करनेवाले बनें। २. प्रातः प्रबुद्ध होनेवाला व्यक्ति 'उषस्पति' है और ज्ञान की वाणियों का स्वामी बननेवाला व्यक्ति 'वाचस्पति' है। **उषस्पतिः वाचस्पतिना संविदानः**=उषस्पति वाचस्पति के साथ मेलवाला हो और **वाचस्पतिः उषस्पतिना संविदानः**=वाचस्पति उषस्पति के साथ मेलवाला हो, अर्थात् एक व्यक्ति केवल उषस्पति व केवल वाचस्पति ही न बने, वह 'उषस्पति और वाचस्पति' दोनों बनने का प्रयत्न करे। वह प्रातः जागरणशील भी हो और प्रातः प्रबुद्ध होकर प्रभु-स्तवनपूर्वक स्वाध्याय में प्रवृत्त हो।

भावार्थ—हमारे जीवनों में 'उषा व वाक्' का मेल हो। हम 'उषस्पति व वाचस्पति' दोनों बनने का प्रयत्न करें। हमारे जीवनों में प्रातःजागरण के साथ प्रभु-स्तवन व स्वाध्याय जुड़े हुए हों।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्, उषाः** ॥ छन्दः—७ **द्विपदासाम्नीबृहती**, ८ **आसुरीजगती**, ९ **आसुरीबृहती** ॥

प्रभु-प्राप्ति के लिए वर्जनीय बातें

तेऽमुष्मै परा वहन्त्वरायान्दुर्णाम्नः सदान्वाः ॥ ७ ॥
कुम्भीकाः दूषीकाः पीयकान् ॥ ८ ॥
जाग्रद्दुःष्वप्न्यं स्वप्नेदुःष्वप्न्यम् ॥ ९ ॥

१. **ते**=वे गतमन्त्र में वर्णित 'उषस्पति+वाचस्पति' बननेवाले पुरुष **अमुष्मै**=उस प्रभु की प्राप्ति के लिए—प्रभु-प्राप्ति के उद्देश्य से—निम्न दुर्गुणों को अपने से **परा वहन्तु**=सुदूर (परे) प्राप्त करानेवाले हों। सबसे प्रथम **अरायान्**=(stingy, niggard) कृपणता की वृत्तियों को दूर करें। फिर **दुर्णाम्नः**=दुष्ट नामों को—अशुभ वाणियों को अपने से दूर करें तथा **सदान्वाः**=(सदा नृ=war, cry, shout, नुवति) हमेशा गालियाँ न देते रहे। २. **कुम्भीकाः** (swelling of the eyelids) पलकों के सदा सूजे रहने को हम दूर करें। शोक में क्रन्दन के कारण हमारी पलकें सदा सूजी न रहें। **दूषीकाः**=(rheum of the eyes) आँखों के मल को हम अपने से दूर करें, द्वेष आदि से आँखें मलिन न हों तथा **पीयकान्** (पीयते to drink) अपेय द्रव्यों (शराब आदि) के पीने की वृत्ति को अपने समीप न आने दें। ३. **जाग्रद् दुःष्वप्न्यम्**=जगाते हुए अशुभ स्वप्नों

को अपने से दूर करें तथा **स्वप्ने दुःष्वप्न्यम्**=सोते हुए अशुभ स्वप्नों को न लेते रहें। दिन में भी अशुभ कार्यों का ध्यान न आता रहे तथा रात्रि में स्वप्नावस्था में तो अशुभ बातों का ध्यान हो ही नहीं।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति कृपणता, अशुभवाणी व अपशब्दों से दूर रहता है। यह शोक व द्वेष में फँसकर आँखों को विकृत नहीं कर लेता। यह शराब आदि अपेय पदार्थों का ग्रहण नहीं करता। जागते व सोते यह अशुभ स्वप्नों को नहीं लेता रहता।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्, उषाः** ॥ छन्दः—**आर्च्युष्णिक्** ॥

उपासक की तीन बातें

अनागमिष्यतो वरानवित्तेः संकल्पानमुच्या द्रुहः पाशान्॥ १०॥

१. हे प्रभु के उपासक! तू **अनागमिष्यतः**=उन सब उत्तम पदार्थों को जो आते प्रतीत नहीं होते **अमुच्याः**=छोड़नेवाला बन। प्रयत्न में तो कमी नहीं करना, परन्तु व्यर्थ की आशाएँ नहीं लगाए रखना। 'ये तो मिल गया है, ये भी मिल जाएगा' इस प्रकार नहीं सोचते रहना। २. साथ ही **अवित्तेः संकल्पान्**=अनैश्वर्य के संकल्पों को भी तू छोड़नेवाला हो। निर्धनता के आ जाने की आकांक्षाओं से डरते न रहना। **द्रुहः पाशान्**=द्रोह की भावना के पाशों को भी तू छोड़। किसी के विषय में द्रोह की भावना को अपने हृदय में स्थान न देना।

भावार्थ—प्रभु का उपासक भविष्य की उज्ज्वल कल्पनाओं में नहीं उड़ता रहता। निर्धनता के आ जाने के भय से घबराया नहीं रहता और कभी भी द्रोह की भावना से युक्त नहीं होता।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्, उषाः** ॥ छन्दः—**त्रिपदायवमध्यागायत्री, आर्च्युनुष्टुब्वा** ॥

वध्रिः, न विथुरः, साधुः

तदमुष्मा अग्ने देवाः परा वहन्तु वध्रिर्यथासद्विथुरो न साधुः॥ ११॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **अमुष्मै**=उस उल्लिखित साधक के लिए **देवाः**=सब देव **तत् परावहन्तु**='अनागमिष्यतो वरान्०' इत्यादि उपर्युक्त बातों को दूर करनेवाले हों। 'माता, पिता, आचार्य व अतिथि' रूप देव उसे इसप्रकार शिक्षित करें कि वह भविष्य की कल्पनाओं में उड़नेवाला न हो, निर्धनता की आकांक्षाओं से भयभीत न हो और द्रोह की भावना से जकड़ा हुआ न हो। २. इसे इसप्रकार शिक्षित कीजिए **यथा**=जिससे यह **वध्रिः असत्**=(वधति to kill) सब बुराइयों का संहार करनेवाला हो, **न विथुरः**=(विथुर A thief) चोर न बन जाए। **साधुः**=सब कार्यों को सिद्ध करनेवाला हो।

भावार्थ—माता, पिता, आचार्य व अतिथि हमें इसप्रकार शिक्षित करें कि हम ख्याली पुलावों को ही न पकाते रहें, आनेवाली विपत्तियों से भयभीत भी न हुए रहें और द्रोहशून्य बनें। बुरायों का संहार करें, चोर न बनें और सब कार्यों को सिद्ध करनेवाले हों।

७. [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्** ॥ छन्दः—**१ पङ्क्तिः, २ साम्न्यनुष्टुप्, ३ आसुर्युष्णिक्, ४ प्राजापत्यागायत्री** ॥

द्वेष से विनाश

तेनैनं विध्याम्यभूत्यैनं विध्यामि निर्भूत्यैनं विध्यामि
पराभूत्यैनं विध्यामि ग्राह्यैनं विध्यामि तमसैनं विध्यामि॥ १॥

देवानामेनं घोरैः क्रूरैः प्रैषैरभिप्रेष्यामि॥ २॥
वैश्वानरस्यैनं दंष्ट्रयोरपि दधामि॥ ३॥
एवानेवाव सा गरत्॥ ४॥

१. पञ्चम मन्त्र में कहेंगे कि 'योऽस्मान् द्वेष्टि'=जो हमारे साथ द्वेष करता है, **तेन**=उस हेतु से अथवा उस द्वेष से **एनं विध्यामि**=इस द्वेष करनेवाले को ही विद्ध करता हूँ। द्वेष करनेवाला स्वयं ही उस द्वेष का शिकार हो जाता है। **अभूत्या एनं विध्यामि**=शक्ति के अभाव से, शक्ति के विनाश से, इस द्वेष करनेवाले को विद्ध करता हूँ। **निर्भूत्या एनं विध्यामि**=ऐश्वर्य-विनाश से इसको विद्ध करता हूँ। **पराभूत्या एनं विध्यामि**=पराजय से इसे विद्ध करता हूँ। **ग्राह्याः एनं विध्यामि**=जकड़ लेनेवाले रोग से इसे विद्ध करता हूँ। **तमसा एनं विध्यामि**=अन्धकार से इसे विद्ध करता हूँ। यह द्वेष करनेवाला 'अभूति' इत्यादि से पीड़ित होता है। २. **एनं**=इस द्वेष करनेवाले को **देवानाम्**=विषयों की प्रकाशक इन्द्रियों की **घोरैः**=भयंकर **क्रूरैः** (undesirable) अवाञ्छनीय **प्रैषैः**=(crushing) विकृतियों से **अभिप्रेष्यामि**=अभिक्षिप्त (Hurt) करता हूँ। द्वेष करनेवाले की इन्द्रियों में अवाञ्छनीय विकार उत्पन्न हो जाते हैं। ३. **वैश्वानरस्य**=उन सब मनुष्यों का हित करनेवाले प्रभु की **दंष्ट्रयोः**=दाढ़ों में—न्याय के जबड़ों में **एनं अपिदधामि**=इस द्वेष करनेवाले को पिहित (क़ैद) कर देता हूँ। ४. **सा**=वह उल्लिखित मन्त्रों में वर्णित 'अभूति-निर्भूति०' इत्यादि बातें **एवा**=इसप्रकार शक्ति व ऐश्वर्य के विनाश के द्वारा या **अनेव**=किसी अन्य प्रकार से **अवगरत्**=इस द्वेष करनेवाले को निगल जाए।

भावार्थ—द्वेष करनेवाला व्यक्ति 'अभूति' आदि से विद्ध होकर इन्द्रियों की विकृति का शिकार होता है। यह प्रभु से भी दण्डनीय होता है। यह द्वेष की भावना किसी-न-किसी प्रकार इसे ही निगल जाती है।

ऋषिः—**यमः**॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्**॥ छन्दः—**५ आर्च्युष्णिक्, ६ साम्नीबृहती**॥

समाज-विद्वेष=आत्मविद्वेष

योऽ३स्मान्द्वेष्टि तमात्मा द्वेष्टु यं वयं द्विष्मः स आत्मानं द्वेष्टु॥ ५॥
निर्द्विषन्तं दिवो निः पृथिव्या निरन्तरिक्षाद्भजाम॥ ६॥

१. हे प्रभो! **यः**=जो **अस्मान् द्वेष्टि**=हम सबके प्रति द्वेष करता है, **तम्**=उसको **आत्मा द्वेष्टु**=आत्मा प्रीति न करनेवाला हो। **यं वयं द्विष्मः**=जिसको हम सब प्रीति नहीं कर पाते **सः आत्मानं द्वेष्टु**=वह अपने से प्रीति करनेवाला न हो। वस्तुतः जो एक व्यक्ति सारे समाज के प्रति प्रीतिवाला न होकर स्वार्थसिद्धि को ही महत्त्व देता है, वह सारे समाज का अप्रिय होकर अन्ततः अपनी ही दुर्गति कर बैठता है। यह समाजविद्वेष आत्म-अवनति का मार्ग है, अतः यह समाज के प्रति द्वेष करनेवाला व्यक्ति आत्मा का ही द्वेष कर रहा होता है। २. **द्विषन्तम्**=इस द्वेष करनेवाले को **दिवः निर्भजाम**=द्युलोक से दूर भगा दें (भज to put to flight)। केवल द्युलोक से ही नहीं, **पृथिव्या निर् (भजाम)**=पृथिवीलोक से भी भगा दें तथा **अन्तरिक्षात् निः**=अन्तरिक्ष से भी दूर भगा दें। इस द्वेष करनेवाले का इस त्रिलोकी में स्थान न हो। त्रिलोकी में कोई भी इसका न हो। त्रिलोकी से दूर भगाने का यह भी भाव है कि इसका मस्तिष्क (द्युलोक), हृदय (अन्तरिक्ष) व शरीर (पृथिवी) सभी विकृत हो जाएँ। इसके मस्तिष्क हृदय व शरीर की शक्ति का भंग हो जाए। द्वेष का यह परिणाम स्वाभाविक है।

भावार्थ—समाजविद्वेषी पुरुष वस्तुतः आत्मा की अवनति करता हुआ अपने से ही द्वेष

करता है। इसके लिए त्रिलोकी में स्थान नहीं रहता। यह 'शरीर, मन व मस्तिष्क' सभी को विकृत कर लेता है।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्** ॥ छन्दः—७ **याजुषीगायत्री**, ८ **प्राजापत्याबृहती** ॥

सुयामन्+चाक्षुष

सुयामंश्चाक्षुष ॥ ७ ॥

इदमहमामुष्यायणेऽमुष्याः पुत्रे दुःष्वप्न्यं मृजे ॥ ८ ॥

१. मनुष्य को चाहिए कि वह द्वेष की भावना से ऊपर उठकर आत्महित का साधन करे। इस साधक को सम्बोधन करते हुए प्रभु कहते हैं कि हे **सुयामन्**=सम्यक् नियमन करनेवाले! और अतएव **चाक्षुष**=आत्मनिरीक्षण करनेवाले पुरुष! २. **अहम्**=मैं **आमुष्यायणे**=(well-born) तेरे-जैसे कुलीन पुरुष के जीवन में **अमुष्याः पुत्रे**=एक कुलीन माता के पुत्र में **इदं दुःष्वप्न्यम्**=इस दुष्ट स्वप्न के कारणभूत रोग, अशक्ति व अनैश्वर्य आदि को **मृजे**=शुद्धकर डालता हूँ। इन अभूति आदि को नष्ट कर देता हूँ।

भावार्थ—प्रभु अपने पुत्र जीव को इस रूप में सम्बोधित करते हैं कि तूने जीवन का नियमन करना है और आत्मनिरीक्षण करनेवाला बनना है। तू अपने को कुलीन प्रमाणित करना। माता के सुपुत्र तुझमें सब दुष्ट स्वप्नों के कारणभूत अभूति आदि को मैं विनष्ट किये देता हूँ।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्** ॥ छन्दः—९, ११ **साम्नीबृहती**, १० **साम्नीगायत्री** ॥

दोष-विनाश

यददोअदो अभ्यगच्छन्यद्दोषा यत्पूर्वां रात्रिम् ॥ ९ ॥

यज्जाग्रद्यत्सुप्तो यद्दिवा यन्नक्तम् ॥ १० ॥

यदहरहरभिगच्छामि तस्मादेनमव दये ॥ ११ ॥

१. प्रभु-प्रेरणा को सुनकर जीव उत्तर देता है कि **यत्**=जो **अदः अदः**=अमुक-अमुक दोष **अभ्यगच्छन्**=मेरे प्रति आता हो, **यत्**=जो दोष **दोषा**=रात्रि के समय आता है, **यत्**=जो **पूर्वं रात्रिम्**=रात्रि के पूर्वभाग में मुझे प्राप्त होता है। मेरे न चाहते हुए भी रात्रि के समय जिस दोष से मैं आक्रान्त हो जाता हूँ। २. अथवा **यत्**=जिस दोष को **जाग्रत्**=जागते हुए, **यत्**=जिस दोष को मैं **सुप्तः**=सोये हुए, **यत्**=जिस दोष को **दिवः**=दिन में और **यत्**=जिस दोष को **नक्तम्**=रात्रि में, ३. **यत्**=जिस दोष को **अहरहः**=प्रतिदिन **अभिगच्छामि**=मैं प्राप्त होता हूँ, **एनम्**=इस दोष को **तस्मात्**=संयम के द्वारा (सुयामन्), आत्मनिरीक्षण के द्वारा (चाक्षुष) तथा कुलीनता के विचार के द्वारा (आमुष्यामण) **अवदये**=सुदूर विनष्ट करता हूँ। (दय हिंसायाम्)।

भावार्थ—जो दोष मुझे रात्रि के समय आक्रान्त कर लेता है, या जिस दोष के प्रति मैं सोते-जागते चला जाता हूँ, उस दोष को 'संयम, आत्मनिरीक्षण व कुलीनता' के विचार से दूर करता हूँ—विनष्ट करता हूँ।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्** ॥ छन्दः—१२ **भुरिक्प्राजापत्याऽनुष्टुप्**, १३ **आसुरीत्रिष्टुप्** ॥

प्रभु का आदेश

तं जहि तेन मन्दस्व तस्य पृष्टीरपि शृणीहि ॥ १२ ॥

स मा जीवीत्तं प्राणो जहातु ॥ १३ ॥

१. दोषविनाश के लिए पुत्र द्वारा की गई प्रतिज्ञा को सुनकर प्रभु उसे उत्साहित करते हुए कहते हैं कि **तं जहि**=उस दोष को नष्ट कर डाल और **तेन**=उस दोषविनाश से **मन्दस्व**=आनन्द का अनुभव कर। तुझे दोषविनाश में ही आनन्द प्राप्त हो। **तस्य**=उस दोष की, **पृष्टीः अपि**=पसलियों को भी **शृणीहि**=नष्ट कर डाल। २. **सः मा जीवीत्**=वह मत जीवे। **तं प्राणो जहातु**=उसको प्राण छोड़ जाए। यहाँ दोष को पुरुषविध कल्पित करके उसे विनष्ट करने का उपदेश दिया गया है।

भावार्थ—परमपिता प्रभु उपदेश देते हैं कि हे जीव! तू दोषविनाश में ही आनन्द लेनेवाला बन। दोषरूप पुरुष की पसलियों को तोड़ दे, उसे निष्प्राण कर दे।

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्** ॥ छन्दः—**१ एकपदायजुर्ब्राह्म्यनुष्टुप्, २ त्रिपादानिचृद्गायत्री, ३ प्राजापत्यागायत्री, ४ त्रिपदाप्राजापत्यात्रिष्टुप्** ॥

जितम्-उद्भिन्नम्, मृतम्

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्व१रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्॥ १॥
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः॥ २॥
स ग्राह्याः पाशान्मा मोचि॥ ३॥
तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ ४॥

१. (क) **अस्माकं जितम्**=हमारी विजय हो—हम अन्तः व बाह्य शत्रुओं को जीतनेवाले बनें। इन शत्रुओं को जीतकर **उद्भिन्नम् अस्माकम्**=हमारा उत्थान हो। जिस प्रकार पृथिवी को विदीर्ण करके अंकुर ऊपर आ जाता है, उसी प्रकार हम शत्रुओं को विदीर्ण करके ऊपर उठनेवाले हों। **ऋतम् अस्माकम्**=शत्रुओं को पराजित करके हम ऋत को प्राप्त करें। हम अपनी सब भौतिक क्रियाओं में सूर्य-चन्द्र की भाँति ऋत का पालन करें। असमय में भोजनादि करने से रोगों के कारण हम मृत्यु का शिकार न हो जाएँ। (ख) **तेजः अस्माकम्, ब्रह्म अस्माकम्**=शत्रु-विजय के परिणामस्वरूप ही हमारा तेज हो और हमारा ज्ञान हो। यह शत्रु-विजय हमें शरीर में तेजस्वी बनाए और मस्तिष्क में ज्ञानदीप्त। (ग) तेजस्वी व ज्ञानदीप्त बनने पर **स्वः अस्माकम्, यज्ञः अस्माकम्**=हमारे हृदय में आत्मप्रकाश हो तथा हमारे हाथों में यज्ञ हों। जहाँ हृदय में हम आत्मप्रकाश को देखें, वहाँ हाथों से सदा यज्ञों में प्रवृत्त रहें। (घ) अब इन यज्ञों के होने पर **अस्माकं पशवः, अस्माकं प्रजाः, अस्माकं वीराः**=हमारे पास उत्तम पशु हों, हमारी सन्तानें उत्तम हों और हमारे सब पुरुष वीर हों। २. **तस्मात्**=अपनी प्रजाओं व वीरों को उत्तम बनाने के द्वारा **अमुम् निर्भजामः**=हम उस शत्रु को दूर भगा देते हैं, **आमुष्यायणम्**=जो अमुक गोत्र का है, **अमुष्याः पुत्रम्**=अमुक का पुत्र है, **असौ यः**=जो वह है। ३. **सः**=वह हमारा शत्रु **ग्राह्याः पाशात्**=जकड़ लेनेवाले रोग के पाश से **मा मोचि**=मत छूटे। यह शत्रुता का भाव ही उसके इन रोगों का कारण बने। ४. **तस्य**=उसके **इदम्**=इस **वर्चः तेजः प्राणं आयुः**=वीर्य, बल, प्राणशक्ति व आयु को **निवेष्टयामि**=मैं वेष्टित किये लेता हूँ—घेर लेता हूँ और **इदम्**=(इदानीम्) अब **एनम्**=इसको **अधराञ्चं पादयामि**=नीचे गिरा देता हूँ—पाँव तले रौंद डालता हूँ। शत्रुओं को जीतकर ही सब प्रकार की उन्नति सम्भव है।

भावार्थ—इस जीवन में विजय व उन्नति को प्राप्त होते हुए हम ऋत का पालन करें। शरीर

में तेजस्वी हों, मस्तिष्क में ज्ञानपूर्ण, हृदय में आत्मप्रकाशवाले व हाथों में यज्ञोंवाले बनें। हमारे पशु, प्राण व वीर सब उत्तम हों। शत्रुओं को हम पराजित कर दूर भगा दें। वे शत्रु शत्रुता के कारण ही रोगों का शिकार हो जाएँ। उनके वीर्य, बल, प्राण व आयु को हम नष्ट कर सकें। उन्हें पराजित करके उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ें।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्** ॥ छन्दः—५-९ **एकपदायजुर्ब्राह्म्यनुष्टुप्, त्रिपदानिचृद्गायत्री, त्रिपदाप्राजापत्यात्रिष्टुप्, ५-७ (सर्वेषां तृ०) आसुरीजगती, ८ (सर्वेषां तृ०) आसुरीत्रिष्टुप्, ९ (सर्वेषां तृ०) आसुरीपङ्क्तिः** ॥

शत्रुता का दुष्परिणाम

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व१र्स्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। स निर्ऋत्याः पाशान्मा मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ ५॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व१र्स्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। सोऽभूत्याः पाशान्मा मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ ६॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व१र्स्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। स निर्भूत्याः पाशान्मा मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ ७॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व१र्स्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। स पराभूत्याः पाशान्मा मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ ८॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व१र्स्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। स देवजामीनां पाशान्मा मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ ९॥

१. हम विजय व उन्नति आदि दशों रत्नों को प्राप्त करें। इसी उद्देश्य से शत्रु को परास्त करें। **सः**=वह शत्रु शत्रुता के कारण ही '**निर्ऋत्याः**=दुर्गति, **अभूत्याः**=शान्ति का अभाव, **पराभूत्याः**=पराजय व **देवजामीनां**=इन्द्रियों की विषयासक्ति' के **पाशात्**=पाशों से **मा मोचि**=मत मुक्त हो। हम उसके वीर्य, बल, प्राण व आयु को घेरकर उसे परास्त करने में समर्थ हों।

भावार्थ—हमारा शत्रु, इस शत्रुता के कारण ही, 'दुर्गति, शक्ति-अभाव, अनैश्वर्य, पराजय व विषयासक्ति' के पाशों में जकड़ा जाकर नष्ट हो जाए। हम उसे पराजित कर पाएँ।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—दुःष्वप्ननाशनम् ॥ छन्दः—१०-१७ एकपदायजुर्ब्राह्म्यनुष्टुप्, त्रिपदानिचृद्गायत्री, त्रिपदाप्राजापत्यात्रिष्टुप्, १२ (सर्वेषां तृ०) आसुरीजगती, १०,११,१३,१४,१६ (सर्वेषां तृ०) आसुरीत्रिष्टुप्, १५,१७ (सर्वेषां तृ०) आसुरीपङ्क्तिः ॥

अध्यात्म शत्रुओं का प्रतीकार

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व॒रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। स बृहस्पतेः पाशान्मा मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ १०॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व॒रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। स प्रजापतेः पाशान्मा मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ ११॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व॒रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। स ऋषीणां पाशान्मा मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ १२॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व॒रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। स आर्षेयाणां पाशान्मा मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ १३॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व॒रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। सोऽङ्गिरसां पाशान्मा मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ १४॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व॒रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। स आङ्गिरसानां पाशान्मा मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ १५॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व॒रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। सोऽथर्वणां पाशान्मा मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ १६॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं स्व रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्। तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। स आथर्वणानां पाशान्मा मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ १७॥

१. हम विजय आदि दशों रत्नों को प्राप्त करें। उसके लिए हम काम-क्रोधादि आध्यात्म शत्रुओं को जीतनेवाले बनें। **सः**=वह 'काम'-रूप शत्रु **बृहस्पते पाशात् मा मोचि**=बृहस्पति के पाश से मुक्त न हो। हम इस कामरूप शत्रु के वीर्य, बल, प्राण व आयु को घेरकर उसे परास्त करने में समर्थ हों। बृहस्पति ज्ञान का स्वामी है। बृहस्पति के पाश में जकड़ने का भाव है 'ज्ञान की रुचिवाला' बनना। ज्ञान की रुचिवाला बनते ही वह पुरुष काम का विध्वंस कर पाता है। २. इसीप्रकार क्रोधरूप शत्रु है। **सः**=वह **प्रजापतेः पाशात्**=प्रजापति के पाश से **मा मोचि**=मत छोड़ा जाए। 'प्रजापति' में सन्तानों के रक्षण की भावना है। इस भावना के प्रबल होने पर हम क्रोध से ऊपर उठते हैं। क्रोध विनाश का कारण बनता है—न कि पालन का। ३. तीसरा शत्रु लोभ है। **सः**=वह **ऋषीणाम्**=ऋषियों के **पाशात् मा मोचि**=पाश से मत मुक्त हो। ऋषियों के पाश में हम अपने को जकड़ते हैं, तो लोभ विनष्ट हो जाता है। ऋषि मन्त्रद्रष्टा हैं—विचारशील हैं। 'कस्य स्विद्धनम्' इस बात का विचार करने पर लोभ स्वतः ही नष्ट हो जाता है। **सः**=वह लोभरूप शत्रु **आर्षेयाणाम्**=ऋषिकृत ग्रन्थों के **पाशात् मा मोचि**=पाश से मत मुक्त हो। ऋषिकृतग्रन्थों का अध्ययन हमें लोभ से ऊपर उठाता ही है। ४. चौथा 'मोह' रूप शत्रु है। **सः**=वह **अङ्गिरसाम्**=(प्राणो वा अङ्गिरसाः—श० ६.१.२.२८) प्राणों के **पाशात् मा मोचि**=पाश से मत मुक्त हो। प्राणसाधना करते हुए हम मोह से ऊपर उठें। प्राणसाधना वैचित्य को (मुह वैचित्ये) दूर करती ही है। एवं, प्राणसाधक वस्तुओं को ठीकरूप में देखता हुआ मोह में नहीं फँसता। **सः**=वह मोहरूप शत्रु **आङ्गिरसानाम्**=(स वा एष आंगिरसाः 'अन्नाद्यम्' अतो हीमान्यंगानि रसं लभन्ते। तस्मादांगिरसः—जै० ३.२.११.९) आद्य अन्नों के **पाशात् मा मोचि**=बन्धन से मत मुक्त हो। यदि हम खाने योग्य सात्त्विक अन्नों का ही प्रयोग करेंगे तो हमारा मन भी सात्त्विक भावना से ओत-प्रोत होने से मोह में न फँसेगा। एवं मोह से ऊपर उठने के लिए 'अङ्गिरा व आङ्गिरसों' के पाश में हमें अपने को जकड़ना चाहिए। प्राणसाधना करें व आद्य अन्न का सेवन करें तभी हमारा मोह (वैचित्य='अज्ञान') नष्ट होगा। ५. पाँचवाँ 'मद' हमारा शत्रु है। **सः**=वह **अथर्वणाम्**=(अथ अर्वाङ्) आत्मनिरीक्षण करनेवालों के **पाशात् मा मोचि**=पाश से मत मुक्त हो। यदि हम आत्मनिरीक्षण करनेवाले बनेंगे तो कभी मदवाले न होंगे। दूसरों को देखते रहने पर ही अपने दोष नहीं दिखते और अभिमान (मद) की उत्पत्ति होती है। इसीप्रकार 'मत्सर' शत्रु है। **सः**=वह **आथर्वणानाम्**=आथर्वणों के **पाशात् मा मोचि**=पाश से मत मुक्त हो। (अ+थर्व् to go, move) आथर्वण, अर्थात् स्थिरवृत्ति के बनकर हम मत्सर से ऊपर उठें। हमें औरों की सम्पत्ति को देखकर जलन न हो।

भावार्थ—ज्ञानरुचिता हमें 'कामवासना' पर विजयी बनाए। प्रजापतित्व की भावना हमें क्रोध से ऊपर उठाकर प्रेममय बनाए। तत्त्वद्रष्टा बनते हुए व तत्त्वदर्शी पुरुषों के ग्रन्थों को पढ़ते हुए हम लोभ से ऊपर उठें। प्राणसाधना द्वारा हमारा मोह विनष्ट हो। इसके विनाश के लिए ही हम सात्त्विक अन्नों का प्रयोग करें। आत्मनिरीक्षण करते हुए हम 'मद' को नष्ट करें तथा स्थिरवृत्ति के बनकर मत्सर से आक्रान्त न हों।

ऋषिः—यमः ॥ देवता—दुःष्वप्ननाशनम् ॥ छन्दः—१८-२९ (प्र०), ३० एकपदा-यजुर्ब्राह्म्यनुष्टुप्, १८-२९ (द्वि०), ३१ त्रिपदानिचृद्गायत्री, १८-२९ (च०), ३३ त्रिपदा-प्राजापत्यात्रिष्टुप्, २०,२२,२७ (सर्वेषां तृ०) आसुरीजगती, २१ (सर्वेषां तृ०) आसुरीत्रिष्टुप्, १८,१९,२३-२६ (सर्वेषां तृ०), ३२ आसुरीपङ्क्तिः, २८,२९ (द्वयोः तृ०) आसुरी बृहती ॥

शारीर 'रोगरूप' शत्रुओं का प्रतीकार

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व१ रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। स वनस्पतीनां पाशान्मा मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ १८॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व१ रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। स वानस्पत्यानां पाशान्मा मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ १९॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व१ रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। स ऋतूनां पाशान्मा मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ २०॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व१ रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। स आर्तवानां पाशान्मा मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ २१॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व१ रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। स मासानां पाशान्मा मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ २२॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व१ रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। सो१ऽर्धमासानां पाशान्मा मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ २३॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मास्माकं
स्व१ रस्माकं यज्ञो३ऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम्।
तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः। सो१ऽहोरात्रयोः पाशान्मा मोचि। तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि॥ २४॥

जितम॒स्माक॒मुद्भि॑न्नम॒स्माक॑मृ॒तम॒स्माक॒ं तेजो॒ऽस्माक॒ं ब्रह्मा॒स्माक॑ं
स्व॒ऽरस्माक॑ं य॒ज्ञो३॒ऽस्माक॑ं प॒शवो॒ऽस्माक॑ं प्र॒जा अ॒स्माक॑ं वी॒रा अ॒स्माक॑म्।
तस्मा॑द॒मुं निर्भ॑जामो॒ऽमुमा॑मुष्याय॒णम॒मुष्याः॑ पु॒त्रम॒सौ यः। सो॑ऽह्नोः॑ संवृ॒तोः पाशा॒न्मा मोचि। तस्ये॒दं वर्च॒स्तेजः॑ प्रा॒णमायु॒र्नि वे॑ष्टयामी॒दमे॑नमध॒राञ्चं॑ पादयामि॥ २५॥
जितम॒स्माक॒मुद्भि॑न्नम॒स्माक॑मृ॒तम॒स्माक॒ं तेजो॒ऽस्माक॒ं ब्रह्मा॒स्माक॑ं
स्व॒ऽरस्माक॑ं य॒ज्ञो३॒ऽस्माक॑ं प॒शवो॒ऽस्माक॑ं प्र॒जा अ॒स्माक॑ं वी॒रा अ॒स्माक॑म्।
तस्मा॑द॒मुं निर्भ॑जामो॒ऽमुमा॑मुष्याय॒णम॒मुष्याः॑ पु॒त्रम॒सौ यः। स द्यावा॑पृथि॒व्योः पाशा॒न्मा मोचि। तस्ये॒दं वर्च॒स्तेजः॑ प्रा॒णमायु॒र्नि वे॑ष्टयामी॒दमे॑नमध॒राञ्चं॑ पादयामि॥ २६॥
जितम॒स्माक॒मुद्भि॑न्नम॒स्माक॑मृ॒तम॒स्माक॒ं तेजो॒ऽस्माक॒ं ब्रह्मा॒स्माक॑ं
स्व॒ऽरस्माक॑ं य॒ज्ञो३॒ऽस्माक॑ं प॒शवो॒ऽस्माक॑ं प्र॒जा अ॒स्माक॑ं वी॒रा अ॒स्माक॑म्।
तस्मा॑द॒मुं निर्भ॑जामो॒ऽमुमा॑मुष्याय॒णम॒मुष्याः॑ पु॒त्रम॒सौ यः। स इ॑न्द्रा॒ग्न्योः पाशा॒न्मा मोचि। तस्ये॒दं वर्च॒स्तेजः॑ प्रा॒णमायु॒र्नि वे॑ष्टयामी॒दमे॑नमध॒राञ्चं॑ पादयामि॥ २७॥
जितम॒स्माक॒मुद्भि॑न्नम॒स्माक॑मृ॒तम॒स्माक॒ं तेजो॒ऽस्माक॒ं ब्रह्मा॒स्माक॑ं
स्व॒ऽरस्माक॑ं य॒ज्ञो३॒ऽस्माक॑ं प॒शवो॒ऽस्माक॑ं प्र॒जा अ॒स्माक॑ं वी॒रा अ॒स्माक॑म्।
तस्मा॑द॒मुं निर्भ॑जामो॒ऽमुमा॑मुष्याय॒णम॒मुष्याः॑ पु॒त्रम॒सौ यः। स मि॒त्रावरु॑णयो॒ः पाशा॒न्मा मोचि। तस्ये॒दं वर्च॒स्तेजः॑ प्रा॒णमायु॒र्नि वे॑ष्टयामी॒दमे॑नमध॒राञ्चं॑ पादयामि॥ २८॥
जितम॒स्माक॒मुद्भि॑न्नम॒स्माक॑मृ॒तम॒स्माक॒ं तेजो॒ऽस्माक॒ं ब्रह्मा॒स्माक॑ं
स्व॒ऽरस्माक॑ं य॒ज्ञो३॒ऽस्माक॑ं प॒शवो॒ऽस्माक॑ं प्र॒जा अ॒स्माक॑ं वी॒रा अ॒स्माक॑म्।
तस्मा॑द॒मुं निर्भ॑जामो॒ऽमुमा॑मुष्याय॒णम॒मुष्याः॑ पु॒त्रम॒सौ यः। स राज्ञो॒ वरु॑णस्य॒ पाशा॒न्मा मोचि। तस्ये॒दं वर्च॒स्तेजः॑ प्रा॒णमायु॒र्नि वे॑ष्टयामी॒दमे॑नमध॒राञ्चं॑ पादयामि॥ २९॥
जितम॒स्माक॒मुद्भि॑न्नम॒स्माक॑मृ॒तम॒स्माक॒ं तेजो॒ऽस्माक॒ं ब्रह्मा॒स्माक॑ं
स्व॒ऽरस्माक॑ं य॒ज्ञो३॒ऽस्माक॑ं प॒शवो॒ऽस्माक॑ं प्र॒जा अ॒स्माक॑ं वी॒रा अ॒स्माक॑म्॥ ३०॥
तस्मा॑द॒मुं निर्भ॑जामो॒ऽमुमा॑मुष्याय॒णम॒मुष्याः॑ पु॒त्रम॒सौ यः॥ ३१॥
स मृ॒त्योः पड्वी॑शात्पाशा॒न्मा मोचि॥ ३२॥
तस्ये॒दं वर्च॒स्तेजः॑ प्रा॒णमायु॒र्नि वे॑ष्टयामी॒दमे॑नमध॒राञ्चं॑ पादयामि॥ ३३।

१. हम विजय आदि दशों रत्नों को प्राप्त करें। इसी उद्देश्य से शरीर में उत्पन्न हो जानेवाले रोगरूप शत्रुओं को नष्ट करें। **सः**=वह रोगरूप शत्रु **वनस्पतीनां**=वनस्पतियों के **पाशात्**=पाशों से **मा मोचि**=मत मुक्त हो, अर्थात् वनस्पतियों का प्रयोग इन रोगों के नाश का कारण बने। **सः**=वह रोग **वानस्पत्यानाम्**=वनस्पति से प्राप्त पदार्थों के **पाशात् मा मोचि**=पाश से मत मुक्त हो, अर्थात् वानस्पत्य भोजनों को करते हुए हम रोगों का शिकार न हों। २. **सः**=वह रोग **ऋतूनाम्**=ऋतुओं के **पाशात्**=पाश से **मा मोचि**=मत मुक्त हो। ऋतुचर्या का ठीक से पालन हमें रोगाक्रान्त होने से बचाए। **सः**=वह रोग **आर्तवानाम्**=उस-उस ऋतु में होनेवाले पदार्थों के **पाशात् मा मोचि**=पाश से मत मुक्त हो। हम ऋतु के पदार्थों का प्रयोग करते हुए नीरोग बने रहें। ३. **सः**=वह व्याधि **मासानां**=मासों के **पाशात् मा मोचि**=पाश से मत मुक्त हो। इसीप्रकार

सः=वह **अर्धमासानां**=अर्धमासों (पक्षों) के **पाशात् मा मोचि**=पाश से मत मुक्त हो। उस-उस मास व पक्ष के अनुसार अपनी चर्या को करते हुए हम नीरोग बनें। ४. **सः**=वह रोग **अहोरात्र्योः**=दिन-रात के **पाशात् मा मोचि**=पाश से मत मुक्त हो। **सः**=वह **संयतो अह्नः**=(be formed in rows) क्रम में स्थित दिनों के **पाशात्**=पाश से **मा मोचि**=मत मुक्त हो। 'दिन के बाद रात और रात के बाद दिन' इसप्रकार दिन-रात चलते ही रहते हैं। दिन कार्य के लिए है और रात्रि आराम के लिए। इनके व्यवहार के ठीक होने पर रोगों से बचाव रहता है। यह 'काम और आराम' का क्रम टूटते ही रोग आने लगते हैं। 'रात्रौ जागरणं रूक्षं स्निग्धं प्रस्वपनं दिवा'। ५. **सः**=वह रोग **द्यावापृथिव्योः**=द्यावापृथिवी के **पाशात् मा मोचि**=पाश से मत मुक्त हो। 'द्यावा' मस्तिष्क है, 'पृथिवी' शरीर है। हम इन्हें क्रमशः दीप्त व दृढ़ बनाएँ और इसप्रकार नीरोग जीवनवाले हों। **सः**=वह रोग **इन्द्राग्न्योः**=इन्द्र और अग्नि के **पाशात् मा मोचि**=पाश से मत मुक्त हो। 'इन्द्र' जितेन्द्रियता का प्रतीक है, 'अग्नि' प्रगति का। जितेन्द्रियता व प्रगतिशीलता हमें नीरोग बनाएँ। **सः**=वह **मित्रावरुणयोः**=मित्र और वरुण के **पाशात् मा मोचि**=पाश से मत मुक्त हो। हम मित्र=स्नेहवाले व वरुण=निर्द्वेष बनकर रोगों के शिकार होने से बचें। **सः**=वह रोग **राज्ञः वरुणस्य**=राजा वरुण के **पाशात् मा मोचि**=पाश से मत मुक्त हो। 'राजा' का भाव है—व्यवस्थित जीवनवाला (well regulated) और अतएव वरुण=श्रेष्ठ व्यक्ति रोगों का शिकार नहीं होता। ६. **सः**=वह रोग **मृत्योः पड्बीशात्**=मृत्यु के पादबन्धनरूप **पाशात् मा मोचि**=पाश से मत मुक्त हो। जब हम इस बात को भूलते नहीं कि 'यस्त्वा मृत्युरभ्यधत्त जायमानं सुपाशया'। हमें पैदा होने के साथ ही मृत्यु उत्तम पाशों से जकड़ लेती है तो हम युक्ताहार-विहार करते हुए स्वस्थ बने रहते हैं और उन्नतिपथ पर आगे बढ़ते हैं।

भावार्थ—नीरोग बनने का मार्ग यह है कि (क) हम वानस्पतिक पदार्थों का ही सेवन करें। (ख) ऋतुचर्या का ध्यान करें। (ग) प्रत्येक मास व पक्ष का ध्यान करते हुए हमारा खान-पान हो। (घ) दिन में सोएँ नहीं, रात्रि में जागें नहीं। (ङ) मस्तिष्क और शरीर दोनों का ध्यान करें। (च) जितेन्द्रिय व प्रगतिशील हों। (छ) स्नेह व निर्द्वेषता को अपनाएँ। (ज) व्यवस्थित जीवनवाले हों। (झ) मृत्यु को न भूल जाएँ।

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**प्रजापतिः** ॥ छन्दः—**आर्च्यनुष्टुप्** ॥

शत्रुसैन्याभिभव

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमभ्य᳡ष्ठां विश्वाः पृतना अरातीः ॥ १ ॥

१. गतसूक्त के अनुसार बाह्य शत्रुओं को, काम, क्रोध आदि मानस शत्रुओं को तथा शारीर रोगों को दूर करके **अस्माकं जितम्**=हमारा विजय हो। **अस्माकम् उद्भिन्नम्**=हमारा उदय-ही-उदय होता चले। **विश्वाः**=सब **अरातीः पृतनाः**=शत्रु-सेनाओं को **अभ्यष्ठाम्**=मैंने पादाक्रान्त किया है—उनपर अधिष्ठित हुआ हूँ। इनको पराजित करके ही तो विजय व उन्नति सम्भव होता है।

भावार्थ—शत्रु-सैन्यो का पराभव करके हम संसार में विजयी व उन्नत बनें।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**आर्च्युष्णिक्** ॥

अग्नि+सोम

तदग्निराह तदु सोम आह पूषा मा धात्सुकृतस्य लोके ॥ २ ॥

१. **तत्**=गतमन्त्र में कही गई उस बात को कि 'हमारा विजय हो, हमारा उदय हो, मैं

सब शत्रुसैन्यों को पादाक्रान्त करता हूँ' **अग्निः आह**=अग्नि कहता है। आगे बढ़ने की वृत्तिवाला पुरुष ही विजय व उदय की बात को कह सकता है। **उ**=और **तत्**=उस बात को **सोमः**=सौम्य स्वभाव का, निरभिमान पुरुष **आह**=कहता है। अग्नि की तेजस्वितावाला, परन्तु शान्त व्यक्ति ही विजय व उदय को सिद्ध कर पाता है। २. यह प्रार्थना करता है कि **पूषा**=वह सबका पोषक प्रभु **मा**=मझे **सुकृतस्य लोके धात्**=पुण्य के प्रकाश में धारण करे। प्रभु के अनुग्रह व प्रेरणा से मैं कभी भी पुण्य के मार्ग से विचलित न होऊँ।

भावार्थ—अग्नि व सोम का अपने में समन्वय करता हुआ मैं निरन्तर विजयी व उन्नत बनूँ। प्रभु मुझे सन्मार्ग में स्थापित करें।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**साम्नीपङ्क्तिः** ॥

सूर्यस्य ज्योतिषा

अगन्म स्वः स्वरगन्म सं सूर्यस्य ज्योतिषागन्म ॥ ३ ॥

१. **स्वः**=(Water आपः=रेतः) हमने वासनाओं को पराजित करके शरीर में रेतःकणों को **अगन्म**=प्राप्त किया है। इन सुरक्षित रेतःकणों से ज्ञानाग्नि की दीप्ति होने पर **स्वः अगन्म**=(Radiance, lustre) हमने ज्ञानज्योति को प्राप्त किया है। २. **सूर्यस्य**=उस आदित्यवर्ण सूर्यसम ज्योति 'ब्रह्म' (ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः) की **ज्योतिषा**=ज्ञानदीप्ति से **सम् अगन्म**=हम संगत हुए हैं।

भावार्थ—सन्मार्ग में चलते हुए हम रेतःकणों के रक्षण से ज्ञानप्रकाश को प्राप्त करें। प्रकाश को ही क्या उस सूर्यसम ज्योति ब्रह्म के ज्ञान से संगत हों।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**परोष्णिक्** ॥

वसु-प्राप्ति

वस्योभूयाय वसुमान्यज्ञो वसु वंशिषीय वसुमान्भूयासं वसु मयि धेहि ॥ ४ ॥

१. **वस्यः भूयाय**=ऐश्वर्य की वृद्धि के लिए **वसुमान् भूयासम्**=मैं प्रशस्त वसुवाला बनूँ। मेरा धन प्रशस्त हो, अर्थात् धन का विनियोग प्रशंसनीय रूप में ही करूँ। वह भोगविलास में व्ययित न होकर लोकहित के कार्यों में—यज्ञों में व्ययित हो। मैं इस बात को न भूल जाऊँ कि **वसुमान् यज्ञः**=यज्ञ प्रशस्त धनवाला है, अर्थात् यज्ञों में धन का विनियोग धन को बढ़ानेवाला ही है। **वसु वंशिषीय**=मैं वसु का संभजन (वन् संभक्तौ) करनेवाला बनूँ। धन को प्रशस्तरूप में बढ़ानेवाली दो ही बातें हैं कि वह यज्ञों में विनियुक्त हो तथा हम धन का समुचित संविभाग करनेवाले बनें। समुचित संविभाग यही है कि उसमें आधार देने योग्य लूले-लंगड़े व्यक्तियों को भी भाग प्राप्त हो। लोकहित के कार्यों में लगे हुए लोग भी उसमें भाग प्राप्त करें तथा राजा को भी उसमें से उचित कर मिले। आध्रश्चिदयं मन्यमानः तुरश्चिद् राजा चिद् यं भगं मक्षीत्याह। हे प्रभो! इस प्रकार धन का समुचित संविभाग करनेवाले **मयि**=मुझमें वसु **धेहि**=प्रशस्त धन धारण कीजिए।

भावार्थ—हम धनों का यज्ञों में विनियोग करें तथा धनों का उचित संविभाग करते हुए प्रशस्त धनों के पात्र बनें।

इति षोडशं काण्डम् ॥

अथ सप्तदशं काण्डम्

अथ द्वात्रिंशः प्रपाठकः ॥

अथ प्रथमोऽनुवाकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

इस काण्ड में तीस मन्त्रों का एक ही सूक्त है। इसका ऋषि 'ब्रह्मा' है जो 'देवानां प्रथमा' देवों में प्रथम कहलाता है। यह प्रभु का स्मरण करता है और पुरुषार्थमय प्रशस्त जीवनवाला बनता है। सब गुणों का आदान करता हुआ यह 'आदित्य' बनता है। इस सूक्त का देवता आदित्य ही है—

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**१ षट्पदाजगती, २-५ षट्पदातिजगती** ॥

प्रशस्ततम जीवन

विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम्।
सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं सन्धनाजितम्।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रमायुष्मान्भूयासम्॥ १ ॥
विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम्।
सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं सन्धनाजितम्।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियो देवानां भूयासम्॥ २ ॥
विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम्।
सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं सन्धनाजितम्।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियः प्रजानां भूयासम्॥ ३ ॥
विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम्।
सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं सन्धनाजितम्।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियः पशूनां भूयासम्॥ ४ ॥
विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम्।
सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं सन्धनाजितम्।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियः समानानां भूयासम्॥ ५ ॥

१. मैं **ईड्यं नाम**=प्रशंसनीय (स्तुत्य) यशवाले **इन्द्रम्**=शत्रु-विद्रावक प्रभु को **ह्वे**=पुकारता हूँ। उन प्रभु को पुकारता हूँ जो **विषासहिं**=शत्रुओं का अत्यधिक पराभव करनेवाले हैं। **सहमानम्**=शत्रुओं को कुचल देनेवाले हैं। **सासहानम्**=निरन्तर शत्रुओं का विनाश कर रहे हैं। **सहीयांसम्**=शत्रुमर्षकों में श्रेष्ठ हैं। उन प्रभु को मैं पुकारता हूँ जो **सहमानम्**=(be able to resist) मेरे अन्दर उत्पन्न होनेवाले—मुझपर आक्रमण करनेवाले सब प्रलोभनों को रोकने में समर्थ हैं। **सहोजितम्**=मेरे लिए शत्रुपराभवधारी बल का विजय करनेवाले हैं—मुझे 'सहस्' प्राप्त करानेवाले हैं। केवल 'सहस्' ही नहीं **स्वर्जितम्**=प्रलोभनों के निराकरण के द्वारा **स्वः**=आत्मप्रकाश को प्राप्त करानेवाले हैं। **गोजितं**=मेरे लिए ज्ञान की वाणियों का विजय करनेवाले, इन्हें मुझे प्राप्त

करानेवाले हैं और **सन्धनाजितम्**=प्रशस्त धनों का मेरे लिए विजय करनेवाले हैं। २. इसप्रकार बल '(सहस्) को, आत्मप्रकाश (स्वः) को, गौओं को (ज्ञानवाणियों को) व धनों को' प्राप्त करके **आयुष्मान् भूयासम्**=मैं प्रशस्त आयु-(जीवन)-वाला बनूँ। प्रशंसनीय जीवन वही है जिसमें भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धनों की कमी नहीं, जो जीवन ज्ञानमय है, जिसमें आत्मप्रकाश को प्राप्त करने की रुचि है और सहस् (बल) है, शत्रुमर्षक बल है। ३. ऐसा बनकर मैं **देवानां प्रियः भूयासम्**=देवों का प्रिय बनूँ। माता, पिता, आचार्य व विद्वान् अतिथि और अन्ततः प्रभु का भी मैं प्रिय बनूँ। ये सब देव मुझे प्रशस्त जीवन के बनाने में सहायक हों। ४. इसप्रकार का बनकर **प्रियः प्रजानां भूयासम्**=मैं प्रजाओं का भी प्रिय बनूँ। सब लोग मुझे देखकर प्रसन्न हों। मेरा कोई भी कार्य किसी के अहित का कारण न बने। **पशूनां प्रियः भूयासम्**=पशुओं का भी मैं प्रिय बनूँ। गौ आदि का तो घर पर पालन करूँ ही, परन्तु इसके साथ ही इसप्रकार अहिंसा की साधना करूँ कि 'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।' इस योगसूत्र के अनुसार मेरे समीप शेर आदि भी वैरत्याग करके आसीन हों। ५. मेरा व्यवहार इतना सुन्दर व अभिमानशून्य हो कि मैं **समानानां प्रियः भूयासम्**=अपने समवर्ग के लोगों का भी प्रिय बनूँ। अपने उत्थान का अभिमान न करूँ और किसी की निन्दा में कभी प्रवृत्त न होऊँ। प्रभु-स्मरण करता हुआ अभिमान आदि दुर्गुणों से दूर रहूँ।

भावार्थ—प्रभु का 'विषासहि, सहमान, सासहान, सहीयान् व सहमान' इन पाँच शब्दों से स्मरण करता हुआ मैं पाँचों कोशों के शत्रुओं का पराभव करूँ। शत्रुपराभव द्वारा 'बल, आत्मप्रकाश, ज्ञान व धन' का विजय करके मैं प्रशस्त जीवनवाला बनूँ। इस प्रशस्त जीवन में मैं 'देवों का, प्रजाओं का, पशुओं का व अपने समवर्गवालों का' प्रिय बनूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—६,७ **पदाधृतिः** ॥

सुधा व परम व्योम में धारण

उदि॒ह्युदि॑हि सूर्य॒ वर्च॑सा मा॒भ्युदि॑हि। द्वि॒षंश्च॒ मह्यं॒ रध्य॑तु॒ मा
चा॒हं द्वि॑ष॒ते र॑धं॒ तवेद्वि॑ष्णो बहु॒धा वी॒र्या॑णि।
त्वं नः॑ पृणीहि प॒शुभि॑र्वि॒श्वरू॑पैः सु॒धायां॑ मा धेहि पर॒मे व्यो॑मन्॥ ६॥
उदि॒ह्युदि॑हि सूर्य॒ वर्च॑सा मा॒भ्युदि॑हि। यांश्च॒ पश्या॑मि॒ यांश्च॒ न तेषु॑ मा
सु॒म॒तिं कृ॑धि॒ तवेद्वि॑ष्णो बहु॒धा वी॒र्या॑णि।
त्वं नः॑ पृणीहि प॒शुभि॑र्वि॒श्वरू॑पैः सु॒धायां॑ मा धेहि पर॒मे व्यो॑मन्॥ ७॥

१. हे **सूर्य**=(सरतेः सुवतेर्वा) सबको गति देनेवाले व सबको प्रेरणा देनेवाले प्रभो! **उदिहि**= आप हमारे हृदयाकाश में उदित होइए। हम हृदयों में आपके प्रकाश को देखें। **वर्चसा मा अभ्युदिहि उदिहि**=वर्चस् के हेतु से आप मेरी ओर उदित होइए। हृदय में आपका प्रादुर्भाव मुझे वर्चस्वी बनाएगा **च**=और आपके प्रादुर्भाव से **द्विषन्**=द्वेष करता हुआ शत्रु **मह्यं रध्यतु**=मेरे लिए वशीभूत हो जाए **च**=और **अहम्**=मैं **द्विषते मा रधम्**=वैर करनेवाले के वश में न हो जाऊँ। २. हे **विष्णो**=सर्वव्यापक प्रभो! **तव इत्**=आपके ही ये **बहुधा वीर्याणि**=नानाप्रकार के पराक्रम हैं। ब्रह्माण्ड में सूर्य आदि पिण्डों के निर्माण व धारणरूप एवं शक्तिशाली कर्म आपके ही हैं। हे प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमें **विश्वरूपैः पशुभिः**=इन नानारूपवाले पशुओं से **पृणीहि**=पूरित कीजिए। गवादि पशु दूध आदि देकर हमारे पालन का साधन बनें। हे प्रभो! आप **मा**=मुझे **सुधायाम्**=(सुधा) उत्तम भरण-पोषण करनेवाली अमृतरूप शक्ति में तथा **परमे व्योमन्**=उत्कृष्ट

(विशेषेण अवति) रक्षण-स्थान में—हृदयाकाश में **धेहि**=स्थापित कीजिए। मैं मन को इधर-उधर भटकने देने की अपेक्षा हृदय में मन को निरुद्ध करूँ।

भावार्थ—मेरे हृदय में प्रभु के प्रकाश का प्रादुर्भाव हो। मैं शत्रुओं को वशीभूत करनेवाला बनूँ। ब्रह्माण्ड में सर्वत्र प्रभु के शक्तिशाली कर्मों को देखूँ। प्रभु मुझे आत्मधारण शक्ति दें तथा मन को हृदयाकाश में सन्निरुद्ध कर सकने का सामर्थ्य दें।

७—प्रभुरूप सूर्य मेरे हृदयाकाश में उदित हों। मुझे वर्चस्वी बनाने के लिए वे मुझे प्राप्त हों। हे प्रभो! आप **यान् च पश्यामि**=जिन मनुष्यों को मैं देखता हूँ **च**=और **यान् न**=जिनको नहीं देखता, **तेषु**=उन सबमें **मा**=मुझे **सुमतिम्**=कल्याणी मतिवाला **कृधि**=कीजिए। मैं सबके कल्याण का ही चिन्तन करूँ—किसी के अशुभ को सोचनेवाला न बनूँ। २. हे प्रभो! आपके अनेक शक्तिशाली कर्म हैं। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—प्रभु के प्रकाश को देखता हुआ, प्रभु के वर्चस् को प्राप्त करता हुआ मैं सबके प्रति सुमतिवाला बनूँ। प्रभु के अनन्त पराक्रम हैं। वे हमें गवादि पशुओं द्वारा दूध आदि पदार्थों को प्राप्त करके पालित करते हैं। वे हमें 'सुधा व परमव्योम' में स्थापित करते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**सप्तपदात्यष्टिः** ॥

सलिले अप्स्वन्तः

मा त्वा दभन्त्सलिले अप्स्व१न्तर्ये पाशिन उपतिष्ठन्त्यत्र। हित्वाशस्तिं दिवमारुक्ष एतां स नो मृड सुमतौ ते स्याम तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन्॥ ८॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि **त्वा**=तुझे **ये**=जो **पाशिनः**=हाथ में पाश लिये हुए विषयरूप व्याध **अत्र**=यहाँ **उपतिष्ठन्ति**=उपस्थित होते हैं, वे **सलिले**=ज्ञान-जल में स्नान करते हुए होने पर तथा **अप्सु अन्तः**=(यज्ञादि) कर्मों के अन्दर व्याप्त होने पर **मा दभन्**=मत हिंसित करें। तू इन विषयों का शिकार न हो जाए, इसी उद्देश्य से तू ज्ञान-जल में निरन्तर स्नान करनेवाला बन तथा यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगा रह। **अशस्तिम्**=सब अप्रशस्त कर्मों को **हित्वा**=छोड़कर **एतां दिवम् आरुक्षः**=इस द्युलोक में (देवलोक में) आरोहण कर। यहीं से तो तू ब्रह्मलोक में पहुँचेगा। 'पृष्ठात् पृथिव्या अहमन्तरिक्षमारुहम्, अन्तरिक्षद्दिवमारुहम्, दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्'। २. प्रभु की प्रेरणा को सुनकर जीव प्रार्थना करता है कि **सः**=वे आप **नः मृड**=हमें सुखी जीवनवाला कीजिए—हमपर आपका अनुग्रह हो। हम सदा **ते सुमतौ स्याम**=आपकी कल्याणी मति में निवास करें। आपकी प्रेरणा के अनुसार चलते हुए कल्याण के भागी हों। ३. आपके अनन्त पराक्रम हैं। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—प्रभु की इस प्रेरणा को तू सुन कि ज्ञान व कर्मों में लगे रहने पर विषयपाश तुझे न जकड़ पाएँगे। तू सब अप्रशस्त कर्मों को छोड़कर देवलोक में निवास करनेवाला हो। प्रभु से हम प्रार्थना करें कि वे हमपर अनुग्रह करें—हम प्रभु की कल्याणी मति में हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाशक्वरी** ॥

महते सौभगाय

त्वं न इन्द्र महते सौभगायादब्धेभिः परि पाह्यक्तुभिस्तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन्॥ ९॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमारे **महते सौभगाय**=महान् सौभाग्य

के लिए **अदब्धेभि**=अहिंसित **अक्तुभिः**=प्रकाश की किरणों से **परिपाहि**=सब ओर से रक्षा कीजिए। प्रकाश की किरणों के द्वार सदा कर्त्तव्यपथ को देखते हुए हम कर्त्तव्यमार्ग का अनुसरण करें। यह मार्गानुसरण हमारे सौभाग्य का साधक हो। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—हम प्रभु से निरन्तर प्रकाश की किरणों को प्राप्त करके मार्ग पर ही चलें। मार्ग पर चलते हुए हम प्रथमाश्रम में ऐश्वर्यसाधक शिक्षा व धर्म को प्राप्त करें, द्वितीयाश्रम में संयम द्वारा वीर्य तथा यज्ञ के भागी बनें तथा तृतीयाश्रम में ज्ञान व वैराग्य का साधन करें। यही तो महान् सौभाग्य है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**अष्टपदाधृतिः** ॥

प्रियधामा

त्वं न इन्द्रोतिभिः शिवाभिः शन्तमो भव। आरोहंस्त्रिदिवं दिवो गृणानः सोमपीतये प्रियधामा स्वस्तये तवेद्विष्णो बहुधा वीर्या॑णि।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्यो॑मन्॥ १०॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमारे लिए **शिवाभिः ऊतिभिः**=कल्याण-कर रक्षणों के द्वारा **शन्तमः भव**=अत्यन्त शान्ति देनेवाले होओ। आपकी कृपा से मैं **त्रिदिवं आरोहम्**='प्रकृति, जीव व परमात्मा' के त्रिविध ज्ञान का आरोहण करता हुआ—त्रिविध ज्ञान को प्राप्त करता हुआ **दिवः गृणानः**=प्रकाशमयी स्तुतिवाणियों का उच्चारण करता हुआ (दिव् द्युतौ स्तुतौ) **सोमपीतये**=शरीर में सोम के पान के लिए समर्थ बनूँ और **स्वस्तये**=कल्याण के लिए **प्रियधामा**=प्रियतेजोंवाला होऊँ। २. हे **विष्णो**! आपके जो अनन्त पराक्रम हैं। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—हमें प्रभु के कल्याणकर रक्षण प्राप्त हों। हम त्रिविध ज्ञान को प्राप्त करते हुए, ज्ञानपूर्वक स्तुति-शब्दों का उच्चारण करते हुए शरीर में सोम का रक्षण करें और प्रिय तेजोंवाले बनकर कल्याण प्राप्त करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**सप्तपदातिधृतिः** ॥

विश्वजित् सर्ववित्

त्वमिन्द्रासि विश्वजित्सर्ववित्पुरुहूतस्त्वमिन्द्र। त्वमिन्द्रेमं सुहवं स्तोममेरयस्व स नो मृड सुमतौ ते स्याम तवेद्विष्णो बहुधा वीर्या॑णि।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्यो॑मन्॥ ११॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **त्वम्**=आप **विश्वजित् असि**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के विजेता हैं **सर्ववित्**=सर्वज्ञ हैं। **त्वं पुरुहूतः**=आप बहुतों से पुकारे जानेवाले हैं। आपकी पुकार हमारा पालन व पूरण करनेवाली है। २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **इमम्**=इस **सुहवम्**=उत्तमता से पुकारे जाने योग्य **स्तोमम्**=स्तुतिसमूह को—स्तोत्र को **आ ईरयस्व**=समन्तात् हममें प्रेरित कीजिए। हम सदा आपका स्तवन करनेवाले बनें। **सः**=वे आप **नः**=हमारे लिए **मृड**=सुख कीजिए—अनुग्रह कीजिए। हम **ते**=आपकी **सुमतौ स्याम**=कल्याणी मति में हों। आपकी कल्याणी मति हमारे जीवनमार्ग की प्रदर्शिका हो। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—हम 'विश्वजित्, सर्ववित्' प्रभु का स्तवन करते हुए उस प्रभु की कल्याणी मति को प्राप्त करने के लिए यत्नशील हों। वही मति हमारे लिए मार्गदर्शिका हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**कृतिः** ॥

अदब्धः

अदब्धो दिवि पृथिव्यामुतासि न त आपुर्महिमानमन्तरिक्षे। अदब्धेन ब्रह्मणा वावृधानः स त्वं न इन्द्र दिवि षंच्छर्म यच्छ तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन्॥ १२॥

१. हे प्रभो! आप **दिवि**=द्युलोक में **अदब्धः**=अहिंसित सत्तावाले हैं, **उत**=और **पृथिव्याम्**=इस पृथिवीलोक पर भी अहिंसित सत्तावाले हैं। आप सर्वोपरि हैं, आपको कोई अतिक्रान्त नहीं कर सकता। **ते**=आपकी **महिमानं**=महिमा को **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्षलोक में भी **न आपुः**=व्याप्त नहीं कर सकते। आपकी महिमा अन्तरिक्ष से महान् है। वस्तुतः आप तीनों लोकों को अपने एकदेश में ही व्याप्त किये हुए हैं। २. **अदब्धेन**=अहिंसित—कभी नष्ट न होनेवाले **ब्रह्मणा**=इस वेदज्ञान से **वावृधानः**=हमारा वर्धन करते हुए **सः**=वे **त्वम्**=आप **नः**=हमारे लिए **दिवि सन्**=अपने प्रकाशमयरूप में होते हुए **शर्म यच्छ**=सुख दीजिए। आपके ही तो अनन्त पराक्रम हैं। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—प्रभु की महिमा त्रिलोकी में सर्वत्र व्याप्त है। वे प्रभु अहिंसित वेदज्ञान से हमारा वर्धन करते हुए हमारे लिए सुख प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**प्रकृतिः** ॥

पञ्चभूतों की कल्याणरूपता

या त इन्द्र तनूरप्सु या पृथिव्यां यान्तरग्नौ या त इन्द्र पवमाने स्वर्विदि। ययेन्द्र तन्वा३न्तरिक्षं व्यापिथ तया न इन्द्र तन्वा३ शर्म यच्छ तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन्॥ १३॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **या**=जो **ते**=तेरी **तनूः**=मूर्त्ति, अर्थात् रस-रूप शक्ति **अप्सु**=जलों में है (रसोऽहमप्सु कौन्तेय), **या**=जो तेरी **पृथिव्याम्**='पुण्यगन्ध रूप' शक्ति पृथिवी में है, **या**=जो तेरी **अग्नौ अन्तः**=तेजरूप शक्ति अग्नि में है (पुण्यो गन्धः पृथिव्याञ्च, तेजाश्चास्मि विभावसौ)। हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **या**=जो **ते**=तेरी शक्ति **पवमाने**=इस निरन्तर बहनेवाली व जीवन को पवित्र बनानेवाली वायु में है, जो वायु **स्वःविदि**=सुख को प्राप्त करानेवाली है और हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **यया तन्वा**=अपनी जिस मूर्त्ति व शक्ति से **अन्तरिक्षं व्यापिथ**=आपने सारे अन्तरिक्ष को व्याप्त किया हुआ है, हे **इन्द्र**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **तया तन्वा**=उस स्वरूप व शक्ति से **नः शर्म यच्छ**=हमारे लिए कल्याण दीजिए। २. हे प्रभो! आपके ही निश्चय से अनन्त पराक्रम हैं। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—जल, पृथिवी, अग्नि, वायु व सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में प्रभु की जो शक्तियाँ हैं, वे हमारा कल्याण करनेवाली हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाशक्वरी** ॥

प्रभु-प्राप्ति का मार्ग

त्वामिन्द्र ब्रह्मणा वर्धयन्तः सत्रं नि षेदुरृषयो नाधमानास्तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन्॥ १४॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा लोग **त्वाम्**=आपको **ब्रह्मणा**=ज्ञानपूर्वक

उच्चारित स्तुति-वाणियों के द्वारा **वर्धयन्तः**=बढ़ाते हुए तथा **नाधमानाः**=आपकी प्राप्ति की कामना करते हुए **सत्रं निषेदुः**=यज्ञों में आसीन होते हैं। २. हे विष्णो! आपके ही तो अनन्त पराक्रम हैं। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि (क) हम ऋषि=तत्त्वद्रष्टा बनें, (ख) हममें प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामना हो, (ग) ज्ञानपूर्वक-स्तुति वाणियों का उच्चारण करते हुए हम अपने हृदयों में प्रभु को बढ़ाने के लिए यत्नशील हों, (घ) यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाशक्वरी** ॥

उत्स

त्वं तृतं त्वं पर्येष्युत्सं सहस्रधारं विदथं स्वर्विदं तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन्॥ १५॥

१. हे प्रभो! **त्वम्**=आप ही **तृतम्**='प्रकृति, जीव व परमात्मा' के ज्ञान का विस्तार करनेवाले **उत्सम्**=ज्ञानस्रोत को **पर्येषि**=व्याप्त किये हुए हो। जो उत्स, **सहस्रधारम्**=हज़ारों प्रकार से हमारा धारण करनेवाला है, **विदथम्**=ज्ञानरूप है, हमारे लिए सब ज्ञानों को प्राप्त करानेवाला है तथा **स्वर्विदम्**=आत्मप्रकाश व सुख को प्राप्त कराता है। २. हे विष्णो! आपके ही तो अनन्त पराक्रम हैं। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—प्रभु ही उस ज्ञानस्रोत का व्यापन किये हुए हैं जो प्रकृति, जीव व परमात्मा के ज्ञान का विस्तार करता है, हज़ारों प्रकार से हमारा धारण करता है, हमें ज्ञान प्राप्त कराता तथा सुख देता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**सप्तपदातिधृतिः** ॥

ऋत के मार्ग के अनुपात में

त्वं रक्षसे प्रदिशश्चतस्रस्त्वं शोचिषा नभसी वि भासि। त्वमिमा विश्वा भुवनानु तिष्ठस ऋतस्य पन्थामन्वेषि विद्वांस्तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन्॥ १६॥

१. हे प्रभो! **त्वम्**=आप ही **चतस्रः प्रदिशः**=चारों प्रकृष्ट दिशाओं को—इन दिशाओं में स्थित प्राणियों को **रक्षसे**=रक्षित करते हैं। **त्वम्**=आप ही **शोचिषा**=दीप्ति से **नभसी**=द्युलोक व अन्तरिक्षलोक को **विभासि**=विशिष्टरूप से दीप्त करते हैं। २. **त्वम्**=आप **इमा**=इन **विश्वा भुवना**=सब लोकों में **अनुतिष्ठसे**=व्याप्त होकर स्थित हैं। **विद्वान्**=सर्वज्ञ होते हुए आप **ऋतस्य पन्थाम् अनु एषि**=ऋत के मार्ग के अनुपात में हमें प्राप्त होते हैं। जितना-जितना हम ऋत के मार्ग का अनुसरण करते हैं, उतना ही आपको प्राप्त करनेवाले होते हैं। हे प्रभो! आपके तो अनन्त पराक्रम हैं। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—उस सर्वरक्षक, सर्वव्यापक प्रभु को हम उतना ही प्राप्त करेंगे जितना कि ऋत के मार्ग पर चलेंगे। हमारे कर्म ऋत के अनुसार हों—ठीक समय पर व ठीक स्थान में हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाविराडतिशक्वरी** ॥

बाहर प्रभु की महिमा, अन्दर प्रभु

पञ्चभिः पराङ् तपस्येकयार्वाङशस्तिमेषि सुदिने बाधमानस्तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन्॥ १७॥

१. हे प्रभो! **पञ्चभिः**=मेरी इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से आप **पराङ्**=बाहर **तपसि**=दीप्त होते हो। मेरी इन्द्रियाँ बाहर सर्वत्र आपकी ही महिमा को देखती हैं। **एकया**=एक मन की मननशक्ति से आप **अर्वाङ्**=अन्दर दीप्त होते हो। मैं मनन करता हुआ हृदयदेश में आपके प्रकाश को देखता हूँ। २. इस **सुदिने**=सुदिन में जबकि मेरी इन्द्रियाँ सर्वत्र आपकी महिमा को देखने का प्रयत्न करती हैं और मन में आपके प्रकाश का अनुभव होता है, आप **अशस्तिम्**=सब बुराइयों को **बाधमानः**=रोकते हुए—हमसे दूर करते हुए **एषि**=हमें प्राप्त होते हैं। हे प्रभो! आपके अनन्त पराक्रम हैं। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—हम ज्ञानेन्द्रियों से ब्रह्माण्ड में प्रभु की महिमा को देखें, हृदय में मनन द्वारा प्रभु के प्रकाश का अनुभव करें। यह हमारे जीवन का महान् सुदिन होगा जब प्रभु हमारी सब बुराइयों को समाप्त कर देंगे।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः**॥ छन्दः—**भुरिगष्टिः**॥

याग, होम

त्वमिन्द्रस्त्वं महेन्द्रस्त्वं लोकस्त्वं प्रजापतिः। तुभ्यं यज्ञो वि तायते
तुभ्यं जुह्वति जुह्वतस्तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन्॥ १८॥

१. हे प्रभो! **त्वम्**=आप **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली हो, **त्वम्**=आप **महेन्द्रः**=महान् इन्द्र हो—वृत्र आदि के विनाशक सर्वशक्तिमान् हो (इन्द्रो वै वृत्रं हत्वा महान् अभवत्। ऐ०आ० १.१)। **त्वं लोकः**=आप ही प्रकाश हो, **त्वं प्रजापतिः**=आप सब प्रजाओं के पालक हो। प्रकाश प्राप्त कराके मार्ग दिखाते हो और इसप्रकार हमारा रक्षण करते हो। २. हे प्रभो! **तुभ्यम्**=आपकी प्राप्ति के लिए ही **यज्ञः वितायते**=यज्ञ का विस्तार किया जाता है। इन यज्ञों के द्वारा ही तो आपका उपासन होता है। **जुह्वतः**=आहुतियाँ देनेवाले होमकर्त्ता लोग **तुभ्यम्**=आपकी प्राप्ति के लिए ही **जुह्वति**=आहुतियाँ देते हैं—होम करते हैं। (याज्ञा पुरोवाक्या पुरःसरं हूयमाना यागाः तद्रहिता होमाः) सब याग और होम आपकी प्राप्ति के लिए ही होते हैं। हे प्रभो! आपके तो अनन्त पराक्रम हैं। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—हे प्रभो! आप 'इन्द्र हो—महेन्द्र हो' लोक हो, प्रजापति हो'। आपकी प्राप्ति के लिए ही ये सब याग व होम किये जाते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः**॥ छन्दः—**अत्यष्टिः**॥

अद्भुत रचना

असति सत्प्रतिष्ठितं सति भूतं प्रतिष्ठितम्। भूतं ह भव्य आहितं
भव्यं भूते प्रतिष्ठितं तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि।
त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन्॥ १९॥

१. **असति**=अदृश्य अव्यक्त प्रकृति में **सत्**=प्रकृति का विकारभूत यह दृश्य महत्तत्त्व **प्रतिष्ठितम्**=प्रतिष्ठित है। प्रकृति से महत्तत्त्व का प्रादुर्भाव होता है। **सति**=इस महत्त्व में **भूतम्**=भूतपञ्चक—पृथिव्यादि पंचभूत **प्रतिष्ठितम्**=प्रतिष्ठित हैं। यह **भूतम्**=पंचभूत **भव्ये**=इस सब कार्यसमूह में—सब पदार्थों में **आहितम्**=निश्चय से आहित हैं,—अनुगत हैं। यह **भव्यम्**=कार्यजगत् **भूते**=अपने उपादानकारणभूत भूतपञ्चक में **प्रतिष्ठितम् भूतम्**=आश्रित है। हे विष्णो! आपके ही ये अनन्त पराक्रम हैं। शेष पूर्ववत्।

होनेवाले इस पुरुष के लिए **नमः**=हम आदर देते हैं। 'उदायत्' ज्ञानसूर्यवाले इस **स्वराजे**=आत्मज्ञान की दीप्ति से दीप्त पुरुष के लिए **नमः**=हम प्रणाम करते हैं। उदित ब्रह्मज्ञान सूर्यवाले इस **सम्राजे**=सम्यक् दीप्त पुरुष के लिए **नमः**=हम नमस्कार करते हैं। ३. उद्यन् ज्ञानसूर्य के होने पर इस **अस्तंयते**=अस्त को जाते हुए वासनान्धकार के लिए हम **नमः**=प्रभु के प्रति नमन करते हैं। 'उदायत्' ज्ञानसूर्य के होने पर **अस्तम् एष्यते**=कुछ अस्त हो गये वासनान्धकार के लिए **नमः**=हम प्रभु का नमन करते हैं और 'उदित' ज्ञानसूर्य के होने पर **अस्तमिताय**=अस्त हो गये वासनान्धकार के लिए **नमः**=हम प्रभु का नमन करते हैं। अस्त को जाते हुए वासनान्धकार के होने पर **विराजे**=विशिष्ट दीप्तिवाले इस पुरुष के लिए **नमः**=आदर हो। कुछ अस्त हो गये वासनान्धकारवाले इस **स्वराजे**=आत्मदीप्तिवाले पुरुष के लिए **नमः**=नमस्कार हो। **अस्तमिताय**=अस्त हुए वासनान्धकारवाले इस **सम्राजे**=सम्यक् दीप्त पुरुष के लिए **नमः**=नमस्कार हो।

भावार्थ—हम ज्ञानसूर्य के उदय के द्वारा वासनान्धकार के विलय के लिए यत्नशील हों, तभी हम विशिष्ट दीप्तिवाले (विराट्), आत्मदीप्तिवाले (स्वराट्) व सम्यक् दीप्तिवाले (सम्राट्) बन पाएँगे।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**विराडत्यष्टिः** ॥

आदित्योदय

उदगादयमादित्यो विश्वेन तपसा सह। सपत्नान्मह्यं रन्धयन्मा चाहं द्विषते रधं तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि। त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन्॥ २४॥

१. **अयम्**=यह **आदित्य**=(आदानात्) सारे ब्रह्माण्ड को अपने में समा लेनेवाला प्रभु **उदगात्**=मेरे हृदयदेश में प्रादुर्भूत हुआ है। गतमन्त्र के अनुसार वासनान्धकार के विलीन होने पर प्रभु का प्रकाश दिखता ही है। यह प्रभु **विश्वेन**=सम्पूर्ण **तपसा सह**=दीप्ति के साथ यहाँ उदित हुआ है। प्रभु ही **सपत्नान्**=काम-क्रोधादि शत्रुओं को **मह्यं रन्धयन्**=मेरे लिए वशीभूत करते हैं। **च**=और प्रभु के अनुग्रह से **अहम्**=मैं **द्विषते मा रधम्**=इस कामरूप शत्रु के कभी वशीभूत न हो जाऊँ। हे विष्णो! आपके पराक्रम अनन्त हैं। शेष मन्त्र १९ के अनुसार।

भावार्थ—हृदयदेश में प्रभुरूप सूर्य के उदित होते ही काम-क्रोध का अन्धकार नष्ट हो जाता है। प्रभु हमारे लिए इन सब शत्रुओं का विनाश कर देते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आदित्यः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रभुरूप नाव

आदित्य नावमारुक्षः शतारित्रां स्वस्तये। अहर्मात्यपीपरो रात्रिं सत्राति पारय॥ २५॥

१. हे **आदित्य**=सबका अपने में आदान करनेवाले प्रभो! **नावम्**=भवसागर को पार करने के लिए नौकारूप जो आप हैं, उनपर **आरुक्षः** (आरोहम्)=मैंने आरोहण किया है। उस नाव पर जोकि **शतारित्राम्**=सैकड़ों चप्पुओंवाली है। प्रभु के रक्षासाधन अनेक हैं। **स्वस्तये**=कल्याण के लिए मैंने इस नाव पर आरोहण किया है। २. हे प्रभो! **अहः मा अति अपीपरः**=दिन में सब अपत्तियों के परिहारपूर्वक मुझे आपने पार किया है तथा **सत्रा**=साथ ही, दिन के साथ मध्य में व्यवधान न करके **रात्रिं अतिपारय**=रात में भी पार ले-चलिए।

भावार्थ—प्रभुरूप नाव पर आरोहण करके हम दिन-रात, सब आपत्तियों से रहित होते हुए भवसागर को तैरते चलें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शतारित्रा नौः

सूर्य नावमारुक्षः शतारित्रां स्वस्तये। रात्रिं मात्यपीपरोऽहः सत्राति पारय॥ २६॥

१. हे **सूर्य**=सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न व प्रेरित करनेवाले प्रभो! मैं **नावम्**=नौकारूप आप पर **आरुक्षः**=आरूढ़ हुआ हूँ। यह नाव **शतारित्रा**=सैकड़ों चप्पुओंवाली है। **स्वस्तये**=यह हमारे कल्याण के लिए है। **रात्रिं मा अति अपीपरः**=रात में आपने मुझे पार किया ही है। अब **सत्रा**=साथ ही, बिना व्यवधान के **अहं अतिपारय**=दिन में भी पार कीजिए।

भावार्थ—प्रभु का आश्रय ही हमें इस भवसागर से तराता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः**॥ छन्दः—**जगती**॥

ज्योतिषा वर्चसा च

प्रजापतेरावृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च।
जरदष्टिः कृतवीर्यो विहायाः सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम्॥ २७॥

१. **अहम्**=मैं **प्रजापतेः**=प्रजाओं के रक्षक उस प्रभु के **ब्रह्मणा वर्मणा**=ज्ञानरूप कवच से **आवृतः**=आवृत हुआ-हुआ **च**=और **कश्यपस्य** (पश्यकस्य)=उस सर्वद्रष्टा प्रभु की **ज्योतिषा वर्चसा**=ज्ञानज्योति व तेजस्विता से आवृत हुआ-हुआ **जरदष्टिः**=जीर्णावस्था तक उचित भोगों को भोगता हुआ, **कृतवीर्यः**=सम्पादित शक्तिवाला **विहायाः**=(अहोङ् गतौ) विशिष्ट गतिवाला, **सहस्रायुः**=अपरिमित आयुष्यवाला, खूब ही दीर्घजीवनवाला, **सुकृतः**=पुण्य कर्मों के करनेवाला **चरेयम्**=इस पृथिवी पर विचरण करूँ।

भावार्थ—ज्ञानरूप कवच से आवृत हुआ-हुआ मैं ज्ञानी व वर्चस्वी बनूँ। दीर्घ व सुन्दर जीवन को प्राप्त करूँ। मस्तिष्क में ज्योतिवाला, शरीर में शक्तिवाला बनूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ज्ञानकवच का धारण

परीवृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च।
मा मा प्रापन्निषवो दैव्या या मा मानुषीरवसृष्टा वधाय॥ २८॥

१. **अहम्**=मैं **ब्रह्मणा वर्मणा**=ज्ञानरूप कवच से **परीवृतः**=अपने को समन्तात् आच्छादित किये हुए होऊँ **च**=और **कश्यपस्य**=उस सर्वद्रष्टा प्रभु की **ज्योतिषा वर्चसा**=ज्ञानज्योति व तेजस्विता से मैं अपने को परीवृत करूँ। २. इसप्रकार ज्ञानकवच को धारण करने पर **मा**=मुझे **याः**=जो **दैव्याः**=देव से प्रेरित **इषवः**=बाण हैं वे **मा प्रापन्**=मत प्राप्त हों, इसीप्रकार वधाय वध के लिए **अवसृष्टाः**=छोड़े हुए **मानुषीः**=(इषवः) मानव-बाण **मा**=मत प्राप्त हों। हम ज्ञानकवच को धारण करके उत्तम कर्मों को करते हुए न तो आधिदैविक आपत्तियों का शिकार हों और न ही आधिभौतिक आपत्तियाँ हमें घेर लें।

भावार्थ—ज्ञान का कवच हमें आधिदैविक व आधिभौतिक आपत्तियों से रक्षित करनेवला हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पाप व मृत्यु से दूर

ऋतेन गुप्त ऋतुभिश्च सर्वैर्भूतेन गुप्तो भव्येन चाहम्।
मा मा प्रापत्पाप्मा मोत मृत्युरन्तर्दधेऽहं सलिलेन वाचः॥ २९॥

१. **अहम्**=मैं **ऋतेन गुप्तः**=ऋत के द्वारा—नियमित क्रियाओं के द्वारा रक्षित किया गया हूँ **च**=और **सर्वैः ऋतुभिः**=सब ऋतुओं से रक्षित हुआ हूँ। ऋतुचर्या के ठीक पालन के कारण स्वस्थ बना हूँ। **भूतेन भव्येन च गुप्तः**=उपादानकारणभूत 'पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश' रूप पञ्चभूतों से तथा इन भूतों से उत्पन्न शरीर आदि से मैं **गुप्तः**=सुरक्षित हुआ हूँ। इन भूतों के साथ उचित सम्पर्क से स्वाभाविक जीवन बिताने से मैं स्वस्थ बना हूँ। २. **मा**=मुझे **पाप्मा**=पाप **मा प्रापत्**=मत प्राप्त हो। **उत**=और **मृत्युः मा**=मृत्यु भी मत प्राप्त हो। पाप का परिणाम ही मृत्यु होती है। **अहम्**=मैं **वाचः**=ज्ञान की वाणियों के **सलिलेन**=जल से **अन्तर्दधे**=अपने को अन्तर्हित करता हूँ। इनसे अन्तर्हित होने पर मुझ तक पाप व मृत्यु का पहुँचना नहीं हो पाता। जैसे जल से भरी खाई (परिखा) शत्रु को किले की दीवार तक नहीं आने देती, इसीप्रकार ज्ञानजल से अन्तर्हित मुझ तक ये पाप व मृत्यु नहीं पहुँच पाते।

भावार्थ—मेरा जीवन नियमित हो। ऋतुचर्या का मैं ठीक से पालन करूँ। पृथिवी आदि पञ्चभूतों व तज्जन्य सूर्य आदि से मेरा समुचित सम्पर्क हो। साथ ही ज्ञान के जल से मैं अपने को सदा पवित्र बनाऊँ। इसप्रकार पाप व मृत्यु से मैं बचा रहूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आदित्यः**॥ छन्दः—**जगती**॥

'अग्नि-सूर्य, उषाएँ व पर्वत'

अग्निर्मा गोप्ता परि पातु विश्वत उद्यन्त्सूर्यो नुदतां मृत्युपाशान्।
व्युच्छन्तीरुषसः पर्वता ध्रुवाः सहस्रं प्राणा मय्या यतन्ताम्॥ ३०॥

१. **गोप्ता**=जीवन का रक्षक **अग्निः**=अग्नितत्त्व **मा**=मुझे **विश्वतः परिपातु**=सब ओर से रक्षित करे। शरीर में उचित मात्रा में अग्नितत्त्व जीवन के लिए आवश्यक है। वस्तुतः यही जीवन का रक्षण करता है। **उद्यन् सूर्यः**=उदय होता हुआ सूर्य **मृत्युपाशान्**=रोगों के बन्धनों को **नुदताम्**=हमसे दूर धकेलनेवाला हो। 'उद्यान्नादित्यः क्रिमीन् हन्ति निम्लोचन् हन्तु रश्मिभिः' उदय होता हुआ सूर्य रोगकृमियों को नष्ट करता ही है, अस्त होता हुआ सूर्य भी रश्मियों से इन कृमियों का विनाश करता है। २. **व्युच्छन्ती**=अन्धकार का विवासन करती हुई **उषसः**=उषाएँ तथा **ध्रुवाः पर्वताः**=अपने स्थान से च्युत न होनेवाले पर्वत मुझसे मृत्यु व पापों को दूर करें। उषा का वायुमण्डल तथा पर्वतों का वायु ओज़ोनगैस की अधिकतावाला होता है, अतएव यह स्वास्थ्यजनक है और मृत्यु को दूर करता है। हे प्रभो! 'अग्नि, सूर्य, उषा व पर्वतों' का सम्पर्क हमें स्वस्थ बनाए—मृत्यु को हमसे दूर रक्खे। **सहस्रं प्राणाः**=अपरिमित प्राणशक्तियाँ **मयि**=मुझमें **आयतन्ताम्**=विविध चेष्टाओं का सम्पादन करनेवाली हों, अर्थात् शरीर में प्राणों का कार्य समुचितरूप से चलता रहे।

भावार्थ—हमारे जीवन में 'अग्नि, सूर्य, उषाएँ व पर्वत' सब रोगों को दूर करनेवाले हों। शरीर में प्राणों के विविध कार्य ठीकरूप में चलते रहें।

॥इति सप्तदशं काण्डम्॥

अथाष्टादशं काण्डम्

अथ त्रयस्त्रिंशः प्रपाठकः॥

अथ प्रथमोऽनुवाकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

इस काण्ड में 'अथर्वा' ऋषि है। 'अथ अर्वाङ्' अपने अन्दर देखनेवाला, आत्मनिरीक्षण करनेवाला, अतएव 'अथर्वा' न डाँवाडोल होनेवाला। 'यमः' देवता है—इस काण्ड का सम्बन्ध इस यम 'मृत्यु के देवता' से ही है। 'यम' का स्मरण करनेवाला ही अथर्वा बनता है। इसका प्रारम्भ 'यम-यमी' के संवाद से होता है—

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सन्तान क्यों?

ओ चित्सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरू चिदर्णवं जगन्वान्।
पितुर्नपातमा दधीत वेधा अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः॥ १॥

१. यमी यम से कहती है कि **ओचित्**=निश्चय से **सखायम्**=मित्रभूत तुझको **सख्या**=मित्रभाव से **आववृत्याम्**=आवृत्त करती हूँ। 'सखे सप्तपदी भव' इस सातवें पग के वाक्य के अनुसार पति-पत्नी इस संसार-समुद्र में एक-दूसरे के सखा तो हैं ही, इसलिए मैं तुझे पतिरूप से चाहती हूँ कि **पुरूचित्**=इस अत्यन्त विस्तृत **अर्णवम्**=संसार-समुद्र को **जगन्वान्**=गया हुआ पुरुष **तिरः**=अन्तर्हित हो जाता है। मनुष्य मृत्यु का शिकार होकर संसार-समुद्र में लीन हो जाता है। २. इस बात का ध्यान करके ही **प्रतरं दीध्यानः**=इस विस्तृत समुद्र का विचार करता हुआ **वेधाः**=बुद्धिमान् पुरुष **अधि क्षमि**=इस पृथ्वी पर **पितुः नपातमा**=पिता के न नष्ट होने देनेवाले सन्तान को **आदधीत**=आहित करता है। इसप्रकार इस नश्वर शरीर के नष्ट हो जाने पर भी उस सन्तान के रूप में बना ही रहता है। यमी का युक्तिक्रम यह है कि (क) इस विशाल संसार-समुद्र में मनुष्य कुछ देर बाद तिरोहित हो जाता है। (ख) सन्तानन के रूप में ही उसका चिह्न बना रहता है, (ग) अतः सन्तान-प्राप्ति के लिए तू मुझे पत्नी रूप में चाहनेवाला हो।

भावार्थ—इस विशाल संसार-समुद्र में मनुष्य सन्तान के रूप में ही बना रहता है, अतः सन्तान-प्राप्ति के लिए 'यम' 'यमी' की कामना करे। 'यम-यमी' शब्द के प्रयोग से स्पष्ट है कि पति-पत्नी संयत जीवनवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

विवाह-सम्बन्ध समीप में नहीं

न ते सखा सख्यं वष्ट्येतत्सलक्ष्मा यद्विषुरूपा भवाति।
महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परि ख्यन्॥ २॥

१. यमी को यम कहता है कि सन्तान-प्राप्ति के लिए पुरुष और स्त्री का मित्रभाव ठीक ही है, परन्तु **ते सखा**=सहोत्पन्न होने से तेरा मित्र मैं **एतत् सख्यम्**=इस पति-पत्नीरूप मित्रता को **न वष्टि**=नहीं चाहता, **यत्**=चूँकि **सलक्ष्मा**=समान लक्षणोंवाली कन्या, सन्तानोत्पत्ति के लिए

विषुरूपा=बहुत ही विषम रूपवाली होती है। सन्तानोत्पत्ति के लिए सलक्ष्मत्व हानिकर है। ऐसे सम्बन्धों में सन्तान विरूप व अल्पजीवी उत्पन्न होती है। २. **महस्पुत्रासः**=तेजस्विता के द्वारा अपने को पवित्र व रक्षित करनेवाले (पुनाति त्रायते) **असुरस्य वीराः**=उस प्राणशक्ति के देनेवाले प्रभु के वीर पुत्र (असून् राति) **दिवः धर्तारः**=प्रकाश व ज्ञान का धारण करनेवाले व्यक्ति इस समीप सम्बन्ध का **उर्वियापरिख्यन्**=अत्यन्त ही निषेध करते हैं। समीप सम्बन्धों में (क) सन्तान तेजस्वी नहीं होती, क्योंकि ये सम्बन्ध भोगवृत्ति को प्रधानता देने पर ही होते हैं। (ख) हम उस प्रभु के पुत्र न रहकर प्रकृति के पुत्र बन जाते हैं और सन्तानक्षीण प्राणशक्तिवाले होते हैं। (ग) इन सम्बन्धों के होने पर ज्ञान भी क्षीण हो जाता है।

भावार्थ—समीप-सम्बन्ध विकृत सन्तानों को जन्म देते हैं। इनके कारण सन्तान निस्तेज, विलासमय व क्षीण ज्ञानवाले होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सन्तान के लिए वीर्यदान की अनिन्द्यता

उशन्ति घा ते अमृतास एतदेकस्य चित्त्यजसं मर्त्यस्य।
नि ते मनो मनसि धाय्यस्मे जन्युः पतिस्तन्वमा विविश्याः ॥ ३ ॥

१. यमी कहती है कि **ते**=वे **अमृतासः**=भोगों के पीछे न मरनेवाले (अमृत) पुरुष भी **एतत्**=इस पति-पत्नी सम्बन्ध को **घा उशन्ति**=चाहते ही हैं। प्रभु के अमृत मानसपुत्र इस सम्बन्ध द्वारा ही तो लोक में इन प्रजाओं को जन्म देते हैं। वे तो इस सम्बन्ध को **चित्**=निश्चय से **एकस्य मर्त्यस्यः**=एक मनुष्य का **त्यजसम्**=त्याग समझते हैं। सन्तानोत्पत्ति के लिए यह वीर्य का दान तो सचमुच एक महान् त्याग है। २. इसलिए हे यम! **ते मनः**=तेरा मन **अस्मे मनसि धायि**=हमारे मन में निहित हो, अर्थात् तू मेरी कामना करनेवाला हो। **जन्युः पतिः**=सन्तान को जन्म देनेवाला पति बनकर **तन्वं आविविश्याः**=मेरे शरीर में प्रवेश कर। '**तद्धि जायाया जायात्वं यदस्यां जायते पुनः**' यही तो जाया का जायात्व है कि पुरुष पुनः उसमें जन्म लेता है। एवं पुत्र के रूप में उत्पन्न होकर वह पुरुष अमर बना रहता है 'प्रजाभिरग्ने अमृतत्वमश्याम्'।

भावार्थ—प्रभु के मानसपुत्र भी परस्पर पति-पत्नी भाव को चाहते ही हैं। यह तो एक महान् त्याग है। सन्तान को जन्म देने के लिए यह सम्बन्ध अनिन्द्य है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

उत्कृष्ट बन्धुत्व

न यत्पुरा चकृमा कद्ध नूनमृतं वदन्तो अनृतं रपेम।
गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सा नौ नाभिः परमं जामि तन्नौ ॥ ४ ॥

१. यम उत्तर देता हुआ कहता है कि **यत्**=जिस बात को **पुरा**=इससे पहली सृष्टि में **कत् ह न चकृमा**=कभी भी नहीं किया है, **नूनम्**=निश्चय से **ऋतं वदन्तः**=सत्यों को ही अपने जीवन से कहते हुए हम **अनृतं रपेम**=अनृत को परे भगा दें। जो सत्य नहीं है, उसे अपने जीवन में क्यों लाएँ। यह ठीक नहीं है। २. सृष्टि के प्रारम्भ में पुरुष **गन्धर्वः**=वेदवाणी का धारण करनेवाला है तथा **अप्सु**=कर्मों में निवासवाला है **च**=और **योषा**=स्त्री भी **अप्या**=कर्मों में उत्तमता से लगी रहनेवाली है। वस्तुतः इसीलिए तो वह **योषा**=गुणों को अपने से संपृच्य करनेवाली तथा दोषों को अपने से दूर करनेवाली है। **सः**=वह ज्ञान का धारण व कर्मशीलता ही हम सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न होनेवाले स्त्री-पुरुषों की **नाभिः**=बन्धन है, परस्पर बाँधनेवाली बात

है। **तत्**=वही **नौ**=हम दोनों का भी **परमं जामि**=सर्वोत्कृष्ट बन्धुत्व है 'पति पत्नी' बनने से ही तो बन्धुत्व नहीं होता?

भावार्थ—पिछली सृष्टि में भी भाई-बहिन कभी पति-पत्नी के समीप सम्बन्ध में सम्बद्ध नहीं हुए। सदा ऋत का आचरण करते हुए हमें अनृत को अपनाना शोभा नहीं देता। 'ज्ञानधारण व क्रियामय जीवन' ही पुरुष-स्त्री का सर्वोत्कृष्ट सम्बन्ध है। वही भाई-बहिन का परम बन्धुत्व है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'सम्बन्ध निर्माता' प्रभु

गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः।
नकिरस्य प्र मिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौः॥ ५॥

१. यमी पुनः यम की परीक्षा लेती हुई कहती है कि **जनिता**=हम सबको जन्म देनेवाले उस प्रभु ने **गर्भे नु**=गर्भ में ही, साथ-साथ जन्म देने से **नौ**=हम दोनों को **दम्पती**=पति पत्नी **कः**=बनाया है। वे प्रभु **देवः**=पूर्ण ज्ञानमय हैं, **त्वष्टा**=वे ही सब सम्बन्धों का निर्माण करनेवाले हैं, **सविता**=सब प्रेरणाओं को देनेवाले हैं **विश्वरूपः**=और उन प्रेरणाओं को देकर इस संसार को रूप प्राप्त करानेवाले हैं। २. **अस्य व्रतानि**=इस सविता देव के व्रतों को **नाकिः प्रमिनन्ति**=कोई भी हिंसित नहीं करते। प्रभु की व्यवस्था को कोई तोड़नेवाला नहीं है। **नौ**=हम दोनों के **अस्य**=इस सम्बन्ध को **पृथिवी उत द्यौः**=पृथिवी और द्युलोक, अर्थात् सारा संसार **वेद**=जानता है। 'हमारा यह सम्बन्ध कोई छिपा हुआ व पापमय हो' ऐसी बात नहीं है।

भावार्थ—हमारे इस पति-पत्नीरूप सम्बन्ध को करनेवाले तो हमारे पिता प्रभु ही हैं। यह स्पष्ट है—'कोई छिपी हुई व पापमय बात हो' ऐसा नहीं है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ज्ञानोज्ज्वल जीवन

को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हृणायून्।
आसन्निषून्हृत्स्वसो मयोभून्य एषां भृत्यामृणधत्स जीवात्॥ ६॥

१. यम कहता है कि **कः**=वे आनन्दमय प्रभु **अद्य**=आज इस मानवदेह में **ऋतस्य धुरि**=यज्ञ के निर्वाह में—यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त कराने के लिए **गाः युङ्क्ते**=ज्ञान की वाणियों को हमारे साथ जोड़ते हैं। ये ज्ञान की वाणियाँ **शिमीवतः**=कर्मवाली हैं—इनमें कर्मों का उपदेश दिया गया है। **भामिनः**=सत्यज्ञान के द्वारा उत्तम कर्म कराती हुई ये वाणियाँ हमें तेजस्वी बनाती हैं। **दुर्हृणायून्**=यह (हृणीयतिर्हातिकर्म हातुमशक्यम्) छोड़ने योग्य नहीं है। स्वाध्याय नित्यकर्त्तव्य होने से इनका छोड़ना सम्भव नहीं। **आसन् इषून्**=मुख से उच्चारित हुई ये वाणियाँ शत्रुओं का संहार करनेवाली हैं—इषु तुल्य हैं। **हृत्स्वसः**=(अस् कान्तौ) हृदयों में चमकनेवाली हैं। **मयोभून्**=ये कल्याण का भावन करनेवाली हैं। २. **यः**=जो भी व्यक्ति **एषाम्**=इन ज्ञानवचनों के **भृत्याम् ऋणधत्**=भाव को समृद्ध करता है, अर्थात् इन वचनों को अधिक-से-अधिक धारण करता है, **सः जीवात्**=वह ही वस्तुतः जीता है—सुन्दर जीवनवाला होता है। ज्ञानोज्ज्वल जीवन ही जीवन है।

भावार्थ—हमें प्रभुप्रदत्त ज्ञान की वाणियों को धारण करके उज्ज्वल जीवनवाला बनने का प्रयत्न करना चाहिए। भोग-विलास की बातों में समय को नष्ट न करना चाहिए।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पहले दिन की बात

को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्र वोचत्।
बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आहनो वीच्या नॄन्॥ ७॥

१. **अस्य प्रथमस्य अह्नः**=इस पहले दिन की बात को **कः वेद**=परमात्मा ही जानता है। **ईम्**=निश्चय से **कः ददर्श**=उस दिन की बात को प्रभु ही देखते हैं और **इह**=इस सृष्टि के प्रारम्भ समय में **कः**=वह अनिर्वचनीय महिमावाले प्रभु ही **प्रवोचत्**=ज्ञान का प्रवचन करते हैं। उस पहले दिन की बात को मनुष्य ठीक-ठीक नहीं जान पाता और अगले सृष्टिक्रम में तो निश्चय से पति-पत्नी सम्बन्ध दूर-दूर ही होता है। २. **मित्रस्य**=सबके साथ स्नेह करनेवाले **वरुणस्य**=द्वेषादि निवारण करनेवाले उस प्रभु का **धाम**=तेज **बृहत्**=बहुत अधिक है। उसका तेज हमारी वृद्धि करनेवाला है। **उ**=और वे **कत्**=(तनोति) सुख का विस्तार करनेवाले प्रभु ही **ब्रवः**=सृष्टि के प्रारम्भ में हमें उपदेश देते हैं—वे हमारे पिता ही नहीं, गुरु भी हैं। हम सब उनके शिष्य हैं। वे प्रभु **नॄन्**=सब उन्नतिशील मनुष्यों को **वीच्या**=हृदयतरंगों से, अर्थात् भावनाओं से **आहनः**=आहत करते हैं (हन् गतौ)—हमारे जीवनों को गतिमय बनाते हैं। भावनाओं के अभाव में जीवन शक्तिशून्य हो जाता है। 'काम' (भाव) से सब वेदाधिगाम व वैदिक कर्मयोग सम्पन्न होता है। इस काम को अपवित्र न होने देने के लिए ज्ञान है। एवं, ज्ञान व काम (भाव) मिलकर हमारे जीवनों को व सम्बन्धों को सुन्दर बनाते हैं।

भावार्थ—पहले दिन की बात को प्रभु ही जानते हैं। प्रभु का तेज अनन्त है। उनका मौलिक उपदेश यही है कि हम प्रेम व निर्द्वेषता से चलें। वे प्रभु ही हमें ज्ञान देते हैं और वे ही हमारे हृदयों को भावान्वित करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**आर्षीपङ्क्तिः**॥

समाने योनौ सह शेय्याय

यमस्य मा यम्यं१ काम आगन्त्समाने योनौ सहशेय्याय।
जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि चिद् वृहेव रथ्येव चक्रा॥ ८॥

१. **यमस्य**=तुझ यम का **कामः**=प्रेम **यम्यं मा**=मुझ यमी के प्रति **आगन्**=प्राप्त हो। **समाने योनौ**=समान ही घर में **सहशेय्याय**=साथ-साथ निवास के लिए हम हों। २. हे यम! तू मेरी कामना कर और मैं **जाया इव**=पत्नी की भाँति **पत्ये**=पति के रूप में तेरे लिए **तन्वं रिरिच्याम्**=अपने शरीर को (रिरिच्यां प्रकाशयेयम्) प्रकाशित करूँ, अर्थात् हम परस्पर पति-पत्नी के रूप में हों। **चित्**=और निश्चय से **विवृहेव**=हम 'धर्म, अर्थ, काम' रूप पुरुषार्थों के लिए उद्योग करें। **रथ्या चक्रा इव**=जैसे रथ के दो पहिये रथ को उद्दिष्ट स्थल पर पहुँचानेवाले होते हैं, उसीप्रकार हम पति-पत्नी इस जीवन-रथ के दो पहियों के समान हों और जीवन को सफल बनाएँ।

भावार्थ—यमी कहती है कि हे यम! क्या तुझे मेरे प्रति प्रेम नहीं! हमारा आपस में सम्बन्ध स्वाभाविक है। हम पति-पत्नी बनकर धर्म, अर्थ, काम आदि पुरुषार्थों को सिद्ध करते हुए जीवन को सफल करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

देवस्पश हमें देख रहे हैं

न तिष्ठन्ति न नि मिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति।
अन्येन मदाहनो याहि तूयं तेन वि वृह रथ्येव चक्रा॥ ९॥

१. यम उत्तर देता हुआ कहता है कि 'यह समझना कि हमारा यह सम्बन्ध छिपा रहेगा' ठीक नहीं है। मनुष्यों को न भी पता लगे, तो भी सूर्य आदि देव तो हमारे इन कर्मों को देखते ही हैं। **ये एते**=जो ये **देवानां स्पशः**=देवों के गुप्तचर, मनुष्यों के आचरण को देखते हुए **इह चरन्ति**=यहाँ विचरण करते हैं, **न तिष्ठन्ति**=न तो खड़े होते हैं, **न निमिषन्ति**=न पलक मारते हैं, अर्थात् ये देव अन्तर्हित हुए-हुए हमारे सब कार्यों को जान रहे हैं। २. इसलिए हे **आहनः**= गति के द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाली मेरी बहिन! **मद् अन्येन**=मुझसे भिन्न व्यक्ति के साथ **तूयम्**=शीघ्र **याहि**=तू इस जीवनयात्रा में गतिशील हो। **तेन**=उसी के साथ **विवृह**=तू धर्म, अर्थ व कामरूप पुरुषार्थ के लिए उद्योग कर। उसी के साथ मिलने पर तुम दोनों **रथ्या चक्रा इव**=रथ के पहियों के समान जीवन-यात्रा में आगे और आगे बढ़नेवाले होओ।

भावार्थ—देव हमारे प्रत्येक कर्म को देख रहे हैं, अतः हम समीप सम्बन्धों को दूर रखकर, दूर ही सम्बन्ध बनाकर धर्मार्थ, कामरूप पुरुषार्थ को सिद्ध करनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सुदूर सम्बन्ध

रात्रीभिरस्मा अहभिर्दशस्येत्सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयात्।
दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू यमीर्यमस्य विवृहादजामि॥ १०॥

१. यम चाहता है कि उसकी बहिन (मद् अन्येन) उससे भिन्न जिस भी पुरुष को पति रूप में प्राप्त करे **रात्रीभिः अहभिः**=रात-दिन **अस्मा**=अपने इस पति के लिए **दशास्येत्**=आराम देने की इच्छा करें। उसकी बहिन व बहिन के पति पर **सूर्यस्य चक्षुः**=सूर्य की आँख **मुहुः**= बारम्बार **उन्मिमीयात्**=खुले, अर्थात् इनका जीवन दीर्घ हो। २. जैसे **दिवा पृथिव्या**=द्युलोक पृथिवीलोक के साथ **मिथुना सबन्धू**=परस्पर साथ-साथ समान बन्धुत्ववाले होते हैं, उसीप्रकार ये भी बन्धुत्ववाले हों। द्युलोक व पृथिवीलोक कितने दूर-दूर हैं। इसीप्रकार यम चाहता है कि उसकी बहिन व उसके भावी पति भी सुदूर स्थितिवाले हों। **यमीः**=संयत जीवनवाली मेरी बहिन **यमस्य**=मुझ यम के **अजामि**=(अभ्रातरम्) असम्बद्ध व्यक्ति को, अर्थात् किसी सुदूर गोत्रवाले को ही **विवृहात्**=बढ़ानेवाली हो—उसी के वंश की वृद्धि करनेवाली बने।

भावार्थ—पत्नी दिन-रात पति के सुख का ध्यान करे। परस्पर मेल व प्रेम से ये पति-पत्नी दीर्घजीवी हों। द्युलोक व पृथिवीलोक जिस प्रकार परस्पर दूरी पर हैं, इसीप्रकार दूरस्थ पुरुष ही पति-पत्नी सम्बन्धवाले बनें, भिन्न गोत्रों में ही सम्बन्ध हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उत्कृष्ट युग

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि।
उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्॥ ११॥

१. यम चाहता है कि **घा**=निश्चय से **ता**=वे **उत्तरा युगानि**=उत्कृष्ट युग—समय **आगच्छान्**= आएँ **यत्र**=जहाँ **जामयः**=बहिनें **अजामि**=(अभ्रातरम्) न भाई को ही, न रिश्तेदार को ही, अर्थात्

सुदूर गोत्रवाले को ही **कृणवन्**=पतिरूपेण स्वीकार करें। वस्तुतः सुदूर सम्बन्धों से ही उत्कृष्ट सन्तानों का निर्माण होता है। तभी एक समाज उत्कृष्ट युग में पहुँचता है। २. हे यमि! तू **वृषभाय**=एक शक्तिशाली श्रेष्ठ पुरुष के लिए **बाहुम्**=अपनी भुजा को **उपबर्बृहि**=उपबर्हण व तकिया बनानेवाली हो, अर्थात् उस श्रेष्ठ पुरुष के साथ तेरा सम्बन्ध प्रेमपूर्ण हो। हे **सुभगे**=उत्तम भाग्यवाली! **मत् अन्यम्**=मुझसे भिन्न विलक्षण पुरुष को ही **पतिम्**=पति के रूप में **इच्छस्व**=चाहनेवाली हो।

भावार्थ—सुदूर सम्बन्ध में ही सौभाग्य व सौन्दर्य है। यह सुदूर सम्बन्ध ही एक राष्ट्र में उत्कृष्ट युग को लाने का कारण बनता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

संरक्षण व सुस्थिति

किं भ्रातासद्यदनाथं भवाति किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात्।
काममूता बह्वे३तद्रपामि तन्वा मे तन्वं१ सं पिपृग्धि॥ १२॥

१. यमी परीक्षा लेती हुई कहती है कि **यत्**=यदि **अनाथं भवाति**=बहिन अनाथ—रक्षक से रहित होती है तो **किं भ्राता असत्**=वह भाई कुत्सित होता है। भाई को तो बहिन का सदा रक्षक होना चाहिए, **उ**=और **यत्**=यदि भाई को **निर्ऋतिः**=दुर्गति व कष्ट **निगच्छात्**=प्राप्त होता है तो वह **किं स्वसा**=कुत्सित ही तो बहिन है, अर्थात् हे यम! तू सदा मेरा रक्षक बन और मैं तुझे सदा सुख पहुँचानेवाली बनूँ। ऐसा ही हमारा सम्बन्ध बना रहे। २. **काम-मूता (मव बन्धने)**=प्रेमभाव से बद्ध हुई-हुई **एतत्**=यह बात **बहुरपामि**=फिर-फिर मैं कहती हूँ। तू **मे तन्वा**=मेरे शरीर से **तन्वम्**=अपने शरीर को **संपिपृग्धि**=सम्यक् संपृक्त करनेवाला हो। इसप्रकार हम दो होते हुए भी एक हो जाएँ।

भावार्थ—पति पत्नी का रक्षण करता है। पत्नी पति को सुस्थिति प्राप्त कराती है। परस्पर प्रेमभाव से युक्त होकर वे एक-दूसरे की न्यूनताओं को दूर करनेवाले होते हैं। पति पत्नी वस्तुतः एक दूसरे के पूरक हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सौभाग्य सम्पन्न गृह

न ते नाथं यम्यत्राहमस्मि न ते तनूं तन्वा३ सं पपृच्याम्।
अन्येन मत्प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्ट्येतत्॥ १३॥

१. हे **यमि**=संयत जीवनवाली बहिन! **अत्र**=यहाँ इस संसार में **अहम्**=मैं **ते नाथं न अस्मि**=तेरा नाथ नहीं हूँ—तुझे पत्नीरूप में चाहनेवाला (नाथ याच्आयाम्) नहीं हूँ। **ते तनूम्**=तेरे शरीर को **तन्वः**=अपने शरीर से **न संपपृच्याम्**=सम्पृक्त नहीं करता हूँ। २. तू **मत् अन्येन**=मुझसे भिन्न (विलक्षण) पुरुष के साथ **प्रमुदः कल्पयस्व**=प्रकृष्ट आनन्दों को साधनेवाली हो, अर्थात् असगोत्र पुरुष को पतिरूप में प्राप्त करके आनन्दयुक्त जीवनवाली हो। हे **सुभगे**=उत्तम भाग्यवाली! **ते भ्राता**=तेरा भाई **एतत्**=इस पतिरूप सम्बन्ध को **न वष्टि**=नहीं चाहता है।

भावार्थ—हम सुदूर सम्बन्धों को स्थापित करते हुए, घरों को सुख-समृद्धि-सम्पन्न बनाएँ। फूलते-फलते हमारे घर आमोद-प्रमोद से भरपूर हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

महान् असंयम्

न वा उ ते तनूं तन्वा३ सं पपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्।
असंयदेतन्मनसो हृदो मे भ्राता स्वसुः शयने यच्छयीय॥ १४॥

१. **वा उ**=निश्चय से **ते तनूम्**=तेरे शरीर का **तन्वा**=अपने शरीर से **न संपपृच्याम्**=नहीं सम्पृक्त करता हूँ। **यः**=जो **स्वसारम्**=बहिन को **निगच्छात्**=पतिभाव से प्राप्त होता है—सम्भोग के लिए प्राप्त होता है, उसे **पापं आहुः**=पापी कहते हैं। २. **एतत्**=यह **मे**=मेरे **मनसः**=मन का तथा **हृदः**=हृदय का **असंयत्**=असंयम ही होगा, **यत्**=यदि **भ्राता**=भाई होता हुआ मैं **स्वसुः**=बहिन के **शयने**=बिछौने पर **शयीय**=सोऊँ।

भावार्थ—यह बड़ा भारी पाप है तथा असंयम की बात है कि भाई बहिन को पतिभाव से प्राप्त हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**आर्षीपङ्क्तिः** ॥

कक्ष्या जैसे युक्त को, बेल जैसे वृक्ष को

बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम।
अन्या किल त्वां कक्ष्ये ऽिव युक्तं परि ष्वजातै लिबुजेव वृक्षम्॥ १५॥

१. सम्पूर्ण कड़ी परीक्षा में उत्तीर्ण होते हुए अपने भाई को देखकर हृदय में प्रसन्न होती हुई यमी कहती है कि **बतः बत असि** (Joy, Wonder)=अरे भाई! तू तो मेरे हृदय को आनन्दित व आश्चर्यित करनेवाला है। मैंने अभी तक **ते मनः**=तेरे मन को **हृदयं च**=व हृदय की गहराई को **न एव अविदाम**=नहीं ही जाना था। आज तेरे मानसभावों व हृदय की पवित्रता को जानकर बड़ी प्रसन्नता, खुशी हुई है। २. यह ठीक ही है कि **अन्या किल**=निश्चय से मुझसे भिन्न (विलक्षण) अर्थात् सुदूर गोत्रवाली ही कोई कन्या **त्वां परिष्वजाते**=तेरा आलिंगन करे। उसीप्रकार आलिंगन करे **इव**=जैसे **लिबुजः**=बेल वृक्ष को आलिंगित करती है, अथवा **इव**=जिस प्रकार **कक्ष्या**=कमर में बाँधी जानेवाली रज्जु **युक्तम्**=अपने से सम्बद्ध घोड़े को आलिंगित करती है। तेरा अपनी पत्नी से सम्बन्ध तुझे शक्तिशाली बनानेवाला हो, उसीप्रकार जैसे कक्ष्या घोड़े को कसी हुई कमरवाला बनाती है और तू पत्नी का उसीप्रकार सहारा हो जैसे कि वृक्ष बेल का।

भावार्थ—सुदूर सम्बन्ध होने पर पत्नी पति की शक्ति व उत्साह-वर्धन का कारण बने और पति पत्नी का आश्रय व वर्धक हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'सुभद्रां सवित्'

अन्यमू षु यम्यन्य उ त्वां परि ष्वजातै लिबुजेव वृक्षम्।
तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व संविदं सुभद्राम्॥ १६॥

१. यम भी बहिन के लिए मंगलकामना करता हुआ कहता है कि हे **यमि**=संयत जीवनवाली! **त्वम्**=तू **उ**=निश्चय से **अन्यम्**=अपने से विलक्षण रुधिरादि धातुओंवाले पुरुष को ही **सुपरिष्वजातै**=सम्यक् आलिंगन करे। उसीप्रकार **इव**=जैसेकि **लिबुजा**=बेल **वृक्षं**=वृक्ष को आलिंगित करती है। २. **त्वम्**=तू **तस्य मनः**=उसके मन को **वा**=निश्चय से **इच्छा**=चाहनेवाली बन। **वा स तव**=और वह भी तेरे मन को चाहनेवाला हो। तुम्हारा परस्पर प्रेम हो, तुम एक-दूसरे के भावों को आदृत करनेवाले होओ, तुम्हारा परस्पर ऐकमत्य हो। **अधा**=अब **सुभद्रां**

संविदम्= कल्याणी बुद्धि को (Understanding) परस्पर ऐक्यमतिता को (agreement) **कृणुष्व**=तू करनेवाली हो। तुम्हारे घर में शुभविचार व सामञ्जस्य बना रहे।

भावार्थ—पति पत्नी का परस्पर प्रेम हो। घर में सदा 'सुभद्रां संवित्' बनी रहे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

आपः, वाताः, ओषधयः

त्रीणि च्छन्दांसि कवयो वि येंतिरे पुरुरूपं दर्शतं विश्वचक्षणम्।
आपो वाता ओषधयस्तान्येकस्मिन्भुवन आर्पितानि॥ १७॥

१. **कवयः**=ज्ञानीपुरुष, क्रान्तदर्शी पुरुष—तत्त्व तक पहुँचनेवाले पुरुष उस **पुरुरूपम्**= अनन्त रूपों को उत्पन्न करनेवाले (पुरूणि रूपाणि यस्मात्) **दर्शतम्**=दर्शनीय **विश्वचक्षणम्**= सर्वद्रष्टा—सभी का ध्यान (पालन) करनेवाले प्रभु से **त्रीणि छन्दांसि**=तीन (छन्दांसि छादनात्) रक्षणात्मक वस्तुओं को **वियेतिरे**=विशेषरूप से चाहते हैं (Long for)। वे वस्तुएँ हैं— **आपः**=जल, **वाताः**=वायु तथा **ओषधयः**=ओषधियाँ। पीने के लिए जल, श्वास लेने के लिए वायु तथा भोजन के लिए ओषधियाँ (वनस्पतियाँ)। २. **तानि**=वे तीनों वस्तुएँ **एकस्मिन् भुवने**=एक ही भुवन में **आर्पितानि**=प्रभु द्वारा सृष्टि के प्रारम्भ में स्थापित की गई हैं। किसी भुवन के व्यक्ति को इनमें से किसी वस्तु के लिए लोकान्तर में नहीं जाना पड़ता। अपने ही भुवन में उसे ये सब सुलभ होती हैं।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष प्रभु से 'जल, वायु व ओषधियाँ' इन तीन वस्तुओं को ही मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए चाहते हैं। वस्त्र भी रुई से ही प्राप्त हो जाते हैं। प्रभु ने इन तीनों वस्तुओं को प्रत्येक भुवन में स्थापित किया है। इन्हीं से लोकनिर्वाह होता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**जगती**॥

द्युलोक-दोहन

वृषा वृष्णे दुदुहे दोहसा दिवः पयांसि यह्वो अदितेरदाभ्यः।
विश्वं स वेद वरुणो यथा धिया स यज्ञियो यजति यज्ञियाँ ऋतून्॥ १८॥

१. **वृषा**=सब सुखों का वर्षण करनेवाला वह प्रभु **यह्वः**=महान् है, **अदाभ्यः**=अहिंसित है—अपने कार्यों में किसी से पराभूत नहीं होता। वे प्रभु **वृष्णे**=औरों के सुख के लिए धन का वर्षण करनेवाले यज्ञशील पुरुष के लिए **दिवः दोहसा**=द्युलोक के दोहन से **अदितेः**=स्वास्थ्य के हेतु से **पयांसि दुदुहे**=जलों का दोहन व पूरण करते हैं। **अदितिः**=अखण्डन—स्वास्थ्य का नष्ट न होना। इस अदिति के हेतु से प्रभु वृष्टि-जल प्राप्त कराते हैं। ये वृष्टि-जल वस्तुतः अमृत हैं। २. **सः वरुणः**=वह हमारे कष्टों का निवारण करनेवाले प्रभु **यथा**=क्योंकि **धिया**=ज्ञानपूर्वक कर्मों से (धी=ज्ञान, कर्म) **विश्वं वेद**=सब आवश्यक पदार्थों को प्राप्त कराते हैं। **सः यज्ञियाः**=वह यज्ञशील पुरुष **यज्ञियान् ऋतून् यजति**=यज्ञ करने योग्य ऋतुओं को लक्ष्य करके यज्ञ करता है। ऋतुओं के अनुसार यज्ञ करने से वर्षा ठीक समय पर होती है, सब ऋतुएँ भी ठीक समय पर ठीक रूप में आती हैं, अतः वे हमारे स्वास्थ्य के लिए साधक बनती हैं।

भावार्थ—हम ऋतुओं के अनुसार यज्ञ करनेवाले बनें। स्वास्थ्य के दृष्टिकोण से यह आवश्यक है। इन ज्ञानपूर्वक किये गये यज्ञों से प्रभु हमें सब आवश्यक पदार्थों को प्राप्त कराएँगे और वर्षा आदि ठीक समय पर होगी। हम पृथिवीलोक का दोहन करके यज्ञ करें व प्रभु हमारे लिए द्युलोक का दोहन करेंगे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**जगती**॥

स्तवन+वेदज्ञान+यज्ञ (रपद्+गन्धर्वीः+अप्या)

रपद्गन्धर्वीरप्या च योषणा नदस्य नादे परि पातु नो मनः।
इष्टस्य मध्ये अदितिर्नि धातु नो भ्राता नो ज्येष्ठः प्रथमो वि वोचति॥ १९॥

१. एक घर में गृहिणी **रपत्**=प्रातः उठकर प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करती है। इससे बच्चों में भी भक्तिभाव का उदय होता है। यह गृहिणी वेदवाणी का धारण करती है। स्वाध्याय को जीवन का नियमित अंग बनाती है। यह स्वाध्याय ही तो जीवन को पवित्र बनाता है। **च**=और यह **अप्या**=(अप्सु साध्वी) कर्मों में उत्तम होती है। वेदज्ञान के अनुसार कर्मों में प्रवृत्त रहती है। इस कर्मशीलता के कारण ही **योषणा**=यह अवगुणों से अपने को पृथक् करनेवाली तथा गुणों से अपने को संपृक्त करनेवाली होती है। २. गृहपति भी प्रार्थना करता है कि **नदस्य**=स्तवन करनेवालों में मेरे स्तवन करने पर **नः**=हमारे **मनः**=मनों को **अदितिः**=अदीना देवमाता—अथवा अखण्डित (अ-दिति) यज्ञक्रिया, अथवा अविनाशी प्रभु **परिपातु**=सुरक्षित करें। प्रभु-स्तवन में लगा हुआ मेरा मन वासनाओं से आक्रान्त होगा ही कैसे? **नः**=हम सब (इस घर के व्यक्तियों) को **अदितिः**=वे अविनाशी प्रभु **इष्टस्य मध्ये निदधातु**=यज्ञों के बीच में स्थापित करें—प्रभु कृपा से हमारा जीवन यज्ञमय हो। **नः**=हमारा **भ्राता**=भरण करनेवाला **नः**=हममें सबसे बड़ा, **प्रथमः**=प्रथम स्थान में स्थित व्यक्ति **विवोचति**=हमारे लिए विविध क्रियाओं का उपदेश करता है। उस बड़े के कहने के अनुसार ही घर में हम सब क्रियाओं को करते हैं।

भावार्थ—आदर्श घर वही है जिसमें पति-पत्नी 'प्रभु का स्तवन करनेवाले, स्वाध्यायशील व पवित्र वृत्तिवाले' हैं। प्रभु कृपा से उनका मन यज्ञप्रवण बना रहता है। उस घर में यह नियम होता है कि बड़े ने कहा और छोटे ने किया। यही देवपूजा है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**जगती**॥

'भद्रा' उषा

सो चिन्नु भद्रा क्षुमती यशस्वत्युषा उवास मनवे स्व ॒र्वती।
यदीमुशन्तमुशतामनु क्रतुमग्निं होतारं विदथाय जीजनन्॥ २०॥

१. **सा उ चित् नु उषा**=और अब वह उषा निश्चय से **मनवे**=समझदार पुरुष के लिए **उवास**=उदित होती है—अन्धकार को दूर करती है, जो उषा **भद्रा**=कल्याण व सुख देनेवाली है, **क्षुमती**=(क्षु शब्दे) स्तुति के शब्दोंवाली है, जिस उषा में प्रबुद्ध होकर हम प्रभु-स्तवन में प्रवृत्त होते हैं, **यशस्वती**=जो उषा हमारे लिए कीर्तिवाली है। हम उषा में ऐसे ही कर्मों को करें जो हमारी कीर्ति का कारण बनें—'स्तवन-स्वाध्याय व यज्ञों' को ही करनेवाले हों। **स्वर्वती**=यह उषा प्रकाशवाली होती है। इस समय स्वाध्याय के द्वारा हम अपने अन्दर प्रकाश को बढ़ानेवाले हों। २. ऐसा उषाकाल हमारे लिए तभी उदित होता है **यत्**=जब हम **ईम्**=निश्चय से **उशन्तम्**=हमारे हित की कामनावाले **उशताम्**=उन्नति की कामनावाले पुरुषों के **अनु क्रतुम्**=संकल्प व पुरुषार्थ के अनुसार **अग्निम्**=अग्रगति के साधक, **होतारम्**=उन्नति के लिए आवश्यक सब पदार्थों को प्राप्त करानेवाले उस प्रभु को **विदथाय**=ज्ञान-प्राप्ति के लिए **जीजनन्**=अपने हृदयों में प्रादुर्भूत करते हैं।

भावार्थ—जब हम अपने हृदयों में उस प्रभु के प्रकाश को देखने का दृढ़ संकल्प तथा

पुरुषार्थ करते हैं तभी हम प्रभु को देख पाते हैं। उसी समय हमारे लिए उषाकाल 'भद्र-क्षुमान्-यशस्वान् व स्ववर्वान्' होता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**जगती**॥

आर्याः विशः

अध त्यं द्रप्सं विभ्वं विचक्षणं विराभरदिषिरः श्येनो अध्वरे।
यदी विशो वृणते दस्ममार्या अग्निं होतारमध धीरजायत॥ २१॥

१. **अध**=अब, गतमन्त्र के अनुसार हृदय में प्रभु का प्रकाश होने पर **श्येनः** (**श्यैङ् गतौ**) यह गतिशील **इषिरः**=प्रभु-प्रेरणा प्राप्त करनेवाला **विः**=जीवरूप पक्षी **त्यम्**=उस **द्रप्सम्**=हर्ष के कारणभूत सोम को **अध्वरे आभरत्**=अपने हिंसाशून्य जीवन-यज्ञ में पोषित करता है। जो सोम **विभ्वम्**=शरीर में शक्ति प्राप्त करानेवाला है तथा **विचक्षणम्**=विशिष्ट प्रकाश प्राप्त करानेवाला है। यह सोम मस्तिष्क में ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर प्रकाश भरनेवाला है। सोम के रक्षण के लिए गतिशीलता आवश्यक है (श्येनः) तथा ऊँची उड़ान का लेना—ऊँचे लक्ष्य का रखना आवश्यक है (विः)। इस सोम के रक्षण से शक्ति व ज्ञान की वृद्धि होती है (विभ्वं, विचक्षणम्) २. सोमरक्षण के बाद **यत्**=जब **ई**=निश्चय से **आर्याः विशः**=श्रेष्ठ प्रजाएँ **दस्मम्**=सब दुःखों व पापों को नष्ट करनेवाले—दर्शनीय, **अग्निम्**=अग्रणी—उन्नतिपथ पर ले-चलनेवाले, **होतारम्**=सब आवश्यक पदार्थों को प्राप्त करानेवाले प्रभु को **वृणते**=वरते हैं। **अध**=इसके बाद ही **धीः**=ज्ञानपूर्वक कर्म **अजायत**=उत्पन्न होता है। आर्यपुरुष ज्ञानपूर्वक कर्मों को करते हैं। प्रभु का वरण करने से उनके कर्मों में पवित्रता बनी रहती है।

भावार्थ—गतिशील व ऊँचे लक्ष्यवाले बनकर हम सोम का रक्षण करें। सोमरक्षण के द्वारा शक्ति व प्रकाश प्राप्त करें। आर्यलोग प्रभु का ही वरण करते हैं, अतः उनके कर्म पवित्र होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**जगती**॥

शाकाहारी-लोकहितकारी

सदासि रण्वो यवसेव पुष्यते होत्राभिरग्ने मनुषः स्वध्वरः।
विप्रस्य वा यच्छशमान उक्थ्यो३ वाजं ससवाँ उपयासि भूरिभिः॥ २२॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **सदा रण्वः असि**=सदा रमणीय हो। आप उसी प्रकार सुन्दर हो, **इव**=जैसेकि **पुष्यते**=पुष्ट होनेवाले के लिए **यवसा**=यव आदि तृणधान्य सुन्दर होते हैं, जो किसी प्रकार की हानि न करके मनुष्य को नीरोग-ही-नीरोग बनाते है। इसी प्रकार प्रभु का सान्निध्य मनुष्य की अध्यात्म उन्नति के लिए अत्यन्त हितकर है। **होत्राभिः**=दानपूर्वक अदन की क्रियाओं से **मनुषः**=विचारशील पुरुष **स्वध्वरः**=उत्तम हिंसाशून्य कर्मोंवाला होता है। २. **यत्**=जब **शशमानः**=प्रभु का स्तवन करता हुआ अथवा द्रुतगतिवाला, अत्यन्त क्रियाशील व्यक्ति **विप्रस्य**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले व्यक्ति के **उक्थः वाजम्**=प्रशंसनीय बल को प्राप्त होता है। **वा**=निश्चय से हे विप्र! तू **ससवान्**=(सस्यवान्) वानस्पतिक भोजनों का सेवन करनेवाला बनकर **भूरिभिः**=धारण व पोषण की क्रियाओं से—लोकसंग्रहात्मक कार्यों से **उपयासि**=प्रभु के समीप प्राप्त होता है। प्रभु-प्राप्ति के लिए दो बातें आवश्यक हैं—(क) वानस्पतिक भोजन को ही अपनाना तथा (ख) अधिक-से-अधिक प्राणियों के हित में प्रवृत्त होना।

भावार्थ—मनुष्य दानपूर्वक अदन करता हुआ जीवन को यज्ञमय बनाता है। प्रभु-स्तवन व क्रियाशीलता को अपनाकर प्रशस्त बल प्राप्त करता है। शाकाहारी व लोकहितकारी बनकर प्रभु को पाता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**जगती**॥

जारः-असुरः

उदीरय पितरा जार आ भगमियक्षति हर्यतो हृत्त इष्यति।
विवक्ति वह्निः स्वपस्यते मखस्तविष्यते असुरो वेपते मती॥ २३॥

१. **पितरा**=द्यावापृथिवी को—मस्तिष्क व शरीर को **उदीरय**=उत्कृष्ट गति प्राप्त करा। मस्तिष्क व शरीर दोनों को उन्नत कर। द्युलोक मस्तिष्क है और पृथिवीलोक शरीर 'द्यौ पिता, पृथिवी माता' (मूर्ध्नो द्यौः, पृथिवी शरीरम्।) इसके लिए तू प्रभु का स्तोता बन, क्योंकि **जारः**=प्रभु का स्तोता **भगम्**=भग को—ऐश्वर्य को **आ इयक्षति**=सब प्रकार से अपने साथ संगत करता है। उस भगवान् के सम्पर्क में आकर यह उपासक भी भगवाला बनता है। 'समग्र ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान व वैराग्य' रूप भग को यह प्राप्त करता है। **हर्यतः**=उस प्रभु की ओर जानेवाला और प्रभु-प्राप्ति की कामनावाला (हर्य गतिकान्त्योः) यह **हृत्तः**=हृदय से—हृदयस्थ उस प्रभु से **इष्यति**=प्रेरणा प्राप्त करता है। २. **वह्निः**=उस प्रेरणा को धारण करनेवाला यह व्यक्ति **विवक्ति**=उस प्रेरणा को अपने जीवन से कहता है, अर्थात् उस प्रेरणा के अनुसार कार्य करता है। इस **स्वपस्यते (सु अपस्)**=उत्तम कर्मों को अपनाने की इच्छा करते हुए और इस प्रकार **तविष्यते**=दिव्यगुणों की वृद्धि की इच्छावाले पुरुष के लिए (तु वृद्धौ) **मखः**=यह जीवन यज्ञ बन जाता है। **असुरः (अस् क्षेपणे)**=सब अशुभों को अपने से परे फेंकनेवाला यह **मती**=बुद्धि से **वेपते**=दुरितों को कम्पित करके दूर कर देता है। इसका जीवन पूर्ण पवित्र हो जाता है।

भावार्थ—हम मस्तिष्क व शरीर की उन्नति करें। प्रभु-स्तवन से भगवान् के भग को प्राप्त करें। हृदयस्थ प्रभु की वाणी को सुनें। उसके अनुसार कार्य करें। हमारा जीवन यज्ञमय हो जाए। हम बुद्धिपूर्वक कार्यों को करते हुए सब दुरितों को दूर करनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

द्युमान्+अमवान्

यस्ते अग्ने सुमतिं मर्तो अख्यत्सहसः सूनो अति स प्र शृण्वे।
इषं दधानो वहमानो अश्वैरा स द्युमाँ अमवान्भूषति द्यून्॥ २४॥

१. हे **अग्ने**=(अगि गतौ, गतिः ज्ञानम्) सर्वज्ञ व **सहसः सूनो**=बल के पुञ्ज सर्वशक्तिमन् प्रभो! **यः मर्तः**=जो मनुष्य **ते**=आपकी **सुमतिम्**=कल्याणी बुद्धि को **अख्यत्**=(कथयति) प्रतिपादित करता है—आपके किये हुए वेदज्ञान को प्रसारित करना है, **सः**=वह **अतिप्रशृण्वे**=सब लोकों में ख्याति प्राप्त करता है। वह अत्यन्त यशस्वी जीवनवाला होता है। २. **इषं दधानः**=प्रभु की प्रेरणा को धारण करता हुआ, **अश्वैः**=इन्द्रियाश्वों से **वहमानः**=उस प्रेरणा को क्रियारूप में लाता हुआ **सः**=वह पुरुष **आद्युमान्**=सब ओर से प्रकाशमय जीवनवाला, अर्थात् अत्यन्त उत्कृष्ट ज्ञान की ज्योतिवाला तथा **अमवान्**=बलवाला होता हुआ **द्यून् भूषति**=अपने जीवन के दिनों को भूषित करता है।

भावार्थ—हम उस शक्तिपुञ्ज प्रभु की सुमति का प्रसार करते हुए कीर्तिमय जीवनवाले हों। प्रभु-प्रेरणा के अनुसार कार्यों को करते हुए 'द्युमान् व अमवान्' बनें। ज्योतिर्मय व शक्तिशाली।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रभु-प्रेरणा

श्रुधी नो अग्ने सदने सधस्थे युक्ष्वा रथममृतस्य द्रवित्नुम्।
आ नो वह रोदसी देवपुत्रे माकिर्देवानामप भूरिह स्याः॥ २५॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि—हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **सदने**=इस शरीररूप गृह में **सधस्थे**=मिलकर बैठने के स्थान इस हृदय में **नः श्रुधी**=हमारी बात को सुन। हृदयस्थ प्रभु जीव को सदा प्रेरणा देते हैं। जीव को चाहिए कि उस प्रेरणा को सुने। प्रेरणा देते हुए प्रभु कहते हैं कि **रथं युक्ष्व**=तू इस शरीर-रथ को जोत। यह खड़ा ही न रह जाए, अर्थात् तू सदा क्रियाशील बन। **अमृतस्य द्रवित्नुम्**=यह तेरा रथ अमृत का द्रावक हो, अर्थात् तू सदा मधुर शब्दों को ही बोलनेवाला हो। तेरा सारा व्यवहार ही मधुर हो। २. **नः**=हमसे दिये गये **रोदसी**=इन द्यावापृथिवी को—मस्तिष्क व शरीर को **आवह**=सब प्रकार से धारण करनेवाला हो। तेरा शरीर स्वस्थ हो और मस्तिष्क दीप्त हो। ये **देवपुत्रे**=दिव्यगुणों के द्वारा अपने को पवित्र रखनेवाले (पु) व अपने को सुरक्षित करनेवाले (त्र) हों (देवैः पुनीतः त्रायते च)। **इह**=इस जीवन में **देवानाम्**=दिव्यगुण-सम्पन्न विद्वानों का **अपभूः**=निरादर करनेवाला **माकिः स्याः**=मत हो। सदा उनके संग में उत्तम प्रेरणा के द्वारा अपने जीवन को पवित्र करनेवाला हो।

भावार्थ—हम प्रभु की प्रेरणा को सुनें। क्रियाशील बनें। वाणी व सब व्यवहार को मधुर बनाएँ। शरीर को स्वस्थ व मस्तिष्क को दीप्त रक्खें। सदा सत्संग की रुचिवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

समिति-मेल

यदग्न एषा समितिर्भवाति देवी देवेषु यजता यजत्र।
रत्ना च यद्विभजासि स्वधावो भागं नो अत्र वसुमन्तं वीतात्॥ २६॥

१. हे **अग्ने**=हमारी उन्नतियों के साधक प्रभो! **यजत्र**=(यज्ञ सङ्गति) मेल के द्वारा हमारा त्राण करनेवाले प्रभो! **यत्**=जब **एषा**=यह **समितिः**=मेल **भवाति**=होता है, अर्थात् जब हम परस्पर मिलकर चलते हैं तब यह मिलकर चलना **देवी**=(दिव् विजिगीषायाम्) हमारी सब बुराइयों को जीतने की कामनावाला होता है। यह मेल **देवषु**=देवपुरुषों में सदा निवास करता है। **यजता**=यह मेल हमें एक-दूसरे का आदर करना सिखाता है (यज् पूजायाम्)। हम परस्पर प्रेमभाववाले होते हैं २. **च**=और हे **स्वधावः**=आत्मतत्त्व का शोधन करनेवाले प्रभो! **यत्**=जब आप हमें **रत्ना विभजासि**=उत्तमोत्तम रमणीय वस्तुओं को प्राप्त कराते हैं तब **नः**=हमें **अत्र**=इस मानव-जीवन में **वसुमन्तम्**=उत्तम निवास को देनेवाले **भागम्**=भजनीय धनों को **वीतात्** **(आगमय)**=प्राप्त कराइए।

भावार्थ—हम परस्पर मेलवाले हों और इससे हमारा निवास सब प्रकार से उत्तम हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

तस्य भासा सर्वमिदं विभाति

अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः।
अनु सूर्य उषसो अनु रश्मीननु द्यावापृथिवी आ विवेश॥ २७॥

१. गतमन्त्र के अनुसार हम अपने निवास को उत्तम बनाने के लिए प्रभु का स्मरण करें कि **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **उषसाम् अग्रम्**=उषःकालों के पूर्वभाग को **अनु अख्यत्**=क्रम से

प्रकाशित करते हैं। वही **जातवेदः**=सर्वज्ञ व सर्वव्यापक **(जातं जातं वेत्ति, जाते जाते विद्यते)** **प्रथमः**=सबके आदिमूल प्रभु **अहानि**=दिनों को **अनु (अख्यत्)**=प्रकट करते हैं। २. वे प्रभु ही **सूर्यं अनु**=सूर्य को प्रकाशित करते हैं, **उषसः अनु**=उषाकालों को प्रकाशित करते हैं, **रश्मीन्**=सब प्रकाशमय किरणों को **अनु (अख्यत्)**=प्रकाशित करते हैं। वे प्रभु ही **द्यावापृथिवी आविवेश**=द्यावापृथिवी में प्रविष्ट हो रहे हैं। अपने प्रवेश से ही वे इन्हें दीप्त व दृढ़ बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही उषाकालों में, दिनों में, सूर्य में व रश्मिमात्र में दीप्त हो रहे हैं, द्यावापृथिवी में प्रविष्ट होकर प्रभु ही इन्हें दीप्त व दृढ़ बना रहे हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'सर्वनिर्माता' प्रभु

प्रत्यग्निरुषसामग्रमख्यत्प्रत्यहानि प्रथमो जातवेदाः।
प्रति सूर्यस्य पुरुधा च रश्मीन्प्रति द्यावापृथिवी आ ततान॥ २८॥

१. **अग्निः**=वे अग्रणी प्रभु ही **उषसाम् अग्रम् प्रति अख्यत्**=उषाओं के अग्रभाग को प्रतिदिन प्रकाशित करते हैं। वे ही **जातवेदाः**=सर्वज्ञ व सर्वव्यापक **प्रथमः**=सबके आदिमूल प्रभु **अहानि**=दिनों को **प्रति (अख्यत्)**=प्रकाशित करते हैं २. **च**=और वे प्रभु ही **सूर्यस्य**=सूर्य की **पुरुधा**=अनेक प्रकार की—सात रंगोंवाली **रश्मीन्**=किरणों को **प्रति** (अख्यत्)=प्रतिदिन प्रकाशित करते हैं। **द्यावापृथिवी प्रति आततान**=द्यावापृथिवी को प्रत्येक सृष्टि में वे प्रभु ही विस्तृत करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सूर्य-किरणों द्वारा सबका धारण करते हैं। वे ही द्यावापृथिवी को विस्तृत करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

द्यावाक्षामा के लिए सत्य व ऋत का पालन

द्यावा ह क्षामा प्रथमे ऋतेनाभिश्रावे भवतः सत्यवाचा।
देवो यन्मर्तान्यजथाय कृण्वन्त्सीदद्धोता प्रत्यङ् स्वमसुं यन्॥ २९॥

१. अध्यात्म में **द्यावाक्षामा**='द्युलोक व पृथिवीलोक' का अभिप्राय मस्तिष्क व शरीर है। ये मस्तिष्क और शरीर **ह**=निश्चय से **प्रथमे**=मानव-जीवन में प्रथम स्थान में हैं। मनुष्य का मौलिक कर्त्तव्य यही है कि वह मस्तिष्क व शरीर को स्वस्थ रखने का प्रयत्न करे। इनका ध्यान न करके रुपया कमाने व यश प्राप्त करने (वाहवाही लूटने) में न लगा रहे। ये मस्तिष्क व शरीर **ऋतेन**=ऋत से—प्रत्येक कार्य को ठीक समय पर करने से तथा **सत्यवाचा**=सत्य वाणी से, अर्थात् असत्य को सदा अपने से दूर रखने से **अभिश्रावे भवतः**=सदा अन्दर व बाहर घर में व समाज में प्रशंसनीय होते हैं। ऋत से—सब कार्यों को ठीक समय पर करने से—शरीर ठीक रहता है। सत्य से मस्तिष्क पवित्र बना रहता है। (सत्यं पुनातु पुनः शिरसि)। २. स्वस्थ शरीर व मस्तिष्कवाले बनकर हम प्रभु के प्रिय होते हैं। वे **देवः**=प्रकाशमय प्रभु **यत्**=जब **मर्तान्**=हम मनुष्यों को **यजथाय**=अपने साथ सम्पर्क के लिए **कृण्वन्**=करते हैं, तब वे प्रभु **प्रत्यङ् सीदत्**=हमारे अन्दर ही हृदयान्तरिक्ष में विराजते हुए **होता**=हमें सब आवश्यक पदार्थों को देनेवाले होते हुए **स्वम् असुम्**=अपनी प्राणशक्ति को **यन्**=प्राप्त कराते हैं। प्रभु से प्राणशक्ति व तेज के अंश को प्राप्त करके हम प्रभु जैसे ही प्रतीत होने लगते हैं। ये अतिमानव प्रतीत

होते हैं।

भावार्थ—हम ऋत व सत्य के द्वारा शरीर को दृढ़ व मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाएँ। प्रभु के प्रिय बनकर—प्रभुसम्पर्क में आकर अन्दर स्थित प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न हों। यही हमारा मौलिक कर्त्तव्य है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रथमः चिकित्वान्

देवो देवान्परिभूर्ऋतेन वहा नो हव्यं प्रथमश्चिकित्वान्।
धूमकेतुः समिधा भाऋजीको मन्द्रो होता नित्यो वाचा यजीयान्॥ ३०॥

१. प्रभु ऋत व सत्य का पालन करनेवाले जीव से कहते हैं कि **देवः**=देववृत्तिवाला तू **ऋतेन**=यज्ञ के पालन से **देवान् परिभूः**=सब दिव्यगुणों को शरीर में चतुर्दिक् भावित करनेवाला हो। तेरे शरीर में यथास्थान उस-उस देवता की स्थिति हो। तू **प्रथमः**=शरीर व मस्तिष्क को उत्तम बनानेवालों में सर्वाग्रणी व **चिकित्वान्**=समझदार होता हुआ **नः**=हमारे **हव्यम्**=हव्य को **वहा**=वहन करनेवाला हो, अर्थात् तेरा जीवन यज्ञमय हो—तू सदा यज्ञशेष का सेवन करनेवाला बन। २. **धूमकेतुः**=ज्ञान के द्वारा वासनाओं को कम्पित करके अपने से दूर करनेवाला तू बन। **समिधा भाऋजीकः**=ज्ञान की दीप्ति से दीप्ति का अर्जन करनेवाला तू हो। **मन्द्रः**=तेरा जीवन सदा प्रसन्नतापूर्ण हो। **नित्यः होता**=तू सदा देनेवाला बन। जितना हम देते हैं—त्याग करते हैं, उतना ही तो जीवन आनन्दमय बनता है। **वाचा यजीयान्**=ज्ञान की वाणी से तू उस प्रभु का पूजन करनेवाला बन। अथवा ज्ञान की वाणियों से संग करनेवाला बन—सदा स्वाध्यायशील हो।

भावार्थ—प्रभु का आदेश है कि हे जीव! तू दिव्यगुणों को धारण कर, यज्ञशील हो, ज्ञान के द्वारा वासनाओं को कम्पित करनेवाला हो, ऋजु, दीप्त, सदा प्रसन्न, नित्य होता व स्वाध्यायशील बन।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

द्यावाभूमि का माधुर्य

अर्चामि वां वर्धायापो घृतस्नू द्यावाभूमी शृणुतं रोदसी मे।
अहा यद्देवा असुनीतिमायन्मध्वा नो अत्र पितरा शिशीताम्॥ ३१॥

१. **अपः वर्धाय**=कर्मों के वर्धन के लिए **वाम्**=आप दोनों—द्युलोक व पृथिवीलोक (मस्तिष्क व शरीर) को **अर्चामि**=पूजित करता हूँ। मेरा मस्तिष्क व शरीर **घृतस्नू**=घृत का धारण करनेवाले हों। मस्तिष्क में ज्ञान की दीप्ति हो (घृत-दीप्ति) और शरीर से मलों का क्षरण हो जाए (घृ क्षरणे)। **मे द्यावाभूमि**=मेरा ज्ञानदीप्त मस्तिष्क तथा क्षरित मलोंवाला शरीर **रोदसी**=(क्रन्दसी) प्रभु का आह्वान करनेवाले होते हुए **शृणुतम्**=प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाले बनें। २. **यत्**=जब **देवाः**=ज्ञानी स्तोता (दिव द्युतौ-स्तुतौ) **अहा**=प्रतिदिन **असुनीतिम् आयन्**=प्राणों के मार्ग पर चलते हैं, अर्थात् प्राणसाधना द्वारा प्राणशक्ति का वर्धन करते हैं तब **अत्र**=इस जीवन में **नः**=हमें **पितरा**=द्यावापृथिवी (मस्तिष्क व शरीर) **मध्वा**=माधुर्य से **शिशीताम्**=संस्कृत कर दें। हमारी प्रत्येक क्रिया माधुर्यपूर्ण हो, हमारा ज्ञान भी मधुरता से औरों तक पहुँचाया जाए। वस्तुतः द्यावाभूमी का माधुर्य से पूर्ण होना ही जीवन के विकास की पराकाष्ठा है। इनको ऐसा बनाना ही इनका अर्चन है।

भावार्थ—हमारे मस्तिष्क व शरीर ज्ञानदीप्त व निर्मल हों। हम प्राणरक्षण के मार्ग से चलें तथा अपने को मधुर बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'गोदुग्ध व वानस्पतिक भोजन' का सेवन

स्वावृग्देवस्यामृतं यदी गोरतो जातासो धारयन्त उर्वी।
विश्वेदेवा अनु तत्ते यजुर्गुर्दुहे यदेनी दिव्यं घृतं वाः॥ ३२॥

१. मनुष्य **देवस्य**=दिव्यगुणों के पुञ्ज प्रभु का **स्वावृक् (सु आवृज्)**=उत्तमता से आवर्जन करनेवाला होता है। एक मनुष्य का झुकाव प्रभु की ओर होता है **यत्**=जब **ई**=निश्चय से **गोः अमृतम्**=गौ का अमृत-तुल्य दुग्ध तथा **अतः जातासः**=इस पृथिवी से उत्पन्न वानस्पतिक पदार्थ (गौ भूमिः) **उर्वी**=इन द्यावापृथिवी को—मस्तिष्क व शरीर को **धारयन्त**=धारण करते हैं, अर्थात् जब एक मनुष्य गोदुग्ध व वानस्पतिक भोजनों का सेवन करता है तब उसका शरीर व मस्तिष्क दोनों बड़े उत्तम बनते हैं और इस मनुष्य का झुकाव प्राकृतिक भोगों की ओर न होकर प्रभु की ओर होता है। २. **तत्**=तब **विश्वेदेवाः**=सब दिव्यगुण **ते यजुः**=तेरे सम्पर्क को (यज् संगतिकरणे) **अनु गुः**=अनुकूलता से प्राप्त होते हैं। प्रभु की ओर झुकाव होने पर दिव्यगुण प्राप्त होते हैं, **यत्**=क्योंकि **एनी**=यह श्वेत—शुद्ध-वेदवाणी **दिव्यम्**=अलौकिक-उत्कृष्टतम **घृतम्**=ज्ञानदीप्ति को तथा **वाः (वार्)**=रोगों के निवारण को **दुहे**=पूरित करती है। वेदवाणी ज्ञान को तो प्राप्त कराती ही है, यह मनुष्य की वृत्ति को सुन्दर बनाकर, उसे वासनाओं से ऊपर उठाकर, नीरोग भी बनाती है। यह वरदा वेदमाता 'आयुः प्राणं' आयुष्य व प्राण को देनेवाली तो है ही।

भावार्थ—जब गोदुग्ध व वानस्पतिक भोजन हमारे शरीर व मस्तिष्क को धारण करते हैं तब हमारा झुकाव प्रभु की ओर होता है। उस समय हमें दिव्यगुण प्राप्त होते हैं और ज्ञान की वाणी हमें ज्ञानदीप्ति व नीरोगता प्राप्त कराती है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यशोबलम् (श्लोकः-वाजः)

किं स्विन्नो राजा जगृहे कदस्याति व्रतं चकृमा को वि वेद।
मित्रश्चिद्धि ष्मा जुहुराणो देवाञ्छ्लोको न यातामपि वाजो अस्ति॥ ३३॥

१. यह **राजा**=देदीप्यमान (राज् दीप्तौ) ब्रह्माण्ड का शासक (Regulate करनेवाला) **किंस्वित्**=भला क्या **नः**=हमारा **जगृहे**=ग्रहण करेगा! जैसे पिता पुत्र को गोद में लेता है, उसी प्रकार क्या वे प्रभु हमें गोद में लेंगे? **कत्**=कब **अस्य**=इस प्रभु के **अतिव्रतं चकृम**=तीव्र व्रतों को हम कर पाएँगे, अर्थात् उस पिता प्रभु की प्राप्ति के लिए साधनाभूत महान् यम-नियम आदि व्रतों को हम कब पूर्ण तथा पालन कर सकेंगे? इन बातों को **कः विवेद**=वे अनिर्वचनीय प्रभु ही जानते हैं। 'हमारे कर्म प्रभु-प्राप्ति के योग्य कब होंगे?' यह बात तो प्रभु के ही ज्ञान का विषय हो सकती है। ज्यों ही हमारे कर्म उस योग्यता के होंगे, त्यों ही प्रभु हमें अपनी गोद में अवश्य ग्रहण करेंगे। २. वे प्रभु **चित् हि ष्मा**=निश्चय से **मित्रः**=मृत्यु व रोगों से बचानेवाले हैं (प्रमीतेः त्रयाते) और **देवान्**=देववृत्तिवाले लोगों को **जुहुराणः**=स्नेहपूर्वक अपने समीप बुलानेवाले हैं (स्निग्धम् आह्लादयमानः—सा०)। जब हम देव बनते हैं तब हमें उस पिता का स्नेह प्राप्त होता ही है। देव बनने के इस मार्ग पर चलने पर **न** (संप्रति)=अब भी **याताम्**=गतिशील हम लोगों का **श्लोकः**=यश और **वाजः अपि**=बल भी **अस्ति**=होता ही है। इस यशस्वी बल

के द्वारा आगे बढ़ते हुए हम देव बनते हैं और देव बनकर महादेव की गोद में आसीन होते हैं।

भावार्थ—हम देव बनकर प्रभु के स्नेह के पात्र हों। गतिशील बनकर यशस्वी बलवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

नाम-स्मरण की दुष्करता

दुर्मन्त्वत्रामृतस्य नाम सलक्ष्मा यद्विषुरूपा भवाति।
यमस्य यो मनवते सुमन्त्वग्ने तमृष्व पाह्यप्रयुच्छन्॥ ३४॥

१. प्रभु को भूल गये तो प्रभु को क्या प्राप्त करेंगे, अतः प्रभु-स्मरण आवश्यक है। यह बात भी ठीक है कि **अत्र**=यहाँ—इस संसार में **अमृतस्य नाम**=अविनाशी प्रभु का नाम **दुर्मन्तु**=स्मरण करना कठिन है, **यत्**=क्योंकि **सलक्ष्मा**=यह उत्तम लक्षणोंवाली (लक्ष्मभिः सहिता) प्रकृति **विषुरूपा भवाति**=विविध सुन्दर रूपोंवाली होती है। यह हिरण्मयी प्रकृति हमारे ध्यान को आकृष्ट करके हमें प्रभु से दूर ले-जाती है। २. **यः**=जो मनुष्य **यमस्य**=उस नियन्ता प्रभु के **सुमन्तु**=उत्तम मननयोग्य नाम का **मनवते**=मनन करता है, **अग्ने**=हे अग्रणी! **ऋष्व**=दर्शनीय व जानने योग्य प्रभो! **तम्**=उस नामस्मरण करनेवाले को **अप्रयुच्छन्**=प्रमादरहित होते हुए आप **पाहि**=रक्षित करते हो। यह स्तोता अवश्य आपकी रक्षा का पात्र होता है।

भावार्थ—प्रकृति की चमक के कारण यहाँ—इस संसार में मनुष्य प्रभु को भूल जाता है, प्रभु-नामस्मरण से दूर हो जाता है, परन्तु जब भी हम उस प्रभु के नाम का स्मरण कर पाते हैं तब प्रभु के द्वारा रक्षणीय होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

क्रियाशीलता व ज्ञान की उपासना

यस्मिन्देवा विदथे मादयन्ते विवस्वतः सदने धारयन्ते।
सूर्ये ज्योतिरदधुर्मास्य१क्तून्परि द्योतनिं चरतो अजस्रा॥ ३५॥

१. प्रभु की रक्षा प्राप्त करनेवाले **देवाः**=देववृत्ति के लोग **यस्मिन्**=जिस समय, प्रभु की गोद में रहते हुए **विदथे मादयन्ते**=ज्ञानयज्ञों में हर्ष का अनुभव करते हैं, अर्थात् सदा ज्ञानप्रधान जीवन बिताते हैं तब **विवस्वतः**=सूर्य के **सदने**=निवासस्थान द्युलोक में **धारयन्ते**=अपना धारण करते हैं। ये मस्तिष्क प्रधान (Sensible) बनते हैं—शरीर में मस्तिष्क ही तो द्युलोक है। २. **सूर्ये**=(सूर्यश्चक्षुर्भूत्वा०) अपनी आँखों में **ज्योतिः अदधुः**=प्रकाश को धारण करते हैं—इनकी आँखों में सदा चमक होती है। **मासि (चन्द्रमा मनो भूत्वा, मास् moon)**=अपने मनों में **अक्तून्**=प्रकाश की किरणों को धारण करते हैं, अर्थात् हृदयस्थ प्रभु के प्रकाश को देखते हैं। इसप्रकार की वृत्तिवाले पति-पत्नी **अजस्रा** (अ-जस्)=सदा कर्मों को करनेवाले **द्योतनिम्**=ज्ञान की ज्योति का **परिचरतः**=सदा उपासन करते हैं। इसप्रकार आदर्श गृहस्थ 'निरन्तर क्रियाशील व ज्ञान के उपासक' होते हैं।

भावार्थ—हम ज्ञानयज्ञों में आनन्द लें, सदा समझदारी से चलें। हमारी आँखों में ज्योति हो और मन में आह्लाद। हम क्रियाशील हों और ज्ञान के उपासक बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

निष्पापता व प्रभुदर्शन

यस्मिन्देवा मन्मनि संचरन्त्यपीच्ये३ न वयमस्य विद्म।
मित्रो नो अत्रादितिरनागान्त्सविता देवो वरुणाय वोचत्॥ ३६ ॥

१. **यस्मिन्**=जिस परमात्मा की उपासना होने पर **देवाः**=देववृत्ति के लोग **मन्मनि**=उस ज्ञानस्वरूप प्रभु में **संचरन्ति**=विचरते हैं, जो प्रभु **अपीच्ये**=अन्तर्हित हैं—हृदयरूप गुहा में स्थित होते हुए भी हमारे ज्ञान का विषय नहीं बनते। **वयम्**=हम **अस्य न विद्म**=इस प्रभु के स्वरूप को नहीं जानते। हृदय में होते हुए भी वे हमारे लिए अचिन्त्य ही बने रहते हैं। २. ये प्रभु **नः मित्रः**=हमारे मित्र हैं, **अदितिः**=अपने उपासक के स्वास्थ्य को न नष्ट होने देनेवाले हैं। (अविद्यमाना दितिर्यस्मात्)। मित्ररूप में वे प्रभु हमें पापों से बचाते हैं तो अदिति के रूप में रोगों से। ये **सविता**=सब प्रेरणओं को देनेवाले **देवः**=ज्ञानप्रकाश के पुञ्ज प्रभु **अनागान्**=निरपराध जीवनवाले हम लोगों को **वरुणाय वोचत्**=द्वेषनिवारण के लिए उपदेश देते हैं। द्वेषशून्यता होने पर प्रभु-साक्षात्कार सम्भव होता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे मित्र हैं। निर्द्वेषता से ही हम इस मित्र का साक्षात्कार कर पाएँगे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**परोष्णिक्** ॥

'इन्द्र-वज्री-नृतम-धृष्णु' प्रभु का स्तवन

सखाय आ शिषामहे ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे। स्तुष ऊ षु नृतमाय धृष्णवे॥ ३७ ॥

१. **सखायः**=हे मित्रो! हम **इन्द्राय**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले, **वज्रिणे**=वज्रहस्त अथवा (वज् गतौ) सब गतियों के देनेवाले, **नृतमाय**=(नेतृ-तमाय) सर्वोत्तम नेता **धृष्णवे**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले—शत्रुओं को कुचल देनेवाले प्रभु के लिए **स्तुषे**=(स्तोतुम् सा०) स्तवन करने के लिए **उ**=निश्चय से **ब्रह्म**=(वेद) ज्ञान को **सु आशिषामहे**=अच्छी प्रकार चाहते हैं। २. ज्ञान प्राप्त करके इन वेदवाणियों के द्वारा हम प्रभु का शंसन करते हैं। यह प्रभु-स्तवन हमें जितेन्द्रिय (इन्द्राय) गतिशील (वज्रिणे) आगे और आगे बढ़नेवाला (नृतमाय) तथा शत्रुओं को कुचल देनेवाला बनाता है (धृष्णवे)।

भावार्थ—वेदवाणी द्वारा प्रभु-स्तवन करते हुए हम जितेन्द्रिय, गतिशील प्रगतिवाले व शत्रु को कुचलनेवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पुरोष्णिक्** ॥

शवसा+मघैः

शवसा ह्यसि श्रुतो वृत्रहत्येन वृत्रहा। मघैर्मघोनो अति शूर दाशसि॥ ३८ ॥

१. हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **शवसा**=बल से **श्रुतः असि**=प्रसिद्ध हैं। सर्वशक्तिमान् हैं। **वृत्रहत्येन**=हमारे सबसे महान् शत्रु वृत्र का—ज्ञान की आवरणभूत कामवासना का विनाश करने से आप **वृत्र-हा**=वृत्र का हनन करनेवाले कहलाये हैं। २. हे शूर! आप **मघैः**=अपने ऐश्वर्यों के द्वारा **मघोनः अति**=सब ऐश्वर्य-सम्पन्नों को लाँघकर **दाशसि**=देनेवाले हैं। आप के समान अन्य कोई दाता नहीं है।

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् प्रभु हमारे प्रबलतम वासनारूप शत्रुओं का विनाश करते हैं। वे परमैश्वर्यशाली प्रभु ही सर्वमहान् दाता हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

हृदय में प्रभु का उपासन व दीप्त जीवन

स्तेगो न क्षामत्येषि पृथिवीं मही नो वाता इह वान्तु भूमौ।
मित्रो नो अत्र वरुणो युज्यमानो अग्निर्वने न व्यसृष्ट शोकम्॥ ३९॥

१. **स्तेगः**=(स्त्यायते Spread about) हे प्रभो! चारों ओर व्याप्त होते हुए आप इस **क्षाम्** (**क्षि=निवासे**)=हमारी निवासस्थानभूत **पृथिवीम्**=शरीररूप पृथिवी को **न अति एषि**=कभी लाँघकर नहीं जाते हो। आपका सर्वश्रेष्ठ निवासस्थान (परम व्योम) हमारा हृदय ही होता है। हम सदा हृदय में आपका स्मरण करें। ऐसा करने पर **इह भूमौ**=यहाँ पृथिवी पर **नः**=हमारे लिए **मही वातः**=महत्त्वपूर्ण—हमें शक्ति देनेवाली वायुएँ **वान्तु**=बहें। हमारे लिए सारा वातावरण बड़ा अनुकूल हो। २. **मित्रः**=वह सबके प्रति स्नेह करनेवाला, **वरुणः**=द्वेष का निवारण करनेवाला प्रभु **युज्यमानः**=योग द्वारा सम्पृक्त होता हुआ **अत्र**=यहाँ—इस जीवन में **नः**=हमारे लिए **शोकम्**=दीप्ति को **व्यसृष्ट**=विशेषरूप से उत्पन्न करता है, उसीप्रकार **न**=जैसेकि (न=इव) **अग्निः वने**=अग्नि वन में वनाग्नि को उत्पन्न करके विशिष्ट दीप्ति उत्पन्न करता है।

भावार्थ—सर्वव्यापक होते हुए भी प्रभु हमारे हृदयों में विशेषरूप से उपासनीय होते हैं। उस समय हमारा सारा वातावरण बड़ा सुन्दर बनता है। प्रभु का उपासक जब स्नेह व निर्द्वेषतावाला बनता है तब उसका हृदय प्रभु-दीप्ति से दीप्त हो उठता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः, रुद्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रभु-स्तवन व प्रभु का अनुग्रह

स्तुहि श्रुतं गर्तसदं जनानां राजानं भीममुपहत्नुमुग्रम्।
मृडा जरित्रे रुद्र स्तवानो अन्यमस्मत्ते नि वपन्तु सेन्यम्॥ ४०॥

१. हे जीव! तू **स्तुहि**=उस प्रभु का स्तवन कर जोकि **श्रुतम्**=वेदवाणियों में सर्वत्र सुनने योग्य हैं (सर्वे वेदाः यत् पदमामनन्ति०) **गर्तसदम्**=जो हृदयरूप गुहा में आसीन हैं। **जनानां राजानम्**=सब उत्पन्न होनेवाले लोगों के शासक हैं (इन्द्रो विश्वस्य राजति) **उपहत्नुम्**=सब दुष्टों को विनष्ट करनेवाले हैं। **भीमम्**=शत्रुओं के लिए भयंकर हैं। **उग्रम्**=अत्यन्त तेजस्वी हैं। २. हे **रुद्र**=दुष्टों को रुलानेवाले प्रभो! **स्तवानः**=स्तुति किये जाते हुए आप **जरित्रे**=स्तोता के लिए **मृड**=सुख देनेवाले होइए। हे प्रभो! **ते**=आपकी **सेन्यम्**=सेनाएँ **अस्मत् अन्यम्**=हम स्तोताओं से भिन्न पुरुषों को **निवपन्तु**=काटनेवाली हैं। सब आधिदैविक शक्तियाँ ही प्रभु की सेनाएँ हैं। नास्तिक व्यक्ति प्रभु की उपासना से दूर होकर इन शक्तियों की प्रतिकूलता के कारण रोग आदि का शिकार हो जाते हैं। उपासक के लिए ही 'द्युलोक, अन्तरिक्षलोक व पृथिवीलोक' शान्ति देनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। यह प्रभु-स्तवन हमें उचित प्रेरणा व शक्ति प्राप्त कराएगा। इससे हम स्वधर्म का पालन करते हुए प्रभु के सच्चे उपासक होंगे और सब कष्टों से बचे रहेंगे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः, सरस्वती**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सरस्वती की आराधना

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने।
सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते सरस्वती दाशुषे वार्यं दात्॥ ४१॥

१. **देवयन्तः**=दिव्यगुणों की प्राप्ति की कामनावाले और उनके द्वारा उस महान् देव प्रभु की प्राप्ति की कामनावाले पुरुष **सरस्वतीं हवन्ते**=विद्या की अधिष्ठात्री देवता को पुकारते हैं, अर्थात् ज्ञान-प्राप्ति के लिए यत्नशील होते हैं। यह ज्ञान ही उनके जीवन को पवित्र व दिव्यगुण-सम्पन्न बनाकर उन्हें प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनाएगा। २. **तायमाने अध्वरे**=विस्तृत किये जाते हुए यज्ञ के निमित्त **सरस्वतीम्**=सरस्वती को ही पुकारते हैं। वस्तुतः यह ज्ञान ही हमारे जीवनों को यज्ञमय बनाता है। सब **सुकृतः**=शुभ कर्मों को करनेवाले लोग इस **सरस्वतीं हवन्ते**=सरस्वती को पुकारते हैं। यह ज्ञान की आराधना ही तो उन्हें सब दुर्व्यसनों से बचाकर शुभ कर्मों में प्रवृत्त करती है। ३. वस्तुतः **सरस्वती**=यह ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए—आत्मार्पण करनेवाले व्यक्ति के लिए सब **वार्यम्**=वरणीय वस्तुओं को **दात्**=देती है। ज्ञान की आराधना हमारे जीवन में सब शुभों को प्राप्त कराती है।

भावार्थ—सरस्वती का आराधन, अर्थात् ज्ञानप्राप्ति की लगन हमें दिव्यगुणसम्पन्न बनाकर प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनाती है (देवयन्तः)। यह हमें यज्ञशील बनाती है (अध्वरे) पुण्य कर्मों में प्रवृत्त करती है (सुकृतः) और सब शुभों को प्राप्त कराती है (वार्यं दात्)।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः, सरस्वती**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सरस्वती की आराधना का फल

सर॑स्वतीं पि॒तरो॑ हवन्ते दक्षि॒णा य॒ज्ञम॑भि॒नक्ष॑माणाः।
आ॒सद्या॒स्मिन्ब॒र्हिषि॑ मादयध्वमनमी॒वा इष॒ आ धे॑ह्य॒स्मे॥ ४२॥

१. **सरस्वतीम्**=इस ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता को **पितरः**=रक्षणात्मक कार्यों में व्यापृत पिता **हवन्ते**=पुकारते हैं। यह ज्ञानरुचि ही उन्हें पवित्र जीवनवाला बनाकर अपने कार्य को सुचारु रूप से करने में समर्थ करती है। **दक्षिणा**=(दक्ष् to grow) उन्नति व विकास के हेतु से **यज्ञम् अभिनक्षमाणाः**=(यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म) श्रेष्ठतम कर्मों को प्राप्त होते हुए लोग इस सरस्वती को ही पुकारते हैं। सरस्वती ही तो उन्हें इन यज्ञात्मक कर्मों में प्रवृत्त करके उन्नत करती है। २. हे पुरुषो! तुम **अस्मिन् बर्हिषि**=(बृहि वृद्धौ) इस वृद्धि के निमित्तभूत सरस्वती के आराधन में **आसद्य**=आसीन होकर **मादयध्वम्**=आनन्द का अनुभव करो। स्वाध्याय में तुम्हें रस की प्रतीति हो। हे सरस्वति! तू **अस्मे**=हमारे लिए **अनमीवाः**=व्याधिरहित **इषः**=अन्नों को **आधेहि**=स्थापित कर। राजस् अन्न (दुःखशोकामयप्रदाः) ही रोगों का कारण बनते हैं। उन्हें न ग्रहण करके हम सात्त्विक अन्नों का ही सेवन करें। यह सात्त्विक अन्न का सेवन हमारी बुद्धि की वृद्धि करता हुआ हमें और अधिक सरस्वती का आराधक बनाएगा।

भावार्थ—सरस्वती की आराधना हमें रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त करती है (पितरः), यह हमें श्रेष्ठतम कर्मों की ओर ले-जाती है (यज्ञम्), यही वृद्धि का निमित्त बनती है (बर्हिषि), अतः हम सात्त्विक अन्नों का सेवन करते हुए तीव्र बुद्धि बनें और सरस्वती के आराधक हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः, सरस्वती**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सरस्वती का आराधक

सर॑स्वति॒ या स॒रथं॑ य॒याथो॒क्थैः स्व॒धाभि॑र्देवि पि॒तृभि॒र्मद॑न्ती।
स॒ह॒स्रा॒र्घमि॒डो अत्र॑ भा॒गं रा॒यस्पोषं॒ यज॑मानाय धेहि॥ ४३॥

१. हे **सरस्वति**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवते! **यः**=जो तू **उक्थैः**=स्तोत्रों के साथ **सरथं ययाथ**=समान रथ में—एक ही शरीररूप रथ में गतिवाली होती है। हे **देवि**=जीवन को

प्रकाशमय बनानेवाली! तू **स्वधाभिः**=(स्व-धा) आत्मधारण-शक्तियों के साथ **पितृभिः**=तथा रक्षणात्मक कार्यों में व्यापृत लोगों के साथ **मदन्ती**=आनन्द का अनुभव करती है। ज्ञानी पुरुष अवश्य (क) प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाला बनता है (उक्थैः)। (ख) यह आत्मशक्ति को धारण करता है (स्वधाभिः)। (ग) पालनात्मक कार्यों में व्यापृत होता है (पितृभिः)। २. हे सरस्वति! तू **अत्र**=इस हमारे जीवन में **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए (यज्ञ—पूजा, संगतिकरण, दान) तेरा पूजन करनेवाले, तेरा संग करनेवाले व तेरे प्रति अपने को दे डालनेवाले के लिए **सहस्रार्घम्**=अनन्त मूल्यवाले—अमूल्य इस **इडः भागम्**=ज्ञान की वाणी के भजनीयांश को तथा **रायस्पोषम्**=जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक धन का पोषण **धेहि**=धारण कर।

भावार्थ—सरस्वती का आराधक (१) प्रभुभक्त बनता है, (२) आत्मशक्ति का धारण करता है, (३) रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त होता है (४) वेदवाणी का अमूल्य ज्ञानधन प्राप्त करता है और (५) आवश्यक धन का पोषक होता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः, पितरः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'अवर, पर व मध्यम' पितर

उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु॥ ४४॥

१. हमारे जीवनों में **अवरे पितरः**=सबसे प्रथम स्थान में प्राप्त होनेवाले माता-पितारूप पितर **उदीरताम्**=उत्कृष्ट गतिवाले हों। वे हमारे जीवनों में चरित्र व शिष्टाचार की स्थापना के लिए यत्नशील हों। **उत्**=और **मध्यमाः**=मध्यम श्रेणी के पितर, अर्थात् हमारे जीवनों के मध्यकाल में शिक्षा के द्वारा हमारे ज्ञान को बढ़ानेवाले आचार्य (उदीरताम्) ज्ञानप्रदान की क्रिया में सदा सचेष्ट हों। **उत्**=और **परासः**=जीवन के परभाग में हमारे घरों में प्राप्त होनेवाले अतिथिरूप पितर सदा सत्प्रेरणा देते हुए (उदीरताम्) उत्कृष्ट गतिवाले हों। उपनिषद् के 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव' इन शब्दों में इन्हीं पितरों का उल्लेख हुआ है। २. ये सब पितर **सोम्यासः**=अत्यन्त सौम्य स्वभाव के हों, स्वयं सौम्य होते हुए ही ये हमें सौम्य बना सकेंगे। पितर वे हैं **ये**=जो **असुम् ईयुः**=प्राणशक्ति को प्राप्त करते हैं—प्राणसाधना द्वारा जीवनशक्ति से परिपूर्ण हैं। **अवृकाः**=लोभ से रहित हैं। **ऋतज्ञाः**=ऋत को जाननेवाले हैं—यज्ञशील हैं (ऋत=यज्ञ)। **ते**=वे पितर **नः**=हमें **हवेषु**=पुकारे जाने पर **अवन्तु**=हमारा रक्षण करनेवाले हैं—अपनी सत्प्रेरणाओं द्वारा हमें प्रीणित करनेवाले हैं।

भावार्थ—सौम्य-प्राणशक्तिसम्पन्न-निर्लोभ व यज्ञशील पितर हमारे जीवनों में हमारा रक्षण करनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः, पितरः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'सुविदत्र और बर्हिषद्' पितर

आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः।
बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः॥ ४५॥

१. **अहम्**=मैं **सुविदत्रान्**=उत्तम ज्ञान के द्वारा रक्षण करनेवाले **पितॄन्**=पितरों को **आ अवित्सि**=सर्वथा प्राप्त होऊँ। माता-पिता, आचार्य व अतिथि—ये सब ज्ञान के द्वारा हमारा रक्षण करनेवाले हों **च**=और परिणामतः मैं **न-पातम्**=न गिरने को, अर्थात् धर्ममार्ग में स्थिरता को, प्राप्त करूँ **च**=तथा **विष्णोः विक्रमणम्**=विष्णु के विक्रमण को भी मैं प्राप्त करूँ, अर्थात् विष्णु

ने जैसे तीन पगों में त्रिलोकी को व्याप्त किया हुआ है, उसी प्रकार मैं भी त्रिलोकी का विजेता बनूँ, अर्थात् 'स्वस्थ शरीर, निर्मल मन व दीप्त मस्तिष्क' वाला होऊँ। २. मैं उन पितरों को प्राप्त करूँ ये जो **बर्हिषदः**=यज्ञों में आसीन होनेवाले हैं और **स्वधया**=प्राणशक्ति के धारण के हेतु से **पित्वः**=अन्न के **सुतस्य**=परिणामभूत (उत्पन्न) सोम का **भजन्त**=सेवन करते हैं, अर्थात् इस सोम को शरीर में ही सुरक्षित रखते हैं। इस वीर्यरक्षण के द्वारा ही वे दीप्त ज्ञानाग्निवाले बनकर आत्मतत्त्व का धारण करनेवाले बनते हैं। **ते**=वे पितर **इह आगमिष्ठाः**=इस जीवन में हमें प्राप्त हों।

भावार्थ—हमें उन पितरों की प्राप्ति हो जो ज्ञान के द्वारा हमारा रक्षण करें, यज्ञशील हों, प्रभु-प्राप्ति के उद्देश्य से (आत्मशक्ति के धारण के उद्देश्य से) वीर्य का रक्षण करनेवाले हों। इनके सम्पर्क से हम भी मार्गभ्रष्ट न होकर शरीर, मन व मस्तिष्क की उन्नतिरूप तीन पगों को रखनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः, पितरः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पितरों का आदर

इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो ये अपरास ईयुः।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु दिक्षु॥ ४६॥

१. **इदम्**=यह **अद्य**=आज **पितृभ्यः**=उन सब पितरों के लिए **नमः अस्तु**=नमस्कार हो। हम उन सब पितरों के लिए आदर का भाव धारण करते हैं, **ये**=जो **पूर्वासः**=हमारे जीवनों में सर्वप्रथम 'माता-पिता' के रूप में **ईयुः**=आते हैं और **ये**=जो **अपरास**=अपर काल में (पीछे) आचार्यों व अतिथियों के रूप में आते हैं। २. उन पितरों के लिए हम आदर का भाव धारण करते हैं **ये**=जो **पार्थिवे रजसि**=इस पार्थिवलोक में—शरीर में **आ-निषत्ताः**=समन्तात् निषण्ण हैं, अर्थात् जिनका शरीर पर पूर्ण प्रभाव है, **वा**=तथा **ये**=जो **नूनम्**=निश्चय से **सुवृजनासु**=(वृजन Strenght, power) उत्तम शक्तिवाली **दिक्षु**=दिशाओं में चल रहे हैं। अपने पर पूर्ण प्रभाव रखते हुए वे शक्तिशाली बने हैं।

भावार्थ—हम 'माता-पिता व आचार्य, अतिथि' रूप पूर्व-अपर सब पितरों के लिए आदर का भाव धारण करते हैं। उन पितरों का लिए आदर का भाव धारण करते हैं जो शरीर पर पूर्ण प्रभुत्व रखते हुए शक्ति-सम्पादन की दिशाओं में चल रहे हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

मातली-यम-बृहस्पति

मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः।
यांश्च देवा वावृधुर्ये च देवांस्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु॥ ४७॥

१. (मा लक्ष्मीं तालयति—तल् प्रतिष्ठायाम्) 'मातलि' बुद्धि है। बुद्धिवाला होने से इन्द्र 'मातली' (मातलि+ई) कहलाता है। यह **मातली**=समझदार, बुद्धिमान् पुरुष **कव्यैः**=पितरों को—वृद्ध माता-पिता को दिये जानेवाले अन्नों से **वावृधानः**=धर्ममार्ग पर खूब बढ़नेवाला होता है। एक समझदार व्यक्ति माता-पिता को श्रद्धा व आदर से भोजन कराके, बाद में स्वयं भोजन करता है। इस माता-पिता के श्राद्ध को ही वह प्रत्यक्ष धर्म मानता है। इस सेवा से ही वह 'आयु, विद्या, यश व बल' में वावृधान होता है। २. **यमः**=संयमी पुरुष **अङ्गिरोभिः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रस से वावृधान होता है। संयम इसकी शक्तियों की वृद्धि व स्थिरता का कारण बनता

प्रकाशमय बनानेवाली! तू **स्वधाभिः**=(स्व-धा) आत्मधारण-शक्तियों के साथ **पितृभिः**=तथा रक्षणात्मक कार्यों में व्यापृत लोगों के साथ **मदन्ती**=आनन्द का अनुभव करती है। ज्ञानी पुरुष अवश्य (क) प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाला बनता है (उक्थैः)। (ख) यह आत्मशक्ति को धारण करता है (स्वधाभिः)। (ग) पालनात्मक कार्यों में व्यापृत होता है (पितृभिः)। २. हे सरस्वति! तू **अत्र**=इस हमारे जीवन में **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए (यज्ञ—पूजा, संगतिकरण, दान) तेरा पूजन करनेवाले, तेरा संग करनेवाले व तेरे प्रति अपने को दे डालनेवाले के लिए **सहस्रार्घम्**=अनन्त मूल्यवाले—अमूल्य इस **इडः भागम्**=ज्ञान की वाणी के भजनीयांश को तथा **रायस्पोषम्**=जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक धन का पोषण **धेहि**=धारण कर।

भावार्थ—सरस्वती का आराधक (१) प्रभुभक्त बनता है, (२) आत्मशक्ति का धारण करता है, (३) रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त होता है (४) वेदवाणी को अमूल्य ज्ञानधन प्राप्त करता है और (५) आवश्यक धन का पोषक होता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः, पितरः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'अवर, पर व मध्यम' पितर

उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु॥ ४४॥

१. हमारे जीवनों में **अवरे पितरः**=सबसे प्रथम स्थान में प्राप्त होनेवाले माता-पितारूप पितर **उदीरताम्**=उत्कृष्ट गतिवाले हों। वे हमारे जीवनों में चरित्र व शिष्टाचार की स्थापना के लिए यत्नशील हों। **उत्**=और **मध्यमाः**=मध्यम श्रेणी के पितर, अर्थात् हमारे जीवनों के मध्यकाल में शिक्षा के द्वारा हमारे ज्ञान को बढ़ानेवाले आचार्य (उदीरताम्) ज्ञानप्रदान की क्रिया में सदा सचेष्ट हों। **उत्**=और **परासः**=जीवन के परभाग में हमारे घरों में प्राप्त होनेवाले अतिथिरूप पितर सदा सत्प्रेरणा देते हुए (उदीरताम्) उत्कृष्ट गतिवाले हों। उपनिषद् के 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव' इन शब्दों में इन्हीं पितरों का उल्लेख हुआ है। २. ये सब पितर **सोम्यासः**=अत्यन्त सौम्य स्वभाव के हों, स्वयं सौम्य होते हुए ही ये हमें सौम्य बना सकेंगे। पितर वे हैं **ये**=जो **असुम् ईयुः**=प्राणशक्ति को प्राप्त करते हैं—प्राणसाधना द्वारा जीवनशक्ति से परिपूर्ण हैं। **अवृकाः**=लोभ से रहित हैं। **ऋतज्ञाः**=ऋत को जाननेवाले हैं—यज्ञशील हैं (ऋत=यज्ञ)। **ते**=वे पितर **नः**=हमें **हवेषु**=पुकारे जाने पर **अवन्तु**=हमारा रक्षण करनेवाले हैं—अपनी सत्प्रेरणाओं द्वारा हमें प्रीणित करनेवाले हैं।

भावार्थ—सौम्य-प्राणशक्तिसम्पन्न-निर्लोभ व यज्ञशील पितर हमारे जीवनों में हमारा रक्षण करनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः, पितरः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'सुविदत्र और बर्हिषद्' पितर

आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः।
बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः॥ ४५॥

१. **अहम्**=मैं **सुविदत्रान्**=उत्तम ज्ञान के द्वारा रक्षण करनेवाले **पितॄन्**=पितरों को **आ अवित्सि**=सर्वथा प्राप्त होऊँ। माता-पिता, आचार्य व अतिथि—ये सब ज्ञान के द्वारा हमारा रक्षण करनेवाले हों **च**=और परिणामतः मैं **नपातम्**=न गिरने को, अर्थात् धर्ममार्ग में स्थिरता को, प्राप्त करूँ **च**=तथा **विष्णोः विक्रमणम्**=विष्णु के विक्रमण को भी मैं प्राप्त करूँ, अर्थात् विष्णु

ने जैसे तीन पगों में त्रिलोकी को व्याप्त किया हुआ है, उसी प्रकार मैं भी त्रिलोकी का विजेता बनूँ, अर्थात् 'स्वस्थ शरीर, निर्मल मन व दीप्त मस्तिष्क' वाला होऊँ। २. मैं उन पितरों को प्राप्त करूँ ये जो **बर्हिषदः**=यज्ञों में आसीन होनेवाले हैं और **स्वधया**=प्राणशक्ति के धारण के हेतु से **पित्वः**=अन्न के **सुतस्य**=परिणामभूत (उत्पन्न) सोम का **भजन्त**=सेवन करते हैं, अर्थात् इस सोम को शरीर में ही सुरक्षित रखते हैं। इस वीर्यरक्षण के द्वारा ही वे दीप्त ज्ञानाग्निवाले बनकर आत्मतत्त्व का धारण करनेवाले बनते हैं। **ते**=वे पितर **इह आगमिष्ठाः**=इस जीवन में हमें प्राप्त हों।

भावार्थ—हमें उन पितरों की प्राप्ति हो जो ज्ञान के द्वारा हमारा रक्षण करें, यज्ञशील हों, प्रभु-प्राप्ति के उद्देश्य से (आत्मशक्ति के धारण के उद्देश्य से) वीर्य का रक्षण करनेवाले हों। इनके सम्पर्क से हम भी मार्गभ्रष्ट न होकर शरीर, मन व मस्तिष्क की उन्नतिरूप तीन पगों को रखनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः, पितरः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पितरों का आदर

इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो ये अपरास ईयुः।
ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु दिक्षु॥ ४६॥

१. **इदम्**=यह **अद्य**=आज **पितृभ्यः**=उन सब पितरों के लिए **नमः अस्तु**=नमस्कार हो। हम उन सब पितरों के लिए आदर का भाव धारण करते हैं, **ये**=जो **पूर्वासः**=हमारे जीवनों में सर्वप्रथम 'माता-पिता' के रूप में **ईयुः**=आते हैं और **ये**=जो **अपरास**=अपर काल में (पीछे) आचार्यों व अतिथियों के रूप में आते हैं। २. उन पितरों के लिए हम आदर का भाव धारण करते हैं **ये**=जो **पार्थिवे रजसि**=इस पार्थिवलोक में—शरीर में **आ-निषत्ताः**=समन्तात् निषण्ण हैं, अर्थात् जिनका शरीर पर पूर्ण प्रभाव है, **वा**=तथा **ये**=जो **नूनम्**=निश्चय से **सुवृजनासु**=(वृजन Strenght, power) उत्तम शक्तिवाली **दिक्षु**=दिशाओं में चल रहे हैं। अपने पर पूर्ण प्रभाव रखते हुए वे शक्तिशाली बने हैं।

भावार्थ—हम 'माता-पिता व आचार्य, अतिथि' रूप पूर्व-अपर सब पितरों के लिए आदर का भाव धारण करते हैं। उन पितरों का लिए आदर का भाव धारण करते हैं जो शरीर पर पूर्ण प्रभुत्व रखते हुए शक्ति-सम्पादन की दिशाओं में चल रहे हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

मातली-यम-बृहस्पति

मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः।
यांश्च देवा वावृधुर्ये च देवांस्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु॥ ४७॥

१. (मा लक्ष्मीं तालयति—तल् प्रतिष्ठायाम्) 'मातलि' बुद्धि है। बुद्धिवाला होने से इन्द्र 'मातली' (मातलि+ई) कहलाता है। यह **मातली**=समझदार, बुद्धिमान् पुरुष **कव्यैः**=पितरों को—वृद्ध माता-पिता को दिये जानेवाले अन्नों से **वावृधानः**=धर्ममार्ग पर खूब बढ़नेवाला होता है। एक समझदार व्यक्ति माता-पिता को श्रद्धा व आदर से भोजन कराके, बाद में स्वयं भोजन करता है। इस माता-पिता के श्राद्ध को ही वह प्रत्यक्ष धर्म मानता है। इस सेवा से ही वह 'आयु, विद्या, यश व बल' में वावृधान होता है। २. **यमः**=संयमी पुरुष **अङ्गिरोभिः**=अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रस से वावृधान होता है। संयम इसकी शक्तियों की स्थिरता का कारण बनता

है। **बृहस्पतिः**=उत्कृष्ट वेदज्ञान को प्राप्त करनेवाला यह **ब्रह्मणस्पतिः**=बृहस्पति **ऋक्वभिः**=विज्ञानों के द्वारा बढ़नेवाला होता है। यह विज्ञान के द्वारा उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचनेवाला होता है। २. ये वे व्यक्ति हैं **ये**=जो **च**=निश्चय से **देवान् वावृधुः**=यज्ञों द्वारा देवों का वर्धन करते हैं, **यान् च**=और जिनको **देवाः वावृधुः**=वृष्टि आदि द्वारा देव बढ़ानेवाले होते हैं। **ते**=वे देवों को यज्ञों द्वारा प्रीणित करनेवाले **पितरः**=पितर **नः**=हमें **हवेषु**=हमारी पुकारों के होने पर **अवन्तु**=रक्षित व प्रीणित करनेवाले हों।

भावार्थ—हम समझदार बनकर माता-पिता को श्रद्धा से भोजनादि प्राप्त कराएँ, संयमी बनकर अङ्ग-प्रत्यङ्ग में रसवाले हों, बृहस्पति बनकर विज्ञानों को प्राप्त करें। हम यज्ञों द्वारा देवों का वर्धन करें। अपने पितरों के प्रिय हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'स्वादु-मधुमान्-तीव्र व रसवान्' सोम

स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम्।
उतो न्वस्य पपिवांसमिन्द्रं न कश्चन सहत आहवेषु॥ ४८॥

१. **किल**=निश्चय से **अयम्**=यह सोम शरीर में ही व्याप्त किया जाने पर **स्वादु**=वाणी को स्वादवाला बनाता है (वाचस्पतिर्वाचं नः स्वदतु)। सोमी पुरुष कभी कड़वी वाणी नहीं बोलता। **उत्**=और **अयम्**=यह **मधुमान्**=जीवन को मधुर बनानेवाला है। सोमरक्षण होने पर हमारी सब क्रियाएँ माधुर्य को लिये हुए होती हैं। **किल**=निश्चय से **अयम्**=यह **तीव्रः**=बड़ा तीव्र है—रोगरूप शत्रुओं के लिए भयंकर है। **उत**=और **अयम्**=यह **रसवान्**=अंग-प्रत्यंग को रसवाला बनाता है। रोगों को दूर करके यह हमें स्वस्थ व सबल शरीरवाला करता है। २. **उत् उ**=और निश्चय से **अस्य पपिवांसम्**=इस सोम का पान करनेवाले **इन्द्रम्**=इस जितेन्द्रिय पुरुष को **आहवेषु**=संग्रामों में **कश्चन**=कोई भी न **सहते**=पराभूत नहीं कर पाता। न इसपर कोई रोग आक्रमण कर पाता है और न ही कोई वासना इसे दबा पाती है।

भावार्थ—शरीर में सोम का रक्षण करनेवाला पुरुष 'मधुरवाणीवाला, मधुर व्यवहारवाला, नीरोग व अंग-प्रत्यंग में रसवाला' बनता है। इसे न रोग आक्रान्त कर पाते हैं, न वासना दबा पाती है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

'वैवस्वत-यमराजा' का उपासन

परेयिवांसं प्रवतो महीरिति बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम्।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत॥ ४९॥

१. **प्रवतः**=(प्रकृष्टकर्मवतः) उत्कृष्ट कर्मोंवाले, **महीः**=(मह पूजायाम्) पूजा व उपासना करनेवालों को **परेयिवांसम्**=सुदूर स्थानों से भी प्राप्त होनेवाले प्रभु को **इति**=इस कारण से **हविषा सपर्यत**=हवि के द्वारा पूजित करो। प्रभु अज्ञानियों के लिए दूर-से-दूर होते हैं, परन्तु वे ही प्रभु 'पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्' ज्ञानियों के लिए यहाँ शरीर में ही गुहा के भीतर निहित होते हैं। **इति**=इस कारण इस हृदयस्थ प्रभु के दर्शन के लिए आवश्यक है कि हम उत्कृष्ट कर्मों में लगे रहें (प्रवत्) तथा प्रातः-सायं उस अद्वितीय सत् प्रभु का उपासन करनेवाले हों (महि)। वे प्रभु ही **बहुभ्यः**=बहुतों के लिए **पन्थाम्**=जीवन-मार्ग को **अनुपस्पशानम्**=अनुकूलता से दिखानेवाले होते हैं। 'सोम्यानां भूमिरसि' वे प्रभु इन शान्त, सोम्य

स्वभाववाले उपासकों को, अज्ञानवश विरुद्ध दिशा में जा रहे हों तो मुख मोड़कर ठीक दिशा में चलानेवाले होते हैं। २. वे प्रभु **वैवस्वतम्**=ज्ञान की किरणोंवाले हैं। अपने उपासकों के हृदयों को इन ज्ञान-किरणों से उज्ज्वल करनेवाले हैं। यह ज्ञान का प्रकाश ही इन उपासकों को पथभ्रष्ट होने से बचाता है। **जनानां संगमनम्**=ये प्रभु लोगों के एकत्र होने के स्थान हैं। इस प्रभु में अधिष्ठित होने पर सब मनुष्य परस्पर एकत्व का अनुभव करते हैं। **यमम्**=हृदयस्थ रूपेण वे प्रभु सबका नियमन करनेवाले हैं तथा **राजानम्**=सूर्य-चन्द्र व तारे आदि सभी लोक-लोकान्तरों की गति को व्यवस्थित करनेवाले हैं। इन प्रभु का उपासन हवि के द्वारा होता है।

भावार्थ—उत्कृष्ट कर्मोंवाले उपासकों को प्रभु प्राप्त होते हैं। इन विनीत उपासकों के लिए प्रभु मार्ग-दर्शन करते हैं। वे प्रभु ज्ञान की किरणोंवाले हैं। सबका निवासस्थान होते हुए हमें परस्पर एकत्व का अनुभव कराते हैं। उस नियामक व शासक प्रभु का पूजन यही है कि हम यज्ञशेष का सेवन करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

यमनिर्दिष्ट मार्ग पर चलना

यमो नो गातुं प्रथमो विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेता एना जज्ञानाः पथ्या३ अनु स्वाः॥ ५०॥

१. वे **प्रथमः यमः**=(प्रथ विस्तारे) सम्पूर्ण जगत् में विस्तृत नियामक प्रभु **नः**=हमारे लिए **गातुं विवेद**=मार्ग का ज्ञान देते हैं। **उ**=निश्चय से **एषा गव्यूतिः**=यह मार्ग **अपभर्तवा न**=अपहरण के लिए नहीं होता, अर्थात् इस मार्ग पर चलने से हम इस संसार में विषयों से आकृष्ट होकर पथभ्रष्ट नहीं हो जाते। २. यह वह मार्ग है **यत्र**=जिसपर **नः**=हमारे **पूर्वे पितरः**=अपना पूरण करनेवाले—अपनी न्यूनताओं को दूर करनेवाले, रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त पितर **परेताः**=चले हैं। इस मार्ग पर चलने से ही तो वे अपना पूरण कर पाये हैं। **एना**=इस मार्ग पर चलने के द्वारा **जज्ञानाः**=अपनी शक्तियों का प्रादुर्भाव व विकास करनेवाले लोग ही **पथ्याः**=उत्तम मार्ग पर चलनेवाले होते हैं और **अनुस्वाः**=उस प्रभु के अनुकूल व प्रिय होते हैं।

भावार्थ—प्रभु से उपदिष्ट मार्ग पर ही चलना चाहिए। यही मार्ग हमारे पूरण व विकास के लिए होता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः, पितरः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

शान्ति-निर्भयता-निर्दोषता

बर्हिषदः पितर ऊत्य१र्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम्।
त आ गतावसा शन्तमेनाधा नः शं योररपो दधात॥ ५१॥

१. **बर्हिषदः**=यज्ञों में आसीन होनेवाले **पितरः**=रक्षक लोगो! **ऊती**=हमारे रक्षण के हेतु से **अर्वाक्**=आप हमें समीपता से प्राप्त होवें। **इमा हव्या**=इन हव्य पदार्थों को हम **वः चकृमा**=आपके लिए संस्कृत करते हैं। **जुषध्वम्**=आप उन वस्तुओं का प्रीतिपूर्वक सेवन कीजिए। वस्तुतः 'माता पिता की सेवा करना—उनको खिलाकर ही खाना' यह पितृयज्ञ है—एक गृहस्थ का यह प्रत्यक्ष धर्म है। ये पितर अपने क्रियात्मक उदाहरण से हमारे जीवनों में यज्ञों को प्रेरित करते हैं। २. हे पितरो! **ते**=वे आप लोग **शन्तमेन**=अत्यन्त शान्ति देनेवाले **अवसा**=रक्षण के साथ **आगत**=हमें प्राप्त होओ। **अधा**=और **नः**=हमारे लिए **शंयोः**=शान्ति को तथा यावन (पृथक्- करण) को और **अरपः**=निर्दोषता को **दधात**=धारण कीजिए।

भावार्थ—हमें पितरों का आदर करना चाहिए। ये यज्ञशील पितर हमारा रक्षण करते हुए हमें 'शान्ति, निर्भयता व निर्दोषता' प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः, पितरः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पितरों द्वारा कर्त्तव्यकर्मों का उपदेश

आच्या जानु दक्षिणतो निषद्येदं नो हविरभि गृणन्तु विश्वे।
मा हिंसिष्ट पितरः केनं चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम॥ ५२॥

१. हे **पितरः**=पितरो! आप **जानु आच्या**=घुटनों को संगतरूप में पृथिवी पर स्थापित करके, अर्थात् घुटने मिलाकर आसन पर स्थित होकर **दक्षिणतः निषद्य**=दक्षिण की ओर बैठकर, अर्थात् हमारे दहिने ओर बैठकर **विश्वे**=सब **नः**=हमारे लिए **इदं हविः**=इस हवि को **अभिगृणन्तु**=उपदिष्ट करें। आप हमें यज्ञादि कर्मों का उपदेश करें। (घुटने मिलाकर भूमि पर बैठने से वात पीड़ाएँ सामान्यतः नहीं होतीं। ये होती प्रायः बड़ी उम्र में ही हैं, अतः पितरों के लिए यह आसन उपयुक्ततम है)। आदर देने के लिए हम इन्हें दक्षिणपार्श्व में बिठाते हैं। इस प्रकार स्थित होकर ये हमारे लिए हवि का उपदेश करें। यह हवि ही प्रभु-पूजन का सर्वोत्तम साधन है 'कस्मै देवाय हविषा विधेम'। २. घर पर आये हुए पितरों के विषय में हम कुछ त्रुटि भी कर बैठें तो हम चाहते हैं कि वे पितर हमसे अप्रसन्न न हो जाएँ। हे (पितरः) मान्य पितरो! **पुरुषता**=एक अल्पज्ञ पुरुष के नाते **यत्**=जो भी **वः**=आपके विषय में **आगः**=अपराध **कराम**=कर बैठें, उस **केनचित्**=किसी भी अपराध से **नः**=हमें **मा**=मत **हिंसिष्ट**=हिंसित कीजिए। आप हमसे रुष्ट न हों, आपकी कृपा हमपर बनी ही रहे।

भावार्थ—पितर आएँ। संगतजानु होकर वे हमारे दक्षिणपार्श्व में बैठें और हमारे लिए कर्त्तव्यकर्मों का उपदेश करें। अज्ञानवश हो जानेवाले हमारे अपराधों से वे अप्रसन्न न हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

त्वष्टा की दुहिता का परिणय

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोति तेनेदं विश्वं भुवनं समेति।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश॥ ५३॥

१. **त्वष्टा**=संसार के निर्माता व सारे ब्रह्माण्ड को गति देनेवाले (त्वक्षतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः) तथा दीप्तिमय (विष्णोर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः) प्रभु अपनी **दुहित्रे**=वेदवाणीरूप दुहिता (मानव-जीवन का प्रपूरण करनेवाली) के लिए **वहतुं कृणोति**=विवाह को रचते हैं। **तेन**=इस विवाह के हेतु से **इदं विश्वं भुवनम्**=यह सारा भुवन उपस्थित (संगत) होता है। वस्तुतः इस वेदवाणी का विवाह सब चाहनेवाले मनुष्यों के साथ होता है। जो वेदवाणी को चाहते हैं, उन्हें यह प्राप्त होती है 'काम्यो हि वेदाधिगमः'। २. यह **पर्युह्यमाना**=परिणीत होती हुई वेदवाणी **यमस्य माता**=एक संयत जीवनवाले पुरुष का निर्माण करती है। वेदवाणी के साथ हम अपना सम्बन्ध स्थापित करेंगे तो यह हमारे जीवन को अवश्य उत्कृष्ट बनाएगी। यह वेदवाणी **महः**=तेजस्वी **विवस्वतः**=ज्ञान की किरणोंवाले (ज्ञानी) पुरुष की **जाया**=जन्म देनेवाली है। (तद्धि जायाया जायात्वं यदस्यां जायते पुनः)। इस वेदवाणी में जन्म लेकर यह द्विज बन जाता है। इसप्रकार यह **ननाश**=(नश् to reach, attain, meet with, find) उस प्रभु के साथ मिलानेवाली होती है। वेदवाणी को जीवन का अंग बनाते हुए हम प्रभु को पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु अपनी वेदवाणीरूप दुहिता को हमें साथी के रूप में देते हैं। यह साथी

हमें 'बड़े संयत जीवनवाला, तेजस्वी व ज्ञानी' बनाता है। ऐसा बनकर हम प्रभु को पाने के अधिकारी बनते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'यम+वरुण' (संयम-निर्द्वेषता)

प्रेहिप्रेहि पथिभिः पूर्याणैर्येना ते पूर्वे पितरः परेताः।
उभा राजानौ स्वधया मदन्तौ यमं पश्यासि वरुणं च देवम्॥ ५४॥

१. **येन**=जिस मार्ग से **ते**=तेरे **पूर्वे**=अपना पालन व पूरण करनेवाले **पितरः**=रक्षक लोग **परेताः**=उत्कृष्टता से चले हैं तू भी उन **पूर्याणैः**=ब्रह्मपुरी की ओर ले-चलनेवाले **पथिभिः**=मार्गों से **प्रेहि**=चल और **प्रेहि**=अवश्य चलनेवाला बन। हम अपने बड़ों के उत्कृष्ट मार्ग का अनुसरण करनेवाले बनें। आचार्य विद्यार्थी को अन्तिम उपदेश यही तो देते हैं कि 'यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि'। २. तू **यमं पश्यासि**=अपने मार्गदर्शन के लिए यम को देख **च**=और **वरुणं देवम्**=वरुणदेव को देख। यम के जीवन की विशेषता 'जीवन का नियन्त्रण' है और 'वरुण' द्वेष का निवारण करनेवाला—द्वेषशून्य व सबके प्रति प्रेमपूर्ण। इनको देखने का अभिप्राय यह है कि हम भी 'द्वेषशून्य व नियन्त्रित जीवनवाले' बनें। **उभा**=ये दोनों 'नियन्त्रित जीवनवाला, व द्वेषशून्य व्यक्ति' **राजानौ**=चमकनेवाले होते हैं (राज् दीप्तौ)—इनका जीवन दीप्त होता है और **स्वधया मदन्तौ**=आत्मशक्ति के धारण से हर्ष का अनुभव करते हैं। 'यम' बनकर ये पूर्ण स्वस्थ होते हैं और परिणामतः स्वास्थ्य की दीप्ति से चमकते हैं तथा 'वरुण' निर्द्वेष होने के कारण ये अपने हृदय में आत्मप्रकाश देखते हैं और इसप्रकार आत्मशक्ति को धारण करते हुए आनन्दित होते हैं।

भावार्थ—हमारा मार्ग वही हो जो हमारे धार्मिक पितरों का है—हमारे जीवन में कुलधर्म नष्ट न हो जाए। हम यम और वरुण के मार्ग से चलते हुए संयम से स्वस्थ जीवन की दीप्तिवाले बनें और निर्द्वेषता से पवित्र हृदय होकर आत्मप्रकाश को देखते हुए आनन्दित हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यात्रा का अवसान

अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन्।
अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै॥ ५५॥

१. इस जीवनयात्रा में **अपेत**=सब दुरितों से दूर होने के लिए यत्न करो। **वीत** (वि+इत)= विशिष्ट मार्ग पर चलो, **च**=और **विसर्पत**=विशेषरूप से गतिशील बनो। आलस्य को अपने समीप मत फटकने दो। इसी दृष्टिकोण से **पितरः**=रक्षक लोग **अस्मै**=इसके लिए **लोकम् अक्रन्**=प्रकाश प्राप्त कराते हैं। पितरों से आलोक प्राप्त करके ये अशुभ से दूर होते हुए शुभ मार्ग का ही आक्रमण करते हैं। २. इसप्रकार **अहोभिः**=(अहन्) एक-एक क्षण के सदुपयोग के द्वारा—समय को नष्ट न करने के द्वारा—**अद्भिः**=(आपः=रेतः) रेतःकणों की रक्षा के द्वारा तथा **अक्तुभिः**=ज्ञान की रश्मियों के द्वारा **व्यक्तम्**=विशेषरूप से अलंकृत **अवसानम्**=जन्म-मरण के अन्त को **अस्मै**=इस साधक के लिए **यमः**=सर्वनियन्ता प्रभु **ददाति**=देते हैं, अर्थात् इसे जन्म-मरण के चक्र से मुक्त कर देते हैं।

भावार्थ—मोक्षप्राप्ति का साधन यही है कि हम जीवन को अलंकृत व सुशोभित बनाएँ। जीवन को अलंकृत करने के लिए (क) समय को व्यर्थ न जाने दें, (ख) रेतःकणों का रक्षण

करें, (ग) प्रकाश की किरणों को प्राप्त करें। संक्षेप में बात यह है कि सदा उत्तम कर्मों में लगे रहने से वीर्यरक्षण होता है। उससे ज्ञानाग्नि समिद्ध होकर हमारा जीवन प्रकाशमय होता है। इस प्रकाश से जीवन सुशोभित होगा तभी हम मोक्ष के अधिकारी बनेंगे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पितृयज्ञ (उशन्तः-द्युमन्तः)

उशन्तस्त्वेधीमह्युशन्तः समिधीमहि। उशन्नुशत आ वह पितॄन्हविषे अत्तवे॥ ५६॥

द्युमन्तस्त्वेधीमहि द्युमन्तः समिधीमहि।
द्युमान्द्युमत आ वह पितॄन्हविषे अत्तवे॥५७॥

१. हे प्रभो! **उशन्तः**=जीवन-यात्रा को सफलतापूर्वक पूर्ण करने की कामना करते हुए हम **त्वा**=आपको **इधीमहि**=अपने हृदयदेश में दीप्त करते हैं—आपकी ज्योति को देखने के लिए यत्नशील होते हैं। हे प्रभो! **उशन्**=हम पुत्रों की सफलता को चाहते हुए आप **उशतः पितॄन्**=हमारे हित को चाहनेवाले सत्प्रेरणाओं द्वारा हमारा रक्षण करनेवाले पितरों को **आवह**=हमारे घरों पर प्राप्त कराइए, जिससे वे **हविषे अत्तवे**=हमारे घरों पर हवि को (पवित्र भोजनों को) ग्रहण करने का अनुग्रह करें। २. हे प्रभो! **द्युमन्तः**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं को जीतने की कामनावाले हम (दिव् विजिगीषायाम्) **त्वा**=आपको **इधीमहि**=अपने हृदयदेश में दीप्त करते हैं—आपकी ज्योति को देखने के लिए यत्नशील होते हैं। **द्युमन्तः**=शत्रुविजय की कामनावाले हम **समिधीमहि**=आपको अपने हृदयों में ख़ूब ही दीप्त करते हैं। हे प्रभो! आप **द्युमान्**=स्वयं ज्योतिर्मय होते हुए **द्युमन्तः पितॄन्**=ज्योतिर्मय जीवनवाले पितरों को **आवह**=हमारे घरों पर प्राप्त कराइए, जिससे वे **हविषे अत्तवे**=हमारे घरों पर हवि को (पवित्र भोजनों को) ग्रहण करें।

भावार्थ—हम अपने हृदयों में प्रभु को देखने के लिए प्रबल कामनावाले हों और इसी उद्देश्य से काम-क्रोधरूप शत्रुओं को जीतने के लिए यत्नशील हों। प्रभु के अनुग्रह से हमें 'हमारा हित चाहनेवाले व ज्योतिर्मय जीवनवाले' पितर प्राप्त हों। हम उनका भोजनादि द्वारा सत्कार करें और उनसे उचित प्रेरणाओं व ज्ञानों को प्राप्त करने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सुमति व सौमनस

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम॥ ५८॥

१. **नः**=हमारे **पितरः**=पालन करनेवाले (Guardians) **अङ्गिरसः**=(अगि गतौ) अत्यन्त गतिशील व क्रियामय जीवनवाले हैं, अतएव अंग-अंग में रसवाले हैं। **नवग्वा**=वे स्तुत्य गतिवाले हैं (नु स्तुतौ) और (नव गु) अतएव नव्वे वर्ष के दीर्घजीवन तक पहुँचनेवाले हैं। **अथर्वाणः**=(अथ अर्वाङ्) सदा आत्मनिरीक्षण करते हुए ये (अ-थर्व) स्थिर वृत्तिवाले हैं—विषयों से इनके मन डाँवाडोल नहीं हो जाते। **भृगवः**=(भ्रस्ज पाके) इन्होंने ज्ञानाग्नि से अपने को परिपक्व किया है, अतएव **सोम्यासः**=अत्यन्त सौम्य व विनीत हैं। २. **तेषाम्**=इन **यज्ञियानाम्**=संगतिकरण योग्य पितरों की **सुमतौ**=कल्याणी मति में तथा **भद्रे सौमनसे**=प्रशस्त (कल्याणकर) उत्तम मन में **वयं अपि स्याम**=हम भी हों, अर्थात् इन पितरों के संग में उनकी सत्प्रेरणाओं से हमें भी सुमति व सौमनस प्राप्त हो। ये पितर अन्नमयकोश में 'अङ्गिरस' हैं—अंग-अंग में रस व शक्तिवाले हैं। प्राणमयकोश में प्रत्येक इन्द्रिय की प्रशंसनीय गतिवाले

'नवग्व' हैं। मनोमयकोश में 'अथर्व' न डाँवाडोल वृत्तिवाले हैं। विज्ञानमयकोश में 'भृगु' व परिपक्व ज्ञानवाले हैं और आनन्दमयकोश में अत्यन्त 'सौम्य' हैं—उस सोम (शान्त प्रभु) के साथ निवास करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम 'अङ्गिरस-नवग्व-अथर्वा-भृगु व सौम्य' पितरों के सम्पर्क में आकर इनकी 'सुमति व भद्र सौमनस' को प्राप्त करके इन-जैसे ही बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**पुरोबृहती**॥

सत्संग व वासनाशून्य हृदय

अङ्गिरोभिर्यज्ञियैरा गहीह यम वैरूपैरिह मादयस्व।
विवस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन्बर्हिष्या निषद्य॥ ५९॥

१. हे **यम**=संयमी जीवनवाले पुरुष! तू **इह**=इस जीवन में **अङ्गिरोभिः**=सदा क्रियाशील जीवनवाले और अतएव अंग-प्रत्यंग में रसवाले, **यज्ञियैः**=यज्ञशील व संगतिकरणयोग्य **वैरूपैः**=विशिष्ट तेजस्वीरूपवाले पितरों के साथ (मान्य पुरुषों के साथ) **इह**=यहाँ इस संसार में **आगहि**=आनेवाला हो—उनके साथ तेरा उठना बैठना हो और **मादयस्व**=उन्हीं के साथ तू आनन्द का अनुभव कर। २. तू **अस्मिन्**=इस जीवन में, **बर्हिषि**=(उद् बृह=उखाड़ना) वासनाशून्य हृदय में—जिसमें से सब वासनाओं को उखाड़ दिया गया है **आनिषद्य**=स्थित होकर **विवस्वन्तं हुवे**=ज्ञान की किरणोंवाले उस प्रभु को पुकारनेवाला हो, **यः ते पिता**=जो तेरे पिता हैं। वस्तुतः हमें यही चाहिए कि हम अपने जीवन को यज्ञमय बनाएँ—हृदय को वासनाशून्य करें। इन्हीं में स्थित होकर प्रभु की उपासना करें।

भावार्थ—हमारा संग सदा उत्तम हो। जीवन में हम हृदय को वासनाशून्य बनाकर वहाँ प्रभु का उपासन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यम का प्रसार

इमं यम प्रस्तरमा हि रोहाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः।
आ त्वा मन्त्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन्हविषो मादयस्व॥ ६०॥

१. हे **यम**=संयमी पुरुष! **हि**=निश्चय से **इमं प्रस्तरम्**=इस पत्थर के समान दृढ़ शरीर में **आरोह**=तू आरोहण कर। इस शरीर में स्थित होता हुआ तू उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़नेवाला हो। शरीर को दृढ़ बनाने के साथ तू अपनी मानस व बौद्धिक उन्नति के लिए **अङ्गिरोभिः**=(अगि गतौ) गतिशील जीवनवाले **पितृभिः**=पालनात्मक कर्मों में प्रवृत्त व्यक्तियों से **संविदानः**=मिलकर ज्ञान की चर्चा करनेवाला बन। इन गतिशील व पालनात्मक कर्मों में प्रवृत्त लोगों के सम्पर्क में तू भी वैसा ही बनेगा। २. अब **त्वा**=तुझे **कविशस्ताः**=उस महान् कवि प्रभु से **उपदिष्ट मन्त्राः**= ज्ञान की वाणियाँ **आवहन्तु**=जीवन के मार्ग में सर्वत्र ले-चलनेवाली हों। 'मन्त्रश्रुत्यं चरामसि' जैसा तू इन वेदों में अपने कर्त्तव्यों को सुनता है, वैसा ही करनेवाला बन। हे **राजन्**=इन वेदवाणियों के अनुसार व्यवस्थित जीवनवाले (Regulated) पुरुष! तू **एना**=इस **हविषः**=हवि के द्वारा ही **मादयस्व**=आनन्द का अनुभव कर। तुझे यज्ञशेष के सेवन में आनन्द आये।

भावार्थ—संयम से हम शरीर को पत्थर के समान दृढ़ बनाएँ। गतिशील व रक्षणात्मक कर्मों में प्रवृत्त लोगों के साथ हमारा संग हो। वेदज्ञान के अनुसार हम जीवन को बनाएँ। हवि के सेवन में ही आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

द्युलोक का आरोहण

इत एत उदारुहन्दिवस्पृष्ठान्यारुहन्।
प्र भूर्जयो यथा पथा द्यामङ्गिरसो ययुः॥ ६१॥

१. **एते**=गतमन्त्र के गतिशील व रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त लोग **इतः**=इस पृथिवीपृष्ठ से **उत् आरुहन्**=ऊपर चढ़ते हैं। **दिवः पृष्ठानि आरुहन्**=ये द्युलोक के पृष्ठों पर आरूढ़ होते हैं। पृथिवीपृष्ठ से अन्तरिक्ष में और अन्तरिक्ष से द्युलोक के पृष्ठ पर पहुँचते हैं। २. **भूर्जयः**=(भूः=प्राणं, तं जयति) प्राणों का विजय करनेवाले—प्राणसाधना द्वारा सब इन्द्रिय-दोषों को दग्ध करनेवाले, **अङ्गिरसः**=अंग-प्रत्यंग को रसमय रखनेवाले—शरीर को जीर्ण करनेवाली वासनाओं को दग्ध करनेवाले, सरस अंगोंवाले ये व्यक्ति **यथा पथा**=शास्त्रानुकूल मार्ग से—यथार्थ मार्ग से **द्यां प्रययुः**=द्युलोक को—प्रकाशमयलोक को प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—हम प्राणसाधना द्वारा प्राणों को वश में करनेवाले व अंग-प्रत्यंग में रसवाले बनकर योग्य मार्ग से आक्रमण करते हुए ऊपर उठते चलें और द्युलोक को प्राप्त हों—देवलोक को, प्रकाशमय लोक को प्राप्त हों।

अथ द्वितीयोऽनुवाकः

[२] द्वितीयं सूक्तम्

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रभु-प्राप्ति के साधन

यमाय सोमः पवते यमाय क्रियते हविः।
यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः॥ १॥

१. **यमाय**=उस सर्वनियन्ता प्रभु की प्राप्ति के लिए **सोमः पवते**=(पूयते) सोम पवित्र किया जाता है। शरीर में सोम को—वीर्यशक्ति को वासना से मलिन व विनाश होने से बचाने पर ज्ञानाग्नि की दीप्ति के द्वारा प्रभुदर्शन होता है। **यमाय**=इस प्रभु की प्राप्ति के लिए ही **हविः**=दानपूर्वक अदन—यज्ञशेष का सेवन **क्रियते**=किया जाता है। २. **यमम्**=उस सर्वनियन्ता प्रभु को **ह**=निश्चय से **यज्ञः**=देवपूजक, देव के साथ संगतिकरण-(मेल)-वाला, देव के प्रति अपना अर्पण करनेवाला व्यक्ति **गच्छति**=प्राप्त होता है। जो व्यक्ति **अग्निदूतः**=अग्निरूप दूतवाला है—उस अग्रणी प्रभु से ज्ञान के व स्वकर्त्तव्यों के संदेश को सुनता है तो **अरंकृतः**=सब दिव्यगुणों से अलंकृत जीवनवाला बनता है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि (१) हम शरीर में सोम का रक्षण करें, (२) दानपूर्वक अदन की वृत्तिवाले हों (३) प्रभुपूजक—प्रभुमेल व प्रभु के प्रति अर्पण की वृत्तिवाले हों, (४) प्रभु से वेद में उपदिष्ट स्वकर्त्तव्यों के सन्देश को सुनें, (५) जीवन को सद्गुणों से अलंकृत करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

त्याग व बड़ों का आदर

यमाय मधुमत्तमं जुहोता प्र च तिष्ठत।
इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः॥ २॥

१. **यमाय**=उस सर्वनियन्ता प्रभु की प्राप्ति के लिए **मधुमत्तमम्**=अत्यन्त मधुर—अतिशयेन प्रिय भौतिक वस्तु को भी **जुहोत**=देनेवाले बनो। लोकहित के लिए—प्राजापत्य यज्ञ में तन-मन-धन का अर्पण करने से ही प्रभु-प्राप्ति होती है **च**=और इसप्रकार **प्रतिष्ठत**=प्रतिष्ठा पाओ। इस त्याग से इहलोक में यश मिलता है तो परलोक में प्रभु। २. इसप्रकार का जीवन बनाने के लिए **ऋषिभ्यः इदं नमः**=तत्त्वद्रष्टा पुरुषों के लिए हम यह नमस्कार करते हैं। **पूर्वजेभ्यः**=अपने बड़ों के लिए नमस्कार करते हैं। **पूर्वेभ्यः**=अपना पालन व पूरण करनेवालों के लिए नमस्कार करते हैं। **पथिकृद्भ्यः**=जो हमारे लिए मार्ग बनाते हैं—अपने उदाहरण से हमें मार्ग दिखलाते हैं, उनके लिए नमस्कार हो।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम प्रियतम भौतिक वस्तु का भी त्याग कर सकें तथा संसार में मार्गदर्शकतत्त्वज्ञों का आदर करनेवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

घृतं, पयः, हविः

यमाय घृतवत्पयो राज्ञे हविर्जुहोतन।
स नो जीवेष्वा यमेद्दीर्घमायुः प्र जीवसे॥ ३॥

१. **यमाय**=सर्वनियन्ता प्रभु की प्राप्ति के लिए, **राज्ञे**=सबके शासक प्रभु के लिए **घृतवत् पयः हविः**=घृत की भाँति दूध को—अथवा घृतवाले दूध को तथा यज्ञशेषान्न को (हु=दानपूर्वक अदन) **जुहोतन**=जाठराग्नि में आहुत करनेवाले बनो। हम 'घृत, दुग्ध व यज्ञिय अन्नों' का सेवन करते हुए सात्त्विक बुद्धिवाले बनकर प्रभुदर्शन के योग्य बनेंगे। २. **सः**=वह प्रभु **नः**=हमारे लिए **जीवेषु**=सब जीवों में **प्रजीवसे**=प्रकृष्ट जीवन के लिए **दीर्घम् आयुः**=दीर्घ जीवन **आयमेत्**=दें। इस दीर्घजीवन में साधना करते हुए हम अधिकाधिक पवित्र जीवनवाले बनें।

भावार्थ—हम सर्वनियन्ता, सर्वरक्षक प्रभु की प्राप्ति के लिए 'घृत-दुग्ध व यज्ञिय भोजनों' का ही प्रयोग करें। दीर्घ जीवन प्राप्त करके साधना द्वारा उसे प्रकृष्ट बनाने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः, अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

तप व दण्ड की उचित व्यवस्था

मैनमग्ने वि दहो माभि शूशुचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्।
शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात्पितॄरुप॥ ४॥

१. ज्ञान देनेवाले आचार्य भी पितर हैं। विद्यार्थी को अग्रगति कराने से ये 'अग्नि' कहलाते हैं। माता-पिता इस अग्नि के प्रति विद्यार्थी को प्राप्त करा देते हैं। वह आचार्यरूप अग्नि इन्हें तीव्र तपस्या में ले-चलता है, परन्तु इतना अतिमात्र तप भी ठीक नहीं जो उसके शरीर को अतिक्षीण ही कर डाले, अतः मन्त्र में कहते हैं कि हे **अग्ने**=अग्रणी आचार्य! **एनम्**=इस आपके प्रति अर्पित शिष्य को **मा विदहः**=तपस्या की अग्नि में भस्म ही न कर दीजिए। 'शरीरमबाधमानेन तप आसेव्यम्' शरीर को पीड़ित न करते हुए ही तप करना ठीक है। इसे अतिक्षीण करके **मा अभिशूशुचः**=शोकयुक्त ही न कर दीजिए। यह शोकातुर हो घर को ही न याद करता रहे। २. तप के अतिरिक्त शिक्षा में दण्ड भी अनिवार्य हो जाता है, परन्तु क्रोध में कभी अधिक दण्ड न दे दिया जाए। हे आचार्य! **अस्य त्वचं मा चिक्षिपः**=इसकी त्वचा को ही न क्षिप्त कर देना—चमड़ी ही न उधेड़ देना। **मा शरीरम्**=इसका शरीर विक्षिप्त न हो जाए, अर्थात् दण्ड के

कारण इसका कोई अंग भंग ही न हो जाए। संक्षेप में, न तप ही अतिमात्र हो और न दण्ड। शरीर को अबाधित करनेवाला तप हो और अमृतमय हाथों से ही दण्ड दिया जाए। ३. इसप्रकार तप व दण्ड की उचित व्यवस्था से **यत्**=जब हे **जातवेदः**=ज्ञानी आचार्य! आप **शृतं आकरसि**=इस विद्यार्थी को ज्ञान में परिपक्व कर चुकें, **अथ**=तब **ईम्**=अब **एनम्**=इस विद्यार्थी को **पितृन् उप प्रहिणुतात्**=जन्मदाता माता-पिता के समीप भेजने का अनुग्रह करें। आचार्यकुल में ज्ञानाग्नि में परिपक्व होकर यह विद्यार्थी समावृत्त होकर आज घर में आता है।

भावार्थ—आचार्य, उचित तप व दण्ड-व्यवस्था रखते हुए, विद्यार्थी को ज्ञान-परिपक्व करते हैं और अध्ययन की समाप्ति पर उसे पितृगृह में वापस भेजते हैं। यही इसका समावर्तन है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः, जातवेदा**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

असुनीति द्वारा देवों का वशीकरण

यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथेममेनं परि दत्तात्पितृभ्यः।
यदो गच्छात्यसुनीतिमेतामथ देवानां वशनीर्भवाति॥ ५॥

१. हे **जातवेदः**=ज्ञानी आचार्य! आप **यदा**=जब **शृतं कृणवः**=शिष्य को ज्ञानपरिपक्व कर देते हैं, **अथ**=तो **ईम्**=अब **एनम्**=इसको **पितृभ्यः**=अपने माता-पिता के लिए **परिदत्तात्**=वापस देने का अनुग्रह करें। २. आचार्यकुल में रहता हुआ **यदा**=जब **उ**=निश्चय से **एताम् असुनीतिम्**=इस प्राणविद्या को—जीवन-नीति को **गच्छाति**=अच्छी प्रकार प्राप्त कर लेता है, **अथ**=तब यह ज्ञान को प्राप्त पुरुष **देवानाम्**=सब देवों का—इन्द्रियों का **वशनीः**=वश में करनेवाला **भवाति**=होता है। प्राणसाधना द्वारा यह शरीरस्थ सब देवों को स्वस्थ व स्वाधीन देखता है। सूर्य आदि देवों के साथ इसकी अनुकूलता होती है।

भावार्थ—आचार्यकुल में प्राणविद्या व प्राणसाधना करके हम इन्द्रियों को वश में करनेवाले हों। सब देवों को हम वशीभूत कर पाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यम का सुन्दरतम जीवन

त्रिकद्रुकेभिः पवते षडुर्वीरेकमिद् बृहत्।
त्रिष्टुब्गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आर्पिता॥ ६॥

१. गतमन्त्र का साधक **त्रिकद्रुकेभिः**=(कदि आह्वानेषु) तीनों कालों में प्रभु के आह्वान के साथ **पवते**=चलता है। प्रातः, मध्याह्न व सायं—तीनों समय प्रभु की प्रार्थना करता है। प्रातःकाल जीवन के प्रथम २४ वर्ष हैं, मध्याह्न अगले ४४ वर्ष हैं और सायं अन्तिम ४८ वर्ष हैं। इन सबमें यह प्रभु-प्रार्थना से जीवन को सशक्त व उत्साहमय बनाये रखता है। अथवा 'ज्योतिः, गौः, आयुः' नामक तीन यागविशेष त्रिकद्रुक हैं। यह साधक इन यागों को करता हुआ जीवन में चलता है। साधना द्वारा ज्ञान 'ज्योति' का सम्पादन करता है, प्राणसाधना द्वारा इन्द्रियों को (गौः) शुद्ध बनता है और क्रियाशीलता के द्वारा दीर्घ व उत्तम 'आयुष्य'-वाला होता है। २. इसके जीवन में **षड् उर्वीः**='द्यौ च पृथिवी च आपश्च ओषधयश्च ऊर्क् च सूनृता च' द्युलोक, अर्थात् ज्ञानदीप्त मस्तिष्क, पृथिवी, अर्थात् विस्तृतशक्तिसम्पन्न शरीर, आपः अर्थात् रेतःकण (आपो रेतो भूत्वा०) ओषधयः=दोषों का दहन करनेवाले सात्त्विक अन्न, ऊर्क्=बल और प्राणशक्ति तथा सूनृता=प्रिय सत्यात्मिकावाणी—ये छह उर्वियाँ **आहिताः**=स्थापित होती हैं।

एकम् इत् बृहत्=इसका शरीर में—केन्द्र-स्थान में स्थापित सबसे महत्त्वपूर्ण साधन 'मन' (हृदय) निश्चय से विशाल होता है (ज्योतिषां ज्योतिरेकम्) ३. इसप्रकार **यमे**=इस साधनामय जीवनवाले संयमी पुरुष में **ताः सर्वाः**=आगे वर्णित सब बातें **अर्पिता**=अर्पित होती हैं—स्थापित होती हैं। एक तो **त्रिष्टुप्**= 'काम, क्रोध, लोभ' इन तीनों को रोक देना; दूसरे **गायत्री**=(गयाः प्राणास्तान् तत्रे) प्राणों का रक्षण तथा **छन्दांसि**=पापों का छादन—बुरी वृत्तियों का दूरीकरण।

भावार्थ—हम सदा प्रभुस्मरण के साथ चलें। हमारे शरीर व मस्तिष्क दोनों ही ठीक हों, जलों व ओषधियों का प्रयोग करते हुए शक्ति का रक्षण करें, प्राणशक्ति व सूनृतवाणीवाले हों। हमारा हृदय विशाल हो। 'काम, क्रोध, लोभ' को रोकें। प्राणों का रक्षण करें। पापों से अपने को दूर रक्खें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**जगती**॥

सूर्य आदि देवों के साथ सम्पर्क से शरीर का स्वास्थ्य

सूर्यं चक्षुषा गच्छ वातमात्मना दिवं च गच्छ पृथिवीं च धर्मभिः।
अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः॥ ७॥

१. तू **चक्षुषा**=चक्षु के हेतु से **सूर्यं गच्छ**=सूर्य के प्रति जा। सूर्य ही तो चक्षु का रूप धारण करके आँखों में प्रवेश करता है 'सूर्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशत्'। सूर्याभिमुख होकर हम प्रभु का ध्यान करते हैं और सूर्य आँखों में शक्ति प्राप्त कराता है। **आत्मना**=(आत्मा प्राणाः, सा०) प्राणों के हेतु से **वातम्**=वायु की ओर जा। शुद्ध वायु में प्राणायाम के द्वारा प्राणशक्ति का वर्धन होता ही है। **दिवं च गच्छ**=द्युलोक की ओर तू जानेवाला बन। अपने मस्तिष्करूप द्युलोक को तू विज्ञान के नक्षत्रों से और ज्ञान के सूर्य से दीप्त करनेवाला हो **च**=और **धर्मभिः**=अंग-प्रत्यंग के धारण के उद्देश्य से तू **पृथिवीं गच्छ**=शरीररूप पृथिवी की ओर जानेवाला बन। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए पृथिवी से सम्पर्क आवश्यक है। मिट्टी शरीर के विषों को खैंच लेती है। २. इसीप्रकार तू **अपः गच्छ**=जलों की ओर जानेवाला बन। शरीर में जल रेतःकणों के रूप में रहते हैं। **यदि तत्र ते हितम्**=यदि वहाँ तेरा हित है तो तू इन रेतःकणों की ओर जानेवाला बन। इन रेतःकणों का रक्षण आवश्यक ही है। तू **शरीरैः**=अपने 'स्थूल-सूक्ष्म व कारण' शरीरों के हेतु से **ओषधीषु प्रतितिष्ठा**=ओषधियों में प्रतिष्ठित हो। वानस्पतिक भोजनों के द्वारा हमारे सब शरीर ठीक रहते हैं।

भावार्थ—सूर्य आदि देवों के साथ हमारी अनुकूलता बनी रहे। शरीरों के स्वास्थ्य के लिए वानस्पतिक भोजनों का ही प्रयोग करें। देव वनस्पति का ही सेवन करते हैं। मांस देवों का भोजन नहीं है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'तप, पवित्रता व अर्चना' से प्रभु का धारण

अजो भागस्तपसस्तं तपस्व तं ते शोचिस्तपतु तं ते अर्चिः।
यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम्॥ ८॥

१. **अजः**=कभी न उत्पन्न होनेवाला (अज) अथवा गति के द्वारा सब बुराइयों को दूर करनेवाला (अज् गतिक्षेपणयोः) प्रभु ही **भागः**=तेरा उपास्य है (भज् सेवायाम्) **तम्**=उस प्रभु को **तपसः**=तप के द्वारा **तपस्व**=अपने अन्दर दीप्त कर—उस प्रभु के प्रकाश को तप के द्वारा देखनेवाला बन। **तम्**=उस प्रभु को **ते शोचिः**=तेरी शुचिता (पवित्रता) **तपतु**=दीप्त करे। **तम्**=उस

प्रभु को **ते अर्चिः**=तेरी पूजा व उपासना दीप्त करे। प्रभु का दर्शन 'तप-पवित्रता-व उपासना' से होता है। २. हे **जातवेदः**=उत्पन्न ज्ञानवाले उपासक! **याः**=जो तेरी **शिवाः तन्वः**=शिव तनु हैं—पवित्र कल्याणमय शरीर है, **ताभिः**=उन शरीरों से **एनं वह**=इस प्रभु को अपने अन्दर धारण कर। उस प्रभु को धारण कर, जो **उ**=निश्चय से **सुकृतां लोकम्**=पुण्यशील लोगों के निवासस्थान हैं अथवा पुण्यशील लोगों को प्रकाश प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—हम 'तप, पवित्रता व ज्ञानदीप्ति तथा उपासना' से शरीरों को निर्दोष बनाते हुए उस प्रभु को धारण करनेवाले बनें, जिन प्रभु में पुण्यशील लोग निवास करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**जगती**॥

शोचयः-रंहयः

यास्ते॑ शो॒चयो॒ रंह॑यो जातवेदो॒ याभि॑रापृ॒णासि॒ दिव॑म॒न्तरि॑क्षम्।
अ॒जं यन्त॒मनु॒ ताः समृ॑ण्वता॒मथेत॑राभिः शि॒वत॑माभिः शृ॒तं कृ॑धि॥ ९॥

१. हे **जातवेदः**=उत्पन्न ज्ञानवाले उपासक! **यः**=जो **ते**=तेरी **शोचयः**=पवित्रताएँ व ज्ञानदीप्तियाँ तथा **रंहयः**=वेगवती क्रियाएँ हैं, **याभिः**=जिनसे तू **दिवम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक को तथा **अन्तरिक्षम्**=हृदयान्तरिक्ष को **आपृणासि**=परिपूरित करता है, ज्ञान दीप्तियों से मस्तिष्क को तथा क्रियासङ्कल्पों से हृदयान्तरिक्ष को तू व्याप्त करता है। **ताः**=वे सब ज्ञानदीप्तियाँ व वेगवती क्रियाएँ **अजम् अनु यन्तम्**=प्रभु के पीछे चलते हुए तुझे **समृण्वताम्**=सम्यक् प्राप्त हों। प्रभु की उपासना ही तुझे इन ज्ञानदीप्तियों को तथा वेगवती क्रियाओं को प्राप्त कराएगी। २. हे उपासक! **अथ**=अब इस प्रभु के उपासन के बाद, तू **इतराभिः**=अन्य विलक्षण **शिवतमाभिः**=अत्यन्त कल्याणकारिणी ज्ञानदीप्तियों व वेगवती क्रियाओं से **शृतं कृधि**=अपने को पूर्ण परिपक्व बना।

भावार्थ—प्रभु की उपासना का ही यह परिणाम होता है कि हम ज्ञानदीप्तियों से मस्तिष्क को परिपूर्ण कर पाते हैं और क्रियासंकल्पों से हृदयान्तरिक्ष को। इन विलक्षण दीप्तियों व क्रियाओं से ही हम अपने को परिपक्व करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पुनः पितरों के प्रति अर्पण व प्रव्रजित होने की तैयारी

अव॑ सृज॒ पुन॑रग्ने पि॒तृभ्यो॒ यस्त॒ आहु॑त॒श्चर॑ति स्व॒धावा॑न्।
आयु॒र्वसा॑न॒ उप॑ यातु॒ शेषः॒ सं ग॑च्छतां त॒न्वा॑ सु॒वर्चाः॑॥ १०॥

१. माता-पिता अपने सन्तानों को पितरों (आचार्यों) के प्रति सौंपते हैं। आचार्य उन्हें ज्ञानपरिपक्व करके घर वापस भेजते हैं। यहाँ घरों में देवों के साथ अनुकूलता रखते हुए यह स्वस्थ शरीर बनता है, उपासना द्वारा हृदय में प्रभु-दर्शन करता है। अब गृहस्थ को सुन्दरता से समाप्त करके हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **पुनः**=फिर, वनस्थ होता हुआ, **पितृभ्यः अवसृज**=वनस्थ पितरों के लिए अपने को देनेवाला बन। इनके चरणों में ही तू अपने को संन्यास के लिए तैयार कर पाएगा। उस पितर के लिए तू अपने को अर्पित कर **यः**=जो **ते**=तेरे द्वारा **आहुतः**=आहुत हुआ था, जिसके प्रति तूने अपना अर्पण किया है, वह **स्वधावान् चरति**=आत्मतत्त्व को धारण करनेवाला होकर सब क्रियाएँ करता है। तुझे भी वह आत्मतत्त्व को धारण के मार्ग पर ले-चलेगा। २. अब स्वधावान् बनकर तू प्रव्रजित होता है, और **आयुः वासना**=उत्कृष्ट-सशक्त व दीप्त-जीवन को धारण करता हुआ **शेषः उप यातु**=अवशिष्ट भोजन को ही (शेषस्=अवशिष्ट) तू प्राप्त करनेवाला हो। सब खा चुकें तब बचे हुए को ही तूने भिक्षा में

प्राप्त करना (विधूमे सन्नमुसले)। **सुवर्चाः**=संयम द्वारा उत्तम वर्चस् शक्तिवाला तू **तन्वा संगच्छताम्**=शक्तियों के विस्तार से संगत हो। परिपक्व फल की तरह तू अधिक और अधिक दीप्त होता चल।

भावार्थ—गृहस्थ के बाद वनस्थ होने के समय हम उन पितरों के सम्पर्क में आएँ जो हमें आत्मदर्शन के मार्ग पर ले-चलें। अब अन्त में संन्यस्त होकर हम गृहस्थों के भुक्तावशिष्ट भोजन को ही भिक्षा में प्राप्त करके, किसी पर बोझ न बनते हुए सुवर्चस् बनें, शक्तियों के विस्तारवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सारमेयो श्वानौ

अति द्रव श्वानौ सारमेयौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा।
अधा पितॄन्त्सुविदत्राँ अपीहि यमेन ये सधमादं मदन्ति॥ ११॥

१. हमारे जीवन में 'काम-क्रोध' उन दो श्वानों के समान हैं जो **सारमेयौ**=सरमा के पुत्र हैं। 'सृ गतौ' गति के पुत्र हैं, अर्थात् अत्यन्त चञ्चल हैं। **श्वानौ**=(श्वि वृद्धौ) ये निरन्तर बढ़ते ही चलते हैं। 'काम' उपभोग से शान्त न होकर बढ़ता ही जाता है, जैसेकि हवि के द्वारा 'अग्नि'। **चतुरक्षौ**=ये चार आँखेंवाले हैं। इन्हें ज़रा-सा अवसर मिला और इन्होंने हमारे घर पर आक्रमण किया। हम सदा सावधान रहेंगे और उत्तम कर्मों में लगे रहेंगे तभी इनसे बच सकेंगे। **शबलौ**=ये रंगबिरंगे हैं—नानारूपों में ये प्रकट होते हैं। प्रभु कहते हैं कि **साधुना पथा**=उत्तम मार्ग से इनको **अतिद्रव**=लाँघ जा। सदा उत्तम कर्मों में लगे रहने से ही हम इन्हें जीत पाते हैं। २. **अधा**=और अब **सु-विदत्रान्**=उत्तम ज्ञान के द्वारा त्राण करनेवाले **पितॄन्**=पितरों की **अपीहि**=ओर आनेवाला हो। इनका सत्संग तुझे ज्ञान की रुचिवाला तथा उत्तम कर्मों को करनेवाला बनाएगा। उन पितरों के समीप उपस्थित हो **ये**=जोकि **यमेन**=सर्वनियन्ता प्रभु के **सधमादं मदन्ति**=साथ आनन्द का अनुभव करते हैं। इन प्रभु के उपासकों के सम्पर्क में तू भी प्रभु के उपासन की वृत्तिवाला बनेगा। हम ज्ञानी (सुविदत्रान्) रक्षणात्मक कर्मों में प्रवृत्त (पितॄन्) प्रभु के उपासकों (यमेन सधमादम्) के सम्पर्क में उन-जैसे ही बनेंगे। इनके सम्पर्क में हम काम, क्रोधरूप यम के श्वानों को लाँघ सकेंगे।

भावार्थ—हम ज्ञानी, कर्मशील, उपासक पितरों के सम्पर्क में इन-जैसे ही बनते हुए, सदा सुपथ से चलते हुए, काम, क्रोध को जीतनेवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

उपादेय काम व मन्यु

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिषदी नृचक्षसा।
ताभ्यां राजन्परि धेह्येनं स्वस्त्य\[स्मा अनमीवं च धेहि॥ १२॥

१. हे **यम**=सर्वनियन्ता प्रभो! **यौ**=जो **ते**=आपके **श्वानौ**=गति के द्वारा वृद्धि के कारणभूत **रक्षितारौ**=हमारे जीवन का रक्षण करनेवाले, **चतुरक्षौ**=चार आँखोंवाले, अर्थात् सदा सावधान, **पथिरक्षी**=मार्ग के रक्षक **नृचक्षसा**=(चक्ष् to look after) मनुष्यों का पालन करनेवाले काम व क्रोध (मन्यु) हैं, **ताभ्याम्**=उन दोनों के लिए **एनम्**=इस उपासक को **परिधेहि**=धारण कर, २. **च**=और हे **राजन्**=संसार के शासक व व्यवस्थापक प्रभो! इन रक्षक काम व क्रोध के द्वारा **अस्मै**=इस पुरुष के लिए **स्वस्ति**=उत्तम स्थिति को—कल्याण को तथा **अनमीवम्**=नीरोगता को

धेहि=धारण कीजिए। काम-क्रोध प्रबल हुए तो ये मनुष्य को समाप्त कर देनेवाले होते हैं। 'काम' शरीर को जीर्ण करता है तो क्रोध मन को अशान्त कर देता है। ये ही काम-क्रोध सीमा के अन्दर होने पर मनुष्य के रक्षक व पालक हो जाते हैं। काम उसे वेदाधिगम व वैदिक कर्मयोग में लगाकर उत्तम स्थिति प्राप्त कराता है और मन्यु (मर्यादित क्रोध) उसे उपद्रवों से आक्रान्त नहीं होने देता। फुफकारता हुआ सर्प चीटियों व क्षुद्र पशुओं से आक्रान्त नहीं होता—इसीप्रकार मन्युवान् होते हुए हम भी 'अनमीव' बने रहते हैं।

भावार्थ—वे काम-क्रोध जो अमर्यादित रूप में विनाशक होते हैं, वे मर्यादित होते हुए हमें 'स्वस्तिवान् व अनमीव' बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**जगती**॥

'भद्र असु' के प्रदाता यमदूत

उरूणसावसुतृपावुदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु।
तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम्॥ १३॥

१. गतमन्त्रों में वर्णित 'काम-क्रोध' **उरूणसौ**=बड़ी नाकवाले हैं—सेवन से ये बढ़ते ही जाते हैं अथवा (णस् कौटिल्ये गतौ च) ये बड़ी कुटिल गतिवाले हैं। **अ-सुतृपौ**=ये कभी अच्छी प्रकार तृप्त नहीं हो जाते—बढ़ते ही जाते हैं (भूय एवाभिवर्धते) **उदुम्बलौ**=(उरुबलौ) अत्यन्त प्रबल हैं। अपराजित होते हुए ये **यमस्य दूतौ**=यम के दूत हैं—हमें मृत्यु के समीप ले-जाते हैं। ये यमदूत **जनान् अनुचरतः**=सदा मनुष्यों के पीछे चलते हैं। ये किसी का पीछा छोड़ते नहीं। २. अब यदि ये प्रबल हो जाएँ तो ये हमें समाप्त कर देते हैं, अतः इन्हें ज्ञानाग्नि द्वारा भस्मीभूत करना आवश्यक है। यदि हम इन्हें पराजित व संयत कर पाये तो **तौ**=वे काम और क्रोध **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **पुनः**=फिर **अद्य**=अज **इह**=यहाँ **भद्रं असुम्**=शुभ जीवन को **दाताम्**=दें और हम **दृशये सूर्याय**=दीर्घकाल तक सूर्यदर्शन करनेवाले हो सकें—दीर्घजीवी बनें।

भावार्थ—काम-क्रोध अत्यन्त प्रबल हैं। वशीभूत हुए-हुए ये हमारे लिए भद्र जीवन दें, जिससे हम दीर्घकाल तक सूर्यदर्शन करनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सोम-घृत-मधु

सोम एकेभ्यः पवते घृतमेक उपासते।
येभ्यो मधु प्रधावति ताँश्चिदेवापि गच्छतात्॥ १४॥

१. **एकेभ्यः**=कुछ पितरों से **सोमः**=सोम (यत् सामानि सोम एभ्यः पवते। तै० २.१०.१) साममन्त्र—उपासना मन्त्र **पवते**=प्रवाहित होते हैं। **एके**=कई पितर **घृतम्**=(यद् यजूंषि घृतस्य कूल्याः। तै० २.१०.१) यजुर्मन्त्रों को **उपासते**=उपासित करते हैं, **येभ्यः**=जिससे **मधु प्रधावति**=(यद् अथर्वाङ्गिरसो मधोः कूल्याः तै० २.१०.१) अथर्वमन्त्र गतिवाले होते हैं। यह उपासक **चित्**=निश्चय से **तान् एव**=उनके प्रति ही **अपि गच्छतात्**=जानेवाला हो। २. जिन पितरों से साममन्त्र प्रवाहित होते हैं उनके सम्पर्क में यह साधक भी उपासना की वृत्तिवाला बनेगा। यजुर्मन्त्रों के उपासकों के सम्पर्क में यह भी यज्ञशील होगा तथा अथर्वमन्त्रों में गतिवालों के सम्पर्क में यह भी अथर्वा (स्थिरवृत्ति) का बनता हुआ प्रभु को प्राप्त करनेवाला होगा।

भावार्थ—हम 'उपासक, यज्ञशील, स्थिरवृत्तिवाले' पितरों के सम्पर्क में आएँ और हम भी 'सोम-घृत-मधु' के उपासक बनें। साम, यजुः व अथर्वमन्त्रों को अपनानेवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ऋत-तप व ज्ञान

ये चित्पूर्वं ऋतसाता ऋतजाता ऋतावृधः।
ऋषीन्तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात्॥ १५॥

१. **ये**=जो **चित्**=निश्चय से **पूर्वे**=अपना पूरण करनेवाले हैं, **ऋत-साताः**=ऋत का सम्भजन करनेवाले—बड़े व्यवस्थित जीवनवाले (ऋत् right), **ऋतजाताः**=(ऋत=यज्ञ) यज्ञों में ही प्रादुर्भूत हुए-हुए, अर्थात् सदा यज्ञशील हैं, **ऋतावृधः**=सत्य के द्वारा (ऋत्=सत्य) वृद्धि को प्राप्त करनेवाले हैं, उन **ऋषीन्**=तत्त्वद्रष्टा, **तपस्वतः**=तपस्वी **तपोजान्**=तप में ही प्रादुर्भूत हुए-हुए, अर्थात् सदा तपस्वी पितरों को ही, हे **यम**=सर्वनियन्ता प्रभो! यह साधक **अपिगच्छतात्**=प्राप्त होनेवाला हो। २. ऐसे पितरों के सम्पर्क में यह भी 'ऋत व तप' को अपनाता हुआ ऋषि (तत्त्वद्रष्टा) बन पाये।

भावार्थ—हम उन पितरों के सम्पर्क में आएँ जिनमें 'ऋत, तप व ज्ञान' का निवास है। इनके सम्पर्क में हम भी ऐसे ही बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

महान् तप

तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्व१र्ययुः।
तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात्॥ १६॥

१. **तपसा**=तप के द्वारा **ये**=जो **अनाधृष्याः**=काम, क्रोध, लोभरूप शत्रुओं से धर्षण के योग्य नहीं होते, **तपसा**=तप के द्वारा **ये**=जो **स्वः ययुः**=आत्मप्रकाश को प्राप्त करते हैं। **ये**=जो **महः तपः**=महान् तप **चक्रिरे**=करते हैं, **चित्**=निश्चय से **तान् एव**=उन पितरों के ही समीप यह **अपिगच्छतात्**=प्राप्त हो। २. उन पितरों के सम्पर्क में तपस्वी होता हुआ यह भी शत्रुओं से अधर्षणीय और आत्मज्योति को प्राप्त करनेवाला बने।

भावार्थ—तप के द्वारा शत्रुओं से अधर्षणीय व तप के द्वारा आत्मज्योति के द्रष्टा महान् तपस्वी पितरों के सम्पर्क में हम भी तपस्वी बनते हुए शत्रुओं से अधर्षणीय और आत्मदर्शन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

योद्धा व दाता

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः।
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात्॥ १७॥

१. **ये**=जो **शूरासः**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले वीर **प्रधनेषु**=(**प्रकीर्णानि धनानि अस्मिन्**) प्रकृष्ट धनों की प्राप्ति के साधनभूत संग्रामों में **युध्यन्ते**=युद्ध करते हैं और **ये**=जो इन संग्रामों में **तनूत्यजः**=शरीरों को छोड़ने के लिए उद्यत होते हैं **वा**=अथवा **ये**=जो पितर **सहस्रदक्षिणाः**=हज़ारों का दान देनेवाले हैं, **तान् चित् एव**=उन पितरों को ही निश्चय से यह **अपिगच्छतात्**=प्राप्त हो।

भावार्थ—वीर योद्धाओं व दानवीरों के सम्पर्क में हम भी संग्राम से मुख न मोड़नेवाले वीर व दानवीर बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सहस्रणीथाः कवयः

सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम्।
ऋषीन्तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात्॥ १८॥

१. **ये**=जो **सहस्रणीथाः**=(सहस्रनयनाः) हज़ारों ज्ञानचक्षुओंवाले **कवयः**=क्रान्तदर्शी, ज्ञानी **सूर्यम् गोपायन्ति**=ज्ञानसूर्य को अपने में सुरक्षित करते हैं, उन **ऋषीन्**=तत्त्वद्रष्टा **तपस्वतः**=तपस्वी **तपोजान्**=तप के लिए ही मानो प्रादुर्भूत हुए-हुए पितरों को, हे **यम**=सर्वनियन्ता प्रभो! यह साधक **अपिगच्छतात्**=प्राप्त हो।

भावार्थ—तपस्वी व ज्ञानी पितरों के सम्पर्क में हम भी तप व ज्ञान की साधना करनेवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिपदागायत्री** ॥

'स्योना' पृथिवी

स्योनास्मै भव पृथिव्यनृक्षरा निवेशनी।
यच्छास्मै शर्म सप्रथाः॥ १९॥

१. हे **पृथिवि**=मातृभूतभूमे! तू **अस्मै**=उल्लिखित प्रकार से साधना करनेवाले के लिए **स्योना**=सुखकारिणी **भव**=हो। **अनृक्षरा**=तू इसके लिए कण्टकरहित हो अथवा (अ नृक्षरा) मनुष्यों (सन्तानों) का विनाश करनेवाली न हो। **निवेशनी**=तू इसके लिए निवेश देनेवाली हो और **सप्रथाः**=विस्तार से युक्त होती हुई तू **शर्म यच्छ**=सुख देनेवाली हो।

भावार्थ—उत्तम पितरों के सम्पर्क में साधनामय जीवन बितानेवाले पुरुष के लिए यह पृथिवी सुख देनेवाली होती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विशाल व सम्बाधाशून्य घरों में पितृयज्ञ का अनुष्ठान

असम्बाधे पृथिव्या उरौ लोके नि धीयस्व।
स्वधा याश्चकृषे जीवन्तास्ते सन्तु मधुश्चुतः॥ २०॥

१. हे पुरुष! तू **पृथिव्याः**=पृथिवी के **असम्बाधे**=पीड़ा व भय से रहित—सम्बाधाशून्य **उरौ लोके**=बड़े विशाल लोक में **निधीयस्व**=निवास कर। तेरा निवासस्थान बाधाओं से शून्य व विशाल हो। २. **जीवन्**=जीता हुआ—प्राणों का धारण करता हुआ तू **याः**=जिन **स्वधाः**=स्वधाओं को—वृद्ध माता-पिता के लिए आदरपूर्वक अन्न-प्रदानों को (पितृभ्यः स्वधा) **चकृषे**=करता है, **ताः**=वे सब स्वधाएँ **ते**=तेरे लिए **मधुश्चुतः सन्तु**=मधु को क्षरित करनेवाली—आनन्द-रस प्रवाहित करनेवाली हों। वृद्ध माता-पिता से दिया गया आशीर्वाद तुम्हारी समृद्धि व आनन्द का कारण बने।

भावार्थ—हमारे घर विशाल व सम्बाधाशून्य हों। उनमें हम पितरों के लिए श्रद्धापूर्वक अन्नों को प्राप्त कराएँ। यह पितृयज्ञ हमारे जीवनों को मधुर बनाये।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'स्योनाः शग्माः' वाताः (शान्ति+शक्ति)

ह्वयामि ते मनसा मन इहेमान्गृहाँ उप जुजुषाण एहि।
सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेन स्योनास्त्वा वाता उप वान्तु शग्माः॥ २१॥

१. हे साधक! **मनसा**=मन से **ते मनः ह्वयामि**=तेरे मन को पुकारता हूँ, अर्थात् घरों में तुम्हारे मन परस्पर मिले हुए हों। एक का मन दूसरे के मन को पुकारनेवाला हो। **इह**=यहाँ **इमान् गृहान्**=इन घरों को **जुजुषाणः**=प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ **उप एहि**=समीपता से प्राप्त हो। जब घरों में सबके मन मिले होते हैं—जब इनमें सौमनस होता है तब मनुष्य घर में आने के लिए उत्सुक रहता है—घर से दूर नहीं होता। २. इन घरों में रहता हुआ तू **पितृभिः संगच्छस्व**= पितरों के साथ सम्पर्कवाला हो—उनकी सेवा करता हुआ सदा उनसे आशीर्वाद प्राप्त कर। **यमेन**=सर्वनियन्ता प्रभु से **सम्**=संगत हो। प्रभु की उपासना ही तो तुझे शक्ति, उत्साह व पवित्रता प्राप्त कराएगी। इसप्रकार जीवन बिताने पर **त्वा**=तेरे लिए **स्योनाः**=सुखकर **शग्माः**=शक्तिप्रद (शक्) **वाताः**=वायु **उपवान्तु**=बहें। तेरे लिए सभी वातावरण सुख व शक्ति को देनेवाला हो।

भावार्थ—घरों में परस्पर मन मिले हों। इन घरों में प्रीतिपूर्वक निवास करते हुए हम पितरों का आदर करें और प्रभु का उपासन करें—पितृयज्ञ व ब्रह्मयज्ञ को सम्यक् करनेवाले हों। ऐसा होने पर सारा वातावरण हमारे लिए शान्ति (सुख) व शक्ति को देनेवाला होगा।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उदवाहा मरुतः

उत्त्वा वहन्तु मरुत उदवाहा उदप्रुतः।
अजेन कृण्वन्तः शीतं वर्षेणोक्षन्तु बालिति॥ २२॥

१. **उदप्रुतः**=जल के साथ गति करनेवाले **उदवाहाः**=जल का वहन करनेवाले ये **मरुतः**=वृष्टि लानेवाले वायु **त्वा**=हे साधक! तुझे **उद् वहन्तु**=उत्कृष्ट स्थिति में प्राप्त कराएँ। ठीक समय पर वृष्टि होकर जीवन के लिए अन्नादि की किसी प्रकार से कमी न हो। २. **अजेन**= (अज गतिक्षेपणयोः) गति के द्वारा व वृष्टिजल के क्षेपण के द्वारा **शीतंकृण्वन्तः**=सर्दी को करते हुए ये मरुत् **वर्षेन**=वृष्टि से **उक्षन्तु**=भूमि को सिक्त करें, **बाल इति**=जिससे (बल जीवने) सब प्राणियों को जीवनधारण के लिए अन्न प्राप्त हो सके।

भावार्थ—वृष्टि लानेवाले वायु (मरुत्) ठीक से बहते हुए हमारी स्थिति को उत्कृष्ट बनाएँ। ये वृष्टि द्वारा ग्रीष्म के सन्ताप को दूर करने के साथ अन्नोत्पादन का साधन बनते हुए हमारे लिए जीवनप्रद हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

क्रत्वे दक्षाय जीवसे

उदह्वमायुरायुषे क्रत्वे दक्षाय जीवसे।
स्वान्गच्छतु ते मनो अधा पितॄँरुप द्रव॥ २३॥

१. मैं तेरे लिए **आयुः उद् अह्वम्**=आयु को पुकारता हूँ—तुझे आयुष्यवृद्धि का उपदेश करता हूँ, जिससे तू **आयुषे**=दीर्घजीवन के लिए हो, **क्रत्वे**=यज्ञादि कर्मों को करने के लिए होवे, **दक्षाय**=उन्नति व दक्षता के लिए होवे। अथवा 'प्राणो वै दक्षः, अपानः क्रतुः' (तै० २.५.२.४) इस वाक्य के अनुसार प्राण और अपान के लिए होवे और इसप्रकार **जीवसे**=दीर्घजीवन के लिए होवे। २. **ते मनः**=तेरा मन **स्वान् गच्छतु**=अपने बन्धुजनों के प्रति जाए—उनके प्रति प्रेम भी तुझे दीर्घजीवन की प्रेरणा दे। **अधा**=तथा **पितॄन् उपद्रव**=पितरों के समीप तू प्राप्त होनेवाला हो—उनके चरणों में बैठकर उत्तम कर्मों का उपदेश ग्रहण करनेवाला बन।

भावार्थ—हम आयुष्यवृद्धि के उपायों को जानकर दीर्घजीवन धारण करें। हमारा जीवन यज्ञमय हो—उन्नतिपथ पर हम आगे बढ़ें। अपनों के प्रति कर्त्तव्यों को निभानेवाले हों और बड़ों के चरणों में बैठकर उनसे उपदेश ग्रहण करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिपदासमविषमाऽऽर्षीगायत्री**॥

'मन व शरीर' की स्वस्थता

मा ते मनो मासोर्माङ्गानां मा रसस्य ते मा ते हास्त।
तन्वः किं चनेह॥ २४॥

१. हे पुरुष! **ते मनः मा हास्त**=तेरा मन तुझे न छोड़ जाए—तेरा मन सदा सोत्साह बना रहे। **इह**=यहाँ **असोः**=प्राणों का कुछ भी अंश **मा (हास्त)**=तुझे न छोड़ दे। **अङ्गानाम्**=अंगों का भी कोई अंश **मा**=तुझे न छोड़े—तेरा कोई भी अंग विकृत न हो जाए। **ते**=तेरे **रसस्य**=शरीरस्थ रुधिरादि का भी कोई अंग **मा**=तुझे न छोड़े। २. संक्षेप में, **ते तन्वः**=तेरे शरीर का **किंचन मा (हास्त)**=यहाँ कोई भी भाग तुझसे पृथक् न हो। तू अरिष्ट सर्वांग बना रहे।

भावार्थ—हम आयुष्य के नियमों का ज्ञान प्राप्त करके इसप्रकार युक्ताहारविहार बनें कि न तो हमारा मन हतोत्साह हो और न ही किसी अंग में कोई विकृति व कमी आये।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यमराजसु पितृषु

मा त्वा वृक्षः सं बाधिष्ट मा देवी पृथिवी मही।
लोकं पितृषु वित्त्वैधस्व यमराजसु॥ २५॥

१. हे साधक! **त्वा**=तुझे **वृक्षः**=यह संसार-वृक्ष (वृक्ष वरणे)—वरणीय (उत्तम) संसार **मा सम्बाधिष्ट**=बाधा पहुँचानेवाला न हो। यह **देवी**=दिव्यगुणों से युक्त **मही**=महनीय (पूजनीय) **पृथिवी**=भूमिमाता **मा**=मत बाधा पहुँचाए। यह संसार तेरे अनुकूल हो, विशेषकर यह पृथिवी तुझे सब महनीय दिव्य पदार्थों को प्राप्त करके अधिकतम बढ़ानेवाली हो, जैसे माता पुत्र को सब आवश्यक पदार्थों को प्राप्त कराके उसकी उन्नति की हेतु होती है। २. हे साधक! इसप्रकार बड़ा होकर तू **यमराजसु**=संयमी व व्यवस्थित और दीप्त जीवनवाले **पितृषु**=पितरों में—उनके चरणों में **लोकं वित्त्वा**=प्रकाश (आलोक) को प्राप्त करके **एधस्व**=सतत वृद्धि को प्राप्त हो।

भावार्थ—यह संसार हमारे अनुकूल हो। महनीय पृथिवी हमें दिव्य पदार्थों को प्राप्त कराके उन्नत करे। हम संयमी व दीप्त जीवनवाले पितरों से प्रकाश प्राप्त करके वृद्धि प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

क्षीणता का उचित उपचार

यत्ते अङ्गमतिहितं पराचैरपानः प्राणो य उ वा ते परेतः।
तत्ते संगत्य पितरः सनीडा घासाद् घासं पुनरा वेशयन्तु॥ २६॥

१. **यत्**=जो **ते**=तेरा **अङ्गम्**=अंग **पराचैः अतिहितम्**=(पराङ्मुखम् अतीत्य स्थितम् सा०) उलटकर अपने स्थान से विचलित हो गया है **वा**=या **यः**=जो **ते**=तेरा **प्राणः अपानः**=प्राण और अपान **परा इतः**=तुझसे दूर चला गया है, अर्थात् प्राणापान शक्ति में कमी आ गई है, **तत्**=उसको **ते**=तेरे **सनीडा**=समान घरवाले **पितरः**=पितर (रक्षक) लोग **संगत्य**=मिलकर—परस्पर विचार करके—**घासाद्**=(अद्यते भुज्यतेऽस्मिन् इति घासः शरीरम्) शरीर के उद्देश्य से—शरीर को ठीक

करने के लक्ष्य से—**घासम्**=भोजन को **पुनः**=फिर **आवेशयन्तु**=शरीर में प्रविष्ट कराएँ।

भावार्थ—अंग भंग हो जाए, अथवा प्राणापान शक्ति में कमी आ जाए तो बड़े, अनुभवी लोग मिलकर शरीर को ठीक करने के उद्देश्य से उचित भोजन की व्यवस्था करें। औषध से भी अधिक महत्त्व इस पथ्य भोजन का है। पथ्य के अभाव में औषध तो व्यर्थ ही हो जाती है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

आचार्यकुल में प्रवेश तथा वहाँ से समावर्त्तन

अपेमं जीवा अरुधन्गृहेभ्यस्तं निर्वहत परि ग्रामादितः।
मृत्युर्यमस्यासीद् दूतः प्रचेता असून्पितृभ्यो गमयां चकार॥ २७॥

१. **जीवाः**=जीवन धारण करनेवाले सब गृहस्थ **इमम्**=इस अपने सन्तान को **गृहेभ्यः**=घरों से **अप अरुधन्**=दूर ही निरुद्ध करते हैं। घरों से दूर आचार्यकुलों में अपने इस सन्तान को रखते हैं। **तम्**=उस सन्तान को **इतः ग्रामात्**=यहाँ ग्राम से **परि निर्वहत**=दूर बाहर आचार्यकुल में प्राप्त कराओ। माता-पिता कहें—अब तुझे 'मृत्यवे त्वा ददामीति' मृत्यु (आचार्य) के लिए सौंपते हैं। मोहवश सन्तानों को घरों में ही रक्खे रखना ठीक नहीं। २. **मृत्युः**=(आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः०) यह आचार्य **यमस्य**=उस सर्वनियन्ता प्रभु का **दूतः आसीत्**=दूत है—सन्देशहर है। यह विद्यार्थी के लिए ज्ञान का सन्देश सुनाता है। **प्रचेताः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाला है। ज्ञान ही तो इस आचार्य की वास्तविक सम्पत्ति है। यह विद्यार्थियों को खूब शक्तिसम्पन्न व ज्ञानी बनाकर इन **असून्**=(असु=प्राणशक्ति+प्रज्ञा) प्राणशक्ति व प्रज्ञा के पुञ्जभूत स्नातकों को **पितृभ्यः**=माता-पिता के लिए **गमयांचकार**=भेजता है। यही इनका समावर्त्तन होता है।

भावार्थ—गृहस्थ सन्तानों को आचार्यकुलों में भेज दें। आचार्य उन्हें संयमी विद्वान् बनाकर पुनः पितरों के समीप प्राप्त करानेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पितरों के रूप में दस्यु

ये दस्यवः पितृषु प्रविष्टा ज्ञातिमुखा अहुतादश्चरन्ति।
परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टानस्मात्प्र धमाति यज्ञात्॥ २८॥

१. **ये**=जो **दस्यवः**=(दसु उपक्षये) हमारा विनाश करनेवाले, **पितृषु प्रविष्टाः**=पितरों की श्रेणी में किसी प्रकार प्रविष्ट हो गये हैं, **ज्ञातिमुखाः**=(ज्ञातीनां मुखमिव मुखं येषाम्) हमारे सम्बन्धी प्रतीत होनेवाले **अहुतादः**=यज्ञों को किये बिना सब-कुछ खा जानेवाले **चरन्ति**=वहाँ समाज में विचरते हैं। **ये**=जो **परापुरः**=(पिण्डोदकं परापृणन्ति=पुत्राः, निपृणन्ति=पौत्राः, नियमेन पृणन्ति) हमारे पुत्रों को तथा **निपुरः**=पौत्रों को **भरन्ति**=अपहृत कर लेते हैं, अर्थात् उनके जीवनों को बिगाड़ देते हैं। **अग्निः**=राष्ट्र का संचालक **तान्**=उन दुष्टों को **अस्मात् यज्ञात्**=इस राष्ट्रयज्ञ से (संघ से बने हुए राष्ट्र से) **प्रधमाति**=बाहर करदे (धमतिर्गतिकर्मा)। २. राजा का यह कर्त्तव्य है कि जो पितर अपना कर्त्तव्यपालन न करें, उन्हें दण्डित करे। इनके लिए सर्वोत्तम दण्ड यही है कि इन्हें राष्ट्र से निष्कासित कर दिया जाए। ये पितर वे हैं जोकि रक्षणात्मक कार्य के स्थान पर भक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। बन्धु का रूप धारण करके सब-कुछ खा जाते हैं और हमारे पुत्रों व पौत्रों का जीवन बिगाड़ देते हैं।

भावार्थ—राजा का यह कर्त्तव्य है कि दुष्ट पितरों को दण्डित करे, उन्हें राष्ट्र से निर्वासित ही कर दे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः, पितरः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

स्वाः पितरः

सं वि॑शन्त्वि॒ह पि॒तर॒ः स्वा नः॑ स्यो॒नं कृ॒ण्वन्तः॑ प्रति॒रन्त॒ आयुः॑।
तेभ्यः॑ शकेम ह॒विषा॒ नक्ष॑माणा॒ ज्योग्जीव॑न्तः श॒रदः॑ पु॑रू॒चीः ॥ २९ ॥

१. **इह**=यहाँ—इस जीवन में **नः**=हमारे लिए **स्वाः पितरः**=अपने ही पितर—जो वानप्रस्थाश्रम में गये हुए 'पिता, पितामह व प्रपितामह' **संविशन्तु**=घरों में सम्यक् प्रविष्ट हों। समय-समय पर हमारे बुलाने पर ये अवश्य आएँ। ये पितर **स्योनं कृण्वन्तः**=सुख प्रदान करते हुए **आयुः प्रतिरन्त**=हमारे आयुष्य को बढ़ाते हैं। २. **तेभ्यः**=अनके लिए **हविषा**=यज्ञिय भोजन से **नक्षमाणाः**=प्राप्त होते हुए हम **शकेम**=शक्तिशाली बनें। हम **ज्योग्जीवन्तः**=दीर्घकाल तक जीते हुए **पुरुचीः शरदः**=अत्यन्त गतिशील वर्षोंवाले हों (पुरु अञ्च्)। खाट पर लेटे हुए न हों। अकर्मण्य जीवन, जीवन नहीं है।

भावार्थ—हमारे वनस्थ पितर समय-समय पर घरों पर आएँ। वे उचित परामर्शों द्वारा हमारे जीवन को सुखी करें, हमें दीर्घजीवी बनाएँ और हमारा जीवन अत्यन्त गतिमाय हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अजीवनों का पालन

यां ते॑ धे॒नुं नि॑पृ॒णामि॒ यमु॑ ते क्षी॒र ओ॑द॒नम्।
तेना॒ जन॑स्यासो भ॒र्ता योऽत्रास॒दजी॑वनः ॥ ३० ॥

१. हे वनस्थ पितः! **याम्**=जिस **ते**=आपके लिए **धेनुम्**=गौ को **निपृणामि**=देता हूँ, **उ**=और **यम्**=जिस **क्षीरे आदेनम्**=दूध में पकाये गये भोजन को—मिष्टान्नादि को **ते**=आपके लिए देता हूँ, **तेन**=उस गौ व क्षीरान्नों से उस **जनस्य**=मनुष्य का आप **भर्ता असः**=भरणकरनेवाले हो, **यः**=जो **अत्र**=यहाँ **अजीवनः असत्**=जीविका से रहित हो—जिसमें जीविका के अपार्जन की क्षमता न हो।

भावार्थ—लूले, लंगड़ें व्यक्ति नगर में ही भीख न माँगते रहें। इनके वनों में आश्रम हों। वहाँ वानप्रस्थ पितरों के द्वारा इनकी व्यवस्था की जाए। इन वानप्रस्थ पितरों के लिए नागरिक आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त कराते रहें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आदर्श पितर

अश्वा॑वतीं॒ प्र त॑र॒ या सु॒शेवा॒र्क्षाकं॑ वा प्र॒तरं॒ नवी॑यः।
यस्त्वा॑ ज॒घान॒ वध्यः॒ सो अ॑स्तु॒ मा सो अ॒न्यद्वि॑दत भाग॒धेय॑म् ॥ ३१ ॥

१. हे साधक! तू **अश्वावतीम्**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाली जीवनस्थिति को **प्रतर**=बढ़ा, **या**=जो **सुशेवा**=उत्तम कल्याण प्रदान करनेवाली है। **वा**=तथा **ऋक्षाकम्**=(ऋष्=to kill) वासनाओं के संहारक ज्ञान को **प्रतरम्**=खूब ही बढ़ा, जो ज्ञान **नवीयः**=अतिशयेन स्तुत्य है (नु स्तुतौ)। कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों का ठीक विकास व प्रयोग ही जीवन को सुन्दर बनाता है। २. **यः**=जो 'काम-वासना **त्वा**=तुझे **जघान**=नष्ट करती है, **सः**=वह **वध्यः अस्तु**=नाश करने योग्य हो। 'काम-क्रोध' आदि को तू विनष्ट करनेवाला बन। अन्यथा ये तेरे विनाश का कारण बनेंगे। **सः**=काम-क्रोध-लोभरूप शत्रु **अन्यत् भागधेयम्**=अन्य भाग को **मा विदत**=मत प्राप्त हो, अर्थात्

इन्हें तो नष्ट ही कर डाला जाए। इनके लिए कोई अन्य विकल्प न हो।

भावार्थ—हम कर्मेन्द्रियों को प्रशस्त करें, ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति को बढ़ाएँ। 'काम-क्रोध' आदि विनाशक शत्रुओं को विनष्ट करें। ऐसा करने पर ही हम उत्तम पितर बन पाएँगे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

परोवरः यमः

यमः परोऽवरो विवस्वान्ततः परं नाति पश्यामि किं चन।
यमे अध्वरो अधि मे निविष्टो भुवो विवस्वानन्वाततान॥ ३२॥

१. प्रभुस्मरण ही हमें उत्तम जीवनवाला बनाता है, अतः साधक प्रभुस्मरण करता हुआ कहता है कि—**यमः**=सर्वनियन्ता प्रभु **परः अवरः**=दूर-से-दूर है और समीप-से-समीप है। 'दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च'। **विवस्वान्**=वह ज्ञान की किरणोंवाला है—अपनी ज्ञानकिरणों से साधकों के हृदयान्धकार को नष्ट करता है। **ततः परम्**=उस प्रभु से उत्कृष्ट मैं **किंचन न अतिपश्यामि**=किसी भी वस्तु को नहीं देखता हूँ। वह प्रत्येक गुण की चरमसीमा है। २. यह **मे अध्वरः**=मेरा यज्ञ **यमे अधिपश्यामि**=उस नियन्ता प्रभु में ही स्थित है—प्रभु के आधार से ही इस यज्ञ की पूर्ति होती है। 'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च'। वस्तुतः प्रभु ही 'होता' है, हम तो बीच में निमित्तमात्र बनते हैं। ये **विवस्वान्**=सूर्यसम दीप्त प्रभु **भुवः**=सब लोकों को **अन्वाततान**=अनुकूलता से विस्तृत किये हुए हैं। इन लोकों को वे प्रभु ही विस्तृत करनेवाले हैं। उस प्रभु का प्रकाश ही लोकों में सर्वत्र फैला हुआ है।

भावार्थ—सर्वनियन्ता प्रभु सर्वव्यापक हैं, प्रभु से महान् और कुछ भी नहीं। प्रभु ही हमारे यज्ञों के पालक हैं और प्रभु ने ही सब लोकों को आलोकित किया हुआ है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सरण्यू के दो सन्तान

अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वा सवर्णामदधुर्विवस्वते।
उताश्विनावभरद्यत्तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः॥ ३३॥

१. **अमृताम्**=कभी नष्ट न होनेवाली—अथवा मृत्यु से बचानेवाली इस वेदवाणी को **मर्त्येभ्यः**=वासनाओं से आक्रान्त होकर विषयों के पीछे मरनेवाले मनुष्यों से **अपागूहन्**=दूर छिपाकर रखा जाता है। मर्त्य इसे प्राप्त नहीं कर सकता। यह अमृत वेदवाणी असंयत जीवनवाले पुरुष को प्राप्त नहीं होती। इस वेदवाणी को **सवर्णाम् कृत्वा**=(स-वर्णाम्) प्रभुवर्णन से युक्त करके **विवस्वते**=ज्ञानी पुरुष के लिए **अदधुः**=धारण करते हैं। 'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति' इस वाक्य के अनुसार वेदों का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म ही है। २. जब एक ज्ञानी पुरुष इस वेदवाणी का धारण करता है तब यह **उत**=निश्चय से **अश्विनौ अभरत्**=प्राणापान का पोषण करती है, 'असुनीति' का—प्राणविद्या का प्रतिपादन करनेवाली यह वेदवाणी प्राणापान का पोषण क्यों न करेगी? **यत्**=जो **तत्**=वह प्राणापान का पोषण करनेवाली अमृता वेदवाणी **आसीत्**=थी, अर्थात् जब इसने हमारे प्राणापान की शक्तियों का वर्धन किया तो **सरण्यूः**=ज्ञान व कर्म से हमारा मेल करनेवाली इस वेदवाणी ने **उ**=निश्चय से **द्वा मिथुना**=दो युगलभूत 'नासत्या व दस्रा' को **जहात्**=जन्म दिया। ज्ञान ही नासत्य है—ज्ञान से सत्य का दर्शन होता है (न+असत्य); और कर्म ही दस्र है—कर्म से सब बुराइयों का संहार होता है (दसु उपक्षये)।

भावार्थ—प्रभुकृपा से हमारा इस 'सरण्यू' नामवाली वेदवाणी से सम्बन्ध हो और हमारे

जीवन में सत्य व पवित्रता का संचार हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः, अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

चार पितर

ये निखा॑ता॒ ये परो॑प्ता॒ ये द॒ग्धा ये चोद्धि॑ताः।
सर्वा॒ँस्तान॑ग्न॒ आ व॑ह पि॒तॄन्ह॒विषे॒ अत्त॑वे॥ ३४॥

१. **ये निखाता**=जो संयम की भूमि में निश्चय से दृढ़ तथा गाड़े गये हैं—जिन्होंने दृढ़ संयम से ब्रह्मचर्याश्रम में ज्ञान प्राप्त किया है। **ये परोप्ताः**=(परम् उप्तं येषाम्) जिन्होंने गृहस्थ में सन्तानोत्पत्ति के लिए उत्कृष्टरूप में बीजवपन किया है। **ये दग्धाः**=वानप्रस्थ में जिन्होंने अपने को ज्ञानाग्निदग्ध बनाया है **च**=और **ये**=जो संन्यस्त होकर **उद्धिताः**=संसार से ऊपर स्थापित हुए हैं (उत् हिताः)। हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **तान् सर्वान् पितॄन्**=उन सब पितरों को **हविषे अत्तवे**=इन्द्रियों के—सात्त्विक भोजनों के सेवन के लिए **आवह**=तू अपने समीप प्राप्त करा। इनका सम्पर्क हमें भी इनकी भाँति पवित्र बनाएगा।

भावार्थ—हमारे घरों पर संयत जीवनवाले ब्रह्मचारी, पवित्र गृहस्थ, ज्ञानाग्निदग्ध वानप्रस्थ व भौतिक क्षेत्र से ऊपर उठे हुए संन्यस्त पधारें। हम उनके लिए सात्त्विक भोजनों को प्राप्त कराएँ और उनकी सात्त्विक प्रेरणाओं से लाभान्वित हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'अग्निदग्ध व अनग्निदग्ध' पितर

ये अ॑ग्निद॒ग्धा ये अन॑ग्निदग्धा॒ मध्ये॑ दि॒वः स्व॒धया॑ मा॒दय॑न्ते।
त्वं तान्वे॑त्थ॒ यदि॒ ते जा॑तवेदः स्व॒धया॑ य॒ज्ञं स्वधि॑तिं जुषन्ताम्॥ ३५॥

१. ये **अग्निदग्धाः**=जो पितर अग्निविद्या में परिपक्व ज्ञानवाले वा निपुण हैं—जिन्होंने अग्नि आदि देवों का ज्ञान प्राप्त किया है। ये **अनाग्निदग्धः**=अथवा जो अग्निविद्या में निपुण नहीं भी हैं—जो आत्मचिन्तन में व समाज-स्वभाव के अध्ययन में लगे रहकर, विज्ञान की शिक्षा को बहुत महत्त्व नहीं दे पाये। ये सब पितर **दिवः मध्ये**=ज्ञान के प्रकाश में **स्वधया मादयन्ते**=आत्मतत्त्व के धारण से अत्यन्त हर्ष का अनुभव करते हैं। २. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! यदि **त्वं तान् वेत्थ**=यदि आप उन्हें जानते हो—उनकी सुध लेते हो तो **ते**=वे **स्वधया**=आत्मधारणशक्ति के साथ **स्वधितिं यज्ञं जुषन्ताम्**=अपना धारण करनेवाले यज्ञ का सेवन करनेवाले हों। जब ये परमात्मा के बनते हैं तब स्वधा के साथ 'स्वधितियज्ञ' का सेवन करते हैं। ये आत्मतत्त्व का धारण करते हैं और यज्ञमय जीवनवाले होते हैं। यह यज्ञ इनका धारण करनेवाला होता है।

भावार्थ—अग्निविद्या में तथा समाजशास्त्र व आत्मविद्या में निपुण पितर ज्ञान के प्रकाश में आत्मतत्त्व के धारण से हर्ष का अनुभव करते हैं। प्रभु के प्रिय बनकर ये आत्मतत्त्व का धारण करते हैं तथा यज्ञमय जीवनवाले होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मर्यादित तप

शं त॑प॒ माति॑ तपो॒ अग्ने॒ मा त॒न्वं१ तपः॑।
वने॑षु शु॒ष्मो॑ अस्तु ते पृथि॒व्याम॑स्तु॒ यद्धरः॑॥ ३६॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी आचार्य (अग्निराचार्यस्तव)! इस विद्यार्थी को शान्त जीवनवाला बनाने

के लिए तपस्या में ले-चल, इसे **शं तप**=सुखकर तप करा, परन्तु **मा अति तपः**=मर्यादा से अधिक तप्त न करा। **तन्वं मा तपः**=इसके शरीर को संतप्त मत कर डाल। 'शरीरमबाधमानेन तपः आसेव्यम्' शरीर को न पीड़ित करते हुए ही तो तप करना चाहिए। २. हे आचार्य! **वनेषु**=संभजनीय कर्मों में **ते**=आपका **शुष्मः**=बल **अस्तु**=हो तथा **यत्**=जो **हरः**=रोगों का हरण करनेवाला तेज है, वह **पृथिव्याम् अस्तु**=इस शरीररूप पृथिवी में हो। सेवनीय कर्मों को करते हुए हम शक्तिशाली बनें तथा शरीर में वह शक्ति हो जो हमें नीरोग बनाये रक्खे। आचार्य विद्यार्थी को ऐसा ही बनाने का यत्न करें।

भावार्थ—आचार्य विद्यार्थी को तपस्या की अग्नि में समुचितरूप से तप्त कराते हुए शान्त जीवनवाला बनाएँ। तपस्या में भी मर्यादा अपेक्षित है—शरीर को सन्तप्त नहीं कर देना। संभजनीय कर्मों को करते हुए विद्यार्थी सशक्त बनें और शरीर में रोगों का हरण करनेवाले तेज से युक्त हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥

आचार्य के गर्भ में

दद॑ाम्यस्मा अ॒व॒सान॑मे॒तद्य ए॒ष आग॒न्मम॒ चेदभू॑दि॒ह।
य॒मश्चि॑कि॒त्वान्प्रत्ये॒तदा॑ह॒ ममै॒ष रा॒य उप॑ तिष्ठतामि॒ह ॥ ३७ ॥

१. विद्यार्थी आचार्य के समीप आता है। आचार्य उसके माता-पिता से कहते हैं कि **अस्मै!** इसके लिए **एतत्**=इस **अवसानम्**=(अवस्यन्ति निवसन्ति अस्मिन्—निवासस्थानम्) निवासस्थान को **ददामि**=देता हूँ। **चेत्**=यदि **इह**=यहाँ **यः एषः आगन्**=यह जो आया है, वह **मम अभूत्**=मेरा ही हो गया है। अब विद्यार्थी ने आचार्य के समीप रहना है—उसी का हो जाना है। २. **चिकित्वान् यमः**=यह ज्ञानी नियन्ता आचार्य **प्रति एतत् आह**=प्रत्येक माता-पिता से यह कहते हैं कि **एषः**=यह बालक **मम राये**=मेरे ज्ञानधन के लिए **इह उपतिष्ठताम्**=यहाँ उपस्थित हो—यहाँ रहता हुआ यह मेरे ज्ञानधन को ग्रहण करनेवाला बने।

भावार्थ—विद्याथी आचार्य के समीप रहकर आचार्य से ज्ञानधन प्राप्त करे। आचार्य विद्यार्थी को अपने समीप निवासस्थान प्राप्त कराये। विद्यार्थी आचार्य का ही हो जाए।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**३८, ३९, ४१ आर्षीगायत्री, ४०, ४२-४४ भुरिगार्षीगायत्री** ॥

'मात्रा बलम्' (उपनिषत्)

इ॒मां मात्रां॑ मिमीमहे॒ यथाप॑रं॒ न मासा॑तै। श॒ते श॒रत्सु॒ नो पु॒रा ॥ ३८ ॥
प्रे॒मां मात्रां॑ मिमीमहे॒ यथाप॑रं॒ न मासा॑तै। श॒ते श॒रत्सु॒ नो पु॒रा ॥ ३९ ॥
अपे॒मां मात्रां॑ मिमीमहे॒ यथाप॑रं॒ न मासा॑तै। श॒ते श॒रत्सु॒ नो पु॒रा ॥ ४० ॥
वी३॒मां मात्रां॑ मिमीमहे॒ यथाप॑रं॒ न मासा॑तै। श॒ते श॒रत्सु॒ नो पु॒रा ॥ ४१ ॥
निरि॒मां मात्रां॑ मिमीमहे॒ यथाप॑रं॒ न मासा॑तै। श॒ते श॒रत्सु॒ नो पु॒रा ॥ ४२ ॥
उदि॒मां मात्रां॑ मिमीमहे॒ यथाप॑रं॒ न मासा॑तै। श॒ते श॒रत्सु॒ नो पु॒रा ॥ ४३ ॥
समि॒मां मात्रां॑ मिमीमहे॒ यथाप॑रं॒ न मासा॑तै। श॒ते श॒रत्सु॒ नो पु॒रा ॥ ४४ ॥

१. सब बातों की मर्यादा में रहना आवश्यक है। ३६वें मन्त्र के अनुसार तप की भी एक मर्यादा है। **इमाम्**=इस **मात्राम्**=मात्रा को **मिमीमहे**=हम मापनेवाले बनते हैं, अर्थात् सब कार्यों

को माप-तोलकर, युक्तरूप में करते हैं। युक्तचेष्ट पुरुष के लिए ही तो योग दुःखहा होता है। उपनिषद् का 'मात्रा बलम्' यह वाक्य इसी बात पर बल देता हुआ कह रहा है कि यह मात्रा ही तुम्हारे बल को स्थिर रक्खेगी। मात्रा को हम नापते हैं, **यथा**=जिससे **अपरं न मासातै**=कोई और वस्तु हमें न माप ले, अर्थात् हमारे जीवन को समाप्त न कर दे। **नः**=हमें **शते शरत्सु पुरा**=जीवन के सौ वर्षों से पहले कोई वस्तु न नाप ले, अर्थात् असमय में हमारी मृत्यु न हो जाए। २. इसी उद्देश्य से **(प्र इमां०)** हम मात्रा को प्रकर्षेण मापनेवाले बनते हैं। (हर्षे चापः प्रयुज्यते) **अप इमाम्**=आनन्दपूर्वक हम मात्रा को मापते हैं—माप तोलकर कार्यों को करने में आनन्द लेते हैं। **वि इमाम्**=विशेषरूप से इस मात्रा को मापते हैं। **निर् इमाम्**=निश्चय से इस मात्रा को मापते हैं। **उत् इमाम्**=उत्कर्षेण इस मात्रा को मापते हैं। **सम् इमाम्**=सम्यक् इस मात्रा को मापते हैं। मात्रा में सब कार्यों को करना ही तो दीर्घ व उत्कृष्ट जीवन का साधन है।

भावार्थ—हम मात्रा को मापनेवाले बनेंगे, अर्थात् सब कार्यों को माप-तोलकर करेंगे—विशेषकर खान-पान को। ऐसा करने पर सौ वर्ष से पूर्व हमें यम माप न सकेगा, अर्थात् हम दीर्घजीवनवाले बनेंगे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्**॥

स्वः आगाम, आयुष्मान् भूयासम्

अमासि मात्रां स्व ᳡ रगामायुष्मान्भूयासम्।
यथापरं न मासातै शते शरत्सु नो पुरा॥ ४५॥

१. **मात्रां अमासि**=मैंने मात्रा को मापा है, अर्थात् प्रत्येक कार्य को माप-तोलकर किया है। मैं युक्ताहार-विहार बना हूँ—युक्तस्वप्नावबोध हुआ हूँ (सोना व जागना भी मात्रा में ही किया है) सब कर्मों में युक्तचेष्ट रहा हूँ। इसी से **स्वः अगाम**=सुख व आत्मप्रकाश को मैंने प्राप्त किया है। **आयुष्मान् भूयासम्**=मैं प्रशस्त दीर्घजीवनवाला बनूँ। २. मात्रा को मैंने इसीलिए मापा है कि **यथा अपरं न मासातै**=कोई और वस्तु हमें न माप ले। **नः**=हमें **शते शरत्सु पुरा**=सौ वर्षों के पूर्ण होने से पहले यम मापनेवाला न बने। हम अवश्य सौ वर्ष के दीर्घजीवन को प्राप्त करें।

भावार्थ—सब कार्यों को—खान-पान आदि को मात्रा में करने पर दीर्घ सुखी-जीवन की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अपरिपर पथ (अकुटिल मार्ग)

प्राणो अपानो व्यान आयुश्चक्षुर्दृशये सूर्याय।
अपरिपरेण पथा यमराज्ञः पितॄन्गच्छ॥ ४६॥

१. हम इस बात को कभी न भूलें कि **प्राणः**=प्राण, **अपानः**=अपान, **व्यानः**=व्यान, **आयुः**=जीवन तथा **चक्षुः**=आँख—ये सब **सूर्याय दृशये**=उस सूर्यस्थ ज्योति ब्रह्म के दर्शन के लिए दिये गये हैं। वस्तुतः जीवन का लक्ष्य ब्रह्मप्राप्ति ही है, २. अतः हे साधक! तू **यमराज्ञः**=उस सर्वनियन्ता शासक (देदीप्यमान) प्रभु के—प्रभु से उपदिष्ट **अपरिपरेण पथा**=अकुटिल मार्ग से **पितॄन् गच्छ**=पितरों को प्राप्त होनेवाला हो। अकुटिल मार्ग से चलता हुआ तू भी पितरों में गिना जानेवाला हो। 'आर्जवं ब्रह्मणः पदम्' सरलता ही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है।

भावार्थ—हम जीवन का लक्ष्य प्रभु-प्राप्ति को समझें। सरलमार्ग से चलते हुए पितरों में गिने-जाते हुए, प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'सुखमय दीप्त' जीवन

ये अग्रवः शशमानाः परेयुर्हित्वा द्वेषांस्यनपत्यवन्तः।
ते द्यामुदित्याविदन्त लोकं नाकस्य पृष्ठे अधि दीध्यानाः॥ ४७॥

१. **ये**=जो **अग्रवः**=अग्रगतिवाले, अग्रु (unmarried) गृहस्थ में अनासक्त (अविवाहित), **शशमानाः (शंसमानाः)**=प्रभु-स्तवन करते हुए अथवा (शश प्लुतगतौ) प्लुतगति से कर्त्तव्यकर्मों को करते हुए **द्वेषांसि हित्वा**=सब प्रकार के द्वेषभावों को छोड़कर **अनपत्यवन्तः**=सन्तानों के चक्कर में न पड़े हुए, अथवा ऐश्वर्यशाली (पत्यते एश्वर्यकर्मणः)—ज्ञान के ऐश्वर्य से सम्पन्न पुरुष **परेयुः**=(परा ईयुः) सब दुरितों से दूर गतिवाले होते हैं। **ते**=वे **द्याम् उत् इत्य**=पृथिवीलोक से अन्तरिक्ष में और अन्तरिक्ष से ऊपर उठकर द्युलोक में **लोकम् अविदन्त**=प्रभु के प्रकाश को प्राप्त करते हैं—ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं 'दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहम्'। २. ये व्यक्ति **नाकस्य पृष्ठे**=स्वर्गलोक के पृष्ठ पर **अधिदीध्यानाः**=आधिक्येन दीप्त होते हैं। ये सुखमय व दीप्तजीवनवाले होते हैं। वस्तुतः प्रभु की दीप्ति से इनका जीवन दीप्त बनता है।

भावार्थ—हम अग्रगतिवाले, प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाले, द्वेषशून्य, ज्ञानैश्वर्यपूर्ण बनकर प्रभु के प्रकाश को देखनेवाले बनें तभी हमारा जीवन सुखमय व दीप्त होगा।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उदन्वती, पीलुमती, प्रद्यौः

उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमा।
तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते॥ ४८॥

१. प्रकृति का विज्ञान हमें विविध भोगों को प्राप्त कराता है। यहाँ मन्त्र में 'उदक' शब्द भोगों का प्रतीक है। यह **उदन्वती द्यौः**=सब भोगों को प्राप्त करानेवाला प्रकृतिविज्ञान **अवमा**=सबसे निचला है। (पालयति इति पीलुः), **पीलुमती इति**=पालक तत्त्वोंवाला जो जीव-विज्ञान है, वह **मध्यमा**=मध्यम ज्ञान है। २. इस प्रकृति व जीव के ज्ञान से **ह**=निश्चयपूर्वक **तृतीया**=तृतीय आत्मविज्ञान है। यह परमात्मज्ञान ही **प्रद्यौः इति**=प्रकृष्ट ज्ञान के रूपों में कहा जाता है। **यस्याः**=जिस 'प्रद्यौः' में—प्रकृष्ट ज्ञान में **पितरः आसते**=पितर आसीन होते हैं। इस ज्ञान को प्राप्त करके ही तो वे पितर बनते हैं। प्रभु का जाननेवाला किसी की हिंसा न करता हुआ रक्षणात्मक कार्यों में ही प्रवृत्त होता है।

भावार्थ—प्रकृतिविज्ञान से हम आवश्यक भोगों को प्राप्त करें। जीवविज्ञान के द्वारा अपने कर्त्तव्यों का पालन करते हुए अपना पालन कर पाएँ। प्रकृष्ट आत्मविज्ञान हमें रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त करनेवाला हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

'अन्तरिक्ष, पृथिवी व द्युलोक' में स्थित पितर

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्व१न्तरिक्षम्।
य आक्षियन्ति पृथिवीमुत द्यां तेभ्यः पितृभ्यो नमसा विधेम॥ ४९॥

१. **ये**=जो **नः**=हमारे **पितुः पितरः**=पिता के भी पिता हैं—पिताजी के भी पिता के समान हैं, **ये**=जो **पितामहा**=हमारे दादा हैं, **ये**=जो **उरु अन्तरिक्षम् आविविशुः**=गृहस्थ के संकुचित क्षेत्र से निकलकर विशाल अन्तरिक्ष में प्रविष्ट हुए हैं—जिन्होंने अब सारी वसुधा को ही अपना कुटुम्ब बनाया है, **ये**=जो **पृथिवीम् आक्षियन्ति**=पृथिवी में निवास करते हैं—इस प्रकृतिरूप पृथिवी में निवास करते हुए गतिशील होते हैं (क्षि निवासगत्यौ), **उत**=और **द्याम्**=जो द्युलोक में—ज्ञान के प्रकाश में निवास करते हैं, **तेभ्यः पितृभ्यः**=उन पितरों के लिए **नमसा विधेम**=नमन से (आदर से) तथा अन्न से पूजन करते हैं। उन्हें आदरपूर्वक अन्न देनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—पितर वे हैं जो गृहस्थ के छोटे क्षेत्र से विशाल अन्तरिक्ष में प्रविष्ट हुए हैं—वानप्रस्थ बनकर सभी को अपना मानने लगे हैं। जो इस शरीर में निवास करते हुए गतिशील हैं और उत्कृष्ट आत्मतत्त्व को प्राप्त करते हैं। इन पितरों का हम आदरपूर्वक आतिथ्य करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

जैसे माता पुत्र को

इदमिद्वा उ नापरं दिवि पश्यसि सूर्यम्।
माता पुत्रं यथा सिचाभ्ये᳒नं भूम ऊर्णुहि॥ ५०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार उत्कृष्ट आत्मज्ञान को प्राप्त करनेवाले पितर प्रभु के प्रकाश को देखते हुए कहते हैं कि **इदम् इत् वा उ**=निश्चय से यह ब्रह्म ही सत्य है। **न अपरम्**=इसके समान और कुछ नहीं (अन्यत् सर्वमार्तम्) **दिवि सूर्यं पश्यसि**=ये प्रभु तो ऐसे हैं जैसे द्युलोक में सूर्य (आदित्यवर्णं, तमसः परस्तात्)। वहाँ अन्धकार का चिह्न भी नहीं है। २. **भूमे**=सब प्राणियों के निवास स्थानभूत प्रभो! (भवन्ति भूतानि अस्याम्) **यथा**=जैसे **माता**=माता **पुत्रम्**=पुत्र को **सिचा**=वस्त्र प्रान्त से आच्छादित कर लेती है, इसीप्रकार **आप एनम्**=अपने इस रूप को **अभि ऊर्णुहि**=आच्छादित करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु अद्वितीय हैं, द्युलोकस्थ सूर्य के समान दीप्त हैं 'ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः'। प्रभु अपने भक्त को इसप्रकार अपनी गोद में सुरक्षित कर लेते हैं, जैसे माता वस्त्रप्रान्त से पुत्र को।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

जैसे पत्नी पति को

इदमिद्वा उ नापरं जरस्यन्यदितोऽपरम्।
जाया पतिमिव वाससाभ्ये᳒नं भूम ऊर्णुहि॥ ५१॥

१. **इदम् इत् वा उ**=यह हृदयों में द्योतित होनेवाला प्रभु ही निश्चय से है, **न अपरम्**=इसके समान और कोई नहीं 'अन्यत् सर्वमार्तम्'। **जरसि**=उस प्रभु का स्तवन होने पर **अन्यत्**=और सब-कुछ **इतः अपरम्**=इससे अपर है—नीचे है। प्रभु ही सर्वमहान् हैं। 'महतो महीयान्'। २. भक्त प्रार्थना करता है कि हे **भूमे**=सबके निवासस्थानभूत प्रभो! **इव जाया**=जैसे एक पत्नी **वासा**=वस्त्र से **पतिम्**=पति को आच्छादित कर लेती है, इसीप्रकार **आप एनम्**=इस भक्त को **अभि ऊर्णुहि**=सर्वतः आच्छादित करनेवाले होवें।

भावार्थ—प्रभु सर्वमहान् हैं। वही स्तुति के योग्य हैं। प्रभु अपने भक्त को इसप्रकार सुरक्षित कर लेते हैं जैसे पत्नी पति को।

सूचना—इस दृष्टान्त में भक्त कवियों के रहस्यवाद की गन्ध स्पष्ट है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पृथिवी माता के वस्त्र से अपना आच्छादन

अभि त्वोर्णोमि पृथिव्या मातुर्वस्त्रेण भद्रया।
जीवेषु भद्रं तन्मयि स्वधा पितृषु सा त्वयि॥ ५२॥

१. प्रभु कहते हैं कि हे साधक! मैं **त्वा**=तुझे **पृथिव्याः मातुः**=इस पृथिवी माता के **वस्त्रेण**=वस्त्र से—आच्छादन शक्ति से **भद्रया**=कल्याण और सुख के हेतु से **अभि ऊर्णोमि**=आच्छादित करता हूँ। यह पृथिवी तुझे माता के समान अपनी गोद में कल्याण के हेतु से धारण करे। इससे तुझे भोजन व वस्त्र ठीक रूप में प्राप्त होते रहें। तू पृथिवी से ही भोजन व वस्त्रों को प्राप्त कर। मांस भोजनों से दूर रहना ही ठीक है। २. साधक प्रार्थना करता है कि **जीवेषु**=जीवों में **भद्रम्**=जो भद्र है—शुभ है **तत् मयि**=वह मुझमें हो, अर्थात् मैं सब शुभ बातों से युक्त होऊँ। ३. इस प्रार्थना को सुनकर प्रभु उत्तर देते हैं कि जो **पितृषु स्वधा**=पितरों के विषय में स्वधा है—अन्नादि का देना है, **सा त्वयि**=वह तुझमें हो, अर्थात् तू पितरों को आदरपूर्वक अन्नादि प्राप्त करानेवाला हो। यह बड़ों का आदर तुझे सदा सुपथ पर ले-चलनेवाला बनेगा।

भावार्थ—हम माता पृथिवी से भोजन व वस्त्रों को प्राप्त करें। अपने बड़ों को आदरपूर्वक अन्न प्राप्त कराएँ, इससे हमारे जीवन में सब शुभों का समावेश होगा।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अग्नि और सोम के समन्वय से 'स्योन, रत्न व लोक' की प्राप्ति

अग्नीषोमा पथिकृता स्योनं देवेभ्यो रत्नं दधथुर्वि लोकम्।
उप प्रेष्यन्तं पूषणं यो वहात्यञ्जोयानैः पथिभिस्तत्र गच्छतम्॥ ५३॥

१. **अग्नीषोमा**='अग्नि और सोम' क्रमशः 'ज्योति व आपः' के वाचक हैं। 'अग्नि' तेजस्विता व उग्रता है तो 'सोम' शान्ति है। इन दोनों—अग्नि और सोम का समन्वय ही जीवन में अभिप्रेत है। जो **पथिकृता**=मार्ग को बनानेवाले हैं—इन दोनों का समन्वय ही जीवन में ठीक मार्ग है। ये अग्नि और सोम **देवेभ्यः**=देववृत्ति के पुरुषों के लिए **स्योनम्**=सुख को, **रत्नम्**=रत्न को—रमणीय धन को तथा **लोकम्**=प्रकाश को **विदधथुः**=धारण करते हैं। २. **यः**=जो मार्ग **अञ्जोयानैः पथिभिः**=सरल (ऋजुतायुक्त) गतियोंवाले मार्गों से **प्र ईष्यन्तम्**=(ईष दर्शनं) प्रकर्षेण सबको देखते हुए **पूषणम्**=सर्वपोषक प्रभु को **उपवहाति**=समीप प्राप्त कराता है, हे अग्नीषोमा! आप **तत्र गच्छतम्**=वहाँ ही चलो। उस मार्ग की ओर ही चलो।

भावार्थ—यदि हम अपने जीवन में अग्नि और सोम का समन्वय करेंगे तो देववृत्ति के बनकर सुख, रमणीय धन व प्रकाश को प्राप्त करेंगे। ये अग्नि और सोम हमें उस मार्ग पर ले-चलेंगे जो हमें प्रभु के समीप प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

इतः प्रच्यावयतु

पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः।
स त्वैतेभ्यः परि ददत्पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः॥ ५४॥

१. **पूषा**=वह पोषक प्रभु **त्वा**=तुझे **इतः प्रच्यावयतु**=इस भौतिक संग से पृथक् करे। वह प्रभु जो **विद्वान्**=ज्ञानी है, **अनष्टपशुः**=अपने प्राणियों को नष्ट नहीं होने देता। साधकों का कल्याण

करनेवाला है। **भुवनस्य गोपाः**=सम्पूर्ण भुवन का रक्षक है। २. **सः**=वह **अग्निः**=अग्रणी प्रभु ही **त्वा**=तुझे **एतेभ्यः**=इन **सुविदत्रियेभ्यः**=उत्तम ज्ञान के द्वारा रक्षा करनेवाले, **देवेभ्यः**=देववृत्तिवाले **पितृभ्यः**=पितरों के लिए **परिददत्**=प्राप्त कराता है। इनके रक्षण से तू भी उत्तम ज्ञान को प्राप्त करता हुआ देववृत्ति का बनता है।

भावार्थ—वह पोषक प्रभु हमें भौतिक संग में डूबने से बचाता है। इसी उद्देश्य से प्रभु हमें ज्ञानी, देववृत्तिवाले पितरों को प्राप्त कराते हैं। इनके रक्षण में हम भी देव बन पाते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

आयुः विश्वायुः

आयुर्विश्वायुः परि पातु त्वा पूषा त्वा पातु प्रपथे पुरस्तात्।
यत्रासते सुकृतो यत्र त ईयुस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु॥ ५५॥

१. **आयुः** (इण् गतौ), सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को गति देनेवाला, **विश्वायुः**=(आयुः अन्नम्—नि० २.७)=सबके लिए अन्नों को प्राप्त करानेवाला **पूषाः**=पोषक प्रभु **त्वा परिपातु**=तेरा सर्वत्ररक्षण करे। यह प्रभु **त्वा**=तुझे **प्रपथे**=उत्कृष्ट मार्ग में **पुरस्तात् पातु**=आगे से रक्षित करे। प्रभु हमें उत्तम अन्नों को प्राप्त कराएँ और प्रशस्त मार्ग पर ले-चलें। सात्त्विक अन्नों से हमारी वृत्ति भी सात्त्विक ही बनेगी। २. **यत्र**=जिस मार्ग पर **सुकृतः**=पुण्यकर्मा लोग **आसते**=आसीन होते हैं, **यत्र**=जिस मार्ग पर **ते ईयुः**=वे गति करते हैं, **तत्र**=उस मार्ग पर **त्वा**=तुझे **सविता देवः**=प्रेरक प्रकाशमय प्रभु **दधातु**=धारण करें।

भावार्थ—प्रभु ही गति देनेवाले हैं, प्रभु ही सब अन्नों को प्राप्त कराते हैं। प्रभु हमें उत्कृष्ट मार्ग पर ले-चलते हैं। उस मार्ग पर ले-चलते हैं, जिस मार्ग से पुण्यकर्मा लोग गति करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यमस्य सादनं समितीः च

इमौ युनज्मि ते वह्नी असुनीताय वोढवे।
ताभ्यां यमस्य सादनं समितीश्चाव गच्छतात्॥ ५६॥

१. प्रभु कहते हैं कि मैं तेरे इस शरीर-रथ में **इमौ युनज्मि**=इन प्राणापान को जोड़ता हूँ। ये **ते**=तुझे **वह्नी**=लक्ष्य-स्थान पर ले-जानेवाले हों। **असुनीताय** (असु=प्रज्ञा। नि० १०.३४) ये प्राणापान तुझे प्रज्ञापूर्वक मार्ग पर ले-चलनेवाले हों। **वोढवे**=तेरे सब कार्यों का वहन करनेवाले हों। २. **ताभ्याम्**=उन प्राणापान के द्वारा **यमस्य सादनम्**=उस सर्वनियन्ता प्रभु के गृह को **अवगच्छतात्**=तू प्राप्त होनेवाला हो **च**=और इसी उद्देश्य से **समितीः (सम् इतीः)**=उत्तम गतियों को तथा मिलकर होनेवाली गतियों को तू प्राप्त होनेवाला हो। तेरे कार्य विरोधात्मक न हों। 'येन देवः न वियन्ति'=देव विरुद्ध-गतियोंवाले नहीं होते।

भावार्थ—प्रभु ने हमें प्राणापान प्राप्त कराये हैं। इनकी साधना के द्वारा हम लक्ष्यस्थान पर पहुँचेंगे। प्राणसाधना हमें प्रज्ञासम्पन्न करके कर्त्तव्य-वहन में समर्थ करेगी। अन्ततः इन्हीं से हम ब्रह्मलोक को प्राप्त करेंगे और उत्तम गतियोंवाले होंगे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

इष्टापूर्त द्वारा पापमोचन

एतत्त्वा वासः प्रथमं न्वागन्नपैतदूह यदिहाबिभः पुरा।
इष्टापूर्तमनुसंक्राम विद्वान्यत्र ते दत्तं बहुधा विबन्धुषु॥ ५७॥

१. हे जीव! **एतत्**=यह **प्रथमं वासः**=सर्वोत्कृष्ट मानव शरीररूप वस्त्र **त्वा आगन्**=तुझे प्राप्त हुआ है। **नु**=अब **एतत्**=इसको **अप ऊह**=दूर करनेवाला बन। **यत्**=जिसे **इह**=यहाँ—संसार में **पुरा अबिभः**=तूने पहले भी धारण किया है। कितनी ही बार यह शरीर तुझे प्राप्त हुआ है। यह प्राप्त तो इसलिए होता है कि हम इसप्रकार की साधना करें कि यह शरीर फिर न लेना पड़े। साधना के अभाव में बारम्बार हम यहाँ आते हैं। २. इस बार तो **विद्वान्**=ज्ञानी बनता हुआ तू **इष्टापूर्तं अनुसंक्राम**=इष्ट व आपूर्तरूप कर्मों में गतिवाला हो। तू यज्ञशील हो और लोकाहित के लिए किये जानेवाले 'वापी, कूप, तड़ाग' आदि के निर्माणरूप कार्यों को कर। **यत्र**=जिन कार्यों में **ते**=तेरे द्वारा **विबन्धुषु**=बन्धुरहित अनाथ व्यक्तियों की सहायता के लिए **बहुधा दत्तम्**=बहुत प्रकार से दिया जाता है, अर्थात् तू केवल अपना ही पेट भरना नहीं जानता, अपितु यज्ञशेष का ही सेवन करता है। 'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः' यज्ञशिष्ट का सेवन करते हुए तू सब पापों से मुक्त होकर मोक्ष को प्राप्त करता है।

भावार्थ—मानवजीवन को प्राप्त करके हम इसप्रकार साधना करें कि हमें फिर यह शरीर न लेना पड़े। साधना यही है कि हम जीवन को यज्ञमय बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रभुरूप कवच के अभाव में 'काम' का आक्रमण

अ॒ग्नेर्वर्म॒ परि॒ गोभि॒र्व्य॑यस्व॒ सं प्रोर्णु॑ष्व॒ मेद॑सा॒ पीव॑सा च।
नेत्त्वा॑ धृ॒ष्णुर्हर॑सा॒ जर्हृ॑षाणो द॒धृग्वि॑ध॒क्षन्प॑री॒ङ्ख्याता॑ते॥ ५८॥

१. हे साधक! तू **गोभिः**=वेदवाणियों के द्वारा **अग्नेः वर्म परिव्ययस्व**=उस प्रभुरूप कवच को धारण करनेवाला बन। प्रभु तेरे कवच हों। इसके लिए वेदवाणियों का अध्ययन तेरा साधन हो, **च**=और तू अपने शरीर को भी **पीवसा मेदसा**=मज्जा तथा मेदस् तत्त्व—स्थौल्य व चर्बी से भी **संप्रोर्णुष्व**=सम्यक् आच्छादित कर। तेरा शरीर दुबला-पतला-सा न हो। ऐसा व्यक्ति चिड़चिड़े स्वभाव का बन जाता है। शरीर भरा हुआ हो और मनुष्य प्रभु-स्मरण में चलता हो, तब वह वासनाओं से आक्रान्त नहीं होता। २. तू प्रभु को कवच बना तथा शरीर भी तेरा भरा हुआ हो, जिससे **त्वा**=तुझे यह 'काम' रूप शत्रु **न इत् परीङ्ख्याते**=चारों ओर से घेर न ले—तुझे यह अपने वशीभूत न कर ले। यह काम **धृषणुः**=धर्षण करनेवाला है—हमें कुचल डालनेवाला है। **हरसा जर्हृषाणः**=विषयों में हरण के द्वारा रोमाञ्चित करनेवाला है। **दधृक्**=पकड़ लेनेवाला है—इससे पीछा छुड़ाना बड़ा कठिन है। **विधक्षन्**=यह हमें भस्म कर डालनेवाला है।

भावार्थ—'काम' के आक्रमण से हम तभी बच सकते हैं यदि प्रभु-स्मरणरूप कवच हमने धारण किया हुआ हो और हमारा शरीर अस्थि-पंजर-सा न होकर भरा व सुदृढ़ हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सुवीर, न कि गतासु (मृतप्राय-सा)

द॒ण्डं हस्ता॑दा॒ददा॑नो ग॒तासोः॒ स॒ह श्रोत्रे॑ण॒ वर्च॑सा॒ बले॑न।
अत्रै॒व त्वमि॒ह व॒यं सु॒वीरा॒ विश्वा॒ मृधो॑ अ॒भिमा॑तीर्जयेम॥ ५९॥

१. जो व्यक्ति उत्साहशून्य जीवनवाला मृतप्राय-सा होता है उस **गतासोः**=गतप्राण (मृतप्राय) व्यक्ति के **हस्तात्**=हाथ से **दण्डम्**=दमनशक्ति को **आददानः**=छीन लेते हुए, हे प्रभो! **त्वम्**=आप **श्रोत्रेण**=ज्ञान-प्राप्ति की साधनभूत श्रवणशक्ति के साथ **वर्चसा बलेन सह**=रोगों से मुक़ाबला करनेवाली 'वर्चस्' शक्ति के साथ तथा शत्रुओं से मुक़ाबला करनेवाले बल के साथ **अत्र**

एव=यहाँ ही हमारे जीवन में होओ। २. **इह**=यहाँ इस जीवन में **वयम्**=हम **सुवीराः**=उत्तम वीर बनते हुए **विश्वाः**=सब **मृधः**=हिंसन करनेवाली **अभिमातीः**=शत्रुभूत अभिमान आदि भावनाओं को **जयेम**=जीतनेवाले हों। सब शत्रुओं को जीतकर हम इस जीवन में सुखी हों और आपको प्राप्त करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु निरुत्साही (गतप्राण-से) व्यक्ति के हाथ से दमनशक्ति को छीन लेते हैं। वे प्रभु 'श्रोत्र, वर्चस् व बल' के साथ हमारे जीवन में हों। हम वीर बनकर विनाशक अभिमान आदि वृत्तियों को पराभूत करनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

क्षत्रेण वर्चसा बलेन

धनुर्हस्तादाददानो मृतस्य सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन।
समागृभाय वसु भूरि पुष्टमर्वाङ् त्वमेह्युप जीवलोकम्॥ ६०॥

१. **मृतस्य**=मृत=मरे हुए-से—निराशावादी पुरुष के **हस्तात्**=हाथ से **धनुः आददाना**=शत्रु-संहारक धनुष् को छीनता हुआ **त्वम्**=तू **क्षत्रेण वर्चसा बलेन सह**=क्षतों से त्राण की शक्ति, रोगनिवारकशक्ति तथा शत्रुओं से मुक़ाबला करनेवाली शक्ति के साथ **भूरि वसु समागृभाय**=पालन-पोषण करनेवाले धन को ग्रहण कर। २. इसप्रकार तू **अर्वाङ्**=हम सबके सामने **पुष्टं जीवलोकम् एहि**=पोषणशक्तियुक्त इस जीवलोक को प्राप्त हो।

भावार्थ—हम मृतप्राय न बनकर जीवित होते हुए हाथ में शत्रु-विद्रावक धनुष् को लें। 'क्षत्र, वर्चस् व बल' के साथ खूब ही धन को प्राप्त हों। पुष्ट जीवलोक को प्राप्त करनेवाले हों।

अथ चतुस्त्रिंशः प्रपाठकः

अथ तृतीयोऽनुवाकः

[३] तृतीयं सूक्तम्

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पत्नी का उत्तराधिकार

इयं नारी पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम्।
धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि॥ १॥

१. **इयं नारी**=यह गृह को उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाली स्त्री **पतिलोकं वृणाना**=पतिलोक का वरण करती हुई है **मर्त्य**=मनुष्य! **त्वा उपनिपद्यते**=तेरे समीप प्राप्त होती है। **प्रेतम्**=इस संसार से चले गये हुए भी तुझको समीपता से प्राप्त होती है, अर्थात् अपने पिता के घर में, या फिर से विवाहित होकर किसी अन्य घर में नहीं चली जाती है। २. यह नारी **पुराणम्**=(पुरा अपि नवम्) सनातन **धर्मं अनुपालयन्ती**=धर्म का पालन करती हुई तुझसे दूर नहीं होती। तेरे कुल को ही अपना कुल समझती है। **तस्मै**=उस नारी के लिए **प्रजां द्रविणं च**=सन्तान व धन को **इह**=यहाँ **धेहि**=धारण कर, अर्थात् यदि पत्नी पिता के घर में लौट नहीं जाती तो सन्तानों व धनों की उत्तराधिकारिणी वही है।

भावार्थ—पति की अकस्मात् मृत्यु हो जाने पर पत्नी ही धन व सन्तान की उत्तराधिकारिणी है, यदि धर्म का पालन करती हुई वह पतिलोक का वरण करती है, पिता के घर नहीं लौट जाती और न ही अन्य विवाह करती है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

स्वस्थ रहते हुए सन्तान का ध्यान करना

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि।
हस्तग्राभस्य दधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ॥ २॥

१. हे **नारि**=गृह की उन्नति की कारणभूत पत्नि! तू **उदीर्ष्व**=ऊपर उठ और घर के कार्यों में लग (ईर गतौ) **जीवलोकम् अभि**=इस जीवित संसार का तू ध्यान कर। जो गये वे तो गये ही। अब तू **गतासुम्**=गतप्राण **एतम्**=इस पति के **उपशेषे**=समीप पड़ी है। इसप्रकार शोक में पड़े रहने का क्या लाभ? **एहि**=आ, घर की ओर चल। घर की सब क्रियाओं को ठीक से करनेवाली हो। २. **हस्तग्राभस्य**=तेरे हाथ का ग्रहण करनेवाले **दधिषोः**=गर्भ में सन्तान को स्थापित करनेवाले **तव पत्युः**=तेरे पति की **इदं जनित्वम्**=इस उत्पादित सन्तान को **अभि**=लक्ष्य करके **सं बभूथ**=सम्यक्तया होनेवाली हो, अर्थात् तू अपने स्वास्थ्य का पूरा ध्यानकर, जिससे सन्तान के पालन-पोषण में किसी प्रकार से तू असमर्थ न हो जाए।

भावार्थ—यदि अकस्मात् पति मृत्यु का शिकार हो जाए तो पत्नी शोक न करती रहकर, पति के सन्तानों का ध्यान करती हुई अपने स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए यत्नशील हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

नीयमानां, परिणीयमानाम्

अपश्यं युवतिं नीयमानां जीवां मृतेभ्यः परिणीयमानाम्।
अन्धेन यत्तमसा प्रावृतासीत्प्राक्तो अपाचीमनयं तदेनाम्॥ ३॥

१. मैंने **जीवां युवतिम्**=जीवनशक्ति से परिपूर्ण इस युवति को **नीयमानाम् अपश्यम्**=पितृगृह से पतिगृह की ओर ले-जाती हुई को देखा है। एकदिन इस युवति का विवाह हुआ था। आज उसी युवति को **मृतेभ्यः**=मरे हुओं से **परिणीयमानाम्**=परे ले-जायी जाती हुई को देखता हूँ। इसके पति प्राण छोड़कर चले गये हैं। यह शोकाकुल है—बन्धु-बान्धव इसे मृत पति के शरीर से दूर ले-जाने में लगे हैं। २. **यत्**=क्योंकि यह **अन्धेन तमसा प्रावृत आसीत्**=पति की मृत्यु से घने शोकान्धकार से आवृत थी, **तत्**=अतः **एनाम्**=इसको **प्राक्तः**=इस पति के शव के सामने से **अपाचीम् अनयम्**=(पराङ्मुखीम्) दूर—परे प्राप्त कराता हूँ।

भावार्थ—संसार क्या विचित्र है! एकदिन युवति विवाहित होती है। कुछ देर बाद वह मृत शरीरों से दूर ले-जायी जा रही होती है। पत्नी के लिए पति की मृत्यु पर शोकान्धकार में डूब जाना स्वाभाविक है। उसे पति के शव के सामने से दूर—परे ले-जाना ही ठीक है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**सतःपङ्क्तिः**॥

घर को स्वर्ग बनाना

प्रजानत्य॑घ्न्ये जीवलोकं देवानां पन्थामनुसंचरन्ती।
अयं ते गोपतिस्तं जुषस्व स्वर्गं लोकमधि रोहयैनम्॥ ४॥

१. हे **अघ्न्ये**=अहन्तव्ये नारि! तू **जीवलोकं प्रजानती**=जीवति प्राणियों को जाननेवाली हो—उनका ध्यान करनेवाली हो। **देवानां पन्थाम् अनुसंचरन्ती**=देवों के मार्ग पर चलती हुई हो—दिव्य गुणोंवाली बनने का प्रयत्न कर। २. **अयम्**=यह **ते**=तेरा पति **गोपतिः**=इन्द्रियों का स्वामी है—जितेन्द्रिय है, **तं जुषस्व**=इस जितेन्द्रिय पति को प्रीतिपूर्वक सेवित करनेवाली हो।

एनम्=इसको **स्वर्गं लोकम् अधिरोहय**=स्वर्गलोक में आरूढ़ करनेवाली हो। इस जितेन्द्रिय पुरुष का यह घर स्वर्ग बने। स्वर्ग बनाने का उत्तरदायित्व पत्नी पर ही तो है।

भावार्थ—पत्नी गौ के समान अहन्तव्य है। यह सन्तानों का ध्यान करती है—दिव्यगुणों को धारण करती है। अपने जितेन्द्रिय पति का प्रीतिपूर्वक धारण—सेवन करती हुई यह घर को स्वर्ग बनाती है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः, अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिपदानिचृद्गायत्री**॥

उप द्याम्, उप वेतसम्

उप द्यामुप वेतसमवत्तरो नदीनाम्। अग्ने पित्तमपामसि॥ ५॥

१. गृहपति को यहाँ 'अग्नि' कहा गया है। उसने घर को आगे ले-चलना है—उन्नत करना है। इसका जीवन उत्तम होगा तो यह घर को भी उन्नत कर पाएगा, अतः इस अग्नि के लिए कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील गृहपते! तू **द्याम् उप असि**=ज्ञान के प्रकाश के समीप रहनेवाला है। स्वाध्याय के द्वारा सदा ज्ञान को बढ़ानेवाला है। **वेतसम् उप** (अजेर्वीभावः भज गतिक्षेपणयोः) गति के द्वारा वासनाओं को परे फेंकने की क्रिया के समीप है, अर्थात् सदा क्रियाशील रहता हुआ वासनाओं को अपने से दूर रखता है। २. तू **नदीनाम् अवत्तरः**=स्तोताओं में सर्वाधिक प्रीणन करनेवाला है (अव प्रीणने)। स्तुति द्वारा प्रभु को प्रीणित करनेवाला है। हे अग्ने! तू **अपाम्**=शरीरस्थ रेतःकणों का **पित्तम्**=तेज **असि**=है। रेतःकणों के रक्षण से तेरे शरीर में उचित उष्मता की सत्ता है। वस्तुतः इन रेतःकणों की शक्ति से ही तो तेरे जीवन में ज्ञान (द्याम्) कर्म (वेतसम्) तथा स्तुति (नदीनाम्) का सुन्दर समन्वय है।

भावार्थ—हम उत्तम गृहपति बनने के लिए स्वाध्याय द्वारा ज्ञान की वृद्धि करनेवाले, क्रियाशीलता द्वारा वासनाओं को दूर रखनेवाले तथा स्तुति द्वारा प्रभु का प्रीणन करनेवाले बनें। इन सब बातों के लिए शरीर में रेतःकणों के रक्षण से उचित उष्मता व तेजस्वितावाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः, अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सौम्य भोजन, न कि आग्नेय

यं त्वमग्ने समदहस्तमु निर्वापया पुनः।
क्याम्बूरत्र रोहतु शाण्डदूर्वा व्य ∫ ल्कशा॥ ६॥

१. गतमन्त्र के अन्तिम वाक्य में शरीर में रेतःकणों के रक्षण का उल्लेख है। वस्तुतः 'आग्नेय भोजन' सोमरक्षण के लिए अनुकूल नहीं है, अतः कहते हैं कि हे **अग्ने**=अग्नितत्त्व-प्रधान आग्नेय भोजन! **त्वम्**=तूने **यम्**=जिसको **सम् अदहः**=जला-सा दिया है, जिसमें उत्तेजना पैदा कर दी है—अब **तम्**=उसको **उ**=निश्चय से **पुनः निर्वापय**=फिर शान्त करनेवाला हो—उसकी उत्तेजना को बुझानेवाला हो। २. इस उत्तेजना की शान्ति के लिए **अत्र**=यहाँ—हमारे लिए **क्याम्बूः**=(कियत् प्रमाणमुदकं-अम्बु-अस्मिन्) अत्यधिक जल के परिमाणवाले ये व्रीहि (चावल) आदि पदार्थ **रोहतु**=उगें तथा **व्यल्कशा**=विविध शाखाओं से युक्त **शाण्डदूर्वा**=(शडि रोगे, ऊर्व हिंसायाम्) रोगों का हिंसन करनेवाली वनस्पति उगे। इन व्रीहि व अन्य वनस्पति भोजनों से हम उत्तेजना से बचकर सोम का रक्षण करनेवाले हों।

भावार्थ—हम आग्नेय भोजनों से बचें और सदा सौम्य भोजनों को करते हुए नीरोग व शान्त बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

तीन ज्योतियाँ

इदं त एकं पर ऊं त एकं तृतीयेन ज्योतिषा सं विशस्व।
संवेशने तन्वा३ चारुरेधि प्रियो देवानां परमे सधस्थे॥ ७॥

१. हे साधक—गतमन्त्र के अनुसार सौम्य भोजनों को ग्रहण करके सोम का रक्षण करनेवाले पुरुष! **इदं ते एकम्**=यह 'प्रकृतिविज्ञान' तेरी एक ज्योति है **उ**=और **एकम्**=एक **ते**=तेरी **परः**= इस प्रकृतिविज्ञान से उत्कृष्ट 'आत्मविज्ञान' की ज्योति है, परन्तु यहाँ भी न रुककर तू **तृतीयेन ज्योतिषा**=तृतीय 'परमात्मविज्ञान' रूप ज्योति के साथ **संविशस्व**=(संविश to enter, to enjoy, to engage oneself in) यहाँ शरीर में रह, आनन्द ले और अपने को व्यापृत रख। २. **संवेशने**=इन तीन ज्योतियों के साथ आनन्दमय जीवनवाला होकर **तन्वा**=इस शरीर से—अथवा शक्तियों के विस्तार के साथ **चारुः**=सुन्दर जीवनवाला व ज्ञान का चरण (भक्षण) करनेवाला तू **एधि**=हो। तू **देवानाम्**=देवों का **प्रियः**=प्रिय बन। दिव्य गुण ही तुझे रुचिकर हों। **परमे सधस्थे**=सर्वोत्कृष्ट हृदयदेश में, जहाँ आत्मा व परमात्मा की सहस्थिति है, (सध-स्थ) उस हृदय में, तू निवास करनेवाला हो। अन्तर्दृष्टिवाला बन।

भावार्थ—हम 'प्रकृति, जीव व परमात्मा' का ज्ञान प्राप्त करें। अपनी शक्तियों का विस्तार करते हुए सुन्दर जीवनवाले बनें। दिव्यगुण हमें प्रिय हों। अन्तर्दृष्टि बनें—हृदय में प्रभु के समीप बैठनेवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सं सोमेन, सं स्वधाभिः

उत्तिष्ठ प्रेहि प्र द्रवौकः कृणुष्व सलिले सधस्थे।
तत्र त्वं पितृभिः संविदानः सं सोमेन मदस्व सं स्वधाभिः॥ ८॥

१. हे साधक! **उत्तिष्ठ**=तू उठ—सोता ही न रह। **प्रेहि**=प्रकृष्ट मार्ग पर गतिवाला बन। **प्रद्रव**=कर्त्तव्यपथ पर आगे बढ़ तथा **सलिले सधस्थे**=(सलिलम्—अन्तरिक्ष सा०) आत्मा व परमात्मा के सहस्थानभूत हृदयान्तरिक्ष में **ओकः कृणुष्व**=तू अपना घर बना। लौकिक कार्यों से निपटते ही तू इस घर में आनेवाला बन। संभजन में ही तू रिक्त समय का यापन कर। मार्ग में इधर-उधर न भटक। २. **तत्र**=वहाँ उस उत्कृष्ट जीवनस्थिति में **त्वम्**=तू **पितृभिः**=ज्ञान देनेवाले आचार्यों के साथ **संविदानः**=(विद् लाभे) संगत होता हुआ, **सोमेन**=शरीर में सोमशक्ति से **सं मदस्व**=संगत होकर आनन्दित हो—शरीर में सोम का रक्षण करनेवाला बन तथा **स्वधाभिः सम्**=आत्मधारणशक्तियों के साथ संगत हो। इसप्रकार तेरा जीवन आनन्दमय बने।

भावार्थ—आलस्य को छोड़कर हम गतिशील हों—कर्त्तव्यकर्मों को करनेवाले बनें। रिक्त समय को हृदय में प्रभु के साथ ही बिताएँ, अर्थात् हृदय में प्रभु का ध्यान करें। ज्ञानियों के सम्पर्क में ज्ञानवृद्धि करते हुए सोम का शरीर में रक्षण करें और आत्मधारणशक्तियों के साथ आनन्दमय जीवनवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

स्वस्थ शरीर, रुच्यनुकूल कार्य, प्रिय निवासस्थान

प्र च्यवस्व तन्वं१ सं भरस्व मा ते गात्रा वि हायि मो शरीरम्।
मनो निविष्टमनुसंविशस्व यत्र भूमेर्जुषसे तत्र गच्छ॥ ९॥

१. **प्रच्यवस्व**=(प्रच्यु drive, urge on) तू अपने को आगे प्रेरित कर। सबसे प्रथम **तन्वं संभरस्व**=शरीर का सम्भरण करनेवाला बन। शरीर में उत्पन्न हो गई सब न्यूनताओं को दूर कर। **ते गात्रा मा विहायि**=तेरे अंग तुझे न छोड़ जाएँ—उनमें किसी प्रकार की कमी न आ जाए **मा उ शरीरम्**=और न ही तेरा शरीर छूट जाए—तू स्वस्थ बना रहे। २. अब स्वस्थ बनकर जहाँ तेरा **मनः निविष्टम्**=मन लगे **अनु संविशस्व**=उसके अनुसार कार्यक्षेत्र में प्रवेश कर। आजीविका के लिए 'ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्यों' के योग्य जिस भी कार्य में तेरा मन लगे उस कार्य को तू करनेवाला बन। **यत्र भूमेः जुषसे**=जिस भूप्रदेश को तू प्रेम करता है **तत्र गच्छ**=वहाँ जा। जिस भूभाग में तुझे रहना अच्छा लगे, वहाँ तू अपना निवासस्थान बना।

भावार्थ—संसार में आलस्य को छोड़कर हम आगे बढ़ें। शरीर के सब अंगों को स्वस्थ रक्खें। आजीविका के लिए रुचि के अनुसार कार्य का चुनाव करें। जो भूप्रदेश प्रिय हो, वहाँ अपना निवासस्थान बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वर्चसा, मधुना घृतेन

वर्चसा मां पितरः सोम्यासो अञ्जन्तु देवा मधुना घृतेन।
चक्षुषे मा प्रतरं तारयन्तो जरसे मा जरदष्टिं वर्धन्तु॥ १०॥

१. **माम्**=मुझे **सोम्यासः**=सौम्य स्वभाववाले अथवा सोम (वीर्य) का रक्षण करनेवाले **पितरः**=माता-पिता व आचार्य **वर्चसा**=तेजस्विता से **अञ्जन्तु**=अलंकृत करें। **देवाः**=सब देव मुझे **मधुना**=वाणी के माधुर्य से तथा **घृतेन**=ज्ञान की दीप्ति से अलंकृत करें। २. **चक्षुषे**=दीर्घकाल तक सूर्य के दर्शन के लिए **मा**=मुझे **प्रतरम्**=खूब ही **तारयन्तः**=रोग आदि से व्यावृत्त करते हुए **जरसे**=पूर्ण जरावस्था, अर्थात् आयुष्य के लिए **मा**=मुझे **जरदष्टिं वर्धन्तु** (जरती जीर्णा अष्टिः अशनं यस्य—सा०) पचे हुए भोजनवाला करके बढ़ाए, अर्थात् अन्त तक मेरी पाचनशक्ति ठीक बनी रहे और मैं स्वस्थ व दीर्घजीवी बन सकूँ।

भावार्थ—मुझे माता-पिता-आचार्य 'वर्चस्वी' बनाएँ। देव मुझे मधुर व ज्ञानदीप्त करें। सब प्राकृतिक शक्तियाँ—सूर्य, चन्द्र आदि देव मुझे स्वस्थ व दीर्घजीवी करें। इनकी अनुकूलता से मेरी पाचनशक्ति ठीक बनी रहे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**सतःपङ्क्तिः** ॥

वर्चः मेधा, रयि

वर्चसा मां समनक्त्वग्निर्मेधां मे विष्णुर्न्य नक्त्वासन्।
रयिं मे विश्वे नि यच्छन्तु देवाः स्योना मापः पवनैः पुनन्तु॥ ११॥

१. **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **माम्**=मुझे **वर्चसा**=वर्चस्—तेजस्विता से **समनक्तु**=संयोजित करे। अग्रगति की भावना मुझे तेजस्वी बनाए। **विष्णुः**=वह सर्वव्यापक प्रभु **मे आसन्**=मेरे मुख में **मेधां नि अनक्तु**=बुद्धिपूर्वक बोली गई उत्तम वाणी को निश्चय से संयोजित करे। व्यापक व उदार हृदयवाला बनता हुआ मैं सबके प्रति मधुर वाणी बोलनेवाला बनूँ। मेरे मुख से उच्चरित शब्दों में मूर्खता का आभास न हो। २. **विश्वेदेवाः**=सब देव **मे**=मेरे लिए **रयिम्**=ऐश्वर्य को **नियच्छन्तु**=निश्चय से देनेवाले हों। सब देवों की—प्राकृतिक शक्तियों की अनुकूलता मेरे अन्नमयादि सब कोशों को उस-उस ऐश्वर्य से परिपूर्ण करे। **स्योनाः**=सुख देनेवाले **आपः**=शरीरस्थ रेतःकण **पवनैः**=अपनी शोधनशक्तियों के द्वारा **मा पुनन्तु**=मुझे पवित्र करनेवाले हों।

शरीर में शक्तिकणों के रक्षण से रोगादि का सम्भव नहीं रहता, मन भी राग-द्वेष का शिकार नहीं होता। ये रेत:कण शरीर को नीरोग व मन को निर्मल बनाते हैं।

भावार्थ—अग्रगति की भावना मुझे वर्चस्वी बनाये, व्यापकता (उदारता) मुझे बुद्धिपूर्वक मधुर शब्द बोलनेवाला करे। सूर्य आदि सब देव मेरे अन्नमयादि कोशों को उस-उस ऐश्वर्य से सम्पन्न करें। शरीर में सुरक्षित रेत:कण मुझे नीरोग व निर्मल बनाएँ।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**यम:, मन्त्रोक्ता:**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥

मित्रावरुणा, आदित्या:, इन्द्र:, सविता

मित्रावरुणा परि मामधातामादित्या मा स्वरवो वर्धयन्तु।
वर्चो म इन्द्रो न्यनक्तु हस्तयोर्जरदष्टिं मा सविता कृणोतु॥ १२॥

१. **मित्रावरुणा**=मित्र और वरुण—स्नेह व निर्द्वेषता की देवताएँ **माम्**=मुझे **परि अधाताम्**=सब प्रकार से धारण करें। स्नेह व निर्द्वेषता के धारण से शरीर स्वस्थ बनता है, मन पवित्र रहता है और बुद्धि तीव्र होती है। **स्वरव:** (स्वृ शब्दे)=ज्ञान का उपदेश करनेवाले **आदित्या:**=सूर्य के समान ज्ञानदीप्त आचार्य **मा**=मुझे **वर्धयन्तु**=बढ़ाएँ। ज्ञानोपदेश द्वारा वे मेरी वृद्धि का कारण बनें। २. **इन्द्र:**=सर्वशक्तिमान् प्रभु **मे हस्तयो:**=मेरे हाथों में **वर्च: न्यनक्तु**=वर्चस् को—तेजस्विता को निश्चय से जोड़े। **सविता**=वह सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक प्रभु **मा**=मुझे **जरदष्टिम्** (जरती जीर्णा अष्टि: अशनं यस्य)=जीर्ण—पचे हुए भोजनवाला **कृणोतु**=करे। भोजन के ठीक पाचन से मुझे नीरोगता व दीर्घजीवन प्राप्त हो।

भावार्थ—मैं स्नेह व निर्द्वेषतावाला बनकर अपना सब प्रकार से धारण करूँ। ज्ञानी आचार्यों के उपदेश से वृद्धि को प्राप्त होऊँ। सर्वशक्तिमान् प्रभु मुझे शक्ति दें। प्रेरक प्रभु मुझे उचित प्रेरणा दें और मैं युक्ताहारविहारवाला बनकर दीर्घजीवी बनूँ।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**यम:, मन्त्रोक्ता:**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥

'संगमनं जनानां' (सपर्यत)

यो ममार प्रथमो मर्त्यानां य: प्रेयाय प्रथमो लोकमेतम्।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत॥ १३॥

१. **य:**=जो **मर्त्यानाम्**=मरणधर्मा पुरुषों में **प्रथम: ममार**=सर्वप्रथम मृत्यु को प्राप्त हुआ, **य:**=जो **एतं लोकम्**=इस लोक में **प्रथम: प्रेयाय**=सर्वप्रथम प्राप्त हुआ, उन सब **जनानाम्**=जानेवाले व आनेवाले मनुष्यों के **संगमनम्**=गतिरूप—सबके आश्रयस्थान **वैवस्वतम्**=ज्ञान की किरणों के पुञ्ज **यमम्**=सर्वनियन्ता **राजानम्**=सबके शासक—दीप्त प्रभु को **हविषा**=दानपूर्वक अदन से—यज्ञशिष्ट के सेवन से **सपर्यत**=पूजो।

भावार्थ—प्रभु सबके आश्रयस्थान हैं। ज्ञान की किरणों के पुञ्ज हैं। सर्वनियन्ता व शासक हैं। यज्ञशेष का सेवन करते हुए हम प्रभु का पूजन करनेवाले बनें।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**यम:, मन्त्रोक्ता:**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥

पितरों का आना

परा यात पितर आ च यातायं वो यज्ञो मधुना समक्त:।
दत्तो अस्मभ्यं द्रविणेह भद्रं रयिं च न: सर्ववीरं दधात॥ १४॥

१. गृहस्थ को सम्यक् पूर्ण करके, वानप्रस्थ में प्रवेश करनेवाले लोग 'पितर' कहलाते हैं।

उनसे प्रार्थना करते हैं कि **परायात**=दूर-दूर देशों में जानेवाले बनो, **च**=और हे **पितरः**=ज्ञानादि द्वारा रक्षण करनेवाले पितरो! **आयात**=समय-समय पर हमारे घरों पर भी आओ। **अयम्**=यह **वः**=आपका **यज्ञः**=संग (यज् संगतिकरणे) **मधुना समक्तः**=माधुर्य से सम्यक् अलंकृत है। आप ज्ञान देकर हमारे जीवनों को मधुर बनाते हो। २. **इह**=यहाँ **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **द्रविणा दत्त उ**=ज्ञानधनों को अवश्य दीजिए **च**=तथा **नः**=हमारे लिए **भद्रम्**=कल्याणकर **सर्ववीरं**=(सर्व: पूर्ण स्वस्थ) स्वस्थ सन्तानों के साथ **रयिम्**=ऐश्वर्य को **दधात**=धारण कीजिए।

भावार्थ—वनस्थ पितरों का समय-समय पर घरों में आना घरों के जीवन को मधुर बनाने में सहायक होता है। ये पितर हमारे लिए ज्ञानधन देकर हमारे घरों को वीरसन्तानों व कल्याणकर धनों से युक्त करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

द्वादश पितरः

कण्वः कक्षीवान्पुरुमीढो अगस्त्यः श्यावाश्वः सोभर्यर्चनानाः।
विश्वमित्रोऽयं जमदग्निरत्रिरवन्तु नः कश्यपो वामदेवः॥ १५॥

१. 'कण्व' आदि द्वादश पितर **नः**=हमें **अवन्तु**=ज्ञान द्वारा व अपने जीवन द्वारा प्रेरणा देते हुए प्रीणित करें। **कण्वः**=कण-कण करके ज्ञान का संचय करनेवाला अथवा ज्ञानोपदेश करनेवाला। **कक्षीवान्**=(कक्ष्या अश्वरज्जुः) प्रशस्त कक्ष्यावाला—इन्द्रियों को जिसने कसा हुआ है। **पुरुमीढः**=अपने में ख़ूब ही शक्ति का सेचन करनेवाला, **अगस्त्यः**=(अगस्त्य पापपर्वत का संघात (सम्यक् विनाश) करनेवाला, **श्यावाश्वः**=गतिशील इन्द्रियोंवाला—सदा कर्त्तव्यकर्मों में तत्पर **सोभरि**=उत्तमता से वरण करनेवाला, **अर्चनानाः**=पूजा की वृत्तिवाला, अथवा (अर्चनीयं अनः शरीरशकटं यस्य) उत्तम आदरणीय शरीर शकटवाला, **विश्वामित्रः**=सबके प्रति स्नेह की भावनावाला, **अयं जमदग्निः**=यह (जमतः ज्वलन्तः अग्नयो यस्य) सदा प्रज्वलित यज्ञाग्निवाला, **कश्यपः** (पश्यकः)=ज्ञानी और **वामदेवः**=सुन्दर दिव्य गुणोंवाला।

भावार्थ—'कण्व' आदि पितरों के सम्पर्क में हम भी उनके जीवन से प्रेरणा लेते हुए वैसे ही बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पितरों से प्रेरणा व उपदेश की प्राप्ति

विश्वामित्र जमदग्ने वसिष्ठ भरद्वाज गोतम वामदेव।
शर्दिर्नो अत्रिरग्रभीन्नमोभिः सुसंशासः पितरो मृडता नः॥ १६॥

१. हे **विश्वामित्र**=सबके प्रति स्नेहवाले, **जमदग्ने**=प्रज्वलित यज्ञाग्निवाले, **वसिष्ठ**=उत्तम वसुओंवाले, **भरद्वाज**=अपने में शक्ति भरनेवाले, **गोतम**=प्रशस्त इन्द्रियों व ज्ञान की वाणियोंवाले, **वामदेव**=सुन्दर दिव्यगुणोंवाले पितरो! आप **नः**=हमें **अग्रभीत्**=ग्रहण करो। हम आपके प्रिय हों—आपके चरणों में उपस्थित हों। आप हमारे गृहों पर आने का अनुग्रह करें। २. **शर्दिः**=(छर्दिः, घृ दीप्तौ) ज्ञानदीप्त व (छर्दिः=गृहम्) सबको शरण देनेवाला, **अत्रिः**=काम, क्रोध, लोभ से शून्य (अ-त्रि) **नः**=हमें **नमोभिः**=नम्रता की भावनाओं के द्वारा ग्रहण करें। हम नम्र होकर इनके समीप पहुँचें, प्रथम इनकी नम्रता से प्रभावित होकर नम्र बनने का संकल्प करें। **सुसंशासः**=उत्तम रीति से सम्यक् शासन (अनुशासन=उपदेश) करनेवाले **पितरः**=पितरो! आप **नः मृडत**=हमें सुखी करें। आपका उपदेश हमें उत्तम प्रेरणा देनेवाला हो।

भावार्थ—विश्वामित्र आदि पितरों के समीप हम प्राप्त हो सकें, उनकी नम्रता हमें भी नम्र बनाये। इनके उत्तम उपदेश हमारे जीवनों को सुखी बनानेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

कस्ये मृजाना!

कस्ये मृजाना अति यन्ति रिप्रमायुर्दधानाः प्रतरं नवीयः।
आप्यायमानाः प्रजया धनेनाध स्याम सुरभयो गृहेषु॥ १७॥

१. **कस्ये** (कस् गतिशासनयोः)=गति व शासन में उत्तम प्रभु में—सब गतियों के स्रोत व सबके शासक प्रभु में **मृजानाः**=अपने जीवन को शुद्ध करते हुए साधक लोग **रिप्रम्**=दोषों को **अतियन्ति**=लाँघ जाते हैं। प्रभु का उपासन जीवन को निर्दोष बनाता है। इसप्रकार निर्दोष बनकर **प्रतरम्**=दीर्घ **नवीयः**=स्तुत्य **आयुः दधानाः**=जीवन को धारण करते हैं। २. इस उत्तम गृह में **प्रजया धनेन**=उत्तम सन्तानों व धनों से **आप्यायमानाः**=आप्यायित होते हुए **अध**=अब **गृहेषु**=घरों में **सुरभयः स्याम**=सुगन्धित, अर्थात् प्रशस्त जीवनोंवाले हों अथवा ऐश्वर्यसम्पन्न व दीप्त जीवनवाले हों।

भावार्थ—घरों में प्रभु की उपासना करते हुए हम शुद्ध, निर्दोष, दीर्घ व स्तुत्य जीवनवाले बनें। हमारे सन्तान उत्तम हों—धन-धान्य की कमी न हो। हमारे घर ऐश्वर्यसम्पन्न व दीप्त हों—अर्थात् वहाँ धन के साथ ज्ञान भी हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**भुरिग्जगती**॥

अञ्जते व्यञ्जते समञ्जते

अञ्जते व्य॒ञ्जते सम॑ञ्जते क्रतुं रिहन्ति मधुनाभ्य॒ञ्जते।
सिन्धोरुच्छ्वासे पतयन्तमुक्षणं हिरण्यपावाः पशुमासु गृह्णते॥ १८॥

१. गतमन्त्र के साधक लोग **अञ्जते**=अपने जीवन को स्वास्थ्य व नीरोगता से अलंकृत करते हैं। **व्यञ्जते**=अपने मनों को विशेषरूप से निर्द्वेषता व प्रेमादि सद्गुणों से सुशोभित करते हैं। **समञ्जते**=अब ये अपने मस्तिष्क को ज्ञान-विज्ञान की दीप्ति से कान्त व सुन्दर बनाते हैं। ऐसे बनकर ये **क्रतुं रिहन्ति**=यज्ञात्मक कर्मों में स्वाद लेते हैं। **मधुना अभ्यञ्जते**=इसप्रकार जीवन को माधुर्य से सजाते हैं, अर्थात् स्वस्थ, निर्मल, दीप्त, यज्ञमय व मधुर जीवनवाले होते हैं। २. **सिन्धोः उच्छ्वासे**=ज्ञानसमुद्र के उच्छ्वसित (अभिवृद्ध) होने पर **पतयन्तम्**=(पत् गतौ) प्राप्त होनेवाले **उक्षणम्**=शक्ति के सेचक **पशुम्**=सर्वद्रष्टा प्रभु को, **हिरण्यपावाः आसु गृह्णते**=(हिरण्यं वै वीर्यम्, हिरण्यं वै ज्योतिः) वीर्य का रक्षण करनेवाले व ज्ञानज्योति को अपने में सुरक्षित करनेवाले लोग यज्ञादि उत्तम क्रियाओं के होने पर, ग्रहण करते हैं। प्रभुदर्शन के लिए वीर्यरक्षण व ज्ञानवृद्धि आवश्यक है।

भावार्थ—हम अपने जीवन को स्वस्थ, निर्मल, दीप्त, यज्ञमय व मधुर बनाएँ। प्रभु तभी प्राप्त होते हैं जब हमारे अन्दर ज्ञानसमुद्र उच्छ्वसित हो उठता है। वीर्य व ज्योति का रक्षण करनेवाले लोग ही प्रभु को यज्ञादि उत्तम क्रियाओं के होने पर ग्रहण करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'अर्वाणः, कवयः, सुविदत्राः' पितरः

यद्वो मुद्रं पितरः सोम्यं च तेनो सचध्वं स्वयशसो हि भूत।
ते अर्वाणः कवय आ शृणोत सुविदत्रा विदथे हूयमानाः॥ १९॥

१. हे **पितरः**=रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त पितरो! **यत्**=जो **वः**=आपका **मुद्रम्**=आनन्दजनक **सोम्यं च**=और सोम के रक्षण की अनुकूलतावाला अतएव सौम्य स्वभाव का साधनभूत ज्ञान है **तेनो** (तेन उ)=उस ज्ञान के साथ ही **सचध्वम्**=आप हमें प्राप्त होओ। आप **हि**=निश्चय से **स्वयशसः भूत**=अपने ज्ञान व कर्मों के कारण यशस्वी हो। आपके सम्पर्क में हमें भी उत्तम ज्ञान व कर्मों की प्रेरणा प्राप्त होगी। २. **ते**=वे आप **अर्वाणः**=(अर्व to kill) वासनाओं का संहार करनेवाले, **कवयः**=क्रान्तदर्शी व ज्ञानी हो। **आशृणोत**=आप हमारी पुकार को अवश्य सुनिए। **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **हूयमानः**=पुकारे जाते हुए आप हमारे लिए **सुविदत्राः**=उत्तम ज्ञानधनों के द्वारा त्राण करनेवाले होते हो।

भावार्थ—पितरों से प्राप्त होनेवाला ज्ञान हमें 'आनन्द व सौम्यता' प्राप्त करनेवाला होता है। ये पितर वासनाओं का संहार करनेवाले, क्रान्तदर्शी व उत्तम ज्ञान व धन से हमारा रक्षण करनेवाले हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यज्ञों में पितरों का आह्वान

ये अत्रयो अङ्गिरसो नवग्वा इष्टावन्तो रातिषाचो दधानाः।
दक्षिणावन्तः सुकृतो य उ स्थासद्यास्मिन्बर्हिषि मादयध्वम्॥ २०॥

१. हे पितरो! **ये**=जो आप **अत्रयः**=काम, क्रोध व लोभ से रहित हों, **अङ्गिरसः**=अंग-प्रत्यंग में रसवाले व अंगारों के समान दीप्त तेजवाले हो, **नवग्वाः**=स्तुत्य गतिवाले, **इष्टावन्तः**=यज्ञशील, **रातिषाचः**=दान की क्रिया से समवेत (युक्त) हो और **दधानाः**=धारणात्मक क्रियाओंवाले हो। २. **दक्षिणावन्तः**=प्रशस्त दक्षिणवाले, **सुकृतः**=पुण्यकर्मा **ये**=जो आप **उ**=निश्चय से **स्थ**=हो, वे आप **अस्मिन् बर्हिषि**=इस हमारे द्वारा आयोजित यज्ञ में **आसद्य**=आकर **मादयध्वम्**=आनन्द अनुभव करो अथवा इस यज्ञ में उपस्थित होकर हमारे हर्ष का कारण बनो।

भावार्थ—यज्ञों में 'अत्रि, अंगिरस्, नवग्व, इष्टावान्, रातिषाच, दधान, दक्षिणावान् व सुकृत्' पितरों की उपस्थिति हमारे उत्साह को बढ़ानेवाली होती है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यज्ञों द्वारा 'पवित्र व दीप्त लोक' की प्राप्ति

अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमाशशानाः।
शुचीदयन्दीध्यत उक्थशासः क्षामा भिन्दन्तो अरुणीरप व्रन्॥ २१॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **अधा**=अब **यथा**=जैसे **नः**=हमारे **परासः**=उत्कृष्ट जीवनवाले **प्रत्नासः**=पुराणे **पितरः**=पितर **ऋतम् आशशानाः**=यज्ञ व सत्य को प्राप्त करते हुए **इत्**=निश्चय से **शुचि अयन्**=दीप्तलोक को प्राप्त करनेवाले हुए, उसीप्रकार अब भी हमारे **दीध्यतः**=ज्ञान की दीप्तिवाले, **उक्थशासः**=प्रभु के स्तोत्रों का शंसन करनेवाले पितर **क्षाम भिन्दन्तः**=(क्षमा रात्रिः तत्सम्बन्धि तमः पापम्) अविद्यान्धकारवाली रात्रि के सम्बन्धी अज्ञानान्धकार को विदीर्ण करते हुए **अरुणीः**=ज्ञान की तेजस्वी किरणों को **अपव्रन्**=विवृत करनेवाले होते हैं। ये हमारे लिए अन्धकार को दूर करके प्रकाश को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—पितर यज्ञों को करते हुए पवित्र, दीप्तलोक को प्राप्त करते हैं। वे ज्ञानी व प्रभु के स्तोता पितर हमारे लिए अज्ञानान्धकार को दूर करके ज्ञान-प्रकाश प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शुचन्तः, अग्निम्, वावृधन्तः इन्द्रम्

सुकर्माणः सुरुचो देवयन्तो अयो न देवा जनिमा धमन्तः ।
शुचन्तो अग्निं वावृधन्त इन्द्रमुर्वी गव्यां परिषदं नो अक्रन् ॥ २२ ॥

१. **सुकर्माणः**=उत्तम यज्ञरूप कर्मों को करनेवाले, **सुरुचः**=उत्तम ज्ञानदीप्तिवाले, **देवयन्तः**=प्रभु की प्राप्ति की कामनावाले, **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **अयः न**=जैसे एक अयस्कार (लोहार) अग्नि में तपाकर धातु को शुद्ध कर लेता है, इसीप्रकार तपस्या की अग्नि में **जनिमा धमन्तः**=अपने जन्मों को शुद्ध कर लेते हैं। २. ये पितर **अग्निं शुचन्तः**=यज्ञाग्नियों को समिधाओं से दीप्त करते हुए, **इन्द्रं वावृधन्तः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को स्तुतियों के द्वारा बढ़ाते हुए—अपने अन्दर प्रभु के अधिकाधिक प्रकाश को देखते हुए, **नः**=हमारे लिए **उर्वी गव्याम्**=विशाल ज्ञानवाणी समूह को **परिषदं अक्रन्**=(परितः सीदन्तीम्) चारों ओर आसीन करते हैं। हम चारों ओर ज्ञान की वाणियों से ही घिरे होते हैं—ये ज्ञानवाणियाँ हमारा कवच बनती हैं।

भावार्थ—पितर 'सुकर्मा, सुरुच् व देवयन्' हैं। ये अपने जीवन को तप की अग्नि में परिशुद्ध करते हैं। यज्ञशील व प्रभु के स्तोता होते हुए, हमें ज्ञानवाणियों का कवच प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**सतःपङ्क्तिः** ॥

उपासना से लाभ

आ यूथेव क्षुमति पश्वो अख्यद्देवानां जनिमान्त्युग्रः ।
मर्तासश्चिदुर्वशीरकृप्रन्वृधे चिदर्य उपरस्यायोः ॥ २३ ॥

१. **इव**=जैसे **क्षुमति**=अन्नवाले स्थान में (चरागाह में) एक व्यक्ति **पश्वः यूथा**=पशुओं के झुण्ड को **आ अख्यत्**=समन्तात् देखता है, इसीप्रकार एक उपासक **अन्ति**=उस प्रभु के समीप **देवानां जनिम**=देवों के विकास (प्रादुर्भाव) को देखता है, अर्थात् जैसे एक चरागार में पशु संघ उपस्थित होता है, इसीप्रकार प्रभु की उपासना में दिव्यगुण उपस्थित होते हैं। इनकी उपस्थिति से यह उपासक **उग्रः**=बड़ा तेजस्वी व दीप्त बनता है। २. इस उपासना के द्वारा **मर्तासः चित्**=ये मरणधर्मा पुरुष—आजतक विषयों के पीछे मरनेवाले ये पुरुष **उर्वशीः अकृप्रन्**=(उरु वश्ये अस्याः) अपने को महान् वशीकरणवाला व समर्थ बनाते हैं। सामान्य मनुष्य, उपासना के द्वारा अपने पर शासन करनेवाला व शक्तिशाली बन जाता है। **अर्यः**=(स्वामी) यह जितेन्द्रिय पुरुष **उपरस्य**=(उप्रस्य) बीजवपन द्वारा उत्पन्न हुई-हुई अपनी **आयोः**=सन्तान की **वृधे चित्**=निश्चय से वृद्धि के लिए होता है।

भावार्थ—उपासना से (१) दिव्यगुणों का वर्धन होता है (२) मनुष्य जितेन्द्रिय बनता है (३) सन्तानों को उत्तम बना पाता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

स्वपसः अभूम

अकर्म ते स्वपसो अभूम ऋतमवस्रन्नुषसो विभातीः ।
विश्वं तद्भद्रं यदवन्ति देवा बृहद्वदेम विदथे सुवीराः ॥ २४ ॥

१. गतमन्त्र का उपासक प्रभु से कहता है कि **ते अकर्म**=आपकी प्राप्ति के लिए जप-तप आदि कर्मों को हमने किया है (मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि) और **स्वपसः**=उत्तम

यज्ञादि कर्मोंवाले हम **अभूम**=हुए हैं। **विभातीः उषसः**=ये प्रकाशमान् उषाएँ **ऋतम् अवस्त्रन्**=सत्य वेदज्ञान को आच्छादित करनेवाली हुई हैं, अर्थात् इन उषाओं में हम स्वाध्याय करनेवाले बने हैं। २. **विश्वं तद् भद्रम्**=वह सब कल्याणकर ही होता है **यद् देवाः अवन्ति**=जिसे माता-पिता-आचार्य आदि देव हममें (Animate, promote, favour) उत्पन्न करते हैं। हम **विदथे**=ज्ञानयज्ञों में **सुवीराः**=बड़े वीर बनते हुए **बृहद् वदेम**=खूब ही ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करनेवाले बनें।

भावार्थ—हम प्रातः जप करें, यज्ञ करें, स्वाध्याय को अपनाएँ। देवों से प्रेरित कर्मों को करें। परस्पर मिलने पर ज्ञानचर्चाओं को करें और वीर बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'इन्द्र-धाता-अदिति-सोम'

इन्द्रो मा मरुत्वान्प्राच्या दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ॥ २५॥
धाता मा निर्ऋत्या दक्षिणाया दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ॥ २६॥
अदितिर्मादित्यैः प्रतीच्या दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ॥ २७॥
सोमो मा विश्वैर्देवैरुदीच्या दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ॥ २८॥

१. **मरुत्वान्**=प्राणोंवाला **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावक प्रभु **मा**=मुझे **प्राच्याः दिशः**=पूर्व दिशा से आनेवाली किन्हीं भी आपत्तियों से **पातु**=बचाए। प्राणसाधना करते हुए (मरुत्वान्) हम जितेन्द्रिय बनकर (इन्द्रः) आगे बढ़ते चलें (प्राची), जिससे मार्ग में आनेवाले विघ्नों को हम जीत सकें। २. **बाहुच्युता**=बाहुओं से विनिर्गत—दान में दे दी गई **पृथिवी**=भूमि **इव**=जैसे **उपरि**=ऊपर **द्याम्**=द्युलोक का रक्षण करती है, पृथिवी के दान से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। यह दान हमारे लिए स्वर्ग का रक्षण करता है, इसीप्रकार प्राणसाधना व जितेन्द्रियता हमारे लिए प्राची दिशा का (अग्रगति का) रक्षण करती है। ३. इस प्राणसाधना व जितेन्द्रियता के उद्देश्य से ही हम **लोककृतः**=प्रकाश करनेवाले, **पृथिकृतः**=हमारे लिए मार्ग दर्शानेवाले पितरों को **यजामहे**=अपने साथ संगत करते हैं—इन्हें आदर देते हैं। उन पितरों को **ये**=जो **इह**=यहाँ **देवानाम्**=देवों के **हुतभागा**=हुत का सेवन करनेवाले **स्थ**=हैं, अर्थात् जो यज्ञ करके सदा यज्ञशेष का सेवन करते हैं। ४. **धाता**=सबका धारण करनेवाला प्रभु **मा**=मुझे **दक्षिणायाः दिशः**=दक्षिण दिशा से आनेवाली **निर्ऋत्याः**=दुर्गति से **पातु**=रक्षित करें। धारणात्मक कर्मों में प्रवृत्त होकर हम दाक्षिण्य (कुशलता) को प्राप्त करें और दुर्गति से अपना रक्षण कर पाएँ। ५. **अदितिः**=(अ-दिति) स्वास्थ्य की देवता **आदित्यैः**=सब दिव्यगुणों के आदान के साथ **मा**=मुझे **प्रतीच्या दिशः**=इस पश्चिम दिशा से **पातु**=रक्षित करें। यह प्रतीची दिशा 'प्रति अञ्च्'=प्रत्याहार की दिशा है। हम प्रत्याहार के द्वारा ही स्वस्थ बनते हैं और दिव्यगुणों का आदान कर पाते हैं। ६. **सोमः**=सोम (शान्त) प्रभु **मा**=मुझे **विश्वैर्देवैः**=सब देवों के साथ **उदीच्याः दिशः पातु**=उत्तर दिशा से रक्षित करें। यह उदीची दिशा उन्नति की दिशा है। इसके रक्षण के लिए सोम या विनीत बनना आवश्यक है। विनीतता के साथ ही सब दिव्यगुणों का वास है।

भावार्थ—हम प्राणसाधना द्वारा जितेन्द्रिय बनते हुए आगे बढ़ें। धारणात्मक कर्मों में लगे हुए हम दाक्षिण्य को प्राप्त करें। स्वाध्याय व दिव्यगुणों के आदान के लिए हम प्रत्याहार का पाठ पढ़ें—इन्द्रियों को विषयव्यावृत करें। हम विनीत बनकर दिव्यगुणों को धारण करते हुए उन्नति की दिशा में आगे बढ़ें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**विराड्जगती**॥

ऊर्ध्वं धारयातै

धर्ता ह त्वा धरुणो धारयाता ऊर्ध्वं भानुं सविता द्यामिवोपरि।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ॥ २९॥

१. वह **धर्ता**=धारण करनेवाला **ह**=निश्चय से **धरुणः**=सूक्ष्माति सूक्ष्म सत्य तत्त्वों का भी आधारभूत प्रभु **त्वा**=तुझे **ऊर्ध्वं धारयातै**=ऊपर धारण करे—उत्कृष्ट स्थिति में प्राप्त कराए। इसप्रकार ऊपर धारण करे **इव**=जैसेकि **सविता**=सर्वप्रेरक प्रभु **भानुम्**=दीप्त **द्याम्**=द्युलोक को **उपरि**=ऊपर धारण करता है। वस्तुतः प्रभु हमारे भी मस्तिष्करूप द्युलोक को ज्ञानदीप्ति से दीप्त करके हमें ऊपर धारण करनेवाले हों। २. इसी उद्देश्य से हम **इह**=यहाँ उन पितरों का **यजामहे**=आदर करते हैं—संगतिकरण करते हैं उनके प्रति अपना अर्पण करते हैं, **ये**=जोकि **लोककृतः**=प्रकाश करनेवाले हैं, ज्ञान देकर **पथिकृतः**=मार्ग बनानेवाले हैं तथा **देवानां हुतभागाः स्थ**=देवों के हुत का सेवन करनेवाले, अर्थात् यज्ञशील हैं। इन पितरों के सम्पर्क में हमारे मस्तिष्क अवश्य ज्ञानदीप्त बनेंगे।

भावार्थ—प्रभु धर्ता हैं—धरुण हैं। वे दीप्त द्युलोक को जैसे ऊपर धारण करते हैं, उसी प्रकार हमारे मस्तिष्क को भी ज्ञानदीप्त करके हमें उन्नत करते हैं। हम इस ज्ञानप्रकाश द्वारा मार्गदर्शक, यज्ञशील पितरों के चरणों में नम्रता से उपस्थित होकर ज्ञान प्राप्त करने के लिए यत्नशील होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**३० पञ्चपदातिजगती; ३१ विराट्शक्वरी; ३२-३५ भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व

प्राच्यां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ॥ ३०॥
दक्षिणायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ॥ ३१॥
प्रतीच्यां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ॥ ३२॥
उदीच्यां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ॥ ३३॥
ध्रुवायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ॥ ३४॥
ऊर्ध्वायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ॥ ३५॥

१. हे प्रभो! **पुरा संवृतः**=इस शरीर से आच्छादित हुआ-हुआ मैं **त्वा**=आपको **प्राच्यां दिशि**=आगे बढ़ने की दिशा के निमित्त तथा **स्वधायाम्**=आत्मतत्त्व के धारण के निमित्त **आदधामि**=इसप्रकार धारण करता हूँ, **इव**=जैसे **बाहुच्युता**=बाहु से दी गई **पृथिवी**=भूमि **उपरि**=ऊपर **द्याम्**=स्वर्ग को (आकाश को) धारण करती है। प्रभु का धारण हमें अग्रगति में स्थापित करता है और आत्मशक्ति को धारण कराता है। इसी उद्देश्य से हम **लोककृतः**=प्रकाश करनेवाले, **पथिकृतः**=हमारे लिए मार्गों को बनानेवाले उन पितरों का **यजामहे**=आदर व संग करते हैं, **ये**=जो पितर **इह**=यहाँ **देवानां हुतभागाः स्थ**=देवों के हुत का सेवन करनेवाले हैं, अर्थात् यज्ञशील हैं। इन पितरों का सम्पर्क हमें भी उन-जैसा बनाएगा। २. इसीप्रकार **दक्षिणायां दिशि**=दक्षिण दिशा के निमित्त हम प्रभु को धारण करते हैं। धारण किये गये प्रभु हमें दाक्षिण्य प्राप्त कराते हैं—कर्मों में कुशलता प्राप्त कराते हैं। यह कर्मकुशलता ऐश्वर्यवृद्धि का कारण बनती है। यह ऐश्वर्य हमें विलास में न ले-जाए, अतः **प्रतीच्यां दिशि**=(प्रति अञ्च्) इस पश्चिम व प्रत्याहार की दिशा के निमित्त प्रभु को हृदयों में स्थापित करते हैं। हृदयों में प्रभुस्मरण हमें वासनाओं का शिकार न होने देगा। इसप्रकार **उदीच्यां दिशि**=उदीची दिशा के निमित्त मैं प्रभु को धारण करता हूँ। प्रभुस्मरण से मैं ऊपर और ऊपर उठता चलूँगा। यह उत्कर्ष होता ही चले, अतः **ध्रुवायां दिशि**=ध्रुवता की दिशा के निमित्त प्रभु को धारण करूँ और इस ध्रुवता के द्वारा **ऊर्ध्वायां दिशि**=ऊर्ध्व दिशा के निमित्त प्रभु को धारण करता हूँ। हृदयस्थ प्रभु मुझे सर्वोच्च स्थिति में प्राप्त कराएँगे। ३. अथवा इन सब दिशाओं में प्रभु की महिमा व सत्ता का अनुभव करते हुए उपासक कह उठता है—आगे-पीछे सब ओर से मैं आपको नमस्कार करता हूँ। आप अनन्तवीर्य व अमित विक्रम हैं। सबमें समाये हुए हैं—आप सर्व हैं। वस्तुतः ऐसा अनुभव करनेवाला व्यक्ति ही प्राणतत्त्व का धारण करनेवाला होता है।

भावार्थ—इस शरीर को प्राप्त करके इसे स्वस्थ रखते हुए हम 'अग्रगति, दाक्षिण्य, विषयव्यावृत्ति, उन्नति, स्थिरता व चरमोत्कर्ष' को प्राप्त करते हुए आत्मतत्त्व के धारण के निमित्त प्रभु का स्मरण करें। सब दिशाओं में प्रभु की महिमा को देखते हुए ही हम 'स्व-धा' में स्थापित होंगे। इसी उद्देश्य से उत्तम पितरों के सम्पर्क में विनीतता से ज्ञान को बढ़ाने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**आसुर्यनुष्टुप् (एकावसाना); ३७ आसुरीगायत्री (एकावसाना)** ॥

'उदपूः-मधुपूः-वातपूः' धर्ता प्रभु

धर्तासि धरुणोऽसि वंसगोऽसि॥ ३६॥
उदपूरसि मधुपूरसि वातपूरसि॥ ३७॥

१. हे प्रभो! आप **धर्ता असि**=हम सबका धारण करनेवाले हैं। आप अपने उपासकों के शरीरों को स्वस्थ करते हैं। उपासना से हमारी वृत्ति विलास की ओर नहीं झुकती और परिणामतः हम स्वस्थ बने रहते हैं। **धरुणः असि**=आप सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों का भी धारण करनेवाले हैं—आप हमारे मनों व बुद्धियों को भी सुरक्षित रखते हैं। आपकी उपासना से हमारे मन निर्मल व बुद्धियाँ सूक्ष्मार्थग्राहिणी बनती हैं। **वंसगः असि**=हे प्रभो! आप हमें (वंसानां वननीयगतीनां गमयता) सम्भजनीय, सुन्दर व्यवहारों को प्राप्त करानेवाले हैं। प्रभु का उपासक सदा यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होता है। २. हे प्रभो! आप **उदपूः असि**=(उदकस्य पूरयिता) हमारे शरीरों में रेतःकणों (उदक) के पूरयिता हैं। इन रेतःकणों के रक्षण के द्वारा **मधुपूः असि**=माधुर्य के

पूरयिता हैं। विलासी व शक्ति का अपव्य करनेवाले लोग ही कटुवचनों का प्रयोग करते हैं। रेत:कणों के रक्षण व माधुर्य के द्वारा आप **वातपूः असि**=(वातस्य पूरयिता) वात का—प्राणशक्ति का पूरण करनेवाले हैं। रेत:कणों का अपव्य व कटुता प्राणशक्ति का संहार करती है।

भावार्थ—प्रभु हमारे शरीरों को धारण करते हैं—मन व बुद्धि का भी धारण करते हैं। इसप्रकार वे हमें 'स्वस्थ शरीर, मन व बुद्धि' वाला बनाकर उत्तम कर्मों में प्रवृत्त करते हैं। प्रभु हमारे रेत:कणों का व माधुर्य का पूरण करके प्राणशक्ति का पूरण करते हैं।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

यमे इव यतमाने

इतश्च मामुतश्चावतां यमेइव यतमाने यदैतम्।
प्र वां भरन्मानुषा देवयन्त आ सीदतां स्वमु लोकं विदाने॥ ३८॥

१. प्रभु गृहस्थ पति-पत्नी से कहते हैं कि आप दोनों **इतः च अमुता च**=इधर से और उधर से—इस लोक से और परलोक से—इहलोक के अभ्युदय व परलोक के नि:श्रेयस के द्वारा—**मा अवताम्**=मुझे प्रीणित करनेवाले होओ। अभ्युदय और नि:श्रेयस को सिद्ध करते हुए आप मेरे प्रिय बनो। यह होगा तभी **यदा**=जबकि **यमे इव**=एक युगल की भाँति—बिलकुल मिलकर चलनेवालों की भाँति **यतमाने**=घर को स्वर्ग बनाने के लिए यत्नशील होते हुए तुम दोनों **एतम्**=गति करते हो। पति-पत्नी की क्रियाएँ बिलकुल मिलकर हों—वे एक-दूसरे के पूरक बनें। परस्पर का विरोध तो घर को नरक ही बना देता है। २. **वाम्**=आप दोनों को **मानुषा**=मानवमात्र का हित करनेवाले **देवयन्तः**=दिव्यगुणों को अपनाने की कामनावाले पुरुष **प्रभरन्त**=उत्कृष्ट भावनाओं से भरनेवाले हों। इनसे आपको उत्कृष्ट प्रेरणा प्राप्त हो। आप दोनों **विदाने**=स्वाध्याय द्वारा ज्ञान की प्रवृत्तिवाले होते हुए **उ**=निश्चय से **स्वं लोकं आसीदताम्**=अपने घर में आसीन होओ। इधर-उधर क्लबों में न जाकर घर को ही अपना प्रिय स्थान बनाओ।

भावार्थ—गृहस्थ में पति-पत्नी एक युगल की भाँति मिलकर घर को स्वर्ग बनाने का प्रयत्न करते हुए, अभ्युदय और नि:श्रेयस को सिद्ध करते हुए प्रभु के प्रिय बने। घरों में मानवहित में प्रवृत्त देवपुरुषों से प्रेरणा प्राप्त करते हुए अतिरिक्त समय को घरों को अच्छा बनाने में लगाएँ।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**परात्रिष्टुप्पङ्क्तिः**॥

'स्वस्थ, नम्र, ज्ञानी'

स्वासस्थे भवतमिन्दवे नो युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिः।
वि श्लोक एति पथ्येव सूरिः शृण्वन्तु विश्वे अमृतास एतत्॥ ३९॥

१. प्रभु कहते हैं कि हे पति-पत्नि! आप दोनों **नः इन्दवे**=हमारे ऐश्वर्य को प्राप्त करने के लिए **स्वासस्थे**=(सु आस स्थे) स्वस्थ शरीररूप उत्तम स्थान में स्थित होनेवाले **भवतम्**=होओ। मैं **वाम्**=तुम्हें **नमोभिः**=नमस्कारों के साथ **पूर्व्यं ब्रह्म**=सृष्टि के प्रारम्भ में दिये जानेवाले वेदज्ञान से **युजे**=युक्त करता हूँ। इसप्रकार 'शरीर के स्वस्थ, मन के नमन के भावों से युक्त तथा मस्तिष्क के ज्ञानयुक्त' होने पर प्रभु का ऐश्वर्य प्राप्त होता है। २. तुम्हें **श्लोकः**=प्रभु-स्तवनात्मक पद्य **वि एतु**=विशेषरूप से प्राप्त हो, अर्थात् तुम स्तवन करनेवाले बनो तथा **पथ्या इव सूरिः**=पथ्य भोजनों की भाँति प्रेरक ज्ञानी पुरुष भी तुम्हें विशेषरूप से प्राप्त हो। पथ्यभोजन तुम्हारे शरीरों को स्वस्थ बनाएँ और वह प्रेरक ज्ञानी तुम्हारे मस्तिष्कों को दीप्त ज्ञानवाला करे। **विश्वे**=सब **अमृतासः**=विषयों के पीछे न मरनेवाले लोग **एतत् शृण्वन्तु**=इस वेदज्ञान को सुनें। 'सूरि' द्वारा

दिये जानेवाले ज्ञान का श्रवण करें।

भावार्थ—हम स्वस्थ शरीर, नम्र मन व दीप्त मस्तिष्कवाले बनकर प्रभु के ऐश्वर्य को प्राप्त करें। हमें प्रभु का स्तोत्र, पथ्यभोजन व ज्ञानियों का सम्पर्क प्राप्त हो। सब अमृत पुरुष ज्ञानियों द्वारा दिये जानेवाले ज्ञान का श्रवण करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

रुपः

त्रीणि पदानि रुपो अन्वरोहच्चतुष्पदीमन्वैतद् व्रतेन।
अक्षरेण प्रति मिमीते अर्कमृतस्य नाभावभि सं पुनाति॥ ४०॥

१. **रुपः** (रुप् to suffer violent pain)=अपने को तपस्या की अग्नि में तपानेवाला ब्रह्मचारी **त्रीणि पदानि अनु अरोहत्**=क्रमशः तीनों पदों का आरोहण करता है, सबसे पूर्व तैजस बनता है—तेजस्वी शरीरवाला, द्वितीय स्थान में 'वैश्वानर', सबके प्रति मन में हितार्थ भावनावाला बनता है तथा तृतीय स्थान में 'प्राज्ञ' अच्छी तरह ज्ञान का सम्पादन करनेवाला होता है। **व्रतेन**=इन तीन पदों पर आरोहण करनेरूप व्रत के द्वारा **चतुष्पदीम् अनु ऐतत् (ऐत्)**=चार पदोंवाली इस 'ऋक्, यजुः साम, अथर्व' रूप वेदवाणी को प्राप्त करता है। २. इस वेदवाणी का अध्ययन करता हुआ यह 'रुप' **अक्षरेण**='ओंकार' इस अक्षर के द्वारा (ओमित्येदक्षरमुद्गीथमुपासीत्) **अर्कम्**=अर्चनीय प्रभु को **प्रतिमिमीते**=जानने का प्रयत्न करता है और **ऋतस्य नाभौ**=(ऋत्=यज्ञ) यज्ञ के बन्धन में **अभिसंपुनाति**=अपने को अन्दर व बाहिर से सम्यक् पवित्र करता है। यज्ञों में यह सतत प्रवृत्त रहता है। ये यज्ञ इसे स्वस्थ शरीरवाला व पवित्र मनवाला बनाते हैं। यही अन्दर व बाहिर से पवित्रीकरण है।

भावार्थ—तपस्या की अग्नि में अपने को तपाते हुए हम 'तैजस, वैश्वानर व प्राज्ञ' बनें। इस व्रत के द्वारा 'ऋक्, यजुः साम, अथर्व' रूप वेदवाणी को प्राप्त करें। वेदों के सारभूत 'ओम्' इस अक्षर के जप से प्रभु को जानने का यत्न करें। यज्ञों में बद्ध होते हुए स्वस्थ शरीर व पवित्र मनवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

देवों का भी पतन, प्रजाओं का उत्थान

देवेभ्यः कमवृणीत मृत्युं प्रजायै किममृतं नावृणीत।
बृहस्पतिर्यज्ञमतनुत ऋषिः प्रियां यमस्तन्व१मा रिरेच॥ ४१॥

१. गतमन्त्र के अनुसार यज्ञों में अपने को बद्ध करनेवाले लोग 'देव' बनते हैं, परन्तु ये देव भी अहंकार में आकर फिर पतित हो जाते हैं। यह पतन प्रभु की ओर से न होकर उनके अपने अहंकार का ही परिणाम होता है। मन्त्र में इसी भाव को इस रूप में कहते हैं कि **देवेभ्यः**=देवों के लिए **कं मृत्युम् अवृणीत**=किस मृत्यु का प्रभु वरण करते हैं? वस्तुतः प्रभु नहीं, उस देवों का अहंकार ही उनकी मृत्यु का कारण बनता है। इसीप्रकार प्रभु **प्रजायै**=सामान्य लोगों के लिए **किम् अमृतं न अवृणीत**=किस अमृततत्त्व का वरण नहीं करते? प्रभु प्रत्येक व्यक्ति को अमृतत्त्व के लिए आवश्यक साधनों को प्राप्त कराते हैं। यदि हम उन साधनों का सदुपयोग नहीं करते, तो इसमें प्रभु का क्या दोष है? २. इस संसार में **बृहस्पतिः ऋषिः**=ज्ञान का स्वामी तत्त्वद्रष्टा पुरुष—वासनाओं का संहार करनेवाला पुरुष (ऋष् to Kill) **यज्ञम् अतनुत**=यज्ञ का विस्तार करता है—यज्ञात्मक कर्मों में प्रवृत्त होता है। वस्तुतः यह ऋषि उस

सर्वनियन्ता प्रभु का शरीर बनता है, प्रभु इसमें आत्मरूप से होते हैं और **यमः**=सर्वनियन्ता प्रभु अपने इस **प्रियां तन्वम्**=प्रिय शरीरभूत 'बृहस्पति ऋषि' को **आरिरेच**=सब दोषों से रिक्त कर देते हैं। प्रभु इसके जीवन को निर्दोष बना देते हैं।

भावार्थ—देव बनकर भी अहंकारवश हम पतन की ओर चले जाते हैं। सामान्य मनुष्य होते हुए भी प्रभुप्रदत्त साधनों का सदुपयोग करते हुए हम अमृतत्त्व को प्राप्त करते हैं, अतः हम ज्ञानी व वासनाशून्य बनकर प्रभु का निवासस्थान बनें। प्रभु हमारे जीवनों को निर्दोष बनाये रक्खेंगे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

एक देव की दिनचर्या

त्वम॑ग्न ईडि॒तो जा॑तवेदोऽवा॒ड्ढव्यानि॑ सुर॒भीणि॑ कृ॒त्वा।
प्रादाः॑ पि॒तृभ्यः॑ स्व॒धया॒ ते अ॑क्षन्न॒द्धि त्वं दे॑व॒ प्रय॑ता ह॒वींषि॑॥ ४२॥

१. हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **त्वम्**=तू **ईडितः** (ईडा संजाता अस्य)=प्रभुपूजन की वृत्तिवाला बना हुआ है। तू अपने प्रत्येक दिन को प्रभुपूजन से ही प्रारम्भ करता है। उपासना के बाद तू मौलिक स्वाध्याय के द्वारा **जातवेदाः**=(जातः वेदो यस्य) विकसित ज्ञानवाला बनता है। अब तू **सुरभीणि हव्यानि**=सुगन्धित हव्य पदार्थों को **कृत्वा**=सम्यक् सज्जित करके **अवाट्**=अग्नि के लिए प्राप्त कराता है। इन हव्य पदार्थों के द्वारा तू नित्य अग्निहोत्र करता है। २. अग्निहोत्र के बाद **पितृभ्यः प्रादाः**=अपने वृद्ध माता-पिता के लिए भोजन देता है। **ते**=वे **स्वधया**=आत्म-धारण के हेतु से **अक्षन्**=उस भोजन को खाते हैं, अर्थात् शरीरधारण के लिए आवश्यक भोजन की मात्रा को ही ग्रहण करते हैं। अब हे देववृत्तिवाले पुरुष! **त्वम्**=तू भी **प्रयता हवींषि**=पवित्र यज्ञशेष हव्य पदार्थों को ही **अद्धि**=खा। वह यज्ञशेष का सेवन ही अमृतसेवन है।

भावार्थ—हमारी दिनचर्या का क्रम यह हो—'उपासना, स्वाध्याय, अग्निहोत्र, पितृयज्ञ, स्वयं यज्ञशेष का सेवन'। यही 'देव' बनने का मार्ग है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पितरों के सम्पर्कों से घर में 'श्री व शक्ति' का निवास

आसी॑नासो अरु॒णीना॑मु॒पस्थे॑ र॒यिं ध॑त्त दा॒शुषे॒ मर्त्या॑य।
पु॒त्रेभ्यः॑ पितर॒स्तस्य॒ वस्वः॒ प्र य॑च्छत॒ त इ॒होर्जं॑ दधात॥ ४३॥

१. वनस्थ पितर (पिता, पितामह, प्रपितामह) **अरुणीनाम्** (अरुण्या गाव उषसाम्)=उषाकालों की अरुणकिरणों का प्रकाश होने पर **उपस्थे आसीनासः**=प्रभु की उपासना में आसीन होते हैं। हे पितरो! आप **दाशुषे मर्त्याय**=आपके प्रति अपना अर्पण करनेवाले मनुष्य के लिए **रयिं धत्त**=ऐश्वर्य को धारण कीजिए। ये पितर अपने प्रति अपना अर्पण कर देनेवाले सन्तानों के पारस्परिक संघर्ष को समाप्त करके उनके ऐश्वर्य को विनाश से बचाते हैं। २. सन्तानों के पितरों के प्रति अर्पण करने पर हे **पितरः**=पितरो! आप **तस्य वस्वः प्रयच्छत**=उस धन को दीजिए, जो पारस्परिक विवादों में ही समाप्त न हो। हे पितरो! **ते**=वे आप **इह**=इस घर में **ऊर्जम् दधात**=बल व प्राणशक्ति को धारण कीजिए। भाइयों को परस्पर एक करके उनकी शक्ति को बढ़ानेवाले होओ।

भावार्थ—पितर समय-समय पर घरों में आते हैं। ये प्रातः ही प्रभु के उपासन में आसीन होते हैं। ये सन्तानों के पारस्परिक कलहों को समाप्त करके उनमें 'वसु व ऊर्ज्' का स्थापन

करते हैं, घर को 'श्री व शक्ति' से सम्पन्न बना देते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

अग्निष्वात्त पितर

अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः।
अत्तो हवींषि प्रयतानि बर्हिषि रयिं च नः सर्ववीरं दधात॥ ४४॥

१. **अग्निषु आत्ताः**=अग्नियों के चरणों में जिन्होंने अत्याधिक ज्ञान प्राप्त किया है—'माता, पिता व आचार्यों' से 'चरित्र, शिष्टाचार व ज्ञान'-सम्पन्न बने हैं, ऐसे **पितरः**=पितरो! आप **इह आगच्छत**=यहाँ हमारे जीवन में आइए। आप **सदःसदः सदत**=प्रत्येक सभा में आकर बैठिए। **सुप्रणीतयः**=आप हमें उत्कृष्ट मार्ग से ले-चलनेवाले हैं। २. आप **बर्हिषि**=इन यज्ञों में **प्रयतानि**=पवित्र **हवींषि अत्त उ**=हवियों को ही निश्चय से खानेवाले होओ। आप सदा पवित्र भोजन को ही यज्ञशेष के रूप में ग्रहण करते हैं **च**=और आप **नः**=हमारे सब सन्तानों को **सर्ववीरम्**=सबल बनानेवाले **दधात**=होओ। वस्तुतः पितर सन्तानों को मेल का पाठ पढ़ाते हुए उन्हें सशक्त व सम्पन्न बनाते हैं।

भावार्थ—जिन्होंने 'माता, पिता व आचार्यों' से स्वयं अत्यधिक ज्ञान प्राप्त किया है, उन पितरों से हमें भी उसीप्रकार ज्ञान प्राप्त करने की प्रेरणा मिले। घरों में आसीन होकर ये पितर सन्तानों का सुप्रणयन करें। पितरों से प्रेरणा प्राप्त करके हम पवित्र यज्ञशेष का ग्रहण करनेवाले बनें। 'वीरता व धन' से युक्त हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यज्ञरूप प्रिय निधियों के निमित्त पितरों को पुकारना

उपहूता नः पितरः सोम्यासो बर्हिष्ये्षु निधिषु प्रियेषु।
त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्वधि ब्रुवन्तु तेऽवन्त्वस्मान्॥ ४५॥

१. हमसे **सोम्यासः**=अत्यन्त विनीत स्वभाववाले, निरभिमान **पितरः**=पितर **उपहूताः**=पुकारे गये हैं। इन्हें हमने **बर्हिषि**=यज्ञों के निमित्त पुकारा है। सब यज्ञशील होते हुए ये हमें भी यज्ञमय जीवनवाला बनाते हैं। **एषु प्रियेषु**=इन प्रिय निधिरूप यज्ञों के निमित्त हम इन पितरों को पुकारते हैं। यज्ञों में अग्नि अन्नाद है तो वह वृष्टि द्वारा उत्तम खाद्य अन्नों को भी प्राप्त कराता है। 'अग्निहोत्रं स्वयं वर्षकः', 'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः, पर्जन्यादन्न संभवः' अग्निहोत्र से वृष्टि होती है। इन यज्ञों से पर्जन्य का उद्भव होकर अन्न का सम्भव होता है, एवं हमारी सब इष्ट-कामनाओं को पूर्ण करनेवाले ये यज्ञ हमारे लिए इष्टकामधुक् होते हुए हमारे प्रिय निधि हैं ही। सौम्य पितर आते हैं और वे हमें इन यज्ञों का उपदेश करते हैं। २. **ते**=वे 'पिता, पितामह व प्रपितामह' आदि पितर **आगमन्तु**=आएँ। **ते**=वे **इह**=यहाँ **श्रुवन्तु**=हमारी प्रार्थनाओं को व समस्याओं को सुनें और **अधिब्रुवन्तु**=हमें उन समस्याओं को सुलझाने के लिए सदुपायों का उपदेश दें और इसप्रकार **ते**=वे **अस्मान् अवन्तु**=हमें रक्षित करें।

भावार्थ—विनीत, यज्ञशील पितरों को हम पुकारते हैं। वे हमें इन प्रिय निधिरूप यज्ञों में स्थापित करते हैं। आकर हमारी समस्याओं को सुनते हैं और उनके सुलझाने के लिए सदुपदेश करते हैं। इसप्रकार वे हमारा रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

रमणात्मक पठन, यज्ञशेष का अदन

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा अनूजहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः।
तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु॥ ४६ ॥

१. **ये**=जो **नः**=हमारे **पितुः पितरः**=पिताजी के भी पितर हैं, **ये**=जो **पितामहः**=हमारे पितामह हैं, वे **वसिष्ठाः**=काम-क्रोध को वशीभूत करके अत्यन्त उत्तम निवासवाले बने हैं। **सोमपीथम् अनूजहिरे**=ये सोम पान को अनुक्रमेण आत्मसात् करते हैं। सोम का पान ही उन्हें उत्तम निवासवाला बनाता है। २. **तेभिः**=उन पितरों के साथ **यमः**=संयत जीवनवाला विद्यार्थी **संरराणः**=सम्यक् क्रीड़ा करता हुआ—क्रीड़ा में ही सब-कुछ सीखता हुआ, **हवींषि उशन्**=हवियों को चाहता हुआ **उशद्भिः**=हित चाहनेवाले आचार्यों के साथ **प्रतिकामम् अत्तु**=जब-जब शरीर को इच्छा हो, अर्थात् आवश्यकता अनुभव हो, तब-तब इस हविरूप भोजन को खाये। ३. यहाँ दो बातें स्पष्ट हैं—पहली तो यह कि पढ़ाने का प्रकार इतना रुचिकर हो कि विद्यार्थियों को पढ़ाई खेल ही प्रतीत हो। दूसरी बात यह कि हम भोजन तभी करें जब शरीर को आवश्यकता हो। वह भी त्यागपूर्वक यज्ञ करके यज्ञशेष का ही ग्रहण करें।

भावार्थ—हमें पितर रोचकता से ज्ञान देनेवाले हों। हम यज्ञों के प्रति कामनावाले हों। भोजन को आवश्यकता होने पर यज्ञशेष के रूप में ही ग्रहण करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

किन पितरों के सम्पर्क में

ये तातृषुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमतष्टासो अर्कैः।
आग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः सत्यैः कविभिर्ऋषिभिर्घर्मसद्भिः॥ ४७ ॥

१. पितर वे हैं **ये**=जो **तातृषुः**=प्राणिमात्र के हित के लिए अत्यन्त पिपासित होते हैं। **देवत्रा जेहमानाः**=देवों में क्रमशः जानेवाले होते हैं, अर्थात् निरन्तर दैवी सम्पत्ति के अर्जन में लगते हैं। **होत्राविदः**=अग्निहोत्र को अच्छी प्रकार समझनेवाले हैं—यज्ञों के महत्त्व को जानते हैं। **अर्कैः**=मन्त्रों के द्वारा **स्तोमतष्टासः**=प्रभु-स्तोत्रों को करनेवाले हैं। २. प्रभु कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू **देववन्दैः**=देव की वन्दना करनेवाले—प्रभु-स्तवन में प्रवृत्त, **सत्यैः**=सत्य जीवनवाले, **कविभिः**=क्रान्तदर्शी, **ऋषिभिः**=(ऋष् to kill) वासनाओं को विनष्ट करनेवाले **घर्मसद्भिः**= सोमयागों में आसीन होनेवाले—यज्ञशील पितरों के साथ **सहस्रम् आयाहि**=(सहस्) आनन्दपूर्वक गतिवाला हो। अथवा इनके सम्पर्क में अपरिमित ज्ञानधन को प्राप्त होनेवाला हो।

भावार्थ—पितर वे ही हैं जो लोकहित के लिए प्रबल कामनावाले, यज्ञशील, प्रभु-स्तवन परायण, ज्ञानी, सत्यवादी व वासनाशून्य हैं। इनके सम्पर्क में आकर हम भी ज्ञानी बनें और प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर चलें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'सत्यवादी-सुविदत्र' पितरों के सम्पर्क में

ये सत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सरथं तुरेण।
आग्ने याहि सुविदत्रेभिरर्वाङ् परैः पूर्वैर्ऋषिभिर्घर्मसद्भिः॥ ४८ ॥

१. **ये**=जो **सत्यासः**=सदा सत्य बोलनेवाले हैं। **हविरदः**=हवि को ही खानेवाले हैं और **हविष्पाः**=हवि का ही पान करनेवाले हैं, अर्थात् जिनका खानपान हविरूप है—जो यज्ञशेष को

ही खानेवाले हैं। **तुरेण:**=शत्रुओं का संहार करनेवाले **इन्द्रेण**=सर्वशक्तिमान् प्रभु के साथ तथा **देवै:**=दिव्यगुणों के साथ **सरथम्**=समान रथ में गति करते हैं। यह शरीर ही रथ है, इसे वे प्रभु के दिव्यगुणों का अधिष्ठान बनाते हैं। २. प्रभु कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! तू इन **सुविदत्रेभि:**=उत्तम ज्ञान के द्वारा त्राण करनेवाले, **परै:**=उत्कृष्ट जीवनवाले, **पूर्वै:**=अपना पूरण करनेवाले—न्यूनताओं को दूर करनेवाले, **ऋषिभि:**=(ऋष् to kill) वासनाओं को विनष्ट करनेवाले **घर्मसद्भि:**=यज्ञों में आसीन होनेवाले पितरों के सम्पर्क में रहता हुआ **अर्वाङ् आयाहि**=अपने हृदयदेश में हमारी ओर आनेवाला हो।

भावार्थ—हम सत्यवादी, यज्ञशेष का सेवन करनेवाले, प्रभु के साथ विचरनेवाले, ज्ञान के द्वारा रक्षण करनेवाले, उत्कृष्ट; न्यूनताशून्य जीवनवाले, वासनाओं का संहार करनेवाले, यज्ञशील पितरों के सम्पर्क में अपने जीवनों को भी इसी प्रकार का बनाते हुए प्रभु की ओर चलनेवाले बनें।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**यम:, मन्त्रोक्ता:**॥ छन्द:—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

ऊर्णम्रदा: पृथिवी

उप॑ सर्प मा॒तरं॒ भूमि॑मे॒तामु॑रु॒व्यच॑सं पृथि॒वीं सु॒शेवा॑म्।
ऊर्ण॑म्रदाः पृथि॒वी दक्षि॑णावत ए॒षा त्वा॑ पातु प्रप॑थे पु॒रस्ता॑त्॥ ४९॥

१. तू **एताम्**=इस **मातरम्**=माता की तरह सबका पोषण करनेवाली, **उरुव्यचसम्**=अत्यन्त व्याप्तिवाली **पृथिवीम्**=विस्तृत **सुशेवाम्**=उत्तम कल्याण करनेवाली **भूमिम्**=भूमि को **उपसर्प**=समीपता से प्राप्त हो, अर्थात् इस भूमि पर गति करनेवाला हो। तू उदास होकर विषण्ण व गतिशून्य न हो जाए। २. **दक्षिणावते**=दानशील पुरुष के लिए—उदार व्यक्ति के लिए यह **पृथिवी**=विस्तारवाली भूमि **ऊर्णम्रदा:**=आच्छादन करनेवाली व मृदुस्वभाव है। दानशील पुरुष के लिए यह पृथिवी कठोर नहीं होती। **एषा**=यह भूमि **त्वा**=तुझे **पुरस्तात्**=आगे और आगे **प्रपथे**=प्रकृष्ट मार्ग में **पातु**=रक्षित करे।

भावार्थ—हम इस पृथिवी को माता के समान जानते हुए उदासी से ऊपर उठकर कर्त्तव्यकर्मों में प्रेरित हों। यह पृथिवी दानशील व्यक्ति का रक्षण करनेवाली है—उसके लिए मृदु है, उसे आगे ले-चलनेवाली है, अर्थात् यहाँ दानशील व्यक्ति का ही कल्याण है।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**यम:, मन्त्रोक्ता:, भूमि:**॥ छन्द:—**प्रस्तारपङ्क्ति:**॥

सूपायना—सूपसर्पणा

उच्छ्व॑ञ्चस्व पृथिवि॒ मा नि बा॑धथाः सूपाय॒नास्मै॑ भव सूपसर्प॒णा।
मा॒ता पु॒त्रं यथा॑ सि॒चाभ्ये॑नं भूम ऊर्णुहि॥ ५०॥

१. हे **पृथिवि**=अपनी सन्तानों की शक्तियों का विस्तार करनेवाली मात:! तू उदासी को छोड़कर **उत्सु अञ्चस्व**=उत्तमता से गति करनेवाली हो। **मा निबाधथा:**=व्यर्थ के शोक से अपने को पीड़ित मत कर। **अस्मै**=अपनी इस सन्तान के लिए **सूपायना भव**=सुगमता से समीप प्राप्त होनेवाली हो। **सु उपसर्पणा**=बच्चे तेरे समीप सुगता से प्राप्त हो सकें। २. हे **भूमे**=भूमिमात:! तू भी **एनम्**=साथी के चले जाने से दु:खित इस जन को **अभि ऊर्णुहि**=अभित: आच्छादित करनेवाली हो, अर्थात् इसे न तो खानपान की कमी हो, न ही इसके मानस उत्साह में कमी आये। इसको तू इसप्रकार सुरक्षित कर **यथा**=जैसे **माता**=माता **पुत्रम्**=पुत्र को **सिचा**=वस्त्र प्रान्त से ढककर सुरक्षित कर लेती है।

भावार्थ—माता शोक से अपने को पीड़ित न करती हुई बच्चों के पालन में आनन्द का अनुभव करे। वह बच्चों के लिए 'सूपायना व सूपसर्पणा' हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

घृतश्चुतो गृहासः

उच्छ्वञ्चमाना पृथिवी सु तिष्ठतु सहस्रं मित उप हि श्रयन्ताम्।
ते गृहासो घृतश्चुतः स्योना विश्वाहास्मै शरणाः सन्त्वत्र॥ ५१॥

१. **उत् सु अञ्चमाना**=उत्साहयुक्त हुई-हुई—उत्तमता से गति करती हुई **पृथिवी**=शक्तियों का विस्तार करनेवाली माता **सुतिष्ठतु**=उत्तमता से स्थित हो। यह उदास होकर खाट पकड़कर न बैठे जाए। **इह**=निश्चय से इस घर में **सहस्रं मितः**=सहस्र संख्याक धन **उपश्रयन्ताम्**=आश्रय करें। २. **ते**=वे **गृहासः**=घर **घृतश्चुतः**=घृत का क्षरण करनेवाले हों। इन घरों में घृत की धाराएँ बहें। ये घर **विश्वाहा**=सदा **अत्र**=यहाँ—इस जीवन में **अस्मै**=इस अकेले रह गये जन के लिए **स्योनाः**=सुख देनेवाले तथा **शरणाः**=रक्षिता **सन्तुः**=हों। बच्चों के पिता चले भी गये हैं तो भी अन्य मामा, चाचा आदि लोग सहायक बने रहें। वे अपनी ज़िम्मेवारी को पहले से अधिक समझते हुए अपने कर्त्तव्य को उत्तमता से निभाएँ।

भावार्थ—माता के पुरुषार्थ व बुद्धिपूर्वक व्यवहार से घर में धनों की कमी न हो। घर पूर्ववत् घृत के बाहुल्यवाले बने रहें और अन्य बान्धवजन सहारा दिये रक्खें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

घर

उत्ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत्परीमं लोगं निदधन्मो अहं रिषम्।
एतां स्थूणां पितरो धारयन्ति ते तत्रा यमः सादना ते कृणोतु॥ ५२॥

१. हे गृह! **ते पृथिवीम्**=तेरी भूमि को **उत् स्तभ्नामि**=ऊपर थामता हूँ। घर के पाये (Pedestal) को कुछ ऊँचा रखता हूँ। इससे सील का ख़तरा न रहकर स्वास्थ्य के लिए यह घर उपयुक्त रहता है। **त्वत् परि**=तेरे चारों ओर **इमम्**=इस **लोगम्**=पार्थिव ढेर को—मुँडेर को—**निदधन्**=रखता हुआ **अहम्**=मैं **मा उ रिषम्**=मत ही हिंसित होऊँ। घर के चारों ओर चारदीवारी हो ताकि पशुओं आदि का अवाञ्छनीय प्रवेश न होता रहे। २. **एतां स्थूणाम्**=घर के इस स्तम्भ को **ते पितरः**=तेरे पितर **धारयन्तु**=धारण करनेवाले हों। बच्चों के पिता के चले जाने पर मामा, चाचा, ताया आदि बड़ों का यह उत्तरदायित्व हो जाता है कि वे घर के बोझ को अपने कन्धों पर लें। **तत्र**=वहाँ—उस घर में **यमः**=सर्वनियन्ता प्रभु **ते**=तेरे लिए **सादना कृणोतु**=बैठने के स्थानों को करे। तू यहाँ घर में कर्त्तव्यपालन करती हुई ठहरनेवाली बन। प्रभु-स्मरण तुझे शक्ति व उत्साह दे।

भावार्थ—घर का पाया ऊँचा हो, नीरोगता के लिए यह आवश्यक है। चारदीवारी ठीक हो ताकि अवाञ्छनीय पशु आदि का प्रवेश न हो। बच्चों के पिता के चले जाने पर रिश्तेदार घर के बोझ को अपने कन्धों पर लें। घर में प्रभु-स्मरण विलुप्त न हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

शरीररूप चमस्

इममग्ने चमसं मा वि जिह्वरः प्रियो देवानामुत सोम्यानाम्।
अयं यश्चमसो देवपानस्तस्मिन्देवा अमृता मादयन्ताम्॥ ५३॥

१. प्रगतिशील जीव को 'अग्नि' कहते हैं। यह प्रगतिशील जीव अपने इस शरीर को **चमस्**=सोमपात्र बनाता है। इस शरीररूप चमस् में वह सोम (वीर्य) को सुरक्षित रखता है। जैसे घृतपूर्ण चम्मच कुछ ढेड़ा हो जाए तो घृत के गिरने की आशंका हो जाती है, उसी प्रकार इस शरीररूप चमस् के भी टेढ़ा होने से—इसमें कुटिलता के आने से—सोम का नाश हो जाता है, अतः मन्त्र में कहते हैं कि हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव। **इमं चमसम्**=इस सोम के पात्रभूत शरीर को **मा विजिह्वरः**=तू कुटिल मत होने दे। यदि यहाँ कुटिल वृत्तियाँ पनप उठीं तो सोम का रक्षण सम्भव न रहेगा। सोम के रक्षण से ही तो यह शरीर **देवानाम्**=देवों का होता है, **उत**=और यह शरीर **सोम्यानाम्**=सौम्य—शान्त पुरुषों का होता है, अर्थात् सोम के सुरक्षित होने पर हम देववृत्तिवाले व सौम्य स्वभाव के होते हैं। यह चमस् देवों व सौम्य पुरुषों का **प्रियः**=अत्यन्त प्रिय होता है, कान्तिसम्पन्न होता है। २. **अयम्**=यह जो **चमसः**=सोमपात्र बना हुआ शरीर **देवपानः**=देवों के सोमपान का स्थान बनता है। (पिबन्ति अस्मिन् इति) **तस्मिन्**=उस शरीर में **देवाः**=देव लोग **अमृताः**=रोगरूप मृत्युओं से आक्रान्त न होते हुए तथा विषय वासनाओं के पीछे न मरते हुए **मादयन्ताम्**=हर्ष का अनुभव करें। इस सोमपात्रभूत शरीर में देव नीरोगता व निर्मलता के आनन्द का अनुभव करते हैं।

भावार्थ—कुटिलवृत्तियों से ऊपर उठकर हम शरीर में सोमरक्षण के द्वारा इस शरीर को देवों व सौम्य पुरुषों का प्रिय शरीर बनाएँ और नीरोग व निर्मलवृत्ति के बनकर आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः, इन्दुः**॥ छन्दः—**पुरोऽनुष्टुप्त्रिष्टुप्**॥

शरीर का मुख्य लक्ष्य 'प्रभु-प्राप्ति'

अथर्वा पूर्णं चमसं यमिन्द्रायाबिभर्वाजिनीवते।
तस्मिन्कृणोति सुकृतस्य भक्षं तस्मिन्निन्दुः पवते विश्वदानीम्॥ ५४॥

१. **अथर्वा**=(अर्वाङ्) आत्मनिरीक्षण करनेवाला (अ-थर्व्) न डाँवाडोल वृत्तिवाला पुरुष **यम्**=जिस **पूर्णं चमसम्**=सुरक्षित सोम से पूर्ण चमस् (शरीर-पात्र) को **वाजिनीवते**=(वाजिनी food) सब भोजनों को देनेवाले **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए **अबिभः**=धारण करता है, **तस्मिन्**=उस इन्द्र की प्राप्ति के लिए धारण किये गये शरीर में **सुकृतस्य भक्षं कृणोति**=पुण्य का भोजन करता है। इस शरीर को प्रभु-प्राप्ति का साधन समझता हुआ वह पाप में प्रवृत्त नहीं होता। वह प्रभु को ही सब शक्तियों का स्रोत जानकर प्रभु की ओर ही झुकता है। यह प्रभु-प्रवणता उसे पुण्य-प्रवृत्त बनाती है। २. **तस्मिन्**=उस पुण्य का भोजन किये जानेवाले शरीर में **इन्दुः**=वह सर्वशक्तिमान्, सर्वैश्वर्यशाली प्रभु **विश्वदानीम्**=सदा **पवते**=पवित्रता करनेवाले होते हैं। यह अथर्वा प्रभु को 'वाजिनीवान्' प्रशस्त अन्नोंवाले के रूप में जानता है। प्रभु से दिये गये 'व्रीहिमत्तं यवमत्तं माषमत्तमथो तिलम्' व्रीहि, यव, माष, तिल आदि भोजनों को ही करनेवाला बनता है। इन सात्त्विक भोजनों का सेवन उसे सात्त्विक वृत्तिवाला बनाता है।

भावार्थ—आत्मनिरीक्षण करनेवाला व स्थिर वृत्तिवाला मनुष्य शरीर को प्रभु-प्राप्ति का साधन समझता है। इसी उद्देश्य से वह शरीर में सोम का रक्षण करता है। इस शरीर में वह पवित्र भोजनों को करता हुआ पवित्रवृत्तिवाला बनता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अग्नि व सोम द्वारा विष-प्रतीकार

यत्ते कृष्णः शकुन आतुतोद पिपीलः सर्प उत वा श्वापदः।
अग्निष्टद्विश्वादगदं कृणोतु सोमश्च यो ब्राह्मणाँ आविवेश॥ ५५॥

१. यहाँ—नगरों में रहते हुए हम अनुभव करते हैं कि कुत्ते के काटने से कितने ही व्यक्तियों की मृत्यु हो जाती है। इसी प्रकार वानप्रस्थ में, जहाँ कि मकानों का स्थान कुटिया ले-लेती है और पलंगों का स्थान भूमि, वहाँ कृमि-कीट के दंश की अधिक सम्भावना हो सकती है, अतः कहते हैं कि **यत्**=जब **कृष्णाः शकुनः**=यह काला पक्षी—कौआ अथवा द्रोणकान्द (काकोल) **ते**=तुझे **आतुतोद**=पीड़ित करता है, **पिपीलः**=कीड़ा-मकौड़ा तुझे काट खाता है, **सर्पः**=साँप डस लेता है, **उत वा**=अथवा **श्वापदः**=कोई हिंस्र पशु तुझे घायल कर देता है, **तत्**=तो **विश्वात् अग्निः**=सब विष आदि को भस्म कर देनेवाली अग्नि **अगदं कृणोतु**=तुझे नीरोग करनेवाली हो। सर्पादिक के दंश के होने पर उस विषाक्त स्थल को अग्नि के प्रयोग से जलाकर विषप्रभाव को समाप्त किया जाता है। विद्युत्चिकित्सा में यही प्रक्रिया काम करती है। २. यह अग्निप्रयोग तभी सफल होता है, यदि शरीर में रोग से संघर्ष करनेवाली वर्चःशक्ति (Vitality) ठीक रूप में हो। इस वर्चस्शक्ति के न होने पर बाह्य उपचार असफल ही रहते हैं, इसलिए मन्त्र में कहते हैं कि **सोमः च**=यह सोम—वीर्यशक्ति भी तुझे नीरोग करे। वह सोम **यः**=जो **ब्राह्मणान् आविवेश**=ज्ञानी पुरुषों में प्रवेश करता है। ज्ञानी लोग सोम के महत्त्व को समझकर उसे सुरक्षित रखने के लिए पूर्ण प्रयत्न करते हैं। सोम ही वस्तुतः रोगों व विकारों को दूर करता है—औषधोपचार तो उसके सहायकमात्र होते हैं।

भावार्थ—पक्षी, कृमि, कीट, सर्प व हिंस्र पशुओं से उत्पन्न किये गये विकारों को अग्नि प्रयोग से तथा शरीर में सोम के रक्षण से हम दूर करनेवाले हों। सोम के शरीर में सुरक्षित होने पर ही औषधोपचार उपयोगी होता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः, आपः**॥ छन्दः—**आर्ष्यनुष्टुप्**॥

सात्त्विक भोजन व सोमरक्षण

पर्यस्वतीरोषधयः पर्यस्वन्मामकं पर्यः।
अपां पर्यसो यत्पयस्तेन मा सह शुम्भतु॥ ५६॥

१. **ओषधयः**=ओषधियाँ—सब वानस्पतिक भोजन **पयस्वतीः**=आप्यायन करनेवाली हैं। सौम्य वानस्पतिक भोजनों से ही शरीर में सोम का रक्षण सम्भव होता है। सुरक्षित सोम सब अंग-प्रत्यंगों के आप्यायन का साधन बनता है। इन ओषधियों के सेवन से **मामकं पयः पयस्वत्**=मेरा आप्यायन भी आप्यायनवाला हो, मेरी वृद्धि सदा ही होती रहे। अथवा (पयः= food) मेरा ओषधि-भोजन वस्तुतः आप्यायनवाला हो। २. **अपाम्**=(आपः रेतो भूत्वा) शरीरस्थ रेतःकणों को **पयसः**=आप्यायन का **यत्**=जो **पयः**=आप्यायन है, अर्थात् रेतःकणों की वृद्धि की जो वृद्धि है—खूब ही रेतःकणों का वर्धन है, **तेन सह**=उस रेतःकणों की वृद्धि के साथ **मा शुम्भतु**=प्रभु मेरे जीवन को अलंकृत करें।

भावार्थ—मैं शरीर का आप्यायन करनेवाली ओषधियों का ही सेवन करूँ। मेरा आप्यायन भी आप्यायनवाला हो, मेरी वृद्धि अधिकाधिक होती चले। रेतःकणों के रक्षण से मेरा जीवन अलंकृत हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

घरों में स्त्री का सर्वप्रमुख स्थान

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं स्पृशन्ताम्।
अनश्रवो अनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे॥ ५७॥

१. गृह को उत्तम बनाने का सर्वाधिक उत्तरदायित्व स्त्री का है, अतः उसका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि **इमाः नारीः**=ये गृह की उन्नति का कारणभूत (नृ नये) स्त्रियाँ **अविधवाः**=अविधवा हों। दीर्घजीवी पतियों को प्राप्त करके ये सदा अपने सौभाग्य को स्थिर रखनेवाली हों। साथ ही **सुपत्नीः**=(शोभनः पतिः यस्याः) उत्तम पतियोंवाली हों। जहाँ ये स्वयं पातिव्रत्य धर्म का पालन करनेवाली हों, वहाँ इनके पति भी एकपत्नीव्रत का सुन्दरता से निर्वहण करनेवाले हों। ये पत्नियाँ **आञ्जनेन**=शरीर को सर्वतः अलंकृत करनेवाले **सर्पिषा**=घृत के साथ **स्पृशन्ताम्**=सम्यक् स्पर्शवाली हों। इनके घरों में उस गोघृत की कमी न हो जो शरीर, मन व मस्तिष्क सभी को दीप्त बनानेवाला है। २. **अनश्रवः**=ये अश्रुवाली न हों—इन्हें दरिद्रता व कटुता आदि के कारण कभी रोना न पड़े। **अनमीवाः**=व्यवस्थित व संयत जीवन के कारण ये सदा नीरोग हों। **सुरत्नाः**=उत्तम रमणीय पदार्थोंवाली व उत्तम आभूषणोंवाली हों। ये **जनयः**=उत्तम सन्तानों को जन्म देनेवाली गृहस्त्रियाँ **योनिम् अग्रे आरोहन्तु**=घर में सर्वमुख्य स्थान में स्थित हों। घर में इनका उचित आदर हो।

भावार्थ—घरों में स्त्रियों का स्थान प्रमुख हो। इन्हें घर के निर्माण के लिए आवश्यक सब वस्तुएँ सुलभ हों। इनका अपना शरीर पूर्ण स्वस्थ हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**विराट्त्रिष्टुप्**॥

आदर्श पति

सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्यो ॒ मन्।
हित्वावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छतां तन्वा ॒ सुवर्चाः॥ ५८॥

१. **पितृभिः संगच्छस्व**=पालनात्मक कर्मों में लगे हुए पुरुषों के साथ तू संगति करनेवाला हो। इनके संग में तू भी निर्माणात्मक कार्यों की प्रवृत्तिवाला बन। **यमेन सं (गच्छस्व)**=संयमी पुरुषों के साथ तेरा मेल हो। उनके सम्पर्क में तू भी संयमी बन। **परमे व्योमन्**=इस उत्कृष्ट हृदयान्तरिक्ष में तू **इष्टापूर्तेन**=इष्ट व आपूर्त की भावना से युक्त हो। तेरी प्रवृत्ति यज्ञात्मक कर्मों की हो तथा तू वापी, कूप, तड़ाग आदि लोकहित की वस्तुओं के निर्माण की वृत्तिवाला हो। २. **अवद्यं हित्वा**=सब अशुभ कर्मों को छोड़कर पुनः **अस्तम् एहि**=फिर अपने वास्तविक गृह—ब्रह्मलोक—की ओर आनेवाला बन। यहाँ—संसार में **सुवर्चाः**=उत्तम वर्चस्—प्राणशक्तिवाला होता हुआ **तन्वा संगच्छताम्**=विस्तृत शक्तिओंवाले शरीर से संगत हो। इस शरीर को स्वस्थ रखता हुआ तू मोक्षमार्ग की ओर बढ़।

भावार्थ—हमारा सम्पर्क संयमी व निर्माणात्मक कार्यों में प्रवृत्त लोगों के साथ हो। हमारे हृदयों में यज्ञादि उत्तम कर्म करने का संकल्प हो। अशुभ से दूर होकर हम ब्रह्मलोक की ओर चलें। यात्रा की पूर्ति के लिए स्वस्थ शरीरवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

स्वराट् असुनीतिः पिता

ये नः॑ पि॒तुः पि॒तरो॒ ये पि॑ताम॒हा य आ॑विवि॒शुरु॒र्व॑१न्तरि॑क्षम्।
तेभ्यः॑ स्व॒राडसु॑नीतिर्नो अ॒द्य य॑थाव॒शं त॒न्व॑ः कल्पयाति॥ ५९॥

१. **ये**=जो **नः**=हमारे **पितुः पितरः**=पिता के भी पिता हैं, ये **पितामहाः**=जो हमारे पितामह हैं अथवा जो हमारे पिता के पितामह, अर्थात् हमारे प्रपितामह हैं, **ये**=जो गृहस्थ से ऊपर उठकर **उरु अन्तरिक्षम्**=विशाल अन्तरिक्ष में—वसुधारूप विस्तृत परिवार में **आविविशुः**=प्रविष्ट हुए हैं, २. **तेभ्यः**=उन पितरों से शिक्षित होकर **नः**=हमारे पिता भी **अद्य**=आज **स्वराट्**=आत्मशासन करनेवाले तथा **असुनीतिः**=प्राणों का ठीक प्रणयन करनेवाले—प्राणायाम द्वारा प्राणसाधना सम्पन्न—बने हैं। ये हमारे पिता **यथावशम्**=अपनी इच्छा के अनुसार **तन्वः**=हमारे शरीरों को **कल्पयाति**=निर्मित करते हैं। पिता जैसा संकल्प करते हैं, वैसे ही उनके सन्तान होते हैं।

भावार्थ—हम अपने पितरों से उत्तम शिक्षा प्राप्त करके आत्मशासन की वृत्तिवाले व प्राण-साधना सम्पन्न बनें। ऐसा होने पर हम संकल्प के अनुसार उत्तम सन्तानों को जन्म दे सकेंगे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**षट्पदाजगती** ॥

मण्डूकपर्णी

शं ते॑ नीहा॒रो भ॑वतु॒ शं ते॑ प्रु॒ष्वाव॑ शीयताम्।
शीति॑के॒ शीति॑कावति॒ ह्लादि॑के॒ ह्लादि॑कावति।
म॒ण्डू॒क्य॑१प्सु शं भु॑व इ॒मं स्व॑१ग्निं श॑मय॥ ६०॥

१. हे पुरुष! **ते**=तेरे लिए **नीहारः शं भवतु**=कोहरा शान्ति देनेवाला हो। **प्रुष्वा**=जल-बिन्दुओं के फुहार भी **ते**=तेरे लिए **शं**=शान्तिकर होकर **अवशीयताम्**=भूमि पर गिरें। हे **शीतिके**=शीतवीर्य ओषधे! **शीतिकावति**=तू शीतवीर्यवाली होती हुई शरीर से उत्तेजना को दूर करके शान्ति को जन्म देती है। हे **ह्लादिकावति**=शरीर में उत्तम धातुओं को जन्म देकर अह्लाद को बढ़ानेवाली **ह्लादिके**=ह्लादिका नामवाली ओषधे! तू **मण्डूकी**=मण्डूकी है—शरीर को उत्तम धातुओं से मण्डित करनेवाली है। २. तू **अप्सु**=रेतःकणों के निमित्त **शं भुवः**=शान्ति को पैदा करनेवाली हो। सब प्रकार की उत्तेजना को समाप्त करके तू रेतःकणों के रक्षण का साधन बन। **इमम् अग्निं सुशमय**=तू इस कामाग्नि को शान्त करनेवाली हो। कामाग्नि की शान्ति के द्वारा ही तू रेतःकणों में उबाल को समाप्त करेगी और इसप्रकार रेतःकणों का रक्षण करने में सहायक बनेगी। सुरक्षित रेतःकण शरीर को 'स्वास्थ्य-नैर्मल्य व ज्ञानदीप्ति' से अलंकृत करेंगे।

भावार्थ—हमारे लिए नीहार व जलबिन्दुप्रपात शान्तिकर हों। 'मण्डूकी' नामक ओषधि उत्तेजना को दूर करके हमें शान्त बनाए। उत्तम धातुओं को जन्म देकर हमें आनन्दयुक्त करे। हमें रेतःकणों के रक्षण के द्वारा 'स्वास्थ्य, नैर्मल्य व ज्ञानदीप्ति' से मण्डित करनेवाली यह 'मण्डूकी' इस अन्वर्थ नामवाली हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'गोमत् अश्ववत्' पुष्टम्

वि॒वस्वा॑न्नो॒ अभ॑यं कृणोतु॒ यः सु॒त्रामा॑ जी॒रदा॑नुः सु॒दानुः॑।
इ॒हेमे वी॒रा ब॒हवो॑ भवन्तु॒ गोम॒दश्व॑व॒न्मय्य॑स्तु पु॒ष्टम्॥ ६१॥

१. **विवस्वान्**=ज्ञान की किरणोंवाले सूर्यसम ज्योतिरूप ब्रह्म **नः**=हमारे लिए **अभयं कृणोतु**=मरणजनितभीतिराहित्य को करे। वह विवस्वान्, **यः**=जोकि **सुत्रामा**=सम्यक् रक्षण करनेवाला है—हमें वासनाओं से आक्रान्त नहीं होने देता। इसप्रकार जो **जीरदानुः**=हमारे जीवन का कर्त्ता है और **सुदानुः**=सब उत्तमताओं को प्राप्त करनेवाला है। हम प्रभु की उपासना करनेवाले बनें। प्रभु हमारे कवच होंगे और हमें न तो मृत्यु का भय होगा न वासनाओं के आक्रमण का। २. **इह**=यहाँ—हमारे घर में **इमे**=ये **वीराः**=वीर सन्तान **बहवः भवन्तु**=(बृहि वृद्धौ–बृंहते) वृद्धिशील हों—हमारे सन्तान वीर व वृद्धिशील हों और **मयि**=मुझमें **गोमत्**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाला, **अश्ववत्**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाला **पुष्टम्**=अंग-प्रत्यंग का पोषण **अस्तु**=हो। मेरे सब अंग सुपुष्ट हों और मेरी ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मन्द्रियाँ प्रशस्त हों।

भावार्थ—प्रभु का उपासन हमें निर्भय बनाए। प्रभु हमारे रक्षक हों। हमारे सन्तान वृद्धिशील व वीर हों। हमारे अंग-प्रत्यंग पुष्ट हों, हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ प्रशस्त हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अमृतत्व

विवस्वान्नो अमृतत्वे दधातु परैतु मृत्युरमृतं न ऐतु।
इमान्रक्षतु पुरुषाना जरिम्णो मो ष्वे ∫ षामसवो यमं गुः॥ ६२॥

१.**विवस्वान्**=ज्ञान की किरणोंवाले प्रभु ज्ञान देकर **नः**=हमें **अमृतत्वे दधातु**=अमृतत्व में स्थापित करें—हमें दीर्घ प्रशस्त जीवनवाला बनाएँ। अज्ञान ही हमें पापों व वासनाओं की ओर ले-जाता है। ज्ञानाग्नि में ये पाप व वासनाएँ दग्ध हो जाती हैं। **मृत्युः परा ऐतु**=मृत्यु हमसे दूर हो और **नः**=हमें **अमृतम्**=अमृतत्व **आ ऐतु**=सर्वथा प्राप्त हो। २. विवस्वान् प्रभु **आजरिम्णः**=जरावस्थापर्यन्त **इमान् पुरुषान् रक्षतु**=हमारे इन पुरुषों का रक्षण करें। **एषाम् असवः**=इनके प्राण **यमं मा सु गुः**=मृत्यु के देवता को नहीं प्राप्त हों, अर्थात् असमय में इनका जीवन न समाप्त हो जाए।

भावार्थ—विवस्वान् प्रभु हमें अमृतत्व में स्थापित करें। जरावस्थापर्यन्त प्रभु हमारा रक्षण करें। असमय में ही हमारे प्राण न चले जाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'मतीनां प्रमतिः' प्रभुः

यो दध्रे अन्तरिक्षे न मह्ना पितॄणां कविः प्रमतिर्मतीनाम्।
तमर्चत विश्वमित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतरं जीवसे धात्॥ ६३॥

१. **यः**=जो **पितॄणां कविः**=पालनात्मक कर्मों में प्रवृत्त लोगों को उनके कर्त्तव्यों का उपदेश देनेवाले हैं (कौति, उ कु शब्दे) तथा **मतीनाम् प्रमतिः**=ज्ञानियों को प्रकृष्ट ज्ञान प्राप्त करनेवाले हैं, वे प्रभु **न**=अब (न संप्रत्यर्थे) **मह्ना**=अपनी महिमा से **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्ष में **दध्रे**=सब लोक-लोकान्तरों का धारण कर रहे हैं। हे **विश्वामित्राः**=सब प्राणियों के प्रति स्नेहवाले लोगो! **तम्**=उस प्रभु को **हविर्भिः**=दानपूर्वक अदन से—यज्ञशेष के सेवन से **अर्चत**=पूजो। २. ऐसा करने पर **सः**=वे **यमः**=सर्वनियन्ता प्रभु **नः**=हमें **प्रतरं जीवसे**=प्रकृष्टतर जीवन के लिए **धात्**=धारण करें।

भावार्थ—प्रभु ही हमें कर्त्तव्यों का उपदेश देनेवाले हैं—सब ज्ञान के दाता हैं। वे अपनी महिमा से सब लोकों को अन्तरिक्ष में धारण कर रहे हैं। हम त्यागपूर्वक अदन करते हुए प्रभु

का अर्चन करें। वे नियन्ता प्रभु हमें दीर्घजीवन प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**भुरिक्पथ्यापङ्क्तिः**॥

उत्तम ज्योति को पाना

आ रोहत दिवमुत्तमामृषयो मा बिभीतन।
सोमपाः सोमपायिन इदं वः क्रियते हविरगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥ ६४॥

१. हे **ऋषयः**=वासनाओं को विनष्ट करनेवाले (ऋष् to kill) ज्ञानियो! **उत्तमां दिवम् आरोहत**=सर्वोत्कृष्ट प्रकाशमय लोक में आरोहण करो। पृथिवी से अन्तरिक्ष में तथा अन्तरिक्ष से द्युलोक में तुम्हारा आरोहण हो। **मा बिभीतन**=मत डरो—भयभीत न होओ। दैवी सम्पत्ति में 'अभय' का ही प्रथम स्थान है। ज्ञानाग्नि में पाप के भस्म हो जाने पर भय का तो प्रश्न ही नहीं रहता। २. आप **सोमपाः**=सोम का रक्षण करनेवाले हो। **सोमपायिनः**=औरों को भी सोमपान की प्रेरणा देनेवाले हों। हमसे भी हे सोमपायी ऋषियो! **वः**=आपकी **इदम्**=यह **हविः**=दानपूर्विका अदन क्रिया—यज्ञशेष के सेवन की वृत्ति **क्रियते**=की जाती है। हम भी आपकी भाँति हवि का सेवन करनेवाले बनते हैं और **उत्तमं ज्योतिः अगन्म**=सर्वोत्तम ज्योति परमात्मा को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम पृथिवी से अन्तरिक्ष में व अन्तरिक्षक से द्युलोक में ऊपर और ऊपर उठनेवाले हों, निर्भीक बनें। सोम का शरीर में रक्षण करें, औरों को भी इसी बात के लिए प्रेरित करें। 'हवि' का—दानपूर्वक अदन को स्वीकार करते हुए उत्तम ज्योति को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ज्ञान-शक्ति-कर्म-उपासना

प्र केतुना बृहता भात्यग्निरा रोदसी वृषभो रोरवीति।
दिवश्चिदन्तादुपमामुदानडपामुपस्थे महिषो ववर्ध॥ ६५॥

१. **अग्निः**=प्रगतिशील जीव **बृहता**=वृद्धि के कारणभूत **केतुना**=ज्ञान से **प्रभाति**=प्रकर्षेण दीप्त होता है। खूब ही ज्ञान प्राप्त करता है। **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक में—मस्तिष्क व शरीर में **वृषभः**=शक्तिशाली बना हुआ यह अग्नि **आरोरवीति**=नित्य प्रभु का स्तवन करनेवाला बनता है। मस्तिष्क को ज्ञानदीप्त तथा शरीर को दृढ़ बनाकर प्रभु-स्तवन में प्रवृत्त होता है। २. **दिवः**=ज्ञान के प्रकाश के **अन्तात्**=परले सिरों को **चित्**=भी और **उपमान्**=समीप प्रदेशों को यह **उदानट्**=प्रकृष्टरूप में व्याप्त करता है। ज्ञान का परला सिरा आत्मविद्या है और समीप का सिरा प्रकृतिविद्या। यह इन दोनों को प्राप्त करने का खूब ही प्रयत्न करता है। यह **अपाम् उपस्थे**=रेतःकणों की उपस्थिति में—शरीर में रेतःकणों के रक्षण के द्वारा **महिषः**=प्रभु का पूजन करनेवाला **ववर्ध**=वृद्धि को प्राप्त होता है। 'अपाम् उपस्थे' का भाव यह भी है कि कर्मों की गोद में, अर्थात् निरन्तर यज्ञादि उत्तम कर्मों में लगा हुआ यह उपासक वृद्धि को प्राप्त करता है। वस्तुतः कर्मों में लगे रहने के द्वारा ही प्रभुपूजन होता है।

भावार्थ—हम अधिकाधिक ज्ञानप्राप्त करने के लिए यत्नशील हों। शरीर व मस्तिष्क को शक्ति व दीप्ति से सम्पन्न करके, प्रभु का स्तवन करनेवाले बनें। आत्मविद्या व प्रकृतिविद्या को व्याप्त करते हुए कर्त्तव्यकर्मों को करने के द्वारा प्रभुपूजन करते हुए वृद्धि को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु-दर्शन

नाके सुपर्णमुप यत्पतन्तं हृदा वेनन्तो अभ्यचक्षत त्वा।
हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं यमस्य योनौ शकुनं भुरण्युम्॥ ६६ ॥

१. **नाके** (न अकम्) आनन्दमयस्वरूप में अथवा मोक्षधाम में **उपपतन्तम्**=समीपता से प्राप्त होते हुए **सुपर्णम्**=उत्तमता से पालन करनेवाले **त्वा**=आपको, हे प्रभो! **यत्**=जब **हृदा वेनन्तः**=हृदय से आपकी प्राप्ति की कामना करते हुए लोग **अभ्यचक्षत**=देखते हैं, तब वे अनुभव करते हैं कि **हिरण्यपक्षम्**=(पक्ष परिग्रहे) आप ज्ञान का परिग्रह करनेवाले हैं—ज्ञानस्वरूप हैं। **वरुणस्य दूतम्**=द्वेषनिवारण के दूत हैं, निर्द्वेषता का उपदेश देते हैं। **यमस्य योनौ शकुनम्**=संयत जीवनवाले पुरुष के शरीरगृह में शक्ति का संचार करनेवाले हैं। **भुरण्युम्**=सबका भरण करनेवाले हैं।

भावार्थ—जीव को मोक्षधाम में प्रभु की समीपता प्राप्त होती है। जब जीव हृदय से प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामनावाला होता है तब प्रभु-दर्शन कर पाता है। वह देखता है कि प्रभु ज्ञानस्वरूप हैं, निर्द्वेषता का सन्देश दे रहे हैं, संयमी को शक्तिशाली बनाते हैं और सबका भरण करनेवाले हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पथ्याबृहती** ॥

जीवनशक्ति और ज्योति

इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा।
शिक्षा णो अस्मिन्पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि॥ ६७ ॥

१. **इन्द्र**=हे सर्वशक्तिमन् प्रभो! **नः**=हमारे लिए **क्रतुम्**=शक्ति व प्रज्ञान को इसप्रकार **आभर**=प्राप्त कराइए, **यथा**=जैसे **पिता पुत्रेभ्यः**=पिता पुत्रों के लिए प्राप्त कराता है। इस शक्ति व प्रज्ञान से ही तो हम जीवन-यात्रा को पूर्ण कर सकेंगे। २. हे **पुरुहूत**=(पुरु हूतं यस्य) पालन व पूरण करनेवाली है पुकार जिसकी, ऐसे प्रभो! आप **अस्मिन् यामनि**=इस संसार-यात्रा के मार्ग में **जीवाः**=जीवनशक्ति से परिपूर्ण हुए-हुए हम **ज्योतिः अशीमहि**=ज्योति को प्राप्त करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु हमें शक्ति व ज्ञान प्राप्त कराएँ। हम प्रभु का आराधन करते हुए जीवनशक्ति से परिपूर्ण हों और ज्योति को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

स्वधा, मधु, घृत

अपूपापिहितान्कुम्भान्यांस्ते देवा अधारयन्।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः॥ ६८ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जीवनीशक्ति व ज्योति को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि हमारा भोजन उत्तम हो। भोजन ही शक्ति व तीव्र बुद्धि को प्राप्त कराने का साधन है, अतः भोजन के विषय में कहते हैं कि **अपूपापिहितान्**=(अपूपाः अपिहिता येषु) जिनमें अविशीर्ण सुगन्धित (पूयी विशरणे दुर्गन्धे च) भोज्य पदार्थ ढककर रखे जाते हैं। **यान् कुम्भान्**=जिन कुम्भों को **देवाः**=व्यवहारकुशल शिल्पियों ने **अधारयन्**=तेरे लिए धारण किया है। **ते**=तेरे लिए **ते**=वे सब कुम्भ **स्वधावन्तः**=आत्मधारक अन्नोंवाले, **मधुमन्तः**=मधुवाले (शहद) **घृतश्चुतः**=और घृत स्रवण करनेवाले हों।

भावार्थ—हमारे भोजन-पान अपूपों से पूर्ण हों—उनमें ऐसे भोज्य-पदार्थ हों जो शीघ्र विशीर्ण व दुर्गन्धित नहीं हो जाते। शरीर के धारण के योग्य अन्नों से वे परिपूर्ण हों। उनमें शहद हों, वे घृतपूर्ण हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्बृहती**॥

धान, तिल, स्वधा

यास्ते॑ धा॒ना अ॑नुकि॒रामि॑ ति॒लमि॑श्राः स्व॒धाव॑तीः।
तास्ते॑ सन्तु वि॒भ्वीः प्र॒भ्वीस्तास्ते॑ य॒मो राजानु॑ मन्यताम्॥ ६९॥

१. **याः**=जिन **धानाः**=धान्यों को, **तिलमिश्राः**=तिलों से मिलाकर **स्वधावतीः**=पौष्टिक अन्न से युक्त करके **अनुकिरामि**=क्षेत्रों में क्रमशः विकीर्ण करता हूँ—खेतों में बीज के रूप में बोता हूँ, **ताः**=वे धान **ते**=तेरे लिए **विभ्वीः**=खूब अधिक **प्रभ्वीः**=उत्कृष्ट बल को पैदा करनेवाले **सन्तु**=हों (विभुत्वगुणोपेताः)। २. **यमः राजा**=सर्वनियन्ता शासक प्रभु **ताः**=उन धानों को **ते**=तेरे लिए **अनुमन्यताम्**=खाने के लिए अनुमति दे। वस्तुतः प्रभु ने हमारे लिए तिल—पौष्टिक अन्न व धानों को ही भोजन के रूप में ग्रहण करने की आज्ञा दी है। 'व्रीहिमत्तं यवमत्तं माषमत्तमथो तिलं एष वां भागो निहितः'।

भावार्थ—हम खेतों में तिल, धान व पौष्टिक अन्नों को ही पैदा करने का यत्न करें। ये हमारे लिए पर्याप्त व शक्ति देनेवाले हों। प्रभु ने हमारे लिए ये ही भोजन नियत किये हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मुक्तात्मा का ज्ञानोपदेश के लिए समय-समय पर आना

पुन॑र्देहि वनस्पते॒ य ए॒ष निहि॑त॒स्त्वयि॑।
यथा॑ य॒मस्य॒ साद॑न॒ आसा॑तै वि॒दथा॒ वद॑न्॥ ७०॥

१. हे **वनस्पते**=प्रकाश की किरणों के स्वामिन् प्रभो! **यः एषः**=जो यह मुक्त जीव **त्वयि निहितः**=शरीर को छोड़कर आपमें निहित हुआ है, इसे **पुनः देहिः**=फिर हमारे लिए प्राप्त कराइए। २. **यथा**=जिससे **यमस्य सादने**=उस सर्वनियन्ता आपके आश्रय में रहता हुआ **विदथा वदन्**=हमारे लिए ज्ञानों का उपदेश करता हुआ **आसातै**=आसीन हो।

भावार्थ—मुक्तात्मा इस संसार में पुनः आएँ और प्रभु के आश्रय में निवास करते हुए वे हमारे लिए ज्ञानोपदेश करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्बृहती**॥

तपस्याग्निदग्ध को पुण्यशील लोकसमाज का अंग बनाना

आ र॑भस्व जातवेद॒स्तेज॑स्व॒द्धरो॑ अस्तु ते।
शरी॑रमस्य॒ सं द॑हाथै॑नं धेहि सुकृता॑मु लो॒के॥ ७१॥

१. हे **जातवेदः**=ज्ञानिन्—गतमन्त्र के अनुसार मुक्ति से लौटे हुए पुरुष! **आरभस्व**=तू संसार में अपने कार्य का आरम्भ कर। **ते**=तेरी **हरः**=अविद्यान्धकार को नष्ट करने की शक्ति **तेजस्वत् अस्तु**=तेजवाली हो, अर्थात् तू ज्ञान-प्रसार के कार्य में खूब समर्थ हो। २. **अस्य**=इस प्रजानन के **शरीरम्**=शरीर को **संदह**=सम्यक् दग्ध कर—तपस्या की अग्नि में परिपक्व कर और **अथ**=अब **एनम्**=इसको **उ**=निश्चय से **सुकृताम्**=पुण्यशील लोगों के **लोके**=लोक में **धेहि**=स्थापित कर। इन्हें राष्ट्र के उत्तम वर्ग का अंग बना।

भावार्थ—राष्ट्र में ज्ञानप्रसार में प्रवृत्त आचार्यों का कर्त्तव्य है कि अपने शिष्यों को तीव्र तपस्वी बनाकर—उनमें ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित करके, उन्हें राष्ट्र का उत्तम अंग बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

घृतस्य कुल्या

ये ते पूर्वे परागता अपरे पितरश्च ये।
तेभ्यो घृतस्य कुल्यै ꣡तु शतधारा व्युन्दती॥ ७२॥

१. **ये**=जो **ते**=वे **पूर्वे**=पहले पितर, अर्थात् प्रपितामह और पितामह, **ये च**=और जो **अपरे पितरः**=अपर पितर, अर्थात् तेरे पिता **परागताः**=गृहस्थ से ऊपर उठकर दूर वन में चले गये हैं, **तेभ्यः**=उनसे **घृतस्य**=ज्ञानजल की प्रवाहिणी **कुल्या**=नदी **एतु**=हमें प्राप्त हो। यह घृतकुल्या **शतधारा**=सैकड़ों प्रकार से हमारा धारण करनेवाली हो और **व्युन्दती**=हमारे हृदयों को भक्तिरस से आर्द्र करती हुई हो।

भावार्थ—हमें 'प्रपितामह, पितामह व पिता' रूप पितरों से वह ज्ञान प्राप्त हो जोकि सैकड़ों प्रकार से हमारा धारण करे और हमें भक्तिरस से आप्लावित करनेवाला हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ज्ञाननदी में जीवन का शोधन व उत्थान

एतदा रोह वय उन्मृजानः स्वा इह बृहदु दीदयन्ते।
अभि प्रेहि मध्यतो माप हास्थाः पितॄणां लोकं प्रथमो यो अत्र॥ ७३॥

१. हे जीव! गतमन्त्र के अनुसार पितरों से प्रवाहित होनेवाली ज्ञाननदी (सरस्वती) में **एतत् वयः**=अपने इस जीवन को **उन्मृजानः**=शुद्ध करता हुआ **आरोह**=उन्नति की दिशा में आरोहण कर—ऊपर उठ। तेरे **स्वाः**=अपने पितर (बन्धु-बान्धव) **इह**=यहाँ **उ**=निश्चय से **बृहदु**=खूब ही **दीदयन्ते**=ज्ञान से दीप्त हो रहे हैं। २. तू भी समय आने पर **मध्यतः**=इस गृहस्थ जीवन के मध्य से **अभिप्रेहि**=वानप्रस्थ की ओर चल। **पितॄणां लोकं मा अपहास्थाः**=पितरों के लोक को दूर से मत छोड़। तू भी पितरों के लोक में आनेवाला बन। **यः**=जो पितृलोक **अत्र**=यहाँ जीवन में **प्रथमः**=सर्वप्रथम लोक है—मुख्य है, अथवा विस्तारवाला है (प्रथ विस्तारे)। इसमें गृहस्थ के संकुचित क्षेत्र से ऊपर उठकर एक व्यक्ति विशाल अन्तरिक्ष में प्रवेश करता है।

भावार्थ—पितरों से प्रवाहित होनेवाले ज्ञाननदी में अपने जीवन को शुद्ध करते हुए हम भी ऊपर उठें। वह भी समय आये जब हम भी गृहस्थ से ऊपर उठकर वनस्थ हों। इस पितृलोक को हम उपेक्षित न करें। यह लोक हमें विशाल अन्तरिक्ष में ले-जाता है।

अथ चतुर्थोऽनुवाकः

[४] चतुर्थं सूक्तम्

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

वेदवाणी द्वारा प्रभु के प्रकाश को प्राप्त करना

आ रोहत जनित्रीं जातवेदसः पितृयाणैः सं व आ रोहयामि।
अवाड्ढव्येषितो हव्यवाह ईजानं युक्ताः सुकृतां धत्त लोके॥ १॥

१. **जातवेदसः**=उस सर्वव्यापक (जाते जाते विद्यते), सर्वज्ञ (जातं जातं वेत्ति) प्रभु की **जनित्रीम्**=प्रादुर्भाव करनेवाली वेदवाणी का **आरोहत**=आरोहण करो (सर्वे वेदाः यत्पदमामनन्ति०

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य:०)। वेदवाणी के अध्ययन से हम प्रभु के प्रकाश को देखनेवाले बनें। प्रभु कहते हैं कि मैं **वः**=तुम्हें **पितृयाणैः**=पितृयाण मार्गों से **सं आरोहयामि**=सम्यक् आरूढ़ कराता हूँ। रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त लोग स्वाध्याय-प्रवृत्त होकर वेदवाणी का आरोहण करते हैं। ध्वंस के मार्ग की ओर प्रवृत्ति होते ही ज्ञानरुचिता समाप्त हो जाती है। २. पितृयाणमार्गों से चलता हुआ व्यक्ति **हव्यवाहः**=हव्य का वहन करनेवाला होता है—सदा यज्ञशील बनता है। यह **इषितः**=प्रभु से प्रेरणा प्राप्त किया हुआ व्यक्ति **हव्या अवाट्**=हव्य पदार्थों का वहन करनेवाला होता है। यज्ञिय पवित्र पदार्थों का ही सेवन करता है। हे **युक्ताः**=साम्यबुद्धि से युक्त पितरो! आप **ईजानम्**=इन यज्ञशील पुरुषों को **सुकृतां लोके धत्त**=पुण्यकर्मा लोगों के लोक में धारण करो, अर्थात् आपकी प्रेरणा से ये लोग यज्ञशील बनें और सदा पुण्यकर्मों में प्रवृत्त रहें।

भावार्थ—हम रक्षणात्मक कर्मों में प्रवृत्त हुए-हुए वेदवाणी के स्वाध्याय से प्रभु के प्रकाश को देखने का प्रयत्न करें। प्रभुप्रेरणा को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति यज्ञशील बनता है। यह सदा पुण्यकर्मा लोगों के लोक में निवास करनेवाला होता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

देव यज्ञमय जीवनवाले होते हैं

दे॒वा य॒ज्ञमृ॒तवः॑ कल्पयन्ति ह॒विः पु॑रो॒डाशं॑ स्रु॒चो य॑ज्ञायु॒धानि॑।
तेभि॑र्याहि प॒थिभि॑र्देव॒यानै॒र्यैरी॑जा॒नाः स्व॒र्गं यन्ति॑ लो॒कम्॥ २॥

१. (ऋतवो वै देवाः गो० २.६.६) **ऋतवः देवाः**=नियमित गतिवाले (ऋ गतौ) अथवा दानपूर्वक अदन करनेवाले (हु दानादनयोः) देववृत्ति के व्यक्ति **यज्ञं कल्पयन्ति**=यज्ञ को सिद्ध करते हैं। **हविः**=चरु-आज्य व सोमलक्षण हवि को **पुरोडाशम्**=पिष्टिमय—मोहनभोग आदि हव्य विशेषों को **स्रुचः**=जुहू आदि यज्ञोपयुक्त चमसादि को, **यज्ञायुधानि**=यज्ञ के साधनभूत सब उपकरणों को ये सिद्ध करते हैं। २. हे साधक! तू **तेभिः**=उन **देवयानैः पथिभिः**=देवों से जाने योग्य मार्गों से **याहि**=गतिशील बन। **ईजानाः**=यज्ञशील लोग **स्वर्गं लोकं यन्ति**=स्वर्गलोक को प्राप्त करते हैं। इनके घर स्वर्गोपम बनते हैं।

भावार्थ—देव यज्ञमय जीवनवाले होते हुए घरों को स्वर्गमय बनाते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाभुरिगतिजगती** ॥

तृतीये नाके (अङ्गिरसः, सुकृतः, आदित्याः)

ऋ॒तस्य॒ पन्था॒मनु॑ पश्य सा॒ध्वङ्गि॑रसः सु॒कृतो॒ येन॒ यन्ति॑। तेभि॑र्याहि
प॒थिभिः॑ स्व॒र्गं यत्रा॑दि॒त्या मधु॑ भ॒क्षय॑न्ति तृ॒तीये॒ नाके॒ अधि॒ वि श्र॑यस्व॥ ३॥

१. हे साधक! तू **ऋतस्य पन्थाम्**=ऋत के—यज्ञ के मार्ग को **साधु अनुपश्यः**=सम्यक् अनुक्रमेण देखनेवाला बन। **अङ्गिरसः**=अंग-प्रत्यंग में रसवाले—पूर्ण स्वस्थ व ज्ञानी **सुकृतः**=पुण्यशाली लोग **येन यन्ति**=जिस ऋत के मार्ग से जाते हैं। ज्ञानी पुण्यकर्मा लोग ऋत के मार्ग से ही चलते हैं—हमें भी इस ऋत (यज्ञ) के मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। २. हे साधक! तू भी **तेभिः पथिभिः**=उन मार्गों से **स्वर्गं याहि**=सुखमय लोक को प्राप्त कर, **यत्र**=जिस लोक में **आदित्याः**=सदा गुणों का आदान करनेवाले लोग **मधु भक्षयन्ति**=मधुवत् प्रीतिकर सात्त्विक भोजनों को ही यज्ञशेष के रूप में खाते हैं। उस **तृतीये नाके**=तृतीय सुखमय लोक में **अधिविश्रयस्व**=तू आश्रय कर। प्राकृतिक भोगों के उपभोग का मार्ग 'पृथिवीलोक' है। राजस् प्रवृत्तिवाला 'धन और यश' की प्राप्ति का मार्ग 'अन्तरिक्षलोक' है। यज्ञशेष के रूप

में सात्त्विक भोजन का स्वीकार 'प्रभु-प्राप्ति' का मार्ग 'द्युलोक' है। यही 'तृतीय नाक' लोक हैं। तू इसमें विचरनेवाला बन।

भावार्थ—हम ऋत के मार्ग को देखें। इसी मार्ग से पुण्यशील लोग चलते हैं। इस मार्ग में गुणों का आदान करनेवाले आदित्य मधु का भक्षण करते हैं। यही तृतीय नाक लोक है। हमें इसी का आश्रय करना चाहिए।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

त्रयः सुपर्णाः

त्रयः सुपर्णा उपरस्य मायू नाकस्य पृष्ठे अधि विष्टपि श्रिताः।
स्वर्गा लोका अमृतेन विष्ठा इषमूर्जं यजमानाय दुह्राम्॥ ४॥

१. गतमन्त्र में वर्णित 'अङ्गिरसः, सुकृता, आदित्याः'=पूर्णस्वस्थ, उत्तम कर्मों को करनेवाले, गुणों व ज्ञान का आदान करनेवाले **त्रयः**=तीनों **सुपर्णाः**=उत्तमता से अपना पालन व पूरण करनेवाले हैं। ये **उपरस्य मायू**=(उपरमनोऽस्मिन् भूतानि, मायु=मायवः) सब प्राणियों के निवास-स्थानभूत प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करनेवाले हैं। ये **नाकस्य पृष्ठे**=आनन्दमय प्रभु के आधार में **विष्टपि अधिश्रिताः**=(त्रिविष्टप=विष्टप) स्वर्गलोक में आश्रय करते हैं, अर्थात् इनके घर स्वर्ग बन जाते हैं। २. **स्वर्गःलोकाः**=ये स्वर्गतुल्य गृह **अमृतेन विष्ठाः**=अमृत से—नीरोगता से व्याप्त हैं (विष व्याप्तौ)। ये **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए **इषम् ऊर्जम्**=अन्न और रस को—अथवा प्रभु-प्रेरणा (इष्) और बल (ऊर्ज्) को **दुह्राम्**=प्रपूरित करनेवाले हों।

भावार्थ—हम 'अङ्गिरस् (पूर्णस्वस्थ), सुकृत् (पुण्यकर्मा), आदित्या (गुणों व ज्ञानों का आदान करनेवाले)' बनकर प्रभु का उपासन करते हुए अपने घरों को स्वर्ग बनाएँ। ये घर नीरोगता के आधार हों। हमारे लिए अन्न-रस का दोहन करनेवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**जगती**॥

जुहूः, उपभृत्, ध्रुवा

जुहूर्दाधार द्यामुपभृदन्तरिक्षं ध्रुवा दाधार पृथिवीं प्रतिष्ठाम्।
प्रतीमां लोका घृतपृष्ठाः स्वर्गाः कामंकामं यजमानाय दुह्राम्॥ ५॥

१. यज्ञ के महत्त्व का काव्यमय वर्णन इस रूप में करते हैं कि **जुहूः द्याम् दाधार**=(हूयते अनया हविः सोमसाधनाभूतः पात्रविशेषः) जुहू नामक यज्ञपात्र द्युलोक का धारण करता है। **उपभृत् अन्तारिक्षम्**=(उप समीपे जुह्वाः भ्रियते) जुहू के समीप रखा जानेवाल पात्रविशेष अन्तरिक्ष को धारण करता है। **ध्रुवा प्रतिष्ठां पृथिवीं दाधार**=ध्रुवा संज्ञिका स्रुक् चराचरात्मक जगत् की आश्रयभूत प्रथित भूमि को धारण करती है। इसप्रकार ये यज्ञपात्र त्रिलोक का धारण करते हैं, अर्थात् सम्पूर्ण संसार का आधार यज्ञ ही है। २. **इमां प्रति**=ध्रुवा से धारित इस पृथिवी का लक्ष्य करके **लोकाः**=सब लोक **घृतपृष्ठाः**=दीप्ति के आधारभूत होते हैं, **स्वर्गाः**=स्वर्ग ही होते हैं। सब लोक इन प्राणियों की आधारभूत पृथिवी को दीप्तिमय व स्वर्गतुल्य बनाते हैं। जब इस पृथिवी पर सब मनुष्य यज्ञशील बनते हैं, तब इस पृथिवी पर सूर्य शान्तिशील होकर तपता है (शं नस्तपतु सूर्यः), अन्तरिक्ष से बादल भी ठीक वर्षा करके अन्नोत्पत्ति का साधन बनते हैं (शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्यः)। ये **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए **कामंकामम्**=प्रत्येक काम्य—चाहने योग्य पदार्थ का **दुह्राम्**=दोहन करते हैं।

भावार्थ—'यज्ञ' त्रिलोकी का धारण करता है। यज्ञों के होने पर सब अन्तरिक्ष व द्युलोक

इस पृथिवी को दीप्तिमय स्वर्गतुल्य बनाते हैं। यज्ञशील पुरुष के लिए सब काम्य पदार्थों को प्राप्त कराते हैं 'एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्'।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अहृणीयमानः 'यजमान'

ध्रुव आ रोह पृथिवीं विश्वभोजसमन्तरिक्षमुपभृदा क्रमस्व।
जुहु द्यां गच्छ यजमानेन साकं स्रुवेण वत्सेन दिशः प्रपीनाः सर्वा धुक्ष्वाहृणीयमानः॥ ६॥

१. हे **ध्रुवे**=यज्ञपात्रविशेष! तू **विश्वभोजसम् पृथिवीम् आरोह**=सबका पालन करनेवाली इस पृथिवी पर आरोहण कर—इस पृथिवी की अधिष्ठात्री देवता बन। हे **उपभृत्**=जुहू के समीप स्थापित होनेवाले पात्रविशेष। तू **अन्तरिक्षम् आक्रमस्व**=अन्तरिक्षलोक में गतिवाली हो और **जुहू**=हे जुहु! तू **यजमानेन साकम्**=इस यज्ञशील पुरुष के साथ **द्यां गच्छ**=द्युलोक में जानेवाली हो, अर्थात् तू यजमान को प्रकाशमय लोक में प्राप्त करा। २. 'ध्रुवा, उपभृत् तथा जुहू' द्वारा यज्ञ करते हुए हे यजमान! तू **स्रुवेण वत्सेन**=इस वत्स के समान स्रुव नामक पात्र से **सर्वाः प्रपीनाः दिशः धुक्ष्वः**=सब आप्यायित हुई दिशाओं का दोहन कर। बछड़ा गोस्तनों को स्तन्यपान द्वारा प्रपीन करता है, इसी प्रकार 'स्रुव' जुहू आदि पात्रों को आज्यपूरित करता है, अतः यह स्रुव वत्स-तुल्य कहा गया है। स्रुव के द्वारा यजमान सब दिशाओं से काम्य पदार्थों का दोहन करनेवाला बनता है। हे यजमान! इसप्रकार यज्ञ से सब वस्तुओं का दोहन करता हुआ तू **अहृणीयमानः**=(अरोषणः) रोषरहित है—तू बिलकुल क्रोधशून्य है। सब काम्य पदार्थों की प्राप्ति तुझे अभिमान व क्रोध आदि से परिपूर्ण न कर दे।

भावार्थ—यज्ञ हमारे जीवन को स्वर्गमय बनाए। यज्ञशील पुरुष के लिए सब दिशाएँ इष्ट काम्य पदार्थों को प्राप्त कराएँ। सब इष्टों से परिपूर्ण होता हुआ भी यह यजमान अभिमान व क्रोध से शून्य होता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

तीर्थै तरन्ति प्रवतः मही (इति)

तीर्थैस्तरन्ति प्रवतो महीरिति यज्ञकृतः सुकृतो येन यन्ति।
अत्रादधुर्यजमानाय लोकं दिशो भूतानि यदकल्पयन्त॥ ७॥

१. **तीर्थैः**=माता, पिता, आचार्य आदि तीर्थों के द्वारा **महीः**=महान् **प्रवतः**=(Precipice, deviving) ढलानों को **तरन्ति**=तैर जाते हैं, अर्थात् अज्ञानान्धकार से तरानेवाले 'माता, पिता, आचार्य' आदि तीर्थ हैं। इनके द्वारा दिये गये ज्ञानों के द्वारा हम जीवन-यात्रा में आ जानेवाली महान् ढलानों को—कठिन मार्गों को जीवन की उलझनों को तैर जाते हैं। **इति**=इसप्रकार अज्ञानान्धकारों को तैर कर ये उस मार्ग से **यन्ति**=चलते हैं, **येन**=जिससे कि **यज्ञकृतः सुकृतः**=यज्ञशील पुण्यकृत् लोग चला करते हैं। ब्रह्मचर्याश्रम में अज्ञान को दूर करके गृहस्थ में यज्ञशील बनते हैं। २. इस **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए **अत्र**=यहाँ—गृहस्थ जीवन में **दिशः**=सब दिशाएँ **लोकम् अदधुः**=प्रकाश को धारण करती हैं। **यत्**=जबकि ये यज्ञशील **भूतानि**=सब प्राणियों को **अकल्पयन्त**=सामर्थ्य-सम्पन्न करते हैं। यज्ञ की भावना मनुष्यों को परस्पर मेलवाला बनाती है। (सह संगतिकरण) यह मेल (संघ) शक्ति को बढ़ाता है। इस शक्ति के होने पर उनके लिए सब ओर प्रकाश-ही-प्रकाश होता है। निर्बलता व असामर्थ्य ही

सब कष्टों का मूल बना करती है।

भावार्थ—हम 'माता, पिता, आचार्य' आदि तीर्थों से अज्ञान को तैर कर यज्ञशील बनें। इस यज्ञशीलता से हमारे लिए सब ओर प्रकाश-ही-प्रकाश होता है। इस यज्ञशीलता से हम मेलवाले बनकर शक्तिशाली बनते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाऽतिशक्वरी** ॥

अङ्गिरस्-आदित्य-दक्षिण

अङ्गिरसामयनं पूर्वो अग्निरादित्यानामयनं गार्हपत्यो दक्षिणानामयनं दक्षिणाग्निः।
महिमानमग्नेर्विहितस्य ब्रह्मणा समङ्गः सर्व उप याहि शग्मः॥ ८॥

१. **अङ्गिरसाम्**=प्राणशक्तिसम्पन्न—अथवा प्राणों की आराधना करनेवाले ब्रह्मचारियों का **अयनम्**=शरण (रक्षक) **पूर्वः अग्निः**=यह आहवनीय अग्नि है। आहवनीय अग्नि 'आचार्य' है (गुरुराहवनीयस्तु)। यह विद्यार्थी का पूरण करने से 'पूर्व अग्नि' कहा गया है। यह विद्यार्थी को संयमी बनाकर प्राणशक्तिसम्पन्न बनाता है। **आदित्यानाम्**=अदीना देवमाता के पुत्रभूत इन गृहस्थों का **अयनम्**=शरण **गार्हपत्यः**=गार्हपत्य अग्नि है। गार्हपत्य अग्नि ठीक प्रज्वलित रहे, अर्थात् गृहस्थ का खान-पान ठीक से चलता जाए तो गृहस्थ में सबके मस्तिष्क ठीक से कार्य करते हैं। गार्हपत्य अग्नि 'पिता' कहलाता है। पिता के ठीक होने पर गृहस्थ में अन्य व्यक्ति भी ठीक बने रहते हैं। सन्तानों पर पिता का बड़ा स्वस्थ प्रभाव पड़ना आवश्यक है। अब गृहस्थ से ऊपर उठकर (दक्ष् to grow) वानप्रस्थ में पहुँचनेवाले **दक्षिणानाम्**=चतुर, कुशल पुरुषों का **अयनम्**=शरण **दक्षिणाग्निः**=दक्षिणाग्नि 'माता' है। एक वानप्रस्थ अब किन्हीं को भी पत्नीभाव से न देखकर सभी को मातृभाव से देखता है। २. संन्यस्त होकर तू **ब्रह्मणा विहितस्य**=वेद द्वारा प्रतिपादित **अग्नेः महिमानम्**=उस प्रभु की महिमा को (सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति) **समङ्गः**=सब अंगों से संगत हुआ-हुआ **सर्वः**=(whole) पूर्णस्वस्थ व **शग्मः**=सुख-दुःखरहित हुआ-हुआ **उपयाहि**=समीपता से प्राप्त हो। प्रभु की उपासना करता हुआ तू प्रभु की महिमा को प्राप्त करनेवाला हो।

भावार्थ—आचार्य हमें प्राणशक्तिसम्पन्न बनाएँ। गृहस्थ में पिता सबको उत्तम गुणों का आदान करनेवाला बनाए। वानप्रस्थ में हम सब नारियों में मातृभावनावाले हों और अन्ततः संन्यास में हम संहत अवयवोंवाले—स्वस्थ व सुखी होते हुए प्रभु की महिमा को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाभुरिक्शक्वरी** ॥

'पूर्व, गार्हपत्य व दक्षिण' अग्नियाँ

पूर्वो अग्निष्ट्वा तपतु शं पुरस्ताच्छं पश्चात्तपतु गार्हपत्यः।
दक्षिणाग्निष्टे तपतु शर्म वर्मोत्तरतो मध्यतो
अन्तरिक्षाद्दिशोदिशो अग्ने परि पाहि घोरात्॥ ९॥

१. '**पूर्वः अग्निः**'=तेरा पूरण करनेवाला वह आचार्यरूप अग्नि **त्वा**=तुझे **शम्**=शान्तिकर होता हुआ **पुरस्तात् तपतु**=सबसे प्रथम दीप्त जीवनवाला बनाए। **पश्चात्**=इसके बाद **गार्हपत्यः**=पितारूप गार्हपत्य अग्नि **शम्**=शान्तिकर होता हुआ **तपतु**=तेरे जीवन को दीप्त करे। तेरे पिता तुझे अपनी प्रेरणा व उदाहरण से एक सद्गृहस्थ बनानेवाले हों। अब वानप्रस्थ में यह **दक्षिणाग्निः**=मातृरूप दक्षिणाग्नि—सबके अन्दर मातृभावना **तपतु**=तुझे दीप्त जीवनवाला करे। **शर्म**=यह मातृभावना तुझे सुखी करे। यह भावना **वर्म**=तेरा कवच बने। इस भावना के द्वारा तू चरित्रहीनता में जाने

से बचा रहे। २. हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **उत्तरतः**=उत्तर से, **मध्यतः**=मध्य से, **अन्तरिक्षात्**=अन्तरिक्षदेश से, **दिशः दिशः**=प्रत्येक दिशा से **घोरात् परि पाहि**=घोर, भयंकर पाप कर्मों से बचानेवाले होइए। आपका स्मरण व उपासन हमें अशुभ कर्मों में फँसने से बचाए।

भावार्थ—आचार्य, पिता व मातृभावना मुझे क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ व वानप्रस्थ में दीप्त जीवनवाला बनाएँ। यह मातृभावना मुझे सुखी करे और मेरा कवच बने—मुझे पतन से बचानेवाली हो। प्रभुस्मरण मुझे संन्यस्त दशा में सर्वतः घोर कर्मों से बचानेवाला हो।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शन्तमाभिः तनूभिः

यूयमग्ने शन्तमाभिस्तनूभिरीजानमभि लोकं स्वर्गम्।
अश्वा भूत्वा पृष्टिवाहो वहाथ यत्र देवैः सधमादं मदन्ति ॥ १० ॥

१. हे **अग्ने**=('पूर्व, गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि' आचार्य, पिता, माता व प्रभु)-रूप अग्नियो! **यूयम्**=आप सब **शन्तमाभिः तनूभिः**=अपने अत्यन्त शान्तिकर रूपों से (ये ते अग्ने शिवे तनुवौ विराट् च स्वराट्.....सम्राट् च अभिभूश्च......विभूश्च परिभूश्च.....प्रभ्वी च प्रभूतिश्च 'ते मा विशताम्' तै० १.१७.३), अर्थात् 'ज्ञानदीप्ति, जितेन्द्रियता, सम्यग् दीप्ति, शत्रुपराजय, वैभव, व्यापकता, प्रभावशक्ति, उत्कृष्ट ऐश्वर्य' आदि से आप **ईजानम्**=इस यज्ञशील पुरुष को **स्वर्गं लोकम् अभिवहाथ**=स्वर्गलोक की ओर ले-चलते हो। २. हे अग्नियो! आप इस ईजानपुरुष के लिए **अश्वः भूत्वा**=अश्वों के समान होकर इसे स्वर्ग में ले-चलते हो, जोकि **पृष्टिवाहः**=एक घोड़ा आगे और दो घोड़े जिसमें उसके पीछे जुते हैं, ऐसे रथ के वहन करनेवाले हैं। यहाँ शरीरों में भी बुद्धिरूप घोड़े के पीछे ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्व जुते हैं। आप इस ईजान को वहाँ ले-चलते हो **यत्र**=जहाँ कि ये ईजानपुरुष **देवैः**=ज्ञानियों के साथ **सधमादं मदन्ति**=साथ बैठने के स्थान में ज्ञानचर्चाओं को करते हुए आनन्दित होते हैं।

भावार्थ—आचार्य, पिता व मातारूप अग्नियाँ यज्ञशील पुरुष को स्वर्ग में प्राप्त कराते हैं। यहाँ यज्ञशील पुरुष देवों के साथ ज्ञानचर्चाओं में आनन्द का अनुभव करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

एकस्त्रेधा विहितः

शमग्ने पश्चात्तप शं पुरस्ताच्छमुत्तराच्छमधरात्तपैनम्।
एकस्त्रेधा विहितो जातवेदः सम्यगेनं धेहि सुकृतामु लोके ॥ ११ ॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! आप **एनम्**=इस गतमन्त्र के ईजान-(यज्ञशील)-पुरुष को **पश्चात्**=पश्चिम दिशा से **शं तप**=शान्तिपूर्वक दीप्त जीवनवाला बनाएँ। **उत्तरात् शम्**=उत्तर से इसे शान्ति के साथ दीप्त कीजिए। **अधरात् शं तप**=दक्षिण से भी शान्ति के साथ दीप्त बनाइए। २. हे **जातवेदः**=सर्वज्ञप्रभो! आप ही **एकः**=एक होते हुए **त्रेधा विहितः**=हमारे जीवनों में तीन प्रकार से स्थापित होते हो। आचार्य, पिता व माता के रूप में आप ही हमारे जीवनों में शान्ति व दीप्ति देते हो। आप **एनम्**=इस ईजान को **उ**=निश्चय से **सुकृताम् लोके**=पुण्यशील पुरुषों के लोकों में **धेहि**=स्थापित कीजिए।

भावार्थ—प्रभु हमें सब ओर से शान्त व दीप्त जीवनवाला बनाएँ। हमारे जीवनों में प्रभु ही 'आचार्य, पिता व माता' के रूप में स्थापित होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**महाबृहती**॥

प्राजापत्य यज्ञ

शमग्नयः समिद्धा आ रभन्तां प्राजापत्यं मेध्यं जातवेदसः।
शृतं कृण्वन्त इह माव चिक्षिपन्॥ १२॥

१. **समिद्धाः**=ज्ञान से दीप्त होते हुए **अग्नयः**=आचार्य, पिता व मातारूप अग्नियाँ **जातवेदसः**=उस सर्वज्ञ प्रभु के इस **मेध्यम्**=पवित्र **प्राजापत्यम्**=गृहस्थ में सन्तान निर्माणरूप यज्ञ को **शम् आरभन्ताम्**=शान्तिपूर्वक आरम्भ करें। वस्तुतः एक गृहस्थ में सन्तान प्रभु के ही होते हैं। उन सन्तानों का पालन प्रभु का ही उपासन है। २. सब अग्नियाँ **इह**=इस जीवन में **शृतं कृण्वन्तः**=अपने को ज्ञानाग्नि में परिपक्व करते हुए **मा अवचिक्षिपन्**=अपने को प्रभु से दूर विषय-वासनाओं में मत फेंकनेवाले हों। स्वयं पवित्र जीवनवाले होते हुए ही तो ये इस प्राजापत्य यज्ञ को सम्यक् सिद्ध कर पाएँगे।

भावार्थ—'आचार्य, पिता व माता' स्वयं ज्ञानदीप्त बनकर प्राजापत्य यज्ञ को अत्युत्तमता से कर पाते हैं। अपने को ज्ञानाग्नि में परिपक्व बनाकर ये विषयवासनाओं में लिप्त नहीं होते।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**पञ्चपदाशक्वरी**॥

यज्ञ एति विततः कल्पमानः

यज्ञ एति विततः कल्पमान ईजानमभि लोकं स्वर्गम्।
तमग्नयः सर्वहुतं जुषन्तां प्राजापत्यं मेध्यं जातवेदसः।
शृतं कृण्वन्त इह माव चिक्षिपन्॥ १३॥

१. **स्वर्गं लोकम् अभि ईजानम्**=स्वर्गलोक का लक्ष्य करके यज्ञ करनेवाले इस पुरुष को वह **विततः**=सर्वत्र विस्तृत (सर्वव्यापक) **कल्पमान**=(क्लृपू सामर्थ्ये) सामर्थ्यसम्पन्न होता हुआ **यज्ञः**=पूजनीय प्रभु **एति**=प्राप्त होता है। प्रभु की आज्ञा को मानता हुआ जो भी पुरुष यज्ञात्मक कर्मों में प्रवृत्त होता है उसे प्रभु अवश्य प्राप्त होते हैं। २. **जातवेदसः**=उस सर्वज्ञ प्रभु के **तम्**=उस **सर्वहुतं**=जिसमें सब 'तन-मन-धन' का अर्पण करना पड़ता है, **प्राजापत्यम्**=प्रजाओं के रक्षणात्मक **मेध्यम्**=पवित्र यज्ञ को **अग्नयः**=आचार्य, पिता व मातारूप अग्नियाँ **जुषन्ताम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करें। ये अग्नियाँ **शृतं कृण्वन्तः**=अपने को ज्ञानाग्नि में परिपक्व करते हुए **इह**=इस जीवन में **मा अवचिक्षिपन्**=अपने को प्रभु से दूर विषयवासनाओं में मत फेंक डालें। स्वयं पवित्र जीवनवाले होते हुए ही ये इस प्राजापत्य यज्ञ को उत्तमता से कर पाएँगे।

भावार्थ—प्रभु की आज्ञा के अनुसार यज्ञ करने पर हमें प्रभु की प्राप्ति होती है। हम प्रभु के आदेश के अनुसार ही प्राजापत्य यज्ञ करनेवाले हों। ज्ञानाग्नि में अपने को परिपक्व करके हम विषयवासनाओं से दूर रहें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

देवयान

ईजानश्चितमारुक्षदग्निं नाकस्य पृष्ठाद्दिवमुत्पतिष्यन्।
तस्मै प्र भाति नभसो ज्योतिषीमान्त्स्वर्गः पन्थाः सुकृते देवयानः॥ १४॥

१. **ईजानः**=यज्ञशील पुरुष **चितम्**=ज्ञानस्वरूप **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु को **आरुक्षत्**=आरूढ़ होता है—प्रभु को प्राप्त करता है। यह **नाकस्य पृष्ठात्**=स्वर्गलोक के पृष्ठ से **दिवम् उत्पतिष्यन्**=

४५. [पञ्चचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**आञ्जनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'वासना व क्रोध' का विनाश

ऋणादृणमिव संनयन्कृत्यां कृत्याकृतो गृहम्।
चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणाञ्जन॥ १॥

१. **ऋणात्**=ऋण में से **ऋणम्**=ऋण के अंश को **इव**=जैसे **संनयन्**=कोई व्यक्ति उत्तमर्ण के घर में पहुँचाता है, उसी प्रकार **कृत्याम्**=हिंसा को **कृत्याकृतः**=हिंसा करनेवाले के घर में पहुँचाते हुए हे **आञ्जन**=हमें गतिशील बनानेवाले और सद्गुणों से हमारे जीवन को अलंकृत करनेवाले वीर्य! तू **चक्षुर्मन्त्रस्य**=आँख से—आँख के इशारों (Sidelook or glances) से मन्त्रणा करनेवाली **दुर्हार्दः**=दुष्टहृदयवाली वासना की **पृष्टीः अपि**=पसलियों को भी **शृण**=शीर्ण कर डाल। २. यह सुरक्षित वीर्य हमारे जीवन में से वासना को विनष्ट कर दे। यह हमें हिंसा को अहिंसा से जीतनेवाला बनाए। हिंसक की भी हिंसा न करते हुए हम हिंसा को उसके प्रति वापस भेज दें। हम ऐसा समझें कि हमने पूर्वजन्म में इसका कुछ हिंसन किया होगा, अतः वह ऋण ही अब चुकाया जा रहा है।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्यवाला व्यक्ति वासना को विशीर्ण कर डालता है। क्रोध व हिंसा से दूर रहता है। हिंसक की हिंसा में भी ऋण के उतरने की भावना रखता है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**आञ्जनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'दुःष्वप्न्य' से दूर

यदस्मासु दुःष्वप्न्यं यद्गोषु यच्च नो गृहे।
अनामगस्तं च दुर्हार्दः प्रियः प्रति मुञ्चताम्॥ २॥

१. **यत्**=जो **अस्मासु**=हमारे विषय में **दुर्हार्दः**=दुष्ट हृदयवाले पुरुष का **दुःष्वप्न्यम्**=दुष्ट स्वप्न है **यत् गोषु**=जो हमारी गौओं के विषय में **च**=और **यत् नः गृहे**=जो हमारे घर के विषय में दुष्ट स्वप्न है, उस दुष्ट स्वप्न को भी **अनामगः**=(आयो रोगः) नीरोगता की ओर गतिवाला, **प्रियः**=प्रीति का जनक यह आञ्जन (वीर्य) **तं प्रति च**=उसके ही प्रति **मुञ्चताम्**=छोड़नेवाला हो। २. यदि कोई दुष्ट हृदयवाला पुरुष हमारा अशुभ करने का स्वप्न भी लेता है तो हम वीर्यवान् बनते हुए, उसके बुरा करने का स्वप्न न लें। इस स्वप्न को उसी दुष्ट हृदयवाले के लिए छोड़ दें।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्यवाला पुरुष कभी किसी का बुरा करने का स्वप्न नहीं लेता।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**आञ्जनम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'बल प्राण व ओज' का वर्धन

अपामूर्ज ओजसो वावृधानमग्नेर्जातमधि जातवेदसः।
चतुर्वीरं पर्वतीयं यदाञ्जनं दिशः प्रदिशः करदिच्छिवास्ते॥ ३॥

१. **अपाम्**=प्रजाओं के **ऊर्जः**=बल व प्राणशक्ति का तथा **ओजसः**=ओज का **वावृधानम्**=निरन्तर बढ़ानेवाला **यत् आञ्जनम्**=जो यह जीवन को सद्गुणों से अलंकृत करनेवाला वीर्य है वह **ते**=तेरी **दिशः प्रदिशः**=दिशाओं व प्रदिशाओं को **शिवाः करत्**=कल्याणकर करे। सुरक्षित वीर्य हमें बलवान्, प्राणशक्तिसम्पन्न व ओजस्वी बनाता हुआ **चतुर्वीरम्**=हमारे चारों अंगों को

(मुख, बाहू, ऊरू, पाद) वीर बनाता है। **पर्वतीयम्**=हमारा पूरण करनेवाले तत्त्वों के लिए हितकर है। शरीर का पूरण करनेवाले सब तत्त्वों को हममें सम्यक् उत्पन्न करता हुआ यह हमारे लिए हित-तम है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य हमें 'बल, प्राण व ओज' प्राप्त कराता है। यह हमारे अंगों को सबल बनाता है। शरीर का पूरण करनेवाले सब तत्त्वों को सम्यक् उत्पन्न करता है। इस प्रकार यह हमारा सर्वतः कल्याण करनेवाला है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**आञ्जनम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'चतुर्वीर' आञ्जन

चतुर्वीरं वध्यत आञ्जनं ते सर्वा दिशो अभयास्ते भवन्तु।
ध्रुवस्तिष्ठासि सवितेव चार्य इमा विशो अभि हरन्तु ते बलिम्॥ ४॥

१. **चतुर्वीरम्**=तेरे चारों अंगों को (मुख, बाहू, ऊरू, पाद) वीर बनानेवाला **आञ्जनम्**=तुझे सद्गुणों से अलंकृत करनेवाला यह वीर्य **ते बध्यते**=तेरे अन्दर बाँधा जाता है। **सर्वाः दिशः**=सब दिशाएँ **ते अभयाः भवन्तु**=तेरे लिए निर्भयता देनेवाली हों। २. **सविता इव**=सूर्य की भाँति तू **ध्रुवः तिष्ठासि**=मर्यादा में ध्रुवता से स्थिर होता है। वीर्यवान् पुरुष सूर्य के समान मार्ग का मर्यादित रूप में आक्रमण करता है **च**=और **आर्यः**=तू श्रेष्ठ बनता है अथवा **अर्यः**=अपना स्वामी बनता है। **इमाः विशः**=ये सब प्रजाएँ **ते बलिम् अभिहरन्तु**=तेरे लिए कर प्राप्त कराएँ। यह वीर्यवान् संयमी सूर्यवत् मर्यादित जीवनवाला पुरुष प्रजाओं का शासक बनता है। सब प्रजाएँ इसे राजपद पर प्रतिष्ठित करती हैं।

भावार्थ—वीर्यरक्षक पुरुष 'मुख, बाहू, ऊरू, पाद' इन चारों को सबल बनाता है। यह निर्भय जीवनवाला होता है। स्वयं मर्यादित जीवनवाला होता हुआ प्रजाओं का शासक बनता है। (जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः)।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**आञ्जनम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

आक्ष्व-मणिं कृष्णुष्व-स्नाहि-पिब

आक्ष्वैकं मणिमेकं कृणुष्व स्नाह्येकेना पिबैकमेषाम्।
चतुर्वीरं नैर्ऋतेभ्यश्चतुर्भ्यो ग्राह्या बन्धेभ्यः परि पात्वस्मान्॥ ५॥

१. **एषाम्**=इन रेतःकणों के **एकम्**=इस अद्वितीय तत्त्व को **आ अक्ष्व**=(अक्ष् व्याप्तौ) शरीर में चारों ओर व्याप्त कर। **एकम्**=इस अद्वितीय तत्त्व को **मणिं कृणुष्व**=तू अपनी मणि बना ले—यही तुझे अलंकृत करेगा। **एकेन**=इस अद्वितीय तत्त्व से **स्नाहि**=तू अपने को पवित्र करले। **एकम्**=इस अद्वितीय तत्त्व का **पिब**=तू अपने अन्दर पान कर। २. **चतुर्वीरम्**=हमारे चारों अंगों को वीर बनानेवाला (मुख, बाहू, ऊरू, पाद) यह वीर्य **चतुर्भ्यः नैर्ऋतेभ्यः**=चारों अंगों में होनेवाली दुर्गतियों को तथा **ग्राह्याः**=वात-विकार-जनित गठिया रोग के **बन्धेभ्यः**=बन्धनों से **अस्मान्**=हमें **परिपातु**=सुरक्षित करे।

भावार्थ—वीर्य को हम शरीर में व्याप्त करें। इसे अपने को सुभूषित करनेवाली मणि बनाएँ—इससे अपने को परिशुद्ध करें—इसे अपने अन्दर पीनेवाले बनें। यह चारों अंगों को वीर बनानेवाला वीर्य हमें चारों अंगों की पीड़ा के जनक ग्राही के बन्धनों से मुक्त रक्खेगा।

प्रकाशमय प्रभु को प्राप्त करनेवाला होता है। जब तक यज्ञों में सकामता रहती है, तब तक यह स्वर्ग को प्राप्त करता है। निष्कामता आते ही ये उसे स्वर्ग से भी ऊपर उठाकर प्रभु के समीप ले-जाते हैं। २. **तस्मै**=उस यज्ञशील पुरुष के लिए **नभसः**=आकाश से वह **ज्योतिष्मान् प्रभाति**=ज्योतिर्मय प्रभु प्रकाशित होते हैं—उसे आकाश के तारों में भी प्रभु का प्रकाश दिखता है। **सुकृते**=इस पुण्यशील पुरुष के लिए **स्वर्गः पन्थाः देवयानः**=वह (स्वर् ग) प्रकाशमय मार्ग होता है जोकि देवों का मार्ग है। देव प्रकाशमय मार्ग से गति करते हैं और अन्ततः प्रभु को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम सकाम यज्ञों से स्वर्ग को प्राप्त करके उन्हें निष्कामता से करते हुए प्रभु को प्राप्त करनेवाले हों। यही देवयान मार्ग है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना'

अग्निर्होताध्वर्युष्टे बृहस्पतिरिन्द्रो ब्रह्मा दक्षिणतस्ते अस्तु।
हुतोऽयं संस्थितो यज्ञ एति यत्र पूर्वमयनं हुतानाम्॥ १५॥

१. हे यज्ञशील पुरुष! **अग्निः होता**=तेरे यज्ञ का होता वह अग्रणी प्रभु ही है। **बृहस्पतिः**=ब्रह्मणस्पति—ज्ञानियों का भी ज्ञानी प्रभु **ते अध्वर्युः**=तेरे यज्ञ का संचालक है। **इन्द्रः**=परमैश्वर्यवान्—सर्वशक्तिमान् प्रभु ही **ब्रह्मा**=तेरे यज्ञ के ब्रह्मा हैं। **ते दक्षिणतः अस्तु**=इन्हें तू दक्षिणभाग में स्थित कर। आदर के लिए दक्षिणभाग में बिठाना होता है। तू प्रभु का आदर व पूजन करनेवाला हो। २. इसप्रकार प्रभु के आधार में **हुतः अयम्**=आहुत हुआ-हुआ यह **यज्ञः संस्थितः**=ठीक रूप में समाप्त हुआ-हुआ तुझे वहाँ (गमयति) प्राप्त कराता है, **यत्र**=जहाँ कि **हुतानां पूर्वम् अयनम्**=यज्ञशील पुरुषों का (हुतं अस्य अस्ति इति हुतः) मुख्य शरणस्थान है। 'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्। ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना'—ब्रह्म को ही यज्ञ का कर्त्ता मानता हुआ पुरुष ब्रह्म को प्राप्त करता ही है।

भावार्थ—एक यज्ञशील पुरुष अपने यज्ञ को ब्रह्म से ही 'अग्नि (होता), बृहस्पति (अध्वर्यु) व इन्द्र (ब्रह्म)' के रूप में होता हुआ अनुभव करता है। इसप्रकार इसका यज्ञ ठीक से समाप्त होता है और यह ब्रह्म को ही प्राप्त करता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिपदाभुरिङ्महाबृहती**॥

यज्ञशिष्ट उत्तम भोजन

अपूपवान्क्षीरवांश्चरुरेह सीदतु।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ॥ १६॥
अपूपवान्दधिवांश्चरुरेह सीदतु।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ॥ १७॥
अपूपवान्द्रप्सवांश्चरुरेह सीदतु।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ॥ १८॥
अपूपवान्घृतवांश्चरुरेह सीदतु।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ॥ १९॥

अपूपवान्मांसवांश्चरुरेह सीदतु।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ॥ २०॥
अपूपवानन्नवांश्चरुरेह सीदतु।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ॥ २१॥
अपूपवान्मधुमांश्चरुरेह सीदतु।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ॥ २२॥
अपूपवान्रसवांश्चरुरेह सीदतु।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ॥ २३॥
अपूपवानपवांश्चरुरेह सीदतु।
लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ॥ २४॥

१. यज्ञों को करनेवाला पुरुष सदा यज्ञशिष्ट उत्तम भोजन ही करता है। वह प्रभु से यही प्रार्थना करता है कि **इह**=यहाँ—हमारे घरों में **चरुः**=चरणीय—भक्षणीय-भोजन **आसीदतु**=हमें प्राप्त हो। यह भोजन **अपूपवान्**=(न पूयते न विशीर्यते) दुर्गन्धित रोटी से युक्त न हो तथा **क्षीरवान्**=दूध से युक्त हो, इसी प्रकार यह भोजन **दधिवान्**=दहीवाला हो। **द्रप्स्वान्**=(diluted curd) छाछ आदिवाला हो। **घृतवान्-मांसवान्** (fleshy part of fruits)=घृत से तथा फलों के गूदे से युक्त हो। **अन्नवान्-मधुमान्**=अन्नवाला हो तथा शहदवाला हो। **रसवान्-अपवान्**=रस से युक्त हो तथा जलोंवाला हो। ये ही हमारे भोज्यद्रव्य हों। २. इन उत्तम सात्त्विक भोजनों को करते हुए हम उन सत्पुरुषों के **यजामहे**=संग को प्राप्त हों जो **लोककृतः**=प्रकाश फेलानेवाले हैं—ज्ञानमार्ग को दिखलानेवाले हैं। **पथिकृतः**=कर्त्तव्यपथ का प्रतिपादन करते हैं और **ये**=जो **इह**=यहाँ—जीवन में **देवानां हुतभागाः स्थ**=देवों के हुत का सेवन करनेवाले हैं, अर्थात् यज्ञशील हैं और यज्ञशेष का ही सेवन करनेवाले हैं।

भावार्थ—हमारा भोजन सात्त्विक हो और संग ज्ञानी, यज्ञशील पुरुषों के साथ हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

स्वधा-मधु-घृत-धान-तिल

अपूपापिहितान्कुम्भान्यांस्ते देवा अधारयन्।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः॥ २५॥
यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः।
तास्ते सन्तूद्भ्वीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानु मन्यताम्॥ २६॥

व्याख्या १८.३.६८-६९ पर द्रष्टव्य है। २६ वें मन्त्र में 'विभ्वी' के स्थान में 'उद्भ्वी' पाठ है। इसका अर्थ भी वही है। 'खूब अधिक पैदा होनेवाले'

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**याजुषीगायत्री**॥

अक्षिति

अक्षितिं भूयसीम्॥ २७॥

१. हे साधक! तू प्रभु के अनुग्रह से **भूयसीम्**=बहुत अधिक **अक्षितिम्**=न नष्ट होने देनेवाली अन्न-सम्पत्ति को प्राप्त कर।

भावार्थ—हमारे घरों में उन उत्तम अन्नों की कमी न हो जो हमारी नीरोगता व निर्मलता के साधक बनते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सात्त्विक अन्न से उत्पन्न 'सोम' का शरीर में स्थापन

द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिमं च योनिमनु यश्च पूर्वः।
समानं योनिमनु संचरन्तं द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः ॥ २८ ॥

१. गतमन्त्रों में वर्णित सात्त्विक अन्न से उत्पन्न हुआ-हुआ **द्रप्सः**=रेतःकण (Drops of semen) **पृथिवीम् द्याम् अनु**=इस शरीररूप पृथिवी व मस्तिष्करूप द्युलोक को लक्ष्य करके **चस्कन्द**=शरीर में ही ऊर्ध्व (ascend) गतिवाला होता है। **च**=और **इमं योनिम्**=इस शरीररूप घर को **यः च पूर्वः**=और जो सर्वप्रथम स्थान में होनेवाला मस्तिष्करूप द्युलोक है, उसको **अनु**=लक्ष्य करके यह 'द्रप्स' शरीर में व्याप्त होता है। २. **समानम्**=(सम् आन) उत्तम प्राण-शक्तियुक्त **योनिम् अनु**=शरीररूप गृह का लक्ष्य करके **संचरन्तम्**=सम्यक् गति करते हुए **द्रप्सम्**=इस रेतःकण को **सप्त होत्राः अनु जुहोमि**=मैं शरीर-यज्ञ की साधक 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' इन सात (दो कान, दो नासिका छिद्र, दो आँखें, एक मुख) होतृरूप इन्द्रियों का लक्ष्य करके शरीररूप यज्ञकुण्ड में आहुत करता हूँ। इस द्रप्स ने ही इन होताओं के शरीर-यज्ञ को सिद्ध कर सकने में समर्थ करना है।

भावार्थ—शरीर में ही व्याप्त किया गया सोम (द्रप्स) शरीर को, मस्तिष्क को व इन्द्रियों को सशक्त व दीप्त बनाता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

प्रभु-पूजन व त्याग

शतधारं वायुमर्कं स्वर्विदं नृचक्षसस्ते अभि चक्षते रयिम्।
ये पृणन्ति प्र च यच्छन्ति सर्वदा ते दुह्रते दक्षिणां सप्तमातरम् ॥ २९ ॥

१. **ते नृचक्षसः**=वे मनुष्यों का ध्यान करनेवाले—उनका रक्षण करनेवाले (सर्वभूताहिते रताः) पुरुष उस प्रभु को ही **रयिम् अभिचक्षते**=ऐश्वर्य के रूप में देखते हैं, जो प्रभु **शतधारम्**=शतवर्षपर्यन्त हमारा धारण करनेवाले हैं। **वायुम्**=गति द्वारा सब बुराइयों का खण्डन करनेवाले हैं। **अर्कम्**=पूजनीय हैं व सूर्यसम दीप्त हैं। **स्वर्विदम्**=सुख व प्रकाश को प्राप्त करनेवाले हैं। २. **ये**=जो प्रभु के पुजारी **पृणन्ति**=(पृणाति protect) रक्षण का कार्य करते हैं, **च**=और सर्वदा **प्रयच्छन्ति**=सदा दान देनेवाले होते हैं, **ते**=वे **दक्षिणाम्**=दिये हुए दान को **सप्तमातरम् दुह्रते**=सात गुणा मपे हुए को दोहते हैं। दिया हुआ दान उन्हें सप्तगुणित होकर पुनः प्राप्त होता है।

भावार्थ—हम भूतहित में प्रवृत्त हुए-हुए प्रभु का पूजन करनेवाले बनें—प्रभु को ही अपना ऐश्वर्य समझें। धनों का दान देनेवाले बनें। रक्षणात्मक कर्मों में इनका विनियोग करें। ये दान दिये हुए धन सप्तगुणित होकर पुनः हमें प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

इडा धेनु का दोहन

कोशं दुहन्ति कलशं चतुर्बिलमिडां धेनुं मधुमतीं स्वस्तये।
ऊर्जं मदन्तीमदितिं जनेष्वग्ने मा हिंसीः परमे व्यो॑मन् ॥ ३० ॥

यात्रा इस धन के बिना सफलता से सम्पन्न नहीं हो सकती। **इह चित्तः**=तू यहाँ ही चित्तवाला हो—भूत, भविष्यत् का स्मरण न करते रहकर, वर्तमान काल में चलनेवाला बन। **इह क्रतुः**=यहाँ ही संकल्पवाला तू बन। इस लोक को उत्तम बनाने के संकल्प व पुरुषार्थवाला तू हो। २. **इह**=यहाँ **वीर्यवत्तरः एधि**=खूब ही शक्तिशाली तू हो। **वयोधाः**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाला बन और **अपराहतः**=कभी भी काम-क्रोध आदि से तू आहत न हो।

भावार्थ—हम भूत व भविष्यत् में न रहकर वर्तमान में रहनेवाले बनें। वर्तमान को सुन्दर बनाने का प्रयत्न करें। शक्तिशाली हों—दीर्घजीवनवाले हों और वासनाओं से पराभूत न हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पुरोविराड्भास्तारपङ्क्तिः** ॥

सन्तान पालन व वृद्धपूजन

पुत्रं पौत्रमभितर्पयन्तीरापो मधुमतीरिमाः।
स्वधां पितृभ्यो अमृतं दुहाना आपो देवीरुभयांस्तर्पयन्तु॥ ३९ ॥

१. **पुत्रं पौत्रम् अभितर्पयन्तीः**=पुत्रों व पौत्रों को प्रीणित करती हुई—उनके लिए सब आवश्यक पदार्थों को प्राप्त कराने के द्वारा उन्हें सदा प्रसन्न रखती हुई **इमाः आपः**=ये प्रजाएँ **मधुमतीः**=अतिशयेन मधुर जीवनवाली होती हैं। सन्तानों के उत्तम होने पर माता-पिता का जीवन तो आनन्दमय होता ही है। २. **पितृभ्यः**=अपने बड़े माता-पिता के लिए **स्वधाम्**=अन्नों को व **अमृतम्**=नीरोगता को **दुहानाः**=प्रपूरित करती हुई **देवीः आपः**=प्रकाशमय जीवनवाली—स्वाध्यायशील प्रजाएँ **उभयान्**=एक ओर पुत्र-पौत्रों को तथा दूसरी ओर माता-पिता आदि बड़ों को **तर्पयन्तु**=प्रीणित करनेवाली हों।

भावार्थ—युवा गृहस्थों का कर्तव्य है कि वे सन्तानों का समुचित पालन व शिक्षण करें तथा बड़ों की भोजनादि की व्यवस्था को ठीक रखते हुए उन्हें नीरोग बनाएँ। यही जीवन को मधुर व प्रकाशमय बनाने का मार्ग है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

आचार्यकुल में भेजना

आपो अग्निं प्र हिणुत पितॄँरुपेमं यज्ञं पितरो मे जुषन्ताम्।
आसीनामूर्जमुप ये सचन्ते ते नो रयिं सर्ववीरं नि यच्छान्॥ ४० ॥

१. हे **आपः**=प्रजाओ! (गृहस्थियो!) आप **अग्निम्**=अपने इस प्रगतिशील सन्तान को **पितॄन् उप**=पितरों के समीप—वनस्थ पितरों के कुलों में **प्रहिणुत**=भेजो। उनके समीप इनका समुचित शिक्षण हो पाएगा। **मे**=मेरे **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **पितरः जुषन्ताम्**=पितर प्रीतिपूर्वक सेवन करनेवाले हों, पितरों के अनुग्रह से मेरा जीवन-यज्ञ ठीक प्रकार से चलता जाए। मैं समय-समय पर उनसे उचित प्रेरणा प्राप्त करता हुआ मार्ग पर बढ़ता चलूँ। २. **आसीनाम्**=शरीर में उपविष्ट—शरीर का स्थिर अंग बनी हुई **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्तियों को **ये**=जो **उपसचन्ते**=अपने में समवेत करते हैं, **ते**=वे पितर **नः**=हमारे लिए **सर्ववीरम्**=सब वीरों से युक्त **रयिम्**=ऐश्वर्य को **नियच्छान्**=प्राप्त कराएँ। पितरों के क्रियात्मक उपदेशों व प्रेरणा से हम सब वीर व ऐश्वर्यसम्पन्न बनें।

भावार्थ—हम अपने सन्तानों को पितरों के समीप उनके कुलों में पहुँचाएँ। यहाँ उनका समुचित शिक्षण हो। हमारे जीवन-यज्ञ में भी पितरों के आने-जाने से उत्तम प्रेरणा प्राप्त होती

रहे। स्थिर शक्तिवाले पितर हमारे सामने आदर्श के रूप में आते हैं। वे हमें वीरता व ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रभु-समिन्धन

समिन्धते अमर्त्यं हव्यवाहं घृतप्रियम्।
स वेद निहितान्निधीन्पितृन्परावतो गतान्॥ ४१॥

१. आचार्यकुलों में उचित शिक्षण प्राप्त करनेवाले लोग उस प्रभु को अपने हृदयदेश में **समिन्धते**=समिद्ध करते हैं—उस प्रभु के प्रकाश को हृदय में देखनेवाले बनते हैं जो **अमर्त्यम्**=अविनाशी है, **हव्यवाहम्**=सब हव्य (प्रार्थनीय) पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं तथा **घृतप्रियम्**=(घृतेन प्रीणाति) ज्ञानदीप्ति के द्वारा प्रीणित करनेवाले हैं। २. **सः**=वे प्रभु ही तो **निहितान् निधीन्**='अग्नि, वायु, आदित्य व अङ्गिरा' आदि ऋषियों के हृदयों में स्थापित किये गये वेदरूप ज्ञानकोशों को **वेद**=हमारे लिए प्राप्त कराते हैं तथा **परावतः**=विषयों से ऊपर उठकर सुदूर देशों में **गतान्**=प्राप्त **पितॄन्**=पितरों को भी वे प्रभु ही हमारे लिए प्राप्त कराते हैं। प्रभुकृपा से ही हमें इन उच्च जीवनवाले पितरों का सम्पर्क प्राप्त होता है।

भावार्थ—हम हृदयदेश में प्रभु के प्रकाश को देखने का प्रयत्न करें। प्रभु ही अग्नि आदि ऋषियों के हृदयों में वेदज्ञान को स्थापित करते हैं तथा प्रभुकृपा से ही हमें उच्च जीवनवाले पितरों का संग प्राप्त होता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मन्थ, ओदन, मांस

यं ते मन्थं यमोदनं यन्मांसं निपृणामि ते।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः॥ ४२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जीवन को उत्तम बनाने के लिए भोजन में सात्त्विकता आवश्यक है, अतः प्रभु कहते हैं कि हे जीव! **ते**=तेरे लिए **यम्**=जिस **मन्थम्**=दधि मन्थन से उत्पन्न मठा आदि पदार्थ को **यम्**=जिस **ओदनम्**=भात को व **यत्**=जिस **मांसम्**=(fleshy part of fruits) फल के गूदे को **ते**=तेरे लिए **निपृणामि**=देता हूँ—सुरक्षित करता हूँ, **ते**=वे मन्थ, ओदन व मांसरूप पदार्थ **ते**=तेरे लिए **स्वधावन्तः**=आत्मधारण शक्तिवाले हों—तेरे शरीर का धारण करनेवाले हों। **मधुमन्तः**=तेरे जीवन को मधुर बनानेवाले हों तथा **घृतश्चुतः**=ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करानेवाले हों।

भावार्थ—हम 'मठा, भात व फल के गूदे' आदि सात्त्विक भोजनों को करते हुए शरीर का धारण करनेवाले, हृदयों में माधुर्य से पूर्ण तथा मस्तिष्क में दीप्त ज्ञानवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्बृहती**॥

धान तथा तिल

यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः।
तास्ते सन्तूद्भ्वीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानु मन्यताम्॥ ४३॥

१. व्याख्या देखिए १८.४.२६ पर तथा १८.३.६९ पर

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'पुरोगवाः अभिशाचः' पितरः

इदं पूर्वमपरं नियानं येना ते पूर्वे पितरः परेताः।
पुरोगवा ये अभिशाचो अस्य ते त्वा वहन्ति सुकृतामु लोकम्॥ ४४॥

१. **इदम्**=यह **पूर्वम्**=पहला **नियानम्**=जाने का मार्ग है, अर्थात् प्रथम ब्रह्मचर्याश्रम है तथा **अपरम्**=उसके बाद दूसरा गृहस्थ का मार्ग है, **येना**=जिससे **ते**=वे **पूर्वे**=अपना ठीक प्रकार से पालन व पूरण करनेवाले **पितरः**=रक्षणात्मक कर्मों में प्रवृत्त लोग **परा-इताः**=पार को प्राप्त हो गये हैं। ब्रह्मचर्य व गृहस्थ को ठीक प्रकार से पूर्ण करके वे वनस्थ हुए हैं। २. **ये**=जो पितर **पुरोगवाः**=अग्रगतिवाले हैं और **अस्य अभिशाचः**=(शाच् व्यक्तायां वाचि) इस मार्ग के उत्तम उपदेश हैं, **ते**=वे **त्वा**=तुझे मार्ग के उपदेश के द्वारा **उ**=निश्चय से **सुकृतां लोकम्**=पुण्यशील लोगों के लोक को **वहन्ति**=प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—'ब्रह्मचर्याश्रम' जीवनयात्रा का पहला प्रयाण है, 'गृहस्थ' दूसरा। दोनों प्रयाणों को पार करके 'वानप्रस्थ' में प्रवेश करनेवाले पितर स्वयं अग्रगतिवाले होते हैं और हमें भी मार्ग का उपदेश देकर पुण्यकर्मा लोगों के लोक में प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सरस्वती का आराधन

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने।
सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते सरस्वती दाशुषे वार्यं दात्॥ ४५॥
सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः।
आसद्यास्मिन्बर्हिषि मादयध्वमनमीवा इष आ धेह्यस्मे॥ ४६॥
सरस्वति या सरथं ययाथोक्थैः स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती।
सहस्रार्घमिडो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि॥ ४७॥

व्याख्या देखो १८.१.४१-४३

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गृहस्थ के बाद वानप्रस्थ

पृथिवीं त्वा पृथिव्यामा वेशयामि देवो नो धाता प्र तिरात्यायुः।
परापरैता वसुविदो अस्त्वधा मृताः पितृषु सं भवन्तु॥ ४८॥

१. **पृथिवीं त्वा**=घर की आधारभूत—अथवा घर का विस्तार करनेवाली तुझको **पृथिव्यामा**=इस पृथिवी पर **आवेशयामि**=सम्यक् गृह में प्रवेश कराता हूँ—बसाता हूँ। वह **धाता**=सबका धारण करनेवाला **देवः**=प्रकाशमय प्रभु **नः**=हम सबकी **आयुः प्रतिराति**=आयु को बढ़ाता है। इस घर में प्रभु हम सबको दीर्घजीवी बनाएँ। २. प्रभु कहते हैं कि **वः**=तुममें से **परापरैता**=(परा परा एत) खूब दूर-दूर जानेवाला—देश-देशान्तर को जानेवाला यह गृहपति **वसुवित्**=सब वसुओं (धनों) को प्राप्त होनेवाला **अस्तु**=हो। **अध**=अब **मृताः**=जिन्होंने अपनी वासनाओं को मार लिया है, वे **पितृषु संभवन्तु**=पितरों में होनेवाले हों—वानप्रस्थ होकर स्वयं सदा स्वाध्याय में लगे हुए दूसरों के लिए ज्ञान देनेवाले हों।

भावार्थ—एक पति घर में पत्नी को सम्यक् बसाये। दोनों मिलकर घर को उत्तम बनाएँ और दीर्घजीवी बनें। पति धनों का अर्जन करनेवाला हो। गृहस्थ के बाद वासनाओं को जीतकर, वनस्थ बनें और पितरों की कोटि में प्रविष्ट हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुब्गर्भात्रिष्टुप्** ॥

प्रगतिशील पवित्र जीवन

आ प्र च्यवेथामप तन्मृजेथां यद्वामभिभा अत्रोचुः।
अस्मादेतमघ्न्यौ तद्वशीयो दातुः पितृष्विहभोजनौ मम॥ ४९॥

१. पति-पत्नी के लिए कहते हैं कि **आप्रच्यवेथाम्**=(च्यु गतौ) सब प्रकार से आगे बढ़नेवाले बनो। **तत्**=उसी हेतु से—आगे बढ़ने के दृष्टिकोण से **अपमृजेथाम्**=सब दोषों को दूर करके जीवन को शुद्ध कर डालो। उसी कर्म को करनेवाले बनो **यत्**=जिसको कि **वाम्**=आप दोनों के लिए **अभिभाः**=(to glitter, to shine) ज्ञानदीप्त प्रभु **ऊचुः**=कहते हैं। २. इन ज्ञानदीप्त पुरुषों के द्वारा उपदिष्ट **अस्मात्**=इस मार्ग से ही **एतम्**=तुम दोनों गतिवाले बनो। **अघ्न्यौ**=इस मार्ग से चलते हुए तुम वासनाओं से अहिंसनीय होओ। **तत् वशीयः**=यह ज्ञानदीप्त पुरुषों से उपदिष्ट मार्ग पर चलना ही इन्द्रियों को वश में करने का उत्कृष्ट साधन है। **पितृषु दातुः**=पितरों के विषय में आपको देनेवाले—पितरों के समीप प्राप्त करानेवाले **मम**=मेरे **इह अभोजनौ**=यहाँ पालनीय होओ। प्रभु कहते हैं कि मैं पितरों के समीप आपको प्राप्त कराता हूँ और इसप्रकार आपका पालन करता हूँ।

भावार्थ—पति-पत्नी धर्म के मार्ग पर आगे बढ़ें। दोषों को दूर करें। ज्ञानदीप्त पुरुषों से इस विषय में ज्ञान प्राप्त करें। उनसे उपदिष्ट मार्ग पर ही चलें। वासनाओं से आहननीय हों। प्रभु इन्हें पितरों के सम्पर्क में लाने के द्वारा रक्षित करें। पितरों से उत्तम प्रेरणा लेते हुए ये पवित्र जीवनवाले हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

दान व प्रभु-स्तवन (दक्षिणा + जरा)

एयमगन्दक्षिणा भद्रतो नो अनेन दत्ता सुदुघा वयोधाः।
यौवने जीवानुपपृञ्चती जरा पितृभ्य उपसंपराणयादिमान्॥ ५०॥

१. **इयम्**=यह **दक्षिणा**=दानवृत्ति **नः**=हमें **भद्रतः**=कल्याण की दृष्टि से **आ अगन्**=सर्वथा प्राप्त होती है। हम देने की वृत्तिवाले बनते हैं और यह वृत्ति हमारा कल्याण ही करती है। **अनेन**=इस व्यक्ति से **दत्ता**=दी हुई यह दक्षिणा **सुदुघा**=उत्तमता से हमारा प्रपूरण करनेवाली है, और **वयोधाः**=उत्कृष्ट जीवन का धारण करती है। गृहस्थ में दान की वृत्ति कल्याण-ही-कल्याण करती है। २. **यौवने**=यौवन में—युवावस्था में **जीवान् उपपृञ्चती**=जीवों को समीपता से प्राप्त होती हुई **जरा**=स्तुति—प्रभु-स्तवन की वृत्ति **इमान्**=इन जीवों को **पितृभ्यः उपसंपराणयात्**=पितरों को समीपता से प्राप्त कराती है। प्रभु-स्तवन की वृत्तिवालों को प्रभुकृपा से उत्तम पितरों का सम्पर्क प्राप्त होता है और ये उनसे ठीक मार्ग का ज्ञान प्राप्त करते हुए जीवन में भटकने से बचे रहते हैं।

भावार्थ—हम गृहस्थ में दानवृत्तिवाले बनें। यह हमारा प्रपूरण करेगी और उत्कृष्ट जीवन को प्राप्त कराएगी। प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाले बनें। प्रभु हमें उत्तम पितरों के सम्पर्क द्वारा ठीक मार्ग का ज्ञान प्राप्त कराके भटकने से बचाएँगे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**जगती**॥

पितृभ्यः-देवेभ्यः

इदं पितृभ्यः प्र भरामि बर्हिर्जीवं देवेभ्य उत्तरं स्तृणामि।
तदा रोह पुरुष मेध्यो भवन्प्रति त्वा जानन्तु पितरः परेतम्॥ ५१॥

१. **पितृभ्यः**='माता, पिता व आचार्य' आदि पितरों से—इनसे प्राप्त प्रेरणाओं के द्वारा **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदय को **प्रभरामि**=प्रकर्षेण धारण करता हूँ। अपने हृदय को वासनाशून्य बनाता हूँ। ऐसा बनकर ही मैं पितरों को प्रीणित करनेवाला बनूँगा। **देवेभ्यः**=देववृत्ति के पुरुषों के सम्पर्क से **जीवं उत्तरम्**=अपने जीवन को उत्कृष्ट रूप में **स्तृणामि**=आच्छादित करता हूँ। इनका सम्पर्क मेरे जीवन को उत्कृष्ट बनाता है। २. **तत्**=अतः हे पुरुष! तू **मेध्यः भवन्**=पवित्र जीवनवाला होता हुआ **आरोह**=आरोहण करनेवाला बन—उत्कृष्ट जीवनवाला हो। **पितरः**=माता, पिता, आचार्य आदि **त्वा**=तुझे **परेतम्**=विषयवासनाओं से दूर चला गया ही **प्रतिजानन्तु**=प्रतिदिन जानें। तू प्रतिदिन ऊपर और ऊपर उठता चल।

भावार्थ—पितरों से प्रेरणा प्राप्त कर हम अपने हृदयों को वासना से शून्य करें। देवों के सम्पर्क में जीवन को उत्कृष्ट बनाएँ। पवित्र होते हुए ऊपर और ऊपर उठें। देव हमें विषयों से दूर गया हुआ ही देखें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

मेध्य

एदं बर्हिरसदो मेध्योऽभूः प्रति त्वा जानन्तु पितरः परेतम्।
यथापरु तन्वं संभरस्व गात्राणि ते ब्रह्मणा कल्पयामि॥ ५२॥

१. हे पुरुष! तू **इदं बर्हिः आ असदः**=इस वासनाशून्य हृदय में सर्वथा आसीन हो। हृदय को वासनाशून्य बना। इसप्रकार **मेध्यः अभूः**=पवित्र बन। **पितरः**=माता, पिता व आचार्य **त्वा**=तुझे **परेतम्**=विषयों से परे गया हुआ **प्रतिजानन्तु**=प्रतिदिन जानें। तू दिन-प्रतिदिन वासनाओं से दूर ही होता चल। २. विषयों से दूर होकर **यथापरु**=एक-एक पर्व का अतिक्रमण न करते हुए **तन्वं संभरस्व**=शरीर का भरण करनेवाला बन। संयम के कारण तेरे शरीर का एक-एक जोड़ बड़ा ठीक हो। प्रभु कहते हैं कि—**ते गात्राणि**=विषयों से दूर रहनेवाले तेरे अंग-प्रत्यंग को **ब्रह्मणा**=(ब्रह्म वेदः तपः सत्यम्) ज्ञान व तप के द्वारा **कल्पयामि**=शक्तिशाली बनाता हूँ। तेरे शरीर को मैं शक्ति व ज्ञान से सम्पन्न करता हूँ।

भावार्थ—हम हृदय को वासनाशून्य बनाएँ, पवित्र जीवनवाले हों। पितर हमारे जीवन से प्रीणित हों। हम शरीर के एक-एक पर्व का भरण करें। हमारे जीवन ज्ञान व तप के द्वारा शक्तिशाली बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**पुरोविराट्सतःपङ्क्तिः**॥

'पर्णः राजा' प्रभु

पर्णो राजापिधानं चरूणामूर्जो बलं सह ओजो न आगन्।
आयुर्जीवेभ्यो विदधद्दीर्घायुत्वाय शतशारदाय॥ ५३॥

१. **पर्णः**=वह सबका पालन करनेवाला प्रभु ही **राजा**=इस ब्रह्माण्ड का शासक है। वही

चरूणाम् अपिधानाम्=चरणशील—क्रियाशील प्रजाओं को अपनी गोद में धारण करनेवाला है। 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि' यही तो उसका हमारे लिए उपदेश है। इस प्रभु के द्वारा धारण किये जाने से **नः**=हमें **ऊर्जः**=प्राणशक्तियाँ, **बलम्**=बल, **सहः**=शत्रुमर्षणसामर्थ्य तथा **ओजः**=कान्ति (ओजस्विता) **आगन्**=प्राप्त होती है। २. ये प्रभु ही **जीवेभ्यः**=हम जीवों के लिए **शतशारदाय**=सौ वर्षों तक चलनेवाले **दीर्घायुत्वाय**=दीर्घ-जीवन के लिए **आयुः विदधत्**=आयुष्य का सम्पादन करते हैं। प्रभुस्मरण से—प्रभु की गोद में आसीन होने से हम दीर्घजीवी बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमारा पालन करनेवाला व शासक है। वे ही क्रियाशील पुरुषों का धारण करते हैं। प्रभुकृपा से हमें बल व प्राणशक्ति प्राप्त होती है—परिणामतः हम दीर्घजीवन को धारण करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'ऊर्जः भागः' प्रभु

ऊर्जो भागो य इमं जजानाश्मान्नानामाधिपत्यं जगाम।
तमर्चत विश्वमित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतरं जीवसे धात्॥ ५४॥

१. **ऊर्जः**=सब बल व प्राणशक्तियों का **भागः**=संविभाग करनेवाला—प्राप्त करानेवाला **यः**=जो **इमं जजान**=इस ब्रह्माण्ड को जन्म देता है, वह **अश्मा**=(अश् व्याप्तौ) सर्वव्यापक है। **अन्नानामाधिपत्यं जगाम**=वही सब अन्नों के आधिपत्य को प्राप्त हुआ है—वही सब अन्नों का स्वामी है। २. हे जीवो! तुम **विश्वमित्राः**=सबके प्रति स्नेहवाले होते हुए **हविर्भिः**=त्यागपूर्वक अदन के द्वारा **तम् अर्चत**=उस प्रभु का पूजन करो। इसप्रकार 'सबके प्रति स्नेह व हवि द्वारा प्रभु-पूजन होने' पर **सः यमः**=वे सर्वनियन्ता प्रभु **नः**=हमें **प्रतरं जीवसे धात्**=ख़ूब ही दीर्घ जीवन के लिए धारण करें।

भावार्थ—प्रभु ही बल व प्राणशक्ति का धारण करनेवाले हैं, सब अन्नों के स्वामी हैं। प्रभु-पूजन का प्रकार यह है कि हम सबके प्रति स्नेहवाले होते हुए त्यागपूर्वक अदन करें। वे नियन्ता प्रभु हमें दीर्घजीवन प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रभुस्मरण व विश्वबन्धुत्व की भावना

यथा यमाय हर्म्यमवपन्पञ्च मानवाः।
एवा वपामि हर्म्यं यथा मे भूरयोऽसत॥ ५५॥

१. **यथा**=जिस प्रकार **पञ्च मानवाः**=पञ्च यज्ञयुक्त मनुष्य—'ब्रह्मयज्ञ-देवयज्ञ-पितृयज्ञ-अतिथियज्ञ व बलिवैश्वदेवयज्ञ'—पाँचों यज्ञों को करनेवाले व्यक्ति **हर्म्यम्**=इस शरीररूप गृह को **यमाय**=उस सर्वनियन्ता प्रभु के लिए **अवपन्**=उत्पन्न करते हैं (beget), इसे प्रभु के लिए एक पवित्र निवासस्थान के रूप में बनाते हैं। **एवा**=इसी प्रकार मैं भी **हर्म्यम्**=इस शरीररूप गृह को **वपामि**=उस प्रभु के लिए बनाता हूँ—'मेरे शरीर में प्रभु का निवास हो' इसके लिए यत्नशील होता हूँ। २. इस शरीर को प्रभु का निवासस्थान मैं इसलिए बनाता हूँ, **यथा**=जिससे **मे**=मेरे लिए **भूरयः असत**=बहुत हों, अर्थात् मेरा परिवार विशाल बने। मैं पृथिवीभर को अपना कुटुम्ब जानूँ। प्रभु का उपासक सभी को प्रभु का सन्तान जानकर सभी में बन्धुत्व की भावनावाला होता है।

भावार्थ—मैं पाँचों यज्ञों को करता हुआ अपनी इस देह को प्रभु का निवासस्थान बनाऊँ। यह प्रभु का निवास मुझे विश्वबन्धुत्व की भावनावाला बनाएगा।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्**॥

ब्रह्मचर्य के बाद गृहस्थ में

इदं हिरण्यं बिभृहि यत्ते पिताबिभः पुरा।
स्वर्गं यतः पितुर्हस्तं निर्मृड्ढि दक्षिणम्॥ ५६॥

१. **इदं हिरण्यम्**=इस ज्योति को **बिभृहि**=तू धारण करनेवाला बन, **यत्**=जिस ज्योति को **ते**=तेरे लिए **पिता**=ज्ञानदाता आचार्य ने **पुरः**=पालन व पूरण के दृष्टिकोण से **अबिभः**=धारण किया है। जीवन के प्रथमाश्रम में आचार्यों द्वारा दिये जानेवाले ज्ञान को धारण करना ही हमारा कर्त्तव्य है। आचार्य इस बात का पूरा ध्यान करते हैं कि वह ज्ञान जीवन के पालन व पूरण के लिए उपयोगी हो, वस्तुतः ज्ञान है ही वही। अनुपयोगी बातें 'ज्ञान' कहलाने के योग्य ही नहीं। २. ज्ञान प्राप्त करने के बाद, अब एक युवक गृहस्थ में आता है। उसके लिए कहते हैं कि तू **स्वर्गं यतः**=प्रकाशमय लोक, अर्थात् वानप्रस्थ में जाते हुए **पितुः**=पिता के **दक्षिणं हस्तं निर्मृड्ढि**=दाहिने हाथ को शुद्ध करनेवाला बन। उनके उत्तरदायित्वों को अपने हाथ में लेकर उन्हें अवशिष्ट गृहकृत्यों से मुक्त करनेवाला बन। वे गृहकृत्यों से निश्चिन्त होकर नित्य स्वाध्याययुक्त होते हुए अपने लोक को प्रकाशमय बना पाएँ। 'पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्यवनं गच्छेत्' इस मनु वाक्य के अनुसार सन्तान पिता को भारमुक्त कर देते हैं। वे निश्चिन्त होकर वनस्थ होते हैं, जहाँ वे निरन्तर स्वाध्याय द्वारा अपने जीवन को प्रकाशमय बना पाते हैं।

भावार्थ—हम ब्रह्मचार्याश्रम में आचार्यों से दिये जानेवाले हितरमणीय ज्ञान को प्राप्त करें। अब गृहस्थ में प्रवेश करते हुए हम अपने पिताओं के उत्तरदायित्व को अपने हाथ में लें, जिससे वे वनस्थ होकर निरन्तर स्वाध्याय में संलग्न हो सकें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'जीव-मृत-जात-यज्ञिय' पितर

ये च जीवा ये च मृता ये जाता ये च यज्ञियाः।
तेभ्यो घृतस्य कुल्यै तु मधुधारा व्युन्दती॥ ५७॥

१. **ये च**=और जो **जीवाः**=जीवनशक्ति से परिपूर्ण पितर हैं, **ये च मृताः**=जिनमें वासना का अंश पूर्णरूप से मृत हो गया है (मृतं वासनाविनाशः एषु अस्ति इति), **ये जाताः**=जिन्होंने अपने में शक्तियों का प्रादुर्भाव किया है, **ये च यज्ञियाः**=और जो यज्ञशील हैं, **तेभ्यः**=उन पितरों से **घृतस्य**=ज्ञानजल की (घृ दीप्तौ) **कुल्या**=सरित्—नदी **एतु**=हमें प्राप्त हो। इन पितरों से ज्ञान प्राप्त करते हुए हम भी 'जीवनशक्ति से परिपूर्ण, विनष्ट वासनाओंवाले, विकसित शक्तियोंवाले व यज्ञिय' बनें। २. वह घृतकुल्या हमारे लिए **मधुधारा**=मधु की धारा बने—हमारे जीवनों में माधुर्य को धारण करनेवाली हो तथा **व्युन्दतीः**=हमारे हृदयों को भक्तिरस से क्लिन्न करनेवाली हो। ज्ञान हमें मधुर व प्रभुभक्त बनाए।

भावार्थ—पितरों से ज्ञान प्राप्त करके हम मधुरवाणीवाले व भक्तिरस से क्लिन्न हृदयोंवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

वृषा मतीनाम्

वृषा मतीनां पवते विचक्षणः सूरो अह्नां प्रतरीतोषसां दिवः।
प्राणः सिन्धूनां कलशाँ अचिक्रददिन्द्रस्य हार्दिमाविशन्मनीषया॥ ५८॥

१. **विचक्षणः**=वह सर्वद्रष्टा **सूरः**=सबको कर्मों में प्रेरित करनेवाल 'सूर्यसम दीप्त ज्योतिवाला' ब्रह्म हमारी **मतीनां वृषा**=बुद्धियों को शक्ति से सिक्त करनेवाला है। यह प्रभु **पवते**=बुद्धि देकर हमारे जीवनों को पवित्र करते हैं। ये प्रभु हमारे **अह्नाम्**=दिनों के **उषसाम्**=उषाकालों के **दिवः**=ज्ञान के प्रकाश के **प्रतरीता**=बढ़ानेवाले हैं। हमें दीर्घजीवन और प्रकाशमय जीवन प्राप्त कराते हैं। २. ये प्रभु हमारे जीवनों में **सिन्धूनाम्**=ज्ञानप्रवाहों के **प्राणः**=प्राण हैं। प्रभुकृपा से ही हमारे जीवनों में ये ज्ञानप्रवाह चलते हैं। **इन्द्रस्य**=एक जितेन्द्रिय पुरुष के **हार्दिम्**=हृदय में **मनीषया**=बुद्धि के साथ **आविशन्**=प्रवेश करते हुए प्रभु **कलशान् अचिक्रदत्**=सोलह कलाओं के आधारभूत इन शरीरों को प्रभु के आह्वानवाला बनाते हैं। प्रभुकृपा से ही हममें प्रभु के आह्वान की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है।

भावार्थ—वे सर्वद्रष्टा प्रभु हमारी बुद्धियों को शक्ति से सिक्त करते हैं—हमें दीर्घ व प्रकाशमय जीवन प्राप्त कराते हैं। प्रभुकृपा से हमारे जीवन में ज्ञानप्रवाह चलते हैं और हम प्रभुकृपा से ही प्रभु-प्रवण वृत्तिवाले बनते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

द्युता-कृपा

त्वेषस्ते धूम ऊर्णोतु दिवि षंच्छुक्र आततः।
सूरो न हि द्युता त्वं कृपा पावक रोचसे॥ ५९॥

१. हे प्रभो! **ते त्वेषः**=आपकी दीप्ति **धूमः**=हमारे अन्दर घुस आनेवाले वासनारूप शत्रुओं को कम्पित करनेवाली है (धू कम्पने)। यह **ऊर्णोतु**=हमें आच्छादित करनेवाली हो। सब शत्रुओं के आक्रमण से बचानेवाली हो। **दिवि**=यह मस्तिष्करूप द्युलोक में **सन् (सत्)**=उत्तम हो—हमें सात्त्विक वृत्तिवाला बनाए। **शुक्रः**=यह हमें गतिमय जीवनवाला बनाए तथा **आततः**=यह सब ओर विस्तारवाली हो—यह हमें विशाल हृदय बनाए। २. जिस समय प्रभु की उस ज्ञानदीप्ति से हम 'सन्, शुक्र व आतत' बन पाएँ उस समय हमें अपने इस उत्कर्ष का गर्व न हो जाए। इसके लिए हम प्रभु का इस रूप में स्मरण करें कि—**सूरः न**=हे प्रभो! आप सूर्य के समान हो और हे **पावक**=हमारे जीवनों को पवित्र करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **हि**=निश्चिय से **द्युता**=ज्ञानज्योति से तथा **कृपा**=सामर्थ्य से **रोचसे**=चमकते हो। सब ज्योति व शक्ति आपकी ही है।

भावार्थ—प्रभु की दीप्ति हमारी वासनाओं को कम्पित करके दूर करती हैं—यह हमें 'उत्तम गतिशील व विशाल हृदय' बनाती है। प्रभु ही हमारे अन्दर ज्योति व शक्ति से दीप्त होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

पवित्र हृदय व सोमरक्षण

प्र वा एतीन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतिं सखा सख्युर्न प्र मिनाति संगिरः।
मर्यइव योषाः समर्षसे सोमः कलशे शतयामना पथा॥ ६०॥

१. **इन्द्रः**=सोम (वीर्यशक्ति) **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष के **निष्कृतिम्**=संस्कृत—पवित्र हृदय की ओर **वा**=निश्चय से **प्र एति**=प्रकर्षेण प्राप्त होता है। हृदय के पवित्र होने पर सोम की शरीर में ऊर्ध्वगति होती ही है। सोम का रक्षण होने पर **सखा**=प्रभु का मित्र बना हुआ वह सोमी पुरुष **सख्युः**=उस सबके सखा प्रभु के **संगिरः**=आदेशों को **न प्रमिनाति**=हिंसित नहीं करता। यह प्रभु के आदेशों का अवश्य पालन करता है। २. **इव**=जैसे **मर्यः**=एक मनुष्य **योषाः**=पत्नियों से मेलवाला होता है, उसी प्रकार यह **सोमः**=सोम भी **कलशे**=इस सोलह कलाओं के आधारभूत शरीर में **शतयामना पथा**=सौ मंजिलोंवाले (प्रयाणोंवाले) मार्ग के हेतु से, अर्थात् शतवर्षपर्यन्त चलानेवाले दीर्घजीवन के हेतु से—**समर्षसे**=प्राप्त होता है। वस्तुतः सोम एक मनुष्य का इतना प्रिय होना चाहिए जैसे पत्नी पति को प्रिय होती है।

भावार्थ—हम हृदय को पवित्र बनाते हुए अपने शरीर में सोम का रक्षण करनेवाले बनें। यह सोमी पुरुष प्रभु के आदेशों का पालन करता है। शरीर में सुरक्षित सोम हमें सौ वर्ष का दीर्घ जीवन प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

स्वभानवः-विप्राः-यविष्ठाः

अक्षन्नमीमदन्त ह्यव प्रियाँ अधूषत।
अस्तोषत स्वभानवो विप्रा यविष्ठा ईमहे॥ ६१॥

१. **अक्षन्**=इन्होंने सोम का भक्षण किया है—सोम को शरीर में सुरक्षित किया है। परिणामतः **अमीमदन्त**=आनन्दित हुए हैं। सोमरक्षण से 'नीरोगता-निर्मलता व दीप्ति' की प्राप्ति होकर आनन्द का अनुभव होता है। इन्होंने **हि**=निश्चय से **प्रियान्**=प्रिय लगनेवाले संसार के भोगों को **अव अधूषत**=अपने से दूर कम्पित किया है (स त्वं प्रियान् प्रियरूपाँश्च कामान् अभिध्यायन्नचिकेतो इत्यस्राक्षीः। कठो०)। २. इसी उद्देश्य से **अस्तोषत**=इन्होंने प्रभु-स्तवन किया है। **स्वभानवः**=ये आत्मदीप्तिवाले बने हैं। **विप्राः**=ये विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले हुए हैं। **यविष्ठाः**=बुराइयों को दूर करके अच्छाइयों को इन्होंने अपने से मिलाया है। हम इन लोगों को ही **ईमहे**=प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करते हैं। इनके सम्पर्क में हम भी इन-जैसे बन पाएँगे।

भावार्थ—हमें उन लोगों का सम्पर्क प्राप्त हो जो सोमरक्षण द्वारा अपने अन्दर आनन्द का अनुभव करते हैं। प्रिय लगनेवाले भोगों से भी ऊपर उठते हैं। प्रभु-स्तवन द्वारा आत्मदीप्तिवाले होते हैं। अपना विशेषरूप से पूरण करते हुए बुराइयों को अपने से दूर करते हैं और अच्छाइयों को अपने से मिलाते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**भुरिगास्तारपङ्क्तिः**॥

उत्तम 'आयुष्य-प्रजा व धन'

आ यात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पथिभिः पितृयाणैः।
आयुरस्मभ्यं दधतः प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम्॥ ६२॥

१. हे **सोम्यासः**=सोमरक्षण द्वारा सोम्य (शान्त) स्वभाववाले **पितरः**=पितरो! आप **आयात**=हमारे समीप सर्वथा प्राप्त होओ। आप **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **गम्भीरैः पितृयाणैः पथिभिः**=गम्भीर (न कि उथले) पितरों से जाने योग्य मार्गों के द्वारा **आयुः प्रजां च**=दीर्घजीवन

व उत्तम सन्तति को **दधतः**=धारण करते हुए होओ। आपकी सत्प्रेरणाओं से हम उस मार्ग पर चलें जिससे उत्तम आयुष्य व प्रजा को पानेवाले बनें २. **च**=और आप **नः**=हमें **रायः पोषैः**=धन के पोषण से **अभि सचध्वम्**=उभयतः समवेत कीजिए। हम बाह्य धन को भी प्राप्त करें और आन्तर धन को भी प्राप्त करनेवाले बनें। बाह्यधन हमारी भौतिक अवश्कताओं को पूरा करेगा और आन्तर धन से हमारी अध्यात्मशक्ति का पोषण होगा।

भावार्थ—पितरों से सत्प्रेरणाओं को प्राप्त करते हुए हम गम्भीर पितृयाण कर्मों से चलते हुए 'उत्तम आयुष्य, प्रजा व धन' को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**स्वराडास्तारपङ्क्तिः**॥

प्रतिमास (पूर्णिमा पर) पितरों का आना

परा यात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पथिभिः पूर्याणैः।
अधा मासि पुनरा यात नो गृहान्हविरत्तुं सुप्रजसः सुवीराः॥ ६३॥

१. हे **सोम्यासः**=सोम का सम्पादन करनेवाले सौम्य स्वभाव **पितरः**=पितरो! **गम्भीरैः**=गम्भीर विचार परिपूर्ण **पूर्याणैः**=ब्रह्मपुरी की ओर ले-जानेवाले **पथिभिः**=मार्गों से **परा यात**=उत्कृष्ट मोक्षमार्ग की ओर गतिवाले होओ। आप नित्य स्वाध्याययुक्त होकर ब्रह्मदर्शन के लिए यत्नशील होओ। इसी उद्देश्य से आप गृहस्थ से ऊपर उठकर वनस्थ हुए हो। २. **अधा पुनः**=अब फिर भी **मासि**=महीने के बीतने पर **नः गृहान्**=हमारे इन घरों को **हविः अत्तुम्**=यज्ञशिष्ट पवित्र भोजन को ग्रहण करने के लिए **आयात**=आओ, जिससे हम आपकी प्रेरणाओं के अनुसार चलते हुए **सुप्रजसः**=उत्तम प्रजावाले व **सुवीराः**=सुवीर बन पाएँ।

भावार्थ—सौम्य पितर ब्रह्मप्राप्ति के गम्भीर मार्ग से गमनवाले हों। वे प्रतिमास हमारे घरों पर हवि ग्रहण करने का अनुग्रह करें और हमें सत्प्रेरणाओं के द्वारा उत्तम प्रजावाले व वीर बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पितरों को स्वस्थ बनाना

यद्वो अग्निरजहादेकमङ्गं पितृलोकं गमयं जातवेदाः।
तद्व एतत्पुनरा प्याययामि साङ्गाः स्वर्गे पितरो मादयध्वम्॥ ६४॥

१. वानप्रस्थाश्रम ही पितृलोक है। **पितृलोकं गमयन्**=पितृलोक में प्राप्त कराता हुआ यह **जातवेदाः अग्निः**=अंग-प्रत्यंग में विद्यमान अग्नितत्त्व **यत्**=यदि हे पितरो! **वः**=तुम्हारे **एकम् अंगम् अजहात्**=एक अंग को छोड़ गया है तो **वः**=तुम्हारे **तत् एतत्**=उस इस अंग को पुनः **अप्याययामि**=फिर से आप्यायित करता हूँ। आपको शक्तिशाली बनाता हूँ। यदि अकस्मात् पितरों का कोई एक अंग अग्नितत्त्व की कमी के कारण शिथिल हो गया है तो उसे उचित औषधोपचार द्वारा सशक्त करना आवश्यक है। २. अंगों के सशक्त बनने पर हे **पितरः**=पितरो! **साङ्गाः**=सब अंगों से स्वस्थ होते हुए आप **स्वर्गे**=नित्य स्वाध्याय द्वारा प्रकाशमय लोक में **मादयध्वम्**=आनन्दित होओ।

भावार्थ—यदि पितरों का कोई अंग निर्बल हो जाए तो उसे उचित औषधोपचार द्वारा स्वस्थ करके उन्हें वानप्रस्थ में आनन्दमय जीवनवाला बनाया जाए।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

दूतः प्रहितः

अभूद्दूतः प्रहितो जातवेदाः सायं न्यह्न उपवन्द्यो नृभिः।
प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि॥ ६५॥

१. वानप्रस्थाश्रम से समय-समय पर हमारे समीप प्राप्त होनेवाला यह पिता **दूतः अभूत्**=प्रभु का सन्देशवाहक होता है। **प्रहितः**=यह हमारा प्रकृष्ट हित करनेवाला व **जातवेदाः**=ज्ञानी होता है। यह पिता **सायम्**=सायं और **नि अह्ने**=प्रातः **नृभिः उपवन्द्यः**=गृहस्थ लोगों से वन्दनीय होता है। २. हे गृहस्थ! तू **पितृभ्यः प्रादाः**=पितरों के लिए स्वधा (अन्न) देता है। **स्वधया ते अक्षन्**=आत्मधारण के हेतु से वे इसे खाते हैं। हे **देवः**=दिव्यवृत्तिवाले पुरुष! **त्वम्**=तू भी **प्रयता हवींषि**=इन पवित्र यज्ञशिष्ट भोजनों को **अद्धि**=खा। पितरों को खिलाने के बाद ही खाना ठीक है।

भावार्थ—वानप्रस्थ से आये पितर प्रभु के दूत ही होते हैं—वे हमें हितकर प्रिय ज्ञान देते हैं। हम पितरों को खिलाकर यज्ञशिष्ट पवित्र भोजनों का ही ग्रहण करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिपदास्वराड्गायत्री**॥

भूमिमाता की गोद में

असौ हा इह ते मनः ककुत्सलमिव जामयः। अभ्ये∫नं भूम ऊर्णुहि॥ ६६॥

१. **हे असौ**=गतमन्त्र में वर्णित पितरों का आदर करनेवाले हे पुरुष! **ते मनः इह**=तेरा मन यहाँ ही हो। तू परिवार के पालन का पूर्ण ध्यान कर। २. हे **भूमे**=भूमिमाता! तू **एनम्**=इस गृहस्थ पुरुष को **अभि ऊर्णुहि**=सर्वतः आच्छादित करनेवाली हो। तेरी गोद में यह इसप्रकार सुरक्षित रहे, **इव**=जिस प्रकार **जामयः**=सन्तान को जन्म देनेवाली माताएँ **ककुत्सलम्**=(क-कु-शब्द सल गतौ) आनन्दप्रद (तुतलाते से) शब्दों के साथ रींगनेवाले बालक को अपनी गोद में सुरक्षित रखती हैं।

भावार्थ—एक गृहस्थ का कर्त्तव्य है कि परिवार को उन्नत करने की भावना से ओतप्रोत मनवाला हो। भूमिमाता से सब आवश्यक पदार्थों को प्राप्त करने का प्रयत्न करे। भूमिमाता की गोद में अपने को उसी प्रकार सुरक्षित अनुभव करे, जैसे एक छोटा बालक माता की गोद में अपने को सुरक्षित अनुभव करता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**द्विपदाऽऽर्च्यनुष्टुप्**॥

पितृषदन लोकों की शोभा

शुम्भन्तां लोकाः पितृषदनाः पितृषदने त्वा लोक आ सादयामि॥ ६७॥

१. जिन घरों में पितरों का आना-जाना बना रहता है, वे घर 'पितृषदन' कहलाते हैं। ये, **पितृषदनाः लोकाः**=पितरों को जहाँ आदरपूर्वक बिठाया जाना होता है, वे लोक (घर) **शुम्भन्ताम्**=शोभावाले हों। घरों में कई बार छोटी-मोटी समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। यदि घरों में पितरों का आदर बना रहता है तो पितर आते हैं और समुचित प्रेरणाओं के द्वारा उन समस्याओं को सुलझा जाते हैं, इसप्रकार घरों की शोभा बनी रहती है। २. प्रभु कहते हैं कि हे गृहस्थ! मैं **त्वा**=तुझे **पितृषदने लोके**=इस पितरों के आदरपूर्वक बिठाये जानेवाले लोक में ही **आसादयामि**=बिठाता हूँ। तुम्हारा यह मौलिक कर्त्तव्य है कि तुम पितरों का आदर करनेवाले बनो। यह तुम्हारा 'पितृयज्ञ' है।

भावार्थ—घरों में पितरों (बड़ों) का आदर बना रहे। जब कभी वे वानप्रस्थाश्रम से घर पर आएँ, उन्हें आदरपूर्वक निवास कराया जाए। उनकी प्रेरणाओं को शिरोधार्य किया जाए। ऐसा होने पर घर शोभामान बने रहते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**आसुर्यनुष्टुप्**॥

घर=पितरों का बर्हि

ये३स्माकं पितरस्तेषां बर्हिरसि॥ ६८॥

१. गृहस्थ को चाहिए कि वह घर को सम्बोधन करता हुआ यही कहे कि हे गृह! **ये**=जो **अस्माकम्**=हमारे **पितरः**=पितर हैं, तू **तेषाम्**=उनका **बर्हिः असि**=आसन है। समय-समय पर जब कभी वे आएँ तब यहाँ वे आदरपूर्वक बिठाये जाएँ। २. 'बर्हिस्' का अर्थ (Light) 'प्रकाश' भी है। हमारा घर पितरों के प्रकाशवाला हो। पितरों से दी गई प्रेरणाएँ हमें प्रकाश दें—उस प्रकाश में हम ठीक मार्ग का आक्रमण करनेवाले हों।

भावार्थ—घरों में पितरों का आदर हो। उनकी सत्प्रेरणाएँ हमारे लिए प्रकाश देकर मार्गदर्शन करानेवाली हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

महान् पिता 'वरुण' प्रभु द्वारा पाशश्रथन (Killing)

उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अधा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम॥ ६९॥

१. हे **वरुण**=सब पाशों का निवारण करनेवाले प्रभो! आप **उत्तमं पाशम्**=सतगुण के उत्कृष्ट 'सुखसंग व ज्ञानसंग' रूप पाश को **अस्मत्**=हमसे **उत् श्रथाय**=दूर कर डालिए। **अधम्**=तमोगुण के निकृष्ट 'प्रमाद, आलस्य व निन्द्रा' रूप पाश को **अव** (श्रथाय)=विनष्ट करिए। **मध्यमम्**=रजोगुण के मध्यम 'कर्मसंग व तृष्णासंग' रूप पाश को भी वि (श्रथाय) विनष्ट करनेवाले होओ। २. हे **आदित्य**=सबका अपने में आदान कर लेनेवाले प्रभो! **अधा**=अब पाशमुक्त होकर **वयम्**=हम **तव व्रते**=आपकी प्राप्ति के व्रत में—आपको प्राप्त करने को ही लक्ष्य बनाकर **अनागसः**=निष्पाप हों और **अदितये स्याम**=न विनाश के लिए हों—अमृतत्व को प्राप्त करें।

भावार्थ—हम प्रभुस्मरण द्वारा सब पाशों को छिन्न करके प्रभु-प्राप्ति को ही जीवन का लक्ष्य बनाएँ। प्रभु-प्राप्ति के व्रत में चलते हुए निष्पाप व नीरोग (अभूत) बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

समामे व्यामे (बध्यते)

प्रास्मत्पाशान्वरुण मुञ्च सर्वान्यैः समामे बध्यते यैर्व्यामे।
अधा जीवेम शरदं शतानि त्वया राजन्गुपिता रक्षमाणाः॥ ७०॥

१. हे **वरुण**=पाशों का निवारण करनेवाले प्रभो! **अस्मत्**=हमसे **सर्वान् पाशान् मुञ्च**=सब पाशों को मुक्त कर दीजिए। उन पाशों को हमसे छुड़ा दीजिए **यैः**=जिनसे **समामे** (सम आम=रोग) समानरूप से फैल जानेवाले रोगों में **बध्यते**=बाँधा जाता है और **यैः**=जिनसे **व्यामे**=(वि आम) विशिष्ट रोगों में जकड़ा जाता है। २. **अधा**=अब पाशों से मुक्त होने पर, हे **राजन्**=ब्रह्माण्ड के शासक प्रभो! **त्वया**=आपसे **गुपिताः**=रक्षित हुए **रक्षमाणाः**=और

शक्ति के अनुसार औरों का रक्षण करते हुए **शतानि शरदं जीवेम**=सौ वर्षपर्यन्त जीनेवाले बनें।

भावार्थ—हम पाशमुक्त हों। परिणामत: रोगमुक्त बनें। प्रभु से रक्षित हुए-हुए तथा यथाशक्ति औरों का रक्षण करते हुए हम सौ वर्ष तक जीनेवाले बनें।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**यम:, मन्त्रोक्ता:**॥ छन्द:—**७१ आसुर्यनुष्टुप्, ७२-७४ आसुरीपङ्क्ति:**॥

कव्यवाहनं, पितृयान्, सोमवान्

अग्नये॑ कव्य॒वाह॑नाय स्व॒धा नम॑:॥ ७१॥
सोमा॑य पि॒तृम॑ते स्व॒धा नम॑:॥ ७२॥
पि॒तृभ्य॒: सोम॑वद्भ्य: स्व॒धा नम॑:॥ ७३॥
य॒माय॑ पि॒तृम॑ते स्व॒धा नम॑:॥ ७४॥

१. अग्नि आदि देवताओं को अग्निहोत्र में दिया जानेवाला अन्न हव्य कहलाता है। पितरों को दिया जानेवाला अन्न—आदरपूर्वक उनके लिए परोसा जानेवाला अन्न कव्य। इस **कव्यवाहनाय**=कव्य को प्राप्त करानेवाले **अग्नये**=प्रगतिशील गृहस्थ के लिए **स्वधा**=आत्मधारण के लिए पर्याप्त अन्न हो तथा **नम:**=नमस्कार (आदर) हो। २. इस **पितृमते**=प्रशस्त पितरोंवाले—बड़ों का आदर करनेवाले **सोमाय**=सौम्य स्वभाव गृहस्थ के लिए **स्वधा नम:**=अन्न व आदर हो। ३. **सोमवद्भ्य:**=इन सौम्य सन्तानोंवाले—सोम का रक्षण करनेवाले सन्तानों से युक्त—**पितृभ्य:**=पितरों के लिए **स्वधा नम:**=अन्न व आदर हो। ४. इस **पितृमते**=प्रशस्त पितरोंवाले **यमाय**=संयत जीवनवाले गृहस्थ के लिए **स्वधा नम:**=अन्न व आदर हो।

भावार्थ—एक सद्गृहस्थ को पितरों के लिए आवश्यक अन्न प्राप्त करानेवाला बनना चाहिए। वह सौम्य स्वभाव हो। सोम का (वीर्य का) अपने अन्दर रक्षण करनेवाला हो। संयत जीवनवाला हो। इस गृहस्थ को अन्न-रस की कमी नहीं रहती तथा उचित आदर प्राप्त होता है।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**यम:, मन्त्रोक्ता:**॥ छन्द:—**७५ आसुरीगायत्री, ७६ आसुर्युष्णिक्, ७७ दैवीजगती**॥

परदादा, दादा व पिता

ए॒तत्ते॑ प्रततामह स्व॒धा ये च॒ त्वामनु॥ ७५॥
ए॒तत्ते ततामह स्व॒धा ये च॒ त्वामनु॥ ७६॥
ए॒तत्ते॑ तत स्व॒धा॥ ७७॥

१. एक गृहस्थ युवक के परदादा आज से ५० वर्ष पूर्व वानप्रस्थ बने थे, इसी प्रकार इसके दादा २५ वर्ष पूर्व वनस्थ हुए थे। वहाँ वनों में कितने ही अन्य अपने समान वनस्थों के साथ उनका उठना-बैठना व परिचय हो गया था। आज वे अपने घर में आते हैं तो उनके साथियों के आने का भी सम्भव हो ही सकता है। इसके पिता तो अभी समीप भूत में ही वनस्थ हुए हैं। वे अभी इतने परिचित नहीं बना पाये। वे अभी अकेले ही आये हैं। २. इन सबके आने पर यह गृहस्थ उन्हें आदरपूर्वक कहता है कि हे **प्रततामह**=परदादाजी! **एतत्**=यह **ते**=आपके लिए **स्वधा**=अन्न है। **च**=और उनके लिए भी **स्वधा**=अन्न है, **ये**=जो **त्वाम् अनु**=आपके साथ आये हैं। ३. इसी प्रकार वह दादाजी के लिए भी कहता है कि हे **ततामह**=दादाजी! **एतत्**=यह **ते**=आपके लिए **स्वधा**=अन्न है **च**=और **ये**=जो **त्वाम् अनु**=आपके साथ आये हैं, परन्तु पिताजी

के लिए वह इतना ही कहता है कि हे **तत**=पितः! **एतत्**=यह **ते**=आपके लिए **स्वधा**=अन्न है।

भावार्थ—हम घर पर पधारे हुए वनस्थ परदादा, दादा व पिताजी के लिए उचित भोजन का परिवेषण करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**७८ आसुरीत्रिष्टुप्, ७९ आसुरीपङ्क्तिः, ८० आसुरीजगती**॥

'पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक' स्थ पितर

स्वधा पितृभ्यः पृथिविषद्भ्यः॥ ७८॥

स्वधा पितृभ्यो अन्तरिक्षसद्भ्यः॥ ७९॥

स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्यः॥ ८०॥

१. **पृथिविषद्भ्यः**=पृथिवीस्थ अग्नि आदि देवों की विद्या में निपुण **पितृभ्यः**=इन ज्ञानप्रद पितरों के लिए **स्वधा**=हम आत्मधारण के लिए पर्याप्त अन्न प्राप्त कराएँ। २. इसी प्रकार **अन्तरिक्षसद्भ्यः**=अन्तरिक्षस्थ वायु आदि देवों की विद्या में निपुण **पितृभ्यः**=ज्ञानप्रद पितरों के लिए **स्वधाः**=अन्न प्राप्त कराया जाए और **दिविषद्भ्यः**=द्युलोकस्थ सूर्यादि देवों के ज्ञाता **पितृभ्यः**=पितरों के लिए **स्वधा**=अन्न हो।

भावार्थ—हम 'पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोकस्थ' 'अग्नि, वायु व सूर्य' आदि देवों की विद्या में निपुण ज्ञानप्रदाता पितरों के लिए उचित अन्न प्राप्त कराते हुए उनका आदर करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पितरः**॥ छन्दः—**८१ प्राजापत्यानुष्टुप्, ८२ साम्नीबृहती, ८३, ८४ साम्नीत्रिष्टुप्, ८५ आसुरीबृहती**॥

पितरों के लिए 'स्वधा-व सत्कार'

नमो वः पितर ऊर्जे नमो वः पितरो रसाय॥ ८१॥

नमो वः पितरो भामाय नमो वः पितरो मन्यवे॥ ८२॥

नमो वः पितरो यद् घोरं तस्मै नमो वः पितरो यत्क्रूरं तस्मै॥ ८३॥

नमो वः पितरो यच्छिवं तस्मै नमो वः पितरो यत्स्योनं तस्मै॥ ८४॥

नमो वः पितरः स्वधा वः पितरः॥ ८५॥

१. हे **पितरः**=पितरो! **वः ऊर्जे नमः**=आपके बल व प्राणशक्ति के लिए हम नमस्कार करते हैं। हे **पितरः**=पितरो! **वः रसाय नमः**=आपकी वाणी में जो रस है उसके लिए हम नमस्कार करते हैं। २. हे **पितरः**=पितरो! **वः भामाय नमः**=आपकी तेजोदीप्ति के लिए हम नमस्कार करते हैं। हे **पितरः**=पितरो! **वः मन्यवे नमः**=आपके ज्ञान (मन् अवबोधे) के लिए हम नमस्कार करते हैं। ३. हे **पितरः**=पितरो! **यत्**=जो **वः**=आपका **घोरम्**=शत्रुविनाशरूप हिंसात्मक कार्य है **तस्मै नमः**=उसके लिए नमस्कार हो। हे **पितरः**=पितरो! **यत्**=जो **वः**=आपका **क्रूरम्**=निर्भयता पूर्ण शत्रुविच्छेदरूप कार्य है **तस्मै नमः**=उसके लिए हम आदर करते हैं। ४. हे **पितरः**=पितरो! शत्रुविनाश द्वारा **यत्**=जो **वः**=आपका **शिवम्**=कल्याणकर कार्य है **तस्मै नमः**=उनके लिए हम नमस्कार करते हैं। निर्दयतापूर्वक पूर्णरूपेण शत्रुविनाश द्वारा **यत् वः स्योनम्**=जो आपका सुख प्रदानरूप कार्य है **तस्मै नमः**=उसके लिए हम आपका आदर करते हैं। ५. हे **पितरः**=पितरो! **वः नमः**=आपके लिए हम नमस्कार करते हैं। हे **पितरः**=पितरो! **वः स्वधः**=आपके शरीरधारण के लिए हम आवश्यक अन्न प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—पितर बल व प्राणशक्ति सम्पन्न हैं, उनकी वाणी में रस है। वे तेजस्विता व ज्ञान की दीप्तिवाले हैं। शत्रुओं के लिए घोर व क्रूर हैं—काम, क्रोध आदि शत्रुओं के विनाश में दया नहीं करते। कल्याण व सुख को प्राप्त करानेवाले हैं। हम इनके लिए अन्न प्राप्त कराते हैं और इनका सत्कार करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**पितरः**॥ छन्दः—८६ **चतुष्पदाककुम्मत्युष्णिक्**, ८७ **चतुष्पदाशङ्कुमत्युष्णिक्**॥

पितर पितर हों, हम श्रेष्ठ बनें

येऽत्र पितरः पितरो येऽत्र यूयं स्थ युष्माँस्तेऽनु यूयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्थ॥ ८६॥
य इह पितरो जीवा इह वयं स्मः। अस्माँस्तेऽनु वयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्म॥ ८७॥

१. **ये**=जो **अत्र**=यहाँ **पितरः**=पितर हैं, ये **यूयम्**=जो आप **अत्र**=यहाँ **पितरः स्थ**=पालनात्मक कर्मों में प्रवृत्त हो, जो **युष्मान् अनु**=आपका अनुसरण करनेवाले हैं। **यूयम्**=आप **तेषाम्**=उन सब पितरों में **श्रेष्ठाः भूयास्थ**=श्रेष्ठ हैं, अर्थात् पितरों में वे पितर जो साधना करके पालनात्मक कार्यों में प्रवृत्त हैं, वे श्रेष्ठ हैं। २. **ये**=जो **इह**=यहाँ **पितरः**=पितर **जीवाः**=जीवनशक्ति से परिपूर्ण हैं। **इह**=यहाँ उनके समीप **वयं स्मः**=हम होते हैं। **ते**=वे सब पितर **अस्मान् अनु**=हमें अनुकूलता से प्राप्त होते हैं। **वयम्**=हम **तेषाम्**=उनके ही बन जाते हैं—उनके प्रति अपना अर्पण करते हैं और इसप्रकार हम **श्रेष्ठाः भूयास्म**=श्रेष्ठ हों।

भावार्थ—पितर सचमुच पितर हों—पालनात्मक कर्मों में प्रवृत्त हों। हम उनके समीप रहकर श्रेष्ठ जीवनवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः**॥

'द्युमान् अजर' देव की दीप्ति का दर्शन

आ त्वाग्न इधीमहि द्युमन्तं देवाजरम्।
यद् घ सा ते पनीयसी समिद्दीदयति द्यवि। इषं स्तोतृभ्य आ भर॥ ८८॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वा आइधीमहि**=आपको हम अपने में सर्वथा दीप्त करते हैं—आपके प्रकाश को हृदयों में देखने के लिए यत्नशील होते हैं। आप हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! **द्युमन्तम्**=ज्योतिर्मय हैं, **अजरम्**=अजीर्ण शक्तिवाले हैं—आप ज्योति व शक्ति के पुञ्ज हैं। २. **यत्**=जो **घा**=निश्चय से **सः**=वह **ते**=आपकी **समित्**=दीप्ति है, वह **पनीयसी**=अतिशयेन स्तुत्य है। **द्यवि दीदयति**=आपकी दीप्ति सम्पूर्ण द्युलोक में दीप्त है—हमारे मस्तिष्करूप द्युलोकों को भी वह दीप्त करती है। हे प्रभो! **स्तोतृभ्यः**=हम स्तोताओं के लिए **इषं आभर**=प्रेरणा प्राप्त कराइए। आपसे प्रेरणा प्राप्त करते हुए हम उत्कृष्ट जीवनवाले हों।

भावार्थ—हम हृदयों में प्रभु को समिद्ध करें। प्रभु की प्रशस्त दीप्ति हमारे मस्तिष्क को उज्ज्वल करे। हम प्रभु से प्रेरणा प्राप्त करें। सच्चे स्तोता बनकर ही तो हम इसे प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**चन्द्रमाः**॥ छन्दः—**पञ्चपदापथ्यापङ्क्तिः**॥

'चन्द्रमा+सुपर्ण, नकि हिरण्यनेमि'

चन्द्रमा अप्स्व१न्तरा सुपर्णो धावते दिवि।
न वो हिरण्यनेमयः पदं विन्दन्ति विद्युतो वित्तं मे अस्य रोदसी॥ ८९॥

१. **चन्द्रमा**=गर्वरहित होकर प्रभु की प्रेरणा को सुननेवाला व्यक्ति अंहकारशून्य

मनोवृत्तिवाला होता है, **अप्सु अन्तः**=वह सदा कर्मों में व्याप्त रहता—कर्मशील होता है। **सुपर्णः**=उत्तम पालनात्मक व पूरणात्मक कर्मों में प्रवृत्त यह व्यक्ति **दिवि**=ज्ञान के प्रकाश में **आधावते**=अपने को सर्वथा शुद्ध करता है। २. प्रभु कहते हैं कि **रोदसी**=सारे द्यावापृथिवी में रहनेवाले मनुष्य **मे अस्य वित्तम्**=मेरी इस बात को समझलें कि **वः**=तुममें से **हिरण्यनेमयः**=हिरण्य (सोना) ही जिनकी नेमि (परिधि) है, वे धनासक्त लोग **विद्युतः पदं न विन्दन्ति**=उस विशिष्ट दीप्तिवाले ज्योतिर्मय प्रभु को नहीं प्राप्त करते। धनासक्ति से ऊपर उठकर ही प्रभु की प्राप्ति संभव होती है।

भावार्थ—हम आह्लादमय मनोवृत्ति से कर्त्तव्य-कर्मों को करते रहें—ज्ञान में अपने को पवित्र करने का प्रयत्न करें। धनासक्ति से ऊपर उठकर प्रभु-प्राप्ति के लिए यत्नशील हों।

॥ इत्यष्टादशं काण्डम् ॥

अथैकोनविंशं काण्डम्

प्रथम सूक्त का ऋषि ब्रह्मा है। इस सूक्त का देवता (विषय) यज्ञ है। यज्ञ का सम्यक् सम्पन्न करनेवाला व यज्ञ के द्वारा अपना वर्धन करनेवाला 'ब्रह्मा' (बृहि वृद्धौ)।

अथ प्रथमोऽनुवाकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**यज्ञः** ॥ छन्दः—**पथ्याबृहती** ॥

यज्ञकर्त्ता ब्रह्मा

सं सं स्रवन्तु नद्यः सं वाताः सं पतत्रिणः।
यज्ञमिमं वर्धयता गिरः संस्राव्ये॑ण हविषा जुहोमि ॥ १ ॥

१. यज्ञों के होने पर सारा आधिदैविक जगत् हमारे अनुकूल होता है। ऋतुओं की अनुकूलता से नदियों के प्रवाह ठीक होते हैं, वायुएँ ठीक बहती हैं, पशु-पक्षियों की भी हमारे लिए अनुकूलता होती है। इसी बात को मन्त्र में इसप्रकार कहते हैं—हे **गिरः**=ज्ञान की वाणियों द्वारा प्रभु-स्तवन करनेवाले लोगो! **इमं यज्ञं वर्धयता**=इस यज्ञ का वर्धन करो। तुम्हारे घरों में यज्ञ बड़े नियम से होते रहें। इस आहुति को तुम 'संस्राव्य' जानो। 'सं स्र' सब वस्तुओं की ठीक गति का यह साधन है। इससे 'नदियाँ, वायु, पक्षी' सभी ठीक गतिवाले होते हैं। तुम प्रतिदिन यही संकल्प करो कि **संस्राव्येण**=सब जगत् की ठीक गति की साधनभूत **हविषा जुहोमि**=हवि से मैं आहुति देता हूँ। २. इस यज्ञ को करनेवाला ही इस प्रार्थना का अधिकारी होता है कि **नद्यः**=सब नदियाँ **सम्**=ठीक और **सं स्रवन्तु**=ठीक ही बहें। **वाताः**=वायुएँ **सं (स्रवन्तु)**=ठीक से बहें। **पतत्रिणः**=पक्षी भी **सम्**=ठीक गतिवाले हों। सारे आधिदैविक व आधिभौतिक जगत् के अनुकूल होने पर हमारा आध्यात्मिक जगत् सुन्दर बनता है। हम उन्नत होते हुए 'ब्रह्मा' (=बढ़े हुए) बन पाते हैं।

भावार्थ—हमारा जीवन यज्ञमय हो। इस यज्ञ से हमें आधिदैविक व आधिभौतिक जगत् की अनुकूलता प्राप्त हो। इस अनुकूलता से अध्यात्म उन्नति करते हुए हम 'ब्रह्मा' बन पाएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**यज्ञः** ॥ छन्दः—**पथ्याबृहती** ॥

होमाः=संस्रावणाः

इमं होमा यज्ञमवतेमं संस्रावणा उत।
यज्ञमिमं वर्धयता गिरः संस्राव्ये॑ण हविषा जुहोमि ॥ २ ॥

१. हे **गिरः**=ज्ञान की वाणियों द्वारा प्रभु-स्तवन करनेवाले स्तोताओ! **इमं यज्ञं वर्धयत**=इस यज्ञ का वर्धन करो। यही निश्चय करो कि **संस्राव्येण**=सम्पूर्ण जगत् की सम्यक् गति की साधनाभूत **हविषा**=हवि से **जुहोमि**=हवन करता हूँ। यज्ञों से ही तो सम्पूर्ण आधिदैविक व आधिभौतिक जगत् हमारे अनुकूल होता है। तभी हम शान्तिपूर्वक अध्यात्म उन्नति कर पाते हैं, २. इसीलिए वेद का आदेश है कि हे **होमाः**=आहुति देनेवाले यज्ञशील पुरुषो! **इमं यज्ञं अवत**=इस यज्ञ का रक्षण करो। तुम्हारे जीवनों में से इस यज्ञ का कभी विलोप न हो जाए।

उत=और हे **संस्त्रावणाः**=यज्ञों द्वारा सब वस्तुओं की ठीक गति के कारणभूत लोगो! **इमम्**=इस यज्ञ को सदा जागरित रक्खो—यह कभी सुप्त व विनष्ट न हो जाए।

भावार्थ—यज्ञ को न विलुप्त होने देनेवाले ये लोग संस्त्रावण हैं—सब वस्तुओं की ठीक गति के ये कारण बनते हैं, अतः इस सम्बन्ध में हम हवि को लुप्त न होने दें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**यज्ञः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

रूपंरूपं, वयःवयः

रूपंरूपं वयोवयः संरभ्यैनं परि ष्वजे।
यज्ञमिमं चतस्त्रः प्रदिशो वर्धयन्तु संस्त्राव्ये॑ण हविषा जुहोमि ॥ ३ ॥

१. मानव-जीवन में कभी हमारा स्वरूप एक ब्रह्मचारी का, पुनः गृहस्थ का, तदनन्तर एक वानप्रस्थ का होता है। आयु के दृष्टिकोण से भी हमारा 'बाल्यकाल, यौवन व वार्धक्य' होता है। मैं **रूपंरूपम्**=उस-उस रूप को और **वयः वयः**=उस-उस आयुष्य को **संरभ्य**=ग्रहण करके **एनं परिष्वजे**=इस यज्ञ का आलिङ्गन करता हूँ। यज्ञ तो हमें सदा करना ही है, चाहे हम किसी रूप में हों या किसी भी आयुष्य की अवस्था में हों। २. **चतस्त्रः प्रदिशः**=चारों विस्तृत दिशाएँ—इन दिशाओं में रहनेवाले लोग **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **वर्धयन्तु**=बढ़ाएँ—स्वयं भी यज्ञशील हों। **संस्त्राव्येण हविषा**=सब वस्तुओं की ठीक गति की साधनभूत **हविषा**=हवि के द्वारा **जुहोमि**=मैं आहुति देता हूँ—मैं यज्ञशील बनता हूँ।

भावार्थ—हम जीवन की किसी भी स्थिति में हों, आयु की किसी भी श्रेणी में हो, यज्ञ हमारे लिए आवश्यक है। सब लोग इस यज्ञ का वर्धन करनेवाले हों।

'यज्ञाद् भवति पर्जन्यः' के अनुसार यज्ञों से ठीक वृष्टि होकर हमें उत्तम जलों की प्राप्ति होती है। ये जल नदियों में प्रवाहित होकर 'सिन्धु' कहलाते हैं (स्यन्दन्ते)। स्नान व पान के रूप में दो प्रकार से जलों का यह प्रयोक्ता 'सिन्धुद्वीप' है (द्विर्गताः आपो यस्मिन्)। इस 'सिन्धु-द्वीप' का ही अगला सूक्त है—

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'हैमवतीः—वर्ष्याः' आपः

शं त आपो हैमवतीः शमु ते सन्तूत्स्याः।
शं ते सनिष्यदा आपः शमु ते सन्तु वर्ष्याः ॥ १ ॥

१. गत सूक्त में वर्णित **ते**=तुझ यज्ञशील पुरुष के लिए **हेमवतीः आपः**=हिमवाले पर्वतों से बहनेवाली जलधाराएँ **शम्**=शान्ति देनेवाली हों। **उ**=और **ते**=तेरे लिए **उत्स्याः**=स्रोतों से बहनेवाली जलधाराएँ भी **शं सन्तु**=शान्ति देनेवाली हों। २. **सनिष्यदाः आपः**=सर्वदा स्यन्दमान—निरन्तर बहनेवाली—जलधाराएँ **ते शम्**=तेरे लिए शान्तिकर हों। **उ**=और **वर्ष्याः**=वृष्टि से प्राप्त होनेवाले ये जल **ते शम्**=तेरे लिए शान्तिकर हों।

भावार्थ—हिमवान् पर्वतों से आनेवाले, स्रोतों से बहनेवाले, निरन्तर प्रवाहित होनेवाले तथा वृष्टि के जल हमारे लिए शान्तिकर हों।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'धन्वन्याः—खनित्रिमाः' आपः

शं त आपो धन्वन्या३ः शं ते सन्त्वनूप्याः ।
शं ते खनित्रिमा आपः शं याः कुम्भेभिराभृताः ॥ २ ॥

१. **धन्वन्याः**=मरुप्रदेशों में—रेगिस्तानों में होनेवाले **आपः**=जल **ते शम्**=तेरे लिए शान्तिकर हों। **अनूप्याः**=जल-समृद्ध-(कच्छ)-प्रदेशों में होनेवाले जल **ते शं सन्तु**=तेरे लिए शान्तिकर हों। २. **खनित्रिमाः आपः**=खनन से उत्पन्न कुएँ व तालाब आदि के जल **ते शम्**=तेरे लिए शान्तिकर हों और **याः**=जो **कुम्भेभिः आभृताः**=घड़ों से धारण किये गये जल हैं वे **शम्**=शान्ति देनेवाले हों।

भावार्थ—मरुस्थलों व कच्छप्रदेशों के जल हमारे लिए शान्तिकर हों। इसी प्रकार कुएँ व घड़ों के जल हमें शान्ति प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'भिषग्भ्यो भिषक्तराः' आपः

अनभ्रयः खनमाना विप्रा गम्भीरे अपसः ।
भिषग्भ्यो भिषक्तरा आपो अच्छा वदामसि ॥ ३ ॥

१. **अनभ्रयः**=अभ्रि (कुदाल) आदि खनन-साधनों के बिना ही **खनमानाः**=दोनों तटों का विदारण करते हुए ये नदी-जल, **विप्राः**=विशेषरूप से पूरण करनेवाले **गम्भीरे**=अगाध स्थान में **अपसः**=व्याप्ति करने—महान् ह्रदों में विद्यमान **आपः**=जल **भिषग्भ्यो भिषक्तराः**=वैद्यों में सर्वमहान् वैद्य हैं। वैद्य को औषध लानी पड़ती है, जल तो स्वयं ही औषध हैं 'अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा'। २. इन जलों का **अच्छा**=लक्ष्य करके **वदामसि**=हम परस्पर वार्तालाप करते हैं। इन जलों के गुणों का स्तवन करते हैं।

भावार्थ—नदियों के जल व अगाध ह्रदों के जल सर्वमहान् वैद्य हैं—सब औषध इनके अन्दर विद्यमान हैं।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

जलों के द्वारा प्रणेजन (रोगशुद्धि व पोषण)

अपामह दिव्यानामपां स्रोतस्यानाम्। अपामह प्रणेजनेऽश्वा भवथ वाजिनः ॥ ४ ॥

१. **अह**=निश्चय से **दिव्यानाम् अपाम्**=अन्तरिक्ष से वृष्ट होनेवाले जलों के, **स्रोतस्यानाम्**=स्रोतों से प्राप्त होनेवाले जलों के, **अह**=और **अपाम्**=अन्य जलों के **प्रणेजने**=शोधन व पोषण के होने पर, अर्थात् इन जलों के द्वारा रोग-निवृत्ति व पुष्टि प्राप्त होने पर तुम **वाजिनः**=शक्तिशाली **अश्वाः**=सदा कर्मों में व्याप्त होनेवाले आलस्यशून्य मनुष्य **भवथ**=बनो।

भावार्थ—जलों द्वारा शरीर-शुद्धि व पोषण होने पर हम शक्तिशाली कर्मों में व्याप्त—आलस्यशून्य जीवनवाले बनते हैं।

ऋषिः—**सिन्धुद्वीपः** ॥ देवता—**आपः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'भेषजीः' अपः

ता अपः शिवा अपोऽयक्ष्मंकरणीरपः ।
यथैव तृप्यते मयस्तास्त आ दत्त भेषजीः ॥ ५ ॥

१. **ताः**=वे **अपः**=जल **शिवाः अपः**=कल्याणकारी जल हैं। ये **अपः**=जल **अयक्ष्मंकरणीः**=यक्ष्मा आदि रोगों को दूर करनेवाले हैं। २. अतः **ते**=वे आप लोग **ताः**=उन **भेषजीः**=औषधभूत जलों को **आदत्त**=स्वीकार करो—इसप्रकार ग्रहण करो **यथा**=जिससे **मयः**=कल्याण, सुख व नीरोगता—**तृप्यते एव**=बढ़ती ही है।

भावार्थ—जल नीरोगता देनेवाले हैं। इनके ठीक प्रयोग से सुख-वृद्धि होती है।

जलों के ठीक प्रयोग से स्वस्थ बना हुआ यह पुरुष—'अथर्वा' बनता है। शरीर के स्वस्थ होने पर स्वस्थ मनवाला बनता है—डाँवाडोल नहीं होता। यह अंग-प्रत्यंग में रसवाला 'अंगिराः' होता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

विविध अग्नियों का सदुपयोग

दिवस्पृथिव्याः पर्यन्तरिक्षाद्वनस्पतिभ्यो अध्योषधीभ्यः।
यत्रयत्र विभृतो जातवेदास्तत स्तुतो जुषमाणो न एहि॥ १॥

१. **दिवः**=द्युलोक से **पृथिव्याः**=पृथिवीलोक से **अन्तरिक्षात् परि**=अन्तरिक्षलोक से—वायु से **वनस्पतिभ्यः**=वनस्पतियों से तथा **ओषधीभ्यः अधि**=ओषधियों में से **यत्रयत्र**=जहाँ भी **जातवेदाः**=(जाते जाते विद्यते) यह व्याप्त होकर रहनेवाला अग्नि **विभृतः**=विशेषरूप से धारण किया गया है, **ततः**=वहाँ से **स्तुतः**=स्तवन किया हुआ व **जुषमाणः**=प्रीतिपूर्वक सेवन किया हुआ **नः एहि**=हमें प्राप्त हो।

भावार्थ—द्युलोकस्थ सूर्यरूप अग्नि के, पृथिवीस्थ अग्नि के, अन्तरिक्षस्थ विद्युत् अग्नि के तथा वनस्पतियों व ओषधियों में अम्ल (acid) रूप में रहनेवाले अग्नि के गुणों का स्तवन करते हुए तथा इनका उचित प्रयोग करते हुए हम नीरोगता-जनित प्रीति का अनुभव करें।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

'द्रविणोदा'=अग्नि

यस्ते अप्सु महिमा यो वनेषु य ओषधीषु पशुष्वप्स्व१न्तः।
अग्ने सर्वास्तन्व१ः सं रभस्व ताभिर्न एहि द्रविणोदा अजस्रः॥ २॥

१. हे **अग्ने**=अग्निदेव! **यः**=जो **ते**=तेरी **महिमा**=महत्त्वपूर्ण सामर्थ्य **अप्सु**=जलों में है, **यः**=जो तेरी महिमा **वनेषु**=वनों में वनाग्नि के रूप से है, **यः**=और जो तेरी महिमा **ओषधीषु**=ओषधियों में फलपाक का कारण बनती है, जो **पशुषु**=पशुओं में—प्राणियों में वैश्वानर रूप से तेरी महिमा है, जो **अप्सु अन्तः**=अन्तरिक्षस्थ जलों में—मेघों में विद्युत् रूप से तेरी महिमा है। हे अग्ने! तू उन **सर्वाः**=सब **तन्वः**=अपने महिमारूप शरीरों को **संरभस्व**=हममें संकलित कर। **ताभिः**=अपने उन महत्त्वों से **नः**=हमारे लिए **अजस्रः**=निरन्तर **द्रविणोदाः**=उस-उस अंग के लिए आवश्यक द्रविणों को देनेवाला होता हुआ **एहि**=हमें प्राप्त हो।

भावार्थ—विविध स्थानों में रहता हुआ अग्नि हमें अपनी महिमाओं से अंग-प्रत्यंग के लिए आवश्यक द्रविणों का देनेवाला हो।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

देवेषु-पितृषु-मनुष्येषु

यस्ते॑ दे॒वेषु॑ महि॒मा स्व॒र्गो या ते॑ त॒नूः पि॒तृष्वा॑वि॒वेश॑।
पुष्टि॒र्या ते॑ मनुष्ये॒षु पप्र॒थेऽग्ने॒ तया॑ र॒यिम॒स्मासु॑ धेहि॥ ३॥

१. हे **अग्ने!**=हमें उन्नत करने में सहायक होनेवाले अग्नितत्त्व! (अग्रणी) **यः**=जो **ते**=तेरी **महिमा**=महत्त्व **देवेषु**=देवों में—ज्ञानदीप्तिवाले पुरुषों में **स्वर्गः**=आकाशमयलोक में प्राप्त करानेवाला है और **याः**=जो **ते तनूः**=तेरा शक्ति-विस्तारकस्वरूप (तन् विस्तारे) **पितृषु**=पालनात्मक कर्मों में प्रवृत्त लोगों में **आविवेश**=प्रविष्ट हो रहा है। **या**=जो **ते**=तेरा **पुष्टिः**=पोषक तत्त्व **मनुष्येषु**=विचारशील पुरुषों में **पप्रथे**=विस्तृत हो रहा है **तया**=अपनी उस महिमा से **अस्मासु**=हममें **रयिं धेहि**=उस-उस ऐश्वर्य को धारण कर। २. शरीर में अग्नितत्त्व का सम्यक् पोषण करते हुए हम 'पुष्ट' बनें। हृदय में अग्नितत्त्व के सम्यक् पोषण से हम पालनात्मक कर्मों की वृत्तिवाले 'पितर्' बनें। मस्तिष्क में अग्नितत्व का उचित पोषण हमें प्रकाशमय जीवनवाला 'देव' बनाये।

भावार्थ—अग्नितत्व का उचित पोषण हमें मस्तिष्क में प्रकाशमय, हृदय में पालनात्मक कर्मों की वृत्तिवाला तथा शरीर में पुष्ट अंगोंवाला बनाता है।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'महान् अग्नि' प्रभु से प्रार्थना

श्रुत्क॑र्णाय क॒वये॒ वेद्या॑य॒ वचो॑भिर्वा॒कैरुप॑ यामि रा॒तिम्।
यतो॑ भ॒यमभ॑यं॒ तन्नो॑ अ॒स्त्वव॑ दे॒वानां॑ यज॒ हेडो॑ अग्ने॥ ४॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **श्रुत्कर्णाय**=जिसके कान हमारी प्रार्थना को सदा सुनते हैं, अथवा (श्रुत् ज्ञान से कर्ण कृ विक्षेपे) ज्ञान के द्वारा वासनाओं को विकीर्ण करनेवाले, **कवये**=सर्वज्ञ, **वेद्याय**=अन्तिम जानने योग्य **तत्**=उन आप (प्रभु) के लिए **वाकैः**=सम्यक् उच्चरित **वचोभिः**=वचनों से **रातिम् उपयामि**=अभिलक्षित फलदान की याचना करता हूँ। २. यही याचना करता हूँ कि हे अग्ने! **यतः भयम्**=जहाँ से भी भय है, **तत्**=वह सब भय का कारण **नः**=हमारे लिए **अभयम् अस्तु**=भय का कारण न रहे। हे प्रभो! आप सब **देवानाम्**=सूर्य, विद्युत्, अग्नि आदि देवों के तथा विद्वानों के **हेडः**=हमारे प्रति क्रोध को **अवयज**=दूर कीजिए। इनका क्रोध हमें प्राप्त न हो। इनकी अनुकूलता होकर हमें स्वास्थ्य की शक्ति व ज्ञान प्राप्त हो।

भावार्थ—प्रभु से हमारी यही याचना है कि वे सब देवों के क्रोध को हमसे दूर करके हमें निर्भय करें। देवानुग्रह हमें शक्ति व ज्ञान प्राप्त कराए।

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाविराडतिजगती** ॥

(वेद का प्रादुर्भाव) प्रथमा आहुति

यामाहु॑तिं प्रथ॒मामथ॑र्वा॒ या जा॒ता या ह॒व्यमकृ॑णोज्जा॒तवे॑दाः।
तां त॑ ए॒तां प्र॑थ॒मो जो॑हवीमि॒ ताभि॑ष्टु॒प्तो व॑हतु ह॒व्यम॒ग्निर॒ग्नये॒ स्वाहा॑॥ १॥

१. **याम्**=जिस **आहुतिम्**=(हु दाने) दान को **प्रथमाम्**=सर्वप्रथम **अथर्वा**=उस न डोलनेवाले 'अच्युत' **जातवेदाः**=सर्वज्ञ प्रभु ने **अकृणोत्**=किया, **या**=जो वेदज्ञान की देन **जाता**=अग्नि आदि ऋषियों के हृदयों में प्रादुर्भूत हुई, **या**=जो वेदज्ञान की देन हमारे लिए **हव्यम् अकृणोत्**=हव्य

पदार्थों को करती है। इस वेदज्ञान से हमें चाहने योग्य 'आयु, प्राण, प्रजा, पशु, द्रविण, कीर्ति व ब्रह्मवर्चस्' आदि सब उत्तम पदार्थ प्राप्त होते हैं। प्रभु ने इस वेदज्ञान को सर्वप्रथम दिया। यह वेदज्ञान 'अग्नि' आदि ऋषियों के हृदयों में प्रादुर्भूत हुआ। यह प्रभु की सर्वप्रथम देन है। २. **ताम्**=उस **एताम्**=इस वेदज्ञान की आहुति को **ते**=आपसे **प्रथमः**=सबसे पहिले **जोहवीमि**=पुकारता हूँ—माँगता हूँ। **ताभिः**=उन वेदवाणियों से **स्तुप्तः**=(स्तुभ् to praise) स्तुत हुआ-हुआ **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **हव्यं वहतु**=हमारे लिए सब हव्य पदार्थों को प्राप्त कराए। इस **अग्नये**=अग्रणी प्रभु के लिए **स्वाहा**=हम अपना अर्पण करते हैं। अर्पण करनेवाले हम लोगों का वे प्रभु वेदज्ञान प्राप्त कराने के द्वारा कल्याण क्यों न करेंगे?

भावार्थ—प्रभु की सर्वप्रथम देन वेदज्ञान है। प्रभु सृष्टि के प्रारम्भ में इसका अग्नि आदि के हृदयों में प्रकाश करते हैं। हम भी इस वेदज्ञान की याचना करते हैं। वेदवाणियों द्वारा स्तुत प्रभु हमारे लिए सब हव्य पदार्थों को प्राप्त कराएँ। हम उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

आकूति

आकूतिं देवीं सुभगां पुरो दधे चित्तस्य माता सुहवा नो अस्तु।
यामाशामेमि केवली सा मे अस्तु विदेयमेनां मनसि प्रविष्टाम्॥ २॥

१. संसार में सब कार्य संकल्पशक्ति से ही सिद्ध होते हैं। वेदज्ञान भी संकल्पशक्ति से ही प्राप्त होता है 'काम्यो हि वेदाधिगमः' कामना होने पर ही वेदज्ञान होता है, अतः मैं **आकूतिम्**=इस संकल्पशक्ति को **पुरःदधे**=अपने जीवन में प्रथम स्थान में स्थापित करता हूँ—इसे सर्वाधिक महत्त्व देता हूँ। यह **देवीम्**=(व्यवहार) सब व्यवहारों की साधिका है, **सुभगाम्**=उत्तम ऐश्वर्य को प्राप्त करानेवाली है। यह **चित्तस्य माता**=चित्त का निर्माण करनेवाली है। संकल्प होने पर मनुष्य उस-उस कार्य को पूरे मन (चित्त) से करता है। यह आकूति **नः**=हमारे लिए **सुहवा अस्तु**=शोभन तथा पुकारने योग्य हो। हम इसके लिए ही प्रभु से आराधना करें। प्रभु हमें शिवसंकल्पवाला बनाए। २. **याम् आशाम् एमि**=जिस भी अभिलाषा को मैं प्राप्त होऊँ, **सः**=वह **मे**=मेरी **केवली**=अकेली शुद्ध—अन्य इच्छाओं से अमिश्रित **अस्तु**=हो। संकल्प में मन एक ही वस्तु की ओर एकाग्र होता है। वस्तुतः यह संकल्प इस एकाग्रता के कारण ही हमें सफल बनाता है। इस संकल्प के द्वारा **मनसि प्रविष्टाम्**=मन में प्रविष्ट हुई-हुई **एनाम्**=इस आशा को **विदेयम्**=मैं प्राप्त करूँ। यह संकल्प मुझे इस आशा को कार्यान्वित करने में (मूर्तरूप देने में) समर्थ करे।

भावार्थ—संकल्पशक्ति हमें अपनी सब आशाओं को सफल करने में समर्थ करती है। यह हमारे सब व्यवहारों को सिद्ध करती है (देवी)। हमें सौभाग्यसम्पन्न बनाती है (सुभगा)।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'अभ्युदय व निःश्रेयस' का साधक संकल्प

आकूत्या नो बृहस्पत आकूत्या न उपा गहि।
अथो भगस्य नो धेह्यथो नः सुहवो भव॥ ३॥

१. हे **बृहस्पते**=वेदज्ञान के स्वामिन् प्रभो! (ब्रह्मणस्पते) आप **आकूत्या**=संकल्पशक्ति के साथ **नः**=हमें **उप आगहि**=समीपता से प्राप्त होइए। अवश्य ही इस **आकूत्या नः**=संकल्पशक्ति

के साथ हमें प्राप्त होइए। आप हमें संकल्पशक्ति को अवश्य ही प्राप्त कराइए। २. **अथ**=अब संकल्पशक्ति को प्राप्त कराने के द्वारा अवश्य ही **नः भगस्य धेहि**=हमारे लिए ऐश्वर्य को (सौभाग्य को) धारण कीजिए। हम संकल्प के द्वारा ऐश्वर्यसम्पन्न बनें। **अथ उ**=और निश्चय से आप **नः**=हमारे लिए **सुहवः**=सुगमता से आराधन के योग्य **भव**=होइए। इस संकल्प के द्वारा हम आपको प्राप्त करनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु हमें संकल्पशक्ति दें। इस संकल्पशक्ति से हम ऐश्वर्य-सिद्ध करते हुए प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनें। ऐश्वर्य ही 'अभ्युदय' है, प्रभु-प्राप्ति व निःश्रेयस—इन दोनों को प्राप्त करानेवाला यह संकल्प है।

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

संकल्प से ज्ञान व दिव्यशक्तियों की प्राप्ति

बृहस्पतिर्म आकूतिमाङ्गिरसः प्रति जानातु वाचमेताम्।
यस्य देवा देवताः संबभूवुः स सुप्रणीताः कामो अन्वेत्वस्मान्॥ ४॥

१. **आङ्गिरसः**=अंग-प्रत्यंग में रस का संचार करनेवाला **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **मे**=मेरे लिए **आकूतिम्**=इस संकल्पशक्ति को **प्रतिजानातु**=प्रतिज्ञात (Introduce) करे। इस संकल्पशक्ति को हममें प्रविष्ट करे। इस संकल्पशक्ति के द्वारा **एताम् वाचम्**=इस वाणी को—वेदवाणी को मुझमें प्रविष्ट करे। २. **यस्य**=जिस काम (संकल्प) के होने पर **सुप्रणीताः**=उत्तम मार्ग से अपने जीवन का प्रणयन करनेवाले **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **देवताः**=सब दिव्यशक्तियों को **संबभूवुः**=(to meet, be united with) अपने साथ मिलाते हैं। **सः कामः**=यह प्रबल कामना (संकल्प) **अस्मान्**=हमें **अन्वेतु**=अनुकूलता से प्राप्त हो। इस संकल्प से हम अपने जीवनों को दिव्यशक्ति-सम्पन्न बनाएँ।

भावार्थ—शक्तिशालीज्ञान के स्वामी वे प्रभु हमें संकल्पशक्ति प्राप्त कराएँ। इसके द्वारा हमें वेदवाणी को प्राप्त कराएँ और यह संकल्प हमें दिव्यशक्तियों से युक्त करनेवाला हो।

अगले सूक्त में भी ऋषि 'अथर्वाङ्गिराः' ही है—

५. [पञ्चमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वाङ्गिराः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

राजा के नियन्त्रण में

इन्द्रो राजा जगतश्चर्षणीनामधि क्षमि विषुरूपं यदस्ति।
ततो ददाति दाशुषे वसूनि चोदद्राध उपस्तुतश्चिदर्वाक्॥ १॥

१. **इन्द्रः**=वह सर्वशक्तिमान्, ऐश्वर्यशाली प्रभु **जगतः**=इस ब्रह्माण्ड का, **चर्षणीनाम्**=सब प्रजाओं का और **अधिक्षमि**=इस पृथिवी पर **यत्**=जो कुछ भी **विषुरूपम्**=विविध उत्तम रूपोंवाला पदार्थमात्र **अस्ति**=है, उस सबका **राजा**=नियमित करनेवाला स्वामी है। २. हे प्रभु **ततः**=अपने उस अनन्त ऐश्वर्य में से **दाशुषे**=दाश्वान्—दानशील पुरुष के लिए **वसूनि**=निवास के लिए आवश्यक धनों को **ददाति**=देते हैं। वे प्रभु **चित्**=ही **उपस्तुतः**=उपस्तुत हुए-हुए **राधः**=कार्यसाधक धनों को **अर्वाक्**=हमारे अभिमुख **चोदत्**=प्रेरित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सब ब्रह्माण्ड के नियन्ता राजा हैं। प्रभु ही दानशील पुरुष के निवास के लिए आवश्यक धनों को प्राप्त कराते हैं। स्तुत हुए-हुए प्रभु ही कार्यसाधक धनों को देते हैं।

गतमन्त्र का अथर्वा प्रभु-स्तवन करता हुआ प्रभु-जैसा ही बनने के लिए यत्नशील होता है। 'नारायण' ही बन जाता है। यह प्रभु-स्तवन करता हुआ कहता है—

६. [षष्ठं सूक्तम्]

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'सहस्रबाहु' पुरुष

सहस्रबाहुः पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्॥ १॥

१. **पुरुषः**=इस ब्रह्माण्डरूप पुरी में निवास करनेवाले प्रभु **सहस्रबाहुः**=अनन्त भुजाओंवाले हैं—अपनी अनन्त भुजाओं से हम सबका रक्षण कर रहे हैं। **सहस्राक्षः**=अनन्त आँखोंवाले हैं—अपनी अनन्त आँखों से वे सभी को देख रहे हैं—प्रभु से कुछ छिपा नहीं है। **सहस्रपात्**=वे अनन्त पाँवोंवाले हैं। सर्वत्र गतिवाले हैं। २. **सः**=वे **भूमिम्**=(भवन्ति भूतानि यस्याम्) प्राणियों के निवास-स्थानभूत लोकों को **विश्वतः**=सब ओर से **वृत्वा**=आवृत्त—आच्छादित करके **दशाङ्गुलम्**=इस दश अंगुलमात्र परिमाणवाले—प्रभु के एकदेश में होनेवाले—ब्रह्माण्ड को **अत्यतिष्ठत्**=लांघकर ठहरे हुए हैं। यह सारा ब्रह्माण्ड प्रभु की अनन्तता में दशांगुलमात्र ही है—यह प्रभु के एक देश में है।

भावार्थ—वे प्रभु अनन्त भुजाओं, आँखों व पाँवोंवाले हैं। उनमें सर्वत्र सब इन्द्रियों की शक्ति है। वे इस सारे ब्रह्माण्ड को आवृत्त करके इसे लाँघकर सर्वत्र विद्यमान है।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रभु के एक देश में

त्रिभिः पद्भिर्द्यामरोहत्पादस्येहाभवत्पुनः।
तथा व्य क्रामद्विष्वङ्ङशनानशने अनु॥ २॥

१. वह सहस्रबाहू पुरुष **त्रिभिः पद्भिः**=तीन पादों से (अंशों से) **द्याम् अरोहत्**=अपने प्रकाशमय स्वरूप में प्रकट हुआ है। प्रभु के तीन अंशों में जगत् की उत्पत्ति, स्थिति व प्रलय का चक्र नहीं है। पुनः फिर **अस्य**=इस प्रभु का **पात्**=एक अंश ही **इह अभवत्**=इस ब्रह्माण्ड में व्याप्त हो रहा है। यह सारा ब्रह्माण्ड का खेल प्रभु के एक देश में ही होता है। २. **तथा**=उस प्रकार **विष्वङ्**=(विषु अञ्च्) सर्वत्र गति व व्याप्तिवाला वह प्रभु **अशनानशने**=खानेवाले चेतन जगत् में व न खानेवाले जड़ जगत् में **अनु**=अनुकूलता से **वि अक्रामत्**=विविध गतियाँ कर रहा है। सर्वत्र गति देनेवाला वह प्रभु ही है।

भावार्थ—प्रभु के एक देश में इस सारे जड़-चेतनरूप जगत् का खेल चल रहा है। प्रभु के तीन अंश तो अपने प्रकाशमय रूप में प्रकट हो रहे हैं। प्रभु की अनन्तता में यह ब्रह्माण्ड अत्यन्त तुच्छ-से परिमाणवाला है।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

लोक-लोकान्तर में प्रभु की महिमा की अभिव्यक्ति

तावन्तो अस्य महिमानस्ततो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि॥ ३॥

१. **तावन्तः**=उतने, अर्थात् ये जितने भी लोक-लोकान्तर हैं, वे **अस्य**=इस प्रभु के

महिमान:=महिमामात्र हैं। इन सबमें प्रभु की महिमा प्रकट हो रही है **च**=और वे **पूरुषा:**=इस ब्रह्माण्डरूप पुरी में निवास करनेवाले प्रभु तो **तत:**=उस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड से **ज्यायान्**=बहुत बड़े हैं। २. **विश्वा भूतानि**=सब प्राणी व सब पृथिव्यादि लोक **अस्य पाद:**=इस प्रभु के चतुर्थांशमात्र हैं। **अस्य त्रिपात्**=इसके तीन अंश तो **दिवि अमृतम्**=प्रकाशमयरूप में अ-मृत हैं, अर्थात् उन तीन अंशों में यह उत्पत्ति व विनाश का क्रम नहीं चल रहा। यह सब जन्म-मरण का क्रम प्रभु के एक देश में ही हो रहा है।

भावार्थ—ये सब लोक-लोकान्तर प्रभु की महिमा को प्रकट कर रहे हैं। प्रभु इनसे महान् हैं। ये सब तो प्रभु के एकदेश में ही हैं। प्रभु के तीन अंश तो इस सब जन्म-मरण के स्थल न बनकर प्रकाशमय ही हैं।

ऋषि:—**नारायण:** ॥ देवता—**पुरुष:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

वह महान् शासक

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्य॑म्।
उतामृतत्वस्येश्वरो यदन्येनाभवत्सह॥ ४॥

१. **पुरुष: एव**=वह ब्रह्माण्डरूप पुरी में निवास करनेवाला प्रभु ही **यत्**=जो **इदं सर्वम्**=यह सब वर्तमान काल में है, **यत् भूतम्**=जो हो चुका है, **च भाव्यम्**=और भविष्य में होना है, उस सबका **ईश्वर:**=ईश्वर है—शासक है। प्रभु के शासन में ही सदा सम्पूर्ण संसार संसरण किया करता है। २. वे प्रभु इस संसार के ही नहीं, **उत**=अपितु **अमृतत्वस्य**=मोक्षलोक के भी (ईश्वर:) शासक हैं। **यत्**=जो यह मुक्तात्मा भी मुक्ति का काल समाप्त होने पर **अन्येन सह**=प्रभु से भिन्न इस प्रधान (प्रकृति) के साथ **अभवत्**=होता है। मुक्ति काल में तो यह मुक्त पुरुष प्रभु के साथ विचरता था, परन्तु इस काल के समाप्त होने पर प्रभु की व्यवस्था में उसे फिर से शरीर लेना होता है और इसप्रकार फिर प्रकृति के साथ होना पड़ता है, अर्थात् उसे फिर से शरीरलेना पड़ता है।

भावार्थ—वे परमपुरुष प्रभु वर्तमान, भूत व भविष्य में होनेवाले सब ब्रह्माण्डों के स्वामी हैं। मुक्तात्मा भी प्रभु के शासन में होते हैं और मुक्तिकाल की समाप्ति पर पुन: प्रभु की व्यवस्था से शरीर धारण करते हैं।

ऋषि:—**नारायण:** ॥ देवता—**पुरुष:** ॥ छन्द:—**अनुष्टुप्** ॥

प्रभु का धारण

यत्पुरुषं व्यदधु: कतिधा व्य॑कल्पयन्।
मुखं किमस्य किं बाहू किमूरू पादा उच्येते॥ ५॥

१. **यत्**=जब साधनामय जीवनवाले पुरुष **पुरुषम्**=उस परमपुरुष प्रभु को **व्यदधु:**=अपने में विशेष रूप से धारण करते हैं तब वे **कतिधा**=कितने प्रकार से **व्यकल्पयन्**=अपने को विशिष्ट सामर्थ्यवाला बनाते हैं। प्रभु का धारण करनेवाला प्रभु की शक्ति से शक्तिसम्पन्न होकर असामान्य शक्तिवाला हो जाता है। २. **अस्य**=इस प्रभु के धारण करनेवाले का **मुखं किम्**=मुख क्या बन जाता है? सामान्य व्यक्ति व इस साधक के मुख में क्या अन्तर होता है? **किं बाहू**=इसकी बाहुएँ **किम् उच्येते**=क्या कही जाती हैं? **उरू किम्**=जाँघें क्या कही जाती हैं? और इसीप्रकार **पादा:**=इसके पाँव (किम् उच्येते) क्या कहे जाते हैं, अर्थात् इस साधक के मुख, भुजाओं, जाँघों व पाँवों की क्रियाओं में क्या अन्तर आ जाता है? प्रभु के धारण से इसके अंगों में क्या विशेषता

उत्पन्न होती है?

भावार्थ—जिज्ञासु प्रश्न करता है कि साधक के अंगों में प्रभु के धारण से किस अद्भुत् शक्ति का प्रादुर्भाव होता है? प्रश्न का उत्तर अगले मन्त्र में देते हैं—

ऋषिः—**नारायणः**॥ देवता—**पुरुषः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ब्राह्मण से शूद्र तक

ब्राह्मणो ऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यो ऽभवत्।
मध्यं तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ ६॥

१. **अस्य**=इस प्रभु का धारण करनेवाले साधक का **मुखम्**=मुख **ब्राह्मणः आसीत्**=ब्राह्मण हो जाता है। इसका मुख सदा ब्राह्मण का कार्य करनेवाला होता है। यह मुख से ज्ञानोपदेश में प्रवृत्त होता है। **बाहूः**=इसकी भुजाएँ **राजन्यः**=प्रकृति का रञ्जन करनेवाली **अभवत्**=होती हैं। बाहुओं से यह क्षत्रिय बन जाता है—प्रजा का रक्षण करनेवाला होता है। २. **यत्**=जो **अस्य मध्यम्**=इसका मध्यभाग (उदर व जाँघें) है, **तत्**=वह **वैश्यः**=वैश्य होता है। राष्ट्र में वैश्य कृषि आदि के द्वारा सब आवश्यक पदार्थों को उत्पन्न करता है। ये साधक भी निर्माण के कार्यों में प्रवृत्त रहते हैं। **पदभ्याम्**=पाँवों से यह साधक **शूद्रः** (शु द्रवति)=शीघ्र गतिवाले **अजायत**=होते हैं। ये कभी अकर्मण्य नहीं होते '**क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः**'=ब्रह्मज्ञानियों में श्रेष्ठ यह सदा प्रशस्त क्रियाओं में व्यापृत जीवनवाला होता है।

भावार्थ—ब्रह्मज्ञानी पुरुष मुख से ज्ञानोपदेश करता है, भुजाओं से रक्षणात्मक कार्य करता है। वैश्य की भाँति सदा निर्माणात्मक कार्यों में प्रवृत्त होता है और पाँवों से शीघ्र गतिवाला होता हुआ लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त रहता है।

ऋषिः—**नारायणः**॥ देवता—**पुरुषः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

चन्द्र-सूर्य-इन्द्र-अग्नि व वायु

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत॥ ७॥

१. ब्रह्मज्ञानी पुरुष **मनसः**=मन से **चन्द्रमाः जातः**=चन्द्र हो जाता है। 'चन्द्रमा' आह्लाद का प्रतीक है। यह सदा प्रसन्न मनवाला होता है। **चक्षोः**=चक्षु से यह **सूर्यः अजायत**=सूर्य हो जाता है। सूर्य जैसे प्रकाश के द्वारा अन्धकार को नष्ट करता है, उसीप्रकार यह व्यक्ति अपनी चक्षु से अज्ञानान्धकार को विनष्ट करनेवाला 'विचक्षण' बनता है—प्रत्येक वस्तु को बारीकी से देखता हुआ यह तत्त्वद्रष्टा होता है। २. यह **मुखात्**=मुख से **इन्द्रः च अग्निः च**=जितेन्द्रिय व आगे और आगे ले-चलनेवाला होता है। मुख से जितेन्द्रिय बनने का भाव यह है कि 'स्वाद के लिए खाता नहीं और निन्दात्मक शब्द बोलता नहीं'। मुख से अग्नि बनने का भाव यह है कि इसके मुख से उच्चारित शब्द लोगों में परस्पर प्रेम के भाव को पैदा करते हैं और वैर-विरोध का छेदन करते हैं। इसप्रकार ही यह प्रेरणा देता हुआ लोगों को आगे ले-चलता है। यह **प्राणात्**=प्राणों से **वायुः अजायत**=वायु हो जाता है—निरन्तर क्रियाशील होता हुआ सब बुराइयों का संहार करता है।

भावार्थ—ब्रह्मज्ञानी पुरुष 'सदा प्रसन्न, विक्षण, जितेन्द्रिय, अग्रगतिक, प्रेरक व क्रियाशील' होता है।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मध्यमार्ग व लोक-कल्पन

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ अकल्पयन्॥ ८॥

१. ब्रह्मज्ञानी पुरुष **नाभ्याः**=शरीर के केन्द्रभूत नाभि के दृष्टिकोण से—इसे ठीक रखने के लिए **अन्तरिक्षम् आसीत्**=(अन्तरा क्षि) सदा मध्यमार्ग में निवास करनेवाला होता है। युक्ताहार-विहार होता हुआ यह अतियोग व अयोग से बचकर यथायोग के द्वारा शरीर के केन्द्र को ठीक रखता है। **शीर्ष्णाः**=मस्तिष्क से यह **द्यौः समवर्तत**=द्युलोक के समान हो जाता है। इसका मस्तिष्करूप द्युलोक ज्ञान-सूर्य से देदीप्यमान हो उठता है। २. यह ब्रह्मज्ञानी **पद्भ्यां भूमिः**=पाँवों से भूमि होता है। इसकी सब गतियाँ प्राणियों के उत्तम निवास का साधन बनती हैं (भवन्ति भूतानि यस्याम् इति भूमिः)। यह **श्रोत्रात्**=श्रोत्र से **दिशः**=दिशाएँ बन जाता है, कानों से ज्ञानोपदेशों को सुननेवाला होता है। उन उपदेशों के अनुसार ही अपने जीवन की दिशाओं का निश्चय करता है **तथा**=उपर्युक्त प्रकार से ये ब्रह्मज्ञानी **लोकान्**=अपने शरीर के प्रत्येक लोक को—अंग-प्रत्यंग को **अकल्पयन्**=शक्तिशाली बनाते हैं।

भावार्थ—साधक पुरुष मध्यमार्ग से चलता हुआ मस्तिष्क को ज्योतिर्मय बनाता है। उत्तम गतियों के द्वारा प्राणियों के हित को सिद्ध करता है और सदा ज्ञानोपदेशों को ग्रहण करने की वृत्तिवाला बनता है। इसप्रकार यह सब अंगों को शक्तिशाली बनाता है।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'विराट्' की उत्पत्ति

विराडग्रे समभवद्विराजो अधि पूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः॥ ९॥

१. **अग्रे**=सृष्टि के आरम्भ में प्रभु ने 'सत्त्व, रजस् व तमस्' की साम्यावस्थारूप प्रकृति में जब गति दी तब सर्वप्रथम **विराट्**=एक विशिष्ट दीप्तिवाला महान् पिण्ड **समभवत्**=हुआ। यही सांख्य में 'महत्' कहा गया है। मनु ने इसे ही 'हेमपिण्ड' कहा है। **विराजः**=इस विराट् पिण्ड का **अधिपूरुषः**=अधिष्ठातृरूपेण वह परमपुरुष 'प्रभु' था। उसकी अध्यक्षता में ही तो यह प्रकृति चराचर को जन्म देती है। 'मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्'। २. **जातः**=प्रादुर्भूत हुआ-हुआ **सः**=वह विराट् पिण्ड **अत्यरिच्यत**=सर्वाधिक देदीप्यमान हुआ 'तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्'। **पश्चात्**=इस विराट् की उत्पत्ति के बाद प्रभु ने इस विराट् से **भूमिम्**=प्राणियों के निवासस्थानभूत लोकों को उत्पन्न किया। **अथ उ**=और अब **पुरः**=प्राणियों की शरीररूप पुरियों का निर्माण किया।

भावार्थ—प्रभु की अध्यक्षता में प्रकृति से एक विराट् पिण्ड उत्पन्न हुआ। इस देदीप्यमान पिण्ड से ही पीछे भिन्न-भिन्न लोक व प्राणियों के शरीरों की उत्पत्ति हुई।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वसन्त-ग्रीष्म-शरत्

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः॥ १०॥

१. इन मानव-शरीरों में निवास करते हुए **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **यत्**=जब उस **हविषा**=(हु

दाने) त्याग के पुञ्ज हविरूप **पुरुषेण**=परमपुरुष प्रभु से **यज्ञम् अतन्वत**=सम्बन्ध को विस्तृत करते हैं, अर्थात् उस प्रभु से अपना सम्बन्ध बढ़ाते हैं तब **वसन्तः**=वसन्त ऋतु **अस्य**=इस पुरुष की **आज्यम् आसीत्**=(अञ्जू व्यक्ति) महिमा को व्याप्त करनेवाली होती है। वे देव वसन्त ऋतु में विकसित वनस्पतियों में प्रभु की महिमा को देखते हैं। २. **ग्रीष्मः**=ग्रीष्म ऋतु **इध्मः**=दीप्ति का साधनभूत ईंधन हो जाती है। ग्रीष्म ऋतु के सूर्य की दीप्ति में वे प्रभु की ज्ञानदीप्ति का दर्शन करते हैं और **शरत्**=सब पत्तों को शीर्ण करती हुई शरत् ऋतु **हविः**=हवि बन जाती है। शरद् ऋतु में वृक्ष सब पत्तों को त्याग-सा देते हैं। इसी प्रकार प्रभु भी जीव के लिए सब-कुछ दे डालते हैं।

भावार्थ—प्रभु से अपना सम्पर्क बढ़ानेवाले देव वसन्त ऋतु में चारों ओर प्रभु की महिमा को देखते हैं। ग्रीष्म के दीप्त सूर्य में प्रभु की ज्ञानदीप्ति को देखते हैं और सब पत्तों को शीर्ण करती हुई शरद् में प्रभु के त्याग को देखते हैं।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'देव-साध्य-वसु'

तं यज्ञं प्रावृषा प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रशः।
तेन देवा अयजन्त साध्या वसवश्च ये॥ ११॥

१. **तं यज्ञम्**=उस पूज्य—संगतिकरणीय—समर्पणीय **पुरुषम्**=ब्रह्माण्डरूपी पुरी में निवास करनेवाले **अग्रशः जातम्**=सृष्टि से पहले विद्यमान प्रभु को **प्रावृषा**=(प्र वृष्) शरीर में शक्ति के सेचन के द्वारा—शरीर में उत्पन्न सोम को शरीर में ही सिक्त करने के द्वारा **प्रौक्षन्**=अपने हृदयक्षेत्र में सिक्त करते हैं। सोम के रक्षण के द्वारा हृदयों में प्रभु के प्रकाश को देखते हैं। २. **तेन**=उस परमपुरुष प्रभु से **देवः**=देववृत्ति के पुरुष **अयजन्त**=अपना सम्पर्क बनाते हैं। **साध्याः**= साधनामय जीवनवाले पुरुष **च**=और **ये**=जो **वसवः**=अपने निवास को उत्तम बनानेवाले व्यक्ति हैं, वे उस प्रभु से अपना मेल कर पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन के लिए शरीर में सोम का रक्षण आवश्यक है। इस रक्षण को करते हुए हम देव बनें, साधनामय जीवनवाले हों तथा अपने निवास को उत्तम बनाएँ। यही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मानव-जीवन के साथ सम्बद्ध पशु

तस्मादश्वा अजायन्त ये च के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः॥ १२॥

१. **तस्मात्**=उस प्रभु के द्वारा **अश्वा अजायन्त**=घोड़ों को जन्म दिया गया **च**=तथा **ये के**= जो कोई **उभयादतः**=दोनों ओर दाँतोंवाले खच्चर आदि पशु हैं, उनका प्रभु द्वारा प्रादुर्भाव किया गया। २. **गावः ह**=गौवें निश्चय से **तस्मात् जज्ञिरे**=उसी प्रभु से उत्पन्न की गईं और **तस्मात्**=उससे **अजा अवयः**=बकरियाँ व भेड़ें **जाताः**=उत्पन्न हुईं। ३. गौ हमारे जीवनों में सात्त्विक दुग्धरूप भोजन को देती हुई ज्ञानवृद्धि का कारण बनती है। घोड़ा व्यायामादि का साधन बनता हुआ 'क्षत्र' वृद्धि का साधन होता है। बकरी का दूध 'सब रोगों को दूर करनेवाला' (सर्वरोगापह) बनता है और भेड़ ऊन के वस्त्रों को प्राप्त कराके हमें शीत से बचाती है। संक्षेप में 'गौ व घोड़ा' मनुष्य के दायें हाथ हैं तो 'अजा और अवि' उसके बायें हाथ हैं।

भावार्थ—प्रभु ने हमारे जीवनों में सहायक होनेवाले 'गौ, घोड़ा, बकरी व भेड़' आदि पशुओं को उत्पन्न किया है।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वेदों का प्रादुर्भाव

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दो ह जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥ १३॥

१. **तस्मात्**=उस **यज्ञात्**=पूजनीय **सर्वहुतः**=सब आवश्यक पदार्थों को देनेवाले प्रभु से **ऋचः**=ऋचाएँ व **सामानि**=साममन्त्र **जज्ञिरे**=प्रादुर्भूत हुए। **तस्मात्**=उसी से **ह**=निश्चय से **छन्दः**=रोगों व युद्धों से हमारा छादन (बचाव) करनेवाले, अथर्वमन्त्र उत्पन्न हुए। **तस्मात्**=उसी से **यजुः**=यजुर्मन्त्रों का **अजायत**=प्रादुर्भाव हुआ।

भावार्थ—प्रभु ने ऋग्वेद द्वारा हमें प्रकृति के सब पदार्थों के गुणधर्मों का ज्ञान दिया। यजुर्मन्त्रों द्वारा हमारे पारस्परिक कर्त्तव्यों का उपदेश दिया। साममन्त्रों द्वारा हमें प्रभु की उपासना के योग्य बनाया और अथर्वमन्त्रों द्वारा रोगों व युद्धों से सुरक्षा का मार्ग दर्शाया।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पृषदाज्य-संभरण

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम्।
पशूँस्तांश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये॥ १४॥

१. **तस्मात्**=उस **यज्ञात्**=पूजनीय **सर्वहुतः**=सब आवश्यक पदार्थों के देनेवाले प्रभु से **पृषदाज्यम्**=('अन्नं वै पृषदाज्यम्, पयः पृषदाज्यम्, पशवो वै पृषदाज्यम्' श०) अन्न, पशु व दूध का **संभृतम्**=हमारे लिए संभरण किया गया है। २. प्रभु ने **तान्**=उन सब **पशून्**=(पश्यन्ति एव) 'जो केवल देखते हैं, समझते नहीं' उन पशु-पक्षियों का **चक्रे**=निर्माण किया। **वायव्यान्**=वायु में गति करनेवाले—उड़नेवाले—पक्षियों को बनाया तथा **ये**=जो **आरण्याः**=वन के शेर आदि पशु हैं **च**=तथा **ग्राम्याः**=ग्राम के गौ-घोड़ा आदि पशु हैं उन सबका निर्माण किया। कोई भी पशु अनुपयोगी नहीं। शेरों के अभाव में मृगों की ही इतनी अधिकता हो जाती कि सब खेतियाँ नष्ट हो जातीं। मक्खी का मल भी वमन-निरोध की अचूक ओषधि है, एवं सब पशु-पक्षियों की उपयोगिता द्रष्टव्य है।

भावार्थ—प्रभु ने हमारे जीवन के लिए उपयोगी अन्न व दूध को प्राप्त कराने के लिए वायव्य, ग्राम्य व आरण्य पशु-पक्षियों को जन्म दिया है।

ऋषिः—**नारायणः** ॥ देवता—**पुरुषः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सात परिधियाँ, इक्कीस समिधाएँ

सप्तास्यासन्परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन्पुरुषं पशुम्॥ १५॥

१. **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **यत्**=जब **यज्ञं तन्वानाः**=प्रभु से सम्बन्ध को विस्तृत करते हुए **पुरुषम्**=अतिशयित पौरुषवाले **पशुम्**=(कामः पशुः क्रोध पशुः) काम-क्रोधरूप पशु को **अबध्नन्**=बाँध लेते हैं—अपने वशीभूत कर लेते हैं तब **अस्य**=इस काम-क्रोधरूप पशु का बन्धन करनेवाले साधक की **सप्त**=सात **परिधयः**=परिधियाँ **आसन्**=होती हैं। इस साधक के 'दो

कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुख' ये सब मर्यादा में चलनेवाले होते हैं। इसकी सब क्रियाएँ मर्यादा का रेखामात्र भी उल्लँघन नहीं करती। २. इसी का यह परिणाम होता है कि **त्रिःसप्त**=इक्कीस **समिधः**=शक्तियों की दीप्तियाँ **कृताः**=की जाती हैं। काम-क्रोध आदि के नियमन से शक्तियों का दीपन स्वभावतः होता ही है। काम-क्रोध ही तो शक्तियों को क्षीण करते हैं। इनके नियमन से शक्तियों का दीपन होता है।

भावार्थ—प्रभु के सम्पर्क से हम काम-क्रोध का नियमन कर पाते हैं। उस समय मर्यादित जीवनवाले बनकर हम दीप्तशक्तियोंवाले होते हैं।

ऋषिः—**नारायणः**॥ देवता—**पुरुषः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

देवस्य, बृहतः, राज्ञः, सोमस्य

मूर्ध्नो देवस्य बृहतो अंशवः सप्त सप्ततीः।
राज्ञः सोमस्याजायन्त जातस्य पुरुषादधि॥ १६॥

१. गतमन्त्र में 'पुरुषपशु' के बन्धन का उल्लेख है। उस **पुरुषात्**=पौरुषयुक्त 'काम' से **अधिजातस्य**=ऊपर उठे हुए इस साधक के **मूर्ध्नः**=मस्तिष्क से **सप्ततीः**=(सप् समवाये)=सब विद्याओं को अपने में समवेत करनेवाली **सप्त**=सात गायत्र्यादि छन्दों में बद्ध होने से सात संख्यावाली **अंशवः**=ज्ञान की किरणें **अजायन्त**=प्रादुर्भूत होती हैं। इसके मस्तिष्क में इन सात छन्दों में बद्ध इन वेदवाणियों का प्रकाश होता है। यह इन वेदवाणियों के रहस्य को समझ पाता है। २. उस साधक के मस्तिष्क में इन वेदवाणियों का प्रादुर्भाव होता है जो **देवस्य**=दिव्य गुणयुक्त होता है, **बृहतः**=सब शक्तियों का वर्धन करनेवाला होता है तथा **राज्ञः**=अपनी इन्द्रियों का राजा होता है, अथवा बड़ी व्यवस्थित (regulated) क्रियाओंवाला होता है तथा **सोमस्य**=सौम्य स्वभाव का—शान्त प्रवृत्ति का होता है।

भावार्थ—हम अत्यन्त प्रबल 'काम' के नियमन के द्वारा ऊपर उठें। देव, बृहन्, राजा व सोम बनें—'दिव्यगुणोंवाले, प्रवृद्ध शक्तियोंवाले, व्यवस्थित जीवनवाले व सौम्य'। ऐसा बनने पर हमारे मस्तिष्क में सात छन्दों में बद्ध इन वेदवाणियों का प्रकाश होगा।

गतमन्त्र के अनुसार वेदवाणियों का प्रकाश होने पर यह प्रभु-स्तोत्रों का उच्चारण करता है और अज्ञानान्धकार को निगल जाता है—सो 'गर्ग' कहलाता है (गिरति)। इसी पर बल देने के लिए कहते हैं कि यह 'गर्ग' का पुत्र 'गार्ग्य' बन गया है। यह गार्ग्य ही अगले शूक्त का ऋषि है। इस ज्ञानी गार्ग्य का सब नक्षत्र (लोक-लोकान्तर) कल्याण ही करनेवाले होते हैं—

७. [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषिः—**गार्ग्यः**॥ देवता—**नक्षत्राणि**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

नक्षत्रों में प्रभु-महिमा का दर्शन

चित्राणि साकं दिवि रोचनानि सरीसृपाणि भुवने जवानि।
तुर्मिशं सुमतिमिच्छमानो अहानि गीर्भिः सपर्यामि नाकम्॥ १॥

१. **दिवि**=आकाश में **साकम्**=साथ-साथ **रोचनानि**=चमकनेवाले ये नक्षत्र **चित्राणि**=अद्भुत ही हैं। ये सब नक्षत्र उस प्रभु की महिमा को प्रकट कर रहे हैं। ये सब नक्षत्र **सरीसृपाणि**=अपने अण्डाकृति—वक्र से प्रतीत होनेवाले मार्गों पर चल रहे हैं। **भुवने जवानि**=इस ब्रह्माण्ड में ये सब नक्षत्र अतिशयेन वेगवान् हैं। २. मैं इन नक्षत्रों में उस आनन्दमय प्रभु की महिमा को देखता हुआ, **तुर्मिशम्** (तुर त्वरणे मिश् समाधौ) त्वरा से समाधि को (एकाग्रता को) तथा **सुमतिम्**=

कल्याणी मति को **इच्छमानः**=चाहता हुआ **अहानि**=सब दिनों में **गीर्भिः**=इन वेदवाणियों के द्वारा **नाकं सपर्यामि**=क्लेशों से असम्भिन्न आनन्दमय प्रभु का उपासन करता हूँ।

भावार्थ—हम द्युलोक में दीप्त नक्षत्रों में प्रभु की महिमा को देखें। एकाग्रता व सुमति की कामना करते हुए प्रभु का उपासन करें।

ऋषिः—**गार्ग्यः** ॥ देवता—**नक्षत्राणि** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'कृतिका से मघा' तक

सुहवमग्ने कृत्तिका रोहिणी चास्तु भद्रं मृगशिरः शमार्द्रा।
पुनर्वसू सूनृता चारु पुष्यो भानुराश्लेषा अयनं मघा मे॥ २॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **कृतिका रोहिणी च**=कृतिका और रोहिणी नक्षत्र **सुहवम् अस्तु**=उत्तमता से प्रार्थनीय हों। 'कृतिका' से मैं शत्रुओं के—काम-क्रोध के छेदन की प्रेरणा लूँ और शत्रुओं का छेदन करता हुआ 'रोहिणी' से उन्नतिपथ पर आरोहण का पाठ पढूँ। **मृगशिरः भद्रम्**=मृगशिरस् नक्षत्र मेरे लिए कल्याणकर हो। उन्नत होने के लिए मैं आत्मान्वेषण करनेवालों का मूर्धन्य बनूँ (मृग अन्वेषणे)। अब 'आर्द्रा' नक्षत्र **शम्**=मुझे शान्ति देनेवाला हो। मैं सबके प्रति स्नेहार्द्रहृदय बनकर शान्त जीवनवाला होऊँ। २. **पुनर्वसू**='पुनर्वसू' नामक नक्षत्र **सूनृता**=मुझे प्रिय सत्यवाणी को प्राप्त कराएँ। 'पुनर्वसू' द्विवचन में है। ये मुझे 'भौतिक व अध्यात्म' दोनों जीवनों को नये सिरे से प्रारम्भ करने की प्रेरणा देते हैं। इस प्रेरणा को प्राप्त करके मैं प्रिय सत्य बोलनेवाला बनता हूँ। **पुष्यः**=पुष्यनक्षत्र **चारु**=मेरे जीवन का सुन्दर पोषण करे। वस्तुतः प्रिय, सत्यवाणी को अपनाता हुआ ही मैं अपना उत्तम पोषण कर पाता हूँ। अब **आश्लेषा**='आश्लेषा' नक्षत्र **भानुः**=मेरे जीवन को दीप्त करता है। जीवन का ठीक पोषण करनेवाला व्यक्ति प्रभु से आश्लेषण (आलिंगन) करनेवाला होता है। इस आश्लेषण से इसका जीवन दीप्त हो उठता है और अब **मघा मे अयनम्**=मघा नक्षत्र मेरा अन्तिम लक्ष्य स्थान हो। (मघ=ऐश्वर्य) में वास्तविक ऐश्वर्य को ही अपना लक्ष्य बनाऊँ। इन प्राकृतिक ऐश्वर्यों के आकर्षण से ऊपर उठ जाऊँ।

भावार्थ—शत्रुओं का छेदन करता हुआ (कृत्तिका) मैं उन्नति-पथ पर आरोहण करूँ (रोहिणी)। आत्मान्वेषण करनेवालों का मूर्धन्य बनकर (मृगशिरस्) सबके प्रति आर्द्रहृदय (आर्द्रा) बनूँ। भौतिक व अध्यात्म दोनों जीवनों को उत्तम बनाकर (पुनर्वसू) अपना सम्यक् पोषण करूँ (पुष्य)। अब प्रभु से आलिंगन करता हुआ (आश्लेषा) वास्तविक ऐश्वर्य को प्राप्त करूँ (मघा)।

ऋषिः—**गार्ग्यः** ॥ देवता—**नक्षत्राणि** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'पूर्वाफल्गुनी से मूल' तक

पुण्यं पूर्वा फल्गुन्यौ चात्र हस्तश्चित्रा शिवा स्वाति सुखो मे अस्तु।
राधे विशाखे सुहवानुराधा ज्येष्ठा सुनक्षत्रमरिष्ट मूलम्॥ ३॥

१. अब **अत्र**=यहाँ—इस जीवन में **पूर्वाफल्गुन्यौ**=पूर्वाफल्गुनी के दो नक्षत्र **पुण्यम्**=मुझे शुभ कर्मों में प्रवृत्त करनेवाले हों। इस जीवन में 'धन व यश' की असारता को समझता हुआ (फल्गु=Unsubstantial) इनके कारण पुण्यमार्ग से विचलित न होऊँ। **हस्तः चित्रा**=हस्त और चित्रा नक्षत्र मुझे हाथों से यज्ञ आदि कर्मों के करने तथा ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञानप्राप्ति में (चित्-र) लगे रहने की प्रेरणा देते हुए **शिवा**=मेरे लिए कल्याणकर हों। अब **स्वाति**='स्वाति' नक्षत्र

(स्वनैव अतति) मुझे किसी पर आश्रित न होते हुए गतिशील बनने की प्रेरणा देता हुआ **मे सुखः अस्तु**= मेरे लिए सुखकर हो। २. इस गतिशीलता (पुरुषार्थ) के होने पर **राधे विशाखे**=हे राधा और विशाखा नक्षत्र! तुम दोनों मुझे कार्यसिद्धि (राधा) व संसार-वृक्ष की विशिष्ट शाखा (उत्तम सात्त्विक ज्ञानप्रधान संन्यासी) बनने की प्रेरणा देते हुए **सुहवा**=उत्तम प्रार्थना करने योग्य होओ। मैं प्रभु से 'राधा व विशाखा' बन सकने की ही प्रार्थना करूँ। **अनुराधा ज्येष्ठा**='अनुराधा' नक्षत्र मुझे (लक्ष्य) के अनुकूल सफलता की प्रेरणा दे। 'ज्येष्ठा' नक्षत्र से मैं ज्येष्ठ (प्रशस्यतम जीवनवाला) बनने की प्रेरणा लूँ और तब **सुनक्षत्रम् मूलम्**=यह 'मूल' नामक उत्तम नक्षत्र मुझे उस ब्रह्माण्ड के मूल (सर्वाधार) प्रभु को स्मरण कराता हुआ **अ-रिष्ट**=अहिंसित करनेवाला हो।

भावार्थ—मैं इस संसार में धन व यश की एषणा में फँसकर मार्ग-विचलित न हो जाऊँ। यज्ञादि कर्मों व ज्ञानप्राप्ति में लगा रहूँ। अपराधीन होते हुए गतिशील बना रहूँ। 'सफलता व संसार में सर्वोत्तम स्थिति में पहुँचना' मेरा लक्ष्य हो। धर्मानुकूल सफलता मेरे जीवन को प्रकाशमय बनाए। मैं ब्रह्माण्ड के मूल प्रभु को कभी न भूलूँ।

ऋषिः—**गार्ग्यः**॥ देवता—**नक्षत्राणि**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

'पूर्वा अषाढा से श्रविष्ठा' तक

अन्नं पूर्वा रासतां मे अषाढा ऊर्जं देव्युत्तरा आ वहन्तु।
अभिजिन्मे रासतां पुण्यमेव श्रवणः श्रविष्ठाः कुर्वतां सुपुष्टिम्॥ ४॥

१. **पूर्वा अषाढा**='पूर्वा अषाढा' नक्षत्र **मे**=मुझे **अन्नं रासताम्**=अन्न प्रदान करे तथा **देवी**=प्रकाशमय **उत्तराः**=उत्तरा अषाढाएँ **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति को **आवहन्तु**=प्राप्त कराएँ। 'अ-षाढा' (अ षह् मर्षण) नक्षत्र से काम-क्रोध आदि से अपराभूत होने की प्रेरणा लेता हुआ मैं अन्न का सेवन करूँ। यह अन्न 'बल व प्राणशक्ति' के दृष्टिकोण से ही सेवित हो—स्वाद के दृष्टिकोण से नहीं। २. अब **अभिजित्**='अभिजित्' नक्षत्र मुझे 'अभ्युदय व निःश्रेयस के विजय' की प्रेरणा देता हुआ **मे पुण्यं रासताम्**=मुझे पुण्य प्राप्त कराए। '**श्रवणः श्रविष्ठाः**'= श्रवण व श्रविष्ठा नक्षत्र मेरे लिए सदा ज्ञान की बातों के श्रवण की प्रेरणा देते हुए **सुपुष्टिं कुर्वताम्**=उत्तम पुष्टि करें।

भावार्थ—मैं उसी अन्न का सेवन करूँ जो मुझे काम-क्रोध की ओर न प्रवण करे (न झुकाये) और मेरे लिए बल व प्राणशक्ति को देनेवाला हो। मैं अभ्युदय व निःश्रेयस का विजय करता हुआ सदा ज्ञान की चर्चाओं का ही श्रवण करूँ।

ऋषिः—**गार्ग्यः**॥ देवता—**नक्षत्राणि**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'शतभिषक् से भरणी' तक

आ मे महच्छतभिषग्वरीय आ मे द्वया प्रोष्ठपदा सुशर्म।
आ रेवती चाश्वयुजौ भगं म आ मे रयिं भरण्य आ वहन्तु॥ ५॥

१. वह महत् **शतभिषक्**=महान् 'शतभिषक्' नामक नक्षत्र शतवर्षपर्यन्त नीरोग रहने की प्रेरणा देता हुआ **मे**=मेरे लिए **वरीयः**=(उरुतर) दीर्घजीवन को **आ** (वहतु)=प्राप्त कराए। इस नीरोग दीर्घजीवन में **द्वया प्रोष्ठपदा**=दोनों प्रोष्ठपदा नक्षत्र—पूर्वाभाद्रपदा और उत्तरा भाद्रपदा—मुझे कल्याण के मार्ग पर चलने की प्रेरणा देते हुए **मे**=मेरे लिए **सुशर्म**=उत्तम सुख को **आ** (वहताम्)=प्राप्त कराएँ। २. अब **रेवती आश्वयुजौ च**=रेवती और आश्वयुज् नक्षत्र मुझे ज्ञानैश्वर्य

प्राप्त करने की तथा कर्मेन्द्रियों को यज्ञ आदि कर्मों में लगाये रखने की प्रेरणा देते हुए **मे**=मेरे लिए **भगम्**=ऐश्वर्य को **आ** (वहन्तु)=प्राप्त कराएँ और अन्ततः **भरण्यः**=भरणी नक्षत्र मुझे आत्मम्भरि न बनकर सबके भरण की प्रेरणा देते हुए **रयिम्**=धन को **आहवन्तु**=प्राप्त कराएँ। जब मैं सबके भरण के कार्यों में प्रवृत्त होता हूँ तब उसके लिए आवश्यक साधनभूत धन को प्रभु प्राप्त कराते ही हैं।

भावार्थ—मैं शतवर्षपर्यन्त नीरोग जीवन बिताने का ध्यान करूँ। उसके लिए सदा कल्याण के मार्ग का आक्रमण करूँ। ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त करनेवाला व कर्मेन्द्रियों को यज्ञों में व्याप्त रखनेवाला बनूँ। अन्ततः आत्मम्भरि न बनकर सबका भरण करनेवाला बनूँ।

अगले सूक्त के ऋषि देवता भी 'गार्ग्य' और 'नक्षत्राणि' ही हैं—

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः—**गार्ग्यः** ॥ देवता—**नक्षत्राणि** ॥ छन्दः—**विराड्जगती** ॥

सर्वलोकानुकूलता

यानि नक्षत्राणि दिव्य१न्तरिक्षे अप्सु भूमौ यानि नगेषु दिक्षु।
प्रकल्पयंश्चन्द्रमा यान्येति सर्वाणि ममैतानि शिवानि सन्तु॥ १॥

१. **यानि**=जो **नक्षत्राणि**=(नक्ष् गतौ) गतिमय लोक **दिवि**=द्युलोक में, **अन्तरिक्षे**=अन्तरिक्ष में **अप्सु**=जलों में या **भूमौ**=इस पृथिवी पर हैं, **यानि**=जो **नगेषु**=पर्वतों पर या **दिक्षु**=दिशाओं में हैं, **यानि**=जिन लोकों को **चन्द्रमाः**=चाँद **प्रकल्पयन्**=ओषधियों में रस-सञ्चार के द्वारा शक्तिशाली बनाता हुआ **एति**=गति करता है, **एतानि सर्वाणि**=ये सब लोक **मम**=मेरे लिए **शिवानि सन्तु**=कल्याणकर हों।

भावार्थ—सब लोक हमारे लिए सुखकर हों। द्युलोक में, अन्तरिक्ष में, भूमि पर, जलों, पर्वतों वा दिशाओं में जो भी लोक-लोकान्तर है, इन सबमें चन्द्रमा ओषधियों में रस-सञ्चार करता हुआ इन्हें शक्तिशाली बनाता है। ये लोक मेरे लिए शिव हों।

ऋषिः—**गार्ग्यः** ॥ देवता—**नक्षत्राणि** ॥ छन्दः—**महाबृहतीत्रिष्टुप्** ॥

शिव+शग्म

अष्टाविंशानि शिवानि शग्मानि सह योगं भजन्तु मे।
योगं प्र पद्ये क्षेमं च क्षेमं प्र पद्ये योगं च नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु॥ २॥

१. **अष्टाविंशानि**=गत सूक्त में वर्णित अठाईस नक्षत्र **शिवानि**=हमारे लिए कल्याणकर हों। **शग्मानि**=हमारे लिए सुख देनेवाले हों। इनकी अनुकूलता हमें मानस व शारीर-शान्ति देनेवाली हो। ये नक्षत्र **मे सह योगं भजन्तु**=मेरे साथ मेल को प्राप्त हों। मैं इनसे उचित प्रेरणाओं को लेनेवाला बनूँ। २. इन नक्षत्रों से उचित प्रेरणाओं को लेता हुआ मैं **योगं प्रपद्ये क्षेमं च**=योग और क्षेम को प्राप्त करूँ। **क्षेमं प्रपद्ये योगं च**=क्षेम और योग को प्राप्त करूँ। अप्राप्त की प्राप्ति ही 'योग' है, प्राप्त का रक्षण 'क्षेम' है। मैं जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं को जुटा पाऊँ और उनका रक्षण कर पाऊँ। 'योग व क्षेम' दोनों को मैं समानरूप से महत्त्व दूँ। इसप्रकार जीवन बिताता हुआ मैं यह ध्यान रखूँ कि **अहोरात्राभ्याम्**=दिन व रात से **नमः अस्तु**=मेरा उस प्रभु के प्रति नमन हो। मैं दिन व रात को प्रभु-नमन से ही प्रारम्भ करूँ।

भावार्थ—मुझे सब नक्षत्रों की अनुकूलता प्राप्त हो। मैं उनसे उचित प्रेरणाओं को ग्रहण

करूँ। योगक्षेम को सिद्ध करता हुआ प्रातः-सायं प्रभु के प्रति नमन की वृत्तिवाला बनूँ।

ऋषिः—**गार्ग्यः** ॥ देवता—**नक्षत्राणि** ॥ छन्दः—**विराट्स्थानात्रिष्टुप्** ॥

सुमृगं-सुशकुनम्

स्वस्तितं मे सुप्रातः सुसायं सुदिवं सुमृगं सुशकुनं मे अस्तु।
सुहवमग्ने स्वस्त्यमर्त्यं गत्वा पुनरायाभिनन्दन्॥ ३ ॥

१. हे **अग्ने**=प्रभो! **मे**=मेरे लिए **सु-अस्तितम्**=सूर्य का अस्तकाल कल्याणप्रद हो। **सु-प्रातः**=प्रभातवेला सुखमय हो। **सुसायम्**=सायंकाल सुखकारी हो। **सुदिनम्**=दिन सुखकर हो। **सुमृगं सुशकुनम् मे अस्तु**=मेरे लिए पशुओं व पक्षियों का व्यवहार उत्तम हो, अर्थात् किसी प्रकार का आधिभौतिक कष्ट हमें न प्राप्त हो। २. **सुहवम् स्वस्ति**=उत्तम प्रार्थना हमारा कल्याण करनेवाली हो। **अमर्त्यं गत्वा**=अमरता को—मोक्ष को प्राप्त करके **पुनः**=फिर **अभिनन्दन्**=लोगों को आनन्दित व समृद्ध करता हुआ तू **आ अय**=लोगों में समन्तात् गतिवाला हो। लोकहित के लिए यह मुक्तात्मा पुनः जन्म लेनेवाला हो।

भावार्थ—हम इसप्रकार का उत्तम जीवन बनाएँ कि हम आधिदैविक व आधिभौतिक कष्टों से ऊपर उठें। मुक्त होकर लोकहित के लिए पुनः जन्म लें।

ऋषिः—**गार्ग्यः** ॥ देवता—**नक्षत्राणि** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

रिक्तकुम्भान् परासुव

अनुहवं परिहवं परिवादं परिक्षवम्।
सर्वैर्मे रिक्तकुम्भान्परा तान्त्सवितः सुव॥ ४ ॥

१. हे **सवितः**=सर्वप्रेरक प्रभो! आप **अनुहवम्**=स्पर्धा को, **परिहवम्**=वर्जनीय संघर्ष को, **परिवादम्**=निन्दा को **परिक्षवम्**=क्रोधजनित नासिका की फुरफुराहट को, इन **सर्वैः**=सब दोषों के साथ **मे**=मेरी **तान् रिक्तकुम्भान्**=उन खाली घड़ों के समान निःसार बातों को **परासुव**=दूर कीजिए।

भावार्थ—मैं स्पर्धा आदि से बचूँ और व्यर्थ की बातों से सदा दूर रहूँ।

ऋषिः—**गार्ग्यः** ॥ देवता—**नक्षत्राणि** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पुण्य क्षव भक्षण

अपपापं परिक्षवं पुण्यं भक्षीमहि क्षवम्।
शिवा ते पाप नासिकां पुण्यगश्चाभि मेहताम्॥ ५ ॥

१. **पापम्**=पाप से कमाये गये **परिक्षवम्**=वर्जनीय अन्न को (क्षु अन्ननाम नि०) हे प्रभो! **अप**=हमसे दूर कीजिए। २. हे **पाप**=पाप की ओर झुकाववाले पुरुष! **ते नासिकाम्**=तेरी नासिका को **शिवा**=कल्याणकारिणी प्राणायाम की क्रिया **अभिमेहताम्**=सब ओर से सिक्त करे। यह प्राणायाम की क्रिया तेरी पापवृत्ति को दूर करनेवाली हो। **च**=और **पुण्य-गः**=पुण्य की ओर ले-जानेवाला वह प्रभु तुझे सब ओर से सिक्त करे। प्रभु की भावना से सिक्त हुआ-हुआ तू पवित्र जीवनवाला बन जाए।

भावार्थ—'हम पवित्र अन्न का सेवन करें', प्राणसाधना को अपनाएँ तथा प्रभु का स्मरण करें', यही मार्ग है जिससे हमारा जीवन निष्पाप बन सकेगा।

ऋषिः—गार्ग्यः ॥ देवता—नक्षत्राणि ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

विपरीत वात में न बह जाना

इमा या ब्रह्मणस्पते विषूचीर्वात ईरते।
सध्रीचीरिन्द्र ताः कृत्वा मह्यं शिवतमास्कृधि ॥ ६ ॥

१. हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **इमाः याः**=इन जिन **विषूचीः**=विविध विपरीत दिशाओं को **वातः**=वायु **ईरते**=चलता है, ये जो उल्टी-उल्टी आवञ्छनीय हवाएँ चल पड़ती हैं हे **इन्द्रः**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **ताः**=उन सबको **सध्रीचीः कृत्वा**=(सह अञ्चन्ति) यथायोग्य मिलकर चलनेवाला करके **मह्यम्**=मेरे लिए **शिवतमाः**=कल्याणकर **कृधि**=कीजिए।

भावार्थ—'ब्रह्मणस्पति व इन्द्र' नाम से प्रभु का स्मरण करते हुए हम भी ज्ञान के स्वामी व जितेन्द्रिय बनें। इसप्रकार हम उल्टी हवाओं में न बहकर सत्क्रियाओं में ही प्रवृत्त रहेंगे। ज्ञान व जितेन्द्रियता हमारे रक्षक हैं।

ऋषिः—गार्ग्यः ॥ देवता—नक्षत्राणि ॥ छन्दः—द्विपदानिचृत्त्रिष्टुप् ॥

स्वस्ति+अभय

स्वस्ति नो अस्त्वभयं नो अस्तु नमोऽहोरात्राभ्यामस्तु ॥ ७ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार उल्टी हवाओं में न बह जाने पर **नः स्वस्ति अस्तु**=हमारा कल्याण हो तथा **नः अभयम् अस्तु**=हमें निर्भयता प्राप्त हो। २. **अहोरात्राभ्याम्**=दिन व रात्रि से **नमः अस्तु**=हमारा प्रभु के प्रति नमन हो। हम प्रातः-सायं प्रभु-चरणों में नमस्कार करनेवाले बनें। यह नमन ही हमें उल्टी हवाओं में बह जाने से बचाएगा। अन्यथा संसार का आकर्षण अति प्रबल है, इससे बचना सरल नहीं।

भावार्थ—हम प्रातः-सायं प्रभु-चरणों में नतमस्तक होते हुए कल्याण व निर्भयता प्राप्त करें।

प्रभु के प्रति नमन के द्वारा प्रभु के गुणों का धारण करनेवाला यह 'वसिष्ठ व ब्रह्मा' ही ९ से १२ तक सूक्तों का ऋषि है। यह शान्ति की कामना करता हुआ प्रार्थना करता है कि—

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—शन्तातिः ॥ देवता—मन्त्रोक्ताः ॥ छन्दः—विराडुरोबृहती ॥

शान्ता द्यौः शान्ता पृथिवी शान्तमिदमुर्व१न्तरिक्षम्।
शान्ता उदन्वतीरापः शान्ता नः सन्त्वोषधीः ॥ १ ॥

१. **द्यौः शान्ता**=द्युलोक हमारे लिए शान्ति देनेवाला हो। **पृथिवी शान्ता**=यह पृथिवीलोक भी शान्तिकर हो। **इदम् उरु अन्तरिक्षम्**=यह विशाल अन्तरिक्षलोक **शान्तम्**=शान्ति देनेवाला हो। २. **उदन्वतीः आपः**=समुद्रों के जल (समुद्र से वाष्पीभूत होकर आकाश में पर्जन्यरूप होकर बरसनेवाले जल) **शान्ता**=हमें शान्ति देनेवाले हों तथा **ओषधीः**=ओषधियाँ **नः शान्ता सन्तु**=हमारे लिए शान्तिकर हों।

भावार्थ—द्युलोक, पृथिवीलोक, अन्तरिक्षलोक, समुद्र, जल व ओषधियाँ हमारे लिए शान्ति देनेवाली हों।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'भूत व भव्य' की अनुकूलता

शान्तानि पूर्वरूपाणि शान्तं नो अस्तु कृताकृतम्।
शान्तं भूतं च भव्यं च सर्वमेव शमस्तु नः॥ २॥

१. **पूर्वरूपाणि**=पहले-पहले प्रादुर्भूत हुए रोगों के पूर्वरूप हमारे लिए **शान्तानि**=शान्त हों—कष्टजनक न हों। रोग प्रारम्भ में ही समाप्त हो जाए, वह बढ़कर हमारे कष्ट का कारण न बने। **कृताकृतम्**=(कृतं च अकृतं च) कुछ किया गया और कुछ न किया गया, अर्थात् अधूरा काम **नः**=हमारे लिए **शान्तम् अस्तु**=शान्त हो जाए, अर्थात् हम कार्यों को अधूरेपन से न करें। २. इसप्रकार **भूतं च भव्यम् च**=विगत काल व आनेवाला काल—दोनों ही हमारे लिए **शान्तम्**=शान्ति देनेवाले हों। वस्तुतः **सर्वम् एव**=सब-कुछ ही **नः शम् अस्तु**=हमारे लिए शान्तिकर हो।

भावार्थ—हम रोगों को प्रारम्भ में ही शान्त करनेवाले बनें। सब-कुछ—सारा वातावरण और पदार्थ हमें शान्ति देनेवाले हों।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शान्ति, न कि घोर

इयं या परमेष्ठिनी वाग्देवी ब्रह्मसंशिता।
ययैव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु नः॥ ३॥

१. **इयम्**=यह **या**=जो **परमेष्ठिनी**=प्रभु में स्थित अथवा प्रभु से दी गई **देवी**=दिव्यशक्तिसम्पन्न **वाक्**=वाणी है, यह **ब्रह्मसंशिता**=ज्ञान के द्वारा तीव्र की गई है। ज्ञानवृद्धि से वाणी की शक्ति बढ़ती चलती है। अन्ततः इससे जो कुछ उच्चारित होता है, वैसा ही हो जाता है 'ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थोऽनुवर्तते'=सज्जन पुरुषों की वाणी अर्थ का अनुवर्तन करती है—यथार्थ होती है, परन्तु ऋषियों की वाणी का तो अर्थ अनुवर्तन करता है। वह जैसा कहते हैं, वैसा हो जाता है। इसी को 'वर व शाप देने का सामर्थ्य' कहते हैं। २. इसप्रकार ब्रह्मसंशित **यया**=जिस वाणी से **एव**=ही **घोरं ससृजे**=अति भयंकर कार्य किये जा सकते हैं, **तया**=उससे **नः**=हमारे लिए **शान्तिः एव अस्तु**=शान्ति ही हो। हम वाणी से कभी शाप देनेवाले न बनें।

भावार्थ—हम प्रभु-प्रदत्त वाणी को ज्ञानप्राप्ति द्वारा अति तीव्रशक्तिवाली बनाएँ, परन्तु इससे कभी शाप न देकर, वर ही देनेवाले बनें।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शुभकामना व ब्रह्म-प्राप्ति

इदं यत्परमेष्ठिनं मनो वां ब्रह्मसंशितम्।
येनैव ससृजे घोरं तेनैव शान्तिरस्तु नः॥ ४॥

१. **इदम्**=यह **यत्**=जो **परमेष्ठिनम्**=परम स्थानों में स्थित होनेवाला अथवा प्रभु का—प्रभु से दिया गया **मनः**=मन है, **वाम्**=हे स्त्री-पुरुषो! आप दोनों का यह मन **ब्रह्मसंशितम्**=ज्ञान के द्वारा तीव्र किया गया है। ज्ञानी पुरुष का मन अत्यन्त प्रबल शक्तिवाला हो जाता है—वह चाहता है और वैसा हो जाता है। २. **येन**=जिस ब्रह्मसंशित मन के द्वारा **एव**=निश्चय से **घोरं ससृजे**=बड़ा भयंकर कार्य भी किया जा सकता है, **तेन**=उस मन से **नः**=हमारे लिए तो **शान्तिः एव**

अस्तु=शान्ति ही हो। हम मन में किसी के लिए अशुभ कामना करें ही न। हमारा मन सदा सबके लिए शुभ कामनावाला हो।

भावार्थ—हम ब्रह्मसंशित मन के द्वारा सदा सबके लिए शुभ कामना करते हुए प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदापथ्यापङ्क्तिः** ॥

शान्तिकर इन्द्रियाँ

इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनःषष्ठानि मे हृदि ब्रह्मणा संशितानि।
यैरेव ससृजे घोरं तैरेव शान्तिरस्तु नः॥ ५॥

१. **इमानि**=ये **यानि**=जो **पञ्च इन्द्रियाणि**=पाँच इन्द्रियाँ हैं, **मनःषष्ठानि**=मन इनके साथ छठा है। ये सब **मे**=मेरे **हृदि**=हृदय में प्रादुर्भूत **ब्रह्मणा**=ज्ञान से **संशितानि**=तीव्र की जाती हैं। जितना-जितना ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है, उतना-उतना ही ये इन्द्रियाँ व मन तीव्र शक्तिवाले होते जाते हैं। २. उस समय **यैः एव**=जिन ब्रह्मसंशित इन्द्रियों के द्वारा निश्चय से **घोरं ससृजे**=बड़ा भयंकर कार्य भी किया जा सकता है, **तैः**=उन इन्द्रियों से **नः**=हमारे लिए तो **शान्तिः एव अस्तु**=शान्ति ही हो।

भावार्थ—हम ज्ञान से तीव्र शक्तिवाली इन ज्ञानेन्द्रियों से संसार में सुख व शान्ति को ही बढ़ानेवाले हों। युद्धों व संहारों को बढ़ावा न दें।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शान्ति-प्राप्ति के उपाय

शं नो मित्रः शं वरुणः शं विष्णुः शं प्रजापतिः।
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो भवत्वर्यमा॥ ६॥

१. **मित्रः**=सबके प्रति स्नेहवाला प्रभु—जो मित्र-ही-मित्र है, **नः शम्**=हमारे लिए शान्ति प्राप्त करानेवाला हो। **वरुणः**=सब पापों का निवारण करनेवाला—श्रेष्ठ प्रभु **शम्**=हमें शान्ति देनेवाला हो। **अर्यमा**=सब शत्रुओं का—काम-क्रोध-लोभ आदि का नियमन करनेवाला प्रभु **नः**=हमारे लिए **शं भवतु**=शान्ति देनेवाला हो। २. **विष्णुः**=(विष् व्याप्तौ) सर्वव्यापक प्रभु **शम्**=हमें शान्ति दें और **प्रजापतिः**=सब प्रजाओं के रक्षक प्रभु **शम्**=हमें शान्ति देनेवाले हों। **इन्द्रः**=परमैश्वर्यवान् व सर्वशक्तिमान् प्रभु **नः**=हमारे लिए **शम्**=शान्ति दें और **बृहस्पतिः**=ब्रह्मणस्पति—ज्ञान के स्वामी प्रभु हमें शान्ति प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—हम प्रभु को 'मित्र-वरुण-विष्णु-प्रजापति-इन्द्र-बृहस्पति व अर्यमा' नामों से स्मरण करते हुए स्वयं 'स्नेह, निष्पापता, उदारता, प्रजारक्षण, जितेन्द्रियता (शक्तिमत्ता) ज्ञान व काम-क्रोध आदि शत्रुओं के नियमन' को धारण करते हुए शान्त जीवनवाले बनें।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'मित्र व अन्तक' हमें शान्ति दें

शं नो मित्रः शं वरुणः शं विवस्वाञ्छमन्तकः।
उत्पाताः पार्थिवान्तरिक्षाः शं नो दिविचरा ग्रहाः॥ ७॥

१. **मित्रः**=सबके प्रति स्नेहवाले प्रभु **नः शम्**=हमें शान्ति प्राप्त कराएँ। **वरुणः**=पापों का निवारण करनेवाले प्रभु **शम्**=हमें शान्ति दें। **विवस्वान्**=सब अन्धकारों का विवासन करनेवाले

सूर्यसम ब्रह्म हमें **शम्**=शान्ति दें। ज्ञान के द्वारा **अन्तकः**=सब बुराइयों का अन्त करनेवाले प्रभु हमें **शम्**=शान्ति दें। २. **पार्थिवा अन्तरिक्षा उत्पाताः**='पृथिवी व अन्तरिक्ष' में उत्पन्न होनेवाले उत्पात (भूकम्प व उल्कापात आदि) **शम्**=हमारे लिए शान्त हों। ये **दिविचराः ग्रहाः**=द्युलोक में गतिवाले ग्रह **नः शम्**=हमारे लिए शान्ति दें।

भावार्थ—हम 'सबके प्रति स्नेहवाले—पाप को दूर करनेवाले—अज्ञानान्धकार को स्वाध्याय द्वारा मिटानेवाले तथा काम-क्रोध आदि का अन्त करनेवाले' बनकर शान्ति प्राप्त करें। हमारे लिए पार्थिव व आन्तरिक्ष उत्पात शान्त हों। सब ग्रह शान्तिकर हों।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

भूकम्प आदि से बचाव

शं नो भूमिर्वेप्यमाना शमुल्का निर्हतं च यत्।
शं गावो लोहितक्षीराः शं भूमिरव तीर्यतीः ॥ ८ ॥

१. **वेप्यमाना**=किन्हीं भी प्राकृतिक उद्वेगों से कँपायी गई **भूमिः नः शम्**=भूमि हमारे लिए शान्तिकर हो। हमें भूकम्प कष्टमग्न न करे **च**=और **उल्का निर्हतम्**=आकाश से भूमि पर गिरनेवाले पिण्डों का **यत्**=जो आघात है, वह भी **शम्**=शान्त हो। २. रोग के कारण **लोहितक्षीराः**=रुधिर के समान दूध देनेवाली **गावः**=गौएँ **शम्**=शान्ति दें। **अवतीर्यतीः**=नीचे समुद्र में धँसती हुई **भूमिः**=भूमि **शम्**=हमारे लिए कष्टकर न हो।

भावार्थ—'भूकम्प, उल्का निर्घात, भूमि का समुद्र में धंस जाना' आदि आधिदैविक कष्ट हमें पीड़ित न करें। हमारी गौओं के दूध में किसी प्रकार का विकार न आ जाए।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाककुम्मतीत्रिष्टुप्** ॥

अभिचार व कृत्या आदि की शान्ति

नक्षत्रमुल्काभिहतं शमस्तु नः शं नोऽभिचाराः शमु सन्तु कृत्याः।
शं नो निखाता वल्गाः शमुल्का दैशोपसर्गाः शमु नो भवन्तु ॥ ९ ॥

१. **उल्का अभिहतं नक्षत्रम्**=उल्काओं से अभिहत नक्षत्र **नः शम् अस्तु**=हमारे लिए शान्तिकर हो। **अभिचाराः**=शत्रुकृत गुप्त आक्रमण **नः शम्**=हमारे लिए शान्त हों **उ**=और **कृत्याः**=हिंसा की क्रियाएँ **शं सन्तु**=शान्त हों। हमारे प्रति शत्रुकृत अभिचार व कृत्या हो ही न। २. **निखाताः**=विस्फोटक द्रव्य भरकर उड़ा देने के लिए खोदी गई सुरंगें **नः शम्**=हमारे लिए शान्त हों, **वल्गाः**=(वल संवरणे) अन्य कपटपूर्वक हिंसन के कार्य (संवृत गर्त आदि) शान्त हों। **उल्काः**=आकाशस्थ लघु पिण्डों के पतन **शम्**=शान्त हों **उ**=और **नः**=हमारे लिए देश में उत्पन्न होनेवाले संहारक उपद्रव **शं भवन्तु**=शान्त हों।

भावार्थ—'उल्कापात, अभिचार, कृत्या, निखात, वल्गा व देशोपसर्ग' ये सब शान्त हों।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

चान्द्रमस ग्रह शान्तिकर हों

शं नो ग्रहाश्चान्द्रमसाः शमादित्यश्च राहुणा।
शं नो मृत्युर्धूमकेतुः शं रुद्रास्तिग्मतेजसः ॥ १० ॥

१. **चान्द्रमसाः**=चन्द्रमा से सम्बद्ध **ग्रहाः**=सब ग्रह **नः शम्**=हमारे लिए शान्त हों **च**=और **राहुणा**=प्रकाश को आवृत करनेवाले (विच्छिन्न करनेवाले) राहु के साथ **आदित्यः**=सूर्य **शम्**=हमारे लिए शान्तिकर हो। २. **मृत्युः**=लोगों की मृत्यु का कारण बननेवाला **धूमकेतुः**=धूमकेतु

ग्रह **नः शम्**=हमारे लिए शान्तिकर हो तथा **तिग्मतेजसः**=तीव्र तेज-(ताप व प्रकाश)-वाले **रुद्राः**='मृग-व्याध' आदि नक्षत्र **शम्**=हमारे लिए शान्तिकर हों।

भावार्थ—सब चान्द्रमस ग्रहों की, राहु के साथ सूर्य की, धूमकेतु तथा मृग-व्याध आदि नक्षत्रों की हमारे लिए अनुकूलता हो। (मृगव्याधश्च सर्पश्च निर्ऋतिश्च महायशाः। अजैकपादहिर्बुध्न्यः पिनाकी च परन्तप॥ दहनोऽथेश्वरश्चैव कपली च महाद्युतिः। स्थणुर्भगश्च भगवान् रुद्रा एकादश स्मृताः)॥

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वसु-रुद्र-आदित्यों से शान्ति लाभ

शं रुद्राः शं वसवः शमादित्याः शमग्नयः।
शं नो महर्षयो देवाः शं देवाः शं बृहस्पतिः॥ ११॥

१. **रुद्रा शम्**=चवालीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य का धारण करनेवाले रुद्र ब्रह्मचारी हमारे लिए शान्ति प्राप्त कराएँ। **वसवः शम्**=२४ वर्ष तक ब्रह्मचर्य के धारक वसु ब्रह्मचारी हमें शान्ति दें। **आदित्याः**=४८ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का धारण करनेवाले विद्वान् आदित्य हमें शान्ति प्राप्त कराएँ। **अग्नयः**=माता-पिता व आचार्यरूप अग्नियाँ हमें **शम्**=शान्ति दें। ('पिता वै गार्हपत्योऽग्निः माताग्निर्दक्षिणः स्मृतः। गुरुराहवनीयस्तु साग्नित्रेता गरीयसी॥')। २. **नः**=हमारे लिए **महर्षयः देवाः**=तत्त्वद्रष्टा ज्ञानी **शम्**=शान्ति दें तथा **देवाः**=सब दिव्यवृत्ति के पुरुष **शम्**=शान्ति प्राप्त कराएँ और **बृहस्पतिः**=ज्ञानियों का ज्ञानी बृहस्पति **शम्**=हमें शान्ति दे।

भावार्थ—सब विद्वान्, ऋषि व देव हमें शान्ति प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाऽष्टिः** ॥

स्वस्त्ययन+शर्म

ब्रह्म प्रजापतिर्धाता लोका वेदाः सप्तऋषयोऽग्नयः।
तैर्मे कृतं स्वस्त्ययनमिन्द्रो मे शर्म यच्छतु ब्रह्मा मे शर्म यच्छतु।
विश्वे मे देवाः शर्म यच्छन्तु सर्वे मे देवाः शर्म यच्छन्तु॥ १२॥

१. **ब्रह्म**=ज्ञान, **प्रजापतिः**=राजा, **धाता**=सब लोकों का धारक प्रभु, **लोकाः**=सब लोक, **वेदाः**=प्रभु से दिये गये 'ऋग्वेद-यजुर्वेद-सामवेद-अथर्ववेद', **सप्त ऋषयः**=दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुख, **अग्नयः**='मातृरूप दक्षिणाग्नि, पितृरूप गार्हपत्य अग्नि तथा आचार्यरूप आहवनीयाग्नि' **तैः**=उन सबके द्वारा **मे स्वस्त्ययनं कृतम्**=मेरे कल्याण का मार्ग किया गया है। इन सबकी प्रेरणा, अनुग्रह व व्यवस्था से मैं कल्याण के मार्ग पर चला हूँ। २. **इन्द्रः**=वे सर्वशक्तिमान् प्रभु **मे शर्म यच्छतु**=मेरे लिए सुख दें। **ब्रह्मा**=वे सर्वज्ञ प्रभु **मे शर्म यच्छतु**=मुझे सुख दें। शक्ति व ज्ञान का (क्षत्र व ब्रह्म का) सम्पादन करता हुआ मैं कल्याण प्राप्त करूँ। **विश्वेदेवाः**=सभी प्राकृतिक शक्तियाँ—सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, वायु आदि देव **मे शर्म यच्छन्तु**=मुझे सुख दें। ये मुझे शारीरिक आरोग्य प्राप्त कराके सुखी करें। **सर्वे देवाः**=सब विद्वान् व माता-पिता-आचार्य व अतिथिरूप देव **मे शर्म यच्छन्तु**=मुझे सुखी करें। ये मुझे मानस स्वास्थ्य प्राप्त कराके आनन्दयुक्त जीवनवाला बनाएँ।

भावार्थ—ज्ञान, राजा, प्रभु, सब लोक, वेद, ऋषि व अग्नियाँ मुझे कल्याण के मार्ग पर ले-चलें। मैं शक्ति व ज्ञान का सम्पादन करता हुआ सुख प्राप्त करूँ। प्राकृतिक देव मुझे नीरोग बनाएँ, विद्वान् मुझे स्वस्थ मनवाला करें और इसप्रकार मुझे सुख प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शम्+अभय

यानि कानि चिच्छान्तानि लोके सप्तऋषयो विदुः।
सर्वाणि शं भवन्तु मे शं मे अस्त्वभयं मे अस्तु॥ १३॥

१. **लोके**=लोक में **यानि कानिचित्**=जो कोई भी **शान्तानि**=शान्तिदायक कर्म हैं, **सप्तऋषयः**=मेरे सप्त ऋषि—'दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुख'—उनको **विदुः**=जानते हैं। मेरे ये सात ऋषि उन्हीं को अपनाने का प्रयत्न करते हैं। २. इस प्रकार ये **सर्वाणि**=सब **मे शं भवन्तु**=मेरे लिए शान्ति देनेवाले हों। **मे शम् अस्तु**=मेरे लिए शान्ति हो। **मे अभयम् अस्तु**=मेरे लिए निर्भयता हो।

भावार्थ—मैं इन कान आदि सप्त ऋषियों से शान्त कर्मों को करता हुआ शान्ति व निर्भयता प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**शन्तातिः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदासंकृतिः** ॥

'मोहं, घोर, क्रूर व पाप' का दूरीकरण

पृथिवी शान्तिरन्तरिक्षं शान्तिर्द्यौः शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिर्वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे मे देवाः शान्तिः सर्वे मे देवाः शान्तिः शान्तिः शान्तिः शान्तिभिः। ताभिः शान्तिभिः सर्वशान्तिभिः शमयामोऽहं यदिह घोरं यदिह क्रूरं यदिह पापं तच्छान्तं तच्छिवं सर्वमेव शमस्तु नः॥ १४॥

१. **पृथिवी शान्तिः**=यह पृथिवीलोक हमारे लिए शान्ति देनेवाला हो। **अन्तरिक्षं शान्तिः**=अन्तरिक्षलोक शान्ति देनेवाला हो। **द्यौः शान्तिः**=द्युलोक शान्ति देनेवाला हो। **आपः शान्तिः**=जल शान्तिकर हों। **ओषधयः शान्तिः**=ओषधियाँ शान्तिकर हों। **वनस्पतयः**=वनस्पतियाँ **शान्तिः**=शान्तिकर हों। **विश्वेदेवाः**=सब प्राकृतिक देव **मे शान्तिः**=मुझे नीरोगता के द्वारा शान्ति देनेवाले हों। **सर्वे देवाः**=सब विद्वान् **मे शान्तिः**=मुझे मानस स्वास्थ्य प्राप्त कराके शान्ति देनेवाले हों। **शान्तिभिः शान्तिः शान्तिः**=इन सब शान्तियों के द्वारा मुझे शारीर शान्ति व मानस शान्ति प्राप्त हो। २. **ताभिः शान्तिभिः**=उन शान्तियों के द्वारा **सर्वशान्तिभिः**=सब शान्तियों के द्वारा **मोहं शमया**=हमारे वैचित्य को शान्त कीजिए। हम **शम् अयामः**=शान्ति को प्राप्त होते हैं। २. हम स्वस्थचित्त बन पाएँ। **यत् इह पापम्**=जो भी यहाँ पाप है, **तत् शान्तम्**=वह शान्त हो, **तत् शिवम्**=वह शिव हो जाए। असत् के स्थान में सब-कुछ सत् हो जाए। इसप्रकार **सर्वम् एव**=सब-कुछ ही **नः**=हमारे लिए **शम् अस्तु**=शान्त हो जाए।

भावार्थ—तीनों लोकों, जलों, ओषधि, वनस्पतियों, सब प्राकृतिक शक्तियों व विद्वानों की अनुकूलता से हमें शान्ति प्राप्त हो। हमारे जीवनों में से मोह, घोर, क्रूर व पाप का निराकरण होकर शान्ति-ही-शान्ति प्राप्त हो।

१०. [दशमं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'अग्नि, वरुण, सोम व पूषा'

शं न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शं न इन्द्रावरुणा रातहव्या।
शमिन्द्रासोमा सुविताय शं योः शं न इन्द्रापूषणा वाजसातौ॥ १॥

१. **नः**=हमारे लिए **इन्द्राग्नी**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला राजा और ज्ञान देकर आगे ले-चलनेवाला ब्राह्मण ये दोनों **अवोभिः**=रक्षणों के द्वारा **शम्**=शान्ति प्राप्त कराएँ। **नः**=हमारे लिए **इन्द्रावरुणा**=शत्रुविद्रायक राजा तथा अव्यवस्थाओं का निवारण करनेवाला क्षत्रियवर्ग **रातहव्या**=(रातं हव्यं याभ्याम्) जिनके लिए उचित कर (Tax) दिया गया है, ऐसे होते हुए **शम्**=शान्ति प्राप्त कराएँ। २. **इन्द्रासोमा**=शत्रुविद्रावक राजा तथा सौम्य स्वभाव का श्रमिक वर्ग (Labour) **शम्**=शान्ति प्राप्त कराए तथा **सुविताय**=सब कार्यों के सम्यक् प्रचलन के लिए—ये इन्द्र और सोम **शं योः**=रोगों का शमन व भयों का यावन (पृथक्करण) करनेवाले हों। **इन्द्रापूषणा**=शत्रुविद्रावक राजा तथा 'कृषि, गोरक्षा व वाणिज्य' के द्वारा सबका पोषण करनेवाले वैश्य **वाजसातौ**=अन्न की प्राप्ति कराके **नः शम्**=हमारे लिए शान्ति देनेवाले हों।

भावार्थ—राजा तथा राजशक्ति से सहायता-प्राप्त 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शूद्र' सब अपने कार्यों को समुचित रूप से करते हुए हमारे लिए शान्ति देनेवाले हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

भगः-अर्यमा

शं नो भगः शमु नः शंसो अस्तु शं नः पुरंधिः शमु सन्तु रायः।
शं नः सत्यस्य सुयमस्य शंसः शं नो अर्यमा पुरुजातो अस्तु॥ २॥

१. **नः**=हमारे लिए **भगः**=ऐश्वर्य **शम्**=शान्ति देनेवाला हो। **उ**=और **नः**=हमारे लिए **शंसः**=विज्ञान (Science) **शम् अस्तु**=शान्तिकर हो। **नः**=हमारे लिए **पुरन्धिः**=पालक व पूरक बुद्धि **शम्**=शान्ति प्राप्त कराए **उ**=और **रायः**=सब धन **शं सन्तु**=शान्ति करनेवाले हों। २. **नः**=हमारे लिए **सत्यस्य**=सत्य का तथा **सुयमस्य**=उत्तम नियम का **शंसः**=उपदेश **शम्**=शान्ति देनेवाला हो। **नः**=हमारे लिए **पुरुजातः**=महान् विकासवाला **अर्यमा**=सब-कुछ देनेवाला (अर्यमेति तमाहुर्यो ददाति) अथवा न्यायकारी प्रभु **शं अस्तु**=शान्ति प्राप्त करानेवाला हो।

भावार्थ—भौतिक ऐश्वर्य, ज्ञान, बुद्धि व धन हमारे लिए शान्ति देनेवाले हों। सत्य व संयम का उपदेश हमें शान्ति दे। सब-कुछ देनेवाले वे प्रभु आवश्यक वस्तुओं को प्राप्त कराके हमें शान्ति दें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

धाता-धर्ता

शं नो धाता शमु धर्ता नो अस्तु शं न उरूची भवतु स्वधाभिः।
शं रोदसी बृहती शं नो अद्रिः शं नो देवानां सुहवानि सन्तु॥ ३॥

१. **नः**=हमारे लिए **धाता**=सब लोक-लोकान्तरों का धारण करनेवाला प्रभु **शम्**=शान्ति दे **उ**=और **धर्ता**=सब प्राणियों का धारण करनेवाला (आश्रयदाता) प्रभु **शं अस्तु**=शान्ति देनेवाला हो। **नः**=हमारे लिए यह **उरूची**=(उरु अञ्चति) सुदूर प्रदेश तक फैली हुई पृथिवी **स्वधाभिः**=अन्नों के द्वारा **शम्**=शान्ति करनेवाली **भवतु**=हो। २. **बृहती**=विशाल **रोदसी**=द्यावापृथिवी **शम्**=शान्तिकर हों। **नः**=हमारे लिए **अद्रिः**=पर्वत व मेघ **शम्**=शान्ति दें। **नः**=हमारे लिए **देवानाम्**=दिव्यवृत्तिवाले ज्ञानी पुरुषों के **सुहवानि**=उत्तम आह्वान **शं सन्तु**=शान्तिकर हों। हम घरों में समय-समय पर ज्ञानी विद्वानों को आमन्त्रित करें और उनसे ज्ञानोपदेश सुनकर उत्तम मार्ग पर चलनेवाले बनें।

भावार्थ—ब्रह्माण्ड व सब प्राणियों का धारण करनेवाले प्रभु हमें शान्ति प्राप्त कराएँ। यह पृथिवी उत्तम अन्नों को देकर हमें सुखी व शान्त करे। द्युलोक व पृथिवीलोक हमें शान्ति देनेवाले

हों, पर्वत व मेघ हमारे लिए सुखकर हों। हम सदा ज्ञानियों के सम्पर्क में ज्ञानोपदेश प्राप्त करके जीवन में उत्तम मार्ग पर चलते हुए शान्त जीवनवाले हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'ज्योतिरनीक' अग्नि

शं नो अग्निर्ज्योतिरनीको अस्तु शं नो मित्रावरुणावश्विना शम्।
शं नः सुकृतां सुकृतानि सन्तु शं न इषिरो अभि वातु वातः ॥ ४ ॥

१. **ज्योतिरनीकः**=(अनीकम् face)=ज्योतिर्मय मुखवाला—जिसके मुख से ज्ञान की ही वाणियों का उच्चारण होता है—यह ब्राह्मण **नः शं अस्तु**=हमारे लिए शान्ति करनेवाला हो। **मित्रावरुणौ**=स्नेह व द्वेष-निवारण (निर्द्वेषता) की भावनाएँ **नः शम्**=हमारे लिए शान्तिकर हों। **अश्विना**=प्राणापान शक्ति **शम्**=हमें शान्ति दे। २. **सुकृताम्**=पुण्यशालियों के **सुकृतानि**=पुण्यकर्म **नः**=हमारे लिए **शम्**=शान्तिकर **सन्तु**=हों और यह **इषिरः**=गतिशील **वातः**=वायु **नः**=हमारे लिए भी गति की प्रेरणा देता हुआ **शम् अभिवातु**=शान्तिकर होकर चारों ओर बहे।

भावार्थ—ज्ञानी ब्राह्मण ज्ञान देते हुए हमें शान्ति प्राप्त कराएँ। स्नेह व निर्द्वेषता का भाव तथा प्राणापानशक्ति हमें शान्ति दे। पुण्यकर्मा लोगों के पुण्यकर्म हमें शान्ति प्राप्त कराएँ और यह निरन्तर गतिशील वायु गति की प्रेरणा देता हुआ हमें शान्ति प्राप्त कराए।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

द्यावापृथिवी

शं नो द्यावापृथिवी पूर्वहूतौ शमन्तरिक्षं दृशये नो अस्तु।
शं न ओषधीर्वनिनो भवन्तु शं नो रजसस्पतिरस्तु जिष्णुः ॥ ५ ॥

१. **पूर्वहूतौ**=सबसे प्रथम पुकार में **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **नः शम्**=हमारे लिए शान्तिकर हों। हम प्रातः प्रभु से सर्वप्रथम यही आराधना करते हैं कि ये द्युलोक और पृथिवीलोक हमें शान्ति प्राप्त कराएँ। **अन्तरिक्षम्**=यह अन्तरिक्ष भी **दृशये**=विशाल दृष्टि के लिए **नः शम् अस्तु**=हमारे लिए शान्तिकर हो। हम अन्तरिक्ष से मध्यमार्ग में चलने की प्रेरणा लेते हुए विशाल दृष्टिकोणवाले बनें। २. ये **वनिनः**=वन में उत्पन्न होनेवाली **ओषधीः**=ओषधियाँ **नः शम्**=हमारे लिए शान्तिकर **भवन्तु**=हों। वह **रजसस्पतिः**=सब लोकों का स्वामी **जिष्णुः**=विजयशील प्रभु **नः शम् अस्तु**=हमारे लिए शान्तिकर हो। हम भी शरीरस्थ अंगों के स्वामी बनते हुए विजयशील बनें। यही सच्ची शान्ति की प्राप्ति का मार्ग है।

भावार्थ—द्यावापृथिवी, अन्तरिक्ष व ओषधियाँ—ये सब हमें शान्ति प्राप्त कराएँ। 'रजसस्पति जिष्णु' प्रभु से हम भी शरीरस्थ अंगों के स्वामी बनने तथा विजयशील बनने की प्रेरणा लें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वसु, आदित्य, रुद्र

शं न इन्द्रो वसुभिर्देवो अस्तु शमादित्येभिर्वरुणः सुशंसः।
शं नो रुद्रो रुद्रेभिर्जलाषः शं नस्त्वष्टा ग्नाभिरिह शृणोतु ॥ ६ ॥

१. **इन्द्रः देवः**=वह परमैश्वर्यशाली दिव्यगुणों का पुञ्ज प्रभु **वसुभिः**=हमारे निवासों को उत्तम बनानेवाले वसु विद्वानों के द्वारा **नः**=हमारे लिए **शम् अस्तु**=शान्ति प्राप्त करानेवाले हों। **सुशंसः**=उत्तम ज्ञान देनेवाले **वरुणः**=पापों के निवारक प्रभु **आदित्येभिः**=सूर्यसम ज्ञानज्योतिर्मय विद्वानों के द्वारा **शम्**=शान्ति प्राप्त ,कराएँ। २. (जलाषम्=Happiness) **जलाषः**=आनन्दमय

रुद्रः=सब रोगों का विद्रावण करनेवाले प्रभु **रुद्रेभिः**=ज्ञानोपदेश द्वारा हमें नीरोगता के मार्ग पर ले-चलनेवाले विद्वानों के द्वारा **नः शम्**=हमें शान्ति दें। **त्वष्टा**=(त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः। नि०) ज्ञानदीप्त प्रभु **ग्नाभिः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **नः शम्**=हमें शान्ति प्राप्त कराएँ, ये प्रभु **इह**=यहाँ **शृणोतु**=हमारी इस प्रार्थना को सुनें।

भावार्थ—प्रभु वसु, रुद्र व आदित्य विद्वानों के द्वारा ज्ञान प्राप्त कराके हमें 'जितेन्द्रिय, निर्दोष, आनन्दमय य ज्ञानदीप्त' बनाकर शान्त जीवनवाला बनाएँ।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सोम-रक्षण+ज्ञान+यज्ञ

शं नः सोमो भवतु ब्रह्म शं नः शं नो ग्रावाणः शमु सन्तु यज्ञाः।
शं नः स्वरूणां मितयो भवन्तु शं नः प्रस्व१ः शम्वस्तु वेदिः ॥ ७ ॥

१. **सोमः**=शरीर में सुरक्षित सोम (वीर्य) **नः शम्**=हमारे लिए शान्तिकर हो। **ब्रह्म**=ज्ञान **नः**=हमारे लिए **शम् भवतु**=शान्तिकर हो। सोम-रक्षण से ही तो ज्ञानाग्नि दीप्त होगी। **नः**=हमारे लिए **ग्रावाणः**=(विद्वांसो हि ग्रावाणः श० ३.४.३.९) विद्वान् लोग ज्ञानोपदेश के द्वारा **नः शम्**=हमें शान्ति दें। **उ**=और ज्ञान प्राप्त करके **यज्ञाः**=हमसे किये जाते हुए यज्ञ **शं सन्तु**= शान्तिकर हों। २. **नः**=हमारे लिए **स्वरूणां मितयः**=यज्ञ-स्तम्भों के निर्माण **शम्**=कल्याणकर हों। **प्रस्वः नः शम्**=यज्ञभूमि में होनेवाली घास हमारे लिए शान्तिकर हो **उ**=और **वेदिः**=यज्ञवेदि **शम् अस्तु**=शान्तिकर हो।

भावार्थ—सोम का रक्षण करके हम ज्ञानाग्नि को दीप्त करें। ज्ञानियों से ज्ञान प्राप्त करके यज्ञशील हों। हम यज्ञों के लिए यज्ञवेदि को तैयार करें। इसप्रकार हमारे जीवन शान्तिमय हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सूर्य से आपः तक

शं नः सूर्य उरुचक्षा उदेतु शं नो भवन्तु प्रदिशश्चतस्रः।
शं नः पर्वता ध्रुवयो भवन्तु शं नः सिन्धवः शमु सन्त्वापः ॥ ८ ॥

१. **उरुचक्षाः**=विशाल दृष्टि-(प्रकाश)-वाला **सूर्यः नः शम् उदेतु**=सूर्य हमारे लिए शान्तिकर होकर उदित हो। **चतस्रः प्रदिशः**=चारों विशाल दिशाएँ **नः शं भवन्तु**=हमारे लिए शान्तिकर हों। २. ये **ध्रुवयः**=अपने स्थानों से न डिगनेवाले **पर्वताः नः शं भवन्तु**=पर्वत हमारे लिए शान्तिकर हों। **नः**=हमारे लिए इन पर्वतों से बहनेवाली **सिन्धवः**=नदियाँ **शम्**=शान्ति दें, **उ**=और उन नदियों के **आपः**=जल **शं सन्तु**=शान्तिकर हों।

भावार्थ—सूर्य से हम विशाल दृष्टि का पाठ पढ़ें, दिशाओं से विशालहृदयता को सीखें। पर्वतों से ध्रुवता का पाठ पढ़ें। नदियों से निरन्तर गति की शिक्षा लें और जलों से शान्ति का पाठ पढ़ें। इसप्रकार जीवन शान्त बनेगा।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अदिति व्रतों के साथ

शं नो अदितिर्भवतु व्रतेभिः शं नो भवन्तु मरुतः स्वर्काः।
शं नो विष्णुः शमु पूषा नो अस्तु शं नो भवित्रं शम्वस्तु वायुः ॥ ९ ॥

१. **व्रतेभिः**=व्रतों के साथ **अदितिः**=(दिति दो अवखण्डने) अखण्डन—स्वास्थ्य की देवता

नः=हमारे लिए **शं भवतु**=शान्ति देनेवाली हो। हम स्वस्थ व व्रतमय जीवनवाले बनकर शान्ति प्राप्त करें। **स्वर्काः**=(सु अर्काः) उत्तमता से प्रभु-पूजन करनेवाले **मरुतः**=प्राण **नः शं भवन्तु**=हमारे लिए शान्तिकर हों। हम प्राणसाधना करते हुए प्रभु-पूजन में प्रवृत्त हों। २. **नः**=हमारे लिए **विष्णुः** (यज्ञो वै विष्णुः) यज्ञ **शम्**=शान्ति दें, **उ**=और **पूषा**=पोषण की देवता **नः**=हमारे लिए **शम् अस्तु**=शान्तिकर हो। हम यज्ञों को करते हुए उचित पोषण प्राप्त करें। **नः**=हमारे लिए **भवित्रम्**=(भवन्ति भूतानि अत्र) यह अन्तरिक्षलोक अथवा गृह **शम्**=शान्ति दे, **उ**=और **वायुः**=वायु **शम् अस्तु**=शान्तिकर हो। हमारे घरों में वायु का सम्यक् प्रवेश हो और इसप्रकार वे घर हमारे लिए सुखद हों।

भावार्थ—हम व्रतमय स्वस्थ जीवनवाले हों। प्राणसाधना करते हुए प्रभु-पूजन करें। यज्ञों को करते हुए उचित पोषण प्राप्त करें। हमारे घरों में वायु का सम्यक् प्रवेश हो।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

त्रायमाणः सविता

शं नो॑ दे॒वः स॑वि॒ता त्राय॑माणः॒ शं नो॑ भवन्तू॒षसो॑ विभा॒तीः।
शं नः॑ प॒र्जन्यो॑ भवतु प्र॒जाभ्यः॒ शं नः॒ क्षेत्र॑स्य॒ पति॑रस्तु शं॒भुः ॥ १० ॥

१. यह **त्रायमाणः**=हम सबका रक्षण करता हुआ **देवः**=प्रकाशमय **सविता**=सूर्य **नः शम्**=हमारे लिए शान्तिकर हो। ये **विभातीः**=विशेषरूप से दीप्त होती हुई **उषसः**=उषाएँ **नः शं भवन्तु**=हमारे लिए शान्तिकर हों। २. **नः प्रजाभ्यः**=हमारी सन्तानों के लिए **पर्जन्यः शं भवतु**=मेघ शान्ति देनेवाला हो। **नः**=हमारे लिए **क्षेत्रस्य पतिः**=इस ब्रह्माण्डरूप क्षेत्र का स्वामी प्रभु **शम् अस्तु**=शान्तिकर हो।

भावार्थ—सूर्य, उषा, पर्जन्य व ब्रह्माण्डरूप क्षेत्र का स्वामी प्रभु हमें शान्ति प्राप्त कराए।

११. [एकादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सत्यस्य पतयः

शं नः॑ स॒त्यस्य॒ पत॑यो भवन्तु॒ शं नो॒ अर्व॑न्तः॒ शमु॑ सन्तु॒ गावः॑।
शं न॑ ऋ॒भवः॑ सु॒कृतः॑ सु॒हस्ताः॒ शं नो॑ भवन्तु पि॒तरो॒ हवे॑षु॥ १ ॥

१. **सत्यस्य पतयः**=अपने में सत्य वेदज्ञान का रक्षण करनेवाले ब्राह्मण **नः शं भवन्तु**=हमारे लिए शान्तिकर हों। **नः**=हमारे लिए **अर्वन्तः**=घोड़े **शम्**=शान्ति दें, **उ**=और **गावः**=गौएँ **शं सन्तु**=शान्तिकर हों। २. ये **ऋभवः**=(उरुभान्ति) उस-उस कला से दीप्त होनेवाली **सुकृतः**=उत्तमता से वस्तुओं का निर्माण करनेवाले **सुहस्ताः**=उत्तम हस्तकौशलवाले शिल्पी **नः शम्**=हमें शान्ति प्राप्त कराएँ, **पितरः**=सब रक्षक लोग **हवेषु**=संग्रामों में **नः शं भवन्तु**=हमारे लिए शान्ति देनेवाले हों।

भावार्थ—ब्राह्मण, घोड़े, गौएँ, शिल्पी व रक्षक लोग हमें शान्ति प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

दिव्य, पार्थिव, अप्य

शं नो॑ दे॒वा वि॒श्वदे॑वा भवन्तु॒ शं सर॑स्वती स॒ह धी॒भिर॑स्तु।
शम॑भि॒षाचः॒ शमु॑ राति॒षाचः॒ शं नो॑ दि॒व्याः पार्थि॑वाः॒ शं नो॒ अप्याः॑ ॥ २ ॥

१. **नः**=हमारे लिए **विश्वदेवाः**=सब दिव्यगुणों से युक्त **देवाः**=विद्वान् पुरुष **शं भवन्तु**=शान्ति

प्राप्त कराएँ। **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता **धीभिः**=बुद्धियों के साथ **शम् अस्तु**=हमारे लिए शान्तिकर हो। २. **अभिषाचः**=उस प्रभु की ओर (अभि) अपना मेल करनेवाले **शम्**=शान्ति दें, **उ**=और **रातिषाचः**=दान के साथ मेलवाले त्यागी पुरुष **शम्**=शान्ति प्राप्त कराएँ। २. **नः**=हमारे लिए **दिव्याः**=द्युलोक के पदार्थ **शम्**=शान्तिकर हों। **पार्थिवाः**=पृथिवी के पदार्थ शान्तिकर हों तथा **नः**=हमारे लिए **अप्याः**=अन्तरिक्षलोक में होनेवाले पदार्थ **शम्**=शान्ति दें।

भावार्थ—हमारे लिए दिव्यवृत्तिवाले ज्ञानी पुरुष शान्ति दें। हमें विद्या व बुद्धि शान्ति दे, प्रभु के साथ मेलवाले त्यागी पुरुष शान्ति दें। दिव्य, पार्थिव व अन्तरिक्ष के पदार्थ हमारे लिए शान्तिकर हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अजः एकपाद् देवः

शं नो॑ अ॒ज एक॑पाद्दे॒वो अ॑स्तु॒ शमहि॑र्बु॒ध्न्य॑१ः॒ शं स॑मु॒द्रः।
शं नो॑ अ॒पां नपा॑त्पे॒रुर॑स्तु॒ शं नः॒ पृश्नि॑र्भवतु दे॒वगो॑पा ॥ ३ ॥

१. **नः**=हमारे लिए **अजः**=गति के द्वारा सब बुराइयों को दूर करनेवाला **एकपात्**=अद्वितीय गतिवाला **देवः**=प्रकाशमय सूर्य **शम्**=शान्ति दे। **अहिर्बुध्न्यः**=अहीन बुध्नवाला—जिसका मूल नष्ट नहीं होता—ऐसा यह वायु **शम् अस्तु**=शान्तिकर हो। **समुद्रः शम्**=यह अन्तरिक्ष का समुद्र 'मेघ' शान्ति दे। २. **अपां नपात्**=प्रजाओं को न नष्ट होने देनेवाला यह **पेरुः**=पालक अग्नि (fire) **नः शम् अस्तु**=हमारे लिए शान्तिकर हो। **देवगोपा**=देवों का रक्षण करनेवाली **पृश्निः**=सब रसों का स्पर्श करनेवाली यह पृथिवी **नः शं भवतु**=हमारे लिए शान्तिकर हो। इस पृथ्वी पर जो भी व्यक्ति देववृत्ति के बनकर चलते हैं, यह पृथिवी उनका रक्षण करती ही है।

भावार्थ—'सूर्य, वायु, मेघ, अग्नि व पृथिवी' ये सब हमारे लिए शान्तिकर हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वेदज्ञान का श्रवण व सेवन

आ॒दि॒त्या रु॒द्रा वस॑वो जुषन्तामि॒दं ब्रह्म॑ क्रि॒यमा॑णं॒ नवी॑यः।
शृ॒ण्वन्तु॑ नो दि॒व्याः पार्थि॑वासो॒ गोजा॑ता उ॒त ये य॒ज्ञिया॑सः ॥ ४ ॥

१. **आदित्याः**=४८ वर्ष तक ब्रह्मचर्यपूर्वक अध्ययन करनेवाले 'आदित्य' विद्वान्, **रुद्राः**=४४ वर्ष तक अध्ययन करनेवाले ये 'रुद्र' तथा **वसवः**=२४ वर्ष तक ब्रह्मचर्य का धारण करनेवाले ये 'वसु' **इदम्**=इस **क्रियमाणम्**=प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में दिये जानेवाले **नवीयः**=स्तुत्य **ब्रह्म**=वेदज्ञान को **जुषन्ताम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करें। २. **नः**=हममें से **दिव्याः**=ज्योतिर्मय मस्तिष्कवाले, **पार्थिवासः**=शरीररूप पृथिवी के स्वामी, **गोजाताः**=ज्ञान की वाणियों के अनुभव के लिए ही मानो जिनका जन्म हुआ है **उत**=और **ये**=जो **यज्ञियासः**=यज्ञियवृत्ति के हैं, वे सब इस वेदज्ञान को **शृण्वन्तु**=सुनें। वेदज्ञान ही पवित्रता व शान्ति देनेवाला है।

भावार्थ—हम सब वेदज्ञान को प्राप्त करने का प्रयत्न करें—इसी का प्रीतिपूर्वक सेवन करें। इसी को सुनने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उरुगायम्

ये दे॒वाना॑मृ॒त्विजो॑ य॒ज्ञिया॑सो॒ मनो॒र्यज॑त्रा अ॒मृता॑ ऋत॒ज्ञाः।
ते नो॑ रासन्तामुरुगा॒यम॒द्य यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभिः॒ सदा॑ नः ॥ ५ ॥

१. **ये**=जो **देवानाम्**=देववृत्ति के व्यक्तियों में **ऋत्विजः**=समय-समय पर प्रभु का पूजन करनेवाले हैं, **यज्ञियासः**=यज्ञशील हैं, **मनोः**=उस ज्ञानस्वरूप प्रभु का **यजत्राः**=संगतिकरण करनेवाले हैं, **अमृताः**=विषय-वासनाओं के पीछे न मरनेवाले हैं, **ऋतज्ञाः**=सत्यवेदज्ञान को प्राप्त करनेवाले हैं, **ते**=वे **नः**=हमारे लिए **अद्य**=आज **उरुगायम्**=इस विशाल गाने योग्य वेदज्ञान को **रासन्ताम्**=दें। इस ज्ञान के द्वारा वे हमें भी 'ऋत्विज्, यज्ञिय, मनोर्यजत्र, अमृत व ऋतज्ञ' बनाएँ। २. हे विद्वानो! **यूयम्**=आप **स्वस्तिभिः**=उत्तम कल्याण के मार्गों के द्वारा **नः**=हमें **सदा**=सदा **पात**=रक्षित करो।

भावार्थ—हमें 'देववृत्तिवाले, प्रभु के पूजक, यज्ञशील, नीरोग' ज्ञानी पुरुषों का संग प्राप्त हो। वे हमें भी ज्ञान देते हुए कल्याण के मार्ग से ले-चलें। इसप्रकार हमारा सदा कल्याण व रक्षण हो।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गाधम्, प्रतिष्ठाम्

तदस्तु मित्रावरुणा तदग्ने शं योरस्मभ्यमिदमस्तु शस्तम्।
अशीमहि गाधमुत प्रतिष्ठां नमो दिवे बृहते सादनाय॥ ६॥

१. हे **मित्रावरुणा**=स्नेह व निर्द्वेषता के भावो! **तत्**=गतमन्त्र में वर्णित वह 'उरुगाय' (विशाल वेदज्ञान) **अस्तु**=हमें प्राप्त हो। **अग्ने**=हे अग्रणी—आगे बढ़ने की भावने! **तत्** (अस्तु)=हमें वेदज्ञान प्राप्त हो। इस वेदज्ञान ने ही वस्तुतः हमें 'मित्र-वरुण व अग्नि' बनाना है। **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए **इदम्**=यह ज्ञान **शम्**=शान्ति देनेवाला व **योः**=भयों को दूर करनेवाला **अस्तु**=हो। यह हमारे लिए **शस्तम्**=प्रशस्त हो—यह हमारे जीवनों को उत्तम बनाए। २. इस वेदज्ञान से ही हम **गाधम्**=इष्ट ऐश्वर्य को (गाध्=लिप्सा) **उत**=और **प्रतिष्ठाम्**=प्रतिष्ठा को **अशीमहि**=प्राप्त करें। हम उस-उस **दिवे**=प्रकाशमय **बृहते**=विशाल **सादनाय**=सबके आश्रयभूत प्रभु के लिए **नमः**=नमस्कार करें।

भावार्थ—स्नेह, निर्द्वेषता व प्रगति की भावना को अपनाकर हम अपने ज्ञान को बढ़ाएँ। यह ज्ञान हमें इष्ट ऐश्वर्य व प्रतिष्ठा प्राप्त कराए। हम प्रातः-सायं उस महान् आश्रय प्रभु के प्रति नतमस्तक हों।

१२. [द्वादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**उषा** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मार्गदर्शिका उषा

उषा अप स्वसुस्तमः सं वर्तयति वर्तनिं सुजातता।
अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतहिमाः सुवीराः॥ १॥

१. **उषाः**=उषा **स्वसुः**=अपनी बहिन के समान इस रात्रि के **तमः**=अन्धकार को **अप** (वर्तयति)=दूर कर देती है और **सुजातता**=अपने उत्तम प्रादुर्भाव से **वर्तनिम्**=मार्ग को **संवर्तयति**=सम्यक् प्रवृत्त करती है—यह मार्ग दिखलाती है। २. मार्गों को दिखलाती हुई **अया**=(अनया) इस उषा से **देवहितम्**=देवों के अन्दर स्थापित किये गये **वाजम्**=बल को **सनेम**=प्राप्त करें। हमें शक्ति प्राप्त हो और यह देवों की शक्ति हो, न कि असुरों की (शक्तिः परेषां परिरक्षणाय, न तु परिपीडनाय)। इसप्रकार शक्ति को प्राप्त करके **सुवीराः**=उत्तम वीर सन्तानोंवाले होते हुए **शतहिमाः**=शतवर्षपर्यन्त **मदेम**=आनन्द का अनुभव करें।

भावार्थ—उषा से मार्ग का ज्ञान प्राप्त करते हुए हम उस मार्ग का आक्रमण करें। इसप्रकार शान्ति प्राप्त करके, उत्तम वीर सन्तानोंवाले हम शतवर्षपर्यन्त आनन्दयुक्त जीवनवाले हों।

यह शक्तिशाली व्यक्ति युद्ध में पराजित न होनेवाला 'अप्रतिरथ' (a match-less warrior) बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

१३. [त्रयोदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अप्रतिरथः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

इन्द्र की भुजाएँ

इन्द्रस्य बाहू स्थविरौ वृषाणौ चित्रा इमा वृषभौ पारयिष्णू।
तौ योक्षे प्रथमो योग आगते याभ्यां जितमसुराणां स्व१र्यत्॥ १॥

१. **इन्द्रस्य**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले इस सेनापति की **बाहू**=भुजाएँ **स्थविरौ**=स्थिर बलवाली हैं, **वृषाणौ**=शक्तिशाली हैं, **चित्रा**=अद्भुत हैं, **इमा वृषभौ**=ये प्रजाओं पर सुखों का वर्षण करनेवाली हैं, **पारयिष्णू**=शत्रुओं से पार प्राप्त करानेवाली हैं। २. **प्रथमः**=अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाला मैं **योगे आगते**=अवसर के आने पर **तौ योक्षे**=उन भुजाओं का प्रयोग करता हूँ, **याभ्याम्**=जिन भुजाओं से **असुराणां यत् स्वः**=असुरों का जो सुख है, वह **जितम्**=जीत लिया जाता है। मेरी इन भुजाओं के व्यापृत होने पर असुर सुख से नहीं रह पाते।

भावार्थ—हमारा सेनापति शक्तिशाली हो। अवसर आने पर उसकी भुजाएँ शत्रु-सैन्य के सुख को समाप्त करनेवाली हों।

ऋषिः—**अप्रतिरथः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

एकवीरः

आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम्।
संक्रन्दनोऽनिमिष एकवीरः शतं सेना अजयत्साकमिन्द्रः॥ २॥

१. अद्वितीय वीर वह है जोकि शत्रुओं का पराजय करता है। यह **आशुः**=शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त होनेवाला—स्फूर्तिमय जीवनवाला होता है। **शिशानः**=अपनी बुद्धि को बड़ा तीव्र बनाता है। **वृषभः**=वृषभ के समान शक्तिशाली होता है, परन्तु **न भीमः**=भयंकर नहीं होता। इसमें शक्ति होती है, परन्तु उसके साथ सौम्यता भी होती है। **घनाघनः**=यह काम आदि शत्रुओं का अच्छी प्रकार संहार करनेवाला होता है। **चर्षणीनां क्षोभणः**=यह मनुष्यों के जीवन में भी प्रेरणा देकर हलचल मचा देता है। २. **संक्रन्दनः**=सदा प्रभु के नाम का सम्यक् आह्वान करनेवाला होता है, **अनिमिषः**=सदा सावधान होता है—प्रमाद में नहीं चला जाता। यह **एकवीरः**=अद्वितीयवीर **इन्द्रः**=अपनी इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनता है। यह **शतं सेनाः साकम् अजयत्**=वासनाओं की शतशः सेनाओं को साथ-साथ जीत लेता है।

भावार्थ—हम सदा कर्मों में व्याप्त रहकर प्रभु का स्मरण करते हुए, कभी प्रमाद न करते हुए काम-क्रोध आदि शतशः शत्रु-सैन्यों का पराजय करनेवाले बनें।

ऋषिः—**अप्रतिरथः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

अनिमिष

संक्रन्दनेनानिमिषेण जिष्णुनाऽयोध्येन दुश्च्यवनेन धृष्णुना।
तदिन्द्रेण जयत तत्सहध्वं युधो नर इषुहस्तेन वृष्णा॥ ३॥

१. हे **युधः**=काम-क्रोध आदि से युद्ध करनेवाले **नरः**=अपने को उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले मनुष्यो! **इन्द्रेण**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाली आत्मा से **तत्**=इस शत्रु-सैन्य को **जयत**=जीतनेवाले बनो। **तत्**=उस शत्रुसैन्य को **सहध्वम्**=कुचल डालो। २. कैसे इन्द्र से? **संक्रन्दनेन**=प्रभु का आह्वान करनेवाले, **अनिमिषेण**=कभी पलक न मारनेवाले—सदा जागरित, अप्रमत्त आत्मा से, **जिष्णुना**=सदा विजयशील से, **अयोध्येन**=जिससे युद्ध करना कठिन है—उस आत्मा से **दुश्च्यवनेन**=युद्ध से पराङ्मुख न किये जानेवाले से, **धृष्णुना**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले से, **इषुहस्तेन**=(इष् प्रेरणे) प्रभु-प्रेरणा को जिसने हाथों में लिया हुआ है—प्रभु-प्रेरणा के अनुसार जो कार्य कर रहा है, उससे, **वृष्णा**=शक्तिशाली से, ऐसी आत्मा के द्वारा तुम शत्रु-सैन्य का विजय करो।

भावार्थ—हम प्रभु का आह्वान करते हुए प्रभु-प्रेरणा के अनुसार कार्य करते हुए शक्तिशाली बनें और वासना-संग्राम में विजयी बनें।

ऋषिः—**अप्रतिरथः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

असंग शस्त्रेण दृढेन छित्वा

स इषुहस्तैः स निषङ्गिभिर्वशी संस्रष्टा स युध इन्द्रो गणेन।
संसृष्टजित्सोमपा बाहुशर्ध्युग्रधन्वा प्रतिहिताभिरस्ता॥ ४॥

१. **सः**=वह उपासक **इषुहस्तैः**=प्रेरणारूप हाथों से (इष् प्रेरणे) **निषङ्गिभिः**=(निश्चय संग=आसक्ति) अनासक्ति के भावों से युक्त हुआ-हुआ **वशी**=इन्द्रियों को वश में करनेवाला, **गणेन संस्रष्टा**=समाज के साथ मेल करनेवाला—अपना अकेला जीवन न बितानेवाला **सः**=वह **युधः**=वासनाओं के साथ युद्ध करनेवाला **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता **संस्रष्टजित्**=सब संसर्गों को—विषयसम्पर्कों को जीतनेवाला होता है। २. विषयसम्पर्कों को जीतकर यह **सोमपाः**=अपने अन्दर सोम (वीर्य) का रक्षण करनेवाला होता है। **बाहुशर्धी**=यह सोमपा बनकर प्रजाओं के साथ पराक्रम करनेवाला होता है। **उग्रधन्वा**=यह 'प्रणव' रूप उग्र धनुष्वाला होता है। प्रणव का जप करता है और **प्रतिहिताभिः** (प्रत्याहृताभिः) इन्द्रियों को विषयों से वापस लाने की क्रियाओं के द्वारा यह **अस्ता**=शत्रुओं को परे फेंकनेवाला होता है।

भावार्थ—हम अनासक्ति के द्वारा विषय-संगों को जीतने का प्रयत्न करें। इन्द्रियों को विषय-व्यावृत्त करते हुए काम-क्रोध आदि शत्रुओं को दूर भगानेवाले हों।

ऋषिः—**अप्रतिरथः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

जैत्ररथ का आरोहण

बलविज्ञायः स्थविरः प्रवीरः सहस्वान्वाजी सहमान उग्रः।
अभिवीरो अभिषत्वा सहोजिज्जैत्रमिन्द्र रथमा तिष्ठ गोविदन्॥ ५॥

१. गतमन्त्र का उपासक **बलविज्ञायः**=बल के कारण प्रसिद्ध होता है (Known for his vigour) **गोविदन्**=वेदवाणियों का ज्ञाता बनकर **जैत्रं रथम् आतिष्ठ**=विजयशील शरीर-रथ पर आसीन हो। तुझमें बल व ज्ञान का समन्वय हो—यह समन्वय तुझे विजयी बनाए। **अभिवीरः अभिषत्वा (सत्वा)**=तू वीरता की ओर चलनेवाला हो और सत्त्वगुण की ओर चलनेवाला हो—ज्ञान की ओर। तूने वीरता व ज्ञान दोनों को अपनाना है। २. **स्थविरः**=स्थिरमति का बनना है और **प्रवीरः**=खूब वीर बनना है। **सहस्वान्**=बली बनकर सहनशक्तिवाला (Toleration) बनना है और **वाजी**=शक्तिशाली होना है। **सहमानः**=ज्ञान के द्वारा सहनशक्तिवाला व **उग्रः**=तेजस्वी

बनना है। संक्षेप में **सहोजित्**=तूने सहस् के द्वारा शत्रुओं का विजेता होना है।

भावार्थ—हम अपने जीवनों में बल व ज्ञान का समन्वय करते हुए सदा विजयी बनें।

ऋषिः—**अप्रतिरथः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

'इन्द्रम्' अनु हर्षध्वम्, अनुसंरभध्वम्

इमं वीरमनु हर्षध्वमुग्रमिन्द्रं सखायो अनु सं रभध्वम्।
ग्रामजितं गोजितं वज्रबाहुं जयन्तमज्म प्रमृणन्तमोजसा॥ ६॥

१. हे **सखायः**=मित्रो! **इमं वीरम्**=इस वीर **इन्द्रम्**=शत्रु-विद्रावक प्रभु की **अनुहर्षध्वम्**=अनुकूलता में हर्ष का अनुभव करो और **अनुसंरभध्वम्**=इस प्रभु की अनुकूलता में ही सम्यक् उद्योगवाले बनो। २. ये प्रभु ही तुम्हारे लिए **ग्रामजितम्**=इन्द्रिय-समूह का विजय करनेवाले हैं। ये ही **गोजितम्**=ज्ञान की वाणियों का विजय करनेवाले हैं और **वज्रबाहुम्**=शत्रुओं के पराभव के लिए हाथों में वज्र लिये हुए हैं। ये तुम्हारे लिए **अज्म जयन्तम्**=संग्राम को जीतनेवाले व **ओजसा प्रमृणन्तम्**=ओजस्विता से शत्रुओं को कुचल देनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु की अनुकूलता में हम हर्ष का अनुभव करें—वीरतापूर्ण कर्मों को करें। प्रभु हमारे लिए इन्द्रियों का विजय करेंगे, हमें ज्ञान की वाणियों को प्राप्त कराएँगे। प्रभु ही हमें संग्रामों में विजयी बनाएँगे।

ऋषिः—**अप्रतिरथः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

गाहमानः अदायः

अभि गोत्राणि सहसा गाहमानोदाय उग्रः शतमन्युरिन्द्रः।
दुश्च्यवनः पृतनाषाडयोध्यो३ऽस्माकं सेना अवतु प्र युत्सु॥ ७॥

१. **इन्द्रः**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव **गोत्राणि**=धनों को **सहसा**=अपने बल से—पुरुषार्थ से **अभिगाहमानः**=सर्वतः अवगाहन करता हुआ, उन्हें सब सुपथों से प्राप्त करता हुआ **अदायः** (देङ् रक्षणे)=अपने पास उन धनों को सुरक्षित नहीं किये रहता। यह इन्द्र धनों को कमाता है, उनमें अवगाहन करता है (rolls in wealth), परन्तु उन्हें जोड़कर अपने पास नहीं रक्खे रहता। इसी से यह **उग्रः**=तेजस्वी बनता है और **शतमन्युः**=सैकड़ों प्रज्ञानोंवाला होता है। धन के प्रति आसक्ति शक्ति व प्रज्ञान को विनष्ट करती है। २. **दुश्च्यवनः**=धर्म-मार्ग से आसानी से न हटाया जा सकनेवाला यह इन्द्र **पृतनाषाट्**=शत्रुसैन्यों का पराभव करता है। **अयोध्यः**=काम-क्रोध आदि इसे कभी युद्ध में जीत नहीं पाते। प्रभु कहते हैं कि यह इन्द्र (जितेन्द्रिय पुरुष) **प्रयुत्सु**=इन अध्यात्म-संग्रामों में **अस्माकं सेनाः अवतु**=हमारी दिव्यगुणों की सेनाओं को सुरक्षित करे। धनासक्ति के अभाव में ही दिव्यगुणों का रक्षण सम्भव है।

भावार्थ—हम कमाएँ, परन्तु उन धनों को जोड़ें नहीं। इनका यज्ञादि उत्तम कर्मों में विनियोग करते हुए अपने में दिव्यगुणों का वर्धन करें।

ऋषिः—**अप्रतिरथः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ऊपर और ऊपर

बृहस्पते परि दीया रथेन रक्षोहामित्राँ अपबाधमानः।
प्रभञ्जञ्छत्रून्प्रमृणन्नमित्रानस्माकमेध्यविता तनूनाम्॥ ८॥

१. प्रभु जीव को प्रेरणा देते हैं कि **बृहस्पते**=हे ज्ञान के स्वामिन्! तू **रथेन**=इस शरीररूप

रथ के द्वारा **परिदीया** (दी=to shine)=चमकनेवाला बन और आकाश में उड़नेवाला (दी=to sour) बन—उन्नतिपथ पर आगे बढ़। तूने उन्नत होते-होते ऊर्ध्वादिक् का अधिपति बनना है। **रक्षोहा**=राक्षसी वृत्तियों का संहार करनेवाला बन। **अमित्रान् अपबाधमानः**=न स्नेह—विद्वेष की भावनाओं को दूर करता हुआ तू चल। २. **शत्रून्**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं को **प्रभञ्जन्**=दूर भगाता हुआ **अमित्रान् प्रमृणन्**=विद्वेष की भावनाओं को कुचलता हुआ **अस्माकम्**=हमसे दिये गये इन **तनूनाम्**=शरीर-रथों का **अविता एधि**=रक्षक बन। द्वेष आदि की भावनाएँ इस शरीर-रथ को असमय में ही जीर्ण-शीर्ण न कर दें।

भावार्थ—हम द्वेष आदि से दूर रहते हुए शरीर-रथ का रक्षण करें। इसके द्वारा उन्नति-पथ पर आगे बढ़ते हुए उन्नति के शिखर पर पहुँचें। ऊर्ध्वादिक् के अधिपति बृहस्पति बनें।

ऋषिः—**अप्रतिरथः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

देवसेनाएँ

इन्द्र॑ एषां नेता बृह॒स्पति॒र्दक्षि॑णा य॒ज्ञः पु॒र ए॑तु॒ सोम॑: ।
दे॒वसे॒नाना॑मभिभञ्जती॒नां जय॑न्तीनां म॒रुतो॑ यन्तु॒ मध्ये॑ ॥ ९ ॥

१. **देवसेनानाम्**=दैवी सम्पत्ति में गिने जानेवाले दिव्यगुणों की सेनाओं के, **अभिभञ्जतीनाम्**=जो चारों ओर आसुरभावनाओं का भंग कर रही हैं और **जयन्तीनाम्**=आसुरवृत्तियों पर विजय पा रही हैं, उनके **मध्ये**=मध्य में **मरुतः**=प्राणों की साधना करनेवाले मनुष्य चलें। ये देवसेनाएँ सदा प्राणसाधना करनेवाले मनुष्यों के पीछे चला करती हैं। प्राणायामैर्दहेद् दोषान्—प्राणायाम से इन्द्रियों के दोष क्षीण हो ही जाते हैं। मानसमलों के नष्ट होने से आसुरप्रवृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं। क्रोध का स्थान करुणा ले-लेती है, काम प्रेम में परिवर्तित हो जाता है। लोभ का स्थान सन्तोष व त्याग को मिल जाता है। यही देवसेनाओं की आसुरसेनाओं पर विजय है। २. **इन्द्रः एषां नेता**=इन दिव्यगुणों का सेनापति (नेता) इन्द्र है। यह इन्द्रियों का अधिष्ठाता, इन्द्रियों को वश में करके आसुरप्रवृत्तियों को दूर भगा देता है। सब इन्द्रियों से भोगों को भोगनेवाला दशानन तो राक्षससेनाओं का मुखिया है। ३. इन देवसेनाओं के **पुरः**=आगे ये **एतु**=चलें ३. **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी। ज्ञानाग्नि ही तो कामादि को भस्म करती है। ४. **दक्षिणा**=दान की वृत्ति। यह लोभ को समाप्त करके पापों को ही नष्ट कर देती है, इसीलिए देव सदा दानशील हैं 'देवो दानात्'। ५. **यज्ञः**=यज्ञ की मौलिक भावना निःस्वार्थ कर्म हैं, इसीलिए यज्ञ में अपवित्रता का स्थान नहीं। ६. **सोमः**=सौम्यता। यह सौम्यता—नातिमनिता—देवी सम्पत्ति का चरमोत्कर्ष है। सोम का अर्थ वीर्य भी है। दिव्यगुणों के वर्धन के लिए सोम-रक्षण आवश्यक ही है।

भावार्थ—प्राणसाधना सब दिव्यगुणों का केन्द्र है। दिव्यगुणों के वर्धन के लिए इन्द्र=जितेन्द्रिय बनना आवश्यक है। इसके साथ 'ज्ञान-दान-यज्ञ-सौम्यता व सोम (वीर्य) रक्षण' दिव्यगुणों के वर्धन के लिए आवश्यक हैं।

ऋषिः—**अप्रतिरथः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

देवों के तीन महारथी

इन्द्र॑स्य॒ वृष्णो॒ वरु॑णस्य॒ राज्ञ॑ आदि॒त्याना॑ं म॒रुता॒ं शर्ध॑ उ॒ग्रम् ।
म॒हाम॑नसां भुवनच्य॒वाना॒ं घोषो॑ दे॒वाना॒ं जय॑ता॒मुद॑स्थात् ॥ १० ॥

१. **वृष्णः इन्द्रस्य**=शक्तिशाली जितेन्द्रिय पुरुष का, **राज्ञः वरुणस्य**=अति नियमित जीवनवाले वरुण का, जिसने सब बुराइयों का वारण किया है, उस वरुण का **आदित्यानां मरुताम्**=(आदानात्

आदित्यः, मरुतः प्राणम्) अपने अन्दर उत्तमता का निरन्तर ग्रहण करनेवाले प्राणसाधक मरुतों का **शर्धः**=बल **उग्रम्**=बड़ा उदात्त व तीव्र होता है। २. ये 'इन्द्र व मरुत्' देवसेनाओं के मुखिया हैं। इस **महामनसाम्**=विशाल मनवाले, **भुवनच्यवानाम्**=भुवनों का भी त्याग करनेवाले, लोकहित के लिए अधिक-से-अधिक त्याग करने के लिए उद्यत **जयताम्**=आसुरभावनाओं को पराजित करनेवाले **देवानाम्**=देवों का **घोषा**=विजयघोष **उदस्थात्**=मेरे जीवन में सदा उठे। मेरे जीवन में सदा देवों का विजय हो और असुरों का पराजय।

भावार्थ—मैं 'इन्द्र बनूँ, वरुण बनूँ, मरुत् बनूँ'। हृदय को विशाल बनाऊँ, सदा त्याग के लिए उद्यत रहूँ।

ऋषिः—**अप्रतिरथः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्** ॥

चार बातें

अ॒स्माक॒मिन्द्रः॒ समृ॑तेषु ध्व॒जेष्व॒स्माकं॒ या इष॑व॒स्ता ज॑यन्तु।
अ॒स्माकं॑ वी॒रा उत्त॑रे भवन्त्व॒स्मान्दे॑वासोऽवता॒ हवे॑षु॥ ११ ॥

१. **ध्वजेषु समृतेषु**=ध्वजाओं को ठीक प्रकार से प्राप्त कर लेने पर **अस्माकम्**=हम आस्तिक बुद्धिवालों का **इन्द्रः**=परमात्मा हो। हम उस प्रभु को ही अपना आश्रय मानकर चलें। 'ध्वजा' एक लक्ष्य का प्रतीक है और जब हम इस लक्ष्य को बना लें तब उस समय प्रभु को अपना आश्रय बनाकर अपने लक्ष्य की प्राप्ति में जुट जाएँ। यह प्रभु का आश्रय हमें निरुत्साहित न होने देगा। २. **अस्माकम्**=हम आस्तिक वृत्तिवालों की **याः**=जो **इषवः**=प्रेरणाएँ हैं, **ताः**=वे प्रभु की प्रेरणाएँ—अन्तःस्थित प्रभु से दिये जा रहे निर्देश **जयन्तु**=सदा विजयी हों। हम सदा इनके अनुसार ही काम करें। ३. **अस्माकम्**=हम आस्तिकवृत्तिवालों की **वीराः**=वीरत्व की भावनाएँ—न कि कायरता की प्रवृत्तियाँ **उत्तरे भवन्तु**=उत्कृष्ट हों—प्रबल हों। हमारे सब कार्य वीरता का परिचय दें। ४. हे **देवासः**=देवो! **अस्मान्**=हम आस्तिकों को **हवेषु**=संग्रामों में **अवता**=रक्षित करो।

भावार्थ—जीवन में लक्ष्य को ओझल न होने देते हुए हम प्रभु को अपना आश्रय समझें। प्रभु-प्रेरणाओं के अनुसार हमारा जीवन चले। हम वीरत्व की भावनावाले हों। अध्यात्मसंग्रामों में देवों की रक्षा के पात्र हों।

प्रभु-प्रेरणा के अनुसार जीवन को चलाता हुआ—लक्ष्य की ओर बढ़ता हुआ यह व्यक्ति 'अथर्वा' है—न डाँवाडोल होनेवाला। यह अथर्वा १४ से २० सूक्त तक के मन्त्रों का ऋषि है—

१४. [चतुर्दशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**द्यावापृथिव्यौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अद्वेष व अभय

इ॒दमु॒च्छ्रेयो॑ऽव॒सान॒माग॑ां शि॒वे मे॒ द्यावा॑पृथि॒वी अ॑भूताम्।
अ॒स॒प॒त्नाः प्र॒दिशो॑ मे भवन्तु॒ न वै त्वा॑ द्विष्मो॒ अभ॑यं नो अस्तु॥ १ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु-स्मरणपूर्वक निरन्तर आगे बढ़ने पर मैं **इदम्**=इस **उत् श्रेयः अवसानम्**=उत्कृष्ट कल्याण की अन्तिम स्थिति—मोक्षलोक को **आगाम्**=प्राप्त हुआ हूँ। जीवन्मुक्त की स्थिति को प्राप्त हो गया हूँ। **मे**=मेरे लिए **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **शिवे अभूताम्**=कल्याणकर हुए हैं। २. **मे**=मेरे लिए **प्रदिशः**=ये प्रकृष्ट विशाल दिशाएँ **असपत्नाः**=शत्रुरहित **भवन्तु**=हों। हे प्रभो! हम **त्वा**=आपका **वै**=निश्चय से **न द्विष्मः**=द्वेष नहीं करते। किसी

भी व्यक्ति से द्वेष वस्तुतः अन्तःस्थित आपसे ही द्वेष होता है। हम किसी भी प्राणी से द्वेष नहीं करते। हे प्रभो! इसप्रकार 'अद्वेष' की भावना को अपनाने पर **नः**=हमारे लिए **अभयम् अस्तु**=निर्भयता हो। द्वेष में ही भय है। अद्वेष के होने पर अभय होता ही है।

भावार्थ—हम जीवन्मुक्त की स्थिति को प्राप्त करें। द्यावापृथिवी हमारे लिए कल्याणकर हों। हम निर्द्वेष बनें और परिणामतः निर्भय हों।

१५. [पञ्चदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पथ्याबृहती**॥

द्वेषी व शत्रुओं का विनाश

यत॑ इन्द्र भया॑महे॒ ततो॑ नो॒ अभ॑यं कृधि।
मघ॑वञ्छ॒ग्धि तव॒ त्वं न॑ ऊ॒तिभि॒र्वि द्विषो॒ वि मृधो॑ जहि॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! हम **यतः भयामहे**=जहाँ से भी भय का अनुभव करते हैं, **ततः**=वहाँ से **नः**=हमें **अभयं कृधि**=निर्भय कीजिए। २. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **शग्धि**=आप ही शक्तिशाली हैं, आप ही हमें अभय कर सकते हैं। **त्वम्**=आप **तव ऊतिभिः**=आपके रक्षणों के द्वारा **नः**=हमारे **विद्विषः**=विद्वेष करनेवालों को तथा **मृधः**=(murder) हत्या करनेवाले शत्रुओं को **विजहि**=सुदूर विनष्ट कीजिए।

भावार्थ—प्रभु हमें अभय करें। हमारे द्वेषी शत्रुओं को सुदूर विनष्ट करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**जगती**॥

अनूराध इन्द्र का आह्वान

इन्द्रं॑ व॒यम॑नूरा॒धं ह॑वाम॒हेऽनु॑ राध्यास्म द्वि॒पदा॒ चतु॑ष्पदा।
मा नः॒ सेना॒ अर॑रुषी॒रुप॑ गु॒र्विषू॑चीरिन्द्र द्रुहो॒ वि ना॑शय॥ २॥

१. **वयम्**=हम **अनूराधम्**=अनुकूलता से सिद्धियों को प्राप्त करानेवाले **इन्द्रम्**=शत्रु-विद्रावक प्रभु को **हवामहे**=पुकारते हैं। हम इस जीवन में **द्विपदा**=दो पाँववाली अपनी वीरसन्तानों से तथा **चतुष्पदा**=चार पाँववाले गवादि पशुओं से **अनुराध्यास्म**=एक के बाद दूसरी—निरन्तर सिद्धियों को प्राप्त करें। हमारे सब कार्य अनुकूलता से सिद्ध होनेवाले हों। २. **नः**=हमें **अररुषीः**=अदान की वृत्तिवाली लोभ आदि आसुरभावों की **सेनाः**=सेनाएँ **मा उपगुः**=मत समीपता से प्राप्त हों। हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **विषूचीः**=विविध दिशाओं में गतिवाली—नानारूपों में प्रकट होनेवाली **द्रुहः**=द्रोह की भावनाओं को **विनाशय**=आप नष्ट कर दीजिए।

भावार्थ—हम द्वेष से—द्रोह की भावना से दूर रहते हुए, अदान की वृत्ति से ऊपर उठकर 'अनूराध' इन्द्र का आराधन करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**विराट्पथ्यापङ्क्तिः**॥

त्राता-वृत्रहा

इन्द्र॑स्त्रा॒तोत वृ॑त्र॒हा प॑र॒स्फानो॒ वरे॑ण्यः।
स र॑क्षि॒ता च॑र॒मतः॒ स म॑ध्य॒तः स प॒श्चात्स पु॒रस्ता॑न्नो अस्तु॥ ३॥

१. **इन्द्रः**=वह शत्रुविद्रावक, सर्वशक्तिमान् प्रभु **त्राता**=हम सबका रक्षक है—प्रभु ही हमें रोगों के आक्रमण से बचाते हैं **उत**=और प्रभु ही **वृत्रहा**=ज्ञान पर आवरण के रूप में आ जानेवाली वासनाओं को नष्ट करते हैं। इसप्रकार वे प्रभु **परस्फानः**=अत्यन्त उत्कृष्ट (पर) वृद्धि को

करनेवाले हैं (स्फायी वृद्धौ), **वरेण्यः**=अतएव वरण के योग्य हैं। २. **सः**=वे प्रभु **चरमतः**=अन्त से **रक्षिता**=हमारा रक्षण करनेवाले हैं। **सः**=वे प्रभु ही **मध्यतः**=मध्य से रक्षण करनेवाले हैं और **सः**=वे प्रभु **पश्चात्**=पीछे से व **सः**=वे प्रभु ही **पुरस्तात्**=आगे से **नः**=हमारे (रक्षिता) **अस्तु**=रक्षक हों।

भावार्थ—प्रभु अपने आराधकों को रोगों से बचाते हैं, उनकी वासनाओं का विनाश करते हैं। इसप्रकार उनका वर्धन करते हैं, अतएव वे प्रभु 'वरेण्य' हैं। वे प्रभु हमारे सर्वतः रक्षक हों।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'सुख, प्रकाश, निर्भयता व कल्याण' वाला लोक

उरुं नो लोकमनु नेषि विद्वान्त्स्व१र्यज्ज्योतिरभयं स्वस्ति।
उग्रा त इन्द्र स्थविरस्य बाहू उप क्षयेम शरणा बृहन्ता॥ ४॥

१. **विद्वान्**=ज्ञानमय प्रभु! **नः**=हमें **उरुं लोकम् अनुनेषि**=क्रमशः विशाललोक में ले-चलते हैं। हमें उत्तम प्रेरणा देते हुए विशाललोक को प्राप्त कराते हैं। **यत्**=जो लोक **स्वः**= सुखवाला है, **ज्योतिः**=प्रकाशमय है, **अभयम्**=भयरहित है तथा **स्वस्तिः**=उत्तम कल्याणमयी स्थितिवाला है। २. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **स्थविरस्य**=सनातन पुरुष **ते**=तेरी **बाहु**=भुजाएँ **उग्रा**=अतिशयेन तेजस्विनी हैं। हम इन **बृहन्ता**=विशाल व हमारी वृद्धि की कारणभूत **शरणा**= हमारा आश्रय बननेवाली भुजाओं की छत्रछाया में ही **उपक्षयेम**=निवास करें।

भावार्थ—प्रभु हमें सतत प्रेरणा देते हुए 'विशाल सुख, प्रकाश, निर्भयता व कल्याण' वाले लोक में ले-चलते हैं। हम प्रभु की भुजाओं की छाया में ही निवास करें। ये भुआएँ ही हमारी सर्वमहान् शरण हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**जगती**॥

'त्रिलोकी व चारों दिशाओं' से अभय

अभयं नः करत्यन्तरिक्षमभयं द्यावापृथिवी उभे इमे।
अभयं पश्चादभयं पुरस्तादुत्तरादधरादभयं नो अस्तु॥ ५॥

१. **नः**=हमारे लिए **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष **अभयं करति**=निर्भयता करता है। **इमे**=ये **उभे**=दोनों **द्यावापृथिवी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **अभयम्**=निर्भयता करते हैं। २. **नः**=हमारे लिए **पश्चात्**=पीछे से **अभयम्**=निर्भयता हो। **पुरस्तात्**=आगे से **अभयम्**=अभय हो तथा **उत्तरात्**=ऊपर से व **अधरात्**=नीचे से **अभयम् अस्तु**=निभर्यता हो। पश्चिम व पूर्व तथा उत्तर व दक्षिण सर्व दिशाओं से हमें अभय हो।

भावार्थ—हमें त्रिलोकी व दिक्चतुष्टय सभी निर्भयता प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'मित्र व अमित्र' सभी से अभय

अभयं मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयं नो परोक्षात्।
अभयं नक्तमभयं दिवा नः सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु॥ ६॥

१. **मित्रात् अभयम्**=मित्र से हमें अभय हो। **अमित्रात् अभयम्**=शत्रु से अभय प्राप्त हो। **ज्ञातात्**=ज्ञात—परिचित से **अभयम्**=अभय हो और **परोक्षात्**=जो परोक्ष है, उससे भी **नः**=हमें

अभयम्=अभय हो। २. **नक्तम् अभयम्**=रात्रि में अभय हो। **नः**=हमारे लिए **दिवा**=दिन में **अभयम्**=अभय हो। **सर्वाः आशाः**=सब दिशाएँ **मम**=मेरी **मित्रं भवन्तु**=मित्र हों।

भावार्थ—मित्र-अमित्र, परिचित व अपरिचित सभी से हमें अभय हो। रात व दिन में हमें सदा अभय हो। सब दिशाओं में सर्वत्र हमें स्नेह प्राप्त हो।

१६. [षोडशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

असपत्नम्—अभयम्

असपत्नं पुरस्तात्पश्चान्नो अभयं कृतम्।
सविता मा दक्षिणत उत्तरान्मा शचीपतिः॥ १॥

१. **नः**=हमारे लिए **पुरस्तात्**=सामने से **असपत्नम्**=शत्रुराहित्य **कृतम्**=किया जाए और **पश्चात्**=पीछे से (नः) हमारे लिए **अभयं कृतम्**=निर्भयता प्राप्त कराई जाए। २. **सविता**= वह सर्वप्रेरक प्रभु **मा**=मुझे **दक्षिणतः**=दक्षिण से रक्षित करे तथा **शचीपतिः**=सब शक्तियों व प्रज्ञानों का स्वामी प्रभु मुझे **उत्तरात्**=उत्तर से बचाये।

भावार्थ—हमें पूर्व से शत्रुराहित्य प्राप्त हो तो पश्चिम से निर्भयता मिले। दक्षिण से सविता मेरा रक्षक हो तो उत्तर से शचीपति मेरा रक्षण करे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**सप्तपदाबृहतीगर्भातिशक्वरी**॥

स्वाध्याय द्वारा सरल जीवन

दिवो मादित्या रक्षन्तु भूम्या रक्षन्त्वग्नयः।
इन्द्राग्नी रक्षतां मा पुरस्तादश्विनावभितः शर्म यच्छताम्।
तिरश्चीनघ्न्या रक्षतु जातवेदा भूतकृतो मे सर्वतः सन्तु वर्म॥ २॥

१. **दिवः**=इस द्युलोक के **आदित्याः**=रश्मिभेद से उदय होने से बारह नामोंवाले ये आदित्य **मा रक्षन्तु**=मुझे रक्षित करे तथा **भूम्याः**=इस पृथिवी की **अग्नयः**='गार्हपत्य, दक्षिनाग्नि, आहवनीय' आदि अग्नियाँ **रक्षन्तु**=रक्षित करें। २. **इन्द्राग्नी**=शक्ति व प्रकाश के देव **मा**=मुझे **पुरस्तात्**=आगे से **रक्षताम्**=रक्षित करें। **अश्विनौ**=प्राणापान **अभितः**=दोनों ओर से—शरीर व मन दोनों के दृष्टिकोण से **शर्म**=कल्याण **यच्छताम्**=दें। शरीर को ये नीरोग बनाएँ और मन को पवित्र। ३. **जातवेदाः**=जिससे ज्ञान की उत्पत्ति होती है वह **अघ्न्या**=अहन्तव्य—सदा स्वाध्याय के योग्य वेदवाणी **तिरश्चीन् रक्षतु**=(तिरः अञ्च्) टेढ़ी चालों को हमसे दूर रक्खे। हम स्वाध्याय के द्वारा कुटिलता से दूर होकर आर्जव के मार्ग को अपनाएँ। **भूतकृतः**=यथार्थ कर्मों के करनेवाले माता-पिता, आचार्य **सर्वतः**=सब ओर से **मे**=मेरे **वर्म सन्तु**=कवच हों। इनकी शरण में सुरक्षित हुआ-हुआ मैं बाल्य, यौवन में अपना ठीक परिपाक कर पाऊँ।

भावार्थ—द्युलोक के आदित्य व पृथिवी की अग्नियाँ मेरा रक्षण करें। बल व प्रकाश हमारे रक्षक हों। प्राणसाधना हमें स्वस्थ शरीर व निर्मल मनवाला बनाए। स्वाध्याय हमें सरलवृत्ति प्राप्त कराए तथा उत्तम माता-पिता व आचार्य कवच के समान हमारे रक्षक हों।

१७. [सप्तदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'अग्नि' वसुओं के साथ पूर्व में

अग्निर्मा पातु वसुभिः पुरस्तात्तस्मिन्क्रमे तस्मिंञ्छ्रये तां पुरं प्रैमि।
स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा॥ १॥

१. **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु—हमें निरन्तर आगे और आगे ले-चलनेवाले प्रभु **मा**=मुझे **वसुभिः**=निवास के लिए सब आवश्यक तत्त्वों के साथ **पुरस्तात्**=पूर्व दिशा की ओर से **पातु**=रक्षित करें। मैं उस प्रभु को सामने स्थित अनुभव करूँ जोकि मुझे प्रेरणा देते हुए आगे ले-चले रहे हैं और निवास के लिए आवश्यक सब तत्त्वों को प्राप्त करा रहे हैं। २. **तस्मिन् क्रमे**=उस प्रभु में स्थित होता हुआ मैं गतिशील होता हूँ। **तस्मिन् श्रये**=उसी में आश्रय करता हूँ और इसप्रकार **तां पुरं प्रैमि**=उस ब्रह्मनगरी की ओर (प्र) निरन्तर बढ़ता हूँ। **सः**=वह प्रभु **मा रक्षतु**=मुझे रोगों से बचाए। **सः**=वे प्रभु **मा**=मुझे **गोपायतु**=मन में वासनाओं के आक्रमण से सुरक्षित करे। **तस्मा**=उस प्रभु के लिए **आत्मानं परिददे**=अपने को दे डालता हूँ। **स्वाहा**=(स्व आ हा) अपने को सर्वथा उस प्रभु में त्याग देता हूँ। प्रभु में अपने को समर्पित कर देता हूँ।

भावार्थ—मैं पूर्व दिशा में उस अग्रणी प्रभु को स्थित अनुभव करूँ, जोकि मुझे निवास के लिए सब आवश्यक तत्त्वों को प्राप्त करा रहे हैं। इस प्रभु की ओर ही, कर्त्तव्यकर्मों के करने के द्वारा बढ़ चलूँ। ब्रह्मपुरी में पहुँचने को अपना लक्ष्य बनाऊँ। प्रभु के प्रति अपने को दे डालूँ। प्रभु में प्रवेश कर जाऊँ, उनकी गोद में पहुँच जाऊँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'वायु' अन्तरिक्ष के साथ पूर्व-दक्षिण के बीच की दिशा में

वायुर्मान्तरिक्षेणैतस्या दिशः पातु तस्मिन्क्रमे तस्मिंञ्छ्रये तां पुरं प्रैमि।
स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा॥ २॥

१. **वायुः**=(वा गतिगन्धनयोः) निरन्तर गति के द्वारा बुराइयों का संहार करनेवाले वे प्रभु **अन्तरिक्षेण**=हृदयान्तरिक्ष के साथ तथा (अन्तरा क्षि) सदा मध्यमार्ग में चलने की प्रेरणा के साथ **मा**=मुझे **एतस्याः**=इस पूर्व-दक्षिण के बीच की दिशा से **पातु**=रक्षित करें। २. **तस्मिन् क्रमे**=उस प्रभु में ही मैं गति करूँ। शेष पूर्ववत्०

भावार्थ—मैं पूर्व-दक्षिण के बीच की दिशा में गति के द्वारा बुराइयों का निरन्तर संहार करते हुए 'वायु' नामक प्रभु को अनुभव करूँ। उन्हीं में स्थित हुआ-हुआ गति करूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'सोम' रुद्र के साथ दक्षिण में

सोमो मा रुद्रैर्दक्षिणाया दिशः पातु तस्मिन्क्रमे तस्मिंञ्छ्रये तां पुरं प्रैमि।
स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा॥ ३॥

१. **सोमः**=ये सौम्य, शान्त प्रभु **रुद्रैः**=रोगों को दूर भगानेवाले (रुत् द्र) सब आवश्यक तत्त्वों के साथ **मा**=मुझे **दक्षिणायाः दिशः**=दक्षिण दिशा से **पातु**=रक्षित करें। २. **तस्मिन् क्रमे**=उस परमात्मा में स्थित होता हुआ मैं गतिवाला होता हूँ। शेष पूर्ववत्०।

भावार्थ—मैं दक्षिण दिशा में 'सोम' (शान्त) प्रभु की उपस्थिति को देखूँ। ये प्रभु सब

रोगनाशक तत्त्वों को प्राप्त कराके मुझे भी शान्त बनाते हैं। इन्हीं में स्थित हुआ-हुआ मैं गति करूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

आदित्यों के साथ 'वरुण' दक्षिण-पश्चिम के मध्य में

वरुणो मादित्यैरेतस्या दिशः पातु तस्मिन्क्रमे तस्मिञ्छ्रये तां पुरं प्रैमि।
स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा॥ ४॥

१. **वरुणः**=सब बुराइयों का निवारण करनेवाले श्रेष्ठ प्रभु **आदित्यैः** (आदानात्)=अच्छाइयों को ग्रहण करने की वृत्तियों के साथ **मा**=मुझे **एतस्याः दिशा**=इस दक्षिण-पश्चिम के बीच की दिशा से **पातु**=रक्षित करें। २. **तस्मिन् क्रमे**=आदित्यों के साथ होनेवाले वरुण का मैं दक्षिण-पश्चिम के मध्य में ध्यान करूँ और उसमें स्थित हुआ-हुआ कर्त्तव्यकर्मों को करूँ। शेष पूर्ववत्०

भावार्थ—मैं दक्षिण-पश्चिम के मध्य में बुराइयों का निवारण करनेवाले श्रेष्ठ प्रभु का ध्यान करूँ। वे मुझे सब अच्छाइयाँ को प्राप्त करानेवाले हैं। उन्हीं में स्थित होकर मैं गति करूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अतिजगती** ॥

द्यावापृथिवी के साथ 'सूर्य' पश्चिम में

सूर्यो मा द्यावापृथिवीभ्यां प्रतीच्या दिशः पातु तस्मिन्क्रमे तस्मिञ्छ्रये तां पुरं प्रैमि।
स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा॥ ५॥

१. (सरति इति) **सूर्यः**=निरन्तर गतिवाले दीप्त प्रभु (ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः) **द्यावापृथिवीभ्याम्**=द्युलोक व पृथिवीलोक के साथ—दीप्त मस्तिष्क (द्युलोक) व दृढ़ शरीर (पृथिवी) के साथ **प्रतीच्याः दिशः**=पश्चिम दिशा से **मा**=मुझे **पातु**=रक्षित करें। २. **तस्मिन् क्रमे**=उन्हीं में मैं गति करूँ। शेष पूर्ववत्०।

भावार्थ—पश्चिम में मैं सूर्यरूप प्रभु को उपस्थित देखूँ। वे मुझे दीप्त मस्तिष्क व दृढ़ शरीर प्राप्त कराते हैं। उन्हीं में मैं गति करूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**भुरिग्जगती** ॥

ओषधियोंवाले सर्वव्यापक 'अपः' प्रभु पश्चिम-उत्तर के बीच में

आपो मौषधीमतीरेतस्या दिशः पान्तु तासु क्रमे तासु श्रये तां पुरं प्रैमि।
ता मा रक्षन्तु ता मा गोपायन्तु ताभ्य आत्मानं परि ददे स्वाहा॥ ६॥

१. **ओषधीमतीः**=विविध ओषधि-वनस्पतियोंवाले **आपः**=सर्वव्यापक 'आपः' नामवाले प्रभु **मा**=मुझे **एतस्याः**=इस पश्चिम-उत्तर के बीच की दिशा से **पान्तु**=रक्षित करें। २. **तासु**=उन 'आपः' नामवाले प्रभु में ही मैं गति करता हूँ। शेष पूर्ववत्०।

भावार्थ—प्रभु सर्वव्यापक होने से 'आपः' हैं। ये मुझे जीवनधारण के लिए विविध ओषधि व वनस्पतियों को प्राप्त कराते हैं। मैं इन्हें इस पश्चिम-उत्तर के बीच की दिशा में अनुभव करूँ। इन्हीं में गति करूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अतिजगती** ॥

सप्तऋषियों के साथ 'विश्वकर्मा' उत्तरदिशा में

विश्वकर्मा मा सप्तऋषिभिरुदीच्या दिशः पातु तस्मिन्क्रमे तस्मिञ्छ्रये
तां पुरं प्रैमि। स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा॥ ७॥

१. **विश्वकर्मा**=इस ब्रह्माण्ड के निर्माता प्रभु—सब कर्मों के करनेवाले प्रभु **सप्तऋषिभिः**=सात ऋषियों के साथ **मा**=मुझे **उदीच्याः दिशः**=उत्तरदिशा से **पातु**=रक्षित करें। २. **तस्मिन् क्रमे**=इन विश्वकर्मा प्रभु में ही मैं गति करता हूँ। शेष पूर्ववत्०।

भावार्थ—मैं उत्तर दिशा में विश्वकर्मा प्रभु का अनुभव करूँ, जोकि दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुखरूप सात ऋषियों के साथ मेरा रक्षण कर रहे हैं। इन प्रभु में ही मेरी सम्पूर्ण गति हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**जगती**॥

प्राणों के साथ 'इन्द्र' इसी उत्तर-पूर्व के बीच की दिशा में

इन्द्रो मा मरुत्वानेतस्या दिशः पातु तस्मिन्क्रमे तस्मिञ्छ्रये तां पुरं प्रैमि।
स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा॥ ८॥

१. **मरुत्वान्**=प्राणोंवाले इन्द्रः=सर्वशक्तिमान् प्रभु **मा**=मुझे **एतस्याः दिशः**=इस उत्तर-पूर्व के बीच की दिशा से **पातु**=रक्षित करें। २. इस सर्वशक्तिमान्—सब प्राणशक्ति को देनेवाले प्रभु में ही मैं गति करता हूँ। शेष पूर्ववत्०।

भावार्थ—मैं इस उत्तर-पूर्व के बीच की दिशा में सर्वशक्तिमान् प्रभु को अपने लिए सर्वप्राणशक्ति को लिये हुए अनुभव करूँ। इनमें ही गति करूँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**पञ्चपदाऽतिशक्वरी**॥

प्रजनन शक्तिवाले 'प्रजापति' ध्रुवादिक् में

प्रजापतिर्मा प्रजननवान्त्सह प्रतिष्ठाया ध्रुवाया दिशः पातु तस्मिन्क्रमे तस्मिञ्छ्रये तां पुरं प्रैमि। स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा॥ ९॥

१. **प्रजननवान्**=सब उत्पादन-शक्तिवाले **प्रजापतिः**=प्रजापालक प्रभु **प्रतिष्ठायाः सह**=प्रतिष्ठा—गौरव के साथ **मा**=मुझे **ध्रुवायाः दिशः**=ध्रुवा दिक् से **पातु**=रक्षित करें। २. **तस्मिन् क्रमे**=इन प्रजापालक प्रभु में ही मैं गति करूँ। शेष पूर्ववत्०।

भावार्थ—मैं ध्रुवा दिक् में प्रजनन सामर्थ्यवाले प्रजापति प्रभु का अनुभव करूँ। ये प्रभु ही मुझे सब गौरव प्राप्त कराते हैं। इन्हीं में मैं गति करूँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अतिजगती**॥

सब देवों के साथ 'बृहस्पति' प्रभु ऊर्ध्वा दिक् में

बृहस्पतिर्मा विश्वैर्देवैरूर्ध्वाया दिशः पातु तस्मिन्क्रमे तस्मिञ्छ्रये तां पुरं प्रैमि।
स मा रक्षतु स मा गोपायतु तस्मा आत्मानं परि ददे स्वाहा॥ १०॥

१. **बृहस्पतिः** (ब्रह्मणस्पतिः)=सब ज्ञानों के स्वामी **विश्वैर्देवैः**=सब दिव्य गुणों के साथ **मा**=मुझे **ऊर्ध्वायाः दिशः**=ऊर्ध्वा दिक् से **पातु**=रक्षित करें। २. **तस्मिन् क्रमे**=इन बृहस्पति प्रभु में ही मैं गति करूँ। शेष पूर्ववत्०।

भावार्थ—मैं ऊर्ध्वादिक् में मेरे रक्षण के लिए सब दिव्यगुणों के साथ स्थित 'बृहस्पति' प्रभु को अनुभव करूँ। इन्हीं में मेरी सम्पूर्ण गति हो।

१८. [अष्टादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**साम्नीत्रिष्टुप्** ॥

'आगे बढ़ने की भावना' व पापवृत्तियों का निराकरण

अग्निं ते वसुवन्तमृच्छन्तु। ये माऽघायवः प्राच्या दिशोऽभिदासात्॥ १॥

१. **ये**=जो **अघायवः**=(malicious, harmful) अशुभ को चाहनेवाले हानिकर भाव **प्राच्यः दिशः**=पूर्व दिशा की ओर से **मा**=मुझे **अभिदासात्**=(दसु उपक्षये) उपक्षीण (हिंसित) करना चाहें, **ते**=वे **वसुवन्तम्**=सब वसुओंवाले—निवास के लिए आवश्यक तत्त्वोंवाले **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु को **ऋच्छन्तु**=(ऋच्छ्=reach, fail in faculties) प्राप्त होकर क्षीणशक्ति हो जाएँ। २. इस पूर्वदिशा में 'अग्नि' प्रभु वसुओं के साथ मेरा रक्षण कर रहे हैं। जो भी दास्यवभाव इधर से मुझपर आक्रमण करता है, वह इस प्रभु को प्राप्त होकर नष्ट हो जाता है। प्रभु रक्षक हैं तो ये मुझ तक पहुँच ही कैसे सकते हैं?

भावार्थ—पूर्वदिशा से कोई पाप मुझपर आक्रमण नहीं कर सकता। इधर तो 'अग्नि' नामक प्रभु मेरा रक्षण कर रहे हैं न? आगे बढ़ने की प्रवृत्ति 'अग्नि' मुझे अशुभ भावनाओं से बचाती है

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**आर्च्यनुष्टुप्** ॥

'मध्यमार्ग में चलना' व पापवृत्तियों का निराकरण

वायुं तेऽन्तरिक्षवन्तमृच्छन्तु। ये माऽघायव एतस्या दिशोऽभिदासात्॥ २॥

१. **ये**=जो **अघायवः**=अशुभ को चाहनेवाले हानिकर भाव **एतस्याः दिशः**=इस पूर्व-पश्चिम के बीच की दिशा से **मा**=मुझे **अभिदासात्**=उपक्षीण करना चाहें, **ते**=वे **अन्तरिक्षवन्तम्**=उत्तम हृदयान्तरिक्ष को प्राप्त करानेवाले **वायुम्**=निरन्तर गतिवाले प्रभु को **ऋच्छन्तु**=प्राप्त होकर नष्ट सामर्थ्य हो जाएँ। २. इस पूर्व-दक्षिण के मध्य दिग्भाग में 'वायु' नामक प्रभु, उत्तम हृदयान्तरिक्ष को लिये हुए मेरा रक्षण कर रहे हैं, जो भी अशुभ वृत्ति इधर से मुझपर आक्रमण करेगी, वह इन 'वायु' नामक प्रभु को प्राप्त होकर विनष्ट होगी। प्रभु के रक्षक होने पर यह मुझ तक पहुँचेगी ही कैसे?

भावार्थ—पूर्व-दक्षिण के मध्यवर्ती दिग्भाग से कोई अशुभवृत्ति मुझपर आक्रमण नहीं कर सकती। इधर से तो 'वायु' नामक प्रभु मेरा रक्षण कर रहे हैं। यह निरन्तर गतिशीलता (वायु) मुझे अशुभवृत्तियों का शिकार नहीं होने देगी।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**आर्च्यनुष्टुप्** ॥

सौम्यता व पापविनाश

सोमं ते रुद्रवन्तमृच्छन्तु। ये माऽघायवो दक्षिणाया दिशोऽभिदासात्॥ ३॥

१. **ये**=जो **अघायवः**=अशुभ को चाहनेवाले **मा**=मुझे **दक्षिणायाः दिशः**=दक्षिणा दिक् से **अभिदासात्**=उपक्षीण करना चाहें **ते**=वे **रुद्रवन्तम्**=(रुत् द्र) रोगों को दूर भगाने की शक्तिवाले **सोमम्**=सौम्य (शान्त) प्रभु को **ऋच्छन्तु**=प्राप्त होकर विनष्ट हो जाएँ। २. इस दक्षिण दिशा में रुद्रोंवाले 'सोम' प्रभु मेरे रक्षक हैं। सब अशुभभाव इन प्रभु को प्राप्त होकर भस्म हो जाते हैं, मुझ तक पहुँचने से पूर्व ही विनष्ट हो जाते हैं। सौम्यता मुझे पापों से बचाती है।

भावार्थ—दक्षिण दिशा से कोई अशुभवृत्ति मुझपर आक्रमण नहीं कर पाती। इधर से 'सोम' प्रभु मेरा रक्षण कर रहे हैं। सौम्यता (नम्रता) से सब पाप नष्ट हो जाते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**आर्च्यनुष्टुप्** ॥

निर्द्वेषता व निष्पापता

वरुणं त आदित्यवन्तमृच्छन्तु। ये माऽघायव एतस्या दिशोऽभिदासात्॥ ४॥

१. **ये**=जो **अघायवः**=अशुभ को चाहनेवाले पापभाव **मा**=मुझे **एतस्याः दिशः**=इस दक्षिण-पश्चिम के मध्यादि भाग से **अभिदासात्**=नष्ट करते हैं तो वे **आदित्यवन्तम्**=सब अच्छाइयों का आदान करनेवाली शुभ प्रवृत्तियों के साथ **वरुणम्**=पाप-निवारक प्रभु को **ऋच्छन्तु**=प्राप्त होकर नष्ट हो जाएँ। २. इस दक्षिण-पश्चिम के मध्यदिग्भाग से 'वरुण' प्रभु मेरा रक्षण कर रहे हैं। इधर से ये पापभाव मुझपर कैसे आक्रमण कर सकते हैं?

भावार्थ—दक्षिण-पश्चिम के मध्यदिग्भाग से कोई अशुभवृत्ति मुझपर आक्रमण नहीं कर सकती। इधर से 'वरुण' प्रभु मेरा रक्षण कर रहे हैं। वरुण—द्वेष-निवारण से सब बुराइयाँ दूर हो जाती हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**स्वराडार्च्यनुष्टुप्** ॥

सूर्यसम ज्ञानज्योति में पापान्धकारविलय

सूर्यं ते द्यावापृथिवीवन्तमृच्छन्तु। ये माऽघायवः प्रतीच्या दिशोऽभिदासात्॥ ५॥

१. **ये**=जो **अघायवः**=अशुभ को चाहनेवाले पापभाव **मा**=मुझे **प्रतीच्याः दिशः**=पश्चिम दिशा से **अभिदासात्**=उपक्षीण करना चाहते हैं, **ते**=वे **द्यावापृथिवीवन्तम्**=उत्तम मस्तिष्करूप द्युलोक को तथा दृढ़ शरीररूप पृथिवीलोक को प्राप्त करानेवाले **सूर्यम्**=सूर्यसम ज्योतिवाले ब्रह्म को **ऋच्छन्तु**=प्राप्त होकर नष्ट हो जाएँ। २. इस पश्चिम दिशा से 'सूर्य' नामक प्रभु मेरा रक्षण कर रहे हैं। इधर से आनेवाले पापभाव सूर्य तक पहुँचते ही उस सूर्यसम दीप्त ज्ञानाग्नि में दग्ध हो जाते हैं। मुझतक नहीं पहुँच पाते।

भावार्थ—पश्चिम दिशा से कोई पापभाव मुझपर आक्रमण नहीं कर सकता। इधर से 'सूर्य' नामक प्रभु मेरा रक्षण कर रहे हैं। सूर्य के समान ज्ञानज्योति को दीप्त करने से सब पाप उसमें भस्म हो जाते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**आर्च्यनुष्टुप्** ॥

वानस्पतिक भोजन व पापवृत्तिक्षय

अपस्त ओषधीमतीर्ऋच्छन्तु। ये माऽघायव एतस्या दिशोऽभिदासात्॥ ६॥

१. **ये**=जो **अघायवः**=अशुभ को चाहनेवाले पापभाव **मा**=मुझे **एतस्याः दिशः**=इस पश्चिम व उत्तर के बीच की दिशा से **अभिदासात्**=क्षीण करना चाहते हैं, **ते**=वे पापभाव **ओषधीमतीः**=प्रशस्त ओषधियोंवाले **अपः**=सर्वव्यापक प्रभु को **ऋच्छन्तु**=प्राप्त होकर नष्ट हो जाएँ। २. प्रभु-प्रदत्त ओषधि-वनस्पतिरूप सात्त्विक भोजन करते हुए हम पापवृत्तियों से दूर रहें। इन भोजनों के होने पर पापवृत्तियों का उद्भव ही नहीं होता।

भावार्थ—पश्चिमोत्तरमध्यदिग्भाग से कोई पापभाव मुझपर आक्रमण नहीं कर सकता, इधर से प्रशस्त ओषधि-वनस्पतियों को लिये हुए व्यापक प्रभु मेरा रक्षण कर रहे हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**प्राजापत्यात्रिष्टुप् (सर्वाद्विपदाः)** ॥

सप्त ऋषियों का प्राशस्त्य व पाप का अभाव

विश्वकर्माणं ते सप्तऋषिवन्तमृच्छन्तु। ये माऽघायव उदीच्या दिशोऽभिदासात्॥ ७॥

१. **ये**=जो **अघायवः**=अशुभ को चाहनेवाले पापभाव **मा**=मुझे **उदीच्याः दिशः**=उत्तर दिशा

से **अभिदासात्**=उपक्षीण करते हैं, **ते**=वे **सप्तऋषिवन्तम्**=प्रशस्त सात ऋषियोंवाले—उत्तम कर्णों, नासिका-छिद्रों, आँखों व मुखवाले **विश्वकर्माणम्**=ब्रह्माण्ड के कर्त्ता प्रभु को **ऋच्छन्तु**=प्राप्त होकर नष्ट हो जाएँ। २. इस उत्तरदिशा से प्रशस्त कर्ण आदि इन्द्रियों को प्राप्त करानेवाले विश्वकर्मा प्रभु मेरा रक्षण कर रहे हैं, इधर से पापभाव मुझतक पहुँच ही कैसे सकते हैं?

भावार्थ—मैं उत्तर दिशा में उस विश्वकर्मा प्रभु का ध्यान करता हुआ क्रियाशील बनूँ। प्रशस्त इन्द्रियोंवाला बनकर पापों से आक्रान्त न होऊँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**साम्नीत्रिष्टुप्**॥

प्राणाग्नि में पापदहन

इन्द्रं ते मरुत्वन्तमृच्छन्तु। ये माऽघायव एतस्या दिशो ऽभिदासात्॥ ८॥

१. **ये**=जो **अघायवः**=मेरे अशुभ की कामनावाले पापभाव **मा**=मुझे **एतस्याः दिशः**=इस उत्तर-पूर्व के बीच की दिशा से **अभिदासात्**=क्षीण करते हैं, **ते**=वे **मरुत्वन्तम्**=प्रशस्त प्राणोंवाले **इन्द्रम्**=शत्रु-विद्रावक शक्तिशाली प्रभु को **ऋच्छन्तु**=प्राप्त होकर नष्ट हो जाएँ। २. इस दिशा से 'इन्द्र' मेरा रक्षण कर रहे हैं। वे मुझे शत्रु-विनाश के लिए इन प्रशस्त प्राणों को प्राप्त कराते हैं। इस प्राणसाधना के होने पर इन सब पापमय भावनाओं का दहन हो जाता है। 'प्राणायामैर्दहेद्दोषान्'।

भावार्थ—मैं प्रभु-प्रदत्त प्राणों की साधना करता हुआ पापों को दग्ध करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**प्राजापत्यात्रिष्टुप् (सर्वाद्विपदाः)**॥

प्रशस्त प्रजनन व पाप-निराकरण

प्रजापतिं ते प्रजननवन्तमृच्छन्तु। ये माऽघायवो ध्रुवाया दिशो ऽभिदासात्॥ ९॥

१. **ये**=जो **अघायवः**=पाप की कामनावाले अशुभ विचार **मा**=मुझे **ध्रुवायाः**=इस ध्रुवादिक् से (अधः प्रदेश से) **अभिदासात्**=क्षीण करना चाहते हैं, **ते**=वे **प्रजननवन्तम्**=प्रशस्त प्रजननवाले **प्रजापतिम्**=प्रजापति को **ऋच्छन्तु**=प्राप्त होकर नष्ट हो जाएँ। २. ध्रुवादिक् से मैं प्रजापति प्रभु को अपना रक्षण करता हुआ जानूँ। ये प्रभु मुझे गृहस्थ में पवित्र सन्तान के निर्माण की प्रेरणा देते हुए पापों से बचाएँ।

भावार्थ—ध्रुवादिक् से प्रजापति प्रभु मेरा रक्षण करते हैं। ये प्रभु मुझे उत्कृष्ट प्रजनन की प्रेरणा कराते हुए आसक्ति में नहीं फँसने देते और इसप्रकार मुझे पापों से दूर रखते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**प्राजापत्यात्रिष्टुप् (सर्वाद्विपदाः)**॥

ज्ञान व निष्पापता

बृहस्पतिं ते विश्वदेववन्तमृच्छन्तु। ये माऽघायव ऊर्ध्वाया दिशो ऽभिदासात्॥ १०॥

१. **ये**=जो **अघायवः**=अशुभ चाहनेवाली पापवृत्तियाँ **मा**=मुझे **ऊर्ध्वायाः दिशः**=ऊर्ध्वा दिक् से **अभिदासात्**=उपक्षीण करती हैं, **ते**=वे **विश्वदेववन्तम्**=सब प्रशस्त दिव्यगुणों को प्राप्त करानेवाले **बृहस्पतिम्**=ज्ञान के स्वामी प्रभु को **ऋच्छन्तु**=प्राप्त होकर नष्ट हो जाएँ। २. इस ऊर्ध्वादिक् की ओर से 'बृहस्पति' प्रभु मेरा रक्षण कर रहे हैं—वे मुझे सब दिव्यगुणों को प्राप्त कराते हैं। ऐसी स्थिति में वे पापप्रवृत्तियाँ मेरे समीप फटक ही नहीं पातीं।

भावार्थ—मैं ज्ञान की रुचिवाला बनूँ और इसप्रकार सब व्यसनों से अपने को बचा पाऊँ।

१९. [एकोनविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती**॥

स्नेह व स्वास्थ्य

मि॒त्रः पृ॑थि॒व्योद॑क्राम॒त्तां पुरं॒ प्र ण॑यामि वः।
तामा वि॑शत॒ तां प्र वि॑शत॒ सा व॒: शर्म॑ च॒ वर्म॑ च यच्छतु॥ १॥

१. **मित्रः**=सबके साथ स्नेह करनेवाला **पृथिव्या**=इस शरीररूप पृथिवी के दृष्टिकोण से **उदक्रामत्**=उन्नत होता है। २. प्रभु कहते हैं कि **वः**=तुम्हें, स्नेह की वृत्ति को अपनाकर स्वस्थ शरीर बननेवालों को **तां पुरम्**=उस सुदूर ब्रह्मपुरी में **प्रणयामि**=ले-चलता हूँ। **ताम् आविशत**=उस ब्रह्मपुरी में प्रवेश करो, **तां प्रविशत**=उसमें सम्यक् प्रवेश करो **च**=और **सा**=वह ब्रह्मपुरी **वः**=तुम्हारे लिए **शर्म**=सुख को **वर्म च**=और वासनाओं के आक्रमण से बचानेवाले कवच को **यच्छतु**=दे।

भावार्थ—स्नेह की वृत्ति को अपनाकर हम स्वस्थ बनें। तभी हम ब्रह्मपुरी की ओर चलने के अधिकारी होंगे। यह ब्रह्मपुरी की ओर चलना हमें आनन्दित करे और वासनाओं के आक्रमण से बचानेवाला कवच बने।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुब्गर्भापङ्क्तिः**॥

क्रियाशीलता व हृदय की पवित्रता

वा॒युर॒न्तरि॑क्षेणोद॑क्राम॒त्तां पुरं॒ प्र ण॑यामि वः।
तामा वि॑शत॒ तां प्र वि॑शत॒ सा व॒: शर्म॑ च॒ वर्म॑ च यच्छतु॥ २॥

१. **वायुः**=(वा गतौ गन्धने च) गति के द्वारा सब बुराइयों का संहार करनेवाला **अन्तरिक्षेण**=हृदयान्तरिक्ष के दृष्टिकोण से **उदक्रामत्**=उन्नत होता है। हृदय में कर्मसंकल्प होने पर हृदय पवित्र बना रहता है। २. **वः**=क्रियाशीलता के द्वारा हृदय को पवित्र रखनेवाले तुम्हें **तां पुरम्**=उस ब्रह्मपुरी की ओर **प्रणयामि**=ले-चलता हूँ। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—हम क्रियाशीलता के द्वारा पवित्र हृदय बनें। ये ही ब्रह्मपुरी के यात्री बन पाते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**भुरिग्बृहती**॥

निरन्तर गतिशीलता व प्रकाश

सूर्यो॑ दि॒वोद॑क्राम॒त्तां पुरं॒ प्र ण॑यामि वः।
तामा वि॑शत॒ तां प्र वि॑शत॒ सा व॒: शर्म॑ च॒ वर्म॑ च यच्छतु॥ ३॥

१. **सूर्यः**=(सरति) निरन्तर अपने मार्ग पर आगे बढ़नेवाला पुरुष **दिव**=ज्ञान के प्रकाश से **उदक्रामत्**=उन्नत होता है। २. निरन्तर श्रम द्वारा ज्ञान को प्राप्त करनेवाले तुम्हें (वः) मैं ब्रह्मपुरी की ओर ले-चलता हूँ। शेष पूर्ववत्०।

भावार्थ—हम निरन्तर श्रम द्वारा अत्यधिक ज्ञान प्राप्त करें। यही मार्ग है ब्रह्म को प्राप्त करने का।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुब्गर्भापङ्क्तिः** ॥

प्रसन्नचित्तता तथा विज्ञान-नक्षत्रोदय

चन्द्रमा नक्षत्रैरुदक्रामत्तां पुरं प्र णयामि वः।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु॥ ४॥

१. **चन्द्रमाः**=(चदि आह्लादे) आह्लादमय मनोवृत्तिवाला साधक **नक्षत्रैः**=विज्ञान के नक्षत्रों के साथ **उदक्रामत्**=उन्नत होता है। २. हम प्रसन्नचित्त होकर जब विज्ञान के अध्ययन से एक-एक पिण्ड में प्रभु की महिमा को देखते हैं तब प्रभु कहते हैं कि **वः**=तुम्हें उस ब्रह्मपुरी की ओर ले-चलता हूँ। शेष पूर्ववत्०।

भावार्थ—हम आह्लादमय मनोवृत्तिवाले बनकर विज्ञान के नक्षत्रों को अपने मस्तिष्क गगन में उदित करें, तभी हम ब्रह्मपुरी की ओर चलने के अधिकारी होंगे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुब्गर्भापङ्क्तिः** ॥

वानस्पतिक भोजन व सौम्यता

सोम ओषधीभिरुदक्रामत्तां पुरं प्र णयामि वः।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु॥ ५॥

१. एक **सोमः**=सौम्य स्वभाव का शान्त पुरुष **ओषधीभिः**=ओषधियों से **उदक्रामत्**=उन्नत होता है। वानस्पतिक भोजन इसकी वृत्ति को सौम्य व अक्रूर बनाता है। २. इन वानस्पतिक भोजनों से सौम्य वृत्तिवाले तुम लोगों को उस ब्रह्मनगरी की ओर ले-चलता हूँ। शेष पूर्ववत्०।

भावार्थ—हम ओषधि-वनस्पतियों को ही अपना भोजन बनाकर सौम्य स्वभाव के बनें। यह सौम्यता ही हमें ब्रह्म की ओर ले-चलती है। मांस-भोजन हमें क्रूर बनाता है और प्रभु से दूर करनेवाला होता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुब्गर्भापङ्क्तिः** ॥

यज्ञ व दानवृत्ति

यज्ञो दक्षिणाभिरुदक्रामत्तां पुरं प्र णयामि वः।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु॥ ६॥

१. **यज्ञः**=यह 'देवपूजा, संगतिकरण व दान' की वृत्तिवाला पुरुष **दक्षिणाभिः**=दानों के द्वारा **उदक्रामत्**=उन्नत होता है। २. इस यज्ञशील, दान की वृत्तिवाले पुरुष को उस ब्रह्मपुरी की ओर ले-चलता हूँ। शेष पूर्ववत्०।

भावार्थ—यज्ञमय जीवनवाले बनकर धन को लोकहित के कार्यों के लिए दान करते हुए हम ब्रह्मपुरी को प्राप्त करने के अधिकारी होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुब्गर्भापङ्क्तिः** ॥

नदियों के साथ समुद्र

समुद्रो नदीभिरुदक्रामत्तां पुरं प्र णयामि वः।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु॥ ७॥

१. **स-मुद्रः**=सदा आनन्दमयी मनोवृत्तिवाला यह पुरुष **नदीभिः**=ज्ञानजल की नदियों के साथ **उदक्रामत्**=उन्नत होता है। जैसे नदियाँ समुद्र में प्रवेश करती हैं, इसीप्रकार हम भी वह समुद्र बनें, जिसमें कि ज्ञानजलपूर्ण नदियों का प्रवेश हो। इसप्रकार ज्ञान की रुचिवाले सतत

स्वाध्यायशील पुरुष को मैं उस ब्रह्मपुरी में ले-चलता हूँ। शेष पूर्ववत्०।

भावार्थ—हमारा जीवन ज्ञान-जल की नदियों का प्रवेशस्थान समुद्र बने, तभी हम ब्रह्मपुरी में प्रवेश के अधिकारी बन पाएँगे।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुब्गर्भापङ्क्तिः** ॥

ब्रह्मचारियों के साथ ज्ञानी आचार्य (ब्रह्म)

ब्रह्म ब्रह्मचारिभिरुदक्रामत्तां पुरं णयामि वः।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु॥ ८॥

१. **ब्रह्मचारिभिः**=ब्रह्मचारियों के साथ **ब्रह्म**=ज्ञानमय जीवनवाला आचार्य **उदक्रामत्**=उन्नत होता है। ज्ञान का पुञ्ज बना हुआ आचार्य स्वयं ब्रह्मचर्य को धारण करता हुआ ब्रह्मचारियों के साथ उन्नति-पथ पर आगे बढ़ता है। २. इन आचार्यों को मैं ब्रह्मपुरी की ओर ले-चलता हूँ। शेष पूर्ववत्०।

भावार्थ—एक ज्ञानी आचार्य ब्रह्मचारियों को उन्नति-पथ पर ले-चलता हुआ स्वयं उन्नत होता है और ब्रह्मपुरी की प्राप्ति का पात्र बनता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुब्गर्भापङ्क्तिः** ॥

वीर्यशक्ति-सम्पन्न जितेन्द्रिय पुरुष (जितेन्द्रियता, वीर्यरक्षा)

इन्द्रो वीर्ये३णोदक्रामत्तां पुरं प्र णयामि वः।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु॥ ९॥

१. **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष, जितेन्द्रियता के द्वारा वीर्यरक्षण करता हुआ, **वीर्येण**=इस सुरक्षित वीर्य से **उदक्रामत्**=उन्नत होता है। २. इन वीर्यरक्षक, जितेन्द्रिय पुरुषों को मैं ब्रह्मनगरी में प्राप्त कराता हूँ। शेष पूर्ववत्०।

भावार्थ—एक जितेन्द्रिय पुरुष वीर्यरक्षण के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति का पात्र बनता है। सुरक्षित वीर्य से इसकी बुद्धि दीप्त होती है। इस दीप्त बुद्धि से यह प्रभु-दर्शन करता है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**स्वराट्पङ्क्तिः** ॥

देवों का अमृतभक्षण

देवा अमृतेनोदक्रामंस्तां पुरं प्र णयामि वः।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु॥ १०॥

१. **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **अमृतेन**=(यज्ञशेषं तथामृतम्-कोश) यज्ञशेष के सेवन के द्वारा **उदक्रामत्**=उन्नत होते हैं। २. इन यज्ञशेष का सेवन करनेवाले देववृत्ति के पुरुषों को मैं बह्मपुरी की ओर ले-चलता हूँ। शेष पूर्ववत्०

भावार्थ—हम जीवन में देववृत्ति के बनें और सदा यज्ञशेष का सेवन करें। यही ब्रह्मप्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुब्गर्भापङ्क्तिः** ॥

प्रजाओं के साथ प्रजापति

प्रजापतिः प्रजाभिरुदक्रामत्तां पुरं प्र णयामि वः।
तामा विशत तां प्र विशत सा वः शर्म च वर्म च यच्छतु॥ ११॥

१. **प्रजापतिः**=प्रजाओं का रक्षक राजा अथवा सन्तानों का पालक एक सद्गृहस्थ **प्रजाभिः**=

प्रजाओं के साथ **उदक्रामत्**=उन्नत होता है। राजा का कर्त्तव्य यही है कि प्रजा का रक्षण करे। एक सद्गृहस्थ सन्तानों को उत्तम बनाने के लिए यत्नशील हो। २. ऐसा होने पर ही तुम्हें मैं ब्रह्मपुरी को प्राप्त कराता हूँ। शेष पूर्ववत्०।

भावार्थ—हम राजा हों तो प्रजाओं का रक्षण करें। एक सद्गृहस्थ बनकर सन्तानों का उत्तमतया पालन करें। यही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है।

२०. [विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पौरुषेय वध से परित्राण

अप न्यधुः पौरुषेयं वधं यमिन्द्राग्नी धाता सविता बृहस्पतिः।
सोमो राजा वरुणो अश्विना यमः पूषास्मान्परि पातु मृत्योः॥ १॥

१. **यम्**=जिस **पौरुषेयम्**=पुरुष-सम्बन्धी **वधम्**=घातक अस्त्र को **अपन्यधुः**=शत्रुगण छिपाकर रखते हैं। शरीर में रोगकृमिरूप हमारे सपत्न हमारे शरीरों में घातक तत्त्वों को विविध अंग-प्रत्यंगों में छिपाकर स्थापित करनेवाले होते हैं। इन्हीं के कारण हमारी असमय में मृत्यु हो जाती है। **इन्द्राग्नी**=बल व प्रकाश के तत्त्व उस **मृत्योः**=मृत्यु से **अस्मान्**=हमें **परिपातु**=बचाएँ। इन्द्र व अग्नितत्त्व का (बल व प्रकाश) का समन्वय होने पर हम रोगरूप वधों से मारे नहीं जाते। २. **धाता**=धारण करनेवाला, **सविता**=उत्पादक, **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी, **सोमः**=सौम्य व सोमशक्ति का पुञ्ज, **राजा**=शासक—व्यावस्थापक, **वरुणः**=सब पापों का निवारण करनेवाला, **अश्विना**=प्राणापानशक्ति का अधिष्ठाता, **यमः**=सर्वनियन्ता **पूषा**=पोषक प्रभु हमें मृत्यु से बचाए। प्रभु के ये सब नाम हमें प्रेरणा देते हैं कि हम भी धारणात्मक कार्यों में प्रवृत्त हों, निर्माण में लगें, ज्ञानी बनें, सौम्य हों, जीवन को व्यवस्थित रक्खें, निर्द्वेष बनें, प्राणापान की साधनावाले हों, मन का नियमन करें और शक्तियों का उचित पोषण करें। यही मृत्यु से बचने का मार्ग है।

भावार्थ—मृत्यु से बचने का मार्ग यही है कि हम अपने जीवन में शक्ति व प्रकाश का समन्वय करें। 'धाता' इत्यादि नामों से प्रेरणा लेकर जीवनों को वैसा ही बनाएँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

प्रभु-प्रदत्त कवच

यानि चकार भुवनस्य यस्पतिः प्रजापतिर्मातरिश्वा प्रजाभ्यः।
प्रदिशो यानि वसते दिशश्च तानि मे वर्माणि बहुलानि सन्तु॥ २॥

१. **यानि**=जिन रक्षासाधनों को **प्रजाभ्यः**=प्रजाओं के लिए **प्रजापतिः चकार**=प्रजारक्षक प्रभु ने बनाया है, उस प्रभु ने **यः**=जोकि **भुवनस्य पतिः**=सारे ब्रह्माण्ड का स्वामी है तथा **मातरिश्वा**=मातृरूप प्रकृति में गति देनेवाला है (श्वि गतौ) २. जिन रक्षासाधनों को **दिशः प्रदिशः च**=दिशाएँ और फैली हुई अवान्तर दिशाएँ **वसते**=धारण करती हैं, **तानि**=वे सब **बहुलानि**=बहुत-से रक्षासाधन मेरे लिए **वर्माणि**=कवच के रूप में **सन्तु**=हों।

भावार्थ—प्रभु ने प्रकृति के सब देवों को हमारे रक्षण के लिए ही उस-उस स्थान में स्थापित किया है। ये सब रक्षा के साधन मेरे लिए कवच का काम दें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'देही देवों' से दत्त कवच

यत्ते तनूष्वनह्यन्त देवा द्युराजयो देहिनः।
इन्द्रो यच्चक्रे वर्म तदस्मान्पातु विश्वतः॥ ३॥

१. प्रभु महादेव हैं। उत्तम 'माता, पिता व आचार्य' देहधारी देव हैं। माता बालक को 'चरित्र' का कवच धारण कराती है, पिता 'शिष्टाचार' का तथा आचार्य 'ज्ञान' का। **यत्**=जिस **वर्म**= कवच को **ते**=तेरे **तनूषु**=शरीरों पर (स्थूल, सूक्ष्म, कारणनामक शरीरों पर) **द्युराजयः**=ज्ञान से दीप्त होनेवाले **देहिनः**=शरीरधारी **देवाः**=देव—माता, पिता तथा आचार्य **अनह्यन्त**=बाँधते हैं। **तत्**=वह 'चरित्र, शिष्टाचार व ज्ञान' का कवच **अस्मान्**=हमें **विश्वतः**=सब ओर से **पातु**= रक्षित करे। २. इन कवचों के अतिरिक्त **यत् वर्म**=जिस कवच को **इन्द्रः**=सर्वशक्तिमान् परमैश्वर्यशाली प्रभु ने **चक्रे**=बनाया है। प्रभु ने शरीर में सोमशक्ति को स्थापित किया है। यह 'सोम' रोगों को रोकने के लिए सर्वोत्तम कवच है। यह सोम का कवच ही हमें सब ओर से सुरक्षित करे।

भावार्थ—सुशिक्षित माता 'चरित्र' के कवच को धारण कराती है, कुशल पिता 'शिष्टाचार' के कवच को धारण कराता है, आचार्य 'ज्ञान' के कवच को। प्रभु ने हमें 'सोमशक्ति' का कवच पहनाया है। ये कवच हमारा रक्षण करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

मा मा प्रापत् प्रतीचिका

वर्म मे द्यावापृथिवी वर्माहर्वर्म सूर्यः।
वर्म मे विश्वेदेवाः क्रन्मा मा प्रापत्प्रतीचिका॥ ४॥

१. **मे**=मेरे लिए **द्यावापृथिवी**=द्युलोक और पृथिवीलोक **वर्म**=कवच का काम करें। **अहः**= दिन मेरे लिए **वर्म**=कवच हो। **सूर्यः**=सूर्य **वर्म**=कवच बने। २. **विश्वेदेवाः**='माता, पिता, आचार्य' आदि सब देव **मे**=मेरे लिए **वर्म क्रन्**=कवच बनें, जिससे **मा**=मुझे **प्रतीचिका**=मेरे विरुद्ध आनेवाली आसुरसेना—आसुरी वृत्तियों की सेना **मा प्रापत्**=मत प्राप्त हो। 'द्युलोक, पृथिवीलोक, दिन व सूर्य' आदि की अनुकूलता (रक्षण) मुझे रोगों से बचाएँ। माता आदि का उत्तम शिक्षण वासनाओं से।

भावार्थ—सारा संसार (सब प्राकृतिक देव) मेरा रक्षण करें, जिससे मैं स्वस्थ शरीर रहूँ। माता, पिता व आचार्य आदि सबका रक्षण मुझे वासनामय जीवनवाला न बनने दे।

यह नीरोग व निर्वासन पुरुष उन्नत होता हुआ अन्ततः 'ब्रह्मा' बनता है। 'ब्रह्मा' ही अगले सूक्त का ऋषि है—

२१. [एकविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**छन्दाँसि**॥ छन्दः—**द्विपदासाम्नीबृहती (एकावसाना)**॥

सप्त छन्दोमय जीवन

गायत्र्यु१ष्णिगनुष्टुब्बृहती पङ्क्तिस्त्रिष्टुब्जगत्यै॥ १॥

१. हम अपने प्रथमाश्रम में '**गायत्री**' छन्द को अपना आच्छादन बनाएँ। 'गयाः प्राणाः तान् तत्रे' प्राणों का रक्षण करनेवाली यह गायत्री है। प्रथमाश्रम का ध्येय 'प्राणशक्ति का रक्षण' ही है। ब्रह्मचारी वीर्यरक्षण द्वारा प्राणशक्ति में कमी नहीं आने देता। २. गृहस्थ में ध्येय '**उष्णिक्**'

छन्द है। 'उत् स्निह्यति'—यह गृहस्थ उत्कृष्ट स्नेहवाला होता है। इसका स्नेह वासनामय होकर राग में परिवर्तित नहीं हो जाता। वही गृहस्थ श्रेष्ठ है जोकि आसक्ति से बचा रहता है। इसी उद्देश्य से यह **'अनुष्टुप्'** एक दिन के बाद दूसरे दिन, अर्थात् सदा (स्तोभ worship) प्रभु का स्तवन करता है। ३. अब वानप्रस्थ बनने पर यह गृहस्थ की संकुचित हृदयता से ऊपर उठने के लिए 'बृहती' छन्द का ध्यान करता है और हृदय को बृहत् (विशाल) बनाता है। **पङ्क्तिः**=पाँचों यज्ञों का विस्तार करता हुआ (पचि विस्तारे) यह 'पाँचों कर्मेन्द्रियों, पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों प्राणों तथा 'मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, हृदय' इस अन्तःकरण पंचक' का विकास करता है और **त्रिष्टुप्**=(स्तोभते to stop) 'काम, क्रोध व लोभ' इन तीनों का निरोध करता है। ४. काम, क्रोध, लोभ के निरोध के साथ विजयपूर्ण हो जाती है। अब इस विजेता का जीवन अपने लिए न रहकर **जगत्यै**=जगती के लिए हो जाता है। इसे अपने लिए अब कुछ नहीं करना। यह 'प्राजापत्य यज्ञ' में अपनी आहुति दे देता है। आज इस उन्नति के चरमोत्कर्ष पर पहुँचकर यह 'ब्रह्मा' हो गया है।

भावार्थ—ब्रह्मचर्याश्रम में 'गायत्री' हमारा आच्छादन हो। गृहस्थ में 'उष्णिक् और अनुष्टुप्'। वानप्रस्थ में हमारे आच्छादन 'बृहती, पङ्क्ति व त्रिष्टुप्' हों तथा संन्यास में हम 'जगती' के लिए हो जाएँ। हम अपने लिए न जी रहें हों।

यह व्यक्ति अंग-प्रत्यंग में रसवाला बना रहने से 'अङ्गिराः' है (अंग-रस)। अगले सूक्त का ऋषि 'अङ्गिराः' ही है—

२२. [द्वाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अङ्गिराः**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**१ साम्नुष्णिक्, २ दैवीपङ्क्तिः, ३ प्राजापत्यागायत्री**॥

योगाङ्गों का अभ्यास

आ॒ङ्गि॒र॒सा॒नामा॒द्यैः पञ्चा॑नुवा॒कैः स्वाहा॑॥ १॥
ष॒ष्ठाय॒ स्वाहा॑॥ २॥ स॒प्त॒मा॒ष्ट॒माभ्यां॒ स्वाहा॑॥ ३॥

१. 'अङ्गिरस' वे व्यक्ति हैं जो गतिशील जीवनवाले होते हुए, ज्ञानप्रधान जीवन बिताते हुए (अगि गतौ) अंग-प्रत्यंग को रसमय बनाये रखते हैं—इनकी लोच-लाचक में कमी नहीं आने देते। इन **आङ्गिरसानाम्**=आंगिरसों के **आद्यैः**=प्रथम—प्रारम्भ में होनेवाले **पञ्च अनुवाकैः**= पाँच बातों के साथ सम्बद्ध जपों के हेतु से—'मैं 'यम-नियम' का पालन करूँगा, मैं 'आसन, प्राणायाम' को अपनाऊँगा और इसप्रकार 'प्रत्याहार'-वाला—इन्द्रियों को विषयों से वापस लानेवाला बनूँगा' इन प्रतिदिन दुहराये जानेवाले विचारों के हेतु से **स्वाहा**=उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता हूँ। प्रभु ही मुझे इन विचारों को स्थूल रूप देने में समर्थ करेंगे। प्रभु-कृपा से ही ये विचार मेरे जीवन में आचार के रूप में परिवर्तित होंगे। २. अब मैं **षष्ठाय**=प्रत्याहार के बाद धारणारूप योग के छठे अंग के लिए प्रभु के प्रति **स्वाहा**=अपना अर्पण करता हूँ। इन्द्रियों को अन्दर ही बाँधने का प्रयत्न करता हूँ। ३. धारणा के बाद **सप्तम् अष्टमाभ्याम्**=सातवें व आठवें—ध्यान व समाधिरूप—योगांगों के लिए **स्वाहा**=आपके प्रति अपने को अर्पित करता हूँ। आपने ही मुझे इन योगांगों में गतिवाला करना है।

भावार्थ—हम योग के प्रथम पाँच अंगों को क्रियान्वित करने के लिए उन्हीं का जप व विचार करें—हमें उनका विस्मरण न हो। अब प्रत्याहार के बाद 'धारणा' के लिए यत्नशील

हों। धारणा के बाद 'ध्यान व समाधि' को अपना पाएँ। इन सबके लिए मैं प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता हूँ।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—४, ७ **दैवीजगती**, ५ **दैवीत्रिष्टुप्**, ६ **दैवीपङ्क्तिः** ॥

योगी का जीवन

नीलनखेभ्यः स्वाहा॥ ४॥ **हरितेभ्यः स्वाहा॥ ५॥**
क्षुद्रेभ्यः स्वाहा॥ ६॥ **पर्यायिकेभ्यः स्वाहा॥ ७॥**

१. योगांगों का अभ्यास करनेवाले ये व्यक्ति **नील**=कृष्णा=निर्लेप (नीरंग—जिनपर दुनिया का रंग नहीं चढ़ गया) बनते हैं तथा उन्नति के शिखर पर पहुँचते हैं, इनके जीवन में **न-ख**=छिद्र (दोष) नहीं रहते। इन **नीलनखेभ्यः**=निर्लेप, निश्छिद्र जीवनवाले पुरुषों के लिए हम (सु आह) **स्वाहा**=शुभ शब्दों का उच्चारण करते हैं। अपने जीवनों को भी उन-जैसा बनाने का प्रयत्न करते हैं। २. इन **हरितेभ्यः**=इन्द्रियों का विषयों से प्रत्याहार करनेवालों के लिए **स्वाहा**=हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं और इन-जैसा बनने के लिए यत्नशील होते हैं। ३. **क्षुद्रेभ्यः** (क्षुदिर् संपेषणे)=शत्रुओं का संपेषण कर डालनेवाले इन व्यक्तियों के लिए हम **स्वाहा**=(स्व हा) अपना अर्पण करते हैं। उनके शिष्य बनकर उन-जैसा बनने के लिए यत्न करते हैं। ४. **पर्यायिकेभ्यः**= (पर्याय=regular order) इन व्यवस्थित जीवनवालों के लिए **स्वाहा**=प्रशंसात्मक शब्द कहते हुए हम भी उनके जीवनों को अपना जीवन बनाते हैं। उनकी भाँति ही जीवन की प्रत्येक क्रिया को व्यवस्थित करते हैं।

भावार्थ—योगांगों के अभ्यास से हम निर्लेप व निश्छिद्र जीवनवाले हों। इन्द्रियों का विषयों से प्रत्याहार करें। काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रुओं का संपेषण कर डालें। हमारे जीवन की प्रत्येक क्रिया व्यवस्थित (regular order में) हो।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—८-१० **आसुरीजगती** ॥

शं-ख=शान्तेन्द्रिय पुरुष

प्रथमेभ्यः शङ्खेभ्यः स्वाहा॥ ८॥ **द्वितीयेभ्यः शङ्खेभ्यः स्वाहा॥ ९॥**
तृतीयेभ्यः शङ्खेभ्यः स्वाहा॥ १०॥

१. योगांगों के अभ्यास से इन्द्रियों की विषयों के प्रति रुचि कम और कम होती जाती है। इन्द्रियों के प्रति अरुचि ही 'संवेग' है। यह संवेग 'मृदु-मध्य-व तीव्र' इन तीन श्रेणियों में विभक्त है। इनमें मृदु संवेगवाले यहाँ 'प्रथम शंख' कहे गये हैं—वे व्यक्ति जो इन्द्रियों को शान्त करनेवालों की प्रथम श्रेणी में हैं। मध्य संवेगवाले द्वितीय श्रेणी में तथा तीव्र संवेगवाले तृतीय श्रेणी में। २. इन **प्रथमेभ्यः शंखेभ्यः**=प्रथम श्रेणीवाले शान्तेन्द्रिय पुरुषों के लिए हम **स्वाहा**=प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं, **द्वितीयेभ्यः शंखेभ्यः**=मध्य संवेगवाले द्वितीय श्रेणी के शान्तेन्द्रिय पुरुषों के लिए **स्वाहा**=शुभ शब्द कहते हैं और **तृतीयेभ्यः शंखेभ्यः**=इन तीव्र संवेगवाले शान्तेन्द्रिय पुरुषों के लिए **स्वाहा**=अपने को सौंपते हैं (स्व हा) और उन-जैसा बनने के लिए यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—योगांगानुष्ठान से विषयों से ऊपर उठकर हम क्रमशः अधिकाधिक शान्तेन्द्रिय बनें। ऐसे पुरुषों के साथ ही हमारा उठना-बैठना हो—हम भी उन-जैसा बनने के लिए यत्न करें।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**११ दैवीजगती, १२-१३ दैवीत्रिष्टुप्** ॥

उपोत्तम-उत्तम-उत्तर

उपोत्तमेभ्यः स्वाहा ॥ ११ ॥ उत्तमेभ्यः स्वाहा ॥ १२ ॥
उत्तरेभ्यः स्वाहा ॥ १३ ॥

१. गतमन्त्र के शान्तेन्द्रिय, अतएव **उपोत्तमेभ्यः**=उस उत्तमपुरुष प्रभु के समीप वास करनेवालों के लिए **स्वाहा**=हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। २. **उत्तमेभ्यः**=(ब्रह्मभूतेभ्यः) इन उत्तम—ब्रह्मप्राप्त पुरुषों के लिए **स्वाहा**=हम शुभ शब्द बोलते हैं। ३. **उत्तरेभ्यः**=संसार-सागर को उत्तीर्ण कर गये इन पुरुषों के लिए हम **स्वाहा**=अपने को अर्पित करते हैं (स्व हा) और उनकी भाँति हम भी भवसागर को तैरने के लिए यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना करें। प्रभु को प्राप्त करें और भवसागर से उत्तीर्ण हो जाएँ।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**१४-१६ दैवीपङ्क्तिः, १७ दैवीजगती** ॥

तत्त्वदर्शन

ऋषिभ्यः स्वाहा ॥ १४ ॥ शिखिभ्यः स्वाहा ॥ १५ ॥
गणेभ्यः स्वाहा ॥ १६ ॥ महागणेभ्यः स्वाहा ॥ १७ ॥

१. संसार के विषयों को तैर जानेवाले ये व्यक्ति ऋषि बनते हैं—तत्त्वद्रष्टा। **ऋषिभ्यः स्वाहा**=इन तत्त्वद्रष्टाओं के लिए हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। २. **शिखिभ्यः स्वाहा**=तत्त्वदर्शन के द्वारा उन्नति की शिखा (चोटी) पर पहुँचनेवाले इन शिखियों के लिए हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। ३. (गण संख्याने) **गणेभ्यः स्वाहा**=संख्यान करनेवाले—प्रत्येक बात के उपाय को सोचनेवाले, इसप्रकार कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक करनेवाले इन ज्ञानियों के लिए हम शुभ शब्द कहते हैं ४. **महागणेभ्यः स्वाहा**=महान् ज्ञानियों की हम प्रशंसा करते हैं। इनकी प्रशंसा करते हुए इन-जैसा ही बनने के लिए यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—हम तत्त्वद्रष्टा ऋषियों, तत्त्वदर्शन से उन्नति के शिखर पर पहुँचे हुए व्यक्तियों, उपाय व अपाय को सोचकर कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विवेक करनेवाले ज्ञानियों व महान् ज्ञानियों का शंसन करते हुए उन-जैसा बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**१८ आसुर्यनुष्टुप्, १९ प्राजापत्यागायत्री, २० दैवीपङ्क्तिः** ॥

ब्रह्मा

सर्वेभ्योऽङ्गिरोभ्यो विदगणेभ्यः स्वाहा ॥ १८ ॥
पृथक्सहस्राभ्यां स्वाहा ॥ १९ ॥ ब्रह्मणे स्वाहा ॥ २० ॥

१. **अङ्गिरोभ्यः**=अंग-प्रत्यंग में रसवाले **सर्वेभ्यः**=सब **विदगणेभ्यः**=ज्ञानी—विवेकी पुरुषों के लिए हम **स्वाहा**=प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। २. तत्त्वज्ञान के कारण **पृथक् सहस्राभ्याम्**=विषयों की आसक्ति से पृथक् हुए-हुए और अतएव (स+हस्) आनन्दमय जीवनवाले इन जीवन्मुक्त पुरुषों के लिए हम **स्वाहा**=शुभ शब्द कहते हैं। ३. **ब्रह्मणे**=उत्तम सात्त्विक गति में भी सर्वप्रथम स्थान में स्थित इस 'ब्रह्मा' (वेदज्ञ) पुरुष के लिए **स्वाहा**=हम शुभ शब्द कहते हैं।

भावार्थ—हम तत्त्वज्ञानी, विषयों की आसक्ति से पृथक्, आनन्दमय (मनःप्रसादयुक्त) देवाग्रणी ब्रह्मा के लिए प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। वैसा ही बनने का प्रयत्न करते हैं।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदात्रिष्टुप्** ॥

अस्पर्धनीय (ब्रह्मा)

ब्रह्मज्येष्ठा संभृता वीर्याणि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमा ततान।
भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः॥ २१॥

१. पिछले मन्त्र में 'ब्रह्मा' का उल्लेख हुआ था। उस ब्रह्मा के लिए कहते हैं कि इस ब्रह्मा में **ब्रह्मज्येष्ठा**=ज्ञान की जिनमें सर्वप्रशस्त है, वे **वीर्याणि**=शक्तियाँ **संभृता**=सम्यक् भृत (पोषित) हुई हैं। इसने शारीर व मानस शक्तियों के साथ इस सर्वोपरि ज्ञानशक्ति का अपने में संभरण किया है। **अग्रे**=इस सृष्टि के प्रारम्भ में **ब्रह्मा**=इस सर्वोत्तम सात्त्विकाग्रणी पुरुष ने **ज्येष्ठं दिवम्**=सर्वश्रेष्ठ वेदमय ज्योति को 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा' से प्राप्त करके **आततान**=चारों ओर फैलाया है। २. **उत**=और **भूतानाम्**=इन प्राणियों में यह **ब्रह्मा**=चतुर्वेदवेत्ता पुरुष **प्रथम जज्ञे**=सर्वप्रथम हुआ है। उन्नति के सोपान में यह सबसे ऊपर है। **तेन ब्रह्मणा**=उस ब्रह्मा से **कः**=कौन **स्पर्धितुम् अर्हति**=स्पर्धा के योग्य है? इस ब्रह्मा का मुक़ाबला कोई नहीं कर सकता। इसका जीवन पवित्रतम है।

भावार्थ—सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न होनेवाला (प्रभु का मानस पुत्र) यह ब्रह्मज्ञान प्रधान सब शक्तियों का अपने में संभरण करता है। इस ज्ञान को यह चारों ओर फैलाता है। इसका जीवन अद्वितीय है।

यह 'ब्रह्मा' अथर्वा बनता है—न डाँवाडोल होनेवाला। अथर्वा ही अगले सूक्त का ऋषि है—

२३. [त्रयोविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**१ आसुरीबृहती, २-४ दैवीत्रिष्टुप्** ॥

चार पुरुषार्थ, पञ्चभूत, छह ऋतुएँ, सात ऋषि

आथर्वणानां चतुर्ऋचेभ्यः स्वाहा॥ १॥ पञ्चर्चेभ्यः स्वाहा॥ २॥
षडृचेभ्यः स्वाहा॥ ३॥ सप्तर्चेभ्यः स्वाहा॥ ४॥

१. 'अथर्वा' से जिन मन्त्रों का अर्थ देखा जाता है वे मन्त्र 'आथर्वण' कहलाते हैं। 'अथर्वा' वे व्यक्ति हैं जोकि 'अथ अर्वाङ्'—विषयों में न भटक (न थर्व्) अब अन्दर—आत्मनिरीक्षण करते हैं। **आथर्वणानाम्**=इन अथर्वाओं से देखे गये मन्त्रों में **चतुर्ऋचेभ्यः**=(ऋच् स्तुतौ) जिनमें 'धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष' इन चारों पुरुषार्थों का स्तवन व प्रतिपादन है, उन मन्त्रों के लिए **स्वाहा**= हम (सु आह) प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। हम भी उन मन्त्रों का अध्ययन करते हुए 'धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष' इन चारों ही पुरुषार्थों को सिद्ध करते हैं। २. **पञ्चर्चेभ्यः**='पृथिवी, जल, तेज, वायु व आकाश' इन पाँचों भूतों का स्तवन व प्रतिपादन करनेवाले मन्त्रों के लिए हम **स्वाहा**=प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। इनके अध्ययन से पाँचों भूतों का ज्ञान प्राप्त करके उनकी अनुकूलता के सम्पादन से हम पूर्ण स्वस्थ होने का प्रयत्न करते हैं। ३. **षडृचेभ्यः**='वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त व शिशिर' इन छह ऋतुओं का स्तवन करनेवाले मन्त्रों का हम **स्वाहा**=शंसन करते हैं। इनका अध्ययन करते हुए सब ऋतुओं के गुण-धर्मों को समझकर अपनी ऋतुचर्या को ठीक बनाते हैं। २. **सप्तर्चेभ्यः स्वाहा**='कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' इन सात ऋषियों का स्तवन व प्रतिपादन करनेवाले मन्त्रों के लिए हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। इनके अध्ययन से कान आदि ऋषियों के महत्त्व को समझते हैं और उनको ज्ञान-प्राप्ति में लगाकर

सचमुच ही उन्हें ऋषि बनाये रखने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—हम आथर्वण मन्त्रों में 'चतुर्ऋच' मन्त्रों से 'धर्मार्थ, काम व मोक्ष' इन चार पुरुषार्थों का ज्ञान प्राप्त करें। 'पञ्चर्चों' से पञ्चभूतों का, 'षड्चों' से छह ऋतुओं का तथा 'सप्तर्चों' सें कान आदि सात ऋषियों का ज्ञान प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—५-७ **दैवीत्रिष्टुप्,** ८ **प्राजापत्यागायत्री** ॥

आठ योगांग व वसु, नवद्वार, दस धर्मलक्षण, एकादश रुद्र

अष्टर्चेभ्यः स्वाहा ॥ ५ ॥ **नवर्चेभ्यः स्वाहा** ॥ ६ ॥
दशर्चेभ्यः स्वाहा ॥ ७ ॥ **एकादशर्चेभ्यः स्वाहा** ॥ ८ ॥

१. **अष्टर्चेभ्यः**=योग के आठ अंगों अथवा शरीरस्थ आठ चक्रों का स्तवन करनेवाले व आठ वसुओं का प्रतिपादन करनेवाले मन्त्रों के लिए हम **स्वाहा**=प्रशंसात्मक शब्द कहें। इनके अध्ययन से आठों योगाङ्गों व आठों वसुओं को समझें। २. **नवर्चेभ्यः स्वाहा**=(अष्टाचक्रा नवद्वारा) इस शरीररूप देवपुरी के नव द्वारों का स्तवन करनेवाले मन्त्रों के लिए हम शुभ शब्द कहते हैं। इनके अध्ययन से इनको उत्तम बनाने की प्रेरणा लेते हैं। ३. **दशर्चेभ्यः स्वाहा**= धर्म के दश लक्षणों (धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः। धीर्विद्या सत्यमक्रोधः) के प्रतिपादक मन्त्रों के लिए हम शुभ शब्द कहते हैं। इनके अध्ययन से इन दश लक्षणों को समझकर इन्हें अपनाने के लिए यत्नशील होते हैं। ४. **एकादशर्चेभ्यः स्वाहा**=११ रुद्रों (दश प्राण+जीवात्मा) के प्रतिपादक मन्त्रों के लिए प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। इनके अध्ययन से इन रुद्रों की शक्ति के वर्धन के लिए यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—योग के आठ अंगों, शरीर के नवद्वारों, धर्म के दश लक्षणों व एकादश रुद्रों को समझकर इनको अपनाने व शक्तिशाली बनाने का यत्न करते हुए हम अपने जीवनों को प्रशस्त बनाते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—९ **दैवीजगती,** १०-१२ **दैवीपङ्क्तिः** ॥

'द्वादश आदित्य, दश यम-नियम+शरीर, मन, बुद्धि, चौदह विद्याएँ, १५ गन्ध

द्वादशर्चेभ्यः स्वाहा ॥ ९ ॥ **त्रयोदशर्चेभ्यः स्वाहा** ॥ १० ॥
चतुर्दशर्चेभ्यः स्वाहा ॥ ११ ॥ **पञ्चदशर्चेभ्यः स्वाहा** ॥ १२ ॥

१. **द्वादशर्चेभ्यः स्वाहा**=बारह आदित्यों (चैत्र आदि १२ मासों) का स्तवन व प्रतिपादन करनेवाले मन्त्रों के लिए हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। इनके अध्ययन से इन बारह मासों के अनुरूप आहार-विहार को अपनाते हुए आदित्यसम दीप्त-जीवनवाले बनते हैं। २. **त्रयोदशर्चेभ्यः स्वाहा**=पाँच यमों (अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह) तथा पाँच नियमों (शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान) और उनके पालन से स्वस्थ होनेवाले 'शरीर, मन व बुद्धि' का स्तवन करनेवाले मन्त्रों के लिए हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं और यम-नियमों का पालन करते हुए हम त्रिविध स्वस्थ्य को प्राप्त करते हैं। ३. **चतुर्दशर्चेभ्यः स्वाहा**=चतुर्दश विद्याओं का (षडङ्गमिश्रिता वेदा धर्मशास्त्रं पुराणकम्। मीमांसा तर्कमपि च एता विद्याश्चतुर्दश) शंसन करनेवाले मन्त्रों का शंसन करते हुए हम इन चौदह विद्याओं को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। ४. **पञ्चदशर्चेभ्यः स्वाहा**=द्विविध गन्ध (सुरभि-असुरभि), षड् रस (कषाय, मधुर, लवण, कटु, तिक्त, अम्ल), सप्तवर्ण (सूर्य की सात रंग की किरणें)—इन पन्द्रह का वर्णन

करनेवाली ऋचाओं के लिए हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं और इनका यथायोग करते हुए स्वस्थ बनते हैं।

भावार्थ—हम बारह आदित्यों को समझें। दश यम-नियमों व उनसे स्वस्थ बननेवाले शरीर, मन व बुद्धि को समझें। चौदह विद्याओं को जानने के लिए यत्नशील हों और 'द्विविध गन्ध, षड् रसों व सप्त वर्णों को समझकर' उनका ठीक प्रयोग करनेवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**१३ दैवीजगती, १४-१६ प्राजापत्यागायत्री, १७ दैवीपङ्क्तिः**॥

षोडश कलाएँ, १७ तत्त्वों का सूक्ष्मशरीर, अष्टादश ऋत्विज्

षोडशर्चेभ्यः स्वाहा॥ १३॥ सप्तदशर्चेभ्यः स्वाहा॥ १४॥
अष्टादशर्चेभ्यः स्वाहा॥ १५॥ एकोनविंशतिः स्वाहा॥ १६॥
विंशतिः स्वाहा॥ १७॥

१. **षोडशर्चेभ्यः स्वाहा**=सोलह कलाओंवाले षोडशी पुरुष की सोलह कलाओं का शंसन करनेवाले मन्त्रों के लिए हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं और इनके अध्ययन से इन सोलह कलाओं को समझने का प्रयत्न करते हैं। (प्राण, श्रद्धा, पञ्चभूतात्मक शरीर, इन्द्रियाँ, मन, अन्न, वीर्य, तप, मन्त्र, कर्म, लोक, नाम)। ३. **सप्तदशर्चेभ्यः स्वाहा**='दश इन्द्रियाँ—पाँच प्राण, मन व बुद्धि' से बने हुए सत्रह तत्त्वोंवाले सूक्ष्मशरीर का वर्णन करनेवाले मन्त्रों के लिए हम शंसन करते हैं। इनके अध्ययन से इस सूक्ष्मशरीर के महत्त्व को समझकर इसकी उन्नति के लिए यत्नशील होते हैं। ३. **अष्टादशर्चेभ्यः स्वाहा**='सोलह ऋत्विजों तथा यजमान व यजमान-पत्नी' इन अठारह से चलनेवाले यज्ञों का शंसन करनेवाले मन्त्रों का हम शंसन करते हैं। इनके अध्ययन से इन यज्ञों को जानकर इन्हें अपनाते हैं। ४. **एकोनविंशतिः**=जागरित व स्वप्नस्थान में १९ मुखोंवाला (एकोनविंशतिमुखः=दश इन्द्रियाँ, पञ्च प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) मैं 'एकोनविंशति' **स्वाहा**=इन मन्त्रों के प्रति अपने को अर्पित करता हूँ। इन सब मुखों से इन्हीं के अध्ययन के लिए यत्नशील होता हूँ। ५. **विंशतिः**=पञ्चस्थूलभूत+पञ्चसूक्ष्मभूत+पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ+पञ्च कर्मेन्द्रियोंवाला—बीस तत्त्वों का पुतला मैं **स्वाहा**=इन मन्त्रों के प्रति अपने को अर्पित करता हूँ।

भावार्थ—मैं षोडशी पुरुष की सोलह कलाओं को, सूक्ष्मशरीर के १७ तत्त्वों को तथा १८ व्यक्तियों से साध्य यज्ञों का ज्ञान प्राप्त करता हूँ। मैं अपने १९ मुखों से इन ऋचाओं का अध्ययन करता हूँ। बीस तत्त्वोंवाला मैं इन मन्त्रों के प्रति अपने को अर्पित करता हूँ।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**१८, २२ दैवीजगती, १९, २१ दैवीपङ्क्तिः, २० दैवीत्रिष्टुप्**॥

अज्ञान विध्वंस व प्रभु-दर्शन

महत्काण्डाय स्वाहा॥ १८॥ तृचेभ्यः स्वाहा॥ १९॥
एकर्चेभ्यः स्वाहा॥ २०॥ क्षुद्रेभ्यः स्वाहा॥ २१॥
एकानृचेभ्यः स्वाहा॥ २२॥

१. (कडि भेदने संरक्षणे च) **महत्काण्डाय**=महान् अविद्या का भेदन करनेवाले व हमारा संरक्षण करनेवाले प्रभु के लिए **स्वाहा**=मैं अपना अर्पण करता हूँ। २. **तृचेभ्यः**='जीव, प्रकृति, परमात्मा' अथवा 'ज्ञान, कर्म, उपासना' तीनों का प्रतिपादन करनेवाले इन मन्त्रों के लिए

स्वाहा=अपना अर्पण करता हूँ। ३. **एकर्चेभ्यः**=उस एक अद्वितीय प्रभु की महिमा का स्तवन करनेवाले मन्त्रों के लिए **स्वाहा**=मैं अपना अर्पण करता हूँ। उनके पढ़ने के लिए यत्नशील होता हूँ। (क्षुदिर् संपेषणे) **क्षुद्रेभ्यः**=अविद्यान्धकार का संपेषण करनेवाले इन वेदमन्त्रों के लिए **स्वाहा**=मैं अपना अर्पण करता हूँ। ५. **एकानृचेभ्यः स्वाहा**=(नास्ति ऋक्—स्तुत्याविद्याः—यस्य सकाशात् सः 'अनृच') उस ब्रह्मविद्या का वर्णन करनेवाली अनुत्तम (सर्वोत्तम) ऋचाओं के लिए मैं अपने को अर्पित करता हूँ।

भावार्थ—अज्ञान के विध्वंसक वेदमन्त्रों का अध्ययन करते हुए हम उस अद्वितीय प्रभु को जानने के लिए यत्नशील होते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**२३ दैवीत्रिष्टुप्, २४-२५ दैवीपङ्क्तिः, २६ दैवीजगती** ॥

सूर्य-व्रात्य-प्राजापत्य

रोहितेभ्यः स्वाहा ॥ २३ ॥ **सूर्याभ्यां स्वाहा ॥ २४ ॥**
व्रात्याभ्यां स्वाहा ॥ २५ ॥ **प्राजापत्याभ्यां स्वाहा ॥ २६ ॥**

१. (रोहयति इति) **रोहितेभ्यः**=हमारा उत्थान करनेवाले इन वेदमन्त्रों के लिए **स्वाहा**=मैं अपना अर्पण करता हूँ। २. **सूर्याभ्यां स्वाहा**=वेद से प्रेरणा प्राप्त करके सूर्य की भाँति निरन्तर गतिशील (सरति) पति-पत्नी के लिए हम शुभ शब्द कहते हैं। उनका प्रशंसन करते हैं। हम भी उनसे अपना जीवन उन-जैसा बनाने की प्रेरणा लेते हैं। ३. **व्रात्याभ्याम्**=व्रतमय जीवनवाले पति-पत्नी के लिए हम **स्वाहा**=प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। हम भी उनकी भाँति व्रती जीवनवाले होते हैं। ४. **प्राजापत्याभ्याम्**=सन्तानों का उत्तम रक्षण करनेवाले इन पति-पत्नी के लिए **स्वाहा**=हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं और उनसे स्वयं भी सन्तानों के सम्यक् रक्षण की प्रेरणा लेते हैं।

भावार्थ—उन्नति के साधनभूत वेद-मन्त्रों का अध्ययन करते हुए हम निरन्तर गतिशील (सूर्य) व्रतमय जीवनवाले (व्रात्य) व सन्तानों का सम्यक् रक्षण करनेवाले (प्राजापत्य) बनते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**२७ दैवीत्रिष्टुप्, २८दैवीजगती, २९ दैवीपङ्क्तिः** ॥

विषासहि-मंगलिक-ब्रह्मा

विषासह्यै स्वाहा ॥ २७ ॥
मङ्गलिकेभ्यः स्वाहा ॥ २८ ॥ **ब्रह्मणे स्वाहा ॥ २९ ॥**

१. **विषासह्यै**=वेदज्ञान द्वारा सब शत्रुओं का पराभव करनेवाली इस गृहिणी के लिए हम **स्वाहा**=प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। इससे सब गृहिणियों को 'विषासहि' बनने की प्रेरणा प्राप्त होती है। २. **मंगलिकेभ्यः स्वाहा**=वेदज्ञान द्वारा सदा यज्ञ आदि मंगल कार्यों को करनेवाले पुरुषों के लिए हम प्रशंसात्मक शब्द कहते हैं। इससे सभी को इन मंगल कार्यों को करने की प्रवृत्ति प्राप्त होती है। ३. अन्ततः हम **ब्रह्मणे**=इन चारों वेदों का ज्ञान प्राप्त करनेवाले सर्वोत्तम सात्त्विक पुरुष के लिए शुभ शब्द कहते हैं और स्वयं ऐसा बनने का ही अपना लक्ष्य बनाते हैं।

भावार्थ—वेदज्ञान से हम शत्रुओं का मर्षण करनेवाले, मंगल कार्यों को करनेवाले व सर्वोत्तम सात्त्विक स्थिति की ओर चलनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदात्रिष्टुप्** ॥

ब्रह्मा

ब्रह्मज्येष्ठा संभृता वीर्या॑णि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमा ततान।
भूतानां ब्रह्मा प्रथमोत जज्ञे तेनार्हति ब्रह्मणा स्पर्धितुं कः॥ ३०॥

१. व्याख्या १९.२२.२१ पर द्रष्टव्य है।

२४. [चतुर्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

देव—देव का धारण—आत्मशासन

येन देवं सवितारं परि देवा अधारयन्।
तेनेमं ब्रह्मणस्पते परि राष्ट्राय धत्तन॥ १॥

१. इस सूक्त का देवता 'ब्रह्मणस्पति' है—ज्ञान का रक्षक। यह ज्ञान हमें अपने पर शासन करने के योग्य बनाता है। इसप्रकार इस ज्ञान को यहाँ 'वासः' कहा गया है, चूँकि यह हमें आच्छादित करता हुआ पापों से बचाता है। इसी से अन्ततः देवपुरुष प्रभु को अपने हृदयों में धारण करते हैं। **येन**=जिस ज्ञान से **देवाः**=देववृत्ति के व्यक्ति उस **सवितारम्**=सर्वोत्पादक—सर्वप्रेरक **देवम्**=प्रकाशमय प्रभु को **परि अधारयन्**=समन्तात् धारण करते हैं। ज्ञान ही वस्तुतः उन्हें देव बनाता है। देव बनकर वे महादेव के समीप होते चलते हैं। अन्ततः वे हृदयों में प्रभु के प्रकाश को देखते हैं। २. हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के स्वमिन् प्रभो! **तेन**=उस ज्ञान से **इमम्**=इस अपने उपासक को भी आप **राष्ट्राय**=इस शरीररूप राष्ट्र की उत्तमता के लिए—अपने पर शासन कर सकने के लिए—**परिधत्तन**=धारण कीजिए।

भावार्थ—ज्ञानरूप वस्त्र हमें पाप आदि से सुरक्षित करता हुआ देव बनाता है और अन्ततः प्रभु-दर्शन कराता है। इसको धारण करते हुए हम आत्मशासन के योग्य बनें।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रभु-धारण व बल-प्राप्ति

परीममिन्द्रमायुषे महे क्षत्राय धत्तन। यथैनं जरसे नयां ज्योक्क्षत्रेऽधि जागरत्॥ २॥

१. **आयुषे**=दीर्घजीवन के लिए तथा **महे क्षत्राय**=क्षतों से त्राण करनेवाले महान् बल के लिए **इमम्**=इस **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् प्रभु को **परिधत्तन**=अपने हृदयों में धारण करो। २. **यथा**=जिस प्रकार **एनम्**=इस पुरुष को—परमपुरुष प्रभु को—**जरसे**=वासनाओं को जीर्ण करनेवाली स्तुति के लिए **नयाम्**=प्राप्त करूँ, जिससे यह स्तोता **ज्योक्**=दीर्घकाल तक **क्षत्रे**=बल के विषय में **अधि जागरत्**=जागरित रहे—अप्रमत्त बना रहे।

भावार्थ—हम जितना-जितना प्रभु को धारण कर पाते हैं, उतना-उतना ही वासनाओं के विनाश के द्वारा बल को धारण करनेवाले बनते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रभु-धारण व ज्ञान-प्राप्ति

परीमं सोममायुषे महे श्रोत्राय धत्तन। यथैनं जरसे नयां ज्योक्श्रोत्रेऽधि जागरत्॥ ३॥

१. **इमं सोमम्**=इस सौम्य (शान्त) प्रभु को **आयुषे**=दीर्घजीवन के लिए तथा **महे श्रोत्राय**=महान् श्रवणीय ज्ञान के लिए **परिधत्तन**=अपने हृदयों में धारण करो। २. **यथा**=जिस प्रकार **एनम्**=इस

प्रभु को **जरसे**=वासनाओं को जीर्ण करनेवाली स्तुति के लिए **नयाम्**=प्राप्त करूँ, जिससे **ज्योक्**=दीर्घकाल तक **श्रोत्रे**=श्रवणीय ज्ञान के विषय में यह स्तोता **अधिजागरत्**=खूब जागरित रहे—अप्रमत्त रहे।

भावार्थ—हम जितना-जितना प्रभु का धारण करेंगे उतना-उतना ही वासना-विनाश द्वारा ज्ञान का धारण कर पाएँगे।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ज्ञानवस्त्रों का धारण

परि॑ धत्त ध॒त्त नो॒ वर्च॑से॒मं ज॒राम॑त्युं कृणुत दी॒र्घमायुः॑।
बृह॒स्पतिः॒ प्राय॑च्छ॒द्वास॑ ए॒तत्सोमा॑य॒ राज्ञे॒ परि॑धात॒वा उ॑॥ ४॥

१. हे देवो! आप **नः**=हमारे **इयम्**=इस व्यक्ति को **परिधत्तन**=ज्ञानरूप वस्त्र धारण कराओ और इसप्रकार इसे वासनाओं से ऊपर उठाकर **वर्चसा धत्त**=शक्ति के साथ धारण करो। इसके जीवन को आप शक्तिशाली बनाओ। इसे शक्ति-सम्पन्न बनाकर इसके लिए **जरामृत्युम्**=अत्यन्त वृद्धावस्था में मृत्युवाले **दीर्घमायुः**=दीर्घजीवन को **कृणुत**=करो। २. **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी सबका आचार्य प्रभु **एतत् वासः**=इस ज्ञान-वस्त्र को **परिधातवा उ**=निश्चय से धारण करने के लिए **सोमाय**=सौम्य स्वभाववाले—विनीत **राज्ञे**=जितेन्द्रिय—इन्द्रियों के राजा—व्यवस्थित जीवनवाले विद्यार्थी के लिए **प्रायच्छत्**=देता है।

भावार्थ—देव हमें ज्ञान-वस्त्र को धारण कराके दीर्घजीवनवाला बनाएँ। ज्ञान का स्वामी आचार्य सौम्य व जितेन्द्रिय विद्यार्थी को ज्ञान देता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

गृष्टी-रक्षण

ज॒रां सु ग॑च्छ॒ परि॑ धत्स्व॒ वासो॒ भवा॑ गृ॒ष्टीना॑मभिशस्ति॒पा उ॑।
श॒तं च॒ जीव॑ श॒रदः॑ पु॒रूची॑ रा॒यश्च॒ पोष॑मुप॒संव्य॑यस्व॥ ५॥

१. हे मनुष्य! तू **जरां सुगच्छ**=जरावस्था तक सम्यक् चल—युवावस्था में ही तेरा अन्त न हो जाए। **वासः परिधत्स्व**=ज्ञान-वस्त्र को तू धारण कर और इसप्रकार **गृष्टीनाम्**=इन इन्द्रियरूप गौओं का तू **उ**=निश्चय से **अभिशस्तिपा भव**=हिंसन से रक्षण करनेवाला हो। ये इन्द्रिरूप गौएँ विषयरूप व्याघ्रों से हिंसित न हो जाएँ। ज्ञान की तलवार से तू इन व्याघ्रों का हिंसन कर २. **च**=और **पुरूचीः**=(पुरु अञ्च्) पूरण व पालक खूब ही गतिवाली **शतं शरदः**=सौ शरद् ऋतुओं तक तू **जीव**=जीनेवाला हो **च**=तथा **रायः पोषम्**=ज्ञान के पोषण को **उपसंव्ययस्व**=अपने जीवन में सीनेवाला बन (व्ये-to sew), तुझे पोषक धन की कभी कमी न हो।

भावार्थ—ज्ञान-वस्त्र को धारण करके हम दीर्घजीवनवाले बनें, इन्द्रियरूप गौओं को विषय-व्याघ्रों का शिकार न होने दें। गतिशील १०० शरद ऋतुओं तक जीएँ। पोषक धन को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

वापी-रक्षण

परी॒दं वासो॑ अधिथाः स्व॒स्तयेऽभू॑र्वापी॒नाम॑भिशस्ति॒पा उ॑।
श॒तं च॒ जीव॑ श॒रदः॑ पु॒रूची॒र्वसू॑नि॒ चारु॒र्वि भ॑जासि॒ जीव॑न्॥ ६॥

१. हे मनुष्य! तू **इदं वासः**=इस ज्ञानवस्त्र को **परि अधिथाः**=सम्यक् धारण करनेवाला

बन—इससे तू चारों ओर से अपने को ढक ले। इसके धारण से तू **स्वस्तये अभूः**=कल्याण के लिए हो **उ**=और निश्चय से **वापीनाम्**=उत्तम गुणों के बीजों का वपन करनेवाली इन ज्ञानवाणियों का **अभिशस्तिपाः**=हिंसन से रक्षण करनेवाला हो। तू स्वाध्याय में कभी विच्छेद करनेवाला न बन २. **च**=और **पुरूचीः**=खूब ही गतिवाली **शतं शरदः**=सौ शरद् ऋतुओं तक तू **जीव**=जी और **जीवन्**=जीवन को धारण करता हुआ तू **चारुः**=चरणशील होता है—भक्षण की क्रियावाला होता है। तू जीने के लिए ही खाता है। विलास में धन का व्यय कभी नहीं करता। तू इन **वसूनि**=धनों को **विभजासि**=सबके प्रति विभक्त करनेवाला होता है—यज्ञों के द्वारा तू इसे सभी के प्रति विभक्त करता है। स्वयं यज्ञशेष का ही सेवन करता है।

भावार्थ—ज्ञानवस्त्र को धारण करके हम अपना रक्षण करते हुए कल्याण प्राप्त करें। ज्ञान-वाणियों का सदा रक्षण करते हुए उत्तम गुणों के बीजों को अपने में बोएँ। दीर्घकाल तक जीएँ। केवल शरीर-रक्षण के लिए भोजन करता हुआ तू धन को विभक्त कर।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिपदाऽऽर्षीगायत्री**॥

योगे-योगे तवस्तरम्

योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे। सखाय इन्द्रमूतये॥ ७॥

१. हम **सखायः**=उस प्रभु के सखा बनते हुए **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली सर्वशक्तिमान् प्रभु को **ऊतये**=रक्षण के लिए **वाजेवाजे**=प्रत्येक संग्राम में **हवामहे**=पुकारते हैं। २. उस प्रभु को हम पुकारते हैं जोकि **योगे-योगे**=प्रत्येक मेल के अवसर पर **तवस्तरम्**=हमारे बलों को बढ़ानेवाले हैं। जितना-जितना प्रभु से हमारा सम्पर्क बढ़ता है, उतना-उतना हमारा बल बढ़ता है और संग्रामों में हम वियजी बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे रक्षक हैं। प्रभु-सम्पर्क से शक्ति का वर्धन होता है।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'हिरण्यवर्ण-अजर-सुवीर'

हिरण्यवर्णो अजरः सुवीरो जरामृत्युः प्रजया सं विशस्व।
तदग्निराह तदु सोम आह बृहस्पतिः सविता तदिन्द्रः॥ ८॥

१. 'प्रभु जीव को क्या कहते हैं?' इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि **हिरण्यवर्णः**=ज्योतिर्मय वर्णवाला—तेजस्वी—स्वर्ण के समान चमकता हुआ (तप्तकाञ्चनवर्णाभम्), **अजरः**=जिसकी शक्तियाँ जीर्ण नहीं हो गईं, **सुवीरः**=उत्तम वीर सन्तानोंवाला, **जरामृत्युः**=पूर्ण जरावस्था में मृत्यु को प्राप्त होनेवाला—युवावस्था में ही न चला जानेवाला तू **प्रजया संविशस्व**=प्रजा के साथ घर में निवास करनेवाला हो। २. **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **तत् आह**=उस बात को ही कहते हैं **उ**=और **सोमः**=सौम्य (शान्त) प्रभु **तत् आह**=उस बात को कहते हैं। **बृहस्पतिः**=ज्ञान के स्वामी प्रभु, **सविता**=सर्वोत्पादक—सर्वप्रेरक प्रभु, **इन्द्रः**=सर्वशक्तिमान्, परमैश्वर्यशाली प्रभु **तत्**=उस बात को ही कहते हैं। अग्नि आदि नामों से प्रभु का स्मरण कराना इसलिए ही है कि हमें यह समझ में आ जाए कि 'हिरण्यवर्ण, अजर, सुवीरः' बनने का प्रकार यही है कि हम भी आगे बढ़ने की भावनावाले बनें (अग्नि), सौम्य (शान्त) स्वभाव हों, ज्ञान की रुचिवाले हों (बृहस्पति), निर्माणात्मक कार्यों में प्रवृत्त हों (सविता) और जितेन्द्रिय बनें (इन्द्र)।

भावार्थ—हमारा आदर्श यही हो कि हम 'हिरण्यवर्ण, अजर व सुवीर' बनें। प्रभु के अग्नि आदि नामों से उस-उस प्रेरणा के लेनेवाले बनें।

अग्नि आदि नामों से प्रेरणा लेकर ठीक मार्ग पर चलनेवाला यह व्यक्ति 'गोपथ' कहलाता है। गौएँ—वेदवाणी के मार्ग पर चलनेवाला। यह गोपथ ही अगले सूक्त का ऋषि है—

२५. [पञ्चविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**वाजी** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वाजी

अश्रा॑न्तस्य त्वा॒ मन॑सा युनज्मि॑ प्रथ॒मस्य॑ च।
उत्कू॑लमुद्व॒हो भ॑वो॒दुह्य॒ प्रति॑ धावतात्॥ १॥

१. मार्ग पर बढ़ता हुआ व्यक्ति लक्ष्य-स्थान पर पहुँचता ही है, अतः प्रभु कहते हैं कि हे जीव! **त्वा**=तुझे उस पुरुष के **मनसा**=मन से **युनज्मि**=युक्त करता हूँ जोकि **अश्रान्तस्य**=कभी थकता नहीं—ऊब नहीं जाता—मार्ग पर बढ़ता ही चलता है, **च**=और अतएव **प्रथमस्य**=प्रथम स्थान में स्थित होता है। प्रथम स्थान में स्थित होने के संकल्पवाले पुरुष के मन से मैं तुझे जोड़ता हूँ। तू अश्रान्तभाव से आगे बढ़ता ही चल। २. **उत्कूलम् उद्वहः**=जैसे नदी किनारों को भी लाँघकर उमड़ पड़ती है, उसी प्रकार तू सब विघ्नों को—रुकावटों को लाँघकर ऊपर उठनेवाला **भव**=हो। **उदुह्य**=अपने को सब विघ्न-बाधाओं से ऊपर उठाकर **प्रति धावतात्**=तू लक्ष्य स्थान की ओर वेग से बढ़नेवाला हो।

भावार्थ—हम अश्रान्त मन से प्रथम स्थान पर पहुँचने के लिए आगे बढ़ते चलें। सब विघ्नों को पार करके लक्ष्य स्थान की ओर बढ़ें।

किसी भी विघ्न-बाधा से न रुकनेवाला 'अथर्वा' अगले सूक्त का ऋषि है—

२६. [षड्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः, हिरण्यम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

हिरण्य-धारण व दीर्घजीवन

अ॒ग्नेः प्रजा॑तं॒ परि॒ यद्धिर॑ण्यम॒मृतं॑ द॒ध्रे अधि॒ मर्त्ये॑षु।
य ए॑न॒द्वेद॒ स इदे॑नमर्हति ज॒राम॑त्यु॒र्भव॑ति॒ यो बि॒भर्ति॑॥ १॥

१. शरीर में वैश्वानर अग्नि (जाठराग्नि) भोजन के परिपाक के द्वारा रस, रुधिर आदि धातुओं का निर्माण करती है। इस निर्माण में अन्तिम धातु 'वीर्य' है। यही 'हिरण्य' है—हित-रमणीय है। यही 'अमृत' है। रोगों से आक्रान्त न होने देनेवाला है। प्रभु ने **अग्नेः प्रजातम्**=वैश्वानर अग्नि से उत्पन्न हुआ-हुआ **यत्**=जो **हिरण्यम्**=हित-रमणीय **अमृतम्**=रोगों से आक्रान्त न होने देनेवाला वीर्य है, उसको **अधिमर्त्येषु**=इन मानव-शरीरों में **परिदध्रे**=समन्तात् स्थापित किया है। २. **यः**=जो पुरुष **एनत् वेद**=इस बात को समझ लेता है, **सः**=वह **इत्**=निश्चय से **एनम् अर्हति**=इस हिरण्य को धारण करने के योग्य होता है। वह इस हिरण्य को धारण करनेवाला बनता है और **यः बिभर्ति**=जो भी इसे धारण करता है, वह **जरामृत्युः भवति**=पूर्ण जरावस्था तक पहुँचकर शरीर को छोड़नेवाला होता है। दीर्घजीवनवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु ने ऐसी व्यवस्था की है कि शरीर में 'वैश्वानर अग्नि' द्वारा रस-रुधिर आदि के क्रम से हिरण्य (वीर्य) की उत्पत्ति होती है। यही अमृत है। जो इसका धारण करता है वह नीरोग होकर दीर्घजीवन प्राप्त करता है।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्नि:, हिरण्यम्**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥

प्रजावन्त: मनव: पूर्वे

यद्धिरण्यं सूर्येण सुवर्णं प्रजावन्तो मनव: पूर्वं ईषिरे।
तत्त्वा चन्द्रं वर्चसा सं सृजत्यायुष्मान्भवति यो बिभर्ति॥ २॥

१. **यत्**=जो **हिरण्यम्**=हित-रमणीय वीर्य है, वह **सूर्येण सुवर्णम्**=सूर्य से उत्तम वर्णवाला है। शरीर में सूर्य की भाँति चमकता है। अथवा सूर्य के सम्पर्क में जीवन बिताने से उत्तम वर्णवाला होता है। जो भी इस हिरण्य को **ईषिरे**=प्राप्त होते हैं (ईष गतौ), वे **प्रजावन्त:**=उत्तम सन्तानोंवाले, **मनव:**=विचारशील—ज्ञानी व **पूर्वे**=अपना पालन व पूरण करनेवाले होते हैं। २. हे हिरण्य! **तत् चन्द्रम्**=उस आह्लाद के कारणभूत **त्वा**=तुझको **य: बिभर्ति**=जो धारण करता है, वह **वर्चसा संसृजति**=वर्चस् (Vitality) के साथ अपना संसर्ग करता है और **आयुष्मान् भवति**=प्रशस्त दीर्घ जीवनवाला होता है।

भावार्थ—वीर्य-रक्षण द्वारा हम उत्तम सन्तानवाले—विचारशील व अपना पालन व पूरण करनेवाले बनते हैं। यह सुरक्षित वीर्य हमें प्राणशक्ति-सम्पन्न व प्रशस्त दीर्घ जीवनवाला बनाता है।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्नि:, हिरण्यम्**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

आयु-वर्चस्-ओजस्-बल

आयुषे त्वा वर्चसे त्वौजसे च बलाय च।
यथा हिरण्यतेजसा विभासासि जनाँ अनु॥ ३॥

१. गतमन्त्र में वर्णित हिरण्य (वीर्य) **त्वा**=तुझे **आयुषे**=दीर्घजीवन के लिए प्राप्त कराए **च**=और **वर्चसे**=वर्चस् के लिए प्राप्त कराए। इस वर्चस् द्वारा ही नीरोग व दीर्घजीवन प्राप्त होगा। यह हिरण्य **त्वा**=तुझे **ओजसे**=ओज के लिए **च**=तथा **बलाय**=बल के लिए प्राप्त कराए। ओज मन की वह शक्ति हैं जोकि अच्छाइयों का वर्धन करती है और बल बुराइयों का विनाश करनेवाली शक्ति है। २. तू **यथा हिरण्यतेजसा**=इस हिरण्य के तेज के अनुपात में—जितना-जितना वीर्य का रक्षण करता है उतना-उतना, **जनान् अनु विभासासि**=जनों का लक्ष्य करके तू दीप्तिवाला होता है—मनुष्यों में तू चमक उठता है। सुरक्षित वीर्य सब शक्तियों को बढ़ाता है और हमारी श्री की वृद्धि का कारण बनता है।

भावार्थ—वीर्यरक्षण द्वारा हम 'आयु, वर्चस्, ओज व बल' को प्राप्त करें। यह हमें समाज में दीप्त जीवनवाला बनाए।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्नि:, हिरण्यम्**॥ छन्द:—**पथ्यापङ्क्ति:**॥

आयुष्यं-वर्चस्यम्

यद्वेद राजा वरुणो वेद देवो बृहस्पति:।
इन्द्रो यद् वृत्रहा वेद तत्त आयुष्यं भुवत्तत्ते वर्चस्यं भुवत्॥ ४॥

१. **यत्**=जिस हिरण्य को—वीर्य को **राजा**=व्यवस्थित (regulated) जीवनवाला **वरुण:**=द्वेष का निवारण करनेवाला श्रेष्ठ पुरुष **वेद**=जानता है, जिस हिरण्य को **देव:**=दिव्यगुणसम्पन्न **बृहस्पति:**=ज्ञानी पुरुष **वेद**=जानता है। २. **यत्**=जिस हिरण्य को **वृत्रहा**=वासना को विनष्ट करनेवाला **इन्द्र:**=जितेन्द्रिय पुरुष **वेद**=जानता है **तत्**=वह हिरण्य **ते**=तेरे लिए **आयुष्यम्**=प्रशस्त आयु को देनेवाला **भुवत्**=हो। **तत्**=वह हिरण्य **ते**=तेरे लिए **वर्चस्यं भुवत्**=उत्तम वर्चस् को—

रोगनिवारकशक्ति को देनेवाला **भुवत्**=हो।

भावार्थ—हम 'निर्द्वेष, ज्ञानी व जितेन्द्रिय' बनकर वीर्य का रक्षण करें। यह सुरक्षित वीर्य हमारे लिए 'आयुष्य व वर्चस्य' हो—हमें दीर्घजीवन व रोगप्रतिबन्धकशक्ति प्राप्त कराए।

वीर्य का रक्षण करता हुआ यह अपने को ज्ञानाग्नि में परिपक्व 'भृगु' (भ्रस्ज् पाके) बनाता है और शरीर में रस-(लोच-लचक)-वाला 'अंगिराः' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

२७. [सप्तविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिवृत्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ऋषभ, वृषा, वायु, इन्द्र

गोभिष्ट्वा पात्वृषभो वृषा त्वा पातु वाजिभिः।
वायुष्ट्वा ब्रह्मणा पात्विन्द्रस्त्वा पात्विन्द्रियैः॥ १॥

१. (ऋष दर्शने) **ऋषभः**=वह सर्वद्रष्टा प्रभु **त्वा**=तुझे **गोभिः**=उत्तम गौवों के द्वारा **पातु**=रक्षित करे। इन गौओं का दूध हमारी बुद्धियों का वर्धन करके हमारे ज्ञान को भी बढ़ाता है। **वृषा**=वह शक्तिशाली प्रभु **त्वा**=तुझे **वाजिभिः**=उत्तम घोड़ों के द्वारा **पातु**=रक्षित करे। ये घोड़े उचित व्यायामादि का साधन बनते हुए हमारी बल-वृद्धि का हेतु होते हैं। २. **वायुः**=(वा गति=ज्ञान) ज्ञान के द्वारा सब बुराइयों का विध्वंस करनेवाला वह प्रभु **त्वा**=तुझे **ब्रह्मणा**=ज्ञान के द्वारा **पातु**=रक्षित करे। **इन्द्रः**=वह सर्वशक्तिमान् परमैश्वर्यशाली प्रभु **त्वा**=तुझे **इन्द्रियैः**=उत्तम इन्द्रियों के द्वारा **पातु**=रक्षित करे।

भावार्थ—प्रभु हमें उत्तम गौवें व घोड़े, ज्ञान तथा इन्द्रियों को प्राप्त कराके सुरक्षित करें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिवृत्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सोम-सूर्य-चन्द्र-वात

सोमस्त्वा पात्वोषधीभिर्नक्षत्रैः पातु सूर्यः।
माद्भ्यस्त्वा चन्द्रो वृत्रहा वातः प्राणेन रक्षतु॥ २॥

१. **सोमः**=वह सौम्य प्रभु **त्वा**=तुझे **ओषधीभिः**=दोषों का दहन करनेवाली ओषधियों के द्वारा **पातु**=रक्षित करे। हम सौम्य वानस्पतिक भोजनों द्वारा दीर्घजीवन प्राप्त करें। 'आग्नेय' पदार्थ रोगों के भेषज हैं, नकि भोजन। **सूर्यः**=सूर्यसम देदीप्यमान प्रभु **नक्षत्रैः**=नक्षत्रों के द्वारा हमारा **पातु**=रक्षण करें। सब नक्षत्रों की हमारे साथ अनुकूलता हो 'सर्वं शान्तिः'। २. वह **वृत्रहा**=सब वासनाओं का विनाश करनेवाला **चन्द्रः**=आह्लादमय प्रभु **माद्भ्यः**=मासों के द्वारा—(मस्=to measure) प्रमाणों के द्वारा—तत्त्वज्ञान को प्राप्त कराने के द्वारा **त्वा**=तेरी **रक्षतु**=रक्षा करें तथा **वातः**=निरन्तर गतिशील प्रभु **प्राणेन**=प्राणशक्ति के द्वारा हमारा रक्षण करें।

भावार्थ—प्रभु हमें उत्तम ओषधियों, नक्षत्रों, तत्त्वज्ञान तथा प्राणशक्ति के द्वारा रक्षित करें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिवृत्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

त्रिवृता त्रिवृद्भिः (रक्षन्तु)

तिस्रो दिवस्तिस्रः पृथिवीस्त्रीण्यन्तरिक्षाणि चतुरः समुद्रान्।
त्रिवृतं स्तोमं त्रिवृत आप आहुस्तास्त्वा रक्षन्तु त्रिवृता त्रिवृद्भिः॥ ३॥

१. **दिवः**=द्युलोकों को **तिस्रः**=उत्तम, अधम व मध्यम भेद से तीन प्रकार का **आहुः**=कहते

हैं। **पृथिवीः**=पृथिवियों को भी **तिस्रः**=उत्तम, मध्यम व अधमभेद से **तिस्रः**=तीन प्रकार का कहते हैं। इसी प्रकार **अन्तरिक्षाणि**=अन्तरिक्षों को भी **त्रीणि**=तीन प्रकार का कहते हैं। २. **समुद्रान्** (रायः समुद्रॉंश्चतुरः०)=ज्ञान के समुद्रभूत इन वेदों को **चतुरः**=चार कहते हैं (ऋग्, यजुः, साम, अथर्व)। **स्तोमम्**=स्तुतिसमूह को **त्रिवृतम्**=तीन में होनेवाला कहते हैं। प्रकृति के पदार्थों का गुणवर्णन ही प्रकृतिस्तवन है। जीव के कर्त्तव्यों का उपदेश जीवस्तवन है। प्रभु की उपासना का प्रतिपादन प्रभु-स्तवन है। **आपः**=(आपो नारा इति प्रोक्ताः) मानव-सन्तानों को भी **त्रिवृतः**='ज्ञान, कर्म व उपासना' इन तीन में चलनेवाला कहते हैं। कई मनुष्य ज्ञानप्रधान होते हैं, कई कर्मप्रधान और कई भक्तिप्रधान। **ताः**=वे सब **त्रिवृता**=तीन-तीन रूपों में होते हुए **त्रिवृद्धिः**=(**त्रिषु वर्तन्ते**) शरीर, मन व बुद्धि पर प्रभाव डालनेवाले कर्म, भक्ति व ज्ञान के द्वारा **रक्षन्तु**=रक्षित करें। 'कर्म' शरीर को, 'भक्ति' मन को तथा 'ज्ञान' मस्तिष्क को सुन्दर बनाए।

भावार्थ—हम 'ज्ञान, कर्म व उपासना' तीनों का अपने में समन्वय करते हुए 'कर्म' से पृथिवीलोक का, 'भक्ति' से अन्तरिक्षलोक का तथा 'ज्ञान' से द्युलोक का विजय करें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**त्रिवृत्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

गोमा

त्रीन्नाकांस्त्रीन्त्समुद्रांस्त्रीन्ब्रध्नांस्त्रीन्वैष्टपान्।
त्रीन्मातरिश्वनस्त्रीन्त्सूर्यान्गोमृन्कल्पयामि ते॥ ४॥

१. **त्रीन् नाकान्**=तीन मोक्षलोकों को (सूचना—मोक्ष में ब्रह्म के साथ विचरते हुए जीवों में भी 'जिसका ज्ञान जितना अधिक होता है उसे उतना ही आनन्द अधिक होता है' इस आचार्यवाक्य के अनुसार मोक्ष भी उत्तम, मध्यम, अधम स्थिति के अनुसार तीन भागों में विभक्त है), **त्रीन् समुद्रान्**=तीन 'ऋक्, यजुः, साम' मन्त्ररूप ज्ञान समुद्रों को, **त्रीन् ब्रध्नान्**=(ब्रध्न=महान्) 'मन, बुद्धि, अहंकार' रूप तीन महान् तत्त्वों को, **त्रीन् वैष्टपान्**=पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक-रूप तीन लोकों को **ते**=तेरा **गोमृन्**=रक्षक **कल्पयामि**=बनाता हूँ। मोक्षलोकों का ध्यान भी मुझे वासना में फँसने से बचाता है। २. **त्रीन् मातरिश्वनः**='प्राण, अपान, व्यान'-(भूः, भुवः, स्वः) रूप तीन वायुओं को तथा **त्रीन् सूर्यान्**=प्रातः, मध्याह्न व सायंकाल के भेदरूप सूर्यों को तेरा रक्षक बनाता हूँ। प्राणसाधना व सूर्य का सेवन मानस व शारीर स्वास्थ्य को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—'मोक्ष-प्राप्ति का ध्यान, वेद का अध्ययन 'मन, बुद्धि व अहंकार' के महत्त्व को समझना, त्रिलोकी के स्वरूप का चिन्तन, प्राणसाधना व सूर्य-सेवन' ये सब हमारे मानस व शारीर स्वास्थ्य के रक्षक बनते हैं।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**त्रिवृत्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'अग्नि, चन्द्र, सूर्य'

घृतेन त्वा समुक्षाम्यग्न आज्येन वर्धयन्।
अग्नेश्चन्द्रस्य सूर्यस्य मा प्राणं मायिनो दभन्॥ ५॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **आज्येन** (अञ्ज् कान्तौ) आपकी प्राप्ति की प्रबल कामना से आपको अपने हृदयदेश में **वर्धयन्**=बढ़ाता हुआ मैं **त्वा**=आपको **घृतेन**=मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्ति से **समुक्षामि**=अपने हृदय में सम्यक् सिक्त करता हूँ। मेरा हृदय आपकी भावना से ओतप्रोत हो जाता है। २. ऐसा होने पर मैं शरीर में शक्ति की अग्निवाला, मन में आह्लादवाला (चन्द्र) तथा मस्तिष्क में दीप्त ज्ञान के सूर्यवाला बनता हूँ। इस **अग्नेः चन्द्रस्य सूर्यस्य**=शरीर

में अग्नि, मन में चन्द्र तथा मस्तिष्क में सूर्य के **प्राणम्**=प्राण को **मायिनः**=मायाविनी वृत्तियाँ—राक्षसीभाव **मा दभन्**=मत हिंसित करें। जब हम अग्नि, चन्द्र व सूर्य बनते हैं तब आसुरभावों से आक्रान्त नहीं होते।

भावार्थ—हम प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामना, मल-क्षरण व ज्ञानदीप्ति से प्रभु को हृदयों में आसीन करें। तब हम शरीर में 'अग्नि', मन में 'चन्द्र' तथा मस्तिष्क में 'सूर्य' बनेंगे। ऐसा होने पर हम आसुरभावों से आक्रान्त नहीं होंगे।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिवृत्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

भ्राजन्तो विश्ववेदसो देवः

मा वः प्राणं मा वोऽपानं मा हरो मायिनो दभन्।
भ्राजन्तो विश्ववेदसो देवा दैव्येन धावत॥ ६॥

१. **वः**=तुम्हारी **प्राणम्**=प्राणशक्ति को **मायिनः**=आसुर-(मायावी)-भाव **मा दभन्**=मत हिंसित करें। **वः**=तुम्हारी **अपानम्**=अपानशक्ति को **मा**=ये आसुरभाव मत हिंसित करें तथा **हरः**=तुम्हारे शत्रुबलापहारक तेज को **मा**=ये आसुरभाव मत हिंसित करें। आसुरी वृत्तियों से प्राणापान व तेज का विनाश होता है। २. आसुरी वृत्तियों में न फँसकर प्राणापान की शक्ति व तेजस्विता से **भ्राजन्तः**=चमकते हुए **विश्ववेदसः**=सब ज्ञानों व धनों को प्राप्त करनेवाले (विद् ज्ञाने, विद् लाभे) **देवाः**=देववृत्ति के पुरुषो! तुम **दैव्येन धावत**=उस देव (प्रभु) के प्राप्त करनेवाले यज्ञादि उत्तम कर्मों से **धावत**=गतिशील बनते हुए अपने जीवनों को शुद्ध बना डालो (धावु गतिशुद्ध्योः)।

भावार्थ—हम आसुरभावों से ऊपर उठकर प्राणापान की शक्ति व तेज का अपने में रक्षण करें। तेजस्विता से दीप्त, ज्ञानी व देव बनकर हम देवोचित कार्यों को करते हुए अपने जीवनों को शुद्ध बना डालें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिवृत्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्राण से 'अग्नि, वात, सूर्य'

प्राणेनाग्निं सं सृजति वातः प्राणेन संहितः।
प्राणेन विश्वतोमुखं सूर्यं देवा अजनयन्॥ ७॥

१. प्रभु **प्राणेन**=इस प्राणशक्ति के द्वारा **अग्निम्**=शरीरस्थ वैश्वानर अग्नि को **संसृजति**=सम्यक् सृष्ट करते हैं। 'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्'। प्राण से युक्त यह अग्नि भोजन का समुचित पाचन करता है। **प्राणेन**=प्राण से **वातः**=(वा गतौ) निरन्तर क्रियाशीलता का भाव हृदय में **संहितः**=सम्यक् धारण किया जाता है। प्राणशक्ति हमें क्रियाशील बनाती है। २. **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **प्राणेन**=प्राण से ही **विश्वतोमुखम्**=सब ओर मुखोंवाले **सूर्यम्**=ज्ञानसूर्य को **अजनयन्**=प्रादुर्भूत करते हैं। प्राणसाधना से ही ज्ञानदीप्ति प्राप्त होती है। यह ज्ञानदीप्ति सब पदार्थों का सम्यक् प्रकाश करने के कारण 'विश्वतोमुख' कही गई है।

भावार्थ—प्राणशक्ति के ठीक होने पर शरीररूप पृथिवी में 'अग्नि' देव, मनरूप अन्तरिक्ष में 'वायु' देव तथा मस्तिष्करूप द्युलोक में 'सूर्य' देव की स्थापना होती है। शरीर में शक्ति, हृदय में कर्मसंकल्प व मस्तिष्क में ज्ञान का निवास होता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिवृत्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

आयुः कृत्, आयुष्मान्, आत्मन्वान्

आयुषायुष्कृतां जीवायुष्माञ्जीव मा मृथाः।
प्राणेनात्मन्वतां जीव मा मृत्योरुदगा वशम्॥ ८॥

१. साधना के द्वारा **आयुः कृताम्**=आयुष्य का सम्पादन करनेवाले पुरुषों की **आयुषा**=आयु से **जीव**=तू जीनेवाला बन। **आयुष्मान्**=प्रशस्त आयुष्यवाला होकर **जीव**=जी। **मा मृथाः**=मर मत। हम साधना के द्वारा दीर्घजीवन का सम्पादन करें और प्रशस्त आयुष्यवाले बनें। २. **आत्मन्वताम्**=प्रशस्त मनवाले पुरुषों के **प्राणेन**=प्राण से **जीव**=तू जीवनवाला बन अथवा प्राणसाधना द्वारा प्रशस्त मनवाला होकर जीवन बिता। तुझमें प्रशस्त मन व प्राणशक्ति का समन्वय हो। तू **मृत्योः**=मृत्यु के **वशम्**=वश में **मा अगाः**=मत जा। मृत्यु तुझे अपने वशीभूत न कर ले।

भावार्थ—हम साधना के द्वारा दीर्घजीवी बनें। प्रशस्त जीवनवाले हों। प्राणसाधना द्वारा मन को निर्मल करके 'आत्मन्वान्' बनें।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिवृत्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

देवनिधि 'हिरण्य'

देवानां निहितं निधिं यमिन्द्रोऽन्वविन्दत्पथिभिर्देवयानैः।
आपो हिरण्यं जुगुपुस्त्रिवृद्भिस्तास्त्वा रक्षन्तु त्रिवृता त्रिवृद्भिः॥ ९॥

१. **देवानाम्**=देववृत्ति के पुरुषों के द्वारा **निहितम्**=अपने शरीर में स्थापित **निधिम्**=निधि को—कोश को **यम्**=जिस निधि को **इन्द्रः**=देवताओं का मुखिया जितेन्द्रिय पुरुष **देवयानैः पथिभिः**=देवयान मार्गों से—देवोचित कर्मों को ही करते रहने से **अन्वविन्दत्**=प्राप्त करता है। उस **हिरण्यम्**=हितरमणीय वीर्य को **आपः**=कर्मों में व्याप्त रहनेवाली प्रजाएँ **त्रिवृद्भिः**='ज्ञान, कर्म व उपासना' में लगे रहने से **जुगुपुः**=रक्षित करती हैं। २. हे हिरण्य! **ताः**=वे प्रजाएँ **त्वा**=तुझे **त्रिवृता**='शक्ति, भक्ति व ज्ञान' में वर्तन के हेतु से **त्रिवृद्भिः**=सदा 'ज्ञान, कर्म व उपासना' में लगे रहने के द्वारा रक्षन्तु रक्षित करें। सुरक्षित वीर्य 'शक्ति, भक्ति व ज्ञान' को बढ़ाता है। इसप्रकार हमें शारीरिक, मानस व बौद्धिक स्वास्थ्य प्राप्त होता है।

भावार्थ—देवयान मार्गों से चलने पर जितेन्द्रिय बनते हुए हम 'हिरण्य' का रक्षण करते हैं। यह हमारे अन्दर शक्ति, पवित्रता व ज्ञान का संचार करता है। हमारा जीवन 'ज्ञान, कर्म व उपासना' मय बनता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिवृत्** ॥ छन्दः—**आर्च्युष्णिक्** ॥

प्रियायमाणाः

त्रयस्त्रिंशद्देवतास्त्रीणि च वीर्या३णि प्रियायमाणा जुगुपुरप्स्व१न्तः।
अस्मिंश्चन्द्रे अधि यद्धिरण्यं तेनायं कृणवद् वीर्याणि॥ १०॥

१. **त्रयस्त्रिंशद् देवताः**=तेतीस देव हैं। आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, इन्द्र और प्रजापति **च**=और **त्रीणि वीर्याणि**=कायिक, वाचिक व मानसभेद से तीन वीर्य हैं। **अप्सु**=प्रजाओं में (आपो नारा इति प्रोक्ताः) **प्रियायमाणाः**=प्रभु को प्रीणित करनेवाले लोग **अन्तः**=अपने अन्दर इन देवों व वीर्यों का **जुगुपुः**=रक्षण करते हैं। (सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठइवासते। 'सूर्यः चक्षुर्भूत्वा०, वायुः प्राणो भूत्वा०, अग्निर्वाग् भूत्वा०') जब हम यज्ञादि कर्मों से प्रभु-प्रीणन में प्रवृत्त होंगे तब अपने अन्दर देवों व वीर्यों का रक्षण कर पाएँगे। २. **अस्मिन्**=इस प्रभु-प्रीणन

में प्रवृत्त **चन्द्रे**=आह्लादमय मनोवृत्तिवाले पुरुष में **यत्**=जो **हिरण्यम्**=हितरमणीय वीर्यशक्ति है, **तेन**=उस हिरण्य से ही **अयम्**=यह चन्द्र=मनःप्रसादयुक्त पुरुष **वीर्याणि कृणवत्**=कायिक, वाचिक व मानस शक्तिशाली कर्मों को करता है।

भावार्थ—हम यज्ञादि कर्मों के द्वारा प्रभु-प्रणीन में प्रवृत्त रहें। इससे वासनाओं से आक्रान्त न होकर हम अपने अन्दर हिरण्य (वीर्य) का रक्षण कर पाएँगे। इस सुरक्षित वीर्य द्वारा हम शरीर, मन व बुद्धि से पराक्रम के कार्य करते हुए दिव्य-गुण-सम्पन्न जीवनवाले बनेंगे।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिवृत्** ॥ छन्दः—**११ आर्च्युष्णिक्, १२ आर्च्यनुष्टुप्, १३ साम्नीत्रिष्टुप्** ॥

(एकादश-एकादश-एकादश), यज्ञशेष का सेवन

ये देवा दिव्येकादश स्थ ते देवासो हविरिदं जुषध्वम्॥ ११॥
ये देवा अन्तरिक्ष एकादश स्थ ते देवासो हविरिदं जुषध्वम्॥ १२॥
ये देवाः पृथिव्यामेकादश स्थ ते देवासो हविरिदं जुषध्वम्॥ १३॥

१. **ये**=जो **देवाः**=देव **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **एकादश स्थ**=ग्यारह हो, **ते देवासः**=वे देव इस त्यागपूर्वक अदन को (हु दानादनयोः)—यज्ञशेष के सेवन को **जुषध्वम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करो। मेरे द्युलोकस्थ देव सदा यज्ञशेष का सेवन करें। यज्ञशेष का सेवन ही देवों के देवत्व को स्थिर रखता है। इसी से 'दशप्राण व जीवात्मा' ठीक बने रहेंगे। २. **ये देवाः**=जो देव **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष में **एकादश स्थ**=ग्यारह हैं, **ते देवासः**=वे देव **इदं हविः जुषध्वम्**=इस यज्ञशेष का सेवन करनेवाले हों। अन्तरिक्षस्थ ग्यारह देव 'दश इन्द्रियाँ व मन' हैं, यज्ञशेष का सेवन इन्हें स्वस्थ रखता है। इससे इनका देवत्व बना रहता है। ३. **ये देवाः**=जो देव **पृथिव्याम्**=इस शरीररूप पृथिवी में **एकादश स्थ**=दश इन्द्रियगोलक और अन्नमयकोश हैं, **ते देवासः**=वे सब देव **इदं हविः**=इस हवि का **जुषध्वम्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करें। यज्ञशेष के सेवन से ये सब ठीक बने रहते हैं।

भावार्थ—यज्ञशेष के सेवन से शरीरस्थ तेतीस देव ठीक बने रहें। इनका देवत्व नष्ट न हो, यही पूर्ण स्वास्थ्य है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**त्रिवृत्** ॥ छन्दः—**१४ अनुष्टुप्, १५ षट्पदाऽतिशक्वरी** ॥

असपत्नम्-अभयम्, अघ्न्या, जातवेदाः

असपत्नं पुरस्तात्पश्चान्नो अभयं कृतम्।
सविता मा दक्षिणत उत्तरान्मा शचीपतिः॥ १४॥
दिवो मादित्या रक्षन्तु भूम्या रक्षन्त्वग्नयः।
इन्द्राग्नी रक्षतां मा पुरस्तादश्विनावभितः शर्म यच्छताम्।
तिरश्चीनघ्न्या रक्षतु जातवेदा भूतकृतो मे सर्वतः सन्तु वर्म॥ १५॥

१. व्याख्या १९.१६.१-२ पर द्रष्टव्य है।

यह अघ्न्या (अहन्तव्या) वेदवाणी का स्वाध्याय करनेवाला व्यक्ति 'ब्रह्मा' बनता है। इसी के अगले तीन सूक्त हैं—

२८. [अष्टाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**दर्भमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

दीर्घायुत्वाय, तेजसे

इमं बध्नामि ते मणिं दीर्घायुत्वाय तेजसे।
दर्भं सपत्नदम्भनं द्विषतस्तपनं हृदः॥ १॥

१. 'आपो दर्भाः श० २.२.३.११' इस वाक्य के अनुसार 'आपः' ही 'दर्भाः' कहलाते हैं। 'आपः' शरीरस्थ रेतःकणों का नाम है, अतः रेतःकण ही 'दर्भ' कहे गये हैं। रेतःकण 'मणि' व 'रत्न' हैं—शरीर में रमणीयतम वस्तु हैं, अतः 'दर्भमणि' शब्द का प्रयोग इन रेतःकणों के लिए हुआ है। **इमम्**=इस **मणिम्**=मणि को **ते बध्नामि**=तेरे लिए बाँधता हूँ। शरीर में इसे सुबद्ध करता हूँ, ताकि **दीर्घायुत्वाय**=तुझे दीर्घजीवन प्राप्त हो तथा **तेजसे**=तू तेजस्वी बने। २. इस **दर्भम्**=दर्भ को मैं तेरे लिए बाँधता हूँ, क्योंकि (दृभ to fear, to be afraid of) इससे सब रोग भयभीत होते हैं। **सपत्नदम्भनम्**=यह तो रोगरूप शत्रुओं को हिंसित करनेवाला है। **द्विषतः हृदः तपनम्**=ये दर्भ हमसे प्रीति न करनेवाले शत्रु के हृदय को संतप्त करनेवाले हैं। शरीर में दर्भ का बन्धन होने पर शरीर में रोगरूप शत्रुओं का वास नहीं हो पाता।

भावार्थ—शरीर में वीर्यकणों के रूप में रहनेवाले 'आपः' ही 'दर्भ' हैं। इनका शरीर में बँधन होने पर वहाँ रोगरूप शत्रु नहीं आ सकते। यह रोगों से अनाक्रान्त व्यक्ति दीर्घजीवी व तेजस्वी बनता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**दर्भमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

द्विषन्-शत्रु-दुर्हादः

द्विषतस्तापयन्हृदः शत्रूणां तापयन्मनः।
दुर्हार्दः सर्वांस्त्वं दर्भ घर्मइवाभीन्त्संतापयन्॥ २॥

१. **द्विषतः**=हमसे प्रीति न करनेवाले विरोधियों के **हृदः**=हृदयों को **तापयन्**=सन्तप्त करता हुआ यह 'दर्भ' है। **शत्रूणाम्**=हमारा शातन करनेवाले शत्रुओं के **मनः**=मन को **तापयन्**=तपाता हुआ यह दर्भ है। २. हे **दर्भ**=शत्रुओं को भयभीत करनेवाले दर्भमणे! **त्वम्**=तू **सर्वान्**=सब **अभीन्**=न डरनेवाले—अति प्रबल **दुर्हार्दः**=दुष्ट हृदयवालों को **घर्मः इव**=आदित्य की भाँति **तापयन्**=संतप्त करता हुआ हो।

भावार्थ—दर्भमणि के धारण से—वीर्य-रक्षण से द्वेषभाव दूर हो जाते हैं, 'काम, क्रोध, लोभ' आदि शत्रु विनष्ट हो जाते हैं, हृदय से सब दुर्भाव दूर हो जाते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**दर्भमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सपत्न-हृदय-भेदन

घर्मइवाभितपन्दर्भ द्विषतो नितपन्मणे।
हृदः सपत्नानां भिन्द्धीन्द्रइव विरुजं बलम्॥ ३॥

१. **घर्मः इव**=सूर्य के समान **अभितपन्**=दीप्त होते हुए **दर्भ मणे**=शत्रु-हिंसक वीर्यमणे! तू **द्विषतः नितपन्**=हमारे साथ प्रीति न करनेवाले रोगरूप शत्रुओं को नितरां संतप्त करते हुए **सपत्नानाम्**=इन शत्रुओं के **हृदः भिन्धि**=हृदयों को विदीर्ण कर दे। २. **इन्द्रः इव**=इन्द्र की भाँति—शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले जितेन्द्रिय पुरुष की भाँति **बलम्**=शत्रु-सैन्य को **विरुजम्**

(रुजो भंगे) भग्न करनेवाली हो।

भावार्थ—वीर्य ही दर्भमणि है—रोगरूप शत्रुओं का विद्रावण करनेवाली है। यह सूर्य की भाँति दीप्त होती हुई रोग-सैन्य को संतप्त करके नष्ट कर डाले।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**दर्भमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शत्रु-शिरो-विपातन

भिन्द्धि दर्भ सपत्नानां हृदयं द्विषतां मणे।
उद्यन्त्वचमिव भूम्याः शिर एषां वि पातय॥ ४॥

१. हे **दर्भ**=दर्भमणे—रोगरूप शत्रुओं की हिंसक वीर्यमणे! तू **सपत्नानाम्**=रोगरूप शत्रुओं के **हृदयम्**=हृदय को **भिन्धि**=विदीर्ण कर दे। रोगों के प्राबल्य को समाप्त कर दे। २. **उद्यन्**=शरीर में ऊर्ध्व गतिवाली होती हुई तू **भूम्याः त्वचम् इव**=जैसे कोई कुदाल आदि से भूमि की उपरली त्वचा को खोद डालता है, उसी प्रकार तू **एषां द्विषताम्**=इन, हमारे साथ प्रीति न करनेवाले रोगरूप शत्रुओं के **शिरः विपातय**=सिर को काटकर गिरा दे।

भावार्थ—शरीर में वीर्य की ऊर्ध्वगति होने पर रोगरूप शत्रुओं का सिर कट जाता है, अर्थात् रोग विनष्ट हो जाते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**दर्भमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रोगों का विदारण

भिन्द्धि दर्भ सपत्नान्मे भिन्द्धि मे पृतनायतः।
भिन्द्धि मे सर्वान्दुर्हार्दो भिन्द्धि मे द्विषतो मणे॥ ५॥

१. हे **दर्भ**=वीर्यमणे! **मे**=मेरे **सपत्नान्**=शत्रुभूत रोगों को **भिन्धि**=विदीर्ण कर डाल। **ये पृतनायतः**=मुझपर सेना से चढ़ाई करनेवाले—नाना प्रकार के उपद्रवों के साथ आक्रमण करनेवाले इन रोगों को **भिन्धि**=नष्ट कर। २. मेरे प्रति **सर्वान्**=सब **दुर्हार्दः**=दुष्ट हृदयवाले—मेरा अशुभ चाहनेवाले शत्रुओं को **भिन्धि**=विदीर्ण कर। हे **मणे**=वीर्य! तू **मे द्विषतः**=मेरे साथ अप्रीतिवाले इन रोगरूप शत्रुओं को **भिन्धि**=विदीर्ण कर।

भावार्थ—रोग हमारे सपत्न हैं—हमारे शरीर पर अपना आधिपत्य स्थापित करना चाहते हैं। ये रोग विविध उपद्रवरूप सैन्य के साथ हमपर आक्रमण करते हैं। ये हमारे प्रति दुष्टभाववाले हैं—ये कभी हमारा भला नहीं करते। इनकी हमारे साथ कोई प्रीति नहीं। वीर्य शरीर में सुरक्षित होने पर इनका विदारण कर देता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**दर्भमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रोग-छेदन

छिन्द्धि दर्भ सपत्नान्मे छिन्द्धि मे पृतनायतः।
छिन्द्धि मे सर्वान्दुर्हार्दान् छिन्द्धि मे द्विषतो मणे॥ ६॥

१. हे **दर्भ**=वीर्यमणे! **मे**=मेरे **सपत्नान्**=रोगरूप शत्रुओं को **छिन्धि**=(छिदिर् द्वेधीकरणे) दो टुकड़ों में काट डाल। **मे**=मुझपर **पृतनायतः**=उपद्रवसैन्य से आक्रमण करनेवाले इन रोगरूप शत्रुओं को **छिन्धि**=छिन्न कर दे। २. **मे**=मेरे प्रति **सर्वान्**=सब **दुर्हार्दान्**=दुष्ट हृदयवाले इन रोगों को **छिन्धि**=काट डाल। हे **मणे**=वीर्य! **मे द्विषतः**=मेरे प्रति अप्रीतिवाले इन रोगों को **छिन्धि**=समाप्त कर डाल।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित होने पर वीर्य रोगों का छेदन कर डालता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**दर्भमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रोग-वृश्चन

वृश्च दर्भ सपत्नान्मे वृश्च मे पृतनायतः।
वृश्च मे सर्वान्दुर्हार्दो वृश्च मे द्विषतो मणे॥ ७॥

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य रोगों का वृश्चन (छेदन) कर डालता है। रोगवृक्ष के लिए वीर्य कुल्हाड़े के समान है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**दर्भमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रोग-कर्तन

कृन्त दर्भ सपत्नान्मे कृन्त मे पृतनायतः।
कृन्त मे सर्वान्दुर्हार्दः कृन्त मे द्विषतो मणे॥ ८॥

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य रोगों का कर्तन कर देता है। रोग की बेलों के लिए यह वीर्य कर्तरिका=कैंची के समान है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**दर्भमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रोगों को पीस डालना

पिंश दर्भ सपत्नान्मे पिंश मे पृतनायतः।
पिंश मे सर्वान्दुर्हार्दः पिंश मे द्विषतो मणे॥ ९॥

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य रोगों को पीस डालता है (पिश अवयवे)

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**दर्भमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रोग वेधन

विध्य दर्भ सपत्नान्मे विध्य मे पृतनायतः।
विध्य मे सर्वान्दुर्हार्दो विध्य मे द्विषतो मणे॥ १०॥

भावार्थ—'सुरक्षित वीर्य' रूप सेनापति रोगरूप शत्रुओं का सिर विद्ध करता हुआ उन्हें धराशायी कर देता है।

२९. [एकोनत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**दर्भमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रोगों को छेद डालना

निक्ष दर्भ सपत्नान्मे निक्ष मे पृतनायतः।
निक्ष मे सर्वान्दुर्हार्दो निक्ष मे द्विषतो मणे॥ १॥

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य रोगों को छेद डालता है (निक्ष् to pierce)।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**दर्भमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रोगहिंसन

तृन्द्धि दर्भ सपत्नान्मे तृन्द्धि मे पृतनायतः।
तृन्द्धि मे सर्वान्दुर्हार्दस्तृन्द्धि मे द्विषतो मणे॥ २॥

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य रोगरूप शत्रुओं को कुचल डालता है (तृद्-हिंसने)।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—दर्भमणिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

रोग-निरोध

रुन्द्धि दर्भ सपत्नान्मे रुन्द्धि मे पृतनायतः।
रुन्द्धि मे सर्वान्दुर्हार्दो रुन्द्धि मे द्विषतो मणे॥ ३॥

भावार्थ—शरीर में वीर्य के सुरक्षित होने पर रोगों का स्वभावतः निरोध हो जाता है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—दर्भमणिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

रोगों को मसल (to Slay) डालना

मृण दर्भ सपत्नान्मे मृण मे पृतनायतः।
मृण मे सर्वान्दुर्हार्दो मृण मे द्विषतो मणे॥ ४॥

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य रोगों का संहार कर डालता है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—दर्भमणिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

रोग मन्थन (Humiliate, crush down)

मन्थ दर्भ सपत्नान्मे मन्थ मे पृतनायतः।
मन्थ मे सर्वान्दुर्हार्दो मन्थ मे द्विषतो मणे॥ ५॥

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य रोगों का सर्वथा विनाश कर डालता है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—दर्भमणिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

रोग-संचूर्णन

पिण्ड्ढि दर्भ सपत्नान्मे पिण्ड्ढि मे पृतनायतः।
पिण्ड्ढि मे सर्वान्दुर्हार्दः पिण्ड्ढि मे द्विषतो मणे॥ ६॥

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य रोगों का चूरा-चूरा कर डालता है (पिष् संचूर्णने)।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—दर्भमणिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

रोग-दहन

ओष दर्भ सपत्नान्मे ओष मे पृतनायतः।
ओष मे सर्वान्दुर्हार्द ओष मे द्विषतो मणे॥ ७॥

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य रोगों को संदग्ध कर देता है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—दर्भमणिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

रोगों को भस्मीभूत कर देना

दह दर्भ सपत्नान्मे दह मे पृतनायतः।
दह मे सर्वान्दुर्हार्दो दह मे द्विषतो मणे॥ ८॥

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य रोगों को भस्मीभूत कर देता है।

ऋषिः—ब्रह्मा॥ देवता—दर्भमणिः॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

रोग-हनन

जहि दर्भ सपत्नान्मे जहि मे पृतनायतः।
जहि मे सर्वान्दुर्हार्दो जहि मे द्विषतो मणे॥ ९॥

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य रोगों को सुदूर विनष्ट करनेवाला होता है।

सूचना—प्रस्तुत प्रसंग में साहित्य की 'अभ्यास' शैली का सुन्दर चित्रण हो गया है। एक ही बात को क्रमशः 'भिन्द्धि, छिन्द्धि, वृश्च, कृन्त, पिंश, विध्य, निक्ष, तृन्द्धि, रुन्द्धि, मृण, मन्थ, पिण्ड्ढि, ओष, दह व जहि' क्रियाओं से कहा गया है।

३०. [त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**दर्भमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अद्वितीय कवच

यत्ते दर्भ जरामृत्युः शतं वर्मसु वर्म ते।
तेनेमं वर्मिणं कृत्वा सपत्नां जहि वीर्यैः॥ १॥

१. वीर्यकण ही वस्तुतः रोगों से रक्षित करनेवाला महान् कवच है, अतः कहते हैं कि हे **दर्भ**=रेतःकण! **यत्**=जो **ते**=तेरा **वर्म**=कवच है, वह **ते**=तेरा कवच **शतं वर्मसु**=सैकड़ों कवचों में एक अद्वितीय ही कवच है। यह कवच **जरामृत्युः**=पूर्ण वृद्धावस्था के बाद ही मृत्यु को प्राप्त करानेवाला है। इस कवच से रक्षित होकर मनुष्य युवावस्था में ही समाप्त नहीं हो जाता। २. **तेन**=उस कवच से **इमम्**=इस इन्द्र को **वर्मिणं कृत्वा**=कवचवाला करके **सपत्नान्**=रोगरूप शत्रुओं को **वीर्यैः**=पराक्रमों द्वारा **जहि**=सुदूर विनष्ट कर डाल।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य एक अद्वितीय कवच है। यह हमें रोगों से आक्रान्त नहीं होने देता। यह हमें पूर्ण आयुष्य प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**दर्भमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

जरसे-भर्तवे

शतं ते दर्भ वर्माणि सहस्रं वीर्या३णि ते।
तमस्मै विश्वे त्वां देवा जरसे भर्तवा अदुः॥ २॥

१. हे **दर्भ**=वीर्यमणे! **ते**=तेरे **वर्माणि**=कवच **शतम्**=सैकड़ों हैं। यह वीर्यमणि हमें शतवर्षपर्यन्त कवच धारण कराती हुई रोगों से आक्रान्त नहीं होने देती। हे दर्भ! **ते वीर्याणि**=तेरे पराक्रम **सहस्रम्**=हज़ारों हैं। यह वीर्यमणि हज़ारों प्रकार से रोगरूप शत्रुओं को आक्रान्त करती है। २. **तं त्वाम्**=उस तुझको **विश्वेदेवाः**=सब प्राकृतिक देव **अस्मै**=इस पुरुष के लिए **अदुः**=देते हैं, जिससे **जरसे**=यह पूर्ण जरावस्था तक आयुष्यों को भोगनेवाला हो तथा **भर्तवे**=ठीक से अपना भरण-पोषण कर सके।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य शरीर को विविध कवचों को धारण कराता है—पराक्रमवाला बनाता है। सब प्राकृतिक शक्तियाँ इस कवच को हमें दीर्घजीवन व भरण के लिए प्राप्त कराती हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**दर्भमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

देववर्म—इन्द्रवर्म

त्वामाहुर्देववर्म त्वां दर्भ ब्रह्मणस्पतिम्।
त्वामिन्द्रस्याहुर्वर्म त्वं राष्ट्राणि रक्षसि॥ ३॥

१. हे **दर्भ**=वीर्यमणे! **त्वाम्**=तुझे **देव-वर्म आहुः**=उस महान् देव प्रभु से दिया हुआ कवच कहते हैं। इस कवच को देवों ने ही धारण कर रखा है, इसलिए भी यह 'देववर्म' कहलाया है। **त्वाम्**=तुझे **ब्रह्मणस्पतिम् आहुः**=ब्रह्मणस्पति—ज्ञान का रक्षक कहते हैं। सुरक्षित

वीर्य ही ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। २. हे दर्भ! **त्वाम्**=तुझे **इन्द्रस्य वर्म आहुः**=जितेन्द्रिय पुरुष का कवच कहते हैं। एक जितेन्द्रिय पुरुष ही वीर्य का रक्षण कर पाता है। यह सुरक्षित वीर्य उसका कवच बनता है और उसे रोगाक्रान्त नहीं होने देता। यह जितेन्द्रिय पुरुष ही राष्ट्र का सम्यक् शासन कर पाता है। 'जितेन्द्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः', अतः कहते हैं कि हे वीर्य! **त्वम्**=तू ही **राष्ट्राणि रक्षसि**=राष्ट्रों का रक्षण करता है।

भावार्थ—हम देववृत्ति के व जितेन्द्रिय बनकर वीर्य का रक्षण कर पाते हैं। सुरक्षित वीर्य हमारी ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और हमें रोगों से आक्रान्त नहीं होने देता। यही एक राजा को राष्ट्ररक्षण की योग्यता प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**दर्भमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सपत्नक्षयणं-द्विषतस्तपनम्

सपत्नक्षयणं दर्भ द्विषतस्तपनं हृदः।
मणिं क्षत्रस्य वर्धनं तनूपानं कृणोमि ते॥ ४॥

१. हे **दर्भ**=वीर्यमणे! तू **सपत्नक्षयणम्**=रोगरूप सपत्नों का क्षय करनेवाला है। **द्विषतः**=हमसे प्रीति न करनेवाले राग-द्वेष आदि के **हृदः**=हृदयों को तू **तपनम्**=सन्तप्त करनेवाला है, अर्थात् इनको समाप्त करनेवाला है। २. तू **क्षत्रस्य वर्धनम्**=क्षतों से त्राण करनेवाले बल का बढ़ानेवाला है। **मणिम्**=तू मणि के तुल्य है। **ते**=तेरे द्वारा ही मैं **तनूपानम्**=शरीर का रक्षण **कृणोमि**=करता हूँ। अथवा शरीर में तेरा पान करता हूँ। शरीर में तुझे सुरक्षित करता हुआ मैं अपने को रक्षित करता हूँ।

भावार्थ—रोगरूप सपत्नों का नाश करनेवाली इस दर्भमणि (वीर्य) को मैं शरीर में सुरक्षित करता हुआ, इसके द्वारा अपना रक्षण करता हूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**दर्भमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

समुद्रः-पर्जन्यः

यत्समुद्रो अभ्यक्रन्दत्पर्जन्यो विद्युता सह।
ततो हिरण्ययो बिन्दुस्ततो दर्भो अजायत॥ ५॥

१. **यत्**=जब **समुद्रः**=(स-मुद्) मनःप्रसाद से युक्त यह **पर्जन्यः**=(परां तृप्तिं जनयति) अपने अन्दर परापृप्ति को अनुभव करनेवाला आत्मतृप्त पुरुष **विद्युता सह**=विशिष्ट द्युति के साथ होता है और **अभ्यक्रन्दत्**=प्रभु का लक्ष्य करके आह्वान करता है—प्रभु का आराधन करता है, **ततः**=तभी यह **बिन्दुः**=रेतःकण **हिरण्ययः**=इसके लिए हितरमणीय व ज्योतिर्मय होता है। २. शरीर में वीर्यरक्षण के लिए साधन हैं (१) मन को प्रसन्न रखना (समुद्रः), (२) प्रभु का आराधन (अभ्यक्रन्दत्), (३) अपने अन्दर तृप्ति अनुभव करना—विषयों की ओर न जाना (पर्जन्यः), (४) ज्ञानप्रधान बनना (विद्युता सह)। **ततः**=ऐसा होने पर यह वीर्य **दर्भः अजायत**= शत्रुओं का हिंसन करनेवाला हो जाता है। इससे रोग भयभीत हो उठते हैं (दृभ=to be afraid of)।

भावार्थ—मनःप्रसाद से युक्त होकर हम प्रभु का आह्वान करें। यह प्रभु-स्मरण हमारे वीर्य का रक्षण करेगा और सुरक्षित वीर्य हमारे शत्रुओं को भयभीत करनेवाला होगा।

प्रभु-स्मरणपूर्वक अपने जीवन में वीर्य का सम्पादन करनेवाला 'सविता' अगले सूक्त का ऋषि है। यह वीर्यशक्ति को 'औदुम्बरमणि' के रूप में स्मरण करता है 'सोऽब्रवीत् अयं वाव

स मा सर्वस्मात् पाप्मन् उद् अभार्जीत् तस्मात् उदुम्भरः। उदुम्बर इति आचक्षते परोक्षम् शत० ७.४.१.२२' शरीर में सुरक्षित वीर्य सब पापों व रोगों से बचाता है—

३१. [एकत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**सविता (पुष्टिकामः)**॥ देवता—**औदुम्बरमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

औदुम्बरमणि

औदुम्बरेण मणिना पुष्टिकामाय वेधसा।
पशूनां सर्वेषां स्फातिं गोष्ठे मे सविता करत्॥ १॥

१. **वेधसा**=(वेधस् creator, Name of सोम) शरीर में सब शक्तियों को उत्पन्न करनेवाली **औदुम्बरेण मणिना**=सब पापों व रोगों से ऊपर उठानेवाली 'औदुम्बर' नामवाली वीर्यरूप मणि से **सविता**=शक्ति का सम्पादक प्रभु **पुष्टिकामाय मे**=पुष्टि की कामनावाले मेरे लिए **गोष्ठे**=इस शरीररूप गोष्ठ में **सर्वेषां पशूनाम्**=सब इन्द्रियरूप पशुओं की **स्फातिम्**=वृद्धि **करत्**=करें। २. शरीर गोष्ठ है। इसमें सब देव भिन्न-भिन्न इन्द्रियों के रूप में इसप्रकार रह रहे हैं, जैसेकि गोष्ठ में गौएँ रहती है 'सर्वाह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठइवासते'। वीर्यशक्ति के रक्षण से इन सब इन्द्रियरूप गौओं की शक्ति बढ़ती है।

भावार्थ—प्रभु मेरे अन्दर वीर्यरूप 'औदुम्बरमणि' का रक्षण करें। यह मणि ही सब शक्तियों को उत्पन्न करती है। इसी से शरीररूप गोष्ठ में इन्द्रियरूप गौओं का वर्धन होता है।

ऋषिः—**सविता (पुष्टिकामः)**॥ देवता—**औदुम्बरमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अग्निः-गार्हपत्यः

यो नो अग्निर्गार्हपत्यः पशूनामधिपा असत्।
औदुम्बरो वृषा मणिः सं मा सृजतु पुष्ट्या॥ २॥

१. **यः**=जो **औदुम्बरमणिः**=हमें सब पापों व रोगों से ऊपर उठानेवाली यह औदुम्बर—वीर्यरूप मणि है, वह **नः**=हमें **अग्निः**=आगे ले-चलनेवाली है, **गार्हपत्यः**=यही वस्तुतः हमारे इस शरीरगृह का रक्षण करनेवाली है। यह **पशूनाम्**=इन्द्रियरूप गौओं की **अधिपाः**=आधिक्येन रक्षण करनेवाली **असत्**=है। २. यह मणि **वृषा**=हमें शक्तिशाली बनाती है। यह **मा**=मुझे **पुष्ट्या**=पुष्टि से **संसृजतु**=संसृष्ट करे।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य ही उन्नति का कारण है। यही शरीर का रक्षक है। इन्द्रियों को यही रक्षित करता है व शक्तिशाली बनाता है। यह हमें पुष्ट करे।

ऋषिः—**सविता (पुष्टिकामः)**॥ देवता—**औदुम्बरमणिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

गौ और औदुम्बर मणि

करीषिणीं फलवतीं स्वधामिरां च नो गृहे।
औदुम्बरस्य तेजसा धाता पुष्टिं दधातु मे॥ ३॥

१. **करीषिणीम्**=प्रशस्त करीष (गोमय) को प्राप्त करानेवाली, **फलवतीम्**=(त्रिफला विशरणे) रोगों को विशीर्ण करने की क्रियावाली **च**=और **स्वधाम्**=हमारे अन्दर आत्मतत्त्व को धारण करानेवाली (सात्त्विक दुग्ध से बुद्धि को सात्त्विक करके यह हमें आत्मदर्शन के योग्य बनाती है) **इराम्**=(इडा=गौ) गौ को **नः**=हमारे **गृहे**=घर में **धाता**=वे धारक प्रभु **दधातु**=धारण करें। इन गौओं के होने पर प्रशस्त गोमय प्राप्त होता है—यह भूमि को उपजाऊ बनाता है तथा लेपन

आदि के होने पर क्रिमिनाशन का कार्य करता है। गौ का दूध प्रशस्त बुद्धि देता है और नीरोगता प्राप्त कराता है। २. गोदुग्ध के प्रयोग से 'धाता'—वह धारक प्रभु **औदुम्बरस्य**= इस औदुम्बरमणि को **तेजसा**=तेज से **मे**=मेरे लिए **पुष्टिम्**=अंग-प्रत्यंग के पोषण को (दधातु) धारण करे।

भावार्थ—हम गोदुग्ध के प्रयोग से नीरोग व तीव्र-बुद्धि बनें। प्रभु गोदुग्ध से अंग-प्रत्यंग को पुष्ट कर हमें दीर्घजीवी बनाते हैं।

ऋषिः—**सविता (पुष्टिकामः)**॥ देवता—**औदुम्बरमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वीर्यरक्षण व ऐश्वर्य (भूमा)

यद् द्विपाच्च चतुष्पाच्च यान्यन्नानि ये रसाः।
गृह्णे३हं त्वेषां भूमानं बिभ्रदौदुम्बरं मणिम्॥ ४॥

१. **यत्** जो **द्विपात्**=दो पाँववाले मनुष्य आदि हैं **च**=और **चतुष्पात्**=गौ आदि पशु हैं **च**=और **यानि अन्नानि**=जो जौ-चावल आदि अन्न हैं तथा **ये रसाः**=दूध-दही, इक्षु आदि रसवाले पदार्थ हैं, **अहम्**=मैं **तु**=तो **औदुम्बरं मणिं बिभ्रत्**=सब पापों व रोगों से ऊपर उठानेवाली इस वीर्यमणि को धारण करता हुआ **एषाम्**=इन सबके **भूमानम्**=बाहुल्य को **गृह्णे**=ग्रहण करता हूँ।

भावार्थ—वीर्यरक्षणवाला पुरुष सब प्रकार से समृद्ध बनाता है—अभ्युदयशाली होता है।

ऋषिः—**सविता (पुष्टिकामः)**॥ देवता—**औदुम्बरमणिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पयः पशूनां, रसमोषधीनाम्

पुष्टिं पशूनां परि जग्रभाहं चतुष्पदां द्विपदां यच्च धान्य॑म्।
पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नि यच्छात्॥ ५॥

१. **अहम्**=मैं वीर्यरक्षण करनेवाला होता हुआ **पशूनां पुष्टिम्**=गवादि पशुओं की पुष्टि को **परिजग्रभ**=सर्वथा प्राप्त होता हूँ। **चतुष्पदाम्**=गवादि चार पाँववाले पशुओं की **द्विपदाम्**=दो पाँववाले मनुष्यों की पुष्टि को प्राप्त करता हूँ, **च**=और **यत्**=जो **धान्यम्**=व्रीहि-यव आदि धान्य हैं, उनकी पुष्टि को प्राप्त करता हूँ। मेरा घर सब प्रकार से फूला-फला होता है। २. वह **बृहस्पतिः**=आकाशादि बड़े-बड़े सब लोकों का स्वामी अथवा ज्ञान का स्वामी **सविता**=प्रेरणा देनेवाला प्रभु **मे**=मेरे लिए **पशूनां पयः**=गवादि पशुओं के दूध को तथा **ओषधीनां रसम्**=व्रीहि-यवादि ओषधियों के रस को **नियच्छात्**=देते हैं। मेरे लिए वे यही नियम बनाते हैं कि मैं पशुओं से तो दूध को ही भोजन के रूप में लूँ तथा ओषधियों के सार को ग्रहण करनेवाला बनूँ। इसप्रकार शुद्ध वानस्पतिक भोजन में चलूँ।

भावार्थ—वीर्यरक्षण करते हुए हम सब प्रकार से समृद्ध हों। पशुओं से दूध व ओषधियों से रस को लेनेवाले बनें।

ऋषिः—**सविता (पुष्टिकामः)**॥ देवता—**औदुम्बरमणिः** ॥ छन्दः—**विराट्प्रस्तारपङ्क्तिः** ॥

पशु+द्रविण

अहं पशूनामधिपा असानि मयि पुष्टं पुष्टपतिर्दधातु।
मह्यमौदुम्बरो मणिर्द्रविणानि नि यच्छतु॥ ६॥

१. **अहम्**=मैं **पशूनाम्**=शरीरस्थ इन्द्रियरूप पशुओं का **अधिपाः**=अधिष्ठातृरूपेण रक्षक **असानि**=होऊँ, जितेन्द्रिय बनूँ। **पुष्टपतिः**=सब पोषणों का स्वामी प्रभु **मयि**=मुझमें **पुष्टं दधातु**=सब शक्तियों का पोषण धारण करे। मैं सब अंगों के दृष्टिकोण से पुष्ट बनूँ। २. यह **औदुम्बरः**

मणिः=मुझे सब पापों व रोगों से उभारनेवाली वीर्यमणि **मह्यम्**=मेरे लिए **द्रविणानि**=सब धनों को **नियच्छतु**=दे।

भावार्थ—मैं सब इन्द्रियों को विषय-वासनाओं से बचाता हुआ सब अंगों का पोषण प्राप्त करूँ। वीर्यरक्षण द्वारा सब जीवन-धनों को प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**सविता (पुष्टिकामः)**॥ देवता—**औदुम्बरमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

प्रजा, धन, वर्चस्

उप मौदुम्बरो मणिः प्रजया च धनेन च।
इन्द्रेण जिन्वितो मणिरा मागन्त्सह वर्चसा॥ ७॥

१. यह **औदुम्बरः मणिः**=सब पापों व रोगों से उभारनेवाली वीर्यमणि **मा**=मुझे **प्रजया च**=उत्तम प्रजा के साथ, **च**=और **धनेन**=धन के साथ **उप**=समीपता से प्राप्त हो। वीर्यरक्षण से मैं उत्तम सन्तान व धन प्राप्त करूँ। २. **इन्द्रेण**=उस परमैश्वर्यशाली—सर्वशक्तिसम्पन्न—प्रभु से **जिन्वितः**=हमारे शरीर में प्रेरित की हुई यह **मणिः**=वीर्यमणि **मा**=मुझे **वर्चसा सह**=वर्चस् के साथ—Vitality=प्राणशक्ति के साथ **आगन्**=प्राप्त हो। सुरक्षित वीर्य मुझे वर्चस्वी बनाए—मैं सब रोगों का पराजय करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य हमें उत्तम प्रजा, धन व वर्चस् प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**सविता (पुष्टिकामः)**॥ देवता—**औदुम्बरमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सपत्नहा-धनसाः

देवो मणिः सपत्नहा धनसा धनसातये।
पशोरन्नस्य भूमानं गवां स्फातिं नि यच्छतु॥ ८॥

१. यह औदुम्बरमणि **देवः मणिः**=सब रोगों को जीतने की कामनावाली मणि है (दिव् विजिगीषायाम्), यह **सपत्नहा**=रोगरूप शत्रुओं का हनन करती है। **धनसाः**=सब जीवन-धनों को प्राप्त कराती है। यह **धनसातये**=इन जीवनधनों की प्राप्ति के लिए हो। २. यह मुझे **पशोः**=गवादि पशुओं, **अन्नस्य**=व्रीहि-यवादि अन्नों तथा विशेषकर **गवां स्फातिम्**=गौओं की समृद्धि को **नियच्छतु**=प्राप्त कराए। घर गौ से ही तो समृद्ध होता है, स्वर्ग बनता है।

भावार्थ—यह वीर्यमणि देव है—सब रोगों का पराजय करती है, जीवन-धनों को प्राप्त कराती है, वीर्यरक्षक का घर पशुओं व अन्नों से समृद्ध बनाता है।

ऋषिः—**सविता (पुष्टिकामः)**॥ देवता—**औदुम्बरमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वीर्यरक्षण व सरस्वती आराधन

यथाग्रे त्वं वनस्पते पुष्ट्या सह जज्ञिषे।
एवा धनस्य मे स्फातिमा दधातु सरस्वती॥ ९॥

१. हे **वनस्पते**=वनस्पतियों के सेवन से उत्पन्न औदुम्बरमणे! (वीर्यमणे!) **यथा**=जैसे **त्वम्**=तू **अग्रे**=सर्वप्रथम **पुष्ट्या सह**=सब शक्तियों के पोषण के साथ **जज्ञिषे**=प्रादुर्भूत होती है, **एवा**=इसीप्रकार यह **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता **मे**=मेरे लिए **धनस्य स्फातिम्**=ज्ञान-धन की वृद्धि को **आदधातु**=धारण करे। २. वीर्यरक्षण के अनुपात में ही ज्ञानाग्नि की दीप्ति होती है और ज्ञानधन प्राप्त होता है।

भावार्थ—हम वीर्यरक्षण करते हुए सरस्वती के प्रिय बनें।

ऋषिः—**सविता (पुष्टिकामः)**॥ देवता—**औदुम्बरमणिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

धन-दूध-धान्य

आ मे धनं सरस्वती पयस्फातिं च धान्य॑म्।
सिनीवाल्युपा वहादयं चौदुम्बरो मणिः॥ १०॥

यह **सिनीवाली**=(सिनम्=अन्नम्) अन्नोंवाली **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता **मे**=मेरे लिए **धनम्**=धन को **पयस्फातिम्**=दूध की वृद्धि को **च**=तथा **धान्यम्**=धान्य को **उपावहात्**=सर्वथा समीपता से प्राप्त कराए, अर्थात् मेरा ज्ञान उस विज्ञानवाला हो जो मुझे 'धन, दूध व धान्य' के प्राचुर्य को देनेवाला हो। २. **च**=और **अयम्**=यह **औदुम्बरः मणिः**=सब रोगों व पापों से ऊपर उठानेवाली वीर्यमणि मुझे धन, दूध व धान्य को देनेवाली हो। वीर्यरक्षण मेरी समृद्धि का कारण बने।

भावार्थ—ज्ञान की आरधना तथा वीर्यरक्षण मुझे 'धन, दूध व धान्य' का प्राचुर्य दें।

ऋषिः—**सविता (पुष्टिकामः)**॥ देवता—**औदुम्बरमणिः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाशक्वरी**॥

'अराति-अमति-क्षुधा' का निराकरण

त्वं मणीनामधिपा वृषासि त्वयि पुष्टं पुष्टपतिर्जजान। त्वयीमे वाजा द्रविणानि सर्वौदुम्बरः स त्वमस्मत्सहस्वारादरातिममतिं क्षुधं च॥ ११॥

१. हे औदुम्बरमणे! **त्वम्**=तू **मणीनाम्**=सब रत्नों की **अधिपाः**=रक्षक है। वीर्यरक्षण से ही शरीर में सब रमणीय तत्त्व उत्पन्न होते हैं। **वृषा असि**=तू सब शक्तियों व सुखों का वर्धन करनेवाला है। **पुष्टपतिः**=सब पोषक तत्त्वों के स्वामी प्रभु ने **त्वयि**=तुझमें **पुष्टं जजान**=सब पोषक तत्त्वों का प्रादुर्भूत किया है। २. **त्वयि**=तुझमें ही **इमे**=ये **वाजाः**=शक्तियाँ तथा **सर्वा द्रविणानि**=सब धन स्थापित हुए हैं। **औदुम्बरः**=तू सब रोगों व पापों से हमें उभारनेवाला है। **सः त्वम्**=वह तू **अस्मत्**=हमसे **अरातिम्**=अदानवृत्ति को, **अमतिम्**=बुद्धि के दारिद्र्य को मत्यभाव को **च**=तथा **क्षुधम्**=भूख को **आरात् सहस्व**=सुदूर कुचलनेवाला हो।

भावार्थ—वीर्यरक्षण हमें अदानवृत्ति, कमसमझी व दारिद्र्य से दूर रखता है।

ऋषिः—**सविता (पुष्टिकामः)**॥ देवता—**औदुम्बरमणिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

ग्रामणीः

ग्रामणीरसि ग्रामणीरुत्थायाभिषिक्तोऽभि मा सिञ्च वर्चसा।
तेजोऽसि तेजो मयि धारयाधि रयिरसि रयिं मे धेहि॥ १२॥

१. हे औदुम्बर मणे! तू **ग्रामणीः असि**=इन्द्रियासमूह का नेतृत्व करनेवाली है—सब इन्द्रियों को अपने कार्य में प्रवृत्त करने के लिए तू उन्हें शक्तिशाली बनाती है। तू सचमुच **ग्रामणीः उत्थाय**=शरीर में **ऊर्ध्वः**=गतिवाली होकर **अभिषिक्ता**=शरीर में चारों ओर सिक्त हुई-हुई **ग्रामणीः**=इस इन्द्रिय-समूह का प्रणयन करती है। तू **मा**=मुझे **वर्चसा**=वर्चस् से—प्राणशक्ति से **अभिसिञ्च**=सर्वतः सिक्त कर। २. तू तो **तेजः असि**=तेज-ही-तेज है। **मयि**=मुझमें **तेजः**=तेजस्विता को **धारय**=धारण कर। **रयिः असि**=तू ही वास्तविक धन है। **मे**=मुझमें **रयिम्**=इस ऐश्वर्य को **अधि धेहि**=आधिक्येन स्थापित कर।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य इन्द्रियसमूह का अपने-अपने कार्य में प्रवर्तक है। यह हमारे अन्दर तेजस्विता का धारण करता है—हमें स्वीश (स्व-ईश) बनाता है।

ऋषिः—**सविता (पुष्टिकामः)**॥ देवता—**औदुम्बरमणिः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाशक्वरी**॥

गृहमेधी

पुष्टिरसि पुष्ट्या मा समङ्ग्धि गृहमेधी गृहपतिं मा कृणु।
औदुम्बरः स त्वमस्मासु धेहि रयिं च नः सर्ववीरं
नि यच्छ रायस्पोषाय प्रति मुञ्चे अहं त्वाम्॥ १३॥

१. हे औदुम्बर मणे! तू **पुष्टिः असि**=हमारा पोषण करनेवाली है। तू **मा**=मुझे **पुष्ट्या समङ्ग्धि**=पुष्टि से युक्त कर। तू **गृहमेधी**=इस शरीररूप गृह के साथ मेलवाली है। **मा**=मुझे **गृहपतिं कृणु**=इस शरीररूप गृह का रक्षक बना। सुरक्षित वीर्य ही तो इस शरीर का रक्षण करता है। २. **औदुम्बरः**=तू सब पापों व रोगों से हमें ऊपर उभारनेवाला है। **सः**=वह **त्वम्**=तू **अस्मासु**=हममें **रयिं धेहि**=रयि का धारण कर **च**=और **नः**=हमारे लिए **सर्ववीरम्**=सब वीर सन्तानोंवाली रयि को **नियच्छ**=दे। सुरक्षित वीर्य हमें वीर सन्तानों को प्राप्त कराता है और हमें रयि का ईश बनाता है। हे औदुम्बर! **अहम्**=मैं **त्वाम्**=तुझे **रायस्पोषाय**=धन के पोषण के लिए **प्रतिमुञ्चे**=धारण करता हूँ। वीर्य का संयम करने पर शक्तिशाली इन्द्रियोंवाला होकर मैं धन का सर्जन करनेवाला होता हूँ।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य मुझे पुष्ट करता है—मेरे शरीरगृह का रक्षण करता है—हमें रयि का ईश बनाता है।

ऋषिः—**सविता (पुष्टिकामः)**॥ देवता—**औदुम्बरमणिः** ॥ छन्दः—**विराडास्तारपङ्क्तिः** ॥

मधुमती सनि

अयमौदुम्बरो मणिर्वीरो वीराय बध्यते।
स नः सनिं मधुमतीं कृणोतु रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छात्॥ १४॥

१. **अयम्**=यह **औदुम्बरः मणिः**=रेतःकणरूप मणि पापों व रोगों से उभारनेवाली है। **वीरः**=यह रोगरूप शत्रुओं को कम्पित करनेवाली है (वि ईर)। **वीराय बध्यते**=यह वीर पुरुष के लिए शरीर में बद्ध की जाती है। २. **सः**=वह मणि **नः**=हमारी **सनिम्**=उपासना (संभजन) को **मधुमतीम्**=अत्यन्त माधुर्यवाला **कृणोतु**=करे। वीर्य के सुरक्षित होने पर यह वीर मनःप्रसाद के साथ प्रभुभजन करनेवाला होता है। यह मणि **नः**=हमारे लिए **सर्ववीरम्**=सन्तानोंवाले **रयिम्**=ऐश्वर्य को **नियच्छात्**=दे।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य रोगों को कम्पित करके दूर भगाता है। हमारी उपासना को मधुर बनाता है और वीर सन्तानों से युक्त धन प्राप्त कराता है।

वीर्यरक्षण द्वारा नीरोग व दीर्घजीवन की कामनावाला 'आयुष्यकामः' अगले दो सूक्तों का ऋषि है। यह 'भृगु' है—वीर्यरक्षण के लिए अपने को तपस्या व ज्ञान की अग्नि में पकाने से यह 'भृगु' है—

३२. [द्वात्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः (आयुष्कामः)**॥ देवता—**दर्भः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शतकाण्ड (दर्भ)

शतकाण्डो दुश्च्यवनः सहस्रपर्ण उत्तिरः। दर्भो य उग्र ओषधिस्तं ते बध्नाम्यायुषे॥ १॥

१. **दर्भः**=शत्रुसंहारक वीर्यरूप मणि **शतकाण्डः**=(काण्ड=arrow) सैकड़ों तीरोंवाली है—

इन तीरों से यह रोगरूप शत्रुओं को विद्ध करती है। **दुश्च्यवनः**=यह शत्रुओं से च्युत नहीं की जाती, **सहस्रपर्णः**=हजारों प्रकार से यह हमारा पालन व पूरण करती है। **उत्तिरः**=यह रोगरूप शत्रुओं को उखाड़ देती है। **दर्भः**=यह वीर्यमणि **यः**=जोकि **उग्रः**=बड़ी तेजस्वी है **ओषधिः**=सब दोषों का दहन करनेवाली है, **ते**=उस ओषधिभूत वीर्य को **ते बध्नामि**=तुझमें बाँधता हूँ। इसे तेरे शरीर में ही सुरक्षित करता हूँ। यह तेरे **आयुषे**=दीर्घजीवन के लिए होती है।

भावार्थ—यह वीर्यमणि सैकड़ों बाणों से रोगरूप शत्रुओं पर प्रहार करती है। रोगों को जला देती है। शरीर में धारण किये जाने पर यह दीर्घजीवन का कारण बनती है।

ऋषिः—**भृगुः (आयुष्कामः)**॥ देवता—**दर्भः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

न शिरो रोग—न हृद् रोग

नास्य केशान्प्र वपन्ति नोरसि ताडमा घ्नते।
यस्मा अच्छिन्नपर्णेन दुर्भेण शर्म यच्छति॥ २॥

१. **यस्मा**=जिसके लिए **अच्छिन्नपर्णेन**=न विनष्ट पालन शक्तिवाली **दर्भेण**=वीर्यमणि से **शर्म**=सुख को **यच्छति**=वे प्रभु देते हैं। रोग **अस्य**=इस पुरुष के **केशान् न प्रवपन्ति**=केशों को छिन्न करनेवाले नहीं होते तथा **न**=न ही **उरसि ताडम्**=छाती पर प्रहार करके **आघ्नते**=इसे आहत करते हैं। २. वीर्य के रक्षित होने पर न ही कोई शिरो-रोग होता है, न ही छाती में किसी प्रकार का विकार होता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य न किसी शिरो-रोग को होने देता है, न हृद् रोग को।

ऋषिः—**भृगुः (आयुष्कामः)**॥ देवता—**दर्भः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

ज्ञानाग्नि की दीप्ति, शरीर की दृढ़ता

दिवि ते तूलमोषधे पृथिव्यामसि निष्ठितः।
त्वया सहस्रकाण्डेनायुः प्र वर्धयामहे॥ ३॥

१. हे **ओषधे**=दोषों का दहन करनेवाली वीर्यमणे! **दिवि**=मस्तिष्करूप द्युलोक में **ते**=तेरा **तूलम्**=(तूल पूरणे to fill) पूरण हुआ है। वीर्य की ऊर्ध्वगति होने पर यह वीर्य ज्ञानाग्नि का ईंधन बना है। हे वीर्य! तू **पृथिव्याम्**=इस शरीररूप पृथिवी में **निष्ठितः असि**=निश्चय से स्थित हुआ है। वीर्य ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है, तो शरीररूप पृथिवी को दृढ़ बनाता है। २. **सहस्रकाण्डेन**=शत्रुओं के संहार के लिए हज़ारों बाणोंवाले **त्वया**=तुझसे हम **आयुः**=अपने जीवन को **प्रवर्धयामहे**=दीर्घ बनाते हैं।

भावार्थ—वीर्य की ऊर्ध्वगति होने पर यह ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। यह शरीररूप पृथिवी को दृढ़ बनाता है। शत्रुओं को नष्ट करने के लिए सहस्रों बाण तुझे धारण करके अपने जीवन को दीर्घ बनाते हैं।

ऋषिः—**भृगुः (आयुष्कामः)**॥ देवता—**दर्भः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

दुर्हार्द का सुहार्द बन जाना

तिस्रो दिवो अत्यतृणत्तिस्र इमाः पृथिवीरुत।
त्वयाहं दुर्हार्दो जिह्वां नि तृणद्मि वचांसि॥ ४॥

१. हे वीर्यमणे! तू **तिस्रः दिवः**=तीनों प्रकाशों को (द्युलोकों को) **अत्यतृणत्** (तृद् to set free) अन्धकार से मुक्त करती है। **उत**=और **इमाः**=इन **तिस्रः**=तीनों **पृथिवीः**=शरीररूप पृथिवियों

को भी रोगों से मुक्त करती है। 'स्थूल, सूक्ष्म व कारण' भेद से तीन शरीर ही तीन पृथिवियाँ है। वीर्यरक्षण से ये तीनों नीरोग व निर्दोष बनते हैं। इसीप्रकार 'प्रकृति, जीव व परमात्मा' का ज्ञान ही त्रिविध द्युलोक है, वीर्यरक्षण ही इस द्युलोक को अज्ञानान्धकार शून्य करता है। २. हे वीर्य! **त्वया**=तेरे रक्षण के द्वारा **अहम्**=मैं **दुर्हार्दः**=दुष्ट हृदयवाले की **जिह्वाम्**=जिह्वा को तथा **वचांसि**=वचनों को **नितृणद्मि**=समाप्त करता हूँ। वीर्यरक्षक पुरुष व्यवहार में इतना मधुर होता है कि इसके मधुर वचनों से दुष्ट पुरुष भी शान्त हो जाता है। इसका सूत्र होता है 'अक्रोधेन जयेत् क्रोधं, आक्रुष्टः कुशलं वदेत्'। सो दुर्हार्द् पुरुष भी इसके व्यवहार से सुहार्द् बन जाता है।

भावार्थ—वीर्यरक्षण से 'प्रकृति, जीव, परमात्मा' का ज्ञान प्राप्त होता है। 'स्थूल, सूक्ष्म, कारण' शरीरों का स्वास्थ्य प्राप्त होता है तथा वह हमें इतना मधुर बनाता है कि इसके सामने दुष्ट अपनी दुष्टता छोड़ देते हैं।

ऋषिः—**भृगुः (आयुष्कामः)**॥ देवता—**दर्भः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सहमान-सहस्वान्

त्वमसि सहमानोऽहमस्मि सहस्वान्।
उभौ सहस्वन्तौ भूत्वा सपत्नान्त्सहीषीमहि॥ ५॥

१. हे शतकाण्ड (शत्रुओं के संहार के लिए सैकड़ों शरोंवाले) वीर्य! **त्वम्**=तू **सहमानः असि**=रोगरूप शत्रुओं का मर्षण करनेवाला है। **अहम्**=मैं भी **सहस्वान् अस्मि**=वासनारूप शत्रु-मर्षण की वृत्तिवाला हूँ। २. इसप्रकार **उभौ**=हम दोनों **सहस्वन्तौ**=शत्रुओं को कुचलनेवाले **भूत्वा**=होकर **सपत्नान्**=इन रोग व वासनारूप शत्रुओं को **सहिषीमहि**=कुचल डालें।

भावार्थ—हम वासनारूप शत्रुओं को कुचलने की वृत्तिवाले बनें। सुरक्षित वीर्य भी शतकाण्ड है—यह रोगों का संहार करता है, अतः मैं वीर्यरक्षण करता हुआ शत्रुओं का पराभव करनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**भृगुः (आयुष्कामः)**॥ देवता—**दर्भः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अभिमाति-सहन

सहस्व नो अभिमातिं सहस्व पृतनायतः।
सहस्व सर्वान्दुर्हार्दः सुहार्दो मे बहून्कृधि॥ ६॥

१. हे शतकाण्ड! तू **नः**=हमारे **अभिमातिम्**=(पाप्मा वै अभिमातिः तै० २.१.३.५) पापभावों को **सहस्व**=पराभूत कर। **पृतनायतः**=उपद्रव-सैन्य से हमपर आक्रमण करनेवाले रोगों को **सहस्व**=पराभूत कर। २. **सर्वान्**=सब **दुर्हार्दः**=दुष्ट हृदयवालों को **सहस्व**=पराभूत कर तथा **मे**=मेरे **बहून्**=बहुत-से व्यक्तियों को **सुहार्दः**=शुभ हृदयवाला **कृधि**=कर। हमारे घर व समाज के सभी व्यक्ति शुभ हृदयवाले हों।

भावार्थ—वीर्यरक्षण द्वारा हम पापों, रोगों व दुष्ट-हृदयता को दूर करें।

ऋषिः—**भृगुः (आयुष्कामः)**॥ देवता—**दर्भः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'दिविष्टम्भ' दर्भमणि

दर्भेण देवजातेन दिवि ष्टम्भेन शश्वदित्।
तेनाहं शश्वतो जनाँ असनं सनवानि च॥ ७॥

१. **देवजातेन**=उस महान् देव प्रभु से उत्पन्न किये गये—प्रभु ने ही तो शरीर में रस-रुधिर आदि के क्रम से इसके उत्पादन की व्यवस्था की है **दिवि ष्टम्भेन**=प्राणायाम द्वारा जिस वीर्य की ऊर्ध्वगति करके मस्तिष्करूप द्युलोक में स्थिरता हुई है **तेन**=उस दिविष्टम्भ (स्तम्भ) वीर्य से **शश्वत् इत्**=सदा ही निश्चय से **अहम्**=मैं **शश्वतः**=प्लुतगतिवाले (शश् प्लुतगतौ) **जनान्**=लोगों को **असनम्**=प्राप्त करता आया हूँ **सनवानि च**=और भविष्य में भी ऐसे ही लोगों को प्राप्त करूँ। २. जब एक घर में पति-पत्नी प्रभु-स्मरणपूर्वक प्राणायामादि साधनों से शरीर में वीर्य की ऊर्ध्वगतिवाले होते हैं तब उनके घरों में सदा स्फूर्तिमय जीवनवाले सन्तानों की उत्पत्ति होती है।

भावार्थ—हम वीर्य को प्रभु-प्रदत्त सर्वोत्तम वस्तु जानें। प्राणायाम द्वारा शरीर में इसकी ऊर्ध्वगति करें। यह हमें स्फूर्तिमय जीवनवाले सन्तानों को प्राप्त कराएगा।

ऋषिः—**भृगुः (आयुष्कामः)**॥ देवता—**दर्भः**॥ छन्दः—**पुरस्ताद्बृहती**॥

वीर्यरक्षण व सर्वप्रियता

प्रियं मा दर्भ कृणु ब्रह्मराजन्या᳕भ्यां शूद्राय चार्याय च।
यस्मै च कामयामहे सर्वस्मै च विपश्यते॥ ८॥

१. हे **दर्भ**=रोगों का हिंसन करनेवाले वीर्य! तू **मा**=मुझे **ब्रह्मराजन्याभ्याम्**=ब्राह्मणों व क्षत्रियों के लिए, **शूद्राय च अर्याय च**=शूद्रों के लिए और वैश्यों के लिए, अर्थात् सारे समाज के लिए **प्रियं कृणु**=प्रियकर। वीर्यरक्षण द्वारा मधुर स्वभाव बनता हुआ मैं सर्वप्रिय बनूँ। २. **च**=और **यस्मै**=जिसके लिए हम **कामयामहे**=चाहते हैं, अर्थात् जो हमारे निकट सम्बन्धी हैं उनका भी तू मुझे प्रिय बना **च**=तथा **सर्वस्मै विपश्यते**=बारीकी से सब दोषों को देखनेवालों के लिए भी तू मुझे प्रिय बना। दोषदर्शी—विरोधी वृत्तिवाले मनुष्य भी मेरे प्रति प्रेमवाले बन जाएँ।

भावार्थ—वीर्यरक्षण से स्वभाव में माधुर्य का सञ्चार करता हुआ मैं सम्पूर्ण समाज का, अपने बन्धुओं का व विरोधियों का भी प्रिय बन पाऊँ।

ऋषिः—**भृगुः (आयुष्कामः)**॥ देवता—**दर्भः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

दर्भः 'वरुणः' त्रिलोकी धारकः

यो जायमानः पृथिवीमदृंहद्यो अस्तभ्नादन्तरिक्षं दिवं च।
यं बिभ्रतं ननु पाप्मा विवेद स नोऽयं दर्भो वरुणो दिवा कः॥ ९॥

१. **यः**=जो **जायमानः**=शरीर में प्रादुर्भूत होता हुआ **पृथिवीम्**=इस शरीररूप पृथिवी को **अदृंहत्**=दृढ़ बनाता है। **यः**=जो **अन्तरिक्षम्**=हृदयान्तरिक्ष को **दिवं च**=और मस्तिष्करूप द्युलोक को **अस्तभ्नात्**=थामता है, ऐसा यह दर्भ है। शरीर में सुरक्षित वीर्य शरीर को दृढ़ बनाता है, हृदय को निर्मल तथा मस्तिष्क को दीप्त करता है। २. **यम्**=जिस दर्भ (वीर्यमणि) को **बिभ्रतम्**=धारण करते हुए को **पाप्मा**=पाप व रोग **ननु विवेद**=प्राप्त नहीं करता है, **सः**=वह **अयं दर्भः**=यह दर्भ **वरुणः**=सब पापों व रोगों का वारण करनेवाला है। यह **नः**=हमारे जीवन को **दिवा कः**=प्रकाशमय करता है। यह हमारे जीवन को प्रकाशमय बनाता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य शरीर को दृढ़, मन को निर्मल व मस्तिष्क को दीप्त बनाता है। यह अपने धारण करनेवाले को निष्पाप बनाता है। पापों व रोगों का निवारण करता हुआ यह जीवन को प्रकाशमय बनाता है।

ऋषिः—भृगुः (आयुष्कामः)॥ देवता—दर्भः ॥ छन्दः—जगती ॥

सर्वोत्तम औषध

सपत्नहा शतकाण्डः सहस्वानोषधीनां प्रथमः सं बभूव।
स नोऽयं दर्भः परि पातु विश्वतस्तेन साक्षीय पृतनाः पृतन्यतः॥ १०॥

१. यह दर्भ **सपत्नहा**=रोगरूप शत्रुओं को नष्ट करनेवाला है। **शतकाण्डः**=सैकड़ों बाणोंवाला है—इनके द्वारा ही यह रोगरूप शत्रुओं का वेधन करता है। **सहस्वान्**=शत्रुओं को कुचलनेवाले बल से सम्पन्न है। यह **ओषधीनां प्रथमः संबभूव**=ओषधियों में सर्वश्रेष्ठ है। वस्तुतः वीर्य के समान कोई भी औषध नहीं, इसके सुरक्षित होने पर रोगों का आक्रमण होता ही नहीं। आचार्य के शब्दों में यही 'मन्त्र, तन्त्र व यन्त्र' है। २. **सः**=वह **अयं दर्भः**=यह दर्भ **नः**=हमें **विश्वतः**=सब ओर से **परिपातु**=सम्यक् रक्षित करे। **तेन**=उस वीर्यमणि के द्वारा **पृतन्यतः**=उपद्रव-सैन्य से हमपर आक्रमण करनेवाले रोगों की **पृतनाः**=सैन्यों का **साक्षीय**=मैं पराभव करूँ।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य सर्वोत्तम औषध है। यह हमारा सर्वतः रक्षण करता है। रोगों के सब उपद्रव-सैन्य का यह संहार कर देता है।

३३. [त्रयस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—दर्भः ॥ छन्दः—जगती ॥

'सहस्रार्घः' दर्भमणि

सहस्रार्घः शतकाण्डः पयस्वानपामग्निर्वीरुधां राजसूयम्।
स नोऽयं दर्भः परि पातु विश्वतो देवो मणिरायुषा सं सृजाति नः॥ १॥

१. **अयं दर्भः**=यह वीर्यरूप मणि **सहस्रार्घः**=हज़ारों मूल्योंवाली है—अत्यन्त क़ीमती है। **शतकाण्डः**=रोगरूप शत्रुओं के वेधन के लिए सैकड़ों बाणोंवाली है। **पयस्वान्**=हमारा प्रशस्त आप्यायन (वर्धन) करनेवाली है। **अपाम्**=प्रजाओं को यह **अग्निः**=आगे ले-चलनेवाला है। **वीरुधाम्**=विशेषरूप से रोगों का निरोध करनेवाली औषधों का यह **राजसूयम्**=राजसूय यज्ञ है। राजसूययज्ञ करनेवाला राजा सर्वोत्तम राजा माना जाता है। इसीप्रकार यह वीर्य रोगनिरोधकों में सर्वश्रेष्ठ है। २. **सः**=वह **यह दर्भ नः**=हमें **विश्वतः परिपातु**=सब ओर से रक्षित करे। यह **देवः मणिः**=प्रकाशमय व रोगों को जीतने की कामना करनेवाली है। यह **नः**=हमें **आयुषा**=दीर्घ आयुष्य से **संसृजाति**=संसृष्ट करती है।

भावार्थ—यह वीर्यमणि देवमणि है। बहुमूल्य है। रोगों को रोकनेवालों की मुखिया है। यह हमें नीरोग बनाकर दीर्घजीवन प्राप्त कराती है।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—दर्भः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

मधुमान्-पयस्वान्

घृतादुल्लुप्तो मधुमान्पयस्वान्भूमिदृंहोऽच्युतश्च्यावयिष्णुः।
नुदन्त्सपत्नानधरांश्च कृण्वन्दर्भा रोह महतामिन्द्रियेण॥ २॥

१. शरीर में रेतःकणों की ऊर्ध्वगति होकर जब ये ज्ञानाग्नि का ईंधन बनते हैं—सारे रुधिर में व्याप्त हो जाते हैं तब ये अदृष्ट हो जाते हैं। यही इनका 'उल्लोपन' है। **घृतात्**=मलों के क्षरण व ज्ञानदीप्ति के हेतु से **उल्लुप्तः**=शरीर में ऊर्ध्वगति द्वारा अदृष्ट किया हुआ यह दर्भ **मधुमान्**=जीवन को माधुर्यवाला बनाता है। **पयस्वान्**=यह जीवन में प्रशस्त आप्यायन का कारण बनता है।

भूमिदृंहः=यह शरीररूप भूमि को दृढ़ बनाता है। **अच्युतः**=शत्रुओं से च्युत न किया जाता हुआ **च्यावयिष्णुः**=रोगरूप शत्रुओं को च्युत करनेवाला है। २. हे **दर्भ**=वीर्यमणे! **सपत्नान्**=रोगरूप शत्रुओं को परे धकेलता हुआ **च**=और **अधरान् कृण्वन्**=उनको पाँवों तले रौंदता हुआ—पराजित करता हुआ तू **महताम्**=(मह पूजायाम्) इन प्रभु-पूजन करनेवालों के **इन्द्रियेण**=बल के हेतु से **आरोह**=शरीर में ऊर्ध्व गतिवाला हो। शरीर में ऊर्ध्व गतिवाला होता हुआ यह वीर्य सब इन्द्रियों को सबल बनाता है।

भावार्थ—जब शरीर में इस वीर्य की ऊर्ध्वगति होती है और यह रुधिर में व्याप्त होकर अदृष्ट-सा हो जाता है, तब यह जीवन को मधुर बनाता है, शरीर को दृढ़ करता है, रोगों को विनष्ट करता है, एक-एक इन्द्रिय को सशक्त करता है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**दर्भः** ॥ छन्दः—**आर्षीपङ्क्तिः** ॥

'पवित्र' दर्भमणि

त्वं भूमिमत्येष्योजसा त्वं वेद्यां सीदसि चारुरध्वरे।
त्वां पवित्रमृषयोऽभरन्त त्वं पुनीहि दुरितान्यस्मत्॥ ३॥

१. हे दर्भ (वीर्यमणे)! **त्वम्**=तू **भूमिम्**=इस शरीररूप भूमि को **ओजसा**=ओजस्विता के साथ **अति एषि**=अतिशयेन प्राप्त होता है। शरीर में प्राप्त होकर तू इसे खूब ओजस्वी बनाता है। **त्वम्**=तू **अध्वरे**=हिंसारहित यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में **चारुः**=विचरण करनेवाला होकर **वेद्यां सीदसि**=यज्ञवेदि में आसीन होता है, अर्थात् सुरक्षित वीर्य हमें यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में प्रेरित करता है। २. **पवित्रम्**=जीवन को पवित्र बनानेवाले **त्वाम्**=तुझको **ऋषयः अभरन्त**=तत्त्वद्रष्टा ज्ञानी पुरुष अपने में धारण करते हैं। वस्तुतः धारण किया हुआ यह वीर्य ही उन्हें 'ऋषि' बनाता है। **त्वम्**=तू **दुरितानि**=सब दुरितों को **अस्मत्**=हमसे **पुनीहि**=दूर करके हमें पवित्र बना। दुरितों का तू सफ़ाया कर डाल। इन दुरितों को नष्ट करके हमारे जीवनों को पवित्र कर दे।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य शरीर को ओजस्वी बनाता है, हमें यज्ञात्मक पवित्र कर्मों में प्रेरित करता है। दुरितों को दूर करके हमारे जीवनों को ऋषियों का-सा पवित्र जीवन बना देता है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**दर्भः** ॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः** ॥

देवानाम् ओजः, अग्रे बलम्

तीक्ष्णो राजा विषासही रक्षोहा विश्वचर्षणिः।
ओजो देवानां बलमुग्रमेतत्तं ते बध्नामि जरसे स्वस्तये॥ ४॥

१. यह दर्भमणि **तीक्ष्णः**=बड़ी तीव्र है—रोगरूप शत्रुओं को बुरी तरह से नष्ट करनेवाली है। **राजा**=यह अपने रक्षक के जीवन को दीप्त बनाती है। **विषासहिः**=रोगों का विशेषरूप से पराभव करनेवाली है। **रक्षोहा**=रोगकृमियों व राक्षसीभावों का विनाश करनेवाली है। **विश्वचर्षणिः**=शरीर में सुरक्षित होने पर सब अंग-प्रत्यंगों को देखनेवाली—उनका यह ध्यान करनेवाली है। २. यह **देवानाम् ओजः**=देववृत्ति के पुरुषों का ओज है। **एतत् उग्रं बलम्**=यह बड़ा तेजस्वी बल है। **तम्**=उस दर्भ-(वीर्य)-मणि को **ते**=तुझे **बध्नामि**=बाँधता हूँ—इसे तेरे शरीर में सुरक्षित करता हूँ, जिससे तू **जरसे**=जराकाल तक दीर्घजीवन को प्राप्त करे तथा **स्वस्तये**=कल्याण का भागी हो।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य शत्रुओं के लिए भयंकर है। रोगकृमियों का यह नाश करता है। यही देवों को ओजस्वी बनाता है। इसे धारण करने से कल्याणमय शतवर्ष का जीवन प्राप्त

होता है।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—दर्भः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

सूर्यः इव

दुर्भेण त्वं कृणवद् वीर्या॑णि दुर्भं बिभ्रदात्मना मा व्यथिष्ठाः।
अतिष्ठाया वर्चसाधान्यान्त्सूर्यइवा भाहि प्रदिशश्चतस्रः ॥ ५ ॥

१. **दर्भेण**=शरीर में सुरक्षित इस वीर्यमणि से **त्वम् वीर्याणि कृणवत्**=तू शक्तिशाली कर्मों को करनेवाला हो। **दर्भम्**=दर्भ को **आत्मना बिभ्रत्**=अपने में धारण करता हुआ तू **मा व्यथिष्ठाः**=मत व्यथित हो। सुरक्षित वीर्य हमें रोगों से व्यथित नहीं होने देता। २. **अध**=अब **वर्चसा**=वर्चस् के द्वारा **अन्यान् अतिष्ठाय**=औरों से उन्नत स्थिति में होकर तू **चतस्रः प्रदिशा**=चारों दिशाओं को **सूर्यः इव**=सूर्य की भाँति **आभाहि**=आभासित कर डाल। तू सर्वत्र प्रकाश फैलानेवाला हो।

भावार्थ—शरीर में वीर्य को सुरक्षित करके हम शक्तिशाली कर्मों को कर पाते हैं—रोगों से व्यथित नहीं होते। जीवन संघर्ष में आगे बढ़ते हुए सूर्य की भाँति प्रकाश फैलानेवाले होते हैं।

शरीर में सुरक्षित वीर्य से अंग-प्रत्यंग में रसवाला यह 'अङ्गिराः' बनता है। अगले दो सूक्तों का ऋषि 'अङ्गिरा' ही है। यह वीर्य को 'जङ्गिड' नाम से स्मरण करता है 'जङ्गम्यते शत्रून् बाधितुम्'—रोगरूप शत्रुओं को बाधित करने के लिए शरीर में खूब गतिवाला होता है अथवा 'जंगिरति' उत्पन्न हुए-हुए रोगों को निगल जाता है। यह कहता है कि—

३४. [चतुस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—जङ्गिडो वनस्पतिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

जङ्गिड

जङ्गिडो ऽसि जङ्गिडो रक्षितासि जङ्गिडः।
द्विपाच्चतुष्पादस्माकं सर्वं रक्षतु जङ्गिडः ॥ १ ॥

१. हे वीर्य! तू **जङ्गिडः**=(जंगिरति) उत्पन्न हुए-हुए रोगों को निगल जानेवाला **असि**=है। **रक्षिता असि**=तू रक्षक है। सचमुच **जङ्गिडः**=(जयति गिरति) जीतनेवाला व शत्रुओं को निगल जानेवाला है। २. यह **जङ्गिडः**=जङ्गिड नामक वीर्यमणि **अस्माकम्**=हमारे **सर्वम्**=सब **द्विपात् चतुष्पात्**=मनुष्यों व पशुओं को **रक्षतु**=रक्षित करे।

भावार्थ—वीर्य शरीर में गति करता हुआ रोगरूप शत्रुओं का बाधन करता है, उत्पन्न रोगों को नष्ट करता है। इसप्रकार यह हमारा रक्षक है। इसी से इसे 'जङ्गिड' नाम से स्मरण किया गया है।

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—जङ्गिडो वनस्पतिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'रोग-शक्ति' क्षय

या गृत्स्य॑स्त्रिपञ्चाशीः शतं कृत्याकृतश्च ये।
सर्वान्विनक्तु तेजसोऽरसां जङ्गिडस्करत् ॥ २ ॥

१. **याः**=जो **त्रिपञ्चाशीः**='त्रि' तीनों—शरीर, मन और बुद्धि तथा 'पञ्च'—पाँचों कर्मेन्द्रियों व ज्ञानेन्द्रियों व पाँचों प्राणों की शक्ति को '**आशीः**'=खा जानेवाली **गृत्स्यः**=(गृध् अभिकांक्षायाम्)

खाने या पीने की प्रबल कामनावाली पीड़ाएँ हैं, (जैसे भस्मक रोग में) **च**=तथा **ये**=जो **शतम्**=सैकड़ों **कृत्याकृतः**=छेदन-भेदन करनेवाली व्याधियाँ हैं, उन **सर्वान्**=सबको **जङ्गिडः**=यह शरीर में शत्रुबाधन के लिए गतिवाली वीर्यशक्ति **तेजसः विनक्तु**=तेज से पृथक् करे। उनके प्रभाव को हीन कर दे। २. यह जंगिडमणि उनको **अरसान् करत्**=रसरहित—निर्बलकर दे। इस वीर्यशक्ति के कारण उन बिमारियों का प्रभाव जाता रहे, वे निष्प्रभाव हो जाएँ।

भावार्थ—शरीर में विविध व्याधियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। उन सबको यह वीर्यशक्ति निष्प्रभाव कर डालती है।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**जङ्गिडो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कृत्रिम नाद की अरसता

अ॒र॒सं कृ॒त्रिमं॒ ना॒दम॑र॒साः स॒प्त वि॒स्रसः॑।
अपे॒तो ज॑ङ्गि॒डाम॑ति॒मिषु॒मस्ते॑व शातय ॥ ३ ॥

१. कई रोगों में हर समय कान में 'शूं शूं'-सी ध्वनि होती रहती है। उसे यहाँ 'कृत्रिम नाद' कहा गया है। वीर्यशक्ति के द्वारा **कृत्रिमं नादं अरसम्**=यह कृत्रिम नाद क्षीण हो जाता है तथा शरीर में होनेवाले **सप्त**='दो कानों, दो आँखें, दो नासिका-छिद्र तथा मुख' इन सात से होनेवाले **विस्रसः**=निष्यन्द—रसों का टपकना **अरसाः**=क्षीण हो जाए। २. **जङ्गिड**=हे वीर्यमणे! तू **इतः**=हमारे शरीर से **अमतिम्**=दुर्बुद्धि को व बुद्धि की कमी को इसप्रकार **अपशातय**=सुदूर विनष्ट कर **इव**=जैसेकि **अस्ता**=बाणों को फेंकनेवाला **इषुम्**=बाण को दूर फेंकता है।

भावार्थ—वीर्यशक्ति के सुरक्षित होने पर कानों में यों ही होनेवाली 'शूं शूं' समाप्त हो जाती है, कान आदि से प्रवाहित होनेवाले निष्यन्द रुक जाते हैं, निर्बुद्धिता दूर भाग जाती है।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**जङ्गिडो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कृत्यादूषण-अरातिदूषण

कृ॒त्या॒दूष॑ण ए॒वाय॒मथो॑ अराति॒दूष॑णः।
अथो॒ सह॑स्वाञ्जङ्गि॒डः प्र॒ ण॒ आयूं॑षि तारिषत् ॥ ४ ॥

१. **अयम्**=यह जङ्गिडमणि **एव**=निश्चय से **कृत्यादूषणः**=छेदन-भेदन की क्रियाओं को दूषित करनेवाला है। शरीर में रोगजनित छेदन-भेदन को यह समाप्त कर देता है। **अथ उ**=और निश्चय से **अरातिदूषणः**= मन में उत्पन्न होनेवाली अदानवृत्तियों को भी दूषित करता है, अर्थात् वीर्यरक्षण से मनुष्य उदारवृत्ति का बनता है। २. **अथ उ**=अब निश्चय से यह **सहस्वान्**=शत्रुओं को कुचलने के बलवाला **जङ्गिडः**=वीर्यमणि **नः**=हमारे **आयूंषि**=जीवनों को **प्रतारिषत्**=बढ़ानेवाला हो।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य शरीर के रोगों को दूर करता है और मन से राक्षसीभावों को—अदानवृत्तियों को विनष्ट करता है। इसप्रकार यह आधि-व्याधियों को कुचलता हुआ हमारे जीवनों को दीर्घ बनाता है।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**जङ्गिडो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'विष्कन्ध व संस्कन्ध' दूषण

स ज॑ङ्गि॒डस्य॑ महि॒मा परि॑ णः पातु वि॒श्वतः॑।
वि॒ष्कन्धं॒ येन॑ सा॒सह॑ सं॒स्कन्ध॒मोज॒ ओज॑सा ॥ ५ ॥

१. **जङ्गिडस्य**=रोगरूप शत्रुओं के बाधन के लिए शरीर में गति करनेवाले जंगिड (वीर्य) की **सः**=वह **महिमा**=महिमा **नः**=हमें **विश्वतः**=सब ओर से **परिपातु**=रक्षित करे, २. **येन**=जिस महिमा से यह **ओजः**=शक्तिरूप जंगिडमणि **ओजसा**=ओजस्विता के साथ **विष्कन्धं संस्कन्धम्**=विष्कन्ध व संस्कन्ध नामक वात रोगों को **सासह**=पराभूत करता है। 'विष्कन्ध' में स्कन्ध फटते-से प्रतीत होते हैं, 'संस्कन्ध' में कन्धे जुड़-से गये प्रतीत होते हैं। वीर्यशक्ति ठीक होने पर ये रोग भाग जाते हैं।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य 'विष्कन्ध व संस्कन्ध' नामक भयंकर वातरोगों को उन्मूलित कर देता है।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**जङ्गिडो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'अङ्गिराः' जङ्गिडः

त्रिष्ट्वा देवा अजनयन्निष्ठितं भूम्यामधि।
तमु त्वाङ्गिरा इति ब्राह्मणाः पूर्व्या विदुः ॥ ६ ॥

१. **भूम्याम् अधि**=इस पृथिवीरूप शरीर में **निष्ठितम्**=निश्चय से स्थित **त्वा**=तुझको, हे जंगिड! **देवाः**=देववृत्ति के पुरुषों ने **त्रिः**=(त्रिषु लोकेषु अवस्थानाय सा०) शरीर, मन व बुद्धि-रूप पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक, इन तीनों लोकों में स्थित होने के लिए **अजनयन्**=उत्पन्न किया है। जब यह वीर्य (जंगिड) शरीर में सुरक्षित होता है तब यह मन को भी शुद्ध बनाता है और बुद्धि को भी सूक्ष्म करता है। २. हे जंगिड! **तम् उ त्वा**=उस तुझको ही निश्चय से **पूर्व्याः ब्राह्मणाः**=अपना पालन व पूरन करनेवाले ज्ञानी लोग **अङ्गिराः इति**=अंग-प्रत्यंग में रस का संचार करनेवाले के रूप में **विदुः**=जानते हैं। शरीर में सुरक्षित वीर्य सब अंगों को रसमय बनाता है। इससे शरीर में जरावस्था का शीघ्र आक्रमण नहीं होता।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य 'शरीर, मन व बुद्धि' तीनों का व्यापन करता है। यह अंग-प्रत्यंग में रस का संचार करता है।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**जङ्गिडो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

परिपाणः सुमंगलः

न त्वा पूर्वा ओषधयो न त्वा तरन्ति या नवाः।
विबाध उग्रो जङ्गिडः परिपाणः सुमङ्गलः ॥ ७ ॥

१. **न**=न तो **त्वा**=तुझे **पूर्वाः ओषधयः**=पुरानी ओषधियाँ और **न त्वा**=न ही तुझे **याः**=जो **नवाः**=नई ओषधियाँ हैं वे **तरन्ति**=तैर पाती है। कई वस्तुएँ पुरानी होकर औषध के दृष्टिकोण से अधिक महत्त्ववाली हो जाती हैं और कईयों में ताज़ेपन में ही अधिक गुण होता है। वे ही यहाँ 'पूर्वाः तथा नवाः' शब्दों से कही गई हैं। इनमें से कोई भी जंगिड (वीर्य) की तुलना नहीं कर पाती। जंगिड इन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। २. यह **विबाधः**=विशेषरूप से रोगरूप शत्रुओं का बाधन करता है। **उग्रः**=अति तेजस्वी है। **जंगिडः**=शत्रु-बाधन के लिए शरीर में खूब ही गति करता है। **परिपाणः**=यह सब ओर से रक्षित करनेवाला है और **सुमंगलः**=उत्तम मंगल का साधन है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य सर्वोत्तम औषध है। यह शत्रुओं का बाधन करता है और हमारा सर्वतः रक्षण करता है।

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—जङ्गिडो वनस्पतिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

उपदान

अथोपदान भगवो जङ्गिडामितवीर्य।
पुरा त उग्रा ग्रसत उपेन्द्रो वीर्यं ददौ॥ ८॥

१. **अथ**=अब हे **उपदान**=(दाप् लवने) रोगरूप शत्रुओं का छेदन करनेवाले, **भगवः**=अतिशयित ऐश्वर्यवाले! **अमितवीर्य**=अनन्तशक्तिवाले **जङ्गिड**=वीर्यमणे! **ते**=वे **उग्राः**=अतिप्रबल रोग **ग्रसते**=ग्रस लें, उससे **पुरा**=पहले ही **ते**=तुझे **इन्द्रः**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु ने **वीर्यम् उपददौ**=वीर्य के रूप में दिया है। २. वीर्य की शरीर में स्थापना इसी उद्देश्य से हुई है कि यह रोगों का शिकार न हो जाए।

भावार्थ—वीर्य 'उपदान' है—रोगों का लवन (छेदन) करनेवाला है। इसके सामर्थ्य से प्रबल रोग भी विनष्ट हो जाते हैं। वे रोग मनुष्य को निगल नहीं पाते।

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—जङ्गिडो वनस्पतिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

अमीवाः-रक्षांसि

उग्र इत्ते वनस्पत इन्द्र ओज्मानमा दधौ।
अमीवाः सर्वाश्चातयं जहि रक्षांस्योषधे॥ ९॥

१. हे जंगिड! तू **इत्**=निश्चय से **उग्रः**=तेजस्वी है। **इन्द्रः**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु ने, हे **वनस्पते**=वनस्पति-विकार वीर्य! **ते**=तुझमें **ओज्मानम्**=ओज को—शक्ति को **आदधौ**=स्थापित किया है। २. हे **ओषधे**=दोषों का दहन करनेवाले वीर्य! तू **सर्वाः**=सब **अमीवाः**=रोगों को **चातयन्**=नष्ट करता हुआ **रक्षांसि**=अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाले इन रोगकृमियों को **जहि**=नष्ट कर डाल।

भावार्थ—प्रभु ने वीर्य में अद्भुत शक्ति रक्खी है। यह सब रोगों व रोगकृमियों को विनष्ट कर डालता है।

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—जङ्गिडो वनस्पतिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'बलास पृष्ट्यामय' विनाश

आशरीकं विशरीकं बलासं पृष्ट्यामयम्।
तक्मानं विश्वशारदमरसां जङ्गिडस्करत्॥ १०॥

१. **आशरीकम्**=शरीर को सर्वतः हिंसित करनेवाले, **विशरीकम्**=विशेषरूप से शरीर को तोड़नेवाले, **बलासम्**=बल को दूर फेंकनेवाले कफ़ आदि रोग को, **पृष्ट्यामयम्**=पसली व छाती की पीड़ा को, **तक्मानम्**=शरीर को कष्टमय बनानेवाले ज्वर को तथा **विश्वशारदम्**=सब शरीर में चकत्ते-ही-चकत्ते कर देनेवाले रोग को **जङ्गिडः**=यह वीर्यमणि **अरसान्**=निष्प्रभाव **करत्**=कर दे।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य 'वात-पित-कफ़' जनित सब विकारों को दूर करता है।

३५. [पञ्चत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—अङ्गिराः ॥ देवता—जङ्गिडो वनस्पतिः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

विष्कन्ध दूषण

इन्द्रस्य नाम गृह्णन्त ऋषयो जङ्गिडं ददुः।
देवा यं चक्रुर्भेषजमग्रे विष्कन्धदूषणम्॥ १॥

१. **इन्द्रस्य नाम गृह्णन्तः**=शत्रु-विद्रावक प्रभु के नाम का ग्रहण करते हुए—नाम का उच्चारण करते हुए **ऋषयः**=तत्त्वदर्शी ज्ञानी पुरुषों ने **जङ्गिडम्**=रोगबाधन के लिए शरीर में भृशंगति करनेवाली वीर्यमणि को **ददुः**=(to restore, to return) शरीर में ही फिर स्थापित किया है। विषय-विलास में इसे नष्ट नहीं होने दिया। २. **देवाः**=देववृत्ति के पुरुषों ने **यम्**=जिस जंगिडमणि को **अग्रे**=सर्वप्रथम **विष्कन्धदूषणम्**=अंगों को तोड़नेवाले वातरोग को नष्ट करनेवाला **भेषजं चक्रुः**=औषध बनाया है।

भावार्थ—तत्त्वदर्शी ज्ञानी प्रभु-स्मरणपूर्वक वीर्यरक्षण के लिए यत्नशील होते हैं। देववृत्ति के पुरुष इस वीर्यरक्षण को ही विष्कन्ध आदि रोगों का शामक बताते हैं।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**जङ्गिडो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

परिपाण-अरातिहा

स नो रक्षतु जङ्गिडो धनपालो धनेव।
देवा यं चक्रुर्ब्राह्मणाः परिपाणमरातिहम्॥ २॥

१. **सः**=वह **जङ्गिडः**=वीर्यमणि **नः**=हमें **रक्षतु**=इसप्रकार रक्षित करे, **इव**=जैसेकि **धनपालः**=एक धनपाल (धनाध्यक्ष) **धना**=धनों का रक्षण करता है। २. यह जङ्गिडमणि वह है **यम्**=जिसको **देवाः ब्राह्मणाः**=देववृत्ति के ज्ञानी पुरुष **परिपाणम्**=अपना सर्वतः रक्षक तथा **अरातिहम्**=शत्रुओं का नाशक **चक्रुः**=बनाते हैं। वीर्यरक्षण का उपाय यही है कि हम देववृत्ति के बनें—यज्ञशेष का सेवन करनेवाले बनें तथा ज्ञान की रुचिवाले हों। अतिभोजन अथवा सांसारिक व्यसन वीर्य का विनाश ही करते हैं।

भावार्थ—वीर्य सर्वमहान् धन है। हम यज्ञशेष का सेवन करते हुए व ज्ञान की रुचिवाला बनते हुए इसका रक्षण करें। यह हमारा रक्षण करेगा और हमारे शत्रुओं का विनाश करेगा।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**जङ्गिडो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

सुहार्द्, नकि दुर्हार्द्

दुर्हार्दः संघोरं चक्षुः पापकृत्वानमागमम्।
तांस्त्वं सहस्रचक्षो प्रतीबोधेन नाशय परिपाणोऽसि जङ्गिडः ॥ ३॥

१. **दुर्हार्दः**=दुष्टहृदयवाले पुरुष की **घोरं चक्षुः**=क्रूरतापूर्ण आँख को तथा **पापकृत्वानम्**=पाप को—हिंसादि कर्मों को करनेवाले को **सम् आगमम्**=मैं प्राप्त हुआ हूँ, अर्थात् मेरी वृत्ति क्रूरता व पापवाली बन गई है। २. हे **सहस्रचक्षो**=हज़ारों प्रकार से मेरा ध्यान करनेवाले (to look after) वीर्यमणे! **त्वम्**=तू **तान्**=उन अशुभवृत्तियोंवालों को **प्रतीबोधेन**=जगाने के द्वारा—ज्ञान प्राप्त कराने के द्वारा—**नाशय**—नष्ट कर दे। तू उन्हें ज्ञान के द्वारा 'सुहार्द् व पुण्यकृत्' बना दे। तू **परिपाणः असि**=सब ओर से रक्षित करनेवाला है। **जङ्गिडः**=(जयति गिरति) पापवृत्तियों को पराजित करनेवाला व इन अशुभ वृत्तियों को खा जानेवाला है।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य हमें नीरोग बनाने के साथ शुभवृत्तियोंवाला भी बनाता है। हम दुर्हार्द् से सुहार्द् बन जाते हैं, पापकृत्वा से पुण्यकृत्।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**जङ्गिडो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**निचृत्त्रिष्टुप्** ॥

सब ओर से रक्षण

परि मा दिवः परि मा पृथिव्याः पर्यन्तरिक्षात्परि मा वीरुद्भ्यः।
परि मा भूतात्परि मोत भव्याद्दिशोदिशो जङ्गिडः पात्वस्मान्॥ ४॥

१. मा=मुझे जङ्गिडः=यह उपद्रवों को बाधित करनेवाला वीर्य दिवः=मस्तिष्करूप द्युलोक में होनेवाले उपद्रव से परिपातु=बचाए। इसीप्रकार पृथिव्याः=शरीररूप पृथिवी में होनेवाले विकार से मुझे परि (पातु)=बचाए। अन्तरिक्षात्=हृदयान्तरिक्ष में उत्पन्न हो जानेवाले वासना-विकारों से परि=रक्षित करे। यह मा=मुझे वीरुद्भ्यः=भोजन के रूप में ग्रहण किये गये वनस्पतियों से हो जानेवाले विकारों से परि (पातु)=बचाए। २. यह मा=मुझे भूतात्=उत्पन्न हो चुके विकारों से परिपातु=बचाए उत=और मा=मुझे भव्यात्=उत्पन्न हो जाने की आशंकावाले उपद्रवों से परि=बचाए। यह जंगिडमणि अस्मान्=हमें दिशःदिशः=सब दिशाओं से पातु=रक्षित करे।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य हमें 'मस्तिष्क, हृदय व शरीर' में सर्वत्र उत्पन्न हो जानेवाले उपद्रवों से रक्षित करता है।

ऋषिः—**अङ्गिराः** ॥ देवता—**जङ्गिडो वनस्पतिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

विश्वभेषजः

य ऋष्णवो देवकृता य उतो ववृतेऽन्यः।
सर्वांस्तान्विश्वभेषजोऽरसां जङ्गिडस्करत्॥ ५॥

१. ये=जो देवकृताः=प्राकृतिक शक्तियों (देव—सूर्य, चन्द्र, वायु आदि) से उत्पन्न ऋष्णवः=(ऋष् to kill) उपद्रव हमारे शरीरों में हो जाते हैं, उत=और यः=जो अन्यः=अन्य भी कोई उपद्रव उ=निश्चय से ववृते=प्रवृत्त हो जाता है—अधिक खा लेने आदि गलतियों से उपद्रव हो जाते हैं। तान् सर्वान्=उन सब उपद्रवों को यह जङ्गिडः=वीर्यमणि अरसान् करत्=निष्प्रभाव कर दे। यह वीर्यमणि तो विश्वभेषजः=सब उपद्रवों का औषध है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य सब आधिदैविक व आध्यात्मिक कष्टों से हमें बचाता है।

शरीर, मन व मस्तिष्क के दोषों को दूर करके यह व्यक्ति 'ब्रह्मा' बनता है। यह इस वीर्यमणि को 'शतवार' मणि के रूप में स्मरण करता है—शतवर्षपर्यन्त, अर्थात् आजीवन जो वरणीय है और रोगों का निवारण करनेवाली है—

३६. [षट्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**शतवारः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

दुर्णामचातनः

शतवारो अनीनशद्यक्ष्मान्रक्षांसि तेजसा।
आरोहन्वर्चसा सह मणिर्दुर्णामचातनः॥ १॥

१. यह शतवारः=शतसंख्याक रोगों का निवारण करनेवाली 'शतवार' नाम वीर्यमणि यक्ष्मान्=रोगों को अनीनशत्=नष्ट करती है। तेजसा=अपने तेज से रक्षांसि=अपने रमण के लिए औरों का क्षय करनेवाले रोगकृमियों को नष्ट करती है। २. आरोहन्=शरीर में ऊर्ध्वगतिवाली होती हुई यह मणिः=वीर्यमणि वर्चसा सह=वर्चस् के साथ दुर्णामचातनः=अर्शस् आदि पाप रोगों को नष्ट करनेवाली है।

भावार्थ—शतसंख्याक रोगों का निवारण करने से वीर्य 'शतवार' है। यह रोगों, रोगकृमियों को नष्ट करती है। शरीर में ऊर्ध्वगतिवाला होता हुआ यह 'शतवार' बवासीर आदि पाप-रोगों को नष्ट करता है।

ऋषि:—**ब्रह्मा**॥ देवता—**शतवार:**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

रक्ष:, यातुधान्य:, यक्ष्मम्

शृङ्गा॑भ्यां रक्षो॑ नुदते॒ मूले॑न यातुधा॒न्य᳡:।
मध्ये॑न॒ यक्ष्मं॑ बाधते॒ नैनं॑ पा॒प्माति॑ तत्रति॥ २॥

१. यह 'शतवार' वीर्यमणि **शृङ्गाभ्याम्**=अपने सींगों से—अग्रभागों से **रक्ष: नुदते**=रोग-कृमियों व राक्षसीभावों को परे धकेलती है। **मूलेन**=मूल से **यातुधान्य:**=पीड़ा का अधान करनेवाली बिमारियों को दूर करती है और **मध्येन**=अपने मध्यभाग से **यक्ष्मम्**=क्षयरोग को **बाधते**=बाधित करती है। २. शतवार मणि को यदि एक वृक्ष के रूप में चित्रित करें तो वह अपने अग्रभाग से मानो रोगकृमियों को, मूल से पीड़ाकर रोगों को तथा मध्य से राजरोग को दूर करती है। **एनम्**=इसको **पाप्मा**=कोई भी रोग **न अति तत्रति**=आक्रान्त नहीं कर पाता।

भावार्थ—वीर्य 'शतवार' मणि है। यह रोगकृमियों, रोगों व राजरोगों को विनष्ट करती है। रोग इसे आक्रान्त नहीं कर पाते।

ऋषि:—**ब्रह्मा**॥ देवता—**शतवार:**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

अर्भक-महान्-शब्दी

ये यक्ष्मा॑सो अर्भ॒का म॒हान्तो॒ ये च॑ श॒ब्दिन॑:।
सर्वा॑न्दुर्णा॒म॒हा म॒णि: श॒तवा॑रो अनीनशत्॥ ३॥

१. **ये**=जो **यक्ष्मास:**=रोग **अर्भका:**=छोटे-छोटे हैं—उत्पन्नमात्र हैं, **महान्त:**=जो बड़े हैं या बढ़ गये हैं, **च**=और **ये**=जो **शब्दिन:**=पीड़ाजनित शब्दों को उत्पन्न कराते हैं, **सर्वान्**=उन सबको यह **शतवार:**=शतसंख्याक रोगों का निवारण करनेवाली मणि **अनीनशत्**=नष्ट करती है। २. यह **मणि:**=वीर्यमणि **दुर्णामहा**=अर्शस् आदि पाप रोगों को विनष्ट करनेवाली है।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य छोटे-बड़े व पीड़ाकारी सब रोगों को दूर करता है। यह अर्शस् आदि पापरोगों का भी निवारक है।

ऋषि:—**ब्रह्मा**॥ देवता—**शतवार:**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

वीरान् अजनयत्, यक्ष्मान् अपावपत्

श॒तं वी॒रान॑जनयच्छ॒तं य॒क्ष्मा॒नपा॑वपत्।
दु॒र्णाम्न॒: सर्वा॑न्ह॒त्वाव॒ रक्षां॑सि धूनुते॥ ४॥

१. यह शतवार मणि हमें **शतम्**=शतवर्षपर्यन्त—आजीवन **वीरान् अजनयत्**=वीर बनाती है। इसके रक्षण से हम सदा वीर बने रहते हैं। यह **शतं यक्ष्मान्**=सैकड़ों रोगों को **अपावपत्**=सुदूर विनष्ट करनेवाली होती है। २. **सर्वान्**=सब **दुर्णाम्न:**=श्वित्र, दद्रू, पामा आदि दुष्ट रोगों को **हत्वा**=विनष्ट करके **रक्षांसि अवधूनुते**=सब रोगकृमियों को कम्पित करके दूर करती है।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य हमें वीर बनाता है और रोगों को दूर करता है।

ऋषि:—**ब्रह्मा**॥ देवता—**शतवार:**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

हिरण्यशृङ्ग: ऋषभ:

हिर॑ण्यशृङ्ग ऋष॒भ: श॒तवा॑रो अ॒यं म॒णि:।
दु॒र्णाम्न॒: सर्वां॑स्तृ॒ड्ढ्वाव॒ रक्षां॑स्यक्रमीत्॥ ५॥

१. **अयम्**=यह **शतवार: मणि:**=सैकड़ों रोगों का निवारण करनेवाली मणि **हिरण्यशृंग:**=

हितरमणीय व स्वर्णवत् देदीप्यमान अग्रभागवाली है। इन्हीं शृंगों से तो यह सब राक्षसों को दूर भगाती है। वीर्य के सुरक्षित होने पर राक्षसीभाव स्वतः नष्ट हो जाते हैं। यह **ऋषभः**=सब राक्षसीभावों का संहार करनेवाली है (ऋष् to kill)। २. **सर्वान् दुर्णाम्नः**=सब दुष्ट नामवाले अर्शस् आदि रोगों को **तृड्ढ्वा**=हिंसित करके यह **रक्षांसि अवक्रमीत्**=रोगकृमियों को दूर भगा देती है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य 'दीप्त शृंगोंवाले ऋषभ' के समान है—ये इन शृंगों से सब रोगों को दूर भगा देता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**शतवारः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

गान्धर्वाप्सरसां शतम्

शतमहं दुर्णाम्नीनां गन्धर्वाप्सरसां शतम्।
शतं शश्वन्वतीनां शतवारेण वारये॥ ६॥

१. **अहम्**=मैं **दुर्णाम्नीनाम्**=कुष्ठ, दद्रू, पामा, अर्शस् आदि दुष्ट नामवाली बिमारियों के **शतम्**=सौ को **शतवारेण**=इस वीर्यरूप शतवार मणि से **वारये**=दूर करता हूँ। **गन्धर्वाप्सरसाम्**=(गां शरीरभूमिं धारयन्ति, अप्सु रेतः छणेषु सरन्ति) शरीरभूमि को पकड़ लेनेवाली—जड़ जमा लेनेवाली तथा सप्तमधातु (वीर्य) तक पहुँच जानेवाली बिमारियों के **शतम्**=सैकड़ें को इस शतवार मणि से दूर करता हूँ। २. तथा **शश्वन्वतीनाम्**=बारम्बार पीड़ा के लिए प्राप्त होनेवाली ग्रह, अपस्मार आदि व्याधियों के **शतम्**=सैकड़ों को इस मणि के द्वारा दूर करता हूँ।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य अर्शस् आदि रोगों को, शरीर में जड़ पकड़ लेनेवाले रोगों को, वीर्य तक पहुँच जानेवाले रोगों को तथा अपस्मार आदि रोगों को दूर कर देता है।

नीरोग बनकर यह वीर्यरक्षक पुरुष 'अथर्वा' बनता है—न डाँवाडोल होनेवाला। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

३७. [सप्तत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

वर्चः, भर्गो, यशः, सह, ओजो, वयो, बलम्

इदं वर्चो अग्निना दत्तमागन्भर्गो यशः सह ओजो वयो बलम्।
त्रयस्त्रिंशद्यानि च वीर्याणि तान्यग्निः प्र ददातु मे॥ १॥

१. **अग्निना**=उस अग्रणी प्रभु से **दत्तम्**=दिया हुआ **इदं वर्चः**=यह दीप्त तेज **आगन्**=मुझे प्राप्त हो। **भर्गः**=शत्रुओं को भून डालनेवाला तेज, **यशः**=यश, **सहः**=दूसरों को अभिभूत करनेवाला तेज **ओजः**=ओजस्विता—कार्यों को करने का उत्साह **वयः**=नित्ययौवन या गतिशीलजीवन, तथा **बलम्**=दूसरों से अभिभूत न किये जानेवाला सामर्थ्य मुझे प्राप्त हुआ है। २. **च**=और **यानि**=जो **त्रयस्त्रिंशत्**=शरीरस्थ तेतीस देवताओं में प्रत्येक में स्थित होने से तेतीस **वीर्यमणि**=बल हैं, **तानि**=उनको **मे**=मेरे लिए **अग्निः प्रददातु**=ये अग्रणी प्रभु दें।

भावार्थ—प्रभु मुझे 'वर्चस्, भर्ग, यश, सह, ओज, वय और बल' प्राप्त कराएँ। मेरे शरीरस्थ तेतीस के तेतीस देव वीर्यवान हों।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः** ॥

इन्द्रियाय, शतशारदाय

वर्च आ धेहि मे तन्वां सह ओजो वयो बलम्।
इन्द्रियाय त्वा कर्मणे वीर्याय प्रति गृह्णामि शतशारदाय॥ २॥

१. हे परमात्मन्! **मे तन्वाम्**=मेरे शरीर में **वर्चः आधेहि**=शत्रुओं के आवर्जक प्रताप को स्थापित कीजिए। **सहः**=शत्रुमर्षक बल को, **ओजः**=ओजस्विता को, **वयः**=नित्य यौवन व पौरुष को तथा **बलम्**=बल को धारण कीजिए। २. हे प्रभो! **त्वा**=आपको मैं **प्रतिगृह्णामि**=हृदयदेश में ग्रहण करने के लिए यत्नशील होता हूँ, जिससे **इन्द्रियाय**=मेरी सब इन्द्रियाँ ठीक से कार्य करनेवाली हों। **कर्मणे**=मैं यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त रहूँ। **वीर्याय**=शक्तिशाली बना रहूँ और **शतशारदाय**=पूरे सौ वर्षों के जीवनवाला होऊँ।

भावार्थ—प्रभु मुझे शक्ति प्राप्त कराएँ। प्रभु-स्मरण से मेरी इन्द्रियाँ सशक्त व पवित्र बनी रहें। मैं यज्ञ आदि कर्मों को करनेवाला बनूँ, वीर्यवान् होऊँ और दीर्घजीवन प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिपदामहाबृहती** ॥

अभिभूयाय-राष्ट्रभृत्याय

ऊर्जे त्वा बलाय त्वौजसे सहसे त्वा।
अभिभूयाय त्वा राष्ट्रभृत्याय पर्यूहामि शतशारदाय॥ ३॥

१. हे प्रभो! मैं **त्वा**=आपको **ऊर्जे**=बल व प्राणशक्ति के लिए **पर्यूहामि**=(परिवहामि) ग्रहण करता हूँ। **बलाय**=बल के लिए **त्वा**=आपको ग्रहण करता हूँ, **ओजसे**=ओजस्विता के लिए तथा **सहसे**=शत्रुमर्षण सामर्थ्य के लिए **त्वा**=आपका ग्रहण करता हूँ। २. **अभिभूयाय**=शत्रुओं का अभिभव करने के लिए **त्वा**=आपका ग्रहण करता हूँ, तथा **राष्ट्रभृत्याय**=अपने राष्ट्र के भरण के लिए और **शतशारदाय**=सौ वर्ष के दीर्घजीवन के लिए आपका धारण करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण से 'ऊर्ज, बल, ओज, सहस्' प्राप्त होता है। हम शत्रुओं का अभिभव करते हुए और राष्ट्र का धारण करते हुए सौ वर्ष का दीर्घजीवन प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**अथर्वा** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**पुरउष्णिक्** ॥

'धात्रे-विधात्रे, समृधे, भूतस्य पतये' यजे

ऋतुभ्यष्ट्वार्तवेभ्यो माद्भ्यः संवत्सरेभ्यः।
धात्रे विधात्रे समृधे भूतस्य पतये यजे॥ ४॥

१. हे प्रभो! **ऋतुभ्यः**=ऋतुओं के लिए **त्वा यजे**=मैं आपका पूजन करता हूँ। आपके पूजन से मुझे ऋतुओं की अनुकूलता हो। **आर्तवेभ्यः**=ऋतुओं में उत्पन्न होनेवाले फूल-फलों के लिए मैं आपका उपासन करता हूँ। मुझे उनकी अनुकूलता प्राप्त हो। **माद्भ्यः संवत्सरेभ्यः**=महीनों व वर्षों के लिए मैं आपका पूजन करता हूँ। आपका पूजन मेरे मासों व वर्षों को उत्तम व सफल बनाए। २. मैं **धात्रे**=सृष्टि का धारण करनेवाले, **विधात्रे**=सृष्टि का निर्माण करनेवाले, **समृधे**=सब प्रकार के ऐश्वर्योंवाले **भूतस्य पतये**=सब प्राणियों के स्वामी आपके लिए **यजे**=अपना अर्पण करता हूँ। आपने ही मेरे जीवन-रथ का सारथि बनकर इसे लक्ष्य-स्थान पर पहुँचाना है।

भावार्थ—प्रभु-पूजन से हमारे लिए ऋतुओं, मासों व वर्षों की अनुकूलता प्राप्त हो। हम उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें जोकि 'धाता, विधाता, समृद्ध व भूतपति' है।

सूक्त का ऋषि 'अथर्वा' गुग्गुल आदि पदार्थों का यथायोग करता हुआ स्वस्थ बनता है—

३८. [अष्टात्रिंशं सूक्तम्]

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**गुल्गुलुः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

गुग्गुलु

न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्नुते।
यं भेषजस्य गुल्गुलोः सुरभिर्गन्धो अश्नुते॥ १॥

१. **तम्**=उस साधक को **यक्ष्माः**=राजरोग **न अरुन्धते**=नहीं घेरते तथा **एनम्**=इसको **शपथः**=शाप व क्रोध-वचन न **अश्नुते**=नहीं व्यापता, **यम्**=जिसको **भेषजस्य**=औषधभूत (भेषं रोगभयं जयति) रोगभय को जीतनेवाले **गुल्गुलोः**=गुग्गुल का (गुज् स्तेये, गुड रक्षणे) रोगों के अपहरण द्वारा रक्षण करनेवाले इस पदार्थ का **सुरभिः गन्धः**=उत्तम गन्ध **अश्नुते**=व्यापता है (सुष्ठु रभते) यह गन्ध रोगों पर सम्यक् आक्रमण करनेवाला होता है।

भावार्थ—अग्निहोत्र में गुग्गुल की हवि सम्पूर्ण घर को उस गन्ध से व्याप्त कर देती है जोकि रोगों को आक्रान्त करके होताओं को नीरोग व शान्तचित्त बना देती है। यह तो है ही रोगापहारी (गुज स्तेये) तथा रक्षक (गुड रक्षणे)।

ऋषि:—**अथर्वा**॥ देवता—**गुल्गुलुः**॥ छन्दः—२ **चतुष्पदोष्णिक्**, ३ **प्राजापत्याऽनुष्टुप्**॥

यक्ष्मा-विनाश

विष्वञ्चस्तस्माद्यक्ष्मा मृगा अश्वाइवेरते।
यद् गुल्गुलु सैन्धवं यद्वाप्यासि समुद्रियम्॥ २॥
उभयोरग्रभं नामास्मा अरिष्टतातये॥ ३॥

१. **यत्**=जो **गुल्गुलु**=गुग्गुल **सैन्धवम्**=नदी के तट पर उत्पन्न होनेवाला है, **यद् वा**=अथवा जो **समुद्रियम्**=समुद्र के किनारे **अपि असि**=भी उत्पन्न होनेवाला है। **तस्मात्**=उसके प्रयोग से **यक्ष्माः**=रोग **विष्वञ्चः**=विविध दिशाओं में गतिवाले होते हुए **अश्वाः**=मार्गों का शीघ्रता से व्यापन करनेवाले **मृगाः इव**=मृगों के समान **ईरते**=भाग खड़े होते हैं। २. **अस्मै**=इस रोगी के लिए **आरिष्टतातये**=कल्याण के विस्तार के लिए **उभयोः**=सैन्धव व समुद्रिय दोनों ही गुग्गुलों के **नाम अग्रभम्**=स्वरूप (form) को प्रतिपादित करता हूँ।

भावार्थ—गुग्गुल चाहे नदी तट पर उद्भूत हो, चाहे समुद्र तट पर, दोनों ही गुग्गुल यक्ष्मा रोग को भागने में समर्थ हैं।

अगले सूक्त में ऋषि 'भृगु अंगिराः' है—तपस्याग्नि में अपने को परिपक्व करनेवाला—अंग-प्रत्यंग में रस के संचारवाला! यह 'कुष्ठ' औषध के प्रयोग से रोगनाश का प्रतिपादन करता है—

३९. [एकोनचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषि:—**भृग्वङ्गिराः**॥ देवता—**कुष्ठः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

कुष्ठ

एतु देवस्त्रायमाणः कुष्ठो हिमवतस्परि।
तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः॥ १॥

१. यह **देवः**=रोगों को जीतने की कामनावाला **त्रायमाणः**=हमारा रक्षण करता हुआ

कुष्ठः=(कुष्णाति रोगान्) रोग को **वाहि**=निकाल फेंकनेवाला 'कुष्ठ' **हिमवतःपरि**=हिम-(बर्फ)-वाले प्रदेश से **आ एतु**=हमें प्राप्त हो। २. हे कुष्ठ! तू **तक्मानम्**=जीवन को कष्टमय बनानेवाले **सर्वम्**=सब रोगों को, **च**=और **सर्वाः**=सब **यातुधान्यः**=पीड़ा का आधान करनेवाली बीमारियों को **नाशय**=नष्ट कर दे।

भावार्थ—हिमवाले प्रदेशों से प्राप्त होनेवाला यह कुष्ठ सब ज्वरों व पीड़ाओं को दूर करनेवाला है। संस्कृत में इसके नाम ही 'व्याधिः पारिभाव्यम्' है (विगतः आधिः अनेन, परिभावे साधुः) रोग इससे दूर होता है। यह रोगों को पराजित करने में उत्तम है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**कुष्ठः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदापथ्यापङ्क्तिः** ॥

'कुष्ठ, नद्यमारः, नद्यारिषः'

त्रीणि ते कुष्ठ नामा॑नि नद्यमारो नद्या॑रिषः।
नद्यायं पुरु॑षो रिषत्। यस्मै॑ परिब्रवी॑मि त्वा सायंप्रा॑तरथो दिवा॑॥ २॥

१. हे **कुष्ठ**=रोगों को बाहर निकाल फेंकनेवाले कुष्ठ! **ते**=तेरे **त्रीणि नामानि**=तीन नाम हैं। पहला नाम तो कुष्ठ है ही। दूसरा **नद्यमारः**=नदी के जलों के कारण उत्पन्न होनेवाले मलेरिया आदि रोगों को मारनेवाला तथा तीसरा **नद्यारिषः**=इन नदी-जलों के कारण उत्पन्न होनेवाले रोगों को हिंसित करनेवाला। २. हे **नद्य**=(नद्यानां मारको इति नद्यः सा०) उदकदोषोद्भव रोगों को नष्ट करनेवाले कुष्ठ! **अयं पुरुषः**=यह पुरुष तेरे प्रयोग द्वारा **रिषतः**=रोगों को हिंसित करनेवाला हो। **यस्मै**=जिस पुरुष के लिए मैं **सायंप्रातः अथ उ दिवा**=सायं-प्रातः और दिन में तीन बार **त्वा परिब्रवीमि**=तेरे प्रयोग के लिए कहता हूँ, अर्थात् जो दिन में तीन बार तेरा प्रयोग करता है वह रोगों से हिंसित नहीं होता।

भावार्थ—कुष्ठ औषध विशेषकर जल के दोषों से उत्पन्न रोगों को दूर करनेवाला है। प्रातः-सायं व दिन में इसके प्रयोग से पुरुष रोगों का हिंसन करनेवाला होता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**कुष्ठः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदापथ्यापङ्क्तिः** ॥

जीवला-जीवन्तः

जीवला नाम॑ ते माता जीव॑न्तो नाम॑ ते पिता।
नद्यायं पुरु॑षो रिषत्। यस्मै॑ परिब्रवी॑मि त्वा सायंप्रा॑तरथो दिवा॑॥ ३॥

१. हे कुष्ठ! **ते माता**=तुझे जन्म देनेवाली यह पृथिवी माता **जीवला नाम**=जीवन देनेवाली होने से 'जीवला' नामवाली है। **ते पिता**=तेरा पालनेवाला यह सूर्य या मेघ भी **जीवन्तः नाम**=जिलानेवाला होने से 'जीवन्त' नामवाला है। २. हे **नद्य**=उदकदोषोद्भव रोगों को नष्ट करनेवाले कुष्ठ! **यस्मै**=जिस पुरुष के लिए **त्वा**=तुझे **सायंप्रातः अथ उ दिवा**=सायं-प्रातः और निश्चय से दिन में तीन बार प्रयोग के लिए **परिब्रवीमि**=कहता हूँ, **अयं पुरुषः**=यह पुरुष **रिषत्**=रोग का हिंसन करनेवाला होता है।

भावार्थ—कुष्ठ औषध की माता पृथिवी 'जीवला' है। इसका पिता मेघ व सूर्य 'जीवन्त' है। इसका तीन बार प्रयोग करनेवाला पुरुष रोगों को हिंसित करनेवाला होता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**कुष्ठः** ॥ छन्दः—**षट्पदाजगती** ॥

अनड्वान्-व्याघ्रः

उत्तमो अस्योषधीनामनड्वान् जग॑तामिव व्याघ्रः श्वप॑दामिव।
नद्यायं पुरु॑षो रिषत्। यस्मै॑ परिब्रवी॑मि त्वा सायंप्रा॑तरथो दिवा॑॥ ४॥

१. हे कुष्ठ! तू **ओषधीनाम् उत्तमः असि**=ओषधियों में उसी प्रकार उत्तम है, **इव**=जैसेकि **जगताम् अनड्वान्**=गतिशील गवादि पशुओं में बैल। अन्न आदि का उत्पादन करता हुआ बैल जैसे उपकारक है उसी प्रकार यह कुष्ठ भी हमारा उपकारक है। **इव**=जैसे **श्वपदाम्**=हिंसक पशुओं में **व्याघ्रः**=व्याघ्र उत्तम है, इसी प्रकार ओषधियों में कुष्ठ है। रोगों के प्रति वह भी व्याघ्र के समान क्रूर है। २. हे **नद्य**=उदकदोषोद्भव रोगों को नष्ट करनेवाले कुष्ठ! **यस्मै**=जिस पुरुष के लिए **त्वा**=तुझे **सायंप्रातः अथ उ दिवा**=सायं-प्रातः और निश्चय से दिन में तीन बार प्रयोग के लिए **परिब्रवीमि**=कहता हूँ, **अयं पुरुषः**=यह पुरुष **रिषत्**=तेरे प्रयोग से रोगों को हिंसित करता है।

भावार्थ—कुष्ठ औषध उसी प्रकार उपकारक है जैसे गवादि पशुओं में बैल। यह रोगों के प्रति उसी प्रकार क्रूर है, जैसेकि व्याघ्र। इसका प्रयोक्ता रोगों को हिंसित करनेवाला होता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**कुष्ठः** ॥ छन्दः—**सप्तपदाशक्वरी** ॥

शाम्बु, आदित्य, विश्वदेव

त्रिः शाम्बुभ्यो अङ्गिरेभ्यस्त्रिरादित्येभ्यस्परि।
त्रिर्जातो विश्वदेवेभ्यः।
स कुष्ठो विश्वभेषजः साकं सोमेन तिष्ठति।
तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः॥ ५॥

१. **त्रिः**=तीन बार प्रयोग किया हुआ कुष्ठ नामक औषध **शाम्बुभ्यः**=(शम्ब् to go) गतिशील **अंगिरेभ्यः**=यज्ञादि में प्रवृत्त कर्मकाण्डियों के लिए **परिजातः**=सर्वथा होता है। यह औषध उन्हें नीरोग बनाकर उत्तम कर्मों में प्रवृत्त करता है। **त्रिः**=तीन बर प्रयोग किया हुआ **यः आदित्येभ्यः**='प्रकृति, जीव व परमात्मा' के ज्ञान का आदान करनेवाले आदित्यों के लिए होता है। उन्हें नीरोग बनाकर उत्कृष्ट ज्ञानी बनाता है यह **त्रिः**=तीन बार प्रयुक्त हुआ-हुआ **विश्वदेवेभ्यः**=सर्वदेवों के लिए **जातः**=हो जाता है। यह उन्हें नीरोग बनाकर देव बनाता है। कुष्ठ औषध का प्रयोग नीरोगता के द्वारा हमें 'क्रियाशील, ज्ञानी व देववृत्ति का' बनाता है। २. **सः कुष्ठः विश्वभेषजः**=वह कुष्ठ औषध सब रोगों की चिकित्सा है। यह **सोमेन साकं तिष्ठति**=गुणों के दृष्टिकोण से सोम के साथ स्थित होता है। जैसे शरीरस्थ सोम (वीर्य) सर्वौषध है, उसी प्रकार यह कुष्ठ भी सर्वौषध है। हे कुष्ठ! तू **सर्वतक्मानम्**=सब ज्वरों को **नाशय**=नष्ट कर **च**=और **सर्वाः यातुधान्यः**=सब पीड़ा का आधान करनेवाली बीमारियों को नष्ट कर।

भावार्थ—दिन में तीन बार प्रयुक्त हुआ 'कुष्ठ' हमें 'गतिशील, ज्ञानी व देव' बनाता है। यह हमारे 'शरीर, मस्तिष्क व मन' तीनों को नीरोग बनाता है। यह वीर्य के समान ही महिमावाला है। सब रोगों को दूर करता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**कुष्ठः** ॥ छन्दः—**अष्टिः** ॥

कुष्ठ में अमृत स्थापन

अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि।
तत्रामृतस्य चक्षणं ततः कुष्ठो अजायत।
स कुष्ठो विश्वभेषजः साकं सोमेन तिष्ठति।
तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः॥ ६॥

१. **इतः**=यहाँ से—पृथिवीलोक से **तृतीयस्याम्**=तीसरे स्थान में स्थित (पृथिवी-अन्तरिक्ष-द्युलोक) **दिवि:**=द्युलोक में **अश्वत्थः**=आदित्य (सूर्य) की स्थिति है। **अश्वत्थ**=अग्नि का महान् आश्रय, अर्थात् सूर्य। यह आदित्य **देवसदनः**=देवों का निवासस्थान है। (पृथिवीलोक में मर्त्य, चन्द्रलोक में पितर, सूर्यलोक में देव)। **तत्र**=यहाँ सूर्य में **अमृतस्य चक्षणम्**=अमृत का दर्शन होता है। सूर्य में ही सम्पूर्ण प्राणशक्ति प्रतिष्ठित है। **ततः**=उस सूर्य से ही—सूर्य-किरणों के सम्पर्क से ही **कुष्ठः**=यह कुष्ठ नामक ओषधि **अजायत**=हुई है। २. **सः कुष्ठः विश्वभेषजः**०

भावार्थ—द्युलोकस्थ सूर्य की किरणों के द्वारा कुष्ठ में अमृत का स्थापन होता है। इसी से कुष्ठ विश्वभेषज बन जाता है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**कुष्ठः** ॥ छन्दः—**अष्टिः** ॥

हिरण्यबन्धना नौः

हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि।
तत्रामृतस्य चक्षणं ततः कुष्ठो अजायत।
स कुष्ठो विश्वभेषजः साकं सोमेन तिष्ठति।
तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः॥ ७॥

१. **दिवि**=द्युलोक में यह सूर्य **हिरण्ययी**=ज्योतिर्मयी **नौ**=नाव ही **अचरत्**=गति कर रही है। द्युलोक समुद्र है तो सूर्य उसमें एक चमकीली नाव है। यह नाव **हिरण्यबन्धना**=हितरमणीय वीर्य (हिरण्यं वै वीर्यम्) के बन्धनवाली है। सभी प्राणशक्ति इस सूर्य में ही है। **तत्र**=वहाँ उस सूर्य में **अमृतस्य चक्षणम्**=अमृत का दर्शन होता है—सारी जीवनीशक्ति यहाँ सूर्य में ही स्थापित है। **ततः**=उस सूर्य से ही **कुष्ठः**=यह कुष्ठ नामक औषध **अजायत**=उत्पन्न हुई है। **सः**=वह कुष्ठ भी विश्वभेषज है०

भावार्थ—द्युलोकस्थरूपी समुद्र में स्थित ज्योतिर्मय नाव के समान इस सूर्य में ही सारी प्राणशक्ति रक्खी है। कुष्ठ में यहीं से यह शक्ति आयी है, अतः कुष्ठ सर्वभेषज है।

ऋषिः—**भृग्वङ्गिराः** ॥ देवता—**कुष्ठः** ॥ छन्दः—**अष्टिः** ॥

पर्वत शिखरों पर

यत्र नावप्रभ्रंशनं यत्र हिमवतः शिरः।
तत्रामृतस्य चक्षणं ततः कुष्ठो अजायत।
स कुष्ठो विश्वभेषजः साकं सोमेन तिष्ठति।
तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः॥ ८॥

१. **यत्र**=जहाँ **न अवप्रभ्रंशनम्**=नहीं होता नीचे गिरना, अर्थात् जहाँ पर्वतों की बहुत ऊँचाई पर बर्फ पिघलती नहीं, जमी रहती है, **यत्र**=जहाँ **हिमवतः**=इस हिमाच्छादित पर्वत का शिखर है **तत्र**=वहाँ खूब ऊँचाई पर **अमृतस्य**=किरणों में अमृत को लिए हुए सूर्य का जब **चक्षणम्**=प्रकाश होता है, अर्थात् जब उस हिमाच्छादित प्रदेश पर सूर्यकिरणें पड़ती हैं, **ततः**=तब यह **कुष्ठः**=कुष्ठ नामक औषधि **अजायत**=उत्पन्न होती है। **सः कुष्ठः**=वह कुष्ठ सब रोगों का औषध है०

भावार्थ—कुष्ठ नामक औषध हिमाच्छादित पर्वतों के अत्युच्च शिखरों पर सूर्य प्रकाश के चमकने पर उत्पन्न होती है। यह सर्वौषध है।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—कुष्ठः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'ज्ञानी-ध्यानी-कर्मी'

यं त्वा वेद पूर्व इक्ष्वाको यं वा त्वा कुष्ठ काम्यः।
यं वा वसो यमात्स्यस्तेनासि विश्वभेषजः ॥ ९ ॥

१. हे **कुष्ठ**=कुष्ठ नामक औषध! तू वह है **यम्**=जिस **त्वा**=तुझको **पूर्वः**=अपना पालन व पूरण करनेवाला **इक्ष्वाकः**=(इक्षुं ज्ञानं अकति) ज्ञान की ओर गतिवाला—ज्ञानरुचि पुरुष **वेद**=जानता है या प्राप्त करता है। हे कुष्ठ! **वा**=अथवा **यं त्वा**=जिस तुझको **काम्यः**=प्रभु-प्राप्ति की कामनावाला उत्तम पुरुष प्राप्त करता है। २. **वा**=अथवा **यम्**=जिस तुझको **वसः**=अपने निवास को उत्तम बनानेवाला पुरुष प्राप्त करता है, **यम्**=जिसको **आत्स्यः**=(अत् गमने, षोऽन्तकर्मणि) निरन्तर गति द्वारा बुराइयों का विध्वंस करनेवाला पुरुष प्राप्त करता है। **तेन**=उससे तू **विश्वभेषजः असि**=सब रोगों का औषध है।

भावार्थ—हे कुष्ठ! तेरे प्रयोग से ज्ञानी, प्रभु-प्राप्ति की कामनावाले, अपने निवास को उत्तम बनानेवाले व निरन्तर गति द्वारा पवित्रता का सम्पादन करनेवाले सभी लाभान्वित होते हैं।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ॥ देवता—कुष्ठः ॥ छन्दः—अनुष्टुप् ॥

'शीर्षलोक, तृतीयक, सदन्दि, हायन'

शीर्षलोकं तृतीयकं सदन्दिर्यश्च हायनः।
तक्मानं विश्वधावीर्याधराञ्चं परा सुव ॥ १० ॥

१. हे **विश्वधावीर्य**=सब प्रकार के पराक्रमवाले—सब रोगों को आक्रान्त करनेवाले कुष्ठ! तू उस **तक्मानम्**=जीवन को कष्टमय बनानेवाले रोग को **अधराञ्चं परासुव**=नीचे गतिवाला करके दूर भगा दे। मलशोधन के साथ उस रोग का भी सफ़ाया कर दे। २. उस रोग को दूर करदे जोकि **शीर्षलोकम्**=सिर को अपना लोक बनाता है। **तृतीयकम्**=जो ज्वर हर तीसरे दिन आने लगता है। **सदन्दिः**=(सदं दो अवखण्डने) जिसके कारण देह सदा टूटती-सी रहती है। **यः च**=और जो **हायनः**=प्रतिवर्ष नियम से आने लगता है। इन सब रोगों को तू दूर भगा दे।

भावार्थ—कुष्ठ-प्रयोग शिरोवेदना को, तृतीयक ज्वर को, सदा देहभेदक ज्वर को और वार्षिक ज्वर को दूर कर देता है।

जीवन को सर्वथा नीरोग व उत्तम बनानेवाला यह 'ब्रह्मा' है। यही अगले चार सूक्तों का ऋषि है—

४०. [चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—ब्रह्मा ॥ देवता—विश्वेदेवाः, बृहस्पतिः ॥ छन्दः—परानुष्टुप्त्रिष्टुप् ॥

सरस्वती मन्युमन्तं जगाम

यन्मे छिद्रं मनसो यच्च वाचः सरस्वती मन्युमन्तं जगाम।
विश्वैस्तद्देवैः सह संविदानः सं दधातु बृहस्पतिः ॥ १ ॥

१. **यत्**=जो **मे**=मेरा **मनसः**=मन का **छिद्रम्**=दोष है—मन में विद्याप्राप्ति के लिए उत्साह का न होना ही मन का सर्वमहान् दोष है **च**=और **यत्**=जो **वाचः**=वाणी का दोष है—वेदवाणी का स्वाध्याय न करना ही वाणी का सर्वमहान् दोष है। **तत्**=उस दोष को **विश्वैः देवैः सह**='माता, पिता, आचार्य' आदि सब देवों के साथ **संविदानः**=ऐकमत्य को प्राप्त हुआ-हुआ

बृहस्पतिः=ज्ञान का स्वामी प्रभु **संदधातु**=ठीक करदे। प्रभु उत्तम माता-पिता आदि को प्राप्त कराके हमारे इस दोष को दूर कर दें—छिद्र को भर दें। २. इसप्रकार निर्दोष जीवनवाले बनते हुए हम इस बात का सदा स्मरण रखें कि **सरस्वती**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता **मन्युमन्तम्** (मन्यु=Sacrifice, Ardour, zeal)=त्याग व तीव्र उत्साहवाले को ही **जगाम**=प्राप्त होती है। मन्युमान् बनते हुए हम इस सरस्वती की आराधना करें। वस्तुतः यही निर्दोष बनने का मार्ग है।

भावार्थ—हमारे मन व वाणी के दोष प्रभु-कृपा से व उत्तम माता-पिता-आचार्य आदि के प्रशिक्षण से दूर हों। हम त्याग व उत्साह की वृत्तिवाले बनकर सरस्वती की आराधना करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**विश्वेदेवाः, बृहस्पतिः**॥ छन्दः—**पुरःककुम्मत्युपरिष्टाद्बृहती**॥

सुमेधा वर्चस्वी

मा न आपो मेधां मा ब्रह्म प्र मथिष्टन।
शुष्यदा यूयं स्यन्दध्वमुपहूतोऽहं सुमेधा वर्चस्वी॥ २॥

१. **आपः**=शरीरस्थ रेतःकणो! तुम **नः**=हमारी **मेधाम्**=बुद्धि को **मा**=मत **प्रमथिष्टन**=हिंसित होने दो और इसप्रकार **ब्रह्म**=हमारे ज्ञान को **मा**=मत नष्ट होने दो। ये रेतःकण ही तो ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर बुद्धि व ज्ञान का वर्धन करते हैं। २. **यूयम्**=हे रेतःकणो! तुम हमारे शरीरों में **शुष्यदा**=उत्तम प्रवाहोंवाले होकर **स्यन्दध्वम्**=प्रवाहित होओ। इन रेतःकणों की सदा ऊर्ध्वगति हो और इसप्रकार दीप्त बुद्धि बनकर **उपहूतः**=आचार्यों से उनके समीप बुलाया गया **अहम्**=मैं **सुमेधाः**=उत्तम बुद्धिवाला **वर्चस्वी**=रोगापहारक प्राणशक्तिवाला बनूँ। सुरक्षित वीर्यकण हमें मस्तिष्क में 'सुमेधाः' तथा शरीर में 'वर्चस्वी' बनाते हैं।

भावार्थ—रेतःकणों के शरीर में ही ऊर्ध्वगतिवाला होने से हमारी बुद्धि व ज्ञान हिंसित नहीं होते। हम सुमेधा व वर्चस्वी बनते हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**विश्वेदेवाः, बृहस्पतिः**॥ छन्दः—**बृहतीगर्भाऽनुष्टुप्**॥

मेधा, दीक्षा, तप

मा नो मेधां मा नो दीक्षां मा नो हिंसिष्टं यत्तपः।
शिवा नः शं सन्त्वायुषे शिवा भवन्तु मातरः॥ ३॥

१. **नः**=हमारी **मेधाम्**=मेधा बुद्धि को **मा हिंसिष्टम्**=मत हिंसित करो। **नः**=हमारी **दीक्षाम्**=व्रत-संग्रह को **मा**=मत नष्ट करो और **नः**=हमारा **यत्**=जो **तपः**=तप है उसे **मा**=(हिंसिष्टम्) मत समाप्त करो। हम प्राणायाम करते हुए प्राणसाधना द्वारा 'मेधा, दीक्षा व तप' का रक्षण करें। २. ये 'मेधा, दीक्षा व तप' **नः शिवाः**=हमारे लिए कल्याणकर हों। ये **शं सन्तु**=शान्ति दें, तथा **आयुषे**=प्रशस्त जीवन के लिए हों। ये 'मेधा, दीक्षा व तप' **शिवाः भवन्तु**=कल्याणकर हों। **मातरः**=ये हमारे जीवन का निर्माण करनेवाले हों।

भावार्थ—हम प्राणसाधना द्वारा 'मेधा, दीक्षा व तप' को अपनाएँ। ये हमारे कल्याण, शान्ति, दीर्घ व प्रशस्त जीवन के लिए हों।

सूचना—प्रस्तुत मन्त्र में प्राणसाधना की भावना अगले मन्त्र में आनेवाले 'अश्विना' शब्द से ली गई है। 'हिंसिष्टं' यह द्विवचनात्मक क्रिया 'अश्विना' के 'उद्धृत' करने का संकेत कर रही है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**विश्वेदेवाः, बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाऽऽर्षीगायत्री** ॥

वह प्रेरणा

या नः पीपरदश्विना ज्योतिष्मती तमस्तिरः। तामस्मे रासतामिषम्॥ ४॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **अस्मे**=हमारे लिए **ताम्**=उस **इषम्**=हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को **रासताम्**=प्राप्त कराओ, **या**=जो प्रेरणा **नः**=हमें **पीपरत्**=पार प्राप्त कराए, जिस प्रेरणा को सुनते हुए हम भवसागर से पार हो सकें। २. उस प्रेरणा को हम इस प्राणसाधना द्वारा प्राप्त करें जोकि **ज्योतिष्मती**=प्रकाशमयी है और **तमः तिरः**=अन्धकार को हमसे तिरोहित कर देती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से अशुद्धि का क्षय होने पर हृदय परिशुद्ध होता है। इस परिशुद्ध हृदय में हम प्रभु-प्रेरणा को सुन पाते हैं। यह प्रभुप्रेरणा प्रकाशमयी होती हुई, अन्धकार को दूर करती हुई, हमें भवसागर से पार प्राप्त कराए।

४१. [एकचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**तपः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

तप और दीक्षा से 'राष्ट्र, बल व ओज' की उत्पत्ति

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपो दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु॥ १॥

१. **भद्रम् इच्छन्तः**=कल्याण चाहते हुए **ऋषयः**=तत्त्वद्रष्टा पुरुषों ने **स्वर्विदः**=प्रकाश को प्राप्त करते हुए **अग्रे**=सर्वप्रथम **तपः दीक्षाम् उपनिषेदुः**=तप और दीक्षा को प्राप्त किया। २. **ततः**=उस तप और दीक्षा से ही **राष्ट्रम्**=उत्तम राष्ट्र **बलम्**=बल **च**=और **ओजः**=ओजस्विता **जातम्**=उत्पन्न हुई। २. **देवाः**='माता, पिता, आचार्य' आदि देव **अस्मै**=इस युवक सन्तान के लिए भी **ततः**=उस तप और दीक्षा को तथा तप और दीक्षा के द्वारा 'राष्ट्र बल व ओज' को **उपसंनमन्तु**=प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—जीवन में तप व दीक्षा के धारण से ही उत्तम राष्ट्र, बल व ओज की उत्पत्ति होती है। जिस राष्ट्र में युवक तप व दीक्षावाले होंगे, वही राष्ट्र उत्तम बनता है।

४२. [द्विचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्म** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सर्वयज्ञसाधक ब्रह्म

ब्रह्म होता ब्रह्म यज्ञा ब्रह्मणा स्वरवो मिताः।
अध्वर्युर्ब्रह्मणो जातो ब्रह्मणोऽन्तर्हितं हविः॥ १॥

१. सब पदार्थों में ब्रह्म की शक्ति ही काम करती है। सूर्यादि देवों में उस-उस देवत्व को ब्रह्म ही स्थापित करनेवाले हैं। यज्ञ के सब अंगों को ब्रह्म ही निर्मित करते हैं। ब्रह्म की शक्ति से ही होता आदि ऋत्विज् उस-उस कार्य को कर पाते हैं, अतः मन्त्र में कहते हैं कि **ब्रह्म होता**=ब्रह्म ही होतृकार्य को करनेवाले हैं। **ब्रह्म यज्ञाः**=प्रभु ही सब यज्ञ हैं। **ब्रह्मणा**=प्रभु ने ही **स्वरवः**=यज्ञस्तम्भ **मिताः**=मापपूर्वक बनाये हैं। २. **अध्वर्युः**=यह यज्ञ का प्रेणता अध्वर्यु भी **ब्रह्मणः जातः**=ब्रह्म से ही प्रादुर्भूत किया गया है। **हविः ब्रह्मणः अन्तः हितम्**=सब हवि ब्रह्म के अन्दर ही निहित है।

भावार्थ—यज्ञ के सब उपकरणों व कर्त्ताओं में प्रभु की ही शक्ति काम कर रही है।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्म** ॥ छन्दः—**ककुम्मतीपथ्यापङ्क्तिः** ॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविः

ब्रह्म स्रुचो घृतवतीर्ब्रह्मणा वेदिरुद्धिता।
ब्रह्म यज्ञस्य तत्त्वं च ऋत्विजो ये हविष्कृतः। शमिताय स्वाहा॥ २॥

१. **घृतवती**=होमार्थ घृत से पूर्ण **स्रुचः**=जुहू, उपभृत् आदि **ब्रह्म**=ब्रह्म ही हैं—इनमें ब्रह्म की ही शक्ति कार्य कर रही है। **ब्रह्मणा**=ब्रह्म ने ही **वेदिः उद्धिता**=वेदि को ऊपर स्थापित किया है २. **च**=और **ब्रह्म**=ब्रह्म ही **यज्ञस्य तत्त्वम्**=यज्ञ का परमार्थिक रूप है। **ये हविष्कृतः ऋत्विजः**=जो हवि को करनेवाले ऋत्विज् हैं, वे सब ब्रह्म ही हैं—ब्रह्म की ही शक्ति से कार्य करते हैं। **शमिताय**=शान्ति प्राप्त करानेवाले प्रभु के लिए **स्वाहा**=हम अपना अर्पण करते हैं। सब कर्मों का प्रभु में आधान ही प्रभु के प्रति अर्पण है, इसी में शान्ति है। न अभिमान, न अशान्ति। अभिमान होने पर ही फल की इच्छा होती है और अशान्ति उत्पन्न होती है।

भावार्थ—सब उपकरणों व अपने में भी ब्रह्म की शक्ति को कार्य करते हुए अनुभव करके हम कर्तृत्व के अभिमान से ऊपर उठें और इसप्रकार शान्ति प्राप्त करें।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्म** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अंहोमुच्-सुत्रावा

अंहोमुचे प्र भरे मनीषामा सुत्राम्णे सुमतिमावृणानः।
इदमिन्द्र प्रति हव्यं गृभाय सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः॥ ३॥

१. मैं **सुमतिम्**=कल्याणी मति का **आवृणानः**=वरण करता हुआ उस **अंहोमुचे**=पापों से छुड़ानेवाले **सुत्राम्णे**=उत्तम रक्षक प्रभु के लिए **मनीषाम्**=मन का ईश बनानेवाली स्तुति को **आप्रभरे**=समन्तात् सम्पादित करता हूँ। शुभ बुद्धिवाला पुरुष सदा प्रभु-स्तवन करता है। यह प्रभु-स्तवन उसके मन का शासक बन जाता है। उसे प्रभु-स्तवन में ही आनन्द का अनुभव होता है। इस स्तोता को प्रभु पापों से मुक्त करते हैं और उसका सम्यक् त्राण (रक्षण) करते हैं। २. **इन्द्र**=हे परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **इमं हव्यं प्रतिगृभाय**=इन हव्यों को स्वीकार कीजिए। हमसे किये जानेवाले व आप में आहित किये जानेवाले ये यज्ञ हमें आपका प्रिय बनाएँ। (ब्रह्मण्याधाय कर्माणि०)। **यजमानस्य**=इस यज्ञशील पुरुष की **कामाः**=कामनाएँ **सत्यः सन्तु**=सदा सत्य हों। यह यजमान कभी असत्य कामनाओं को करनेवाला न हो।

भावार्थ—हम सुमतिवाले बनकर प्रभु-स्तवन करें। प्रभु हमें पापों से मुक्त करेंगे और हमारा रक्षण करेंगे। हम यज्ञशील बनें और सदा सत्य कामनाओंवाले हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्म** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

धियः+ओजः

अंहोमुचं वृषभं यज्ञियानां विराजन्तं प्रथममध्वराणाम्।
अपां नपातमश्विना हुवे धिय इन्द्रियेण त इन्द्रियं दत्तमोजः॥ ४॥

१. मैं उस प्रभु को **हुवे**=पुकारता हूँ जोकि **अंहोमुचम्**=पाप से छुड़ानेवाले हैं, **यज्ञियानां वृषभम्**=पूजनीयों में श्रेष्ठ हैं अथवा यज्ञशील पुरुषों पर सुखों का वर्षण करनेवाले हैं, **अध्वराणां प्रथमं विराजन्तम्**=यज्ञों में सबसे प्रथम (मुख्यरूप से) देदीप्यमान होनेवाले हैं और **अपां नपातम्**=हमारे शरीरों में रेतःकणों को नष्ट न होने देनेवाले हैं। २. मैं प्रभु का उपासन करता हुआ **अश्विना हुवे**=इन प्राणापान को भी पुकारता हूँ—प्राणसाधना करता हूँ। हे प्राणापानो! आप

ते इन्द्रियेण=अपने वीर्य के साथ **धियः**=बुद्धियों को तथा **ओजः**=ओजस्विता को **दत्तम्**=दीजिए। प्राणसाधना से ही शरीर में वीर्य की ऊर्ध्वगति होती है, अतः वीर्य को 'प्राणापान का' कहा गया है।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन करें और प्राणसाधना को अपनाएँ। इससे हमें वीर्य, बुद्धि व ओज प्राप्त होगा।

४३. [त्रिचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**शङ्कुमतीपथ्यापङ्क्तिः**॥

अग्नि-मेधा

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
अग्निर्मा तत्र नयत्वग्निर्मेधां दधातु मे। अग्नये स्वाहा॥ १॥

१. **यत्र**=जहाँ **ब्रह्मविदः**=ब्रह्मज्ञानी पुरुष **दीक्षया तपसा सह**=व्रतसंग्रह व तप के साथ **यान्ति**=जाते हैं, अर्थात् जिस लोक को ये ब्रह्मज्ञानी प्राप्त करते हैं, **अग्नि**=वह अग्रणी प्रभु **मा**=मुझे **तत्र**=वहाँ **नयतु**=प्राप्त कराए। २. इसी दृष्टिकोण से यह अग्नि प्रभु **मे**=मेरे लिए **मेधाम् दधातु**=बुद्धियों को धारण करे। **अग्नये स्वाहा**=इस अग्नि के लिए मैं अपना अर्पण करता हूँ।

भावार्थ—अग्रणी प्रभु मुझे मेधा प्राप्त कराएँ। मैं दीक्षा व तप को अपनाता हुआ ब्रह्मज्ञानी बनूँ और उत्कृष्ट लोक को प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**शङ्कुमतीपथ्यापङ्क्तिः**॥

वायु-प्राण

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
वायुर्मा तत्र नयतु वायुः प्राणान्दधातु मे। वायवे स्वाहा॥ २॥

१. **यत्र**=जहाँ **ब्रह्मविदः**=ब्रह्मज्ञानी पुरुष **दीक्षया तपसा सह**=व्रतसंग्रह व तप के द्वारा **यान्ति**=जाते हैं, **वायुः**=निरन्तर गति के द्वारा बुराइयों का संहार करनेवाला प्रभु (वा गतिगन्धनयोः) **मा**=मुझे तत्र **नयतु**=वहाँ प्राप्त कराए। २. इसी दृष्टिकोण से **वायुः**=यह वायुनामक प्रभु **मे**=मेरे लिए **प्राणान् दधातु**=प्राणों को धारण करें। प्राणशक्ति के बिना उत्तम लोकों ने क्या प्राप्त होना? **वायवे स्वाहा**=इस वायु नामक प्रभु के लिए हम अपना अर्पण करते हैं।

भावार्थ—वायु के समान निरन्तर गतिवाले प्रभु प्राणशक्ति दें। इस प्राणशक्ति के होने पर व्रती व तपस्वी बनकर मैं प्रभु को जानूँ और उत्तम लोक को प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**शङ्कुमतीपथ्यापङ्क्तिः**॥

सूर्य-चक्षु

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
सूर्यो मा तत्र नयतु चक्षुः सूर्यो दधातु मे। सूर्याय स्वाहा॥ ३॥

१. **यत्र**=जहाँ **ब्रह्मविदः**=ब्रह्मज्ञानी पुरुष **दीक्षया तपसा सह**=व्रतसंग्रह व तप के साथ **यान्ति**=जाते हैं, **सूर्यः**=सूर्य के समान देदीप्यमान ज्योति वह ब्रह्म **मा तत्र नयतु**=मुझे वहाँ प्राप्त कराए। २. इसी दृष्टिकोण से **सूर्यः**=यह सूर्यसम दीप्त प्रभु **मे**=मेरे लिए **चक्षुः दधातु**=दर्शनशक्ति को धारण करें। 'चक्षु' से मार्ग को देखता हुआ, मैं मार्ग पर ही चलूँ और उत्तम लोक को प्राप्त करूँ। **सूर्याय**=इस सूर्य नामक प्रभु के लिए हम **स्वाहा**=अपना अर्पण करते हैं।

भावार्थ—सूर्यसम दीप्त प्रभु मुझे दर्शनशक्ति दें। इससे ठीक मार्ग पर चलता हुआ मैं व्रती व तपस्वी बनूँ और ब्रह्मज्ञ बनकर उत्तम लोक को प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**शङ्कुमतीपथ्यापङ्क्तिः**॥

चन्द्र-मन

यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॒ तप॑सा स॒ह।
च॒न्द्रो मा॒ तत्र॑ नयतु॒ मन॑श्च॒न्द्रो द॑धातु मे। च॒न्द्राय॒ स्वाहा॑॥ ४॥

१. **यत्र**=जहाँ **ब्रह्मविदः**=ब्रह्मज्ञानी पुरुष **दीक्षया तपसा सह**=व्रतसंग्रह व तप के साथ **यान्ति**=जाते हैं, **चन्द्रः**=वह आह्लादमय प्रभु **मा**=मुझे **तत्र नयतु**=वहाँ प्राप्त कराएँ। २. इसी दृष्टिकोण से **चन्द्रः**=वे आनन्दमय प्रभु **मे**=मेरे लिए **मनः**=प्रसादयुक्त मन को **दधातु**=धारण करें। प्रसन्न (निर्मल) मन में प्रभु-प्रेरणा को सुनता हुआ, उसपर चलता हुआ, उत्तम लोक को प्राप्त करूँ। **चन्द्राय स्वाहा**=इस आनन्दमय प्रभु के लिए मैं अपना अर्पण करता हूँ।

भावार्थ—आनन्दमय प्रभु मुझे प्रसन्न मन को प्राप्त कराएँ। इस निर्मल मन में प्रभु-प्रेरणा को सुनता हुआ मैं उत्तम मार्ग का आक्रमण करूँ। व्रती व तपस्वी बनकर उत्तम लोक को प्राप्त करूँ। इस आनन्दमय प्रभु के प्रति मैं अपना अर्पण करता हूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**शङ्कुमतीपथ्यापङ्क्तिः**॥

सोम-पय

यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॒ तप॑सा स॒ह।
सोमो॑ मा॒ तत्र॑ नयतु॒ पय॒ः सोमो॑ दधातु मे। सोमा॑य॒ स्वाहा॑॥ ५॥

१. **यत्र**=जहाँ **ब्रह्मविदः**=ब्रह्मज्ञानी पुरुष **दीक्षया तपसा सह**=व्रतसंग्रह व तप के साथ **यान्ति**=जाते हैं, **सोमः**=वे शान्त प्रभु **मा**=मुझे **तत्र नयतु**=वहाँ प्राप्त कराएँ। २. इसी दृष्टिकोण से **सोमः**=वे शान्त प्रभु **मे**=मेरे लिए **पयः**=आप्यायन (वृद्धि) को **दधातु**=धारण करें। वस्तुतः 'सोम' शरीर में वीर्य का नाम है। इस वीर्य के रक्षण से ही सब प्रकार की वृद्धि होती है। प्रभु वीर्य के पुञ्ज हैं—सोम हैं। इस **सोमाय**=वीर्यस्वरूप प्रभु के लिए **स्वाहा**=हम अपना अर्पण करते हैं।

भावार्थ—वे सोम प्रभु मेरा आप्यायन करें। प्रबुद्ध शक्तियोंवाला मैं व्रत व तप को अपनाता हुआ उत्तम लोक को प्राप्त करूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**शङ्कुमतीपथ्यापङ्क्तिः**॥

इन्द्र-बल

यत्र॑ ब्रह्म॒विदो॒ यान्ति॑ दी॒क्षया॒ तप॑सा स॒ह।
इन्द्रो॑ मा॒ तत्र॑ नयतु॒ बल॒मिन्द्रो॑ दधातु मे। इन्द्रा॑य॒ स्वाहा॑॥ ६॥

१. **यत्र**=जहाँ **ब्रह्मविदः**=ब्रह्मज्ञानी पुरुष **दीक्षया तपसा सह**=व्रतसंग्रह व तप के साथ **यान्ति**=प्राप्त होते हैं, **इन्द्रः**=वह सर्वशक्तिमान् प्रभु **मा**=मुझे **तत्र नयतु**=वहाँ प्राप्त कराए। २. इसी दृष्टिकोण से **इन्द्रः**=सर्वशक्तिमान् प्रभु **मे**=मेरे लिए **बलम्**=बल को **दधातु**=धारण करें। इस **इन्द्राय**=सर्वशक्तिमान् प्रभु के लिए **स्वाहा**=हम अपना अर्पण करते हैं।

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् प्रभु मुझे बल दें। मैं सबल होता हुआ व्रती व तपस्वी बनकर उत्तम लोक को प्राप्त करूँ।

ऋषि:—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**शङ्कुमतीपथ्यापङ्क्तिः**॥

आपः-अमृतम्

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
आपो मा तत्र नयन्त्वमृतं मोप तिष्ठतु। अद्भ्यः स्वाहा॥ ७॥

१. **यत्र**=जहाँ **ब्रह्मविदः**=ब्रह्मज्ञानी पुरुष **दीक्षया तपसा सह**=व्रतसंग्रह व तप के साथ **यान्ति**=जाते हैं, **आपः**=वह सर्वव्यापक प्रभु **मा**=मुझे **तत्र नयन्तु**=वहाँ ले-चले। २. उस सर्वव्यापक प्रभु की व्यापकता के स्मरण से **अमृतम्**=अमृतत्व—विषयों के पीछे मरते न फिरना **मा उपतिष्ठतु**=मुझे प्राप्त हो। मैं **अद्भ्यः स्वाहा**=उस सर्वव्यापक प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता हूँ।

भावार्थ—सर्वव्यापक प्रभु का स्मरण मुझे 'विषय-विलास के पीछे मरते रहने' की वृत्ति से ऊपर उठाए। मुझे दीक्षित व तपस्वी बनाए।

ऋषि:—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**शङ्कुमतीपथ्यापङ्क्तिः**॥

ब्रह्मा-ब्रह्म (ज्ञान)

यत्र ब्रह्मविदो यान्ति दीक्षया तपसा सह।
ब्रह्मा मा तत्र नयतु ब्रह्मा ब्रह्म दधातु मे। ब्रह्मणे स्वाहा॥ ८॥

१. **यत्र**=जहाँ **ब्रह्मविदः**=ब्रह्मज्ञानी पुरुष **दीक्षया तपसा सह**=व्रतसंग्रह व तप के साथ **यान्ति**=जाते हैं, **ब्रह्मा**=वह ज्ञानस्वरूप प्रभु **मा**=मुझे **तत्र नयतु**=वहाँ ले-चले। २. इसी दृष्टिकोण से **ब्रह्मा**=वे सर्वज्ञ प्रभु **मे**=मेरे लिए **ब्रह्म दधातु**=ज्ञान को धारण करें। **ब्रह्मणे स्वाहा**=उस सर्वज्ञ प्रभु के प्रति मैं अपना अर्पण करता हूँ।

भावार्थ—मैं सर्वज्ञ प्रभु के स्मरण से ज्ञानरुचि बनकर स्वाध्यायपूर्वक ज्ञान प्राप्त करूँ और दीक्षित व तपस्वी बनकर उत्तम लोक का भागी बनूँ।

४४. [चतुश्चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषि:—**भृगुः**॥ देवता—**आञ्जनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

शम्+अभयम्

आयुषोऽसि प्रतरणं विप्रं भेषजमुच्यसे।
तदाञ्जन त्वं शंताते शमापो अभयं कृतम्॥ १॥

१. गत सूक्त के मन्त्रों के अनुसार 'दीक्षा व तप' में चलनेवाले व्यक्ति शरीर में शक्ति का रक्षण कर पाते हैं। यह वीर्यशक्ति ही यहाँ 'आञ्जन' शब्द से कही गई है। (आ अंज्=to go, to shine, to decorate) यह शरीर में चारों ओर गतिवाला होता है, शरीर में यही सर्वाधिक शोभावाली धातु है, शरीर में सुरक्षित होकर यह शरीर को 'शक्ति, पवित्रता व दीप्ति' से अलंकृत करती है। हे **आञ्जन**=वीर्यमणे! तू **आयुषः प्रतरणम् असि**=आयु का बढ़ानेवाला है। **विप्रम्**=विशेषरूप से हमारा पूरण करनेवाला है। **भेषजम् उच्यसे**=सब रोगों को दूर करने से तू औषध कहलाता है। २. **तत्**=अतः हे **शंताते**=शरीर में रोगविनाश द्वारा शान्ति का विस्तार करनेवाले (आप् व्याप्तौ) वीर्यकणों (आपःरेतो भूत्वा०) आपके द्वारा **अभयम्**=निर्भयता **कृतम्**=की गई है। शरीर में वीर्यकणों के व्याप्त होने पर रोगों का भय नहीं रहता।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य आयु को बढ़ाता है, कमियों को दूर करता है, सब रोगों

का औषध है। शान्ति और अभय को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**आञ्जनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

हरिमा, जायान्य, अङ्गभेद, विसल्पक

यो ह॑रि॒मा जा॒यान्यो॑ऽङ्गभे॒दो वि॒सल्प॑कः।
सर्वं॑ ते॒ यक्ष्म॒मङ्गे॑भ्यो ब॒हिर्निर्ह॒न्त्वाञ्ज॑नम्॥ २॥

१. **यः**=जो **हरिमा**=हरिद् (पीले-से) वर्ण का पाण्डु नामक रोग है। **जायान्यः**=(जै क्षये) क्षीणता की ओर ले-जानेवाला क्षयरोग है। **अङ्गभेदः**=वातविकार से अंगों का टूटना है। **विसल्पकः**=विविध रूप से सरणशील व्रणविशेष (ऐग्ज़िमा) है। **आञ्जनम्**=यह वीर्यमणि **सर्वं यक्ष्मम्**=सब रोगों को **ते अङ्गेभ्यः**=तेरे अंगों से **बहिः निर्हन्तु**=बाहर निकाल दे।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य पीलिया, क्षय, अंगभेद व त्वग्रोगों को विनष्ट करनेवाला है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**आञ्जनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

नीरोगता, स्फूर्ति व निष्पापता

आञ्ज॑नं पृथि॒व्यां जा॒तं भ॒द्रं पु॑रुष॒जीव॑नम्।
कृ॒णोत्वप्र॑मायुकं॒ रथ॑जूति॒मना॑गसम्॥ ३॥

१. **आञ्जनम्**=शरीर को 'शक्ति, पवित्रता व दीप्ति' से अलंकृत करनेवाली यह वीर्यमणि **पृथिव्याम्**=इस शरीररूप पृथिवी में **जातम्**=उत्पन्न होती है। **भद्रम्**=यह हमारा कल्याण करनेवाली है। **पुरुषजीवनम्**=यह हमारे जीवन को पौरुषयुक्त करती है। २. यह हमारे लिए **अप्रमायुकं कृणोतु**=अमरणशीलता करे—हम सदा रोगी न बने रहें। यह **रथजूतिम्** (कृणोतु)=शरीररूप रथ के वेग को करे, अर्थात् हमारे शरीर-रथ को स्फूर्तिसम्पन्न बनाए, **अनागसम्**=निष्पापता को करे।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य 'नीरोगता-स्फूर्ति व निष्पापता' का साधक होता है। यह हमारे जीवन को पौरुष-सम्पन्न करता हुआ सुखमय बनाता है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**आञ्जनम्** ॥ छन्दः—**चतुष्पदाशङ्कुमत्युष्णिक्** ॥

प्राण-असु-निर्ऋति

प्राण॑ प्रा॒णं त्रा॑यस्वासो॒ अस॑वे मृड। निर्ऋ॑ते॒ निर्ऋ॑त्या नः॒ पाशे॑भ्यो मुञ्च॥ ४॥

१. यह आञ्जन (वीर्य) प्राणशक्ति का रक्षक होने से यहाँ 'प्राण' कहलाया है। बुद्धि को दीप्त करने के कारण 'असु' (प्रज्ञा नि० १०.३४) कहा गया है तथा नितरां रमण करनेवाला होने से 'निर्ऋति' नामवाला हुआ है (ऋ गतौ)। हे **प्राण**=प्राणशक्ति के रक्षक वीर्य! **प्राणं त्रायस्व**=तू हमारे प्राण का रक्षण कर। **असो**=हे प्रज्ञा के सम्पादक वीर्य! तू **असवे मृड**=हमारी बुद्धि के लिए सुख देनेवाला हो। २. **निर्ऋते**=शरीर में नितरां रमण करनेवाले वीर्य! तू **नः**= हमें **निर्ऋत्याः** (नॄ हिंसायाम्)=दुर्गति के **पाशेभ्यः**=पाशों से **मुञ्च**=मुक्त कर। सुरक्षित वीर्य सब दुर्गतियों को दूर करता है।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य प्राणशक्ति का रक्षण करता है, बुद्धि को तीव्र करता है और दुर्गतियों को दूर करता है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**आञ्जनम्** ॥ छन्दः—**त्रिपदानिचृद्विषमागायत्री** ॥

'सिन्धुगर्भ, विद्युत्-पुष्प'

सिन्धोर्गर्भोऽसि विद्युतां पुष्पम्। वातः प्राणः सूर्यश्चक्षुर्दिवस्पयः ॥ ५ ॥

१. **सिन्धोः गर्भः असि**=हे आञ्जन (वीर्यमणे)! तू सिन्धु—ज्ञानसमुद्र का अपने में धारण करनेवाला है। सुरक्षित वीर्य ही ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। **विद्युताम्**=विशिष्ट दीप्तियों का तू **पुष्पम्**=विकासक है। वीर्य के सुरक्षित होने पर तेजस्विता टपकती है, अंग-प्रत्यंग पुष्ट हो जाता है। २. यह सुरक्षित वीर्य **वातः**=(वा गतौ) हमें गतिशील बनाता है। **प्राणः**=यह हमारा प्राण है। **सूर्यः**=यह जीवन-गगन में ज्ञान-सूर्य का उदय करता है। **चक्षुः**=मार्गदर्शक बनता है अथवा चक्षु की शक्ति को बढ़ाता है। यह **दिवः पयः**=ज्ञान का आप्यायन करनेवाला है।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य ज्ञान का गर्भ है। तेजस्विता का पोषक है। यह रक्षक को गतिशील बनाता है, उसकी प्राणशक्ति को बढ़ाता है, उसमें ज्ञान-सूर्य को उदित करता है, चक्षुशक्ति को बढ़ाता है। ज्ञान का आप्यायन करनेवाला है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**आञ्जनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'त्रै-ककुदम्'

देवाञ्जन त्रैककुदं परि मा पाहि विश्वतः।
न त्वा तरन्त्योषधयो बाह्याः पर्वतीया उत ॥ ६ ॥

१. हे **देवाञ्जन**=दिव्य गुण-सम्पन्न वीर्यमणे! अथवा प्रभु को हृदयदेश में प्रकाशित करनेवाले आञ्जन! तू **त्रै-ककुदम्**=तीनों लोकों में सर्वश्रेष्ठ मणि है। मुझे तीनों लोकों के शिखर पर पहुँचानेवाला है। पृथिवीरूप शरीर में मुझे स्वस्थ, अन्तरिक्षरूप हृदय में मुझे पवित्र तथा द्युलोकरूप मस्तिष्क में मुझे दीप्त बनाता है। तू **मा**=मुझे **विश्वतः परिपाहि**=सब ओर से रक्षित कर। २. **त्वा**=तुझे यह **बाह्याः**=बाहर की ओषधियाँ **उत**=और **पर्वतीयाः**=पर्वतों पर होनेवाली **ओषधयः**=ओषधियाँ भी **न तरन्ति**=नहीं लाँघ सकतीं, अर्थात् तू ही सर्वोत्तम औषध है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित वीर्य हृदय में प्रभु को प्रकाशित करनेवाला है। यह त्रिलोकी में सर्वश्रेष्ठ वस्तु है। यही सर्वोत्तम औषध है। कोई भी बाह्य औषध इसकी तुलना नहीं कर सकती।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**आञ्जनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'अमीवाः-अभिभाः' (नाशयत्)

वी३दं मध्यमवासृपद्रक्षोहामीवचातनः।
अमीवाः सर्वाश्चातयन्नाशयदभिभा इतः ॥ ७ ॥

१. **इदम्**=यह शरीर को तेजस्विता से दीप्त करनेवाली 'आञ्जन-(वीर्य)-मणि' **मध्यं वि अवसृपत्**=शरीर के मध्यभाग में विशेषरूप से गतिवाली होती है। यह **रक्षोहा**=रोगकृमियों का हनन करती है, **अमीवचातनः**=रोगों को विनष्ट करती है। २. यह **सर्वाः अमीवाः चातयन्**=सब रोगों का विनाश करती हुई **इतः**=यहाँ से **अभिभाः**=हमें अभिभूत करनेवाले विषय-विकारों को **नाशयत्**=नष्ट करे। शरीर से रोगों को दूर करे, मन से वासनाओं को।

भावार्थ—शरीर में ही गतिवाला होता हुआ वीर्य शरीर के रोगों की भाँति मानस विकारों को भी नष्ट करता है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**आञ्जनम्, वरुणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अनृत-परिमुक्ति

बह्वी३दं राजन्वरुणानृतमाह पूरुषः।
तस्मात्सहस्रवीर्य मुञ्च नः पर्यंहसः॥ ८॥

१. हे **राजन्**=जीवन को दीप्त करनेवाले तथा **वरुण**=आधि-व्याधियों का निवारण करनेवाले आञ्जन (वीर्यमणे)! **पूरुषः**=मनुष्य **इदं बहु अनृतम् आह**=प्रातः से सायं तक बहुत ही झूठों को बोल जाता है। मनुष्य का जीवन विषय-प्रलोभनों से अनृतमय हो जाता है। २. हे **सहस्रवीर्य**=अनन्त पराक्रमयुक्त आञ्जनमणे! शरीर में सुरक्षित हुई-हुई तू **नः**=हमें **तस्मात् अंहसः**=उस सब पाप से **परिमुञ्च**=सर्वथा मुक्त कर।

भावार्थ—सुरक्षित वीर्य जीवन को दीप्त करता है। वासनाओं का निवारण करता है। यह हमें पापों से मुक्त करे।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**आञ्जनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'आपः, अघ्न्या, वरुण'

यदापो अघ्न्या इति वरुणेति तदूचिम।
तस्मात्सहस्रवीर्य मुञ्च नः पर्यंहसः॥ ९॥

१. हे आञ्जन मणे (वीर्य)! तू **आपः**=शरीर में सर्वत्र व्याप्त होनेवाला है। **अघ्न्याः इति**=हे वीर्यकणो! तुम अहन्तव्य हो—न नष्ट करने योग्य हो अतः 'अघ्न्या' **इति**=इस नामवाले हो। **'वरुण इति'**=सब 'आधि-व्याधियों का निवारण करनेवाले' होने से तुम्हें वरुण नाम से **ऊचिम**=कहते हैं। २. **तस्मात्**=उस कारण से—'वरुण' होने से हे **सहस्रवीर्य**=अनन्त शक्तिवाली वीर्यमणे! तू **नः**=हमें **अंहसः**=पापों से **परिमुञ्च**=सर्वथा मुक्तकर।

भावार्थ—शरीर में व्याप्त होने से वीर्य 'आपः' कहलाता है। न नष्ट करने योग्य होने से यह 'अघ्न्या' है। पापों व कष्टों का निवारण करने से यह 'वरुण' है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**आञ्जनम्, वरुणः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मित्र और वरुण

मित्रश्च त्वा वरुणश्चानुप्रेयतुराञ्जन। तौ त्वानुगत्य दूरं भोगाय पुनरोहतुः॥ १०॥

१. हे **आञ्जन**=शरीर को नीरोगता व निष्पापता से अलंकृत करनेवाले वीर्य! **मित्रः च वरुणः च**=मित्र और वरुण—स्नेह व निर्द्वेषता के भाव **त्वा अनुप्रेयतुः**=तेरे पीछे गतिवाले होते हैं। वीर्य का रक्षण होने पर स्नेह व निर्द्वेषता का हमारे जीवनों में विकास होता है। २. **तौ**=वे स्नेह व निर्द्वेषता के भाव **त्वा अनुगत्य**=तेरा अनुगमन करके **दूरं भोगाय**=बहुत दूर तक वास्तविक आनन्द की प्राप्ति के लिए **पुनः आ ऊहतुः**=फिर से शरीर में समन्तात् प्राप्त कराते हैं। ये स्नेह व निर्द्वेषता के भाव वीर्यरक्षण में सहायक होते हैं। वीर्यरक्षण से ये उत्पन्न होते हैं, फिर उत्पन्न होकर ये वीर्यरक्षण के साधक बनते हैं।

भावार्थ—वीर्य का रक्षण होने पर हममें स्नेह व निर्द्वेषता के भावों का वर्धन होता है। फिर ये भाव वीर्यरक्षण में सहायक बनते हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**विराण्महाबृहती** ॥

अग्निः अग्निना

अ॒ग्निर्मा॒ग्निना॑वतु प्रा॒णाया॑पा॒नायायु॑षे वर्च॑स॒
ओज॑से॒ तेज॑से स्व॒स्तये॑ सुभू॒तये॒ स्वाहा॑ ॥ ६ ॥

१. गतमन्त्रों के अनुसार वीर्य को शरीर में धारण करने पर **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **मा**=मुझे **अग्निना**=अग्नितत्त्व के द्वारा—आगे बढ़ने की भावना के द्वारा **अवतु**=रक्षित करे। २. प्रभु से अग्नितत्त्व इसलिए प्राप्त कराया जाए जिससे **प्राणाय अपानाय**=हमारी प्राणापान शक्ति ठीक बनी रहे। **आयुषे**=दीर्घजीवन प्राप्त हो। **वर्चसे**=श्रुताध्ययन से होनेवाला तेज प्राप्त हो। **ओजसे**=ओजस्विता प्राप्त हो तथा **तेजसे**=शरीर की कान्ति प्राप्त हो। **स्वस्तये**=उत्तम सत्ता के लिए तथा **सुभूतये**=उत्तम ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए **स्वाहा**=मैं अग्नि के प्रति अपना अर्पण करता हूँ।

भावार्थ—अग्नि नामक प्रभु मुझे अग्नितत्त्व के द्वारा—आगे बढ़ने की भावना के द्वारा रक्षित करें। मुझे प्राणापानशक्ति–दीर्घजीवन–ज्ञान का बल–ओजस्विता व शरीरकान्ति प्राप्त हो। मैं उत्तम सत्ता व उत्तम ऐश्वर्यवाला होने के लिए प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता हूँ।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**निचृन्महाबृहती** ॥

इन्द्रः–इन्द्रियेण

इन्द्रो॑ मेन्द्रि॒येणा॑वतु प्रा॒णाया॑पा॒नायायु॑षे वर्च॑स॒
ओज॑से॒ तेज॑से स्व॒स्तये॑ सुभू॒तये॒ स्वाहा॑ ॥ ७ ॥

१. **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यवाला प्रभु **मा**=मुझे **इन्द्रियेण**=प्रत्येक अंग के ऐश्वर्य के द्वारा **अवतु**=रक्षित करे। २. इन्द्र मुझे इन्द्रियों के ऐश्वर्य को इसलिए प्राप्त कराएँ, जिससे **प्राणाय अपानाय**। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—'इन्द्र' नामक प्रभु मुझे प्रत्येक अंग के ऐश्वर्य को प्राप्त कराएँ। मुझे प्राणापान शक्ति। शेष पूर्ववत्।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**निचृन्महाबृहती** ॥

सोमः सौम्येन

सोमो॑ मा सौम्येना॑वतु प्रा॒णाया॑पा॒नायायु॑षे वर्च॑स॒
ओज॑से॒ तेज॑से स्व॒स्तये॑ सुभू॒तये॒ स्वाहा॑ ॥ ८ ॥

१. **सोमः**=शान्त प्रभु **मा**=मुझे **सौम्येन**=शान्तस्वभाव के द्वारा **अवतु**=रक्षित करें। २. सोम प्रभु मुझे सौम्यता को इसलिए प्राप्त कराएँ जिससे **प्राणाय**। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—सोम नामक प्रभु मुझे सौम्यता प्राप्त कराके प्राणापानशक्तिसम्पन्न दीर्घजीवन प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**निचृन्महाबृहती** ॥

भगः भगेन

भगो॑ मा भगे॑नावतु प्रा॒णाया॑पा॒नायायु॑षे वर्च॑स॒
ओज॑से॒ तेज॑से स्व॒स्तये॑ सुभू॒तये॒ स्वाहा॑ ॥ ९ ॥

१. **भगः**=ऐश्वर्य के पुञ्ज प्रभु **मा**=मुझे **भगेन**=सेवनीय ऐश्वर्य के द्वारा **अवतु**=रक्षित करें। २. प्रभु इसलिए मुझे इस भग को प्राप्त कराएँ जिससे **प्राणायापानाय**। शेष पूर्ववत्।

भावार्थ—ऐश्वर्य-पुञ्ज प्रभु से ऐश्वर्य को प्राप्त करके प्राणापानशक्ति का वर्धन करता हुआ मैं दीर्घजीवी बनूँ।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**निचृन्महाबृहती** ॥

मरुतः गणैः

मरुतो मा गणैरवन्तु प्राणायापानायायुषे वर्चसे
ओजसे तेजसे स्वस्तये सुभूतये स्वाहा॥ १०॥

१. **मरुतः**=प्राण **गणैः**=ज्ञानेन्द्रिय पञ्चक, अन्तः-करण पञ्चक (मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार हृदय) आदि गणों के साथ **मा अवन्तु**=मेरा रक्षण करें। २. प्राणसाधना द्वारा प्राणशक्ति का वर्धन होकर मुझे दीर्घजीवन प्राप्त हो।

भावार्थ—प्राणसाधना होने पर मेरी इन्द्रियों के गण उत्तम होकर मुझे प्राणापानशक्तिसम्पन्न दीर्घजीवन प्राप्त कराएँ।

अपने जीवन में 'आयु-वर्चस्-ओज व तेज' को प्राप्त करके यह प्रजाओं का रक्षण करनेवाला 'प्रजापति' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

४६. [षट्चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**अस्तृतमणिः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाज्योतिष्मतीत्रिष्टुप्** ॥

अस्तृत मणि

प्रजापतिष्ट्वा बध्नात्प्रथममस्तृतं वीर्या᳖य कम्।
तत्ते बध्नाम्यायुषे वर्चस ओजसे च बलाय चास्तृतस्त्वाभि रक्षतु॥ १॥

१. **प्रजापतिः**=प्रभु ने **प्रथमम्**=सर्वप्रथम **अस्तृतम् त्वा**='अस्तृत' भागवाले तुझे **बध्नात्**=शरीर में बद्ध किया। **वीर्याय**=पराक्रम के सम्पादन के लिए तथा **कम्**=सुख के लिए। शरीर में यह वीर्य ही अस्तृतमणि है—'अस्तृत' अर्थात् अहिंसित (स्तृ to kill)। वीर्य के सुरक्षित होने पर रोगों व असद् भावनाओं का आक्रमण नहीं होता। २. **तत्**=उस **ते**=तेरी अस्तृतमणि को ही मैं **बध्नामि**=अपने अन्दर बाँधता हूँ, **आयुषे**=दीर्घजीवन के लिए **वर्चसे**=श्रुताध्ययन से उत्पन्न तेज के लिए **च**=और **ओजसे**=ओजस्विता के लिए **बलाय च**=तथा बल के लिए। प्रभु कहते हैं कि **अस्तृतः**=यह अस्तृतमणि **त्वा अभिरक्षतु**=तेरा 'शरीर व मन' दोनों क्षेत्रों में रक्षण करे—यह तुझे आधि-व्याधियों से बचाए।

भावार्थ—शरीर में बद्ध अस्तृत-(वीर्य)-मणि हमें 'दीर्घजीवन, वर्चस्, ओजस्विता व बल' प्रदान करती है।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**अस्तृतमणिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाभुरिक्शक्वरी** ॥

अस्तृतमणि की ऊर्ध्वगति

ऊर्ध्वस्तिष्ठतु रक्षन्नप्रमादमस्तृतेमं मा त्वा दभन्पणयो यातुधानाः।
इन्द्रइव दस्यूनव धूनुष्व पृतन्यतः सर्वाञ्छत्रून्वि षहस्वास्तृतस्त्वाभि रक्षतु॥ २॥

१. हे **अस्तृत**=अहिंसित वीर्यमणे! आप **इमम्**=इस—आपको अपने में बाँधनेवाले पुरुष को **प्रमादं रक्षन्**=प्रमादरहित होकर रक्षित करते हुए **ऊर्ध्वः तिष्ठतु**=ऊपर स्थित हों। शरीर में इस वीर्य की ऊर्ध्वगति होने पर ही सब प्रकार का रक्षण प्राप्त होता है। हे वीर्य! **यातुधानाः**=पीड़ा का आधान करनेवाले **पणयः**=(An impious man) अपवित्र वृत्तिवाले पुरुष **त्वा मा दभन्**=

तुझे हिंसित करनेवाले न हों। वस्तुतः सदा औरों को पीड़ित करनेवाले, अपवित्र आचरणवाले लोग वीर्यरक्षण नहीं कर पाते। २. **इन्द्रः इव दस्यून्**=एक जितेन्द्रिय पुरुष जैसे दास्यव वृत्तियों को दूर करता है, इसी प्रकार तू **पृतन्यतः**=उपद्रव-सैन्य से हमपर आक्रमण करनेवाले इन रोगों को **अवधूनुष्व**=सुदूर कम्पित कर। **सर्वान् शत्रून्**=सब शत्रुओं को **विषहस्व**=पराभूत कर। हे पुरुष! तू जितेन्द्रिय बन। **त्वा**=तुझ इन्द्र को यह **अस्तृतः**=अहिंसित वीर्यमणि **रक्षतु**=रक्षित करे।

भावार्थ—शरीर में वीर्यरक्षा करने पर हम सब रक्षित वीर्य के द्वारा रक्षित होते हैं।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**अस्तृतमणिः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदापथ्यापङ्क्तिः** ॥

'चक्षु, प्राण व बल'

शतं च न प्रहरन्तो निघ्नन्तो न तस्तिरे।
तस्मिन्निन्द्रः पर्यदत्त चक्षुः प्राणमथो बलमस्तृतस्त्वाभि रक्षतु॥ ३॥

१. **शतं च**=सैकड़ों भी शत्रु **प्रहरन्तः**=नानाप्रकार से प्रहार करते हुए, हे अस्तृतमणे! तुझे **न तस्तिरे**=आच्छादित नहीं कर सके (स्तृञ् आच्छादने)—हिंसित नहीं कर सके (स्तृ to kill)। **निघ्नन्तः**=प्राणों से वियुक्त करते हुए भयंकर रोगरूप शत्रु भी तुझे हिंसित करने में समर्थ नहीं हुए। इसी से तो तेरा 'अस्तृत' यह नाम हुआ है। २. हे जीव! **इन्द्रः**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु ने **तस्मिन्**= उस अस्तृतमणि में **चक्षुः पर्यदत्त**=चक्षु को—दृष्टिशक्ति को दिया है। **प्राणम् अथ उ बलम्**= प्राणशक्ति और बल को भी इस अस्तृतमणि में स्थापित किया है। यह **अस्तृतः**=अस्तृतमणि **त्वा अभिरक्षतु**=तेरा रक्षण करे। वीर्यरक्षण करते हुए हम चक्षु, प्राण व बल को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—वीर्य को अस्तृतमणि कहा गया है, क्योंकि यह हमपर रोगरूप शत्रुओं का प्रहार नहीं होने देती और हमें वासनारूप शत्रुओं से हिंसित नहीं होने देती। सुरक्षित वीर्य हमारे लिए 'चक्षु, प्राण व बल' देता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**अस्तृतमणिः** ॥ छन्दः—**चतुष्पदात्रिष्टुप्** ॥

इन्द्र का वर्म

इन्द्रस्य त्वा वर्मणा परि धापयामो यो देवानामधिराजो बभूव।
पुनस्त्वा देवाः प्र णयन्तु सर्वेऽस्तृतस्त्वाभि रक्षतु॥ ४॥

१. यह अस्तृतमणि (वीर्य) शरीर में स्थापित प्रभु का कवच है। **इन्द्रस्य**=उस शत्रुविद्रावक प्रभु के **वर्मणा**=कवच से **त्वा परिधापयामः**=तुझे आच्छादित करते है। **यः**=जो इन्द्र **देवानाम्**= सब देवों का **अधिराजः बभूव**=अधिराज है। प्रभु ही सब देवों में देवत्व को स्थापित करते हैं। ये प्रभु हमें भी इस वीर्यरूप कवच को धारण कराके, रोगों व वासनाओं के आक्रमण से बचाकर, देव बनाते हैं। २. प्रभु ने तो हमें यह कवच प्राप्त कराया ही है। अब इस जीवन में **पुनः**=फिर **सर्वे देवाः**='माता-पिता व आचार्य' आदि सब देव **त्वा प्रणयन्तु**=तुझे इस कवच को प्राप्त करानेवाले हों। उनका शिक्षण इसप्रकार का हो कि तुझे इस कवच-धारण के महत्त्व को सम्यक् समझा दें। यह **अस्तृतः**=शरीर में धारण किया हुआ अस्तृतमणिरूप कवच **त्वा अभिरक्षतु**=तुझे रोगों व वासनाओं के आक्रमण से बचाए।

भावार्थ—अस्तृतमणि (वीर्य) प्रभु से दिया गया कवच है। माता-पिता-आचार्य आदि सब देव इसके महत्त्व को हमें समझाते हैं। धारित हुआ-हुआ यह कवच हमें रोगों व वासनाओं से बचाता है।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**अस्तृतमणिः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदातिशक्वरी** ॥

एकशतं वीर्याणि

अस्मिन्मणावेकशतं वीर्या॒णि सहस्रं प्राणा अस्मिन्नस्तृते।
व्याघ्रः शत्रूनभि तिष्ठ सर्वान्यस्त्वा पृतन्यादधरः सो अस्त्वस्तृतस्त्वाभि रक्षतु ॥ ५ ॥

१. **अस्मिन् मणौ**=इस अस्तृतमणि (वीर्य) में **एकशतं वीर्याणि**=एक सौ एक वीर्य हैं। ये वीर्य-कण ही (एकशतं मृत्यवः) एक सौ एक रोगों से बचाते हैं। **अस्मिन् अस्तृते**=इस अहिंसित वीर्यमणि में **सहस्रं प्राणाः**=हज़ारों प्राणशक्तियाँ हैं। २. हे अस्तृत! **व्याघ्रः**=जैसे व्याघ्र खरगोश आदि को समाप्त कर देता है, इसीप्रकार तू **सर्वान् शत्रून् अभितिष्ठ**=सब शत्रुओं को आक्रान्त करनेवाला हो। **यः**=जो रोगरूप शत्रु **त्वा**=तुझपर **पृतन्यात्**=उपद्रव-सैन्य से आक्रमण करे, **सः**= वह **अधरः अस्तु**=पाँव तले रौंदा जाए—कुचला जाए। हे जीव! **अस्तृतः**=यह अहिंसित वीर्यमणि **त्वा अभिरक्षतु**=तेरा सब ओर से रक्षण करे।

भावार्थ—अस्तृत-(वीर्य)-मणि एक सौ एक रोगों को अपने एक सौ एक वीर्यों से कम्पित करके दूर भगाती है। इसमें अनन्त प्राणशक्ति है। यह रोगों को ऐसे कुचल देती है, जैसे शेर खरगोश को। रोगों को कुचलकर यह हमारा रक्षण करती है।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**अस्तृतमणिः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदोष्णिग्गर्भाविराड्जगती** ॥

शंभू-मयोभू

घृतादुल्लुप्तो मधुमान्पयस्वान्त्सहस्रप्राणः शतयोनिर्वयोधाः।
शंभूश्च मयोभूश्चोर्जस्वांश्च पयस्वांश्चास्तृतस्त्वाभि रक्षतु ॥ ६ ॥

१. **घृतात्**=मलक्षरण व दीप्ति के हेतु से **उल्लुप्तः**=शरीर में ऊर्ध्वगति के द्वारा (उल्) **लुप्तः**= अदृष्ट किया हुआ—रुधिर में व्याप्त किया हुआ यह **अस्तृतः**=वीर्यमणि **मधुमान्**=जीवन को मधुर बनानेवाला है। **पयस्वान्**=यह शरीर की शक्तियों का आप्यायन करनेवाला है। **सहस्रप्राणः**= अनन्त प्राणशक्तिवाला है। **शतयोनिः**=शतसंवत्सरपर्यन्त चलनेवाले जीवन का उत्पत्तिस्थान है। **वयोधाः**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करनेवाला है। २. **शम्भूः च**=सब अनिष्टों व उपद्रवों को शान्त करनेवाला है **च**=और **मयोभूः**=कल्याण का भावयिता (उत्पादक) है। यह **ऊर्जस्वान्**=बल व प्राणशक्ति को देनेवाला **च**=और **पयस्वान्**=प्रशस्त आप्यायनवाला अस्तृत (वीर्य) **त्वा अभिरक्षतु**=तुझे अभिरक्षित करे।

भावार्थ—शरीर में वीर्य की ऊर्ध्वगति होने पर यह हमारे लिए 'शंभू, मयोभू, ऊर्जस्वान्, पयस्वान् व मधुमान्' होता है। यह 'सहस्रप्राण, शतयोनि व वयोधा' है।

ऋषिः—**प्रजापतिः** ॥ देवता—**अस्तृतमणिः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदापथ्यापङ्क्तिः** ॥

असपत्नाः-सपत्नहा

यथा त्वमुत्तरोऽसो असपत्नः सपत्नहा।
सजातानामसद्वशी तथा त्वा सविता करदस्तृतस्त्वाभि रक्षतु ॥ ७ ॥

१. हे वीर्य का रक्षण करनेवाले पुरुष! **सविता**=वह प्रेरक प्रभु **त्वा**=तुझे तथा **करत्**=वैसा बनाए, प्रेरणा द्वारा तेरे जीवन को इसप्रकार संयमवाला बनाए कि **यथा**=जिससे **त्वम्**=तू **उत्तरः असः**=शत्रुओं के साथ संग्राम में उत्कृष्ट बने। **असपत्नः**=शत्रुरहित बने। **सपत्नहा**=सब शत्रुओं को समाप्त करनेवाला हो तथा **सजातानाम्**=समान कुल में उत्पन्न हुए-हुए अथवा समान

१. वेदवाणी एक गौ है, जो हमारे लिए ज्ञानरूप दुग्ध का प्रपूरण करती है। इस **इडां धेनुम्**=वेदवाणीरूप गौ को जोकि **मधुमतीम्**=हमारे जीवनों को अतिशयेन मधुर बनानेवाली है, इसे **स्वस्तये**=कल्याण के लिए **दुहन्ति**=दोहते हैं। यह वेदवाणीरूप धेनु **कोशम्**=ज्ञान का कोश है। **कलशम्**=(कला शेरतेऽस्मिन्) सब कलाओं का निवासस्थान है तथा **चतुर्बिलम्**=यह वेदवाणी कलश 'ऋग्, यजुः, साम, अथर्व' रूप चार बिलोंवाला है। वेदरूप इन चारों स्तनों से ज्ञानदुग्ध का प्रस्रवण होता है। २. इस **जनेषु**=लोगों में **ऊर्जम्**=बल व प्राणशक्ति का संचार करनेवाली, **मदन्तीम्** (मादयनीम्)=जीवन को आनन्दमय बनानेवाली, **अदितिम्**=(अ-दिति) शरीर के स्वास्थ्य को नष्ट न होने देनेवाली वेदवाणीरूप गौ को, हे **अग्ने**=प्रगतिशील जीव! **परमे व्योमन्**=उत्कृष्ट हृदयाकाश में **मा हिंसीः**=मत हिंसित कर। हृदय में तू इसे स्थान दे। इससे नित्यप्रति ज्ञानदुग्ध का दोहन करनेवाला बन।

भावार्थ—हमारे हृदयों में सदा वेदवाणी के लिए स्थान हो। हम सदा इसका स्वाध्याय करनेवाले बनें।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

वस्त्रों का उद्देश्य 'शरीरभरण'

एतत्ते देवः सविता वासो ददाति भर्तवे।
तत्त्वं यमस्य राज्ये वसानस्तार्प्यं चर॥ ३१॥

१. **सविता देवः**=वह सर्वोत्पादक, सर्वप्रेरक, प्रकाशमय (दिव्) प्रभु **ते**=तेरे लिए **एतत् वासः**=इस वस्त्र को **भर्तवे**=भरण-पोषण के लिए **ददाति**=देते हैं। वस्त्र का उद्देश्य शरीर का रक्षण है। यों ही चमक-दमक व सौन्दर्य के लिए इनका धारण नहीं करना होता। २. **तत्**=उस **तार्प्यम्**='तृपा' नामक तृणविशेष से बने हुए अथवा प्रीतिजनक **वसानः**=वस्त्र को धारण करता हुआ **त्वम्**=तू **यमस्य राज्ये**=उस सर्वनियन्ता प्रभु के इस संसार-राज्य में **चर**=विचरनेवाला बन।

भावार्थ—वस्त्रों का उद्देश्य 'शरीर का धारण' ही है। इस संसार में इसी उद्देश्य से वस्त्रों को धारण करते हुए विचरें। तड़क-भड़क के लिए वस्त्रों का धारण न हो।

ऋषिः—**अथर्वा**॥ देवता—**यमः, मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

धाना और तिल

धाना धेनुरभवद्वत्सो अस्यास्तिलोऽभवत्।
तां वै यमस्य राज्ये अक्षितामुप जीवति॥ ३२॥

१. गतमन्त्र में वस्त्रों के लिए सामान्य नियम का संकेत किया था। यहाँ भोजन का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि **धानाः**=भृष्टयव (भुने जौ) तुम्हारे लिए **धेनुः अभवत्**=धेनु—पालन करनेवाली गौ हों। **तिलः**=तिल **अस्याः वत्सा अभवत्**=इस धेनु के बछड़े के स्थानापन्न हों। २. **ताम्**=उस नानारूप गौ का **वै**=निश्चय से **अक्षिताम्**=जो नष्ट नहीं होने देनेवाली, उसका **यमस्य राज्ये**=उस सर्वनियन्ता प्रभु के राज्य में **उपजीवति**=यह साधक उपभोग करता है। इस साधक के भोजन 'धान तथा तिल' आदि सात्त्विक पदार्थ ही होते हैं।

भावार्थ—हम भोजन के लिए 'धान व तिल' आदि सात्त्विक पदार्थों का ही ग्रहण करें।

आयुष्यवालों का वशी **असत्**=वश में करनेवाला हो। २. शरीर में सुरक्षित **अस्तृतः**=यह हिंसित न होनेवाले वीर्यमणि **त्वा अभिरक्षतु**=तेरा रक्षण करे। इसने ही तो तुझे सब रोगों के आक्रमण से बचाना है।

भावार्थ—प्रभु अपनी प्रेरणा द्वारा हमारे जीवन को इसप्रकार संयमवाला बनाएँ कि हम उत्कृष्टतम जीवनवाले बनें। सुरक्षित वीर्य हमें नीरोग व निर्मल बनाए।

सुरक्षित वीर्य से अपने जीवन को नीरोग व निर्मल बनाकर यह ज्ञान की वाणियों के मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति 'गो-पथ' कहलाता है। यही अगले चार रात्रि-सूक्तों का ऋषि है—

४७. [सप्तचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**पथ्याबृहती** ॥

रात्रि अन्धकारमयी

आ रात्रि पार्थिवं रजः पितुरप्रायि धामभिः।
दिवः सदांसि बृहती वि तिष्ठस आ त्वेषं वर्तते तमः॥ १॥

१. **रात्रि**=हे रात्रि! तुझसे यह **पार्थिवं रजः**=पृथिवी में होनेवाले गिरि, नदी, समुद्रादि प्रदेश, **पितुः**=अन्तरिक्षलोक के **धामभिः**=सब स्थानों के साथ **आ अप्रायि**=समन्तात् अन्धकार से भर दिया गया है, अर्थात् सब ओर अन्धकार-ही-अन्धकार है। २. **बृहती**=महती सर्वत्र व्यापी तू **दिवः सदांसि**=द्युलोक के स्थान में भी **वितिष्ठसे**=विशेषकर स्थित होती है। उस द्युलोक में भी **आ**=चारों ओर **त्वेषम्**=तारों की दीप्तिवाला **तमः**=अन्धकार **वर्तते**=है। रात्रि के समय चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार हो जाता है। द्युलोक तारों से दीप्त है, परन्तु फिर भी है अन्धकार ही।

भावार्थ—रात्रि आती है और सब पार्थिव लोक अन्तरिक्ष के प्रदेशों के साथ अन्धकार से परिपूर्ण हो जाते है। तारों से चमकते हुए होने पर भी द्युलोक के प्रदेश अन्धकारमय ही होते हैं।

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**पञ्चपदाऽनुष्टुब्गर्भापरातिजगती** ॥

कल्याणकारिणी रात्रि

न यस्याः पारं ददृशे न योयुवद्विश्वमस्यां नि विशते यदेजति।
अरिष्टासस्त उर्वि तमस्वति रात्रि पारमशीमहि भद्रे पारमशीमहि॥ २॥

१. **यस्याः**=जिस रात्रि का **पारम्**=पर-तीर, अर्थात् अन्त **न ददृशे**=नहीं दिखता, **अस्याम्**=इस रात्रि में **विश्वम्**=यह चराचरात्मक जगत् **योयुवत् न**=विभजमान (विभक्त) न था—सारा विश्व एकाकार-सा हो गया था। **यत् एजति**=जो कुछ गति करता है, वह इसमें **निविशते**=इधर-उधर जाने में असमर्थ हुआ-हुआ उस-उस स्थान पर निद्राण हो जाता है। २. हे **उर्वि**=अतिविशाल **तमस्वति**=बहुल अन्धकारवाली **रात्रि**=रात्रिदेवि! हम **अरिष्टासः**=अहिंसित होते हुए **ते**=तेरे **पारम्**=पार को **अशीमहि**=प्राप्त करें। **भद्रे**=हे कल्याण करनेवाली रात्रि! हम **पारम् अशीमहि**=तेरे पार को प्राप्त करें।

भावार्थ—यह अनन्त फैलाववाली, जिसमें सम्पूर्ण जगत् एकाकार स्थिर-सा हो जाता है, यह अन्धकारमयी रात्रि हमारे लिए कल्याणकर हो। हम अहिंसित होते हुए रात्रि के पार को प्राप्त करें।

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

निन्यानवे, अट्ठासी सतत्तर

ये ते॑ रात्रि नृ॒चक्ष॑सो द्र॒ष्टारो॑ नव॒तिर्नव॑।

अ॒शी॒तिः सन्त्य॒ष्टा उ॒तो ते॑ स॒प्त स॑प्त॒तिः ॥ ३ ॥

१. हे **रात्रि**=रात्रिदेवि! **ये**=जो **ते**=तेरे **नृचक्षसः**=मनुष्यों को देखनेवाले, अर्थात् मनुष्यों का ध्यान करनेवाले **नवतिः नव**=नव्वे और नौ, अर्थात् निन्यानवे **द्रष्टारः**=द्रष्टा—रक्षक हैं अथवा **अष्टा अशीतिः**=अट्ठासी रक्षक हैं **उतो**=अथवा **ते**=तेरे जो **सप्त सप्तति**:=सतत्तर रक्षक हैं। (तेभिः पायुभिः नु अद्य नः पाहि=) उन रक्षकों के द्वारा तू हमारा रक्षण कर। २. राजा राष्ट्र में रात्रि के समय राष्ट्र के विस्तार के अनुसार, निन्यानवे, अट्ठासी व सतत्तर रक्षकों को नियुक्त करता है। इनसे रक्षित प्रजा सुख की नींद सो पाती है (सुम्नयि) उनका धन सुरक्षित रहता है (रेवति) उनके अन्नों को नष्ट होने का किसी प्रकार का खतरा नहीं होता (वाजिनि)।

भावार्थ—राजा रात्रि के समय राष्ट्र के विस्तार के अनुसार निन्यानवे, अट्ठासी व सतत्तर रक्षकों की नियुक्ति करे।

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

छियासठ, पचपन, चवालीस व तेतीस

ष॒ष्टिश्च॒ षट् च॑ रेवति पञ्चा॒शत्पञ्च॑ सुम्नयि।

च॒त्वार॑श्चत्वारिं॒शच्च॒ त्रय॑स्त्रिं॒शच्च॑ वाजिनि ॥ ४ ॥

१. हे **रेवति**=लोगों के उत्तम सुरक्षित धनोंवाली रात्रि! जो तेरे **षष्टिः च षट् च**=साठ और छह, अर्थात् छियासठ रक्षक हैं। हे **सुम्नयि**=सुखवाली, निश्चन्तता के कारण सुख को प्राप्त करानेवाली रात्रि! जो तेरे **पञ्चाशत् पञ्च**=पचास और पाँच (पचपन) रक्षक हैं, अथवा हे **वाजिनि**=अन्नों की सुरक्षावाली रात्रि! जो तेरे **चत्वारः च चत्वारिंशत् च**=चार और चालीस, अर्थात् चवालीस रक्षक हैं **च**=अथवा **त्रयस्त्रिंशत्**=तेतीस रक्षक हैं, उन सबके द्वारा तू हमारा रक्षण कर। तू हमें सुरक्षित धनोंवाला, सुखवाला व उत्तम अन्नोंवाला बना।

भावार्थ—राजा रात्रि में आवश्यकतानुसार छियासठ, पचपन, चवालीस व तेतीस रक्षकों को नियुक्त करता हुआ प्रजा को सुरक्षित धनों व अन्नोंवाला बनाकर सुखी करे।

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

बाईस व ग्यारह

द्वौ च॑ ते विंश॒तिश्च॑ ते॒ रात्र्येका॑दशाव॒माः।

तेभि॑र्नो अ॒द्य पा॒युभि॒र्नु पा॑हि दुहितर्दिवः ॥ ५ ॥

१. हे **रात्रि**=विभावरि! **ते**=तेरे **द्वौ च विंशतिः च**=दो और बीस, अर्थात् बाईस रक्षक हैं और **अवमाः**=(संख्यातः निकृष्टाः) कम-से-कम संख्यावाले **ते**=तेरे **एकदश**=ग्यारह रक्षक हैं। **तेभिः**=उन **पायुभिः**=रक्षकों के द्वारा **नु**=निश्चय से **नः**=हमें **अद्यः**=आज **पाहि**=सुरक्षित कर। २. हे **दिवः दुहितः**=द्युलोक की पुत्रीरूप रात्रि! तू हमारा रक्षण करनेवाली हो। आलोक के अभाव में रात्रि आकाश से गिरती-सी दिखती है, अतः रात्रि द्युलोक की पुत्री कही गई है। इस रात्रि में राजा प्रजा के रक्षण के लिए, राष्ट्र विस्तार के अनुपात में अधिक-से-अधिक निन्यानवे व कम-से-कम ग्यारह रक्षकों को नियुक्त करता है, जिससे सुरक्षा की भावना प्रजा को सुख की नींद सुलानेवाली होती है। इस सुरक्षित राष्ट्र में ही रात्रि वस्तुतः रात्रि बन सकती है।

भावार्थ—राजा-राष्ट्र रक्षा के लिए आवश्यक रक्षकों को नियुक्त करता हुआ प्रजा की सुख-समृद्धि का कारण बने।

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**पुरस्ताद्बृहती** ॥

'अघशंस व दुःशंस' से बचाव

रक्षा माकिर्नो अघशंस ईशत मा नो दुःशंस ईशत।
मा नो अद्य गवां स्तेनो मावीनां वृक ईशत॥ ६॥

१. हे रात्रि! **रक्ष**=तू हमारा रक्षण कर। **नः**=हमें **किः**=कोई भी **अघशंसः**=(अघेन पापेन क्रूरेण शस्त्रेण शंसति हिनस्ति) क्रूर शस्त्रों से हिंसा करनेवाला **मा ईशत**=मत शासित करनेवाला हो। **नः**=हमें **दुःशंसः**=दुवर्चन का कहनेवाला व बुरी तरह से हिंसित करनेवाला **मा ईशत**= अपने अधीन न करले। २. **अद्य**=आज कोई **गवां स्तेनः**=गौओं का अपहर्त्ता **नः**=हमें **मा ईशत**= अपने अधीन न करले। **वृकः**=आरण्य पशु भेड़िय आदि **मा अवीनाम् ईशत**=हमारी भेड़ों पर शासक न हो जाए।

भावार्थ—रात्रि में रक्षा की उत्तम व्यवस्था हो, जिससे कोई अघशंस व दुःशंस हमारा हिंसन न कर पाये। हमारी गौवों व भेड़ों का अपहरण न हो।

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**षट्पदाजगती** ॥

उत्तम रक्षण-व्यवस्था

माश्वानां भद्रे तस्करो मा नृणां यातुधान्यः।
परमेभिः पथिभि स्तेनो धावतु तस्करः।
परेण दत्वती रज्जुः परेणाघायुरर्षतु॥ ७॥

१. हे **भद्रे**=सुरक्षा की व्यवस्था से सुख देनेवाली रात्रि! **तस्करः**=प्रसिद्ध अनर्थों को करनेवाला चोर **अश्वानाम्**=हमारे घोड़ों का **मा** (ईशत)=मत स्वामी बने। **यातुधान्यः**=पीड़ा का आधान करनेवाले लोग **नृणां मा**=हमारे मनुष्यों पर प्रबल न हो जाएँ। वे उन्हें पीड़ित न कर सकें। २. **तस्करः**=अनर्थ करनेवाला **स्तेनः**=धन चुरानेवाला चोर **परमेभिः पथिभिः**=अति दूर मार्गों से **धावतु**=भाग जाए। रक्षकों की व्यवस्था के कारण चोरों का भय ही न रहे। **दत्वती रज्जुः**=यह दाँतवाली रस्सी—रस्सी की भाँति लम्बे सर्प आदि डसनेवाले प्राणी **परेण**=अति दूर मार्ग से गतिवाले हों। **अघायुः**=दूसरे की हिंसा की कामनावाला दुष्ट पुरुष **परेण अर्षतु**=सुदूर मार्ग से जानेवाला हो।

भावार्थ—उत्तम रक्षण-व्यवस्था से हमारे पशुओं व वसुओं को हिंसा का भय न हो। चोर, सर्प व अघायु पुरुष समीप भी न फटकने पाएँ।

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

साँप, भेड़िया व चोर

अध रात्रि तृष्टधूममशीर्षाणमहिं कृणु।
हनू वृकस्य जम्भयास्तेन तं द्रुपदे जहि॥ ८॥

१. **अध**=(अद्य) अब हे **रात्रि**=रात्रिदेवि! तू **तृष्टाधूमम्**=(पिपासार्थेन तृषिणा तज्जन्या आर्तिर्विक्ष्यते) आर्तिकारी है विषज्वाला का धूम जिसका अथवा निश्वास धूम जिसका, उस परोपद्रव कारिणे विषज्वाला से परिवृत **अहिम्**=साँप को **अशीर्षाणं कृणु**=अशिरस्क कर दे—

इसके सिर को काट डाल। २. **वृकस्य**=अज आदि के अपहर्ता आरण्यश्वा (भेड़िये) के **हनू**=मुख के अन्दर स्थूलदन्तयुक्त पार्श्वों को **जम्भयाः**=हिंसित कर दे—इसके जबड़ों को तोड़ डाल। जो **स्तेन** (स्तेनः) चोर है, **तम्**=उसको **द्रुपदे**=(द्रुः सर्वतोऽभिद्रवणम्) चारों ओर गतिवाले पाँव में **जहि**=हिंसित कर। इसके पाँव काट डाल अथवा पाँव में बेड़ी डाल दे, ताकि यह इधर-उधर जा ही न सके।

भावार्थ—राजा रात्रि में इसप्रकार रक्षण-व्यवस्था रक्खे कि साँप, भेड़िये व चोर प्रजाओं में उपद्रव न कर सकें।

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सुख की नींद

त्वयि रात्रि वसामसि स्वपिष्यामसि जागृहि।
गोभ्यो नः शर्म यच्छाश्वेभ्यः पुरुषेभ्यः॥ १॥

१. हे **रात्रि**=रात्रिदेवि! **त्वयि**=रक्षण की व्यवस्था होने पर तुझमें **वसामसि**=निवास करते हैं। तुझमें ही हम **स्वपिष्यामसि**=निद्रा करेंगे। **जागृहि**=तू हमारे रक्षण के लिए जागरित हो। तुझमें नियुक्त सब रक्षक पुरुष जागरित रहें। २. तू **नः**=हमारी **गोभ्यः**=गौओं के लिए **अश्वेभ्यः**=अश्वों के लिए **पुरुषेभ्यः**=पुरुषों के लिए **शर्म यच्छ**=सुख दे।

भावार्थ—रक्षा की व्यवस्था के उत्तम होने से हम रात्रि में आराम से सो सकें। हमारी गौवें घोड़े व सब पुरुष सुरक्षित हों।

४८. [अष्टचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाऽऽर्षीगायत्री** ॥

बाहर व अन्दर

अथो यानि च यस्मा ह यानि चान्तः परीणहि।
तानि ते परि दद्मसि॥ १॥

१. **अथ उ**=अब निश्चय से **यस्मा ह यानि च**=जिस मेरे लिए, अर्थात् मेरी जो वस्तुएँ बहिःस्थ हैं—गोचर प्रदेश में वर्तमान हैं **यानि च**=और जो **परीणहि**=परितो नद्ध—चारों ओर चारदीवारीवाले घर के **अन्तः**=अन्दर है। **तानि**=उन प्रकट व अप्रकट वस्तुओं को **ते परिदद्मसि**=हे रात्रि! तेरे लिए देते हैं। २. हम उन सब वस्तुओं को रक्षा के लिए रात्रि में नियत रक्षकों को सौंपकर निश्चिन्त होकर सोते हैं।

भावार्थ—रात्रि में नियत रक्षक गोचर प्रदेशों में व घरों में चोरों से वस्तुओं का रक्षण करें।

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाविराडनुष्टुप्** ॥

'रात्रिः-उषा-दिन' और फिर रात्रि

रात्रि मातरुषसे नः परि देहि।
उषा नो अह्ने परि ददात्वहस्तुभ्यं विभावरि॥ २॥

१. हे **मातः रात्रि**=मातृवत् परिपालन करनेवाली रात्रिदेवते! तू **नः**=हमें **उषसे**=अपने अनन्तर आनेवाले उषाकाल के लिए **परि देहि**=दे। रात्रि हमारा रक्षण करती हुई अपनी समाप्ति पर हमें उषाकाल के लिए सौंपे। **उषा**=उषाकाल **अह्ने**=सूर्य के प्रकाशवाले 'प्रातः संगव, मध्याह्न, अपराह्न, सायाह्न' रूप दिन के लिए **परिददातु**=दे, अर्थात् दिवस के प्रारम्भ होने तक उषा हमारा रक्षण

करे और अपनी समाप्ति पर हमारे रक्षण का भार दिन को सौंप जाए। २. हे **विभावरि**=तारों की दीप्तिवाली रात्रि! यह **अहः**=दिन अपनी समाप्ति पर **तुभ्यम्**=हमें तुम्हारे लिए सौंपकर आये। इसप्रकार आवृत्त होते हुए दिन-रात हमारा रक्षण करें।

भावार्थ—रात्रि हमें उषा के लिए, उषा दिन के लिए और दिन पुनः रात्रि के लिए सौंपे। इसप्रकार आवर्तमान यह कालचक्र हमारा रक्षण करनेवाला हो।

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**बृहतीगर्भाऽनुष्टुप्** ॥

'बाज़-साँप व व्याघ्र' से रक्षण

यत्किं चेदं पतयति यत्किं चेदं सरीसृपम्।
यत्किं च पर्वतायासत्वं तस्मात्त्वं रात्रि पाहि नः ॥ ३ ॥

१. **यत् किञ्च**=जो कुछ **इदम्**=यह परिदृश्यमान बाज़ आदि **पतयति**=आकाश में गति करता है और **यत् किञ्च**=जो कुछ **इदम्**=यह **सरीसृपम्**=भूमि पर सरकनेवाला साँप आदि प्राणिजात है और **यत् किञ्च**=जो कुछ **पर्वतायाः**=पर्वत-सम्बन्धी **अ-सत्वम्**=(अ-अप्रशस्त) दुष्ट व्याघ्र, सिंह आदि प्राणी हैं, हे **रात्रि**=रात्रिदेवते! **तस्मात्**=उससे **त्वम्**=तू **नः पाहि**=हमें रक्षित कर।

भावार्थ—रात्रि हमें उड़नेवाले उल्लू, बाज़ आदि पक्षियों से, रेंगनेवाले सर्प आदि से तथा दुष्ट व्याघ्रादि से रक्षित करे।

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सर्वतः रक्षण व्यवस्था

सा पश्चात्पाहि सा पुरः सोत्तरादधरादुत।
गोपाय नो विभावरि स्तोतारस्त इह स्मसि ॥ ४ ॥

१. हे **विभावरि**=तारों की दीप्तिवाली रात्रि! **सा**=वह तू **नः**=हमें **पश्चात् पाहि**=पीछे से रक्षित कर, **सा पुरः**=वह तू आगे से रक्षित कर। **सा उत्तरात्**=वह तू ऊपर से, **उत**=और **अधरात्**=नीचे से हमें **गोपाय**=रक्षित कर। २. हम **ते**=तेरे **इह**=इस रात्रि के प्रारम्भकाल में **स्तोतारः स्मसि**=स्तोता हैं।

भावार्थ—रात्रि के समय सब ओर से हमारे रक्षण की व्यवस्था हो। हम रात्रि प्रारम्भ में प्रभु-स्तवन करते हुए निद्रा की गोद में जाएँ।

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः** ॥

सावधान रक्षक

ये रात्रिमनुतिष्ठन्ति ये च भूतेषु जाग्रति।
पशून्ये सर्वान्रक्षन्ति ते न आत्मसु जाग्रति ते नः पशुषु जाग्रति ॥ ५ ॥

१. **ये**=जो **रात्रिम्**=सारी रात **अनुतिष्ठन्ति**=अर्चना व जपोपासनारूप कर्म करते हुए रक्षण का कार्य करते हैं **ये च**=और जो **भूतेषु जाग्रति**=प्राणियों के विषय में रक्षणार्थ सावधान होते हैं। **ये**=जो **सर्वान् पशून् रक्षन्ति**=सब पशुओं का रक्षण करते हैं, **ते**=वे रक्षक **नः**=हमारे **आत्मसु**=शरीरों के विषय में भी **जाग्रति**=जागते हैं—रक्षणार्थ सावधान होते हैं, **ते**=वे **नः**=हमारे **पशुषु**=पशुओं के विषय में भी **जाग्रति**=जागते हैं। हमारे पशुओं के रक्षण में भी अप्रमत्त होते हैं।

भावार्थ—रक्षापुरुषों का यह कर्त्तव्य है कि अप्रमत्त होकर रात्रि में प्रभु का स्मरण करते हुए रक्षणकार्य में जागरित रहें।

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

घृताची (रात्रि)

वेद वै रात्रि ते नाम घृताची नाम वा असि।
तां त्वा भरद्वाजो वेद सा नो वित्तेऽधि जाग्रति॥ ६ ॥

१. हे **रात्रि**=रात्रिदेवि! हम **वै**=निश्चय से **ते नाम वेद**=तेरे नाम को जानते हैं। तू **वा**=निश्चय से **'घृताची' नाम**=घृताची नामवाली **असि**=है। 'घृतम् अञ्चति' (घृ क्षरणदीप्तयोः) मलक्षरण व दीप्ति को प्राप्त करानेवाली है। रात्रि में शरीर में मलों का क्षरण होकर शरीर सबल बनाता है तथा मन क्रोध आदि के हेतुओं को भूलकर दीप्त हो उठता है, अतः रात्रि 'घृताची' कही गई है। २. **ताम्**=उस **त्वा**=तुझको **भरद्वाज**=भरद्वाज **वेद**=जानता है। रात्रि में मनुष्य के अन्दर फिर से शक्ति का भरण-सा होता है। एवं रात्रि हमें 'भरद्वाज' बनाती है। **सा**=वह रात्रि **नः**=हमारे **वित्ते**=तेजस्विता-निर्मलता व ज्ञानरूप धन में **अधिजाग्रति**=अधिक अप्रमत्ता करती है। यह हमारे वित्तों का रक्षण करती है।

भावार्थ—रात्रि घृताची है। यह हमारे मलों का क्षरण करती हुई तेजस्विता की दीप्ति प्राप्त कराती है। यह हममें शक्ति का भरण करती हुई हमें भरद्वाज बनाती है। हमारे शक्ति आदि धनों का रक्षण करती है।

४९. [एकोनपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'संभृतश्रीः' रात्री

इषिरा योषा युवतिर्दमूना रात्री देवस्य सवितुर्भगस्य।
अश्वक्षभा सुहवा संभृतश्रीरा पप्रौ द्यावापृथिवी महित्वा॥ १ ॥

१. रात्रि में सूर्य तो अस्त हो चुका होता है। सूर्य की किरणों से प्रकाशित हुआ-हुआ चन्द्रमा रात्रि को विभा-(प्रकाश)-वाला करता है। यह 'विभा' हमारे लिए सन्तापशून्य प्रकाश को प्राप्त कराती है, अतः कहते हैं कि **सवितुः देवस्य**=सबके प्रेरक—सबको उठकर कार्य-प्रवृत्त होने की प्रेरणा देनेवाले सूर्य—प्रकाशमय सूर्य के **भगस्य**=ऐश्वर्य का **योषा**=अपने में मेल करनेवाली **रात्री**=यह रात्रिदेवता **महित्वा**=अपनी महिमा (फैलाव) से **द्यावापृथिवी**=सारे द्युलोक व पृथिवीलोक को **आपप्रौ**=भर लेती है—सर्वत्र द्यावापृथिवी में अन्धकार का राज्य हो जाता है। २. यह रात्रि **इषिरा**=एष्टव्या है—सबसे प्रार्थनीय है—चाहने योग्य है। यही थके हुए प्राणी की थकावट को दूर करके उसे पुनः तरोताज़ा करती है। अथवा अपनी गति से सर्वत्र व्याप्त हो रही है। **युवतिः**=सदा यौवनवाली है—सृष्टि के प्रारम्भ से अन्त तक एक-सी ही आती-जाती रहती है। **दमूनाः**=सबको दमन करनेवाली है—सबको अभिभूत करनेवाली है। **अश्वक्षभा**=(अश्वान् क्षायति भा दीप्तिर्यस्याः) इन्द्रियों को अभिभूत करनेवाली दीप्तिवाली है। रात्रि के समय सब इन्द्रियाँ कार्य से उपरत हो जाती हैं। यह रात्रि **सुहवा**=सुष्ठु ह्वातव्य—सबसे पुकारने योग्य है। सबसे चाहने योग्य है, **संभृतश्रीः**=यह फिर से हमारे अन्दर श्री का संभरण करने आती है। सब इन्द्रियों को पुनः सशक्त बना देती है।

भावार्थ—रात्रि सारे आकाश को अन्धकार से आपूरित कर देती है। इसमें सब इन्द्रियाँ थककर सो जाती हैं। यह उनमें पुनः शक्ति भरनेवाली होती है। इसी से यह सबसे चाहने योग्य है।

ऋषि:—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गम्भीर-श्रविष्ठ

अति विश्वान्यरुहद्गम्भीरो वर्षिष्ठमरुहन्त श्रविष्ठाः।
उशती रात्र्यनु सा भद्राभि तिष्ठते मित्रइव स्वधाभिः ॥ २ ॥

१. **गम्भीरः**=एक गम्भीर वृत्तिवाला पुरुष **विश्वानि**=सब विघ्नों को **अति अरुहत्**=लाँघकर ऊपर चढ़ता है—उन्नत होता है। इसीप्रकार **श्रविष्ठाः**=ज्ञानी पुरुष **वर्षिष्ठम्**=विशालतम लोक, अर्थात् ब्रह्मलोक को **अरुहन्त**=आरूढ़ होते हैं—ये ब्रह्मलोक को प्राप्त करनेवाले होते हैं। २. **उशती**=इन गम्भीर श्रविष्ठ पुरुषों के हित की कामना करती हुई, **सा रात्री**=वह रात्रि **अनु-भद्रा**=इन गम्भीर श्रविष्ठ पुरुषों के लिए अनुकूलता से कल्याण करती हुई उस प्रकार **अभितिष्ठते**=स्थित होती है, **इव**=जैसेकि **मित्रः**=सूर्य **स्वधाभिः**=अपनी धारणशक्तियों के साथ स्थित होता है। जैसे दिन में इन गम्भीर श्रविष्ठ पुरुषों का सूर्य कल्याण करता है—इनके अन्दर प्राणशक्ति का संचार करता है, इसी प्रकार रात्रि मलक्षरण व दीप्ति के द्वारा इनके लिए कल्याणकर होती है।

भावार्थ—हम मनों में गम्भीर व मस्तिष्क में श्रविष्ठ बनें। तब रात्रि व दिन का सूर्य दोनों ही हमारे लिए कल्याणकर होंगे।

ऋषि:—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'वर्या वन्दा सुभगा सुजाता'

वर्ये वन्दे सुभगे सुजात आजगन्रात्रि सुमना इह स्याम्।
अस्मांस्त्रायस्व नर्याणि जाता अथो यानि गव्यानि पुष्ट्या ॥ ३ ॥

१. हे **वर्ये**=वरणीय—अनिरुद्ध प्रभाववाली, **वन्दे**=स्तुत्य, **सुभगे**=उत्तम भग को प्राप्त करानेवाली **सुजाते**=उत्तम शक्ति के प्रादुर्भाववाली **रात्रि**=रात्रिदेवि! **आजगन्**=तू आयी है। मैं **इह**=यहाँ तुममें **सुमनाः स्याम्**=उत्तम मनवाला होऊँ। रात्रि में सो जाने पर सब क्रोध आदि के भाव समाप्त हो जाते हैं। २. **अस्मान् त्रायस्व**=तू हमारा रक्षण कर तथा **जाता**=उत्पन्न हुई **नर्याणि**=नर- हितकारी वस्तुओं को भी रक्षित कर। **अथ उ**=और निश्चय से **यानि**=जो **गव्यानि**=गौओं के लिए हितकारी वस्तुएँ हैं, उन्हें भी **पुष्ट्या**=हमारी पुष्टि के हेतु रक्षित कर।

भावार्थ—रात्रि वस्तुतः वरणीय है। इसमें सुखमयी नींद को प्राप्त करने से हमारे क्रोध आदि दुर्भाव नष्ट हो जाते हैं और हम 'सुमना' बनते हैं। यह रात्रि हमारे लिए हितकर सब वस्तुओं का रक्षण करे। गौवों के लिए हितकर वस्तुओं का भी रक्षण करे, जिससे हमें उनसे उचित पोषण प्राप्त हो।

ऋषि:—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सिंह आदि के तेज का अपहरण

सिंहस्य रात्र्युशती पींषस्य व्याघ्रस्य द्वीपिनो वर्च आ ददे।
अश्वस्य ब्रध्नं पुरुषस्य मायुं पुरु रूपाणि कृणुषे विभाती ॥ ४ ॥

१. **उशती**=सबके हित की कामना करती हुई, रक्षा की उत्तम व्यवस्थावाली **रात्री**=रात्रिदेवता **सिंहस्य**=शेर के **पींषस्य**=पीस डालनेवाले गजयूथ के **व्याघ्रस्य**=व्याघ्र के और **द्वीपिनः**=चीते के **वर्चः**=तेज को **आददे**=अपहृत कर लेती है। रक्षा की उत्तम व्यवस्था होने पर ये हिंस्र प्राणी प्रजाओं व गवादि पशुओं को हानि नहीं पहुँचा सकते। २. यह रात्री **अश्वस्य**=घोड़े के **ब्रध्नम्**=

मूल को, अर्थात् वेग को (वेग ही घोड़े का मौलिक गुण है) अपहृत कर लेती है, अर्थात् अन्धकार के कारण घोड़ों का आवागमन रुक जाता है। **पुरुषस्य मायुम्**=पुरुष के शब्द को भी अपहृत कर लेती है। सब पुरुषों के निद्रावशीभूत हो जाने पर वाग्–व्यवहार रुक ही जाता है। इसप्रकार हे रात्रि! **विभाती**=तारों से चमकती हुई तू **पुरु रूपाणि**=नानाविध रूपों को **कृणुषे**=करती है।

भावार्थ—रात्रि में रक्षा की उत्तम व्यवस्था होने पर सिंहादि के तेज का अपहरण-सा हो जाता है, वे हानि नहीं कर पाते। अश्वों की गति रुक जाती है। पुरुषों का वाग्–व्यापार थम जाता है, एवं रात्रि के विविध रूप दृष्टिगोचर होते हैं।

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

रात्रि के प्रारम्भ व अन्त में प्रभु-वन्दन

शिवां रात्रिमनुसूर्यं च हिमस्य माता सुहवा नो अस्तु।
अस्य स्तोमस्य सुभगे नि बोध येन त्वा वन्दे विश्वासु दिक्षु ॥ ५ ॥

१. मैं **शिवां रात्रिम्**=इस कल्याणकारिणी रात्रि को **च**=और **अनु सूर्यम्**=रात्रि की समाप्ति पर उदित होनेवाले सूर्य को **वन्दे**=नमस्कार करता हूँ—इनका स्तवन करता हूँ—इनके गुणों का स्मरण करता हूँ। यह **हिमस्य माता**=तुहिन (अवश्याय-ओस) का निर्माण करनेवाली रात्रि **नः**=हमारे लिए **सुहवा अस्तु**=सुगमता से पुकारने योग्य हो। २. हे **सुभगे**=उत्तम शक्तिरूप ऐश्वर्य को प्राप्त करानेवाली रात्रि! तू हमारे **अस्य स्तोमस्य**=इस स्तोम को **निबोध**=जाननेवाली हो, **येन**=जिस स्तोम से **विश्वासु दिक्षु**=सब दिशाओं में व्याप्त **त्वा**=तुमको **वन्दे**=मैं नमस्कार करता हूँ।

भावार्थ—हम रात्रि के गुणों का स्तवन करते हुए और उचित व्यवहार करते हुए रात्रि से पूर्ण लाभ उठानेवाले हों। रात्रि के प्रारम्भ में हम प्रभु-वन्दन करके सोएँ। रात्रि समाप्ति पर सूर्योदय के समय पुनः प्रभु-वन्दन करनेवाले हों।

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः** ॥

बल व ज्ञान

स्तोमस्य नो विभावरि रात्रि राजेव जोषसे।
असाम सर्ववीरा भवाम सर्ववेदसो व्युच्छन्तीरनूषसः ॥ ६ ॥

१. हे **विभावरि**=तारों के प्रकाशवाली **रात्रि**=रात्रिदेवते! तू **नः**=हमारे **स्तोमस्य**=स्तोत्र का इसप्रकार **जोषसे**=प्रीतिपूर्वक सेवन कर, **इव**=जैसेकि **राजा**=एक राजा किसी विद्वान् से किये गये स्तोत्र का सेवन करता है। २. हम रात्रि के महत्त्व को समझें और उसमें ठीक प्रकार से निद्रा का अनुभव करके **व्युच्छन्तीः**=अन्धकार को दूर करती हुई **उषसः अनु**=उषाकालों के साथ, अर्थात् इन उषाकालों में प्रबुद्ध होकर **सर्ववीराः**=वीरतापूर्ण सब अंगोंवाले **भवाम**=हों तथा **सर्ववेदसः**=सब वस्तुओं के ज्ञानवाले **भवाम**=हों। अथवा सब आवश्यक धनों के कमानेवाले बनें। रात्रि में निद्रा शरीर व मन की थकावट को दूर कर देती है। मनुष्य अपने को तरोताज़ा अनुभव करता है। शरीर के अंग सबल बन जाते हैं और बुद्धि ठीक से विषयों का ग्रहण करने लगती हैं।

भावार्थ—रात्रि के महत्त्व को ठीक प्रकार समझकर यदि हम निद्रा में उसका ठीक प्रयोग करेंगे तो प्रातः अपने को सबल व स्फूर्तियुक्त बुद्धिवाला अनुभव करेंगे।

कर देती है तथा **शिरः**=उसके सिर को भी **प्र** (हनत्) छिन्न कर डालती है।

भावार्थ—रात्रि के समय रक्षण की व्यवस्था उत्तम हो। चोरियों व अन्य पापों के होने का सम्भव कम-से-कम कर दिया जाए। इन चोरों व अघायु पुरुषों को समाप्त कर देना ही ठीक है।

ऋषिः—**गोपथो भरद्वाजश्च**॥ देवता—**रात्रिः**॥ छन्दः—**षट्पदाजगती**॥

चोर के शव को वृक्ष पर बाँधना

प्र पादौ न यथायति प्र हस्तौ न यथाशिषत्।
यो मलिम्लुरुपायति स संपिष्टो अपायति।
अपायति स्वपायति शुष्के स्थाणावपायति॥ १०॥

१. **पादौ प्र** (हनत्)=गतमन्त्र में वर्णित स्तेन व अघायु के पाँवों को छिन्न कर दिया जाए **यथा**=जिससे **न आयति**=यह गति ही न कर सके। **हस्तौ प्र** (हनत्)=इसके हाथों को काट दिया जाए **यथा**=जिससे **न अशिषत्**=(शिष् to heart, to kill) यह किसी को मार न सके। २. **यः**=जो **मलिम्लुः**=चोर **उपायति**=हमारे समीप प्राप्त होता है, **सः**=वह **संपिष्टः**=पिसा हुआ **अपायति**=दूर विनष्ट हो जाता है। **अपायति**=दूर विनष्ट होता है और **सु अपायति**=अच्छी प्रकार सुदूर विनष्ट हो जाता है। यह **शुष्के स्थाणौ अपायति**=सूखे ठूँठरूप वृक्ष पर **अपायति**=विनष्ट होता है। इसे वधदण्ड देकर इसके शव को स्थाणु पर बाँधा जाए, ताकि सब लोग उसके इसप्रकार अन्त को देखकर इन अशुभ कर्मों को न करने का निश्चय करें।

भावार्थ—चोरों को पादच्छेद व हस्तछेद का दण्ड दिया जाए। इनका वध करके इनके शव को शुष्क स्थाणु पर लटका दिया जाए, जिससे औरों को चोरी न करने की प्रेरणा मिले।

५०. [पञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गोपथः**॥ देवता—**रात्रिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'तृष्टधूम अहि व वृक' विनाश

अध रात्रि तृष्टधूममशीर्षाणमहिं कृणु।
अक्षौ वृकस्य निर्जह्यास्तेन तं द्रुपदे जहि॥ १॥

१. हे **रात्रि**=रात्रिदेवते! **अध**=अब **तृष्टधूमम्**=आर्तिजनक व बड़ी प्यास लगानेवाली विष-ज्वाला के धूमवाले **अहिम्**=इस सर्प को **अशीर्षाणम्**=छिन्न शिरवाला **कृणु**=कर दे। इस **वृकस्य**=भेड़िये की आँखों को भी **निर्जह्याः**=निर्युक्त कर दे—निकाल दे और जो **स्तेन** (स्तेनः)=चोर है **तम्**=उसको **द्रुपदे जहि**=गति के साधनभूत पाँव में हिंसित कर, अर्थात् इसके पाँवों को छिन्न कर डाल।

भावार्थ—रात्रि में उचित रक्षणव्यवस्था द्वारा 'सर्प, वृक व चोर' सभी के भयों से प्रजा को मुक्त किया जाए।

ऋषिः—**गोपथः**॥ देवता—**रात्रिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उत्तम-वृषभ

ये ते रात्र्यनड्वाहस्तीक्ष्णशृङ्गाः स्वाशवः।
तेभिर्नो अद्य पारयाति दुर्गाणि विश्वहा॥ २॥

१. हे **रात्रि**=रात्रिदेवते! **ये**=जो **ते**=तेरे **स्वाशवः**=उत्तम तीव्र गतिवाले **तीक्ष्णशृङ्गाः**=तेज

सींगोंवाले **अनड्वाहः**=बैल हैं, **तेभिः**=उनके द्वारा **नः**=हमें **अद्य**=आज और **विश्वहा**=सदा (विश्वेषु अहःसु) **दुर्गाणि**=कष्टमय स्थितियों से दुस्तर नदी आदि से **अति पारय**=पार करा। २. जैसे बैल दुस्तर नदी आदि को पार कराने में हमारे सहायक होते हैं, इसीप्रकार राजा हमें शत्रुकृत अरिष्टों से पार कराए।

भावार्थ—नदी आदि को पार कराने के लिए शीघ्रगतिवाले तीक्ष्णशृंग बैलों की उत्तम व्यवस्था की जाए।

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

विघ्न-संतरण

रात्रिंरात्रिमरिष्यन्तस्तरेम तन्वा वयम्।
गम्भीरमप्लवाइव न तरेयुररातयः॥ ३॥

१. **वयम्**=हम **रात्रिंरात्रिम्**=प्रत्येक रात्रि में **तन्वा**=शरीर से **अरिष्यन्तः**=हिंसित न होते हुए **तरेम**=सब विघ्नों व रोगों को तैर जाएँ। प्रत्येक रात्रि हमें फिर से सशक्त बनानेवाली हो। २. **अरातयः**=अदान की वृत्तिवाले कृपण लोग रोगों व विघ्नों को इसप्रकार **न तरेयुः**=तैरनेवाले न हों, **इव**=जैसेकि **अप्लवाः**=बेड़े (raft) से रहित पुरुष **गम्भीरम्**=गहरे जल को पार नहीं कर पाते। कृपणता हमारे जीवन को अयज्ञिय बना देती है और इसप्रकार दीर्घजीवन सम्भव नहीं रहता।

भावार्थ—हम कृपणता आदि शत्रुभूत वृत्तियों से ऊपर उठकर प्रति रात्रि शक्ति-सम्पन्न बनते हुए रोगों व विघ्नों को तैर जाएँ।

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

अपवान् शाम्याक की भाँति

यथा शाम्याकः प्रपतन्नपवान्नानुविद्यते।
एवा रात्रि प्र पातय यो अस्माँ अभ्यघायति॥ ४॥

१. **यथा**=जैसे **शाम्याकः**=धान्यविशेष **प्रपतन्**=पक कर गिरता हुआ **अपवान्**=अपकर्षवाला दुर्बल, निःसार हुआ-हुआ **न अनु विद्यते**=अवस्थिति को प्राप्त नहीं करता—नहीं उपलब्ध होता—नष्ट हो जाता है, २. **एवा**=इसीप्रकार हे **रात्रि**=रात्रिदेवते! तू **प्रपातय**=उसे नष्ट कर दे **यः**=जो शत्रु **अस्मान्**=हमें **अभि अघायति**=लक्ष्य करके हिंसारूप पापकर्म करना चाहता है।

भावार्थ—रात्रि हमारे प्रति हिंसावाले को इसप्रकार नष्ट कर दे जैसेकि पका हुआ शाम्याक धान्य साररहित होने पर उड़-उड़ा जाता है।

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

स्तेनों व तस्करों का अपसारण

अप स्तेनं वासो गोअजमुत तस्करम्। अथो यो अर्वतः शिरोऽभिधाय निनीषति॥ ५॥

१. **वासः**=वस्त्रों को, **गो अजम्**=गौओं व बकरियों को जो **निनीषति**=उठाकर ले-जाना चाहता है, उस **स्तेनम्**=चोर को **अप** (सारय)=दूर कर। २. उस **तस्करम्**=उस-उस दुष्टकार्य को करनेवाले तस्कर को भी **अथ उ**=अब निश्चय से दूर कर **यः**=जो **अर्वतः**=घोड़ों को **शिरः अभिधाय**=सिर को बाँधकर—सिर पर, न पहचाने जाने के लिए कपड़ा आदि बाँधकर, **निनीषति**=ले-जाना चाहता है।

भावार्थ—राजा रात्रि में इसप्रकार रक्षण-व्यवस्था करे कि 'वस्त्रों, गौवों, बकरियों व घोड़े' आदि का अपहरण न होता रहे।

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अयः वसु

यद॒द्या रा॑त्रि सुभगे वि॒भज॒न्त्यो॒ वसु॑। यदे॒तद॒स्मान्भो॑जय॒ यथे॒द॒न्याँ॒नु॒पाय॑सि॑ ॥ ६ ॥

१. हे **सुभगे**=उत्तम ऐश्वर्योंवाली—ऐश्वर्यों की रक्षक **रात्रि**=रात्रिदेवते! **यत्**=जिसकी लोहा आदि धातुओं से बनी वस्तुओं तथा **वसु**=सुवर्णादि धन को **अद्य**=इस समय **विभजन्ति**=(विश्लेषयन्ति) हमसे पृथक् करते हैं, अर्थात् चुरा ले-जाते हैं। **यत् एतत्**=जो यह धन है उसे **अस्मान् भोजय**=हमें ही भोगनेवाला बनाइए। इस धन को हमसे कोई पृथक् न कर पाए। २. हे राजन्! आप रात्रि में इसप्रकार रक्षण-व्यवस्था करें कि **यथा**=जिससे **इत्**=निश्चयपूर्वक **अन्यान्**=वस्त्र, गौ, अज व अश्व आदि अन्य शत्रुओं से अपहृत पदार्थों को भी **उपायसि**=हमें पुनः प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—रात्रि में रक्षण-व्यवस्था इस प्रकार उत्तम हो कि लोहे आदि धातुओं से बनी वस्तुओं का तथा सुवर्ण आदि का अपहरण न हो सके। अपहृत वस्तुओं को भी ढूँढकर पुनः उनके स्वामी को प्राप्त कराया जाए।

ऋषिः—**गोपथः** ॥ देवता—**रात्रिः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

कालचक्र में आगे और आगे

उ॒षसे॑ नः॒ परि॑ देहि॒ सर्वा॑न्रात्र्यना॒गसः॑। उ॒षा नो॒ अह्ने॒ आ भ॑जा॒दह॒स्तुभ्यं॑ विभावरि ॥ ७ ॥

१. हे **रात्रि**=रात्रिदेवते! तू **नः सर्वान्**=हम सब **अनागसः**=निष्पापों को ही **उषसे परिदेहि**=उषाकाल के लिए दे, अर्थात् हम रात्रि में किन्हीं भी चोरों आदि के उपद्रवों से आक्रान्त न हों। २. **उषाः**=उषा **नः**=हमें **अह्ने आभजात्**=दिन के लिए देनेवाली हो और **विभावरि**=तारों की दीप्तिवाली रात्रिदेवते! **अहः**=दिन हमें फिर **तुभ्यम्**=तेरे लिए प्राप्त कराए।

भावार्थ—हम सुरक्षितरूप से ही रात्रि से उषा में, उषा से दिन में तथा दिन से पुनः रात्रि में पग रखनेवाले हों। 'रात्रि-उषा-दिन-रात्रि' इसप्रकार क्रम से कालचक्रों में चलते हुए हम दीर्घजीवनवाले हों।

यह निष्पाप (अनागाः) जीवनवाला व्यक्ति 'ब्रह्मा' बनता है और कहता है कि—

५१. [एकपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**आत्मा** ॥ छन्दः—**एकपदाब्राह्म्यनुष्टुप्** ॥

अनिन्दित जीवनवाला 'ब्रह्मा'

अयु॑तो॒ऽहमयु॑तो म आ॒त्मायु॑तं मे॒ चक्षु॒रयु॑तं मे॒ श्रोत्र॒मयु॑तो
मे॒ प्रा॒णोऽयु॑तो मेऽपा॒नोऽयु॑तो मे व्या॒नोऽयु॑तो॒ऽहं सर्वः॑ ॥ १ ॥

१. (यु निन्दायाम्) **अयुतः अहम्**=अनिन्दित जीवनवाला मैं होऊँ। **मे आत्मा अयुतः**=मेरा मन अनिन्दित हो। **मे चक्षुः अयुतम्**=मेरी आँख अनिन्दित हो—इससे मैं भद्र को ही देखूँ। **मे श्रोत्रं अयुतम्**=मेरा कान अनिन्दित हो—इससे मैं भद्र को ही सुनूँ। २. **मे प्राणः अयुतः**=मेरा प्राण अनिन्दित हो। **मे अपानः अयुतः**=मेरा अपान भी अनिन्दित हो। **मे व्यानः अयुतः**=प्राणापान सन्धिरूप मेरा व्यानवायु भी अनिन्दित हो। **अहं सर्वः अयुत्**=मैं सारे-का-सारा अनिन्दित होऊँ।

भावार्थ—हम निष्पाप जीवनवाले बनकर अनिन्दित जीवनवाले हों।

ऋषि:—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आत्मा**॥ छन्द:—**त्रिपदायवमध्योष्णिक्**॥

प्रभु की अनुज्ञा में

देवस्य॑ त्वा सवि॒तुः प्र॑स॒वेऽश्विनो॑र्बा॒हुभ्यां॑ पू॒ष्णो हस्ता॑भ्यां॒ प्रसू॑त॒ आ र॑भे॥ २॥

१. यह ब्रह्मा जब किसी भी कार्य को प्रारम्भ करता है या किसी भी वस्तु का उपयोग करता है तब कहता है कि मैं **सवितुः देवस्य**=प्रेरक, प्रकाशमय प्रभु की **प्रसवे**=अनुज्ञा में—प्रेरणा में **त्वा आरभे**=तुझे प्रारम्भ करता हूँ (Undertake) अथवा ग्रहण करता हूँ (grasp)। **अश्विनोः बाहुभ्याम्**=प्राणापान के प्रयत्नों से मैं तुझे ग्रहण करता हूँ। अपने पुरुषार्थ से अर्जित धन का ही उपयोग करना चाहिए। २. **पूष्णः हस्ताभ्याम्**=पोषक के हाथों से, **प्रसूतः**=उस प्रभु से अनुज्ञा दिया हुआ मैं तुझे ग्रहण करता हूँ। हमें भौतिक वस्तुओं का प्रयोग पोषण के दृष्टिकोण से ही करना है, नकि स्वाद व सौन्दर्य के दृष्टिकोण से।

भावार्थ—संसार में हम प्रभु की अनुज्ञा में, प्राणापान के प्रयत्न से, पोषण के दृष्टिकोण से ही प्रत्येक वस्तु का ग्रहण करें। यही 'ब्रह्मा' बनने का मार्ग है।

अगले सूक्त का ऋषि भी ब्रह्मा ही है—

५२. [द्विपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषि:—**ब्रह्मा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥

कामः=मनसः प्रथमं रेतः

काम॒स्तदग्रे॒ सम॑वर्त॒त मन॑सो॒ रेतः॑ प्रथ॒मं यदासी॑त्।
स का॑म॒ कामे॑न बृह॒ता सयो॑नी रा॒यस्पोषं॒ यज॑मानाय धेहि॥ १॥

१. **तत् अग्रे**=इस सृष्टि के प्रारम्भ में (प्रलय की समाप्ति पर) **कामः समवर्तत**=काम-सिसृक्षा हुआ। प्रभु ने सृष्टि को उत्पन्न करने की कामना की (सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय) **यत्**=जो काम **मनसः**=मन का **प्रथमं रेतः**=सर्वमुख्य तेज **आसीत्**=था। काम से ही सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण होता है, मानो यह काम ही सृष्टि का बीज (रेतः) हो। २. हे **काम**=काम! तू **बृहता कामेन**=उस महान् काम—कान्त प्रभु के साथ **सयोनिः**=समान निवासवाला होता हुआ **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए **रायस्पोषं धेहि**=धन की पुष्टि को स्थापित कर। हृदय में प्रभु के साथ निवासवाला काम पवित्र ही होता है (धर्माविरुद्धः कामोऽस्मि भूतेषु भरतर्षभ) यह धर्माविरुद्ध काम हम यज्ञशीलों को धन का पोषण प्राप्त कराए।

भावार्थ—'काम' मन की सर्वमुख्य शक्ति है। 'धर्माविरुद्ध काम' प्रभु का ही रूप है। यह हम यज्ञशील पुरुषों को आवश्यक समृद्धि से युक्त करे।

ऋषि:—**ब्रह्मा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥

सहः ओजः

त्वं का॑म॒ सह॑सासि॒ प्रति॑ष्ठितो वि॒भुर्वि॒भावा॑ सख॒ आ स॑खीय॒ते।
त्वमु॒ग्रः पृत॑नासु सास॒हिः सह॒ ओजो॒ यज॑मानाय धेहि॥ २॥

१. हे **काम**=मानसशक्ते! **त्वम्**=तू **सहसा**=शत्रुधर्षण सामर्थ्य के साथ **प्रतिष्ठितः असि**=हममें प्रतिष्ठित हुआ है। **विभुः**=व्यापक और **विभावा**=विशिष्ट दीप्तिवाला है। **सखे**=हे सखि-(मित्र)-वत् हितकारिन् काम! **आ सखीयते**=सखिवत् आचरण करनेवाले के लिए—प्रभु-मित्र बनने की

प्रबल कामनावाले के लिए तू शक्ति देनेवाला (विभु) व दीप्ति प्राप्त करानेवाला होता है (विभावा) २. **त्वम् उग्रः**=तू उद्गूर्ण—प्रबल है। **पृतनासु सासहिः**=शत्रु-संग्रामों में शत्रुओं का मर्षण करनेवाला है। तू **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए **सहः ओजः**=शत्रु-धर्षण समर्थ बल **धेहि**=धारण कर।

भावार्थ—काम ही सामर्थ्य व दीप्ति देनेवाला है। प्रभु की प्राप्ति की कामनावाले के लिए यह सच्चा मित्र होता है। उसे शत्रु-धर्षण समर्थ धन व बल प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**चतुष्पदोष्णिक्**॥

'स्वः' जय

दूराच्चकमानाय प्रतिपाणायाक्षये।
आस्मा अशृण्वन्नाशाः कामेनाजनयन्त्स्वः॥ ३॥

१. **दूरात् चकमानाय**=दूरविषयक—अत्यन्त दुर्लभ फल को चाहनेवाले **अस्मै**=इस मेरे लिए **प्रतिपाणाय**=सर्वतः रक्षण के लिए और **अक्षये**=क्षयराहित्य के निमित्त **आशाः**=सब दिशाओं में **आशृण्वन्**=फल देने के लिए स्वीकार किया है। केवल स्वीकार ही नहीं किया अपितु **कामेन**=अभिमत फल-विषयक कामना के द्वारा **स्वः अजनयन्**=सुख को उत्पन्न किया है।

भावार्थ—प्रबल संकल्प होने पर दुर्लभ वस्तुएँ भी सुलभ हो जाती हैं और सुख की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रेम की पारस्परिकता

कामेन मा काम आगन्हृदयाद्धृदयं परि।
यदमीषामदो मनस्तदैतूप मामिह॥ ४॥

१. **कामेन**=इच्छा से **कामः**=इच्छा **मा**=मुझे **आगन्**=प्राप्त हुई है। वह इच्छा जोकि **हृदयात्**=एक हृदय से **हृदयं परि**=दूसरे हृदय के प्रति हुआ करती है। दूसरा व्यक्ति मुझे चाहता है तो मैं भी उसे चाहनेवाला बनता हूँ। उसकी कामना ने मुझमें भी कामना को पैदा किया है। वस्तुतः प्रेम पारस्परिक ही हुआ करता है। २. **यत्**=जो **अमीषाम्**=उनका—मुझसे दूर स्थित ज्ञानियों का **अदः मनः**=मुझ से दूर गया हुआ मन है **तत् माम् इह उप आ एतु**=वह मुझे यहाँ समीपता से प्राप्त हो। मैं ज्ञानियों का प्रिय बनूँ।

भावार्थ—प्रेम पारस्परिक हुआ करता है। मैं ज्ञानियों का प्रिय बनूँ—मुझे ज्ञानी प्रिय हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**कामः**॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्बृहती**॥

यज्ञ=इष्टकामधुक्

यत्काम कामयमाना इदं कृण्मसि ते हविः।
तन्नः सर्वं समृध्यतामथैतस्य हविषो वीहि स्वाहा॥ ५॥

१. हे **काम**='काम' (आशे) **यत्**=जिस फल को **कामयमानाः**=चाहते हुए हम **ते**=तेरे **इदं हविः कृण्मसि**=इस हवि को करते हैं, अर्थात् जिस फल की कामना से हम यज्ञ करते हैं—हमारी **तत् सर्वम्**=वह सब इच्छा **समृध्यताम्**=समृद्ध हो—फूले-फले। २. **अथ**=अब हे काम! **एतस्य**=इस दी हुई **हविषः**=हवि का **वीहि**=भक्षण कर। **स्वाहा**=तेरे लिए सुहुत हो। हम जब किसी कामना से यज्ञ करें तब उसे सम्यक् करनेवाले बनें।

भावार्थ—मन से प्रेरित होकर ही मनुष्य यज्ञादि उत्तम कर्मों को किया करता है। सदा किया जाता हुआ हमारा यह यज्ञ फल से समृद्ध हो। (काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः)

अगले तीन सूक्तों में 'भृगु' ऋषि हैं—ये ज्ञानाग्नि में आपने को परिपक्व करके प्रभु को 'काल' नाम से स्मरण करते हैं—

५३. [त्रिपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**कालः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'सर्वजगत् कारणभूतः कालरूपः' परमात्मा

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः।
तमा रोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा॥ १॥

१. **कालः**=सबका संख्यान करनेवाला (मृत्यु) **अश्वः**=भूत, भविष्यत्, वर्तमानकाल की सब वस्तुओं का व्यापन करनेवाला, **सप्तरश्मिः**=सात छन्दोमयी वेदवाणीरूप सात रश्मियोंवाला यह प्रभु **वहति**=अपने पर आरोहण करनेवालों को अभिमत स्थान में प्राप्त कराता है। यह प्रभु **सहस्राक्षः**=अनन्त आँखोंवाला है—सर्वत्र दृष्टिशक्तिवाला है। **अजरः**=कभी जीर्ण न होनेवाले वे प्रभु **भूरिरेताः**=प्रभूत जगत् सर्जनसमर्थशक्ति-सम्पन्न है। २. **विपश्चितः कवयः**=अधिगत परमार्थ ज्ञानी लोग **तम् आरोहन्ति**=उस प्रभु का आरोहण करते हैं। **तस्य**=उस प्रभु के **चक्रा**=(चङ्क्रमणात् चक्रम् नि० ४.२१) गन्तव्य स्थान **विश्वा भुवनानि**=सब भुवन हैं—वे प्रभु सब लोक-लोकान्तरों में व्याप्त हैं।

भावार्थ—प्रभु 'काल, अश्व, सप्तरश्मि, सहस्राक्ष, अजर, व भूरिरेताः' हैं। तत्त्वद्रष्टा पुरुष ही इन प्रभु को प्राप्त करते हैं। प्रभु सब लोक-लोकान्तरों में गये हुए—व्याप्त हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**कालः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

कर्ता-संहर्ता

सप्त चक्रान्वहति काल एष सप्तास्य नाभीरमृतं न्वक्षः।
स इमा विश्वा भुवनान्यञ्जत्कालः स ईयते प्रथमो नु देवः॥ २॥

१. **एषः कालः**=यह सबका संकलन करनेवाला प्रभु **सप्त चक्रान्**=सात चक्राकार में गति करनेवाले लोकों को **वहति**=धारण करता है। 'भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्'—इन व्याहृति शब्दों में इन सात लोकों का प्रतिपादन हुआ है। **सप्त**=सात ही **अस्य**=इस प्रभु के **नाभिः**=(नह बन्धने) बन्धन के साधन हैं। सात छन्दोमयी वेदवाणियाँ हमें उस प्रभु को प्राप्त करानेवाली होती हैं। इन वेदवाणियों का **अक्षः**=अध्यक्ष प्रभु **नु**=निश्चय से **अमृतम्**=अमृत है। २. **सः**=वह अमृत प्रभु ही **इमा विश्वा भुवनानि**=इन सब लोकों को **अञ्जत्**=व्यक्त करता हुआ—इनकी सृष्टि करता हुआ **सः** (षोऽन्तकर्मणि स्यति इति) अन्त करनेवाला है। **कालः**=वह इन सबका फिर से संकलन कर लेता है। **नु**=निश्चय वह **प्रथमः देवः**=सर्वप्रथम देव प्रभु **ईयते**= तत्त्वज्ञों से जाना जाता है। तत्त्वज्ञ पुरुष उसे सृष्टिकर्त्ता व संहर्त्ता के रूप में देखते हैं।

भावार्थ—वे प्रभु ही सातों लोकों का धारण करते हैं। वे ही इनको प्रकट करते हैं और अन्ततः इन्हें प्रलीन करनेवाले होते हैं। तत्त्वज्ञ लोग ही प्रभु को इस रूप में देखते हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**कालः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

नानारूपों में—परमानन्दरूप में

पूर्णः कुम्भोऽधि काल आहितस्तं वै पश्यामो बहुधा नु सन्तः।
स इमा विश्वा भुवनानि प्रत्यङ् कालं तमाहुः परमे व्योमन्॥ ३॥

१. **पूर्णः कुम्भः**=यह सम्पूर्ण संसारघट—ब्रह्माण्डरूपी घट **काले अधि आहितः**=उस सब जगत् के कारणभूत, नित्य, अनवच्छिन्न परमात्मा में स्थापित है। ब्रह्माण्डरूपी घट का आधार वह प्रभु ही है। **तम्**=उस जन्यकाल के आधारभूत परमात्मा को **वै**=निश्चय से **बहुधा सन्तः**=नाना रूपों में प्रकट होते हुए को (बुद्धिमानों में बुद्धि के रूप में, बलवानों में बल के रूप में) **पश्यामः**=हम देखते हैं। **सः**=वह 'काल' नाम प्रभु ही **इमा विश्वा भुवनानि**=इन सब दृश्यमान भूतजातों को **प्रत्यङ्**=चारों ओर से व्याप्त करनेवाले हैं। **तं कालम्**=उस काल प्रभु को **परमे**=उत्कृष्ट **व्योमन्**=आकाशवत् निर्लेप, सर्वगत, विविध रूप से रक्षक (वि अव् रक्षणे) परमानन्दप्रदायक स्व-स्वरूप में वर्तमान **आहुः**=कहते हैं।

भावार्थ—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के आधार वे प्रभु हैं। वे सारे ब्रह्माण्ड में नानारूपों में रह रहे हैं। सब भुवनों में व्याप्त हैं। अपने आकाशवत् निर्लेप परमानन्दस्वरूप में स्थित हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**कालः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पिता सन्नभवत्पुत्रः एषाम्

स एव सं भुवनान्याभरत्स एव सं भुवनानि पर्यैत्।
पिता सन्नभवत्पुत्र एषां तस्माद्वै नान्यत्परमस्ति तेजः॥ ४॥

१. **सः एव**=वे काल नामक प्रभु ही **भुवनानि**=सब भुवनों का **सम् आभरत्**=सम्यक् भरण (पानल) कर रहे हैं। **सः एव**=वे ही **भुवनानि संपर्यैत्**=सब भुवनों को सम्यक् व्याप्त कर रहे हैं। २. **पिता सन्**=वे प्रभु पिता—उत्पादक होते हुए **एषां पुत्रः अभवत्**=इन लोकों के पुत्र—(पुनाति त्रायते) सबके पवित्र करनेवाले व रक्षण करनेवाले हैं। **तस्मात्**=उस काल नामक प्रभु से **परम्**=उत्कृष्ट **अन्यत् तेजः**=और तेज **वै न अस्ति**=निश्चय से नहीं है। उस प्रभु के तेज से ही तो ये सब लोक-लोकान्तर तेजस्वी हो रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सब भुवनों का पोषण करते हैं। वे इन सबमें व्याप्त हैं। इनके वे उत्पादक हैं, पवित्र करनेवाले और रक्षण करनेवाले हैं। उससे अधिक और कोई तेज नहीं है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**कालः** ॥ छन्दः—**निचृत्पुरस्ताद्बृहती**॥

जनिता—धाता

कालोऽमूं दिवमजनयत्काल इमाः पृथिवीरुत।
काले ह भूतं भव्यं चेषितं ह वि तिष्ठते॥ ५॥

१. **कालः**=वह काल नामक प्रभु ही **अमूं दिवम्**=उस विप्रकृष्ट द्युलोक को **अजनयत्**=उत्पन्न करते **उत**=और **कालः**=वे काल नामक प्रभु ही **इमाः पृथिवीः**=इन 'अवमा, मध्यम, व परमा' पृथिवियों को पैदा करते हैं। २. **काले**=उस काल नामक प्रभु में **ह**=ही **भूतम्**=भूतकालावच्छिन्न, भव्यम् भविष्यत्कालावच्छिन, **च**=और **इषितम्**=इष्ट—इष्यमाण यह वर्तमानकालावच्छिन्न जगत् निश्चय से **वितिष्ठते**=विशेषेण आश्रित है।

भावार्थ—प्रभु ही द्युलोक व पृथिवी को पैदा करते हैं। वे ही भूत, भविष्य व वर्तमान लोकों

के आधार हैं।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—कालः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

'सब विभूतियों के स्रोत' प्रभु

कालो भूतिमसृजत काले तपति सूर्यः।
काले ह विश्वा भूतानि काले चक्षुर्वि पश्यति॥ ६॥

१. **कालः**=वे काल नामक प्रभु ही **भूतिम्**=इस संसार की विविध विभूतियों को—ऐश्वर्यों को **असृजत**=उत्पन्न करते हैं। **काले**=उस काल नामक प्रभु के आधार में ही **सूर्यः तपति**=सूर्य दीप्त हो रहा है (तस्य भासा सर्वमिदं विभाति) २. **काले ह**=निश्चय से उस काल में—प्रभु के आधार में ही **विश्वा भूतानि**=सब भूत स्थित हैं—रह रहे हैं। **काले**=उस प्रभु के आधार में ही **चक्षुः विपश्यति**=आँख आदि इन्द्रियाँ दर्शनादि कर्मों को करती हैं।

भावार्थ—सम्पूर्ण विभूति को जन्म देनेवाले वे प्रभु ही हैं। प्रभु की दीप्ति से ही सूर्य आदि दीप्त हो रहे हैं। सब भूतों के आधार वे प्रभु हैं। प्रभु ही आँख आदि में दर्शनादि शक्तियों को रखते हैं।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—कालः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

'मन-प्राण-नाम-समृद्धि'

काले मनः काले प्राणः काले नाम समाहितम्।
कालेन सर्वा नन्दन्त्यागतेन प्रजा इमाः॥ ७॥

१. उस काल नामक प्रभु में **मनः**=सब प्राणियों के मन **समाहितम्**=आश्रित हैं। **काले**='काल' प्रभु में ही **प्राणः**=पञ्चवृत्तिक प्राण समाहित हैं। **काले**=उस काल प्रभु में ही **नाम**=सब संज्ञाएँ **समाहितम्**=समाहित हैं। सब वस्तुओं के रूपों का निर्माण करके उनके नामों को भी प्रभु ही व्यवहृत करते हैं। २. **आगतेन**=आये हुए—'वसन्त' आदि के रूप में प्राप्त हुए-हुए काल से ही **इमाः सर्वाः प्रजाः**=ये सब प्रजाएँ **नन्दन्ति**=अपने-अपने कार्य की सिद्धि के द्वारा समृद्ध होती हैं—आनन्द का अनुभव करती हैं।

भावार्थ—उस काल नामक प्रभु से हमें 'मन-प्राण-नाम तथा सब समृद्धियाँ' प्राप्त होती हैं।

ऋषिः—भृगुः ॥ देवता—कालः ॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

'तप-ज्येष्ठ-ब्रह्म'

काले तपः काले ज्येष्ठं काले ब्रह्म समाहितम्।
कालो ह सर्वस्येश्वरो यः पितासीत्प्रजापतेः॥ ८॥

१. **काले**=उस काल नामक प्रभु में **तपः**=जगत् सर्जन-विषयक पर्यालोचन (तप् पर्यालोचने) **समाहितम्**=समाहित है। **काले**=उस काल में ही **ज्येष्ठम्**=सबसे प्रथम उत्पन्न होनेवाला 'महत्' तत्त्व समाहित है। **काले**=उस काल में ही **ब्रह्म**=ज्ञान समाहित है। २. यह काल ही **सर्वस्य ईश्वरः**= सबका स्वामी है। वह काल **यः**=जोकि **प्रजापतेः**=ब्रह्मा का भी **पिता आसीत्**=पिता है। सात्त्विक सृष्टि के प्रमुख इस ब्रह्मा को भी प्रभु ही जन्म देते हैं।

भावार्थ—काल नामक प्रभु में ही 'तप-ज्येष्ठ-ब्रह्म' की स्थिति है। ये ही सबके स्वामी हैं। ये ही ब्रह्मा को जन्म देते हैं।

ऋषि:—भृगु: ॥ देवता—काल: ॥ छन्द:—अनुष्टुप् ॥

'ब्रह्म' द्वारा 'ब्रह्मा' का धारण

तेनैषितं तेन जातं तदु तस्मिन्प्रतिष्ठितम्।
कालो ह ब्रह्म भूत्वा बिभर्ति परमेष्ठिनम्॥ ९॥

१. **तेन**=उस काल से ही **इषितम्**=सम्पूर्ण स्रष्टव्य संसार चाहा जाता है (इष्टं=कामितम्) (सो अकामयत०)। **तेन जातम्**=उस काल नामक प्रभु से ही यह उत्पन्न किया गया है **उ**=और **तत्**=वह उत्पन्न जगत् **तस्मिन् प्रतिष्ठितम्**=उस काल में ही प्रतिष्ठित है। २. **काल:**=काल ही **ब्रह्म भूत्वा**=सञ्चित सुखरूप अबाध्य परमार्थ तत्त्व होकर **परमेष्ठिनम्**=सर्वोच्च स्थिति में स्थित ब्रह्मा को **बिभर्ति**=धारण करता है। कर्मानुसार सर्वोच्च उत्तम सात्त्विक स्थितिवाला जीव ही ब्रह्मा है। यह उस काल नामक प्रभु से ही धारण किया जाता है।

भावार्थ—प्रभु ही सृष्टि की कल्पना करते हैं, इसको उत्पन्न करके इसका धारण करते हैं। 'ब्रह्म' होते हुए ये प्रभु 'ब्रह्मा' (सर्वोच्च सात्त्विक गतिवाले जीव) का धारण करते हैं।

ऋषि:—भृगु: ॥ देवता—काल: ॥ छन्द:—अनुष्टुप् ॥

'प्रजा-प्रजापति-कश्यप व तप' का निर्माता प्रभु

काल: प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम्।
स्वयंभू: कश्यप: कालात्तप: कालादजायत॥ १०॥

१. **काल:**=वह 'काल' प्रभु ही **प्रजा: असृजत**=सब प्रजाओं को उत्पन्न करता है। **काल:**=काल ही **अग्रे**=सृष्टि के आदि में **प्रजापतिम्**=ब्रह्मा को जन्म देता है। २. सात लोकों के सात सूर्य 'आरोगो, भ्राज:, पटर:, पतंग:, स्वर्णरो, ज्योतिषीमान्, विभास:' (तै० आ० १.७.१) हैं। अष्टम ये कश्यप है (कश्यपोऽष्टमः स महामेरुं न जहाते—तै० आ० १.७.१) यह (कश्यप: पश्यको भवति, यत् सर्वं परिपश्यति इति सौक्ष्म्यात्—तै०आ० १.८.८) सारे ब्रह्माण्ड को प्रकाशमय करता है। यही स्वयंभू: स्वयं होनेवाला है। इस सूर्य को किसी अन्य सूर्य से दीप्ति नहीं प्राप्त होती, परन्तु यह **स्वयम्भू: कश्यप:**=स्वयं होनेवाला सर्वद्रष्टा सूर्य भी **कालात्**=उस काल नामक प्रभु से ही होता है। **तप:**=इस सूर्य का सन्तापक तेज भी **कालात् अजायत**=उस काल नामक प्रभु से ही हुआ है।

भावार्थ—प्रभु ही प्रजाओं को व प्रजापति को उत्पन्न करते हैं। प्रभु ने ही अष्टम सूर्य (कश्यप) को व उसके सन्तापक तेज को उत्पन्न किया है। इस कश्यप का तेज अन्य सातों सूर्यों को दीप्त करता है।

५४. [चतुष्पञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषि:—भृगु: ॥ देवता—काल: ॥ छन्द:—अनुष्टुप् ॥

'आप:, ब्रह्म, तपो, दिश:'

कालादाप: समभवन्कालाद् ब्रह्म तपो दिश:।
कालेनोदेति सूर्य: काले नि विशते पुन:॥ १॥

१. **कालात्**=उस काल नामक प्रभु से **आप:** (आपो नारा इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनव:) सब प्रजाएँ **समभवन्**=उत्पन्न हुईं। **कालात्**=उस काल से ही **ब्रह्म**=ज्ञान उद्भुत हुआ। उससे ही **तप: दिश:**=सब तप व अन्य कर्मों के निर्देश दिये गये। प्रभु ने प्रजाओं को रचकर मनुष्यों

को वेदज्ञान दिया और वेदज्ञान द्वारा तप व अन्य कर्मों के निर्देश दिये। २. इन कर्मों के करने के लिए उस काल नामक प्रभु ने ही दिन-रात की व्यवस्था की। इस व्यवस्था के लिए **कालेन**=इस काल से ही **सूर्यः उदेति**=सूर्य उदय को प्राप्त होता है और पुनः फिर **काले**=उस काल में ही **निविशते**=विलीन हो जाता है—अस्त हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु प्रजाओं को जन्म देकर वेदज्ञान द्वारा तप व अन्य कर्मों का निर्देश देते हैं। उन कर्मों को कर सकने के लिए वे सूर्योदय व सूर्यास्त से दिन-रात की व्यवस्था करते हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**कालः** ॥ छन्दः—**त्रिपदाऽऽर्षीगायत्री** ॥

'वात, पृथिवी, द्यौः'

कालेन वातः पवते कालेन पृथिवी मही।
द्यौर्मही काल आहिता॥ २॥

१ उस **कालेन**=काल नामक प्रभु की व्यवस्था से **वातःपवते**=वायु बहती है (भीषाऽस्माद् वातः पवते। तै०आ० ८.८.१)। **कालेन**=इस काल से ही **मही पृथिवी**=यह महत्त्वपूर्ण पृथिवी-लोक **आहिता**=दृढ़ता से स्थापित हुआ है। २. यह **मही द्यौः**=महत्त्वपूर्ण द्युलोक भी **काले**=उस काल नामक प्रभु में ही (आहिता) स्थापित है।

भावार्थ—'वायु (अन्तरिक्ष), पृथिवी व द्युलोक' इनका धारण करनेवाला वह काल नामक प्रभु ही है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**कालः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

ऋचः+यजुः

कालो ह भूतं भव्यं च पुत्रो अजनयत्पुरा।
कालादृचः समभवन्यजुः कालादजायत॥ ३॥

१. **कालः ह**=वह काल नामक प्रभु ही **भूतम्**=भूतकालाविच्छन्न जगत् को, **अजनयत्**=जन्म देता है। वह काल ही **पुरा**=सृष्टि के प्रारम्भिक काल में **पुत्रः** (पुनाति त्रायते) इन प्रजाओं को पवित्र करता है और रक्षित करता है। उस समय अभी माता-पिता का क्रम नहीं चला होता, अतः उन प्रारम्भिक प्रजाओं का प्रभु ही ध्यान करते हैं। **कालात्**=उस काल से ही **ऋचः**=पादबद्ध मन्त्र **समभवन्**=उत्पन्न हुए और **यजुः**=प्रश्लिष्ट पाठरूप मन्त्र भी **कालात्**=उस काल नामक प्रभु से ही **अजायत**=प्रादुर्भूत हुए।

भावार्थ—प्रभु ही भूत, भव्य व वर्तमान जगतों के निर्माता हैं। प्रभु ही प्रत्येक सृष्टि के प्रारम्भ में पादबद्ध (पद्य) व प्रश्लिष्टपाठ-(गद्य)-रूप मन्त्रों को प्रादुर्भूत करते हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**कालः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

यज्ञ—देवों के लिए अक्षित भाग

कालो यज्ञं समैरयद्देवेभ्यो भागमक्षितम्।
काले गन्धर्वाप्सरसः काले लोकाः प्रतिष्ठिताः॥ ४॥

१. **कालः**=उस काल प्रभु ने ही **यज्ञम्**=यज्ञ को **सम् ऐरयत्**=सम्यक् प्रेरित किया है जोकि **देवेभ्यः**=देवों के लिए **अक्षितम् भागम्**=क्षयरहित—क्षीण न होने देनेवाला भाग है—भजनीय कर्म है। देव यज्ञ करते हैं, अतः क्षीणशक्तिवाले नहीं होते। यज्ञशेष का सेवन करते हुए ये देव अमृत का ही सेवन कर रहे होते हैं। २. **काले**=उस काल नामक प्रभु में ही **गन्धर्वाप्सरसः**=

(गां वेदवाचं धारयन्ति, अप्सु कर्मसु सरन्ति) ज्ञान की वाणियों को धारण करनेवाले ज्ञानी पुरुष तथा यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त कर्मकाण्डी लोग **प्रतिष्ठिताः**=प्रतिष्ठित होते हैं। वस्तुतः **काले**=उस प्रभु में ही **लोकाः** (प्रतिष्ठिताः) सब लोक प्रतिष्ठित (आधारित) हैं।

भावार्थ—काल नामक प्रभु देवों के लिए यज्ञ का विधान करते हैं। इस यज्ञ के द्वारा ही ये देव अक्षीणशक्ति बने रहते हैं। सब ज्ञानी व कर्मकण्डी तथा अन्य भी सब लोक इस काल नामक प्रभु में ही प्रतिष्ठित हैं।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**कालः** ॥ छन्दः—**षट्पदाविराडष्टिः** ॥

अथर्वा तथा अङ्गिरा का अधिष्ठान वह 'काल'

कालेऽयमङ्गिरा देवोऽथर्वा चाधि तिष्ठतः।
इमं च लोकं परमं च लोकं पुण्यांश्च लोकान्विधृतीश्च पुण्याः।
सर्वांल्लोकानभिजित्य ब्रह्मणा कालः स ईयते परमो नु देवः॥ ५॥

१. **अयम्**=यह **अङ्गिराः देवः**=अंग-अंग में उद्भूत रसवाला—पूर्ण स्वस्थ, देववृत्ति का पुरुष **च**=तथा **अथर्वा**=(अथ अर्वाङ् एनम् एतास्वेतासु अन्विच्छ। गो० ब्रा० १.१.४) ऊर्ध्वरेता बनकर प्रभु को अपने अन्दर ही देखनेवाला पुरुष **काले**=उस प्रभु में ही **अधितिष्ठतः**=अधिष्ठित होते हैं। २. **इमं च लोकम्**=इस कर्मों के अर्जनस्थानभूत भूमिलोक को, **परमं च लोकम्**=उस फलभोग स्थानभूत उत्कृष्ट स्वर्गलोक को, **पुण्यान् च लोकान्**=और अन्य भी पुण्यकर्मार्जित लोकों को, **पुण्याः च विधृतीः**=दुःखलेश से असंस्पृष्ट पवित्र लोकों के धारक **सर्वान् लोकान्**=सभी लोकों को **ब्रह्मणा अभिजित्य**=ज्ञान से जीतकर—ज्ञान द्वारा इन लोकों का विजय कर लेने पर **सः कालः**=वह काल नामक प्रभु **ईयते**=जाना जाता है—पाया जाता है। **नु**=निश्चय से **परमःदेवः**=वह प्रभु ही सर्वोत्कृष्ट देव है।

भावार्थ—हम अंगिरा व अथर्वा बनकर प्रभु में स्थित हों। ज्ञान द्वारा सब लोकों का विजय कर लेने पर ही प्रभु की प्राप्ति होती है।

अथ सप्तमोऽनुवाकः।

५५. [पञ्चपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

रायस्पोषेण-इषा

रात्रिंरात्रिमप्रयातं भरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमस्मै।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम॥ १॥

१. **रात्रिंरात्रिम्**=सदा—सब कालों में—प्रत्येक रात, अर्थात् प्रतिदिन **अप्रयातम्**=विना विच्छेद के (प्रयात=dead) **अस्मै**=इस अग्नि के लिए **भरन्तः**=हवि देते हुए, **इव**=जैसेकि **तिष्ठते अश्वाय**=घर में ठहरनेवाले घोड़े के लिए **घासम्**=घास को देते हैं, उसी प्रकार अग्नि के लिए हवि देते हुए हम **मा रिषाम**=मत हिंसित हों। २. हे यज्ञ-अग्ने! हम **रायः पोषेण**=धन के पोषण से तथा **इषा**=उत्तम अन्नों से **मदन्तः**=आनन्दित होते हुए **ते प्रतिवेशाः**=तेरे पड़ोसी होते हुए हिंसित न हो। यह यज्ञाग्नि का सान्निध्य हमें हिंसा से बचाए।

भावार्थ—हम प्रतिदिन बिना विच्छेद के अग्निहोत्र करें। यह अग्निहोत्र हमें उचित धनों का पोषण व उत्तम अन्न प्राप्त करानेवाला हो।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**आस्तारपङ्क्तिः** ॥

अग्नि की भेदक शक्ति

या ते वसोर्वात इषुः सा त एषा तया नो मृड।
रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम्॥ २॥

१. हे अग्ने! **वसोः ते**=हमारे निवासों को उत्तम बनानेवाले तेरी **या**=जो **वाते इषुः**=वायु में प्रेरणा है, अर्थात् जो तू वायु में गति प्राप्त कराती है, **सा एषा**=वह यह गति **ते**=तेरी ही है, अर्थात् तू ही वायु में इस गति को पैदा करके उसे शुद्ध कर डालती है। **तया नो मृड**=वायु में पैदा की गई गति के द्वारा तू हमें सुखी कर। वायुशुद्धि के द्वारा तू हमें नीरोगता देनेवाली हो। २. हे **अग्ने**=यज्ञाग्ने! हम **रायः पोषेण**=धन के पोषण से तथा **इषा**=उत्तम अन्नों से **मदन्तः**=आनन्दित होते हुए **ते प्रतिवेशाः**=तेरे पड़ोसी होते हुए **मा रिषाम**=मत हिंसित हों। न हम यज्ञाग्नि से दूर हों और ना ही हिंसित हों।

भावार्थ—यज्ञाग्नि वायु में अपनी भेदक शक्ति से स्वच्छता उत्पन्न करती है। यह हमारे उत्तम निवास का कारण बनती है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'सायं' अग्निहोत्र से शरीर-पुष्टि

सायंसायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातःप्रातः सौमनसस्य दाता।
वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम॥ ३॥

१. **सायंसायम्**=प्रत्येक सायंकाल **नः गृहपतिः**=हमारे घरों का रक्षक यह **अग्निः**=यज्ञ का अग्नि **प्रातःप्रातः**=प्रत्येक प्रातःकाल में भी **सौमनसस्य दाता**=प्रसन्नमनस्कता (सुख) देनेवाला हो। प्रातः-सायं अग्निहोत्र करते हुए आरोग्यतापूर्ण जीवनवाले हम आनन्द का अनुभव करें। २. हे अग्ने! तू **वसोः**=निवास के साधनभूत सब वसुओं (धनों) का **वसुदानः एधि**=धनदाता हो। **वयम्**=हम **त्वा इन्धानाः**=तुझे प्रातः-सायं दीप्त करते हुए **तन्वं पुषेम**=अपने शरीरों का पोषण करें। यह यज्ञाग्नि हमारे शरीरों की शक्तियों का विस्तार करनेवाली हो।

भावार्थ—सायं-प्रातः हवियों से दीप्त किया गया यज्ञाग्नि हमें प्रसन्नमनस्कता प्राप्त कराता है। सब वसुओं को देता हुआ यह हमारे शरीरों का पोषण करता है। सायंकाल का अग्निहोत्र प्रातःकाल तक सौमनस्य का देनेवाला है।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'सायं-प्रातः' अग्निहोत्र से दीर्घजीवन

प्रातःप्रातर्गृहपतिर्नो अग्निः सायंसायं सौमनसस्य दाता॥
वसोर्वसोर्वसुदान एधीन्धानास्त्वा शतंहिमा ऋधेम॥ ४॥

१. **प्रातःप्रातः**=प्रत्येक प्रातःकाल में **गृहपतिः**=हमारे घरों का रक्षक यह **अग्निः**=यज्ञाग्नि **सायंसायम्**=प्रत्येक सायंकाल में भी **सौमनसस्य दाता**=प्रसन्नमनस्कता को देनेवाला हो। २. **वसोःवसोः वसुदानः एधि**=निवास के लिए आवश्यक प्रत्येक वसु का देनेवाला हो। हे अग्ने! **त्वा**=तुझे **इन्धानाः**=हवियों से दीप्त करते हुए **शतंहिमाः ऋधेम**=सौ वर्ष तक हम समृद्ध हों। यह अग्निहोत्र हमें नीरोगता, शक्तियों का पोषण व सौमनस को देता हुआ शतवर्ष की आयुष्य को प्राप्त कराए।

भावार्थ—हम प्रातः-सायं अग्निहोत्र करते हुए सौमनस व वसुओं को प्राप्त करके शतवर्ष

के आयुष्य को प्राप्त करें। प्रातःकाल का अग्निहोत्र सायं तक सौमनस्य देता है

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**विराट्पुरउष्णिक्** ॥

अपश्चा दग्धान्नस्य

अपश्चा दुग्धान्नस्य भूयासम्।
अन्नादायान्नपतये रुद्राय नमो अग्नये।
सभ्यः सभां मे पाहि ये च सभ्याः सभासदः॥ ५॥

१. अग्निहोत्र में एक व्यक्ति घृत व अन्न को अग्नि में आहुत करता है। वह अन्न दग्ध होता प्रतीत होता है। मैं **दग्धान्नस्य**=इस अग्निहोत्र में दग्ध अन्न के **अपश्चा**=पीछे न रहनेवाला **भूयासम्**=बनूँ, अर्थात् खूब ही अग्निहोत्र करूँ। **अन्नादाय**=इस अन्न का अदन करनेवाले **अन्नपतये**=अन्नों के स्वामी (पर्जन्यादन्नसंभवः, यज्ञाद्भवति पर्जन्यः) **रुद्राय**=रोगों का द्रावण करनेवाले **अग्नेय**=अग्नि के लिए **नमः**=मैं आदरपूर्वक अन्न अर्पित करता हूँ (नमः=अन्न, आदर)। २. यह **सभ्यः**=हमारी सभा में—हमारे गृहों में होनेवाला अग्नि हो, अर्थात् हम सदा घरों में अग्निहोत्र करनेवाले हों। हे अग्ने! **मे सभां पाहि**=मेरे घर का रक्षण कर, **च**=और **ये**=जो **सभासदः**=गृह में आसीन होनेवाले सभासद् हैं, उनका भी रक्षण कर।

भावार्थ—हम खूब ही अग्निहोत्र करनेवाले हों। अग्नि हमें अन्न देता हुआ व हमारे रोगों का द्रावण करता हुआ हमारा रक्षण करे।

ऋषिः—**भृगुः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**निचृदनुष्टुप्** ॥

यज्ञों द्वारा प्रभु-पूजन व पूर्णजीवन की प्राप्ति

त्वमिन्द्रा पुरुहूत विश्वमायुर्व्य१श्नवत्।
अहरहर्बलिमित्ते हरन्तोऽश्वायेव तिष्ठते घासमग्ने॥ ६॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन्! **पुरुहूत**=पालक व पूरक है आह्वान (प्रार्थना) जिसकी, ऐसे प्रभो! **त्वम्**=आप **विश्वम्**=सम्पूर्ण **आयुः**=जीवन को **व्यश्नवत्**=(प्रापय। पुरुषव्यत्ययः लेटि रूपम्) प्राप्त कराइए। २. हे **अग्ने!**=यज्ञाग्ने! **तिष्ठते अश्वाय घासम् इव**=गृह में स्थित घोड़े के लिए जैसे प्रेम से घास प्राप्त कराते हैं, इसी प्रकार हम **ते**=तेरे लिए **अहरहः**=प्रतिदिन **इत्**=निश्चय से **बलिम्**=बलि को—अन्नभाग को **हरन्तः**=प्राप्त कराते हुए हों।

भावार्थ—हम यज्ञों के द्वारा प्रभु-पूजन करें। प्रभु हमें शतवर्ष के पूर्णजीवन को प्राप्त कराएँगे।

यज्ञों में प्रवृत्त व्यक्ति अपने जीवन को नियमित बनाता है, अतः 'यम' होता है। यह यम ही अगले दो सूक्तों का ऋषि है—

५६. [षट्पञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'धीर' स्वप्न

यमस्य लोकादध्या बभूविथ प्रमदा मर्त्यान्प्र युनक्षि धीरः।
एकाकिना सरथं यासि विद्वान्त्स्वप्नं मिमानो असुरस्य योनौ॥ १॥

१. हे स्वप्न! तू **यमस्य लोकात् अधि**=यम के लोक से **आबभूविथ**=प्रकट हुआ है, अर्थात्

स्वप्न की उत्पत्ति ही मानो मृत्युलोक से होती है—यह शीघ्रमृत्यु का कारण बनता है। हे दुःष्वप्न! तू आकर **धीरः**=(धियम् ईरयति) बुद्धि को कम्पित कर देनेवाला होता हुआ, अर्थात् किसी से भी भयभीत न होता हुआ **प्रमदाः**=स्त्रियों को **मर्त्यान्**=और पुरुषों को **प्रयुनक्षि**=अपने से जोड़ता है। २. अब **विद्वान्**=नानाप्रकार की बातों को जानता हुआ तू (स्वप्न में न जाने कब के संस्कार जाग उठते हैं) **एकाकिना**=अकेले उस स्वप्नद्रष्टा पुरुष के साथ **सरथं यासि**=इस समान शरीररूप रथ में गति करता है। हे दुःस्वप्नाभिमानिन् देव! तू **असुरस्य**=(असुः प्राणः, तद्वान् असुरः) प्राणवान् आत्मा के **योनौ**=उपलब्धि स्थान हृदय में **स्वप्नम्**=कष्टमय, अनिष्टफलप्रद स्वप्न को **मिमानः**=निर्मित करता हुआ है। यह दुःस्वप्न की देवता इस स्वप्नद्रष्टा को यमलोक में ले-जाती है।

भावार्थ—स्वप्न हमारी बुद्धियों को कम्पित कर देता है। हृदय में भय पैदा करता हुआ यह शीघ्र मृत्यु का कारण बनता है।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

बन्धः+विश्वचयाः

बन्धस्त्वाग्रे विश्वचया अपश्यत्पुरा रात्र्या जनितोरेके अह्नि।
ततः स्वप्नेदमध्या बभूविथ भिषग्भ्यो रूपमपगूहमानः ॥ २ ॥

१. हे **स्वप्न**=स्वप्न! **बन्धः**=शरीर में मल के बन्धवाला **विश्वचयाः**=नानाप्रकार की अवाञ्छनीय बातों का अपने में चयन करनेवाला व्यक्ति **त्वाम् अग्रे**=तुझे नींद के प्रारम्भ में, गाढ़ी नींद आने से पूर्व, **अपश्यत्**=देखता है। **पुरा रात्र्याः जनितोः**=रात्रि के प्रादुर्भाव से पहिले ही **एके अह्नि**=कई तो दिन में ही स्वप्न देखने लगते हैं। वस्तुतः कई बार स्वप्न आने लगते हैं। एक तो शरीर में मलसञ्चय, दूसरा मन में व्यर्थ की बातों (भावों) का सञ्चय। २. **ततः**=तभी हे स्वप्न! तू **इदम्**=इस शरीर को **अधि आबभूविथ**=व्याप्त कर लेता है। तेरा इस शरीर पर राज्य-सा हो जाता है, और तू इसमें नाना रोगों की उत्पत्ति का कारण बनता है। **भिषग्भ्यः**=वैद्यों से तू **रूपम् अपगूहमानः**=अपने रूप को छिपाये रहता है, अर्थात् वैद्य तेरी चिकित्सा नहीं कर पाते। यह स्वप्नरूप रोग वैद्यों के क्षेत्र से बाहर का है।

स्वप्न के मुख्यकारण दो ही हैं।

भावार्थ—स्वप्न का कारण शरीर में मलबन्ध व हृदय में व्यर्थ की बातों का समावेश है। तभी स्वप्न हमें आ घेरते हैं। ये नानाप्रकार के रोगों का कारण बनते हैं। ये रोग वैद्यों की चिकित्सा के विषय नहीं बनते।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'असुर व दिव्य' विविध स्वप्न

बृहद्गावासुरेभ्योऽधि देवानुपावर्तत महिमानमिच्छन्।
तस्मै स्वप्नाय दधुराधिपत्यं त्रयस्त्रिंशासः स्वरानशानाः ॥ ३ ॥

१. **बृहद्गावा** (बृहतः=दुष्प्रधर्षान् अपि गाते)=बड़े शक्तिशाली पुरुषों को भी प्राप्त होनेवाला यह स्वप्न **असुरेभ्यः**=अपने ही प्राणों में रमण करनेवाले विलासी पुरुषों से **देवान् उपावर्तत**=देववृत्ति के पुरुषों को प्राप्त हुआ। मानो, यह स्वप्न भी **महिमानम् इच्छन्**=महत्त्व की कामनावाला हो, स्वप्न यह नहीं चाहता कि 'यह कहा जाए कि 'स्वप्न असुरों को ही आते हैं, सुरों को नहीं'। २. **त्रयस्त्रिंशासः**=तेतीस के तेतीस **स्वः आनशानाः**=स्वर्ग को व प्रकाश को व्याप्त करते हुए

देव **तस्मै स्वप्नाय**=उस स्वप्न के लिए **आधिपत्यं दधुः**=आधिपत्य को स्थापित करते हैं। स्वप्न को ये देव सभी का अधिपति बनाते हैं। अन्तर इतना ही है कि असुरों को आसुर (बुरे) स्वप्न आते हैं और देवों को दिव्य (उत्तम) स्वप्न आया करते हैं। 'स्वप्नज्ञानालम्बनं वा' इस योगसूत्र के अनुसार वे देव प्रभु का भी स्वप्न में ही तो दर्शन करते हैं। ये स्वप्न सचमुच महिमावाले होते हैं।

भावार्थ—स्वप्न असुरों व देवों दोनों को ही प्राप्त होते हैं। असुरों के स्वप्न आसुरपन को लिये हुए होते हैं तो देवों को स्वप्न दिव्यतावाले हुआ करते हैं। ये दिव्यस्वप्न भी महिमाशाली होते हैं।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

स्वप्नों का न आना, या उत्कृष्ट स्वप्नों का आना

नैतां विदुः पितरो नोत देवा येषां जल्पिश्चरत्यन्तरेदम्।
त्रिते स्वप्नमदधुराप्त्ये नर आदित्यासो वरुणेनानुशिष्टाः ॥ ४ ॥

१. **एताम्**=इस स्वप्नवृत्ति को **पितरः**=रक्षणात्मक कार्यों में लगे हुए लोग **न विदुः**=नहीं जानते। इन पितरों को अशुभ स्वप्न नहीं आते **उत**=और **वे देवाः**=देव भी इस स्वप्नवृत्ति को नहीं जानते, **येषाम्**=जिन देवों की **इदम् अन्तरा**=इस हृदयाकाश में **जल्पिः**=प्रभु से वार्त्तालाप **चरति**=होता है। २. ये **वरुणेन अनुशिष्टाः**=पापों के निवारक प्रभु से अनुशिष्ट हुए-हुए **आदित्यासः**=सब अच्छाइयों का आदान करनेवाले **नरः**=उन्नति-पथ पर चलनेवाले लोग पहले तो स्वप्नों को देखते ही नहीं, देखते भी हैं तो **आप्त्ये**=प्रभु को प्राप्त करनेवालों में उत्तम **त्रिते**=काम, क्रोध, लोभ को तैर जानेवाले चित्त के विषय में **स्वप्नम् अदधुः**=स्वप्न को धारण करते हैं। इन्हें स्वप्न में 'त्रित आप्त्य' का ही दर्शन होता है। ये उस-जैसा बनने का ही स्वप्न लेते हैं।

भावार्थ—हृदयाकाश में प्रभु से बात करनेवाले पितर व देव अशुभ स्वप्नों को नहीं देखते। इन्हें 'त्रित आप्त्यों' के विषय में ही स्वप्न आते हैं और ये वैसा ही बनने का स्वप्न लेते हैं।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

दुष्कृत को क्रूर स्वप्न, सुकृत को पुण्यस्वप्न

यस्य क्रूरमभजन्त दुष्कृतोऽस्वप्नेन सुकृतः पुण्यमायुः।
स्व मदसि परमेण बन्धुना तप्यमानस्य मनसोऽधि जज्ञिषे ॥ ५ ॥

१. **दुष्कृतः**=दुष्कर्म (पापकर्म) करनेवाले लोग **यस्य**=जिस दुःस्वप्न के **क्रूरम् अभजन्त**=भयंकर अनिष्ट फल को प्राप्त करते हैं, इसके विपरीत **सुकृतः**=पुण्यकर्मा लोग **अस्वप्नेन**=स्वप्नों के अभाव के कारण **पुण्यम् आयुः**=पुण्य जीवन को प्राप्त करते हैं। २. हे स्वप्न! **तप्यमानस्य**=खूब तपस्या में प्रवृत्त मनुष्य के **मनसः अधिजज्ञिषे**=मन से जब तू प्रकट होता है, तब **परमेण बन्धुना**=उस परम बन्धु परमात्मा के साथ बातचीत में **स्वःमदसि**=ज्ञान के प्रकाश से आनन्द का अनुभव करता है, अर्थात् तपस्वी स्वप्न में प्रभु के साथ बात करता है और ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करता हुआ आनन्दित होता है।

भावार्थ—दुष्कृत् को अशुभ स्वप्न पीड़ा पहुँचाता है और तपस्वी सुकृत् को प्रभु-दर्शन का स्वप्न प्रकाशमय जीवनवाला करता है।

ऋषिः—यमः॥ देवता—दुःष्वप्ननाशनम्॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

द्वेष आदि के स्वप्नों से दूर

विद्म ते सर्वाः परिजाः पुरस्ताद्विद्म स्वप्न यो अधिपा इहा ते।
यशस्विनो नो यशसेह पाह्यारा द्विषेभिरप याहि दूरम्॥ ६॥

१. हे **स्वप्न**=स्वप्न! हम **ते**=तेरे **पुरस्तात् सर्वाः परिजाः**=पुरस्ताद्गामी सब परिजनों को (काम, क्रोध, लोभ को) **विद्म**=जानते हैं। तू इन काम-क्रोध आदि के कारण ही उत्पन्न होता है। हे स्वप्न! **इह**=यहाँ **यः**=जो **ते**=तेरा **अधिपाः**=स्वामी है—जिसके कारण तू अभिभूत रहता है—दबा रहता है, किसी प्रकार का अशुभ नहीं कर पाता, उसे भी **विद्म**=जानते हैं। प्रभु ही वे अधिपा हैं। प्रभु-स्मरण करने पर अनिष्टकर स्वप्न आते ही नहीं। २. **यशस्विनः**=यशस्वी कर्मों के कारण यश को प्राप्त करनेवाले **नः**=हम लोगों को **इह**=इस जीवन में **यशसा**=यश से **आरात्**=प्रभु के समीप में **पाहि**=सुरक्षित कर। हम कभी अशुभ स्वप्न न देखें। हे स्वप्न! **द्विषेभिः**=सब द्वेष की वृत्तियों के साथ तू हमसे **दूरम् अपयाहि**=सुदूर देश में चला जा। हमें द्वेष आदि के स्वप्न न आते रहें।

भावार्थ—काम-क्रोध आदि से दूर होकर हम अशुभ स्वप्नों से बचें। यशस्वी कर्मों को करते हुए यशवाले स्वप्नों को ही देखें। हम कभी स्वप्न में द्वेष आदि दुर्भावों से पीड़ित न हों।

५७. [सप्तपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—यमः॥ देवता—दुःष्वप्ननाशनम्॥ छन्दः—अनुष्टुप्॥

दुःष्वप्न्य का अप्रिय पुरुषों में संनयन

यथा कलां यथा शफं यथर्णं संनयन्ति।
एवा दुःष्वप्न्यं सर्वमप्रिये सं नयामसि॥ १॥

१. **यथा कलाम्**=जैसे एक-एक कला—सोलहवाँ भाग करके, अथवा **यथा शफम्**=(गवादि पशुओं के चार पाँव, प्रत्येक पाँव के दो भाग) जैसे एक-एक शफ—आठवाँ भाग—करके **ऋणम्**=सारे ऋण को यथा **संनयन्ति**=जैसे उत्तमर्ण के लिए लौटा देते हैं, **एव**=इसी प्रकार **सर्वं दुःष्वप्न्यम्**=सब अशुभ स्वप्नों के कारणभूत वसुओं को (शरीर में मलबन्ध व मन में व्यर्थ की बातों के समावेश को) **अप्रिये**=प्रीतिरहित शत्रुभूत लोगों में **संनयामसि**=प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम सतत प्रयत्न करके—निरन्तर थोड़ा-थोड़ा करते हुए सब अशुभ स्वप्नों के कारणभूत तत्त्वों को अपने से दूर करें। ये तत्त्व अप्रिय लोगों को प्राप्त हों।

ऋषिः—यमः॥ देवता—दुःष्वप्ननाशनम्॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥

संगृहीत दुःष्वप्न्य को द्विषत् में प्रसूत करना

सं राजानो अगुः समृणान्यगुः सं कुष्ठा अगु सं कला अगुः।
समस्मासु यद्दुःष्वप्न्यं निर्द्विषते दुःष्वप्न्यं सुवाम॥ २॥

१. जैसे **राजानः**=राजा लोग **सम् अगुः**=युद्ध-काल में एक-एक करके बहुत-से एकत्र हो जाते हैं। **ऋणानि सम् अगुः**=ऋण भी जुड़ते-जुड़ते बहुत-से एकत्र हो जाते हैं। **कुष्ठाः**=कुत्सित त्वचा के रोग भी **समगुः**=अचिकित्सित होने पर बढ़ते जाते हैं। **कलाः सम् अगुः**=कलाएँ जुड़ती-जुड़ती चन्द्रमा में पूर्णतया संगत हो जाती हैं। इसीप्रकार **अस्मासु**=हममें **यत्**=जो **दुःष्वप्न्यम्**=अशुभ स्वप्नों का कारणभूत तत्त्व **सम्** (अगात्)=संगत हो गया है, उस सब

दुःष्वप्न्यम्=अशुभ स्वप्नों के कारणभूत तत्त्व को **द्विषते**=द्वेष करनेवाले पुरुष के निमित्त **निःसुवाम**=अपने से बाहर प्रेरित करते हैं।

भावार्थ—थोड़ा-थोड़ा करके वे तत्त्व हममें संगृहीत हो जाते हैं, जोकि अशुभ स्वप्नों के कारण बना करते हैं। हम उन्हें अपने से पृथक् करके द्वेष करनेवाले पुरुषों के लिए प्रेरित करते हैं।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्** ॥ छन्दः—**षट्पदात्रिष्टुप्** ॥

'भद्र व अभद्र' स्वप्न

देवानां पत्नीनां गर्भ यमस्य कर यो भद्रः स्वप्न।
स मम यः पापस्तद् द्विषते प्र हिण्मः।
मा तृष्टानामसि कृष्णशकुनेर्मुखम्॥ ३॥

१. हे **देवानां पत्नीनां गर्भ**=देवशक्तियों को अपने में धारण करनेवाले! अथवा **यमस्य कर**=यम के हस्तभूत **स्वप्न**=स्वप्न! **यः**=जो तो **भद्र!**=कल्याणकर स्वप्न है **सः मम**=वह मेरा हो। **यः पापः**=जो पाप (अशुभ) स्वप्न है **तत्**=उसको **द्विषते**=हमसे अप्रीति करनेवाले के लिए **प्रहिण्मः**=भेजते हैं। २. स्वप्न दो प्रकार के होते हैं—एक शुभ और दूसरे अशु। शुभ स्वप्न मानो अपने अन्दर दिव्यशक्तियों को धारण किये हुए हैं—ये हमें प्रभु का दर्शन करानेवाले होते हैं—ज्ञान का प्रकाश देनेवाले होते हैं। अशुभ स्वप्न हमें मृत्यु की ओर ले-जाते हैं। हम स्वप्नों में पाप कर बैठते हैं। हे स्वप्न! तू हमारे लिए **तृष्टानाम्**=वैषयिक तृष्णाओं का तथा **कृष्णशकुनैः**=काले शक्तिशाली घोर पाप का **मुखम्**=प्रवर्तक **मा असि**=मत हो। हम स्वप्न में लोभ-प्रवृत्त होकर घोर अशुभ कार्यों को करनेवाले न बन जाएँ। स्वप्न में इसप्रकार के पाप हमसे न हो जाएँ।

भावार्थ—स्वप्न शुभ व अशुभ दो प्रकार के हैं। हमें शुभ स्वप्न ही प्राप्त हों अशुभ नहीं। हम स्वप्न में भी प्रभु का दर्शन करें। स्वप्न में लोभवश अशुभ कर्म न कर रहे हों।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्** ॥ छन्दः—**षट्पदोष्णिग्बृहतीगर्भाविराट्शक्वरी** ॥

'देवपीयु-पियारु' अशुभस्वप्न

तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स त्वं स्वप्नाश्वइव कायमश्वइव नीनाहम्।
अनास्माकं देवपीयुं पियारुं वप यदस्मासु दुःष्वप्न्यं यद्गोषु यच्च नो गृहे॥ ४॥

१. हे **स्वप्नः**=स्वप्न! **तं त्वा**=उस तुझको हम **तथा संविद्म**=उस प्रकार सम्यक् समझ लें, जिससे कि **सः त्वम्**=वह तू, हे स्वप्न! **इव**=जैसे **अश्वः**=एक घोड़ा **कायम्**=अपने रजोधूसर शरीर को कम्पित करता है, अथवा **इव**=जैसे **अश्वः**=घोड़ा **नीनाहम्**=पल्याणकवच (काठी), आदि को दूर फेंक देता है। इसी प्रकार हे स्वप्न! तू भी **अनास्माकम्**=हमारा हित न करनेवाले, **देवपीयुम्**=दिव्यगुणों का हिंसन करनेवाले **पियारुम्**=शारीरिक शक्तियों के विघातक **दुःष्वप्न्यम्**=अशुभ स्वप्नों के कारणभूत मल को **वप**=हमसे छिन्न करके दूर कर। २. **यत्**=जो भी **अस्मासु**=हममें **दुःष्वप्न्यम्**=अशुभ स्वप्नों का कारणभूत मल है, **यत् गोषु**=जो भी हमारी इन्द्रियों में दोष है, **यत् च**=और जो **नः**=हमारे **गृहे**=घर में—शरीररूप गृह में—दुःष्वप्न्य है, उस सबको दूर कर।

भावार्थ—हम प्रयत्न करें कि हमें अशुभ स्वप्न न आएँ। ये हमारे लिए हितकर न होकर हमारी उत्तम प्रवृत्तियों व शरीर की शक्तियों के विध्वंस का कारण बनते हैं।

ऋषिः—**यमः** ॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्** ॥ छन्दः—**पञ्चपदापरशाक्वराऽतिजगती** ॥

'अनास्माकं' दुःष्वप्न्य

अनास्माकस्तद्देवपीयुः पियारुर्निष्कमिव प्रति मुञ्चयताम्।
नवारत्नीनपमया अस्माकं ततः परि।
दुःष्वप्न्यं सर्वं द्विषते निर्दयामसि॥ ५॥

१. दुष्ट स्वप्नों का कारणभूत मल **अनास्माकः**=हमारा अहितकर है। **तत्**=यह **देवपीयुः**=दिव्यगुणों का हिंसक है। **पियारुः**=शारीरिक शक्तियों का विनाशक है। यह दुःष्वप्न्य हमें इसप्रकार **प्रतिमुञ्चयताम्**=छोड़ दे (quit, leave, abandon) **इव**=जैसेकि **निष्कम्**=एक स्नानार्थी को गले का हार छोड़ देता है। वह जैसे हार को उतार कर अलग रख देता है, इसीप्रकार यह दुःष्वप्न्य हमसे पृथक् हो जाए। हे स्वप्न! इस दुःष्वप्न्य को **अस्माकम्**=हमारे **ततः परि**=उन इन्द्रियों व शरीरगृहों से पृथक् करके अब **नव अरत्नीन्**=नौ हाथ **अपमयाः**=दूर ले-जा (मय गतौ) न दुःष्वप्न्य होगा, न अशुभ स्वप्न आएँगे। २. **सर्वं दुःष्वप्न्यम्**=सब दुःष्वप्नों के कारणभूत मलों को **द्विषते**=शत्रु के लिए **निर्दयामसि**=अपने से बाहर भेजते हैं। यह दुःष्वप्न्य हमें छोड़कर द्विषत् पुरुषों को प्राप्त हो।

भावार्थ—दुःष्वप्न्य हमसे दूर हो, यह द्विषन् पुरुषों को प्राप्त हो।

सब दुःष्वप्न्यों को दूर करके और परिणामतः अपने से 'देवपीयुत्व व पियारु' को भी दूर करता हुआ अपने देवत्त्व का वर्धन करता हुआ यह 'ब्रह्मा' बनता है। यही अब इस काण्ड में अन्त तक सूक्तों का ऋषि है—

५८. [अष्टपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'घृतस्य जूतिः समना सदेवा'

घृतस्य जूतिः समना सदेवाः संवत्सरं हविषा वर्धयन्ती।
श्रोत्रं चक्षुः प्राणोऽच्छिन्नो नो अस्त्वच्छिन्ना वयमायुषो वर्चसः॥ १॥

१. **घृतस्य**=(घृ दीप्तौ) उस दीप्त सर्वोत्कृष्ट तेज परमात्मा का **जूतिः**=ज्ञान (**मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति** ऐ० आ० २.६.१) **समना**=(सम् अना) हमें सम्यक् प्राणित करनेवाला है। **सदेवाः**=यह ज्ञान दिव्यगुणों से युक्त है—हमें दिव्यगुणसम्पन्न बनानेवाला है। यह ज्ञान **संवत्सरम्**=हमारे जीवनकाल को **हविषा**=दानपूर्वक अदन से व यज्ञों से **वर्धयन्ती**=बढ़ाता है। प्रभु का ज्ञान हमें यज्ञमय जीवनवाला बनाता है। २. इस ज्ञान के द्वारा **नः**=हमारा **श्रोत्रं चक्षुः प्राणः**=श्रोत्र, चक्षु व प्राण **अच्छिन्नः अस्तु**=अच्छिन्न हो। **वयम्**=हम **आयुषः**=आयु से **वर्चसः**=वर्चस् से **अच्छिन्नाः**=अच्छिन्न हों, अर्थात् दीर्घजीवनवाले व वर्चस्वी बनें।

भावार्थ—प्रभु का ज्ञान हमें उत्तम प्राणशक्तिवाला व दिव्यगुणोंवाला बनाता है। यह हमें यज्ञशील बनाता हुआ दीर्घजीवी करता है। इससे हमें इन्द्रियों की शक्ति, प्राणशक्ति, दीर्घजीवन व वर्चस् प्राप्त हो।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**पुरोऽनुष्टुप्**॥

प्राण+वर्चस्

उपास्मान्प्राणो ह्वयतामुप वयं प्राणं हवामहे।
वर्चो जग्राह पृथिव्य१न्तरिक्षं वर्चः सोमो बृहस्पतिर्विधर्त्ता॥ २॥

१. **अस्मान्**=मानसयज्ञ (प्रभु-ध्यान) के प्रवर्तक हम लोगों को **प्राणः उपह्वयताम्**=शरीरधारक पञ्चवृत्तिक वायु चिरकाल के जीवन के लिए अनुज्ञा दे। **वयम्**=हम **प्राणम्**=प्राण को **उपहवामहे**=चिरकाल तक हमारे शरीरों में रहने के लिए प्रार्थित करते हैं। २. **पृथिवी**=यह हमारा शरीररूप पृथिवीलोक तथा **अन्तरिक्षम्**=हृदयान्तरिक्ष **वर्चःजग्राह**=तेजस्विता को स्वीकार करता है। **सोमः**=सौम्यता, **बृहस्पतिः**=ज्ञान, **विधर्त्ता**=विशेषरूप से धारण करनेवाला अग्नितत्त्व—ये सब **वर्चः**=तेज को धारण करते हैं।

भावार्थ—हम प्राणशक्ति-सम्पन्न बनें। हमारा शरीर व हृदय वर्चस्‌वाला हो। 'सौम्यता, ज्ञान व अग्नितत्त्व' हमें वर्चस्वी बनाएँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**षट्पदात्रिष्टुप्**॥

यशस्वी जीवन

वर्चसो द्यावापृथिवी संग्रहणी बभूवथुर्वर्चो गृहीत्वा पृथिवीमनु सं चरेम।
यशसा गावो गोपतिमुप तिष्ठन्त्यायतीर्यशो गृहीत्वा पृथिवीमनु सं चरेम॥ ३॥

१. **द्यावापृथिवी**=मेरा मस्तिष्करूप द्युलोक तथा शरीररूप पृथिवीलोक दोनों **वर्चसः**=वर्चस् के **संग्रहणी बभूवथुः**=ग्रहण करनेवाले हों। मस्तिष्क व शरीर दोनों ही वर्चस्वी हों। हम **वर्चःगृहीत्वा**=वर्चस् को ग्रहण करके **पृथिवीम् अनुसंचरेम**=इस पृथिवी पर विचरण करें। हमारी प्रत्येक क्रिया-शक्ति को लिये हुए हो। २. ये **आयतीः**=चारों ओर गति करती हुई—इधर-उधर विषयों में भटकती हुई **गावः**=इन्द्रियाँ **यशसं गोपतिम्**=यशस्वी, इन्द्रियों के स्वामी के **उपतिष्ठन्ति**=समीप उपस्थित होती हैं। वस्तुतः जितेन्द्रियता के कारण ही एक व्यक्ति यशस्वी बनता है। हम **यशः**=यश को **गृहीत्वा**=ग्रहण करके ही **पृथिवीम् अनुसंचरेम**=इस पृथिवी पर विचरण करें।

भावार्थ—मेरा मस्तिष्क व शरीर दोनों वर्चस्वी हों। हम वर्चस्वी बनकर ही इस पृथिवी पर विचरें। जितेन्द्रिय बनकर हम यशस्वी हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**षट्पदोष्णिग्बृहतीगर्भाविराट्शक्वरी**॥

व्रजं कृणुध्वम्, वर्म सीव्यध्वम्

व्रजं कृणुध्वं स हि वो नृपाणो वर्मा सीव्यध्वं बहुला पृथूनि।
पुरः कृणुध्वमायसीरधृष्टा मा वः सुस्रोच्चमसो दृंहता तम्॥ ४॥

१. हे इन्द्रियो! **व्रजं कृणुध्वम्**=मानसयज्ञ (प्रभु-ध्यान) के अधिष्ठानभूत इस शरीर में संघात को करो—तुम यहाँ ही संघीभूत होकर स्थित होओ। **सः हि**=वह देह ही **वः नृपाणः**=अपने-अपने विषय में प्रवर्तमान (नेतृभूत) तुम्हारा रक्षक है। **बहुला**=बहुत तथा **पृथूनि**=विस्तृत **वर्मा सीव्यध्वम्**=कवचों को सीओ। ज्ञानरूप कवचों को सीकर तुम अपना रक्षण करो। यह ज्ञानकवच ही वासनाओं के आक्रमण से सुरक्षित करता है। ३. **पुरः**=इन शरीर-नगरियों को **आयसीः**=लोहे की बनी हुइयों को **अधृष्टाः कृणुध्वम्**=रोगरूप शत्रुओं से अधर्षणीय बना डालो। **वः**=तुम्हारा

यह **चमसः**=शरीररूप पात्र **मा सुस्रोत्**=स्रवित न हो। इसमें वीर्यरूप जल स्थिर होकर रहे। **दृंहता तम्**=उस शरीररूप पात्र को दृढ़ बनाओ।

भावार्थ—हम मानस यज्ञ में प्रवृत्त हों, जिससे इन्द्रियाँ इधर-उधर न भटककर अन्दर ही स्थित हों। हम ज्ञानकवच को धारण करके वासनारूप शत्रुओं का शिकार न हो पाएँ। हमारे शरीर मानो लोहे के बने हों। शक्ति शरीर में ही सुरक्षित रहे।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**भुरिक्त्रिष्टुप्**॥

वाचा श्रोत्रेण मनसा

य॒ज्ञस्य॒ चक्षुः॒ प्रभृ॑ति॒र्मुखं॑ च वा॒चा श्रोत्रे॑ण॒ मन॑सा जुहोमि।
इ॒मं य॒ज्ञं वित॑तं वि॒श्वक॑र्म॒णा दे॒वा य॑न्तु सुमन॒स्यमा॑नाः॥ ५॥

१. वे प्रभु **यज्ञस्य चक्षुः**=यज्ञ के चक्षु हैं—प्रदर्शक हैं। **प्रभृतिः**=वे ही इसके धारण करनेवाले हैं **च**=और **मुखम्**=प्रतिपादक हैं। वेदों के द्वारा प्रभु ने इन यज्ञों का उपदेश किया है। **कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि।** मैं इस यज्ञ को **वाचा**=वाणी से **श्रोत्रेण**=कानों से व **मनसाः**=मन से **जुहोमि**=आहुत करता हूँ। २. **विश्वकर्मणा**=सब कर्मों को करनेवाले प्रभु से **विततम्**=विस्तृत किये गये **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **यन्तु**=प्राप्त हों और **सुमनस्यमानाः**=सौमनस्य को प्राप्त करनेवाले हों।

भावार्थ—प्रभु ही यज्ञों के प्रदर्शक, धारक व प्रतिपादक हैं। इन यज्ञों को हम वाणी से मन्त्र बोलते हुए, कानों से प्रभु-महिमा को सुनते हुए, हृदय में प्रभु-स्मरण करते हुए करते हैं। वस्तुतः प्रभु द्वारा ही इन यज्ञों का विस्तार हुआ है। हम देव व सौमनस्यवाले बनकर इन यज्ञों में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**स्वराट्त्रिष्टुप्**॥

यज्ञशीलता व आनन्द

ये दे॒वाना॑मृ॒त्विजो॒ ये च॑ य॒ज्ञिया॒ येभ्यो॑ ह॒व्यं क्रि॒यते॑ भा॒ग॒धेय॑म्।
इ॒मं य॒ज्ञं स॒ह पत्नी॑भि॒रेत्य॒ याव॑न्तो दे॒वास्त॑वि॒षा मा॑दयन्ताम्॥ ६॥

१. **ये**=जो **देवानाम्**=देववृत्ति के पुरुषों में **ऋत्विजः**=समय-समय पर यज्ञ करनेवाले हैं, **ये च**=और जो **यज्ञियाः**=यज्ञशीलों में उत्तम हैं, **येभ्यः**=जिनके लिए **हव्यम्**=हव्य ही **भागधेयम् क्रियते**=भाग नियत किया जाता है, अर्थात् जो यज्ञों को ही अपने जीवन में प्रमुख स्थान देते हैं, वे **मादयन्ताम्**=आनन्द का अनुभव करें। २. अतः **यावन्तः देवाः**=जितने भी तुम देव हो वे सब **इमं यज्ञम्**=इस यज्ञ को **पत्नीभिः सह एत्य**=अपने जीवन की संगिनियों के साथ प्राप्त होकर **तविषाः**=शक्तिशाली होते हुए (मादयन्ताम्) आनन्दित होओ।

भावार्थ—हम देववृत्ति के बनकर यज्ञशील हों, यज्ञशीलों में उत्तम बनें, यज्ञ ही हमारा भाग हो—सेव्य वस्तु हो। गृहों में हम सपत्नीक यज्ञों को करते हुए शक्ति को बढ़ाएँ और आनन्दित हों।

५९. [एकोनषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

व्रतपाः-ईड्यः

त्वम॑ग्ने व्रत॒पा अ॑सि दे॒व आ मर्त्ये॒ष्वा। त्वं य॒ज्ञेष्वीड्यः॑॥ १॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **त्वम्**=आप ही **व्रतपाः असि**=व्रतों का रक्षण करनेवाले हैं। आपके अनुग्रह से ही हम अपने यज्ञ आदि उत्तम कर्मों व व्रतों का रक्षण कर पाएँ। आप ही **मर्त्येषु**=इन मरणधर्मा प्राणियों में **आ**=समन्तात् **देवः**=जाठराग्निरूपेण व ज्ञानाग्निरूपेण दीप्त होनेवाले हैं। जाठराग्नि रूपेण दीप्त होकर आप ही 'बल' प्राप्त कराते हैं और ज्ञानाग्निरूपेण दीप्त होने पर आप ही हमारे जीवनों को ज्ञानोज्ज्वल करते हैं। २. आप ही **यज्ञेषु**=सब यज्ञों में, उत्तम कर्मों में, **ईड्यः**=उपासनीय हैं। आपकी कृपा से ही ये सब यज्ञपूर्ण होते हैं और इन यज्ञों के द्वारा ही आपकी वास्तविक अर्चना होती है।

भावार्थ—प्रभु 'व्रतपाः' हैं, 'देव' हैं, 'ईड्य' हैं। प्रभु-कृपा से ही हमारे व्रत पूर्ण होते हैं, प्रभु ही हमारे जीवनों को शक्ति व ज्ञान से द्योतित करते हैं, प्रभु ही यज्ञों के द्वारा उपासनीय हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रभु के अनुग्रह से व्रपालनसामर्थ्य की प्राप्ति

यद्वो वयं प्रमिनाम व्रतानि विदुषां देवा अविदुष्टरासः।
अग्निष्टद्विश्वादा पृणातु विद्वान्त्सोमस्य यो ब्राह्मणाँ आविवेश॥ २॥

१. हे **देवाः**=विद्वानो! **विदुषां वः**=ज्ञानवाले आपके **व्रतानि**=कर्मों को **अविदुष्टरासः**=कर्ममार्ग को अतिशयेन न जानते हुए **वयम्**=हम **यत् प्रमिनाम**=जो हिंसा कर बैठते हैं। हे विद्वानो! 'माता, पिता, आचार्य व अतिथिरूप देवो!' हमें आपके प्रति कुछ कर्त्तव्यकर्म करने होते हैं। अज्ञानवश उन कर्मों में हम ग़लती कर बैठते हैं। २. हमारी प्रार्थना यह है कि **अग्निः**=वह अग्रणी प्रभु **तत् आपृणातु**=उस लुप्तकर्म को पूर्ण करें। प्रभु-कृपा से हमें उस कर्म की अपूर्णता को दूर करने का सामर्थ्य प्राप्त हो। वे प्रभु हमारे इन कर्मों को पूर्ण करें जोकि **विश्वात्**=सम्पूर्ण संसार में गतिवाले हैं (विश्व+अत्)। **सोमस्य विद्वान्**=हमारी सौम्यता को जानते हैं—हमने जानबूझकर अभिमान से व्रतों को तोड़ा हो, ऐसी बात नहीं है। वे प्रभु हमारे इन व्रतों को पूर्ण करें **यः**=जोकि **ब्राह्मणान् आविवेश**=ज्ञानी पुरुषों के हृदयों में आविष्ट होते हैं।

भावार्थ—हम अज्ञानवश 'माता, पिता, आचार्य व अतिथि' आदि के विषय में कर्त्तव्यकर्मों को पूर्ण न कर सकें तो वे प्रभु हमें सामर्थ्य दें कि हम इन्हें पूर्ण कर सकें। वस्तुतः प्रभु-कृपा से ही हम इन्हें पूर्ण कर पाएँगे।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

देवों के मार्ग पर

आ देवानामपि पन्थामगन्म यच्छक्नवाम तदनुप्रवोढुम्।
अग्निर्विद्वान्त्स यजात्स इद्धोता सो ऽध्वरान्त्स ऋतून्कल्पयाति॥ ३॥

१. हम **देवानाम्**=देवों के—ज्ञानियों के **पन्थाम्**=मार्ग को **अपि**=ही **आ आगन्म**=सर्वथा प्राप्त हों। **यत् शक्नवाम**=जिस कर्म को करने में समर्थ हों, **तत्**=उस कर्म को **अनु प्रवोढुम्**=अनुक्रम से वहन करने के लिए विद्वानों के मार्ग का ही अनुसरण करें। शक्ति होने पर भी, ज्ञानियों का संपर्क न होने पर, हम ग़लत कर्म कर बैठेंगे। वे **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **विद्वान्**=ज्ञानी हैं। **सः यजात्**=उनका हमारे साथ संगतिकरण हो। प्रभु के मेल से ही तो हमें सामर्थ्य प्राप्त होगा। **सः इत् होता**=वे प्रभु ही सब-कुछ देनेवाले हैं। **सः**=वे प्रभु ही **अध्वरान्**=यज्ञों को **कल्पयाति**=करते हैं—हमारे माध्यम से प्रभु ही यज्ञों को करते हैं। **सः ऋतून्**=वे प्रभु ही यज्ञों के लिए अवसरों

को देते हैं।

भावार्थ—देवों के मार्ग पर चलते हुए हम शक्ति को यज्ञों की पूर्ति में ही लगाएँ। प्रभु के सम्पर्क में स्थित होकर शक्ति प्राप्त करें। प्रभु को ही यज्ञों का करनेवाला जानें। प्रभु ही यज्ञों के लिए अवसरों को प्राप्त कराते हैं।

६०. [षष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वागादिमन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**पथ्याबृहती** ॥

सशक्त अङ्ग

वाङ् म आसन्नसोः प्राणश्चक्षुरक्ष्णोः श्रोत्रं कर्णयोः।
अपलिताः केशा अशोणा दन्ता बहु बाह्वोर्बलम्॥ १ ॥

१. प्रभु-कृपा से **मे आसन्**=मेरे मुख में **वाक्**=बोलने की शक्ति हो, **नसोः प्राणः**=नासिका-छिद्रों में प्राणशक्ति हो, **अक्ष्णोः**=आँखों में **चक्षुः**=दर्शनशक्ति हो और **कर्णयोः श्रोत्रम्**=कानों में सुनने की शक्ति हो। ३. मेरे **केशाः**=केश **अ-पलिताः**=क्षोभ आदि व जीर्णता से पलित (भूरे-से) न हो जाएँ। **दन्ताः अशोणाः** (शोण गतौ)=दाँत हिल न जाएँ अथवा मलिन होकर रक्त-से वर्ण के न हो जाएँ। मेरी **बाह्वोः**=भुजाओं में **बहु बलम्**=बहुत बल हो।

भावार्थ—मैं सर्वांग व अजीर्ण-शक्ति होता हुआ यज्ञादि उत्तम कर्म करता रहूँ।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**वागादिमन्त्रोक्ताः** ॥ छन्दः—**ककुम्मतीपुरउष्णिक्** ॥

सोत्साह मन

ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्जवः पादयोः प्रतिष्ठा। अरिष्टानि मे सर्वात्मानिभृष्टः॥ २ ॥

१. **ऊर्वो**=मेरे ऊरू प्रदेशों में (Thigh)—घुटने से ऊपर जाँघों में **ओजः**=ओज हो। **जङ्घयोः जवः**=घुटने से नीचे टाँगों में (Shanks) **जवः**=वेग हो। **पादयोः प्रतिष्ठाः**=पाँवों में जमाव (दृढ़ता) हो। २. **मे**=मेरे **सर्वा**=सब अंग **अरिष्टानि**=अहिंसित हों। **आत्मा**=मन भी **अनिभृष्टः** (भृश अधःपतने)=नीचे गिरा हुआ—उत्साहशून्य—न हो। मेरा मन सदा सोत्साह बना रहे। **भृश्यति** (to fall down) मैं कभी निरुत्साहित न हो जाऊँ।

भावार्थ—मेरे ऊरूप्रदेश ओजवाले हों, जाँघें वेगवाली हों, पाँव जमकर पड़ें। सब अंग बड़े ठीक हों और मेरा मन सदा उत्साह से युक्त हो।

६१. [एकषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः** ॥ छन्दः—**विराट्पथ्याबृहती** ॥

पवमानः स्वर्गे

तनूस्तन्वा मे सहे दतः सर्वमायुरशीय। स्योनं मे सीद पुरुः पृणस्व पवमानः स्वर्गे॥ १ ॥

१. हे प्रभो! **मे तनूः**=मेरा शरीर **तन्वा**=शक्तियों के विस्तार से युक्त हो। **दतः** (दन्ताः)=दाँत **सहे**=शत्रुओं का पराभव करनेवाले हों—इन दन्तपंक्तियों में कीड़े न लग जाएँ—दाँत दृढ़ बने रहें और इसप्रकार मैं **सर्वं आयुः**=पूर्ण जीवन को **अशीय**=प्राप्त करूँ। २. हे प्रभो! **स्योनम्**=मेरे सुखसम्पन्न मानस में—प्रसादयुक्त मन में **सीद**=आप आसीन होइए। **पुरुः**=पालन व पूरण करनेवाले **पृणस्व**=हमें पूर्ण कीजिए—हमारी न्यूनताओं को दूर कीजिए। **स्वर्गे**=सुखमयलोक में **पवमानः**=आप हमें पवित्र करनेवाले हों। सुखों में आसक्त होकर हम मार्गभ्रष्ट न हो जाएँ।

भावार्थ—हमारा शरीर शक्तियों के विस्तारवाला हो, दाँत दृढ़ हों ताकि हम पूर्ण जीवन

प्राप्त करें। मेरे प्रसन्न मन में प्रभु का आसन हो, वे मेरी न्यूनताओं को दूर करें और स्वर्ग में स्थित मुझे पवित्र बनाए रखें।

६२. [द्विषष्टितं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सर्वप्रियत्व

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु। प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये॥ १॥

१. हे प्रभो! आप **मा**=मुझे **देवेषु**=ज्ञानी ब्राह्मणों में **प्रियं कृणु**=प्रिय कीजिए। **मा**=मुझे **राजसु**=राज्य की व्यवस्था करनेवाले क्षत्रियवर्ग में **प्रियं कृणु**=प्रिय कीजिए। ज्ञान की रुचिवाला बनकर मैं ब्राह्मणों का प्रिय बनूँ और राष्ट्र के नियमों का पालन करता हुआ इन राजाओं का प्रिय बनूँ। २. मुझे आप **पश्यतः सर्वस्य**=देखनेवाले सबका **प्रियम्** (कृणु)=प्रिय बनाइए। जो मुझे देखे, वह एकदम मेरे प्रति प्रीतिवाला ही बन जाए। मेरे स्वभाव की सरलता व प्रसन्नता मुझे सबका प्रिय बनादे। **उत शूद्रे**=शूद्रों में भी मुझे प्रिय बनाइए, **उत अर्ये**=और वैश्यों में भी मुझे प्रिय बनाइए। किसी मज़दूर को कभी कम मज़दूरी देनेवाला न होऊँ।

भावार्थ—मैं ज्ञानरुचिवाला बनकर ब्राह्मणों का प्रिय बनूँ। राष्ट्र के नियमों का पालन करता हुआ क्षत्रियों का प्रिय बनूँ। शुद्ध व्यवहार द्वारा शूद्रों व वैश्यों का भी प्रिय होऊँ। सरलता व प्रसादमयता से सब देखनेवालों का प्रिय होऊँ।

६३. [त्रिषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**ब्रह्मणस्पतिः**॥ छन्दः—**विराडुपरिष्टाद्बृहती**॥

ब्रह्मणस्पति का कर्तव्य='उद्‌बोधन'

उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान्यज्ञेन बोधय।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं यजमानं च वर्धय॥ १॥

१. हे **ब्रह्मणस्पते**=ज्ञान के रक्षक ज्ञानी ब्राह्मण! **उत्तिष्ठ**=तू उठ खड़ा हो। आलस्य में न पड़ा रह अथवा केवल अपना वेदपाठ ही न करता रह। **यज्ञेन**=(संगतिकरण, दान) प्रजा के लोगों के सम्पर्क से तथा उन्हें ज्ञान देने के द्वारा—इस यज्ञ से **देवान् बोधय**=प्रजाओं में दिव्यवृत्तियों को जागरित कर। उन्हें देव बनाने का यत्न कर। 'प्रजाजनों को उत्तम आचरण की ओर प्रवृत्तिवाला करना' यह ब्राह्मण का सर्वमहान् कर्तव्य है। २. तू ज्ञान देने के द्वारा **आयुः**=आयु को, **प्राणम्**=प्राणशक्ति को, **प्रजाम्**=प्रजाओं—सन्तानों को, **पशून्**=उत्तम गवादि पशुओं को **कीर्तिम्**=यश को, **च**=और **यजमानम्**=यज्ञशील पुरुष को **वर्धय**=बढ़ा। उन बातों का तू ज्ञान दे जिनसे कि आयु आदि की वृद्धि हो।

भावार्थ—ज्ञानी ब्राह्मण राष्ट्र में ज्ञान का प्रचार करता हुआ 'आयु, प्राण' आदि की वृद्धि का कारण बने।

६४. [चतुःषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यज्ञ से 'श्रद्धा व मेधा' की प्राप्ति

अग्ने समिधमाहार्षं बृहते जातवेदसे। स मे श्रद्धां च मेधां च जातवेदाः प्र यच्छतु॥ १॥

१. हे **अग्ने**=यज्ञाग्ने! **बृहते**=वृद्धि की कारणभूत, **जातवेदसे**=सब धनों (वेदस्=wealth)

को उत्पन्न करनेवाले तेरे लिए मैं **समिधम् आहार्षम्**=समिन्धनसाधन काष्ठ को लाया हूँ, अर्थात् मैं इस यज्ञाग्नि की वृद्धि का कारणभूत व सब धनों का जन्मदाता समझकर यज्ञ में प्रवृत्त हुआ हूँ। २. **सः**=वह **जातवेदाः**=धनों का जन्मदाता अग्नि **मे**=मेरे लिए **श्रद्धाम्**=(श्रत्, सत्यं दधाति) सत्यज्ञान को धारण करने की शक्ति को **च**=और **मेधां च**=ज्ञान को समझनेवाली बुद्धि को भी **प्रयच्छतु**=दे। अग्निहोत्र से सब वातावरण की पवित्रता के कारण 'श्रद्धा और मेधा' की प्राप्ति होती ही है।

भावार्थ—हम वृद्धि के कारणभूत, सब धनों के दाता यज्ञाग्नि को अपने घरों में समिद्ध करें। यह मेरे लिए 'श्रद्धा और मेधा' को प्राप्त कराए।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यज्ञ से 'प्रजा व धन' की प्राप्ति

इध्मेन त्वा जातवेदः समिधा वर्धयामसि।
तथा त्वमस्मान्वर्धय प्रजया च धनेन च॥ २॥

१. हे **जातवेदः**=सब धनों के जन्मदाता यज्ञाग्ने! हम **त्वा**=तुझे **इध्मेन**=ईंधन के साधनभूत **समिधा**=काष्ठ से **वर्धयामसि**=बढ़ाते हैं। २. जैसे हम तुझे समिधा से बढ़ाते हैं **तथा**=उसी प्रकार **त्वम्**=तू **अस्मान्**=हमें **प्रजया**=उत्तम सन्तानों से **च**=तथा **धनेन च**=धन से भी **वर्धय**=बढ़ा।

भावार्थ—अग्निहोत्र से उत्तम सन्तान व धन की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

यज्ञाग्नि की प्रियता का सम्पादन

यदग्ने यानि कानि चिदा ते दारूणि दुध्मसि।
सर्वं तदस्तु मे शिवं तज्जुषस्व यविष्ठ्य॥ ३॥

१. हे **अग्ने**=यज्ञाग्ने! **ते**=तेरे लिए **यानि कानि चित् दारूणि**=जिन किन्हीं भी (यज्ञिय व अयज्ञिय) काष्ठों को **यत्**=जब **आदध्मसि**=धारण करते हैं, **सर्वं तत्**=वह सब काष्ठ **मे शिवम्**=मेरे लिए कल्याणकर ही **अस्तु**=हो। जहाँ तक सम्भव होता है वहाँ तक हम यज्ञिय काष्ठों का ही प्रयोग करते हैं, परन्तु विवशता में दूसरे काष्ठों का प्रयोग भी हमारे लिए हानिकर न हो। अग्नि की छेदकशक्ति दोष को दूर करनेवाली हो। २. हे **यविष्ठ्य**=बुराइयों को दूर करनेवालों में सर्वाग्रणी अग्ने! तू **तत्**=उस काष्ठ को **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक ग्रहण कर। विवशता में अयज्ञिय काष्ठ के प्रयोग से हम यज्ञाग्नि के अप्रिय न हो जाएँ।

भावार्थ—हम यज्ञ में यज्ञिय काष्ठों का ही प्रयोग करें। विवशता में अन्य काष्ठों का प्रयोग हमारे लिए हानिकर न हो। (कुछ कम लाभ तो होगा ही)।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'आयुः अमृतत्वम्' आचार्याय

एतास्ते अग्ने समिधस्त्वमिद्धः समिद्भव। आयुरस्मासु धेह्यमृतत्वमाचार्याय॥ ४॥

१. हे **अग्ने**=यज्ञाग्ने! **एताः**=ये **ते**=तेरे लिए **समिधः**=समिधाएँ हैं। **त्वम्**=तू **इद्धः**=प्रज्वलित किया हुआ **समित् भव**=सम्यक् दीप्तिवाला हो (बृहत् शोच)। २. हे समिद्ध अग्ने! **अस्मासु**=हममें **आयुः धेहि**=दीर्घजीवन को धारण कर तथा **अ-मृत त्वम्**=नीरोगता को धारण कर। यह दीर्घजीवन व नीरोगता **आचार्याय**=आचार्य ज्ञान के चरण व सदाचार के ग्रहण के लिए हो। हम इस जीवन को ज्ञान-प्रधान बना पाएँ।

भावार्थ—हम अग्निकुण्ड में यज्ञाग्नि को समिद्ध करें। यह यज्ञाग्नि हमें नीरोगता व दीर्घजीवन दे। यह नीरोग दीर्घजीवन 'ज्ञान व सदाचार' के ग्रहण के लिए हो।

६५. [पञ्चषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**सूर्यो जातवेदाः**॥ छन्दः—**जगती**॥

अर्चिषा-हरसा

हरिः सुपर्णो दिवमारुहोऽर्चिषा ये त्वा दिप्सन्ति दिवमुत्पतन्तम्।
अव तां जहि हरसा जातवेदोऽबिभ्यदुग्रोऽर्चिषा दिवमा रोह सूर्य॥ १॥

१. **हरिः**=ब्रह्मचर्याश्रम में अपने अज्ञानान्धकार का स्वाध्याय द्वारा हरण करनेवाले और पुनः गृहस्थ में **सुपर्णः**=उत्तम पालनादि कर्मों में प्रवृत्त जीव! तू **अर्चिषा**=ज्ञानदीप्ति के द्वारा **दिवम् आरुहः**=द्युलोक का आरोहण कर। पृथिवीलोक से अन्तरिक्षलोक में, अन्तरिक्षलोक से द्युलोक में तथा द्युलोक से तूने प्रकाशमय ब्रह्मलोक में पहुँचना है। २. **दिवम् उत्पतन्तम्**=इस प्रकाशमय लोक की ओर ऊपर उठते हुए **त्वा**=तुझको **ये**=जो काम, क्रोध व लोभरूप शत्रु **दिप्सन्ति**=हिंसित करना चाहते हैं, **तान्**=उनको **हरसा**=तेज के द्वारा **अवजहि**=सुदूर विनष्ट करनेवाला हो। ३. हे **जातवेदः**=वानप्रस्थ में स्वाध्याय में नित्ययुक्त होने से उत्पन्न ज्ञानवाले **सूर्य**=संन्यास में सूर्य के समान ज्ञानदीप्त पुरुष! अब तू **अबिभ्यत्**=निर्भय होकर **उग्रः**=तेजस्वी व शत्रुभयंकर होता हुआ **दिवम् आरोह**=इस प्रकाशमय पद पर आरोहण कर।

भावार्थ—हम 'हरि, सुपर्ण, जातवेदाः व सूर्य' बनते हुए ज्ञानदीप्ति व शत्रुसंहारक तेज से काम आदि का विध्वंस करके प्रकाशमय लोक का आरोहण करें।

६६. [षट्षष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**सूर्यो जातवेदा, वज्रः**॥ छन्दः—**अतिजगती**॥

दुष्टों का दण्डन व प्रजा-रक्षण

अयोजाला असुरा मायिनोऽयस्मयैः पाशैरङ्किनो ये चरन्ति।
तांस्ते रन्धयामि हरसा जातवेदः सहस्रभृष्टिः सपत्नान्प्रमृणन्पाहि वज्रः॥ १॥

१. **अयोजालाः**=लोहे के जालवाले **असुराः**=आसुरवृत्तिवाले **मायिनः**=छली-कपटी **अयस्मयैः पाशैः**=लोहे के बने पाशों के साथ **अङ्किनः**=कुटिल गति करते हुए **ये**=जो **चरन्ति**=राष्ट्र में औरों को पीड़ित करते हुए घूमते हैं, हे **जातवेदः**=सर्वज्ञ प्रभो! **तान्**=उनको **ते**=आपके **हरसा**=तेज से **रन्धयामि**=वशीभूत करता हूँ। राजा, प्रभु का स्मरण करता हुआ—प्रभु से तेज प्राप्त करके, प्रजापीड़क छली, आसुरवृत्ति के लोगों को दण्ड द्वारा वशीभूत करे। २. प्रजा राजा से यही निवेदन करती है कि **सहस्रभृष्टिः**=हज़ारों भालोंवाला **वज्रः**=(व्रजं अस्य अस्ति इति) वज्रहस्त तू **सपत्नान्**=शत्रुओं को **प्रमृणत्**=कुचलता हुआ **पाहि**=प्रजा का रक्षण कर।

भावार्थ—राजा, दुष्टों को दण्डित करता हुआ, प्रजा का रक्षण करे। सुरक्षित प्रजा न्याय्य-मार्ग पर आगे और आगे बढ़े।

६७. [सप्तषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**प्राजापत्यागायत्री**॥

दीर्घ व प्रशस्त जीवन

पश्येम शरदः शतम्॥ १॥ **जीवेम शरदः शतम्॥ २॥**

बुध्येम शरदः शतम्॥ ३॥ रोहेम शरदः शतम्॥ ४॥
पूषेम शरदः शतम्॥ ५॥ भवेम शरदः शतम्॥ ६॥
भूयेम शरदः शतम्॥ ७॥ भूयसीः शरदः शतात्॥ ८॥

१. शतवर्षपर्यन्त हमारी देखने की शक्ति ठीक बनी रहे।

२. शतवर्षपर्यन्त हमारी जीवनशक्ति ठीक बनी रहे।

३. शतवर्षपर्यन्त हमारी बोधशक्ति ठीक (mentally alert) बनी रहे।

४. हम शतवर्षपर्यन्त उत्तरोत्तर प्ररूढ़—प्रबुद्ध होते चलें।

५. हम शतवर्षपर्यन्त उत्तरोत्तर पोषण को प्राप्त करें।

६. हम शतवर्षपर्यन्त बने रहें। हमारी सत्ता विनष्ट न हो जाए। फूलें-फलें (to be prosperous)

७. हम शतवर्षपर्यन्त शुद्ध जीवनवाले हों (to be purified)।

८. सौ वर्ष से अधिक काल तक भी इसीप्रकार हमारी शक्तियाँ स्थिर रहें।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हम शतवर्षपर्यन्त व सौ से अधिक वर्षों तक शक्तियों को स्थिर रखते हुए समृद्ध व पवित्र जीवनवाले हों।

६८. [अष्टषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

'हृदय गुहा' के अन्धकार को दूर करना

अव्यसश्च व्यचसश्च बिलं वि ष्यामि मायया।
ताभ्यामुद्धृत्य वेदमथ कर्माणि कृण्महे॥ १॥

१. **अव्यसः च** (अव्यचसः)=अव्याप्त, परिच्छिन्न जीवात्मा के **व्यचसः च**=और व्याप्त परमात्मा के **बिलम्**=उपलब्धिस्थान हृदय को **मायया**=अज्ञान से **विष्यामि**=विमुक्त (विरहित) करता हूँ। हृदय के अज्ञानावृत होने पर कर्त्तव्याकर्त्तव्य विभाग ही नहीं होता, अतः कार्याकार्य विभाग के ज्ञान के शत्रुभूत इस मूढभाव को दूर करता हूँ। २. **ताभ्याम्**=जीवात्मा व परमात्मा के ज्ञान के हेतु से **वेदम्**=ज्ञान को **उद्धृत्य**=सम्पादित करके **अथ**=अब उस ज्ञान के अनुसार **कर्माणि कृण्महे**=हम अपने कर्त्तव्यकर्मों को करते हैं। ज्ञानपूर्वक कर्म करना ही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है।

भावार्थ—हम अपनी हृदय-गुहा को अज्ञान से मुक्त करके आत्मा व परमात्मा का दर्शन करें। इसी उद्देश्य से ज्ञानपूर्वक कर्मों में व्यापृत रहें।

६९. [एकोनसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**आपः**॥ छन्दः—**१ आसुर्यनुष्टुप्, २ साम्न्यनुष्टुप्, ३ आसुरीगायत्री, ४ साम्न्युष्णिक्**॥

आपः=आप्त लोगों का जीवन

जीवा स्थ जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम्॥ १॥

१. हे **आपः**=आप्तविद्वान् जनो! आप **जीवाः स्थ**=जीवनशक्तिसम्पन्न हो। मैं भी **जीव्यासम्**=जीवनशक्तिसम्पन्न बनूँ। **सर्वम् आयुः जीव्यासम्**=पूर्ण जीवन को जीनेवाला बनूँ।

उपजीवन

उपजीवा स्थोप जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम्॥ २॥

२. हे (आपः) आप्तजनो! आप **उपजीवाः स्थ**=प्रभु के सान्निध्य में जीवन बितानेवाले हो। **उपजीव्यासम्**=मैं भी प्रभु की समीपता में जीवन बिताऊँ। **सर्वम् आयुः जीव्यासम्**=और पूर्ण जीवन प्राप्त करूँ।

संजीवन

संजीवा स्थ सं जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम्॥ ३॥

३. हे (आपः) आप्तजनो! आप **संजीवाः स्थ**=औरों के साथ मिलकर जीनेवाले हो अथवा सम्यक् जीवनवाले हो। एक क्षण को भी आप व्यर्थ नहीं करते। परोपकार में प्रवृत्त हुए-हुए आप जीवन को सम्यक् बिताते हो। **संजीव्यासम्**=मैं भी सबके साथ मिलकर जीनेवाला बनूँ। **सर्वम् आयुः जीव्यासम्**=पूर्ण जीवन को जीनेवाला बनूँ।

जीवन

जीवला स्थ जीव्यासं सर्वमायुर्जीव्यासम्॥ ४॥

४. हे (आपः) आप्तजनो! आप **जीवलाः स्थ**=जीवनशक्ति का उपादान करनेवाले हो, मैं भी **जीव्यासम्**=जीवनशक्ति का उपदान करता हुआ जीऊँ। **सर्वम् आयुः जीव्यासम्**=पूर्ण जीवन जीऊँ।

भावार्थ—हम आप्तजनों की भाँति जीवनशक्तिसम्पन्न बनें। प्रभु के सान्निध्य में जीवन को बिताएँ। सम्यक् जीवनवाले हों। जीवनशक्ति का उपादान करनेवाले हों। इसप्रकार पूर्णजीवन को प्राप्त करें।

७०. [सप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**इन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

इन्द्र, सूर्य, देव

इन्द्र जीव सूर्य जीव देवा जीवा जीव्यासमहम्। सर्वमायुर्जीव्यासम्॥ १॥

१. **इन्द्र**=हे इन्द्रियों के अधिष्ठाता! **जीव**=तू जी, अर्थात् जीवन तो उसी का ठीक है जोकि जितेन्द्रिय है। **सूर्य**=सूर्य के समान ज्ञानदीप्त जीवनवाले पुरुष! **जीव**=तू जी। जीवन तो उसी का ठीक है जोकि अन्धकारशून्य है। **देवाः**=हे देववृत्ति के पुरुषो! **जीवाः**=तुम जीवनवाले हो, अर्थात् वस्तुतः जीवन तो तुम्हारा ही ठीक है। २. **अहम्**=मैं भी **जीव्यासम्**='इन्द्र' बनकर, 'सूर्य' बनकर तथा 'देव' बनकर जीऊँ। **सर्वम् आयुः जीव्यासम्**=मैं पूर्ण जीवन जीनेवाला बनूँ। पूर्णजीवन वही है जिसमें इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्य में ठीक प्रकार लगी हैं, मस्तिष्क ज्ञानसूर्य से दीप्त है, हृदय दिव्यवृत्तियों से द्योतित है।

भावार्थ—हम 'इन्द्र, सूर्य व देव' बनकर पूर्णजीवन प्राप्त करें। इन्द्रियाँ हमारे वश में हों। हमारा मस्तिष्क ज्ञान-सूर्य से चमके। हमारा मन दिव्यवृत्तिवाला हो।

७१. [एकसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**इन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः**॥ छन्दः—**पञ्चपदाऽतिजगती**॥

वरदा वेदमाता

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥ १॥

१. प्रभु कहते हैं कि **मया**=मैंने यह **वरदा**=सब उत्तम पदार्थों को देनेवाली **वेदमाता**=वेदरूप माता तुम्हारे लिए **प्रस्तुता**=प्रस्तुत की है। यह **चोदयन्ताम्**=तुम्हें प्रेरणा देनेवाली हो। यह **द्विजानाम् पावमानी**=द्विजों—अध्ययनशील पुरुषों को पवित्र करनेवाली है। २. यह तुम्हारे लिए **आयुः**=दीर्घजीवन देगी। **प्राणम्**=प्राणशक्ति देगी। **प्रजाम्**=उत्तम सन्तति को प्राप्त कराएगी। **पशुम्**=यह उत्तम गवादि पशुओं को देनेवाली होगी। **कीर्तिम्**=यह तुम्हारे जीवन को यशस्वी करेगी। **द्रविणम्**=यह तुम्हें धन प्राप्त कराएगी और **ब्रह्मवर्चसम्**=ब्रह्मतेज प्राप्त कराएगी। ३. साथ ही यदि तुम इन वस्तुओं का गर्व न करके इन्हें मुझसे दिया हुआ जानोगे और इन्हें मेरे प्रति ही अर्पण करनेवाले होओगे तो इन सब वस्तुओं को **मह्यं दत्त्वा**=मेरे अर्पण करके **ब्रह्मलोकं व्रजत**=तुम ब्रह्मलोक को प्राप्त करो।

भावार्थ—हम वेदमाता की प्रेरणा को सुनकर 'आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्ति, द्रविण व ब्रह्मवर्चस्' को प्राप्त करें। इन सब वस्तुओं का गर्व न करते हुए इन्हें प्रभु-अर्पण करते हुए प्रभु को प्राप्त करनेवाले हों।

७२. [द्विसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**परमात्मा देवाश्च**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

वह ज्ञान का महान् कोश

यस्मात्कोशादुदभराम वेदं तस्मिन्नन्तरव दध्म एनम्।
कृतमिष्टं ब्रह्मणो वीर्येण तेन मा देवास्तपसावतेह॥ १॥

१. **यस्मात् कोशात्**=जिस महान् कोश—ज्ञान के भण्डार से **वेदं उद् अभराम**=हमने वेद का उद्भरण किया था, **तस्मिन् अन्तः**=उसी प्रभु में **एनम् अवदध्म**=इसे स्थापित करते हैं। प्रतिदिन हम प्रभु-स्मरण के साथ वेदाध्ययन करें और समाप्ति पर पुनः प्रभु का स्मरण करनेवाले बनें। २. हमने वस्तुतः **ब्रह्मणः**=उस ब्रह्म के **वीर्येण**=पराक्रम से ही **कृतम्**=सर्व कर्म किया है, **इष्टम्**=उसी के वीर्य से सब यज्ञों का सम्पादन हुआ है। हे **देवाः**=देववृत्ति के पुरुषो! **तेन तपसा**=उस ज्ञानमय तप से **मा**=मुझे **इह**=इस जीवन में **अवत**=रक्षित करो। वेदाध्ययन ही मेरा तप हो। यह तप मेरा रक्षण करे।

भावार्थ—हम प्रतिदिन प्रभु-स्मरण के साथ वेदाध्ययन का आरम्भ करें। समाप्ति पर भी प्रभु-स्मरण करें। वेदज्ञान के अनुसार यज्ञादि कर्मों को करें। यह वेदाध्ययन ही हमारा तप हो। इसके द्वारा हम अपना रक्षण कर पाएँ।

इति पञ्चत्रिंशः प्रपाठकः॥

॥ इत्येकोनविंशं काण्डम्॥

अथ विंशं काण्डम्

अथ षट्त्रिंशः प्रपाठकः

अथर्ववेद के १९वें काण्ड की समाप्ति पर वेद की समाप्ति स्पष्ट झलकती है। प्रभु ने वहाँ कहा कि '**स्तुता मया वरदा वेदमाता प्र चोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्**'=मैंने यह वरदा वेदमाता तुम्हारे सामने प्रस्तुत कर दी है। यह तुम्हें प्रेरणा दे। द्विजों को यह पवित्र करनेवाली हो। '**आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्**' यह तुम्हें आयुष्य आदि सातों रत्नों को प्राप्त कराएगी और '**मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्**' इन सातों रत्नों को मेरे प्रति अर्पण करने पर तुम्हें ब्रह्मलोक की प्राप्ति होगी। इसप्रकार फलश्रुति वेद के अन्त को स्पष्ट कर रही है। स्वयं वेद ही कहता है कि '**यस्मात् कोशादुदभराम वेदं तस्मिन्नन्तरव दध्म एनम्। कृतमिष्टं ब्रह्मणो वीर्येण तेन मा देवास्तपसावतेह**'=जिस कोश से हमने वेद को निकाला था, अध्ययन की समाप्ति पर इसे उसी में धर देते हैं। वेदज्ञान की शक्ति से हमने इष्ट कर्मों को किया। उस तप के द्वारा सब देव यहाँ मेरा रक्षण करें।

इन शब्दों में वेद की समाप्ति स्पष्ट है। फिर यह २० वाँ काण्ड क्या है? इस प्रश्न का उत्तर इसप्रकार दिया जा सकता है कि जैसे एक पिता विदेश-यात्रा पर जानेवाले सन्तान को बहुत कुछ बातें समझाता है। समझाने में आवश्यक बातों पर फिर बल देता है और अन्त में यही कहता है कि पूरा ध्यान करना—मैंने जो आवश्यक था, समझा ही दिया है। इसका ध्यान करने में ही तुम्हारा भला है। अब युवक चल पड़ता है—कदम आगे बढ़ा देता है। उस समय पिता सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात की ओर एक बार फिर ध्यान करा देता है। इसी प्रकार ऋग्वेद द्वारा प्रकृति का ज्ञान दे दिया गया, यजुर्वेद द्वारा कर्त्तव्यों का उपदेश हो गया, जीव का सारा ज्ञान प्राप्त करा दिया गया। साम से प्रभु की उपासना भी हो गई। 'रोगों व युद्धों के आ जाने पर इन विघ्नों का क्या प्रतिकार करना', यह अथर्व द्वारा बतला दिया गया। अब हम जीवन-यात्रा पर चल ही पड़े तो प्रभु ने चलते-चलते एक बार फिर ध्यान कराया कि 'सोम का रक्षण सर्वमहान् कर्त्तव्य है', इसे न भूल जाना। बस यही बीसवाँ काण्ड है। प्रारम्भ करते हैं—

अथ प्रथमोऽनुवाकः

१. [प्रथमं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

विश्वामित्र

इन्द्रं त्वा वृषभं वयं सुते सोमे हवामहे। स पाहि मध्वो अन्धसः ॥ १ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **वयम्**=हम **वृषभं त्वा**=सब सुखों का सेचन करनेवाले आपको **सोमे सुते**=सोम के सम्पादन के निमित्त **हवामहे**=पुकारते हैं। आपका आराधन ही सोम-रक्षण का प्रमुख साधन है। २. **सः**=वे आप **मध्वः**=जीवन को मधुर बनानेवाले **अन्धसः**= इस आध्यातव्य (to be taken care of) सोम का **पाहि**=रक्षण कीजिए। आपकी उपासना करते हुए हम जीवन में वासनाओं का शिकार होने से बचें और सोम का रक्षण कर पाएँ। यह सोमरक्षक पुरुष किसी के प्रति राग-द्वेषवाला नहीं होता—'विश्वामित्र' होता है। यही इस मन्त्र

का ऋषि है।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण करते हुए हम वासनाओं से अनाक्रान्त जीवनवाले और सोम-रक्षण करने के द्वारा विश्वामित्र बनें।

सोम-रक्षण के उद्देश्य से ही यह प्राणसाधना करता हुआ सब इन्द्रियों को निर्दोष बनाता है 'प्राणायामैर्दहेद् दोषान्' निर्दोष इन्द्रियोंवाला यह 'गोतम' कहलाता है—प्रशस्तेन्द्रिय। यह कहता है—

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सुगोपा-तमः (जनः)

मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवो विमहसः। स सुगोपातमो जनः ॥ २ ॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! आप **हि**=निश्चय से **यस्य क्षये**=जिसके शरीररूप गृह में (क्षि निवासे) **पाथा**=सोम का रक्षण करते हो, वहाँ आप **दिवः**=प्रकाशमय होते हो—उस साधक के जीवन को प्रकाशमय बनाते हो और **विमहसः**=उसे विशिष्ट तेजवाला करते हो। २. **सः**=वह दीप्ति व तेज प्राप्त करनेवाला **जनः**=मनुष्य **सुगोपातमः**=अतिशयेन उत्तम रक्षक कहलाता है।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा हम शरीर में सोम का रक्षण करें। यह साधना सोम-रक्षण द्वारा हमें दीप्ति व तेज प्राप्त कराएगी। हम 'सु-गोपा-तम' कहलाएँगे।

यह दीप्तिवाला तेजस्वी पुरुष विशिष्ट रूपवाला होने से 'विरूप' कहलाता है। यह कहता है कि—

ऋषिः—**विरूपः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

उक्षान्नाय वशान्नाय

उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे। स्तोमैर्विधेमाग्नये ॥ ३ ॥

१. 'उक्षा'-(उक्ष सेचने)-शब्द वृष्टिजल से सेचन का कारण होने से द्युलोक (सूर्य) का नाम है तथा 'इयं पृथिवी वै वशा पृश्निः' श० १.८.३.१५। इस शतपथ-वाक्य से वशा पृथिवी का नाम है। हम उस **अग्नये**=अग्रणी प्रभु के लिए **स्तोमैः**=स्तुतिसमूहों से **विधेम**=पूजा करें जोकि **वेधसे**=ज्ञानी हैं। सर्वज्ञ होने से पूर्ण सृष्टि का निर्माण करनेवाले हैं। २. उस प्रभु का पूजन करें जो **उक्षान्नाय वशान्नाय**=सूर्य व पृथिवी के द्वारा हमारे लिए विविध अन्नों को उत्पन्न करते हैं और वस्तुतः हमें इन अन्नों के सेवन की ही प्रेरणा प्राप्त कराते हैं। वे प्रभु **सोमपृष्ठाय**=सोमरूप पृष्ठवाले हैं। सोम ही उनका आधार है। वस्तुतः प्रभु-दर्शन का आधार यह सोम ही बनता है। इस सोम के सुरक्षित होने पर हम उस सोम (प्रभु) को प्राप्त कर पाते हैं।

भावार्थ—यदि हम सूर्य द्वारा वृष्टि-जल-सेचन से पृथिवी में उत्पन्न होनेवाले अन्नों का ही सेवन करेंगे तो शरीर में सोम का रक्षण करते हुए प्रभु को प्राप्त करने के अधिकारी होंगे।

सूचना—इस सूक्त के तीन मन्त्रों में सोम-रक्षण के तीन साधनों का संकेत है—(१) प्रभु की उपासना, (२) प्राणायाम (३) पृथिवी से उत्पन्न अन्नों का सेवन (मांस आदि भोजनों को न करना)।

अगले सूक्त का ऋषि 'गृत्समद' है, जोकि गृणाति=प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करता है, इन स्तोत्रों में ही **माद्यति**=आनन्द का अनुभव करता है। यह निरन्तर मेधा की ओर चलनेवाला 'मेधातिथि' कहलाता है। यह कहता है—

२. [द्वितीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदो मेधातिथिर्वा**॥ देवता—**मरुतः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥

मरुतः (प्राणसाधना)

मरुतः पोत्रात्सुष्टुभः स्वर्कादृतुना सोमं पिबतु॥ १॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **पोत्रात्**=हृदय को पवित्र करने के कर्म के द्वारा **ऋतुना सोमं पिबतु**=ऋतु से सोम का पान करो। समय रहते—युवावस्था में ही सोम के रक्षण का ध्यान होना चाहिए। समय बीत जाने पर ध्यान आया तो उसका वह लाभ न हो सकेगा (प्रथमे वयसि यः शान्तः स शान्त इति कथ्यते। धातुषु क्षीयमाणेषु शमः कस्य न जायते)। २. सोम-रक्षण के लिए आवश्यक है कि हम प्राणसाधना में प्रवृत्त हों। ये प्राण **सुष्टुभः**=(सु+स्तुभ, to stop) वासनाओं के सम्यक् निरोध द्वारा शरीर में सोम-रक्षण का साधन बनेंगे। **स्वर्कात्** (सु अर्क)=(अर्क=a ray of light; Hymn) उत्तम प्रकाश की किरणों के द्वारा अथवा प्रभु-स्तोत्रों के द्वारा ये प्राण सोम का रक्षण करते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से हृदय पवित्र होगा, वासनाओं का निरोध होगा, प्रकाश की किरणों का प्रादुर्भाव होगा (हम ज्ञानरुचि बनेंगे) तथा हमारा झुकाव प्रभु-स्तवन की ओर होगा। इसप्रकार शरीर में सोम का रक्षण हो जाएगा।

ऋषिः—**गृत्समदो मेधातिथिर्वा**॥ देवता—**अग्निः**॥ छन्दः—**विराड्गायत्री**॥

अग्निः (आगे बढ़ने की भावना)

अग्निराग्नीध्रात्सुष्टुभः स्वर्कादृतुना सोमं पिबतु॥ २॥

१. **अग्निः**=(अग्रणी) आगे बढ़ने की प्रवृत्तिवाला व्यक्ति **आग्नीध्रात्**=अग्नि को हृदय में धारण करने के द्वारा (आग्नीध्रं वै अन्तरिक्षम्—श०) अर्थात् हृदयान्तरिक्ष में उस प्रभु को धारण करने के द्वारा अथवा प्रगति की भावना को धारण करने के द्वारा—इस निश्चय के द्वारा कि मैं निरन्तर आगे बढूँगा **ऋतुना सोमं पिबतु**=समय रहते—यौवन में ही सोम का रक्षण करे। २. इस प्रगतिशीलता की भावना के द्वारा **सुष्टुभः**=वासनाओं को सम्यक् रोकने के द्वारा तथा **स्वर्कात्**=उत्तम ज्ञानरश्मियों व प्रभु-पूजन के द्वारा हम सोम का शरीर में रक्षण करें।

भावार्थ—प्रगतिशीलता की भावना हमें हृदय में प्रभु-स्मरण की प्रवृत्तिवाला बनाएगी, अतः वासनाओं से ऊपर उठकर तथा ज्ञान व स्तवन की रुचिवाले बनकर हम सोम का शरीर में रक्षण कर पाएँगे।

ऋषिः—**गृत्समदो मेधातिथिर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**आर्च्युष्णिक्**॥

इन्द्रः ब्रह्मा (जितेन्द्रियता+ज्ञान)

इन्द्रो ब्रह्मा ब्राह्मणात्सुष्टुभः स्वर्कादृतुना सोमं पिबतु॥ ३॥

१. **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय **ब्रह्मा**=ज्ञानी पुरुष **ब्राह्मणात्**=ज्ञान-प्राप्ति के कर्म के द्वारा **ऋतुना**=समय रहते **सोमं पिबतु**=सोम का पान करे। जितेन्द्रिय बनकर सारे खाली समय को ज्ञान-प्राप्ति में लगाना ही सोम-रक्षण का सर्वोत्तम साधन है। २. ज्ञान-प्राप्ति में लगे रहने के द्वारा वह इन्द्र **सुष्टुभः**=वासनाओं के सम्यक् निरोध से तथा **स्वर्कात्**=प्रभु-पूजन से सोम का रक्षण करने में समर्थ होगा।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय व ज्ञानी बनें। ज्ञान-प्राप्ति में लगे रहना हमें वासनाओं के आक्रमण से बचाएगा और प्रभु-पूजन में प्रवृत्त करेगा। यही सोम-रक्षण का मार्ग है।

ऋषिः—**गृत्समदो मेधातिथिर्वा** ॥ देवता—**द्रविणोदाः** ॥ छन्दः—**साम्नीत्रिष्टुप्** ॥

देवः द्रविणोदा! (दानवृत्ति)

देवो द्रविणोदाः पोत्रात्सुष्टुभः स्वर्कादृतुना सोमं पिबतु॥ ४॥

१. **देवः**=सब-कुछ देनेवाला देववृत्ति का पुरुष **द्रविणोदाः**=धनों को देनेवाला बनता है। यह धनों के दान से ही **पोत्रात्**=अपने जीवन को पवित्र बनाने के कर्म के द्वारा **ऋतुना**=समय रहते **सोमं पिबतु**=सोम का पान करे। धन का दान ही हमारे जीवन को पवित्र बनाता है, अन्यथा वह विषय-विलास में मग्न करके हमें विनष्ट कर देता है। २. यह धनों का दान करनेवाला **सुष्टुभः**=वासनाओं को रोकने के द्वारा तथा **स्वर्कात्**=उत्तम ज्ञानरश्मियों व प्रभु-पूजन के द्वारा सोम का रक्षण करे।

भावार्थ—हम देव बनें—धनों का दान करनेवाले हों। अन्यथा ये धन हमें विषयासक्त कर डालेंगे। दान से जीवन को पवित्र बनाकर, वासनाओं के निरोध व प्रभु-पूजन के द्वारा हम सोम को सुरक्षित रक्खें।

सूचना—ऋग्वेद २.३७.१ में पोत्रात् के स्थान में शब्द ही होत्रात् है, अर्थात् धन का तो होत्र=दान ही करना है। दान ही धन की गति का सात्त्विक मार्ग है। 'दानं भोगो नाशस्तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य। यो न ददाति न भुङ्क्ते तस्य तृतीया गतिर्भवति'।

इस सूक्त में सोम-रक्षण के चार साधनों का उल्लेख है (१) प्राणसाधना (मरुतः), (२) आगे बढ़ने की भावना (अग्निः), (३) जितेन्द्रियता व ज्ञान (इन्द्रः, ब्रह्मा), (४) दानशीलता (देवः, द्रविणोदाः)।

अगले सूक्त का ऋषि 'इरिम्बिठिः' है। (इर् to go, बिठम्=अन्तरिक्षम्)—क्रियाशीलता की भावना से युक्त हृदयान्तरिक्षवाला (हृत्सु क्रतम्) सदा क्रियाशील बना रहकर यह पवित्र बना रहता है और सोम का रक्षण कर पाता है। यह प्रार्थना करता है कि—

३. [तृतीयं सूक्तम्]

ऋषिः—**इरिम्बिठिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

हृदयासन पर प्रभु को बिठाना

आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम्। एदं बर्हिः सदो मम॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **आयाहि**=आइए। **ते**=आपकी प्राप्ति के लिए **हि**=ही **सोमं सुषुम**=हमने सोम का सम्पादन किया है। **इमम्**=इस सोम को **पिब**=पीजिए। आपने ही इस सोम को इस शरीर में सुरक्षित करना है। २. **इदम्**=इस **मम**=मेरे **बर्हिः**=हृदयान्तरिक्ष में **आसदः**=आप आसीन होइए। जब प्रभु (महादेव) मेरे हृदय में आसीन होंगे तब वहाँ कामदेव का सम्भव ही न होगा और इसप्रकार सोम का रक्षण क्योंकर न होगा?

भावार्थ—हम हृदय में सदा प्रभु का स्मरण करें। इसप्रकार वासना के आक्रमण से बचकर सोम का रक्षण कर पाएँ।

ऋषिः—**इरिम्बिठिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

ब्रह्मयुजा केशिना (हरी)

आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना। उप ब्रह्माणि नः शृणु॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले प्रभो! **त्वा**=आपको **हरी**=हमारे ये इन्द्रियाश्व **आवहताम्**=

प्राप्त कराएँ। वे इन्द्रियाश्व जोकि **ब्रह्मयुजा**=ज्ञान के साथ मेलवाले हैं और इसप्रकार **केशिना**=प्रकाश की रश्मियोंवाले हैं। २. हे प्रभो! आप हमें **उप**=समीप प्राप्त होइए—हमारे हृदयासन को स्वीकार कीजिए और **नः**=हमसे की जानेवाली **ब्रह्माणि**=ज्ञानपूर्वक उच्चरित स्तुतिवाणियों को **शृणु**=सुनिए।

भावार्थ—हम अपनी इन्द्रियों को यथासम्भव ज्ञानप्राप्ति में लगाएँ। हृदय में प्रभु का ध्यान करें। यही अपने को वासनाओं के आक्रमण से बचाने का मार्ग है।

ऋषिः—**इरिम्बिठिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

योगाभ्यास व यज्ञशीलता

ब्रह्माणस्त्वा वयं युजा सोमपामिन्द्र सोमिनः। सुतावन्तो हवामहे ॥ ३ ॥

१. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं के संहारक प्रभो! **वयम्**=हम **युजा**=योगसमाधि द्वारा—प्राणायाम द्वारा **सोमपाम्**=सोम का रक्षण करनेवाले **त्वा**=आपको **हवामहे**=पुकारते हैं। २. हम **ब्रह्माणः**=ज्ञान की वाणियोंवाले बनने के लिए यत्नशील होते हैं। **सोमिनः**=प्रशस्त सोमवाले बनते हैं—सोम को वासनाओं के आक्रमण से बचाकर पवित्र रखते हैं। **सुतावन्तः**=सोम का सम्पादन करते हैं व (सुव-सव=यज्ञ) यज्ञशील बनते हैं।

भावार्थ—सोम-रक्षण के लिए आवश्यक है कि हम (क) ज्ञानप्रधान बनें, (ख) प्राणायाम का अभ्यास करें, (ग) यज्ञों में—श्रेष्ठतम कर्मों में प्रवृत्त रहें (ब्रह्माणः, युजा, सुतावन्तः)।

अगले सूक्त का ऋषि भी 'इरिम्बिठिः' है—

४. [चतुर्थं सूक्तम्]

ऋषिः—**इरिम्बिठिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

प्रभु-स्तवन

आ नो याहि सुतावतोऽस्माकं सुष्टुतीरुप। पिबा सु शिप्रिन्नन्धसः ॥ १ ॥

१. हे प्रभो! आप **सुतावतः**=सोम का सम्पादन करनेवाले व यज्ञशील **नः**=हमें **आयाहि**=प्राप्त होइए। **अस्माकम्**=हमारी **सुष्टुतीः**=उत्तम स्तुतियों को **उप**=समीपता से प्राप्त होइए। हम हृदयस्थ आपका सदा उत्तम स्तवन करनेवाले बनें। २. हे **सुशिप्रिन्**=उत्तम हनू व नासिकाओं के देनेवाले प्रभो! **अन्धसः**=सोम का **सुपिब**=शरीर में ही सम्यक् पान कीजिए। हम भोजन को सम्यक् चबाते हुए (हनू) तथा प्राणायाम (नासिका) करते हुए सोम को शरीर में ही सुरक्षित कर पाएँ।

भावार्थ—सोम-रक्षण के लिए आवश्यक है कि (१) हम प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाले बनें (२) भोजन को खूब चबाकर खाएँ (३) प्राणायाम के अभ्यासी हों।

ऋषिः—**इरिम्बिठिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

मधुरभाषण

आ ते सिञ्चामि कुक्ष्योरनु गात्रा वि धावतु। गृभाय जिह्वया मधु ॥ २ ॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि मैं इस सोम को **ते कुक्ष्योः**=तेरी कोखों में **आसिञ्चामि**=सींचता हूँ। यह सोम रुधिर में व्याप्त होकर **गात्रा**=तेरे अंग-प्रत्यंग में **अनुविधावतु**=अनुक्रम से गतिवाला हो। उन अंगों में व्याप्त होकर यह शोधन करे (धावु गतिशुद्ध्योः)। २. इस सोम के सर्वत्र व्याप्त होने पर तू **जिह्वया**=जिह्वा से **मधु गृभाय**=मधु का ग्रहण कर, अर्थात् तू सदा मधुरभाषणवाला हो। सोम-रक्षण से सारी क्रियाओं में ही माधुर्य का व्यापन होता है, वाणी भी मधुर बनती है।

भावार्थ—प्रभु ने सोम को शरीर में इसलिए उत्पन्न किया है कि यह सब अंगों को शुद्ध

बनानेवाला हो। शरीर में सुरक्षित सोम सब रोगकृमियों का संहारक होता है। वाणी को भी यह मधुर बनाता है।

ऋषिः—**इरिम्बिठिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

आनन्द-माधुर्य-शान्ति

स्वादुष्टे अस्तु संसुदे मधुमान्तन्वे३ तव। सोमः शमस्तु ते हृदे॥ ३॥

१. **संसुदे**=उत्तम दानशील **ते**=तेरे लिए यह सोम **स्वादुः अस्तु**=जीवन को मधुर बनानेवाला हो। **तव तन्वे**=तेरे शरीर के लिए **मधुमान्**=प्रशस्त माधुर्यवाला हो। जब व्यक्ति कर्मशील बनता है तब भोगासक्ति से ऊपर उठता है। भोगों से ऊपर उठा हुआ यह जीवन को मधुर बना पाता है—इसके शरीर के सब अंगों की क्रियाएँ माधुर्य को लिये हुए होती हैं। २. **सोमः**=शरीर में सुरक्षित यह सोम **ते हृदे शम् अस्तु**=तेरे हृदय के लिए शान्ति देनेवाला हो। सोमी पुरुष के हृदय में राग-द्वेष क्षोभ पैदा करनेवाले नहीं होते—यह राग-द्वेष से शून्य जीवनवाला बनता है।

भावार्थ—सोम-रक्षण द्वारा हमारा जीवन आनन्दमय हो, व्यवहार मधुर हो तथा हृदय शान्ति से युक्त हो।

अगले सूक्त का ऋषि भी 'इरिम्बिठिः' ही है—

५. [पञ्चमं सूक्तम्]

ऋषिः—**इरिम्बिठिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

जनीः इव

अयमु त्वा विचर्षणे जनीरिवाभि संवृतः। प्र सोम इन्द्र सर्पतु॥ १॥

१. हे **विचर्षणे**=विशेषरूप से देखनेवाले (नि० ३.११), अर्थात् सब पदार्थों को ठीक रूप में देखनेवाले, अतएव भोगों में न फँसनेवाले **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **अयम्**=यह **सोमः**=सोम **उ**=निश्चय से **त्वा प्रसर्पतु**=तुझे प्राप्त हो। २. यह **अभिसंवृताः**=सब ओर से सुरक्षित (संवृत) सोम तुझे ऐसे प्राप्त हो **इव**=जैसेकि **जनीः**=पत्नी पति को प्राप्त होती है। पत्नी पति की अर्धांगिनी बन जाती है। यह सोम भी तेरा अंग बन जाए—तुझसे पृथक् न हो। यह तेरे जीवन का आवश्यक अंश ही हो जाए। पत्नी के बिना जैसे पति का जीवन अधूरा है, उसी प्रकार सोम के बिना इन्द्र (जितेन्द्रिय पुरुष) का जीवन अधूरा है।

भावार्थ—सोम, संसार के विषयों की वास्तविकता को जाननेवाले जितेन्द्रिय पुरुष के जीवन का अंग ही बन जाए। उसी प्रकार जैसेकि पत्नी पति का अंग ही हो जाती है।

ऋषिः—**इरिम्बिठिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

तुविग्रीवः सुबाहुः

तुविग्रीवो वपोदरः सुबाहुरन्धसो मदे। इन्द्रो वृत्राणि जिघ्नते॥ २॥

१. **अन्धसः**=शरीर में सुरक्षित सोम के **मदे**=उल्लास में **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **वृत्राणि**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को **जिघ्नते**=विनष्ट करता है। वासनाओं के विनाश के द्वारा यह अपने ज्ञान को दीप्त कर पाता है। २. इस सोम के मद में ही यह **तुविग्रीवः**=शक्तिशाली गरदनवाला बनता है—निर्बलता से इसकी गरदन झुक नहीं जाती। **वपोदरः**=यह सोम को अपने उदर में ही बोनेवाला होता है। जैसे बीज भूमि में बोया जाता है—वह भूमि में सुरक्षित होता है, इसी प्रकार सोम इसके उदर में सुरक्षित होता है। **सुबाहुः**=सुरक्षित सोम से यह उत्तम भुजाओंवाला होता है—इसकी भुजाएँ शक्तिशाली बनती हैं।

भावार्थ—सोम के सुरक्षित होने पर—वपोदर बनने पर यह शक्तिशाली गरदनवाला और सबल भुजाओंवाला होता है। यह सब वासनाओं को विनष्ट करनेवाला होता है।

ऋषिः—**इरिम्बिठिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

प्रभु-स्मरण-शक्ति—वासनाविनाश

इन्द्र प्रेहि पुरस्त्वं विश्वस्येशान ओजसा। वृत्राणि वृत्रहञ्जहि॥ ३॥

१. हे **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **पुरः प्रेहि**=सदा हमारे सामने होइए। हम आपको कभी भूल न जाएँ। आप **ओजसा**=ओज के द्वारा **विश्वस्य**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के **ईशानः**=ईशान हैं। २. हे **वृत्रहन्**=हमारे ज्ञान की आवरणाभूत वासना को विनष्ट करनेवाले प्रभो! आप **वृत्राणि जहि**=वासनाओं को विनष्ट कीजिए। आपका स्मरण हमें वासनाओं से बचानेवाला हो।

भावार्थ—हम सदा प्रभु का स्मरण करें—प्रभु को भूले नहीं। यह प्रभु-स्मरण हमें शक्ति देगा और हमारी वासनाओं को विनष्ट करेगा।

ऋषिः—**इरिम्बिठिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

प्रभु का दीर्घ अंकुश

दीर्घस्ते अस्त्वङ्कुशो येना वसु प्रयच्छसि। यजमानाय सुन्वते॥ ४॥

१. हे प्रभो! **ते अंकुशः**=आपका नियमन (restraint, check) **दीर्घः अस्तु**=विशाल हो। हम आपकी प्रेरणा से नियमित जीवनवाले होकर ही जीवन को बिताएँ। **येन**=जिस नियमन के द्वारा आप **वसु**=सब वसुओं को—निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों को **प्रयच्छसि**=हमारे लिए देते हैं। २. **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए और **सुन्वते**=अपने शरीर में सोम का अभिषव करनेवाले पुरुष के लिए आप वसुओं को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु के द्वारा नियमन में चलते हुए हम यज्ञशील सोम का रक्षण करनेवाले बनें। यही वसुओं की प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—**इरिम्बिठिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

प्रभु-स्मरण व सोम-रक्षण

अयं त इन्द्र सोमो निपूतो अधि बर्हिषि। एहीमस्य द्रवा पिब॥ ५॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रु-विद्रावक प्रभो! **अयं सोमः**=यह सोम **ते**=आपकी प्राप्ति के लिए **निपूतः**=निश्चय से पवित्र किया गया है। आप **बर्हिषि अधि**=इस हृदयान्तरिक्ष में हमें **एहि**=प्राप्त होइए। सोम-रक्षण ही प्रभु-प्राप्ति का साधन है। २. **ईम्**=निश्चय से **द्रव**=आप हमारी ओर आइए—हमें प्राप्त होइए और **अस्य पिब**=इस सोम का पान कीजिए। वस्तुतः प्रभु ने ही वासना-विनाश द्वारा इस सोम का रक्षण करना है।

भावार्थ—हम हृदय में प्रभु का स्मरण करें—प्रभु हमारी वासनाओं का विनाश करेंगे और सोम का रक्षण करेंगे।

ऋषिः—**इरिम्बिठिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

आखण्डल

शाचिगो शाचिपूजनायं रणाय ते सुतः। आखण्डल प्र हूयसे॥ ६॥

१. **शाचिगो**=शक्तिशाली इन्द्रियों को प्राप्त करानेवाले! **शाचिपूजन**=शक्ति देनेवाला है पूजन

जिसका, ऐसे प्रभो! **अयं सोमः**=यह सोम **ते रणाय**=आपके रमण के लिए **सुतः**=सम्पादित हुआ है। इस सोम का रक्षण होने पर ही हमारे हृदयों में प्रभु का प्रकाश हुआ करता है। २. हे **आखण्डल**=समन्तात् (आ) शत्रुओं के भेदन को (खण्ड) प्राप्त करानेवाले (ल) प्रभो! **प्रहूयसे**=आप हमसे पुकारे जाते हैं। वस्तुतः आपने ही वासनारूप शत्रुओं को छिन्न करके हमारे शरीरों में सोम का रक्षण करना है। इस सुरक्षित सोम से ही सब इन्द्रियाँ शक्तिशाली बनेंगी।

भावार्थ—प्रभु-पूजन से शक्ति प्राप्त होती है—सब इन्द्रियाँ सशक्त बनती हैं। प्रभु हमारे वासनारूप शत्रुओं का विनाश करते हैं और सोम-रक्षण होने पर हम प्रभु-दर्शन कर पाते हैं।

ऋषिः—**इरिम्बिठिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

शृङ्गवृषः

यस्ते शृङ्गवृषो नपात्प्रणपात्कुण्डपाय्यः। न्य [स्मिन्दध्र आ मनः ॥ ७ ॥

१. हे प्रभो! **यः**=जो **ते**=आपका—आपसे उत्पादित किया गया यह सोम है, वह **शृङ्गवृषः**=(वृष=धर्म) हमें धर्म के शिखर पर ले-जानेवाला है—सोम-रक्षण से उन्नत होते हुए हम धर्म के शिखर पर पहुँचते हैं। यह **नपात्**=हमें न गिरने देनेवाला है। इससे सब शक्तियाँ सुरक्षित रहती हैं। **प्र-णपात्**=यह हमें प्रकर्षेण न गिरने देनेवाला है—हमें उत्कृष्ट व्यवहारोंवाला बनाता है। **कुण्डपाय्यः**=(कुडि दाहे) वासनाओं के दहन (विनाश) के द्वारा शरीर में पीने के योग्य है। २. हे प्रभो! मैं **अस्मिन्**=इस सोम में ही—सोम के रक्षण में ही **मनः**=मन को **नि आदध्रे**=निश्चय से धारण करता हूँ। मन में सोम-रक्षण के लिए दृढ़ निश्चय करता हूँ। इसके रक्षण के लिए ही सब उपायों का अवलम्बन करता हूँ।

भावार्थ—सुरक्षित सोम हमें (१) धर्म के शिखर पर ले-जाता है (२) इससे शक्तियाँ सुरक्षित रहती हैं, (३) यह हमारे व्यवहारों को मधुर बनाता है। वासनाओं के विनाश से ही यह शरीर में सुरक्षित करने के योग्य है। हम मन को इसके रक्षण में ही लगाएँ।

यह धर्म के शिखर पर पहुँचनेवाला व्यक्ति 'विश्वामित्र' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

६. [षष्ठं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

विश्वामित्र

इन्द्रं त्वा वृषभं वयं सुते सोमे हवामहे। स पाहि मध्वो अन्धसः ॥ १ ॥

यह मन्त्र २०.१.१ पर व्याख्यात है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

क्रतुविदं, तातृपिम्

इन्द्रं क्रतुविदं सुतं सोमं हर्य पुरुष्टुत। पिबा वृषस्व तातृपिम् ॥ २ ॥

१. **इन्द्र**=हे जितेन्द्रिय पुरुष! तू **क्रतुविदम्**=शक्ति व ज्ञान के प्राप्त करानेवाले (विद् लाभे) **सुतम्**='रस-रुधिर-मांस-अस्थि-मज्जा-मेदस् व वीर्य' इस क्रम से पैदा किये गये **सोमम्**=सोम (वीर्य) को **हर्य**=चाहनेवाला बन। २. हे **पुरुष्टुत**=(पुरु ष्टुतं यस्य) खूब ही स्तवन करनेवाले जीव! तू **तातृपिम्**=तृप्ति देनेवाले इस सोम को **पिब**=पीनेवाला बन और **वृषस्व**= शक्तिशाली की तरह आचरण कर—शक्तिशाली बन।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम शक्ति व ज्ञान को प्राप्त कराता है, एक अद्भुत तृप्ति का

अनुभव कराता है। हम जितेन्द्रिय व प्रभु-स्तोता बनकर इसका शरीर में ही रक्षण करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'धितावानं' यज्ञम्

इन्द्र प्र णो धितावानं यज्ञं विश्वैभिर्देवेभिः। तिर स्तवान विश्पते॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् देवसम्राट्! **विश्पते**=सब प्रजाओं के पालक! **स्तवान**=स्तुति किये जाते हुए प्रभो! आप **नः**=हमारे **यज्ञम्**=इस जीवन-यज्ञ को **विश्वेभिः देवेभिः**=सब देवों के द्वारा **प्रतिर**=बढ़ाइए, जोकि **धितावानम्**=सोम के धारणवाला है। वस्तुतः इस सोम के धारण ने ही हमारे जीवन को दिव्यगुणयुक्त व दीर्घ बनाना है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन करते हुए हम इस जीवन-यज्ञ को दिव्यगुणसम्पन्न बनाएँ। इसे सोम-रक्षण द्वारा खूब दीर्घकाल तक चलनेवाला करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

चन्द्रः, इन्दवः

इन्द्र सोमाः सुता इमे तव प्र यन्ति सत्पते। क्षयं चन्द्रास इन्दवः॥ ४॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **इमे**=ये **सुताः**=उत्पन्न हुए-हुए **सोमाः**=सोमकण **तव क्षयम्**=तेरे शरीर-गृह को **प्रयन्ति**=प्राप्त होते हैं—शरीर में ही इनकी स्थिति होती है। २. हे **सत्पते**=सब अच्छाइयों का अपने में रक्षण करनेवाले जीव! सुरक्षित सोमकण **चन्द्रासः**=(चदि आह्लादे) जीवन को आनन्दमय बनानेवाले हैं और **इन्दवः**=ये इसे शक्तिशाली बनाते हैं।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनकर सोमकणों का रक्षण करें। ये हमारे जीवन में सब अच्छाइयों का रक्षण करते हुए हमें आनन्दमय व शक्तिशाली बनाएँगे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

द्युक्षासः, इन्दवः

दधिष्वा जठरे सुतं सोममिन्द्र वरेण्यम्। तव द्युक्षास इन्दवः॥ ५॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **सुतम्**=शरीर में उत्पन्न किये गये **वरेण्यम्**=वरणीय **सोमम्**=इस सोम को **जठरे**=अपने जठर में ही—अपने ही अन्दर-**दधिष्व**=धारण कर। २. ये सोमकण **तव**=तेरी **द्युक्षासः**=ज्ञान-ज्योति में निवास का कारण बनेंगे (द्यु+क्षि) और **इन्दवः**=तुझे शक्तिशाली बनाएँगे।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम शक्ति व ज्ञान-वृद्धि का कारण बनता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'मधुर व यशस्वी' जीवन

गिर्वणः पाहि नः सुतं मधोर्धाराभिरज्यसे। इन्द्र त्वादातमिद्यशः॥ ६॥

१. हे **गिर्वणः**=ज्ञानपूर्वक उच्चरित स्तुतिवाणियों से सम्माननीय प्रभो! **नः**=हमारे **सुतम्**=उत्पन्न हुए-हुए सोम को **पाहि**=आप रक्षित कीजिए। आपका स्तवन ही इस सोम के रक्षण का साधन बनता है। हे प्रभो! आप **मधोः धाराभिः**=मधु की धाराओं से—माधुर्य के धारण से **अज्यसे**=जाये जाते हैं—प्राप्त किये जाते हैं। माधुर्य को धारण करके ही हम आपको प्राप्त होते हैं। २. हे **इन्द्र**= परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यशः**=यश **इत्**=निश्चय से **त्वादातम्**=आपसे ही दिया गया है। जहाँ-जहाँ जो कुछ विभूति, श्री व ऊर्ज् है वह सब आपके द्वारा ही स्थापित किया

गया है। आपका स्तवन सोम-रक्षण द्वारा मुझे भी यशस्वी बनाएगा।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन करते हुए हम सोम-रक्षण द्वारा जीवन को मधुर व यशस्वी बना पाएँगे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सोम-रक्षण व प्रभु-प्राप्ति

अभि द्युम्नानि वनिन इन्द्रं सचन्ते अक्षिता। पीत्वी सोमस्य वावृधे॥ ७॥

१. **वनिनः**=सम्भजनशील उपासक **अक्षिता द्युम्नानि अभि**=न क्षीण होनेवाली ज्ञान-ज्योतियों की ओर चलते हैं। ज्ञान की ओर चलते हुए ये **इन्द्रं सचन्ते**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को प्राप्त करते हैं। २. यह उपासक **सोमस्य पीत्वी**=शरीर में उत्पन्न सोम का रक्षण करता हुआ **वावृधे**=निरन्तर वृद्धि को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम सोम-रक्षण द्वारा ज्ञानाग्नि को दीप्त करके, ज्ञानवृद्धि करते हुए प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

अर्वावतः, परावतः

अर्वावतो न आ गहि परावतश्च वृत्रहन्। इमा जुषस्व नो गिरः॥ ८॥

१. हे **वृत्रहन्**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को विनष्ट करनेवाले प्रभो! आप **अर्वावतः**=समीप के प्रदेश के हेतु से—इहलोक के हेतु से, अर्थात् अभ्युदय के हेतु से **नः**=हमें **आगहि**=प्राप्त होइए **च**=और **परावतः**=दूर देश के हेतु से—परलोक के हेतु से, अर्थात् निःश्रेयस के हेतु से हमें प्राप्त होइए। आपने ही हमें 'अभ्युदय व निःश्रेयस' प्राप्त कराना है। २. आप **इमाः**=इन **नः**=हमारी—हमसे की गई **गिरः**=स्तुतिवाणियों को **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन कीजिए। हमारे द्वारा की गई स्तुतिवाणियाँ हमें आपका प्रिय बनाएँ। वस्तुतः इनसे ही प्रेरणा लेकर हमें जीवन में आगे बढ़ना है और आपके अनुरूप बनने का प्रयत्न करना है।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन करें। प्रभु वासना-विनाश के द्वारा हमें 'अभ्युदय व निःश्रेयस' प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

हृदय में प्रभु का दर्शन

यदन्तरा परावतमर्वावतं च हूयसे। इन्द्रेह तत आ गहि॥ ९॥

१. 'परावत्' शब्द दूर देश के लिए आता है—यहाँ पर द्युलोक का संकेत करता है। 'अर्वावत्' समीप देश के लिए आता है—यहाँ यह पृथिवी का संकेत कर रहा है। इन दोनों के अन्तरा=बीच में अन्तरिक्षलोक है। हमारे जीवनों में (अध्यात्म में) मस्तिष्क द्युलोक है, शरीर पृथिवीलोक है। इन दोनों के बीच में हृदय अन्तरिक्षलोक है। हे प्रभो! **यत्**=जब भी **परावतम् अर्वावतं च**=द्युलोक व पृथिवीलोक के **अन्तरा**=बीच में—अन्तरिक्ष में—हृदयान्तरिक्ष में आप **हूयसे**=पुकारे जाते हैं तब हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं के विद्रावक प्रभो! आप **ततः**=तब **इह आगहि**=हमें यहाँ प्राप्त होइए। २. हृदय में प्रभु का ध्यान करने पर प्रभु हमें प्राप्त होते ही हैं।

भावार्थ—हम हृदय में प्रभु का ध्यान करें। यही हमारा प्रभु के साथ मिलकर बैठने का स्थान (सध-स्थ) है।

प्रभु-प्राप्ति के दृढ़ व उत्तम निश्चयवाला यह 'सु-कक्ष' बनता है, जिसने प्रभु-प्राप्ति के

लिए दृढ़ निश्चय कर लिया है—कमर कस ली है। यही अगले सूक्त का ऋषि है। अन्ततः (चतुर्थ मन्त्र में) यह 'विश्वामित्र' बनता है।

७. [सप्तमं सूक्तम्]

ऋषिः—**सुकक्षः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

प्रभु-प्राप्ति का मार्ग

उद्घेद॒भि श्रु॒ताम॑घं वृष॒भं नर्या॑पसम्। अस्ता॑रमेषि सूर्य॥ १ ॥

१. हे **सूर्य**=सूर्य के समान देदीप्यमान प्रभो! आप **घा इत्**=निश्चय से उस व्यक्ति का **अभि**=लक्ष्य करके **उदेषि**=उदित होते हो—उसके हृदयाकाश में प्रकाशित होते हो जोकि **श्रुतामघम्**=ज्ञान के ऐश्वर्यवाला है तथा **वृषभम्**=शक्तिशाली है। प्रभु उसी को प्राप्त होते हैं जो अपने में ज्ञान और शक्ति का समन्वय करता है। २. हे प्रभो! आप उसे प्राप्त होते हो जो **नर्यापसम्**=लोकहितकारी कर्मों में प्रवृत्त होता है और **अस्तारम्**=वासनारूप शत्रुओं को अपने से दूर फेंकता है (असु क्षेपणे)।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति उसे होती है जो (क) ज्ञान का ऐश्वर्य प्राप्त करता है, (ख) शक्तिशाली बनता है, (ग) लोकहितकर कर्मों में प्रवृत्त होता है, (घ) वासनाओं को अपने से दूर करता है।

ऋषिः—**सुकक्षः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

वृत्रहा

नव॒ यो न॑व॒तिं पुरो॑ बि॒भेद॑ बा॒ह्वो॑जसा। अहिं॑ च वृत्र॒हाव॑धीत्॥ २ ॥

१. **यः**=जो **वृत्रहा**=ज्ञान की आवरणभूत कामवासना को विनष्ट करनेवाला है वह **बाहु+ओजसा**=अपनी भुजाओं के बल से—सदा उत्तम कर्म से लगे रहने के द्वारा **नवनवतिं पुरः**=असुरों की निन्यानवे पुरियों का **बिभेद**=विदारण करता है। हमारे जीवन में आसुरभाव उत्पन्न होते हैं। वे दृढ़मूल होते जाते हैं। मानो वे अपने दुर्ग बना लेते हैं। सतत क्रियाशीलता के द्वारा हम सौ वर्ष के आयुष्य में निन्यानवे बार इनका विदारण करते हैं और प्रत्येक वर्ष को सुन्दर बनाने का प्रयत्न करते हैं। २. **च**=और यह **वृत्रहा अहिम् (आहन्तारम्)**=सब प्रकार से विनष्ट करनेवाले इस वासनारूप शत्रु को **अवधीत्**=मार डालता है।

भावार्थ—क्रियाशीलता के द्वारा हम वासनाओं को अपने जीवन में दृढ़मूल न होने दें।

ऋषिः—**सुकक्षः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

शिवः सखा

स न॒ इन्द्रः॑ शि॒वः सखाश्वा॑व॒द्गोम॒द्यव॑मत्। उ॒रुधा॑रेव दोहते॥ ३ ॥

१. **सः**=वह **इन्द्रः**=शत्रुओं का द्रावण करनेवाला प्रभु **नः**=हमारा **शिवः सखा**=कल्याणकर मित्र है। प्रभु ही सर्वमहान् मित्र हैं। २. ये प्रभु **उरुधारा इव**=विशाल दुग्ध धाराओंवाली कामधेनु के समान हमारे लिए उस ऐश्वर्य को **दोहते**=प्रपूरण करते हैं, जोकि **अश्वावत्**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाला है, **गोमत्**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाला है तथा **यवमत्**=बुराइयों को दूर करनेवाला व अच्छाइयों को हमारे साथ मिलानेवाला है (यु मिश्रणामिश्रणयोः)।

भावार्थ—प्रभु हमारे कल्याणकर मित्र हैं। वे हमारे लिए उत्तम ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को प्राप्त कराके हमारे जीवन से बुराइयों को दूर करते हैं तथा अच्छाइयों को हमारे साथ संगत करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'क्रतुवित्' सोम

इन्द्र क्रतुविदं सुतं सोमं हर्य पुरुष्टुत। पिबा वृषस्व तातृपिम्॥ ४॥

इस मन्त्र की व्याख्या २०.६.२ पर द्रष्टव्य है।

अपने जीवन में सोम का भरण करके यह 'भरद्वाज' बनता है—अपने में शक्ति भरनेवाला। यह बुराइयों का संहार करनेवाला 'कुत्सः' होता है तथा सबका मित्र 'विश्वामित्र' बनता है। अगले सूक्त के मन्त्रों के क्रमशः ये ही ऋषि हैं—

८. [अष्टमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ज्ञानसूर्य का आविर्भाव

एवा पाहि प्रत्नथा मन्दतु त्वा श्रुधि ब्रह्म वावृधस्वोत गीर्भिः।
आविः सूर्यं कृणुहि पीपिहीषो जहि शत्रूँरभि गा इन्द्र तृन्धि॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **प्रत्नथा एव**=सदा की भाँति ही आप **पाहि**=हमारा रक्षण कीजिए, अथवा हमारे शरीर में सोम का रक्षण कीजिए। **त्वा मन्दतु**=यह उपासक आपका स्तवन करे। आप **ब्रह्म**=उससे की जानेवाली स्तुतियों को **श्रुधि**=सुनिए, **उत**=और **गीर्भिः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **वावृधस्व**=उसके अन्दर खूब ही बढ़िए, अर्थात् वह उपासक ज्ञान-प्राप्ति में लगा हुआ, अधिकाधिक आपके प्रकाश को हृदय में देखे। २. हे प्रभो! आप **सूर्यम्**=ज्ञान के सूर्य को उसके मस्तिष्करूप गगन में **आविः कृणुहि**=प्रकट कीजिए। **इषः पीपिहि**=प्रेरणाओं को बढ़ाइए, अर्थात् यह उपासक सदा आपकी प्रेरणा के अनुसार कार्यों को करनेवाला हो। **शत्रून् पीपिहि**=इस उपासक के वासनारूप शत्रुओं को आप विनष्ट कीजिए तथा **गाः**=इन्द्रियों को **अभितृन्धि**=(to set free) वासनाओं के आवरण से मुक्त कीजिए।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन करें। ज्ञान-प्राप्ति में लगकर प्रभु के प्रकाश को अपने में अधिकाधिक देखने का प्रयत्न करें। प्रभु-कृपा से हमारा ज्ञान बढ़े। हम हृदयों में प्रभु-प्रेरणा को सुनें, वासनारूप शत्रुओं को विनष्ट करें और दीप्त इन्द्रियोंवाले बनें।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'सोम-काम' प्रभु

अर्वाङेहि सोमकामं त्वाहुरयं सुतस्तस्य पिबा मदाय।
उरुव्यचा जठर आ वृषस्व पितेव नः शृणुहि हूयमानः॥ २॥

१. हे प्रभो! आप **अर्वाङ् एहि**=हमें अन्दर हृदयों में प्राप्त होइए। **सोमकामं त्वा**=आपको सोम की कामनाओंवाला **आहुः**=कहते हैं—आपकी कामना यही है कि उपासक सोम का सम्पादन करे। **अयं सुतः**=यह सोम शरीर में उत्पन्न किया गया है। **तस्य पिब**=उसका आप शरीर में ही पान कीजिए और **मदाय**=हमारे उल्लास के लिए होइए। २. **उरुव्यचाः**=अनन्त विस्तारवाले—सर्वव्यापक आप **जठरे आवृषस्व**=हमारे जठर में ही—शरीर के मध्य में ही सोम का सेचन कीजिए। **हूयमानः**=पुकारे जाते हुए आप **पिता इव**=पिता की भाँति **नः शृणुहि**=हमारी प्रार्थना को सुनिए। हमारी पुकार व्यर्थ न जाए।

भावार्थ—प्रभु को वही व्यक्ति प्रिय है, जो शरीर में सोम का रक्षण करता है। सोम-रक्षण

भी प्रभु के अनुग्रह से ही होता है। हम सदा उस रक्षक प्रभु को ही पिता जानें, उसी की आराधना करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

कलश की आपूर्णता

आपूर्णो अस्य कलशः स्वाहा सेक्तेव कोशं सिसिचे पिबध्यै।
समु प्रिया आववृत्रन्मदाय प्रदक्षिणिदभि सोमास इन्द्रम्॥ ३॥

१. **अस्य**=इस जितेन्द्रिय पुरुष का **कलशः**=(कलाः शेरते अस्मिन्) 'प्राण' आदि १६ कलाओं से युक्त यह शरीर-कलश **आपूर्णा**=सब दृष्टिकोणों से पूर्ण होता है। **स्वाहा**=यह (सु+आह) सदा उत्तम स्तुतिशब्दों को बोलनेवाला होता है। यह **सेक्ता इव**=सेचन करनेवाले के समान **कोशं सिसिचे**=अन्नमय आदि कोशों से बने इस शरीर को सोम से सिक्त करता है। **पिबध्यै**=यह इन सोमकणों को पीने के लिए होता है—इनको शरीर में ही व्याप्त करनेवाला होता है। २. **उ**=निश्चय से **इन्द्रम्**=इस जितेन्द्रिय पुरुष को **प्रियाः सोमासः**=प्रीति के जनक ये सोम-कण **मदायः**=जीवन में आनन्द व उल्लास के लिए **प्रदक्षिणित्**=प्रदाक्षिण्य से—ठीक प्रकार **सम्**=सम्यक् **अभि**=आभिमुख्येन **आववृत्रन्**=व्याप्त करते हैं। सोमकण इसके शरीर में ही व्याप्त होते हैं।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनें। प्रभु के स्तुतिशब्दों का उच्चारण करते हुए सोम को शरीर में सुरक्षित करें। यह सोम ही पूर्णता व प्रसन्नता का साधन है।

सोम-रक्षण द्वारा आपूर्ण कलशवाला यह व्यक्ति 'नोधा' (नव-धा) प्रभु-स्तवन का धारण करनेवाला (नु स्तुतौ) तथा शरीर के नौ द्वारों (इन्द्रियों) को धारण करनेवाला (अष्टाचक्रा नवद्वारा०) होता है। यह मेध्य (पवित्र) प्रभु को अपना अतिथि बनाता है—उसी का पूजन करता है, अतः 'मेध्यातिथि' है। यह 'नोधा' व 'मेध्यतिथि' ही क्रमशः अगले सूक्त के ऋषि हैं—

९. [नवमं सूक्तम्]

ऋषिः—**नोधाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)**॥

दस्मम् ऋतीषहम्

तं वो दस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः।
अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे॥ १॥

१. **तम्**=उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **गीर्भिः**=स्तुतिवाणियों से **नवामहे**=स्तुत करते हैं, जो **वः दस्मम्**=तुम्हारे दर्शनीय व दुःखों के दूर करनेवाले हैं। **ऋतीषहम्**=आर्ति (पीड़ा) के अभिभविता व नाशक हैं तथा **वसोः**=निवास के कारणभूत **अन्धसः**=सोम के द्वारा **मन्दानम्**=आनन्दित करनेवाले हैं। २. **स्वसरेषु**=(स्वः आदित्यः एनान् सारयति=अहानि) दिनों में—दिन के निकलने पर **न**=जैसे **धेनवः**=गौवें **वत्सम् अभि**=वत्स का लक्ष्य करके 'हम्मारव' करती हैं। उसी प्रकार हम प्रभु का स्तवन करते हैं। यह प्रभु-स्तवन ही हमारे सब कष्टों को दूर करेगा और हमें सोम-रक्षण द्वारा आनन्दित करेगा।

भावार्थ—हम प्रतिदिन प्रातः-सायं प्रभु का स्मरण करें। यह स्मरण ही पीड़ाहर व सोम-रक्षण द्वारा प्रसन्नता का प्रापक है।

ऋषिः—**नोधाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतःप्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)** ॥

'क्षुमन्तं, शतिनं, गोमन्तं' वाजम्

द्युक्षं सुदानुं तविषीभिरावृतं गिरिं न पुरुभोजसम्।
क्षुमन्तं वाजं शतिनं सहस्त्रिणं मक्षू गोमन्तमीमहे॥ २॥

१. **द्युक्षम्**=दीप्त—ज्ञानदीप्ति में निवास करनेवाले, **सुदानुम्**=सम्यक् वासनाओं का खण्डन करनेवाले (दाप् लवने), **तविषीभिः आवृतम्**=बलों से आवृत—सर्वशक्तिमान्, **गिरिं न**=जो उपदेष्टा आचार्य के समान हैं (गृणाति), **पुरुभोजसम्**=खूब ही पालन व पोषण करनेवाले प्रभु से **वाजम्**=(wealth) ऐश्वर्य की **मक्षू ईमहे**=शीघ्र याचना करते हैं। २. उस ऐश्वर्य की याचना करते हैं जो **क्षुमन्तम्**=स्तुतिवाला है—जो हमें प्रभु-स्तवन से पृथक् नहीं करता, **शतिनम्**= हमें शतवर्ष के आयुष्य को प्राप्त करता है **सहस्त्रिणम्**=जो हज़ारों प्राणियों का पोषण करता है तथा **गोमन्तम्**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाला है। जो ऐश्वर्य हमें वासनासक्त करके क्षीण इन्द्रियशक्तिवाला नहीं कर देता।

भावार्थ—प्रभु से हमें वह-वह ऐश्वर्य प्राप्त हो, जो हमें प्रभु-जैसा बनने में सहायक हो। हम इस धन से विषयासक्त न होकर लोकहित में प्रवृत्त हुए-हुए दीर्घजीवी व प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाले बनें।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)** ॥

सुवीर्यं+ब्रह्म

तत्त्वा यामि सुवीर्यं तद् ब्रह्म पूर्वचित्तये।
येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविथ॥ ३॥

१. हे प्रभो! मैं **त्वा**=आपसे **तत्**=उस **सुवीर्यम्**=उत्कृष्ट पराक्रम को **यामि**=माँगता हूँ तथा **तत् ब्रह्म**=उस ज्ञान को माँगता हूँ, जो **पूर्वचित्तये**=पालन व पूरण की साधनाभूत स्मृति के लिए होता है। इस बल व ज्ञान को प्राप्त करके मैं अपने स्वरूप व मानव-जीवन के लक्ष्य को भूल न जाऊँ। २. **येन**=जिस बल व ज्ञान के द्वारा **यतिभ्यः**=संयमी पुरुषों के लिए और **भृगवे**=तपः परिपक्व पुरुषों के लिए (भ्रस्ज् पाके) **हिते धने**=हितकर धन के होने पर आप **येन**=जिस धन से **प्रस्कण्वमाविथ**=मेधावी पुरुष का रक्षण करते हैं। इस बल व ज्ञान से आप संयमी व तपस्वी लोगों को हितकर धन में स्थापित करते हैं और मेधावी पुरुष का रक्षण करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु से बल व ज्ञान प्राप्त करके अपने स्वरूप व लक्ष्य का स्मरण करें। संयमी व तपस्वी बनकर हितकर धन को प्राप्त हों। मेधावी बनकर प्रभु से रक्षणीय हो। धन हमारे विनाश का कारण न बन जाए।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)** ॥

प्रभु की अनन्त महिमा

येना समुद्रमसृजो महीरपस्तदिन्द्र वृष्णि ते शवः।
सद्यः सो अस्य महिमा न संनशे यं क्षोणीरनुचक्रदे॥ ४॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **येन**=जिस अपने महान् सामर्थ्य से आप **समुद्रम् असृजः**=समुद्र का सर्जन करते हैं, जिस सामर्थ्य से आप इन **महीः अपः**=अनन्त-से विस्तारवाले जलों का निर्माण करते हैं अथवा पृथिवियों व जलों का निर्माण करते हैं। **ते**=आपका **तत् शवः**=वह बल

वृष्णि=हमपर सुखों का सेचन व वर्षण करनेवाला है। २. **अस्य**=इस प्रभु की **सः**=वह **महिमा**=महिमा व सामर्थ्य **सद्यः**=शीघ्र **न संनशे**=औरों से व्याप्त नहीं की जा सकती। वह महिमा, **यम्**=जिसको **क्षोणीः**=पृथिवीस्थ प्राणिसमूह **अनुचक्रदे**=उद्घोषित करता है।

भावार्थ—समुद्रों में व महान् जलों में प्रभु की महिमा का प्रकाश होता है। प्रभु की महिमा का कोई भी व्यापन नहीं कर सकता। सब प्राणी प्रभु की महिमा का उद्घोष करते हैं।

१०. [दशमं सूक्तम्]

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतःप्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)**॥

स्तवन+ज्ञान

उदु त्ये मधुमत्तमा गिर स्तोमास ईरते।
सत्राजितो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रथाइव॥ १॥

१. **उ**=निश्चय से **त्ये**=वे **मधुमत्तमाः**=जीवन को अतिशयेन मधुर बनानेवाली **स्तोमासः**=स्तुति-समूह **उदीरते**=उद्गत होते हैं। इसी प्रकार **गिरः**=ज्ञान की वाणियाँ उच्चरित होती हैं। ये स्तुति-वाणियाँ व ज्ञान की वाणियाँ हमारे जीवनों को अतिशयेन मधुर बनाती हैं। २. ये स्तोम **सत्राजितः**=(सह एव) एक साथ ही शत्रुओं को जीतनेवाले हैं। **धनसाः**=धनों को प्रदान करनेवाले हैं। **अक्षित+ऊतयः**=अक्षीण रक्षणोंवाले हैं। **वाजयन्तः**=ये हमें शक्तिशाली बनानेवाले हैं और **रथाः इव**=ये स्तोम जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए रथ के समान हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन व ज्ञान के द्वारा जीवन को मधुर, विजयी, ऐश्वर्यसम्पन्न, सुरक्षित व शक्तिशाली बनाएँ। ये स्तवन व ज्ञान की वाणियाँ हमारे जीवन में रथ का काम देंगी—हमें लक्ष्य स्थान पर पहुँचाएँगी।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)**॥

कण्व+सूर्य=भृगु, प्रियमेध+आयु

कण्वाइव भृगवः सूर्याइव विश्वमिद्धीतमानशुः।
इन्द्रं स्तोमेभिर्महयन्त आयवः प्रियमेधासो अस्वरन्॥ २॥

१. **कण्वाः इव**=मेधावी पुरुषों के समान तथा **सूर्याः इव**=सूर्यसम तेजस्वी व सूर्य के समान निरन्तर क्रियाशील **भृगवः**=तप की अग्नि में अपने को परिपक्व करनेवाले लोग **विश्वम्**=उस सर्वव्यापक (सर्वत्र विशति) **धीतम्**=ध्यान किये गये प्रभु को **इत्**=ही **आनशुः**=स्तोत्रों से प्राप्त करते हैं। २. **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **स्तोमेभिः**=स्तुति-समूहों से **महयन्तः**=पूजते हुए **आयवः**=गतिशील **प्रियमेधासः**=बुद्धि-प्रिय मनुष्य **अस्वरन्**=स्तुतिशब्दों का उच्चारण करते हैं। यह स्तवन ही उन्हें बुद्धिप्रिय व गतिशील बनाता है।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन करते हुए मेधावी व क्रियाशील बनें। यही सच्ची तपस्या है। कण्व व प्रियमेध बनें, सूर्य व आयु बनें। यही भृगु बनने का मार्ग है। भृगु ही प्रभु को प्राप्त करता है।

यह उपासक सबका हित करनेवाला 'विश्वामित्र' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

११. [एकादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'शत्रु-संहारक' इन्द्र

इन्द्रः पूर्भिदातिरद्दासमर्कैर्विदद्वसुर्दयमानो वि शत्रून्।
ब्रह्मजूतस्तन्वा वावृधानो भूरिदात्र आपृणद्रोदसी उभे॥ १॥

१. **इन्द्रः**=शत्रुओं का द्रावण करनेवाला प्रभु **पूर्भित्**=असुर पुरियों का विदारण करता है। यह **अर्कैः**=प्रकाश की रश्मियों द्वारा **दासम्**=विनाशक काम को (कामदेव) को **आतिरत्**=हमें पार कराता है (संतारयति)। **विदद्वसुः**=सब वसुओं को प्राप्त करानेवाला प्रभु **शत्रून्**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं को **विदयमानः**=विशेषरूप से हिंसित करता है। २. **ब्रह्मजूतः**=स्तोत्रों के द्वारा हमारे हृदयों में अभिवृद्ध हुआ-हुआ, **तन्वावृधानः**=शक्तियों के विस्तार से हमारा वर्धन करता हुआ, **भूरिदात्रः**=पालक व पोषक धनों को देनेवाला प्रभु **उभे रोदसी**=दोनों द्यावापृथिवी को **आपृणत्**=व्याप्त किये हुए है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु प्रकाश की रश्मियों द्वारा हमारे शत्रुओं का विनाश करेंगे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

मख+तविष

मखस्य ते तविषस्य प्र जूतिमियर्मि वाचममृताय भूषन्।
इन्द्र क्षितीनामसि मानुषीणां विशां दैवीनामुत पूर्वयावा॥ २॥

१. **अमृताय भूषन्**=अमृतत्व के लिए अपने को अलंकृत करने के हेतु से (हेतौ शतृ-प्रत्ययः) मैं, हे प्रभो! **मखस्य**=यज्ञरूप **तविषस्य**=अतिशयित बल-सम्पन्न **ते**=आपकी **वाचम्**=स्तुतिवाणी को **प्र इयर्मि**=प्रकर्षेण प्रेरित करता हूँ। यह स्तुतिवाणी **जूतिम्**=प्रेरयित्री है, तुझे उस-उस गुण को धारण करने के लिए प्रेरणा देनेवाली है। इस स्तुतिवाणी से मैं भी आपके समान 'मख व तविष' बनता हुआ अमृतत्व को प्राप्त करता हूँ। २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **मानुषीणां क्षितीनाम्**=विचारशील—पितृयाणमार्ग से जानेवाली मानव-प्रजाओं के **उत**=और **दैवीनाम् विशाम्**=देवयानमार्ग से जानेवाली प्रजाओं के **पूर्वयावा असि**=पहले जानेवाले (पुरोगन्ता) मार्गदर्शक हैं। हृदयस्थरूपेण आप ही इन्हें प्रेरणा देकर मार्गभ्रष्ट होने से बचाते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन करें। इस स्तवन से प्रेरणा प्राप्त करके प्रभु की भाँति ही यज्ञशील व शक्तिसम्पन्न बनें। यही अमृतत्व की ओर प्रगति का मार्ग है। प्रभु हमारे पुरोगन्ता हों, प्रभु से प्रेरणा प्राप्त करके मार्ग पर चलते हुए हम मार्गभ्रष्ट न हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

शर्धनीति—वर्पणीति

इन्द्रो वृत्रमवृणोच्छर्धनीतिः प्र मायिनाममिनाद्वर्पणीतिः।
अहन्व्यंसमुशधग्वनेष्वाविर्धेना अकृणोद्राम्याणाम्॥ ३॥

१. **शर्धनीतिः**=शत्रु-हिंसक बल को प्राप्त करानेवाला **इन्द्रः**=शत्रु-द्रावक प्रभु **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को **अवृणोत्**=रोक देता है। यह **वर्पणीतिः**=तेजस्वीरूप को प्राप्त करानेवाला प्रभु **मायिनाम्**=मायावाले आसुरभावों को **प्र अमिनात्**=प्रकर्षेण हिंसित करता है। प्रभु

का उपासक माया का शिकार नहीं होता। ४. यह **उशधक्**=युद्ध की कामनावाले शत्रुओं का दाहक प्रभु **वनेषु**=उपासकों में वृत्र को **वि अंसम्**=विगत स्कन्ध करके **अहन्**=नष्ट कर डालता है। इसप्रकार वासना को विनष्ट करके **राम्याणाम्**=प्रभु में रमण करनेवाले उपासकों के हृदयों में **धेनाः**=ज्ञान की वाणियों को **आविः अकृणोत्**=प्रकट करता है।

भावार्थ—प्रभु उपासकों को शत्रुसंहारक व तेजस्वी बनानेवाला बल प्राप्त कराते हैं। इनकी वासनाओं को विनष्ट करके इनके हृदयों में ज्ञान की वाणियों को प्रकट करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

स्वर्षाः अभिष्टिः

इन्द्रः स्वर्षा जनयन्नहानि जिगायोशिग्भिः पृतना अभिष्टिः।
प्रारोचयन्मनवे केतुमह्नामविन्दज्ज्योतिर्बृहते रणाय॥ ४॥

१. **स्वर्षाः**=स्वर्ग को प्राप्त करानेवाला **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **अभिष्टिः**=शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाला है। यह **अहानि जनयन्**=प्रकाशमय दिनों को प्रादुर्भूत करता हुआ—अज्ञानान्धकारमयी रात्रियों को दूर करता हुआ **उशिग्भिः**=युद्ध की कामनावाले आसुरभावों से युद्ध करके **पृतनाः**=शत्रु-सैन्यों को **जिगाय**=जीतता है। २. प्रभु **मनवे**=विचारशील पुरुष के लिए **अह्नाम्**=दिनों के **केतुम्**=प्रज्ञापक सूर्य को **प्रारोचयत्**=आकाश में दीप्त करते हैं—मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञानसूर्य को उदित करते हैं और **बृहते रणाय**=महान् रमणके लिए—मोक्षसुख में विचरने के लिए **ज्योतिः**=ज्ञानज्योति को **अविन्दत्**=प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही उपासकों के हृदयों में प्रकाश करते हुए वासनान्धकार को विनष्ट करते हैं। विचारशील पुरुषों के हृदयों में ज्ञानज्योति को दीप्त करके उन्हें मोक्षसुख प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वासना-विनाश व बुद्धिदीपन

इन्द्रस्तुजो बर्हणा आ विवेश नृवद्दधानो नर्या पुरूणि।
अचेतयद्धिय इमा जरित्रे प्रेमं वर्णमतिरच्छुक्रमासाम्॥ ५॥

१. **इन्द्रः**=शत्रुओं का विद्रावक प्रभु **बर्हणाः**=अभिवृद्ध—बढ़ी हुई **तुजः**=हिंसक शत्रुसेनाओं में **आविवेश**=ऐसे प्रविष्ट होते हैं, **नृवत्**=जैसकि एक सेनानी शत्रु-सेनाओं में युद्ध के लिए प्रवेश करता है, अर्थात् प्रभु ही हमारे शत्रुओं का विनाश करते हैं। ये प्रभु **पुरूणि**=बहुत **नर्या**=नरहितकारी कार्यों को **दधानः**=धारण करते हैं। २. ये प्रभु **जरित्रे**=स्तोता के लिए **इमाः धियः**=इन बुद्धियों को **अचेतयत्**=चेतनायुक्त करते हैं तथा **आसाम्**=इनके **इमं शुक्रं वर्णम्**=दीप्त रूप को **प्रातिरत्**=बढ़ाते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे काम-क्रोध आदि शत्रुओं का संहार करते हैं और हमारी बुद्धियों को चेताते हुए उन्हें दीप्तरूप बनाते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वृजन से वृजिन का संपोषण

महो महानि पनयन्त्यस्येन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि।
वृजनेन वृजिनान्त्सं पिपेष मायाभिर्दस्यूँरभिभूत्योजाः॥ ६॥

१. **अस्य**=इस **महः**=महान्—गुणों से प्रवृद्ध **इन्द्रस्य**=शक्तिशाली कर्मों के करनेवाले प्रभु के

महानि=महान् **सुकृता**=सुष्ठु सम्पादित **पुरुणि**=पालक व पूरक **कर्म**=कर्मों को **पनयन्ति**=स्तोता लोग स्तुत करते हैं। प्रभु के महान् कर्म सचमुच स्तुति के योग्य हैं। २. प्रभु **वृजनेन**=शत्रुओं के आवर्जक बल से (विनाशक बल से) **वृजिनान्**=पापरूप असुरों को **संपिपेष**=सम्यक् चूर्ण कर देते हैं। **अभिभूत्योजाः**=शत्रुओं का अभिभव करनेवाले बल से युक्त वे प्रभु **मायाभिः**=अपनी शक्तियों व प्रज्ञानों से **दस्यून्**=विनाशक शत्रुओं को (दसु उपक्षये) पीस डालते हैं।

भावार्थ—प्रभु के कर्म महान् व हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं। प्रभु बल से आसुर-भावों को पीस डालते हैं, प्राज्ञानों द्वारा दस्युओं का विनाश कर देते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

युधा देवेभ्यः वरिवः चकार

युधेन्द्रो मह्ना वरिवश्चकार देवेभ्यः सत्पतिश्चर्षणिप्राः।
विवस्वतः सदने अस्य तानि विप्रा उक्थेभिः कवयो गृणन्ति ॥ ७ ॥

१. **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **युधा**=युद्ध के द्वारा आसुरवृत्तियों को युद्ध में विनष्ट करने के द्वारा **मह्ना**=अपनी महिमा से **देवेभ्यः**=देववृत्तिवाले पुरुषों के लिए **वरिवः**=वरणीय धन को **चकार**=सम्पादित करते हैं। प्रभु **सत्पतिः**=सज्जनों के रक्षक हैं। **चर्षणिप्राः**=श्रमशील मनुष्यों की कामनाओं को (प्रा पूरणे) पूर्ण करनेवाले हैं। २. **विवस्वतः**=विशेषेण अग्निहोत्र आदि कर्मों के लिए निवास करते हुए यजमान के **सदने**=घर में **विप्राः**=मेधावी **कवयः**=क्रान्तप्रज्ञ ज्ञानी पुरुष **अस्य**=इस इन्द्र के **तानि**=उन प्रसिद्ध वृत्रवध आदि कर्मों को **उक्थेभिः**=स्तोत्रों के द्वारा **गृणन्ति**=उच्चरित करते हैं। ये ज्ञानी यज्ञशील पुरुषों के गृह में सम्मिलित होकर प्रभु के गुणों का गायन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु आसुरवृत्तियों को विनष्ट करके देवों के लिए वरणीय धन प्राप्त कराते हैं। यज्ञशील पुरुष के घर में एकत्र होकर ज्ञानी लोग प्रभु की महिमा का गायन करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

धीरणासः इन्द्रम् अनुमदन्ति

सत्रासाहं वरेण्यं सहोदां ससवांसं स्व१रपश्च देवीः।
ससान यः पृथिवीं द्यामुतेमामिन्द्रं मदन्त्यनु धीरणासः ॥ ८ ॥

१. **धीरणासः**=(धीषु रमणं येषाम्) ज्ञानपूर्वक कर्मों में रमण करनेवाले स्तोता लोग **इन्द्रम् अनुमदन्ति**=उस आनन्दमय प्रभु के अनुभव के अनुपात में आनन्द का अनुभव करते हैं। जितना-जितना उन्हें प्रभु का साक्षात् होता है, उतना-उतना आनन्द की अनुभूति प्राप्त करते हैं। ये उस प्रभु को अपने हृदयों में हर्षित करते हैं जोकि **सत्रासाहम्**=एक प्रयत्न से ही सब शत्रु- सेनाओं का अभिभव करनेवाले हैं, **वरेण्यम्**=अतएव वरणीय हैं। **सहोदाम्**=हमें शत्रुमर्षक बल प्राप्त करानेवाले हैं। **स्वः**=प्रकाश को **च**=तथा **देवीः अपः**=दिव्य कर्मों को **ससवांसम्**=प्राप्त करानेवाले हैं। प्रभु का उपासक सदा प्रकाश व दिव्य कर्मों को प्राप्त करता है। प्रभु से ज्ञान प्राप्त करके यह सदा उत्तम कर्मों को करनेवाला होता है। २. उस इन्द्र का ये अनुमदन करते हैं **यः**=जोकि **पृथिवीम्**=पृथिवी को—विस्तृत अन्तरिक्ष को **द्याम्**=द्युलोक को **उत**=और **इमाम्**= इस पृथिवी को **ससान**=मनुष्यों के लिए देता है।

भावार्थ—प्रभु हमें शत्रु-मर्षक बल प्राप्त कराते हैं, प्रकाश व दिव्य कर्मों को प्राप्त कराते हैं। प्रभु हमारे लिए त्रिलोकी को देते हैं—मस्तिष्क, हृदय व स्थूलशरीर को प्राप्त कराते हैं। इस

प्रभु का हम बुद्धिपूर्वक कर्मों द्वारा स्तवन करते हुए आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

दस्युहनन+आर्यरक्षण

सुसानात्याँ उत सूर्यं ससानेन्द्रः ससान पुरुभोजसं गाम्।
हिरण्ययमुत भोगं ससान हत्वी दस्यून्प्रार्यं वर्णमावत्॥ ९ ॥

१. **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **अत्यान्**=अतन (गति) के योग्य—गति के साधनभूत—अश्वों को (तुरग-गज-उष्ट्र आदि वाहनों को) **ससान**=प्राणियों के व्यवहार के लिए देते हैं। **उत**=और **सूर्यम्**=सबके प्रकाशक सूर्य को **ससान**=देते हैं। वे प्रभु **पुरुभोजसम्**=प्राणियों का खूब ही पालन करनेवाली—दूध-दही आदि अनेक भोगसाधनों को प्राप्त करानेवाली **गाम्**=गौ को **ससान**=देते हैं २. **उत**=और **हिरण्ययम्**=हिरण्य-विकारात्मक **भोगम्**=भोगसाधन कटक-मुकुट आदि को **ससान**=वे प्रभु देते हैं। वे प्रभु जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए सब साधनों को उपस्थित करके **दस्यून् हत्वी**=मार्ग में विघातकरूप से प्राप्त होनेवाले दस्युओं (चोर, डाकुओं) को समाप्त करके **आर्यं वर्णम्**=आर्य वर्ण को **प्रावत्**=रक्षित करते हैं—श्रेष्ठ कर्मों में निरत पुरुषों का प्रभु रक्षण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु जीवन-यात्रा के लिए आवश्यक सब साधनों को प्राप्त कराते हैं और मार्ग में विघ्नरूप से उपस्थित होनेवाले दस्युओं का विनाश करके श्रेष्ठ लोगों का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'वल, विवाच् व अभिक्रतु' का निराकरण

इन्द्र ओषधीरसनोदहानि वनस्पतीँरसनोदन्तरिक्षम्।
बिभेद वलं नुनुदे विवाचोऽथाभवद्दमिताभिक्रतूनाम्॥ १० ॥

१. **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **ओषधीः**=व्रीहि-यव आदि ओषधियों को **असनोत्**=प्राणियों के उपभोग के लिए देते हैं तथा **अहानि**=कार्यों को कर सकने के लिए प्रकाशमय दिनों को प्राप्त कराते हैं। **वनस्पतीन् असनोत्**=आम्र-वट आदि वनस्पतियों को प्राप्त कराते हैं और **अन्तरिक्षम्**=गमनागमन की सुविधा के लिए आकाश को देते हैं। २. हमारे जीवन-मार्ग में अज्ञानान्धकार के आवरणरूप **वलम्**=वलासुर को **बिभेद**=विदीर्ण करते हैं। **विवाचः**=विरुद्ध=प्रतिकूल वाणीवाले लोगों को भी **नुनुदे**=हमसे दूर निराकृत करते हैं। **अथ**=अब **अभिक्रतूनाम्**=अभिचार यज्ञरूप शास्त्रविरुद्ध कर्मों के करनेवालों के **दमिता अभवत्**=दमन करनेवाले होते हैं। एवं, ये 'वल, विवाच् व अभिक्रतु' हमारी जीवन-यात्रा में विघ्न नहीं कर पाते। इसप्रकार प्रभु प्राणियों की इष्ट-प्राप्ति व अनिष्टपरिहार करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु सब ओषधि-वनस्पति आदि पदार्थों को प्राप्त कराते हैं। अज्ञान के आवरण को दूर करते हैं। विरुद्धवाणी व विरुद्ध कर्मोंवाले लोगों को हमसे पृथक् करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

भरे नृतमम्, समत्सु वृत्राणि घ्नन्तम्

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन्भरे नृतमं वाजसातौ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम्॥ ११ ॥

१. **शुनम्**=आनन्दमय व सुखकर उस **मघवानम्**=ऐश्वर्यशाली **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् प्रभु को **अस्मिन् भरे**=इस जीवन-संग्राम में **हुवेम**=पुकारते हैं। **वाजसातौ** (वाजस्य सातिर्यस्मिन्)=शक्ति

प्राप्त करानेवाले इस संग्राम में वे प्रभु **नृतमम्**=हमारे उत्कृष्ट नेता हैं। वस्तुतः संघर्ष में ही शक्ति है। २. **शृण्वन्तम्**=हमारे आह्वान को सुननेवाले, **उग्रम्**=उद्गूर्ण बलवाले उस प्रभु को **समत्सु**=संग्रामों में **ऊतये**=रक्षण के लिए पुकारते हैं, जो प्रभु **वृत्राणि घ्नन्तम्**=ज्ञान के आवरक शत्रुओं को विनष्ट करनेवाले हैं और **धनानां सञ्जितम्**=ज्ञानैश्वर्यों का विजय करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम संग्राम में सदा विजय प्राप्त करानेवाले प्रभु को पुकारते हैं। प्रभु शत्रुओं को विनष्ट करके हमें ऐश्वर्यशाली बनाते हैं।

सब शत्रुओं को वश में करनेवाले व निवास को उत्तम बनानेवाले 'वसिष्ठ' अगले सूक्त के ऋषि हैं। सातवें मन्त्र में ये 'अत्रि' हो जाते हैं—जिसमें 'काम-क्रोध-लोभ' तीनों का अभाव है—

१२. [द्वादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु-स्तवन व ज्ञान-वृद्धि

उदु ब्रह्माण्यैरत श्रवस्येन्द्रं समर्ये महया वसिष्ठ।
आ यो विश्वानि शवसा ततानोपश्रोता म ईवतो वचांसि॥ १॥

१. हे उपासको! तुम **श्रवस्या**=ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा से **ब्रह्माणि**=स्तुतिमन्त्रों का—स्तोत्रों का **उ**=निश्चय से **उत् ऐरत**=उच्चारण करो। हे **वसिष्ठ**=अपने जीवन को उत्तम बनानेवाले यजमान! तू **समर्ये** (मर्या=मर्यादा)=मर्यादायुक्त यज्ञों में, सभाओं में (सह मर्या यत्र) **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **महय**=पूज, समाजों में व्यक्तिपूजन न होकर केवल प्रभु पूजन होगा तो मनुष्यों का परस्पर विरोध न होकर प्रेम बढ़ेगा। व्यक्तिपूजा से भेदभाव बढ़ता है। २. **यः**=जो इन्द्र **शवसा**=बल के द्वारा **विश्वानि**=सब भूतों को **आततान**=विस्तृत करते हैं, वह इन्द्र **ईवतः**=(गच्छतः) क्रियाशील—यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में लगे हुए **मे**=मेरे **वचांसि**=स्तुतिरूप वाक्यों को **उपश्रोता**=समीपता से सुननेवाले होते हैं। प्रभु अकर्मण्य की बात को तो सुनते ही नहीं। 'पूर्ण पुरुषार्थ' के उपरान्त ही तो प्रार्थना ठीक है। ये स्तुतिवचन ही वस्तुतः मुझे पवित्र और ज्ञान-प्राप्ति के योग्य बनाते हैं।

भावार्थ—मैं प्रभु का स्तवन करूँ, जीवन-यज्ञ में प्रभु का पूजन करूँ। प्रभु मुझे बल देंगे और मेरे ज्ञान की वृद्धि करनेवाले होंगे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

देवजामिः घोषः

अयामि घोष इन्द्र देवजामिरिरज्यन्त यच्छुरुधो विवाचि।
नहि स्वमायुश्चिकिते जनेषु तानीदंहांस्यति पर्ष्यस्मान्॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत्**=जब **देवजामिः**=दिव्य गुण हैं बन्धु जिसके, अर्थात् जो दिव्यगुणों को जन्म देनेवाला है, वह **घोषः**=स्तोत्र—स्तुतिवचन **अयामि**=(अकारि) हमसे नियमितरूप से किया गया है तब इस **विवाचि**=विशिष्ट स्तुति-वाणीवाले यजमान में **शुरुधः**=(शुचं रुन्धन्ति) शोक-निवर्तक व स्वर्गफलक तत्त्व **इरज्यन्त**=परस्पर स्पर्धावाले होते हैं। एक-से-एक बढ़कर ये तत्त्व उसके शोक को रोकते हैं और सुख को बढ़ाते हैं। २. हे प्रभो! **जनेषु**=लोगों में **स्वमायुः**=अपनी आयु **नहि चिकिते**=नहीं जानी जाती। पता नहीं कब अन्त आ जाए, अतः आप शीघ्र ही **अस्मान्**=हमें **तानि अंहांसि**=उन आयुष्य की अल्पता के कारणभूत पापों से

इत्=निश्चयपूर्वक **अतिपर्षि**=लंघाकर पालित कीजिए।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन दिव्यगुणों का वर्धक है। हम नियम से प्रभु-स्तवन करनेवाले बनें। यह स्तवन शोकरोधक तत्त्वों को बढ़ाएगा और प्रभु हमें पापों से पार ले-जाएँगे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गवेषणं रथम्

युजे रथं गवेषणं हरिभ्यामुप ब्रह्माणि जुजुषाणमस्थुः।
वि बाधिष्ट स्य रोदसी महित्वेन्द्रो वृत्राण्यप्रती जघन्वान्॥ ३॥

१. मैं **गवेषणम्**=ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करानेवाले **रथम्**=इस शरीर-रथ को **हरिभ्याम्**=इन्द्रियाश्वों से **युजे**=युक्त करता हूँ। इन्द्रियों को विषयों में भटकने से रोककर मैं उन्हें संयत करता हूँ। ये संयत इन्द्रियाँ ज्ञानवृद्धि का साधन बनती हैं। **जुजुषाणम्**=सबसे सेव्यमान उस प्रभु को **ब्रह्माणि**=मेरे द्वारा उच्चरित स्तोत्र **उपस्थुः**=उपस्थित होते हैं। मैं स्तोत्रों द्वारा प्रभु का उपासन करता हूँ। **स्यः इन्द्रः**=वे सर्वशक्तिमान् प्रभु **महित्वा**=अपनी महिमा से **रोदसी**=द्यावापृथिवी को **विबाधिष्ट**=आक्रान्त करते हुए अपने-अपने स्थान में थामते (रोकते) हैं। सारे संसार को वे प्रभु नियन्त्रित करते हैं और **वृत्राणि**=ज्ञान को आवृत करनेवाले काम आदि शत्रुओं को **अप्रती जघन्वान्**=(न विद्यते पुनः प्राप्तिः प्रतिगति यस्मिन्) इसप्रकार नष्ट करते हैं कि वे फिर लौट ही न सकें। चेतन जगत् में भी उपासकों के शत्रुओं का नाश प्रभु ही करते हैं।

भावार्थ—मैं इन्द्रियों को संयत करके ज्ञान-प्राप्ति में लगाता हूँ, प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करता हूँ। प्रभु ही द्युलोक व पृथिवीलोक को थामते हैं और उपासकों के वासनारूप शत्रुओं का विनाश करते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

धीभिः वाजान् (बुद्धि के साथ शक्ति)

आपश्चित्पिप्यु स्तर्यो३ न गावो नक्षन्नृतं जरितारस्त इन्द्र।
याहि वायुर्न नियुतो नो अच्छा त्वं हि धीभिर्दयसे वि वाजान्॥ ४॥

१. **आपः**=रेतःकण (आपः रेतो भूत्वा०) **चित्**=निश्चय से **पिप्युः**=हमारे शरीरों में अभिवृद्ध होते हैं, परिणामतः **गावः**=इन्द्रियाँ **स्तर्यः न**=अब बन्ध्या (Sterile) नहीं हैं। इन रेतःकणों के रक्षण से वे अपना-अपना कार्य करने में समर्थ हुई हैं। हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते जरितारः**= आपके स्तोता **ऋतं नक्षन्**=ऋत को—सत्यफलवाले यज्ञ को व सत्य वेदज्ञान को—प्राप्त होते हैं। प्रभु का स्तोता यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होता है तथा अपने ज्ञान को बढ़ानेवाला होता है। २. जिस प्रकार **वायुः**=गतिशील जीव **नियुतः**=अपने इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करता है, उसी प्रकार आप **नः अच्छा याहि**=हमें आभिमुख्येन प्राप्त होइए। जितना-जितना जीव इन्द्रियाश्वों को अपने समीप करता है, अर्थात् जितना-जितना उन्हें वश में करता है, उतना-उतना प्रभु के समीप हो पाता है। हे प्रभो! **त्वं हि**=आप ही **धीभिः**=बुद्धियों के साथ **वाजान्**=शक्तियों को **विदयसे**=देते हैं (प्रयच्छसि सा०)।

भावार्थ—सोम-रक्षण से इन्द्रियाँ सशक्त बनती हैं। प्रभु के स्तोता ऋत को प्राप्त करते हैं—यज्ञों को व वेदज्ञान को प्राप्त करते हैं। जितना-जितना हम इन्द्रियों को वश में करते हैं, उतना-उतना ही प्रभु को प्राप्त करते हैं। प्रभु हमें बुद्धि के साथ शक्तियाँ देते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शुष्मिणं तुविराधसम्

ते त्वा मदा इन्द्र मादयन्तु शुष्मिणं तुविराधसं जरित्रे।
एको देवत्रा दयसे हि मर्तानस्मिञ्छूर सवने मादयस्व॥ ५॥

१. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **ते मदाः**=वे उल्लासजनक सोमकण शरीर में रक्षित हुए-हुए **त्वा मादयन्तु**=आपको आनन्दित करें। जब हम सोमकणों का रक्षण करें तो आपके प्रकाश को हृदयों में अधिक-अधिक देख पाएँ। उन आपको, जोकि **जरित्रे**=स्तोता के लिए **शुष्मिणम्**=शक्ति देनेवाले हैं और **तुविराधसम्**=महान् ऐश्वर्यवाले हैं। २. हे प्रभो! **एकः**=आप अकेले **हि**=ही **देवत्रा**=सब देवों में **मर्तान्**=मनुष्यों को **दयसे**=रक्षित करते हैं। प्रभु अपने स्तोता को दिव्यगुणों में स्थापित करते हैं। हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! आप **अस्मिन् सवने**=इस जीवन-यज्ञ में **मादयस्व**=हमें आनन्दित कीजिए।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोमकणों के द्वारा ही प्रभु का प्रकाश दिखता है। प्रभु स्तोता को बल व ऐश्वर्य प्रदान करते हैं। प्रभु हमें दिव्यगुणों में स्थापित करते हैं और जीवन-यज्ञ में आनन्दित करते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वृषणं वज्रबाहुम्

एवेदिन्द्रं वृषणं वज्रबाहुं वसिष्ठासो अभ्य[र्]चन्त्यर्कैः।
स नः स्तुतो वीरवद्धातु गोमद्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ ६॥

१. **एव**=इसप्रकार **वसिष्ठासः**=काम-क्रोध को वश में करनेवाले उपासक **इत्**=निश्चय से **अर्कैः**=स्तुतिसाधक मन्त्रों के द्वारा **वृषणम्**=शक्तिशाली **वज्रबाहुम्**=वज्रहस्त—शत्रुओं को वज्र द्वारा नष्ट करनेवाले **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् प्रभु को **अभ्यर्चन्ति**=प्रातः-सायं पूजते हैं। २. **सः**=वे **स्तुतः**=स्तुति किये गये प्रभु **नः**=हमें **वीरवत्**=उत्तम वीर सन्तानों से युक्त **गोमत्**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले धन को **धातु**=दें। हे देवो! आप सब **स्वस्तिभिः**=कल्याणों के साथ **सदा नः पात**=सदा हमारा रक्षण करो।

भावार्थ—हम वसिष्ठ बनकर प्रभु का अर्चन करें। प्रभु हमें वीरों व प्रशस्तेन्द्रियों से युक्त धन दें।

ऋषिः—**अत्रिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

माध्यन्दिने सवने मत्सत् इन्द्रः

ऋजीषी वज्री वृषभस्तुराषाट्छुष्मी राजा वृत्रहा सोमपावा।
युक्त्वा हरिभ्यामुप यासदर्वाङ् माध्यन्दिने सवने मत्सदिन्द्रः॥ ७॥

१. **ऋजीषी**=(ऋजु+इष्) वे प्रभु हृदयस्थ होकर सदा सरलता की प्रेरणा देनेवाले हैं। **वज्री**=क्रियाशीलतारूप वज्र को हाथ में लिये हुए हैं। **वृषभः**=सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। **तुराषाट्**=हिंसक शत्रुओं का अभिभव करनेवाले हैं। **शुष्मी**=शत्रुशोषक बलवाले हैं। **राजा**=दीप्तरूपवाले वे प्रभु **वृत्रहा**=वासनाओं का विनाश करनेवाले व **सोमपावा**=हमारे शरीरों में सोम का रक्षण करनेवाले हैं। २. **हरिभ्याम्**=इन्द्रियों से **युक्त्वा**=हमारे शरीर-रथों को योजित करके **अर्वाङ्**=हमारे अभिमुख प्राप्त होते हुए **उपयासत्**=हमें प्राप्त हों। ये **इन्द्रः**=परमेश्वर्यशाली प्रभु **माध्यन्दिने सवने**=जीवन के इस माध्यन्दिन सवन में **मत्सत्**=सोम-रक्षण द्वारा हमें आनन्दित करें।

प्रात:सवन में भी सोम-रक्षण आवश्यक है। उस समय आचार्यकुल में सारा वातावरण उसके अनुकूल-सा ही होता है। सायन्तन सवन में भी वानप्रस्थ व संन्यास आश्रम में सोम-रक्षण सरल है। माध्यन्दिन में—गृहस्थ के समय ही इसका रक्षण सर्वाधिक कठिन होता है। उस समय प्रभु-स्मरण इसमें सहायक होता है।

भावार्थ—ऋजुता की प्रेरणा देनेवाले प्रभु हमें वासनाओं का विजय करके सोम-रक्षण के योग्य बनाएँ। प्रभु हमें प्राप्त हों और यह प्रभु-स्मरण जीवन के मध्याह्न में भी हमें सोम-रक्षण में समर्थ करे।

यह सोमी पुरुष सुन्दर दिव्यगुणों को धारण करके 'वामदेव' बनता है। प्रशस्त इन्द्रियोंवाला होने से 'गोतम' है। वासनाओं का संहार करनेवाला यह 'कुत्स' होता है (कुथ हिंसायाम्) तथा सभी के साथ स्नेह से चलनेवाला 'विश्वामित्र' होता है। ये ही क्रमश: अगले सूक्त में ऋषि हैं—

१३. [त्रयोदशं सूक्तम्]

ऋषि:—**वामदेव:** ॥ देवता—**इन्द्राबृहस्पती** ॥ छन्द:—**जगती** ॥

वामदेव

इन्द्रश्च सोमं पिबतं बृहस्पतेऽस्मिन्यज्ञे मन्दसाना वृषण्वसू।
आ वां विशन्त्विन्दव: स्वाभुवोऽस्मे रयिं सर्ववीरं नि यच्छतम्॥ १॥

१. हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन्! आप **इन्द्र: च**=और इन्द्र—जितेन्द्रियता की देवता—**अस्मिन् यज्ञे**=इस जीवन-यज्ञ में **सोमं पिबतम्**=सोम का पान करो, अर्थात् मैं ज्ञानरुचिवाला व जितेन्द्रिय बनकर सोम का रक्षण कर सकूँ। जितेन्द्रियता व ज्ञानरुचिता—ये दोनों दिव्यभाव **मन्दसाना**=हमें आनन्दित करनेवाले हैं और **वृषण्वसू**=हमारे लिए वसुओं (धनों) का वर्षण करनेवाले हैं। २. हे बृहस्पते व इन्द्र! **वाम्**=आपके ये **स्वाभुव:**=(सुष्ठु सर्वतो भवन्त:= कृत्स्नशरीरव्यापिन:) सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त होनेवाले **इन्दव:**=सोमकण **आविशन्तु**=शरीर में सर्वत्र प्रवेशवाले हों। हे ज्ञानरुचिते व जितेन्द्रियते! **अस्मे**=हमारे लिए **सर्ववीरम्**=सब वीर सन्तानों से युक्त **रयिम्**=धन को **नियच्छतम्**=दो।

भावार्थ—जितेन्द्रियता व ज्ञानरुचिता शरीर में सोम-रक्षण का कारण बनकर हमें हर्षित करते हैं, आवश्यक वसुओं को प्राप्त कराते हैं, वीर सन्तानों से युक्त धन को देनेवाले होते हैं। ये ही हमें इस मन्त्र का ऋषि वामदेव बनाते हैं।

ऋषि:—**गोतम:** ॥ देवता—**मरुत:** ॥ छन्द:—**जगती** ॥

गोतम

आ वो वहन्तु सप्तयो रघुष्यदो रघुपत्वान: प्र जिगात बाहुभि:।
सीदता बर्हिरुरु व: सदस्कृतं मादयध्वं मरुतो मध्वो अन्धस:॥ २॥

१. हे **मरुत:**=प्राणो! **व:**=तुम्हें **रघुष्यद:**=शीघ्र गतिवाले—अपने-अपने कार्यों को स्फूर्ति से करनेवाले **सप्तय:**=इन्द्रियाश्व **आवहन्तु**=हमें प्राप्त कराएँ। वस्तुत: इन्द्रियों का अपने कार्यों में लगे रहना—आलस्य में न पड़ना प्राणशक्ति का वर्धन करता है। हे **रघुपत्वान:**=शीघ्र गतिवाले—जीवन को गतिमय बनानेवाले प्राणो! आप **बाहुभि:**=(बाह प्रयत्ने) विविध प्रयत्नों के साथ हमें **प्रजिगात**=प्राप्त होओ। प्राणशक्ति के होने पर मनुष्य सतत गतिवाला—आलस्यशून्य होता है। २. हे प्राणो! **बर्हि: सीदत**=हृदयान्तरिक्ष में आसीन होओ, हृदय को वस्तुत: तुम्हीं ने वासनाओं के उद्बर्हण से 'बर्हि' बनाना है। **व:**=तुम्हारे द्वारा **सद:**=वह हृदयासन **उरु कृतम्**=विशाल बनाया

गया है। प्राणसाधना से हृदय विशाल बनता है। हे **मरुतः**=प्राणो! **मध्वः**=जीवन को मधुर बनानेवाले **अन्धसः**=सोम के द्वारा—शरीर में सोम-रक्षण के द्वारा हमारे जीवन को **मादयध्वम्**= आनन्दयुक्त करो।

भावार्थ—इन्द्रियों के अपने-अपने कर्मों में लगे रहने से प्राणशक्ति बढ़ती है। प्राणशक्ति की वृद्धि हमें आलस्यशून्य बनाती है। प्राणसाधना से हृदय पवित्र व विशाल बनता है। यह प्राण-साधना सोम-रक्षण द्वारा जीवन को आनन्दमय बनाती है। इसप्रकार यह साधक 'गोतम' बनता है।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

कुत्स

इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया।
भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसद्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव॥ ३॥

१. **अर्हते**=पूज्य **जातवेदसे**=सर्वज्ञ उस प्रभु के लिए **इमं स्तोमम्**=इस स्तोत्र को **मनीषया**=बुद्धि से—समझदारी से—विचारपूर्वक **संमहेम**=सम्यक् पूजित—निष्पादित करें। हम ज्ञानपूर्वक प्रभु का स्तवन करें। यह स्तोम **रथम् इव**=जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए रथ के समान है। यह जीवन-यात्रा की पूर्ति का साधन बनता है। इससे हमारे सामने लक्ष्यदृष्टि उत्पन्न होती है। २. **अस्य**=इस पूजनीय प्रभु की **संसदि**=उपासना में—समीप स्थिति में **नः**=हमारी **प्रमतिः**=प्रकृष्ट बुद्धि **भद्रा**=कल्याणी होती है। हे **अग्ने**=परमात्मन्! **वयम्**=हम **तव सख्ये**=आपकी मित्रता में **मा रिषाम**=मत हिंसित होवें।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु-स्तवन जीवन-यात्रा में रथ के समान होता है। प्रभु की उपासना से कल्याणी मति प्राप्त होती है। यह उपासना हमें विनष्ट नहीं होने देती।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

विश्वामित्र

ऐभिरग्ने सरथं याह्यर्वाङ् नानारथं वा विभवो ह्यश्वाः।
पत्नीवतस्त्रिंशतं त्रींश्च देवाननुष्वधमा वह मादयस्व॥ ४॥

१. हे **अग्ने**=परमात्मन्! **ऐभिः**=इन सब देवों के साथ आप **सरथम्**=समान शरीर-रथ में **अर्वाङ्**=आभिमुख्येन **आयाहि**=प्राप्त होइए। **नानारथम्**=विविध शक्तियों (देवों) से युक्त होने के कारण उस-उस देव के रथ के रूप में इस नानारथरूप शरीर को आप **वा**=निश्चय से प्राप्त होइए। **अश्वाः**=इस शरीर-रथ के ये इन्द्रियाश्व **हि**=निश्चय से **विभवः**=विशिष्ट शक्ति से युक्त हैं। प्रभु की उपासना इन्हें शक्तिशाली बनती ही है। २. हे प्रभो! आप **पत्नीवतः**=सपत्नीक—शक्तिरूप पत्नियों से युक्त—इन **त्रिंशतं त्रीन् च**=तीस और तीन—तेतीस **देवान्**=देवों को **अनुष्वधम्**=स्वधा को—आत्मधारण-शक्ति का लक्ष्य करके **आवह**=प्राप्त कराइए और **मादयस्व**= हमारे जीवनों को आनन्दित कीजिए। शरीर पृथिवीलोक है, हृदय अन्तरिक्षलोक है, मस्तिष्क द्युलोक है। इन लोकों में ११-११ देवों का निवास है। प्रभु की उपासना से ये सब देव हमारे शरीर में उपस्थित होते हैं 'सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते'। आँख में सूर्य, नासिका में वायु, मुख में अग्नि, हृदय में चन्द्रमा और इसी प्रकार अन्य सब देवों की शरीर में स्थिति है। इनके साथ चौंतीसवाँ महादेव होता है। इस शरीर को धारण करनेवाला यह उपासक 'विश्वामित्र' होता है—सबके प्रति स्नेहवाला—कटुता से शून्य।

भावार्थ—सब देवों के साथ प्रभु हमें इस शरीर में प्राप्त हों। हमारा यह शरीर देव-मन्दिर बने। इस मन्दिर के पुजारी हम 'विश्वामित्र' बनें।

गत सूक्त के अनुसार यदि मैं प्रथमाश्रम में 'वामदेव'=सुन्दर दिव्यगुणोंवाला बनने का प्रयत्न करता हूँ। द्वितीयाश्रम में इन्द्रियों को विषयों में न फँसने देकर 'गोतम' बनता हूँ, तथा तृतीय आश्रम में वासनाओं का पूर्ण संहार करके 'कुत्स' होता हूँ और चौथे आश्रम में 'विश्वामित्र' बनता हूँ तो मैं सचमुच 'सोभरि' हूँ—जिसने अपना उत्तम भरण किया है। यह 'सोभरि' ही अगले सूक्त का ऋषि है—

१४. [चतुर्दशं सूक्तम्]

ऋषि:—**सोभरि:** ॥ देवता—**इन्द्र:** ॥ छन्द:—**काकुभ:प्रगाथ:**
(विषमा+ककुप्+समा-सतोबृहती)॥

अपूर्व्य-कत्+चित्

वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद्भरन्तोऽवस्यवः। वाजे चित्रं हवामहे॥ १ ॥

१. हे **अपूर्व्य**=(अपूर्वेण साधु:) अद्भुतों में उत्तम, अद्भुत-तम प्रभो! **वयम्**=हम **उ**=निश्चय से **त्वाम्**=आपको **भरन्त:**=अपने में धारण करते हुए **अवस्यव:**=रक्षा की कामनावाले होते हैं। आपने ही तो हमारा रक्षण करना है। २. **स्थूरं न**=एक शक्तिशाली के समान **चित्रम्**=ज्ञान देनेवाले (चित्+र) **कच्चित्**=(कत् चित्) आनन्दमय चिद्रूप आपको **वाजे**=शक्ति-प्राप्ति के निमित्त **हवामहे**=पुकारते हैं। आपसे-शक्ति प्राप्त करके ही हम जीवन-संग्राम में सफल होंगे। आप शक्ति देते हैं, ज्ञान देते हैं और इसप्रकार हमारे जीवन को आनन्दमय बनाते हैं।

भावार्थ—हम अद्भुत-तम, शक्तिशाली, आनन्दमय, ज्ञानी प्रभु को पुकारते हैं। प्रभु से ही शक्ति व ज्ञान को प्राप्त करके हम जीवन-संग्राम में सफल होते हैं।

ऋषि:—**सोभरि:** ॥ देवता—**इन्द्र:** ॥ छन्द:—**काकुभ:प्रगाथ:**
(विषमा+ककुप्+समा-सतोबृहती)॥

सानसिम्-अवितारम्

उप त्वा कर्मन्नूतये स नो युवोग्रश्चक्राम यो धृषत्।
त्वामिद्ध्यवितारं ववृमहे सखाय इन्द्र सानसिम्॥ २ ॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **त्वाम्**=आपको **कर्मन्**=युद्ध आदि कर्मों के प्रस्तुत होने पर **ऊतये**=रक्षा के लिए **उप**=समीपता से प्राप्त होते हैं। **य:**=जो **धृषत्**=शत्रुओं का धर्षक है, **स:**=वह **युवा**=बुराइयों को दूर करनेवाला व अच्छाइयों को हमसे मिलानेवाला, **उग्र:**=उद्गूर्ण बलवाला इन्द्र **न:**=हमें **चक्राम**=प्राप्त होता है (क्रामति)—सहायकरूप से हमारे समीप आता है। २. हे इन्द्र! परमैश्वर्यशाली परमात्मन्! **सानसिम्**=(सम्भक्तारम्) सब वस्तुओं के देनेवाले **अवितारम्**=रक्षक **त्वाम् इत् हि**=आपको ही **सखाय:**=मित्र बनाते हुए **ववृमहे**=वरण करते हैं।

भावार्थ—हम सम्भजनीय, रक्षक प्रभु का ही वरण करते हैं। प्रभु हमें प्राप्त होते हैं और हमारा रक्षण करते हैं। प्रभु ही हमें सब कार्यों में विजय प्राप्त कराते हैं।

ऋषि:—**सोभरि:** ॥ देवता—**इन्द्र:** ॥ छन्द:—**काकुभ:प्रगाथ:**
(विषमा+ककुप्+समा-सतोबृहती)॥

वस्य: प्र आनिनाय

यो न इदमिदं पुरा प्र वस्य आनिनाय तमु व स्तुषे। सखाय इन्द्रमूतये॥ ३ ॥

१. **यः**=जो **नः**=हमारे लिए व **वः**=तुम्हारे लिए, अर्थात् सबके लिए **इदम् इदम्**=इस और इस **वस्यः**=प्रशस्त धन को **पुरा**=(पृ पालनपूरणयोः) पालन व पूरण के हेतु से **प्र आनिनाय**=प्रकर्षेण प्राप्त कराते हैं **तमु**=उसको ही **स्तुषे**=मैं स्तुत करता हूँ। २. **सखायः**=हे मित्रो! हम **ऊतये**=रक्षण के लिए **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही पुकारते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमें पालन व पूरण के लिए उत्कृष्ट वसुओं को प्राप्त कराते हैं। प्रभु ही हमारा रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**सोभरिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**काकुभःप्रगाथः**
(विषमा+ककुप्+समा–सतोबृहती)॥

'हर्यश्व' प्रभु

हर्यश्वं सत्पतिं चर्षणीसहं स हि ष्मा यो अमन्दत।
आ तु नः स वयति गव्यमश्व्यं स्तोतृभ्यो मघवा शतम्॥ ४॥

१. **हर्यश्वम्**=दुःखों का हरण करनेवाले, इन्द्रियाश्वों को देनेवाले, **सत्पतिम्**=सज्जनों के रक्षक, **चर्षणीसहम्**=सब मनुष्यों के अभिभविता, अर्थात् नियन्ता उस प्रभु का हम स्तवन करते हैं। **सः**=वह प्रभु **हि**=ही **स्म**=निश्चय से स्तुत्य हैं। **यः**=जो **अमन्दत**=आनन्दमय होते हुए स्तोताओं को आनन्दित करते हैं। २. **सः मघवा**=वे ऐश्वर्यशाली प्रभु **तु**=तो **नः स्तोतृभ्यः**=हम स्तोताओं के लिए **शतम्**=शतवर्षपर्यन्त **गव्यम्**=ज्ञानेन्द्रियों के समूह को तथा **अश्व्यम्**=कर्मेन्द्रियों के समूह हो **आवयति**=प्राप्त कराते हैं (वी गत्यादिषु)।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमारे लिए उत्तम इन्द्रियों को प्राप्त कराते हैं। प्रशस्त इन्द्रियों को प्राप्त करनेवाला स्तोता 'गोतम' है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

१५. [पञ्चदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'मंहिष्ठ-सत्यशुष्म' प्रभु

प्र मंहिष्ठाय बृहते बृहद्रये सत्यशुष्माय तवसे मतिं भरे।
अपामिव प्रवणे यस्य दुर्धरं राधो विश्वायु शवसे अपावृतम्॥ १॥

१. **मंहिष्ठाय**=दातृतम—सर्वाधिक देनेवाले, **बृहते**=महान्, **बृहद्रये**=प्रभूत धनवाले—सर्वैश्वर्य-सम्पन्न, **सत्यशुष्माय**=सत्य (यथार्थ) बलवाले प्रभु के लिए, **तवसे**=बल की प्राप्ति के लिए, **मतिम्**=मननपूर्वक की गई स्तुति को **भरे**=करता हूँ। प्रभु-स्तवन से ही तो बल प्राप्त होता है। २. **यस्य**=जिस प्रभु का **विश्वायु**=सम्पूर्ण मनुष्यों का पालन करनेवाला **राधः**=ऐश्वर्य **प्रवणे**=अवनत प्रदेश में **अपाम् इव**=जलों के प्रवाह के समान **दुर्धरम्**=रोका नहीं जा सकता। यह प्रभु का ऐश्वर्य **शवसे**=उपासक के बल के लिए **अपावृतम्**=अपगत आवरणवाला होता है। प्रभु का यह ऐश्वर्य बल प्राप्त कराता ही है।

भावार्थ—प्रभु सर्वमहान् दाता हैं। हम प्रभु का स्तवन करते हैं। प्रभु का ऐश्वर्य हमारे लिए शक्ति देनेवाला होता है।

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रभु-पूजन की सहजवृत्ति

अध ते विश्वमनु हासदिष्टय आपो निम्नेव सवना हविष्मतः।
यत्पर्वते न समशीत हर्यत इन्द्रस्य वज्रः श्नथिता हिरण्ययः॥ २॥

१. **अध**=अब, हे इन्द्र! **ते इष्टये**=आपके पूजन के लिए **विश्वम्**=सम्पूर्ण जगत् **ह**=निश्चय से **अनु असत्**=अनुकूल हो। हमारी सारी परिस्थिति इसप्रकार की हो कि हम आपका पूजन कर सकें। **हविष्मतः**=यज्ञशील पुरुष के **सवना**=जीवन के तीनों सवन—प्रातःसवन, माध्यन्दिन-सवन व सायन्तनसवन—प्रथम २४ वर्ष, अगले ४४ वर्ष व अन्तिम ४८ वर्ष—आपकी ओर इसप्रकार अग्रसर हों, **इव**=जैसेकि **आपःनिम्ना**=जल निम्नप्रदेश की ओर बहाववाले होते हैं। हम अपने जीवन में आपके प्रति सहज पूजा की वृत्तिवाले हों। २. इसलिए हम आपकी पूजावाले हों, **यत्**=जिससे कि **इन्द्रस्य**=इस जितेन्द्रिय पुरुष का **वज्रः**=क्रियाशीलतारूप वज्र **हर्यत**=बड़ा कान्त (कमनीय) हो, **श्नथिता**=वासनारूप शत्रुओं का हिंसक हो और **पर्वते**=अविद्यापर्वत पर **न समशीत**=सक्त न हो जाए, अपितु उस अविद्यापर्वत का विदारण करनेवाला ही बने। प्रभु का पूजन हमें इसप्रकार यज्ञ आदि उत्तमकर्मों में प्रवृत्त करेगा कि हम अविद्यापर्वत का विदारण, ज्ञान-प्रकाश की प्राप्ति और वासनान्धकार को विनष्ट कर सकेंगे।

भावार्थ—हमारी सारी परिस्थिति हमें प्रभु-पूजन की ओर झुकानेवाली हो। हम सदा प्रभु-पूजन की सहज वृत्तिवाले हों। क्रियाशील बनकर अविद्या-विध्वंस करते हुए वासनाओं को दग्ध करनेवाले बनें।

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उषाकाल में प्रभु-पूजन

अस्मै भीमाय नमसा समध्वर उषो न शुभ्र आ भरा पनीयसे।
यस्य धाम श्रवसे नामेन्द्रियं ज्योतिरकारि हरितो नायसे॥ ३॥

१. **अस्मै**=इस **भीमाय**=शत्रुओं के लिए भयंकर **पनीयसे**=स्तुत्य प्रभु के लिए **उषः न शुभ्रे**=उषाकाल के समान शुभ्र **अध्वरे**=यज्ञ में **नमसा**=नमन के साथ **सम् आभर**=अपने को सम्यक् प्राप्त करा। उपासक को चाहिए कि उषाकाल में नम्रता के साथ प्रभु की उपासना में प्रवृत्त हो। २. उस परमात्मा की उपासना में हम प्रवृत्त हों **यस्य**=जिस प्रभु का **धाम**=तेज **श्रवसे**=हमारी यशोवृद्धि के लिए होता है। जिस प्रभु का **नाम**=नामस्मरण **इन्द्रियम्**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए हितकर होता है (इन्द्रहितम्)। प्रभु-नाम-स्मरण से वासना का विनाश होता है, अतः मनुष्य जितेन्द्रिय बन पाता है। जिस प्रभु का **ज्योतिः**=प्रकाश **हरितः न**=दिशाओं की भाँति **अयसे**=गति के लिए होता है, अर्थात् जहाँ तक दिशाओं का विस्तार है, वहाँ तक प्रभु का प्रकाश फैला हुआ है। उपासक इस प्रकाश में मार्ग को देख पाता है और आगे बढ़ता है।

भावार्थ—हम प्रतिदिन उषाकाल में प्रभु-पूजन में प्रवृत्त हों। हमें प्रभु का तेज प्राप्त होगा। प्रभु का नामस्मरण हमें बल देगा। प्रभु के प्रकाश में हम मार्ग पर आगे बढ़ेंगे।

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

इमे वयं ते (प्रभु के)

इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो।
नहि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सघत्क्षोणीरिव प्रति नो हर्य तद्वचः॥ ४॥

१. हे **पुरुष्टुत**=पालन व पूरण करनेवाली है स्तुति जिनकी, ऐसे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **इमे**=ये **ते वयम्**=वे हम सब **ते**=आपके हैं, **ये**=जो हे **प्रभूवसो**=प्रभूतधन प्रभो! **त्वा आरभ्य**=आपका आश्रय करके ही **चरामसि**=गति करते हैं। **गिर्वणः**=स्तुतिवाणियों से सम्भजनीय प्रभो! **त्वदन्यः**(त्वत् अन्यः)=आप से भिन्न और कोई **गिरः**=इन स्तुतिवाणियों को

नहि सघत्=नहीं सहता। स्तुत्य जो आप हैं, आपकी महिमा तो अनन्त है, उसकी तुलना में हमारे स्तुतिवचन अत्यल्प हैं, अतः हम आपकी ठीक स्तुति नहीं कर पाते, फिर भी **क्षोणीः इव**=आपकी प्रजाओं के समान जो हम हैं उन **नः**=हमारे **तत् वचः**=उन स्तुतिवचनों को **प्रतिहर्य**=प्रीतिपूर्वक ग्रहण कीजिए। ये हमसे उच्चरित स्तुतिवचन आपके लिए प्रिय हों।

भावार्थ—हम प्रभु के ही तो हैं, प्रभु के आश्रय से ही सब कार्यों को कर पाते हैं। यद्यपि स्तुत्य प्रभु की महिमा को हमारे स्तुतिवचन पूर्णतया माप नहीं पाते, तो भी हमारे ये स्तुतिवचन प्रभु के लिए प्रिय हों—हम इनके द्वारा प्रभु-जैसा बनने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'अनन्त-शक्ति' प्रभु

भूरि त इन्द्र वीर्यं१ तव स्मस्यस्य स्तोतुर्मघवन्काममा पृण।
अनु ते द्यौर्बृहती वीर्यं मम इयं च ते पृथिवी नेम ओजसे॥ ५॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **ते वीर्यम्**=आपका पराक्रम **भूरि**=महान् है। **तव स्मसि**=हम आपके ही तो हैं। हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **अस्य स्तोतुः कामम् आपृण**=इस स्तोता की कामना को पूरण कीजिए। २. यह **बृहती द्यौः**=विशाल द्युलोक **ते वीर्यम् अनु**=आपके पराक्रम से ही **ममे**=निर्मित हुआ है। **इयं च पृथिवी**=और यह पृथिवी **ते**=आपके **ओजसे नेमे**=ओज के लिए नतमस्तक होती है। वस्तुतः ये द्यावापृथिवी आपकी महिमा का ही प्रतिपादन कर रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु की शक्ति अनन्त है। प्रभु ही स्तोता की कामना को पूरण करते हैं। ये द्यावा-पृथिवी प्रभु की ही महिमा हैं।

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अविद्यापर्वत का विदारण

त्वं तमिन्द्र पर्वतं महामुरुं वज्रेण वज्रिन्पर्वशश्चकर्तिथ।
अवासृजो निवृताः सर्तवा अपः सत्रा विश्वं दधिषे केवलं सहः॥ ६॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले **वज्रिन्**=ज्ञानवज्र को हाथ में लिये हुए प्रभो! **त्वम्**=आप **तम्**=उस **महान्**=महान् **उरुम्**=विशाल **पर्वतम्**=अविद्यापर्वत को **वज्रेण**=ज्ञान-वज्र के द्वारा **पर्वशः**=एक-एक पर्व करके **चकर्तिथ**=काट डालते हैं। हृदय में प्रभु की स्थिति होते ही सब अज्ञानान्धकार विलीन हो जाता है। २. अविद्यापर्वत के विनाश के द्वारा आप **निवृताः**=वासना के आवरण से ढके हुए **अपः**=रेतःकणों को **सर्तवे**=शरीर में गति के लिए **अवासृजः**=विसृष्ट करते हैं। काम के पाश से मुक्त होने पर रेतःकण शरीर में ही गतिवाले होते हैं। इसप्रकार **सत्रा**=सचमुच **विश्वम्**=सब—अंग-प्रत्यंग में प्रविष्ट **केवलम्**=आनन्द में विचरण करानेवाले **सहः**=बल को **दधिषे**=धारण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ज्ञानवज्र द्वारा अविद्यापर्वत का विदारण करते हैं। इसप्रकार वासना-विनाश के द्वारा सोमकणों की शरीर में गति कराते हुए वे प्रभु हममें आनन्दप्रद बल को स्थापित करते हैं।

वासनाओं से पीड़ित न होनेवाला यह उपासक अपने अन्दर प्राणशक्ति को धारण करता है, अतः 'अयास्य' कहलाता है—अनथक। यह अगले सूक्त का ऋषि है। यह 'बृहस्पति' नाम से प्रभु का स्तवन करता है—

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

पर्वतेभ्यः वितूर्य

साध्वर्या अतिथिनीरिषिरा स्पार्हाः सुवर्णा अनवद्यरूपाः।
बृहस्पतिः पर्वतेभ्यो वितूर्या निर्गा ऊपे यवमिव स्थिविभ्यः ॥ ३ ॥

१. **बृहस्पतिः**=ब्रह्मणस्पति—ज्ञान के स्वामी प्रभु **गाः**=इन्द्रियों को **पर्वतेभ्यः**=अविद्यापर्वतों से **वितूर्य**=पृथक् करके—बाहर करके **निः ऊपे**=स्तोताओं के लिए (निर्वपति=प्रयच्छति) देते हैं। **इव**=जिस प्रकार **स्थिविभ्यः**=कुसूलों से—खत्तियों से निकालकर **यवम्**=जौ को। अथवा **स्थिविभ्यः**=स्थिर यवकाण्डों से पृथक् करके यवों को हमारे लिए देते हैं। २. ये इन्द्रियाँ **साधु अर्याः**=सदा उत्तम कार्यों की ओर गतिवाली होती हैं। **अतिथिनीः**=प्रभुरूप अतिथि की ओर निरन्तर चलनेवाली होती हैं, अतएव ये **इषिराः**=एषणीय (चाहने योग्य) व **स्पार्हाः**=सबसे स्पृहणीय, **सुवर्णाः**=उत्तम वर्ण-(रूप)-वाली व **अनवद्यरूपाः**=प्रशस्तरूपवाली होती हैं।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना करें। प्रभु हमें पवित्र इन्द्रियों को प्राप्त कराएँगे। हमारी इन्द्रियाँ अविद्यापर्वत से बाहर आ जाएँगी।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

अर्कः-बृहस्पतिः

आप्रुषायन्मधुन ऋतस्य योनिमवक्षिपन्नर्क उल्कामिव द्योः।
बृहस्पतिरुद्धरन्नश्मनो गा भूम्या उद्नेव वि त्वचं बिभेद ॥ ४ ॥

१. **मधुना**=जीवन को मधुर बनानेवाले सोम (वीर्य) के द्वारा **आप्रुषायन्**=शरीर-भूमि को सर्वतः सिक्त करता हुआ और **ऋतस्य योनिम्**=सत्य वेदज्ञान के उत्पत्तिस्थान प्रभु को **अवक्षिपन्**=(अवाङ् मुखं प्रेरयन्) अपने अन्दर प्रेरित करता हुआ **अर्कः**=उपासक **त्वचम्**=अज्ञानान्धकार के आवरण को **विबिभेद**=विदीर्ण कर डालता है। इसप्रकार विदीर्ण कर डालता है, **इव**=जैसेकि **उद्ना**=जल से **भूम्याः**=भूमि की त्वचा को विदीर्ण कर दिया जाता है। २. यह उपासक **द्योः उल्काम् इव**=जिस प्रकार आकाश से उल्का (flame) अग्नि-ज्वाला को, इसीप्रकार ज्ञान को अपने अन्दर प्रेरित करता हुआ **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी बनता है और **अश्मनः**=अविद्यान्धकाररूप पर्वत से **गाः**=इन्द्रियरूप गौओं को **उद्धरन्**=उद्धृत करता हुआ होता है। धीमे-धीमे अविद्या के विनाश के द्वारा सब इन्द्रियों को दीप्त करनेवाला बनता है।

भावार्थ—हम शरीर में सोम का सर्वतःसेचन करें। प्रभु व ज्ञान को अपने हृदयों में प्रेरित करते हुए इन्द्रियों को अविद्यान्धकार से बाहर करें।

ऋषिः—अयास्यः ॥ देवता—बृहस्पतिः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

उद्नः शीपालम् इव

अप ज्योतिषा तमो अन्तरिक्षादुद्नः शीपालमिव वात आजत्।
बृहस्पतिरनुमृश्या वलस्याभ्रमिव वात आ चक्र आ गाः ॥ ५ ॥

१. **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **ज्योतिषा**=ज्ञान-ज्योति के द्वारा **अन्तरिक्षात्**=हमारे हृदयान्तरिक्ष से **तमः**=अन्धकार को **अप आजत्**=दूर फेंक देता है, **इव**=जैसेकि **वातः**=वायु **उद्नः**=पानी पर से **शीपालम्**=शैवाल—काई को दूर फेंक देता है। प्रभु ज्योति के द्वारा अज्ञानान्धकार को इसीप्रकार परे फेंक देते हैं जैसेकि तेज वायु पानी पर से काई को परे फेंक देती है। २. वे प्रभु **वलस्य**=ज्ञान के आवरणभूत कामरूप आसुरभाव को **अनुमृश्य**=क्रमशः दूर

करके (मृश्=to remove, rule off) **गाः आचक्रे**=चारों ओर ज्ञान-रश्मियों को फैलानेवाले होते हैं। प्रभु काम (वृत्र) को इसप्रकार दूर कर देते हैं, **इव**=जैसेकि **वातः**=वायु **अभ्रम्**=मेघ को दूर कर देता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे हृदयान्तरिक्ष से अन्धकार को ज्योति के द्वारा इसप्रकार भगा देते हैं, जैसे तेज वायु मेघ को छिन्न-भिन्न कर देता है।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वल जसु-भेदन

यदा वलस्य पीयतो जसुं भेद् बृहस्पतिरग्नितपोभिरर्कैः।
दद्भिर्न जिह्वा परिविष्टमाददाविर्निधीँरकृणोदुस्रियाणाम्॥ ६॥

१. **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **यदा**=जब **पीयतः**=हिंसा करनेवाले **वलस्य**=ज्ञान के आवरणभूत काम के **जसुम्**=विनाशक प्रभाव को **अग्नितपोभिः**=अग्नि के समान दीप्त **अर्कैः**=अर्चन-साधन मन्त्रों से **भेद्**=विनष्ट कर डालता है तब **उस्रियाणाम्**=ज्ञानरश्मियों (light) के **निधीन्**=कोशों को **आविः अकृणोत्**=प्रकट करता है। २. **न**=जिस प्रकार **जिह्वा परिविष्टम्**=जिह्वा परोसे हुए भोजन को **दद्भिः**=दाँतों से **आदत्**=खाती है, उसीप्रकार प्रभु वल=वृत्र=काम के विनाशक प्रभाव को खा जाते हैं। हृदय में प्रभु के आसीन होने पर वहाँ से काम विनष्ट हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान की वाणियों के द्वारा वासना-जनित अन्धकार को विनष्ट करते हैं और ज्ञान-रश्मियों के कोश को प्रकट कर देते हैं।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

आण्डेव भित्त्वा शकुनस्य गर्भम्

बृहस्पतिरमत हि त्यदासां नाम स्वरीणां सदने गुहा यत्।
आण्डेव भित्त्वा शकुनस्य गर्भमुदुस्रियाः पर्वतस्य त्मनाजत्॥ ७॥

१. **बृहस्पतिः**=ज्ञान के स्वामी प्रभु **गुहा सदने**=बुद्धिरूप गुहा के स्थान में **स्वरीणाम्**=शब्दायमान **आसाम्**=इन ज्ञान-धेनुओं के **त्यत् नाम**=उस प्रसिद्ध (नाम=form) स्वरूप को **अमत**=जब जनाते हैं तब **हि**=निश्चय से **पर्वतस्य गर्भं भित्त्वा**=अविद्यापर्वत के गर्भ को विदीर्ण करके **उस्रियाः**=ज्ञानदुग्ध देनेवाली धेनुओं को **त्मना**=स्वयं ही **उदजत्**=उद्गत करते हैं। प्रभु वासना को विनष्ट करते हैं—ज्ञानरश्मियों को प्रकट करते हैं। २. प्रभु बुद्धिरूप गुहा में स्थित ज्ञान की रश्मियों को इसप्रकार प्रकट करते हैं, **इव**=जिस प्रकार **शकुनस्य**=पक्षी के **आण्डा**=अण्डों को **भित्त्वा**=विदीर्ण करके तदन्तःस्थित **गर्भम्**=गर्भ को प्रकट करते हैं।

भावार्थ—प्रभु वासना-विनाश द्वारा ज्ञानरश्मियों को हमारे हृदयों में प्रकट करते हैं।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

चमसं न वृक्षाद्

अश्नापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्मत्स्यं न दीन उदनि क्षियन्तम्।
निष्टज्जभार चमसं न वृक्षाद् बृहस्पतिर्विरवेणा विकृत्य॥ ८॥

१. **बृहस्पतिः**=ब्रह्मणस्पति प्रभु ने जीव के **मधु**=जीवन को मधुर बनानेवाले ज्ञान को **अश्ना**=(अश्मना) अविद्यापर्वत से **अपिनद्धम्**=ढका हुआ **पर्यपश्यत्**=देखा। इसप्रकार देखा,

न=जैसेकि **दीने**=परिक्षीण **उदनि**=जल में **क्षियन्तम्**=निवास करते हुए **मत्स्यम्**=मछली को कोई देखता है। २. परमात्मा ने **तत्**=उस मधु को **विरवेण**=विशिष्ट शब्दों द्वारा **विकृत्य**=अविद्यापर्वत का विदारण करके **निर्जभार**=बाहर किया—प्रकट किया। इसप्रकार प्रकट किया **न**=जैसेकि **वृक्षात्**=वृक्ष से **विकृत्य**=काट कर—छील-छालकर **चमसम्**=पात्र को अलग किया जाता है। प्रभु का यही महान् अनुग्रह हैं।

भावार्थ—हृदयास्थ प्रभु विशिष्ट प्रेरणात्मक शब्दों द्वारा, अज्ञान को नष्ट करके, ज्ञान प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उषा-सूर्य-अग्नि-अर्क (मन्त्र)

सोषामविन्दुत्स स्व१ः सो अग्निं सो अर्केण वि बबाधे तमांसि।
बृहस्पतिर्गोवपुषो वलस्य निर्मज्जानं न पर्वणो जभार ॥ ९ ॥

१. **सः**=वे प्रभु ही **उषाम्**=अन्धकार-विनाशिनी उषा को **अविन्दत्**=प्राप्त कराते हैं। **सः**=वे ही **स्वः**=प्रकाश के साधनभूत सूर्य को प्राप्त कराते हैं। **सः**=वे **अग्निम्**=यज्ञ आदि कर्मों के लिए अग्नि को प्राप्त कराते हैं। **सः**=वे **अर्केण**=अर्चनसाधन मन्त्रों के द्वारा **तमांसि**=अज्ञानान्धकारों को **विबबाधे**=दूर बाधित करते हैं। २. (वपुर्ष=beauty) **गोवपुषः**=(गोभिः वपुषं यस्य) ज्ञान की वाणियों के सौन्दर्यवाले **बृहस्पतिः**=(ब्रह्म) ज्ञान के स्वामी प्रभु **वलस्य**=ज्ञान के आवरणभूत-वृत्र के विदारण के द्वारा **निर्जभार**=ज्ञान-धेनु को अविद्यापर्वत की गुहा से बाहर करते हैं, **न**=जिस प्रकार **पर्वणः**=अस्थिपर्व से **मज्जानम्**=मज्जा को बाहर किया जाता है।

मन्त्र ९ तथा १० में प्रभु संकेत करते हैं कि (१) हे जीव! तू उषाकाल में प्रबुद्ध हो (२) सूर्योदय तक सारे नित्यकृत्यों को समाप्त करके (स्वः) अग्निहोत्र के लिए प्रवृत्त हो (३) तत्पश्चात् अर्चनमन्त्रों से प्रभु-पूजन करता हुआ (अर्केण) स्वाध्याय द्वारा अज्ञानान्धकार को दूर कर (तमांसि विबबाधे) (४) वल (वासना) के आवरण से (गाः) वेदवाणीरूप गौओं को बाहर निकाल। तेरे जीवन में विद्या के सूर्य व विज्ञान के चन्द्र का उदय हो (सूर्यामासा)।

भावार्थ—प्रभु 'उषा-सूर्य-अग्नि व मन्त्रों' को प्राप्त कराके, वासना को विनष्ट करते हुए हमारे जीवनों को ज्ञान के सौन्दर्य से सम्पन्न करते हैं।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सूर्यामासा मिथ उच्चरातः

हिमेव पर्णा मुषिता वनानि बृहस्पतिनाकृपयद्वलो गाः।
अनानुकृत्यमपुनश्चकार यात्सूर्यामासा मिथ उच्चरातः ॥ १० ॥

१. **इव**=जैसे **हिमा**=बर्फ **पर्णा**=पत्तों को निःसार करके चुरा-सा लेती है, इसी प्रकार **बृहस्पतिना**=ज्ञान के स्वामी प्रभु के द्वारा **वनानि**=सम्भजनीय गोधन—ज्ञानवाणीरूप धन **मुषिता**=वृत्रासुर ने हर लिये, **वल**=ज्ञान की आवरणभूत इस वासना ने तो—वृत्र ने तो **गाः अकृपयत्**=इन ज्ञानवाणीरूप गौओं को बड़ा निर्बल कर दिया था (कृप् to be weak)। बृहस्पति ने वल (वृत्र) को विनष्ट करके इन ज्ञानधेनुओं को फिर से हमें प्राप्त कराया है। २. परमात्मा ने **अनानुकृत्यम्**=अन्यों से न अनुकरणीय, तथा **अपुनः**=पुनः करणरहित, अर्थात् दुबारा जिसे करने की आवश्यकता न हो इस प्रकार **चकार**=यह कर्म किया है **यात्**=जब (यात्=यत्) हमारे जीवनों में **सूर्यामासा**=सूर्य और चन्द्र **मिथः**=परस्पर मिलकर **उच्चरातः**=उद्गत होते हैं। हमारे

जीवनों में ज्ञान का सूर्य व विज्ञान का चन्द्र इकट्ठे ही उदित होते हैं। भौतिक क्षेत्र में भी दाहिने नासिका छिद्र से सूर्यस्वर तथा बाएँ से चन्द्रस्वर उच्चरित होते हैं। ये ही प्राण और अपान हैं—ये मिलकर कार्य करते हैं। इनके ठीक कार्य करने पर हम स्वस्थ बुद्धि बनकर ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु वृत्र को विनष्ट कर ज्ञानधेनु को हमें प्राप्त कराते हैं। प्रभु का यह वृत्र-विनाश द्वारा ज्ञान-विज्ञान को प्राप्त कराना एक अद्भुत ही कार्य है।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

रात्र्यां तमः, अहन् ज्योतिः

अभि श्यावं न कृशनेभिरश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिंशन्।
रात्र्यां तमो अदधुर्ज्योतिरहन्बृहस्पतिर्भिनदद्रिं विदद्गाः॥ ११॥

१. **पितरः**=पालनात्मक कर्मों में प्रवृत्त पुरुष **द्याम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक को **नक्षत्रेभिः**=विज्ञान के नक्षत्रों से इसप्रकार **अपिंशन्**=अलंकृत करते हैं, **न**=जैसेकि **श्यावं अश्वम्**=(श्यैङ् गतौ) खूब गतिशील व कपिशवर्णवाले अश्व को **कृशनेभिः**=सुवर्णमय आभरणों से **अभि** (पिंशन्ति)=सजाया करते हैं। २. ये पितर **तमः**=सारे अज्ञानान्धकार को **रात्र्यां अदधुः**=रात में ही स्थापित कर देते हैं। **अहन्**=जीवन के दिनों में ये **ज्योतिः**=प्रकाश-ही-प्रकाश को स्थापित करते हैं। इनका दिन ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त करने में ही बीतता है। **बृहस्पतिः**=वह ज्ञान का स्वामी प्रभु **अद्रिं भिनत्**=इनके अविद्यापर्वत का विदारण करता है और **गाः विदत्**=इन्हें ज्ञान की वाणियों को प्राप्त कराता है।

भावार्थ—हम अपने मस्तिष्करूप द्युलोक को विज्ञान के नक्षत्रों से दीप्त करने का प्रयत्न करें। हमारे दिन का समय ज्ञान-प्राप्ति में ही व्यतीत हो। प्रभु भी हमारे अविद्यापर्वत का विदारण करके हमारे लिए ज्ञान-धेनुओं को प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गौ-अश्व-वीर-नर

इदमकर्म नमो अभ्रियाय यः पूर्वीरन्वानोनवीति।
बृहस्पतिः स हि गोभिः सो अश्वैः स वीरेभिः स नृभिर्नो वयो धात्॥ १२॥

१. **अभ्रियाय**=वासना के बादलों को विदीर्ण करके ज्ञान-जल को प्राप्त करानेवाले प्रभु के लिए **इदं नमः**=इस नमस्कार को **अकर्म**=करते हैं। **यः**=जो प्रभु **पूर्वीः**=सृष्टि के प्रारम्भ में दी जानेवाली ज्ञानवाणियों को **अनु**=अनुक्रम से **आनोनवीति**=आभिमुख्येन खूब ही उच्चरित करते हैं। प्रभु सृष्टि के प्रारम्भ में इस वेदज्ञान को देते हैं। २. **सः हि बृहस्पतिः**=वे ज्ञान के स्वामी प्रभु ही **गोभिः**=उत्कृष्ट ज्ञानेन्द्रियों के साथ **नः**=हमारे लिए **वयः**=जीवन को **धात्**=धारण करते हैं। **सः**=वे प्रभु **अश्वैः**=उत्कृष्ट कर्मेन्द्रियों के द्वारा, **सः वीरेभिः**=वे प्रभु वीर सन्तानों के द्वारा, **सः नृभिः**=तथा वे प्रभु उत्तम (नृ नये) पथ-प्रदर्शकों के द्वारा हमारे लिए उत्कृष्ट जीवन को धारण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु वासना के मेघों का विदारण करके हमें ज्ञानजल प्राप्त कराते हैं। उत्तम ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों व वीर सन्तानों तथा उत्तम पथ-प्रदर्शकों को प्राप्त कराके हमें उत्कृष्ट जीवन देते हैं।

अगले सूक्त का ऋषि 'कृष्णः' है, जो संसार के रंगों में न रंगा जाकर अपने जीवन को

पवित्र बनाए रखता है। यह अच्छाइयों को अपनी ओर आकृष्ट करता है और अन्त में (१२) 'वसिष्ठ' बनता है—उत्तम निवासवाला। यह प्रार्थना करता है—

१७. [सप्तदशं सूक्तम्]

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'स्वर्विदः सध्रीचीः' मतयः

अच्छा म इन्द्रं मतयः स्वर्विदः सध्रीचीर्विश्वा उशतीरनूषत।
परि ष्वजन्ते जनयो यथा पतिं मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये॥ १॥

१. **मे**=मेरी **मतयः**=मननपूर्वक की गई स्तुतियाँ **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **अच्छ**= लक्ष्य करके **अनूषत**=स्तवन करती हैं। ये स्तुतियाँ **स्वर्विदः**=प्रकाश को प्राप्त करानेवाली हैं, **सध्रीचीः**=(सह अञ्चन्ति) प्रभु के साथ गतिवाली होती हैं। **विश्वाः**=प्रभु में हमारा प्रवेश करानेवाली होती हैं। **उशतीः**=प्रभु की कामनावाली होती हैं। २. ये स्तुतियाँ **ऊतये**=रक्षण के लिए **मघवानम्**= ऐश्वर्यशाली प्रभु का **परिष्वजन्ते**=इसप्रकार आलिंगन करती हैं, **यथा**= जैसेकि **जनयः**=पत्नियाँ (जनयन्ति अपत्यानि) **पतिम्**=अपने पति को तथा **न**=जैसे **शुन्ध्युम्**=जीवन को शुद्ध बनानेवाले **मर्यम्**=दूर से आये हुए पिता आदि को पुत्र आदि बन्धुजन आलिंगन करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करते हैं। ये स्तुतियाँ हमें प्रभु की ओर ले-चलती हैं।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

मे मनः त्वद्रिक्

न घा त्वद्रिगप वेति मे मनस्त्वे इत्कामं पुरुहूत शिश्रय।
राजेव दस्म नि षदोऽधि बर्हिष्यस्मिन्त्सु सोमेऽवपानमस्तु ते॥ २॥

१. हे **पुरुहूत**=पालक व पूरक आह्वानवाले प्रभो! **त्वद्रिक्**=आपकी ओर गतिवाला **मे मनः**=मेरा मन **घ**=निश्चय से **न अपवेति**=आपसे कभी दूर नहीं होता। **त्वे इत्**=आपमें ही **कामम्**=अभिलाषा को **शिश्रय**=आश्रित करता है, अर्थात् मेरा मन सदा आपकी ओर आता है—मेरी अभिलाषा आपको ही प्राप्त करने की है। २. हे **दस्म**=शत्रुओं के विनाशक प्रभो! **राजा इव**=मेरे शासक के समान आप **बर्हिषि अधि**=इस मेरे वासनाशून्य हृदयासन पर **निषदः**=आसीन होइए। इस आसन पर बैठकर **अस्मिन् सोमे**=इस सोम के विषय में **ते**=आपका **अवपानम्**= अवपान—शरीर के अंग-प्रत्यंगों में ही रक्षण सुसम्यक्तया **अस्तु**=हो। आपके हृदयासीन होने पर यहाँ वासनाएँ न होंगी और सोम (वीर्य) शरीर में ही सुरक्षित रहेगा।

भावार्थ—हम मन को सदा प्रभु में लगाएँ, हमारी अभिलाषा प्रभु को प्राप्त करने की हो। प्रभु हमारे हृदयासन के राजा हों, जिससे शरीर में सोम का रक्षण सम्यक्तया हो।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'दारिद्र्य व क्षुधा के निवर्तक' प्रभु

विषूवृदिन्द्रो अमतेरुत क्षुधः स इद्रायो मघवा वस्व ईशते।
तस्येदिमे प्रवणे सप्त सिन्धवो वयो वर्धन्ति वृषभस्य शुष्मिणः॥ ३॥

१. **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **अमतेः**=दारिद्र्य व बुद्धिशून्यता का **विषूवृत्**=(विष्वक् वर्तयिता) चारों ओर भगा देनेवाला—नष्ट कर देनेवाला है **उत**=और **क्षुधः**=भूख को भी दूर करनेवाला है। **स इत् मघवा**=वह ऐश्वर्यशाली प्रभु ही **रायः**=दान के योग्य **वस्वः**=धन के, निवास को उत्तम

बनानेवाले ऐश्वर्य के **ईशते**=स्वामी हैं। २. **तस्य इत्**=उस प्रभु की ही **इमे**=ये **प्रवणे**=निम्न मार्ग में **सप्त**=सर्पणशील **सिन्धवः**=नदियाँ **वयः**=अन्न को **वर्धन्ति**=बढ़ाती हैं। ये नदियाँ उस **वृषभस्य**=सुखों का वर्षण करनेवाले **शुष्मिणः**=बलवान् प्रभु की हैं। प्रभु के शासन में ही ये पूर्व से पश्चिम में व उत्तर से दक्षिण में बह रही हैं। मैदानों में बहती हुई ये नदियाँ भूमि का सेचन करती हुई शक्तिवर्धक अन्न को उत्पन्न करती हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे दारिद्र्य व भूख का प्रतीकार करते हैं। वे हमें निवास के लिए आवश्यक धनों को देते हैं। उनके शासन में बहती हुई नदियाँ भूमि का सेचन करती हुई अन्न उत्पन्न करती हैं।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'स्वः आर्यं' ज्योतिः

वयो न वृक्षं सुपलाशमासदन्त्सोमास इन्द्रं मन्दिनश्चमूषदः।
प्रैषामनीकं शवसा दविद्युतद्विदत्स्व१र्मनवे ज्योतिरार्यम्॥ ४॥

१. **न**=जैसे **वयः**=पक्षी **सुपलाशम्**=शोभन पर्णों (पत्तों) से युक्त **वृक्षम्**=वृक्ष पर **आसदन्**=असीन होते हैं, इसी प्रकार **मन्दिनः**=आनन्द का वर्धन करनेवाले **चमूषदः**=(चम्वो, द्यावापृथिव्योः) द्यावापृथिवी में—मस्तिष्क व शरीर में स्थित होनेवाले—इनको तेजस्वी व दीप्त बनानेवाले **सोमासः**=सोमकण **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय पुरुष में आसीन होते हैं। २. **एषाम्**=इन चमूषद् सोमकणों का **अनीकम्**=बल (तेज) **शवसा**=शक्ति से **दविद्युतत्**=चमक उठता है और **मनवे**=विचारशील पुरुषों के लिए **स्वः**=सुख देनेवाली **आर्यम्**=श्रेष्ठ **ज्योतिः**=ज्ञानज्योति को प्रभु **विदत्**=प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हमारे शरीर में सोमकण सुरक्षित होते हैं। वे जीवन को आनन्दप्रद बनाते हैं। इनसे शरीर तेजस्वी होता है और मस्तिष्क उत्तम ज्ञानज्योति से परिपूर्ण हो जाता है।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

संवर्ग सूर्य का विजय

कृतं न श्वघ्नी वि चिनोति देवने संवर्गं यन्मघवा सूर्यं जयत्।
न तत्ते अन्यो अनु वीर्यं१ शकन्न पुराणो मघवन्नोत नूतनः॥ ५॥

१. **देवने**=जुए के खेल में **न**=जैसे **श्वघ्नी** (कितवा)=जुआरी **कृतम्**=विजय के हेतु कृत नामक अक्ष (पासे) को **विचिनोति**=बटोर लेता है (संचित कर लेता है) इसी प्रकार **यत् मघवा**=जो ऐश्वर्यशाली प्रभु हैं, वे **संवर्गम्**=अन्धकार के संवर्तक **सूर्यम्**=सूर्य को **जयत्**=विजय करते हैं। प्रभु के हृदयासीन होते ही ज्ञानसूर्य का उदय होता है और अज्ञानान्धकार का विलय हो जाता है। २. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **तत् ते वीर्यम्**=आपके उस पराक्रम को **अन्यः**=और कोई **न पुराणः**=न तो प्राचीन काल का व्यक्ति **उत**=और **न नूतनः**=न ही अर्वाचीन काल का व्यक्ति **अनु शकत्**=अनुकरण करने के लिए समर्थ होता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिए उस ज्ञानसूर्य का विजय करते हैं जो हमारे सब अन्धकार को विनष्ट कर देता है।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'बृहस्पति+इन्द्र' का आराधन

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु॥ ११॥

१. **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **नः**=हमें **पश्चात्**=पीछे से **उत**=और **उत्तरस्मात्**= ऊपर से व **अधरात्**=नीचे से **अघायोः**=हमारी हिंसा (पाप) को चाहनेवाले पुरुष से **परिपातु**=सर्वथा रक्षित करें। २. **इन्द्रः**=वह शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु **पुरस्तात्**=सामने से **उत**=और **मध्यतः**=बीच से **नः**=हमारा रक्षण करे। वह **सखा**=सबका मित्र प्रभु **सखिभ्यः**=मित्रभूत हम उपासकों के लिए **वरिवः**=धन को **कृणोतु**=करे।

भावार्थ—हम ज्ञान को प्राप्त करनेवाले बनकर 'बृहस्पति' के उपासक हों, जितेन्द्रिय बनकर 'इन्द्र' के उपासक हों। ये बृहस्पति व इन्द्र हमें अघायु पुरुषों से रक्षित करें और हमारे लिए आवश्यक धनों को प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'दिव्य व पार्थिव' धन

बृहस्पते युवमिन्द्रश्च वस्वो दिव्यस्येशाथे उत पार्थिवस्य।
धत्तं रयिं स्तुवते कीरये चिद्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ १२॥

१. हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! आप **च**=और **इन्द्रः**=वह शत्रुविद्रावक प्रभु **युवम्**=आप दोनों **दिव्यस्य**=मस्तिष्करूप द्युलोक के **वस्वः**=ज्ञानधन के, **उत**=और **पार्थिवस्य**=शरीररूप पृथिवी के शक्तिधन के **ईशाथे**=ईश हैं। ज्ञानधन के ईश होने से आप 'बृहस्पति' हैं, शक्तिधन के ईश होने से 'इन्द्र' हैं। २. आप **स्तुवते**=स्तुति करते हुए इस **कीरये चित्**=स्तोता के लिए भी **रयिं धत्तम्**=ऐश्वर्य का धारण कीजिए। **यूयम्**=आप सब देव **स्वस्तिभिः**= कल्याणों के द्वारा **सदा**=सदा **नः**=हमारा **पात**=रक्षण कीजिए।

भावार्थ—'बृहस्पति' हमें ज्ञानधन दें। 'इन्द्र' शक्तिधन प्राप्त कराएँ। इसप्रकार सब देव हमारा रक्षण करनेवाल हों।

देवों से रक्षित होकर हम 'मेधातिथि व प्रियमेध' बनते हैं। यह मेधा का प्रिय व्यक्ति ही उत्तम जीवनवाला 'वसिष्ठ' बन जाता है। अगले सूक्त में ये ही प्रथमत्रिक व द्वितीयत्रिक के ऋषि हैं—

१८. [अष्टादशं सूक्तम्]

ऋषिः—**मेधातिथिः प्रियमेधश्च** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

तदिदर्थाः-त्वायन्तः

वयमु त्वा तदिदर्था इन्द्र त्वायन्तः सखायः। कण्वा उक्थेभिर्जरन्ते॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवान् प्रभो! **वयम्**=हम **उ**=निश्चय से **तदिदर्थाः**=(तदेव स्तोत्रं अर्थः प्रयोजनं येषाम्) आपके स्तोत्ररूप प्रयोजनवाले ही हैं। **त्वायन्त**=(त्वाम् आत्मन इच्छन्तः) आपको ही प्राप्त करने की कामनावाले हैं। **त्वा सखायः**=(तव) आपके ही मित्र हैं। २. **कण्वाः**=मेधावी पुरुष **उक्थेभिः**=स्तोत्रों से **त्वा जरन्ते**=आपका ही स्तवन करते हैं।

भावार्थ—हमारा प्रयोजन एकमात्र प्रभु-प्राप्ति ही है। प्रभु-प्राप्ति की ही कामनावाले हों। प्रभु

के ही मित्र हों। प्रभु का ही स्तवन करें।

ऋषिः—**मेधातिथिः प्रियमेधश्च**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

एकमात्र प्रभु का ही स्तवन

न घेमन्यदा पपन वज्रिन्नपसो नविष्टौ। तवेदु स्तोमं चिकेत॥ २॥

१. हे **वज्रिन्**=वज्रहस्त प्रभो! हम **अपसः**=यज्ञरूप कर्मों के **नविष्टौ**=(नवायां इष्टौ) नव प्रारम्भ में, अर्थात् प्रत्येक कर्म को करने के अवसर पर **घा ईम्**=निश्चय **अन्यत् न आपपन**=किसी अन्य के स्तोत्र को नहीं करते। २. मैं **इत्**=निश्चय से **तव उ**=आपके ही **स्तोत्रम्**=स्तोत्र को **चिकेत**=जानता हूँ।

भावार्थ—प्रभु को छोड़कर हम किसी अन्य का स्तवन न करें। प्रत्येक कर्म के आरम्भ में हम प्रभु का स्मरण करें।

ऋषिः—**मेधातिथिः प्रियमेधश्च**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

सुन्वन्, नकि स्वप्नक् (शयालु)

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति। यन्ति प्रमादमतन्द्राः॥ ३॥

१. **देवाः**=सब देव **सुन्वन्तं इच्छन्ति**=यज्ञशील पुरुष को चाहते हैं। **स्वप्नाय**=मूर्तिमान् स्वप्न के लिए—बड़े सोंदू पुरुष के लिए—**न स्पृहयन्ति**=स्पृहा-(प्रेम व इच्छा)-वाले नहीं होते। २. इस संसार में **अतन्द्राः**=आलस्यशून्य पुरुष ही **प्रमादं यन्ति**=प्रकृष्ट हर्ष को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—यज्ञशीलता ही हमें देवों का प्रिय बनाती है। आलस्य हमें उनका अप्रिय बना देता है। उद्यमी पुरुष ही उत्कृष्ट आनन्द के भागी होते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

अभि प्रणोनुमः

वयमिन्द्र त्वायवोऽभि प्र णोनुमो वृषन्। विद्धी त्वस्य नो वसो॥ ४॥

१. हे **वृषन्**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले **इन्द्र**=प्रभो! **वयम्**=हम **त्वायवः**=आपको प्राप्त करने की कामनावाले होते हुए **अभि प्रणोनुमः**=आभिमुख्येन खूब ही स्तवन करते हैं। २. हे **वसो**=निवासक प्रभो! **नः**=हमारे **अस्य**=इस स्तोत्र को **विद्धी तु**=आप अवश्य जानिए ही। हम आपका स्तवन करें। यह स्तवन हमें आपका प्रिय बनाए। इस स्तवन से हम कुछ आपसे ही बन पाएँ।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। यह स्तवन हमें पवित्र जीवनवाला बनाता हुआ प्रभु का प्रिय बनाए।

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

न निन्दा, न कठोरभाषण, न कृपणता

मा नो निदे च वक्तवेऽर्यो रन्धीरराव्णे। त्वे अपि क्रतुर्मम॥ ५॥

१. हे प्रभो! **अर्यः**=स्वामी आप **नः**=हमें **निदे**=निन्दक के लिए **मा रन्धीः**=मत वशीभूत कीजिए। **च**=और **वक्तवे**=बहुत व कठोर बोलनेवाले के लिए वशीभूत मत कीजिए। **अराव्णे**=अदानशील के लिए वशीभूत मत कीजिए। हम निन्दा—कठोर-भाषण व कृपणता से दूर हों। २. हे प्रभो! **मम क्रतुः**=मेरा संकल्प व तदनुकूल कर्म **अपि**=भी **त्वे**=आपके विषय में ही हो। मैं आपको ही चाहूँ, आपका ही स्तवन करूँ।

भावार्थ—हम निन्दा, कटुभाषण व कृपणता से दूर रहकर प्रभु की प्राप्ति की कामनावाले हों—प्रभु का ही स्तवन करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सप्रथः-पुरोयोधः

त्वं वर्मासि सप्रथः पुरोयोधश्च वृत्रहन्। त्वया प्रति ब्रुवे युजा॥ ६॥

१. हे **वृत्रहन्**=सब वासनाओं को विनष्ट करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **सप्रथः**=अतिशयेन शक्तियों के विस्तारवाले हो, **च**=और **पुरोयोधः**=संग्राम में आप ही आगे होकर हमारे शत्रुओं से युद्ध करते हो। आप **वर्म असि**=मेरे कवच हो। २. **त्वया युजा**=सहायभूत आपके साथ में **प्रतिब्रुवे**=सब शत्रुओं को ललकार देता व विनष्ट करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु ही हमारे कवच हैं। हमारे शत्रुओं का संहार करनेवाले हैं।

सब वासनाओं को विनष्ट करके यह सबका मित्र 'विश्वामित्र' बनता है। यह विश्वामित्र ही अगले सूक्त का ऋषि है—

१९. [एकोनविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

वृत्रहनन, पृतना-सहन

वार्त्रहत्याय शवसे पृतनाषाह्याय च। इन्द्र त्वा वर्तयामसि॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **वार्त्रहत्याय**=ज्ञान की आवरणभूत वासना के विनाश के निमित्तभूत **शवसे**=बल के लिए—बल की प्राप्ति के लिए हम **त्वा**=आपको **आवर्तयामसि**=अपने अभिमुख करते हैं—आपका आराधन करते हैं। आपके द्वारा ही तो हम इन काम, क्रोध का विनाश कर सकेंगे। २. **च**=और **पृतनाषाह्याय**=शत्रु-सैन्यों के पराभव के निमित्तभूत बल के लिए हम आपका आवर्तन करते हैं। आपका आराधन ही हमें वह बल प्राप्त कराएगा, जिससे हम सब शत्रुओं को पराभूत कर पाएँगे।

भावार्थ—प्रभु की आराधना से हम वृत्रहनन में तथा शत्रुसैन्यों के पराभव में समर्थ हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

यज्ञशीलता तथा प्रभु-कृपा-पात्रता

अर्वाचीनं सु ते मन उत चक्षुः शतक्रतो। इन्द्र कृण्वन्तु वाघतः॥ २॥

१. हे **शतक्रतो**=अनन्त शक्ति व प्रज्ञानवाले प्रभो! **वाघतः**=यज्ञ आदि उत्तम कर्मों का वहन करनेवाले ऋत्विज् लोग **ते मनः**=आपके मन को **सु**=सम्यक् **अर्वाचीनम्**=अपने अभिमुख **कृण्वन्तु**=करनेवाले हों २. **उत**=और, हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **चक्षुः**=आपकी आँख को ये ऋत्विज् अपने अभिमुख करनेवाले हों।

भावार्थ—यज्ञशीलपुरुष ही प्रभु की कृपा के पात्र बनते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

विश्वाभिः गीर्भिः

नामानि ते शतक्रतो विश्वाभिर्गीर्भिरीमहे। इन्द्राभिमातिषाह्ये॥ ३॥

१. हे **शतक्रतो**=अनन्तशक्ति व प्रज्ञानवाले प्रभो! **ते नामानि**=आपके नामों को **विश्वाभिः गीर्भिः**=सब वाणियों के द्वारा **ईमहे**=चाहते हैं—संकीर्तित करते हैं। २. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो!

अभिमातिषाह्ये=पाप व अभिमानरूप शत्रु के पराभव के लिए हम विविध वाणियों से आपके नामों का कीर्तन करते हैं।

भावार्थ—प्रभु-नाम-कीर्तन हमें अभिमानरूप शत्रु का पराभव करने में समर्थ करे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

शतेन धामभिः

पुरुष्टुतस्य धामभिः शतेन महयामसि। इन्द्रस्य चर्षणीधृतः ॥ ४ ॥

१. **पुरुष्टुतस्य**=(पुरु स्तुतं यस्य) पालक व पूरक है स्तवन जिनका उन पुरुष्टुत प्रभु का हम **महयामसि**=पूजन करते हैं, जिससे **शतेन धामभिः**=शतवर्षपर्यन्त स्थिर रहनेवाले तेजों को हम प्राप्त कर सकें। इन तेजों के हेतु से ही हम प्रभु का पूजन करते हैं। २. **इन्द्रस्य**=सर्वशक्तिमान् **चर्षणीधृतः**=सब मनुष्यों का धारण करनेवाले प्रभु के पूजन से हम आजीवन तेजस्वी बने रहेंगे।

भावार्थ—प्रभु का पूजन हमें शतवर्ष के जीवन में तेजस्वी बनाए रखता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

भरेषु वाजसातये

इन्द्रं वृत्राय हन्तवे पुरुहूतमुप ब्रुवे। भरेषु वाजसातये ॥ ५ ॥

१. **पुरुहूतम्**=पालक व पूरक है पुकार जिसकी उस **इन्द्रम्**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु को **वृत्राय हन्तवे**=ज्ञान की आवरणभूत वासना के विनाश के लिए **उपब्रुवे**=पुकारता हूँ। २. मैं उस प्रभु को **भरेषु**=संग्रामों में **वाजसातये**=शक्ति की प्राप्ति के निमित्त पुकारता हूँ। प्रभु ही शक्ति देते हैं और उपासक को संग्राम में विजयी बनाते हैं।

भावार्थ—हम 'पुरुहूत इन्द्र' की आराधना करें। ये प्रभु हमें शक्ति प्राप्त कराएँगे। इस शक्ति के द्वारा हम संग्रामों में विजय प्राप्त करेंगे और ज्ञान की आवरणभूत वासना को विनष्ट कर पाएँगे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

वाजेषु सासहिः

वाजेषु सासहिर्भव त्वामीमहे शतक्रतो। इन्द्र वृत्राय हन्तवे ॥ ६ ॥

१. हे **शतक्रतो**=अनन्तशक्ति व प्रज्ञानवाले प्रभो! आप **वाजेषु**=संग्रामों में **सासहिः**=शत्रुओं का मर्षण (अभिभव) करनेवाले **भव**=होइए। **त्वाम् ईमहे**=हम आपसे ही याचना करते हैं। आप ही वस्तुतः इन शत्रुओं का पराभव कर सकते हैं। २. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **वृत्राय हन्तवे**=ज्ञान की आवरणभूत वासना के विनाश के लिए हम आपको पुकराते हैं—आप से ही याचना करते हैं।

भावार्थ—संग्रामों में प्रभु ही हमारे शत्रुओं का अभिभव करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

अभिमातिषु साक्ष्व

द्युम्नेषु पृतनाज्ये पृत्सुतूर्षु श्रवःसु च। इन्द्र साक्ष्वाभिमातिषु ॥ ७ ॥

१. **द्युम्नेषु**=द्योतमान धनों की प्राप्ति के समय, **पृतनाज्ये**=(पृतनासु प्रजनं तर्तव्यासु च) सेनाओं की चहल-पहलवाले रणांगणों में, **पृत्सु तूर्षु**=(पृतनासु तर्तव्यासु च) सेनाओं के पराभव के समय **च**=और **श्रवःसु**=कीर्तियों की प्राप्ति के समय, हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **साक्ष्व**=आप हमारे साथ होइए (षच समवाये)। आपने ही तो धन-विजय व कीर्ति को प्राप्त कराना है। २.

अभिमातिषु=(पापेषु हन्तव्येषु) अभिमान आदि पापों के विनाश के समय आप **साक्ष्व**=हमारे साथ होइए—आपके द्वारा ही हम पाप का विनाश कर सकेंगे।

भावार्थ—प्रभु ही हमें धन-विजय व कीर्ति प्राप्त कराते हैं। प्रभु ही हमारे शत्रुओं का संहार करते हैं।

अगले सूक्त के प्रथम चार मन्त्रों के ऋषि भी 'विश्वामित्र' ही हैं। पिछले तीन में ऋषि 'गृत्समदः' हैं—प्रभु-स्तवन करते है (गृणाति) और आनन्द का अनुभव करते हैं—

२०. [विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

बल-ज्ञान-चेतना

शुष्मिन्तमं न ऊतये द्युम्निनं पाहि जागृविम्। इन्द्र सोमं शतक्रतो॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **नः ऊतये**=हमारे रक्षण के लिए आप **सोमं पाहि**=सोम का हमारे शरीर में रक्षण कीजिए। आपने ही वासनाओं का विनाश करके सोम का रक्षण करना है। २. उस सोम का आप रक्षण कीजिए जो **शुष्मिन्तमम्**=अतिशयेन बलवाला है, **द्युम्निनम्**=ज्ञान की ज्योतिवाला है तथा **जागृविम्**=हमें सदा जगानेवाला—चेतना को न नष्ट होने देनेवाला है। सोम-रक्षण से हमें शक्ति प्राप्त होती है, ज्ञान की वृद्धि होती है तथा चेतना का विनाश नहीं होता। हमें अपना स्मरण बना रहता है कि 'हम कौन हैं और यहाँ क्यों आये हैं?'

भावार्थ—प्रभु सोम-रक्षण द्वारा हमें रक्षित करें। इससे हमारा बल व ज्ञान बढ़ेगा। यह सोम-रक्षण हमें सदा आत्मस्मृतिवाला बनाएगा।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

इन्द्रियाणि

इन्द्रियाणि शतक्रतो या ते जनेषु पञ्चसु। इन्द्र तानि त आ वृणे॥ २॥

१. हे **शतक्रतो**=अनन्तशक्ति व प्रज्ञानवाले **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् परमेश्वर! **पञ्चसु जनेषु**=(पचि विस्तारे) शक्तियों का विस्तार करनेवाले लोगों में **या इन्द्रियाणि**=जो बल हैं, वे **ते**=आपके ही हैं। २. हे प्रभो! मैं भी **तानि**=उन बलों को **ते**=आपसे **आवृणे**=माँगता हूँ। आपकी कृपा से मैं उन बलों को प्राप्त करूँ।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से हम सब अंगों के बलों को प्राप्त करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

दुष्टरं द्युम्नम्

अगन्निन्द्र श्रवो बृहद्द्युम्नं दधिष्व दुष्टरम्। उत्ते शुष्मं तिरामसि॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! हमें **बृहत्**=वृद्धि का कारणभूत **श्रवः**=यश **अगन्**=प्राप्त हुआ है। आप **दुष्टरम्**=वासनारूप शत्रुओं से आक्रान्त न होने योग्य **द्युम्नम्**=ज्ञानज्योति को **दधिष्व**=धारण कीजिए। आपके अनुग्रह से हमें 'दुष्टर द्युम्न' प्राप्त हो। २. हम **ते**=आपसे दिये हुए **शुष्मम्**=बल को **उत्तिरामसि**=आपके स्तवन व सोम-रक्षण द्वारा बढ़ाते हैं। हमारे मन यशस्वी विचारों से परिपूर्ण हों, मस्तिष्क ज्ञान से दीप्त बनें तथा शरीर शक्ति-सम्पन्न हों।

भावार्थ—प्रभु हमें 'यश-ज्ञान व बल' प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

इहलोक-परलोक-ब्रह्मलोक

अर्वावतो न आ गह्यथो शक्र परावतः।
उ लोको यस्ते अद्रिव इन्द्रेह तत आ गहि॥ ४॥

१. हे **शक्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! आप **अर्वावतः**=इस समीपस्थ लोक के उद्देश्य से **नः आगहि**=हमें प्राप्त होइए। आपकी कृपा से हमारा इहलोक उत्तम बने। **अथ उ**=और अब निश्चय से **परावतः**=सुदूर परलोक के उद्देश्य से भी हमें प्राप्त होइए। आपके अनुग्रह से परलोक में भी हमारा मंगल हो। २. हे **अद्रिवः**=आदरणीय (आ दृ), **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **उ**=निश्चय से यह **ते लोकः**=जो आपका अपना ब्रह्मलोक है, **ततः**=उस लोक को प्राप्त कराने के उद्देश्य से **इह**=यहाँ हमारे जीवनों में **आगहि**=प्राप्त होइए।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें। यह प्रभु का अविस्मरण हमारे इहलोक व परलोक दोनों के मंगल के लिए होगा तथा अन्ततः इस प्रभु-स्मरण से ही हम ब्रह्मलोक को प्राप्त करेंगे।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

भय-प्रच्यावन

इन्द्रो अङ्ग महद्भयमभी षदप चुच्यवत्। स हि स्थिरो विचर्षणिः॥ ५॥

१. हे **अङ्ग**=प्रिय! **इन्द्रः**=वे सर्वशक्तिमान् प्रभु ही **महद्भयम्**=महान् भय को **अभि सत्**=(अभीषत्) अभिभूत करते हैं। **अप चुच्यवत्**=इस महान् भय को हमसे सुदूर विनष्ट करते हैं। २. **सः**=वे प्रभु **हि**=निश्चय से **स्थिरः**=किसी से भी च्याव्य नहीं हैं। कोई भी प्रभु को अभिभूत व च्युत नहीं कर सकता। **विचर्षणिः**=वे प्रभु सबके द्रष्टा हैं—सभी का ध्यान करते हैं (Look after)।

भावार्थ—प्रभु हमारे भयों को अभिभूत व पृथक् करनेवाले हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

पाप-विनाश व कल्याण-प्राप्ति

इन्द्रश्च मृडयाति नो न नः पश्चादघं नशत्। भद्रं भवाति नः पुरः॥ ६॥

१. च (चेत्)=यदि **इन्द्रः**=वे सर्वशक्तिमान् प्रभु **नः मृडयाति**=हमें अनुगृहीत करते हैं तो **अघम्**=पाप व दुःख **नः पश्चात्**=हमारे पीछे **न नशत्**=नहीं प्राप्त होता। प्रभु का अनुग्रह होने पर पाप हमारे पीछे आ ही नहीं पाता। २. उस समय **नः पुरः**=हमारे सामने **भद्रं भवाति**=कल्याण-ही-कल्याण होता है।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से पाप नष्ट होता है और कल्याण प्राप्त होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

निर्भयता

इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत्। जेता शत्रून्विचर्षणिः॥ ७॥

१. **इन्द्रः**=वे सर्वशक्तिमान् प्रभु **सर्वाभ्यः आशाभ्यः परि**=सब दिशाओं से (परि=से पञ्चमी के अर्थ का द्योतक है) **अभयम्**=हमारे लिए भयराहित्य व कल्याण **करत्**=करें। २. ये प्रभु **शत्रून् जेता**=हमारे सब शत्रुओं को जीतनेवाले हैं और **विचर्षणिः**=विशेषरूप से हमारे द्रष्टा—हमारा ध्यान करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें सर्वत:निर्भय करते हैं। हमारे शत्रुओं का पराभव करते हैं।

सदा 'इन्द्र' से प्रेरणा प्राप्त करनेवाला 'सव्य' (षू प्रेरणे) अगले सूक्त का ऋषि है—

२१. [एकविंशं सूक्तम्]

ऋषि:—**सव्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

महान् दाता

न्यू३षु वाचं प्र महे भरामहे गिर इन्द्राय सदने विवस्वतः।
नू चिद्धि रत्नं ससतामिवाविदन्न दुष्टुतिर्द्रविणोदेषु शस्यते॥ १॥

१. **महे**=महान्—पूजनीय **इन्द्राय**=सर्वैश्वर्यवान् प्रभु के लिए **सुवाचम्**=शोभन स्तुतिवाणी को **नि प्र भरामहे**=नितरां प्रयुक्त करते हैं। **विवस्वतः**=प्रभु परिचर्या करनेवाले यजमान के **सदने**=यज्ञगृह में **उ**=निश्चय से उस इन्द्र के लिए **गिरः**=स्तुतिवाणियाँ उच्चरित होती हैं। २. **हि**=निश्चय से वह प्रभु **नू चित् हि रत्नम्**=रमणीय धन को **अविदत्**=प्राप्त कराते हैं, **इव**=जिस प्रकार वे **ससताम्**=सोये हुए पुरुषों के धन को छीन लेते हैं। सोये हुओं के धनों को छीन कर वे पुरुषार्थियों को प्राप्त करा देते हैं। **द्रविणोदेषु**=धन के दाता पुरुषों में **दुष्टुतिः**=असमीचीन स्तुति, अर्थात् निन्दा **न**=नहीं **शस्यते**=कही जाती—दाता की कभी निन्दा नहीं की जाती, अतः हम उस महान् दाता का भी स्तवन करें।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। यज्ञशील पुरुष सदा प्रभु का स्तवन करते हैं। प्रभु सदा रमणीय धन देते हैं। दाता की सदा प्रशंसा होती है।

ऋषि:—**सव्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

प्रदिवः+अकामकर्शनः

दुरो अश्वस्य दुर इन्द्र गोरसि दुरो यवस्य वसुन इनस्पतिः।
शिक्षानरः प्रदिवो अकामकर्शनः सखा सखिभ्यस्तमिदं गृणीमसि॥ २॥

१. हे प्रभो! आप **अश्वस्य**='अश्नुवते कर्मसु' यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में व्याप्त होनेवाली कर्मेन्द्रियों के **दुरः**=दाता (दा+उरच्) **असि**=हैं। हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **गोः**='गमयन्ति अर्थान्' अर्थों की प्रज्ञापक ज्ञानेन्द्रियों के आप **दुरः**=दाता हैं। इन इन्द्रियों की उत्तमता के लिए **यवस्य**=जौरूप सात्त्विक अन्न के आप **दुरः**=दाता हैं। सब **वसुनः**=धनों के आप ही **इनः**=स्वामी व **पतिः**=रक्षक हैं। २. **शिक्षानरः** (शिक्षतिः=दानकर्मा) दान के आप नेता (नृ नये) हैं। धन देकर हमें दान की प्रेरणा देते हैं। **प्रदिवः**=आप प्रकृष्ट ज्ञान के प्रकाशवाले हैं। इस ज्ञान को देकर **अकामकर्शनः**=हमें काम का शिकार नहीं होने देते। इसप्रकार **सखिभ्यः सखा**=सखाओं के सच्चे सखा हैं। **तम्**=उन आपके प्रति **इदम्**=इस स्तोत्र का **गृणीमसि**=उच्चारण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु उत्तम कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों, यव आदि सात्त्विक भोजनों व वसुओं के देनेवाले हैं। हम धनों को प्राप्त करके दान देनेवाले बनें। वे प्रकृष्ट ज्ञानी प्रभु हमें काम का शिकार होने से बचाते हैं। उस सच्चे सखा प्रभु का हम स्तवन करते हैं।

ऋषि:—**सव्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'शचीव इन्द्र पुरुकृद् द्युमत्तम'

शचीव इन्द्र पुरुकृद् द्युमत्तम तवेदिदमभितश्चेकिते वसु।
अतः संगृभ्याभिभूत आ भर मा त्वायतो जरितुः काममूनयीः॥ ३॥

१. हे **शचीवः**=प्रज्ञावन् (शची=प्रज्ञा), **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन्, **पुरुकृत्**=सबका पालन व पूरण करनेवाले, **द्युमत्तम**=अतिशयेन दीप्तिमन् प्रभो! **इदम्**=यह **अभितः**=सर्वत्र वर्तमान **वसुः**=धन **तव इत्**=आपका ही है, यह बात **चेकिते**=हमसे जानी जाती है। सब धनों के स्वामी आप ही तो हैं। २. हे **अभिभूते**=शत्रुओं का अभिभव करनेवाले प्रभो! **अतः**=क्योंकि आप ही सब धनों के स्वामी हैं, इसलिए **संगृभ्य**=इनका संग्रह करके **आभर**=हमारे लिए दीजिए। **त्वायतः**=आपको अपनाने की कामनावाले **जरितुः**=स्तोता के **कामम्**=मनोरथ को **मा ऊनयीः**=अपूर्ण मत कीजिए। स्तोता के लिए आप मनोवाञ्छित फल को देनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु स्तोता को 'प्रज्ञा-शक्ति-पोषण व दीप्ति' प्राप्त कराते हैं। सम्पूर्ण धन प्रभु का है। प्रभु स्तोता की कामना को पूर्ण करते हैं।

ऋषिः—**सव्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

युत-द्वेषसः

एभिर्द्युभिः सुमना एभिरिन्दुभिर्निरुन्धानो अमतिं गोभिरश्विना।
इन्द्रेण दस्युं दरयन्त इन्दुभिर्युतद्वेषसः समिषा रभेमहि॥ ४॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि **एभिः द्युभिः**=इन ज्ञान-प्रदीप्तियों से तू **सुमना**=उत्तम मनवाला हो। **एभिः इन्दुभिः**=इन सुरक्षित सोमकणों के द्वारा, **गोभिः**=प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा तथा **अश्विना**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियरूप धन के द्वारा अथवा प्राणापान के द्वारा, अर्थात् प्राणायाम द्वारा—प्राणसाधना से **अ-मतिम्**=दुर्बुद्धि व दारिद्र्य का **निरुन्धानः**=निरोध करनेवाला हो। २. जीव प्रभु से प्रार्थना करता है कि **इन्द्रेण**=शत्रुविद्रावक आपके द्वारा **दस्युं दरयन्तः**=दास्यव भावनाओं को विदीर्ण करते हुए, **इन्दुभिः**=सुरक्षित सोमकणों से **युतद्वेषसः**=द्वेषशून्य मनोंवाले होते हुए **इषा**=आपकी प्रेरणा के अनुसार हम **संरभेमहि**=कार्यों से संगत हों। मनुष्य का सुन्दरतम जीवन यही है कि (१) वह ज्ञानज्योतियों को प्राप्त करता हुआ उत्तम मनवाला बने, (२) सोम-रक्षण द्वारा ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को शक्तिशाली बनाता हुआ उत्तम बुद्धिवाला बने, (३) प्रभु-स्मरण द्वारा दास्यव वृत्तियों को दूर करे, (४) सोम-रक्षण से निर्दोष बने, (५) पवित्र हृदय में प्रभु-प्रेरणा को सुनकर तदनुसार कार्यों को करे।

भावार्थ—ज्ञानज्योति से हमारा मन निर्मल हो। सोम-रक्षण द्वारा सब इन्द्रियों को प्रशस्त बनाते हुए हम दुर्बुद्धि को दूर करें। प्रभु-उपासना द्वारा दास्यव वृत्तियों का विनाश करें। निर्दोष बनकर प्रभु-प्रेरणा के अनुसार कार्यों में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—**सव्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

राया+इषा+वाजेभिः+प्रमत्या

समिन्द्र राया समिषा रभेमहि सं वाजेभिः पुरुश्चन्द्रैरभिद्युभिः।
सं देव्या प्रमत्या वीरशुष्मया गोअग्रयाश्वावत्या रभेमहि॥ ५॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवान् प्रभो! **राया संरभेमहि**=हम आपसे दत्त धन से संगत हों तथा **इषा**=आपसे दी गई प्रेरणा से **सम्**=संगत हों। उस धन का विनियोग आपकी प्रेरणा के अनुसार करें। हे प्रभो! इस प्रकार धनों का सद्व्यय करते हुए **वाजैः सम्**=बलों से संगत हों, जो बल **पुरुश्चन्द्रैः**=बहुतों के आह्लादक हों, अर्थात् जिन बलों का विनियोग इस रूप में हो कि वे अधिक-से-अधिक व्यक्तियों का कल्याण करें तथा **अभिद्युभिः**=अभितः दीप्यमान हों—ज्ञान से युक्त हों। अथवा ये बल चारों ओर यश फैलानेवाले हों। २. इसप्रकार ऐश्वर्य, प्रभु-प्रेरणा व

बलों से युक्त होकर हम **देव्या**=उस इन्द्र से सम्बद्ध **प्रमत्या**=प्रकृष्ट बुद्धि से युक्त हों जोकि **वीरशुष्मया**= शत्रुओं को कम्पित करनेवाले बल से युक्त हो, **गोअग्रया**=प्रकृष्ट ज्ञानेन्द्रियों को अग्रभाग में लिये हुए हो तथा **अश्वावत्या**=प्रकृष्ट कर्मेन्द्रियोंवाली हो।

भावार्थ—हमें प्रभु के अनुग्रह से ऐश्वर्य, प्रभु-प्रेरणा व बल प्राप्त हो। हम उस प्रमति को प्राप्त करें जो शत्रुओं को कम्पित करके दूर करे तथा उत्तम ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियोंवाली हो।

ऋषिः—**सव्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

प्राणायाम+स्तोत्र+सोम-रक्षण

ते त्वा मदा अमदुन्तानि वृष्ण्या ते सोमासो वृत्रहत्येषु सत्पते।
यत्कारवे दश वृत्राण्यप्रति बर्हिष्मते नि सहस्राणि बर्हयः॥ ६॥

१. हे **सत्पते**=हे सज्जनों के रक्षक प्रभो! **वृत्रहत्येषु**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं के विनाशकारी संग्रामों में **मदाः**=मद (उल्लास) के जनक मरुतों (प्राणों) ने **अमदन्**=आनन्दित किया है। उपासक प्राणसाधना द्वारा प्रभु का प्रिय बनता है। **तानि वृष्ण्या**=उन स्तोत्रों ने तुझे आनन्दित किया है जो स्तोता के लिए सुखों के वर्षक होते हैं। **ते सोमासः**=शरीर में सुरक्षित उन सोमकणों ने तुझे आनन्दित किया है। यह सोमकणों का रक्षण हमें प्रभु का प्रिय बनाता है। प्रभु-प्रीति-प्राप्ति के तीन साधन हैं (क) प्राणायाम (ख) स्तोत्र (ग) सोम-रक्षण। २. इसप्रकार **यत्**=जब आप प्रसन्न होते हैं तब **कारवे**=स्तोता के लिए **बर्हिष्मते**=यज्ञादि पवित्र कर्मों को करनेवाले के लिए **दश सहस्राणि**=दशों हज़ार **वृत्राणि**=ज्ञान की आवरक वासनाओं को **अप्रति निबर्हयः**=आप ऐसे विनष्ट करते हैं जिससे कि उनका फिर लौटना होता ही नहीं। प्रसन्न प्रभु हमारी सब शत्रुभूत वासनाओं को विनष्ट कर डालते हैं।

भावार्थ—प्राणायाम+स्तवन व सोम-रक्षण द्वारा हम प्रभु के प्रीतिपात्र बनें। प्रभु हमारी सब वासनाओं को विनष्ट कर डालेंगे।

ऋषिः—**सव्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

नमुचि-निबर्हण

युधा युधमुप घेदेषि धृष्णुया पुरा पुरं समिदं हंस्योजसा।
नम्या यदिन्द्र सख्या परावति निबर्हयो नमुचिं नाम मायिनम्॥ ७॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! आप **धृष्णुया**=शत्रुओं के धर्षक **युधा**=आयुध के द्वारा **युधम्**=शत्रु के आयुध को **उप घ इत् एषि**=निश्चय से समीपता से प्राप्त होते हैं। धर्षक आयुधों के द्वारा शत्रु के आयुध को विनष्ट कर डालते हैं। **पुरा**=हमारे पालन व पूरण के दृष्टिकोण से (पॄ पालनपूरणयोः) **इदं पुरम्**=इस शत्रु की नगरी को **ओजसा**=ओज के द्वारा **सं हंसि**=सम्यक् नष्ट कर डालते हैं। 'काम' ने इन्द्रियों में, क्रोध ने मन में तथा लोभ ने बुद्धि में जो किले बना लिये थे, उन्हें आप नष्ट कर डालते हैं और इसप्रकार हमारा पालन करते हैं। २. हे इन्द्र! **यत्**=जब आप **नम्या**=सबको प्रह्वीभूत करनेवाली—झुका देनेवाली **सख्या**=सखिभूत शक्ति से **नमुचिं नाम मायिनम्**=इस नमुचि नामक आसुरभाव को **परावति**=सुदूर देश में **निबर्हयः**=विनष्ट कर डालते हैं। अहंकार की वासना नमुचि है—पीछा न छोड़नेवाली है (न+मुच्)। सब आसुरभावों को जीत लेने पर भी यह इस रूप में प्रकट होती है कि 'मैंने कितनी महान् विजय कर ली'। प्रभु-स्मरण ही इसका विनाश करता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे सब आसुरभावों का विनाश करते हैं।

ऋषिः—**सव्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'करञ्ज, पर्णय व वंगृद' का विनाश

त्वं करञ्जमुत पर्णयं वधीस्तेजिष्ठयातिथिग्वस्य वर्तनी।
त्वं शता वङ्गृदस्याभिनत्पुरोऽनानुदः परिषूता ऋजिश्वना ॥ ८ ॥

१. **त्वम्**=तू **करञ्जम्**=(किरति विक्षिपति धार्मिकान्) धार्मिकों को पीड़ित करने की वृत्ति को तथा **पर्णयम्**=(पर्णानि परप्राप्तानि वस्तूनि याति द०) चोरी की वृत्ति को **अतिथिग्वस्य**=अतिथियों के प्रति नम्रता से जानेवाले—अतिथियज्ञ करनेवाले की **तेजिष्ठया वर्तनी**=अत्यन्त तीव्र सत्क्रिया से **वधीः**=नष्ट करता है। यह अतिथि व विद्वान्व्रती लोगों का आतिथ्य करता हुआ उनसे सत्प्रेरणाओं को प्राप्त करने के कारण 'करञ्ज व पर्णय' का वध कर पाता है। अपने अन्दर यह परपीड़न व चोरी की वृत्ति को नहीं आने देता। २. हे प्रभो! **त्वम्**=आप **अनानुदः**=शत्रुओं से न धकेले जाते हुए **वंगृदस्य**=(विषादि पदार्थान् ददाति)=विषादि देनेवाले असुर के **शता पुरः**=सैकड़ों नगरों को **अभिनत्**=विदीर्ण करते हैं। ये घात-पात करनेवाले लोग ऐश्वर्य को खूब बढ़ा लेते हैं। प्रभु इनकी कोठियों को क्षणभर में नष्ट कर डालते हैं। वंगृद की ये पुरियाँ **ऋजिश्वना**=ऋजुमार्ग से गति करनेवाले के द्वारा **परिषूताः**=चारों ओर से घेर ली जाती हैं। यह ऋजिश्वा इनका विनाश करनेवाला होता है। ऋजुमार्ग से चलनेवाला व्यक्ति वंगृद बनकर कोठियाँ नहीं खड़ी करता रहता।

भावार्थ—प्रभु का स्मरण हमें 'करञ्ज, पर्णय व वंगृद' का वध करने में समर्थ करे। यह स्मरण हमें ऋजिश्वा बनाए।

ऋषिः—**सव्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

वासना-सरित्-संतरण

त्वमेतां जनराज्ञो द्विर्दशाबन्धुना सुश्रवसोपजग्मुषः।
षष्टिं सहस्रा नवतिं नव श्रुतो नि चक्रेण रथ्या दुष्पदावृणक् ॥ ९ ॥

१. हे प्रभो! **त्वम्**=आप **एतान्**=इन **द्विर्दश**=बीस **जनराज्ञः**=मनुष्यों पर शासन करनेवाली अशुभवृत्तियों को **वि अवृणक्**=निश्चित रूप से दूर करते हैं। ये अशुभवृत्तियाँ बीस हैं—'दस इन्द्रियों, पाँच प्राणों व मन, बुद्धि, चित्त अहंकार व हृदय' इन बीस से इनका सम्बन्ध है। ये अशुभ वृत्तियाँ बीस होती हुई भी सैकड़ों रूपों में अभिव्यक्त होती हैं, अतः यहाँ उन्हें **षष्टिं सहस्रा**=६० हज़ार कहा है। **नवतिं नव**=निन्यानवें वर्षपर्यन्त इन्हें दूर करने का प्रयत्न करते रहना है। न जाने कब हम इनके शिकार हो जाएँ। २. ये अशुभवृत्तियाँ **अबन्धुना**=संसार में न बन्धनेवाले **सुश्रवता**=ज्ञान-उपदेशों को सुननेवाले के भी **उपजग्मुषः**=समीप आ जाती हैं। इनका आक्रमण बड़े-बड़े ज्ञानियों पर भी हो जाता है। इनके आक्रमण को **श्रुतः**=सम्पूर्ण ज्ञान के पुञ्ज प्रभु ही **दुष्पदा**=बड़ी कठिनता से आक्रमण के योग्य (दुरत्यम्) **रथ्या**=शरीररूप रथ में होनेवाले **चक्रेण**=क्रियाशीलतारूप पहिये से **निवृणक्**=छिन्न करते हैं। प्रभु ही इनके आक्रमण को विफल कर पाते हैं। 'प्रभु-स्मरणपूर्वक क्रिया में लगे रहना ही' एकमात्र उपाय है, जो हमें इन वासनाओं के आक्रमण से बचाता है।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से अनन्त प्रवाहों में बहनेवाली वासना-नदी को हम तैर जाएँ।

ऋषिः—**सव्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सुश्रवस्+तूर्वयाण

त्वमा॑विथ सु॒श्रव॑सं॒ तवो॒तिभि॒स्तव॒ त्राम॑भिरिन्द्र॒ तूर्व॑याणम्।
त्वम॑स्मै॒ कुत्स॑मतिथि॒ग्वमा॒युं म॒हे रा॒ज्ञे यूने॑ अरन्धनायः ॥ १० ॥

१. **त्वम्**=आप **तव ऊतिभिः**=अपने रक्षणों के द्वारा **सुश्रवसम्**=उत्तम ज्ञानवाले पुरुष की **आविथ**=रक्षा करते हो। हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! आप **तूर्वयाणम्**=(तूर्व् यादि) हिंसक काम-क्रोध आदि पर आक्रमण करनेवाले की **तव त्रामभिः**=अपने रक्षा-साधनों से रक्षा करते हैं। हम 'सुश्रवस व तूर्वयाण' बनकर प्रभु की रक्षा के पात्र बनते हैं। २. **त्वम्**=आप **अस्मै**=इस **महे**=महनीय व पूजा की वृत्तिवाले **राज्ञे**=जीवन को व्यवस्थित (Regulated) बनानेवाले **यूने**=दोषों को दूर व अच्छाइयों को समीप प्राप्त करानेवाले इस 'सुश्रवस्' के लिए '**कुत्सम्**'=(कुथ हिंसायाम्) वासनाओं का संहार करनेवाले, **अतिथिग्वम्**=उस महान् अतिथि प्रभु की ओर चलनेवाले **आयुम्**=(एति) गतिशील वीरसन्तान को **अरन्धनायः**=तैयार करते हैं। इसके घर में ऐसी सन्तानों का ही परिपाक होता है।

भावार्थ—हम ज्ञानप्राप्ति के व वासना-संहार के मार्ग पर चलते हुए प्रभु के प्रिय व रक्षणीय बनें। हम पूजा की वृत्तिवाले प्रभु की ओर चलनेवाले व अच्छाइयों को धारण करनेवाले बनकर उत्तम सन्तानों को प्राप्त करें।

ऋषिः—**सव्यः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

देवगोपाः, ते सखायः

य उ॒दृचीन्द्र दे॒वगो॑पाः॒ सखा॑यस्ते शि॒वत॑मा॒ असा॑म।
त्वां स्तो॑षाम॒ त्वया॑ सु॒वीरा॒ द्राघी॑य॒ आयुः॑ प्रत॒रं दधा॑नाः ॥ ११ ॥

१. हे **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ये**=जो हम **उदृचि**=(उद्गता ऋच यस्मिन्) ऋचाओं के, स्तोत्रों के उच्चारण करनेवाले कर्म में **देवगोपाः**=दिव्यगुणों का अपने अन्दर रक्षण करनेवाले बनते हैं, वे हम **ते सखायः**=आपके मित्र बनते हुए **शिवतमाः असाम**=अतिशयेन कल्याण प्राप्त करनेवाले हैं। हम ऋचाओं में विज्ञान का अध्ययन करें। २. हे प्रभो! **त्वां स्तोषाम**=आपका स्तवन करें। **त्वया सुवीराः**=आपके द्वारा हम उत्तम वीर सन्तानोंवाले हों। **द्राघीय**=अतिशयेन दीर्घ व **प्रतरम्**=उत्कृष्ट—जिसमें सब वासनाओं को तैरा गया है **आयुः**=उस जीवन को **दधानाः**=धारण करते हुए हों।

भावार्थ—हम ज्ञानी, देववृत्तिवाले प्रभु के मित्र व कल्याण को प्राप्त करनेवाले बनें। प्रभु-स्तवन करते हुए वीरसन्तानों को व उत्कृष्ट दीर्घजीवन को प्राप्त करें।

यह प्रभु का मित्र 'शरीर-मन व बुद्धि' तीनों को दीप्त करके 'त्रिशोक' बनता है। यह 'प्रियमेध'=यज्ञप्रिय होता है। अगले सूक्त के प्रथम तीन मन्त्रों का ऋषि 'त्रिशोक' व पिछले तीन का यह 'प्रियमेध' है—

२२. [द्वाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**त्रिशोकः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

प्रभु-स्मरण व सोम-रक्षण

अ॒भि त्वा॑ वृषभा सु॒ते सु॒तं सृ॑जामि पी॒तये॑। तृ॒म्पा व्य॑श्नुही॒ मद॑म् ॥ १ ॥

१. हे **वृषभ**=सुखों के वर्षक इन्द्र! **सुते**=सोम की उत्पत्ति होने पर **सुतं पीतये**=इस उत्पन्न सोम के रक्षण के लिए **त्वा**=आपको **अभिसृजामि**=अपने साथ संयुक्त करता हूँ। हृदयदेश में आपके उपस्थित होने पर न वासनाओं का आक्रमण होगा और न ही सोम का विनाश होगा। २. हे प्रभो! **तृम्पा**=आप इस सोम-रक्षण द्वारा प्रसन्न होइए—हम आपके प्रीतिपात्र बनें। आप **मदं व्यश्नुहि**=आनन्दजनक सोम को हमारे अन्दर व्याप्त कीजिए।

भावार्थ—हम प्रभु-स्मरण द्वारा सोम-रक्षण करते हुए आनन्द प्राप्त करें।

ऋषिः—**त्रिशोकः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'उपहस्वा-अविष्यु, ब्रह्मद्विट्' मूढ़

मा त्वा मूरा अविष्यवो मोपहस्वान आ दभन्। माकीं ब्रह्मद्विषो वनः ॥ २ ॥

१. हे प्रभो! **मूराः**=मूढ़ लोग **अविष्यवः**=(अव हिंसायाम्) दूसरों की हिंसा की कामनावाले **त्वा**=आपको **मा आदभन्**=हमारे अन्दर हिंसित करनेवाले न हों। **उपहस्वानः**=उपहास करनेवाले लोग भी हमें आपकी आस्था से दूर करने में समर्थ न हों। इनकी बातें हमारी आस्था को नष्ट न कर पाएँ। २. हे प्रभो! **त्वम्**=आप **ब्रह्मद्विषः**=ज्ञान के साथ अप्रीतिवाले लोगों को **माकीं वनः**=मत प्राप्त हों। ज्ञानी भक्त ही आपका प्रिय हो।

भावार्थ—संसार में हम आध्यात्मिकता का उपहास करनेवाले, पर-हिंसारत मूढ़ लोगों की बातों में आकर प्रभु के प्रति श्रद्धा को न छोड़ बैठें। ज्ञानरुचि बनें और प्रभु को प्राप्त हों।

ऋषिः—**त्रिशोकः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

महे राधसे

इह त्वा गोपरीणसा महे मन्दन्तु राधसे। सरो गौरो यथा पिब ॥ ३ ॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि **इह**=इस जीवन में **त्वा**=तुझे ये सोमकण **गोपरीणसा**=ज्ञान की रश्मियों के चारों ओर व्यापन के द्वारा (परि पूर्वाद् व्याप्तिकर्मणो नसतेः क्विप्) **महे राधसे**=महती सिद्धि के लिए **मन्दन्तु**=आनन्दित करें (मादयन्तु)। सोमकणों का रक्षण करता हुआ तू ज्ञानाग्नि के दीपन से ज्ञानरश्मियों से व्याप्त होकर अविद्यान्धकार का विनाश करनेवाला बन। यह तेरा सर्वमहान् साफल्य होगा। इसी से तेरा जीवन आनन्दमय होगा। २. **यथा**=जैसे **गौरः**=गौरमृग **सरः**=तालाब का जल पीता है इसी प्रकार तू सोम का **पिब**=पान कर—यह सोमपान ही तेरे सारे उत्कर्ष का मूल है।

भावार्थ—हमें चाहिए कि सोम-रक्षण द्वारा जीवन को ज्ञानाग्नि से दीप्त करें। यही आनन्द व साफल्य का मूल है।

ऋषिः—**प्रियमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सूनु सत्यस्य, सत्पतिम्

अभि प्र गोपतिं गिरेन्द्रमर्च यथा विदे। सूनुं सत्यस्य सत्पतिम् ॥ ४ ॥

१. हे स्तोतः! तू **गोपतिम्**=ज्ञान की वाणियों के स्वामी **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **यथा विदे**=यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के लिए **गिरा**=स्तुतिवाणियों से **अभि प्र अर्च**=प्रकर्षेण पूजित करनेवाला हो। २. तू उस प्रभु को पूजित करनेवाला हो जो **सत्यस्य सूनुम्**=सत्य की प्रेरणा देनेवाले हैं तथा **सत्पतिम्**=सज्जनों के रक्षक हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का पूजन करें। प्रभु हमें यथार्थ ज्ञान देंगे, सत्य की प्रेरणा प्राप्त कराएँगे और हमें सज्जन बनाकर हमारा रक्षण करेंगे।

ऋषिः—**प्रियमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

प्रकाशरश्मियों से दीप्त हृदयदेश

आ हरयः ससृज्रिरेऽरुषीरधि बर्हिषि। यत्राभि संनवामहे॥ ५॥

१. प्रभु की उपासना होने पर **अरुषीः**=आरोचमान **हरयः**=प्रकाश की रश्मियाँ **अधि बर्हिषि**= हृदयदेश में **आ ससृज्रिरे**=समन्तात् सृष्ट होती हैं। २. उस हृदयदेश में ये प्रकाशरश्मियाँ व्याप्त होती हैं, **यत्र**=जहाँ कि हम **अभिसंनवामहे**=प्रभु को प्रातः-सायं स्तुत करते हैं।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन से हृदय वासनाशून्य हो जाता है और प्रकाश की रश्मियों से दीप्त हो उठता है।

ऋषिः—**प्रियमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

उपह्वरे विदत्

इन्द्राय गाव आशिरं दुदुह्रे वज्रिणे मधु। यत्सीमुपह्वरे विदत्॥ ६॥

१. **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय **वज्रिणे**=क्रियाशीलतारूप वज्र को हाथ में लिये हुए पुरुष के लिए **गावः**=प्रकाश की रशिमयाँ **मधु**=उस मधुर ज्ञान का **दुदुह्रे**=दोहन करती हैं, जोकि **आशिरम्**= वासनामल को समन्तात् शीर्ण करनेवाला है। २. यह वह समय होता है **यत्**=जबकि **सीम्**=निश्चय से **उपह्वरे**=एकान्त हृदयदेश में समीप ही (Prominently) उस प्रभु को **विदत्**=प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनें। हमें वह मधुर ज्ञान प्राप्त होगा जो हमें हृदयदेश में प्रभु की प्राप्ति के योग्य बनाएगा।

यह प्रभु को पानेवाला व्यक्ति 'विश्वामित्र' बनता है—सबके प्रति स्नेहवाला। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

२३. [त्रयोविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

अद्रिवः! आयाहि

आ तू न इन्द्र मद्र्य१ग्घुवानः सोमपीतये। हरिभ्यां याह्यद्रिवः॥ १॥

१. हे **अद्रिवः**=आदरणीय व वज्रहस्त **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **हुवानः**=पुकारे जाते हुए **मद्र्यक्**=मदभिमुख होकर **नः**=हमारे इस जीवन-यज्ञ में **सोमपीतये**=सोम के पान के लिए—शरीरों में ही सोम के रक्षण के लिए **हरिभ्याम्**=उत्तम इन्द्रियाश्वों के साथ **तू**=निश्चय से **आयाहि**=प्राप्त होइए। २. हमारे हृदयों में आपके स्थित होने पर ही ये इन्द्रियाँ विषयासक्ति से बची रह पाती हैं। तभी सोम का रक्षण सम्भव होता है।

भावार्थ—हे प्रभो! आप हमारे हृदय में दर्शन दीजिए, जिससे इन्द्रियाँ विषयासक्ति से बची रहें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

यज्ञ+ध्यान+क्रियाशीलता

सत्तो होता न ऋत्वियस्तिस्तिरे बर्हिरानुषक्। अयुज्रन्प्रातरद्रयः॥ २॥

१. **नः**=हमारे इस जीवन-यज्ञ में **होता**=यज्ञ करनेवाला यह ऋत्विक् **ऋत्वियः**=समय पर कार्य करनेवाला होता **सत्तः**=स्थित हुआ है, अर्थात् इस शरीर को प्राप्त करके मैं समय पर ठीक अग्निहोत्र आदि कर्मों को करनेवाला बनता हूँ। २. मेरे द्वारा **आनुषक्**=निरन्तर—

प्रतिदिन **बर्हिः**=जिसमें से वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है, वह हृदयासन **तिस्तिरे**=बिछाया गया है। मैं हृदय को पवित्र करके उसपर आसीन होने के लिए आपको पुकारता हूँ। ३. **अद्रयः**=ये प्रभु के उपासक (adore आद्रियते) **प्रातः**=प्रातः-प्रातः ही **अयुञ्जन्**=अपने को अपने कर्त्तव्य-कर्मों में युक्त (संगत) कर देते हैं।

भावार्थ—हम समय पर अग्निहोत्र आदि कर्मों को करनेवाले हों। पवित्र हृदयासन पर प्रभु को आसीन करने का प्रयत्न करें। प्रातः से ही अपने कर्त्तव्य को करने में लग जाएँ।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

(प्रभु-ध्यान—प्रभु-दर्शन) पुरोडाश-सेवन

इमा ब्रह्म ब्रह्मवाहः क्रियन्त आ बर्हिः सीद। वीहि शूर पुरोडाशम्॥ ३॥

१. हे **ब्रह्मवाहः**=ज्ञान की वाणियों का वहन करनेवाले प्रभो! **इमा ब्रह्म**=ये स्तुतिवाणियाँ **क्रियन्ते**=हमसे की जाती हैं। आप **बर्हिः आसीद**=हमारे हृदयासन पर आसीन होइए। हम ध्यान द्वारा हृदय में प्रभु को देखने का प्रयत्न करें। २. हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! आप **पुरोडाशम् वीहि**=जिसमें से पहले यज्ञ के लिए दिया गया है (पुरो दाश्यते यस्मात्) उस यज्ञशेषभूत अन्न का **वीहि**=भक्षण कीजिए। प्रभु ही तो हमारे इस अन्न का पाचन करते हैं, 'अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रतः। प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्'=देह में आश्रित प्रभु ही वैश्वानररूपेण अन्नों का पाचन करते हैं, अतः मैं क्या खाता हूँ, प्रभु ही देहस्थ होकर इस भोजन को करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन करते हुए हृदयों में प्रभु का दर्शन करें। इस देहस्थ प्रभु को ही यज्ञशेषरूप अन्नों का सेवन करता हुआ जानें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सवनेषु-स्तोमेषु-उक्थेषु

रारन्धि सवनेषु ण एषु स्तोमेषु वृत्रहन्। उक्थेष्विन्द्र गिर्वणः॥ ४॥

१. हे **वृत्रहन्**=वासनाओं को विनष्ट करनेवाले प्रभो! **नः**=हमारे **एषु**=इन **सवनेषु**=यज्ञों में **रारन्धि**=आप प्रीतिवाले होइए (रमस्व)। हमसे किये जानेवाले यज्ञ हमें आपका प्रिय बनाएँ। इन यज्ञों में लगे रहकर ही तो हम वासनाओं के आक्रमण से बचे रहते हैं। २. हे **इन्द्र**=शत्रुओं के विद्रावक प्रभो! हमारे इन **स्तोमेषु**=स्तुति-समूहों में आप प्रीतिवाले होइए। प्रभु-स्तवन करते हुए हम भी इन्द्र-जैसे ही बनें। २. हे **गिर्वणः**=ज्ञान की वाणियों से सम्भजनीय प्रभो! **उक्थेषु**=हमसे उच्चारित ज्ञानवाणियों में आप प्रीतिवाले हों। ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करते हुए हम प्रभु के प्रिय बनें।

भावार्थ—हम यज्ञों—स्तोत्रों व ज्ञान की वाणियों के उच्चारणों से प्रभु के प्रिय बनें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सोमपां, उरुं, शवसस्पतिम्, इन्द्रम्

मतयः सोमपामुरुं रिहन्ति शवसस्पतिम्। इन्द्रं वत्सं न मातरः॥ ५॥

१. **मतयः**=हमसे की जानेवाली स्तुतियाँ उस **सोमपाम्**=सोम का रक्षण करनेवाले **उरुम्**=महान् **शवसस्पतिम्**=बल के स्वामी **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् प्रभु को **रिहन्ति**=(लिहन्ति) आस्वादित करती हैं—प्राप्त होती हैं। २. हमारी स्तुतियाँ प्रभु को इसप्रकार प्राप्त होती हैं, **न**=जैसेकि **मातरः**=धेनुएँ **वत्सम्**=बछड़े को अथवा माताएँ बच्चों को, अर्थात् हम बड़े प्रेम से प्रभु का स्तवन करते हैं।

भावार्थ—हम प्रेम से प्रभु-स्तवन करते हुए सोम का शरीर में रक्षण करें, हृदय को विशाल बनाएँ, बल प्राप्त करें और परमैश्वर्यवाले हों।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

तन्वा, महे राधसे, न निदे

स मन्दस्वा ह्यन्धसो राधसे तन्वा महे। न स्तोतारं निदे करः ॥ ६ ॥

१. हे प्रभो! **सः**=वे आप **अन्धसः**=सोम के द्वारा **हि**=निश्चय से **मन्दस्व**=हमें आनन्दित कीजिए। **तन्वा**=शक्तियों के विस्तार के हेतु से तथा **महे राधसे**=महान् ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए आप सोम के द्वारा हमें आनन्दित कीजिए। सोम-रक्षण द्वारा हम अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाले हों तथा मोक्षरूप महान् धन को प्राप्त कर सकें। २. आप **स्तोतारम्**=मुझ स्तोता को **निदे न करः**=निन्दा के लिए न कीजिए। न मैं ओरों की निन्दा करता रहूँ, न निन्दा का पात्र ही बनूँ।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन करता हुआ मैं सोम-रक्षण द्वारा शरीर की शक्तियों का विस्तार करूँ, अन्ततः उस महान् मोक्षधन को प्राप्त करूँ और कभी निन्दा के वशीभूत न हो जाऊँ। न निन्द्य बनूँ, न निन्दक होऊँ।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

वयं त्वायवः, त्वम् अस्मयुः

वयमिन्द्र त्वायवो हविष्मन्तो जरामहे। उत त्वमस्मयुर्वसो ॥ ७ ॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **त्वायवः**=आपको प्राप्त करने की कामनावाले **वयम्**=हम **हविष्मन्तः**=त्यागपूर्वक अदनवाले—यज्ञशेष का सेवन करनेवाले होते हुए **जरामहे**=आपका स्तवन करते हैं। २. **उत**=और हे **वसो**=उत्तम निवास देनेवाले प्रभो! **त्वम् अस्मयुः**=आप हमें अभिमत प्रदान के लिए चाहनेवाले होते हैं—हम आपको चाहते हैं और आपके प्रिय बनते हैं।

भावार्थ—हम हविष्मान् बनकर प्रभु-प्राप्ति की कामनावाले होते हुए प्रभु का स्तवन करें। इसप्रकार हम प्रभु के प्रिय बनें, प्रभु से सब अभिमत वस्तुओं को प्राप्त करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

मा आरे विमुमुचः

मारे अस्मद्वि मुमुचो हरिप्रियार्वाङ् याहि। इन्द्र स्वधावो मत्स्वेह ॥ ८ ॥

१. हे **हरिप्रिय**=प्रीतिकर इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले (हरिः प्रियो यस्य) **इन्द्र**=परमैश्वर्य-शालिन् प्रभो! **अस्मत् आरे**=हमसे दूर **मा विमुमुचः**=रथयुक्त अश्वों को मुक्त मत कर दीजिए। **अर्वाङ् याहि**=आप हमें आभिमुख्येन प्राप्त हों। २. हे **स्वधावः**=आत्मधारणशक्तिवाले प्रभो! **इह**=इस—हमारे जीवन में आप **मत्स्व**=आनन्दित होइए। सोम-रक्षण के द्वारा आप हम उपासकों को आनन्दमय जीवनवाला बनाइए।

भावार्थ—प्रभु हमें समीपता से प्राप्त हों। वे आत्मधारणशक्तिवाले प्रभु सोम-रक्षण द्वारा हमें आनन्दित करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

केशिना-घृतस्नू

अर्वाञ्चं त्वा सुखे रथे वहतामिन्द्र केशिना। घृतस्नू बर्हिरासदे ॥ ९ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **सुखे रथे**=(सु+ख) उत्तम इन्द्रियोंवाले (सुखकर) इस शरीर-रथ में **केशिना**=प्रकाश की रश्मियोंवाले ये इन्द्रियाश्व **त्वा**=आपको **अर्वाञ्चम्**=हमारे अभिमुख **वहताम्**=प्राप्त कराएँ। २. **घृत-स्नू**=दीप्ति को प्रस्तुत करनेवाले ये अश्व आपको **बर्हि**=हमारे हृदयान्तरिक्ष में **आसदे**=बैठने के लिए हमारे अभिमुख प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियाँ ज्ञानदीप्तिवाली होती हुई हमें प्रभु को प्राप्त कराएँ।

अगले सूक्त का ऋषि भी 'विश्वामित्र' ही है—

२४. [चतुर्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाला रथ

उप नः सुतमा गहि सोममिन्द्र गवाशिरम्। हरिभ्यां यस्ते अस्मयुः ॥ १ ॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **नः**=हमारे **सतुम्**=उत्पन्न हुए-हुए सोम को **उप आगहि**=समीपता से प्राप्त होइए। आपकी उपासना से ही हम इस सोम का रक्षण कर पाएँगे। उस सोम को प्राप्त होइए जो **गवाशिरम्**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा समन्तात् वासनाओं को शीर्ण करनेवाला है। २. हे प्रभो! **हरिभ्याम्**=प्रशस्त इन्द्रियों से युक्त **यः ते**=जो आपका रथ है, वह **अस्मयुः**=हमारी कामनावाला हो, अर्थात् हमें प्रशस्त इन्द्रियाश्वों से युक्त शरीर-रथ प्राप्त हो।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से सोम का रक्षण होगा। सुरक्षित सोम ज्ञानवृद्धि व वासना-विनाश का कारण बनेगा। उस समय हमारा शरीर-रथ प्रशस्त इन्द्रियाश्वों से युक्त होगा।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

जितेन्द्रियता-वासनाविनाश-स्तवन

तमिन्द्र मदमा गहि बर्हिष्ठां ग्रावभिः सुतम्। कुविन्न्व स्य तृप्णवः ॥ २ ॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **तं मदम् आगहि**=उस उल्लासजनक सोम को प्राप्त हो, जो **बर्हिष्ठाम्**=वासनाशून्य हृदय में स्थित होनेवाला है। **ग्रावभिः सुतम्**=स्तोताओं से सम्पादित होता है—प्रभु के स्तोता ही इसे अपने अन्दर रक्षित कर पाते हैं। २. तू **कुवित्**=बहुत **नु**=अब शीघ्र ही **अस्य तृप्णवः**=इससे तृप्त हो (तृपेः लेटिरूपम्)। इसके रक्षण से तू प्रीति का अनुभव कर।

भावार्थ—सोम-रक्षण के लिए 'जितेन्द्रियता-वासनाविनाश व स्तवन' साधन हैं। इसके रक्षण से अद्भुत प्रीति का अनुभव होता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

आवृते, सोमपीतये

इन्द्रमित्था गिरो ममाच्छागुरिषिता इतः। आवृते सोमपीतये॥ ३ ॥

१. **इतः**=यहाँ—हमारे गृह की यज्ञभूमि से **मम**=मेरी **गिरः**=स्तुतिरूप वाणियाँ **इषिताः**=हमसे प्रेरित हुई-हुई **इत्था**=सचमुच **इन्द्रम् अच्छा**=प्रभु को लक्ष्य करके **अगुः**=प्रभु की ओर जाती हैं। हम स्तुतिवाणियाँ द्वारा प्रभु का स्तवन करते हैं। २. हम यह स्तवन **आवृते**=प्रभु को अपनी ओर आवृत्त करने के लिए करते हैं। हम अपनी ओर प्रभु की आवृत्ति **सोमपीतये**=सोम के रक्षण के लिए चाहते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन करें। प्रभु को प्राप्त करने से हम सोम का रक्षण कर पाएँगे।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

स्तोमैः-उक्थेभिः

इन्द्रं सोमस्य पीतये स्तोमैरिह हवामहे। उक्थेभिः कुविदागमत्॥ ४॥

१. **इह**=यहाँ—इस जीवन में **सोमस्य पीतये**=सोम के रक्षण के लिए **इन्द्रम्**=उस शत्रुविद्रावक प्रभु को **स्तोमैः**=स्तोत्रों के द्वारा **हवामहे**=पुकराते हैं। २. **उक्थेभिः**=ऊँचे से उच्चार्यमाण इन स्तोत्रों के द्वारा वे प्रभु **कुवित्**=अच्छी प्रकार **आगमत्**=हमें प्राप्त होते हैं। प्रभु-प्राप्ति होने पर काम आदि शत्रुओं का सम्भव ही नहीं रहता, अतः सोमपान सहज में ही हो जाता है।

भावार्थ—हम स्तोत्रों के द्वारा प्रभु की समीपता प्राप्त करते हैं। समीपस्थ प्रभु वासनाविनाश द्वारा सोम का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

इन्द्र-शतक्रतो-वाजिनीवसो

इन्द्र सोमाः सुता इमे तान्दधिष्व शतक्रतो। जठरे वाजिनीवसो॥ ५॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **इमे सोमाः सुताः**=ये सोम सम्पादित हुए हैं। हे **शतक्रतो**=अनन्तशक्ति व प्रज्ञानवाले प्रभो! आप **तान् दधिष्व**=उनको धारण कीजिए। २. हे **वाजिनीवसो**=शक्तिप्रद अन्नों के द्वारा हमें बसानेवाले प्रभो! इन सोमकणों को **जठरे**=हमारे अन्दर ही—शरीर में ही धारण कीजिए। हम इन शक्तिप्रद अन्नों का सेवन करते हुए सोम को अपने अन्दर सुरक्षित कर पाएँ।

भावार्थ—सोम-रक्षण के लिए साधन हैं (क) जितेन्द्रियता (इन्द्र), (ख) सदा कर्मों व ज्ञान-प्राप्ति में लगे रहना (शतक्रतो), (ग) अन्नों का सेवन, मांस का असेवन (वाजिनीवसो)।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

धनञ्जय, वाजेषु दधृषम्

विद्मा हि त्वा धनंजयं वाजेषु दधृषं कवे। अधा ते सुम्नमीमहे॥ ६॥

१. हे **कवे**=क्रान्तप्रज्ञ प्रभो! हम **त्वा**=आपको **हि**=निश्चय से **धनञ्जयम्**=सब धनों का विजेता **विद्म**=जानते हैं। आपको ही **वाजेषु**=संग्रामों में **दधृषम्**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाला जानते हैं। २. **अधा**=इसीलिए अब **ते**=आपके **सुम्नम्**=स्तोत्र को **ईमहे**=चाहते हैं। आपका स्तवन करते हुए हम धनों को भी प्राप्त करेंगे और संग्रामों में विजयी होंगे।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन करते हुए हम संग्रामों में विजयी बनें और धनों को प्राप्त करें।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'गवाशिर्, यवाशिर्' सोम

इममिन्द्र गवाशिरं यवाशिरं च नः पिब। आगत्या वृषभिः सुतम्॥ ७॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **नः**=हमारे **इमम्**=इस **वृषभिः**=अपने अन्दर शक्ति का सेचन करनेवाले पुरुषों के द्वारा **सुतम्**=उत्पन्न किये गये सोम को **आगत्य**=हमें प्राप्त होकर **पिब**=आप पीजिए। वृषा पुरुष अपने अन्दर सोम का सम्पादन करते हैं। प्रभु ही उसका उनके अन्दर रक्षण करते हैं, अतः ये प्रभु की उपासना में प्रवृत्त होते हैं। २. उस सोम का आप पान कीजिए जो **गवाशिरम्**=ज्ञान की रश्मियों के द्वारा समन्तात् वासनाओं को शीर्ण करनेवाला है तथा **यवाशिरम्**=(यु मिश्रणामिश्रणयोः) बुराइयों को दूर करने व अच्छाइयों को प्राप्त कराने के द्वारा सब

अवाञ्छनीय तत्त्वों को विनष्ट करता है।

भावार्थ—प्रभु हमारे अन्दर होते हैं तो सोम का रक्षण करते हैं। यह सोम—ज्ञान की वाणियों के द्वारा वासनाओं को शीर्ण करता है तथा बुराइयों को दूर करके सब अच्छाइयों को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सोम-रक्षण व प्रभु-प्राप्ति

तुभ्येदिन्द्र स्व ओक्ये३ सोमं चोदामि पीतये। एष रारन्तु ते हृदि ॥ ८ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **तुभ्य इत्**=आपकी प्राप्ति के लिए ही मैं **स्वे ओक्ये**=अपने निवासस्थानभूत इस शरीर में ही **सोमम्**=सोम को **पीतये**=पीने के लिए **चोदामि**=प्रेरित करता हूँ। शरीर में सुरक्षित सोम अन्ततः प्रभु-प्राप्ति का साधन बनता है। २. **एषा**=यह सोम **हृदि**=हृदय में **ते रारन्तु**=आपको रमण करानेवाला हो। सोम-रक्षण द्वारा हम हृदयस्थ प्रभु में रमण करनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति का मूल सोम-रक्षण ही है।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

कुशिकासः अवस्यवः

त्वां सुतस्य पीतये प्रत्नमिन्द्र हवामहे। कुशिकासो अवस्यवः ॥ ९ ॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुओं के विद्रावक प्रभो! **सुतस्य**=उत्पन्न हुए सोम के **पीतये**=पान के लिए **प्रत्नम्**=सनातन **त्वम्**=आपको **हवामहे**=पुकारते हैं। प्रभु का आराधन वासना-विद्रावण द्वारा सोम-रक्षण का साधन बनता है। २. **अवस्यवः**=रक्षण की कामनावाले हम **कुशिकासः** (कुश संश्लेषणे)=प्रभु के साथ आलिंगन करनेवाले होते हैं। प्रभु के साथ मेल के द्वारा ही (क्रंशतेर्वा प्रकाशयति कर्मणः) ये सपने हृदयों को प्रकाशमय बनाते हैं।

भावार्थ—हम उत्पन्न सोम के रक्षण के लिए सनातन प्रभु का आराधन करते हैं। प्रभु के आराधन से ही हृदय को प्रकाशमय बना पाते हैं।

प्रभु के आराधन से प्रशस्त इन्द्रियोंवाला यह 'गोतम' बनता है। यह गोतम अगले सूक्त का ऋषि है—

२५. [पञ्चविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

गोषु प्रथमः

अश्वावति प्रथमो गोषु गच्छति सुप्रावीरिन्द्र मर्त्यस्तवोतिभिः।
तमित्पृणक्षि वसुना भवीयसा सिन्धुमापो यथाभितो विचेतसः ॥ १ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! जो **मर्त्यः**=मनुष्य **तव ऊतिभिः**=आपके रक्षणों से **सुप्रावीः**=सम्यक् रक्षित होता है वह **अश्वावति**=उत्तम कर्मेन्द्रियोंवाले यज्ञादि कर्मों में **प्रथमः**=पहला होता है तथा **गोषु**=ज्ञानेन्द्रियों में भी मुख्य होता हुआ **गच्छति**=गतिवाला होता है। प्रभु से रक्षित मनुष्य उत्तम कर्मेन्द्रियों व उत्तम ज्ञानेन्द्रियोंवाला होता है। २. हे प्रभो! आप भी **तम् इत्**=उस प्रशस्त इन्द्रियोंवाले पुरुष को ही **भवीयसा वसुना**=अत्यधिक धन से **पृणक्षि**=सम्पृक्त करते हैं, **यथा**=जैसे **आपः**=जल **अभितः**=सब ओर से **सिन्धुम्**=समुद्र को जल से भरते हैं। हे प्रभो! ये

पुरुष, जिनको आप उत्तम इन्द्रियाँ प्राप्त कराते हैं, और जिन्हें आप प्रभूत धन देते हैं, **विचेतसः**=विशिष्ट ज्ञानवाले होते हैं। 'घृतलवणतण्डुलेन्धनचिन्ता' इन्हें परेशान नहीं किये रखती।

भावार्थ—प्रभु से रक्षित व्यक्ति उत्तम इन्द्रियोंवाला, पर्याप्त धनवाला व विशिष्ट चेतनावाला होता है।

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

विततं यथा रजः (एक व्यापक प्रकाश)

आपो न देवीरुप यन्ति होत्रियमवः पश्यन्ति विततं यथा रजः।
प्राचैर्देवासः प्र णयन्ति देवयुं ब्रह्मप्रियं जोषयन्ते वराइव॥ २॥

१. **देवीः आपः**=दिव्यगुणों से युक्त जल **न**=जैसे समुद्र की ओर जाते हैं, उसी प्रकार हमारी स्तुतियाँ **होत्रियम् उपयन्ति**=होत्र (समर्पण) के योग्य उस प्रभु के समीप प्राप्त होती है। उस समय ये स्तोता लोग **अवः**=(अवस्तोत्) अपने अन्दर—हृदयदेश में उस प्रभु को इसप्रकार **पश्यन्ति**=देखते हैं, **यथा**=जैसेकि **विततं रजः**=एक विस्तृत ज्योति हो। २. **देवासः**=देववृत्ति के लोग **देवयुम्**=दिव्यगुणों का हमारे साथ मिश्रण करनेवाले प्रभु को **प्राचैःप्रणयन्ति**=अग्रगमनों के द्वारा—उन्नतिपथ पर चलने के द्वारा अपने में प्राप्त कराते हैं। **ब्रह्मप्रियम्**=ज्ञान के द्वारा प्रीणित करनेवाले प्रभु को ये स्तोता लोग **जोषयन्ते**=प्रीतिपूर्वक उपासित करते हैं। **वराः इव**=इस प्रकार उपासित करते हैं जैसेकि वर कन्या को।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन करते हुए हम हृदय में प्रभु के प्रकाश को देखते हैं। आगे बढ़ते हुए हम देववृत्ति के बनकर प्रभु को प्राप्त करते हैं। उस ज्ञान के द्वारा प्रीणित करनेवाले प्रभु को ही हम प्रीतिपूर्वक उपासित करते हैं।

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'ज्ञान व कर्म' रूप दो स्तम्भों पर 'भक्ति' रूप छत

अधि द्वयोरदधा उक्थ्यं१ वचो यतस्रुचा मिथुनाया सपर्यतः।
असंयत्तो व्रते ते क्षेति पुष्यति भद्रा शक्तिर्यजमानाय सुन्वते॥ ३॥

१. यह उपासक **द्वयोः अधि**=ज्ञान व कर्मरूप स्तम्भों पर छत के रूप में **उक्थ्यं वचः**=स्तुतिवचन को **अदधाः**=धारण करता है। वही स्तुति मनुष्य का का रक्षण करनेवाली होती है, जोकि ज्ञान व कर्म पर आश्रित हो। **या**=जो **मिथुना**=स्त्री व पुमान्‌रूप द्वन्द्व **यतस्रुचा**=यज्ञ-साधन चमस् आदि पात्रों को ग्रहण किये हुए होते हैं, अर्थात् यज्ञशील होते हैं, अथवा नियमित वाणीवाले—मौनव्रतवाले होते हैं, वे ही वस्तुतः **सपर्यतः**=प्रभु-पूजन करते हैं (वाग्वै स्तुमः श० ६.३.१.८)। २. हे प्रभो! **असंयतः**=विषयों से अबद्ध पुरुष **ते व्रते क्षेति**=आपके व्रत में निवास करता है, इसके जीवन का उद्देश्य आपको प्राप्त करना होता है। इसकी सब क्रियाएँ आपको प्राप्त करने के उद्देश्य से होती हैं। **पुष्यति**=यह पोषण को प्राप्त करता है। इस **यजमानाय**=यज्ञशील **सुन्वते**=सोम का अभिषव (सम्पादन) करनेवाले पुरुष के लिए ही **भद्रा शक्तिः**=कल्याणकर शक्ति होती है। यह शक्तिशाली होता है और इसकी शक्ति सदा हितकर कार्यों में प्रवृत्त होती है।

भावार्थ—हम ज्ञान व कर्मरूप दो स्तम्भों पर भक्तिरूप छत की स्थापना करें। मौनव्रत को धारें। विषयों से अबद्ध होकर प्रभु की ओर चलें। यज्ञशील व सोम का सम्पादन करनेवाले बनकर भद्रशक्ति को प्राप्त करें।

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

सुकृत्यया शम्या

आदङ्गि॑राः प्रथमं द॑धिरे वय॑ इद्धाग्न॑यः शम्या॒ ये सु॑कृत्यया॑।
सर्वं॑ प॒णेः सम॑विन्दन्त॒ भोज॑न॒मश्वा॑वन्तं॒ गोम॑न्त॒मा प॒शुं नरः॑ ॥ ४ ॥

१. **आत्**=गतमन्त्र के अनुसार ज्ञान व कर्मरूप भित्तियों पर भक्तिरूप छत के धारण करने के बाद (आत् अनन्तरमेव) ही **ये अङ्गिराः**=जो ये गतिशील पुरुष (अगि गतौ) थे, वे **सुकृत्यया**=उत्तम रीति से किये जानेवाले **शम्या**=कर्मों से **इद्धाग्नयः**=दीप्त अग्निवाले बनकर—यज्ञ आदि कर्मों को करनेवाले होकर **प्रथमं वयः दधिरे**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करते थे। २. ये अङ्गिरा लोग **पणेः** (पण व्यवहारे) उत्तम व्यवहारों के द्वारा **सर्वं भोजनं**=सम्पूर्ण पालन व पोषण के लिए अवश्यक सामग्री को **समविन्दन्त**=प्राप्त करते थे। यह भोजन **अश्वावन्तम्**=प्रशस्त कर्मेन्द्रियोंवाला व **गोमन्तम्**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियोंवाला हुआ और इस सात्त्विक भोजन का सेवन करते हुए **नरः**=इस उन्नति-पथ पर चलनेवाले लोगों में **आ पशुम्**=सब ओर उस सर्वद्रष्टा प्रभु को पाया—ये सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखनेवाले बनें।

भावार्थ—हम यज्ञादि कर्मों को करते हुए उत्तम जीवनवाले बनें। उत्तम व्यवहारों से सात्त्विक भोजनों को प्राप्त करके प्रशस्तेन्द्रिय बनें। उन्नति-पथ पर चलते हुए हम सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखें।

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

अथर्वा-सूर्यः-व्रतपाः

य॒ज्ञैरथ॑र्वा प्रथ॒मः प॒थस्त॑ते त॒तः सूर्यो॑ व्र॒त॒पा वे॒न आज॑नि।
आ गा आ॑जदु॒शना॑ का॒व्यः सचा॑ य॒मस्य॑ जा॒तम॒मृतं॑ यजामहे ॥ ५ ॥

१. **अथर्वा**=संसार के विषयों में डाँवाडोल न होनेवाला व्यक्ति **प्रथमः**=सर्वप्रथम होता है—वह सबका अग्रणी होता है। **यज्ञैः**=यज्ञों के द्वारा **पथः**=मार्गों को **तते**=विस्तृत करता है। **ततः**=तब ऐसा करने पर, यह **सूर्यः**=(सरति) निरन्तर क्रियाशील व सूर्य के समान चमकनेवाला बनता है। **व्रतपाः**=यह व्रतों का पालन करता है और **वेनः आजनि**=विचारशील हो जाता है—प्रत्येक काम को सोच-समझकर विचारपूर्वक करता है। २. यह **गाः**=इन्द्रियों को **आ आजत्**=समन्तात् अपने-अपने कर्मों में प्रेरित करता है। **उशनाः**=प्रभु-प्राप्ति की कामनावाला होता है। **काव्यः**=ज्ञानी बनता है। इस **यमस्य**=सर्वनियन्ता प्रभु के **सचा**=साथ **जातम्**=प्रादुर्भूतशक्तिवाले **अमृतम्**=विषय वासनाओं के पीछे न मारनेवाले पुरुष को **यजामहे**=हम आदर देते हैं और इसका संग करने का यत्न करते हैं।

भावार्थ—हम स्थिरवृत्ति बनकर यज्ञमय जीवनवाले बनें। सूर्य के समान व्रतों का पालन करनेवाले हों। इन्द्रियों को कर्त्तव्य-कर्मों में प्रेरित करें। प्रभु के सम्पर्क में रहनेवाले लोगों का संसर्ग करें।

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

प्रभु-रमण कहाँ?

ब॒र्हिर्वा॒ यत्स्व॑प॒त्याय॑ वृ॒ज्यते॒ऽर्को वा॒ श्लोक॑मा॒घोष॑ते दि॒वि।
ग्रावा॒ यत्र॒ वद॑ति का॒रुरु॒क्थ्य॑१स्तस्येदिन्द्रो॑ अभिपि॒त्वेषु॑ रण्यति ॥ ६ ॥

१. **यत्**=जब **वा**=निश्चय से **बर्हिः**=यह वासनाशून्य हृदय **स्वपत्याय**=उत्तम सन्तानों के लिए **वृज्यते**=पाप की भावनाओं से पृथक् किया जाता है, अर्थात् जब एक घर में पति-पत्नी अपने हृदयों को पवित्र बनाते हैं और परिणामतः उत्तम सन्तानों को प्राप्त करते हैं। **वा**=या जब **अर्थः**=स्तोता **दिवि**=स्तुतिकर्म में (दिव् स्तुतौ) **श्लोकम् आघोषते**=प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करता है। २. **यत्र**=जिस गृह में **ग्रावा**=सत्कर्मों का उपदेष्टा, **कारुः**=स्वयं उत्तमता से कार्यों को करनेवाला **उक्थ्यः**=स्तोत्रों में उत्तम पुरुष **वदति**=कर्तव्य-पथ का उपदेश करता है, **तस्य इत्**=उस गृह के ही **अभिपित्वेषु**=समीप देशों में—ऐसे घर के वातावरण में ही—**इन्द्रः रण्यति**=प्रभु रमण करते हैं, अर्थात् इस गृह का वातावरण ही प्रभु-प्राप्ति के अनुकूल होता है।

भावार्थ—प्रभु का निवास उन घरों में होता है, जहाँ लोग (क) अपने हृदयों को पवित्र बनाते हैं, (ख) जहाँ प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण होता है, (ग) जहाँ स्वयं 'ज्ञानप्रधान कर्मशील स्तोता' बनकर सन्तानों को कर्त्तव्य-पथ का उपदेश दिया जाता है।

ऋषिः—**अष्टकः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'धीभिः+शच्या' गृणानः

प्रोग्रां पीतिं वृष्ण इयर्मि सत्यां प्रयै सुतस्य हर्यश्व तुभ्यम्।
इन्द्र धेनाभिरिह मादयस्व धीभिर्विश्वाभिः शच्या गृणानः ॥ ७ ॥

१. हे **हर्यश्व**=लक्ष्यस्थान पर पहुँचानेवाले इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **वृष्णे**=सब सुखों के वर्षक **प्रयै**=प्रकृष्ट गमनवाले **तुभ्यम्**=आपकी प्राप्ति के लिए **सुतस्य**=उत्पन्न हुए-हुए इस सोम के **उग्रम्**=उद्गूर्ण बलवाले—तेजस्वी बनानेवाले **सत्याम्**=अवितथ सामर्थ्यवाले **पीतिम्**=पान को **प्र इयर्मि**=अपने में प्रेरित करता हूँ। इस सोम-रक्षण के द्वारा ही तो मैं आपको प्राप्त करूँगा। २. **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **धीभिः**=सब बुद्धियों के द्वारा—ज्ञानप्राप्तियों के द्वारा तथा **शच्या**=कर्मों के द्वारा **गृणानः**=हमसे स्तुति किये जाते हुए **इह**=यहाँ इस जीवन में **विश्वाभिः धेनाभिः**=सम्पूर्ण सत्य-ज्ञानों को देनेवाली इन वेदवाणियों से **मादयस्व**=हमें आनन्दित कीजिए।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लए सोम-रक्षण आवश्यक है, यही हमें तेजस्वी व सत्यवृत्तिवाला बनाता है। हम ज्ञानप्राप्ति में लगने व यज्ञादि कर्मों में प्रवृत्त होने के द्वारा प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमारे हृदयों में वेदवाणियों का प्रकाश करेंगे।

प्रभु की सच्ची उपासना से अपने जीवन में सुख का निर्माण करनेवाला यह 'शुनःशेप' है—यह अत्यन्त मधुर इच्छाओंवाला होने से 'मधुचछन्दाः' होता है। अगले सूक्त में ये ही क्रमशः तीन मन्त्रों के ऋषि हैं—

२६. [षड्विंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शुनःशेपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

योगे-योगे तवस्तरम्

योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे। सखाय इन्द्रमूतये ॥ १ ॥

१. हम **सखायः**=परस्पर सखा बनते हुए—परस्पर मित्रभाव से वर्तते हुए **ऊतये**=अपने रक्षण के लिए **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् प्रभु को **हवामहे**=पुकारते हैं। प्रभु ने ही तो हमें वास्तविक रक्षण प्राप्त कराना है। २. हम उस प्रभु को **वाजेवाजे**=(Conflict, Battle) प्रत्येक संग्राम में पुकारते हैं, जोकि **योगेयोगे तवस्तरम्**=जितना-जितना सम्पर्क होता है उतना ही अधिक शक्ति को प्राप्त करानेवाले हैं। जितना-जितना यह उपासक प्रभु के समीप प्राप्त होता है, उतना-उतना

ही अधिक शक्तिशाली बनता है। प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर ही यह उपासक काम-क्रोध आदि को पराजित कर पाता है।

भावार्थ—हम प्रभु को पुकारें—प्रभु के अधिकाधिक सम्पर्क में आयें, प्रभु हमें शक्ति देंगे और हम शत्रुओं को पराजित कर पाएँगे।

ऋषिः—**शुनःशेपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

ऊतिभिः+वाजेभिः

आ घा गमद्यदि श्रवत्सहस्त्रिणीभिरूतिभिः। वाजेभिरुप नो हवम्॥ २॥

१. **यदि**=यदि वे प्रभु **नः**=हमारी **हवम्**=पुकार को **श्रवत्**=सुनते हैं, अर्थात् यदि हम प्रभु को पुकारते हैं तो वे **सहस्त्रिणीभिः ऊतिभिः**=हज़ारों रक्षणों के साथ तथा **वाजेभिः**=बलों के साथ **घा**=निश्चय से **उप आगमत्**=हमें समीपता से प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु को पुकारें। प्रभु हमें रक्षण व बल प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—**शुनःशेपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

प्रत्न ओकस् (सनातन गृह)

अनु प्रत्नस्यौकसो हुवे तुविप्रतिं नरम्। यं ते पूर्वं पिता हुवे॥ ३॥

१. **प्रत्नस्य ओकसः अनु**=उस सनातन घर का—ब्रह्मलोकरूप अपने मूल गृह का लक्ष्य करके **तुविप्रतिम्**=शक्तिशालियों के (तुवि=Strong) प्रतिनिधिभूत **नरम्**=उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले प्रभु को **हुवे**=पुकारता हूँ। प्रभु की आराधना से ही मैं शत्रुओं पर विजय पाता हुआ ब्रह्मलोकरूप गृह को प्राप्त करूँगा। २. **यं ते**=(त्वाम्) जिन आपको **पूर्वम्**=पहले **पिता**=मेरे पिता **हुवे**=पुकारते थे। एक घर में पिता को प्रभु की आराधना करते हुए देखकर सन्तानों में भी प्रभु की आराधना की वृत्ति उत्पन्न होती है।

भावार्थ—हम ब्रह्मलोकरूप अपने सनातन गृह को प्राप्त करने के उद्देश्य से प्रभु को पुकारें जैसे हमारे पिता पुकारते थे। प्रभु हमें शक्ति देंगे और हम शत्रुओं से न रोके जाकर आगे बढ़ते हुए लक्ष्यस्थान पर पहुँच पाएँगे।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

गृह प्राप्त्यर्थ क्या करें?

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः। रोचन्ते रोचना दिवि॥ ४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार उस ब्रह्मलोक में पहुँचने की कामनावाले लोग **ब्रध्नम्**=(असौ वा आदित्यो ब्रध्नः। —तैब्रा० ३.९.४.१,२) आदित्य को **युञ्जन्ति**=अपने साथ जोड़ते हैं, आदित्य की भाँति अपने को प्रकाशमय बनाने का प्रयत्न करते हैं। **अरुषम्**=(अग्निर्वा अरुषः) अग्नि को अपने साथ जोड़ते हैं, अर्थात् अग्नि ही बनने का प्रयत्न करते हैं—निरन्तर आगे बढ़ने के लिए यत्नशील होते हैं। **चरन्तम्** (वायुर्वै चरन्)=वायु को अपने साथ जोड़ते हैं—वायु की भाँति निरन्तर गतिशील होते हैं। **परितस्थुषः** (इमे वै लोकाः परितस्थुषः)=इन सब लोकों को अपने साथ जोड़ते हैं—विश्वबन्धुत्व की भावना को अपने अन्दर जगाते हैं। २. ऐसा करने पर **दिवि रोचना**=आकाश में चमकते हुए नक्षत्र (नक्षत्राणि वै रोचना दिवि) **रोचन्ते**=इनके लिए रुचिकर होते हैं। ये उन नक्षत्रों में ही जन्म लेते हैं और अन्ततः ब्रह्मलोक को प्राप्त करते हैं अथवा **दिवि**=अपने मस्तिष्करूप द्युलोक में **रोचना**=विज्ञान के नक्षत्रों को **रोचन्ते** (रोचयन्ति)=दीप्त करते हैं। ऐसा करके ही तो वे ब्रह्मलोक को प्राप्त कर सकेंगे।

भावार्थ—ब्रह्मलोक की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम सूर्य की भाँति अपने को दीप्त करें। अग्नि की भाँति अग्रणी बनें, वायु की भाँति क्रियाशील हों, विश्वबन्धु की भावना को धारण करें और अपने मस्तिष्करूप द्युलोक को विज्ञान के नक्षत्रों से चमकाएँ।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

उत्तम इन्द्रियाश्व

युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे। शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥ ५ ॥

१. उपासक लोग **रथे**=अपने शरीर-रथ में **अस्य**=इस प्रभु से दिये गये (प्रभु के) **हरी**=इन्द्रियाश्वों को **युञ्जन्ति**=युक्त करते हैं। उन इन्द्रियाश्वों से युक्त करते हैं, जो **काम्या**=चाहने योग्य व सुन्दर हैं। **विपक्षसा**=विशिष्टरूप से अपने-अपने कार्यों का परिग्रह करनेवाले हैं। २. इस उपासक के ये इन्द्रियाश्व **शोणा**=तेजस्विता से चमकनेवाले व गतिशील (शोणति to go, to move), **धृष्णू**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले व **नृवाहसा**=मनुष्यों को लक्ष्यस्थान पर पहुँचानेवाले हैं।

भावार्थ—उपासक उन इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करता है, जो कमनीय, विशिष्टरूप से अपने कार्यों को करनेवाले, तेजस्वी—शत्रुधर्षक व उसे लक्ष्यस्थान पर पहुँचानेवाले होते हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

केतुं+पेशस्

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे। समुषद्भिरजायथाः ॥ ६ ॥

१. हे **मर्याः**=मनुष्यो! प्रभु **अकेतवे**=प्रज्ञानरहित के लिए **केतुं कृण्वन्**=प्रज्ञान को करता हुआ है तथा **अपेशसे**=तेजस्विता की कमी से रूपरहित के लिए **पेशः**=तेजस्विता से दीप्त रूप को देते हैं। प्रभु प्रज्ञान व शक्ति प्राप्त कराते हैं। २. हे प्रभो! आप **उषद्भिः**=अन्धकार का दहन करनेवाली रश्मियों के साथ **सं अजायथाः**=हमारे हृदयों में प्रादुर्भूत होते हैं।

भावार्थ—हम हृदयों में प्रभु के प्रकाश को देखने का प्रयत्न करें। प्रभु हमें ज्ञान व शक्ति प्राप्त कराते हैं।

प्रज्ञान को प्राप्त करके ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रभु का उत्तमता से प्रतिपादन करनेवाला यह उपासक 'गो-सूक्ति' बनता है। शक्ति प्राप्त करके कर्मेन्द्रियों द्वारा प्रभु का प्रतिपादन करता हुआ यह व्यक्ति 'अश्वसूक्ति' है। ये ही अगले सूक्त के ऋषि हैं—

२७. [सप्तविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

प्रभु-स्तवन व धन-धान्य

यदिन्द्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत्। स्तोता मे गोषखा स्यात् ॥ १ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत्**=यदि **अहम्**=मैं **यथा त्वम्**=आपकी भाँति **इत्**=निश्चय से **एकः**=अद्वितीय **वस्वः ईशीय**=धन का ईश बन जाऊँ, तो **मे स्तोता**=मेरा स्तोता **गोषखा स्यात्**=प्रशस्त इन्द्रियरूप गौओं का मालिक हो जाए। अथवा गौओं का स्वामी बन जाए। उसे धन-धान्य की कमी न रहे। २. प्रभु के स्तोता को धन-धान्य की कमी नहीं रहती। प्रभु उसके योगक्षेम को सम्यक् चलाते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन करते हुए अभ्युदय को प्राप्त करें। प्रशस्त इन्द्रियरूप धनवाले हों।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

धन-प्राप्ति व धन-दान

शिक्षेयमस्मै दित्सेयं शचीपते मनीषिणे। यदहं गोपतिः स्याम्॥ २॥

१. हे **शचीपते**=शक्तियों व प्रज्ञानों के स्वामिन् प्रभो! **यत्**=यदि **अहम्**=मैं **गोपतिः स्याम्**=गौओं का मालिक होऊँ—गोधन को प्राप्त करूँ तो **अस्मै**=इस **मनीषिणे**=विद्वान् पुरुष के लिए **दित्सेयम्**=धन को देने की कामना करूँ और कामना ही नहीं, **शिक्षेयम्**=देनेवाला बनूँ (शिक्षतिर्दानकर्मा) २. हम प्रभु-कृपा से धन प्राप्त करें और ज्ञान-प्रसार के कार्यों में लगे हुए ज्ञानियों के लिए उन धनों को दें। 'गोधन' वेदधेनु का भी संकेत करता है। यदि इस वेदवाणीरूप गोधन को प्राप्त करें तो समझदार पुरुषों के लिए इसे देने की कामना करें और दें। ज्ञान-प्रसार में अधिक-से-अधिक शक्ति लगाएँ।

भावार्थ—हम धन के स्वामी बनें और ज्ञान-प्रसार के कार्यों के लिए उसका दान करें।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

सूनृता धेनु

धेनुष्ट इन्द्र सूनृता यजमानाय सुन्वते। गामश्वं पिप्युषी दुहे॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते धेनुः**=आपकी यह वेदवाणीरूप धेनु **सुनृता**=अत्यन्त प्रिय सत्यवाणीवाली है। यह सत्य-ज्ञान को प्रिय शब्दों में प्राप्त कराती है। २. यह धेनु **यजमानाय**=यज्ञशील **सुन्वते**=सोमशक्ति का सम्पादन करनेवाले पुरुष के लिए **पिप्युषी**=आप्यायन (वर्धन) करनेवाली होती हुई **गाम्**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियों को तथा **अश्वम्**=उत्तम कर्मेन्द्रियों को **दुहे**=प्रपूरित करती है। वेदवाणी को अपनाने से इन्द्रियों की शक्ति का वर्धन होता है।

भावार्थ—वेदवाणीरूप धेनु सत्य-ज्ञान को प्रियरूप में प्राप्त कराती है। इसका अध्ययन इन्द्रियों को प्रशस्त करता है।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

न देवो न मर्त्यः वर्ता अस्ति

न ते वर्तास्ति राधस इन्द्र देवो न मर्त्यः। यद्दित्ससि स्तुतो मघम्॥ ४॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **न देवः**=न तो सूर्य-चन्द्र आदि प्राकृतिक देव (शक्तियाँ) **न मर्त्यः**=न ही कोई मनुष्य **ते राधसः**=आपके ऐश्वर्य का **वर्ता अस्ति**=निवारक है। २. **स्तुतः**=स्तुति किये गये आप **यत्**=जब **मघम्**=ऐश्वर्य को **दित्ससि**=देने की कामनावाले होते हैं तब कोई आपको रोक थोड़े ही सकता है?

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से जब स्तोता को धन प्राप्त होता है तब कोई भी उस कार्य को विहत नहीं कर पाता।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

यज्ञ का महत्त्व

यज्ञ इन्द्रमवर्धयद्यद्भूमिं व्यवर्तयत्। चक्राण ओपशं दिवि॥ ५॥

१. **यज्ञः**=यज्ञ **इन्द्रम् अवर्धयत्**=इन्द्र को बढ़ाता है, जब हम यज्ञात्मक कर्मों में प्रवृत्त होते हैं तब हमारे हृदयों में प्रभु का प्रकाश बढ़ता है। यज्ञ अर्थात् 'देवपूजा, संगतिकरण व दान' में हम जितना-जितना बढ़ते हैं उतना-उतना प्रभु के समीप होते जाते हैं। देवपूजा हमें प्रभु का उपासक बनाती है, संगतिकरण में हम प्रभु की गोद में पहुँच जाते हैं और दान (अर्पण) करके

हम प्रभु में प्रविष्ट होकर प्रभु के साथ 'एक' हो जाते हैं। **यत्**=जबकि प्रभु **भूमिम्**=हमारी इस शरीररूप पृथिवी को **व्यवर्तयत्**=रोगों से परे करते हैं—हमारा शरीर रोगशून्य बनता है। २. इस समय प्रभु **दिवि**=हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक में **ओपशम्**=शिरोभूषण को—ज्ञान के आभरण को **चक्राणः**=करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—यज्ञों द्वारा हृदय में प्रभु के प्रकाश का वर्धन होता है। इससे शरीर नीरोग बनता है और मस्तिष्क ज्ञान से अलंकृत हो जाता है।

ऋषिः—**गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

प्रभु से रक्षा की पात्रता

वावृधानस्य ते वयं विश्वा धनानि जिग्युषः। ऊतिमिन्द्रा वृणीमहे॥ ६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार यज्ञों द्वारा हमारे अन्दर **वावृधानस्य**=निरन्तर बढ़ते हुए, हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **वयम्**=हम **विश्वा धनानि**=सम्पूर्ण धनों को **जिग्युषः**=जीतनेवाले **ते**=आपके **ऊतिम्**=रक्षण को **आवृणीमहे**=सर्वथा वरते हैं। २. हमारी यही कामना होती है कि हम प्रभु की रक्षा के पात्र हों।

भावार्थ—हम यज्ञों द्वारा प्रभु का अपने में वर्धन करें और इसप्रकार प्रभु द्वारा रक्षणीय हों।

अगले सूक्त में भी 'गोषूक्ति व अश्वसूक्ति' ही ऋषि हैं—

२८. [अष्टाविंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

इन्द्रो यदभिनद् वलम्

व्यन्तरिक्षमतिरन्मदे सोमस्य रोचना। इन्द्रो यदभिनद् वलम्॥ १॥

१. **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **सोमस्य मदे**=सोम के मद में—सोम-रक्षण से जनित उल्लास होने पर **अन्तरिक्षम्**=हृदयान्तरिक्ष को **रोचना**=ज्ञानदीप्तियों के साथ **वि अतिरत्**=बढ़ाता है। सुरक्षित सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है। इस ज्ञानदीप्ति से हृदयान्तरिक्ष चमक उठता है। २. यह सब होता तब है **यत्**=जबकि यह इन्द्र **वलम्**=ज्ञान पर आवरण के रूप में आ जानेवाली वासनाओं को **अभिनद्**=विदीर्ण कर डालता है। वासना-विदारण से ही ज्ञानाग्नि का प्रकाश होता है।

भावार्थ—हम जितेन्द्रिय बनकर वासनारूप आवरण को विनष्ट करें और हृदय को ज्ञान-प्रकाश से दीप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—**गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

उद्गाः आजत् अङ्गिरोभ्यः

उद्गा आजदङ्गिरोभ्य आविष्कृण्वन्गुहा सतीः। अर्वाञ्चं नुनुदे वलम्॥ २॥

१. प्रभु **अङ्गिरोभ्यः**=इन गतिशील—कर्त्तव्य-कर्मों के करने में लगे हुए उपासकों के लिए **गुहा सतीः**=अविद्यापर्वत की गुहा में वर्तमान **गाः**=इन्द्रियरूप गौओं को **आविष्कृण्वन्**=प्रकाशयुक्त करता हुआ **उद् आजत्**=उत्कृष्ट गतिवाला करता है। २. इसी उद्देश्य से प्रभु **वलम्**=इस आवरणभूत वासना को **अर्वाञ्चं नुनुदे**=अधोमुख विनष्ट कर देते हैं। वासनाओं को विनष्ट करके ही तो वे इन्द्रियों को प्रकाशमय करते हैं।

भावार्थ—प्रभु वासना को विनष्ट करके, गतिमय कर्त्तव्यपरायण पुरुषों की इन्द्रियों को प्रकाशमय करते हैं।

ऋषिः—**गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

दिवः दृढानि रोचना

इन्द्रेण रोचना दिवो दृढानि दृंहितानि च। स्थिराणि न पराणुदे॥ ३॥

१. **इन्द्रेण**=उस सर्वशक्तिमान् प्रभु से **दिवः**=मस्तिष्करूप द्युलोक के **रोचना**=दीप्त ज्ञान-नक्षत्र **दृढानि**=बड़े बलवाले (स्थूल) **च**=तथा **दृंहितानि**=स्थिर किये जाते हैं। हम प्रभु की उपासना करते हैं, प्रभु हमारे मस्तिष्क में महान् ज्ञान-नक्षत्रों को उदित करते हैं। २. ये सब ज्ञान-नक्षत्र **स्थिराणि**=स्थिर होते हैं, **न पराणुदे**=अपनोदनीय—नष्ट करने योग्य नहीं होते। इन ज्ञान-नक्षत्रों की दीप्ति मस्तिष्करूप द्युलोक को उज्ज्वल बनाये रखती है।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना करते हैं। प्रभु हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक में स्थिर, सबल ज्ञान-नक्षत्रों को उदित करते हैं।

ऋषिः—**गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सोमः अजिरायते

अपामूर्मिर्मदन्निव स्तोम इन्द्राजिरायते। वि ते मदा अराजिषुः॥ ४॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **अपाम् ऊर्मिः इव**=समुद्रगत जलों की तरंग की भाँति **मदन्**=उल्लसित होती हुई **स्तोमः**=स्तुतिवाणी **अजिरायते**=क्षिप्रगामी की भाँति आचरण करती है, अर्थात् शीघ्रता से मेरे मुख से आपके प्रति निर्गत होती है। हम उल्लासयुक्त होकर प्रभु के स्तवन में प्रवृत्त होते हैं। २. हे प्रभो! ऐसा करने पर **ते मदाः**=आपके द्वारा प्राप्त कराये गये सोमपानजनित मद (उल्लास) **अराजिषुः**=विशिष्टरूप से दीप्त होते हैं। हम सोम-रक्षण द्वारा आनन्दमय जीवनवाले बनते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन करते हैं। उल्लसित जीवनवाले होकर सोम-रक्षण से एक विशिष्ट आनन्द का अनुभव करते हैं।

अगले सूक्त के ऋषि भी पूर्ववत् ही हैं—

२९. [एकोनत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

स्तोमवर्धनः+उक्थवर्धनः

त्वं हि स्तोमवर्धन इन्द्रास्युक्थवर्धनः। स्तोतॄणामुत भद्रकृत्॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वं हि**=आप निश्चय से **स्तोमवर्धनः**=स्तुतिसमूहों से हृदयों में वृद्धि को प्राप्त होनेवाले हैं। स्तोता जितना-जितना स्तवन करता है, उतना-उतना अधिकाधिक आपके प्रकाश को हृदय में पाता है। आप **उक्थवर्धनः असि**=वेदसूक्तों से—ज्ञान की वाणियों से—जानने योग्य हैं। जितना-जितना ज्ञान बढ़ता है, उतना-उतना हम आपके समीप होते हैं। २. **उत**=और हे प्रभो! आप **स्तोतॄणां भद्रकृत्**=स्तोताओं का सदा कल्याण करते हैं।

भावार्थ—स्तुतिसमूहों से हम हृदय में प्रभु का वर्धन करें। ज्ञान की वाणियों से प्रभु के समीप और समीप हों। प्रभु स्तोताओं का कल्याण करते ही हैं।

ऋषिः—**गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

उप यज्ञं सुराधसम्

इन्द्रमित्केशिना हरी सोमपेयाय वक्षतः। उप यज्ञं सुराधसम्॥ २॥

१. **केशिना**=प्रकाश की रश्मियोंवाले **हरी**=इन्द्रियाश्व **इन्द्रम् इत्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के ही **उपवक्षतः**=समीप मुझे प्राप्त कराते हैं। मैं अपनी इन्द्रियों के द्वारा विषयों की ओर न जाकर प्रभु की ओर ही चलता हूँ। २. ये मेरे इन्द्रियाश्व **सोमपेयाय**=सोम के शरीर में ही पान (रक्षण) के लिए मुझे इन्द्र के समीप प्राप्त कराते हैं, जोकि **यज्ञम्**=यष्टव्य, पूजनीय हैं और **सुराधसम्**=उत्तम ऐश्वर्य व साफल्य प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें सोम-रक्षण के योग्य बनाएँगे और हमें उत्तम सफलता प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—**गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

अपां फेनेन

अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः। विश्वा यदजय स्पृधः॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **अपाम्**=कर्मों के **फेनेन**=आप्यायन—वर्धन से (स्फायी वृद्धौ) **नमुचेः**=इस पीछा न छोड़नेवाली वासना के **शिरः**=सिर को **उदवर्तयः**=शरीर से उद्गत कर देता है—विच्छिन्न कर डालता है। कर्मों में लगे रहने के द्वारा वासना को विनष्ट कर डालता है। २. यही वह समय होता है **यत्**=जबकि तू **विश्वा**=सब **स्पृधः**=स्पर्धा करती हुई शत्रु-सेनाओं को **अजयः**=जीत लेता है। यह क्रियाशीलता तुझे सब शत्रुओं के पराभव के लिए समर्थ करती हैं।

भावार्थ—हम क्रियाशील बनकर वासना-सम्राट् 'कामदेव' के सिर का उच्छेदन कर डालें।

ऋषिः—**गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

मायाभिः उत् सिसृप्सतः दस्यून् (अवाधूनुथाः)

मायाभिरुत्सिसृप्सत इन्द्र द्यामारुरुक्षतः। अव दस्यूँरधूनुथाः॥ ४॥

१. विषय-वासनाओं की कामनाएँ नाना प्रकार से धोखा देकर हमारे अन्दर प्रवेश कर जाती हैं और हमारे मस्तिष्क में अपना स्थान बना लेती हैं। उस समय इनका पराभव बड़ा कठिन हो जाता है, परन्तु हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **मायाभिः**=छल-कपटों के द्वारा **उत्सिसृप्सतः**=हमारे अन्दर ऊर्ध्वगति की कामनावाली होती हुई और **द्याम् आरुरुक्षतः**=मस्तिष्करूप द्युलोक में आरुढ़ होती हुई इन **दस्यून्**=विनाशक वासनावृत्तियों को **अव अधूनुथाः**=अधोमुख करके नीचे पटक देता है।

भावार्थ—हम विषयवासना की वृत्तियों को मस्तिष्क में अपना स्थान न बना लेने दें। वहाँ अपना स्थान बनाने से पूर्व ही इन्हें विनष्ट कर डालें। ये तो मायावी रूप धारण करके हममें प्रबल होने के लिए यत्नशील होंगी।

ऋषिः—**गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

असुनु संसद्

असुन्वामिन्द्र संसदं विषूचीं व्य नाशयः। सोमपा उत्तरो भवन्॥ ५॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **असुन्वां संसदम्**=(न विद्यते सुनुः अभिभवो यस्याः) सोम के अभिषव में विघात करनेवाली अयष्टृसभा को **विषूचीं व्यनाशयः**=तितर-बितर करके नष्ट कर डाल। 'काम, क्रोध, लोभ' आदि आसुरभावों के होने पर मनुष्य यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त न होकर विषयों की ओर झुकता है और शरीर में सोमशक्ति का रक्षण नहीं कर पाता, अतः इन्हें 'असुनु संसद्' कहा गया है। इस संसद् का विनाश आवश्यक है। २. इस संसद् के विनाश से हे इन्द्र! तू **सोमपाः**=सोम का शरीर में रक्षण करनेवाला हो और **उत्तरः**

भवन्=उत्कृष्टतम जीवनवाला बन।

भावार्थ—हम काम-क्रोध आदि आसुरभावों की संसद् को भंग करके सोम-रक्षण करें और उन्नत जीवनवाले बनें।

काम-क्रोधादि को विनष्ट करनेवाला यह 'बरु' कहलाता है—प्रभु का वरण करनेवाला। यह सर्वव्यापक, वासनाहारक प्रभु का ही स्मरण करता है, अत: 'सर्वहरि' भी कहलाता है। यह 'सर्वहरि बरु' प्रभु का स्तवन करता हुआ कहता है—

३०. [त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषि:—**बरु: सर्वहरिर्वा**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**जगती**॥

घृतं+चारु

प्र ते॑ म॒हे वि॒दथे॑ शंसिषं॒ हरी॒ प्र ते॑ वन्वे व॒नुषो॑ हर्य॒तं मद॑म्।
घृ॒तं न यो हरि॑भि॒श्चारु॒ सेच॑त॒ आ त्वा॑ विशन्तु॒ हरि॑वर्पसं॒ गिर॑:॥ १॥

१. हे प्रभो! **महे विदथे**=महान् ज्ञानयज्ञ के निमित्त **ते हरी**=आपसे दिये गये इन्द्रियाश्वों का **प्रशंसिषम्**=शंसन करता हूँ। इनके द्वारा मैं इस जीवन-संग्राम में ज्ञानपूर्वक कर्म करता हुआ उन्नति-पथ पर आगे बढ़नेवाला बनूँ। २. **वनुष:**=शत्रुओं का हिंसन करनेवाले आपसे मैं **ते**=आपके द्वारा दिये जानेवाले **हर्यतम्**=चाहने योग्य (कमनीय) **मदम्**=सोमपानजनित मद को **प्रवन्वे**=प्रकर्षेण माँगता हूँ। ३. **य:**=जो आप **हरिभि:**=इन इन्द्रियाश्वों के द्वारा **घृतं न**=ज्ञानदीप्ति के समान **चारु**=यज्ञादि कर्मों के आचरण को **सेचते**=हममें सिक्त करते हैं, उन **हरिवर्पसम्**=तेजस्वी रूपवाले **त्वा**=आपको **गिर:**=हमारी स्तुतिवाणियाँ **आविशन्तु**=सर्वथा प्रविष्ट हों। आपका हम स्तवन करें। आप हमें ज्ञानदीप्ति व क्रियाशीलता प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—प्रभु-प्रदत्त इन्द्रियों के महत्त्व को समझते हुए हम उनसे ज्ञान प्राप्त करते हुए सदा उत्तम कर्म करनेवाले बनें। सोम-रक्षण द्वारा इन्हें सशक्त बनाएँ। प्रभु-स्मरण करते हुए ज्ञान व कर्म का अपने में समुच्चय करें।

ऋषि:—**बरु: सर्वहरिर्वा**॥ देवता—**इन्द्र:**॥ छन्द:—**जगती**॥

हरिवन्तं शूषम्

हरिं॒ हि योनि॑म॒भि ये स॒मस्व॑रन्हि॒न्वन्तो॒ हरी॑ दि॒व्यं यथा॒ सद॑:।
आ यं पृ॒णन्ति॒ हरि॑भि॒र्न धे॒नव॒ इन्द्रा॑य शू॒षं हरि॑वन्तमर्चत॥ २॥

१. **ये**=जो उपासक **हि**=निश्चय से **हरिम्**=दु:खों का हरण करनेवाले **योनिम्**=सबके मूल-कारण प्रभु को **अभि समस्वरन्**=प्रात:-सायं सम्यक् स्तुत करते हैं, **यथा**=जिस स्तवन के द्वारा ये उपासक **हरी**=इन्द्रियाश्वों को **दिव्यं सद:**=देवों के निवासस्थानभूत यागगृह में **हिन्वन्त:**=प्रेरित करते हैं। प्रभु-स्तवन के द्वारा इन्द्रियाँ सदा उत्तम कर्मों को करनेवाली होती हैं। वे यज्ञगृहों की ओर जाती हैं। उनका झुकाव क्लबों व चित्रगृहों की ओर नहीं रहता। २. यह उपासक तो वह बन जाता है **यम्**=जिसको **धेनव: न**=गौएँ जैसे दूध से बछड़े को प्रीणित करती हैं, इसी प्रकार इसे वेद-धेनुएँ **हरिभि:**=ज्ञानरश्मिरूप दुग्धों से **आपृणन्ति**=पूरित करती है, अत: हे मनुष्यो! तुम **इन्द्राय**=प्रभु की प्राप्ति के लिए **हरिवन्तम्**=प्रकाश की रश्मियोंवाले **रक्षणम्**=बल को **अर्चत**=पूजित करो। प्रकाश की रश्मियों व बल को सम्पादित करते हुए तुम प्रभु को प्राप्त कर सकोगे।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। इन्द्रियाँ को यज्ञगृहों, न कि क्लबों की ओर प्रेरित करें। प्रकाश की रश्मियों व बल का सम्पादन करते हुए प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**बरुः सर्वहरिर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'हरित आयस' वज्र

सो अस्य वज्रो हरितो य आयसो हरिर्निकामो हरिरा गभस्त्योः।
द्युम्नी सुशिप्रो हरिमन्युसायक इन्द्रे नि रूपा हरिता मिमिक्षिरे॥ ३॥

१. **सः**=वह **अस्य**=इस प्रभु का **वज्रः**=क्रियाशीलतारूप वज्र **हरितः**=सब दुःखों का हरण करनेवाला है, **यः**=जो वज्र **आयसः**=लोहनिर्मित है। यह वज्र शत्रुओं का संहार करता ही है। यह **हरिः**=दुःखों का हरण करता है, **निकामः**=नितरां कमनीय (सुन्दर) है। **हरिः**=वे प्रकाशमय प्रभु **गभस्त्योः**=बाहुओं में **आ** (दधाति)=धारण कराते हैं। प्रभु वस्तुतः कर्म करने के लिए ही तो हाथों को देते हैं। २. **द्युम्नी**=वे प्रभु उत्तम ज्ञान की ज्योतिवाले हैं। **सुशिप्रः**=शोभन हनू व नासिकाओंवाले हैं। उत्तम जबड़ों को प्राप्त कराके वे हमें भोजन को खूब चबाने का संकेत करते हैं। यही नीरोगता का मार्ग है। नासिका छिद्रों को प्राणसाधना में विनियुक्त करने की प्रेरणा देते हैं। यही पवित्रता का मार्ग है 'प्राणायामैर्दहेद् दोषान्'। **हरिमन्युसायकः**=वे प्रभु अत्यन्त तेजस्वी, ज्ञानरूप बाणवाले हैं। इसी के द्वारा वे काम का संहार करते हैं। **इन्द्रे**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु में सब **हरिता रूपा**=तेजस्वी रूप **नि मिमिक्षिरे**=नियोजयितुम् इष्ट होते हैं—सब तेजस्विता के स्रोत वे प्रभु ही तो हैं। जहाँ-जहाँ तेजस्विता है, वह प्रभु के अंश के कारण ही है।

भावार्थ—क्रियाशीलतारूप वज्र बड़ा तेजस्वी व दृढ़ है। प्रभु ने इसे हमारे हाथों में धारण किया है। हम इसे अपनाकर शत्रुओं का संहार करें। ज्ञान प्राप्त करें। चबाकर खाएँ। प्राणायाम करें। सब तेजस्विता का स्रोत प्रभु को जानें।

ऋषिः—**बरुः सर्वहरिर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

सहस्रशोकाः हरिम्भरः

दिवि न केतुरधि धायि हर्यतो विव्यचद्वज्रो हरितो न रंह्या।
तुददहिं हरिशिप्रो य आयसः सहस्रशोका अभवद्धरिंभरः॥ ४॥

१. **वज्रः**=यह क्रियाशीलतारूप वज्र **दिवि**=द्युलोक में **केतुः न**=प्रज्ञापक आदित्य के समान **हर्यतः**=कान्त (दीप्त) होता हुआ **अधिधायि**=हाथों में धारण किया जाता है। यह वज्र **रंह्या**=वेग के दृष्टिकोण से **हरितः न**=सूर्य की किरणरूप अश्वों के समान **विव्यचत्**=सर्वत्र व्याप्त होता है, अर्थात् यह इन्द्र हाथों में क्रियाशीलतारूप वज्र लेकर सब कर्त्तव्य-कर्मों को सम्यक्तया करनेवाला होता है। २. **हरिशिप्रः**=यह प्रकाशमय शिरस्त्राणवाला (शिप्र=Helmet) ज्ञानी पुरुष **यः**=जो **आयसः**=शरीर में लोहे का बना हुआ है वह **अहिम्**=वासना को **तुदत्**=विनष्ट करता है। वासना को विनष्ट करके यह **सहस्रशोकाः**=अनन्तदीप्तिवाला **हरिम्भरः**=प्रकाश की किरणों को धारण करनेवाला **अभवत्**=होता है।

भावार्थ—हम हाथों में चमकते हुए क्रियाशीलतारूप वज्र को धारण करें। वासना को विनष्ट करके दीप्त ज्ञानवाले बनें।

ऋषिः—**बरुः सर्वहरिर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

हरिकेश-हरिजात

त्वंत्वमहर्यथा उपस्तुतः पूर्वेभिरिन्द्र हरिकेश यज्वभिः।
त्वं हर्यसि तव विश्वमुक्थ्यमसामि राधो हरिजात हर्यतम्॥ ५॥

१. हे **हरिकेश इन्द्र**=(हरि=सूर्य, केश=प्रकाशरश्मि) सूर्य के समान प्रकाश की रश्मियोंवाले

सर्वशक्तिमन् प्रभो! **पूर्वेभिः**=अपना पालन व पूरण करनेवाले **यज्वभिः**=यज्ञशील पुरुषों से **उपस्तुतः**=स्तुति किये गये **त्वम्**=आप **त्वम्**=और आप ही **अहर्यथाः**=उस स्तोता के प्रति प्रीतिवाले होते हो और उसे प्राप्त होते हो (हर्य गतिकान्तयोः) २. **त्वं हर्यसि**=आप गतिवाले व दीप्तिवाले होते हो। हे **हरिजात**=सूर्य के समान प्रादुर्भूत हुए-हुए प्रभो! **तव विश्वं राधः**=आपका सम्पूर्ण ऐश्वर्य **उक्थ्यम्**=स्तुति के योग्य है, **असामि**=पूर्ण है तथा **हर्यतम्**=कान्त है। आप ही उपासकों के लिए इस ऐश्वर्य को प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमें प्राप्त होंगे और प्रभु हमें सब आवश्यक ऐश्वर्यों को प्राप्त कराएँगे।

अगले सूक्त में ऋषि-देवता पूर्ववत् ही हैं—

३१. [एकत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**बरुः सर्वहरिर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**जगती**॥

पुरूणि सवनानि+हरयः सोमाः

ता वज्रिणं मन्दिनं स्तोम्यं मद इन्द्रं रथे वहतो हर्यता हरी।
पुरूण्यस्मै सवनानि हर्यत इन्द्राय सोमा हरयो दधन्विरे॥ १॥

१. **ता**=वे **हर्यता**=कमनीय व गतिशील **हरी**=इन्द्रियाश्व **मदे**=सोम-रक्षण-जनित उल्लास के निमित्त **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **रथे**=शरीर-रथ में **वहतः**=धारण करते हैं। प्रभु-स्मरण से ही तो शरीर में सोम का रक्षण होगा। ये प्रभु **वज्रिणम्**=वासना-विनाश के लिए हाथों में वज्र को लिये हुए हैं। **मन्दिनम्**=आनन्दमय हैं व **स्तोम्यम्**=स्तुति के योग्य हैं। प्रभु का स्तवन होने पर वासना का विनाश होता है, सोम का रक्षण होता है और जीवन में आनन्द व उल्लास का अनुभव होता है। २. **अस्मै**=इस **हर्यते**=व्याप्त व गतिशील **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए **हरयः**=सब दुःखों को हरण करनेवाले **सोमाः**=सोमकण तथा **पुरूणि सवनानि**=पालनात्मक यज्ञ **दधन्विरे**=धारण किये जाते हैं। प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि (क) सोमकणों का रक्षण किया जाए तथा (ख) उत्तम कर्मों में (यज्ञात्मक कर्मों में) अपने को व्यापृत रक्खा जाए।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण द्वारा सोम-रक्षण के लिए हम यत्नशील हों। प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि सोमकणों का रक्षण किया जाए तथा यज्ञात्मक कर्मों में हम प्रवृत्त रहें।

ऋषिः—**बरुः सर्वहरिर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**जगती**॥

इन्द्रियों की पवित्रता

अरं कामाय हरयो दधन्विरे स्थिराय हिन्वन्हरयो हरी तुरा।
अर्वद्भिर्यो हरिभिर्जोषमीयते सो अस्य कामं हरिवन्तमानशे॥ २॥

१. उस **कामाय**=कमनीय **स्थिराय**=संग्राम में अविचलित इन्द्र की प्राप्ति के लिए **हरयः**=रोगों को हरण करनेवाले सोमकण **अरम्**=ख़ूब ही धारण किये जाते हैं। सोमकणों के रक्षण से ही प्रभु की प्राप्ति होती है। ये **हरयः**=सोमकण **तुरा**=शीघ्रता से अपना कार्य करनेवाले **हरी**=इन्द्रियाश्वों को **हिन्वन्**=यज्ञ आदि कर्मों में प्रेरित करते हैं। सोम-रक्षण करनेवाले पुरुष का झुकाव यज्ञादि कर्मों के प्रति बना रहता है। २. **यः**=जो **अर्वद्भिः**=(अर्व् to kill) वासनाओं का संहार करनेवाले **हरिभिः**=इन्द्रियाश्वों के साथ **जोषम्**=प्रीतिपूर्वक प्रभु के उपासन को **ईयते**=प्राप्त होता है, **सः**=वह **अस्य**=इसके, अर्थात् अपने **हरिवन्तं कामम्**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाली अभिलाषा को, अर्थात् इस

इच्छा को कि 'मेरी इन्द्रियाँ उत्तम बनी रहें' **आनशे**=व्याप्त करता है। उसकी यह इच्छा अवश्य पूर्ण होती है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए सोमकणों का रक्षण करें। सुरक्षित सोम इन्द्रियों को उत्तम कर्मों में प्रेरित करेगा। जो भी व्यक्ति इन्द्रियों को निरुद्ध करके प्रभु का उपासन करता है, वही अपनी इन्द्रियों को पवित्र कर पाता है।

ऋषिः—**बरुः सर्वहरिर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

हरि-श्म-शारुः

हरिश्मशारुर्हरिकेश आयसस्तुरस्पेये यो हरिपा अवर्धत।
अर्वद्भिर्यो हरिभिर्वाजिनीवसुरति विश्वा दुरिता पारिषद्धरी॥ ३॥

१. **हरि-श्म-शारुः**=शेर के समान शरीरवाला व शत्रुओं को शीर्ण करनेवाला (हरि=शेर, श्म=शरीर, शारु=हिंसक) **हरिकेशः**=सूर्य के समान प्रकाश की रश्मियोंवाला, **आयसः**=लोहशरीर—लोहे के समान दृढ़ शरीरवाला, **तुरस्पेये**=शीघ्रता से पीने योग्य सोम के विषय में **यः**=जो **हरिपाः**=इस दुःखहर्ता सोम का पान करनेवाला है, वह **अवर्धत**=वृद्धि को प्राप्त करता है। सब वृद्धियों का मूल सोम-रक्षण ही है। २. सोम-रक्षण द्वारा **यः**=जो **अर्वद्भिः**=सब बुराइयों का संहार करनेवाले **हरिभिः**=इन्द्रियाश्वों के द्वारा **वाजिनीवसुः**=शक्तिरूप धनवाला है, वह **हरी**=अपने इन्द्रियाश्वों को **विश्वा**=सब **दुरिता**=पापों के **पारिषत्**=पार ले-जाता है। इसप्रकार यह निष्पाप व पवित्र जीवनवाला होता है।

भावार्थ—हम तेजस्वी शरीरवाले, पवित्र मनवाले व प्रकाशमय मस्तिष्कवाले बनने के लिए सोम का रक्षण करें। इन्द्रियों को विषयों से दूर रखते हुए शक्तिरूप धनवाले बनें।

ऋषिः—**बरुः सर्वहरिर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

इन्द्रियों का परिमार्जन

स्रुवेव यस्य हरिणी विपेततुः शिप्रे वाजाय हरिणी दविध्वतः।
प्र यत्कृते चमसे मर्मृजद्धरी पीत्वा मदस्य हर्यतस्यान्धसः॥ ४॥

१. **यस्य**=जिसके **हरिणी**=(ऋक्सामे वा इन्द्रस्य हरी—ष० १.१) ऋक् और साम—विज्ञान व भक्ति—**स्रुवा इव**=दो स्रुवों के समान—यज्ञपात्रों के समान **विपेततुः**=विशिष्ट गतिवाले होते हैं, अर्थात् जिसके जीवन में विज्ञान व भक्ति का समन्वय होता है। २. जिसके **शिप्रे**=हनू और नासिका **वाजाय**=शक्ति-वृद्धि के लिए **हरिणी**=रोगों व वासनाओं का हरण करनेवाले होकर **दविध्वतः**=इन रोगों व वासनाओं को कम्पित करके दूर करते हैं। हनू का चर्वणरूप कार्य ठीक से होने पर रोग नहीं आते तथा नासिका का प्राणायामरूप कार्य ठीक से होने पर वासनाओं का विनाश होता है। ३. इस मन के वासनाशून्य होने पर **हर्यतस्य**=अत्यन्त कान्त—कमनीय **मदस्य**=उल्लासजनक **अन्धसः**=सोम का **पीत्वा**=पान करके इस **कृते चमसे**=संस्कृत शरीर में **यत्**=जो **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्व हैं, उनको **प्रमर्मृजत्**=अच्छी प्रकार शुद्ध कर डालता है। सुरक्षित सोम इन्द्रियों की शक्ति को दीप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—हमारे जीवन-यज्ञ में विज्ञान व भक्ति का समन्वय हो। हम ख़ूब चबाकर भोजन करते हुए व्याधिशून्य बनें, प्राणायाम द्वारा निर्मल मनवाले (आधिशून्य) बनें। सोमपान द्वारा, संस्कृत शरीर में दीप्त इन्द्रियोंवाले हों।

ऋषिः—**बरुः सर्वहरिर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

पूजा-प्रकाश-ओज

उत स्म सद्म हर्यतस्य पस्त्योरत्यो न वाजं हरिवाँ अचिक्रदत्।
मही चिद्धि धिषणाहर्यदोजसा बृहद्वयो दधिषे हर्यतश्चिदा ॥ ५ ॥

१. **उत**=और **हरिवान्**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाला पुरुष **हर्यतस्य**=गति देनेवाले कान्त सोम के **पस्त्योः**=द्यावापृथिवी में—मस्तिष्क व शरीर में **सद्म**=गृह को—निवासस्थान को **अचिक्रदत् स्म**=प्रार्थित करता है। उसी प्रकार प्रार्थित करता है **न**=जैसेकि **अत्यः**=सतत गमनशील अश्व **वाजम्**=संग्राम को चाहता है। २. सोम का मस्तिष्क व शरीर में निवास-स्थान बनानेवाले इस पुरुष की **मही चित्**=निश्चय से उपासना की मनोवृत्तिवाली **धिषणा**=बुद्धि **ओजसा**=ओजस्विता के साथ **अहर्यत्**=उस प्रभु की ओर गतिवाली होती है। हृदय को उपासनावाला, मस्तिष्क को ज्ञान के प्रकाशवाला व शरीर को ओजस्वी बनाकर यह प्रभु की ओर चलता है। इस **हर्यतः**= गतिमय कान्त जीवनवाले पुरुष के **बृहद् वयः**=उत्कृष्ट जीवन को हे प्रभो! आप ही **चित्**=निश्चय से **दधिषे**=धारण करते हैं।

भावार्थ—हम सोम को शरीर में सुरक्षित करके उत्तम मस्तिष्क व शरीर को प्राप्त करें। उपासना, ज्ञान व ओज को धारण करते हुए प्रभु की ओर चलें। प्रभु हमें उत्कृष्ट जीवन प्राप्त कराएँगे।

अगले सूक्त के ऋषि-देवता पूर्ववत् ही हैं—

३२. [द्वात्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**बरुः सर्वहरिर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

हरये-सूर्याय

आ रोदसी हर्यमाणो महित्वा नव्यंनव्यं हर्यसि मन्म नु प्रियम्।
प्र पस्त्यमसुर हर्यतं गोराविष्कृधि हरये सूर्याय ॥ १ ॥

१. हे प्रभो! आप अपनी **महित्वा**=महिमा से **रोदसी**=इस द्यावापृथिवी में **आहर्यमाणः**=सर्वत्र व्याप्तिवाले हैं। सब पदार्थों में आपकी महिमा का दर्शन होता है। इन द्यावापृथिवी व लोक-लोकान्तरों का निर्माण करके **नु**=अब **नव्यम्**=अत्यन्त स्तुत्य (नु स्तुतौ) **नव्यम्** (नव गतौ)=कर्मों का उपदेश देनेवाले **मन्म**=ज्ञान को **हर्यसि**=आप प्राप्त कराते हैं। यह ज्ञान **प्रियम्**=प्रीति का जनक होता है—आनन्द देनेवाला है। २. हे **असुर**=ज्ञान देकर वासनाओं को विक्षिप्त करनेवाले प्रभो! (असु क्षेपणे) आप **हरये**=औरों के दुःख को हरनेवाले **सूर्याय**=निरन्तर गतिशील पुरुष के लिए **गोः**=इस वेदवाणी के **हर्यतम्**=कान्त—चाहने योग्य **पस्त्यम्**=गृह को **प्र आविष्कृधि**=प्रकर्षेण आविष्कृत करते हैं। जो भी हरि व सूर्य बनता है वही इस वेदवाणीरूप गृह को प्राप्त करता है।

भावार्थ—प्रभु की महिमा सर्वत्र व्याप्त है। प्रभु लोक-लोकान्तरों का निर्माण करके हमारे लिए प्रशस्त ज्ञान प्राप्त कराते हैं। जो भी पुरुष 'हरि व सूर्य' बनते हैं, प्रभु उनके लिए वेदज्ञान का प्रकाश करते हैं।

ऋषिः—**बरुः सर्वहरिर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

दशोणि यज्ञ

आ त्वा॑ हु॒र्यन्तं॑ प्र॒युजो॒ जना॑नां॒ रथे॑ वहन्तु॒ हरि॑शिप्रमिन्द्र।
पिबा॒ यथा॒ प्रति॑भृतस्य॒ मध्वो॒ हर्य॑न्य॒ज्ञं स॑ध॒मादे॒ दशो॑णिम्॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **हरिशिप्रम्**=हरणशील हैं हनू व नासिका जिसकी, जिसके जबड़े भोजन को ख़ूब चबाकर रोगों को दूर करनेवाले हैं और नासिका प्राणायाम के द्वारा वासनाओं को विनष्ट करनेवाली है, उस **हर्यन्तम्**=प्रभु-प्राप्ति की कामनावाले **त्वा**=तुझको **जनानाम्**=शक्तियों का विकास करनेवाले लोगों की **प्रयुजः**=योगवृत्तियाँ **रथे**=इस शरीर-रथ में **आवहन्तु**=धारण करनेवाली हों, इन योगवृत्तियों के द्वारा तू सब शक्तियों का धारण करनेवाला बन। २. योगवृत्तियों को तू इसलिए अपनानेवाला हो, **यथा**=जिससे **प्रतिभृतस्य**=प्रतिदिन तेरे अन्दर धारण किये गये **मध्वः**=सोम का **पिब**=तू पान करे तथा **सधमादे**=प्रभु के साथ आनन्द-प्राप्ति के निमित्त **दशोणिम्**=दशों इन्द्रियों को विषयों से पृथक् करनेवाले **यज्ञम्**=श्रेष्ठतम कर्मों को **हर्यन्**=चाहनेवाला हो।

भावार्थ—योगवृत्तियों को अपनाते हुए हम सोम का रक्षण करें तथा दशों इन्द्रियों को विषयों से पृथक् करके उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहें। यही प्रभु के साथ मिलकर आनन्द प्राप्त करने का मार्ग है।

ऋषिः—**बरुः सर्वहरिर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

मधुर व शक्तिशाली जीवन

अपा॒: पूर्वे॑षां हरिवः सु॒ताना॒मथो॑ इ॒दं सव॑नं॒ केव॑लं ते।
म॒म॒द्धि सोमं॒ मधु॑मन्तमिन्द्र स॒त्रा वृ॑षं ज॒ठर॒ आ वृ॑षस्व॥ ३॥

१. हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले जीव! तूने **पूर्वेषाम्**=इन पालन व पूरण करनेवाले **सुतानाम्**=उत्पन्न हुए-हुए सोमकणों का **अपाः**=पान किया है। **अथ उ**=और निश्चय से **इदं सवनम्**=यह सोम का उत्पादन **केवलं ते**=शुद्ध तेरे ही उत्कर्ष के लिए है। २. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **मधुमन्तं सोमम्**=जीवन को अत्यन्त मधुर बनानेवाले इस सोम को **ममद्धि**=(पिब सा०) पीनेवाला बन—इसे शरीर में ही व्याप्त कर। हे **वृषन्**=शक्तिशालिन्! तू **सत्रा**=सदा **जठरे**=अपने अन्दर **आवृषस्व**=इस सोम का सेचन करनेवाला बन।

भावार्थ—शरीर में उत्पन्न किये गये सोमकणों का शरीर में रक्षण होने पर ही जीवन मधुर व शक्तिशाली बनता है।

सोम-रक्षण द्वारा शरीरस्थ 'पाँचों भूतों व मन, बुद्धि, अहंकार' इन आठों को ठीक रखनेवाला यह व्यक्ति 'अष्टक' बनता है। यह सोम-रक्षण के महत्त्व को इसप्रकार प्रकट करता है—

३३. [त्रयस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**अष्टकः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

क्रियामय, उपासनावाला जीवन

अ॒प्सु धू॒तस्य॑ हरिवः॒ पिबे॒ह नृभि॑: सु॒तस्य॑ ज॒ठरं॑ पृणस्व।
मि॒मि॒क्षुर्यमद्र॑य इन्द्र॒ तुभ्यं॒ तेभि॑र्वर्धस्व॒ मद॑मुक्थवाहः॥ १॥

१. हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **इह**=इस हमारे जीवन-यज्ञ में **नृभिः सुतस्य**=उन्नति-पथ पर चलनेवाले लोगों से सम्पादित तथा **अप्सु धूतस्य**=कर्मों में पवित्र किये गये इस सोम का **पिब**=पान कीजिए। कर्मों में लगे रहने पर वासनाओं का आक्रमण नहीं होता और इसप्रकार सोम शरीर में सुरक्षित रहता है। इस सोम के द्वारा **जठरं पृणस्व**=हमारे आभ्यन्तर को पूरित कीजिए। यह सोम शरीर में ही व्याप्त हो जाए। २. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **यम्**=जिस सोम को **अद्रयः**=उपासक लोग **तुभ्यम्**=आपकी प्राप्ति के लिए **मिमिक्षुः**=अपने जठरों में सिक्त करते हैं, **तेभिः**=उन सोमकणों के द्वारा **उक्थवाहः**=स्तोत्रों को धारण करनेवाले इस पुरुष के **मदम्**=हर्ष को **वर्धस्व**=बढ़ाइए। सोम-रक्षण द्वारा शक्ति व ज्ञान का वर्धन होकर नीरोगता व निर्मलता प्राप्त होती है और जीवन आनन्दमय बनता है।

भावार्थ—सोम-रक्षण के लिए आवश्यक है कि हम कर्मों में लगे रहें, उन्नति-पथ पर आगे बढ़ें। सोम-रक्षण द्वारा प्रभु की प्राप्ति तथा ज्ञानवृद्धि होकर आनन्द की वृद्धि होगी।

ऋषिः—**अष्टकः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'उग्रा सत्या' पीति

प्रोग्रां पीतिं वृष्ण इयर्मि सत्यां प्रयै सुतस्य हर्यश्व तुभ्यम्।
इन्द्र धेनाभिरिह मादयस्व धीभिर्विश्वाभिः शच्या गृणानः॥ २॥

१. हे **हर्यश्व**=प्रकाशमय इन्द्रियाश्वोंवाले प्रभो! **वृष्णे**=सब सुखों के वर्षक **तुभ्यम्**=आपके प्रति **प्रयै**=जाने के लिए **सुतस्य**=इस उत्पन्न हुए-हुए सोम की **उग्राम्**=हमें तेजस्वी बनानेवाली तथा **सत्याम्**=जीवनों को सत्यमय बनानेवाली **पीतिम्**=शरीर में ही रक्षा को **प्र इयर्मि**=प्रकर्षेण प्राप्त होता हूँ। मैं सोम-रक्षण द्वारा तेजस्वी व सत्य जीवनवाला बनकर आपको प्राप्त करता हूँ। २. हे **इन्द्र**=ज्ञानैश्वर्यवाले प्रभो! **धेनाभिः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **इह मादयस्व**=यहाँ—इस जीवन में हमें आनन्दित कीजिए। आप ही **विश्वाभिः धीभिः**=सम्पूर्ण प्रज्ञानों से तथा **शच्या**=शक्ति से **गृणानः**=स्तूयमान हैं। सम्पूर्ण प्रज्ञान व शक्ति के स्वामी आप ही हैं। हम भी आपकी उपासना के द्वारा सोम का रक्षण करते हुए आपसे ज्ञान व शक्ति प्राप्त करें।

भावार्थ—सोम-रक्षण द्वारा जीवन को उग्र (तेजस्वी) व सत्य बनाएँ। प्रभु हमें ज्ञान व शक्ति अवश्य प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**अष्टकः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उशिक् व ऋतज्ञ

ऊती शचीवस्तव वीर्येण वयो दधाना उशिज ऋतज्ञाः।
प्रजावदिन्द्र मनुषो दुरोणे तस्थुर्गृणन्तः सधमाद्यासः॥ ३॥

१. हे **शचीवः**=शक्तिमन् प्रभो! **तव ऊती**=आपके रक्षण के द्वारा तथा (तव) **वीर्येण**=आपकी शक्ति के द्वारा **उशिजः**=मेधावी **ऋतज्ञः**=जीवन में ऋत के अनुसार (नियमित) कार्यों को करनेवाले लोग **वयः दधाना**=उत्कृष्ट जीवन को धारण करते हैं। २. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! 'उशिक् ऋतज्ञ' **गृणन्तः**=आपका स्तवन करते हुए **सधमाद्यासः**=और आपके साथ आनन्द का अनुभव करते हुए **मनुषः दुरोणे**=एक विचारशील पुरुष के (दुर्=बुराई, ओण्=अपनयन) अपनीत मलवाले शरीर-गृह में **प्रजावत् तस्थुः**=सब शक्तियों के विकास (प्रजन्=प्रादुर्भाव) के साथ स्थित होते हैं।

भावार्थ—हम मेधावी व समय पर ठीक कार्यों को करनेवाले बनकर प्रभु से रक्षण व शक्ति

को प्राप्त करते हुए उत्कृष्ट जीवन को धारण करें। प्रभु-स्तवन करते हुए हम प्रभु-उपासन में आनन्द का अनुभव करें और इस पवित्र शरीर-गृह में सब शक्तियों के विकास के साथ स्थित हों।

यह प्रभु-स्तवन करनेवाला व प्रभु के साथ आनन्द का अनुभव करनेवाला 'गृत्स-मद' अगले सूक्त का ऋषि है—

अथ चतुर्थोऽनुवाकः।

३४. [चतुस्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गृत्समदः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

इन्द्र

यो जात एव प्रथमो मनस्वान्देवो देवान्क्रतुना पर्यभूषत्।
यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः॥ १॥

१. **सः इन्द्रः**=प्रभु वे हैं **यः जातः एव**=जो सदा से प्रादुर्भूत हैं। प्रभु 'कभी जन्म लेते हों' ऐसी बात नहीं। वे सदा से हैं। **प्रथमः**=वे अधिक-से-अधिक विस्तारवाले हैं। **मनस्वान्**=ज्ञानवाले हैं। **देवः**=ये दिव्य गुणयुक्त प्रभु **देवान्**=सूर्य-चन्द्र, नक्षत्र आदि देवों को **क्रतुना**=शक्ति से **पर्यभूषत्**=अलंकृत करते हैं। प्रभु की महिमा से ही ये सब देव देवत्व को प्राप्त करते हैं। २. **यस्य**=जिनके **शुष्मात्**=बल से **रोदसी**=द्यावापृथिवी **अभ्यसेताम्**=भयभीत हो उठते हैं, हे **जनासः**=लोगो! **नृम्णस्य**=बल की **मह्ना**=महिमा से **सः इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु हैं। 'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः' प्रभु की शक्ति के भय से ही अग्नि आदि देव अपना-अपना कार्य ठीक से कर रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु सदा से हैं, ये ही देवों को देवत्व प्राप्त कराते हैं। प्रभु की शक्ति की महिमा से ही सारे सूर्य आदि देव अपनी व्यवस्था में चल रहे हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सर्वाधार प्रभु

यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्यः पर्वतान्प्रकुपिताँ अरम्णात्।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात्स जनास इन्द्रः॥ २॥

१. **जनासः**=हे लोगो! **इन्द्रः सः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु वे हैं **यः**=जोकि **व्यथमानाम्**=भूकम्पादि से कम्पित होती हुई **पृथिवीम्**=पृथिवी को **अदृंहत्**=दृढ़ करते हैं। **यः**=जो **प्रकुपितान्**=मानो कुपित होकर लावा आदि के रूप में गर्म पदार्थों को बाहर फेंकते हुए **पर्वतान्**=पर्वतों को भी **अरम्णात्**=बड़ा रमणीय बना देते हैं। २. प्रभु वे हैं **यः**=जिन्होंने **अन्तरिक्षम्**=इस अन्तरिक्षलोक को **वरीयः**=अतिशयेन विशाल **विममे**=बनाया है और **यः**=जोकि **द्याम्**=द्युलोक को [**नृम्णस्य मह्ना**=अपने बल की महिमा से] **अस्तभ्नात्**=थामते हैं।

भावार्थ—प्रभु वे हैं जोकि पृथिवी को दृढ़, पर्वतों को रमणीय, अन्तरिक्ष को विशाल व द्युलोक को स्वस्थानस्थित बनाते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सप्तसिन्धु प्रवहण

यो हत्वाहिमरिणात्सप्त सिन्धून्यो गा उदाजदपधा वलस्य।
यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक्समत्सु स जनास इन्द्रः॥ ३॥

१. हे **जनासः**=लोगो! **इन्द्रः सः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु वे हैं **यः**=जो **अहिम्**=हमारा विनाश करनेवाली वासना का (आहन्ति) **हत्वा**=विनाश करके **सप्तसिन्धून्**=दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व मुखरूप सप्त ऋषियों से प्रवाहित किये जानेवाले सात (सर्पणशील) ज्ञान-प्रवाहों को **अरिणात्**=गतिमय करते हैं, और जो **वलस्य**=ज्ञान पर पर्दे के रूप में आ जानेवाली वासना के **अपधा**=(अप-धा) दूर स्थापन के द्वारा **गाः**=ज्ञान की वाणियों को **उद् आजत्**=उत्कर्षेण प्रेरित करते हैं। २. प्रभु वे हैं **यः**=जो **अश्मनोः अन्तः**=दो मेघों के अन्दर **अग्निम्**=विद्युत् रूप अग्नि को **जजान**=प्रादुर्भूत करते हैं। इसी प्रकार हमारे जीवनों में ज्ञान व श्रद्धारूप अश्माओं के बीच में कर्मरूप अग्नि को उत्पन्न करते हैं और **समत्सु**=वासना-संग्रामों में **संवृक्**='काम-क्रोध' आदि शत्रुओं का वर्जन करनेवाले हैं। इन प्रभु का ही स्मरण करें।

भावार्थ—प्रभु वासना-विनाश के द्वारा हमारे जीवनों में ज्ञानप्रवाहों को चलाते हैं। ज्ञान और श्रद्धा को उत्पन्न करके हमें कर्मशील बनाते हैं। काम-क्रोध आदि का विनाश करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

दासं वर्णम् अधरं गुहाकः

येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दासं वर्णमधरं गुहाकः।
श्वघ्नीव यो जिगीवां लक्षमाददर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः॥ ४॥

१. **येन**=जिन्होंने **इमा विश्वा**=इन सब लोकों को **च्यवना**=अस्थिर-नश्वर **कृतानि**=बनाया है। दृढ़-से-दृढ़ भी लोक को प्रभु प्रलय के समय विदीर्ण कर देते हैं। **यः**=जो **दासं वर्णम्**=औरों का उपक्षय करनेवाले मानवसमूह को **अधरम्**=निचली योनियों में **गुहाकः**=संवृत ज्ञान की (गुह संवरणे) स्थिति में करते हैं, अर्थात् इन्हें पशु-पक्षियों व वृक्षादि स्थावर योनियों में जन्म देते हैं। यहाँ इनकी बुद्धि सुप्त-सी रहती है। ३. **यः**=जो **जिगीवान्**=सदा विजयी प्रभु **अर्यः**=वैश्यवृत्तिवाले कृपण व्यक्ति की **पुष्टानि**=सम्पत्तियों को इसप्रकार **आदत्**=छीन लेते हैं, **इव**=जैसेकि **श्वघ्नी**=व्याध **लक्षम्**=अपने लक्ष्यभूत मृग आदि को ले-लेता है। हे **जनासः**=लोगो! **सः**=वे कृपण-धनहर्ता प्रभु ही **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली हैं।

भावार्थ—प्रभु वे हैं जो (क) इन दृढ़-से-दृढ़ लोकों का भी विदारण करनेवाले हैं (ख) औरों का उपक्षय करनेवालों को निचली योनियों में जन्म देते हैं। (ग) कृपणों के धनों का अपहरण कर लेते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अर्यः पुष्टीः विज इव आमिनाति

यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्।
सो अर्यः पुष्टीर्विजइवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः॥ ५॥

१. आसुरवृत्तिवाले लोग **यम्**=जिस **घोरम्**=शत्रुभयंकर प्रभु को '**कुह सः इति**'='अरे वे कहाँ हैं?' इसप्रकार **पृच्छन्ति**=पूछते हैं **उत**=और **एनम्**=इनको '**न एषः अस्ति इति**'='ये नहीं हैं' इसप्रकार **ईम् आहुः**=निश्चय से कहते हैं। ऐसा कहते हुए ये अन्याय-मार्गों से धनार्जन करते

हैं। २. **सः**=वे प्रभु **अर्यः**=इन मानवजाति के शत्रुभूत असुरों की **पुष्टीः**=सम्पत्तियों को **विजः इव**=भूकम्प की तरह **आमिनाति**=सर्वथा नष्ट करते हैं। हे **जनासः**=लोगो! **अस्मै**=इस प्रभु के लिए **श्रत् धत्त**=श्रद्धा करो। **सः इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली हैं—सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु में अविश्वास करनेवाले अन्याय्य मार्गों से धनार्जन करते हैं। प्रभु इनके सम्पत्ति-भण्डारों को भूकम्प की भाँति नष्ट कर देते हैं। प्रभु में विश्वास आवश्यक है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'युक्तग्रावा-सुतसोम'

यो र॒ध्रस्य॑ चोदि॒ता यः कृ॒शस्य॒ यो ब्र॒ह्मणो॒ नाध॑मानस्य की॒रेः।
यु॒क्तग्रा॑व्णो॒ यो॑ऽवि॒ता सु॑शि॒प्रः सु॒तसो॑मस्य॒ स ज॑नास॒ इन्द्रः॑ ॥ ६ ॥

१. हे **जनासः**=लोगो! **इन्द्रः सः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु वे हैं, **यः**=जो **रध्रस्य**=समृद्ध पुरुषों के **चोदिता**=प्रेरक हैं। उन्हें यज्ञादि कर्मों में धन के उपयोग की प्रेरणा देनेवाले ये प्रभु ही हैं। प्रभु वे हैं, **यः**=जो **कृशस्य**=दुर्बल के भी प्रेरक हैं। इसे उत्साहित करते हुए आगे बढ़ने के योग्य बनाते हैं। प्रभु वे हैं **यः**=जो **नाधमानस्य**=याचना करते हुए **कीरेः**=स्तोता के लिए धनों को प्रेरित करते हैं तथा **ब्रह्मणः**=ज्ञानी के प्रेरक हैं—ज्ञानी के लिए ज्ञान देनेवाले प्रभु ही हैं। २. प्रभु वे हैं **यः**=जो **युक्तग्राव्णः** (ग्रावा=प्राण)=प्राणायाम द्वारा चित्तवृत्ति को प्रभु में लगानेवाले के **अविता**=रक्षक हैं तथा **सुतसोमस्य**=अपने अन्दर सोम का सम्पादन करनेवाले पुरुष को **सुशिप्रः**=उत्तम जबड़ों व नासिका-छिद्रों को प्राप्त करानेवाले हैं। वस्तुतः जबड़ों से भोजन को ठीक चबाता हुआ तथा नासिका-छिद्रों से प्राणायाम करता हुआ ही यह सुतसोम बन पाता है।

भावार्थ—प्रभु 'धनी, निर्धन, ज्ञानी व स्तोता' सभी को समुचित प्रेरणा देनेवाले हैं। प्राणसाधना करनेवाले व सोम का सम्पादन करनेवाले पुरुष को उत्तम जबड़ों व नासिका को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु के प्रशासन में

यस्याश्वा॑सः प्र॒दिशि॒ यस्य॒ गावो॒ यस्य॒ ग्रामा॒ यस्य॒ विश्वे॒ रथा॑सः।
यः सूर्यं॒ य उ॒षसं॑ ज॒जान॒ यो अ॒पां ने॒ता स ज॑नास॒ इन्द्रः॑ ॥ ७ ॥

१. हे **जनासः**=लोगो! **इन्द्रः सः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु वे हैं, **यस्य**=जिनके **प्रदिशि**=प्रशासन में **अश्वासः**=हमारी कर्मेन्द्रियाँ कर्मों में व्याप्त होती हैं और **यस्य**=जिसके प्रशासन में ही **गावः**=अर्थों की गमक ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान-प्राप्ति का कार्य करती हैं। **यस्य**=जिसके प्रशासन में ये **ग्रामाः**=प्राणसमूह अपना-अपना कार्य करते हैं और **यस्य**=जिसके प्रशासन में ही **विश्वे**=सब **रथासः**=शरीर-रथ गति कर रहे हैं। 'भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया'। २. आधिदैविक जगत् में भी **यः**=जो **सूर्यम्**=सूर्य को **जजान**=प्रादुर्भूत करते हैं और **यः**=जो **उषसम्**=उषा को प्रकट करते हैं। सूर्यकिरणों द्वारा जलों का वाष्पीभवन करके, मेघनिर्माण द्वारा **यः**=जो **अपाम्**=जलों के **नेता**=प्राप्त करानेवाले हैं, वे प्रभु ही 'इन्द्र' है।

भावार्थ—प्रभु के प्रशासन में ही हमारी 'कर्मेन्द्रियाँ, ज्ञानेन्द्रियाँ, प्राणसमूह व शरीर-रथ' गति कर रहे हैं। आधिदैविक जगत् में भी प्रभु के प्रशासन में ही 'सूर्य, उषा व मेघ' आदि देव अपना-अपना कार्य करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सर्वाराध्य प्रभु

यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते परेऽवर उभया अमित्राः।
समानं चिद्रथमातस्थिवांसा नाना हवेते स जनास इन्द्रः ॥ ८ ॥

१. हे **जनासः**=लोगो! **इन्द्रः सः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु वे हैं, **यम्**=जिनको **संयती**=सम्यक् गति करते हुए **क्रन्दसी**=परस्पर आह्वान-सा करनेवाले ये द्यावापृथिवी **विह्वयेते**=विविध रूपों में पुकारते हैं। द्युलोक से पृथिवीलोक तक निवास करनेवाले सब प्राणी प्रभु को ही पुकारते हैं। २. **परे**=उत्कृष्ट मोक्षमार्ग पर चलनेवाले निष्काम कर्मयोगी भी प्रभु का आराधन करते हैं और **अवरे**=सकाम कर्म-मार्ग पर चलनेवाले ये निचली श्रेणी के व्यक्ति भी प्रभु को ही पुकारते हैं। ३. **उभयाः अमित्राः**=रणाङ्गण में एक-दूसरे के विरुद्ध मोर्चों को लगाये हुए ये दोनों शत्रु-सैन्य भी विजय के लिए उस प्रभु को ही पुकराते हैं। ४. **चित्**=निश्चय से **समानं रथम्**=समान ही गृहस्थरूप रथ पर **आतस्थिवांसा**=स्थित पति-पत्नी भी **नाना हवेते**=भिन्न-भिन्न रूपों में उस प्रभु का ही आराधन करते हैं। पति उचित धन के लिए आराधना करता है तो पत्नी गृह को सुचारुरूपेण चला सकने के लिए याचना करती है।

भावार्थ—सब संसार प्रभु का ही आराधन करता है। प्रभु से ही उस-उस कामना को प्राप्त करता है '**लभते च ततः कामान्मयैव विहितान् हि तान्**'।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'सर्वविजेता' प्रभु

यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत्स जनास इन्द्रः ॥ ९ ॥

१. हे **जनासः**=लोगो! **इन्द्रः सः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु वे हैं, **यस्मात् ऋते**=जिनके विना **जनासः**=लोग **न विजयन्ते**=विजय को प्राप्त नहीं करते। वस्तुतः सब विजय प्रभु की ही है 'जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि, सत्त्वं सत्त्ववतामहम्'। २. प्रभु वे हैं, **यम्**=जिनको **युध्यमानाः**=युद्ध करते हुए लोग **अवसे**=रक्षण के लिए **हवन्ते**=पुकारते हैं। प्रभु ही युद्ध में हमें शत्रुपराभव की शक्ति प्राप्त कराते हैं। ३. प्रभु वे हैं **यः**=जो **विश्वस्य**=संसार का **प्रतिमानम्** (An adversary)= प्रतिस्पर्द्धा करनेवाले योद्धा **बभूव**=हैं। सारा संसार हमारे विरुद्ध हो, परन्तु प्रभु का हमें साथ प्राप्त हो तो हम पराजित न होंगे। प्रभु तो वे हैं, **यः**=जो **अच्युतच्युत्**=दृढ़-से-दृढ़ (च्यावयितुम् अशक्यम्) भी लोकों को च्युत करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सब विजयों के करनेवाले हैं। सबके रक्षक हैं। अनन्तशक्तिवाले हैं। सब शत्रुओं के पराजेता हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'दस्यु-हन्ता' प्रभु

यः शश्वतो मह्येनो दधानानमन्यमानाञ्छर्वा जघान।
यः शर्धते नानुददाति शृध्यां यो दस्योर्हन्ता स जनास इन्द्रः ॥ १० ॥

१. **यः**=जो **शश्वतः**=बहुत ही **महि एनः दधानान्**=महान् पापों को धारण करनेवाले, **अमन्यमानान्**=प्रभु में आस्था न रखनेवाले पापियों को **शर्वा**=हनन-साधन वज्र आदि से

जघान=नष्ट कर डालते हैं। हे **जनासः**=लोगो! **सः इन्द्रः**=वे ही परमैश्वर्यशाली प्रभु हैं। २. प्रभु वे हैं, **यः**=जो **शर्धते**=बल के अभिमान में निर्बलों का हिंसन करनेवाले के लिए **शृध्याम्**=शत्रु प्रसहनशक्ति को **न अनुददाति**=नहीं देते हैं और **यः**=जो **दस्योः हन्ता**=औरों का उपक्षय करनेवाले दस्युओं के हन्ता हैं।

भावार्थ—प्रभु ही पापियों का विनाश करते हैं। अत्याचारियों की शक्तियों को छीन लेते हैं तथा दस्युओं के विनाशक हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

पर्वतवासी शम्बर का विनाश

यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत्।
ओजायमानं यो अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः॥ ११॥

१. अविद्या पाँच पर्वोंवाली होने से 'पर्वत' है। इस अविद्या-पर्वत में ही ईर्ष्या का निवास है। अज्ञान में फँसा मनुष्य ईर्ष्या-द्वेष में फँसा रहता है। 'आचत्वारिंशतः संपूर्णता' इस चरक वाक्य के अनुसार मनुष्य ४० वर्ष में सब शक्तियों के परिपाक को प्राप्त कर लेता है। उस समय भी वह इस ईर्ष्या को अपना पीछा करता हुआ देखता है। **यः**=जो **शम्बरम्**=(शं-वर) शान्ति पर पर्दा डाल देनेवाली, **पर्वतेषु क्षियन्तम्**=अविद्या-पर्वत में निवास करती हुई ईर्ष्या को **चत्वारिंश्यां शरदि**=चालीसवें वर्ष में भी **अन्वविन्दत्**=अपना पीछा करता हुआ पाता है और इस ईर्ष्या को विनष्ट करने के लिए यत्नशील होता है। २. उस समय **ओजायमानम्**=अत्यन्त ओजस्वी (बलवान्) की तरह आचरण करती हुई, **अहिम्** (आहन्ति)=विनाशकारिणी, **शयानम्**=हमारे अन्दर छिपे रूप में रहनेवाली **दानुम्**=शक्तियों को छिन्न करनेवाली इस ईर्ष्या को **यः जघान**=जो विनष्ट करते हैं, हे **जनासः**=लोगो! **सः इन्द्रः**=वे ही प्रभु हैं। प्रभु ही हमें ईर्ष्या-द्वेष से ऊपर उठने के योग्य बनाते हैं।

भावार्थ—अज्ञान के कारण ईर्ष्या से ऊपर उठना सम्भव नहीं होता। इस अति प्रबल भी ईर्ष्या-द्वेष की भावना को प्रभु-कृपा से हम पराजित कर पाते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'अचारुक-आस्ना'

यः शम्बरं पर्यतरत्कसीभिर्योऽचारुकास्नापिबत्सुतस्य।
अन्तर्गिरौ यजमानं बहुं जनं यस्मिन्नामूर्छत्स जनास इन्द्रः॥ १२॥

१. **यः**=जो **कसीभिः**=गतिशीलताओं के द्वारा—निरन्तर कर्म में लगे रहने के द्वारा **शम्बरं**=शान्ति के विनाशक ईर्ष्या नामक असुर को **पर्यतरत्**=(पर्यतारयत् सा०) पार करने में—तैर जाने में हमें समर्थ करता है। प्रभु हमें निरन्तर क्रियाओं में प्रेरित करके ईर्ष्या से ऊपर उठाते हैं। अकर्मण्य लोग ही ईर्ष्या-द्वेष में फँसते हैं। २. वे प्रभु ही वस्तुतः **अचारुक-आस्ना**=सदा न चरते रहनेवाले मुख से **सुतस्य अपिबत्**=उत्पन्न हुए-हुए सोम का पान करते हैं। प्रभु उपासक को जिह्वा के संयम के द्वारा सोम के रक्षण के योग्य बनाते हैं। भोजन का संयम हमें ब्रह्मचर्य पालन में समर्थ करता है। ३. **यस्मिन्**=जिस सोम का रक्षण होने पर **गिरौ अन्तः**=(आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः) आचार्य गर्भ (गिरि गुरु) के अन्दर निवास करते हुए **यजमानम्**=देवपूजन करते हुए—बड़ों का आदर करते हुए **बहुं जनम्**=बहुत लोगों को जो **आमूर्छत्**=(Strengthens) शक्ति देता है, हे **जनासः**=लोगो! **सः इन्द्रः**=वही परमैश्वर्यशाली प्रभु है।

आचार्यकुल में निवास करते हुए विनीत ब्रह्मचारियों को प्रभु ही वृद्धि प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—क्रियाशील बनाकर प्रभु हमें ईर्ष्या से ऊपर उठाते हैं। जिह्वा-संयम के द्वारा सोम-रक्षण के योग्य बनाते हैं। आचार्यकुलवासी ब्रह्मचारियों को प्रभु ही उन्नति प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

रौहिणासुर-वध

यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मानवासृजत्सर्तवे सप्त सिन्धून्।
यो रौहिणमस्फुरद्वज्रबाहुर्द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः ॥ १३ ॥

१. **यः**=जो **सप्तरश्मिः**=गायत्री आदि सात छन्दों में ज्ञान की रश्मियों को देनेवाले हैं। **वृषभः**=ज्ञान द्वारा सब सुखों का वर्षण करनेवाले हैं और **तुविष्मान्**=अत्यन्त प्रवृद्ध बलवाले हैं। हमारे जीवनों को **सर्तवे**=प्रवाहित करने के लिए **सप्त सिन्धून्**=सात छन्दों में प्रवाहित होनेवाली ज्ञान-नदियों को **अवासृजत्**=वासनाओं के बन्धन से मुक्त करते हैं, अर्थात् वासना-विनाश द्वारा हमारे जीवन में ज्ञान-प्रवाहों को प्रवाहित करते हैं। २. **यः**=जो **वज्रबाहुः**=वज्रहस्त प्रभु **रौहिणम्**=निरन्तर बढ़नेवाले और बढ़ते-बढ़ते **द्याम् आरोहन्तम्**=द्युलोक तक जा पहुँचनेवाले लोभ को **अस्फुरत्**=विनष्ट कर डालते हैं। हे **जनासः**=लोगो! **सः इन्द्रः**=वे ही परमैश्वर्यशाली प्रभु हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे अन्दर सप्त छन्दोमयी ज्ञान-नदियों को प्रवाहित करते हैं। इनको प्रवाहित करने के लिए ही वे विघ्नभूत लोभ को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'ब्रह्माण्ड के शासक' प्रभु

द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते शुष्माच्चिदस्य पर्वता भयन्ते।
यः सोमपा निचितो वज्रबाहुर्यो वज्रहस्तः स जनास इन्द्रः ॥ १४ ॥

१. **अस्मै**=इस प्रभु के लिए **द्यावापृथिवी चित्**=द्युलोक व पृथिवीलोक भी **नमेते**=नमन करते हैं, अर्थात् ये सब इस प्रभु के शासन में चलते हैं। **अस्य**=इसके **शुष्मात्**=शत्रु-शोषक बल से **पर्वताः**=पर्वत भी **भयन्ते**=भयभीत होते हैं, अर्थात् दृढ़-से-दृढ़ पर्वत को भी प्रभु विदीर्ण कर डालते हैं। २. **यः**=जो प्रभु **सोमपाः**=(सोम=उत्पन्न जगत्) उत्पन्न जगत् के रक्षक हैं। **निचितः**=(निकेति=to observe) सर्वद्रष्टा हैं। **वज्रबाहुः**=वज्रसदृश बाहुवाले हैं। कभी न थकनेवाली भुजाओंवाले, अर्थात् अत्यन्त शक्तिसम्पन्न हैं। **यः**=जो **वज्रहस्तः**=दुष्टों को दण्डित करने के लिए हाथ में वज्र लिये हुए हैं, हे **जनासः**=लोगो! **सः इन्द्रः**=सब शत्रुओं के विद्रावक वे प्रभु ही 'इन्द्र' हैं।

भावार्थ—सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रभु के शासन में है। वे प्रभु अनन्तशक्तिवाले व सर्वद्रष्टा हैं। दुष्टों को दण्डित करके ठीक मार्ग पर लानेवाले हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'ब्रह्म-सोम-राधः'

यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं यः शंसन्तं यः शशमानमूती।
यस्य ब्रह्म वर्धनं यस्य सोमो यस्येदं राधः स जनास इन्द्रः ॥ १५ ॥

१. **यः**=जो **सुन्वन्तम्**=सोम का अभिषव करनेवाले का—शरीर में सोम का रक्षण करनेवाले का **अवति**=रक्षण करता है, **यः**=जो **पचन्तम्**=ज्ञानाग्नि में अपने को परिपक्व करनेवाले को रक्षित

करता है, **यः**=जो **शंसन्तम्**=प्रभु का शंसन करनेवाले का रक्षण करता है और **शशमानम्**=प्लुत गति से अपने कर्त्तव्य-कर्मों को करनेवालों को **ऊती**=रक्षण के द्वारा प्राप्त होता है। २. **यस्य**=जिसका—जिससे दिया हुआ, **ब्रह्म**=ज्ञान **वर्धनम्**=हमारी वृद्धि का कारण होता है। **यस्य**=जिसका—जिससे उत्पन्न किया गया **सोमः**=सोम हमारी वृद्धि का साधक होता है और **यस्य**=जिसका **इदं राधः**=यह ऐश्वर्य है, हे **जनासः**=लोगो! **सः इन्द्रः**=वही परमैश्वर्यशाली प्रभु 'इन्द्र' है।

भावार्थ—प्रभु 'सोमरक्षक, ज्ञानाग्नि में अपने को परिपक्व करनेवाले, स्तोता, क्रियाशील' व्यक्ति को प्राप्त होते हैं। प्रभु से दिया गया ज्ञान, प्रभु से उत्पन्न किया गया सोम तथा प्रभु-प्रदत्त ऐश्वर्य हमारा वर्धक होता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'स्वयम्भू' ब्रह्म

जातो व्य᳡ख्यत्पित्रोरुपस्थे भुवो न वेद जनितुः परस्य।
स्तविष्यमाणो नो यो अस्मद् व्रता देवानां स जनास इन्द्रः॥ १६॥

१. **जातः**=प्रादुर्भूत हुआ-हुआ यह प्रभु **पित्रोः उपस्थे**=द्यावापृथिवी की गोद में **व्यख्यत्**=प्रकाशित होता है। द्यावापृथिवी में सर्वत्र उस प्रभु की महिमा का प्रकाश होता है। यह प्रभु **भुवः**=मातृभूत पृथिवी को तथा **परस्य जनितुः**=उत्कृष्ट पितृस्थानीय द्युलोक को **न वेद**=नहीं जानता, अर्थात् जैसे ये द्युलोक व पृथिवीलोक सबके माता व पिता के रूप में हैं, इसी प्रकार प्रभु के भी कोई 'माता व पिता हों' ऐसी बात नहीं। प्रभु सबके मातृपितृभूत पृथिवी व द्युलोक को जन्म देते हैं। प्रभु को जन्म देनेवाला कोई नहीं—वे 'स्वयम्भू' हैं। २. **यः**=जो **अस्मत्**=हमसे **स्तविष्यमाणः**=स्तुति किये जाते हुए **नः**=हमारे **व्रता**=कर्मों को **देवानाम्**=देवों के कर्म बना देते हैं। प्रभु स्तोता को दिव्य कर्मोंवाला बनाते हैं। हे **जनासः**=लोगो! **सः इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु 'इन्द्र' हैं।

भावार्थ—द्यावापृथिवी प्रभु की महिमा का प्रकाश करते हैं। प्रभु के कोई माता-पिता नहीं हैं। स्तोता को प्रभु दिव्य कर्मोंवाला बनाते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'एकवीर' इन्द्र

यः सोमकामो हर्यश्वः सूरिर्यस्माद्रेजन्ते भुवनानि विश्वा।
यो जघान शम्बरं यश्च शुष्णं य एकवीरः स जनास इन्द्रः॥ १७॥

१. **यः**=जो **सोमकामः**=सोम को चाहते हैं—प्रभु की सर्वोपरि कामना यही है कि हम अपने अन्दर उत्पन्न होनेवाले इस सोम का रक्षण करें। **हर्यश्वः**=सब दुःखों का हरण करनेवाले इन्द्रियाश्वों को देनेवाले हैं। प्रभु-प्रदत्त कर्मेन्द्रियाँ व ज्ञानेन्द्रियाँ हमारे सब दुःखों का हरण करनेवाली हैं। **सूरिः**=वे प्रभु ज्ञानी हैं—ज्ञान के पुञ्ज हैं—ज्ञानस्वरूप हैं। **यस्मात्**=जिस प्रभु से **विश्वा भुवनानि**=सब भुवन **रेजन्ते**=चमकते हैं। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। २. **यः**=जो प्रभु **शम्बरम्**=शान्ति पर पर्दा डाल देनेवाली ईर्ष्या को **जघान**=नष्ट कर डालते हैं **च**=और **यः**=जो **शुष्णम्**=सब शक्तियों का शोषण कर डालनेवाले 'काम' को नष्ट करते हैं। इसप्रकार **यः**=जो **एकवीरः**=अद्वितीय वीर है, हे **जनासः**=लोगो! **सः इन्द्रः**=वे ही परमैश्वर्यशाली प्रभु 'इन्द्र' है।

भावार्थ—प्रभु हमसे चाहते हैं कि हम सोम का रक्षण करें। वे प्रभु हमें दुःखहारक इन्द्रियाँ

देते हैं। वे सर्वज्ञ प्रभु ही सब भुवनों को दीप्त करते हैं। प्रभु ही हमें ईर्ष्या व काम के संहार में समर्थ करते हैं।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रियासः-सुवीरासः

यः सुन्वते पचते दुध्र आ चिद्वाजं दर्दर्षि स किलासि सत्यः।
वयं त इन्द्र विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथमा वदेम॥ १८॥

१. **यः**=जो **दुध्रः**=दुर्धर्ष व अजेय प्रभु **सुन्वते**=अपने अन्दर सोम का अभिषव करनेवाले के लिए तथा **पचते**=ज्ञानाग्नि में अपना परिपाक करनेवाले के लिए **चित्**=निश्चय से **वाजम्**=शक्ति को **आदर्दर्षि**=खूब ही प्राप्त कराते हैं। **सः**=वे आप **किल**=निश्चय से **सत्यः असि**=सत्यस्वरूप हैं। २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **वयम्**=हम **विश्वह**=सदा **ते**=आपके **प्रियासः**=प्रिय बनें, तथा **सुवीरासः**=उत्तम वीर बनते हुए **विदथम् आवदेम**=ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करें—ज्ञानी बनने के लिए यत्नशील हों।

भावार्थ—सोमरक्षक, ज्ञानाग्नि में अपना परिपाक करनेवाले पुरुष को प्रभु शक्ति देते हैं। हम सदा प्रभु के प्रिय, वीर होते हुए ज्ञान की वाणियों का ही उच्चारण करें।

यह ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करनेवाला व्यक्ति प्रभु का प्रिय स्तोता बनता है, अतः 'नोधाः' कहलाता है—स्तुति का धारण करनेवाला। यह अपने अन्दर शक्ति को भर पाता है, अतः 'भरद्वाज' होता है। यह स्तवन करता हुआ कहता है कि—

३५. [पञ्चत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**नोधाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'स्तवन व हवन' से प्रभु-परिचरण

अस्मा इदु प्र तवसे तुराय प्रयो न हर्मि स्तोमं माहिनाय।
ऋचीषमायाध्रिगव ओहमिन्द्राय ब्रह्माणि राततमा॥ १॥

१. **अस्मै**=इस **तवसे**=प्रवृद्ध, **तुराय**=शत्रु-संहारक, **माहिनाय**=पूजनीय **ऋचीषमाय**=(ऋचा समः) जितनी भी स्तुति की जाए उससे अन्यून, **अध्रिगवे**=अप्रतिहत गमनवाले प्रभु के लिए **ओहम्**=(वहनीय) प्रापणीय **स्तोमम्**=स्तुतिसमूह को **इत् उ**=निश्चय से **प्र हर्मि**=प्रकर्षेण प्राप्त कराता हूँ, (हरामि)। उसी प्रकार प्राप्त कराता हूँ **न**=जैसेकि **प्रयः**=अन्न को। जैसे मैं नियमपूर्वक अन्न का सेवन करता हूँ, उसी प्रकार नियमितरूप से प्रभु-स्तवन भी करता हूँ। २. **इन्द्राय**=इस प्रभु की प्राप्ति के लिए ही मुझसे **ब्रह्माणि**=प्रवृद्ध सोम आदि हवियाँ **राततमा**=अतिशयेन प्रदत्त होती हैं, अर्थात् जहाँ मैं स्तुति करता हूँ, वहाँ इस प्रभु की प्राप्ति के लिए यज्ञादि कर्मों को भी करता हूँ।

भावार्थ—मैं नियमितरूप से प्रभु-स्तवन व यज्ञ आदि करता हुआ प्रभु की प्रीति के लिए प्रयत्नशील होता हूँ।

ऋषिः—**नोधाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'हृदा, मनसा, मनीषा'

अस्मा इदु प्रयइव प्र यंसि भराम्याङ्गूषं बाधे सुवृक्ति।
इन्द्राय हृदा मनसा मनीषा प्रत्नाय पत्ये धियो मर्जयन्त॥ २॥

१. **अस्मै इत् उ**=इस प्रभु के लिए निश्चय से **प्रयः इव**=अन्न की भाँति **प्रयंसि**=तू अपने को प्राप्त कराता है। जैसे प्रातः-सायं तू अन्न का सेवन करता है, उसी प्रकार प्रातः-सायं तू प्रभु का उपासन भी करता है। तू यह निश्चय कर कि मैं **बाधे**=शत्रुओं के बन्धन के निमित्त **सुवृक्ति**=शत्रुओं का सम्यक् वर्जन करनेवाले **आंगूषम्**=स्तोत्र को **भरामि**=सम्पादित करता हूँ। प्रभु-स्तवन ही काम-क्रोध-लोभ आदि शत्रुओं का वर्जन करनेवाला होगा। २. उस **प्रत्नाय**=सनातन **पत्ये**=सबके रक्षक **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए स्तोता लोग **हृदा**=हृदय से—हृदयस्थ श्रद्धा से, **मनसा**=मन से—मन के दृढ़ संकल्प से तथा **मनीषा**=बुद्धि के द्वारा **धियः**=अपने कर्मों को **मर्जयन्त**=शुद्ध करते हैं। इस कर्मशुद्धि के होने पर ही प्रभु का दर्शन होगा।

भावार्थ—हम प्रातः-सायं प्रभु-स्तवन करें। प्रभु-प्राप्ति के लिए 'हृदय, मन व बुद्धि' की पवित्रता से कर्मों की पवित्रता का सम्पादन करें।

ऋषिः—**नोधाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उपमं स्वर्षां आंगूषम्

अस्मा इदु त्यमुपमं स्वर्षां भराम्याङ्गूषमास्ये᳡न।
मंहिष्ठमच्छोक्तिभिर्मतीनां सुवृक्तिभिः सूरिं वावृधध्यै॥ ३॥

१. **अस्मै इत् उ**=इस प्रभु के लिए निश्चय से **त्यम्**=उस **उपमम्**=(उपमीयते अनेन) समीपता से मापनेवाले, अर्थात् यद्यपि प्रभु का पूर्ण मापन सम्भव नहीं, तो भी बहुत कुछ प्रभु के गुणों का प्रतिपादन करनेवाले **स्वर्षाम्**=सुख व प्रकाश को प्राप्त करानेवाले **आंगूषम्**=स्तोत्र को **आस्येन**=मुख से **भरामि**=सम्पादित करता हूँ। २. उस **मंहिष्ठम्**=दातृतम—सर्वाधिक देनेवाले **सूरिम्**=ज्ञानी प्रभु को **मतीनाम् अच्छ उक्तिभिः**=मननपूर्वक की गई स्तुतियों के स्वच्छ वचनों से तथा **सुवृक्तिभिः**=सम्यक् पापों के वर्जन से **वावृधध्यै**=अपने में बढ़ाने के लिए होता हूँ।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन से प्रकाश की प्राप्ति होती है। स्तुति व पापवर्जन के द्वारा हम प्रभु की भावना को अपने में बढ़ा पाते हैं।

ऋषिः—**नोधाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

स्तुति व ज्ञान

अस्मा इदु स्तोमं सं हिनोमि रथं न तष्टेव तत्सिनाय।
गिरश्च गिर्वाहसे सुवृक्तीन्द्राय विश्वमिन्वं मेधिराय॥ ४॥

१. **इव**=जैसे **तष्टा**=बढ़ई **तत्सिनाय**=(तेन सिनम् अन्नं यस्य) रथ द्वारा आजीविका करनेवाले रथ-स्वामी के लिए **रथम्**=रथ को प्राप्त कराता है, इसी प्रकार मैं भी **अस्मै**=इस प्रभु के लिए **इत् उ**=निश्चय से **स्तोमं संहिनोमि**=स्तुति को प्राप्त कराता हूँ। २. **च**=और **गिर्वाहसे**=ज्ञान की वाणियों को धारण करनेवाले प्रभु के लिए **गिरः**=इन ज्ञानपूर्वक उच्चरित स्तुतिवाणियों को प्राप्त कराता हूँ। उस **मेधिराय**=(मेध=यज्ञम्) यज्ञ के योग्य अथवा मेधावी **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **विश्वमिन्वम्**=सब गुणों का व्यापन करनेवाली **सुवृक्ति**=सम्यक् पापों का वर्जन करनेवाली स्तुति को प्रेरित करता हूँ।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए मैं ज्ञान व स्तुति को अपनाता हूँ।

ऋषिः—**नोधाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अर्कं जुह्वा समञ्जे (सतत स्तवन)

अस्मा इदु सप्तिमिव श्रवस्येन्द्रायार्कं जुह्वा समञ्जे।
वीरं दानौकसं वन्दध्यै पुरां गूर्तश्रवसं दर्माणम्॥ ५॥

१. **अस्मै इन्द्राय इत् उ**=इस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए ही निश्चय से **श्रवस्या**=ज्ञान व यश की प्राप्ति के हेतु से **अर्कम्**=स्तुतिसाधन मन्त्रों को **जुह्वा**=आह्वान की साधनभूतवाणी से **समञ्जे**=संगत करता हूँ। इसप्रकार संगत करता हूँ—सदा स्तवन करनेवाला बनता हूँ **इव**=जैसेकि एक व्यक्ति **श्रवस्या**=अन्न-प्राप्ति की इच्छा से **सप्तिम्**=घोड़े को रथ से जोड़ता है। २. तथा मैं उस प्रभु को **वन्दध्यै**=वन्दन करने के लिए प्रवृत्त होता हूँ, जो **वीरम्**=शत्रुओं को विशेषरूप से कम्पित करनेवाले हैं। **दानौकसम्**=दान के ओकस (गृह) हैं—सब-कुछ देनेवाले हैं। **पुरां दर्माणम्**=असुरों की पुरियों का विदारण करनेवाले हैं। 'काम, क्रोध, लोभ' के दुर्गों के विनाशक हैं। **गूर्तश्रवसम्**=उद्यत (उत्कृष्ट) ज्ञानवाले हैं। 'प्रभु सर्वज्ञ' हैं—भक्तों के ज्ञान को उत्कृष्ट करते हैं।

भावार्थ—मैं सदा उस प्रभु का स्तवन करता हूँ, जो वीर, सर्वप्रद, शत्रु-विनाशक व ज्ञान देनेवाले हैं।

ऋषिः—**नोधाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'स्वपस्तम स्वर्य' वज्र

अस्मा इदु त्वष्टा तक्षद्वज्रं स्वपस्तमं स्वर्यं रणाय।
वृत्रस्य चिद्विदद्येन मर्म तुजन्नीशानस्तुजता कियेधाः॥ ६॥

१. **त्वष्टा**=वह देवशिल्पी प्रभु **अस्मा इत्**=इस उपासक के लिए निश्चय से **वज्रम्**=क्रियाशीलता रूप वज्र को **तक्षत्**=निर्मित करता है। यह वज्र **स्वपस्तमम्**=अतिशयेन उत्कृष्ट कर्मोंवाला है तथा **स्वर्यम्**=स्तुत्य व शत्रुओं को सन्तप्त करनेवाला है ('स्वृ' शब्दोपतापयोः)। इसप्रकार उत्तम कर्मों में प्रवृत्त करके तथा शत्रुओं को विनष्ट करके यह वज्र **रणाय**=जीवन की रमणीयता के लिए होता है। २. यह **कियेधाः**=(क्रममाणधाः नि ६.२०) आक्रमण करनेवाले शत्रुओं का निग्रह करनेवाला, **ईशानः**=जितेन्द्रिय पुरुष **तुजता येन**=शत्रुओं का संहार करनेवाले जिस वज्र के द्वारा **तुजन्**=शत्रुसंहार करता हुआ **चित्**=निश्चय से **वृत्रस्य**=ज्ञान की आवरणभूत वासना के **मर्म विदत्**=मर्मस्थल को प्राप्त करता है। वृत्र के मर्म पर प्रहार करता हुआ यह वृत्र का विनाश कर डालता है। वृत्र-विनाश से ही अपने जीवन में उत्तम कर्मों को करता हुआ प्रभु को प्राप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु हमें क्रियाशीलतारूप वज्र प्राप्त कराते हैं। इसके द्वारा वासनाओं को विनष्ट करके हम रमणीय जीवनवाले बनते हैं।

ऋषिः—**नोधाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सोम-रक्षण व सात्त्विक अन्न-सेवन

अस्येदु मातुः सवनेषु सद्यो महः पितुं पपिवां चार्वन्ना।
मुषायद्विष्णुः पचतं सहीयान्विध्यद्वराहं तिरो अद्रिमस्ता॥ ७॥

१. **अस्य इत् उ मातुः**=इसी निश्चय से, गतमन्त्र के अनुसार, वज्र का निर्माण करनेवाले के **सवनेषु**=उत्पादनों के निमित्त, अर्थात् प्रभु के दर्शन के निमित्त (प्रथम शक्तिमान् के रूप में,

फिर बुद्धिमान् के रूप में और अन्ततः दयालुरूप में दर्शन के निमित्त) **सद्यः**=शीघ्र ही **महः पितुम्**=तेजस्विता के रक्षक सोम का यह उपासक **पपिवान्**=पीनेवाला होता है। शरीर में सुरक्षित सोम ही ज्ञानाग्नि को दीप्त करके प्रभु का दर्शन कराएगा। इस सोम के रक्षण के लिए ही यह उपासक **चारु अन्ना**=सुन्दर सात्त्विक अन्नों का ग्रहण करता है। २. सोम-रक्षण द्वारा **विष्णुः**=व्यापक उन्नति करनेवाला—'शरीर-मन-मस्तिष्क' तीनों को उन्नत करनेवाला—यह उपासक **सहीयान्**= शत्रुओं का अतिशयेन अभिभव करता है तथा **पचतम्**='अन्न से रस, रस से रुधिर, रुधिर से मांस, मांस से मेदस्, मेदस् से अस्थि, अस्थि से मज्जा, मज्जा से शुक्र' इसप्रकार परिपक्व हुए-हुए इस वीर्य को **मुषायत्**=चुरा लेता है। प्रभु ने इसे अन्न में छिपाकर रखा है, यह विष्णु इसका अपहरण कर लेता है। यह **वराहम्**=(मेघ=वृत्रम्, वरं वरं आहन्ति)=ज्ञान की आवरणभूत अच्छी बातों को नष्ट करनेवाली—वासना को **विध्यद्**=बींधता हुआ **अद्रिम्**=अविद्यापर्वत को **तिरः अस्ता**=सूदूर (across, beyond), सात समुद्रपार फेंकनेवाला होता है।

भावार्थ—हम प्रभु-दर्शन के निमित्त सोम का रक्षण करें। सोम-रक्षण के लिए सात्त्विक अन्न का सेवन करें। वासना को विनष्ट करके अविद्या को परे फेंकें और सोम-रक्षण के योग्य बनें।

ऋषिः—**नोधाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वेदवाणियों द्वारा प्रभु-स्तवन

अस्मा इदु ग्नाश्चिद्देवपत्नीरिन्द्रायार्कमहिहत्यं ऊवुः।
परि द्यावापृथिवी जभ्र उर्वी नास्य ते महिमानं परि ष्टः ॥ ८ ॥

१. **अस्मै इन्द्राय इत् उ**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के लिए ही **देवपत्नीः**=दिव्यगुणों का पालन करनेवाली **ग्नाः चित्**=गायत्री आदि छन्दोमयी वेदवाणियाँ निश्चय से **अहिहत्ये**=ज्ञान की आवरणभूत वासना के विनाश के निमित्त **अर्कम्**=स्तुतिसाधन मन्त्रों को **ऊवुः**=(अतन्वत) विस्तृत करती हैं। इन वेदवाणियों के द्वारा प्रभु का स्तवन करता हुआ यह स्तोता वासनाओं का शिकार नहीं होता। २. यह इस रूप में प्रभु का स्तवन करता है कि वे प्रभु **उर्वी**=इन विस्तृत **द्यावापृथिवी**=द्यावापृथिवी को **परिजभ्रे**=(हृ=Win over) विजय करनेवाले हैं अथवा (हृ=to lead) प्रभु इन्हें गति देते हैं (भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया)। **ते**=वे द्यावापृथिवी **अस्य महिमानम्**=इसकी महिमा को **न परि स्तः**=चारों ओर से व्याप्त नहीं कर पाते, प्रभु इन्हें व्याप्त करके बाहर भी विद्यमान हैं (एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः)। इसप्रकार प्रभु-स्तवन करता हुआ यह व्यक्ति वासनाओं से पराभूत नहीं होता।

भावार्थ—वेदवाणियाँ हमारे लिए प्रभु-स्तोत्रों को उपस्थित करती हैं। इनसे प्रभु-स्तवन करता हुआ यह स्तोता वासना का विनाश कर पाता है।

ऋषिः—**नोधाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

स्वरिः ववक्षे रणाय

अस्येदेव प्र रिरिचे महित्वं दिवस्पृथिव्याः पर्यन्तरिक्षात्।
स्वराडिन्द्रो दम आ विश्वगूर्तः स्वरिरमत्रो ववक्षे रणाय ॥ ९ ॥

१. **अस्य**=इस प्रभु की **महित्वम्**=महिमा **इत् एव**=निश्चय से ही **दिवः पृथिव्याः**=द्युलोक से व पृथिवीलोक से **प्ररिरिचे**=बढ़ी हुई है। वह प्रभु द्यावापृथिवी से व्याप्त नहीं किये जाते। **अन्तरिक्षात् परि**=अन्तरिक्ष से भी उस प्रभु की महिमा ऊपर है—बढ़ी हुई है। ये सब लोकत्रयी

प्रभु के एक देश में ही समायी हुई है (पादोऽस्य विश्वा भूतानि)। २. वे **इन्द्रः**=सर्वशक्तिमान् प्रभु **स्वराट्**=स्वयं देदीप्यमान हैं, व अपना शासन स्वयं करनेवाले हैं। **दमे**=इसप्रकार दमन के होने पर वे प्रभु **आ**=समन्तात् **विश्वगूर्तः**=सब उद्यमोंवाले हैं। यह सारा संसार प्रभु की ही रचना है। प्रभु के शासन में ही सारा संसार गतिवाला होता है। ३. वे प्रभु **स्वरिः**=(सु अरिः) उत्तम आक्रान्ता हैं, शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले हैं। **अमत्रः**=(अम त्र) गति के द्वारा सबका रक्षण करनेवाले हैं। ये प्रभु **रणाय**=रमणीय संग्राम के लिए **ववक्षे**=स्तोता को शक्तिशाली बनाते हैं। (वक्ष् to be powerful)।

भावार्थ—प्रभु की महिमा त्रिलोकी से व्याप्त नहीं की जाती। प्रभु स्वराट् हैं। स्तोता को शत्रुओं के साथ युद्ध के लिए शक्तिशाली बनाते हैं।

ऋषिः—**नोधाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

श्रवः अभि

अस्येदेव शवसा शुषन्तं वि वृश्चद्वज्रेण वृत्रमिन्द्रः।
गा न व्राणा अवनीरमुञ्चदभि श्रवो दावने सचेताः॥ १०॥

१. **अस्य इत् एव**=इस प्रभु के ही **शवसा**=बल से **शुषन्तम्**=सूखते-से हुए **वृत्रम्**=ज्ञान के आवरणभूत इस कामदेव को **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूप वज्र से **विवृश्चद्**=विशेषरूप से काट डालता है। प्रभु-स्मरण से दुर्बल हुई-हुई वासना को यह क्रियायशीलता के द्वारा नष्ट ही कर डालता है। एवं प्रभु-स्मरणपूर्वक क्रियाशीलता से वासना का विनाश हो जाता है। २. **व्राणाः**=वृत्र से—वासनात्मक काम से आवृत्त हुई-हुई **अवनीः**=रक्षक सोमशक्तियों को यह वासना-विनाश के द्वारा **अमुञ्चत्**=मुक्त करता है। इसप्रकार मुक्त करता है **नः**=जैसेकि **व्राणाः**=बाड़े में घिरी हुई **गाः**=गौओं को कोई मुक्त किया करता है। इस **दावने**=प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले के लिए **सचेताः**=सचेत प्रभु इसे **श्रवः अभि**=ज्ञान व यश की ओर ले-चलते हैं।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण से क्षीण कर दी गई वासना को हम क्रियाशीलता द्वारा विनष्ट कर डालें। वासना-विनाश के द्वारा शक्तिकणों का रक्षण करें। इसप्रकार हम इस योग्य बनें कि प्रभु हमें यश व ज्ञान की ओर ले-चलें।

ऋषिः—**नोधाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ज्ञानसिन्धु-प्रवाह

अस्येदु त्वेषसा रन्त सिन्धवः परि यद्वज्रेण सीमयच्छत्।
ईशानकृद्दाशुषे दशस्यन्तुर्वीतये गाधं तुर्वणिः कः॥ ११॥

१. **यत्**=जब एक जितेन्द्रिय पुरुष **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूप वज्र के द्वारा **सीम्**=निश्चय से **परि अयच्छत्**=वासना का सर्वतः नियमन करता है तब **अस्य इत् उ**=इस प्रभु की ही **त्वेषसा**=दीप्ति से **सिन्धवः**=ज्ञान के प्रवाह **रन्त**=हमारे जीवन में रमण करते हैं। वासना ज्ञान-प्रवाह को रोक देती है। वासना-विनाश से यह ज्ञान-प्रवाह फिर से प्रवाहित हो उठता है। २. प्रभु ही इस जितेन्द्रिय पुरुष को **ईशानकृत्**=इन्द्रियों का स्वामी बनाते हैं तथा **दाशुषे**=भोगासक्त न होने के कारण दाश्वान् पुरुषों के लिए **दशस्यन्**=सदा इष्ट धनों को देते हुए ये **तुर्वणिः**=शीघ्रता से धनों का सम्भजन करनेवाले प्रभु **तुर्वीतये**=शत्रुओं का संहार करनेवाले पुरुष के लिए **गाधं कः**=प्रतिष्ठा करनेवाले होते हैं। इस तुर्वीति का जीवन अप्रतिष्ठ नहीं होता। यह जीवन में स्थिर

आधार को प्राप्त करके उन्नति-पथ पर आगे बढ़ता है।

भावार्थ—हम क्रियाशील बनकर वासना का नियमन करते हुए प्रभु की दीप्ति से अपने जीवन में ज्ञानप्रवाहों को प्रवाहित करें। ईशान बनकर प्रभु से आवश्यक धनों को प्राप्त करते हुए प्रभुरूप स्थिर आधार को प्राप्त करके जीवन-पथ में आगे बढ़ें।

ऋषिः—**नोधाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गो-पर्व विदारण

अस्मा इदु प्र भरा तूतुजानो वृत्राय वज्रमीशानः कियेधाः।
गोर्न पर्व वि रदा तिरश्चेष्यन्नर्णांस्यपां चरध्यै॥ १२॥

१. हे प्रभो! **तूतुजानः**=शीघ्रता से कार्यों को करते हुए अथवा खूब ही शत्रुओं का हिंसन करते हुए **ईशानः**=सबके स्वामी **कियेधाः**=अपरिमित बल को धारण करनेवाले (कियत् धा नि० ६.२०) आप **अस्मै वृत्राय**=इस ज्ञान की आवरणभूत वासना के लिए **इत् उ**=निश्चय से **वज्रं प्रभरा**=वज्र का प्रहार कीजिए। वज्र-प्रहार से इस वृत्र को समाप्त करके हमारे लिए ज्ञान का प्रकाश कीजिए। २. **गोः पर्व न**=गौ के एक-एक पर्व की तरह इस वेदवाणीरूप गौ के पर्वों को **विरदा**=विच्छिन्न कीजिए। एक-एक शब्द का निर्वचन करते हुए उसके भाव को स्पष्ट कीजिए। हे प्रभो! आप **अर्णांसि**=रेतःकणरूप जलों को **तिरश्चा**=(तिरः अञ्च्) तिरोहित गतिवाले रूप में **इष्यन्**=प्रेरित करते हुए **अपां चरध्यै**=ज्ञान-जलों के चरण के लिए हों। प्रभु के अनुग्रह से हमारे शरीर में रेतःकण रुधिर में इसप्रकार व्याप्त रहें जैसेकि दूध में घृतकण रहते हैं। इसप्रकार सुरक्षित रेतःकण बुद्धि को दीप्त करनेवाले हों और हमारे जीवन में ज्ञान की धाराओं का प्रवाह बहे।

भावार्थ—प्रभु हमारी वासनाओं को विनष्ट करें। हमें वेद के अन्तर्निहित तत्त्वों को समझने के योग्य बनाएँ। सुरक्षित रेतःकण हमारी बुद्धियों को दीप्त करें और हममें ज्ञानजलों का प्रवाह प्रवाहित हो।

ऋषिः—**नोधाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शत्रुसंहार के लिए अस्त्र-प्राप्ति

अस्येदु प्र ब्रूहि पूर्व्याणि तुरस्य कर्माणि नव्य उक्थैः।
युधे यदिष्णान आयुधान्यृघायमाणो निरिणाति शत्रून्॥ १३॥

१. **अस्य**=इस **तुरस्य**=त्वरा से कार्यों को करनेवाले अथवा शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभु के **इत् उ**=ही निश्चय से **पूर्व्याणि**=पालन व पूरण में उत्तम **कर्माणि**=कर्मों को **प्रब्रूहि**=व्यक्त रूप से कहनेवाला बन। ये प्रभु ही **उक्थैः**=स्तोत्रों के द्वारा **नव्य**=स्तुतिके योग्य हैं। प्रभु का ही स्तवन करना योग्य है। २. वे प्रभु ही **युधे**=वासनाओं के साथ संग्राम के लिए **यत्**=जब **आयुधानि**='ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, मन व बुद्धि' रूप आयुधों को **इष्णानः**=प्रेरित करते हैं तब **शत्रून् ऋघायमाणः**=शत्रुओं को हिंसित करते हुए **निरिणाति**=(Drive out, expel) हमारे जीवनों से बाहिर कर देते हैं। प्रभु हमें इन्द्रियाँ, मन व बुद्धिरूप अस्त्रों को प्राप्त कराके इस योग्य बनाते हैं कि हम वासनारूप शत्रुओं को अपने से दूर कर सकें।

ऋषिः—**नोधाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ओणिं जोगुवानः

अस्येदु भिया गिरयश्च दृढा द्यावा च भूमा जनुषस्तुजेते।
उपो वेनस्य जोगुवान ओणिं सद्यो भुवद्वीर्याय नोधाः॥ १४॥

१. **अस्य इत् उ**=इस प्रभु के ही **भिया**=भय से **गिरयः**=ये पर्वत **च**=भी **दृढाः**=अपने स्थान पर स्थित हैं—दृढ़ हैं **च**=और **जनुषः**=उत्कृष्ट प्रादुर्भाववाले प्रभु के भय से ही **द्यावाभूमा**=ये द्युलोक व पृथिवीलोक **तुजेते**=काँपते हैं। 'भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः। भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः'=प्रभु के भय से ही 'अग्नि, सूर्य, इन्द्र, वायु व मृत्यु' अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। २. **नोधाः**=इन्द्रिय-नवक (अष्टाचक्रानवद्वारा०) को धारण करनेवाला यह स्तोता **वेनस्य**=उस कान्त प्रभु के **ओणिम्**=सब दुःखों का अपनयन करनेवाले रक्षण को **जोगुवानः**=अनेक सूक्तों से स्तुत करता हुआ **वीर्याय**=शक्ति की प्राप्ति के लिए **सद्यः**=शीघ्र **उप उ**=समीप **भुवत्**=होता है। स्तुति के द्वारा प्रभु का यह सान्निध्य स्तोता को भी शक्तिशाली बनाता है।

भावार्थ—पर्वतों व द्यावापृथिवी को शासित करनेवाले प्रभु का स्तवन करता हुआ स्तोता भी शक्ति प्राप्त करता है। हम प्रभु के रक्षण का गायन करें—उस रक्षण को अनुभव करें।

ऋषिः—**नोधाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'एतश-स्वश्व-सुष्वि'

अस्मा इदु त्यदनु दाय्येषामेको यद्वव्ने भूरेरीशानः।
प्रैतशं सूर्ये पस्पृधानं सौवश्व्ये सुष्विमावदिन्द्रः॥ १५॥

१. **अस्मै इत् उ**=इस प्रभु के लिए ही **एषाम्**=इन स्तोताओं का **यत्**=वह-वह कर्म **अनुदायि**=अनुक्रमेण दिया जाता है। 'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत् तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष मदर्पणम्' के अनुसार ये स्तोता जो कुछ करते हैं—प्रभु के अर्पण करते चलते हैं। 'कुरु-कर्म, त्यजेति च' करते हैं और कर्तृत्व का अहंकार छोड़कर उसे प्रभु से होता हुआ जानते हैं। **यत्**=चूँकि वस्तुतः **एकः**=वे अद्वितीय प्रभु ही **वव्ने**=सबका विजय करते हैं। वे ही **भूरेः ईशानः**=इन सब पालनात्मक कर्मों के (भृ=धारणपोषणयोः) ईशान हैं। २. वे **इन्द्रः**=सर्वशक्तिमान् प्रभु ही **एतशम्**=(इ, श्येः एति श्यति) गतिशील और गतिशीलता द्वारा मलों को तनूकृत करनेवाले स्तोता को **प्रावत्**=प्रकर्षेण रक्षित करते हैं। प्रभु उसका रक्षण करते हैं, जोकि **सौवश्व्ये**=उत्तम इन्द्रियाश्वों के विषय में **सूर्ये पस्पृधानम्**=सूर्य में स्पर्धावाला है। सप्ताश्व सूर्य के किरणरूप अश्व तो चमक ही रहे हैं। यह स्तोता अपने 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' सप्ताश्वों को भी उसी प्रकार चमकाता है। इसी उद्देश्य से **सुष्विम्**=यह सुष्वि बनता है—सोम का सम्यक् सम्पादन करता है। प्रभु इस सुष्वि का रक्षण करते हैं।

भावार्थ—हम सब कर्मों का प्रभु के प्रति अर्पण करें। गतिशील व वासनाओं का क्षय करनेवाले बनें, उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले बनें, सोम का सम्पादन करें। इसप्रकार प्रभु की रक्षा के पात्र हों।

ऋषिः—**नोधाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

धियावसु

एवा ते हारियोजना सुवृक्तीन्द्र ब्रह्माणि गोतमासो अक्रन्।
ऐषु विश्वपेशसं धियं धाः प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात्॥ १६॥

१. हे **हारियोजन**=उत्तम इन्द्रियाश्वों (हरि) को हमारे शरीर-रथ में जोड़नेवाले **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **एवा**=इसप्रकार **गोतमासः**=ये प्रशस्तेन्द्रिय व्यक्ति **सुवृक्तिः**=दोषों का सम्यक् वर्जन करनेवाले **ते**=आपके **ब्रह्माणि**=स्तोत्रों को **अक्रन्**=करते हैं। २. **एषु**=इन स्तोताओं में आप **विश्वपेशसम्**=संसार को सुन्दर रूप देनेवाली **धियम्**=बुद्धि को **आधाः**=स्थापित कीजिए। इन्हें वह बुद्धि दीजिए जो संसार का सुन्दर निर्माण करनेवाली हो। हे प्रभो! हमें **प्रातः**=प्रातः **मक्षु**=शीघ्र ही **धियावसुः**=बुद्धिपूर्वक कर्मों के द्वारा निवास को उत्तम बनानेवाला व्यक्ति **जगम्यात्**=प्राप्त हो। इनके संग में हम भी 'धियावसु' बन पाएँ।

भावार्थ—प्रभु हमें उत्तम इन्द्रियाश्व प्राप्त कराते हैं। हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमें उत्तम निर्माणवाली बुद्धि दें। 'धियावसु' पुरुषों का हमें संग प्राप्त हो।

धियावसु पुरुषों के संग में यह 'भरद्वाज' बनता है, शक्ति को अपने में भरनेवाला। यह प्रभु का स्तवन करता है कि—

३६. [षट्त्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

एकमात्र उपासनीय

य एक इद्धव्यश्चर्षणीनामिन्द्रं तं गीर्भिर्भ्य र्चं आभिः।
यः पत्यते वृषभो वृष्ण्यावान्त्सत्यः सत्वा पुरुमायः सहस्वान्॥ १॥

१. **यः**=जो **चर्षणीनाम्**=मनुष्यों का **एकः इत्**=एकमात्र ही **हव्यः**=पुकारने योग्य है—आराधना के योग्य है **तं इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **आभिः गीर्भिः**=इन स्तुतिवाणियों से **अभि अर्चे**=पूजित करता हूँ। प्रभु ही पूजनीय हैं—मैं उस प्रभु का स्तवन करता हूँ। २. **यः**=जो प्रभु **पत्यते**=सबके ईश्वर हैं। **वृषभः**=सब कामनाओं के वर्षक हैं। **वृष्ण्यावान्**=सुखों का वर्षण करनेवाली शक्तिवाले हैं। **सत्यः**=सत्यस्वरूप हैं। **सत्वा**=शत्रुओं के बल को विनष्ट करनेवाले हैं, **पुरुमायः**=अनन्त प्रज्ञावाले हैं, **सहस्वान्**=शत्रुमर्षक बलवाले हैं।

भावार्थ—एकमात्र प्रभु ही उपासनीय हैं। वे ही शत्रुओं के बल को विनष्ट करनेवाले हैं। इसप्रकार हमपर सब सुखों का वर्षण करनेवाले हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

कौन प्रभु को प्राप्त करते हैं?

तमु नः पूर्वे पितरो नवग्वाः सप्त विप्रासो अभि वाजयन्त।
नक्षद्दाभं ततुरिं पर्वतेष्ठामद्रोघवाचं मतिभिः शविष्ठम्॥ २॥

१. **नः**=हममें **ते पूर्वे**=अपना पालन व पूरण करनेवाले, **पितरः**=रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त (पा रक्षणे), **नवग्वाः**=स्तुत्यगतिवाले, **सप्तविप्रासः**='कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' इन स्तोता ऋषियों को अपने में पूर्ण करनेवाले लोग **तम् उ**=उस परमात्मा को ही **अभिवाजयन्तः**=अपने को (गमयन्तः) प्राप्त कराते हैं। इनका लक्ष्य प्रभु-प्राप्ति ही होता है। प्रभु को प्राप्त करने के उद्देश्य से ही ये अपना पूरण करते हैं (पूर्वे), रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत होते हैं (पितरः), स्तुत्यगतिवाले बनते हैं (नवग्व) और शरीर में सप्त ऋषियों का पूरण करते हैं (सप्तविप्रासः) ३. उस प्रभु को पाना ये अपना ध्येय बनाते हैं जोकि '**नक्षद्दाभम्**=अभिगमन शत्रुओं का हिंसन करते हैं, **ततुरिम्**=दुस्तर पापों से तारते हैं, **पर्वतेष्ठाम्**=अपना पूरण करनेवालों में स्थित होते हैं अथवा अविद्या-पर्वत को पाँव तले रोंद डालते हैं, **अद्रोघवाचम्**=द्रोहशून्य ज्ञान की वाणियोंवाले

हैं तथा **मतिभिः**=बुद्धियों के साथ **शविष्ठम्**=अतिशयेन बलवान् हैं। अपने उपासकों को भी प्रभु बुद्धि व बल प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति को ही अपना लक्ष्य बनाकर हम अपने जीवनों को प्रशस्त बनाएँ। प्रभु हमें बुद्धि व शक्ति प्राप्त कराएँगे। हम शत्रुओं का संहार करते हुए भवसागर को पार कर पाएँगे।

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

कैसा धन?

तमीमह इन्द्रमस्य रायः पुरुवीरस्य नृवतः पुरुक्षोः।
यो अस्कृधोयुरजरः स्व र्वान्तमा भर हरिवो मादयध्यै ॥ ३ ॥

१. **तम् इन्द्रम्**=उस प्रभु से **अस्य रायः**=इस धन की **ईमहे**=याचना करते हैं जोकि **पुरुवीरस्य**=खूब वीर सन्तानोंवाला है, अर्थात् जिसके विनियोग से हम सन्तानों को वीर बना पाते हैं। **नृवतः**=जो प्रशस्त मनुष्योंवाला है—जिसके विनियोग से सब गृहवासियों का जीवन उत्तम बनता है। **पुरुक्षोः**=जो धन पालक व पूरक अन्नवाला है। २. उस धन को माँगते हैं **यः**=जोकि **अस्कृधोयुः**=अनल्प व अविच्छिन्न है। **अजरः**=(अविद्यमाना जरा यस्मात्) हमें वृद्ध नहीं होने देता—जिसके सद्व्यय से हम सदा युवा से बने रहते हैं। **स्वर्वान्**=जो धन प्रकाश व सुखवाला है। जिसके द्वारा हमारे ज्ञान व सुख की वृद्धि होती है। हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **तम्**=उस धन को हमें **मादयध्यै**=आनन्दित करने के लिए **आभर**=प्राप्त कराइए।

भावार्थ—प्रभु हमें वह धन प्राप्त कराएँ जो हमारे सन्तानों को वीर बनाए, हमें प्रशस्त जीवनवाला बनाए, पालक अन्न को प्राप्त कराए, अविच्छिन्न हो, हमें जीर्ण होने से बचाए तथा प्रकाशमय जीवनवाला करे।

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

कः भागः, किं वयः?

तन्नो वि वोचो यदि ते पुरा चिज्जरितार आनशुः सुम्नमिन्द्र।
कस्ते भागः किं वयो दुध्र खिद्वः पुरुहूत पुरूवसोऽसुरघ्नः ॥ ४ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **पुराचित्**=पहले भी **यदि**=यदि **जरितारः**=स्तोता लोग **ते**=आपसे **सुम्नम् आनशुः**=सुख को प्राप्त हुए हैं, **तत्**=तो **नः**=हमारे लिए भी **विवोचः**=उन स्तोत्रों का प्रतिपादन कीजिए जिससे हम भी आपका स्तवन करते हुए सुख के भागी हों। प्रभु-स्तवन सदा सुख का साधन बनता है। इसे अपनाकर हम भी सुखी हों। २. हे **दुध्र**=शत्रुओं से न धारण करने योग्य बलवाले **खिद्वः**=शत्रुओं को खदेड़नेवाले! **पुरुहूत**=बहुतों-से पुकारे गये **पुरूवसो**=पालक व पूरक वसुओंवाले प्रभो! **असुरघ्नः ते**=असुरों का विनाश करनेवाले आपका **कः भागः**=कौन-सा भजनीय स्तोत्र है? किस स्तोत्र द्वारा हम आपको प्रीणित कर सकते हैं? **किं वयः**=कौन-सा हविर्लक्षण अन्न है जिसके द्वारा हम आपके प्रिय बनेंगे? वस्तुतः स्तवन व यज्ञ करते हुए ही हम आपकी प्रीति के पात्र बन सकेंगे।

भावार्थ—प्रभु का स्तोता अवश्य सुखी होता है। प्रभु-स्तोता के आसुरभावरूप शत्रुओं को खदेड़कर तथा उसे पालक व पूरक धन प्राप्त कराके सुखी करते हैं। स्तोत्रों व यज्ञों से हम प्रभु के प्रिय बनें।

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रभु की चर्चा व प्रभु की ओर

तं पृच्छन्ती वज्रहस्तं रथेष्ठामिन्द्रं वेपी वक्वरी यस्य नू गीः।
तुविग्राभं तुविकूर्मिं रभोदां गातुमिषे नक्षते तुम्रमच्छ॥ ५॥

१. **यस्य**=जिस स्तोता की **वेपी**=(वेप=कर्म) यागादि लक्षण कर्मोंवाली—यज्ञशीला **वक्वरी**=प्रभु के गुणों का प्रवचन करनेवाली **गीः**=वाणी **नु**=निश्चय से **तं वज्रहस्तम्**=उस वज्र को हाथ में लिये हुए, **रथेष्ठाम्**=हमारे शरीर-रथों में स्थित **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् प्रभु को **पृच्छन्ती**=पूछती हुई होती है, यह स्तोता सदा **गातुम् इषे**=मार्ग को ही चाहता है—सदा सन्मार्ग पर चलने की ही कामना करता है। सदा प्रभु की ही चर्चा करता हुआ यह कुमार्गगामी नहीं होता। २. इसप्रकार सन्मार्ग पर चलता हुआ यह उस प्रभु को ही **अच्छ नक्षते**=आभिमुख्येन प्राप्त होता है जोकि **तुविग्राभम्**=महान् ग्राहक हैं—सारे ही ब्रह्माण्ड को अपने अन्दर लिये हुए हैं। **तुविकूर्मिम्**=महान् कर्मोंवाले हैं। **रभोदाम्**=बल के दाता है तथा **तुम्रम्**=शत्रु के प्रति आक्रमण करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम सदा प्रभु की ही चर्चा करें और सन्मार्ग पर चलते हुए प्रभु की ओर ही जाएँ।

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रभु-स्तवन व वृत्रविनाश

अया ह त्यं मायया वावृधानं मनोजुवा स्वतवः पर्वतेन।
अच्युता चिद्वीळिता स्वोजो रुजो वि दृळ्हा धृषता विरप्शिन्॥ ६॥

१. हे **स्वतवः**=स्वायत्तबल! स्वाधीन बलवाले—किसी और से शक्ति को न प्राप्त करनेवाले प्रभो! आप **त्यम्**=उस **ह**=निश्चय से **अया मायया**=इस माया के द्वारा **वावृधानम्**=खूब बढ़ते हुए—संसार के आकर्षणों से वृद्धि को प्राप्त करते हुए वृत्र को—ज्ञान की आवरणभूत वासना को **मनोजुवा**=मन को प्रेरित करनेवाले **पर्वतेन**=(पर्व पूरणे) अपनी न्यूनताओं को दूर करने व पूरण के भाव से **विरुजः**=विनष्ट करते हो। जिस किसी के हृदय में अपने पूरण की भावना का विकास हो जाता है, वह फिर वासना का शिकार नहीं होता। २. हे **स्वोजः**=शोभन बलवाले **विरप्शिन्**=महान् प्रभो! आप **अच्युता चित्**=दूसरों से च्युत न करने योग्य **वीळिता**=बड़ी दृढ़, प्रबल **दृळ्हा**=स्थिर भी शत्रुओं की पुरियों को **धृषता**=शत्रुधर्षक शक्ति से **विरुजः**=विदीर्ण कर देते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही वस्तुतः हमारे मनों में पूरण की भावना को पैदा करके हमें संसारमाया में फँसने से बचाते हैं। प्रभु ही आसुरभावों को विनष्ट करते हैं। 'काम-क्रोध-लोभ' की नगरियों का विनाश प्रभु ही करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

दुर्गम भी धर्मपथ का आक्रमण

तं वो धिया नव्यस्या शविष्ठं प्रत्नं प्रत्नवत्परितंसयध्यै।
स नो वक्षदनिमानः सुवह्मेन्द्रो विश्वान्यति दुर्गहाणि॥ ७॥

१. मैं **तम्**=उस **वः शविष्ठम्**=तुम सबके अतिशयेन बलवाले **प्रत्नम्**=पुरातन प्रभु को **प्रत्नवत्**=अपने से पूर्व के ज्ञानियों के समान **नव्यस्या धिया**=अत्यन्त प्रशस्त बुद्धि के द्वारा

परितंसयध्यै=अपने जीवन में अलंकृत करने में प्रवृत्त होता हूँ। प्रभु ही सर्वशक्तिमान् हैं। वे ही सबकी शक्ति हैं 'बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्'। प्रभु-स्तवन करते हुए हम प्रभु के द्वारा अपने जीवन को अलंकृत करें और प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न बनें। २. **सः**=वे **अनिमानः**=मानरहित—शक्ति से शून्य परिमाणातीत **सुवह्ना**=शोभनतया संसार का वहन करनेवाले **इन्द्रः**=सर्वशक्तिमान् प्रभु **नः**=हमें **विश्वानि**=सब **दुर्गहाणि**=दुस्तर मार्गों से **अतिवक्षत्**=पार प्राप्त कराएँ। प्रभु हमें इस योग्य बनाएँ कि 'निशित दुरत्यय क्षुरधारा' के समान दुर्गम मार्ग का भी हम अतिक्रमण कर सकें।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन द्वारा प्रभु की भावना से अपने जीवनों को अलंकृत करते हुए हम शक्ति प्राप्त करें और दुर्गम भी धर्म के मार्ग का पूर्ण आक्रमण कर सकें।

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

द्रुह्वणे ब्रह्मद्विषे

आ जनाय द्रुह्वणे पार्थिवानि दिव्यानि दीपयोऽन्तरिक्षा।
तपा वृषन्विश्वतः शोचिषा तान्ब्रह्मद्विषे शोचय क्षामपश्च॥ ८॥

१. हे **वृषन्**=शक्तिशालिन् प्रभो! आप **द्रुह्वणे**=द्रोह (जिघांसा) की भावनावाले **जनाय**=पुरुष के लिए **पार्थिवानि**=पृथिवी पर होनेवाले, **दिव्यानि**=द्युलोक में होनेवाले तथा **अन्तरिक्षा**= अन्तरिक्ष में होनेवाले पदार्थों को **आदीपयः**=समन्तात् तपाइए। ये सब पदार्थ द्रोही पुरुष को संताप देनेवाले हों। २. हे वृषन्! आप **विश्वतः**=सब ओर से **तान्**=उन द्रोही जनों को **शोचिषा**= अपनी संतापक शक्ति से **तपा**=संतप्त कीजिए। **ब्रह्मद्विषे**=इस ज्ञान से अप्रीति रखनेवाले पुरुष के लिए **क्षाम्**=पृथिवी को **च**=और **अपः**=जलों को **शोचय**=दीप्त व संतप्त कर डालिए। इन ब्रह्मद्विट् द्रोहियों को ये पदार्थ दुःखद हों।

भावार्थ—संसार के सब पदार्थ द्रोह करनेवाले, ज्ञान में अरुचिवाले पुरुषों के लिए संतापक हों।

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'दिव्यस्य जनस्य-पार्थिवस्य-जगतः' राजा

भुवो जनस्य दिव्यस्य राजा पार्थिवस्य जगतस्त्वेषसंदृक्।
धिष्व वज्रं दक्षिण इन्द्र हस्ते विश्वा अजुर्य दयसे वि मायाः॥ ९॥

१. हे **त्वेषसंदृक्**=दीप्त संदर्शन—दीप्त प्रकाश के रूप में दिखनेवाले प्रभो! आप **दिव्यस्य जनस्य**=देववृत्ति के—प्रकाशमय जीवनवाले लोगों के **राजा भुवः**=जीवनों को दीप्त करनेवाले हैं। इनको ज्ञान का प्रकाश व तेजस्विता आप ही प्राप्त कराते हैं। इसीप्रकार **पार्थिवस्य जगतः**=इस पार्थिव जगत् के भी आप ही राजा हैं—यहाँ सब ज्योतिर्मय पिण्डों को आप ही ज्योति प्राप्त कराते हैं। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।' २. हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप **दक्षिणे हस्ते**=दाहिने हाथ में **वज्रं धिष्व**=वज्र को धारण कीजिए। हे **अजुर्य**=कभी जीर्ण न होनेवाले प्रभो! आप उस धारण किये गये वज्र से **विश्वाः**=सब **मायाः**=आसुरी मायाओं को **विदयसे**=विशेषरूप से बाधित करते हैं।

भावार्थ—सब दिव्यजनों को व सूर्य आदि ज्योतिर्मय पिण्डों को दीप्ति देनेवाले प्रभु ही हैं। प्रभु ही वज्र के द्वारा आसुरी माया का बाधन करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

दास से आर्य

आ संयतमिन्द्र णः स्वस्तिं शत्रुतूर्याय बृहतीममृध्राम्।
यया दासान्यार्याणि वृत्रा करो वज्रिन्त्सुतुका नाहुषाणि॥ १०॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! आप **नः**=हमारे लिए **शत्रुतूर्याय**=शत्रुओं के विनाश के लिए **बृहतीम्**=वृद्धि की कारणभूत **अमृध्राम्**=हिंसित न होनेवाली **संयतं स्वस्तिम्**=संयमरूप कल्याणकारिणीवृत्ति को **आकरः**=करनेवाले होइए। संयमवृत्ति को अपनाते हुए हम कल्याण को सिद्ध कर सकें। २. **यया**=जिस संयमवृत्ति से आप **दासानि**=उपक्षीण कर्मवाले लोगों को **आर्याणि**=(ऋ गतौ) नियमित गतिवाला **करः**=कर देते हैं, उस संयमवृत्ति को हमारे लिए भी कीजिए। हे **वज्रिन्**=वज्रहस्त प्रभो! इस संयमवृत्ति के द्वारा ही आप **नाहुषाणि**=मनुष्य-सम्बन्धी—मनुष्यों में आ-जानेवाली **वृत्रा**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को **सुतुका**=पूर्णरूप से हिंसित कर डालते हैं। इन वासनाओं के विनाश से ही तो हमारा कल्याण होता है।

भावार्थ—प्रभु हमें कल्याणकारिणी संयमवृत्ति को प्राप्त कराके दास से आर्य बना दें तथा वासना-विनाश द्वारा हमें कल्याणभाक् बनाएँ।

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

न अदेवः वरते, न देवः

स नो नियुद्भिः पुरुहूत वेधो विश्ववाराभिरा गहि प्रयज्यो।
न या अदेवो वरते न देव आभिर्याहि तूयमा मद्र्यद्रिक्॥ ११॥

१. हे **पुरुहूत**=बहुतों-से पुकारे जानेवाले **वेधः**=विधातः! **सः**=वे आप **नः**=हमें **विश्ववाराभिः**=सबसे वरने योग्य **नियुद्भिः**=इन्द्रियाश्वों के साथ **आगहि**=प्राप्त होइए। हमें उन इन्द्रियाश्वों को दीजिए, जिन्हें कि सब चाहें। २. हे **प्रयज्यो**=प्रकर्षेण यष्टव्य (पूज्य) प्रभो! आप हमें उन इन्द्रियाश्वों को दीजिए, **याः**=जिन्हें कि **अदेवः न वरते**=कोई भी आसुरभाव धर्मपथ पर आगे बढ़ने से रोक नहीं पाता और जिन्हें **देवः**='क्रीड़ा, मद व स्वप्न' का भाव भी रोकनेवाला नहीं होता। हे प्रभो! आप **आभिः**=इन इन्द्रियाश्वों से **तूयम्**=शीघ्र ही **मद्र्यद्रिक्**=अस्मदभिमुख दृष्टिवाले होकर **आयाहि**=आइए।

भावार्थ—प्रभु हमें इन इन्द्रियाश्वों को प्राप्त कराएँ जो न तो आसुरभावों से आक्रान्त होते हैं और नहीं 'क्रिड़ा, मद व स्वप्न' के वशीभूत हो जाते हैं।

इसप्रकार इन्द्रियाश्वों को पूर्णरूप से वश में करनेवाला व अपने निवास को उत्तम बनानेवाला यह व्यक्ति 'वसिष्ठ' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

३७. [सप्तत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

तिग्मशृंगो वृषभो न भीमः

यस्तिग्मशृङ्गो वृषभो न भीम एकः कृष्टीश्च्यावयति प्र विश्वाः।
यः शश्वतो अदाशुषो गयस्य प्रयन्तासि सुष्वितराय वेदः॥ १॥

१. हे इन्द्र! **यः**=जो आप हैं वे **तिग्मशृंगः**=तीक्ष्ण सींगोंवाले **वृषभः न**=बैल के समान **भीमः**=शत्रुओं के लिए भयंकर हैं। **एकः**=आप अकेले ही **विश्वाःकृष्टीः**=सब शत्रुभूत मनुष्यों

को **प्रच्यावयति**=स्थानभ्रष्ट करते हैं। प्रभु को हम हृदय में उपासित करते हैं, प्रभु हमारे शत्रुओं को वहाँ से भगा देते हैं—वहाँ काम-क्रोध आदि का स्थान नहीं रहता। २. हे प्रभो! **यः**=जो आप हैं, वे **अदाशुषः**=अदानशील **शश्वतः**=व्यापारादि के लिए प्लुतगतिवाले-व्यापार में ख़ूब निमग्न पुरुष के **गयस्य**=धन के (Welth) **प्रयन्ता**=(restrain, stop, suppress) निग्रह करनेवाले **असि**=हैं और **सुष्वितराय**=अतिशयेन यज्ञशील पुरुष के लिए **वेदः**=धन को **प्रयन्त असि**=देनेवाले हैं (offer, give)।

भावार्थ—प्रभु हमारे शत्रुओं का विनाश करते हैं। अदानशील पुरुषों के धन का निग्रह करते हैं और यज्ञशील पुरुषों के लिए धन प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

कुत्स का रक्षण

त्वं ह त्यदिन्द्र कुत्समावः शुश्रूषमाणस्तन्वा समर्ये।
दासं यच्छुष्णं कुयवं न्यस्मा अरन्धय आर्जुनेयाय शिक्षन्॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **त्वं ह**=आप निश्चय से **कुत्सम्**=वासनाओं का संहार करनेवाले पुरुष का **आवः**=रक्षण करते हैं। **त्यत्**=तब (तत्) यह **समर्ये**=इस जीवन-संग्राम में **तन्वा**=शक्तियों के विस्तार के साथ **शुश्रूषमाणः**=सदा गुरुजनों से ज्ञान के श्रवण की कामनावाला होता है। प्रभु से रक्षित व्यक्ति शक्तियों का विस्तार करता है और ज्ञान-प्राप्ति के लिए यत्नशील होता है। २. हे प्रभो! **यत्**=जब **अस्मै**=इस कुत्स के लिए **दासम्**=शक्तियों का उपक्षय कर देनेवाले क्रोध को, **शुष्णम्**=सुखा देनेवाले काम को तथा **कुयवम्**=सब बुराइयों का मिश्रण करनेवाले लोगों को **नि अरन्धय**=पूर्णरूप से वशीभूत करते हैं तब इस **आर्जुनेयाय** (अर्जुनी=श्वेता) अर्जुनी पुत्र के लिए—अत्यन्त श्वेत (शुद्ध) जीवनवाले के लिए **शिक्षन्**=धनों को देनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम वासनाओं के संहार के लिए यत्नशील हों। प्रभु हमारे काम, क्रोध, लोभ का विनाश करेंगे और हमें शुद्ध जीवनवाला बनाकर धन प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वीतहव्य, सुदास, पौरुकुत्सि, त्रसदस्यु, पूरु

त्वं धृष्णो धृषता वीतहव्यं प्रावो विश्वाभिरूतिभिः सुदासम्।
प्र पौरुकुत्सिं त्रसदस्युमावः क्षेत्रसाता वृत्रहत्येषु पूरुम्॥ ३॥

१. हे **धृष्णो**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले प्रभो! आप **धृषता**=शत्रुधर्षक बल को प्राप्त कराके **वीतहव्यम्**=हव्य का भक्षण करनेवाले—यज्ञशेष का सेवन करनेवाले—यज्ञशील पुरुष को **प्रावः**=प्रकर्षेण रक्षित करते हैं। आप **सुदासम्**=वासना का सम्यक् उपक्षय करनेवाले को (दस् उपक्षये) अथवा दानशील पुरुष को (दा) **विश्वाभिः ऊतिभिः**=सब रक्षणों के द्वारा रक्षित करते हैं। २. आप **पौरुकुत्सिम्**=वासनाओं का खूब ही संहार करनेवाले को तथा **त्रसदस्युम्**=जिससे दास्यव वृत्तियाँ भयभीत होकर दूर रहती हैं, उस त्रसदस्यु को **प्र आवः**=प्रकर्षेण रक्षित करते हैं। आप **वृत्रहत्येषु**=संग्रामों में **क्षेत्रसाता**=उत्तम शरीर-क्षेत्र की प्राप्ति के निमित्त **पूरुम्**=अपना पालन व पूरण करनेवाले को रक्षित करते हैं।

भावार्थ—हम वीतहव्य, सुदास, पौरुकुत्सि, त्रसदस्यु व पूरु बनें और इसप्रकार प्रभु से रक्षणीय हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'दस्यु, चुमुरि, धुनि' का स्वापन

त्वं नृभिर्नृमणो देववीतौ भूरीणि वृत्रा हर्यश्व हंसि।
त्वं नि दस्युं चुमुरिं धुनिं चास्वापयो दभीतये सुहन्तु॥ ४॥

१. हे **नृमणः**=(नृभिः मननीय) उन्नति-पथ पर चलनेवाले पुरुषों से मनन के योग्य, **हर्यश्व**=तेजस्वी इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **देववीतौ**=दिव्यगुणों के प्रापण के निमित्त **नृभिः**=उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले माता-पिता व आचार्यों द्वारा **भूरीणि वृत्रा**=बहुत-सी वासनाओं को **हंसि**=विनष्ट करते हैं। २. आप ही **दभीतये**=वासनाओं के संहार में प्रवृत्त मनुष्य के लिए **सुहन्तु**=उत्तम हननसाधन वज्र के लिए **दस्युम्**=शक्तियों को क्षीण करनेवाले क्रोधरूप दस्यु को **चुमुरिम्**=शक्तियों को पी जानेवाली कामवासना को **च**=और **धुनिम्**=सब गुणों को कम्पित करके दूर करनेवाले लोभ को **नि अस्वापयः**=निश्चय से सुला देते हैं। ये 'दस्यु, चुमुरि व धुनि' दबे पड़े रहते हैं। ये प्रबल होकर इस दभीति का विनाश नहीं कर पाते।

भावार्थ—प्रभु ही हमारी वासनाओं का विनाश करते हैं। वे दभीति के लिए 'दस्यु, चुमुरि व धुनि' को सुला-सा देते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

न वृत्र, न नमुचि

तव च्यौत्नानि वज्रहस्त तानि नव यत्पुरो नवतिं च सद्यः।
निवेशने शततमाविवेषीरहं च वृत्रं नमुचिमुताहन्॥ ५॥

१. हे **वज्रहस्त**=वज्र को हाथ में लिये हुए प्रभो! **तानि**=वे **च्यौत्नानि**=शत्रुओं को च्युत करनेवाले बल **तव**=आपके ही हैं, **यत्**=जब आप **नव नवतिं च**=शत्रुओं की निन्यानवें पुरियों को **सद्यः**=शीघ्र ही **अहन्**=नष्ट कर डालते हैं। २. असुरों की निन्यानवें नगरियों को नष्ट करके **निवेशने**=उत्तम जीवन के निवेशन के निमित्त **शततमा**=सौवीं पुरी में **अविवेषी**=आप व्याप्त होते हैं **च**=और आप **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को **अहन्**=विनष्ट करते ही हैं, **उत**=और **नमुचिम्**=पवित्रात्माओं का भी पीछा न छोड़नेवाली अहंकारवृत्ति को भी **अहन्**=नष्ट करते हैं।

भावार्थ—प्रभु अपनी प्रबल शक्ति से असुरों की निन्यानवें नगरियों का विध्वंस करके हमें उत्तम निवास के लिए सौवीं नगरी को प्राप्त कराते हैं, जिसमें न वृत्र का स्थान हो, न नमुचि का। वस्तुतः यह सौवीं देवपुरी काम व अहंकार से शून्य है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

रातहव्य-दाश्वान्-सुदास्

सना ता त इन्द्र भोजनानि रातहव्याय दाशुषे सुदासे।
वृष्णे ते हरी वृषणा युनज्मि व्यन्तु ब्रह्माणि पुरुशाक वाजम्॥ ६॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ता**=वे **ते**=आपके **भोजनानि**=पालन करनेवाले धन **रातहव्याय**=दत्तहविष्यक—यज्ञशील पुरुष के लिए तथा **दाशुषे**=दानशील पुरुष के लिए तथा **सुदासे**=वासनाओं का सम्यक् उपक्षय करनेवाले के लिए **सना**=सदा से हैं। 'रातहव्य-दाश्वान्-सुदास्' को आप ये धन प्राप्त कराते ही हैं। २. **वृष्णे ते**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले आपके लिए **वृषणा हरी**=शक्तिशाली इन्द्रियाश्वों को **युनज्मि**=इस शरीर-रथ में जोड़ता हूँ, अर्थात् इन इन्द्रियों को मैं ज्ञान-प्राप्ति व यज्ञादि कर्मों में लगाये रखता हूँ। हे **पुरुशाक**=अनन्तशक्तिसम्पन्न

प्रभो! आपके ये उपासक **ब्रह्माणि**=ज्ञान की वाणियों को तथा **वाजम्**=बल को **व्यन्तु**=विशेष रूप से प्राप्त हों। कर्मेन्द्रियाँ इन्हें सबल बनाएँ तथा ज्ञानेन्द्रियाँ प्रकाशमय।

भावार्थ—प्रभु यज्ञशील दानी व वासनाओं से ऊपर उठे हुए व्यक्तियों को धन प्राप्त करते हैं। प्रभु के उपासक सदा इन्द्रियों को कर्त्तव्यकर्मों में लगाये रखकर ज्ञान व शक्ति प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

मा अघाय, मा परादै

मा ते॑ अ॒स्यां स॑हसाव॒न्परि॑ष्टाव॒घाय॑ भूम हरिवः परादै।
त्राय॑स्व नोऽवृ॒केभि॒र्वरू॑थै॒स्तव॑ प्रि॒यासः॑ सू॒रिषु॑ स्याम ॥ ७ ॥

१. हे **सहसावन्**=शत्रुओं को कुचलनेवाले बल से सम्पन्न, **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वों को प्राप्त करानेवाले प्रभो! हम **ते**=आपके **अस्याम्**=इस **परिष्टौ**=अन्वेषणा में (In search of thee) **अघाय**=पाप के लिए **माभूम**=मत हों। **परादै**=परादान के लिए—आपसे त्यागे जाने के लिए न हों। आपकी खोज में लगे हुए हम न तो पापों में फँसे और न ही आप से परित्यक्त हों। २. आप **नः**=हमें **अवृकेभिः**=बाधा से शून्य (अबाधैः सा०) **वरूथैः**=रक्षणों द्वारा **त्रायस्व**=रक्षित कीजिए। हम **तव प्रियासः**=आपके प्रिय हों और **सूरिषु स्याम**=ज्ञानियों में गिनतीवाले हों—ज्ञान-प्रधान जीवन बिताएँ।

भावार्थ—प्रभु की खोज में लगे हुए हम प्रभु से परित्यक्त न हों—पाप में न फँसे। प्रभु द्वारा रक्षित होकर कर्त्तव्य-कर्मों में लगे हुए हम प्रभु के प्रिय बनें—ज्ञानप्रधान जीवनवाले बनें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रियासः इत् ते

प्रि॒यास॒ इत्ते॑ मघवन्न॒भिष्टौ॒ नरो॑ मदेम शर॒णे सखा॑यः।
नि तु॒र्वशं॒ नि याद्वं॑ शिशीह्यतिथि॒ग्वाय॒ शंस्यं॑ करि॒ष्यन् ॥ ८ ॥

१. हे **मघवन्**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते अभिष्टौ**=आपके अन्वेषण में—प्रार्थना व आराधना में **प्रियासः इत्**=निश्चय से आपके प्रिय होते हुए, **नरः**=उन्नति-पथ पर चलते हुए (ते) **सखायः**=आपके मित्र बनकर **शरणे**=आपकी शरण में **मदेम**=आनन्द का अनुभव करें। २. हे प्रभो! आप **तुर्वशम्**=त्वरा से शत्रुओं को वश में करनेवाले उपासक को **निशिशीहि**=खूब तीक्ष्ण कीजिए—इसे तीक्ष्ण-बुद्धि बनाइए। **याद्वम्**=इस यत्नशील मनुष्य को नि (शिशीहि) तीक्ष्ण कीजिए। इसे काम-क्रोध आदि शत्रुओं के लिए भयंकर बनाइए। **अतिथिग्वाय**=अतिथियों के प्रति उनके सत्कार के लिए जानेवाले इस पुरुष के लिए **शंस्यं करिष्यन्**=आप सदा प्रशंसनीय बातों को ही करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु की आराधना करते हुए हम प्रभु के प्रिय बनें। प्रभु के प्रिय बनकर प्रभु की शरण में आनन्द का अनुभव करें। शत्रुओं को वश में करनेवाले, यत्नशील व अतिथिसेवी बनें, प्रभु अवश्य हमारा कल्याण करेंगे।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उक्थशासः

स॒द्यश्चि॒न्नु ते॑ मघवन्न॒भिष्टौ॒ नरः॑ शंसन्त्युक्थ॒शास॑ उ॒क्था।
ये ते॒ हवे॑भि॒र्वि प॒णीँरदा॑श॒न्नस्मा॑न्वृणीष्व॒ युज्या॑य॒ तस्मै॑ ॥ ९ ॥

१. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते अभिष्टौ**=आपकी अभ्येषणा (प्रार्थना) में **उक्थशासः**=

स्तोत्रों का शंसन करनेवाले **नरः**=स्तोता लोग **सद्यः चित्**=शीघ्र ही **नु**=निश्चय से **उक्था**=स्तोत्रों को **शंसन्ति**=उच्चरित करते हैं। २. **ये**=जो **ते हवेभिः**=आपकी पुकारों से—आराधनाओं से **पणीन्**=वणिक् वृत्तिवालों को **वि अदाशन्**=दानवृत्तिवाला बना देते हैं, उन **अस्मान्**=हमें **तस्मै युज्याय**=उस अपनी मित्रता के लिए **वृणीष्व**=वरिये। हम आपकी मित्रता में चलें। आपकी आराधना करते हुए हम कृपणों को भी दानशील बनाने का यत्न करें।

भावार्थ—प्रभु की आराधना में हम स्तोत्रों का उच्चारण करें। पवित्र जीवनवाले बनते हुए हम कृपणों को भी दानशील बना पाएँ।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शिवः-सखा-अविता

एते स्तोमा नरां नृतम तुभ्यमस्मद्र्यञ्चो ददतो मघानि।
तेषामिन्द्र वृत्रहत्ये शिवो भूः सखा च शूरोऽविता च नृणाम्॥ १०॥

१. हे **नरां नृतम**=नायकों में सर्वोत्तम नायक प्रभो! **एते स्तोमाः**=ये स्तुतिसमूह **तुभ्यम्**=आपकी प्राप्ति के लिए हैं। इन स्तोमों द्वारा हम आपको प्राप्त करते हैं। **अस्मद्र्यञ्चो**= हमारे अभिमुख होते हुए ये स्तोम **मघानि ददतः**=ऐश्वर्यों को देते हुए होते हैं। आपका स्तवन करते हुए हम सब आवश्यक ऐश्वर्यों को प्राप्त करते हैं। २. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **वृत्रहत्ये**=संग्राम में **तेषां नृणाम्**=उन उन्नति-पथ पर चलनेवाले मनुष्यों का **शिवः**=कल्याण करनेवाले **भूः**=होइए **च**=और **सखा**=उनके मित्र होते हुए **शूरः**=उनके शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले **च**=और **अविता**=रक्षक होइए।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन करनेवाला सब ऐश्वर्यों को प्राप्त करता है। प्रभु इनके शत्रुओं को शीर्ण करके इनका कल्याण करते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'वाजान्+स्तीन्' (उपमिमीहि)

नू इन्द्र शूर स्तवमान ऊती ब्रह्मजूतस्तन्वा वावृधस्व।
उप नो वाजान्मिमीह्युप स्तीन्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥ ११॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **स्तवमानः**=स्तुति किये जाते हुए आप **ऊती**=रक्षा के हेतु से **नु**=निश्चय से **वावृधस्व**=हमारा खूब ही वर्धन कीजिए। **ब्रह्मजूतः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा हृदयों में प्रेरित हुए-हुए आप **तन्वा**=शक्तियों के विस्तार के हेतु से (**वावृधस्व**)=हमारा खूब ही वर्धन कीजिए। २. **नः**=हमारे लिए **वाजान्**=शक्तियों को **उपमिमीहि**=समीपता से निर्मित कीजिए तथा **स्तीन्**=ज्ञान की वाणीरूप शब्दसमूहों का **उप**=निर्माण कीजिए। **यूयम्**=आप सब देव **सदा**=सदा **नः**=हमें **स्वस्तिभिः**=कल्याणों के द्वारा **पात**=रक्षित कीजिए।

भावार्थ—स्तुति किये जाते हुए प्रभु हमारा रक्षण करें। प्रभु हमारी शक्तियों का विस्तार करें। हमें बल व ज्ञान की वाणियों को प्राप्त कराएँ।

प्रभु-स्तवन करता हुआ यह व्यक्ति 'इरिम्बिठि' बनता है (ऋ गतौ, बिठं-अन्तरिक्षम्)-क्रियाशीलता की भावना से युक्त हृदयान्तरिक्षवाला होता है तथा 'मधुच्छन्दाः'=मधुर इच्छाओंवाला बनता है। ये इरिम्बिठि व मधुच्छन्दा ही अगले सूक्तों में क्रमशः (प्रथम तीन व) पिछले तीन मन्त्रों के ऋषि हैं—

३८. [अष्टत्रिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—इरिम्बिठिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

प्रभु को हृदय में आसीन करना

आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम्। एदं बर्हिः सदो मम॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **आयाहि**=आइए। **हि**=निश्चय से **ते**=आपकी प्राप्ति के लिए ही **सुषुम**=हमने इस सोम का सम्पादन किया है। **इमं सोमं पिब**=आप इस सोम का पान (रक्षण) कीजिए। आपके अनुग्रह से ही हम इस सोम को शरीर में सुरक्षित कर पाएँगे। २. आप सदा ही **मम**=मेरे **इदं बर्हिः**=इस वासनाशून्य हृदय में **आसदः**=आसीन होइए। आपके सान्निध्य से ही वासनाओं का यहाँ प्रवेश नहीं होता। वासनाओं के अभाव में ही सोम का पान सम्भव होता है। इस सुरक्षित सोम के द्वारा हम 'सोम' प्रभु को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए हम शरीर में सोम का सम्पादन करते हैं। इसके लिए हृदय में प्रभु का ध्यान करते हैं।

ऋषिः—इरिम्बिठिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

'ब्रह्मयुजा केशिना' हरी

आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना। उप ब्रह्माणि नः शृणु॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ब्रह्मयुजा**=ज्ञान के साथ मेलवाले **केशिना**=प्रकाश की रश्मियोंवाले **हरी**=इन्द्रियाश्व **त्वा**=आपको **आवहताम्**=हमारे लिए प्राप्त करानेवाले हों। हम इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान-प्राप्ति में प्रवृत्त हुए-हुए अपने में ज्ञानरश्मियों को बढ़ानेवाले हों। यही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है। २. हे प्रभो! **उप**=हमें हृदयों में समीपता से प्राप्त हुए-हुए आप **नः**=हमसे किये जानेवाले **ब्रह्माणि**=स्तोत्रों को **शृणु**=सुनिए।

भावार्थ—इन्द्रियों को ज्ञानप्राप्ति में लगाते हुए हम प्रभु के समीप हों। हृदयस्थ प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करें।

ऋषिः—इरिम्बिठिः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

ब्रह्माणः+सोमिनः

ब्रह्माणस्त्वा वयं युजा सोमपामिन्द्र सोमिनः। सुतावन्तो हवामहे॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **वयम्**=हम **त्वा युजा**=तुझ साथी के साथ **ब्रह्माणः**=ज्ञानवाले बनते हैं—हम अपने जीवन की साधना इसप्रकार करते हैं कि यह ज्ञान-प्रधान बने। २. **सुतावन्तः**=सोम का सम्पादन करनेवाले हम **सोमपाम्**=सोम का रक्षण करनेवाले ज्ञान को **हवामहे**=पुकारते हैं और **सोमिनः**=सोमी बनते हैं—सोम का रक्षण करनेवाले बनते हैं। इस सुरक्षित सोम ने ही तो हमारी ज्ञानाग्नि को दीप्त करके हमें 'ज्ञानी' (ब्रह्माणः) बनाना है।

भावार्थ—प्रभुरूप मित्र को पाकर हम सोम का रक्षण करते हुए दीप्त ज्ञानाग्निवाले बनें।

ऋषिः—मधुच्छन्दाः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

गाथिनः-अर्किणः

इन्द्रमिद्गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः। इन्द्रं वाणीरनूषत॥ ४॥

१. **गाथिनः**=साम वाणियों का गायन करनेवाले **इत्**=निश्चय से **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को **बृहत्**=खूब ही **अनूषत**=स्तुत करते हैं। २. **अर्किणः**=ऋङ्मन्त्रों द्वारा अर्चन करनेवाले

उपासक **अर्केभिः**=ऋचाओं के द्वारा **इन्द्रम्**=उस प्रभु का ही पूजन करते हैं। ३. **वाणीः**=यजूरूप वाणियाँ भी **इन्द्रम्**=उस प्रभु को ही स्तुत करती हैं।

भावार्थ—हम 'ऋग्-यजु-साम' मन्त्रों से प्रभु का ही पूजन करें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

वज्री हिरण्ययः

इन्द्र इद्धर्योः सचा संमिश्ल आ वचोयुजा। इन्द्रो वज्री हिरण्ययः ॥ ५ ॥

१. **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **इत्**=निश्चय से **हर्योः**=इन इन्द्रियाश्वों का **संमिश्लः**=हमारे साथ मिलानेवाला है। ये ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्व **सचा**=परस्पर मेलवाले होते हैं और **वचोयुजा**=शास्त्रवचनों के अनुसार कार्यों में प्रवृत्त होनेवाले होते हैं। ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ मिलकर कार्य करती हैं और शास्त्रवचनों का उल्लंघन न करती हुई अपने कार्यों में प्रवृत्त होती हैं। २. **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **वज्री**=वज्रहस्त है—क्रियाशील है। क्रियाशीलता ही वस्तुतः इनका वज्र है। **हिरण्ययः**=ये ज्योतिर्मय हैं—ज्ञानज्योति से दीप्त हैं।

भावार्थ—प्रभु-प्रदत्त कर्मेन्द्रियाँ हमें वज्री बनाएँ और ज्ञानेन्द्रियाँ हिरण्यय बनानेवाली हों।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सूर्य व ज्ञानरश्मियाँ

इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद्दिवि। वि गोभिरद्रिमैरयत् ॥ ६ ॥

१. **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **दीर्घाय चक्षसे**=अन्धकार का विदारण कर देनेवाले विशाल प्रकाश के लिए **सूर्यम्**=सूर्य को **दिवि आरोहयत्**=द्युलोक में आरूढ़ करते हैं। सूर्योदय हुआ और अन्धकार भागा। २. इसी प्रकार हमारे जीवनों में भी वे प्रभु **गोभिः**=ज्ञान की वाणियों व ज्ञान की रश्मियों से **अद्रिम्**=अविद्यापर्वत को **वि ऐरयत्**=विशिष्ट रूप से कम्पित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही बाह्यजगत् को सूर्य के द्वारा तथा आन्तरिक जगत् को ज्ञानरश्मियों द्वारा प्रकाशमय करते हैं।

इन ज्ञानरश्मियों को पाकर यह पवित्र जीवनवाला व्यक्ति मधुर इच्छाओं को करता हुआ 'मधुच्छन्दा' होता है। यही अगले सूक्त के प्रथम मन्त्र का ऋषि है। शेष मन्त्रों के ऋषि 'गोषूक्ति व अश्वसूक्ति' हैं, जिनकी ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ सदा उत्तम कर्मों को करनेवाली हैं—

३९. [एकोनचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

केवलः

इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः। अस्माकमस्तु केवलः ॥ १ ॥

१. हम **वः इन्द्रम्**=तुम सबके शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु को **विश्वतःपरि**=सब ओर से इन्द्रियों को विषयों से पृथक् करके (परि-वर्जने) **जनेभ्यः**=सब लोगों के हित के लिए **हवामहे**=पुकारते हैं। हम प्रभु-स्तवन करते हैं—प्रभु हमारे अन्दर लोकहित की भावनाओं को भरते हैं। २. वे प्रभु **अस्माकम्**=हमारे **केवलः**=आनन्द में संचार करानेवाले **अस्तु**=हों। (क=सुख, वल् संचरणे)।

भावार्थ—प्रभु का आराधक लोकहित में प्रवृत्त होता है। प्रभु इसे आनन्दमय जीवनवाला बनाते हैं।

ऋषिः—**गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सोमस्य मदे

व्य१न्तरिक्षमतिरन्मदे सोमस्य रोचना। इन्द्रो यदभिनद्वलम्॥ २॥

१. **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **सोमस्य मदे**=सोम-रक्षण से जनित उल्लास के होने पर **अन्तरिक्षम्**=हृदयान्तरिक्ष को **रोचना**=ज्ञानदीप्तियों से **व्यतिरत्**=बढ़ाता है। सुरक्षित सोम ज्ञानाग्नि का ईंधन बनता है और हृदय ज्ञान के प्रकाश से दीप्त हो उठता है। २. यह सब तब होता है **यत्**=जब **इन्द्रः**=वे शत्रुविद्रावक प्रभु **वलम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को **अभिनत्**=विदीर्ण कर देते हैं।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हमारी वासना विनष्ट हो और हम सोम का रक्षण करते हुए हृदयान्तरिक्ष में ज्ञानदीप्ति का अनुभव करें।

ऋषिः—**गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'वल' का अपनोदन

उद्गा आजदङ्गिरोभ्य आविष्कृण्वन्गुहा सतीः। अर्वाञ्चं नुनुदे वलम्॥ ३॥

१. प्रभु **अंगिरोभ्यः**=गतिशील पुरुषों के लिए **गुहासतीः**=अविद्यापर्वत की गुफ़ा में बन्द-सी हुई-हुई **गाः**=इन्द्रियों को **आविष्कृण्वन्**=पुनः अज्ञानान्धकार से बाहर लाते हुए **उद् आजत्**=उत्कृष्ट गतिवाला करते हैं। २. इसी उद्देश्य से वे प्रभु **वलम्**=इस वासना के पर्दे को **अर्वाञ्चं नुनुदे**=अधोमुख करके विनष्ट कर डालते हैं। वासनारूप पर्दे के हटने पर ही तो ज्ञान का प्रकाश होगा।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से वासना विनष्ट होती है और इन्द्रियाँ प्रकाशमय होकर उत्कृष्ट गतिवाली होती हैं।

ऋषिः—**गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

दिवः रोचना

इन्द्रेण रोचना दिवो दृढानि दृंहितानि च। स्थिराणि न पराणुदे॥ ४॥

१. **इन्द्रेण**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु से **दिवः**=मस्तिष्करूप द्युलोक के **दृढानि**=बड़े प्रबल **रोचना**=विज्ञान-नक्षत्र **च**=निश्चय से **दृंहितानि**=दृढ़ किये गये हैं। प्रभु अपने उपासक के मस्तिष्क को ज्ञान-नक्षत्रों से दीप्त कर डालते हैं। २. ये विज्ञान-नक्षत्र **स्थिराणि**=बड़े स्थिर होते हैं। **न पुराणुदे**=ये परे धकेले जाने के लिए नहीं होते। कोई भी वासनारूप शत्रु इन्हें विनष्ट नहीं कर पाता।

भावार्थ—उपासक का मस्तिष्करूप द्युलोक विज्ञान-नक्षत्रों से दीप्त हो उठता है।

ऋषिः—**गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

मदाः

अपामूर्मिर्मदन्निव स्तोम इन्द्राजिरायते। वि ते मदा अराजिषुः॥ ५॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **अपाम् ऊर्मिः इव**=जलों की तरंग की भाँति **मदन्**=उल्लसित होता हुआ **स्तोमः**=यह स्तवन **अजिरायते**=अत्यन्त शीघ्र गतिवाला होता है। यह स्तोम हमारे मुख से उच्चरित होकर शीघ्रता से आपकी ओर गतिवाला होता है। २. ऐसा होने पर हे प्रभो! **ते मदाः**=आपसे प्राप्त कराये गये उल्लासजनक सोम **वि अराजिषुः**=विशिष्ट रूप से दीप्त होते

हैं। प्रभु-स्तवन से वासनाओं का आक्रमण नहीं होता और सोम-रक्षण होकर आनन्द का अनुभव होता है।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन में प्रवृत्त होते हैं, परिमाणतः हमारा जीवन शक्ति-सम्पन्न व उल्लासमय बनता है।

अगले सूक्त का ऋषि 'मधुच्छन्दाः' ही है—उत्तम मधुर इच्छाओंवाला—

४०. [चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

मन्दू समानवर्चसा

इन्द्रेण सं हि दृक्षसे संजग्मानो अबिभ्युषा। मन्दू समानवर्चसा ॥ १ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु-स्तवन करनेवाले हे उपासक! तू **अबिभ्युषा**=उस भीतिरहित **इन्द्रेण**=सर्वशक्तिमान् प्रभु से **संजग्मानः हि**=संगत-सा हुआ-हुआ ही **संदृक्षसे**=सम्यक् दृष्टिगोचर होता है। उपासना उसे प्रभु के समीप लाती हुई प्रभु से मिला-सा देती है। 'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रम्'। २. इसी वृत्ति में ये दोनों उपासक व उपास्य **मन्दू**=आनन्दमय होते हैं। प्रभु तो आनन्दस्वरूप हैं ही, जीव भी उसके आनन्द में भागी बन जाता है। **समानवर्चसा**=ये उपास्य व उपासक समान दीप्तिवाले हो जाते हैं। उपास्य की दीप्ति से उपासक भी दीप्त हो उठता है।

भावार्थ—उपासक प्रभु से संगत होकर निर्भय, आनन्दमय व दीप्तरूपवाला बन जाता है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'प्रशस्त, ज्योतिर्मय, सबल' जीवन

अनवद्यैरभिद्युभिर्मखः सहस्वदर्चति। गणैरिन्द्रस्य काम्यैः ॥ २ ॥

१. **मखः**=एक यज्ञशील पुरुष प्राणसाधना करता हुआ प्राणों के साथ **सहस्वत्**=(बलोपेतं यथा स्यात्तथा सबलम् अर्चति) प्रभु का अर्चन करता है। अर्चना उपासक को सबल बनाती है। २. यह उपासक जिन प्राणों की साधना करता हुआ उपासना करता है वे प्राण **अनवद्यैः**=प्रशस्त हैं—हमें पापों से बचाते हैं, प्राणसाधक से कभी कोई निन्दनीय कर्म नहीं होता। **अभिद्युभिः**=ये ज्ञान-ज्योति की ओर ले-जाते हैं। प्राणसाधना से ज्ञान दीप्त हो जाता है। ये प्राण **गणैः**=गणनीय व प्रशंसनीय हैं, **इन्द्रस्य काम्यैः**=जितेन्द्रिय पुरुष की सब कामनाओं को पूर्ण करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम प्राणसाधना के साथ यज्ञशील बनते हुए प्रभु का अर्चन करें। यह अर्चना हमें प्रशस्त ज्योतिर्मय व सबल जीवनवाला बनाएगी।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

पुनः गर्भत्वम् ऐरिरे

आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे। दधाना नाम यज्ञियम् ॥ ३ ॥

१. **आत्**=गतमन्त्र के अनुसार उपासना करने के एकदम बाद ही **अह**=निश्चय से **स्वधाम् अनु**=आत्मधारणशक्ति के अनुसार, अर्थात् जितना-जितना आत्मधारण करते हैं उतना-उतना **पुनः**=फिर **गर्भत्वम् एरिरे**=परमात्मा की गोद में होने की स्थिति को अपने में प्रेरित करते हैं। अपने को ये प्रभु की गोद में अनुभव करते हैं। इनका जप यही होता है 'अमृतोपस्तरणमसि, अमृतापिधानमसि'=अमृत प्रभो! आप ही हमारे उपस्तरण हो, आप ही अपिधान हो। २. ये उपासक उस प्रभु के **यज्ञियम् नाम**=पवित्र नाम को **दधानाः**=धारण करते हुए होते हैं। यह नाम-जप उन्हें प्रेरणा देता है। इस प्रेरणा से वे भी प्रभु-जैसा बनने का प्रयत्न करते हैं।

भावार्थ—उपासक आत्मधारणशक्ति के अनुपात में अपने को प्रभु की गोद में अनुभव करता है। यह प्रभु के पवित्र नामों का जप करता है।

इसप्रकार पवित्र जीवनवाला प्रशस्तेन्द्रिय यह उपासक 'गोतम' होता है—अत्यन्त प्रशस्त इन्द्रियोंवाला यह प्रभु-स्तवन करता है—

४१. [एकचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

दधीचि की अस्थियों से वृत्र का विनाश

इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः। जघान नवतीर्नव॥ १॥

१. **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **दधीचः**=(ध्यानं प्रत्यक्तः) ध्यानी पुरुष की **अस्थभिः**=(असु क्षेपणे) विषयों को दूर फेंकने की शक्तियों से **वृत्राणि**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को **नवतीः नव**=निन्यानवे वार **जघान**=नष्ट करता है। इन वृत्रों के विनाश से ही शतवर्ष तक जीवन पवित्र बना रहता है। २. ध्यान-परायण व्यक्ति ही 'दध्यङ्' है। विषयों को दूर फेंकने की वृत्तियाँ ही अस्थियाँ हैं। वासना ही वृत्र है। यह ध्यानी पुरुष प्रभु के ध्यान द्वारा विषयवासनाओं को परे फेंकनेवाला बनता है। **अप्रतिष्कुतः**=यह प्रतिकूल शब्द से रहित होता है, अर्थात् कोई भी इसका प्रतिद्वन्द्वी नहीं रहता। यह सब वासनाओं का पराजय करनेवाला बनता है।

भावार्थ—हम प्रभु का ध्यान करते हुए प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न बनकर वासनाओं को दूर फेंकनेवाले बनें।

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

शर्यणावान् में अश्व के शिर की प्राप्ति

इच्छन्नश्वस्य यच्छिरः पर्वतेष्वपश्रितम्। तद्विदच्छर्यणावति॥ २॥

१. **पर्वतेषु**=शरीर में मेरुदण्डरूप मेरुपर्वतों पर **अपश्रितम्**=उल्टा करके रखा हुआ (अर्वाग् बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः) **अश्वस्य यत् शिरः**=(अश्नुते) सब विषयों का व्यापन करनेवाला जो सिर है। **तत्**=उसको **इच्छन्**=चाहता हुआ साधक **शर्यणावति विदत्**=वासनाओं का हिंसन करनेवाले व्यक्ति में **विदत्**=प्राप्त करता है। २. यहाँ 'पर्वत' मेरुदण्ड ही है। वासना-विनाश के द्वारा सब विषयों का ज्ञान करनेवाला मस्तिष्क ही 'अश्व' का मस्तिष्क है। वासनाओं का हिंसन करनेवाला व्यक्ति 'शर्यणावान्' है।

भावार्थ—यदि हम चाहते हैं कि शरीर में मेरुदण्ड पर उलटा-सा पड़ा हुआ यह हमारा सिर सब विषयों के ज्ञान का व्यापन करनेवाला बने तो हमें चाहिए कि हम वासनाओं का हिंसन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

चन्द्रमा के घर में

अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्य᳘म्। इत्था चन्द्रमसो गृहे॥ ३॥

१. **अत्र अह**=यहाँ ही, गतमन्त्र के अनुसार अश्व के सिर में ही—सब विषयों का व्यापन करनेवाले मस्तिष्क में **गोः अमन्वत**=ज्ञान की वाणियों का—वेदधेनु का मनन करते हैं। इसी मस्तिष्क में वेद का तत्त्व स्पष्ट होता है। यहाँ ही **त्वष्टुः**=उस निर्माता के **अपीच्यम्**=सर्वत्र अन्तर्हित **नाम**=तेज व यश को भी जान पाते हैं। ये गतमन्त्र के शर्यणावान् पुरुष ही सूर्य आदि

सब पिण्डों को प्रभु की दीप्ति से दीप्त होता हुआ देखते हैं। २. **इत्था**=इसप्रकार वेदज्ञान को व प्रभु के यश को मनन करते हुए ये व्यक्ति **चन्द्रमसः गृहे**=आह्लादमय प्रभु के गृह में निवास करते हैं (चदि आह्लादे)।

भावार्थ—वासनाशून्य पुरुष के दीप्त मस्तिष्क में ही वेदज्ञान व प्रभु के यश का मनन होता है। यह पुरुष ऐसा करता हुआ आनन्दमय प्रभु में ही निवास करता है।

प्रभु के यश का मनन करनेवाला यह व्यक्ति प्रभु-स्तवनपूर्वक क्रियामय जीवनवाला होता है, अतः यह 'कुरुसुति' कहलाता है। यह इन्द्र का स्तवन करता है—

४२. [द्विचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**कुरुसुतिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

अष्टापदी वाक्

वाचमष्टापदीमहं नवस्रक्तिमृतस्पृशम्। इन्द्रात्परि तन्वं ममे॥ १॥

१. प्रभु का स्तवन करता हुआ कुरुसुति कहता है कि **अहम्**=मैं **इन्द्रात्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु से **वाचम्**=वाणी को **परिममे**=अपने अन्दर निर्मित करता हूँ। उस वेदवाणी को जोकि **अष्टापदीम्**=कर्ता, कर्म आदि के पद से आठ पदोंवाली है। **नवस्रक्तिम्**=जो हमारे जीवन का स्तुत्य (नु स्तुतौ) निर्माण करती है और **ऋतस्पृशम्**=सब सत्य विद्याओं के स्पर्शवाली है। २. यह कुरुसुति ज्ञान की वाणी का अपने अन्दर निर्माण करता हुआ **तन्वम्**=शक्तियों के विस्तार को अपने अन्दर निर्मित करता है।

भावार्थ—हम प्रभु के उपासन के द्वारा अपने अन्दर सत्य-ज्ञान की वाणियों का निर्माण करते हुए शक्तियों का विस्तार करनेवाले हों।

ऋषिः—**कुरुसुतिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

क्रक्षमाण

अनु त्वा रोदसी उभे क्रक्षमाणमकृपेताम्। इन्द्र यद्दस्युहाभवः॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **यत्**=जब तू **दस्युहा अभवः**=वासनारूप दास्यव वृत्तियों को नष्ट करनेवाला होता है तब **क्रक्षमाणम्**=शत्रुओं को कुचलनेवाले **त्वा अनु**=तेरे अनुसार **उभे रोदसी**=दोनों द्यावापृथिवी—मस्तिष्क व शरीर **अकृपेताम्**=सामर्थ्य-सम्पन्न बनते हैं।

भावार्थ—जितना-जितना हम काम-क्रोध आदि का विनाश कर पाएँगे, उतना-उतना ही शरीर व मस्तिष्क को शक्तिशाली बना पाएँगे।

ऋषिः—**कुरुसुतिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

शिप्रे अवेपयः

उत्तिष्ठन्नोजसा सह पीत्वी शिप्रे अवेपयः। सोममिन्द्र चमू सुतम्॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **चमू सुतम्**=(चम्वोः द्यावापृथिव्योः) शरीर व मस्तिष्क के निमित्त उत्पन्न किये गये **सोमम्**=सोम को—वीर्यशक्ति को **पीत्वी**=अपने अन्दर ही पीकर **ओजसा सह**=ओजस्विता के साथ **उत्तिष्ठन्**=उन्नत होता हुआ **शिप्रे अवेपयः**=शत्रुओं के जबड़ों को कम्पित कर देता है। २. सोम-रक्षण से शरीर में शक्ति तथा मस्तिष्क में ज्ञानदीप्ति का निवास होता है। इसी स्थिति में हम शत्रुओं से पराभूत नहीं होते।

भावार्थ—सोम-रक्षण द्वारा शक्ति व ज्ञानदीप्ति को प्राप्त करके उन्नत होते हुए हम शत्रुओं

को कम्पित करनेवाले हों।

सब शत्रुओं को कम्पित करनेवाला यह व्यक्ति—'शरीर, मन व मस्तिष्क' तीनों को दीप्त करके 'त्रिशोक' बनता है। अगला सूक्त इस त्रिशोक का ही है—

४३. [त्रिचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**त्रिशोकः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

द्विषः–बाधो–मृधः (परिजहि)

भिन्धि विश्वा अप द्विषः परि बाधो जही मृधः। वसु स्पार्हं तदा भर॥ १॥

१. **विश्वाः**=सब **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं को **भिन्धि**=विदीर्ण कर दीजिए। हमारे जीवन में द्वेष का साम्राज्य न हो। हम सबके साथ प्रीतिपूर्वक वर्तनेवाले बनें। **बाधः**=उन्नति के मार्ग में बाधक बनी हुई अशुभवृत्तियों को या व्यक्तियों को **परिजहि**=हमसे दूर कीजिए। (हन् गतौ)। इसी प्रकार **मृधः**=हमें मार डालनेवाली दास्यव वृत्तियों को भी हमसे दूर कीजिए। २. द्वेषों को, बाधाओं को व दास्यव वृत्तियों को हमसे पृथक् करके **तत्**=उस **वसु**=निवास के लिए आवश्यक धन को **आभर**=सर्वथा प्राप्त कराइए जोकि **स्पार्हम्**=स्पृहणीय है—सबसे प्राप्त करने के लिए वाञ्छनीय है।

भावार्थ—प्रभु हमसे द्वेषों, बाधाओं व शत्रुओं को पृथक् कर स्पृहणीय धन प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**त्रिशोकः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

वीडु–स्थिर–पर्शाने

यद्वीडाविन्द्र यत्स्थिरे यत्पर्शाने पराभृतम्। वसु स्पार्हं तदा भर॥ २॥

१. **यत्**=जो धन **वीडौ**=दृढ़, सबल शरीरवाले पुरुष में है, हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत्**=जो **स्थिरे**=स्थिर–शान्त चित्तवृत्तिवाले पुरुष में है और **यत्**=जो **पर्शाने**=विचारशील पुरुष में **पराभृतम्**=धारण किया गया है। **तत्**=उस **स्पार्हम्**=स्पृहणीय **वसु**=धन को **आभर**=हमारे लिए प्राप्त कराइए।

भावार्थ—हम उस स्पृहणीय धन को प्राप्त करें, जिसे प्राप्त करके हम दृढ़ शरीरवाले, स्थिर चित्तवृत्तिवाले तथा विचारशील बन पाएँ।

ऋषिः—**त्रिशोकः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

विश्वमानुष

यस्य ते विश्वमानुषो भूरेर्दत्तस्य वेदति। वसु स्पार्हं तदा भर॥ ३॥

१. **यस्य**=जिस **ते**=आपसे **दत्तस्य**=आपसे दिये हुए **भूरेः**=पालन व पोषण के साधनभूत (भृ–धारणपोषणयोः) धन को **विश्वमानुषः**=अपने परिवार में सभी को सम्मिलित करनेवाला—वसुधाकुटुम्बी–पुरुष **वेदति**=प्राप्त करता है, **तत्**=उस **स्पार्हम् वसु**=स्पृहणीय धन को **आभर**=हमारे लिए भी प्राप्त कराइए।

भावार्थ—हम सारे विश्व को अपना परिवार समझते हुए 'विश्वमानुष' बनें। हम प्रभु-प्रदत्त धन के द्वारा सभी के पालन के लिए यत्नशील हों। प्रभु के अनुग्रह से हमें यह 'विश्वमानुष' को मिलनेवाला स्पृहणीय धन प्राप्त हो।

'विश्वमानुष' बनने के लिए क्रियाशीलता नितान्त आवश्यक है। कितना बड़ा बोझ हमारे कन्धों पर आ पड़ा है। अकर्मण्यता से इसे कैसे उठा पाएँगे, अतः क्रियाशीलता के संकल्पवाला

यह व्यक्ति 'इरिम्बिठि' कहलाता है—(बिठम् अन्तरिक्षम्) जिस के हृदय में क्रियाशीलता की भावना है। यह इन्द्र का स्तवन करता है—

४४. [चतुश्चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**इरिम्बिठिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सम्राट्-मंहिष्ठ

प्र सम्राजं चर्षणीनामिन्द्रं स्तोता नव्यं गीर्भिः। नरं नृषाहं मंहिष्ठम्॥ १॥

१. **चर्षणीनाम्**=श्रमशील मनुष्यों के **सम्राजम्**=जीवनों को सम्यक् दीप्त करनेवाले **नव्यम्**=स्तुति के योग्य **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **गीर्भिः**=इन ज्ञानपूर्वक उच्चारित स्तुतिवाणियों से **प्रस्तोत**=प्रकर्षेण स्तुत करो। यह स्तवन ही हमें श्रमशील व परिणामतः दीप्त जीवनवाला बनाएगा। २. उस प्रभु का स्तवन करो जोकि **नरम्**=हमें उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले हैं। **नृषाहम्**=हमारे शत्रुओं का पराभव करनेवाले हैं, **मंहिष्ठम्**=दातृतम हैं—सर्वाधिक दाता हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु ही हमारे जीवनों को दीप्त बनानेवाले हैं, उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले हैं, हमारे शत्रुओं का पराभव करते हैं और हमें सब-कुछ देते हैं।

ऋषिः—**इरिम्बिठिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

उक्थानि श्रवस्या

यस्मिन्नुक्थानि रण्यन्ति विश्वानि च श्रवस्या। अपामवो न समुद्रे॥ २॥

१. उस प्रभु का स्तवन करो **यस्मिन्**=जिस प्रभु में **विश्वानि उक्थानि**=सब स्तोत्र **रण्यन्ति**=रमणीय होते हैं **च**=और उस प्रभु का ही स्तवन करो जिससे **श्रवस्या** (श्रवस्यम्=Glory)=सब यश इसप्रकार रमणीय होते हैं, **न**=जैसेकि **अपाम् अवः**=जलों का प्रवाह **समुद्रे**=समुद्र में। २. सब जल-प्रवाहों का अन्तिम निधान समुद्र है, इसी प्रकार सब स्तोत्रों व यशों का निधान प्रभु हैं।

भावार्थ—हम उस प्रभु का स्तवन करे जो सब स्तोत्रों व यशों का निधान हैं।

ऋषिः—**इरिम्बिठिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

ज्येष्ठराट्-भरे कृत्नु

तं सुष्टुत्या विवासे ज्येष्ठराजं भरे कृत्नुम्। महो वाजिनं सनिभ्यः॥ ३॥

१. **तम्**=उस **ज्येष्ठराजम्**=सबसे महान् सम्राट्, **भरे कृत्नुम्**=संग्राम में कुशल प्रभु को **सुष्टुत्या**=उत्तम स्तुति से **आविवासे**=पूजित करता हूँ। २. उस प्रभु का मैं पूजन करता हूँ जो **सनिभ्यः**=संभजन करनेवालों के लिए **महः वाजिनम्**=महनीय शक्ति देनेवाले हैं। अपने उपासक को प्रभु महान् शक्ति प्रदान करते हैं।

भावार्थ—प्रभु सबसे बड़े समुद्र हैं, युद्धों में प्रभु ही विजय प्राप्त कराते हैं। उपासकों के लिए शक्ति देनेवाले हैं।

प्रभु से शक्ति प्राप्त करके यह स्तोता वास्तविक सुख का निर्माण करनेवाला होता है—'शुनःशेप' बनता है। यह देवों में दान देनेवाला 'देवरात' भी कहलाता है। यह प्रभु-स्तवन करता हुआ कहता है—

४५. [पञ्चचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**शुनःशेपो देवरातापरनामा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

क-पोतः

अयमु ते समतसि कपोतइव गर्भधिम्। वचस्तच्चिन्न ओहसे॥ १॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि हे जीव! **अयम्**=यह सोम **उ**=निश्चय से **ते**=तेरा है, तेरे लिए उत्पन्न किया गया है। **सम् अतसि**=तू इसे सम्यक् प्राप्त करता है। यह तेरे लिए **क-पोतः इव**=आनन्द की नाव के समान है। तेरे सारे आनन्दों का निर्भर इसी पर है। २. इस सोम के रक्षण से ही तू **नः**=हमारे **तत् वचः**=उस वेदवाणीरूप ज्ञानवचन को **चित्**=भी **आ ऊहसे**=सम्यक् जाननेवाला होता है जो **गर्भधिम्**=अपने अन्दर सम्पूर्ण सत्य-ज्ञान को धारण करनेवाला है। सोम ही सुरक्षित होकर हमें दीप्त बुद्धिवाला बनाकर इसके समझने के योग्य बनाता है।

भावार्थ—प्रभु ने हमारी उन्नति के लिए सोम का सम्पादन किया है। यह सुख देनेवाला है। दीप्त बुद्धि बनाकर हमें ज्ञान की वाणियों के तत्त्वों को समझने के योग्य बनाता है।

ऋषिः—**शुनःशेपो देवरातापरनामा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

राधानां पते

स्तोत्रं राधानां पते गिर्वाहो वीर यस्य ते। विभूतिरस्तु सूनृता॥ २॥

१. हे **वीर**=शत्रुओं को विशेषरूप से कम्पित करनेवाले! **राधानां पते**=सोम-रक्षण द्वारा सफलताओं के स्वामिन्! **गिर्वाहः**=ज्ञान की वाणियों को धारण करनेवाले जीव! **यस्य ते**=जिस तेरा **स्तोत्रम्**=यह प्रभु-स्तवन चलता है, उस तेरी **विभूतिः अस्तु**=विशिष्ट ऐश्वर्यशालिता हो तथा ऐश्वर्य के साथ **सूनृता**=सदा प्रिय, सत्य वाणी हो।

भावार्थ—सोम-रक्षण करनेवाला पुरुष वीर तो बनता ही है। वह जीवन में कभी असफल नहीं होता। यह ज्ञान की वाणियों को धारण करनेवाला बनता है। ऐसा बनकर सदा प्रभु-स्तवन करता है। परिणामतः विशिष्ट ऐश्वर्य प्राप्त करके भी सदा प्रिय, सत्य वाणीवाला—सौम्य स्वभाव होता है।

ऋषिः—**शुनःशेपो देवरातापरनामा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

प्रभु-प्रेरणा से कार्य करें

ऊर्ध्वस्तिष्ठा न ऊतयेऽस्मिन्वाजे शतक्रतो। समन्येषु ब्रवावहै॥ ३॥

१. गतमन्त्र का सौम्य पुरुष प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञानवाले प्रभो! **अस्मिन् वाजे**=इस जीवन-संग्राम में **नः ऊतये**=हमारे रक्षण के लिए **ऊर्ध्वः तिष्ठ**=आप सदा ऊपर स्थित हों—जागरित रहें। हमें सदा आपका रक्षण प्राप्त हो। २. हम **अन्येषु**=जीवन के अन्य सब कार्यों में भी **सं ब्रवावहै**=मिलकर बात कर लें, अर्थात् आपसे पूछकर—अन्तःस्थित आपकी प्रेरणा को लेकर ही हम सब कार्यों को करनेवाले हों।

भावार्थ—सौम्य पुरुष सदा संग्राम में प्रभु से रक्षणीय होता है। यह प्रभु-प्रेरणा से प्रेरित होकर ही सब कार्यों को करता है।

हृदयान्तरिक्ष में सदा क्रियाशीलता की भावनावाला यह 'इरिम्बिठि' कहाता है। यह इस रूप में इन्द्र का स्तवन करता है—

४६. [षट्चत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**इरिम्बिठिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'प्रशस्त मन तथा ज्योति' के कर्ता प्रभु

प्रणेतारं वस्यो अच्छा कर्तारं ज्योतिः समत्सु। सासह्वांसं युधामित्रान्॥ १॥

१. गतमन्त्र के अनुसार हम अपने अन्दर प्रभु से प्रेरणा का वर्धन करनेवाले हों जो हमें **वस्यः**=प्रशस्त धन की **अच्छा**=ओर **प्रणेतारम्**=ले-चलनेवाले हैं तथा **समत्सु**=संग्रामों में **ज्योतिः**=हमारे लिए ज्ञान का प्रकाश **कर्तारम्**=करनेवाले हैं। इस ज्ञान के प्रकाश में ही तो शत्रुभूत वासनाओं के अन्धकार का विलय होता है। २. उन प्रभु को ही हम बढ़ाएँ जोकि **युधा**=युद्ध के द्वारा **अमित्रान्**=हमारे सब शत्रुओं को **सासह्वांसम्**=कुचल देनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे लिए प्रशस्त धन देते हैं। काम-क्रोध आदि शत्रुओं के साथ संग्राम में हमारे लिए ज्ञानज्योति प्राप्त कराते हैं। इन शत्रुओं के साथ युद्ध में उन्हें ज्ञानाग्नि में भस्म कर डालते हैं।

ऋषिः—**इरिम्बिठिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

पार होने के लिए द्वेष से दूर

स नः पप्रिः पारयाति स्वस्ति नावा पुरुहूतः। इन्द्रो विश्वा अति द्विषः॥ २॥

१. **सः**=वे प्रभु **पप्रिः**=हमारा पूरण करनेवाले हैं—हमारी न्यूनताओं को दूर करते हैं। **नः**=हमें **स्वस्ति**=कल्याणपूर्वक **पारयाति**=इस भवसागर के पार ले-चलते हैं। इसी प्रकार जैसेकि एक नाविक **नावा**=नौका के द्वारा पार ले-जाता है। २. वे **पुरुहूतः**=जिनका आह्वान (आराधन) हमारा पालन व पूरण करनेवाला है; वे **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु हमें **विश्वाः**=सब **द्विषः**=द्वेष की भावनाओं से **अति**=पार ले-जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें द्वेष से दूर करते हुए भवसागर से पार पहुँचानेवाले हैं।

ऋषिः—**इरिम्बिठिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सुम्नं अच्छ

स त्वं न इन्द्र वाजेभिर्दशस्या च गातुया च। अच्छा च नः सुम्नं नेषि॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभो! **सः त्वम्**=वे आप **नः**=हमें **वाजेभिः**=शक्तियों के साथ **दशस्या**=धनों को अवश्य दीजिए **च**=तथा **गातुया**=हमारे लिए उत्तम मार्ग की इच्छा कीजिए (मार्गम् इच्छ)। २. इसप्रकार हे प्रभो! आप **नः**=हमें **च**=अवश्य **सुम्नम्**=सुख **अच्छ**=की ओर **नेषि**=ले-चलते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें शक्ति व धन देते हैं तथा मार्ग का दर्शन कराते हैं। इसप्रकार वे प्रभु हमें सुख की ओर ले-चलते हैं।

प्रभु की शरण में जानेवाला—उत्तम शरणवाला—'सुकक्ष' अगले सूक्त के प्रथम तीन मन्त्रों का ऋषि है। इसकी भावना यह है कि—

४७. [सप्तचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**सुकक्षः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

वृत्र-हनन व सुख-वर्षण

तमिन्द्रं वाजयामसि महे वृत्राय हन्तवे। स वृषा वृषभो भुवत्॥ १॥

१. हम **तम् इन्द्रम्**=सब शत्रुओं के संहारक उस प्रभु को **वाजयामसि**=अपने अन्दर गतिवाला करते हैं, अर्थात् उस प्रभु का पूजन करते हैं। वे प्रभु हमारे **महे वृत्राय**=महान् शत्रु वृत्र के **हन्तवे**=विनाश के लिए होते हैं। ज्ञान की आवरणभूत वासना को वे प्रभु ही विनष्ट करते हैं। **सः**=वे प्रभु **वृषा**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले व शक्तिशाली हैं। हमारे शत्रुओं को नष्ट करके हमारे लिए **वृषभः भुवत्**=सुखों का वर्षण करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का पूजन करें। प्रभु हमारे शत्रुओं का विनाश करके हमपर सुखों का वर्षण करेंगे।

ऋषिः—**सुकक्षः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'इन्द्र' का लक्षण

इन्द्रः स दामने कृत ओजिष्ठः स मदे हितः। द्युम्नी श्लोकी स सोम्यः ॥ २ ॥

१. **इन्द्रः सः**=इन्द्र वह है—इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव वह है जो **दामने**=इन्द्रियों के दमन के निमित्त **कृतः**=किया गया है—जिसका ध्येय इन्द्रियों का वशीकरण है। यह **ओजिष्ठः**=ओजस्वितम बनता है—इन्द्रियविजय ही इसे ओजस्वी बनाता है। ओजस्विता के कारण **सः**=वह **मदे**=सोमरक्षण-जनित उल्लास में **हितः**=स्थापित होता है। २. यह इन्द्र **द्युम्नी**=सुरक्षित सोम को ज्ञानाग्नि का ईंधन बनाकर दीप्त ज्ञानज्योतिवाला होता है। **श्लोकी**=उत्तम कर्मों को करता हुआ यशस्वी होता है। **सः**=वह यशस्वी होता हुआ भी **सोम्यः**=अत्यन्त शान्त, विनीत स्वभाववाला होता है।

भावार्थ—इन्द्र वह है जो इन्द्रियदमन को अपना ध्येय बनाता है। इन्द्रियदमन द्वारा ओजस्वी बनता है। सोम-रक्षण द्वारा उल्लासमय जीवनवाला होता है। ज्ञानज्योति को प्राप्त करके बड़े यशस्वी जीवनवाला होता है। इस सबके होते हुए अतिविनीत बनता है।

ऋषिः—**सुकक्षः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सबलः अनपच्युतः

गिरा वज्रो न संभृतः सबलो अनपच्युतः। ववक्ष ऋष्वो अस्तृतः ॥ ३ ॥

१. **गिरा**=ज्ञानपूर्वक उच्चरित स्तुतिवाणियों के द्वारा **सम्भृतः**=हृदय में सम्यक् धारण किये गये प्रभु **वज्रः न**=वज्र के समान होते हैं। स्तोता के सब काम-क्रोध आदि शत्रुओं का वे संहार करनेवाले होते हैं। **सबलः**=वे प्रभु सदा बल के साथ वर्तमान हैं। **अनपच्युतः**=किन्हीं भी शत्रुओं से स्थान-भ्रष्ट नहीं किये जा सकते। २. वे प्रभु **ऋष्वः**=महान् हैं **अस्तृतः**=अहिंसित हैं। किन्हीं भी शत्रुओं से प्रभु के हिंसित होने का सम्भव नहीं। ये प्रभु **ववक्षे**=उपासक के लिए सब आवश्यक धन आदि पदार्थों के प्राप्त कराने की कामनावाले होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमारे लिए वज्र के समान होकर शत्रुओं का संहार करेंगे। वे हमें सब आवश्यक धनों को प्राप्त कराते हैं।

अगले तीन मन्त्रों के ऋषि 'मधुच्छन्दाः' हैं—

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'ऋग्-यजु-साम' द्वारा प्रभु का पूजन

इन्द्रमिद्गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः। इन्द्रं वाणीरनूषत ॥ ४ ॥

१. **गाथिनः**=साममन्त्रों का गायन करनेवाले उद्गाता **इत्**=निश्चय से **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का **बृहत् अनूषत**=बहुत ही स्तवन करते हैं। **अर्किणः**=ऋचाओं के द्वारा प्रभु का पूजन करनेवाले **अर्केभिः**=इन ऋङ्मन्त्रों के द्वारा **इन्द्रम्**=उस प्रभु का ही पूजन करते हैं। २. हमसे

उच्चरित **वाणी**=यजूरूप वाणियाँ भी उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही स्तुत करती हैं।

भावार्थ—साम, ऋक् व यजूरूप वाणियाँ उस प्रभु का ही स्तवन व पूजन करती हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

वज्री हिरण्ययः

इन्द्र इद्धर्योः सचा संमिश्ल आ वचोयुजा। इन्द्रो वज्री हिरण्ययः॥ ५॥

१. **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **इत्**=निश्चय से **हर्योः**=इन्द्रियाश्वों को **संमिश्लः**=हमारे साथ मिलानेवाले हैं। हमारे शरीर में प्रभु ही ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को जोतते हैं। ये इन्द्रियाश्व **सचा**=परस्पर मेलवाले हैं, अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों के ज्ञान के अनुसार कर्मेन्द्रियाँ कर्म करती हैं। ये इन्द्रियाश्व **आ**=सर्वथा **वचोयुजा**=वेदवाणी के अनुसार कर्मों में प्रवृत्त होनेवाले हैं। २. परिणामतः **इन्द्रः**=इन इन्द्रियों का अधिष्ठाता जीव **वज्री**=क्रियाशीलतारूप वज्र को हाथ में लिये हुए होता है और **हिरण्ययः**=ज्योतिर्मय मस्तिष्कवाला होता है। क्रियाशीलता इसे शक्ति-सम्पन्न बनाती है और स्वाध्याय ज्ञान-सम्पन्न।

भावार्थ—हम इस शरीर में कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्मों को करते हुए शक्ति-सम्पन्न बनें। ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ज्ञान-वृद्धि करते हुए ज्योतिर्मय जीवनवाले हों।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

अविद्या-पर्वत का विदारण

इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद्दिवि। वि गोभिरद्रिमैरयत्॥ ६॥

१. **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **दीर्घाय चक्षसे**=अन्धकार का विदारण करनेवाले विस्तृत प्रकाश के लिए **सूर्यम्**=सूर्य को **दिवि**=द्युलोक में **आरोहयत्**=आरूढ़ करते हैं। २. जिस प्रकार प्रभु बाह्य अन्धकार को दूर करने के लिए सूर्य को उदित करते हैं, इसी प्रकार **गोभिः**=ज्ञान की रश्मियों के द्वारा **अद्रिम्**=अविद्या-पर्वत को **वि ऐरयत्**=विशिष्टरूप से कम्पित करके विनष्ट करते हैं।

भावार्थ—प्रभु बाह्य आकाश में सूर्य का उदय करते हैं और अन्तःआकाश (मस्तिष्क) में ज्ञानरश्मियों का।

इन ज्ञानरश्मियों को प्राप्त करके इनके अनुसार अपने कर्त्तव्यपालन में प्रसित पुरुष 'इरिम्बिठि' बनता है। क्रियाशीलता की भावना से युक्त हृदयान्तरिक्षवाला यही अगले तीन मन्त्रों का ऋषि है—

ऋषिः—**इरिम्बिठिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

प्रभु को हृदयासन पर बिठाना

आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम्। एदं बर्हिः सदो मम॥ ७॥

१. **आयाहि**=हे प्रभो! आइए। **हि**=निश्चय से **ते**=आपकी प्राप्ति के लिए **सुषुम**=हमने सोम का सम्पादन किया है। इस सोम-रक्षण के द्वारा ही तो हम आपको प्राप्त कर पाएँगे। हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं के विद्रावक प्रभो! आप **इमं सोमं पिब**=इस सोम का पान कीजिए। आपने ही वासना-विनाश द्वारा हमें सोम-रक्षण के योग्य बनाना है। २. **इदम्**=इस **मम**=मेरे **बर्हिः**=वासनाशून्य हृदयासन पर **आसदः**=आप विराजिए। आपके हृदय में आसीन होने पर वहाँ ज्ञान के प्रकाश में वासनाओं का अन्धकार विलीन हो जाता है।

भावार्थ—हम सोम-रक्षण द्वारा प्रभु-प्राप्ति के अधिकारी बनें। प्रभु को हृदयासन पर आसीन

करके ही हम वासनान्धकार का विलय कर सकेंगे।

ऋषिः—**इरिम्बिठिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'ब्रह्मयुजा केशिना' हरी

आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना। उप ब्रह्माणि नः शृणु॥ ८॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशाली प्रभो! **त्वा**=आपको **हरी**=वे इन्द्रियाश्व **आवहताम्**=हमारे लिए प्राप्त कराएँ, जोकि **ब्रह्मयुजा**=ज्ञान के साथ मेलवाले हैं और अतएव प्रकाश की **केशिना**=रश्मियोंवाले हैं। २. हे प्रभो! आप **उप**=समीपता से **नः**=हमसे उच्चरित **ब्रह्माणि**=ज्ञानपूर्वक स्तुतिवचनों को **शृणु**=सुनिए।

भावार्थ—हम इन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्त करते हुए प्रकाश की रश्मियों से दीप्त जीवनवाले बनें। हम ज्ञानपूर्वक प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करें। यही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—**इरिम्बिठिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

ब्रह्माणः (ज्ञानी) सोमिनः (सोमरक्षक) सुतावन्तः (यज्ञशील)

ब्रह्माणस्त्वा वयं युजा सोमपामिन्द्र सोमिनः। सुतावन्तो हवामहे॥ ९॥

१. **ब्रह्माणः**=ज्ञान की वाणियोंवाले **वयम्**=हम **युजा**=योग के द्वारा—चितवृत्ति-निरोध के द्वारा **त्वा**=आपको **हवामहे**=पुकारते हैं। हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **सोमिनः**=प्रशस्त सोमवाले—सोम को सुरक्षित करनेवाले हम **सोमपाम्**=सोम के रक्षक आपको पुकारते हैं। २. हे प्रभो! **सुतावन्तः**=प्रशस्त यज्ञोंवाले हम आपको पुकारते हैं।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के तीन साधन हैं (१) ज्ञान को प्राप्त करना (२) सोम का रक्षण व (३) यज्ञशीलता।

अगले तीन मन्त्रों का ऋषि 'मधुच्छन्दाः' है—अत्यन्त मधुर इच्छाओंवाला। यह कहता है—

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'सूर्य, अग्नि, वायु, लोक, नक्षत्र'

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः। रोचन्ते रोचना दिवि॥ १०॥

१. उपासक लोग **ब्रध्नं युञ्जन्ति**=अपने मन को (असौ आदित्यौ वै ब्रध्नः) उस महान् आदित्य में लगाते हैं। उस सूर्य में प्रभु की महिमा को देखते हैं तथा अपने मस्तिष्करूप द्युलोक में भी ज्ञान-सूर्य को उदित करने का प्रयत्न करते हैं। २. **अरुषम्**=अपने मन को (अग्निर्वा अरुषः) अग्नि में लगाते हैं। मन में प्रगतिशीलता की भावना को धारण करते हैं। ३. **चरन्तम्**=(वायुर्वै चरन्) मन को वायु में लगाते हैं। वायु की भाँति निरन्तर गतिशील होने का निश्चय करते हैं। ४. **परितस्थुषः**=(इमे लोका वै परितस्थुषः) इन चतुर्दिक अवस्थित लोकों में अपने मन को लगाते हैं। इन लोकों में प्रभु की महिमा को देखते हैं तथा सब लोगों के साथ मिलकर आगे बढ़ने की भावनावाले होते हैं। ५. ये इन **रोचना**=नक्षत्रों में अपने मन को लगाते हैं, जोकि **दिवि रोचन्ते**=आकाश में चमकते हैं। इन नक्षत्रों में ये जहाँ प्रभु की महिमां को देखते हैं, वहाँ अपने अन्दर भी विज्ञान-नक्षत्रों को उदित करने के लिए यत्नशील होते हैं।

भावार्थ—हम अपने मनों को 'सूर्य-अग्नि-वायुलोक व नक्षत्रों' में लगाने का ध्यान करें। अपने मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञान के सूर्य व विज्ञान के नक्षत्रों को उदित करें। प्रगतिशीलता, निरन्तर गति तथा सर्वलोकहित की भावना को धारण करें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'विपक्षसा नृवाहसा' हरी

युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे। शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥ ११ ॥

१. साधक लोग **रथम्**=शरीररूप रथ में **हरी**=अपने इन्द्रियाश्वों को **युञ्जन्ति**=जोतते हैं, अर्थात् इन्द्रियों को जीवन-यात्रा की पूर्ति का साधन बनाते हैं। इनको केवल चरने के लिए ही हर समय इधर-उधर भटकने से रोकते हैं। ये इन्द्रियाश्व **अस्य काम्या**=प्रभु-प्राप्ति की कामनावाले होते हैं। **विपक्षसा**=विशिष्ट परिग्रहवाले होते हैं—एक विशेष उद्देश्य को लिये हुए होते हैं। २. इस विशिष्ट उद्देश्य की ओर निरन्तर बढ़ने से ये **शोणा**=तेजस्वी तथा **धृष्णू**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले बनते हैं और **नृवाहसा**=उन्नति-पथ पर चलनेवाले लोगों को लक्ष्य की ओर ले-चलनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम इन्द्रियाश्वों को सदा चरने में ही न लगाएँ रक्खें। शरीर-रथ में जुतकर ये हमें आगे ले-चलें। इनके सामने एक विशिष्ट उद्देश्य हो—प्रभु-प्राप्ति की ये कामनावाले हों। तेजस्वी व शत्रुओं का धर्षण करनेवाले हों। हमें लक्ष्य की ओर ले-चलें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

प्रभुभक्त का जीवन

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे। समुषद्भिरजायथाः ॥ १२ ॥

१. एक साधक **अकेतवे**=अज्ञानी के लिए **केतुं कृण्वन्**=ज्ञान को करनेवाला होता है। इसके जीवन का उद्देश्य ज्ञान-प्रसार हो जाता है। हे **मर्या**=मनुष्यो! यह **अपेशसे**=न (पेशस् brightness, lustre) दीप्तिवाले के लिए **पेशः**=दीप्ति को करनेवाला होता है। यह मनुष्यों को ज्ञान देकर उन्हें ठीक मार्ग पर ले-चलता है, उन्हें प्राकृतिक पदार्थों के यथायोग्य प्रयोग की प्रेरणा देता है तथा प्रीति से चलकर उन्नत होने की प्रेरणा देता हुआ उन्हें दीप्त जीवनवाला बनाता है। २. हे साधक! तू **उषद्भिः**=उषाकालों के साथ **सम् अजायथाः**=उठ खड़ा होता है (जन्=to rise, spring up) सूर्योदय के समय सोये न रहकर तू तेजस्वी बनता है। वह तेजस्विता ही तुझे अथक कार्य करने में समर्थ करती है।

भावार्थ—साधक (१) अज्ञानियों के लिए ज्ञान देनेवाला बनता है (२) अदीप्त जीवनवालों को दीप्त जीवनवाला बनाता है और (३) उषःकाल में जागकर कार्यों में प्रवृत्त हो जाता है।

यह प्रातःजागरणशील ज्ञानी पुरुष ही 'प्रस्कण्व' है—उत्कृष्ट मेधावी पुरुष है। यही अगले मन्त्रों का ऋषि है—

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

दृशे विश्वाय

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥ १३ ॥

१. **केतवः**=ये ज्ञानी पुरुष **त्यम्**=उस **जातवेदसम्**=सर्वज्ञ **देवम्**=प्रकाशमय प्रभु को **उ**=ही **उद्वहन्ति**=सर्वोपरि धारण करते हैं। इनके जीवन का मुख्य ध्येय प्रभु-प्राप्ति होता है। २. ये उस **सूर्यम्**=सूर्य के समान दीप्त प्रभु को **विश्वाय दृशे**=सबके दर्शन के लिए धारण करते हैं। प्रभु के ज्ञान का ही सर्वत्र प्रसार करते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष प्रभु का ही धारण करते हैं—प्रभु के ज्ञान का ही प्रसार करते हैं।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सूर्योदय-नक्षत्रविलय

अप॒ त्ये ता॒यवो॑ यथा॒ नक्ष॑त्रा यन्त्य॒क्तुभिः॑। सूरा॑य वि॒श्वच॑क्षसे॥ १४॥

१. **विश्वचक्षसे**=सबको प्रकाशित करनेवाले **सूराय**=सूर्य के लिए—मानो सूर्य के आगमन के लिए स्थान को रिक्त करने के उद्देश्य से ही—**नक्षत्रा**=नक्षत्र **अक्तुभिः**=रात्रियों के साथ इसप्रकार **अपयन्ति**=दूर चले जाते हैं, **यथा**=जैसेकि रात्रियों के साथ **त्ये तायवः**=वे चोर चले जाते हैं। चोर रात्रि के अन्धकार में ही चोरी करते हैं। अन्धकार-विलय के साथ ये चोरी आदि कार्य समाप्त हो जाते हैं। २. हमारे जीवनों में भी ज्ञान-सूर्योदय होता है और वासना-अन्धकार का विलय हो जाता है। वासना-विनाश से ही सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति के इच्छारूप नक्षत्र भी विलीन हो जाते हैं। ये भोग-इच्छाएँ ही तो हमारी शक्तियों का अपहरण करने के कारण चोरों के समान थीं। ज्ञान-सूर्योदय के होते ही ये समाप्त हो जाती हैं।

भावार्थ—जीवनों में ज्ञान-सूर्य के उदय होते ही भोग-इच्छारूप नक्षत्र अस्त हो जाते हैं।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

ज्ञान-सूर्य में बुराइयाँ भस्मसात्

अदृ॑श्रन्नस्य के॒तवो॒ वि र॒श्मयो॒ जनाँ॒ अनु॑। भ्राज॑न्तो अ॒ग्नयो॑ यथा॥ १५॥

१. **अस्य**=इस उदित हुए-हुए सूर्य की **केतवः**=प्रकाश देनेवाली **रश्मयः**=किरणें **जनान् अनु**=मनुष्यों का लक्ष्य करके **वि अदृशन्**=विशिष्टरूप से इसप्रकार दिखती हैं **यथा**=जैसेकि **भ्राजन्तः अग्नयः**=चमकती हुई अग्नियाँ। २. सूर्य के उदित होने पर जैसे सूर्य की किरणें सारे ब्रह्माण्ड को प्रकाशित करनेवाली होती हैं, उसी प्रकार हमारे जीवन में ज्ञान के सूर्य का उदय होता है और जीवन प्रकाशमय हो जाता है। यह प्रकाश देदीप्यमान अग्नि के समान हो जाता है। इसमें सब बुराइयाँ भस्म हो जाती हैं।

भावार्थ—हमारे जीवन में ज्ञान के सूर्य का उदय हो और उसके प्रकाश में सब बुराइयों का अन्धकार विलीन हो जाए।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

तरणिः-ज्योतिष्कृत्

त॒रणि॑र्वि॒श्वद॑र्शतो ज्यो॒ति॒ष्कृद॑सि सूर्य। विश्व॒मा भा॑सि रोचन॥ १६॥

१. हे **सूर्य**=सूर्य! तू **तरणि**=उदय होता हुआ रोगकृमियों के विनाश के द्वारा हमें रोगों से तारनेवाला है। **विश्वदर्शतः**=इसप्रकार तू सारे संसार का ध्यान करता है (विश्वं द्रष्टव्यं यस्य दृश् to look after), **ज्योतिष्कृत् असि**=तू सर्वत्र प्रकाश करनेवाला है। **विश्वम् रोचनम्**=सम्पूर्ण अन्तरिक्ष को **आ भासि**=तू भासित करता है। २. सूर्य रोगकृमियों के विनाश के द्वारा शरीर को स्वस्थ करता है (तरणिः) मस्तिष्क को यह ज्योतिर्मय करता है (ज्योतिष्कृत्) हृदयान्तरिक्ष को सब मलिनताओं से रहित करके चमका देता है। एवं, सूर्य के प्रकाश का प्रभाव 'शरीर, मन व मस्तिष्क' तीनों पर पड़ता है। यह इन्हें नीरोग, निर्मल व दीप्त बनाता है।

भावार्थ—उदय होता हुआ सूर्य 'शरीर, मन व मस्तिष्क' के स्वास्थ्य को प्राप्त कराता है।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

देव व मानव बनकर प्रभु-दर्शन

प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषीः। प्रत्यङ् विश्वं स्व॑र्दृशे॥ १७॥

१. हे सूर्य! तू **देवानां विशः प्रत्यङ्** =देवों की प्रजाओं के प्रति गति करता हुआ **उदेषि**=उदित होता है, अर्थात् सूर्य का प्रकाश प्रजाओं को दिव्य गुणोंवाला व दैवी वृत्तिवाला बनाता है। सूर्य के प्रकाश में रहनेवाले लोग दिव्य गुणोंवाले बनते हैं। सूर्य का प्रकाश मन पर अत्यन्त स्वास्थ्यजनक प्रभाव डालता है। २. **मानुषीः प्रत्यङ् उदेषि**=मानव-प्रजाओं के प्रति गति करता हुआ तू उदित होता है। सूर्य का प्रकाश हमें मानुष बनाता है—'मत्वा कर्माणि सीव्यति'=विचारपूर्वक कर्म करनेवाला बनाता है। सूर्य के प्रकाश में विचरनेवाले व्यक्ति समझकर काम करते हैं। अथवा यह प्रकाश हमें मनुष्य बनाता है (मानुष Human)—अक्रूरवृत्तिवाला बनाता है। सामान्यतः हिंसावृत्ति के पशु व असुर रात्रि के अन्धकार में ही कार्य करते हैं। सूर्य का प्रकाश उनके लिए प्रतिकूल होता है। ३. **स्वःदृशे**=उस स्वयं देदीप्यमान ज्योति 'ब्रह्म' के दर्शन के लिए तू **विश्वं प्रत्यङ्** =सबके प्रति गति करता हुआ उदय होता है। इस उदय होते हुए सूर्य के अन्दर द्रष्टा को प्रभु की महिमा का आभास मिलता है। यह सूर्य उसे प्रभु की विभूति के रूप में दिखता है।

भावार्थ—सूर्य का प्रकाश देव बनाता है, एक सच्चा मानव बनाता है और हमारे लिए यह प्रभु के दर्शन का आधार बनता है।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

पवित्र-निर्द्वेष-लोकहितप्रवृत्त

येना॑ पावक॒ चक्ष॑सा भु॒र॒ण्यन्तं॒ जनाँ॒ अनु॑। त्वं व॑रुण॒ पश्य॑सि॥ १८॥

१. हे **पावक**=प्रकाश से जीवनों को पवित्र करनेवाले! **वरुण**=सब रोगों व आसुरभावों का निवारण करनेवाले सूर्य! **त्वम्**=तू **जनान् भुरण्यन्तम्**=लोगों का भरण-पोषण करनेवाले को **येन चक्षसा**=जिस प्रकाश से **अनुपश्यसि**=अनुकूलता से देखता है, उसी प्रकाश को हम प्राप्त करें। वही प्रकाश हमसे स्तुत्य हो, जो लोग द्वेष का निवारण करके (वरुण) अपने हृदयों को पवित्र बनाकर (पावक) लोकहितकारी कार्यों में प्रवृत्त होते हैं (भुरण्यन्) उनके लिए सूर्य का प्रकाश सदा हितकारी होता है। वृत्ति के उत्तम होने पर सब लोक हमारे लिए हितकर होते हैं। वृत्तियों के विकृत हो जाने पर आधिदैविक आपत्तियाँ आया करती हैं।

भावार्थ—सूर्य का प्रकाश उनके लिए हितकर होता है जो पवित्र व निर्द्वेष बनकर लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त होते हैं।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

दिन-रात्रि का 'पालन-चक्र'

वि द्यामे॑षि॒ रज॑स्पृ॒थ्वह॒र्मिमा॑नो अ॒क्तुभिः॑। पश्य॒ञ्जन्मा॑नि सूर्य॥ १९॥

१. हे **सूर्य**=आकाश में निरन्तर सरण करनेवाले आदित्य! तू **द्याम्**=इस विस्तृत द्युलोक में **वि एषि**=विशेषरूप से प्राप्त होता है। द्युलोक में आकर **पृथुरजः**=इस विस्तृत अन्तरिक्षलोक में आगे और आगे बढ़ता है। इस गति के द्वारा **अक्तुभिः**=रात्रियों के साथ **अहः मिमानः**=दिनों का तू निर्माण करनेवाला होता है। २. इसप्रकार अपनी गति के द्वारा दिन-रात का निर्माण करता हुआ यह सूर्य **जन्मानि**=जन्म लेनेवाले प्राणियों को **पश्यन्**=देखता है—उनका पालन करता है

(दृश् to look after)। दिन-रात्रि का यह चक्र हमारा सुन्दर निर्माण करता है। दिनभर की थकावट रात्रि में दूर हो जाती है। अकेला दिन व अकेली रात्रि मृत्यु ही है। दिन-रात्रि के क्रम के द्वारा सूर्य हमारा पालन करता है।

भावार्थ—सूर्य उदय होकर अन्तरिक्ष में आगे बढ़ता हुआ दिन व रात्रि के निर्माण द्वारा हमारा पालन करता है।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

देव+विचक्षण

सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य। शोचिष्केशं विचक्षणम्॥ २०॥

१. हे **देव**=द्योतमान—हृदयों को निर्मल करके प्रदीप्त करनेवाले **सूर्य**=निरन्तर सरणशील सूर्य! **त्वा**=तुझे **सप्त हरितः**=सात रंगोंवाली रसहरणशील किरणें **रथे**=रथ में **वहन्ति**=धारण करती हैं। २. उस तुझको धारण करती है जो तू **शोचिष्केशम्**=देदीप्यमान किरणरूप केशोंवाला है तथा **विचक्षणम्**=मस्तिष्क को ज्ञानज्योति से दीप्त करनेवाला है। सूर्य की किरणें सात प्रकार की हैं, अतः सूर्य का नाम ही सप्ताश्व हो गया है। ये सात किरणें सातों प्राणदायी तत्त्वों को हमारे शरीरों में प्रविष्ट कराती हुई हमें नीरोग बनाती हैं। रोग-हरण करने से ये किरणें हरित हैं। रोगकृमियों का संहार करती हुई ये किरणें हमारे शरीरों को शुद्ध कर डालती हैं, इसी से सूर्य 'शोचिष्केश' है।

भावार्थ—सूर्य सप्ताश्व है। यह अपनी सात किरणों के द्वारा सातों प्राणों को हममें पुष्ट करता है। हमारे हृदयों को देव-हृदय बनाता है। मस्तिष्क को विचक्षण करता है।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

नप्त्यः-शुन्ध्युवः

अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः। ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः॥ २१॥

१. **सूरः**=सूर्य **रथस्य**=हमारे शरीररूप रथों को **नप्त्यः**=न गिरने देनेवाली **सप्त**=सात **शुन्ध्युवः**=शोधक किरणों को **अयुक्त**=रथ में जोतता है। सूर्य की किरणें सात रंगों के भेद से सात प्रकार की हैं। ये हमारे शरीरों में प्राणशक्ति का संचार करके हमारे शरीरों का शोधन करती हैं और उन शरीरों को गिरने नहीं देतीं। २. यह सूर्य **ताभिः**=उन **स्वयुक्तिभिः**=अपने रथ में जुती हुई किरणरूप अश्वों के साथ **याति**=अन्तरिक्ष में आगे और आगे चलता है।

भावार्थ—सूर्य अपनी किरणों के साथ आगे और आगे चल रहा है। ये किरणें हमारे शरीरों में प्राणशक्ति का संचार करती हैं और उनका शोधन कर डालती हैं।

सूर्य के समान वासनान्धकार का पूर्ण पराजय करनेवाला 'खिलम्' अगले सूक्त का ऋषि है (खिल् to vanquish completely)। यह प्रभु-स्तवन करता हुआ कहता है—

४८. [अष्टचत्वारिंशं सूक्तम्]

ऋषिः—**खिलः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

तेजस्विता व क्रियाशीलता

अभि त्वा वर्चसा गिरः सिञ्चन्तीराचरण्यवः। अभि वत्सं न धेनवः॥ १॥

१. मेरी ये **गिरः**=स्तुतिवाणियाँ **वर्चसा सिञ्चन्तीः**=मुझे तेजस्विता से सींचती हुई हैं, तथा **आचरण्यवः**=मुझे समन्तात् कर्तव्यों में चरणशील बनाती हैं। इन स्तुतिवाणियों से मुझे भी वैसा बनने की प्रेरणा मिलती है। यह प्रेरणा मुझे क्रियामय जीवनवाला बनाती है। २. ये स्तुतिवाणियाँ

हे प्रभो! **त्वा अभि**=आपकी ओर इसप्रकार प्रवृत्त होती हैं **न**=जैसेकि **वत्सम् अभि धेनवः**=बछड़े की ओर गौवें। मैं प्रीतिपूर्वक आपका स्तवन करता हूँ।

भावार्थ—हम प्रेम से प्रभु का स्तवन करें, यह स्तवन हमें तेजस्वी व क्रियामय जीवनवाला बनाएगा।

ऋषिः—**खिलः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

शुभ्रता-तेजस्विता-प्रीति

ता अर्षन्ति शुभ्रियः पृञ्चन्तीर्वर्चसा प्रियः। जातं जात्रीर्यथा हृदा ॥ २ ॥

१. **यथा**=जैसे **जातम्**=उत्पन्न हुए-हुए बच्चों को **जात्रीः**=माताएँ **हृदा**=हृदय से सम्पृक्त करती हैं, इसी प्रकार **ताः**=हमारी वे स्तुतिवाणियाँ, हे प्रभो! आपकी ओर **अर्षन्ति**=गतिवाली होती हैं। हम प्रेम से आपका स्तवन करते हैं। २. ये स्तुतिवाणियाँ **शुभ्रियः**=हमारे जीवनों को बड़ा शुभ्र (स्वच्छ) बनाती हैं। **वर्चसा पृञ्चन्तीः**=हमें तेजस्विता से सम्पृक्त करती हुई होती हैं तथा **प्रियः**=(प्रीणाति) हमें प्रीणित करनेवाली होती हैं।

भावार्थ—प्रेम से उच्चरित प्रभु की स्तुतिवाणियाँ हमें 'शुभ्र, तेजस्वी व प्रीतियुक्त' जीवन प्राप्त कराती हैं।

ऋषिः—**खिलः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

आयुः, घृतं, पयः

वज्रापवसाध्यः कीर्तिर्म्रियमाणमावहन्। मह्यमायुर्घृतं पयः ॥ ३ ॥

१. **वज्र आपव-साध्यः**=(वज् गतौ, पू पवने) क्रियाशीलता व पवित्रता के द्वारा सिद्ध होनेवाला **कीर्तिः**=यश **म्रियमाणम्**=युद्ध में प्राणत्याग करनेवाले को **आवहन्**=स्वर्ग में प्राप्त करानेवाला हो। जीवन में हम क्रियाशील बनें तथा पवित्रता को सिद्ध करें। इसप्रकार यशस्वी जीवनवाले हों। इस जीवन-संग्राम में वीरतापूर्वक प्राणत्यागनेवाले हों। वह जीवन हमें स्वर्ग प्राप्त करानेवाला हो २. **मह्यम्**=मुझे इस जीवन में **आयुः**=दीर्घ जीवन प्राप्त हो **घृतम्**=ज्ञान की दीप्ति व मलों का क्षरण, अर्थात् निर्मलता प्राप्त हो (घृ क्षरणदीप्तयोः), **पयः**=मुझे सब शक्तियों का आप्यायन प्राप्त हो।

भावार्थ—मेरा यह जीवन सुन्दर बने तथा परलोक में भी मुझे उत्तम गति प्राप्त हो।

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः सार्पराज्ञी वा** ॥ देवता—**गौः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

कुण्डलिनी का जागरण

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः। पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥ ४ ॥

१. **अयम्**=यह **गौः**=जागरित होने पर मेरुदण्ड में ऊपर गति करनेवाली (गच्छति) कुण्डलिनी **पृश्निः** (संस्प्रष्टो भासाम्—नि० २.१४)=ज्योति के साथ सम्पर्कवाली होती है। यह प्राणायाम की उष्णता से **अक्रमीत्**=कुण्डल को तोड़कर आगे गति करती है। २. यह **पुरः**=आगे और आगे बढ़ती हुई **मातरम्**=वेदमाता को (स्तुता मया वरदा वेदमाता) **असदत्**=प्राप्त करती है। इसके जागरण व ऊर्ध्वगत होने पर 'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा' ऋत का पोषण करनेवाली प्रज्ञा उत्पन्न होती है। यह प्रज्ञा वेदज्ञान का प्रकाश करती है। ३. **च**=और इस वेदज्ञान का प्रकाश होने पर यह **स्वः**=उस देदीप्यमान **पितरम्**=प्रभुरूप पिता की ओर **प्रयन्त्**=जानेवाली होती है, अर्थात् यह योगी अन्ततः प्रभु का दर्शन करनेवाला होता है।

भावार्थ—कुण्डलिनी के जागरण से बुद्धि का प्रकाश होता है। वेदार्थ का स्पष्टीकरण होता

है और प्रभु की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः सार्पराज्ञी वा**॥ देवता—**गौः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

प्रभु की रोचना

अन्तश्चरति रोचना अस्य प्राणादपानतः। व्यख्यन्महिषः स्वः॥ ५॥

१. गतमन्त्र के अनुसार कुण्डलिनी का जागरण होने पर **अस्य अन्तः**=इस साधक के हृदय में **रोचना चरति**=प्रभु की दीप्ति गतिवाली होती है। इसके हृदयदेश में प्रभु की दीप्ति का प्रकाश होता है। यह रोचना **प्राणात्**=इसके अन्दर प्राणशक्ति का संचार करती है और **अपानतः**=अपान के द्वारा शोधन का कार्य करती है। २. इसप्रकार प्राण व अपान के कार्य के ठीक से होने पर यह **महिषः**=प्रभु का पुजारी **स्वः**=स्वयं देदीप्यमान ज्योति प्रभु को **व्यख्यत्**=विशेषरूप से देखता है। इस पुजारी का हृदय प्रकाश से दीप्त हो उठता है।

भावार्थ—साधना से साधक का हृदय प्रभु की दीप्ति से दीप्त हो उठता है। उसकी प्राणापान शक्ति ठीक से कार्य करती हुई इसे प्रभु-दर्शन के योग्य बनाती है।

ऋषिः—**उपरिबभ्रवः सार्पराज्ञी वा**॥ देवता—**गौः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

तीसों धाम

त्रिंशद्धामा वि राजति वाक्पतङ्गो अशिश्रियत्। प्रति वस्तोरहर्द्युभिः॥ ६॥

१. यह साधक **त्रिंशत् धाम**=तीसों स्थानों में **विराजति**=चमकता है। दिन की तीसों घड़ियों में वा महीने के तीसों दिनों में दीप्तिवाला होता है। इसकी **वाक्**=वाणी **पतङ्गः**=उस सूर्यसम ज्योतिवाले ब्रह्म को **अशिश्रियत्**=सेवित करती है, अर्थात् यह वाणी से प्रभु का ही गुणगान करता है। २. यह साधक **प्रतिवस्तोः**=प्रतिदिन **अहः** (एव)=निश्चय से **द्युभिः**=ज्ञान-ज्योतियों से उपलक्षित होता है। इसका ज्ञान उत्तरोत्तर बढ़ता ही जाता है।

भावार्थ—हम सदा प्रभु के नाम का जप करें और अपने को ज्ञान-ज्योति से दीप्त करें।

अगले सूक्त में भी ऋषि पूर्ववत् ही है—

४९. [एकोनपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**खिलः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

शक्र+देव

यच्छक्रा वाचमारुहन्नन्तरिक्षं सिषासथः। स देवा अमदन्वृषा॥ १॥

१. **यत्**=जब **अन्तरिक्षं सिषासथः**=हृदयान्तरिक्ष का सेवन करने की इच्छावाले, अर्थात् हमारे हृदयों में निवास करनेवाले प्रभु **वाचम्**=वाणी को **शक्राः**=शक्तिशाली पुरुष **आरुहन्**=आरुढ़ करते हैं, अर्थात् जब हृदयास्थ प्रभु की प्रेरणा को सुनते हैं अथवा वेदवाणी का अध्ययन करते हैं तब **देवाः**=ये देववृत्ति के पुरुष **वृषाः**=सुखों का वर्षण करनेवाले प्रभु के साथ **सममदन्** (सम् अमदन्) आनन्द का अनुभव करते हैं। २. प्रभु सर्वव्यापक हैं, परन्तु भक्तों के हृदय प्रभु के सर्वोत्तम निवास-स्थान हैं। सर्वव्यापक होने पर भी प्रभु का दर्शन हृदय में ही होता है। हृदय ही वह स्थान है, जहाँ आत्मा व परमात्मा—ज्ञाता व ज्ञेय दोनों की स्थिति है। इस हृदय में स्थित प्रभु की वाणी को हम सुनते हैं तो सब वासनाओं से ऊपर उठकर शक्तिशाली बनते हुए हम देववृत्ति के बन पाते हैं।

भावार्थ—हम हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को सुनें। यही मार्ग है जिससे हम 'शक्र व देव' बनेंगे।

ऋषिः—**खिलः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

मंहिष्ठ

शक्रो वाचमधृष्टायोरुवाचो अधृष्णुहि। मंहिष्ठ आ मदर्दिवि॥ २॥

१. **शक्रः**=वे सर्वशक्तिमान् प्रभु **वाचम्**=अपनी वाणी को **अधृष्टाय**=वासनाओं से पराजित न होनेवाले के लिए देते हैं। प्रभु की वाणी को वही सुन पाता है जोकि काम-क्रोध आदि वासनाओं से अभिभूत नहीं होता। २. हे उपासक! तू भी **उरुवाचः**=प्रभु की विशाल, ज्ञान-परिपूर्ण इन वेदवाणियों का **अधृष्णुहि**=धर्षण करनेवाला न हो, अर्थात् इन वाणियों को अनसुना न कर दे। जहाँ हृदयस्थ प्रभु की प्रेरणा को सुनने का प्रयत्न करे वहाँ वेदवाणियों का भी तू अध्ययन कर—इसमें प्रमाद न कर। ३. **मंहिष्ठः**=दातृतम—उदार—दानशील बनता हुआ तू **दिवि**=ज्ञान-ज्योति में—प्रकाश में **आमदः**=हर्ष अनुभव करनेवाला हो।

भावार्थ—हम प्रभु की वाणी को सुनते हुए दानशील बनें और ज्ञान-ज्योति में ही आनन्द लेने का प्रयत्न करें।

ऋषिः—**खिलः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

धाम+धर्म

शक्रो वाचमधृष्णुहि धामधर्मन्विराजति। विमदन्बर्हिरासरन्॥ ३॥

१. हे जीव! **शक्रः**=शक्तिशाली बनता हुआ तू **वाचम्**=हृदयस्थ प्रभु की वाणी का **अधृष्णुहि**=धर्षण करनेवाला न हो। इस वाणी को तू सदा अप्रमत्त होकर अपनानेवाला हो। २. इस वाणी को सुननेवाला व्यक्ति **विमदन्**=विशिष्ट आनन्द को अनुभव करता हुआ **बर्हिः आसरन्**=हृदयान्तरिक्ष में गति करता हुआ **धामधर्मन्**=तेज व धारणात्मक कर्मों में **विराजति**=विशिष्ट दीप्तिवाला होता है।

भावार्थ—हम प्रभु की वाणी को सुनने में कभी प्रमाद न करें। यह प्रभुवाणी-श्रवण हमें तेजस्वी बनाएगा, धर्मप्रवण करेगा, आनन्दमय जीवनवाला बनाएगा तथा हमें हृदयान्तरिक्ष की ओर गतिवाला, अर्थात् आत्मनिरीक्षण की वृत्तिवाला बनाएगा।

ऋषिः—**नोधाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (समाबृहती+विषमा-सतोबृहती)** ॥

'दस्म' प्रभु

तं वो दस्ममृतीषहं वसोर्मन्दानमन्धसः।
अभि वत्सं न स्वसरेषु धेनव इन्द्रं गीर्भिर्नवामहे॥ ४॥

१. **तम्**=उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **गीर्भिः**=स्तुतिवाणियों से **नवामहे**=स्तुत करते हैं, जोकि **वः दस्मम्**=तुम्हारे दुःखों के दूर करनेवाले हैं, **ऋतीषहम्**=आर्ति (पीड़ा) के नाशक हैं तथा **वसोः अन्धसः मन्दानम्**=निवास के कारणभूत सोम के द्वारा आनन्दित करनेवाले हैं। २. **स्वसरेषु** (स्वः आदित्यः एतान् सारयति) दिनों में—दिन के निकलने पर **नः**=जैसे **धेनवः**=गौवें **वत्सम् अभि**=बछड़े का लक्ष्य करके हम्भारव करती हैं, उसी प्रकार हम प्रभु का स्तवन करते हैं।

भावार्थ—हम प्रतिदिन प्रातः प्रभु का स्मरण करें। यह स्मरण ही हमारे सब कष्टों को दूर करेगा और सोम-रक्षण द्वारा हमारे आनन्द का साधक होगा।

ऋषिः—**नोधाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (समाबृहती+विषमा-सतोबृहती)** ॥

'द्युक्ष सुदानु' प्रभु

द्युक्षं सुदानुं तविषीभिरावृतं गिरिं न पुरुभोजसम्।
क्षुमन्तं वाजं शतिनं सहस्त्रिणं मक्षू गोमन्तमीमहे॥ ५॥

१. हम उस प्रभु से **मक्षू**=शीघ्र **वाजम्**=बल को **ईमहे**=माँगते हैं, जो बल **क्षुमन्तम्**=प्रभु के स्तवन से युक्त है (क्षु शब्दे), **शतिनम्**=सौ-के-सौ वर्ष तक स्थिर रहता है अथवा शतवर्ष के जीवन को प्राप्त कराता है। **सहस्त्रिणम्** (सहस्)=जीवन को आनन्दयुक्त रखता है तथा **गोमन्तम्**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाला है। २. उन प्रभु से हम बल की याचना करते हैं जोकि **द्युक्षम्**=ज्ञानज्योति में निवास करनेवाले हैं। **सुदानुम्**=ज्ञान के द्वारा वासनाओं का खण्डन करनेवाले हैं। **तविषीभिः आवृतम्**=बलों से आवृत हैं—बल के पुञ्ज हैं। ये प्रभु शक्ति प्राप्त कराके हमारा रक्षण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान व शक्ति के पुञ्ज हैं। प्रभु से हम भी उस बल की याचना करते हैं, जो ज्ञान व स्तवन से युक्त है।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (समाबृहती+विषमा-सतोबृहती)** ॥

सुवीर्य+ब्रह्म

तत्त्वा यामि सुवीर्यं तद् ब्रह्म पूर्वचित्तये।
येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविथ॥ ६॥

१. हे प्रभो! **त्वा**=आपसे **तत्**=उस **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति को **यामि**=माँगता हूँ, और **तत् ब्रह्म**=उस ज्ञान को **पूर्वचित्तये**=पालक व पूरक चेतना के लिए (पृ पालनपूरणयोः) चाहता हूँ **येन**=जिस सुवीर्य व ब्रह्म के द्वारा **यतिभ्यः**=(संन्यासियों) संयमी पुरुषों के लिए तथा **भृगवे**=ज्ञान से अपना परिपाक करनेवाले के लिए **आविथ**=आप रक्षण करते हो। २. मैं उस सुवीर्य व ब्रह्म की याचना करता हूँ जिससे **हिते धने**=हितकर धन के निमित्त **आ प्रस्कण्वम्**=मेधावी पुरुष का **आविथ**=रक्षण करते हो।

भावार्थ—प्रभु हमें वह सुवीर्य व ब्रह्म (ज्ञान) प्राप्त कराएँ जिससे हम संयमी, ज्ञानी व मेधावी बनकर प्रभु-रक्षण के पात्र हों।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (समाबृहती+विषमा-सतोबृहती)** ॥

वृष्णि शवः

येना समुद्रमसृजो महीरपस्तदिन्द्र वृष्णि ते शवः।
सद्यः सो अस्य महिमा न संनशे यं क्षोणीरनुचक्रदे॥ ७॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **ते शवः तत्**=आपका बल वह है **येन**=जिससे **समुद्रम्**=समुद्र को **असृजः**=आप उत्पन्न करते हैं। **महीः**=पृथिवियों को तथा **अपः**=जलों को उत्पन्न करते हैं। आपका यह बल इन सब लोक-लोकान्तरों का निर्माण करता हुआ **वृष्णि**=सुखों का वर्षण करनेवाला है। २. **अस्य**=इन प्रभु की **सः महिमा**=वह महिमा **सद्यः**=शीघ्र **न सन्नशे**=हमसे प्राप्त करने योग्य नहीं होती (नश् to reach), **यम्**=जिस महिमा को **क्षोणीः**=ये पृथिवियाँ **अनुचक्रदे**=ऊँचे-ऊँचे कह रही हैं। 'यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः' ये हिमाच्छादित पर्वत, समुद्र व पृथिवी उस प्रभु की महिमा को कह रही हैं।

भावार्थ—प्रभु अपनी शक्ति की महिमा से समुद्र आदि की सृष्टि करते हैं। ये सब लोक हमारे लिए सुख का वर्षण करनेवाले हैं।

प्रभु-स्तवन करता हुआ प्रभु की ओर चलनेवाला यह 'मेध्यातिथि' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

५०. [पञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषि:—**मेध्यातिथि:** ॥ देवता—**इन्द्र:** ॥ छन्द:—**बार्हत: प्रगाथ: (बृहती+सतोबृहती)** ॥

प्रभु की 'महिमा-इन्द्रिय-स्व:' का आनन्त्य

कन्नव्यो॑ अत॒सीनां॑ तु॒रो गृ॑णीत॒ मर्त्यः॑।
न॒ही न्व॑स्य महि॒मान॑मिन्द्रि॒यं स्व॑र्गृ॒णन्त॑ आन॒शुः॥ १॥

१. **अतसीनाम्**=परिव्राजकों की (निरन्तर गतिशील संन्यासियों की) **तुर:**=वासनाओं का संहार करनेवाले उस प्रभु की **नव्य: मर्त्य:**=स्तुति करने में उत्तम मनुष्य भी **कत् गृणीत**=कैसे स्तुति करे। प्रभु के गुणों व सामर्थ्यों का वर्णन कर सकना उसकी शक्ति से परे की बात है। कुशल-से-कुशल स्तोता भी प्रभु का स्तुति के द्वारा व्यापन नहीं कर सकता। २. **गृणन्त:**=स्तुति करते हुए व्यक्ति **नु**=निश्चय से **अस्य**=इस प्रभु की **महिमानम्**=महिमा को **इन्द्रियम्**=बल को व **स्व:**=प्रकाश को **नहि आनशु:**=व्याप्त करनेवाले नहीं होते। प्रभु की महिमा बल व प्रकाश अनन्त हैं। सान्त शक्ति व ज्ञानवाले जीवों के लिए प्रभु का पूर्ण यशोगान सम्भव नहीं है।

भावार्थ—मनुष्य प्रभु की 'महिमा, बल व प्रकाश' को अपनी स्तुति द्वारा व्यक्त नहीं कर पाता।

ऋषि:—**मेध्यातिथि:** ॥ देवता—**इन्द्र:** ॥ छन्द:—**बार्हत: प्रगाथ: (बृहती+सतोबृहती)** ॥

सुन्वत: स्तुवत:

कदु॑ स्तु॒वन्त॑ ऋतयन्त दे॒वत॒ ऋषि॒: को विप्र॑ ओहते।
क॒दा हवं॑ मघवन्निन्द्र सुन्व॒त: कदु॑ स्तुव॒त आ ग॑म:॥ २॥

१. हे प्रभो! **सतुवन्त:**=स्तुति करनेवाले लोग **उ**=निश्चय से **कत्**=कैसे **ऋतयन्त**=ऋत की कामनावाले होते हैं। प्रभु के सच्चे स्तोता अवश्य अपने जीवन को ऋतवाला बनाते हैं। **क:**=कोई विरला ही **देवता**=दिव्यगुणोंवाला, **ऋषि:**=तत्त्वद्रष्टा **विप्र:**=अपना पूरण करनेवाला ज्ञानी **ओहते**= आपका विचार करता है। २. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन्! **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **कदा**=कब **सुन्वत:**=इस यज्ञशील पुरुष की **हवम्**=पुकार को आप सुनते हैं।

भावार्थ—प्रभु का स्तोता ऋत का आचरण करता है। ज्ञानीदेव प्रभु का विचार करते हैं। प्रभु यज्ञशील स्तोताओं की पुकार को सुनते हैं।

यह प्रभु का स्तोता 'प्रस्कण्व' मेधावी बनता है। यह पुष्ट इन्द्रियोंवाला 'पुष्टिगु' होता है। यह प्रस्कण्व ही अगले सूक्त के १-२ मन्त्रों का ऋषि है, ३-४ मन्त्रों का पुष्टिगु। ये कहते हैं कि—

५१. [एकपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (विषमा-बृहती+समा-सतोबृहती)**॥

मघवा-पुरूवसुः

अभि प्र वः सुराधसमिन्द्रमर्च यथा विदे।
यो जरितृभ्यो मघवा पुरूवसुः सहस्रेणेव शिक्षति॥ १॥

१. **सुराधसम्**=उत्तम सफलता देनेवाले **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु का ही **प्र वः**=प्रकर्षेण वरण करनेवाला बन। **यथा विदे**=यथार्थ ज्ञान के लिए उस प्रभु को ही **अभि अर्च**=प्रातः-सायं पूजित कर। २. **यः**=जो **मघवा**=यज्ञशील **पुरूवसुः**=पालक व पूरक धनोंवाले प्रभु हैं, वे **जरितृभ्यः**=स्तोताओं के लिए **सहस्रेण इव शिक्षति**=हज़ारों के रूप में देने की कामना करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का वरण करें, प्रभु का अर्चन करें। यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति का यही मार्ग है। वे प्रभु स्तोताओं के लिए सब आवश्यक धनों को देते हैं।

ऋषिः—**प्रस्कण्वः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (विषमा-बृहती+समा-सतोबृहती)**॥

हन्ति वृत्राणि दाशुषे

शतानीकेव प्र जिगाति धृष्णुया हन्ति वृत्राणि दाशुषे।
गिरेरिव प्र रसा अस्य पिन्विरे दत्राणि पुरुभोजसः॥ २॥

१. **शत-अनीका इव**=सैकड़ों सैन्यों के समान ये प्रभु **प्रजिगाति**=आगे बढ़ते हैं और **धृष्णुया**=अपनी धर्षण-शक्ति से **दाशुषे**=आत्मार्पण करनेवाले पुरुष के लिए **वृत्राणि हन्ति**=वासनाओं को विनष्ट करते हैं। हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें—प्रभु हमारे शत्रुओं का विनाश करेंगे। २. अब शत्रुविनाश के बाद **अस्य पुरुभोजसः**=इस अनन्त पालक धनोंवाले प्रभु के **दत्राणि**=दान **पिन्विरे**=इसप्रकार हमें सिक्त व प्रीणित करनेवाले होते हैं, **इव**=जैसेकि **गिरेः**=पर्वत के **रसाः**=रस। पर्वतों से बहनेवाले जल जैसे प्रीति का कारण बनते हैं, इसीप्रकार प्रभु से दिये गये धन हमपर सुखों का सेचन करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु अपने अनन्त सामर्थ्य से हमारे शत्रुओं को विनष्ट करते हैं और इस प्रभु के दान हमें सुखों से सिक्त करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**पुष्टिगुः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (विषमा-बृहती+समा-सतोबृहती)**॥

काम्यं वसु

प्र सु श्रुतं सुराधसमर्चा शक्रमभिष्टये।
यः सुन्वते स्तुवते काम्यं वसु सहस्रेणेव मंहते॥ ३॥

१. उस **सुश्रुतम्**=उत्तम ज्ञानवाले, **सुराधसम्**=उत्तम ऐश्वर्योंवाले **शक्रम्**=सर्वशक्तिमान् प्रभु को **अभिष्टये**=इष्ट-प्राप्ति के लिए अथवा वासनारूप शत्रुओं पर आक्रमण के लिए (अभिष्टि=attack) **प्र अर्च**=प्रकर्षेण पूजित कर। प्रभु की अर्चना से वासनारूप शत्रुओं पर विजय प्राप्त करके हम भी उत्तम ज्ञान-ऐश्वर्य व शक्तिवाले बनेंगे। २. उस प्रभु का तू पूजन कर जोकि **सुन्वते**=यज्ञशील **स्तुवते**=स्तोता के लिए **काम्यं वसु**=कमनीय (चाहने योग्य) धन को **सहस्रेण इव**=हज़ारों के रूप में **मंहते**=देते हैं।

भावार्थ—प्रभु-पूजन से वासनाओं का विजय करके हम उत्तम ज्ञान-ऐश्वर्य व शक्ति को

प्राप्त करें। ऐश्वर्य को प्राप्त करके हम यज्ञशील स्तोता बनें। इसप्रकार हम प्रभु के काम्य वसुओं की प्राप्ति के पात्र होंगे।

ऋषिः—**पुष्टिगुः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (विषमा-बृहती+समा-सतोबृहती)**॥

दुष्टरा हेतयः समिषो महीः

शतानीका हेतयो अस्य दुष्टरा इन्द्रस्य समिषो महीः।
गिरिर्न भुज्मा मघवत्सु पिन्वते यदीं सुता अमन्दिषुः॥ ४॥

१. **अस्य इन्द्रस्य**=इस सर्वशक्तिमान् शत्रु-विद्रावक प्रभु के **शतानीका**=सैकड़ों बलोंवाले **हेतयः**=हनन-साधन=आयुध **दुष्टराः**=कठिनता से तैरने योग्य हैं। इनसे बच निकलना किसी के लिए सम्भव नहीं। इस इन्द्र की **सम् इषः**=उत्तम प्रेरणाएँ भी **महीः**=महनीय व पूजनीय हैं। प्रभु की प्रेरणाएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। २. **यत्**=जब **ईम्**=निश्चय से **सुताः**=(सुतं अस्य अस्ति इति) सोम का सम्पादन करनेवाले यज्ञशील पुरुष **अमन्दिषु**=(to praise) उस प्रभु का स्तवन करते हैं तब ये प्रभु **मघवत्सु**=उन यज्ञशील पुरुषों में **पिन्वते**=धनों का सेचन करते हैं। प्रभु उनके लिए **गिरिः न**=(गुरुः न) एक उपदेष्टा के समान होते हैं और **भुज्मा**=उनका पालन करनेवाले होते हैं। गुरु शिष्य को गर्भ में धारण करता हुआ उसका रक्षण करता है। ये यज्ञशील पुरुष भी प्रभु से रक्षणीय होते हैं।

भावार्थ—प्रभु के आयुध दुष्टर हैं। उनकी प्रेरणाएँ महत्त्वपूर्ण हैं। प्रभु यज्ञशील स्तोता को उचित प्रेरणा देते हुए उसे पालित करते हैं।

यह यज्ञशील स्तोता 'मेध्यातिथि' बनता है—निरन्तर पवित्र प्रभु की ओर गतिवाला। यह स्तवन करता हुआ कहता है—

५२. [द्विपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥

सुतावन्तः-वृक्तबर्हिषः

वयं घ त्वा सुतावन्त आपो न वृक्तबर्हिषः।
पवित्रस्य प्रस्रवणेषु वृत्रहन्परि स्तोतार आसते॥ १॥

१. हे **वृत्रहन्**=वासनाविनाशक प्रभो! **वयम्**=हम **घ**=निश्चय से **सुतावन्तः**=सोम का सम्पादन करनेवाले व यज्ञशील बनकर **आपः न**=जलों के समान निरन्तर शान्तभाव से कर्मों में प्रवाहित होते हुए **वृक्तबर्हिषः**=वासनाशून्य हृदयान्तरिक्षवाले **स्तोतारः**=स्तोता बनकर **त्वा परि आसते**=आपका सेवन करनेवाले हों। २. आपकी उपासना करते हुए हम **पवित्रस्य**=ज्ञान के (नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते) **प्रस्रवणेषु**=प्रवाहों में अपने को पवित्र कर पाते हैं। आपकी उपासना हमें ज्ञान-जलों में स्नान के द्वारा पवित्र करनेवाली होती है।

भावार्थ—हम सोम का सम्पादन करते हुए प्रभु का उपासन करते हैं। ज्ञान-जलों के प्रवाहों में अपने को पवित्र करते हैं।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥

स्वब्दीव वंसगः

स्वरन्ति त्वा सुते नरो वसो निरेक उक्थिनः।
कदा सुतं तृषाण ओक आ गम इन्द्र स्वब्दीव वंसगः॥ २॥

१. हे प्रभो! **नरः**=उन्नति-पथ पर चलनेवाले लोग **सुते**=सोम का सम्पादन होने पर **स्वरन्ति**=आपका स्तवन करते हैं। आपका स्तवन ही वस्तुतः उन्हें सोमसम्पादन के योग्य बनाता है। हे **वसो**=उत्तम निवास देनेवाले प्रभो! ये नर **निरेके**=(रेकृ शंकायाम्) शंकाओं से शून्य हृदय में—आपके प्रति पूर्ण श्रद्धायुक्त हृदय के होने पर **उक्थिनः**=स्तोत्रोंवाले होते हैं—आनन्दपूर्वक आपके स्तोत्रों का उच्चारण करते हैं। २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **कदा**=कब आप **तृषाणः**=चाहते हुए **सुतम्**=आपके पुत्रभूत मुझे **ओकः आगमः**=यहाँ घर में प्राप्त होंगे! आप **इव**=जैसे **स्वब्दी**=(सु+अप्+द) उत्तम ज्ञान-जल को प्राप्त कराते हैं, उसी प्रकार **वंसगः**=मननीय—सेवनीय-पदार्थों के प्राप्त करानेवाले हैं। ज्ञानपूर्वक इन पदार्थों का ठीक उपयोग करता हुआ ही तो मैं 'अभ्युदय व निःश्रेयस' को सिद्ध कर पाता हूँ।

भावार्थ—हम प्रभु का ही स्तवन करें। श्रद्धायुक्त हृदय में प्रभु के गुणों का गायन करें। प्रभु-प्राप्ति की कामनावाले हों। प्रभु से ज्ञान व साधनभूत पदार्थों को प्राप्त करके उन्नति को सिद्ध करें।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥

वह बल!

कण्वेभिर्धृष्णवा धृषद्वाजं दर्षि सहस्रिणम्।
पिशङ्गरूपं मघवन्विचर्षणे मक्षू गोमन्तमीमहे ॥ ३ ॥

१. हे **धृष्णवो**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले प्रभो! आप **कण्वेभिः**=मेधावी पुरुषों के द्वारा—उत्तम समझदार माता, पिता व आचार्य द्वारा **वाजम्**=बल को **आदर्षि**=प्राप्त कराते हैं जोकि **धृषद्**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाला है तथा **सहस्रिणम्**=(स हस् अथवा सहस्र) हमारे जीवन को आनन्दमय बनानेवाला है अथवा दीर्घजीवन का साधक है। २. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन्! **विचर्षणे**=सर्वद्रष्टा प्रभो! हम आपसे **मक्षु**=शीघ्र उस जीवन की **ईमहे**=याचना करते हैं, जोकि **पिशंगरूपम्**=तेजस्वीरूपवाला व **गोमन्तम्**=प्रशस्त ज्ञानन्द्रियोंवाला है।

भावार्थ—हे प्रभो! आप उत्तम माता, पिता व आचार्यों द्वारा हमें उस बल को प्राप्त कराइए जिससे हम वासनारूप शत्रुओं का धर्षण करते हुए आनन्दमय जीवनवाले हों—तेजस्वी व प्रशस्त ज्ञानेन्द्रियोंवाले बनें।

अगले सूक्त का ऋषि भी मेध्यातिथि ही है—

५३. [त्रिपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥

पुरः विभिनत्ति

क ईं वेद सुते सचा पिबन्तं कद्वयो दधे।
अयं यः पुरो विभिनत्त्योजसा मन्दानः शिप्र्यन्धसः ॥ १ ॥

१. **कः**=कोई विरला पुरुष ही **ईम्**=निश्चय से **सुते**=सोम का सम्पादन होने पर—शरीर में सोम का रक्षण होने पर **सचा**=अपने में समवेत होनेवाले—सदा साथ रहनेवाले **पिबन्तम्**=सोम का पान करनेवाले—सोम को शरीर में ही व्याप्त करनेवाले उस प्रभु को **वेद**=जानता है। प्रभु को जानकर **कत्**=(कं तनोति) आनन्द का विस्तार करनेवाले **वयः**=आयुष्य को **दधे**=धारण करता है। २. **अयम्**=यह **यः**=जो **मन्दानः**=उस प्रभु का शंसन करनेवाला होता है, **अन्धसः**=सोम के हेतु से—वीर्यरक्षण के हेतु से **शिप्री**=उत्तम हनुओं व नासिकावाला बनता है, अर्थात् सात्त्विक

भोजन को चबाकर खाता है और प्राणसाधना में प्रवृत्त होता है, वह **ओजसा**=ओजस्विता के द्वारा **पुरःविभिनत्ति**=असुरों की पुरियों का विदारण करनेवाला होता है। 'पुरन्दर' बनता है। यह काम-क्रोध-लोभ की पुरियों का विदारण करके उत्तम शरीर (इन्द्रियों), मन व बुद्धिवाला बनता है। काम के विनाश से इसकी इन्द्रियशक्तियाँ जीर्ण नहीं होतीं, क्रोधविनाश से इसका मन शान्त रहता है तथा लोभ को दूर करने से यह अविकल बुद्धिवाला होता है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करते हुए सोम-रक्षण द्वारा आनन्दमय जीवनवाले बनें। 'प्रभु-स्तवन; सात्त्विक भोजन को चबाकर खाने तथा प्राणायाम' द्वारा सोम-रक्षण करते हुए ओजस्वी बनें तथा 'काम-क्रोध-लोभ' की नगरियों का विनाश करें।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥

पुरुत्रा चरथं दधे

दाना मृगो न वारणः पुरुत्रा चरथं दधे।
नकिष्ट्वा नि यमदा सुते गमो महाँश्चरस्योजसा॥ २॥

१. **दाना**=(दाप् लवने) वासनाओं के लवन (काटने) के हेतु से यह **मृगः न**=सिंह के समान होता है। शेर जैसे शिकार को चीर-फाड़ देता है, इसी प्रकार यह वासनाओं को चीर-फाड़ देता है (मृग=a wild beast), इसप्रकार यह **वारणः**=सब वासनाओं का निवारण करनेवाला होता है। **पुरुत्रा**=पालन व पूरण के दृष्टिकोण से **चरथं दधे**=इस शरीर-रथ को धारण करता है। भोग ही उसके जीवन का लक्ष्य नहीं बन जाते। २. ऐसी स्थिति में **त्वा**=तुझे **नकिः नियमत्**=कोई भी वासना बाँध नहीं पाती **सुते**=सोम के सम्पादन में **आगमः**=तू सर्वथा गतिवाला होता है। सब प्रकार से सोम का रक्षण करता है। अब **महान्**=(मह पूजायाम्) प्रभु की वृत्तिवाला होता हुआ तू **ओजसा चरसि**=ओजस्विता के साथ सब कर्तव्यों को करनेवाला होता है।

भावार्थ—वासनाओं के वशीभूत न होकर सोम-रक्षण करते हुए हम ओजस्वी बनें और कर्त्तव्य-कर्मों का पालन करें।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥

न योषति, आगमत्

य उग्रः सन्ननिष्टृतः स्थिरो रणाय संस्कृतः।
यदि स्तोतुर्मघवा शृणवद्धवं नेन्द्रो योषत्या गमत्॥ ३॥

१. **यः**=जो प्रभु **उग्रः सन्**=तेजस्वी होते हुए **अनिष्टृतः**=कभी स्थानभ्रष्ट व हिंसित नहीं होते। वे प्रभु **स्थिरः**=स्थिर हैं—अविनाशी हैं। **रणाय संस्कृतः**=रमणीयता के लिए अथवा वासनाओं के साथ संग्राम के लिए सदा हृदयों में योगिजनों से संस्कृत होते हैं। हृदयों में योगिजन प्रभु को देखने का प्रयत्न करते हैं—प्रभु इनके जीवन को रमणीय व विजयी बनाते हैं। २. ये **मघवा**=ऐश्वर्यशाली प्रभु **यदि**=यदि **स्तोतुः**=स्तोता की **हवम्**=पुकार को **शृणवत्**=सुनते हैं तो **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **न योषति**=अलग नहीं रहते। **आगमत्**=वे अवश्य आते ही हैं। हमारी आराधना को सुनते ही प्रभु प्राप्त होते हैं। वे प्रभु हमारे शत्रुओं के विनाश का कारण बनते हैं।

भावार्थ—प्रभु तेजस्वी होते हुए अहिंसित हैं। वे स्थिर प्रभु शत्रुसंहार द्वारा हमारे जीवनों को रमणीय बनाते हैं। हमारी आराधना सुनते ही हमें प्राप्त होते हैं।

यह प्रभु-स्तवन करनेवाला 'रेभः' अगले सूक्त का ऋषि है—

५४. [चतुष्पञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**रेभः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अतिजगती** ॥

इन्द्रं ततक्षुः जजनुः च राजसे

विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरं सजूस्ततक्षुरिन्द्रं जजनुश्च राजसे।
क्रत्वा वरिष्ठं वर आमुरिमुतोग्रमोजिष्ठं तवसं तरस्विनम्॥ १॥

१. **विश्वाः पृतनाः**=सब शत्रु-सैन्यों को **अभिभूतरम्**=अतिशयेन अभिभूत करनेवाले, **नरम्**=और इसप्रकार उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **सजूः**=मिलकर प्रीतिपूर्वक उपासना के द्वारा (जुषी प्रीतिसेवनयोः) **ततक्षुः**=(form in the mind) मन में निर्मित करते हैं **च**=और **जजनुः**=उसे प्रादुर्भूत करते हैं। ध्यान द्वारा प्रभु की कल्पना करते हैं और उसका विकास करते हैं—प्रभु का अधिकाधिक साक्षात्कार करने के लिए यत्नशील होते हैं। जितना-जितना साक्षात्कार कर पाते हैं उतना-उतना ही **राजसे**=दीपन के लिए होते हैं—उनका जीवन उतना ही अधिक दीप्त हो उठता है। २. उस प्रभु का ध्यान करते हैं जो **क्रत्वा**=शक्ति व प्रज्ञान से **वरिष्ठम्**=अत्यन्त विशाल हैं। **वरे**=श्रेष्ठ कार्यों के निमित्त **आमुरिम्**=समन्तात् शत्रुओं का संहार करनेवाले हैं, **उत**=और **उग्रम्**=अत्यन्त तेजस्वी हैं। **ओजिष्ठम्**=ओजस्वी है, **तवसम्**=बलवान् हैं और **तरस्विनम्**=अतिशयेन वेगवान् हैं।

भावार्थ—हम मिलकर घरों में प्रभु की उपासना करते हुए हृदयों में प्रभु को प्रादुर्भूत करें। इसप्रकार हमारा जीवन दीप्त व शक्तिशाली बनेगा। शत्रु-संहार करते हुए हम उन्नति-पथ पर आगे बढ़ेंगे।

ऋषिः—**रेभः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्बृहती** ॥

'धृतव्रत' प्रभु

समीं रेभासो अस्वरन्निन्द्रं सोमस्य पीतये।
स्वर्पतिं यदीं वृधे धृतव्रतो ह्योजसा समूतिभिः॥ २॥

१. **रेभासः**=स्तोता लोग **ईम्**=निश्चय से **सोमस्य पीतये**=सोम का शरीर में ही रक्षण के लिए **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **सम् अस्वरन्**=संस्तुत करते हैं। प्रभु-स्मरण से वासनाओं को दूर भगाते हुए ये स्तोता सोम को शरीर में सुरक्षित करने में समर्थ होते हैं, २. उस प्रभु का स्तवन करते हैं जो **स्वःपतिम्**=प्रकाश के स्वामी हैं। **यत्**=चूंकि वे प्रभु **ईम्**=निश्चय से **वृधे**=स्तोता की वृद्धि के लिए होते हैं, वे प्रभु **ओजसा**=ओजस्विता के साथ **हि**=निश्चय से **ऊतिभिः**=रक्षणों से **सम्** (वृधे)=हमारे वर्धन के लिए होते हैं। ये प्रभु **धृतव्रतः**=हमारे व्रतों का धारण करनेवाले हैं। प्रभु से रक्षित होकर ही हम व्रतों का पालन कर पाते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन द्वारा शक्तिशाली बनकर वासनाओं का संहार करते हुए व्रतमय जीवन बिता पाते हैं और सोम का शरीर में रक्षण कर सकते हैं।

ऋषिः—**रेभः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्बृहती** ॥

अद्रुहः अपि कर्णे तरस्विनः

नेमिं नमन्ति चक्षसा मेषं विप्रा अभिस्वरा।
सुदीतयो वो अद्रुहोऽपि कर्णे तरस्विनः समृक्वभिः॥ ३॥

१. **विप्रः**=ज्ञानी लोग **चक्षसा**=ज्ञान के हेतु से **नेमिम्**=सब शत्रुओं को झुका देनेवाले उस

प्रभु को **नमन्ति**=नमस्कार करते हैं। **मेषम्**=सुखों से सिक्त करनेवाले उस प्रभु को **अभिस्वरा**=प्रातः-सायं स्तवन के द्वारा (स्वृ शब्दे) (नमन्ति) नमस्कार करते हैं। २. ये स्तोता ब्राह्मण **वः**=तुम्हारे **सुदीतयः**=उत्तम दीपन करनेवाले होते हैं—स्वयं ज्ञानदीप्त होते हुए औरों के लिए ज्ञान देनेवाले होते हैं। **अद्रुहः**=किसी का द्रोह नहीं करते। **अपि**=द्रोहशून्य होते हुए भी कर्णे (कृ विक्षेपे)=शत्रुओं के विक्षेपरूप कार्य में **ऋक्वभिः सम्**=ऋचाओं से—प्रभुस्तोत्रों से संगत हुए-हुए **तरस्विनः**=अतिशयेन वेगवान् होते हैं। द्रोहशून्य होते हुए भी ये लोग वासनाशून्य शत्रुओं को विनष्ट करने में सबसे तीव्र गतिवाले होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। दीप्त व द्रोहशून्य जीवनवाले बनकर वासनारूप शत्रुओं को विकीर्ण करनेवाले हों।

अगले सूक्त का ऋषि भी 'रेभ' ही है—

५५. [पञ्चपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**रेभः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अतिजगती** ॥

राये विश्वा सुपथा कृणोतु

तमिन्द्रं जोहवीमि मघवानमुग्रं सत्रा दधानमप्रतिष्कुतं शवांसि।
मंहिष्ठो गीर्भिरा च यज्ञियो ववर्तद्राये नो विश्वा सुपथा कृणोतु वज्री॥ १॥

१. **तम्**=उस **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् व परमैश्वर्यशाली प्रभु को **जोहवीमि**=पुकारता हूँ, जोकि **मघवानम्**=सब ऐश्वर्यों के स्वामी हैं, **उग्रम्**=तेजस्वी हैं, **सत्रा**=सदा **शवांसि दधानम्**=बलों का धारण करनेवाले हैं, **अप्रतिष्कुतम्**=प्रतिशब्द से रहित हैं—जिनका युद्ध में कोई आह्वान नहीं कर सकता। २. वे प्रभु **मंहिष्ठः**=सर्वमहान् दाता हैं **च**=और **गीर्भिः**=ज्ञान की वाणियों से उपासना के योग्य हैं। ये प्रभु **आववर्तत्**=सर्वत्र वर्तमान हैं। **वज्री**=ये वज्रहस्त प्रभु **राये**=ऐश्वर्य के लिए **नः**=हमारे **विश्वा**=सब **सुपथा**=उत्तम मार्गों को **कृणोतु**=करें।

भावार्थ—हम उन प्रभु को पुकारें जो ऐश्वर्यशाली-तेजस्वी-बल के धारक व अद्वितीय योद्धा हैं। हम उस सर्वप्रद प्रभु को पूजें। प्रभु हमें सत्पथ से ऐश्वर्य की ओर ले-चलें।

ऋषिः—**रेभः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥

'असुरः, स्तोता, वृक्तबर्हिष्'

या इन्द्र भुज आभरः स्व[र्]वाँ असुरेभ्यः।
स्तोतारमिन्मघवन्नस्य वर्धय ये च त्वे वृक्तबर्हिषः॥ २॥

१. हे **स्वर्वान्**=प्रकाश व आनन्द से युक्त **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **याः भुजः**=जिन भोग-साधन धनों को **असुरेभ्यः आभरः**=(असवः प्राणाः, तेषु रमन्ते) प्राणसाधक लोगों के लिए प्राप्त कराते हैं। हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **स्तोतारम् इत्**=स्तोता को निश्चय से **अस्य वर्धय**=इसके द्वारा (अनेन) बढ़ाइए। प्राणसाधना करनेवाले जिन धनों को प्राप्त करते हैं, वे धन इन स्तोताओं को भी प्राप्त हों। २. **ये च**=और जो **त्वे**=आपमें निवास करते हुए **वृक्तबर्हिषः**=हृदय-क्षेत्र को पापों से रहित करते हैं, उन्हें इन धनों के द्वारा बढ़ाइए।

भावार्थ—हम 'प्राणसाधक, स्तोता व निष्पाप' बनते हुए उन ऐश्वर्यों को प्राप्त करें जो हमारे जीवनों को प्रकाशमय बनानेवाले हैं।

ऋषिः—**रेभः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥

'यजमान, सुन्वन्, दक्षिणावान्'

यमिन्द्र दधिषे त्वमश्वं गां भागमव्ययम्।
यजमाने सुन्वति दक्षिणावति तस्मिन्तं धेहि मा पणौ॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **यम्**=जिस **अश्वं गाम्**=कर्मेन्द्रियसमूह तथा ज्ञानेन्द्रियसमूह को तथा **अव्ययं भागम्**=(अवि अय्) विविध योनियों में भटकने का कारण न बननेवाले भजनीय धन को **यजमाने**=यज्ञशील पुरुष में, **सुन्वति**=सोम का सम्पादन करनेवाले पुरुष में तथा **दक्षिणावति**=दानशील पुरुष में **दधिषे**=धारण करते हैं, **तस्मिन्**=उसी 'गौ, अश्व व अव्ययभाग' में **तम्**=उस स्तोता को **धेहि**=धारण कीजिए। २. उस 'गौ, अश्व व अव्ययभाग' को **मा**=मत दीजिए जिसे हम **पणौ**=वणिक् वृत्तिवाले कृपण पुरुष में देखते हैं। कृपण-पुरुष का धन भी **अव्यय**=(अ-व्यय) दान आदि में व्ययित न होकर गढ़ा ही रहता है।

भावार्थ—प्रभु के अनुग्रह से हम यज्ञशील, सोम का सम्पादन करनेवाले व दानशील बनें। ऐसे बनकर उत्तम कर्मेन्द्रियों, ज्ञानेन्द्रियों व प्रशस्त धनोंवाले हों, कृपण न बनें।

यह प्रशस्तेन्द्रियोंवाला स्तोता 'गोतम' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

५६. [षट्पञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

मदाय-शवसे

इन्द्रो मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभिः।
तमिन्महत्स्वाजिषूतेमर्भे हवामहे स वाजेषु प्र नोऽविषत्॥ १॥

१. **नृभिः**=उन्नति-पथ पर चलनेवाले लोगों से **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **शवसे**=बल की प्राप्ति के लिए तथा **मदाय**=आनन्द के उल्लास के लिए **वावृधे**=बढ़ाया जाता है। ये नर प्रभु का उपासन करते हैं जिससे बल व आनन्द प्राप्त कर सकें। ये प्रभु **वृत्रहा**=वासना का विनाश करनेवाले हैं **तम् इत्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही **महत्सु**=बड़े-बड़े **आजिषु**=संग्रामों में **उत ईम्**=और निश्चय से **अर्भे**=छोटे-छोटे संग्रामों में **हवामहे**=पुकारते हैं। प्रभु के द्वारा ही विजय की प्राप्ति होती है। २. **सः**=वे प्रभु **वाजेषु**=संग्रामों में **नः**=हमारा **प्र अविषत्**=प्रकर्षेण रक्षण करते हैं।

भावार्थ—प्रभु का उपासन हमें बल व आनन्द प्राप्त कराता है। प्रभु हमारी वासनाओं का विनाश करते हैं। प्रभु ही बड़े-छोटे सब संग्रामों में हमारा रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

'सेन्य-परादादि-वृध' प्रभु

असि हि वीर सेन्योऽसि भूरि परादुदिः।
असि दभ्रस्य चिद् वृधो यजमानाय शिक्षसि सुन्वते भूरि ते वसु॥ २॥

१. हे **वीर**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाले प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **सेन्यः असि**=हमारी सेनाओं के उत्तम संचालक हैं और इसप्रकार **भूरिपरादादिः असि**=शत्रुओं को खूब ही परादान—पराजित करके दूर भगा देनेवाले हैं। २. **दभ्रस्य**=अल्प के **चित्**=भी—कम सेनावाले उपासक के भी **वृधः असि**=बढ़ानेवाले हैं। कम सेनावाला भी उपासक अधिक सेनावाले अनुपासक को

जीत लेता है। २. **यजमानाय**=यज्ञशील पुरुष के लिए **शिक्षसि**=आप सदा देते हैं। **सुन्वते**=शरीर में सोम का सम्पादन करनेवाले के लिए **भूरि**=खूब ही ते **वसु**=आपका धन होता है। इस सुन्वन् को आप पालक व पोषक धन प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारी सेनाओं के उत्तम संचालक—शत्रुओं का परादान करनेवाले व हमारा वर्धन करनेवाले हैं। हम यज्ञशील व सोम का सम्पादन करनेवाले बनें। प्रभु हमारा रक्षण करेंगे।

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

धृष्णवे धीयते धना

यदुदीरत आजयो धृष्णवे धीयते धना।
युक्ष्वा मदच्युता हरी कं हनः कं वसौ दधोऽस्माँ इन्द्र वसौ दधः॥ ३॥

१. **यत्**=जब **आजयः**=संग्राम **उदीरत**=उठ खड़े होते हैं तब **धृष्णवे**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले के लिए **धना धीयते**=धन धारण किये जाते हैं। संग्राम में विजेता ही धनों का पात्र बनता है। २. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप **मदच्युता**=आनन्द को क्षरित करनेवाले, आनन्द को प्राप्त करानेवाले **हरी**=इन्द्रियाश्वों को **युक्ष्व**=हमारे शरीर-रथ में युक्त कीजिए। आप **कम्**=किसी विरले ही उपासक को **हनः** (हन् गतौ) प्राप्त होते हैं। **कम्**=किसी विरले को ही **वसौ दधः**=वसुओं में धारण करते हैं। हे प्रभो **अस्मान्**=हमें तो आप अवश्य ही **वसौ दधः**=वसुओं में धारण कीजिए।

भावार्थ—संग्राम में विजयी को ही धन प्राप्त होते हैं। इस अध्यात्म-संग्राम में विजय के लिए प्रभु हमें प्राप्त हों। प्रभु हमारे शरीर-रथों में उत्तम इन्द्रियाश्वों को युक्त करें और हमें वसुओं में स्थापित करें।

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

उभया हस्त्या वसु आभर

मदेमदे हि नो ददिर्यूथा गवामृजुक्रतुः।
सं गृभाय पुरू शतोभयाहस्त्या वसु शिशीहि राय आ भर॥ ४॥

१. **ऋजुक्रतुः**=ऋजुता से सब कर्मों को करनेवाले ये प्रभु **मदे मदे**=उल्लास के जनक सोम का रक्षण होने पर **हि**=निश्चय से **नः**=हमारे लिए **गवां यूथा**=इन्द्रियों के समूहों को **ददिः**=देनेवाले होते हैं। २. हे प्रभो! आप **उभया हस्त्या**=दोनों हाथों से **पुरूशता**=बहुत सैकड़ों—अनेक **वसु**=धनों को **संगृभाय**=ग्रहण कीजिए। **शिशीहि**=हमारी बुद्धियों को तीव्र बनाइए और **रायः आभर**=हमारे लिए ऐश्वर्यों को प्राप्त कराइए।

भावार्थ—प्रभु हमें उत्तम इन्द्रियाँ दें। धनों को प्राप्त कराएँ। धनों का सद्विनियोग करते हुए हम तीक्ष्ण बुद्धि बनें।

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

'पुरूवसु' प्रभु

मादयस्व सुते सचा शवसे शूर राधसे।
विद्मा हि त्वा पुरूवसुमुप कामान्त्ससृज्महेऽथा नोऽविता भव॥ ५॥

१. हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **सुते**=सोम का सम्पादन होने पर **सचा**=मेल के द्वारा—हमें अपना सान्निध्य प्राप्त कराने के द्वारा **मादयस्व**=आनन्दित कीजिए। इसप्रकार आप

हमारे **शवसे**=बल के लिए होइए तथा **राधसे**=सफलता व सिद्धि के लिए होइए। आपके मेल से हम शक्ति-सम्पन्न बनें और सब कार्यों को सिद्ध कर सकें। २. हम **त्वा**=आपको **हि**=निश्चय से **पुरूवसुम्**=अनन्त ऐश्वर्यवाला **विद्म**=जानते हैं। हम **उप**=आपकी उपासना में **कामान्**=अभिलाषाओं को **संसृज्महे**=उत्पन्न करते हैं। आपके समीप ही सब इच्छाओं को प्रकट करते हैं। **अथा**=अब आप **नः**=हमारे **अविता**=सब भागों का दोहन (प्रपूरण) करनेवाले **भव**=होइए। हमारे लिए सब भजनीय धनों को देनेवाले होइए।

भावार्थ—प्रभु का सान्निध्य ही 'आनन्द, शक्ति, सफलता व ऐश्वर्य' का साधक होता है।

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

एते ते इन्द्र जन्तवः

एते त इन्द्र जन्तवो विश्वं पुष्यन्ति वार्यम्।
अन्तर्हि ख्यो जनानामर्यो वेदो अदाशुषां तेषां नो वेद आ भर॥ ६ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **एते जन्तवः**=ये सब प्राणधारी प्राणी **ते**=आपके हैं। आपके होते हुए ये **विश्वम्**=सब **वार्यम्**=वरणीय धन को **पुष्यन्ति**=प्राप्त करते हैं। २. आप **हि**=निश्चय से **जनानाम्**=सब लोगों के **अन्तः**=अन्दर होते हुए **ख्यः**=उनके सब आन्तरभावों को देखते हैं। **अर्यः**=आप ही स्वामी हैं। **अदाशुषाम्**=अदानशीलों—कृपणों के **वेदः**=धन को भी आप देखते हैं। **तेषां वेदः**=उनके धन को भी **नः आभर**=हमारे लिए प्राप्त कराइए। हम इस धन का दान करते हुए प्राजापत्ययज्ञ में अपनी आहुति देनेवाले बनें।

भावार्थ—प्रभु ही सब वरणीय धनों के देनेवाले हैं। प्रभु अन्तरस्थित होते हुए हमारे सब भावों को जानते हैं। आप कृपणों के धनों को दाश्वान् पुरुषों में प्राप्त करानेवाले हैं।

दान की वृत्तिवाले बनकर हम सदा 'मधुच्छन्दा' बनें—मधुर इच्छाओंवाले। यह 'मधुच्छन्दा' ही अगले सूक्त का ऋषि है—

५७. [सप्तपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'सुरूपकृत्नु' प्रभु

सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे। जुहूमसि द्यविद्यवि॥ १ ॥

१. हम अपने **ऊतये**=रक्षण के लिए उस प्रभु को **द्यवि द्यवि**=प्रतिदिन **जुहूमसि**=पुकारते हैं, जो प्रभु **सुरूपकृत्नुम्**=उत्तम रूप को करने में कुशल हैं। प्रभु हमें उत्तम रूप प्राप्त कराते हैं। २. इसी प्रकार हम इस 'सुरूपकृत्नु' प्रभु को पुकारते हैं, **इव**=जैसेकि **गोदुहे**=एक गोधुक् के लिए **सुदुघाम्**=सुखसंदोह्य गौ पुकारा जाता है। जैसे एक ग्वाले की यही कामना होती है कि मुझे सुखसंदोह्य गौ प्राप्त हो, इसी प्रकार हमारी प्रार्थना का स्वरूप यही हो कि हमें सुरूपकृत्नु प्रभु प्राप्त हों।

भावार्थ—हम अपने रक्षण के लिए प्रतिदिन प्रभु का आराधन करें। प्रभु हमें उत्कृष्ट जीवनवाला बनाते हुए 'सुरूप' प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सवन+सोमपान+दान

उप नः सवना गहि सोमस्य सोमपाः पिब। गोदा इद्रेवतो मदः॥ २॥

१. हे प्रभो! **नः सवना उप आगहि**=हमारे यज्ञों में आप समीपता से प्राप्त होइए। आपने ही तो इन यज्ञों को पूर्ण करना है। **सोमपाः**=सोम का रक्षण करनेवाले प्रभो! आप **सोमस्य पिब**=सोम का पान कीजिए। आप ही वासना-विनाश द्वारा हमारे जीवन में सोम का रक्षण करेंगे। २. **रेवतः**=एक धनी पुरुष का **मदः**=वास्तविक हर्ष **इत्**=निश्चय से **गोदाः**=गौओं को देनेवाला है। यज्ञमय जीवनवाला धनी पुरुष निश्चय से दानशील होता है। वस्तुतः यह दानशीलता ही उसके हर्ष का कारण बनती है।

भावार्थ—हम यज्ञों को करानेवाले हों, सोम का रक्षण करें और सम्पन्न होकर दानशील बनें। देने में हम आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

अन्तम सुमतियों की प्राप्ति

अथा ते अन्तमानां विद्याम सुमतीनाम्। मा नो अति ख्य आ गहि॥ ३॥

१. हे प्रभो! **अथा**=अब **ते**=आपकी **उन्तमानाम्**=अत्यन्त अन्तिकतम—आपके समीप प्राप्त करानेवाली **सुमतीनाम्**=कल्याणी मतियों को **विद्याम**=प्राप्त करें। इन सुमतियों को प्राप्त करके हम आपके समीप पहुँचनेवाले बनें। २. हे प्रभो! आप **नः**=हमें **मा अति ख्यः**=छोड़कर ज्ञान देनेवाले न होइए, अर्थात् हम सदा आपके ज्ञानों के पात्र बनें। **आगहि**=आप हमें अवश्य प्राप्त होइए।

भावार्थ—हम उन कल्याणी-मतियों को प्राप्त करें, जोकि हमें प्रभु तक ले-जानेवाली हैं। हम सदा प्रभु से दिये जानेवाले ज्ञान के पात्र हों।

ऋषिः—४-७ **विश्वामित्रः**; ८-१० **गृत्समदः**; ११-१६ **मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—४-६, ८-१० **गायत्री**; ७ **अनुष्टुप्**; ११-१६ **बृहती** ॥

शुष्मिन्तमं न ऊतये द्युम्निनं पाहि जागृविम्। इन्द्र सोमं शतक्रतो॥ ४॥
इन्द्रियाणि शतक्रतो या ते जनेषु पञ्चसु। इन्द्र तानि त आ वृणे॥ ५॥
अगन्निन्द्र श्रवो बृहद् द्युम्नं दधिष्व दुष्टरम्। उत्ते शुष्मं तिरामसि॥ ६॥
अर्वावतो न आ गह्यथो शक्र परावतः।
उ लोको यस्ते अद्रिव इन्द्रेह तत आ गहि॥ ७॥
इन्द्रो अङ्ग महद्भयमभी षदप चुच्यवत्। स हि स्थिरो विचर्षणिः॥ ८॥
इन्द्रश्च मृडयाति नो न नः पश्चादघं नशत्। भद्रं भवाति नः पुरः॥ ९॥
इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत्। जेता शत्रून्विचर्षणिः॥ १०॥

देखो व्याख्या अथर्व० २०.२०.१-७

क ईं वेद सुते सचा पिबन्तं कद्वयो दधे।
अयं यः पुरो विभिनत्त्योजसा मन्दानः शिप्र्यन्धसः॥ ११॥
दाना मृगो न वारणः पुरुत्रा चरथं दधे।
नकिष्ट्वा नि यमदा सुते गमो महाँश्चरस्योजसा॥ १२॥
य उग्रः सन्ननिष्टृतः स्थिरो रणाय संस्कृतः।
यदि स्तोतुर्मघवा शृणवद्धवं नेन्द्रो योषत्या गमत्॥ १३॥

देखो व्याख्या अथर्व० २०.५३.१-३

व॒यं घ॑ त्वा सु॒ताव॑न्त॒ आपो॒ न वृ॒क्तब॑र्हिषः।
प॒वित्र॑स्य प्र॒स्रव॑णेषु वृत्रह॒न्परि॑ स्तो॒तार॑ आसते॥ १४॥
स्वर॑न्ति त्वा सु॒ते नरो॒ वसो॑ निरे॒क उ॒क्थिनः॑।
क॒दा सु॒तं तृ॑षा॒ण ओक॒ आ ग॑म॒ इन्द्र॑ स्व॒ब्दीव॒ वंस॑गः॥ १५॥
कण्वे॑भिर्धृष्ण॒वा धृ॒षद्वाजं॑ दर्षि सह॒स्रिण॑म्।
पि॒शङ्ग॑रूपं मघवन्विचर्षणे म॒क्षू गोम॑न्तमीमहे॥ १६॥

देखो व्याख्या अथर्व० २०.५२.१-३

ज्ञान और शक्ति को प्राप्त करके मानव हित में तत्पर 'नृ-मेध' अगले सूक्त के प्रथम दो मन्त्रों का ऋषि है। इसी उद्देश्य से स्वास्थ्य का पूर्ण ध्यान करनेवाला 'जमदग्नि' (जमत् अग्नि=जिसकी जाठराग्नि मन्द नहीं) तीसरे व चौथे मन्त्र का ऋषि है—

५८. [अष्टपञ्चाशं सूक्तम्]

ऋषिः—**नृमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (विषमा-बृहती+समा-सतोबृहती)**॥

श्रायन्त इव सूर्यम्

श्राय॑न्तइव॒ सूर्यं॒ विश्वे॒दिन्द्र॑स्य भक्षत।
वसू॑नि जा॒ते जन॑मान॒ ओज॑सा॒ प्रति॑ भा॒गं न दी॑धिम॥ १॥

१. **सूर्यम् इव**=सूर्य की भाँति, अर्थात् जैसे सूर्य कभी विश्राम नहीं लेता, इसी प्रकार **श्रायन्तः** (श्रायति to sweat)=श्रम के कारण पसीने से निरन्तर तर-बतर होते हुए **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के **विश्वा इत् वसूनि**=सब वसुओं (धनों) को **भक्षत**=उपभुक्त करो। विना श्रम के खाना पाप समझो। सब धनों को प्रभु का ही जानो। २. **ओजसा**=बल से—ओजस्विता से **जाते**= उत्पन्न हुए-हुए तथा **जनमाने**=आगे उत्पन्न होनेवाले धन में **भागं न**=अपने भाग के समान वसु को **प्रतिदीधिम**=प्रतिदिन धारण करें। हम श्रम से—बल से धनों का अर्जन करें और उन्हें अपने-अपने भाग के अनुसार बाँटकर खानेवाले बनें।

भावार्थ—श्रम से—पसीने से तर-बतर होकर हम धनों को कमाएँ और उन्हें अपने-अपने भाग के अनुसार बाँटकर खानेवाले बनें।

ऋषिः—**नृमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (विषमा-बृहती+समा-सतोबृहती)**॥

'अनर्शराति' प्रभु

अ॒न॒र्शरा॑तिं वसु॒दामुप॑ स्तुहि भ॒द्रा इन्द्र॑स्य रा॒तयः॑।
सो अ॑स्य॒ कामं॑ विध॒तो न रो॑षति॒ मनो॑ दा॒नाय॑ चो॒दय॑न्॥ २॥

१. उस **अनर्शरातिम्**=निष्पाप दानवाले (Asinless donor) **वसुदाम्**=धनों के दाता प्रभु को **उपस्तुहि**=उपस्तुत कर। **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के **रातयः**=दान **भद्राः**=कल्याणकर हैं। २. **सः**=वे प्रभु **अस्य विधतः**=इस-[प्रभु]-की पूजा करनेवाले की—उपासक की **कामम्**=अभिलाषा को **न रोषति**=हिंसित नहीं करते। प्रभु उपासक की अभिलाषा को पूर्ण करते हैं और **मनः**=उपासक के मन को **दानाय**=दान के लिए **चोदयन्**=प्रेरित करते हैं।

भावार्थ—वसुओं के दाता प्रभु का हम स्तवन करें। प्रभु स्तोता की कामना को पूर्ण करते हैं और उसके मन को दान के लिए प्रेरित करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (विषमा-बृहती+समा-सतोबृहती)** ॥

सूर्य-आदित्य

वण्म॒हाँ अ॑सि सूर्य॒ बडा॑दित्य म॒हाँ अ॑सि।
म॒हस्ते॑ स॒तो म॑हि॒मा प॑नस्यते॒ऽद्धा दे॑व म॒हाँ अ॑सि॥ ३॥

१. हे **सूर्य**=सम्पूर्ण जगत् के उत्पादक प्रभो! आप **वट्**=सचमुच **महान् असि**=महान् हैं। हे **आदित्य**=प्रलय के समय सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अपने अन्दर ले-लेनेवाले (आदानात्) प्रभो! आप **वट्**=सचमुच **महान् असि**=पूजनीय हैं। २. **महः सतः ते**=महान् होते हुए आपकी **महिमा**=महत्ता **पनस्यते**=हमसे स्तुत होती है। हम आपकी महिमा का गायन करते हैं। हे **देव**=सब-कुछ देनेवाले, ज्ञानदीप्त व उपासकों को दीप्त करनेवाले प्रभो! आप **अद्धा**=सचमुच ही **महान् असि**=महान् हैं।

भावार्थ—सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करनेवाले प्रभु 'सूर्य' हैं। अन्त में सारे ब्रह्माण्ड को अपने अन्दर ले-लेनेवाले प्रभु 'आदित्य' हैं। उस महान् प्रभु की महिमा का हम सदा गायन करें।

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (विषमा-बृहती+समा-सतोबृहती)** ॥

'विभु आदभ्य' ज्योति

बट् सू॑र्य॒ श्रव॑सा म॒हाँ अ॑सि स॒त्रा दे॑व म॒हाँ अ॑सि।
म॒ह्ना दे॒वाना॑मसु॒र्य॑ः पु॒रोहि॑तो वि॒भु ज्योति॒रदा॑भ्यम्॥ ४॥

१. हे **सूर्य**=सम्पूर्ण जगत् को उत्पन्न करनेवाले प्रभो! आप **वट्**=सचमुच ही **अवसा**=ज्ञान के हेतु से **महान् असि**=पूजनीय हैं। आपके ज्ञान की पूर्णता के कारण आपका बनाया हुआ यह संसार भी पूर्ण है। हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! आप **सत्रा**=सचमुच ही **महान् असि**=महान् हैं। २. आप अपनी **मह्ना**=महिमा से **देवानाम् असुर्यः**=देवों के अन्दर प्राणशक्ति का सञ्चार करनेवाले हैं। **पुरोहितः**=सृष्टि बनने से पूर्व ही विद्यमान हैं (समवर्तताग्रे) अथवा सब जीवों के लिए हित के उपदेष्टा हैं। आप तो एक **विभु**=व्यापक **अदाभ्यम्**=कभी हिंसित न होनेवाली **ज्योतिः**=ज्योति हैं। आपके उपासकों को भी यह ज्योति दीप्त अन्तःकरणवाला बनाती है।

भावार्थ—प्रभु अपने ज्ञान के कारण महान् हैं—वे एक पूर्ण सृष्टि का निर्माण करते हैं। अपनी महिमा से देवों के अन्दर प्राणशक्ति का सञ्चार करते हैं और उन्हें हितकर प्रेरणा देते हैं। प्रभु एक व्यापक अहिंस्य ज्योति हैं।

इस 'विभु अदाभ्य' ज्योति की ओर चलनेवाला 'मेध्यातिथि' अगले सूक्त के प्रथम दो मन्त्रों का ऋषि है। पवित्र जीवनवाला 'वसिष्ठ' तीसरे व चौथे मन्त्र का ऋषि है—

५९. [एकोनषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (विषमा-बृहती+समा-सतोबृहती)** ॥

उदु॒ त्ये मधु॑मत्तमा॒ गिर॒ स्तोमा॑स ईरते।
स॒त्रा॒जितो॑ धन॒सा अक्षि॑तोतयो वाज॒यन्तो॒ रथा॑इव॥ १॥

कण्वाइव भृगवः सूर्याइव विश्वमिद्धीतमानशुः।
इन्द्रं स्तोमेभिर्महयन्त आयवः प्रियमेधासो अस्वरन्॥ २॥

देखो व्याख्या अथर्व० २०.१०.१-२

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (विषमा-बृहती+समा-सतोबृहती)**॥

इन्द्रः-हरिवान्-सोमी

उदिन्न्वस्य रिच्यतेंऽशो धनं न जिग्युषः।
य इन्द्रो हरिवान्न दभन्ति तं रिपो दक्षं दधाति सोमिनि॥ ३॥

१. **जिग्युषः धनं न**=विनयशील पुरुष के धन के समान **अस्य**=इस पुरुष का **यः**=जोकि **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय बनता है, उस जितेन्द्रिय पुरुष का **अंशः**=अंश **नु**=अब **इत्**=निश्चय से **उत् रिच्यते**=उद्रिक्त होता चलता है—इसका अंश बढ़ता ही जाता है। पिता की सम्पत्ति में भाग को 'अंश' कहते हैं। प्रभु पिता हैं। उनकी सम्पत्ति में इस जितेन्द्रिय पुरुष का भाग बढ़ता ही जाता है, अर्थात् इसका जीवन अधिक और अधिक दिव्य होता चलता है। २. (यः)=जो **हरिवान्**=जितेन्द्रियता द्वारा सोम-रक्षण करता हुआ प्रशस्त इन्द्रियोंवाला बनता है, **तम्**=उस प्रशस्तेन्द्रियाश्वोंवाले पुरुष को **रिपः न दभन्ति**=शत्रु हिंसित नहीं करते। यह रोग व वासनारूप शत्रुओं का शिकार नहीं होता। वे प्रभु **सोमिनि**=इस सोमरक्षक पुरुष में **दक्षं दधाति**=बल की स्थापना करते हैं।

भावार्थ—जो जितेन्द्रिय बनता है—उसमें प्रभु की दिव्यता का अंश बढ़ता जाता है। जो प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाला बनता है उसे रोग व वासनाएँ हिंसित नहीं कर पातीं। सोमरक्षक पुरुष में बल का वर्धन होता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (विषमा-बृहती+समा-सतोबृहती)**॥

'अखर्व' ज्ञान

मन्त्रमखर्वं सुधितं सुपेशसं दधात यज्ञियेष्वा।
पूर्वीश्चन प्रसितयस्तरन्ति तं य इन्द्रे कर्मणा भवत्॥ ४॥

१. हे जीवो! **यज्ञियेषु**=यज्ञात्मक कर्मों के होने पर **मन्त्रम् आदधात**=इस प्रभु से दिये गये मन्त्रात्मक ज्ञान को धारण करो, जोकि **अखर्वम्**=खर्व—अल्प नहीं है, **सुधितम्**=जो 'अग्नि, वायु, आदित्य व अंगिरा' ऋषियों के हृदयों में सम्यक् स्थापित किया जाता है तथा **सुपेशसं**=जो हमारे जीवनों का उत्तम निर्माण करनेवाला है। इस ज्ञान के अनुसार कर्म करने पर जीवन बड़ा सुन्दर बनता है। २. **यः**=जो **कर्मणा**=कर्मों के द्वारा **इन्द्रे भवत्**=सदा प्रभु में वास करता है, **तम्**=उसकी **पूर्वीः प्रसितयः**=पालन व पूरण करनेवाले व्रतों के बन्धन **चन**=निश्चय से **तरन्ति**=इस भवसागर से तरानेवाले होते हैं। प्रभु-स्मरणपूर्वक कर्मों को करनेवाला अपने को सदा व्रतों के बन्धन में बाँधकर चलता है। ये व्रतबन्धन उसे इस भवसागर में विषयों की चट्टानों से टकराकर नष्ट नहीं होने देते।

भावार्थ—वेदज्ञान के अनुसार कर्म करने पर जीवन का बड़ा सुन्दर निर्माण होता है। प्रभु-स्मरणपूर्वक कर्म करने पर हमारा जीवन व्रतमय बना रहता है और हम संसार के विषयों में फँसते नहीं।

प्रभु में निवास करनेवाला अथवा सोम का रक्षण करता हुआ यह 'सुतकक्ष' बनता है—सुत को ही—सोम को ही यह अपनी शरण बनाता है। अगले मन्त्रों में ये 'सुकक्ष सुतकक्ष' ही ऋषि हैं। ४ से ६ तक ऋषि मधुच्छन्दा है—उत्तम मधुर इच्छाओंवाला—

६०. [षष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**सुतकक्षः सुकक्षो वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

शूर-स्थिर

एवा ह्यसि वीरयुरेवा शूर उत स्थिरः। एवा ते राध्यं मनः॥ १॥

१. **एवा**=इसप्रकार, अर्थात् गतमन्त्र के अनुसार प्रभु-स्मरणपूर्वक कर्म करने पर तू **हि**=निश्चय से **वीरयुः असि**=वीरता की भावना को अपने साथ जोड़नेवाला है। **एवा**=इसप्रकार तू **शूरः**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाला **उत**=और **स्थिरः**=स्थिरवृत्ति का बनता है। २. **एवा**=इसप्रकार **ते**=तेरा **मनः**=मन **राध्यम्**=सिद्धि व सफलता से पूर्ण बनता है (to be successful) अथवा तेरा मन पूर्णता को प्राप्त होता है (to be accomplished), न्यूनताओं से रहित होता है।

भावार्थ—प्रभु-स्मरणपूर्वक कर्म करते हुए हम 'वीर, शूर व स्थिर' बनें। हम अपने मनों को न्यूनताओं से रहित कर पाएँ।

ऋषिः—**सुतकक्षः सुकक्षो वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

धाता

एवा रातिस्तुवीमघ विश्वेभिर्धायि धातृभिः। अधा चिदिन्द्र मे सचा॥ २॥

१. हे **तुवीमघ**=महान् ऐश्वर्यवाले प्रभो! **एवा**=इसप्रकार, अर्थात् आपके स्मरणपूर्वक कर्म करने के द्वारा **विश्वेभिः**=सब **धातृभिः**=धारणात्मक कर्म करनेवालों से **रातिः धायि**=आपका दान धारण किया जाता है। ये धाता लोग आपसे ऐश्वर्य प्राप्त करके उस ऐश्वर्य का विनियोग धारणात्मक कर्मों में करते हैं। २. **अधा**=अब जबकि मैं ऐश्वर्य का विनियोग धारणात्मक कर्मों में करूँ, हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **चित्**=निश्चय से **मे सचा**=मेरे साथ होनेवाले होइए। आपको साथी के रूप में पाकर ही मैं उत्तम कार्यों को करता रह सकूँगा।

भावार्थ—लोकहित के कर्मों में ऐश्वर्य का विनियोग करनेवाले ही प्रभु से ऐश्वर्य को प्राप्त करते हैं—प्रभु इन्हीं के साथी (मित्र) होते हैं।

ऋषिः—**सुतकक्षः सुकक्षो वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

गोमतः सुतस्य मत्स्वा

मो षु ब्रह्मेव तन्द्रयुर्भुवो वाजानां पते। मत्स्वा सुतस्य गोमतः॥ ३॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **सुवाजानां पते**=अपनी शक्तियों का सम्यक् रक्षण करनेवाले जीव! **ब्रह्म इव**=शक्तियों का रक्षण करता हुआ तू ब्रह्म की भाँति बन। **मा उ**=मत ही **तन्द्रयुः**=आलस्य को अपने साथ जोड़नेवाला हो। आलस्यशून्य होकर अपने कर्त्तव्यकर्मों को करता हुआ तू **गोमतः**=प्रशस्त ज्ञान की वाणियोंवाले व प्रशस्त इन्द्रियों—इन्द्रियों की शक्ति को बढ़ानेवाले **सुतस्य**=सोम का **मत्स्व**=आनन्द ले। सोम-रक्षण द्वारा जीवन को आनन्दमय बना।

भावार्थ—शक्तियों का रक्षण करते हुए हम प्रभु-जैसा बनने का प्रयत्न करें। आलस्यशून्य हों। इन्द्रियों को प्रशस्त बनानेवाले सोम का रक्षण करें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

'सूनृता-मही' वेदवाणी

एवा ह्यस्य सूनृता विरप्शी गोमती मही। पक्वा शाखा न दाशुषे॥ ४॥

१. **एवा**=इसप्रकार गतमन्त्र के अनुसार सोम का रक्षण होने पर हे वेदवाणि! तू **हि**=निश्चय

से **सूनृता**=शुभ, दुःखों का परिहाण करनेवाले ऋत ज्ञान को देनेवाली है। (सु+ऊन+ऋत्)। **विरप्शी**=विविध विज्ञानों का उपदेश देनेवाली **गोमती**=इन्द्रियों को प्रशस्त बनानेवाली व **मही असि**=पूजन में प्रवृत्त करनेवाली है। २. **दाशुषे**=दाश्वान् पुरुष के लिए—तेरे प्रति अपना अर्पण करनेवाले के लिए तू **पक्वा शाखा न**=परिपक्व फलों से लदी हुई वृक्ष की शाखा के समान है, अर्थात् जैसे वह शाखा अनेकविध फलों को प्राप्त कराती है, इसी प्रकार तू इस दाश्वान् के लिए 'शरीर, मन व बुद्धि' के उत्कर्षरूप फलों को देनेवाली है।

भावार्थ—हम सोम का रक्षण करके उस वेदवाणी को प्राप्त करने के पात्र बनते हैं जो विविध विज्ञानों को प्राप्त कराती हुई शरीर, मन व बुद्धि के उत्कर्ष को प्राप्त कराती है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

विभूतयः=ऊतयः

एवा हि ते विभूतय ऊतय इन्द्र मावते। सद्यश्चित्सन्ति दाशुषे॥ ५॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **एवा**=इसप्रकार—गतमन्त्र के अनुसार वेदवाणी के प्रति अपने को अर्पण करने पर—ज्ञानप्रधान जीवन बिताने पर **हि**=निश्चय से **ते**=आपकी **विभूतयः**= विभूतियाँ—सूर्य-चन्द्र-तारे आदि उत्कृष्ट रचनाएँ **मावते**=ज्ञानलक्ष्मी-सम्पन्न पुरुष के लिए (मा=ज्ञानलक्ष्मी) **ऊतयः**=रक्षक **सन्ति**=हो जाती हैं। प्रभु की सब विभूतियाँ ज्ञानी पुरुष का रक्षण करनेवाली होती हैं। २. ये विभूतियाँ **दाशुषे**=दाश्वान् पुरुष के लिए—ज्ञान के प्रति अपने को दे डालनेवाले के लिए **चित्**=निश्चय से **सद्यः**=शीघ्र ही प्राप्त होती हैं। प्रभु की इन विभूतियों से रक्षण प्राप्त करके यह सचमुच उत्तम लक्ष्मीवाला बनता है।

भावार्थ—प्रभु की सब विभूतियाँ ज्ञानी पुरुष के लिए रक्षण का साधन बन जाती हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

काम्या-शंस्या

एवा ह्यस्य काम्या स्तोम उक्थं च शंस्या। इन्द्राय सोमपीतये॥ ६॥

१. **एवा**=इसप्रकार **हि**=निश्चय से **अस्य**=इस प्रभु के **काम्या**=कमनीय पदार्थ—सुन्दर रचनाएँ **स्तोमः**=प्रभु का स्तवन बन जाते हैं। इन पदार्थों के अन्दर एक जितेन्द्रिय पुरुष प्रभु की महिमा को देखता है **च**=और **शंस्या**=प्रभु के सब शंसनीय कर्म **उक्थम्**=ऊँचे से गायन के योग्य होते हैं। एक जितेन्द्रिय पुरुष प्रभु की महिमा का गायन करता है। २. ये सब स्तोम और उक्थ **इन्द्राय**=एक जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **सोमपीतये**=सोम-रक्षण का साधन होते हैं। इन स्तोमों और उक्थों को उच्चरित करता हुआ यह वासनाओं से आक्रान्त नहीं होता और सोम को अपने ही अन्दर सुरक्षित कर पाता है।

भावार्थ—हम प्रभु से रचित कमनीय पदार्थों को देखते हुए प्रभु का स्तवन करें। प्रभु के शंसनीय कर्मों का ऊँचे से गायन करें। इसप्रकार वासनाओं से अनाक्रान्त होते हुए सदा सोम का रक्षण कर पाएँ।

इस सोम-रक्षण से हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ व कर्मेन्द्रियाँ सदा उत्तम कर्मों में ही प्रवृत्त होंगी। हम 'गोषूक्ती व अश्वसूक्ती' बनेंगे। ये ही अगले सूक्त के ऋषि हैं—

६१. [एकषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

'लोककृत्नु-हरिश्री' मद

तं ते मदं गृणीमसि वृषणं पृत्सु सासहिम्। उ लोककृत्नुमद्रिवो हरिश्रियम्॥ १॥

१. हे प्रभो! **ते**=आपके द्वारा जिसकी व्यवस्था की गई है **तम्**=उस सोम के रक्षण से उत्पन्न **मदम्**=उल्लास की **गृणीमसि**=हम प्रशंसा करते हैं। यह मद **वृषणम्**=हमें शक्तिशाली बनानेवाला है। **पृत्सु**=संग्रामों में **सासहिम्**=शत्रुओं का पराभव करनेवाला है। २. **उ**=और निश्चय से यह मद हमारे जीवनों में **लोककृत्नुम्**=प्रकाश करनेवाला है (लोक=आलोक)। हे **अद्रिवः**=आदरणीय प्रभो! यह मद (उल्लासजनक सोम) ही **हरिश्रियम्**=इन्द्रियों की श्री का कारण होता है। एवं, इन्द्रियाँ इसी से दीप्त होती व शक्ति प्राप्त करती हैं।

भावार्थ—प्रभु के उपासन से वासना-विनाश के द्वारा सोम-रक्षण होकर हमें उल्लास प्राप्त होता है जो हमें शक्तिशाली बनाकर संग्राम में विजयी करता है, प्रकाश को प्राप्त कराता है और इन्द्रियों की श्री को बढ़ाता है।

ऋषिः—**गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

आयवे-मनवे

येन ज्योतींष्यायवे मनवे च विवेदिथ। मन्दानो अस्य बर्हिषो वि राजसि॥ २॥

१. हे प्रभो! **येन**=जिस सोमपान-जनित मद से आप **आयवे**=गतिशील व्यक्ति के लिए **च**=और **मनवे**=विचारशील व्यक्ति के लिए **ज्योतींषि**=ज्योतियों को **विवेदिथ**=प्राप्त कराते हैं, **अस्य**=इस **बर्हिषः**=वृद्धि के कारणभूत सोम का **विराजसि**=विशेष रूप से दीपन करते हैं। इस सोम के दीपन से ही **मन्दानः**=आप इन जीवों को आनन्दित करते हैं। २. सोम-रक्षण के लिए आवश्यक है कि हम 'आयु' बनें, 'मनु' बनें। उत्तम कर्मों में लगे रहना और स्वाध्यायशील होना ही हमें सोम-रक्षण के योग्य बनाता है। यह रक्षित सोम ही सब वृद्धियों का कारण बनता है। यही जीवन में आनन्द का भी हेतु होता है।

भावार्थ—हम गतिशील व विचारशील बनकर सोम का रक्षण करें। यह सुरक्षित सोम वृद्धि व आनन्द का कारण बनेगा।

ऋषिः—**गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

'वृषपत्नीः अपः' जय

तदद्या चित्त उक्थिनोऽनु ष्टुवन्ति पूर्वथा। वृषपत्नीरपो जया दिवेदिवे॥ ३॥

१. हे प्रभो! **अद्या चित्**=आज भी **पूर्वथा**=पहले की भाँति—इस सृष्टि में भी उसी प्रकार जैसेकि पूर्व सृष्टि में **उक्थिनः**=स्तोता लोग **ते**=आपके **तत्**=उस सोमपानजनित् बल व उल्लास का **अनुष्टुवन्ति**=स्तवन करते हैं। यह सोमरक्षण-जनित मद वस्तुतः प्रशस्यतम है। यही सब वृद्धियों व उन्नतियों का मूल है। २. हे प्रभो! आप हमारे लिए **दिवे-दिवे**=प्रतिदिन **अपः**=रेतःकण-रूप जलों को **जया**=विजय कीजिए। ये रेतःकणरूप जल ही **वृषपत्नीः**=हमारे जीवनों में धर्म का ('वृषो हि भगवान् धर्मः—मनु०') रक्षण करनेवाले हैं। वे ही हमें शक्तिशाली बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु ने सोम-रक्षण से उत्पन्न होनेवाले बल व मद की अद्भुत ही व्यवस्था की है। प्रभु के अनुग्रह से हम इन रेतःकणरूप जलों का विजय करें। ये रेतःकणरूप जल ही सब शक्तिशाली पुरुषों से रक्षणीय हैं—ये ही हमारे जीवनों में धर्म का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

प्रभु-गायन, प्रभु-पूजन

तम्वभि प्र गायत पुरुहूतं पुरुष्टुतम्। इन्द्रं गीर्भिस्तविषमा विवासत॥ ४॥

१. **तम्**=उस **पुरुहूतम्**=बहुतों-से पुकारे जानेवाले **पुरुष्टुतम्**=खूब ही स्तुति किये जानेवाले प्रभु का **उ**=ही **अभिप्रगायत**=प्रातः-सायं गुणगान करो। यह प्रभु का गुणानुवाद ही आसुरवृत्तियों को दूर भगाने का साधन बनता है। २. उस **तविषम्**=महान्, सर्वशक्तिमान् **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही **गीर्भिः**=ज्ञानपूर्वक उच्चरित स्तुतिवाणियों से **आविवासत**=पूजित करो। प्रभु-पूजन ही तो हमें शत्रुओं के आक्रमण से बचाता है।

भावार्थ—हम प्रभु के गुणों का गायन करें—प्रभु का पूजन करें। यह गायन व पूजन ही हमें 'महान्, शक्तिमान् व ऐश्वर्यवान्' बनाएगा।

ऋषिः—**गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

सर्वज्ञ+सर्वशक्तिमान्=सर्वाधार

यस्य द्विबर्हसो बृहत्सहो दाधार रोदसी। गिरीँरज्राँ अपः स्व र्वृषत्वना॥ ५॥

१. **यस्य**=जिस **द्विबर्हसः**=ज्ञान व शक्ति—दोनों दृष्टिकोणों से बढ़े हुए प्रभु का **बृहत् सहः**=महान् बल **रोदसी दाधार**=द्यावापृथिवी का धारण करता है, वे प्रभु ही **वृषत्वना**=अपने वीर्य व सामर्थ्य से **गिरीन्**=पर्वतों को, **अज्रान्**=खेतों को, **अपः**=जलों को तथा **स्वः**=प्रकाश को धारण करते हैं। २. वस्तुतः प्रभु ही सबका धारण करनेवाले हैं। सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् होने से वे प्रभु सब लोक-लोकान्तरों व भूतों का ठीक से धारण कर रहे हैं। प्रभु का उपासक भी ज्ञान व शक्ति को बढ़ाता हुआ अपने जीवन में मस्तिष्क व शरीर दोनों को सुन्दरता से धारित करता है।

भावार्थ—वे सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् प्रभु अपने सामर्थ्य से सारे ब्रह्माण्ड का धारण कर रहे हैं।

ऋषिः—**गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

जैत्र बल-श्रवणीय ज्ञान

स राजसि पुरुष्टुतँ एको वृत्राणि जिघ्नसे। इन्द्र जैत्रा श्रवस्या च यन्तवे॥ ६॥

१. हे **पुरुष्टुत**=बहुत-से मनुष्यों से स्तुत प्रभो! **सः**=वे आप **राजसि**=सारे ब्रह्माण्ड के शासक हैं। **एकः**=बिना किसी अन्य की सहायता के अकेले ही **वृत्राणि जिघ्नसे**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को नष्ट करते हैं। २. हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप वासनाओं को विनष्ट करके हमारे लिए **जैत्रा**=विजय के साधनभूत बलों को **च**=और **श्रवस्या**=श्रवणीय ज्ञानों को **यन्तवे**=देने के लिए होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का ही स्तवन करें। प्रभु हमारी वासनाओं को विनष्ट करके हमारे लिए जैत्र बल व श्रवणीय ज्ञान को प्राप्त कराते हैं।

प्रभु-स्तवन के द्वारा 'जैत्र बल' व 'श्रवणीय ज्ञान' को प्राप्त करके अपना उत्तम भरण करनेवाला 'सौभरि' अगले सूक्त में १-४ मन्त्रों का ऋषि है। ५-७ तक ऋषि 'नृमेध'=मनुष्यों के सम्पर्क में चलनेवाला—सबके साथ उन्नति की कामनावाला है तथा ८-१० का ऋषि 'गोषूक्ती व अश्वसूक्ती' हैं—ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों का उत्तम प्रयोग करनेवाले। 'सौभरि' प्रार्थना करता है—

६२. [द्विषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**सौभरिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**काकुभः प्रगाथः (विषमाककुप्+समा-सतोबृहती)** ॥

वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद्भरन्तोऽवस्यवः। वाजे चित्रं हवामहे॥ १॥

उप त्वा कर्मन्नूतये स नो युवोग्रश्चक्राम यो धृषत्।

त्वामिद्ध्यवितारं ववृमहे सखाय इन्द्र सानसिम्॥ २॥

यो न इदमिदं पुरा प्र वस्य आनिनाय तमु व स्तुषे। सखाय इन्द्रमूतये॥ ३॥

हर्यश्वं सत्पतिं चर्षणीसहं स हि ष्मा यो अमन्दत।

आ तु नः स वयति गव्यमश्व्यं स्तोतृभ्यो मघवा शतम्॥ ४॥

देखो व्याख्या अथर्व २०.१४.१-४

ऋषिः—**नृमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

इन्द्र-विप्र-बृहत्-धर्मकृत्-विपश्चित्-पनस्यु

इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत्। धर्मकृते विपश्चिते पनस्यवे॥ ५॥

१. **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **साम गायत**=साम (स्तोत्र) का गान करो। **विप्राय**=हमारा विशेषरूप से पूरण करनेवाले **बृहते**=सदा से वर्धमान प्रभु के लिए **बृहत्**=खूब ही गायन करो। २. उस प्रभु के लिए गायन करो, जोकि **धर्मकृते**=धारणात्मक कर्मों को करनेवाले हैं। **विपश्चिते**=ज्ञानी हैं और **पनस्यवे**=स्तुति को चाहनेवाले हैं। जीव को इस स्तुति के द्वारा ही अपने लक्ष्य का स्मरण होता है। यह लक्ष्य का अविस्मरण उसकी प्रगति का साधन बनता है, इसीलिए प्रभु यह चाहते हैं कि जीव का जीवन स्तुतिमय हो।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु के समान ही इन्द्र (जितेन्द्रिय), बृहत् (वृद्धिवाले), विप्र (अपना पूरण करनेवाले), धर्मकृत् (धर्म का कार्य करनेवाले), विपश्चित् (ज्ञानी) व पनस्य (स्तुतिमय जीवनवाले) बनें।

ऋषिः—**नृमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

विश्वकर्मा+विश्वदेवः=महान्

त्वमिन्द्राभिभूरसि त्वं सूर्यमरोचयः। विश्वकर्मा विश्वदेवो महाँ असि॥ ६॥

१. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **अभिभूः असि**=हमारे सब काम-क्रोध आदि शत्रुओं का अभिभव करनेवाले हैं और **त्वम्**=आप ही इन शत्रुओं का विनाश करके हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक में **सूर्यम् अरोचयः**=ज्ञानसूर्य को दीप्त करते हैं। बाह्य आकाश में सूर्य आदि का दीपन आपके द्वारा ही हो रहा है। 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। २. हे प्रभो! आप ही **विश्वकर्मा**=सब कर्मों के करनेवाले हैं। सब कार्यशक्ति आप से ही प्राप्त होती है। आप **विश्वदेवः**=सब दिव्य गुणोंवाले हैं। जैसे सूर्य आदि देवों को देवत्व आपसे ही प्राप्त होता है, इसी प्रकार सब देवपुरुषों को दैवीसम्पत्ति भी आप ही प्राप्त कराते हैं। इसी से आप **महान् असि**=महान् हैं—पूजनीय है।

भावार्थ—प्रभु हमारे सब काम-क्रोध आदि शत्रुओं को अभिभूत करके हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक में ज्ञानसूर्य का उदय करते हैं। हम सदा उस 'विश्वकर्मा-विश्वदेव-महान्' प्रभु का पूजन करें।

ऋषिः—**नृमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

संयम द्वारा प्रभु-मैत्री की प्राप्ति

विभ्राजञ्ज्योतिषा स्व१रगच्छो रोचनं दिवः। देवास्त इन्द्र सख्याय येमिरे॥ ७॥

१. हे प्रभो! **ज्योतिषा विभ्राजन्**=ज्योति से दीप्त होते हुए आप **स्वः अगच्छः**=सुख को प्राप्त होते हैं, अर्थात् आप सर्वज्ञ हैं और अतएव आनन्दमय हैं। आप ही अपने उपासकों को **दिवः रोचनम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक की ज्ञानदीप्ति को (अगच्छः=अगमयः) प्राप्त कराते हैं। २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **ते**=आपकी **सख्याय**=मित्रता के लिए **येमिरे**=अपने को नियमों के बन्धनों में बाँधते हैं। यह संयम ही इन देवों को महादेव का मित्र बनाता है।

भावार्थ—प्रभु प्रकाशमय हैं, अतएव आनन्दमय हैं—उपासकों को भी प्रभु ज्ञान-दीप्ति प्राप्त कराते हैं। संयम-रज्जु में अपने को बाँधकर देववृत्ति के पुरुष महादेव के मित्र बनते हैं।

ऋषिः—**गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

तम्वभि प्र गायत पुरुहूतं पुरुष्टुतम्। इन्द्रं गीर्भिस्तविषमा विवासत॥ ८॥
यस्य द्विबर्हसो बृहत्सहो दाधार रोदसी। गिरीँरज्राँ अपः स्व र्वृषत्वना॥ ९॥
स राजसि पुरुष्टुतँ एको वृत्राणि जिघ्नसे। इन्द्र जैत्रा श्रवस्या च यन्तवे॥ १०॥

व्याख्या देखो अथर्व २०.६१.४-६

सब लोगों के हित की कामनावाला (भुवनस्य अस्ति इति) 'भुवनः' तथा साधनामय जीवनवाला 'साधनः' अगले सूक्त में प्रथम तीन मन्त्रों का ऋषि है। तृतीय के उत्तरार्ध में 'भरद्वाज' ऋषि है—अपने में शक्ति को भरनेवाला। बीच के तीन मन्त्रों के ऋषि 'गोतम' हैं—प्रशस्तेन्द्रिय। अन्तिम तीन के ऋषि 'पर्वत' हैं—अपना पूरण करनेवाले। 'भुवन' प्रार्थना करते हैं—

६३. [त्रिषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भुवनः साधनो वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

त्रिलोकी के अधिपति

इमा नु कं भुवना सीषधामेन्द्रश्च विश्वे च देवाः।
यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्रः सह चीक्लृपाति॥ १॥

१. **नु**=अब हम **इमा**=इस **भुवना**=शरीर, मन व मस्तिष्करूप लोकों को **सीषधाम**=सिद्ध करें—इन्हें अपने वश में करते हुए ठीक स्थिति में रक्खें। शरीर, मन व मस्तिष्क पर हमारा पूर्ण आधिपत्य हो। २. इस वशीकरण के होने पर **इन्द्रः च**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **च**=और **विश्वेदेवाः**=सूर्य-चन्द्र-अग्नि आदि सब देव **कम्**=सुख को (सीषधाम=साधयन्त सा०) सिद्ध करें। ३. **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **आदित्यैः सह**=(अदिति=प्रकृति) सूर्य आदि सब प्राकृतिक शक्तियों के साथ **नः**=हमारे **यज्ञम्**=यज्ञों को **चीक्लृपाति**=शक्तिशाली बनाते हैं। **च**=और इन यज्ञों के द्वारा **तन्वम्**=हमारे शरीरों को शक्ति-सम्पन्न करते हैं, **च**=और शरीरों को शक्ति-सम्पन्न बनाने के द्वारा **प्रजाम्**=अपनी सन्तानों को सशक्त करते हैं।

भावार्थ—हम 'शरीर, मन व मस्तिष्क' पर आधिपत्यवाले हों। इससे प्रभु व सब प्राकृतिक देव हमें सुखी करेंगे। ऐसा होने पर हम यज्ञों में प्रवृत्त होंगे। यज्ञों द्वारा नीरोग शरीरवाले व नीरोग

शरीर द्वारा उत्तम प्रजावाले बनेंगे। इन भुवनों पर आधिपत्यवाले हम सचमुच मन्त्र के ऋषि 'भुवन' होंगे।

ऋषिः—**भुवनः साधनो वा॥** देवता—**इन्द्रः॥** छन्दः—**त्रिष्टुप्॥**

शरीर-रक्षण-असुरहनन-देवत्वप्राप्ति

आदित्यैरिन्द्रः सगणो मरुद्भिरस्माकं भूत्ववित्ता तनूनाम्।
हत्वाय देवा असुरान्यदायन्देवा देवत्वमभिरक्षमाणाः॥ २॥

१. हमारे शरीर में सर्वप्रथम 'पृथिवी-जल-तेज-वायु-आकाश' का पंचक गण है। फिर 'प्राण-अपान-व्यान-समान व उदान' नामक प्राण पंचक है। तीसरा गण पाँच कर्मेन्द्रियों, चौथा पाँच ज्ञानेन्द्रियों का तथा अन्तिम गण 'मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार व हृदय' का है। वह **सगणः**=इन गणों के सहित **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **आदित्यैः**=अदितिः-(प्रकृति)-पुत्रों—सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि के द्वारा तथा **मरुद्भिः**=प्राणों के द्वारा **अस्माकम्**=हमारे **तनूनाम्**=शरीरों का **अविता**=रक्षक **भूतु**=हो। सूर्यादि का सम्पर्क तथा प्राणसाधना शरीर-रक्षा के लिए आवश्यक हैं। २. ये प्रभु से रक्षित व्यक्ति देव बनते हैं। ये **देवाः**=देव **यदा**=जब **असुरान् हत्वाय**=आसुरभावों को नष्ट करके **आयन्**=गति करते हैं तब ये **देवाः**=देव **देवत्वम् अभिरक्षमाणाः**=अपने में देवत्व का रक्षण करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—सूर्य आदि के सम्पर्क में रहते हुए तथा प्राणसाधना करते हुए हम शरीरों का रक्षण करें। आसुरभावों को नष्ट करते हुए देवत्व का अपने में साधन करें। काम-विनाश से स्वस्थ-शरीर बनें, क्रोधविनाश से शान्त मनवाले हों तथा लोभविनाश से दीप्त बुद्धिवाले बनें। स्वस्थ-शरीर, शान्त मन तथा दीप्त बुद्धि ही हमें देव बनाती है।

ऋषिः—**(पूर्वार्धस्य) भुवनः साधनो वा, (उत्तरार्धस्य) भरद्वाजः॥**
देवता—**इन्द्रः॥** छन्दः—**त्रिष्टुप्॥**

इषिरा स्वधा

प्रत्यञ्चमर्कमनयं छचीभिरादित्स्वधामिषिरां पर्यपश्यन्।
अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतहिमाः सुवीराः॥ ३॥

१. गतमन्त्र के 'स्वस्थ-शरीर, शान्त मन व दीप्त बुद्धि' वाले देव **शचीभिः**=प्रज्ञापूर्वक कर्मों से **अर्कम्**=उपास्य प्रभु को **प्रत्यञ्चम् अनयन्**=अपने अभिमुख प्राप्त कराते हैं। अन्तःस्थित प्रभु का ये दर्शन करते हैं और **आत् इत्**=अब शीघ्र ही निश्चय से **स्वधाम्**=उस आत्मधारणशक्ति को **पर्यपश्यन्**=ये देखते हैं—अपने में अनुभव करते हैं, जोकि **इषिराम्**=इन्हें लोकहित के कार्यों में प्रेरित करती है। ये आत्मधारणशक्ति को प्राप्त करके लोकहित के कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। २. हम भी **अया**=(अनया) इस आत्मधारणशक्ति से **देवहितम्**=देवों में स्थापित किये गये **वाजम्**=बल को **सनेम**=प्राप्त करें और **सुवीराः**=उत्तम वीर सन्तानोंवाले होते हुए **शतं हिमाः**=शतवर्ष-पर्यन्त **मदेम**=आनन्द का अनुभव करें। इसप्रकार इस मन्त्रभाग के ऋषि 'भरद्वाज' बनें।

भावार्थ—देव प्रज्ञापूर्वक कर्म करते हुए अन्तःस्थित प्रभु का दर्शन करते हैं—वे आत्मधारण-शक्ति का अनुभव करते हैं जो उन्हें लोकहित के कार्यों में प्रेरित करती हैं। हम भी इस आत्मधारणशक्ति के द्वारा बल प्राप्त करें और सुवीर होते हुए शतवर्षपर्यन्त उत्तम जीवनवाले बनें।

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

'ईशान-अप्रतिष्कुत' इन्द्र

य एक इद्विदयते वसु मर्ताय दाशुषे। ईशानो अप्रतिष्कुत इन्द्रो अङ्ग ॥ ४ ॥

१. हे **अङ्ग**=प्रिय! **यः**=जो **एकः इत्**=बिना किसी अन्य की सहायता के अकेला ही **दाशुषे मर्ताय**=दाश्वान् (दानशील) पुरुष के लिए **वसु विदयते**=निवास को उत्तम बनाने के लिए साधनभूत वसुओं को प्राप्त कराता है, वही **ईशानाः**=सबका स्वामी है। २. हे प्रिय! यह **अप्रतिष्कुतः**=किसी से कभी युद्ध के लिए न ललकारा गया **इन्द्रः**=सर्वशक्तिमान् प्रभु है।

भावार्थ—वे प्रभु ही 'ईशान व अप्रतिष्कुत' हैं। दाश्वान् पुरुष के लिए वसुओं को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

प्रभु-स्तवन व यज्ञ-साधन

कदा मर्तमराधसं पदा क्षुम्पमिव स्फुरत्। कदा नः शुश्रवद्गिर इन्द्रो अङ्ग ॥ ५ ॥

१. हे **अङ्ग**=प्रिय! वे प्रभु **कदा**=न जाने कब, अर्थात् शीघ्र ही (In no time) **अराधसम्**=यज्ञ आदि कार्यों को सिद्ध न करनेवाले **मर्तम्**=पुरुष को इसप्रकार **स्फुरत्**=समाप्त कर देते हैं—उसका वध कर देते हैं **इव**=जैसेकि **पदा**=पैर से **क्षुम्पम्**=खुम्ब को परे फेंक दिया जाता है। २. **कदा**=कब **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **नः गिरः**=हमारे स्तुतिवचनों को **शुश्रवत्**=सुनते हैं, अर्थात् कब हम प्रभु का स्तवन करनेवाले बनेंगे। वस्तुतः वही सौभाग्य का दिन होगा जबकि हम प्रभु-स्तवन करते हुए यज्ञ आदि उत्तम कर्मों को सिद्ध करनेवाले बनेंगे।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें और यज्ञ आदि उत्तम कर्मों को सिद्ध करने में लगे रहें।

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

बहुभ्यः सुतावान्

यश्चिद्धि त्वा बहुभ्य आ सुतावाँ आविवासति। उग्रं तत्पत्यते शव इन्द्रो अङ्ग ॥ ६ ॥

१. हे **अङ्ग**=सारे ब्रह्माण्ड को गति देनेवाले प्रभो! (अगि गतौ) **यः**=जो **चित् हि**=भी निश्चय से **बहुभ्यः**=बहुतों के लिए **सुतावान्**=यज्ञ आदि उत्तम कर्मोंवाला होता हुआ **त्वा**=आपका **आविवासति**=पूजन करता है, वह **तत्**=तब **उग्रं शवः**=तेजस्वी शत्रुविनाशक बल को **पत्यते**=प्राप्त होता है। 'उग्र शव' को प्राप्त होनेवाला यह उपासक **इन्द्रः**=स्वयं इन्द्र हो जाता है। यह शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला इन्द्र बन जाता है।

भावार्थ—हम लोकहित के लिए यज्ञ आदि कर्म करते हुए प्रभु का पूजन करें और इसप्रकार तेजस्वी बनें।

ऋषिः—**पर्वतः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

'सोमपातमः' महः

य इन्द्र सोमपातमो मदः शविष्ठ चेतति। येना हंसि न्य१त्रिणं तमीमहे ॥ ७ ॥

१. हे **शविष्ठ**=अतिशयेन शक्तिशालिन् व क्रियाशील **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **यः**=जो **सोमपातमः**=अतिशयेन सोम का पान करनेवाला **मदः**=उल्लास **चेतति**=जाना जाता है, **तम्**=उसको **ईमहे**=हम आपसे माँगते हैं, अर्थात् हम यही चाहते हैं कि क्रियाशील व जितेन्द्रिय बनकर आपकी उपासना करते हुए सोम का रक्षण कर सकें और जीवन को उल्लासमय बना पाएँ। २. इस सोमरक्षण-जनित **तम्**=उस उल्लास को प्राप्त करें **येन**=जिससे

कि आप **अत्रिणम्**=हमें खा जानेवाली इन वासनाओं को **निर्हंसि**=नष्ट कर देते हैं। सोम-रक्षण से शरीरस्थ रोगों के नाश की भाँति मन की आधियों का भी विनाश होता है।

भावार्थ—हम सोम-रक्षण के द्वारा उल्लासमय जीवनवाले बनें। रोगों व वासनाओं का विनाश कर पाएँ।

ऋषिः—**पर्वतः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

दशग्व-समुद्र

येना दशग्वमध्रिगुं वेपयन्तं स्वर्णरम्। येना समुद्रमाविथा तमीमहे ॥ ८ ॥

१. गतमन्त्र में वर्णित **येन**=जिस 'सोमपातम मद' से, हे प्रभो! आप **दशग्वम्**=दसवें दशक तक जानेवाले, अर्थात् सौ वर्ष के दीर्घजीवन को प्राप्त करनेवाले इस आराधक को **आविथ**=रक्षित करते हो **तम् ईमहे**=उस मद को हम आपसे माँगते हैं। सोम-रक्षण द्वारा उल्लासमय जीवनवाले होते हुए हम शतवर्ष जीवी बनें। २. हे प्रभो! हम उस सोमरक्षण-जनित मद को चाहते हैं जिससे कि आप **अध्रिगुम्**=अधृतगमनवाले मार्ग पर चलते समय वासनारूप विघ्नों से न रुक जानेवाले पुरुष को रक्षित करते हो। जिस मद से आप **वेपयन्तम्**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाले को रक्षित करते हो और जिससे **स्वर्णरम्**=अपने को प्रकाश की ओर ले चलनेवाले पुरुष को रक्षित करते हो, उस मद को ही हम आपसे माँगते हैं। ३. हम उस मद को चाहते हैं **येन**= जिससे **समुद्रम्** (समुद्) आनन्दित रहनेवाले पुरुष को आप **आविथ**=रक्षित करते हैं। यह सोम-रक्षण उसे अन्नमयकोश में 'दशग्व' बनाता है, प्राणमयकोश में 'अध्रिगु', मनोमयकोश में 'वेपयन्', विज्ञानमयकोश में 'स्वर्णर' तथा आनन्दमयकोश में 'समुद्र' बनाता है। इसप्रकार बननेवाला व्यक्ति ही प्रभु का प्रिय होता है।

भावार्थ—सोमरक्षण-जनित मद हमें दीर्घजीवी, अधृतगमन—शत्रुओं को कम्पित करनेवाला, प्रकाश की ओर चलनेवाला व आनन्दमय मनोवृत्तिवाला बनाता है।

ऋषिः—**पर्वतः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

सोम-रक्षण के लाभ

येन सिन्धुं महीरपो रथाँइव प्रचोदयः। पन्थामृतस्य यातवे तमीमहे ॥ ९ ॥

१. **येन**=जिस सोमपान-जनित मद से **सिन्धुम्**=ज्ञाननदी को तथा **महीः**=उपासनावृत्तियों को और **अपः**=कर्मों को, **रथान् इव**=शरीर-रथों को जैसे लक्ष्य की ओर, उसी प्रकार **प्रचोदयः**=आप प्रेरित करते हो **तम् ईमहे**=उस मद की हम याचना करते हैं। इस सोमपान-जनित मद से हमारे अन्दर ज्ञान-नदी प्रवाहित होती है, हमारे अन्दर उपासनावृत्ति जागती है तथा हम महत्त्वपूर्ण कर्मों को करते हैं और हमारा शरीर-रथ लक्ष्य की ओर चलता है। २. हम इसलिए सोमपान-जनित मद की याचना करते हैं कि हम **ऋतस्य**=यज्ञ के व सत्य के **पन्थाम् यातवे**=मार्ग पर चलनेवाले हों।

भावार्थ—सोम-रक्षण से ज्ञान की प्राप्ति होती है, उपासनावृत्ति जागती है, हम उत्तम कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, शरीर-रथ लक्ष्य की ओर बढ़ता है और हम ऋत व सत्य के मार्ग पर चलते हैं।

इस सोम का रक्षण करनेवाला पुरुष 'नृमेध' बनता है—सबके साथ मिलकर चलनेवाला। यही अगले सूक्त के प्रथम तीन मन्त्रों का ऋषि है तथा चार से छह मन्त्रों तक 'विश्वमनाः' ऋषि है—व्यापक मनवाला। यह नृमेध प्रार्थना करता है—

६४. [चतुःषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**नृमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

सत्राजित्

एन्द्र नो गधि प्रियः सत्राजिदगोह्यः। गिरिर्न विश्वतस्पृथुः पतिर्दिवः॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **नः**=हमें **आगधि**=प्राप्त होइए। **प्रियः**=आप प्रीति व आनन्द के जनक हैं। **सत्राजित्**=सदा विजय प्राप्त करानेवाले हैं। **अगोह्यः**=आप किसी से संवृत किये जाने योग्य नहीं। सारे ब्रह्माण्ड को आपने अपने में आवृत किया हुआ है। आपकी महिमा कण-कण में दृष्टिगोचर होती है, आपका प्रकाश सर्वत्र है। २. आप **गिरिः न**=उपदेष्टा के समान हैं। हृदयस्थरूपेण सदा सत्कर्मों की प्रेरणा दे रहे हैं। **विश्वतः पृथुः**=आप सब दृष्टिकोणों से विशाल हैं। आपका ज्ञान, बल व ऐश्वर्य सब अनन्त हैं। आप **दिवः पतिः**=प्रकाश के—ज्ञान के स्वामी हैं।

भावार्थ—प्रभु हमें विजय प्राप्त कराते हैं। ज्ञानोपदेश द्वारा वे हमारा कल्याण करते हैं।

ऋषिः—**नृमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

सुन्वतो वृधः

अभि हि सत्य सोमपा उभे बभूथ रोदसी। इन्द्रासि सुन्वतो वृधः पतिर्दिवः॥ २॥

१. हे **सत्य**=सत्यस्वरूप **सोमपाः**=सोम का रक्षण करनेवाले प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **उभे रोदसी**=दोनों द्यावापृथिवी को **अभिबभूथ**=अभिभूत करते हो। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड आपके वश में है। २. हे **इन्द्रः**=परमैश्वर्यवान् प्रभो! आप **सुन्वतः**=यज्ञशील पुरुष के व सोम का सम्पादन करनेवाले के **वृधः असि**=बढ़ानेवाले हैं। **दिवः**=स्वर्ग के—प्रकाश के **पतिः**=स्वामी हैं। जो भी यज्ञशील बनता है अथवा अपने जीवन में सोम का सम्पादन करता है, उसे आप स्वर्ग व प्रकाश प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु सारे ब्रह्माण्ड के शासक हैं। सोम का सम्पादन करनेवाले के रक्षक हैं। प्रकाश व सुख को प्राप्त करानेवाले हैं।

ऋषिः—**नृमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

पुरां दर्ता-मनोर्वृधः

त्वं हि शश्वतीनामिन्द्र दर्ता पुरामसि। हन्ता दस्योर्मनोर्वृधः पतिर्दिवः॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **त्वं हि**=आप ही **शश्वतीनाम्**=(बह्वीनाम्) अनेक **पुराम्**=काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रुओं की नगरियों के **दर्ता असि**=विदारण करनेवाले हैं। २. इन नगरियों का विध्वंस करके आप **दस्योः**=हमारा उपक्षय करनेवाले के **हन्ता असि**=नष्ट करनेवाले हैं। **मनोः वृधः**=विचारशील पुरुष का वर्धन करनेवाले हैं तथा **दिवः पतिः**=प्रकाश व स्वर्ग के स्वामी हैं।

भावार्थ—शत्रु-पुरियों का विद्रावण करके दस्यु-हनन के द्वारा प्रभु विचारशील पुरुष का वर्धन करते हैं और जीवन को प्रकाशमय व स्वर्गवाला बनाते हैं।

ऋषिः—**विश्वमनाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

'वीर सदावृध' प्रभु का कर्मठ उपासक

एदु मध्वो मदिन्तरं सिञ्च वाध्वर्यो अन्धसः। एवा हि वीर स्तवते सदावृधः॥ ४॥

१. हे **अध्वर्यो**=यज्ञशील पुरुष! तू **इत् उ**=निश्चय से **मध्वः अन्धसः**=माधुर्य का सञ्चार करनेवाले सोम से भी **मदिन्तरम्**=अधिक आनन्दित करनेवाले उस प्रभु को **आसिञ्च**=अपने में सिक्त कर। प्रभु की उपासना का भाव तेरी नस-नस में व्याप्त हो जाए। २. वह **वीरः**=शत्रुओं को विशेषरूप से कम्पित करके दूर करनेवाला, **सदावृधः**=सदा से वृद्धि को प्राप्त हुआ-हुआ प्रभु **एवा हि**=गतिशीलता के द्वारा ही **स्तवते**=स्तुति किया जाता है, अर्थात् क्रियाशील पुरुष ही प्रभु का सच्चा उपासक है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम उल्लास का कारण होता है। प्रभु का हृदय में धारण उससे भी अधिक आनन्दित करनेवाला होता है। उस 'वीर, सदावृध' प्रभु का सच्चा उपासक वही है, जो क्रियाशील है।

ऋषिः—**विश्वमनाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

न शवसा, न भन्दना

इन्द्र॑ स्थातर्हरीणां॒ नकि॑ष्टे पू॒र्व्यस्तु॑तिम्। उदा॑नंश॒ शव॑सा॒ न भ॒न्दना॑ ॥ ५ ॥

१. हे **हरीणां स्थातः**=इन्द्रियाश्वों के अधिष्ठातृभूत **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते**=आपकी **पूर्व्यस्तुतिम्**=पालन व पूरण करनेवाली बातों में सर्वोत्तम इस स्तुति को **नकिः उदानंश**=कोई भी अतिव्याप्त नहीं कर पाता—कोई भी व्यक्ति आपकी स्तुति का अतिक्रमण करने में समर्थ नहीं होता। २. **न शवसा**=कोई भी बल से आपको अतिक्रान्त नहीं कर सकता। **न भन्दना**=कोई भी कल्याण व सुख से आपका उल्लंघन करनेवाला नहीं है। आप अनन्तशक्ति-सम्पन्न व आनन्दस्वरूप हैं। आपके उपासक में भी इस शक्ति व आनन्द की संक्रान्ति होती है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करते हैं। यह स्तवन हमारी न्यूनताओं को दूर करता है। स्तवन से हमारे अन्दर शक्ति व आनन्द का संचार होता है।

ऋषिः—**विश्वमनाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

'शक्तियों के स्वामी, यज्ञों से वर्धनीय' प्रभु

तं वो॒ वाजा॑नां॒ पति॒मह्‌॑महि श्रव॒स्यवः॑। अप्रा॑युभिर्य॒ज्ञेभि॑र्वावृ॒धेन्य॑म् ॥ ६ ॥

१. **श्रवस्यवः**=ज्ञान व यश की कामनावाले हम **तम्**=उस **वः**=तुम सबके **वाजानां पतिम्**=बलों के स्वामी प्रभु को **अहूमहि**=पुकारते हैं। प्रभु हमारी सब इन्द्रियों के बल का वर्धन करके हमारे ज्ञान व बल का वर्धन करते हैं। इसप्रकार हमारा जीवन यशस्वी बनता है। हम उस प्रभु को पुकारते हैं जो **अप्रायुभिः**=प्रमाद से रहित **यज्ञेभिः**=यज्ञों से **वावृधेन्यम्**=वर्धनीय हैं। जब हम प्रमादशून्य होकर यज्ञों में प्रवृत्त होते हैं तब प्रभु का प्रकाश हममें निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होता है।

भावार्थ—प्रभु सब शक्तियों के स्वामी हैं। यज्ञों के द्वारा हममें प्रभु का प्रकाश होता है। ज्ञानी व यशस्वी होने के लिए हम प्रभु को पुकारते हैं।

अगले सूक्त के ऋषि हैं—'विश्वमना'=व्यापक, उदार मनवाले। विश्वमना कहते हैं—

६५. [पञ्चषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वमनाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

'स्तोम्य-नर' इन्द्र का स्तवन

ए॒तो न्विन्द्रं॒ स्तवा॑म॒ सखा॑यः॒ स्तोम्यं॒ नर॑म्। कृ॒ष्टीर्यो विश्वा॑ अ॒भ्यस्त्येक॒ इत् ॥ १ ॥

१. हे **सखायः**=मित्रो! **एत उ**=निश्चय से आओ! **नु**=अब उस **स्तोम्यम्**=स्तुति के योग्य **नरम्**=हमें उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् प्रभु का **स्तवाम**=स्तवन करें। यह सम्मिलित आराधन हमें प्रभु के अधिक और अधिक समीप लानेवाला हो। २. हम उस प्रभु का स्मरण करें **यः**=जो **एकः इत्**=अकेले ही **विश्वाः कृष्टीः**=सब मनुष्यों को **अभि अस्ति**=अभिभूत करनेवाले हैं। हमारे सब शत्रुओं का पराजय ये प्रभु ही तो करेंगे।

भावार्थ—हम सब मिलकर प्रभु का स्तवन करें। प्रभु हमारे सब शत्रुओं का अभिभव करके हमें उन्नति-पथ पर ले-चलेंगे।

ऋषिः—**विश्वमनाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

'घृत व मधु' से अधिक स्वादिष्ट वचन

अगो॑रुधाय ग॒विषे॑ द्यु॒क्षाय॒ दस्म्यं॒ वचः॑। घृ॒तात्स्वादी॑यो॒ मधु॑नश्च वोचत॥ २॥

१. **अगोरुधाय (गाः न रुणद्धि)**=ज्ञान की वाणियों को न रोकनेवाले—निरन्तर ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करानेवाले, **गविषे (गो+इष्)**=हमारे लिए उत्तम इन्द्रियों को प्रेरित करनेवाले और इसप्रकार **द्युक्षाय**=प्रकाश में निवास करानेवाले प्रभु के लिए—प्रभु की प्राप्ति के लिए **दस्म्यं वचः**=दुःख का नाश करनेवालों में उत्तम वचन को **वोचत**=बोलो। दुःखियों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण व दुःखनिवारक वचनों को बोलनेवाला ही उस प्रभु को प्राप्त करता है, जो निरन्तर ज्ञान की वाणियों व उत्तम इन्द्रियों को प्राप्त कराके हमें प्रकाश में निवासवाला बनाते हैं। २. हे मनुष्यो! प्रभु की प्राप्ति के लिए **घृतात् स्वादीयः**=घृत से भी अधिक स्वादिष्ट **च**=तथा **मधुनः**= शहद से भी अधिक मधुर वचन (वोचत) बोलो। कटुवचन दूसरे के हृदय को काटते हुए अन्तःस्थित प्रभु के भी निरादर का कारण होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-प्राप्ति के लिए 'दुःखनाशक, घृत से भी स्वादिष्ट और शहद से भी अधिक मधुर' वचनों को बोलें। प्रभु ज्ञान की वाणियों व उत्तम इन्द्रियों को प्राप्त कराके हमारे लिए प्रकाश को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**विश्वमनाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

अनन्त 'वीर्य-ऐश्वर्य-ज्ञान व दान'-वाले प्रभु

यस्यामि॑तानि वी॒र्या॒३ न राधः॒ पर्ये॑तवे। ज्योति॒र्न विश्व॑म॒भ्यस्ति॒ दक्षि॑णा॥ ३॥

१. **यस्य**=जिस प्रभु के **वीर्या**=वृत्रवध आदि पराक्रम के कार्य **अमितानि**=अगणित व अपरिमित हैं, उस प्रभु का **राधः**=ऐश्वर्य **पर्येतवे न**=चारों ओर से घेरे जाने योग्य नहीं है। उस प्रभु का पराक्रम व ऐश्वर्य अनन्त ही है। २. **ज्योतिः न**=प्रकाश की भाँति **दक्षिणा**=उस प्रभु का दान भी **विश्वम्**=सम्पूर्ण संसार को **अभ्यस्ति**=अभिभूत करनेवाला है। उस प्रभु का ज्ञान व दान निरतिशय है—सर्वतिशायी है—सबसे अधिक है।

भावार्थ—प्रभु का पराक्रम व ऐश्वर्य अनन्त है। वे प्रभु अपनी ज्योति व दक्षिणा से सभी को अभिभूत करनेवाले हैं।

अगले सूक्त के ऋषि भी 'विश्वमनाः' ही हैं—

६६. [षट्षष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वमनाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

'अनर्मि, वाजी, यम' प्रभु का स्तवन

स्तु॒हीन्द्रं॑ व्यश्व॒वदनू॑र्मिं वा॒जिनं॒ यम॑म्। अ॒र्यो गयं॒ मंह॑मानं॒ वि दा॒शुषे॑॥ १॥

१. **व्यश्ववत्**=व्यश्व की भाँति—उत्तम इन्द्रियोंवाले पुरुष की भाँति तू **इन्द्रम्**=उस सर्वशक्तिशाली प्रभु का **स्तुहि**=स्तवन कर, जोकि **अनूर्मिम्**=(ऊर्मि=A human infirmity) शोक, मोह, जरा, मृत्यु व क्षुत्-पिपासारूप ऊर्मियों से रहित हैं 'शोकमोहौ जरामृत्यू क्षुत्पिपासे षडूर्मय:'। उस प्रभु में शोक-मोह आदि किसी भी दुर्बलता का निवास नहीं, अतएव **वाजिनम्**=वे प्रभु शक्तिशाली हैं और **यमम्**=सर्वनियन्ता हैं। प्रभु का स्तोता भी दुर्बलताओं से ऊपर उठता है, शक्तिशाली बनता है और संयम की वृत्तिवाला होता है। २. उस प्रभु का हम स्तवन करें जोकि **दाशुषे**=दाश्वान् पुरुष के लिए—प्रभु के प्रति अपना अर्पण करनेवाले पुरुष के लिए **अर्य:**=काम, क्रोध, लोभरूप शत्रुओं के **गयम्**=गृह को **विमंहमानम्**=विशेषरूप से प्राप्त कराते हैं। 'काम' ने आज तक इन्द्रियों में अपना निवास बनाया हुआ था, 'क्रोध' ने मन को अपनाया हुआ था और 'लोभ' ने बुद्धि पर अधिकार किया हुआ था। प्रभु इन सबको दूर करके यह शरीर-गृह दाश्वान् को प्राप्त कराते हैं। उपासक के जीवन में काम, क्रोध, लोभ का निवास नहीं रहता।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन से हम शोक-मोह आदि से ऊपर उठते हैं। शक्तिशाली व संयमी बनते हैं। हमारा शरीर काम, क्रोध, लोभ का घर नहीं बना रहता।

ऋषि:—**विश्वमना:** ॥ देवता—**इन्द्र:** ॥ छन्द:—**उष्णिक्** ॥

दशमं नवम्

एवा नूनमुप स्तुहि वैयश्व दशमं नवम्। सुविद्वांसं चर्कृत्यं चरणीनाम्॥ २॥

१. **एवा**=गतिशीलता के द्वारा—कर्त्तव्यकर्मों को करने के द्वारा हे **वैयश्व**=उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले स्तोता! तू **नूनम्**=निश्चय से **उपस्तुहि**=उस प्रभु का स्तवन कर जोकि **दशमम् (दश्यन्ते शत्रव: अनेन)**=हमारे शत्रुओं का विध्वंस करनेवाले हैं और अतएव **नवम् (नु स्तुतौ)**= स्तुति के योग्य हैं। २. उस प्रभु का स्तवन कर जोकि **सुविद्वांसम्**=उत्तम ज्ञानी हैं और **चरणीनाम्**=कर्त्तव्य-कर्मों के करने में तत्पर मनुष्यों के **चर्कृत्यम्**=फिर-फिर नमस्कार करने योग्य हैं। वस्तुत: यह प्रभु-नमस्कार ही उन्हें 'चर्षणि' बनाता है। प्रभु-नमस्कार से शक्ति-सम्पन्न बनकर वे कर्त्तव्यकर्म कर पाते हैं।

भावार्थ—हम 'दशम-नव-सुविद्वान्—नमस्करणीय' प्रभु का स्तवन करते हुए उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले व शक्ति-सम्पन्न बनकर कर्त्तव्यकर्म करने में तत्पर रहें।

ऋषि:—**विश्वमना:** ॥ देवता—**इन्द्र:** ॥ छन्द:—**उष्णिक्** ॥

निर्ऋति परिवर्जन

वेत्था हि निर्ऋतीनां वज्रहस्त परिवृजम्। अहरह: शुन्ध्युः परिपदामिव॥ ३॥

१. हे **वज्रहस्त**=व्रज को हाथ में लिये हुए प्रभो! आप **हि**=निश्चय से **निर्ऋतीनाम्**=उपद्रवकारी राक्षसीभावों के **परिवृजम्**=परिवर्जन को—हमसे पृथक् करने को **वेत्थ**=जानते हैं। आपका स्मरण व स्तवन होते ही हमारे हृदयों को राक्षसीभाव छोड़कर चले जाते हैं। २. आप राक्षसीभावों के परिवर्जन को इसी प्रकार जानते हैं, **इव**=जिस प्रकार **शुन्ध्यु:**=सब अन्धकार का शोधन कर देनेवाला सूर्य **अहरह:**=प्रतिदिन **परिपदाम्**=आहार के लिए चारों ओर गतिवाले पशु-पक्षियों के स्वस्थान परिवर्जन को जानता है। सूर्योदय होते ही सब पक्षी घोंसलों को छोड़कर इधर-उधर निकल जाते हैं। इसी प्रकार प्रभु-स्मरण होते ही राक्षसीभाव हृदयों को छोड़ जाते हैं।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण राक्षसीभावों को दूर भगा देता है। इनको दूर रखने के लिए दिन-

रात प्रभु-स्मरण आवश्यक है। सूर्यास्त होने पर पक्षी जैसे घोंसलों में लौट आते हैं, इसी प्रकार प्रभु-विस्मरण होते ही राक्षसीभावों के लौट आने की आशङ्का होती है।

निर्ऋति परिवर्जन करता हुआ यह व्यक्ति 'परुत्' बनता है—पालन व पूरण करनेवाला। इसप्रकार जीवन का सुन्दर निर्माण करनेवाला यह 'शेप' कहलाता है। यह 'परुच्छेप' अगले सूक्त के प्रथम तीन मन्त्रों का ऋषि है। चार से सात तक ऋषि 'गृत्समद' है (गृणाति माद्यति)= प्रभु-स्तवन करता है व आनन्द में रहता है—

६७. [सप्तषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**परुच्छेपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अत्यष्टिः** ॥

'सुन्वन्' का सुन्दर जीवन

वनोति हि सुन्वन्क्षयं परीणसः सुन्वानो हि ष्मा यजत्यव द्विषो देवानामव द्विषः।
सुन्वान इत्सिषासति सहस्रा वाज्यवृतः।
सुन्वानायेन्द्रो ददात्याभुवं रयिं ददात्याभुवम्॥ १॥

१. **सुन्वन्**=अपने शरीर में सोमरस (वीर्य) का अभिषव करनेवाला व्यक्ति **हि**=निश्चय से **क्षयम्**=(क्षि निवासगत्योः) उत्तम निवास व गतिवाले शरीररूप गृह को **वनोति**=प्राप्त करता है (Wins)। इस सोम के रक्षण से शरीर की शक्तियाँ बनी रहती हैं और क्रियाशीलता में कमी नहीं आती। **सुन्वानः**=सोम का अभिषव करनेवाला यह **हि**=निश्चय से **परीणसः** (परितो नद्धान् सा०)=चारों ओर से बाँधनेवाले—हमपर आक्रमण करनेवाले **द्विषः**=द्वेष आदि शत्रुओं को **अवयजाति**=दूर करता है। **देवानां द्विषः**=दिव्य भावनाओं के दुश्मनों को—दिव्य भावनाओं की विरोधी आसुरभावनाओं को **अव**=अपने से दूर करता है। रोगरक्षण से द्वेष आदि आसुरभावनाएँ दूर होकर मानस पवित्रता का लाभ होता है। २. **सुन्वानः इत्**=सोम का अभिषव करता हुआ ही **वाजी**=शक्तिशाली बनता है, **अवृतः**=द्वेष आदि शत्रुओं से घेरा नहीं जाता और **सहस्रा**=शतशः धनों को **सिषासति**=संभक्त करना चाहता है, अर्थात् यह सुन्वान शतशः धनों को प्राप्त करके उन्हें देने की वृत्तिवाला होता है। ३. **सुन्वानाय**=सोमाभिषव करनेवाले पुरुष के लिए ही **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **आभुवम्**=सर्वतो व्याप्त, अर्थात् अत्यन्त प्रवृद्ध **रयिम्**=धन को **ददाति**=देता है। उस धन को **ददाति**=देता है जोकि **आभुवम्**=समन्तात् भवनशील होता है, अर्थात् सब आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त होता है।

भावार्थ—शरीर में सोम के रक्षण से (क) हमारा शरीररूप गृह उत्तम बनता है (ख) हम यज्ञ से आसुरभावों को दूर कर पाते हैं (ग) शक्तिशाली बनकर शतशः धनों को प्राप्त करते हैं (घ) उन धनों को प्राप्त करते हैं जो हमारी सब आवश्यकताओं को पूर्ण करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**परुच्छेपः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**अत्यष्टिः** ॥

'चित्त-नव्य-अमर्त्य' सोमरूप धन

मो षु वो अस्मदभि तानि पौंस्या सना भूवन्द्युम्नानि मोत जारिषुरस्मत्पुरोत जारिषुः।
यद्वश्चित्रं युगेयुगे नव्यं घोषादमर्त्यम्।
अस्मासु तन्मरुतो यच्च दुष्टरं दिधृता यच्च दुष्टरम्॥ २॥

१. हे **मरुतः**=प्राणो! **वः**=आपके—आपकी साधना से उत्पन्न होनेवाले **तानि**=वे प्रसिद्ध **सना**=संभजनीय—सेवनीय-**पौंस्या**=बल **अस्मत्**=हमसे **उ**=निश्चयपूर्वक **मा सु अभिभूवन्**=

(अपगतानि मा भूवन् सा०) मत ही अलग हों। **उत**=और **द्युम्नानि**=ज्ञान की ज्योतियाँ **मा जारिषुः**=क्षीण न हों। **उत**=और **अस्मत्**=हमारी **पुरा**=ये शरीररूप नगरियाँ **मा जारिषुः**=जीर्ण न हो जाएँ। एवं, प्राणसाधना से (क) शक्ति प्राप्त होती है (ख) ज्ञानज्योति बढ़ती है (ग) शरीर स्वस्थ होता है। २. हे मरुतो! **यत्**=जो **वः**=आपका **चित्रम्**=अद्भुत **युगे-युगे**=जीवन के प्रत्येक काल में—बाल्य, यौवन व वार्धक्य में—**नव्यम्**=स्तुति के योग्य धन है, जो धन **अमर्त्यं घोषात्**=मनुष्य की अमर्त्यता की घोषणा करता है **तत्**=उस धन को **अस्मासु**=हममें **दिधृता**=धारण कीजिए **च**=और उस धन को धारण कीजिए **यत्**=जो **दुष्टरम्**=शत्रुओं से तैरने योग्य नहीं है **यत् च**=और जो सचमुच **दुष्टरम्**=शत्रुओं से तैरने योग्य नहीं। मरुतों का यह धन सोम ही है। प्राणसाधना से इस सोम का शरीर में रक्षण होता है। रक्षित सोमरूप धन (चित्रम्=)अद्भुत है। यह जीवन के प्रत्येक अन्तर (Period) में स्तुत्य परिणामों को पैदा करता है (नव्यम्)। यह हमें अमर्त्य बना देता है—रोगों का शिकार नहीं होने देता। रोगकृमिरूप शत्रुओं से यह सोम दुष्टर होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमें शक्ति प्राप्त होती है, हमारी ज्ञानज्योति बढ़ती है, शरीर क्षीण नहीं होते। इस साधना से सोम-रक्षण द्वारा 'अद्भुत' स्तुत्य-पूर्ण जीवन को प्राप्त करानेवाला—दुष्टर बल प्राप्त होता है।

ऋषिः—**परुच्छेपः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**अत्यष्टिः** ॥

जातवेदा अग्नि का उपासन

अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसुं सूनुं सहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम्।
य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा।
घृतस्य विभ्राष्टिमनु वष्टि शोचिषाजुह्वानस्य सर्पिषः॥ ३॥

१. मैं **अग्निम्**=उस सर्वाग्रणी—हमारी अग्रगति के साधक प्रभु का **मन्ये**=मनन व विचार करता हूँ जो प्रभु **होतारम्**=सृष्टियज्ञ के महान् होता हैं, **दास्वन्तम्**=सब-कुछ देनेवाले हैं, **वसुम्**=निवास के लिए आवश्यक सब धनों को प्राप्त कराके हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले हैं, **सहसः सूनुम्**=बल के पुत्र—शक्ति के पुञ्ज हैं तथा **जातवेदसम्**=सर्वज्ञ हैं। वे प्रभु **विप्रं न**=जैसा हमारा विशेषरूप से पूरण करनेवाले हैं, उसी प्रकार **जातवेदसम्**=(जाते जाते विद्यते) हम सबके अन्दर विद्यमान हैं। अन्तःस्थित होते हुए वे हमारा पूरण कर रहे हैं। २. प्रभु वे हैं **यः**=जो **स्वध्वरः**=उत्तम अहिंसात्मक यज्ञोंवाले **देवः**=प्रकाशमय होते हुए **ऊर्ध्वया**=अत्यन्त उन्नत **देवाच्या** (देवान् अञ्चति)=देवों को प्राप्त होनेवाले **कृपा**=सामर्थ्य से हमारे जीवनों में **घृतस्य**=ज्ञानदीप्ति की **विभ्राष्टिम् अनु**=ज्योति के बाद **शोचिषा**=मन की शुद्धता के साथ **आजुह्वानस्य सर्पिषः**=आहुति दिये जाते हुए घृत की **वष्टिम्**=कामना करते हैं। प्रभु हमारे जीवनों में तीन बातें चाहते हैं (क) ज्ञान की दीप्ति (ख) हृदय की पवित्रता (ग) हाथों से यज्ञों का प्रवर्तन।

भावार्थ—प्रभु 'अग्नि-होता-दास्वान्-सहसः सूनु व जातवेदाः' हैं; उनसे सामर्थ्य प्राप्त करके हम मस्तिष्क में ज्ञानदीप्तिवाले, हृदय में पवित्रतावाले तथा हाथों में यज्ञोंवाले बनें।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

भरतस्य सूनवः

यज्ञैः संमिश्लाः पृषतीभिर्ऋष्टिभिर्यामञ्छुभ्रासो अञ्जिषु प्रिया उत।
आसद्या बर्हिर्भरतस्य सूनवः पोत्रादा सोमं पिबता दिवो नरः॥ ४॥

१. **नरः**=अपने को उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले मनुष्यो! **बर्हिः आसद्य**=वासनाशून्य हृदय में आसीन होकर आप **दिवः**=ज्ञान-प्रकाश के हेतु से तथा **पोत्रात्**=पोतृकर्म के हेतु से—अपने जीवन को पवित्र बनाने के दृष्टिकोण से **सोमम् आपिबत**=सोम (वीर्य) का अपने अन्दर ही पान करो। इसप्रकार तुम **भरतस्य सूनवः**=भरत के पुत्र बनो—अपना भरण बड़ी उत्तमता से करनेवाले बनो। २. **यज्ञैः संमिश्लाः**=ये सोमपान करनेवाले यज्ञों से युक्त होते हैं—इनका जीवन यज्ञमय बनता है। ये लोग **यामम्**=इस जीवन-यात्रा के मार्ग में **पृषतीभिः** (पृषु सेचने)=जिनका शक्ति से सेचन किया गया है, ऐसे **ऋष्टिभिः**=आयुधों से—इन्द्रियों, मन व बुद्धिरूप साधनों से **शुभ्रासः**=उज्ज्वल जीवनवाले होते हैं। इनकी इन्द्रिय, मन व बुद्धि सभी चमकते हैं **उत**=और ये सोमरक्षक पुरुष **अञ्जिषु**=आभरणों में **प्रिया**=बड़े प्रिय लगते हैं। स्वास्थ्य, निर्मलता व बुद्धि की तीव्रता ही इनके आभरण होते हैं। इन आभरणों से इनकी शोभा बढ़ जाती है।

भावार्थ—ज्ञान व पवित्रता के उद्देश्य से हम सोम का रक्षण करें। इससे हमारा जीवन यज्ञमय, प्रकाशमय व शक्ति-सम्पन्न होगा।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

सोम-रक्षण से अग्नितत्त्व की उचित स्थिति

आ वक्षि देवाँ इह विप्र यक्षि चोशन्होतर्नि षदा योनिषु त्रिषु।
प्रति वीहि प्रस्थितं सोम्यं मधु पिबाग्नीध्रात्तव भागस्य तृप्णुहि ॥ ५ ॥

१. हे **होतः**=दानपूर्वक अदन करनेवाले **विप्र**=ज्ञानिन्! **इह**=इस जीवन में **देवान्**=देवों को—दिव्य गुणों को **आवक्षि (आवह)**=प्राप्त कर, **च**=और **उशन्**=प्रभु-प्राप्ति की कामना करता हुआ **यक्षि**=दिव्यगुणों को अपने साथ संगत कर। **त्रिषु योनिषु**=तीनों घरों में **निषद**=तू आसीन हो। स्थूलशरीर में आसीन हुआ-हुआ तू पूर्ण स्वस्थ बन। सूक्ष्मशरीर में आसीन हुआ-हुआ तू ज्ञान को बढ़ानेवाला हो। कारणशरीर में स्थित हुआ-हुआ तू सबके साथ एकत्व का अनुभव कर। २. इस **प्रस्थितम्**=निरन्तर गतिवाले—चलने के स्वभाववाले—**सोम्यं मधु**=सोम-सम्बन्धी मधु का तू **प्रतिवीहि**=भक्षण कर—इसे तू शरीर में ही सुरक्षित कर। **आग्नीध्रात्**=अपने अन्दर अग्नितत्त्व के धारण के उद्देश्य से तू इसे **पिब**=अपने अन्दर पीनेवाला हो। तू **तव**=अपने **भागस्य तृप्णुहि**=इस भजनीय सोम के पान से तृप्ति (प्रीति) का अनुभव कर। इस सोम के पान से तेरा मन सदा प्रसन्न हो।

भावार्थ—सोम-रक्षण से शरीर में अग्नितत्त्व ठीक बना रहता है और मन में प्रसन्नता होती है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

नृम्ण-सहः-ओजः

एष स्य ते तन्वो नृम्णवर्धनः सह ओजः प्रदिवि बाह्वोर्हितः।
तुभ्यं सुतो मघवन्तुभ्यमाभृतस्त्वमस्य ब्राह्मणादा तृपत्पिब ॥ ६ ॥

१. **एषः स्यः**=ये जो गतमन्त्रों में वर्णित सोम **ते तन्वः**=तेरे शरीर के **नृम्णवर्धनः**=बल का वर्धन करनेवाला है, इसके द्वारा **प्रदिवि**=प्रकृष्ट ज्ञान होने पर **सहः**=शत्रुमर्षक बल तथा **ओजः**=इन्द्रियशक्तियों का वर्धक बल **बाह्वोः**=तेरी भुजाओं में **हितः**=स्थापित होता है। २. **तुभ्यं सुतः**=तेरे लिए इस सोम को पैदा किया गया है। हे **मघवन्**=यज्ञशील पुरुष! **तुभ्यम्**=तेरे हित के लिए **आभृतः**=यह शरीर में समन्तात् भृत हुआ है। **त्वम्**=तू **ब्राह्मणात्**=ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति

के हेतु से **आतृपत्पिब**=खूब तृप्त होता हुआ इसे पी। इसे तू अपने अन्दर ही व्याप्त करनेवाला बन।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित हुआ सोम बल व सुख को बढ़ानेवाला है। यह रोगकृमिरूप शत्रुओं को कुचलनेवाला है। इन्द्रियशक्तियों का वर्धक है। अन्ततः यह ब्रह्म-प्राप्ति का साधन बनता है।

ऋषिः—**गृत्समदः** ॥ देवता—**द्रविणोदाः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'प्रभु-स्मरण व यज्ञों' में लगे रहना

यमु पूर्वमहुवे तमिदं हुवे सेदु हव्यो ददिर्यो नाम पत्यते।
अध्वर्युभिः प्रस्थितं सोम्यं मधु पोत्रात्सोमं द्रविणोदः पिब ऋतुभिः॥ ७॥

१. **यम् उ**=जिस प्रभु को ही **पूर्वम् अहुवे**=मैं दिन के प्रारम्भ में पुकारता हूँ **तम् इदं हुवे**=उस प्रभु को ही अब सायं भी पुकारता हूँ। **सः इत् उ**=वह प्रभु ही **हव्यः**=पुकारने योग्य हैं—आराधना के योग्य हैं। **ददिः**=वे ही सब-कुछ देनेवाले हैं, **यः**=जो **नाम**=निश्चय से **पत्यते**=सारे संसार के ईश व पति हैं। २. **अध्वर्युभिः**=जीवन-यज्ञ को चलानेवाली इन्द्रियों, मन व बुद्धि से **प्रस्थितम्**= प्रस्थान व गति के स्वभाववाले **सोम्यं मधु**=सोम-सम्बन्धी मधु का तू **पिब**=पान कर। यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में प्रवृत्त इन्द्रियों से ही सोम का रक्षण सम्भव होता है। ३. हे **द्रविणोदः**=धनों को दान करनेवाले यज्ञशील पुरुष! **पोत्रात्**=अपने जीवन को पवित्र बनाने के दृष्टिकोण से **ऋतुभिः सोमं पिब**=समय रहते तू सोम का पान कर। तू युवावस्था में ही सोम को शरीर में सुरक्षित करनेवाला बन।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें—यज्ञों की वृत्तिवाले बनें। यही सोम-रक्षण का मार्ग है।

सोम-रक्षण से हम 'मधुच्छन्दाः'=उत्तम इच्छाओंवाले बनते हैं। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

६८. [अष्टषष्टितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे। जुहूमसि द्यविद्यवि॥ १॥
उप नः सवना गहि सोमस्य सोमपाः पिब। गोदा इद्रेवतो मदः॥ २॥
अथा ते अन्तमानां विद्याम सुमतीनाम्। मा नो अति ख्य आ गहि॥ ३॥

व्याख्या देखें अथर्व० २०.५७.१-३

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'विप्र, अस्तृत, विपश्चित्'

परेहि विग्रमस्तृतमिन्द्रं पृच्छा विपश्चितम्। यस्ते सखिभ्य आ वरम्॥ ४॥

१. गतमन्त्रों में वर्णित 'सुमतियों' के प्रापण के लिए प्रभु जीव से कहते हैं—**परेहि**=विषयों व सांसारिक कामनाओं से दूर हो। **विग्रम्**=मेधावी **अस्तृतम्**=काम-क्रोध आदि से अहिंसित पुरुष को प्राप्त हो। इस ज्ञानी व संयमी पुरुष के समीप प्राप्त होकर तू ज्ञान का संग्रह करने में यत्नशील हो। इस **विपश्चितम्**=ज्ञानी पुरुष से **इन्द्रं पृच्छा**=परमात्मा के विषय में पूछनेवाला हो। २. उस विपश्चित् से तू प्रश्न करनेवाला बन, **यः**=जो **ते**=तेरे लिए तथा **सखिभ्यः**=तेरे समान ज्ञान-प्राप्त

करने की कामनावाले मित्रों के लिए उस **वरम्**=श्रेष्ठ वरणीय ज्ञानधन को **आ** (नयति) प्राप्त कराता हो।

भावार्थ—हम विषयों से ऊपर उठें और 'विप्र, अस्तृत, विपश्चित्' पुरुषों से आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

व्यर्थ के कार्यों से दूर

उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत। दधाना इन्द्र इद्दुवः ॥ ५ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार हम ज्ञानी व संयमी पुरुषों के समीप पहुँचकर ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करें ही, **उत**=और इसके साथ हम **निदः**=निन्दाओं को **नो** (न+उ)=न ही **ब्रुवन्तु**=बोलें—हमारे मुख से कभी निन्दात्मक शब्दों का उच्चारण न हो। २. प्रभु कहते हैं कि **अन्यतः**=दूसरे कामों से, अर्थात् अनावश्यक अनुपयोगी कार्यों से **चित्**=निश्चयपूर्वक **निः आरत**=बाहर गति करनेवाले हों। 'ताश खेलते रहना या गपशप मारते रहना' आदि कर्मों से निश्चयपूर्वक बचो। ३. जब भी कभी अवकाश हो, अर्थात् हम घर के कार्यों को कर चुके हों—स्वाध्याय से श्रान्त हो गये हों तब हम **इत्**=निश्चयपूर्वक **इन्द्रे**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु में **दुवः**=परिचर्या को **दधानाः**=धारण करनेवाले हों।

भावार्थ—हम निन्दा न करें, व्यर्थ के कार्यों से दूर रहने का ध्यान करें। अवकाश के समय में सदा प्रभु के नाम का जप करें, उसी के अर्थ का भावन करें (तज्जपः, तदर्थभावनम्)

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

इन्द्रस्य शर्मणि

उत नः सुभगाँ अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः। स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि ॥ ६ ॥

१. हे **दस्म**=शत्रुओं का क्षय करनेवाले प्रभो! आपकी कृपा से हमारा जीवन इसप्रकार भद्रता को लिये हुए हो कि **अरिः**=शत्रु भी **नः**=हमें **सुभगान्**=उत्तम भाग्यशाली—उत्तम ज्ञान आदि सम्पन्न **वोचेयुः**=कहें। हमारी भद्रता शत्रुओं के हृदयों को भी प्रभावित करे। २. **उत**=और **कृष्टयः**=कर्षणशील—श्रमशील बनकर हम **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के **शर्मणि**=सुख में—आनन्द में **इत्**=निश्चय से **स्याम**=निवास करनेवाले हों। प्रभु की ओर से आनन्द का लाभ उन्हें ही होता है जो श्रमशील बनते हैं, अकर्मण्यता के साथ आनन्द का सम्बन्ध नहीं है।

भावार्थ—हम क्रोध आदि से दूर होकर भद्र जीवन बिताते हुए शत्रुओं से भी भागयशाली समझे जाएँ तथा श्रमशील बनकर प्रभु के आनन्द में भागी हों।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सोम-रक्षण व शोभामय जीवन

एमाशुमाशवे भर यज्ञश्रियं नृमादनम्। पतयन्मन्दयत्सखम् ॥ ७ ॥

१. **आशवे**=(अशू व्याप्तौ) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में होनेवाले उस प्रभु की प्राप्ति के लिए **ईम्**=निश्चय से **आशुम्**=सम्पूर्ण रुधिर में व्याप्त होनेवाले इस सोम को **आभर**=सब प्रकार से अपने में धारण करने का प्रयत्न कर। २. उस सोम का तू भरण कर जोकि **यज्ञश्रियम्**=यज्ञमय जीवनवाले पुरुष की श्री का कारण है। **नृमादनम्**=यह उन्नतिशील नरों को आनन्दित करनेवाला है। **पतयत्**=(पतयन्तम्=कर्मणि व्याप्नुवन्तम्—सा०) यह सोम कर्मों में व्याप्त होनेवाला है—यह अपने रक्षक को कर्मशूर बनाता है। **मन्दयत्सखम्**=उस आनन्दित करनेवाले प्रभु में यह सोम

सखिभूत है—परमात्म-प्राप्ति का यह प्रमुख साधन बनता है और प्रभु-प्राप्ति द्वारा अद्भुत आनन्द को प्राप्त करानेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए सोम-रक्षण आवश्यक है। यह हमें यज्ञों में प्रवृत्त कर शोभावाला बनाता है, हमारी उन्नति को सिद्ध करके आनन्दित करता है। यह हमें कर्मशूर बनाता है, आनन्दित करनेवाले प्रभु का सखिभूत है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सोम-रक्षण व संग्राम-विजय

अस्य पीत्वा शतक्रतो घनो वृत्राणामभवः। प्रावो वाजेषु वाजिनम्॥ ८॥

१. हे **शतक्रतो**=अनन्त कर्मों व प्रज्ञानोंवाले प्रभो! आप **अस्य पीत्वा**=इस सोम की रक्षा करके **वृत्राणाम्**=ज्ञान पर आवरण के रूप में आ जानेवाली काम आदि वासनाओं के **घनः**=मारनेवाले **अभवः**=होते हैं। सोम-रक्षणवाला पुरुष क्रोध आदि का शिकार नहीं होता। २. हे प्रभो! आप **वाजेषु**=इन वासना-संग्रामों में **वाजिनम्**=प्रशस्त अन्नवाले को (वाज=अन्न) **प्रावः**=प्रकर्षेण रक्षित करते हैं। जब एक मनुष्य सात्त्विक अन्न का सेवन करता है तब उसकी बुद्धि व मन भी सात्त्विक बनते हैं। सात्त्विक बुद्धिवाला वासना-संग्राम में अवश्य वियजी बनता है।

भावार्थ—प्रभु-नामस्मरण से हम वासनाओं से ऊपर उठते हैं—शरीर में सोम का रक्षण कर पाते हैं। प्रभु हमें शक्तिशाली बनाकर संग्रामों में रक्षित करते हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

प्रभु-पूजन व संग्राम-विजय

तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः शतक्रतो। धनानामिन्द्र सातये॥ ९॥

१. हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञानों व शक्तियोंवाले प्रभो! **वाजेषु**=काम-क्रोध आदि के साथ होनेवाले संग्रामों में **वाजिनम्**=प्रशस्त शक्ति देनेवाले **तं त्वा**=उन आपको हम **वाजयामः**=अर्चित करते हैं। (वाजयति=अर्चति नि०)। प्रभु की उपासना से—प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर ही हम शत्रुओं को पराभूत कर पाते हैं। २. हे **इन्द्र**=सर्वैश्वर्यों के स्वामिन् प्रभो! इन शत्रुओं को जीतकर ही हम **धनानां सातये**=धनों की प्राप्ति के लिए होते हैं। आपने ही शत्रुविजय द्वारा हमें 'स्वास्थ्य-नैर्मल्य-बुद्धि की तीव्रता' रूप ऐश्वर्यों को प्राप्त कराना है।

भावार्थ—प्रभु ही हमें अध्यात्म संग्रामों में विजयी बनाते हैं और धन प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'सुपार' प्रभु

यो रायो३वनिर्महान्त्सुपारः सुन्वतः सखा। तस्मा इन्द्राय गायत॥ १०॥

१. **तस्मै इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **गायत**=गुणों का गायन करो, **यः**=जोकि **रायः**=धनों के **अवनिः**=रक्षक व स्वामी हैं। **महान्**=वे प्रभु ही पूजनीय हैं। प्रभु अपने उपासकों को आवश्यक धन प्राप्त कराते ही हैं। २. **सु-पारः**=प्रभु ही हमें सब कार्यों के पार ले-चलनेवाले हैं—प्रभु-कृपा से ही सब कार्य पूर्ण होते हैं। **सुन्वतः सखा**=वे प्रभु यज्ञशील पुरुष के मित्र हैं अथवा **सुन्वतः**=सोम का सम्पादन करनेवाले के वे मित्र हैं। प्रभु की प्राप्ति यज्ञशील व सोमरक्षक को ही होती है।

भावार्थ—प्रभु ही धनों के स्वामी, पूजनीय, कार्यों के साधक व यज्ञशील के मित्र हैं। हम

प्रभु का ही गायन करें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सम्मिलित प्रभु-पूजन

आ त्वेता नि षीदतेन्द्रमभि प्र गायत। सखाय स्तोमवाहसः॥ ११॥

१. हे **स्तोमवाहसः**=प्रभु के स्तोत्रों का धारण करनेवाले **सखायः**=मित्रो! **आ तु एत**=आप निश्चय से आइए और आकर **निषीदत**=आपने-अपने आसनों पर नम्रता से बैठिए तथा **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का **अभिप्रगायत**=प्रातः-सायं गायन कीजिए। २. 'स्तोमवाहसः' शब्द से यह भाव स्पष्ट है कि हमें प्रभु के स्तोत्रों को अपने जीवन में अनूदित करना है (वह to carry out)। 'सखायः' का भाव 'तुल्य ख्यानवाले—समान विचारवाले हैं।) प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाले एकत्र होते हैं' और मिलकर नम्रता से प्रभु का पूजन करते हैं।

भावार्थ—हम प्रतिदिन सम्मिलित होकर नम्रता से प्रभु-पूजन करनेवाले हों।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

पुरूणां पुरूतमम्

पुरूतमं पुरूणामीशानं वार्याणाम्। इन्द्रं सोमे सचा सुते॥ १२॥

१. गतमन्त्र के अनुसार हम मिलकर उस प्रभु का गायन करें, जो **पुरूणां पुरूतमम्**=(पॄ पालनपूरणयोः) पालकों में सर्वोत्कृष्ट पालक हैं। अथवा जो हमारे 'पुरून् तमयति ग्लापयति' बहुत भी शत्रुओं को क्षीण बकरनेवाले हैं। शत्रुओं को क्षीण करके ही तो वे प्रभु सब वरणीय धनों को हमें प्राप्त कराते हैं। वे प्रभु **वार्याणाम्**=वरणीय धनों के **ईशानम्**=ईशान हैं। २. **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु का **सुते सोमे**=सोम का अभिषव (सम्पादन) करने पर **सचा**=प्रभु से मेल होने पर हम गायन करें। यह सोम हमें उस सोम (प्रभु) से मिलाने का साधन बनता है।

भावार्थ—प्रभु पालकों में सर्वोत्तम पालक हैं। वे हमारे शत्रुओं को क्षीण करते हैं। वरणीय धनों के वे ईशान हैं। उस प्रभु का स्तवन यही है कि हम सोम के रक्षण से बुद्धि को सूक्ष्म करके प्रभु का दर्शन करनेवाले बनें।

अगला सूक्त भी 'मधुच्छन्दाः' का ही है—

६९. [एकोनसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'धन, बुद्धि व शक्ति' के दाता प्रभु

स घा नो योग आ भुवत्स राये स पुरंध्याम्। गमद्वाजेभिरा स नः॥ १॥

१. **सः**=वे प्रभु **घा**=निश्चय से **नः**=हमारे **योगे**=अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति के विषय में **आभुवत्**=साधक होते हैं। प्रभु के अनुग्रह से ही हमें सब आवश्यक वस्तुएँ मिलती हैं। **सः**=वे प्रभु **राये**=धन के लिए (आभुवत्=) सहायक होते हैं। **सः**=वे प्रभु ही **पुरन्ध्याम्**=पालन व पूरण करनेवाली बुद्धि की प्राप्ति में सहायक होते हैं—प्रभु ही हमारे लिए बुद्धि प्राप्त कराते हैं। २. **सः**=वे प्रभु **नः**=हमें **वाजेभिः**=सात्त्विक अन्नों व बलों के साथ **आगमत्**=प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमें सब अप्राप्त वस्तुओं को प्राप्त कराते हैं। वे ही धन, बुद्धि व शक्ति देते हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

प्रभु को हृदय में आसीन करना

यस्य संस्थे न वृण्वते हरी समत्सु शत्रवः। तस्मा इन्द्राय गायत॥ २॥

१. **यस्य**=जिसके **संस्थे**=हृदयदेश में स्थित होने पर **शत्रवः**=काम-क्रोध आदि शत्रु **समत्सु**=अध्यात्म-संग्रामों में **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को **न वृण्वते**=आक्रमण के लिए नहीं चुनते—इनपर आक्रमण नहीं करते—इनपर आवरण के रूप में नहीं आ जाते। **तस्मा इन्द्राय गायत**=उस प्रभु का मिलकर गायन करो। २. प्रभु-स्मरण हमें काम आदि के आक्रमण से बचाता है। जिस घर में परिवार के सदस्य मिलकर प्रभु का गायन करते हैं, वहाँ शरीर रोगादि से आक्रान्त नहीं होते और मन काम-क्रोध का शिकार नहीं होता।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण होने पर इन्द्रियाँ काम-क्रोध आदि से आक्रान्त नहीं होतीं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'शुचयः-दध्याशिरः' सोमासः

सुतपाव्ने सुता इमे शुचयो यन्ति वीतये। सोमासो दध्याशिरः॥ ३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब इन्द्रियों पर वासनाओं का आक्रमण न होगा तब हम सोम की रक्षा कर पाएँगे। **इमे सुताः**=ये उत्पन्न हुए-हुए सोमकण **सुतपाव्ने**=उत्पन्न हुए-हुए सोमकणों की रक्षा करनेवाले के लिए **शुचयः**=पवित्रता करनेवाले होते हैं। सोमकणों का असंयम ही आर्थिक अपवित्रता की ओर ले-जाता है। २. ये सुरक्षित सोमकण **वीतये**=(वी to shine) हमारे जीवन को चमकाने के लिए **यन्ति**=हमें प्राप्त होते हैं। इनके द्वारा ज्ञानाग्नि दीप्त हो उठती है। ये **सोमासः**=सोमकण **दध्याशिरः**=(धत्ते, आशृणाति) हमारे शरीरों को धारण करते हैं और सब दोषों को शीर्ण कर देते हैं।

भावार्थ—हम उत्पन्न सोमकणों का रक्षण करके पवित्र मनवाले (शुच्यः), दीप्त मस्तिष्कवाले (वीतये) व सबल शरीरवाले बनें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सोम-रक्षण द्वारा वृद्धि व ज्येष्ठता की प्राप्ति

त्वं सुतस्य पीतये सद्यो वृद्धो अजायथाः। इन्द्र ज्यैष्ठ्याय सुक्रतो॥ ४॥

१. हे **सुक्रतो**=उत्तम कर्मसंकल्प व ज्ञानवाले जीव! **त्वम्**=तू **सुतस्य पीतये**=इस उत्पन्न हुए-हुए सोम के पान के लिए हो—सोम का तू शरीर में ही रक्षण करनेवाला बन। इस सोम-रक्षण से तू **सद्यः**=शीघ्र **वृद्धः**=बढ़ी हुई शक्तियोंवाला **अजायथाः**=हो जाता है। इससे तेरा शरीर स्वस्थ बनता है, मन **ज्यैष्ठ्याय**=ज्येष्ठता के लिए होता है। ब्राह्मण बनकर तू ज्ञान से ज्येष्ठ बनता है, क्षत्रिय बनकर बल के दृष्टिकोण से ज्येष्ठ होता है और वैश्य के रूप में बढ़े हुए धन-धान्यवाला होता है।

भावार्थ—सोम-रक्षण ही वृद्धि व ज्येष्ठता का मूल है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

क्रियाशीलता-शान्ति-प्रकृष्ट चेतना

आ त्वा विशन्त्वाशवः सोमास इन्द्र गिर्वणः। शं ते सन्तु प्रचेतसे॥ ५॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **सोमासः**=ये सोमकण **त्वा आविशन्तु**=तुझमें समन्तात् प्रवेश

करें—तेरे शरीर में व्याप्त हो जाएँ। ये सोमकण **आशवः**=तुझे सदा कर्मों में व्याप्त करनेवाले हैं (अश् व्याप्तौ)। सोमकणों के शरीर में व्याप्त होने पर तुझे अकर्मण्यता नहीं घेर सकती। २. हे **गिर्वणः**=ज्ञान की वाणियों का सेवन करनेवाले पुरुष! ये सुरक्षित हुए-हुए सोमकण **ते शं सन्तु**=तुझे शान्ति देनेवाले हों। **प्रचेतसे**=ये तेरी प्रकृष्ट चेतना के लिए हों। इनके रक्षण से तू सदा आत्म-स्मरणवाला हो। 'मैं कौन हूँ', 'मैं यहाँ क्यों आया हूँ', इन बातों का स्मरण तुझे कभी मार्गभ्रष्ट न होने देगा।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम हमें 'क्रियाशील, शान्तस्वभाव व प्रकृष्ट चेतनायुक्त' बनाता है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

स्तोम+उक्थ-गीः

त्वां स्तोमा अवीवृधन्त्वामुक्था शतक्रतो। त्वां वर्धन्तु नो गिरः ॥ ६ ॥

१. हे **शतक्रतो**=अनन्त कर्मों व प्रज्ञानोंवाले प्रभो! **त्वाम्**=आपको **स्तोमाः**=हम सामगान करनेवालों के स्तोम (स्तुतिसमूह) **अवीवृधन्**=बढ़ानेवाले हों। हम हृदय में भक्ति की भावना से भरित होकर साममन्त्रों से आपके गुणों का गायन करें। २. ज्ञानी पुरुष के **उक्था**=स्तुतिवचन भी **त्वाम्**=आपकी महिमा को ही बढ़ाते हैं। **नः**=हम कर्मकाण्डियों की **गिरः**=वाणियाँ भी **त्वां वर्धन्तु**=आपको ही बढ़ानेवाली हैं।

भावार्थ—भक्तों के स्तोम, ज्ञानियों के उक्थ तथा कर्मकाण्डियों की गिराएँ—सभी प्रभु की महिमा का वर्धन करनेवाली हों।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सात्त्विक अन्न द्वारा बल-वर्धन

अक्षितोतिः सनेदिमं वाजमिन्द्रः सहस्त्रिणम्। यस्मिन्विश्वानि पौंस्या ॥ ७ ॥

१. **अक्षितोतिः**=यह न नष्ट हुए-हुए रक्षणवाला—सोम-रक्षण द्वारा अपनी रक्षा करनेवाला **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **इमम्**=इस **सहस्त्रिणम्**=(स+हस्) सदा हास्य व प्रसन्नता देनेवाले **वाजम्**=अन्न का **सनेत्**=सेवन करे। **यस्मिन्**=जिस सात्त्विक अन्न में **विश्वानि पौंस्या**=सब बल हैं। २. हम सात्त्विक अन्नों का सेवन करते हुए अपनी शक्ति का वर्धन करें और सदा अपना रक्षण करनेवाले हों।

भावार्थ—हम सात्त्विक अन्न का सेवन करें। इसप्रकार अपने बलों का वर्धन करके अनष्ट रक्षणवाले हों।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

न द्रोह, न वध

मा नो मर्ता अभि द्रुहन्तनूनामिन्द्र गिर्वणः। ईशानो यवया वधम् ॥ ८ ॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **नः तनूनाम्**=हमारे शरीरों का—हमसे दिये गये इन शरीरों का **मर्ताः**=विषयों के पीछे मरनेवाले मनुष्य **मा अभिद्रुहन्**=द्रोह न करें—वे इन शरीरों को मारने की कामनावाले न हों। विषयासक्ति शरीर-ध्वंस का कारण बनती है। २. हे **गिर्वणः**=ज्ञान की वाणियों का संभजन करनेवाले जीव! **ईशानः**=इन्द्रियों का ईश होता हुआ तू **वधम् यवय**=वध को अपने से पृथक् कर। तेरे शरीर का वध न होने दे।

भावार्थ—हम विषयासक्ति से ऊपर उठकर शरीरों से द्रोह न करें। जितेन्द्रिय बनकर वध

को अपने से दूर रखें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः। रोचन्ते रोचना दिवि॥ ९॥
युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे। शोणा धृष्णू नृवाहसा॥ १०॥
केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे। समुषद्भिरजायथाः॥ ११॥
देखो व्याख्या, अथर्व० २०.२६.४-६॥

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे। दधाना नाम यज्ञियम्॥ १२॥
देखो व्याख्या, अथर्व० २०.४०.३॥
अगले सूक्त का ऋषि भी 'मधुच्छन्दाः' ही है—

७०. [सप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रमरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

वासनाविनाश द्वारा ज्ञानरश्मि-प्रादुर्भाव

वीळु चिदारुजत्नुभिर्गुहा चिदिन्द्र वह्निभिः। अविन्द उस्रिया अनु॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों को वश में करने के लिए यत्नशील जीव! **वीळु चित्**=अत्यन्त प्रबल भी **गुहा चित्**=कहीं हृदय गुहा में छिपकर बैठी हुई भी इन वासनाओं को **आरुजत्नुभिः**=सब प्रकार से पूर्णतया नष्ट करनेवाले और इसप्रकार **वह्निभिः**=लक्ष्य-स्थान तक ले-जानेवाले इन मरुतों (प्राणों) से युक्त होकर तू **उस्रियाः**=ज्ञानरश्मियों को **अनु अविन्दः**=प्राप्त करता है। २. यहाँ मन्त्र में मरुत् शब्द नहीं है तब भी 'मरुतः' देवता होने से मरुत् शब्द को अर्थ करते समय उपयुक्त कर लिया गया है। ये प्राण ही वासनाओं का भंग करनेवाले व हमें लक्ष्य-स्थान पर ले-जानेवाले हैं।

भावार्थ—इन्द्र (जीवात्मा) सेनानी है, मरुत् (प्राण) उसके सैनिक हैं। ये प्राण वासनारूप शत्रुओं का विनाश करते हैं और आवरण को हटाकर ज्ञान-रश्मियों का प्रादुर्भाव करते हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रमरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'देवयन्तः-गिरः'

देवयन्तो यथा मतिमच्छा विदद्वसुं गिरः। महामनूषत श्रुतम्॥ २॥

१. **देवयन्तः**=(देवमात्मनमिच्छन्तः) उस प्रभु को प्राप्त करने की कामनावाले **गिरः**=स्तोता लोग **महाम्**=पूजनीय **श्रुतम्**=सर्वज्ञत्व आदि गुणों से प्रसिद्ध प्रभु को **अनूषत**=स्तुत करते हैं। २. उस प्रभु को **अच्छ**=लक्ष्य करके स्तवन करते हैं जो **यथामतिम्**=यथार्थ ज्ञानवाले हैं और **विदद्वसुम्**=सब वसुओं को प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से जहाँ यथार्थ ज्ञान प्राप्त होता है, वहाँ निवास के लिए आवश्यक सब धन भी प्राप्त हो जाते हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

मन्दू समानवर्चसा

इन्द्रेण सं हि दृक्षसे संजग्मानो अबिभ्युषा। मन्दू समानवर्चसा॥ ३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु-स्तवन करता हुआ तू **अबिभ्युषा**=सब प्रकार के भयों से रहित उस **इन्द्रेण**=परमैश्वर्यशाली प्रभु से **संजग्मानः**=संगत होता हुआ **हि**=निश्चय से **संदृक्षसे**=दिखता है। यह प्रभु-संगम तुझे भी भीतिरहित व परमैश्वर्यवाला बनाता है। २. प्रभु-संगम के होने पर ये उपास्य-उपासक दोनों **मन्दू**=आनन्दमय व **समानवर्चसा**=समान तेजवाले हो जाते हैं। प्रभु की गोद में पूर्ण निर्भीक यह उपासक भी आनन्दमय हो जाता है और प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न हो जाता है। जैसे अग्नि में पड़कर लोहशलाका भी अग्निमय हो जाती है, इसी प्रकार यह उपासक भी प्रभु की भाँति हो जाता है। उपनिषदों के शब्दों में 'ब्रह्म इव'।

भावार्थ—प्रभु की उपासना से प्रभु से संगत होकर हम भी प्रभु के समान 'आनन्द व शक्ति' का अनुभव करते हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'निर्दोष-ज्ञानमय-प्रशंसनीय' जीवन

अनवद्यैरभिद्युभिर्मखः सहस्वदर्चति। गणैरिन्द्रस्य काम्यैः ॥ ४ ॥

१. प्रभु की उपासना करनेवाला यह उपासक **मखः** (मख गतौ)=गतिशील—कर्मनिष्ठ होता है। यह मरुतों (प्राणों) के साथ उस प्रभु की **सहस्वत्** (बलोपेतं यथा स्यात्तथा)=सबल **अर्चति**=अर्चना करता है। प्रभु की अर्चना की वस्तुतः पहचान ही यह हैं कि उपासक में 'सहस्' की उत्पत्ति हुई या नहीं। २. जिन प्राणों की साधना करता हुआ इन्द्र प्रभु की अर्चना करता है, वे प्राण **अनवद्यैः**=अवद्य—निन्दनीय पाप से रहित हैं। प्राणसाधना वासना-विनाश द्वारा साधक को निष्पाप बनाती है। **अभिद्युभिः**=ये प्राण प्रकाश की ओर ले-जानेवाले हैं। वासनारूप वृत्र (आवरण) का विनाश करके ये ज्ञान को अनावृत्त कर देते हैं। **गणैः**=ये प्राण संख्यान के योग्य हैं—प्रशंसनीय हैं। (गण् to praise) **इन्द्रस्य काम्यैः**=जीवात्मा के चाहने योग्य हैं। वस्तुतः इन प्राणों के द्वारा ही 'हम निर्दोष-ज्ञानमय-प्रशंसनीय' जीवनवाले बनते हैं।

भावार्थ—यज्ञमय जीवनवाले बनकर प्राणसाधना द्वारा हम प्रभु का अर्चन करें। यह अर्चन हमें 'सहस्वान्' बनाएगा। प्राणसाधना से हम 'निर्दोष-ज्ञानयुक्त-प्रशंसनीय' जीवनवाले बनेंगे।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**मरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सर्वत्र प्रभु की महिमा का दर्शन

अतः परिज्मन्ना गहि दिवो वा रोचनादधि। समस्मिन्नृञ्जते गिरः ॥ ५ ॥

१. गतमन्त्र का आराधक प्रभु से आराधना करते हुए कहता है कि **परिज्मन्**=हे चारों ओर गये हुए सर्वव्यापिन् प्रभो! **आगहि**=आप हमें प्राप्त होइए। **अतः**=इस पृथिवीलोक से **दिवः वा**=या द्युलोक से **रोचनात् अधि**=इस चन्द्र व विद्युत् की दीप्तिवाले अन्तरिक्ष से (आगहि) आप हमें प्राप्त होइए, अर्थात् पृथिवीस्थ अग्नि आदि देवों का चिन्तन करता हुआ मैं उन देवों में स्थापित किये गये देवत्व का दर्शन करूँ। इसी प्रकार अन्तरिक्ष के देवों में मैं आपकी महिमा का दर्शन करूँ तथा द्युलोक के देवों में मुझे आपका प्रकाश मिले। २. इस प्रकार सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखनेवाले **गिरः**=स्तोता लोग **अस्मिन्**=इस परमात्मा में **समृञ्जते**=अपने जीवन को सुभूषित करते हैं। प्रभु के अनुरूप बनने का प्रयत्न करते हुए ये स्तोता लोग सुन्दर जीवनवाले बन जाते हैं।

भावार्थ—हम सर्वत्र प्रभु की महिमा को देखें। प्रभु में विचरते हुए-हुए, प्रभु के अनुरूप बनने का प्रयत्न करते हुए अपने जीवन को सुन्दर बना पाएँ।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रमरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'दृढ़ शरीर-उज्ज्वल मस्तिष्क-स्निग्ध हृदय' (आदर्श भक्त)

इतो वा सातिमीमहे दिवो वा पार्थिवादधि। इन्द्रं महो वा रजसः ॥ ६ ॥

१. **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु से हम **इतः पार्थिवात् अधि**=इस पार्थिवलोक से **सातिम्**=धनदान को **ईमहे**=माँगते हैं। पार्थिवलोक यह शरीर है। इसका धन यही है कि यह वज्र-तुल्य दृढ़ हो, अतः हम प्रथम आराधना यही करते हैं कि हमारा शरीर पत्थर के समान दृढ़ हो। २. हम उस प्रभु से **दिवः वा**=इस द्युलोक का धन माँगते हैं। द्युलोक का धन दीप्ति है—हम ज्ञानदीप्ति की याचना करते हैं। ३. **महः रजसः वा**=हम इस महान् अन्तरिक्षलोक से (सातिम् ईमहे) धन-दान माँगते हैं। अन्तरिक्षलोक में जैसे चन्द्रमा शीतल किरणों से ज्योत्स्ना फैला रहा है उसी प्रकार हमारा हृदय प्रेम की स्निग्ध भावना से शीतलता को प्रवाहित करनेवाला हो।

भावार्थ—प्रभुभक्त का आदर्श है 'दृढ़ शरीर, उज्ज्वल मस्तिष्क, स्निग्ध हृदय'।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रमरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

इन्द्रमिद्गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः। इन्द्रं वाणीरनूषत ॥ ७ ॥
इन्द्र इद्धर्योः सचा संमिश्ल आ वचोयुजा। इन्द्रो वज्री हिरण्ययः ॥ ८ ॥
इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद्दिवि। वि गोभिरद्रिमैरयत् ॥ ९ ॥

व्याख्या देखो, अथर्व० २०.३८.४-६ या २०.४७.४-६ ॥

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रमरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'वाजों व सहस्त्रप्रधनों' में विजय

इन्द्र वाजेषु नोऽव सहस्त्रप्रधनेषु च। उग्र उग्राभिरूतिभिः ॥ १० ॥

१. वैदिक साहित्य में छोटे युद्ध 'वाज' कहलाते हैं और अध्यात्म-जीवन को सुन्दर बनाने के लिए काम-क्रोध आदि के साथ चलनेवाले संग्राम 'सहस्त्रप्रधन' हैं। हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप **नः**=हमें **वाजेषु**=युद्धों में **अव**=रक्षित कीजिए। आपकी कृपा से हम धनों का विजय करके 'अभ्युदयशाली' बनें। २. **च**=और आप हमें **सहस्त्रप्रधनेषु** (सहस्+प्रधन)=आनन्द-प्राप्ति के कारणभूत संग्रामों में भी रक्षित कीजिए। काम को पराजित करके हम 'प्रेम' वाले बनें, क्रोध को पराजित करके 'करुणा' को अपनाएँ तथा लोभ-विनाश से हम 'दया' वाले बनें। इन 'प्रेम, करुणा व दया' ने ही तो हमें 'निःश्रेयस' प्राप्त कराना है। ३. हे **उग्र**=तेजस्विन् प्रभो! आप अपने **उग्राभिः ऊतिभिः**=तेजपूर्ण, प्रबल रक्षणों से इन युद्धों में हमें विजयी बनाइए।

भावार्थ—प्रभु की सहायता से वाजों में विजयी बन हम 'अभ्युदय' को प्राप्त करें तथा सहस्त्रप्रधनों में विजयी बनकर 'निःश्रेयस' को सिद्ध करें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रमरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'महाधन व अर्भ' में विजय

इन्द्रं वयं महाधन इन्द्रमर्भे हवामहे। युजं वृत्रेषु वज्रिणम् ॥ ११ ॥

१. **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को हम **महाधने**='दमन, दया व दान' रूप महाधनों की प्राप्ति के निमित्त **हवामहे**=पुकारते हैं। प्रभु-कृपा से काम को पराजित करके मैं मन को दान्त

करता हूँ। प्रभु-कृपा से ही क्रोध को पराभूत करके मैं दयावाला बनता हूँ और लोभ को विनष्ट कर मैं दानशील होता हूँ। २. **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही हम **अर्भे**=छोटे धनों के निमित्त—सांसारिक धनों की प्राप्ति के निमित्त **हवामहे**=पुकारते हैं। ३. उस प्रभु को हम पुकारते हैं जोकि **युजम्**=सदा हमारा साथ देनेवाले हैं और **वृत्रेषु**=हमारे ज्ञान पर पर्दा डालनेवाली वासनाओं पर **वज्रिणम्**=वज्र का प्रहार करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर हम छोटे-बड़े सभी संग्रामों में विजयी बनें। प्रभु हमारा साथ न छोड़नेवाले सच्चे मित्र हैं। उनके अनुग्रह से ही हम वासनाओं पर विजय पाकर ज्ञानदीप्त बन पाते हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रमरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'चरु-अपावरण'

स नो वृषन्नमुं चरुं सत्रादावन्नपा वृधि। अस्मभ्यमप्रतिष्कुतः ॥ १२ ॥

१. हे **वृषन्**=संग्रामों में विजय प्राप्त कराके सुखों का वर्षण करनेवाले **सत्रादावन्**=सदा धनों व ज्ञानों को देनेवाले प्रभो! **सः**=वे आप **नः**=हमारे लिए **अमुं चरुम्**=अपने उस ज्ञान के कोश को **अपावृधि**=खोलिए। 'ब्रह्मचर्य' शब्द में ज्ञान के चरण का संकेत हैं, 'आचार्य' इस ज्ञान के चरण को करानेवाले हैं, ब्रह्मचारी इस चरण को करनेवाला है। इस चरु का प्रकट करना ही इसका अपावरण है। 'यस्मात् कोशादुभराम वेदम्' इन शब्दों में ज्ञान एक कोश है, उस कोश को प्रभु-कृपा से ही हम खोल पाएँगे। २. हे प्रभो! **अस्मभ्यम्**=हमारे लिए आप **अप्रतिष्कुतः**=प्रतिशब्द से रहित हो—आप हमारे लिए 'न' इस शब्द का उच्चारण कीजिए ही नहीं। हमारी प्रार्थना सदा आपसे सुनी जाए।

भावार्थ—प्रभु हमारी प्रार्थना को सदा सुनें। हमारे लिए वे ज्ञान के कोश को खोल दें। हमपर सदा सुखों का वर्षण करें, हमारे लिए इष्ट धनों को देनेवाले हों।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रमरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

अनन्त दान-सान्त स्तवन

तुञ्जेतुञ्जे य उत्तरे स्तोमा इन्द्रस्य वज्रिणः। न विन्धे अस्य सुष्टुतिम् ॥ १३ ॥

१. **तुञ्जे तुञ्जे**=प्रत्येक दान के कर्म में **ये**=जो उस **वज्रिणः**=काम, क्रोध, लोभ आदि पर वज्र का प्रहार करनेवाले **इन्द्रस्य**=शत्रुओं के विद्रावक परमैश्वर्यशाली प्रभु के **उत्तरे स्तोमाः**=उत्कृष्ट स्तवन होते हैं, उन स्तवनों द्वारा **अस्य**=इस प्रभु की **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तुति को न **विन्धे**=(न विन्दामि) नहीं प्राप्त करता हूँ। २. प्रभु के दान अनन्त है, मेरी स्तुति तो सान्त ही है। मैं कितना भी प्रभु का स्तवन करूँ, प्रभु के दान उस स्तवन से अधिक ही होते हैं। प्रभु के दान समाप्त नहीं होते, मेरी स्तुति समाप्त हो जाती है।

भावार्थ—प्रभु के अनन्त दानों का स्तवन करना हमारे सामर्थ्य से बाहर है। दान अनन्त हैं, हमारी शक्ति तो सान्त ही है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रमरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

हम 'गौएँ' हों, प्रभु हमारे 'गोपाल'

वृषा यूथेव वंसगः कृष्टीरियर्त्योजसा। ईशानो अप्रतिष्कुतः ॥ १४ ॥

१. वे प्रभु **वृषा**=शक्तिशाली हैं, हमपर सुखों का वर्षण करनेवाले हैं। वे हमें इसप्रकार प्राप्त होते हैं **इव**=जैसेकि **वंसगः**=वननीय (सुन्दर) गतिवाला गडरिया **यूथा**=भेड़ों के झुण्डों को

प्राप्त होता है। वे प्रभु **कृष्टीः**=श्रमशील मनुष्यों को **ओजसा इयर्ति**=ओजस्विता के साथ प्राप्त होते हैं। हमें प्रभु ओजस्वी बनाते हैं। २. **ईशानः**=वे प्रभु ईशान हैं—सब ऐश्वर्यों के स्वामी हैं और **अप्रतिष्कुतः**=प्रति शब्द से रहित हैं—कभी न करनेवाले नहीं है। प्रभु के दरबार में 'हमारी प्रार्थना कभी अस्वीकृत होगी', ऐसी सम्भावना नहीं है।

भावार्थ—हमें चाहिए कि हम प्रभु के निर्देश में इसप्रकार चलें जैसे भेड़ें गडरिये के निर्देश में चलती हैं। प्रभु का यह निरन्तर सम्पर्क हमें ओजस्वी बनाएगा। प्रभु हमें सब-कुछ देते हैं, 'न' नहीं करते।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रमरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

चर्षणीनाम्-वसूनाम्

य एकश्चर्षणीनां वसूनामिरज्यति। इन्द्रः पञ्च क्षितीनाम् ॥ १५ ॥

१. प्रभु वे हैं **यः**=जो **एकः**=अकेले ही **चर्षणीनाम्**=श्रमशील मनुष्यों के व **वसूनाम्**=सब धनों के **इरज्यति**=ईश हैं। 'श्रमशील मनुष्य' भी प्रभु के हैं, 'वसु' भी प्रभु के। प्रभु इन श्रमशील मनुष्यों को सब वसु प्राप्त कराते हैं। श्रमशील मनुष्य ही प्रभु को प्रिय हैं। इनसे भिन्न मनुष्य प्राकृतिक भोगों में फँस जाते हैं। २. **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **पञ्च क्षितीनाम्**=पाँचों मनुष्यों के स्वामी हैं। मानव-समाज पाँच भागों में बँटा है, 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र व निषाद'। प्रभु इन सबके स्वामी हैं। सभी का हित करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु अपनी सर्वशक्तिमत्ता से सब मनुष्यों के ईश हैं। श्रमशील मनुष्यों के लिए सब वसुओं—धनों को प्राप्त करानेवाले हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रमरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः। अस्माकमस्तु केवलः ॥ १६ ॥

देखो व्याख्या, अथर्व० २०.३९.१ ॥

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रमरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

उत्कृष्ट धन

एन्द्र सानसिं रयिं सजित्वानं सदासहम्। वर्षिष्ठमूतये भर ॥ १७ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **रयिं आभर**=हमें ऐश्वर्य प्राप्त कराइए। उस रयि को जोकि **सानसिम्**=संभजनीय है—समविभागपूर्वक सेवनीय है। हम इस धन को अकेले न खाएँ। 'केवलाघो भवति केवलादी' इस बात का स्मरण रखें कि अकेला खाना तो पाप को ही खाना है। यह धन **सजित्वानम्**=विजयशील हो। हमारी सब आवश्यकताओं को पूर्ण करता हुआ हमें वासनाओं में फँसानेवाला न हो। **सदासहम्**=सदा वासनाओं का पराभव करनेवाला हो। यह धन वासनापूर्ति का साधन न बन जाए। ३. **वर्षिष्ठम्**=यह धन सदा बढ़ा हुआ हो—हमारे जीवनों में सुखों की वर्षा करनेवाला हो। इस धन को **ऊतये**=हमारे रक्षण के लिए प्राप्त कराइए। जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए साधन बनता हुआ यह धन हमारा रक्षक हो।

भावार्थ—प्रभु हमें वह धन प्राप्त कराएँ जिसे हम बाँटकर खाएँ, जो हमें विजयी बनाए, वासनाओं का पराभव करे, सब आवश्यक साधनों को प्राप्त कराने के लिए पर्याप्त हो। यह धन हमारा रक्षक हो।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रमरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

धन का राष्ट्ररक्षा में विनियोग

नि येन मुष्टिहत्यया नि वृत्रा रुणधामहै। त्वोतासो न्यर्वता ॥ १८ ॥

१. हमें वह धन प्राप्त कराइए **येन**=जिसके द्वारा अपने सैनिकों के **मुष्टिहत्यया**=(मुष्टिप्रहारेण) मुक्कों के प्रहारों से **नि**=निश्चितरूप से **वृत्रा**=शत्रुओं को—राष्ट्र को घेर लेनेवाले दुश्मनों को **निरुणधामहै**=निरुद्ध कर दें। उनको राष्ट्र पर आक्रमण करने से रोक सकें। २. हे प्रभो! **त्वा ऊतासः**=आपसे रक्षित हुए-हुए हम **अर्वता**=अपने घोड़ों से शत्रुओं को **नि** (रुणधमहै)= रोकनेवाले बनें। धन का विनियोग इस पदातिसैन्य व अश्वसैन्य के संग्रह में करके हम राष्ट्र का रक्षण करनेवाले हों।

भावार्थ—हमें प्रभु 'वर्षिष्ठ' धन दें, जिससे उचित संख्या में सैन्यसंग्रह द्वारा राष्ट्र का रक्षण सम्भव हो।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रमरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

धन द्वारा शस्त्रास्त्र संग्रह

इन्द्र त्वोतास आ वयं वज्रं घना ददीमहि। जयेम सं युधि स्पृधः ॥ १९ ॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **त्वा ऊतासः**=आपसे रक्षित हुए-हुए **वयम्**=हम **घना**=दृढ़ **वज्रम्**=वज्र को—शस्त्रास्त्रसमूह को **आददीमहि**=सब प्रकार से ग्रहण करें। राष्ट्ररक्षा के लिए शस्त्रास्त्र की कमी न हो। सैनिकों के लिए उपकरण होंगे तभी तो विजय प्राप्त होगी। २. इस अस्त्र-संग्रह द्वारा हम **युधि**=युद्ध में **स्पृधः**=शत्रुओं को **संजयेम**=सम्यक् पराजित कर सकें।

भावार्थ—हम धन से सैन्यसंग्रह के साथ शस्त्रास्त्र संग्रह करके शत्रुओं का पराभव करनेवाले हों।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रमरुतः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

रक्षणात्मक युद्ध

वयं शूरेभिरस्तृभिरिन्द्र त्वया युजा वयम्। सासह्याम पृतन्यतः ॥ २० ॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावणकुशल प्रभो! **वयम्**=हम **शूरेभिः**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले वीर **अस्तृभिः**=अस्त्रों के फेंकने (चलाने) में कुशल सैनिकों के द्वारा तथा **त्वया युजा**=आपको साथी पाकर, अर्थात् धर्मयुक्त रक्षणात्मक युद्ध करते हुए, **पृतन्यतः**=हमपर सेनाओं द्वारा आक्रमण करनेवाले शत्रुओं को **सासह्याम**=खूब ही पराभूत करनेवाले हों।

भावार्थ—हम नाना शस्त्र-प्रहरण में प्रवीण वीर सैनिकों के द्वारा, प्रभु के आशीर्वाद से हमारे राष्ट्र पर आक्रमण करनेवाले शत्रुओं को कुचल सकें।

अगले सूक्त का ऋषि भी 'मधुच्छन्दाः' ही है—

७१. [एकसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'महान् परः' इन्द्रः

महाँ इन्द्रः परश्च नु महित्वमस्तु वज्रिणे। द्यौर्न प्रथिना शवः ॥ १ ॥

१. वे **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **महान्**=महान् हैं—पूजनीय हैं और **नु च**=अब निश्चय से

परः=सर्वोत्कृष्ट हैं। उस प्रभु की महिमा अनन्त है, उनकी महिमा का वर्णन शब्दों से परे है। **वज्रिणे**=उस वज्रहस्त प्रभु के लिए **महित्वम् अस्तु**=हमारे हृदयों में पूजा का भाव हो। २. उस प्रभु का **शवः**=बल **द्यौः न प्रथिना**=आकाश के समान सर्वत्र फैला हुआ है। आकाश में सर्वत्र प्रभु की शक्ति दृष्टिगोचर होती है।

भावार्थ—सर्वत्र प्रभु की शक्ति को कार्य करता हुआ देखते हुए हम प्रभु का पूजन करें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

विजय किनको मिलती है

समोहे वा य आशत नरस्तोकस्य सनितौ। विप्रासो वा धियायवः॥ २॥

१. संग्राम में विजय **वा**=या तो उन्हें प्राप्त होती है **ये**=जो **समोहे**=संग्राम में **आशत**=शक्ति के कार्यों को करनेवाले इन्द्र को स्तुति से व्याप्त करते हैं। २. तथा जो **नरः**=उन्नति पर चलनेवाले सब व्यक्ति **तोकस्य**=(तु=पूर्तौ) आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आवश्यक धनों को **सनितौ**=प्राप्त करने में लगते है (आशत) ३. **वा**=तथा **धियायवः**=प्रज्ञा की कामनावाले **विप्रासः**= अपना पूरण करनेवाले होते हैं। वे प्रभु-स्तवन करते हुए विजयी होते हैं।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन करते हुए क्षत्रिय संग्राम विजय को, वैश्य धनवृद्धि को तथा ब्राह्मण ज्ञान को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

कर्मवीर, न कि वाग्वीर

यः कुक्षिः सोमपातमः समुद्रइव पिन्वते। उर्वीरापो न काकुदः॥ ३॥

१. **यः कुक्षिः**=जो उदर **सोमपातमः**=अधिक-से-अधिक सोम का पान करनेवाला होता है, अर्थात् सोम को अपने में पूर्णतया सुरक्षित करता है, वही **समुद्रः इव**=अन्तरिक्ष के समुद्र की भाँति **पिन्वते**=सेचन करनेवाला होता है। समुद्र जैसे मेघरूप होकर सबपर सुखों की वर्षा करनेवाला होता है, इसी प्रकार यह संयमी पुरुष भी सभी को सुखी करने का प्रयत्न करता है। २. इस संयमी पुरुष के **आपः**=कर्म **उर्वी**=विशाल होते हैं। 'उदारं धर्ममित्याहुः' उदारता व विशालता ही तो कर्मों को धर्म बनाती है। संकुचित मनोवृत्ति से किये जानेवाले कर्म पाप होते हैं। **न काकुदः**=यह कर्मवीर पुरुष बहुत बोलता नहीं। (काकुद=वाणी)। यह वीर कर्म पर ही बल देता है, बोलने पर नहीं।

भावार्थ—हम सोम-रक्षण करते हुए अन्तरिक्षस्थ मेघ की भाँति सबपर सुखों का वर्षण करनेवाले हों, उदार (विशाल) कार्यों को करनेवाले बनें, बोलें कम।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सूनृता, मही, पक्वा शाखा न (वेदवाणी)

एवा ह्यस्य सूनृता विरप्शी गोमती मही। पक्वा शाखा न दाशुषे॥ ४॥

१. **एवा**=गतमन्त्र के अनुसार सोमपायी बनने पर **हि**=निश्चय से **अस्य**=इस ज्ञानरूप परमैश्वर्यवाले प्रभु की **सूनृता**=(सु ऊन ऋत) उत्तम, दुःखों का परिहाण करनेवाली तथा सत्यज्ञान देनेवाली वेदवाणी **विरप्शी**=विविध सत्यविद्याओं का प्रतिपादन करनेवाली होती है (रप्=व्यक्तायां वाचि)। **गोमती**=यह वेदवाणी प्रशस्त इन्द्रियोंवाली है। अध्ययन करनेवाले की इन्द्रियों को निर्मल बनाती है। **मही**=(मह पूजायाम्) अपने उपासक की मनोवृत्ति को पूजावाली बनाती है। वेदवाणी का उपासक ज्ञानपूर्ण मस्तिष्कवाला—यज्ञादि कर्मों में लगी हुई प्रशस्त

इन्द्रियोंवाला तथा मन में पूजा की वृत्तिवाला होता है। २. यह वेदवाणी **दाशुषे**=दाश्वान् के लिए—दानशील के लिए **पक्वा शाखा न**=परिपक्व शाखा के समान होती है। यह उसके लिए परिपक्व शाखा के समान विविध फलों को प्राप्त करानेवाली होती है। इस वेदवाणी से इसे 'क्षीर, सर्पि, मधु, उदक (सामवेद १२९९) पुण्यभक्ष व अमृतत्व (१३०३ साम) प्राप्त होता है। यह उसे 'आयु-प्राण-प्रजा-पशु-कीर्ति-द्रविण व ब्रह्मवर्चस्' (अथर्व) प्राप्त कराती है।

भावार्थ—वेदवाणी सब सत्यविद्याओं की प्रतिपादक है। यह धनों को देनेवाली है। पूजा की वृत्ति को प्राप्त कराती है तथा इष्टफलों को देनेवाली है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

मावान्-दाश्वान्

एवा हि ते विभूतय ऊतय इन्द्र मावते। सद्यश्चित्सन्ति दाशुषे॥ ५॥

१. **एवा**=इसप्रकार **हि**=निश्चय से हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते विभूतयः**=आपके ऐश्वर्य हैं। ये ऐश्वर्य **मावते**=(प्रमावते) ज्ञानवाले पुरुष के लिए, **ऊतयः**=रक्षा के साधन होते हैं। ज्ञान के द्वारा इनका ठीक प्रयोग करते हुए हम जीवन को 'सत्य-शिव व सुन्दर' बना पाते हैं। २. ये ऐश्वर्य **दाशुषे**=दाश्वान्—दानशील—लोभरहित पुरुष के लिए **चित्**=निश्चय से **सद्यः**=शीघ्र **सन्ति**=प्राप्त होते हैं। त्यागशील पुरुष ही इनसे लाभान्वित हो पाता है।

भावार्थ—हम ज्ञानवान् व त्यागशील बनकर प्रभु के सब पदार्थों का ठीक व मात्रा में प्रयोग करते हुए अपने कल्याण को सिद्ध करें—अपने जीवन को सुरक्षित बनाएँ।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

स्तोम व उक्थ

एवा ह्यस्य काम्या स्तोम उक्थं च शंस्या। इन्द्राय सोमपीतये॥ ६॥

१. **एवा**=इसप्रकार **हि**=निश्चय से **अस्य**=इन ऐश्वर्यों व रक्षणोंवाले इन्द्र के **स्तोमः**=साम-मन्त्रों द्वारा स्तवन **च**=और **उक्थम्**=ऋचाओं द्वारा महिमा का प्रतिपादन **काम्या**=कामयितव्य है—चाहने योग्य है और **शंस्या**=शंसन के योग्य है। सामन्त्रों द्वारा हम प्रभु के गुणों का कीर्तन करें तथा ऋङ्मन्त्रों द्वारा सृष्टि के पदार्थों में रचना-सौन्दर्य-दर्शन से प्रभु की महिमा का शंसन करें। २. ये स्तोम व उक्थ—भक्तिप्रधान व विज्ञानप्रधान स्तवन हृदय व मस्तिष्क से होनेवाला उपासन **इन्द्राय**=परमैश्वर्य की प्राप्ति के लिए होगा और **सोमपीतये**=सोम के रक्षण के लिए होगा। प्रभु-स्तवन द्वारा वासनाओं का विनाश होकर सोम का रक्षण सम्भव होता है। सोम-रक्षण द्वारा यह स्तवन हमें प्रभु को प्राप्त करानेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु का गुणस्तवन व महत्त्वकथन ही हमारे लिए कामयितव्य व शंसनीय हो। यही मार्ग परमैश्वर्य की प्राप्ति का साधक है और सोम-रक्षण में सहायक है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सोम-रक्षण व महत्त्व-प्राप्ति

इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः। महाँ अभिष्टिरोजसा॥ ७॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठातः जीव! तू **इहि**=मेरी ओर आ। **अन्धसः**=इस सोम के द्वारा तू **मत्सि**=आनन्द का अनुभव कर। इन **विश्वेभिः**=सब **सोमपर्वभिः**=सोम के शरीर में ही पूरणों के द्वारा **महान्**=तू बड़ा बनता है। सोम-रक्षण द्वारा मनुष्य उन्नत होता हुआ अन्ततः ब्रह्म को प्राप्त होता है। २. इसप्रकार महान् बनकर **ओजसा अभिष्टिः**=ओजस्विता

के साथ शत्रुओं का अभिभविता बन। (शत्रूणामभिभविता)। सोम-रक्षण से ही 'तेज, बल, ओज, व सहस्' प्राप्त होते हैं और हम शत्रुओं को कुचलने में समर्थ होते हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना करते हुए हम सोम का रक्षण करनेवाले बनें। यही महत्त्व-प्राप्ति का मार्ग है। इसी से हम ओजस्वी बनकर शत्रुओं का अभिभव करनेवाले बनेंगे।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

मन्दी+चक्रि (स्तोता क्रियाशील)

एमेनं सृजता सुते मन्दिमिन्द्राय मन्दिने। चक्रिं विश्वानि चक्रये॥ ८ ॥

१. **ईम्**=निश्चय से **सुते**=उत्पन्न होने पर **एनम्**=इस सोम को **आ सृजता**=(पुनः अभ्युन्नयत सा०) शरीर में ऊर्ध्वगतिवाला करने का प्रयत्न करो। ऊर्ध्वरेता बनना ही जीव का मूल कर्त्तव्य है। २. यह सोम **मन्दिने**=(मन्दतेः स्तुतिकर्मणः) स्तुति करनेवाले **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **मन्दिम्**=आनन्द व हर्ष का देनेवाला है। यही **विश्वानि चक्रये**=सब कर्त्तव्य कर्मों को करने के स्वभाववाले जीव के लिए **चक्रिम्**=क्रियाशीलता को उत्पन्न करनेवाला है।

भावार्थ—शरीर में उन्नीत सोम हमें नीरोगता प्राप्त कराके आनन्दित करता है और शक्ति की वृद्धि द्वारा अनथक कार्य करनेवाला बनाता है।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'सुशिप्र' बनना

मत्स्वा सुशिप्र मन्दिभि स्तोमेभिर्विश्वचर्षणे। सचैषु सवनेष्वा॥ ९ ॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं—हे **सुशिप्र** (हनू नासिके वा नि० ६.२७)=शोभन हनुओं व नासिका-छिद्रोंवाले जीव! हनुओं द्वारा भोजन को खूब चबाकर खानेवाले तथा नासिका-छिद्रों से प्राणसाधना करनेवाले पूर्ण नीरोग व निर्दोष जीवनवाले जीव! तू **मन्दिभिः**=आनन्द देनेवाले **स्तोमेभिः**=प्रभु-स्तवनों से **मत्स्व**=एक मस्ती का अनुभव कर—तेरा हृदय प्रभु-स्तवन द्वारा आनन्द से परिपूर्ण हो जाए। खूब चबाकर खाने से भोजन का सम्यक् परिपाक होकर वीर्य आदि धातुओं का उत्तम निर्माण होगा। प्राणसाधना से इस वीर्य की ऊर्ध्वगति होगी। प्रभु-स्तवन भी इस कार्य में सहायक होगा। अब जीवन में एक मस्ती का अनुभव होगा। २. हे **विश्वचर्षणे**=सब मनुष्यों का ध्यान करनेवाले स्तोता! **एषु सवनेषु**=जीवन के 'प्रातः-माध्यन्दिन व सायन्तन' सवनों में **सचा**=सदा सोम के साथ रहता हुआ (सह) अथवा सोम का शरीर में ही समवाय (षच् समवाये) करता हुआ **आ** (गच्छ)=तू हमारे प्रति आ।

भावार्थ—हम खूब चबाकर भोजन करते हुए वीर्य का सुन्दर निर्माण करें। प्राणसाधना द्वारा वीर्य की ऊर्ध्वगतिवाले हों। प्रभु-स्तवन में एक मस्ती का अनुभव करें। लोकहित में रत हुए-हुए सदा सोम-रक्षण द्वारा प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'सुखों के वर्षक व पालक' प्रभु

असृग्रमिन्द्र ते गिरः प्रति त्वामुदहासत। अजोषा वृषभं पतिम्॥ १० ॥

१. हे **इन्द्र**=मेरे सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **ते गिरः असृग्रम्**=आपके स्तुतिवचनों का निर्माण करता हूँ। ये स्तुतिवचन **त्वाम् प्रति**=आपके प्रति **उद् अहासत**=उद्गत होकर प्राप्त होते हैं। २. ये मेरे स्तुतिवचन **वृषभम्**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले **पतिम्**=सबके रक्षक आपको **अजोषा**=प्रिय हों—आपकी प्रीति का कारण बनें। मै कर्मशील बनकर इन

स्तुतिवचनों से आपको आराधित कर पाऊँ।

भावार्थ—हम कर्मों के द्वारा प्रभु का स्तवन करें। प्रभु को ही सुखों का वर्धक व पालक जानें। ये हमारी स्तुतियाँ हमें प्रभु का प्रीतिपात्र बनाएँ।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'चित्र-वरेण्य-विभु' राधस्

सं चौदय चित्रमर्वाग्राध इन्द्र वरेण्यम्। असदित्ते विभु प्रभु॥ ११ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **राधः**=उस कार्य-साधक ऐश्वर्य को **अर्वाक् संचोदय**=हमारे अभिमुख प्रेरित कीजिए जोकि **चित्रम्**=ज्ञान का वर्धक है (चित्+र) तथा **वरेण्यम्**=वरने के योग्य है—श्रेष्ठ है—श्रेष्ठ साधनों से कमाया गया है। २. हे प्रभो! **ते**=आपकी कृपा से ही वह धन **असत्**=प्राप्त होता है जोकि **विभु**=आवश्यक योग्य वस्तुओं के जुटाने के लिए पर्याप्त है और **प्रभु**=प्रभावजनक है। **इत्**=निश्चय से हे प्रभो! वह धन **ते**=आपका ही है।

भावार्थ—प्रभु हमें 'चित्र-वरेण्य-विभु-प्रभु' धन प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

रभस्वतः-यशस्वतः

अस्मान्त्सु तत्र चोदयेन्द्र राये रभस्वतः। तुविद्युम्न यशस्वतः॥ १२ ॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **अस्मान्**=हमें **तत्र**=वहाँ **राये**=ऐश्वर्य के लिए **सुचोदय**=सम्यक् प्रेरित कीजिए। उन हमें प्रेरित कीजिए जोकि **रभस्वतः**=उद्योगवाले हैं। हम श्रम द्वारा ही धन को प्राप्त करें और धन को प्राप्त करके भी श्रमशील बने रहें। आराम करनेवाले न बन जाएँ। २. हे **तुविद्युम्न**=महान् धनवाले प्रभो! हम **यशस्वतः**=यशस्वी जीवनवालों को ऐश्वर्य के लिए प्रेरित कीजिए। धन का अर्जन करके, महाधन बनकर, हम उस धन का यज्ञ आदि उत्तम कार्यों में विनियोग करें, जिससे यशस्वी हों। इस धन से भोगविलास में फँसकर हम अपयश व विनाश के मार्ग पर न चल दें।

भावार्थ—श्रम द्वारा धन का अर्जन करते हुए हम उसे यज्ञ आदि उत्तम कार्यों में विनियुक्त करते हुए यशस्वी बनें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'विश्वायु-अक्षित' धन

सं गोमदिन्द्र वाजवदस्मे पृथु श्रवो बृहत्। विश्वायुर्धेह्यक्षितम्॥ १३ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अस्मे**=हमारे लिए उस **श्रवः**=यशस्वी धन को **संधेहि**=धारण कीजिए जोकि **गोमत्**=प्रशस्त गौओंवाला हो—जिस धन के द्वारा हम घरों में गौवों को रख सकें। **वाजवत्**=प्रशस्त अन्नवाले धन को धारण कीजिए। धन के द्वारा हम शक्तिवर्धक अन्नों को जुटा सकें। यह धन **पृथु**=विस्तारवाला व **बृहत्**=वृद्धिवाला हो। इस धन के विनियोग से हम शक्तियों का विस्तार करते हुए वृद्धि को प्राप्त हों। २. यह धन हमें **विश्वायुः**=पूर्ण जीवन देनेवाला हो। इस धन से हमारे शरीरों में शक्ति का वर्धन हो, मनों में पवित्रता बढ़े, अर्थात् हम यज्ञादि की प्रवृत्तिवाले बनें न कि भोगवृत्तिवाले तथा ज्ञान के साधनों को जुटाते हुए हम दीप्त मस्तिष्कवाले बनें। यह धन **अक्षितम्**=किसी भी प्रकार से हमें क्षीण न करे।

भावार्थ—प्रभु हमें 'गोमान्-वाजवान्-पृथु-बृहत्-विश्वायु-अक्षित' धन प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

द्युम्नं, श्रवः, रथिनी, इषः

अस्मे धेहि श्रवो बृहद् द्युम्नं सहस्रसातमम्। इन्द्र ता रथिनीरिषः॥ १४॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अस्मे**=हमारे लिए **श्रवः**=श्रवणीय—यशस्वी धन को **धेहि**=धारण कीजिए, जो धन **बृहत्**=वृद्धि का कारण बने, **द्युम्नम्**=ज्ञान की ज्योतिवाला हो, **सहस्रसातमम्**=सहस्रों के साथ संविभागपूर्वक सेवनीय हो—जिस धन को हम अकेले ही नहीं खा जाते। २. हे प्रभो! हमारे लिए **ताः**=उन **इषः**=अन्नों को प्राप्त कराइए, जोकि **रथिनीः**=उत्तम शरीररूप रथोंवाले हैं—जिनके द्वारा शरीररूप रथ उत्तम बनता है।

भावार्थ—प्रभु हमें यशस्वी व ज्ञानज्योति को बढ़ानेवाला धन दें तथा उन उत्तम अन्नों को प्राप्त कराएँ जिनके द्वारा हम शरीर-रथ को उत्तम बना सकें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

वसुपतिं-ऋग्मियम्

वसोरिन्द्रं वसुपतिं गीर्भिर्गृणन्त ऋग्मियम्। होम गन्तारमूतये॥ १५॥

१. हम **गीर्भिः गृणन्तः**=यज्ञरूप वाणियों से प्रभु का स्तवन करते हुए **वसोः ऊतये**=धनों से आवश्यकताओं की पूर्ति के द्वारा आभरण के लिए उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को **होम**=पुकारते हैं, जो **वसुपतिम्**=सब धनों के स्वामी हैं तथा **ऋग्मियम्**=विज्ञानात्मक ऋचाओं का निर्माण करनेवाले हैं (ऋचौ मिमीते—सा०)। वस्तुतः ऋचाओं द्वारा विज्ञान को प्राप्त करके ये वैज्ञानिक सब पदार्थों में प्रभु की महिमा को देखते हुए प्रभु का स्तवन करते हैं। २. हम उन प्रभु को (ऊतये) अपने रक्षण के लिए पुकराते हैं जो **गन्तारम्**=स्तोता को अवश्य प्राप्त होते ही हैं।

भावार्थ—प्रभु सब धनों के स्वामी व ऋचाओं द्वारा ज्ञान देनेवाले हैं। हम प्रभु का स्तवन करते हैं। हम प्रभु को पुकराते हैं, प्रभु हमें धन व ज्ञान प्राप्त कराके हमारा रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

शत्रु-शोषक बल की अर्चना

सुतेसुते न्यो ꣳकसे बृहद् बृहत एदरिः। इन्द्राय शूषमर्चति॥ १६॥

१. **बृहत्**=वृद्धि को प्राप्त करनेवाला **अरिः** (इयर्ति)=क्रियाशील व्यक्ति **सुते-सुते**=प्रत्येक सोम-सम्पादन का कार्य होने पर **न्योकसे**=निश्चितरूप से हममें निवास करनेवाले **बृहते**=सदा से वृद्ध **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए—प्रभु की प्राप्ति के लिए—**शूषम्**=शत्रु-शोषक बल को **अर्चति**=पूजित करता है। २. प्रभु को वही प्राप्त करता है जोकि वृद्धिशील है—क्रियामय जीवनवाला है, सोम का रक्षण करता है और बल का सम्पादन करता है।

भावार्थ—हम सोम का सम्पादन करें, वर्धनशील व क्रियामय जीवनवाले बनें, शक्ति की अर्चना करें, कामादि शत्रुओं का शोषण करके प्रभु को प्राप्त हों।

यह शक्ति की अर्चना करनेवाला अंग-प्रत्यंग में—प्रत्येक पर्व में शक्तिशाली बनता हुआ 'परुच्छेपः' कहलाता है=पर्व-पर्व में शक्तिवाला। यह इन्द्र की अर्चना करता हुआ कहता है—

७२. [द्विसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—परुच्छेपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अत्यष्टिः ॥

यज्ञ+स्तोम+प्रभु-दर्शन

विश्वेषु हि त्वा सवनेषु तुञ्जते समानमेकं वृषमण्यवः पृथक्स्वः सनिष्यवः पृथक्। तं त्वा नावं न पर्षणिं शूषस्य धुरि धीमहि। इन्द्रं यज्ञैश्चितयन्त आयवः स्तोमेभिरिन्द्रमायवः॥ १॥

१. हे प्रभो! **वृषमण्यवः**=आपको ही सब सुखों का वर्षक जाननेवाले लोग **हि**=निश्चय से **विश्वेषु**=सब **सवनेषु**=यज्ञों में **त्वा**=आपके प्रति **तुञ्जते**=अपने को दे डालते हैं। इन सब यज्ञों को आपसे ही होता हुआ वे देखते हैं। ये सब **पृथक्**=अगल-अलग **स्वः सनिष्यवः**=सुख व प्रकाश को प्राप्त करने की कामनावाले लोग **पृथक्**=अगल-अलग होते हुए भी **समानम्**=सबके प्रति समान **एकम्**=अद्वितीय आपके ही प्रति अपने को दे देनेवाले होते हैं। आपके प्रति अर्पण करते हुए आपकी शक्ति से अपने यज्ञ आदि कर्मों को सिद्ध करनेवाले होते हैं। २. **नावं न पर्षणिम्**=नाव के समान इस भवसागर से पार लगानेवाले **तं त्वा**=उन आपको ही **शूषस्य धुरि**=सब सुखों व बलों के अग्रभाग में **धीमहि**=धारण करते हैं। आप ही सब शक्तियों के देनेवाले हैं, आप ही इन शक्तियों के द्वारा सुखों को प्राप्त कराते हैं। ३. **आयवः**=क्रियाशील मनुष्य **यज्ञैः**=देवपूजा-संगतिकरण व दानरूप धर्मों से **इन्द्रं न** (नः एव)=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही **चितयन्तः**=अपने में चेताने के लिए यत्नशील होते हैं। **आयवः**=ये क्रियाशील मनुष्य **स्तोमेभिः**=स्तुतिसमूहों से **इन्द्रम्**=उस सर्वशक्तिमान् प्रभु को अपने हृदयों में प्रबुद्ध करते हैं। यज्ञों व स्तोत्रों से अपने को प्रभु-दर्शन के योग्य बनाते हैं।

भावार्थ—यज्ञों को करना और उन्हें प्रभु के प्रति अर्पित करना ही मोक्ष व सुख-प्राप्ति का साधन है। प्रभु ही हमें शक्तियों व सुखों को प्राप्त कराते हैं। वे ही भवसागर से तराते हैं। यज्ञों व स्तोत्रों से हम प्रभु-दर्शन के पात्र बनते हैं।

ऋषिः—परुच्छेपः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अत्यष्टिः ॥

क्रियामय जीवन व प्रभु-पूजन

वि त्वा ततस्रे मिथुना अवस्यवो व्रजस्य साता गव्यस्य निःसृजः सक्षन्त इन्द्र निःसृजः। यद्गव्यन्ता द्वा जना स्वर्यन्ता समूहसि। आविष्करिक्रद् वृषणं सचाभुवं वज्रमिन्द्र सचाभुवम्॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अवस्यवः**=रक्षण की कामनावाले **मिथुनाः**=छन्दों के रूप में रहनेवाले पति-पत्नी **त्वा**=आपका लक्ष्य करके **विततस्रे**=वासनाओं को विनष्ट करते हैं। (**वितस्**=to reject)। २. **गव्यस्य व्रजस्य**=इस इन्द्रियसमूह के **साता**=प्राप्ति के निमित्त **निःसृजः**=ये निश्चय से त्याग की वृत्तिवाले होते हैं अथवा पापों को अपने से निर्गत करनेवाले होते हैं (पापं निर्गमयन्तः)। हे इन्द्र! **सक्षन्त**=आपका सेवन करते हुए ये **निःसृजः**=पाप को अपने से दूर करते हैं। ३. **यत्**=जब **गव्यन्ता**=वेदवाणी की कामना करते हुए **द्वा जना**=दो लोगों को—अर्थात् पति-पत्नी को **स्वर्यन्ता**=स्वर्ग की ओर जाते हुओं को—जो अपने घर को स्वर्ग बना रहे हैं उनको **समूहसि**=आप सम्यक् धारण करते हो तब आप हे **इन्द्र**=प्रभो! **सचाभुवम्**=सदा साथ रहनेवाले **वृषणम्**=शक्ति देनेवाले अथवा सुखों का वर्षण करनेवाले **वज्रम्**=क्रियाशीलतारूप वज्र को **आविष्करिक्रत्**=प्रकट करते हुए होते हो। उस क्रियाशीलता को जोकि सदा साथ रहती

है (सचाभुवम्)। इस क्रियाशीलता के द्वारा ही हम ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं—अपनी शक्ति का वर्धन करनेवाले होते हैं और इसप्रकार अपने जीवन को स्वर्गोपम सुखवाला बनाते हैं।

भावार्थ—पति-पत्नी का मूल कर्त्तव्य प्रभु की उपासना के द्वारा जीवन को पवित्र रखना है। ज्ञान की रुचिवाले बनकर वे अपने घर को स्वर्गोपम बनाएँ। उसका जीवन सतत क्रियामय हो।

ऋषिः—**परुच्छेपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अत्यष्टिः** ॥

प्रातः जागरण—ध्यान व हवन

उतो नो अस्या उषसो जुषेत ह्य१र्कस्य बोधि हविषो हवीमभिः स्वर्षाता हवीमभिः।
यदिन्द्र हन्तवे मृधो वृषा वज्रिञ्चिकेतसि।
आ मे अस्य वेधसो नवीयसो मन्म श्रुधि नवीयसः॥ ३॥

१. प्रभु कहते हैं कि मनुष्य **उत उ**=निश्चय से **नः**=हमारी **अस्याः उषसः**=इस उषा का **जुषेत**=प्रीतिपूर्वक सेवन करे, अर्थात् हम प्रातःकाल जाग जाएँ। यह प्रातःजागरण हमें प्रभु का प्रिय बनाएगा। **हि**=निश्चय से **अर्कस्य**=स्तुतिमन्त्रों को **बोधि**=जानें। हम प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाले बनें। **हवीमभिः**=प्रभु पुकारों के साथ **हविषः**=हवि को **बोधि**=जानें, अर्थात् हम प्रभु की प्रार्थना के साथ अग्निहोत्र करनेवाले बनें। २. हे **इन्द्र**=शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभो! आप **हवीमभिः**=हमारी प्रार्थनाओं के साथ **स्वर्षाता**=स्वर्ग-प्राप्ति की साधनभूत हवियों को जानिए। हम स्तुति के साथ अग्निहोत्र अवश्य करें। **वृषा**=शक्तिशाली **वज्रिन्**=क्रियाशीलतारूप वज्रवाले प्रभो! आप **मृधः**=शत्रुओं को **हन्तवे चिकेतसि**=मारने के लिए जानते हो। आप **नवीयसः**=अतिशयेन स्तवन करनेवाले **वेधसः मे**=मेधावी मेरे **मन्म**=स्तोत्र को **आश्रुधि**=सर्वथा श्रवण कीजिए। **नवीयसः**=नवतर जीवनवाले मेरे स्तवन को अवश्य ही सुनिए।

भावार्थ—हम प्रातः जागें, प्रभु-स्तवन में प्रवृत्त हों, अग्निहोत्र करें। प्रभु हमारे काम आदि शत्रुओं का संहार करेंगे। हम मेधावी व नमनशील बनकर स्तोत्रों का उच्चारण करें।

इसप्रकार उत्तम जीवनवाले हम 'वसिष्ठ' होंगे। यह वसिष्ठ अगले सूक्त में प्रथम तीन मन्त्रों का ऋषि है। काम आदि शत्रुओं का संहार करके उत्तम वसुओं को प्राप्त करनेवाले (क्रामति गच्छति) 'वसुक्र' होंगे। ४-६ तक यही ऋषि है—

७३. [त्रिसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्**॥

सवना ब्रह्माणि

तुभ्येदिमा सवना शूर विश्वा तुभ्यं ब्रह्माणि वर्धना कृणोमि।
त्वं नृभिर्हव्यो विश्वधाऽसि॥ १॥

१. हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **इमा**=ये **विश्वा**=सब **सवना**=यज्ञ **तुभ्य इत्**=आपके लिए ही हैं—आपकी प्राप्ति के लिए ही ये यज्ञ किये जाते हैं। **तुभ्यम्**=आपकी ही **वर्धना**=महिमा का वर्धन करनेवाले इन **ब्रह्माणि**=ज्ञानपूर्वक उच्चरित स्तोत्रों को **कृणोमि**=करता हूँ। आपकी महिमा का स्तवन करता हुआ मैं आपके प्रकाश को अपने में बढ़ा पाता हूँ। २. हे प्रभो! **त्वम्**=आप **नृभिः**=उन्नति-पथ पर चलनेवाले मनुष्यों से **विश्वधा**=सब प्रकार से **हव्यः असि**=पुकारने योग्य हैं। आपका आराधन करता हुआ ही मनुष्य वासनाओं से बचकर उन्नति-पथ पर आगे बढ़ता है।

भावार्थ—हम यज्ञों-स्तोत्रों व आराधनों को करते हुए आगे बढ़ते चलें और प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्**॥

अनन्त 'महिमा-पराक्रम व ऐश्वर्य'

नू चिन्नु ते मन्यमानस्य दस्मोदश्नुवन्ति महिमानमुग्र।
न वीर्य॑मिन्द्र ते न राधः॥ २॥

१. हे **उग्र**=तेजस्विन् **दस्म**=दर्शनीय प्रभो! **मन्यमानस्य**=सब-कुछ जानते हुए **ते**=आपकी **महिमानम्**=महिमा को **नू चित् नु**=न ही कोई **उत् अश्नुवन्ति**=व्याप्त करने में समर्थ होते हैं। आपकी अनन्त महिमा को यह सारा ब्रह्माण्ड भी व्याप्त नहीं कर पाता। यह तो आपके एक देश में ही है 'एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः'। २. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **न**=नहीं **ते**=आपके **वीर्यम्**=पराक्रम को और न **राधः**=न ही ऐश्वर्य को कोई नाप सकता है। आपका पराक्रम व ऐश्वर्य अनन्त है, वह मापा नहीं जा सकता।

भावार्थ—प्रभु की 'महिमा, पराक्रम व ऐश्वर्य' अनन्त हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्**॥

स्तवन+सुमति

प्र वो महे महिवृधे भरध्वं प्रचेतसे प्र सुमतिं कृणुध्वम्।
विशः पूर्वीः प्र चरा चर्षणिप्राः॥ ३॥

१. हे मनुष्यो! उस **महे**=महान्, **महिवृधे**=महान् वृद्धि करनेवाले प्रभु के लिए **प्रभरध्वम्**=स्तुति का भरण करो। **प्रचेतसे**=उस प्रकृष्ट ज्ञानवाले प्रभु के लिए **सुमतिम्**=कल्याणीमति को **प्रकृणुध्वम्**=प्रकर्षेण करनेवाले बनो। यह स्तुति व सुमति ही तुम्हें प्रभु की ओर ले-चलेगी। २. हे प्रभो! आप **पूर्वी**=पालन व पूरण करनेवाली **विशः**=प्रजाओं में **प्रचरः**=गतिवाले होते हो। वस्तुतः **चर्षणिप्राः**=आप ही इन श्रमशील मनुष्यों का पूरण करते हो। जितना-जितना मैं प्रभु का भाव जागरित करूँगा उतना-उतना ही उन्नत होता जाऊँगा।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए हम स्तवन की वृत्तिवाले बनें, सुमति का सम्पादन करें, अपना पालन व पूरण करने के लिए यत्नशील हों।

ऋषिः—**वसुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

'हिरण्य-वज्र'

यदा वज्रं हिरण्यमिदथा रथं हरी यमस्य वहतो वि सूरिभिः।
आ तिष्ठति मघवा सनश्रुत इन्द्रो वाजस्य दीर्घश्रवसस्पतिः॥ ४॥

१. **यदा**=जब **वज्रम्**=(वज् गतौ) हमारी क्रिया **हिरण्यम्**=हित-रमणीय (स्वर्णीय) होती है, अथवा जब हमारी सब क्रियाएँ स्वर्णीय मध्य से होती हैं, अर्थात् जब हम जागने व खाने-पीने आदि सारी क्रियाओं में मध्यमार्ग का अवलम्बन करते हैं, **अथा**=तब **इत्**=निश्चय से **रथम्**=हमारे शरीर-रथ को **हरी**=इन्द्रियाश्व **यमस्य वहतः**=उस नियन्ता प्रभु की ओर ले-चलते हैं। २. उस समय **मघवा**=ऐश्वर्यों व यज्ञोंवाला होकर **सनश्रुतः**=सनातन वेदज्ञानवाला होता हुआ **विसूरिभिः**=विशिष्ट ज्ञानियों के साथ **आतिष्ठति**=सर्वथा स्थित होता है। यह व्यक्ति **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय बनता है और **वाजस्य**=बल का तथा **दीर्घश्रवसः**=तामस् व राजस् वासनाओं के विदारक ज्ञान

का **पतिः**=स्वामी होता है।

भावार्थ—प्रभुभक्त हितरमणीय क्रियाओंवाला होता है। बल व ज्ञान का पति बनता है। जितेन्द्रिय होता है।

ऋषिः—**वसुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

सुक्षयम् (उत्तम गृह)

सो चिन्नु वृष्टिर्यूथ्या३ स्वा सचाँ इन्द्रः श्मश्रूणि हरिताभि प्रुष्णुते।
अव वेति सुक्षयं सुते मधूदिद्धूनोति वातो यथा वनम्॥ ५॥

१. **स उ**=और वह **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **चित् नु**=निश्चय से अब **वृष्टिः**=सबपर सुखों की वृष्टि करनेवाला होता है। प्रभुभक्त सर्वभूतहितेरत होता ही है। यह **स्वा यूथ्या**=अपने समूह में होनेवाले ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, प्राण व अन्तःकरण के पञ्चकों को **सचा**=उस प्रभु से मेलवाला करता है। २. **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **श्मश्रूणि**=शरीर में (श्म) आश्रित (श्रि) 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' को **हरिता**=सब मलों का हरण करनेवाले सोमकणों से **अभिप्रुष्णुते**=सींचता है। यह सोम इन्द्रियों को सशक्त, मन को निर्मल व बुद्धि को तीव्र बनाता है। इसप्रकार यह **सुक्षयम्**=उत्तम शरीररूप गृह को **अववेति**=आभिमुख्येन प्राप्त होता है। **सुते**=सोम के उत्पन्न होने पर **मधु**=यह सारभूत सोम **इत्**=निश्चय से **उत् धूनोति**=सब मलों को इसप्रकार कम्पित कर देता है **यथा**=जैसे **वातः वनम्**=वायु वन को। वायु पत्रों को हिलाकर उनके मल को दूर कर देता है, इसी प्रकार सोम 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' को निर्मल कर देता है।

भावार्थ—सोम शरीर में सुरक्षित होकर निर्मलता का साधक होता है।

ऋषिः—**वसुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अभिसारिणीत्रिष्टुप्** ॥

न विवाचः, न मृध्रवाचः

यो वाचा विवाचो मृध्रवाचः पुरू सहस्राशिवा जघान।
तत्तदिदस्य पौंस्यं गृणीमसि पितेव यस्तविषीं वावृधे शवः॥ ६॥

१. **यः**=जो **वाचः**=वेदवाणी के द्वारा **विवाचः**=विरुद्ध वाणीवाले अथवा बहुत बोलनेवाले तथा **मृध्रवाचः**=हिंसायुक्त वाणीवाले, अर्थात् कटुभाषी **पुरू सहस्रा**=अनेक हज़ारों **अशिवा**=अकल्याणकर शत्रुओं को **जघान**=नष्ट करते हैं। वेदवाणी द्वारा उपदेश देकर प्रभु मनुष्यों को 'बहुत बोलने से तथा कड़वा बोलने से' रोकते हैं। बहुत बोलने व कड़वा बोलनेवाले व्यक्ति कर्मवीर नहीं हुआ करते। २. कर्मवीर बनने के लिए हम **अस्य**=इस प्रभु के **तत् तत्**=उस-उस **पौंस्य**=वीरतायुक्त कर्म का **इत्**=निश्चय से **गृणीमसि**=स्तवन करते हैं। इस स्तवन के द्वारा हम भी वीरतापूर्ण कर्मों को करने की प्रेरणा करते हैं। उस समय वे प्रभु **पिता इव**=हमारे पिता की भाँति होते हैं, **यः**=जोकि **तविषीम्**=हमारे बलों को तथा बल के द्वारा **शवः**=क्रियाशीलता को **वावृधे**=बढ़ाते हैं।

भावार्थ—हम असंगत व बहुत प्रलापों को तथा हिंसायुक्त वाणियों को छोड़कर वीरतापूर्ण कर्मों में प्रवृत्त हों। प्रभु हमारे रक्षक होंगे, वे हमें बल व क्रियाशीलता प्राप्त कराएँगे।

कर्मवीर बनकर हम सुख-निर्माण करनेवाले 'शुनःशेप' बनेंगे। 'शुनःशेप' ही अगले सूक्त के ऋषि हैं—

७४. [चतुःसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**शुनःशेपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

प्रशस्त, न कि अनाशस्त

यच्चिद्धि सत्य सोमपा अनाशस्ताईव स्मसि।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्त्रेषु तुवीमघ॥ १॥

१. हे **सत्य**=सत्यस्वरूप **सोमपा**=हमारे सोम का रक्षण करनेवाले प्रभो! **यत्**=जो हम **चित्**=निश्चय से **अनाशस्ताः इव**=अप्रशस्त से जीवनवाले **स्मसि**=हैं, अतः हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यवाले प्रभो! आप **नः**=हमें **तु**=तो **आ**=सब प्रकार से **शुभ्रिषु**=शुद्ध व **सहस्त्रेषु (स हस्)**=मनःप्रसाद से युक्त **गोषु**=ज्ञानेन्द्रियों में तथा **अश्वेषु**=कर्मेन्द्रियों में **शंसय**=प्रशस्त बनाइए। २. हे प्रभो! आप **तुवीमघ**=महान् ऐश्वर्यवाले हैं। आपके ऐश्वर्य में भागी बनकर हम भी प्रशस्त व आनन्दमय जीवनवाले बनें। हे प्रभो! आप 'सत्य' हैं, मैं भी सत्य के द्वारा पवित्र मनवाला बनूँ। आप 'सोमपाः' हैं—मन को पवित्र करके मैं भी सोम का रक्षण करनेवाला बनूँ। 'इन्द्र' नाम से आपका स्मरण करता हुआ मैं भी जितेन्द्रिय बनूँ। यह जितेन्द्रियता ही तो मुझे 'त्रिभुवन-विजेता' व 'तुवीमघ' बनाएगी।

भावार्थ—वे 'सत्य, सोमपा इन्द्र' मेरे जीवन को शुभ व मेरी इन्द्रियों को निर्मल बनाने की कृपा करें। मैं अनाशस्त से प्रशस्त बन जाऊँ।

ऋषिः—**शुनःशेपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

स्वकर्मों द्वारा (तव दंसना)

शिप्रिन्वाजानां पते शचीवस्तव दंसना।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्त्रेषु तुवीमघ॥ २॥

१. जीव की प्रार्थना पर प्रभु जीव से कहते हैं कि **शिप्रिन्**=उत्तम हनुओं व नासिकावाले! सात्त्विक पदार्थों को चबाकर खाने के द्वारा उत्तम जबड़ोंवाले तथा प्राणसाधना द्वारा उत्तम नासिकावाले! सात्त्विक भोजन व प्राणायाम द्वारा **वाजानां पते**=शक्तियों के स्वामिन्! तथा **शचीवः**=उत्तम प्रज्ञा व कर्मोंवाले **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **तव दंसना**=तेरे कर्मों से ही तूने 'तुवीमघ' बनना है। २. तेरे कर्मों से ही तू **नः**=हमारी—हमसे दी गई इन **शुभ्रिषु**=शुद्ध व **सहस्त्रेषु**=प्रसन्न **गोषु**=ज्ञानेन्द्रियों में तथा **अश्वेषु**=कर्मेन्द्रियों में **आशंसय**=अपने जीवन को प्रशंसनीय बना। वस्तुतः हमारे कर्म ही हमें 'तुवीमघ' बनाएँगे। सबसे प्रथम तो हम (क) (शिप्रिन्) उत्तम सात्त्विक भोजन को चबाकर खाएँ तथा नियमित रूप से प्राणसाधना करनेवाले हों। (ख) (वाजानां पते) सात्त्विक भोजन व प्राणायाम द्वारा शक्तियों का रक्षण करें। (ग) (शचीवः) उत्तम प्रज्ञा व कर्मोंवाले बनें।

भावार्थ—हम 'शिप्री, वाजानां पति व शचीवान् तथा इन्द्र' बनकर शुद्ध, प्रशस्त इन्द्रियोंवाले व अत्यन्त प्रशस्त जीवनवाले बनें।

ऋषिः—**शुनःशेपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

आत्मालोचन व स्वाध्याय

नि ष्वापया मिथूदृशा सस्तामबुध्यमाने।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्त्रेषु तुवीमघ॥ ३॥

१. **मिथूदृशा**=एक-दूसरे को ही देखनेवालों को **निःष्वापया**=निश्चितरूप में सुला दीजिए, अर्थात् हम एक-दूसरे के ही दोषों को देखने में न लगे रहें, प्रत्युत् अपने ही जीवन का आलोचन करके अपने दोषों को दूर करनेवाले बनें। २. **अबुध्यमाने**=जो प्रतिदिन स्वाध्याय के द्वारा अपने बोध को बढ़ाते नहीं वे **सस्ताम्**=समाप्त हो जाएँ (सस् cease)। हम नैत्यिक स्वाध्याय के द्वारा अपने ज्ञान को बढ़ानेवाले बनें। प्रभु से कहते हैं कि हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आत्मालोचन व स्वाध्याय करनेवाले **नः**=हमें आप **शुभ्रेषु**=शुद्ध व **सहस्रेषु**=आनन्दयुक्त **गोषु**=ज्ञानेन्द्रियों में तथा **अश्वेषु**=कर्मेन्द्रियों में **आशंसय**=प्रशंसायुक्त जीवनवाला बनाइए। **तुवीमघ**=आप तो महान् ऐश्वर्यवाले हैं—हमें भी अपने ही समान ऐश्वर्ययुक्त कीजिए।

भावार्थ—हम आत्मालोचन व स्वाध्याय के द्वारा प्रशस्त इन्द्रियोंवाले बनें।

ऋषिः—**शुनःशेपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

अराति-स्वप्न, राति-जागरण

सुसन्तु त्या अरातयो बोधन्तु शूर रातयः।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ॥ ४॥

१. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आपकी कृपा से **त्या**=वे **अरातयः**=न दान की वृत्तियाँ **ससन्तु**=हमारे जीवन में समाप्त हो जाएँ और **शूर**=हे सब शत्रुओं का हिंसन करनेवाले प्रभो! **रातयः**=दानवृत्तियाँ **बोधन्तु**=जाग उठें। वस्तुतः यह दानवृत्ति ही सब बुराइयों का खण्डन करके (दाप् लवने) हमारे जीवन को शुद्ध बनाती हैं। (दैप् शोधने)। २. हे **इन्द्र** (शत्रुओं के विद्रावक प्रभो)! आप इस दानवृत्ति से **नः**=हमें **शुभ्रिषु**=शुद्ध व **सहस्रेषु**=आनन्दयुक्त **गोषु अश्वेषु**=ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों में **आशंसय**=सर्वतः प्रशंसनीय बना दीजिए। **तुवीमघ**=आप महान् ऐश्वर्यशाली हैं। जीवन को शुद्ध बनाकर हम भी आपके ऐश्वर्य में भागी बनें।

भावार्थ—हम अदानवृत्ति से दूर हों। दान की वृत्ति हमारे जीवन को शुद्ध बना दे।

ऋषिः—**शुनःशेपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

'गर्दभ' न बनना

समिन्द्र गर्दभं मृण नुवन्तं पापयामुया।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ॥ ५॥

१. हे **इन्द्र**=सब इन्द्रियों के ऐश्वर्य को प्राप्त करानेवाले प्रभो! **अमुया पापया**=उस पापयुक्त सदा अशुभ शब्दों को बोलनेवाली वाणी से **नुवन्तम्**=शब्द करते हुए—बकवास करते हुए **गदर्भम्**=इस गधे को—नासमझ को **संमृण**=सम्यक्, पूर्णतया नष्ट कर दे (मृण हिंसायाम्), अर्थात् प्रभु-कृपा से हम कभी भी अशुभ शब्दों के बोलनेवाले न हों। गधे न बनें। समझदार बनकर सदा शुभ ही शब्द बोलें। २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **नः**=हमें **शुभ्रिषु**=शुद्ध व **सहस्रेषु**=सदा प्रसन्न **गोषु अश्वेषु**=ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों में **आशंसय**=प्रशंसनीय जीवनवाला बना दीजिए। **तुवीमघ**=आप महान् ऐश्वर्यवाले हैं। मैं भी औरों की निन्दा न करता हुआ अपने जीवन को उत्कृष्ट बनाता हुआ आपके समान ही 'तुवीमघ' बनने का प्रयत्न करूँ।

भावार्थ—वह वाणी पापमय है, जो औरों की निन्दा ही करती रहती है। हम ऐसे नामसझ न बनें कि हमारी वाणी पाप-कीर्तन ही करती रहे।

ऋषि:—**शुन:शेप:** ॥ देवता—**इन्द्र:** ॥ छन्द:—**पङ्क्ति:** ॥

'कुटिलता, क्रूरता व क्रोध' से दूर

पताति कुण्डृणाच्या दूरं वातो वनादधि।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ॥ ६॥

१. **कुण्डृणाच्या**=(कुडि दाहे, ऋण् गतौ, अञ्च गतौ) दहनात्मक कुटिल गति से चलनेवाली **वात:**=वायु **वनात् अधि दूरम्**=वन से अधिक दूर होकर **पताति**=चलती है, अर्थात् हमारे जीवन से यह कोसों दूर रहती है। हमारे मस्तिष्कों में ऐसी हवा नहीं भर जाती जिसमें दहनात्मकता है—'कुटिलता, क्रूरता व क्रोध' है। हमारी वाणी आँधी की भाँति औरों का हिंसन करनेवाली नहीं होती। २. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप **तु**=तो **न:**=हमें **शुभ्रिषु**=शुद्ध व **सहस्रेषु**=संप्रसादवाली **गोषु अश्वेषु**=ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों में **आशंसय**=सब प्रकार से प्रशस्त जीवनवाला बनाइए। **तुवीमघ**=हे महान् ऐश्वर्यवाले प्रभो! मैं भी इन्द्रियों को प्रशस्त बनकर अध्यात्म ऐश्वर्य को प्राप्त करनेवाला बनूँ।

भावार्थ—कुटिल गति से चलनेवाली दहनात्मक हवा हमसे दूर रहे। हम 'कुटिल-क्रूर-व क्रोधी' न बनें।

ऋषि:—**शुन:शेप:** ॥ देवता—**इन्द्र:** ॥ छन्द:—**पङ्क्ति:** ॥

'परिक्रोश' से दूर

सर्वं परिक्रोशं जहि जम्भया कृकदाश्व[म्]।
आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ॥ ७॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रु-विद्रावक प्रभो! **सर्वम्**=सब **परिक्रोशम्**=गालियों को **जहि**=विनष्ट कर दीजिए। हम किसी के लिए अपशब्दों का प्रयोग न करें। निन्दात्मक वचन हमसे दूर ही रहें। **कृकदाश्वम्**=(कृक=The throat; दाश्नोति kill) गला काटने की वृत्ति को **जम्भया**=नष्ट कर दीजिए। हम कभी भी किसी की हिंसा करनेवाले न बनें। २. हे **इन्द्र**=शत्रु-नाशक प्रभो! आप **तु**=निश्चय से **न:**=हमें **शुभ्रिषु**=शुद्ध व **सहस्रेषु**=संप्रसादयुक्त **गोषु**=ज्ञानेन्द्रियों व **अश्वेषु**=कर्मेन्द्रियों में **आशंसय**=प्रशंसनीय जीवनवाला कीजिए। **तुवीमघ**=आप अनन्त ऐश्वर्यवाले हैं। हम भी इसी प्रकार क्रोध व क्रूरता को दूर करके अध्यात्म-सम्पत्तिवाले बनें।

भावार्थ—हम अभिशाप के शब्द न बोलते रहें, औरों का गला न काटते फिरें।

पवित्र जीवनवाला अंग-प्रत्यंग में शक्तिवाला होता हुआ 'परुच्छेप' अगले सूक्त का ऋषि है—

७५. [पञ्चसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषि:—**परुच्छेप:** ॥ देवता—**इन्द्र:** ॥ छन्द:—**अत्यष्टि:** ॥

वि त्वा ततस्रे मिथुना अवस्यवो व्रजस्य साता गव्यस्य नि:सृज:
सक्षन्त इन्द्र नि:सृज:। यद्गव्यन्ता द्वा जना स्व१र्यन्ता समूहसि।
आविष्करिक्रद् वृषणं सचाभुवं वज्रमिन्द्र सचाभुवम्॥ १॥

व्याख्या अथर्व० २०.७२.२ पर देखिए।

ऋषिः—**परुच्छेपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अत्यष्टिः** ॥

इन्द्र का महान् पराक्रम

विदुष्टे अस्य वीर्य॑स्य पूरवः पुरो यदिन्द्र शारदीरवातिरः सासहानो अवातिरः। शासस्तमिन्द्र मर्त्यमयज्युं शवसस्पते। महीममुष्णाः पृथिवीमिमा अपो मन्दसान इमा अपः॥ २॥

१. **पूरवः**=अपना पालन व पूरण करनेवाले लोग, हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **ते**=आपके **अस्य वीर्यस्य**=इस पराक्रम का **विदुः**=ज्ञान रखते हैं **यत्**=कि आप **सासहानः**=शत्रुओं का पराभव करते हुए **शारदीः**=हमारी शक्तियों को शीर्ण करनेवाली **पुरः**=आसुर पुरियों को **अवातिरः**=विध्वस्त कर देते हैं और **अवातिरः**=अवश्य विध्वस्त कर देते हैं। काम की नगरी हमारी इन्द्रियशक्तियों को शीर्ण करती है, क्रोधनगरी मन को तथा लोभनगरी बुद्धि को शीर्ण कर देती है। इन शारदी पुरियों को प्रभु ही विध्वस्त करते हैं। २. हे **शवसस्पते**=सब शक्तियों के स्वामिन्! **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप **तम्**=उस **अयज्युम्**=अयज्ञशील **मर्त्यम्**=मनुष्य को **शासः**=निगृहीत करते हो। यज्ञ आदि कर्मों में लगे रहने पर हम काम-क्रोध आदि के शिकार नहीं होते। ३. हे प्रभो! अपने पुत्रों की यज्ञशीलता से **मन्दसानः**=प्रसन्नता का अनुभव करते हुए आप **महीं पृथिवीम्**=इस महनीय पृथिवी को तथा **इमाः अपः**=इन जलों को **अमुष्णाः**=(surpass) लाँघ जाते हो। आपकी महिमा को यह विशाल पृथिवी तथा अत्यन्त व्यापक रूप को धारण करनेवाले जल भी नहीं व्याप्त कर सकते। **इमाः अपः**=ये जल वस्तुतः आपकी महिमा से ही महत्त्व को धारण करते हैं। इनमें रस-रूप से आप ही निवास करते हो 'रसोऽहमप्सु कौन्तेय'। पृथिवी भी आपकी महिमा से ही महिमान्वित होती है 'पुण्यो गन्धः पृथिव्याञ्च'। हमारे शत्रुओं को नष्ट करके इस शरीररूप पृथिवी व रेतःकणरूप जलों को भी आप ही उत्तम गन्ध व रसवाला बनाते हो।

भावार्थ—प्रभु की महिमा को पृथिवी व जल व्याप्त नहीं कर पाते। उपासित हुए-हुए ये प्रभु ही हमारे शत्रुओं का विध्वंस करके हमारे शरीर व शरीरस्थ रेतःकणों को सुरक्षित करते हैं।

ऋषिः—**परुच्छेपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अत्यष्टिः** ॥

'उशिक् सखीयन्' पुरुषों का विलक्षण ऐश्वर्य

आदित्ते अस्य वीर्य॑स्य चक्रिरन्मदेषु वृषन्नुशिजो यदाविथ सखीयतो यदाविथ। चकर्थ कारमेभ्यः पृतनासु प्रवन्तवे ते अन्यामन्यां नद्यं॑ सनिष्णत श्रवस्यन्तः सनिष्णत॥ ३॥

१. हे **वृषन्**=शक्तिशालिन् प्रभो! **यत्**=जब आप **उशिजः**=मेधावी पुरुषों को **आविथ**=रक्षित करते हो, **यत्**=जब, **सखीयतः**=आपके मित्रत्व की कामना करते हुए इनको **आविथ**=आप रक्षित करते हो तब ये लोग **आत् इत्**=शीघ्र ही **मदेषु**=उल्लासों की प्राप्ति के निमित्त **ते अस्य वीर्यस्य**=आपकी इस शक्ति का **चक्रिरन्**=अपने अन्दर प्रक्षेप करते हैं। आपकी उपासना से आपकी शक्ति को अपने में संचरित करते हैं। २. हे प्रभो! आप **एभ्यः**=इन 'उशिक्, सखीयन्' पुरुषों के लिए **पृतनासु प्रवन्तवे**=संग्रामों में शत्रुओं को जीतने के लिए **कारं चकर्थ**=क्रियाशीलता का निर्माण करते हैं। इनके जीवन को क्रियाशील बनाकर आप इन्हें शत्रुविजय में समर्थ करते हैं। ३. **ते**=वे क्रियाशील पुरुष **अन्याम् अन्याम्**=विलक्षण व प्रतिविलक्षण **नद्यम्**=समृद्धि को (नदि समृद्धौ)

सनिष्णत=प्राप्त करते हैं। **श्रवस्यन्तः**=आपका यशोगान करते हुए ये **सनिष्णत**= समृद्धि प्राप्त करते हैं। कामविध्वंस द्वारा शरीर का स्वास्थ्य प्राप्त करते हैं, क्रोध नाश से मानस शान्ति को पाते हैं तथा लोभ-विलय से ये बुद्धि की सूक्ष्मतावाले बनते हैं।

भावार्थ—मेधावी पुरुष प्रभु की शक्ति से अपने को शक्ति-सम्पन्न करते हैं। क्रियाशीलता द्वारा काम आदि शत्रुओं का विध्वंस करते हैं। इसप्रकार ये 'स्वास्थ्य, मानसशान्ति व बुद्धि सूक्ष्मता' रूप ऐश्वर्यों को प्राप्त करते हैं।

इसप्रकार 'मेधाविता व प्रभुमित्रता' के द्वारा वसुओं का क्रमण (प्राप्ति) करनेवाला यह 'वसुक्र' (वसूनि क्रामति) बनता है। 'वसुक्र' ही अगले सूक्त का ऋषि है—

७६. [षट्सप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

नृ-तमः

वने न वा यो न्यधायि चाकं छुचिर्वां स्तोमो भुरणावजीगः।
यस्येदिन्द्रः पुरुदिनेषु होता नृणां नर्यो नृतमः क्षपावान्॥ १॥

१. मन्त्र का ऋषि 'वसुक्र' वह है **यः**=जो **चाकन्**=कामना करता हुआ—प्रभु की मित्रता को चाहता हुआ **वने न**=उपासनीय के समान उस प्रभु में **वा**=निश्चय से **न्यधायि**=स्थापित होता है। प्रभु को यह अपना आधार बनाता है, इसीलिए **शुचिः**=पवित्र जीवनवाला होता है। २. हे **भुरणौ**=धारण व पोषण करनेवाले प्राणापानो! **वाम्**=आपका **स्तोमः**=स्तवन **अजीगः**=इस वसुक्र को प्राप्त होता है। यह आपके स्तवन से आपके महत्त्व को जानता हुआ आपकी साधना में प्रवृत्त होता है। २. यह वसुक्र वह है **यस्य**=जिसका **इन्द्रः इत्**=परमात्मा ही **पुरुदिनेषु**=इन जीवन के लम्बे (बहुत) दिनों में **होता**=जीवन-यज्ञ को चलानेवाला है। यह वसुक्र प्रभु की कृपा से ही जीवन-यात्रा को पूर्ण होता हुआ देखता है, इसीलिए यह निरभिमान बना रहता है। **नृणां नर्यः**= मनुष्यों में सर्वाधिक नरहितकारी कर्मों को करनेवाला होता है। **नृतमः**=अतिशयेन उत्तम मनुष्य बनता है। **क्षपावान्**=(क्षप् to fast, to be an abstinent) भोजन में बड़ा संयमी होता है। इस संयम पर ही सब उन्नतियाँ निर्भर हैं।

भावार्थ—जो भोजन में संयमवाला होता है, वह उत्तम मनुष्य बनता है। यह प्राणसाधना करता हुआ प्रभु में स्थित होता है।

ऋषिः—**वसुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

त्रिशोक

प्र ते अस्या उषसः प्रापरस्या नृतौ स्याम नृतमस्य नृणाम्।
अनु त्रिशोकः शतमावहन्नृन्कुत्सेन रथो यो असत्ससवान्॥ २॥

१. **ते**=आपकी **अस्याः उषसः**=इस उषाकाल के तथा **अपरस्या**=आनेवाली भी उषा के **प्रनृतौ**=प्रकृष्ट नयन में **प्रस्याम**=प्रकर्षेण हों। आप प्रत्येक उषाकाल में जिधर भी हमें ले-चलनेवाले हों हम उधर ही चलें। आप जो नाच नचाएँ, वही हमें रुचिकर हो। आप **नृणां नृतमस्य**=मनुष्यों के सर्वोत्तम नेता हैं—आपका नेतृत्व ही हमारा संचालक हो। २. **अनु**=ऐसा होने पर ही इसके बाद ही **कुत्सेन**=सब बुराइयों के संहार से (कुथ हिंसायाम्) **त्रिशोकः**='शरीर मन व बुद्धि' तीनों की दीप्ति **नॄन्**=मनुष्यों को **शतम् आवहत्**=सौ वर्ष तक ले-चलनेवाली होती है। ३. **यः रथः**=इसप्रकार जो भी उत्तम शरीररूप रथवाला व्यक्ति (रथः अस्य अस्ति इति रथः)

असत्=होता है, वह **ससवान्**=सस्य को ही खानेवाला होता है। वानस्पतिक भोजन ही सात्त्विक है, अतः यही उपादेय है।

भावार्थ—हम प्रभु की आज्ञा में चलें। सस्यभोजी बनें। इसप्रकार 'शरीर, मन व बुद्धि' को दीप्त करनेवाले 'त्रिशोक' बनें।

ऋषिः—**वसुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

रन्त्यः मदः

कस्ते मद इन्द्र रन्त्यो भूद्दुरो गिरो अभ्यु१ग्रो वि धाव।
कद्वाहो अर्वागुप मा मनीषा आ त्वा शक्यामुपमं राधो अन्नैः ॥ ३ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **ते मदः**=आपकी प्राप्ति का मद **कः**=अनिर्वचनीय आनन्द देनेवाला है और **रन्त्यः भूत्**=रमणीय है। प्रभु को प्राप्त करनेवाला व्यक्ति एक अवर्णनीय सुख का अनुभव करता है और उसे सारा संसार सुन्दर-ही-सुन्दर प्रतीत होता है। २. **अभि उग्रः**=आप अतिशयेन तेजस्वी हो। **दुरः**=मेरे इन्द्रिय द्वारों को तथा **गिरः**=ज्ञानवाणियों को **विधाव**=विशेषरूप से शुद्ध कर दीजिए। आपकी तेजस्विता मेरी सब मलिनताओं को नष्ट कर दे। ३. हे प्रभो! **कत्**=मुझे कब **वाहः**=इधर-उधर भटकानेवाला यह मन **अर्वाक्**=अन्तर्मुख होगा और **कत्**=कब **मा**=मुझे **मनीषा**=बुद्धि **उप**=आपके समीप पहुँचानेवाली होगी। ४. हे प्रभो! आप 'इन्द्रियशुद्धि, मन की अन्तर्मुखीवृत्ति तथा मनीषा की प्राप्ति' के द्वारा मुझे इस योग्य बनाइए कि **उपमम्**=अन्तिकतम—अत्यन्त समीप हृदय में ही निवास करनेवाले **त्वा**=आपको **आशक्याम्**=प्राप्त होने में समर्थ होऊँ और **अन्नैः**=अन्नों के साथ **राधः**=कार्यसाधक धन को भी प्राप्त कर सकूँ। अन्न व धन को प्राप्त करके मैं मार्ग पर आगे बढूँगा तथा आपका स्मरण मुझे मार्गभ्रष्ट होने से बचाएगा।

भावार्थ—हम प्रभु-प्राप्ति के लिए यत्नशील हों। प्रभु हमारी इन्द्रियों को शुद्ध करें, मन को अन्तर्मुख करें तथा हमें बुद्धि-सम्पन्न बनाएँ। अन्न व धन को प्राप्त करके हम आगे बढ़ें और प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर चलनेवाले हों।

ऋषिः—**वसुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु-जैसा बनना

कदु द्युम्नमिन्द्र त्वावतो नॄन्कया धिया करसे कन्न आगन्।
मित्रो न सत्य उरुगाय भृत्या अन्ने समस्य यदसन्मनीषाः ॥ ४ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **कत् उ**=कब निश्चय से **द्युम्नम्**=ज्योति को आप **करसे**=करते हैं और कब **कया**=आनन्द को देनेवाली **धिया**=ज्ञानपूर्वक क्रियाओं से **नॄन्**=हम मनुष्यों को **त्वावतः**=अपने-जैसा करते हैं। **कत्**=कब **नः**=हमें **आगन्**=आप प्राप्त होंगे। आप जैसा बनकर ही तो मैं आपको प्राप्त होने का अधिकारी होता हूँ। २. हे **उरुगाय**=खूब ही स्तवन करने योग्य प्रभो! आप **मित्रः न**=मित्र के समान हैं। **सत्यः**=सत्यस्वरूप हैं। आप ही **भृत्यै**=हमारे भरणपोषण के लिए होते हैं। **यत्**=आपने यह भी अद्‌भुत व्यवस्था की है कि **समस्य**=सबकी **मनीषाः**=बुद्धियाँ **अन्ने**=अन्न में **असन्**=हैं। जैसा अन्न कोई खाता है, वैसा ही उसकी बुद्धि बन जाती है। 'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'=आहार की शुद्धि पर ही अन्तःकरण की शुद्धि निर्भर करती है।

भावार्थ—बुद्धिपूर्वक अन्नों का प्रयोग करते हुए हम ज्ञानपूर्वक क्रियाओं से प्रभु-जैसा

बनकर, प्रभु को प्राप्त करें।

ऋषिः—**वसुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

भवसागर के पार

प्रेरय सूरो अर्थं न पारं ये अस्य कामं जनिधाइव ग्मन्।
गिरश्च ये ते तुविजात पूर्वीर्नर इन्द्र प्रतिशिक्षन्त्यन्नैः ॥ ५ ॥

१. हे प्रभो! आप **सूरः न**=सूर्य के समान हैं—आप हमारे हृदयाकाशों को प्रकाशित करनेवाले हैं और हमें कर्मों की प्रेरणा देनेवाले हैं। आप **अर्थं प्रेरयः**='धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष' रूप पुरुषार्थों की हमें प्रेरणा दीजिए। **पारम्**=आप हमें इस भवसागर के पार प्राप्त कराइए। आपकी प्रेरणा से धर्मपूर्वक धनों का अर्जन करते हुए और उनके द्वारा उचित आनन्दों का उपभोग करते हुए हम मोक्ष के अधिकारी हों। २. हे प्रभो! आप उन्हें भवसागर से पार कीजिए **ये**=जो **अस्य**=इन आपकी **कामम्**=इच्छा को **जनिधा इव**=विकास को धारण करनेवाले की भाँति **ग्मन्**=प्राप्त होते हैं, अर्थात् प्रभु की कामना के अनुसार कार्यों को करते हुए जीवन में शक्तियों का विकास करते हैं और इसप्रकार प्रभु के प्रिय बनकर ये मोक्ष को प्राप्त होते हैं। ३. हे **तुविजात**=महान् विकास को प्राप्त करानेवाले **इन्द्र**=प्रभो! **ये च नरः**=और जो लोग **ते**=आपकी **पूर्वीः**=सृष्टि के प्रारम्भ में दी जानेवाली अथवा हमारे जीवनों का पूरण करनेवाली **गिरः**=वेदवाणियों को **अन्नैः**=सात्त्विक अन्नों के द्वारा शुद्ध अन्तःकरणवाले होकर **प्रतिशिक्षन्ति**=एक-एक करके सीखते हैं, इन लोगों को आप अवश्य भवसागर के पार प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—हम सात्त्विक अन्नों के सेवन के द्वारा शुद्ध अन्तःकरणवाले होकर, वेदवाणियों का प्रकाश प्राप्त करें। उनके अनुसार कर्तव्यकर्मों को करते हुए भवसागर से पार हो जाएँ।

ऋषिः—**वसुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'क्षीणमल-दीप्तज्ञान व मधुरस्वभाव' वाला जीवन

मात्रे नु ते सुमिते इन्द्र पूर्वी द्यौर्मज्मना पृथिवी काव्येन।
वराय ते घृतवन्तः सुतासः स्वाद्मन्भवन्तु पीतये मधूनि ॥ ६ ॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं—हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **मात्रे ते**=अपने जीवन का निर्माण करनेवाले तेरे लिए **मज्मना काव्येन**=जीवन को शुद्ध बनानेवाले वेदरूप काव्य के साथ **द्यौः पृथिवी**=ये द्युलोक व पृथिवीलोक **नु**=निश्चय से **सुमिते**=उत्तमता से बनाये गये हैं। ये **पूर्वी**=तेरा पूरण व पालन करनेवाले हैं। वेदज्ञान के अनुसार चलनेवाले पुरुष के लिए ये सारा ब्रह्माण्ड कल्याण-ही-कल्याण करनेवाला है। २. हे **स्वाद्मन्**=(सु आ अद्मन्) सदा उत्तम भोजन करनेवाले जीव! **वराय** (वृ)=ठीक चुनाव करनेवाले तेरे लिए—भोग की अपेक्षा योग को, प्रेय की अपेक्षा श्रेय को, अनित्य की अपेक्षा नित्य को चुननेवाले तेरे लिए **सुतासः**=सात्त्वि आहार से उत्पन्न सोमकण **घृतवन्तः**=मलों के क्षरणवाले तथा ज्ञानदीप्ति को बढ़ानेवाले **भवन्तु**=हों। ये सोमकण **पीतये**=रक्षण के लिए हों। **मधूनि** (भवन्तु)=ये हमारे स्वभाव में माधुर्य उत्पन्न करने का कारण बनें। इस सोम के रक्षण से द्वेष के स्थान में प्रेमवाले हों, ईर्ष्या को छोड़कर मुदितावाले हों दूसरों की उन्नति में प्रसन्न हों, क्रोध को छोड़कर करुणावाले बनें।

भावार्थ—वेदज्ञान के अनुसार चलने पर यह संसार हमारा पूरण व पालन करनेवाला होता है।

ऋषिः—**वसुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'क्रतु+पौंस्य' द्वारा 'नर्य' बनना

आ मध्वो अस्मा असिचन्नमत्रमिन्द्राय पूर्णं स हि सत्यराधाः।
स वावृधे वरिमन्ना पृथिव्या अभि क्रत्वा नर्यः पौंस्यैश्च॥ ७॥

१. **अस्मा इन्द्राय**=इस प्रभु की प्राप्ति के लिए इस **पूर्णम् अमत्रम्**=सब प्रकार की कमियों से रहित शरीररूप पात्र को **मध्वः**=मधु से—सोम से **असिचन्**=सिक्त करते हैं। इस शरीर में प्रभु ने उन्नति के लिए आवश्यक सब साधनों को जुटाया है। (अम) गति के द्वारा (त्र) इसका रक्षण होता है, अतः इसे 'अम-त्र' नाम दिया गया है। इसमें आहार की सारभूत वस्तु 'मधु'=सोम है। इसके रक्षण से ही 'शरीर, मन व मस्तिष्क' में स्वस्थ बनकर हम प्रभु-दर्शन के योग्य बनते हैं। २. इस सोम का रक्षण करनेवाला **सः**=वह पुरुष **हि**=निश्चय से **सत्यराधाः**=सत्य सम्पत्तिवाला होता है। **सः**=वह **पृथिव्याः**=पृथिवी के **वरिमन्**=विस्तार में **आवावृधे**=सब प्रकार से बढ़ता है। यह शरीररूप पृथिवी की सब शक्तियों का विस्तार करनेवाला होता है। यह **नर्यः**=नरहितकारी पुरुष **अभि**=दोनों ओर—अन्दर और बाहर—अन्दर तो **क्रत्वा**=प्रज्ञान व शक्ति से **च**=तथा बाहर **पौंस्यैः**=वीरतापूर्ण कर्मों से बढ़ता हुआ होता है। ऐसा बनकर ही यह प्रभु को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम शरीर को वीर्य से सिक्त करें। सोम-रक्षण द्वारा इसे प्रज्ञान व शक्ति से परिपूर्ण करके नरहितकारी कार्यों में प्रवृत्त हों। यही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है।

ऋषिः—**वसुक्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभुरूप सारथि द्वारा विजय-प्राप्ति

व्यानडिन्द्रः पृतनाः स्वोजा आस्मै यतन्ते सख्याय पूर्वीः।
आ स्मा रथं न पृतनासु तिष्ठ यं भद्रया सुमत्या चोदयासे॥ ८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार सोम-रक्षण के द्वारा **स्वोजाः**=उत्तम ओजवाला **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **पृतनाः**=शत्रुसैन्यों को **व्यानट्**=विशेषरूप से घेरनेवाला—उन्हें पराभूत करनेवाला बनता है। काम, क्रोध के परिभव के द्वारा **पूर्वीः**=अपना पूरण करनेवाले लोग **अस्मै सख्याय**=इस प्रभु की मित्रता के लिए **आयतन्ते**=सर्वथा प्रयत्न करते हैं। २. ये प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि **न**=जैसे **पृतनासु**=संग्रामों में **रथम्**=रथ पर सारथि स्थित होता है, उसी प्रकार हे प्रभो! आप भी **स्म**=निश्चय से (रथम्) **आतिष्ठ**=हमारे इस शरीर-रथ पर स्थित होइए। उस रथ पर स्थित होइए **यम्**=जिसको कि आप **भद्रया सुमत्या**=कल्याणी सुमति से **चोदयासे**=प्रेरित करते हैं। इस कल्याणी मति को प्राप्त कराके ही प्रभु हमें विजयी बनाते हैं।

भावार्थ—प्रभु मेरे शरीर-रथ के सारथि हों। मैं अपनी जीवन-दिशा को प्रभु के निर्देश से निश्चित करूँ।

प्रभु के निर्देश से चलनेवाला व्यक्ति 'वामदेव'=सुन्दर दिव्य गुणोंवाला बनता है। यह प्रार्थना करता है कि—

७७. [सप्तसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सोमपान द्वारा 'इन्द्र' बनकर 'महेन्द्र' को पाना

आ सत्यो यातु मघवाँ ऋजीषी द्रवन्त्वस्य हरय उप नः।
तस्मा इदन्धः सुषुमा सुदक्षमिहाभिपित्वं करते गृणानः॥ १॥

१. **सत्यः**=सत्यस्वरूप, **मघवान्**=ऐश्वर्यशाली, **ऋजीषी**=ऋजुता की प्रेरणा देनेवाला—कुटिलता को दूर करनेवाला (ऋजु+इष्) प्रभु **आयातु**=हमें प्राप्त हो। **अस्य**=इस परमैश्वर्यशाली प्रभु के **हरयः**=इन्द्रियाश्व **नः उपद्रवन्तु**=हमें समीपता से प्राप्त हों। ये इन्द्रियाँ हमें प्रभु की ओर ही ले-जानेवाली हों। २. **तस्मा इत्**=उस प्रभु की प्राप्ति के लिए ही **अन्धः**=सोम को **सुषुम**=हम उत्पन्न करते हैं। यह सोम **सुदक्षम्**=उत्तम बल को प्राप्त करानेवाला है। हमें बल-सम्पन्न बनाकर ही यह सोम हमें प्रभु-प्राप्ति का पात्र बनाता है। ये प्रभु **इह**=इस जीवन में **गृणानः**=स्तुति किये जाते हुए **अभिपित्वम्**=हमारे अभिमत की प्राप्ति को **करते**=करते हैं। प्रभु का स्तवन यही है कि हम प्रभु से उत्पादित इस सोम का रक्षण करें। सोम-रक्षण से शक्तिशाली इन्द्र बनकर उस 'महान् इन्द्र' का सच्चा उपासन करते हैं।

भावार्थ—हमारी इन्द्रियाँ हमें उस सत्यस्वरूप, ऐश्वर्यशाली, ऋजुता की प्रेरणा देनेवाले प्रभु की ओर ले-चलें। प्रभु-प्राप्ति के उद्देश्य से ही सोम का रक्षण करते हुए हम प्रभु को प्राप्त करें। प्रभु ही सब इष्टों को प्राप्त करानेवाले हैं।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अश्व-मोचन

अव स्य शूराध्वनो नान्तेऽस्मिन्नो अद्य सवने मन्दध्यै।
शंसात्युक्थमुशनेव वेधाश्चिकितुषे असुर्या॑य मन्म॥ २॥

१. हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **अध्वनः अन्ते न**=जिस प्रकार मार्ग की समाप्ति पर अश्वों को खोलते हैं, उसी प्रकार आप **नः**=हमारे **अस्मिन् सवने**=इस जीवन-यज्ञ में **अद्य**=आज **मन्दध्यै**=आनन्द की प्राप्ति के लिए **अव स्य**=इन्द्रियाश्वों को विषयों के बन्धन से मुक्त कीजिए। २. **उशना इव**=सर्वहित की कामना करते हुए उपासक के समान यह भक्त **उक्थम्**=स्तोत्रों का शंसन करता है। **वेधा**=ज्ञानी बनकर **चिकितुषे**=उस सर्वज्ञ **असुर्याय**=प्राणशक्ति का संचार करनेवालों में उत्तम प्रभु के लिए **मन्म**=मननीय ज्ञान को प्राप्त करता है। जितना-जितना ज्ञान प्राप्त करता चलता है, उतना-उतना प्रभु के समीप होता जाता है।

भावार्थ—हम यही चाहते हैं कि प्रभु हमारी इन्द्रियों को विषयबन्धन से मुक्त करें, जिससे हम जीवन-यात्रा को ठीक से पूर्ण करते हुए तथा ज्ञान को बढ़ाते हुए प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनें।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ज्ञान के सात दीपक

कविर्न निण्यं विदथानि साधन्वृषा यत्सेकं विपिपानो अर्चात्।
दिव इत्था जीजनत्सप्त कारूनह्ना चिच्चक्रुर्वयुना गृणन्तः॥ ३॥

१. **कविः न निण्यम्**=जैसे एक क्रान्तदर्शी पुरुष अन्तर्हित—गूढ़ तत्त्वार्थ को जान लेता है,

इसी प्रकार **विदथानि**=ज्ञानों को **साधन्**=सिद्ध करता हुआ **वृषा**=शक्तिशाली पुरुष **यत्**=जब **सेकम्**=शरीर में सेचनीय सोम को **विपिपानः**=विशेषरूप से पीता हुआ—शरीर में ही वीर्य को सुरक्षित करता हुआ **अर्चात्**=प्रभु की उपासना करता है। प्रभु से दी गई इस सर्वोत्तम धातु का रक्षण प्रभु का अर्चन ही हो जाता है। २. **इत्था**=इसप्रकार वीर्यरक्षण के द्वारा **सप्त**='दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आँखें व जिह्वा' इन सातों को **दिवः कारून्**=प्रकाश (ज्ञान) को उत्पन्न करनेवाला **जीजनत्**=बनाता है और **अह्ना चित्**=एक ही दिन में, अर्थात् अति शीघ्र ही **गृणन्तः**=स्तुति करते हुए ये लोग **वयुना चक्रुः**=अपने में प्रज्ञानों को उत्पन्न करनेवाले होते हैं। सुरक्षित वीर्य ज्ञानाग्नि का ईंधन बन ज्ञान को दीप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—स्वाध्याय में प्रवृत्त होने से वीर्य का रक्षण सम्भव होता है। वीर्यरक्षण ही प्रभु का सच्चा समादर है। यह सुरक्षित वीर्य सब ज्ञानेन्द्रियों को शक्तिशाली बनाता है और शीघ्र ही हमारी ज्ञानाग्नि की दीप्ति का कारण बनता है।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ज्ञान-प्रकाश व वासना-विलय

स्व१र्यद्वेदि सुदृशीकमर्कैर्महि ज्योती रुरुचुर्यद्ध वस्तोः।
अन्धा तमांसि दुधिता विचक्षे नृभ्यश्चकार नृतमो अभिष्टौ ॥ ४ ॥

१. **अर्कैः**=अर्चना के साधनभूत मन्त्रों के द्वारा **यत्**=जब **सुदृशीकम्**=उत्तम दर्शनीय **स्वः**=प्रकाश **वेदि**=जाना जाता है—प्राप्त किया जाता है। **यत्**=जब **ह**=निश्चय से **वस्तोः**=निवास को उत्तम बनाने के उद्देश्य से **महि ज्योतिः**=महनीय व महान् ज्योति में ही **रुरुचुः**=रुचिवाले होते हैं। उस समय **नृतमः**=वह सर्वोत्तम नेता प्रभु **नृभ्यः**=उन्नति-पथ पर चलनेवाले इन लोगों के लिए **अभिष्टौ**=वासनाओं पर आक्रमण के निमित्त **अन्धा तमांसि**=घने अन्धकारों को **दुधिता चकार**=(नाशितानि सा०) नष्ट कर देते हैं और **विचक्षे**=उन लोगों के लिए विशेष रूप से मार्गदर्शन के लिए होते हैं। २. प्रभु की उपासना से प्रकाश प्राप्त होता है। इसी से हमारी रुचि ज्ञान-प्राप्ति की ओर होती है। उस समय प्रभु हमारे घने अज्ञानान्धकारों को नष्ट करते हैं। ज्ञान के प्रकाश में वासनान्धकार का विलय हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु उपासक को ज्ञान का वह प्रकाश प्राप्त कराते हैं, जिसमें वासनान्धकार विलीन हो जाता है।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'सर्वत्र व्याप्त-अनन्त' प्रभु

ववक्ष इन्द्रो अमितमृजीष्यु१भे आ पप्रौ रोदसी महित्वा।
अतश्चिदस्य महिमा वि रेच्यभि यो विश्वा भुवना बभूव ॥ ५ ॥

१. **ऋजीषी**=ऋजुता (सरलता) की प्रेरणा देनेवाले **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु **अमितं ववक्ष**=असीम वृद्धिवाले होते हैं, (वक्ष to grow)। वे **महित्वा**=अपनी महिमा से **उभे रोदसी**=दोनों द्यावापृथिवी को **आपप्रौ**=पूरित कर लेते हैं। २. वास्तव में तो **अतः चित्**=इन द्यावापृथिवी से भी **अस्य महिमा**=इन प्रभु की महिमा **विरेचि**=अतिरिक्त होती है। ये द्यावापृथिवी प्रभु की महिमा को अपने में समा लेने में समर्थ नहीं होते। प्रभु तो वे हैं **यः**=जोकि **विश्वा भुवना**=सब भुवनों को **अभिबभूव**=अभिभूत किये हुए हैं। उन्होंने इस (ब्रह्माण्ड) को अपने एक देश में लिया हुआ है।

भावार्थ—द्यावापृथिवी उस प्रभु की महिमा को प्रकट कर रहे हैं। प्रभु इनसे महान् हैं, ये द्यावापृथिवी तो प्रभु के एक देश में ही स्थित हैं।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अपः सखिभिः रिरेच

विश्वा॑नि श॒क्रो नर्या॑णि वि॒द्वान॒पो रि॑रेच॒ सखि॑भि॒र्निका॑मैः।
अश्मा॑नं चि॒द्ये बि॑भि॒दुर्वचो॑भिर्व्र॒जं गोम॑न्तमु॒शिजो॒ वि व॑व्रुः ॥ ६ ॥

१. **शक्रः**=सर्वशक्तिमान् प्रभु **विश्वानि**=सब **नर्याणि विद्वान्**=नरहित साधनभूत बातों को जानता हुआ **निकामैः**=प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामनावाले **सखिभिः**=मित्रभूत जीवों के साथ **अपः रिरेच**=वीर्यकणों को मिलाता है (रिच्=to mix, to join) वस्तुतः इन वीर्यकणों के द्वारा ही सब हित सिद्ध होते हैं। जीवन-भवन की नीव ये वीर्यकण ही हैं। २. **ये**=जो उपासक **वचोभिः**=स्तुतिवचनों के द्वारा **अश्मानं चित्**=पत्थर के समान दृढ़ भी वासना को **विभिदुः**=विदीर्ण करते हैं, वे **उशिजः**=मेधावी—प्रभु की कामनावाले पुरुष **गोमन्तम्**=प्रशस्त इन्द्रियाश्वोंवाले **व्रजम्**=बाड़े को **विवव्रुः**=वासना के आच्छादन से रहित करते हैं, अर्थात् इन्द्रियों को वासनाओं से मुक्त करते हैं। अपने को वासनाओं से मुक्त करके ही तो वे वीर्यरक्षण कर पाते हैं।

भावार्थ—हमारे जीवनों को मंगलमय बनाने के लिए प्रभु हमारे साथ वीर्यकणों को जोड़ते हैं। इन वीर्यकणों के रक्षण के लिए प्रभु की उपासना नितान्त आवश्यक है।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पृथिवी+सचेताः

अ॒पो वृ॒त्रं व॑व्रि॒वांसं॒ परा॑हन्प्राव॑त्ते॒ वज्रं॑ पृ॒थि॒वी सचे॑ताः।
प्रार्णां॑सि समु॒द्रिया॑ण्यैनोः॒ पति॒र्भव॒ञ्छव॑सा शूर धृष्णो ॥ ७ ॥

१. **अपः**=रेतःकणों को **वव्रिवांसम्**=आवृत कर लेनेवाले **वृत्रम्**=कामरूप इस शत्रु को **पर्यहन्**=आप सुदूर विनष्ट करते हो। **सचेता**=चेतनावाला—समझदार **पृथिवी**=अपनी शक्तियों का विस्तार करनेवाला मनुष्य **ते**=आपके दिये हुए **वज्रं प्रावत्**=क्रियाशीलता रूप वज्र को प्रकर्षेण रक्षित करता है। सदा क्रियाशील बने रहकर यह वृत्र के आक्रमण से अपने को बचाये रखता है। २. हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले **धृष्णो**=धर्षकशक्ति से युक्त प्रभो! आप **शवसा**=अपने बल के द्वारा **पतिः भवन्**=हमारे रक्षक होते हुए **समुद्रियाणि**=ज्ञानैश्वर्य के आधारभूत वेदरूप समुद्रों के **अर्णांसि**=ज्ञान-जलों को **प्रऐनोः**=प्रकर्षेण प्रेरित करते हैं। कर्मशक्ति व ज्ञान देकर ही तो आप हमारा रक्षण करते हैं।

भावार्थ—समझदार पुरुष क्रियाशील बनकर वासना से बचा रहता है। वासना-विनाश से शक्ति व ज्ञान का वर्धन करके यह ज्ञानसमुद्र के रत्नों को पानेवाला बनता है।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अविद्या-पर्वतों का भेदक प्रभु

अ॒पो यदद्रिं॑ पुरुहूत॒ दर्द॑रा॒विर्भु॑वत्स॒रमा॑ पू॒र्व्यं ते॑।
स नो॑ ने॒ता वाज॒मा द॑र्षि॒ भूरिं॑ गो॒त्रा रु॒जन्नङ्गि॑रोभिर्गृणा॒नः ॥ ८ ॥

१. हे **पुरुहूत**=पालक व पूरक है पुकार जिसकी, ऐसे प्रभो! आप **यत्**=जब **अपः**=हमारे वीर्यकणों का लक्ष्य करके **अद्रिम्**=अविद्यापर्वत को **दर्दः**=विदीर्ण करते हैं तब **पूर्व्यम्**=सर्वप्रथम

ते=आपकी **सरमा**=सब विषयों में चलनेवाली बुद्धि **आविर्भुवत्**=प्रकट होती है। अविद्या-विनाश से वीर्य का रक्षण होता है, इससे हममें सूक्ष्मबुद्धि का प्रादुर्भाव होता है। २. **सः**=वे **नः**=हमारे **नेता**=प्रणयन करनेवाले आप **भूरिम्**=पालन व पोषण करनेवाले **वाजम्**=बल व अन्न को **आदर्षि**=प्राप्त कराते हैं। **अंगिरोभिः**=अपने अंगों को रसमय बनानेवाले पुरुषों से **गृणानः**=स्तुति किये जाते हुए आप **गोत्रा**=अविद्यापर्वतों का **रुजन्**=विदारण करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन में प्रवृत्त हों। प्रभु ही हमारे अविद्यापर्वत का विदारण करेंगे और हमें पालक व पोषक बलों को प्राप्त कराएँगे।

ज्ञान व बल को प्राप्त करनेवाला यह उपासक अपने साथ शान्ति को जोड़नेवाला 'शंयु' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

७८. [अष्टसप्ततितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**शंयुः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

उस सर्वज्ञ+सर्वशक्तिमान् का गायन

तद्वो गाय सुते सचा पुरुहूताय सत्वने। शं यद्गवे न शाकिने॥ १ ॥

१. **वः**=तुम **सुते**=शरीर में सोम का सम्पादन करने पर **सचा**=मिलकर **पुरुहूताय**=पालक व पूरक पुकारवाले—जिसकी प्रार्थना हमारा पालन व पूरण करती है, उस **सत्वने**=शत्रुओं के सादयिता (नाशक) प्रभु के लिए **तद् गाय**=उन स्तोत्रों का गायन करो। २. **गवे**=उस (गमयति अर्थान्) वेदवाणी के द्वारा सब अर्थों के ज्ञापक **न**=(न=च) और **शाकिने**=सर्वशक्तिमान् प्रभु के लिए उस स्तोत्र का गायन करो **यत्**=जो **शम्**=शान्ति देनेवाला हो। प्रभु को सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् के रूप में सोचते हुए हम भी ज्ञान व शक्ति को प्राप्त करने की प्रेरणा लेते हैं और इसप्रकार जीवन में शान्ति प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम सोम-रक्षण करते हुए मिलकर घरों में प्रभु का गायन करें। यह गायन हमें ज्ञान व शक्ति प्राप्त करने की प्रेरणा देता है और हमारे जीवनों को शान्त बनाता है।

ऋषिः—**शंयुः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

प्रभु-स्तवन से ज्ञान व शक्ति की प्राप्ति

न घा वसुर्नि यमते दानं वाजस्य गोमतः। यत्सीमुप श्रवद्गिरः॥ २ ॥

१. **यत्**=जब **वसुः**=सबके बसानेवाले वे प्रभु **गिरः**=हमारी स्तुतिवाणियों को **सीम्**=निश्चय से **उपश्रवत्**=सुनते हैं तब **घा**=निश्चय से **गोमतः**=प्रशस्त ज्ञान की वाणियोंवाले **वाजस्य**=शक्ति के **दानम्**=दान को **न**=नहीं **नियमते**=उपरत करते, अर्थात् हमें ज्ञान व बल को प्राप्त कराते ही हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले हैं। इसी उद्देश्य से वे हमें ज्ञान व शक्ति प्राप्त कराते हैं, अतः हम सदा प्रभु-स्तवन में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—**शंयुः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

कुवित्स को प्रभु की प्राप्ति

कुवित्सस्य प्र हि व्रजं गोमन्तं दस्युहा गमत्। शचीभिरप नो वरत्॥ ३ ॥

१. **दस्युहा**=दास्यव (राक्षसी) वृत्तियों को विनष्ट करनेवाले प्रभु **कुवित्सस्य** (षोऽन्तकर्मणि)= शत्रुओं को खूब ही विनष्ट करनेवाले उपासक के **हि**=निश्चय से **गोमन्तम्**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले

व्रजम्=इस शरीररूप गोष्ठ को **गमत्**=प्राप्त होते हैं, अर्थात् 'कुवित्स' आवश्य प्रभु को प्राप्त करता है। २. यहाँ हम कुवित्सों को प्राप्त होकर वे प्रभु **नः**=हमारी इन इन्द्रियरूप गौओं को **शचीभिः**= अपने प्रज्ञानों व बलों से **अपवरत्**=वासना के आवरण से रहित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु हमारे दास्यवभावों को विनष्ट करके हमारी इन्द्रियों को अज्ञान के आवरण से रहित करते हैं।

प्रभु के उपासन से उत्तम निवासवाला बनकर यह 'वसिष्ठ' बनता है, शक्ति का पुत्र होने से 'शक्ति' कहलाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

७९. [एकोनशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—(**पूर्वार्धस्य**) **शक्तिः**; (**उत्तरार्धस्य**); **वसिष्ठः** (**ताण्डके**)॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः** (**बृहती+सतोबृहती**)॥

जीवन-शक्ति व ज्योति

इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा।
शिक्षा णो अस्मिन्पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **नः**=हमारे लिए इसप्रकार **क्रतुम्**=प्रज्ञान व शक्ति को **आभर**=प्राप्त कराइए, **यथा**=जैसे पिता **पुत्रेभ्यः**=पिता पुत्रों के लिए प्राप्त कराता है। हम आपके पुत्र हैं, आप हमारे पिता हैं। आपने ही तो हमें प्रज्ञान व शक्ति प्राप्त करानी है। १. हे **पुरुहूत**= पालक व पूरक पुकारवाले प्रभो! **नः**=हमें **अस्मिन् यामनि**=इस जीवन-मार्ग में **शिक्षा**=शक्तिशाली बनाइए अथवा शिक्षित कीजिए। **जीवाः**=जीवनशक्ति से परिपूर्ण हुए-हुए हम—सबल होते हुए हम **ज्योतिः अशीमहि**=ज्ञानज्योति को प्राप्त करें।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हम शक्ति व प्रज्ञान से परिपूर्ण होते हुए सुन्दरता से जीवन-यात्रा को परिपूर्ण करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** (**शाट्यायनके**), **वसिष्ठः** (**ताण्डके**)॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः** (**बृहती+सतोबृहती**)॥

'न पाप, न चिन्ता, न अशुभ'

मा नो अज्ञाता वृजना दुराध्यो३ माशिवासो अव क्रमुः।
त्वया वयं प्रवतः शश्वतीरपोऽति शूर तरामसि॥ २॥

१. हे प्रभो! **नः**=हमें **अज्ञाता वृजना**=अज्ञान में हो जानेवाले पाप व **दुराध्यः**=दुःखदायी आधियाँ—मानस चिन्ताएँ **मा अवक्रमुः**=मत आक्रान्त करें। **अशिवासः**=अकल्याणकर विचार **नः**=हमें अभिभूत करनेवाले न हों। २. हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **वयम्**=हम **त्वया**=आपके द्वारा—आपकी शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर **प्रवतः** (precipice, decling) इस जीवन-मार्ग की ढलानों तथा **शश्वतीः अपः**=सनातन व तीव्र गति से बहते हुए भवसागर के जलों को **अति तरामसि**=पार कर जाएँ। आपके बिना पग-पग पर फिसलने की व बह जाने की आशंका है। आपने ही हमें बचाना है।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण करते हुए हम 'पापों, आधियों व अशिवों' से आक्रान्त न हों। प्रभु की सहायता से हम ढलानों पर फिसल न जाएँ और विषय-जलों में डूब न जाएँ।

पापों, आधियों व अशिवों से ऊपर उठकर हम शान्त जीवनवाले 'शंयु' बनें। शंयु ही अगले सूक्त का ऋषि है—

८०. [अशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**शंयुः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)** ॥

'ज्येष्ठ, ओजिष्ठ, पपुरि, श्रव'

इन्द्र ज्येष्ठं न आ भरँ ओजिष्ठं पपुरि श्रवः।
येनेमे चित्र वज्रहस्त रोदसी ओभे सुशिप्र प्राः ॥ १ ॥

१. **इन्द्र**=हे सर्वशक्तिमन् प्रभो! **नः**=हमारे लिए **ज्येष्ठम्**=प्रशस्यतम **ओजिष्ठम्**=अत्यन्त ओजस्वी **पपुरि**=पालक व पूरक **श्रवः**=ज्ञान को **आभर**=प्राप्त कराइए। २. हे **चित्र**=चायनीय—पूजनीय—**वज्रहस्त**=वज्र हाथ में लिये हुए प्रभो! दुष्टों को दण्ड देनेवाले **सुशिप्र**=उत्तम हनू व नासिका को प्राप्त करानेवाले प्रभो! उस ज्ञान को हमें प्राप्त कराइए, **येन**=जिससे कि **इमे उभे**=इन दोनों **रोदसी**=द्यावापृथिवी को—शरीर व मस्तिक को **आप्राः**=आप पूरित करते हैं। यहाँ 'सुशिप्र' सम्बोधन इस भाव को व्यक्त कर रहा है कि हम खूब चबाकर खाएँ (हनु) और प्राणायाम में प्रवृत्त हों (नासिका) जिससे शरीर के रोगों व मन के दोषों को दूर करते हुए हम उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त कर सकें। प्रभु सुशिप्र हैं। प्रभु से उत्तम हनु व नासिका को प्राप्त करके भोजन को चबाकर खाते हुए और प्राणसाधना करते हुए हम उस ज्ञान को प्राप्त करें जो हमें 'प्रशस्त, ओजस्वी व न्यूनतारहित' जीवनवाला बनाए।

भावार्थ—प्रभु ही वह प्रशस्त ज्ञान दें, जिससे कि हमारा जीवन 'प्रशस्त, ओजस्वी व पूर्ण सा' बन सके। वह ज्ञान हमारे शरीर को सबल बनाए—मस्तिष्क को दीप्त।

ऋषिः—**शंयुः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)** ॥

शत्रु-विजय

त्वामुग्रमवसे चर्षणीसहं राजन्देवेषु हूमहे।
विश्वा सु नो विथुरा पिब्दना वसोऽमित्रान्त्सुषहान्कृधि ॥ २ ॥

१. हे **देवेषु राजन्**=सूर्य आदि सब देवों में दीप्त होनेवाले, अर्थात् सूर्य आदि को दीप्ति प्राप्त करानेवाले प्रभो! **उग्रम्**=तेजस्वी **चर्षणीसहम्**=शत्रुओं का अभिभव करनेवाले **त्वाम्**=आपको **अवसे**=रक्षण के लिए **हूमहे**=हम पुकारते हैं। आपकी शक्ति व दीप्ति से ही तो हमारा रक्षण होना है। २. हे **वसो**=हमारे निवास को उत्तम बनानेवाले प्रभो! **नः**=हमारे **विश्वा पिब्दना**=सब (पेष्टुमर्हाणि शत्रुसैन्यानि) पीस देने योग्य शत्रुओं को **सुविथुरा**=अच्छी प्रकार व्यथित व बाधित **कृधि**=कीजिए। **अमित्रान्**=हमारे शत्रुभूत जनों को **सुषहान्**=सुगमता से जीते जाने योग्य कीजिए। हम शत्रुओं को सुगमता से जीत सकें।

भावार्थ—हम प्रभु की उपासना करते हैं। प्रभु हमारे लिए शत्रुओं को पराजित करते हैं।

प्रभु की उपासना से शत्रुओं का खूब ही हनन करता हुआ यह व्यक्ति 'पुरुहन्मा' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

८१. [एकाशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**पुरुहन्मा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)** ॥

ज्यायान् एभ्यः लोकेभ्यः

यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः।
न त्वा वज्रिन्त्सहस्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी ॥ १ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यद्**=यदि **द्यावः**=ये द्युलोक **शतं स्युः**=सैकड़ों हों तो भी ये **ते**=तेरा **न** (अश्नुवन्ति)=व्यापन नहीं कर सकते। उत और **शतं भूमीः**=सैकड़ों भूमियाँ भी तेरा व्यापन नहीं कर सकतीं। २. हे **वज्रिन्**=वज्रहस्त प्रभो! **त्वा**=आपको **सहस्रं सूर्याः**=हज़ारों भी सूर्य **न**=प्रकाशित नहीं कर पाते। (न तत्र सूर्यो भाति)। **जातम्**=सृष्टि से पहले ही, सदा से प्रादुर्भूत हुए-हुए आपको **रोदसी**=ये द्यावापृथिवी **न अनु अष्ट**=व्याप्त करनेवाले नहीं होते।

भावार्थ—प्रभु को हज़ारों द्युलोक, पृथिवीलोक व सूर्य भी व्याप्त नहीं कर पाते। प्रभु इनसे महान् हैं।

ऋषिः—**पुरुहन्मा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)**॥

बल से आपूरण

आ प॑प्राथ महि॒ना वृष्ण्या॑ वृषन्विश्वा॑ शविष्ठ॒ शव॑सा।
अ॒स्माँ अ॑व मघव॒न्गोम॑ति व्र॒जे वज्रिं॑ चि॒त्राभि॑रू॒तिभिः॑॥ २॥

१. हे **वृषन्**=सुखों का वर्षण करनेवाले **शविष्ठ**=अतिशयेन शक्तिशालिन् प्रभो! आप **वृष्ण्या**=सुखों का वर्षण करनेवाली **महिना**=अपनी महिमा से **विश्वा**=सबको **शवसा**=बल से **आ पप्राथ**=आपूरित करते हैं। प्रभु को जो भी धारण करता है, वह प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न बनता है। २. हे **वज्रिन्**=वज्रहस्त! **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **अस्मान्**=हमें **गोमति व्रजे**=इस इन्द्रियरूप गौओंवाले शरीररूप बाड़े में **चित्राभिः ऊतिभिः**=अद्भुत रक्षणों के द्वारा **अव**=रक्षित कीजिए।

भावार्थ—वह प्रभु ही हमें शक्ति से प्रपूरित करते हैं। प्रभु के अनुग्रह से ही हमरा शरीररूप व्रज प्रशस्त इन्द्रियरूप गौओंवाला होता है।

शक्ति-सम्पन्न व प्रशस्तेन्द्रिय बनकर यह उत्तम निवासवाला 'वसिष्ठ' बनता है। यह वसिष्ठ ही अगले सूक्त का ऋषि है—

८२. [द्व्यशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसिष्ठः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)**॥

धन से पुण्य वृद्धि

यदि॑न्द्र॒ याव॑त॒स्त्वमे॒ताव॑द॒हमीशी॑य।
स्तो॒तार॒मिद्दि॑धिषेय रदावसो॒ न पा॑प॒त्वाय॑ रासीय॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत्**=यदि **यावतः**=जिसने धन के **त्वम्** (ईशीय)=आप ईश हैं, **एतावत्**=इतने धन का **अहम्**=मैं **ईशीय**=स्वामी होऊँ तो **इत्**=निश्चय से **स्तोतारम्**=प्रभु के स्तोता का ही **दिधिषेय**=मैं धारण करूँ। २. हे **रदावसो**=सब धनों के देनेवाले प्रभो! मैं **पापत्वाय**=पाप की वृद्धि के लिए **न रासीय**=कभी भी देनेवाला न होऊँ। मेरा धन उत्तम कार्यों के विस्तार का ही कारण बने। मेरे धन से कभी पापवृद्धि न हो।

भावार्थ—यदि मैं प्रभु के अनुग्रह से धनों का स्वामी बनूँ तो सदा स्तोतृजनों के लिए—न कि पापियों के लिए उस धन का देनेवाला बनूँ।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)**॥

प्रभु ही पिता हैं, प्रभु ही बन्धु हैं

शिक्षेयमिन्महयते दिवेदिवे राय आ कुहचिद्विदे।
नहि त्वदन्यन्मघवन्न आप्यं वस्यो अस्ति पिता चन॥ २॥

१. **कुहचिद् विदे** (यत्र कुत्र चिद् विद्यमानाय)=जहाँ कहीं भी (किसी भी देश में) निवास करनेवाले **महयते**=प्रभु के पूजक के लिए **दिवे-दिवे**=प्रतिदिन **इत्**=निश्चय से **रायः**=धनों को **आशिक्षेयम्**=सर्वथा देनेवाला बनूँ। २. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वद् अन्यत्**=आपसे भिन्न **नः**=हमारा **आप्यम्**=बन्धु **नहि अस्ति**=नहीं है। आपसे भिन्न **वस्यः**=प्रशस्त **पिता चन**=पिता भी नहीं है। प्रभु ही हमारे पिता हैं, प्रभु ही बन्धु हैं। प्रभु-प्रदत्त धनों को हम प्रभु के उपासकों के लिए ही देनेवाले हों।

भावार्थ—दैशिक भेदभावों को छोड़कर हम सब प्रभु के उपासकों के लिए धनों को देनेवाले हों। प्रभु को ही पिता व बन्धु जानें। प्रभु को ही सब धनों का दाता समझें।

प्रभु को पिता व बन्धु जाननेवाला यह व्यक्ति शान्त जीवनवाला 'शंयु' होता है। यह प्रभु का उपासन करता हुआ कहता है—

८३. [त्र्यशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)**॥

उत्तम गृह

इन्द्र त्रिधातु शरणं त्रिवरूथं स्वस्तिमत्।
छर्दिर्यच्छ मघवद्भ्यश्च मह्यं च यावया दिद्युमेभ्यः॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **मघवद्भ्यः**=(मघ=मखम्) यज्ञशील पुरुषों के लिए **शरणम्**=गृह **यच्छ**=दीजिए। जो घर **त्रिधातु**=बालक, युवा व वृद्ध तीनों को धारण करनेवाला हो। **त्रिवरूथम्**='शीत, आतप व वर्षा' तीनों का निवारण करनेवाला हो। **स्वस्तिमत्**=कल्याणकर हो। **छर्दिः** (छदिष्यत्)=उत्तम छतवाला हो। २. **च**=और इसप्रकार के गृहों को प्राप्त कराके **मह्यम्**=मेरे लिए **एभ्यः**=इन गृहों से **दिद्युम्**=खण्डनकारिणी विद्युत् को **यावया**=पृथक् कीजिए। इन घरों पर विद्युत्-पतन का भय न हो।

भावार्थ—हम उत्तम घरों को बनाकर स्वस्थ मन से उनमें निर्भयतापूर्वक रहते हुए उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़नेवाले हों।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)**॥

तनूपाः-अन्तमः

ये गव्यता मनसा शत्रुमादभुरभिप्रघ्नन्ति धृष्णुया।
अध स्मा नो मघवन्निन्द्र गिर्वणस्तनूपा अन्तमो भव॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार उत्तम घरों में रहते हुए हम वे बनें **ये**=जो **गव्यता मनसा**=ज्ञान की वाणियों को अपनाने की कामनावाले मन से **शत्रुम् आदभुः**=कामरूप शत्रु को हिंसित करते हैं और **धृष्णुया**=शत्रुधर्षण शक्ति के द्वारा **अभिप्रघ्नन्ति**=इन वासनारूप शत्रुओं का समन्तात् विनाश करते हैं। २. **अध**=अब हे **मघवन् इन्द्र**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! शत्रु-विद्रावक प्रभो! आप **स्म**=निश्चय से **नः**=हमारे होइए—हम आपकी ओर झुकाववाले हों। हे **गिर्वणः**=ज्ञान की

वाणियों से सम्भजनीय प्रभो! आप हमारे **तनूपाः**=शरीरों के रक्षक **अन्तमः**=अन्तिकतम मित्र **भव**=होइए।

भावार्थ—हम ज्ञान की वाणियों की कामनावाले होते हुए शत्रुओं का धर्षण करें। प्रभु के मित्र बनें। प्रभु हमारे रक्षक व अन्तिकतम मित्र हों।

प्रभु की मित्रता में शत्रुओं का धर्षण करनेवाला होते हुए हम मधुर इच्छाओंवाले 'मधुच्छन्दाः' बनें। मधुच्छन्दा ही अगले सूक्त का ऋषि है—

८४. [चतुरशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

प्रभु-साक्षात्कार

इन्द्रा याहि चित्रभानो सुता इमे त्वायवः। अण्वीभिस्तना पूतासः॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **आयाहि**=आप आइए। हे **चित्रभानो**=(चित् र) ज्ञान देनेवाली दीप्तिवाले प्रभो! **इमे**=ये **सुताः**=उत्पन्न हुए-हुए सोमकण **त्वायवः**=आपकी कामनावाले हैं। ये सोमकण ज्ञानाग्नि का ईंधन बनकर उसे दीप्त कर रहे हैं। इसप्रकार ये सोमकण हमें आपके दर्शन के योग्य बनाते हैं। २. ये सोमकण **अण्वीभिः**=सूक्ष्म बुद्धियों के साथ **तना**=सदा **पूतासः**= पवित्रता को सिद्ध करनेवाले हैं। सोम की रक्षा से जहाँ बुद्धि सूक्ष्म बनती है, वहाँ हृदय भी पवित्र होता है। इसप्रकार ये सोमकण हमें प्रभु-प्राप्ति के योग्य बनाते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! हम सोम की रक्षा के द्वारा बुद्धि को सूक्ष्म बनाएँ। इस सोम-रक्षण से ही हृदयों को भी पवित्र करें। इस प्रकार प्रभु-दर्शन के पात्र बनते हुए प्रभु के अद्भुत प्रकाश का साक्षात्कार करें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

धिया-इषितः विप्रजूतः

इन्द्रा याहि धियेषितो विप्रजूतः सुतावतः। उप ब्रह्माणि वाघतः॥ २॥

१. गतमन्त्र में की गई जीव की प्रार्थना पर प्रभु कहते हैं कि हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! तू **धिया इषितः**=बुद्धि से प्रेरित होता है—सारे कार्यों को बुद्धिपूर्वक करता है। **विप्रजूतः**=ज्ञानी आचार्यों से प्रेरित होता है—उनकी प्रेरणा में चलता हुआ तू भी उनकी भाँति ही ज्ञानी बनता है। २. तू **सुतावतः**=सोम का सम्पादन करनेवाले—संयम द्वारा सोम की रक्षा करनेवाले **वाघतः**=मेधावी पुरुष के—ज्ञान का वहन करनेवाले विद्वान् व्यक्ति के **ब्रह्माणि**=ज्ञानों को **उप**=समीप रहकर प्राप्त करने के लिए यत्नशील होता है।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि (१) हम बुद्धि से प्रेरित हों (२) ज्ञानी पुरुषों से प्रेरणा प्राप्त करें (३) संयमी विद्वान् पुरुषों के समीप रहकर ज्ञान-प्राप्ति के लिए यत्नशील रहें।

ऋषिः—**मधुच्छन्दाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सात्त्विक अन्न सेवन

इन्द्रा याहि तूतुजान उप ब्रह्माणि हरिवः। सुते दधिष्व नश्चनः॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **तूतुजानः**=शीघ्रता करता हुआ अथवा (तुन् हिंसायाम्) सब वासनाओं की हिंसा करता हुआ **आयाहि**=मेरे समीप प्राप्त हो। हे **हरिवः**=प्रशस्त इन्द्रियरूप

घोड़ोंवाले! तू **ब्रह्माणि उप**=सदा ज्ञानों के समीप रहनेवाला हो—ज्ञान-प्राप्ति की रुचिवाला बन। इस ज्ञान के द्वारा ही तू वासनाओं को दग्ध करके पवित्र हृदय में प्रभु का दर्शन कर पाएगा। २. **सुते**=सोम की उत्पत्ति के निमित्त **नः**=हमारे दिये हुए **चनः**=इस अन्न को **दधिष्व**=तू धारण करनेवाला बन। यह अन्न ही तेरा भोजन हो। मांस की ओर तेरा झुकाव न हो जाए। मांस-भोजन से राजसवृत्तिवाला बनकर तू विषयों की ओर झुक जाएगा।

भावार्थ—हम सात्त्विक भोजन करें। सात्त्विक भोजन से सात्त्विक बुद्धिवाले बनें। सात्त्विक बुद्धि से दीप्त ज्ञानाग्निवाले बनकर वासनाओं को दग्ध कर दें, तभी हम प्रभु-दर्शन कर पाएँगे।

सात्त्विक अन्न से सात्त्विक बुद्धिवाला बनकर यह प्रभु का गायन करनेवाला 'प्रगाथ' होता है तथा यह मनुष्य 'मेधातिथि' बनता है—बुद्धि की ओर चलनेवाला। सात्त्विक बुद्धिवाला बनकर यह 'मेध्य' प्रभु की ओर चलनेवाला मेधातिथि बनता है। ये ही अगले सूक्त के ऋषि हैं—

८५. [पञ्चाशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रगाथः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)**॥

प्रभु का ही शंसन

मा चिदन्यद्वि शंसत सखायो मा रिषण्यत।
इन्द्रमित्स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत॥ १ ॥

१. प्रगाथ अपने मित्रों से कहता है कि **सखायः**=हे मित्रो! **अन्यत्**=प्रभु से भिन्न किसी अन्य का **मा चिद् विशंसत**=मत ही शंसन व स्तवन करो। सदा प्रभु का स्मरण करते हुए तुम **मा रिषण्यत**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं से हिंसित न होओ। २. हे मित्रो! **सुते**=इस उत्पन्न जगत् में **सचा**=साथ मिलकर **वृषणम्**=उस शक्तिशाली **इन्द्रम् इत्**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु को ही **स्तोत**=स्तुत करो **च**=और **मुहुः**=बारम्बार **उक्था**=ऊँचे से गाने योग्य स्तोत्रों का **शंसत**=शंसत करो। यह प्रभु-स्तवन ही तुम्हें सबल बनाएगा और तुम वासनाओं व रोगों से हिंसित न होओगे।

भावार्थ—प्रभु का शंसन हमें 'काम, क्रोध' के आक्रमण से बचाता है, इसप्रकार यह शंसन हमें हिंसित नहीं होने देता।

ऋषिः—**प्रगाथः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)**॥

'उभयंकर-उभयावी' प्रभु

अवक्रक्षिणं वृषभं यथाजुरं गां न चर्षणीसहम्।
विद्वेषणं संवननोऽभयंकरं मंहिष्ठमुभयाविनम्॥ २ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार उस प्रभु का मिलकर स्तवन करो जोकि **अवक्रक्षिणम्**=शत्रुओं का अवकर्षण करनेवाले हैं। **यथा**=जैसे **वृषभम्**=शक्तिशाली हैं, उसी प्रकार **अजुरम्**=कभी जीर्ण न होनेवाले—अहिंसित हैं। **गां न**=एक वृषभ के समान **चर्षणीसहम्**=हमारे शत्रुभूत मनुष्यों का पराभव करनेवाले हैं। प्रभु हमारे आन्तर व बाह्य दोनों प्रकार के शत्रुओं का हिंसन करते हैं। २. **विद्वेषणम्**=(विगत-द्विष्) वे प्रभु हमारे जीवनों को द्वेष से शून्य बनाते हैं और **संवननम्**=सम्यक् विजय प्राप्त करानेवाले हैं। **उभयंकरम्**=इहलोक के अभ्युदय व परलोक के निःश्रेयस् को प्राप्त करानेवाले हैं। **मंहिष्ठम्**=वे प्रभु दातृतम हैं—सर्वोपरि दाता है। हमारे लिए सब आवश्यक वस्तुओं को देनेवाले हैं। **उभयाविनम्**='शरीर में शक्ति व मस्तिष्क में ज्ञान' दोनों को वे देनेवाले हैं। प्रभु सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् होते हुए हमारे लिए शक्ति व ज्ञान प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन से आन्तर व बाह्य शत्रुओं का विनाश होता है—अभ्युदय व निःश्रेयस्

की प्राप्ति होती है और हमारा जीवन ज्ञान व शक्ति से युक्त बनता है।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)**॥

ज्ञानीभक्त, न कि आर्तभक्त

यच्चिद्धि त्वा जना इमे नाना हवन्त ऊतये।
अस्माकं ब्रह्मेदमिन्द्र भूतु तेऽहा विश्वा च वर्धनम्॥ ३॥

१. **यत्**=जो **चित् हि**=निश्चय से **इमे**=ये **नाना जनाः**=विविध वृत्तियोंवाले लोग हैं, वे सब **ऊतये**=अपने रक्षण के लिए **त्वा हवन्ते**=आपको पुकारते हैं। पीड़ा के आने पर सब प्रभु को याद करते ही हैं, परन्तु पीड़ा के दूर होने पर प्रभु के ये आर्तभक्त प्रभु को भूल भी जाते हैं, २. परन्तु हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अस्माकम् इदं ब्रह्म**=हमसे किया गया यह स्तवन **ते**=आपके लिए **विश्वा च अहा**=सब दिनों में **वर्धनम्**=यश का वर्धन करनेवाला **भूतु**=हो। हम आपके ज्ञानीभक्त बनें और सब कार्यों को आपके स्मरण के साथ ही करें। इसप्रकार हमारे सब कर्म पवित्र हों और हमारा जीवन बड़ा यशस्वी बने।

भावार्थ—हम केवल पीड़ा के आने पर ही प्रभु के भक्त न बनें। प्रभु के ज्ञानीभक्त बनकर हम सदा प्रभु का स्मरण करनेवाले हों। यह प्रभु का सतत स्मरण ही हमारे जीवनों को यशस्वी बनाएगा।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)**॥

पुरुरूप वाज

वि तर्तूर्यन्ते मघवन्विपश्चितोऽर्यो विपो जनानाम्।
उप क्रमस्व पुरुरूपमा भर वाजं नेदिष्ठमूतये॥ ४॥

१. हे **मघवन्**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **विपश्चितः**=सब वस्तुओं को सूक्ष्मता से देखकर चिन्तन करनेवाले विद्वान् **अर्यः**=(ऋ गतौ) शत्रुओं पर आक्रमण करनेवाले वीर तथा **जनानां विपः**=तत्त्वज्ञान की प्रेरणा से लोगों को कम्पित कर देनेवाले—उन्हें एक बार हिला देनेवाले लोग **वितर्तूर्यन्ते**=सब कष्टों को तैर जाते हैं। २. हे प्रभो! आप **नेदिष्ठम् उपक्रमस्व**=हमें समीपता से प्राप्त होइए। हम आपके अधिक-से-अधिक समीप हों। आप हमें **ऊतये**=रक्षण के लिए **पुरुरूपम्**=अनेक रूपोंवाले **वाजम्**=बल को **आभर**=प्राप्त कराइए। शरीर, इन्द्रियों, मन व बुद्धि के विविध बलों को प्राप्त करके हम अपना रक्षण करने में समर्थ हों।

भावार्थ—हम ज्ञानी व वीर बनकर आपत्तियों को तैरनेवाले हों। प्रभु के समीप होते हुए अनेकरूपा शक्ति को प्राप्त करके अपने रक्षण के लिए समर्थ हों।

यह प्रभु के समीप रहनेवाला व्यक्ति सबका मित्र 'विश्वामित्र' बनता है, और प्रार्थना करता है कि—

८६. [षडशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

जीवन-संग्राम में विजय व ब्रह्म-प्राप्ति

ब्रह्मणा ते ब्रह्मयुजा युनज्मि हरी सखाया सधमाद आशू।
स्थिरं रथं सुखमिन्द्राधितिष्ठन्प्रजानन्विद्वाँ उप याहि सोमम्॥ १॥

१. **ब्रह्मयुजा**=ब्रह्म से इस शरीर-रथ में युक्त किये गये हे प्रभो! **ते हरी**=आपके इन

इन्द्रियाश्वों को **ब्रह्मणा**=ज्ञान से **युनज्मि**=युक्त करता हूँ। ये इन्द्रियाश्व ही **सखाया**=मेरे मित्र हैं और **सधमादे**=इस जीवन-संग्राम में **आशू**=व्याप्त होनेवाले हैं। इनके द्वारा ही मैंने जीवन-संग्राम को लड़ना है और विजय पाकर आपके साथ आनन्द का अनुभव करना है। 'सधमाद' शब्द का अर्थ संग्राम भी है—वहाँ वीर सैनिक एकत्र होकर हर्ष का अनुभव करते हैं और अन्ततः मोक्षलोक भी 'सधमाद' है, इसमें आत्मा परमात्मा के साथ आनन्द का अनुभव करता है। ३. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **स्थिरम्**=इस स्थिर—दृढ़ अंगोंवाले **सुखम्**=उत्तम इन्द्रियाश्वोंवाले (सु+ख) **रथम् अधितिष्ठन्**=शरीर-रथ पर स्थित होता हुआ, **प्रजानन्**=संसार के स्वरूप को ठीक से समझता हुआ, **विद्वान्**=उस आत्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करनेवाला तू **सोमम् उपयाहि**=शान्त प्रभु को समीपता से प्राप्त होनेवाला है।

भावार्थ—इन्द्रियाश्वों को शरीर-रथ में ठीक से जोतकर, जीवन-संग्राम में विजय करते हुए हम ज्ञानी बनकर प्रभु को प्राप्त हों।

वह जीवन-संग्राम में विजय प्राप्त करनेवाला व्यक्ति 'वसिष्ठ' बनता है और कहता है—

८७. [सप्ताशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'सुतसोम का प्रिय' प्रभु

अध्व॑र्यवोऽरु॒णं दु॒ग्धमं॒शुं जु॒होत॑न वृष॒भाय॑ क्षिती॒नाम्।
गौरा॒द्वेदी॑याँ अव॒पान॒मिन्द्रो॑ वि॒श्वाहेद्या॑ति सु॒तसो॑ममि॒च्छन्॥ १ ॥

१. हे **अध्वर्यवः**=यज्ञशील पुरुषो! **क्षितीनाम्**=मनुष्यों पर **वृषभाय**=सुखों का सेचन करनेवाले प्रभु के लिए—प्रभु की प्राप्ति के लिए इस **अरुणम्**=तेजस्वी **दुग्धम्**=ओषधियों से छोड़े गये—भोजन के रूप में सेवित ओषधियों से प्राप्त कराये गये **अंशुम्**=सोम को **जुहोतन**= अपने जीवन में आहुत करो। इस सोम को अपने अन्दर ही सुरक्षित करने का प्रयत्न करो। २. **गौरात्**=(Pure) पवित्र जीवनवाले पुरुष से **अवपानम्**=शरीर के अन्दर ही सोम के पान को **वेदीयान्**=अतिशयेन प्राप्त करनेवाला **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **सुतसोमम् इच्छन्**=सुतसोम पुरुष को चाहता हुआ **विश्वाहा इत्**=सदा ही **याति**=प्राप्त होता है। पवित्र जीवनवाला व्यक्ति सोम को अपने अन्दर सुरक्षित करता है। इस सोमरक्षक को ही प्रभु प्राप्त होते हैं।

भावार्थ—हे यज्ञशील पुरुषो! प्रभु-प्राप्ति के लिए सोम का रक्षण करो। सोमरक्षक पुरुष को ही प्रभु प्राप्त होते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सात्त्विक अन्न का सेवन व प्रभु का उपासन

यद्द॑धि॒षे प्र॒दिवि॒ चार्वन्नं॑ दि॒वेदि॑वे पी॒तिमिद॑स्य वक्षि।
उ॒त हृ॒दोत मन॑सा जुषा॒ण उ॒शन्नि॑न्द्र॒ प्रस्थि॑तान्पाहि॒ सोमा॑न्॥ २ ॥

१. **यत्**=जब **प्रदिवि**=प्रकृष्ट ज्ञान के निमित्त **चारु अन्नम्**=सुन्दर सात्त्विक अन्न को **दधिषे**=धारण करता है, तब **दिवे-दिवे**=प्रतिदिन **अस्य**=इस सोम की **पीतिम्**=शरीर में रक्षा को **वक्षि**=प्राप्त करता है। सात्त्विक अन्न का सेवन हमें सोम-रक्षण के योग्य बनाता है। २. **उत**=और **हृदा**=हृदय से श्रद्धापूर्वक, **उत**=और मन से—प्रबल इच्छापूर्वक **जुषाणः**=प्रीतिपूर्वक सेवन किये जाते हुए हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **उशन्**=हमारे हित को चाहते हुए आप **प्रस्थितान्**=(प्र-स्थितान्) शरीर में सर्वत्र गतिवाले **सोमान् पाहि**=सोमकणों को सुरक्षित कीजिए। प्रभु की

उपासना से ही, वासना-विनाश द्वारा, सोमकणों का रक्षण सम्भव होता है।

भावार्थ—सात्त्विक अन्न के सेवन व प्रभु के उपासन से हम शरीर में सोमकणों का रक्षण करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सोम-रक्षण-प्रभुमहिमा-दर्शन=ज्ञानधन-प्राप्ति

जज्ञानः सोमं सहसे पपाथ प्र ते माता महिमानमुवाच।
एन्द्र पप्राथोर्व१न्तरिक्षं युधा देवेभ्यो वरिवश्चकर्थ॥ ३॥

१. हे प्रभो! **जज्ञानः**=हमारे हृदयों में प्रादुर्भाव होते हुए आप **सहसे**=हमारे बल के लिए **सोमं पपाथ**=सोम का रक्षण करते हो। हृदय में प्रभु का प्रादुर्भाव होने पर, वासना का विनाश हो जाता है और इसप्रकार सोम का रक्षण सम्भव होता है। हे प्रभो! आपके हृदय में प्रादुर्भूत होने पर ही **माता**=यह वेदमाता **ते महिमानम्**=आपकी महिमा को **प्र-उवाच**=प्रकर्षेण प्रतिपादित करती है। हृदय के निर्मल होने पर वेदार्थ स्पष्ट होता है और हमें प्रभु की महिमा का ज्ञान होता है। २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप ही **उरु अन्तरिक्षम्**=इस विशाल अन्तरिक्ष को **आपप्राथ**=अपने तेज से प्रपूरित करते हो। आप ही **युधा**=युद्ध के द्वारा **देवेभ्यः**=देवों के लिए **वरिवःचकर्थ**=धन देते हैं। युद्ध में विजय प्राप्त करके काम-क्रोध आदि शत्रुओं को जीतनेवाले ये देव वास्तविक ऐश्वर्य को—ज्ञानरूप धन को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—प्रभु सोम-रक्षण द्वारा हमें शक्ति देते हैं। प्रभु ही सम्पूर्ण अन्तरिक्ष को तेज से आपूरित करते हैं। अध्यात्म-संग्राम में विजयी बनाकर प्रभु ही हमें ज्ञानधन प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्राणसाधना+प्रभु-स्मरण=विजय

यद्योधया महतो मन्यमानान्साक्षाम तान्बाहुभिः शाशदानान्।
यद्वा नृभिर्वृत इन्द्राभियुध्यास्तं त्वयाजिं सौश्रवसं जयेम॥ ४॥

१. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! आप **यत्**=जब **महतः मन्यमानान्**=अपने को बड़ा माननेवाले शत्रुओं के साथ **योधया**=हमें युद्ध कराते हैं तब हम **तान्**=उन **शाशदानान्**=हिंसन करते हुए शत्रुओं को **बाहुभिः**=बाहुओं से **साक्षाम**=अभिभूत करते हैं। प्रभु-स्मरणपूर्वक युद्ध करते हुए हम शत्रुओं को पराजित करते हैं। २. **यद्वा**=अथवा **नृभिः वृतः**=हमें उन्नत करनेवाले (नृ नये) इन प्राणों से आवृत (घिरे) हुए-हुए आप **अभियुध्याः**=हमारे शत्रुओं से युद्ध करते हैं तब हम **त्वया**=आपके द्वारा **तम्**=उस **सौश्रवसम्**=उत्तम यश के हेतुभूत **आजिम्**=युद्ध को **जयेम**=जीतनेवाले होते हैं। 'प्राणों से आवृत्त हुए-हुए प्रभु' का भाव यही है कि हम प्राणसाधना के साथ प्रभु-स्मरण करनेवाले बनें। 'प्राणसाधना+प्रभु-स्मरण=विजय' इस सूत्र को हम न भूलें।

भावार्थ—हम प्रभु की सहायता से अभिमानी शत्रुओं का पराजय कर पाते हैं। प्राणसाधना व प्रभु-स्मरण हमें यशस्वी व विजय प्राप्त करानेवाले होते हैं।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु-कीर्तन से आसुरी माया का पराभव

प्रेन्द्रस्य वोचं प्रथमा कृतानि प्र नूतना मघवा या चकार।
यदेददेवीरसहिष्ट माया अथाभवत्केवलः सोमो अस्य॥ ५॥

१. मैं **इन्द्रस्य**=बल के सब कर्मों को करनेवाले प्रभु के **प्रथमा**=अतिशयेन विस्तारवाले व मुख्य **कृतानि**=कर्मों का **प्रवोचम्**=प्रतिपादन करता हूँ। **या**=जिन **नूतना**=अतिशयेन स्तुत्य कर्मों को **मघवा**=यह ऐश्वर्यशाली प्रभु **चकार**=करते हैं, उन कर्मों का मैं गायन करता हूँ। २. इस प्रभु-कीर्तन द्वारा **यदा इत्**=जब यह उपासक **अदेवीः**=आसुरी **मायाः**=मायाओं को **असहिष्ट**=पराभूत करता है, **अथ**=तब वह **केवलः**=आनन्द में संचार करानेवाला **सोमः**=सोम **अस्य अभवत्**=इसका होता है। आसुरभावों को जीतकर यह सोम का रक्षण कर पाता है और सोम-रक्षण से आनन्द को प्राप्त करता है।

भावार्थ—हम प्रभु के विशाल व प्रशस्त कर्मों का कीर्तन करें। यह कीर्तन हमें आसुरभावों से बचाएगा। आसुरभावों के विनाश से हम सोम का रक्षण कर पाएँगे। यह सोम-रक्षण हमारे उल्लास का कारण बनेगा।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पशव्यं विश्वम्

तवेदं विश्वमभितः पशव्यं यत्पश्यसि चक्षसा सूर्यस्य।
गवामसि गोपतिरेक इन्द्र भक्षीमहि ते प्रयतस्य वस्वः ॥ ६ ॥

१. **इदम्**=यह **अमितः**=चारों ओर फैला हुआ **पशव्यम्**=सब द्विपात्-चतुष्पात् प्राणियों के लिए हितकर **विश्वम्**=जगत् **तव**=आपका ही है। **यत्**=जिस जगत् को आप **सूर्यस्य चक्षसा**=सूर्य के प्रकाश से **पश्यसि**=प्रकाशित करते हैं। २. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! आप **कः इत्**=अकेले ही **गवां गोपतिः असि**=सब गौओं के स्वामी हैं। 'गो' शब्द ऐश्वर्य का प्रतीक है—सब ऐश्वर्यों के स्वामी आप ही हैं। हे प्रभो! **ते**=आपके द्वारा **प्रयतस्य**=(प्रदत्तस्य) दिये हुए **वस्वः**=धन का **भक्षीमहि**=हम उपभोग करें।

भावार्थ—प्रभु का यह संसार सबका हितकर है। प्रभु इसे सूर्यकिरणों द्वारा प्रकाशित करते हैं। सब ऐश्वर्यों के स्वामी हैं। प्रभु-प्रदत्त धन का हम उपभोग करें।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्राबृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान्' प्रभु

बृहस्पते युवमिन्द्रश्च वस्वो दिव्यस्येशाथे उत पार्थिवस्य।
धत्तं रयिं स्तुवते कीरये चिद्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ७ ॥

१. हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! आप **इन्द्रः च**=और सर्वशक्तिमान् प्रभु **युवम्**=आप दोनों क्रमशः **दिव्यस्य वस्वः**=मस्तिष्करूप द्युलोक के ज्ञानधन को **उत**=तथा **पार्थिवस्य**=शरीररूप पृथिवी के शक्तिरूप धन के **ईशाथे**=ईश हैं। वस्तुतः 'बृहस्पति व इन्द्र' प्रभु के ही दो रूप हैं—प्रभु ही सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् हैं। २. **स्तुवते**=स्तुति करनेवाले **कीरये**=(कृ विक्षेपे) वासनाओं को विदीर्ण कर देनेवाले स्तोता के लिए **चित्**=निश्चय से **रयिं धत्तम्**=ऐश्वर्य को धारण कीजिए। **यूयम्**=हे देवो! आप **स्वस्तिभिः**=कल्याणों के द्वारा **सदा**=सदा **नः पात**=हमारा रक्षण कीजिए।

भावार्थ—बृहस्पति व इन्द्र के रूप में प्रभु की आराधना करते हुए हम ज्ञान व शक्ति प्राप्त करें। हे प्रभो! स्तवन करनेवालों के लिए आप ऐश्वर्य प्राप्त कराएँ।

ज्ञान व शक्ति प्राप्त करके यह 'वामदेव' बनता है—सुन्दर दिव्य गुणोंवाला। यह प्रभु की आराधना निम्न शब्दों में करता है—

८८. [अष्टाशीतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ऋषयः-दीध्यानाः-विप्राः

यस्तस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान्बृहस्पतिस्त्रिषधस्थो रवेण।
तं प्रत्नास ऋषयो दीध्यानाः पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम्॥ १॥

१. **यः**=जो **ज्मः अन्तान्**=पृथिवी के अन्तों को—दसों दिशाओं को **सहसा**=शक्ति से **वितस्तम्भ**=थामता है, **बृहस्पतिः**=जो ब्रह्मणस्पति है—सब ज्ञानों का स्वामी है। **रवेण**=ज्ञान-कर्म व उपासना की वाणियों से **त्रिषधस्थः**=पृथिवी, अन्तरिक्ष व द्युलोक में स्थित है, अर्थात् सर्वत्र इन वाणियों का प्रसार कर रहा है। २. **तम्**=उस **मन्द्रजिह्वम्**=अत्यन्त मधुर जिह्वावाले—मधुरता से ज्ञानोपदेश करनेवाले प्रभु को **पुरःदधिरे**=अपने सामने धारण करते हैं। प्रभु को आदर्श के रूप में अपने सामने स्थापित करके तदनुसार अपने जीवन को बनाने का प्रयत्न करते हैं। एक तो **प्रत्नासः ऋषयः**=पुराणे, अर्थात् बड़ी आयु के तत्त्वज्ञानी पुरुष, दूसरे **दीध्यानाः**=ज्ञानदीप्ति से दीप्त होनेवाले पुरुष तथा **विप्राः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले पुरुष, उस प्रभु को ही अपने सामने स्थापित करते हैं—उसके अनुसार ही अपने जीवन को बनाने का यत्न करते हैं।

भावार्थ—ऋषि, ध्यानी व विप्र प्रभु को अपने सामने स्थापित करते हैं। उसे अपने जीवन में धारण करने के लिए यत्नशील होते हैं।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

स्वाध्याय व दोष-निवारण

धुनेतयः सुप्रकेतं मदन्तो बृहस्पते अभि ये नस्ततस्रे।
पृषन्तं सृप्रमदब्धमूर्वं बृहस्पते रक्षतादस्य योनिम्॥ २॥

१. हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! **ये**=जो **नः**=हममें से **धुनेतयः**=(धुना ईतिर्येषाम्) शत्रुओं को कम्पित करनेवाली गतिवाले **सुप्रकेतम् मदन्तः**=उत्कृष्ट ज्ञान के साथ आनन्द का अनुभव करते हुए **अभिततस्रे**=प्रातः-सायं दोनों समय दोषों को अपने से दूर फेंकते हैं। (तस् reject, cast)। **अस्य**=इस मनुष्य के **योनिम्**=बुराइयों के अमिश्रण व अच्छाइयों के मिश्रण के प्रयत्न की **रक्षतात्**=आप रक्षा करें। २. यह योनि ही **पृषन्तम्**=सब सुखों का सेचन करनेवाली है। **सृप्रम्**=अग्रगति की साधक है, **अदब्धम्**=इसे हिंसित नहीं होने देती और **ऊर्वम्**=विशाल है। प्रातः-सायं दोषनिवारण के कार्य से ही इसका जीवन सुखसिक्त, अग्रगतिवाला, अहिंसित तथा विशाल बनता है।

भावार्थ—हम प्रातः-सायं स्वाध्याय में आनन्द लेते हुए दोष-निवारण के लिए यत्नशील हों। प्रभु-कृपा से हमारा यह कार्य सुखवर्षक, उन्नतिकारक, अहिंसक व हमें विशाल बनानेवाला होगा।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

यज्ञशीलता व स्वर्गप्राप्ति

बृहस्पते या परमा परावदत आ त ऋतस्पृशो नि षेदुः।
तुभ्यं खाता अवता अद्रिदुग्धा मध्वः श्चोतन्त्यभितो विरप्शम्॥ ३॥

१. हे **बृहस्पते**=सर्वोच्च दिशा के अधिपते परमात्मन्! **या**=जो **ते**=आपके **परावत् परमा**=सुदूर

से सुदूर देश से भी उत्कृष्ट स्थान है, उनमें **ऋतस्पृशः** (ऋत=यज्ञ)=यज्ञों के सम्पर्कवाले—यज्ञशील पुरुष **आनिषेदुः**=आसीन होते हैं। पृथिवीलोक से ऊपर अन्तरिक्षलोक, अन्तरिक्षलोक से ऊपर द्युलोक तथा द्युलोक से ऊपर (दिवो नाकस्य पृष्ठात्०) स्वर्गलोक है। यहाँ यज्ञशील पुरुष ही पहुँचते हैं। २. **तुभ्यम्**=आपकी प्राप्ति के लिए ही **अद्रिदुग्धाः**=(आदृ=to adore, दुह प्रपूरणे) उपासना के द्वारा अपने में पूरित हुए-हुए **मध्वः**=सोमकण **अभितः विरप्शम्**=दोनों ओर महान् शब्दराशि को **श्चोतन्ति**=क्षरित करते हैं। अपराविद्या की शब्दराशि ही प्रकृतिविद्या है, पराविद्या की शब्दराशि आत्मविद्या है। जब हम सोमकणों का रक्षण करते हैं तब ये दोनों ही विद्याएँ हमें प्राप्त होती हैं। एक इहलोक को सुन्दर बनाती है तो दूसरी परलोक को! 'अभितः' शब्द इसीभाव का द्योतक है। ये सोमकण **खाताः अवताः**=खोदे गये कुओं के समान हैं। जैसे ये कुएँ जलराशि को प्राप्त कराते हैं, इसी प्रकार ये सोमकण ज्ञान की जलराशि को प्राप्त करानेवाले हैं।

भावार्थ—यज्ञशील बनकर हम स्वर्ग में स्थित होते हैं। शरीर में सुरक्षित सोमकण हमें ज्ञान जल-राशि को प्राप्त कराते हैं। उसमें स्नान करके हम प्रभु को प्राप्त करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'सप्तास्य-सप्तरश्मि' प्रभु

बृहस्पतिः प्रथमं जायमानो महो ज्योतिषः परमे व्यो॑मन्।
सप्तास्यस्तुविजातो रवेण वि सप्तरश्मिरधमत्तमांसि ॥ ४ ॥

१. **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **परमे व्योमन्**=उत्कृष्ट हृदयाकाश में **महःज्योतिषः**=महान् ज्ञानज्योति से **प्रथमं जायमानः**=विस्तार के साथ प्रादुर्भूत होता हुआ **रवेण**=ज्ञान की वाणियों के उच्चारण से **तमांसि**=अज्ञानान्धकारों को **वि अधमत्**=विनष्ट करता है। हृदय में प्रभु का प्रकाश होते ही सब अन्धकार नष्ट हो जाता है। २. ये प्रभु **सप्तास्यः**=सात छन्दों से बनी हुई वेदवाणीरूप सात मुखोंवाले हैं। **तुविजातः**=महान् प्रादुर्भाववाले हैं—प्रभु-उपासक में महान् गुणों का विकास करते हैं। **सप्तरश्मिः**=सात रश्मियोंवाले सूर्य की भाँति ये प्रभु सात छन्दों से बनी वेदवाणीरूप सात रश्मियोंवाले हैं। इन सात रश्मियों से ही ये प्रभु 'भूः-भुवः-स्वः-महः-जनः-तपः-सत्यम्' नामक सात लोकों को प्रकाशित करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ज्योतिर्मय हैं। सात छन्दोमयी वेदवाणियाँ ही प्रभु के सात मुख हैं। ये ही प्रभुरूप सूर्य की सात रश्मियाँ हैं। इनके द्वारा प्रभु हमारे अज्ञानान्धकार को नष्ट करते हैं।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'वल व फलिगं' का विनाश

स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन वलं रुरोज फलिगं रवेण।
बृहस्पतिरुस्रिया हव्यसूदः कनिक्रदद्वावशतीरुदाजत् ॥ ५ ॥

१. **सः**=वे **बृहस्पतिः**=ज्ञान के स्वामी प्रभु **सुष्टुभा**=उत्तम स्तुतियोंवाले **गणेन**=मन्त्रसमूह से तथा **सः**=वे प्रभु **ऋक्वता**=ऋचाओंवाले—विज्ञानवाले (गणेन) मन्त्रसमूह से **वलम्**=ज्ञान के आवरणभूत (Vail) इस वल नामक असुर को **रुरोज**=विनष्ट करते हैं। **रवेण**=हृदयस्थरूपेण इन ज्ञान की वाणियों के उच्चारण से **फलिगम्**=विशीर्णता की ओर ले-जानेवाली (वल विशरणे) आसुरीवृत्ति को विनष्ट करते हैं। २. **बृहस्पतिः**=वे ज्ञान के स्वामी प्रभु **हव्यसूदः**=सब हव्य पदार्थों को—पवित्र यज्ञिय पदार्थों को प्राप्त करानेवाली **वावशतीः**=हमारा अत्यन्त हित चाहती हुई

उस्त्रियाः=ज्ञान की रश्मियों को **उदाजत्**=हममें उत्कर्षेण प्रेरित करते हैं। इन ज्ञानरश्मियों को प्राप्त करके ही हम इस संसार में अयज्ञिय बातों से दूर रहकर अपना हित सिद्ध कर पाते हैं।

भावार्थ—प्रभु ज्ञान की वाणियों के द्वारा ज्ञान की आवरणभूत वासना को विनष्ट करते हैं और सब विदीर्ण करनेवाली आसुरवृत्तियों को दूर करते हैं। अब हव्य पदार्थों की ओर हमारा झुकाव होता है।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'यज्ञैः नमसा हविर्भिः'

एवा पित्रे विश्वदेवाय वृष्णे यज्ञैर्विधेम नमसा हविर्भिः।
बृहस्पते सुप्रजा वीरवन्तो वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ ६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार वलासुर को विनिष्ट करके हम **एवा**=सचमुच उस **पित्रे**=पालक **विश्वदेवाय**=सब दिव्य गुणों के पुञ्ज **वृष्णे**=शक्तिशाली व सुखवर्षक प्रभु के लिए **यज्ञैः**=श्रेष्ठतम कर्मों से **नमसा**=उन कर्मों के अहंकार को छोड़कर नम्रभाव से और **हविर्भिः**=सदा दानपूर्वक अदन से **विधेम**=पूजा करें। २. हे **बृहस्पते**=ज्ञान के स्वामिन् प्रभो! इसप्रकार 'यज्ञों-नमन व हवियों' से आपका पूजन करते हुए **वयम्**=हम **सुप्रजाः**=उत्तम प्रजाओंवाले व **वीरवन्तः**=वीरत्व की भावनावाले तथा **रयीणां पतयः**=धनों के स्वामी—न कि धनों के दास **स्याम**=हों।

भावार्थ—'यज्ञों, नमन व हवियों' से प्रभु-पूजन करते हुए हम 'उत्तम सन्तान, वीरता व धनों के स्वामित्व' को प्राप्त करें। यज्ञों से उत्तम प्रजा को, प्रभु के प्रति नमन से वीरता को तथा हवियों (दान) से धनों के स्वामित्व को प्राप्त करनेवाले हों।

'उत्तम प्रजा, वीरता व धन स्वामित्व' को अपनी ओर आकृष्ट करनेवाला यह 'कृष्ण' बनता है और इन्द्र का इसप्रकार आराधन करता है—

८९. [एकोननवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'विद्याव्यसनं व्यसनं, हरिपादसेवनं व्यसनम्'

अस्तेव सु प्रतरं लायमस्यन्भूषन्निव प्र भरा स्तोमम्स्मै।
वाचा विप्रास्तरत वाचमर्यो नि रामय जरितः सोम इन्द्रम्॥ १॥

१. **अस्ता इव**=शत्रुओं पर अस्त्र फेंकनेवाले पुरुष की भाँति (असु क्षेपणे) **सुप्रतरम्**=अत्यन्त प्रवृद्ध **लायम्**=लय (विनाश) के कारणभूत अस्त्र को **अस्यन्**=फेंकता हुआ और इसप्रकार **भूषन् इव**=अपने को सद्गुणों से अलंकृत करता हुआ **अस्मै**=इस प्रभु के लिए **स्तोमम्**=स्तुति को **प्रभर**=भरण करनेवाला तू बन। काम-क्रोध आदि शत्रुओं के विनाश के लिए प्रभु-स्तवन ही सर्वोत्तम अस्त्र है। २. **विप्राः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले हे लोगो! **वाचा**=प्रभु की दी हुई ज्ञान की वाणियों से **तरत**=तुम इन शत्रुओं को तैर जाओ। **अर्यः**=(ऋ गतौ) सर्वत्र गतिवाले प्रभु की **वाचम्**=वाणी को **निरामय**=अपने अन्दर रमा लो। इन ज्ञान की वाणियों का तुम्हें व्यसन लग जाए और हे **जरितः**=प्रभु का स्तवन करनेवाले **सोम**=सौम्यस्वभाव जीव! तू **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को अपने में रमा ले। प्रभु-उपासन का भी तू व्यसनी बन जा। ये 'विद्या व प्रभु की उपासना' के व्यसन तुझे अन्य सब व्यसनों से बचानेवाले होंगे।

भावार्थ—शत्रुओं का क्षीण करके इस प्रकार हम जीवन में 'विद्या व उपासना' के व्यसनी बन जाएँ।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

गोदोहन-इन्द्र प्रबोधन

दोहे॑न॒ गामुप॑ शिक्षा॒ सखा॑यं॒ प्र बो॑धय जरितर्जा॒रमिन्द्र॑म्।
कोशं॒ न पूर्णं वसु॑ना॒ न्यृ॑ष्टमा च्या॑वय मघ॒देया॑य॒ शूर॑म्॥ २॥

१. **गां दोहेन**=वेदवाणीरूप गौ के दोहन से, अर्थात् ज्ञान-प्राप्ति के द्वारा तू **सखायम्**=उस सनातन मित्र प्रभु को **उपशिक्षा**=समीपता से जाननेवाला हो। ज्ञानीभक्त बनकर तू प्रभु को आत्मतुल्य प्रिय हो 'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'। २. इस ज्ञान के द्वारा **जरितः**=स्तवन करनेवाले जीव! तू **जारम्**=विषय-वासनाओं को जीर्ण करनेवाले **इन्द्रम्**=उस असुरों के संहारक प्रभु को **प्रबोधय**=अपने हृदय में जागरित कर। इस प्रभुरूप सूर्य के उदय के साथ सब वासनान्धकार विलीन हो जाएगा। ३. ये प्रभु **कोशं न पूर्णम्**=एक पूर्ण कोश के समान हैं—प्रभु की प्राप्ति से तेरी सब कामनाएँ पूर्ण हो जाएँगी। **वसुना**=निवास के लिए आवश्यक सब धनों से **न्यृष्टम्**=ये प्रभु निश्चय से युक्त हैं। सम्पूर्ण वसु उस प्रभु की ओर ही प्रवाहवाले हैं (ऋष् to flow)। प्रभु को प्राप्त कर लेने पर इनकी प्राप्ति तो हो ही जाती है, इसलिए तू **शूरम्**=सब धनों के विजेता तथा सब बुराइयों को शीर्ण करनेवाले उसे प्रभु को **मघदेयाय**=ऐश्वर्यों के देने के लिए **आच्यावय**=अपने अभिमुख कर। प्रभु की प्राप्ति में ही सब धनों की प्राप्ति है।

भावार्थ—हम ज्ञानधेनु का दोहन करें। प्रभु के प्रकाश को हृदय में प्राप्त करने का प्रयत्न करें। प्रभु ही सब धनों के कोश हैं—प्रभु-प्राप्ति में सब धनों की प्राप्ति है।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'शिशय' का, न कि 'भोज' का स्मरण

किम॒ङ्ग त्वा॑ मघवन्भो॒जमा॑हुः शिशी॒हि मा॑ शिश॒यं त्वा॑ शृणोमि।
अप्न॑स्वती॒ मम॒ धीर॑स्तु शक्र वसु॒विदं॒ भग॑मिन्द्रा॒ भ॑रा नः॥ ३॥

१. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन्! **अङ्ग**=सर्वत्र गतिमय (अगि गतौ) प्रभो! **त्वा**=आपको **किम्**=क्यों **भोजनम्**=सब भोजनों को प्राप्त कराके पालन करनेवाला **आहुः**=कहते हैं। मैं तो भोजनों की प्रार्थना न करके यही चाहता हूँ कि आप **मा**=मुझे **शिशीहि**=तीक्ष्ण बुद्धिवाला कर दें। मैं **त्वा**=आपको **शिशयम्**=बुद्धि को तीव्र करनेवाले के रूप में **शृणोमि**=सुनता हूँ। २. साथ ही हे **शक्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! आपकी कृपा से **मम धीः**=मेरी बुद्धि **अप्नस्वती**=कर्मोंवाली **अस्तु**=हो और हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **नः**=हमारे लिए **वसुविदम्**=निवास के लिए आवश्यक सब तत्त्वों को प्राप्त करानेवाले **भगम्**=भजनीय धन को **आभर**=सर्वथा प्राप्त कराइए। वस्तुतः प्रभु बुद्धि देकर मुझे इस योग्य बना दें कि मैं निवास के लिए आवश्यक तत्त्वों को जुटाने में समर्थ हो जाऊँ। मैं बुद्धिवाला होऊँ और मेरी बुद्धि कर्म से युक्त हो।

भावार्थ—मैं भोजन की प्रार्थना न करके क्रियायुक्त बुद्धि की याचना करूँ। 'हम प्रभु को 'शिशय' के रूप' स्मरण करें, न कि 'भोज' के रूप में।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

हविष्मान्, न कि असुन्वत्

त्वां जना॑ ममस॒त्येष्वि॑न्द्र सन्तस्था॒ना वि ह्व॑यन्ते समी॒के।
अत्रा॒ युजं॑ कृणुते॒ यो ह॒विष्मा॒न्नासु॑न्वता स॒ख्यं व॑ष्टि॒ शूरः॑॥ ४॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभो! **समीके**=संग्राम में **सन्तस्थानाः**=सम्यक् स्थित हुए-हुए **जनाः**=लोग **मम सत्येषु**='मेरा पक्ष सत्य है, मेरा पक्ष सत्य है' इसप्रकार के विचारवाले संग्रामों में **त्वाम्**=आपको **विह्वयन्ते**=पुकारते हैं। दोनों ही पक्ष अपने को सत्य पर आरूढ़ समझ रहे होते हैं। दोनों में कोई भी अपने को ग़लती पर नहीं समझता। २. **अत्र**=इसप्रकार के विचारवाले इन संग्रामों के उपस्थित होने पर **यः**=जो **हविष्मान्**=हविवाला होता है—त्यागपूर्वक अदन करनेवाला होता है, वही उस प्रभु को **युजं कृणुते**=अपना साथी बना पाता है। **शूरः**=सब शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभु **असुन्वता**=अयज्ञशील पुरुष के साथ **सख्यम्**=मित्रता को **न वष्टि**=नहीं चाहते हैं। त्याग की वृत्ति ही मनुष्य को असत्य से दूर करती है, प्रभु इस सत्य के पक्षवाले को ही विजयी करते हैं। संग्रामों में विजय उन्हीं की होती है, जो हविष्मान् बनते हैं। जिस जाति में त्याग की भावना नहीं होती, वह पराजित ही होती है।

भावार्थ—हम हविष्मान् बनें, हम तभी प्रभु की मित्रता में विजयी बनेंगे।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'प्रयस्वान्' बनना

धनं न स्पन्द्रं बहुलं यो अस्मै तीव्रान्त्सोमाँ आसुनोति प्रयस्वान्।
तस्मै शत्रून्त्सुतुकान्प्रातरह्नो नि स्वष्ट्रान्युवति हन्ति वृत्रम्॥ ५ ॥

१. **यः**=जो भी पुरुष **प्रयस्वान्**=(प्रयस्=हवि) हविष्मान्=त्याग की वृत्तिवाला बनकर **अस्मै**=इस प्रभु के लिए—इस प्रभु की प्राप्ति के लिए **धनम्**=धन को **स्पन्द्रं न**=जोकि चञ्चल-सा है—अस्थिर है तथा **बहुलम्**=जीवन के लिए कृष्णपक्ष के समान है—जीवन को अन्धकारमय बना देता है—उस धन को **आसुनोति**=यज्ञ के लिए विनियुक्त करता है और जो प्रयस्वान् (प्रयस्=food) प्रशस्त भोजनवाला बनकर **तीव्रान्**=शक्तिशाली—रोगकृमियों व मन की मैल का संहार करनेवाले **सोमान्**=सोमकणों को **आसुनोति**=अपने शरीर में उत्पन्न करता है, **तस्मै**=उस पुरुष के लिए वे प्रभु **अह्नः प्रातः**=दिन का प्रारम्भ होते ही **शत्रून्**=काम आदि शत्रुओं को **सुतुकान्**=(सुप्रेरणान् सा०) पूरी तरह से भाग जानेवाला करते हैं और **स्वष्ट्रान्**=(उत्तमायुधान् अष्ट्रा=goad) उत्तम शस्त्रोंवाले इन शत्रुओं को **नियुवति**=निश्चय से पृथक् कर देते हैं। इसप्रकार **वृत्रं हन्ति**=वे प्रज्ञान की आवरणभूत वासना को विनष्ट कर डालते हैं। २. (क) त्यागवाले बनकर हम धनों को यज्ञों में विनियुक्त करें। ये धन अस्थिर हैं—इनमें ममता क्या करनी? ये धन हमारी अवनति का कारण बनते हैं—जीवन में ये कृष्णपक्ष के समान हैं। (ख) उत्तम अन्नों का सेवन करते हुए हम शरीर में सोम का उत्पादन करें, वह हमें नीरोग व निर्मल बनाएगा। (ग) ऐसा होने पर हमारे ये काम आदि शत्रु भाग खड़े होंगे। इन शत्रुओं के अस्त्र हमारे लिए कुण्ठित हो जाएँगे—हमारी शत्रुभूत वासनाओं का विनाश हो जाएगा।

भावार्थ—हम धनों को यज्ञों में लगाएँ, सोम (वीर्य) का अपने में उत्पादन करें। यही शत्रु-विनाश का मार्ग है।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

जन्य, (द्युम्न), धन

यस्मिन्वयं दधिमा शंसमिन्द्रे यः शिश्राय मघवा काममस्मे।
आराच्चित्सन्भयतामस्य शत्रुर्न्यस्मै द्युम्ना जन्या नमन्ताम्॥ ६ ॥

१. **यस्मिन् इन्द्रे**=जिस परमैश्वर्यशाली प्रभु में **वयम्**=हम **शंसम्**=स्तुति को **दधिम**=धारण

करते हैं और **यः मघवा**=जो ऐश्वर्यशाली प्रभु **अस्मे**=हममें **कामम्**=काम को **शिश्राय** (to use, employ)=हमारी उन्नति के लिए विनियुक्त करते हैं। इस काम के द्वारा ही तो वेदाध्ययन व यज्ञ आदि उत्तम कर्म हुआ करते हैं। **अस्य शत्रुः**=इस पुरुष का नाश करनेवाला काम **आरात् चित् सन्**=दूर भी होता हुआ **भयताम्**=डरता ही रहे। इसके पास फटकने को इसे स्वप्न भी न हो और अब **अस्मै**=इस प्रभु के स्तोता के लिए **जन्या**=मनुष्य का हित साधनेवाले **द्युम्ना**=धन **नमन्ताम्**=निश्चय से प्रह्वीभूत हों। इसे इन जन्य धनों की प्राप्ति हो। २. जब हम प्रभु का स्तवन करते हैं तब इसका सर्वमहान् लाभ यह होता है कि हमारे जीवनों में काम शत्रु न बनकर मित्र की भाँति कार्य करता है। प्रभु इस 'काम' को हमारी उन्नति के लिए विनियुक्त करते हुए उन धनों को प्राप्त करते हैं जो जनहित के साधक होते हैं।

भावार्थ—प्रभु के स्तवन से काम हमारा शत्रु न होकर मित्र हो जाता है और हम लोकहित-साधक धनों को प्राप्त करनेवाले होते हैं।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

रमणीय शक्ति व बुद्धि

आराच्छत्रुमप बाधस्व दूरमुग्रो यः शम्बः पुरुहूत तेन।
अस्मे धेहि यवमद्गोमदिन्द्र कृधी धियं जरित्रे वाजरत्नाम्॥ ७॥

१. हे **पुरुहूत**=बहुतों-से पुकारे जानेवाले प्रभो! **यः**=जो आपका **उग्रः**=तीव्र **शम्बः**=वज्र है, **तेन**=उस शत्रुओं को शान्त (शंब) करनेवाले वज्र से **आरात् शत्रुम्**=इस समीप आनेवाले शत्रु को **दूरम्**=सुदूर **अपबाधस्व**=विनष्ट करनेवाले होइए। वस्तुतः प्रभु ने हमें यह क्रियाशीलतारूप वज्र दिया है। इसी से हमने काम आदि शत्रुओं को दूर भगाना है। २. हे प्रभो! **अस्मे**=हमारे लिए आप **यवमत्**=जौवाले व **गोमत्**=गौओंवाले, अर्थात् गोदुग्ध से युक्त अन्न को **धेहि**=धारण कीजिए। जौ इत्यादि अन्नों से हममें प्राणशक्ति का वर्धन होगा और गोदुग्ध से हमें सात्त्विक बुद्धि प्राप्त होगी। ३. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **जरित्रे**=स्तोता के लिए **वाजरत्नाम्**=रमणीय शक्तियोंवाली **धियम्**=बुद्धि को **कृधि**=कीजिए। आपका स्तोता जहाँ बुद्धि को प्राप्त करे, वहाँ उसे रमणीय शक्तियाँ भी प्राप्त हों। शक्तियों की रमणीयता इसी में है कि वह रक्षा के कार्य में विनियुक्त होती है—ध्वंस के कार्य में नहीं।

भावार्थ—हम क्रियाशीलतारूप वज्र के द्वारा वासना को नष्ट करें। जौ व गोदुग्ध का प्रयोग करते हुए रमणीय शक्ति व बुद्धि को प्राप्त करें।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

बहुलान्त सोम

प्र यमन्तर्वृषसवासो अग्मन्तीव्राः सोमा बहुलान्तास इन्द्रम्।
नाह दामानं मघवा नि यंसन्नि सुन्वते वहति भूरि वामम्॥ ८॥

१. **यम् इन्द्रम्**=जिस जितेन्द्रिय पुरुष को **तीव्राः**=रोगकृमिरूप शत्रुओं के लिए उग्र **बहुलान्तासः**=मानव-जीवन में कृष्णपक्ष का अन्त और शुक्लपक्ष को लानेवाले **वृषसवासः**=शक्तिशाली पुरुष को जन्म देनेवाले **सोमाः**=सोमकण **अन्तः अग्मन्**=अन्दर प्राप्त होते हैं, अर्थात् जिस जितेन्द्रिय पुरुष के शरीर में ये सोमकण व्याप्त होते हैं उस **दामानम्**=कटिबन्धनवाले (दामन् girdle), नियमित जीवनवाले पुरुष को **अह**=निश्चय से **मघवा**=ऐश्वर्यशाली प्रभु **न नियंसत्**=क़ैद में नहीं डालते, अर्थात् यह पुरुष बारम्बार बन्धन में नहीं पड़ता। यह सोम-रक्षण जहाँ उसे शक्तिशाली

व नीरोग बनाता है, वहाँ उसे उज्ज्वल जीवनवाला भी बनाता है। शुक्लमार्ग से चलता हुआ यह व्यक्ति उस लोक को प्राप्त करता है, जहाँ से इसे फिर इस मानव आवर्त्त के बन्धन में नहीं आना पड़ता। २. **सुन्वते**=इस सोमाभिषव करनेवाले पुरुष के लिए **भूरि**=पालन-पोषण के लिए पर्याप्त **वामम्**=सुन्दर धन **निवहति**=निश्चय से प्राप्त कराते हैं। सोम-रक्षण से जहाँ परलोक में निःश्रेयस की प्राप्ति होती है, वहाँ यह सोम-रक्षण इस लोक के अभ्युदय को भी प्राप्त कराता है।

भावार्थ—सोम-रक्षण 'अभ्युदय व निःश्रेयस' दोनों का साधक है।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

देवकाम (न धना रुणद्धि)

उत प्रहामतिदीवा जयति कृतमिव श्वघ्नी वि चिनोति काले।
यो देवकामो न धनं रुणद्धि समित्तं रायः सृजति स्वधाभिः॥ ९॥

१. **अतिदीवा**=प्रभु की अतिशयेन स्तुति करनेवाला यह सोमरक्षक पुरुष **प्रहाम्**=प्रकर्षेण विनाश करनेवाली, 'मार' नामवाली इस कामवासना को **जयति**=जीत लेता है, २. **उत**=और **इव**=जैसे **श्वघ्नी**=कल की चिन्ता न करनेवाला 'कितव' (जुआरी) **काले**=अवसर पर **कृतम्**=द्यूतोपार्जित सम्पूर्ण धन को **विचिनोति**=बखेर देता है, इसी प्रकार **यः**=जो **देवकामः**=प्रभु-प्राप्ति की कामनावाला **धनम्**=धनों को **न रुणद्धि**=रोकता नहीं है, अपितु यज्ञों में विनियुक्त कर डालता है, **तम्**=उस देवकाम पुरुष को **स्वधावान्**=सम्पूर्ण (स्व) धनों को धारण करनेवाला प्रभु **रायः**=धन से **इत्**=निश्चयपूर्वक **संसृजति**=संसृष्ट करता है। देवकाम पुरुष को यज्ञादि की पूर्ति के लिए धनों की कमी नहीं रहती।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन द्वारा काम को पराजित करें। उदारता से धनों का यज्ञों में विनियोग करें। प्रभु हमें सब आवश्यक धन प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अरिष्टासः

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन वा क्षुधं पुरुहूत विश्वे।
वयं राजसु प्रथमा धनान्यरिष्टासो वृजनीभिर्जयेम॥ १०॥
बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरीवः कृणोतु॥ ११॥

व्याख्या अथर्व० २०.१७.१०-११ पर देखिए।

सूचना—अथर्व० २०.१७.१० पर '**विश्वे**' के स्थान पर '**विश्वा**' णः है। वहाँ यह 'क्षुधम्' का विशेषण है। यहाँ यह 'वयम्' का। **विश्वे वयं तरेम**=हम सब तैर जाएँ। **आरिष्टासो वृजनीभिः**=के स्थान में '**अस्माकेन वृजनेना**' ऐसा पाठ है। यहाँ अर्थ है 'अहिंसित' होते हुए पाप-वर्जनों के द्वारा।

पापवर्जन द्वारा ही यह 'भरद्वाज' बनता है और प्रार्थना करता है कि—

९०. [नवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'अद्रिभित्' प्रभु

यो अद्रिभित्प्रथमजा ऋतावा बृहस्पतिराङ्गिरसो हविष्मान्।
द्विबर्हज्मा प्राघर्मसत्पिता न आ रोदसी वृषभो रोरवीति ॥ १ ॥

१. **यः**=जो प्रभु **अद्रिभित्**=हमारे अविद्यापर्वत का विदारण करनेवाले हैं, **प्रथमजाः**=सृष्टि से पूर्व ही विद्यमान हैं, **ऋतावाः**=ऋतवाले हैं—प्रभु के तीव्र तप से ही तो ऋत की उत्पत्ति होती है 'ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत', **बृहस्पतिः**=(ब्रह्मणस्पतिः) वेदज्ञान के रक्षक हैं। **अङ्गिरसः**=उपासकों के अंग-प्रत्यंग में रस का संचार करनेवाले हैं, **हविष्मान्**=प्रशस्त हविवाले हैं। प्रभु ही सृष्टियज्ञ के महान् होता हैं। २. **द्विबर्हज्मा**=दोनों लोकों में प्रवृद्ध गतिवाले हैं (द्वि-बर्ह-ज्मा)-द्युलोक व पृथिवीलोक में सर्वत्र प्रभु की क्रिया विद्यमान है। **प्राघर्मसत्**=प्रकृष्ट तेज में आसीन होनेवाले हैं—तेज पुञ्ज हैं—तेज-ही-तेज हैं। **नः पिता**=हम सबके पिता हैं। **वृषभः**=ये सुखों का वर्षण करनेवाले प्रभु **रोदसी**=इन द्यावापृथिवी में **आरोरवीति**=खूब ही गर्जना करते हैं। इन लोकों में स्थित मनुष्यों के हृदयों में स्थित होकर उन्हें कर्त्तव्याकर्त्तव्य का उपदेश करते हैं। अच्छे कर्मों में उत्साह व बुरे कर्मों में भय प्रभु ही तो प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—ज्ञान के स्वामी प्रभु ही हमारे अविद्यापर्वत का विदारण करते हैं। हमें तेजस्वी बनाते हैं। हृदयस्थरूपेण कर्त्तव्य की प्रेरणा देते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

जनाय चिद्य ईवत उ लोकं बृहस्पतिर्देवहूतौ चकार।
घ्नन्वृत्राणि वि पुरो दर्दरीति जयं छत्रूँरमित्रान्पृत्सु साहन् ॥ २ ॥

१. **यः बृहस्पतिः**=जो ज्ञान के स्वामी प्रभु हैं, वे **ईवते जनाय**=गतिशील-आलस्यशून्य-मनुष्य के लिए **चित्**=पूर्ण निश्चय से **देवहूतौ**=यज्ञों में **लोकम्**=स्थान को **चकार**=करते हैं, अर्थात् वे ज्ञानस्वरूप प्रभु पुरुषार्थी मनुष्य को यज्ञ की रुचिवाला बनाते हैं। २. इसप्रकार यज्ञरुचि बनाकर प्रभु **वृत्राणि घ्नन्**=इसकी वासनाओं को नष्ट करते हुए **पुरः विदर्दरीति**=काम, क्रोध, लोभ की नगरियों का विदारण कर देते हैं। इसके **शत्रून्**=इन काम आदि शत्रुओं को **जयन्**=जीतते हुए **पृत्सु**=संग्रामों मे **अमित्रान्**=द्वेष आदि अमित्रभूत भावनाओं को **साहन्**=पराभूत करते हैं।

भावार्थ—प्रभु आलस्यशून्य मनुष्य को यज्ञशील बनाते हैं। इसके आसुरभावों का विनाश करते हैं।

ऋषिः—**भरद्वाजः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अर्कों द्वारा अमित्र-हनन

बृहस्पतिः समजयद्वसूनि महो व्रजान्गोमतो देव एषः।
अपः सिषासन्त्स्व१रप्रतीतो बृहस्पतिर्हन्त्यमित्रमर्कैः ॥ ३ ॥

१. **बृहस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी प्रभु **वसूनि**=निवास के लिए आवश्यक सब धनों को हमारे लिए **समजयत्**=जीतते हैं। **एषः देवः**=ये हमारे लिए शत्रुओं को पराजित करने की कामनावाले प्रभु (दिव् विजिगीषायाम्) **महः**=महत्त्वपूर्ण **गोमतः**=प्रशस्त इन्द्रियोंवाले **व्रजान्**=बाड़ों को (cow-shed) हमारे लिए जीतते हैं, अर्थात् प्रभु सब वसुओं को प्राप्त कराते हैं और हमें प्रशस्त

इन्द्रियोंवाला बनाते हैं। २. **अप्रतीतः**=ये किसी से भी प्रतिगत न होनेवाले—न रोके जानेवाले प्रभु **अपः**=रेतःकणरूप जलों को तथा **स्वः**=प्रकाश को **सिषासन्**=हमारे साथ संभक्त करने की कामनावाले हैं। **बृहस्पतिः**=ये ज्ञान के स्वामी प्रभु **अर्कैः**=अर्चना के साधकभूत मन्त्रों के द्वारा **अमित्रम्**=हमारा विनाश करनेवाली द्वेष आदि की भावनाओं को **हन्ति**=नष्ट करते हैं।

भावार्थ—ज्ञान के स्वामी प्रभु हमें वसुओं को प्राप्त कराते हैं, प्रशस्त इन्द्रियाँ देते हैं। रेतःकणों को व प्रकाश को प्राप्त कराते हुए ये ज्ञान के स्वामी प्रभु मन्त्रों द्वारा द्वेष आदि अमित्रभूत भावनाओं को विनष्ट करते हैं।

वसुओं, प्रशस्त इन्द्रियों तथा रेतःकणों व प्रकाश को प्राप्त करता हुआ यह उपासक 'अयास्य' बनता है—यह शत्रुओं से खिन्न नहीं किया जाता। यह शत्रुओं से अजय्य (invincible) होता है। अयास्य ही अगले सूक्त का ऋषि है। यह अयास्य प्रार्थना करता है कि—

९१. [एकनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

तुरीयावस्था में पहुँचना

इमां धियं सप्तशीर्ष्णीं पिता न ऋतप्रजातां बृहतीमविन्दत्।
तुरीयं स्विज्जनयद्विश्वजन्योऽयास्य उक्थमिन्द्राय शंसन्॥ १॥

१. **इमां धियम्**=इस कर्मों व बुद्धि का धारण करनेवाली—हमारे कर्त्तव्यों का प्रतिपादन करनेवाली तथा ज्ञान को बढ़ानेवाली **सप्तशीर्ष्णीम्**=गायत्री आदि सात छन्दोंरूप सिरोंवाली **ऋत प्रजाताम्**=ऋत के लिए प्रादुर्भूत हुई-हुई, यज्ञ आदि उत्तम कर्मों के प्रतिपादन के लिए उत्पन्न हुई-हुई **बृहतीम्**=वृद्धि की कारणभूत इस वेदवाणी को **पिता**=हम सबके पिता प्रभु ने **नः**=हमारे लिए **अविन्दत्**=प्राप्त कराया (अवेदयत्)। २. इस वेदज्ञान को प्राप्त करके मनुष्य **विश्वजन्यः**=सब लोगों के हित को करनेवाला होता है। **अयास्यः**=अनथक श्रमवाला होता है। **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए **उक्थम्**=स्तोत्रों का **शंसन्**=उच्चारण करनेवाला होता है। इसप्रकार जीवन को उत्तम बनाता हुआ **स्वित्**=निश्चय से **तुरीयम्**=तुरीयावस्था को **जनयत्**=अपने में विकसित करता है। इस अवस्था में यह 'वैश्वानर-तैजस-व प्राज्ञ' बनकर 'शान्त-शिव अद्वैत' स्थिति में पहुँचता है।

भावार्थ—हम प्रभु से दी गई वेदवाणी को प्राप्त करें—इसके अनुसार लोकहित में प्रवृत्त हों, अनथकरूप से कार्य करें, प्रभु का स्तवन करें और समाधि की स्थिति तक पहुँचने को अपना लक्ष्य बनाएँ।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

असुरस्य वीराः (प्रभु के पुत्र)

ऋतं शंसन्त ऋजु दीध्याना दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः।
विप्रं पदमङ्गिरसो दधाना यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार तुरीयावस्था की ओर चलनेवाले लोग **ऋतं शंसन्तः**=सदा ऋत का ही शंसन करते है—इनके जीवन से अनृत का उच्चारण नहीं होता। **ऋजु दीध्यानाः**=ये सदा सरलता से कल्याण का ही ध्यान करनेवाले होते हैं—कभी किसी के अमंगल का विचार नहीं करते। **दिवः-पुत्रासः**=ज्ञान के द्वारा ये अपने जीवन को पवित्र बनाते हैं और आधि-व्याधियों से इसका रक्षण करते हैं (पुनाति त्रायते)। **असुरस्य वीराः**=ये उस (असून् राति) प्राणशक्ति

को देनेवाले प्रभु के वीर सन्तान बनते हैं। प्रभु से शक्ति को प्राप्त करके सब बुराइयों को विनष्ट करनेवाले होते हैं। २. **अंगिरसः**=अंग-प्रत्यंग में रसवाले ये वीर पुरुष **विप्रं परम्**=विशेषरूप से अपना पूरण करनेवाले (वि-प्रा) सर्वोच्च स्थान को **दधानाः**=धारण करने के हेतु से **यज्ञस्य**=उस यज्ञरूप प्रभु के **प्रथमं धाम**=सर्वोत्कृष्ट तेज का **मनन्त**=मनन करते हैं। प्रभु के तेज को अपना लक्ष्य बनाकर ये भी अपने जीवन को यज्ञमय बनाते हैं और उन्नति को प्राप्त करते हुए 'विप्र-पद' को धारण करनेवाले बनते हैं।

भावार्थ—ऋत का शंसन करते हुए और प्रभु के तेज का स्मरण करते हुए हम उन्नत होने के लिए यत्नशील हों। ऊपर-और-ऊपर उठते हुए हम 'शूद्र से वैश्य', 'वैश्य से क्षत्रिय' व 'क्षत्रिय-पद से विप्र-पद' को प्राप्त करें।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

पाषाणमय बन्धनों' का भेदन

हंसैरिव सखिभिर्वावदद्भिरश्मन्मयानि नहना व्यस्यन्।
बृहस्पतिरभिकनिक्रदद्गा उत प्रास्तौदुच्च विद्वाँ अगायत्॥ ३ ॥

१. **बृहस्पतिः**=वेदज्ञान का पति बननेवाला ज्ञानी पुरुष **अश्मन्मयानि**=पत्थरों से बने हुए पाषाणतुल्य दृढ़ **नहना**=बन्धनों को **व्यस्यन्**=दूर फेंकने के हेतु से **वावदद्भिः**=प्रभु-स्तोत्रों का खूब ही उच्चारण करनेवाले **हंसैः सखिभिः**=हंस-तुल्य मित्रों के साथ **गाः**=इन वेदवाणियों का **अभिकनिक्रदत्**=प्रातः-सायं उच्चारण करता है। काम, क्रोध, लोभरूप आसुरवृत्तियाँ क्रमशः इन्द्रियों, मन व बुद्धि में अपने अधिष्ठानों को दृढ़ बनाती हैं, ये ही असुरों की तीन पुरियाँ कहलाती हैं। बड़ी दृढ़ होने से ये पुरियाँ 'अश्मन्मयी' हैं। इन पुरियों को ज्ञानाग्नि ही भस्म करनेवाली होती है। इसी उद्देश्य से बृहस्पति अपने मित्रों के साथ ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करता है। ये प्रिय हंसों के समान हों—शुभ का ग्रहण करनेवाले, सरल चाल से चलनेवाले व निरभिमान। ऐसे मित्रों का संग ही हमें उत्थान की ओर ले-जाता है। २. यह बृहस्पति आसुर पुरियों के विध्वंस के उद्देश्य से ही **प्रास्तौत्**=प्रकर्षेण प्रभु का स्तवन करता है। **उत**=और **विद्वान्**=ज्ञानी बनकर **उदगायत् च**=अवश्य प्रभु के गुणों का गायन करता है। यह गुणगान उसे उन गुणों के धारण के लिए प्रेरित करता है। इन गुणों के धारण से काम-क्रोध-लोभ का विलय ही हो जाता है।

भावार्थ—हम ज्ञान की प्रवृत्तिवाले बनकर उत्तम मित्रों के साथ ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करें और प्रभु-स्तवन करते हुए 'काम, क्रोध, लोभ' के दृढ़ बन्धनों को शिथिल कर डालें।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

एक, दो व तीन

अवो द्वाभ्यां पर एकया गा गुहा तिष्ठन्तीरनृतस्य सेतौ।
बृहस्पतिस्तमसि ज्योतिरिच्छन्नुदुस्रा आकर्वि हि तिस्र आवः॥ ४ ॥

१. **बृहस्पतिः**=ज्ञान का पति यह विद्वान् **द्वाभ्याम् अव उ**=काम, क्रोधरूप दोनों शत्रुओं से दूर ही रहता है। काम, क्रोध से दूर होकर **एकया**=अद्वितीय वेदवाणी से यह **परः**=उत्कृष्ट जीवनवाला बनता है। २. ज्ञान-प्राप्ति से पूर्व **गुहा तिष्ठन्तीः**=अज्ञानान्धकाररूप गुहा में ठहरी हुई और अतएव **अनृतस्य सेतौ** (तिष्ठन्तीः)=अनृत के बन्धन में पड़ी हुई **गाः**=इन्द्रियों को **उद्**

आवः=अज्ञानान्धकार से बाहर करता है। ज्ञान प्राप्त करने पर इसकी इन्द्रियाँ विषयों में ही नहीं फँसी रहतीं। २. **बृहस्पतिः**=यह ज्ञान की वाणी का पति बनता है। **तमसि**=इस संसार के विषयान्धकार में **ज्योतिः इच्छन्**=यहाँ आत्मप्रकाश की प्राप्ति की इच्छा करता है। इसी उद्देश्य से **उस्त्राः**=ज्ञान की किरणों को (उद् आवः) अपने जीवन में प्रमुख स्थान प्राप्त कराता है। ज्ञानविरोधी किसी भी व्यवहार को यह नहीं करता। इसप्रकार **हि**=निश्चय से **तिस्त्रः**=तीनों ज्योतियों को **वि आवः**=विशेषरूप से प्रकट करता है। 'त्रीणि ज्योतींषि सचते स षोडशी' इस मन्त्रभाग में इन्हीं तीन ज्योतियों का संकेत है। शरीर में ये ज्योतियाँ तेजस्विता (अग्नि), आह्लाद (चन्द्र) व ज्ञान (सूर्य) के रूप में हैं। यह बृहस्पति शरीर में तेजस्वितावाला होता है, मन में आह्लादमय तथा मस्तिष्क में ज्ञानरूप सूर्यवाला होता है।

भावार्थ—हम काम, क्रोध से दूर हो, वेदवाणी के द्वारा उत्कृष्ट जीवनवाले बनें तथा 'तेजस्विता, आह्लाद व ज्ञान' रूप ज्योतियों को अपने में जगाएँ।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'उषसं-सूर्यं गाम् अर्कम्' (विवेद)

विभिद्या पुरं शयथेमपाचीं निस्त्रीणि साकमुदधेरकृन्तत्।
बृहस्पतिरुषसं सूर्यं गामर्कं विवेद स्तनयन्निव द्यौः ॥ ५ ॥

१. शरीर में 'काम, क्रोध, लोभ' रूप असुरों की क्रमशः 'इन्द्रियों, मन व बुद्धि' में पुरियाँ बन जाती हैं। ये पुरियाँ 'अपाची' (अप अञ्च्)=हमें प्रभु से दूर ले-जानेवाली हैं। आसुरवृत्तियों के कारण हम संसार के विषयों में फँस जाते हैं और प्रभु को भूल जाते हैं। यदि हम इन्द्रियों को शान्त कर पाते हैं तो इन आसुर पुरियों को विदीर्ण करने में समर्थ हो जाते हैं। **शयथा**=(शी=tranquility) शान्ति के द्वारा अथवा हृदय में शयन (निवास) के द्वारा—अन्तर्मुखी वृत्ति के द्वारा **अपाचीम्**=प्रभु से हमें दूर ले-जानेवाली **पुरम्**=इस वासनात्मक आसुर पुरी का **ईम्** **विभिद्या**=निश्चय से विदारण करके, यह विदारण करनेवाला पुरुष **उदधेः साकम्**=(कामो हि समुद्रः) अनन्त विषयरूप जलवाले 'काम' के साथ **त्रीणि**='काम, क्रोध, लोभ' इन तीनों को **निः अकृन्तत्**=निश्चय से काट डालता है। इनको नष्ट करके ही तो यह प्रभु की ओर चलता है। २. यह **बृहस्पतिः**=ज्ञानी व शान्तवृत्तिवाला पुरुष **उषसम्**=उषा को, **सूर्यम्**=सूर्य को, **गाम्**=गौ को **अर्कम्**=अर्क को **विवेद**=विशेषरूप से प्राप्त करता है। 'उषस्' शब्द 'उष दाहे' धातु से बनकर दोष-दहन का प्रतीक है 'सृ गतौ' से बना 'सूर्य' शब्द निरन्तर गति व क्रियाशीलता का संकेत करता है। 'गौ' शब्द 'गमयति' इस व्युत्पत्ति से अर्थों का ज्ञान देनेवाली वाणी का वाचक है और 'अर्च पूजायाम्' से बना अर्क शब्द पूजा व उपासना का वाचक है। बृहस्पति के जीवन में ये चारों वस्तुएँ बड़ी सुन्दरता से उपस्थित होती हैं। यह दोषों का दहन करता है—निरन्तर क्रियाशील होता है—वेदवाणी के अध्ययन से ज्ञान को बढ़ाता है और प्रभु के पूजन की वृत्तिवाला होता है। ३. ऐसा बनकर यह **स्तनयन् इव द्यौः**=गर्जना करते हुए द्युलोक के समान होता है। द्युलोकस्थ सूर्य की भाँति सर्वत्र प्रकाश फैलाता है, परन्तु जैसे गर्जते हुए मेघों के कारण सूर्य सन्तापकारी नहीं होता, उसी प्रकार यह बृहस्पति भी गर्जते हुए मेघ के समान ज्ञान-जल का वर्षण करता है। वर्षण से यह लोकों के सन्ताप को हरता है। सन्तापहरण के उद्देश्य से ही यह ज्ञान-प्रसार के कार्य को बड़ी मधुरता से करता है।

भावार्थ—आसुर पुरियों का विदारण करके हम प्रभु-पूजन वृत्तिवाले बनें। ज्ञान-प्रसार के कार्य को अहिंसा व माधुर्य के साथ करनेवाले हों।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

करेण+रवेण

इन्द्रो वलं रक्षितारं दुघानां करेणेव वि चकर्ता रवेण।
स्वेदाञ्जिभिराशिरमिच्छमानोरोदयत्पणिमा गा अमुष्णात्॥ ६ ॥

१. 'वल' वृत्र है—ज्ञान को यह आवृत्त कर लेनेवाला (वल vail) वासना का पर्दा है। इस वृत्र के प्रबल होने से ज्ञानेन्द्रियाँ अपना कार्य ठीक से नहीं करतीं। मानो यह 'वृत्र' उन्हें चुरा ले-जाता है और कहीं गुफा में छिपा देता है। ज्ञान का दोहन करनेवाली (दुघानां) ज्ञानेन्द्रियों को वल छिपा रखता है (रक्षितारम्)। **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष वल को नष्ट करके इन इन्द्रियरूप गौओं को फिर वापस ले-आता है। वल के नष्ट करने का साधन 'करेण+रवेण' है—कर्मशील बनना और प्रभु के नामों का उच्चारण करना। क्रियाशीलता के अभाव में अशुभवृत्तियाँ पनपती हैं और प्रभु-स्मरण के अभाव में किये जानेवाले उत्तम कर्मों के गर्व होने का भय बना रहता है। अहंकार भी 'वल' का ही दूसरा रूप है। यह भी ज्ञान का विरोधी है। **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **दुघानाम्**=ज्ञान-दुग्ध का दोहन करनेवाली इन्द्रियरूप गौओं के **रक्षितारम्**=चुराकर कहीं गुफा में रखनेवाले **वलम्**=वृत्रासुर को **करेण इव रवेण**=कर से, अर्थात् क्रियाशीलता से और इसी प्रकार रव से, अर्थात् प्रभु के नामोच्चारण से **विचकर्त**=काट डालता है। प्रभु-स्मरण के साथ क्रियाओं को करता हुआ यह वासनाओं से इन्द्रियों को आक्रान्त नहीं होने देता। २. यह **स्वेदाञ्जिभिः**=(अञ्जि=आभरण) पसीनेरूप आभरण से **आशिरम्** (आश्रयिणं, श्रियं)=श्री को **इच्छमानः**=चाहता हुआ **पणिम्**=लोभवृत्ति को (बनिये की) वृत्ति को **अरोदयत्**=रुलाता है और **गाः**=ज्ञानेन्द्रियरूप गौओं को **अमुष्णात्** (आजहार सा०) फिर वापस ले-जाता है। लोभवृत्ति में मनुष्य कम-से-कम श्रम से अधिक-से-अधिक धन लेना चाहता है। इसप्रकार लोभ से इसकी बुद्धि मलिन हो जाती है, इसीलिए मन्त्र का ऋषि 'अयास्य' गाढ़े पसीने की कमाई को ही चाहता है—स्वेद उसका आभूषण ही बन जाता है। यह लोभवृत्ति को नष्ट कर डालता है, मानो उसे रुलाता है। श्रम से धन की कामना करता हुआ यह अपनी इन्द्रियों को स्वस्थ रखता है।

भावार्थ—वासना हमारी इन्द्रियरूप गौओं को चुरा लेती है। श्रम से ही धनार्जन करते हुए हम ज्ञानेन्द्रियों को स्वस्थ रखते हैं।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उत्तम मित्र

स ईं सत्येभिः सखिभिः शुचद्भिर्गोधायसं वि धनसैरदर्दः।
ब्रह्मणस्पतिर्वृषभिर्वराहैर्घर्मस्वेदेभिर्द्रविणं व्या नट्॥ ७ ॥

१. **सः**=वह **ईम्**=सचमुच **सत्येभिः**=सत्य का पालन करनेवाले **शुचद्भिः**=अपने मनों को पवित्र बनानेवाले **धनसैः**=धनों का संविभाग करनेवाले, अर्थात् सारे-का-सारा स्वयं न खा जानेवाले **सखिभिः**=मित्रों के साथ **गोधायसम्**=इन्द्रियरूप गौओं को चुराकर कहीं अज्ञानान्धकार में छुपाकर रखनेवाले वल (वृत्र=वासना) को **वि अदर्दः**=विदीर्ण करता है। संसार में मित्रों का संग ही हमें बनाता व बिगाड़ता है। अच्छे मित्रों के साथ हम अच्छे बन जाते हैं, बुरों के साथ बिगड़ जाते हैं। यहाँ हमारे मित्र 'सत्य, शुचि व धनों' का संविभाग करनेवाले हैं। इनसे और उत्तम मित्र हो ही क्या सकते हैं? २. यह उत्तम मित्रों के साथ वल का विदारण करनेवाला व्यक्ति **ब्रह्मणस्पतिः**=ज्ञान का स्वामी बनता है और **वृषभिः**=शुभों से पुण्यात्मक कर्मों से

वराहैः=(वरं आहन्ति=गच्छति) शुभ उपायों के अवलम्बन से तथा **घर्मस्वेदेभिः**=स्वेद के क्षरण से (घृ=क्षरणे)—पसीना बहाने के द्वारा **द्रविणम्**=धन को **व्यानट्**=प्राप्त करता है। ज्ञानी बनकर यह धन को पुण्यात्मक कर्मों से—शुभ उपायों से तथा खूब मेहनत से पसीना बहाकर ही कमाता है।

भावार्थ—हमारे मित्र सत्यवादी, पवित्र व निःस्वार्थी हों। हम पुण्य व शुभ श्रमयुक्त उपायों से ही धनार्जन करें।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'अवद्यम+स्वयुक्' इन्द्रियाँ

ते सत्येन मनसा गोपतिं गा इयानास इषणयन्त धीभिः।
बृहस्पतिर्मिथोअवद्यपेभिरुदुस्रिया असृजत स्वयुग्भिः॥ ८॥

१. **ते**=वे **सत्येन मनसा**=सच्चे दिल से **गोपतिम्**=सब इन्द्रियों के स्वामी प्रभु को तथा **गाः**=इन्द्रियों को **इयानासः**=प्राप्त करने के लिए जाते हुए (अभिगच्छन्तः) **धीभिः**=ज्ञानयुक्त कर्मों से **इषणयन्त**=उन्हें प्राप्त करना चाहते हैं। जब हममें किसी पदार्थ के प्राप्त करने की सच्ची कामना होती है तभी हम उसे प्राप्त कर पाते हैं। ज्ञानयुक्त कर्मों से जहाँ हम इन इन्द्रियों को प्राप्त करते हैं, वहाँ इन्द्रियों के स्वामी प्रभु को भी प्राप्त करनेवाले होते हैं। २. **बृहस्पतिः**=वह ज्ञानी पुरुष **मिथः**=आपस में **अवद्यपेभिः**=अशुभ से एक-दूसरे से बचानेवाली **स्वयुग्भिः**=आत्मतत्त्व से मेल करानेवाली ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों से **उस्त्रियाः**=प्रकाश की किरणों को **उत्**=उत्कर्षेण **असृजत**=उत्पन्न करता है। ३. कर्मेन्द्रियाँ कर्म द्वार ज्ञान-प्राप्ति में सहायक होती हैं और ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान के द्वारा कर्मों को पवित्र करती हैं। इसप्रकार ये एक-दूसरे को अपवित्रता से बचाए रखती हैं। अपवित्रता से अपने को बचाकर ये आत्मा के साथ हमारा मेल करानेवाली होती हैं। इन इन्द्रियों से ही प्रकाश की किरणों की सृष्टि होती है।

भावार्थ—हममें प्रभु-प्राप्ति व इन्द्रिय-विजय की सच्ची कामना हो। हम ज्ञानेन्द्रियों को सुरक्षित करते हुए प्रकाशमय जीवनवाले हों।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ज्ञान+शक्ति=विजय

तं वर्धयन्तो मतिभिः शिवाभिः सिंहमिव नानदतं सधस्थे।
बृहस्पतिं वृषणं शूरसातौ भरेभरे अनु मदेम जिष्णुम्॥ ९॥

१. **शिवाभिः**=कल्याणी **मतिभिः**=मतियों से हम **ते**=उस प्रभु का **वर्धयन्तः**=वर्धन करते हुए **अनुमदेम**=उसकी अनुकूलता में हर्ष का अनुभव करें। हम अपनी मति को सदा शुभ बनाए रक्खें, वस्तुतः मति का शुभ बनाए रखना ही प्रभु का सर्वोत्तम आराधन है—संसार में किसी के अशुभ का विचार न करना। २. उस प्रभु का हम वर्धन करें, जो **सधस्थे**=जीवात्मा व परमात्मा के साथ-साथ रहने के स्थान 'हृदय' में **सिंहम् इव**=शेर की भाँति **नानदतम्**=गर्जन कर रहे हैं। 'तिस्रो वाच उदीरते हरिरेति कनिक्रदत्'=हृदयस्थ प्रभु 'ज्ञान, भक्ति व कर्म' की ऊँचे-ऊँचे प्रेरणा दे रहे हैं। ३. **बृहस्पतिम्**=ज्ञान के स्वामी **वृषणम्**=शक्तिशाली **शूरसातौ**=शूरों से संभजनीय (सेवनीय) **भरे-भरे**=प्रत्येक संग्राम में **जिष्णुम्**=विजय प्राप्त करानेवाले प्रभु को **अनुमदेम**=अनुकूल करते हुए हर्ष का अनुभव करें। सब विजय प्रभु की शक्ति व ज्ञान से ही होती है 'जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्' सब विजयों को प्रभु के प्रति अर्पण करके हम अहंकारशून्य

होकर सदा आनन्दमय बने रहें।

भावार्थ—शुभमति के हेतु से हम प्रभु का वर्धन करें। वे प्रभु हमें निरन्तर प्रेरणा दे रहे हैं। वे प्रभु ही शक्ति व ज्ञान के स्रोत हैं—सब विजयों को प्राप्त करानेवाले हैं। प्रभु की अनुकूलता में हम हर्ष का अनुभव करें।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उत्तर सद्म का आरोहण

यदा वाजमसनद्विश्वरूपमा द्यामरुक्षदुत्तराणि सद्म।
बृहस्पतिं वृषणं वर्धयन्तो नाना सन्तो बिभ्रतो ज्योतिरासा॥ १०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु की अनुकूलता में **यदा**=जब मनुष्य **विश्वरूपम्**='तेज-वीर्य-ओजस्, बल, मन्यु व सहस्' इन सब रूपोंवाले **वाजम्**=बल को **असनत्**=प्राप्त करता है, तब यह व्यक्ति **द्याम् अरुक्षत्**=प्रकाशमय लोक का आरोहण करता है, **उत्तराणि सद्म**=उत्कृष्ट गृहों का आरोहण करता है। पृथिवीलोक से ऊपर उठकर यह अन्तरिक्षलोक में पहुँचता है, अन्तरिक्ष से द्युलोक में, द्युलोक से ऊपर उठकर हम ब्रह्मलोक में पहुँचते हैं। यह ब्रह्मलोक ही 'उत्तर सद्म' है। २. इस समय हम **बृहस्पतिम्**=ज्ञान के स्वामी **वृषणम्**=शक्तिशाली प्रभु को **वर्धयन्तः**=बढ़ाते हुए होते हैं। उस ब्रह्म का सतत स्मरण करते हुए सबमें उस ब्रह्म की सत्ता को अनुभव करते हुए—उनके साथ एकत्व का अनुभव करते हैं। इस अनुभव से **नाना सन्तः**=उन अनेक रूपों में होते हुए **आसा**=मुख से **ज्योतिः बिभ्रतः**=प्रकाश का धारण करते हुए होते हैं। उस समय हम सर्वत्र ज्ञान का प्रचार करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम तेजस्विता का धारण करें, प्रकाशमयलोक में आरूढ़ हों। प्रभु का वर्धन करते हुए भी सबके साथ एकत्व का दर्शन करें और ज्ञान का प्रसार करें।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सत्या आशीः

सत्यामाशिषं कृणुता वयोधै कीरिं चिद्ध्यवथ स्वेभिरेवैः।
पश्चा मृधो अप भवन्तु विश्वास्तद्रोदसी शृणुतं विश्वमिन्वे॥ ११॥

१. हे देवो! **वयोधै**=उत्तम जीवन के धारण व स्थापन के लिए **आशिषम्**=इच्छाओं को **सत्याम्**=सत्य **कृणुत**=करो। इच्छाएँ सत्य होंगीं तो जीवन भी उत्तम बनेगा। २. **कीरिम्**=इस स्तोता को **चित् हि**=निश्चय से **स्वेभिः एवैः**=अपने कर्मों के द्वारा **अवथ**=रक्षित करते हो। यह स्तोता क्रियाशील बनता है और इसके ये कर्म इसके रक्षण का साधन बनते हैं। ३. **पश्चा**=अब इस क्रियाशीलता के होने पर—क्रियाशीलता के पीछे **विश्वाः**=सब **मृधः**=काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रु **अपभवन्तु**=हमसे दूर हों। हम काम-क्रोध आदि के शिकार न हों। **तत्**=हमारी इस प्रार्थना को **विश्वमिन्वे**=सब संसार को प्रीणित करनेवाले **रोदसी**=द्युलोक व पृथिवीलोक **शृणुतम्**=सुनें। हमारी इस प्रार्थना को क्रियान्वित करने के लिए सारा संसार अनुकूल हो।

भावार्थ—हमारी इच्छाएँ सत्य हों। हम स्तोताओं का कर्मों के द्वारा रक्षण हो। काम, क्रोध व लोभ हमसे दूर हों। हमारी यह कामना सम्पूर्ण संसार की अनुकूलता द्वारा पूर्ण हो।

ऋषिः—**अयास्यः** ॥ देवता—**बृहस्पतिः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अर्बुद के मूर्धा का विभेदन

इन्द्रो॑ म॒ह्ना म॑ह॒तो अ॑र्ण॒वस्य॒ वि मू॒र्धान॑मभिनदर्बु॒दस्य॑।
अह॒न्नहि॒मरि॑णात्स॒प्त सिन्धू॑न्दे॒वैर्द्या॑वापृथिवी॒ प्राव॑तं नः ॥ १२ ॥

१. **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **महतः अर्णवस्य**=महान् ज्ञानसमुद्र की **मह्ना**=महिमा से **अर्बुदस्य**=वासनारूप मेघ के **मूर्धानम्**=शिखर को **वि अभिनद्**=विशेषरूप से विदीर्ण कर देता है। ज्ञान अल्प हो तो वासना से आवृत्त होकर समाप्त हो जाता है, परन्तु ज्ञानसमुद्र में वासना का ही विलय हो जाता है। प्रचण्ड ज्ञानाग्नि में वासना भस्म हो जाती है। २. यह इन्द्र **अहिम्**=ज्ञान को नष्ट करनेवाली वासना को **अहन्**=नष्ट कर देता है और **सप्त सिन्धूम्**=सप्तर्षियों से प्रवाहित होनेवाले सात ज्ञान नदियों को (कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्) **अरिणात्**=गतिमय करता है। वासना के विनाश से ज्ञान-प्रवाह ठीक से होने लगता है। इस ज्ञान का प्रवाह होने पर **द्यावापृथिवी**=ज्ञानदीप्त मस्तिष्करूप द्युलोक तथा दृढ़ शरीररूप पृथिवी—ये दोनों **देवैः**=दिव्यगुणों के द्वारा **नः**=हमें **प्रावतम्**=प्रकर्षेण रक्षित व प्रीणित करनेवाले हों। दीप्त मस्तिष्क व शरीर के दृढ़ होने पर हममें दिव्य गुणों का विकास हो। ज्ञान के अभाव में दिव्यगुणों के विकास का प्रश्न ही नहीं पैदा होता और अस्वस्थ शरीर में भी चिड़चिड़ापन व क्रोध आदि की वृत्ति आ जाती है।

भावार्थ—ज्ञानवृद्धि से हम वासना का उन्मूलन करके ज्ञानप्रवाहों को और अधिक प्रवाहित करनेवाले हों। इसप्रकार स्वस्थ शरीर व दीप्त मस्तिष्क से हम दिव्यगुणों का विकास करें।

यह ज्ञान की रुचिवाला 'प्रियमेध' अगले सूक्त में १-१५ तक मन्त्रों का ऋषि है। १६-२१ तक 'पुरुहन्मा' ऋषि है—अच्छी तरह वासनारूप शत्रुओं का हनन करनेवाला। प्रियमेध कहता है कि—

९२. [द्विनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**प्रियमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

अ॒भि प्र गोप॑तिं गि॒रेन्द्र॑मर्च॒ यथा॑ वि॒दे। सू॒नुं स॒त्यस्य॒ सत्प॑तिम् ॥ १ ॥
आ हर॑यः ससृज्रि॒रेऽरु॑षी॒रधि॑ ब॒र्हिषि॑। यत्रा॒भि सं॒नवा॑महे ॥ २ ॥
इन्द्रा॑य॒ गाव॑ आ॒शिरं॑ दुदु॒ह्रे व॒ज्रिणे॒ मधु॑। यत्सी॑मुपह्व॒रे वि॒दत् ॥ ३ ॥

देखिए व्याख्या अथर्व० २०.२२.४-६ पर।

ऋषिः—**प्रियमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सख्युः पदे

उद्यद् ब्र॒ध्नस्य॑ वि॒ष्टपं॑ गृ॒हमिन्द्र॑श्च॒ गन्व॑हि।
मध्वः॑ पी॒त्वा स॑चेवहि॒ त्रिः स॒प्त सख्युः॑ प॒दे ॥ ४ ॥

१. घर में पत्नी यह कामना करती है कि मैं **च**=और **इन्द्रः**=मेरा यह जितेन्द्रिय पति हम दोनों ही **उत्**=उत्कृष्ट **यत्**=जो **ब्रध्नस्य विष्टपम्**=सूर्य के तापशून्य अथवा विशिष्ट रूप से दीप्त **गृहे**=गृह को **गन्वहि**=जाएँ, अर्थात् हमारे घर में सूर्य की किरणें व प्रकाश बहुत ही अच्छी तरह आएँ। सूर्यकिरणें इस गृह को तापशून्य व नीरोग बनानेवाली हों। २. **मध्वः पीत्वा**=इस गृह में रहते हुए हम सोम का पान करके **सख्युः पदे**=परमसखा उस प्रभु के चरणों में **त्रिःसप्त**=इक्कीस

शक्तियों को **सचेवहि**=प्राप्त करें।

भावार्थ—हमारे घर सूर्यकिरणों से प्रकाशित हों। इनमें हम प्रभु का स्मरण करते हुए सोमरक्षण द्वारा शरीर की सब शक्तियों को स्थिर रखें।

ऋषिः—**प्रियमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रियमेध का प्रभु-पूजन

अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत। अर्चन्तु पुत्रका उत पुरं न धृष्ण्व[र्]चत॥ ५॥

१. **अर्चत**=उस प्रभु का पूजन करो, **प्रार्चत**=खूब ही पूजन करो। **प्रियमेधासः**=हे यज्ञप्रिय लोगो! इन यज्ञों के द्वारा उस प्रभु का **अर्चत**=पूजन करो। २. **उत**=और **पुत्रकाः**=(पुनाति, त्रायते) अपने जीवन को पवित्र करनेवाले व अपना त्राण करनेवाले लोग उस प्रभु का **अर्चन्तु**= पूजन करें। उस प्रभु का **अर्चत**=पूजन करो, जोकि **पुरं न**=पालन व पूरण करनेवाले के समान हैं तथा **धृष्णु**=शत्रुओं का धर्षण करनेवाले हैं।

भावार्थ—वे प्रभु हमारा पालन व पूरण करनेवाले हैं, हमारे शत्रुओं का धर्षण करनेवाले हैं। उस प्रभु का यज्ञों के द्वारा हम पूजन करें।

ऋषिः—**प्रियमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रभु-स्मरणपूर्वक युद्ध

अव स्वराति गर्गरो गोधा परि सनिष्वणत्। पिङ्गा परि चनिष्कददिन्द्राय ब्रह्मोद्यतम्॥ ६॥

१. **गर्गरः**=युद्ध का नगारा **अवस्वराति**=अतिशयेन भयानक शब्द कर रहा है। **गोधा**=हस्तघ्न **परिसनिष्वणत्**=चारों ओर आवाज़ को फैला रहे हैं। हस्तघ्नों पर होनेवाले डोरी के प्रहारों से शब्द उठ रहे हैं। **पिङ्गा**=पिंगलवर्णवाली ज्या **परिचनिष्कदत्**=चारों ओर गति कर रही है—चारों ओर आक्रमण कर रही है। २. एवं चारों ओर युद्ध का भयंकर वातावरण है। इस युद्ध में **इन्द्राय**=उस शत्रुविद्रावक प्रभु के लिए **ब्रह्म उद्यतम्**=मन्त्रों द्वारा स्तवन उत्थित हुआ है। 'मामनुस्मर युद्ध च' के अनुसार हमारा यही कर्त्तव्य है कि प्रभु का स्मरण करें और युद्ध भी करते चलें। प्रभु ही तो हमें विजयी बनाएँगे।

भावार्थ—चारों ओर भयंकर युद्ध में हम प्रभु का स्मरण करते हुए युद्ध करें। प्रभु-स्मरण से हम युद्ध में विजयी बनेंगे।

ऋषिः—**प्रियमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सुखसंदोह्य गौओं का दूध व हृदयरोग-चिकित्सा

आ यत्पतन्त्येन्य[ः] सुदुघा अनपस्फुरः। अपस्फुरं गृभायत सोममिन्द्राय पातवे॥ ७॥

१. **यत्**=जब **अनपस्फुरः** (not refusing to be milked)=न बिदकनेवाली **सुदुघाः**= सुखसंदोह्य **एन्यः**=शुभवर्ण की गौएँ **आपतन्ति**=समन्तात् गृहों की ओर आनेवाली होती हैं, उस समय **अपस्फुरम्**=हृदय-कम्पन को दूर करनेवाले (Throbbing, palpilation) **सोमम्**=सोम को—ताजे दूध को—**गृभायत**=ग्रहण करो। यह दूध **इन्द्राय पातवे**=जितेन्द्रिय पुरुष के रक्षण के लिए होता है। २. गौवें 'सुदुघा' होनी चाहिएँ। ये अनपस्फुर होंगी तो इनके दूध में किसी प्रकार का विघ्न नहीं होगा। यह ताजा गोदुग्ध ही सोम है। यह हृदय की धड़कन को ठीक रखता है—हृदय-सम्बद्ध सब रोगों से बचानेवाला है।

भावार्थ—हम सुखसंदोह्य गौओं के ताजे दूध का प्रयोग करें। यही 'सोम' है। यह जितेन्द्रिय पुरुष का रक्षण करता है—हृदय-कम्पन आदि रोगों से बचाता है।

ऋषिः—**प्रियमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

'इन्द्र-अग्नि-देव'

अपादिन्द्रो अपादग्निर्विश्वे देवा अमत्सत।
वरुण इदिह क्षयत्तमापो अभ्य ∫नूषत वत्सं संशिश्वरीरिव॥ ८॥

१. **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **अपात्**=इस सोम का पान करता है। **अग्निः**=प्रगतिशील पुरुष **अपात्**=इसको पीता है। **विश्वेदेवाः**=सब देव इस सोमपान में **अमत्सत**=हर्ष का अनुभव करते हैं। २. **वरुणः**=वह पापनिवारक प्रभु **इत्**=निश्चय से **इह**=इस सोमपान करनेवाले के जीवन में **क्षयत्**=निवास करता है। **तम्**=उस प्रभु को **आपः**=कर्मों में व्याप्त होनेवाली प्रजाएँ **अभ्यनूषत**=स्तुत करती हैं। उसी प्रकार स्तुत करती हैं, **इव**=जैसेकि **संशिश्वरीः**=उत्तम बछड़ोंवाली गाएँ **वत्सम्**=बिछड़े के प्रति जाती हुई शब्द करती हैं। इसी प्रकार प्रेम से पूर्ण होकर कर्मों में व्याप्त होनेवाली ये प्रजाएँ अपने प्रिय प्रभु के प्रति स्तुति शब्दों को बोलती हैं।

भावार्थ—सोमपान हमें 'इन्द्र, अग्नि व देव' बनता है—शरीर में सबल (इन्द्र), मस्तिष्क में प्रकाशमय (अग्नि) तथा मन में 'देव'। सोमपान करनेवालों में ही परमात्मा का निवास होता है। ये कर्मों में व्याप्त रहकर सदा प्रभु का स्मरण करते हैं।

ऋषिः—**प्रियमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सु-देव

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः। अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं ∫सुषिरामिव॥ ९॥

१. हे **वरुण**=पापनिवारक प्रभो! **सु देवः असि**=आप सर्वोत्तम देव हैं—देवों के भी अधिदेव हैं। **यस्य ते**=जिन आपकी **सप्त सिन्धवः**=सात छन्दों में प्रवाहित होनेवाली ज्ञान-जल की नदियाँ **काकुदम् अनुक्षरन्ति**=हमारे तालु में बहती हैं, उसी प्रकार **इव**=जैसेकि **सूर्म्यम्**=(lustre) प्रकाश व रश्मिजाल **सुषिराम्**=सछिद्र वस्तु में प्रवेश करता है। २. हम प्रभु का स्मरण करते हैं तो प्रभु की वेदवाणियाँ हमारे जीवन में इसप्रकार प्रवेश करती हैं, जैसेकि सछिद्र भित्ति में सूर्यरश्मियाँ। ये रशिमयाँ ही—वेदवाणियों का प्रकाश ही हमारे जीवन को निर्मल बनाता है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्मरण करें। प्रभु का ज्ञान हमारे जीवन को निर्मल कर देगा। वह प्रकाश हमें भी 'सुदेव' बनाएगा।

ऋषिः—**प्रियमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वपुः

यो व्यतीँरफाणयत्सुयुक्ताँ उप दाशुषे। तक्वो नेता तदिद्वपुरुपमा यो अमुच्यत॥ १०॥

१. **यः**=जो **दाशुषे**=दानशील अथवा अपने को प्रभु के प्रति अर्पण करनेवाले के लिए **वि+अतीन्**=विशिष्ट गतिवाले **सुयुक्तान्**=उत्तमता से शरीर-रथ में जुते हुए इन्द्रियाश्वों को **उप अफाणयत्**=समीपता से प्राप्त करता है, वह प्रभु ही **तक्वः**=हमारे यज्ञों में प्राप्त होनेवाले हैं। प्रभु ही हमें यज्ञों के प्रति प्राप्त कराते हैं। २. **नेता**=वे प्रभु ही हमें मार्ग पर ले-चलनेवाले हैं। प्रभु नेता होते हैं तो **तत् इत्**=तभी यह उपासक **वपुः**=सब बुराइयों का वपन (छेदन) करनेवाला होता है। **उपमा**=यह औरों के लिए उपमानभूत हो जाता है। ऐसा बन जाता है कि **यः अमुच्यत**=जो मुक्त हो जाता है। पवित्र जीवनवाले पुरुषों की, लोग इससे उपमा देने लग जाते हैं कि 'यह तो ऐसा पवित्र है, जैसाकि वह वपुः'।

भावार्थ—हम प्रभु के प्रति अपना अर्पण करें। प्रभु हमें गतिशील सुयुक्त इन्द्रियाश्वों को

प्राप्त कराके उत्तम मार्ग पर ले-चलेंगे। हम बुराइयों का छेदन करके उपमानभूत जीवन को प्राप्त करेंगे। हम जीवन्मुक्त-से बन जाएँगे।

ऋषिः—**प्रियमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'मुक्तिप्रदाता' शक्र—इन्द्र

अतीदु शक्र ओहत इन्द्रो विश्वा अति द्विषः।
भिनत्कनीन ओदनं पच्यमानं परो गिरा॥ ११॥

१. **शक्रः**=वह सर्वशक्तिमान् प्रभु **इत् उ**=निश्चय ही **अति ओहते**=हमें भवसागर के पार ले-जाता है। **इन्द्रः**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु **विश्वाः द्विषः**=सब द्वेषों के **अति**=पार प्राप्त कराता है। **२. कनीनः**=दीप्त प्रभु—प्रकाशमय प्रभु **परः**=सबसे परस्तात् वर्तमान है—सब गुणों के दृष्टिकोण से परे हैं—उत्कृष्ट हैं। वे प्रभु ही **गिरा**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा **पच्यमानम्**=परिपक्व किये जाते हुए इस **ओदनम्**=हमारे अन्नमयकोश को—इस स्थूलशरीर को **भिनत्**=हमसे पृथक् करते हैं और हमें मुक्तिमार्ग पर आगे ले-चलते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही शक्र हैं—इन्द्र हैं। वे ही हमें सब द्वेषों से ऊपर उठाते हैं और ज्ञानाग्नि में परिपक्व करके हमें मुक्त करते हैं।

ऋषिः—**प्रियमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अर्भकः न, कुमारकः

अर्भको न कुमारकोऽधि तिष्ठन्नवं रथम्।
स पक्षन्महिषं मृगं पित्रे मात्रे विभुक्रतुम्॥ १२॥

१. जीव को चाहिए कि **अर्भकः न**=एक छोटे बालक के समान हो। **कुमारकः**=वे सब क्रीड़ा करनेवाले हों। एक बालक के समान निर्दोष व्यवहारवाला हो—व्यर्थ में चुस्त-चालाक न बने। साथ ही क्रीडक की मनोवृत्तिवाला हो—खिझे नहीं। **नवं रथम् अधितिष्ठन्**=इस स्तुत्य (नु स्तुतौ) व गतिशील (नव गतौ) शरीर-रथ पर आरूढ़ होता हुआ **सः**=वह **पित्रे मात्रे**=पिता व माता के लिए उस **महिषम्**=पूजनीय (मह पूजायाम्) **मृगम्**=अन्वेषणीय **विभुक्रतुम्**=सर्वव्यापक व प्रज्ञानस्वरूप प्रभु को **पक्षत्**=परिगृहीत करे। (पक्ष परिग्रहे)।

भावार्थ—हम बालकों की भाँति निर्दोष जीवनवाले बनें। शरीररूप रथ को स्तुत्य व गतिशील बनाएँ। प्रभु को ही माता व पिता समझें। ये प्रभु पूज्य हैं, अन्वेषणीय हैं, सर्वव्यापक व प्रज्ञानस्वरूप हैं।

ऋषिः—**पुरुहन्मा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

मिलकर प्रभु की ओर

आ तू सुशिप्र दम्पते रथं तिष्ठा हिरण्ययम्।
अध द्युक्षं सचेवहि सहस्रपादमरुषं स्वस्तिगामनेहसम्॥ १३॥

१. पत्नी पति से कहती है कि हे **सुशिप्र**=शोभन हनुओं व नासिकावाले—उत्तम भोजन व प्राणायाम करनेवाले **दम्पते**=शरीररूप गृह का रक्षण करनेवाले जीव! **हिरण्ययं रथम्**=ज्योतिर्मय शरीर-रथ पर **आतिष्ठ उ**=निश्चय से स्थित हो। इस शरीर-रथ को तू ज्ञानज्योति से परिपूर्ण कर। २. **अध**=अब—जीवन को इसप्रकार (क) सात्त्विक भोजनवाला (ख) प्राणसाधना-सम्पन्न (ग) व ज्ञानयुक्त बनाकर हम उस प्रभु को **सचेवहि**=प्राप्त हों, जो **द्युक्षम्**=सदा प्रकाश

में निवास करनेवाले हैं। **सहस्रपादम्**=हज़ारों पाँवोंवाले हैं—सर्वत्र गतिमय हैं। **अरुषम्**=आरोचमान व (अ-रुषं) क्रोधरहित हैं। **स्वस्तिगाम्**=कल्याण की ओर गतिवाले हैं—हमें कल्याणपथ पर ले-चलनेवाले हैं और **अनेहसम्**=निष्पाप हैं।

भावार्थ—हम सात्त्विक भोजन करते हुए शरीररूप रथ का रक्षण करें। इसे ज्योतिर्मय बनाएँ। पति-पत्नी मिलकर प्रकाशमय प्रभु का उपासन करें। वे हमें कल्याण के मार्ग से ले-चलते हुए निष्पाप जीवनवाला बनाएँगे।

ऋषिः—**पुरुहन्मा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥

सुधित अर्थ

तं घेमित्था नमस्विन उप स्वराजमासते।
अर्थं चिदस्य सुधितं यदेतव आवर्तयन्ति दावने॥ १४॥

१. **तं स्वराजम्**=उस स्वयं देदीप्यमान प्रभु को **इत्था**=सचमुच **घा ईम्**=निश्चय से **नमस्विनः**=नमस्कारवाले **उपासते**=उपासित करते हैं। २. **अस्य**=इस उपासक का **अर्थम्**=प्राप्तव्य धन **चित्**=निश्चय से **सुधितम्**=सम्यक् स्थापित होता है। **यत्**=जो धन **एतवे**=जीवन के कार्यों को संचालित करने के लिए होता है और **दावने**=इस धन को वे हवि आदि देने के लिए **आवर्तयन्ति**=आवृत्त करते हैं, अर्थात् इस धन का वे सदा यज्ञों में विनियोग करते हैं।

भावार्थ—नमन से युक्त होकर हम प्रभु का उपासन करें। प्रभु हमें धन देते हैं। यह धन सदा उत्तम साधनों से कमाया जाए। जीवन-यात्रा की पूर्ति के लिए उपयुक्त किया जाता हुआ धन सदा दान में विनियुक्त हो।

ऋषिः—**पुरुहन्मा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥

प्रियमेधासः, वृक्तबर्हिषः, हितप्रयसः

अनु प्रत्नस्यौकसः प्रियमेधास एषाम्।
पूर्वामनु प्रयतिं वृक्तबर्हिषो हितप्रयस आशत॥ १५॥

१. **प्रियमेधासः**=बुद्धि के साथ प्रेमवाले लोग **एषाम्**=इनके, अर्थात् अपने **प्रत्नस्य ओकसः अनु**=सनातन गृह का लक्ष्य करके **वृक्तबर्हिषः**=हृदयरूप क्षेत्र को वासनारूप घास से रहित करनेवाले होते हैं। २. ये **हितप्रयसः**=सदा हितकर उद्योगों में लगे हुए **पूर्वाम्**=सर्वमुख्य अथवा पालन व पूरण करनेवाली **प्रयतिम्**=दान की प्रक्रिया को **अनु आशत**=व्याप्त करते हैं, अर्थात् सदा दानशील होते हैं।

भावार्थ—ब्रह्मलोकरूप अपने सनातन गृह को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि हम 'प्रियमेध', बुद्धिप्रिय बनें। हृदयक्षेत्र में से हम वासनाओं के घास-फूस को उखाड़ डालें। सदा हितकर उद्योगों में लगे रहें।

ऋषिः—**पुरुहन्मा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (समा-बृहती+विषमा-सतोबृहती)** ॥

'ज्येष्ठ वृत्रहा' प्रभु का स्तवन

यो राजा चर्षणीनां याता रथेभिरध्रिगुः।
विश्वासां तरुता पृतनानां ज्येष्ठो यो वृत्रहा गृणे॥ १६॥

१. मैं उस प्रभु का **गृणे**=स्तवन करता हूँ **यः**=जोकि **चर्षणीनां राजा**=श्रमशील मनुष्यों के जीवन को दीप्त बनाता है। **रथेभिः याता**=शरीररूप रथों से प्राप्त होनेवाला है, अर्थात्

हमारे लिए उत्तम शरीर-रथों को देनेवाला है। **अध्रिगुः**=अधृत गमनवाला है—प्रभु को अपने कार्यों में कोई विहत नहीं कर सकता। २. ये प्रभु ही **विश्वासाम्**=सब **पृतनानाम्**=शत्रुसैन्यों के **तरुता**=तैरजानेवाले हैं। हमें शत्रुसैन्यों पर विजय प्राप्त करानेवाले हैं। **ज्येष्ठः**=प्रशस्यतम हैं। **वृत्रहा**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को विनष्ट करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करते हैं। प्रभु हमें वासनारूप शत्रुओं को पराजित करने में समर्थ करते हैं। वे हमें उत्तम शरीर-रथों को प्राप्त कराते हैं और हमारे जीवनों को दीप्त करते हैं।

ऋषिः—**पुरुहन्मा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (समा-बृहती+विषमा-सतोबृहती)**॥

वज्र+सूर्य

इन्द्रं तं शुम्भ पुरुहन्मन्नवसे यस्य द्विता विधर्तरि।
हस्ताय वज्रः प्रति धायि दर्शतो महो दिवे न सूर्यः॥ १७॥

१. हे **पुरुहन्मन्**=शत्रुओं का खूब ही हनन करनेवाले जीव! तू **तम्**=उस **इन्द्रम्**=शत्रुविद्रावक प्रभु को **अवसे**=रक्षण के लिए **शुम्भ**=अपने जीवन में अलंकृत कर। उस प्रभु को अलंकृत कर **यस्य**=जिसके **द्विता**=दोनों का विस्तार है—उसकी शक्ति भी अनन्त है और ज्ञान भी अनन्त है। प्रभु को अपने जीवन में अलंकृत करने पर हम भी ज्ञान व शक्ति को प्राप्त करेंगे। २. उस **विधर्तरि**=विशेषरूप से धारण करनेवाले प्रभु में **हस्ताय**=(हन्ताय) शत्रुसंहार के लिए **दर्शतः**=दर्शनीय **महा**=महान् **वज्रः**=वज्र **प्रतिधायि**=धारण किया जाता है। हाथ में उसी प्रकार वज्र धारण किया जाता है, **न**=जैसेकि **दिवे**=प्रकाश के लिए **सूर्यम्**=सूर्य का धारण होता है।

भावार्थ—हम भी जीवन में वज्र और सूर्य को धारण करते हैं—हाथों में क्रियाशीलता को, मस्तिष्क में ज्ञानसूर्य को। एवं, यह प्रभु का धारण हमें शक्ति व प्रकाश प्राप्त कराएगा।

ऋषिः—**पुरुहन्मा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (समा-बृहती+विषमा-सतोबृहती)**॥

न कर्म से, न यज्ञ से

नकिष्टं कर्मणा नशद्यश्चकार सदावृधम्।
इन्द्रं न यज्ञैर्विश्वगूर्तमृभ्वसमधृष्टं धृष्णुमोजसम्॥ १८॥

१. **तम्**=उस व्यक्ति को **कर्मणा**=कर्मों से **नकिः नशत्**=कोई भी व्याप्त नहीं कर पाता, अर्थात् उसके समान कोई भी महान् कर्मों को नहीं कर पाता, **यः**=जोकि **सदावृधम्**=सदा से वर्धमान उस प्रभु को **चकार**=अपने हृदय में करता है, अर्थात् जो प्रभु को हृदय में धारण करता है, वह प्रभु से शक्ति प्राप्त करके महान् कार्यों को करनेवाला होता है। २. **न**=(सम्प्रति) अब हम **यज्ञैः**=यज्ञात्मक कर्मों से **इन्द्रम्**=उस सर्वशक्तिमान् प्रभु को उपासित करें, जो प्रभु **विश्वगूर्तम्**=सबसे स्तुति के योग्य है, **ऋभ्वसम्**=महान् हैं। **अधृष्टम्**=किसी से भी धर्षित होनेवाले नहीं और **ओजसा**=ओजस्विता के द्वारा **धृष्णुम्**=हमारे सब शत्रुओं का धर्षण करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु की उपासना हमें असाधारण, महान् कर्मों को करने में समर्थ करती है। प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर हम सब शत्रुओं का धर्षण करते हैं।

ऋषि:—**पुरुहन्मा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (समा–बृहती+विषमा–सतोबृहती)** ॥

द्यावः क्षामः अनोनवुः

अषाढमुग्रं पृतनासु सासहिं यस्मिन्महीरुरुज्रयः।
सं धेनवो जायमाने अनोनवुर्द्यावः क्षामो अनोनवुः॥ १९॥

१. **द्यावः**=द्युलोक में होनेवाले ये सूर्य व **क्षामः**=पृथिवीलोक उस प्रभु का **अनोनवुः**=अतिशयेन स्तवन करते है, जो प्रभु **अषाढम्**=शत्रुओं से कभी पराभूत नहीं होते, **उग्रम्**=उदगूर्ण बलवाले व तेजस्वी हैं तथा **पृतनासु**=शत्रुसैन्यों का **सासहिम्**=पराभव करनेवाले हैं। २. **यस्मिन् जायमाने**= जिसके प्रादुर्भू होने पर **महीः**=महत्त्वपूर्ण **उरुज्रयः**=महान् वेगवाली, अर्थात् हमें क्रियाओं में प्रेरित करनेवाली **धेनवः**=वेदवाणीरूप गौएँ **सम् अनोनवुः**=सम्यक् शब्दायमान हो उठती हैं। हृदय में प्रभु का प्रकाश होने पर ये वेदवाणियाँ हमें उस-उस क्रिया में प्रेरित करनेवाली होती है। इन वेदवाणियों के रूप में ही हमें प्रभु की प्रेरणाएँ सुन पड़ती हैं।

भावार्थ—ये सूर्य आदि पदार्थ प्रभु की ही महिमा का प्रकाश हैं। हृदय में प्रभु का प्रकाश होने पर वेदवाणी हमारे लिए उत्कृष्ट कर्मों की प्रेरणा देनेवाली होती है।

ऋषि:—**पुरुहन्मा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (समा–बृहती+विषमा–सतोबृहती)** ॥

यद् द्याव इन्द्र ते शतं शतं भूमीरुत स्युः।
न त्वा वज्रिन्त्सहस्त्रं सूर्या अनु न जातमष्ट रोदसी॥ २०॥
आ पप्राथ महिना वृष्ण्या वृषन्विश्वा शविष्ठ शवसा।
अस्माँ अव मघवन्गोमति व्रजे वज्रिञ्चित्राभिरूतिभिः॥ २१॥

देखो व्याख्या अथर्व० २०.८१.१-२ पर।

प्रभु का स्तवन करनेवाला यह 'प्रगाथ' अगले सूक्त में १-३ तक ऋषि है। स्तवन के द्वारा दिव्यगुणों को जन्म देनेवाली 'देवजामय' ४-८ तक का ऋषि है—

९३. [त्रिनवतितमं सूक्तम्]

ऋषि:—**प्रगाथः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

प्रभु-स्तवन व ज्ञानियों का संग

उत्त्वा मन्दन्तु स्तोमाः कृणुष्व राधो अद्रिवः। अव ब्रह्मद्विषो जहि॥ १॥

१. हे **अद्रिवः**=आदरणीय प्रभो! **त्वा**=आपको **स्तोमः**=हमसे की जानेवाली स्तुतियाँ **उत् मन्दन्तु**=उत्कर्षेण आनन्दित करें। ये स्तोत्र हमें आपका प्रिय बनाएँ। आप हमारे लिए **राधः कृणुष्व**=कार्यसाधक धनों को कीजिए, अर्थात् आवश्यक धनों को हमारे लिए दीजिए। २. **ब्रह्मद्विषः**=ज्ञान से अप्रीतिवाले लोगों को **अवजहि**=हमसे दूर कीजिए। हमें ज्ञानी लोगों का ही सम्पर्क प्राप्त हो। मूर्खों के सम्पर्क से हम सदा दूर रहें।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन करते हुए कार्यसाधक धनों को प्राप्त करें और ज्ञानियों के सम्पर्क में रहें, ज्ञान-प्राप्ति की रुचिवाले बनें।

ऋषि:—**प्रगाथः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

अराधस् पणियों का विनाश

पदा पणीँरराधसो नि बाधस्व महाँ असि। नहि त्वा कश्चन प्रति॥ २॥

१. हे इन्द्र! आप **पणीन्**=लोभयुक्त व्यवहारवाले **अराधसः**=यज्ञों के असाधक धनोंवाले

धनियों को **पदा**=पाँव से **निबाधस्व**=नीचे पीड़ित कीजिए—इन्हें पाँव तले रौंद डालिए। **महान् असि**=आप पूज्य हैं। २. हे प्रभो! **कश्चन**=कोई भी **त्वा प्रति नहि**=आपका मुक़ाबला करनेवाला नहीं है। आप अद्वितीय शक्तिशाली हैं।

भावार्थ—प्रभु लोभी व अयज्ञिय वृत्तिवाले धनियों को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—**प्रगाथः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सबका 'ईश' प्रभु

त्वमीशिषे सुतानामिन्द्र त्वमसुतानाम्। त्वं राजा जनानाम्॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **सुतानाम्**=कर्मानुसार उस-उस शरीर को ग्रहण करनेवाले—जन्म-धारण करनेवाले लोगों के **ईशिषे**=ईश हैं। **त्वम्**=आप ही **असुतानाम्**=शरीर न धारण करनेवाले—जन्म न धारण करनेवाले मुक्त पुरुषों के भी ईश हैं। २. **त्वम्**=आप ही **जनानाम्**=सब जन्मधारियों के **राजा**=व्यवस्थापक—कर्मानुसार फल देनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु सभी के ईश हैं—चाहे वे जन्म लिये हुए हों, चाहे मुक्त हों। सबको कर्मानुसार जन्म देनेवाले प्रभु ही हैं।

ऋषिः—**देवजामयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

देवजामयः-'इन्द्र' मातरः

ईङ्खयन्तीरपस्युव इन्द्रं जातमुपासते। भेजानासः सुवीर्यम्॥ ४॥

१. **ईंखयन्तीः**=स्तुति के द्वारा प्रभु की ओर गति करनेवाली, **अपस्युवः**=अपने साथ कर्म को जोड़नेवाली माताएँ **जातम्**=उत्पन्न हुए-हुए **इन्द्रम्**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता बननेवाले बालक को **उपासते**=उपासित करती हैं, अर्थात् सदा इसका ध्यान करती हैं, इसे अपनी आँखों से ओझल नहीं करतीं। २. इसका निर्माण करनेवाली ये माताएँ **सुवीर्यम् भेजानासः**=उत्तम वीर्य व शक्ति का सेचन करनेवाली होती है। स्वयं संयमी जीवन बिताती हुई ये शक्ति का रक्षण करती हैं। इनका आपना जीवन संयमवाला न हो तो इन्होंने बच्चों का क्या निर्माण करना? 'स्तुति, क्रिया व संयम' के द्वारा ही तो ये 'देवजामय' बनती हैं।

भावार्थ—बालक को वही माता 'इन्द्र' बना पाती है जो 'प्रभु-स्तवन, क्रियाशीलता व संयम' को अपनाती है।

ऋषिः—**देवजामयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

बालक को माता की प्रेरणा

त्वमिन्द्र बलादधि सहसो जात ओजसः। त्वं वृषन्वृषेदसि॥ ५॥

१. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता बननेवाले प्रिय! **त्वम्**=तू **बलात्**=बल से, **सहसः**=सहस् से—सहनशक्तिवाले बल से तथा **ओजसः**=ओज से **अधिजातः असि**=आधिक्येन प्रसिद्ध हुआ है। तेरा मनोमयकोश 'बल व ओज' से सम्पन्न बना है तथा आनन्दमयकोश 'सहस्' वाला हुआ है। २. हे **वृषन्**=शक्तिशाली इन्द्र! **त्वम्**=तू **इत्**=निश्चय से **वृषा असि**=शक्तिशाली है। तूने अपने को शक्ति से सिक्त करना है।

भावार्थ—माता प्रारम्भ से बालक को यही प्रेरणा देती है कि तूने 'बलवान्, ओजस्वी व सहस्वी' बनना है। तूने अवश्य शक्तिशाली होना है।

ऋषिः—**देवजामयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

उदारहृदय-उत्कृष्ट मस्तिष्क

त्वमिन्द्रासि वृत्रहा व्य१न्तरिक्षमतिरः। उद् द्यामस्तभ्ना ओजसा ॥ ६ ॥

१. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **त्वं वृत्रहा असि**=तू ज्ञान की आवरणभूत वासना का विनाश करनेवाला है। **अन्तरिक्षं वि अतिरः**=तू ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को विनष्ट करके हृदयान्तरिक्ष को विशेषरूप से बढ़ानेवाला है, अर्थात् तू अपने हृदय को विशाल बनाता है तथा २. **ओजसा**=ओजस्विता के साथ **द्याम्**=मस्तिष्करूप द्युलोक को **उत् अस्तभ्नाः**=उत्कृष्ट स्थान में थामता है, अर्थात् तू मस्तिष्क को उत्कृष्ट ज्ञान-सम्पन्न बनाता है।

भावार्थ—माता बालक को प्रेरणा देती है कि (क) तूने वासनाओं को विनष्ट करनेवाला बनना है (ख) हृदय को विशाल बनाना है तथा (ग) ओजस्विता के साथ मस्तिष्क को ज्ञानोज्ज्वल करना है।

ऋषिः—**देवजामयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सजोषसं अर्कं, ओजसा वज्रम्

त्वमिन्द्र सजोषसमर्कं बिभर्षि बाह्वोः। वज्रं शिशान ओजसा ॥ ७ ॥

१. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता बननेवाले जीव! **त्वम्**=तू **बाह्वोः**=अपनी भुजाओं में **सजोषसम्**= ओज व उत्साह से युक्त **अर्कम्**=(अर्च पूजायाम्) स्तुत्य सूर्यसम तेज को **बिभर्षि**=धारण करता है। 'प्राणो वा अर्कः' (श० १०.४.१.२३) के अनुसार तू प्राणशक्ति-सम्पन्न जीवनवाला बनता है। २. तू **ओजसा**=ओजस्विता के द्वारा **वज्रम्**=अपने वज्र को **शिशानः**=तीक्ष्ण करनेवाला है। 'वज् गतौ' से बना हुआ 'वज्र' शब्द क्रियाशीलता का वाचक है। ओजस्विता के कारण तेरा जीवन बड़ा क्रियाशील बनता है।

भावार्थ—बालक को माता ने उत्साहयुक्त तेजवाला तथा ओजस्वितायुक्त क्रियाशीलता-वाला बनाना है।

ऋषिः—**देवजामयः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'अभिभू' बनकर 'आभूति' वाला होना

त्वमिन्द्राभिभूरसि विश्वा जातान्योजसा। स विश्वा भुव आभवः ॥ ८ ॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय व शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले बालक! **त्वम्**=तू **विश्वा जातानि**=सब उत्पन्न हुए-हुए इन वासनारूप शत्रुओं को **ओजसा**=अपनी ओजस्विता से **अभिभूः असि**=पराभूत करनेवाला है। काम, क्रोध, लोभ से तू आक्रान्त नहीं होता। २. **सः**=वह तू **विश्वाः**=सब **भुवः**=भूमियों को—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय व आनन्दमयकोशों को—**आभवः**=आभूति-(ऐश्वर्य)-वाला बनाता है। इन्हें क्रमशः 'तेज, वीर्य, बल व ओज, मन्यु तथा सहस' से परिपूर्ण करता है।

भावार्थ—माता ने बालक को यह प्रेरणा देनी है कि (क) तूने काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रुओं को अभिभूत करना है तथा (ख) अन्नमय आदि सब कोशो का आभूतिवाला बनाना है।

माता से उत्तम प्रेरणा प्राप्त करके यह शत्रुओं का कर्षण करनेवाला 'कृष्ण' बनता है—यह अंग-प्रत्यंग में रसवाला 'आंगिरस' होता है। यह इन्द्र का उपासन करता है और प्रभु इस छोटे इन्द्र को कहते हैं कि—

९४. [चतुर्नवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'तूतुजानः तुविष्मान्'

आ यात्विन्द्रः स्वपतिर्मदाय यो धर्मणा तूतुजानस्तुविष्मान्।
प्रत्वक्षाणो अति विश्वा सहांस्यपारेण महता वृष्ण्येन॥ १॥

१. **इन्द्रः**=यह जितेन्द्रिय पुरुष **आयातु**=मेरे समीप आये। जैसे एक बच्चा पिता की गोद में बैठता है, उसी प्रकार यह जितेन्द्रिय पुरुष प्रभु की गोद में बैठनेवाला हो। जो इन्द्र **स्वपतिः**=अपना स्वामी है—इन्द्रियों, मन व बुद्धि का दास न होकर इनका अधिष्ठाता है और अतएव **मदाय**=सदा हर्ष के लिए होता है। २. प्रभु कहते हैं कि मेरे समीप वह 'इन्द्र' आये **यः**=जोकि **धर्मणा**=लोकधारण के हेतु से **तूतुजानः**=(त्वरमाणः नि० ६.२०) शीघ्रता से कार्य करनेवाला होता है। जो **तुविष्मान्**=(growth, strength, intellect) उन्नति, शक्ति व बुद्धिवाला है। ३. **अपारेण महता**=महान् अपार, अर्थात् बहुत अधिक **वृष्ण्येन**=बल के द्वारा **विश्वा सहांसि**=सब सहनशक्ति के जनक बलों को **अति प्रत्वक्षाणः**=बहुत ही सूक्ष्म (तीव्र) बनानेवाला होता है। बल को बढ़ाता हुआ सहनशक्तिवाला होता है। वही प्रभु को पा सकता है। निर्बल व चिड़चिड़े पुरुष ने प्रभु को क्या पाना?

भावार्थ—प्रभु की प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम 'इन्द्र-स्वपति-धारणात्मक कर्मों को करनेवाले—उन्नतिशील—तथा सबल बनकर सहनशील' हों।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सुष्ठामा रथः

सुष्ठामा रथः सुयमा हरी ते मिम्यक्ष वज्रो नृपते गभस्तौ।
शीभं राजन्त्सुपथा याह्यर्वाङ् वर्धाम ते पपुषो वृष्ण्यानि॥ २॥

१. गतमन्त्र के स्वपति से कहते हैं कि **रथः**=तेरा शरीररूप रथ **सुष्ठामा**=शोभनावस्थान हो—इसका एक-एक अंग सुबद्ध हो, अर्थात् यह शरीररूप रथ सुगठित हो। **ते**=तेरे **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्व **सुयमा**=सम्यक् वश में हों। हे **नृपते**=आगे बढ़नेवालों के स्वामिन्—मुखिया **ते गभस्तौ**=तेरे बाहुओं में **वज्रः**=क्रियाशीलतारूप वज्र **मिम्यक्ष**=संगत हो, अर्थात् तू सतत क्रियाशील जीवनवाला हो। २. हे **राजन्**=अपने जीवन को व्यवस्थित (regulated) करनेवाले और इसप्रकार अपने जीवन को दीप्त बनानेवाले जीव! तू **सुपथा**=उत्तम मार्ग से **शीभम्**=शीघ्र **अर्वाङ्**=हमारे अभिमुख—हमारे अन्दर **आयाहि**=प्राप्त हो, बहिर्मुखी वृत्ति को छोड़कर अन्तर्मुखी वृत्तिवाला बन। जीवन को व्यवस्थित बनाना ही प्रभु की ओर चलना है। ३. प्रभु कहते हैं कि ऐसा होने पर **पपुषः**=सोमपान करनेवाले **ते**=तेरे **वृष्ण्यानि**=बलों को **वर्धाम**=हम बढ़ाते हैं। सोमपान से ही शक्ति का वर्धन होता है। सशक्त होकर ही हम प्रभु-दर्शन के योग्य बनते हैं।

भावार्थ—हमारा शरीररूप रथ सुदृढ़ हो। इन्द्रियाश्व संयत हों। हाथों में क्रियाशीलता हो। सुपथ से प्रभु की ओर चलें और सोम-रक्षण द्वारा शक्तिशाली बनें।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

उग्र-प्रत्वक्षस-सत्यशुष्म

एन्द्रवाहो नृपतिं वज्रबाहुमुग्रमुग्रासस्तविषास एनम्।
प्रत्वक्षसं वृषभं सत्यशुष्ममेमस्मत्रा सधमादो वहन्तु॥ ३॥

१. प्राण जीवात्मा के साथ रहते हैं—उपनिषद् के शब्दों में उसी प्रकार जैसेकि पुरुष के साथ छाया। छाया पुरुष का साथ नहीं छोड़ती, प्राण आत्मा का साथ नहीं छोड़ते, इसीलिए प्राणों को यहाँ 'सधमादः' जीव के साथ आनन्दित होनेवाला कहा गया है। ये प्राण जितेन्द्रिय पुरुष को प्रभु के प्रति ले-चलनेवाले हैं, अतः 'इन्द्रवाहः' कहलाते हैं। शक्तिशाली होने से 'उग्रासः' हैं और अत्यन्त बढ़े हुए होने से—सब उन्नतियों का कारण होने से 'तविषासः' कहे जाते हैं। २. इन प्राणों से कहते हैं कि **सधमादः**=जीव को प्रभु के साथ आनन्द का अनुभव करानेवाले, **इन्द्रवाहः**=जितेन्द्रिय पुरुष को प्रभु के समीप प्राप्त करानेवाले, **उग्रासः**=तेजस्वी, **तविषासः**=प्रवृद्ध व बलसम्पन्न प्राणो! आप **एनम्**=इस जीव को **ईम्**=निश्चय से **अस्मत्रा**=हमारे समीप **आवहन्तु**=ले-आओ। उस जीव को जोकि **नृपतिम्**=उन्नतिशील पुरुषों का प्रमुख है। **वज्रबाहुम्**=बाहुओं में क्रियाशीलतारूप वज्र को लिये हुए है। **उग्रम्**=तेजस्वी है। **प्रत्वक्षसम्**=अपनी बुद्धि को बड़ा सूक्ष्म बनानेवाला है। **वृषभम्**=शक्तिशाली होता हुआ सब पर सुखों का वर्षण करनेवाला है और इन गुणों को उत्पन्न करके प्राण इस साधक को प्रभु के समीप प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से जीव शक्तिशाली व सत्य के बलवाला और सूक्ष्मबुद्धि से युक्त होता है। इन तीनों बातों का सम्पादन करके यह प्रभु के समीप पहुँचता है।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

सुरक्षित सोम का महत्त्व

एवा पतिं द्रोणसाचं सचेतसमूर्ज स्कम्भं धरुण आ वृषायसे।
ओजः कृष्व सं गृभाय त्वे अप्यसो यथा केनिपानामिनो वृधे॥ ४॥

१. हे **धरुण**=हमारा धारण करनेवाले प्रभो! **एवा**=(इ गतौ) गतिशीलता के द्वारा आप **आवृषायसे**=हममें उस सोम का वर्षण व सेचन करते हैं जोकि **पतिम्**=पालक है—रोगों से हमें बचानेवाला है। **द्रोणसाचम्**=इस शरीररूप द्रोण (सोमपात्र) में समवेत (सम्बद्ध) होनेवाला है। **सचेतसम्**=जो चेतना से युक्त है—चेतना व ज्ञान को उत्पन्न करनेवाला है और **ऊर्जः स्कम्भम्**=बल व प्राणशक्ति का धारक है। २. हे प्रभो! इस सोम के सेचन से **ओजः कृष्व**=आप हममें ओजस्विता का सम्पादन कीजिए और **त्वे अपि संगृभाय**=हमें अपने में ग्रहण करने की कृपा कीजिए। हम आपकी गोद में इसी प्रकार आ सकें, जैसकि पुत्र पिता की गोद में आता है। ३. आप हमारे लिए उसी प्रकार होइए **यथा**=जैसेकि **इनः**=स्वामी होते हुए आप **केनिपानाम्**=मेधावियों के **वृधे**=वर्धन के लिए होते हैं। हम भी इस सोम के रक्षण के द्वारा मेधावी हों और आपके प्रिय होकर निरन्तर वृद्धि को प्राप्त करें।

भावार्थ—सोम (वीर्य) रोगों से हमारा रक्षण करता है, हमें चेतना-सम्पन्न व शक्तिशाली बनाता है। इसके द्वारा हम प्रभु को प्राप्त करनेवाले बनते हैं। मेधावी बनकर वृद्धि को प्राप्त करते हैं।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

अनाधृष्यपात्र

गमन्नस्मे वसून्या हि शंसिषं स्वाशिषं भरमा याहि सोमिनः।
त्वमीशिषे सास्मिन्ना सत्सि बर्हिष्यनाधृष्या तव पात्राणि धर्मणा॥ ५॥

१. हे प्रभो! गतमन्त्र के अनुसार जब मैं अपने इस शरीर को सोम का पात्र बनाता हूँ—

शरीर में सोम का रक्षण करता हूँ तब **हि**=निश्चय से **अस्मे**=हममें **वसूनि**=जीवन को उत्तम बनानेवाले सब वासक तत्त्व **आगमन्**=प्राप्त होते हैं और मैं **शंसिषम्**=आपका शंसन व स्तवन करनेवाला बनता हूँ—मेरी वृत्ति भोगप्रवण न होकर प्रभु-प्रवण होती है। आप मुझ **सोमिनः**=सोम का रक्षण करनेवाले के **सु-आशिषम्**=उत्तम इच्छाओंवाले **भरम्**=भरणात्मक यज्ञ को **आयाहि**=आइए। **त्वम् ईशिषे**=वस्तुतः आप ही तो इन सब यज्ञों के ईश हैं। आपकी कृपा से ही सब यज्ञ पूर्ण हुआ करते हैं। २. **सः**=वे आप **अस्मिन्**=इस हमारे **बर्हिषि**=वासनाओं का जिसमें से उद्बर्हण कर दिया गया है और यज्ञों का जिसमें स्थापन हुआ है उस हृदय में **आसत्सि**=आकर विराजमान होते हैं। उन हृदयस्थ आपकी प्रेरणा व शक्ति से ही सब यज्ञपूर्ण हुआ करते हैं। ३. हे प्रभो! **तव**=आपकी **धर्मणा**=धारकशक्ति से ही **पात्राणि**=ये सोम-रक्षण के पात्रभूत हमारे शरीर **अनाधृष्या**=आधि-व्याधियों से धर्षण के योग्य नहीं होते। हृदय में आपके उपस्थित होने पर वहाँ 'काम' का प्रवेश नहीं होता। परिणामतः सोम का रक्षण होकर शरीर रोगाभिभूत नहीं होता। इसप्रकार यह स्वस्थ शरीर व स्वस्थ मनवाला पुरुष 'आदर्श पुरुष' बनता है।

भावार्थ—सोम का रक्षण होने पर हमारे हृदयों में प्रभु का वास होगा। उस समय हमारे शरीर रोगों से आक्रान्त न होंगे और मन वासनाओं से मलिन न होंगे।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

यज्ञिय भाव

पृथक्प्रायन्प्रथमा देवहूतयोऽकृण्वत श्रवस्यानि दुष्टरा।
न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहमीर्मैव ते न्यविशन्त केपयः॥ ६॥

१. **प्रथमाः**=(प्रथ विस्तारे) अपना विस्तार करनेवाले व अपने हृदयों को विशाल बनानेवाले **देवहूतयः**=देव को पुकारनेवाले—प्रभु की प्रार्थना करनेवाले—अपने में दिव्यगुणों की स्थापना के लिए यत्नशील सोमी पुरुष **पृथक्**=अनासक्त (Detached) होकर—अलग रहते हुए—न फँसते हुए—**प्रायन्**=प्रकृष्ट गतिवाले होते हैं। सब सांसारिक कार्यों को करते हुए ये उनमें आसक्त नहीं होते। २. अनासक्तभाव से कार्यों को करते हुए ये सोमी पुरुष **श्रवस्यानि**=उन श्रवणीय यशों को **अकृण्वत**=करनेवाले होते हैं, जो यश **दुष्टरा**=दूसरों से दुस्तर होते हैं। इनके यश का अन्य लोग उल्लंघन नहीं कर पाते। ३. इनके विपरीत वे व्यक्ति **ये**=जोकि **यज्ञियां नावम्**=यज्ञमयी नाव पर **आरुहम्**=आरोहण के लिए **न शेकुः**=समर्थ नहीं होते, अर्थात् जो जीवन को, आसक्ति से ऊपर उठकर, यज्ञिय कार्यों में नहीं लगा पाते, **ते**=वे **केपयः**=कुत्सितकर्मा लोग **ईर्म एव**=(ऋणेनैव) अपने पर चढ़े हुए 'मानव ऋण' से ही **न्यविशन्त**=नीचे और नीचे प्रवेश करते हैं। इनको अधोगति प्राप्त होती है। मनुष्य पर चार ऋण होते हैं—'पितृऋण, ऋषिऋण, देवऋण व मानव ऋण'। इन ऋणों को हम विविध यज्ञिय कर्मों द्वारा उतारा करते हैं। यदि उन यज्ञों को हम नहीं करते तो ऋणभार से दबे हुए हम अधोगति को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ—हम संसार में फल की आसक्ति को छोड़कर कर्त्तव्यकर्मों को करें। यही 'यज्ञिय नाव' है। यही हमें भवसागर से तराएगी और अधोगति से बचाएगी।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

प्राग्, नकि अपाग्

एवैवापागपरे सन्तु दूढ्यो३ऽश्वा येषां दुर्युज आयुयुज्रे।

इत्था ये प्रागुपरे सन्ति दावने पुरूणि यत्र वयुनानि भोजना॥ ७॥

१. **येषाम्**=जिन यज्ञ न करनेवालों के **दुर्युज**=दुष्ट योजनावाले, अर्थात् अशुभ मार्ग की ओर जानेवाले **अश्वाः**=इन्द्रियरूप अश्व **आयुयुज्रे**=इस शरीर-रथ में जुतते हैं, वे **दूढ्यः**=(दुर्धियः) दुष्ट बुद्धिवाले **अपरे**=इस अपरा प्रकृति में फँसे हुए पुरुष **एवा एव**=अपनी गतियों के कारण ही **अपाग् सन्तु**=अधोगतिवाले हों। भोगप्रवण मनोवृत्तिवाले पुरुषों की बुद्धियाँ सदा कुमन्त्रणा करती हैं। इनकी अन्ततः अवनति ही होती है। २. **उ**=और **ये**=जो **परे**=दूसरे पराप्रकृति (जीव= आत्मस्वरूप) की ओर चलनेवाले होते हैं और **इत्था**=सचमुच **दावने सन्ति**=देने के कार्य में लोग रहते हैं, वे **प्राग् सन्ति**=आगे बढ़नेवाले होते हैं। वे वहाँ पहुँचते हैं **यत्र**=जहाँ कि **पुरूणि**= पालन व पूरण करनेवाले पर्याप्त **वयुनानि**=ज्ञानयुक्त व कान्त (चमकते हुए) **भोजना**=धन हैं। भोगवृत्ति से ऊपर उठे हुए इन यज्ञशील पुरुषों को पालन के लिए आवश्यक सब धन प्राप्त होते हैं। ये धन उन्हें मूढ बनानेवाले नहीं होते। ये उन्हें आगे बढ़ाते हुए उनकी ज्ञानवृद्धि का साधन बनते हैं।

भावार्थ—भोगप्रवण बनकर हम अधोगति को प्राप्त करनेवाले न बनें। यज्ञों में प्रवृत्त हुए-हुए हम आगे बढ़ें और ज्ञानयुक्त धनोंवाले हों।

ऋषिः—**कृष्णः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**जगती** ॥

समीचीने धिषणे

गिरीँरज्रानेजमानाँ अधारयद् द्यौः क्रन्ददन्तरिक्षाणि कोपयत्।
समीचीने धिषणे वि ष्कभायति वृष्णः पीत्वा मद उक्थानि शंसति॥ ८॥

१. **वृष्णः**=शक्ति देनेवाले सोम का **पीत्वा**=पान करके—सोम को शरीर में ही व्याप्त करके मनुष्य **मदे**=उल्लास में **उक्थानि**=प्रभु के स्तोत्रों का **शंसति**=उच्चारण करता है। जिस समय मन्त्र का ऋषि 'गोतम' (प्रशस्तेन्द्रिय पुरुष) सोम का विनाश न करके उसे शरीर में ही सुरक्षित करता है, उस समय नीरोगता व निर्मलता के कारण उसे एक अनुपम उल्लास का अनुभव होता है। उस उल्लास में वह प्रभु की महिमा का गायन करता है। २. इस सोम के रक्षण के द्वारा वह **समीचीने**=(सम् अञ्च) उत्तम गतिवाले **धिषणे**=द्यावापृथिवी को—मस्तिष्क व शरीर को **विष्कभायति**=विशेषरूप से थामता है। इनकी शक्ति को यह बढ़ानेवाला होता है। सोम-रक्षण ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है और शरीर में आ जानेवाले रोगकृमियों का नाश करता है। यह 'मस्तिष्क को उज्ज्वल बनाना, व शरीर को नीरोग बनाना' ही द्यावापृथिवी का धारण है। यही द्यावापृथिवी की समीचीनता है। अपने-अपने कार्य को ठीक से करना ही तो समीचीनता है। ३. यह **अज्रान्**=अपनी गति के द्वारा विक्षिप्त करनेवाले **रेजमानान्**=अत्यन्त कम्पित करते हुए **गिरीन्**=अविद्यापर्वतों को **अधारयत्**=थामता है, अर्थात् इन पर्वतों के आक्रमण से अपने को बचाता है। इसका **द्यौः**=मस्तिष्करूप द्युलोक **अक्रन्दत्**=प्रभु का आह्वान करनेवाला होता है, अर्थात् यह अपने ज्ञान के प्रकाश से प्रभु को देखता है और उसे अपने रक्षण के लिए पुकारता है। यह **अन्तरिक्षाणि**=अपने हृदयान्तरिक्षों को **कोपयत्** (कोपयति to shine)=दीप्त करता है। प्रभु के प्रकाश से हृदय का दीप्त होना स्वाभाविक है।

भावार्थ—सोम के रक्षण के द्वारा हमारे मस्तिष्क व शरीर उत्तम हों।

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—जगती ॥

प्रभु-स्तवनरूप अंकुश

इमं बिभर्मि सुकृतं ते अङ्कुशं येनारुजासि मघवञ्छफारुजः।
अस्मिन्त्सु ते सवने अस्त्वोक्यं सुत इष्टौ मघवन्बोध्याभगः ॥ ९ ॥

१. हे प्रभो! **इमम्**=इस **ते**=आपके **सुकृतम्**=पुण्य के कारणभूत **अंकुशम्**=स्तवन को **बिभर्मि**=मैं धारण करता हूँ। यहाँ स्तुति को अंकुश इसलिए कहा है कि यह हमें मार्ग पर चलने के लिए प्रेरक होती है। अंकुश हाथी को मार्गभ्रष्ट नहीं होने देता—इसी प्रकार स्तुति मनुष्य को मार्गभ्रष्ट होने से बचाती है। हे **मघवन्**=सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के स्वामिन् प्रभो! यह स्तुतिरूप अंकुश वह है, **येन**=जिससे **शफारुजः**=(शफ root of a tree) शरीररूप वृक्ष के मूल पर आघात करनेवाले 'काम, क्रोध, लोभ' को आप **आरुजासि**=छिन्न-भिन्न कर देते हो। 'काम' शरीर को, 'क्रोध' मन को तथा 'लोभ' बुद्धि को नष्ट कर देता है। इन तीनों शफारुजों को प्रभु का स्तवन नष्ट कर देता है। २. इनको नष्ट करके हम चाहते हैं कि **अस्मिन् सवने सुते**=इस जीवन-यज्ञ में सोम का सम्पादन होने पर **ओक्यम् अस्तु**=प्रभु का यहाँ निवास हो। हे **आभगः**=आभजनीय—सर्वदा स्तवन के योग्य प्रभो! **इष्टौ सुते**=इस जीवन को यज्ञरूप में चलाने पर **बोधि**=आप हमारा ध्यान कीजिए। आपसे रक्षित होकर हम इस जीवन को यज्ञ का रूप दे सकेंगे।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन हमारे जीवनरूप हाथी के लिए अंकुश के समान हो। हम जीवन को यज्ञमय बनाएँ। इस जीवन-यज्ञ में प्रभु का निवास हो।

ऋषिः—कृष्णः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम्।
वयं राजभिः प्रथमा धनान्यस्माकेन वृजनेना जयेम ॥ १० ॥
बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः।
इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु ॥ ११ ॥

देखो व्याख्या २०.१७.१०-११ पर।

प्रभु की उपासना करनेवाला (गृणाति) और उल्लासमय जीवनवाला (माद्यति) 'गृत्समद' अगले सूक्त के प्रथम मन्त्र का ऋषि है। २-४ तक ऋषि 'सुदाः'=उत्तम दानशील पैजवनः=(अपिजवनः) खूब क्रियाशील व्यक्ति है—

९५. [पञ्चनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—गृत्समदः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—अष्टिः ॥

'देव, सत्य व इन्दु' बनना

त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं तुविशुष्मस्तृपत्सोममपिबद्विष्णुना सुतं यथावशत्।
स ईं ममाद महि कर्म कर्तवे महामुरुं सैनं सश्चद्देवो देवं सत्यमिन्द्रं सत्य इन्दुः ॥ १ ॥

१. **त्रिकद्रुकेषु**=(कदि आह्वाने) जीवन के तीनों आह्वानकालों में—बाल्य, यौवन व वार्धक्य में **महिषः**=प्रभु की पूजा करनेवाला और अतएव **तुविशुष्मः**=महान् बलवाला मन्त्र का ऋषि गृत्समद **विष्णुना**=परमात्मा के द्वारा **सुतम्**=उत्पन्न किये गये **यवाशिरम्** (यौति आशृणाति)= अशुभों को दूर करनेवाले, शुभों को हमारे साथ सम्पृक्त करनेवाले और सब रोगकृमियों व वासनाओं को शीर्ण करनेवाले **सोमम्**=सोम को **तृपत्**=तृप्ति का अनुभव करता हुआ **अपिबत्**=

अपने अन्दर ही पीता है, अर्थात् शरीर में ही इसे व्याप्त करता है। उतना-उतना व्याप्त करता है **यथा अवशत्**=जितना-जितना इन्द्रियों को वश में करता है। २. इसप्रकार सदा प्रभु का स्मरण करता हुआ और इन्द्रियों को वश में करता हुआ गृत्समद सोम का पान करता है—वीर्य को शरीर में ही सुरक्षित करता है। **सः**=वह **ईम्**=निश्चय से **ममाद**=प्रसन्नता का अनुभव करता है। **महि कर्म कर्तवे**=महान् कर्म करने के लिए होता है और **एनम्**=इस **महाम्**=महान्—पूजनीय **उरुम्**=सर्वव्यापक प्रभु को **सश्चत्**=प्राप्त होता है। **देवः**=प्रकाशमय जीवनवाला बनकर **देवम्**=प्रकाशमय प्रभु को प्राप्त करता है। **सत्यः**=सत्यवादी व **इन्दुः**=शक्तिशाली बनकर **सत्यम्**=सत्यस्वरूप **इन्द्रम्**=सर्वशक्तिमान् प्रभु को पाता है।

भावार्थ—उपासक उपासना की वृत्ति के परिणामस्वरूप वासनाओं से आक्रान्त न होकर सोम का रक्षण कर पाता है। इस सोम-रक्षण से उल्लासमय जीवनवाला—महान् कर्मों को करनेवाला तथा 'देव, सत्य व इन्द्र' बनकर उस महान् 'देव, सत्य व इन्दु' को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**सुदाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**शक्वरी** ॥

पुरोरथम्+शूषम्

प्रो ष्वस्मै पुरोरथमिन्द्राय शूषमर्चत। अभीके चिदु लोककृत्संगे समत्सु वृत्रहास्माकं बोधि चोदिता नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु॥ २॥

१. **अस्मै**=इस **इन्द्राय**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले सेनापति के लिए **उ**=निश्चय से **सु**=अच्छी प्रकार **पुरोरथम्**=अग्रगतिवाले रथ को तथा **शूषम्**=शत्रुशोषक बल को **प्र अर्चत**=सम्यक् आदर दो। उस सेनापति को उचित आदर प्राप्त हो, जिसका रथ सदा आगे ही बढ़ता है, जो रणाङ्गण से कभी पराङ्मुख नहीं होता। इस सेनापति को आदर दो जिसका बल शत्रुओं का शोषण करनेवाला है। २. यह इन्द्र **अभीके**=संग्राम में **चित् उ**=निश्चय से **लोककृत्**=अपना स्थान बनानेवाला है। **समत्सु**=संग्रामों में **संगे**=शत्रुओं के साथ मुठभेड़ होने पर यह **वृत्रहा**=वृत्र का हनन करनेवाला है। राष्ट्र को घेरनेवाले शत्रुओं को समाप्त करनेवाला होता है (वृ=घेरना) ३. हे इन्द्र! इसप्रकार शत्रु-हनन करता हुआ तू **अस्माकम्**=हमारा **चोदिता**=प्रेरक **बोधि**=अपने को जान। इसप्रकार ही तू प्रजाओं के अन्दर उत्साह का संचार करता है। तेरी वीरता के सामने **अन्यकेषाम्**=(कुत्सिते कन्) इन अधर्म के पक्षवाले शत्रुओं की **ज्याकाः**=धनुष् की डोरियाँ **अधिधन्वसु**=धनुषों पर **नभन्ताम्**=नष्ट हो जाएँ। उनका उत्साह मन्द पड़ जाए। उनके अस्त्र कुण्ठित हो जाएँ।

भावार्थ—सेनापति का रथ आगे-ही-आगे बढ़नेवाला हो, उसका बल शत्रुओं का शोषण कर दे। सेनापति शत्रुओं का हनन करता हुआ प्रजाओं के उत्साह को बढ़ाए और शत्रुओं के अस्त्र कुण्ठित हो जाएँ।

ऋषिः—**सुदाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**शक्वरी** ॥

राष्ट्र रक्षा के लिए रक्तधाराओं का बहाना

त्वं सिन्धूँरवासृजोऽधराचो अहन्नहिम्। अशत्रुरिन्द्र जज्ञिषे विश्वं पुष्यसि वार्यं तं त्वा परि ष्वजामहे नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु॥ ३॥

१. **अहिम्**=(आहन्ति) चारों ओर मारकाट करनेवाले शत्रु को **त्वम्**=तू **अहन्**=नष्ट करता है और **अधराचः**=नीचे की ओर बहनेवाली **सिन्धूम्**=रक्तनदियों को तू **अवासृजः**=उत्पन्न कर देता है। इसप्रकार शत्रुओं को समाप्त करके हे **इन्द्र**=सेनापते! **अशत्रुः जज्ञिषे**=शत्रुरहित हो

जाता है, तेरी शक्ति के कारण कोई भी तेरा विरोधी नहीं रहता। २. इसप्रकार शत्रुओं से राष्ट्र की रक्षा करके तू **विश्वं वार्यम्**=सब वरणीय वस्तुओं का **पुष्यसि**=पोषण करता है। **तं त्वा**=उस तुझको हम **परिष्वजामहे**=आलिंगित करते हैं, अर्थात् तेरा उचित अभिनन्दन करते हैं। तेरे बल के सामने **अन्यकेषाम्**=कुत्सित वृत्तिवाले इन शत्रुओं की **ज्याकाः**=डोरियाँ **अधिधन्वसु**=धनुषों पर ही **नभन्ताम्**=नष्ट हो जाएँ।

भावार्थ—घात-पात करनेवाले शत्रुओं को मारकर सेनापति रक्तधाराएँ बहा दे। राष्ट्रोत्थान का यही तो मार्ग है—बाह्य शत्रुओं का भय न होना तथा वरणीय तत्त्वों का वर्धन।

ऋषिः—**सुदाः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**शक्वरी** ॥

वज्र व धन की चोट से

वि षु विश्वा अरातयोऽर्यो नशन्त नो धियः।
अस्तासि शत्रवे वधं यो न इन्द्र जिघांसति या ते
रातिर्ददिर्वसु नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु॥ ४॥

१. **विश्वाः**=सब **अरातयः**=न देने की वृत्तिवाले—कृपण **अर्यः**=शत्रु **सु**=अच्छी प्रकार **विनशन्त**=विनष्ट हो जाएँ। **नः**=हमें **धियः**=ज्ञानपूर्वक किये जानेवाले कर्म **नशन्त**=प्राप्त हों। शत्रुभय के न होने पर हम सब कार्यों को स्वस्थ मस्तिष्क से करनेवाले हों। २. हे **इन्द्र**=सेनापते! **यः**=जो **नः**=हमें **जिघांसति**=मारना चाहता है, उस **शत्रवे**=शत्रु के लिए तू **वधम्**=वज्र को **अस्तासि**=फेंकनेवाला है और समय-समय पर **या**=जो **ते**=तेरी **रातिः**=दानशीलता है, उसे भी तू शत्रु के लिए फेंकनेवाला होता है, अर्थात् धन देकर भी तू शत्रुओं पर विजय पाने का प्रयत्न करता है। कई बार जो कार्य तोपों के गोलों की मार से नहीं होता, वह सोने के एक भार से हो जाता है, इसलिए आवश्यकता होने पर तू **वसुददिः**=धन देनेवाला होता है। इसप्रकार **अन्यकेषां ज्याकाः**=शत्रुओं के धनुषों की डोरियाँ **अधिधन्वसु**=धनुषों पर ही **नभन्ताम्**= नष्ट हो जाएँ।

भावार्थ—शत्रु भय के अभावों में हमारे सब कार्य बुद्धिपूर्वक हों। सेनापति शस्त्रों से व धनों से शत्रुविजय के लिए यत्नशील हो।

शत्रुभयरहित राष्ट्र के शान्त वातावरण में बुद्धिपूर्वक कार्यों को करता हुआ यह व्यक्ति अपनी न्यूनताओं को दूर करता है और अपना पूरण करता है, अतः 'पूरणः' नामवाला हो जाता है। यही अगले सूक्त के प्रथम पाँच मन्त्रों का ऋषि है। 'पूरण' का साधन सोम-रक्षण ही है—

९६. [षण्णवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**पूरणः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'मुख्य कर्त्तव्य' (सोम-रक्षण)

तीव्रस्याभिवयसो अस्य पाहि सर्वरथा वि हरी इह मुञ्च।
इन्द्र मा त्वा यजमानासो अन्ये नि रीरमन्तुभ्यमिमे सुतासः॥ १॥

१. **तीव्रस्य**=शत्रुओं के लिए तीव्र=रोगकृमिरूप शत्रुओं को तीव्रता से विनष्ट करनेवाले **अभिवयसः**=(अभिगतं वयो येन), जिसके द्वारा उत्कृष्ट जीवनवाला होता है, **अस्य** (सोमस्य)= इस सोम का **पाहि**=तू अपने में रक्षण कर। सोम को तू शरीर में ही सुरक्षित रख। यह तुझे रोगों से मुक्त करेगा और दीर्घजीवन प्राप्त कराएगा। २. **इह**=इस जीवन में **सर्वरथाः** (सर्वः रथः

याभ्याम्)=जिनके द्वारा यह शरीर-रथ पूर्ण बनता है, उन **हरी**=ज्ञानेन्द्रिय व कर्मेन्द्रियरूप अश्वों को **विमुञ्च**=विषय-वासनारूप घास के चरते रहने से पृथक् कर। तेरी इन्द्रियाँ विषयों में ही लिप्त न रह जाएँ—इन्हें तू विषयमुक्त करके शरीर-रथ को आगे ले-चलनेवाला बन। ३. हे **इन्द्र**= जितेन्द्रिय पुरुष! **त्वा**=तुझे **अन्ये यजमानासः**=अन्य विविध कामनाओं से यज्ञों में व्यापृत लोग **मा निरीरमन्**=मत आनन्दित करें, अर्थात् तू भी उनकी तरह सकाम होकर इन यज्ञ-याग आदि में ही न उलझा रह जाए। **तुभ्यम्**=तेरे लिए तो **इमे**=ये सोम **सुतासः**=उत्पन्न किये गये हैं। तेरा मुख्य कार्य इनका रक्षण है। इनके रक्षण से ही सब प्रकार की उन्नति होगी।

भावार्थ—हम इन्द्रियों को विषयों से मुक्त करके, सोम-रक्षण को ही अपना मुख्य कर्त्तव्य समझें।

ऋषिः—**पूरणः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वेदवाणियों की पुकार

तुभ्यं सुतास्तुभ्यमु सोत्वासस्त्वां गिरः श्वात्र्या आ ह्वयन्ति।
इन्द्रेदमद्य सवनं जुषाणो विश्वस्य विद्वाँ इह पाहि सोमम्॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **तुभ्यं सुताः**=तेरे लिए इन सोमों का उत्पादन हुआ है, **उ**=और **तुभ्यम्**=तेरे लिए ही **सोत्वासः**=उत्पन्न किये जाएँगे। ये **श्वात्र्याः** (शु अतन्ति)=शीघ्रता से गतिवाली, अर्थात् कर्मों में प्रेरित करनेवाली **गिरः**=वेदवाणियाँ **त्वाम् आह्वयन्ति**=तुझे पुकारती है। तूने इनका अध्ययन करना है और इनमें निर्दिष्ट कर्मों में प्रवृत्त होना है। २. हे जितेन्द्रिय पुरुष! **अद्य**=आज **इदं सवनम्**=इस जीवन-यज्ञ को **जुषाणः**=प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ **विश्वस्य विद्वान्**=अपने सब कर्त्तव्यकर्मों को जानता हुआ **सोमम्**=सोम (वीर्य) को **इह**=इस शरीर में **पाहि**=सुरक्षित कर। इस सोम-रक्षण से ही तू सब कर्त्तव्यकर्मों को पूर्ण कर पाएगा। सोम-रक्षण ही तुझे तीव्र बुद्धि बनाकर वेद (ज्ञान) को समझने के योग्य बनाएगा।

भावार्थ—हम सोम का रक्षण करें। वेदवाणी को पढ़ें। वेदवाणी को समझते हुए हम तदुपदिष्ट कर्त्तव्यकर्मों का पालन करें।

ऋषिः—**पूरणः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'प्रशस्त चारु' जीवन

य उशता मनसा सोममस्मै सर्वहृदा देवकामः सुनोति।
न गा इन्द्रस्तस्य परा ददाति प्रशस्तमिच्चारुमस्मै कृणोति॥ ३॥

१. **यः**=जो **उशता मनसा**=कामयमान मन से—चाहते हुए मन से **सर्वहृदा**=पूरे दिल से **देवकामः**=उस महान् देव प्रभु की कामनावाला होता हुआ **अस्मै**=इस प्रभु की प्राप्ति के लिए **सोमं सुनोति**=अपने में सोम को उत्पन्न करता है। **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **तस्य**=उसकी **गाः**=इन्द्रियरूप गौओं को **न पराददाति**=कभी उससे दूर नहीं करता। इन्हें विषयों का नहीं होने देता। एवं, सोम-रक्षण का प्रथम परिणाम यही होता है कि मनुष्य प्रभु-प्रवण बनता है—उसकी इन्द्रियाँ विषयों से व्यावृत्त रहकर ठीक बनी रहती है। २. इसप्रकार वे प्रभु **अस्मै**=इस सोम-रक्षण करनेवाले के लिए **इत्**=निश्चय से **प्रशस्तम्**=प्रशस्त व **चारुम्**=सुन्दर जीवन को **कृणोति**=करते हैं। इसका जीवन प्रशस्त व सुन्दर बनता है।

भावार्थ—सोम-रक्षण के द्वारा हम इन्द्रियों को सशक्त बनाएँ। प्रभु-प्रवण बनकर जीवन को प्रशंसनीय व सुन्दर बना सकें।

ऋषिः—पूरणः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

विलास का दुष्परिणाम

अनुस्पष्टो भवत्येषो अस्य यो अस्मै रेवान्न सुनोति सोमम्।
निरर॒त्नौ म॒घवा॒ तं द॑धाति ब्रह्म॒द्विषो॑ हन्त्यना॑नुदिष्टः॥ ४॥

१. **यः**=जो **रेवान्**=धनवान् होता हुआ **अस्मै**=इस प्रभु की प्राप्ति के लिए **सोमं न सुनोति**=सोम का अभिषव नहीं करता—विलासमय जीवन बिताता हुआ जो सोम का नाश करता है, **एषः**=यह व्यक्ति **अस्य**=इस प्रभु की **अनुस्पष्टः भवति**=दृष्टि में स्थापित होता है (स्पश् to see)। प्रभु की इसपर दृष्टि होती है, उसी प्रकार जैसेकि एक अशुभ आचरणवाला व्यक्ति राजपुरुषों की दृष्टि में होता है। २. यदि यह एकदम विलासमय जीवनवाला हो जाता है तो **तम्**=उस विलासी धनी पुरुष को **मघवा**=ऐश्वर्यशाली प्रभु **अरत्नौ**=मुट्ठी में **निः दधाति**=निश्चय से धारण करता है, अर्थात् उसे कैद में डाल देता है और भी अधिक विलास के बढ़ने पर इस **ब्रह्मद्विषः**=वेद के शत्रुओं को—ज्ञान से विपरीत मार्ग पर चलनेवालों को वे प्रभु **हन्ति**=विनष्ट कर देते हैं। **अनानुदिष्टः**=ये प्रभु कभी अनुदिष्ट नहीं होते। प्रभु तक कोई सिफ़ारिश नहीं पहुँचाई जा सकती।

भावार्थ—विलासी पुरुष प्रभु से 'अनुस्पष्ट, धृत व दण्डित' होता है। हम विलास के मार्ग पर न चलकर तप के ही मार्ग पर चलें।

ऋषिः—पूरणः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—त्रिष्टुप् ॥

तपस्वी जीवन

अ॒श्वा॒यन्तो॑ ग॒व्यन्तो॑ वा॒जय॑न्तो॒ हवा॑महे॒ त्वोप॑गन्त॒वा उ॑।
आ॒भूष॑न्तस्ते सु॒म॒तौ नवा॑यां व॒यमि॑न्द्र त्वा शु॒नं हु॑वेम॥ ५॥

१. **अश्वायन्तः**=उत्तम कर्मेन्द्रियों की कामना करते हुए, **गव्यन्तः**=ज्ञानेन्द्रियों को प्रशस्त बनाते हुए, **वाजयन्तः**=शक्ति की कामना करते हुए हम **उपगन्तवा उ**=हे प्रभो! आपके समीप प्राप्त होने के लिए **त्वा हवामहे**=आपको पुकारते हैं। प्रभु की आराधना से ही हम जीवन में विलास से बचकर उत्तम ज्ञानेन्द्रियों, उत्तम कर्मेन्द्रियों व शक्ति को प्राप्त करते हैं। २. हे प्रभो! इसप्रकार **ते**=आपकी **नवायम्**=अतिशयेन स्तुत्य **सुमतौ**=कल्याणी मति में **आभूषन्तः**=सदा वर्तमान होते हुए **वयम्**=हम, हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **शुनम्**=आनन्दस्वरूप **त्वा**=आपको **हुवेम**=पुकारते हैं। आपकी आराधना ही तो हमें कल्याणी मति प्राप्त कराएगी।

भावार्थ—उत्तम ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों व शक्ति का सम्पादन करते हुए हम प्रभु का उपासन करें। प्रभु का उपासन हमें शुभ बुद्धि को प्राप्त कराता है।

यह उत्तम बुद्धिवाला तपस्वी जीवन को, नकि विलासी जीवन को बिताता हुआ पूर्ण नीरोग बनता है। सब रोगों को नष्ट करता हुआ 'यक्ष्मनाशनम्' होता है।

ऋषिः—पूरणः, ब्रह्मा च, भृग्वङ्गिराश्च॥ देवता—यक्ष्मनाशनम्॥ छन्दः—त्रिष्टुप्॥

अग्निहोत्र से रोगमुक्ति

मु॒ञ्चामि॑ त्वा ह॒विषा॒ जीव॑नाय॒ कम॑ज्ञातय॒क्ष्मादु॒त रा॑जय॒क्ष्मात्।
ग्राहि॑र्ज॒ग्राह॒ यद्ये॒तदे॑नं॒ तस्या॑ इन्द्राग्नी॒ प्र मु॑मुक्तमेनम्॥ ६॥

१. **त्वा**=तुझे **हविषा**=हवि के द्वारा—अग्निकुण्ड में डाली गई आहुतियों के द्वारा—**अज्ञातयक्ष्मात्**=अज्ञात रोगों से **उत**=और **राजयक्ष्मात्**=राजरोग से **मुञ्चामि**=मुक्त करता हूँ। **जीवनाय**=

जिससे तू उत्कृष्ट जीवन को प्राप्त कर सके तथा तेरा जीवन **कम्**=सुखमय हो। २. अथवा **यदि**=यदि **एनम्**=इसको **एतत्** (एतस्मिन् काले सा०) अब **ग्राहिः**=अंगों को पकड़-सा लेनेवाला वातरोग **जग्राह**=जकड़ लेता है, तो **एनम्**=इसको **इन्द्राग्नी**=इन्द्र और अग्नि **तस्याः**=उस ग्राहि नामक रोग से **प्रमुमुक्तम्**=मुक्त करें। अग्निहोत्र में दीप्त होता हुआ अग्नि हविर्द्रव्यों को सूक्ष्मकणों में विभक्त करके सूर्यलोक तक पहुँचाता है 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते'। सूर्य (इन्द्र) जलों को वाष्पीभूत करके इन सूक्ष्मकणों के चारों ओर प्राप्त कराता है। इसप्रकार वृष्टि के बिन्दु इन हविर्द्रव्यों को केन्द्रों में लिये हुए होते हैं। उनके वर्षण से उत्पन्न अन्न-कण भी उन्हीं हविर्द्रव्यों के गुणों से युक्त हुए-हुए रोगों के निवारक बनते हैं। इसप्रकार इन्द्र और अग्नि हमें रोगमुक्त करके दीर्घजीवन प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—अग्निहोत्र में डाले गये हविर्द्रव्यों से हम रोगमुक्त हो पाते हैं। सब अज्ञातरोग—राजयक्ष्मा व ग्राहि नामक रोग सूर्य व अग्नि के द्वारा दूर किये जाते हैं।

ऋषिः—**पूरणः, ब्रह्मा च, भृग्वङ्गिराश्च**॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

निर्ऋति की गोद से बाहर

यदि॑ क्षि॒तायु॒र्यदि॑ वा॒ परे॑तो॒ यदि॑ मृ॒त्योर॑न्ति॒कं नी॒त ए॒व।
तमा ह॑रामि॒ निर्ऋ॑ते॒रु॒पस्था॒दस्पा॑र्षमेनं श॒तशा॑रदाय॥ ७॥

१. **यदि**=यदि **क्षितायुः**=यह रुग्ण पुरुष क्षीण आयुष्यवाला हो गया है। **यदि वा**=अथवा **परा इतः**=रोग में बहुत दूर पहुँच गया है। **यदि**=यदि **मृत्योः अन्तिकम्**=मृत्यु के समीप **नीतः एव**=पहुँच ही गया है तो भी **तम्**=उसको **निर्ऋतेः**=दुर्गति की **उपस्थात्**=गोद से **आहरामि**=छीन लाता हूँ। २. इसप्रकार **एनम्**=इसे रोगमुक्त करके **शतशारदाय**=पूरे सौ वर्ष के जीवन के लिए **अस्पार्षम्**=(स्पृ बलप्रीणनयोः) बलयुक्त करता हूँ।

भावार्थ—अग्निहोत्र के द्वारा तीव्रतम रोगों से भी मुक्ति होकर दीर्घजीवन की प्राप्ति होती है।

ऋषिः—**पूरणः, ब्रह्मा च, भृग्वङ्गिराश्च**॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

सहस्राक्ष हवि

स॒ह॒स्रा॒क्षेण॑ श॒तवी॑र्येण श॒तायु॑षा ह॒विषाहा॑र्षमेनम्।
इन्द्रो॒ यथै॑नं श॒रदो॒ नया॒त्यति॒ विश्व॑स्य दु॒रि॒तस्य॒ पार॑म्॥ ८॥

१. मैं **एनम्**=इस रुग्ण पुरुष को **हविषा**=हवि के द्वारा **आहार्षम्**=रोग से बाहर ले-आता हूँ, उस हवि के द्वारा जोकि **सहस्राक्षेण**=हज़ारों आँखोंवाली है—हज़ारों पुरुषों का ध्यान करती है। हज़ारों को ही रोगों से मुक्त करती है। **शतशारदेन**=यह हवि हमें शतवर्षपर्यन्त ले-चलती है। **शतायुषा**=इस हवि के द्वारा हमारा शतवर्ष का आयुष्य क्रियामय बना रहता है। (एति इति आयुः)। २. मैं इसको हवि के द्वारा रोग से बाहर लाता हूँ और इसप्रकार व्यवस्था करता हूँ कि **यथा**=जिससे **इमम्**=इस पुरुष को **इन्द्रः**=सूर्य **विश्वस्य**=सब **दुरितस्य**=दुर्गतियों के **पारम्**=पार **नयाति**=ले-जाता है। अग्नि और सूर्य मिलकर मनुष्य को सब रोगों से ऊपर उठा देते हैं।

भावार्थ—अग्निहोत्र में डाले गये हविर्द्रव्यों से हज़ारों पुरुषों का कल्याण होता है। ये उन्हें शतवर्ष का क्रियामय जीवन प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**पूरणः, ब्रह्मा च, भृग्वङ्गिराश्च**॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**शक्वरीगर्भाजगती**॥

'इन्द्र, अग्नि, सविता तथा बृहस्पति'

शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान्।
शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषाहार्षमेनम्॥ ९॥

१. हे मनुष्य! तू **वर्धमानः**=सब शक्तियों की दृष्टि से वृद्धि प्राप्त करता हुआ **शतं शरदः जीव**=सौ शरद् ऋतुओं तक जीनेवाला हो। **शतं हेमन्तान्**=सौ हेमन्त ऋतुओं तक जी **उ**=और **शतं वसन्तान्**=सौ वसन्त ऋतुओं तक जीनेवाला बन। २. **इन्द्रः अग्निः**=सूर्य और अग्नि तथा **सविता बृहस्पतिः**=उत्पादक वीर्यशक्ति तथा उत्कृष्ट ज्ञान—ये सब **ते**=तेरे लिए **शतम्**=शतवर्ष का जीवन दें। मैं **एनम्**=इस रुग्ण पुरुष को **शतायुषा**=शत वर्षों का जीवन देनेवाली **हविषा**=हवि के द्वारा **आहार्षम्**=रोग से बाहर ले-जाता हूँ। 'सूर्यकिरणों के सम्पर्क में रहना, अग्निहोत्र द्वारा वायु-शुद्धि, उत्पादक शक्ति का शरीर में रक्षण तथा ज्ञान' ये सब दीर्घजीवन की प्राप्ति के साधन हैं।

भावार्थ—'इन्द्र, अग्नि, सविता तथा बृहस्पति' हमें दीर्घ जीवन प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**पूरणः, ब्रह्मा च**॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सर्वाङ्ग

आहार्षमविदं त्वा पुनरागाः पुनर्णवः।
सर्वाङ्ग सर्वं ते चक्षुः सर्वमायुश्च तेऽविदम्॥ १०॥

१. रोगी को सम्बोधन करते हुए कहते हैं कि **त्वा आहार्षम्**=तुझे रोग से बाहर ले-आता हूँ और इसप्रकार **त्वा अविदम्**=तुझे प्राप्त करता हूँ। **पुनः आगाः**=तू फिर से हमें प्राप्त हो। **पुनः नवः**=फिर से नवजीवन प्राप्त करनेवाला बन। २. हे **सर्वाङ्ग**=सम्पूर्ण अंगोंवाले पुरुष! **ते**=तेरे लिए **सर्वं चक्षुः**=पूर्ण स्वस्थ दृष्टि, **च**=और **ते**=तेरे लिए **सर्वम् आयुः**=पूर्ण जीवन **अविदम्**=मैंने प्राप्त कराया है।

भावार्थ—हम नीरोग होकर ठीक दृष्टि को व स्वस्थ अधिकृत अंगों को प्राप्त करते हुए पूर्ण जीवन प्राप्त करें।

अग्निहोत्र के द्वारा रोगकृमियों का विनाश होकर हमें नीरोगता प्राप्त होती है। ये रोगकृमि अपने रमण के लिए हमारा क्षय करते हैं, अतः 'रक्षस्' कहलाते हैं। इनको नष्ट करनेवाला 'रक्षोहा' अगले छह मन्त्रों का ऋषि है—

ऋषिः—**रक्षोहाः**॥ देवता—**गर्भदोषनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

गर्भस्थ व योनिस्थ दोषों का निराकरण

ब्रह्मणाग्निः संविदानो रक्षोहा बाधतामितः।
अमीवा यस्ते गर्भं दुर्णामा योनिमाशये॥ ११॥

१. **अग्निः**=यह ज्ञानाग्नि से दीप्त कुशल वैद्य **रक्षोहा**=रोगकृमियों का नाश करनेवाला है। यह **ब्रह्मणा**=ज्ञान से **संविदानः**=खूब ज्ञानी बनता हुआ **इतः**=यहाँ से—तेरे शरीर से **बधताम्**=रोग को रोककर दूर करनेवाला हो। **यः अमीवा**=जो रोग **ते**=तेरे **गर्भम् आशये**=गर्भस्थान में निवास करता है, उस रोग को यह वैद्य दूर करे। २. **यः**=जो **दुर्णामा**=अशुभ नामवाला अर्शस्=(बवासीर) नामक रोग **ते**=तेरी **योनिम्**=रेतस् के आधानभूत स्थान को अपना आधार बनाता है, उसे भी

यह वैद्य दूर करे।

भावार्थ—कुशल वैद्य गर्भस्थान व योनि में होनेवाले दोषों को दूर करे।

ऋषिः—**रक्षोहाः** ॥ देवता—**गर्भदोषनाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

क्रव्याद (क्रिमि) संहार

यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये।
अग्निष्टं ब्रह्मणा सह निष्क्रव्यादमनीनशत्॥ १२॥

१. **यः**=जो **अमीवा**=रोग **ते**=तेरे **गर्भम्**=गर्भस्थान में **आशये**=निवास करता है और जो **दुर्णामा**=अशुभ नामवाला अर्शस् नामक रोग **योनिम्**=रेतस् के आधान स्थान में निवास करता है, **तम्**=उसको **अग्निः**=यह कुशल, ज्ञानी वैद्य **निः अनीनशत्**=बाहर करके नष्ट कर दे। २. यह ज्ञानी वैद्य **ब्रह्मणा सह**=ज्ञान के साथ, अर्थात् रोग को अच्छी प्रकार समझकर नष्ट करनेवाला हो। **क्रव्यादम्**=इस मांस खानेवाले (मांसानि शनम् सा०) क्रिमि को यह वैद्य नष्ट कर दे। इन क्रव्याद क्रिमियों के नाश से ही रोग का उन्मूलन होता है।

भावार्थ—ज्ञानी वैद्य मांस को खा जानेवाले क्रिमियों को नष्ट करके गर्भगत व योनिगत विकारों को नष्ट करता है।

ऋषिः—**रक्षोहाः** ॥ देवता—**गर्भदोषनाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

गर्भाधान से जातकर्म तक

यस्ते हन्ति पतयन्तं निषत्स्नुं यः सरीसृपम्।
जातं यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि॥ १३॥

१. गर्भाधान काल में **पतयन्तम्**=गर्भ में जाते हुए **ते**=तेरे वीर्यांश को **यः**=जो **हन्ति**=नष्ट करता है, अब **निषत्स्नुम्**=गर्भ में निषण्ण होते हुए जीव को जो नष्ट करता है, **यः**=जो तीन-चार मास बाद **सरीसृपम्**=सर्पणशील उस गर्भस्थ बालक को नष्ट करता है, **तम्**=उस रोगकृमि को **इतः**=यहाँ से **नाशयामसि**=हम नष्ट करते हैं। २. **यः**=जो रोग **ते**=तेरे **जातम्**=उत्पन्न हुए-हुए बालक को **जिघांसति**=नष्ट करना चाहता है, उस रोग को भी हम नष्ट करते हैं।

भावार्थ—गर्भस्थ बालक के जीवन को प्रारम्भ से अन्त तक रोगों से बचाने का प्रयत्न करते हैं।

ऋषिः—**रक्षोहाः** ॥ देवता—**गर्भदोषनाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

पति-पत्नी के शरीर-दोषों का निराकरण

यस्त ऊरू विहरत्यन्तरा दम्पती शये।
योनिं यो अन्तरारेढि तमितो नाशयामसि॥ १४॥

१. हे नारि! **यः**=जो **ते**=तेरी **विहरति**=जाँघों में विहार करता है, **तम्**=उस रोगकृमि को हम **इतः**=यहाँ से **नाशयामसि**=नष्ट करते हैं। २. जो भी रोग **दम्पती**=पति-पत्नी के **अन्तरा**=देह के मध्य में गुप्तरूप से रहता है, उसको भी नष्ट करते हैं। ३. और **यः**=जो तेरी **योनिम् अन्तः**=योनि में प्रविष्ट होकर **आरेढि**=आहित वीर्य को ही चाट जाता है, उस कृमि को भी हम विनष्ट करते हैं।

भावार्थ—हम पति-पत्नी के शरीर-दोषों को दूर करते हैं, जिससे सन्तान नीरोग हों।

ऋषिः—**रक्षोहाः** ॥ देवता—**गर्भदोषनाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

बालक की गर्भ-स्थिति में संयम का महत्त्व

यस्त्वा भ्राता पतिर्भूत्वा जारो भूत्वा निपद्यते।
प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि॥ १५॥

१. हे नारि! **यः**=जो **भ्राता**=भरण करनेवाल **पतिः भूत्वा**=पति बनकर **त्वा**=गर्भस्थ बालकवाली तुझे **निपद्यते**=भोग के लिए प्राप्त होता है अथवा **जारः**=तेरी शक्तियों को जीर्ण करनेवाला **भूत्वा**=होकर तुझे प्राप्त होता है और इसप्रकार **यः**=जो **ते**=तेरी **प्रजाम्**=गर्भस्थ सन्तति को **जिघांसति**=मारने की कामनावाला होता है, **तम्**=उसको हम **इतः**=यहाँ से **नाशयामसि**=दूर करते हैं, अर्थात् ऐसी व्यवस्था करते हैं कि तुझ गर्भिणि के साथ भोगवृत्ति से कोई भी बर्ताव करनेवाला न हो। २. गर्भिणि स्त्री के पति का यह कर्त्तव्य है कि बच्चे के गर्भस्थ होने के समय वह 'भ्राता' ही बना रहे। उस समय भोग द्वारा स्त्री की शक्तियों को जीर्ण करनेवाला 'जार' न बने।

भावार्थ—बालक के गर्भस्थ होने पर पति 'भ्राता' के समान वर्ते। उस समय पति के रूप में वर्तना 'जारवृत्ति' है।

ऋषिः—**रक्षोहाः** ॥ देवता—**गर्भदोषनाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

अचेतनावस्था में भोग का निषेध

यस्त्वा स्वप्नेन तमसा मोहयित्वा निपद्यते।
प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि॥ १६॥

१. **यः**=जो **त्वा**=तुझे **स्वप्नेन तमसा**=स्वप्नावस्था में ले-जानेवाले तमोगुणी पदार्थों के प्रयोग से **मोहयित्वा**=मूढ़ व अचेतन बनाकर **निपद्यते**=भोग के लिए प्राप्त होता है और इसप्रकार **यः**=जो **ते**=तेरी **प्रजाम्**=प्रजा को—गर्भस्थ सन्तान को **जिघांसति**=नष्ट करना चाहता है, **तम्**=उसको **इतः**=यहाँ से **नाशयामसि**=हम दूर करते हैं। २. गर्भिणी को अचेनावस्था में ले-जाकर भोगप्रवृत्त होना गर्भस्थ बालक के उन्माद या विनाश का कारण हो जाता है, अतः वह सर्वथा हेय है।

भावार्थ—पत्नी को अचेनावस्था में उपभुक्त करना गर्भस्थ बालक के लिए अत्यन्त घातक होता है।

शरीर के अंग-प्रत्यंग से दोषों का उद्‌बर्हण करनेवाला 'विवृहा' १७ से २३ तक मन्त्रों का ऋषि है। ज्ञानी होने से यह 'काश्यप' है—

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

शीर्षण्य दोष का निराकरण

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वया वि वृहामि ते॥ १७॥

१. हे रुग्ण पुरुष! मैं '**विवृहा काश्यप**' **ते**=तेरी **अक्षीभ्याम्**=आँखों से **नासिकाभ्याम्**=नासिका-छिद्रों से, **कर्णाभ्याम्**=कानों से **छुबुकादधि**=ठोडी से **यक्ष्मम्**=रोग को **विवृहामि**=उखाड़ फेंकता हूँ—इन अंगों से रोग का समूलोन्मूलन किये देता हूँ। २. **शीर्षण्यम्**=सिर में बैठे रोग को दूर करता हूँ। **मस्तिष्कात्**=शिर के अन्तःस्थित मांस विशेष से तथा **जिह्वायाः**=जिह्वा से **ते**=तेरे इस रोग को विनष्ट करता हूँ। इसप्रकार तेरे शिरोभाग को निर्दोष बनाता हूँ।

भावार्थ—ज्ञानी वैद्य सिर के सब रोगों का निराकरण करता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

दोषण्य दोष का निराकरण

ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात्।
यक्ष्मं दोषण्य१मंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते॥ १८॥

१. हे व्याधिगृहीत पुरुष! मैं **ते**=तेरी **ग्रीवाभ्यः**=गले में विद्यमान नाड़ियों से **यक्ष्मम्**=रोग को **विवृहामि**=दूर करता हूँ। **उष्णिहाभ्यः**=ऊपर की ओर जानेवाली धमनियों से **कीकसाभ्यः**=अस्थियों से **अनूक्यात्**=अस्थिसंधियों से भी रोग को दूर करता हूँ। २. **दोषण्यम्**=भुजाओं में होनेवाले रोग को दूर करता हूँ और **अंसाभ्याम्**=कन्धों से तथा **बाहुभ्याम्**=भुजाओं के अधोभागरूप हाथों से **ते**=तेरे रोग को दूर करता हूँ।

भावार्थ—ज्ञानी वैद्य भुजाओं के सब रोगों को दूर कर देता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**ककुम्मत्यनुष्टुप्**॥

हृदयादि दोष-दूरीकरण

हृदयात्ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात्पार्श्वाभ्याम्।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीह्नो यक्नस्ते वि वृहामसि॥ १९॥

१. हे रुग्ण पुरुष! **ते**=तेरे **हृदयात्**=हृदय-पुण्डरीक से, **परिक्लोम्नः**=हृदय-समीपस्थ फेफड़े से **हलीक्ष्णात्**=पित्ताशय से, **पार्श्वाभ्याम्**=दोनों कोखों से—पार्श्वावयवों से **यक्ष्मम्**=रोग को **विवृहामसि**=पृथक् करते हैं। २. **ते**=तेरे **मतस्नाभ्याम्**=गुर्दों से **प्लीह्नः**=तिल्ली से और **यक्नः**=जिगर से रोग को दूर करते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी वैद्य हृदय आदि प्रदेशों से रोग को दूर करता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**चतुष्पदाभुरिगुष्णिक्**॥

आन्त्र आदि से रोग का निराकरण

आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि।
यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या वि वृहामि ते॥ २०॥

१. **ते**=तेरी **आन्त्रेभ्यः**=आँतों से **गुदाभ्यः**=गुदा से—मलमूत्रप्रवहण मार्गों से **वनिष्ठोः**=स्थविरान्तों से (मलस्थान से—मलाधिष्ठान से) **उदरात् अधि**=सर्वाधारभूत जठर से **यक्ष्मम्**=रोग को **विवृहामि**=पृथक् करता हूँ। २. **कुक्षिभ्याम्**=दक्षिण व उत्तर उदरभागों से (दाएँ-बाएँ पासे से) **प्लाशेः**=बहुछिद्र मलपात्र से (अन्दर की थैली से) और **नाभ्या**=नाभि से **ते**=तेरे रोग को निकाल फेंकता हूँ।

भावार्थ—आन्त्र आदि प्रदेशों से रोग-बीजों को दूर किया जाए।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**उपरिष्टाद्विराड्बृहती**॥

'उरु' आदि प्रदेशों की नीरोगता

ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम्।
यक्ष्मं भसद्यं१ श्रोणिभ्यां भासदं भंससो वि वृहामि ते॥ २१॥

१. हे रोगार्त! **ते**=तेरी **ऊरुभ्याम्**=जाँघों से **अष्ठीवद्भ्याम्**=घुटनों से **पार्ष्णिभ्याम्**=पाँवों के अधरभाग, अर्थात् एड़ियों से और **प्रपदाभ्याम्**=पाँवों के अग्रभाग से **यक्ष्मम्**=रोग को **विवृहामि**=पृथक्

करता हूँ। २. **भसद्यम्**=कटिभाग में होनेवाले रोग को दूर करता हूँ। **श्रोणिभ्याम्**=कटि के अधरभाग से रोग को दूर करता हूँ। इसीप्रकार **ते**=तेरे **भासदम्**=गुह्यप्रदेश में होनेवाले रोग को **भंससः**=(भस दीप्तौ) भासमान गुह्यस्थान से पृथक् करता हूँ।

भावार्थ—जाँघों आदि प्रदेशों में होनेवाले रोगों को नष्ट किया जाए।

सूचना—'भंससः' शब्द गुह्यप्रदेश की शुद्धता पर बल दे रहा है। इन प्रदेशों को शुद्ध रखना नितान्त आवश्यक है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**उष्णिग्गर्भानिचृदनुष्टुप्**॥

अस्थ्यादि दोष-विध्वंस

अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नावभ्यो धमनिभ्यः।
यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि वृहामि ते॥ २२॥

१. **ते**=तेरी **अस्थिभ्यः**=हड्डियों से **मज्जभ्यः**=मज्जा से **यक्ष्मम्**=रोग को **विवृहामि**=दूर करता हूँ। **स्नावभ्यः**=सूक्ष्म सिराओं से तथा **धमनिभ्यः**=स्थूल सिराओं से तेरे रोग को दूर करता हूँ। २. **ते**=तेरे **पाणिभ्याम्**=हाथों से, **अंगुलिभ्यः**=अंगुलियों से तथा **नखेभ्यः**=नखों से रोग को दूर करता हूँ।

भावार्थ—अस्थि आदि में आ गये रोग को दूर किया जाए।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**यक्ष्मनाशनम्**॥ छन्दः—**पथ्यापङ्क्तिः**॥

प्रत्यंग रोग-विनाश

अङ्गेअङ्गे लोम्निलोम्नि यस्ते पर्वणिपर्वणि।
यक्ष्मं त्वचस्यं ते वयं कश्यपस्य वीबर्हेण विष्वञ्चं वि वृहामसि॥ २३॥

१. हे रुग्ण! **ते**=तेरे **अङ्गे अङ्गे**=सब अवयवों में, **लोम्नि लोम्नि**=सब रोमकूपों में **पर्वणि पर्वणि**=सब पर्वों में—सन्धियों में होनेवाले **यक्ष्मम्**=रोग को **विवृहामसि**=पृथक् करते हैं। २. **वयम्**=हम **ते**=तेरे **त्वचस्यम्**=त्वचा में होनेवाले **विष्वञ्चम्**=चक्षु आदि सब अवयवों में व्याप्त होनेवाले रोग को **कश्यपस्य**=ज्ञानी पुरुष के **वीबर्हेण**=रोगघातक प्रयोग से नष्ट करते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी वैद्य रोग के मूलकारण को समझकर अंग-प्रत्यंग से रोगों को विनष्ट करता है।

रोग-विनाश द्वारा सर्वाङ्ग स्वस्थ होकर यह 'प्रचेता' प्रकृष्ट ज्ञानी बनता है और पाप को अपने से दूर भगाता हुआ कहता है—

ऋषिः—**प्रचेता**॥ देवता—**दुःष्वप्ननाशनम्**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

पाप-संकल्प को दूर भगाना

अपेहि मनसस्पतेऽप क्राम परश्चर। परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व बहुधा जीवतो मनः॥ २४॥

१. हे **मनसस्पते**=मन का पति बन जानेवाले पाप संकल्प! तू **अप इहि**=यहाँ से दूर भाग जा। **अपक्राम**=तेरा पादविक्षेप हमसे सुदूर प्रदेशों में ही हो। **परःचर**=तू दूर जंगलों में भटकनेवाला हो। २. **निर्ऋत्यै**=इस निर्ऋति—दुर्गति—दुराचार के लिए **परः**=हमसे दूर होकर **आचक्ष्व**=कथन कर, अर्थात् तू हमें पाप के लिए प्रेरित मत कर। **जीवतः मनः**=प्राणशक्ति को धारण करनेवाला मेरा मन **बहुधा**=बहुत बातों का धारण करनेवाला है। घर के कितने ही कार्यों—गौ आदि की सेवा व वेदवाणी के अध्ययन में व्यापृत है, अतः हे पाप-संकल्प! तू मुझसे दूर जा—

मुझे अवकाश नहीं कि तेरी बातों को सुनूँ।

भावार्थ—हम मन पर प्रभुत्व पा लेनेवाले पाप-संकल्प को दूर भगाएँ। धारणात्मक कार्यों में मन को लगाये रक्खें, जिससे इसमें पाप-संकल्प उत्पन्न ही न हों।

पाप-संकल्पों को पराजित करनेवाला यह वीर 'कलि' कहलाता है (कलि=A hew)। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

अथ नवमोऽनुवाकः

९७. [सप्तनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**कलिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)** ॥

स्तवन, सोम-रक्षण, प्रभु-प्राप्ति

वयमेनमिदा ह्योऽपीपेमेह वज्रिणम्।
तस्मा उ अद्य समना सुतं भरा नूनं भूषत श्रुते॥ १॥

१. **वयम्**=हम **एनम्**=इस **वज्रिणम्**=वज्रहस्त प्रभु को **इह**=इस जीवन में **इदा**=अब और **ह्यः**=भूतकाल में भी (गत दिवस में भी) **अपीपेम**=अप्यायित करते हैं। स्तोत्रों के द्वारा हम प्रभु की भावना को अपने अन्दर बढ़ाते हैं। २. **तस्मा उ**=उस प्रभु-प्राप्ति के लिए **अद्य**=आज **समना**=संग्राम के द्वारा—वासनाओं को संग्राम में पराजित करने के द्वारा **सुतं भरा**=सोम का सम्भरण करते हैं। वे प्रभु **नूनम्**=निश्चय से **श्रुते**=शास्त्रश्रवण होने पर **भूषत**=प्राप्त होते हैं (आभवतु=आगच्छतु)।

भावार्थ—हम सदा प्रभु का स्तवन करें। स्तुति द्वारा वासनाओं को पराजित करके सोम का रक्षण करें। सोम-रक्षण द्वारा तीव्र बुद्धि होकर प्रभु-दर्शन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**कलिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)** ॥

'वृक व उरामथि' के जीवन में परिवर्तन

वृकश्चिदस्य वारण उरामथिरा वयुनेषु भूषति।
सेमं न स्तोमं जुजुषाण आ गहीन्द्र प्र चित्रया धिया॥ २॥

१. **वारणः**=सबके मार्गों को रोकनेवाला **वृकःचित्**=स्तेन (चोर) भी तथा **उरामथिः**=(उर to go) मार्ग में जानेवालों का हिंसक (Highway robber) डाकू भी **अस्य वयुनेषु**=इस प्रभु का प्रज्ञान होने पर, कहीं अकस्मात् सत्संग में प्रभु का उपदेश सुनने पर **आभूषति**=अनुकूल को प्राप्त करता है, अर्थात् प्रतिकूल कर्मों से निवृत्त हो जाता है। २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **सः**=वे आप **इमं नः**=इस हमारे **स्तोमम्**=स्तवन को **जुजुषाणः**=प्रीतिपूर्वक ग्रहण करते हुए **चित्रया धिया**=चेतना देनेवाली बुद्धि के साथ **प्र आगहि**=प्रकर्षेण प्राप्त होइए।

भावार्थ—प्रभु-विषयक उपदेश चोरों व डाकुओं के जीवन में भी परिवर्तन लानेवाला होता है। प्रभु हमारे स्तोम से प्रसन्न हों और हमारे लिए चेतनादायिनी बुद्धि दें।

ऋषिः—**कलिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)** ॥

'सर्वाणि बलकर्माणि इन्द्रस्य'

कदू न्व१स्याकृतमिन्द्रस्यास्ति पौंस्यम्।
केनो नु कं श्रोमतेन न शुश्रुवे जनुषः परि वृत्रहा॥ ३॥

१. **कत् उ नु**=कौन-सा निश्चय से **पौंस्यम्**=पौरुष का काम—वृत्र आदि का विनाशरूप

कर्म **अस्य इन्द्रस्य**=इस परमैश्वर्यशाली प्रभु का **अकृतमस्ति**=न किया हुआ है? अर्थात् वृत्र-वध आदि सब पौरुष के काम प्रभु द्वारा ही तो किये जाते हैं। २. **केन उ नु श्रोमतेन**=और निश्चय से किस श्रवणीय पौरुष के कार्य से **न शुश्रुवे**=वे प्रभु नहीं सुने जाते? **जनुषः परि**=जन्म से लेकर ही, अर्थात् जैसे ही प्रभु का हृदयों में कुछ प्रादुर्भाव होता है, तभी वे प्रभु **वृत्रहा**=वासना का विनाश करनेवाले हैं।

भावार्थ—वासना-विनाश (वृत्र-वध) आदि सब शक्तिशाली कर्मों को करनेवाले प्रभु ही हैं। वे प्रभु हमारे हृदयों में प्रादुर्भूत होते ही सब शत्रुओं का विनाश कर देते हैं।

प्रभु की उपासना के द्वारा वासना-विनाश से शान्ति को अपने साथ जोड़नेवाला 'शंयु' अगले सूक्त का ऋषि है—

९८. [अष्टनवतितमं सूक्तम्]

'प्रभु-आराधन' के लाभ

त्वामिद्धि हवा॑महे सा॒ता वाज॑स्य का॒रवः॑।
त्वां वृ॒त्रेष्वि॑न्द्र॒ सत्प॑तिं॒ नर॒स्त्वां काष्ठा॒स्वर्व॑तः॥ १॥

१. **कारवः**=कुशलता से कार्यों को करनेवाले स्तोता लोग **वाजस्य सातौ**=शक्ति-प्राप्ति के निमित्त **त्वाम् इत् हि**=आपको ही **हवामहे**=पुकारते हैं। आप ही सब शक्तियों के देनेवाले हैं। २. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **वृत्रेषु**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं के विनाश के निमित्त **सत्पतिम्**=सज्जनों के रक्षक **त्वाम्**=आपको पुकारते हैं तथा **अर्वतः**=अश्व-सम्बन्धिनी **काष्ठासु** (काष्ठा=race-cower)=पलायन भूमियों में **नरः**=उन्नति-पथ पर चलनेवाले मनुष्य **त्वाम्**=आपको पुकारते हैं। इन्द्रियाँ जब अपने मार्गों पर गति करती हैं तब वे प्रभु का स्मरण करते हैं, जिससे ये इन्द्रियाँ मार्गभ्रष्ट न हों।

भावार्थ—प्रभु का आराधन (क) हमें शक्ति देता है (ख) वासनाओं का विनाश करता है तथा (ग) इन्द्रियों को मार्गभ्रष्ट होने से बचाता है।

ऋषिः—**कलिः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)**॥

तेजस्विता की प्राप्ति

स त्वं न॑श्चित्र वज्रहस्त धृष्णु॒या म॒ह स्त॑वा॒नो अ॑द्रिवः।
गामश्वं॑ र॒थ्य॑मिन्द्र॒ सं कि॑र स॒त्रा वाजं॒ न जि॒ग्युषे॑॥ २॥

१. हे **चित्र**=चयनीय-पूजनीय **वज्रहस्त**=दुष्टों को दण्ड देने के लिए हाथ में वज्र लिये हुए **अद्रिवः**=शत्रुओं से न विदीर्ण किये जानेवाले प्रभो! **स्तवानः**=स्तुति किये जाते हुए **सः त्वम्**=वे आप **नः**=हमारे लिए **धृष्णुया**=शत्रुओं के धर्षण के हेतु से **महः**=तेजस्विता **संकिर**=दीजिए। आपसे तेजस्विता प्राप्त करके हम काम-क्रोध आदि शत्रुओं का धर्षण करनेवाले बनें। २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **रथ्यम्**=शरीर-रथ में उत्तमता से कार्य करनेवाली **गाम्**=ज्ञानेन्द्रियों व **अश्वम्**=कर्मेन्द्रियों को (संकिर) दीजिए और हे प्रभो! **सत्रा**=सदा **जिग्युषे**=जैसे एक विजयशील पुरुष के लिए इसी प्रकार हमें **वाजम्**=शक्ति दीजिए। एक इन्द्रियों को जीतनेवाला पुरुष जैसे शक्ति-सम्पन्न बनता है, उसी प्रकार हम भी शक्ति प्राप्त करें।

भावार्थ—स्तुति किये जाते हुए प्रभु हमारे लिए शक्ति दें। इस शक्ति के द्वारा ही तो हम शत्रुओं को जीत पाएँगे।

शत्रुओं को जीतकर यह पवित्र जीवनवाला पुरुष 'मेध्य'–पूर्ण पवित्र प्रभु की ओर चलता है, अतः इसका नाम 'मेध्यातिथि' होता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

९९. [नवनवतितमं सूक्तम्]

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)** ॥

चारों आश्रमों में प्रभु-स्तवन

अभि त्वा पूर्वपीतय इन्द्र स्तोमेभिरायवः।
समीचीनास ऋभवः समस्वरन्रुद्रा गृणन्त पूर्व्यम्॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=काम-क्रोध आदि शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभो! **पूर्वपीतये**=जीवन के पूर्वभाग में सोम-रक्षण के लिए **त्वा अभि**=आपका लक्ष्य करके ही **समस्वरन्**=स्तुति-शब्दों का ही उच्चारण करते हैं—आपका स्तवन ही वासनाओं के विनाश के द्वारा हमें सोम-रक्षण के योग्य बनाता है। २. **आयवः**=संसार के व्यवहारों में चलनेवाले गृहस्थ पुरुष भी **स्तोमेभिः**=स्तुति-समूहों के द्वारा आपको ही स्तुत करते हैं। आपका स्तवन ही उन्हें भोगविलास में फँसने से बचाकर आगे बढ़ानेवाला होता है। ३. गृहस्थ से ऊपर उठकर **समीचीनासः**=प्रभु के साथ मिलकर गति करनेवाले (सम् अञ्च) प्रभु-स्मरणपूर्वक सब कार्यों को करनेवाले **ऋभवः**=ज्ञानदीप्त व्यक्ति आपके ही (समस्वरन्=) स्तुतिशब्दों का उच्चारण करते हैं और ४. अन्त में **रुद्राः**= (रुत् र) ज्ञानोपदेश करनेवाले ये परिव्राजक लोग भी **पूर्व्यम्**=पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम आपको ही **गृणन्त**=स्तुत करते हैं। आपका स्तवन ही उन्हें आसक्ति से ऊपर उठाता है।

भावार्थ—प्रभु-स्मरण ही ब्रह्मचारी को सोम-रक्षण के योग्य बनाता है। प्रभु-स्मरण से ही गृहस्थ भोगप्रसक्त नहीं होता। यह प्रभु-स्मरण ही वनस्थ को स्वाध्याय-प्रवृत्त करके दीप्त जीवनवाला बनाता है। यह स्मरण ही संन्यस्त को सब कमियों से दूर रहने में समर्थ करता है।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)** ॥

वृष्ण्यं शवः

अस्येदिन्द्रो वावृधे वृष्ण्यं शवो मदे सुतस्य विष्णवि।
अद्या तमस्य महिमानमायवोऽनु ष्टुवन्ति पूर्वथा॥ २॥

१. **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **सुतस्य अस्य**=उत्पन्न हुए-हुए इस सोम के **विष्णवि मदे**=शरीर में व्याप्त मद (उल्लास) के होने पर **इत्**=ही **वृष्ण्यं शवः**=शक्ति का सेचन करनेवाले—अंग-प्रत्यंग को सशक्त बनानेवाले बल को **वावृधे**=अपने अन्दर बढ़ाता है। २. **आयवः**=गतिशील पुरुष **अस्य**=इस सोम की **तम्**=उस **महिमानम्**=महिमा को **पूर्वथा**=पहले की भाँति **अनुष्टुवन्ति**=स्तुत करते हैं। सोम का महत्त्व वेद में स्थान-स्थान पर उद्गीत हुआ है, सुरक्षित हुआ-हुआ सोम ही उत्कृष्ट जीवन का आधार बनता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम शरीर के सब अंगों को सशक्त बनाता है। सोम की महिमा सदा वेदवाणियों से गाई जाती रही है।

यह सोमी पुरुष उन्नति-पथ पर चलता हुआ अन्य मनुष्यों के साथ मिलकर चलता है, अतः यह 'नृमेध' कहलाता है (मेध संगमे)। इसका जीवन स्वार्थमय नहीं होता। यह 'नृमेध' ही अगले सूक्त का ऋषि है—

१००. [शततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**नृमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

महान् कामनाएँ

अधा हीन्द्र गिर्वण उप त्वा कामान्महः ससृज्महे। उदेव यन्त उदभिः॥ १॥

१. हे **गिर्वणः**=ज्ञान की वाणियों के द्वारा उपासनीय **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **अधा हि**=अब निश्चय से **त्वा उप**=आपके समीप ही **महः कामान्**=इन महान् कामनाओं को **ससृज्महे**=अपने में उत्पन्न करवाते हैं। प्रभु की उपासना—उस महान् प्रभु का सम्पर्क हममें महान् ही कामनाओं को जन्म देता है। २. **इव**=जैसे **उदा यन्तः**=पानी में से जाते हुए पुरुष **उदभिः**=जलों से अपने को संसृष्ट करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—जैसे नदी से जानेवाले पुरुष जलों से संसृष्ट होते हैं, उसी प्रकार महान् प्रभु के सम्पर्कवाले पुरुष महान् कामनाओं से संसृष्ट हो पाते हैं। इनके अन्दर तुच्छ कामनाएँ उत्पन्न ही नहीं होतीं।

ऋषिः—**नृमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

स्तवन से प्रभु-प्रकाश की प्राप्ति

वार्ण त्वा यव्याभिर्वर्धन्ति शूर ब्रह्माणि। वावृध्वांसं चिदद्रिवो दिवेदिवे॥ २॥

१. **न**=जैसे **यव्याभिः**=यवों के क्षेत्रों के उद्देश्य से **वाः**=जलों को **वर्धन्ति**=बढ़ाते हैं। जलों के द्वारा ही यवों ने बढ़ना होता है। एवं, हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **यव्याभिः**=(यु मिश्रणामिश्रणयोः) बुराइयों को पृथक् करने के उद्देश्य से **ब्रह्माणि**=हमारी स्तुतिवाणियाँ **त्वा वर्धन्ति**=आपको बढ़ाती हैं। आपका स्तवन ही हमें बुराइयों से बचाता है। २. हे **अद्रिवः**=आदरणीय व वज्रहस्त प्रभो! **वावृध्वांसं चित्**=सब दृष्टिकोणों से बढ़े हुए भी आपको **दिवे-दिवे**=प्रतिदिन हमारी स्तुति-वाणियाँ बढ़ती हैं। इन स्तुति-वाणियों के द्वारा ही हम आपके प्रकाश को अपने अन्दर अधिक और अधिक बढ़ा पाते हैं।

भावार्थ—स्तवन के द्वारा प्रभु के प्रकाश का अपने अन्दर वर्धन करते हुए हम बुराइयों को अपने जीवन से दूर करें।

ऋषिः—**नृमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

'इन्द्रवाहा-वचोयुजा'

युञ्जन्ति हरी इषिरस्य गाथयोरौ रथ उरुयुगे। इन्द्रवाहा वचोयुजा॥ ३॥

१. **इषिरस्य**=उस सर्वप्रेरक—सबको गति देनेवाले प्रभु की **गाथया**=गुणगाथा के साथ **हरी**=इन्द्रियाश्वों को **उरौ रथे**=इस विशाल शरीर-रथ में **युञ्जन्ति**=जोतते हैं। उस शरीर-रथ में इन्हें जोतते हैं, जोकि **उरुयुगे**=विशाल युगवाला है। मन ही युग है। यह आत्मा व इन्द्रियों को जोड़नेवाला है। २. ये इन्द्रियाश्व **इन्द्रवाहा**=जितेन्द्रिय पुरुष को लक्ष्य की ओर वहन करनेवाले हैं—इस जितेन्द्रिय पुरुष को ये प्रभु के समीप प्राप्त कराते हैं। **वचोयुजा**=वे इन्द्रियाश्व वेदवाणी के अनुसार कार्यों में प्रवृत्त होनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रेरक प्रभु का गुणगान करनेवाला व्यक्ति इन्द्रियाश्वों को शरीर-रथ में वेदवाणी के निर्देश के अनुसार युक्त करके प्रभुरूप लक्ष्य की ओर बढ़ता है।

यह प्रभुरूप लक्ष्य की ओर बढ़नेवाला व्यक्ति 'मेध्यातिथि' बनता है। प्रभु को प्राप्त करके पवित्र प्रभु (मेध्य) का अतिथि होता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

१०१. [एकोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'दूत होता व विश्ववेदस्' अग्नि का वरण

अ॒ग्निं दू॒तं वृ॑णीमहे॒ होता॑रं वि॒श्ववे॑दसम्। अ॒स्य य॒ज्ञस्य॑ सु॒क्रतु॑म्॥ १॥

१. उपासक कहता है कि हम तो **अग्निम्**=उस सब उन्नतियों के साधक प्रभु का ही **वृणीमहे**=वरण करते हैं। वे प्रभु **दूतम्** (दु उपतापे)=हम भक्तों को तपस्या की अग्नि में तपाकर परिपक्व जीवनवाला करते हैं। वह तपस्या की अग्नि ही हमारे जीवनों को शुद्ध बनाती है। २. **होतारम्**=वे प्रभु हमारे लिए उन्नति के साधनभूत सब पदार्थों को प्राप्त कराते हैं। वे प्रभुही तो **विश्ववेदसम्**=सम्पूर्ण धनों के स्वामी हैं। इन धनों के द्वारा **अस्य यज्ञस्य**=हमारे इस जीवन-यज्ञ के **सुक्रतुम्**=उत्तम कर्त्ता हैं। प्रभु-कृपा से ही हमारा जीवन-यज्ञ चलता है। प्रभु-कृपा के अभाव में यह जीवन यज्ञमय नहीं रहता।

भावार्थ—प्रभु 'अग्नि-दूत-होता व विश्ववेदस्' हैं। वे हमारे जीवन-यज्ञ के सुक्रतु हैं। हम प्रभु का ही वरण करते हैं। प्रभु-वरण से आवश्यक प्राकृतिक भोग तो प्राप्त हो ही जाते हैं साथ ही हम प्रकृति में फँसने से होनेवाली दुर्गति से बच जाते हैं।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'पुरु प्रिय' प्रभु का आह्वान

अ॒ग्निम॑ग्निं॒ हवी॑मभिः॒ सदा॑ हवन्त वि॒श्पति॑म्। ह॒व्य॒वाहं॑ पुरुप्रि॒यम्॥ २॥

१. जो भी संसार में समझदारी से चलते हैं वे **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को और **अग्निम्**=उस प्रभु को ही **हवीमभिः**=आह्वान के साधनभूत मन्त्रों से **सदा**=हमेशा **हवन्त**=पुकारते हैं। प्राकृति का चुनाव करने से मनुष्य घाटे में ही रहता है। ठीक-ठीक बात तो यह है कि कुछ अपने ज्ञान को भी खो बैठता है। २. हमें यह भूलना नहीं चाहिए कि प्रभु ही **विश्पतिम्**=सब प्रजाओं के पति—पालक व रक्षक हैं और जब प्रभु रक्षक हैं तब हमें भय किस बात का? वे प्रभु **हव्यवाहम्**=सब हव्य—पवित्र यज्ञिय पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं, वे **पुरुप्रियम्**=पालक व पूरक हैं और अतएव प्रिय हैं। प्रभु को प्राप्त करने पर उपासक को एक ऐसा अवर्णनीय आनन्द प्राप्त होता है कि और सब-कुछ उसे हेय-सा प्रतीत होता है।

भावार्थ—प्रभु 'विश्पति, हव्यवाह व पुरुप्रिय' हैं। हम उस अग्नि नामक प्रभु को पुकारते हैं।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

देवों का आह्वान

अग्ने॑ दे॒वाँ इ॒हा व॑ह जज्ञा॒नो वृ॒क्तब॑र्हिषे। असि॒ होता॑ न॒ ईड्यः॑॥ ३॥

१. हे **अग्ने**=हमारी सम्पूर्ण अग्रगति के साधक प्रभो! **इह**=इस जीवन में **वृक्तबर्हिषे**=जिसने अपने हृदय को वासनाओं से वर्जित (वृक्त) किया है, उस पवित्र हृदय पुरुष के लिए **देवान्**=सब दिव्यगुणों को **आवह**=प्राप्त कराइए। हे प्रभो! **जज्ञानः**=प्रादुर्भूत होते हुए आप हमारे जीवनों में दिव्यगुणों को उत्पन्न करते ही हैं। 'महादेव' के आने पर क्या 'देव' न आएँगे। २. हे प्रभो! आप ही **होता**=सब दिव्यगुणों को पुकारनेवाले हैं अथवा सब अच्छाइयों को आप ही देनेवाले

असि=हैं, अतः आप ही **नः**=हमारे लिए **ईड्यः**=स्तुति के योग्य हैं। आपका यह स्तवन हमारे सामने भी उन दिव्यगुणों की प्राप्तिरूप लक्ष्य को उपस्थित करता है।

भावार्थ—हे प्रभो! हमारे हृदयों में प्रादुर्भूत होते हुए आप सब दिव्यगुणों को प्रादुर्भूत करते हैं। आप ही हमारे लिए सब अच्छाइयों को प्राप्त कराते हैं। आप ही स्तुति के योग्य हैं।

यह प्रभु का स्तोता किसी के साथ द्वेष न करता हुआ सभी का मित्र बनता है। यह 'विश्वामित्र' ही अगले सूक्त का ऋषि है—

१०२. [द्व्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'ईडेन्य-नमस्य' प्रभु

ईडेन्यो नमस्य ॅस्तिरस्तमांसि दर्शतः। समग्निरिध्यते वृषा॥ १॥

१. ये प्रभु **ईडेन्यः**=स्तुति के योग्य, **नमस्यः**=नमस्कार के योग्य हैं। **तमांसि तिरः**=सब अन्धकारों को तिरोभूत करनेवाले हैं और **दर्शतः**=दर्शनीय हैं। हम प्रभु का स्तवन करते हैं तो हमारे अज्ञानान्धकार को नष्ट करते हैं। ज्ञान के प्रकाश में हमें प्रभु का दर्शन होता है। २. ये **वृषा**=शक्तिशाली **अग्निः**=हमें उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले प्रभु **समिध्यते**=स्तवन व नमन के द्वारा हृदयों में समिद्ध किये जाते हैं। प्रभु का दर्शन उन्हीं को होता है जोकि शक्ति का सम्पादन करें (वृषा) तथा उन्नति-पथ पर आगे बढ़ने का प्रयत्न करें (अग्नि)।

भावार्थ—स्तवन व नमन से प्रीणित प्रभु हमारे अज्ञानान्धकार को विनष्ट करते हैं। प्रभु हमें उन्नति-पथ पर ले-चलते हैं और शक्तिशाली बनाते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'हविष्मान्' उपासक

वृषो अग्निः समिध्यतेऽश्वो न देववाहनः। तं हविष्मन्त ईडते॥ २॥

१. **वृषा**=शक्तिशाली **अग्निः**=अग्रणी प्रभु **उ**=ही **समिध्यते**=उपासकों से हृदयों में समिद्ध किये जाते हैं। वे प्रभु **अश्वः न**=अश्व के समान हैं। जैसे एक घोड़ा अपने सवार को लक्ष्यस्थान पर पहुँचाता है, उसी प्रकार प्रभु अपने उपासकों को लक्ष्यस्थान पर पहुँचाते हैं। **देववाहनः**=देवों से ये प्रभु धारण किये जाते हैं। देववृत्ति के पुरुष ही हृदयों में प्रभु का दर्शन करते हैं। २. **तम्**=उस प्रभु को **हविष्मन्तः**=प्रशस्त हविवाले पुरुष ही **ईडते**=पूजते हैं। प्रभु का पूजन हवि से ही होता है। (हविषा विधेम) दानपूर्वक अदन ही प्रभु-पूजन है। यही यज्ञों के द्वारा यज्ञरूप प्रभु का उपासन है।

भावार्थ—यज्ञशील बनकर हम प्रभु का पूजन करते हैं। प्रभु हमें शक्तिशाली व उन्नत बनाकर लक्ष्यस्थान पर पहुँचाते हैं।

ऋषिः—**विश्वामित्रः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

वृषणं, दीद्यतम्, बृहत्

वृषणं त्वा वयं वृषन्वृषणः समिधीमहि। अग्ने दीद्यतं बृहत्॥ ३॥

१. हे **वृषन्**=शक्तिशाली **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! **वृषणं त्वा**=शक्तिशाली आपको **वयम्**=हम **वृषणः**=शक्तिशाली बनते हुए **समिधीमहि**=अपने हृदयों में समिद्ध करते हैं। प्रभु-प्राप्ति का मार्ग यही है कि हम प्रभु-जैसे बनें। प्रभु 'वृषा' हैं—हम भी वृषा=शक्तिशाली बनें। २. वे प्रभु **दीद्यतम्**=देदीप्यमान हैं, **बृहत्**=महान् हैं। हम भी मस्तिष्क में ज्ञान-ज्योति से दीप्त बनने का

प्रयत्न करें तथा हृदयों में महान्—विशाल बनें।

भावार्थ—प्रभु की उपासना करते हुए हम भी प्रभु की भाँति 'शक्तिशाली, ज्ञानी व विशाल हृदय' बनें।

ज्ञानदीप्तिवाला प्रभु का यह उपासक 'सुदीति' बनता है, अपने अन्दर शक्ति का खूब ही सेचन करता हुआ 'पुरुमीढ' होता है। ये 'सुदीति व पुरुमीढ' ही अगले सूक्त में प्रथम मन्त्र के ऋषि हैं। अत्यन्त तेजस्वी बननेवाला 'भर्ग' २-३ मन्त्र का ऋषि है—

१०३. [त्र्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**सुदीतिपुरुमीढौ** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥

सुदीतये छर्दिः

अ॒ग्निमीळि॒ष्वाव॑से॒ गाथा॑भिः शी॒रशो॑चिषम्।
अ॒ग्निं रा॒ये पु॑रुमीढ श्रु॒तं नरो॒ऽग्निं सु॑दी॒तये॑ छ॒र्दिः ॥ १ ॥

१. **अग्निम्**=उस अग्रणी प्रभु को **अवसे**=रक्षण के लिए **गाथाभिः**=स्तुतिवाणियों के द्वारा **ईडिष्व**=उपासित कर। हे **पुरुमीढ**=अपने में शक्ति का खूब ही सेचन करनेवाले उपासक! तू **राये**=ऐश्वर्यप्राप्ति के लिए **शीरशोचिषम्**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाली ज्ञानदीप्तिवाले **श्रुतम्**=उस प्रसिद्ध **अग्निम्**=अग्रणी प्रभु को उपासित कर। २. हे **नर**=मनुष्यो! **अग्निः**=ये अग्रणी प्रभु **सुदीतये**=उत्तम दीप्तिवाले नर के लिए—खूब ज्ञान प्राप्त करनेवाले मनुष्य के लिए **छर्दिः**=शरणस्थान व गृह हैं। इस सुदीति को प्रभु शरण देते हैं।

भावार्थ—हम स्तुतिवाणियों से प्रभु का अर्चन करें। प्रभु ही हमें ऐश्वर्य प्राप्त कराते हैं। प्रभु ही ज्ञानदीप्ति प्राप्त करनेवालों के लिए शरणस्थान होते हैं।

ऋषिः—**भर्गः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥

अग्नियों के साथ 'अग्नि'

अग्न॒ आ या॑ह्य॒ग्निभि॒र्होता॑रं त्वा वृणीमहे।
आ त्वाम॑नक्तु॒ प्रय॑ता ह॒विष्म॑ती॒ यजि॑ष्ठं ब॒र्हिरा॒सदे॑ ॥ २ ॥

१. हे **अग्ने**=अग्रणी प्रभो! आप **अग्निभिः**=उत्तम मातारूप दक्षिणाग्नि, उत्तम पितारूप गार्हपत्याग्नि तथा उत्तम आचार्यरूप आह्वनीय अग्नि के साथ **आयाहि**=हमें प्राप्त होइए। **होतारम्**=सब-कुछ देनेवाले **त्वा**=आपको **वृणीमहे**=हम वरते हैं। आपकी प्राप्ति से सब-कुछ प्राप्त हो ही जाता है। २. **यजिष्ठम्**=अतिशयेन पूजनीय **त्वाम्**=आपको **बर्हिः आसदे**=हृदयासन पर बिठाने के लिए **हविष्मती**=हवि से युक्त यह **प्रयता**=पवित्र वेदवाणी **अनक्तु**=हमारे जीवनों में प्राप्त कराए। यज्ञ व ज्ञान हमें प्रभु के समीप प्राप्त करानेवाले हों।

भावार्थ—उत्तम माता-पिता व आचार्य को प्राप्त करके, ज्ञान को प्राप्त करते हुए, हम प्रभु के समीप पहुँचते हैं। यज्ञों से युक्त पवित्र वेदवाणी हमें प्रभु की समीपता में प्राप्त कराती है।

ऋषिः—**भर्गः** ॥ देवता—**अग्निः** ॥ छन्दः—**सतोबृहती** ॥

'ऊर्जो न पातं-घृतकेशम्' ईमहे

अच्छा॒ हि त्वा॑ सहसः सूनो अङ्गिरः॒ स्रुच॒श्चर॑न्त्यध्व॒रे।
ऊ॒र्जो नपा॑तं घृ॒तके॑शमीमहे॒ऽग्निं य॒ज्ञेषु॑ पू॒र्व्यम् ॥ ३ ॥

१. हे **सहसः सूनो**=बल के पुञ्ज प्रभो! हे **अंगिरः**=सर्वत्र गतिवाले प्रभो! इस **अध्वरे**=जीवन-

यज्ञ में **स्रुचः**=(वाग वै स्रुक् श० ६.३.१.८) ज्ञान की वाणियाँ **हि**=निश्चय से **त्वा अच्छा**=आप की ओर **चरन्ति**=गतिवाली हैं। ये ज्ञान की वाणियाँ हमें आपके समीप प्राप्त कराती हैं। २. हम **यज्ञेषु**=यज्ञों में उस प्रभु को **ईमहे**=आराधित करते हैं—स्तुत करते हैं, जो **ऊर्जः नपातम्**=शक्ति को न गिरने देनेवाले हैं, **घृतकेशम्**=दीप्त ज्ञान की रश्मियोंवाले हैं। **अग्निम्**=अग्रणी हैं और **पूर्व्यम्**=पालन व पूरण करनेवालों में उत्तम हैं।

भावार्थ—इस जीवन-यज्ञ में हम ज्ञान प्राप्त करते हुए प्रभु का उपासन करें। प्रभु हमें शक्ति प्राप्त कराएँगे और ज्ञानदीप्ति देंगे।

पवित्र प्रभु का अतिथि बननेवाला 'मेध्यातिथि' अगले सूक्त के १-२ मन्त्रों का ऋषि है तथा 'नृमेध' (सबके साथ मिलकर चलनेवाला) ३-४ का।

१०४. [चतुरुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (विषमा-बृहती+समा-सतोबृहती)**॥

पावकवर्णाः शुचयः विपश्चितः

इमा उ त्वा पुरूवसो गिरो वर्धन्तु या मम।
पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोऽभि स्तोमैरनूषत॥ १ ॥

१. हे **पुरूवसो**=पालक व पूरक वसुओं-(धनों)-वाले प्रभो! **इमाः याः मम गिरः**=ये जो मेरी वाणियाँ हैं, वे **उ**=निश्चय से **त्वा वर्धन्तु**=आपका वर्धन करनेवाली हों। हम सदा आपका ही स्तवन करें। २. **पावकवर्णाः**=अग्नि के समान वर्णवाले—तेजस्वी **शुचयः**=पवित्र मनोंवाले, **विपश्चितः**=ज्ञानी पुरुष ही **स्तोमैः**=स्तुतियों के द्वारा आपका **अभि अनूषत**=प्रातः-सायं (दिन के दोनों ओर) स्तवन करते हैं। वस्तुतः आपके स्तवन से ही वे 'पावकवर्ण, शुचि व विपश्चित्' बनते हैं।

भावार्थ—हम सदा प्रभु का स्तवन करें। यह स्तवन हमें शरीरों में अग्नि के समान तेजस्वी, मनों में पवित्र व मस्तिष्क में ज्ञानोज्ज्वल बनाएगा।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (विषमा-बृहती+समा-सतोबृहती)**॥

यज्ञेषु-विप्रराज्ये

अयं सहस्रमृषिभिः सहस्कृतः समुद्रइव पप्रथे।
सत्यः सो अस्य महिमा गृणे शवो यज्ञेषु विप्रराज्ये॥ २ ॥

१. **अयम्**=ये प्रभु **ऋषिभिः**=तत्त्वद्रष्टा पुरुषों से **सहस्रम्**=आनन्दपूर्वक **सहस्कृतः**=अपना बल बनाया जाता है, अर्थात् ऋषि लोग प्रभु को हृदयों में धारण करते हुए प्रभु के बल से अपने को बल-सम्पन्न बनाते हैं। ये प्रभु **समुद्रः इव**=समुद्र के समान **पप्रथे**=विस्तृत हैं। समुद्र अनन्त-सा प्रतीत होता है—प्रभु हैं ही अनन्त। २. **सः**=वह **अस्य**=इसकी **महिमा**=महिमा **सत्यः**=सत्य है कि **यज्ञेषु**=यज्ञों और **विप्रराज्ये**=ज्ञानियों के राज्य में **शवः गृणे**=इस प्रभु के बल का स्तवन होता है। वे प्रभु स्तुत्य बलवाले हैं। प्रभु का यह बल यज्ञों व ज्ञानयज्ञों का रक्षण करता है।

भावार्थ—ऋषि प्रभु को ही अपना बल बनाते हैं। प्रभु सर्वव्यापक हैं। प्रभु के बल का सर्वत्र यज्ञों में व ज्ञानयज्ञों में स्तवन होता है।

ऋषिः—**नृमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (विषमा-बृहती+समा-सतोबृहती)** ॥

ब्रह्माणि सवनानि (उप)

आ नो॑ विश्वा॑सु हव्य॒ इन्द्रः॑ स॒मत्सु॑ भूषतु।
उप॒ ब्रह्मा॑णि॒ सव॑नानि वृत्र॒हा प॑रम॒ज्या ऋची॑षमः॥ ३॥

१. **इन्द्रः**=वह शत्रुसंहारक प्रभु **विश्वासु समत्सु**=सब संग्रामों में **हव्यः**=पुकारने योग्य होते हैं। वे प्रभु **नः**=हमें **आभूषतु**=अलंकृत करनेवाले हों। प्रभु को अपने हृदयों में आसीन करके ही हम शत्रुओं का संहार कर पाते हैं। २.वे प्रभु सदा **ब्रह्माणि**=ज्ञानपूर्वक की गई स्तुतिवाणियों के साथ तथा **सवनानि**=यज्ञों के **उप**=समीप प्राप्त होते हैं, अर्थात् प्रभु उसी व्यक्ति को प्राप्त होते हैं जो अपने जीवन को स्तुतिमय व यज्ञमय बनाता है। वे प्रभु **वृत्रहा**=ज्ञान की आवरणभूत वासना का विनाश करते हैं। **परमज्या**=(परमान् जिनाति) अत्यन्त प्रबल शत्रुओं को भी समाप्त करनेवाले हैं। **ऋचीषमः**(स्तुत्या समः)=स्तुतियों से अभिमुखीकरणीय होते हैं। जितना-जितना हम प्रभु-स्तवन करते हैं, उतना-उतना ही प्रभु के समीप होते हैं।

भावार्थ—सब संग्रामों में प्रभु ही हमें विजयी बनाते हैं। वे ही हमारे जीवनों को अलंकृत करते हैं। ज्ञान व यज्ञ के द्वारा हम प्रभु को समीपता से प्राप्त होते हैं। प्रभु ही हमारे शत्रुओं का विनाश करते हैं।

ऋषिः—**नृमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (विषमा-बृहती+समा-सतोबृहती)** ॥

राधसां प्रथमः दाता

त्वं दा॒ता प्र॑थ॒मो राध॑साम॒स्यसि॑ स॒त्य ई॑शान॒कृत्।
तु॒वि॒द्यु॒म्नस्य॒ युज्या वृ॑णीमहे पु॒त्रस्य॒ शव॑सो म॒हः॥ ४॥

१. हे प्रभो! **त्वम्**=आप **राधसाम्**=ऐश्वर्यों के **प्रथमः दाता असि**=सर्वमुख्य दाता हैं। आप **सत्यः असि**=सत्यस्वरूप हैं। **ईशानकृत्**=स्तोताओं को ऐशवर्यों का ईशान बनानेवाले हैं। २. **तुविद्युम्नस्य**=महान् ज्ञानज्योतिवाले **शवसः पुत्रस्य**=बल के पुञ्ज—सर्वशक्तिमान् **महः**=महान् आपके **युज्या**=संगतिकरण योग्य, अर्थात् उत्तम धनों को **आवृणीमहे**=हम वरते हैं। हम प्रभु से देय धनों की ही कामना करते हैं।

भावार्थ—प्रभु ही सर्वमुख्य ऐश्वर्यों के दाता हैं। उस महान् ज्ञानज्योतिवाले, सर्वशक्तिमान् प्रभु के धनों का ही हम वरण करते हैं।

अगले सूक्त के प्रथम तीन मन्त्रों का ऋषि भी 'नृमेध' ही है। ४-५ का पुरुहन्मा=शत्रुओं का खूब ही विनाश करनेवाला—

१०५. [पञ्चोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**नृमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती)** ॥

अशस्तिहा-विश्वतूः

त्वमि॑न्द्र प्र॒तूर्ति॑ष्व॒भि विश्वा॑ असि॒ स्पृधः॑।
अ॒श॒स्ति॒हा ज॑नि॒ता वि॑श्व॒तूर॑सि॒ त्वं तू॑र्य तरुष्य॒तः॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं का संहार करनेवाले प्रभो! **त्वम्**=आप **प्रतूर्तिषु**=संग्रामों में **विश्वाः**=सब **स्पृधः**=स्पर्धाकारिणी शत्रुसेनाओं को **अभि असि**=अभिभूत करनेवाले हैं। २. आप **अशस्तिहा**=इन शत्रुओं से की जानेवाली हिंसाओं के हन्ता हैं। **जनिता**=इन शत्रुओं की हिंसा को पैदा करनेवाले

हैं। हमें शत्रुओं के हिंसन के योग्य बनाते हैं। हमें इनसे हिंसित नहीं होने देते। **विश्वतूः असि**=सब शत्रुओं का हिंसन करनेवाले आप ही हैं। **त्वम्**=आप ही **तरुष्यतः**=हिंसन करनेवालों को **तूर्य**=विनष्ट कीजिए।

भावार्थ—प्रभु ही संग्रामों में हमारे शत्रुओं का पराभव करते हैं। सब हिंसकों का हिंसन प्रभु ही करते हैं।

ऋषिः—**नृमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती)**॥

'वृत्र-विनाश से सब शत्रुओं को विनाश'

अनु ते शुष्मं तुरयन्तमीयतुः क्षोणी शिशुं न मातरा।
विश्वास्ते स्पृधः श्नथयन्त मन्यवे वृत्रं यदिन्द्र तूर्वसि॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! आपके **तुरयन्तम् शुष्मम्**=शत्रुओं का संहार करनेवाले बल का **क्षोणी**=द्यावापृथिवी **अनु ईयतुः**=अनुगमन करते हैं, **नः**=जैसे **मातरा शिशुम्**=माता-पिता प्रेम-वश छोटे बच्चे के पीछे चलते हैं। प्रभु के बल से ही वस्तुतः सब अपने शत्रुओं का विनाश कर पाते हैं। २. **ते मन्यवे**=आपके क्रोध के लिए **विश्वाः स्पृधः**=सब शत्रुसैन्य **श्नथयन्त**=श्नथित (हिंसित) व खिन्न हो जाते हैं। **यत्**=जब आप **वृत्रम्**=वृत्र को—ज्ञान के आवरणभूत 'काम' को **तूर्वसि**=विध्वस्त कर देते हैं। वृत्र का विनाश होने पर सब शत्रुसैन्य ढीले पड़ जाते हैं।

भावार्थ—सम्पूर्ण संसार प्रभु की शक्ति का ही अनुगमन करता है। प्रभु के मन्यु के सामने सब शत्रु शिथिल हो जाते हैं। प्रभु ही वृत्र का विनाश करते हैं।

ऋषिः—**नृमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥

'तुग्र्यावृध' प्रभु

इत ऊती वो अजरं प्रहेतारमप्रहितम्।
आशुं जेतारं हेतारं रथीतममतूर्तं तुग्र्यावृधम्॥ ३॥

१. **वः**=तुम्हारे **अजरम्**=जरा को दूर करनेवाले (न जरा यस्मात्) **प्रहेतारम्**=शत्रुओं को दूर प्रेरित करनेवाले, **अप्रहितम्**=किसी भी दूसरे से प्रेरित न किये जानेवाले, **आशुम्**=वेगवान्, **जेतारम्**=शत्रुओं को पराजित करनेवाले, **हेतारम्**=शत्रुओं को कम्पित करके दूर करनेवाले प्रभु को **ऊती**=रक्षण के लिए **इतः**=ये द्यावापृथिवी प्राप्त होते हैं, अर्थात् प्रभु ही सबका रक्षण करते हैं। २. उस प्रभु को रक्षा के लिए सब प्राप्त होते हैं, जो **रथीतमम्**=हमारे शरीर-रथों के सर्वोत्तम संचालक हैं। **अतूर्तम्**=किसी से हिंसित होनेवाले नहीं तथा **तुग्र्यावृधम्**=शरीरस्थ रेतःकणरूप जलों का वर्धन करनेवाले हैं। वस्तुतः शत्रुओं का हिंसन करके शरीर में शक्तियों के वर्धन के द्वारा ही प्रभु हमारा रक्षण करते हैं।

भावार्थ—सम्पूर्ण द्यावापृथिवी रक्षण के लिए प्रभु को ही प्राप्त होते हैं। प्रभु शत्रुओं का हिंसन करके हमारा रक्षण करते हैं। वे रेतःकणरूप जलों का हममें वर्धन करते हैं।

ऋषिः—**पुरुहन्मा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती)**॥

'ज्येष्ठ वृत्रहा' प्रभु

यो राजा चर्षणीनां याता रथेभिरध्रिगुः।
विश्वासां तरुता पृतनानां ज्येष्ठो यो वृत्रहा गृणे॥ ४॥

१. मैं उस प्रभु का **गृणे**=स्तवन करता हूँ **यः**=जोकि **चर्षणीनां राजा**=श्रमशील मनुष्यों के

जीवन को दीप्त बनानेवाला है। **रथेभिः याता**=शरीररूप रथों से प्राप्त होनेवाला है, अर्थात् शरीररूप उत्तम रथों को हमारे लिए देते हैं। **अध्रिगुः**=अधृतगमनवाला है—प्रभु को अपने कार्यों में कोई विहत नहीं कर पाता। २. ये प्रभु ही **विश्वासाम्**=सब **पृतनानाम्**=शत्रुसैन्यों के **तरुता**=तैर जानेवाले है। सब शत्रुओं से वे प्रभु हमें पार करनेवाले हैं। वे प्रभु **ज्येष्ठः**=प्रशस्यतम हैं **यः**=जो **वृत्रहा**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को विनष्ट करनेवाले हैं।

भावार्थ—प्रभु ही हमें उत्तम शरीर-रथ प्राप्त कराते हैं और हमारे जीवनों को दीप्त करते हैं।

ऋषिः—**पुरुहन्मा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (सतोबृहती)**॥

वज्रः-सूर्यः

इन्द्र॒ तं शु॑म्भ पुरुहन्मन्नव॑से॒ यस्य॑ द्वि॒ता वि॑ध॒र्तरि॑।
हस्ता॑य॒ वज्रः॒ प्रति॑ धायि दर्श॒तो म॒हो दि॒वे न सूर्यः॑॥ ५॥

१. हे **पुरुहन्मन्**=शत्रुओं का खूब ही हनन करनेवाले जीव! तू **तम्**=उस **इन्द्रम्**=शत्रु-विद्रावक प्रभु को **अवसे**=रक्षण के लिए **शुम्भ**=अपने जीवन में अलंकृत कर। उस प्रभु को अलंकृत कर **यस्य**=जिसके **द्विता**=दोनों का विस्तार है—उस प्रभु की शक्ति भी अनन्त विस्तारवाली है और ज्ञान भी। प्रभु को धारण करने पर हम भी ज्ञान व शक्ति प्राप्त करेंगे। २. उस **विधर्तरि**=विशेषरूप से धारण करनेवाले प्रभु में **हस्ताय** (हननाय)=शत्रु-संहार के लिए **दर्शतः**=दर्शनीय **महः**=महान् **वज्रः**=वज्र **प्रतिधायि**=धारण किया जाता है **न**=(चार्थे) और **दिवेः**=प्रकाश के लिए **सूर्यः**=सूर्य धारण किया जाता है। 'वज्र' शत्रु-संहार की शक्ति का प्रतीक है और 'सूर्य' ज्ञान का।

भावार्थ—हम अपने जीवनों में प्रभु का धारण करें। प्रभु शत्रुहनन के लिए वज्र का धारण करते हैं और प्रकाश के लिए सूर्य का। प्रभु का धारण हमें शक्ति व प्रकाश प्राप्त कराएगा।

ज्ञान के धारण करनेवाले हम 'गोषूक्ति' बनेंगे, अर्थात् हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ उत्तम ही कथन करेंगी तथा शक्ति को धारण करनेवाले हम 'अश्वसूक्ति' होंगे। ये ही अगले सूक्त के ऋषि हैं—

१०६. [षडुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**उष्णिक्**॥

शुष्म-क्रतु-वज्र-इन्द्रिय

तव॒ त्यदि॑न्द्रि॒यं बृ॒हत्तव॒ शुष्म॑मु॒त क्रतु॑म्। वज्रं॑ शिशाति धि॒षणा॒ वरे॑ण्यम्॥ १॥

१. हे उपासक! **तव**=तेरी **धिषणा**=यह स्तुति **त्यत्**=उस **इन्द्रियम्**=इन्द्रियों की शक्ति को **शिशाति**=तीक्ष्ण करती है **उत**=और यह स्तुति **तव**=तेरे **बृहत्**=वृद्धि के कारणभूत **शुष्मम्**=शत्रु-शोषक बल को और **क्रतुम्**=प्रज्ञान को बढ़ाती है। २. 'इन्द्रियशक्ति, शत्रुशोषक बल व प्रज्ञान' का वर्धन करती हुई यह स्तुति **वरेण्यम्**=वरणीय—चाहने योग्य **वज्रम्**=क्रियाशीलता को बढ़ानेवाली होती है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन से हमारा जीवन 'शक्ति, ज्ञान व क्रियाशीलता' वाला होता है। यह स्तुति हमारी इन्द्रियों की शक्ति का वर्धन करती है।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥

'द्युलोक, पृथिवी, समुद्र व पर्वतों' द्वारा प्रभु-स्तवन

तव द्यौरिन्द्र पौंस्यं पृथिवी वर्धति श्रवः। त्वामापः पर्वतासश्च हिन्विरे॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **द्यौः**=यह द्युलोक **तव**=आपके **पौंस्यम्**=बल को **वर्धति**=बढ़ाता है। यह द्युलोक आपकी शक्ति की सूचना देता है। **पृथिवी**=यह पृथिवी भी **श्रवः**=आपके यश को बढ़ाती है। यह आपकी महिमा का स्तवन करती है। २. **आपः**=ये जल **पर्वतासः च**=और पर्वत **त्वाम् हिन्विरे**=आपको ही प्राप्त करते हैं। इन समुद्रस्थ अनन्त-से जलों को व गगनचुम्बी पर्वतशिखरों को देखकर आपकी महिमा का ही स्मरण होता है।

भावार्थ—यह 'आकाश, पृथिवी, समुद्र, जल व पर्वत' सभी प्रभु की महिमा का प्रकाश कर रहे हैं।

ऋषिः—गोषूक्त्यश्वसूक्तिनौ ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—उष्णिक् ॥

सच्चे उपासक का जीवन

त्वां विष्णुर्बृहन्क्षयो मित्रो गृणाति वरुणः। त्वां शर्धो मदत्यनु मारुतम्॥ ३॥

१. हे प्रभो! वास्तव में **त्वाम्**=आपका **गृणाति**=स्तवन वही करता है जोकि **विष्णुः**=व्यापक व उदारवृत्तिवाला बनता है, **बृहन्**=अपनी शक्तियों का वर्धन करता है, **क्षयः**=उत्तम निवास व गतिवाला बनता है 'क्षि निवासगत्योः' **मित्रः**=सबके प्रति स्नेहवाला होता है और **वरुणः**=द्वेष का निवारण करनेवाला होता है। प्रभु का वास्तविक स्तवन तो यही है कि हम इसप्रकार के जीवनवाले बनें। २. हे प्रभो! **त्वाम्**=आपकी **अनु**=अनुकूलता करता हुआ यह **मारुतं शर्धः**=प्राणों का बल **मदति** (मादयति)=आनन्द का अनुभव कराता है। प्राणसाधना से चित्तवृत्ति की एकाग्रता होकर प्रभु में प्रीति बढ़ती है, तब एक अद्भुत आनन्द का अनुभव होता है।

भावार्थ—प्रभु का उपासक 'विष्णु, बृहत्, क्षय, मित्र व वरुण' बनने का प्रयत्न करता है। यह प्राणसाधना करता हुआ, चित्तवृत्ति की एकाग्रता के द्वारा, प्रभु-प्राप्ति का आनन्द पाता है।

यह उपासक प्रभु का प्रिय 'वत्स' बनता है। यह अगले सूक्त में १-३ का ऋषि है। खूब ज्ञान के प्रकाशवाला 'बृहद् दिवः' कहलाता है। यह ४-१२ मन्त्रों तक का ऋषि है १३-१४ का ब्रह्मा और वासनाओं का पूर्ण संहार करनेवाला 'कुत्स' १५ वें मन्त्र का ऋषि है—

१०७. [सप्तोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—वत्सः ॥ देवता—इन्द्रः ॥ छन्दः—गायत्री ॥

प्रभु का विनम्र प्रिय शिष्य

समस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त कृष्टयः। समुद्रायेव सिन्धवः॥ १॥

१. **अस्य मन्यवे**=इस प्रभु के ज्ञान के लिए **विश्वाः**=सब **विशः**=संसार में प्रवेश करनेवाली **कृष्टयः**=श्रमशील प्रजाएँ **सन्नमन्त**=इसप्रकार नतमस्तक होती हैं, **इव**=जिस प्रकार **समुद्राय**=समुद्र के लिए **सिन्धवः**=नदियाँ। २. नदियाँ निम्नमार्ग से जाती हुई समुद्र को प्राप्त करती हैं। इसी प्रकार प्रजाएँ नम्रता को धारण करती हुईं प्रभु से दिये जानेवाले ज्ञान को प्राप्त करती हैं। ज्ञान-प्राप्ति के लिए नम्रता ही तो मुख्य साधन है 'तद् विद्धि प्रणिपातेन'।

भावार्थ—हम नम्रता को धारण करते हुए प्रभु से दिये जानेवाले वेदज्ञान को प्राप्त करें।

ऋषिः—**वत्सः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

ज्ञान+शक्ति=ओजस्विता

ओजस्तदस्य तित्विष उभे यत्समवर्तयत्। इन्द्रश्चर्मेव रोदसी ॥ २ ॥

१. **इन्द्रः**=एक जितेन्द्रिय पुरुष **चर्म इव**=चर्म की भाँति **यत्**=जब **उभे रोदसी**=दोनों द्यावापृथिवी को **समवर्तयत्**=ओढ़ (Wrap up) लेता है, अर्थात् मस्तिष्करूप द्युलोक तथा शरीररूप पृथिवीलोक दोनों का धारण करता है, **तत्**=तब **अस्य ओजः**=इस जितेन्द्रिय पुरुष का ओज (शक्ति) **तित्विषे**=चमक उठता है। २. ओजस्विता केवल शरीर की शक्ति से नहीं, अपितु मस्तिष्क का ज्ञान होने पर भी चमकती है। 'शरीर की शक्ति व मस्तिष्क का ज्ञान' दोनों के ही धारण की आवश्यकता है। ये दोनों सम्मिलितरूप से धारण किये जाने पर इस रूप में हमारे रक्षक होते हैं, जैसेकि एक ढाल (चर्म)। जैसे एक योद्धा ढाल के द्वारा अपने को शत्रु के प्रहार से बचाता है, इसप्रकार उपासक को 'शक्ति व ज्ञान' रोग व वासनारूप शत्रुओं से बचाते हैं।

भावार्थ—शरीर की शक्ति व मस्तिष्क का ज्ञान—दोनों को सम्मिलितरूप से धारण करने पर हम ओजस्वी बनते हैं। यह ओजस्विता ही हमारा रक्षण करनेवाली ढाल बनती है।

ऋषिः—**वत्सः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'शतपर्व वृष्णि' वज्र

वि चिद् वृत्रस्य दोधतो वज्रेण शतपर्वणा। शिरो बिभेद वृष्णिना ॥ ३ ॥

१. गतमन्त्र में वर्णित **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष **दोधतः**=(दुध to kill) हमारा विनाश करनेवाले ज्ञान की आवरणभूत वासना के **शिरः**=सिर को **चित्**=निश्चय से **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूप वज्र के द्वारा **बिभेद**=विदारण कर देता है। क्रियाशीलता हमपर वासना का आक्रमण नहीं होने देती। २. यह क्रियाशीलतारूप वज्र **वृष्णिना**=बड़ा प्रबल है—हममें शक्ति का सेचन करनेवाला है तथा **शतपर्वणा**=शतवर्षपर्यन्त हमारा पूरण करनेवाला है। वस्तुतः क्रियाशीलता से ही शक्ति बनी रहती है और सौ वर्ष का पूर्ण जीवन प्राप्त होता है।

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष क्रियाशील बना रहकर वासना का विनाश करनेवाला बनता है। इससे वह शक्ति-सम्पन्न व शतवर्षपर्यन्त जीवनवाला होता है।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ज्येष्ठ ब्रह्म

तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः।
सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रूननु यदेनं मदन्ति विश्व ऊमाः ॥ ४ ॥

१. **तत्**=वे ब्रह्म **इत्**=ही **भुवनेषु**=सब भुवनों में—सम्पूर्ण ब्राह्माण्ड में **ज्येष्ठं आस**=सर्वश्रेष्ठ हैं। **यतः**=जिस ब्रह्म से **उग्रः**=तेजस्वी **त्वेषनृम्णः**=दीप्त बलवाला यह आदित्य **जज्ञे**=उत्पन्न हुआ है। प्रभु इस द्युलोक में देदीप्यमान सूर्य को उदित करते हैं। इसी प्रकार हमारे मस्तिष्करूप द्युलोक में भी ज्ञान का सूर्य प्रभु के द्वारा उदित किया जाता है। २. यह सूर्य **जज्ञानः**=प्रादुर्भूत होता हुआ **सद्यः**=शीघ्र ही **शत्रून्**=शत्रुभूत अन्धकारों को **निरिणाति**=नष्ट करता है। मस्तिष्क में उदित होनेवाला ज्ञानसूर्य अज्ञानान्धकार को नष्ट करनेवाला होता है। अज्ञानान्धकार के नाश के द्वारा **विश्वे ऊमाः**=अपना रक्षण करनेवाले सब प्राणी **यम्**=जिसके **अनुमदन्ति**=पीछे उल्लास का अनुभव करते हैं। जितना-जितना प्रभु का उपासन करते हैं, उतना-उतना एक रस का अनुभव लेते हैं।

भावार्थ—प्रभु के उपासन से ज्ञानसूर्य का उदय होता है—वासनान्धकार का विनाश होता है और प्रभु-प्राप्ति के आनन्द का अनुभव होता है।

ऋषि:—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'शक्ति-पुञ्ज' प्रभु

वावृधानः शवसा भूर्योजाः शत्रुर्दासाय भियसं दधाति।
अव्यनच्च व्यनच्च सस्नि सं ते नवन्त प्रभृता मदेषु॥ ५॥

१. वे प्रभु **शवसा वावृधानः**=बल से खूब बढ़े हुए हैं। **भूरि ओजाः**=अतिशयित ओजवाले हैं। **शत्रुः**=हमारी वासनाओं का शातन करनेवाले हैं। **दासाय**=(दसु उपक्षये) हमारी शक्तियों को क्षीण करनेवाले काम, क्रोध के लिए **भियसं दधाति**=भय को धारण करते हैं। जहाँ भी महादेव के नाम का उच्चारण होता हो वहाँ कामदेव आने से भयभीत होते ही हैं। २. वे प्रभु **अवयनत्**=श्वास (प्राण) न लेनेवाले स्थावर पदार्थों को **च**=तथा **व्यनत्**=विशेषरूप से प्राणों को धारण करनेवाले जंगम प्राणियों को **सस्नि**=शुद्ध करनेवाले हैं। **ते**=आपके **मदेषु**=आनन्दों में **प्रभृता**=धारण किये हुए सब प्राणी **संनवन्त**=सम्यक् स्तवन करते हैं (नु स्तुतौ), अथवा आपकी ओर गतिवाले होते हैं (नव गतौ)।

भावार्थ—प्रभु अनन्त शक्तिवाले हैं। हमारे शत्रुओं को भयभीत करके हमसे दूर करते हैं। सबका शोधन करते हैं। उपासक प्रभु-प्राप्ति के आनन्द में निरन्तर प्रभु का स्तवन करते हैं।

ऋषि:—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रभु में जीवन का शोधन

त्वे क्रतुमपि पृञ्चन्ति भूरि द्विर्यदेते त्रिर्भवन्त्यूमाः।
स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सृजा समदः सु मधु मधुनाभि योधीः॥ ६॥

१. **विश्वे**=सब उपासक **त्वे**=आपमें ही—आपकी उपासना में ही **क्रतुम्**=ज्ञानों, कर्मों व संकल्पों को **अपि पृञ्चन्ति**=संपृक्त करते हैं, (purify पवित्र करते हैं)। २. **एते**=ये **ऊमाः**=आपके सम्पर्क द्वारा अपने मलों का प्रक्षालण करके अपना रक्षण करनेवाले लोग **यत्**=जब **द्विः भवन्ति**=दो बार होते हैं, अर्थात् प्रातः-सायं आपके ध्यान में बैठते हैं, अथवा **त्रिः** (भवन्ति)=तीन बार (प्रातः, मध्याह्न व सायं) आपकी उपासना में स्थित होते हैं तो **स्वादोः स्वादीयः**=स्वादु से भी स्वादु, अर्थात् मधुरतम आप इस उपासक के जीवन को **स्वादुना सृजा**=माधुर्य से संसृष्ट करते हैं। ३. **अदः**=इस उपासक के **सुमधु**=उत्तम मधुर जीवन को **मधुना**=और अधिक माधुर्य से **अभियोधीः**=वासनाओं के साथ युद्ध के द्वारा संगत करते हैं। वासनाओं को विनष्ट करके इस उपासक के जीवन को आप अधिक मधुर बनाते हैं। ४. सायणाचार्य के अनुसार 'द्विः भवन्ति' का भाव यह है कि जब ये गृहस्थ बनकर एक से दो होते हैं, तथा 'त्रिः भवन्ति' का भाव यह है कि जब इन्हें सन्तान प्राप्त होते हैं और ये दो से तीन हो जाते हैं। इसप्रकार गृहस्थ बनकर ये आपके उपासक बने ही रहें और आप इनके गृहस्थ जीवन को मधुर-ही-मधुर बनाइए।

भावार्थ—प्रभु की उपासना के द्वारा हम अपने कर्मों व संकल्पों को पवित्र करें। दो बार व तीन बार प्रभु-चरणों में बैठने का नियम बनाये। प्रभु हमारे जीवनों को मधुर बनाएँगे।

सूचना—तीन बार प्रभु-चरणों में बैठने का भाव इस रूप में लेना चाहिए कि हम 'बाल्य, यौवन व वार्धक्य' रूप 'प्रातः, मध्याह्न व सायन्तन' सवन में प्रभु-चरणों में बैठनेवाले बनें।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

धन के साथ प्रभु-स्मरण

यदि चिन्नु त्वा धना जयन्तं रणेरणे अनुमदन्ति विप्राः।
ओजीयः शुष्मिन्त्स्थिरमा तनुष्व मा त्वा दभन्दुरेवासः कशोकाः॥ ७॥

१. **यदि चत् नु**=यदि निश्चय से अब **रणे रणे**=प्रत्येक संग्राम में **धना जयन्तं त्वा**=धनों का विजय करानेवाले आपको **विप्राः**=ये ज्ञानी पुरुष **अनुमदन्ति**=प्रतिदिन स्तुत करते हैं तो हे **शुष्मिन्**=शत्रु-शोषक बलोंवाले प्रभो! इन उपासकों में **ओजीयः**=ओजस्विता से पूर्ण **स्थिरम्**=स्थिर धन को **आतनुष्व**=विस्तृत कीजिए। वस्तुतः प्रभु-उपासना होने पर धन के विजय का अहंकार नहीं होता, विषयों की ओर झुकाव न होकर ओजस्विता बनी रहती है तथा धन का विषयों में विनाश भी नहीं हो जाता। २. हे प्रभो! इन धनों के कारण **दुरेवाः**=दुर्गमनवाले **कशोकाः**=विनाशक भाव (to destroy) अथवा अभिमान के प्रलाप (to serend) **त्वा मा दभन्**=आपके स्मरण को हमारे हृदयों से हिंसित न कर दें। हम धनों के गर्व में अभिमानयुक्त होकर घातपात की क्रियाओं में न लग जाएँ।

भावार्थ—हम धनों को प्रभु से प्राप्त कराया जाता हुआ जानें। ये धन हमारी ओजस्विता व चित्तवृत्ति की स्थिरता को नष्ट करनेवाले न हों। धनों के अहंकार में विषय-प्रवण होकर हम प्रभु को भूल ही न जाएँ।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रभु की उपासना के द्वारा शत्रु-विजय

त्वया वयं शाशद्महे रणेषु प्रपश्यन्तो युधेन्यानि भूरि।
चोदयामि त आयुधा वचोभिः सं ते शिशामि ब्रह्मणा वयांसि॥ ८॥

१. हे प्रभो! **वयम्**=हम **रणेषु**=संग्रामों में **त्वया**=आपके साथ **प्रपश्यन्तः**=अच्छी प्रकार से देखते हुए—ज्ञान को प्राप्त करते हुए **युधेन्यानि**=युद्ध करने योग्य 'काम, क्रोध, लोभ' आदि आसुरभावों को **भूरि**=खूब ही **शाशद्महे**=नष्ट करनेवाले हों। हमारे अन्दर छिपकर रहनेवाले काम-क्रोध आदि शत्रुओं को हम अवश्य विनष्ट करनेवाल हों। २. **ते**=आपसे दिये हुए **आयुधा**='इन्द्रिय, मन व बुद्धि' रूप अस्त्रों को **वचोभिः**=आपके वेद में दिये गये वचनों (निर्देशों) के अनुसार **चोदयामि**=प्रेरित करता हूँ। **ते ब्रह्मणा**=आपके इस वेदज्ञान व स्तवन से **वयांसि**=मैं अपने 'बाल्य, यौवन व वार्धक्य' में विभक्त जीवनों को **संशिशामि**=तीव्र करता हूँ। मैं अपनी शक्ति व बुद्धि को तीव्र बनाता हूँ और इसप्रकार वासनारूप शत्रुओं को विनष्ट करनेवाला होता हूँ।

भावार्थ—प्रभु से मिलकर हम वासनारूप शत्रुओं को युद्ध में पराजित करें। इस युद्ध के लिए ज्ञान की वाणियों के द्वारा 'इन्द्रिय, मन व बुद्धि' रूप अस्त्रों को तीव्र करें।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'अवर व पर' धन

नि तद्दधिषेऽवरे परे च यस्मिन्नाविथावसा दुरोणे।
आ स्थापयत मातरं जिगत्नुमत इन्वत कर्वराणि भूरि॥ ९॥

१. हे प्रभो! **यस्मिन् दुरोणे**=जिस यज्ञशील पुरुष के इस शरीररूप गृह में **अवसा**

(protection, food, wealth) रक्षण के द्वारा, उत्तम भोजन के द्वारा तथा न्याय्य धनों के द्वारा आविथ=आप रक्षण करते हो तत्=उस शरीरगृह को आप अवरे=निचले शक्तिरूप धन में च=तथा परे=उत्कृष्ट ज्ञान-धन में निदधिषे=निश्चय से स्थापित करते हो। यह बल-(क्षत्र)-रूप धन हमें रोगों से बचाता है और ज्ञान-(ब्रह्म)-रूप धन वासनाओं से आक्रान्त नहीं होने देता। २. हे प्रभो! आपका हमें यही उपदेश है कि जिगत्नुम्=गतिशील बनानेवाली मातरम्=वेदमाता को आस्थापयत=अपने में स्थापित करो, अतः=इस वेदमाता के अपने में स्थापन से भूरि=खूब ही कर्वराणि=कर्मों को इन्वत=व्याप्त करो। वस्तुतः यह वेदमाता उसी प्रकार हमें कर्मों की प्रेरणा देती है जैसे एक माता अपने शिशु को।

भावार्थ—प्रभु हमें शक्ति व ज्ञान प्राप्त कराते हैं। प्रभु इस वेदमाता के द्वारा हमें कर्मों की प्रेरणा देते हैं।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु की उपासना से शत्रु-विनाश

स्तुष्व वर्ष्मन्पुरुवर्त्मानं समृभ्वाणमिनतममाप्तमाप्त्यानाम्।
आ दर्शति शवसा भूर्योजाः प्र सक्षति प्रतिमानं पृथिव्याः ॥ १० ॥

१. वेदमाता यह प्रेरणा देती है कि हे वर्ष्मन्=सुन्दर आकृतिवाले पुरुष! तू उस प्रभु का संस्तुष्व=सम्यक् स्तवन कर, जो पुरुवर्त्मानम्=पालक व पूरक मार्गोंवाले हैं—प्रभु की ओर ले-जानेवाले मार्ग कभी भी तुम्हारा विनाश नहीं करेंगे। ऋभ्वाणम्=(उरुभासमानम्) वे प्रभु खूब ही ज्ञान की दीप्तिवाले हैं। इनतमम्=सर्वमहान् स्वामी हैं। आप्त्यानाम् आप्तम्=विश्वसनियों में विश्वसनीय हैं। प्रभु का भरोसा करनेवाला कभी धोखा नहीं खाता। २. वे भूर्योजाः=अनन्त ओजस्वी प्रभु शवसा=बल के द्वारा आदर्शति=शत्रुओं को विदीर्ण करते हैं (दृ विदारणे)। प्रसक्षति=वे प्रभु ही शत्रुओं का पराभव करते हैं—इनका मर्षण व विनाश करते हैं। वे पृथिव्याः प्रतिमानम्=सम्पूर्ण पृथिवी के प्रतिमान हैं—(adversary) सारे संसार की शक्ति भी प्रभु को पराभूत नहीं कर सकती। प्रभु को धारण करने से तुम भी सारे शत्रुओं का पराभव कर सकोगे।

भावार्थ—वेदमाता की अपने शिशुओं को यही प्रेरणा है कि वे प्रभु का उपासन करें। प्रभु उनके शत्रुओं का विनाश करेंगे। प्रभु की उपासना होने पर सारा संसार भी हमारा पराजय न कर सकेगा।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

अग्रियः-स्वर्षाः

इमा ब्रह्म बृहद्दिवः कृणवदिन्द्राय शूषमग्रियः स्वर्षाः।
महो गोत्रस्य क्षयति स्वराजा तुरश्चिद्विश्वमर्णवत्तपस्वान् ॥ ११ ॥

१. बृहद् दिवः=उत्कृष्ट ज्ञानधनवाला व्यक्ति इन्द्राय=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु के लिए इमा ब्रह्म=इन स्तोत्रों का कृणवत्=निर्माण व उच्चारण करता है। इस स्तवन से अग्रियः=जीवन-मार्ग में आगे बढ़नेवाला स्वर्षाः=प्रकाश को प्राप्त करनेवाला यह 'बृहद्दिव' शूषम्=शत्रुशोषक बल को (नि० २.९) व सुख को (नि० ३.६) क्षयति=प्राप्त होता है (क्षि गतौ) और महः गोत्रस्य=महनीय, तेजस्वी इन्द्रियसमूह का क्षयति (रक्षयति)=ईश्वर होता है। (क्षि to gover, to rule, to be master of) २. यह स्वराजा=अपना शासन करनेवाला व्यक्ति चित्=निश्चय से तुरः=सब

शत्रुओं का संयम करनेवाला होता है, परिणामतः **विश्वम् अर्णवत्**=इसका यह सारा ज्ञानेन्द्रियसमूह ज्ञानजलवाला होता है और यह **तपस्वान्**=अतिशयित ज्ञानदीप्तिवाला होता है (तप् दीप्तौ)।

भावार्थ—प्रभु का स्तवन करता हुआ ज्ञानी पुरुष जीवन-यात्रा में आगे बढ़ता है और प्रकाश व सुख प्राप्त करता है।

ऋषिः—**बृहद्दिवोऽथर्वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

प्रभुरूपता

एवा महान्बृहद्दिवो अथर्वावोचत्स्वां तन्व१मिन्द्रमेव।
स्वसारौ मातरिभ्वरी अरिप्रे हिन्वन्ति चैने शवसा वर्धयन्ति च॥ १२॥

१. **एवा**=इसप्रकार **महान्**=पूजा की वृत्तिवाला (मह पूजायाम्) **बृहद्दिवः**=उत्कृष्ट ज्ञान-धनवाला **अथर्वा**=न डाँवाडोल वृत्तिवाला पुरुष **स्वां तन्वम्**=अपने शरीर को **इन्द्रम् एव अवोचत्**=परमेश्वर ही कहता है। अन्तःस्थित प्रभु के कारण उसे प्रभु ही जानता है। शीशी में शहद हो तो शीशी की ओर संकेत करके यही तो कहा जाता है कि 'यह शहद है'। इसी प्रकार अन्तःस्थित प्रभु को देखता हुआ यह अपने शरीर की ओर निर्देश करता हुआ यही कहता है कि 'यह प्रभु ही है'। २. इसप्रकार से **स्वसारः**=उस आत्मतत्त्व की ओर चलनेवाले ज्ञानी पुरुष **मातरिभ्वरी**=सदा वेदवाणीरूप माता में होनेवाली, अर्थात् वेदज्ञान को प्राप्त करनेवाली और अतएव **अरिप्रे**=निर्दोष **एने**=इन ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों के समूह को **हिन्वन्ति**=प्रवृद्ध शक्तिवाला करते हैं 'हि वृद्धौ' **च**=और **शवसा वर्धयन्ति**=बल से बढ़ाते हैं अथवा गतिशीलता से बढ़ाते हैं। इन इन्द्रियों को अपने-अपने कर्मों में व्याप्त करके इन्हें सशक्त बनाये रखते हैं।

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष सदा अन्तःस्थित प्रभु का ध्यान करता है। आत्मतत्त्व की ओर चलता हुआ यह इन्द्रियों को सशक्त बनाये रखता है।

ऋषिः—**ब्रह्मा**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**आर्षीपङ्क्तिः**॥

प्रभुरूप सूर्य का उदय

चित्रं देवानां केतुरनीकं ज्योतिष्मान्प्रदिशः सूर्य उद्यन्।
दिवाकरोति द्युम्नैस्तमांसि विश्वातारीद्दुरितानि शुक्रः॥ १३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार अन्तःस्थित प्रभु को देखने पर यह उपासक अनुभव करता है कि वे प्रभु ही **चित्रम्**=सब ज्ञानों के देनेवाले हैं। **देवानां केतुः**=सब देवों के प्रकाशक हैं (brightness)। सूर्य आदि सब प्रभु द्वारा ही प्रकाशित हो रहे हैं। **अनीकम्**=प्रभु ही बल हैं 'बलं बलवताञ्चाहं कामरागविवर्जितम्'। **ज्योतिष्मान्**=प्रकाशमय हैं। **उद्यन् सूर्यः**=उदय होते हुए—हृदय में प्रादुर्भूत होते हुए—सूर्यसम ज्योतिवाले वे प्रभु **प्रदिशः**=उपासक के लिए मार्ग का निर्देश करनेवाले हैं। २. ये उदय होते हुए प्रभुरूप सूर्य **द्युम्नैः**=ज्ञान-ज्योतियों से **तमांसि**=सब अन्धकारों को **दिवा करोति**=दिन के प्रकाश में परिवर्तित कर देते हैं। **शुक्रः**=(शुच्) वे देदीप्यमान प्रभु **विश्वा दुरितानि**=सब दुरितों को **अतारीत्**=तैर जाते हैं—विध्वस्त कर देते हैं। प्रभु के उदय होते ही सब पापों व अज्ञानों का अन्धकार विलीन हो जाता है।

भावार्थ—प्रभु ही प्रकाश व बल के देनेवाले हैं। प्रभु के हृदय में उदय होते ही सब अशुभवृत्तियाँ विलीन हो जाती हैं।

ऋषिः—**ब्रह्मा** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'सर्वभूतान्तरात्मा' प्रभु

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः।
आप्राद् द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च॥ १४॥

१. ये प्रभु ही **चित्रम्**=सब ज्ञानों के देनेवाले हैं। सब **देवानम्**=देवों के **अनीकम्**=बल हैं—सब देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले हैं। **उदगात्**=ये मेरे हृदय में उदित हुए हैं। ये प्रभु ही **मित्रस्य**=द्युलोकस्थ सूर्य के **वरुणस्य**=अन्तरिक्षस्थ रात्रि में चन्द्ररूप से दीप्त सूर्यकिरण के तथा **अग्नेः**=पृथिवीलोकस्थ **अग्नेः**=अग्नि के **चक्षुः**=प्रकाशक हैं। सब देवों को दीप्ति देनेवाले वे प्रभु हैं 'तेन देवाः देवतामनु आयन्'। २. ये प्रभु ही **द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्**=द्युलोक, पृथिवीलोक व अन्तरिक्षलोकरूपी त्रिलोकी को **आप्रात्**=पूरण व व्याप्त कर रहे हैं। **सूर्यः**=(सुवति कर्मणि) सब लोक-लोकान्तरों व कर्मों को प्रभु ही क्रियाशील बना रहे हैं। सब पिण्डों में शक्ति की स्थापना प्रभु ही करते हैं। वस्तुतः प्रभु ही **जगतः तस्थुषः च**=जंगम व स्थावर जगत् के **आत्मा**=आत्मा हैं। सबके अन्दर ओत-प्रोत होकर सबको शक्ति-सम्पन्न व क्रियाशील बना रहे हैं।

भावार्थ—प्रभु ही ज्ञान व बल के देनेवाले हैं। वे ही सूर्य, चन्द्र व अग्नि के प्रकाशक हैं। त्रिलोकी को व्याप्त किये हुए हैं। ब्रह्माण्डरूप शरीर की वे आत्मा हैं। सब प्राणियों के हृदयों में स्थित हैं।

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सूर्य व उषा का सच्चा पूजन

सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्।
यत्रा नरो देवयन्तो युगानि वितन्वते प्रति भद्राय भद्रम्॥ १५॥

१. **सूर्यः**=सूर्य **रोचमानाम्**=चमकती हुई **देवीम्**=प्रकाशमयी **उषसम्**=उषा के **पश्चात्**=पीछे **अभ्येति**=उसी प्रकार आता है **न**=जैसेकि **मर्यः**=मनुष्य **योषाम्**=पत्नी के पीछे आता है। उषा मानो पत्नी है, सूर्य उसका पति है। ये पति-पत्नी जब आते हैं तब हमें इनके स्वागत के लिए तैयार रहना चाहिए। इस समय लेटे रहना—या व्यर्थ की प्रवृत्तियों में लगना तो इनका निरादर ही है। २. यह समय वह होता है **यत्रा**=जिसमें कि **देवयन्तः नरः**=अपने को देव बनाने की कामनावाले पुरुष **युगानि**=द्वन्द्वरूप में होकर, अर्थात् पति-पत्नी मिलकर **भद्राय**=कल्याण व सुख-प्राप्ति के लिए **भद्रम्**=कल्याण व सुख के साधक यज्ञ को **प्रतिवितन्वते**=प्रतिदिन विस्तृत करते हैं। इन यज्ञों से (क) उनकी वृत्ति दिव्य बनती है (ख) उनका कल्याण होता है (ग) वे उषा व सूर्य का सच्चा पूजन कर पाते हैं। सूर्य के सामने हाथ जोड़ना सूर्य का पूजन नहीं है—सूर्योदय के समय यज्ञादि करना ही सूर्यपूजन है।

भावार्थ—उषा के पीछे आते हुए सूर्य का हमें स्वागत करना चाहिए—उस समय यज्ञादि कर्मों में हमें प्रवृत्त होना चाहिए।

यह यज्ञशील पुरुष सबके हित में प्रवृत्त हुआ-हुआ सबके साथ मिलकर चलता है, अतः इसका नाम 'नृमेध' हो जाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

१०८. [अष्टोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**नृमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

ओज+नृम्ण

त्वं न॑ इन्द्रा भ॑रँ ओजो॑ नृम्णं श॑तक्रतो विचर्षणे। आ वी॒रं पृ॑तना॒षह॑म्॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन्—परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **नः**=हमारे लिए **ओजः**=बल को तथा **नृम्णम्**=धन को **आभर**=प्राप्त कराइए। २. हे **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञान व शक्तिवाले **विचर्षणे**=सबके द्रष्टा प्रभो! आप हमें **पृतनाषहम्**=शत्रु-सेनाओं का अभिभव करनेवाले **वीरम्**=वीर सन्तान को **आ** (भर)=प्राप्त कराइए।

भावार्थ—प्रभु का उपासन करते हुए हम बल, धन व वीर सन्तान को प्राप्त करके सुखी जीवनवाले हों।

ऋषिः—**नृमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**ककुबुष्णिक्** ॥

सुम्नम्

त्वं हि नः॑ पि॒ता व॑सो॒ त्वं मा॒ता श॑तक्रतो ब॒भूवि॑थ। अधा॑ ते सु॒म्नमी॑महे॥ २॥

१. हे **वसो**=सबको अपने में बसानेवाले प्रभो! **त्वम् हि**=आप ही **नः पिता**=हमारे पिता हैं, हे **शतक्रतो**=अनन्त सामर्थ्य व प्रज्ञानवाले प्रभो! **त्वम्**=आप ही **माता बभूविथ**=माता हैं, २. अतः **अधा**=अब **ते**=आपसे ही हम **सुम्नम्**=सुख को **ईमहे**=माँगते हैं।

भावार्थ—हे प्रभो! आप ही हमारे पिता व माता हो। आपसे ही हम सब सुखों को माँगते हैं।

ऋषिः—**नृमेधः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पुरउष्णिक्** ॥

सुवीर्यम्

त्वां शु॑ष्मिन्पुरुहूत वाज॒यन्त॒मुप॑ ब्रुवे शतक्रतो। स नो॑ रास्व सु॒वीर्य॑म्॥ ३॥

१. हे **शष्मिन्**=शत्रुओं के शोषक बल से सम्पन्न! **पुरुहूत**=बहुतों से पुकारे जानेवाले **शतक्रतो**=अनन्त प्रज्ञान व शक्ति से सम्पन्न प्रभो! **वाजयन्तम्**=हमारे साथ बल का सम्पर्क करनेवाले **त्वाम्**=आपको ही **उपब्रुवे**=मैं समीपता से पुकारता हूँ। २. **सः**=उपासना किये गये वे आप **नः**=मारे लिए **सुवीर्यम्**=उत्तम शक्ति को **रास्व**=दीजिए।

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् प्रभु उपासक को भी शक्ति-सम्पन्न बनाते हैं। प्रभु हमारे लिए भी सुवीर्य को प्राप्त कराएँ।

'ओज-नृम्ण-सुम्न व सुवीर्य' को प्राप्त करनेवाला यह व्यक्ति प्रशस्त इन्द्रियोंवाला 'गो-तम' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

१०९. [नवोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

'स्वादु विषूवान्' मधु का पान

स्वा॒दोरि॒त्था वि॑षू॒वतो॒ मध्वः॑ पिबन्ति गौ॒र्यः॑।
या इन्द्रे॑ण स॒याव॑री॒र्वृष्णा॒ मद॑न्ति शो॒भसे॒ वस्वी॒रनु॑ स्व॒राज्य॑म्॥ १॥

१. **गौर्यः**=गौरवर्ण गौएँ, अर्थात् व्यसनों में अलिप्त शुद्ध इन्द्रियाँ **मध्वः**=सोम का **पिबन्ति**=पान करती है। आहार से उत्पन्न सोम को—वीर्यशक्ति को जब शरीर में ही सुरक्षित रखा जाता

है तब यही इन्द्रियों का सोमपान होता है। इन्द्रियाँ उस सोम का पान करके जोकि **स्वादोः**=जीवन को स्वाद व माधुर्यवाला बनाता है और **इत्था**=इसप्रकार **विषूवतः**=सारे अंगों में व्याप्त हो जाता है। सब अंगों में व्याप्त होकर उन्हें सशक्त बनाता है। २. सोम-रक्षण से शक्ति-सम्पन्न बनी हुई इन्द्रियाँ वे होती हैं **याः**=जोकि **वृषणा**=सब सुखों का वर्षण करनेवाले **इन्द्रेण**=इन्द्र के साथ **सयावरीः**=गति व प्राप्तिवाली होती हैं। सोमपान के अभाव में इन्द्रियाँ विषयोन्मुख होती हैं, सोमपान करने पर ये आत्मतत्त्व के दर्शन के लिए प्रवृत्त होती हैं। आत्मतत्त्व के दर्शन में प्रवृत्त ये इन्द्रियाँ **मदन्ति**=उल्लास से युक्त होती हैं। **शोभसे**=जीवन की शोभा के लिए होती हैं। **वस्वीः**=निवास को उत्तम करनेवाली होती हैं, परन्तु यह सब होता तभी है जबकि **अनु स्वराज्यम्**=मनुष्य आत्मशासन करनेवाला होता है। आत्मशासन के बाद ही सोम-रक्षण सम्भव होता है और तभी इन्द्रियाँ आत्मतत्त्व की ओर गति करती हैं, जीवन शोभामय होता है और हमारा इस शरीर में निवास उत्तमता को लिये हुए होता है।

भावार्थ—हम संयमी बनें। इससे सोम-रक्षण होकर इन्द्रियाँ सशक्त बनेगी। ये हमें आत्मतत्त्व की ओर ले-चलेंगी। उस समय जीवन शोभामय व उत्तम बनेगा।

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

'सायक' वज्र

ता अ॑स्य पृश॒नायु॑वः॒ सोमं॑ श्रीणन्ति॒ पृश्न॑यः।
प्रि॒या इन्द्र॑स्य धे॒नवो॒ वज्रं॑ हिन्वन्ति॒ साय॑कं॒ वस्वी॒रनु॑ स्व॒राज्य॑म्॥ २॥

१. **ताः**=गतमन्त्र में वर्णित शुद्ध इन्द्रियाँ (गौर्यः) **अस्य**=इस आत्मतत्त्व के—इन्द्र के **पृशनायुवः**=(स्पर्शनकामाः) स्पर्शन की कामनावाली, **पृश्नयः** (संस्प्रष्टो भासा नि० २.१४)=ज्योति से युक्त हुई-हुई **सोमम्**=सोम को **श्रीणन्ति**=शरीर में ही परिपक्व करती हैं। सोम को शरीर में सुरक्षित करके विविध शक्तियों का पोषण करती हैं। इस सोम-रक्षण से ही तो आत्मतत्त्व का स्पर्श करनेवाली हो पाएँगी। २. ऐसा होने पर **इन्द्रस्य**=इन इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव को **धेनवः**=ज्ञान-दुग्ध का पान करानेवाली वेदवाणियाँ **प्रियाः**=प्रिय होती हैं और वे वाणियाँ इसके जीवन में **सायकम्**=सब शत्रुओं का अन्त करनेवाले **वज्रम्**=क्रियाशीलतारूप वज्र को **हिन्वन्ति**=प्रेरित करती हैं, अर्थात् ये इसे क्रियाशील बनाती हैं। ३. इसप्रकार ये **वस्वीः**=उसे उत्तम निवासवाला बनाती हैं। ये उसे **स्वराज्यम् अनु**=आत्मशासन के बाद उत्तम निवासवाला बनाती हैं। जितना-जितना आत्मशासन होता है, उतना-उतना ही जीवन उत्तम बनता है।

भावार्थ—शरीर में सोम के परिपाक से इन्द्रियाँ आत्मदर्शन करानेवाली होती हैं। सोमपान करनेवाले इस पुरुष को वेदवाणियाँ प्रिय होती हैं। यह उनमें उपदिष्ट कर्मों को करनेवाला होता है। इन कर्मों में लीन हुआ-हुआ यह वासनाओं का शिकार नहीं होता।

ऋषिः—**गोतमः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

नम्रतायुक्त बल

ता अ॑स्य॒ नम॑सा॒ सहः॑ सप॒र्यन्ति॒ प्रचे॑तसः।
व्र॒तान्य॑स्य सश्चिरे पु॒रूणि॑ पू॒र्वचि॑त्तये॒ वस्वी॒रनु॑ स्व॒राज्य॑म्॥ ३॥

१. **ताः**=वे इन्द्रियाँ (गौर्यः) **प्रचेतसः**=प्रकृष्ट ज्ञानवाले **अस्य**=इस इन्द्र (जीवात्मा) के **सहः**=बल को **नमसा**=नमन से—विनीतता के द्वारा **सपर्यन्ति**=पूजित करती हैं। सोम का पान करनेवाली इन्द्रियाँ इन्द्र को सबल बनाती हैं और इसके बल को विनीतता से युक्त करती हैं।

२. ये इन्द्रियाँ **अस्य**=इस इन्द्र के **पुरूणि**=पालन व पूरणात्मक **व्रतानि**=व्रतों को **सश्चिरे**= सेवित करती हैं। सोमपान करनेवाली इन्द्रियों के द्वारा ही हमारे सब पुण्यकर्म पूर्ण हुआ करते हैं। २. ये इन्द्रियाँ **पूर्वाचित्तये**=सृष्टि से पूर्व वर्तमान प्रभु के ज्ञान के लिए होती हैं। इनके द्वारा सृष्टि के पदार्थों में प्रभु की महिमा का दर्शन होकर प्रभु की सत्ता में हमारा विश्वास दृढ़ हो जाता है। इसप्रकार प्रभुसत्ता में विश्वास कराकर **वस्वीः**=ये इन्द्रियाँ उत्तम निवास को करानेवाली होती हैं। यह उत्तम निवास **स्वराज्यम् अनु**=आत्मशासन के अनुपात में ही होता है।

भावार्थ—सोमपान करनेवाली इन्द्रियाँ हमें नम्रयुक्त बल प्राप्त कराती हैं। हमें व्रतमय जीवनवाला बनाकर प्रभु-दर्शन के योग्य बनाती हैं।

गौरी इन्द्रियोंवाला व्यक्ति अपने ज्ञान को बढ़ाकर उस ज्ञान को ही अपनी शरण बनाता है, अतः 'श्रुतकक्ष' कहलाता है—ज्ञान है शरण-स्थान (Hiding place) जिसका। यह उत्तम शरण स्थानवाला 'सुकक्ष' है। ये श्रुतकक्ष ही अगले सूक्त का ऋषि है—

११०. [दशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**श्रुतकक्षः सुकक्षो वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

'स्वाध्याय व स्तवन' के द्वारा सोम का शरीर में स्तोभन

इन्द्राय मद्वने सुतं परि ष्टोभरन्तु नो गिरः। अर्कमर्चन्तु कारवः॥ १॥

१. उस **मद्वने**=(मद्+वन्) हर्ष का संभजन करनेवाले आनन्दस्वरूप **इन्द्राय**=परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए **नः गिरः**=हमारी ज्ञान की वाणियाँ **सुतं परिष्टोभन्तु**=उत्पन्न हुए-हुए सोम को शरीर में ही चारों ओर रोकनेवाली हों (स्तोभते=Stops)। शरीर में सोम के सुरक्षित होने पर ही प्रभु की प्राप्ति होती है। २. **कारवः**=क्रियाओं को कुशलता से करने के द्वारा प्रभु का अर्चन करनेवाले स्तोता **अर्कम्**=उस उपासनीय प्रभु का **अर्चन्तु**=पूजन करें। कर्त्तव्यकर्मों को करके उन्हें प्रभु के लिए अर्पित करना ही प्रभु का अर्चन है।

भावार्थ—आनन्दमय प्रभु की प्राप्ति के लिए सोम का रक्षण आवश्यक है। सोम-रक्षण के लिए स्वाध्याय व प्रभु-स्तवन साधन बनते हैं।

ऋषिः—**श्रुतकक्षः सुकक्षो वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

'श्री-पति' विष्णु

यस्मिन्विश्वा अधि श्रियो रणन्ति सप्त संसदः। इन्द्रं सुते हवामहे॥ २॥

१. **यस्मिन्**=जिस प्रभु में **विश्वाः श्रियः**=सब लक्ष्मियाँ **अधि**=आधिक्येन निवास करती हैं। जिस प्रभु के विषय में **सप्त**=सातों **संसदः**=होता 'कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्' **रणन्ति**=स्तोत्रों का उच्चारण करते हैं, उस **इन्द्रम्**=परमैश्वर्यशाली प्रभु को—सब इन्द्रियों को शक्ति देनेवाले प्रभु को **सुते**=इस सोम के सम्पादन व रक्षण के निमित्त **हवामहे**=पुकारते हैं। प्रभु ने ही वासना-विनाश द्वारा इस सोम का रक्षण करना है।

भावार्थ—प्रभु ही सब विषयों के आधार हैं। प्रभु ही हमारी कर्ण आदि इन्द्रियों को श्रीसम्पन्न बनाते हैं। इस श्रीसम्पादन के लिए प्रभु ही हमारे शरीरों में सोम का रक्षण करते हैं।

ऋषिः—**श्रुतकक्षः सुकक्षो वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

ज्योतिः, गौः, आयुः

त्रिकद्रुकेषु चेतनं देवासो यज्ञमत्नत। तमिद्वर्धन्तु नो गिरः॥ ३॥

१. **त्रिकद्रुकेषु**=(ज्योतिः, गौः, आयुः) 'हमें ज्योति प्राप्त कराओ, हमारे लिए उत्तम इन्द्रियों

को प्राप्त कराइए (गौः) तथा हमें दीर्घजीवी बनाइए' इसप्रकार तीनों आह्वानों के होने पर (कदि आह्वाने) **चेतनम्**=चेतना को—ज्ञान को देनेवाले **यज्ञम्**=पूजनीय प्रभु को **देवासः**=देववृत्ति के पुरुष **अत्नत**=अपने में विस्तृत करते हैं। २. **नः गिरः**=हमारी ये वाणियाँ भी **तम् इत्**=उस प्रभु का ही **वर्धन्तु**=वर्धन करें। हम अपनी वाणियों से प्रभु का ही स्तवन करें। प्रभु हमारे ज्ञान को बढ़ाएँगे, हमें उत्तम इन्द्रियाँ प्राप्त कराएँगे और इसप्रकार हमें प्रशस्त दीर्घ जीवनवाला बनाएँगे।

भावार्थ—देववृत्ति के पुरुष प्रभु को ही पुकारते हैं। प्रभु-स्तवन करते हुए वे ज्ञान व प्रकाश को, उत्तम इन्द्रियों को तथा दीर्घजीवन को प्राप्त करते हैं।

इसप्रकार प्रभु-स्तवन द्वारा अपना पूरण करनेवाला यह ऋषि 'पर्वत' कहलाता है पर्व पूरणे। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

१११. [एकादशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**पर्वतः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

विष्णु-त्रित आप्त्य

यत्सोममिन्द्र विष्णवि यद्वा घ त्रित आप्त्ये। यद्वा मरुत्सु मन्दसे समिन्दुभिः ॥ १ ॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत्**=जब आप **विष्णवि**=(विष् व्याप्तौ) व्यापक—उदार हृदयवाले पुरुष में **सोमम्**=सोम को **संमन्दसे**=प्रशंसित करते हैं। **यत् वा**=अथवा **घ**=निश्चय से **त्रिते**=(त्रीन् तनोति) 'ज्ञान, कर्म व उपासना' इन तीनों का विस्तार करनेवालों में आप सोम को प्रशंसित करते हैं **आप्त्येः**=आप्तों में—उत्तम पुरुषों में आप इस सोम को प्रशंसित करते हैं, अर्थात् यह सोम-रक्षण ही उन्हें 'विष्णु, त्रित व आप्त्य' बनाता है। एक पुरुष में उदारता 'विष्णु' 'ज्ञान, कर्म व उपासना' तीनों के विस्तार (त्रित) व आप्तता (Aptness आप्त्य) को देखकर और इन बातों को सोममूलक जानकर लोग सोम का प्रशंसन तो करेंगे ही। इस प्रशंसन को करते हुए वे सोम-रक्षण के लिए प्रेरणा प्राप्त करेंगे। २. **यत् वा**=अथवा हे इन्द्र! आप **मरुत्सु**=इन प्राणसाधक पुरुषों में **इन्दुभिः**=इन सुरक्षित सोमकणों से **संमन्दसे**=(to shine) चमकते हैं। सोमकणों का रक्षण ज्ञानाग्नि को दीप्त करता है और बुद्धि को तीव्र बनाता है। इस तीव्र बुद्धि से प्रभु का दर्शन होता है। '**दृश्यते त्वग्र्या बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः**'।

भावार्थ—सोम-रक्षण से हम उदार-हृदय, ज्ञान, कर्म व उपासना का विस्तार करनेवाले व आप्त बनते हैं। प्राणसाधना होने पर सुरक्षित हुआ-हुआ सोम ही हमें प्रभु-दर्शन के योग्य बनाता है।

ऋषिः—**पर्वतः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

परावति-समुद्रे

यद्वा शक्र परावति समुद्रे अधि मन्दसे। अस्माकमित्सुते रणा समिन्दुभिः ॥ २ ॥

१. हे **शक्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **यद्वा**=अथवा आप **परावति**=पराविद्यावालों में—ब्रह्मविद्या को प्राप्त करनेवाले में तथा **समुद्रे**=(समुद्) सदा आनन्दमय स्वभाववाले पुरुष में **अधिमन्दसे**=आधिक्येन चमकते हैं। प्रभु-प्राप्ति का उपाय 'पराविद्या में रुचिवाला होना' तथा 'सदा प्रसन्न रहने का प्रयत्न करना' है। २. हे प्रभो! **अस्माकम्**=हमारी **इत्**=निश्चय से **सुते**=इस सोम सम्पादन की क्रिया के होने पर **इन्दुभिः**=सोमकणों के द्वारा **संरण**=हमारे अन्दर रमणवाले होइए। यह सोम-रक्षण हमें आपके दर्शन का पात्र बनाए।

भावार्थ—प्रभु-प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम (१) पराविद्या में रुचिवाले हों, (२)

सदा आनन्दमय रहें, (३) सोम को अपने अन्दर सुरक्षित करें।

ऋषिः—**पर्वतः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**उष्णिक्** ॥

'सुन्वतः यजमानस्य' वृधः

यद्वासि सुन्वतो वृधो यजमानस्य सत्पते। उक्थे वा यस्य रण्यसि समिन्दुभिः ॥ ३ ॥

१. हे **सत्पते**=उत्तम कर्मों के रक्षक प्रभो! आप **यत् वा**=निश्चय से **सुन्वतः**=सोम का सम्पादन करनेवाले—अपने अन्दर सोम को सुरक्षित करनेवाले **यजमानस्य**=यज्ञशील पुरुष के **वृधः असि**=बढ़ानेवाले हैं। इस यज्ञशील सोमी पुरुष को आप सदा बढ़ाते हैं। २. **वा**=अथवा उसके आप बढ़ानेवाले हैं **यस्य**=जिसके **उक्थे**=स्तोत्र में आप **इन्दुभिः**=सोमकणों के द्वारा **संरण्यसि**=सम्यक् प्रीतिवाले होते हैं। जो भी स्तोता सोमकणों का रक्षण करता हुआ प्रभु-स्तवन करता है, वह प्रभु का प्रिय बनता है।

भावार्थ—प्रभु सोमरक्षक यज्ञशील पुरुष का वर्धन करते हैं। सोम-रक्षक पुरुष से किया जानेवाला स्तवन प्रभु को प्रिय होता है।

यह प्रभु का स्तोता प्रभु को अपनी शरण बनाता है, अतः 'सु-कक्ष'=उत्तम शरणवाला (Hiding place) कहलाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

११२. [द्वादशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**सुकक्षः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

इन्द्र-वृत्रहन्-सूर्य

यदद्य कच्च वृत्रहन्नुदगा अभि सूर्य। सर्वं तदिन्द्र ते वशे ॥ १ ॥

१. प्रभु जीव से कहते हैं कि हे **वृत्रहन्**=कामनाओं को विनष्ट करनेवाले व **सूर्य**=सूर्य की भाँति निरन्तर क्रियाशील जीव! **यत्**=जब **अद्य**=आज या जब भी कभी तू **उत्**=प्रकृति से ऊपर उठकर **अभि अगाः**=मेरी ओर आता है तब **तत् सर्वम्**=वह सब हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **ते वशे**=तेरी इच्छा पर निर्भर करता है। तू दृढ़ संकल्प करेगा, वासनाओं को विनष्ट करके ज्ञान सूर्य से दीप्त जीवनवाला बनेगा तो अवश्य मेरी ओर (प्रभु की ओर) आनेवाला होगा। २. प्रभु की ओर आने पर हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष **तत् सर्वम्**=यह सब संसार **ते वशे**=तेरे वश में होगा। प्रभु को प्राप्त कर लेने पर तुझे ये सब ब्रह्माण्ड प्राप्त हो जाएगा।

भावार्थ—हम प्रभु-प्राप्ति का दृढ़ संकल्प करें। यह संकल्प हमें वासना-विनाश में प्रवृत्त करेगा और तब हमारे जीवन में वासनाओं के मेघों का विलय होकर ज्ञानसूर्य का उदय होगा।

ऋषिः—**सुकक्षः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

अमरत्व का ज्ञान

यद्वा प्रवृद्ध सत्पते न मरा इति मन्यसे। उतो तत्सत्यमित्तव ॥ २ ॥

१. हे **प्रवृद्ध**=ज्ञान के दृष्टिकोण से वृद्धि को प्राप्त हुए-हुए **सत्पते**=उत्तम कर्मों के रक्षक जीव! **यद् वा**=जब निश्चय से **'न मरा'**='मैं मरता नहीं। मैं तो अमर हूँ' **इति मन्यसे**=इसप्रकार तू जानता है तो **उत उ**=निश्चय से **तव**=तेरा **तत्**=वह अपने को अजरामर जानना **सत्यम् इत्**=सत्य ही है। २. अपने अमरत्व को पहचानना ही वास्तिवक सत्य को पाना है।

भावार्थ—हम आने अमरत्व को पहचानकर शरीरादि से ऊपर उठें। यही ज्ञान हमें प्राकृतिक भोगों की तुच्छता को स्पष्ट करता हुआ उनके बन्धन में पड़ने से बचाएगा।

ऋषिः—**सुकक्षः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सोम-रक्षण द्वारा शरीर व मस्तिष्क का सुन्दर निर्माण

ये सोमा॑सः परा॒वति॒ ये अ॑र्वा॒वति॑ सु॒न्विरे॑। सर्वां॒स्ताँ इ॑न्द्र गच्छसि॥ ३ ॥

१. ये **सोमासः**=जो सोमकण **परावति**=उस सुदूर मस्तिष्करूप द्युलोक के निमित्त **सुन्विरे**=उत्पन्न किये गये हैं, अथवा **ये**=जो **अर्वावति**=समीपस्थ इस शरीररूप पृथिवीलोक के निमित्त उत्पन्न किये गये हैं, हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **तान् सर्वान्**=उन सब सोमकणों को **गच्छसि**=प्राप्त होता है। २. अपने अमरत्व को समझकर विषयों से ऊपर उठने पर ही सोमकणों का रक्षण होता है। इनके रक्षण से ही मस्तिष्करूप द्युलोक दीप्त तथा शरीररूप पृथिवीलोक दृढ़ बनता है।

भावार्थ—हम अपने अमरत्व को पहचानें और विषयों की तुच्छता को समझकर उनमें न फँसते हुए सोमणों का रक्षण करें। इसप्रकार मस्तिष्क को दीप्त बनाएँ और शरीर को दृढ़ करें।

सोम-रक्षण द्वारा तेजस्वी बननेवाला यह ऋषि 'भर्गः' (तेजःपुञ्ज) होता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

११३. [त्रयोदशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भर्गः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)** ॥

सूक्ष्मार्थग्राहिणी बुद्धि

उ॒भयं॑ शृणव॑च्च न॒ इन्द्रो॑ अ॒र्वागि॒दं वचः॑।
स॒त्राच्या॑ म॒घवा॒ सोम॑पीतये धि॒या शवि॑ष्ठ॒ आ ग॑मत्॥ १ ॥

१. **इन्द्रः**=वह परमैश्वर्यशाली प्रभु **नः**=हमारे लिए **उभयम् इदं वचः**=प्रकृति व आत्मा दोनों का ज्ञान देनेवाले इस वेदवचन को **अर्वाक्**=अन्तर्हृदय में (हमारे अभिमुख) **शृणवत्**=(अन्तर्भावितण्यर्थ) सुनाएँ। हृदयस्थ प्रभु से हम उन ज्ञान की वाणियों को सुन पाएँ जोकि प्रकृति व आत्मा का ज्ञान देनेवाली हैं। २. वह **शविष्ठः**=अतिशयेन शक्तिशाली **मघवा**=ज्ञानरूप ऐश्वर्यवाले प्रभु **सत्राच्या**=सत्य-ज्ञान के साथ गतिवाली—सत्यज्ञान को प्राप्त करानेवाली **धिया**=बुद्धि के साथ **आगमत्**=हमें प्राप्त हों। ये प्रभु **सोमपीतये**=सोम के रक्षण के लिए हों। सोम-रक्षण द्वारा ही वे हमें उस सूक्ष्मार्थग्राहिणी बुद्धि को प्राप्त कराएँगे जो हमें प्रकृति व आत्मा के तत्त्व को समझने के योग्य बनाएगी।

भावार्थ—प्रभु हमें प्रकृति व आत्मा का ज्ञान देनेवाले वेदवचनों को सुनाएँ। सोम-रक्षण के द्वारा उस बुद्धि को प्राप्त कराएँ जोकि सूक्ष्म अर्थों के सत्यतत्त्व को जानने में समर्थ हो।

ऋषिः—**भर्गः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)** ॥

'स्वराट् वृषभ' प्रभु

तं हि स्व॒राजं॑ वृष॒भं तमोज॑से धि॒षणे॑ निष्टत॒क्षतुः॑।
उ॒तोप॒मानां॑ प्रथ॒मो नि षी॑दसि॒ सोम॑कामं॒ हि ते॒ मनः॑॥ २ ॥

१. **तम्**=उस **स्वराजम्**=स्वयं देदीप्यमान **वृषभम्**=शक्तिशाली प्रभु को **हि**=निश्चय से **धिषणे**=द्यावापृथिवी **निष्टतक्षतुः**=(संस्कर्तुः) संस्कृत करते हैं। द्युलोक प्रभु की दीप्ति का आभास देता है तो पृथिवीलोक प्रभु की शक्ति व दृढ़ता का 'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा'। प्रभु ने ही वस्तुतः द्युलोक को तेजस्वी व पृथिवीलोक को दृढ़ बनाया है। **तम्**=उस प्रभु को ही हम **ओजसे**=बल की प्राप्ति के लिए अपने अन्दर देखने का प्रयत्न करें। २. **उत**=और हे प्रभो! आप

उपमानाम्=उपमानभूत देवों में **प्रथमः**=मुख्य होते हुए **निषीदसि**=हमारे हृदयों में निषण्ण होते हैं। हमने अपने पिता प्रभु-जैसा ज्ञानी व शक्तिशाली बनने का प्रयत्न करना है। हमारे लिए यह कहा जाए कि यह प्रभु के समान ज्ञानी व शक्तिशाली है। वस्तुतः ऐसे ही व्यक्ति जनता को प्रभु के अवतार प्रतीत होने लगते हैं। **ते मनः**=आपके प्रति प्रवण मन **हि**=निश्चय से **सोमकामम्**=सोम की कामनावाला होता है। प्रभु-प्रवण मन विलास में नहीं जाता और इसप्रकार सोम का रक्षण हो पाता है।

भावार्थ—द्युलोक में स्वराट् प्रभु का प्रकाश है तो पृथिवी में शक्तिशाली प्रभु की दृढ़ता। इस प्रभु का स्मरण करते हुए हम भी प्रकाश व शक्ति का सम्पादन करें। प्रभु-प्रवण मन सदा सोम का रक्षक होता है।

अपने अन्दर प्रकाश व शक्ति का सम्पादन करनेवाला यह 'सोभरि' बनता है—अपना सम्यक् भरण करनेवाला। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

११४. [चतुर्दशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**सोभरिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**ककुबुष्णिक्** ॥

युधा इत् आपित्वमिच्छसे

अभ्रातृव्यो अना त्वमनापिरिन्द्र जनुषा सनादसि। युधेदापित्वमिच्छसे॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=सर्वशक्तिमन् प्रभो! **त्वम्**=आप **अभ्रातृव्यः**=शत्रुरहित **असि**=हैं तथा **जनुषा**=पूर्णरूप से शक्तियों के प्रादुर्भाव के द्वारा **सनात्**=सदा से ही **अना**=अनेतृक व **अनापिः**=अबन्धु (असि) हैं। आप सबके नेता हैं—आपका कोई नेता नहीं। आपके समान शक्तियोंवाला कोई और नहीं, अतः समानता के अभाव में आपका कोई बन्धु भी नहीं। आप उपासकों के मित्र अवश्य होते हैं, परन्तु **युधा**=युद्ध के द्वारा **इत्**=ही **आपित्वम्**=मित्रभाव को **इच्छसे**=चाहते हैं, अर्थात् जब एक व्यक्ति 'काम-क्रोध-लोभ' आदि से युद्ध करता है, इन्हें जीतने का प्रयत्न करता है, तभी प्रभु इसके मित्र होते हैं। प्रभु जितनी पूर्णता कठिन है, परन्तु उस पूर्णता की ओर चलनेवाला ही प्रभु की मित्रता का पात्र होता है।

भावार्थ—प्रभु शत्रुरहित हैं। प्रभु का कोई नेता नहीं, वे सबके नेता हैं। समानता के द्वारा कोई प्रभु का बन्धु नहीं—प्रभु की बाराबरी का नहीं। जो भी 'काम, क्रोध, लोभ' आदि से संघर्ष करता है, यह प्रभु का मित्र बन पाता है।

ऋषिः—**सोभरिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**सतोबृहती** ॥

सम्पत्ति में विस्मरण, विपत्ति में ही स्मरण

नकी रेवन्तं सख्याय विन्दसे पीयन्ति ते सुराश्वः।
यदा कृणोषि नदनुं समूहस्यादित्पितेव हूयसे॥ २॥

१. हे प्रभो! आप **रेवन्तम्**=धनवान् को—यज्ञ आदि में धन का विनियोग न करनेवाले पुरुष को **सख्याय**=मित्रता के लिए **नकिः विन्दसे**=नहीं प्राप्त करते। ऐसे अयज्ञशील धनी के आप कभी मित्र नहीं होते। **ते**=वे **सुराश्वः**=(सुर ऐश्वर्ये) ऐश्वर्य से फूलनेवाले लोग **पीयन्ति**=हिंसात्मक कर्मों में प्रवृत होते हैं। अभिमान में खूब फूले हुए ये लोग प्रभु को भूल जाते हैं। २. **यदा**=जब आप **नदनुं कृणोषि**=गर्जना करते हैं, अर्थात् जब ज़रा भूकम्प-सा आता है तब सब सम्पत्ति हिलती-सी प्रतीत होती है तब आप **समूहसि**=(change, modify) उनके जीवन में परिवर्तन लाते हैं। **आत् इत्**=उस समय ही **पिता इव हूयसे**=पिता के समान आप पुकारे जाते हैं। वे

धनी व्याकुलता होने पर परिवर्तित जीवनवाले बनते हैं और प्रभु की ओर झुकाववाले हो जाते हैं।

भावार्थ—जो धनी धन के मद में फूले हुए हिंसात्मक कर्मों में प्रवृत होते हैं, प्रभु उनके कभी मित्र नहीं होते। जब कभी सम्पत्ति विनष्ट होने लगती है, तभी ये धनी व्याकुल होकर प्रभु का स्मरण करते हैं और पिता की तरह प्रभु को पुकारते हैं।

सम्पत्ति में भी प्रभु का स्मरण करनेवाला प्रभु का प्रिय बनता है, अतः 'वत्स' कहलाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

११५. [पञ्चदशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**वत्सः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सूर्य के समान

अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रभ। अहं सूर्यइवाजनि॥ १॥

१. **अहम्**=मैं **इत् हि**=निश्चय से **पितुः**=अपने पिता प्रभु से **ऋतस्य**=सत्यज्ञान की **मेधाम्**=बुद्धि को **परिजग्रभ**=ग्रहण करता हूँ। प्रभु की उपासना करता हुआ हृदयस्थ प्रभु से प्रकाश प्राप्त करता हूँ। २. इस प्रकाश को प्राप्त करके **अहम्**=मैं **सूर्य इव**=सूर्य की भाँति **अजनि**=हो गया हूँ। प्रभु से दिया गया प्रकाश मुझे इसप्रकार चकमा देता है जैसेकि सूर्य।

भावार्थ—हम प्रभु का ध्यान करें। हृदयस्थ प्रभु से प्रकाश को प्राप्त करें। यह प्रकाश हमें सूर्य की भाँति दीप्त जीवनवाला बना देगा।

ऋषिः—**वत्सः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सनातन ज्ञान के द्वारा बल की प्राप्ति

अहं प्रत्नेन मन्मना गिरः शुम्भामि कण्ववत्। येनेन्द्रः शुष्ममिद्दधे॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार मैं प्रभु से प्रकाश प्राप्त करता हूँ। **अहम्**=मैं **प्रत्नेन**=सनातन—सदा सृष्टि के प्रारम्भ में दिये जानेवाले **मन्मना**=ज्ञान से **गिरः शुम्भामि**=अपनी वाणियों को ऐसे अलंकृत करता हूँ **कण्ववत्**=जैसेकि एक मेधावी पुरुष किया करता है। वस्तुतः यह सनातन ज्ञान ही मुझे मेधावी बनाता है। २. उस ज्ञान से मैं अपनी वाणियों को अंकृत करता हूँ, **येन**=जिससे **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **इत्**=निश्चय से **शुष्मम्**=शत्रु-शोषक बल को **दधे**=धारण करता है। इस ज्ञानाग्नि से ही इन्द्र सब असुरों को दग्ध करनेवाला होता है।

भावार्थ—सनातन वेदज्ञान मेरी वाणियों को अलंकृत करे। इस ज्ञान के द्वारा जितेन्द्रिय बनता हुआ मैं सब वासनारूप शत्रुओं के शोषक बल को धारण करूँ।

ऋषिः—**वत्सः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'ऋषि' नकि 'प्राकृत' (प्रकृति में फँसा हुआ)

ये त्वामिन्द्र न तुष्टुवुर्ऋषयो ये च तुष्टुवुः। ममेद्वर्धस्व सुष्टुतः॥ ३॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! ऐसे भी लोग हैं **ये**=जो **त्वाम्**=आपको **न तुष्टुवुः**=स्तुत नहीं करते। प्रकृति के भोगों में फँसे हुए, उन्हीं के जुटाने में यत्नशील वे 'जगदाहुरनीश्वरम्'=संसार को ईश्वररहित ही कहते हैं। वे आपकी सत्ता से ही इनकार करते हैं **च**=और इनके विरीत वे **ऋषभ**=तत्त्वद्रष्टा पुरुष भी हैं **ये**=जोकि आपका **तुष्टुवुः**=स्तवन करते हैं—सब कार्यों को आपसे ही होता हुआ जानते हैं। २. इसप्रकार द्विविध लोगों को देखता हुआ मैं तो आपका स्तवन

करनेवाला ही बनूँ। **मम**=मेरी तो **इत्**=निश्चय से **सुष्टुतः**=उत्तमता से स्तुत हुए-हुए आप **वर्धस्व** (वर्धयस्व)=वृद्धि का कारण बनें। आपका स्तवन करता हुआ मैं आप-जैसा ही बनने का यत्न करूँ। आपका स्तवन मेरी वृद्धि का कारण बने।

भावार्थ—प्राकृतिक भोगों में फँसे हुए लोग ईश्वर का स्मरण नहीं करते। तत्त्वद्रष्टा ऋषि प्रभु की स्तुति करते हैं। प्रभु-स्तवन करता हुआ मैं वृद्धि को प्राप्त करूँ।

प्रभु-स्तवन करता हुआ यह पवित्र प्रभु को अपना अतिथि बनाता है अथवा निरन्तर प्रभु की ओर चलता है (अत सातत्यगमने) और इसप्रकार 'मेध्यातिथि' नामवाला होता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

११६. [षोडशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥

मा भूम निष्ट्याः इव

मा भूम निष्ट्याइवेन्द्र त्वदरणाइव। वनानि न प्रजहितान्यद्रिवो दुरोषासो अमन्महि॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! हम **निष्ट्याः इव**=घर से बहिष्कृत-से **मा भूम**=न हो जाएँ। आप ही तो हमारे सच्चे माता व पिता हैं। हम आपसे दूर न हो जाएँ और परिणामतः **त्वत्**=आपसे **अरणाः** (अरमणाः) आनन्द को न प्राप्त होनेवाले न हो जाएँ। हमें आपकी उपासना में ही आनन्द आये। २. इसप्रकार आपसे बहिष्कृत न हुए-हुए और आपकी उपासना में आनन्द लेनेवाले हम **प्रजहितानि**=शाखा-पत्र आदि से **त्यक्त**=क्षीण **वनानि न**=वनों की भाँति (मा भूम) मत हो जाएँ, अर्थात् हम पुत्र-पौत्रों से वियुक्त-से न हो जाएँ। हे **अद्रिवः**=आदरणीय प्रभो! हम **दुरोषासः**=सब बुराइयों को दग्ध करनेवाले होते हुए **अमन्महि**= आपका स्तवन करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु से बहिष्कृत न हो जाएँ। प्रभु की उपासना में ही आनन्द का अनुभव करें। पुत्र-पौत्रों से भरे परिवारवाले हों और बुराइयों का दहन करते हुए आपका स्तवन करनेवाले बनें।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥

अनाशवः-अनुग्रासः

अमन्महीदनाशवोऽनुग्रासश्च वृत्रहन्। सकृत्सु ते महता शूर राधसानु स्तोमं मुदीमहि॥ २॥

१. हे **वृत्रहन्**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को विनष्ट करनेवाले प्रभो! **अनाशवः**=बहुत हबड़-दबड़ में न पड़े हुए, अर्थात् शान्तभाव से सब कार्यों को करते हुए **च**=और **अनुग्रासः**=उग्र व क्रूर, क्रोधी वृत्तिवाले न होते हुए हम **इत्**=निश्चय से **अमन्महि**=आपका मनन व स्तवन करते हैं। २. हे **शूर**=हमारे शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **सकृत्**=एक बार तो **ते**=आप से दिये गये **महता राधसा**=इस महान् ज्ञानैश्वर्य के साथ **स्तोमम् अनु**=आपके स्तवन के अनुपात में **सु मुदिमहि**=उत्तम आनन्द का अनुभव करें। ज्ञानपूर्वक आपका स्तवन हमें आनन्दित करनेवाला हो।

भावार्थ—हम शान्त व मृदु स्वभाव बनकर प्रभु का स्तवन करते हैं। ज्ञानपूर्वक किये जाते हुए इन प्रभु-स्तवनों में ही आनन्द का अनुभव करते हैं।

यह ज्ञानी स्तोता अतिशयेन उत्तम जीवनवाला बनता है, अतः 'वसिष्ठ' कहलाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

११७. [सप्तदशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिपदागायत्री** ॥

अहिंसक सोम (न अर्वा)

पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा यं ते सुषाव हर्यश्वाद्रिः। सोतुर्बाहुभ्यां सुयतो नार्वा॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **सोमं पिब**=अपने अन्दर इस सोम का पान कर—इसे तू शरीर में ही व्याप्त कर। यह **त्वा मन्दतु**=तुझे आनन्दित करनेवाला हो। हे **हर्यश्व**=कमनीय इन्द्रियाश्वोंवाले इन्द्र! उस सोम का तू पान कर **यम्**=जिसको **ते**=तेरे लिए **अद्रिः**=उस आदरणीय प्रभु ने **सुषाव**=उत्पन्न किया है। प्रभु से उत्पन्न किये गये इस सोम का समुचित रक्षण करना ही चाहिए। २. वह सोम **सोतुः**=स्तोता की—उत्पन्न करनेवाले की **बाहुभ्याम्**=बाहुओं से **सुयतः**=सम्यक् यत होता है, अर्थात् यदि सोम का सम्पादन करनेवाला यह व्यक्ति क्रियाशील बना रहता है तो वह वासनाओं से आक्रान्त न होकर इस सोम को शरीर में ही सुरक्षित कर पाता है। रक्षित हुआ-हुआ यह सोम **न अर्वा**=हिंसित करनेवाला नहीं होता (अर्व to kill) रोगकृमियों का संहार करता हुआ यह सोम हमारा रक्षण ही करता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम आनन्द की वृद्धि का कारण बनता है। यह हमें रोगों से हिंसित नहीं होने देता। सतत क्रियाशील बने रहना ही सोम-रक्षण का साधन है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिपदागायत्री** ॥

'मद-युज्य-चारु' सोम

यस्ते मदो युज्यश्चारुरस्ति येन वृत्राणि हर्यश्व हंसि। स त्वामिन्द्र प्रभूवसो ममत्तु॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **प्रभूवसो**=प्रभूत ज्ञानैश्वर्य के स्वामिन्! **सः**=वह सोम शरीर में सुरक्षित हुआ-हुआ **त्वाम्**=तुझे **ममत्तु**=आनन्दित करे। २. वह सोम तुझे आनन्दित करे **यः**=जो **ते**=तेरे लिए **मदा**=उल्लास को पैदा करनेवाला है, **युज्यः**=तुझे प्रभु से मिलानेवाला है तथा **चारुः अस्ति**=जीवन को सुन्दर-ही-सुन्दर बनानेवाला है और हे **हर्यश्व**=कमनीय इन्द्रियाश्वोंवाले जीव! वह सोम तुझे आनन्दित करे **येन**=जिसके द्वारा तू **वृत्राणि**=ज्ञान की आवरणभूत वासनाओं को **हंसि**=विनष्ट करता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोम उल्लास का जनक है, हमें प्रभु से मिलानेवाला है, जीवन को सुन्दर बनानेवाला है। इस सोम के द्वारा वासनाओं का विनाश होता है।

ऋषिः—**वसिष्ठः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**विराट्त्रिपदागायत्री** ॥

वसिष्ठ का प्रभु-अर्चन

बोधा सु मे मघवन्वाचमेमां यां ते वसिष्ठो अर्चति प्रशस्तिम्।
इमा ब्रह्म सधमादे जुषस्व॥ ३॥

१. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **मे**=मेरी **इमां वाचम्**=इस स्तुतिवाणी को **सु**=अच्छी प्रकार **आ**=सर्वथा **बोध**=जानिए **यः**=जिस **ते**=आपकी **प्रशस्तिम्**=स्तुतिरूप वाणी को **वसिष्ठः**=वशियों में श्रेष्ठ अथवा उत्तम निवासवाला यह उपासक **अर्चति**=पूजित करता है, अर्थात् मुझे आप इसप्रकार ज्ञान दीजिए कि मैं वसिष्ठ बनकर आपका स्तवन करता हुआ आपका पूजन करूँ। २. हे प्रभो! **इमा ब्रह्म**=इन ज्ञानपूर्वक उच्चरित स्तुतिवाणियों को **सधमादे**=मिलकर आनन्दित होने के इस हृदयरूप स्थान में **जुषस्व**=प्रीतिपूर्वक सेवन कीजिए। हम हृदय में आपका ध्यान करते हुए इन ज्ञानपूर्वक उच्चरित स्तुति-वाणियों में आनन्द का अनुभव करें।

भावार्थ—हम वसिष्ठ बनकर ज्ञानपूर्वक उच्चरित स्तुति-वाणियों द्वारा हृदय में प्रभु का ध्यान करें। ये स्तुतिवाणियाँ हमें प्रभु का प्रिय बनाएँ।

यह स्तोता सोम-रक्षण द्वारा 'भर्गः' बनता है तथा निरन्तर प्रभु की ओर चलता हुआ 'मेध्यातिथि' होता है। अगले सूक्त में १-२ का ऋषि 'भर्गः' है। ३-४ का 'मेध्यातिथिः'—

११८. [अष्टादशोत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**भर्गः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (विषमा-बृहती+समा-सतोबृहती)** ॥

'ऐश्वर्य, यश व वसु'

शग्ध्यू३षु शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः।
भगं न हि त्वा यशसं वसुविदमनु शूर चरामसि॥ १॥

१. हे **शचीपते**=शक्तियों (कर्मों) व प्रज्ञानों के स्वामिन्! **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **विश्वाभिः**=सब **ऊतिभिः**=रक्षणों के द्वारा **उ**=निश्चय से **सुशग्धि**=सब उत्तम पदार्थों को दीजिए। २. **भगं न**=ऐश्वर्यपुञ्ज के समान **यशसम्**=यशस्वी तथा **वसुविदम्**=सब वसुओं को प्राप्त करानेवाले **त्वा**=आपको हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **हि अनु चरामसि**=निश्चय से उपासित करते हैं। आपकी उपासना हमें भी 'ऐश्वर्यशाली', यशस्वी-व सब वसुओं (धनों) को प्राप्त करनेवाला बनाएगी।

भावार्थ—वे शचीपति प्रभु हमें रक्षित करते हुए सब उत्तम पदार्थ प्राप्त कराते हैं। प्रभु की उपासना हमें 'ऐश्वर्य' व वसुओं को देती है।

ऋषिः—**भर्गः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (विषमा-बृहती+समा-सतोबृहती)** ॥

पौरः

पौरो अश्वस्य पुरुकृद्गवामस्युत्सो देव हिरण्ययः।
नकिर्हि दानं परिमर्धिषत्त्वे यद्यद्यामि तदा भर॥ २॥

१. हे **देव**=प्रकाशमय प्रभो! **अश्वस्य**=कर्मों में व्याप्त होनेवाली, कर्मेन्द्रियों के आप **पौरः**=पूरयिता **असि**=हैं। **गवाम्**=अर्थों की गमक इन्द्रियों के आप **पुरुकृत्**=पालन व पूरण करनेवाले हैं। आप हमारे लिए **हिरण्ययः उत्सः**=ज्योतिर्मय स्रोत के समान हैं। २. **त्वे**=आपमें **दानम्**=हमारे लिए देय धन **नकिः हि**=नहीं ही **परिमर्धिषत्**=हिंसित होता, अर्थात् आप सदा हमारे लिए इन धनों को प्राप्त कराते हैं। **यत् यत् यामि**=जो-जो मैं आपसे माँगता हूँ **तत**=उसे **आभर**=हमारे लिए प्राप्त कराइए।

भावार्थ—प्रभु हमारी ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों का पूरण करनेवाले हैं। हमारे लिए ज्ञान के स्रोत हैं। जो कुछ माँगते हैं, उसे हमारे लिए देते हैं।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (विषमा-बृहती+समा-सतोबृहती)** ॥

इन्द्र के आराधन से चार लाभ

इन्द्रमिद्देवतातय इन्द्रं प्रयत्यध्वरे। इन्द्रं समीके वनिनो हवामह इन्द्रं धनस्य सातये॥ ३॥

१. **इन्द्रम् इत्**=उस सर्वशक्तिमान् प्रभु को ही **प्रयति अध्वरे**=इस चलते हुए जीवन-यज्ञ के निमित्त, अर्थात् जीवन-यज्ञ की रक्षा के लिए पुकारते हैं। **इन्द्रम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को ही **देवतातये**=दिव्यगुणों के विस्तार के लिए **हवामहे**=पुकारते हैं। २. **इन्द्रम्**=उस शत्रुविद्रावक

प्रभु को ही **समीके**=संग्रामों में पुकारते हैं। प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर हम शत्रुओं का विद्रावण कर पाएँगे। **वनिनः**=प्रभु का संभजन करनेवाले हम **धनस्य सातये**=धन की प्राप्ति के लिए **इन्दम्**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु को पुकारते हैं।

भावार्थ—प्रभु की आराधना से ही (१) जीवन-यज्ञ सुरक्षितरूप में चलता है (२) दिव्यगुणों का विस्तार होता है ३. संग्रामों में हम विजयी बनते हैं और (३) धनों की प्राप्ति में समर्थ होते हैं।

ऋषिः—**मेध्यातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (विषमा-बृहती+समा-सतोबृहती)**॥

इन्द्र की महिमा

इन्द्रो॑ म॒ह्ना रोद॑सी पप्रथ॒च्छव॒ इन्द्रः॒ सूर्य॑मरोचयत्।
इन्द्रे॑ ह॒ विश्वा॒ भुव॑नानि येमिर॒ इन्द्रे॑ सुवा॒नास॒ इन्द॑वः॥ ४॥

१. **इन्द्रः**=वह सर्वशक्तिमान् प्रभु **मह्ना**=अपनी महिमा से **रोदसी**=द्यावापृथिवी में **शवः**=बल को **पप्रथत्**=विस्तृत करते हैं। द्यावापृथिवी में सर्वत्र प्रभु की शक्ति ही कार्य कर रही है। **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **सूर्यम्**=सूर्य को **अरोचयत्**=दीप्त करते हैं। सूर्य आदि सब ज्योतिर्मय पिण्ड प्रभु की दीप्ति से ही दीप्त हो रहे हैं 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'। २. **ह**=निश्चय से **इन्द्रे**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु में **विश्वा भुवनानि**=सब भुवन **येमिरे**=नियमित हो रहे हैं। प्रभु के शासन में ही वे सब लोक-लोकान्तर अपनी-अपनी मर्यादा में हैं। **इन्द्रे**=उस शक्तिशाली प्रभु में ही **इन्दवः**=शक्तिशाली **सुवानासः** (स्वनाः)=शब्द हैं। प्रभु इन शब्दों से ही लोक-लोकान्तरों का निर्माण करते हैं। शब्दगुणक आकाश प्रभु से प्रादुर्भूत होता है 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः'। इस शब्दगुणक आकाश से वायु आदि के क्रम से सृष्टि का विस्तार प्रभु ही करते हैं।

भावार्थ—द्यावापृथिवी में सर्वत्र प्रभु की शक्ति का विस्तार है। प्रभु ही सूर्य को दीप्त करते हैं—सब भुवन प्रभु द्वारा नियन्त्रित होते हैं। प्रभु में ही शक्तिशाली शब्दों का निवास है।

इन्द्र का स्तवन करता हुआ यह स्तोता अपने कर्तव्यों में तत्पर होकर 'आयु' कहलाता है (एति)। अगले सूक्त में प्रथम मन्त्र का यही ऋषि है। द्वितीय मन्त्र का ऋषि 'श्रुष्टिगु' है—खूब समृद्ध ज्ञानेन्द्रियोंवाला।

११९. [एकोनविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**आयुः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)**॥

वेदवाणी द्वारा बुद्धिवर्धन

अस्ता॑वि॒ मन्म॑ पू॒र्व्यं ब्रह्मेन्द्रा॑य वोचत। पू॒र्वीर्ऋ॒तस्य॑ बृह॒तीर॑नूषत स्तो॒तुर्मे॒धा अ॑सृक्षत॥ १॥

१. **पूर्व्यम्**=पालन व पूरण में उत्तम **मन्म**=मननीय स्तोत्र **अस्तावि**=हमसे स्तुत होता है। हम प्रभु का विचारपूर्वक स्तवन करते हैं—यह स्तवन हमारी लक्ष्यदृष्टि को पैदा करता हुआ हमारा पूरण करता है। **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु की प्राप्ति के लिए **ब्रह्म वोचत**=ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करो। २. **ऋतस्य**=सत्यज्ञान की **पूर्वीः**=सृष्टि के प्रारम्भ में दी जानेवाली **बृहतीः**=ये वर्धन की हेतुभूत वाणियाँ **अनूषत**=हमसे स्तुत होती हैं। इस वेदवाणी के स्तवन से **स्तोतुः**=स्तवन करनेवाले की **मेधा**=बुद्धियाँ **असृक्षत**=सृष्ट होती हैं। वेदवाणियों का अध्ययन बुद्धियों की वृद्धि का कारण बनता है।

भावार्थ—हम प्रभु का स्तवन करें। प्रभु-प्राप्ति के लिए ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करें।

ये वेदवाणियाँ हमारी बुद्धि का वर्धन करनेवाली होती हैं।

ऋषिः—**श्रुष्टिगुः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)** ॥

तुरण्यवः-विप्रासः

तुरण्यवो मधुमन्तं घृतश्चुतं विप्रासो अर्कमानृचुः।
अस्मे रयिः पप्रथे वृष्ण्यं शवोऽस्मे सुवानास इन्दवः॥ २॥

१. **तुरण्यवः**=क्षिप्रकारी, कर्मकुशल **विप्रासः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले लोग **मधुमन्तम्**=अत्यन्त माधुर्यवाले **घृतश्चुतम्**=हमारे जीवनों में दीप्ति को आसिक्त करनेवाले **अर्कम्**=पूजनीय प्रभु का **आनृचुः**=अर्चन करते हैं। २. इस प्रभु के अर्चन से **अस्मे**=हमारे लिए **रयिःपप्रथे**=ऐश्वर्य का विस्तार होता है। **वृष्ण्यं शवः**=हमें सुखों का सेचन करनेवाला बल प्राप्त होता है। **अस्मे**=हमारे लिए **सुवानासः**=उत्पन्न होते हुए सोमकण **इन्दवः**=शक्तिशाली बनानेवाले होते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का अर्चन करें। हमें इस अर्चन से ऐश्वर्य व शक्ति प्राप्त होगी। हमारे अन्दर सुरक्षित सोमकण हमें तेजस्वी व ओजस्वी बनाएँगे। प्रभु की उपासना जीवन को मधुर व ज्ञानदीप्त बनाती है।

यह प्रभु का उपासक अन्ततः 'देवातिथि' बनता है—प्रभु को अपना अतिथि बनाता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

१२०. [विंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**देवातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)** ॥

सर्वव्यापक प्रभु

यदिन्द्र प्रागपागुदङ् न्यग्वा हूयसे नृभिः।
सिमा पुरू नृषूतो अस्यानवेऽसि प्रशर्ध तुर्वशे॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत्**=जो आप **अपाग्**=पूर्व व पश्चिम में **उदग् न्यग् वा**=वा उत्तर व दक्षिण में **नृभिः**=मनुष्यों से **हूयसे**=पुकारे जाते हैं। वे आप **सिमः**=सब दिशाओं में विद्यमान है। आप कहाँ नहीं हैं? आप **पुरू**=खूब ही **नृषूतः असि**=उन्नति-पथ पर चलनेवालों के सारथि हैं। २. **आनवे**=(अन प्राणने) आप इन नर मनुष्यों को प्राणित व उत्साहित करनेवाले हैं। हे **प्रशर्ध**=प्रकृष्ट शक्ति-सम्पन्न प्रभो! आप **तुर्वशे असि**=त्वरा से शत्रुओं को वश में करने के लिए होते हैं। प्रभु का भक्त प्रभु से शक्ति व उत्साह प्राप्त करके शत्रुओं को शीघ्रता से वश में करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रभु सर्वव्यापक हैं। उन्नति-पथ पर चलनेवालों के पथ के सारथि होते हैं। उन्हें उत्साह व शक्ति देते हैं। शत्रुओं को वशीभूत करनेवाले हैं।

ऋषिः—**देवातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)** ॥

'रुम, रुशम, श्यावके, कृप'

यद्वा रुमे रुशमे श्यावके कृप इन्द्र मादयसे सचा।
कण्वासस्त्वा ब्रह्मभि स्तोमवाहस इन्द्रा यच्छन्त्या गहि॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यत् वा**=या जो **रुमे** (रु शब्दे) स्तुतिशब्दों का उच्चारण करनेवाले पुरुष में, या **रुशमे**=(रुश् to kill) स्तुतिशब्दों के उच्चारण के साथ शत्रु-संहार

करनेवाले में तथा **श्यावके**=शत्रुसंहार के उद्देश्य से ही निरन्तर गतिशील पुरुष में (श्यैङ् गतौ) और **कृपे**=(कृप् सामर्थ्ये) शक्तिशाली पुरुष में **रुचा**=समवाय-(मेल)-वाले होते हुए, आप **मादयसे**=इन उपासकों को आनन्दित करते हैं। २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **स्तोमवाहसः**=स्तुतिसमूहों का धारण करनेवाले **कण्वासः**=बुद्धिमान् लोग **ब्रह्मभिः**=ज्ञानपूर्वक उच्चरित होनेवाली इन स्तुतिवाणियों से **त्वा यच्छन्ति**=आपके प्रति अपने को दे डालते हैं। **आगहि**=आप इन स्तोताओं को प्राप्त होइए।

भावार्थ—प्रभु उन्हें प्राप्त होते हैं जो (१) स्तुतिशब्दों का उच्चारण करते हैं (२) वासनाओं का संहार करते हैं (२) गतिशील हैं तथा (३) शक्तिशाली बनते हैं। स्तोता प्रभु के प्रति अपना अर्पण करते हैं—प्रभु इन्हें प्राप्त होते हैं।

प्रभु को प्राप्त करनेवाला यह स्तोता अतिशयेन उत्कृष्ट जीवनवाला 'वसिष्ठ' बनता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है।

१२१. [एकविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**देवातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)**॥

ईशान का ध्यान

अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धाइव धेनवः। ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः॥ १॥

१. हे **शूर**=हमारे 'काम, क्रोध, लोभ'-रूप शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! हम **अदुग्धाः धेनवः**=जो दुग्धदोह नहीं हो गईं, अर्थात् जो इतनी वृद्ध नहीं हो गईं कि अब दूध देंगी ही नहीं, उन गौओं के समान, अर्थात् अवृद्ध ही—तरुणावस्था में ही **त्वा अभिनोनुमः**=आपको प्रातः व सायं खूब ह स्तुत करते हैं। २. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप ही **अस्य जगतः**=इस जंगम संसार के **ईशानम्**=ईशान हैं। आप ही **तस्थुषः ईशानम्**=सम्पूर्ण स्थावर जगत् के भी स्वामी हैं। आप **स्वर्दृशम्**=सूर्य के समान दिखते हैं 'ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः' अथवा सबका ध्यान करनेवाले आप ही हैं (Look after)। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के आप ईशान हैं और सारे ब्रह्माण्ड के आप पालक हैं।

भावार्थ—हम तरुणावस्था में ही सदा प्रातः-सायं प्रभु का स्मरण करें। प्रभु ही हमारे शत्रुओं का विनाश करेंगे और ये ही हम सबके स्वामी व पालनकर्ता हैं।

ऋषिः—**देवातिथिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**बार्हतः प्रगाथः (बृहती+सतोबृहती)**॥

अद्वितीय प्रभु

न त्वावाँ अन्यो दिव्यो न पार्थिवो न जातो न जनिष्यते।
अश्वायन्तो मघवन्निन्द्र वाजिनो गव्यन्तस्त्वा हवामहे॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वावान्**=आपके समान **न अन्यः दिव्यः**=न तो कोई अन्य दिव्य सत्ता, **न पार्थिवः**=न ही पार्थिव सत्ता **न जातः**=न तो पैदा हुई है और **न**=न ही **जनिष्यते**=पैदा होगी। आप अद्वितीय हैं। २. हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **अश्वायन्तः**=उत्तम कर्मेन्द्रियों को प्राप्त करने की कामनावाले होते हुए, **गव्यन्तः**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियों की कामना करते हुए **वाजिनः**=उत्तम शक्तिवाले होते हुए हम **त्वा हवामहे**=आपको ही पुकारते हैं। आपका आराधन ही हमें उत्तम इन्द्रियों व शक्ति को प्राप्त कराएगा।

भावार्थ—हम प्रातः-सायं अद्वितीय प्रभु को ही पुकारते हैं। वे हमें उत्तम इन्द्रियों व शक्ति प्राप्त कराएँगे।

उत्तम इन्द्रियों व शक्ति को प्राप्त करके ही हम सुखों का निर्माण करनेवाले 'शुनःशेप' बन सकेंगे। यह शुनःशेप ही अगले सूक्त का ऋषि है—

१२२. [द्वाविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**शुनःशेपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'सधमादः क्षुमन्तः' तुविवाजाः

रेवतीर्नः सधमाद इन्द्रे सन्तु तुविवाजाः। क्षुमन्तो याभिर्मदेम ॥ १ ॥

१. **इन्द्रे**=इन्द्र के हमारे होने पर, अर्थात् जब हम प्रभु की ही कामना करेंगे और प्रभु को अपनाएँगे तब **नः**=हमारे **रेवतीः**=प्रशस्त धनोंवाले **तुविवाजाः**=प्रभूत अन्न **सन्तु**=हों, जो अन्न **सधमादः**=साथ मिलकर हमें आनन्द देनेवाले हों, अर्थात् वे अन्न हमारे हों, जिनको हम स्वयं ही सारों को न खा जाएँ, अपितु औरों के साथ बाँटकर ही खानेवाले हों। २. ये अन्न **क्षुमन्तः**=भूखवाले हों, अर्थात् इन अन्नों को हम इस रूप में सेवन करें कि इनके अतियोग से हमारी भूख ही न समाप्त हो जाए और इसप्रकार ये अन्न ऐसे हों कि **याभिः**=जिनसे नीरोग व सशक्त बने हुए हम **मदेम**=हर्ष का अनुभव करें। ३. प्रभु-प्रवण व्यक्ति को (क) निर्धनता का कष्ट नहीं सहना पड़ता (रेवतीः), (ख) साथ ही धनी होकर कृपण नहीं होता, miser बनकर miserable life वाला नहीं हो जाता (सधमादः), (ग) इन धनों व अन्नों से विलासमय जीवनवाला बनकर रोगी भी नहीं हो जाता (क्षुमन्तः)। संक्षेप में वह धनी होता हुआ न तो इनका अतियोग करता है, न अयोग, अपितु यथायोग से चलता हुआ आनन्दमय जीवन वाला होता है।

भावार्थ—प्रभु-प्रवण व्यक्ति को वे अन्न व धन प्राप्त होते हैं, जिनका वह औरों के साथ मिलकर उपभोग करता है। वे अन्न व धन उसे अपने में आसक्त करके अतियोग से रुग्ण नहीं कर देते। परिणामतः इनसे वह आनन्द ही प्राप्त करता है।

ऋषिः—**शुनःशेपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

त्रिविध उन्नति

आ घ त्वावान्त्मनाप्त स्तोतृभ्यो धृष्णवियानः। ऋणोरक्षं न चक्र्योः ॥ २ ॥

१. हे **स्तोतृभ्यः धृष्णो**=स्तोताओं के लिए उनके शत्रुओं का घर्षण करनेवाले प्रभो! जो व्यक्ति **त्वावान्**=आप-जैसा बनने का प्रयत्न करता है और **त्मना आप्तः**=आत्मतत्त्व की प्राप्ति से सब-कुछ को प्राप्त मानता है। वह **इयानः**=सदा गतिशील होता हुआ **घ**=निश्चय से **चक्र्योः अक्षं न**=चक्रों में अक्ष की भाँति, मस्तिष्क व शरीर (द्युलोक व पृथिवीलोक) के बीच में हृदय (अन्तरिक्ष) को **आ ऋणोः**=प्राप्त करता है (आ ऋणोति)। जैसे चक्र व अक्ष साथ-साथ चलते हैं उसी प्रकार यह स्तोता मस्तिष्क, शरीर व हृदय सबकी साथ-साथ उन्नति करता है। उन्नति कर वही पाता है जोकि क्रियाशील होता है (इयानः) २. यह ठीक है कि यह व्यक्ति प्रभु का स्तवन करता है और प्रभु ही इसके मार्ग में आनेवाले विघ्नभूत शत्रुओं का विनाश करते हैं। स्तोताओं के शत्रुओं का विनाश प्रभु का ही कार्य है। स्तोता वह है जोकि प्रभु-जैसा बनने का प्रयत्न करता है (**त्वावान्**) तथा अपने अन्दर आत्मा से ही तुष्ट होने का प्रयत्न करता है (त्मना आप्तः=आत्मन्येवात्मना तुष्टः)।

भावार्थ—हम प्रभु के स्तोता बनें। प्रभु हमारे वासनारूप शत्रुओं का संहार करेंगे। तभी हम शरीर, मन व मस्तिष्क तीनों की उन्नति कर पाएँगे।

ऋषिः—**शुनःशेपः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'प्रज्ञा, वाणी व कर्म'

आ यद्दुवः शतक्रतवा कामं जरितॄणाम्। ऋणोरक्षं न शचीभिः ॥ ३ ॥

१. हे **शतक्रतो**=सैकड़ों प्रज्ञाओं व कर्मोंवाले प्रभो! आप **जरितॄणाम्**=स्तोताओं को **यत्**=जो **दुवः**=धन (दुवस् wealth) तथा **कामम्**=चाहनेवाले पदार्थों को **आऋणोः**=सर्वथा प्राप्त कराते हैं, यह सब **शचीभिः**=(कर्म नि० २.१; वाणी १.११; प्रज्ञा ३.९) कर्म, वाणी व प्रज्ञा के हेतु से **अक्षं न**=दो पहियों के बीच में वर्तमान अक्ष के समान हैं। जैसे दो पहियों के बीच में अक्ष होता है, उसी प्रकार यहाँ प्रज्ञा व कर्म के बीच में वाणी है। दोनों पहिये तथा अक्ष साथ-साथ घूमते हैं, उसी प्रकार प्रज्ञा, वाणी व कर्म साथ-साथ चलते हैं। प्रत्येक कर्म पहले विचार के रूप में होता है (प्रज्ञा), फिर उच्चारण के रूप आता है (वाङ्) और अन्ततः आचरण (कर्म) का रूप धारण करता है। २. प्रभु हमें जो भी धन प्राप्त कराते हैं या हमें जो काम्य पदार्थ देते हैं, वे सब इसलिए कि हम 'प्रज्ञा, वाणी व कर्म' को सुन्दर बना सकें। इन सब धनों व काम्य पदार्थों का अतियोग व अयोग न करते हुए हम यथायोग करेंगे तो हम 'प्रज्ञा, वाणी व कर्म' इन सबको सुन्दर बना ही सकेंगे।

भावार्थ—हम प्रभु के स्तोता बनें। प्रभु हमें धनों व इष्ट पदार्थों को प्राप्त कराएँगे। उनके यथायोग से हम 'प्रज्ञा, वाणी व कर्म' को पवित्र बना पाएँगे।

'प्रज्ञा, वाणी व कर्म' को पवित्र बनानेवाला यह व्यक्ति 'कुत्स' कहलाता है—सब वासनाओं का संहार करनेवाला। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

१२३. [त्रयोविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**कुत्सः** ॥ देवता—**सूर्यः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

उपसंहार

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततं सं जभार।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै ॥ १ ॥

१. **तत्**=तभी **सूर्यस्य**=सूर्य का—सूर्य के समान ज्ञानदीप्त मेधावी पुरुष का **देवत्वम्**=देवपन है, **तत्**=तभी **महित्वम्**=बड़प्पन व महिमा होती है **यदा**=जबकि **मध्यःकर्तोः**=कामों के बीच में **विततम्**=फैले हुए क्रियाजाल को **संजभार**=संगृहीत करता है। संसार में मनुष्य ने आजीविका के लिए कोई-न-कोई काम तो करना ही होता है। प्रारम्भ में कार्य छोटा-सा होता है। धीरे-धीरे कई बार वह बड़ा फैल जाता है। मनुष्य उसमें उलझ जाता है। कई बार इतना उलझ जाता है कि उसे खान-पान की सुध भी नहीं रहती। इस उलझन से उसके आयुष्य में भी कमी आ जाती है और ज्ञान-मार्ग के आक्रमण का तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता। इसी सम्पूर्ण विचार से वैदिक संस्कृति में गृहस्थ को समाप्त करके वानप्रस्थ होने का आदेश है। मनुष्य अपने कार्यों को समाप्त (wind up) करे और स्वाध्याय में समय का यापन करे। समाप्ति का यह भी प्रकार है कि अपने इन सब कार्यों को पुत्रों के कन्धों पर डाल दे। २. इसप्रकार निपटकर **यदा**=जब यह **इत्**=निश्चय से **सधस्थात्**=सदा साथ रहनेवाले प्रभु से **हरितः**=ज्ञान की रश्मियों को **अयुक्त**=अपने साथ जोड़ता है, तब इस ज्ञान की रश्मियों से द्योतित होकर यह 'देव' बनता है। इस ज्ञानदीप्ति से ही यह महिमावाला होता है। ३. **आत्**=अन्यथा, अर्थात् कर्मों का उपसंहार करके प्रभु की गोद में न बैठने पर **रात्री**=अज्ञानान्धकार **सिमस्मै**=सबके लिए **वासः**=अज्ञानान्धकार

के वस्त्रों को **तनुते**=तान देती है। धन में उलझा हुआ मनुष्य चिन्तामय जीवनवाला होता है। उसे 'मैं कौन हूँ, यहाँ क्यों आया हूँ' इन प्रश्नों के सोचने का समय ही नहीं मिलता। इसप्रकार अपने स्वरूप के विषय में ही वह अज्ञानन्धकार में रहता है।

भावार्थ—हम जीविका के कार्यों का उपसंहार करके सधस्थ प्रभु से ज्ञान प्राप्त करें, जिससे हमपर सदा अज्ञान का पर्दा ही न पड़ा रहे।

ऋषिः—**कुत्सः**॥ देवता—**सूर्यः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'अनन्त, अन्यत्, रुशत्' पाजः

तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे।
अनन्तमन्यद्रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः सं भरन्ति॥ २॥

१. यह **सूर्यः**=ज्ञान-सूर्य को अपने अन्दर उदित करनेवाला व्यक्ति **द्योः**=उस प्रकाशमय प्रभु के **उपस्थे**=समीप, अर्थात् उसकी उपासना करता हुआ **मित्रस्य**=स्नेह की भावना के तथा **वरुणस्य**=द्वेष-निवारण की भावना के **अभिचक्षे**=अपने अन्दर दर्शन के लिए **तत् रूपम्**=उस प्रकाश को अपने अन्दर **कृणुते**=करता है (**रूपम्**=प्रज्ञाने नि० १०.१३)। प्रभु का उपासक उस प्रकाश को पाता है जो प्रकाश उसे मनुष्य की एकता का दर्शन कराता है—उस स्थिति में राग-द्वेष का प्रश्न ही कहाँ? २. **अस्य**=इस ज्ञानदीप्त पुरुष का **पाजः**=बल **अनन्तम्**=बहुत अधिक होता है। **अन्यत्**=इसका बल विलक्षण ही होता है। **रुशत्**=इसका यह बल देदीप्यमान होता है। वस्तुतः प्रभु के सम्पर्क के कारण इसमें प्रभु की शक्ति काम करने लगती है, अतः इसकी शक्ति का असाधारण व विलक्षण प्रतीत होना स्वाभाविक है। ३. **हरितः**=इसकी ये ज्ञानरश्मियाँ **अन्यत्**=एक विलक्षण ही **कृष्णम्** (कृष्=भूः स्वास्थ्य, नः निर्वृत्ति)=स्वास्थ्य व सन्तोष का **संभरन्ति**=सम्यक् भरण करनेवाली होती हैं। इस 'कुत्स' के ज्ञान-सूर्य की रश्मियाँ सभी को प्राणशक्ति व प्रकाश प्राप्त कराती हैं।

भावार्थ—हम प्रभु का उपस्थान करते हुए ज्ञान प्राप्त करें। सबके प्रति स्नेहवाले, तेजस्वी व प्रकाश फैलानेवाले बनें।

प्रभु की गोद में बैठनेवाला यह उपासक स्नेह व निर्द्वेषिता को अपनाकर 'वामदेव'=सुन्दर दिव्य गुणोंवाला बनता है। यही अगले सूक्त में १-३ का ऋषि है। लोकहित में प्रवृत्त हुआ-हुआ यह सबको अपने परिवार में सम्मिलित करके 'भुवन' होता है। यही ४-६ तक मन्त्रों का ऋषि है—

१२४. [चतुर्विंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**वामदेवः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

वह सदा का साथी

कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा। कया शचिष्ठया वृता॥ १॥

१. वे **सदावृधः**=सदा से बढ़े हुए **सखा**=जीव के मित्र **चित्रः**=अद्भुत शक्ति व ज्ञानवाले प्रभु **नः**=हमारे **ऊती**=कल्याणमय रक्षण के द्वारा **आभुवत्**=चारों ओर विद्यमान हैं। जब मैं प्रभु से आवृत हूँ तब मुझे भय किस बात का? 'हम प्रभु में रह रहे हैं' इस तथ्य को हम अनुभव करेंगे तो निर्भीक बनेंगे ही। प्रभु हमें सदा बढ़ानेवाले हैं। हम ही क्रोध, ईर्ष्या व द्वेष आदि से उस उन्नति को समाप्त कर लेते हैं। २. वे प्रभु **कया**=कल्याणकर **शचिष्ठया**=अत्यन्त शक्तिप्रद **वृता**=आवर्तन के द्वारा हमारे चारों ओर विद्यमान हैं। दिन-रात व ऋतुओं आदि का चक्र हमारे

कल्याण के लिए ही है।

भावार्थ—मैं उस सदा के साथी, मेरी सतत वृद्धि के कारणभूत प्रभु को अपने चारों ओर अनुभव करूँ। वे प्रभु अनन्त शक्तिप्रद आवर्तनों के द्वारा हमारी रक्षा कर रहे हैं।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

आसुर पुरियों का विध्वंस

कस्त्वा सत्यो मदानां मंहिष्ठो मत्सदन्धसः। दृढा चिदारुजे वसु॥ २॥

१. हे जीव! **त्वा**=तुझे **कः**=आनन्दमय **सत्यः**=सत्यस्वरूप **मदानां मंहिष्ठः**=आनन्दों के सर्वाधिक दाता प्रभु **अन्धसाः**=इस आध्यायनीय सोम के द्वारा **मत्सत्**=आनन्दित करते हैं। इस सोम को वे प्रभु तुझे इसलिए भी प्राप्त कराते हैं कि **दृढा चित्**=बड़े दृढ़ भी **वसु**=लोकों को **आरुजे**= छिन्न-भिन्न करने के लिए तू समर्थ हो सके। २. सोम-रक्षण ही आनन्द-प्राप्ति का साधन है। हम सोम-रक्षण से समर्थ बनकर 'काम, क्रोध, लोभ' आदि असुरों की पुरियों का विदारण करने में समर्थ होते हैं।

भावार्थ—प्रभु ने हमारे शरीर में सोम की उत्पत्ति की है। इसके द्वारा ही प्रभु हमारे जीवनों को आनन्दमय व पवित्र बनाते हैं।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

सखा+जरिता

अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम्। शतं भवास्यूतिभिः॥ ३॥

१. हे प्रभो! आप **अभि**=दोनों ओर **सु**=उत्तमता से **नः**=हम **सखीनाम्**=सखा (मित्र) **जरितॄणाम्**=स्तोताओं को **शतम्**=सौ वर्षपर्यन्त **ऊतिभिः**=रक्षणों के द्वारा **अविता भवासि**=रक्षक होते हैं। प्रभु मातृ-गर्भ में भी व बाहर आने पर भी हमारे रक्षक होते हैं। उन्होंने सर्वत्र हामरे रक्षण की व्यवस्था की है। सम्पूर्ण संसार चक्राकार गति में चलता हुआ हमारा रक्षण करनेवाला होता है। २. यह रक्षण सखाओं को प्राप्त होता है। जो भी व्यक्ति समान ख्यान-(ज्ञान)-वाले बनते हैं वे ही संसार के इन पदार्थों से कल्याण प्राप्त कर पाते हैं। इसी प्रकार प्रभु-स्तवन करते हुए वे भटकते नहीं और कल्याण के भागी होते हैं। ३. 'ऊतिभिः'=शब्द का अर्थ 'कर्मों से' (गति से) भी है। प्रभु क्रियाशील का ही कल्याण करते हैं। इसप्रकार अपने जीवन में 'ज्ञान, उपासना व कर्म' का समन्वय करनेवाला व्यक्ति प्रभु-कृपा का पात्र बनता है।

भावार्थ—हम प्रभु के सखा व स्तोता बनकर प्रभु-कृपा के पात्र हों। प्रभु सबके रक्षक हैं।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

इमा नु कं भुवना सीषधामेन्द्रश्च विश्वे च देवाः।
यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्रः सह चीक्लृपाति॥ ४॥
आदित्यैरिन्द्रः सगणो मरुद्भिरस्माकं भूत्वविता तनूनाम्।
हत्वाय देवा असुरान्यदायन्देवा देवत्वमभिरक्षमाणाः॥ ५॥
प्रत्यञ्चमर्कमनयञ्छचीभिरादित्स्वधामिषिरां पर्यपश्यन्।
अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतहिमाः सुवीराः॥ ६॥

व्याख्या २०.६३.१-३ पर द्रष्टव्य है

गत सूक्त की भावना के अनुसार जीवन को सुन्दर बनाता हुआ यह व्यक्ति उत्तम यशवाला 'सुकीर्ति' बनता है। प्रभु का उत्तम कीर्तन करने से भी यह 'सुकीर्ति' होता है। यही अगले सूक्त का ऋषि है—

१२५. [पञ्चविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**सुकीर्तिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

शत्रुओं का अपनोदन

अपेन्द्र प्राचो मघवन्नमित्रानपापाचो अभिभूते नुदस्व।
अपोदीचो अप शूराधराच उरौ यथा तव शर्मन्मदेम॥ १॥

१. हे **इन्द्र**=शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन् प्रभो! **प्राचः अमित्रान्**=सामने से आनेवाले शत्रुओं को **अपनुदस्व**=परे धकेल दीजिए। इसी प्रकार हे **अभिभूते**=शत्रुओं का अभिभव करनेवाले प्रभो! **अपाचः**=दाहिनी ओर से आनेवाले शत्रुओं को भी **अप**=दूर कीजिए। **उदीचः**=उत्तर की ओर से आनेवाले शत्रुओं को **अप**=दूर कीजिए। हे **शूर**=शत्रुओं को शीर्ण करनेवाले प्रभो! **अधरा च**=पश्चिम से (सूर्य जिस दिशा में नीचे जाता प्रतीत होता है—अधर) आते हुए शत्रुओं को भी **अप**=दूर कीजिए। सब दिशाओं से आनेवाले इन शत्रुओं को हमसे पृथक् कीजिए। २. इन सब काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर आदि शत्रुओं को पराजित करके हम **यथा**=जिस प्रकार **तव**=आपकी **उरौ**=विशाल **शर्मन्**=शरण में **मदेम**=आनन्द में रहें, ऐसी आप कृपा कीजिए।

भावार्थ—चारों दिशाओं से होनेवाले शत्रुओं के आक्रमण से हम बचें। सदा प्रभु की शरण में आनन्द में रहें।

ऋषिः—**सुकीर्तिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

वासनाशून्य हृदय में प्रभु-भजन

कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय।
इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमोवृक्तिं न जग्मुः॥ २॥

१. हे **अङ्ग**=प्रिय! **यथा**=जैसे **यवमन्तः**=जौ-वाले—जौ की कृषि करनेवाले **चित्**=निश्चय से **यवम्**=जौ को **पूर्वम्**=क्रमशः **वियूय**=पृथक्-पृथक् करके **कुवित्**=खूब ही **दान्ति**=काट डालते हैं। इसी प्रकार **ये**=जो व्यक्ति अपने हृदय-क्षेत्र से वासनाओं को उखाड़ डालते हैं और वासनाशून्य **बर्हिषः**=जिसमें से वासनाओं का उद्बर्हण कर दिया गया है, उस हृदय में **नमःवृक्तिम्**=नमस्कार के वर्जन को **न जग्मुः**=नहीं प्राप्त होते हैं, अर्थात् जो अपने हृदयों को वासनाशून्य बनाते हैं और उन हृदयों में सदा प्रभु के प्रति नमन की भावना को धारण करते हैं, **एषाम्**=इनके **इह इह**=इस-इस स्थान पर, अर्थात् जब-जब आवश्यकता पड़े **भोजननानि**=पालन के साधनभूत भोग्य पदार्थों को प्राप्त कराइए। २. मनुष्य का कर्त्तव्य यह है कि एक-एक करके वासनाओं को विनष्ट करनेवाला हो। वासनाशून्य हृदय में प्रभु को नमन करे। प्रभु इसको योगक्षेम प्राप्त कराते ही हैं।

भावार्थ—मनुष्य वासनाओं का उद्बर्हण करके वासनाशून्य हृदय में प्रभु के प्रति नमनवाला होता है तो प्रभु उसके योगक्षेम की स्वयं व्यवस्था करते हैं।

ऋषिः—**सुकीर्तिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्रभु की मित्रता में

नहि स्थूर्यृतुथा यातमस्ति नोत श्रवो विविदे संगमेषु।
गव्यन्त इन्द्रं सख्याय विप्रा अश्वायन्तो वृषणं वाजयन्तः॥ ३॥

१. **स्थूरि** (अव)=एक बैल से युक्त शकट **ऋतुथा**=समय पर **यातम्**=उद्दिष्ट स्थान पर प्राप्त **नहि अस्ति**=नहीं होता है, इसी प्रकार उस प्रभु के बिना अकेला जीव अपने शरीर-रथ को उद्दिष्ट स्थान पर नहीं ले-जा सकता। सम्पूर्ण सफलता प्रभु से प्राप्त शक्ति पर ही निर्भर करती है। २. यह प्रभु को विस्मृत करनेवाला व्यक्ति **संगमेषु**=सभाओं में उपस्थित न होकर **श्रवः**=ज्ञान को **न विविदे**=नहीं प्राप्त करता है। यह व्यक्ति भोगप्रवण होकर ज्ञानरुचिवाला नहीं रहता, इसलिए **गव्यन्तः**=उत्तम ज्ञानेन्द्रियों की कामना करते हुए **अश्वायन्तः**=उत्तम कर्मेन्द्रियों की कामना करते हुए **वाजयन्तः**=शक्ति की कामना करते हुए **विप्राः**=ज्ञानी पुरुष **इन्द्रम्**=उस प्रभु को ही **सख्याय**=मित्रता के लिए चाहते हैं। प्रभु की मित्रता में ही मनुष्य अपने शरीर-रथ को लक्ष्य की ओर ले-चलता है। उसकी इन्द्रियाँ सशक्त बनती हैं। अंग-प्रत्यंग की शक्ति स्थिर रहती है।

भावार्थ—प्रभु की मित्रता में मनुष्य मार्गभ्रष्ट न होकर अपने ज्ञान व बल का वर्धन करता हुआ लक्ष्य-स्थान पर पहुँचता है।

ऋषिः—**सुकीर्तिः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सुरामं विपिपाना

युवं सुराममश्विना नमुचावासुरे सचा। विपिपाना शुभस्पती इन्द्रं कर्मस्वावतम्॥ ४॥

१. 'अश्विना' शरीर में प्राणापान हैं। इनकी साधना से शरीर में सोमशक्ति (वीर्य) की ऊर्ध्वगति होती है। इस सोमशक्ति को प्रस्तुत मन्त्र में 'सुरामम्' कहा गया है। इसके द्वारा जीव उत्तम रमणवाला होता है 'सुष्ठु रमते अनेन'। सोम-रक्षण होने पर ही सब आनन्द-निर्भर हैं। इसी से मनुष्य सौम्य स्वभाव का बनता है और अन्ततः प्रभु को पानेवाला होता है। २. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**=आप **सुरामम्**=उत्तम रमण के साधनभूत सोम का **विपिपाना**=विशेषरूप से पान करते हुए, **शुभस्पती**=सब कर्मों के रक्षक होते हो, **सचा**=परस्पर मिलकर—प्राण-अपान से मिलकर **आसुरे**=असुरों के अधिपति **नमुचौ** (न मुचि)=अत्यन्त कठिनता से पीछा छोड़नेवाले इस अहंकार का हनन करनेवाले होते हो। प्राणसाधना से सब मलों का क्षय होते-होते इस आसुर अहंकारवृत्ति का भी ध्वंस हो जाता है। ३. इस आसुरवृत्ति का संहार करके आप **इन्द्रम्**=इस जितेन्द्रिय पुरुष को **कर्मसु**=कर्मों में **आवतम्**=रक्षित करते हो। कर्मों में लगा रहकर यह साधक वासनाओं की ओर नहीं झुकता और पवित्र बना रहकर प्रभु को पानेवाला होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से सोम का रक्षण होकर मनुष्य निरहंकार होता है। कर्मशील बना रहकर पवित्र बना रहता है और प्रभु को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**सुकीर्तिः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

काव्यैः-दंसनाभिः

पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दंसनाभिः।
यत्सुरामं व्यपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक्॥ ५॥

१. **इव**=जैसे **पितरौ**=माता-पिता **पुत्रम्**=पुत्र को रक्षित करते हैं उसी प्रकार हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय

पुरुष! **उभा अश्विना**=ये दोनों प्राणापान **काव्यैः**=उत्तम ज्ञानों के द्वारा तथा **दंसनाभिः**=उत्तम कर्मों के द्वारा **अवथुः**=तेरा रक्षण करते हैं। प्राणापान हमारे लिए माता-पिता के समान हैं। इनके रक्षणों से हमारा ज्ञान बढ़ता है और हमारी प्रवृत्ति उत्तम कर्मों में होती है। २. यह सब कब होता है? **यत्**=जबकि हे **मघवन्**=ऐश्वर्यशालिन्! तू **सुरामम्**=इस रमण के साधनाभूत उत्तम सोम को **व्यपिब**=विशेषरूप से पीनेवाला होता है। प्राणसाधना के द्वारा ही तो इस सोम का पान होता है। ऐसा होने पर **सरस्वती**=यह ज्ञान की अधिष्ठातृ-देवता सरस्वती **शचीभिः**=प्रज्ञानों के द्वारा (नि० ३.९) तथा उत्तम कर्मों के द्वारा (नि० २.१) **त्वा**=तुझे **अभिष्णक्**=(भिष्णज् सेवायाम्) सेवित करती है। सोम पान से ज्ञान बढ़ता है और उत्तम कर्मों में प्रवृत्ति होती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से सोम-रक्षण होता है। सोम-रक्षण से ज्ञानवृद्धि व उत्तम कर्मों में अभिरुचि होती है।

ऋषिः—**सुकीर्तिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

निर्द्वेषता-निर्भयता-सुवीरता

इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः।
बाधतां द्वेषो अभयं नः कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम॥ ६॥

१. **इन्द्रः**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाला प्रभु **द्वेषः बाधताम्**=द्वेष की भावना को हमसे दूर करे। **सुत्रामा**=वह उत्तम रक्षण करनेवाला **स्ववान्**=सब धनोंवाला व आत्मिक शक्तिवाला प्रभु **अवोभिः**=रक्षणों के द्वारा हमारे लिए **अभयं कृणोतु**=निर्भयता करें। प्रभु की गोद में बैठे हुए हम आत्मशक्ति-सम्पन्न बनकर निर्भय क्यों न होंगे? २. वे **विश्ववेदाः**=सम्पूर्ण धनोंवाले प्रभु **सुमृडीकः भवतु**=आवश्यक धनों को प्राप्त कराके हमारे लिए उत्तम सुखों को देनेवाले हों। व्यर्थ के भोगों में न फँसकर हम **सुवीर्यस्य**=उत्तम शक्ति के **पतयः**=रक्षक **स्याम**=हों।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हम निर्द्वेष, निर्भय व सुवीर बनें।

ऋषिः—**सुकीर्तिः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सुमति+सौमनस

स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मदाराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु।
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम॥ ७॥

१. **सः**=वह **सुत्रामा**=उत्तम त्राण करनेवाला **स्वावान्**=आत्मिक शक्ति से सम्पन्न **इन्द्रः**=शत्रुविद्रावक प्रभु **अस्मत्**=हमसे **द्वेषः**=द्वेष को **आरात् चित्**=निश्चय से बहुत दूर प्रवाहित करके **युयोतु**=पृथक् कर दे। 'यह द्वेष हमारे समीप फिर न आसके' इस रूप में प्रभु इसे हमसे दूर करें। २. **तस्य यज्ञियस्य**=उस यज्ञिय—पूज्य प्रभु की **सुमतौ**=कल्याणी मति में **वयम् स्याम**=हम हों **अपि**=और **भद्रे सौमनसे**=उस उत्तम मन में स्थित हों जो सबका भद्र व कल्याण ही सोचता है।

भावार्थ—प्रभु-कृपा से हमें सुमति व सौमनस प्राप्त हों। द्वेष हमसे दूर हो।

'सुमति व सौमनस' को प्राप्त करनेवाला यह व्यक्ति 'वृषाकपि' बनता है—शक्तिशाली व वासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाला। यह 'इन्द्र' परमैश्वर्यशाली प्रभु का उपासक होने से 'इन्द्र' कहलाता है। 'इन्द्राणी' प्रकृति प्रभु का सामर्थ्य है। उस प्रकृति की ओर झुकनेवाली ऋषिका भी 'इन्द्राणी' है। ये ही अगले सूक्त के द्रष्टा है—

१२६. [षड्विंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**वृषाकपिरिन्द्राणी च**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

प्रभु-मित्रता में आनन्द

वि हि सोतो॒रसृ॑क्षत॒ नेन्द्रं॑ दे॒वमं॑मंसत।
यत्राम॑दद् वृ॒षाक॑पिर॒र्यः पु॒ष्टेषु॒ मत्स॑खा॒ विश्व॑स्मा॒दिन्द्र॒ उत्त॑रः॥ १॥

१. **हि**=निश्चय से **सोतोः**=ज्ञान को उत्पन्न करने के हेतु से **वि असृक्षत**=विशेषरूप से इन इन्द्रियों का निर्माण हुआ है, परन्तु सामान्यतः ये तत्त्वज्ञान की ओर न झुककर विषयों की ओर भागती हैं। **देवम् इन्द्रम्**=उस प्रकाशमय प्रभु का **न अमंसत**=मनन नहीं करतीं। २. ये इन्द्रदेव प्रभु वे हैं, **यत्र**=जिनमें स्थित हुआ-हुआ **वृषाकपिः**=वासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाला (कपि) शक्तिशाली (वृषा) पुरुष **अमदत्**=आनन्द का अनुभव करता है। यह वृषाकृषि **अर्यः**=स्वामी बनता है, इन्द्रियों का दास नहीं होता। **पुष्टेषु**=अंग-प्रत्यंग की शक्तियों का पोषण करने पर **मत्सखा**=(माद्यति इति मत्) इस आनन्दमय प्रभुरूप मित्रवाला होता है। ३. यह **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **विश्वस्मात् उत्तरः**=सबसे उत्कृष्ट हैं। प्रभु-प्राप्ति में सम्पूर्ण प्राप्ति—संसार की प्राप्ति स्वयं ही हो जाती है।

भावार्थ—इन्द्रियाँ तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए दी गई हैं। इनके द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त करते हुए हम 'वृषाकपि' बनकर प्रभु-प्राप्ति में आनन्द का अनुभव करें।

ऋषिः—**वृषाकपिरिन्द्राणी च**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

प्रभु-प्राप्ति के लिए आतुरता

परा॒ हीन्द्र॒ धाव॑सि वृ॒षाक॑पे॒रति॒ व्यथिः।
नो अह॒ प्र वि॒न्दस्य॒न्यत्र॒ सोम॑पीतये॒ विश्व॑स्मा॒दिन्द्र॒ उत्त॑रः॥ २॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आप **हि**=निश्चय से जब **परा धावसि**=दूर होते हैं, अर्थात् जब वृषाकपि को आपका दर्शन नहीं होता तब आप **वृषाकपेः**=इस वृषाकपि के **अतिव्यथिः**=अति व्यथित करनेवाले होते हैं। प्रभु-दर्शन के अभाव में वृषाकपि आतुरता का अनुभव करता है। उसे प्रभु-दर्शन के बिना शान्ति कहाँ? २. प्रभु संकेत करते हुए कहते हैं कि **सोमपीतये**=तू सोम-रक्षण के लिए यत्नशील हो। यही प्रभु-दर्शन का साधन है। **अन्यत्र**=अन्यान्य बातों में—विषयवासनाओं में लगे रहने से **अह**=निश्चयपूर्वक तू **नो प्रविन्दसि**=उस प्रभु को नहीं प्राप्त करता है। प्रभु-प्राप्ति का मार्ग एक ही है— 'वीर्यरक्षण'। इस वीर्य की ऊर्ध्वगति से मस्तिष्क की ज्ञानाग्नि दीप्त होती है और उस समय सूक्ष्म बुद्धि के द्वारा प्रभु का दर्शन होता है। ये **इन्द्रः**=प्रभु ही **विश्वस्मात् उत्तरः**=सम्पूर्ण संसार से उत्कृष्ट हैं। इन्हीं को प्राप्त करने में आत्मकामता है।

भावार्थ—प्रभु-दर्शन के लिए हममें आतुरता हो और हम सोमपान=वीर्यरक्षण करते हुए अपने को प्रभु-दर्शन के योग्य बनाएँ।

ऋषिः—**वृषाकपिरिन्द्राणी च**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

हरितो मृगः

किम॒यं त्वां वृ॒षाक॑पिश्च॒कार॒ हरि॑तो मृ॒गः।
यस्मा॑ इर॒स्यसीदु॒ न्व१र्यो वा॑ पुष्टि॒मद्वसु॒ विश्व॑स्मा॒दिन्द्र॒ उत्त॑रः॥ ३॥

१. हे प्रभो! **अयं वृषाकपि**=यह वृषाकपि **त्वाम्**=आपकी प्राप्ति का लक्ष्य करके **किं**

चकार=क्या करता है? यही तो करता है कि **हरितः**=यह इन्द्रियों का प्रत्याहार करनेवाला बनता है और **मृगः**=आत्मान्वेषण में प्रवृत्त होता है। २. यह आत्मनिरीक्षण करनेवाला और विषयों से इन्द्रियों को प्रत्याहृत करनेवाला वृषाकपि वह है **यस्मा**=जिसके लिए आप **अर्यः**=सम्पूर्ण ऐश्वर्यों के स्वामी होते हुए **वा उ**=निश्चय से **नु**=अब **पुष्टिमत् वसु**=पुष्टिवाले धन को—पोषण के लिए पर्याप्त धन को **इरस्यसि इत्**=देते ही हैं। वे प्रभु **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली हैं **विश्वस्मात् उत्तरः**=सबसे उत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—हम आत्मानिरीक्षण करें, इन्द्रियों को विषयों से प्रत्याहृत करें। प्रभु हमें पोषक धन प्राप्त कराएँगे।

ऋषिः—**वृषाकपिरिन्द्राणी च**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

वराहावतार

यमिमं त्वं वृषाकपिं प्रियमिन्द्राभिरक्षसि।
श्वा न्वस्य जम्भिषदपि कर्णे वराहयुर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ ४॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **यम्**=जिस **इमम्**=इस **प्रियम्**=अपने कर्मों से आपको प्रीणित करनेवाले, अपने हरितत्व व मृगत्व के द्वारा प्रभु का प्रिय बननेवाले **वृषाकपिम्**=वृषाकपि को **त्वम्**=आप **अभिरक्षसि**=शरीर में रोगों से तथा मन में राग-द्वेष से बचाते हो, **नु**=अब ऐसा होने पर **श्वा** (मातरिश्वा) वायु, अर्थात् प्राण **अस्य**=इसके **जम्भिषत्**=सब दोषों को खा जाता है। प्राण-साधना से इसके सब दोष दूर हो जाते हैं। प्राण-साधना से दोष दूर होते ही हैं, मानो प्राण सब दोषों को खा जाते हैं। २. इतना ही नहीं, **कर्णे** (कृ विक्षेपे)=चित्तवृत्ति का विक्षेप होने पर ये प्राण **वराहयुः अपि**=(वरं वरम् आहन्ति, प्रापयति) श्रेष्ठता को प्राप्त करानेवाले प्रभु से मेल करानेवाले भी हैं। प्राणायाम से मन का निरोध होता है और इसप्रकार प्राण हमें प्रभु से मिलाते हैं, जोकि 'वराह' हैं=सब वर पदार्थों को प्राप्त करानेवाले हैं। इसप्रकार प्राण हमें विषय-समुद्र में डूबने से बचाते हैं। ये **इन्द्रः**=प्रभु **विश्वस्मात् उत्तरः**=सबसे उत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—प्रभु-रक्षण प्राप्त होने पर, प्राणसाधना से हम सब दोषों को दूर करके प्रभु से मेलवाले होते हैं।

ऋषिः—**वृषाकपिरिन्द्राणी च**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

विषयदोष-दर्शन

प्रिया तष्टानि मे कपिर्व्यक्ता व्य ∫ दूदुषत्।
शिरो न्व ∫ स्य राविषं न सुगं दुष्कृते भुवं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ ५॥

१. प्रकृति कहती है कि **मे**=मुझसे **तष्टानि**=बनाये गये **व्यक्ताः**=(adorned, decorated) अलंकृत **प्रिया**=देखने में बड़े प्रिय लगनेवाले इन विषयों को **कपिः**=यह वृषाकपि—विषयवासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाला **व्यदूदुषत्**=दूषित करता है—इन विषयों के दोषों को देखता हुआ इनमें फँसता नहीं। २. प्राकृत मनुष्य इन विषयों के दोषों को न देखता हुआ इनमें आसक्त हो जाता है। **नु**=अब प्रकृति **अस्य शिरः**=इस विषयासक्त पुरुष के सिर को **राविषम्**=(रु to break) तोड़-फोड़ देती है। यह प्रकृति कभी भी **दुष्कृते**=अशुभ कर्म करनेवाले के लिए **न सुगं भुवम्**=सुखकर गमनवाली नहीं होती। वस्तुतः प्रकृति-प्रवण हो जाना ही दोषपूर्ण है। **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **विश्वस्मात्**=सबसे **उत्तरः**=उत्कृष्ट हैं। उन्हीं की ओर चलना श्रेष्ठ है। प्रकृति के भोग तो प्रारम्भ में रमणीय लगते हुए भी परिणाम में विष-तुल्य हैं।

भावार्थ—प्राण-साधना करनेवाला पुरुष विषयदोष-दर्शन करता हुआ उनमें फँसता नहीं। सामान्य व्यक्ति इनमें फँसकर अशुभ मार्ग पर चलता है। इसके लिए यह प्रकृति ही अन्त में घातक हो जाती है।

ऋषिः—**वृषाकपिरिन्द्राणी च**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

प्रकृति का आकर्षण

न मत्स्त्री सुभसत्तरा न सुयाशुतरा भुवत्।
न मत्प्रतिच्यवीयसी न सक्थ्युद्यमीयसी विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ ६॥

१. गतमन्त्र के अनुसार विषयदोष-दर्शन करनेवाले वृषाकपि से इन्द्राणी (प्रकृति) कहती है कि **मत्**=मुझसे **सुभसत्तरा**=अधिक दीप्तिवाली (भस दीप्तौ) **स्त्री न**=स्त्री नहीं है और **न**=न ही **सुयाशुतरा**=(या+अश्) अधिक उत्तमता से प्राप्त होनेवाली व भोगों को प्राप्त करानेवाली **भुवत्**=है। प्रकृति को प्राप्त करना सुगम है और वहाँ सब भोग प्राप्त होते हैं। **न**=न ही **मत्**=मुझसे अधिक **प्रतिच्यवीयसी**=प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त होनेवाली है और **न**=न ही **सक्थि**=आसक्तिपूर्वक **उद्यमीयसी**=स्थिति को उन्नत करनेवाली है। 'सक्थि' शब्द 'सच्' धातु से बनकर आसक्ति व प्रेम के भाव को प्रकट कर रहा है। प्रकृति चमकती है (सुभसत्), विविध भोगों को प्राप्त कराती है (सुयाशु), सबकी ओर आती है (प्रतिच्यवीयसी) और सांसारिक स्थिति को ऊँचा कर देती है (सक्थि उद्यमीयसी)। २. **मे**=मेरा पति **इन्द्रः**=परमैश्वर्यवान् प्रभु भी तो **विश्वस्मात् उत्तरः**=सबसे उत्कृष्ट है, अतः इस वृषाकपि का मुझमें दोष देखना तो ठीक नहीं। मेरे प्रति उसका आकर्षण होना ही चाहिए।

भावार्थ—प्रकृति चमकती है, सामान्यतः मनुष्य उसकी ओर आकृष्ट होता ही है।

ऋषिः—**वृषाकपिरिन्द्राणी च**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

माता, नकि स्त्री

उवे अम्ब सुलाभिके यथेवाङ्ग भविष्यति।
भसन्मे अम्ब सक्थि मे शिरो मे वीव हृष्यति विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ ७॥

१. वृषाकपि उत्तर देता हुआ कहता है कि **उवे अम्ब**=हे मातः! हे **सुलाभिके**=सब उत्तम लाभों को प्राप्त करानेवाली! **अङ्ग**=प्रिय मातः! **यथा इव भविष्यति**=जैसा आप कहती हो वैसा ही होगा। आप 'सुभतरा, सुयाशुतरा, प्रतिच्यवीसी व सक्थ्युद्यमीयसी' ही हैं। आपके पुत्र के नाते **मे**=मेरी **भसत्**=दीप्ति, **मे सक्थि**=माता-पिता के प्रति मेरा प्रेम अथवा सब भाइयों के प्रति स्नेह तथा **मे शिरः**=मेरा उन्नति के शिखर पर पहुँचना **वि हृष्यति इव**=विशिष्ट प्रसन्नतावाला-सा होता है। २. यह तो आप ठीक ही कहती हो कि **इन्द्रः**=वे प्रभु **विश्वस्मात्**=सबसे **उत्तरः**=अधिक उत्कृष्ट हैं। मुझे भी उस प्रभु को पाने के लिए सब-कुछ छोड़ना स्वीकार है। ३. यहाँ वृषाकपि प्रकृति को 'अम्ब' इस रूप में सम्बोधन करता हुआ यही संकेत करता है कि प्रकृति मेरी स्त्री नहीं, अपितु माता है। यह प्रकृति मेरे लिए उपभोग्य न होकर आदरणीय है। इस प्रकृतिमाता से मैंने आवश्यक सहायता प्राप्त करनी है। इस भावना के होने पर ही प्रकृति 'सुलाभिका' होती है। प्रकृति को इस रूप में देखनेवाला ही दीप्ति व प्रेम प्राप्त करके उन्नति के शिखर पर पहुँचता है।

भावार्थ—प्रकृति को हम माता समझकर चलेंगे तो उसके प्रति आसक्त न होकर, दीप्त प्रेमयुक्त जीवनवाले बनकर उन्नत होंगे।

ऋषिः—वृषाकपिरिन्द्राणी च॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥

वृषाकपि की प्रशस्त भावना

किं सुबाहो स्वङ्गुरे पृथुष्टो पृथुजाघने।
किं शूरपत्नि नस्त्वमभ्य मीषि वृषाकपिं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ ८॥

१. इन्द्र इन्द्राणी से कहता है कि हे **सुबाहो**=उत्तम बाहुओंवाली **स्वंगुरेः**=उत्तम अंगुलियोंवाली, **पृथुष्टो**=विशाल केशसमूहवाली **पृथुजाघने**=विशाल जघनोंवाली तुम **किम्**=वृषाकपि के प्रति क्यों रुष्ट होती हो। **मा**=मुझ **शूरपत्नि**=शूर की पत्नी होती हुई **त्वम्**=तू **किम्**=क्यों **वृषाकपिम्**=वृषाकपि के प्रति **अभि अमीषि**=क्रोध करती है? २. तू सुन्दर है, आकर्षक है, तेरा अंग-प्रत्यंग मनोहर है। ऐसा होने पर भी तेरा पुत्र वृषाकपि तेरे प्रति मातृभावना रखता हुआ तेरा समुचित आदर करता है। इससे बढ़कर क्या बात हो सकती है कि हमारा पुत्र वृषाकपि इतनी उत्कृष्टवृत्तिवाला है। ३. इतना तो तूने भी कहा है कि मेरा पति **इन्द्रः**=इन्द्र **विश्वस्मात् उत्तरः**=सबसे उत्कृष्ट है। तुझे इसी बात पर गर्व होना चाहिए कि हमारा लड़का सचमुच वृषाकपि है—वासनाओं को कम्पित करके शक्तिशाली बना है।

भावार्थ—प्रकृतिरूप स्त्री अत्यन्त आकर्षक है। वह प्रभु की पत्नी है। जीव की तो वह माता ही है, पत्नी नहीं।

ऋषिः—वृषाकपिरिन्द्राणी च॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥

प्रकृति 'अवीरा' नहीं, 'वीरिणी' है

अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते।
उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ ९॥

१. 'प्रकृति इतनी आकर्षक है फिर भी वृषाकपि उससे आकृष्ट नहीं हुआ' यह देखकर प्रकृति क्रुद्ध-सी होती है और कहती है कि **अयं शरारुः**=यह सब वासनाओं का संहार करनेवाला (प्रकृति की दृष्टि में शरारती) **माम्**=मुझे **अवीराम् इव मन्यते**=अवीर, अवीर-सा मानता है। मैं अवीर थोड़े ही हूँ? **उत अहम्**=निश्चय से मैं तो **वीरिणी अस्मि**=उत्कृष्ट वीरता-(पुत्र)-वाली हूँ। **इन्द्रपत्नी**=इन्द्र की पत्नी हूँ। **मरुत्सखा**=ये मरुत् (प्राण) मेरे मित्र हैं और यह तो सब कोई जानता ही है कि मेरा पति **इन्द्रः**=इन्द्र **विश्वस्मात् उत्तरः**=सबसे उत्कृष्ट है। ऐसी स्थिति में यह कैसे सहनीय हो सकता है कि यह वृषाकपि मेरा निरादर करे। २. यहाँ 'इन्द्रपत्नी' शब्द का प्रयोग करके प्रकृति स्वयं अपने पक्ष को शिथिल कर लेती है। वृषाकपि उसे इन्द्रपत्नी जानकर ही तो माता के रूप में देखता है। 'मरुत्सखा' शब्द भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इन मरुतों=प्राणों ने ही उसे वासनात्मक जगत् से ऊपर उठाकर प्रकृति के आकर्षण में फँसने से बचाना है। एवं, इन्द्राणी के मित्र ये मरुत् ही वृषाकपि को वृषाकपित्व प्राप्त कराते हैं। प्रकृति वीरिणी है, प्रकृति का पुत्र वृषाकपि भी वीर बनता है। यह प्रलोभन में फँसने से बचता है।

भावार्थ—प्रकृति वीरिणी है। उसका पुत्र वृषाकपि वीर बनकर अपनी माता का (प्रकृति का) सच्चा आदर करता है।

ऋषिः—वृषाकपिरिन्द्राणी च॥ देवता—इन्द्रः॥ छन्दः—पङ्क्तिः॥

युद्धों व यज्ञों में

संहोत्रं स्म पुरा नारी समनं वाव गच्छति।
वेधा ऋतस्य वीरिणीन्द्रपत्नी महीयते विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ १०॥

१. **पुरा**=पहले—उत्कृष्ट युग में, धर्म का ह्रास होने से पूर्व **नारी**=पत्नी **होत्रम्**=यज्ञ के प्रति **संगच्छति स्म**=पति के साथ मिलकर जाती थी तथा **वाव**=निश्चय से **समनम्**=युद्ध के प्रति जाती थी। पत्नी 'धर्मपत्नी' थी। वह पति के साथ यज्ञों व युद्धों में सहायक होती थी। 'इत्थं युद्धैश्च यज्ञैश्च भजामो विष्णुमीश्वरम्' इस वाक्य के अनुसार वे धर्मयुद्धों व यज्ञों से उस सर्वव्यापक ईश को भजते थे। २. यह पत्नी घर में **ऋतस्य वेधा**=सब यज्ञों व श्रेष्ठतम (ठीक) कार्यों का विधान करती थी। परिणामतः यह **वीरिणी**=वीर सन्तानोंवाली होती है। यह **इन्द्रपत्नी**=जितेन्द्रिय पुरुष की पत्नी **महीयते**=महिमा को प्राप्त करती है। ऐसी ही नारियों का आदर होता है। इनकी दृष्टि में **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **विश्वस्मात् उत्तरः**=सबसे उत्कृष्ट होते हैं। ये इस इन्द्र का ही पूजन करती हैं।

भावार्थ—स्त्री अपने को आकर्षक बनाने की अपेक्षा धार्मिक व वीर बनने का ध्यान करे। उसकी वृत्ति वैषयिक न हो। वह युद्धों व यज्ञों में पति की सहायिका बने।

ऋषिः—**वृषाकपिरिन्द्राणी च**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

इन्द्राणी का अजरामर सौभाग्य

इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम्।
नह्य॑स्या अपरं चन जरसा मरते पतिर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ ११॥

१. **इन्द्राणीम्**=इन्द्राणी को **आसु नारिषु**=इन नारियों में **अहम्**=मैं **सुभगाम्**=उत्तम भाग्यवाला **अश्रवम्**=सुनता हूँ चूँकि **अस्याः**=इसका **पतिः**=स्वामी इन्द्र **अपरंचन**=अन्य पतियों के समान **जरसा**=बुढ़ापे से **हि**=निश्चयपूर्वक **न मरते**=मृत्यु को प्राप्त नहीं हो जाता। इन्द्र अजरामर हैं, अतः इन्द्रपत्नी इन्द्राणी का सौभाग्य भी अजरामर बना रहता है। **विश्वस्मात् इन्द्रः उत्तरः**=इस अजरामरता के कारण परमैश्वर्यशाली प्रभु सबसे उत्कृष्ट हैं। २. प्रभु 'इन्द्र' हैं। प्रकृति 'इन्द्राणी' है। यह प्रभु की पत्नी के समान है। प्रकृति का यह कितना सौभाग्य है कि जहाँ अन्य व्यक्तियों के जरा से समाप्त हो जाने के कारण अन्य नारियों का सौभाग्य भी कुछ देर के लिए होता है, वहाँ प्रकृति का सौभाग्य, इन्द्र के अजरामर होने से अक्षुण्ण बना रहता है।

भावार्थ—पति प्रभु के अजरामर होने से पत्नी 'प्रकृति' का सौभाग्य भी अमर बना रहता है। पत्नी ने सदा पति के दीर्घजीवन की कामना करनी, जिससे वह स्वयं सौभाग्यवती बनी रहे।

ऋषिः—**वृषाकपिरिन्द्राणी च**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

'अप्य हवि' का महत्त्व

नाहमिन्द्राणि रारण सख्युर्वृषाकपेर्ऋते।
यस्येदमप्यं हविः प्रियं देवेषु गच्छति विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ १२॥

१. प्रभु प्रकृति से कहते हैं कि **इन्द्राणि**=हे प्रकृते! **अहम्**=मैं **सख्युः**=इस मित्र (द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया) **वृषाकपेः**=वासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाले और अतएव शक्तिशाली इस वृषाकपि के **ऋते**=बिना **न रारणे**=इस सृष्टिरूप क्रीड़ा को नहीं करता हूँ। यह सारी सृष्टिरूप क्रीड़ा इस मित्रभूत जीव के लिए ही तो है। आप्तकाम होने से मुझे इसकी आवश्यकता नहीं, जड़ता के कारण तुझे (प्रकृति को) इसकी आवश्यकता नहीं। जीव ही तो इसमें साधन-सम्पन्न होकर उन्नत होता हुआ मोक्ष तक पहुँचता है। २. वह जीव **यस्य**=जिसकी **इदम्**=यह **अप्यम् हविः**=रेतःकण-सम्बन्धी हवि **प्रियम्**=इसे प्रीणित करनेवाली होती है और इसे कान्ति प्रदान

करती है। (प्री तर्पणे कान्तौ च) तथा **देवेषु गच्छति**=सब इन्द्रियरूप देवों में जाती है। रेत:कणों का रक्षण ही शरीर में इस 'अप्य हवि' को आहुत करता है। यह हवि शरीर को कान्त बनाती है और इन्द्रियों को सशक्त। २. इस अप्य हवि के द्वारा सब शक्तियों का वर्धन करके यह जीव अनुभव करता है कि **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **विश्वस्मात् उत्तरः**=सबसे अधिक उत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—प्रभु इस सृष्टि का निर्माण जीव के लिए करते हैं। भोगों में न फँसकर जब यह शक्ति को शरीर में ही सुरक्षित करता है तब यह शुभ को पहचान पाता है और मोक्ष का भागी होता है।

ऋषिः—**वृषाकपिरिन्द्राणी च**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

आत्मा की पत्नी बुद्धि

वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुनुषे।
घसत्त इन्द्र उक्षणः प्रियं काचित्करं हविर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ १३॥

१. हे प्रकृते! तू **वृषाकपायि**=इस वृषाकपि की माता है। वृषाकपि का उत्कर्ष इसी में है कि वह माता को माता के रूप में देखे और इससे सहायता लेता हुआ इसके भोगों में आसक्त न हो। **रेवति**=हे प्रकृते! तू तो ऐश्वर्य-सम्पन्न है। **सुपुत्रे**=यह वृषाकपि तेरा उत्तम पुत्र है। इसे तू आवश्यक ऐश्वर्य देती ही है। **आत् उ**=और अब **सुनुषे**=हे प्रकृते! तू उत्तम स्नुषावाली है। वृषाकपि तेरा पुत्र है और इस वृषाकपि की पत्नी 'बुद्धि' तेरी स्नुषा है। इस बुद्धि के द्वारा चलता हुआ वृषाकपि अपने जीवन को उत्तम बना पाता है। २. यह वृषाकपि उन्नत होता हुआ अपने पिता के अनुरूप बनकर 'इन्द्र' ही बन जाता है। यह **इन्द्रः**=इन्द्र **ते**=तेरे, अर्थात् प्राकृतिक आहार से उत्पन्न हुए-हुए **उक्षणः**=शरीर को शक्ति से सिक्त करनेवाले वीर्यकणों को **घसत्**=खाता है—इन्हें अपने शरीर में ही व्याप्त करने का प्रयत्न करता है। यह उसके लिए **प्रियम्**=प्रीणित करनेवाली **काचित् करम्**=निश्चय से सुख देनेवाली **हविः**=हवि होती है। इस हवि की वह शरीर-यज्ञ में आहुति देता है। यही उक्षा (वीर्य) का भक्षण है। इस हवि के सेवन से वह अत्यन्त तीव्र बुद्धि होकर उस प्रभु का दर्शन करता है और कहता है कि **इन्द्रः**=परमैश्वरशाली प्रभु **विश्वस्मात् उत्तरः**=सम्पूर्ण संसार से उत्कृष्ट है।

भावार्थ—वीर्यरूप हवि की शरीराग्नि में ही आहुति देना सच्चा जीवन-यज्ञ है। इस यज्ञ को करानेवाला प्रभु को 'पुरुषोत्तम' के रूप में देखता है।

ऋषिः—**वृषाकपिरिन्द्राणी च**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

परिपाक

उक्ष्णो हि मे पञ्चदश साकं पचन्ति विंशतिम्।
उताहमद्मि पीव इदुभा कुक्षी पृणन्ति मे विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ १४॥

१. **उक्षणः**=शरीर में शक्ति का सेचन करनेवाले वीर्यकणों को **हि**=निश्चय से **मे**=मेरे **पञ्चदश**=पन्द्रह—दस इन्द्रियाँ तथा पाँच प्राण **साकम्**=साथ-साथ **पचन्ति**=परिपक्व करनेवाले होते हैं। विषयव्यावृत्त इन्द्रियों तथा प्राणायाम द्वारा सिद्ध किये हुए प्राण वीर्यकणों को शरीर में ही परिपक्व करनेवाले होते हैं। वीर्यकणों के परिपाक के द्वारा ये प्राण **विंशतिम्**=एकोनविंशति मुखोंवाले इस बीसवें आत्मा को भी परिपक्व करते हैं, अर्थात् ये इन्द्रियाँ व प्राण आत्मिक शक्ति के विकास का कारण बनते हैं। २. **उत**=और **अहम्**=मैं **अद्मि**=इन वीर्यकणों को शरीर में खाने

का प्रयत्न करता हूँ। **इत्**=निश्चय से **पीवः**=मैं हृष्ट-पुष्ट बनता हूँ। ये सुरक्षित वीर्यकण **मे**=मेरी **उभा कुक्षी**=दोनों कुक्षियों को **पृणन्ति**=(Protect) सुरक्षित करते हैं। इन कणों के रक्षण से गुर्दे इत्यादि की बीमारियाँ नहीं होती। ३. इस स्वस्थ अवस्था में मैं उस प्रभु का स्मरण करता हूँ जोकि **इन्द्रः**=परमैश्वर्यशाली होते हुए **विश्वस्मात् उत्तरः**=सबसे उत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—विषयव्यावृत्त इन्द्रियों व प्राणसाधना से वीर्य का परिपक्व होकर आत्मिक शक्ति का विकास होता है। प्रसंगवश यह वीर्य का परिपाक गुर्दे आदि के कष्टों से भी हमें बचाता है।

ऋषिः—**वृषाकपिरिन्द्राणी च**॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

तिग्मशृंगवृषभ

वृषभो न तिग्मशृङ्गोऽन्तर्यूथेषु रोरुवत्।
मन्थस्त इन्द्र शं हृदे यं ते सुनोति भावयुर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १५ ॥

१. वे प्रभु **तिग्मशृंगः वृषभः न**=पैने सींगोंवाले वृषभ के समान हैं। जैसे एक वृषभ मार्ग-विघातक को अपने तेज सींगों के द्वारा दूर कर देता है, उसी प्रकार प्रभु हमारे शत्रुओं को दूर करनेवाले हैं, इसीलिए स्थानान्तर में 'अश्वं न त्वा वारवन्तम्' इन शब्दों में कहा है कि प्रभु बालोंवाले घोड़े के समान हैं। जैसे घोड़ा पूँछ से मक्खियों को दूर करता है, उसी प्रकार प्रभु हमारी वासनाओं को दूर करते हैं। ये वृषभ के समान प्रभु **यूथेषु अन्तः**=जीव-समूह के अन्दर **रोरुवत्**=खूब गर्जना कर रहे हैं। हृदयस्थरूपेण वे प्रभु 'ज्ञान, कर्म व उपासना' की विविध प्रेरणा दे रहे हैं। उस प्रेरणा के अनुसार चलने पर हम वासनाओं के आक्रमण से बचे रहते हैं। २. हे **इन्द्र**=प्रभो! **ते**=आपका **मन्थः**=मन्थन—चिन्तन **हृदे शम्**=हृदय के लिए शान्ति देनेवाला होता है। **यम्**=जिस **ते**=आपके मन्थन व विचार को **भावयुः**=भक्तिभाव से युक्त उपासक **सुनोति**=अपने में उत्पन्न करता है और सदा इस रूप में सोचता है कि **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **विश्वस्मात् उत्तरः**=सबसे उत्कृष्ट हैं। प्रभु को सर्वोत्कृष्ट रूप में देखनेवाला ही प्रभु का उपासक बनता है। उस समय प्रभु उसे सतत प्रेरणा देते हैं और उसके शत्रुओं को दूर कर देते हैं।

भावार्थ—उपासक के लिए प्रभु तिग्मशृंग वृषभ के समान रक्षक होते हैं।

ऋषिः—**वृषाकपिरिन्द्राणी च**॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**पङ्क्तिः** ॥

ध्यान व ज्ञान

न सेशे यस्य रम्बतेऽन्तरा सक्थ्या३ कपृत्।
सेदीशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १६ ॥

१. गतमन्त्र के अनुसार प्रभु से रक्षित होकर जो व्यक्ति प्रभु के ध्यान में लगता है और **यस्य**=जिसका **सक्थि**=(सच् समवाये) प्रभु से मेलवाला व **कपृत्**=अपने में आनन्द का पूरण करनेवाला मन **अन्तरा**=अन्दर ही **आरम्बते**=स्थिर होता है—आश्रय करता है, **न स ईशे**=वह ही ईश नहीं है, अपितु **स इत् ईशम्**=वास्तविक ईश तो यह है **निषेदुषः**=नम्रता से आचार्यचरणों में बैठनेवाले **यस्य**=जिसका **रोमशम्**=(रोमणि शेते, सामानि यस्य लोमानित) साममन्त्रों में निवास करनेवाला मन **विजृम्भते**=विकसित होता है, अर्थात् जिसका मन ऋचाओं व यजुर्मन्त्रों का अध्ययन करके साममन्त्रों में निवास करता है, दूसरे शब्दों में जिसका मन सम्पूर्ण ज्ञान में अवस्थित होता है। २. यह ज्ञानी अनुभव करता है कि **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **विश्वस्मात् उत्तरः**=सम्पूर्ण संसार से उत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—जैसे ध्यानी पुरुष मन का ईश बनता है, उसी प्रकार ज्ञानी भी मन का वास्तविक

ईश बनता है।

ऋषिः—**वृषाकपिरिन्द्राणी च**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

ज्ञान व ध्यान

न सेशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते।
सेदीशे यस्य रम्बतेऽन्तरा सक्थ्या३ कपृद्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ १७॥

१. गतमन्त्र की भावना को ही क्रम बदलकर कहते हैं कि **न स ईशे**=वह ही ईश नहीं है **निषेदुषः**=आचार्यचरणों में नम्रता से बैठनेवाले **यस्य**=जिसका **रोमशम्**=(सामानि यस्य लोमानि) साममन्त्रों में निवास करनेवाला मन **विजृम्भते**=ज्ञान के दृष्टिकोण से अधिकाधिक विकसित होता चलता है, **स इत्**=वह भी **ईशे**=ईश है, **यस्य**=जिसका **सक्थि**=प्रभु से मेलवाला **कपृत्**=परिणामतः अपने में आनन्द को भरनेवाला मन **अन्तरा**=अन्दर ही **आरम्बते**=स्थिर होता है। अन्तःस्थित हुआ-हुआ मन प्रभु का आश्रय करता है। २. यह मन अनुभव करता है कि **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्य-शाली प्रभु **विश्वस्मात् उत्तरः**=सम्पूर्ण संसार में उत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—जहाँ ज्ञान मनुष्य को विषयों के तात्त्विक स्वरूप का चिन्तन कराके उनसे ऊपर उठाता है, वहाँ ध्यान भी प्रभु-प्राप्ति का आनन्द देकर वैषयिक आनन्द की तुच्छता को स्पष्ट कर देता है।

ऋषिः—**वृषाकपिरिन्द्राणी च**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

अ-पराधीनता

अयमिन्द्र वृषाकपिः परस्वन्तं हतं विदत्।
असिं सूनां नवं चरुमादेधस्यान आचितं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ १८॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! आपका **अयम्**=यह पुत्र **वृषाकपिः**=वासनाओं को कम्पित करनेवाला और अतएव शक्तिशाली सन्तान **परस्वन्तम्**=पराधीन को—इन्द्रियों के अधीन हुए-हुए पुरुष को **हतं विदत्** (विद् ज्ञाने)=मृत जानता है। इन्द्रियों की अधीनता (दासता) मृत्यु का ही कारण बनती है। इन्द्रियों को जीतकर ही हम आनन्दमय जीवन बिता सकते हैं। २. यह जितेन्द्रिय पुरुष **असिम्**=(असु क्षेपणे) वासनाओं के दूर फेंकने को, **सूनाम्**=(सू प्रेरणे) प्रभु की प्रेरणा को—इस प्रेरणा से ही तो यह निरन्तर वासनाओं को दूर करने के लिए यत्नशील होता है **नवं चरुम्**=(नु स्तुतौ, चर भक्षणे) वासनाओं को न उत्पन्न होने देने के लिए ही स्तुत्य भोजन को—राजस व तामस् भोजनों को छोड़कर सात्त्विक आहारों को और **आत्**=इनके बाद **ऐधस्य**=ज्ञानदीप्ति के **आचितम्**=समन्तात् व्याप्तिवाले **अनः**=शरीर-रथ को **विदत्**=प्राप्त करता है (विद् लाभे)। ३. यह अनुभव करता है कि **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **विश्वस्मात् उत्तरः**=सबसे अधिक उत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—इन्द्रियों की दासता विनाश का मार्ग है। इनको जीतकर ही हम शरीर-रथ को ज्ञानदीप्त बना पाते हैं।

ऋषिः—**वृषाकपिरिन्द्राणी च**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

'दास व आर्य' का विवेक

अयमेमि विचाकशद्विचिन्वन्दासमार्यम्।
पिबामि पाकसुत्वनोऽभि धीरमचाकशं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ १९॥

१. वृषाकपि कहता है कि **अयम्**=यह मैं **विचाकशत्** (कश् to sound)=प्रभु के नामों का उच्चारण करता हुआ **एमि**=गतिशील होता हूँ—अपने कार्यों में प्रवृत्त होता हूँ। मैं अपने जीवन में **दासम्**=(दस उपक्षये) नाशक वृत्ति को तथा **आर्यम्**=श्रेष्ठ वृत्ति को **विचिन्वन्**=विविक्त करता हुआ गति करता हूँ। दास वृत्तियों को छोड़ता हुआ आर्य वृत्तियों को अपनाता हूँ। २. **पाकसुत्वनः**=जीवन के परिपाक के लिए उत्पन्न किये गये सोम का **पिबामि**=मैं पान करता हूँ। इस सोम को शरीर में ही व्याप्त करने से नवशक्तियों का सुन्दर परिपाक होता है। इस परिपाक से मैं **धीरम्**=उस ज्ञान देनेवाले प्रभु को **अभि अचाकशम्**=प्रातः-सायं स्तुत करता हूँ कि **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **विश्वस्मात् उत्तरः**=सारे संसार से अधिक उत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—सोम का शरीर में व्यापन होने पर जीवन की शक्तियों का उत्तम परिपाक होता है। यह व्यक्ति ही प्रभु का स्तवन व दर्शन कर पाता है।

ऋषिः—**वृषाकपिरिन्द्राणी च**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

संसार-मरीचिका

धन्व च यत्कृन्तत्रं च कति स्वित्ता वि योजना।
नेदीयसो वृषाकपेऽस्तमेहि गृहाँ उप विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ २०॥

१. यह संसार एक मृगतृष्णा के दृश्य के समान है। **धन्व च**=यह मरुस्थल तो है ही—जैसे मरुस्थल में एक मृग पानी की कल्पना करके प्यास बुझाने के लिए उधर भागता है—परन्तु उस स्थान पर पहुँचने पर वहाँ पानी न पाकर रेत को ही पाता है और दूर पर फिर पानी के दृश्य को देखता है और उधर भागता है। इस प्रकार यह मरीचिका उसकी शक्ति को छिन्न-भिन्न करती चलती है **यत् कृन्तत्रं च**=यह काटनेवाली तो है ही और फिर **ता**=वे मरीचिका के दृश्य **कतिस्वित्**=कितने ही **योजना**=योजनों तक **वि**=(वि तत) विस्तृत होते हैं। इन योजनों तक फैले दृश्यों में आसक्त मृग जैसे मर जाता है, इसी प्रकार मनुष्य के लिए संसार के विषय **धन्व च**=मरुस्थल के समान हैं, **च**=और **कृन्तत्रम्**=उसकी शक्तियों को छिन्न-भिन्न करनेवाले हैं और **ता**=वे विषय जीवन-यात्रा में न जाने **कतिस्वित् योजना**=कितने ही योजनों तक चलते हैं। अन्त में वे मनुष्य को भ्रान्त करके समाप्त कर देते हैं। २. हे **वृषाकपे**=शक्तिशाली तथा वासनाओं को कम्पित करनेवाले जीव! तू इन विषय-मरीचिकाओं में न उलझकर **नेदीयसः**=अपने अत्यन्त समीप निवास करनेवाले प्रभु के **अस्तम् ऐहि**=गृह को आ। हृदय ही प्रभु का गृह है। विषय-व्यावृत्त होकर हम अन्तर्मुख यात्रा करते हुए हृदय में स्थित होने के लिए यत्नशील हों। **गृहान् उप**=इन प्रभु-गृहों के समीप रहनेवाले बनें और यह अनुभव करें कि **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **विश्वस्मात् उत्तरः**=सम्पूर्ण संसार से उत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—संसार की मरीचिका में कोसों भटकते रहने की अपेक्षा यह कहीं अच्छा है कि हम हृदयरूप गृह में प्रभु का दर्शन करें।

ऋषिः—**वृषाकपिरिन्द्राणी च**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

स्वप्न-नंशनः (नींद से उठ बैठना)

पुनरेहि वृषाकपे सुविता कल्पयावहै।
य एष स्वप्नंशनोऽस्तमेषि पथा पुनर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ २१॥

१. हे **वृषाकपे**=वासनाओं को कम्पित करके दूर करनेवाले वृषाकपे! तू **पुनः**=फिर **एहि**=घर में प्राप्त हो। इधर-उधर भटकने की अपेक्षा तू मन को निरुद्ध करके हृदय में आत्मदर्शन

करनेवाला हो। प्रभु कहते हैं कि मैं और तू मिलकर **सुविता**=उत्तमकर्मों को (सु-इता) **कल्पयावहै**=करनेवाले हों। जीव प्रभु की शक्ति का माध्यम बने, जीव के माध्यम से प्रभु-शक्ति उत्तम कार्यों को सिद्ध करनेवाली हो। २. जीव इस दुनिया की चमक में अपने कर्त्तव्य को भूल जाता है और अपने लक्ष्य को वह सदा भूला-सा रहता है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे वह सो गया हो। अब **स्वप्ननंशनः**=इस नींद को समाप्त करनेवाला तू अपने लक्ष्य का स्मरण करता है और **अस्तम् एषि**=फिर से घर में आता है। **पुनः**=फिर **पथा**=ठीक मार्ग से चलता हुआ हृदयरूप गृह में प्रभु का दर्शन करता है और अनुभव करता है कि **इन्द्रः**=यह परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **विश्वस्मात् उत्तरः**=सबसे उत्कृष्ट है।

भावार्थ—इस संसार में हमें सोते नहीं रह जाना। जागकर लक्ष्य की ओर बढ़ना है। प्रभु की शक्ति का माध्यम बनकर सदा उत्तम कर्मों को करना है।

ऋषिः—**वृषाकपिरिन्द्राणी च**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

'उदङ्' नकि 'पुल्वघ-मृग-जनयोपन'

यदुदञ्चो वृषाकपे गृहमिन्द्राजगन्तन।
क्व१स्य पुल्वघो मृगः कमगं जनयोपनो विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ २२॥

१. हे **वृषाकपे**=वासनाओं को कम्पित करनेवाले शक्तिशाली जीव! **यत्**=जब **उत् अञ्चः**=लोग उत्कृष्ट मार्ग पर चलनेवाले होते हैं, तभी वे **गृहम्**=घर को **अजगन्तन**=प्राप्त होते हैं। ब्रह्मलोक ही वस्तुतः इस जीव का घर है। उत्कृष्ट मार्ग पर चलते हुए व्यक्ति इस गृह को प्राप्त करते हैं। २. परन्तु हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **स्यः**=वह **पुल्वघः**=बहुत पापोंवाला **मृगः**=सदा विलास की वस्तुओं को व परछिद्रों को खोजनेवाला (मृग अन्वेषणे) व्यक्ति ब्रह्मलोकरूप गृह में **क्व**=कहाँ आ पाता है? **जनयोपनः**=लोगों को पीड़ित करनेवाला **कम् अगन्**=किसको प्राप्त करता है? यह हिंसक पुरुष ब्रह्मलोक को क्या प्राप्त करेगा? उन्नति-पथ पर चलनेवाला पुरुष ही जान पाता है कि **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **विश्वस्मात् उत्तरः**=सबसे उत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—हम 'उदङ्' बनें। 'पुल्वघ, मृग व जनयोपन' न बनें।

ऋषिः—**वृषाकपिरिन्द्राणी च**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**पङ्क्तिः**॥

मानवी की महिमा

पर्शुर्ह नाम मानवी साकं ससूव विंशतिम्।
भद्रं भल त्यस्या अभूद्यस्या उदरमामयद्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः॥ २३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार हमें 'उदङ्' बनना है। यह तभी हो सकता है जब हमारी बुद्धि स्थिर हो। यह बुद्धि मानो मनु की सन्तान है, इसीलिए इसे 'मानवी' कहा गया है। यही मानव की पत्नी है—उसकी शक्ति है। यही उसका कल्याण करती है। यह **ह**=निश्चय से **पर्शुः नाम**='पर्शु' इस नामवाली है। यह वासना-वृक्षों के लिए सचमुच कुल्हाड़े के समान है। २. यह बुद्धि मनुष्य की वासनाओं को छिन्न-भिन्न करके सभी इन्द्रियों व सभी प्राणों को ठीक रखती है। दसों इन्द्रियों व दसों प्राणों को विकसित करने के कारण यह बुद्धि इन बीस सन्तानोंवाली कहलाती है। **साकम्**=साथ-साथ **विंशतिम्**=इस बीस को यह **ससूव**=उत्पन्न करती है। ३. हे **भल**=सर्वद्रष्टा प्रभो! **त्यस्याः**=उस बुद्धि का **भद्रम् अभूत्**=भला हो, **यस्याः**=जिसका हमारी दुर्गति को देखकर **उदरम् आमयत्**=पेट पीड़ावाला हुआ, अर्थात् जिसको हमारी दुर्गति अखरी। हमारी दुर्गति को दूर करने के लिए ही इसने वासनाओं का विनाश किया और हमें

अनुभव कराया कि **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु ही **विश्वस्मात् उत्तरः**=सर्वोत्कृष्ट हैं।

भावार्थ—अन्ततः बुद्धि ही हमारा कल्याण करती है—यही मानवी है। वासना-वृक्षों के लिए पर्शु बनकर यह हमारी इन्द्रियों व प्राणशक्तियों को उत्कृष्ट बनाती है।

इस बुद्धि को विकसित करनेवाला व्यक्ति सब बुराइयों को (कु) सन्तप्त व विनष्ट (ताप) करनेवाला बनता है। सो यह 'कुन्ताप' कहलाता है। अगले दस सूक्त इसी ऋषि के हैं, अतः ये 'कुन्ताप-सूक्त' कहलाते हैं।

अथ कुन्तापसूक्तानि॥

१२७. [सप्तविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

षष्टिं-सहस्रा-नवतिं (च)

इदं जना उप श्रुत नराशंस स्तविष्यते।
षष्टिं सहस्रा नवतिं च कौरम आ रुशमेषु दद्महे॥ १॥

१. **जनाः**=हे लोगो! **इदम् उपश्रुत**=इस बात को ध्यान से सुनो। **नराशंसः**=उन्नति-पथ पर चलनेवालों से शंसनीय वह प्रभु **स्तविष्यते**=हमसे स्तुत होगा। हम प्रभु का स्तवन करेंगे, आप सब प्रभु-स्तवन को सुनने का अनुग्रह करो। २. प्रभु-स्तवनपूर्वक **कौरमे**=(कु+रम्) इस पृथिवी पर क्रीड़ा करनेवाले में—क्रीड़क की मनोवृत्ति से सब कार्यों को करनेवाले में तथा **रुशमेषु**=काम, क्रोध, लोभ आदि आसुरवृत्तियों का संहार करनेवाले में हम **षष्टिं** (ष=wise) अतिशयित बुद्धिमत्ता को **सहस्रा** (स हस्)=आनन्दमयी मनोवृत्तियों को तथा **नवतिम्**=(नवते to go) क्रियाशीलता को **आदद्महे**=सब प्रकार से ग्रहण करते हैं। ३. वस्तुतः प्रभु-स्तवन की वृत्तिवाला व्यक्ति 'कौरम व रुशम' बनता है। यह सब स्थितियों को क्रीडक की मनोवृत्ति से करता है तथा वासनाओं का संहार करता है। परिणामतः यह बुद्धिमत्ता (षष्टिं) मनःप्रसाद (स-हस्रा) तथा क्रियाशीलता को (नवति) प्राप्त करता है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन करते हुए हम क्रीडक की मनोवृत्तिवाले व वासनाओं का संहार करनेवाले बनें। ऐसी स्थिति में हम 'बुद्धि-प्रसाद व क्रियाशीलता' के द्वारा मस्तिष्क, हृदय व शरीर—तीनों का स्वास्थ्य प्राप्त करेंगे।

'दिवः ईषमाणाः, उपस्पृशः'

उष्ट्रा यस्य प्रवाहणो वधूमन्तो द्विर्दश।
वर्ष्मा रथस्य नि जिहीडते दिव ईषमाणा उपस्पृशः॥ २॥

१. गतमन्त्र में वर्णित स्तोता वह है **यस्य**=जिसके **प्रवाहणः**=(प्रवाहिणः) प्रकृष्ट गतिवाले **द्विःदश**=दस प्राण तथा दस इन्द्रियाँ—ये बीस तत्त्व—**वधूमन्तः**=बुद्धिरूप प्रकृष्ट वधूवाले होते हुए **उष्ट्राः**=सब दोषों का दहन करनेवाले होते हैं (उष दाहे)। आत्मा पति है और बुद्धि उसकी पत्नी है। (आत्मा Adam है तो बुद्धि Eve)। जब इन्द्रियों व प्राणों के साथ इस उत्कृष्ट बुद्धि का सम्पर्क होता है तब ये प्राण व इन्द्रियाँ सब दोषों का दहन करनेवाली होती हैं। २. उस समय **रथस्य**=इस शरीर-रथ के **वर्ष्मा**=(Surface of a mountain) शिखर (शिरःस्थ आँख, कान, नाक, मुख) **निजिहीडते**=इन सब प्राकृतिक भोगों का निरादर करते प्रतीत होते हैं। यह स्तोता प्राकृतिक भोगों में नहीं फँसता। इस स्तोता के शरीर-रथ के शिखर **दिवः ईषमाणाः**=प्रकाश की ओर गतिवाले होते हैं और अन्ततः **उपस्पृशः**=उस प्रभु को समीपता से स्पर्श करनेवाले होते

हैं।

भावार्थ—स्तोता की इन्द्रियाँ व प्राण प्रकृष्ट बुद्धि से युक्त होकर गतिशील होते हैं और सब दोषों का दहन करनेवाले होते हैं। अब यह स्तोता प्राकृतिक भोगों से ऊपर उठता है और प्रकाश की ओर चलता हुआ प्रभु को प्राप्त करनेवाला होता है।

शतं निष्कान्-दश स्त्रजः

एष इषाय मामहे शतं निष्कान्दश स्त्रजः।
त्रीणि शतान्यर्वतां सहस्त्रा दश गोनाम्॥ ३॥

१. **एषः**=यह स्तोता **इषाय**=प्रभु-प्रेरणा की प्राप्ति के लिए **मामहे**=खूब ही प्रभु-पूजन करता है। प्रभु-पूजन करता हुआ यह स्तोता अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा को सुनता है और प्रभु से दिये हुए **शतं निष्कान्**=सैकड़ों कण्ठ की भूषणभूत ज्ञानमालाओं को आदृत करता है। प्रभु से दिये गये ये ज्ञान इस स्तोता के **निष्क** (neckless)=कण्ठहार—बनते हैं। प्रभु-प्रदत्त **दश स्त्रजः**=(सृजन्ति) ज्ञान व कर्मों का उत्पादन (सृष्टि) करनेवाली इन्द्रियों को आदर देता है। इन इन्द्रियों का ग़लत प्रयोग नहीं करता। २. यह स्तोता **शतानि**=शतवर्षपर्यन्त चलनेवाले **अर्वताम् त्रीणि**=वासनाओं के संहार के तीन को—कामसंहार, क्रोधसंहार व लोभसंहार को आवृत्त करता है। प्रभु-स्तवन के द्वारा यह आजीवन 'काम, क्रोध, लोभ' का संहार करनेवाला होता है। वासना-संहार के द्वारा **गोनाम्**=ज्ञान की वाणियों के **सहस्त्रा**=(सहस्) आनन्द को प्राप्त करानेवाले प्रभु **दश**=धर्म के दश लक्षणों का ज्ञान प्राप्त कराते हैं और यह स्तोता उनको आदृत करता है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन करते हुए हम प्रभु की प्रेरणा को प्राप्त करेंगे। प्रभु हमें कण्ठों के आभूषणभूत शतशः ज्ञानों को, ज्ञानों व कर्मों का सर्जन करनेवाली दस इन्द्रियों को, शतवर्षपर्यन्त होनेवाले 'काम, क्रोध व लोभ' के विविध संहार को तथा ज्ञान द्वारा होनेवाले आनन्दमय धर्म के दस लक्षणों को प्राप्त कराते हैं।

मामनुस्मर युध्य च

वच्यस्व रेभ वच्यस्व वृक्षे न पक्वे शकुनः।
नष्टे जिह्वा चर्चरीति क्षुरो न भुरिजोरिव॥ ४॥

१. हे **रेभ**=स्तोतः! **वच्यस्व**=तू प्रभु के नामों का उच्चारण कर। प्रभु के गुणों का **वच्यस्व**=तू इसप्रकार उच्चारण कर **न**=जैसेकि **पक्वे वृक्षे**=पके हुए वृक्ष पर **शकुनः**=पक्षी शब्द करता है। वृक्ष के परिपक्व फलों को वह आनन्द लेता है और प्रसन्नता में शब्द करता है। इसी प्रकार हे स्तोतः! प्रभु-स्मरण में आनन्द अनुभव करता हुआ तू प्रभु का गुणगान कर। २. **नष्टे**=किसी भी प्रकार के 'सन्तान, धन व यश' आदि का नाश होने पर **जिह्वा चर्चरीति**=इस स्तोता की जिह्वा प्रभु-नामों का उच्चारण करती हुई इसप्रकार गतिवाली होती है, **न**=जैसेकि **भुरिजो क्षुरः इव**=भुजाओं में क्षुर (razor or arrow) (उस्तरा या तीर) गतिवाला होता है। यह उपासक विघ्न-विनाश के लिए भुजाओं द्वारा अस्त्रों का प्रहार करता है और वाणी द्वारा प्रभु-नामोच्चारण करता है, अर्थात् यह स्तोता प्रभु-स्मरण करता है और युद्ध करता है। (मामनुस्मर युध्य च)।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन में आनन्द लें। आपत्ति आने पर भुजाओं में पुरुषार्थ हो, वाणी में प्रभु के नामों का उच्चारण।

स्तुति, सप्तान व गौएँ

प्र रेभासो मनीषा वृषा गावइवेरते। अमोतपुत्रका एषाममोत गाइवासते॥ ५॥

१. **रेभासः**=स्तोता लोग **मनीषा**=मननपूर्वक की गई स्तुतियों को (Hymn, praise) इसप्रकार **प्र ईरते**=प्रकर्षेण गतिमय करते हैं, **इव**=जैसे वे अपने घरों में **वृषाः गावः**=दुग्ध का वर्षण करनेवाली—खूब दूध देनेवाली गौवों को प्रेरित करते हैं। ये प्रभु-भक्त इन गोदुग्धों के सेवन से ही सात्त्विकवृत्तिवाले बनकर प्रभु-भजन करनेवाले होते हैं। २. **एषाम्**=इन स्तोताओं के **अमा**=घर में **उत पुत्रकाः**=निश्चय से प्रिय सन्तान **आसते**=आसीन होते हैं, उसी प्रकार **इव**=जैसेकि **अमा**=इनके घरों में **उत**=निश्चय से **गाः**=गौएँ आसीन होती हैं। प्रभु-भक्तों के गृह प्रिय सन्तानों व गौओं से युक्त होते हैं।

भावार्थ—प्रभुभक्तों के गृहों में जिसप्रकार प्रभु का उपासन चलता है, उसी प्रकार वहाँ प्रिय सन्तानों व गौओं की स्थिति होती है।

ज्ञान के द्वारा प्रभु को प्राप्त करानेवाली बुद्धि

प्र रे॑भ धीं भ॑रस्व गो॒विदं॑ वसु॒विद॑म्। दे॒व॒त्रेमां वाचं॑ श्रीणी॒हीषु॒र्नावी॑रस्तार॑म्॥ ६॥

१. हे **रेभ**=स्तोतः! **गोविदम्**=ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करानेवाली तथा **वसुविदम्**=सबके अन्दर बसनेवाले व सबको अपने अन्दर बसानेवाले प्रभु को प्राप्त करानेवाली **धीम्**=बुद्धि को **प्रभरस्व**=अपने में धारण कर। स्तवन से ही यह बुद्धि प्राप्त होती है। २. **देवत्रा**=देवों में स्थित होकर **इमां वाचम्**=इस ज्ञान की वाणी को **श्रीणीहि**=अपने में परिपक्व कर। ज्ञानी गुरुओं के चरणों में बैठकर इस ज्ञान को तू इसप्रकार परिपक्व कर **न**=जैसेकि **अवीःइषुः**=रक्षक बाण **अस्तारम्**=अस्त्रों को फेंकनेवाले योद्धा को परिपक्व करता है। हाथ में अस्त्र होने पर योद्धा घबराता नहीं। अस्त्रों से सुसज्जित योद्धा दृढ़ मन से युद्ध करता है, इसी प्रकार उत्तम आचार्यों को पाकर शिष्य अपने में ज्ञान का ठीकरूप से परिपाक कर पाता है।

भावार्थ—स्तवन से वह बुद्धि प्राप्त होती है जोकि ज्ञान को प्राप्त कराती हुई प्रभु-प्राप्ति का साधन बनती है। यह स्तोता ज्ञानी आचार्यों के चरणों में ज्ञान का परिपाक करता है और इसप्रकार जीवन-संग्राम में विजयी बनता है जैसेकि अस्त्रों से सुसज्जित योद्धा युद्ध में।

विश्वजनीन राजा

राज्ञो॑ विश्व॒जनी॑नस्य॒ यो दे॒वोऽम॑र्त्याँ॒ अति॑। वै॒श्वा॒न॒रस्य॑ सुष्टु॒तिमा सु॑नोता॒ परि॑क्षितः॥ ७॥

१. उस **राज्ञः**=सम्पूर्ण संसार का शासन (regulation) करनेवाले, **विश्वजनीनस्य**=सब मनुष्यों का हित करनेवाले, **वैश्वानरस्य**=सब मनुष्यों को उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले, **परिक्षितः**=समन्तात् निवास व गतिवाले (सर्वव्यापक) प्रभु की **सुष्टुतिम्**=उत्तम स्तुति को **आसुनोत**=उत्पन्न करो। प्रभु के गुणों का गायन करो। २. उन प्रभु का स्तवन करो **यः**=जोकि **देवः**=प्रकाशमय हैं तथा **अमर्त्यान् अति**=अमरणधर्मा देवों को लाँघकर स्थित हैं। सब देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले वे ही 'महादेव' हैं—देवाधिदेव हैं।

भावार्थ—हम संसार के शासक, सबके हितकारी, सबको उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले, सर्वव्यापक प्रभु का स्मरण करें। वे प्रभु ही प्रकाशमय हैं, देवों के देव 'महादेव' हैं। सबको देवत्व प्राप्त करानेवाले हैं।

पति-पत्नी का मिलकर प्रभु-स्तवन

प॒रि॒च्छि॒न्नः क्षेम॑मकरो॒त्तम॒ आस॑नमा॒चर॑न्। कु॒लाय॑न्कृ॒ण्वन्कौर॑व्यः॒ पति॒र्वद॑ति जा॒यया॑॥ ८॥

१. **तमः आसनम्** (आ+असु=क्षेपणे)=समन्तात् अन्धकार को परे फेंकने—दूर करने को **आचरन्**=करता हुआ—हमारे अज्ञानान्धकारों को दूर करता हुआ **परिक्षित्**=चारों ओर निवास व

गतिवाला वह सर्वव्यापक प्रभु **नः**=हम स्तोताओं के **क्षेमम्**=कल्याण को **अकरोत्**=करता है। प्रभु की उपासना से हृदय प्रकाशमय हो उठता है और अन्धकार में पनपनेवाले सब आसुरभाव वहाँ से विलीन हो जाते हैं। २. **कुलायन् कृण्वन्** (कुलायं)=घर को बनाता हुआ **कौरव्यः** (कु+रु) पृथिवी पर प्रभुनामोच्चारण करनेवालों में उत्तम वह **पतिः**=गृहपति **जायया**=अपनी पत्नी के साथ **वदति**=प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करता है। यह पति-पत्नी के द्वारा किया गया स्तवन ही उनके घर को उत्तम बनाता है।

भावार्थ—स्तुति किया गया प्रभु हमारे अज्ञानान्धकारों को दूर करता है। जिस घर में पति-पत्नी प्रभु के स्तोत्रों का उच्चारण करते हैं, वह घर प्रकाशमय व प्रशस्त बनता है।

दधि, मन्थां, परिश्रुतम्

कत॒रत्त॒ आ ह॑राणि॒ दधि॑ मन्थां॒ परि॑ श्रु॒तम्।
जा॒याः पतिं॒ वि पृ॑च्छति रा॒ष्ट्रे राज्ञः॑ परि॒क्षितः॑॥ ९॥

१. **परिक्षितः**=चारों ओर निवास व गति करनेवाले **राज्ञः**=संसार के शासक (इन्द्रो विश्वस्य राजति) प्रभु के राष्ट्र में, अर्थात् जिस राष्ट्र में सब घरों में प्रभु-स्तवन होता है वहाँ **जाया**=पत्नी **पतिं विपृच्छति**=पति से पूछती है कि **दधि मन्थां परिश्रुतम्**=दही, मठा व मक्खन में से **कतरत्**=कौन-सी वस्तु को **ते**=आपके लिए **आहराणि**=प्राप्त कराऊँ? २. प्रभु-स्तवनवाले राष्ट्र में (दूध) दही-मक्खन-मठा आदि सात्त्विक भोजनों का ही प्रयोग होता है। वहाँ मद्य, मांस आदि के सेवन की रुचि नहीं पनपती। मद्य आदि का सेवन मनुष्य को प्रभु-स्तवन से दूर ले-जाता है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन के साथ मनुष्य सात्त्विक भोजनों की ही वृत्तिवाला बना रहता है। राजस् व तामस् भोजन हमें प्राकृतिक भोगों में फँसाकर प्रभु-स्तवन से दूर कर देते हैं।

यव (जौ)

अ॒भीव॑स्वः॒ प्र जि॑हीते॒ यवः॑ प॒क्वः प॒थो बिल॑म्।
जनः॒ स भ॒द्रमेध॑ति रा॒ष्ट्रे राज्ञः॑ परि॒क्षितः॑॥ १०॥

१. **परिक्षितः**=चारों ओर गति व निवासवाले उस सर्वव्यापक **राज्ञः**=शासक प्रभु के **राष्ट्रे**=राष्ट्र में, अर्थात् जहाँ प्रभु-स्तवन उत्तमता से चलता है उस राष्ट्र में **सः जनः**=वह स्तोता मनुष्य **भद्रं एधति**=मंगल व कल्याण के साथ वृद्धि को प्राप्त होता है। यह स्तोता मार्ग से न भटकता है और न ही अकल्याण का भागी होता है। २. इस राष्ट्र में **अभीवस्वः**=शरीर व मन दोनों के उत्तम निवास का साधनभूत—दोनों को उत्तम बनानेवाला **पक्वः यवः**=परिपक्व जौ **पथः**=मार्ग से **बिलम् प्रजिहीते**=हमारी अनाज की खत्तियों की ओर—अन्नों को भर रखने के स्थानों की ओर **प्रजिहीते**=गति करता है, अर्थात् ये स्तोता उत्तम, न्याय्यमार्ग से यव आदि सात्त्विक भोज्यपदार्थों का घरों में संचय करते हैं।

भावार्थ—प्रभु के स्तोता लोग सुख व कल्याण के साथ फूलते-फलते हैं। ये न्याय्यमार्गों से यव (जौ) आदि सात्त्विक भोजनों का ही संग्रह करते हैं।

बोध

इन्द्रः॑ का॒रुम॑बूबुधदुत्ति॑ष्ठ॒ वि च॑रा॒ जन॑म्। ममेदु॒ग्रस्य॒ चर्कृ॑धि॒ सर्व॒ इत्ते॑ पृणा॒दरिः॑॥ ११॥

१. **इन्द्रः**=ज्ञानस्वरूप परमैश्वर्यवाले प्रभु **कारुम्**=क्रियाओं को कुशलता से करनेवाले पुरुष को **अबूबुधत्**=बोधयुक्त करता है। आलसी को ज्ञान प्राप्त नहीं होता। प्रभु इस कारु को यह

बोध देते हैं कि **उत्तिष्ठ**=उठ, आलस्य को छोड़ और **जनम् विचर**=लोगों में विचरण कर। लोगों से तू सम्पर्क स्थापित कर। उनके सुख-दुःख में सहानुभूति दर्शाता हुआ उनका सहायक बन। २. दूसरी बात यह है कि **उग्रस्य मम इत्**=शत्रुओं को विनष्ट करनेवाले तेजस्वी मेरी ही **चर्कृधि**=स्तुति करनेवाला बन। तू इसप्रकार अपने जीवन को सुन्दर बना कि **सर्वः**=सब **अरिः**=(a religious or pious man) धार्मिक लोग **इत्**=निश्चय से **ते पृणात्**=तुझसे प्रसन्न हों (पृणाति= delight, please)। तेरे सुन्दर जीवन को देखकर उन्हें प्रसन्नता का अनुभव हो।

भावार्थ—क्रियाशील व्यक्ति को प्रभु बोध देते हैं—(१) तू लोगों के साथ मिलकर चल (२) प्रभु का स्तवन करनेवाला बन और (३) इसप्रकार जीवन को सुन्दर बना कि सब धार्मिक लोग तुझे देखकर प्रसन्न हों।

प्रभु-पूजन व उत्तम घर का निर्माण

इह गावः प्रजायध्वमिहाश्वा इह पूरुषाः।
इहो सहस्रदक्षिणोऽपि पूषा नि षीदति॥ १२॥

१. जहाँ मनुष्य गतमन्त्र के अनुसार प्रभु के बोध को सुनता है, **इह**=वहाँ इस घर में **गावः प्रजायध्वम्**=हे गौओ! तुम खूब फूलो-फलो। **इह**=इस घर में **अश्वाः**=हे घोड़ो! तुम फूलो-फलो और **इह**=यहाँ **पूरुषाः**=पुरुष फूलें-फलें। २. **इह उ**=इस घर में निश्चय से **सहस्रदक्षिणः**= हज़ारों का दान देनेवाला **पूषा**=सबका पोषण करनेवाला गृहपति **अपि**=भी **निषीदति**=नम्रतापूर्वक आसीन होता है।

भावार्थ—प्रभु-पूजनवाले गृह में 'गौएँ, घोड़े, पुरुष' सभी फूलते-फलते हैं। इस घर का गृहपति हज़ारों का दान देनेवाला व सबका पोषण करनेवाला होता है। यह नम्र होता है।

न अमित्रयु जन, न स्तेन

नेमा इन्द्र गावो रिषन्मो आसां गोप रीरिषत्। मासाममित्रयुर्जन इन्द्र मा स्तेन ईशत॥ १३॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **इमाः गावः**=ये हमारे घरों की गौएँ **न रिषन्**=हिंसित न हों और **मा उ**=मत ही निश्चय से **आसाम्**=इन गौओं का **गोपः**=ग्वाला (रक्षक) **रीरिषत्**=हिंसित हो। २. हे **इन्द्र**=शत्रुविद्रावक प्रभो! **अमित्रयुः जनः**=शत्रुरूप से वर्तनेवाला—इनके साथ स्नेह न करनेवाला मनुष्य **आसाम्**=इनका **मा ईशत**=शासक मत हो जाए। इसीप्रकार **स्तेनः**=चोर **मा (ईशत)**=मत शासक हो।

भावार्थ—हमारे घरों व राष्ट्र में न गौएँ हिंसित हों—न गोप। शत्रुभूत मनुष्य व चोर इनका ईश न जो जाए।

'भद्रेण सूक्तेन' वचसा

उप नो न रमसि सूक्तेन वचसा वयं भद्रेण वचसा वयम्।
वनादधिध्वनो गिरो न रिष्येम कदा चन॥ १४॥

१. **वयम्**=हम **सूक्तेन वचसा**=उत्तमता से उक्त वचनों के द्वारा **नरम्**=उन्नति-पथ पर ले-चलनेवाले प्रभु को **उप नो नमसि**=खूब ही उपस्तुत करते हैं। **वयम्**=हम **भद्रेण वचसा**= कल्याणकारक सुखप्रद वचनों के द्वारा प्रभु का स्तवन करते हैं। सूक्त व भद्र वचनों के द्वारा ही प्रभु का स्तवन होता है। २. वे प्रभु हमारी **अधिध्वनः**=अधिक ध्वनिवाली—ऊँचे से उच्चरित **गिरः**=वाणियों का **वनात्**=प्रीतिपूर्वक सेवन करते हैं। हमारे स्तुतिवचन प्रभु को प्रिय बनाएँ। इन स्तुतिवचनों का उच्चारण करते हुए हम **कदाचन**=कभी भी **न रिष्येम**=हिंसित न हों।

भावार्थ—हम 'भद्र व सूक्त' वचनों के द्वारा प्रभु का स्तवन करें। ये स्तुति-वचन प्रभु के लिए प्रिय हों। इन स्तुतिवचनों का उच्चारण करते हुए हम कभी हिंसित न हों।

१२८. [अष्टाविंशत्युत्तरशततमं सूक्तम्]

'सभेय-विदथ्य-सुत्वा-यज्वा'

यः सभेयो विदथ्य१ः सुत्वा यज्वाथ पूरुषः। सूर्यं चामू रिशादसस्तद्देवाः प्रागकल्पयन्॥ १॥

१. वस्तुतः **पूरुषः**=पुरुष वह है **यः**=जोकि **सभेयः**=सभा में उत्तम है—अपने ज्ञान व शिष्टाचार के कारण सभा में प्रशस्य होता है। **विदथ्यः**=(Knowledge, sacrifice, battle) ज्ञान, यज्ञ व संग्राम में उत्तम है। **सुत्वा**=सोम का सम्पादन करता है, शरीर में शक्ति (सोम) का रक्षण करता है। **अथ**=और **यज्वा**=यज्ञशील बनता है। २. **च**=और **तत्**=ऐसा बनने के लिए **देवाः**=देववृत्ति के पुरुष **अमुम्**=उस **सूर्यम्**=सूर्यसम ज्योति ब्रह्म को (ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिः) **प्राक्**=आगे—अपने सामने **अकल्पयन्**=(to believe, consider, think, imagine) सोचते हैं। प्रभु का ध्यान करते हुए प्रभु-जैसा ही बनने का प्रयत्न करते हैं। प्रभु ही **रिशादसम्**=सब हिंसक वृत्तियों को समाप्त करनेवाले हैं। प्रभु-स्मरण करते हुए ये उपासक 'ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध व द्रोह' आदि वृत्तियों से ऊपर उठ जाते हैं।

भावार्थ—मनुष्य तो वही है जो कि सभा में प्रशस्य होता है—ज्ञान में उत्तम है—सोम का सम्पादन करता है और यज्ञशील है। ये देववृत्ति के पुरुष सदा प्रभु का स्मरण करते हैं। प्रभु इनकी अशुभवृत्तियों को विनष्ट कर देते हैं।

अधराक् (अधोगामी)

यो जाम्या अप्रथयस्तद्यत्सखायं दुधूर्षति। ज्येष्ठो यदप्रचेतास्तदाहुरधरागिति॥ २॥

१. (क) **यः**=जो **जाम्यः**=बहिन का, अथवा किसी कुलीन स्त्री का **अप्रथयः**=(प्रथ प्रक्षेपे disclose) दोष इधर-उधर फैलाता है। मामूली-सी बात को लेकर जो किसी कुलीन स्त्री को कलंकित करता है। (ख) **तत् यत्**=वह जो **सखायं दुधूर्षति**=मित्र को हिंसित करने की कामना करता है। (ग) तथा **ज्येष्ठः**=आयु में बड़ा होता हुआ **यत्**=जो **अप्रचेताः**=नासमझी की बात करता है। **तत्**=तब उस पुरुष को **अधराग् आहु**=अधोगामी कहते हैं। २. अवनति की ओर जानेवाले पुरुष के तीन लक्षण हैं (क) यह बहिन व कुलीन स्त्री को बदनाम करता है (ख) मित्रों से द्रोह करता है (ग) और आयु में बड़ा होता हुआ भी नासमझी की बात करता है।

भावार्थ—अवनत पुरुष के तीन लक्षण है (क) कुलीन स्त्री को कलंकित करना (ख) मित्र-द्रोह तथा (ग) बड़ा होते हुए भी नासमझी की बात करना।

उदग्

यद्भद्रस्य पुरुषस्य पुत्रो भवति दाधृषिः। तद् विप्रो अब्रवीदु तद्गन्धर्वः काम्यं वचः॥ ३॥

१. **यत्**=जब **भद्रस्य पुरुषस्य**=(भदि कल्याणे सुखे च) कल्याण-कर्मों को करनेवाले पुरुष का **पुत्रः**=सन्तान **दाधृषिः**=शत्रुओं का—काम, क्रोध, लोभ का—धर्षण करनेवाला होता है? **तत्**=तब **गन्धर्वः**=ज्ञान की वाणियों का धारण करनेवाला **विप्रः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाला ज्ञानी पुरुष इस दाधृषि के लिए **काम्यं वचः**=कमनीय सुन्दर वेदवाणियों को **अब्रवीत्**=उपदिष्ट करता है। २. विद्यार्थी कुलीन हो, 'काम' आदि शत्रुओं का धर्षण करनेवाला हो, ऐसा होने पर उत्कृष्ट जीवनवाला ज्ञानी आचार्य ज्ञान की वाणियों को उपदिष्ट करता है। यह विद्यार्थी **उदग्**=ऊर्ध्वगतिवाला होता है (उत् अञ्च)—सदा उन्नति-पथ पर आगे बढ़ता है।

भावार्थ—उत्तम माता व पिता का सन्तान भी सामान्यतः उत्तम होता है—यह काम, क्रोध का शिकार नहीं होता रहता। इसे सदाचारी, ज्ञानी आचार्य ज्ञान की वाणियों का उपदेश करते हैं और यह सदा उन्नत होता चलता है।

धन तथा दानशीलता

यश्च पणि रघुंजिष्ठ्यो यश्च देवाँ अदाशुरिः। धीराणां शश्वतामहं तदपागिति शुश्रुम॥ ४॥

१. **यः च**=और जो **पणिः**=वणिक् वृत्तिवाला होता हुआ **रघुजिष्ठ्यः**=औरों का पालन करनेवाला नहीं। **यः च**=और जो **देवान् अदाशुरिः**=देवों के प्रति देने की वृत्तिवाला नहीं अथवा **देवान्**=धनी होता हुआ (अदाशुरिः) न देने की वृत्तिवाला है। वह **शश्वतां धीराणाम्**=प्लुतगतिवाले क्रियाशील धीर पुरुषों में **अपाग्**=(अप अञ्च्) निम्न गतिवाला है। **अहम् इति शुश्रुम**=मैंने ऐसा सुना है अथवा सदा से धीर पुरुषों से हमने ऐसा सुना है कि वह अदानशील पुरुष नीच गतिवाला है।

भावार्थ—धन की शोभा दान में है। धनी होते हुए न देना निम्न गति का कारण बनता है।

'यज्ञशीलता+दान' से स्वर्ग

ये च देवा अयंजन्ताथो ये च परादृदिः। सूर्यो दिवमिव गत्वाय मघवा नो वि रप्शते॥ ५॥

१. **ये च**=और जो **देवाः**=देववृत्ति के बनकर **अयजन्त**=खूब ही यज्ञ करते हैं। **च अथ उ**=और अब निश्चय से **ये परादृदिः**=जो खूब ही दान करते हैं। ये व्यक्ति **सूर्यः इव**=सूर्य की भाँति **दिवं गत्वाय**=प्रकाशमय लोक में जाकर **मघवानः**=ऐश्वर्यशाली होते हुए अथवा (मघ=मख) यज्ञशील होते हुए **विरप्शते**=खूब ही प्रभु के नामों का उच्चारण करते हैं।

भावार्थ—हम देव बनकर यज्ञशील व दानवृत्तिवाले बनें। हमें प्रकाशमय स्वर्गलोक की प्राप्ति होगी। वहाँ भी हम यज्ञशील व प्रभु-स्तवन करनेवाले होंगे।

(कल्पेषु संमिता) अमणिः अहिरण्यवान्

योऽनाक्ताक्षो अनभ्यक्तो अमणिवो अहिरण्यवः।
अब्रह्मा ब्रह्मणः पुत्रस्तोता कल्पेषु संमिता॥ ६॥

१. **यः**=जो **अनाक्ताक्षः**=आँख में अञ्जन लगाये हुए नहीं है, इसी प्रकार **अनभ्यक्तः**=अंगों पर जिसने उबटन नहीं लगाया है, **अमणिवः**=जिसने शरीर पर मणियों को धारण नहीं किया हुआ, **अहिरण्यवान्**=जो सोना, चाँदी आदिवाला नहीं है, अर्थात् बहुत धनी नहीं है, **अब्रह्मा**=चारों वेदों का ज्ञाता नहीं है, वह भी **ब्रह्मणः पुत्रः**=उस ब्रह्म का ही पुत्र है। २. **ता उ ता**=वे सब और निश्चय से वे सब **कल्पेषु संमिता**=अनुष्ठानों में (rites) यज्ञ आदि के क्रियाकलापों में समानरूप से सम्मिलित होने योग्य माने गये हैं (adapted)।

भावार्थ—यज्ञ आदि कर्मों के विधि-विधानों में शरीर की बहुत सजावट व बहुत धन, व बहुत ज्ञान का होना आवश्यक नहीं है। पूर्व व पश्चिम में आहुति डालने के लिए बहुत ज्ञान अपेक्षित नहीं।

सुमणिः सुहिरण्यवः

य आक्ताक्षः सुभ्यक्तः सुमणिः सुहिरण्यवः।
सुब्रह्मा ब्रह्मणः पुत्रस्तोता कल्पेषु संमिता॥ ७॥

१. **यः आक्ताक्षः**=अञ्जन से आँजी आँखवाला है, **सुअभ्यक्तः**=जिसने स्नान आदि के बाद सम्यक् तेल मला है, **सुमणिः**=उत्तम मणियों को धारण किये हुए है, **सुहिरण्यवः**=उत्तम स्वर्ण आदि धनों से युक्त है। **सुब्रह्मा**=उत्तम वेदज्ञाता है। वह भी **ब्रह्मणः पुत्रः**=उस ब्रह्म का ही पुत्र है। २. **ता उ ता**=वे सब और निश्चय से वे सब **कल्पेषु संमिता**=यज्ञानुष्ठानों में समान रूप से सम्मिलित होने के योग्य माने गये हैं।

भावार्थ—सुस्नात, सुन्दर शरीरवाला, धनी तथा ज्ञानी भी यज्ञानुष्ठान उसी प्रकार करे जैसे कि अस्नात, न सुन्दर शरीरवाला, निर्धन व अल्पज्ञ करता है। यज्ञानुष्ठान सभी को करना ही चाहिए। ज्ञानी होकर इन अनुष्ठानों की उपेक्षा न करे।

धनी होता हुआ अदाता कैसा है?

अप्रपाणा च वेशन्ता रेवाँ अप्रतिदिश्ययः।
अयभ्या कन्या कल्याणी तोता कल्पेषु संमिता॥ ८॥

१. **अप्रपाणा च**=जैसे बिना पनघटवाला—पानी पीने के अस्थानवाला **वेशन्ता**=सरोवर है, वैसे ही **अप्रतिदिश्ययः**=प्रतिदान न करनेवाला **रेवान्**=धनी है। धन के होने पर दान करना ही चाहिए। २. धन होने पर दान न करनेवाला तो ऐसा है जैसेकि एक **कल्याणी कन्या**=बड़ी सुन्दर रूपवती युवति हो परन्तु **अयभ्या**=मैथुन के अयोग्य हो—सन्तानोत्पत्ति के अयोग्य हो। **ता उ ता**=वे सब—निश्चय से वे सब **कल्पेषु संमिता**=शास्त्रविधानों में समान माने गये हैं।

भावार्थ—एक धनी होता हुआ दान न देनेवाला पुरुष ऐसा है, जैसा कि बिना पनघटवाला सरोवर और जैसेकि सन्तानोत्पत्ति के अयोग्य सुन्दर युवति।

रेवान् सुप्रतिदिश्ययः

सुप्रपाणा च वेशन्ता रेवान्त्सुप्रतिदिश्ययः।
सुयभ्या कन्या कल्याणी तोता कल्पेषु संमिता॥ ९॥

१. **सुप्रपाणा च**=जैसे उत्तम प्याऊवाला **वेशान्त**=सरोवर है, उसी प्रकार **सुप्रतिदिश्ययः**=सुन्दर प्रतिदान करनेवाला **रेवान्**=धनी है। २. यह दाता धनी उस **कल्याणी कन्या**=सुन्दररूपवाली युवति के समान है जोकि **सुयम्या**=उत्तमता से मैथुन के योग्य व सन्तानोत्पत्ति के योग्य है। **ता उ ता**=वे सब और निश्चय से वे सब शास्त्रविधानों में समान माने गये हैं।

भावार्थ—उत्तम दान देनेवाला धनी शास्त्रों में उस सरोवर से उपमित होता है जो उत्तम पनघटवाला है तथा उस सुन्दर युवति से उपमित होता है जोकि उत्तम सन्तान को जन्म देने के योग्य है।

निरादृत युद्धकातर पुरुष

परिवृक्ता च महिषी स्वस्त्या च युधिंगमः। अनाशुरश्चायामी तोता कल्पेषु संमिता॥ १०॥

१. **महिषी**=ऊँचे घर की होती हुई **च**=भी जो स्त्री **परिवृक्ता**=पति से छोड़ी गई है, जैसे वह स्त्री आदर का पात्र नहीं होती, इसी प्रकार वह व्यक्ति भी आदरणीय नहीं होता जो **स्वस्त्या च**=(सु+अस्ति) कल्याणमयी (स्वस्थ) स्थितिवाला होता हुआ भी **अयुधिंगमः**=युद्ध में नहीं जाता। युद्ध में कातरता के कारण न जानेवाला व्यक्ति उसी प्रकार अनादरणीय होता है, जैसेकि कुलीन होती हुई भी पति परित्यक्ता स्त्री आदरणीय नहीं होती। २. **च**=और इसी प्रकार **अनाशुरः**=शीघ्रता से कार्यों को न करनेवाला **आयामी**=समन्तात् नियामक राजा भी आदरणीय नहीं हुआ करता। **ता उ ता**=वे और निश्चय से वे सब **कल्पेषु**=शास्त्रविधानों में **संमिता**=समान

माने गये हैं।

भावार्थ—'परित्यक्ता कुलीन स्त्री, स्वस्थ होते हुए भी युद्ध में न जानेवाला तथा शासक होते हुए भी आलसी पुरुष' ये सब शास्त्रविधानों में समान माने गये हैं।

स्वस्त्या च युधिंगमः

वावाता च महिषी स्वस्त्या च युधिंगमः। श्वाशुरश्चायामी तोता कल्पेषु संमिता॥ ११॥

१. **वावाता च**=(वा गतिगन्धनयोः) उत्तम पुण्य सुगन्ध-(सम्बन्ध)-युक्त—सुखपूर्वक पति के साथ संगत **महिषी**=कुलीन स्त्री जैसे आदरणीय होती है, **च**=उसी प्रकार **च**=उसी प्रकार **स्वस्त्या**=स्वस्थ कल्याणयुक्त होता हुआ **युधिंगमः**=युद्ध में जानेवाला वीर आदरणीय होता है। २. **शु आसुरः**=शीघ्रता से (शु) मार्ग को व्यापनेवाला—कार्यों को करनेवाला, **आयामी च**=शासक भी उसी प्रकार आदरणीय होता है। **ता उ ता**=वे सब और निश्चय से वे सब **कल्पेषु**=शास्त्र-विधानों में **संमिता**=समान माने गये हैं।

भावार्थ—पतिसंगत कुलीन स्त्री, युद्ध में वीरतापूर्वक अग्रसर होनेवाला स्वस्थ योद्धा तथा शीघ्रता से कार्यों में व्याप्त होनेवाला शासक—ये सब शास्त्र-विधानों में समानरूप से आदरणीय माने गये हैं।

मानुषं विगाहथाः

यदिन्द्रादो दाशराज्ञे मानुषं वि गाहथाः। विरूपः सर्वस्मा आसीत्सह यक्षाय कल्पते॥ १२॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **यत्**=जो **दाशराज्ञे**=दसों इन्द्रियों पर शासन के लिए **अदः मानुषम्**=उस मनुष्योचित कर्म का तू **विगाहथाः**=विलोडन करता है, अर्थात् जब तू जितेन्द्रिय बनने के लिए सदा मनुष्योचित कर्मों में प्रवृत्त रहता है तब 'तू' **सर्वस्मै**=सबके लिए **विरूपः आसीत्**=विशिष्ट रूपवाला होते है। यह सदा मानवकर्मों में प्रवृत्त जितेन्द्रिय पुरुष सम्पूर्ण समाज में चमक जाता है। २. **सः ह**=वही निश्चय से **यक्षाय**=उस प्रभु के साथ सम्पर्क के लिए **कल्पते**=समर्थ होता है।

भावार्थ—मानवोचित कर्मों में व्यापृत जितेन्द्रिय पुरुष ही विरूप बनता है और प्रभुसम्पर्क में समर्थ होता है।

'रौहिण वृत्र' का विनाश

त्वं वृषाक्षुं मघवन्नम्रं मर्याकरो रविः। त्वं रौहिणं व्यास्यो वि वृत्रस्याभिनच्छिरः॥ १३॥

१. हे **मघवन्**=(मघ-मख) यज्ञशील **मर्य**=मनुष्य! **त्वम्**=तू **वृषा**=शक्तिशाली—अपने में सोमशक्ति का सेचन करनेवाला व **रविः**=अज्ञानान्धकार को नष्ट करनेवाला सूर्यसम ज्ञानदीप्त बना है। तू अपने सन्तानों को भी **अक्षुम्**=(अश्) कर्मों में व्याप्त—खूब क्रियाशील **व नम्रम्**=ज्ञान से विनीत **अकरोः**=बनाता है। २. **त्वम्**=तू **रौहिणम्**=उपभोग से निरन्तर वृद्धि को प्राप्त होनेवाले इस कामासुर को (न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥) **व्यास्यः**=विशेषरूप से दूर फेंकता है और **वृत्रस्य**=ज्ञान पर पर्दे के रूप में आ जानेवाले 'वृत्र' (लोभ) के **शिरः**=सिर को **वि अभिनत्**=विशेषरूप से विदीर्ण करता है, काम व लोभ को नष्ट करके ही यह यज्ञशील बनता है। स्वयं शक्तिशाली व ज्ञानी बनता हुआ यह सन्तानों को भी क्रियाशील व नम्र बनाता है।

भावार्थ—हम यज्ञशील शक्तिशाली व ज्ञानी बनें। हमारे सन्तान भी क्रियाशील व नम्र हों। हम काम व लोभ को विनष्ट कर पाएँ।

इन्द्र का 'पर्वतविधान' व 'अपो विगाहन'

यः पर्वतान्व्यदधाद्यो अपो व्यगाहथाः। इन्द्रो यो वृत्रहान्महं तस्मादिन्द्र नमोऽस्तु ते॥ १४॥

१. **यः**=जो **पर्वतान्**=(पर्व पूरणे) पूरणों को—कमियों के दूरीकरण को—**व्यदधात्**=विशेष रूप से करता है, अर्थात् सब न्यूनताओं को दूर करके जीवन को उत्तम गुणों से परिपूर्ण बनाता है। **यः**=जो **अपः**=ज्ञान-जलों व कर्मों का **व्यगाहथाः**=आलोडन करता है, अर्थात् खूब ज्ञानी व क्रियाशील बनता है। इसप्रकार **यः**=जो **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय बनकर **वृत्रहा**=वासनारूप वृत्र का विनाश करता है। २. **आत्**=अब हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष **तस्मात्**=उस कारण से चूँकि तूने कमियों को दूर किया है, चूँकि तू ज्ञानी व क्रियाशील बना है, चूँकि तूने वासनारूप वृत्र का विनाश किया है, अतः **ते**=तुझे **महम्**=(मह पूजायाम्) महनीय (आदरभाव से परिपूर्ण) **नमः अस्तु**=नमस्कार हो।

भावार्थ—हम उस व्यक्ति को आदर दें जो (क) अपनी न्यूनताओं को दूर करने के लिए यत्नशील होता है, (ख) जो ज्ञानी व क्रियाशील बनता है, और (ग) जो वासनारूप वृत्र का विनाश करता है।

'अश्व-पृष्ठ-धावन'

पृष्ठं धावन्तं हर्योरौच्चैःश्रवसमब्रुवन्। स्वस्त्यश्व जैत्रायेन्द्रमा वह सुस्रजम्॥ १५॥

१. **हर्योः**=इन्द्रियाश्वों के—ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों के **पृष्ठम्**=पृष्ठ (Surface) को **धावन्तम्**=शुद्ध करते हुए, अर्थात् ज्ञानेन्द्रियों व कर्मेन्द्रियों को शुद्ध बनाते हुए **उच्चैः श्रवसम्**= उत्कृष्ट कीर्तिवाले इस जितेन्द्रिय पुरुष को सब देव (माता, पिता व आचार्य) **आ अब्रुवन्**=सब प्रकार से यही कहते हैं कि हे **स्वस्त्यश्व** (सु अस्ति अश्व)=कल्याणकर इन्द्रियाश्वोंवाले जीव! तू **जैत्राय**=विजय-प्राप्ति के लिए **सुस्रजम्**=उत्तमताओं का निर्माण करनेवाले—तेरे जीवन को उत्तम बनानेवाले **इन्द्रम्**=सब शत्रुओं के विद्रावक प्रभु को **आवह**=अपने समीप प्राप्त करा। प्रभु का सान्निध्य ही तेरे जीवन को शत्रु-विजय द्वारा पवित्र बनाएगा।

भावार्थ—इन्द्रियों को पवित्र बनाने के लिए यत्नशील मनुष्य यशस्वी होता है। माता, पिता व आचार्य आदि सब देव इसे यही उपदेश करते हैं कि तू जीवन में शत्रुओं को जीतने के लिए प्रभु का उपासन कर।

शुद्ध कर्मों में व्यापृति

ये त्वा श्वेता अजैश्रवसो हार्यो युञ्जन्ति दक्षिणम्।
पूर्वा नमस्य देवानां बिभ्रदिन्द्र महीयते॥ १६॥

१. हे **नमस्य**=नमस्कार के योग्य **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **ये**=जो **श्वेताः**=सब मिलनताओं के विनाश से श्वेत (शुद्ध) अतएव **अजैश्रवसः**=अजेय कीर्तिवाले—अत्यन्त प्रशंसनीय **हार्यः**=इन्द्रियाश्व **त्वा**=तुझे **दक्षिणं युञ्जन्ति**=सदा सीधे (वाम से विपरीत) उन्नति के साधक (दक्ष् to grow) कर्मों में प्रेरित करते हैं—लगाते हैं तो उस समय आप **देवानाम्**=सब इन्द्रियों के **पूर्वा**=पालन व पूरणात्मक कर्मों को **बिभ्रत्**=धारण करते हुए **महीयते**=महिमावाले होते हैं—सब लोग आपका आदर करते हैं।

भावार्थ—जब हम इन्द्रियों से सदा उत्तम कार्यों को करने में तत्पर होते हैं तब शुद्ध जीवनवाले बनकर हम महिमा को प्राप्त करते हैं।

१२९. [एकोनत्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

प्रतीपम्

एता अश्वा आ प्लवन्ते॥ १॥ प्रतीपं प्राति सुत्वनम्॥ २॥

१. गतमन्त्र के अनुसार इन्द्रियों के शुद्ध होने पर **एताः**=ये **अश्वाः**=विविध विषयों में व्याप्त होनेवाली चित्तवृत्तियाँ **आ**=चारों ओर से **प्रतीपम्**=(inverted) अन्तर्मुखी हुई-हुई **प्लवन्ते**=गतिवाली होती हैं। अब ये चितवृत्तियाँ **प्रातिसुत्वनम्**=ब्रह्माण्ड के प्रत्येक पदार्थ को उत्पन्न करनेवाले प्रभु की ओर चलती हैं।

भावार्थ—इन्द्रियों के शुद्ध होने पर चित्तवृत्तियाँ अन्तर्मुखी होकर प्रभु की ओर चलती हैं।

हरिक्निके किमिच्छसि

तासामेका हरिक्निका॥ ३॥ हरिक्निके किमिच्छसि॥ ४॥

१. **तासाम्**=उन चित्तवृत्तियों में **एका**=एक **हरिक्निका** (हरयः मनुष्याः नि० १.१५। कन् दीप्तौ) मनुष्यों के जीवन को दीप्त बनानेवाली है। २. हे **हरिक्निके**=मानव-जीवन को दीप्त करनेवाली चित्तवृत्ते! तू **किम् इच्छसि**=क्या चाहती है। यहाँ साधक अपने से ही प्रश्न करता है और अगले मन्त्र में उसका उत्तर देता है।

भावार्थ—अन्तर्मुखी चित्तवृत्ति वह है जोकि मानवजीवन को दीप्त बनानेवाली है।

प्रभु की ओर

साधुं पुत्रं हिरण्ययम्॥ ५॥

१. अन्तर्मुखी चित्तवृत्ति **साधुम्**=(साध्नोति कार्याणि) कार्यसाधक—जीवन के पोषण के लिए आवश्यक धन को चाहती है। २. यह **पुत्रम्**=उस जीवात्मा को चाहती है जो (पुनाति त्रायते) अपने जीवन को पवित्र और वासनाओं के आक्रमण से रक्षित करता है। ३. **हिरण्ययम्**=यह उस ज्योतिर्मय—'रुक्माभम्' स्वर्णसम दीप्तिवाले प्रभु को चाहती है।

भावार्थ—मानव जीवन को दीप्त करनेवाली चित्तवृत्ति तीन वस्तुओं की कामना करती है (क) कार्यसाधक धन की, (ख) जीवन को पवित्र व वासनाओं से अनाक्रान्त—सुरक्षित बनानेवाले जीवात्मा की, (ग) स्वर्णसम दीप्त ज्योतिर्मय प्रभु की।

तीन शपथें

क्वाहतं परास्यः॥ ६॥ यत्रामूस्तिस्रः शिंशपाः॥ ७॥

साधक गतमन्त्र में वर्णित अपनी हरिक्निका नामक चित्तवृत्ति से ही पूछता है कि तू **तम्**=उस प्रभु को **क्व आह**=कहाँ कहती है? वे प्रभु कहाँ हैं? २. साधक ही पुनः कहता है कि क्या तू यह कहती है कि **स्यः**=वे प्रभु **परा**=परे व दूर हैं। वहाँ **यत्र**=जहाँ कि **अमूः**=वे **तिस्रः**=तीन **शिंशपाः**=(शि=good fortune; tranquiling; Shiva; शिव। शप्=take an oath) शपथें ली जाती हैं कि हम (क) सुपथ से धन कमाएँगे, (ख) जीवन को शान्त रखेंगे, और (ग) प्रभु-प्राप्ति को अपना लक्ष्य बनाएँगे।

भावार्थ—प्रभु का निवास उस व्यक्ति में होता है जो (क) सुपथ से धन कमाता है (ख) शान्तवृत्ति का बनता है और (ग) प्रभु-प्राप्ति को अपने जीवन का लक्ष्य बनाता है।

शिखर पर

परि त्रयः॥ ८॥ पृदाकवः॥ ९॥ शृङ्गं धमन्त आसते॥ १०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जीवन में तीन शपथें लेने पर (उत्तम मार्ग से धन कमाऊँगा, शान्त रहूँगा, प्रभु की ओर चलूँगा) **त्रयः**=आधिभौतिक, आध्यात्मिक व आधिदैविक तीनों ही कष्ट **परि**=(परेर्वर्जने) हमारे जीवनों से दूर हो जाते हैं। २. धन को कुमार्ग से न कमाने का व्रत लेने पर मनुष्यों का परस्पर प्रेम न्यून नहीं होता और युद्ध आदि का प्रसंग उपस्थित नहीं होगा, इसप्रकार आधिभौतिक कष्ट उपस्थित नहीं होते। जीवन के शान्त होने पर आध्यात्मिक कष्टों का प्रसंग नहीं होता। प्रभु-प्रवणता आधिदैविक कष्टों को दूर रखती है। ३. इस स्थिति में एक घर के मुख्य पात्र 'पिता, माता व सन्तान' 'पृ-दा-कवः' होते हैं। (पृणाति protect क्रियते to be busy) पिता व्यापार आदि में लगे रहकर धनार्जन करता हुआ घर का रक्षक होता है। माता सबके लिए आवश्यक वस्तुओं को 'दा'=देनेवाली होती है तथा सन्तान (कुशके) ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करते हुए कवि व ज्ञानी बनने के लिए यत्नशील होते हैं। ४. इसप्रकार घर के सब व्यक्ति अपने जीवनों में **शृंगम्**=शिखर को **धमन्तम्**=(ध्मा=to manufacture by blowing) तपस्या द्वारा निर्मित करते हुए **आसते**=स्थित होते हैं—तपस्या के द्वारा—प्राणायाम के द्वारा उन्नत होते हुए शिखर पर पहुँचते हैं।

भावार्थ—हमारे जीवनों के उत्तम होने पर सब कष्ट हमसे दूर रहते हैं। घरों में 'पिता, माता व सन्तान' सब अपने कर्त्तव्यों को सुचारुरूपेण करते हैं और तपस्वी बनकर शिखर पर पहुँचने के लिए यत्नशील होते हैं।

प्रभु-प्राप्ति किसे?

अ॒यन्म॒हा ते॑ अर्वा॒हः॥ ११॥ स इ॑च्छ॒कं सघा॑घते॥ १२॥
सघा॑घ॒ते गोमी॒द्या गोग॑ती॒रिति॑॥ १३॥

१. गतमन्त्र के अनुसार जब तुम शिखर पर पहुँचने का प्रयत्न करते हो तो वे **महा**=महान् **अर्वाहः**=(ऋ गतौ) सब गतियों को प्राप्त करानेवाले प्रभु **ते अयत्**=तुझे प्राप्त होते हैं। उन्नतिशील पुरुष ही प्रभु-प्राप्ति के योग्य होता है। २. **सः**=वे प्रभु **इच्छकम्**=प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामनावाले पुरुष को ही **सघाघते** (receive, accept)=स्वीकार करते हैं। यही ब्रह्मलोक में पहुँचने का अधिकारी होता है। ३. यह प्रभु का प्रिय साधक **गोमीद्याः**=(मिद् स्नेहने) ज्ञान की वाणियों के प्रति स्नेह को **सघाघते** (सघ् to support, bear) अपने में धारण करता है तथा **गोगतीः**=ज्ञान की वाणियों के अनुसार क्रियाओं को अपने में धारण करता है। यह बात शास्त्रनिर्दिष्ट है **इति**=इस कारण ही वह उसका धारण करता है।

भावार्थ—शिखर पर पहुँचने के लिए यत्नशील पुरुष को प्रभु की प्राप्ति होती है। प्रभु उसी को प्राप्त होते हैं जो प्रभु-प्राप्ति की प्रबल कामनावाला होता है। यह पुरुष ज्ञान की वाणियों के प्रति स्नेह को धारण करता है और ज्ञान की वाणियों के अनुसार ही क्रियाओं को करता है।

पुमान् को प्रभु की प्राप्ति

पुमां॑ कु॒स्ते नि॑मिच्छसि॥ १४॥

१. ज्ञान की वाणियों के अनुसार क्रियाओं को करता हुआ यह **पुमान्**=(पू) अपने जीवन को पवित्र करनेवाला व्यक्ति **कुस्ते**=प्रभु से अपना मेल कर पाता है (कुस् संश्लेषणे)। हे प्रभो! आप इस पुमान् को ही **निमिच्छसि**=(मिच्छ to hinder) सब वासनाओं को निश्चय से रोकने के द्वारा पवित्र बनाते हो। वह पुमान् स्वयं तो इन काम-क्रोध आदि वासनाओं को जीतने में समर्थ नहीं होता। आपके द्वारा ही तो वह इन्हें जीतने में समर्थ होता है।

भावार्थ—अपने को पवित्र करनेवाला जीव प्रभु से मेल करने का यत्न करता है। प्रभु इसकी वासनाओं को विनष्ट करते हैं।

क्रियाशीलता व व्रत-बन्धन

पल्प बद्ध वयो इति॥ १५॥ बद्ध वो अघा इति॥ १६॥

१. **पल्प** (पल् गतौ, पा रक्षणे)=हे गति के द्वारा रक्षण करनेवाले! **बद्ध**=व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधनेवाले जीव! तू अपना **इति**=यही लक्ष्य बना कि **वयः**=(वे तन्तुसन्ताने) मैंने अपने कर्मतन्तु को विच्छिन्न नहीं होने देना—इस कर्मतन्तु का विस्तार ही करना है। मैंने इस यज्ञ-तन्तु को जीवन में कभी विलुप्त नहीं होने देना। २. हे **अघाः**=पापो! आज तक तुम्हारे में फँसा हुआ यह **वः**=तुम्हारा व्यक्ति **बद्ध इति**=अब व्रतों के बन्धन में बँधा है, ऐसा समझ लो और अब इसे अपने वशीभूत करने की आशा छोड़ दो।

भावार्थ—हम क्रियाशील बनें, व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधें और यज्ञ-तन्तु को विच्छिन्न न होने देने का निश्चय करें। पाप भी ये समझ लें कि अब मैं व्रतों के बन्धन में बँधा हूँ, अब वे मुझे अपने वशीभूत न कर सकेंगे।

सेवावृत्ति व प्रभु का वरण

अजागार केविका॥ १७॥ अश्वस्य वारो गोशपद्यके॥ १८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार व्रतमय जीवनवाला व्यक्ति कहता है कि **केविका**=(केव to serve) मुझमें सब सेवा की वृत्ति **अजागार**=(जागरिता अभवत्) जागरित हो गई है। मैं अब स्वार्थ से ऊपर उठकर परार्थ में प्रवृत्त हुआ हूँ। २. अब मैं तो **गोशपद्यके**=(गोषु शेते पद्यते) ज्ञान की वाणियों में ही शयन (निवास) व गति के होने पर **अश्वस्य**=(अश् व्याप्तौ) उस सर्वव्यापक प्रभु का ही **वारः**=वरण करनेवाला बना हूँ। मेरी इच्छा तो अब एकमात्र यही है कि मैं वेदरुचिवाला व वेदानुसार कार्य करनेवाला बनकर, परार्थ में प्रवृत्त हुआ-हुआ सर्वभूतहिते रत बना हुआ—प्रभु का धारण कर पाऊँ।

भावार्थ—मुझमें सेवा की वृत्ति का जागरण हो। मैं सदा ज्ञान की रुचिवाला व तदनुसार कर्म करता हुआ प्रभु का ही वरण करूँ।

सेवक के चार लक्षण

श्येनीपती सा॥ १९॥ अनामयोपजिह्विका॥ २०॥

१. गतमन्त्र में वर्णित **सा**=वह सेवावृत्ति **श्येनीपती**=(श्यैङ् गतौ, पा रक्षणे) खूब क्रिया-शीलतावाली है तथा सदा रक्षणात्मक कार्यों में प्रवृत्त रहती है। २. यह सेवावृत्ति **अनामया**=रोगों से शून्य है। सेवावृत्तिवाला व्यक्ति रोगी नहीं होता। भोगवृत्ति से ऊपर उठने का यह परिणाम स्वाभाविक ही है। ३. यह सेवावृत्ति **उपजिह्विका**=गौण जिह्वावाली है। सेवावृत्तिवाला व्यक्ति न खाने के चस्केवाला होता है, न बहुत बोलने की वृत्तिवाला। यह कम खाता है और कम बोलता है। इसी से यह सदा स्वस्थ रहता है।

भावार्थ—सेवा की वृत्ति में चार बातें होती हैं (क) क्रियाशीलता (ख) रक्षणात्मक कर्मों में प्रवृत्ति (ग) नीरोगता (४) कम खाना, कम बोलना।

१३०. [त्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

सोम-यज्ञ

को अ॒र्य ब॑हुलि॒मा इषू॑नि॥ १॥ को अ॑सि॒द्याः पयः॥ २॥
को अर्जु॑न्याः॒ पयः॥ ३॥ कः का॒र्ष्ण्याः पयः॥ ४॥

१. **कः**=कौन **बहुलिमा**=शक्तियों के बाहुल्यवाले **इषूनि**=सोमयज्ञों को—शरीर में ही प्रतिदिन सोम (वीर्य) की आहुति देनेरूप यज्ञों को **अर्य**=(ऋ गतौ) प्राप्त होता है। शक्तियों के बाहुल्य को प्राप्त करानेवाले इन सोमयज्ञों का करनेवाला यह ब्रह्मचारी ही तो होता है। सोम-रक्षण द्वारा यह अपने में शक्ति का संचय करता है। २. **असिद्याः** (अविद्यमाना सितिः बन्धनं यस्याः)=गृहस्थ में रहते हुए भी विषयों में अनासक्तवृत्ति का **पयः**=(semen virile) **वीर्यकः**=कौन-सा होता है। गृहस्थ में होते हुए भी जो विषय-विलास के जीवनवाला नहीं बन जाता, वह सु-वीर्य बनता ही है। ३. **अर्जुन्याः**=(अर्जुन श्वेत) राग-द्वेष से अनाक्रान्त शुद्ध (श्वेत) चित्तवृत्तिवाले का **पयः**=वीर्य **कः**=कौन-सा होता है? गृहस्थ के कार्यों को समाप्त करके मनुष्य वानप्रस्थ बनता है। इस वानप्रस्थ में राग-द्वेष से ऊपर उठने पर शरीर में वीर्य शुद्ध (उबाल से रहित) बना रहता है। (४) वानप्रस्थ से ऊपर उठकर मनुष्य संन्यस्त होता है। इस संन्यास में 'कार्ष्णी' वृत्ति को अपनाता है। इधर-उधर भटकनेवाली इन्द्रियों व मन को यह अन्तर्मुखी करने का प्रयत्न करता है—उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करता है। इस **कार्ष्ण्याः**=कार्ष्णी वृत्ति का **पयः**=वीर्य **का**=कौन-सा है? संन्यस्त होकर—सब इन्द्रियों को अपने अन्दर आकृष्ट करके यह वीर्य को सुरक्षित करनेवाला होता है।

भावार्थ—ब्रह्मचर्य तो है ही सोमयज्ञ। इस आश्रम में सोम (वीर्य) को शरीर में सुरक्षित रखना होता है। गृहस्थ में भी हम विषयों से बद्ध न हो जाएँ। वानप्रस्थ में अत्यन्त शुद्धवृत्ति-(अर्जुनी)-वाले बनें। संन्यास में इन्द्रियों व मन को अपने अन्दर आकृष्ट करनेवाले बनें। इसप्रकार हम आजीवन सोमयज्ञ करनेवाले हों।

'परि प्रश्न' (परिप्रश्नेन)

ए॒तं पृ॑च्छ कुहं॑ पृच्छ॥ ५॥ कु॒हा॒कं प॒क्व॒कं पृ॑च्छ॥ ६॥

१. **एतं पृच्छ**=गत चार मन्त्रों में वर्णित प्रश्न को तू पूछ। 'वीर्यरक्षण कैसे सम्भव है? उसका क्या लाभ है?' यह प्रश्न तू पूछ। **कुहं पृच्छ**=(कुह विस्मापने) अपने ज्ञान से औरों का विस्मापन करनेवाले ज्ञानी से तू इस प्रश्न को पूछ। २. **कुहाकम्**=ज्ञान के द्वारा आश्चर्यित करनेवाले महान् ज्ञानी से तू इस सोमयज्ञ-सम्बन्धी प्रश्न को **पृच्छ**=पूछ। **पक्वकम्**=ज्ञान-परिपक्व व्यक्ति से पूछ। यह परिप्रश्न तेरे ज्ञान का वर्धन करनेवाला होगा।

भावार्थ—हम परिपक्व ज्ञानवाले—आश्चर्यकारक ज्ञानवाले—ज्ञानियों से सोमरक्षण-सम्बन्धी प्रश्नों को पूछकर सोमयज्ञ करनेवाले बनें। शरीर में सुरक्षित सोम हमारे जीवन को शक्तिशाली व आनन्दमय बनाएगा।

सुन्दर जीवन

यवा॑नो य॒ति॒स्वभिः॑ कु॒भिः॥ ७॥ अकु॑प्यन्तः कु॒पाय॑कुः॥ ८॥
आम॑णको॒ मण॑त्सकः॥ ९॥ देव॑ त्व॒प्रति॒सूर्य॥ १०॥

१. गतमन्त्र के अनुसार यह वीर्यरक्षण करनेवाला—सोमयज्ञ करनेवाला व्यक्ति **यवानः**=

(यु मिश्रणामिश्रणयोः) अपने से बुराइयों को दूर करता है और अच्छाइयों का अपने से मिश्रण करता है। यह **यतिस्वभिः**=(यति+स्व-भा+इ) संयत जीवनवाला व आत्मदीप्तिवाला होता है। **कु-भिः**=(कु+भा+इ) इस पृथिवी पर अपने कर्मों से यह दीप्त होता है। २. **अकुप्यन्तः** (कुप्+सच्=अन्त) यह कभी क्रोध नहीं करता। **कुपायकुः**=इस पृथिवी पर सबका रक्षण करनेवाला बनता है। ३. **आमणकः**=(मण् to sound) यह चारों ओर ज्ञानोपदेश करनेवाला होता है। **मणत्सकः**=सदा स्तुतिवचनों के उच्चारण के स्वभाववाला बनता है। ४. यह मणत्सक इसप्रकार प्रभु का स्मरण करता है कि (क) **देव**=प्रभो! आप प्रकाशमय हो—दिव्यगुणों के पुञ्ज हो। **तु**=दिव्यगुणों के पुञ्ज होने के साथ आप **अ-प्रतिसूर्य**=एक अद्वितीय सूर्य हो। सूर्य के समान अन्धकारमात्र को विनष्ट करनेवाले हो। ५. यह प्रभु-स्मरण मणत्सक को भी 'देव व सूर्य' बनने की प्रेरणा देता है।

भावार्थ—सोम का रक्षण करनेवाला अनुपम सुन्दर जीवनवाला बनता है। (क) यह ब्रह्मचर्याश्रम में बुराइयों को दूर करके अच्छाइयों का ग्रहण करता है (ख) संयत जीववाला व आत्मदीप्तिवाला होता है (ग) इस पृथिवी पर यशोदीप्त होता है (घ) गृहस्थ में क्रोध नहीं करता (ङ) सब सन्तानों का रक्षण करता है (च) ज्ञान का प्रचार करता है (छ) प्रभु का स्तवन करता है कि आप दिव्यगुणों के पुञ्ज हो, ज्ञान के सूर्य हो। इस स्तवन से वह ऐसा बनने की ही प्रेरणा लेता है। अब संन्यस्थ होकर स्वयं देव व सूर्य बनता है।

प्रदुद्रुदो मघाप्रति

एनश्चिपङ्क्तिका हविः॥ ११॥ प्रदुद्रुदो मघाप्रति॥ १२॥

१. गतमन्त्र में वर्णित सोमरक्षक पुरुष के जीवन में **एनः चिपङ्क्तिका**=(चि चयने, पचि विस्तारे) पाप का चयन (बीनना) करके परे फेंकने का विस्तार होता है। यह हृदयक्षेत्र में से अशुभ वृत्तियों को चुन-चुनकर बाहर फेंक देता है और **हविः**=सदा दानपूर्वक अदन को अपनाता है (हु दानादनयोः)। यह सदा यज्ञशेष का खानेवाला बनता है। २. इसी हवि का परिणाम होता है कि यह **मघा प्रति**=ऐश्वर्यों की ओर **प्रदुद्रुदः**=प्रकृष्ट गतिवाला व उन ऐश्वर्यों को दान में देनेवाला होता है। यह न्याय्य-मार्गों से धनों का खूब ही अर्जन करता है और उन धनों का यज्ञों में विनियोग करके यज्ञशेष को ही खानेवाला बनता है।

भावार्थ—सोम का रक्षण करनेवाला व्यक्ति (१) अपने हृदयक्षेत्र से वासनाओं के घास-फूस को चुन-चुनकर निकाल फेंकता है। (२) सदा दानपूर्वक अदन (भक्षण) करता है। ३. ऐश्वर्यों के प्रति न्याय्य-मार्ग से गतिवाला व उन ऐश्वर्यों का दान देनेवाला होता है।

धनाभिमान व प्रभु से दूरी

शृङ्ग उत्पन्न॥ १३॥ मा त्वाभि सखा नो विदन्॥ १४॥

१. गतमन्त्र के अनुसार ऐश्वर्यों को कमाने पर यदि एक व्यक्ति दान नहीं देता तो धीमे-धीमे उसमें धन का अभिमान आ जाता है। धन को वह प्रभु का दिया हुआ न समझकर 'इदमद्य मया लब्धं, इमं प्राप्स्ये मनोरथम्' अपना समझने लगता है और उसे अभिमान हो जाता है। उसके मानों सींग-से निकल आते हैं २. मन्त्र में कहते हैं कि हे **उत्पन्न शृंग**=पैदा हुए-हुए सींग! **नः सखा**=हम सबका मित्र वह प्रभु **त्वा अभि**=तेरी ओर **मा विदन्** (विदत्)=मत प्राप्त हो। जहाँ धनाभिमान है, वहाँ प्रभु का वास कहाँ? अभिमानी को प्रभु की प्राप्ति नहीं होती। वह तो अपने को ही ईश्वर मानने लगता है 'ईश्वरोऽहम्'।

भावार्थ—धन का त्याग न होने पर धन का अभिमान उत्पन्न हो जाता है और इस अभिमानी को कभी प्रभु की प्राप्ति नहीं होती।

वशा का पुत्र

वशायाः पुत्रमा यन्ति॥ १५॥　　इरावेदुमयं दत॥ १६॥

१. **वशायाः**=वशा के—बन्ध्या गौ के **पुत्रम्**=पुत्र को **आयन्ति**=ये धन व सब दिव्यगुण प्राप्त होते हैं। एक व्यक्ति जो न्याय्य-मार्गों से धनार्जन करता है और उस धन को भोगविलास में व्ययित नहीं करता, इस पुरुष के लिए यह धन वन्ध्या गौ के समान है। यह इस लक्ष्मी को माता समझता है। 'यह विष्णु की पत्नी है—मेरी तो माता है, मैं इसका पुत्र हूँ' ऐसा समझनेवाला व्यक्ति धन का उपभोग क्योंकर करेगा? २. वह धन से शरीर का रक्षण करता हुआ भी उसे उपभोग्य वस्तु नहीं समझ लेता। प्रभु कहते हैं कि देव तो वशा के पुत्र को ही प्राप्त होते हैं, अतः तुम इस धन को **इरा-वेदु-मयम्** (इरा=सरस्वती) सरस्वती के—ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता के—ज्ञान से पूरिपूर्ण पुरुष के लिए **दत** (दत्त)=देनेवाले बनो। धन कमाओ और ज्ञानी ब्राह्मणों के लिए देनेवाले बनो। वे इस धन का विनियोग शिक्षा के विस्तार में करनेवाले हों।

भावार्थ—हम धन कमाएँ। इस धन को उपभोग्य वस्तु न बनाकर इसे ज्ञानी पुरुषों के लिए दें—ताकि धन का विनियोग शिक्षा के विस्तार के लिए हो।

क्रियाशील और क्रियाशील

अथो इयन्नियन्निति॥ १७॥　　अथो इयन्निति॥ १८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार चाहे मनुष्य को धन का उपभोग नहीं करना, **अथ उ**=तो भी (Even then) वह **इति**=निश्चय से **इयन्**=चलता हुआ हो और **इयन्**=चलता हुआ ही हो। गतिशीलता आवश्यक है। २. **अथ उ**=और अब **इयन् इति**=चलता हुआ ही हो। गतिशील पुरुष ही पवित्र जीवनवाला बनता है। संसार में इस गतिशील पुरुष को ही ऐश्वर्य प्राप्त होता है। इस ऐश्वर्य का विनियोग इसने यज्ञों में करना है।

भावार्थ—धन का उपभोग न करने की अवस्था में भी धनार्जन का प्रयत्न आवश्यक है इन प्रयत्नार्जित धनों से ही तो यज्ञ आदि उत्तम कर्म सिद्ध होंगे।

भोगप्रवणता व विनाश

अथो श्वा अस्थिरो भवन्॥ १९॥　　उयं यकांशलोकका॥ २०॥

१. **अथ उ**=अब यदि निश्चय से **श्वा**=(शिव गतिवृद्ध्योः) गतमन्त्र में वर्णित गति के द्वारा प्रवृद्ध ऐश्वर्यवाला यह व्यक्ति **अस्थिरः**=न स्थिर मनोवृत्तिवाला—चंचलवृत्तिवाला—भोगप्रवण **भवन्**=होता है तो **उयम्**=दुःख की बात है कि निश्चय से ही (Alas, certainly) यह भोगासक्त पुरुष **यक-अंश-लोक का**=(यकन्=जिगर, अंश=विभाजने, लोकृ दर्शने) जिगर को टुकड़े-टुकड़े होते हुए देखनेवाला होता है।

भावार्थ—धन के कारण भोगप्रवणता मनुष्य को अन्ततः विनाश व निराशा की ओर ले-जाती है।

१३१. [एकत्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

मन्दन व भञ्जन

आमिनोनिति भद्यते॥ १॥　　तस्य अनु निभञ्जनम्॥ २॥

१. गतमन्त्रों में वर्णित धन के प्रकरण में ही कहते हैं कि एक (श्वा=) प्रवृद्ध ऐश्वर्यवाले व्यक्ति के **आ अमिनोन्**=समन्तात् धन का प्रक्षेपण हुआ है (मि प्रक्षेपणे)—मेरे चारों ओर धन ही धन है **इति**=यह सोचकर **भद्यते**=सुखी होता है—आनन्द का अनुभव करता है। अपने को धन में लोटता हुआ (rolling in the wealth) देखकर प्रसन्न होता है। २. परन्तु यह प्रसन्नता स्थायी नहीं होती। यह व्यक्ति धन के मद में विषयों में फँस जाता है और **अनु**=इस भोगप्रवणता के कुछ बाद **तस्य अनु निभञ्जनम्**=उस भोगासक्त धनी पुरुष का भञ्जन (आमर्दन=विनाश) हो जाता है।

भावार्थ—जो व्यक्ति धनमदमत्त हुआ-हुआ भोगासक्त हो जाता है, वह थोड़े दिनों के विलास के बाद शीघ्र ही विनष्ट हो जाता है।

भारती+शवः

वरुणो याति वस्वभिः ॥ ३ ॥ शतं वा भारती शवः ॥ ४ ॥

१. गतमन्त्र में धनमदमत्त भोगासक्त पुरुष के विनाश का उल्लेख हुआ है। इसके विपरीत **वरुणः**=व्यसनों व ईर्ष्या-द्वेष से अपना निवारण करनेवाला वरुण **वस्वभिः**=सदा निवास के लिए उत्तम वसुओं के साथ **याति**=गतिवाला होता है। इसके धन इसके विनाश का कारण न होकर इसके उत्तम निवास का साधन बनते हैं। २. **वा**=निश्चय से **शतम्**=शतवर्षपर्यन्त, अर्थात् आजीवन यह **भारती**=सरस्वती—विद्या की अधिष्ठात्री देवता तथा **शवः**=बल का अधिष्ठान बनता है। इसके जीवन में ज्ञान व शक्ति का समन्वय होता है—इसके ब्रह्म व क्षत्र दोनों श्रीसम्पन्न होते हैं।

भावार्थ—विषयासक्ति के न होने पर धन 'ब्रह्म व क्षत्र' के विकास का साधन बनता है।

'अश्व-रथ्य-कुथ-निष्क'

शतमाश्वा हिरण्ययाः। शतं रथ्या हिरण्ययाः।
शतं कुथा हिरण्ययाः। शतं निष्का हिरण्ययाः ॥ ५ ॥

१. गतमन्त्र में वर्णित वासना का निवारण करनेवाले वरुण के **शतम्**=शतवर्षपर्यन्त **हिरण्ययाः**=ज्योतिर्मय (हिरण्यं वै ज्योतिः) व हितरमणीय **अश्वाः**=इन्द्रियरूप अश्व होते हैं। **शतम्**=शतवर्षपर्यन्त ये इन्द्रियाश्व **हिरण्ययाः**=वीर्यवान् (हिरण्यं वै वीर्यम्) **रथ्याः**=शरीर-रथ का उत्तमता से वहन करनेवाले होते हैं। २. **शतम्**=शतवर्षपर्यन्त **हिरण्ययाः**=ज्योतिर्मय **कुथाः** (कुन्थ दीप्तौ)=ज्ञानदीप्तियाँ होती हैं अथवा (कुन्थति हिनस्ति अशोभाम्) शतवर्षपर्यन्त इसका जीवन शोभामय बना रहता है। **शतम्**=शतवर्षपर्यन्त यह **हिरण्ययाः**=ज्योतिर्मय **निष्काः**=ज्ञानरूप कण्ठाभरणोंवाला होता है।

भावार्थ—धन को भोगों में व्यय न करके, सद्व्यय करने पर इन्द्रियाँ प्रकाशमय बनी रहती हैं। ये इन्द्रियाँ शरीर-रथ का उत्तमता से वहन करती हैं। सब अशोभाओं का निराकरण होकर शोभा की वृद्धि होती है और विविध विज्ञान इसके कण्ठाभारण बनते हैं।

कुश

अहल कुश वर्त्तक ॥ ६ ॥ शफेनइव ओहते ॥ ७ ॥

१. गतमन्त्र में वर्णित वरुण को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि **अ-हल**=अविलेखनीय—वासनाओं से अविदारणीय! **कुश**=(श्यति कु=बुराई) बुराई को विनष्ट करनेवाले! **वर्तक**=सदा धर्म-कार्यों में वर्तनेवाले वरुण! तू वासनाओं में न फँसनेवाला यह व्यक्ति **आ**

ऊहति=सब बुराइयों को (push, remove) दूर करता है। इसप्रकार दूर करता है **इव**=जैसेकि **शफेन**=खुर से एक गौ शत्रु को आहत करती है। खुर के प्रहार से गौ जैसे शत्रुओं को दूर करती है, इसी प्रकार वह वरुण धर्मकार्यों में वर्तता हुआ सब बुराइयों को दूर रखता है।

भावार्थ—हम अपने जीवनों में वासनाओं से विलेखित—अवदीर्ण हों। बुराई का अन्त करनेवाले हों। सदा धर्म-कार्यों में वर्तें और इसप्रकार जीवन से सब बुराइयों को दूर रक्खें।

संविभाग की वृत्ति

आय॑ वनेन॑ती जनी॑॥ ८॥ वनिष्ठा॒ नाव॑ गृह्यन्ति॥ ९॥

१. गतमन्त्र का वर्तक प्रार्थना करता है कि **वनेनती**=संभजन में झुकाववाली (वन संभक्तौ) बनी शक्तियों का विकास करनेवाली चित्तवृत्ति **आ अय**=मुझे सर्वथा प्राप्त हो। वस्तुतः जब हम संभजन की वृत्तिवाले होते हैं—सब-कुछ स्वयं ही नहीं खा लेते तब इस समय हमारी शक्तियों का प्रादुर्भाव होता है। वस्तुतः उत्तम कार्यों में वर्तनेवाला व्यक्ति सदा इस संभजन की वृत्ति को अपनाता है। २. ये **वनिष्ठाः**=अधिक-से-अधिक संविभाग की वृत्तिवाले लोग **न अवगृह्यन्ति**=परस्पर विरोध की वृत्तिवाले नहीं होते। एक-दूसरे का ये संग्रह करनेवाले ही होते हैं।

भावार्थ—संविभाग की वृत्ति हमारी शक्तियों का विकास करती है। यह हमें परस्पर के संघर्ष से दूर रखकर उन्नत करती है।

वृक्ष

इ॒दं मह्यं॑ मदू॒रिति॑॥ १०॥ ते वृ॒क्षाः स॒ह ति॑ष्ठति॥ ११॥

१. गतमन्त्र का वनिष्ठ कहता है कि **इदम्**=यह संविभजन—सबके साथ बाँटकर खाना **मह्यम्**=मेरे लिए **मदूः इति**=आनन्द देनेवाला है। इस संविभाग में—सबके साथ मिलकर खाने में मैं आनन्द का अनुभव करता हूँ। २. **ते**=वे वनिष्ठ **वृक्षाः**=(व्रश्चू छेदने) वासनाओं के झाड़-झंकाड़ों को काटनेवाले होते हैं। सब वासनाओं को छिन्न करके पवित्र जीवनवाले होते हैं। **सह तिष्ठति**=प्रभु इनके साथ निवास करते हैं। प्रभु को वही प्रिय होता है जो सबके साथ बाँटकर खानेवाला होता है।

भावार्थ—संविभाग में हम आनन्द का अनुभव करें। यह संविभाग ही हमारी वासनाओं को विनष्ट करेगा। इन वनिष्ठों को ही—संभक्ताओं को ही प्रभु मिलते हैं।

त्याग व प्रभु-प्राप्ति

पाक॑ ब॒लिः॥ १२॥ शक॑ ब॒लिः॥ १३॥
अश्व॑त्थ॒ ख॑दिरो॒ ध॒वः॥ १४॥

१. **पाक**=हे साधना द्वारा ज्ञानाग्नि में अपना परिपाक करनेवाले जीव! तू तो **बलिः**=भूतयज्ञ में पड़नेवाली आहुति ही हो गया है। २. **शक**=हे शक्तिशालिन् साधक! तू **बलिः**=भूतयज्ञ की आहुति बना है। 'तैजस' (शक) व 'प्राज्ञ' (पाक) बनकर तू 'वैश्वानर' बनता है। इसप्रकार इन तीनों पगों को रखकर तू चौथे पग में (सोऽयमात्मा चतुष्पात्) उस 'सत्य, शिव, सुन्दर' प्रभु को पानेवाला बना है। ३. उस सर्वव्यापक 'अश्व' नामक (अश् व्याप्तौ) प्रभु में स्थित होनेवाले 'अश्वत्थ' (अश्वे तिष्ठति) तू **खदिरः** (खद स्थैर्ये)=स्थिर वृत्तिवाला है। तेरा मन डाँवाडोल नहीं रहा। **धवः**=(धू कम्पने) तूने सब वासनाओं को कम्पित करके अपने जीवन को वासनाओं से शून्य बनाया है।

भावार्थ—हम ज्ञानाग्नि में अपने को परिपक्व करके तथा शक्तिशाली बनकर भूतयज्ञ में—प्राणिमात्र के हित के लिए अपने को आहुत कर दें तभी हम प्रभु में स्थित होंगे। प्रभु में स्थित होने पर स्थिर वृत्ति के बनेंगे तथा वासनाशून्य जीवनवाले होंगे।

अहिंसा=वासनाशून्यता

अरंदुपरम॥ १५॥ **शयो हतइव॥ १६॥**
व्याप पूरुषः॥ १७॥

१. गतमन्त्र के अनुसार हे ब्रह्मनिष्ठ (अश्वत्थ)! तू **अरत् उपरम** (ऋ to kill)=हिंसा से उपरत हो। किसी भी प्राणी का तू हिंसन करनेवाला न बन। २. **हतः इव**=जिसकी सब वासनाएँ मर गई हैं, ऐसा बना हुआ तू **शयः**=(शी अच्) इस संसार में निवास करनेवाला हो (शेते इति शयः) ३. ऐसे वासनाशून्य व्यक्ति को **पूरुषः**=वह परम पुरुष प्रभु **व्याप**=विशेष रूप से प्राप्त होता है।

भावार्थ—हम हिंसा से निवृत्त हों। वासनाओं को मारकर संसार में पवित्र जीवनवाले बनें। तभी हमें उस परमपुरुष की प्राप्ति होगी।

पूषक-परस्वान्

अदूहमित्यां पूषकम्॥ १८॥ **अत्यर्धर्च परस्वतः॥ १९॥**
दौव हस्तिनो दृती॥ २०॥

१. **अ-दूह-मित्याम्** (अ=दुहिर् Hurt अर्दने, मिति=ज्ञान)=हिंसा न करनेवाला ज्ञान होने पर ही मनुष्य **पूषकम्**=उस सर्वपोषक प्रभु को पाता है। प्रभु पूषा हैं। साधक भी पूषा—न कि हिंसक बनकर ही प्रभु को प्राप्त करता है। २. (अति, ऋधु वृद्धौ, ऋच् स्तुतौ) **अत्यर्धर्च**=हे अतिशयेन प्रवृद्ध स्तुतिवाले जीव! तू ही उस **परस्वतः** (पृ पालनपूरणयोः, असु। परस्+मत्) पालन व पूरण के कर्मोंवाले प्रभु को पानेवाला होता है। प्रभु का स्तवन करता हुआ भी 'परस्वान्'=पालनात्मक व पूरणात्मक कर्मोंवाला होता है। ३. इस **हस्तिनः**=प्रशस्त हाथोंवाले पुरुष के **दौव**=(दोः=भुजा) दोनों ही हाथ **दृती** (दृ विदारणे)=शत्रुओं का विदारण करनेवाले होते हैं। वस्तुतः प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न बनकर यह शत्रुओं का विदारण करता हुआ उत्तमता से पालन करनेवाला होता है।

भावार्थ—हमारा ज्ञान अहिंसक होगा तो ही हम पोषक प्रभु को प्राप्त करेंगे। प्रभु का स्तवन करनेवाला अवश्य पालनात्मक व पूरणात्मक कर्मों को करता है। इसके दोनों हाथ शत्रुओं का विदारण करनेवाले होते हैं।

१३२. [द्वात्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

'सर्वव्यापक-अद्वितीय-कूटस्थ' प्रभु

आदलाबुकमेककम्॥ १॥ **अलाबुकं निखातकम्॥ २॥**

१. **आत्**=सर्वथा (at all) वे प्रभु **अलाबुकम्**=(लवि अवस्रंसने) न अधःपतनशील हैं। वे प्रभु निराधार होते हुए सर्वाधार हैं। सर्वव्यापक होने से उन्हें आधार की आवश्यकता नहीं। उनके अधःपतन का कोई प्रसंग ही नहीं—'वे किसी स्थान पर न हो' ऐसी बात ही नहीं। २. **एककम्**=वे एक ही हैं। अद्वितीय हैं। अकेले होते हुए भी सर्वज्ञ व सर्वशक्तिमान् होने से वे अपने सब कार्यों को स्वयं कर सकते हैं। उन्हें किसी अन्य के सहाय्य की अपेक्षा नहीं। ३.

अलाबुकम्=वे कभी स्रस्त नहीं होते। उन्हें स्रस्त होना ही कहाँ? वे तो पहले ही सब जगह हैं। **निखातकम्**=अपने स्थान पर दृढ़ता से गढ़े हुए हैं, स्थिर हैं—ध्रुव हैं 'कूटस्थः, अचलो ध्रुवः'।

भावार्थ—प्रभु सर्वत्र व्यापक होने से अधःपतनशील व स्रस्त होनेवाले नहीं। वे एक, अद्वितीय हैं। अचल व ध्रुव हैं।

प्राणसाधना व प्रभु का मनन

कर्करिको निखातकः॥ ३॥   **तद्वात उन्मथायति॥ ४॥**

१. वे प्रभु **कर्करिकः**=सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के पदार्थों के कर्त्ता हैं। **निखातकः**=स्वयं स्वस्थान में सुदृढ़रूप से स्थित हैं, 'कूटस्थ, अचल व ध्रुव' हैं। स्वयं गतिशून्य होते हुए सारे ब्रह्माण्ड को गति देनेवाले हैं (तदेजति तन्नैजति) २. **तत्**=उस ब्रह्म को **वातः**=वायु के समान निरन्तर क्रियाशील पुरुष अथवा प्राणसाधना करनेवाला पुरुष (वायुः प्राणो भूत्वा) **उन्मथायति**=उत्तमतया मन्थित करता है। यह प्राणसाधक ही दीप्त प्रज्ञावाला बनकर प्रभु का मनन कर पाता है।

भावार्थ—प्रभु सर्वकर्त्ता व स्वस्थान में सुदृढ़ हैं—कूटस्थ हैं। प्राणसाधक पुरुष ही प्रभु का मनन कर पाता है।

'उदारता' व 'उत्तम घर का निर्माण'

कुलायं कृणवादिति॥ ५॥   **उग्रं वनिषदाततम्॥ ६॥**

न वनिषदनाततम्॥ ७॥

१. **कुलायम्**=घर को **कृणवात् इति**=बनानेवाला हो। इस कारण से **उग्रम्**=अतिशयेन तेजस्वी **आततम्**=सर्वत्र फैले हुए सर्वव्यापक प्रभु की ही **वनिषद्**=याचना करे—प्रभु को ही पाने की प्रार्थना करे। तेजस्वी, व्यापक प्रभु का आराधन करनेवाला व्यक्ति घर को सदा उत्तम बनाता है। इस आराधक के घर में सबका जीवन उत्तम होता है। २. **अनाततम्**=जो व्यापक नहीं, उसकी पूजा न करे, अर्थात् व्यक्ति को गुरु धारण करके उसकी पूजा में ही न लग जाए। 'पति घर में रोटी पकाये चूँकि पत्नी गुरुजी के दर्शन को गई हुई है' यह भी कोई घर है? और इन गुरुओं के कारण परस्पर फटाव व अकर्मण्यता उत्पन्न हो जाती है, चूँकि उनका विचार होता है कि गुरुजी का आशीर्वाद ही सब-कुछ कर देगा। अविस्तृत—संकुचित व अनुदार की **न वनिषत्**=याचना न करे। 'उदारं धर्ममित्याहुः' उदार ही धर्म है। संकुचित तो कभी धर्म होता ही नहीं। महत्ता ही उपादेय हो। यह महान् पुरुष ही उत्तम घर का निर्माण करनेवाला होता है।

भावार्थ—जो यह चाहता है कि वह उत्तम घर का निर्माण करे—उसे तेजस्वी, सर्वव्यापक प्रभु की ही याचना करनी चाहिए। यह कभी अनुदारता व अल्पता की ओर नहीं जाता।

कर्करी विलेखन व दुन्दुभि हनन

क एषां कर्करी लिखत्॥ ८॥   **क एषां दुन्दुभिं हनत्॥ ९॥**

यदीयं हनत्कथं हनत्॥ १०॥

१. **एषाम्**=गतमन्त्र के अनुसार इन क्रियाशील प्राणसाधकों व उदारधर्म का पालन करनेवालों की **कर्करी**=क्रियाशीलताओं को **कः**=कौन **लिखत्**=अवदीर्ण—विनष्ट कर देता है? कौन इनकी क्रियाशीलताओं को उखाड़ फेंकता है? 'कर्करी' शब्द द्विवचन में है। एक अभ्युदय-साधक क्रियाएँ हैं, दूसरी निःश्रेयस-साधक। कौन-सी शक्ति है जो इसकी इन क्रियाओं को विदीर्ण कर

डालती है? २. **कः**=कौन-सी वह प्रबल शक्ति **एषाम्**=इन साधकों की **दुन्दुभिम्**=दुन्दुभि को—अन्तर्नाद को—अन्तःस्थित प्रभु से दी जानेवाली प्रेरणा को—**हनत्**=नष्ट कर देती है। किसके वशीभूत होकर यह जीव उस प्रेरणा को नहीं सुनता। ३. **यदि**=यदि **इयम्**=यह देदीप्यमान रूपवाली प्रकृति **हनत्**=इन क्रियाओं व अन्तर्नाद को नष्ट करती है तो **कथं हनत्**=कैसे नष्ट करती है? जीव बड़े उत्तम मार्ग पर चल रहा होता है। न जाने क्या होता है कि उसकी सब क्रियाएँ विनष्ट हो जाती हैं और वह अन्तःस्थित प्रभु-प्रेरणा को सुननेवाला नहीं रहता।

भावार्थ—प्रकृति का चमकीला आवरण हमपर इसप्रकार आक्रामक हो जाता है कि हमारी सब शुभ क्रियाएँ समाप्त हो जाती हैं और हम उस अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणा को नहीं सुन पाते।

फिर-फिर बन्धन में

देवी हनत्कुहनत्॥ ११॥ **पर्यागारं पुनः पुनः॥ १२॥**

१. **देवी**=यह चमकती हुई प्रकृति ही हमारी क्रियाओं व अन्तर्नाद को **हनत्**=विनष्ट करती है और **कुहनत्**=बुरी तरह से विनष्ट करती है। यह हमें सुला-सा देती है (दिव् स्वप्ने) और विषय-क्रीड़ाओं में फँसा देती है (दिव् क्रीडायाम्)। उस समय हम अपने कर्त्तव्यों को भूल जाते हैं और अन्तःस्थित प्रभु की प्रेरणाओं को नहीं सुन पाते। २. इसका परिणाम यह होता है कि हम **पुनःपुनः**=फिर-फिर **परि आगारम्**=इस शरीर-गृह के ही भागी बनते हैं (परि=भागे)। हमें बार-बार इन शरीर-बन्धनों में आना पड़ता है—हम मुक्त नहीं हो पाते।

भावार्थ—प्रकृति-बन्धनों में फँसने पर मुक्ति सम्भव नहीं। प्रकृति का आकर्षण बन्धन का ही कारण बनता है।

उष्ट्र के तीन नाम (शत्रु-नायक बल)

त्रीण्युष्ट्रस्य नामानि॥ १३॥ **हिरण्य इत्येके अब्रवीत्॥ १४॥**
द्वौ वा ये शिशवः॥ १५॥

१. प्रकृति के बन्धनों में न फँसनेवाले **उष्ट्रस्य**=वासनाओं को (उष दाहे) दग्ध करनेवाले के **त्रीणि**=तीन **नामानि**=नाम हैं, अथवा शत्रुओं को झुकानेवाले (नम प्रह्वीभावे) तीन बल हैं। एक बल 'काम' का पराजय करता है, दूसरा 'क्रोध' का और तीसरा 'लोभ' का। इसप्रकार तीनों शत्रुओं को विनष्ट करके यह स्वर्गीय सुख का अनुभव करता है। २. प्रभु ने **इति अब्रवीत्**=ऐसा कहा कि **एके**=(same) ये सब सम (समान) हैं। ये बल अलग-अलग नहीं हैं। **हिरण्यम्**=(हिरण्यं वै ज्योतिः) ये बल हिरण्य, अर्थात् ज्योतिरूप है। ज्ञान ही वह बल है जिसमें ये सब शत्रु भस्म हो जाते हैं। ३. ये **शिशवः**=(शो तनूकरणे) जो अपनी बुद्धि को सूक्ष्म बनानेवाले हैं, वे कहते हैं कि ये बल **वा**=निश्चय से **द्वौ**=दो भागों में बटे हुए हैं=शरीर में इसका स्वरूप 'क्षत्र' है, मस्तिष्क में 'ब्रह्म'। ये ब्रह्म और क्षत्र मिलकर सब शत्रुओं को भस्म कर देते हैं।

भावार्थ—वासनाओं को दग्ध करनेवाला व्यक्ति तीन शत्रुओं को नमानेवाले बलों को प्राप्त करता है। ये सब बल समान रूप—'हिरण्य' (ज्योति) ही हैं। अथवा ये 'ब्रह्म व क्षत्र' के रूप में हैं।

नील-शिखण्ड-वाहन

नीलशिखण्डवाहनः॥ १६॥

१. वासना को जीतकर संसार के रंगों में न रंगा हुआ यह पुरुष—'नील' बनता है

'कृष्णा'=न रंगा हुआ। २. क्रोध को जीतकर यह 'शिखण्ड' (crest) मूर्धन्य=शिरोमणि बनता है। ३. लोभ को जीतकर यह न्यायार्जित धन से जीवन-यात्रा का वहन करनेवाला 'वाहन' बनता है। इसप्रकार इसका नाम 'नीलशिखण्ड वाहन' हो जाता है।

भावार्थ—हम 'काम, क्रोध, लोभ' रूप तीनों शत्रुओं को जीतकर 'नीलशिखण्डवाहन' बनें।

१३३. [त्रयस्त्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ज्ञान की दो किरणें

वितंतौ किरणौ द्वौ तावा पिनष्टि पूरुषः।
न वै कुमारि तत्तथा यथा कुमारि मन्यसे॥ १॥

१. प्रभु से दिये गये वेदज्ञान में **द्वौ किरणौ**=दो प्रकाश की किरणें **वितंतौ**=विस्तृत हैं। वेद में जहाँ प्रकृति का सम्यक् ज्ञान दिया गया है, उसी प्रकार जीव के कर्त्तव्यों का प्रतिपादन भी पूर्णतया हुआ है। जीव का वहाँ अन्तिम लक्ष्य उपासना द्वारा प्रभु का सान्निध्य कहा गया है। 'तदपश्यत् तदभवत् तदासीत्' इन शब्दों में यह स्पष्ट है कि जीव ने प्रभु-दर्शन करना है—प्रभु जैसा बनना है—प्रभु-पुत्र होने के नाते प्रभु-जैसा तो था ही। बालबुद्धिवश प्रकृति का आकर्षण ही उसे विषयपंक में फँसाकर मलिन कर देता है। **पूरुषः**=इस शरीर-नगरी में बद्ध होकर रहनेवाला जीव **तौ**=उन प्रकाश-किरणों को **आपिनष्टि**=पीस डालता है। इन प्रकाश-किरणों से अपने जीवन को दीप्त नहीं करता। विषयों में ही क्रीड़ा करता रहता है। २. वह जीव विषयों को बड़ा प्रिय समझता है, परन्तु वस्तुतः ये वैसे हैं तो नहीं, अतः कहते हैं कि हे **कुमारि**=(कुमार क्रीडायाम्) विषयों में क्रीड़ा करनेवाली युवति! **वै**=निश्चय से **तत्**=वह विषयस्वरूप **तथा न**=वैसा नहीं है। हे कुमारि! **यथा मन्यसे**=जैसा तू इसे समझ रही है। जीव इसमें आनन्द-लाभ की आशा करता है, परन्तु ये विषय तो 'सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः' सब इन्द्रियों के तेज को जीर्ण ही करनेवाले होते हैं।

भावार्थ—प्रभु ने वेद में हमारे लिए प्रकृतिज्ञान व जीव-कर्त्तव्यज्ञानरूपी दो प्रकाश की किरणों को प्राप्त कराया है। प्रकृति में फँसकर हम इन ज्ञान-किरणों को प्राप्त करने के लिए यत्नशील नहीं होते, परन्तु प्रकृति वस्तुतः आनन्दप्रद लग ही रही है, है तो नहीं। यह तो इन्द्रियों के तेज को जीर्ण ही करनेवाली है। इस बात को समझकर हमें प्रकाश को ही पाना चाहिए।

माता के दो उपदेश

मातुष्टे किरणौ द्वौ निवृत्तः पुरुषानृते।
न वै कुमारि तत्तथा यथा कुमारि मन्यसे॥ २॥

१. हे जीव! **ते**=तेरी **मातुः**=इस वेदमाता की (स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्) **द्वौ किरणौ**=प्रकाश की ये दो किरणें—प्रकृति-ज्ञान व जीव-कर्त्तव्यज्ञानरूप प्रकाश **पुरुषान्**=सब पुरुषों को **ऋते**=सत्य के विषय में—जो ठीक है उसके विषय में **निवृत्तः**=(वृतु भाषणे दीपने च) कहती हैं और दीप्त करती हैं, परन्तु तू माता के उस भाषण को सुनता नहीं, अतः तेरा जीवन दीप्त भी नहीं होता। २. हे **कुमारि**=विषयों में खेलनेवाले जीव! तू यह समझ ले कि **वै तत् तथा न**=निश्चय से यह विषयस्वरूप वैसा नहीं है, हे कुमारि! **यथा मन्यसे**=जैसा तू इसे समझ रही है।

भावार्थ—वेदमाता की प्रकाश की दो किरणें हमें ऋत के विषय में ज्ञान देकर दीप्त जीवनवाला बनाने के लिए यत्नशील हैं। संसार क्रीडारत होने पर हम उनकी ओर झुकते नहीं—

माता की बात को सुनते नहीं।

दो कर्णकों (विक्षेपों) का निग्रह

निगृह्य कर्णकौ द्वौ निरायच्छसि मध्यमे।
न वै कुमारि तत्तथा यथा कुमारि मन्यसे॥ ३॥

१. तमोगुण के विक्षेपों के कारण मनुष्य 'प्रमाद-आलस्य व निद्रा' की ओर झुक जाता है। राजस् विक्षेप इसे अर्थप्रधान बनाकर हर समय भगदौड़ में रखते हैं। इन **द्वौ**=दोनों ही **कर्णकौ** (कृ विक्षेपे)=विक्षेपों को **निगृह्य**=निगृहीत करके—रोककर तमोगुण के आलस्य व रजोगुण की भगदौड़ के **मध्यमे**=मध्य में होनेवाले सात्त्विक गति-सम्पन्न स्वर्णीय मध्यमार्ग में **निरायच्छसि**=तू अपने को संयत करता है। २. हे **कुमारि**=संसार के विषयों में क्रीड़ा करनेवाले जीव! यह तू समझ ले कि **वै**=निश्चय से **तत्**=वह **तथा न**=वैसे नहीं है, हे कुमारि! **यथा मन्यसे**=जैसे तू इस संसार को मानती है।

भावार्थ—तमोगुण व रजोगुण के विक्षेपों से ऊपर उठकर हम सदा मध्यम सात्त्विक मार्ग पर चलनेवाले बनें। संसार के तत्त्व को समझें।

'उत्ताना Vs शयाना' चित्तवृत्ति

उत्तानायै शयानायै तिष्ठन्ती वाव गूहसि।
न वै कुमारि तत्तथा यथा कुमारि मन्यसे॥ ४॥

१. **उत्तानायै**=(Elevated, Candid)=उत्कृष्ट—छल-छिद्र-शून्य चित्तवृत्ति के लिए **तिष्ठन्ती**=स्थित होती हुई तू **वा**=निश्चय से **शयानायै**=आलस्य में शयन करनेवाली चित्तवृत्ति के लिए **अवगूहसि**=अपने को संवृत कर लेती है—छिपा लेती है (Conceal)। शयाना चित्तवृत्ति का तू शिकार नहीं होती। २. हे कुमारि! यह तू सदा ध्यान रखना कि **वै**=निश्चय से **तत् तथा न**=यह संसार वैसा नहीं, हे कुमारि! **यथा मन्यसे**=जैसा तू इसे मानती है।

भावार्थ—हम संसार में विलासों की चमक से बचकर उत्कृष्ट व छल-छिद्र-शून्य जीवन को अपनाएँ। आलस्यमयी भोगप्रवण चित्तवृत्ति को दूर रक्खें।

श्लक्ष्णा Vs श्लक्ष्णिका

श्लक्ष्णायां श्लक्ष्णिकायां श्लक्ष्णमेवाव गूहसि।
न वै कुमारि तत्तथा यथा कुमारि मन्यसे॥ ५॥

१. दो प्रकार की चित्तवृत्तियाँ हैं—एक 'श्लक्ष्णा' (Honest, candid, Beautiful, charming)=छल-छिद्र-शून्य उदार चित्तवृत्ति हैं जो वस्तुतः सुन्दर हैं। दूसरी 'श्लक्ष्णिका' (कुत्सिते-कन्)=श्लक्ष्णा से विपरीत कुत्सित छल-छिद्रपूर्ण चित्तवृत्ति है। हे कुमारि! तू इस बात का ध्यान करना कि **श्लक्ष्णायां श्लक्ष्णिकायाम्**=इन श्लक्ष्णा और श्लक्ष्णिका चित्तवृत्तियों में तू **श्लक्ष्णम् एव**=छल-छिद्रशून्य सुन्दर चित्तवृत्ति को ही **अवगूहसि** (गुह=Hug)=आलिंगन करती है। हमें संसार में उत्तम चित्तवृत्ति को ही अपनाना चाहिए। संसार की चमक-दमक में फँसकर कुटिलता की ओर न झुक जाना चाहिए। ३. हे कुमारि! तू यह समझ ले कि **वै**=निश्चय से **तत् तथा न**=यह संसार वैसा नहीं है, हे कुमारि! **यथा मन्यसे**=जैसा तू इसको समझ रही है। छल-छिद्र से प्राप्त ऐश्वर्य अन्ततः कल्याण देनेवाले नहीं।

भावार्थ—हम संसार में छल-छिद्र से शून्य, उदार चित्तवृत्तिवाले बनें। संसार के स्वरूप

को ठीक से समझने का यत्न करें।

अवश्लक्ष्णम् इव

अवश्लक्ष्णमिव भ्रंशदन्तर्लोममति ह्रदे।
न वै कुमारि तत्तथा यथा कुमारि मन्यसे॥ ६॥

१. यह संसार **अवश्लक्ष्णम् इव**=(not honest) छल-छिद्र से भरा हुआ-सा है—यह सुन्दर नहीं। **लोममति ह्रदे अन्तः**=विषय-शैवालरूपी लोमोंवाले ह्रद के अन्दर **भ्रंशत्**=गिर रहा है, अर्थात् संसार-ह्रद में मनुष्य डूबते-से चलते हैं। यह संसार-ह्रद विषय के शैवाल से भरा हुआ है। ये विषय लोम हैं (लू छेदने) छेदन के योग्य हैं। अन्यथा ये मनुष्य को उलझा लेते हैं। २. हे कुमारि! **वै**=निश्चय से **तत् यथा न**=यह संसार वैसा नहीं, हे कुमारि! **यथा मन्यसे**=जैसा तू समझती है। संसार के तत्त्व को समझकर हमें इस संसार-ह्रद में डूबने से बचना चाहिए।

भावार्थ—यह संसार छल-छिद्र से भरा-सा हुआ है। मनुष्य इसकी चमक से चुंधियाई हुई आँखोंवाला होकर विषय-शैवाल से भरे इस संसार-ह्रद में डूब जाता है, अतः अत्यन्त सावधानी अपेक्षित है।

सूचना—छह बार यह बात कही गई है कि यह संसार वैसा नहीं जैसाकि इसे हम समझ रहे हैं। यही संसार का मिथ्यात्व है—यही वेदान्त-सिद्धान्त है। 'संसार न हो' ऐसा नहीं। इसे ठीक रूप में समझकर इस संसार-सागर में डूबने से हमें बचना चाहिए। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन ही इसमें उलझने का कारण बन जाते हैं, अतः यह बात छह बार दुहरा दी गई है। जब बुद्धि का राज्य होता है तब मनुष्य इसमें उलझने से बच जाता है।

१३४. [चतुस्त्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

कुटिलता का तर्जन

इहेत्थ प्रागपागुदगधराग् अरालागुदभर्त्सथ॥ १॥

१. संसार के विषयों से बचने के लिए यह आवश्यक है कि हम इस रूप में सोचें और समझें कि **इह**=यहाँ **इत्थ**=सचमुच **प्राग् अपाग् उदग् अधराग्**=पूर्व, पश्चिम उत्तर व दक्षिण सब दिशाओं में उस प्रभु की सत्ता है। २. वह प्रभु **अरालागुदभर्त्सथ** (भर्त्सथः)=(अराल=crooked गुद=क्रीडायाम्, भर्त्स=झिड़कना) छल-छिद्र व कुटिलतापूर्ण क्रीड़ाओं का भर्त्सन करनेवाला है। प्रभु अपने पुत्रों से अकुटिल कर्मों को ही चाहता है?

भावार्थ—प्रभु की सर्वव्यापकता का स्मरण करते हुए हम कुटिलता से ऊपर उठें। कुटिल कर्मों में फँसकर प्रभु से धिक्कारने के योग्य न हो जाएँ।

पुरुषन्त

इहेत्थ प्रागपागुदगधराग् वत्साः पुरुषन्त आसते॥ २॥

१. **इह**=यहाँ **इत्थ**=सचमुच **प्राग् अपाग् उदग् अधराग्**=पूर्व, पश्चिम, उत्तर व दक्षिण में सर्वत्र वे प्रभु विद्यमान हैं। २. इस प्रभु के **वत्साः**=प्रिय पुत्र **पुरुषन्तः**=(पुरुष इव आचरन्तः) एवं पुरुष की भाँति आचरण करते हुए—मानवोचित व्यवहार करते हुए—छल-छिद्र से दूर होते हुए **आसते**=ठहरते हैं।

भावार्थ—प्रभु की सर्वव्यापकता का स्मरण करते हुए हम मानवोचित व्यवहार करें और

प्रभु के प्रिय बनें।

स्थालीपाक-विलय

इहेत्थ प्रागपागुदगधराग् स्थालीपाको वि लीयते॥ ३॥

१. **इह**=यहाँ **इत्थ**=सचमुच **प्राग् अपाग् उदग् अधराग्**=पूर्व, पश्चिम, उत्तर व दक्षिण में वे प्रभु सर्वत्र विद्यमान हैं। २. ऐसा अनुभव होने पर **स्थालीपाकः**=कुण्ड में (देगची में) पकाते रहने की क्रिया **विलीयते**=विलीन हो जाती है—नष्ट हो जाती है। यह व्यक्ति हर समय खाता-पीता ही नहीं रहता। खान-पान में ही मज़ा लेने से ऊपर उठकर यह अध्यात्म उन्नति की ओर अग्रसर होता है?

भावार्थ—हम प्रभु की सर्वव्यापकता को अनुभव करें और हर समय पशुओं की तरह चरते ही न रहें। अध्यात्म-उन्नति में प्रवृत्त हों।

प्रभु-भक्ति-लीनता

इहेत्थ प्रागपागुदगधराग् स वै पृथु लीयते॥ ४॥

१. **इह**=यहाँ **इत्थ**=सचमुच **प्राग् अपाग् उदग् अधराग्**=पूर्व, पश्चिम, उत्तर व दक्षिण में सब ओर वे प्रभु हैं, २. ऐसा अनुभव करनेवाला **सः**=वह उपासक **वै**=निश्चय से **पृथु**=(प्रथ=विस्तारे) उस सर्वव्यापक प्रभु की भक्ति में **लीयते**=लीन होने के लिए यत्नशील होता है।

भावार्थ—हम प्रभु की सर्वव्यापकता को अनुभव करें और उसकी उपासना में लीन होने के लिए यत्नशील हों।

'सर्वत्र व सर्वविजेता' प्रभु

इहेत्थ प्रागपागुदगधराग् आष्टे लाहणि लीशाथी॥ ५॥

१. **इह**=यहाँ **इत्थ**=सचमुच **प्राग् अपाग् उदग् अधराग्**=पूर्व, पश्चिम, उत्तर व दक्षिण में सर्वत्र प्रभु व्याप्त हैं। २. ऐसा सोचनेवाले पुरुष की बुद्धि **आष्टे**=उस सर्वव्यापक (अश् व्याप्तौ) **लाहणि**=(लाभ=conquest, apprehansion) सर्व-विजेता, सर्वज्ञ प्रभु में **लीशाथी**=(लिश गतौ) गतिवाली होती है। यह पुरुष सदा प्रभु का ही चिन्तन करता है। इसके सब व्यापार प्रभु-चिन्तनपूर्वक होते हैं।

भावार्थ—प्रभु की सर्वव्यापकता का स्मरण करते हुए हम बुद्धि को प्रभु के चिन्तन में प्रवृत्त करें। सब विजयों को उस प्रभु से होता हुआ जानें।

अशुद्धि क्षये ज्ञानदीप्तिः

इहेत्थ प्रागपागुदगधराग् अक्ष्लिली पुच्छिलीयते॥ ६॥

१. **इह**=यहाँ **इत्थ**=सचमुच **प्राग् अपाग् उदग् अधराग्**=पूर्व, पश्चिम, उत्तर व दक्षिण में सर्वत्र उस प्रभु की व्याप्ति है। २. ऐसा चिन्तन करनेवाले पुरुष की **अक्ष्लिली**=(अक्ष् pervade, penetrate) सर्वविषय व्यापिनी-गहराई तक जानेवाली बुद्धि **पुच्छिलीयते**=('पुच्छ् प्रसादे' शब्द कल्पद्रुमे) प्रसादवाली होती है—निर्मल हो जाती है। इस बुद्धि के निर्मल होने पर ही उसे विवेकख्याति होकर प्रभु का साक्षात्कार होता है।

भावार्थ—प्रभु की सर्वव्यापकता का चिन्तन बुद्धि को निर्मल बनाता है। इस निर्मल बुद्धि से प्रभु का साक्षात्कार हो पाता है।

१३५. [पञ्चत्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

भुक्, शल्, फल्

भुगित्यभिगतः शलित्यपक्रान्तः फलित्यभिष्ठितः।
दुन्दुभिमाहननाभ्यां जरितरोथामो दैव॥ १॥

१. **भुक्**='हे प्रभो! आप ही तो पालनेवाले हो' **इति**=यह चिन्तन करता हुआ स्तोता **अभिगतः**=आपकी ओर चलनेवाला बनता है। **शल्**='वह प्रभु ही संसार का संचालक है, सम्पूर्ण गतियों को देनेवाले वे प्रभु ही हैं' **इति**=यह सोचकर **अपक्रान्तः**=यह स्तोता सब विषय-वासनाओं से दूर हो जाता है। सर्वत्र प्रभु की गति को देखता हुआ—उसकी सर्वव्यापकता को अनुभव करता हुआ विषयों में नहीं फँसता। **फल्**='प्रभु ही सब वासनाओं को विशीर्ण करनेवाले हैं', **इति**=यह सोचकर यह स्तोता **अभिष्ठितः**=प्रातः-सायं उस प्रभु के चरणों में स्थित होता है। यह प्रभु की उपासना ही उसे काम, क्रोध को पराजित करने में समर्थ करती है। २. हे **जरितः**=हमारी वासनाओं को जीर्ण करनेवाले प्रभो! **दैव**=सब देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले प्रभो! हम **आहननाभ्याम्**=(हन् गतौ) शरीर में सर्वत्र (आ) प्राणापान की गति के द्वारा **दुन्दुभिः**=अन्तर्नाद को **आउथामः** (उत्थापयामः)=उठाने का प्रयत्न करते हैं। प्राणायाम द्वारा मलों के दूर होने पर ही तो अन्तःस्थित आपकी प्रेरणा सुन पड़ती है।

भावार्थ—हम प्रभु को 'भुक्' जानकर प्रभु की ओर चलें, उसे 'शल्' समझते हुए वासनाओं से बचें, उसे 'फल्' जानते हुए प्रातः-सायं प्रभु-चरणों में स्थित हों। प्राणसाधना द्वारा मलों को विक्षिप्त करके अन्तर्नाद को सुनने का प्रयत्न करें।

गृहस्थ से, वानप्रस्थ होकर संन्यास की ओर

कोशबिले रजनि ग्रन्थेर्धानमुपानहिं पादम्।
उत्तमां जनिमां जन्यानुत्तमां जनीन्वर्त्मन्यात्॥ २॥

१. 'प्रभु-चरणों में स्थित होनेवाला यह व्यक्ति किस प्रकार चलता है?' इसका उल्लेख करते हुए कहते हैं कि इसके जीवन में पहली बात तो यह होती है कि **कोशबिले**=खजाने के द्वार पर **रजनि ग्रन्थेः**=(रजनि red lac) लाख की ग्रन्थि का **धानम्**=स्थापन होता है, अर्थात् अब यह कोश को बढ़ाना बन्द कर देता है। धन की वृद्धि ही तो इसके जीवन का उद्देश्य नहीं। जीवन के लिए आवश्यक धन के होने पर धन को ही बढ़ाने में लगे रहना समझदारी नहीं। २. अब यह **उपानहि पादम्**=जूते में पाँव को रखता है, अर्थात् गृहस्थ से ऊपर उठकर वानप्रस्थ बनने के लिए घर से प्रस्थान के लिए तैयार हो जाता है। ३. **उत्तमां जनिमां जन्या**=उत्तम सन्ततियों को जन्म देकर (जनयित्वा) अब यह **अनुत्तमाम्**=सर्वोत्तम **जनीन्**=प्रादुर्भावों को—शक्तिविकासों को लक्ष्य करके (जनीन्=जनिम्) **वर्त्मन् यात्**=मार्ग पर चलता है। अब यह ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग पर ही चलता है। यही मार्ग है जिसमें उसे सर्वोत्तम शक्तियों की प्राप्ति होती है।

भावार्थ—हम जीवन में धन की एक सीमा का निर्धारण करें—अन्यथा आजीवन इसे कमाने में ही उलझे रहेंगे। गृहस्थ से ऊपर उठकर वानप्रस्थ बनने को तैयार हों। उत्तम सन्तानों को जन्म देने के बाद अब सर्वोत्तम शक्तियों के विकास के लिए तैयारी करें।

घरों को उत्तम बनाने के लिए

अलाबूनि पृषातकान्यश्वत्थपलाशम्।
पिपीलिकावटश्वसो विद्युत्स्वापर्णशफो गोशफो जरितरोथामो दैव॥ ३॥

१. हम घरों को उत्तम बनाने के लिए घरों में हे **जरितः**=हमारी वासनाओं को जीर्ण करनेवाले **दैव**=सब देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले प्रभो! **अलाबूनि**=प्रिया कद्दू की बेलों को, **पृषातकानि**=दधि-मिश्रित आज्य (घृत) को, **अश्वत्थपलाशम्**=पीपल व ढाक के वृक्षों को, **पिपीलिका-अवट-श्वसः**=उन वट-वृक्षों को जिनकी खोलों में चींटियाँ प्राण धारण करती हैं **आ उथामः**=उत्थापित करते हैं। भोजन के लिए अलाबू व पृषातक का प्रयोग स्वास्थ्यप्रद होता है। छाया के लिए वट-वृक्ष का महत्त्व है—वट का दूध वीर्य-दोषों को दूर करने में सहायक है। ढाक व पीपल की समिधाएँ यज्ञाग्नि को प्रज्वलित करने के लिए उपयोगी हैं। एवं एक घर में इनका महत्त्व स्पष्ट है। २. इनके अतिरिक्त हम प्रकाश के लिए **विद्युत्**=बिजली को घर में स्थापित करते हैं। इनके सिवाय हमारे घरों में **स्वापर्णशफः**=(सु आपर्ण) उत्तम पंखोंवाले, अर्थात् पक्षी के समान वायुवेग से उड़ चलनेवाले घोड़ों के शफों को तथा **गोशफः**=दूध देनेवाली गौओं के शफों को उत्थापित करते हैं। हमारे घरों में घोड़े व गौएँ हों। ये ही तो मनुष्य के बाएँ व दाएँ हाथ होते हैं। (स नःपवस्व शं गवे शं जनाय शमर्वते)।

भावार्थ—हमारे घर स्वास्थ्यप्रद भोजनों, यज्ञिय वृक्षों व घोड़े व गौ से युक्त हों।

यज्ञ+ज्ञान+स्तुति

वी मे देवा अक्रंसताध्वर्यो क्षिप्रं प्रचर। सुसत्यमिद् गवामस्यसि प्रखुदसि॥ ४॥

१. **इमे देवाः**=ये देववृत्ति के पुरुष—घरों को उत्तम बनाने के बाद वानप्रस्थ होने पर ये देव—**वि अक्रंसत**=विशिष्ट रूप से गतिवाले होते हैं। इनका जीवन सदा क्रियामय होता है। हे **अध्वर्यो**=अहिंसात्मक यज्ञों में प्रवृत्त पुरुष तू **क्षिप्रं प्रचर**=शीघ्र गतिवाला हो—तू इन यज्ञ आदि कर्मों में प्रवृत्त रह। २. तू तो **इत्**=निश्चय से **सुसत्यम्**=सचमुच **गवाम् असि**=ज्ञान की वाणियों का है, अर्थात् तेरा जीवन इन ज्ञान की वाणियों के लिए अर्पित हो गया है। तू **प्रखुत्** (खु= to sound) **असि**=प्रकर्षेण स्तुतिवचनों का उच्चारण करनेवाला है और (प्रखुत्) **असि**=तू सचमुच उस प्रभु का स्तोता बना है।

भावार्थ—वानप्रस्थों का जीवन यज्ञों-ज्ञानों व स्तुतियों से परिपूर्ण हो।

यक्ष्यमाणा+होता

पत्नी यद्दृश्यते पत्नी यक्ष्यमाणा जरितरोथामो दैव।
होता विष्टीमेन जरितरोथामो दैव॥ ५॥

१. हे **जरितः**=हमारी वासनाओं को जीर्ण करनेवाले **दैव**=देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले प्रभो! **यत्**=जब **पत्नी**=गृह-पत्नी **यक्ष्यमाणा**=यज्ञों को करती हुई—यज्ञों की कामनावाली होती हुई **पत्नी दृश्यते**=सचमुच घर का पालन करनेवाली दिखती है तो **आ उथामः**=हम घरों को सब प्रकार से उन्नत करनेवाले होते हैं। जिस घर में गृहपत्नी यज्ञ आदि उत्तम कर्मों की वृत्तिवाली होती है, वह घर पवित्र वातावरणवाला होता हुआ सदा उन्नत होता है। २. हे **जरितः**=वासनाओं को जीर्ण करनेवाले **दैव**=देवों को देवत्व प्राप्त करानेवाले प्रभो! (यत्) जब घर में गृहपति **विष्टीमेन**=बड़े स्नेहार्द्र हृदय से (ष्टीम आर्द्रीभावे) **होता**=यज्ञों में आहुति देनेवाला (दृश्यते) दिखता है तो हम **आ उथामः**=घरों को सर्वथा ऊपर उठानेवाले होते हैं।

भावार्थ—जिस घर में पति-पत्नी यज्ञिय वृत्तिवाले होते हैं वह घर सदा उन्नत होता चलता है।

दक्षिणा

आदित्या ह जरितरङ्गिरोभ्यो दक्षिणामनयन्।
तां ह जरितः प्रत्यायंस्तामु ह जरितः प्रत्यायन्॥ ६॥

१. हे **जरितः**=वासनाओं को जीर्ण करनेवाले प्रभो! **आदित्याः**=विद्यादि गुणों का आदान करनेवाले पुरुष **ह**=निश्चय से **अंगिरोभ्यः**=यज्ञों के रक्षक अंगिरसों (विद्वानों) के लिए **दक्षिणाम्**=दान को **अनयन्**=प्राप्त कराते हैं। गुणों का आदान करनेवाले सद्गृहस्थ स्वयं यज्ञशील होते हुए यज्ञों के रक्षक ज्ञानी पुरुषों के लिए भी धनादि के दान द्वारा यज्ञों में सहायक होते हैं। २. हे **जरितः**=वासनाओं को जीर्ण करनेवाले प्रभो! **ताम्**=उस दक्षिणा को **ह**=निश्चय से **प्रत्यायन्**=ये अंगिरस् प्राप्त होते हैं। हे **जरितः**=वासनाओं को जीर्ण करनेवाले प्रभो! **ताम्**=उस दक्षिणा को **उ ह**=अवश्य ही **प्रत्यायन्**=प्राप्त होते हैं। इस दक्षिणा-प्राप्त धनों का विनियोग वे यज्ञों में ही करते हैं।

भावार्थ—गुणों का आदान करनेवाले ज्ञानी पुरुष स्वयं घरों में यज्ञ करते ही हैं। ये यज्ञों के रक्षक अंगिरसों के लिए भी दक्षिणा प्राप्त कराके उनसे किये जानेवाले यज्ञों में सहायक होते हैं।

'दान-स्वाध्याय-यज्ञ'

तां ह जरितर्नः प्रत्यगृभ्णंस्तामु ह जरितर्नः प्रत्यगृभ्णः।
अहानेतरसं न वि चेतनानि यज्ञानेतरसं न पुरोगवामः॥ ७॥

१. हे **जरितः**=वासनाओं को जीर्ण करनेवाले प्रभो! **नः**=हमारी **ताम्**=उस दक्षिणा को ये अंगिरा **ह**=निश्चय से **प्रत्यगृभ्णन्**=ग्रहण करते हैं। हे **जरितः**=वासनाओं को जीर्ण करनेवाले प्रभो! **नः**=हमारी **ताम्**=उस दक्षिणा को **उ ह**=निश्चय से **प्रत्यगृभ्णः**=ग्रहण कीजिए। आपके नाम पर हम जो दान दें, वह दान हमें आपका प्रिय बनाए। २. आपकी हमारे लिए यही तो प्रेरणा है कि **वि चेतनानि**=ज्ञानशून्य **अहान इत** (अहानेत)=दिनों को मत प्राप्त करो, अर्थात् तुम्हारा प्रत्येक दिन स्वाध्याय द्वारा ज्ञानवृद्धिवाला बने। **रसं न** (इत)=विषयों को मत प्राप्त होओ। तुम्हें विषयों का चस्का न लग जाए। **यज्ञान् आ इत** (यज्ञानेत)=यज्ञों को तुम प्राप्त होओ। तुम्हारा जीवन यज्ञमय हो। **रसं न**=विषयों के चस्कों में ही न पड़ जाओ। ३. हे प्रभो! आपकी इस प्रेरणा को सुनकर स्वाध्याय व यज्ञों में लगे हुए हम निरन्तर **पुरोगवामः**=(गवतिर्गतिकर्मा)=आगे और आगे चलते हैं। उन्नति का मार्ग यही है कि हम 'स्वाध्याय व यज्ञ' को ही अपना कर्त्तव्य समझें—विषयों में न फँसे।

भावार्थ—हमारा जीवन 'दान, स्वाध्याय व यज्ञ' को अपनाने के द्वारा उन्नत और उन्नत होता चले।

उत्तम जीवन

उत श्वेत आशुपत्वा उतो पद्याभिर्यविष्ठः। उतेमाशु मानं पिपर्ति॥ ८॥

१. गतमन्त्र के अनुसार 'दान, स्वाध्याय व यज्ञ' को अपनानेवाला व्यक्ति **उत**=निश्चय से **श्वेतः**=शुद्ध चरित्रवाला होता है—इसके जीवन से वासनारूप मल विनष्ट हो जाता है। यह **आशुपत्वाः**=शीघ्रगामी होता है—अपने कर्त्तव्यकर्मों को स्फूर्ति के साथ करनेवाला होता है। **उत**

उ=और निश्चय से यह **पद्याभिः**=कर्त्तव्यकर्मों में गतियों के द्वारा (पद् गतौ) **यविष्ठः**=बुराइयों को दूर करनेवाला व अच्छाइयों को अपने से मिलानेवाला होता है (यु मिश्रणामिश्रणयोः)। २. **उत**=और **ईम्**=निश्चय से यह साधक **आशु**=शीघ्र ही **मानं पिपर्ति**=मान का पालन करता है। यह मर्यादा ही इसके जीवन को सुन्दर बनाती है।

भावार्थ—हमारा जीवन शुद्ध हो, हम शीघ्र गतिवाले हों, क्रियाशीलता द्वारा जीवन को बुराइयों से बचाए रक्खें। मर्यादा का हम कभी उल्लंघन न करें।

'विभु-प्रभु-बृहत्-पृथु' राधः

आदित्या रुद्रा वसवस्त्वेऽनु त इदं राधः प्रति गृभ्णीह्यङ्गिरः।
इदं राधो विभु प्रभु इदं राधो बृहत्पृथु॥ ९॥

१. हे **अंगिरः**=गतिशील (अगि गतौ)—आलस्यशून्य विद्यार्थिन्! **आदित्याः**='प्रकृति, जीव व परमात्मा' तीनों से सम्बद्ध ज्ञान को प्राप्त करनेवाले विद्वन्! **रुद्राः**=ज्ञानोपदेश द्वारा (रुत्) जीवनों को पवित्र बनानेवाला उपदेष्टा तथा **वसवः**=ज्ञानोपदेश द्वारा जीवन को उत्तम बनानेवाले विद्वान् **त्वे अनु**=तेरे प्रति अनुकूलतावाले हैं। **ते**=तेरे लिए वे 'आदित्य, रुद्र व वसु' **इदं राधः**=इस ज्ञानैश्वर्य को प्राप्त कराते हैं। हे अंगिरः! तू इस ज्ञानैश्वर्य को **प्रतिगृभ्णीहि**=ग्रहण कर। परिश्रमी विद्यार्थी आचार्यों को सदा प्रिय होता है। वे इसके लिए ज्ञानरूप ऐश्वर्य को प्राप्त कराते हैं। २. हे अंगिरः! **इदं राधः**=यह ज्ञानैश्वर्य **विभु**=जीवन को वैभवमय बनानेवाला है, **प्रभु**=यह जीवन को प्रभावयुक्त करता है। **इदं राधः**=यह ऐश्वर्य **बृहत्**=वृद्धि का साधन बनता है (वृहि वृद्धौ) तथा **पृथु**=शक्तियों का विस्तार करनेवाला होता है।

भावार्थ—हम गतिशील—आलस्यशून्य—बनें। हमें 'आदित्यों, रुद्रों व वसुओं' द्वारा वह ज्ञानैश्वर्य प्राप्त होगा जो हमारे 'वैभव व प्रभाव, वृद्धि व शक्ति-विस्तार' का साधन बनेगा।

आसुर+सुचेतनम्

देवा ददत्वासुरं तद्वो अस्तु सुचेतनम्। युष्माँ अस्तु दिवेदिवे प्रत्येव गृभायत॥ १०॥

१. 'मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव' इन उपनिषद् वाक्यों के अनुसार 'माता, पिता व आचार्य' देव हैं। ये **देवाः**=माता, पिता व आचार्यरूप देव **आसुरम्** (Divine, spiritual)=दिव्य बल **ददतु**=दें। ये तुम्हारे लिए दिव्य बल को प्राप्त करानेवाले हों। **तत्**=वह दिव्य बल **वः**=तुम्हारे लिए **सुचेतनम् अस्तु**=उत्तम चेतना व ज्ञान देनेवाला हो। २. यह उत्तम चेतना का साधनभूत दिव्य बल **दिवेदिवे**=दिन-प्रति-दिन **युष्मान् अस्तु**=तुम्हें प्राप्त हो, तुम **प्रतिगृभायत एव**=इसे प्रतिदिन ग्रहण करो ही।

भावार्थ—हम उत्तम माता, पिता व आचार्य को प्राप्त करके दिव्य बल व ज्ञान को प्राप्त करें। यह दिव्य बल व ज्ञान हमें सदा प्राप्त हो।

'पारावत'

त्वमिन्द्र शर्मरिणा हव्यं पारावतेभ्यः। विप्राय स्तुवते वसुवनिं दुरश्रवसे वह॥ ११॥

१. हे **इन्द्र**=परमैश्वर्यशालिन् प्रभो! **त्वम्**=आप **पारावतेभ्यः**=(परात् शत्रोः अंहकारात् ज्ञानोपदेशेन अवति) ज्ञानोपदेश द्वारा अहंकाररूप शत्रु से बचानेवाले ज्ञानियों के लिए **शर्म**=सुख को व **हव्यम्**=हव्य पदार्थों को—जीवन के लिए आवश्यक यज्ञिय पदार्थों को **रिणाः**=प्राप्त कराते हैं। २. हे प्रभो! आप **विप्राय**=(वि+प्रा पूरणे) अपनी कमियों को दूर करनेवाले **दुरश्रवसे** (दुर्व् हिंसायाम्, दुरंश्रवो यस्य)=शत्रुसंहारक ज्ञानवाले **स्तुवते**=स्तोता के लिए **वसुवनिं वह**=निवास के

लिए आवश्यक धन के संभजन को **वह**=प्राप्त कराइए।

भावार्थ—हम ज्ञान द्वारा अहंकाररूप शत्रु से बचानेवाले बनें। प्रभु हमें सुख व हव्य पदार्थों को प्राप्त कराएँगे। हम अपनी न्यूनताओं को दूर करनेवाले, वासनासंहारक ज्ञानवाले व स्तोता बनें। प्रभु हमारे लिए निवास को उत्तम बनानेवाले धन का संभजन करेंगे।

परिव्राजक के लिए भिक्षा

त्वमिन्द्र कपोताय च्छिन्नपक्षाय वञ्चते।
श्यामाकं पक्वं पीलु च वारस्मा अकृणोर्बहुः॥ १२॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **त्वम्**=तू **च्छिन्नपक्षाय**=(पक्ष परिग्रहे) परिग्रह को जिसने काट डाला है—जो अब परिवार के बन्धनों से ऊपर उठ गया है **अस्मै**=इस **वञ्चते**=चारों दिशाओं में भ्रमण करनेवाले **कपोताय**=आनन्द के पोत (बेड़े) के समान प्रसन्न संन्यस्त पुरुष के लिए **श्यामाकम्**=धान्यविशेष को **पक्वम्**=जिसको ठीक प्रकार से पकाया गया है **च**=तथा **पीलु**=(पीलु गुडफल: स्रंसी) सुपच, उत्तम फल को तथा **वाः**=जल को **बहुः**=बहुत बार **अकृणोः**=करता है। २. गृहस्थ के लिए उचित है कि द्वार पर आये संन्यस्त को आदर से भिक्षा प्राप्त कराए। भिक्षा में दिया गया खान-पान स्वास्थ्य के लिए ठीक हो। संन्यासी भी सर्वबन्धनमुक्त-सर्वत्र आनन्द का सन्देश प्राप्त कराता हुआ परिव्राजक ही है।

भावार्थ—सद्गृहस्थ द्वार पर उपस्थित परिव्राजक के लिए स्वास्थ्य वर्धक भिक्षान्न को प्राप्त कराएँ।

त्रिदण्डी परिव्राजक का ज्ञानोपदेश

अरंगरो वावदीति त्रेधा बद्धो वरत्रया। इरामह प्रशंसत्यनिरामप सेधति॥ १३॥

१. **अरंगरः**=खूब ही ज्ञानोपदेश करनेवाला (अरं गृणाति) यह परिव्राजक **वावदीति**=लोगों के लिए ज्ञान का उपदेश करता है। यह स्वयं **वरत्रया**=व्रतबन्धनरूप रज्जु से **त्रेधा बद्धः**= तीन प्रकार से बँधा होता है—यह 'वाणी, मन व शरीर' तीनों में संयत होता है 'वाग्दण्डोऽथ मनोदण्ड कायदण्डस्तथैव च'। इस संन्यस्त के मुख से कोई अपशब्द उच्चरित नहीं होता, किसी के प्रति मन में द्वेष नहीं होता, इसकी सब शारीरिक क्रियाएँ बड़ी संयत होती हैं तभी तो इसके ज्ञान के उपदेश का प्रभाव होगा। ४. यह **अह**=निश्चय से **इराम्**=ज्ञान की अधिष्ठात्री देवता सरस्वती का **प्रशंसति**=शंसन करता है। लोगों को ज्ञान की रुचिवाला बनने की प्रेरणा देता है। **अनिराम्**=जो ज्ञान के प्रतिकूल है उसका **अपसेधति**=वर्जन करता है। स्वयं ज्ञान के प्रतिकूल बातों से दूर रहता हुआ लोगों को भी वैसा बनने के लिए कहता है।

भावार्थ—'वाणी, मन व शरीर' को व्रतबन्धनों से बाँधकर यह त्रिदण्डी लोगों को खूब ही ज्ञान का उपदेश करता है। ज्ञान के प्रतिकूल प्रत्येक भाव से दूर रहता है।

१३६. [षट्त्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

कठोर राजदण्ड से चोरी का अभाव

यदस्या अंहुभेद्याः कृधु स्थूलमुपातसत्।
मुष्काविदस्या एजतो गोशफे शकुलाविव॥ १॥

१. **यत्**=जो कोई भी **अंहुभेद्याः**=पाप का भेदन करनेवाली—पाप से दूर रहनेवाली **अस्याः**=इस प्रजा को **कृधु**=(ह्रस्वम् नि० ३.२) थोड़ा सा अथवा **स्थूलम्**=अधिक **उपातसत्**=क्षय करता है,

अर्थात् प्रजा की छोटी व बड़ी चोरी करता है। चोर के रूप में सेंध लगाकर घर का सामान चुरा ले-जाता है, अथवा परिपन्थी के रूप में व्यापारी को मार्ग में ही रोककर लूट लेता है तो **अस्याः**=इस प्रजा के **मुष्कौ**=मोषण करनेवाले चोर **इत्**=निश्चय से **एजतः**=राजदण्डभय से काँप उठते हैं। ये चोर इसप्रकार काँप उठते हैं, **इव**=जैसेकि **गोशफे**=गोखुर प्रमाण जल में **शकुलौ**=मछलियाँ काँप उठती है। २. प्रजा जब पापवृत्तिवाली नहीं होती तब चोरियाँ होती ही कम हैं और होती भी हैं तो कठोर राजदण्ड के भय से चोर काँप उठते हैं, फिर इस अशुभ मार्ग की ओर झुकाववाले नहीं होते।

भावार्थ—प्रजा का झुकाव पाप की ओर होने पर कठोर राजदण्डभय से चोर काँप उठते हैं। इसप्रकार राष्ट्र में छोटी व बड़ी चोरियाँ समाप्त हो जाती हैं।

व्यापार-समृद्धि

यदा स्थूलेन पससाणौ मुष्का उपावधीत्।
विष्वञ्चा वस्या वर्धतः सिकतास्वेव गर्दभौ॥ २॥

१. **यदा**=जब **स्थूलेन**=(stout) बड़े मजबूत **पससा**=(राष्ट्रं वा पसः श०) राष्ट्र-प्रबन्ध के द्वारा **अणौ**=सूक्ष्मतम अपराधों के होने पर राजा **मुष्का**=चोरों व डाकुओं को **उपावधीत्**=दण्डित करता है तब **अस्याः**=इस राष्ट्र की प्रजा के नर-नारी **विष्वञ्चौ**=(वि सु अञ्च) विविध दिशाओं में उत्तम गतिवाले होते हुए **वर्धतः**=इसप्रकार वृद्धि को प्राप्त होते हैं **इव**=जैसे **आ सिकतासु**=चारों ओर रेतीले प्रदेशों में **गर्दभौ**=गर्दभ। रेतीले प्रदेशों में घोड़े-गधे आदि पशु अधिक शक्तिशाली होते हैं। २. अरब में व राजस्थान में घोड़े उत्तम होते हैं। इसीप्रकार चोरों से शून्य राष्ट्र में प्रजा के नर-नारी उत्तम स्थिति में होते हैं। वे निःशङ्क इधर-उधर जाते हुए समृद्ध व्यापारवाले बनते हैं।

भावार्थ—चोरी आदि का भय न होने पर राष्ट्र में प्रजा समृद्ध व्यापारवाली होती है।

गरीब-से-गरीब प्रजा का ध्यान

यदल्पिकास्व ल्पिका कर्कन्धूकेव पद्यते।
वासन्तिकमिव तेजनं यन्त्यवाताय वित्पति॥ ३॥

१. **यत्**=जब **अल्पिकासु अल्पिका**=छोटों से भी छोटी, अर्थात् बहुत ही हीन अवस्था की प्रजा भी **कर्कन्धूके** (कर्क fire, धूक=wind)=आग या हवा में **अवपद्यते**=अवसन्न होती है, अर्थात् राष्ट्र में यदि गरीब-से-गरीब प्रजा भी आग या हवा के भयों से पीड़ित होती है तो राजपुरुष **इव**=जैसे **वासन्तिकम्**=वसन्त ऋतु में होनेवाले **तेजनम्**=(Bamboo, reel) बाँसों व सरकण्डों की ओर **यन्ति**=जाते हैं, अर्थात् इन्हें एकत्र करके उन गरीब प्रजाओं के रहने व वायु आदि से बचाव के लिए झोपड़ियों का निर्माण कराते हैं, उसी प्रकार **अवाताय**=(अवात=unattacked) अग्नि, वायु आदि के आक्रमण न होने देने के लिए **वित्पति**=(विद् ज्ञाने, पत् गतौ) ज्ञान के साथ गति करनेवाले व्यक्ति में **यन्ति**=शरण लेते हैं। इन विद्वानों से अग्नि, वायु आदि के भयों से बचाव के लिए आवश्यक साधनों के प्रचार के लिए प्रार्थना करते हैं।

भावार्थ—राष्ट्र में अग्नि व वायु का उपद्रव होने पर राजपुरुषों द्वारा गरीब प्रजा के निवास के लिए झोपड़ियों का निर्माण करवाया जाए और विद्वानों से उन्हें उचित ढंग से रहने के लिए साधनों का ज्ञान प्राप्त कराया जाए।

राजा तथा सभ्य कैसे हों?

यद्देवासो ललामगुं प्रविष्टीमिनमाविषुः।
सकुला देदिश्यते नारी सत्यस्याक्षिभुवो यथा॥ ४॥

१. राजा की सभा में **यत्**=जब **ललामगुम्**=सुन्दर वाणीवाले (ललाम+गो) तथा **प्रविष्टीमिनम्**=प्रजा के लिए विशेषरूप से करुणार्द्रभाववाले (स्तीम् आर्द्रीभावे) राजा को **देवासः**=व्यवहारकुशल विद्वान् लोग **आविषुः**=समन्तात् व्याप्त कर लेते हैं, अर्थात् जब राजा खुशामदियों से न घिरा होकर इन विद्वानों से संगत होता है तब यह **नारी**=नरहितकारिणी राजसभा **सकुला**=(कुल=a noble family) कुलीन **देदिश्यते**=कही जाती है। २. यह सभा उतनी ही 'सकुला' कही जाती है **यथा**=जिस प्रकार इस सभा के साथ **सत्यस्य अक्षिभुवः**=सत्य की आँखों से देखनेवाले होते हैं। जितना-जितना सभ्य सत्य से—न कि पक्षपात से प्रत्येक मामले (वस्तु) को देखेंगे उतना-उतना ही यह राजसभा कुलीन पुरुषों की सभा कहलाएगी।

भावार्थ—राजा को सुन्दर वाणीवाला व प्रजा के प्रति प्रेमार्द्रहृदयवाला होना चाहिए तथा राजसभा के सभ्यों को सब मामलों को सत्य की दृष्टि से देखना चाहिए। राजा खुशामदियों से न घिरा रहकर सत्यवादी देवों से युक्त हो।

राजा व सभ्यों का परस्पर प्रेममय व्यवहार

महानग्न्य ∫ तृप्नद्वि मोक्रदुदस्थानासरन्। शक्तिकानना स्वचमशकं सक्तु पद्यम॥ ५॥

१. **महान्**=(मह पूजायाम्) महिमा-सम्पन्न—पूजनीय राजा **अग्नी**=सभा व समितिरूप राष्ट्र की दोनों अग्नियों को—राष्ट्र को आगे ले-चलनेवाली सभाओं को **वि अतृप्नत्**=अपने मधुर व्यवहार से प्रीणित करनेवाला होता है। यह राजा **अस्थाना**=दुर्गम स्थानों में—कठिन (विषम) परिस्थितियों में **आसरन्**=गति करता हुआ **मा उ क्रदत्**=व्याकुल नहीं हो जाता—रोने नहीं लगता। सभा व समिति के साथ मिलकर उस अस्थान से पार होने के उपाय सोचता है। २. **शक्तिकानना**=(कन् दीप्तौ) शक्ति को दीप्त करनेवाले हम सभ्य **स्वचम्** (सु अञ्च्)=उत्तम गति को **अशकम्**=करने में समर्थ हों तथा **सक्तु**=परस्पर समवाय को **पद्यम**=प्राप्त करें। सभ्य शक्तिशाली हों, उत्तम गतिवाले तथा परस्पर मेलवाले हों।

भावार्थ—राजा सभा व समिति के प्रति मधुर व्यवहारवाला हो। उनकी सम्मति से कठिन समस्याओं को भी हल करनेवाला हो। सभ्य शक्तिशाली, उत्तम गतिवाले व परस्पर मेलवाले हों।

'सभा व समिति'=उलूखलम्

महानग्न्यु ∫ लूखलमतिक्रामन्त्यब्रवीत्।
यथा तव वनस्पते निरघ्नन्ति तथैवति॥ ६॥

१. **महान्**=गतमन्त्र का महनीय राजा **अब्रवीत्**=कहता है कि **अग्नी**=राष्ट्र को आगे ले-चलनेवाली ये सभा व समितिरूप अग्नियाँ **उलूखलम्** (उरुकरं नि० ९.२०)=खूब ही कार्य करनेवाली हैं तथा **अतिक्रामन्ति**=ये सभा व समिति के सदस्य सब समस्याओं को—दुर्गम परिस्थितियों को लाँघ जाते हैं। दुर्गम परिस्थितियों में न घबराकर ये उपाय का चिन्तन करते हैं। २. राजा कहता है कि हे **वनस्पते**=वनस्पति-विकार—वनस्पति के बने हुए ऊखल! **यथा**=जैसे **तव निरघ्नन्ति**=तुझमें स्थित वस्तु को लोग खूब ही कूटते हैं—विभक्त करते हैं, **तथा**=उसी प्रकार ये सभा व समिति **एवति**=(इवि व्याप्तौ) विजय का व्यापन करती हैं—विषय

के एक-एक पहलू को विभक्त करके देखती हैं।

भावार्थ—राजा की दृष्टि में सभा व समिति एक उलूखल के समान हैं। ये महान् कार्यों को करती हैं तथा प्रत्येक विषय का सूक्ष्मता से विचार करती हैं।

'ज्ञानाग्नि विदग्ध-चिन्तनशील' राष्ट्रसभा के सभ्य

महानग्न्युप ब्रूते भ्रष्टोऽथाप्यभूभुवः। यथैव ते वनस्पते पिप्पति तथैवेति॥ ७॥

१. **महान्**=महनीय राजा **उपब्रूते**=कहता है कि **अग्नी**=राष्ट्र को आगे ले-चलनेवाली ये सभा व समितिरूप अग्नियाँ **भ्रष्टः** (भ्रस्ज् पाके)=ज्ञानाग्नि में खूब ही परिपक्व हुई हैं—इनके सभ्य ज्ञानसम्पन्न हैं। **अथ अपि**=और निश्चय से **अभूभुवः**=(भू=to consider, reflect) चिन्तनशील हैं। ये सभ्य प्रत्येक विषय के उपाय व अपाय का सम्यक् चिन्तन करते हैं। २. हे **वनस्पते**=वनस्पति विकार ऊखल **यथा एव**=जैसे ही **ते पिप्पति**=(पिंशन्ति) तुझमें किसी वस्तु को, एक-एक अवयव को पृथक् करते हुए पीसते हैं **तथा**=उसी प्रकार **एवति**=ये सभ्य एक विषय का पूर्णतया व्यापन करते हैं (इवि व्याप्तौ)—उसके एक-एक पहलू को सम्यक् देखते हैं।

भावार्थ—राष्ट्रसभा के सभ्य ज्ञानाग्नि विदग्ध व चिन्तनशील हों। वे प्रत्येक विषय के सारे पहलुओं का सम्यक् विचार करें।

बन्धनों से ऊपर उठकर

महानग्न्युप ब्रूते भ्रष्टोऽथाप्यभूभुवः। यथा वयो विदाह्य स्वर्गे नमवदह्यते॥ ८॥

१. **महान्**=महनीय राजा **उपब्रूते**=कहता है कि **अग्नी**=राष्ट्र को आगे ले-चलनेवाली ये सभा व समिति के सभ्य **भ्रष्टः** (भ्रस्ज् पाके)=ज्ञानाग्नि में खूब ही परिपक्व हुए हैं, **अथ अपि**=और निश्चय से **अभूभुवः**=(भू=to consider) चिन्तनशील हैं। २. **यथा**=जैसे **वयः**=(वेञ् तन्तुसन्ताने) कर्मतन्तु का विस्तार करनेवाला **विदाह्य**=माता, पिता व आचार्य द्वारा सब वासनाओं को दग्ध कराके **स्वर्गे**=आनन्दमय लोक में स्थित होता है, उसी प्रकार ये सभा के सभ्य भी **नम्**=(नः=band, tie) सब बन्धनों को **अवदह्यते**=दग्ध कर देते हैं। पारिवारिक बन्धनों से ऊपर उठकर ही—वानप्रस्थ बन कर ही ये राजकार्यों को समुचित रूप से कर पाते हैं।

भावार्थ—राजा कहता है कि ये सभ्य 'ज्ञानाग्निविदग्ध, चिन्तनशील व पारिवारिक बन्धनों से ऊपर उठे हुए' हैं। ऐसे ही सभ्य राष्ट्रकार्य का सम्यक् सम्पादन कर सकते हैं।

उत्तम गति व दीप्तिवाला राष्ट्र

महानग्न्युप ब्रूते स्वसावेशितं पसः। इत्थं फलस्य वृक्षस्य शूर्पे शूर्पं भजेमहि॥ ९॥

१. **महान्**=महनीय राजा **अग्नी उपब्रूते**=राष्ट्र को आगे ले-चलनेवाली सभा व समिति के सदस्यों से कहता है कि अब आप लोगों के श्रम से **पसः**=(पसः राष्ट्रम्। श०) **स्वसा** (सु अस गतिदीप्त्यादानेषु)=उत्तम गति व दीप्ति से **आवेशितम्**=आवेशित हो गया है। राष्ट्र में सब लोग ठीक गतिवाले—ठीक कर्मोंवाले व उत्तम ज्ञानदीप्तिवाले किये गये हैं। २. **इत्थम्**=इसप्रकार अब हम **फलस्य वृक्षस्य**=फले हुए इस राष्ट्रवृक्ष के **शूर्पे शूर्पम्**=शूर्प में शूर्प को (प्रदर्ष to measure) **शूर्पे**=माप के निमित्त प्रजा में अच्छे व बुरों को जानने के निमित्त छाज में छाज को **भजेमहि**=सेवित करें। जिस प्रकार छाज अन्न को भूसी से पृथक् कर देता है, उसी प्रकार हम इस राष्ट्र में आर्यों को दस्युओं से पृथक् कर लें 'विजानीहि आर्यान् ये च दस्यवः' (मा ते राष्ट्रे याचनका भवेयुर्मा च दस्यवः)। दस्युओं को राष्ट्र से पृथक् करते हुए हम सदा राष्ट्र

के कल्याण की वृद्धि करनेवाले हों।

भावार्थ—राजा ने सभ्यों से मिलकर राष्ट्र को उत्तम गति व दीप्तिवाला बनाना है। अब राष्ट्र में आर्यों व दस्युओं का ध्यान करते हुए, दस्युओं को पृथक् करके राष्ट्र को सदा कल्याणयुक्त करना है।

(मृग) मुख्य राजपुरुष की नियुक्ति

महानग्नी कृकवाकं शम्यया परि धावति।
अयं न विद्म यो मृगः शीर्ष्णा हरति धाणिकाम्॥ १०॥

१. **महान्**=महनीय राजा **अग्नी**=सभा व समिति के सदस्यों के प्रति **परिधावति**=शीघ्रता से जाता है, उसी प्रकार जाता है जैसे कि **शम्यया** (शमी=कर्म नि० २.१) शान्तभाव से किये जानेवाले कर्मों के हेतु से **कृकवाकम्**=कण्ठ से बोलनेवाले—सम्मति देनेवाले पुरुष को कोई प्राप्त होता है। सभा व समिति के परामर्श से ही राजा कार्यों को करता है। २. राजा सभा व समिति के सदस्यों से यही पूछता है कि 'मुझे **न विद्म**=समझ नहीं पड़ रहा कि **अयम्**=वह कौन-सा **मृगः**=आत्मान्वेषण करनेवाला तथा प्रत्येक राजकार्य का ठीक से अन्वेषण करनेवाला व्यक्ति है **यः**=जो **धाणिकाम्**=इस प्रजा की धारक पृथिवी को **शीर्ष्णा हरति**=आपने सिर पर उठाता है, अर्थात् किस व्यक्ति के कन्धे पर मुख्यरूप से राज्यभार डाला जाए। सभा व समिति के सदस्यों से सलाह करके ही राजा इस मुख्य राजपुरुष की नियुक्ति करता है। ('सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने। येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु।' इस अथर्वमन्त्र में स्पष्ट है कि राजा सभा व समिति के सदस्यों से परामर्श करता है और उस सारे कार्य में बड़े मधुर शब्दों का ही प्रयोग होता है।)

भावार्थ—राजा सभा व समिति के सदस्यों के परामर्श से मुख्य राजपुरुष की नियुक्ति करता है। यह राजपुरुष पृथिवी के बोझ को धारण करने के लिए एक-एक राजकार्य को सूक्ष्मता से देखता है।

राजा पति है, प्रजा पत्नी

महानग्नी महानग्नं धावन्तमनु धावति।
इमास्तदस्य गा रक्ष यभ मामद्ध्यौदनम्॥ ११॥

१. गतमन्त्र में वर्णित मुख्य राजपुरुष को प्रस्तुत मन्त्र में 'अग्न' कहा गया है—राष्ट्र को आगे और आगे ले-चलनेवाला। **महान्**=महनीय राजा **अग्नी**=सभा व समिति के सदस्यों के **अनुधावति**=पीछे तो जाता ही है, अर्थात् प्रत्येक कार्य में उनका परामर्श तो लेता ही है। यह **महान्**=महनीय राजा **धावन्तम्**=गति के द्वारा प्रजा के जीवन को शुद्ध करते हुए (धाव् गतिशुद्धयोः) **अग्नम्**=इस मुख्य राजपुरुष को भी **अनुधावति**=अनुसृत करता है, अर्थात् इस मुख्य राजपुरुष के अनुकूल होता है। २. इस मुख्य राजपुरुष से प्रजाएँ कहती हैं कि **तत्**=सो **अस्य**=इस राजा की **इमाः गाः**=इन भूमियों का तू **रक्ष**=रक्षण कर। **माम् यभ**=मेरे साथ तेरा निवास हो (co-habit)। प्रजा पत्नी हो तो तू उसका पति बन। पति पत्नी की रक्षा करता है। इसी प्रकार यह मुख्य राजपुरुष प्रजा की रक्षा करनेवाला हो। प्रजारक्षक तू **ओदनम् अद्धि**=ओदन खानेवाला बन। उसी राजा को खाने का अधिकार है जो प्रजा का रक्षण करता है। राजा का भोजन भी सात्त्विक ही होना चाहिए। मांसभोजन राजा की वृत्ति को क्रूर बना देगा—यह राजा प्रजा पर अत्याचार करेगा।

भावार्थ—राजा मुख्य राजपुरुष के अनुकूल होता है। यह राजपुरुष राजा की भूमियों का रक्षण करता है। सदा सात्त्विक भोजन ही करता है।

अग्नि-विबाधन व खोदन

सुदेवस्त्वा महानग्नीर्बबाधते महतः साधु खोदनम्। कुसं पीवरो नवत्॥ १२॥

१. हे प्रजे! यह **सुदेवः**=उत्तम ज्ञान की ज्योतिवाला व उत्तम व्यवहारवाला **महान्**=महनीय राजा **त्वा**=तेरा लक्ष्य करके—तेरी स्थिति को अच्छा बनाने के उद्देश्य से **अग्नीः**=आग लगाने आदि उपद्रवों को **बबाधते**=खूब ही रोकता है। राष्ट्र में उत्पन्न होनेवाले उपद्रवों को रोकने का पूर्ण प्रयत्न करता है। इस **महतः**=महनीय राजा का—इसके द्वारा किया हुआ **खोदनम्**=(खुद् भेदने) शत्रुओं का विदारण **साधुः**=उत्तम है। यह राष्ट्र को शत्रुओं के आक्रमण से सुरक्षित करता है। २. यह **पीवरः**=प्रजा-रक्षण द्वारा परिपुष्ट राज्यांगोंवाला राजा **कुसं नवत्**=प्रभु के संश्लेषण को प्राप्त करता है (नवतिर्गतिकर्मा) राजा को प्रभु-प्राप्ति तभी होती है जबकि वह प्रजा का सम्यक् रक्षण करता है। प्रजापालन ही राजा का प्रभु-पूजन है।

भावार्थ—उत्तम राजा अन्तः व बाह्य उपद्रवों से प्रजा का रक्षण करता है। इसप्रकार प्रजापालन करता हुआ राजा प्रभु का सच्चा पूजन करता है और प्रभु-प्राप्ति का पात्र बनता है।

वशादग्धा अंगुलि को काट देना

वशा दग्धामिमाङ्गुरिं प्रसृजतोग्रतं परे। महान्वै भद्रो यभ मामद्ध्यौदनम्॥ १३॥

१. सभा व समिति 'परा' हैं—उत्कृष्ट हैं अथवा प्रजा का पालन व पूरण करनेवाली हैं 'पॄ पालनपूरणयो'। इन्हें प्रजापति की दुहिता (दुह प्रपूरणे) प्रपूरकम् कहा ही गया है। ये **परे**=सभा व समिति दोनों **अग्रतम्**=सर्वप्रथम **वशा दग्धाम्**=(वशा=barren) बन्ध्य-विफल-राजनीति से जली हुई **इमा अंगुरिम्**=इस अंगुलि को **प्रसृजतः**=प्रकर्षेण काट डालते हैं, अर्थात् ये राजकार्यों में जिस भी बात को अनुपयोगी देखते हैं उसे समाप्त कर देते हैं। इसप्रकार प्रजा का कोई भी राजकार्य बिना शोभावाला नहीं दिखता। २. उस समय प्रजा यही कहती है कि यह **महान्**=महनीय राजा **वै**=निश्चय से **भद्रः**=बड़ा भला है—हमारा कल्याण करनेवाला है। प्रजा राजा से कहती है कि **माम् यभ**=मेरे साथ तेरा सहवास है, तू पति हो तो मैं पत्नी। तू **औदनम्**=सात्त्विक भोजन को ही **अद्धि**=खा, जिससे तेरी वृत्ति सदा सात्त्विक बनी रहे।

भावार्थ—सभा व समिति राजनीति के दोषों को दूर करती हुई राजा को प्रजा का प्रिय बनाती है। यह राजा सात्त्विक भोजन से सात्त्विक वृत्तिवाला होकर प्रजा का वस्तुतः पति बनता है।

कुमारिका पिङ्गलिका

विदेवस्त्वा महानग्नीर्विबाधते महतः साधु खोदनम्।
कुमारिका पिङ्गलिका कार्द भस्मा कु धावति॥ १४॥

१. हे प्रजे! **विदेवः**=(दिव् क्रीडायां मदे स्वप्ने च) व्यर्थ की क्रीड़ाओं, मद व स्वप्न से रक्षित यह **महान्**=महनीय राजा **त्वा**=तेरा लक्ष्य करके **अग्नीः**=अग्नि आदि से होनेवाले उपद्रवों को **विबाधते**=उत्तम व्यवस्था द्वारा रोकता है। राजा के लिए यही उचित है कि शिकार आदि में समय का व्यर्थ यापन न करे। सदा अप्रमत्त व जागरित रहकर राजकार्यों में ध्यान दे। **महतः**=इस महनीय राजा का **खोदनम्**=शत्रुओं के विदारण का कार्य **साधु**=उत्तम है। २. इस राजा की **कुमारिका**=(कु मार्) बुरी तरह से शत्रुओं को मारनेवाली **पिङ्गलिका**=तेजस्विनी

सेना—तेज से रक्तवर्णवाली सेना **कार्द भस्मा**=राष्ट्र की उन्नति में विघ्नरूप कीचड़ व राख को **कुधावति**=बुरी तरह से सफाया कर देती है। सेना किन्हीं भी अन्तः या बाह्य उपद्रवों को शान्त करती हुई राष्ट्र के उत्थान में सहायक होती है।

भावार्थ—राजा शिकार आदि में समय न गवाकर राष्ट्र के अन्दर व बाहर के उपद्रवों को शान्त करने का प्रयत्न करता है। इसकी तेजस्विनी सेना सब विघ्नों के कीचड़ व भस्मों को दूर कर देती है।

बिल्व+उदुम्बर

महान्वै भद्रो बिल्वो महान्भद्र उदुम्बरः।
महाँ अभिक्त बाधते महतः साधु खोदनम्॥ १५॥

१. **महान्**=महनीय राजा **वै**=निश्चय से **भद्रः**=राष्ट्र का कल्याण करनेवाला है। यह **बिल्वः** (विल्वं भिल्मं भेदनात्। नि०) यह शत्रुओं का विदारण करनेवाला है। यह **महान्**=महनीय राजा **भद्रः**=बड़ा भला है—राष्ट्र का कल्याण करनेवाला है। **उदुम्बरः**=(उत् अतिशयेन अम्बते, अबि शके) राष्ट्र में खूब ही ज्ञान का प्रचार करनेवाला है अथवा प्रभु का स्तवन करनेवाला है। यह प्रभु-स्तवन ही इसे कर्तव्यकर्म की समुचित प्रेरणा प्राप्त कराता है। २. यह **महान्**=महनीय-पूजनीय राजा **अभिक्त** (अभिक्तः=अभि अक्तः, अञ्ज गतौ) शत्रु के प्रति गया हुआ, अर्थात् शत्रु पर आक्रमण करनेवाला होकर उन शत्रुओं को **बाधते**=पीड़ित करता है। **महतः**=इस महनीय राजा का **खोदनम्**=शत्रुभेदनरूपी कार्य साधु=बड़ा उत्तम है। यह शत्रुओं का सम्यक् विदारण करके राष्ट्र-रक्षण का कार्य करता है।

भावार्थ—राजा शत्रुओं का भेदन करके प्रजा का कल्याण करता है। यह प्रजा में ज्ञान का प्रसार करके उसे उन्नत करता है।

'यः वसन्, तैलकुण्ड, अंगुष्ठ, रोदन्'

यः कुमारी पिङ्गलिका वसन्तं पीवरी लभेत्।
तैलकुण्डमिमाङ्गुष्ठं रोदन्तं शुदमुद्धरेत्॥ १६॥

१. **कुमारी**=शत्रुओं को बुरी तरह से मारनेवाली (कु-मार्) **पिंगलिका**=तेजस्विनी **पीवरी**=हृष्ट-पुष्ट सेना जब **यः वसन्तम्**=(यस् प्रयत्ने भावे क्विप्) सदा प्रयत्न में निवास करनेवाले, **तैल-कुण्डम्**=राग की चिकनाई का दहन कर देनेवाले—परिवार के राग में ही न फँसे हुए—**इम** (इमम्)=इस **अंगुष्ठम्**=सदा गति में निवास करनेवाले—क्रियामय जीवनवाले, **रोदन्तम्**=प्रजा के कष्टों पर रोदन करनेवाले (Shedding tears) **शु-दम्**=शीघ्र ही वेतन दे देनेवाले राजा को **लभेत्**=प्राप्त करती है तो **उद्धरेत्**=यह राष्ट्र का उद्धार करनेवाली होती है। २. राजा सदा प्रजा कल्याण के प्रयत्नों में लगा हुआ (यः वसन्), परिवार के राग में न फँसा हुआ (तैल-कुण्ड) गतिशील (अंगु-ष्ठ), प्रजा के कष्टों को अनुभव करनेवाला (रोदन्) तथा समय पर सेना को वतेन देनेवाला (शु-द) होना चाहिए। सेना भी शत्रुसंहार करनेवाली (कु-मारी), तेजस्विनी (पिंगलिका) तथा सबल (पीवरी) होनी चाहिए। ऐसा होने पर ही राष्ट्र का उत्थान होता है।

भावार्थ—राजा व सेना दोनों के उत्तम होने पर राष्ट्र का उत्थान सम्भव होता है।

इति कुन्तापसूक्तानि

यहाँ कुन्ताप सूक्तों की समाप्ति होती है। इनमें बुराई के विनाश का उपदेश था (कु+तप्) अन्तिम सूक्त में राजा राष्ट्र के सब मलों का विनाश करके राष्ट्र का उत्थान करता है। इस

राष्ट्र में लोग 'शिरिम्बिठि'=(बिठम् अन्तरिक्षं, शृ) हृदयान्तरिक्ष से वासनाओं को विनष्ट करनेवाले होते हैं (१३७.१) 'बुध'—ज्ञानी बनते हैं (१३७.२) 'वामदेव'—सुन्दर दिव्यगुणोंवाले होते हैं (१३७.३), 'पयाति:'—खूब ही यत्नशील होते हैं (१३७.४-६), 'तिरश्ची—आंगिरस: द्युतान:'=(तिर: अञ्च्) हृदय-गुहा में तिरोहित प्रभु की ओर चलनेवाले, अंग-प्रत्यंग में रसमय, ज्ञान-ज्योति का विस्तार करनेवाले होते हैं (१३७.७-११)। ये 'सुकक्ष'=लक्ष्य तक पहुँचने के लिए उत्तमता से कटिबद्ध होते हैं (१३७.१२-१४)। अगले सूक्त में ये ही मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं—

१३७. [सप्तत्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषि:—**शिरिम्बिठि:** ॥ देवता—**अलक्ष्मीनाशनम्**॥ छन्द:—**अनुष्टुप्**॥

'शिरिम्बिठि' का पवित्र जीवन

यद्ध प्राचीरजगन्तोरो मण्डूरधाणिकी:।
हता इन्द्रस्य शत्रव: सर्वे बुद्बुदयाशव:॥ १॥

१. **यत्**=जब **ह**=निश्चय से लोग **प्राची: अजगन्त**=प्रकृष्ट गतिवाले होकर आगे और आगे चलते हैं तब **उर:** (उर्वी हिंसायाम्)=वासनाओं का हिंसन करनेवाले होते हैं। ये **मण्डूरधाणिकी:**=(मन्दनस्य धनस्य धारयित्र्य:) आनन्दप्रद धनों का धारण करनेवाले होते हैं। प्रभु का भक्त 'शिरिम्बिठि' बनता है—यह कभी अनुचित उपायों से धनार्जन नहीं करता। २. **इन्द्रस्य**=इस जितेन्द्रिय पुरुष के **शत्रव:**=काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रु **हता:**=विनष्ट हो जाते हैं। **सर्वे**=ये सब शत्रु **बुद्बुदयाशव:** (यान्ति, अश्नुवते)=बुलबुलों की भाँति नष्ट हो जानेवाले होते हैं और व्यापक रूप को धारण करते हैं। बुलबुला फटा और पानी में फैल गया (विलीन हो गया)। इसी प्रकार इस व्यक्ति के जीवन में 'काम' फटकर फैल जाता है और 'प्रेम' का रूप धारण कर लेता है। 'क्रोध' फटकर 'करुणा' के रूप में हो जाता है और 'लोभ' त्याग का रूप धारण कर लेता है।

भावार्थ—हम 'काम, क्रोध, लोभ' आदि शत्रुओं को विनष्ट करके आगे बढ़नेवाले हों।

ऋषि:—**बुध:** ॥ देवता—**विश्वेदेवा ऋत्विक्स्तुतिर्वा**॥ छन्द:—**जगती**॥

'बुध' का उत्तम जीवन

कपृन्नर: कपृथमुद्दधातन चोदयत खुदत वाजसातये।
निष्टिग्र्य[:] पुत्रमा च्यावयोतय इन्द्रं सबाध इह सोमपीतये॥ २॥

१. हे **नर:**=मनुष्यो! वे प्रभु **क-पृत्**=तुम्हारे जीवनों में सुख का पूरण करनेवाले हैं। उस **क-पृथम्**=आनन्द के पूरक प्रभु को ही **उद्दधातन**=उत्कर्षेण धारण करो। **चोदयत्**=उस प्रभु को ही अपने हृदयों में प्रेरित करो। **वाजसातये**=शक्ति की प्राप्ति के लिए **खुदत**=उस प्रभु में ही क्रीड़ा करो—आत्मक्रीड़ व आत्मरति बनो। २. 'निष्टि' अर्थात् विनाश को 'गिरति' निगल जाने के कारण प्रभु 'निष्टिग्री' हैं। विनाश को निगीर्ण कर जानेवाले प्रभु को (निष्टिग्र्य: पुत्रम्) **ऊतये**=रक्षा के लिए **आच्यावय**=सब प्रकार से प्राप्त कर। **इह**=इस जीवन में **सोमपीतये**=शरीर में सोमशक्ति के रक्षण के लिए, हे **सबाध:**=वासनारूप शत्रुओं के बाधन के साथ विचरनेवाले लोगो! **इन्द्रम्**=उस सर्वशक्तिमान् प्रभु को (आच्यावय) प्राप्त करो। प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर ही तो तुम इन शत्रुओं का बाधन कर सकोगे।

भावार्थ—हम प्रभु को हृदयों में स्थापित करें। प्रभु में ही क्रीड़ा करनेवाले हों। प्रभु की शक्ति से शक्ति-सम्पन्न होकर शत्रुओं का विदारण करें।

ऋषिः—**वामदेवः** ॥ देवता—**दधिक्राः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

वामदेव का प्रभु-स्तवन

दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः ।
सुरभि नो मुखा करत्प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ३ ॥

१. मैं उस प्रभु का **अकारिषम्**=स्तवन करूँ जोकि **दधिक्राव्णः**=(दधत् क्रामति) इस ब्रह्माण्ड का धारण करते हुए गतिवाले हैं। प्रभु की क्रिया ही इस ब्रह्माण्ड का धारण करती है। **जिष्णोः**=उस विजयशील प्रभु का हम स्तवन करें—प्रभु ही वस्तुतः हमारे काम, क्रोध, लोभ आदि शत्रुओं को पराजित करते हैं। **अश्वस्य** (अश् व्याप्तौ)=हम उस सर्वव्यापक **वाजिनः**=शक्तिशाली प्रभु का स्तवन करें। २. यह प्रभु-स्तवन, अर्थात् 'प्रभु की तरह धारणात्मक कर्मों को करना, शत्रुओं को जीतना, व्यापकता व उदारता का धारण करना तथा शक्तिशाली बनना' **नः**=हमारे **मुखा**=मुखों को **सुरभि करत्**=सुगन्धित करे—हम कभी कोई कड़वा शब्द न बोलें और इसप्रकार यह प्रभु-स्तवन **नः**=हमारी **आयूंषि**=आयुओं को **प्रतारिषत्**=खूब बढ़ाए।

भावार्थ—प्रभु को 'दधिक्रावा-जिष्णु-अश्व व वाजी' इन नामों से स्मरण करते हुए हम भी धारणात्मक कर्मों में प्रवृत्त हों, शत्रुओं को जीतें, उदार और शक्तिशाली बनें। हमारे मुखों से सुन्दर, मधुर शब्द ही उच्चरित हों और हम दीर्घ जीवन को प्राप्त करें।

ऋषिः—**ययाति** ॥ देवता—**सोमः पवमानः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'मधुमत्तमः-मन्दिनः' सोमाः

सुतासो मधुमत्तमाः सोमा इन्द्राय मन्दिनः ।
पवित्रवन्तो अक्षरन्देवान्गच्छन्तु वो मदाः ॥ ४ ॥

१. **सुतासः**=उत्पन्न हुए-हुए **सोमाः**=सोमकण **मधुमत्तमाः**=अत्यन्त माधुर्य को लिये हुए हैं। शरीर में सुरक्षित होने पर ये जीवन को बड़ा मधुर बनाते हैं। **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए ये **मन्दिनः**=हर्ष देनेवाले हैं। २. **पवित्रवन्तः**=पवित्रता करनेवाले ये सोम **अक्षरन्**=शरीर के अंग-प्रत्यंग में संचरित होते हैं। शरीर को ये नीरोग बनाते हैं, मन को निर्मल। हे सोमकणो! **वः मदाः**=तुम्हारे उल्लास **देवान् गच्छन्तु**=इन देववृत्तिवाले पुरुषों को प्राप्त हों। देववृत्तिवाले पुरुष ही इन सोमकणों का रक्षण कर पाते हैं और वे ही सोमजनित उल्लास का अनुभव करते हैं। वस्तुतः सोम-रक्षण ही उन्हें 'देव' बनाता है।

भावार्थ—शरीर में सुरक्षित सोमकण 'माधुर्य, हर्ष, पवित्रता व उल्लास' को प्राप्त कराते हैं।

ऋषिः—**ययाति** ॥ देवता—**सोमः पवमानः** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

'जितेन्द्रियता-ज्ञानरुचिता-यज्ञशीलता'=सोम-रक्षण

इन्दुरिन्द्राय पवत इति देवासो अब्रुवन्। वाचस्पतिर्मखस्यते विश्वस्येशान ओजसा ॥ ५ ॥

१. **इन्दुः**=यह शक्तिशाली सोम **इन्द्राय**=जितेन्द्रिय पुरुष के लिए **पवते**=प्राप्त होता है **इति**=यह बात **देवासः**=देववृत्ति के विद्वान् पुरुष **अब्रुवन्**=कहते हैं। सोम जितेन्द्रिय को ही प्राप्त होता है। २. **ओजसा**=ओजस्विता से **विश्वस्य**=सबका **ईशानः**=स्वामी यह सोम **वाचस्पतिः**=सब ज्ञान की वाणियों का रक्षक है, अर्थात् सोम-रक्षण से बुद्धि की तीव्रता होकर जीवन में इन ज्ञानवाणियों का रक्षण होता है। यह सोम **मखस्यते**=यज्ञ की कामना करता है, अर्थात् एक पुरुष यज्ञशील बनता है तो उसे सोम की अवश्य प्राप्ति होती है। यज्ञशीलता सोम-रक्षण में साधन

बनती हैं तथा सोमरक्षक पुरुष अवश्य यज्ञशील बनता है।

भावार्थ—सोम-रक्षण जितेन्द्रिय ही कर पाता है। सुरक्षित सोम ज्ञान प्राप्त कराता है। इसके रक्षण के लिए यज्ञ आदि उत्तम कर्मों में लगे रहना आवश्यक है।

ऋषिः—**ययाति**॥ देवता—**सोमः पवमानः**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

सहस्रधार-इन्द्रसखा

सहस्रधारः पवते समुद्रो वाचमीङ्खयः। सोमः पती रयीणां सखेन्द्रस्य दिवेदिवे॥ ६॥

१. **सहस्रधारः**=हज़ारों प्रकार से धारण करनेवाला **सोमः**=सोम **पवते**=हमें प्राप्त होता है। यह सोम **समुद्रः**=(समुद्) आनन्द से युक्त है—अपने रक्षक पुरुष को आनन्दयुक्त करता है। **वाचम् ईंखयः**=ज्ञान की वाणियों को हममें प्रेरित करनेवाला है। सुरक्षित सोम बुद्धि की तीव्रता द्वारा ज्ञानवृद्धि का कारण बनता है। २. **सोमः**=यह सोम **रयीणां पतिः**=अन्नमय आदि सब कोशों के ऐश्वर्यों का रक्षक है। यह **दिवेदिवे**=प्रतिदिन **इन्द्रस्य सखा**=जितेन्द्रिय पुरुष का मित्र है। जितेन्द्रिय पुरुष में ही सोम का निवास होता है और यह सुरक्षित हुआ-हुआ सोम अन्नमयकोश को तेजस्वी बनाता है, प्राणमय को वीर्यवान्, मनोमय को ओजस्वी व बलवान्, विज्ञानमय को मन्यु-(ज्ञान)-युक्त तथा आनन्दमय को सहस्वी करता है।

भावार्थ—सुरक्षित सोम 'सहस्रधार, समुद्र, वाचम् ईंखय, रयीपति व इन्द्रसखा' है।

ऋषिः—**तिरश्ची-[राङ्गिरसो] द्युतानो वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'कृष्ण के रक्षक' इन्द्र (प्रभु)

अव द्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठदियानः कृष्णो दशभिः सहस्रैः।
आवत्तमिन्द्रः शच्या धमन्तमप स्नेहितीर्नृमणा अधत्त॥ ७॥

१. **द्रप्सः** (drop, a spark)=प्रभु का अंशरूप (miniature) यह जीव **दशभिः सहस्रैः**=दस (सहस्=बल) बलवान् प्राणों के साथ **इयानः**=गति करता हुआ **कृष्णः**=सब दोषों को कृश करनेवाला होता है और **अंशुमतीम्**=प्रकाश की किरणोंवाली ज्ञान-नदी के समीप **अव अतिष्ठत्**=नम्रता से स्थित होता है। २. **शच्या**=शक्ति व प्रज्ञान से **धमन्तम्**=(to cast, throw away) शत्रुओं को परे फेंकते हुए **तम्**=उस कृष्ण को **इन्द्रः**=वे परमैश्वर्यशाली प्रभु **आवत्**=रक्षित करते हैं। **नृमणाः**=(नृषु मनो यस्य) कर्मों के प्रणेता मनुष्यों में प्रेमवाले वे प्रभु **स्नेहितीः**=श्री का हिंसन करनेवाली वासनाओं को **अप अधत्त**=सुदूर स्थापित करनेवाले होते हैं। वासनाओं के विनाशक वे प्रभु ही तो हैं।

भावार्थ—जीव जब अंशुमती (ज्ञान की किरणोंवाली) सरस्वती का उपासक बनता है तब प्रभु उसका रक्षण करते हैं और उसकी वासनाओं को विनष्ट करते हैं।

ऋषिः—**तिरश्ची-[राङ्गिरसो] द्युतानो वा**॥ देवता—**इन्द्रः; (चतुर्थः पादः) मरुतः**॥
छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

नभः न (सूर्य की भाँति)

द्रप्समपश्यं विषुणे चरन्तमुपह्वरे नद्यो अंशुमत्याः।
नभो न कृष्णमवतस्थिवांसमिष्यामि वो वृषणो युध्यताजौ॥ ८॥

१. **द्रप्सम्**=प्रभु के उस छोटे रूप (अंश) जीव को **विषुणे** (विष्वग् अञ्चने, विस्तृते देशे)= चारों ओर गति-(व्याप्ति)-वाले प्रभु में **अपश्यम्**=मैं देखता हूँ। प्रभु की गोद में स्थित जीव

को अनुभव करता हूँ। यह **अंशुमत्याः नद्यः**=प्रकाश की किरणोंवाली ज्ञाननदी (सरस्वती) के **उपह्वरे**=अत्यन्त गूढ़ स्थान में **चरन्तम्**=गति कर रहा है। २. **नभः न**=आदित्य के समान **अवतस्थिवांसम्**=स्थित **कृष्णम्**=वासनाओं के क्षीण (कृश) करनेवाले को **इष्यामि**=चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि मैं वासनामय वृत्र को विनष्ट करके सूर्य की भाँति चमकूँ। हे **वृष्णः**=शक्तिशाली मरुतो (प्राणो)! **वः**=तुम **आजौ**=संग्राम में **युध्यत**=वासनारूप शत्रुओं के साथ युद्ध करो। इन्हें पराजित करके ही तो मैं चमक सकूँगा।

भावार्थ—जीव अपने को व्यापक प्रभु में स्थित देखे। सदा ज्ञान में विचरने का प्रयत्न करे। प्राणसाधना द्वारा वासनाओं का विनाश करके सूर्य की भाँति चमके।

ऋषिः—**तिरश्ची-[राङ्गिरसो] द्युतानो वा**॥ देवता—**इन्द्रो बृहस्पतिश्च**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

स्वाध्याय+प्रभु-मैत्री

अध॑ द्र॒प्सो अं॒शुम॑त्या उ॒पस्थेऽधा॑रयत्त॒न्वं᳡ तित्विषा॒णः।
विशो॒ अदे॑वीर॒भ्या॒३॒॑ चर॑न्ती॒र्बृह॒स्पति॑ना यु॒जेन्द्रः॑ ससाहे॥ ९॥

१. **अध**=अब **द्रप्सः**=परमात्मा का अंशभूत (छोटा रूप) यह जीव **अंशुमत्याः**=प्रकाश की किरणोंवाली ज्ञान-नदी के **उपस्थे**=समीप **अधारयत्**=अपने को धारण करता है। इसप्रकार यह अपने **तन्वम्**=शरीर का **तित्विषाणः**=दीप्त करनेवाला होता है। 'शरीर में तेज, मस्तिष्क में ज्ञान' इसप्रकार यह चमक उठता है। यह तित्विषाण **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय पुरुष **अदेवीः**=आसुरी **अभ्याचरन्तीः**=आक्रमण करती हुई **विशः**=प्रजाओं के काम, क्रोध, लोभ आदि आसुरभावों को **बृहस्पतिना युजा**=ज्ञान के स्वामी प्रभु को साथी के रूप में पाकर **ससाहे**=अभिभूत करनेवाला होता है।

भावार्थ—स्वाध्याय व प्रभु की मित्रता हमें वासनाओं के आक्रमण से बचाती है। प्रभु की मित्रता से हम सब शत्रुओं का पराभव कर पाते हैं।

ऋषिः—**तिरश्ची-[राङ्गिरसो] द्युतानो वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

अ-शत्रुओं के लिए शत्रु

त्वं ह॒ त्यत्स॒प्तभ्यो॒ जाय॑मानोऽश॒त्रुभ्यो॑ अभवः॒ शत्रु॑रिन्द्र।
गू॒ळ्हे द्यावा॑पृथि॒वी अन्व॑विन्दो विभु॒मद्भ्यो॒ भुव॑नेभ्यो॒ रणं॑ धाः॥ १०॥

१. हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! **त्वम्**=तू **ह**=निश्चय से **त्यत्**=उस कर्म को करता है कि **जायमानः**=विकास को प्राप्त करता हुआ तू **अ-शत्रुभ्यः**=जिनका शातन (Shattering=समाप्ति) बड़ा ही कठिन है, उन **सप्तभ्यः**='काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर व अविद्या' नामक सात शत्रुओं के लिए **शत्रुः अभवः**=शत्रु होते हैं—आप इनका शातन कर पाते हैं। हमारे लिए तो ये अ-शत्रु ही हैं—अशातनीय ही हैं। सामान्य मनुष्य इनका शातन नहीं कर सकता। २. इन शत्रुओं का शातन करके **गूढे द्यावापृथिवी**=शत्रुओं से आवृत्त हुए-हुए मस्तिष्क (द्यावा) व शरीर (पृथिवी) को तू फिर से **अन्वविन्दः**=प्राप्त करता है। काम, क्रोध व लोभ आदि ने इन्हें आवृत्त-सा कर लिया था। काम आदि के विनाश से इन्हें हम फिर प्राप्त करनेवाले होते हैं। इनको काम आदि के आवरण से रहित करके **विभुमद्भ्यः**=महत्त्वयुक्त **भुवनेभ्यः**=लोकों के लिए—शरीर के सब अंगों के लिए **रणं धाः**=तू रमणीयता को धारण करता है (रमणं धारयसि)।

भावार्थ—'काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर व अविद्या' ये हमारे प्रबल शत्रु हैं। इनका शातन करके ही हम मस्तिष्क व शरीर को स्वस्थ कर पाते हैं और तभी सब अंगों के लिए

रमणीयता को धारण करनेवाले होते हैं।

सूचना—प्रस्तुत मन्त्र में काम आदि को 'अ-शत्रु' कहा है। यहाँ इसका अर्थ अशातनीय अर्थात् 'जिनका शातन कठिन है' यह है।

ऋषिः—**तिरश्ची-[राङ्गिरसो] द्युतानो वा**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

शुष्णासुर वध व गोप्राप्ति

त्वं ह त्यदप्रतिमानमोजो वज्रेण वज्रिन्धृषितो जघन्थ।
त्वं शुष्णस्यावातिरो वधत्रैस्त्वं गा इन्द्र शच्येदविन्दः॥ ११॥

१. हे **वज्रिन्**=क्रियाशीलतारूप वज्र को हाथ में लिये हुए इन्द्र! **त्वम्**=तू **ह**=निश्चय से **त्यत्**=उस **अप्रतिमानम्**=निरुपम—अतिप्रबल **ओजः**=शुष्णासुर के ओज को—वासना के बल को **वज्रेण**=क्रियाशीलतारूप वज्र के द्वारा **धृषितः**=संग्राम में शत्रुहनन में कुशल होता हुआ **जघन्थ**=नष्ट करता है। २. इसके ओज को नष्ट करता हुआ **त्वम्**=तू **वधत्रैः**=हनन-साधन आयुधों से **शुष्णस्य**=इस शुष्णासुर का—अपने शिकार को सुखा देनेवाली कामवासना का **अवातिरः**=वध कर डालता है। इसप्रकार हे **इन्द्र**=जितेन्द्रिय पुरुष! तू **शच्या**=अपनी शक्ति व प्रज्ञान से **इत्**=निश्चयपूर्वक **गाः अविन्दः**=ज्ञान की वाणियों को प्राप्त करता है। काम-विध्वंस से ही ज्ञान प्राप्त होता है। काम ही तो सदा ज्ञान को आवृत्त किये रहता है।

भावार्थ—हम क्रियाशीलता द्वारा वासना को विनष्ट करें तभी हम ज्ञान प्राप्त कर पाएँगे।

ऋषिः—**सुकक्षः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

'सुकक्ष' द्वारा प्रभु अर्चन

तमिन्द्रं वाजयामसि महे वृत्राय हन्तवे। स वृषा वृषभो भुवत्॥ १२॥
इन्द्रः स दामने कृत ओजिष्ठः स मदे हितः। द्युम्नी श्लोकी स सोम्यः॥ १३॥
गिरा वज्रो न संभृतः सबलो अनपच्युतः। ववक्ष ऋष्वो अस्तृतः॥ १४॥

व्याख्या अथर्व० २०.४७.१-३ पर द्रष्टव्य है।

प्रभु-स्तवन करता हुआ यह प्रभु का प्रिय बनता है। यह 'वत्स' कहलाता है। यह 'वत्स' ही अगले सूक्त का ऋषि है—

१३८. [अष्टात्रिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**वत्सः**॥ देवता—**इन्द्रः**॥ छन्दः—**गायत्री**॥

ओजस्विता से महान्

महाँ इन्द्रो य ओजसा पर्जन्यो वृष्टिमाँइव। स्तोमैर्वत्सस्य वावृधे॥ १॥

१. **यः इन्द्रः**=जो परमैश्वर्यशाली प्रभु हैं, वे **ओजसा महान्**=अपनी ओजस्विता से महान् हैं। अपने सब कार्यों को करने का उनमें पूर्ण सामर्थ्य है। वे सर्वशक्तिमान् प्रभु **वृष्टिमाम् पयर्जन्यः इव**=वृष्टि करनेवाले बादल के समान हैं। वे सबके सन्ताप को हरनेवाले व सब इष्टों को प्राप्त करानेवाले हैं। २. ये प्रभु **वत्सस्य**=इन स्तोत्रों का उच्चारण करनेवाले प्रिय स्तोता के **स्तोमैः**=स्तुति-समूहों से **वावृधे**=खूब ही बढ़ाए जाते हैं। यह स्तोता स्तोत्रों द्वारा सर्वत्र प्रभु के गुणों का प्रख्यापन करता है।

भावार्थ—प्रभु अपनी ओजस्विता से महान् हैं। सब काम्य पदार्थों का वर्षण करनेवाले हैं। प्रभु-प्रिय लोग प्रभु-स्तवन द्वारा सर्वत्र प्रभु की महिमा का प्रख्यापन करते हैं।

ऋषिः—**वत्सः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

विप्र

प्रजामृतस्य पिप्रतः प्र यद्भरन्त वह्नयः। विप्रा ऋतस्य वाहसा॥ २॥

१. **ऋतस्य**=ऋत का—सत्य वेदज्ञान का **पिप्रतः**=अग्नि आदि ऋषियों के हृदयों में पूरण करनेवाले प्रभु की **प्रजाम्**=प्रजा को **यत्**=जब **प्रभरन्त**=प्रकर्षेण धारण करनेवाले होते हैं तब ये **वह्नयः**=इस प्रजा के पोषण के भार का वहन करनेवाले लोग **ऋतस्य वाहसा**=स्वयं अपने अन्दर ऋत का वहन करने के कारण **विप्राः**=अपना विशेषरूप से पूरण करनेवाले—ज्ञानी—कहलाते हैं। २. एवं विप्रों के दो मुख्य लक्षण हैं (क) प्रभु की प्रजा का ये पालन करते हैं (ख) और इस पालन की क्रिया को सम्यक् कर सकने के लिए ये सत्य वेदज्ञान को धारण करते हुए अपना विशेषरूप से पूरण करते हैं।

भावार्थ—विप्र वे हैं जो प्रभु की आज्ञा का पालन करें और ज्ञान के धारण से अपनी न्यूनताओं को दूर करें।

ऋषिः—**वत्सः** ॥ देवता—**इन्द्रः** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

प्रभु संरक्षण व आयुध-वैयर्थ्य

कण्वा इन्द्रं यदक्रत स्तोमैर्यज्ञस्य साधनम्। जामि ब्रुवत आयुधम्॥ ३॥

१. **कण्वाः**=मेधावी पुरुष **यत्**=जब **इन्द्रम्**=सब शत्रुओं का विद्रावण करनेवाले प्रभु को **स्तोमैः**=स्तुति-समूहों के द्वारा **यज्ञस्य साधनम्**=अपने सब उत्तम कर्मों का सिद्ध करनेवाला **अक्रत**=कर लेते हैं तब वे **आयुधम्**=इन बाह्य अस्त्र-शस्त्रों को **जामि ब्रुवते**=व्यर्थ ही कहते हैं। २. प्रभु जब रक्षक हैं तो इन अस्त्रों की बहुत उपयोगिता नहीं रह जाती। स्पेन ने आरमेडा द्वारा जब इंग्लैण्ड पर आक्रमण किया तो आँधी-तूफ़ान के झोंको से उसके तितर-बितर हो जाने पर रानी एलिाबेथ ने ठीक ही कहा था कि 'प्रभु ने फूँक मारी और आरमेडा विनष्ट हो गया'। प्रभु के रक्षण के प्रकार अद्भुत ही हैं। प्रभु-विश्वासी प्रयत्न में कमी नहीं रखता और प्रभु उसे अवश्य ही सफलता प्राप्त कराते हैं।

भावार्थ—प्रभु का संरक्षण होने पर सब बाह्य अस्त्र-शस्त्र व्यर्थ हो जाते हैं।

यह प्रभु का भक्त प्लुतगतिवाला—आलस्यशून्य होने से 'शश' होता है और वासनाओं के विक्षेप से 'कर्ण' (कृ विक्षेपे) कहलाता है। इस 'शशकर्ण' ऋषि के ही अगले चार सूक्त हैं—

१३९ [एकोनचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**शशकर्णः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥

'अवृकं पृथु' छर्दिः

आ नूनमश्विना युवं वत्सस्य गन्तमवसे।
प्रास्मै यच्छतमवृकं पृथु च्छर्दिर्युयुतं या अरातयः॥ १॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**=आप **नूनम्**=निश्चय से **वत्सस्य**=ज्ञान व स्तुति-वाणियों का उच्चारण करनेवाले इस अपने प्रिय साधक के **अवसे**=रक्षण के लिए **आगन्तम्**=आइए। प्राणापान ही हमें रोगों व वासनाओं के आक्रमण से बचाते हैं। २. **अस्मै**=इस वत्स के लिए **छर्दिः**=ऐसे शरीर-गृह को **प्रयच्छतम्**=दीजिए, जोकि **अवृकम्**=बाधक शत्रुओं से रहित है तथा **पृथु**=विशाल है, अर्थात् जिस शरीर-गृह में वासनाओं व रोगों का प्रवेश नहीं तथा जो विस्तृत शक्तियोंवाला है। ऐसे शरीर-गृह की प्राप्ति कराने के लिए **याः**=जो **अरातयः**=शत्रु हैं, उन्हें

युयुतम्=पृथक् कीजिए।

भावार्थ—प्राणापान हमारा रक्षण करें। हमें रोगों की बाधाओं से रहित, विस्तृत शक्तिवाले शरीर-गृह को प्राप्त कराएँ। हमारे शत्रुभूत काम, क्रोध, लोभ आदि को हमसे पृथक् करें।

ऋषिः—**शशकर्णः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'सन्तोष, ज्ञान व स्वास्थ्य' रूप धन

यद॒न्तरि॑क्षे॒ यद्दि॒वि यत्पञ्च॒ मानु॑षाँ॒ अनु॑। नृ॒म्णं तद्ध॑त्तमश्विना॥ २॥

१. मानवजीवन को सुखी करनेवाला धन 'नृम्ण' कहलाता है। हे **अश्विना**=प्राणापानो! **यत्**=जो **नृम्णम्**=धन **अन्तरिक्षे**=हृदयान्तरिक्ष में होता है, अर्थात् जो सन्तोष-(आत्मतृप्ति)-रूप धन हृदय में निवास करता है, **तत्**=उस धन को **धत्तम्**=हमारे लिए धारण कीजिए। प्राणसाधना से हृदय निर्मल होता है—चित्तवृत्ति बाह्यधनों के लिए बहुत लालयित नहीं होती। इसप्रकार हृदय में एक सन्तोष के आनन्द का अनुभव होता है। २. हे प्राणापानो! **यत्**=जो **दिवि**=मस्तिष्क का ज्ञानरूप धन है और **यत्**=जो **पञ्चमानुषान्**=पाँच मानव-सम्बन्धी वस्तुओं के **अनु**=अनुकूलतावाला धन है, उसे आप हमारे लिए प्राप्त कराइए। मानव-सम्बन्धी सर्वप्रथम पाँच वस्तुएँ शरीर को बनानेवाले पाँच महाभूत हैं। फिर पाँच प्राण हैं। फिर पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ व पाँच 'मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार व हृदय' हैं। इन सबके अनुकूल धनों को ये प्राणापान हमारे लिए प्राप्त कराएँ।

भावार्थ—हृदय के सन्तोषरूप धन को, मस्तिष्क के ज्ञानरूप धन को तथा मानव-पञ्चकों के पूर्ण स्वास्थ्यरूप धन को ये प्राणापान हमारे लिए प्राप्त कराएँ।

ऋषिः—**शशकर्णः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

प्राणमहत्त्व-बोध व प्राणसाधना

ये वां॒ दंसां॑स्यश्विना॒ विप्रा॑सः परिमामृ॒शुः। ए॒वेत्का॒ण्वस्य॑ बोधतम्॥ ३॥

१. ये **विप्रासः**=जो अपना पूरण करनेवाले ज्ञानी पुरुष हैं, वे हे **अश्विना**=प्राणापानो! **वाम्**=आपके **दंसांसि**=वीरतापूर्ण कर्मों का **परिमामृशुः**=चिन्तन करते हैं। इन कर्मों का चिन्तन करते हुए वे आपके कर्मों का (परिमामृशुः=) स्पर्श करते हैं, अर्थात् आपकी साधना के कर्म में प्रवृत्त होते हैं। २. **एवा इत्**=ऐसा होने पर ही, अर्थात् जब यह साधक आपकी साधना में प्रवृत्त होता है, तभी **काण्वस्य**=इस मेधावी पुरुष का **बोधतम्**=आप ध्यान करते हो। समझदार व्यक्ति प्राणों का रक्षण करता है—प्राण उसका रक्षण करते हैं।

भावार्थ—हम प्राणों के महत्त्व को समझते हुए प्राणसाधना में प्रवृत्त हों और इस साधना द्वारा शक्ति-सम्पन्न बनें।

ऋषिः—**शशकर्णः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥

घर्म+सोम

अ॒यं वां॑ घ॒र्मो अ॑श्विना॒ सोमे॑न॒ परि॑ षिच्यते।
अ॒यं सोमो॒ मधु॑मान्वाजिनीवसू॒ येन॑ वृ॒त्रं चिके॑तथः॥ ४॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **अयम्**=यह **वाम्**=आपका **घर्मः**=तेज **सोमेन**=प्रभु-स्तवन के साथ **परिषिच्यते**=शरीर में चारों ओर सिक्त होता है। जब प्रभु-स्तवन के साथ प्राणसाधना चलती है तब शरीर के सब अंग तेजस्विता से सिक्त होते हैं। २. हे **वाजिनीवसू**=शक्तिरूप धनोंवाले प्राणापानो! **अयम्**=यह **वाम्**=आपका—आपके द्वारा शरीर में सुरक्षित होनेवाला **सोमः**=सोम

(वीर्य) **मधुमान्**=जीवन को मधुर बनानेवाला है। **येन**=जिस सोम के द्वारा **वृत्रम्**=ज्ञान की आवरणभूत वासना को **चिकेतथः**=आप हन्तव्यरूप में जानते हो (हन्तव्यतया जानीथः)। सामान्य भाषा में यही प्रयोग इस रूप में होता है कि 'अच्छा, मैं तुझे समझ लूँगा'। सोमशक्ति के रक्षण से ही वासनाओं का विनाश होकर ज्ञान की वृद्धि होती है।

भावार्थ—प्रभु-स्तवन के साथ प्राणसाधना के चलने पर शरीर में तेजस्विता व सोम का रक्षण होता है।

ऋषिः—**शशकर्णः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**ककुप्** ॥

प्राणापान+वानस्पतिक भोजन

यदप्सु यद्वनस्पतौ यदोषधीषु पुरुदंससा कृतम्। तेन माविष्टमश्विना ॥ ५ ॥

१. हे **पुरुदंससा**=पालक व पूरक कर्मोंवाले **अश्विना**=प्राणापानो! **यत्**=जो तेज (घर्म) आप **अप्सु**=जलों का प्रयोग होने पर, **यद् वनस्पतौ**=जो वनस्पतियों का प्रयोग होने पर तथा **यद् ओषधीषु**=जो तेज आप ओषधियों का प्रयोग होने पर **कृतम्**=उत्पन्न करते हो, **तेन**=उस तेज से **मा आविष्टम्**=मेरा रक्षण करो। २. यहाँ 'अप्सु ओषधीषु वनस्पतौ' इन शब्दों का प्रयोग स्पष्ट प्रतिपादन कर रहा है कि योगसाधना में खान-पान की शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। प्राणायाम के साथ मनुष्य का शाकभोजी होना आवश्यक है। सादा खानपान योगसाधना में सहायक होता है।

भावार्थ—हम जलों व ओषधियों के प्रयोग के साथ प्राणापान की साधना करते हुए तेजस्वी बनें और अपना रक्षण करें।

१४०. [चत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**शशकर्णः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥

भुरण्यथो+भिषज्यथः

यन्नासत्या भुरण्यथो यद्वा देव भिषज्यथः।
अयं वां वत्सो मतिभिर्न विन्धते हविष्मन्तं हि गच्छथः ॥ १ ॥

१. हे **नासत्या**=हमारे जीवनों से सब असत्यों को दूर करनेवाले प्राणापानो! आप **यत्**=जब **भुरण्यथः**=हमारा भरण करते हो **वा**=और **देव**=(देवा) सब रोगों को जीतने की कामनावाले आप **भिषज्यथः**=हमारे सब रोगों की चिकित्सा करते हो तब **अयम्**=यह **वाम्**=आपका **वत्सः**=प्रिय आराधक **मतिभिः**=केवल ज्ञानों से—ज्ञानपूर्वक की गई स्तुतियों से **न विन्धते**=आपको प्राप्त नहीं करता। **हि**=निश्चय से आप **हविष्मन्तम्**=दानपूर्वक अदन करनेवाले व्यक्ति को **गच्छथः**=प्राप्त होते हो। २. प्राणसाधना करनेवाला मनुष्य यह अच्छी तरह समझ लेता है कि ये प्राणापान हमारा पालन करते हैं, ये ही हमारे सब रोगों को दूर करते हैं। ऐसा समझता हुआ यह पुरुष केवल प्राणों का स्तवन ही नहीं करता रहता, इस स्तवन के साथ यह त्यागपूर्वक अदन की वृत्तिवाला बनकर प्राणसाधना में प्रवृत्त होता है। 'हविष्मान्' बनता है।

भावार्थ—प्राणापान हमारा पालन करते हैं, ये हमारे सब रोगों की चिकित्सा करते हैं। इनका हम स्तवन करें तथा त्यागपूर्वक अदन करनेवाले बनकर प्राणसाधना में प्रवृत्त हों।

ऋषिः—**शशकर्णः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मधुमत्तमं-घर्मम्

आ नूनमश्विनोर्ऋषि स्तोमं चिकेत वामया।
आ सोमं मधुमत्तमं घर्मं सिञ्चादथर्वणि ॥ २ ॥

१. **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा ज्ञानी पुरुष **नूनम्**=निश्चय से **अश्विनोः**=प्राणापान के **स्तोमम्**=स्तवन को **वामया**=सुन्दर वाणी के द्वारा **आचिकेत**=सर्वथा करने योग्य जानता है। प्राणापान का स्तवन करता हुआ प्राणसाधना में प्रवृत्त होता है। २. इस प्राणसाधना में प्रवृत्त होने के द्वारा यह ऋषि **अथर्वणि**=(अथर्वति चरति) चित्त के डाँवाडोल न होने पर **सोमम्**=सोमशक्ति को **आसिञ्चात्**=अपने शरीर में ही सर्वत्र सिक्त करता है। यह सोम **मधुमत्तमम्**=जीवन को अत्यन्त मधुर बनानेवाला है और **घर्मम्**=यह तेज-ही-तेज है—अपने रक्षक को तेजस्वी बनानेवाला है।

भावार्थ—हम प्राणापान के लाभों का स्तवन करते हुए प्राणसाधना द्वारा सोम की शरीर में ऊर्ध्वगति करनेवाले हों। यह सोम हमें माधुर्य व तेज प्राप्त कराएगा।

ऋषिः—**शशकर्णः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

रघुवर्तनिं रथम्

आ नूनं रघुवर्तनिं रथं तिष्ठाथो अश्विना।
आ वां स्तोमा इमे मम नभो न चुच्यवीरत॥ ३॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **नूनम्**=निश्चय से **रघुवर्तनिम्** (लघुगमनम्)=शीघ्र गतिवाले इस **रथम्**=शरीर-रथ पर आप **आतिष्ठाथः**=स्थित होते हैं। प्राणसाधना के द्वारा यह शरीर-रथ आलस्यशून्य—स्फूर्तिवाला बनता है, २. अतः **इमे**=ये **मम**=मेरे—मुझसे किये जानेवाले—**स्तोमाः**=स्तुतिसमूह **नभः न**=सूर्य के समान तेजस्वी **वाम्**=आपको **आचुच्यवीरत**=अभिगत होते हैं। मैं प्राणापान का स्तवन करता हुआ प्राणसाधना में प्रवृत्त होता हूँ। यह प्राणसाधना मुझे सूर्य के समान तेजस्वी बनाती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर में स्फूर्ति आ जाती है। यह प्राणसाधना हमें सूर्यसम तेजस्वी बनाती है।

ऋषिः—**शशकर्णः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**अनुष्टुप्**॥

उक्थैः-वाणीभिः

यदद्य वां नासत्योक्थैराचुच्युवीमहि। यद्वा वाणीभिरश्विनेवेत्काण्वस्य बोधतम्॥ ४॥

१. हे **नासत्या**=हमारे जीवनों में असत्यों को दूर करनेवाले प्राणापानो! **यत्**=जब **अद्य**=आज हम **उक्थैः**=स्तोत्रों के द्वारा **वाम्**=आपको **आचुच्युवीमहि**=अपने अन्दर प्राप्त कराएँ। **वा**=अथवा **यत्**=जब **वाणीभिः**=इन ज्ञान की वाणियों के द्वारा आपको अपने में प्राप्त कराएँ तो हे **अश्विना**=प्राणापानो! **काण्वस्य इव**=समझदार मेधावी पुरुष की भाँति **इत्**=निश्चय से **बोधतम्**=हमारा ध्यान करो। हम आपके अनुग्रह से समझदार बनें। प्राणसाधना में प्रगति के लिए प्रभु-स्तवन (उक्थ) व स्वाध्याय (वाणी) सहायक होते हैं। वस्तुतः इनके द्वारा ही प्राणसाधना में हम प्रगति कर पाते हैं। साधित प्राण हमारी बुद्धि का वर्धन करते हुए हमारा रक्षण करते हैं।

भावार्थ—हम प्रभु-स्तवन व स्वाध्याय द्वारा प्राणों की साधना में प्रगति करने में समर्थ हों। साधित प्राण हमारी बुद्धि का वर्धन करते हुए हमारा रक्षण करें।

ऋषिः—**शशकर्णः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

कक्षीवान्-व्यश्व-दीर्घतमा-पृथीवैन्य

यद्वां कक्षीवाँ उत यद् व्यश्व ऋषिर्यद्वां दीर्घतमा जुहाव।
पृथी यद्वां वैन्यः सादनेष्वेवेदतो अश्विना चेतयेथाम्॥ ५॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **यत्**=जब **वाम्**=आपको **कक्षीवान्**=बद्ध कक्ष्यावाला (One

who has girded up one's loins) कमर कसे हुए—दृढ़ निश्चयी पुरुष **जुहाव**=पुकारता है, **उत**=और **यत्**=जब **व्यश्व**=विशिष्ट इन्द्रियाश्वोंवाला पुरुष पुकारता है और **यत्**=जब **वाम्**=आपको **दीर्घतमाः**=तमोगुण को विदीर्ण करनेवाला **ऋषिः**=तत्त्वद्रष्टा पुरुष पुकारता है, तथा **अन्ततः** **यत्**=जब **वैन्यः**=लोकहित की प्रबल कामनावाला आपको पुकारता है तब हे प्राणापानो! आप **अतः**=इस प्रार्थना व आराधना के द्वारा **सादनेषु एव इत्**=यज्ञगृहों में ही **चेतयेथाम्**=चेतनायुक्त करते हो, अर्थात् आप इन आराधकों को सदा यज्ञशील बनाते हो। २. हमारा जीवन प्रथमाश्रम में 'कक्षीवान्' का जीवन हो। जीवन-यात्रा में आगे बढ़ने के लिए दृढ़ निश्चयी पुरुष का जीवन हो। 'कक्षीवान्' शब्द की भावना ही ब्रह्मचर्यसूक्त में 'मेखलया' शब्द से व्यक्त हुई है। द्वितीयाश्रम में हमें 'व्यश्व' बनना है। विशिष्ट इन्द्रियाश्वोंवाला, अर्थात् हमारे ये इन्द्रियाश्व विषयों को चरने में ही व्यस्त न रहें। तृतीयाश्रम में तप व स्वाध्याय के द्वारा तमोगुण को विदारण करके 'दीर्घतमा' बनता है। चतुर्थ में सर्वलोकहित की कामना करते हुए अधिक-से-अधिक व्यापक परिवारवाला 'पृथीवैन्य' बन जाना है। ये सब बातें तभी हो सकेंगी जब हम प्राणसाधना में प्रवृत्त होंगे। प्राणसाधना से जीवन यज्ञमय रहेगा, अन्यथा यह भोगप्रधान बन जाएगा।

भावार्थ—हम प्राणसाधना करते हुए 'कक्षीवान्, व्यश्व, दीर्घतमा व पृथीवैन्य' बनें।

१४१. [एकचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**शशकर्णः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**विराडनुष्टुप्**॥

छर्दिष्पा-तनूपा

यातं छर्दिष्पा उत नः परस्पा भूतं जगत्पा उत नस्तनूपा।
वर्तिस्तोकाय तनयाय यातम्॥ १॥

१. हे प्राणापानो! आप **छर्दिष्पाः**=हमारे शरीर-गृह के रक्षक होते हुए **यातम्**=हमें प्राप्त होओ। **उत**=और **नः**=हमारे लिए **परस्पाः**=अतिशयेन रक्षक व शत्रुओं से रक्षा करनेवाले **भूतम्**=होओ। **जगत्पाः**=इस संसार के आप रक्षक हों, **उतः**=और **नः**=हमारे **तनूपाः**=शरीरों के आप रक्षक बनें। २. **तोकाय तनयाय**=हमारे पुत्र-पौत्रों के लिए भी **वर्तिः**=रथ-मार्ग को **यातम्**=प्राप्त कराइए, अर्थात् वे सदा सन्मार्ग पर चलनेवाले हों।

भावार्थ—प्राणसाधना हमारा सब प्रकार से रक्षण करनेवाली हो। हमारे पुत्र-पौत्रों को भी यह सन्मार्ग पर ले-चलनेवाली बने।

ऋषिः—**शशकर्णः**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**जगती**॥

इन्द्र, वायु, आदित्य, विष्णु

यदिन्द्रेण सरथं याथो अश्विना यद्वा वायुना भवथः समोकसा।
यदादित्येभिर्ऋभुभिः सजोषसा यद्वा विष्णोर्विक्रमणेषु तिष्ठथः॥ २॥

१. 'प्राणसाधना हमें जितेन्द्रिय बनाती है' इस बात को इस रूप में कहते हैं कि हे **अश्विना**=प्राणापानो! आपकी साधना होने पर समय आता है **यत्**=जबकि **इन्द्रेण**=जितेन्द्रिय पुरुष के साथ **सरथं याथः**=समान रथ में गति करते हो। शरीर ही रथ है। इसमें जितेन्द्रिय पुरुष का प्राणों के साथ निवास होता है। **यद् वा**=अथवा आप **वायुना**=वायु के साथ (वा गतौ)—गतिशील पुरुष के साथ **सम् ओकसा**=समान गृहवाले **भवथ**=होते हो, अर्थात् प्राणसाधना हमारे जीवनों को बड़ा क्रियाशील बनाती है। २. हे प्राणापानो! **यत्**=जब आप **ऋभुभिः** (उरुभान्ति, ऋतेन भान्ति)=ज्ञानज्योति से खूब दीप्त होनेवाले **आदत्येभिः**=सब ज्ञानों का आदान करनेवाले

पुरुषों के साथ **सजोषसा**=प्रीतियुक्त होते हो। **यद् वा**=अथवा आप **विष्णोः**=व्यापक उन्नति करनेवाले पुरुष के **विक्रमणेषु**=विक्रमणों में—तीन कदमों में **तिष्ठथः**=स्थित होते हो। शरीर को 'तैजस्' बनाना ही इस विष्णु का पहला कदम है। मन को 'वैश्वानर' बनाना—सब मनुष्यों के हित की कामनावाला बनाना दूसरा कदम है। मस्तिष्क को 'प्राज्ञ' बनाना तीसरा—ये सब कदम प्राणसाधना से ही रक्खे जाते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना हमें 'जितेन्द्रिय, क्रियाशील, ज्ञानदीप्त व व्यापक' उन्नतिवाला (विष्णु) बनाती है।

ऋषिः—**शशकर्णः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

श्रेष्ठम् अवः

यदुद्याश्विनावहं हुवेय वाजसातये। यत्पृत्सु तुर्वणे सहस्तच्छ्रेष्ठमश्विनोरवः॥ ३॥

१. **यत्**=जब **अद्य**=आज **अहम्**=मैं **अश्विनौ**=प्राणापान का **हुवेय**=आह्वान करूँ—यदि मैं प्राणसाधना में प्रवृत्त होऊँ, तो ये प्राणापान **वाजसातये**=मुझे शक्ति प्राप्त करानेवाले हों। २. **यत्**=चूँकि प्राणसाधना से **पृत्सु**=संग्रामों में **तुर्वणे**=शत्रुओं के हिंसन के निमित्त **सहः**=बल प्राप्त होता है, **तत्**=अतः **अश्विनोः**=इन प्राणापान का **अवः**=रक्षण **श्रेष्ठम्**=श्रेष्ठ है।

भावार्थ—प्राणसाधना के द्वारा शक्ति प्राप्त होती है। शक्ति से शत्रुओं का मर्षण होता है। इसप्रकार प्राणों द्वारा प्राप्त होनेवाला रक्षण श्रेष्ठ है।

ऋषिः—**शशकर्णः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥

तुर्वशः-यदु-कण्व

आ नूनं यातमश्विनेमा हव्यानि वां हिता।
इमे सोमासो अधि तुर्वशे यदाविमे कण्वेषु वामथ॥ ४॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **नूनम्**=निश्चय से **आयातम्**=हमें प्राप्त होओ। **इमे**=ये **हव्यानि**=हव्य पदार्थ—यज्ञशेष के रूप में सेवन किये जानेवाले पदार्थ **वां हिता**=आपके लिए निहित हुए हैं। हव्य पदार्थों का सेवन प्राणसाधना के लिए बड़ा सहायक होता है। २. **अथ**=अब **इमे**=ये **वाम्**=आपके **सोमासः**=सोमकण—आपके द्वारा रक्षित होनेवाले सोमकण **तुर्वशे अधि**=शत्रुओं को त्वरा से वश में करनेवाले पुरुष में होते हैं। **यदौ**=यत्नशील पुरुष में—सदा क्रिया में तत्पर पुरुष में इनका निवास होता है। **इमे**=ये सोमकण **कण्वेषु**=मेधावी पुरुषों में निवास करते हैं। प्राणसाधना ही सोम-रक्षण के द्वारा हमें 'तुर्वश, यदु व कण्व' बनाती है।

भावार्थ—प्राणसाधना के साथ हव्य पदार्थों का सेवन भी अभीष्ट है। प्राणसाधना से सोम की शरीर में ऊर्ध्वगति होती है, तब हम 'शत्रुओं को वश में करनेवाले, यत्नशील व मेधावी' बन पाते हैं।

ऋषिः—**शशकर्णः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**बृहती** ॥

वत्स, विमद

यन्नासत्या पराके अर्वाके अस्ति भेषजम्।
तेन नूनं विमदाय प्रचेतसा छर्दिर्वत्साय यच्छतम्॥ ५॥

१. प्राणापान वासना को विनष्ट करके ज्ञानदीप्ति का साधन बनते हैं तो इन्हें 'प्रचेतसा' कहा गया है। हे **नासत्या**=हमारे जीवनों से असत्य को दूर करनेवाले प्राणापानो! **यत्**=जो **पराके**=दूर

देश के विषय में तथा **अर्वाके**=समीप क्षेत्र के विषय में **भेषजम्**=औषध **अस्ति**=है, **तेन**=उस औषध के साथ हे **प्रचेतसा**=प्रकृष्ट ज्ञान के साधनभूत प्राणापानो! **नूनम्**=निश्चय से **वत्साय**=इस ज्ञान की वाणियों का उच्चारण करनेवाले **विमदाय**=मद व अभिमान से शून्य जीवनवाले इस ऋषि के लिए **छर्दिः**=सुरक्षित गृह प्राप्त कराओ। २. यह शरीर ही सुरक्षित गृह है। जब इसमें प्रथम ड्योढ़ी के रूप में स्थित अन्नमयकोश नीरोग होता है तथा तृतीय ड्योढ़ी के रूप में स्थित मनोमयकोश वासनाशून्य होता है तब यह शरीर-गृह बड़ा सुन्दर बनता है। इसे ऐसा बनाने के लिए प्राणसाधना ही साधन है। यही प्राणों का 'अर्वाक् व पराक' क्षेत्र के विषय में भेषज है। ये प्राण रोगों व वासनाओं पर आक्रमण करके इस गृह को दृढ़ व प्रकाशमय बनाते हैं। प्राणापान इस शरीरगृह के पति को 'वत्स व विमद' बनाते हैं।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर के रोग दूर होंगे और मन की वासनाएँ नष्ट होंगी। इसप्रकार यह शरीर-गृह बड़ा सुन्दर बनेगा।

१४२. [द्विचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**शशकर्णः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

मतिम्-रातिम्

अभुत्स्यु प्र देव्या साकं वाचाहमश्विनोः। व्यावर्देव्या मतिं वि रातिं मर्त्येभ्यः॥ १॥

१. **अहम्**=मैं **अश्विनोः**=प्राणापान की **वाचा**=स्तुतिरूप वाणी के द्वारा **देव्या साकम्**=इस प्रकाशमयी ज्ञानवाणी के साथ **उ प्र अभुत्सि**=सचमुच प्रबुद्ध हो उठा हूँ। जब मैं प्राणापान के स्तवन व साधन में प्रवृत्त होता हूँ तब मैं ज्ञानदीप्ति प्राप्त करता हूँ। २. हे **देवि**=प्रकाशमयी ज्ञानवाणि! तू **आ (गच्छ)**=आ, हमें प्राप्त हो और **मतिं व्यावः**=हमारी बुद्धि को अज्ञानान्धकार के आवरणों से रहित कर तथा **मर्त्येभ्यः**=मनुष्यों के लिए **रातिम्**=धनों को **वि** (आवः=यच्छ) देनेवाली हो।

भावार्थ—प्राणसाधक ज्ञानदीप्ति तथा आवश्यक धनों को प्राप्त करता है।

ऋषिः—**शशकर्णः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

प्रातःकालीन कार्यक्रम

प्र बोधयोषो अश्विना प्र देवि सूनृते महि।
प्र यज्ञहोतरानुषक्प्र मदाय श्रवो बृहत्॥ २॥

१. हे **उषः**=उषाकाल की देवि! **अश्विना प्रबोधय**=तू प्राणापान को हममें प्रबुद्ध कर, अर्थात् हम प्रातः प्रबुद्ध होकर प्राणसाधना में प्रवृत्त हो। हे **देवि**=प्रकाशयुक्त **सूनृते**=प्रिय सत्य वाणी उषे! **महि**=(मह पूजायाम्) पूजा को **प्र** (बोधय)=हममें प्रबुद्ध कर। हम प्रातः प्रबुद्ध होकर प्रभु की उपासना में प्रवृत्त हों। २. हे **आनुषक्**=निरन्तर **यज्ञहोतः**=यज्ञों में हव्यों को आहुत करनेवाली तू हमें **प्र**=प्रबुद्ध कर। हम प्रातः यज्ञ करनेवाले हों। हे उषे! **मदाय**=आनन्द प्राप्त कराने के लिए **बृहत् श्रवः**=बहुत उत्कृष्ट ज्ञान को **प्र**=हममें प्रबुद्ध कर।

भावार्थ—हम प्रातः जागकर प्राणसाधना में प्रवृत्त हों। प्राणसाधना के साथ 'प्रभु-पूजन-यज्ञ व स्वाध्याय' करें।

ऋषिः—**शशकर्णः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

नृपाय्य वर्ति

यदुषो यासि भानुना सं सूर्येण रोचसे। आ हायमश्विनो रथो वर्तिर्याति नृपाय्यम्॥ ३॥

१. हे **उषः**=उषाकाल की देवि! **यत्**=जब **भानुना**=ज्ञान दीप्ति के साथ **यासि**=तू प्राप्त होती है और **सूर्येण सं रोचसे**=ज्ञान-सूर्य के साथ सम्यक् दीप्त हो उठती है तब **ह**=निश्चय से **अयम्**=यह **अश्विनोः**=प्राणापान का **रथः**=शरीर-रथ—वह शरीर जिसमें प्राणसाधना प्रवृत्त हुई है **नृपाय्यम् वर्तिः**=मनुष्यों का रक्षण करनेवाले मार्ग पर **आयाति**=गतिवाला होता है, अर्थात् हम उसी मार्ग पर चलना प्रारम्भ करते हैं जो हमें सदा सुरक्षित करता है। जिस मार्ग पर चलते हुए हम विषयों में फँसकर विनष्ट नहीं हो जाते।

भावार्थ—उषा के होते ही हम प्रबुद्ध होकर स्वाध्याय व प्राणसाधना के लिए उद्यत हों। सदा उस मार्ग पर आक्रमण करें जो मनुष्यों का रक्षण करनेवाला है।

ऋषिः—**शशकर्णः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**अनुष्टुप्** ॥

सोम-रक्षण व ज्ञानवाणियों का उच्चारण

यदापीतासो अंशवो गावो न दुह्र ऊधभिः। यद्वा वाणीरनूषत प्र देवयन्तो अश्विना ॥ ४ ॥

१. **यत्**=जब **आपीतासः**=शरीर में समन्तात् पीये गये **अंशवः**=सोमकण **ऊधभिः गावः न**=अपने ऊधसों से गौओं की भाँति **दुह्रे**=ज्ञानदुग्ध का हममें दोहन करते हैं। सोम-रक्षण से ही बुद्धि की तीव्रता होकर ज्ञान की वृद्धि होती है। २. **यद् वा**=और जब **अश्विना**=प्राणापानो के द्वारा (आ=भ्याम्) **देवयन्तः**=दिव्य गुणों की कामनावाले लोग **वाणी**=इन स्तुतिवाणियों का **प्र अनूषत**=प्रकर्षेण उच्चारण करते हैं तभी गतमन्त्र के अनुसार यह प्राणापान का रथ उस मार्ग पर चलता है जोकि मनुष्यों का रक्षण करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्राणसाधना से सोम-रक्षण द्वारा बुद्धि की तीव्रता प्राप्त होती है। उसी समय ज्ञान की वाणियों का उच्चारण होता है।

ऋषिः—**शशकर्णः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

'द्युम्न, शवस्, शर्म, दक्ष'

प्र द्युम्नाय प्र शवसे प्र नृषाह्याय शर्मणे। प्र दक्षाय प्रचेतसा ॥ ५ ॥

१. हे **प्रचेतसा**=प्रकृष्ट ज्ञान प्राप्त करानेवाले प्राणापानो! आप हमारी **द्युम्नाय**=ज्ञान- ज्योतियों के लिए **प्र** (भवतम्)=होओ। **शवसे प्र**=बल के लिए होओ। २. इसी प्रकार **नृषाह्याय**=शत्रुनायकों का—काम, क्रोध, लोभरूप शत्रु सेनापतियों का पराभव करनेवाले **शर्मणे**=सुख के लिए **प्र** (भवतम्)=होइए और **दक्षाय**=सब प्रकार की उन्नति के लिए **प्र**=होइए।

भावार्थ—प्राणसाधना द्वारा हमें 'ज्ञान, बल, शत्रु-पराजय-जनित सुख तथा विकास' प्राप्त हो।

ऋषिः—**शशकर्णः** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**गायत्री** ॥

धीभिः-सुम्नेभिः

यन्नूनं धीभिरश्विना पितुर्योना निषीदथः। यद्वा सुम्नेभिरुक्थ्या ॥ ६ ॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! आप **यत्**=चूँकि **धीभिः**=बुद्धिपूर्वक किये जानेवाले कर्मों के द्वारा **पितुः योना**=उस परमपिता प्रभु के गृह में **निषीदथः**=आसीन होते हो, अर्थात् आपकी साधना के द्वारा मल-क्षय व ज्ञानदीप्ति होकर प्रभु का दर्शन होता है। **यद् वा**=अथवा **सुम्नेभिः**=स्तोत्रों के द्वारा आप ब्रह्मलोक में निवास कराते हो, अतः **उक्थ्या**=आप स्तुत्य होते हो।

भावार्थ—प्राणसाधना से बुद्धि का विकास होता है, स्तुति की प्रवृत्ति जागरित होती है।

ये बुद्धि व स्तुति हमें प्रभु को प्राप्त करानेवाली होती हैं।

यह प्रभु के गृह में निवास करनेवाला व्यक्ति 'पुरुमीढ'=अपने में शक्ति का खूब ही सेचन करनेवाला बनता है यह 'आजमीढ'=(अजा गतौ) गति का अपने में सेचन करता है। प्रभु का उपासक शक्ति व गतिवाला होता है। इन्हीं के अगले सूक्त के प्रथम सात मन्त्र हैं। आठवें का ऋषि वामदेव=सुन्दर दिव्यगुणोंवाला है। नौवें के ऋषि मेध्यातिथि व मेधातिथि हैं—पवित्र प्रभु की ओर चलनेवाले, बुद्धि की ओर चलनेवाले। प्रथम मन्त्र यह है—

१४३. [त्रिचत्वारिंशदुत्तरशततमं सूक्तम्]

ऋषिः—**पुरुमीढाजमीढौ**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'पृथुज्रय' रथ

तं वां रथं वयमद्या हुवेम पृथुज्रयमश्विना संगतिं गोः।
यः सूर्यां वहति वन्धुरायुर्गिर्वाहसं पुरुतमं वसूयुम्॥ १॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **वयम्**=हम **अद्य**=आज **वाम्**=आपके **तं रथम्**=उस शरीर-रथ की **हुवेम**=पुकार करते हैं—उस शरीर-रथ को प्राप्त करने की कामना करते हैं जोकि **पृथुज्रयम्**=बड़े वेगवाला है—स्फूर्तियुक्त है, **गोः संगतिम्**=ज्ञान की किरणों के मेलवाला है। यह रथ शक्ति के कारण गतिवाला व प्रकाशमय है। २. **यः**=जो रथ **सूर्याम्**=सूर्य की दुहिता को—बुद्धि को **वहति**=धारण करता है। **बन्धुरायु**=सौन्दर्यों को अपने साथ जोड़नेवाला है। हम उस रथ की कामना करते हैं, जो **गिर्वाहसम्**=ज्ञानपूर्वक स्तुति की वाणियों का धारण करता है। **पुरुतमम्**=खूब ही पालक व पूरक है। **वसूयुम्**=निवास के लिए आवश्यक सब धनों को अपने में लिये हुए है।

भावार्थ—प्राणसाधना से हमारा शरीर स्फूर्तिमय, ज्ञान के प्रकाशवाला, बुद्धि-सम्पन्न, सुन्दर, ज्ञानपूर्वक स्तुतिवाणियों को धारण करनेवाला, नीरोग व उत्तम निवासवाला बनता है।

ऋषिः—**पुरुमीढाजमीढौ**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्**॥

'श्री सम्पन्नता' के साधक प्राणापान

युवं श्रियमश्विना देवता तां दिवो नपाता वनथः शचीभिः।
युवोर्वपुरभि पृक्षः सचन्ते वहन्ति यत्ककुहासो रथे वाम्॥ २॥

१. हे **दिवः नपाता**=ज्ञान को न नष्ट होने देनेवाले **देवता** (देवते)=दिव्यगुणोंवाले **अश्विना**=प्राणापानो! **युवम्**=आप **शचीभिः**=कर्मों व प्रज्ञानों के द्वारा **तां श्रियम्**=उस प्रसिद्ध शोभा को **वनथः**=विजय करते हो (वन् win)। प्राणापान ही कर्मेन्द्रियों से कर्म कराते हैं तथा ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ज्ञान प्राप्त कराते हैं। इसप्रकार ये शरीर को शोभा-सम्पन्न बनाते हैं। २. **युवोः**=आप दोनों के इस **वपुः**=शरीर को **पृक्षः**=सात्त्विक अन्न **अभिसचन्ते**=प्रातः-सायं सेवन करते हैं। यह सब तब होता है **यत्**=जबकि **वाम्**=आप दोनों को **ककुहासः** (महन्नाम नि० ३.७)=महान् इन्द्रियाश्व **रथे**=इस शरीर-रथ में **वहन्ति**=धारण करते हैं। शरीर में प्राणसाधना के होने पर ही अन्न का पाचन हुआ करता है। इन्द्रियों में व अन्य सब अंग-प्रत्यंगों में प्राणों की ही शक्ति कार्य करती है।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर श्रीसम्पन्न बनता है। प्राणसाधना से ही अन्न का भी ठीक से पाचन होकर सब रस-रुधिर आदि धातुओं का निर्माण होता है।

ऋषिः—**पुरुमीढाजमीढौ** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

ऊतये-सुतपेयाय

को वा॑म॒द्या क॑रते रा॒तह॑व्य ऊ॒तये॑ वा सु॒तपेया॑य वा॒र्कैः ।
ऋ॒तस्य॑ वा व॒नुषे॑ पू॒र्व्याय॒ नमो॑ येमा॒नो अ॑श्वि॒ना व॑वर्तत् ॥ ३ ॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **कः**=कोई विरल पुरुष ही **रातहव्यः**=दिये हैं हव्य पदार्थ जिसने, अर्थात् जो यज्ञशील है, वह **ऊतये**=रक्षण के लिए **वा**=तथा **सुतपेयाय**=सोम (वीर्य) के पान (शरीर में ही व्यापन) के लिए **वाम्**=आपकी **अद्या**=आज **अर्कैः**=स्तुतिमन्त्रों से **करते**=आराधना करता है। स्तुतिमन्त्रों से प्रभु का आराधन करते हुए प्राणसाधना से हमारे मन वासनाओं से आक्रान्त नहीं होते और शरीर में सोम का रक्षण होता है। हमारी वृत्ति यज्ञों की ओर होती है—भोगवृत्ति से हम दूर होते हैं। २. कोई विरल व्यक्ति ही **नमः येमानः**=नम्रता का अपने अन्दर धारण करता हुआ **ऋतस्य**=ऋत के—सत्य के **पूर्व्याय वनेषु**=सर्वोत्तम संभजन—सर्वमुख्य विजय के लिए **अश्विना**=प्राणापानो को **आववर्तत्**=आवृत्त करता है। प्राणायाम करता हुआ अपने अन्दर सत्य को धारण करता है।

भावार्थ—प्राणसाधना के द्वारा शरीर का रक्षण होता है, सोम का शरीर में व्यापन होता है, ऋत का हम विजय कर पाते हैं।

ऋषिः—**पुरुमीढाजमीढौ** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

हिरण्यय रथ

हि॒र॒ण्यये॑न पुरुभू॒ रथे॑ने॒मं य॒ज्ञं ना॑स॒त्योप॑ यातम् ।
पिबा॑थ॒ इन्मधु॑नः सो॒म्यस्य॒ दध॑थो॒ रत्नं॑ विध॒ते जना॑य ॥ ४ ॥

१. हे **परिभू**=(परि=पृ पालनपूरणयोः) पालक व पूरक होते हुए—या शरीर में चारों ओर व्याप्त होते हुए **नासत्याः**=प्राणापानो! आप **हिरण्ययेन रथेन**=ज्योतिर्मय शरीर-रथ से **इमं यज्ञम्**=हमारे इस जीवन-यज्ञ को **उपयातम्**=समीपता से प्राप्त होओ। आपकी साधना से हमारा यह शरीर-रथ ज्योतिर्मय व तेजस्वी बने। आपकी साधना से हम जीवन-यज्ञ को सुन्दरता से पूर्ण करनेवाले हों। २. हे प्राणापानो! आप **इत्**=निश्चय से **सोम्यस्य मधुनः**=इस सोम-सम्बन्धी मधु का **पिबाथः**=पान करते हो—सोम को शरीर में ही सुरक्षित करते हो। हे प्राणापानो! आप **विधते जनाय**=परिचर्या करनेवाले उपासक मनुष्य के लिए **रत्नं दधथः**=रमणीय वस्तुओं को धारण करते हो।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर-रथ ज्योतिर्मय व तेजस्वी बनता है, सोम का रक्षण होता है तथा शरीर में सब रत्नों का धारण होता है।

ऋषिः—**पुरुमीढाजमीढौ** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

'हिरण्यय-सुवृत्' रथ

आ नो॑ यातं दि॒वो अच्छा॑ पृथि॒व्या हि॑र॒ण्यये॑न सु॒वृता॒ रथे॑न ।
मा वा॑म॒न्ये नि य॑मन्देव॒यन्तः॒ सं यद्द॒दे नाभिः॑ पू॒र्व्या वा॑म् ॥ ५ ॥

१. हे प्राणापानो! **दिवः पृथिव्याः अच्छा**=द्युलोक व पृथिवीलोक का लक्ष्य करके, अर्थात् मस्तिष्क व शरीर का ध्यान करके **नः**=हमारे लिए आप **हिरण्ययेन**=ज्योतिर्मय **सुवृता** (सुष्ठु वर्तते)=बिलकुल ठीक-ठाक, अर्थात् सर्वांगपूर्ण **रथेन**=शरीर-रथ से **आयातम्**=प्राप्त होओ।

प्राणापान की साधना ही इस शरीर-रथ को सुन्दर बनाती है। २. **अन्ये**=दूसरे **देवयन्तः**=द्यूत आदि क्रीड़ाओं को करते हुए लोग **वाम्**=आपको **मा नियमन्**=रोकनेवाले न हों, अर्थात् हम अन्य व्यवहारों में उलझकर आपकी साधना को कभी भूल न जाएँ। **यत्**=चूँकि **वाम्**=आपका तो **पूर्व्या**=सर्वमुख्य—सर्वप्रथम **नाभिः**=सम्बन्ध (नह बन्धने) **सं ददे**=मुझे आपके साथ बाँधता है। मेरा सर्वोत्तम सम्बन्ध आपके साथ ही तो है। आत्मा के साथ प्राणों का दृढ़ सम्बन्ध है।

भावार्थ—प्राणसाधना से ही हमारा मस्तिष्क हिरण्यय (ज्योतिर्मय) बनता है तथा शरीर सुवृत्=पूर्ण स्वस्थ होता है।

ऋषिः—**पुरुमीढाजमीढौ** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

प्राणायाम+सम्मिलित प्रार्थना

नू नो॑ र॒यिं पु॑रु॒वीरं॑ बृ॒हन्तं॒ दस्रा॒ मिमा॑थामु॒भये॑ष्व॒स्मे ।
नरो॒ यद्वा॑मश्विना॒ स्तोम॒माव॑न्त्स॒धस्तु॑तिमाजमी॒ढासो॑ अग्मन् ॥ ६ ॥

१. **अस्मे**=हममें **उभयेषु**=दोनों में—मन्त्र के ऋषि पुरुमीढ व आजमीढों में रहनेवाली ये **पुरुवीरम्**=खूब वीरतावाली **बृहन्तम्**=वृद्धि की कारणभूत **रयिम्**=सम्पत्ति को **नु**=निश्चय से हे **दस्रा**=दुःखों का उपक्षय करनेवाले प्राणापानो! **नः**=हमारे लिए **मिमाथाम्**=बनाओ। हमें वह सम्पत्ति प्राप्त कराओ जो पुरुमीढ़ों व आजमीढों में रहा करती है, जो सम्पत्ति हमें वीर बनाती है व हमारी वृद्धि का कारण बनती है। २. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **नरः**=उन्नति-पथ पर चलनेवाले लोग **यत्**=जब **वाम्**=आपके **स्तोमम्**=स्तवन को **आवन्**=अपने में रक्षण करते हैं, उस समय **आजमीढासः**=गति के द्वारा सब बुराइयों को दूर करके सुखों का सेचन करनेवाले ये लोग **सधस्तुतिम्**=मिलकर उपासना की वृत्ति को **अग्मन्**=प्राप्त होते हैं। ये लोग परिवार में सबके सब एकत्र होकर प्रभु की उपासनावाले बनते हैं। सब प्राणायाम करते हैं और मिलकर प्रभु का गायन करते हैं।

भावार्थ—हम प्राणायाम करें—मिलकर प्रभु का स्तवन करें। इसप्रकार ही हम उस धन को प्राप्त करेंगे जो हमें वीर गुणों से वृद्ध बनाएगा।

ऋषिः—**पुरुमीढाजमीढौ** ॥ देवता—**अश्विनौ** ॥ छन्दः—**त्रिष्टुप्** ॥

सुमति व शक्ति

इ॒हेह यद्वां॑ सम॒ना प॑पृ॒क्षे सेयम॒स्मे सु॑म॒तिर्वा॑जरत्ना ।
उ॒रु॒ष्यतं॑ जरि॒तारं॑ यु॒वं ह॑ श्रि॒तः कामो॒ नास॑त्या युव॒द्रिक् ॥ ७ ॥

१. हे **समना**=(सम् अन्) सम्यक् प्राणित करनेवाले प्राणापानो! **इह इह**=इस जीवन में और इस जीवन में ही **यत्**=जब मैं **वां पपृक्षे**=आपके सम्पर्क में आता हूँ, अर्थात् आपकी साधना में प्रवृत्त होता हूँ, तब **सा**=वह **इयम्**=यह **अस्मे सुमतिः**=हमारी कल्याणी मति **वाजरत्ना**=शक्तिरूप रमणीय धनवाली होती है, आपकी साधना से जहाँ मुझे बुद्धि प्राप्त होती है, वहाँ मुझे शक्ति भी मिलती है। २. **युवम्**=आप दोनों **जरितारम्**=स्तोता को **ह**=निश्चय से **उरुष्यतम्**=रक्षित करो। हे **नासत्या**=सब असत्यों को हमसे दूर करनेवाले प्राणापानो! **कामः**=हमारी इच्छा **युवद्रिक्**=आपकी ओर आनेवाली होती हुई **श्रितः**=हमें प्राप्त हो, अर्थात् हमें आपकी ही साधना का विचार हो। हम प्राणायाम की रुचिवाले बनें।

भावार्थ—प्राणसाधना से सुमति व शक्ति प्राप्त होती है, अतः हमारी कामना यही है कि हम प्राणसाधना करनेवाले बनें।

ऋषि:—(१-२ पाद:) वामदेव: (३-४ पाद:)॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥

माधुर्य-ही-माधुर्य

मधुमतीरोषधीर्द्याव आपो मधुमन्नो भवत्वन्तरिक्षम्।
क्षेत्रस्य पतिर्मधुमान्नो अस्त्वरिष्यन्तो अन्वेनं चरेम॥ ८॥

१. छठे मन्त्र के अनुसार प्राणसाधनों व सम्मिलित प्रार्थना के होने पर **ओषधी: मधुमती:**=ओषधियाँ हमारे लिए माधुर्यवाली हों। **द्याव:**=द्युलोक तथा **आप:**=द्युलोक से बरसनेवाले जल माधुर्यवाले हों। द्युलोकस्थ सूर्य ने ही तो हमारे क्षेत्रस्थ अन्नों को वृष्टि द्वारा उत्पन्न करना है और सन्ताप द्वारा परिपक्व करना है। २. वायु देवता का निवासस्थान यह **अन्तरिक्षम्**=अन्तरिक्ष **न:**=हमारे लिए **मधुमत्**=माधुर्यवाला हो। ३. **क्षेत्रस्य पति:**=सब क्षेत्रों का स्वामी प्रभु **न:**=हमारे लिए **मधुमान् अस्तु**=माधुर्य को प्राप्त करानेवाले हों। **अरिष्यन्त:**=अहिंसित होते हुए हम **एनम् अनुचरेम**=प्रभु की अनुकूलता में गतिवाले हों। प्रभु-स्मरण ही हमें वासनाओं से हिंसित होने से बचाएगा।

भावार्थ—ओषधियाँ-द्युलोक-जल-अन्तरिक्ष और इन सबके स्वामी प्रभु हमारे लिए माधुर्य प्रदान करें।

ऋषि:—**मेध्यातिथि:**॥ देवता—**अश्विनौ**॥ छन्द:—**त्रिष्टुप्**॥

'शरीर, मन व बुद्धि' का शक्ति-सम्पन्न होना

पनाय्यं तदश्विना कृतं वां वृषभो दिवो रजस: पृथिव्या:।
सहस्रं शंसा उत ये गविष्टौ सर्वाँ इत्ताँ उप याता पिबध्यै॥ ९॥

१. हे **अश्विना**=प्राणापानो! **वाम्**=आपका **तत्**=वह **कृतम्**=कर्म **पनाय्यम्**=स्तुत्य है, जोकि **दिव:**=मस्तिष्करूप द्युलोक में, **रजस:**=हृदयरूप अन्तरिक्षलोक में तथा **पृथिव्या:**=शरीररूप पृथिवीलोक में **वृषभ:**=शक्ति का सेचन करनेवाला है। प्राणापान शरीर में सोम की ऊर्ध्वगति का कारण बनते हैं और इस सुरक्षित सोम के द्वारा वे 'शरीर, हृदय व मस्तिष्क' को शक्ति-सम्पन्न बनाते हैं। २. **उत**=और **पिबध्यै**=सोमपान के लिए **ये**=जो **गविष्टौ**=ज्ञानयज्ञों में **सहस्रम्**=हज़ारों **शंसा:**=ज्ञान की वाणियों के उच्चारण हैं, **तान् सर्वान्**=उन सबको **उपयात**=समीपता से प्राप्त होओ। इन ज्ञान की वाणियों के अध्ययन से वासनाओं की ओर झुकाव नहीं होता और इसप्रकार सोम का रक्षण होता है, अत: प्राणायाम के अभ्यासी को चाहिए कि अतिरिक्त समय को सदा स्वाध्याय में व्यतीत करे।

भावार्थ—प्राणसाधना से शरीर, मन व बुद्धि—तीनों ही सशक्त बनते हैं। सोम-रक्षण के लिए यह भी आवश्यक है कि मनुष्य अतिरिक्त समय का यापन स्वाध्याय में करे।

॥ इति षट्त्रिंश: प्रपाठक: ॥

॥ इति विंशं काण्डम्॥

वेद प्रभु की वाणी है।

दिव्य ज्ञान वेद प्रभु वाणी है। इसका विस्तार कर मानव जीवन में सुख, शान्ति व ऐश्वर्य वृद्धि का प्रयास करने वाले ही परम पिता परमात्मा को प्रिय होते हैं। पण्डित हरिशरण सिद्धान्तालंकार ईश्वर के एक ऐसे ही प्रिय पुत्र थे। आजीवन ब्रह्मचारी रह कर उन्होंने निरन्तर वेदों का स्वाध्याय किया और इससे अर्जित ज्ञान को वाणी व लेखनी से जन-जन तक पहुँचाया।

भारतीय संस्कृति के विविध पक्षों से सम्बन्धित वेदाशय को प्रकट करने वाली तीस से अधिक पुस्तकों के प्रणयन के अतिरिक्त उन्होंने लगभग पन्द्रह हज़ार पृष्ठों में चारों वेदों का भाष्य भी किया। उनके अपने शब्दों में इस वेद भाष्य का उद्देश्य है ''हमने अपनी ओर से प्रयास किया है कि सामान्य पाठक पढ़कर यह न कह बैठे कि समझ में नहीं आया और कोई विद्वान् यह न कह सके कि व्याकरण की दृष्टि से ठीक नहीं।''

वेद विद्या की अमूल्य निधि ईश्वर ने सृष्टि के आदि में मानव जाति को प्रदान की थी। इसमें पृथ्वी व तृण से लेकर प्रकृति पर्यन्त पदार्थों के गुणों का ठीक-ठीक ज्ञान एवं जीवन में लोक व्यवहार की सिद्धि तथा भगवत्-प्राप्ति के लिए मार्गदर्शन है। वेदों का मुख्य विषय तो अध्यात्म ज्ञान ही है। प्रतीकों, रूपको व अलंकारों में बांध कर इसे गुह्य रूप में प्रस्तुत किया गया है। वेद के शब्द ऐसे रहस्यमय ज्ञान की ओर संकेत करते हैं जिन्हें भाषा की साधारण पद्धति से समझा ही नहीं जा सकता।

वेद के इस गुह्य ज्ञान का उद्घाटन ऋषि-मुनियों ने दीक्षा, तप एवं ध्यान द्वारा ब्राह्मण ग्रन्थों व उपनिषदों में किया। कालान्तर में साधना के अभाव में तथा अप्रचलित भाषा शैली के कारण वेद के अभिप्राय को समझना कठिन होता गया। यही कारण था कि रावण, स्कन्द स्वामी, उद्गीथ, वररूचि, भट्ट भास्कर, महिधर व उव्वट आदि बाद के भाष्यकार वेद के वास्तविक अर्थों को अपने भाष्यों में प्रकट न कर पाए।

पाश्चात्य विद्वान् भी वेदों में निहित उदात्त ज्ञान का मूल्यांकन न कर सके। वे इन्हें आदिम काल के पशुपालकों के गीत अथवा वैदिक युग का इतिहास तथा गाथा भण्डार मात्र समझ कर रह गये। उन्नीसवीं शताब्दि के उत्तरार्द्ध में महर्षि दयानन्द ने नैरुक्तिक प्रणाली से भाष्य करके दिखाया कि वेदों में बीज रूप से सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान विद्यमान है।

पण्डित हरिशरण सिद्धान्तालंकार ने स्वामी दयानन्द की निर्दिष्ट पद्धति के अनुसार वेदभाष्य किया है। वह निरुक्त एवं व्याकरण के अप्रतिम विद्वान् थे। वेद मन्त्रों की शास्त्रीय दृष्टि से व्याख्या करने तथा संगति लगाने में उनकी प्रतिभा अपूर्व थी। व्याकरण, धातु पाठ से युक्त उनका यह भाष्य जहां उद्भट विद्वानों के लिए विचार विमर्श की सामग्री प्रस्तुत करता है वहीं सामान्य पाठक के लिए यह अत्यन्त प्रेरणादायक, रोचक, सरल, सुबोध एवं सहज में ही हृदयंगम हो जाने वाला है।

अजय भल्ला

आवरण : श्रीमहालक्ष्मी, ०११-६५८४५५९९, ९३१३७८४२